चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
(प्राच्यभारती के प्रकाशक एवं वितरक)
३८ यू. ए., बंगलो रोड, जवाहरनगर
पो० बा० नं० २११३
दिल्ली ११०००७
दूरभाष : २३६३९१

सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रथम संस्करण १९९०
मूल्य २००-००

अन्य प्राप्ति-स्थान
चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
के० ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन
पो० बा० नं० ११२९, वाराणसी २२१००१
दूरभाष : ५७२१४

*

प्रमुख वितरक
चौखम्बा विद्याभवन
चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे)
पो० बा० नं० १०६९, वाराणसी २२१००१
दूरभाष : ६३०७६

मुद्रक
श्रीजी मुद्रणालय
वाराणसी

VRAJAJIVAN AYURVIJNANA GRANTHAMALA
10

ĀYURVEDĪYA
PAÑCAKARMA CIKITSĀ

Editors
Acharya Mukundilal Dwivedi
Ayurvedacharya
D. I. M., D. H. M. S., F. N. A. I. M.
Director
and
Dr. Tarachanda Sharma
Ayurvedacharya, M. D. (Ay.)
Senior Research Officer
Dr. Bhairava Mishra
Pranacharya, Vidyavaridhi
Research Physician
Shri Mulchanda Khairatiram Hospital &
Ayurveda Research Institute, Delhi

CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
38 U. A., Bungalow Road, Jawaharnagar
DELHI-110007

(*Oriental Publishers & Distributors*)
38 U. A. Bungalow Road, Jawaharnagar
Post Box No. 2113
DELHI 110007
Telephone : 236391

ISBN 81-7084-039-2
First Edition

Also can be had of
CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
K. 37/117, Gopal Mandir Lane
Post Box No. 1129
VARANASI 221001
Telephone : 57214

Sole Distributors
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
CHOWK (Behind The Benares State Bank Building)
Post Box No. 1069
VARANASI 221001
Telephone : 63076

भारतीय संस्कृति, संस्कृत एवं आयुर्वेद

के

परम पोषक

एवं

श्रीमूलचंद खैरातीराम न्यास

के

मानद सचिव

श्री सरदारीलाल जी तलवार

के

कर-कमलों

में

सादर समर्पित

*

सम्पादक

प्राक्कथन

किसी भी विज्ञान की समृद्धि का मूल्याङ्कन उसके साहित्य एवं उपलब्धियों से किया जाता है। 'आयुर्वेद' जीवन का विज्ञान है। आदिकाल से आजतक इस साहित्य की समृद्धि निरन्तर होती रही है। आयुर्वेद के प्रत्येक अंग एवं उपाङ्गों पर लिखे गये अनेक ग्रन्थ मुद्रण, संरक्षण एवं राज्याश्रय की उपेक्षा के कारण गत शताब्दियों से अप्राप्य एवं दुर्लभ होते जा रहे हैं। आज बहुत-सी संहिताओं एवं टीकाओं के उद्धरण मात्र ही प्राप्त होते हैं। अतः आयुर्वेद में निदान-चिकित्सकीय अनुसंधान तथा आयुर्वेद-वाङ्मय की समृद्धि एवं रक्षा हेतु कठिनता से प्राप्त ग्रन्थों एवं टीकाओं को अनुसंधाताओं, अध्यापकों चिकित्सकों एवं छात्रोपयोगी बनाने हेतु आज से लगभग १५ वर्ष पूर्व श्री मूलचन्द खैरातीराम ट्रस्ट ने हॉस्पिटल के साथ आयुर्वेद-अनुसंधान-संस्थान का कार्य भी प्रारम्भ किया; जहाँ आयुर्वेद की संहिताओं एवं संग्रह-ग्रन्थों से ही नहीं अपितु संस्कृत-साहित्य एवं वैदिक-वाङ्मय से प्राप्त आयुर्वेद-सूत्रों को एकत्र कर विषयानुसार व्याख्यात्मक टिप्पणी के साथ पृथक्-पृथक् खण्डों में प्रकाशित कराने की योजना आरम्भ की गई। प्रारम्भ में यह कार्य केन्द्रीय आयुर्वेद अनुसंधान परिषद् की सहायता से आरम्भ हुआ, किन्तु २ वर्ष के पश्चात् उन्होंने इस योजना को स्थगित कर दिया।

तत्पश्चात् श्री मूलचंद खैरातीराम अस्पताल एवम् अनुसंधान-संस्थान के तत्कालीन निदेशक पं० हरिदत्त जी शास्त्री ने इस कार्य को ट्रस्ट के मानद सचिव श्री सरदारीलाल जी तलवार की अनुमति से निरन्तर जारी रखा। फलस्वरूप आयुर्वेद ग्रन्थों से सूत्र-संकलन के कार्य के साथ-साथ वैदिक एवं संस्कृत साहित्य के सूत्र एकत्र किये जा रहे हैं, जिन्हें लगभग ३० खण्डों में विषयानुसार विभाजित किया गया है। उपर्युक्त योजना के अन्तर्गत प्रकाशित यह प्रथम पुष्प 'आयुर्वेदीय पंचकर्म-चिकित्सा' आपके कर-कमलों में प्रस्तुत है।

'पंचकर्म' आयुर्वेदीय चिकित्सा का अभिन्न अंग है। इसका आयुर्वेदीय संहिताओं तथा संग्रह-ग्रन्थों में आवश्यक विवरण प्राप्त होता है। इस चिकित्सा के अन्तर्गत आने वाले विविध कर्मों अथवा प्रक्रियाओं को औषध चिकित्सा के साथ-साथ अथवा स्वतन्त्र रूप से भी अनेक रोगों में प्रयोग कराया जाता है। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को प्रायोगिक दृष्टि से प्रमुख तीन कर्मों में विभाजित किया गया गया है—पूर्व कर्म, प्रधान कर्म तथा पश्चात् कर्म। आतुर

एवं स्वस्थ दोनों प्रकार के व्यक्तियों को दोष, देश, काल, मात्रा, बल एवं प्रकृति तथा विकृति के अनुसार पञ्चकर्म का प्रयोग अभीष्ट है।

पूर्वकर्मान्तर्गत प्रायः स्नेहन एवं स्वेदन इन दो प्रक्रियाओं का ग्रहण किया जाता है। इन दोनों ही प्रक्रियाओं द्वारा क्रमशः दोषों का विलयन एवं विष्यन्दन होता है। जब कफादि दोष अपने स्थान को छोड़ देते हैं, उसी अवस्था में प्रधान कर्म किये जाते हैं। प्रायः यह भी देखा जाता है कि व्याधि की प्रथमावस्था में एवं दोष के अल्पबल होने पर पूर्व कर्मों द्वारा ही रोग का उपशमन हो जाता है। इन्हीं विशेषताओं के कारण कुछ विद्वान् इन्हें प्रधान कर्मों में भी परिगणित कर लेते हैं। प्रत्येक प्रधान कर्म से पहले इन दोनों पूर्व कर्मों का प्रयोग आवश्यक होता है। कहीं-कहीं पश्चात् कर्म के रूप में भी इनका प्रयोग किया जाता है। अतः पंचकर्म-प्रक्रिया में इनका बहुशः प्रयोग होता है।

आत्रेय-सम्प्रदाय के आचार्यों ने प्रधान कर्मों में—वमन, विरेचन, निरूह, अनुवासन एवं शिरोविरेचन की गणना की है[1]। धन्वन्तरि-सम्प्रदायानुयायियों[2] तथा परवर्ती संग्रहकारों ने वमन, विरेचन, निरूह (निरूह एवं अनुवासन दोनों का अन्तर्भाव), शिरोविरेचन तथा रक्तमोक्षण या विस्रावण—इन पांच कर्मों का ग्रहण किया है। यद्यपि पंचकर्म शब्द कमल के लिए पंकज के समान योगरूढ अर्थ में ग्रहण किया गया है, तथापि व्याख्यात्मक दृष्टि से रक्तमोक्षण, कवल, गण्डूष, धूमपान आदि का भी इसमें समावेश हो जाता है।

इन पाँच कर्मों में वमन का प्रयोग श्लेष्मज व्याधियों में किया जाता है, जहाँ ऊर्ध्वमार्ग द्वारा दोषों का निर्हरण कराया जाता है। पित्तज विकारों के अधोमार्ग द्वारा निर्हरण करने की प्रक्रिया को विरेचन-कर्म कहा जाता है। वातज विकारों की उपशान्ति बस्ति द्वारा होती है। अधोवायु (अपानवायु) विकृति में विविध प्रकार की बस्तियों का प्रयोग कराया जाता है। उत्तरबस्ति भी इसी का एक प्रकार है। इनके अतिरिक्त शोधन, शमन, बृंहण तथा वाजीकर आदि विविध कर्मोक्त बस्तियाँ भी यथावश्यक प्रयोग में लायी जाती हैं। ऊर्ध्वजत्रुगत रोगों में दोषानुसार शोधन हेतु अनेक प्रकार के नस्यों का उपयोग किया जाता है। इस प्रकार इन पाँचों कर्मों के दोषानुसार रोगी की अवस्था, बल एवं काल के अनुसार प्रयोग किये जाने पर दोषों का निर्हरण होकर रोग का उपशमन हो जाता है।

धन्वन्तरि-सम्प्रदाय में रक्तमोक्षण को भी प्रधान कर्म की संज्ञा दी गई है। उन्होंने रक्त को भी स्वतन्त्र दोष माना है। रक्त के द्वारा दोष शरीर के

१. वमनं रेचनं नस्यं निरूहश्चानुवासनम्।
२. निरूहो वमनं कायशिरोरेकोस्रविस्रुतिः।

विभिन्न स्थानों में गति करते हैं। अतः स्वाभाविक रूप से वे रक्त को भी विकृत करते हैं। सुश्रुतानुसार विस्रावण एक पूर्ण चिकित्सा है। इसमें शृंग, जलौका, अलाबू तथा शिरावेध द्वारा दुष्टरक्त का निर्हरण कराया जाता है।

प्रधान कर्म के पश्चात् रोगी को जिन आहार-विहारों एवं आचार-विचारों का पालन करना होता है, वे सभी पश्चात् कर्म में आते हैं, अथवा किसी कारणवश असावधानी होने पर कोई उपद्रव हो तो उसकी चिकित्सा भी पश्चात् कर्म में ही परिगणित है। प्रत्येक कर्म के पश्चात् एवं अन्य कर्मों से पूर्व यथावश्यक संसर्जन कर्म भी इसी के अन्तर्गत आते हैं।

कायचिकित्सा का एक अंग होते हुए भी पंचकर्म को सम्पूर्ण अथवा अर्ध चिकित्सा के रूप में कहा जाना रोग एवं कर्म विशेष की क्रियाकारिता पर आधारित है। आचार्य अग्निवेश ने कायचिकित्सा में बस्तिकर्म को सम्पूर्ण चिकित्सा का आधा भाग बतलाया है। इसकी उपयोगिता एवं विविधता को देखते हुए कुछ आचार्यों ने इसे सम्पूर्ण चिकित्सा भी कहा है। इसी प्रकार शल्यचिकित्सा में रक्त-विस्रावण को सम्पूर्ण चिकित्सा स्वीकार किया गया है। बस्ति एवं रक्तमोक्षण दोनों ही पंचकर्म-चिकित्सा के प्रमुख अंग होने से पंचकर्म-चिकित्सा समग्र चिकित्सा या परिपूर्ण चिकित्सा समझी जाती है।

कायचिकित्सा में रक्तमोक्षण को संशोधन में ग्रहण करते हुए भी पंचकर्मान्तर्गत स्वीकार नहीं किया गया है। तथापि अन्य आचार्यों द्वारा स्वीकार किये जाने से प्रस्तुत पुस्तक में रक्तविस्रावण, कवल, गण्डूष, तर्पण, पुटपाक तथा धूमपान का भी यथा स्थान वर्णन किया गया है।

यद्यपि पंचकर्म विषयक कतिपय पुस्तकें हिन्दी, अंग्रेजी तथा कुछ प्रान्तीय भाषाओं में प्रकाशित हुई हैं; तथापि उनमें आयुर्वेद-ग्रन्थों के मूल सूत्रों एवं उनकी टीकाओं के उद्धरण बहुत कम हैं, जो एक अध्यापक, अनुसंधानकर्ता, चिकित्सक एवं छात्र के लिए पर्याप्त नहीं है। प्रस्तुत पुस्तक में संहिताओं एवं संग्रह-ग्रन्थों के समस्त मूल सूत्रों के साथ उपलब्ध संस्कृत टीकाओं के उपयोगी अंशों का भी उल्लेख किया गया है। सम्पादन में यह ध्यान रखा गया है कि चरक एवं सुश्रुत के सूत्रों को सर्वप्रथम ग्रहण कर अन्य आचार्यों के वचनों को उनके साथ उद्धृत किया गया है। प्रायः संग्रह-ग्रन्थों में उपलब्ध सूत्र या तो चरक, सुश्रुत एवं वाग्भट के हैं अथवा उनका गद्य-पद्य रूप में परिवर्तित स्वरूप है। अतः पुस्तक का कलेवर विस्तृत न हो, इस कारण उनके सन्दर्भ-संकेत चरक, सुश्रुत के सूत्रों के साथ ही लगा दिये गये हैं। किन्तु इनके टीकाकारों ने जहाँ सूत्र को स्पष्ट करते हुए जो व्याख्या की है, उसे ग्रहण

किया गया है। जहाँ उनमें दी गई शब्दावली का भाव स्पष्ट है, उसे मूल सूत्र के साथ उद्धृत नहीं किया गया है।

इस प्रकार संहिताओं के मूल सूत्रों का उल्लेख यथावश्यक उपलब्ध संस्कृत टीका के साथ किया गया है। प्रत्येक सूत्र के साथ शीर्षक भी दिये गये हैं। द्रव्य-गणना, कर्म-गणना, योग तथा उपकरणादि की तुलनात्मक विविध तालिकाएँ भी दी गई हैं। इस प्रकार प्रस्तुत पुस्तक में संहिताओं एवं संग्रह-ग्रन्थों के पंचकर्म विषयक सूत्रों को एक साथ उपलब्ध कराया गया है, जिससे यह पुस्तक अध्यापकों, अनुसंधाताओं, चिकित्सकों एवं छात्रों के लिए अतीव उपयोगी सिद्ध होगी, ऐसा हमारा विश्वास है। इस ग्रन्थ के परिशीलन से पञ्चकर्म से सम्बन्धित किसी भी विषय को अन्य ग्रन्थों में देखने का श्रम नहीं करना पड़ेगा। जैसा कि वृद्धवाग्भट के ग्रन्थ के सन्दर्भ में कहा गया है—

'अष्टाङ्गसङ्ग्रहे ज्ञाते वृथा प्राक् तन्त्रयोः श्रमः।
अष्टाङ्गसङ्ग्रहेऽज्ञाते वृथा प्राक् तन्त्रयोः श्रमः॥'

इस पुस्तक को केवल संस्कृत भाषा में ही प्रकाशित करने का विचार था किन्तु वर्तमान में अधिकांश अध्यापकों एवं छात्रों को संस्कृत भाषा का सामान्य ज्ञान होने से विषय को स्पष्ट करने में कठिनाइयाँ होती हैं, साथ ही अन्य भाषा-भाषी विद्यार्थियों एवं अध्यापकों के लिए गूढ एवं सूत्र रूप में लिखित आयुर्वेद के स्थल दुरूह प्रतीत होते हैं; अतः उनकी सुविधा के लिए सूत्रों की हिन्दी व्याख्या भी साथ में दी गई है।

प्रस्तुत पुस्तक को १७ अध्यायों में निबद्ध किया गया है; यथा—

१. विषय-प्रवेश,
२. स्नेहन-प्रकरण
३. स्वेदन-प्रकरण
४. सामान्य संशोधन-प्रकरण
५. वमन-प्रकरण
६. विरेचन-प्रकरण
७. सामान्य वस्ति-प्रकरण
८. निरूहवस्ति-प्रकरण
९. अनुवासनवस्ति-प्रकरण
१०. उत्तरवस्ति-प्रकरण
११. शिरोविरेचन (नस्य) प्रकरण
१२. रक्तमोक्षण-प्रकरण
१३. जलौका-प्रकरण
१४. शिरावेध-प्रकरण
१५. कवल-गण्डूष-प्रकरण
१६. तर्पण-पुटपाक-प्रकरण
१७. धूमपान-प्रकरण।

श्री मूलचन्द खैरातीराम ट्रस्ट के न्यासियों में विशेषकर मानद सचिव श्री सरदारीलाल जी तलवार महोदय के हम विशेष आभारी हैं, जिन्होंने उदार हृदय से इस कार्य को चलाते रहने की अनुमति प्रदान की; साथ ही इस कार्य के सम्पन्न होने में किसी प्रकार का व्यवधान नहीं आने दिया।

यह भारतीय संस्कृति, संस्कृत-साहित्य तथा आयुर्वेद के प्रति इनकी अगाध आस्था का प्रतीक है।

इस कार्य को प्रारम्भ कराने का श्रेय श्री मूलचन्द खैरातीराम हॉस्पिटल एवं आयुर्वेदानुसन्धान-संस्थान के भूतपूर्व निदेशक आदरणीय श्री पं० हरिदत्त जी शास्त्री को है, जिन्होंने संकलित संहिता-ग्रन्थों के सूत्रों को समुचित शीर्षक प्रदान करने तथा दुरूह एवं विवादात्मक विषयों को स्पष्ट करने में हमारा मार्ग-निर्देशन किया है। उनके प्रति हम हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

वरिष्ठ अनुसंधान-अधिकारी डॉ० ताराचन्द्र शर्मा विशेष रूप से धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने उपलब्ध आयुर्वेदीय संहिताओं तथा अन्य ग्रन्थों एवं उनकी विभिन्न संस्कृत टीकाओं से सूत्रों का संकलन कर उन्हें विषयानुसार विभाजित किया तथा पुस्तक के सम्पादन, हिन्दी अनुवाद तथा पाण्डुलिपि तैयार करने में विशेष सहयोग प्रदान किया है। हॉस्पिटल के प्रशासनिक एवं चिकित्सा-कार्य में मेरी व्यस्तता के होते हुए भी ये समय-समय पर पुस्तक के सम्पादन एवं प्रकाशन हेतु मुझसे परामर्श एवं निर्देश लेते रहे। अपने सहयोगियों के प्रति उनके उदार तथा सौहार्द पूर्ण व्यवहार के कारण ही यह ग्रन्थ प्रकाश में आ सका है।

कनिष्ठ अनुसंधान अधिकारी डा० भैरव मिश्र ने भी इस पुस्तक के लिए आवश्यक सामग्री एकत्र करने, हिन्दी अनुवाद करने तथा पाण्डुलिपि तैयार करने एवं प्रूफ-संशोधन में आवश्यक परिश्रम किया है। अतः वे भी धन्यवाद के अधिकारी हैं।

मूलचन्द खैरातीराम हॉस्पिटल के वरिष्ठ पंचकर्म-चिकित्सक डॉ० श्री विशाल त्रिपाठी के भी हम आभारी हैं, जिन्होंने पाण्डुलिपि का अवलोकर कर अनेक मूल्यवान् सुझाव दिये हैं।

सूत्रों के संकलन में और प्रतिलिपि आदि तैयार करने में समय-समय पर नियुक्त कतिपय अनुसंधान सहायकों ने भी हमें सहयोग प्रदान किया है, अतः वे भी हमारे आशीर्वाद एवं धन्यवाद के पात्र हैं। उनमें डा० सुरेन्द्र मलिक, डा० अमरपाल चिकारा, डा० नरेन्द्र भटनागर, डा० संजीव भार्गव, डा० शरणजीत सिंह, डॉ० शुचि गावा, डा० शिवकुमार शर्मा, डा० सुचिता टल्लु के नाम उल्लेखनीय हैं।

हम उन महर्षिवृन्द संहिताकारों, प्रतिसंस्कर्ताओं, संग्रहकारों और टीकाकारों के विशेष रूप से ऋणी हैं, जिनके आप्त एवं उपयोगी वचनों के संग्रह के

आधार पर इस पुस्तक की रचना की गई है। हम उन पुण्यश्लोक महान् आत्माओं का स्मरण करते हुए उनके समक्ष श्रद्धावनत हैं।

'आयुर्वेदीय पंचकर्म-चिकित्सा' को आयुर्वेद के अध्यापकों, चिकित्सकों एवं छात्रों के लिए यथासम्भव उपयोगी बनाने का प्रयास किया गया है। मुद्रण में यत्र-तत्र दृष्टिदोषवशात् अनेक त्रुटियाँ रह गई हैं, अतएव ग्रन्थान्त में शुद्धिपत्र संलग्न कर दिया गया है। मुद्रण-दोष के लिए उदार-हृदय विद्वज्जन क्षमा करेंगे। आगामी संस्करण में उनका सुधार अवश्य किया जावेगा।

पुस्तक के प्रकाशन में चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान के अध्यक्ष भाई श्री बल्लभदास जी ने विशेष अभिरुचि एवम् उदारता प्रदर्शित की है, अतः वे विशेष रूप से धन्यवादार्ह हैं। ईश्वर उन्हें सद्ग्रन्थों के प्रकाशनार्थ दीर्घायुष्य प्रदान करें।

धन्वन्तरि त्रयोदशी
सं० २०४६ वि०

मुकुन्दीलाल द्विवेदी

सम्मतियाँ

मुझे यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई है कि श्री मूलचन्द खैरातीराम ट्रस्ट के आयुर्वेद-अनुसंधान-संस्थान द्वारा प्रारम्भ किये गये आयुर्वेदीय विश्वकोश स्तर के कार्य का प्रथम पुष्प 'आयुर्वेदीय पंचकर्म-चिकित्सा' नामक ग्रन्थ अपनी सर्वांगीण उपलब्धियों एवं विशेषताओं से सुसज्जित होकर प्रकाशित हो गया है। वस्तुतः आज इस प्रकार के ग्रन्थ की अत्यन्त आवश्यकता थी, जिसकी सम्पादकों के अथक प्रयास से पूर्ति हो गई है। पंचकर्म आयुर्वेद का एक महत्त्वपूर्ण स्तम्भ रूप आवश्यक अंग है। विश्व में महान् कष्टदायी रोगों से ग्रसित मानव आयुर्वेद की ओर बड़ी आशामयी दृष्टि से देख रहा है। पंचकर्म असाध्य रोगों, विशेषकर वातव्याधियों के लिए उपयोगी एवं निरापद विधान है। इसकी गुणवत्ता विश्वविख्यात है।

लगभग १० वर्षों से मैं विश्व के आधुनिक वैज्ञानिकों, शिक्षकों, चिकित्सकों तथा सार्वजनिक संगोष्ठियों में आयुर्वेद की इस महान् देन को प्रस्तुत करने हेतु प्रयत्नशील हूँ। मुझे यह कहते हुए गौरव होता है कि बड़ी उत्सुकता तथा श्रद्धा से इसे अपनाया जा रहा है।

पंचकर्म चिकित्सा विश्वव्यापी रूप ले चुकी है। विदेशों में अनेक पंचकर्म केन्द्रों की स्थापना हो चुकी है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि उपलब्ध आयुर्वेद शास्त्रों में से एकीकृत यह ग्रन्थ शिक्षकों, चिकित्सकों तथा छात्रों के लिए सर्वोपयोगी सिद्ध होगा।

मैं पुनः पंचकर्म-चिकित्सा ग्रन्थ के सम्पादकों की भूरि-भूरि प्रशंसा करता हूँ, जिनके समुद्र-मंथन रूप से यह ग्रन्थ-रत्न प्राप्त हुआ है। जिसके आधार पर वैद्य सफल चिकित्सा की प्रतिज्ञा करता है।

श्री मूलचन्द खैरातीराम ट्रस्ट भी धन्यवाद का पात्र है, जो आयुर्वेद साहित्य में मौलिक आवश्यकताओं का अनुसंधान करने में रुचि रखता है। आशा है, अन्य विषयों में भी ऐसे जो शोध हो चुके हैं, वे भी ग्रन्थ रूप में शीघ्र ही प्रकाश में आयेंगे।

वृहस्पतिदेव त्रिगुणा

अध्यक्ष : अखिल भारतीय आयुर्वेद महासम्मेलन
सदस्य : गवर्निंग बॉडी, राष्ट्रीय आयुर्वेद संस्थान, जयपुर
: केन्द्रीय अनुसंधान परिषद् आयुर्वेद एवं सिद्ध, दिल्ली
डाइरेक्टर : इंडियन फार्मास्युटिकल (भारत सरकार)

आयुर्वेदीय चिकित्सा-विधियों में 'पंचकर्म-चिकित्सा' शीर्षस्थान पर है। 'ये तु संशोधनैः सिद्धा न तेषां पुनरुद्भवः' की प्रशस्ति और समस्त व्याधियों के निराकरण के लिए पूर्ण चिकित्सा की गरिमा से युक्त यह पद्धति पिछले कुछ दशकों में, विशेष रूप से उत्तर भारत में, उपेक्षित-सी रही है। पूर्वकर्म और पश्चात् कर्म की विधियों सहित पाँच प्रधानकर्म के लिए उपकरण और औषधियाँ जुटा पाना कठिन हो जाता है और साथ ही बहुत खर्चीला है। इसके साथ ही इनके प्रयोग की विधि एवं व्यापत्ति-निवारण के ज्ञान का अभाव भी इसके ह्रास का प्रमुख कारण रहा है। 'नानातन्त्राविहीनानां भिषजामल्पमेधसाम्' के युग में संहिता-ग्रन्थों का अध्ययन कर इस ज्ञान की प्राप्ति करना कठिन कार्य था, क्योंकि विषय-प्रधान स्वतन्त्र ग्रन्थ का अभाव रहा है।

पिछले कुछ वर्षों में इस चिकित्सा का प्रचार-प्रसार न केवल अपने देश में अपितु विदेशों में भी हुआ है। अनेक देशों के लोग पंचकर्म-चिकित्सा के लिए भारत आते है और विदेशों में भी पंचकर्म केन्द्र स्थापित किये गये हैं। स्नातक और स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम में भी इस विषय का महत्त्व बढ़ा है और इसके विशेषज्ञों की संख्या में भी वृद्धि हो रही है। इन कारणों से पंचकर्म-चिकित्सा से सम्बन्धित प्रामाणिक साहित्य के संकलन एवं सम्पादन की अत्यन्त आवश्यकता थी।

श्री मूलचंद खैरातीराम अस्पताल, लाजपत नगर, नई दिल्ली के न्यास के अन्तर्गत चल रहे आयुर्वेद-अनुसंधान-संस्थान की ओर से वेद, उपनिषद्, पुराण, धर्मशास्त्र एवं आयुर्वेद की संहिताओं से आयुर्वेद साहित्य का विषयानुसार संकलन और सम्पादन का कार्य आयुर्वेद के आधुनिक ऋषि पं० श्री हरिदत्त शास्त्री जी ने प्रारम्भ किया था। इस महान् संकल्प को मूर्त्त रूप देने का श्रेय संस्थान के वर्तमान निदेशक और गुजरात आयुर्वेद विश्वविद्यालय, जामनगर के पूर्व कुलपति आचार्य श्री मुकुन्दीलालजी द्विवेदी को है। यह ग्रन्थरत्न आयुर्वेद-जगत् की एक महान् उपलब्धि है। इस पुस्तक को इस विषय के पाठ्यक्रम में स्नातक और स्नातकोत्तर स्तर पर सन्दर्भ ग्रन्थ के रूप में शीघ्र मान्य करना चाहिए। संस्कृत-उद्धरणों की सरल हिन्दी व्याख्या छात्रों के लिए उपयोगी और व्यावहारिक सिद्ध होगी, क्योंकि इसमें न केवल शब्दानुवाद है, अपितु मूलचन्द खैरातीराम अस्पताल के पंचकर्म-विभाग में अनेक वर्षों के प्रयोग से प्राप्त व्यावहारिक ज्ञान का सार-संक्षेप भी है। सत्तरह अध्यायों और प्रायः बारह सौ पृष्ठों का यह अनुपम ग्रन्थ एक महान् उपलब्धि है और पूर्णतया प्रामाणिक भी।

आयुर्वेद-जगत् को इस उत्तम उपहार के लिए माननीय श्री द्विवेदी जी के साथ अन्य सम्पादकगण डा० ताराचंद शर्मा एवं डा० भैरव मिश्र भी बधाई के पात्र हैं। ग्रन्थ के प्रकाशन लिए चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान की प्रशंसा भी अपेक्षित है।

दिनांक १२।२।१९९०
सलाहकार : आयुर्वेद एवं सिद्ध
स्वास्थ्य एवं परिवार-कल्याण मन्त्रालय
नई दिल्ली

शिवकुमार मिश्र

आचार्य मुकुन्दीलाल द्विवेदी, निदेशक, श्री मूलचंद खैरातीराम हास्पिटल तथा आयुर्वेदानुसंधान संस्थान, दिल्ली के स्तुत्य प्रयास से इस उपयोगी ग्रन्थ का प्रकाशन चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली द्वारा वर्ष १९९० में हुआ है। आदरणीय द्विवेदीजी के सहयोगी संपादक डा० ताराचंद शर्मा और डा० भैरव मिश्र रहे हैं। इस ग्रन्थ को संपादित कर इसे लगभग बारह सौ पृष्ठों में प्रस्तुत करना यह सिद्ध करता है कि विद्वान् संपादकों ने इस दिशा में कितना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। इस कार्य से सम्बन्धित उत्प्रेरक, संकलनकर्ता, शोधकर्ता, प्रकाशक तथा मुद्रक सभी प्रशंसा के पात्र हैं।

आयुर्वेद में निदान-चिकित्सकीय अनुसंधान तथा आयुर्वेद-वाङ्मय की रक्षा एवं समृद्धि हेतु दुर्लभ ग्रन्थों एवं टीकाओं को अनुसंधाताओं, अध्यापकों, चिकित्सकों एवं छात्रों की सुविधा हेतु उपयोगी बनाने और प्रकाशित करने की योजना आज से १५ वर्ष पूर्व ही श्री मूलचंद खैरातीराम ट्रस्ट द्वारा आरम्भ की गयी थी। प्रारंभ में यह कार्य केन्द्रीय आयुर्वेद अनुसंधान परिषद् की सहायता से चला, किन्तु दो वर्ष के पश्चात् इस योजना को समय की अवधि को ध्यान में रखकर तथा अन्य कारणों से स्थगित कर दिया था।

तत्पश्चात् श्री मूलचंद खैरातीराम अस्पताल के तत्कालीन निदेशक पं० हरिदत्त शास्त्री जी के प्रयासों से यह कार्य ट्रस्ट द्वारा जारी रखा गया। फलस्वरूप आयुर्वेदीय ग्रन्थों से सूत्र-संकलन के साथ-साथ वैदिक एवं संस्कृत साहित्य से भी संकलन का कार्य अद्यावधि होता रहा है।

संपूर्ण संकलन को लगभग ३० खण्डों में विषयानुसार विभाजित किया गया है। तथा इसी योजना के अन्तर्गत यह प्रथम पुष्प 'आयुर्वेदीय पंचकर्म-चिकित्सा' पाठकों के कर-कमलों में प्रस्तुत किया गया है। आदरणीय शास्त्री जी के सतत प्रयास और लगन का यह एक विशिष्ट उदाहरण है।

यह पुस्तक अपने विषय में एक अपूर्व संकलन सिद्ध होने की क्षमता रखता है। पंचकर्म-चिकित्सा में प्रयोग में आनेवाले विविध कर्मों में बस्तिकर्म प्रमुख है। आयुर्वेद के कायचिकित्सा नामक अंग में 'बस्ति-चिकित्सार्धमिति ब्रुवन्ति सर्वा चिकित्सामपि बस्तिमेकम्' (च० सि० १।४०)। अर्थात् आधी चिकित्सा या किसी-किसी के मत में संपूर्ण चिकित्सा भी बस्ति ही मानी जाती है, जैसे कि शल्यचिकित्सा में सिराव्यध महत्त्वपूर्ण माना जाता है। प्रस्तुत पुस्तक में कुल १७ अध्याय हैं, जिनमें सप्तम, अष्टम, नवम एवं दशम अध्याय बस्तिकर्म पर आधारित हैं। इस प्रकार चार अध्यायों में केवल बस्ति के विषय संकलित किये गये हैं। तथा पृष्ठ ५७० से लेकर ९३४ तक (कुल ३६४) अर्थात् लगभग एक तिहाई भाग में इसी विषय का वर्णन किया गया है। संपूर्ण पुस्तक में विषयानुसार अध्यायों का विभाजन अत्यन्त रोचक तथा बोधगम्य सिद्ध होता है। फलस्वरूप आस्थापन, अनुवासन और उत्तरबस्ति पर आधारित अष्टम, नवम और दशम अध्याय इसी बात की पुष्टि करते हैं। सप्तम अध्याय सामान्य बस्ति-प्रकरण पर आधारित है।

पंचकर्म की प्रक्रिया में आत्रेय मतानुसार वमन, विरेचन, शिरोविरेचन, नस्य, निरूहबस्ति और आस्थापनबस्ति का अंतर्भाव होता है। किन्तु वाग्भट धन्वन्तरीय मत को मानते हुए 'निरूहो वमनं कायशिरोरेकोऽसृग्विसृतिः' (अ० हृ० सू० १४।८) अर्थात् वमन, विरेचन, शिरोविरेचन और रक्तमोक्षण तथा सिराव्यध को 'पंचकर्म' मानते हुए निरूहबस्ति में ही आस्थापनबस्ति का भी अन्तर्भाव किया है। सिराव्यध जिसे शल्यशास्त्र में बस्ति के समान महत्त्व-पूर्ण माना जाता है, उसका अन्तर्भाव करके पंचकर्म को एक विशिष्ट स्थान दिया है।

वमन और विरेचन के पूर्व स्नेहन और स्वेदन को अनिवार्य माना गया है। अतः पंचकर्म का पूर्वकर्म, प्रधानकर्म और पश्चात्कर्म इन तीन प्रमुख प्रयोगिक-प्रक्रियाओं में वर्णन किया जाता है। प्रस्तुत पुस्तक में पंचकर्म-विषयक सभी स्रोतोभूत सूत्रों को प्राचीन आर्ष-संहिताओं से संकलित किया गया है। यथोचित रूप से उनके टीकाकारों के संदर्भों को देकर उनके भावार्थ भी हिन्दी में दिये गये हैं। इससे संपूर्ण विषय सुबोध एवं सरल बनकर छात्रों, अध्यापकों, अनुसंधानकर्ताओं व जिज्ञासुओं के लिए अत्यन्त उपयोगी बन गये हैं।

वस्तुतः पुस्तक का कलेवर अत्यन्त सुसज्जित दृष्टिगोचर होता है। चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान से प्रकाशित होकर यह ग्रन्थ पाठकों को सुलभ हो हो सका है। अतः में मैं प्रकाशक की हृदय से प्रशंसा करते हुए उत्तरोत्तर इस प्रकार के अन्य प्रयासों के लिए भी अपनी शुभकामना प्रकट करता हूँ।

दिनाङ्क १२।२।९०
केन्द्रीय आयुर्वेद एवं सिद्ध अनुसंधान परिषद्
सी १०, ग्रीनपार्क एक्स्टेंशन
नई दिल्ली १६

विवेकानन्द पाण्डेय

आचार्य मुकुन्दीलाल द्विवेदी एवं उनके विद्वान् सहयोगियों द्वारा संपादित तथा चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान द्वारा प्रकाशित 'आयुर्वेदीय पञ्चकर्म-चिकित्सा' शीर्षक ग्रन्थ का आद्योपान्त अवलोकन करने का अवसर प्राप्त हुआ। यह ग्रन्थ श्रीमूलचन्द खैरातीराम आयुर्वेदानुसंधान संस्थान, नई दिल्ली में तत्कालीन निदेशक पं० हरिदत्त शास्त्री द्वारा प्रारंभ की गयी आयुर्वेदीय साहित्य अनुसंधान परियोजना का प्रतिफल है। इसके पूर्व भी इस संस्थान से 'देहधात्वग्नि विज्ञान' नामक मौलिक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है। पंडित हरिदत्त शास्त्री की भावना के अनुरूप ही संस्थान के वर्तमान निदेशक आचार्य मुकुन्दीलाल द्विवेदी ने इस परियोजना को गति प्रदान की और उसके परिणामस्वरूप आज पञ्चकर्म विषयक यह ग्रन्थ हमारे सामने है।

आयुर्वेदीय पञ्चकर्म-चिकित्सा पर प्रकाशित अब तक के सभी ग्रन्थों में यह सर्वोत्तम है। यह संभवतः पञ्चकर्म सम्बन्धी साहित्यिक ज्ञान का पूर्ण संकलन है। सभी संहिताओं तथा संग्रह-ग्रन्थों के पञ्चकर्म सम्बन्धी साहित्य तथा उन पर प्रमुख टीकाकारों की टीकाएँ मूल रूप से एकत्रित करके उन पर हिन्दी में भी भाषान्तर व विमर्श लिख कर इस ग्रन्थ को अपने विषय के संपूर्णात्मक ग्रन्थ का स्वरूप दे दिया गया है। यह ग्रन्थ विद्यार्थियों तथा चिकित्सकों के लिए तो उपयोगी है ही, स्नातकोत्तर छात्रों, अनुसंधानकर्त्ताओं तथा अध्यापकों के लिए विशेष रूप से उपयोगी है। इस ग्रन्थ के अवलोकन के बाद पाठकों को मूलस्रोत ग्रन्थों के अध्ययन तथा संदर्भ-संकलन की आवश्यकता नहीं रह जायेगी। इससे उनके समय की बचत होगी और उन्हें पूर्ण मार्ग-दर्शन प्राप्त होगा।

संपादकों ने अत्यन्त परिश्रमपूर्वक साहित्य-संकलन, शीर्षकीकरण तथा व्यवस्थित एवं व्याख्यात्मक प्रस्तुतीकरण के माध्यम से इस नवीन ग्रन्थ की रचना की है। वे इस मौलिक कार्य के लिए बधाई के पात्र हैं। ग्रन्थ की भाषा शुद्ध तथा भाषान्तर सरल एवं सुबोध है। मुद्रण सम्बन्धी अशुद्धियाँ भी नगण्य हैं। आशा है, यह ग्रन्थ शीघ्र ही पाठकों के बीच पहुँचेगा और अपना उचित स्थान प्राप्त करेगा।

इस ग्रन्थ के प्रमुख संपादक आचार्य मुकुन्दीलाल जी द्विवेदी आयुर्वेद की जानी-मानी हस्तियों में से रहे हैं। उन्हें आयुर्वेद के प्रत्येक क्षेत्र का अनुभव रहा है। वे लम्बे समय तक उत्तर प्रदेश सरकार में आयुर्वेद व यूनानी सेवाओं के निदेशक रहे तथा उत्तर प्रदेश में आयुर्वेदीय सेवाओं तथा शिक्षण संस्थाओं को मानक स्वरूप देने के लिए उन्हें सर्वदा याद रखा जायेगा। वे गुजरात आयुर्वेद विश्वविद्यालय के कुलपति तथा वर्षों तक अन्य संस्थाओं में अध्यापन कार्य किया है। वे सिद्धहस्त चिकित्सक तथा आयुर्वेद के अग्रगणी विद्वान् थे। उनकी इस योग्यता का पूर्ण लाभ प्रस्तुत ग्रन्थ को मिला है।

जैसा कि हम अन्यत्र भी कह आये हैं कि आयुर्वेदीय चिकित्सा के संदर्भ में 'पञ्चकर्म' तथा 'षट्कर्म' ये दो प्रकार के उपक्रम विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। महर्षि चरक ने कायचिकित्सा को षट्कर्मसिद्धि माना है। षट्कर्म के अन्तर्गत लंघन, बृंहण, रूक्षण, स्नेहन, स्वेदन एवं स्तम्भन ये छः कर्म आते हैं। इन छः कर्मों को कार्मुकता की दृष्टि से दो प्रधान वर्गों में अन्तर्भूत किया जाता है—१. अपतर्पण तथा २. संतर्पण। इसी प्रकार संपूर्ण आयुर्वेदोक्त चिकित्सा कर्म दो प्रकार के होते हैं—१. संशोधन, २. संशमन—'शोधनं शमनं चेति समासादौषधं द्विधा'। साथ ही यह भी कहा गया है कि शरीरिक दोषों के निवारण के लिए बस्ति, विरेचन एवं वमन परम औषधि हैं। इस प्रकार शोधन को शमन चिकित्सा की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया गया है। क्योंकि संशोधन द्वारा बाहर निकाले गये दोष पुनः प्रकुपित नहीं होते। पञ्चकर्म-चिकित्सा मूलतः संशोधन चिकित्सा ही है।

दोषाः कदाचित् कुप्यन्ति जिता लङ्घनपाचनैः।
जिताः संशोधनैर्ये तु न तेषां पुनरुद्भवः॥ च० सू० १६।२०

चरकोक्त षट्कर्म की क्रियाएँ सिद्धान्ततः दो प्रकार की हैं—१. संतर्पण, २. अपतर्पण। वे अधिकांश क्रियाएँ भी पञ्चकर्म सिद्धान्त के अन्तर्गत आ जाती हैं। उदाहरणार्थ लङ्घन के विषय में आचार्यों ने कहा है कि वमन, विरेचन, शिरोविरेचन तथा निरूहबस्ति ये चार शोधन तथा पिपासा, मारुत, पाचन, उपवास एवं व्यायाम ये लङ्घन हैं। इस संदर्भ में चार प्रकार के ही शोधन बतलाये गये हैं और उपवास, व्यायामादि लङ्घन के अन्य भेदों का प्रभाव सामान्य के कारण संशोधन के साथ वर्णन किया गया है। अनुवासनबस्ति बृंहणकारक होने से उसका इनके अन्तर्गत वर्णन नहीं किया गया है।

इस प्रकार लङ्घन एवं बृंहण अर्थात् अपतर्पण एवं संतर्पण के सिद्धान्त भी पञ्चकर्म की व्यवस्था में अन्तर्भूत हो जाते हैं। स्नेहन तथा स्वेदन पञ्चकर्म के पूर्वरूप हैं। वमन-विरेचनादि पञ्चकर्म की प्रधान क्रियाओं के सम्यग् योग की प्राप्ति हो जाने पर अतियोगजनित उपद्रवों से रक्षा हेतु पश्चात्कर्म के अन्तर्गत स्तम्भन आदि कर्म भी कराये जाते हैं। इस प्रकार पञ्चकर्म तथा षट्कर्म के सिद्धान्तों में कोई विरोध नहीं है। कायचिकित्सा की दृष्टि से पञ्चकर्म के अन्तर्गत वमन, विरेचन, निरूहबस्ति, अनुवासनबस्ति, शिरोविरेचन ये पाँच कर्म आते हैं। शल्य-चिकित्सा की दृष्टि से वमन, विरेचन, बस्ति, शिरोविरेचन एवं रक्तमोक्षण का पञ्चकर्म के अन्तर्गत ग्रहण किया गया

है। प्रत्येक कर्म के संपादन के पूर्व एवं पश्चात् कुछ प्रधानकर्म के सहायक कर्म किये जाते हैं। उन्हें महर्षि सुश्रुत ने 'अग्रोपहरणीय' नाम से ग्रहण किया है। इसी प्रकार महर्षि चरक ने स्नेहन-स्वेदन के पश्चात् उपकल्पनीय अध्याय का वर्णन किया है। यहाँ उपकल्पना से तात्पर्य तय्यारी से है। इसमें वमन-विरेचनादि कर्म में उपयुक्त सामग्री से लेकर उपद्रवों के शमनार्थ द्रव्यादि की कल्पना की गयी है।

आयुर्वेद के मूल सिद्धान्त के अनुसार दोष अपने स्थान से चलकर स्रोतो-वैगुण्य के माध्यम से रोग उत्पन्न करते हैं। स्रोतोवैगुण्य को दूर करना तथा दोषनिर्हरण ही चिकित्सा है। इसके लिए दोषों को उपयुक्त कोष्ठ में लाकर शोधनकर्म करते हैं। आचार्य ने दोषवर्धन, विष्यन्दन, पाक, स्रोतोमुख-विशोधन तथा वायुनिग्रह ये पाँच उपाय बतलाये हैं, जिनके द्वारा दोषों को शाखा से कोष्ठ में लाया जा सकता है—

वृद्धया विष्यन्दनात् पाकात् स्रोतोमुखविशोधनात्।
शाखां मुक्त्वा मलाः कोष्ठं यान्ति वायोश्च निग्रहात् ॥ च० सू० २८।३३

पञ्चकर्म केवल कायचिकित्सा का सहायक विषय न होकर आयुर्वेद के आठों अंगों में प्रयोज्य है। यह आयुर्वेदीय चिकित्सा का आधारभूत कर्म है। बिना संशोधन के आयुर्वेदीय चिकित्सा अपूर्ण है। पञ्चकर्म तथा अन्य संशोधन कर्म संशमन चिकित्सा की पूरक चिकित्सा होने के अतिरिक्त अनेक अवस्थाओं में स्वयं पूर्ण चिकित्सा भी है। संशोधन, संशमन तथा निदानपरिवर्जन के यथायुक्ति प्रयोग द्वारा सभी रोगों का निराकरण संभव है। स्वस्थवृत्त तथा जनपदोध्वंस के प्रसंग से लेकर रसायन-वाजीकरण, शल्य-शालाक्य, कौमार-भृत्य, बालरोग तथा भूतविकारों की चिकित्सा व्यवस्था तक पञ्चकर्म विधान का महत्त्व है। बालरोगों में स्तन्यदुष्टिजन्य रोग तथा बालग्रहों की चिकित्सा में शोधन-चिकित्सा का स्पष्ट निर्देश है। इसी प्रकार विषतन्त्र में भी शोधनकर्म का अतीव महत्त्व है। इस प्रकार पञ्चकर्म तथा तत्सम अन्य संशोधन कर्मों का अत्यन्त व्यापक प्रयोग आयुर्वेद में निर्दिष्ट है। इसका यथा-योग्य युक्तिपूर्वक प्रयोग करना चाहिए। युक्ति का महत्त्व तो है ही, परन्तु सर्वोपरि है युक्तिज्ञ वैद्य, जिसकी सूझ-बूझ ही सिद्धि प्रदान करती है—

मात्राकालाश्रया युक्तिः, सिद्धियुक्तौ प्रतिष्ठिता।
तिष्ठत्युपरि युक्तिज्ञो द्रव्यज्ञानवतां सदा ॥ च० सू० २।१५

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
कायचिकित्सा विभाग : आयुर्वेद संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
रामहर्ष सिंह

आयुर्वेदीय-पंचकर्म-चिकित्सा

विषयानुक्रमणिका

प्रथमोऽध्यायः

विषयप्रवेश	पृष्ठाङ्काः		पृष्ठाङ्काः
पंचकर्म चिकित्साया आधारः	१	शोधनप्रयोग प्रकार वर्णनम्	१५
द्विविधचिकित्सोपक्रमः	४	पञ्चकर्म-निरूपणम्	१७
बृंहणलंघन परिभाषा	४	कानि पञ्च-कर्माणि	१७
लङ्घनचिकित्सा भेदो	५	पञ्चकर्मप्रकारमधिकृत्य विशेष	
किंनाम संशोधनम्	५	ज्ञानार्थं पुनर्वसुसविधे अग्निवेशकृतानां	
पञ्चविधशोधनोदाहरणानि	६	द्वादशप्रश्नानाम् ऐतिहासिकं	
किंनाम संशमनम्	७	सूचनम्	१८
संशमनचिकित्सापेक्षया संशोधनमहत्त्वे		यथाक्रम-विविध प्रश्नोत्तराणि	१९
युक्तिः	७	का कल्पना पञ्चसुकर्मसूक्ता	१९
यथाकालं संशोधन प्रयोग फलानि	९	क्रमश्च कः	२१
संशोधन गुण निर्देशः	९	किं च कृताकृतेषु	२२
शोधन वृक्षाः	९	बस्ति संख्या का	२२
संशोधन योग्यानां वर्णनम्	११	किं गुणो बस्तिः	२३
संशोधनयोग्यरुग्णानां विचारणीय		केषु कश्च बस्तिः	२४
विषयाः	११	कृते कियान् वा परिहारकालः	२५
संशोधनायोग्यानां वर्णनम्	१२	प्रति कर्म काले किं वर्जनीयम्	२६
पञ्चकर्म साध्यव्याधि संकेतः	१३	प्रणीयमानश्च न याति गुचिराच्च	
अवस्थाविशेषे व्याधि विना दुर्बलेऽपि		केन	२६

पृष्ठाङ्काः

केनेति शीघ्रम् २७
के साध्या गदाः २७
संशोधनप्रारम्भात् प्राक् तदुपकरण संकलनं रोगीचयनं च कर्तव्यम् २८
आतुरालयस्वरूपम् २९
आतुरालये चिकित्सासाधनरूप-लावकपिञ्जलशशहरिणादि पालनम् ३०
आतुरालय सम्बद्धगोपालन प्रकारः ३०
आतुरालय प्रयोज्यौषध कल्पना सामग्री निर्देशः ३०
आतुरालये प्रयोज्यविविध चिकित्सानुपानादि सामग्री संकलन समुल्लेखः ३१
शोधनात्प्रागुत्पन्नात्ययिक रोग चिकित्सासम्पादनाय काल नियमः ३१
व्यापत्सामग्रीसाधारणसेवासामग्री संकलनं च ३१
आतुरालयप्रयोज्यविविधपात्रादी-नामुल्लेखः ३२
आतुरालये प्रयोज्यशयनासनादि सामग्री समुल्लेखः ३२
आतुरालये चिकित्सा कर्मसाधक द्रव्याणां सूची ३२
आतुरालये भोज्यसामग्री संकलन संकेतः ३३
शोधनार्थोत्तम पात्रता संकेतः ३३
आतुरमनोविनोदार्थं कुशल विविध परिषद्य स्थापनम् ३३
योग्यपरिचारकलक्षणम् ३४
आपत्सु स्वल्पसाधनैरपि संशोधन विधानम् ३४

पृष्ठाङ्काः

संशोधनमधिकृत्य संवत्सर विभाग विधानम् शोधनयोग्य कालवर्णनं च ३५
आत्ययिक रोगे संशोधनार्थं ऋत्वौ-षधिविकल्पना ४१
संशोधनार्थं शमनार्थंवौषधिप्रयोगा-यातुरावस्थाकाल परीक्षणम् ४२
वातपित्तकफानां प्रावृडादिऋतु विभागेन शोधनविधानम् ४३
स्नेह स्वेदौ बिना शोधने विकारो-त्पतौ युक्तिः ४४
संशोधनात्पूर्वं स्नेहस्वेदक्रमनिर्देशः ४५
मलानां कोष्ठाद् शाखासु गतौ कारणानि ४५
शाखागतमलानां कोष्ठं प्रत्यानयन-कारणानि ४६
स्नेहस्वेदयोरूपयोगित्वम् ४७
वातादिदोषशान्तये परमौषधि वर्णनम् ४७
दुर्बलरुग्णस्य प्रभूतालपदोषेषु शोध-नस्य शमनस्य वा विधानम् ४८
मन्दाग्नेः क्रूरकोष्ठस्य च संशोधन विधिः ४८
सूक्ष्मदोषदूष्यादिविचारे बुद्धेराकुली भावः ४८
आशय भेदेन दोषविशेषस्य रोगो-त्पादने सम्बन्धः ४९
दोषभेदेन संशोधनोपक्रमः ०५
स्वस्थान प्रच्युतानां दोषाणां शोध-नाऽभावे कष्टकारित्वम् ५०
संशोधनान्ते प्रकृतिं प्राप्तस्य पुरुषस्य लक्षणानि ५०

पृष्ठाङ्काः

संशोधनान्ते सर्ववर्ज्यानि ५१
अष्टविध-कुपथ्यानां मध्ये उच्चैर्भाष्यातिभाष्यजन्यानामुपद्रवाणां वर्णनम् ५२
रथक्षोभादिसकलशरीरक्षोभक कुपथ्यजन्यानामुपद्रवाणां वर्णनम् ५३
अतिचङ्क्रमणजन्यानामुपद्रवाणां वर्णनम् ५३
अत्यासनजन्यानामुपद्रवाणां वर्णनम् ५४
अजीर्णाध्यशनजन्यानामुपद्रवाणां वर्णनम् ५४
विषमाहिताशनजन्यानामुपद्रवाणां वर्णनम् ५५
दिवास्वप्नजन्यानामुपद्रवाणां वर्णनम् ५५
व्यवायजन्यानामुपद्रवाणां वर्णनम् ५५
उच्चैर्भाष्यातिभाष्यजन्योपद्रवे चिकित्सा सूत्रम् ५६
रथक्षोभातिचङ्क्रमणात्यासनजन्या-नामुपद्रवाणां चिकित्सा सूत्रम् ५७
अजीर्णाध्यशनजन्यानामुपद्रवाणां चिकित्सा सूत्रम् ५७
विषमाहिताशनजन्यानामुपद्रवाणां चिकित्सा सूत्रम् ५७
दिवास्वप्नजन्यानामुपद्रवाणां चिकित्सा सूत्रम् ५८
व्यवायजन्यानामुपद्रवाणां चिकित्सा सूत्रम् ५८
सम्यगासम्यगविहित संशोधित प्रश्नाः आत्रेयप्रदत्तोत्तराणि च अनैकान्तिकं चिकित्साफलमिति पूर्वपक्षः ५९
निश्चितफला सम्यग्ज्ञानपूर्वा चिकित्सा ५९
संभाव्यमानव्याप्रतिकारायोचितं तत्साधन संकलनम् ५९
पञ्चकर्मप्रयोगे सम्यक् पथ्यपालना-वश्यकतायां युक्तयः ६०
पथ्यपालने पेयादिक्रम प्रयोगे प्रथमतः स्वाद्वम्ललवणरसप्रधान-द्रव्याणां परतः स्वादु-तिक्त कषायकटुक रसानां प्रयोग सूचनम् ६१
पञ्चकर्म प्रयोगे तर्कयुक्तिविचारा-वश्यकता ६२

द्वितीयोऽध्यायः

पूर्वकर्म-परिचयः ६४
पूर्वकर्म महत्त्वम् ६५
स्नेहनस्वेदनशोधनानां परस्परोप-कारकतया शरीरमलशोधने दृष्टान्त सूचनम् ६५
स्नेहन शब्दस्य निरुक्तिः ६६
स्नेह लक्षणम् ६६
स्नेह प्रयोगस्योपकारः शतायुः प्राप्तिश्च ६६
स्नेहकार्यम शरीरे प्रभावश्च ६७
व्याधिपीडिते पुरुषे स्नेहपानफलम ६८
स्नेहन स्वेदनयोः शोधनानुकूलतायाः युक्तिः ६९
स्नेहनद्रव्य लक्षणम् ६९

	पृष्ठाङ्काः
स्नेहन विरुक्षणद्रव्यलक्षणम्	६९
अग्निवेशकृताः पञ्चविंशतिः प्रश्नाः	७०
स्नेहयोनयः	७१
स्नेहसंख्या परिगणनम्	७२
स्थावरस्नेहोदाहरणानि	७३
विविधकर्मोपयोगिस्थावर स्नेह द्रव्याणि	७४
विरेचनोपयोगि स्थावरस्नेह वर्णनम्	७४
वमनोपयोगि स्थावर स्नेह वर्णनम्	७४
शिरोविरेचनोपयोगि स्थावर स्नेह वर्णनम्	७४
दुष्टव्रणोपयोगि स्थावर स्नेह वर्णनम्	७४
महाव्याधौ प्रयुज्यमानस्थावर स्नेह वर्णनम्	७५
मूत्रसंगोपयोगि स्थावर स्नेह वर्णनम्	७५
शर्कराश्मरीषु प्रयुज्यमान स्थावर स्नेह वर्णनम्	७५
प्रमेहोपयोगिस्थावर स्नेह वर्णनम्	७५
पित्त संसृष्टवातोपयोगिस्थावर स्नेह वर्णनम्	७५
कृष्णीकरणोपयोगिस्थावर स्नेह वर्णनम्	७५
पाण्डुकरणोपयोगि स्थावर स्नेह वर्णनम्	७५
दद्रुकुष्ठकिटिभोपयोगि स्थावर स्नेह वर्णनम्	७५
दशेमानि स्नेहोपगानि द्रव्याणि	७८
संस्कारस्यानुवर्तनाद् घृतस्य योग-वाहित्वे प्राधान्यम्	७८
स्नेह गुणानां वर्णनम्	७९
घृतगुण-विशेषाः	७९
तैलगुण-विशेषाः	८१
मज्जागुण विशेषाः	८१
वसागुण-विशेषाः	८२
स्नेहानां प्रयोगप्रकाराः	८२
महास्नेह फलम्	८२
चतुर्णा स्नेहानां प्रवरावरविचारः, यथाक्रमदोषघ्नत्वं च	८३
स्थावरस्नेहेषु तिलतैलयोः वैशिष्ट्यम्	८३
एरण्डतैलविशेषगुणाः	८४
संयुक्तनेहनद्रव्याणां पारिभाषिक नामानि	८४
स्नेहार्थं तिलतैलघृतप्रयोग संकेतः	८४
स्नेह महत्वं विविध प्रयोग भेदाश्च	८५
कस्य स्नेहस्य कः कालः	८५
प्रवरावरस्नेहन प्रयोग कालः	८७
तैलसेवनकालो, घृतसेवनकालश्च	८८
सामान्यतः संशमनस्नेहपान कालः	८८
सामान्यतः शोधन स्नेहपान कालः	८८
वातपित्तकफदोषानुसारं स्नेहपान कालः	८९
विपरीतकाले स्नेहपानजन्योपद्रवाणां वर्णनम्	८९
स्नेहपाने कोष्ठविचारः	९१
उत्तमस्नेहमात्रा प्रयोगस्थलानि	९२
उत्तम स्नेह मात्रा पानगुणाः	९४
त्रिविध स्नेह मात्रा फलानि	९४
दोष कालवयोवह्निबलानुसारिणी स्नेहमात्रा	९४
उत्तममध्यमह्रस्वस्नेहमात्रा वर्णनम्	९५
अच्छस्नेहनस्य प्रयोगकाल विचारः	९६

	पृष्ठाङ्काः
मध्यम स्नेहमात्रा प्रयोग स्थलानि तत्र युक्तिश्च	९७
ह्रस्वस्नेह मात्रा प्रयोगस्थलानि	९८
ह्रस्वस्नेहमात्रापान गुणाः	९८
अच्छपान स्नेहमात्रा कालयोः संकेतः	१००
अज्ञातकोष्ठे पुरुषे कनीयस्याः स्नेहमात्रायाः प्रयोग निर्देशः	१००
चतुर्विंशतिस्नेह प्रविचारणोदाहरणानि	१०५
त्रिषष्टिरसभेदेन प्रविचारणाया उदाहरणानि	११०
सात्म्यदेशकालव्याधि प्रभृति सापेक्षः प्रविचारणाप्रयोगः	१११
अच्छपेय स्नेहे तु विचारणाभावः	१११
स्नेहस्य अच्छपानगुणमहत्त्वम्	११२
प्रविचारणा केभ्यो हिता, इति वर्णनम्	११२
स्नेह्यानां वर्णनम्	११३
कुष्ठादिरोगविशेषे स्नेहन योगः	११५
घृतपानं केभ्यो हितम्	११५
वातपित्तकफदोषानुसारं घृत प्रयोग भेद वर्णनम्	११६
स्नेहने तैलपानं केभ्यो हितम्	११६
स्नेहने वसापानं केभ्यो हितम्	११७
स्नेहने मज्जपानं केभ्यो हितम्	११८
अस्नेह्यानां वर्णनम्	११९
अच्छपान निषेध स्थलानि	१२२
आत्ययिकदशायां घृत तैल प्रयोग संकेतः	१२२
नियम विपरीत स्नेह प्रयोगे हानि संकेतः	१२३
स्नेहनादिकर्मणः प्रारम्भात् प्रागेव तदुपकरण संभारसंग्रहावश्यकता	१२४
स्नेहपानात्पूर्वं पथ्यम्	१२४
त्वरिताधिक स्नेहपान निषेधः	१२५
अतिमात्र स्नेहपाने दोषाः तत्र चिकित्साक्रमश्च	१२५
स्नेहपान क्रमः	१२६
सम्यक् स्निग्ध लक्षणम्	१२७
अतिस्निग्धलक्षणम्	१२७
अस्निग्धलक्षणम्	१२८
स्नेहजीर्ण-स्नेहाजीर्ण लक्षणानि	१२९
स्नेहपानोत्तरं वमनकालनियमस्तत्र पथ्यं च	१३०
स्नेहपानोत्तरं पथ्यापथ्यः	१२९
स्नेहपानोत्तरं विरेचन काल नियमस्तत्र पथ्यं च	१३१
स्नेह मिथ्योपचारात् दारुण रोगभयम्	१३१
सामे पित्तेकेवलसर्पिपानात् व्यापत्तिः	१३२
मिथ्याचारात् ज्वरोपद्रव संकेतः तत्र लंघन विधानं च	१३३
अतिस्निग्धोपद्रवाः	१३३
सामान्य चिकित्सोपक्रमः	१३३
मिथ्याप्रयुक्तस्नेहोपसर्ग भूततृष्णायाः सम्प्राप्तिस्तत् चिकित्सा सूत्रं च	१३४
मूर्धतैल विधिः तस्य भेदाः प्रयोग स्थलानि च	१३६
मूर्धतैलधारण सामान्य गुणाः	१३७
स्नेहने कतिचिद् विरुक्षणीय व्याधि संकेतः	१३८

	पृष्ठाङ्का
अग्निसंयोगकृत चतुर्विध स्वेद भेदाः	१७७
दोष विशेषे स्वेद चतुष्टयानां विषय निर्देशः	१७८
ताप स्वेद वर्णनम	१७८
तापस्वेदोपकरणानि	१७८
बालकस्य अवस्था विशेषे हस्त-स्वेदपटस्वेदादिविधानम्	१७९
उपनाह स्वेद वर्णनम्	१८०
उपनाह शब्दस्यनिरुक्तिः परिभाषा च	१८०
उपनाहस्वेदद्रव्य प्रयोगः	१८०
उपनाहस्वेद द्रव्याणि	१८३
काकोल्यादिगणः	१८३
एलादिगणः	१८४
सुरसादिगणः	१८४
उपनाहस्वेदे बन्धमोक्षविधि भेदः	१८६
उपनाहस्वेदस्य प्रकारान्तरेण बन्धनविधि वर्णनम्	१८६
उपनाहे साल्वण स्वेद वर्णनम	१८८
द्रव स्वेद भेदाः	१९०
अवगाह स्वेदानां परिषेकस्वेदानांच वर्णनम्	१९०
द्रवस्वेदवर्णनम् तत्र परिषेक स्वेदः	१९१
द्रवस्वेदोपकरणानि स्वेदनविधिश्च	१९२
ऊष्मस्वेदस्य विविध प्रकाराणां वर्णनम् स्वेदविधिश्च	१९३
उष्मस्वेद भेदाः	१९४
दशविधं अनग्निस्वेदनिरूपणम्	१९८
अनुपवास्याः	२०२

	पृष्ठाङ्का
केचिदातुराश्चप्युवासार्हाः	२०२
प्राणाविरौधिना लङ्घनोपदेशः	२०३
कुत्र अनग्निस्वेदः कर्तव्यः	२०५
स्वेदन द्रव्यगुणाः, लक्षणम्	२०६
विविधस्वेदोपयोगी द्रव्याणिः	२०७
स्वेदोपगद्रव्याणि दशेमानि	२०६
प्रदेहस्वेदोपयोगी द्रव्याणि	२०७
प्रस्तर स्वेद द्रव्याणि	२०७
चतुर्विध स्वेदोपयोगि द्रव्याणि उपकरणानि च	२०७
श्लैष्मिकरोगिभ्यः स्वेदसामग्री संकेतः	२०८
स्वेदनाय घृतक्षीर तैल कोष्ठ प्रयोगः	२०९
स्वेद्यास्वेद्यानाम वर्णनम्	२०९
स्वेद्यानां वर्णनम्	२०९
मुख्य कर्मणः प्राक् पश्चात् आदौ अन्ते च स्वेदन योग्यानां वर्णनम्	२०९
अस्वेद्यानां वर्णनम्	२११
स्वेदनकाले विचारणीय विषयाः	२२१
स्वेदफलप्राप्तये रोगर्तुव्याधितादीनां परीक्षणम्	२२१
बालकस्य शरीरे स्वेदमात्रा प्रयोग भेदे युक्तिः	२२१
हृदयादि शरीरांगविशेषाणां मृदु-स्वेद विधानम्	२२२
सर्वांगस्वेदे नेत्रयोः हृदयस्य रक्षा-संकेत	२२२
स्वेदन समये हृदयोत्क्लेशनिवारणोपचारः	२२३
सम्यक् स्विन्नस्य स्वेदप्रयोगकालावधेश्च वर्णनम्	२२४

	पृष्ठाङ्का
विरूक्षण कर्मणः योगातियोग लक्षणः	१३९
असात्म्यस्नेहोपद्रवाः	१३९
शिरोबस्ति विधि	१३९
सद्यः स्नेहनार्थं योगानां वर्णनम्	१४१
रोग विशेषे सद्यः स्नेहन योग निषेधः	१४५

तृतीयोऽध्यायः

स्वेदन प्रकरणम्	१४८
किन्नाम स्वेदनम्	१४८
स्वेदन शब्दस्य निरुक्तिः	१४९
स्वेदन लक्षणम्	१४९
स्वेदनकर्मणः सामान्यगुणाः	१४९
स्नेहनानन्तरं स्वेदप्रयोगे युक्तिः	१४९
स्नेहोत्तर स्वेदकार्य वर्णनम्	१५०
विविध स्वेद भेदाः	१५१
स्वेदद्वैविध्यम्	१५१
सर्वाङ्गैकाङ्गभेदेन स्वेद प्रयोगः	१५२
डल्हणोक्त द्विविध स्वेदनस्य कार्मुक भेद	१५२
त्रिविध भेदाः	१५२
महान् दुर्बल मध्यम स्वेदवर्णनम्	१५२
तापादि चतुर्विधः स्वेदः	१५३
सप्तविध स्वेदनम्	१५३
बालके अष्टविधस्वेद प्रयोगः	१५३
संकरादि भेदेन त्रयोदश स्वेद-प्रकाराः	१५६
दोषानुसारेण स्वेद निर्देशः	१५६
रुक्षास्निग्धभेदेन स्वेदयोग्यता संकेतः	१५८
साग्नि स्वेदनस्य त्रयोदशविध प्रकाराणाम् वर्मनम्	१५९
पिण्डस्वेद व्यवहारोदाहरणानि	१६०
वातविकारेषु पिण्डस्वेद सामग्री संकेतः	१६०

	पृष्ठाङ्का
कस्य स्नेहस्य किमनुपानमिति प्रश्नस्योत्तरम्	१४६
उष्णजलनिर्माण प्रकारः तद् गुणाश्च	१४७
दोषानुसार स्नेहानुपानानि	१४७
प्रस्तरस्वेद निरूपणम्	१६१
प्रस्तर स्वेदोपयोगी द्रव्याणि	१६२
प्रस्तर स्वेदेऽपि पिण्ड स्वेदसमग्री प्रयोज्या	१६२
नाडीस्वेदनिरूपणम्	१६२
वातविकारेषु नाडीस्वेदयोगः	१६५
वातकफविकारेषु नाडीस्वेद प्रयोगः	१६५
पितानुबन्धी वात विकारेषु नाडीस्वेद संकेतः	१६५
परिषेक स्वेद निरूपणम्	१६६
अवगाह स्वेद निरूपणम्	१६६
द्रोण्याम् अवगाह स्वेदः	१६७
जलावगाहस्वेदः	१६७
कटाहद्वाराऽवगाह स्वेदः	१६८
अवगाह स्वेद विधिः	१६८
जेन्ताकस्वेद निरूपणम्	१६९
नाडीस्वेदद्रव्याणां जलकोष्ठक अवगाहस्वेदेऽपि प्रयोगनिर्देशः	१७१
अश्मघनस्वेदनिरूपणम्	१७१
भूस्वेदनिरूपणम्	१७२
कर्षूस्वेदनिरूपणम्	१७२
कुटीस्वेद निरूपणम्	१७३
कुम्भीस्वेद निरूपणम्	१७५
कूपस्वेद निरूपणम्	१७६
होलाक स्वेद निरूपणम्	१७६

	पृष्ठाङ्क
मन्द स्विन्न लक्षणानि तत्र चिकित्सा च	२२५
अतिस्विन्न लक्षणम् तस्य चिकित्सा च	२२५
स्वेदनान्ते आहार-विहारादि वर्णनम्	२२८

चतुर्थोऽध्यायः

संशोधन-प्रकरणम्	२३०
ऊर्ध्वाधः शोधन भेदेन वमन विरेचन संकेतः	२३०
दोष निर्हरणे वमन विरेचनयोः महत्व सूचनम्	२३१
संशोधनस्य महत्वम्	२३२
संशोधन द्रव्य (परिभाषा) लक्षणम्	२३२
संशोधन-योग्यायोग्यानाम् वर्णनम्	२३३
संशोधन योग्याः	२३३
संशोधन अयोग्याः	२३३
वमन विरेचने श्रेष्ठ द्रव्य संकेतः	२३४
षट् शोधनार्थाः वृक्षाः	२३४
अर्क क्षीर गुणाः	२३५
शोधनद्रव्याणां कामुंकत्वम्	२३५
वमन विरेचन द्रव्याणां रसवीर्य विपाकप्रभावादि विचारपूर्वकं तत्तदनुपानादि भेदेन षड्विरेचन योगशतानां संकेतः	२३७
ऊर्ध्वाधः शोधन द्रव्याणां यथायथं विरेचकत्वे वामकत्वे च युक्ति विचारः	२३९
उभयतोभागहर भेषजानि	२४१
कल्पस्थाने प्रोक्तानां वमनविरेचन योगानां षट्शतानि	२४१
यथावश्यकासंख्ययोगकल्पना संकेतः	२४२
चिकित्सा सिद्ध्यर्थं वमन विरेचन विविध कल्पज्ञानस्यावश्यकता	२४२
संशोधन प्रधानद्रव्येन सह विरुद्ध वीर्याप्रधानद्रव्य संयोगे युक्तिः	२४५
मुख्यद्रव्यानुसारं योगनामकल्पनायां तथा प्रधानद्रव्य गौणद्रव्ययोः परस्परं सहायकत्वे युक्तिश्च	२४६
प्रयोजनानुसारं तीक्ष्णमन्दमध्य कार्यकर भेषज योग कल्पना संकेतः	२४७
मध्य मृदुवीर्य भेषजयोग प्रयोग स्थल संकेतः	२४७
तीक्ष्णवीर्य भेषजयोग प्रयोगस्थल संकेतः	२४७
शोधितदुर्बलेऽपरिज्ञात कोष्ठे च मृदुशोधकद्रव्य प्रयोगः	२४७
शोधनद्रव्यकल्पनानिर्देशः	२४८
दुर्बले बहुदोषे रुग्णे शोधन निर्देशः	२४८
आशय भेदेन शोधनम्	२४९
दोषानुसार संशोधनयोग्यावस्था संकेतः	२४९
संशोधन योग्य काल निर्देशः	२५६
यथर्तु द्रव्य सेवन फलम्	२५१
मलशोधनकाल विचारः	२५१
शोधन कर्मणि स्नेह स्वेदयोः प्रयोगकाल संकेतः	२५३
स्नेहस्वेदौ विनाशोधने विकारोत्पत्तौ युक्तिः	२५३
संशोधने क्रम निर्देशः	२५४
स्नेहस्वेदानन्तरंसंशोधनविधानम्	२५४

	पृष्ठाङ्क
दोष संशोधन काले ब्रह्मचर्य पालने युक्तिः	२५५
वमन विरेचनकर्मणः प्राक् दोषो क्लेशक भोजन संकेतः	२५५
वमनात् प्राक् कफोत्क्लेशावस्थायां विरेचनात् प्राक् कफ न्यूनतावस्यकतायां युक्तिः	२५५
वमनात् प्राक् तथा वमनादनंतरं प्रयोज्य विरेचनात् प्राक् च कर्तव्य विधि संकेतः	२५६
वमनविरेचनयोः पूर्व दिने पथ्य पालन संकेतः	२५७
शोधन भेषज प्रयोगकाले मानस शान्त्यावश्यकता	२५८
वमनविरेचन कर्मणि विशेषदशायां कर्तव्यम्	२५८
शोधनौषध प्रयोगक्रमः	२६१
दोषानुसार वमनविरेचन भेषजपान संकेतः	२६१
अवस्थाविशेषे मृदु स्वल्पमात्र भेषज योगे युक्तिः	२६१
शोधन भेषज मात्रा निर्देशः	२६२
मध्यबले साधारणतः शोधन भेषज मात्रा संकेतः	२६२
प्रस्थमानम्	२६२
स्नेहनोत्तर शोधन प्रयोग काल मर्यादा तत्र कर्तव्यानि च	२६३
शोधन भेषज जीर्णता लक्षणानि	२६३
शोधन भेषज सावशेषता लक्षणानि	२६४
वमनविरेचनादीनां प्रयोगादनन्तर निःसृतमलमात्रादि ज्ञान द्वारा उत्तम शुद्ध्यादि ज्ञान संकेतः	२६४
वमने विरेचने च दोषाणां यथाक्रम निर्गम ज्ञानम्	२६६
संशोधनार्थं सम्यक् योगः कदा कल्पते सम्यक् शुद्धि लक्षणानि च	२६६
संशोधन भेषजानां योगातियोगा योगलक्षणानि	२६७
वमन विरेचनातियोग विपर्ययः	२६७
अतियोग वर्णनम्	२६९
शोधन भेषजस्य अयोग लक्षणानां कारणम्	२६९
अयोगावस्थायां पुनः औषधपान निर्देशः	२७०
अतियोग कारणानाम् वर्णनं तत्र जातानां उपद्रवाणां वर्णनं तेषां चिकित्सा विशेषश्च	२७१
वमनविरेचने अतियोगोपद्रव सन्तापारुचितृष्णा शमनाय दध्यारनालादि प्रलेपः	२७२
अयोग कारणविशेषे चिकित्सा विशेष वर्णनम्	२७३
वमन विरेचन भेषजस्य अयोगे चिकित्सा क्रमः	२७३
वेगानां अयोग लक्षणानि	२७४
अयोग लक्षणे चिकित्सासूत्रम्	२७४
वमनविरेचनायोगजनक कारण संकेतः तदुपद्रव चिकित्सासूत्रं च	२७४
वमनातियोग लक्षणानि चिकित्सा च	२७६
संशोधनानन्तरं पेयादि संसर्जन क्रमवर्णनम्	२७८

पृष्ठाङ्का

शोधनचिकित्सानन्तरं प्रायः प्रयोज्यानां आहारद्रव्याणां संकेतः २७९

लङ्घनादिद्वाराजाठराग्निमन्दतायामपि पेयादिक्रमप्रयोग सूचनम् २८०

अवस्थाविशेषे पेयादिकमपवादः तर्पणप्रयोगश्च २८०

शोधन प्रक्रियायां प्रसङ्गात् पेयादि प्रयोगक्रमवर्णनम् २८१

शोधनातियोगेऽपि पेयादिक्रम पालनावश्यकता २८३

शोधनोपक्रमजन्य कायाग्निमन्दता तत् सन्धुक्षणे युक्तिश्च २८३

संसर्जनक्रमस्त एक द्वित्रिवारं प्रयोगे युक्तिः २८४

संशोधनोत्तरं संसर्जनक्रमे मधुरादिरसानां यथायथं क्रमशः प्रयोगे युक्तिः २८५

निः सारितमलपरिमाणानुसारं हीन मध्य उत्तम शोधन परिकल्पनं तदनुसारं यवागू परिमाण विधानं च २८५

यवागू प्रयोगानन्तरं विलेपी कृताकृययूषयोः यथाक्रमं प्रयोग विधानम् २८६

शोधन कर्मणि सद्वैद्यस्य सुखहेतुत्वम् २८८

शोधनकर्मणि मूर्ख वैद्यस्य दुःख हेतुत्वम् २८९

पुनः पुनः शोधनप्रयोग संकेतः १२९

वमन विरेचन प्रयोग सफलतायाः अभावे पुनः शोधक भेषज प्रयोग संकेतः २९०

पृष्ठाङ्का

क्वचित् शोधकभेषज प्रयोगे स्तब्धदोषावस्थायां स्वेदन प्रयोग सूचनम् २९०

आम विरेचन प्रयोग पाक काल विचारः २९०

पुनः पुनः वमनविरेचनौषध प्रयोग निषेधा २९१

शोधननन्तरम् अल्पावशिष्ट दोष शेष शमनाय संकेतः २९१

क्वचित् सम्यक् शोधनं विनैव भैषज जीर्णतायां द्वितीय दिने पुनः शोधक भेषजपान सूचनं तथा दुर्बल शरीरे मृदु शोधन भेषज योग सूचनम् २९२

शोधन भेषजानाम् अयोगात् अतियोगाच्च जायमानानां दश व्यापदां नामानि तत्र कारण संकेतश्च २९२

शोधन भेषज व्यापत्ति कारणानि २९७

शोधन भेषजजन्यस्याध्मानोपद्रवस्य सम्प्राप्तिः तत्र चिकित्सा सूत्रं च २९७

संशोधनोपद्रवस्य परिकर्तिकारूपस्य सम्प्राप्ति वर्णनं तत्र चिकित्सा सूत्रं च २९९

परिकर्तिकानन्तरं आमानुबन्ध शमनार्थं चिकित्सा सूत्रम् ३००

वमने जायमानस्य शुष्कोद्गाररूपस्योपद्रवस्य विरेचने जायमानस्य प्रवाहिका रूपस्योपद्रवस्य वर्णन तत्र चिकित्सा सूत्रं च ३०१

पृष्ठाङ्का

प्रवाहिका-परिस्राव- परिकर्तिका व्यापचिकित्सा निर्देशः ३०२

ग्रथितत्व पाक गौरव व्यापत्सूचनम् तस्य चिकित्सा च ३०२

शोधनोपद्रवस्य परिस्रावरूपस्य सम्प्राप्तिवर्णनं तत्र चिकित्सा सूत्रं च ३०४

धातुस्राव व्यापत्सूचनं तत्र चिकित्सा सूत्रं च ३०५

संशोधनोपद्रवस्य जीवादानरूप रक्तक्षय सम्प्राप्ति वर्णनं विकृतरक्तज्ञानोपायाः, तथा तदुपद्रवाणां वर्णनं तत्र चिकित्सा सूत्रं च ३०९

संशोधनोपद्रवस्य गुदभ्रंशस्य सम्प्राप्तिः तदुपद्रवाणां वर्णनं चिकित्सा सूत्रं च ३११

संशोधनोपद्रवस्य मलस्तम्भस्य सम्प्राप्तिकोपद्रवाणां वर्णनं तत्र चिकित्सा सूत्रं च ३१२

संशोधनोपद्रवस्याङ्गमर्दस्य सम्प्राप्ति वर्णनं तदुपद्रवाणां वर्णनं तत्र चिकित्सा च ३१४

रूक्षसंशोधनजन्योपद्रवाणां वर्णनम् तत्र चिकित्सा सूत्रं च ३१४

अयोगजव्यापत् वर्णनम् चिकित्सा सूत्रं च ३१५

वमनविरेचनायोगे उपक्रमः ३१६

अतियोगजव्यापच्चिकित्सा ३१७

तत्रोपक्रमसूत्रम् ३१९

वमन विरेचनातियोगोपद्रवानाम् सामान्य चिकित्सा सूत्रम् ३२१

पृष्ठाङ्का

वमनविरेचनयोः (अनुत्पाद्यैव-वेगं) जीर्णावस्थायां जायमानानां उपद्रवाणां वर्णनं तत्र-चिकित्सासूत्रं च ३२१

संशोधनोपद्रवस्य क्लमरूपस्य सम्प्राप्तिः चिकित्सा सूत्रं च ३२२

संशोधन काले ब्रह्मचर्य परित्यागे जायमानाः व्यापदः ३२२

अपक्वमलानां शोधने जायमानोपद्रवाणां संकेतः ३२२

रूक्ष संशोधनजन्योपद्रवाणां वर्णनं तत्र चिकित्सा सूत्रं च ३२३

अस्निग्धास्विन्नस्य वमन विरेचन प्रयोगात् जायमानस्य वातशूलो प्रद्रवर्णनं तत्र चिकित्सा सूत्रं च ३२३

वमन विरेचनयोः भेषजस्य अल्पयोगावस्थायां केवलं दोषोत्क्लेशजन्यानां उपद्रवाणां वर्णनम् तत्र यथायथं चिकित्सा सूत्रं च ३२४

वमनविरेचनयोः सशेषभेषजरूपव्यापदां वर्णनं तत्र चिकित्सा सूत्रं च ३२५

व्यापदां चिकित्सायां आरोग्यार्थम् आवश्यकता ३२५

वमनस्य कदाचित् अधोगमनरूप व्यापत्ति कारणम् तत्र चिकित्सा सूत्रं च ३२६

पंचमोऽध्यायः

	पृष्ठाङ्का
वमन प्रकरणम्	३२८
वमन परिभाषा	३२८
वमन शब्दस्य निरूक्तिः	३२९
वमन सामान्य गुणाः	३३०
विरेचनात् प्राक् वमन विधानस्य सयुक्तिकं महत्वम्	३३०
वमनयोग्यानां संकेतः	३३२
अवस्थाः	३३५
निषिद्ध वमनानामपि अवस्था विशेषे वमन विधानम्	३३८
वामकद्रव्य निरूपणम्	३४१
दशेमानि वमनोपगानि	३४३
एकोनविंशति प्रयोगस्थलनिर्देशः	३४४
वामकद्रव्याणां प्रयोज्याङ्गनिर्देशः	३४४
वामकगणगुण संकेतः	३४५
वामकद्रव्येषु मधुसैन्धव प्रयोगस्य महत्वम्	३४६
दोष भेदेन वामक द्रव्य संकेतः	३४७
वामकद्रव्येषु मदनफलस्य महत्व सूचनम्	३४९
मदनफलस्य पर्यायः	३४९
मदनफल संग्रहकाल संकेतः	३४९
संग्रहणीय मदनफल संकेतः	३४९
मदनफल संस्कार प्रकारः	३४९
मदनफल बीज रूप पिप्पली संग्रह प्रकारः	३५०
मदन फल पिप्पली सुरक्षा प्रकारः	३५०
मदन फल पिप्पली संस्कारपूर्वक सहपानानुपान भेदेन प्रयोग प्रकाराः	३५१
मदनफल प्रयोग विधिः	३५४
वमनद्रव्याणां पेयलेह्यभोज्यादि रूपेण प्रयोगाय संकेतः	३५५
मदनफलमज्जायाः अनुपान भेदेन विविधाः प्रयोग प्रकाराः	३५६
मदनफल प्रयोगाणां संख्या संकेतः	३५६
पाडवराग इत्यादिभेदेन फलपिप्पली प्रयोग संकेतः	३५७
रक्तपित्तहृद्दाहे च फलपिप्पली प्रयोगः	३५७
बलवत् श्लेष्मप्रसेकग्रन्थिज्वरादिषु प्रयोज्य फलपिप्पलीनां विशेष योगः	३५८
श्लेष्मज्वरादि रोगादिविशेषेषु वामकौषध प्रयोगः	३५९
कफाभिभूताग्नौ शुष्कदेहे च प्रयोज्य फलपिप्पली योगः	३६०
मदनक्वाथस्य सर्वश्लेष्मव्याधिहरत्वम्	३६१
सुकुमाराणां कृते वामको गन्ध योगः	३६२
बालवृद्ध सुकुमाराणां कृते निरुपद्रव वामक योगः	३६३
वामक शष्कुलीकल्प पूपकल्पश्च	३६३
वामकफल पिप्पली गुटिका निर्माण प्रकारः	३६४
वामकफलपिप्पली अवलेह योगः	३६५
उत्कारिका, मोदकरूपेण फलपिप्पली प्रयोग	३६५
वामक द्रव्येषु कृतवेधन प्रयोगः	३६६
कृतवेधन नामानि प्रयोगयोग्याः रोगाश्च	३६६

	पृष्ठाङ्का
कृतवेधन प्रयोगाणां संख्याः (जीमूतकप्रयोग संख्या समानम्)	३६७
कृतवेधनस्य मदनफलवत् नव कषाय योगः	३६७
कृतवेधनस्य त्रयोदश कषाय योगाः	३६७
कृतवेधनस्य दशपिच्छा योगाः	३६८
कृतवेधनस्य मदनफलवत् षट्वर्तिक्रिया योगाः तथा कृतवेधन फलस्यमदनफलस्य मदनफलवत् एको घृत योगः	३६८
कृतवेधनफलस्य अष्टौ अवलेह योगाः	३६९
कृतवेधनस्य सप्तमांसरस योगाः	३६९
कृतवेधनस्य एका इक्षुरस योगा	३७०
कृतवेधन योगानां संख्या सूचनम्	३७०
कुटजफल वामक प्रयोगाः	३७१
वत्सक भेदाः नामपर्यायाश्च	३७१
वत्सक प्रयोगस्थलानि	३७१
वत्सक चूर्ण योगाः	३७२
वत्सक प्रयोग संख्या सूचनम्	३७३
जीमूतक नामानि	३७३
जीमूतक सामान्य गुणाः	३७३
जीमूतकस्य अंगप्रत्यंगानां सहपानानुपानभेदेनप्रयोग प्रकारः	३७४
रोगविशेषे जीमूतकासव प्रयोगः	३७६
पित्तश्लेष्मज्वरे अनुपान भेदेन जीमूतकस्य विविधाः प्रयोगाः	३७७
मदनफलकल्पप्रोक्तमात्रा भेदेन प्रयोज्या जीमूतकस्य अष्टौ प्रयोगाः	३७७
वातपित्तज्वरे जीमूतकस्य अनुपान भेदेन चत्वारो योगाः	३७७
जीमूतकस्य घृत योगः	३७७
दोषानुसार जीमूतकफलचूर्णकल्प	३७८
जीमूतक योगसंग्रह श्लोकः	३७८
इक्ष्वाकु पर्याय नामानि	३७८
इक्ष्वाकु प्रयोग योग्याः	३७८
कफज्वरे इक्ष्वाकु साधित क्षीर योगः	३७९
चत्वारः क्षीर योगाः	३८०
कफनाशक इक्ष्वाकु फल स्वरस प्रयोग	३८०
इक्ष्वाकुसाधित दधि योगः	३८०
इक्ष्वाकु बीज साधित क्षीर प्रयोगः	३८१
इक्ष्वाकु फल तक्र योगः	३८१
इक्ष्वाकु फलरसपुष्पभावित घृत योगः	३८२
इक्ष्वाकुफलमध्य प्रयोगः तथा इक्ष्वाकुफलबीज तैल सिद्ध घृत योगः	३८२
इक्ष्वाकुफलबीजानां क्रमवृद्धया मदनफलादि कषायानुपान भेदेन षड्योगाः	३८३
इक्ष्वाकुबीज प्रयोगः	३८३
इक्ष्वाकु बीजानां मात्रा योगाः	३८३
इक्ष्वाकु फलबीजावलेह पञ्च योगाः	३८४
इक्ष्वाकुफलबीजसक्तु मन्थ योगः	३८५
इक्ष्वाकुफल कल्क मांसरसानुपान योगः	३८५
इक्ष्वाकुफलस्य योगसंख्या	३८६
धामार्गव पर्यायाः	३८६

	पृष्ठाङ्क
धामार्गव प्रयोज्य रोगाः	३८६
धामार्गवस्य प्रयोज्यांगप्रत्यंगानि	३८७
धमार्गवपत्रस्वरसप्रयोगः	३८७
धामार्गवपुष्पादियोगः सुरायोगाश्च	३८७
धामार्गवस्य पक्वफलबीज प्रयोगः	३८८
धमार्गवसंयुक्तान्न प्रयोगः	३८८
धामार्गवस्य क्षेप योगः	३८८
धमार्गवचूर्ण गुटिका योगाः	३८९
धामार्गवसाधिताः दशलेह योगाः	३८९
धामार्गवस्य विषनाशको योगः	३९०
मनोरोगेषु धमार्गव वमन योगाः	३९०
धामार्गवस्य योग संख्या	३९१
यष्टीमधुकादि वामक योगः	३९१
वमनार्थं ताम्र प्रयोगः	३९२
प्रियङ्ग्वादिकल्क प्रयोगः	३९२
पञ्चकषायः	३९३
कृष्णादिकल्कः	३९३
अंकोलादिवामक योगः	३९४
अश्मन्तक गुणाः	३९४
वामक योगः	३९४
वामकभेषजमात्राप्रमाणं प्रतिपुरुषापेक्षम्	३९५
वमनादौ प्रस्थमानस्य विशेष परिभाषा	३९६
स्नेहस्वेदोत्तरं संशोधन भेषज प्रयोगः रुग्ण सज्जीकरण प्रकारश्च	३९८
वमन कर्मणः पूर्वदिने दोषोक्लेशनावश्यकता	३९९
रुग्णस्य विविधशरीरांगानां वमनानुकूलचेष्टार्थमनुमता परिचारक क्रिया	३९९
वमनकर्मण्युपवेष्टुं समुचितासन विधानम्	४००
स्नेहपानोत्तरं वमनकाल नियमस्तत्र पथ्यञ्च	४००
वमनकर्मणः पूर्वकर्मक्रमः	४००
द्वंदन प्रयोगविधिः	४००
वान्तमलवेगदर्शने वैद्यस्य सावधानताऽऽवश्यकता	४०७
वमनवेगसम्प्राप्तिः	४०७
सम्यक् वमनकालमर्यादा	४०९
वेगानां योगलक्षणानि भेदाश्च	४१०
वमने दोषनिर्गमक्रमः	४१०
सम्यग्वमितलक्षणानि	४१०
असम्यग्वमितलक्षणानि	४१२
वमनाति योगलक्षणानि	४१३
अतियोगायोगोपद्रवाः	४१५
वमनातियोग सामान्य चिकित्सा सूत्रम्	४१६
वमनायोग(हीनवेग) चिकित्सा	४१७
वमनस्यातियोगे सोद्गारमूर्च्छोपद्रव चिकित्सा	४१७
वमनातियोगे निःसृतजिह्वोपद्रव चिकित्सा	४१८
वमनातियोगे अन्तः प्रविष्टजिह्वोपद्रव चिकित्सा सूत्रम्	४१८
वमनातियोगे वाग्ग्रहोपद्रव चिकित्सा	४१८
वमनातियोगोपद्रव व्यावृत्ताक्षि चिकित्सा सूत्रम्	४१९
वमनातियोगे उपद्रवरूप तृष्णा विसंज्ञकता चिकित्सा	४१९

	पृष्ठाङ्क
वमनातियोगे रक्तष्ठीवनोपद्रव चिकित्सा	४१९
निषिद्ध वमनानां वमितेसति उत्पन्नानामुपद्रवाणां निर्देशः	४२०
वमनातियोग दुःसाध्यता लक्षणानि	४२१
वमनोत्तर कर्म	४२१
वमनोत्तरविशेषदिनरात्रिचर्या विधानम्	४२२
वमनोत्तरमासप्तरात्रं पेयादि क्रमः	४२३
पीतस्नेहस्य वान्तस्य वा लघुभोजन काल मर्यादा अपथ्य संकेतश्च	४२५

षष्ठोऽध्यायः

विरेचन प्रकरणम्	४२६
विरेचन शब्दस्य निरुक्तिः	४२६
विरेचन सामान्य गुणाः	४२७
कुत्र विरेचनं हितम्	४२८
वमनोत्तरं विरेचन प्रयोगक्रम वर्णनम	४२९
वमनानन्तरं विरेचन प्रयोगः	४२९
विरेचन योग्याः	४३२
अविरेच्याः	४३४
अवस्थाविशेषे निषिद्धविरेचनेष्वपिमन्दविरेचन विधानं तत्र सावधानतावश्यकता च	४३७
स्नेहविरेचने समशीतोष्णकालव्यवस्था	४३८
स्नेहविरेचनाङ्ग स्नेहपान काल मर्यादा	४३८
विरेचन प्रयोगेषु मध्यकोष्ठ वयोबलविचारानुसारं मात्रा निर्देशः	४३८
अतिस्निग्धस्य स्नेह विरेचन निषेधे युक्तिः	४४०
क्रूरकोष्ठस्य सम्यग्विरेचनाय दशदिन पर्यन्तं मलोत्क्लेशक स्नेहन स्वेदन विधानम्	४४३
अविज्ञातकोष्ठस्य मृदुविरेचने युक्तिः	४४४
अतितीक्ष्णस्यापि शोधकस्यौषधस्य कदाचित् न सम्यक् विरेचकत्वे कारणानां निर्देशः	४४४
विरेचन प्रयोगात् पूर्व दिने तथा अपरेऽह्निकर्तव्यम्	४४५
वमनानन्तर विरेचनात् प्राक् आस्थापन विचारः	४४५
कतिपय रोगेषु विरेचनात् प्राक् स्नेहन प्रयोग निषेधः	४४६
स्नेहविरेचनस्य रूक्षविरेचनस्य च प्रयोगस्थलानि	४४६
दुर्बलस्य मृदुविरेचन योगदाने युक्तिः	४४७
स्नेह सात्म्यस्य किंचिद्विरूक्षण पूर्वकं स्नेहनोत्तरं विरेचन विधान म्	४४७
अस्निग्धादि पुरुषे विरेचन प्रयोगः	४४८
विरेचने दोषादि निर्हरण संकेतः	४४८
विरेचकौषध पीतवतः कर्तव्यानि	४४८
क्वचित् जाठराग्निबलात् विरेचन योग निस्फलतायां पुनर्विरेचनौपक्रक वर्णनम्	४४८

पृष्ठांका

रूक्षादिकोष्ठे विरेचन प्रयोग विधिः ४४६
सम्यक् विरिक्तस्य लक्षणानि ४४६
विरेचनायोग लक्षणानि ४५२
विरेचनातियोग लक्षणानि ४५४
विरेचनायोगदशायां कर्तव्यानि ४५६
विरेकस्योत्तमादि मात्रा ४५७
असम्यग्वेगे कर्तव्य निर्देशः ४५८
प्रथमविरेचन निष्फलतायां पुनरपि द्वितीय दिवसे विरेचन विधानम् ४५८
विरेचनातियोगे जायमानानां उपद्रवाणां वर्णनं तत्र चिकित्सा सूत्रं च ४५८
अतिविरिक्तजन्य पुरीषक्षय चिकित्सासूत्रम ४६१
विरेचनयोग सावशेषे एव औषधे शुद्धिलक्षणदर्शने कर्तव्यता विचारः ४६१
अवस्था विशेषे कर्तव्य निर्देशः ४६२
क्वचित् रूक्षकोष्ठसंचित वायु द्वारा मलविष्टम्भदशायां पुनः सस्नेह लवणयुक्त विरेचकभेषज प्रयोग संकेतः ४६२
क्वचित् पित्तावृत विरेचक भेषज जन्योपद्रवेषु पित्तघ्न स्वादुशीत भेषज प्रयोग संकेतः ४६२
क्वचित् कफावृत शोधन भेषज प्रयोगोपद्रव शमनाय कफनाश कभेषजानां प्रयोग संकेतः ४६२
क्वचित्स्नेहपानोत्तरं कफजन्य भेषजसङ्गशमनाय लंघन विधानम ४६३

पृष्ठांका

विरेचकौषधानां विनैव विरेचनं जीर्णतायां शोधन चिकित्सा ४६३
दीप्ताग्नीनां विरेचन प्रयोगे कर्तव्य निर्देशः ४६३
क्वचित् विरेचन प्रयोगे वमन प्रवृत्तौ कर्तव्यता विचारः ४६४
क्वचित् विरेचनायोगे सम्यक् प्रवर्तनार्थम् ४६६
विरेचक द्रव्य प्रयोगानन्तर कफरूद्ध भेषजदशायां कफ शामक काल प्रतीक्षा संकेतः ४६६
विरेचनोत्तर कर्म संकेतः ४६६
कृत विरेचनस्य प्रवातादीन् निषेधः ४६७
विरेचनोत्तरं रूग्ण परिष्कारः ४६७
विरेचनद्रव्यनिरूपणम् ४६७
मूलिन्यः षोडश ४६६
फलमूलिन्यः स्नुह्यार्कश्मन्तकानां पार्थक्यम्। ४७०
षड् विरेचनाश्रया ४७०
विरेचनेपूतीकस्त्वक् प्रयोगः ४७१
विरेचने तिल्वकस्त्वक् प्रयोगः ४७१
स्नुहीक्षीर गुणाः ४७१
उदाहरणतः त्वग् प्रयोज्यांशाः वृक्षाः ४७१
दशेमानि भेदनीयानि ४७१
विरेचक योगनां कल्पनोदाहरणानि ४७२
फलिन्यः एकोनविंशतिः स्मृता ४७३
विरेचने फलिनी प्रयोगः ४७३
विरेचन भेषज नामानि प्रयोग संकेतश्च ४७४

पृष्ठाङ्काः

विरेचनद्रव्य पञ्चांग विशेषाः ४७५
दशेमानि विरेचनौषधानि ४७५
अधोभागहरभेषज नामानि तेषां ग्राह्यांग संकेतश्च ४७५
विरेचकगण गुण संकेतः ४७७
दोषविशेषे विरेचनौषधः ४७८
दोषानुसारं विरेचनद्रव्य भेदाः
विरेचनावस्थायां पथ्य पालन संकेतश्च ४७६
कफरोगे पिप्पल्यादि चूर्णम् ५७६
विरेचकौषधानां मूलत्वक् फल तैल स्वरस क्षीररूपेण प्रयोज्यानां अंगानां मुख्यं कार्यकरत्वम्
उद्दिश्य त्रिवृतादि विरेचनद्रव्य संकेतः ४८०
सर्वर्तुको विरेचन योगः ४८१
मृद्वादि द्रव्याणि ४८१
त्रिवृत् पर्यायाः ४८२
त्रिवृत गुणविशेषाः ४८२
द्विविध त्रिवृत् गुण विशेषाः ४८३
त्रिवृत मूल ग्रहण प्रकारः रक्षा प्राकारश्च ४८४
अनुलोमन परिभाषा ४८५
भेदन परिभाषा ४८५
रेचन परिभाषा ४८६
त्रिवृत्प्रयोगः ४८६
तीक्ष्ण विरेचन निरूहण द्रव्य कार्याणि ४८७
त्रिवृत् चूर्णस्य प्रयोगोपद्रवरूपेण प्रकट छर्दिनिरोधाय चिकित्सा क्रमः ४८७
वातदोषे विरेचन योगः ४८७
कफरोगे पिप्पल्यादि अवलेह योगः ४८८

पृष्ठाङ्काः

विरेचन चूर्णम् ४८८
सन्निपातज्वरादिषु त्रिवृद् विरेचन योगः ४८८
गुल्महरं त्रिवृत् सिद्ध पयः ४८६
गुल्महरं त्रिवृत् घृतम् ४८६
गुल्मपार्श्वार्तिहरस्त्रिवृद्योगः ४८६
यूषादिषु प्रयोज्यस्त्रिवृदयोगः ४८६
सुकुमाराणां कृते त्रिवृत् विरेचन योगः ४६०
त्रिवृतादि सर्वदोषहर विरेचन योगः ४६०
वातकफरोगे त्रिवृन्मूल प्रयोगः ४६०
त्रिदोषजे रोगे त्रिवृन्मूल प्रयोगः ४६१
त्रिवृत्प्रयोगे दोषानुसारं विविधानुपानानि ४६२
त्रिवृत् चूर्णस्य सौवीरक-तुषोदक काञ्जी योगः ४६२
त्रिवृत् चूर्णस्य मदन फलवत् दश पाडवादि योगाः ४६५
त्रिवृत् मूलस्य कल्याणक गुड योगः ४६६
रूक्ष कोष्ठेऽपि प्रयोज्यं त्रिवृद्विरेचनम् ४६७
पैत्तिकरोगे त्रिवृत् मूल द्वारा इक्षुखण्डानां पुटपाक प्रकारः ४६७
इक्षु पुटपाक द्वारा त्रिवृत् प्रयोगः ४६७
क्षीरादि अनुपान भेदेन त्रिवृत् मूलस्य सप्तयोगाः ४६८
त्रिवृत् मूलस्य त्र्यूषणादि चूर्णयोगः ४६८
विविध विकारे त्रिवृत चूर्ण प्रयोग प्रकारः ४६८
त्रिवृत्मूलस्य अनुपान भेदेन वातरोगेषु प्रयोगः ४६६

पृष्ठाङ्काः

अनुपानभेदेन त्रिवृत् मूलस्य पित्तरोगेषु प्रयोगः ५००
अनुपानभेदेन त्रिवृत् मूलस्य कफरोगेषु प्रयोगः ५००
विरेचनार्थं हरीतकीफलानां विविधाः प्रयोगाः ५००
हरीतक्यादि मोदकः ५०२
गुल्मोदरविकारे स्नुहीक्षीर भावित पथ्या प्रयोगः ५०३
विरेचनाय हरीतकी मोदक योगः ५०३
अभयाद्यं मोदकं ५०४
मणिभद्र मोदकः ५०५
विरेचनाय आमलक विभीतकयोः प्रयोगः ५०५
विरेचनाय त्रिफला प्रयोग संकेतः ५०६
कफजरोगे त्रिफलादि उत्तम विरेचन योगः ५०६
सर्वदोपहर नाराच विरेचन योगः ५०६
तिल्वक कल्पः ५०६
तिल्वक पर्यायाः ५०६
तिल्वकस्य मूलत्वक्चूर्णस्य भावनाविशेष युक्त एको योगः ५०७
तिल्वकमूलत्वचा चूर्णस्य दधिमण्डादि अनुपान भेदेन पञ्च योगाः ५०८
तिल्वकमूलत्वचः मेषशृङ्ग्यादि साधित सौवीरकानुपान युक्तः एको योगः ५०८
तिल्वकस्य स्वरसकल्क साधित, एको अवलेह योगः
तिल्वककषायस्य सुरायोग एकः ५०९
तिल्वकस्य दन्त्यादिक्वाथसाधित एको अरिष्ट योगः ५०९

पृष्ठाङ्काः

तिल्वकस्य कम्पिल्लक सहपानानु पान युक्तः एकोयोगः ५०९
तिल्वकस्य विवृत् चूर्ण युक्तः एको अवलेह योगः ५०९
तिल्वकस्यत्रिफलाकषायादि साधितः अवलेहः योगः ५०९
तिल्वकस्य त्रिवृतादिक्वाथसाधित एको घृत योगः ५१०
तिल्वकस्य लोध्रादिक्वाथ साधित एकोयोगः ५१०
तिल्वकस्य चतुरङ्गुलकल्पवत् साधितौ द्वौ घृतयोगौ ५१०
तिल्वकस्य योगसंख्या संकेतः ५११
सप्तला पर्यायाः ५११
सङ्खिनी पर्यायाः ५११
सप्तलाशङ्खिनी प्रयोग योग्य अङ्गानां वर्णनम् ५११
सप्तलाशङ्खिनी प्रयोग योग्य रोगाणां वर्णनम् ५१२
अनुपानभेदेन सप्तलाशङ्खिन्योः षोडश योगाः ५१२
सप्तलाशङ्खिन्योः षट् तैल योगाः ५१३
सप्तलाशंखिन्योः अष्टौ घृत योगाः ५१३
सप्तलाशंखिन्योः लोध्रवत् त्रयो अवलेह योगा, पञ्च मद्ययोगाश्च ५१४
सप्तलाशंखिन्योः दन्तीद्रवन्ती कल्पवत् चत्वारः काञ्जिक योगाः, अजगन्धाजशृंगीयुक्तौ गौडारिष्टयोगौ ५१४
सप्तलाशंखिन्योः प्रयोग संख्या ५१५
चतुरङ्गुल कल्पः ५१५

पृष्ठाङ्काः

आरग्वध पर्यायाः ५१५
आरग्वध संग्रह प्रकारौ रक्षा प्रकारश्च ५१६
आरग्वधस्य द्राक्षारस युक्त एकोयोगः ५१७
आरग्वधस्य अनुपानभेदेन त्रयो योगाः ५१७
आरग्वधस्य त्रिवृत् कषायेण एकोयोगः तथा विल्व कषायेण एको योगश्च ५१७
आरग्वधस्य एकः अवलेह योगः ५१८
आरग्वधस्य द्वौ घृत योगौ ५१८
आरग्वधस्य अरिष्ट योगः ५१८
आरग्वधस्य हृद्यानुपान युक्त एको योगः ५१९
आरग्वधस्य योग संख्या सूचनम् ५१९
सुधा (स्नुही) कल्पः ५१९
सुधा प्रयोगस्थल विचारः ५२०
द्विविधा सुधा लक्षणानि ५२०
सुधा (स्नुही) दुग्धशोधनप्रकारः, अनुपान भेदाश्च ५२१
सुधा क्षीरभावितगुडपानक प्रयोगः ५२१
सुधा (स्नुही) प्रयोग योग्य रोगाणां संकेतः ५२२
सुधा क्षीरयुक्तावलेह प्रयोगाः ५२३
सुधा क्षीरस्य अनुपानभेदेन त्रयः योगाः, द्वौ मांसयोगौ च ५२४
सुधा क्षीरघृत योगः, सुरायोगः तथा तिल्वक कल्केन घृत योगश्चः ५२४
सुधा (स्नुही) क्षीरस्य विंशति योगाः ५२४

पृष्ठाङ्काः

स्नुही क्षीर भावित चूर्ण योगः ५२५
स्नुहक्षीर भावित क्वाथ योगाः ५२५
दन्ती द्रवन्ती कल्पः ५२६
दन्ती द्रवन्ती पर्यायः ५२६
दन्ती द्रवन्ती गुणविशेषवर्णनम् ५२६
दन्ती द्रवन्ती मूल रक्षा प्रकारः, गुणवर्धक शोधनं च ५२७
दन्ती द्रवन्ती मूल प्रशस्त लक्षणानि ५२७
कदयालजी विसर्पेषु दन्तीद्रवन्ती मूलघृत प्रयोगः ५२७
प्रमेह गुल्मे च दन्ती द्रवन्ती मूल पक्वतैल योगः ५२८
वात प्रधानपुरीषशुक्र सङ्गादिषु दन्तीद्रवन्तीमूलसाधित चतुः स्नेह प्रयोगः ५२८
अनुपानभेदेन गुल्मोदरे दन्ती द्रवन्ती मूल प्रयोगः ५२८
अनुपानभेदेन पाण्डु क्रिमिकोष्ठ भगन्दरेषु दन्तीद्रवन्ती मूल प्रयोगः ५२८
पित्तप्रधान दाहसंतापयुक्त प्रमेहे दन्तीद्रवन्तीमूल साधितावलेह योगः ५२९
वाततृषायां पित्तज्वरे च दन्ती द्रवन्तीमूल साधित अवलेह योगः ५२९
दन्तीद्रवन्ती मूल साधित सुख विरेचनावलेहः ५२९
दन्तीद्रवन्ती मूलावलेहः ५३०
वात गुल्मे दन्तीद्रवंती प्रलेह योगः ५३०

पृष्ठाङ्काः

दन्ती द्रवन्ती मूलकल्कप्रलिप्त काण्डेक्षु प्रयोगः ५३०
दन्तीद्रवन्तीमूलसाधित मांसरस योगाः ५३०
दन्तीद्रवन्तीमूल साधित सुख विरेचन माषु सूप योगः ५३०
दन्तीद्रन्ती मूलसाधित मद्य योगः ५३१
दन्तीद्रवन्तीमूलक्वाथ साधित विविध भक्ष्य योगाः ५३१
पित्तकासे पाण्डुरोगे दन्त्यादि क्वाथः ५३१
कामलानाशनः दन्तीमूल कल्क योगः ५३१
श्यामादन्ती मूलक्वाथ साधितः गौडारिष्ट योगः ५३१
दन्तीद्रवन्ती क्वाथसाधितः गौडारिष्ट योगान्तरः ५३१
दन्तीद्रवन्ती मूलसाधितः सुरा-योगः ५३२
दन्तीद्रवन्तीमूलसाधितो सौवीर-कतुषोदक कांजी योगः ५३२
दन्त्यादि चूर्ण योगः ५३२
सर्वरोगहरं दन्तीद्रवन्ती मूलाद्यं चूर्णम् ५३३
दन्तीद्रवन्ती साधित उत्कारिका-मोदक योगौ ५३३
दन्तीद्रवन्ती मूलसाधित मोदक योगः ५३३
दन्त्यादि मोदकः ५३४
गुडाष्टक चूर्ण योगः ५३४
सप्तलाशंखिनी दन्ती प्रभृतीनां मृदुकोष्ठेषु प्रयोगाय संकेतः ५३४

पृष्ठाङ्काः

एरण्डतैलस्य विरेचनार्थं प्रयोग प्रकारः ५३५
सुखविरेचन एरण्ड तैल योगः ५३५
त्रिवृत्कल्पः ५३५
व्योषादि त्रिवृद्वटी विषोपद्रवेषु ५३६
अविपत्तिकर (त्रिवृत्) कल्पः ५३६
त्रिवृत् चूर्णस्य दशोत्तरशत् योगानां संकेतः ५३६
अनुपान भेदेन त्रिवृत्मूलस्य नव संख्याका प्रयोगः ५३७
त्रिवृत् चूर्णस्य सहपानानुपान भेदेन द्वादश प्रयोगाः ५३७
सहपानानुपान भेदेन त्रिवृत् मूलस्य अष्टादश योगाः ५३८
मधुयष्टी सम्पृक्त त्रिवृत् मूलस्य एको योगः
त्रिवृत्मूलस्य जीवकादिचूर्ण युक्ताः पंचदश योगाः ५३८
त्रिवृत् मूलस्य अष्टौ अवलेह योगाः ५३९
विरेचनार्थं विविधा अवलेह योगाः ५४१
त्रिवृत् लेह प्रयोग प्रकारः ५४३
प्लीहोदरे त्रिवृदवलेहः ५४४
त्रिवृत् मूलस्य एकः तर्पण योगः ५४४
त्रिवृत्मूलस्य पानकादि पंच योगाः ५४४
त्रिवृत् चूर्णस्य वसन्तादि ऋतु भेदेन षड् योगाः ५४५
त्रिवृत् मूलस्य एकः मोदक योगः ५४६
त्रिवृत् मोदकः ५४६
वैरेचनिक मोदकः ५४६

पृष्ठाङ्काः

त्रिवृत् मूलस्य पथ्यादि मोदक योगः ५४७
त्रिवृत चूर्णस्य हैमवत्यादि मोदक योगः ५४७
त्रिवृत् चूर्णस्य त्रयो घृत योगाः, एको दुग्ध योगश्च ५४८
त्रिवृदादि चूर्णम् ५४८
त्रिवृत् चूर्णस्य द्वौ सुरासव योगौ ५४९
विरेचक त्रिवृत् साधितमरिष्टम् ५४९
विरेचनी तिवृत् सुरा ५४९
वैरेचनिक आसव प्रयोगाः ५५०
वैरेचनिकी सुरा प्रयोगः ५५१
अभयादि मोदक योग; ५५२
अभयामोदकनाम्ना प्रसिद्धः तिवृदष्टक योगः ५५३
अभयाद्यो मोदकः ५५४
अभयादि मोदकः ५५४
अभया मोदकः ५५५
विरेचनद्रव्याणां सुखोपयोगाय भक्ष्याः मोदकाः ५५६
विरेचनद्रव्याणां सुखपूर्वक प्रयोगाय सामान्यतः गुटिका निर्माण प्रकारः ५५७
वैरेचनिक गुटिका ५५८
कषायगुटिकाचूर्णात्मकानां विरेचन द्रव्याणां परिमाणम् ५५९
विरेचन द्रव्याणां यूष कल्प प्रयोगाय संकेतः ५५९
उत्तम विरेचन योगः ५६०
मेघनाद रेचन रसः ५६०
पिप्पल्यादि विरेचन योगः ५६१
नाराच (पथ्यादि) विरेचन चूर्णम् ५६१

पृष्ठाङ्काः

विचित्र विद्याधर विरेचन योगः ५६१
सुखकर विरेचन योगः ५६२
विरेचन समनन्तरं पेयादिक्रम पालने युक्तिः ५६२
विरेचन योग सेवन समनन्तरं मंदाग्निकृशता प्रभृति लक्षणेषु क्वचित् लंघन विधानम् ५६२
विरेचनोत्तरं वर्ज्याः ५६२
विरेचन प्रयोगे कठिन भोजन निषेधः ५६२
दोषबलात् स्वयं विरिच्यमानस्य सम्यग्विरेचनाय भेदनीय भोजन विधानम् ५६३
विरेचनान्ते पथ्यानि ५६३
सम्यग्विरिक्त पथ्यपालन निर्देशः ५६३
न सम्यग् विरिक्तस्य रुग्णस्य कृते पेयापान निषेधः, सम्यग्विरिक्तस्य कृते पेया पान विधानम् ५६४
असम्यक् विरेचने उष्ण जलपान विचारः ५६४
दुर्विरिक्तादीनामुपक्रमः ५६४
विरेचने पथ्यः ५६५
सुविरिक्ते पाचनौषध प्रयोगः ५६५
सुकुमारतरपुरुष विशेषेषु विरेचक भेषज प्रयोगः ५६५
विरेचन प्रयोगे विशेष सावधानतायां युक्तिः ५६५
सम्यग्विरिक्त पथ्य पालनविधिः ५६६
विरेचनस्य अतियोगे उग्रावस्थायां जायमानानां उपद्रवाणां वर्णनं तथा अवस्था भेदेन चिकित्सा सूत्राणां वर्णनं च ५६६

पृष्ठाङ्काः

असम्यग्विरेचितोपद्रवाः ५६७
विरेचनप्रयोगायोगजन्योदावर्त कारण संकेतः तत्र चिकित्सा सूत्रं च ५६८

पृष्ठाङ्काः

विरेचनोपद्रव सर्वांगग्रह कारण संकेतः तत्र चिकित्सा च ५६८
समशीतोष्णकालोपेक्षया जायमानानाम उपद्रवाणां संकेतः ५६८

सप्तमोऽध्यायः

बस्ति प्रकरणम् ५७०
बस्ति शब्दस्य परिचयः ५७१
बस्ति शब्दस्य निरुक्तिः ५७२
बस्तिविधानमधिकृत्य पुनर्वसुं प्रति अग्निवेशस्य प्रश्नाः ५७२
बस्ति चिकित्सायां काश्यपं प्रति प्रश्नाः ५७३
आत्रेय पुनर्वसुं प्रति तच्छिष्याणां बस्ति प्रयोगस्य सर्वदोष शामकत्वं कथं इति प्रश्नं तत्र पुनर्वसुं कृतं सयुक्तिकं समाधानं च ५७४
बस्तिकर्मण महत्त्वं विविध रोगानाशकता रसायन वाजीकरण फल च ५७४
बस्ति द्वारा दोषशमनाय जिज्ञासा ५७५
बस्तिप्रयोगद्वारा दोषानुलोमने युक्तिः ५७५
बस्ति महत्वम् ५७५
गर्भस्रावादौ बस्तिप्रयोग महत्त्वम् ५७६
सिराव्यधदृष्टान्तेन बस्तिमहत्त्व सूचनम् ५७६
बस्ति सामान्य गुणाः ५७९
बस्ति गुणाः ५७९
वायुप्रधान रोगेषु बस्तिचिकित्साया: महत्त्वम् ५८०
बस्तिकर्मणः प्रशंसा ५८१
चिकित्सार्धं कृत्सना चिकित्सा बस्तिः ५८२
बस्ति प्रशस्तिः ५८२
बस्तेरमृतकल्पत्वम् ५८२
बस्ति प्रयोगस्य शीघ्रफलकारित्वे युक्तिः ५८३
बस्ति विशेष गुणाः ५८३
बस्ति प्रशस्तिः ५८३
बस्तेस्सर्वार्हत्वम् ५८४
सामान्यो बस्तिप्रयोगजन्य फलानि ४८४
बस्तिद्वारा देहमलशोधने युक्तिः ५८५
सम्पूर्ण शरीरात् मलशोधने बस्ति प्रभाव संकेतः ५८५
अपान-समान-व्यानादि वायु संचारक्षेत्रे बस्ति प्रभावेयुक्तिः ५८६
स्रोतः शोधन कर्मणि बस्ति प्राधान्यसूचन द्वारा स्वस्थता लाभे युक्तिः ५८७
त्रिदोष चिकित्सायां बस्ति कर्मणः महत्वम् ५८७

पृष्ठांकाः

पक्वाशय गतोऽपि बस्तिः कथं स्वाग्नेः शरीरं व्याप्नोति इत्यत्र युक्तिः दृष्टान्तश्च ५८८
बस्तिभेदाः ५८९
सामान्यतः त्रिविधो बस्तिः ५८९
मतान्तरेण केवलं बस्तित्रयम् ५८९
प्रयोजनानुसारेण त्रिविधा भेदाः ५९०
बस्तिप्रयोगे यथाक्रमं उत्क्लेशन, दोषहरः संशमन बस्ति प्रयोगे संकेतः ५९०
बस्तिकर्मणास्त्रयो भेदास्तेषां लक्षणानि च ५९०
कर्मकालयोगरूप त्रिविध बस्ति संख्यानिरूपणम् ५९१
कर्मबस्ति लक्षणम् ५९१
कर्मबस्ति योग्यायोग्यम् ५९१
कर्मबस्ति संख्या निरूपणम् ५९१
बस्ति मात्रा संख्या परिभाषित नामानि ५९२
कालबस्ति लक्षणम् ५९२
कालबस्ति योग्याः प्रयोग विधानं च ५९२
कालबस्ति संख्या निरूपणम् ५९३
योगबस्ति लक्षणम् ५९३
योगवस्ति विधानम् ५९३
योगबस्ति संख्या संकेतः ५९३
कार्मुक भेदाः ५९४
सामान्यतः शोधन बस्ति द्रव्य वर्णनम् ५९४
सामान्यतः लेखन बस्ति द्रव्याणां वर्णनम् ५९५
बृंहण बस्तिः ५९५
बृंहण बस्ति द्रव्य वर्णनम् ५९६
उत्क्लेशन बस्तिः ५९७
शमन बस्तिः ५९७
वाजीकरणो निरूह योगः ५९७
शुक्रवर्धनो निरूह योगः ५९७
द्विपञ्चमूलीत्यादि वाजीकरण प्रधानः निरूहबस्तिः ५९८
वस्तिषु माक्षिक प्रयोग विशेषः ५९८
सामान्यतः वाजीकरणवस्ति द्रव्य वर्णनम् ५९८
वाजीकरावस्तयः ५९८
क्रीडा बस्तिः ५९९
पनसबीजादि बस्तिः ६००
वृष्य बस्तिः ६००
बस्तसूकरमुष्कादिसाधितोऽपरो वृष्यो बस्तिः ६००
कुलीर मांसाद्यो वृष्यो बस्तिः ६०१
कुक्कुटाण्डरसादौ माधुतैलिकः शुक्रकृतबस्तिः ६०१
वातनाशक निरूहबस्ति वृष्य बस्तिश्च ६०२
दोषहर निरूहबस्तिः ६०२
दोषानुसार निरूहबस्तिमात्रा ६०२
सहचरादि रसायनबस्तियोगः ६०३
मूत्रबस्तिः ६०५
वैतरण बस्ति ६०५
क्षारबस्तिः ६०६
युक्तरथबस्ति निर्वचनम् ६०६
युक्तरथनामक निरूहबस्तिः ६०७
रक्तबस्तिः ६०७
यापनबस्तीनां प्रयोगस्थलानि ६०७
यापनाबस्तोऽप्रवृत्तौ कर्तव्यम् ६०८
यापन बस्तिषुवर्जनीयानां संकेतः ६०८
यापनः प्रासृतिको बस्तिः ६०९

पृष्ठाङ्काः

यापन बस्ति प्रयोगान्तर संकेतः ६०६
अतियापनबस्ति प्रयोगात् जायमाना नामुपद्रवाणां वर्णनं तत्र चिकित्सा सूत्रं च ६०६
विविध यापनबस्ति योगनिर्माणाय तदुदाहरण सूचनम् ६१०
मुस्तकादिः बल्यः यापनश्च निरूह बस्ति प्रयोगः ६१०
सिद्धवस्ति निर्वनम् ६१२
सिद्धबस्ति महत्त्वम् ६१२
सिद्धिप्रदाः कतिपयबस्ति योगाः ६१२
आमवाते उदावर्ते च सिद्धबस्ति संकेतः ६१३
यवकोलादिकःसिद्धबस्ति प्रयोगः ६१३
सिद्धबस्तेः पथ्यम् ६१३
मांस वस्तयः ६१३
मायूर बस्तयः ६१३
पृथक् पृथक् पक्षिमांस द्वारा बस्तिकल्पना ६१४
गोधादि मांससाधित विविध रसायन वस्तिः ६१४
प्रशस्त वस्ति संकेतः ६१५
प्रसूत परिमाण भेदेन मृदुनिरूहणानां कतिपय योगानां सुकुमाराणां कृते प्रयोज्यानां उदाहरणानि ६१५
बालवृद्धयोर्मृदुबस्ति प्रयोग निर्देशः ६१५
द्वादश प्रसृत निरूहबस्ति द्रव्य, कषाय, स्नेह द्रव्य मात्रायाः दोषानुसार निर्णयः ६१६
द्वादश प्रसृत निरूहबस्ति निर्माण प्रक्रिया ६१८

पृष्ठाङ्काः

द्वादश प्रसृत नाम्ना प्रसिद्ध निरूहण बस्तेः प्रयोग प्रकारः ६१६
वयोवस्थानुसारं द्वादशप्रसृत मात्रायां यथायथं न्यून परिमाण मात्रा कल्पने विशेषः ६२१
निरूह मात्रा निर्देशः ६२१
मात्रा वस्ति प्रयोगे सावधानता संकेतः, स्तम्भनबस्ति महत्वं च ६२२
सामान्यतः पिच्छाबस्ति द्रव्य वर्णनम् ६२२
माधुतैलिक बस्ति निर्वचनम् ६२३
प्रसिद्धस्य माधुतैलिक बस्ति प्रयोगस्य महत्त्व सूचनम् ६२३
माधुतैलिक बस्ति प्रयोग प्रकारः ६२४
दाशमूलिको माधुतैलिको बस्तिः ६२५
माधुतैलिकः क्षीरबस्ति योगः ६२५
मधुकादि बस्तिः ६२६
माधुतैलिकबस्तिः ६२६
पञ्चमूलादिका माधुतैलिकः बस्ति योगः ६२६
द्विपञ्चमूलादि माधुतैलिकः बस्तिः ६२६
माधुतैलिक बस्ति प्रयोगस्थलः ६२७
सामान्यतः माधुतैलिक ग्राही बस्तिः ६२८
आस्थापन बस्ति भेदोपभेद वर्णनम् ६२८
अनुवासनबस्ति भेदोपभेद वर्णनम् ६२६
अग्निवेशकृत प्रायः सदा रुग्णानां बस्ति योग्यानां विषयकः प्रश्नः आत्रेय कृतं तदुत्तरं च ६२६

पृष्ठाङ्काः

प्रायः सदातुराणां रोगानुकूलत्वे युक्तयः ६३०
प्रायः सदातुराणां कृते प्रयोज्याः विविधा निरुहबस्ति प्रयोगाः ६३१
बस्तिद्वारा प्रायः साध्यानां रोगाणां सूचनम् ६३२
बस्त्याहार्णां विषये मतभेदाः ६३४
बालवृद्धयोः मृदु बस्ति प्रयोगे युक्तिः ६३५
सामान्यतः नास्थापनानुवासनयोः रोगरुग्णानां वर्णनम् ६३५
दोषकाल बलानुसारं बस्ति द्रव्याणि उत्कर्षापकर्ष सूचनम् ६३६
शरीरधातुमभिलक्ष्य वस्तिद्रव्याणां प्रयोगः ६३६
दोषापेक्षया बस्तिषु प्रक्षेप्यानां आलोड्यानां च आवाप द्रव्याणां तथा अवस्था विशेषे मृदुतीक्ष्ण-बस्तीनां च प्रयोगः ६३७
वातदोषशमनाय आलोडनद्रव्याणां त्रयो योगाः ६३८
पित्तदोष शमनाय विविधानां आवापद्रव्याणां संकेतः ६३६
कफदोष शमनाय विविधानां आवापद्रव्याणां संकेतः ६३६
पक्वाशय विशोधनाय चत्वारः आवापद्रव्य योगाः ६४०
बस्तिनेत्र निर्वचनम् ६४०
बस्तिनेत्र निर्माणयोग्य द्रव्याणां नामानि ६४१
बस्तिनेत्रे नियोज्यस्य बस्तिपुटकस्य लक्षणं निर्माण प्रकारश्च ६४२

पृष्ठाङ्काः

बस्तिनेत्राणां परिमाणं आकृति विशेषाश्च ६४३
व्रणस्थाने प्रयोज्यस्य बस्तिनेत्रस्य परिमाणम् ६४८
उल्लिखित बस्तियन्त्रोपकरण विविधावयवानां प्राप्याभावे प्रतिनिधिवस्तु निर्देशः ६४८
बस्तियन्त्रोपादान भूतस्य जन्तु बस्तेः स्वच्छीकरणादिप्रकारः नेत्रे बन्धन प्रकारः सुरक्षा प्रकारश्च ६४६
सामान्यतः सर्वविध रोग चिकित्सा प्रारम्भतः प्राक्विशेषतस्तु बस्तिचिकित्सा प्रारम्भतः प्राक् सम्यक् समीक्षणीय दोषादि दशकस्य निरुपणम् ६५०
सामान्यतः बस्ति विधिः ६५१
सामान्यतः रात्रौ बस्ति निषेधः ६५२
दिने एव बस्तिदाने कारण संकेतः ६५२
अवस्थाविशेषे (उष्णकाले) दिवा बस्ति प्रयोगे दोषाः ६५२
बालकेषु बस्ति प्रयोग काले मतभेदाः ६५३
बस्ति प्रयोग काल संख्या संकेतः तत्र कारणानि च ६५४
अवस्था विशेषे बस्ति निषेधः ६५५
सामान्यतः बस्ति मर्यादा सूचनम् ६५५
आवश्यकतानुसारं शीतोष्ण बस्ति प्रयोग संकेतः ६५६
दोषानुसारं उष्ण, शीत, तीक्ष्ण बस्ति प्रयोग संकेतः ६५६

पृष्ठाङ्काः

बस्तेर्हीनातिमात्रा निषेधः ६५७
बस्ति मंद प्रयोग दोषाः ६५७
सत्त्व भेदानुसारं तीक्ष्ण, मध्य मृदुबस्ति प्रयोग संकेतः ६५८
मृदु तीक्ष्ण बस्ति प्रयोगे सावधानतासूचनम् ६५८
वस्ति प्रयोगे मृदुद्रव्याणां तीक्ष्ण द्रव्याणां च यथावश्यकं प्रयोग संकेतः ६५८
केवलं अनुवासनस्य केवलं निरूहस्य वा प्रयोग निषेधे युक्तिः ६५९
पश्चात् कर्म वर्णनम् ६६०
बस्ति प्रयोग कालिक विड्वातोपक्रमे पुनर्बस्ति प्रयोगः तथा बस्ति प्रयोगोत्तरं उत्तानदेह स्थिति प्रयोजनं च ६६१
क्वचित्स्नेह प्रयोगेऽपि वातविकार वृद्धि कारण संकेतः ६६२
पुनरपि प्रयोज्य वस्ति संकेतः ६६३
सम्यक् बस्ति प्रयोग सामान्य लक्षणानि ६६३
बस्त्ययोगलक्षणानि ६६३
बस्त्ययोग चिकित्सा ६६४
बस्त्ययोगजन्योपद्रवाः चिकित्सा च ६६४
बस्त्यतियोग लक्षणानि ६६५
बस्ति प्रयोगजन्योपद्रवाणां नामतः संकेतः ६६५
बस्तिव्यापदां नामतः संकेतः ६६६
षट् सप्तति संख्यानां विविध बस्ति व्यापदां संक्षिप्त वर्णनम् ६६७
बस्तिव्यापदाः तच्चिकित्सा च ६६८

पृष्ठाङ्काः

बस्ति प्रयोगकाले परिहार्याणां-असम्यक् बस्ति प्रयोग कारणानां संकेतः ६६९
बस्ति प्रयोगे सम्भाव्यमानानां दोषाणां वर्णनम् ६७०
बस्तिनेत्र दोषाणां नामानि तदुपद्रवाश्च ६७२
बस्ति पुटक दोषाणां नामानि तदुपद्रवाश्च ६७३
बस्ति प्रणिधान समये प्रयोज्य शय्यादिजन्यानां दोषाणां वर्णनं तत्र चिकित्सा सूत्रं च ६७५
बस्ति प्रयोगे प्रणेतुः प्रमाद जन्य व्यापदां वर्णनं तेषां चिकित्सा च ६७७
बस्ति प्रणेतृ प्रमाद जन्य दोषाणां वर्णनम् ६७७
बस्ति प्रयोगे हस्तकम्पादि जन्योपद्रवाः तत्र चिकित्सा च ६७९
पुनः पुनः बस्तिनेत्र प्रवेश जन्योपद्रवाः तत्र चिकित्सा च ६८०
अति प्रपीडित बस्तियन्त्र दोषाः तत्र चिकित्सा च ६८०
अयोगोपद्रव वर्णनं तस्य चिकित्सा सूत्रं च ६८१
अयोगोपद्रव लक्षणं तत्र चिकित्सा च ६८२
अतियोगोपद्रव वर्णनं तस्य चिकित्सा सूत्रं च ६८३
बस्ति प्रयोगे परिस्राव नामकस्य उपद्रवस्य वर्णनं तस्य चिकित्सा सूत्रं च ६८५

पृष्ठाङ्काः

गुददाहादिशमनः प्रत्यास्थापन योगः ६८७
निरूहातियोग गुददाहोपद्रव चिकित्सा ६८७
बस्तिनेत्र तिर्यक् प्रयोगोपद्रवाः तत्र चिकित्सा च ६८८
त्वरित बस्तिः प्रयोगोपद्रवाः तत्र चिकित्सा च ६८९
आमादि षट्कसमुदायरूप संसर्ग चिकित्सा सूत्रम् तथा निरामोपद्रव चिकित्सा सूत्रं च ६८९
हीन मात्रा जन्य बस्ति व्यापत् लक्षणम् तत्र चिकित्सा च ६८९
अतिमात्राजन्य व्यापत् लक्षणम् तत्र चिकित्सा च ६९०
अपक्वस्नेहजन्य बस्ति व्यापत् तत्र चिकित्सा च ६९०
अत्युष्णतीक्ष्ण बस्ति व्यापत् लक्षणम् ६९०
मृदुशीत बस्ति व्यापत् लक्षणम् ६९०
पक्वाशये आमशेषे निरुहबस्ति जन्य उपद्रवाः तत्र चिकित्सा च ६९०
मृदु वीर्यबस्तिभेषजोपद्रवशमनो योगाः ६९१
सान्द्रबस्ति व्यापत् लक्षणम् तत्र चिकित्सा च ६९१
अतिस्निग्ध अतिरूक्ष बस्ति व्यापत् तत्र चिकित्सा च ६९२
वातपित्तरक्तकफजन्योपद्रवशमनाय सामान्यं चिकित्सा सूत्रम् ६९२
कालातिक्रमणजन्य वस्ति व्यापत् तत्र चिकित्सा च ६९३

पृष्ठाङ्काः

बस्तिप्रयोगकाले (मध्ये) व्यवधानजन्याः उपद्रवाः तत्र चिकित्सा च ६९३
बस्तिप्रयोगे परिकर्तिका नामकस्य उपद्रवस्य वर्णनं तस्य चिकित्सा सूत्रं च ६९४
परिकर्तिका गुदपरिस्रावादीनां बस्त्युपद्रवाणां शमनाय कर्ण-दारादिको निरुहयोगाः ६९५
बस्तिप्रयोगे अंगप्रत्यंगपीडा नामकस्य उपद्रवस्य वर्णनं तस्य चिकित्सा सूत्रं च ६९६
बस्ति प्रयोगे बस्तिद्रव्याणां उर्ध्वागमननामकस्य उपद्रवस्य वर्णनं तस्य चिकित्सा सूत्रं च ६९७
बस्ति प्रयोगेशिरोतिनामकस्य उपद्रवस्य वर्णनं तस्य चिकित्सा सूत्रं च ७००
वस्तिप्रयोगे प्रवाहिकानामकस्य उपद्रवस्य वर्णनं तस्य चिकित्सा सूत्रं च ७०१
प्रवाहिकाहरः शाल्मलिवृन्तादि निरुहः ७०२
बस्त्युपद्रवरूप शकृत्क्षय, चिकित्सा सूत्रम् ७०२
बस्त्युपद्रवरूप शकृत्पित्तमिश्र रक्तपित्तकफ चिकित्सासूत्रम् ७०३
बस्त्युपद्रव षटत्रिंशत् अतीसार-भेदाः तदुपद्रवाश्च ७०३
बस्तिप्रयोगे हृत्प्राप्तिनामकस्य उपद्रवस्य वर्णनं तस्य चिकित्सा सूत्रं च ७०३

पृष्ठाङ्काः

क्लमनामकस्य उपद्रवस्य वर्णनं तस्य चिकित्सा सूत्रं च ७०४
बस्तिप्रयोगे हिक्कानामकस्य उपद्रवस्य वर्णनं ७०५
वातादि दोषाणां रक्तस्य च आमेन सह शकृत् सह संसर्गज न्यानां उपद्रवाणां चिकित्सा सूत्राणि ७०७
बस्तिप्रयोगे आध्माननामकस्य उपद्रवस्य वर्णनं तस्य चिकित्सा सूत्रं च ७०९
दुर्बलस्य पथ्य पालनकाले व्यवायाज्जायमानोपद्रवाः ७११
व्यवायोपद्रव चिकित्सासूत्रम् ७११
मांसक्षय-शुक्रक्षयशमनाय चत्वारः आवापद्रव्ययोगाः ७११
मलसंग्राहकाः चत्वारः आवापद्रव्ययोगाः ७१२
गुदबलिस्रावोपद्रव शमनाय द्वौ आवापद्रव्यप्रयोगौ ७१२
दाहप्रशमनौ द्वौ आवापद्रव्ययोगौ ७१२
परिकर्तिका शमनाय द्वौ आवापद्रव्ययोगौ ७१३
प्रवाहणोपद्रव शमनाय द्वौ आवापदव्यप्रयोगौ ७१३
बस्त्यतिप्रयोगोपद्रवशमनाय द्वौ आवापद्रव्ययोगौ ७१३
बलातिबलारास्नारग्वध प्रभृति महौषध क्वाथ मधुकमदनानिकल्कप्रयुक्तोगुल्महृद्रोगाध्मानशमनः निरूहयोगः ७१४
रुधिरक्षय उपद्रवशमनः बलातिबलापामार्गादि निरूहयोगः ७१५
वृद्धिमेधाग्निबलजननः ह्रस्वपञ्च मूलीक्वाथ साधितो निरूहयोगः
विषमज्वरशमनः ७१५
बस्त्युपद्रवरुपजीवादानकष्टशमनाय बस्तियोगाः ७१५
उदुम्बर-शलाटु-प्रभृतिकः सर्वातीसारशमनो घृतयोगः ७१६
बस्त्युपद्रवरुपाऽऽमातीसारस्य चिकित्सा सूत्रम् ७१६
अतिसारोपद्रवोदाहरणद्वारा विविधानां बस्त्युपद्रवाणां चिकित्सासूत्रम् ७१७
आमातिसारादि विविधरोगाणां शमनाय यथास्वौषधसिद्धविविधबस्तिप्रयोग कल्पनासूचनम् ७१७
अतिसारोपद्रवशमनः विविधाः यवागूयोगाः ७१८
निरूहोपद्रवरूपाऽऽमातिसार चिकित्सा ७१९
निरुहोपद्रवदोषातिसारचिकित्सा ७१९
आमदोषपाचनाय प्रदेयक्वाथ संकेतः ७१९
बस्त्युपद्रवरूप वायुवृद्ध शमन चिकित्सा सूत्रम् ७१९
स्वस्थहितौ निरुहबस्तिप्रयोगः ७२०
निरुहासम्यग्योगजन्योदावर्तोपद्रवः ७२१
निरुहातियोग जन्यस्य अंगमर्दोपद्रव चिकित्सा ७२१

पृष्ठांकाः

अष्टमोऽध्यायः

आस्थापन (निरूह) वस्ति प्रकरणम् ७२२
आस्थापन शब्दस्य निरूक्तिः ७२३
निरूह शब्दस्य निरुक्तिः ७२३
निरूह लक्षणम् ७२४
किं गुणो वस्तिः ७२४
आस्थापनवस्ति योजनामधिकृत्य आत्रेय भृगुकौशिकादि महर्षीणां तद्विद्यसंभाषेतिहासः ७२७
द्रव्य विषयक तद्विद्यसम्भाषा तत्र महर्षि शौनकस्य मतं वामक नृपस्य च सयुक्तिकं तदुत्तरम् ७२७
महर्षि गौतम कृतं वामक नृपमत-निरासः ७२८
वडिशकृतौ गौतममत निरासः ७२८
काप्यकृतौ वडिशमतो निरासः ७२८
भद्रशौनककृतः काप्यमत निरासः ७२८
आत्रेय महर्षिकृतः परस्परविरोध परिहारः तत्र युक्तिश्च ७२९
वस्त्यर्हं फलविषये मतानि भेलाचार्यांशयश्च ७२९
आस्थापने मदनफलस्य सर्वोपयोगिकत्वम् जीमूतक कटुतुम्बीधामार्गवकुटजकृतवेधनफलानां च सर्वत्रोपयोगिकत्वं तत्र युक्तिश्च ७३०
बस्तौ मदनस्य श्रेष्ठ्यम् ७३०
अथ (परिशेष्यात्) निरुहबस्ति विधिम् तद्भेदांश्च ७३१
आस्थापनानुवासन भेषजनामानि प्रयोग समय संकेतश्च ७३२
दशेमान्यास्थापनोपगानि ७३२
रसभेदादास्थापनौषध वर्णने युक्तिः ७३२
आस्थापननिरूह भेषजनामानि तालिकाः ७३६
निरूहणे दोषभेदानुसारं क्वाथादि परिमाण वर्णनम् ७३७
रुग्णस्य वयोभेदेन निरूहद्रव्य परिमाण मात्रा वर्णनम् ७३८
निरूहे मात्रा ह्रासवृद्धि संकेतः ७४०
बस्तिकर्मणि सर्वथा सम्यक् गुणाधीक्य द्रव्याणां प्रयोग निर्देशः ७४०
बस्तिद्रव्य सम्मिश्रण प्रकारः ७४२
लवण मदनयोर्माननिर्देशः दोष विशेषे प्रक्षेप निर्देशश्च ७४४
प्रक्षेपद्रव्यमात्रा ७४४
सम्यक् मिश्रणस्य लक्षणम् ७४४
आस्थापन योग्यानां संकेतः ७४७
आस्थापनायोग्याः तत्र युक्तिश्च ७४९
आस्थापन बस्ति प्रयोग कालः ७५२
विरेचनानन्तरं निरुहणानुवासन बस्ति प्रयोग क्रमः ७५४
रुक्षस्य बहुवातस्य-अनुवासनोत्तरं निरूहः ७५६
भुक्तवतः तत्कालं निरूहण निषेधे युक्तिः ७५६
किञ्चिदपि भोजनात् प्रागेव निराहारस्यैव निरूहण बस्ति प्रयोगे युक्तिः ७५७
यथा काल निरुहणम् ७५७
अनुवासनानन्तरं निरूहण प्रयोगस्य क्रम काल विचारः ७५७
वातपित्तकफस्थानानुसारं एक द्वि त्रि वस्ति प्रयोगे युक्तिः ७५८
रोगी वय बलानुसारं बस्तिकर्म निर्देशः ७६०

पृष्ठांका:

निरूहण सम्यग्योग प्रयोजनम् ७६०
न्यूनाधिक मात्रायां बस्ति प्रयोगे हानि संकेत: ७६१
अति सान्द्रातिद्रव वस्ति प्रयोगे हानि संकेत: ७६१
निरूहवस्ति प्रयोगे सावधानता संकेत: ७६१
निरूहस्य अल्पश: प्रयोग: कार्य:। तत्र युक्तिश्च ७६२
निरूहे आवस्थिक चिकित्सा ७६२
बस्ति शीघ्र प्रत्यागमन कारण संकेत: ७६३
निरूहणानन्तरं तृतीय चतुर्थं दिनेऽपिस्नेहवस्तिप्रयोगे युक्ति: ७६३
विशेष दशायां विशोधनीयवस्ति प्रयोगनिषेध: ७६३
आस्थापनवस्ति प्रयोग प्रकार: ७६४
आस्थापन बस्ति प्रयोग प्रकार: ७६८
निरूहबस्तिप्रयोगात प्राक् कर्त्तव्यानां कर्मणां वर्णनम् ७६८
निरूहबस्ति: प्रयोग पाक्कर्म संकेत: ७७०
अनुवासनवस्तेरनन्तरमास्थापनदान विधि: ७७४
दोषानुसारं निरूहबस्ति प्रयोगाणां संख्या संकेत: ७७८
निरूहणानंतर कर्म संकेत: ७८०
सुनिरूढस्य पश्चात्कर्म वर्णनं पथ्यापथ्यव्यवस्था च ७८१
सम्यग्निरूढ़लक्षणपर्यंतं बस्तिविधानमावश्यकम् ७८७
सम्यक् निरूहण लक्षणानि ७८७
हीन निरुढ़ लक्षणानि ७८९
निरूहण अति योगलक्षणम् ७९०
दुष्प्रयुक्त-सम्यक् प्रयुक्त आस्थापनबस्ति फलाफल संकेत: ७९०
अनुवासन निरूहणयो: क्रम एवं संख्या संकेत: ७९०
सुनिरूढ़ता लक्षण प्रकटता पर्यंत भूयोऽपि निरूहवस्ति प्रयोग संकेत:। ७९१
निरूहणजन्य रुक्षता हेतुकवातप्रकोपशमनाय स्नेहन प्रयोग: ७९१
वातादि दोषानुसारं निरूहबस्ति प्रयोग काले भोज्य द्रव्य संकेत: ७९१
विरेचनानन्तरं निरूहवस्तिदानस्य निरूहणानंतरं विरेचन प्रयोगस्य च सप्तदिनानन्तरं प्रयोगे युक्ति: ७९२
वातव्याधौ मधुराम्ललवणोष्ण द्रव्याणां समुचित मात्रायां प्रयोग निर्देश: ७९३
पित्तज विकारे स्वादु तिक्तकषाय द्रव्याणां वृद्धि: तीक्ष्णोष्णद्रव्याणां च ह्रास संकेत: ७९३
कफज विकारेषु तीक्ष्णोष्णरुक्ष द्रव्याणां वृद्धि निर्देश: ७९४
सामान्यतो वातशमनानां निरूहयोगानां संकेत: ७९४
गृध्रसी तुनीगुल्मादिषु प्रयोज्य: वृषाश्मभेदादि निरूह वस्ति: ७९४
महावातव्याधौ विशेषत: प्रयोज्य: शम्पाकोरुबूक आदि निरूहबस्ति प्रयोग: ७९५
सर्वमारुतरोघ्न: वय: स्थापनाश्च गुडूची त्रिफलादि निरूह: ७९६
वातरोगे गाढ स्नेह निरूह: ७९७
केवल वातनुत् निरूह योग: ७९७
वातघ्नो बलवर्णकृत निरूह योग: ७९७
पित्तशमनानां निरूहयोगानां संकेत: ७९८
पित्तरोगेषु प्रयोज्य: कुशपञ्च मूलादि निरूह बस्ति प्रयोग: ७९८
पित्तनाशनो निरूह: ७९९
पित्तरोगे निरूहण बस्तियोग: ७९९
पित्तविकारे मधुयष्ट्यादि बस्ति: ७९९
पित्तरोगे द्राक्षादि निरूह वस्ति: ८००
पित्तरोगे चन्दनादि बस्ति: ८०१
स्थिरादि निरूह बस्ति: ८०२
निरूहे मांसरस प्रयोग: ८०२
पलाशादि वस्ति: ८०३
कफरोगे रास्नादि निरूह बस्ति: ८०३
कफ शमनानां निरूहयोगानां संकेत: ८०४
मेदस्विषु कफरोगग्रस्तेषु प्रयोज्य: भद्रनिम्बकुलत्थादि निरूहबस्ति योग: ८०५
कफगुल्मविकारिषु प्रयोज्य: दशमूलादि निरूह: ८०५
कफरोगे द्विपञ्चमूलादि (दशमूलादि) निरूह बस्ति: ८०६
श्लेश्मघ्न निरूह: ८०७
कफनाशनो निरुह: ८०७
कफ विकारेषु कोषातक्यादि निरूहबस्ति: ८०७
कफरोगे पटोलादि निरूह बस्ति: ८०८
एरण्डमूलादि निरूहबस्ति: ८०८
वातादिदोषसंसर्गे प्रयोज्या: निरूहबस्ति प्रयोगा: ८०९
रक्तपित्ते कफवाते च यथायोग्यं बस्तिप्रयोग संकेत: ८१०
शोणितशोधनानां निरूहयोगानां संकेत: ८११
बलादि निरूह: ८११
रक्तपित्तादिषु प्रयोज्य: रोध्रचन्द्रनादि निरूह: ८११
शुक्रमांसबलप्रद: रास्नारग्वधादि निरूहबस्ति: ८१२
बिल्वादि निरूह: ८१३
कत्तृणादिक निरूहण योग: ८१४
चतुर्भद्रकल्प: ८१४
पञ्चतिक्त निरूह योग: ८१४
विडङ्गादि निरूह योग: ८१५
मुस्तोशीरादिक्वाथ पक्व क्षीरसाधित: निरूहविशेष योग: ८१५
हपुषादिक्वाथ साधित दुग्धकल्पितो निरूह योग: ८१६
तित्तिरमांसरसादिसाधित: शुक्रजननो निरूह योग: ८१६
स्थिरादि पञ्चमूली साधित: बलवर्णजनन: निरूह योग: ८१६
एरण्डमूलादि परिपक्वक्षीरसाधित: निरूह विशेष योग: ८१७
बलातिबलादिसाधित क्षीरप्रयुक्त: निरूह योग: ८१७
ज्वरशमन: बलामधुकादि साधितो निरूह योग: ८१८
क्षीणेन्द्रिय दिपमज्वरकर्षितहित: शालिपर्ण्यादि निरूह योग: ८१८
निरूहबस्ति उपद्रव शमनाय फलतैल, प्रयोग फलतैल निर्माण प्रकारश्च ८१८
कतिपय सिद्ध वस्तय: ८१९
कुष्ठघ्न: पञ्चतिक्तो निरूहयोग: ८१९
कृमिनाशनो निरूहयोग: ८२०

पृष्ठांकाः

आनाहनाशनो निरूह योगः ८२०
मूत्रकृच्छ्रनाशनो निरूहयोगः ८२०
स्नेहनीयो निरूहयोगः ८२०
पक्वातीसार शमनः बस्तिप्रयोग सूचनम् ८२१
अर्द्धमात्रिकबस्तिः ८२१
वातव्याधिषु द्विपञ्चमूलाद्यो निरूहः ८२३
शतावर्यादि रसायन बस्तिः ८२३
रासायनिक बस्तिः ८२४
मायूराद्यनिरूहाः ८२५
शीतोष्णादि द्रव्याणां मात्रा ह्रासवृद्धि निर्देशः ८२७
अतिशीत अतिउष्ण द्रव्य प्रयोगे हानि संकेतः ८२७
शीतोष्णनिरूहविषयाः ८२८
अतितीक्ष्ण बस्ति प्रयोगे मन्द बस्ति प्रयोगे च हानि संकेतः ८२८
अतिरुक्ष बस्ति प्रयोगे अतिस्निग्ध बस्ति प्रयोगे च हानि संकेतः ८२८
अति तीक्ष्णबस्तिनिषेधः ८२८
अवस्था विशेषे निरूहणात् प्राक् विशेषतः अनुवासन बस्ति प्रयोग विधानम् ८२९
बस्तिद्रव्य क्रमशः शरीरावयव व्याप्ति निर्देशः ८२९
निरूहण प्रयोगात् एकहोरा काल मध्ये एव निरूहण द्रव्य प्रत्यागमनं न भवेत् चेत् शूलानाह घोरोपद्रवा भवन्ति ८३०
तत्र तीक्ष्णशोधनप्रयोगावश्यकता ८३०
बस्ति व्यापत् संख्या ८३१
आस्थापन बस्ति काले जायमानो पद्रवकारणानि ८३१

पृष्ठांकाः

बस्तिमिथ्या प्रयोगजन्योपद्रवरूप शूलशमन चिकित्सा सूत्रम् ८३२
अति निरूहणस्य बहु व्यापत् करत्वात सामन्यतः निरूहणस्य अल्प प्रयोग एव श्रेयान् ८३२
असम्यक् निरुहणप्रयोगजन्याना-मुपद्रवाणां वर्णनम् ८३३
दिवास्वप्नोपद्रवचिकित्सा सूत्रम् ८३३
जीवन्त्याद्य यमकः ८३३
निरूहोपद्रवोदावर्त चिकित्सा सूत्रम् ८३४
निरूहतीक्ष्णतासाधकानां निरूह मृदुता साधकानां च द्रव्याणां संकेतः ८३४
अश्वगन्धादिनिरूहः ८३४
पक्वाशय शोधना निरूहाः ८३५
पुरीषसंग्राहका निरूहाः ८३५
ऊषकादिलेखनो निरूहः ८३६
त्रिफलादयो निरूहण विशेष योगः ८३६
अर्द्धमात्रिक निरूहः ८३६
वातघ्नो निरूहः ८३७
पित्तहर निरूहः ८३४
वदर्यादि पिच्छावस्तिः ८३८
दाहघ्नः कोलादि उत्पलादि निरूहयोगौ ८३८
सहचरबलादिसाधितक्षीर प्रयुक्तः निरूहः ८३९
कृमिनाशनो विडङ्गाद्य प्राकृतिको निरूहः ८३९
मूत्रकृच्छ्रे प्राकृतिको निरूहः ८३९
आनाहे मूत्रकृच्छ्रे श्वदंष्ट्रादि-बस्तिः ८४०
अभिष्यन्द कृमिकुष्ठापहः प्राकृतिको निरूहः ८४०
दाहप्रशमनः सारिवाद्यो निरूह-बस्ति योगः ८४०

नवमोऽध्यायः

पृष्ठांकाः

अनुवासन प्रकरणम् ८४२
अनुवासन वस्ति निरुक्तिः लक्षणश्च ८४३
निरुहणानन्तरं तैलानुवासन प्रयोगावश्यकतायां युक्तिः ८४४
अनुवासन योग्यानां संकेतः ८४६
अननुवास्यानां संकेतः युक्तिश्च ८४८
अनुवासन द्रव्याणि ८५१
दशैमान्यनुवासनोपयोगानि ८५२
अनुवासने स्नेह परिमाण निर्देशः ८५२
अनुवासनबस्ति काल विशेष विचारः ८५४
आत्ययिके रोगे शीघ्रमपि अनुवासने युक्तिः ८५५
पुनः पुनः अनुवासन कालः ८५६
प्रत्यहं अनुवासनबस्ति सेवनयोग्य रोगी निर्देशः ८५६
अवस्था विशेषे अशोधितस्यापि अनुवासननिर्देशः ८५७
दोषभेदेन अनुवासन बस्ति प्रयोगसंख्या ८५७
विरेचनानन्तरं अनुवासन प्रयोगात् प्राक् रोगी बलाधानाय सप्त-रात्रं यावत् व्यवधाने युक्तिः ८५९
स्नेहबस्ति दानात्प्राक् रुग्णस्य उत्सृष्टानिलविण्मूत्रत्वे युक्तिः ८५९
स्नेहबस्ति दानात् प्राक्महास्रोत संशोधनस्य आवश्यकतायां युक्तिः ८५९
किञ्चित् भुक्तवत एव अनुवा-सन दाने युक्तिः ८६०

पृष्ठांकाः

अनुवासनात् प्राक् भोजनादि विशेष नियमाः ८६०
अनुवासन प्रक्रिया वर्णनम् ८६२
वामपार्श्व शायिन एव बस्तिदाने युक्तिः ८६५
बस्तिप्रयोगकालेरुग्णार्थं प्रयोज्यस्य शयन मञ्चकस्य लक्षणम् ८६६
अल्पमात्रोपयोगस्तु स्नेहनिरूहयोः प्रायोनिर्दोषो भवति ८६६
बस्तिप्रयोगानन्तरं कर्तव्याणां कर्मणां वर्णनम् ८६७
सम्यक् अनुवासित लक्षणानि ८६९
अनुवासन वस्त्ययोग लक्षणम् ८७०
अनुवासनवस्त्यतियोग लक्षणम् ८७१
उचितानुवासनयुक्त स्नेहप्रत्या-गमनकालः तत्र कर्तव्यता संकेतश्च ८७१
सोपद्रवस्य अहोरात्रादनन्तरं शोधनम् ८७२
अहोरात्रादपि प्रत्यागतः स्नेह-बस्तिः न दोषकराः ८७२
स्नेहबस्तौ कोष्ठरुक्षता जन्य लक्षणानि तदुपक्रमश्च ८७३
अनुवासनद्रव्यस्य सत्वर प्रत्या-वर्तन कारणसंकेतः तत्र उप-क्रमश्च ८७४
स्नेह व्यापत्ति विज्ञानोपक्रमः ८७४
स्नेह बस्ति व्यापत् संख्या ८७५
स्नेहबस्तौ कोष्ठरुक्षताजन्य लक्षणानि तदुपक्रमश्च ८७५
वातावृत स्नेहव्यापत लक्षणम् ८७७

पृष्ठांका:

वातावृत स्नेह व्यापत् चिकित्सा ८७७
स्नेहबस्ति पित्तावरण लक्षणानि चिकित्सा च ८७८
स्नेहबस्ति कफावरण लक्षणानि तत्र चिकित्सा च ८७८
अन्नावृत स्नेहबस्ति व्यापत् लक्षणं तत्र चिकित्सा च ८७९
विडावृत स्नेहबस्ति लक्षणं चिकित्सा च ८७९
स्नेहबस्तेः ऊर्ध्वागमन लक्षणानि तच्चिकित्सा च ८८१
शीतमृदुल्पस्नेहबस्ति व्यापदां वर्णनं चिकित्सा सूत्रं च ८८३
अत्यल्पमात्रोपयुक्त स्नेहबस्तिव्यापदां वर्णनं तत्र चिकित्सा सूत्रं च ८८३
अतिस्नेहबस्तिप्रयोगे दोषा: चिकित्सा सूत्रं च ८८३
वातविकारे अनुवासनं बिल्व तैल योग: ८८४
वातविकारे अनुवासनं शताह्वाद्यं तैलम् ८८४
वातपित्तविकारे अनुवासनस्य सैन्धवसाधित घृतम् ८८५
वातपित्त विकारे जीवन्त्याद्यं यमकानुवासनम् ८८५
वातपित्तविकारे चन्दनाद्यं तैल घृतम् ८८६
पित्तघ्नौषध वस्ति: ८८६
पित्तरोगे शीतवीर्यद्रव्यसाधित यमक योग: ८८६
कफविकारे सैन्धवाद्यं तैलानुवासनम् ८८६
कफविकारे मदनाद्यं तैलानुवासनम् ८८७
कफरोगे कफघ्नौषध बस्ति संकेत: ८८८
शुक्रक्षये ओजस्क्षये च विडङ्गाद्यं तैलानुवासनम् ८८८
शट्यादि अनुवासन तैल योग: ८८९
गुल्मादि वातरोगेषु अनुवासनार्थं प्रयोज्यस्य वचादि तैलस्य योग: ८८९
वचादि तैल ८९०
गृध्रसीखञ्जकुब्जादि कठिन वातरोगेषु अनुवासनयोग्यस्य चित्रकादितैलस्य प्रयोग: ८९०
जङ्घोरुत्रिकपार्श्वांसबाहुमन्यासिर: स्थितेषु वातरोगेषु अनुवासन योग्यस्य भूतीकरण्डादि तैलस्य योग: ८९१
शुक्राग्निबलवर्धनस्य गुल्मानाहहरस्य अनुवासन योग्यस्य जीवन्त्यादि तैलस्य योग: ८९१
दाहासृग्दरवातशोणितविद्रधिप्रभृति पित्तरक्तरोग शमनाय अनुवासन योग्यस्यमधुकोशीरादि तैलस्य योग: ८९२
विविध पित्तविकारेषु प्रयोज्यस्य मृणालादि तैलघृतस्य योग: ८९३
पानाभ्यञ्जनगण्डूषनस्यबस्त्यादिषु प्रयोज्यस्य त्रिफलादि तैलस्य प्रयोग: ८९४
कफजन्यानां विविध रोगाणां शमनाय अनुवासन योग्यस्यपाठाजमोदादि तैलस्य प्रयोग: ८९४

पृष्ठांका:

श्लीहोदावर्त वातरक्तकफामयप्रमेहशर्करार्शो रोगाणां शमनाय अनुवासनयोग्यस्य विडङ्गाद्रितैलस्य प्रयोग: ८९४
अनुवासनद्रव्ये सैन्धवशताह्वाचूर्ण प्रयोगे फलम् ८९५
स्नेहबस्तौ अपक्व स्नेह निषेध: तत्र युक्तिश्च ८९५
वातघ्नौषध सुखोष्ण बस्ति: ८९६
रक्तजरोगे शीतलबस्तिविधानम् ८९६
एरण्डादिनिरूह अनुवासनबस्ति, ८९६
वाजीकरणप्रधान: मायूरादि बस्ति: ८९७
रसायन: गोधानकुलादि बस्ति योग: ८९७
कूर्मादिबस्ति: बलजनन: ८९८
गोवृषबस्ति: ८९८
कर्कटादि बस्ति परमवृष्य: ८९८
वातरोगनाशन: दशमूलादिबस्ति: ८९९
मधुघृतादिबस्ति: निरुपद्रव: बृंहण क्रिमिकोष्ठोदावर्तादि शमन: ८९९
मधुघृताभ्यां पयस्तुल्यो बस्ति: निरुपद्रव: मेढ्रपाक परिकर्तिकादि शमनश्च ८९९
घृततैलवसामज्जचतु:प्रसृतोबस्ति: मूत्रकृच्छ्र पित्तव्याधिशमन: ९००
मधुतैलचतु: प्रसृतोबस्ति: निरुपद्रव: कृमिकुष्ठोदावर्तगुल्मार्शोहर: ९००
मधुघृताभ्यां मांसरस तुल्य बस्ति: जानुनिकुञ्चनादिहर: ९००
सुरासौवीरकादिबस्ति:सर्ववतहर: ९००
द्विपञ्चमूलत्रिफलादिबस्ति: श्लेष्मव्याध्यबस्त्याटोपादि हर: ९०१
शतावर्यादि घृततैलयोग: शुक्रक्षय बन्ध्यत्व रोग नाशन: ९०१
महाबला तैलयोग: नष्टशुक्रादि शमन: ९०२
बृहत्सहचरादितैलयोग: रसायन: स्वासकास हर: ९०३
वीर्यबलाधानार्थं शतपाकानां सहस्रपकानां वा संकेत: ९०३
मात्राबस्ति विशेषगुणा: ९०४
मात्राबस्ति वर्णनम् ९०४
मात्राबस्तियोग्यानां रुग्णानां संकेत: ९०५
स्नेहबस्ति प्रयोगानन्तरं पथ्यपालन क्रम: ९०६
प्रत्यहं स्नेहबस्ति प्रयोग योग्यानां व्याधिनां वर्णनम् ९०८
समकालं गुदकण्ठाभ्यां स्नेहप्रयोग निषेधे युक्ति: ९०९

दशमोऽध्याय:

उत्तरबस्तिप्रकरणम् ९१०
उत्तरबस्ति निरुक्ति: ९१०
उत्तर बस्ति भेदा: ९११
उत्तर बस्ति योग्या: ९११
वस्त्याधारपुटक निर्माण प्रकार: ९११
उत्तरबस्ति नेत्र निर्माण योग्य धातु: ९११
उत्तरबस्ति नेत्र निर्माण विधिविधानम् ९१२
मूत्रनाड्या प्रवेश योग्य वर्तिनिर्माण प्रकार: प्रयोग प्रकारश्च ९१२

पृष्ठांका:

फलवर्तिमाह ६१३
फलवर्ति निर्माण प्रकार: ६१४
फलवर्ति प्रयोग संख्या संकेत: ६१४
नारीणां कृते उत्तरबस्तिनेत्र परिमाण विधानम् ६१५
अपत्यमार्ग मूत्रमार्गयो: प्रणिदेय-बस्तिनेत्र परिमाण विधानम् ६१७
स्त्रीणां कृते उत्तरबस्ति नेत्र निर्माण प्रकार: ६१७
बालानामपि नेत्रपरिमाणमाह ६१८
उत्तरवस्तौ दातव्य स्नेहपरिमाण व्यवस्था ६१८
स्त्रीणां उत्तरबस्तौ प्रयोज्य स्नेह-मात्रा परिमाण वर्णनम् ६१९
स्त्रीणां उत्तरबस्ति प्रणिधान प्रकार वर्णनम् ६२०
स्त्रीणां उत्तरवस्ति द्रव्य मात्रा संकेत: ६२०
अपत्यमूत्र मार्गयोर्विषयत्वात् स्नेहपरिमाणम् ६२१
उत्तरबस्ति प्राक्कर्म संकेत: ६२१
स्त्रीणां कृते उत्तरबस्ति प्रयोग प्रकार: ६२२
उत्तरबस्ति विधि: ६२३
स्त्रीणां कृते उत्तरबस्ति प्रयोग प्रकार संकेत: ६२४
पुरुषाणां कृते उत्तरबस्ति विधानम् ६२७
पुरुषाणां कृते उत्तरबस्ति प्रयोग संख्या संकेत: ६३०
उत्तरबस्तिसम्यग् प्रयोगात जायमानानां गुणानां वर्णनम् ६३१
उत्तरबस्तौ दाहरूपस्य उपद्रवस्य शमनाय चिकित्सा सूत्रम् ६३१
उत्तरबस्ते स्नेहबस्ति समानाया: गुणदोषानाहव्यापदानां वर्णनं च ६३२
उत्तरबस्ति प्रयुक्त स्नेहस्य अप्रत्यागमन जन्य उपद्रवेषु चिकित्सा सूत्राणां वर्णनम् ६३२
अनिवृतौ उत्तरवस्तिस्नेहे उपक्रम: ६३३
उत्तरबस्ति प्रणिधान पश्चात्कर्म वर्णनम् ६३४

एकदशोऽध्याय:

नस्यप्रकरणम्

नस्य शब्दस्य निरुक्ति: ६३५
नस्य सामान्य फल वर्णनम् ६३६
नस्य कर्मण: विविध भेदा: अवान्तरभेदाश्च ६३८
नस्यस्य त्रयोभेदा: ६४०
नस्य भेदानाह ६४०
शिरोविरेचन योग्यानां संकेत: ६४१
विरेचन नस्य योग्या ६४२
शिरोविरेचनसाध्यव्याधय: ६४३
नस्य प्रयोगायोग्य दशा वर्णनम् ६४३
शिरोविरेचन रोग रुग्णानां निर्देश: ६४३
स्नेहन नस्य प्रयोग योग्यानां रोगाणां वर्णनम् ६४३
तैल सर्पिर्नस्यार्हा: ६४४
निषिद्ध शिरोविरेचनानां संकेत: तत्र युक्तिश्च ६४५

पृष्ठांका:

अवस्थाविशेषे नस्यप्रयोगणां निषेध: तदुपद्रवाणां चिकित्सा सूत्रं च ६४६
नस्यं यस्मिन्काले त्याज्यं यैश्च त्याज्यं तानाह ६४७
नस्य प्रयोगे अयोग्यानां निषिद्धानां रुग्णानां संकेत: ६४८
वयोवस्थानुसारं नस्य धूम-कवल-ग्रह विरेचन विशेषाणां निषेध: ६५१
नस्यार्हानर्हाश्च ६५१
नस्य काल विशेष: ६५२
स्नेहनस्य-शिरोविरेचनयो: दिनावधि निर्देश: ६५३
नस्यकर्म काल ६५३
शिरोविरेचन द्रव्याणि ६५५
शिरोविरेचने फलिनी प्रयोग: ६५६
दशेमानि शिरोविरेचनानि ६५६
शीर्ष विरेचनद्रव्याणि ६५६
भेषज नामानि तेषां ग्राह्याङ्ग संकेतश्च ६५६
शिरोविरेचनोपगण: ६५७
दोष शोधनशमनकारक नस्य प्रयोगोदाहरणानि ६५८
शिरोविरेचन चूर्णानां शिर: स्नेहन विरेचनानां तथा शिर: तर्पण भेषजानां निर्माण सूत्रम् ६६०
स्नेहनस्य विविध मात्रा ६६०
शिरोविरेचन नस्य त्रिविधमात्रा ६६१
मर्शनस्य मात्रा ६६१
प्रतिमर्श नस्यमात्रा ६६२
नस्यार्थं द्रव्याणां परिमाणमाह ६६३
नस्य कर्मणां विशेषविधिवर्णनम् ६६४
पश्चात् कर्म ६६६
नस्यप्रयोगानन्तरं कर्तव्यानि ६६७
नस्यप्रयोगे सावधानतावश्यकता संकेत: ६७०
सम्यक् शिरोविरेचन गुणा: ६७१
हीन शिरोविरेचनम् (अयोग लक्षणम्) ६७२
शिरोविरेचन हीन योग लक्षणम् ६७३
नस्यातियोग लक्षणम् ६७३
शिरोविरेचन नस्यातियोग लक्षणम् ६७३
अति शिरोविरेचन दोषा: ६७४
स्नेहन नस्यविधि: ६७४
प्रतिमर्श नस्य प्रयोग: विधि: ६७४
प्रतिमर्श नस्य फलम् ६७८
प्रतिमर्शनस्य प्रयोगस्थलानि ६८०
मरिचादि नस्यम् ६८३
गुडादि प्रधमन नस्यम् ६८३
विरेचन नस्यम् ६८३
विरेचननस्य मात्रा ६८३
नस्यौषध प्रमाणम् ६८४
विरेचन नस्य प्रयोगस्थलानां निर्देश: ६८४
विरेचननस्य योग्यानां भेषजानां संकेत: ६८५
तन्द्रा नाशक नस्य योग: ६८५
शिरोविरेचन भेदा: ६८६
अवपीडप्रधमनयो: स्वरूपम् ६८६
शमन नस्य प्रयोगस्थलानि ६८६
शमन नस्य भेषज निर्देश: ६८६
शिरस्तर्पण नस्य प्रयोगस्थलानि ६८७
बृंहणनस्य प्रयोगयोग्या रोगा: ६८७
बृंहणनस्य द्रव्याणि ६८७

पृष्ठांकाः

कर्शननस्योदाहरणानि ९८८
आवश्यकतानुसारं पुनः पुनः नस्य प्रयोग विधानम् ९८८
नस्यकर्मणि पथ्यम् ९८८
नस्यकर्मणिव्यापत्तिकारणानां वर्णनम् ९८८
नस्य कर्मणः जायमानानां व्यापदां चिकित्सा ९८९
नस्य प्रयोगोपद्रव चिकित्सा ९८९
नस्य प्रयोगजन्योपद्रव चिकित्सा ९९०
मधूकसारादिनस्यम् ९९०

पृष्ठांकाः

कुंकुमनस्यम् ९९१
अन्यद्बृंहणनस्यमाह ९९१
मापादिनस्यम् ९९२
अथपलिते नस्यम् ९९२
अणुतैल प्रयोगः ९९२
अणुतैल नस्य प्रयोग विशेष गुणाः ९९३
बृहद् अणुतैल प्रयोगान्तरम् ९९३
अणु तैल योग साधन वर्णनम् ९९३
बृहत् अणुतैल ९९४
जीवकादिनस्ययोगः ९९५
नस्य कर्मणि कटु तैल प्रयोगः ९९५

द्वादशोऽध्यायः

रक्तमोक्षण प्रकरणम् ९९६
रक्त विस्रावणस्य महत्वं प्रयोजनश्च ९९६
शोणितरोगचिकित्सा सूत्रम् ९९६
दुष्टरक्त लक्षणम् ९९७
रक्तवृद्धि लक्षणम् ९९७
क्षीण रक्त लक्षणम् ९९७
दोषादि दुष्ट रक्त लक्षणम् ९९७
वात दुष्ट रक्त लक्षणम् ९९८
पित्तदुष्ट रक्त लक्षणम् ९९८
कफदुष्ट रक्त लक्षणम् ९९८
द्विदोषत्रिदोषदुष्टरक्तलक्षण संकेतः ९९९
प्रायो रक्तदूषक पित्तकफयोः संकेतः ९९९
त्रिदोष दूषित रक्त लक्षणम् १०००
द्विदोषज रक्तलक्षणम् १००१
त्रिदोषज रक्तलक्षणम् १००१
त्रिदोषजदुष्ट रक्त लक्षणम् १००१
रक्त दुष्ट लक्षणम् १००१
विषदुष्ट रक्त लक्षणम् १००१

शस्त्र विस्रावणोपकरणानि प्रकारश्च १००२
अनुशस्त्रवर्णनम् तत्प्रयोजनं च १००२
रक्तावसेचनं चतुर्भिः प्रकारैर्भवति १००२
रक्तावसेचनस्य शस्त्रानुशस्त्राणि १००२
शृङ्गप्रयोग द्वारा कफ दूषित रक्त स्राव निषेधे युक्तिः १००३
वातपित्तदूषित रक्त स्रावणाय शृंगप्रयोग विधानम् १००३
दोषानुसारेण रक्तविस्रावण साधनानि १००३
दोषानुसारेण रक्तावसेचनोपायः तत्रयोग्यतायां युक्तिश्च १००४
अवस्था विशेषे विस्रावण प्रकारश्च १००५
उपकरण द्वारा गृहीत रक्त परिमाण वर्णनम् १००६
अवस्थानुसारेण उपकरण प्रयोगः १००६

पृष्ठांकाः

शोणितस्रावपरिमाण निर्धारण हेतवः १००६
स्रावणयोग्य रक्तपरिमाण मात्रा १००७
रक्तावसेचनोपायानां विभागेन प्रयोगस्थल संकेतः १००७
अलाबुशृंगघटी प्रयोग विषयाः १००८
घातादि दुष्ट रक्त स्रावणम् १००८
रक्त स्रावणे प्रयोज्य उपकरणानि अवस्था विशेषे उपयोगितास्च १००८
रक्तस्रावणाय शस्त्रद्वारा प्रच्छान विधिः १००९
शृङ्गालाबु प्रयोग विधिः १००९
अनुपशय द्वारा रक्तजरोगाणां विनिश्चयः १०१०
रक्तविस्रावण योग्याः १०१०
शोणिताश्रयविकारनाम संकेतः १०१३
रक्तदुष्टिजन्य रोग निर्देशः १०१४
रक्तावसेचने अयोग्याः १०१६
रक्तविस्रावणसम्यक् योग कालः आहाराचारश्च १०१६
रक्त विस्रावणोपेक्षायां उपद्रव वर्णनम् १०१७

त्रयोदशोऽध्यायः

जलौका वर्णनम् १०१८
जलौका शब्द निरुक्तिः १०१८
दुष्ट रक्त स्रावण फलम् १०१८
जलौकोऽवचारणे विशेष विज्ञेय निर्देशः १०१९
जलौको ग्रहणोपायनिरूपणम् १०१९
जलौकसां रक्षण पोषण प्रकाराः १०२०
जलौकः पालनः प्रकारः १०२०
जलौकसां पालन विधिः १०२०
निर्विषाणां जलौकसां वर्णनम् १०२१
सविष मत्स्यादि कोथ विकृत जल जाताः सविषाः १०२१
निर्विष जलौकसां निवास प्रशस्त क्षेत्राणि १०२१
जलौकसां भेदाः १०२१
निर्विष जलौकसां वर्णनम् १०२३
पद्मोत्पलानि शैवल कोथ विमल जल जाताः निर्विषाः १०२३
सविष जलौकसां उत्पत्ति स्थानम् तासां प्रयोगोपद्रवाश्च १०२४
सामान्यतः अग्राह्य जलौकसां वर्णनम् तासां प्रयोगोपद्रवाश्च १०२४
सविष जलौकसां निरूपणम् १०२४
तत्प्रयोगोद्भवाः तच्चिकित्सा सूत्रं च १०२५
जलौकः प्रयोगयोग्येषु न प्रयोज्यानां सविषानां जलौकसां वर्णनम् १०२६
जलौकसां पुंस्त्री लक्षणानि १०२७
स्त्री पुरुष भेदेन जलौकसां उपयोगस्थलानि १०२७
चतुर्विध जलौका नामानि तेषां लक्षणानि च १०२८
जलौकसाम् परिमाणम् १०२९
जलौको द्वारा रक्त स्रावण योग्याः १०२९
जलौकसां अवचारणविधिः १०२९
जलौकसां प्रयोग प्रकारः १०३०
जलौका अवचारणविधिः १०३१

पृष्ठांका:

जलौकोद्वारा रक्त ग्रहणम् तत्र सहायतोपायश्च १०३१
जलौकोऽवचारणे शुद्ध रक्तादानोपद्रवा तत्र जलौकोऽवमोचन विधिश्च १०३२
अशुद्ध रक्तापनोदने कारण संकेत: १०३२
जलौको द्वारा दुष्टरक्त निःसारणे-युक्ति: १०३२
जलौकसां प्रयोगानन्तरं जलौको मोक्षण काल संकेत: १०३२
रक्त पूर्ण जलौकसां शुद्धयर्थं रक्त वमन विधानम् १०३३
रक्तमत्तानां त्याज्यानां जलौकसां लक्षणम् १०३४
सम्यक रक्तववमन लक्षणम् १०३५

पृष्ठांका:

पुन: पुन: रक्तस्रावण फलम् तत्र युक्तिश्च १०३६
जलौकावचारणे स्रवित रक्त परिमाणम् १०३६
जलौको द्वारा रक्तस्रावणजन्यानां जलौकोदंशनं शोधनाय विधि: १०३६
शोणितावसेचने उत्तर कर्माणि १०३७
जलौकसां प्रयोगानन्तरं जलौको शुद्धि: १०३८
सविष जलौका प्रयोगजन्यानां उपद्रवाणां वर्णनम् १०३९
अशुद्ध रक्तजन्योपद्रवा: १०३९
जलौकसां अतिरक्तवमनजन्योपद्रवा दुर्वान्तोपद्रवाश्च १०३९
स्रुतासृज: शोथोपद्रवशमन चिकित्सा १०४०

चतुर्दशोऽध्याय:

सिराव्यध प्रकरणम् १०४१
शल्यतन्त्रे सिराव्यध महत्वम् १०४१
रक्तवह सिराणां प्राकृत कर्म वर्णनम् १०४३
सिराव्यध साध्य रोगेषु शास्त्रानुसारं सिराव्यध संकेत: १०४३
सिराव्यध कर्मणि अयोग्यानां रुग्णानां, अयोग्यानां सिराणां च निर्देश: १०४६
विविध रोगानुसारं शरीरांग प्रत्यंगेषु सिराव्यध स्थान निर्देश: १०४८
रोगविशेषानुसारं शरीरांग प्रत्यंगेषु सिराविशेष व्यध सूचनम् १०५१
अंगप्रत्यंग भेदेन सिराव्यध प्रकारा: १०५२

सामान्यत: सिराव्यधयोग्य स्थल संकेत: १०५२
परिहार्याणां मर्मस्थानानां संकेत: १०५२
सिराव्यधे शस्त्र प्रणिधान मात्रा-परिणाम संकेत: १०५४
व्रीहिमुख कुठारिका प्रयोग विधिश्च १०५५
कुठारिकाशस्त्र लक्षणं तत्प्रयोजनं च १०५५
कुठारिकाशस्त्रेण सिरावेध-विधि: १०५५
अर्धचन्द्राख्य शस्त्रलक्षणं व्रीहिमुखशस्त्रलक्षणं तत् प्रयोजनं च १०५६
व्रीहिमुखेनसिरावेध विधि: १०५६
कूर्चशस्त्रलक्षणं तत्प्रयोजनं च १०५७

पृष्ठांका:

सिराव्यध सामान्य पूर्वकर्म निर्देश: १०५७
सिराव्यधात् प्राक् उपकल्पनीय द्रव्य भेषज संकेत: १०५८
शरीरांगप्रत्यंगेषु यत्र तत्र सिराव्यध कर्मणि सिराधिक्यविधि-विशेष वर्णनम् १०५९
सामान्यत: सिराव्यध विधि: तत्र विविध सिराणां उत्तुण्डन प्रकारसंकेतश्च १०६१
नासिकोपनासिका सिराव्यध विधि:, ग्रीवाश्रित सिराव्यध विधि:, जंघा सिराव्यधविधि: १०६४
सिराव्यध विधि वर्णनम्, उत्थापित सिराया: व्यधन विधि: १०६५
अतिरक्तस्राव निषेध: सिराव्यधमनन्तरं किंचिदवशिष्ट मलिन रक्तस्रावण विधि: १०६६
सिराव्यधे प्राक् दुष्ट रक्तप्रवृत्ति: स्वाभाविकी १०६७
सिराव्यधस्य त्रिविधा शस्त्रकाला: १०६७
सिराव्यध अयोग्य काल संकेत: १०६८
सिराव्यधे विशेष सावधानता पालनावश्यकता १०६८
अधिकाधिकं प्रस्थमात्र शोणितस्राव विधानम् १०६९
रक्तस्रावस्य परिमाणम् अतिस्रावणस्य दोषाश्च १०६९
सम्यक् सिराव्यधोत्तर कर्म १०६९
रक्तस्रावानन्तरं पश्चात्कर्म १०७०
सुविद्धा सिरा लक्षणम् १०७०

रक्तविस्रावण सम्यक् योग ज्ञान प्रकार: तस्य लक्षणानि च १०७०
अल्पविद्ध सिरा अति विद्ध सिरा लक्षणं च १०७१
असम्यक् सिरावेधजन्य रक्तस्राव चिकित्सा सूत्रम् १०७१
अतिप्रवृत्त रक्तस्तम्भनाय विविधोपाया: तदुपद्रव शान्ति प्रकारश्च १०७२
अति नि: सृत रक्तस्य शरीरे सद्योरक्तक्षयजन्य हानि निवारणाय एण प्रभृति प्राणीशोणितपान संकेत: तथा यकृतभक्षण संकेतश्च १०७४
रक्तस्रावणोत्तर बृंहण चिकित्सा विधि: १०७६
अतिप्रवृत्त रक्तनिरोधाय चत्वार: उपाया: तत्फलं च १०७७
अतिरक्तविस्रावणजन्या: उपद्रवा: १०७८
क्रमश: पुन: पुन: रक्तस्रावण योग्या रोगा: १०८२
अशुद्ध रक्तस्य पुनरपि विस्रावणम् १०८२
सिराव्यधे सिरास्रावावरोधे कारण विचार: १०८३
सम्यक् सिराव्यधेऽपि रक्तनि:सरणे विघ्न कारणानि १०८३
रक्तस्राव निवारक कारणानां संकेत: १०८४
अप्रवृत्तस्य रक्तस्य विस्रावणाय औषधयोगा: १०८४

	पृष्ठांकाः
अतिस्रावे स्तम्भन विधानम् तत्र चिकित्सा सूत्रं च	१०८४
रक्तस्रावोत्तर पथ्यपालने सयुक्तिकं सूत्रम्	१०८६
सिराव्यधानन्तरं पथ्यापथ्य विचारः	१०८६
रक्तस्रावणोत्तर पथ्यः	१०८७
सिराव्यधे जायमानोपद्रव सूचनम् तत्र चिकित्सा च	१०८८
विंशतिविधानां दुष्टव्यधानां नाम निर्देशः	१०८८
दुष्टव्यधानां यथास्वं विविधोपद्रवाणां संकेतः	१०८८
रक्तस्रावणोत्तरं जातोपद्रव प्रशमोपायः	१०९१
स्रावणोत्तरे रक्तं दोषशेष शंकायां चिकित्सा सूत्रम्	१०९१
रक्तमोक्षणोपरान्त विधिः	१०९२
अतिस्रावण निषेधः उपायान्तरेण शोधन विधिश्च	१०९२

पञ्चदशोऽध्यायः

	पृष्ठांकाः
धूमपानप्रकरणम्	१०९३
धूमपान प्रयोजनम्	१०९३
नस्यप्रयोगानन्तर दोषानुसारं धूमगण्डूषादि विधानम्	१०९४
भेषजरूपेण प्रयोज्यानां पेयानां कार्य भेदेन पंचविधानां धूमप्रयोगाणां नाम संकेतः	१०९५
पंचविधानां धूमपानानां सोपपत्तिकं फलादेश वर्णनम्	१०९५
दोषानुसारं धूमभेदाः	१०९६
विरेचन धूमपान प्रयोगस्थलानि	१०९७
धूमपानप्रयोगस्थलानि	१०९८
धूमपानस्य फलम्	१०९८
शमनधूम द्रव्याणां वर्णनम्	१०९८
तीक्ष्णधूमद्रव्याणां वर्णनम्	१०९९
पंचविधधूमवर्ती द्रव्य निर्देशः धूमपानौषधिकल्कः, मृदुस्निग्ध धूमद्रव्याणां वर्णनम्	११००
धूमपान योग्य रोगाः	११०१
धूमपान योग्यानां वर्णनम् विविध धूमपानप्रयोगस्थलानि मृदुधूमपान प्रयोगस्थलानि	११०२
मध्यधूमपान प्रयोगस्थलानि निषिद्ध धूमपानानां वर्णनम् निषिद्ध धूमपानानां संकेतः तत्र कारणं च	११०३
येषु रोगेषु धूमपानं न हितं तेषां संकेतः	११०४
पंचविधानां धूमपानानां काल वर्णनम्	११०६
पंचविधानां धूमपानानां पानकाल मर्यादा	११०७
कार्यभेदेन विविधधूमवर्ति प्रयोगार्थं धूमनेत्रोपादान द्रव्याणां विविधानां नेत्रपरिमाणानां च वर्णनं व्रणधूमनेत्र वर्णनं च	११०८
धूमनेत्रवर्णनम्	११०९
तीक्ष्णधूम स्नेहधूम मध्यमधूमपानयोग्यनेत्राणाम् आकृति दीर्घता संकेतश्च	११०९
धूमपानयंत्र नेत्र वर्णनम्	१११०
शिरोविरेचन धूमयंत्र नेत्रनिर्माणम्	१११०

	पृष्ठांकाः
धूमनेत्रवर्तिमान विचारः	१११०
धूमनेत्रस्य स्वरूपम्	१११९
धूमविशेषे नेत्रप्रमाणनिर्देशः	१११९
नेत्रद्रव्याण्याह	१११९
धूमयंत्रनेत्र परिमाण संकेतः	१११९
विशेषदशायां धूमपानयंत्रनाडी विशेषः	१११२
यया नाड्या धूमो गृह्यते तद्विधानमाह	१११२
कार्यभेदेन पंचविधानाम् धूमवर्तिनिर्माण प्रकाराणां वर्णनम्	१११३
धूमपानयोग्य धूमवर्ति निर्माण प्रकारः योगप्रकारश्च	१११५
धूमवर्ति निर्माण प्रकारः	१११५
धूमवर्तिप्रस्तुतविधिः धूमपानस्य सामान्य विधिश्च	१११५
धूमपान प्रयोग विधिः	१११६
धूमपान प्रयोगे विशेषदशायां कर्तव्यः	१११७
धूमपाने त्याज्यम्	१११८
सामान्यतः धूमपानजन्यानां लाभानां वर्णनम्	१११८
धूमपानस्य विशेषगुणानां वर्णनम्	१११९
कासादिषु शरावसम्पुटन्यस्त धूमपान प्रयोग प्रकारः	११२०
कासघ्न धूमप्रयोग विधिः	११२१
वामक धूम प्रयोग विधि	११२१
दोषास्यावस्थान विशेषे धूमपान द्वार निर्देशः	११२१
स्निग्धधूम मध्यधूम शोधन धूमानां यथाक्रमं एक द्वि त्रिवारं पानविधानम्	११२१
स्थानभेदेन दोषोत्क्लेशानुसारं नासिकाया मुखेन वा प्राक् पश्चात् धूमपान संकेतः	११२२
मुखे नैव धूमवमने युक्तिः	११२२
व्रणधूम प्रयोगस्य वर्णनं फलादेशश्च	११२३
धूमपानस्यायोगोपद्रवाः अतियोगोपद्रव सूचनं च	११२३
धूमपानोपद्रवसूचनं तत्र चिकित्सा च	११२३
अकालपीत धूमानां वर्णनम्	११२३
धूमोपघातजन्योपद्रव चिकित्सा सूत्रम्	११२६
अवस्था भेदेन धूमपान निर्देशः	११२६

षोडशोऽध्यायः

	पृष्ठांकाः
प्रतिसारण प्रकरणम्	११२९
प्रतिसारण शब्दस्य निरुक्तिः, परिभाषा च	११२९
प्रतिसारण परिभाषा	११३०
मुखे अन्तः प्रतिसारणीयानां चतुर्विध द्रव्याणां प्रतिसारण प्रयोग योगातियोगानां कवलग्रहवत् संकेतश्च	११३०
मुखस्यान्तः प्रतिसारण प्रकाराः	११३१
कफरोगे प्रतिसारण द्रव्याणां संकेतः	११३१
प्रतिसारणयोग्य रोगाः	११३२
प्रतिसारण योगातियोग वर्णनम्	११३२
प्रतिसारणोत्तरं पथ्य संकेतश्च	११३३

सप्तदशोऽध्यायः

	पृष्ठांकाः		पृष्ठांकाः
मुखालेप प्रकरणम्	११३४	दोषघ्नो लेपो यथा	११४०
प्रलेप नामान्याह	११३५	दाहे लेपः	११४०
मुखालेपस्य सामान्य गुणाः	११३५	अथान्यो लेपविधिः लेपस्य भेद द्वयम्	११४१
मुखालेप विशेष गुणाः	११३६	लेप विधिः	११४१
त्रिविधमुखालेप वर्णनम्	११३६	रात्रौ लेपनिषिद्धता	११४१
दोषानुसारं मुखालेप भेदः	११३७	रात्रि लेपनिषेधे हेतुः	११४१
येषु मुखालेपो न प्रयोज्यः तेषां संकेतः	११३७	रोगविशेषे रात्रौ लेपाज्ञा	११४१
मुखालेपस्य उत्सेध परिमाण-भेदेन गुणानुसारं उत्तममध्य-माधमत्वम्	११३७	वार्यो लेपो	११४२
हेमन्तादि ऋतुभेदेन प्रयोज्यानां मुखालेपानां योगाः	११३८	मुखकान्तिकरो लेपः	११४२
मुखालेपपश्चात्कर्म पथ्यापथ्य वर्णनं च	११३९	मुखकान्तिकरं द्वितीयो लेपः	११४२
यत्र मुखालेपो न प्रयोज्यः तेषां सूचनम् मुखालेपप्रयोग गुणाः	११३९	तारूण्यपिटिकाऽपहा लेपाः	११४२
		व्यंगहरालेपः	११४२
		मुखकाण्र्यलेपः	११४३
		तत्रैव लेपान्तरम्	११४३

आयुर्वेदीय-पंचकर्म-चिकित्सा

प्रथम अध्यायः

विषय-प्रवेशः

पञ्चकर्म-चिकित्साया आधारः

पंचकर्म चिकित्सा के आधारभूत सिद्धान्तों में विभिन्न उपक्रमों का उल्लेख आचार्यों द्वारा किया गया है। चरक में षडविधोपक्रमों-लंघन, बृंहण, रूक्षण, स्नेहन, स्वेदन तथा स्तम्भन-का उल्लेख है किन्तु वाग्भट के द्विविधोपक्रमों में इन सभी का अन्तर्भाव हो जाता है। अतः अपतर्पण एवं सन्तर्पण दोनो ही उपक्रमों का क्रमशः सन्तर्पणोत्थ एवं अपतर्पणोत्थ व्याधियों में उपयोग किया जाता है। इन्हें लंघन एवं बृंहण कर्म भी कहा गया है। इनमें लंघन कर्म दो प्रकार का है—शोधन एवं शमन। इनमें से शोधन-कर्म पांच प्रकार का होता है। ये पांचो उपक्रम ही पंचकर्म नाम से व्यवहृत हैं।

चिकित्सा का अभिन्न अंग होने से अन्य संहिताओं की अपेक्षा चरक संहिता में पञ्चकर्म शब्द का बहुशः उल्लेख हुआ है। सर्वप्रथम सूत्रस्थान के दीर्घंजीवतीय तथा अपामार्गतण्डुलीय अध्याय में पञ्चकर्मोपयोगी द्रव्यों का सामान्य परिचय देते हुए पंचकर्म के सामान्योद्देश का निरूपणकर चिकित्सार्थ उसकी उपयोगिता को प्रकट किया गया है यथा—

तान्युपस्थितदोषाणां स्नेहस्वेदोपपादनैः।
पञ्चकर्माणि कुर्वीत मात्राकालौ विचारयन्॥

च० सू० अ० २।१५

पञ्चकर्म यथाकर्तव्यं, तथा तानीत्यादिना दर्शयति। तानीति पूर्वोक्तानि। स्नेहस्वेदोपपादनैरिति बहुवचनं नानाविधस्नेहस्वेदोपदर्शनार्थम्।

१. आयु.पं.चि.

उपस्थितदोषाणामिति शाखां त्यक्त्वा कोष्ठगमनेन तथा लीनत्वपरित्यागेन प्रधानावस्था प्राप्तदोषाणाम् । तत्र पञ्चकर्मप्रवृत्तावुपस्थितदोषत्वमेव हेतुः । तद् यदि स्नेहस्वेदोपपादनमन्तरापि स्यात्, यथा ज्वरे—"कफप्रधानानुत क्लिष्टान् दोषानामाशयस्थितान् । वुद्ध्वा ज्वरकरान् काले वम्यानां वमनैर्हरेत्—(चि० अ० ३) इति । तत्र स्नेहस्वेदावन्तरेणापि वमनप्रवृत्तिर्भवत्येव । स्नेह-स्वेदोपपादनं तु प्रायिकत्वेन, तथाऽन्यथोपस्थितदोषेऽपि स्तोकमात्रया पञ्चकर्म-प्रवृत्तिक्षोभजन्यवातजयार्थं क्रियमाणत्वेनोक्तम् । मात्राकालयोर्विचारत्वेन ग्रहणं प्राधान्यात् । तेन दोषभेषजादयोऽपि विचार्यत्वेनेह बोद्धव्याः । यदि वा पूर्ववत् कालग्रहणादेव शेषाणां दोषादीनामवरोधो व्याख्येयः । तानीत्युक्तेऽपि पुनः पञ्च-ग्रहणं पञ्चानामप्युपस्थितदोषाणां वमनादीनां प्रवृत्त्युपदेशार्थम् । इह वमनादिषु कर्मलक्षणं बहिर्निर्तिकर्तव्यतायोगिदोषनिर्हरणशक्तिज्यायस्त्वम् । तेन तन्त्रान्तरेण स्नेहस्वेदौ प्रक्षिप्य सप्तकर्माणीति यदुच्यते तन्न स्यात् । नहि स्नेहस्वेदौ दोषबहि-र्निःसरणं कुरुतः । दोषसंशमनं तु कुरुतः । पञ्चकर्माङ्गत्वेन व्याप्रियमाणौ स्नेह-स्वेदौ दोषोपस्थान एव परं व्याप्रियेते । नहि दोषनिर्हरणे वमनादिसम्पाद्ये । अनुवासनन्तु यद्यपि वमनादिवन्न बहुदोषनिर्हरणकारणं भवति तथापि पुरीषस्य पक्वाशयगतवातस्य च बहिर्निहारकत्वात्कर्मलक्षणव्याप्तमेव । निष्ठीवननेत्रा-ञ्जनादौ तु न स्नेहस्वेदादिवद्बहिर्निर्तिकर्तव्यतायोगो न च बहुदोषनिर्हारक-त्वम् । तेन न तत्कर्मशब्दवाच्यम् । उत्तरबस्तिस्तु स्नेहरूपोऽनिरूहः स्नेहवस्ता-वेवान्तर्भवति । यदि वेह वमनादिषु पञ्चकर्मसु पङ्कजशब्दवद् योगरूढेयं संज्ञा । तेन न स्नेहस्वेदनिष्ठीवनादिषु वर्तते ॥ चक्रपाणिः ॥

वक्तव्य—"उपस्थितदोषाणां" से शाखा को छोड़कर कोष्ठ की ओर प्रवृत्त होने के लिए तत्पर दोषों की अवस्था का भाव स्पष्ट होता है । यहां मुख्य रूप से मात्रा एवं काल की आवश्यकता पर बल दिया गया है । यद्यपि पंचकर्म शब्द से यहाँ पङ्कजवत्[1] योगरूढ़ शब्द की तरह भाव का ही ग्रहण किया गया है तथापि उत्तर बस्ति आदि कर्मों का भी इन्हीं में समावेश हो जाता है ।

---

१. जिस प्रकार पंक (कीचड़) से विविध वस्तुओं की उत्पत्ति होते हुए भी कमल का ही विशेषार्थ में ग्रहण किया जाता है । उसी प्रकार पंचकर्म में विविध कर्मों का समावेश होते हुए भी पांच का ही विशेषार्थ में ग्रहण किया जाता है ।

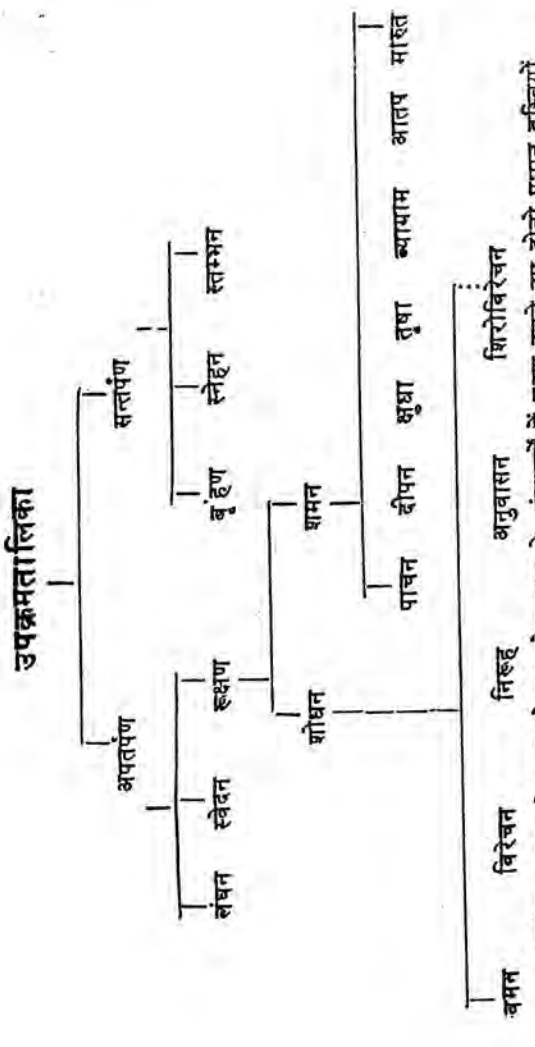

विशेष—मुश्रुत के रक्त मोक्षण को वाग्भट ने पंचकर्मों में ग्रहण करते हुए दोनों प्रधान वस्तियों का निरूह में अन्तर्भाव कर दिया है ।

द्विविधचिकित्सोपक्रमः

उपक्रम्यस्य हि द्वित्वाद् द्विधैवोपक्रमो मतः ।
एकः सन्तर्पणस्तत्र द्वितीयश्चापतर्पणः ॥
बृंहणो लङ्घनश्चेति तत्पर्यायावुदाहृतौ ।

अ० सं० सू० २४।३
अ० हृ० सू० १४।१-२

हिन्दी व्याख्या—चिकित्सा के प्रमुख दो उपक्रमों का वाग्भट ने वर्णन किया है, इनमें प्रथम 'अपतर्पण' तथा द्वितीय को 'सन्तर्पण' चिकित्सा कहा गया है। लंघन एवं बृंहण भी इन्हीं के पर्याय हैं।

वक्तव्य—प्रायः आमप्रदोषज व्याधियों में तथा सन्तर्पणोत्थ और अपतर्पणोत्थ व्याधियों में इन दोनो उपक्रमों का क्रमशः उपयोग होता है। चरक संहिता सू०अ० २२ में जिन षड्विधोपक्रमों का वर्णन किया गया है उनका भी इन्हीं दो उपक्रमों में अन्तर्भाव हो जाता है यथा—बृंहण, स्नेहन और स्तम्भन का संतर्पण में तथा लंघन, स्वेदन और रूक्षण का अपतर्पण में।

बृंहणलंघनपरिभाषा

बृंहणं यद् बृहत्वाय लंघनं लाघवाय यत् ॥
देहस्य भवतः प्रायो भौमापमितरच्च ते ।

अ० सं० सू० २४।४
अ० हृ० सू० १४।१-२

बृंहण—इसे सन्तर्पण भी कहते हैं। जिस कर्म से शरीर के मूलभूत उपादान पुष्ट होते हैं उसे बृंहण कर्म कहा जाता है। बृंहण-द्रव्य पृथ्वी और जलमहाभूत भूयिष्ठ होते हैं।

लंघन—इसे अपतर्पण और कर्षण भी कहा जाता है। जिस कर्म से शरीर में लघुता उत्पन्न होती है उसे लंघन कहा जाता है। लंघनद्रव्य अग्नि, वायु और आकाश महाभूत-भूयिष्ठ होते हैं।

वक्तव्य—चरक संहिता में षड्विधोपक्रम का वर्णन किया है। वाग्भट ने इन सभी का द्विविधोपक्रम में ही अन्तर्भाव कर दिया है। यथा—

स्नेहनं रूक्षणं कर्म स्वेदनं स्तम्भनं च यत् ।
भूतानां तदपि द्वैध्याद् द्वितयं नातिवर्तते ॥

अ० सं० सू० अ० २४।५
अ० हृ० सू० अ० १४।३, ४ क

१. अष्टाङ्ग संग्रह में द्वैविध्यात् पाठ आया है।

हि० व्या०—यद्यपि स्नेहन और रूक्षण तथा स्वेदन और स्तम्भन कर्म भी चिकित्सार्थ पृथक् उल्लिखित है। तथापि सभी महाभूत आग्नेय और सौम्यरूप दो भागों में विभक्त होने से सभी कर्म बृंहण और लंघन से पृथक् नहीं है यथा—स्नेहन और स्तम्भन सौम्य होने से बृंहण में तथा रूक्ष और स्वेदन आग्नेय होने से लंघन में अन्तर्भावित हो जाते हैं।[1]

लङ्घनचिकित्साभेदौ

शोधनं शमनं चेति द्विधा तत्रापि लङ्घनम् ।

अ० सं० सू० २४।६
अ० हृ० सू० १४।४

हि० व्या०—लंघन चिकित्सा भी दो प्रकार की है। (१) शोधन और (२) शमन

किंनाम संशोधनम्

शोधनपरिभाषा, पञ्चविधत्वं च :—

यदौरयेद्बहिर्दोषान् पञ्चधा 'शोधनं' च यत् ॥

अ० हृ० सू० अ० १४।६ (क) अ० सं० सू० २४।७ क

यदौषधं दोषान् वातादीनन्तः स्थितान् बहिरीरयेत् क्षिपेत्तच्छोधनम्। तच्च पञ्चधा पञ्चविधम् ॥ अरुणदत्तः ॥

तथा भेदकथनार्थमिदमाह-यदौषधं बहिर्दोषान् अन्तः शरीरस्थानीरयेत् प्रेरयेत् विद्यात्तच्छोधनम्। तच्च पञ्चधा पञ्चप्रकारं निरूहादिभेदेन ॥

चन्द्रनन्दनः ॥

हि० व्या०—उस उपक्रम को शोधन कहा जाता है जिससे दोष, धातु एवं मलों आदि के विकारी भावों को शरीर से बाहर निकाला जाता है। यह पांच प्रकार का है।

स्थानाद्बहिर्नयेदूर्ध्वमधो वा मलसंचयम् ॥
देहसंशोधनं तत्स्याद्देवदालीफलं यथा ।

शा० पू० ख० अ० ४ भावप्रकाश प्र० ख० मिश्रवर्ग श्लो० २२९

स्थानादिति। यद्द्रव्यं प्रकुपितस्थानात् मलसंचयं दोषादीनां स्वस्थानादूर्ध्वमधो वा बहिर्नयेत् बहिः करोति तद्देहे शरीरे शोधनं कथितम्। यथा देवदालीफलम्। देवदाली वल्लीसंज्ञा। ऊर्ध्वं मुखनासिकाभ्यामधः पायुमेढ्रमार्गेण। देहग्रहणेन शोणितावसेचनमपि गृह्यते शोधनत्वात्। यतः शोधनं

१. यद्यपि चरके (लङ्घनं बृंहणं काले रूक्षणं स्नेहनं तथा। स्वेदनं स्तम्भनं चैव जानीते यः स वै भिषक्) च० सू० २२।४ षड्विधोपक्रमाः अपि वर्णिताः परन्तु तेषामपि उपक्रम-द्वय एवं अन्तर्भावः।

द्विविधमाचक्षते बहिराश्रयमभ्यन्तराश्रयं च । तत्र बहिराश्रयं शस्त्रक्षाराग्नि-प्रलेपादयः । अभ्यन्तराश्रयं तु चतुःप्रकारं वमनरेचनास्थापनशोणितमोक्षणानि । एके शिरोविरेचनं मन्यन्ते । तच्चात्र वमनान्तर्भूतं बोद्धव्यम्, ऊर्ध्वशोधनत्वात् ॥ आढमल्ल ॥

हि० व्या०—जिस क्रिया द्वारा दोषों (रोगोत्पादक दोषधातुमलों) को शरीर से बाहर निकाला जाता है उसे शोधन कहा जाता है। आचार्य शार्ङ्गधर ने मल रूप दोषों को बाहर निकालने के लिए ऊर्ध्व और अधः मार्ग का उल्लेख करते हुए संशोधन को स्पष्ट कर दिया है:—यथा देव दाली फल ॥

वक्तव्य वाग्भट की शोधन परिभाषा अत्यन्त व्यापक एवं युक्तियुक्त है। जो भी कर्म शरीर स्थित दोषों को बाहर निकाले वह शोधन है। यहाँ दोष शब्द से केवल, वातपित्त कफ का ग्रहण न करके, शरीर स्थित, रोगोत्पादक दोष, धातु, मलों का ग्रहण करना चाहिए क्योंकि कोई भी रोग, इन्हीं के विकारस्वरूप ही उत्पन्न होगा। अब आगे इन्होंने जिस पाँच संख्या का निर्देश किया है वह विशेष नियम है। सामान्यतया कोई भी कर्म शरीरस्थित दोषों को शोधित करने में सहायक हो सकता है। हमारा यहाँ सुविचारित नम्र मत है कि आज चिकित्सा में उपलब्ध वे सभी कार्य, जिनसे शारीरिक एकाङ्ग व सर्वाङ्ग शुद्धि (रोगमुक्ति) होती है वह शोधन परिभाषा के अन्तर्गत आते हैं। जैसे व्रणशोधनार्थ विविधकल्क, कषाय, तैल, शल्यक्रिया, (अश्मरी, गर्भाशय, आन्त्रपुच्छ, पित्ताशय, फुफ्फुस, हृदय, मस्तिष्क, वातनाडीसंस्थान आदि की शल्यक्रियायें) विविध शरीर के अन्तः व बाह्य प्रयोगार्थ शोधन के साधन जैसे मृत्तिका-लेप, उद्वर्तन, कृमिहर द्रव्य-युक्त जल से स्नान आदि। अतः वाग्भट की यह परिभाषा अत्यन्त व्यापक है। आगे जो पंचसंख्या का निर्देशन है वह कालानुसार जो कर्म शोधनार्थ अत्यन्त उपयोगी हों उनका ही प्रयोग निर्दिष्ट करता है। परन्तु वाग्भट ने जो भी कार्य शोधन करे, कहते हुए अन्य कर्मों के समावेश करने का मार्ग प्रस्तुत किया है।

पञ्चविधशोधनोदाहरणानि

निरूहो वमनं कायशिरोरेकोऽस्रविस्रुतिः ॥ ८ ॥

अ० हृ० सू० १४। अ० सं० सू० २४।१

निरूहो बस्तिस्तथा वमनं तथा कायविरेकः शिरोविरेकश्च तथाऽस्रविस्रुती रक्तस्रावश्चेति पंचधा शोधनम्। सर्वशरीरस्य शिरःप्रभृतेरधो मलनिर्हरणं यत्सकायविरेकशब्देनोच्यते। यत्तु केवलं शिरःसंज्ञकस्य शरीरावयवस्य घ्राणेनोर्ध्वमलनिर्हरणं स शिरोविरेकः ॥ अरुणदत्तः ॥

तत्र निरूहत्वात्स्थापनं गुदप्रणिधेयमौषधं क्वाथस्नेहादि। वमनं दोषाणामूर्ध्वहरणम्। कायशिरोरेको दोषाणामधोहरणं केवलस्य कायैकदेशस्य शिरःसंज्ञकस्य यन्नासयोर्दूर्ध्वमलनिर्हरणं स शिरोविरेकः। कायत्वेऽपि सति सास्रस्य रक्तस्य शिरादिभिर्निर्हरणमस्रविस्रुतिः ॥ चन्द्रनन्दनः ॥

तत्तु निरूहः, वमनं कायशिरोरेकः, अस्रविस्रुतिरिति पञ्चधा। तच्छोधनं बस्त्यादिभिः पञ्चविधम्। कायरेको विरेचनम्। शिरोरेको नस्यम्। अस्रविस्रुतिः रक्तस्रावः ॥ परमेश्वरः ॥

हि० व्या०—शोधन पाँच प्रकार का होता है।

यथा—निरूहबस्ति, वमन, विरेचन, शिरोविरेचन (नस्य) तथा रक्तमोक्षण

वक्तव्य—यहां सुश्रुत-सम्मत रक्तमोक्षण का समावेश करते हुए बस्ति के लिए निरूह का ही उल्लेख किया है। इसी में अनुवासन को भी अन्तर्भावित कर लिया गया है।

किंनाम संशमनम्

न शोधयति न द्वेष्टि समान्दोषांस्तथोद्धतान्।
समीकरोति विषमाञ्शमनं तद्यथामृता ॥ ३ ॥

शा० पू०ख० ४। भा० प्र० पू० ख० २२३।

न शोधयति यद्दोषान्समान्नोदीरयत्यपि।
समीकरोति विषमान् शमनं·····।

अ० सं० सू० २४।८ अ० हृ० सू० १४।६

हि० व्या०—जिस चिकित्सा द्वारा प्रकुपित दोषों को संशोधन प्रक्रिया द्वारा बाहर न निकाला जाय और समदोषों को बढ़ाया न जाय तथा उत्क्लेशित किये बिना ही विषम दोषों को समान अवस्था में लाया जाय उसे संशमन चिकित्सा कहते हैं यथा-गिलोय का प्रयोग।

·····तच्च सप्तधा।
पाचनं दीपनं क्षुत्तृड्व्यायामातपमारुताः ॥

अ० हृ० सू० १४।६।७

हि० व्या०—शमन उपक्रम सात प्रकार का होता है। पाचन, दीपन, क्षुधा (उपवास), तृषा (जल न पीना), व्यायाम, आतप (धूप-सेवन), और मारुत (वायु-सेवन)।

संशमनचिकित्सापेक्षया संशोधनमहत्त्वे युक्तिः

दोषाः कदाचित्कुप्यन्ति जिता लङ्घनपाचनैः।
जिताः संशोधनैर्ये तु न तेषां पुनरुद्भवः ॥ २० ॥

दोषाणां च द्रुमाणां च मूलेऽनुपहते सति ।
रोगाणां प्रसवानां च गतानामागतिर्ध्रुवा ॥

च० सू० १६ । अ० ह० सू० ४ ।
बंगसेन-शार्ङ्गधर-योगरत्नाकर ॥

समूलदोषापहारकत्वं संशोधनस्य, लङ्घनपाचनयोस्तु दोषापहरत्वे सत्यपि न संशोधनवद्दोषहन्तृत्वमित्याह—दोषा इत्यादि । कदाचिदित्यन्यहेतु-प्राप्त्या । न तेषां पुनरुद्भवः, इति बलवद्दोषकारणत्वं विनेति मन्तव्यम् । उक्तेऽर्थे दृष्टान्तमाह-दोषाणामित्यादि । लङ्घनपाचनाभ्यां रोगकारणीभूतदोष-प्रकोपहरणमात्रे कृते रोगो यो निवृत्तः, स मूलभूताशयव्यवस्थितदोषानुच्छेदा-द्यत्किंचिदनुगुणकालादिप्राप्त्या पुनः कुपितदोषेण भवतीति भावः ॥

चक्रपाणिः ॥

हि० व्या०—लंघन और पाचन औषधों के द्वारा जिन दोषों की चिकित्सा की जाती है वे कभी-कभी अल्प कारणों से भी पुनः प्रकुपित होकर रोगों को उत्पन्न करने में सहायक होते हैं किन्तु संशोधन चिकित्सा द्वारा जब दोषों का निर्हरण कर दिया जाता है तब पुनः उनकी उत्पत्ति नहीं होती । इसलिए संशमन की अपेक्षा संशोधन-चिकित्सा की अधिक महत्ता है । उदाहरण के लिए वृक्ष के नष्ट हो जाने पर भी यदि उसका मूल शेष है तो कुछ समय पश्चात् उसमें पुनः हरापन आ जाता है । उसी प्रकार यदि प्रकुपित दोषों को समूल नष्ट न किया जाय तो उनसे पुनः रोगोत्पत्ति हो जाती है । अतः दोष और वृक्ष इन दोनो को समूल नष्ट न किया जाय तो इनका पुनः उत्पन्न होना अवश्यम्भावी है ।

वक्तव्य—जिस प्रकार वृक्ष को समूल नष्ट न किए जाने पर पोषण एवं उपयुक्त काल (वसन्तादि ऋतु) आने पर पुनः पल्लवित हो जाना सम्भव है, उसी प्रकार प्रकोपक कारणों का प्रश्रय मिलते रहने एवं तत्-तत् दोषों के प्रकोप काल में प्राकृत प्रकोप से अधिक प्रकुपित होते हुए दोष रोगोत्पत्ति में पुनः कारण बन जाते हैं । अतः संशमन से संशोधन-चिकित्सा का अधिक महत्व है । काश्यप ने तो बालरोगों में भी संशोधन करने पर बल दिया है:—

दोषाणामाशयो धात्री भूधरः सरिता (मिव) ॥
... ...
... रोभूतो दोषो बालं प्रबाधते ॥
तयोः संशोधनमृते न शान्तिरिति धारणा ।

(का० सि० ३)

हि० व्या०—जिस प्रकार पर्वत नदियों के उद्गम स्थान होते हैं उसी प्रकार धात्री बालक के दोषों का कारण होती है । प्रकुपित हुए दोष धात्री से स्तन-पान-द्वारा बालक में पहुँचकर उसे बाधा पहुँचाते हैं (रुग्ण करते हैं) अतः उन दोषों का संशोधन किये बिना बालक के रोगों की उपशान्ति नहीं हो सकती ऐसी निश्चित मान्यता है ।

यथाकालं संशोधनप्रयोगफलानि

एवं विशुद्धकोष्ठस्य कायाग्निरभिवर्धते ।
व्याधयश्चोपशाम्यन्ति प्रकृतिश्चानुवर्तते ॥
इन्द्रियाणि मनोबुद्धिर्वर्णश्चास्य प्रसीदति ।
बलं पुष्टिरपत्यं च वृषता चास्य जायते ॥
जरां कृच्छ्रेण लभते चिरं जीवत्यनामयः ।
तस्मात्संशोधनं काले युक्तियुक्तं पिबेन्नरः ॥

च० सू० १६ ।१७-१९

हि० व्या० – उपयुक्त समय पर संशोधन (वमन-विरेचन) से मनुष्य का कोष्ठ शुद्ध हो जाता है, जाठराग्नि प्रदीप्त हो जाती है, रोग शान्त हो जाते हैं, प्रकृति ठीक हो जाती है अर्थात् वातादि दोष एवं दूष्य प्रकृतिस्थ हो जाते हैं । इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि एवं वर्ण (कान्ति) विमल हो जाते हैं । शरीर में बल एवं पुष्टि होती है । सन्तानोत्पादन-शक्ति में वृद्धि होती है । मैथुन-सामर्थ्य बढ़ जाती है । वृद्धावस्था शीघ्र नहीं आती है । मनुष्य चिरकाल तक स्वस्थ रहता है । अतः संशोधन का सेवन उचित समय पर युक्तिपूर्वक करना चाहिए ।

संशोधनगुणनिर्देशः

मलापहं रोगहरं बलवर्णप्रसादनम् ।
पीत्वा संशोधनं सम्यगायुषा युज्यते चिरम् ॥

च० सू० १५।२२

हि० व्या०—संशोधन प्रक्रिया, दूषित वात, पित्त, कफ, मल-मूत्र-पुरीष को शरीर से बाहर निकालती है । रोगों को नष्ट करती है । बल को बढ़ाती है । वर्ण कान्तिमान् होता है । भली प्रकार संशोधन औषध का सेवन करने से मनुष्य की आयु बढ़ती है और चिरकाल तक स्वस्थ होकर जीवन यापन करता है ।

शोधनवृक्षाः

अथापरे त्रयो वृक्षाः पञ्चमे फलमूलिभिः ।
स्नुह्यर्कश्चिन्तकास्तेषामिदं कर्म पृथक्-पृथक् ॥

वमनेऽश्मन्तकं विद्यात् स्नुहीक्षीरं विरेचने।
क्षीरमर्कस्य विज्ञेयं वमने विरेचने॥

च० सू० १।११५-११६

फलमूलिभिरिति पृथक् शब्दयोगादपादाने तृतीया। अश्मन्तको-मालुया-सदृशपत्रो वृक्षः॥ चक्रपाणिः॥

हि० व्या०—शोधन कर्म में प्रयोग किये जाने वाले तीन वृक्ष

यहाँ उन तीन वृक्षों का उल्लेख किया गया है जो कि मूलिनि-फलिनी के अतिरिक्त हैं। उनके नाम हैं—(१) स्नुही (सेहुण्ड), २ अर्क (मदार) तथा (३) अश्मन्तक। इनके पृथक्-पृथक् कर्मों का निर्देश किया जा रहा है।

स्नुही का दूध विरेचन में, अश्मन्तक का दूध वमन में तथा मदार का दूध वमन तथा विरेचन दोनो में प्रयोग किया जाता है।

इमांस्त्रीनपरान् वृक्षानाहुर्येषां हितास्त्वचः।
पूतीकः कृष्णगन्धा च तिल्वकश्च तथा तरुः॥
विरेचने प्रयोक्तव्यः पूतीकस्तिल्वकस्तथा।
कृष्णगन्धा परीसर्पे शोथेष्वर्शःसु चोच्यते॥
दद्रुविद्रधिगण्डेषु कुष्ठेष्वप्यलजीषु च।
षड्वृक्षाञ् शोधनानेतानपि विद्याद्विचक्षणः॥

च० सू० अ० १।११७-११९

पूतीकः—कण्टकीकरञ्जः। तिल्वको-लोध्रः तथा तरुरिति विशेषणेन पट्टिकालोध्रं व्युदस्यति। शावर लोध्रं च महाप्रमाणं तरुशब्दयोग्यं ग्राहयति। किं वा तरुविशेषणं बालंलोध्रं व्युदस्यति॥ "षड्वृक्षाञ् शोधनानित्यत्र, यद्यपि कृष्णगन्धायाः (कृष्ण-शोभाञ्जनकस्य) पञ्चकर्मण्यनभिधानान्न शोधनत्वं तथाऽपि बाह्यलेपनेन बहिःस्थितदोषसंशोधनं बोद्धव्यम्। किं वा अपिशब्दात् कृष्णगन्धाया अपि शोधनत्वमपि सूच्यते॥ चक्रपाणिः॥

हि० व्या०—क्षीरी वृक्षों के अतिरिक्त तीन और वृक्षों का वर्णन चरक-संहिता में किया गया है जिनकी त्वचा (छाल) का शोधन कर्म में प्रयोग किया जाता है।

(१) कण्टकीकरञ्ज और (२) शोभाञ्जन (३) शावर लोध्र। कण्टकीकरंज और शावरलोध्र की छाल का विरेचन कर्म हेतु प्रयोग किया जाता है। शोभाञ्जन की त्वचा का प्रयोग विसर्प, शोथ, अर्श, दद्रु, विद्रधि, गलगण्ड कुष्ठ तथा अलजी आदि रोगों में प्रयोग करने का निर्देश किया गया है। इस प्रकार (१) स्नुही (२) अर्क (३) अश्मन्तक (४) कण्टकीकरंज (५) शावर लोध्र (६) शोभाञ्जन ये छः वृक्ष शोधन-कर्म में प्रयोग किए जाते हैं।

संशोधनयोग्यानां वर्णनम्

अविपाकोऽरुचिः स्थौल्यं पाण्डुता गौरवं क्लमः।
पिडकाकोठकण्डूनां संभवोऽरतिरेव च॥
आलस्यश्रमदौर्बल्यं दौर्गन्ध्यमवसादकः।
श्लेष्मपित्तसमुत्क्लेशो निद्रानाशोऽतिनिद्रता॥
तन्द्राक्लैब्यमबुद्धित्वमशस्तस्वप्नदर्शनम्।
बलवर्णप्रणाशश्च तृष्यतो बृंहणैरपि॥
बहुदोषस्य लिङ्गानि तस्मै संशोधनं हितम्।
ऊर्ध्वं चैवानुलोमं च यथादोषं यथाबलम्॥

च० सू० १६।१३-१६

संशोधनविषयबहुदोषलक्षणमाह—अविपाक इत्यादि। क्लम इत्यनायासकृतः श्रमः, श्रमस्त्विह स्वल्पेनायासेन ज्ञेयः, अवसादको=मनोऽवसादः, निद्रानाशो वातप्रधानेन दोषेण, अतिनिद्रता श्लेष्मप्रधानेन॥ चक्रपाणिः॥

संशोधन योग्य बहु दोष युक्त पुरुषों के लक्षण

हि० व्या०—जिन रोगियों में अविपाक (अन्न का भली भाँति न पचना) भोजन में अरुचि, अधिक स्थूलता, शरीर में पीलापन, अङ्गों में भारीपन, थकावट, शरीर में फुंसियाँ, चकत्ते, खुजली होना, बेचैनी रहना, आलस्य, दुर्बलता, शरीर में दुर्गन्ध, अनुत्साह, कफ और पित्त का अधिक रूप में उभड़ा हुआ होना, अनिद्रा या अतिनिद्रा, तन्द्रा, नपुंसकता, बुद्धिभ्रम, बुरे स्वप्न देखना, बल-वर्ण की हीनता, प्यास लगना और बलवर्धक आहार एवं औषध सेवन करने पर भी बल एवं वर्ण की वृद्धि न होना आदि लक्षण दिखाई दें तो उन्हें बहुदोषयुक्त रोगी समझना चाहिए। इस प्रकार दोषों की अधिकता की जानकारी करके उन रुग्णों को बल और दोष के अनुसार वमन या विरेचन संशोधन-हेतु पिलाना चाहिए।

वक्तव्य—चरक सं० सिद्धिस्थान अध्याय २ के ४ से ६ श्लोकों में पंचकर्म के अयोग्य व्यक्तियों का वर्णन किया है एवं अग्रिम श्लोक ७ में इनके अतिरिक्त सभी व्यक्तियों को यथावश्यक कर्मों का उपयोग कराने का निर्देश है।

एभ्योऽन्ये समुपक्रम्या नराः सर्वैरुपक्रमैः।
अवस्थां प्रविभज्यैषां वर्ज्यं कार्यं च वक्ष्यते॥　　च० सि० २।७

शोधनयोग्यरुग्णानां विचारणीयविषयाः

... ... च पण्डितः।
शरीरयात्रां[1] कायाग्निं शक्तिं वर्णं बलं स्वरम्॥

टिप्पणी—शरीरयात्रा-देहवर्तनम्, आयुष्क्रमणम्।

दोषांश्च विकृतान् दृष्ट्वा यथादोषं विशोधयेत् ।
सर्वदोषाः प्रशाम्यन्ति बलमायुर्वपुर्वयः ॥
अग्निः प्रजाश्च··· ··· ··· ।
··· ··· ··· ··· ॥

का० सि० २।४-६

हि० व्या०—शरीरयात्रा, जाठराग्नि, शक्ति, वर्ण, बल, स्वर तथा विकृत दोषों को देखकर (दोषानुसार) वैद्य को उनका शोधन करना चाहिए। इससे सभी दोषों का शमन हो जाता है एवं बल, आयु, शरीर, वय (अवस्था) अग्नि तथा सन्तानोत्पादन-शक्ति में वृद्धि होती है।

वक्तव्य—यहाँ श्लोक के एक ही चरण में शक्ति एवं बल दोनों का एक साथ उल्लेख हुआ है—अतः शक्ति से शारीरिक शक्ति का ज्ञान करना चाहिए तथा बल से सम्पूर्ण शरीरजन्य क्षमता या ओजस् का ज्ञान करना चाहिए जिसे दूसरे रूप में मनोबल, बुद्धिबल एवं आत्मबल नाम से व्यवहार में लाया जाता है। महर्षि काश्यप ने भी आगे इन दोनो में भेद करने हेतु "बलमायुर्वपुर्वयः" में बल का सम्पूर्ण शारीरिक शक्ति-हेतु तथा वपु से मांस-पेशी-आदि-धातु-पुष्ट शरीर का निर्देश किया है।

संशोधनायोग्यानां वर्णनम्

चण्डः साहसिको भीरुः कृतघ्नो व्यग्र एव च ।
सद्राजभिषजां द्वेष्टा तद्द्विष्टः शोकपीडितः ॥

यादृच्छिको मुमूर्षुश्च विहीनः करणैश्चयः ।
वैरी वैद्यविदग्धश्च श्रद्धाहीनः सुशङ्कितः ॥

भिषजामविधेयश्च नोपक्रम्या भिषग्विदा ।
एतानुपचरन् वैद्यो बहून् दोषानवाप्नुयात् ॥

च० सि० २।४-६

चण्ड इत्यादिना सकलपञ्चकर्माविषयानाह । यद्यपि च विमाने जनपदोध्वंसनीये रोगभिषग्जितीये च अनपवादप्रतीकारादयोऽनुपक्रमणीयत्वेनोक्ता एव, तथाऽपीह प्रकरणागतत्वात् पुनरुच्यन्ते। चण्डादिषु प्रवृत्तिर्भेषजस्याशक्यत्वान्निषिध्यते; कृतघ्नादिषु चाधर्मवशादेव भेषजं न सिध्यति, प्रत्युताधार्मिकप्रतिक्रिययाऽधर्म एव भवतीति निवृत्तिर्विधीयते। सतो राज्ञः भिषजश्च द्वेष्टीति सद्राजभिषजां द्वेष्टा, किंवा सदिति राज्ञो भिषजश्च विशेषणम्। तद्द्विष्ट इति सदादिद्वेष्यः। यादृच्छिको नास्तिकः। विहीनः

करणैरित्युपकरणैः। वैरी वैद्यापकारकः, वैद्यद्वेष्टा तु नापकारक इति विशेषः। वैद्यविदग्धो वैद्यमानी। भिषजामविधेय इति भिषजामनायत्तः॥ चक्रपाणिः॥

हि० व्या०—जो रोगी चण्ड (अति क्रोधी), अधिक साहस करने वाले, डरपोक, कृतघ्न, व्यग्र (जिसका मन स्थिर न हो), अच्छे वैद्य तथा राजा से द्वेष करने वाले तथा अच्छे वैद्य और राजा जिनसे द्वेष करते हों, शोक से पीड़ित, नास्तिक, मरणासन्न, सामग्रियों से हीन, शत्रु, वैद्यविदग्ध अर्थात् वैद्य न होते हुए भी अपने को वैद्य मानने वाले, श्रद्धाहीन, सर्वत्र सन्देह करने वाले, वैद्य की बातों को न मानने वाले हों उन रोगियों की पञ्चकर्म चिकित्सा न करें। ऐसे रोगियों की पञ्चकर्म चिकित्सा करने वाले वैद्य के समक्ष अनेक प्रकार की बाधायें उपस्थित हो जाती हैं।

वातातपविशुष्काश्च ये च कर्मपरा नराः ।
अध्वयानविशुष्कश्च तान्न संशोधयेद्भिषक् ॥ ७ ॥

भे० सं० सू० २५।७

पञ्चकर्म चिकित्सा के अयोग्य रोगी

हि० व्या० वायु एवं धूप से जो क्षीण हो गये (सूख गये) हों, जो (शरीर क्षमता की उपेक्षा कर) निरन्तर कार्य में संलग्न रहते हों एवं मार्ग चलने से या निरन्तर वाहन द्वारा यात्रा करते रहने से जिनका शरीर क्षीण हो गया हो उन व्यक्तियों को संशोधन नहीं कराना चाहिए।

पञ्चकर्मसाध्यव्याधिसंकेतः

अथ खलु भगवन् देहिनां व्याधयः के वमनसाध्याः ? के न; के विरेचनसाध्याः ? के न; केऽनुवासनसाध्याः ? के न; के निरुह (साध्याः ? के न;)··· (भ) गवान् कश्यपः—कफज्वरारुचिमुखवैरस्यकफप्रसेककफहृद्रोगविसूचिकाकासश्वासगलग्रहगलशुण्डिकागलगण्डगण्डमाला रोहिणिकाविदारिकाधोरक्तपित्तहृल्लासप्रमेहहली (मक)·····स्कन्दग्रहस्कन्दापस्मारस्कन्दपितृनैगमेषक्षीरगौरवक्षीरवृद्धिक्षीरघनत्वाजीर्णपरिकर्तिकाहृल्लासशूलाटोपातिविरिच्यमानगरितविषपीताद्या वमनसाध्या इति ॥ (का०सं० सि० अ० ७)

कफाधिकाश्च ये रोगा··· ।
··· ··· ··· ॥

वृद्धजीवक ! पुष्पिण्यृतुमती गर्भिणी कुटीगताऽल्पक्षीरा लघुक्षीरा नष्टक्षीरा छीरच्छर्दनपुत्रा प्रच्छर्दिनी सुभगा पण्डितमानिनी जाठरी वातज्वरी स्थूलोऽक्षिरोगी तृष्णालुर्मूर्च्छावान्निरूढोऽनुवासितः क्षतः क्षीणः सोप—

·····गैन्नोऽतिबालोऽतिवृद्धो गुल्मप्लीहोर्ध्वरक्तलोमव्यापत्कर्णरोगशिरः-

कम्पार्दिताधर्वावभेदकसूर्यावर्तरेवतीपौण्डरीकशकुनीपूतनामुखमण्डिकार्ताश्च न वाम्याः, अगर्भा गर्भकामा विवर्णक्षीरा स्रवत्क्षीरा मन्दाग्नयो·····वैसर्प-शोणिताशोंविषमाग्निकुष्ठश्वयथुश्वित्रोर्ध्वरक्तप्लीहगुल्ममधुमेहहलीमककामला - पाण्डुरोगहृद्रोगकृमिकोष्ठापस्मारोपस्तम्भोदावर्तकफोन्मादविद्रधिश्लीपदयोनि·····द्या इति ॥ (का० सं० सि० अ० ७)

व्याकुलान् सन्निपातोत्थान् पैत्तिकान् कफपैत्तिकान् संसृष्टान् कफमूलांश्च स्रंसनेनाभ्युपक्रमेत् ॥ (का० सं० सि० आ० ७)

प्रसक्तवमथोः पूर्वं प्रायेणामज्वरोऽपि च ।
धूमान्तैः कर्मभिर्वर्ज्याः सर्वैरेव त्वजीर्णिनः ॥

अ० हृ० सू० १८।६

प्रसक्तवमथोः पूर्वस्थिता एकादशातुरा दुर्बलास्तथाऽऽमज्वरिणश्च ते सर्वे धूमान्तैः कर्मभिर्वर्ज्या न केवलं वमनेनैव। धूमग्रहणं गण्डूषादिकर्मणोऽपि परिहारार्थम्। प्रायोग्रहणमष्टमासाया गर्भिण्या निरूहा न वर्ज्या इति सूचनार्थं तथा सद्यो भुक्तस्य ज्वरितस्य सतो वमनानुज्ञानार्थम्। तु पुनरजीर्णिनः पुरुषा वमनादिभिर्गण्डूषादिभिश्च वर्ज्याः। सद्योऽजीर्णिनां हि वमनमनुज्ञातमेव ॥

अरुणदत्तः।

अत्र प्रसक्तवमथोः प्रसक्तच्छर्दिषः पुंसो ये पूर्वं आतुरा अवम्यत्वेन निर्दिष्टाः गर्भिण्यादयो दुर्बलपर्यन्तास्ते सर्वकर्मभिर्धूमान्तैर्वक्ष्यमाणैर्वर्ज्याः परिहर्तव्याः। न केवलमेतैर्धूमान्तैर्वर्ज्याः यावत् ज्वरोऽपि च धूमान्तैः कर्मभिः वर्ज्याः।

नवज्वरस्यामदोषः स्तम्भभयादिति। अजीर्णिनः पुनः सर्वैरेव कर्मभिर्विरेक-वस्तिनस्यधूमगण्डूषाश्चोतनाञ्जनतर्पणपुटपाकान्तैर्वमनवर्गैर्वर्ज्या आमदोष-भयात् ॥

चन्द्रनन्दनः ॥

प्रसंगाद्गर्भिण्यादिष्वेकादशसु नवज्वरे च विरेचनवस्तिनस्यधूमान्निषे-धति—प्रसक्तवमथोरिति। अजीर्णिनां सर्वाणि कर्माणि निषेधति सर्वैविरेचनाद्यै-र्गण्डूषान्तैश्च वमनं तु विशेषतो विधानात्कर्तव्यं, संग्रहे तु अजीर्णी तु सर्वैरेव वमनवर्ज्यैरामदोषभयान्नवज्वरश्च दोषस्तम्भभयादिति ॥ हेमाद्रिः ॥

वा० प्र० तत्र गर्भिण्यादीनां केवलं वमनमेव न वर्ज्यम्। अन्यदपि कर्म वर्ज्यमस्तीति दर्शयति—प्रसक्तवमथोरिति। प्रसक्तवमथोः पूर्वं धूमान्तैः कर्मभिः प्रायेण वर्ज्याः प्रसक्तवमथो पूर्वं गर्भिणी दुर्बलान्ता एकादश विरेचनानुवासना-स्थापननस्यधूमैः कर्मभिस्त्याज्याः।

एषु वमनादिधूमान्तानि कर्माणि न कुर्यादित्यर्थः। प्रायोग्रहणं केषाञ्चिद-वर्ज्यत्वज्ञापनार्थम्। आमज्वरोऽपि च धूमान्तैः कर्मभिर्वर्ज्यः। अपि चेति विशेषविधिव्यञ्जकः। कस्याञ्चिदामज्वरावस्थायां वमनं शस्यत इति। उक्तञ्च—"तत्रोत्कृष्टे समुत्क्लिष्टे" इत्यादिना। अजीर्णिनो नरास्तु सर्वैरेव

धूमान्तैः कर्मभिस्तथा गण्डूषादिभिस्तथा स्वेदाभ्यङ्गादिभिश्च वर्ज्याः। प्राय इत्यत्राप्यनुवर्तते वमनस्याजीर्णे विधानात् ॥ परमेश्वरः ॥

हि० व्या०—सगर्भा स्त्री. रूक्ष, क्षुधित, नित्य रोगी, बाल, वृद्ध, कृश, स्थूल, हृद्रोगी, क्षती, दुर्बल तथा आमज्वरी इन सभी को प्रायः गंडूषादि, वमन, विरेचन, नस्य, धूम्रपान, बस्तिकर्म ये सब नहीं कराने चाहिए। यहाँ प्रायः शब्द से विकल्प मानना चाहिए। जैसे गर्भिणी को निरूहण का निषेध नहीं है। ऐसी आवश्यक अवस्थाओं में गंडूषादि किये जा सकते हैं तथा अजीर्ण रोगी को वमनादि कर्म और गंडूषादि कर्म नहीं कराना चाहिए। यहाँ भी सद्योऽजीर्ण का निषेध नहीं है ॥

अवस्थाविशेषे व्याधि विना दुर्बलेऽपि शोधनप्रयोगप्रकार-वर्णनम्।

चले दोषे मृदौ कोष्ठे नेक्षेतान्न बलं नृणाम् ॥
अव्याधिदुर्बलस्यापि शोधनं हि तदा भवेत् ॥
स्वयं प्रवृत्तदोषस्य मृदुकोष्ठस्य शोधनम् ॥
भवेदल्पबलस्यापि प्रयुक्तं व्याधिनाशनम् ॥

सु. सू. ३९।१२-१३

अवस्थाविशेषेणाव्याधिदुर्बलेऽपि शोधनं दर्शयन्नाह चल इत्यादि चले इति स्वस्थानच्चलित इत्यर्थः। अत्रेति चले दोषे। मृदौ कोष्ठ इत्यस्यामवस्थाया-मित्यर्थः। अव्याधिदुर्बलस्यापि उपवासादिदुर्बलस्यापि, हि यस्मादर्थे, तदा भवेत् 'हितम्' इत्यध्याहारः। 'अव्याधिदुर्बलस्यापि' इत्यत्र केचित् "अव्यापद्दुर्बलस्यापि' इति पठन्ति। अव्यापच्छोधनं हितं तदा भवतीत्यर्थः, अव्यापच्छोधनं तदुच्यते शूलादीनि यन्न करोति। अत्रान्तरे केचित् पठन्ति स्वय-मित्यादि। न चायं सर्वनिबन्धेषु दृश्यत इति ॥ १२-१३ डल्हणः ॥

अवस्थाविशेषेऽपि दुर्बले शोधनप्रयोगमाह चल इत्यादि। चल इति प्रचले। मृदौ कोष्ठ इति केचिद्दोषप्रबलतयैव मृदुकोष्ठतामिहेच्छन्ति। कुतोबलं नेक्षेतेत्याह—अव्यापद्दुर्बलस्यापीति। अव्यापत्तिकत्त्वं तु चलदोषस्यावश्या-हर्तव्यस्य हरणादिति भावः ॥ ॥ चक्रपाणिः ॥

न च तावद्दोषचाञ्चल्यमभिसमीक्ष्य मृदुकोष्ठोऽपि दुर्बलो निर्हरणेन परिहर्तव्य इत्येवोपदिदिक्षति चल इत्यादिना। दोषे चले स्थानात् स्थानान्तरं चञ्चूर्य्यमाणे सति कोष्ठे मृदावपि नृणां बलं नेक्षेत्, नायं दुर्बलो विरेचनं सहिष्यत इत्येवं विचिन्तयेदित्यर्थः। हि यस्मात तदा दोषचाञ्चल्यावस्था-यामव्याधिदुर्बलस्येति "विकारो धातुवैषम्यम्" इति स्मरणाद्दोषदुर्बलस्य

लङ्घनादिभिर्दुर्बलस्यापीति यावत् शोधनं भवेद्धितमिति शेषः। किं पुनर्दोष-दुर्बलस्य यो निर्हरणेनेवावाप्तबलो भवतीत्ययमाशयः। अत एव वक्ष्यति "हरेद्दोषान् चलान् पक्वान् बलिनो दुर्बलस्य च" इति।

हि० व्या०—दोष के अपने स्थान से चलायमान होने पर एवं कोष्ठ के मृदु होने पर मनुष्य के शारीरिक बल का विचार करने की आवश्यकता नहीं है अर्थात् यह दुर्बल रोगी वमन, विरेचनादि कर्म को सहन कर सकता है या नहीं। अतः बिना किसी रोग के, अन्य कारणों से दुर्बल हुए व्यक्ति का भी ऐसी स्थिति में संशोधन कराना हितकारी होता है। क्योंकि जब दोष स्वयमेव अपने स्थान से चलायमान हो गये हों तथा जिनका कोष्ठ भी मृदु हो इस प्रकार के अल्पबल वाले व्यक्ति को भी प्रयोग कराया गया संशोधन रोगनाशक होता है।

पञ्चकर्म-निरूपणम्

विषय प्रवेश में पंचकर्म चिकित्सा के आधार भूत सिद्धान्तों का वर्णन करने के उपरान्त यहां पंचकर्म का निरूपण किया जा रहा है।

पञ्चकर्मपरिभाषा स्नेहस्वेदादिद्वारा शरीरस्योत्क्लिष्टदोषाणां यथा-सन्नमार्गेण बहिर्निर्हरणकर्तृत्वं संशमन कर्तृत्वं च पञ्चकर्मत्वम्"।

हि० व्या० स्नेहन-स्वेदन-द्वारा शरीर में स्थित दोषों के चलायमान अवस्था प्राप्त होने पर दोषों को यथासन्न मार्ग द्वारा बाहर निकालना तथा संशमन करना पंचकर्म कहलाता है।

कानि पञ्चकर्माणि

वमनं रेचनं नस्यं निरूहश्चानुवासनम्।
एतानि पञ्च कर्माणि कथितानि मुनीश्वरैः॥

शा० उ० अ ८।६३ भा० प्र० पंचकर्मप्रकरण श्लोक २, वंगसेन स्नेहाधिकार श्लोक २

हि० व्या०—महर्षियों ने वमन, विरेचन, नस्य (शिरोविरेचन), निरूहण एवं अनुवासन, इन्हें पंचकर्म कहा है।

वक्तव्य—अष्टाङ्गहृदय एवं संग्रहकार ने निरूहण शब्द में निरूह एवं अनुवासन दोनों वस्तियों का ग्रहण करते हुए पाँचवां कर्म रक्तमोक्षण बताया है।

"निरूहो वमनं कायशिरोरेकोऽस्रविस्रुतिः"

अ० हृ० सू० अ० १४।८

"एवमेतत् पुरुषो व्याधिरौषधं क्रियाकाल इति ··· ··· क्रियाग्रहणात् स्नेहादीनि च कर्माणि"

सु० सू० अ० १।३८

—"स्नेहादीनित्यादिशब्दात् स्वेदनवमनविरेचनास्थापनानुवासनधूमनस्य-कवलग्रहगण्डूषपाचनसंशमनादीनां ग्रहणम्" ॥ डल्हणः ॥

हि० व्या०—क्रिया शब्द से छेद्य, भेद्यादि अष्टविध शस्त्रकर्म तथा स्नेहन स्वेदन व पञ्चकर्मों का ग्रहण होता है।

"आवश्यकतानुसार क्रियाशब्द का पंचकर्म हेतु प्रयोग कर लेना चाहिए। व्याख्याकार डल्हण ने भी स्वेदादीनि से स्वेदन, वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन, धूम, नस्य, गण्डूष, पाचन, एवं संशमन आदि क्रियाओं को ग्रहण करना लिखा है।"

पञ्चकर्मप्रकारमधिकृत्य विशेषज्ञानार्थं पुनर्वसुसविधे अग्निवेशकृतानां द्वादशप्रश्नानां ऐतिहासिकं सूचनम्।

का कल्पना पञ्चसु कर्मसूक्ता, क्रमश्च कः, किं च कृताकृतेषु।
लिङ्गं तथैवातिकृतेषु, संख्या का, किंगुणः, केषु च कश्च बस्तिः॥
किं वर्जनीयं प्रतिकर्मकाले, कृते कियान् वा परिहारकालः।
प्रणीयमानश्च न याति केन, केनेति शीघ्रं, सुचिराच्च बस्तिः॥
साध्या गदाः स्वैः शमनैश्च केचित् कस्मात् प्रयुक्तैर्न शमं व्रजन्ति।
प्रचोदितः शिष्यवरेण सम्यगित्यग्निवेशेन भिषग्वरिष्ठः॥
पुनर्वसुस्तन्त्रविदाह तस्मै सर्वप्रजानां हितकाम्ययेदम्।

च. सि. १/३-६ क

—सिद्धिस्थानाभिधानेऽपि सकलसिद्धिस्थानापेक्षणीयपञ्चकर्मकल्पनाद्यभिधायकतया प्राधान्यादादौ कल्पनासिद्धिरेवोच्यते। अत्र 'का कल्पना' इत्यादीन् शिष्यस्य द्वादशप्रश्नानभिनिवेश्य तान् यथाक्रमं व्याचष्टे प्रश्नानुगुण-गुरुबुद्धिप्रकाशार्थम्। यदुक्तं **भरद्वाजेन**—'अप्रदुष्टेन भावेन प्रसन्नेनान्तरात्मना। शिष्येण सम्यक् पृष्टस्य गुरोर्बुद्धिः प्रकाशते' इति। अत्र 'का कल्पना पञ्चसु कर्मसूक्ता' इति प्रथमः प्रश्नः, 'क्रमश्च कः इति द्वितीयः, 'किं च कृताकृतेषु लिङ्गं, तथैवातिकृतेषु' इति तृतीयः, 'संख्या का' इति चतुर्थः, 'किंगुणो बस्तिः' इति पञ्चमः, 'केषु च कश्च बस्तिः' इति षष्ठः, किं वर्जनीयं प्रतिकर्मकाले' इति सप्तमः, 'कृते कियान् वा परिहारकालः, इत्यष्टमः, 'प्रणीयमानश्च न याति केन बस्तिः' इति नवमः, 'केनेतिशीघ्रम्, इति दशमः, 'सुचिराच्च केनेति' इत्येकादशः, साध्याः इत्यादिको द्वादशः। साध्या इत्यादि प्रश्नस्य यद्यप्यवकाशो नास्ति, यतो हि नासाध्या गदाः प्रोक्तेन यथास्वं क्रियमाणेन भेषजेन प्रशाम्यन्ति, तथाऽप्यसम्यग्भेषज एव यथास्वं भेषजाभिधानादयं प्रश्नो बोद्धव्यः॥

च० सि० अ० १।३-५॥

हिन्दी व्या०—अग्निवेश द्वारा महर्षि आत्रेय से पंचकर्म विषयक किये गये द्वादश प्रश्न—

(१) पंचकर्म में पांचो कर्मों की कल्पना (योजना) कैसे की जाती है?

(२) इन कर्मों का क्रम क्या होना चाहिए?

(३) उनके कृत, अकृत और अतिकृत के लक्षण क्या हैं अर्थात् सम्यक् योग, अयोग और अतियोग के लक्षण क्या हैं?

(४) इन कर्मों की (वमन, विरेचन बस्ति आदि की) संख्या कितनी हैं?

(५) बस्ति के क्या गुण हैं?

(६) किस रोग में किस बस्ति का प्रयोग कराना चाहिए?

(७) पंचकर्म प्रयोग काल में किन-किन विषयों का परित्याग करना चाहिए?

(८) पंचकर्म क्रिया करते समय वर्जनीय विषयों का कब तक परिहार करना चाहिए?

(९) प्रयोग काल में किन-किन कारणों से बस्ति अन्दर प्रविष्ट नहीं होती?

(१०) किन कारणों से बस्ति शीघ्र प्रत्यावर्तित हो जाती है?

(११) किन कारणों से बस्ति देर से बाहर निकलती है?

(१२) कुछ साध्यरोग भी स्वदोष-शामक औषधियों के प्रयोग से भी शमन क्यों नहीं होते?

उपर्युक्त १२ प्रश्नों को सभी शिष्यों में श्रेष्ठ अग्निवेश ने गुरु से महर्षि आत्रेय ने पूछा तथा वैद्यों में अग्रणी पुनर्वसु ने अग्निवेश तथा प्रजा के कल्याण हेतु उनका शंका रहित एव युक्ति-युक्त विवेचनात्मक उत्तर दिया। प्रस्तुत पुस्तक में यथास्थान इनका विवेचन किया जा रहा है।

यथाक्रम-विविध-प्रश्नोत्तराणि

का कल्पना पञ्चसु कर्मसूक्ता

व्यहावरं सप्तदिनं परं तु स्निग्धो नरः स्वेदयितव्य उक्तः॥
नातः परं स्नेहनमाविशन्ति सात्म्यी भवेत् सप्तदिनात् परं तु॥

च० सि० १।६-७॥

व्यहमच्छं मृदौ कोष्ठे क्रूरे सप्तदिनं पिबेत्।
सम्यक् स्निग्धोऽथवा यावदतः सात्म्योभवेत्परम्॥

सात्मीभूतो हि कुरुते न मलानांमुदीरणम् ।
अतियोगेन वा व्याधीन् यथाम्मो ह्यतियोजनात् ॥
विहत्य सेतुं मृत्कोष्ठात्स्रवति क्षपयन्मृदम् ।
स्नेहोऽप्यग्निं तथा हत्वा स्रवति क्षपयंस्तनुम् ॥

अ० सं० सू० २५।४६-४७

—कल्पनाशब्देनेह पञ्चकर्मङ्गकल्पनोच्यते, तेन पञ्चकर्माङ्गस्नेह-स्वेदप्रयोगमेव प्रागाह-व्यहावरमित्यादि । प्रथमप्रश्नस्योत्तरम् । व्यहावर-मिति व्यहेण व्यहं वा व्याप्य क्रियमाणस्नेहनेन अवरं यथा भवतीति व्यहावरं स्निग्धः । सप्तदिनमिति सप्तदिनं व्याप्य स्निग्धः । परमिति स्नेहप्रकर्षकालावधिना सप्तदिनं व्याप्य स्निग्धः । ततश्च कालोत्कर्षात् क्रियमा-णशोधनाङ्गस्नेहनपक्षे सप्तदिनं यावत् स्निग्धः, कालाप्रकर्षपक्षे तु व्यहं स्निग्धः संस्वेदयितव्य इत्यर्थः । उक्तसप्तदिनस्नेहनकालानतिक्रमं सोपपत्तिकमाह-नातः परमित्यादि । अतः परमिति सप्तदिनात् परम् । कुतो नादिशन्तीत्याह-सात्म्यी-भवेदित्यादि । सप्तदिनात् परेण क्रियमाणस्नेहः सप्तरात्रप्रयोगेण सात्म्यीभूतत्वान्न स्नेहमधिकं शरीरे करोतीत्यर्थः; तेन यावन्मात्रस्नेहप्रयोगेण सप्तदिनोपयुक्तेन स्नेहनं वृत्तं, सा मात्रा सात्म्यीभूतैव अधिकमात्रा या सात्म्यतां न गता सा सप्तरात्रात् परेणापि कर्तव्यैव; वैद्यास्तु सप्तरात्रादस्निग्धे पुरुषे किञ्चिद्विश्रामं कृत्वा पुनरधिकमात्रया स्नेहं प्रयुञ्जते । एतच्च व्यहस्नेहनं सप्तरात्रस्नेहनं च मृदुक्रूरकोष्ठविषयभेदेन । यदुक्तं,—"मृदुकोष्ठस्त्रिरात्रेण स्निह्यत्यच्छोपसेवया । स्निह्यतिक्रूरकोष्ठस्तुसप्तरात्रेण मानवः"; (सू० अ० १३) इति । ननु यदि क्रूरकोष्ठस्तु सप्तरात्रेण स्निह्यतीति व्यवस्था, तत् कथमिह 'नातः परं स्नेहनमादिशन्ति' इत्यनेनसप्त रात्रेणाप्यस्नेहनमुच्यते; ब्रूमः,—सत्यं, क्रूरकोष्ठः सप्तरात्रेणैव स्निह्यति, परं क्रूरकोष्ठतामपेक्ष्य कृतया स्नेहमात्रया स्निह्यति, यदा तु हीनमात्रा प्रयुज्यते, तदा सप्तरात्रेणापि न स्निह्यति, यत्तु तन्त्रान्तरे—"त्रिषट्कनवरात्रेण स्नेहपानं विधीयते ॥" इत्यनेन सप्तरात्रादूर्ध्वमपि स्नेहनं विहितं, तदाचार्यानभिमतमेव; किंवा, सप्तरात्रादूर्ध्वमसात्म्यीभूताधिकमात्रप्र-योगाभिप्रायेण तद्वर्णनीयम् । अत्र च सप्तरात्रादूर्ध्वं स्नेहप्रयोगस्य निषेधात्, व्यहादर्वाक् प्रयोगस्य वा निषेधात्, सद्यः स्नेहप्रयोगेणैकदिनेनापि स्नेहनमनुजा-नीत इति ब्रुवते । मध्यकोष्ठान्तरं प्रति स्नेहनप्रकर्षकालो यद्यपि नोक्तस्तथाऽपि मध्यविधया पञ्चदिनेन मध्यकोष्ठस्य स्नेहनं ज्ञेयम् । यत्तुकैश्चित् 'मृदुकोष्ठं प्रति व्यहादूर्ध्वं न स्नेहनं कर्तव्यं सात्म्यीभावादिति चार्थो लभ्यते' इति व्याख्यायते, तन्न नः प्रीणाति; यतः सात्म्यीभावः सप्तदिननिर्वर्त्यतयैवाचार्ये-णोक्तः, तेनात्यल्पमात्राप्रयुक्तेन स्नेहेन व्यहाद्यदि न स्निह्यति मृदुकोष्ठस्तदा-ऽधिकदिनान्यपि तत्र स्नेहः कर्तव्यः ॥ चक्रपाणिः ॥ च० सि० अ० १।६

प्रथम प्रश्न का उत्तर

हि० व्या०—प्रथम प्रश्न से सम्बन्धित क्रम अर्थात योजना-विषयक वर्णन इस प्रकार है कि संशोधन से पूर्व कम से कम तीन और अधिक से अधिक सात दिन तक स्नेहन कराना चाहिए क्योंकि सात दिन के बाद स्नेह प्रकृति के अनुकूल हो जाता है । अतः सात दिन के बाद स्नेहन नहीं करना चाहिए । सम्यक् स्निग्ध पुरुषों को स्वेदन कराना चाहिए ।

वक्तव्य—यहाँ तीन दिन एवं सात दिन के लिए स्नेह प्रयोग का विधान मृदुकोष्ठ एवं क्रूरकोष्ठ व्यक्ति के लिए निर्देशित है । जैसा कि सूत्र स्थान में लिखा है—"मृदुकोष्ठस्त्रिरात्रेण स्निह्यत्यच्छोपसेवया । स्निह्यतिक्रूरकोष्ठस्तु सप्तरात्रेण मानवः" ॥ (सू० अ० १३/६५) यदि क्रूरकोष्ठ वाले व्यक्ति को हीनमात्रा में स्नेहन कराया जाय तो सात दिन में भी स्निग्ध नहीं होता । अतः चक्रपाणि तंत्रान्तर वचन का उद्धरण देते हैं कि "त्रिषट्कनवरात्रेण स्नेहपानं विधीयते । अर्थात् मृदुकोष्ठ को ३ दिन, मध्यम कोष्ठवाले व्यक्ति को ६ दिन तथा क्रूरकोष्ठ वाले व्यक्ति को ९ दिन तक स्नेहपान कराना चाहिए । इससे अधिक स्नेहन कराने पर वह सात्म्य होकर पाचित हो जाता है । इस प्रकार प्रत्येक कर्म से पूर्व स्नेहन एवं स्वेदन की यथावश्यक कल्पना करनी चाहिए ।

क्रमश्च कः —

स्निग्धाय देयं वमनं यथोक्तं
वान्तस्य पेयादिरनुक्रमश्च ॥
स्निग्धस्य सुस्विन्नतनोर्यथावद्-
विरेचनं योग्यतमं प्रयोज्यम् । च० सि० १।१०

—संप्रति क्रमश्च क इति प्रश्नस्योत्तरमाह-स्निग्धाय देयं वमनमिति वमनपानदिनेऽभ्यंगेन स्निग्धाय वमनं देयमित्यर्थः, पानजनितस्नेहस्तु पूर्व मेवोक्तत्वान्न पुनरभिधानमर्हति; अन्ये तु 'उपजातस्नेहगुणाय' इति वदन्ति । यथोक्तमिति मदनकल्पोक्त विधिना देयम् । वमनानन्तरं कर्तव्यमाह-वान्तस्ये-त्यादि । पेयादिः 'पेयां विलेपीम्' इत्यादिना वक्ष्यमाणः । वमनक्रममभिधाय विरेचनक्रममाह स्निग्धस्येत्यादि । सुस्विन्नतनोरिति सम्यक्स्विन्नदेहस्य । अयं च विरेचनाङ्ग स्नेहस्वेदक्रमो वमनानन्तरभावविरेचनेऽपि पेयादिक्रमोत्तरकालं कर्तव्यः, यदुक्तं "विलेप्याः क्रमागतं चैनं पुनरेव स्नेहस्वेदाभ्यामुपपाद्य विरेचयेत्' इति । स्नेहानन्तरं च यत् व्यहं विरेचनार्थं प्रतिभोजनं, तदुपक्रमाभिधानानुषङ्ग-प्रतिपादितमेवेति न पुनरिह प्रतिपाद्यते । यथावदिति कल्पस्थानोक्तविधिना । योग्यतममिति शरीरदोषाद्यपेक्षया यद्विरेचनं यौगिकं भवति तद्देयम् ॥

चक्रपाणिः ॥

द्वितीय प्रश्न का उत्तर

हि० व्या०—सम्यक् स्निग्ध व्यक्तियों को नियमानुसार (जैसा क्रम एवं विधान यथास्थान बताया गया है) वमन कराना चाहिए। वमन हो जाने के पश्चात् पेया आदि को क्रमानुसार सेवन कराना चाहिए। सम्यक् स्नेहन और स्वेदन कर लेने पर रोगी को योग्यबलानुसार विरेचन द्रव्यों का प्रयोग कराना चाहिए।

किंच कृताकृतेषु

क्रमात् कफः पित्तमथानिलश्च
यस्यैति सम्यग्वमितः स इष्टः॥
हृत्पार्श्वमूर्धेन्द्रियमार्गशुद्धौ
तथा लघुत्वेऽपि च लक्ष्यमाणे।

च० सि० १।१५

क्रमादित्यनेन वचनेन यथोक्तक्रमलङ्घनेन कफाद्यागमनं न सम्यग्योगलक्षणमिति दर्शयति, यतः कफादूर्ध्वं गतं यदा पित्तं भवति तदा तु पित्तागमनेऽपि सति न शुद्धिः, किन्तु यदैवामाशयाधोभागगतं पित्तं वमनमानयति तदैव शुद्धिः, तत्पित्तानयनं च कफानयनानन्तरमेव भवति। एवं सम्यक्कृतविरेचनलक्षणोऽपिक्रमादितिपदस्यार्थोऽत्र व्याख्येयः॥ चक्रपाणिः॥

तृतीय प्रश्न का उत्तर

हि० व्या०—दोषानुसार वमन औषध सेवन करने पर क्रमशः आरम्भ में आमाशयिक कफ, इसके बाद पित्त और अन्त में वायु का निःसरण होता है तथा हृदय, पार्श्व, मस्तिष्क व इन्द्रिय-मार्गों की शुद्धि और शरीर में हल्कापन प्रतीत हो तो सम्यग् वमन हो गया है ऐसा समझना चाहिए।

वक्तव्यः—आगे के प्रश्नोत्तर से पूर्व कुछ श्लोकों में चरक ने वमन-विरेचन के हीनातियोगों का वर्णन किया है जिनका आगे प्रकरणानुसार विरेचन के स्वतन्त्र प्रकरण में वर्णन किया जायगा।

बस्तिसंख्या का

वाते नवैकादश वा पुनर्वा
बस्तीनयुग्मान् कुशलो विदध्यात्॥

च० सि० १।२५

चतुर्थ प्रश्न का उत्तर

हि० व्या०—बस्ति की संख्या कितनी होती है, इस विषय में कहा गया है कि कफजन्य विकारों में एक से तीन, पित्तजन्य विकारों में पाँच से सात तथा

वातज विकारों में नौ से ग्यारह बस्तियों का प्रयोग करावें। साथ ही कुशल चिकित्सक को यह भी ध्यान रहे कि बस्ति विषमसंख्या में ही प्रयोग करानी चाहिए। सम संख्या में नहीं दें अर्थात् १.३.५ के क्रम में देनी चाहिए, २.४. ६. के क्रम में नहीं देनी चाहिए।

किंगुणो वस्तिः

बस्तिर्वयःस्थापयिता सुखायुर्बलाग्निमेधास्वरवर्णकृच्च।
सर्वार्थकारी शिशुवृद्धयूनां निरत्ययः सर्वगदापहश्च॥
विट्श्लेष्मपित्तानिलमूत्रकर्षी दार्ढ्यावहः शुक्रबलप्रदश्च।
विश्वक्स्थितं दोषचयं निरस्य सर्वान् विकारान् शमयेन्निरूहः॥

च० सि० अ० १।२७-२८

'किंगुणो बस्तिः' इति प्रश्नस्योत्तरं—बस्तिर्वयःस्थापयितेत्यादि। अयं चास्थापनगुणः, अनुवासनस्य तु 'देहे निरूहेण' इत्यादिना ग्रन्थेन गुणान् वक्ष्यति। वयः स्थापयतीति वयःस्थापयिता; वयःस्थापनत्वं चास्य स्रोतः—शुद्धिकरत्वात्। सर्वार्थकारीति स्थिरत्वापकर्षादिविरुद्धार्थस्यापि भेषजविशेषयोगात्। शिशुवृद्धयूनां निरत्यय इत्यनेन वमनविरेचनाभ्यामुत्कर्ष उच्यते, ते हि शिशुवृद्धयोर्निषिद्धे। सर्वगदापहत्वं संशमनेन ज्ञेयं, सर्वान् विकारान् शमयेदित्यनेन दोषसंशोधनद्वारा सर्वगदापहत्वमुच्यत इति न पौनरुक्त्यं, किंवा सर्वान् विकारानिति सर्वावस्थान् विकारानिति विशेषः॥ चक्रपाणिः॥

देहे निरूहेण विशुद्धमार्गे संस्नेहनं वर्णबलप्रदं च।
न तैलदानात् परमस्ति किंचिद्द्रव्यं विशेषेण समीरणार्त्ते॥
स्नेहेन रौक्ष्यं लघुतां गुरुत्वादौष्ण्याच्च शैत्यं पवनस्य हत्वा।
तैलं ददात्याशु मनःप्रसादं वीर्यं बलं वर्णमथाग्निपुष्टिम्॥
मूले निषिक्तो हि यथा द्रुमः स्यान्नीलच्छदः कोमलपल्लवाग्र्यः।
काले महान् पुष्पफलप्रदश्च तथा नरः स्यादनुवासनेन॥

च० सं० सि० अ० १।२९-३१

देह इत्यादिनाऽनुवासनगुणामाह। निरूहेण विशुद्धमार्गे इति वचनान्निरूहशोधित एव मार्गे संसर्जनादनुवासनं यथोक्तगुणकर्तृ भवतीति दर्शयति। न तैलदानादित्यत्र तैलशब्देन स्नेहोपलक्षणेन केचिद्घृतमपि ग्राहयन्ति, किन्तु तैलमेवात्र वातहरप्रधानतया ब्रूत इति युक्तं पश्यामः, तथा ह्यत्र औष्ण्याच्छैत्यमित्युक्तं, औष्ण्यं च न सर्पिषीति, स्नेहा मज्जवर्जिता अनुवासनाधिकृता अप्यप्रधानत्वान्नात्र घृतमनुमन्यते। परमस्तीत्यादौ द्रव्यमिति कारणं, तच्च कारणमनिलप्रशमनेन ज्ञेयम्, 'नान्वासनात् किंचिदिहास्ति कर्म' इति केचित् पठन्ति। तैलकृत्यमेव सकारणं व्याकरोति-स्नेहेनेत्यादि। तैलं चानुवासन पवनमेव

ज्ञेयम्, अपक्वस्य तु 'न चामं प्रणयेत् स्नेहं स ह्यभिष्यन्दयेद्गुदम्' (सि. अ. ४) इत्यनेन निषिद्धत्वात्। अत्र तैलानिलयोर्विपरीतगुणयोर्मेलके द्रव्यप्रभावात्तैलमेव वातं हन्ति, न वातस्तैलम्; अणुत्वं गुणो यद्यपि तैले वाते चास्ति, तथाऽपीह प्रभावाद्वातसूक्ष्मावयवसम्बद्धं तैलं स्नेहादिना वातं जयति, तेन समानमप्यणुत्वमिह विरुद्धार्थकार्ये वेति। तैलस्य यथोक्तकार्यकर्तृत्वे दृष्टान्तमाह-मूल इत्यादि। मूलदृष्टान्तेन चानुवासनेन साक्षात्तर्पणीयस्य गुदस्य देहमूलत्वं दर्शयति, उक्तं हि पाराशरे—"मूलं गुदं शरीरस्य सिरास्तत्र प्रतिष्ठिताः। सर्वं शरीरं पुष्णन्ति मूर्धानं यावदाश्रिताः"—इति, तथाऽनुवासनादपि नरो बलधीर्याद्युपेतोऽपत्यवांश्च स्यादित्यर्थः। चक्रपाणिः॥

पञ्चम प्रश्न का उत्तर

हि० व्या०—निरूहबस्ति के गुण का वर्णन किया जाता है। बस्ति आयु को स्थिर करती है। सुख, आयु, बल, अग्नि और मेधाशक्ति (स्मरणशक्ति) बढ़ाती है। स्वर और वर्ण (कान्ति) के लिए लाभकारी है। बस्ति सभी रोगों में हितकारी है। बालक, वृद्ध और युवकों के लिए लाभकारी है। इसके सेवन से कोई उपद्रव नहीं होता और सभी प्रकार के रोग दूर होते हैं। निरूह बस्ति मल, कफ, पित्त, वायु और मूत्र को बाहर निकालती है। शरीर दृढ़ होता है। शुक्र एवं बल-वर्धक है। सम्पूर्ण शरीर में संचित दोषों को निकाल कर सभी प्रकार के रोगों को शान्त करती है।

निरूह के पश्चात् अनुवासन बस्ति के गुण का वर्णन करते हुए कहा गया कि निरूह बस्ति के द्वारा शरीरस्थ स्रोतों के शुद्ध हो जाने पर अनुवासन बस्ति का प्रयोग करने से वर्ण (कान्ति) एवं बल बढ़ता है। विशेष रूप से वातजन्य वेदना की शान्ति के लिए तैल प्रयोग से बढ़कर कोई अन्य द्रव्य नहीं है क्योंकि तैल अपने स्निग्ध गुण के कारण वायु की रूक्षता को, गुरु गुण के कारण वायु की लघुता को, उष्ण वीर्य होने से वायु की शीतलता को नष्ट कर, शीघ्र मन प्रसन्न कर देता है। वीर्य बल, वर्ण एवं जठराग्नि को पुष्ट करता है। वृक्ष के मूल में जिस प्रकार जल डालने से वृक्ष नील वर्ण की पत्तियों एवं कोमल पल्लवों से सुशोभित होता है तथा समयानुसार बढ़कर फूल और फल से संयुक्त होता है, उसी प्रकार अनुवासन-बस्ति से मनुष्य स्वस्थ, महान् और अनेक संततियों से संयुक्त होता है।

केषु कश्च बस्तिः

उष्णाभिभूतेषु वदन्ति शीताञ्छीताभिभूतेषु तथा सुखोष्णान्।
तत्प्रत्यनीकौषधसंप्रयुक्तान् सर्वत्र बस्तीन् प्रविभज्य युञ्ज्यात्॥

च० सि० अ० १।३५

संप्रति केषु कश्च बस्तिरिति प्रश्नस्योत्तरम्-उष्णाभिभूतेष्वित्यादि। उष्णाभिभूते तथा शीताभिभूत इति वक्तव्ये, येन 'सर्वत्र' इति करोति, तेन स्निग्धरूक्षगुरुलघ्वभिभूतेऽपि तद्विपरीतौषधसम्पादितो बस्तिर्देय इति दर्शयति। चक्रपाणिः॥

स्तब्धाश्च ये संकुचिताश्च येऽपि ये पङ्गवो येऽपि च भग्नकायाः।
येषां च शाखासु चरन्ति वाताः शस्तो विशेषेण हि तेषु बस्तिः॥
आध्मापने विग्रथिते पुरीषे शूले च भक्तानभिनन्दने च।
एवंप्रकाराश्च भवन्ति कुक्षौ ये चामयास्तेषु च बस्तिरिष्टः॥
याश्च स्त्रियो वातकृतोपसर्गा गर्भं न गृह्णन्ति नृभिः समेताः।
क्षीणेन्द्रिया ये च नराः कृशाश्च बस्तिः प्रशस्तः परमं च तेषु॥

च० सं० सि० स्था० अ० १।३२-३४

सामान्येन निरूहानुवासनयोर्गुणमाह-स्तब्धाश्च य इत्यादि। भग्ना इति भग्नकायाः, रुग्णा इति सन्धिमुक्ताः। भक्तानभिनन्दने अरोचके। वातकृतोपसर्गा इति वातकृतोपद्रवाः। क्षीणेन्द्रिया इति अतिक्षीणशुक्राः। अत्र शुद्धवातादिष्वनुवासनं, भक्तानभिनन्दनप्रकारेषु च निरूह इत्याद्यर्थोऽनुसरणीयः॥

छठे प्रश्न का उत्तर

हिन्दी व्या०—गर्मी से पीड़ित व्यक्तियों के लिए शीतल द्रव्यों से बनाई हुई तथा शीत से पीड़ित व्यक्तियों को सुखोष्ण बस्तियों का प्रयोग करावें। इस प्रकार विभाजन करते हुए व्यक्तियों को सभी विकारों में बस्तियाँ दें अर्थात् जहां स्निग्ध से पीड़ित हो तो रूक्ष एवं रूक्ष से पीड़ित हो तो स्निग्ध बस्ति देनी चाहिए अथवा रोग, रोगी प्रकृति आदि का विभाग कर बस्ति-कल्पना जिनके शरीर में जड़ता, सकोच, पंगुता हो, जो अस्थि भग्न का रोगी हो, जिनकी शाखाओं में कुपित वायु गति करता हो उन्हें विशेष रूप से बस्ति-कर्म कराना उत्तम है।

जिन्हें आध्मान हो, पुरीष गांठदार एवं शूलकारी हो, जिन्हें भोजन की इच्छा नहीं होती हो, इस प्रकार के कुक्षि रोगों में बस्ति कर्म लाभकारी है (आवश्यक भी है)।

जिन स्त्रियों में वात-विकार के कारण गर्भ-स्थिति नहीं होती तथा जो पुरुष क्षीणेन्द्रिय एवं क्षीण-वीर्य हों, जो दुर्बल हों, इस प्रकार के सभी स्त्री-पुरुषों में बस्ति का प्रयोग कराना चाहिए।

कृते कियान् वा परिहारकालः

कालस्तु बस्त्यादिषु याति यावां-
स्तावान् भवेद्द्विः परिहारकालः॥ च० सि० १।-५४ क

'कृते कियान् वा परिहारकालः' इत्यस्योत्तरमाह—काल-स्त्वित्यादि। तावान् भवेद् द्विः परिहारकाल इति बस्त्यादिप्रयोगे यावान् कालो व्याप्यते, ततः कालाद् द्विगुणं कालं यावत् परिहार्यत्वेनोक्तं परिहर्तव्यम्। अत्र आदि-शब्देन वमनविरेचनशिरोविरेचनानां ग्रहणम्। बस्तेस्त्वादौ व्युत्पादनेन प्राधान्यं दर्शयति ॥ ५४ ॥

सातवें प्रश्न का उत्तर

हि० व्या०—बस्ति-चिकित्सा-क्रम में जितना समय लगता है उससे दो गुना समय पथ्यपालन में होना चाहिए। आदि शब्द से वमन, विरेचन और शिरो-विरेचन भी अभिप्रेत है।

प्रतिकर्मकाले किं वर्जनीयम्

अत्यासनस्थानवचांसि यानं
स्वप्नं दिवा मैथुनवेगरोधान् ॥
शीतोपचारातपशोकरोषां-
स्त्यजेदकालाहितभोजनं च ॥ च सि० १।५४ ख

'किं वर्जनीयम्' इति प्रश्नस्योत्तरम्-अत्यासनेत्यादि। आसनमुपविष्टाव-स्थानम्। स्थानमूर्ध्वतया स्थानम्। यानं रथाश्वादिना यानम्। एत आविष्कृत-तमा इहोक्ताः; तेन क्रोधातिचिन्तनादयो येऽप्युपकल्पनीयादौ बमनादि-प्रयोगे निषिद्धास्तेऽपि न सेव्या एव। चक्रपाणिः ॥

आठवें प्रश्न का उत्तर

हि० व्या०—अधिक बैठना या अधिक देर तक खड़ा होना, अधिक बोलना, सवारी (घोड़े-हाथी-बैलगाड़ी-मोटर-कार-बस-ट्राम-रेल-वायुयान) में बैठकर यात्रा नहीं करनी चाहिए (इससे उनका अभिप्राय पूर्ण विश्राम कराने से था)। दिन में सोना, स्त्रीप्रसङ्ग तथा मलमूत्र के वेगों को रोकना निषेध है। शीतल उपचार भी नहीं करना चाहिए। पीने एवं स्नान करने में किंचिद् उष्ण जल का व्यवहार करना चाहिए। धूप-सेवन, शोक एवं रोष (क्रोध) नहीं करना चाहिए। मन को प्रसन्न रखना चाहिए। अकाल-भोजन नहीं करना चाहिए, भोजन समय पर करना चाहिए, एवं पथ्य भोजन करना चाहिए।

प्रणीयमानश्च न याति, सुचिराच्च केन

बद्धे प्रणीते विषमं च नेत्रे
मार्गे तथाऽर्शःकफविड्विबन्धे ॥
न याति बस्तिर्न सुखं निरेति
दोषावृतोऽल्पो यदि वाऽल्पवीर्यः ॥ च० सि० १।५५

—'प्रणीयमानः' प्रश्नस्योत्तरं-बद्धे इत्यादि। नेत्रे बद्धे विषमं प्रणीते च गुदावयवरुद्धत्वान्न याति। तथा न सुखं निरेति 'इत्यादिना' 'सुचिराच्च केन' इति प्रश्नस्योत्तरम्। न सुखं निरेतीति चिरेण दुःखं कृत्वा चागच्छतीत्यर्थः। दोषावृत इति दोषेण बलीयसाऽवरुद्धः। अल्प इति अल्पमानः। अल्पवीर्य इति उष्णलवणाद्यभावान्मृदुवीर्यः। चक्रपाणिः ॥

नवें एवं ग्यारहवें प्रश्न का उत्तर

हि० व्या०—बस्ति-नेत्र का मार्ग बन्द हो जाने से, विषम रूप से बस्ति-नेत्र गुदा में लगाए जाने से, अर्श, कफ तथा मल के द्वारा गुदामार्ग में रुकावट होने से, बस्ति अन्दर प्रवेश नहीं हो पाती।

यदि बस्ति अन्दर प्रवेश कराने पर दोषों द्वारा उसका मार्ग आवृत हो जाए अथवा बस्ति में प्रयुक्त औषध की मात्रा अल्प हो या औषध की शक्ति दुर्बल हो तो अन्दर प्रविष्ट हुई बस्ति सुखपूर्वक नहीं निकल पाती।

केनेति शीघ्रम्

प्राप्ते तु वर्चोऽनिलमूत्रवेगे वातेऽतिवृद्धेऽल्पबले गुदे वा ॥
अत्युष्णतीक्ष्णाश्च मृदौ च कोष्ठे प्रणीतमात्रः पुनरेति बस्तिः।
—च० सि० १।५६

—प्राप्ते चेत्यनेन शीघ्रागमनहेतुमाह-वातेऽतिवृद्धे स्नेहो गुदे वातेन प्रति-हतत्वान्न यात्याशयं, ततः शीघ्रमागच्छति, अल्पबले गुदे स्नेहं धारयितुं न शक्नोति पुरुषः, अल्पबलत्वं गुदस्य संवरणीवलीदौर्बल्यात् ॥ चक्रपाणि

दसवें प्रश्न का उत्तर

हि० व्या०—मल, वात अथवा मूत्र के वेग के उपस्थित होने पर बस्ति पुनः बाहर आ जाती है अथवा वात अत्यधिक बढ़ा हो; गुदा की वलियां दुर्बल हों अथवा प्रवेश की गई औषधें अत्यधिक तीक्ष्ण या उष्ण हों, कोष्ठ मृदु हो तो भी बस्ति देने पर औषध शीघ्र बाहर आ जाती है।

के साध्या गदाः

मेदःकफाभ्यामनिलो निरुद्धः शूलाङ्गसुप्तिश्वयथून् करोति ॥५७॥
स्नेहं तु युञ्जन्नबुधस्तु तस्मै सबर्धयत्येव हि तान् विकारान्।
रोगास्तथाऽन्येऽप्यवितर्क्यमाणाः परस्परेणावगृहीतमार्गाः ॥५८॥
संदूषिता धातुमिरेव चान्यैः स्वैर्भेषजैर्नोपशमं व्रजन्ति।

—'साध्याः' इत्यादि प्रश्नस्योत्तरं—मेदःकफाभ्यामित्यादि। मेदसा कफेन वेति मेदःकफाभ्याम्। अत्र शूलादीन्निरीक्ष्य शुद्धवातभ्रान्त्या स्नेहं प्रयुङ्क्ते, नावरणं जानाति, अत एव 'अबुधः' इति कृतम्। अन्यत्राप्युक्तम्-

"कुपिते मार्गसंरोधान्मेदसा वा कफेन वा। अतिवृद्धेऽनिले नादौ शस्तं स्नेहेन बृंहणम्"–इति। अवितर्क्यमाणा इति असम्यग्ज्ञायमानाः। असम्यग्ज्ञायमानत्व एव हेतुमाह–परस्परेणेत्यादि। रोगशब्देना > दोषोऽभिप्रेतः। परस्परेण प्रतिबद्ध-मार्गा अतो दुर्ग्रहा भवन्ति, तथा धातुभिश्च रक्तादिभिः संदूषिताः संमूर्च्छिताः सन्तो दुर्ज्ञेया भवन्ति, अविज्ञाताश्च स्वैर्भेषजैर्न प्रशमं व्रजन्ति, स्वैर्भेषजैरिति मार्गविरोधादिकारणदोषधात्वन्तरनिरपेक्षकैरेकदोषभेषजैः, तद्धि तथाभूतानां भेषजं यौगिकं न भवत्येव, अतोऽनुपशमो युक्त एव, एवं च दोषाणां परस्पराव-रोधान् तथा धातुसम्मूर्च्छनविशेषांश्चावगम्यैव व्याधौ प्रपञ्चोऽनुसरणीयः।

चक्रपाणिः॥

बारहवें प्रश्न का उत्तर

हि० व्या०—मेद एवं कफ के बढ़ जाने से रुकी हुई वायु, शूल, अंगों में शून्यता और शोथ को उत्पन्न करती है। ऐसी दशा में यदि कोई चिकित्सक अज्ञानवश स्नेह का प्रयोग कराता है और अनुवासन बस्ति देता है तो वह रोगी को स्वास्थ्य-लाभ न कराकर रोगों को बढ़ाने में ही सहायता करता है (अर्थात् ऐसी अवस्थामें स्नेहन एवं अनुवासन का प्रयोग नहीं कराना चाहिए)। साथ ही अनेक अन्य रोग भी उत्पन्न हो जाते हैं। इस तरह पूर्व रोग एवं नवीन उत्पन्न रोग परस्पर मार्ग को रोककर जटिल हो जाते है। वे रक्तादि धातुओं को दूषित करके अनेक रोगों को उत्पन्न करते हैं जो उनकी अपनी चिकित्सा द्वारा भी उपचारित नहीं होते।

संशोधनप्रारम्भात् प्राक् तदुपकरणसंकलनं रोगीचयनं च कर्तव्यम्।

संशोधन अर्थात् पंचकर्म कराने से पूर्व यथावश्यक साधन एवं सामग्री एकत्र करने का निर्देश देते हुए लिखा गया है कि जिस स्थान पर पंचकर्म कराना अभीष्ट हो उसका वातावरण, भवन में आवश्यक साधन तथा रोगी आदि का चयन कर लेना चाहिए जब जब सम्यक् अथवा उपद्रवावस्था में जो जो वस्तु चाहिए, अथवा, पूर्वकर्म, प्रधान कर्म एवं पश्चात् कर्म-उपयोगी सभी साधन उपलब्ध करा लेने पर ही कर्म प्रारम्भ कराना चाहिए।

इह खलु राजानं राजमात्रमन्यं वा विपुलद्रव्यं संभृतसंभारं वमनं विरेचन वा पाययितुकामेन भिषजा प्रागेवौषधपानात् संभारा उपकल्पनीया भवन्ति, सम्यक् चैव हि गच्छत्यौषधे प्रतिभोगार्था व्यापन्ने चौषधे व्यापदः परिसंख्याय प्रतीकारार्थाः। नहि सन्निकृष्टे काले प्रादुर्भूतायामपदि सत्यपि क्रयाक्रये सुकरमाशु संभरणमौषधानां यथावत्।

च० सू० १५।३

—राज्ञ इव मात्रापरिच्छेदो यस्य स राजमात्रः, विपुलद्रव्यस्तु वणिगादि। परिसंख्यायेति ज्ञात्वा। क्रयः=पण्यम्, आक्रयो=मूल्यम्। चक्रपाणिः॥

हि० व्या०—संशोधन कर्म हेतु यथावश्यक सामग्री संकलन का निर्देश करते हुए लिखा गया है कि राजा अथवा राजा के समान धनाढ्य व्यक्तियों का चयन करना चाहिए। ऐसे व्यक्तियों को वमन-विरेचन द्वारा संशोधनों-औषध पिलाने से यथावश्यक सभी उपकरणों का विचार करके संग्रह कर लेना चाहिए। यदि वमन-विरेचन का प्रयोग सम्यक् रूप से हो जाता है, तब तो संगृहीत सामग्री अन्य कार्यार्थ उपयोग में लायी जा सकती है अन्यथा संशोधन में उत्पन्न होने वाले उपद्रवों के शमन-हेतु उपयोगी होगी। (इसी विचार से संगृहीत कर लेनी चाहिए।) उपद्रवों के अनुसार शमनकारी औषधें एवं अन्य उपयोगी वस्तुएं सरलता से उपलब्ध नहीं होतीं, अतः आवश्यक सामग्री पूर्व में ही संग्रहीत कर लेनी चाहिए।

आतुरालयस्वरूपम्

दृढं निवातं प्रवातैकदेशं सुखप्रविचारमनुपत्यकं धूमातपजलरजसामनभिगम-नीयमनिष्टानां च शब्दस्पर्शरसरूपगन्धानां सोदपानोदूखलमुसलवर्चःस्थानस्नान-भूमिमहानसोपेतं वास्तुविद्याकुशलः प्रशस्त गृहमेव तावत्पूर्वमुपकल्पयेत्

च० सू० १५।६

—विविधानपीत्यपिशब्दः समासेनापीत्येवंरूपो ज्ञेयः, तेन गृहादयोऽपि विस्तरेणोच्यन्ते, संग्रहणीयादयश्च समासेनेति द्वयमपि सुस्थं स्यात्, यदि वा द्विविधानपीति पाठः, तेन भोगार्थानि तथा व्यापत्साधनानि गृह्यन्ते। अनुपत्यकं यद् विदूरमन्यस्य महतो गृहस्य। उदकं पीयते येन तदुदपानम्॥

॥ चक्रपाणिः॥

आतुरालय का स्वरूप

हि० व्या०-संभार सामग्री की सामान्य गणना करते हुए उपदेश दिया गया है कि संशोधन कर्म के लिए उपयुक्त आतुरालय का स्वरूप इस प्रकार का होना चाहिए—भवन निर्माण कार्य में दक्ष व्यक्ति द्वारा उत्तम और दृढ़ घर का निर्माण करें, जो निवात (तीव्रवातरहित) स्थान में हो, जिसमें हवा आने के लिए समुचित व्यवस्था होनी चाहिए। टहलने योग्य उचित स्थान हो, समतल हो, ऊँची-नीची भूमि पर न बना हो। ऐसे स्थान पर होना चाहिए जहाँ धूम-धूप-जल-धूलि आदि न जा सके तथा मन के प्रतिकूल शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध आदि न प्राप्त हो सके। उस घर में पीने के पानी का उचित प्रबन्ध होना चाहिए। समय पर आवश्यक अन्य उपकरणों, शौचालय, स्नानघर तथा पाकशाला का भी प्रबन्ध होना चाहिए।

आतुरालये चिकित्सासाधनरूपलावकपिञ्जलशशहरिणादिपालनम्

लावकपिञ्जलशशहरिणैणकालपुच्छकमृग[1]मातृकोरभ्रान् ॥

च० सू० १५।७(ग) ॥

आवश्यक विविध पशु-पक्षि-पालन

हि० व्या०—आतुरालय भवन के समीप उपयोगी पशु-पक्षियों यथा—लावा, गौरैया, खरगोश, हरिण, एण, कालपुच्छ, मृगमातृका, भेड़ आदि का पालन भी आवश्यक है।

आतुरालयसम्बद्धगोपालनप्रकारः

गां दोग्ध्रीं शीलवतीमनातुरां जीवद्वत्सां सुप्रतिविहिततृणशरण[2]पानीयाम्

च० सू० १५।७ घ ॥

आतुरालय में दुधारू गाय का पालन

हि० व्या०—दुग्ध-प्राप्ति-हेतु दूध देने वाली, सरल स्वभाव की नीरोग, जीवित बछड़े वाली गायें भी होनी चाहिए जिनको रखने के लिए तृण आदि से बने घर तथा उनके पीने के पानी की उचित व्यवस्था होनी चाहिए।

आतुरालयप्रयोज्यौषधकल्पनासामग्रीनिर्देशः

सुप्रक्षालितोपधानाश्च सुश्लक्ष्णखरमध्यमा दृषदः, शस्त्राणि चोपकरणार्थानि, धूमनेत्रं च वस्तिनेत्रं चोत्तरबस्तिकं च कुशहस्तकं च तुलां मानभाण्डं च।

च० सू० १५।७ छ ॥

—सुप्रक्षालितेत्यादौ उपधानः=शिलापुत्र इति प्रसिद्धः दृषदः=पाषाणपट्टकाः, शस्त्राणि चोपकरणार्थानीति कुद्दालकर्तरीप्रभृतीनि कुशहस्तकं=संमार्जनी, अन्ये तु आर्द्रद्रव्यपरिपचनमभिदधति, मानभाण्डं=प्रतिमानम् ॥ चक्रपाणिः ॥

औषध-कल्पना में उपयोगी साधन

हि० व्या०—औषध-कर्म-हेतु साफ-सुथरे (धुले हुए), चिकने-खुरदरे और मध्यम आकार के सिलबट्टे होने चाहिए। यथावश्यक शस्त्र, धूमनेत्र, बस्तिनेत्र, उत्तरबस्तियंत्र, झाड़ू, तुला (तराजू), नापने का पात्र आदि वस्तुएँ भी आतुरालय में आवश्यक हैं।

---

१. मृगमातृका=पृथूदरो हरिणः। चक्रपाणिः ॥

२. सरणम्—गृहम्। चक्रपाणिः ॥

आतुरालये प्रयोज्यविविधचिकित्सानुपानादिसामग्री-संकलनसमुल्लेखः

घृततैलवसामज्जक्षौद्रफाणितलवणेक्षुनोदकमधुसीधुसुरासौवीरकतुषोदकमैरेयमेदकदधिदधिमण्डोदश्विद्धान्याम्लमूत्राणि च ॥

च० सू० अ० १५।७ ज

चिकित्सा एवं अनुपान के साधन

हि० व्या०—घृत, तैल, वसा, मज्जा, मधु, राब, नमक, लकड़ी, जल, मधु, सीधु, सुरा, सौवीर, तुषोदक, मैरेय, मेदक, दधि, दही का पानी, मट्ठा, कांजी, धान्याम्ल और विविध मूत्र भी प्रयोग हेतु आतुरालय में उपलब्ध होने चाहिए।

शोधनात्प्रागुत्पन्नात्ययिकरोगचिकित्सासम्पादनाय कालनियमः

ततस्तं पुरुषं यथोक्ताभ्यां स्नेहस्वेदाभ्यां यथार्हमुपपादयेत्। तं चेदस्मिन्नन्तरे मानसः शरीरो वा व्याधिः कश्चित्तीव्रतरः सहसाभ्यागच्छेत्तमेव तावदस्योपावर्तयितुं यतेत। ततस्तमुपावर्त्य तावन्तमेवैनं कालं तथाविधेनैव कर्मणोपाचरेत् ॥

च० सू० अ० १५।८

तं चेत्यादावस्मिन्नन्तर इति स्नेहस्वेदकरणसमये, तावन्तमेव कालमिति यावत्कालेन व्याधिप्रशमः कृतस्तावन्तम्। चक्रपाणिः ॥

आत्ययिक रोग प्रतिकार निर्देश

हि० व्या०—आतुरालय-निर्माण और सामग्री-संकलन के पश्चात् जिसका संशोधन (वमन-विरेचन) करना हो उसका स्नेहन-स्वेदन करना चाहिए। स्नेहन-स्वेदन-काल में यदि रोगी को शारीरिक या मानसिक कोई तीव्र रोग अचानक आ जाए तो प्रथम उसी रोग की चिकित्सा करनी चाहिए। जब वह तीव्र रोग शान्त हो जाए तो जितने दिन में चिकित्सा करने से रोग शान्त हुआ हो उतने ही समय तक वह रोग पुनः न आ जाए इस विचार से रोग के अनुसार चिकित्सा करनी चाहिए।

व्यापत्सामग्रीसाधारणसेवासामग्रीसंकलनं च

यच्चान्यदपि किंचिद्व्यापदः परिसंख्याय प्रतीकारार्थमुपकरणं विद्याद्, यच्च प्रतिभोगार्थं तत्तदुपकल्पयेत् ॥

च० सू० अ० १५।७८

व्यापद् एवं सामान्य सेवा सामग्री

हि० व्या०—पूर्वोक्त वस्तुओं के अतिरिक्त वमन-विरेचन की व्यापद् अवस्था में उपद्रव-प्रतिकार-हेतु जिन द्रव्यों की आवश्यकता हो एवं अन्य

उपयोगी उपकरणों का भी संग्रह करना चाहिए। सुख-सुविधा हेतु अन्य जो भी आवश्यक सामग्री हो उसका संकलन करना चाहिए।

आतुरालयप्रयोज्यविविधपात्रादीनामुल्लेखः

पात्र्याचमनीयौदकोष्ठमणिकघटपिठरपर्योगकुम्भीकुम्भकुण्डशरावदर्वीकटोदञ्चनपरिपचनमन्थानचर्मचेलसूत्रकार्पासोर्णादीनि च। च० सू० अ० १५।७ ङ

आचमनीयोदकोष्ठमाचमनार्थमुदककोष्ठं, किंवा आचम्यते येन पात्रेण तदाचमनं, मणिको=गोलकः, पिठरः=स्थाली, पर्योगः=कटाहः कुंभो=दृढावयवोऽल्पमुखो घटः, कटस्तृणादिरचितमासनम्, उदञ्चनं=पिधानशरावः, परिपचनं=तैलपाचनिका, ऊर्णा=गड्डेररोमाणि। चक्रपाणिः॥

आतुरालय में उपयोगी विविध पात्र

हि० व्या०— आतुरालय-हेतु आवश्यक पात्रों का उल्लेख यों किया गया है कि जल पीने हेतु पात्र (गिलास आदि) आचमनी (चम्मच), जल से भरे बड़े पात्र, मिट्टी के पात्र, घड़े, बटलोई (चावल, दाल बनाने हेतु) कड़ाही, सुराही, कलश, कुण्डा (तसला), कसौड़ा, कलछी, चटाई, ढक्कन (काठ के ढक्कन), कठौता, तेल पकाने का बर्त्तन, मथानी, कपड़ा, रस्सी, कपास, ऊन आदि वस्तुओं को भी सुरक्षित रखना चाहिए।

आतुरालये प्रयोज्यशयनासनादिसामग्रीसमुल्लेखः

शयनासनादीनि चोपन्यस्तभृङ्गारप्रतिग्रहाणि सुप्रयुक्तास्तरणोत्तरप्रच्छदोपधानानि सोपाश्रयाणि संवेशनोपवेशनस्नेहस्वेदाभ्यंगप्रदेहपरिषेकानुलेपनवमनविरेचनास्थापनानुवासनशिरोविरेचनमूत्रोच्चारकर्मणामुपचारसुखानि॥

च० सू० अ० १५।७ च

शयन-साधन-विवरण

हि० व्या०—रोगी के शयन और आसन के पास पानी का पात्र और पीकदान (चिलमची) होनी चाहिए। बिस्तर, चादर, तकिया, पार्श्व के तकिये, अच्छी प्रकार बिछे और रखे हुए होने चाहिए। लेटने, बैठने, स्नेहन, स्वेदन, अभ्यङ्ग, प्रदेह, परिषेक, अनुलेपन, वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन-वस्ति तथा शिरोविरेचन कर्म से सम्बधित सभी उपयोगी सामग्री होनी चाहिए और मूत्र एवं मल-त्याग में आराम देने वाले साधन भी आतुरालय होने आवश्यक हैं।

आतुरालये चिकित्साकर्मसाधकद्रव्याणां सूची।

नानाविधानि च स्नेहस्वेदोपकरणानि द्रव्याणि तथैवोर्ध्वहरानुलोमिकोभयभाञ्जि संग्रहणीयदीपनीयपाचनीयोपशमनीयवातहरादिसमाख्यानि चौषधानि॥

च० सू० १५।७ (ञ)

चिकित्सा के साधन द्रव्य

हि० व्या०—आतुरालय में स्नेहन-स्वेदन करने योग्य सामग्री और द्रव्यों का संग्रह करना चाहिए। ऊर्ध्वभागहर, अनुलोमक, और वमन-विरेचन दोनो कार्यों में प्रयोग की जाने वाली तथा संग्रहणीय, दीपनीय, पाचनीय उपशमनीय, वातहर आदि औषधवर्गों का पूर्व संग्रह करना चाहिए।

आतुरालये भोज्यसामग्रीसंकलनसंकेतः

शालिषष्टिकमुद्गमाषयवतिलकुलत्थबदरमृद्वीकाकाश्मर्यपरुषकाभयामलकविभीतकानि॥ ७॥

भोजनसामग्रीविवरण

हि० व्या०— शालि चावल, साठी चावल, मूँग, उड़द, जौ, तिल, कुलथी, बेर, मुनक्का, गंभारीफल, फालसा एवं त्रिफला (हरड़-बहेड़ा-आँबला) विविध कार्य-हेतु संग्रह करें।

शोधनार्थोत्तमपात्रतासंकेतः

अनेन विधिना राजा राजमात्रोऽथवा पुनः।
यस्य वा विपुलं द्रव्यं स संशोधनमर्हति॥ च० सू० १५।१८

संशोधन के योग्य (पात्र)

हि० व्या०—इस विधि से (जैसा कि पूर्व में बताया गया है।) यथावश्यक समस्त साधन-सामग्री एकत्र कर राजा अथवा राज्य से सम्बन्धित उच्चाधिकारी अथवा धनाढ्य व्यक्ति संशोधन करा सकते हैं।

वक्तव्य - जिस समय यह विषय विवेचन किया गया है उस समय वैद्य चिकित्सा-कर्म में निष्णात होते हुए भी सभी प्रकार के साधन स्वयं एकत्र करने में समर्थ नहीं थे, अतः राजा या धनाढ्य व्यक्ति सभी सामग्री एकत्र करने में समर्थ होने के कारण उन्हीं का नामोल्लेख किया गया है किन्तु आतुरालयों को सर्वसुविधा सम्पन्न बनाकर साधन-विहीन रोगियों की भी संशोधन या पंचकर्म-चिकित्सा सरलता से की जा सकती है जैसा कि आजकल राजकीय अथवा धर्मार्थन्यासों द्वारा असहाय रोगियों के लिए किया जा रहा है।

आतुरमनोविनोदार्थकुशलविविधपारिषद्यस्थापनम्।

गीतवादित्रोल्ला[1]पकश्लोकगाथाख्यायिकेतिहासपुराणकुशलानभिप्रायज्ञाननुमतांश्च देशकालविदः पारिषद्यांश्च॥

च० सू० १५।७ (ख)

---

१. उल्लापकं=स्तोत्रम् इतिहासोज्ज्ञायमान-कर्तृकाप्तोपदेशः। चक्रपाणिः॥

रोगी के मनोरंजन हेतु प्राचीन साधन

हि० व्या०—आतुरालय में रोगियों के मनोरञ्जन तथा ज्ञान-विज्ञान-परिचर्चा-हेतु, गायन, वादन, श्लोक, पाठ करने, कथा-कहानी, इतिहास-पुराणादि सुनाने एवं जानने वाले उपदेशक, दूसरे के अभिप्राय को जानने वाले तथा देश-काल आदि का विशेष ज्ञान रखने वालों को भी नियुक्त किया जाना चाहिए। रोगियों के मनोविनोदार्थ आधुनिक उपकरण-रेडियो, टेलीविजन (दूरदर्शन), टेपरिकार्डर आदि-का प्रयोग भी किया जा सकता है।

योग्यपरिचारकलक्षणम्।

ततः शीलशौचाचारानुरागदाक्ष्यप्रदाक्षिण्योपपन्नानुपचारकुशलान् सर्वकर्मसु पर्यवदातान् सूपौदनपाचकस्नापकसंवाहकोत्थापकसंवेशकौषधोपपेषकांश्च परिचारकान् सर्वकर्मस्वप्रतिकूलान्॥ च० सू० १५।७ (क)

विविध सेवक एवं उनके लक्षण

हि० व्या०—आतुरालय-निर्माण के पश्चात् योग्य कार्य-कर्ताओं का उल्लेख करते हुए सर्वप्रथम परिचारक का लक्षण बताया गया है। विनम्र, पवित्र आचरण वाला, रोगियों से प्रेम रखने वाला, कार्य-कुशल, चतुर, सेवा में तत्पर रहने वाला, चिकित्सा-सम्बन्धी एवं अन्य सहायक कार्यों में चतुर एवं तत्पर, तथा रोगी के पथ्य-हेतु दाल-भात आदि बनाने में चतुर होना चाहिए। स्नान कराने, रोगियों की देह दबाने, रोगियों को उठाने-बिठाने एवं लिटाने में दक्ष होने चाहिए। साथ ही इनसे अतिरिक्त भी कार्य करना पड़े तो परिचारक मना नहीं करे। इस प्रकार सर्वथा योग्य परिचारक को नियुक्त करना चाहिए।

आपत्सु स्वल्पसाधनैरपि संशोधनविधानम्।

दरिद्रस्त्वापदं प्राप्य प्राप्तकालं विरेचनम्।
विधेत्कामतसंभृत्य संभारानपि दुर्लभान्॥
नहि सर्वमनुष्याणां सन्ति सर्वे परिच्छदाः।
न च रोगा न बाधन्ते दरिद्रानपि दारुणाः॥
यच्चच्छक्यं मनुष्येण कर्तुमौषधमापदि।
तत्तत्सेव्यं यथाशक्ति वसनान्यशनानि च॥
च० सू० आ० १५।१९-२१

हि० व्या०—निर्धन रोगियों में संशोधन कराने की आवश्यकता होने पर उन्हें दुर्लभ एवं विपुल सामग्री को उनकी सामर्थ्य के अनुसार एकत्र कराकर

उचित समय पर विरेचनादि कर्म कराने चाहिए, क्योंकि सभी रोगियों में सभी सामग्री एकत्र करने की सामर्थ्य नहीं होती। और ऐसा भी नहीं है कि निर्धन लोग भयंकर रोग से पीड़ित न हों। अतएव आपत्ति के समय जिन-जिन औषधों की आवश्यकता हो उनको शक्ति के अनुसार वस्त्र, भोजन, उपकरणादि एकत्रकर उनका उपयोग करें।

संशोधनमधिकृत्य संवत्सरविभागविधानम् शोधनयोग्यकालवर्णनं च

कालः पुनः संवत्सरश्चातुरावस्था च, तत्र संवत्सरो द्विधा त्रिधा षोढा द्वादशधा भूयश्चाप्यतः प्रविभज्यते तत्तत्कार्यमभिसमीक्ष्य। तं तु खलु तावत्, षोढा प्रविभज्य कार्यमुपदेक्ष्यते-हेमन्तो ग्रीष्मो वर्षाश्चेति शीतोष्णवर्षलक्षणास्त्रय ऋतवो भवन्ति। तेषामन्तरेष्वितरे साधारणलक्षणास्त्रयः ऋतवः प्रावृट्-शरद्वसन्ता इति। प्रावृडिति प्रथमः प्रवृष्टः कालः। तस्यानुबन्धो हि वर्षा। एवमेते संशोधनमधिकृत्य षड् विभज्यन्त ऋतवः॥

तत्र साधारणलक्षणेष्वृतुषु वमनादीनां प्रवृत्तिर्विधीयते, निवृत्तिरितरेषु। साधारणलक्षणा हि मन्दशीतोष्णवर्षत्वात् सुखतमाश्च भवन्त्यविकल्पकाश्च शरीरौषधानाम्। इतरे पुनरत्यर्थशीतोष्णवर्षत्वाद्दुःखतमाश्च भवन्ति विकल्पकाश्च शरीरौषधानाम्।

तत्र हेमन्ते ह्यतिमात्रशीतोपहतत्वात् शरीरमसुखोपपन्नं भवत्यतिशीतवाताध्मातमतिदारुणीभूतमवबद्धदोषं च। भेषजं पुनः संशोधनार्थमुष्णस्वभावं शीतोपहतत्वान्मन्दवीर्यत्वमापद्यते। तस्मात्तयोः संयोगे संशोधनमयोगायोपपद्यते, शरीरमपि च वातोपद्रवाय।

ग्रीष्मे पुनर्भृशोष्णोपहतत्वात् शरीरमसुखोपपन्नं भवत्युष्णवातातपाध्मातमतिशिथिलमत्यन्तप्रविलीनदोषम्, भेषजं पुनः संशोधनार्थमुष्णस्वभावमुष्णानुगमनात् तीक्ष्णतरत्वमापद्यते। तस्मात्तयोः संयोगे संशोधनमतियोगायोपपद्यते, शरीरमपि पिपासोपद्रवाय।

वर्षासु तु मेघजलावतते गूढार्कचन्द्रतारे धाराकुले वियति भूमौ पङ्कजलपटलसंवृतायामत्यर्थोपक्लिन्नशरीरेषु भूतेषु विहतस्वभावेषु च केवलेष्वौषधग्रामेषु तोयतोयदानुगतमारुतसंसर्गाद् गुरुप्रवृत्तीनि वमनादीनि भवन्ति, गुरुसमुत्थानानि च शरीराणि। तस्माद् वमनादीनां निवृत्तिर्विधीयते वर्षाभागान्तेष्वृतुषु, न चेदात्ययिकं कर्म। —च० वि० ८।१२७-१३१ (क)

—देशपरीक्षां समाप्य कालपरीक्षामाह काल इत्यादि। संवत्सरोऽयनभेदेन द्विविधः। शीतोष्णवर्षभेदेन त्रिविधः। ऋतुभेदेन षोढा। मासभेदेन द्वादशधा। पक्षभेदाच्चतुर्विंशतिधा, प्रहरादिनाऽनेकधेति ज्ञेयम्। तत्तत् कार्यमि-

त्ययनादिना संपाद्यं कार्यमित्यर्थः। साधारण इति=अनतिशीतोष्णवर्षः। प्रावृषं विभजते प्रावृडित्यादि। 'प्रथमः प्रविष्ट इति शब्देनाऽऽषाढश्रावणावुच्येते। एतच्च द्विमासत्वमृतुभेदकमादिकृत्वा शेषमासद्विकेन वर्षादयो यथाक्रमं ज्ञेयाः। अयं च ऋतुक्रमो न रसोत्पत्त्यादौ, किंतु शरीरशोधनप्रवृत्तावेवेति दर्शयता-'संशोधनमधिकृत्य' इत्युक्तम्, एवमेव च क्रमं सिद्धौ वक्ष्यति-'प्रावृट्शुकनभौ ज्ञेयौ शरदूर्जसहौ पुनः। तपस्यश्च मधुश्चैव वसन्तः शोधनं प्रति (सि० अ० ६)

अस्मिनृतुक्रमे शिशिरो नास्ति। ये तु ब्रुवते, गंगायाः दक्षिणकूले वर्षा बहु भवति। तेन, तत्र प्रावृडादिक्रमः। गङ्गोत्तरकूले शीतं बहु भवति। तेन, तत्र हेमन्तशिशिरौ भवतः। उक्तं हि काश्यपेन यद् 'भूयो वर्षति पर्जन्यो गंगाया दक्षिणे जलम्। तेन प्रावृड्वर्षाख्यौ ऋतू तेषां प्रकल्पितौ। गंगाया उत्तरे कूले हिमवदङ्घ्रिसंकुले। भूयः शीतमतस्तेषां वसन्तशिशिरावृतू' इति। एतच्च न, अत्र संशोधनमधिकृत्य' इति वचनात्। यदि देशकृतोऽयं भेदः स्यात्, तदा तमेव भेदकं ब्रूयात् न संशोधनम्। तेन काश्यपोक्तदेशभेदेन प्रावृडादिक्रमो न तावदिहाभिमतः। अविकल्पकाश्च शरीरौषधानामिति, न शरीरस्य कृत्रिमतापादितगुणेन भेदकास्तथौषधस्य च न प्रमाणोत्कर्षापकर्षभेदकारका इत्यर्थः। विकल्पकाश्च शरीरौषधानामिति-यदात्ययिकत्वेनावश्यकर्तव्या भवन्ति वमनादयः, तदौषधस्य कृत्रिमगुणोपधानेन यथावक्ष्यमाणेन, तथा शरीरस्य च विकल्पका भवन्ति।

यथा हेमन्तादिषु दुःखतमत्वं भवति तदाह-तत्र हेमन्त इत्यादि। अवबद्धदोषमिति=अतिबद्धदोषम्। तयोरिति=यथोक्तशरीरभेषजयोः। तोयस्य तोयदानुगतमारुतस्य च संसर्गः—तस्माद् गुरुप्रवृत्तीनीति,—गुरोर्यथा न सुखकारिणी प्रवृत्तिर्भवति, तथाऽत्रापीत्यर्थः। किंवा बहुप्रतिविधेयप्रवृत्तीनि=गुरुप्रवृत्तीनि। गुरु समुत्थानानीति=संशोधनक्लिष्टानि शरीराणि तदा महता प्रयत्नेन चिरेण च कालेन प्रकृतिं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः। वर्षाभागान्तेष्विति=हेमन्तग्रीष्मवर्षासु। हेमन्तादिष्वप्यात्ययिके व्याधौ संशोधनं दर्शयन्नाह न चेदित्यादि। चक्रपाणिः॥

हिः व्याः—दोष संशोधनानुसार ऋतुविभाग

संवत्सर एवं आतुरावस्था को काल कहा जाता है इनमें संवत्सर को दो, तीन, छः, बारह अथवा इससे भी अधिक कार्य एवं प्रयोजन के अनुसार समीक्षा करते हुए विभाजित किया जाता है। यहाँ काल को छः भागों में विभाजित करते हुए उपदेश किया गया है— १. हेमन्त, २. ग्रीष्म एवं ३. वर्षा। ये तीन ऋतुएँ क्रमशः शीत, उष्ण एवं वर्षा को लक्षित करने वाली हैं। व्यवहार में सर्दी, गर्मी और बरसात के रूप में जानी जाती है। इन तीनो ऋतुओं के मध्य में प्रावृट्, शरद् एवं वसन्त तीन साधारण ऋतुएँ कहलाती हैं। इनमें

बरसात, सर्दी एवं गर्मी साधारण होती हैं। वर्षा के पूर्ववर्ति ऋतु को प्रावृट् कहते हैं। उसी के साथ का अग्रिम काल वर्षा ऋतु है। इसी प्रकार शरद् शीत का प्रथम काल है एवं हेमन्त अग्रिम काल है तथा वसन्त ग्रीष्म का प्रारम्भ काल एवं ग्रीष्म उत्तरकाल है।

इसी तरह ये छः ऋतु-काल दोषों के संशोधन-कर्मानुसार विभाजित किए गए हैं। इन ऋतुओं में जिन तीन प्रावृट्आदि साधारण ऋतुओं का उल्लेख किया गया है उनमें वमनादि संशोधन कर्म कराने चाहिए। इनसे भिन्न तीनो ऋतुओं में अर्थात् हेमन्त, ग्रीष्म, वर्षा—में संशोधन कर्मों की निवृत्ति होनी चाहिए अर्थात् नहीं कराने चाहिए।

तीनो साधारण ऋतुओं में सर्दी, गर्मी एवं बरसात का प्रभाव कम होता है अतः सुखकारी होता है। इनमें प्रयोग करायी गयी औषध शरीर में किसी प्रकार का उपद्रव नहीं करती। अन्य तीनो ऋतुओं (वर्षा, हेमन्त, ग्रीष्म) में बरसात, सर्दी एवं गर्मी अधिक होने से ये दुःखकारी होता हैं। इनमें प्रयोग कराई गयी औषध शरीर में उपद्रवकारी होता हैं।

देखा जाय तो हेमन्त ऋतु में अत्यधिक ठण्ड से पीड़ित होने के कारण शरीर प्रसन्न नहीं रहता और अत्यन्त शीतल वायु से परिपूर्ण होता है। दोष अत्यन्त कठोर ओर बँधे हुए रहते हैं, ऐसी अवस्था में उष्ण स्वभाव वाली संशोधनकारी औषध का प्रयोग कराने पर, अधिक शीत के कारण उसका प्रभाव भी मन्द हो जाता है। अतः शीत से पीड़ित शरीर एवं अधिक शीत से मन्द प्रभाव वाली औषध इन दोनो का संयोग होने पर कराया गया संशोधन अयोगरूप हो जाता है अर्थात् संशोधन उत्तम नहीं हो पाता। अयोग होने से वात प्रकोप के कारण अनेक उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं।

ग्रीष्म ऋतु में अत्यन्त गर्मी के कारण उपहत शरीर प्रसन्न नहीं रहता। अत्यन्त उष्ण वायु एवं धूप से पूर्ण हो जाने के कारण शरीर विशेष रूप से शिथिल हो जाता है और दोष अत्यन्त लीन हो जाते हैं। संशोधन-हेतु प्रयुक्त की गई उष्ण स्वभाव वाली औषध उष्ण शरीर एवं उष्ण संशोधन के संयोग से तीक्ष्ण गुण वाली हो जाती है। अतः उष्ण औषध व उष्ण शरीर का संयोग होने पर उष्णता की अधिकता से, संशोधन का अतियोग हो जाता है और शरीर भी अत्यधिक पिपासा-जन्य उपद्रव-युक्त हो जाता है। बरसात में आकाश बादलों से घिरा होता है। सूर्य, चन्द्रमा एवं तारागण भी छिपे रहते हैं। आकाश जलधाराओं से व्याप्त रहता है। पृथ्वी कीचड़ एवं जलराशि से व्याप्त रहती है। इसी कारण प्राणियों के शरीर भी अत्यन्त क्लिन्न होते हैं तथा जलासन्न पृथ्वी एवं मेघ से दूषित पित्त, वायु के सम्पर्क में आने से सम्पूर्ण औषधों का स्वभाव भी नष्ट हो जाता है। अर्थात् रस, गुण, वीर्य, विपाकादि हीन हो

जाते हैं। इससे वामक औषधें गुरु स्वभाव वाली हो जाती हैं। अर्थात् इन औषधियों का इस ऋतु में वमनादि कर्म के लिए प्रयोग कराया जाय तो ये न स्वयं बाहर निकलती हैं न ही दोषों को उचित रूप से बाहर निकालती हैं। अतः शरीर भी रोगों के लिए गुरुसमुत्थ हो जाता है। अर्थात् संशोधन में क्लिष्ट हो जाते हैं तथा बहुत प्रयत्न के बाद ही चिरकाल में शरीर पुनः अपनी प्राकृतावस्था को प्राप्त होता है। अतः वमनादि संशोधन विधियों का हेमन्त, ग्रीष्म, वर्षा में यदि आत्ययिक (विशेष रूप से आवश्यक) न हो, तो नहीं कराना चाहिए अर्थात् सामान्य रूप से इन ऋतुओं में वमनादि कर्मों का निषेध है।

अपि च—

तस्माद्यदा वै वसुधा तृप्ता पुष्पवती भवेत्।
तदा प्रावृषि संप्राप्ते वमनादीनि कारयेत्॥
मध्यचारी यदा सूर्यो धातूनुत्क्लेशयेन्नृणाम्।
तदा वसन्ते संप्राप्ते वमनादीनि कारयेत्॥
तदा वर्षासु दातव्यं यदा ह्येष ऋतुः सुखः।
ऋतवो युक्तशीतोष्णाः प्रशस्यन्ते हि कर्मसु॥
हेमन्तेऽन्यथा कार्यो ग्रीष्मे भवति चान्यथा।
वर्षासु चाप्यन्यथा च दुर्दिने चाप्यतोऽन्यथा॥
तस्मिंस्तस्मिंश्च काले वै भवेत्कार्योऽन्यथान्यथा।
सात्म्यासात्म्यं मनुष्याणामन्यथा परिवर्त्तते॥

भेल सं० सू० २५।१३।१७

हि० व्या०—आचार्य भेल ने प्रावृट्, शरद् एवं वसन्त ऋतु को संशोधन कर्म-हेतु उत्तम काल कहा है। प्रथम तीन श्लोकों में इन्हीं तीनों ऋतुओं के लक्षण बताए गए हैं। अन्य तीन ऋतुओं—हेमन्त, ग्रीष्म, और वर्षा—को संशोधन कर्म-हेतु-अप्रशस्त बताया है क्योंकि इन तीनो ऋतुओं में सर्दी, गर्मी और वर्षा अत्यधिक होने से दुर्दिन कहलाते हैं। अतः काल का बिचार करते हुए तथा मनुष्यों के सात्म्य और असात्म्य का विचार करके संशोधन कराना चाहिए। आत्ययिक अवस्था में प्रावृट्, शरद् और वसंत के अतिरिक्त भी संशोधन कर्म कराया जा सकता है।

अपि च

अत्युष्णवर्षशीता हि ग्रीष्मवर्षाहिमागमाः।
तदन्तरे प्रावृडाद्यास्तेषां साधारणास्त्रयः॥ ४॥ च० सि० ६।

—कालप्रसङ्गः कर्मप्रवृत्तिकालस्वरूपोपलक्षणार्थमत्युष्णवर्षशीता इति। अयं च कारणनिर्देशः। के ते, एवं गुणयुक्ताः ग्रीष्मवर्षाहिमागमाः। हिमागमो हेमन्तः। यथासंख्यलक्षणमेतत्। तदन्तरे प्रावृडाद्याः। तेषामन्तरे ग्रीष्मवर्षाहेमन्तानां विशिष्टशीतादिगुणानां सामान्याः प्रावृट्च्छरद्वसन्तास्त्रयः। त्रिग्रहणं च षड्ऋतुकत्वावधारणादिति। तत्र यद्यभिहितं तत्तु गुणतुल्यत्वमसाधारणं स्यात्। एषां तत्पदयोग्यत्वमर्थगुणभेदात्तद्भेदोऽनुपपन्नः, "शीतोष्णवर्षलक्षणाः पुनः हेमन्तग्रीष्मवर्षाः" इति। न तत्र संग्रहादस्य च भेदप्रदर्शनार्थत्वादत्र जातीयस्यापि चान्तर्भावो दृष्टः। यथा वातज्वरलिङ्गेषूपशयानुपशयवचनामिति। उष्णशीतवर्षत्वनिषेधो वा, साधारणत्ववचनेन तेषामन्तरे साधारणास्त्रय ऋतवो भवन्तीत्यवधारणं संशोधनार्थम्। जज्जटः॥

प्रावृट् शुचिर्नभो ज्ञेयो शरदूर्जसहौ पुनः।
तपस्यश्च मधुश्चैव वसन्तः शोधनं प्रति॥
एतानृतून् विकल्प्यैवं दद्यात् संशोधनं भिषक्।
स्वस्थवृत्तमभिप्रेत्य व्याधौ व्याधिवशेन तु॥

च०सि०६।६-५

—प्रावृडादीन् मासविभागेन दर्शयन्नाह प्रावृट्शुचिनभाविति। शुचिनभौ आषाढश्रावणौ। ऊर्जसहौ कार्तिकमार्गशीर्षौ। तपस्यः फाल्गुनः। मधुश्चैत्रः। शोधनं प्रतीति शोधने कर्तव्येऽयं यथोक्तः प्रावृडादि-ऋतुविभागो भवति; स्वस्थवृत्तौ रसोत्पत्तौ वा तस्याशितीयोक्त एव वर्षाशरद्धेमन्तशिशिरवसन्तग्रीष्मरूपऋतुक्रमो भवति। एतानृतूनिति प्रावृडादीनृतून्। विकल्प्यैवमिति यथोक्तमासविभागेन व्यवस्थाप्य संशोधनं दद्यात्।

एतदुक्तसंशोधनाङ्गर्तुक्रमविभागेनैव चरकसंस्कारेऽपि न वेगान्धारणीये "माधवप्रथमे मासि" (च० सू० अ० ७) इत्यादिना ग्रन्थेन चैत्रश्रावणाग्रहायणेषु वमनादि संशोधनमुक्तं, तथा रोगभिषग्जितीये च शिशिरं परित्यज्य प्रावृडादिनैव ऋतुक्रमः संशोधनाङ्गतयोक्त; तेन रसबलोत्पादचिन्तायां स्वस्थवृत्तानुष्ठानेषु च शिशिरादिक्रमो भवति, संशोधनव्यवस्थायां तु प्रावृडादिरिति प्रावृडादिक्रमोऽयं संशोधनानुकूलतयाऽऽचार्येण कल्पितो न पारमार्थिकः। ये तु, प्रावृडादिक्रमं गङ्गाया दक्षिणे कूले, उत्तरेऽपि शिशिरादिक्रमं वदन्ति, तन्मते 'शोधनं प्रति' इति ग्रन्थोऽनुपपन्नः; तेन, भूयो वर्षति पर्जन्यो गङ्गाया दक्षिणे जलम्। तेन वर्षाप्रावृडाख्यौ ऋतू तेषां प्रकल्पितौ" इत्यादिना ग्रन्थेन यदि नाम देशभेदेनापि ऋतुक्रमः पारमार्थिकोऽभिधीयते, तथाऽपि नासावाचार्यस्येहाभिमतः, प्रपञ्चितश्चायमर्थः सूत्रस्थान एव।

अयं च शोधनकालोपदेशोऽनात्ययिके व्याधौ ज्ञेयः। आत्ययिके तु ऊष्मादिप्रतिकारं कृत्वा अत्युष्णेऽपि काले संशोधनप्रवृत्तिर्भवत्येव उक्तो ह्ययमर्थो रोग-

भिपरिजतीये—"आत्ययिके तु पुनः कर्मणि काममृतुं विकल्प्य कृत्रिमगुणोपधानेन"। इत्यादिना ग्रन्थेन। (वि० अ० ८) चक्रपाणि ॥

—प्रावृट् इति शुचिः=आषाढः, नभः श्रावणः। तदेवं द्वौ द्वौ मासावृतुः। तत्र ग्रीष्मवर्षाहेमन्तानां च श्रावणादपि नैव शिशिराभावप्रसङ्गः। तस्यापरित्यागात्। उक्तं हि शिशिरर्तुत्वं। शेषवदेव दोषवचनम्। तत्सामान्यापेक्षत्वात्। हिमागमशब्दविशेषश्चात्र हेमन्तशिशिरयोरभिधेयत्वात्, नैव च तस्मिन् सत्यपि भूयः प्रवट्कालविकल्पेन सर्वर्तुप्रसङ्गः तस्य शोधनार्थत्वाच्छरद्वसन्तानन्यस्यैवं स्यात्। न तत्र सात्म्याद्यभिधानात् प्रावृषः।

तत्र सात्म्याद्यभिधानादश्रूयमाणार्तववदिति। न तत्रापि वर्षाविकल्पसात्म्येनोक्तत्वान्नैव च ग्रन्थविरोधः। प्रावृडिति प्रथमः प्रावृटः कालः। तस्यानुबन्धो वर्षा इति। तस्या विभक्तस्य तनुविभागप्रदर्शनेनास्य कृतार्थत्वात् तथा ह्यनुष्णप्रकर्षानुबन्धाच्च सामान्यादेव मासद्वयसंभव इति। नैव वर्षादीनामन्यमर्यादाप्रसङ्गः। मासस्यापि चास्मिनृतुत्वेनेष्टत्वात्। तथा ह्येकद्वित्रिचतुर्भिरपि मासैर्विकल्पितः इहर्तुरिति। तत्रैकमासिकः ग्रीष्मवर्षान्तरप्रदेशाद्, द्विमासिकश्च सात्म्योपदेशात्, त्रिमासिकस्संवत्सराधिकमासके सति त्रयोदशमासिकत्वात्, चातुर्मासिकः हेमन्तेशिशिरान्तर्भावात्। वमनविरेचनाधिकारात् प्रमाणमेव प्रावृषः। तत्रास्थापनस्येष्टमादावावस्थिकस्य चान्यथाऽप्रासङ्गिकाभिधानात् सर्वत्र वा संशोधनकर्म-ज्ञापनार्थम्। तथा ह्युक्तं—"एवमेते संशोधनमधिकृत्य षड्विर्भज्यन्ते ऋतव" इत्यास्थापनस्य वा कस्यचिच्छोधनात्मकत्वादिति।

नापि शरद्वसन्ताज्ञानं, समाप्तिकारस्य भेदे प्रोक्ते ग्रन्थेन प्रथमे मासीत्यादि सर्पिश्शरदि पातव्यं वसा मज्जा च माधवे" इति। अत्र दक्षिणापथमल्पशीतबहुवर्षं च प्रत्युक्तौ फाल्गुनचैत्रौ कार्तिकमार्गशीर्षविवं तत्र वसन्तशरद्विकल्पो न तूत्तरापथम्। उत्तरापथं च बहुशीतमल्पवर्षं च। पश्यत एवौत्सर्गिकैकमासत्वादभेदः। तदयमेव सर्वत्र प्रसङ्ग इति कृत्वा निर्गमप्रदेशोपलक्षितमृत्वन्तरालं प्रतिपादयत्याचार्यस्याभिप्रायज्ञाः समाप्तिकारो मासद्वयोपादानेन। एतदत्र कारणं भवति। मन्दबुद्धीनां कृते पूर्ववदेव। तेन भेदं पारमार्थिकमेषामपनिनीषन्नाह एतानृतून्विकल्प्यैवमिति। संशोधनार्थमृतुविकल्पोऽयं न तु पारमार्थिकः। तस्यान्यथोक्तत्वात्। एवं च कृत्वा पूर्वोक्तर्तुभेदविरोधः परिहृत एव भवति। विकल्पितपदार्थनिर्देशवदिति। तत्र वृषमिथुनाभ्यां ग्रीष्मः, तौ ज्येष्ठाषाढौ। तावेव शुचिशुक्लौ। कर्कटसिंहाभ्यां वर्षाः तौ श्रावणप्रौष्ठपादौ. तावेव नभोनभस्यौ। कन्यातुलाभ्यां शरत्। तावेवाश्वयुजकार्तिकौ। तावेवेषोर्जौ। वृश्चिकधनुर्भ्यां हेमन्तः। तौ च मार्गशीर्षपौषौ। तावेव सहस्सहस्यौ। मकरकुम्भाभ्यां शिशिरः, तौ च माघफाल्गुनौ। तावेव तपस्तपस्यौ। मीनमेषाभ्यां वसन्तः, तौ चैत्रवैशाखौ। तावेव मधुमाधवौ चेति। यदि तर्हि देशस्वभावेन

तूचितमृतुव्यवस्थानं शरद्ग्रीष्मसहौ। वसन्तस्तपस्यमधू। तत्र हि वर्षत्वादाश्वयुजौ वर्षासु। मन्दशीतलत्वाच्च मार्गशीर्षश्शरदि। तपस्यश्च वसन्ते। एवं च सहोऽपि शरत्स्यात्। अन्यथा तस्य हेमन्तत्वात् सहस्य पद् शरतत्वं भवेदिति। न तर्हि वक्तव्यम्। संशोधनार्थमयमेवमृतुकल्पः क्रियत इति। नैष दोषः। तथाविधेऽपि तस्मिंस्तदेवेष्टम्। न च मासद्वयभेदेऽन्यस्मिन्नृतौ कर्मप्रसङ्ग इति वाक्यार्थः। तद्यथावदिहोक्तमिति। न च प्रवृत्तमात्रे न च गतभूयिष्ठेऽपि तु योग्यत्वापेक्षयेति। स्वस्थवृत्तः स्वस्थवृत्तवद्व्याधौ कालप्रतीक्षानिषेधार्थः। व्याधौ व्याधिवशेन। एतेन व्याधित-प्रतिपत्तिः। तद्वत्क्रिया प्रतिपत्तेरिति। अथोपदिष्टक्रियानुष्ठानात् सम्यग्विधि रिति। जज्जटः ॥

हि० व्या०—जैसा कि पूर्व में बताया गया है कि ग्रीष्म, वर्षा और हेमन्त ऋतुएं क्रमशः अति उष्ण, अति वर्षा वाली एवं अतिशीतयुक्त होती है। इनके मध्य प्रावृट् आदि (प्रावृट्, शरद् वसन्त-तीनो ऋतुएं साधारण होती है अतः इनमें शीतादि सामान्य होने से इन्हें संशोधन हेतु प्रशस्त बताया गया है। ये तीनो ऋतुएं मासानुसार इस प्रकार आती है :—

आषाढ़ एवं श्रावण —इन दो – महीनों में प्रावृट् ऋतु होती है। कार्तिक एवं मार्गशीर्ष इन दो महीनों में शरद् ऋतु होती है, फाल्गुन और चैत्र —इन दो महीनों में वसन्त ऋतु होती है। इन तीन ऋतुओं को संशोधन के लिए श्रेष्ठ बताया जाता है। इन ऋतुओं का विचार करते हुए संशोधन-औषध का प्रयोग कराना चाहिए। यह संशोधन का समय स्वस्थ व्यक्ति के लिए कहा गया है। रोगी की अवस्था एवं रोग के अनुसार जिस समय जो संशोधन अभिप्रेत हो वही कराना चाहिए।

वक्तव्य—स्वस्थ व्यक्ति की दिनचर्या में दोषों की संचयादि-अवस्थाओं का वर्णन किया गया। अतः उपर्युक्त तीनो ऋतुओं में संचित दोषों के परिहार-हेतु सशोधन-कर्म बताया गया है। यथा—वात-संचय को दूर करने के लिए प्रावृट् ऋतु में बस्ति-कर्म, संचित पित्त को दूर करने के लिए शरद् में विरेचन तथा कफ संचय के परिहार-हेतु वसंत ऋतु में वमन कराना चाहिए।

आत्ययिक-रोगे संशोधनार्थं ऋत्वौषधिविकल्पना

आत्ययिके पुनः कर्मणि काममृतुं विकल्प्य कृत्रिमगुणोपधानेन यथर्तुगुणविपरीतेन भेषजं संयोगसंस्कारप्रमाणविकल्पेनोपपाद्य प्रमाणवीर्यसमं कृत्वा ततः प्रयोजयेदुत्तमेन यत्नेनावहितः। च० वि० ८।१३१

विकल्प्येति = अल्पगुणयुक्तं कृत्वा। कृत्रिम-गुणोपधानम् यथा शीते शीतप्रतीकारार्थमुष्णकरणम्। उक्तं चान्यत्र—'शीते शीतप्रतीकारमुष्णे चोष्ण-

निवारणम् । कृत्वा कुर्यात् क्रियां प्राप्तां क्रियाकालं न हापयेत्' (सु० सू० अ० ३५)। ऋतौ प्रतीकारं दर्शयित्वा भेषजप्रतीकारमाह भेषजमित्यादि । संयोग-विकल्पः यथा, – शीते त्रिवृताया उष्णेन गोमूत्रेणालोडनम् । प्रमाण-विकल्पः यथा, अयोगप्रतीकारार्थमतिमात्रत्रिवृद्दानमित्यादिकः । अत्र च प्रमाणविकल्पस्तथा कर्त्तव्यः, यथा—विरुद्धप्रमाणभेषजमेलकः कालः स्यात्, तथा संयोगविकल्पश्च तथा कर्तव्यः, यथा विरुद्धवीर्यभेषजमेलकः कालः स्यादिति दर्शयन्नाह – प्रमाण-वीर्यसमं कृत्वेति । चक्रपाणिः ॥

हि० व्या०—आत्ययिक अर्थात् विशेष परिस्थिति में ऋतु के विपरीत गुणों को उत्पन्न कर आवश्यकतानुसार औषधों के संयोग-संस्कार-प्रमाण-मात्रा-प्रमाणों को वीर्य के अनुसार बनाकर यत्न-पूर्वक सावधान होकर वैद्य को प्रयोग कराना चाहिए ।

वक्तव्य – रोग एवं रोगी के दोषादि विचार करते हुए आत्ययिक अवस्था में यदि वमन विरेचनादि के बिना रोग की उपशान्ति न हो पाये तो साधारण ऋतुओं के समान परिस्थिति उत्पन्न करके संशोधन कराने की व्यवस्था करनी चाहिए । वर्तमान में विद्युत् के शीतोष्ण-प्रभावी संयन्त्रों का यथावश्यक लाभ उठाना चाहिए । इस क्रम में संयोग, संस्कारादि का भी विचार कर लेना चाहिए ।

संशोधनार्थं शमनार्थं वौषधिप्रयोगायातुरावस्थाकाल-परीक्षणम्

आतुरावस्थास्वपि तु कार्याकार्यं प्रति कालाकाल संज्ञा । तद्यथा—अस्याम-वस्थायामस्य भेषजस्याकालः, कालः, पुनरन्यस्येति । एतदपि हि भवत्यवस्था-विशेषेण । तस्मादातुरावस्थास्वपि हि कालाकाल-संज्ञा । तस्य परीक्षा—मुहुर्मुहुरातुरस्य सर्वावस्थाविशेषावेक्षणं यथावद् भेषजप्रयोगार्थम् । न ह्यतिपति-तकालमप्राप्तकालं वा भेषजमुपयुज्यमानं यौगिकं भवति । कालो हि भैषज्य-प्रयोगपर्याप्तिमभिनिर्वर्तयति । च० वि० ८।१३२

आतुरावस्थालक्षण कालमाह-आतुरेत्यादि । तत्रोदाहरणम् नवज्वरे न कषायकालः, अतिक्रान्तषडहे च ज्वरे कषायकाल इत्यादि । भैषज्यप्रयोग-पर्याप्तिमिति भेषजप्रयोगसाध्यसिद्धिमित्यर्थः । चक्रपाणिः ॥

प्रत्येक रोग में रोगी की अवस्थानुसार औषधिप्रयोग के काल एवं अकाल का ज्ञान

हि० व्या० – कार्य और अकार्य को ध्यान में रखते हुए रोगी की अवस्था में भी काल और अकाल—ये दो—विभाग किये जाते हैं । (जैसे इस अवस्था में इस औषध का काल है और इस औषध का काल नहीं है) । यही अवस्था-

विशेष का फल है । अतः आतुर की अवस्था में भी काल और अकाल—ये दो संज्ञायें रखी गयी हैं । आतुर की अवस्था को उचित रूप में बार-बार देखकर उसकी परीक्षा करनी चाहिए । औषध का प्रयोग समय के पूर्व या पश्चात् किया जाय तो वह उचित लाभ नहीं करता । अतः औषध का प्रयोग समय पर करना चाहिए ।

वातपित्तकफानां प्रावृडादिऋतुविभागेन शोधनविधानम्

वर्षाशीतोचिताङ्गानां सहसैवार्करश्मिभिः ।
तप्तानामाचितं पित्तं प्रायः शरदि कुप्यति ॥

च० सू० ६।४१

—शरद्विधिमाह—वर्षेत्यादि । उचितम्=अभ्यस्तम्, 'उचसमवाये' इत्यस्माद्धातोः, शीतमुचितान्यङ्गानि=शीतोचितानि येषां तेषां शीतो-चिताङ्गानाम् । सहसैवेति-पदेनाक्रमेण शरदि तीव्रातपसंबन्धादनभ्यस्तात् पित्तप्रकोपो न्याय्य इति दर्शयति । आचितमिति वर्षासु । प्राय इत्यनेन वर्षाष्वेव हि पित्तचय प्रतिकूलं विधि प्रयत्नेनाचरतो न भवति पित्तचयश्चेत् शरदि तर्हि पित्तप्रकोपो न भवतीति दर्शयति । एतच्च समानन्यायेन श्लेष्मणो वातस्य च – चयप्रकोपयोरपि बोद्धव्यम् । यदि वा 'प्रायः' इति पित्तं प्रकुप्यति प्राधान्येन तस्य श्लेष्मा चानुबलत्वेनेत्यर्थः । यदुक्तं,—तस्य चानुबलः कफः । चक्रपाणिः ॥

तिक्तस्य सर्पिषः पानं विरेको रक्तमोक्षणम् ।
धाराधरात्यये ··· ··· ··· ॥ च० सू० ६।४४

—तेन, प्रव्यक्तायां शरदि तिक्तसर्पिषः पानं विरेकादि च कार्यम् । क्रमश्चात्राचार्याभिप्रेतः, तेन प्रथमं सर्पिष्पानं, तेन पित्ताप्रशान्तौ विरेकः, तेनाप्यशान्तौ शोणितदुष्टौ च सत्यां रक्तश्चात्र कालस्वभावाद् दुष्यत्येव प्रायः । यदाह—"शरत्कालस्वभावाच्च शोणितं संप्रदुष्यति" (सु० अ० २४) इति ॥ चक्रपाणिः ॥

हि० व्या०—वर्षाकाल में प्राणियों के शरीर शीत-सात्म्य हो जाते हैं । सहसा सूर्य की प्रखर किरणों से तप्त हो जाते हैं, परिणामस्वरूप वर्षाकाल में संचित पित्त, के निर्हरण हेतु शरद्काल में तिक्त घृत का पान, विरेचन और रक्त-मोक्षण क्रिया की जानी चाहिए । यही बात शार्ङ्गधर ने भी कही है:—

शरत्काले वसन्ते च प्रावृट् काले च देहिनाम् ।
वमनं रेचनं चैव कारयेत् कुशलो भिषक् ॥ शा० उ० ३।१

हि० व्या० —शरद्काल, वसन्त-काल तथा प्रावृट्-काल में दोष-देशादि को जानने वाले कुशल चिकित्सक को चाहिए कि क्रमशः वमन, विरेचन एवं वस्ति-कर्म करावें ।

अपि च

वसन्ते निचितः श्लेष्मा दिनकृद्भाभिरीरितः ।
कायाग्नि बाधते रोगांस्ततः प्रकुरुते बहून् ॥
तस्माद्वसन्ते कर्माणि वमनादीनि कारयेत् ॥ च० सू० ६।२२

—वसन्त इत्यादिना वसन्तविधिमाह—निचितः=संचितो वसन्तपूर्वकाले, ईरितो=विलायितो वसन्ते, कायाग्निमिति कायनिर्वर्तकमग्नि जाठरं, न तु धात्वग्निविशेषमात्रम् । तत इत्यत्र चकारो लुप्तनिर्दिष्टो वोद्धव्यः, तेन ततोऽग्निवधाच्चेत्यर्थः । यदि वा ततोऽग्निवधानन्तरम् । वमनादीनि=वमनप्रधानानि, तेन, आदानमध्यत्वेन यदि वातपित्तप्रकोपस्तथाविधो भवति तदा विरेचनास्थापनानुवासनानामपि प्रवृत्तिर्भवति । शिरोविरेचनं तु कफजयार्थं कर्त्तव्यमेव । वसन्तशब्देन वमनादिकं प्रति चैत्र एव बोद्धव्यः । यतो— दोषचयाद्यर्थं पञ्चकर्म प्रवृत्यर्थञ्चाऽभिघातव्य प्रावृडादृतुक्रमेण फाल्गुनचैत्रौ वसन्तो भवति न वैशाखः अनेनैवाऽभिप्रायेण पूर्वश्लोकेऽपि सामान्येन निचित इति कृतं, न तु हेमन्ते निचित इति । हेमन्ते इत्युक्ते हि कदाचित् रसोत्पत्ति-क्रमाभिहितमार्गशीर्ष-पौषात्मके हेमन्ते प्राकृतत्वाद्दोषचयो बुध्यते, स च नाभिप्रेतः । उक्तस्तु दोषचयादिक्रमोक्तपौषमाघात्मके हेमन्ते श्लेष्मचयः । चक्रपाणिः ॥

हि० व्या०—हेमन्त ऋतु में संचित कफ वसन्त-ऋतु में सूर्य की किरणों से प्रेरित (द्रवित) होकर जाठराग्नि को मन्द कर देता है । अतः अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं । वसन्त-ऋतु में उस संचित कफ को दूर करने के लिए वमनादि संशोधन चिकित्सा करनी चाहिए ।

अपि च

हैमन्तिकं दोषचयं वसन्ते
प्रवाहयन् प्रैष्मिकमभ्रकाले ॥
घनात्यये वार्षिकमाशु सम्यक्
प्राप्नोति रोगानृतुजान्न जातु ॥ च० शा० २।४५

हि० व्या०—दोषानुसार विविध ऋतु-विशेष में स्वाभाविक दोषसंचय का संशोधन करने के लिए हेमन्त-ऋतु में संचित दोष अर्थात् कफ को वसन्त-ऋतु में, ग्रीष्म में संचित दोष अर्थात् वात का वर्षा-काल में तथा वर्षा-ऋतु में संचित दोष पित्त को शरद् में शोधन कर देने से मनुष्य को ऋतु-काल-जन्य रोग-समूह उत्पन्न नहीं होते ।

स्नेहस्वेदौ बिना शोधने विकारोत्पत्तौ युक्तिः

स्नेहस्वेदावनभ्यस्य यस्तु संशोधनं पिबेत् ।
दारु शुष्कमिवाऽऽमे देहस्तस्य विशीर्यते ॥

सु. चि. अ. ३३, ४६ अ. सं. सू. अ. २७,
अ. हृ. सू. अ. १८, बंगसेन विरेचनाधिकारे

हि० व्या०—स्नेहन एवं स्वेदन का प्रयोग किए बिना जो व्यक्ति संशोधन-औषध का सेवन करता है उसका शरीर उसी प्रकार नष्ट हो जाता है जिस प्रकार सूखा काष्ठ मोड़ने पर टूट जाता है । अतः संशोधन से पूर्व यथावश्यक स्नेहन एवं स्वेदन कराना चाहिए ।

विशेष—चरक सू० अ० १४ में इसी भाव को अन्य उदाहरण के रूप में व्यक्त करते हुए लिखा गया है :—

शुष्काण्यपि हि काष्ठानि स्नेहस्वेदोपपादनैः ।
नमयन्ति यथान्यायं किं पुनर्जीवतो नरान् ॥

अपि च

स्नेहस्वेदप्रचलिता रसैः स्निग्धैरुदीरिताः ।
दोषाः कोष्ठगता जन्तोः सुखा हर्तुं विशोधनैः ॥

सु० चि० अ० ३३।४७

शाखागतस्यापि दोषस्य कोष्ठानयनहेतुः स्नेहः, स्वेदः कोष्ठमागतस्य सुखेन प्रवृत्तिकरश्चेति दर्शयन्नाह—स्नेहस्वेदप्रचलिता इत्यादि । विशोधनैरिति 'शक्यन्ते' इत्याध्याहारः । डल्हणः ॥

हि०या०—स्नेहन एवं स्वेदन से चलायमान तथा स्निग्ध रसों से कोष्ठ से बाहर की ओर प्रेरित हुए मनुष्यों के दोषों का संशोधन द्वारा सुगमता से निर्हरण हो जाता है ।

संशोधनात्पूर्वं स्नेहस्वेदक्रमनिर्देशः

स्नेहमग्रे प्रयुञ्जीत ततः स्वेद-मनन्तरम् ।
स्नेहस्वेदौपपन्नस्य संशोधनमथान्तरम् ॥

चक्रदत्तः स्नेहाधिकार

संशोधन-हेतु सर्व-प्रथम स्नेहन कराना चाहिए । फिर स्वेदन कराना चाहिए । सम्यक् स्नेहन स्वेदन किए गये व्यक्ति को ही वमन-विरेचनादि द्वारा संशोधन कराना चाहिए ।

मलानां कोष्ठाद् शाखासु गतौ कारणानि,

व्यायामादूष्मणस्तैक्ष्याद्भितस्यानवचारणात् ।
कोष्ठाच्छाखा मला यान्ति द्रुतत्वान्मारुतस्य च ॥
तत्रस्थाश्च विलम्बन्ते कदाचिन्न समीरिताः ।
नादेशकाले कुप्यन्ति सूयो हेतुप्रतीक्षिणः ॥

च० सू० २८।४५—४६

—सम्प्रति, रसादीनां शाखारूपत्वात्कोष्ठाश्रयिणो दोषा यथा शाखां यान्ति, तदाह व्यायामेत्यादि । व्यायामक्षोभात्कोष्ठं परित्यज्य शाखां मला यान्ति, उष्मणोवह्वे स्तीक्ष्णत्वाद्विलायिता दोषा शाखां यान्तीति । हितस्याऽनवचारणयाऽति-सेवयाऽतिमात्रवृद्धो दोषो जलापूरवद्वृद्धः स्वस्थानमाप्लाव्य स्थानान्तरं यातीति युक्तम् । द्रुतत्वान्मारुतस्येति, चलत्वाद्वायोर्वायुना क्षिप्तो यातीत्यर्थः । वाग्वन्तरेण च वायोराक्षेपणमुपपन्नमेवेति, अन्यथा, 'मला' इति बहुवचनमसाधु । अथ शाखां गताः किं कुर्वन्तीत्याह—तत्रस्थाश्चेत्यादि । विलम्बन्ते कदाचिदिति कदाचिद्व्याधिकरणं विलम्बं कुर्वन्ति कुतो विलम्बत इत्याह-न समीरिताः, ये दोषाः अल्पत्वेनाऽबलम्बन्तः, ते हेत्वन्तरेण समीरिताः सन्तः कुप्यन्ति । तथा च, तत्र नादेश इत्यननुगुणदेशे तथा नाकाल इत्यननुगुणकाले कुप्यन्तीति योजना । तत्रैव हेतुमाह-भूय इत्यादि । यस्माद् भूयो हेतु-प्रतीक्षिणस्तेऽल्पबला दोषास्तस्मादीरणाद्यपेक्षन्ते, एतेन च भूयो हेतुप्रतीक्षिणो भवन्ति, बलवत्वान्न ते ईरणाद्यपेक्षन्ते, अत एवोक्तम् 'कदाचित्' इति ।

चक्रपाणिः ॥

हि० व्या० —दोषों के कोष्ठ से शाखाओं में जाने के कारण

अधिक व्यायाम करने से, शरीर में ऊष्मा की अधिकता से, अहितकर आहार-विहार के सेवन से, वायु की अतिशीघ्र गति से, दोष कोष्ठ से शाखा-गत अर्थात् रसरक्तादि धातुओं में जाकर एकत्रित हो जाते हैं, कभी-कभी प्रेरित न होने के कारण वहीं स्थित हो जाते हैं और रोग उत्पन्न करने में विलम्ब करते हैं। वे संचित दोष अदेश और अकाल में कुपित नहीं होते, (प्रकोपक हेतु मिल जाय तो ये दोष, अदेश और अकाल में भी कुपित हो सकते हैं।) अतः हेतु की प्रतीक्षा करते रहते हैं।

शाखागतमलानां कोष्ठं प्रत्यानयनकार-णानि

वृद्ध्या विष्यन्दनात्पाकात् स्रोतोमुखविशोधनात् ।
शाखां मुक्त्वा मलाः कोष्ठं यान्ति वायोश्च निग्रहात् ॥

च० सू० २८।४७ ॥

सम्प्रति शाखाभ्यः कोष्ठागमनहेतुं दोषाणामाह वृद्धेत्यादि । विष्यन्दनादिति = विलयनात्, विलीनश्च द्रवत्वादेव कोष्ठं निम्नं याति । पाकादिति पक्वोदोषोऽवृद्धत्वेनैव कोष्ठं याति । स्रोतोमुखविशोधनादिति अवरोधकापगमात् वायोर्निग्रहादिति क्षेप्तुर्वायोर्निग्रहात्, प्राकृतं स्थानं कोष्ठं याति । चक्रपाणिः ॥

हि० व्या० —शाखा-गत दोषों को कोष्ठ में लाने की प्रक्रिया

मल-स्वरूप को प्राप्त-दोष, धातु एवं मूत्रपुरीषादि के शाखा से कोष्ठ में जाने की प्रक्रिया का स्वरूप बताते हुए लिखा गया है कि वातादि दोषों को बढ़ाकर, विष्यन्दन (द्रवीभूत करके, अथवा पिघलाकर) करके, पाक करके,

अवरुद्ध स्रोतों के मुख का विशोधन करके अथवा वायु का निग्रह करने से शाखाश्रित मल शाखा को छोड़कर कोष्ठ में आ जाते हैं।

स्नेहस्वेदयोरुपयोगित्वम्

स्निग्ध-स्विन्नस्य भैषज्यैर्दोषस्तूत्क्लेशितो बलात् ।
निलीयते न मार्गेषु स्निग्धे भाण्ड इवोदकम् ॥

सु० चि० अ० ३३।४०

स्निग्धस्विन्नस्य पुरुषस्य भैषज्यैर्भोजनौषधरूपैः, यतो भैषज्यग्रहणेन भोजनमपि गृह्यते । बलात् पुरुष-बलादिकमभिसमीक्ष्य दोष उत्क्लेशितः । न मार्गेषु निलीयते न श्लिष्यति, न संयुज्यते न लग्नो भवतीत्यर्थः ॥ । डल्हणः ॥

हि० व्या०—जिसे स्नेहन एवं स्वेदन करा दिया गया हो उसके दोष औषधियों द्वारा उत्क्लेशित किए जाने पर मार्ग में चलायमान हो जाते हैं। मार्ग में वे उसी प्रकार नहीं ठहरते जिस प्रकार चिकने घड़े पर पानी नहीं ठहरता। अतः संशोधन में स्नेहन-स्वेदन का विशेष महत्व दर्शित होता है।

अपि च **स्नेहस्वेदोपपन्नानामूर्ध्वं चाधश्च शोधनम् ।**

भे० सू० अ० १४।१४

स्नेहनैर्व्याधितस्थानाद्रसांश्चाभ्यधिकीकृताः ।
स्वेदैर्मृदूकृतास्सन्तः स्रोतसां च समागताः ॥ १२ ॥
मृदुसर्वाङ्ग-कोष्ठस्य भेषजैश्शुचिनिस्तदा ।
दोषास्सुनिर्हरा जन्तोर्भवन्तीति विनिश्चयः ॥ १३ ॥
एष हेतुर्विरेकेषु छर्दनेष्वेव एव तु ।
एष हेतुर्निरूहेषु शिरसश्च विरेचने ॥ १४ ॥

भे० सू० अ० १४ १२-१४

हि० व्या०—स्नेहन और स्वेदन के पश्चात् ऊर्ध्व शोधन अर्थात् (वमन) एवं अधः शोधन (विरेचन) करना चाहिए ॥

स्नेहन से विकृत स्थान में रस की वृद्धि होकर दोष क्लिन्न होते हैं। स्वेदन से दोष मृदु (या चलायमान) होकर स्रोतों में आ जाते हैं। स्नेहन-स्वेदन से सम्पूर्ण शरीर और कोष्ठ मृदु होने के कारण संशोधन-औषधों से शरीर, शोधन होने से स्वच्छ हो जाता है। वमन-विरेचन-निरूहण एवं शिरोविरेचन में यही हेतु हैं।

वातादिदोषशान्तये परमौषधिवर्णनम्

शरीरजानां दोषाणां क्रमेण परमौषधम् ।
वस्तिर्विरेको वमनं तथा तैलं घृतं मधु ॥ अ० हृ० सू० १।२५

शार्ङ्गधर ।

हि० व्या०—शारीरिक दोषों की उत्तम चिकित्सा क्रमशः इस प्रकार है:—वायु के लिए बस्तिकर्म, पित्त के लिए विरेचन-कर्म तथा कफ के लिए वमन-कर्म। वायु में तैल, पित्त में घृत और कफ में मधु उत्तम शामक चिकित्सा द्रव्य बताये गये हैं।

दुर्बलस्य प्रभूताल्पदोषेषु शोधनस्य शमनस्य वा विधानम्।

दुर्बलस्य चलान् दोषानल्पानल्पान् पुनः पुनः।
हरेत् प्रभूतानल्पांस्तु शमयेत् प्रच्युतानपि॥

सु० चि० ३३।

कुपिता शमयितव्या इत्यस्यापवादमाह—दुर्बलस्येत्यादि। दुर्बलस्य पुरुषस्य प्रभूतान् चलान् कुपितान् दोषान् शनैः शनैरल्पानल्पान् हरेत्, अतीक्ष्णैः संशोधनीयैरित्यर्थः। सरैर्भोज्यैर्न तीक्ष्णैः संशोधनैरित्यध्याहार्यम्। तच्च दोषहरणं दोषाणां पक्वानामेव। अल्पांस्तर्हि किं कुर्यादित्याह अल्पांस्तु शमयेत्। प्रच्युतानपि चलितानपीत्यर्थः। भोजेनाप्युक्तम्

"दोषमल्पं च शमयेच्चलितं चापि दुर्बले। बहुदोषं तु चलितं सरैर्भोज्यैः प्रवाहयेत्" इति॥ डल्हणः।

हि० व्या०—दुर्बल व्यक्ति के दोषों का संशोधन करते समय कुपित एवं अपने स्थान से चलायमान प्रभूत दोषों को थोड़ी-थोड़ी मात्रा में बार-बार निकालना चाहिए। यदि दोष अल्प चलायमान हो तो उनका शमन करना चाहिए।

मन्दाग्नेः क्रूरकोष्ठस्य च संशोधनविधिः

मन्दाग्निं क्रूरकोष्ठं च सक्षारलवणैर्घृतैः॥
सन्धुक्षिताग्निं स्निग्धं च स्विन्नं चैव विरेचयेत्॥

सु० चि० अ० ३३॥३९॥

हि० व्या०—मन्दाग्नि तथा क्रूरकोष्ठ वाले व्यक्ति की अग्नि को, सर्व-प्रथम क्षार एवं लवण-मिश्रित घृत से दीप्त करना चाहिए। फिर स्नेहन एवं स्वेदन कराकर विरेचन देना चाहिए।

सूक्ष्मदोषदूष्यादिविचारे बुद्धेराकुलीभावः

सूक्ष्माणि हि दोषभेषजदेशकालबलशरीराहारसात्म्यसत्त्वप्रकृतिवयसामवस्थान्तराणि, यान्यनुचिन्त्यमानानि विमलविपुलबुद्धेरपि बुद्धिमाकुलीकुर्युः किं पुनरल्पबुद्धेः।

च० सू० अ० १५।५

सूक्ष्माणीव सूक्ष्माणि दुर्बोधत्वेन, तत्र दोषस्यावस्थान्तराणि-क्षयस्तथा वृद्धिस्तथा समत्वम्; एवमूर्ध्वदेहगमनं तथाऽधोदेहगमनम् तिर्यग्गमनं वा, तथा शाखाश्रयित्वं कोष्ठाश्रयित्वं, तथा स्वदेशगमनं परदेशगमनम्, तथा स्वतन्त्रत्वं परतन्त्रत्वं, तथाऽशांशविकल्पस्तथा धातुविशेषाश्रयित्वं तथा कालप्रकृतिदूष्यानुगुणत्वादि कृत्स्नतन्त्रप्रतिपादितानि ज्ञेयानि; एवं भेषजस्यावस्थान्तराणि तरुणत्वं, वृद्धत्वं, आर्द्रत्वं, शुष्कत्वं, द्रव्यान्तरसंयुक्तत्वं स्वरसादिकल्पनायोगित्वं रसवीर्यविपाकैः प्रभावैश्च तस्मिन् देहे दोषादौ तत्तत्कार्यकर्तृत्वमेवमादीनि।

देशस्त्वानूपजाङ्गलसाधारणप्रशस्तादिभेदभिन्नः, कालावस्थान्तराणि तु ऋतुभेदाः पूर्वाह्णादिश्च, तथा व्याध्यवस्था ज्वराष्टादाहादय इत्येवमादीनि, बलं तु सहजं युक्तिकृतम् तथा कालकृतमुत्कृष्टापकृष्टमध्यादिभेदभिन्नं, शरीरं तु स्थूलत्वकृशत्वसारवत्वनिः सादवत्वादि तथा परिपालनीयदृष्टिसर्माद्यवयवविशेषादिभिश्च भिन्नम्; आहारस्तु प्रकृतिकरणसंयोगराशिभेदादिभिर्भिन्नः, सात्म्यं तु देशतः कालतो व्याधितः प्रकृतितः स्वभावतोऽभ्यासतश्च भिन्नं, सत्वं तु भयशौर्यविषादद्वेषहर्षादियोगभिन्नं, प्रकृतिभेदास्त्वनेकप्रकारभिन्नवाताद्यारब्धत्वेन बोद्धव्याः; वायोः भेदास्तु बाल्ययौवनवार्द्धक्यतदवान्तरभेदाः, एतानि दोषाद्यवस्थान्तराणि चिकित्सा प्रयोगे यथा यथाऽपेक्ष्यन्ते तदुदाहरणं शास्त्रेऽनुसरणीयम्, इह लिख्यमानं तु विस्तरत्वं ग्रन्थस्यावहतीति नोक्तम्॥ चक्रपाणिः॥

हि० व्या०—दोष, औषध, देश; काल, बल, शरीर, आहार, सात्म्य, सत्व, प्रकृति और आयु की विविधावस्थाओं के भेद प्रभेद इतने सूक्ष्म हैं कि इनका मन एवं बुद्धि से निर्मल तथा विशेष रूप से विद्वान् वैद्यों की बुद्धि भी घबरा जाती है फिर अल्पज्ञों की तो बात ही क्या है अतः शंका नहीं करनी चाहिए।

आशयभेदेन दोषविशेषस्य रोगोत्पादने सम्बन्धः

इति पित्तकफोथान्वै विद्यादामाशयात्मकान्।
पक्वाशयसमुत्थांश्च वातरोगान्विनिर्दिशेत्॥

भे० सू० २१।८॥

हि० व्या०—दोष संचय भेद से रोग दो प्रकार के होते हैं। आमाशय समुत्थ और पक्वाश्यसमुत्थ। इनमें पित्त और कफज रोग आमाशय समुत्थ तथा वातज रोग पक्वाशय समुत्थ समझने चाहिए।

दोषभेदेन संशोधनोपक्रमाः

वाते तु बृंहणं कुर्यात्पित्ते तु परिशोधनम् ।
कफे प्रच्छर्दनं साधु सन्निपाते विरेचनम् ॥

मे० सं० सू० २५।६

हि० व्या०—वात-प्रकोप में बृंहण, पित्त-प्रकोप में शोधन, कफ-प्रकोप में वमन एवं तीनों दोषों के प्रकोप में विरेचन करना चाहिए।

वक्त०—"वाते तु बृंहणं" से यहाँ वायु एवं पित्त-युक्त वात की वृद्धि अपतर्पण से होती है तथा ह्रास सन्तर्पण से होता है। वाग्भट ने भी इसका उल्लेख किया है—"बृंहणं शमनं त्वेव वायोः पित्तानिलस्य च" अर्थात् वात-शमन के लिए बृंहण-उपक्रम करना चाहिए। "परिशोधनं" से मृदु या मध्य विरेचन, "सन्निपाते विरेचनम्" से तीक्ष्ण विरेचन का भाव ग्रहण करना चाहिए।

स्वस्थान-प्रच्युतानां दोषाणां शोधनाऽभावेकष्टकारित्वम्

हरेद्दोषांश्चलान् पक्वान् बलिनो दुर्बलस्य वा ।
चला ह्युपेक्षिता दोषाः क्लेशयेयुश्चिरं नरम् ॥

सु० चि० अ० ३३।३८

हि० व्या०—आचार्य सुश्रुत ने भी चलायमान दोषों को शरीर से बाहर निकालने का निर्देश करते हुए कहा है कि बलवान् अथवा दुर्बल रोगियों के चलायमान पक्व दोषों को बाहर निकालना चाहिए, क्योंकि उसकी उपेक्षा करने से लम्बे समय तक कष्ट होता है।

संशोधनान्ते प्रकृतिं प्राप्तस्य पुरुषस्य लक्षणानि

सर्वक्षमो ह्यसंसर्गो रतियुक्तः स्थिरेन्द्रियः ।
[1]बलवान् सत्त्वसम्पन्नो विज्ञेयः प्रकृतिं गतः ॥

च० सि० अ० १२।९

पेयादिक्रमरसाभ्यामुपपादितस्वास्थ्य पुंसो लक्षणमाह—सर्वक्षम इत्यादि। सर्वक्षम/इति सर्वरसाभ्यासक्षमः। असंसर्ग इति असक्तवेगः; किंवा निरासङ्ग इति (पाठे) प्रतिनियतविषयापराहतः; सर्वसह इति सर्वचेष्टाक्षमः। चक्रपाणिः॥

संशोधन के बाद प्रकृति-प्राप्त पुरुष के लक्षण

हि० व्या०—संशोधन के उपरान्त उपयुक्त पेयादि क्रम सेवन से प्रकृति-प्राप्त (स्वस्थावस्था को प्राप्त) पुरुष के लक्षण बताते हुए लिखा गया है कि—जो व्यक्ति पूर्ववत् सभी प्रकार के आहार-विहार करने में समर्थ हो गया हो,

---

पाठभेदः

१. प्रसन्नात्मा सर्वसहो विज्ञेयः प्रकृतिं गतः। (जेज्जटः)

जिसके मल-मूत्रादि के वेग बाधा-रहित हों, जो व्यक्ति प्रत्येक कार्य प्रेमपूर्वक कर रहा हो, जिसकी इन्द्रियां अपने-अपने विषयों का स्थिर होकर ग्रहण करने में समर्थ (बाधारहित) हों, बलवान्-सत्त्व-सम्पन्न (अर्थात् जिसका मन समुचित कार्य में लगा हो) जो सभी कुछ सहन करने में समर्थ हो, इस प्रकार के लक्षणों से युक्त व्यक्ति को शोधन के बाद प्राकृत अवस्था प्राप्त समझना चाहिए अर्थात् वह विकार-रहित होकर स्वस्थ हो गया है।

संशोधनान्ते सर्ववर्ज्यानि

एतां प्रकृतिमप्राप्तः सर्ववर्ज्यानि वर्जयेत् ।
महादोषकराण्यष्टाविमानि तु विशेषतः ॥
उच्चैर्भाष्यं रथक्षोभमतिचङ्क्रमणासने ।
अजीर्णाहितभोज्ये च दिवास्वप्नं समैथुनम् ॥
तज्जा देहोर्ध्वसर्वाधोमध्यपीडामदोषजाः ।
श्लेष्मजाः क्षयजाश्चैव व्याधयः स्युर्यथाक्रमम् ॥

च० सि० अ० १२।१०-१२

तज्जा इत्यादि यथाक्रमं उच्चैर्भाष्यादिजा देहोर्ध्वपीडादयो ज्ञेयाः। उच्चैर्भाष्यादूर्ध्वदेहे पीडा, रथक्षोभात्सर्वदेहपीडा, अतिचङ्क्रमणादधः पीडा, अत्यासनाद्देहमध्यपीडा, अजीर्णभोजनेनामजा, अहितभोजनेन दोषजा, दिवास्वप्नेन श्लेष्मजा, मैथुनेन क्षयजा, इति। चक्रपाणिः॥

तेषां विस्ततरो लिङ्गमेकैकस्य च भेषजम् ।
यथावत्संप्रवक्ष्यामि सिद्धान्बस्तींश्च यापनान् ॥

च० सि० अ० १२।१३

अजीर्णं मैथुनं यानमुच्चैर्भाष्यं दिवाशयम् ।
अतिचङ्क्रमणस्थानमसात्म्यादि च वर्जयेत् ॥

का० सं० सि० ५।४

कतिपय त्याज्य भाव

हि० व्या०—संशोधन के पश्चात् जब तक व्यक्ति अपनी प्राकृतावस्था में न आ जाय, तब तक सभी प्रकार के त्याज्य आहार-विहार का त्याग करना चाहिए। विशेष रूप से आगे वर्णित महादोष उत्पन्न करने वाले आठ भावों का सर्वथा त्याग करना चाहिए।

महा-दोष उत्पन्न करने वाले वर्ज्य आठ भाव इस प्रकार हैं—१. ऊँचे स्वर से बोलना २. रथादि क्षोभ उत्पन्न करने वाली सवारियों पर चलना ३. अधिक एवं बार-बार चलना ४. एक आसन से अधिक देर बैठना ५. अजीर्णावस्था से भोजन करना ६. अहितकर भोजन करना ७. दिन में शयन करना ८. तथा मैथुन करना।

प्रमादववश उपर्युक्त आठ भावों के सेवन करने से जो-जो विकार उत्पन्न होते हैं, वे इस प्रकार हैं—१. उच्च स्वर से बोलने पर शरीर के ऊर्ध्व भाग में रोग उत्पन्न होते हैं। २. ३. ४. रथादि क्षोभक सवारियों के उपयोग से अधिक एवं बार-बार चलने से तथा अधिक देर एक ही आसन से बैठने पर शरीर के मध्य भाग में रोग होते हैं। ५. अजीर्ण में भोजन करने में आमज रोग उत्पन्न होते हैं। ६. अहित भोजन करने से वातादि दोष-विकार-जन्य रोग उत्पन्न होते हैं। ७. दिन में शयन करने से कफज रोग उत्पन्न होते हैं। ८. मैथुन से धातु-क्षय के कारण होने वाले रोग उत्पन्न होते हैं।

यहां इन आठ दोषों का संक्षेप में वर्णन किया गया है। इन विविध उपद्रव-रूप विकारों से उत्पन्न होने वाले लक्षण एवं उनकी सामान्य चिकित्सा का वर्णन पृथक्-पृथक् किया जा रहा है।

अष्टविध-कुपथ्यानां मध्ये उच्चैर्भाष्यातिभाष्यजन्यानामुपद्रवाणां वर्णनम्

तत्रोच्चैर्भाष्यातिभाष्याभ्यां शिरस्तापशङ्खकर्णनिस्तोदश्रोत्रोपरोधमुखतालुकण्ठशोषतैमिर्यपिपासाज्वरतमकहनुग्रहमन्यास्तम्भनिष्ठीवनोरः-पार्श्वशूलस्वरभेदहिक्काश्वासादयः स्युः॥

च० सि० १२।१४ (क)

अत्रान्तरे त्यजेदृष्टौ भाष्यादीनि विशेषतः।
उच्चैर्भाष्याच्छिरोरोगतिमिरोरः-स्वरव्यथाः॥
रक्तनिष्ठीवतमकज्वराद्याः, ... ॥

अ० सं० क० ७।३५

मन्यास्तम्भः-शिर-शूलं वाक्पार्श्वहनुसंग्रहः।
कण्ठोद्ध्वंसः श्रमो ग्लानिर्ज्वरश्चात्युच्चभाषणात्॥

का० सि० ५।७

हि० व्या०—पञ्चकर्म चिकित्सा काल में समुचित पथ्य पालन न करने से जिन आठ उपद्रवों का चरक ने निर्देश किया है उनमें प्रथम उच्च स्वर से तथा अधिक बोलने से शिरो रोग, शंख-प्रदेश तथा कर्ण में सूई चुभाने-जैसी पीड़ा, कर्णेन्द्रिय का अवरोध (बहरापन) मुख-शोष, तालु-शोष, कण्ठ-शोष तिमिर-रोग पिपासा, ज्वर, तमक-श्वास, हनुग्रह, मन्या-स्तम्भ, निष्ठीवन (बार-बार थूकने की प्रवृत्ति), उरः-शूल, पार्श्व-शूल, स्वर-भेद, हिक्का और श्वास आदि रोग उत्पन्न होते हैं। अष्टाङ्ग संग्रह एवं काश्यप संहिता में इन्हीं विषयों की पुष्टि की गई है।

रथक्षोभादिसकलशरीरक्षोभक कुपथ्यजन्यानामुपद्रवाणां वर्णनम्

रथक्षोभात् सन्धिपर्वशैथिल्यहनुनासाकर्णशिरःशूलतोदकुक्षिक्षोभाटोपान्त्रकूजनाध्मानहृदयेन्द्रियोपरोधस्फिकपार्श्ववंक्षणवृषणकटीपृष्ठवेदनासन्धिस्कन्धग्रीवादौर्बल्याङ्गाभितापपादशोफप्रश्वापहर्षणादयः;; ॥

च० सि० अ० १२।१४ ख

अत्यास्यायानयानाभ्यां सन्धिमूर्धत्रिकादिरुक्॥

अ० स० सि० ७।३८

योऽतीव नित्यं रमते यानाद्वातश्च कुप्यति।

का० सि० ५।६ क

रथ-क्षोभ से होने वाले रोग

हि० व्या०—घोड़ा गाड़ी या बैलगाड़ी आदि की सवारियों पर चलने से बड़ी-बड़ी सन्धियों में शिथिलता, हाथ-पैर की अंगुलियों की सन्धियों में शिथिलता हनु, नासिका, कान और शिर में शूल तथा सूई चुभोने जैसी पीड़ा, कुक्षि में क्षोभ और आटोप, आँतों में कूजन, उदर में आध्मान, हृदय की गति में अवरोध, इन्द्रियों का अपने-अपने विषय के ग्रहण में अवरोध, नितम्ब, पार्श्व, वंक्षण अण्डकोष, कटि और पृष्ठ में वेदना, सन्धि, स्कन्ध और ग्रीवा में दुर्बलता, अङ्गों में जलन, पैरों में शोथ, शून्यता और पादहर्ष आदि रोग होते हैं। इस सन्दर्भ में महर्षि कश्यप ने लिखा है कि जो सवारियों से नित्य यात्रा करते हैं उनको वात प्रकोप होता है।

अतिचङ्क्रमणजन्यानामुपद्रवाणां वर्णनम्।

अतिचङ्क्रमणात् पादजङ्घोरुजानुवङ्क्षणश्रोणीपृष्ठशूलसक्थिसादनिस्तोदपिण्डि[1]कोद्वेष्टनाङ्गमर्दसाभितापसिराधमनीहर्षश्वासकासादयः स्युः।

च० सि० १२।१४ (ग)

अति चङ्क्रमणात् पादजङ्घोरुसदनादयः॥

अ० सं० सि० ८।३८

कटोवङ्क्षणपादोरूजानुबस्त्यनिलामयः।
शर्कराश्मरिखल्वाद्या अतिचङ्क्रमणोद्भवाः॥

का० सं० सि० ५।८

---

१. पिण्डिकोद्वेष्टनं जङ्घापिण्डिकयोरुद्वेष्टनाकारा वेदना। सिराधमनीहर्षः सिराधमन्योरुच्छूनत्वम्॥ चक्रपाणिः

अधिक चलने से होने वाले रोग

हि० व्या०—अधिक चलने से पैर, जंघा, उरु, जानु, वंक्षण, श्रोणिप्रदेश और पृष्ठ में शूल, पैरों में शिथिलता, सुई चुभाने जैसी पीड़ा, पिण्डलियों में ऐंठन की तरह पीड़ा, अङ्गमर्द (बदन टूटना), अंस-प्रदेश में जलन, सिरा एवं धमनियों में हर्ष (फड़कन) एवं श्वास-कास आदि रोग उत्पन्न होते हैं। काश्यप ने शर्करा, अश्मरी, खल्ली आदि रोग उत्पन्न होना भी माना है।

अत्यासनजन्यानामुपद्रवाणां वर्णनम्

अत्यासनाद्रथक्षोभजाः स्फिक्पार्श्ववङ्क्षणकटीपृष्ठवेदनादयः स्युः।

च० सि० १२।१४ (घ)

सुप्ताऽधरकायस्य तन्द्रीजाड्यादिविभ्रमाः।
वातशोणितहल्लासप्रे··· ··· ॥

का० सं० सि० ५।९

रथक्षोभजा इत्युक्ते सन्धिशैथिल्यादीनामपि प्रसक्तिः स्यादतस्तन्निरासार्थमाहस्फिक्पार्श्ववंक्षणवृषणकटीपृष्ठवेदनादयः स्युरिति ॥ १४ (घ) चक्रपाणिः ॥

हि० व्या०—अधिक देर तक बैठने से तथा सवारी पर बैठने से नितम्ब, पार्श्व, वंक्षण, अण्डकोष, कटि और पृष्ठ में वेदना आदि रथ-क्षोभ से उत्पन्न होते हैं। आचार्य काश्यप के अनुसार बहुत देर तक बैठे रहने से शरीर का अधः भाग सुन्न हो जाता है और तन्द्रा, जड़ता, विभ्रम, वातरक्त, जी मिचलाना, आदि विकार हो जाते हैं।

अजीर्णाध्यशनजन्यानामुपद्रवाणां वर्णनम्।

अजीर्णाध्यशनाभ्यां तु मुखशोषाध्मानशूलनिस्तोदपिपासागात्रसादच्छर्द्यतीसारमूर्च्छाज्वरप्रवाहणामविषादयः स्युः॥

च० चि० १२।१४ (ङ)

अजीर्णभोजनादामविषच्छर्दिज्वरादयः॥

अ० सं० सि० ७।३८

अजीर्णे वर्धते व्याधिः पुनः कार्श्यं च जायते।

का० सं० सि० ५।५ (क)

अजीर्णाध्यशनाभ्यामित्यत्र अजीर्णाशनस्यामजविकारकर्तृत्वादध्यशनस्यासूत्रितस्योपादानम्॥ चक्रपाणिः॥

अजीर्ण भोजन करने से होने वाले रोग

हि० व्या०—अजीर्ण भोजन से और अधिक बार भोजन करने से मुखशोष, आध्मान, शूल एवं सुई चुभाने जैसी पीड़ा होती है। प्यास की अधिकता शरीर में शिथिलता, वमन, अतिसार, मूर्च्छा, ज्वर, प्रवाहण, और आमविष आदि होते हैं। काश्यप के अनुसार अजीर्ण से व्याधि की पुनः वृद्धि हो जाती है। इससे शरीर में कृशता भी आ जाती है।

विषमाहिताशनजन्यानामुपद्रवाणां वर्णनम्।

विषमाहिताशनाभ्यामनन्नाभिलाषदौर्बल्यवैवर्ण्यकण्डूपामागात्रावसादवातादिप्रकोपजाश्च ग्रहण्यर्शोविकारादयः॥ च० सि० १२।१४॥ (च)

अहितान्नाद्यथादोषं रोगाः स्युर्भेषजानि च॥

अ० सं० सि० अ० ७।४०

वैवर्ण्यमरुचिर्ग्लानिः कण्डुपाण्डुज्वरभ्रमाः।
कामलाकुष्ठवैसर्पपामाद्याश्चाप्यसात्म्यजाः॥

का० सं० सि० ५।१०

एवमहिताशनजविकारसमानविकारकारित्वाद्विषमाशनस्याप्यसूत्रितस्योपादानम्। चक्रपाणिः॥

विषम तथा अहितकर भोजन से होने वाले रोग

हि० व्या०—विषम और अहितकर भोजन से अरुचि, दुर्बलता, विवर्णता, सम्पूर्ण शरीर में खुजली, पामा, शरीर की शिथिलता, वातादि-दोष के प्रकोप से होने वाले ग्रहणी, अर्श आदि रोग उत्पन्न होते हैं।

दिवास्वप्नजन्यानामुपद्रवाणां वर्णनम्

दिवास्वप्नादरोचकाविपाकाग्निनाशस्तैमित्यपाण्डुत्वकण्डूपामादाहच्छर्द्यङ्गमर्दहृत्स्तम्भजाड्यतन्द्रानिद्राप्रसङ्गग्रन्थिजन्मदौर्बल्यरक्तमूत्राक्षितातालुलेपाः पिपासा च (७); च० सि० १२।१४ (छ);

हलीमकादयः प्रोक्ता दिवास्वप्नात् पुरा गदाः॥

अ० सं० सि० ८।४१

अग्निसादो दिवास्वप्नात् कफवृद्धिर्ज्वरोऽरुचिः।

का० सि० ५।६ (ख)

हि० व्या०—दिन में शयन करने से होने वाले रोग—

दिन में सोने से भोजन में अरुचि, पाचनक्रिया में बाधा, जाठराग्नि का नाश, स्तैमित्य (शरीर में आर्द्रता), पाण्डुरोग, खुजली, पामा (विचर्चिका), शरीर में दाह, वमन रोग, अङ्गमर्द, हृदय की गति में रुकावट, जड़ता, तन्द्रा, निद्राधिक्य, ग्रन्थि-रोग, दौर्बल्य, मूत्र एवं नेत्र का रक्तवर्ण होना, तालु में कफ का लेप, प्यास लगना आदि रोग होते हैं। काश्यप के अनुसार दिन में सोने से अग्नि-मांद्य हो जाता है। कफ-वृद्धि हो जाती है, अरुचि तथा ज्वर उत्पन्न हो जाता है।

व्यवायजन्यानामुपद्रवाणां वर्णनम्

व्यावायादाशुबलनाशोकसादसिरोवस्तिगुदमेढ्रवङ्क्षणोकजानुजङ्घापादशूलहृदयस्पन्दननेत्रपीडाङ्गशैथिल्यशुक्रमार्गशोणितागमनकासश्वासशोणितष्ठीवनस्वरावसादकटीदौर्बल्यैकाङ्गसर्वाङ्ग-रोगमुष्कश्वयथुवातवर्चोमूत्रसङ्गशुक्रविसर्गजाड्य-

वेपथुबाधिर्यविषादादयः स्युः; अवलु[1]प्यत इव गुदः, ताड्यत इव मेढ्रम्, अवसीदतीव मनो, वेपते हृदयं, पीड्यन्ते सन्धयः। तमः प्रवेश्यत इव च; इत्येवमेभिरष्टभिरपचारैरेते प्रादुर्भवन्त्युवद्रवाः॥

च० सि० १२।१४ (ज)

व्यवायाज्जीवितभ्रंशस्तैस्तैरस्यानिलामयैः।
गुदोऽवलुप्यत इव भ्रमतीव च चेतना॥
मेढ्रं धूमायति मनस्तमसीव प्रवेश्यते।

अ० सं० सि० क० ७।४२

क्रियायां मैथुनाच्छाण्ढ्यं पांडुत्वं च निगच्छति॥

का० सि० अ० ५।५ (ख)

हि० व्या०—पञ्चकर्म (संशोधन) चिकित्सा के उपरान्त स्त्री-प्रसङ्ग करने से होने वाले रोग—स्त्री-प्रसङ्ग से शीघ्र ही बल का नाश होता है। ऊरु की शिथिलता, सिर, मूत्राशय, गुदा, मूत्रेन्द्रिय, वंक्षण-प्रदेश, ऊरु, जानु, जंघा एवं पैरों में शूल, हृदय की धड़कन बढ़ जाना, आँखों में वेदना, अङ्गों में शिथिलता, शुक्रमार्ग से रक्त का निकलना, कास, श्वास, रक्त-ष्ठीवन, (बार-बार मुख से रक्त का निकलना), स्वर-भेद, कटि में दुर्बलता, एकाङ्ग और सर्वाङ्ग में होने वाले विकार, अण्ड-कोश में शोथ, अपान वायु मल और मूत्र का रुक जाना, अकारण शुक्र निकलना, शरीर में जड़ता, कम्प, बधिरता और विषाद आदि रोग होते हैं। गुदा में खींचने जैसी वेदना, मूत्रेन्द्रिय पर चोट लगने जैसी पीड़ा, रोगी का मन शिथिल हो जाना, हृदय में कँप-कँपी, सन्धियों में पीड़ा, तथा नेत्र के सामने अँधेरा आदि रोग होते हैं।

उच्चैर्भाष्यातिभाष्यजन्योपद्रवे चिकित्सासूत्रम्

तेषां सिद्धिः तत्रोच्चैर्भाष्यातिभाष्यजानामभ्यङ्गस्वेदोपनाहधूमनस्योपरिभक्तस्नेहपानरसक्षीरादिर्वातहरः सर्वोविधिर्मौनं च;

च० सि० १२।१५ (क)

तत्र साधनम्।

अभ्यङ्गस्वेदनस्याद्योमक्तस्नेहोपसेदनम्।
मौनं विधिर्वातहरो यथास्वं च विकारजित्॥

अ० सं० सि० क० अ० ७/३७

तेषां चिकित्सितं स्वं स्वमविरुद्धं विधापयेत्।
कृशान् संबृंहयेच्चापि कर्शयेत् परिबृंहितान्॥

का० सि० ५।११

१. अवलुप्यत इव=छिद्यत इव॥ चक्रपाणिः॥

हि० व्या०—आठ प्रकार के महादोषों का त्याग नहीं करने से जो विकार उत्पन्न हो जाते हैं उनकी चिकित्सा का सामान्य वर्णन करते हुए लिखा गया है कि उच्च स्वर में बोलने से उत्पन्न होने वाले विकारों में अभ्यंग, स्वेदन, उपनाह, धूमपान, नस्य, भोजनोत्तर घृत आदि स्नेहों का पान कराना, मांस रस, दूध, आदि सेवन तथा वात-नाशक क्रियाओं का पालन करना चाहिए। रोगी बिल्कुल मौन होकर रहे। काश्यप के अनुसार उच्च बोलने आदि से होने वाले विकारों की परस्पर अविरुद्ध चिकित्सा करना चाहिए। अतः कृश व्यक्तियों का बृंहण तथा बृंहित व्यक्तियों का कर्शन करना चाहिए।

रथक्षोभातिचङ्क्रमणात्यासनजन्यानामुपद्रवाणां चिकित्सासूत्रम्

रथक्षोभातिचङ्क्रमणात्यासनजानां स्नेहस्वेदादिवातहरं कर्म सर्वं निदानवर्जनं च;

च० सि० १२।१५ (ख)

तेषां वातहरं सर्वं स्नेहस्वेदादि शस्यते॥

अ० सं० सि० ७।३६

हि० व्या०—रथादि यानपर अधिक यात्रा करने एवं घूमने-फिरने से, आसन (एकासन) पर अधिक देर बैठने से होने वाले विकारों में वातनाशक स्नेहन-स्वेदन आदि सभी क्रियाओं का प्रयोग करना चाहिए और विकार उत्पन्न करने वाले कारणों का (जिनसे विकार उत्पन्न हुआ है) त्याग करना चाहिए यथा-यानभ्रमण, बैठना आदि का परिहार करें।

अजीर्णाध्यशनजन्यानामुपद्रवाणां चिकित्सासूत्रम्।

अजीर्णाध्यशनजानां निरवशेषतश्छर्दनं रूक्षः स्वेदो लङ्घनीयपाचनीयदीपनीयौषधावचारणं च;

च० चि० १२।१५ (ग)

तत्र मात्राशितीयोक्तो विधेयो विधिरामहा॥

अ० सं० सि० क० ७।४० (क)

निरवशेषतश्छर्दनमिति अजीर्णान्नस्यनिखशेषतश्छर्दनम्॥

च०सि० १२।१५ (ग) चक्रपाणिः।

हि० व्या०—अजीर्ण एवं अध्यशन से उत्पन्न विकारों में तब तक वमन कराना चाहिए जब तक अन्नपूर्ण रूप से बाहर न निकल जाय तत् पश्चात् रूक्षस्वेदन करायें तथा लंघनीय पाचनीय, दीपनीय औषधियों का प्रयोग करायें।

विषमाहिताशनजन्यानामुपद्रवाणां चिकित्सासूत्रम्।

विषमाहिताशनजानां यथास्वं दोषहराः क्रियाः।

च० सि० १२।१५ (घ)

हि० व्या०—विषम तथा अहित भोजन से होने वाले रोगों में दोषावस्था का विचार करते हुए तत्-तत् दोषों के विकारों को शान्त करने वाली क्रियाएँ एवं औषध-प्रयोग कराना चाहिए।

दिवास्वप्नजन्यानामुपद्रवाणां चिकित्सासूत्रम्।

दिवास्वप्नजानां धूमपानलङ्घनवमनशिरोविरेचनव्यायामरुक्षाशनारिष्ट-दीपनीयौषधोपयोगः प्रघर्षणोन्मर्दनपरिषेचनादिश्च श्लेष्महरः सर्वो विधिः;

च० सि० १२।१५ (ङ)

हि० व्या०—संशोधन के बाद दिन में सोने से उत्पन्न होने वाले विकारों में, धूमपान, उपवास, वमन, शिरोविरेचन, व्यायाम, रुक्ष आहार का सेवन, अरिष्ट-पान, दीपनीयऔषधियों का प्रयोग, दिवा-स्वाप से बढ़े हुए श्लेष्मा की उपशान्ति के लिए कफ-नाशक चूर्णों से शरीर पर घर्षण, अंगों में कफ-नाशक तैलों से मर्दन तथा श्लेष्महर क्वाथों से परिषेचन क्रिया करनी चाहिए तथा कफ-नाशक औषधियों का सेवन कराना चाहिए।

व्यवायजन्यानामुपद्रवाणां चिकित्सासूत्रम्

मैथुनजानां जीवनीयसिद्धयोः क्षीरसर्पिषोरुपयोगः, तथा वातहराः स्वेदा-भ्यङ्गोपनाहा वृष्याश्चाहाराः स्नेहाः स्नेहविधयोः यापना बस्तयोऽनुवासनं च; मूत्रवैकृतबस्तिशूलेषु चोत्तरबस्तिर्विदारिगन्धादिगणजीवनीयक्षीरसंसिद्धं तैलं स्यात्; यापनाश्च बस्तयः सर्वकालं देयाः॥

च० सि० १२।१५

जीवनीयश्रृतक्षीरसर्पिषोरुपसेवनम्। आहारो बृंहणस्तत्र वृष्यास्ते ते च वस्तयः। अ० सं० सि० ७।४३

मूत्रवैकृतेत्यादि यदा मैथुनान्मूत्रवैकृतादि भवति तदा विदारिगन्धादि जीवनीय गणाभ्यां क्वाथकल्कीकृताभ्यां सक्षीरं तैलं साधयित्वोत्तरबस्तिर्देयः। प्रतिज्ञातान् यापनबस्तीनाह यापनाश्चेत्यादि। सर्वकालं देया इत्यनेन पूर्व-निरूहाणामसार्वकालिकत्वं दर्शयति; एतेषां च सर्वस्मिन् काले दानमविरुद्धम्। आयुषो यापनं दीर्घकालानुवर्तनम् कुर्वन्तीति यापनाबस्तयः॥ चक्रपाणिः॥

हि० व्या०—संशोधन के अनन्तर मैथुन-जन्य त्याज्य भाव का सेवन करने से उत्पन्न विकारों में जीवनीय-गण की ओषधियों से सिद्ध किए हुए दूध एवं घृत का प्रयोग कराना चाहिए। वातनाशक स्वेद, अभ्यंग, उपनाह-प्रयोग वृष्य आहार का सेवन. स्नेह-पान एवं विविध स्नेहन विधियों का पालन करें, यापन-बस्तियों तथा अनुवासनबस्तियों का प्रयोग करायें, मूत्र-विकार होने से बस्ति-शूल हो जाने पर विदारिगन्धादि-गण व जीवनीय-गण की औषधियों से सिद्ध तथा दूध से साधित तैल की उत्तर-बस्ति देनी चाहिए।

सम्यगसम्यग्विहितसंशोधिते प्रश्नाः, आत्रेयप्रदत्तोत्तराणि च।

अनैकान्तिकं चिकित्साफलमिति पूर्वपक्षः

इत्येवं वादिनं भगवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच, ननु भगवन्नादावेव ज्ञानवता तथा प्रतिविधातव्यं यथा प्रतिविहिते सिध्येदेवौषधमेकान्तेन, सम्यक्प्रयोग-निमित्ता हि सर्वकर्मणां सिद्धिरिष्टा, व्यापच्चासम्यक्प्रयोगनिमित्ता, अथ सम्यग् सम्यक् च समारब्धं कर्म सिद्धयति व्यापद्यते वाऽनियमेन, तुल्यं भवति ज्ञानम ज्ञानेनेति॥

च० सू० १५।४

अनियमेनेति सम्यगारब्धं च सिध्यति व्यापद्यते च॥ चक्रपाणिः॥

हि० व्या०—संभार-द्रव्यों का वर्णन करने पर अग्निवेश ने कहा कि हे भगवन् प्रारम्भ में ही ज्ञानवान् वैद्य को इस प्रकार की व्यवस्था करनी चाहिए कि कार्य का अवश्य ही निश्चित फल अर्थात् कोई उपद्रव न हो जब समुचित रूप से औषध का प्रयोग किया जाता है, तब उसका फल भी निश्चित रूप से अच्छा ही होता है, सभी कार्यों की सिद्धि समुचित कर्त्तव्यों से होती है और अनुचित रूप से प्रयोग किये जाने पर उपद्रव होता है। यदि उचित रूप से या अनुचित रूप से कार्य किया जाय तो कार्य की सिद्धि या विफलता दोनों अनियमित रूप से होती हैं, ऐसा मान लेने पर ज्ञान एवं अज्ञान-दोनों-समान ही हो जायेंगे।

निश्चितफला सम्यग्ज्ञानपूर्वा चिकित्सा

तमुवाच भगवानात्रेयः—शक्यं तथा प्रतिविधातुमस्माभिरस्मद्विधैर्वाप्यग्नि-वेश, यथा प्रतिविहिते सिध्येदेवौषधमेकान्तेन, तच्च प्रयोग-सौष्ठवमुपदेष्टुं यथावत्।

च० सू० १५।५ (क)

प्रयोगसौष्ठवं=प्रयोगसुष्ठुत्वं, यथावदुपदेष्टुं शक्यमस्माभिरस्मद्विधैर्वेति योजना। एतदिति प्रयोगसौष्ठवं, एवमिति यथावद्। चक्रपाणिः॥

हि० व्या०—महर्षि आत्रेय ने अग्निवेश द्वारा की गई शंका का समाधान करते हुए कहा कि हम या हमारे समान अनुभवी चिकित्सक ही ऐसी व्यवस्था या प्रयोग कर सकते हैं कि औषध के सम्यक् प्रयोग करने में सफल हो जाए। उस प्रयोग की सफलता कैसी होगी उसका भी उपदेश हम या हमारे जैसे चिकित्सक ही कर सकते हैं।

संभाव्यमानव्यापत्प्रतिकारायोचितं तत्साधनसंकलनम्

न हि कश्चिदस्ति, य एतदेवमुपदिष्टमुपधारयितुमुत्सहेत, उपधार्य वा तथा प्रतिपत्तुं प्रयोक्तुं वा तस्मादुभयमेतद्यथावदुपदेक्ष्यामः सम्यक्प्रयोगं चौषधानां, व्यापन्नानां च व्यापत्साधनानि सिद्धिषूत्तरकालम्॥

च० सू० १५।५ (ख)

उपधारयितुमिति ग्रन्थेन धारयितुं, प्रतिपत्तुमित्यर्थतो ग्रहीतुम् - उभयमेतदुत्तरकालं सिद्धिषूपदेक्ष्याम इति योजना । चक्रपाणिः ॥

हि० व्या० —अन्य चिकित्सकों अथवा आगे होने वाले अल्पज्ञ चिकित्सकों की ओर संकेत करते हुए आत्रेय जी ने कहा हैं कि ऐसा कोई नहीं है जो हमारे समान विषय को पूर्णरूप से जानने वाला हो, जो यह उपदेश कर सके कि प्रयोग की सफलता निश्चित होगी अथवा मैं जो उपदेश कर रहा हूं उसको सुनकर उचित रूप से समझाने का साहस कर सके अथवा हमारे उपदेश को धारण कर उसका ठीक ज्ञान रखे और उसका प्रयोग उचित प्रकार से कर सके; अतः मैं दोनों बातों का उचित रूप से उपदेश कर रहा हूँ, औषधों के सम्यक्-प्रयोग और असम्यक्-प्रयोग के उपर्यन्त जो आपत्तियां आती हैं उनका प्रतिकार चरक सिद्धि-स्थान में कहा है (पुस्तक में भी यथाक्रम उनका वर्णन किया गया है)

पञ्चकर्मप्रयोगे सम्यक् पथ्यपालनावश्यकतायां युक्तयः

अथ खल्वातुरं वैद्यः संशुद्धं वमनादिभि :।
दुर्बलं कृशमल्पाग्नि मुक्तसंधानबन्धनम् ॥
निर्हृतानिलविण्मूत्रकफपित्तं कृशाशयम् ।
शून्यदेहं प्रतीकारासहिष्णुं परिपालयेत् ॥
यथाण्डं तरुणं, पूर्णं तैलपात्रंयथैव च ।
गोपाल इव दण्डी गाः सर्वस्मादपचारतः ॥

च० सि० १२।३-५

वमनादिभिरिति वमनदिरेचननिरूहशिरोविरेचनैः; किं तु निरूहशिरोविरेचनयोर्नं सर्वं वक्ष्यमाणं पेयादि सम्बध्यते, तेनायं क्रम एतयो र्न भवति । चक्रपाणिः ॥

हि० व्या०—संशोधन के अनन्तर साधारणतया रुग्ण-व्यक्ति में दुर्बलता आ जाती है, अतः शोधन के बाद सम्यक्तया पथ्यपालन करना चाहिए । यहाँ चिकित्सक को सावधानी रखने का निर्देश दिया गया है ।

जिस व्यक्ति को वमन-विरेचन से शुद्ध किया गया है, जो दुर्बल, कृश तथा शिथिल सन्धि-बन्धन वाला (जिसकी सन्धियों के बन्धन ढीले हो गये हों), जिनकी अग्नि मन्द हो गई है, जिनके शरीर से वात, मल, मूत्र, कफ एवं पित्त का निर्हरण किया गया है एवं विकारों के निकल जाने से रिक्त आशय वाले हैं, जिनके शरीर में शून्यता आ गई है, उन दुर्बल एवं शून्य शरीर वाले एवं जिनमें अन्य प्रतिकारों की सहनशक्ति न रह गई हो, उन व्यक्तियों को सावधानी-पूर्वक पथ्य-पालन कराते हुए प्राकृतिक अवस्था में लायें । इनकी उसी प्रकार सावधानी-पूर्वक रक्षा करनी चाहिए, जिस प्रकार पक्षी तरुण (कच्चे) अण्डे की रक्षा करते हैं, तथा भरे हुए तैलपात्र को ले जाते हुए सावधानी-पूर्वक

की जाती है, (गिरने से बचाया जाता है) तथा ग्वाला चारागाह में चरती हुए गायों की डण्डे से भली-प्रकार रक्षा करता है (अर्थात् इधर-उधर भागने नहीं देता) ।

पथ्यपालने पेयादिक्रमप्रयोगे प्रथमतः स्वाद्वम्ललवणरस-प्रधान-द्रव्याणां परतः स्वादु-तिक्त-कषायकटुकरसानां प्रयोग-सूचनम्

अग्निसन्धुक्षणार्थं तु पूर्वं पेयादिना भिषक् ।
रसोत्तरेणोपचरेत् क्रमेण क्रमकोविदः ॥
स्निग्धाम्लस्वाद्वृहद्यानि ततोऽम्ललवणौ रसौ ।
स्वादुतिक्तौ ततो भूयः कषायकटुकौ ततः ॥
अन्योऽन्यप्रत्यनीकानां रसानां स्निग्धरूक्षयोः ।
व्यत्यासादुपयोगेन प्रकृतिं गमयेद्भिषक् ॥

च० सि० १२।६-८ ॥

रसोत्तरेणोपचरेदित्यत्र रसे मांसरसरूप उत्तरो यस्मिंस्तेन पेयादिना रसोत्तरेण क्रमेण किं वा वमनविरेचनयोरन्तरे पेयादिना क्रमणोपचरेत् । निरूहे तु रसोत्तरेणेति व्यवस्था । तत्र च निरूहे स्तोकाग्निमान्द्यापेक्षया रसादिरेव क्रमो भवतीति प्रतिपादितमेव प्राक् । किं वा रसाभ्यासक्रम उत्तरकालं यस्मिंस्तेन पेयादिना रसोत्तरेण । अभ्यासक्रममेवाह—स्निग्धाम्लस्वाद्वृहद्यानीत्यादि । पेयाक्रमोत्तरकालं यदा विरेचनादिकर्मान्तरं न कर्तव्यं तदा संशोधनमूलशरीरस्य प्रकृतिभोजनार्थं बलाप्यायनार्थं चायं रसाभ्यासक्रमो ज्ञेयः; अन्ये तु पेयादिक्रम एव रससंस्कारार्थं स्निग्धाम्लसिद्धादिक्रमं वर्णयन्ति । अत्र चाम्लस्वादु प्रथमं पक्वाशयस्थितवातप्रशमनायोपयुज्यते, तथाऽम्ललवणौ तदूर्ध्वस्थिताग्निसंधुक्षणार्थं, ततः पित्तप्रशमनार्थं स्वादुतिक्तौ, ततः पित्तोर्ध्वस्थितकफप्रशमनार्थं कषायकटुकौ, इत्येष क्रमः । अत्रापि च यौ रसौ प्रत्यनीकभूतौ तावेव मिश्रितावुपयुज्येते । एषां चतुर्णां रसयुग्मानानुपयोगः पेयादिक्रम एव । एवं द्वादशान्नकालैः सर्वरस भोजनप्राप्तिरुत्तमविधयाज्ञेया । अन्योन्येत्यादि । अन्योन्यप्रत्यनीकानामिति परस्परमभिभावकानाम् । व्यत्यासादुपयोजयेदित्येकं युग्ममुपयुज्यापरस्य युग्मस्योपयोगात् । प्रकृतिं गमयेदिति प्रकृतिभोजनं गमयेत् । प्रकारान्तरं रसाभ्यासे प्राह-स्निग्धयोरिति । स्निग्धरसमुपयुज्य रूक्षो योज्यः, रूक्षं वोपयुज्य स्निग्ध इत्यनेन क्रमेण प्रकृति-भोजनं गमयेदित्यर्थः स्निग्धरूक्षौ चात्रोदाहरणार्थमुपात्तौ, तेन गुरुलघ्वादियुग्मरसव्यत्यासाभ्यासोऽप्यत्र बोद्धव्यः । किंवा कषायकटुकौ तत इत्यनेन युग्मरसाभ्यास उपदर्शितः, अन्योन्य प्रत्यनीकानामित्यादिना तु प्रत्येकं प्रत्यनीकानामन्योन्यव्यत्यासेन [illegible] नच्यते ॥ चक्रपाणिः ॥

हि० व्या०—वमनादि से शुद्ध शरीर वाले व्यक्ति को अग्नि प्रदीप्त करने के लिए पहले पेय और बाद में विविध रसाहार का क्रमशः सेवन करना चाहिए। क्रम को जानने वाले चिकित्सकों को चाहिए कि पेयादि-संसर्जन क्रम कराने के पश्चात् रसाभ्यास क्रम कराना चाहिए।

संसर्जन क्रम के पश्चात् रस सेवन कराने में सर्व प्रथम हृदय को प्रिय लगने वाले (हृद्य), स्निग्ध (द्रव्य), अम्ल और मधुर रसों का सेवन कराना चाहिए। तदनन्तर अम्ल और लवण रस का प्रयोग कराना चाहिए। इसके बाद मधुर और तिक्त रस का और अन्त में कषाय तथा कटु रस का प्रयोग कराना चाहिए।

चिकित्सक को चाहिए कि इस क्रम से परस्पर विरुद्ध रसों के प्रयोग से तथा स्निग्ध एवं रुक्ष द्रव्यों के सेवन क्रम से रोगी को अपने प्राकृतिक आहार सेवन के लिए समर्थ बनायें।

पञ्चकर्मप्रयोगे तर्कयुक्तिविचारावश्यकता

इति पञ्चविधं कर्म विस्तरेण निदर्शितम्।
येभ्यो यन्न हितं यस्मात् कर्म येभ्यश्च यद्धितम्॥
न चैकान्तेन निर्दिष्टेऽप्यर्थेऽभिनिविशेद्बुधः।
स्वयमप्यत्र वैद्येन तर्क्यं बुद्धिमता भवेत्॥
उत्पद्यते हि साऽवस्था देशकालबलं प्रति।
यस्यां कार्यमकार्यं स्यात् कर्मकार्यं च वर्जितम्।
छर्दिहृद्रोगगुल्मानां वमनं स्वे चिकित्सते।
अवस्थां प्राप्य निर्दिष्टं कुष्ठिनां बस्तिकर्म च॥
तस्मात् सत्यपि निर्देशे कुर्याद्बुद्ध्या स्वयं धिया।
विना तर्केण या सिद्धिर्यदृच्छासिद्धिरेव सा॥

च० सि० २।२४-२८

आध्यायार्थसंग्रहमभिधाय वमनाद्यविषयत्वेन तथा वमनादिविषयत्वेन च प्रतिपादिते वमनादिनिवृत्तिप्रवृत्तिनिश्चयं निषेधयन्नाह-न चैकान्तेनेत्यादि। अभिनिविशेदिति निश्चयं कुर्यात्। तर्क्यमित्यनुक्तमप्यूहनीयम्। बुद्धिमतेति वचनेन अबुद्धिमतामनुक्तोऽहं निषेधयति; उक्तं हि—तस्माद्बुद्धिमतामूहापोह-वितर्काः, अल्पबुद्धेस्तु यथोक्तानुगमनमेव श्रेयः" (वि० अ० ८) अथ किमर्थं यथोक्तानुगमनमेव श्रेय इति, तथा किमर्थमेकान्ततावधारणं न कर्त्तव्यमित्याह उत्पद्यते हीत्यादि। देशकालबलं प्रतीति देशादिभेदकृतेत्यर्थः। कार्यमकार्यं स्यादिति कर्त्तव्यतयोक्तमकरणीयं स्यादिति, तथा वर्जितं च यत् कर्म तत् कार्यं स्यादवस्थाविशेषात्। निषिद्धस्यैवावस्थावशात् क्रियमाणस्य वमनादेरु-दाहरणमाह-छर्दिहृद्रोगेत्यादि। स्वे चिकित्सिते इति छर्दिचिकित्साध्याये।

अवस्थां प्राप्य निर्दिष्टमित्यनेन अवस्थाविशेष एव निषिद्धविधानमुत्सर्गापवादत इत्यविरोधं दर्शयति, एवमन्यत्राप्यपवादविषये वमनादिविधानमवस्थाविशेष परतया समाधेयम्। न्यायोपपादितमुक्तं चार्थमुपसंहरन्नाह-तस्मादित्यादि। शास्त्रोपदेशे सत्यपि स्वबुद्ध्यैव शास्त्रानुगतयाऽनुक्तमपि कर्त्तव्यं, यदुक्तं—"प्रचरणमिव भिक्षुकस्य बीजमिव कर्षकस्य सूत्रं बुद्धिमतामल्पमप्यनल्पज्ञानाय भवति" (वि० अ० ८) इति।

चक्रपाणिः॥

हि० व्या०—इस प्रकार इस अध्याय में पंचकर्म का विस्तार से वर्णन किया गया है। जिन व्यक्तियों को जिस कारण से जो कर्म हितकर नहीं है और जिन व्यक्तियों के लिए जो हितकर कर्म है वह भी इस अध्याय में बताया गया है। इस अध्याय में पंचकर्म से संबंधित जो विषय है उतना ही पंचकर्म है ऐसा नहीं समझ लेना चाहिए प्रत्युत बुद्धिमान जनों के लिए अपनी बुद्धि के अनुसार भी विचार करके इन औषधों को प्रयोग में लाना चाहिए, क्योंकि देश-काल तथा बल के अनुसार ऐसी अवस्थाएं होती हैं जिनमें वर्जित कर्म करना पड़ता है और विहित कर्म भी छोड़ना पड़ता है यथा हृदय रोग और गुल्म-रोग में वमन नहीं कराया जाता है, किन्तु इन रोगों के चिकित्सा-प्रकरण में अवस्थानुसार वमन का भी विधान बताया गया है। कुष्ठ-रोग से पीड़ित व्यक्तियों का बस्ति कर्म नहीं किया जाता किन्तु कुष्ठ-चिकित्सा-प्रकरण में अवस्था के अनुसार कुष्ठ-रोगियों में भी निरूहबस्ति का विधान शास्त्र में बतलाया गया है, अतः शास्त्र में निर्देश होने पर भी बुद्धिमान् चिकित्सक को अपनी बुद्धि से उहापोह (तर्कवितर्क) करके औषधों का प्रयोग करना चाहिए। जो चिकित्सक बिना तर्क-वितर्क के चिकित्सा करता है और उसे सफलता भी मिल जाती है तो वह दैवी समझनी चाहिए।

द्वितीयोऽध्यायः

पूर्वकर्म-परिचय

प्रधान कर्म से पूर्व जो जो प्रक्रिया की जाती है उसे "पूर्व कर्म" संज्ञा दी गई है। पंचकर्म-चिकित्सान्तर्गत स्नेहन एवं स्वेदन रूप दो पूर्व कर्म होते हैं। संशोधन-हेतु दोषों को इन्हीं दोनों कर्मों द्वारा विलयन एवं चलायमानावस्था में लाया जाता है अतः प्रत्येक कर्म से पूर्व इनकी आवश्यकता बताई गई है

रोग, रोगी, काल, वय एवं प्रकृति की दृष्टि से जब इनके प्रयोग से रोग की उपशान्ति होकर रोगी स्वस्थ हो जाता है तो प्रधान कर्मों की आवश्यकता ही नहीं रह जाती अथवा इन्हीं के प्रयोग से एक दोषज एवं अचिरकालिक साध्य रोग जब उपचारित हो जाते हैं तो इन्हें प्रधान कर्म में भी स्वीकार करने की सम्मति प्राप्त होती है। कतिपय रोग केवलमात्र स्नेहन की विविध प्रक्रियाओं से अथवा कुछ रोग स्वेदन के विविध भेदों के प्रयोग से भी उपचारित हो जाते हैं। चरक ने चिकित्सा की ६ विधियों में लंघन, बृंहण स्नेहन, रूक्षण स्वेदन एवं स्तम्भन को स्वीकार किया है। इसी कारण इसमें स्नेहन और स्वेदन को स्वतन्त्र रूप से रोगों के शमनार्थ प्रधान चिकित्सा के रूप में भी माना जाता है। काय-चिकित्सा में औषधप्रयोग के साथ-साथ इन कर्मों के प्रयोग से अनेक वातादि रोग पूर्वावस्था में उपचारित करने की प्रक्रिया वर्तमान में भी की जा रही हैं।

अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि स्नेहन एवं स्वेदन पांचो प्रधान कर्मों से पूर्व दोषों को विलयन एवं चलायमान करने हेतु प्रयोग किए जाने तो आवश्यक हैं ही, स्वतन्त्र रूप से भी प्रयोग कराये जाने पर विकारोपशान्ति में उपयोगी हैं। अतः दोनों रूपों में इनका प्रयोग युक्ति संगत है।

प्रस्तुत प्रकरण में स्नेहन एक स्वेदन का पृथक्-पृथक् अध्यायों में शास्त्रोक्त विवेचन-सहित वर्णन किया जा रहा है।

पूर्वकर्ममहत्वम्

स्नेहनस्वेदनशोधनानां परस्परोपकारकतया शरीर मल शोधने दृष्टान्तसूचनम्

स्निग्धात् पात्राद्यथातोयमयत्नेन प्रणुद्यते।
कफादयः प्रणुद्यन्ते स्निग्धाद्धेतुर्थौषधैः॥
आर्द्रं काष्ठं यथा वह्निर्विष्यन्दयति सर्वतः।
तथा स्निग्धस्य वै दोषान् स्वेदो विष्यन्दयेत् स्थिरान्॥
क्लिष्टं वासो यथोत्क्लेश्य मलः संशोध्यतेऽम्भसा।
स्नेहस्वेदैस्तथोत्क्लेश्य शोध्यते शोधनैर्मलः॥

च० सि० ६।११-१३

स्नेहस्वेदयोः फलं "स्निग्धात् पात्रात्" इत्यादिना भूरिदृष्टान्तेन दर्शयन् स्नेहस्वेदयोरवश्यकर्तव्यतां सूचयति। अयत्नेनेत्यल्पायासेन प्रणुद्यन्त इत्याकृष्यन्ते। विष्यन्दयति सर्वत इति सर्वतः स्थितं द्रवमाकर्षति। अग्निदृष्टान्तेन स्निग्धगात्रस्य सम्यग्दोषहरमुच्यते, तृतीय दृष्टान्तेन तु स्नेहस्वेदयोर्मिलितयोः फलमुच्यते। क्लिष्टमिति म्लानम्। उत्क्लेश्येति क्षाराग्नि संबन्धात् समुत्क्लेश्य॥ चक्रपाणिः॥

सम्यग्योगपरिसंख्यानार्थत्वात् तत्र सकलशरीरसमुपजातस्नेहगुणः स्नेहपात्रतोयदृष्टान्तेन। यत्तूक्तं, स्नेहाक्तभाजने क्षौद्रमसज्जदिति द्रव्यकर्तृकम् तत् इदं तु स्नेहकर्तृकम्। वासने वा तदेतदुभयत्रेत्यदोषः। आर्द्रं काष्ठं यथा ह्यग्निरिति। स्वेदगुणोऽप्यार्द्रकाष्ठाग्निदृष्टान्तेन क्वचिदन्यथापि यथाद्रिकुञ्जेष्वर्कांशुतप्ताः शिलाः स्रवन्ति जतु तथैतदनुरोधात्। क्लिष्टं मलवद्वासो यथोत्क्लेश्येति उभयं, वासो यथोत्क्लेशेन, दृष्टान्ते दार्ष्टान्तिकसाधर्म्यात्। तथाभूतत्वात् उस्थिते श्लेष्मपित्तोपस्थानमुत्क्लेशः। तदुक्तमेव पुनरुच्यते। दोषाणामुत्क्लेशनेन दोषप्रवृत्याख्यानार्थमिति॥ जज्जटः॥

हि० व्या०—संशोधन से पूर्व स्नेहन-स्वेदन की आवश्यकता इसलिए अपेक्षित है कि जिस प्रकार चिकने पात्र से जल आसानी से निकल जाता है, उसी प्रकार स्निग्ध शरीर से औषध प्रयोग द्वारा कफ आदि दोष आसानी से निकाले जाते हैं।

और भी—

जिस प्रकार गीली लकड़ी को अग्नि चारों ओर से सुखाकर जला देती है, उसी प्रकार स्निग्ध रोगी के शरीर में स्थिर दोषों को, स्वेदन अपने स्थान से चलायमान कर देता है॥

जिस प्रकार कपड़े का मैल क्षार (सोडा आदि क्षारीय पदार्थों) से कपड़े को छोड़कर चलायमान होते हुए (घुलकर) जल के साथ निकल जाता है, उसी

प्रकार स्नेहन और स्वेदन से उत्क्लिष्ट मल संशोधन औषधों के द्वारा सुगमता से बाहर निकाले जाते हैं ॥

स्नेहनशब्दस्य निरुक्तिः

(१) [1]"स्निह्" धातु में ल्युट् प्रत्यय लगाने से "स्नेहन" शब्द बनता है।

(२) राजनिघंटुकार ने[2] "तैलादिमर्दन" एवं "अभ्यंग" अर्थ में "स्नेहन" शब्द को ग्रहण किया है।

स्नेह-लक्षणम्

स्नेहन[3] स्नेहविष्यन्द[4]मार्दवक्लेदकारकम् ॥

च० सू० २२।११ क

हि० व्या०—जिस द्रव्य के प्रयोग से शरीर में स्निग्धता, श्लेष्मा का विलयन (श्लेष्मकला में स्रावकर भाव), मृदुता तथा क्लिन्नता उत्पन्न होती है, उसे स्नेहन कहते हैं।

स्नेहप्रयोगस्योपकारः शतायुःप्राप्तिश्च

दीप्ताग्निः परिशुद्धकोष्ठः
[5]प्रत्यग्रधातुर्बलवर्णयुक्तः ।
वृद्धेन्द्रियो[6] मन्दजरः[7] शतायुः
स्नेहोपसेवी पुरुषो[8] भवेत्तु ॥

सु० चि० ३१।५६; अ० हृ० सू० १६।४६
अ० सं० सू० २५।८०; वंगसेन स्नेहाधिकार

---

१. स्निह्-णिच्-ल्युट्। वाचस्पत्यम्
२. तैलादिमर्दनेऽभ्यङ्गे। राजनिघण्टु
३. गुर्वादिगुणयुक्तं यद्द्रव्यं तत स्नेहनं भवति। (अरुणदत्तः—सर्वा० सुन्दरा)
४. विष्यन्दो = विलयनम्। चक्रपाणिः।
दिप्पणी—अन्ये त्वनेन श्लोकेन संशमनीयप्राग्भक्तसेवितस्नेह गुणानाहुः। डल्हणः ॥
५. (क) दीप्तेत्यादि। प्रत्यग्रधातुस्तरुणधातुः संशुद्ध धातुर्वा ॥ हाराणचन्द्रः ॥
(ख) प्रत्यग्रा अभिनवास्तरुणा धातवो रसादयो यस्य स प्रत्यग्रधातुः ॥ चन्द्रनन्दनः ॥
(ग) प्रत्यग्रधातुर्नूतनधातुः ॥ हेमाद्रिः।
(घ) प्रत्यग्रधातुरभिनवधातुः ॥ परमेश्वरः ॥
६. (क) दृढानि स्वकार्यकरणक्षमानीन्द्रियाणि यस्य सः ॥ डल्हणः ॥
७. (क) मन्दा स्वल्पा जरा पलितानि यस्य स मन्दजरः ॥ चन्द्रनन्दनः ॥
(ख) मन्दजर एवं स्थितत्वाच्छनैरेव जराप्रवृत्तिरिति यावत् ॥ परमेश्वरः ॥
८. वाग्भट ने "पुरुषो भवेत्तु" के स्थान पर "पुरुषः प्रदिष्टः" पाठ दिया है, शेष पाठ समान है।

दीप्ताग्निः शुद्धकोष्ठश्च पुष्टधातुर्दृढेन्द्रियः।
निर्जरो बलवर्णाढ्यः स्नेहसेवी भवेन्नरः ॥

भा० प्र० पू० ख०; पञ्चकर्म प्र० ३४।३५
[1]शार्ङ्गधर स्नेहाधिकार

स्नेहान्नविधिभिस्तद्वतदन्तराग्निर्भवेत् स्थिरः।

च० चि० १५।२१४

तद्यथा ह्युदकं निम्नं स्थलादध्यवरोहति।
स्नेहितस्य तथा दोषाः कुक्षिमायान्ति सर्वशः ॥

भेल सं० सू० १४।११

स्नेहपान से स्वस्थ व्यक्ति की जठराग्नि प्रदीप्त होती है। कोष्ठ-शुद्धि होती है। धातुओं में नवीनता की उत्पत्ति होती है।[2] शारीरिक बल एवं वर्ण में वृद्धि होती है। इन्द्रियों की कार्यक्षमता में वृद्धि होती है। वृद्धावस्था देर से प्राप्त होती है तथा व्यक्ति शतायु (सौ वर्ष जीवित रहने वाला) होता है।

स्नेह की उपयोगिता एवं दोषानुलोमकता का उल्लेख करते हुए आचार्य भेल ने लिखा है कि जैसे जल ऊँचे स्थान से नीचे की ओर बहता है उसी प्रकार शाखाओं में गये हुए दोष स्नेहन द्वारा पूर्णरूपेण कोष्ठ में आ जाते हैं।

चरक चिकित्सा अध्याय १५ में स्नेह को जठराग्नि स्थिर करने वाला भी बताया गया है।

स्नेहकार्यम् शरीरे प्रभावश्च

स्नेहोऽनिलं हन्ति, मृदूकरोति
देहं मलानां विनिहन्ति सङ्गम् ॥

च० सि० १।७

हि० व्या०—स्नेह के प्रयोग से वायु नष्ट होती है, शरीर में मृदुता उत्पन्न होती है तथा शरीर के किसी भी भाग में मलों के द्वारा जो संग (किसी प्रकार का अवरोध) उत्पन्न हो जाता है वह दूर होता है।

स्नेहन का विशेष कार्य दोषों को अपने स्थान से चलायमान करने का

---

१. प्रत्यग्र धातु से टीकाकारों ने धातुओं में नूतनता एवं तरुण स्वरूप का भाव ग्रहण किया है।
२. भावप्रकाश एवं शार्ङ्गधर ने सुश्रुत के श्लोक में वर्णित सभी गुण-कर्मों को अनुष्टुप् छंद की दो पंक्तियों में लिखते हुए स्मरण करने हेतु विषय संक्षिप्त किया है।

उपक्रम करना है अर्थात् जो दोष जिस-जिस अवयव में आश्रित होकर उसके साथ चिपक जाते हैं उनका बन्धन, स्नेहन द्वारा ही शिथिल होता है।

व्याधिपीडिते पुरुषे स्नेहपानफलम्

स्नेहमेव परं विद्याद्दुर्बलानलदीपनम्
नालं स्नेहसमिद्धस्य शमायान्नं सुगुर्वपि ॥

च० चि० १५।२०१

स्नेहो हितो दुर्बल वह्निदेह-
सन्धुक्षणे व्याधिनिपीडितस्य
बलान्वितौ भोजन-दोषजातैः
प्रमर्दितुं तौ सहसा न साध्यौ ॥

सु० चि० ३१।५७

स्नेहमेव परं विद्याद्दुर्बलानल दीपनम् ।
बलं स्नेहसमिद्भिश्च समायातः सदुर्बलः ॥ बंगसेन

व्याधिपरिमोक्षणमपि स्नेहफलं दर्शयन्नाह—स्नेह इत्यादि । स्नेहितो भवति; कस्य ? व्याधिनिपीडितस्य पुरुषस्य, कस्मिन् विषये ? दुर्बलदेह वह्नि-संधुक्षणे । स्नेहकृतयोस्तयोर्वह्निदेहबलयोः फलं दर्शयन्नाह—बलान्विता-वित्यादि । तौ वह्निदेहौ । किंविशिष्टौ ? स्नेहपानबलान्वितौ । न साध्यौ न शक्यौ । किं कर्तुम् ? प्रमर्दयितुम् । कैः स्फोटयितुं न शक्यावित्याह—भोजन-दोषजातैः, दुर्भक्तस्वभावगुणभूतसमूहैरित्यर्थः । दुर्बलस्य देहसंधुक्षणे वह्निसंधु-क्षणे च; देहसंधुक्षणं शक्त्युपलक्षणबलसंदीपनं पुष्ट्यावहमित्यर्थः । अग्निपक्षे सन्धुक्षणं सुबोधम् ॥ डल्हणः ॥

हि० व्या०—दुर्बल अग्नि को तीव्र करने हेतु स्नेह को उत्तम बताया गया है। स्नेह से अग्नि के तीव्र हो जाने पर गुरु अन्न-सेवन भी उसे शान्त करने में समर्थ नहीं होता।

(आचार्य वंगसेन ने चरक के श्लोक को ही कुछ परिवर्तन के साथ लिखा है)

सुश्रुत ने व्याधि-ग्रस्त व्यक्ति के लिए स्नेहपान से प्राप्त होने वाले गुणों (लाभ) का भाव दर्शित किया है कि अग्नि की दुर्बलता को हटाकर अग्नि को प्रदीप्त करने के लिए तथा शरीर को पुष्ट बनाने के लिए स्नेहपान हितकर होता है। स्नेहपान से प्रदीप्त हुई अग्नि और सबल शरीर को भोजन के दोष से उत्पन्न विकार सहसा विकृत करने में समर्थ नहीं होते। आचार्य वंगसेन ने स्नेहन से अग्नि प्रदीप्ति को हवन में समिधा डालने से प्रज्वलित अग्नि के उदाहरण से स्पष्ट किया है।

स्नेहनस्वेदनयोः शोधनानुकूलताया युक्तिः

स्नेहस्वेदप्रचलिता रसैः स्निग्धैरुदीरिताः ॥
दोषाः कोष्ठगता जन्तोः सुखाहर्तुं विशोधनैः ॥

सु० चि० ३३।४७ ॥

शाखागतस्यापि दोषस्य कोष्ठानयन हेतुः स्नेहः, स्वेदः कोष्ठमागतस्य सुखेन प्रवृत्तिकरश्चेति दर्शयन्नाह—स्नेहस्वेदप्रचलिता इत्यादि । विशोधनैरिति "शक्यन्ते" इत्यध्याहारः ॥ डल्हणः ॥

हि० व्या०—स्नेहन और स्वेदन से चलायमान तथा स्निग्ध रसों से कोष्ठ से बाहर की ओर प्रेरित हुए मनुष्यों में दोषों का संशोधन द्वारा सुगमता से निर्हरण हो जाता है।

स्नेहनद्रव्य-लक्षणम्

द्रवं सूक्ष्मं सरं स्निग्धं पिच्छिलं गुरु शीतलम् ।
प्रायो मन्दं मृदु च यद् द्रव्यं तत्स्नेहनं मतम् ॥

च० सू० २२।१५

स्नेहनविरूक्षणद्रव्यलक्षणम्

गुरुशीतसरस्निग्धमंदसूक्ष्ममृदुद्रवम् ।
औषधं स्नेहनं प्रायो विपरीतं विरुक्षणम् ॥

अ० हृ० सू० १६।२

गुर्वादिगुणयुक्तं यद्द्रव्यं तत् स्नेहनं भवति । विपरीत मते यल्लघूष्णस्थिर-रूक्षणतीक्ष्णस्थूलकठिन सान्द्रगुणोपेतं तद्विरूक्षणम् । प्रायोग्रहणं विरूक्षणे स्नेहने च योज्यम् । तथा च लघ्वपि सार्षपं तैलं छागं च दुग्धं तथा विष्किरप्रतुद-मृगाख्यं वर्गत्रयं स्नेहनं भवति । तथोष्णमपि मत्स्यमहिषमांसं स्नेहनं भवति । एवं रुक्षणेऽपि वेद्यम् । तथा च यवो गुरुशीतसरादिगुणयुक्तोऽपि विरुक्षण-स्तथा राजमाषोऽपि । स्नेहने प्रकृतेऽपि विरुक्षणोपन्यासोऽन्वयव्यतिरेकेण सुतरां स्नेहनस्य तारतम्यप्रतिपादनार्थः । अरुणदत्तः ॥

गुर्वादिकमौषधं प्रायः स्नेहनं भवति । प्राय इत्यनेनैतेषु केषाञ्चिद् व्यभि-चारमुक्तं । यथा गुर्वी वल्मीकमृत्तिका रुक्षणी; सरा हरीतकी च । मन्दमृदु-शीतगुणं शशमांसं रुक्षणं, सूक्ष्मो वातो रुक्षणः; द्रवं काञ्जिकं रुक्षणमिति । गुर्वादिगुण युक्तेनद्रव्येण देहस्य स्निग्धता कार्येत्यर्थः । विपरीतं विरुक्षणं भवति । एतद्विपरीतं लघूष्णस्थिररुक्षतीक्ष्णस्थूलकठिनसान्द्रगुणोपेतं द्रव्यं विरुक्षणोप-योगिकं भवति । प्राय इत्यत्रापि योज्यं । यथा लघुगुणं जाङ्गलदुग्धञ्जाङ्गल-मांसञ्च स्नेहनम् । तीक्ष्णोष्णं तैलं स्नेहनमित्यादि द्रष्टव्यम् । स्नेहने प्रकृते विरुक्षणोक्तिस्सुतरां स्नेहविज्ञानाय स्नेहव्यापत्प्रतीकाराय चेति बोध्यम् । स्नेहन रुक्षणयोरनुपयोगित्वायैतद्व्यतिरिक्तानाञ्चतुर्णां गुणानामनिर्देशः ॥

परमेश्वरः ॥

हि ०व्या०—जो द्रव्य—द्रव, सूक्ष्म, सर, स्निग्ध, पिच्छिल, गुरु, शीतल, मन्द एवं मृदुगुण-युक्त होते हैं वे प्रायः स्नेहन कार्य करने वाले होते हैं। वाग्भट ने "अष्टाङ्ग-हृदय" में "औषधं स्नेहनं प्रायो विपरीतं विरूक्षणम्" का श्लोक के उत्तरार्ध में उल्लेख किया है जिसका तात्पर्य है कि स्नेहन के विपरीत रूक्षण होता है। पूर्वार्द्ध में चरक के समान ही अभिमत है। मात्र पिच्छिल गुण का उल्लेख नहीं किया गया है। इसमें "प्रायः" शब्द का जो उल्लेख आया है इस विषय पर सर्वाङ्गसुन्दरा, शशिलेखा, आयु० रसायन, पदार्थ चन्द्रिका तथा वाक्यप्रदीपिका के टीकाकारों ने यही भाव लिया है कि कुछ द्रव्य ऐसे भी हैं जिनमें उपर्युक्त स्नेहन में बताये गुणों से विपरीत गुण दर्शित होने पर भी वे स्नेहन कराने वाले होते हैं जैसे कटुतैल, अजादुग्ध, विष्किर एवं प्रतुदगण के पक्षियों का मांस लघुगुण वाला होता है तथापि स्नेहन है। मछली तथा भैंस का मांस उष्ण होते हुए भी स्नेहन है। इसी प्रकार के अनेक उदाहरण हैं। इसी प्रकार गुरु, शीत, सर, आदि गुणों से युक्त होते हुए भी "जौ" विरूक्षण-कारक है।

अग्निवेशकृताः पञ्चविंशतिः प्रश्नाः

किं योनयः कति स्नेहाः के च स्नेहगुणाः पृथक्।
कालानुपाने के कस्य कतिशश्च विचारणाः॥
कति मात्राः कथं माना का च केषूपदिश्यते।
कश्च केभ्यो हितः स्नेहः प्रकर्षः स्नेहने च कः॥
स्नेहयाः के के न च स्निग्धास्निग्धातिस्निग्धलक्षणम्।
किं पानात्प्रथमं पीते जीर्णे किं च हिताऽहितम्॥
के मृदुक्रूर कोष्ठाः का व्यापदः सिद्धयश्च काः।
अच्छे संशोधने चैव स्नेहे का वृत्तिरिष्यते॥
विचारणाः केषु योज्या विधिना केन तत्प्रभो।
स्नेहस्यामितविज्ञान! ज्ञानमिच्छामि वेदितुम्॥

च० सू० १३।४।८

कोऽसौ संशय इत्याह—किं योनयः इति किं योनयः=किमाधारकारणम्। कालश्चानुपानं च कालानुपाने, विचारणा=द्रव्यान्तरासंयुक्तस्नेहपानं वर्जयित्वा स्नेहोपयोगः, कथंमाना=कीदृङ्माना, का चेति मात्रा, प्रकर्षः=कालप्रकर्षः, स्नेहने स्नेहयुक्तिक्रियायां; के न चेति=के न च स्नेहयाः, किं पानात्प्रथमं=पूर्वं हिताहितम्, किं च पीते तु स्नेहे, तथा जीर्णे च स्नेहे, हिताऽहितमिति योज्यम्। सिद्धयो=व्यापत्साधनानि भेषजानि। अच्छे इति पृथङ्निर्देशाद् गोबलीवर्दन्यायेन संशमने इति भवति। वृत्तिरिति, वृत्तिरूपचारविधानम् ज्ञानं=शास्त्रम्॥ चक्रपाणिः॥

अग्निवेश द्वारा किए गए स्नेह-विषयक २५ प्रश्न—

हि० व्या०—१. स्नेहों की योनि (उत्पत्ति-कारण) क्या है? २. स्नेह कितने प्रकार के होते हैं? ३. पृथक्-पृथक् (प्रत्येक) स्नेहों के गुण क्या होते हैं? ४. किन स्नेहों के पीने का काल क्या है? ५. प्रत्येक स्नेह का अनुपान क्या है? ६. पृथक्-पृथक् स्नेहपान की विचारणा (कल्पनायें) कितनी एवं कौन-कौन सी हैं? ७. स्नेह की मात्रा क्या है? (८) स्नेह पीने के लिए मान (तोल) कितना होना चाहिए? ९. स्नेह की मात्रा किन-किन रोगों में क्या होनी चाहिए? १०. कौन स्नेह किस व्यक्ति के लिए हितकारी होता है? ११. स्नेह का प्रकर्ष कहाँ तक करना चाहिए अर्थात् एक बार स्नेहन की अवधि कितने दिन तक चलनी चाहिए? १२. किन व्यक्तियों को स्नेहन कराना चाहिए? १३. किन-किन व्यक्तियों को स्नेहन कर्म नहीं कराना चाहिए? १४. सम्यक् स्निग्ध के क्या लक्षण हैं? १५. अस्निग्ध के लक्षण क्या हैं? १६. अति स्निग्ध के क्या लक्षण हैं? १७. स्नेहपान के पूर्व कर्म क्या हैं? १८. स्नेहपान के पश्चात् कर्म क्या हैं? १९. स्नेह के जीर्ण हो (पच) जाने पर पथ्यापथ्य क्या है? २०. मृदुकोष्ठ के क्या लक्षण हैं? २१. क्रूर-कोष्ठ के क्या लक्षण हैं? २२. विधि-विपरीत स्नेहपान करने पर क्या उपद्रव होते हैं? २३. विधि-विपरीत स्नेहपान करने से उत्पन्न होने वाले उपद्रवों की चिकित्सा क्या है? २४. संशमन और संशोधन के लिए अच्छ (केवल) स्नेह-पान करने के लिए किन-किन उपायों का अवलम्बन करना चाहिए? २५. स्नेह की विचारणाओं का प्रयोग, किन-किन रोगों में मात्राओं के साथ, किस विधि से करना चाहिए? इस प्रकार अग्निवेश ने आत्रेय पुनर्वसु से प्रश्न किए।

स्नेहयोनयः

अथ तत्संशयच्छेत्ता प्रत्युवाच पुनर्वसुः।
स्नेहानां द्विविधा चात्रौ योनिः स्थावरजङ्गमा॥

च० सू० १३।९

भा० प्र० स्नेहा०

तत्र द्वियोनिश्चतुर्विकल्पोऽभिहितः स्नेहः स्नेहगुणाश्च।
तत्र जङ्गमेभ्यो गव्यं घृतं प्रधानं, स्थावरेभ्यस्तिलतैलं प्रधानमिति॥

सु० चि० ३१।४

भा० प्र०

स्नेहो द्वियोनिरुक्तश्चतुर्विकल्पश्चराचरसमुत्थः।

का० सं० सू० २२।४

द्वियोनिः द्विकारणिकः स्थावरो जङ्गमश्च। तत्र तैलं स्थावरयोनिः, घृतवसामज्जानस्तु जङ्गमयोनयः। तत्र तैलं तिलादिफलोद्भवत्वात् फलस्थं, देवदारु-

शिशपागुर्बादिसारोत्थं च; घृतमपि द्विविधं क्षीरोत्थं, दध्युत्थं च; शुद्धमांसस्नेहो वसा, अस्थ्याश्रया मज्जा। चत्वारो विकल्पाः सर्पिस्तैलवसामज्जानो यस्य स्नेहस्येति चतुर्विकल्पः; स्वाभाविकगुणेनाप्यत्र पानविधावुक्तः। तत्र जङ्गमेभ्यो गव्यं घृतं प्रधानं, स्थावरेभ्यस्तिलतैलमिति ॥ डल्हणः ॥

स्नेहयोनियों का विवरण

हि० व्या० – प्रमुख रूप से स्नेहों की दो योनियाँ (प्राप्तिस्थान) होती हैं : (१) स्थावर एवं (२) जंगम। आचार्य सुश्रुत ने भी दो योनियाँ तथा चार विकल्प (भेद) बताए हैं यथा—घृत, तैल, वसा, मज्जा। जंगम स्नेहों में (घृत, वसा, मज्जा) गो-घृत एवं स्थावर स्नेहों में तिल तैल को प्रधान बताया गया है। काश्यप ने भी चराचर नाम से दो योनियाँ तथा चार उत्पत्ति स्थान बताए हैं— इनमें घृत, वसा तथा मज्जा ये तीनो विविध पशु-पक्षियों एवं जल जीवों से प्राप्त होते हैं, तथा तैल की प्राप्ति तिल, आम, सरसों, बहेड़ा, बिल्व एरण्ड, अलसी, सहिजन, महुआ, मूली, करञ्ज आदि से होती है। अन्य स्थान पर चरक-सुश्रुत ने निम्ब, अतसी, बाकुची, चिरौंजी आदि के तैल का भी उल्लेख किया है। इनके साथ बादाम, चालमुंगरा, चमेली, खसखास, जैतून, लवंग आदि का भी ग्रहण करना चाहिए।

स्नेहसंख्या-परिगणनम्

सर्पिस्तैलं वसा मज्जा स्नेहोद्दिष्टश्चतुर्विधः।

च० सू० अ० १।८७

सर्पिस्तैलं वसा मज्जा सर्वस्नेहोत्तमा मताः।

सर्वस्नेहोत्तमा इत्यत्र सर्वशब्देन दधिक्षीरादयो गृह्यन्ते, सर्वस्नेहोत्तमत्वं च सर्पिरादीनां स्नेहगुणप्रकर्षत्वेन ॥ चक्रपाणिः ॥

स्नेह के भेद

हि० व्या०—अग्निवेश के द्वितीय प्रश्न (कति स्नेहाः ?) स्नेह के कितने भेद हैं ? का उत्तर देते हुए आचार्य पुनर्वसू आत्रेय ने कहा कि—घृत, तैल, वसा, मज्जा ये चार प्रकार के स्नेह सभी स्नेहों में उत्तम माने जाते हैं। चरकसंहिता-सूत्रस्थान के प्रथमाध्याय में भी इसका वर्णन किया गया है।

वक्तव्य—पूर्व में स्नेहों की दो योनियों—स्थावर एवं जंगम का वर्णन किया गया है। आगे के प्रकरणों एवं प्रसंगों में आचार्यों ने इन समस्त स्थावर-जंगम-स्नेहो में से प्रधान को दृष्टिगत करते हुए घृत, तैल, वसा एवं मज्जा के रूप में चार प्रकार बताए हैं अतः "कति स्नेहाः" के भाव को इस विवरण में स्पष्ट किया गया है। इन चारों में से इनके आश्रयों की दृष्टि से भी प्रवरावरता का वर्णन किया गया है ताकि उन्हीं स्नेहों का प्रायः ग्रहण किया जाए जो निरापद हों। साथ ही इन चारों में से प्रवरावरता का

अथवा श्रेष्ठता का निर्णय भी लिया गया है ताकि व्यक्ति की प्रकृति, रोग, दोष एवं काल के अनुरूप उपयोग किया जा सके।

टिप्पणी १ यद्यपि अष्टाङ्ग संग्रह एवं अष्टाङ्ग हृदय में इसी तरह के पाठ का समावेश किया गया है तथापि चारों स्नेहों को 'सर्पिर्मज्जावसा-तैलम्" इस क्रम में रखा गया है। इसका कारण जंगम स्नेहों को एक ही क्रम में गणना करते हुए चतुर्थस्थान पर स्थावर स्नेह की गणना की गई है।

भाव-प्रकाश-प्रथमखण्ड-स्नेहाधिकार में यही भी पाठ आया है।

स्थावरस्नेहोदाहरणानि

तिलः प्रियालाभिषुकौ[1] विभीतक-
श्चित्राभयेरण्डमधूकसर्षपाः।
कुसुम्भबिल्वारु[2]कमूलकातसी
निकोठ[3]काक्षो[4]डकरञ्जशिग्रुकाः॥
स्नेहाशयाः स्थावरसंज्ञिताः—

च० सू० १३।१०

अभिषुक = औत्तरापथिकः, चित्रा = गोरक्षकर्कटी तद्बीजमिह, यदि वा, चित्रा लौहितैरण्डः, अतसी = उमा इति ख्याता, अरुकं (तथा) निकोठाक्षोडा इति औत्तरापथिकः। स्नेहाशयाः स्नेहस्थानानि। एते चाविष्कृततमत्वेनोक्ताः, तेन निम्बतैलादयोऽपि बोद्धव्याः ॥ चक्रपाणिः ॥

सर्पिर्मज्जवसाख्यं खगमृगजलप्रभावमाहुः। तैलानि चोद्भिदेभ्य-
स्तिलचूतसर्षपबिभीतबिल्वेभ्यः।
एरण्डातसिशिग्रुमधूकमूलककरञ्जेभ्यः॥

का० सं० सू० २२।४

स्नेहाशया दधि क्षीरं मांसास्थिफलदारु च।

अ० सं० सू० २५।७

दध्यादयः स्नेहाशयाः सर्पिरादिस्नेहानां योनयः। तत्र दधि क्षीरञ्च घृता-

---

१. अभिषुक = पिस्ता उत्तरापथिकं फलम् (आ० शब्दकोष)
२. आरुकं = हिमालयदेशजाते स्वनामकौषधिविशेषे। आड़ू इति भाषा। वै० श० सि०।
३. निकोठः (निकोचकः) 'अंकोल इति लोके'

डल्हण सु० सू० ३७।१२

४. अक्षोडकः—अक्षोटवृक्षे (वै० श० सि०)

शयः। क्षीरस्य नवनीतयोनित्वात्। मांसं वसाशयः। अस्थिमज्जाशयः। फलानि च दारूणि च तैलाशयः। स्नेहस्य विषयं दर्शयति ॥ इन्दुः ॥

स्थावर स्नेह वर्णन

हि० व्या०—तिल, चिरौंजी, पिश्ता, बहेड़ा, चित्रा, (गोरक्ष कर्कटी) हरीतकी, एरण्ड, महुआ, सरसों, कुसुम्भ, बिल्व, आड़ू, मूली, अतसी, निम्ब, अखरोट, करंज और सहिजन, इन द्रव्यों से जो स्नेह प्राप्त होते हैं, उन्हें स्थावर कहा जाता है। काश्यप-संहिता में आम्र एवं बिल्व का भी उल्लेख आया है।

वाग्भट के अनुसार स्नेहों के प्राप्तिस्थान

(१) घृत का आशय दूध व दही है। (२) वसा का आशय मांस है। मज्जा का आशय अस्थि है। (४) तैल का आशय फल तथा काष्ठ है।

वक्तव्य—चक्रपाणि ने स्थावर स्नेहों में निम्बादि के ग्रहण करने का उल्लेख किया है। इसी में बादाम, ज्योतिष्मती जैतून, चन्दन, आदि के तेल का भी ग्रहण कर लेना चाहिए।

[1]विविधकर्मोपयोगिस्थावर स्नेह द्रव्याणि

विरेचनोपयोगि स्थावरस्नेह वर्णनम्

तत्र बिल्वकरण्डकोशाम्रदन्तीद्रवन्तीसप्तलाशङ्खिनीपलासविषाणिकागवाक्षी कम्पील्लकशम्पाकनीलिनीस्नेहा विरेचयन्ति ॥

सु० चि० ३१।५

वमनोपयोगिस्थावरस्नेह वर्णनम्

जीमूतककुटजकृतवेधनेक्ष्वाकुधामार्गवमदनस्नेहा वामयन्ति।

सु० चि० ३१/५

शिरोविरेचनोपयोगिस्थावर स्नेह वर्णनम्।

विडङ्गखरमञ्जरीमधुशिग्रु सूर्यवल्[2]लीपीलूसिद्धार्थकज्योतिष्मतीस्नेहाः शिरोविरेचयन्ति ॥

सु० चि० ३१।५

दुष्टव्रणोपयोगिस्थावर स्नेहवर्णनम्

करञ्जपूतीककृतमालमातुलुङ्गङ्गुदीकिराततिक्तस्नेहा दुष्टव्रणेषूपयुज्यन्ते ॥

सु० चि० ३१।३५

१. विविध कर्मोपयोगी स्थावर स्नेह द्रव्यों का तालिका में विवरण दिया गया है।

२. सूर्यवल्ली=अर्कपुष्पी (आयु० कोष)

महाव्याधौ प्रयुज्यमानस्थावरस्नेहवर्णनम्

तुवरककपित्थकम्पिल्लकभल्लातकपटोलस्नेहा महाव्याधिषु।

सु० चि० ३१।५

मूत्रसङ्गोपयोगिस्थावरस्नेहवर्णनम्।

त्रपुसैर्वारुककर्कारुकतुम्बीकूष्माण्डस्नेहामूत्रसङ्गेषु ॥

सु० चि० ३१।५

शर्कराश्मरीषु प्रयुज्यमान-स्थावरस्नेहवर्णनम्।

कपोत[1]वङ्कावल्गुज[2]हरीतकीस्नेहाः शर्कराश्मरीषु।

सु० चि० ३१।४

प्रमेहोपयोगिस्थावरस्नेहवर्णनम्।

कुसुम्भसर्षपातसीपिचुमर्द[3]तिमुक्तकभाण्डीकटुतुम्बीकटभी स्नेहाः प्रमेहेषु।

सु० चि० ३१।५

पित्तसंसृष्टवातोपयोगिस्थावरस्नेहवर्णनम्

तालनारिकेलपनसमोचप्रियालबिल्वमधूकश्लेष्मातकाम्रातकफलस्नेहाः पित्तसंसृष्टे वायौ ॥

सु० चि० ३१।५

कृष्णीकरणोपयोगिस्थाबरस्नेहवर्णनम्।

विभीतकभल्लातकपिण[4]डीतकस्नेहाः कृष्णीकरणे

सु० चि० ३२।५

पाण्डुकरणोपयोगि स्थावरस्नेह वर्णनम्

[5]श्रवणकङ्[6]गुकटुण्टु[7]कस्नेहाः पाण्डूकरणे ॥

सु० चि० ३१।५

दद्रुकुष्ठकिटिभोपयोगिस्थावरस्नेहवर्णनम्।

सरलपीतदारुशिशपागुरुसारस्नेहा दद्रुकुष्ठकिटिभेषु, सर्व एव स्नेहा वातमुपघ्नन्ति, तैलगुणाश्च समासेन व्याख्याताः। सु चि० ३१।५

१. कपोक्तङ्का—सुवर्चला
२. अवल्गुजः - बाकुची
३. पिचुमर्द निम्बः (वै० श० सि०)
४, पिण्डितको मदनः (मदनफलम्)
५. श्रवण तापसवृक्षः 'इङ्गुदी' इति लोके
६. कङ्गुकं प्रियङ्गुः
७. टुण्टुकः श्योनाकः

प्रयोजनानुसार स्थावर स्नेहों का प्रयोग

तालिका १—

विरेचनाङ्ग-स्नेह	वमनार्थ	शिरोविरेचनार्थ	व्रण-शोधक
१. तिल्वक	१. देवदाली	१. विडङ्ग	१. करञ्ज
२. एरण्ड	२. कुटज	२. अपामार्ग	२. पूतिकरञ्ज
३. कोशाम्र	३. कोशातकी	३. मीठा सहिजन	३. अमलतास
४. दन्ती (जमालगोटा)	४. इक्ष्वाकु (कटुतुम्बी)	४. सूर्यवल्ली	४. बिजौरा
५. द्रवन्ती	५. धामार्गव (महाकोशातकी)	५. पीलू	५. हिङ्गोट
६. सप्तला (यवतिक्ता)	६. मैनफल	६. सर्षप	६. चिरायता
७. शंखिनी (यवतिक्या भेद)		७. ज्योतिष्मती	
८. पलाश (ढाक)			
९. मेढासिंगी			
१०. इन्द्रायण			
११. कम्पिल्लक			
१२. अमलतास			
१३. नीलिनी			

महारोगों में प्रयोज्य स्नेह	मूत्रसंग में प्रयोज्य स्नेह	शर्कराश्मरी में प्रयोज्य स्नेह	प्रमेहोपयोगी स्नेह	पित्त संसृष्ट धातूपयोगी स्नेह
१. तुवरक	१. त्रपुस	१. ब्राह्मी	१. सरसों	१. याल
२. कैथ	२ ककड़ी	२. वाकुची	२. अलसी	२. नारियल
३. कम्पिल्लक	३. कर्कारुक (कूष्माण्डी)	३. हरड़	३. नीम	३. कटहल
४. भिलावा	४. तुम्बी		४. माधवी लता	४. केला
५. पटोल	५. कूष्माण्ड		५. भाण्डी (मंजिष्ठा)	५. प्रियाल
			६. कटुतुम्बी	६. बिल्व
			७. कटभी (मालकांगनी	७. महुआ
				८. लसोड़ा
				९. आम्रातक

कृष्णीकरणोपयोगी	पाण्डुकरणोपयोगी	दद्रु-कुष्ठ-किटिभहर स्थावर स्नेह द्रव्य
विभीतक	श्रवण (इङ्गुदी)	चीड़ सार
भिलावा	प्रियंगु	देवदारु सार
मैंकफल	श्योनाक	शीशम सार
		अगुरु सार

दशेमानि स्नेहोपगानि द्रव्याणि

मृद्वीकामधुकमधु[1]पर्णीमिदाविदारीकाकोलीक्षीरकाकोलीजीवकर्षभकजीवन्तीशालपर्ण्य इति दशेमानि स्नेहोप[2]गानि भवन्ति ॥ च० सू० ४।२१

हि० व्या०—मुनक्का, मुलहठी, मधुपर्णी (गिलोय), मेदा, विदारीकन्द, काकोली, क्षीरकाकोली, जीवक, जीवन्ती, शालिपर्णी, ये दश वनस्पतियाँ स्नेहोपग होती हैं।

संस्कारस्यानुवर्तनाद् घृतस्य योगवाहित्वे प्राधान्यम्

एभ्यश्चैदोत्तमं सर्पिः संस्कारस्यानुवर्तनात् ॥

च० सू० १३।१३

तत्रापि चोत्तमं सर्पिः संस्कारस्यानुवर्तनात् ।
माधुर्यादविदाहित्वाज्जन्मन्याद्येव च शीलनात् ॥

अ० सं० सू० अ० २५।-
अ० हृ० सू० अ० १६।-

मुख्यं घृतेषु गव्यं, संस्कारात् सर्व सात्म्याच्च ॥

का० सं० सू० २२।५

संस्कारो=गुणान्तराऽऽरोपणं, तस्यानुवर्तनमनुविधानं स्वीकरणमिति यावत् । एतदुक्तं भवति—यत् न तथा तैलादयो द्रव्यान्तरसंस्कृताः संस्कारगुणानावहन्ति यथा सर्पिरिति । अत एवोक्तं—"नान्यः स्नेहस्तथा कश्चित्संस्कारमनुवर्तते यथा सर्पिरतः सर्पिः सर्वस्नेहोत्तमं मतम्" (नि० अ० १) अत एव संस्कारकद्रव्यचित्रकातिगुणविधानेऽपि सर्पिर्नस्वगुणान्स्नेहशैत्यादीन् जहाति, किं च स्वगुणान् तद्गुणांश्च वहति, यतः, अनुशब्देन पश्चाद्वाचिना स्वगुणवर्तनस्य पश्चात्संस्कारकगुणवर्तनमुच्यते । अत एवोक्तं—"स्नेहाद्वातं शमयति पित्तं माधुर्यशैत्यतः घृतं तुल्यगुणं दोषं संस्काराच्तु जयेत्कफम् (नि० अ० १) । न च वाच्यं रूक्षोष्णचित्रकाथितसंस्काराद्रूक्षोष्णं सर्पिभूतं, ततश्च सर्पिषः स्नेहशैत्ये तद्विरुद्धे कथं तिष्ठतः, यतः सर्पिः सम्बद्धचित्रकाऽवयवानुगतं हि रूक्षोष्णत्वं, सर्पिर्गते च स्नेहशैत्ये, इति भिन्नाश्रयत्वान्न विरोधः । इदमेव सर्पिषः संस्कारानुवर्तनं यद् गुणविरुद्धस्यापि तस्यानुपघातेन धारणम् । संस्कारकचित्रकादिगुणबहनेऽपि सर्पिषः शैत्यादयः कदाचिदभिभूयन्ते संस्कारकगुणैरुष्णादिभिर्न पुनः स्नेहगुणः, तस्य स्नेहेषु सर्वात्मना व्यवस्थितस्य प्रबलत्वात्, अत एव सर्पिरादयः स्नेहप्रधानत्वात् स्नेहा इत्युच्यन्ते । अन्ये तु संस्कारानुवर्तनं अनुपघातेन संस्कारकगुणवहनं ब्रुवते, एतच्च तैले तिष्ठति न सर्पिषीति वदन्ति, सर्पिषि

---

१. मधुपर्णी—गुडूची (आ० शब्दकोष), च० सू० ४।६ ध० नि० १।३
२. स्नेहस्य उप सहायत्वेन गच्छति इति स्नेहोपगः (आयुर्वेदीय शब्दकोष)

तु संस्कारानुवर्तनमुक्तं यत्, तत्सर्पिषि सर्वथा कस्यचिद् गुणस्य संस्कारगुणेन स्वगुणोपघाताद्भवति । तथा हि—दाहप्रशमनार्थं ज्वरे चन्दनादिशीतद्रव्यसाधितं तैलमुक्तं यतः, शीतेन साधितं तैलमुष्णमपि स्वभावाच्छीतमेव भवति इति ।

॥ चक्रपाणिः ॥

हि० व्या०—चार प्रकार के स्नेहों में घृत सबसे उत्तम माना जाता है, क्योंकि यह संस्कारों से दूसरों के गुणों का अनुवर्तन करता है। घृत स्निग्ध गुणों के कारण वातनाशक है, शीत वीर्य होने के कारण पित्तनाशक है तथा अपने समान गुण वाले कफ दोष का शमन, संस्कार विशेष (कफनाशक औषध-द्रव्यों से सिद्ध होने) के कारण करता है। दूसरा कोई स्नेह ऐसा नहीं है जो औषध द्रव्यों के समस्त गुण-धर्मों को अपने में ग्रहण करने में समर्थ हों। यह शक्ति केवल घी में है, अतः घी को सभी स्नेहों में श्रेष्ठ माना गया है। इस सन्दर्भ में वृद्धवाग्भट ने कुछ विशेष तर्क दिया है कि चतुर्विध स्नेहों में मधुर और अविदाही होने से एवं जन्म से ही दूध के रूप में इसका सेवन किए जाने से घृत सभी स्नेहों में श्रेष्ठ है। काश्यप में भी गुणानुवर्तन के साथ सात्म्य स्वभाव वाला होने से, घृत को उत्तम बताया गया है।

स्नेहगुणानां वर्णनम्

घृतगुण-विशेषाः

[1]घृतं पित्तानिलहरं रसशुक्रौजसां हितम् ।

---

१. पित्तेऽभ्यधिकं घृतं च लिह्याद्वातेऽधिकं घृतं पिबेत् । (अ० सं० चि० ५)
२. शैत्यात् पित्तं जयेत् स्नेहाद्वातं जयेत् योगसंस्कारतः कफं जयेत् ।
(अ० सं० चि० २)
३. वातपित्तप्रशमनानामग्र्यम् । (च० सू० २५।४०)
४. सर्पिः खलु पित्तं जयति सततमभ्यस्यमानं माधुर्याच्छैत्यान्मन्दत्वाच्च, पित्तं ह्यमधुरमुष्णं तीक्ष्णं च, तस्मात्सर्पिः पित्तजित् । (च० वि० १।१४)
५. घृतपानं पित्तशूल शमनम् । गु० उत्त० ४२।१०६
६. धीस्मृतिमेधाग्निकांक्षिणं घृतं शस्यते । (अ० सं० सू० २५)
७. श्रेष्ठं विषहरम् । (अ० सं० उ० ४०)
८. घृतं क्षीरस्य रसादिभिस्तुल्यमपि विशेषतो दीपनम् । (अ० सं० सू० १७)
९. भोजनादावन्ते च क्षुतिनिग्रहजविकारशमनार्थघृसेवनं प्रशस्तम् ।
(च० सू० ७।१७)
१०. इदं संस्कारात् कर्मसहस्रकृत् । (अ० हृ० सू० ५।३९)
११. हितत्वेनाभ्यस्यमानमेकं द्रव्यं, स्नेहनार्थं वर्षान्ते शरदि च घृतं युज्यते ।
(अ० सं० सू० २५)

[२]निर्वापणं मृदुकरं स्वरवर्णप्रसादनम् ॥

च० सू० १३।१४

विनिहन्ति पित्तमनिलं पीतं
सर्पिः कफं न च चिनोति ।
जनयति बलाग्निमेधाः
शोधयति शुक्रं च योनिं च ॥
स्नेहाद्वातं शमयति, शैत्यात् पित्तं निच्छति ।
घृतं तुल्यगुणं दोषं संस्कारात्तु जयेत्कफम् ॥

का० सं० सू० २२।६

नान्यः स्नेहस्तथा कश्चित् संस्कारमनुवर्तते ।
यथा सर्पिरतः सर्पिः सर्वस्नेहोत्तमं मतम् ॥

च० नि० १।३९-४० ॥

घृतं तु मधुरं सौम्यं मृदुशीतवीर्यमनभिष्यंदिस्नेहनमुदावर्तोन्मादापस्मारशूल-ज्वरानाहवातपित्तप्रशमनमग्निदीपनं स्मृतिमतिमेधाकान्तिस्वरलावण्यसौकुमार्यौजस्तेजोबलकरमायुष्यं वृष्यं मेध्यं वयःस्थापनं गुरुचक्षुष्यं श्लेष्माभिवर्धनं पाप्मालक्ष्मीप्रशमनं विषहरं रक्षोघ्नं च ॥

सु० सू० ४५।७६

अथ घृतमाह— घृतं त्वित्यादि । एते सामान्यघृतस्य गुणाः, अन्ये तु गव्यस्यैवेति गुणश्रेष्ठत्वादित्याहुः । सौम्यत्वमुष्णेऽपि यथाऽविक्षीरे, अत एव शीतवीर्यमित्युक्तम् । अनभिष्यन्दीति अत्रेषदर्थेन, तेन, अल्पाभिष्यन्दीत्यर्थः, एतेन दोषधातुमलस्रोतसां मन्दक्लेदप्राप्तिजननम् । स्नेहनं स्निग्धत्वापादकम् । उदावर्तादिप्रशमनं शान्तिकरमित्यर्थः । स्मृत्याभिर्बलान्तैः सह करशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते । स्मृतिः अतीतस्मरणम्, अनागतज्ञानं मतिः मेधा ग्रन्थधारणशक्तिः कान्तिः शोभाः, लावण्य रूपातिशयः, सौकुमार्यं मार्दववज्ज्ञानाम्, ओजो हृदिस्थितं धातुधाम, तेजः पराक्रमः, अन्ये प्रभावमाहुः, सा च महापञ्जिकायां निपिद्धाः बलमुपचयः स्थापयत्यनाबाधम् पापादीनि हन्ति प्रभावात् । रक्षोघ्नं राक्षसभयहरम् । त्रितोषापकर्षणम्, इति केचित् पठन्ति, स तु नातिप्रसिद्धः पाठः । तत्रापि वातपित्तसंबद्धस्यैव कफस्य हन्तृत्वं न तु केवलस्य ॥ डल्हणः ॥

हि० व्या—चतुर्विध स्नेहों में सर्वप्रथम घृत के गुणों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि घृत पित्त एवं वातजन्य रोगों को नाश करता है, रस, शुक्र और ओज के लिए हितकारक है, दाह (जलन) को शान्त करता है, शरीर को मृदु (मुलायम) करता है और स्वर एवं वर्ण का प्रसादन करता है।

---

२. निर्वापणं=दाहप्रशमनम् (चक्रपाणिः)

काश्यप ने भी चरक के अनुसार घृत गुणों का उल्लेख करते हुए कुछ विशेष गुण भी लिखे हैं; जैसे—घृत कफ का संचय नहीं होने देता, बल, अग्नि एवं बुद्धि-वर्धक है और शुक्र एवं योनिमार्ग-विशोधक है।

चरक संहिता निदान स्थान के द्वितीय अध्याय में लिखा है कि स्निग्ध गुण के कारण घृत वात-विकारों को, शीतवीर्य के कारण पित्तजन्य रोगों को तथा अपने तुल्य गुणयुक्त कफ-दोष को संस्कार (औषधियों से सिद्ध होने) के कारण शान्त करता है अतः घृत के समान संस्कार का अनुवर्तन दूसरा स्नेह नहीं करता इसीलिए सभी स्नेहों में घृत उत्तम बताया गया है।

आचार्य सुश्रुत के अनुसार घृत मधुर, सौम्य, मृदु, शीतवीर्य, अल्प क्लेदकारक, शरीर में स्नेहन करने वाला तथा उदावर्त, उन्माद, अपस्मार, शूल, ज्वर, आनाह, वात और पित्त को शान्त करने वाला, पाचकाग्नि-दीपक एवं स्मृति, मति, मेधा, कान्ति, स्वर, लावण्य, सौकुमार्य, ओज, तेज और बल बढ़ाता है तथा आयुवर्धक, वृष्य, मेध्य, वयःस्थापक, पाचन में भारी, नेत्रों के लिए हितकर, कफ को बढ़ाने वाला, पाप तथा अलक्ष्मी (दरिद्रता)-नाशक, विषों को नष्ट करने वाला एवं राक्षसों (सूक्ष्म जीवाणुओं) का घातक है।

तैलगुण-विशेषाः

मारुतघ्नं न च श्लेष्मवर्द्धनं बलवर्द्धनम् ।
त्वच्यमुष्णं स्थिरकरं तैलं योनिविशोधनम् ॥

च० सू० १३।१५

हि० व्या०—चतुर्विध स्नेहों में तैल वातविकारों का नाश करते हुए भी कफ-वर्धक नहीं है तथा बल-वर्धक है। त्वचा के लिए हितकारी है, उष्णवीर्य है, मांस-धातु को स्थिर करने वाला है और योनि[१]-मार्ग-विशोधक है।

मज्जागुणविशेषाः

बलशुक्ररसश्लेष्ममेदोमज्जविवर्द्धनः ।
मज्जा विशेषतोऽस्थ्नां च बलकृत्स्नेहने हितः ।

च० सू० १३।२७

हि० व्या०—चतुर्विध स्नेहों में मज्जा के गुण इस प्रकार हैं कि, मज्जा पान करने से शरीर में बल, वीर्य, रस, कफ, मेद और मज्जा की वृद्धि होती

---

१. काश्यप ने घृत को योनि-संशोधक लिखा है।
[श्लोक-घृत गुण विशेषाः में पठित]

है। विशेष रूप से मज्जा अस्थियों के लिए बल कारक और शरीर का स्नेहन करने में हितकारी है।

वसा-गुण-विशेषाः

विद्धभग्नाहतभ्रष्टयोनिकर्णशिरोरुजि।
पौरुषो[1]पचये स्नेहे[2] व्यायामे चेष्यते वसा॥

च० सू० १३।१६

हि० व्या०—चतुर्विध स्नेहों में वसा के गुण इस प्रकार हैं शरीर में कहीं विद्ध होने पर, काण्ड-भंग या सन्धि-भंग होने पर, चोट लगने पर, योनि-भ्रंश, कर्ण-मूल और सिर में वेदना होने पर वसा लाभदायक है। पुरुषार्थ-वृद्धि हेतु, शरीर को स्निग्ध करने के लिए और जो व्यक्ति अधिक व्यायाम करते हैं उनके लिए वसा हितकारी है।

स्नेहानां प्रयोगप्रकाराः

पानाभ्यञ्जनवस्त्यर्थं नस्यार्थं चैव योगतः।

च० सू० १।८७ भावप्रकाश-स्नेहा०

हि० व्या०—महास्नेहों का, पान-हेतु, अभ्यंग-हेतु, बस्तिकर्म तथा नस्य के रूप में प्रयोग किया जाता है।

महास्नेह-फलम्

स्नेहना जीवना वर्ण्या बलोपचयवर्धनाः।
स्नेहा ह्येते च विहिता वातपित्तकफापहाः॥

च० सू० १।८८

स्नेहयन्तीति स्नेहनाः। जीवनाः। वर्णाय हिताः वर्ण्याः। बलोपचययोः वर्द्धनाः। विहिताः यथाविधि सेविताः। वातपित्तकफानपघ्नन्तीति वातपित्त-कफापहाश्च। इह सर्पिरादीनां चतुर्णां सामान्यगुणाः उक्ताः। स्नेहाध्याये अन्नपानविधौ च एकैकस्य विशेषो वक्ष्यते॥ (योगीन्द्रनाथसेन)

हि० व्या०—**चतुर्विध महास्नेहों के गुण**—महास्नेह शरीर को स्निग्ध करते हैं, जीवन-शक्ति प्रदान करते हैं, बल-वर्धक, वर्णकर (कान्ति बढ़ाने वाले), शरीर के उपचय के वर्धक तथा प्रकुपित वात, पित्त और कफ को दूर करते हैं।[3]

---

१. पौरुषोपचयः=शुक्रोपचयः।
२. स्नेहे=शरीरस्नेहने। चक्रपाणिः॥
३. चारों स्नेहों के गुण-कर्मों का यथाक्रम वर्णन कर दिया गया है।

चतुर्णां स्नेहानां प्रवरावरविचारः, यथाक्रम-दोषघ्नत्वं च

घृततैलवसामज्जां, पूर्वः पूर्वो वरोऽन्ये (त्ये) भ्यः।

का० सं० सू० २२।-

पित्तघ्नास्ते यथापूर्वमितरघ्ना यथोत्तरम्।
घृतात्तैलं गुरुवसा तैलान्मज्जा ततोऽपि च।

अ० सं० सू० अ० २५॥ अ० हृ० सू० अ० १६।३

शशिलेखा—तत्र सर्पिरादयो यथापूर्वं पित्तघ्नाः। यथोत्तरमितरघ्नाः। श्लेष्मणः स्नेहप्रतिषेधादितरशब्देन वातघ्ना इति गम्यते। अथवा द्रव्यान्तर-संस्कृतसर्पिराद्यपेक्षया इतरशब्देन कफस्यापि ग्रहणम्। तेनैवं तैलस्यापि पित्तघ्न-त्वं सिद्धम्। अक्षादियोनेर्वा तैलस्य पित्तघ्नत्वमिति। यो यस्मात् पूर्वः स तस्मात् पित्तघ्नः। यो यस्मादुत्तरः स तस्माद्वातघ्नः। तैलस्य पूर्वत्वासम्भवात् पित्तघ्नत्वासम्भवः। इन्दुः॥

चतुर्विध स्नेहों की प्रवरावरता

हि० व्या०—घृत, तैल, वसा, मज्जा, इनमें से यथापूर्व श्रेष्ठ माने जाते हैं। मज्जा से वसा श्रेष्ठ है, वसा से तैल श्रेष्ठ है, तैल से घृत श्रेष्ठ है। यह काश्यप का मत है। वाग्भट लिखते हैं कि इन चारों स्नेहों में यथापूर्व क्रमशः पित्तनाशक गुण हैं। तैल से वसा अधिक पित्तनाशक; वसा से मज्जा अधिक पित्तनाशक; और मज्जा से घी अधिक पित्त-नाशक हैं। ये उत्तरोत्तर वात-कफ-नाशक है। घी वात-कफ-नाशक है; मज्जा घी से अधिक वात-कफ-नाशक है वसा मज्जा से अधिक वात-कफ-नाशक है और तैल सबसे अधिक वात-कफ-नाशक है। घी से तैल गुरु है, इसी प्रकार उत्तरोत्तर वसा से तैल गुरु है और वसा से मज्जा गुरु है।

स्थावरस्नेहेषु तिलतैलयोः वैशिष्ट्यम्

सर्वेषां तैलजातानां तिलतैलं विशिष्यते।
बलार्थे स्नेहने चाग्र्यम्... ... ॥

च० सू० १३।१२

उष्णं कफानिलघ्नं स्वर-वर्ण करं तनुस्थिरीकरणम्।
भग्नच्युतसंधानं धातुव्रणशोधनं तैलम्॥

का० सू० २२।७

तैलजातानामिति, जातशब्दः प्रकारवचनः। यथा—"यदाहारजातमग्नि-वेशः" (सू० अ० २५) इत्यादि। अत्र यद्यपि योगात् तिलभवमेव तैलं; तथा रूढ्येह सर्वं एव स्थावरस्नेहास्तैलमित्युच्यन्ते। यदुक्तं सुश्रुते "निष्पत्तेस्तद् गुण-त्वाच्च तैलत्वमितरेष्वपि" (सु० सू० अ० ४०) इति। विशिष्यतेऽतिरिच्यते।

चक्रपाणिः॥

हि० व्या०—तिल-तैल की श्रेष्ठता – शरीर में बल-वर्धन के लिए तथा स्नेहन के लिए स्थावर तैलों में तिल का तैल उत्तम होता है। महर्षि काश्यप के अनुसार तैल उष्ण गुण वाला कफ तथा वायु का नाशक और स्वर के लिए हितकारी है। यह कान्ति-वर्धक होता है तथा शरीर को दृढ़ करता है। अस्थि-भंग एवं सन्धि-भ्रंश में सन्धान-कारक है। धातु एवं व्रणशोधक है।

एरण्डतैलविशेषगुणाः

... ... एरण्डं तु विरेचने।
स्निग्धोष्णं तैलमैरण्डं वातश्लेष्महरं सरम्।
कषायस्वादुतिक्तैश्च योजितं पित्तहन्त्रपि॥

च० सू० १३।१२

हि० व्या०—एरण्ड तैल विरेचनार्थ सर्वश्रेष्ठ है। वह स्निग्ध, उष्णवीर्य, वात-कफ-रोग-नाशक और सारक होता है। कषाय, मधुर और तिक्तरसयुक्त द्रव्यों के साथ प्रयोग करने पर पित्तरोग नाशक भी होता है।

संयुक्तनेहनद्रव्याणां पारिभाषिकनामानि

द्वाभ्यां त्रिभिश्चतुर्भिस्तैर्यमकस्त्रिवृतो महान्॥

अ० सं० सू० २५।७, अ० हृ० सू० १६।६, भा० प्र० स्नेहाधिकार

स्नेहानां द्रव्यादिसंयोगे तन्त्रकारस्सांकेतिकानि नामान्याह—द्वाभ्यामिति। तैः द्वाभ्यां त्रिभिः चतुर्भिः यमकः त्रिवृतः महानिति संज्ञा भवतीति शेषः। द्वयोर्योगे यमकः, त्रयाणां योगे त्रिवृतः चतुर्णां योगे महानित्यर्थः। परमेश्वरः॥

संयुक्त स्नेहों की विशिष्ट संज्ञा

हि० व्या०—चतुर्विध स्नेहों में संयुक्त घृत एवं तैल—इन दो स्नेहों का नाम "यमक" है। घृत, तैल एवं वसा नामक तीन स्नेहों को "त्रिवृत" कहा जाता है तथा घृत, तैल, वसा एवं मज्जा नामक चारों स्नेहों को "महान्" नाम दिया गया है।

वक्तव्य—चिकित्सा-प्रयोग में स्नेहों के पृथक् पृथक् नाम का उल्लेख न करते हुए इन्हीं पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग शास्त्रों में हुआ है, अतः यमक, त्रिवृत तथा महान् तीनों नामों से शास्त्रीय संज्ञा दी गई है।

स्नेहार्थं तिलतैलघृतप्रयोगसंकेतः

नित्यानित्यात्मविधौ तिलतैलघृते बुधः प्रयुञ्जीत।

का० सू० २२।९

हि० व्या०—ज्ञानी मनुष्य को दैनिक व्यवहार में प्रतिदिन तिल तैल एवं घृत का व्यवहार करना चाहिए।

स्नेह-महत्त्वं विविधप्रयोगभेदाश्च

स्नेहसारोऽयं पुरुषः, प्राणाश्च स्नेहभूयिष्ठाः स्नेहसाध्याश्च भवन्ति। स्नेहो हि पानानुवासनमस्तिष्कशिरोबस्त्युत्तरवस्तिनस्यकर्णपूरणमात्राभ्यंगभोजनेषूपयोज्यः॥

सु० चि० ३३।३

युक्तयाऽवचारयेत् स्नेहं भक्ष्याद्यन्नेन बस्तिभिः।
नस्याभ्यंजनगण्डूषमूर्द्धकर्णाक्षितर्पणैः॥

अ० सं० सू० २५।१७, अ० हृ० सू० १४, भावप्रकाशेऽपि पाठः समानः

हि० व्या०—**स्नेह का महत्त्व एवं विविध प्रयोग भेद**—मानव शरीर में स्नेह ही सारवस्तु है। मानव जीवन स्नेह पर ही आधारित है तथा उसकी रक्षा स्नेह द्वारा ही होती है। स्नेह का प्रयोग पीने के रूप में, अनुवासन-बस्ति के रूप में, मस्तिष्क हेतु शिरोविरेचन, शिरो-बस्ति, उत्तर-बस्ति, नस्य, कर्ण-पूरण, अभ्यङ्ग (मालिश) और भोजन में किया जाता है। आचार्य वाग्भट ने भी कहा है कि स्नेह का युक्ति-पूर्वक भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, पान या भोजन के साथ नस्य, अभ्यङ्ग, गण्डूष, शिरो-बस्ति एवं अक्षि-तर्पण के रूप में प्रयोग करना चाहिए।

कस्य स्नेहस्य कः कालः

सर्पिः शरदि पातव्यं, वसा मज्जा च माधवे।
तैलं प्रावृषि, नात्युष्णशीते स्नेहं पिबेन्नरः॥

—च० सू० १३।१८

तैलं प्रावृषि, वर्षान्ते सर्पिरन्यौ तु माधवे।
ऋतौ साधारणे स्नेहः शस्तोऽह्नि विमले रवौ॥

अ० हृ० सू० १६।१२

तैलं प्रावृषि वर्षान्ते सर्पिरन्यौ तु माधवे।
सर्वं सर्वस्य च स्नेह युञ्ज्याद् भास्वति निर्मले।
ऋतौ साधारणे ... ...

अ० सं० सू० २५।१५।१६

मज्जावसे वसन्ते, प्रावृषि तैलं पिबेच्छरदि सर्पिः।
सर्पिर्वा सर्वेषां सर्वस्मिञ्छस्यते पातुम्॥

—का० सं० सू० २२।१०

सर्पिरादिपानकालमाह-सर्पिः शरदीत्यादि। माधवे = वैशाखे, प्रावृडाषाढ श्रावणौ, यदुक्तं "प्रावृट् शुक्रनभौ ज्ञेयौ" (सि० अ० ६) इति। शरदि बहुपित्तत्वेन पित्तविरुद्धं घृतमेव यौगिकम्, नान्यस्तैलादिः। वसामज्जोस्तु नातिशीतोष्णत्वासाधारणोष्णयोस्तयोरनुपाने शीतत्वेन वा उष्णत्वेन वा निर्देशो न कृतः। "यथासत्वं तु शैत्योष्णे वसामज्जोर्विनिर्दिशेत्" (सू० अ० २६) इति तु वचनेन शैत्योष्णाभिधानं सामान्येन तैलसर्पिर्वदुष्णशैत्याभिधानान्न प्रकर्षप्राप्तशैत्योष्ण-

स्वप्रापकम् । अत एवोक्तम्—"तैलवसामज्जसर्पिषा तु यथापूर्वं श्रेष्ठत्वं वात विकारेषु भवति, यथोत्तरं पित्तविकारेषु" (वि० अ० ८) इति । तत्र उत्तरस्य सर्पिषः शैत्यात् पित्तहरत्वम्, तैलस्य तूष्णत्वाद्वातश्लेष्महरत्वम् वसामज्जोस्तु साधारणत्वेन मध्यगतत्वमिति स्थितम् । एवं वसामज्ज्ञोः साधारणत्वेन तथा बल्यत्वधातुवृद्धिकरत्वाभ्यामनतिशीतोष्णे तथा बलक्षयधातुक्षयासन्ने माधवे प्रायः प्रयोगो युक्तः । चैत्रस्तु मुख्यसाधारणगुणोऽपि प्रभूतश्लेष्मतया न स्नेह विषय इत्यनुक्तः । सामान्येन स्नेहोपयोगेऽशस्तं कालमाह-नात्युष्णेत्यादि । नात्युष्णे ग्रीष्मे, नातिशीते हेमन्ते शिशिरे च तथा वर्षजनितशैत्ये वर्षाकाले । अयं चानात्ययिकविकारे सति कालनियमो ज्ञेयः । अग्रे उष्णे शीते च काले स्नेहोपदेशात् ॥ चक्रपाणिः ॥

अनन्तरं स्नेहानामृतुविशेषेण नियमप्रदर्शनार्थमिदमाह । तैलं प्रावृषीत्यादि । प्रावृषि श्रावणे शोधनप्रसङ्गे तैलं स्नेहनाय शस्तम् । वर्षान्ते कार्तिके सर्पिः शस्तम् । अन्यौ शेषौ वसामज्जानौ माधवे वसन्ते चैत्रे । शोधनप्रसङ्गे प्रावृषि तैलं वातजयप्राधान्यात् । शरदि घृतम् पित्तजयाय । वमनप्रयोगे कफोक्लेशन-शक्तत्वात् सदृशेऽपि काले वसाया मज्ज्ञश्चोपयोगः । तथा सर्वो घृतादिस्नेहः सर्वस्य शोध्यस्याशोध्यस्य च साधारणे वसन्तशरत्प्रावृडाख्ये ऋतौ भास्वति तीक्ष्णरश्मौ निर्मले व्यभ्रे योज्यः । न त्वत्यर्थशीतोष्णवर्षाहेमन्तशिशिर ग्रीष्मा-ख्ये । इन्दुः ॥ (अ० हृ०)

हि० व्या०—स्नेहपान के काल का निर्देश करते हुए लिखा गया है कि चारों प्रकार के स्नेहों में घृत का शरद् ऋतु में सेवन करना चाहिए । वसा एवं मज्जा का वसन्त ऋतु (के उत्तरार्ध) या वैशाख में सेवन करना चाहिए और तैल का प्रावृट् ऋतु में सेवन करना चाहिए । अत्यन्त शीत एवं अत्यन्त उष्ण काल में स्नेह का सेवन कभी नहीं करना चाहिए । वाग्भट का अभिमत है कि साधारण ऋतु में खुले आकाश (बादल रहित) या स्वच्छ सूर्य के समय सभी के लिए सभी स्नेहपान हितकर है ।

वक्तव्य—घृत पित्तघ्न है । शरद् ऋतु में पित्त का स्वाभाविक रूप से प्रकोप होता है । अतः शरद् में घृत सेवन का निर्देश किया गया है, वसा एवं मज्जा का पान बलाधान के लिए उत्तम है । वैशाख में आदान काल का मध्य होता है । इसमें प्राणियों का बल स्वभाव से ही क्षीण हो जाता है । अतः वसा-मज्जा का सेवन बल को स्थिर करता है तथा दोषानुसार वसन्त, कफ प्रकोपकाल होने से वसा-मज्जा-पान हितकर है । वर्षा ऋतु में शीतलता बढ़ जाती है तथा वात का प्रकोप-काल भी यही है, अतः तैल का योग वातशमन हेतु प्रावृट् में करना चाहिए ।

दोषानुसार स्नेह-पान काल

तालिका

कुपित दोष	शीतकाल		उष्ण काल	
	दिवा	रात्रि	दिवा	रात्रि
वात	—	—	—	+
पित्त	—	—	—	+
कफ	+	—	—	—
वात-पित्त	—	+	—	+
वात-कफ	+	—	+	—

\+ सेवनीय

प्रवरावरस्नेहनप्रयोगकालः

स्नेहस्य प्रकर्षो तु सप्तरात्रत्रिरात्रकौ ॥
एकाहमुत्तमा पेया त्र्यहमेव तु मध्यमा । च० सू० १३।५१ ख
स्नेहमात्रा यथायोगं सप्ताहन्तु कनीयसी ॥

वंगसेने स्नेहपानाधि०

प्रकर्षावित्यल्पप्रकर्षभूयः प्रकर्षौ, तेन, अल्पत्वेन त्रिरात्रिकः प्रकर्षो भूयस्त्वेन साप्तरात्रिक इति च स्यात् । एतच्च वक्ष्यमाणसद्यः-स्नेहप्रयोगातिरिक्त प्रयोगे बोद्धव्यं, यदि वा, सद्यः स्नेहप्रयोगा अपि त्र्यहेणैव स्नेहयन्ति, स्तृत्यर्थं तु तेषु सद्य इत्युक्तम् । यदुक्तं-"त्र्यहावरं सप्तदिनं परं तु स्निग्धो नरः स्वेदयितव्य इष्टः । नातः परं स्नेहनमादिशन्ति सात्म्यी भवेत्सप्तदिनात्परं तु" (सि० अ० १) इति । चक्रपाणिः ।

हि० व्या०—ग्यारहवें प्रश्न- (प्रकर्षः स्नेहने च कः) स्नेह का प्रकर्ष काल क्या है ?—का उत्तर देते हुए बताया गया है कि स्नेहन का प्रकर्ष-काल सात दिन या तीन दिन है । स्नेह का प्रयोग अधिक से अधिक सात दिन और कम से कम तीन दिन तक करना चाहिए ।

आचार्य वंगसेन के अनुसार उत्तम मात्रा एक दिन, मध्यम मात्रा तीन दिन और जघन्यमात्रा एक सप्ताह पीनी चाहिए।

तैलसेवनकालो, घृतसेवनकालश्च

.....दोषसाम्येऽनिलकफे, कफे।
दिवा निश्यनिले पित्ते संसर्गे पित्तवत्यपि।
त्वरमाणे तु शीतेऽपि दिवा तैलं च योजयेत्।
उष्णेऽपि रात्रौ सर्पिश्च दोषादीन्वीक्ष्यचान्यथा।
निश्यश्नुते वातकफात् रोगानहनि पित्ततः॥

अ० सं० सू० २५।१६-१८

हि० व्या०—शीतकाल में यदि स्नेहपान की आवश्यकता हो तो तैल का सेवन करना चाहिए। उष्णकाल में तत्काल स्नेह की आवश्यकता हो तो रात्रि में घृत-सेवन करें।

पित्त अथवा वायु की प्रधानता में भी यदि सद्यः स्नेह की अवश्यकता हो तो रात्रि में घृत का सेवन करें।

सामन्यतः संशमनस्नेहपानकालः

पिबेत् संशमनं स्नेहमन्नकाले प्रकाङ्क्षितः॥

च० सू० १३।६१ (क)

अन्नकाले द्विप्रहरादिलक्षणे, बुभुक्षा कदाचिन्न स्यादपि, तदर्थं विशेषणम् "प्रकाङ्क्षितः" इति। चक्रपाणिः॥

हि० व्या०—दिन में अन्न के काल में अर्थात् दोपहर में, भोजन की इच्छा होने पर संशमन स्नेह का सेवन करें।

सामान्यतः शोधनस्नेहपानकालः

शुद्धयर्थं पुनराहारे नैशे जीर्णे पिबेन्नरः॥

च० सू० अ० १३।६१

शुद्धयर्थं स्नेहं नैशे=दिनान्तरकृत आहारे जीर्णे एव=प्रातरेव पिबेदित्यर्थः। संशमनार्थस् हो यदि जरणान्ते प्रातरेव क्रियते तदा कोष्ठोपलेपकदोषस्याक्षयान्तेन दोषेण सम्बद्धो दोषोत्क्लेशं कुर्यान्न संशमनं, संशोधनार्थस्तु दोषोत्क्लेशं करोतीत्यपेक्षणीय एवेति भावः। एतच्च कालकथनमुत्सर्गेण, तेन "वातपित्ताधिको रात्रौ" इत्युक्तकालविरोधो न स्यात्॥

चक्रपाणिः॥

हि० व्या०—रात्रि में ग्रहण किया गया भोजन जब पच जाए तब संशोधन के लिए स्नेहपान करना चाहिए।

वातपित्तकफदोषानुसारं स्नेहपानकालः

वातपित्ताधिको रात्रावुष्णे चापि पिबेन्नरः।
श्लेष्माधिको दिवा शीते पिबेच्चामलभास्करे॥ च० सू० १३।१६

कालविशेषे दोषविशेषे च पानक्रमं दर्शयति-वातेत्यादिना। वातश्च पित्तं च वातपित्तं तदधिको वातपित्ताधिकः। रात्राविति—सायम्, उष्णे=ग्रीष्मे, श्लेष्माधिकग्रहणमत्यन्तशीतविकारगृहीतपुरुषोपलक्षणार्थं तेन वातश्लेष्माधिकः श्लेष्माधिकश्च गृह्यते। अत एव सुश्रुतेऽप्युक्तं—"वातपित्ताधिको रात्रौ वातश्लेष्माधिको दिवा" (सु० चि० अ० ३१) इति केवलवाताधिकस्य तथा पित्ताधिकस्य श्लेष्माधिकस्य साधारणे च शरदादौ काले, उत्सर्गसिद्ध एव पानकालो वक्ष्यमाणो भवति। वक्ष्यति हि—"पिबेत्संशमनस्नेहमन्नकाले" इत्यादि। अन्ये तु ब्रुवते—वाताधिकग्रहणेन केवलवातस्यापि ग्रहणं श्लेष्माधिकव्यपदेशाच्च वातश्लेष्मपित्तश्लेष्मणोरपि ग्रहणमिति। शीते हेमन्तादौ, अमलः=प्रबलरश्मिर्यस्मिन् दिनस्य भागे भास्करः सोऽभास्करो मध्याह्न इति यावत्।

चक्रपाणिः॥

विपरीतकाले स्नेहपानजन्योपद्रवाणां वर्णनम्

अत्युष्णे वा दिवा पीतो वातपित्ताधिकेन वा।
मूर्च्छां पिपासामुन्मादं कामलां वा समीरयेत्॥
शीते रात्रौ पिबत्स्नेहं नरः श्लेष्माधिकोऽपि वा।
आनाहमरुचिं शूलं पाण्डुतां वा समृच्छति॥

च० सू० १३।२०-२१॥

शीतकाले दिवा स्नेहमुष्णकाले पिबेन्निशि।
वातपित्ताधिको रात्रौ वातश्लेष्माधिको दिवा॥
वातपित्ताधिकस्योष्णे तृष्मूर्च्छोन्मादकारकः।
शीते वातकफार्तस्य गौरवारुचिशूलकृत्॥

सु० चि० ३१।२२-२३
वङ्गसेन (स्नेहपाना०)

पित्तानिलप्रकृतयः स्नेहं रात्रौ पिबेयुरुष्णे च।
श्लेष्माधिको दिवोष्णे निर्मलसूर्ये लघुत्वे च॥

का० सं० सू० २२।१७

उक्तकालनियमविपर्यये दोषमाह—अत्युष्णे वेत्यादि। अत्युष्णे काले दिवा पीतः स्नेहः श्लैष्मिकस्यापि यथोक्तविकारकरः, तथा वातपित्ताधिकेन पीतः शीतकालेऽपि यथोक्तविकारकरः। एवं निशापानेऽपि वाक्यार्थः, परं निषिद्धस्य कालस्य दोषस्य च मेलकेऽत्यये चोक्त विकारप्रकर्षाऽपकर्षौ तर्कणीयौ।

चक्रपाणिः॥

ऋतुओं के अनुसार स्नेह-पान तालिका

च० = चरक संहिता। का० = काश्यप संहिता। अ० हृ० = अष्टांग हृदय एवं अष्टांग संग्रह

स्नेहों के नाम	वसन्त (उत्तरार्द्ध) च०वा०का०	ग्रीष्म च०वा०का०	वर्षा च०वा०का०	शरद् च०वा०का०	हेमन्त च०वा०का०	शिशिर च०वा०का०	प्रावृट् च०वा०का०	शीतकाल च०वा०का०	ऊष्ण काल च०वा०का०
घृत				+ + +			+ + +	— + — (आत्ययिक अवस्था में)	
वसा	+ + +								
मज्जा	+ + +								
तैल							+ + +	— + — (आत्ययिक अवस्था में)	

\+ सेवन करना चाहिए।

विशेष — काश्यप सं० के अनुसार घृत का सभी लोग सभी ऋतुओं में सेवन कर सकते हैं।

हि० व्या—दोष, ऋतु एवं अहोरात्र के अनुसार स्नेह-पान का निर्देश चरक, सुश्रुत एवं काश्यप संहिता में लगभग समान ही है।

(१) शीत ऋतु में दिन में एवं उष्ण ऋतु में रात्रि में स्नेह-पान कराना चाहिए।

(२) दोषानुसार वात एवं पित्त के आधिक्य में रात्रि के समय तथा कफ एवं पित्त की अधिकता में दिन के समय स्नेहपान कराना चाहिए।

(३) दिन में स्नेह-पान के लिए यह भी निर्देश किया गया है कि सूर्य निर्मल हो अर्थात् बादल आदि से रहित होना चाहिए। काश्यप के अनुसार शरीर में लघुता होने पर स्नेह-पान कराना चाहिए।

(४) इसके विपरीत क्रम में स्नेह-पान कराने से उपद्रवोत्पत्ति की संभावना रहती है। वात एवं पित्त की अधिकता में उष्ण ऋतु में दिन में स्नेह-पान कराने से तृष्णा, मूर्च्छा, उन्माद और कामला की उत्पत्ति हो जाती है। वात एवं श्लेष्मा की अधिकता में शीत-काल में स्नेहपान कराने से गुरुता, अरुचि पाण्डुता एवं शूल की उत्पत्ति हो जाती है।

स्नेहपाने कोष्ठविचारः

मृदुकोष्ठस्त्रिरात्रेण स्निह्यत्यच्छोपसेवया।
स्निह्यति क्रूरकोष्ठस्तु सप्तरात्रेण मानवः॥

च० सू० १३।६५

पिबेच्यहं चतुरहं पञ्चाहं षडहं तथा।
सप्तरात्रात् परं स्नेहः सात्म्यीभवति सेवितः॥

सु० चि० अ० ३१।३६

संस्निह्यति मृदुकोष्ठो नरस्त्रिरात्रेण, सप्तरात्रेण।
स्नेहाच्छपानयोगाज्जीवक ! यः क्रूरकोष्ठस्तु॥

का० सू० २२।३८

त्र्यहमच्छं मृदौ कोष्ठे क्रूरे सप्तदिनं पिबेत्।
सम्यक्स्निग्धोऽथवा यावदतः सात्मीभवेत्परम्॥

अ० हृ० सू० १६।२७, अ० सं० सू० २५।४१

तस्य स्नेहपानस्य कोष्ठापेक्षया काल-नियमं दर्शयन्नाह-पिबेदित्यादि। तत्र त्र्यहं मृदुकोष्ठापेक्षया, मध्यमकोष्ठापेक्षया तु चतुःपञ्चषडहानि, क्रूरकोष्ठापेक्षया तु सप्तरात्रम्। अन्ये तु मृदुतममृदुतरमृदुकोष्ठापेक्षया एकद्वित्र्यहम्, एवं मध्यमकोष्ठतरतममध्यात् चतुःपञ्चषडहानि, क्रूरक्रूरतरक्रूरतमकोष्ठापेक्षया सप्ताष्टनवापि, दिवसानीति। सात्म्यीभवतीति आत्मना सह वर्तत इति सात्म्यम्, असात्म्यं यत्र सात्म्यं भवति सात्म्यी भवति; आत्मशब्दोऽत्र देहपर्यायः, अयमर्थः—आत्मनि काये यद्वर्तते, यदुपशेते, न विकाराय भवति,

सुखं च करोतीत्यर्थः, तत् सात्म्यीभवतित्युच्यते; एतेन स्नेहकार्यमुत्क्लेशनादिकं न करोति आहारवच्च सात्म्यीभवति, अत एव सेवित इत्युक्तं; विषमपि स्वल्पं प्रतिदिनमुपयुज्यमानं न मारणात्मकं भवति । तच्च सात्म्यीभवनं वातप्रकृतावूर्ध्वाङ्गमारुते बोद्धव्यं, वातकफप्रकृतौ पुनरनुत्क्लेश एव ।। डल्हणः ।

हि० व्या०—अच्छ स्नेह-पान करने से मृदुकोष्ठ व्यक्ति तीन दिन में और क्रूरकोष्ठ व्यक्ति सात दिन में स्निग्ध हो जाता है। आचार्य सुश्रुत के अनुसार तीन, चार, पाँच या छह दिन तक स्नेह पिलाना चाहिए। सात दिन के उपर्यन्त सेवन किया गया स्नेह सात्म्य हो जाता है। महर्षि काश्यप के अनुसार मृदुकोष्ठ वाले तीन चार दिन में एवं क्रूर कोष्ठ वाले सात दिन में स्निग्ध हो जाते हैं। आचार्य वाग्भट के अनुसार मृदु एवं क्रूर कोष्ठ वाले व्यक्तियों को अच्छ स्नेह क्रमशः तीन दिन एवं सात दिन पान कराने से वे स्निग्ध हो जाते हैं। अथवा सम्यक् स्निग्ध होने तक स्नेह-पान कराया जा सकता है। इसके पश्चात् स्नेह सात्म्य हो जाता है।

उत्तमस्नेहमात्राप्रयोगस्थलानि

तासां प्रयोगान्वक्ष्यामि पुरुषं पुरुषं प्रति ।।
[1]प्रभूतस्नेहनित्या ये क्षुत्पिपासासहा नराः ।
पावकश्चोत्तमबलो येषां ये चोत्तमा बले ।।
गुल्मिनः सर्पदष्टाश्च विसर्पोपहताश्च ये ।
उन्मत्ताः कृच्छ्रमूत्राश्च गाढ़वर्चस एव च ।।
पिबेयुरुत्तमां मात्रां... ... ...।।

च० सू० १३।३०-३३

स्नेहप्रमाणं यद् बस्तौ निरूहस्त्रिगुणस्ततः ।
अतिव्यवायव्यायामपानयानाध्वसङ्गिनः ।।
वयस्थाः स्नेहसात्म्याश्च येषां चाग्निबलं दृढम् ।
येषां चाधः प्रकुपितो वायुर्वातात्मकाश्च ये ।।
तेषूत्तमां प्रणिदधेत् स्नेहमात्रां विचक्षणः ।
य एभ्यो मध्यमावस्थाः पुरुषास्तेषु मध्यमाम् ।।
वयोव्याधिबलावेक्षामितरामितरेषु च ।
इति कर्मादिबस्तीनां त्रितयं समुदाहृतम् ।।

का० खि० ८।१०९-११२

दीप्ताग्नयो बलिनः स्नेहनित्या
उन्मादिनो धृतिविण्मूत्रसक्ताः ।

१ प्रभूतस्नेहनित्या=प्रभूतस्नेहसात्म्याः । चक्रपाणिः ।।

गुल्मार्दिताश्चाहिदष्टा विरूक्षा
वैसर्पिणः प्रवरां ते पिबेयुः ।।

का० सू० २२।२०

[1]महादेहानलबलक्षुत्तृट्क्लेशसहिष्णुभिः ।
गुल्मोदावर्त्तवीसर्पसर्पदंशाभिपीडितैः ।
उन्मत्तैः कृच्छ्रमूत्रैश्च महती[2] शीघ्रमेव सा ।।
सर्वमार्गानुसारेण जयेद् व्याधीन्सुयोजिता ।

अ० सं० सू० २५।२७-२८

ज्येष्ठा कुष्ठविषोन्माद-ग्रहापस्मारनाशिनी ।।

भा० प्र० पू० ख० (स्नेहन प्र०)

हि० व्या०—स्नेह की कितनी मात्रा किसके लिए उपयोगी है, इस विषय में लिखा है कि—उत्तम, मध्यम एवं ह्रस्व स्नेह-मात्राओं का प्रयोग विविध प्रकृति तथा बलानुसार विभिन्न पुरुषों के लिए पृथक्-पृथक् निर्दिष्ट है।

उत्तम मात्रा-सेवन-योग्य रोग एवं रोगी

जो पुरुष प्रतिदिन प्रभूत मात्रा में स्नेह-सेवन का अभ्यासी हो, जो भूख एवं प्यास को सहन कर सकता हो, जिस पुरुष की जठराग्नि प्रबल हो, जिसका शारीरिक बल उत्तम हो, उन पुरुषों को तथा गुल्म रोगी, जिसे साँप ने काटा हो, जो विसर्प, उन्माद एवं मूत्रकृच्छ्र रोग से पीड़ित हो तथा जिसका मल सूखा हो। वे स्नेह की उत्तम मात्रा के योग्य होते हैं। इस विषय में काश्यप का विचार है कि जो अत्यन्त मैथुन, व्यायाम, मद्य-पान, हाथी घोड़े की सवारी तथा अधिक मार्ग-गमन से श्रान्त हो, जिसकी आयु स्थिर हो, जिसे स्नेह सात्म्य हुआ हो, जिसकी जठराग्नि प्रबल हो, जिसके शरीर के अधोभाग में वात-प्रकोप हो या जो वात-प्रकृति का हो, उसके लिए स्नेह की उत्तम मात्रा का प्रयोग कराना चाहिए। जो ऊपर बताये गये विवरण में मध्य बल हो, उसे मध्यम मात्रा देनी चाहिए तथा जो व्यक्ति रोग या बल की दृष्टि से हीन हो उसे स्नेह की हीन मात्रा देनी चाहिए।

इसी प्रकार स्नेह की उत्तम मात्रा उसे देनी चाहिए जिसकी जठराग्नि दीप्त हो, जो बलवान् हो, जो प्रतिदिन स्नेह का प्रयोग करने वाला हो, उन्माद रोगी, जिसकी धारण-शक्ति कमजोर हो, जिसे मल एवं मूत्र कठिनता

१ महादेहादिभिस्तथा गुल्माद्यभिपीडितैस्तथोन्मत्तैः कृच्छ्रमूत्रैश्च महती पेयेति सम्बन्धः । महच्छब्दस्य देहादित्रयेण समासः । इन्दुः

२ सा हि महती मात्रा सर्वमार्गानुसारेण सकलस्रोतोऽनुगमनेन करणभूतेन सुयोजिता सती शीघ्रमेव व्याधीन्जयेत् । दुर्योजिता त्वजीर्णादीन् व्याधीनावहतीति तात्पर्यार्थः । इन्दुः ।।

से आता हो, जो गुल्म रोगी हो, जो सर्प से दष्ट हो, जिसकी प्रकृति रूक्ष हो और जो विसर्प-रोगी हो।

वक्तव्य—यहाँ अन्य विद्वानों ने चरक के अनुसार ही उत्तम मात्रा के योग्य रोग एवं रोगी बताये हैं।

उत्तमस्नेहमात्रापानगुणाः

तस्याः पाने गुणान् शृणु।
विकारान् शमयत्येषा शीघ्रं सम्यक्[1] प्रयोजिता।
दोषानुकर्षिणी मात्रा सर्वमार्गानुसारिणी।
बल्या पुनर्नवकारी शरीरेन्द्रियचेतसाम्॥

च० सू०-१३-३३-३४

त्रिविधस्नेहमात्रा फलानि

दोषानुकर्षिण्यनुसारिणी च
यत्नोपचर्या बलवर्धनी च।
ज्येष्ठाऽथ मध्या न बलं निहन्ति
त्वन्योन्ययोः (?) स्नेहयते सुखाच्च॥
ह्रस्वापरीहारसुखाऽविकारा
वृष्याऽथ बल्याऽप्यनुवर्तनी च।
देशं वयः कालबलाग्निसात्म्या-
न्यालक्ष्यमात्रां मतिमान् विदध्यात्॥

का० सं० सू० २२।२३-२४

दोषकालवयोवह्निबलानुसारिणी स्नेहमात्रा

दोषकालवयोवह्नि-
बलान्यालोक्य योजयेत्।
हीनश्च मध्यमां ज्येष्ठां
मात्रा स्नेहस्य बुद्धिमान्॥
स्नेहः करोति शोथार्श-
तन्द्रा-निद्राविसंज्ञताः॥

भाव प्र० स्नेहाधिकारः ६-७॥

हि० व्या०——जिन रोगों में उत्तम मात्रा दी जाती है स्नेह शीघ्र ही उन्हें शान्त करता है। यह मात्रा सभी मार्गों का अनुसरण करती हुई दोषों का अनुकर्षण करती है। शारीरिक बल बढ़ाने वाली है। शरीर, इन्द्रियों एवं मानसिक विकारों को दूर कर पुनः शरीरादि में नवीनता लाती है।

टिप्पणी—सम्यग्योजितेतिवचनेन महाव्यापत्तित्वमस्याः सूचयति। सर्वमार्गाः कोष्ठसन्धिमर्मशाखाः पुनर्नवकरी निः शेषदोषहरत्वेन। चक्रपाणिः॥

महर्षि काश्यप के अनुसार—

(क) स्नेह की उत्तम मात्रा रोग के तीनों मार्गों (शाखा, मर्मास्थिसन्धि और कोष्ठ) में जाकर दोषों को क्षीण (नष्ट) करती हैं। उत्तम मात्रा का सेवन सावधानी-पूर्वक करना चाहिए। इस मात्रा से बल-वर्धन होता है।

(ख) मध्यम मात्रा बल का नाश नहीं करती तथा आसानी से स्नेहन हो जाता है।

(ग) ह्रस्व मात्रा के सेवन करने में विशेष पथ्य-पालन की आवश्यकता नहीं होती। इससे किसी विशेष उपद्रव की संभावना भी नहीं होती। यह वृष्य (वीर्योत्पादक) है। बल-वर्धक है। इसका चिरकाल तक शरीर पर प्रभाव रहता है। बुद्धिमान वैद्य को देश, काल, वयस्, अग्नि-बल, सात्म्य आदि का विचार कर मात्रा का निर्धारण करना चाहिए।

उत्तममध्यमह्रस्वस्नेहमात्रा-वर्णनम्

अहोरात्रमहः कृत्स्नमर्द्धाहं च प्रतीक्षते।
प्रधाना मध्यमा ह्रस्वा स्नेह मात्रा जरां प्रति॥
इति तिस्रः समुद्दिष्टा मात्राः स्नेहस्य मानतः।

च० सू०१३।२९-३०

स्नेहाच्छपाने त्रिविधा तु मात्रा
ह्रस्वाऽथमध्या महती तृतीया।
ह्रस्वा दिनार्धेन, दिनेन मध्या,
जीर्यत्यहोरात्रवशात् प्रधाना॥ का० सू० २२।१७
द्वाभ्यां चतुर्भिरष्टाभिर्यामैर्जीर्यन्तियाः क्रमात्।

अ० सं० सू० २६।२२

अहोरात्रशब्दोऽष्टप्रहरोपलक्षणः, एवमहः शब्दार्द्धाहशब्दौ चतुःप्रहरद्विप्रहरोपलक्षणौ, तेन प्रहराद्यतीतेऽप्यहनि पीता मात्रा यथोक्तप्रहरकालप्राप्त्या दिनान्तरे रात्रौ वा जीर्यमाणा मन्तव्या, अन्ये त्वहोरात्र-शब्देन न्यूनेनाप्यहा युक्ता रात्रिरहोरात्रेणेवोच्यते, कृत्स्नार्द्धाहौ तु प्रहरोपलक्षणाविति वदन्ति। अत्र यदाऽहोरात्रपरिणामिनी मात्रा क्रियते, तदा तदहराहारो न कर्तव्यः। चक्रपाणिः॥

अहोरात्रेण महती जीर्यत्यह्नि तु मध्यमा।
दिनार्धे चापरास्तिस्रः स्नेहमात्राः प्रमाणतः॥

वंगसेन स्नेहाधि० १३

अथवा स्नेहमात्राः स्युस्तिस्रोऽन्याः सर्वसम्मताः।
अहोरात्रेण महती जीर्यत्यह्नि तु मध्यमा।
जीर्यत्यल्पा दिनार्द्धेन सा विज्ञेया सुखावहा॥

भा० प्र० पूर्वार्द्ध स्नेहपानाधि०

हि० व्या०—स्नेह की मात्रा तथा मान-प्रमाण (कति मात्राः कथं मानाः) इस प्रकार हैं—प्रधान, मध्य और ह्रस्व, ये स्नेह की त्रिविध मात्रायें होती हैं। जो मात्रा दिन-रात (२४ घंटे) में पच जाय वह प्रधान मात्रा, जो दिन भर (१२ घंटे) में पच जाए वह मध्यमा मात्रा, जो आधे दिन (छः घंटे) में पच जाए वह स्नेह की छोटी मात्रा कही जाती है। यह मात्रा अच्छ स्नेह की है। आचार्य काश्यप, वाग्भट, बंगसेन एवं भावमिश्र ने भी चरक के विचार का अनुकरण किया है।

अच्छस्नेहनस्यप्रयोगकाल-विचारः

ह्यस्तने जीर्ण एवान्ने स्नेहोऽच्छः शुद्धये बहुः ॥

अ० हृ० सू० १६।१९

ह्यस्तनेऽन्न आहारे जीर्ण एव जीर्णमात्र एव न त्वन्नाभिलाषे इति शुद्धये शोधनार्थं बहुरुत्तमया मात्रया स्नेहोऽच्छः केवलः पेयत्वेन शस्यते। संजातबुभुक्षेण तु पीतो जाठरानलस्य दीप्तत्वाच्छोधनकार्यमकुर्वाणास्तद्योग्यतां चानुत्पादयन्नाश्वेव जरामुपैति। वमनमपि बुभुक्षितस्य न संपद्यते कफाऽपचितेः पूर्वोक्ताद्धेतोः। तस्माद्युक्तमुक्तं ह्यस्तने जीर्ण एवान्न इति। अरुणदत्तः ॥

इदानीं तिसृणां स्नेहमात्राणामुपयोगकालमसुलभयोगविषयं विभजन्नाह—ह्यस्तनेऽन्ने जीर्णमात्र एव तत्काल एव न जातायां बुभुक्षायां शोधनार्थं बहुस्नेहः पेयत्वेनेष्टः केवलः शस्यते। अत एवकारोऽत्रावधारणार्थः कृतः। ह्यस्तने जीर्ण एवान्ने इति प्रधाना स्नेहमात्रा पेयत्वेन शस्यते। न जातायां बुभुक्षायां यत आश्वेव जरां याति संशोधनमकुर्वन्नग्नेर्दीप्तत्वात्। तथा चोक्तम्। "रूक्षबद्ध-निलक्रूरकोष्ठव्यायामशालिनाम्। दीप्ताग्नीनां च भैषज्यमविरेच्यैव जीर्यते" इति। चन्द्रनन्दनः ॥

शोधनस्याच्छपेयस्य कालं मात्रां चाह—जीर्ण एव जरणसमनंतरमेव क्षुधितत्वस्य शमनकालत्वात्। शुद्धये शुद्ध्यर्थं शुद्ध्यर्थत्वं च स्नेहधारणेन साक्षात्। अत एवात्र तादर्थ्ये चतुर्थी। शमनबृंहणौ तु स्वय साधनत्वाच्छमनबृंहणशब्दाभ्यामुक्तौ। स्वयं शोधनस्य तु स्नेहस्य विरेचनोक्तैव मात्रा बहुरुत्तममात्रः। संग्रहे तु "वाते सलवणं सर्पिः पित्ते केवलमिष्यते। वैद्यो दद्याद्बहुकफे क्षारत्रिकटुकान्वितम्॥' इति॥ हेमाद्रिः।

आसां मात्राणां विषयविभागमुखेन शोधनशमनबृंहणभेदात्त्रिविधस्य सेवाकालमाह—ह्यस्तनेनेति। शुद्धये अच्छः स्नेहः ह्यस्तने अन्ने जीर्णे एव बहुः शस्यते। शोधनाङ्गस्नेहनाय स्नेहोपयोगे कर्त्तव्ये अच्छः केवलस्नेहः पूर्वंदिवसभुक्तान्ने जीर्णे एव क्षुदुत्पत्तेः पूर्वमेव उत्तमया मात्रया पेयत्वेन शस्यते सेव्य इत्यर्थः। सञ्जातबुभुक्षेण तु पीतो जाठरानलस्य दीप्तत्वाच्छोधनकार्यमकुर्वाणस्तद्योग्यतामनुत्पादयन्नाश्वेव जरामुपैतीति। परमेश्वरः ॥

हि० व्या०—विगत दिन में किये गये आहार के जीर्ण हो जाने पर, संशोधन के लिए उत्तम मात्रा का प्रयोग करना चाहिए।

मध्यमस्नेहमात्राप्रयोगस्थलानि तत्र युक्तिश्च

[1]अरुष्कास्फोटपिडकाकण्डूपामाभिरर्दिताः।
कुष्ठिनश्च प्रमीढाश्च वातशोणितिकाश्च ये॥
नातिबह्वाशिनश्चैव मृदुकोष्ठास्तथैव च।
पिबेयुर्मध्यमां मात्रां मध्यमाश्चापि ये बले॥
मात्रैषा मन्दविभ्रंशा न चातिबलहारिणी।
सुखेन च स्नेहयति शोधनार्थे च युज्यते॥

च० सू० १३।३५-३७

या मात्रा वासरस्यार्धे व्यतीते परिजीर्यति।
सा वृष्या बृंहणी च स्यान्मध्यदोषे प्रपूजिता॥

सु० चि० ११।२६ भाव प्र० स्नेहा०

मेहेरुपिटिकाकुष्ठवातशोणितपीडितैः।
मध्यमा मृदुकोष्ठैश्च स्नेहनी स्यात्सुखेन सा॥
न बल-क्षपणी मन्दविभ्रंशा शुद्धयेऽप्यलम्।

अ० स० सू० २५।२६

प्रमेहकुष्ठानिलशोणितारुचि-
विचर्चिकास्फोटविषेषुकण्डौ।
मृदौ तथाऽग्नौ प्रवदन्ति मध्यां,
बले च मध्या अशने च ये स्युः॥

का० सं० सू० २२।-

मध्यमा स्नेहनी ज्ञेया बृंहणी भ्रमहारिणी॥

भा० प्र० पू० ख० (स्नेह०)

मेहादिपीडितैर्मृदुकोष्ठैश्च मध्यमा पेयेति सम्बन्धः। सा हि मध्यमा सुखेनानायासेन स्नेहनी स्यात्। तथा न च बलक्षपणी मन्दविभ्रंशा व्यापन्नापि सति स्वल्पा पाययेत्यर्थः। तथा शुद्धये दोषाणां शोधनायालं पर्याप्ता। इन्दुः॥

हि० व्या०—मध्यम मात्रा में सेवन योग्य रोग एवं रोगी— छोटी-छोटी फुंसियों या रूसी, बड़े-बड़े फफोले, पिडका, सूखी खुजली, पामा, इन रोगों से पीड़ित (ग्रस्त) रोगी, कुष्ठ के रोगी, प्रमेही, वातरक्त से ग्रस्त और जो अधिक खाने वाला नहीं है, जिसका कोष्ठ मृदु है और बल मध्यम

---

१. अरुष्काऽरुंषिका। चक्रपाणिः॥

है इस प्रकार के रोगी को मध्यम मात्रा में स्नेहपान कराना चाहिए। मध्यम मात्रा में स्नेह-पान करने से उपद्रव होने का भय नहीं होता है। इस मात्रा का नाम "मन्दविभ्रंशा" है। इससे बल कम नहीं होता, सुखपूर्वक शरीर का स्नेहन होता है और शोधनार्थ इसका प्रयोग होता है।

ह्रस्वस्नेह-मात्रा प्रयोगस्थलानि

ये तु वृद्धाश्च बालाश्च सुकुमाराः सुखोचिताः।
रिक्तकोष्ठत्वमहितं येषां मन्दाग्नयश्च ये॥
ज्वरातीसारकासाश्च येषां चिरसमुत्थिताः।
स्नेहमात्रां पिबेयुस्ते ह्रस्वां ये चावरा बले॥

च० सू० १३।३८-३९

बालेषु वृद्धेषु सुखोचितेषु
जीर्णेऽति सारे ज्वरकासयोश्च।
येषां हि कोष्ठो न गुणाय रिक्तो
मन्दाग्निकार्श्ये च कनीयसी स्यात्॥

का० सू० २२।२२

तत्र दुर्बलमन्दाग्निबालवृद्धसुखात्मकैः।
अपथ्यरिक्तकोष्ठैश्चज्वरातिसारकासिभिः॥
ह्रस्वा पेया सुखा साहि परिहारे न वर्त्तते।
चिराच्च बल्या न रुजे व्यापन्नाऽपि प्रकल्पते॥

अ० सं० सू० २५।२४-२५

तत्रेत्यादि। तत्र मात्रात्रये ह्रस्वा मात्रा दुर्बलादिभिः पेया। अपथ्यमहितं रिक्तकोष्ठत्वं येषां तैरपथ्यरिक्तकोष्ठत्वैर्ह्रस्वा-पेया। सा हि ह्रस्वा परिहारे यन्त्रणायां सुखा न दुःखपरिहारा चिरं बहुकालं च शरीरेऽनुवर्त्तते। अबलानां बल्या भवति। देशकालापचारादिना व्यापन्ना विरमितापि रुजे रोगाय न प्रवर्त्तते।

इन्दुः॥

अल्पा स्याद्दीपनी वृष्या स्वल्पदोषे प्रपूजिता॥

भाव प्र० पू० ख०
स्नेहपानाधिकार १०-(क)

ह्रस्वस्नेहमात्रापानगुणाः

परिहारे सुखा चैषा मात्रा स्नेहनबृंहणी।
वृष्या बल्या निराबाधा चिरं चाप्यनुवर्तते॥

च० सू० १३।४०

या मात्रा प्रथमे यामे गते जीर्यति वासरे।
सा मात्रा दीपयत्यग्निमल्पदोषे च पूजिता॥

(भाव प्र० स्नेहा०)

हि० व्या०—अल्प (ह्रस्व) मात्रा में स्नेह-सेवन-योग्य रोग-रोगी एवं पान के गुण—वृद्ध, बालक, सुकुमार, सुखासीन, कोष्ठ की रिक्तता पर कष्ट अनुभव करने वाले, मन्दाग्नि के रोगी, चिरकाल से ज्वर, अतिसार' कास के रोगी तथा अल्प बल युक्त व्यक्ति को स्नेह की ह्रस्व मात्रा सेवन करनी चाहिए। ह्रस्व मात्रा के लिए नियमपालन आवश्यक नहीं है। यह मात्रा शरीर का स्नेहन एवं बृंहण करती है। शुक्रोत्पादक एवं बल-वर्धक है। इससे किसी प्रकार का उपद्रव नहीं होता है। शरीर में स्नेह का गुण बहुत दिनों तक वर्तमान रहता है। महर्षि काश्यप ने जीर्ण अतिसार में भी अल्प मात्रा का प्रयोग निर्दिष्ट किया है। अन्य आचार्यों के विचार चरक के समान ही दृष्टिगोचर होते हैं।

या मात्रा परिजीर्येत चतुर्भागगतेऽहनि।
सा मात्रा दीपयत्यग्निमल्पदोषे च पूजिता॥
या मात्रा परिजीर्येत तथाऽर्धदिवसे गते।
सा वृष्या बृंहणी या च मध्यदोषे च पूजिता॥
या मात्रा परिजीर्येत चतुर्भागावशेषिते।
स्नेहनीया च सा मात्रा बहुदोषे च पूजिता।
या मात्रा परिजीर्येत्तु तथा परिणतेऽहनि॥
ग्लानिमूर्च्छामदान् हित्वा सा मात्रा पूजिता भवेत्।
अहोरात्रादसंतुष्टा या मात्रा परिजीर्यति।
सा तु कुष्ठविषोन्मादग्रहापस्मारनाशिनी॥
यथाग्नि प्रथमां मात्रां पाययेत विचक्षणः॥

सु० चि० ३१।२५-३०॥

त्रिकर्षादर्धकर्षेण वृद्धिः सार्धपलं तथा।
ततः कर्षाभिवृद्धिश्च भवेद्यावत्पलत्रयम्॥
ततोऽपि च पलार्धेन वृद्धिर्यावच्च षट्पलम्।
मात्रेयं स्नेहपानस्य जघन्यामध्यमोत्तमा॥

वङ्गसेने (स्नेपानाधि०)

देया दीप्ताग्नये मात्रा स्नेहस्यैकपलोन्मिता।
[1]मध्यमाय त्रिकर्षा स्याज्जघन्याय[2] द्विकार्षिकी॥

भाव० प्र० स्नेहा०

१. मध्यमाय मध्यमाग्नये।
२. जघन्याय हीनाग्नये।

हि० व्या०—आचार्य सुश्रुत ने अच्छ स्नेह की पाँच मात्राओं का उल्लेख किया है।

१ जिस मात्रा का दिन के चतुर्थांश (एक प्रहर या ३ घंटे) के व्यतीत होने पर पाचन होता है, वह अग्नि को दीप्त करती है तथा अल्प दोष वाले आतुर के लिए श्रेष्ठ होती है।

२. जो मात्रा आधा दिन (२ प्रहर या छः घंटे) व्यतीत होने पर जीर्ण होती है वह वृष्य और बृंहण होती है तथा मध्य दोष वाले आतुर के लिए उपयुक्त होती है।

३. जो मात्रा दिन का चतुर्थांश शेष रहने पर (तीन प्रहर या ९ घंटे में) जीर्ण होती है, वह स्नेहन के योग्य होती है तथा अधिक दोष वाले आतुर के लिए इसका प्रयोग श्रेष्ठ है।

४. स्नेह की जो मात्रा दिवस की समाप्ति पर (१२ घंटे में) जीर्ण होती है तथा जिसके सेवन से ग्लानि, मूर्च्छा और मद उत्पन्न नहीं होते वह श्रेष्ठ है।

५. जो मात्रा दोषों को दूषित किए बिना दिन रात (२४ घंटे) में जीर्ण होती है वह कुष्ठ, विष, उन्माद, ग्रह और अपस्मार-नाशक होती है।

आचार्य वंगसेन ने स्नेह-मात्रा का मान-निर्देश करते हुए स्नेह की मात्रा तीन कर्ष की बताई है, क्रमशः आधा-आधा कर्ष तीन पल तक तथा पश्चात् आधा-आधा पल बढ़ाकर छः पल तक दें। यह उत्कृष्ट मात्रा है। तीन कर्ष की जघन्य, तीन पल की मध्यम और छह पल की मात्रा उत्तम बताई गई है। आचार्य भावमिश्र के अनुसार स्नेह की मात्रा प्रदीप्त अग्नि वाले को ४ तोले, मध्यम अग्नि वाले को ३ तोले और मन्द अग्नि वाले व्यक्ति को २ तोले देनी चाहिए।

अच्छपानस्नेहमात्राकालयोः संकेतः।

व्यहमच्छं[1] मृदौ कोष्ठे क्रूरे सप्तदिनं पिबेत।
सम्यक् स्निग्धोऽथवा यावदतः[2] सात्मी[3] भवेत्परम् अ० हृ० सू० १६।३०

---

१ व्यहमिति मृदौकोष्ठे अच्छं व्यहं पिबेत्। क्रूरे सप्तदिनं पिबेत्। अथवा यावत् सम्यक् स्निग्धस्तावत् पिबेत्। मृदु कोष्ठो नरस्त्रिदिनमच्छं पिबेत्। क्रूर कोष्ठः सप्ताहम्। तयोस्तावताकालेन स्निग्धता दर्शनात्। मध्यकोष्ठस्तु चत्वार्यहानि पञ्च वा पिबेदित्यर्थात् गम्यते। अथवा नैष नियमः। परमेश्वरः॥

२ (क) यावद् वातानुलोम्यमित्यादि सम्यक् स्निग्धलक्षणोत्पत्तिस्तावत्कालं स्नेहं पिबेदेवेति।
परमेश्वरः।

(ख) यावता कालेन सम्यक् स्निग्ध लक्षणानि जायन्ते तावन्तं कालं पिबेदित्यर्थः।
चन्द्रनन्दनः॥

३. सात्मीभूतस्य दोषत्वमुक्तं संग्रहे "सात्मीभूतो हि कुरुते न मलानामुदीरणम्। अतियोगेन वा व्याधीन् यथाम्बोद्योति योजनात्॥ विहत्य सेतुं मृत्कोष्ठान् स्रवति क्षपयन्मृदम्॥ स्नेहोऽप्यग्निं तथा हत्वा स्रवति क्षपयंस्तनुम्" इति॥ हेमाद्रिः॥

अच्छ स्नेहपान की जीर्ण-कालानुसार मात्रा-निर्धारण, प्रयोग-स्थल एवं गुण विवरण तालिका

ग्रन्थ का नाम	मात्रा-नाम (परिमाण)	जीर्णकाल	प्रयोज्य स्थल (रोगी एवं रोगानुसार)	गुण उपयोग
चरक-संहिता वाग्भट काश्यप-संहिता वंगसेन	१ प्रधान या उत्तम मात्रा	६ प्रहर या २४ घण्टे में जीर्ण होने वाली	१. जो व्यक्ति प्रतिदिन प्रभूत मात्रा में स्नेह सेवी हो २. जो भूख प्यास सहिष्णु हो ३. प्रबल जाठराग्नि वाला ४. उत्तम शारीरिक बल-युक्त ५. गुल्म रोगी ६. जिसे सांप ने काटा हो ७. विसर्प-रोगी ८. उन्माद रोगी ९. मूत्रकृच्छ्र रोगी १०. जिसका मल सूखा हो ११. जिसकी धारण शक्ति कमजोर हो १२. रूक्ष प्रकृति वाला १३. क्लेश-सहिष्णु १४. उदावर्त रोगी १५. जो अत्यन्त मैथुन, व्यायाम मद्यपान, यान (सवारी) तथा अधिक मार्ग गमन से श्रान्त है; स्नेह-सात्मी, स्थिरायु जिसके अधो भाग में वात प्रकुपित हो। तथा जो वात-प्रकृति वाला है।	१. शीघ्र रोगों को शान्त करती है। २. सभी मार्गों का अनुसरण करते हुए दोषों का अनुकर्षण करती है। ३. शारीरिक बल बढ़ाने वाली है। ४. शरीर, इन्द्रिय एवं मानसिक विकारों को दूर कर पुनः नवीनता प्रदान करती है।

२ मध्यम मात्रा	४ प्रहर या १२ घण्टे में जीर्ण होने वाली	१. जिसे छोटी फुंसियाँ या रूसी हो २. जिसे बड़े-बड़े फफोले हों ३. जिसे पिड़का हो ४. जिसे सूखी कण्डु हो ५. जिसे पामा हो ६. कण्डु युक्त ७. कुष्ठी ८. प्रमेही ९. वातरक्त १०. जिसे अरूचि हो ११. जिसका कोष्ठ मृदु हो १२. जिसका बल मध्यम हो	१. इससे मल कम नहीं होता। २. सुख-पूर्वक शरीर का स्नेहन होता है। ३. इसका प्रयोग शोधनार्थ होता है।
३ ह्रस्व मात्रा	२ प्रहर या ६ घण्टे में जीर्ण होने वाली	१. वृद्ध २. बालक ३. सुकुमार ४. सुखासीन व्यक्ति ५. कोष्ठ की रिक्तता पर कष्ट अनुभव करने वाले व्यक्ति को ६. जिसकी मन्दाग्नि हो ७. अल्प बल युक्त व्यक्ति को भी ह्रस्व मात्रा प्रयोग करानी चाहिए। विशेष—इस मात्रा के लिए नियम पालन आवश्यक नहीं है।	१. जो रोग या बल की दृष्टि से हीन हो उसके लिए। २. बालक ३. वृद्ध ४. जीर्ण रोग युक्त ५. अतिसार ६. सुखाभ्यासी ७. रिक्त कोष्ठ होने पर जिन्हें कष्ट होता है उनके लिए उपयोगी। ८. कृश व्यक्तियों के लिए उपयोगी है। ९. मन्द जाठराग्नि वालों के लिए भी उपयोगी है।

विशेष—काश्यप ने ह्रस्व मात्रा को कनीयसी तथा वाग्भट् ने ३ घण्टे में जीर्ण होने वाली मात्रा को ह्रसीयसी कहा हैं।

सुश्रुत			
१. अहोरात्र (२४ घण्टे में) जीर्ण होने वाली	८ प्रहर या २४ घण्टे में	दोषों को दूषित नहीं करती	उत्तम मात्रा
२. दिवस समाप्ति पर जीर्ण होने वाली	४ प्रहर या १२ घंटे	— — .	श्रेष्ठ मात्रा
३. चतुर्थांश भाग दिन शेष रहने पर जीर्ण होने वाली	३ प्रहर या ९ घण्टे	अधिक दोष वाले आतुर के लिए	प्रबल-दोष
४. आधे दिन में जीर्ण होने वाली	२ प्रहर या ६ घण्टे	मध्य दोष आतुर के लिए	बृंहणी मात्रा
५. दिन के चतुर्थांश में जीर्ण होने वाली	१ प्रहर या ३ घण्टे	अल्प दोष आतुर के लिए	साधारणमात्रा

यह कुष्ठ, विष, उन्माद, ग्रह, ग्लानि, मूर्च्छा, भ्रम एवं अपस्मार रोग-नाशक है और स्नेहन-योग्य, वृष्य, बृंहण, श्रम-हारिणी तथा अग्नि दीपक है।

विशेष

बंगसेन

मात्रा-काल—उत्तम मात्रा १ दिन सेवनीय
मध्यम मात्रा ३ दिन सेवनीय
जघन्य मात्रा १ सप्ताह सेवनीय

मात्रा-मान—जघन्य ३ कर्ष
मध्यम ३ पल
उत्तम ६ पल

नोट—३ पल तक $\frac{1}{2}$-$\frac{1}{2}$ कर्ष क्रमशः बढ़ाना चाहिए।
पश्चात्—६ पल तक $\frac{1}{2}$-$\frac{1}{2}$ पल क्रमशः बढ़ाना चाहिए।

अष्टांग-हृदय एवं संग्रह

दशविध परीक्षा एवं दोष दूष्यादि की स्थिति के अनुसार—

१ अज्ञात कोष्ठ वाले व्यक्ति को सर्व-प्रथम छोटी मात्रा देनी चाहिए। इससे कोष्ठ का ज्ञान हो जाता है।
२. शोधन के लिए अच्छ स्नेह की उत्तम मात्रा का प्रयोग
विगत दिन किये गये भोजन के पाक होने पर कराना चाहिए।

भाव प्रकाश

मात्रा-प्रयोग—दोष, ऋतु-काल, वय, बल, अग्नि तथा सात्म्य के अनुसार हीन, मध्यम तथा उत्तम मात्रा का प्रयोग कराना चाहिए।

१. पित्त की अधिकता में केवल घृत
२ वायु की अधिकता में चित्रक, सौंठ मिर्च, पिप्पली तथा यव-क्षार चूर्ण के साथ घृत देना चाहिए।

प्रदीप्ताग्नि वाले को १ पल २ तोले
मध्यम अग्नि वाले को ३ तो
मन्दाग्नि वाले को २ तो

मृदौ कोष्ठे सति पुरुषस्त्रिदिनमच्छं स्नेहं पिबेत्। क्रूरकोष्ठे सप्ताहम्। मध्यकोष्ठस्तु षड्रात्रम् मध्यकोष्ठस्त्वत एव लक्षणादधिगम्यते। मृदुकोष्ठे च स्नेहगो दोषः संग्रहे कथितः। यथा चत्वार्यहानि पञ्च वा स्नेहं पिबेदिति। यदिच त्र्यहेण सम्यक् स्निग्धलक्षणं न स्यात्ततश्चतुष्पंचरात्रमपि स्नेहं पिबेत्। मध्यकोष्ठस्तु षड्रात्रं पिबेदित्याह। सम्यक् स्निग्धोऽथवा यावदित्यादि। अथवा नैष नियमः सम्यक् स्निग्धलक्षणोत्पत्ति नियमोऽतः सप्ताहादप्यूर्ध्वमच्छस्नेहः पेयो यावत्स्निग्धलक्षणं स्यात्। अतः परं स्नेहः सात्मीभवेत्। सात्मी भूते च स्नेहे यो दोषः स संग्रहे कथितः। यथा—"सात्मीभूतो हि कुरुते न मलानामुदीरणम्। अतियोगेन वा व्याधीन् यथाऽम्भो ह्यतियोजनादिति।"

यदि तु सप्ताहेनाऽपि स्नेहलक्षणं नोत्पद्यते तदा दिनमेकं विश्रमय्य पुनः स्नेहो योज्य इति सद्वैद्याः॥ अरुणदत्तः॥

अच्छस्नेहपान की कालावधि।

हि० व्या—अच्छस्नेह, मृदुकोष्ठ वाले को तीन दिन तक, मध्यम कोष्ठ वाले को छह दिन तक और क्रूरकोष्ठवाले को सात दिन तक पीना चाहिए। अथवा जब तक कोष्ठ सम्यक् स्निग्ध न हो जाय तब तक पीना चाहिए। उसके पश्चात् स्नेह सात्म्य हो जाता है।

वक्तव्य—जब तक सम्यक् स्निग्ध के निर्दिष्ट लक्षण उत्पन्न न हो जायँ तब तक अच्छ स्नेह पीना चाहिए। यह समय तीन दिन के स्थान पर चार दिन अथवा सात के स्थान पर छह या आठ दिन भी हो सकता है। अतः सात दिन या तीन दिन के प्रतिबन्ध को हटाने के लिए सम्यक् स्निग्ध के लक्षण उत्पन्न होने तक के समय का निर्देश कर दिया गया है। समय-निर्देश का एक कारण यह भी है कि अधिक दिन तक स्नेह-मात्रा सेवन करने से स्नेह सात्म्य हो जाता है तथा सात्म्य होने पर वह औषध रूप में उतना लाभकारी सिद्ध नहीं होती।

अज्ञातकोष्ठे पुरुषे कनीयस्याः स्नेहमात्रायाः प्रयोग निर्देशः

ह्रस्वमध्योतमामात्रास्तास्ताम्यश्च कनीयसीम्,
कल्पयेद्वीक्ष्यदोषादीन्प्रागेव तु[1] ह्रसीयसीम्॥
अज्ञातकोष्ठे हि बहुः कुर्याज्जीवितसंशयम्।
अ० सं० सू० २५।२२-२३ अ० हृ० सू० १६/-

हि० व्या०—दोष; भेषज, देश, काल, बल, शरीर, आहार, सत्त्व सात्म्य और प्रकृति का विचार कर अज्ञात कोष्ठवाले पुरुष पर छोटी मात्रा का प्रयोग

१. "तुशब्दोऽवधारणे। कुत इत्याह अज्ञात कोष्टे पुरुषे बहुस्नेहोऽशक्तस्य कदाचिज्जीवसंशयं कुर्यात्। इन्दुः॥

सबसे पहले करना चाहिए। ह्रस्व मात्रा दोपहर अर्थात् छह छंटे में पचती है; इससे भी आगे समय में पचने वाली मात्रा ह्रसीयसी (न्यूनतर) मात्रा कहलाती है। पहले इस न्यूनतर मात्रा का प्रारम्भ करके फिर ह्रस्व, फिर मध्यम और फिर उत्तम मात्रा का प्रयोग करना चाहिए क्योंकि अज्ञात कोष्ठ वाले पुरुष को एकाएक बड़ी मात्रा देने से जीवन संशय में पड़ने का भय रहता है।

चतुर्विंशतिस्नेह प्रविचारणोदाहरणानि

ओदनश्च विलेपी च रसो मांसं पयो दधि।
यवागूः सूपशाकौ च यूषः काम्बलिकः खडः॥
सक्तवस्तिलपिष्टं च मद्यं लेहास्तथैव च।
भक्ष्यमभ्यञ्जनं बस्तिस्तथा चोत्तरबस्तयः॥
गण्डूषः कर्णतैलं च नस्तः कर्णाक्षितर्पणम्।
चतुर्विंशतिरित्येताः स्नेहस्य प्रविचारणाः॥

च० सू० १३।२३-२५

विचारणाः संख्यया स्वरूपेण चैकग्रन्थेनाहओदनश्चेत्यादि। विलेपी=बिरल द्रवा, यवागूर्बहुसिक्थसमन्विता ज्ञेया। सशाकपल्लवेन कृतो यूषः खडः, काम्बलिको दधिलवणतिलादिकृत ईषदम्लः। एतयोरुदाहरणं यथा—"तक्रे कपित्थचाङ्गेरीमरिचाजाजिचित्रकैः। सुपक्वः षडयूषोऽयमथ काम्बलिको मतः। दध्यम्लो लवणस्नेहतिलमाषान्वितः श्रृतः" इति। लेहः शर्करादीनां पाकात्कृतः, लिह्यत इति लेहः। प्रविचार्यतेऽवचार्यतेऽनुकल्पेनोपयुज्यतेऽनयेति प्रविचारणा=ओदनादयः।

ओदनादयश्च स्नेहविचारणाया स्नेहयुक्ता एव बोद्धव्याः। अभ्यञ्जनादयस्तु यद्यपि शुद्धस्नेहसंपाद्यास्तथापि (न साक्षात्) जठराग्निसम्बन्धेन व्याप्रियन्त इति तन्त्रे विचारणाशब्देनोच्यन्ते। चक्रपाणिः॥

हि० व्या०—विविध प्रकार के आहार द्रव्यों अथवा विभिन्न प्रक्रियाओं से प्रयुक्त कराये जाने वाले स्नेह की चौबीस विचारणाएं इस प्रकार हैं

१. ओदन, २. विलेपी, ३. रस, ४. मांस, ५. दूध, ६. दही, ७. यवागू, ८. सूप, ९. शाक, १०. यूष, ११. काम्बलिक, १२. खण्ड, १३. सत्तू, १४. तिल का कल्क, १५. मद्य, १६ लेह, १७. भक्ष्य, १८. अभ्यङ्ग, १९. बस्ति, २०. उत्तरबस्ति २१. गण्डूष, २२. कर्णपूरण, २३. नस्य, २४. अक्षितर्पण,

क्रम संख्या	रसानुसारिणी रसभेदा संख्या	रसभेदा	उदाहरणानि	(हिन्दी)
१	१	मधुरम्	सन्तानिकागोदुग्धादि	मलाई, गोदुग्ध आदि ।
२	२	अम्लम्	आम्रकरमर्दादि	आम्र, कमरख आदि ।
३	३	लवणम्	रोमकादिकम्	रोमक आदि ।
४	४	तिक्तम्	निम्बपर्पटादि	नीम, पर्पट आदि ।
५	५	कटुकम्	चव्यादिकम्	चव्य आदि ।
६	६	कषायम्	पद्मकन्दन्यग्रोधाकंरादि	कमलगट्टा, बट के अंकुरादि ।
७	१	मधुराम्लम्	कपित्थ फलादि	कपित्थ (कैथ) फल आदि ।
८	२	मधुरलवणम्	उष्ट्रीक्षीरोरभ्रमत्स्यमांसादिकम्	ऊंटनी का दूध, भेड़, मछली आदि का मांस आदि ।
९	३	मधुरतिक्तकम्	श्रीवाससर्जरसादिकम्	देवदारू, सर्ज आदि का निर्यास आदि ।
१०	४	मधुरकटुकम्	कुक्कुरश्रृगालमासादि	कुत्ते व श्रृगाल का मांस आदि ।
११	५	मधुरकषायम्	तैलधन्वनफलादि	तैल और धामन का फल आदि ।
१२	६	अम्ललवणम्	एडकादिकम् ऊषादिकम्	उरण तथा क्षार मृत्तिका आदि ।
१३	७	अम्लतिक्तकम्	सुरादिकम्	सुरा आदि ।
१४	८	अम्लकटुकम्	चुक्रादिकम्	चुक्र आदि ।
१५	९	अम्लकषायम्	हस्तिनीदधिशुकमांसादि	हथिनी के दूध का दही, तोते का मांस आदि ।
१६	१०	लवणतिक्तकम्	त्रपुसीसादि	तांबा, सीसा आदि ।
१७	११	लवणकटुकम्	गोमूत्रस्वर्जिकादि	गोमूत्र स्वर्जिका आदि ।
१८	१२	लवणकषायम्	समुद्रफेनादि	समुद्रफेन आदि ।
१९	१३	तिक्तकटुकम्	कर्पूरजातीफलादि	कपूर, जायफल आदि ।
२०	१४	तिक्तकषायम्	लवलीफलहस्तिनीघृतादि	लवलीफल, (हरफारेवड़ी) हथिनी का घी आदि ।
२१	१५	कटुकषायम्	भल्लातकमज्जाहरितालादि	भिलावे की मज्जा, हरताल आदि ।
२२	१	म. अ. ल.	हस्तिनीमांसादि	हथिनी का मांस आदि ।
२३	२	म. अ. ति.	गोधूमोत्थसुरादि	गेहूं की सुरा आदि ।
२४	३	म. अ. कटु	शल्यमांसादि	सेही मांसादि ।
२५	४	म. अ. कषा.	मस्तुतक्रादि	मस्तु, तक्र आदि ।
२६	५	म. ल. ति.	शम्बूकादिमांसम्	शम्बूक (घोंघा) मांसादि ।
२७	६	म. ल. कटु	अपूपैणादिमांसादि	अपूप, मृगमांस आदि ।
२८	७	म. ल. कषा	ताप्यकासीसादि	तांबा, कासीस आदि ।
२९	८	म. ति. कटु	कटुकाम्लभक्तादि	कटुका आदि ।
३०	९	म. ति. कषा	गुडूचीशाखामृगामिषरक्तवकतैलादि	गुडूची, बंदर का मांस आदि ।

३१	१०	म. क. कषा	गोधामांसैरण्डतैलादिकम्	गोधामांस, एरण्ड तैल आदि ।
३२	११	अ. ल. ति.	हस्तिमृगमूषादि	हाथी, मृग, मूषक मांस आदि ।
३३	१२	अ. ल. कटु	रौप्यशिलाजत्वादि	चांदी, शिलाजीत आदि ।
३४	१३	अ ल. कषा	हस्तिनीदधि	हथिनी के दूध का दही ।
३५	१४	अ ति. कटु.	मरिचसंस्कृतसुरादि	मरिचयुक्त सुरा आदि ।
३६	१५	अ. ति. कषा	कीरमांसयुतसुरादि	तोते के मांस युक्त सुरा आदि ।
३७	१६	अ कटु. कषा.	अम्लवेतसादि	अम्लवेतस आदि ।
३८	१७	ल. ति. कटु.	अविमूत्रम्	भेड़ का मूत्र आदि ।
३९	१८	ल. ति. कषा	समुद्रफेनं समुद्रस्थितम्	समुद्र स्थित समुद्र फेन आदि ।
४०	१९	ल. क. कषायम्	अरुष्कासवरोमकम्	भिलावा, आसव, रोमक लवण आदि ।
४१	२०	ति. कटु. कषा.	कृष्णागुरुसुरदारुस्नेहादि	काले अगरु, देवदारू आदि का तैल ।
४२	१	म. अ. ल. ति.	गोमूत्रैकशफक्षीरादि	गोमूत्र, घोड़ी आदि का दूध ।
४३	२	म. अ. ल. कटु.	गोमूत्रन्वितशिलाजत्वादि	गोमूत्र युक्त शिलाजीत आदि ।
४४	३	म. अ. ल. कषा.	सैन्धवान्वितततक्रादि	सैन्धव युक्त तक्र आदि ।
४५	४	म. अ. ति. कटु.	लशुनान्वितं सुरादि	लहसुन सहित सुरा आदि ।
४६	५	म. अ. ति. कषा.	कम्ब्वादिकम्	शंख आदि ।
४७	६	म. अ. क. कषा.	कांजिकान्वितैरण्डतैलादि	कांजी युक्त एरण्ड तैल आदि ।
४८	७	म. ल. ति. कटु.	उदुम्बरान्वितं यवादि	उदुम्बर युक्त यव आदि ।

४९	८	म. ल. ति. कषा.	समुद्रफेनशर्करासंयुक्तचन्दनम्	समुद्रफेन, शर्करा युक्त चन्दन आदि ।
५०	९	म.,ल. क. कषा.	गोमूत्रान्वितैलादि	गोमूत्र युक्त तैल आदि ।
५१	१०	म. ति. क. कषा.	तिलगुग्गुल्वादि	तिल गुग्गुल आदि ।
५२	११	अ. ल. ति. कटु.	सैंधवसौवर्चलान्वितंहस्तिन्यादिकृत-सुरादिकम्	सैन्धव, सौवर्चल युक्त हस्तिनी आदि का मांस व सुरा आदि ।
५३	१२	अ. ल. ति. कषा.	उद्भिदलवणान्वितं शुकमांसादि	उद्भिद्लवण युक्त तोते का मांस आदि
५४	१३	अ. ल. कटु.कषा.	सौवर्चलान्वितं हस्तिनीदध्यादि	सौवर्चल युक्त हथिनी दूध का दही
५५	१४	अ. ति. क. कषा.	बालमूलकयुक्तहस्तिनीदध्यादिकम्	बाल मूली युक्त हथिनी दूध का दही
५६	१५	ल ति. क. कषा.	रोमकबालबिल्वादिकम्	रोमक नमक कच्चा बिल्व आदि ।
५७	१	म. अ' ल. ति. क.	आम्रकरमर्दान्वितभ्रष्टवार्ताकुफलादि	आम, कमरख युक्त स्विन्न बैंगन फलादि
५८	२	म अ.ल.ति.कषा.	उद्भिदान्विततक्रादिकम्	उद्भिद् नमक युक्त तक्र
५९	३	म.अ.ल.क.कषा.	त्रिकटुयवान्विततक्रादिकम्	त्रिकटु, यव युक्त तक्र
६०	४	म.अ.ति.क कषा.	हरीतकीफलादिकम्	हरीतकी फल आदि ।
६१	५	म. ल. ति. क. कषा.	रसोनादिकम्	लहसुन आदि ।
६२	६	अ. ल. ति. क. कषा.	भल्लातकरुप्यशिलाजतुमिश्रनिम्बादि	भिलावा, रजत, शिलाजीत मिश्रित नीम आदि ।
६३	१	म. अ. ल. ति. कटु, कषाय	पारदः, एणमांसादि च	पारद, मृग मांस आदि ।

(सिद्ध भेषज मणिमाला से साभार)

त्रिषष्टिरसभेदेन प्रविचारणाया उदाहरणानि ।

रसैश्चोपहितः स्नेहः समासव्यासयोगिभिः ।
षड्भिस्त्रिषष्टिधा संख्यां प्राप्नोत्येकश्च[1] केवलः ॥
एवमेषा[2] चतुःषष्टिः स्नेहानां प्रविचारणा । च. सू १३।२७-२८

प्रकारान्तरेण विचारणाभेदमाह-रसैश्चेत्यादि । समासो रसानामन्योन्यमेलकः व्यासोऽमेलकः, समासव्यासवद्भिः षड्भी रसैरोदनादिगतैरुपहितो युक्तः सन् स्नेहस्त्रिषष्टिसंख्यां प्राप्नोति । एकश्च केवल इत्यच्छपेयं वर्जयित्वाऽभ्यञ्जनादिप्रयोज्यः । त्रिषष्टी रसभेदाः आत्रेयभद्रकाप्यीये "स्वादुरम्लादिभिर्योगम्" (सू० अ० २६) इत्यादिवाक्ये वक्ष्यमाणा बोद्धव्याः । एवं स्नेहानां रसयुक्तानां चतुःषष्टिः प्रविचारणाः स्युः । चतुःषष्टिरिति स्नेहानामित्यनेन संबध्यते, तेन प्रविचारणेत्येकवचनमुपपन्नं स्यात् ॥ चक्रपाणिः

दोषाणामल्पभूयस्त्वं संसर्गं समवेक्ष्य च ।
युञ्ज्यात्त्रिषष्टिधाभिन्नैः समासव्यासतो रसैः ॥
सु० चि० ३१।२०

रसभेदैककत्वाभ्यां चतुषष्टिविचारणाः ।
स्नेहस्याऽन्याभिभूतत्वादल्पत्वाच्चक्रमात्स्मृताः ॥
अ० सं० सू० २५।२० अ० हृ० सू० १६।१६

रसभेदश्चैककत्वं च ताभ्यां रसभेदैककत्वाभ्यां स्नेहस्याऽवचार्यमाणस्य चतुषष्टिविचारणा भवन्ति । रसभेदैर्नैकहीनानित्यादिग्रन्थनिर्दिष्टेन त्रिषष्टि संख्यावच्छिन्नेन सहोपयुक्तस्य स्नेहस्य तथैककत्वेनाऽसहायेन केवलेन स्नेहेन सहाऽस्य चतुःषष्टिविचारणाः स्नेहप्रयोगकल्पना या एता भक्ष्याद्यन्नेन तथा

---

१. एकश्च केवलः=रसनेन्द्रियग्राह्यतारहितः नासादिना नलिकया निगिरक (=कैंचट द्वारा) वा मुखादिना अन्तक्षेपणप्रकार ॥ हरिदत्तशास्त्री ॥
२. एताः इति प्रविचारणाः इति च बहुवचनान्तो योगीन्द्रसम्मतः पाठः ।
३. किं कारणमेताः प्रतिविचारणा उच्यन्त इति युक्तिद्वयमाह स्नेहस्याल्पस्वादल्पोपयोगित्वात्तथाभिभूतत्वादन्नेन भक्ष्यादिना बहुना तथा रसभेदेनापि तथा विविधेन सहोपयुक्तस्य स्नेहस्याभिभवः क्रियते । तास्तास्तस्य विचारणा उच्यन्ते ॥ चन्द्रनन्दनः ॥
४. क—विचारणेति-विशब्दे ईषदर्थे ॥ हेमाद्रिः ॥
ख—चर इति धातुः । प्रतियत्ने वर्तते । प्रतियत्न संस्कारः । ईषत्संस्कार हैतवः प्रयोगविशेषा विचारणा-शब्द-वाच्या इति यावत् । अच्छपाने शोधनशमनबृंहणानां विचारणा संज्ञा नेति सूचयितुं संख्याग्रहणं कृतम् । परमेश्वरः ॥

रसभेदेन मूर्धकर्णाक्षितर्पणेन च या एताः क्रमाद्यथाक्रमं निर्दिष्टास्ताः कल्पनाः स्नेहस्याऽन्याभिभूतत्वादन्येन भक्ष्यादिना बहुना तथा रस-भेदेन सहोपयुक्तस्याऽभिभूतत्वात्तथाऽल्पत्वादल्पोपयोगित्वान्मूर्धाऽक्षितर्पणादौ पानद्रवप्रभृतस्येवावचार यितुमशक्यत्वाच्च विचारणाः स्मृताः आयुर्वेदस्य कर्तृभिरिति शेषः । अरुणदत्तः ।

सात्म्यदेशकालव्याधिप्रभृतिसापेक्षः प्रविचारणाप्रयोगः

ओकर्तुव्याधिपुरुषान्प्रयोज्या जानता भवेत् ॥
च० सू० १३।२८ ख

न सर्वेचारणा सर्वत्र कर्तव्या, किन्तु सात्म्यर्तुव्याधिदोषपुरुषान्परीक्ष्य या यत्र युज्यते तत्र सा कर्तव्येत्याह - ओकर्त्वित्यादि । ओकोऽभ्यासः । पुरुषग्रहणेन कस्मिन्देशेऽयं पुरुषो वर्त्तते इति परीक्षया देशोऽप्यवरुद्धो बोद्धव्याः, वयो बल प्रभृतयश्च बोद्धव्याः । चक्रपाणिः ॥

हि० व्या०—सम्पूर्ण या पृथक्-पृथक् छह रसों के संयोग से युक्त स्नेह (ओदन आदि विचारणा-युक्त) ६३ प्रकार के हो जाते हैं और द्रव्यान्तर संयोग से रहित केवल स्नेहपान १ प्रकार का होता है । इस प्रकार के रसों के संयोग से ६३ और एक अच्छपान इस प्रकार कुल मिलाकर स्नेहों की प्रविचारणायें ६४ होती हैं : विद्वान् वैद्य को इन प्रविचारणाओं का प्रयोग शरीर, सात्म्य, ऋतु, काल, रोग और पुरुष की प्रकृति आदि का विचार करके करना चाहिए

आचार्य सुश्रुत ने भी कहा है कि दोषों की अल्पता और अधिकता तथा उनके सम्मिश्रण की परीक्षा करके, पृथक् एवं सम्मिलित रूप से द्रव्यों के ६३ प्रकार के रस-भेदों के साथ घृत (स्नेह) का सेवन करना चाहिए ।

आचार्य वाग्भट के अनुसार स्नेह-पान के विविध प्रकारों को विचारणा कहते हैं । विचारणा ६४ प्रकार की होती है । रसों के ६३ भेद होने से इन रसों में प्रत्येक के विभिन्न संयोग से तथा ६ रसों के स्वतन्त्र प्रयोग से ६४ प्रकार की प्रविचारणा होती है ।

यह विचारणा अन्य संयोगी-द्रव्यों के साथ मिलाने के कारण अल्पवीर्य हो जाती हैं । बस्ति स्वतन्त्र रूप से देने पर अल्प मात्रा होने से अल्पवीर्य होती है । अल्पवीर्य होने के कारण इस स्नेह की शक्ति का विचार करने से विचारणा-संज्ञा होती है ।

अच्छपेयस्नेहे तु विचारणाभावः ।

अच्छपेयस्तु यः स्नेहो न तमाहुर्विचारणाम् ।
स्नेहस्य स भिषग्दृष्टः कल्पः प्राथमकल्पिकः ॥
च० सू० १३।२६

केवलस्नेहपानं तु स्नेहने शक्त्यतिशयत्वेन न विचारणासंज्ञयोच्यते, एतदेवाह—अच्छपेय इत्यादि । अच्छश्च पेयश्च अच्छपेयः, ओदनाद्यसम्बन्धे

सति पेय इत्यर्थः, न तमाहुर्विचारणामिति वचनेन वैद्यपरम्परासिद्धोऽयं व्यवहार इति दर्शयति । भिषग्भिर्दृष्टो भिषग्दृष्टः । प्रथमे=श्रेष्ठे कल्पे=पक्षे भवतीति प्राथमकल्पिकः श्रेष्ठ इत्यर्थः । चक्रपाणिः ॥

स्नेहस्य अच्छपानगुणमहत्त्वम्

स्नेहसात्म्यः क्लेशसहः कालेनात्युष्ण शीतले ।
अच्छमेव पिबेत् स्नेहमच्छपानं हि पूजितम् ॥ २१ ॥

सु० चि० ३१।

अच्छपानविषयमुद्दिशन्नाह—स्नेहसात्म्य इत्यादि । क्लेशसहः शक्तिलक्षण-बलयुक्तः, अतो विपरीतं भक्तेन सह पाययेत् । अच्छः केवलस्नेहः । केचित् काले नात्युष्णशीतले, इत्यस्य "दृढं काले च शीतले" इति पठन्ति, व्याख्यानयन्ति च दृढमित्युपचयलक्षणबलयुक्तं, काले च शीतल इति चकारो वातकफयोः शीत्याद्योपे च शीतल इति गमयति । डल्हणः ॥

यथोक्तहेत्वाभावाच्च नाच्छपेयो विचारणा ।
स्नेहस्य कल्पः स श्रेष्ठः स्नेहकर्मसु साधनम् ॥

अ० सं० सू० २५।२१

अ० हृदयेऽपिसमान पाठः

यथोक्तस्य च हेतोरन्याभिभवलक्षणस्याल्पत्वलक्षणस्य चाभावादच्छपेयस्नेहो विचारणाशब्देन नोच्यते । स्नेहस्य चोपयोगे स एवाच्छपेयाख्यः कल्पः श्रेष्ठः । कुतः स्नेहकर्मणां तर्पणमार्दवादीनामाशु सम्पादनात् । इन्दुः ॥

हि० व्या० —अच्छ (स्वच्छ) स्नेह-पान के लिए प्रविचारणा-निषेध—जब केवल स्नेह का पान किया जाता है तब उसके लिए कोई "विचारणा" नही कही जाती है । वैद्यों ने अच्छस्नेह-पान प्रथमकल्पना अर्थात् "मुख्य कल्पना" कहा है ।

आचार्य सुश्रुत ने भी लिखा हैं कि जिन्हें स्नेह-सात्म्य है तथा जो कष्ट-सहिष्णु हैं, उन्हें समशीतोष्ण काल में, अच्छ स्नेह (केवल स्नेह) पीना चाहिए क्योंकि उनके लिए केवल स्नेह श्रेष्ठ होता है । आचार्य वगसेन ने भी इस श्लोक को यथावत् उद्धृत किया है । आचार्य वाग्भट के अनुसार अच्छपान प्रबल शक्तिप्रद एवं उपयोगी होता है, इसलिए विचारणा नहीं कहते । अच्छपान स्नेह का श्रेष्ठ प्रयोग है क्योंकि स्नेहन कर्म शीघ्र होता है । अष्टाङ्ग हृदय में भी इस पाठ को समान रूप से उद्धृत किया गया हैं ।

प्रविचारणा केभ्यो हिता, इति वर्णनम्

स्नेहद्विषः स्नेहनित्या मृदुकोष्ठाश्च ये नराः ।
क्लेशासहा मद्यनित्यास्तेषामिष्टा विचारणा ॥

च० सू० १३।८२

सुकुमारं कृशं वृद्धं शिशुं स्नेहद्विषं तथा ।
तृष्णार्त्तमुष्णकाले च सह भक्तेन पाययेत् ॥

सु० चि० ३१।३७

तेषामन्नैर्विविधैः स्नेहस्य विचारणा सात्म्यम् ।
निर्दिष्ट्वा मासाद्यैः कालाग्निबलैः प्रकर्षाय ॥
गुरुपानभोज्यमांसैर्गुडदधितिलशाकनिर्यूहैः ॥
तद्दोषघ्नैर्द्रव्यैः
स्नेहैः सिद्धैर्यथास्वमधिकारैः ।
स्नेह्यास्तथाविधाः स्यु-
स्त्रिफलासव्योषलवणाद्यैः ॥

का० सं० सू० अ० २२।५३-५५

स्नेहद्विषः शिशून्वृद्धान् सुकुमारान् कृशानपि ।
तृष्णालुं चोष्णकाले च सह भक्तेन पाययेत् ॥
स्नेहपानाद्भवन्त्येषां नृणां नानाविधा गदाः ।
गदा वा कृच्छ्रतां यान्ति न सिद्धन्त्यथवा पुनः ॥

सु० चि० ३१।४९

तेषां स्नेहाच्छरानान्ते वर्धन्ते व्याधयो भृशम् ।
असाध्यतां वा गच्छन्ति स्नेहपानाभिवर्धिताः ॥

का० सं० सू० २२।३२

हि० व्या०—उपर्युक्त व्याधि एवं अवस्था में स्नेहपान कराने से नाना प्रकार की व्याधियाँ हो जाती हैं जो कृच्छ्रसाध्य एवं असाध्य हो जाती हैं । भावप्रकाश में भी अस्नेह्यों का इसी प्रकार वर्णन किया गया है । ऐसी स्थिति में अच्छ स्नेह-पान कराने से व्याधियाँ बहुत बढ़ जाती हैं तथा स्नेह-पान से बढ़ी हुई व्याधियाँ असाध्य हो जाती हैं ।

स्नेह्यानां वर्णनम्

स्वेद्याः शोधयितव्याश्च रूक्षा वातविकारिणः ।
व्यायाममद्यस्त्रीनित्याः स्नेह्याः स्युर्ये च चिन्तकाः ॥

च० सू० १३।५२

पुरीषं ग्रथितं रूक्षं कृच्छ्रादन्नं विपच्यते ॥
उरो विदहते वायुः कोष्ठादुपरि धावति ॥
दुर्वर्णो दुर्बलश्चैव रूक्षो भवति मानवः ॥

सु० चि० ३१।५१-५२

व्यायाममद्यचिन्ता-
मैथुननित्याः श्रमाध्वकृशदेहाः ।

स्नेह्यास्तथाविधाः स्यु-
र्बलकालवयोग्निसात्म्यज्ञैः ॥

का० सं० सू० २२।२६

स्वेद्यसंशोध्यमद्यस्त्रीव्यायामासक्ताचिन्तकाः ।
वृद्धबालाऽबलकृशा रूक्षाः क्षीणास्त्ररेतसः ॥
वात्ता[1]र्तस्यन्दतिमिरदारुण[2]प्रतिबोधिनः ।
स्नेह्याः... ... ... ।

अ० सं० सू० २५।७, अ० हृ० सू० २६।७, भा० प्र० स्नेहाधिकार

.....विरेच्यांश्चैव मानवान् ।
आस्थाप्याननुवास्यांश्च वातव्याधींश्च सर्वशः ॥

भेल सं० सू० २१।-

हि० व्या०—(स्नेह्याः के) किन-किन व्यक्तियों को स्नेहन कराना चाहिए, इस विषय में ज्ञात रहे कि जिनको स्वेदन अथवा संशोधन कराना हो, जिनका शरीर रूक्ष हो, जो वात-विकारों से पीड़ित हों, जो नित्य व्यायाम करने वाले हों, उन्हें तथा प्रतिदिन मद्य-सेवियों, नित्य मैथुन करने वाले प्रतिदिन चिन्तन करने वालों और बुद्धिजीवियों (जैसे—दार्शनिक, लेखक अध्यापक, छात्र, वकील आदि) को स्नेहन कराना चाहिए ।

आचार्य सुश्रुत के अनुसार जिसका पुरीष गांठदार हो गया हो, रूक्ष हो, अन्न का कठिनाई से पाचन होता हो, उरः-प्रदेश में जलने जैसा अनुभव होता हो, वायु कोष्ठ के ऊपर की ओर गति करती हो, शरीर का वर्ण विकृत हो गया हो और दुर्बलता एवं रूक्षता हो उसे स्नेह-पान कराना चाहिए ।

अष्टाङ्ग हृदय, अष्टाङ्ग संग्रह और भावप्रकाश में चरक के मत का अनुकरण करते हुए कुछ अन्य स्नेह्यों की भी गणना की है, यथा—जो वृद्ध हों, बालक हों, दुर्बल हों, जिनका रक्त एवं शुक्र क्षीण हो गया हो, जिन्हें सोकर जागने में कष्ट हो और अभिष्यन्द तथा तिमिर रोग से पीड़ित हों, उन्हें भी स्नेह-पान कराना हितकर है । काश्यप-संहिता में स्नेह योग्य व्यक्तियों की गणना चरक से अनुसार करते हुए बल, आयु, काल, जठराग्नि तथा सात्म्य का विचार करते हुए स्नेह-पान का निर्देश किया गया है । यहाँ उल्लिखित कृश व्यक्तियों की कृशता को स्पष्ट करते हुए लिखा गया है कि मार्ग में अधिक समय तक चलने अथवा बैठे-बैठे ही श्रम का कार्य करने से उत्पन्न कृशता वाले व्यक्तियों को स्नेह-पान कराना चाहिए ।

टिप्पणी—१. वातार्त्ता वातपीडिताः । आर्त्तशब्दः स्यन्दादिषु प्रत्येकस्मिन् योज्यः । स्यन्दोऽभिष्यन्दस्तिमिरोऽक्षिरोगः ।
२. दारुणप्रतिबोधिनः कृच्छ्रोन्मीलन इत्यर्थः । अरुणदत्तः ॥

कुष्ठादिरोगविशेषे स्नेहन-योगः

स्नेहैर्यथार्हं तान् सिद्धैः स्नेहयेदविकारिभिः ।
पिप्पलीभिर्हरीतक्या सिद्धैस्त्रिफलयाऽपि वा ॥

च० सू० १३।७२

त्रिफलापिप्पलीपथ्यागुग्गुल्वादिविपाचितान् ।
स्नेहान् यथास्वमेतेषां योजयेदविकारिणः ॥
क्षीणानां त्वामयैरग्निदेहसन्धुक्षणक्षमान् ॥

अ० सं० सू० २५।७६; अ० हृ० सू० १६।४४-४५

हि० व्या०—कुष्ठ, शोथ तथा प्रमेह रोग में तत्तद् रोगाधिकार में उल्लिखित घृत तथा उन-उन रोगों में लाभकारी औषधों से सिद्ध स्नेहों से स्नेहन कराना चाहिए । अथवा पिप्पली, हरीतकी या त्रिफला से सिद्ध स्नेह का प्रयोग करना चाहिए । आचार्य वाग्भट ने गुग्गुलु के प्रयोग करने का विशेष विचार व्यक्त किया है ।

घृतपानं केभ्यो हितम्

वातपित्तप्रकृतयो वातपित्तविकारिणः ।
चक्षुःकामाः क्षताः क्षीणा वृद्धा बालास्तथाऽबलाः ॥
आयुःप्रकर्षकामाश्च बलवर्णस्वरार्थिनः ।
पुष्टिकामाःप्रजाकामाः सौकुमार्यार्थिनश्च ये ॥
दीप्त्योजः स्मृतिमेधाग्निबुद्धीन्द्रियबलार्थिनः ।
पिबेयुः सर्पिरार्त्ताश्च दाहशस्त्रविषाग्निभिः ।

च० सू० १३।४१-४३

रूक्षक्षतविषार्त्तानां वातपित्तविकारिणाम् ।
हीनमेधास्मृतीनां च सर्पिःपानं प्रशस्यते ॥

सु० चि० ३१।१५; भाव प्र० स्नेहपाना०

तत्र धीस्मृतिमेधाग्निकाङ्क्षिणां शस्यते घृतम् ॥

अ० सं० सू० २५।१२; अ० हृ० सू० १६।१

दिताऽनिलात्माऽनिलपित्तरोगी
क्षामः शिशुर्वर्णबलायुरक्तः ।
मेधेन्द्रियार्थी विषशस्त्रदाहै
रार्त्तः पिबेद्घृतमेव काले ॥

का० सं० सू० २५।२५

यः स्नेहो यत्र कार्यस्तमाह—वातपित्तेत्यादि । वातपित्तविकारग्रहणेनैव वातपित्तप्रकृतिषु लब्धेषु पुनस्तदभिधानं वातपित्तप्रकृतीनां स्तोकश्लेष्मविकारेऽपि घृतपानोपदेशार्थम् । एवं वातव्याधिभिराविष्टा वातप्रकृतयश्च य इत्यत्र व्याख्ये-

यम्। बलार्थिन इत्यत्र बलशब्दः स्मृत्यादिभिः संबद्ध्यते। आर्त्ताः पीडिता दाहादिभिरिति सम्बन्धः। चक्रपाणिः॥

हि० व्या०—अग्निवेश के दशवें प्रश्न के उत्तर में (कश्च केभ्यो हितः स्नेहः, चतुर्विध स्नेह में कौन किसके लिए हितकारी है?) महर्षि ने कहा कि जो वातपित्त-प्रकृति के हों या वात प्रकृति के अथवा पित्त प्रकृति के हों, वात-जन्य, पित्तजन्य या वातपित्तजन्य विकार से ग्रस्त हों, नेत्र को स्वस्थ रखना चाहते हों, उरः क्षत से पीड़ित हों, जिनका शरीर क्षीण हो गया हो, वृद्ध हों या अत्यन्त कृश हों, जो दीर्घायु चाहते हों, बल, वर्ण और स्वर को उत्तम बनाना चाहते हों, शरीर में पुष्टि तथा सन्तान की इच्छा रखते हों, शरीर में सुकुमारता, कान्ति, ओज, स्मरणशक्ति, मेधा (धारणाशक्ति), अग्नि की दीप्ति, इन्द्रियशक्तिवर्धन हेतु तथा दाह, शस्त्र, विष और अग्नि से पीड़ित हों उन लोगों को घृत का सेवन कराना चाहिए। चरक के इसी आशय को महर्षि सुश्रुत और आचार्य भावमिश्र जी ने भी प्रतिपादित किया है। आचार्य वाग्भट के अनुसार घृत-बुद्धि, स्मृति (स्मरण-शक्ति), मेधा एवं जठराग्नि वर्धक है। महर्षि काश्यप ने भी वात-पित्त रोगी एवं वातपित्तज रोगों में ही देने का वर्णन किया है।

वातपित्तकफदोषानुसारं घृतप्रयोग भेदवर्णनम्

केवलं पैत्तिके सर्पिर्वातिके लवणान्वितम्।
देयं बहुकफे चापि व्योषक्षारसमायुतम्॥

सु० चि० ३१।१६

हि० व्या०—दोषानुसार घृतपान निर्देश— महर्षि सुश्रुत के अनुसार पित्तजन्य विकार में केवल घृत, वातजन्यविकार में लवणयुक्त घृत तथा कफ दोष की अधिकता में त्रिकटु (सोंठ, मरिच, पिप्पली) एवं यवक्षार मिश्रित घृत पिलाना चाहिए। आचार्य वंगसेन एवं भावमिश्र जी ने इसी पाठ को उद्धृत किया है।

स्नेहने तैलपानं केभ्यो हितम्

प्रवृद्धश्लेष्ममेदस्काश्चलस्थूलगलोदराः।
वातव्याधिभिराविष्टा वातप्रकृतयश्च ये॥
बलं तनुत्वं लघुतां दृढतां स्थिरगात्रताम्।
स्निग्धश्लक्ष्णतनुत्वक्तां ये च काङ्क्षन्ति देहिनः॥
कृमिकोष्ठाः क्रूरकोष्ठास्तथा नाडीभिरर्दिताः।
पिबेयुः शीतकाले तैलं तैलोचिताश्च ये॥

च० सू० १३।४४-४६

प्रवृद्धेत्यादि। शीतले काल इति तैलस्योष्णत्वेन शीतलेऽपि काल इत्यर्थः। तेन सामान्य प्रतिषेधः—"नात्युष्णशीते स्नेहं पिबेन्नरः" इति न विरुध्यते। यदि वा सर्पिः पानकालापेक्षया शीतत्वं बोद्धव्यम्॥ चक्रपाणिः।

कृमिकोष्ठानिलाविष्टाः प्रवृद्धकफमेदसः।
पिबेयुस्तैलसात्म्याश्च तैलं दार्ढ्यार्थिनश्च ये॥

सु० चि० ३१।१६; भा०प्र० स्नेहनपाना०)

ग्रन्थिनाडीकृमिश्लेष्म मेदोमारुतरोगिषु।
तैलं लाघव दार्ढ्यार्थिक्रूरकोष्ठेषु देहिषु॥

अ० सं० सू० २१।११-१३; अ० हृ० सू० १६।

प्रवृद्धमेदः कफमांसवाता
नाडीकृमिव्याध्यनिलार्तदेहाः।
क्रूरानुकोष्ठास्तनु वीर्यकामा-
स्तैलं पिबेयुर्न तु तीव्रकुष्ठे॥

का० सं० सु० २२,२६

हि० व्या०—तैल सेवन योग्य रोग एवं रोगी-जिन व्यक्तियों के शरीर में कफ दोष और मेद धातु अधिक बढ़ गया हो, जिनके गले और उदर में इतना मांस बढ़ गया हो कि चलते समय हिलता हो, जो वात विकार से ग्रस्त हों, वातप्रकृति के हों, जो शरीर में बल, पतलापन, हल्कापन, दृढ़ता और शरीर को स्थिर बनाना चाहते हों और जो त्वचा को स्निग्ध, श्लक्ष्ण बनाना चाहते हों, जिनके उदर में कृमि हो, जिनका कोष्ठ क्रूर हो, जो नाड़ीव्रण से पीड़ित हो उनको शीतकाल में तैलपान कराना चाहिए।

प्रायः आचार्य सुश्रुत, वाग्भट, भावमिश्र एवं काश्यप ने भी इन्हीं विचारों का अनुमोदन किया है। महर्षि काश्यप ने "तैलं पिबेयुर्न तु तीव्र कुष्ठे" कहकर मात्र तीव्र कुष्ठ में तैलपान का निषेध किया है।

स्नेहने वसापानं केभ्यो हितम्

वातातपसहा ये च रूक्षा भाराध्वकर्शिताः।
संशुष्करेतोरुधिरा निष्पीतकफमेदसः॥
अस्थिसन्धिशिरास्नायुमर्मकोष्ठमहारुजः।
बलवान्मारुतो येषां खानि[1] चावृत्य तिष्ठति॥
महच्चाग्निबलं येषां वसासात्म्याश्च ये नराः॥
तेषां स्नेहयितव्यानां वसापानं विधीयते॥ च० सू० १३।४७-४९
व्यायामकर्शिताः शुष्करेतोरक्ता महारुजः।
महाग्निमारुतप्राणा वसायोग्या नराः स्मृताः॥

सु० चि० ३१।१७

१. खानि=स्रोतांसि (चक्रपाणिः)।

वसा तु सन्ध्यस्थिमर्मकोष्ठरुजासु च ।
तथा दग्धाहतभ्रष्टयोनिकर्णशिरोरुजि ॥
अ० सं० सू० २५।१४-१५; अ० हृ० सू० १६।

संशुष्कमेदःकफरक्तशुक्रा
वातातपाध्वश्रमरौक्ष्यनित्याः ।
भृशाग्नयो वातनिपीडिताङ्गा
वसां पिबेयुर्घृतिधातुकामाः ॥

हि० व्या०— **वसा सेवन के योग्य रोग एवं रोगी**—जो मनुष्य वायु और धूप को अधिक सहन कर सकते हैं, जिनका शरीर रूक्ष है, जो अधिक भार ढोने और रास्ता चलने से कृश हो गए हैं, जिनके शरीर में शुक्रधातु और रसधातु सूख गये हैं, जिनके अस्थि, सन्धि, शिरा, स्नायु मर्म और कोष्ठ में अधिक पीड़ा होती है, शरीर में वायु के अधिक प्रकोप से स्रोत आवृत हो गए हों, जिनकी अग्नि अत्यधिक तीव्र हो, जिनको वसा सात्म्य हो गया है, ऐसे व्यक्तियों को स्नेहन कराने हेतु वसा सेवन कराना चाहिए। आचार्य सुश्रुत, आचार्य काश्यप एवं वाग्भट ने भी इनका अनुमोदन किया है। चरकादि वर्णन के अतिरिक्त वाग्भट ने अग्निदग्ध, योनिभ्रंश कर्णरोग तथा शिरोरोग में वसा सेवन का अधिक उल्लेख किया है।

स्नेहने मज्जपानं केभ्यो हितम्

दीप्ताग्नयः क्लेशसहा घस्मराः[1] स्नेहसेविनः ।
वातार्ताः क्रूरकोष्ठाश्च स्नेह्याः मज्जानमा[2]प्नुयुः
च० सू० १३।५०

क्रूराशयाः क्लेशसहा वातार्ता दीप्तवह्नयः ॥
मज्जानमाप्नुयुः सर्वे, सर्पिर्वा स्वौषधान्वितम् ॥
सु० चि० ३१।१८; भाव० प्र० (स्नेहपाना०)

वातातपाध्वभारस्त्रीव्यायामक्षीणधातुषु ।
रूक्षक्लेशक्षमात्यग्निवातावृतपथेषु च ॥
अ० सं० सू० २५।१३-१४; अ० हृ० सू० १६।१०

दीप्तानलो घस्मराः स्नेहनित्याः
क्लेशक्षमाः क्रूरकोष्ठानिलार्ताः ।
मज्जानमेतेषु भिषग्विदध्यात्
स्नेहो भवेत्सात्म्यतो यस्य यो वा ॥
का० सं० सू० २२।२८

---

१. घस्मराः = बहुभक्षकाः
२. आप्नुयुरुपयुञ्जीरन् ॥ चक्रपाणिः ॥

हि० व्या०—जिन व्यक्तियों की अग्नि तीव्र हो, क्लेशों को सहन करते हों, स्नेहों का सेवन करते हों, वातरोग से पीड़ित हों, जिनका कोष्ठ क्रूर हों, ऐसे व्यक्तियों को यदि सेवन कराना हो तो उन्हें मज्जा का पान कराना चाहिए। आचार्य सुश्रुत, वाग्भट एवं काश्यप ने भी इस संदर्भ में ऐसा ही विचार व्यक्त किया है।

अस्नेह्यानां वर्णनम्

संशोधनादृते येषां रूक्षणं संप्रचक्षते ।
न तेषां स्नेहनं शस्तमुत्सन्नकफमेदसाम् ॥
अभिष्यण्णाननगुदा नित्यमन्दाग्नयश्च ये ।
तृष्णामूर्च्छापरीताश्च गर्भिण्यस्तालुशोषिणः ॥
अन्नद्विषश्छर्दयन्तो जठरामगरादिताः
दुर्बलाश्च प्रतान्ताश्च स्नेहग्लाना मदातुराः ॥
न स्नेह्या वर्तमानेषु न नस्तोबस्तिकर्मसु ।
स्नेहपानात्प्रजायन्ते तेषां रोगाः सुदारुणाः ॥
च० सू० १३।५३-५६

अस्नेह्यानाह-संशोधनादृते इत्यादि । येषां रूक्षणं वक्ष्यते लंघन बृंहणीये—"अभिष्यन्दा महादोषा मर्मस्था व्याधयश्चये । उरुस्तम्भप्रभृतयो रूक्षणीया निदर्शिता" (सू० अ० २२) इत्यनेन तेषां शोधनादृते स्नेहनं न शस्तं, यदा च शोधने विरूक्ष्यन्ते तदा परं शोधनाङ्गस्तत्र स्नेहः कर्तव्य इति भावः। उत्सन्नो वृद्धः कफो मेदश्च येषां ते तथा एतच्च विशेषणं, विरूक्षणीया एवं भूता एव भवन्तीति दर्शयति। अभिष्यण्णो द्रवप्रधानश्लेष्मविकारी, गरः—कृत्रिमं विषम्, अतिप्रतान्तोऽतिक्षीणद्रवधातुः। वर्तमानेषु क्रियमाणेष्वित्यर्थः ॥

चक्रपाणिः ।

विवर्जयेत् स्नेहपानमजीर्णीतरुणज्वरी ।
दुर्बलोऽरोचकी स्थूलो मूर्च्छार्तो मदपीडितः ॥
छर्द्यर्दितः पिपासार्तः श्रान्तः पान क्लमान्वितः ।
दत्तबस्तिविरिक्तश्च वान्तो यश्चापि मानवः ॥
अकाले दुर्दिने चैव न च स्नेहं पिबेन्नरः ।
अकाले च प्रसूता स्त्री स्नेहपानं विवर्जयेत् ॥
सु० चि० ३१।४६-४८ भावप्र० (स्नेहपाना०) वंगसेन-स्ने. पा. धि.

विवर्जयेदित्यादि । अजीर्णेऽजीर्णमेव च पचन्नग्निः स्तोकं स्नेहं पक्ष्यति, तरुणज्वरेऽप्येवं स्रोतोरोधश्च, दुर्बले अङ्गग्लान्यादयः, अरोचकेऽरोचकाभिवृद्धिः, स्थूलस्यातिस्थौल्यं स्रोतोरोधश्च, मूर्च्छार्तानां मूर्च्छाभिवृद्धिः, दत्तबस्तिविरिक्त-वान्तानां सद्यः शुद्धत्वेनाग्निमान्द्यतृष्णाक्लमाद्यतियोगाश्च, अकाले प्रसूताया

गर्भाशयेऽवशेषा रक्तक्लेदमलाः स्नेहकोपिता असाध्यं रोगं कुर्युः । अन्ये 'तरुणज्वरी' इत्यत्र 'चोदरी ज्वरी' इति पठित्वा व्याख्यानयन्ति—उदरिणां स्नेहपानं प्रागवस्थायामुदरचिकित्सिते प्रोक्तं, छिद्रोदकोदरिणः पुनरत्र निषेधः । ज्वरिणस्तरुणावस्थायां प्रतिषेधः । डल्हणः ॥

न स्नेहयेद्गर्भिणीं न प्रसूतां
न क्षीरपं नैव दग्धातिवृद्धौ ।
न श्लेष्मपित्तोपहतान्तराग्नि
मूर्च्छारुचिग्लानिभृशामतृट्सु ॥
बस्तौ न नस्तश्च विधिक्रियायां
छर्द्यां ज्वरे विट्प्रकोपे कफे च ।
बहत्वजाड्येषु गलामयेषु
न स्नेहयेत् स्नेहमदात्ययेषु ॥

का० सं० सू० २२।३०-३१॥

न स्नेहयेत् प्रमेहे न कुष्ठकफशोषरोगार्तान् ॥

का० सू० अ० २२।५४

न त्वतिमंदाऽग्नितीक्ष्णाग्निस्थूलदुर्बलाः ।
उरुस्तंभाऽतिसाराऽऽमगलरोगगरोदरैः ॥
मूर्च्छाच्छर्द्यरुचिश्लेष्मतृष्णामद्यैश्चपीडिताः ॥
अपप्रसूता युक्ते च नस्ये बस्तौ विरेचने ॥

अ० हृ० सू० अ० १६।८; अ० सं० सू० अ० २५।

अतिमंदाग्न्यादयो न स्नेह्याः । अतिशब्दो यावद्दुर्बलेषु प्रत्येकं योज्यः । तेनाऽतिदुर्बला न स्नेह्य इत्यर्थः । अत एवाल्पबला स्नेह्या नत्वतिदुर्बला इति न पूर्वापर विरोधः । अति तीक्ष्णाग्नेः स्नेहदत्यग्निवृद्धिः । अतिस्थूलस्य चाग्निमेदसोर्वृद्धिः । अति दुर्बलस्य च जरणाशक्तेः स्नेहस्य व्यापत् । उरुस्तंभादिभिर्यावन्मद्येत च पीडिता न स्नेह्याः । अत्र शोधनप्रसङ्गे तु स्नेहनं विना शोधनं न कार्यमिति यावत् । अपप्रसूता स्रुतगर्भा न स्नेह्येति लिंगवचनविपरिणामः । प्रयुक्ते च नस्यादि कर्मणि सर्व एव न स्नेह्याः ॥ अरुणदत्तः ।

अतिमन्दाग्न्यादयो नतु स्नेह्या इति सम्बन्धः तीक्ष्णाग्नेः स्नेहनादत्यग्निवृद्धिः । स्थूलायाग्निमेदसो वृद्धिः । दुर्बलस्याजरणशक्तिः । उरुस्तम्भादीनां पीडितशब्देन सम्बन्धः । तेनोरुस्तम्भपीडितः । अतिसारेण पीडितः आमपीडितो यावन्मद्यपीडित इति । अत्र शोधनप्रसङ्गेऽप्यस्नेहनं विधिना न शोधनमिति यावत् । अपप्रसूता न स्नेह्येति विपरिणामः । अपप्रसूता अकालप्रसूता । अपरिपूर्णमासप्रसूतेति यावत् । तथा नस्यादिकर्म त्रितये युक्ते सत्यदोषसाम्ये स्नेहो न योज्यः ॥ चन्द्रनन्दनः ॥

अस्नेहनीयानाह—अबलस्य स्नेहत्वमतिदुर्बलस्यास्नेह्यत्वमित्यविरोधः । अपप्रसूता अयथावत्प्रसूता । (हेमाद्रिः)

न त्विति । अतिमन्दाग्न्यादयो न स्नेह्याः स्नेहानर्हा इति यावत् । अतिमन्दाग्निरतितीक्ष्णाग्नि रतिस्थूलोऽतिदुर्बलश्च । अति मन्दाग्नेः स्नेहजरणाशक्तेः । अतितीक्ष्णाग्नेरग्निवृद्धिकरत्वात् । अतिस्थूलस्याग्निमेदोवृद्धिभयात् । अतिदुर्बलस्य जरणशक्तेः । उरुस्तम्भादिष्वपि स्नेहव्यापत् भवतीति निषेधः । अपप्रसूता स्रुतगर्भा नस्यादिकर्म्मणि प्रयुक्ते आदोषसाम्यात् सत् एवास्नेह्याः । एतेषां शोधनप्रसंगे सति स्नेहप्रयोगेणविना शोधनं कार्यमेवेति वेद्यम् ।

परमेश्वरः ॥

हि० व्या०—(स्नेह्याः के न च) जिन व्यक्तियों को रूक्षण करने का विधान बताया जावेगा उन व्यक्तियों को तथा जिनके कफ तथा मेद बढ़े हुए हैं उनका, अथवा कफ तथा मेद बढ़े हुए व्यक्तियों को जिनको रूक्षण क्रिया का विधान बताया गया है उनका संशोधन के अतिरिक्त स्नेहन नहीं करना चाहिए ।

(चरक सू० अ० २२ में रूक्षणीय व्यक्तियों का वर्णन किया गया है । अष्टाङ्गसंग्रह अ० २४ में बताया गया है कि मेदस्वी तथा कफ की अधिकता वाले एवं स्नेह के अभ्यासी व्यक्तियों को यदि स्नेहन कराना आवश्यक हो तो पूर्व में उनका रूक्षण किया जाता है फिर स्नेहन करके शोधन किया जाता है ।)

जिनके मुख एवं गुदा से इतना अधिक स्राव होता हो कि मुख एवं गुदा कफ पूर्ण हो, जिसकी अग्नि सदैव मन्द रहती हो, जो तृष्णा और मूर्च्छा से युक्त हो, गर्भिणी तथा जिसको तालु शोष हो, अन्न से द्वेष रखने वाला (अरुचि), वमन का रोगी, उदर रोगी, आमदोष एवं कृत्रिम विष से पीड़ित हो, दुर्बल हो, क्लमयुक्त हो, स्नेह पीने से जिसे ग्लानि हो, जो मद से पीड़ित हो उनका स्नेहन नहीं कराना चाहिए ।

सुश्रुत एवं चरक में बताए अस्नेह्यों के अतिरिक्त तरुणज्वरी, स्थूल शरीर वाला, जिसे बस्ति, विरेचन एवं वमन कराया गया हो, इस प्रकार के व्यक्तियों को एवं अकाल (उपयुक्त समय न हो) में तथा दुर्दिन (जिन दिनों मौसम अच्छा न हो अर्थात् बादल वर्षा आदि से युक्त दिनों) में भी स्नेहपान नहीं करना चाहिए । जिस स्त्री को असमय में प्रसव हुआ हो उसे भी स्नेहपान नहीं कराना चाहिए । काश्यप ने कुछ अन्य अस्नेही इस प्रकार बताए हैं—दुग्धपान करने वाले बालक, जले हुए (या जिनका अग्निकर्म किया गया हो), जो अति वृद्ध हों श्लेष्मा एवं पित्त से जिनकी जठराग्नि क्षीण हो गई हो तथा शरीर में जड़ता की स्थिति में स्नेहन नहीं कराना चाहिए । वाग्भट ने चरक एवं सुश्रुत के पक्ष को ग्रहण करते हुए उरुस्तम्भ, अतिसार एवं गरविष के रोगियों का विशेष उल्लेख किया है ।

गर्भाशयेऽवशेषाः स्युः रक्तक्लेदमलास्ततः ।
स्नेहं जह्यान्निषेवेत पाचनं रूक्षमेव च ॥
दशरात्रात्ततः स्नेहं यथावदवचारयेत् ।

सु० चि० ३१।५०-५१

अच्छपान निषेधस्थलानि

स्नेहद्वेषी क्षामो मृदुकोष्ठः स्नेहमद्यनित्यश्च ।
अध्वप्रजागरस्त्रीश्रान्ता नाच्छं पिबेयुस्ते ॥

का० सं० सू० २२।५२

हि० व्या०—अकाल प्रसवा स्त्री के गर्भाशय में रक्त, क्लेद और मल अवशेष रह जाते हैं, ऐसी अवस्था में स्नेहपान नहीं कराना चाहिए। बल्कि पाचन और रूक्ष औषधियों का प्रयोग करना चाहिए। दश दिन के पश्चात् यथाविधि स्नेहपान कराना चाहिए।

काश्यप के अनुसार स्नेहद्वेषी (जिनको स्नेहप्रिय न हों), दुर्बल तथा मृदु कोष्ठ वाले, जो नित्य स्नेह एवं मद्यपान करते हों, मार्ग चलने, जगरण तथा स्त्रीगमन के कारण जो थक गए हों उन्हें अच्छपान नहीं कराना चाहिए।

आत्ययिकदशायां घृत तैल प्रयोग संकेतः ॥

तैलं त्वरायां शीतेऽपि·····।

अ० हृ० सू० १६।१५

त्वरायां सत्यां व्याधिक्रियां प्रति प्राप्ते काले स्नेहयोग्यतायां सत्यां शीते हेमंत शिशिराख्ये काले तैलं संशोधनात्पूर्वं स्नेहनार्थं शस्तं नान्यस्नेहः। अपि-शब्दान्त केवलं वर्षास्ववर्षासु च शस्तमित्यर्थः।

हि० व्या०—यदि किसी रोगी को आत्ययिक अवस्था में शोधन के लिये स्नेहपान कराना हो तो हेमन्त और शिशिरऋतु में भी तैल का प्रयोग किया जा सकता है।

·····धर्मेऽपि च घृतं निशि।
निश्येव पित्ते पवने संसर्गे पित्तवत्यपि ॥

अ० हृ० सू० १६।१६

न केवलं शरदिघृतं प्रयुंजीत यावद्धर्मेऽपि निश्युपयुंजीत। न च घर्म एव निश्युपयुंजीत यावत्पित्ते कुपिते पित्तजे वा विकारे तथा पवने कुपिते तज्जे वा विकारे स्नेहसाध्ये घर्मे घृतं निश्युपयुंजीत न दिवा न च तैलं वसामज्जानौ वा। तथा पित्तवति पित्ताधिके संसर्गे वातपित्ताख्ये श्लेष्मपित्ताख्ये कुपिते तज्जे वा विकारे स्नेहसाध्ये घर्मे घृतं निश्युपयुंजीत ॥ पित्ते पवन इत्येतद्दोषविकारोभयोपलक्षणार्थं वेद्यम्। पित्तवतीति भूम्नि मतुप्। अरुणदत्तः ॥

तथैव त्वरायां सत्यां यदाग्रीष्मे संशोधनं क्रियते तदा घृतमेव संशोधनात् पूर्वं देयम्। अपि शब्दान्न केवलं वर्षान्ते सर्पिर्यावदस्मिन् ऋतौ सर्वस्य स्नेहस्य दिवोपयोगः प्राप्तः स निशीत्यनेन निषिध्यते। न केवलं घृतं घर्मे निशि उपयुञ्जीत स्नेहनार्थं संशोधनात्पूर्वमित्येव नियमः यावदयमपि नियमः। पित्ते कुपिते तज्जे च विकारे तथा पवने कुपिते तज्जे च विकारे स्नेहसाध्ये तदुपशान्त्यर्थं घृतमेव संस्कृतमसंस्कृतं वा नित्यमुपयुञ्जीत न दिवा न तैलं वसामज्जानौ वा। तथा संसर्गे पित्तवत्यपि द्विविधेऽपि संसर्गे पित्ताधिके वात-पित्ताख्ये पित्तश्लेष्माख्ये कुपिते तथा भूते विकारे तज्जे स्नेह साध्ये तदुप-शान्त्यर्थं घृतमेव संस्कृतमसंस्कृतं वा निश्युपयुञ्जीत न तैलं वसा मज्जानौ नैवाहनि पित्तेऽपि वमने इत्येव दोषविकारोभयलक्षणार्थं बोद्धव्यम् ॥

चंद्रनन्दनः ॥

नियमविपरीतस्नेहप्रयोगे हानिसंकेतः

निश्यन्यथा वातकफाद्रोगाः स्युः पित्ततोदिवा

अ० हृ० सू० १६।१७

अन्यथोक्त प्रकारादपरेण यथा शीतकाले निशि घृतोपयोगाद्वातकफाद्धेतो रोगा भवेयुः। तथा दिवा घर्मे काले तैलोपयोगात्पित्ततः पित्ताद्रोगाः स्युः। वसामज्जोस्त्वनिश्चितस्वरूपत्वानोष्णकाले नाऽपि शीतकाले त्वरायां सत्यामुप-योगस्तंत्रकारेण दर्शितः। तथा चोक्तम्। यथासत्त्वं तु शैत्योष्णे वसामज्जोस्तु निर्दिशेदिति ॥ अरुणदत्तः ॥

अयमर्थः। घृततैलयोर्यथानिर्दिष्टोपयोगकालनियमाद्यत इतरोपयोगकालस्त-योरिति वसामज्जोस्तु शीते काले नात्युष्णे काले त्वरायामुपजातायामित्यर्थः। तत्र यस्तैलोपयोगो दिवा सोऽन्यथान्येन प्रकारेण। एवं शीतकाले निशिघृतोप-योगाद्वातकफाद्रोगा भवेयु,। तथा धर्मेकाले दिवातैलोपयोगात् पित्ततो रोगा भवेयुरिति वसामज्जोस्तु न शीते काले नाप्युष्णे काले त्वरायां समुपजातायां संशोधनात् पूर्वं स्नेहनार्थमुपयोगो ग्रन्थकृता प्रदर्शितो निश्चितशीतोष्णगुणत्वान्-नातो शीतगुणो वक्तुं युज्येत नाप्युष्णगुणः स्वस्वरूप पराधीनस्वरूपत्वात्। तथा चेहतौ मांसस्य रूपानुगस्वरूपाविति पठ्यते। तथा चागमेऽपि। 'यथासत्त्वं तु शैत्योष्णे वसामज्जोर्विनिर्दिशेत्" इति चंद्रगन्दनः ॥

निशीति। अन्यथा निशि वातकफाद्रोगा स्युः। अन्यथा दिवा पित्ततः रोगाः स्युः। अन्यथा उक्तप्रकारादन्येन प्रकारेण। यथा—हेमन्त शिशिरयो-र्निशि घृतोपयोगेन वातकफजनिता रोगा भवन्ति। तथा ग्रीष्मकाले दिवा तैलोप योगेन पित्तजनिता रोगा भवन्तीति। अत्र पित्तकोपे पित्तजनितरोगेषु च शरदि घर्मे च घृतं रात्रावेवोपयोज्यम्। तथा वाते तज्जनितरोगेषु च प्रावृषि शीते च

दिवा तैलोपयोगः धर्मकाले तु वातजयाय घृतं रात्रौ सेव्यम् । कफस्य तु युक्ति विशात् संस्कृतस्नेहो दिवैवोपयोज्य इति विशेषोऽवबोध्यः ॥ परमेश्वरः ॥

स्नेहनादिकर्मणः प्रारम्भात् प्रागेव तदुपकरण संभारसंग्रहावश्यकता ।

स्नेहादिषूपयोगाय तद्व्यापच्छमनाय च ।
कुर्यात् प्रागेव तद्योगिद्रव्य संभार संग्रहम् ।

अ० सं० सू० २५।३

स्नेहस्य शोधनाङ्गत्वात् प्रागेवस्नेहादिष्वनारब्धेषु स्नेहाद्युपयोगाय देशादि वैपरीत्यात् स्नेहाद्युद्भूतव्यापच्छमनाय च तद्योगिद्रव्याणां स्नेहोपयोगिनां घृत तैलवसाशरावोदञ्चनादीनां तद्व्यापच्छमनयोगिनां च द्रव्याणां सम्भारसंग्रहं कुर्यात् ॥ इन्दुः ॥

हि० व्या०—स्नेह की विविध प्रक्रियायों में उपयोगी तथा उत्पन्न हुई विविधप्रकार की व्यापत्तियों को शमन करने हेतु, स्नेहन कराने से पूर्व ही जो-जो उपयोगी द्रव्य सामग्री हो उनका संग्रह कर लेना चाहिए जिससे कि समय पर किसी प्रकार की असुविधा न हो ।

स्नेहपानात्पूर्वं पथ्यम्

द्रवोष्णमनभिष्यन्दि भोज्यमन्नं प्रमाणतः ।
नातिस्निग्धमसंकीर्णं श्वः स्नेह पातुमिच्छता ॥

च० सू० १३।६०
वङ्गसेन (स्नेहा०)

द्रवमितलघूष्णमन्नं काले सात्म्यं वलाग्निरुग्युक्तम् ।
श्वः स्नेहपानमिच्छन् भुंजीत शयीत गुप्तश्च ॥

का० सू० २२।३६

भोज्योऽन्नं मात्रया पाश्यन् श्वः पिबन् पीतवानपि
द्रवोष्णमनभिष्यंदी नाति स्निग्धमसंकरम् ॥

अ० सं० सू० २५। अ० हृ० सू० १६।४०-४१

स्नेहस्य पानात् पूर्वं च दातव्यं मृदु भेषजम् ।
उत्तेजनं हुताशस्य कोष्ठलाघवकारि च ॥

अ० सं० सू० २५।४५

स्नेह पान से पूर्व पथ्या पथ्य विचार

हि० व्या०—यदि कल (अगले दिन) स्नेहपान का विचार हो तो रात में (अर्थात् स्नेहपान से एक दिन पूर्व); द्रव, सुखोष्ण और जो अभिष्यन्दी न हो एवं अति स्निग्ध न हो (ईषत् स्निग्ध) तथा असंकीर्ण (अपच्य न हो ऐसे) अन्न का मात्रा पूर्वक भोजन करना चाहिए । महर्षि काश्यप ने 'शयीत' ऐसा लिखकर पूर्ण विश्राम करने का भी विचार व्यक्त किया है । अन्य आचार्यों ने भी चरक के विचार का समर्थन किया है । आचार्य वाग्भट ने स्नेहपान से पूर्व और पश्चात् अग्निवर्धक और कोष्ठ में लघुता उत्पन्न करने वाली औषधि देने का भी विचार व्यक्त किया है ।

त्वरिताधिक स्नेहपान निषेधः

गृह्णात्यम्बुयथा वस्त्रं प्रस्रवत्यधिकं यथा ।
यथाग्नि जीर्यति स्नेहस्तथा स्रवति चाधिकः ॥
यथा चाक्लेद्य मृत्पिण्डमासिक्तंत्वरया जलम् ।
स्रवति, स्रंसते स्नेहस्तथा त्वरित सेवितः ॥

च० सू० १३।९६-९७

हि० व्या०—शीघ्रतावश एवं अधिक मात्रा में स्नेह सेवन किए जाने पर उसकी प्रक्रिया को उदाहरण के साथ व्यक्त करते हुए आचार्य लिखते हैं कि जिस प्रकार वस्त्र को पानी में डालने पर अपनी क्षमता के अनुरूप वस्त्र पानी को सोख लेता है तथा अतिरिक्त पानी को टपकाने लग जाता है उसी प्रकार अत्यधिक परिमाण में सेवन किए गए स्नेह को, पाचकाग्नि अपनी सामर्थ्य के अनुसार पचाकर शेष स्नेह को बाहर निकाल देती है । दूसरे उदाहरण में शीघ्रता का उल्लेख करते हुए लिखा है कि जिस प्रकार मिट्टी के ढेले पर शीघ्रता से डाला गया जल ढेले को बिना गीला किए ही बह जाता है उसी प्रकार शीघ्रता से सेवन कराया गया स्नेह शरीरावयवों को स्निग्ध कराये बिना ही मल मार्ग से निकल जाता है । इसीलिए मात्राधिक्य एवं शीघ्रता से स्नेह-पान का निषेध किया गया है ।

अतिमात्र स्नेहपाने दोषाः तत्र चिकित्साक्रमश्च ।

पीतोह्यतिबहुःस्नेहो जनयेत् प्राणसंशयम् ।
मिथ्याचाराद् बहुत्वाद्वा यस्य स्नेहो न जीर्यति
विष्टब्ध्य चापि जीर्येतं वरिणोष्णेन वामयेत् ॥
ततः स्नेह पुनर्दद्यात्लघुकोष्ठायदेहिने ।
जीर्णाजीर्णविशंकायां स्नेहस्योष्णोदकं पिबेत् ॥
तेनोद्गारो भवेच्छुद्धो भक्तं प्रति रुचिस्तथा
स्युः पच्यमाने तृड्दाहभ्रमसादारति क्लमाः

सु० चि० ३१। ३१-३३, भाव प्र० स्नेहाधि० २४
वंगसेन स्नेहाधिकार, काश्यप सू० २२।४१, चक्रदत्तः

हि० व्या०—अत्यधिक मात्रा में सेवित स्नेह प्राण संकट में डालने वाला होता है अर्थात् अनेकों उपद्रव उत्पन्न करता है। अत्यधिक मात्रा में ग्रहण किया गया स्नेह मिथ्या आहार-विहार के कारण अथवा मात्राधिक्य के कारण जीर्ण न हो रहा हो, जिसका पाचन कष्ट से हो उसे ऊष्ण जल प्रयोग से वमन प्रक्रिया द्वारा बाहर निकाल देना चाहिए। जिस व्यक्ति का कोष्ठ लघु हो उसे पुनः स्नेह पिलाना चाहिए। उस स्नेह के जीर्ण या अजीर्ण की शंका होने पर ऊष्ण जल पिलाना चाहिए। इस प्रक्रिया से उद्गार की प्रवृत्ति होती है, भोजन में रुचि होती है। स्नेह की पच्यमानावस्था में, तृष्णा, दाह, भ्रम, आलस्य, अनिच्छा एवं श्रम की उत्पत्ति होती है।

स्नेहपान क्रम :

अत ऊर्ध्वं स्नेहपानक्रममुपदेक्ष्यामः— अथ मृदु लघुकोष्ठायातुराय कृतमङ्गलस्वस्तिवाचनायोदयगिरिशिखरसंस्थिते प्रतप्तकनकनिकरपीतलोहिते सवितरि यथा बलं तैलस्य घृतस्य वा मात्रां पातुं प्रयच्छेत्। पीतमात्रे चोष्णोदकेनोपस्पृश्य सोपानत्को यथासुखं विहरेत्॥

सु० चि० ३१।१४

अत ऊर्ध्वं स्नेहपानक्रममिति स्नेहपानपारिपाटीमित्यर्थः। अथशब्दोऽयं पञ्चकर्मादौमङ्गलार्थः। मृदुशब्दोवाक्यशोभार्थः। लघुकोष्ठवचनं जीर्णाहार प्रदर्शनार्थं, यदी तु लघुकोष्ठाय यथाक्रममामाशय पक्वाशयहृदयेषु पक्वतापगतान्नमलरसामतागौरवायेति व्याख्यानयति। कृतं मङ्गलं पूर्णोदिककुम्भादि सर्वलोकप्रसिद्धं स्वस्तिवाचनं च यस्य स तथा, तस्मै। अत्रोदयगिरिसंस्थितसवितृग्रहणं प्रातःकाल ज्ञापनाय। प्रातर्हि संशोधनार्थं स्नेहपानं तन्त्रान्तरेऽप्युक्तं—"शुद्धयर्थं० पुनराहारे नैशे जीर्णे पिबेन्नरः। पिबेत् संशमनं स्नेहमन्नकाले प्रकाङ्क्षितः" (च० सू० अ० १६) इति। यथाबलमिति दोष दूष्यामयानां हीनमध्योत्तमबलमाश्रित्य यामद्वयचतुर्यामसकलाहः परिणामसापेक्षिणीं मात्राम्। सर्वस्नेहनेषु प्रधानतया घृततैले प्राह-घृतस्य तैलस्य वेति। उपस्पृश्य आचमनं कृत्वेत्यर्थः॥ डल्हणः॥

हि० व्या०—स्नेहपान के क्रम का विचार करते हुए लघु कोष्ठ आतुर को स्वस्तिवाचन और मङ्गलपाठ (पुण्याहवाचन) आदि करने के पश्चात् उदयाचलपर्वत पर अग्नितप्त सुवर्ण के सदृश रक्ताभ या रक्त पीत रंग मिश्रित भगवान् सूर्य के आगमन अर्थात् ऊषा काल में, रोग, दोष और रोगी के बलाबल का विचार करके तैल या घी की मात्रा पीने के लिए देना चाहिए। स्नेहपान के अनन्तर उष्ण जल से आचमन (कुल्ला) कर पैरों में जूते धारण करके रोगी को आराम से घूमना चाहिए।

सम्यक् स्निग्ध लक्षणम्

वातानुलोम्यं दीप्तोऽग्निर्वर्चः स्निग्धमसंहतम्।
मार्दवं स्निग्धता चांगे स्निग्धानामुपजायते॥

च० सू० १३।५८ अ० सं० सू०।२५
अ० हृ० सू०।१६, बंग सेन

सुस्निग्धा त्वग्विट्शैथिल्यं दीप्तोऽग्निर्मृदुगात्रता।
ग्लानिर्लाघवमङ्गानामधस्तात् स्नेहदर्शनम्।
सम्यक्स्निग्धस्यलिङ्गानि स्नेहोद्वेगस्तथैव च॥

सु० चि० ३१।५३

धृतिमृदुपुरीषत्वं मेधापुष्ट्यग्नितेजसां वृद्धिः
काले शरीरवृत्तिः स्निग्धस्य वदन्ति लिङ्गानि॥

का० सू० २।३४

हि० व्या०—स्नेहन करने पर जब वायु अनुलोम हो जाय, जठराग्नि प्रदीप्त हो जाय, मल चिकना एवं गांठ रहित हो जाय तथा अंग प्रत्यंगों में भी मृदुता आ जाय तब व्यक्ति को सम्यक् स्नेहित समझना चाहिए।

सुश्रुत ने ग्लानि रहितता, अधोमार्ग से स्नेह का निर्हरण, स्नेह से अरुचि एवं घबराहट होने का निर्देश सम्यक् स्निग्ध रोगी के लक्षणों में उल्लेख किया है। काश्यप ने भी कुछ विशेष लक्षण इस प्रकार बताये हैं—मेधा शक्ति व्यक्ति, का पोषण तथा शरीर की समस्त चेष्टाए यथावत् हो तब सम्यक् स्निग्ध समझना चाहिए।

अष्टाङ्ग संग्रह में चरक एवं सुश्रुत के वचनों के साथ विमलेन्द्रियता का भी उल्लेख किया है तथा हृदय में चरक के ही श्लोक उद्धृत किये हैं।

अ० संग्रह के "दीप्ताग्निराग्निः परिशुद्धकोष्ठः" का विवरण सम्यक् स्नेहन के महत्व' रूप में पूर्व में ही वर्णन कर आये हैं। यही श्लोक सुश्रुत में भी प्राप्त आया है।

अतिस्निग्धलक्षणम्

पाण्डुता गौरवं जाड्यं पुरीषस्याविपक्वता।
तंद्रारुचिरुत्क्लेशः स्यादतिस्निग्धलक्षणम्॥

च० सू० १३।५९

भक्तद्वेषो मुखस्रावो गुददाहः प्रवाहिका।
पुरीषातिप्रवृत्तिश्च भृशस्निग्धस्य लक्षणम्॥

सु० चि० ३१।५४

गौरवजाड्योत्क्लेशाध्मानानि पुरीषमविपक्वम् ।
अरुचिरपि पाण्डुतन्द्रे वदन्त्यतिस्निग्धलिङ्गानि ॥
का० सू० २२।३५

अतिस्निग्धे तु पाण्डुत्वं घ्राणवक्त्रगुदस्रवाः ॥
अ० हृ० सु० १६।३१

अ० सं० सू० अ० २५ चक्रदत्त (स्नेहा०) २८

पांडुता सदनं तन्द्रा पुरीषस्य विपक्वता
उत्क्लेशो जाड्यमरुचिः स्यादतिस्निग्धलक्षणम् ॥
वंगसेन

हि० व्या०—जिस व्यक्ति को स्नेहन कराने पर शरीर में पीलापन, गुरूता, जड़ता (कार्य अक्षमता), मल का अपक्व निहरण, तन्द्रा, भोजन में अरुचि, उत्क्लेश आदि लक्षण प्रकट हो तो अतिस्निग्ध जानना चाहिए ।

सुश्रुत ने लालास्राव, गुदपाक एवं प्रवाहिका के रूप में चरक के विपक्वता लक्षण को स्पष्ट किया है । काश्यप ने आध्मान का भी अति स्निग्ध के लक्षणों में उल्लेख किया है । अष्टांगसंग्रह व अष्टांग हृदय में नाक, मुख, तथा गुद से स्राव होना अति स्निग्ध के लक्षण बताये हैं । भाव प्रकाश एवं चक्रदत्त ने क्रमशः सुश्रुत एवं अष्टांग हृदय के श्लोक ही उद्धृत किए हैं ।

अस्निग्धलक्षणम्

पुरीषं ग्रथितं रूक्ष वायुरग्रगुणो मृदुः ।
पक्वता खरत्वं रौक्ष्यं च गात्रस्यास्निग्ध लक्षणम् ।
च० सू० १३।५७ वंगसेन (स्नेहा धि०)

वायोरग्रगुणत्वं रौक्ष्यं खरताऽधृतिर्ज्वलनहानिः ।
शुष्कग्रथित पुरीषं लक्षणमस्निग्धगात्रस्य ॥
का० सं० सू० २२।३३

पुरीषं ग्रथितं रूक्षं कृच्छ्राद्वन्नं विपच्यते ॥
उरो विदहते वायुः कोष्ठादुपरि धावति ।
दुर्वर्णो दुर्बलश्चैव रूक्षो भवति मानवः ॥
सु० चि० ३१।५१-५२

हि० व्या० —स्नेहन के पश्चात् जिस व्यक्ति का पुरीष रूक्ष एवं गांठदार हो वायु की विलोम गति हो, जठराग्नि प्रदीप्त नहीं हो, समस्त शरीर में खरता एवं रूक्षता हो तो उसे अस्निग्ध समझना चाहिए ।

सुश्रुत ने लिखा है कि जिस व्यक्ति की पाक प्रक्रिया समुचित न हो, उरः प्रदेश में जलन, शरीर के वर्ण में विकृति, दुर्बलता तथा रूक्षता होने पर अस्निग्ध समझना चाहिए ।

अस्निग्ध के लक्षणों में काश्यप ने भी रूक्षता, खरता, अधर्म आदि का उल्लेख किया है । वंगसेन ने चरक के ही श्लोक को उद्धृत किया है । वाग्भट में सम्यक् स्निग्ध के विपरीत रूक्षता आदि लक्षणों को अस्निग्ध बताया है ।

स्नेहजीर्ण-स्नेहाजीर्ण लक्षणानि

तृष्मूर्च्छामुखशोषैः शब्दद्वेषाङ्गमर्दजृम्भाभिः ।
तन्द्रीवाग्देहसादैः स्नेहज्ञा (ज्ञो) जीर्यतीत्याह ॥
उद्गारस्य विशुद्धिः कांक्षा स्थिरता लघूत्वमविषादः ।
बलवागिन्द्रियसंपज्जीर्णे स्नेहे बलमुखे च ॥
कर्णाक्षिप्राणबलं स्मृतिकेशोजसां वृद्धि धृतिपुष्टिः ।
शान्तिस्तद्व्याधीनां भुक्त्वाऽनु स्नेहपीतस्य ॥
का० सं० सू० अ० २२।४१.४५-४६

हि० व्या० - स्नेह के जीर्ण नहीं होने पर प्यास मूर्च्छा. मुख शोष, शब्द द्वेष, अंगमर्द, जम्भाई, तन्द्रा तथा वाणी व देह में अवसाद के लक्षण प्राप्त होते हैं ।

इसके विपरीत स्नेह के जीर्ण हो जाने पर उद्गार विशुद्धि, इच्छा की उत्पत्ति, स्थिरता, लघुता, प्रसन्नता, वाणी तथा इन्द्रियों में उत्तम गुणोत्पत्ति, बल एवं सुख की प्राप्ति होती है । स्नेहपान के पश्चात् कान, आंख एवं प्राण बल की प्राप्ति होती है । स्मृति वृद्धि, केश तथा ओजो वृद्धि होती है । धारण शक्ति पुष्ट होती है साथ ही उन समस्त रोगों की भी उपशान्ति होती हैं जिन को दूर करने के लिए स्नेहपान किया जाता है ।

स्नेहपानोत्तरं पथ्यापथ्यः

उष्णोदकोपचारीस्याद्ब्रह्मचारी क्षपाशयः ।
शकृन्मूत्रानिलोद्गारानुदीर्णांश्च न धारयेत् ॥
व्यायाममुच्चैर्वचनं क्रोधशोकौ हिमाऽऽतपौ ।
वर्जयेदप्रकालं च सेवेत शयनासनम् ॥
स्नेहं पीत्वा नरः स्नेहं प्रतिभुञ्जान एव च ।
च० सू० १३।६२-६४ (क)

उष्णोदकोपचारी स्याद् ब्रह्मचारी क्षपाशयः ।
न वेगरोधी व्यायामक्रोधशोकहिमातपान् ॥
प्रवातयानयानाध्वभाष्यात्याशनसंस्थितीः ।
नोच्चात्युच्चोपधानार्हः स्वप्नधूमरजांसि च ॥
त्र्यहानि पिबेत्तानि तावन्त्यन्यान्यपि त्यजेत् ।

सर्वकर्मस्वयं प्रायो व्याधि क्षीणेषु च क्रमः ॥
उपचारस्तु शमने कार्यः स्नेहे विरिक्त वत् ।
अ० सं० सू० २५।४१-४४, अ० हृ० सू० १६।१६-२८
वंगसेन स्नेहाधिकार

स्नेहे व्यायामसंशीतवेगाघातप्रजागरान् ।
दिवास्वप्नमभिष्यन्दि रूक्षान्नं च विवर्जयेत् ॥
वंगसेन स्नेहा०

हि० व्या०—स्नेह पान के पश्चात् रोगी को उष्ण जल का पान करना चाहिए। ब्रह्मचर्य का पालन और रात्रि में शयन करना चाहिए अर्थात् दिन में सोना निषेध है। मलमूत्र-वायु, डकार, छींक आदि जो स्वाभाविक वेग है, उनको रोकना नहीं चाहिए। व्यायाम, उच्च भाषण, क्रोध, शोक, शीतल वस्तुओं का सेवन, धूप में बैठना आदि का परित्याग करना चाहिए। निवात स्थान में सोना और बैठना चाहिए, अर्थात् तेज हवा से बचना चाहिए। स्नेह पान के पश्चात् अथवा स्नेह के जीर्ण हो जाने पर पुनः स्नेह प्रयोग के बाद इन नियमों का पालन करना चाहिए।

आचार्य वाग्भट ने इसे और स्पष्ट करते हुए लिखा है कि रथ या घोड़े की सवारी, अधिक बोलना, मार्ग चलना, बहुत देर तक बैठे रहना, सिरहाने को बहुत नीचा या ऊँचा रखना, धूआँ और धूल आदि से भी बचना चाहिए। जितने दिन तक स्नेहपान किया हो उतने ही दिनो तक इन नियमों का पालन करना चाहिए। विरेचन वमनादि कर्मों में, तथा रोगों से क्षीण व्यक्तियों को भी इन नियमों का पालन करना चाहिए। शमन स्नेह में विरेचन लिए पुरुष के समान भोजनादि विधि (पेयादि क्रम) का पालन करना चाहिए। आचार्य वंगसेन ने अभिष्यन्दि एवं रूक्ष अन्न का भी निषेध किया है।

परिषिच्यादिभरुष्णाभिर्जीर्णस्नेहं ततो नरम् ।
यवागूं पाययेच्चोष्णां कामं क्लिन्नाल्पतण्डुलाम् ॥
देयौ यूषरसौ वाऽपि सुगन्धी स्नेहवर्जितौ ।
कृतौ वाऽत्यल्पसर्पिष्कौ विलेपी वा विधीयते ॥
गु० चि० ३१।३४-३५

हि० व्या०—स्नेह पान के पश्चात् स्नेह पच जाने पर रोगी का उष्ण जल से स्नान कराकर अल्प चावलों से बनाई गई और सुसिद्ध उष्ण यवागू पेट भर पिलानी चाहिए। सुगन्धि या स्नेह रहित यूष या मांसरस पिलाना चाहिए। अथवा अल्प घृत युक्त विलेपी का सेवन करना चाहिए।

स्नेहपानोत्तरं वमनकालनियमस्तत्र पथ्यं च

एकाहोपरतस्तद्वद्भुक्त्वा प्रच्छर्दनं पिवेत् ॥
च० सू० १३।८ (क)

हि० व्या० स्नेहपान के एक दिन बाद द्रव, उष्ण मांस रस और भात खिलाकर वमन कराना चाहिए। सम्यक् स्निग्ध हो जाने पर, द्रव, स्निग्ध, मांस रस और भात एक दिन तक खिलाकर दूसरे दिन वमन कराना चाहिए ऐसा करने से कफ का उत्क्लेश हो जाता है। कफ का उत्क्लेश होने से वमन आसानी से हो जाता है।

स्नेहपानोत्तरं विरेचनकालनियमस्तत्र पथ्यं च

स्नेहात् प्रस्कन्दनं जन्तुस्त्रिरात्रोपरतः पिबेत् ।
स्नेहवद्द्रवमुष्णं च त्र्यहं भुक्त्वा रसौदनम् ॥
च० सू० १३।८०

हि० व्या०—स्नेह पान के पश्चात् तीन दिन तक रोगी को विश्राम करना चाहिए और इस तीन दिन में स्नेह से मिश्रित द्रव, उष्ण मांस रस और भात का सेवन कर विरेचन औषध का सेवन करना चाहिए।

स्नेहमिथ्योपचारात् दारुण रोगभयम्

स्नेहमिथ्योपचाराद्धि जायन्ते दारुणाः गदाः ।
च० सू० १३।६४

अकाले चाहितश्चैव मात्रया न च योजितः ।
स्नेहो मिथ्योपचाराच्च व्यापद्येताऽति सेवितः ॥
च० सू० १३।७६

मात्राकाल वियुक्तः स्नेहः सात्म्योपचारगुणहीनः ।
युक्तो व्यापदमृच्छति..... ॥
का० सं० सू० २२।४०

तन्द्रा सोत्क्लेश आनाहो ज्वरः स्तम्भो विसंज्ञता ।
कुष्ठानि कण्डूः पाण्डुत्वं शोफार्शास्यरुचिस्तृषा ॥
जठरं ग्रहणीदोषः स्तैमित्यं वाक्यनिग्रहः ।
शूलमामप्रदोषाश्च जायन्ते स्नेहविभ्रमात् ॥
च० सू० अ० १३।७५-७६

ज्वरपाण्डुकुष्ठशोषास्तृष्मूर्च्छाच्छर्द्यरोचकोत्क्लेदाः ।
ग्रहणीन्द्रियोपघातस्तैमित्यानाहशूलाद्याः ॥ का० सू० २२।४६

अमात्रयाऽहिते काले मिथ्याहारविहारतः
स्नेहः करोति शोफार्शस्तंद्रानिद्राविसंज्ञता ॥
कण्डूकुष्ठ ज्वरोत्क्लेश शूलानाहबल क्षयान् ।
जठरेन्द्रियदौर्बल्यजाड्यामस्तम्भ वाग्ग्रहान् ॥
तास्तांस्वदोष हेतुत्थान्पाण्डवादींश्चातियोजनात् ।
अ० सं० सू० २५।५२-५३, अ० हृ० सू० १६।३२

हि० व्या०—स्नेह पान में निर्दिष्ट आहार-विहार का सेवन नहीं करने से अनेकों भयंकर व्याधियां उत्पन्न हो जाती हैं।

स्नेह के लिए बताए गए समय के विपरीत काल में स्नेह सेवन करने से अथवा जिसके लिए जिस स्नेह का सेवन नहीं बताया गया है उनका सेवन किए जाने पर, मात्रा के विरुद्ध स्नेह सेवन से तथा स्नेह पान काल में विपरीत आचरण किए जाने से अति मात्रा एवं अधिक समय तक स्नेहपान करने से स्नेह जनित व्यापत्तियां उत्पन्न हो जाती हैं।

तन्द्रा, उत्क्लेश, आनाह ज्वर, स्तम्भ (जकड़ाहट) चेतना रहितता, कुष्ठ, कण्डू, पाण्डु, शोफ, अर्श, अरुचि भोजन के प्रति अनिच्छा, तृष्णा, उदरविकार, ग्रहणी रोग, स्तिमितता (देह का क्लिन्न प्रतीत होना) वाग्ग्रह, शूल तथा आम दोषों की उत्पत्ति होती है। विधि पूर्वक स्नेह सेवन नहीं किए जाने पर ज्वर, पाण्डु, कुष्ठ, शोथ, प्यास, मूर्च्छा, छर्दि, अरुचि, जी मिचलाना, ग्रहणी रोग तथा इन्द्रियोपघात, जड़ता, आनाह एवं शूल आदि व्याधियां उत्पन्न हो जाती हैं।

अ० संग्रह एवं हृदय में स्नेहपान में प्रमाद द्वारा उत्पन्न होने वाले लक्षणों में अर्श हृदय स्तम्भ तथा भ्रम आदि तीन लक्षण काश्यप ने अधिक बताए हैं। उदररोग श्रोत्रादि में दुर्बलता, आमाजीर्ण, वाग्ग्रह तथा स्नेह दोष जन्य अनेक व्याधियां उत्पन्न हो जाती हैं।

सामे पित्ते केवलसर्पिपानात् व्यापत्तिः

न सर्पिः केवलं पित्ते पेयं सामे विशेषतः।
सर्वं ह्यनुरजेद्देहं हत्वा संज्ञां च मारयेत्॥

च० सू० अ० १३।७४

न सर्पिरित्यादि। न सर्पिः सामे पित्ते पेयं, केवलं त्वसंस्कृतं विशेषतो न पेयं सामपित्त एवेति योजना, एवं मन्यते-संस्कृत तिक्तकादिभिर्युतं सामे पित्ते तिक्तकादिपाचनगुणानुयोगात् योग्यं कदाचिद्भवत्यप्यसंस्कृतं तु सर्वथा विरुद्धमेव। यदि वा, केवलमसंस्कृतंसर्पिः पित्ते सामान्येन सामे निरामे वा न पेयं, सामे पित्ते विशेषत इति योजनाएतेन यत्रापि सामान्येन धृतं विहितं, यथा—"अतऊर्ध्वं कफे मन्दे वातपित्तोत्तरे ज्वरे। परिपक्वेषु दोषेषु सर्पिः पानं यथाऽमृतम्" (चि० अ० ३)

इत्यादौ तत्राप्युचितभेषजसंस्कृतमेव बोद्धव्यम्। यदि वा, न केवलं पित्ते सामे सर्पिर्विशेषतो न पेयं, किंतर्हि, तैलादीन्यपि वातश्लेष्म हितानि, तयोः सामयोर्न पेयानीत्यर्थः। अस्मिन् व्याख्यानेऽपेयमित्यकारप्रश्लेषो द्रष्टव्यः, अनुरजेत् = पित्तवर्णं कुर्यात्, संज्ञा = स्मृतिस्तद्धननं चेह व्याधिप्रभावात्॥

चक्रपाणिः॥

हि० व्या०—साम पित्त में घृतपान का निषेध—पित्तज विकार में विशेष कर के आमयुक्त होने से केवल घृत का पान नहीं कराना चाहिए क्योंकि वह सम्पूर्ण शरीर को रंग देता है और ज्ञानवह स्रोतों में जाकर संज्ञा नाश कर रोगी को मार डालता है।

प्रस्तुत श्लोक में शरीर के रंजन का अभिप्राय कामला होने से है। क्योंकि स्नेह के पाचन में यकृत का घनिष्ठ सम्बन्ध है। यकृत में दोष (अवरोध) होने से कामला होना सम्भव है।

मिथ्याचारात् ज्वरोपद्रव संकेत :, तत्र लंघन विधानं च

मिथ्याहारादिना लोके स्नेहं पीतो ज्वरादिकृत्।
प्रकुर्य्याल्लंघनं तत्र बलं ज्ञात्वा विरेचनम्॥

वंगसेने स्नेहपानाधिकारः

हि० व्या०—स्नेहपान में मिथ्या आहार करने से ज्वरादि उपद्रव हो जाता है। ऐसी स्थिति में लंघन (उपवास) करना चाहिए। रोगी और रोग के बलाबल का विचार कर विरेचन देना चाहिए।

गुददाहारुचिच्छर्दि मूर्च्छा तृष्णा प्रवाहिकाः।
शुष्कोद्गार भ्रमश्वासकासाः स्नेहातिसेवनात्॥

अतिस्निग्धोपद्रवाः

अ० सं० सू० २५।

हि० व्या०—स्नेह के अतिमात्रा में सेवन से गुद दाह, भोजन में अनिच्छा, वमन, मूर्च्छा तृष्णा, प्रवाहिका, सूखे उद्गार आना, भ्रम, श्वास तथा कास नामक विकारों की उत्पत्ति हो जाती है।

सामान्य चिकित्सोपक्रमः

तत्राप्युल्लेखनं शस्तं स्वेदः कालप्रतीक्षणम्।
प्रति प्रति व्याधिबलं बुध्वा स्रंसनमेव च॥
तक्रारिष्टयोगश्च रूक्षपानान्नसेवनम्।
मूत्राणां त्रिफलायाश्च स्नेहव्यापत्तिभेषजम्॥

च० सू० अ० १३।७७-७८

स्नेहजन्य सभी प्रकार के उपद्रवों में वमन कराना, स्वेद कराना, समय की प्रतीक्षा करना, प्रत्येक पुरुष के बल और व्याधि के बल को विचार कर विरेचन का प्रयोग कराना चाहिए। तक्रारिष्ट, रूक्ष अन्न और पेय पदार्थों का सेवन कराना, विविध मूत्रों और त्रिफला का सेवन कराना चाहिए। इससे उत्पन्न उपद्रवों की शान्ति हो जाती है।

... ...तस्मिन् संशोधनं पथ्यम् ।
स्नेहापचारजास्ते रोगाः स्नेहोपपादिता ये (ते) पु ।
वमनविरेचनयोगा रूक्षाशनतत्रमूत्राद्याः ॥

का० सू० २२।५०

क्षुतृष्णोल्लेखन स्वेद रूक्षपानान्न भेषजम् ।
तक्रारिष्ट खलोद्दाल यवश्यामाककोद्रवाः ॥
पिप्पली त्रिफला क्षौद्र पथ्या गोमूत्रगुग्गुलु ।
यथास्वं प्रतिरोगं च स्नेहव्यापदि साधनम् ॥
विरूक्षणे लंघनवत् कृतातिकृतलक्षणम् ॥

अ० सं० सू० २५।५४-५६; अ० हृ० सू० १६।-३३

जीर्णाजीर्णविशंकी केवलमुष्णोदकं पिबेत् तद्धि ।
उद्गारस्य विशुद्धिं जनयति भक्ताभिलाषं च ॥

का० सू० २२।४१ चक्रदत्त स्नेहा० २० भावप्रकाश (स्नेहा०) वंगसेन

स्नेहाजीर्णे तृष्णाशूलं परिकर्तिका च यस्य स्यात्
समतीतजरणकाले तस्य प्रच्छर्दनं श्रेयः ॥

का० सू० २२।४४

हि० व्या०—काश्यप ने चरक के समान ही पूर्वोक्त उपक्रमों का वर्णन करते हुए संक्षेप में संशोधन एवं पथ्य सेवन उत्तम बताया है ।

अष्टाङ्ग संग्रह एवं हृदय में भी चरक में बताये उपक्रमों के अतिरिक्त उपवास, व्यास, तिल व सरसों की खल का प्रयोग, रूक्षान्नों में यव, श्यामाक, एवं कोदों का प्रयोग, पिप्पली, मधु, हरीतकी तथा गुग्गुलु का प्रयोग अथवा व्यापत्तियों के अनुसार समुचित चिकित्सा करने का निर्देश किया है । मिथ्याचार से उत्पन्न विरूक्षण की अवस्था में लंघन के हीनातियोग के समान चिकित्सा करने का उल्लेख है ।

मिथ्याप्रयुक्तस्नेहोपसर्गभूततृष्णायाः सम्प्राप्तिस्तत् चिकित्सा सूत्रं च

उदीर्णपित्ता ग्रहणी यस्य चाग्निबलं महत् ।
भस्मी भवति तस्याशु स्नेहः पीतोऽग्नि तेजसा ॥
सजग्ध्वा स्नेहमात्रां तामोजः प्रक्षारयन् बली ।
स्नेहाऽग्निरुत्तमां तृष्णां सोपसर्गामुदीरयेत् ॥
नालं स्नेहसमृद्धस्य शमायान्नं सुगुर्वपि ।
स चेत् सुशीतं सलिलं नासादयति दह्यते ।
तथैवाशीविषः कक्षमध्यगः स्वविषाग्निना ॥

अजीर्णे यदि तु स्नेहे तृष्णा स्याच्छर्दयेद्भिषक् ।
शीतोदकं पुनः पीत्वा भुक्त्वा रूक्षान्नमुल्लिखेत् ॥

च० सू० १३।७०-७३

सम्प्रति स्नेह व्यापदो दर्शयति-उदीर्णेत्यादि । ओजः=सर्वधातुसारभूत हृदिस्थितं, प्रक्षारयन्=स्थानाद्भ्रंशयन् क्षपयंश्च । बलीत्यनेन स्नेहेन्धनो वह्निनितरां बलवान्भवतीति दर्शयति । वचनं हि—"नालं स्नेहसमृद्धस्य शमायान्नं सुगुर्वपि" ॥ उत्तमां=महतीं, सोपसर्गां=सोपद्रवां, कक्षः=काष्ठसमूहः, छर्दयेदिति प्रथमं स्नेहमेव तृष्णाकारकं, तं स्नेहं छर्दयित्वा पुनः शीतोदकं पीत्वा रूक्षान्नं च भुक्त्वा उल्लिखेदिति योजनीयम् ॥ चक्रपाणिः ।

स्नेहपीतस्य चेत्तृष्णा पिबेदुष्णोदकं नरः ।
एवं चानुपशाम्यन्त्यां स्नेह मुष्णाम्बुना वमेत् ॥
दिह्याच्छीतैः शिरः शीतं तोयं चाप्यवगाहयेत् ॥

सु० चि० ३१।२४-२५ चक्रदत्त वंगसेन

स्नेहेन पैत्तिकस्याग्निर्यदा तीव्रतरीकृतः ।
स्नेहमाशु जरां नीत्वा पुनरोजोऽभितश्चरन् ॥
उदीरयेत्सोपसर्गा पिपासामस्य बाधिकाम् ।
सोऽसूंस्त्यजेद्यदुदकं न पिबेदाशु शीतलम् ॥
शीतसेकावगाहान् वा तत्तृष्णापीडितो भजेत् ।
स्नेहाग्निना दह्यमानः स्वविषेणेव पन्नगः ॥

अ० सं० सू० २५।५०-५२
भावप्रकाश (स्नेह) ०

पैत्तिकस्य पित्तप्रकृतेः पुरुषस्य यदा स्नेहेनाग्निस्तीक्ष्णतरीकृतो भवति । सोऽग्निराशु स्नेह जरां नीत्वा पुनरोजसश्चाभिमुख्येन चरन् तीक्ष्णत्वादस्य हि पैत्तिजाय सोपसर्गां सज्वरादिमहारोगा बाधिकां प्राणनांशिनीं पिपासां तृषामुदीरयेत् । स च तथाविधः पुरुषस्तथाविधया पिपासयासून् प्राणांस्त्यजेत् । यद्युदकं शीतलं न पिबेत् । तताविधस्तृष्णापीडितः शीतसेकादीन्न भजेद्यदि तदासूंस्त्यजेत् । किंभूतस्तृष्णापीडित आह । स्नेहाग्निना दह्यमानः । अत्र दृष्टान्तो यथा । स्वविषेणाभिवृद्धेन पन्नगो भस्मसात् क्रियते । तद्वत् स्नेहाग्निना पुरुषः । इन्दुः ।

अजीर्णे बलवत्या तु शैतेर्दिह्याच्छिरोमुखम् ।
छर्दयेत्तदशान्तौ च पीत्वा शीतोदकं पुनः ॥
रूक्षान्नमुल्लिखेद्भुक्त्वा तादृश्यां तु कफानिले ।
समदोषश्च निःशेषं स्नेहमुष्णाम्बुनोद्धरेत् ॥
ततो दोषादिबलतः पूर्वोक्तं च विधिं श्रयेत् ।

अ० सं० सू० २५।५३-५४

स्नेहेत्वजीर्णे बलवत्यां तृषि पैत्तिकस्य शीतैरौषधैः शिरोमुखं दिह्यात्। तं जीर्णे स्नेह छर्दयेत्। एवमपि तस्यास्तृषोऽशान्तौ स्नेहेछर्दितेऽपि शीतोदकं पीत्वा रूक्षान्नं च भुक्त्वा पुनरुल्लिखेत्। छर्दयेदिति पैत्तिकस्य तट्साधनम्। कफानिले पुनस्तादृश्यामतियात्रायां तृष्युष्णाम्बुना निःशेषं स्नेहमुद्धरेत् वमेदित्यर्थः। समदोषश्च तथैव वमेत् ततः स्नेहे वान्ते दोषदूष्यादिबलापेक्षया पूर्वोक्तं लाघवे जाते सत्यन्नादि विधिं चरेत्॥ इन्दुः॥

स्युः पच्यमाने तृड्दाहभ्रमोमूर्च्छारुचिस्तमः।
परिषिच्योऽप्यनुष्णाद्भिर्जीर्णस्नेहो यतो नरः॥
यवागुं प्राशयेदुष्णां कृतां षष्टिकतण्डुलैः।
अल्पस्नेहां विलेपीञ्च जीर्णस्नेहे सुखोदनम्॥

वंगसेन स्नेहा० १७

हि० व्या०—विधि विपरीत स्नेहपान किए जाने पर तृष्णा नामक उपद्रव हो जाता है जिसके कारण, लक्षण एवं चिकित्सा का विवरण इस प्रकार है—जिसका पित्त ग्रहणी में उदीर्ण (बढ़ा हुआ) हो, जिसकी अग्नि बलवान हो, इस प्रकार के व्यक्ति को यदि स्नेहपान कराया जाता है तो उसका स्नेह जठराग्नि की तीव्रता से जल जाता है, स्नेह से उपपोषित अग्नि और भी तेज हो जाती है जिससे वह ओज को नष्ट करते हुए उपद्रवों युक्त तृष्णा की उत्पत्ति करती है। स्नेह द्वारा भड़की हुई जठराग्नि को शान्त करने के लिए गुरु आहार भी समर्थ नहीं होता। यदि उस अग्नि की उपशान्ति के लिए शीतल जल नहीं मिलता तो वह अन्दर ही अन्दर उसी प्रकार जलने लगता है, जिस प्रकार विषधरनाग पिटारी में बंद कर दिये जाने पर अपनी विषाग्नि से जल जाता है।

मूर्धतैल विधिः तस्य भेदाः प्रयोगस्थलानि च

मूर्द्ध तैलं पुनश्चतुर्धा भिद्यते। अभ्यंगः परिषेकः पिचुर्वस्तिरिति। यथोत्तरं ते बलिनः। तत्राभ्यंगो रूक्षकण्डुमलादिषु प्रयुज्यते। परिषेकस्त्वरूंषिका शिरस्तोददाहपाकव्रणेषु। केशशातस्फुटनधूपननेत्रस्तम्भेषु पिचुः। बस्तिस्तु प्रसुप्त्यदित रात्रिजागरित नासास्यशोषतिमिरवाक्संगेषु चातिदारुणेषु। तेष्वभ्यंगादयः प्रसिद्धस्वरूपाः। अ० सं० सू० ३५।१६

तत्राभ्यंगः प्रयोक्तव्यो रौक्ष्यकण्डूमलादिषु।
अरुंषिकाशिरस्तोददाहपाकव्रणेषु च॥
परिषेकः पिचुः केशशातस्फुटनधूपने।
नेत्रस्तम्भे च बस्तिस्तु प्रसुप्त्यदित जागरे।
नासास्यशोषे तिमिरे शिरोरोगे च दारुणे॥

अ० सं० सू० ३१।१७-१८, अ० हृ० सू० १२

अभ्यंगः परिषेकश्च पिचुर्वस्तिरितिक्रमात्।
मूर्द्धतैलं चतुर्द्धा स्याद् बलवत्तद्यथोत्तरम्॥

भाव० प्र०

हि० व्या०—शिर पर लगाया जाने वाला तैल मूर्ध तैल कहलाता है। मूर्ध तैल के चार प्रकार हैं यथा अभ्यंग, परिषेक, पिचु और बस्ति। ये उत्तरोत्तर बलवान् अर्थात् गुणकारी है। उनमें अभ्यंग का प्रयोग शिर की रूक्षता, कण्डू, मल आदि की अवस्थाओं में किया जाता है। परिषेक का अरुंषिका, शिरोवेदना, दाह, पाक, व्रण आदि में प्रयोग किया जाता है। पिचु बालों के गिरने, स्फुटन, धूपन, नेत्रस्तम्भ की अवस्था में प्रयोग किया जाता है। शिरोबस्ति प्रसुप्ति, अदित, रात्रि जागरण, नासाशोष, मुखशोष, तिमिर, वाक्संग की भयानक अवस्थाओं में प्रयोग किया जाता है। इन्हीं भावों को अष्टाङ्ग हृदय एवं भावप्रकाश में श्लोकबद्ध किया गया है।

मूर्धतैलधारण सामान्य गुणाः

नित्यं स्नेहार्द्र शिरसः शिरः शूलं न जायते।
न खालित्यं न पालित्यं न केशाः प्रपतन्ति च॥
बलं शिरः कपालानां विशेषेणाभिवर्धते।
दृढ़मूलाश्च दीर्घाश्च कृष्णाः केशा भवंति च॥
इन्द्रियाणि प्रसीदन्ति सुत्वग्भवति चाननम्।
निद्रालाभः सुखं च स्यान्मूर्ध्नितैलनिषेवणात्॥

च० सू० ५।८१-८३

शिरोगतांस्तथा रोगाञ्छिरोऽभ्यंगोऽपकर्षति।
केशानां मार्दवं दैर्घ्यं बहुत्वं स्निग्धकृष्णताम्॥
करोति शिरसस्तृप्तिं सुत्वक्कमपि चाननम्।
संतर्पणं चेन्द्रियाणां शिरसः प्रतिपूरणम्॥
मधुकं क्षीरशुक्ला च सरलं देवदारु च।
क्षुद्रकं पञ्चनामानं समभागानि संहरेत्॥
तेषां कल्ककषायाभ्यां चक्रतैलं विपाचयेत्।
सदैव शीतलं जन्तोर्मूर्ध्नि तैलं प्रदापयेत्॥

सु० चि० २४।२५-२८

कचसदनसितत्व पिजरत्वं
परिफुटनं शिरसः समीररोगान्
जयति जनयतीन्द्रियप्रसादं
स्वरहनुमूर्धबलं च मूर्धतैलम्॥

अ० सं० सू० ३१।२०, अ० हृ० सू० १६।४६

नित्य शिर पर तैल धारण करने से लाभ—

हि० व्या०—जिन व्यक्तियों का शिर स्नेह (तैल) से आर्द्र रहता है उन्हें कभी भी शिर की पीड़ा नहीं होती है। खालित्य और पालित्य (असमय में बालों का सफेद होना और झड़ना) नहीं होता है, केश झड़ते नहीं हैं। शिरः कपाल में बल की वृद्धि होती है। केश का मूल दृढ़ होता है, बाल अधिक बढ़ते हैं और सदा काले रहते हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ प्रसन्न रहती हैं। मुख की त्वचा कान्तियुक्त होती है और शिर पर तेलमर्दन से सुखपूर्वक निद्रा आती है।

आचार्य सुश्रुत के अनुसार शिर पर तेल की मालिश करने से शिरोगत रोग दूर होते हैं। केश मुलायम, लम्बे, घने, चिकने और काले होते हैं। शिर की तृप्ति तथा मुख की त्वचा कान्तियुक्त होती है। इन्द्रियाँ शक्ति-सम्पन्न तथा शून्य मस्तिष्क पुनः पूर्ण होता है। मुलेठी, क्षीरविदारी, सरल, देवदार और लघु पञ्चमूल को समभाग एकत्र कर इनके क्वाथ और कल्क के द्वारा चक्र तैल (कोल्हू का तैल) का पाक करके शिर पर शीतल तैल की मालिश करनी चाहिए। आचार्य वाग्भट के अनुसार शिर पर तैल लगाने से बालों का झड़ना, बालों का सफेद होना, केश-भूमि का फटना, वातजन्य रोग नष्ट होते हैं। नेत्रों में निर्मलता, स्वर, हनु और शिर में बल की वृद्धि होती है।

स्नेहने कतिचिद् विरुक्षणीय व्याधि संकेतः।

विरूक्षयेदतिस्निग्धं कृमि कोष्ठिनमेव च।
रूक्षस्तम्भ्यान् प्रमेहांश्च कफरोगांश्च सर्वशः॥

भे० सं० सू० २१।१

मांसला मेदुरा भूरिश्लेष्माणो विषमाग्नयः।
स्नेहोचिताश्च ये स्नेह्यास्तान्पूर्वं रूक्षयेत्ततः॥
संस्नेह्य शोधयेदेवं स्नेह व्यापन्न जायते॥

अ० सं० सू० २५।६५-६६
अ० हृ० सू० १६।२६

रुक्षस्य स्नेहनं स्नेहैरतिस्निग्धस्यरूक्षणम्
श्यामाकचणकाद्यैश्च तक्रपिण्याकसक्तुभिः॥

भावप्र०, चक्रदत्त, वंगसेन स्नेहाधि०

हि० व्या० अतिस्निग्ध व्यक्ति उदरगत कृमि रोगी, प्रमेह तथा कफ के रोगियों को विरूक्षण कराना चाहिए। आचार्य वाग्भट के अनुसार मांसल व्यक्ति, मेदवृद्धि (मोटापा), बहुत कफ वाले, जिनकी अग्नि विषम हो, जो नित्य स्नेह के अभ्यासी हैं और जिनका शोधन करना है उन को यदि स्नेहन देना हो तो पहले रूक्षण करना चाहिए। रूक्षण के पश्चात् स्नेहन करके शोधन करना चाहिए। इस प्रकार करने से स्नेहन की व्यापत्तियाँ नहीं होती।

आचार्य भाव मिश्र के अनुसार अधिक रूक्ष व्यक्ति को स्नेह द्वारा स्नेहन करना चाहिए तथा अतिस्निग्ध व्यक्तियों का सांवाँ, चना, तक्र, पिण्याक एवं सक्तु (सत्तू) आदि से रूक्षण करना चाहिए।

विरुक्षण कर्मणः योगातियोगलक्षणः

विरूक्षणे लंघनवत्कृताऽतिकृतलक्षणम्॥

अ० सं० सू० २५।५६
अ० हृ० सू० १६।३४

हि० व्या०—सम्यक् लंघन का जो लक्षण होता है वही लक्षण सम्यक् विरूक्षण का भी होता है। लंघन के अतियोग के लक्षण रूक्षण के अतियोग के समान हैं। विरूक्षण के अयोग के लक्षण स्नेह के अयोग के लक्षण के समान ही हैं।

असात्म्यस्नेहोपद्रवाः

अलं मलानीरयितुं स्नेहश्चासात्म्यतां गतः॥

अ० सं० सू० २५। अ० हृ० सू० १६।

हि० व्या० विरूक्षण के पश्चात् स्नेहन करने से असात्म्य स्नेह मलों को प्रेरित कर बाहर निकालने में सहायक होता है। स्नेह सात्म्य हो जाने पर सम्यक् रूप से मलों का शोधन नहीं हो पाता है।

शिरोबस्ति विधि

शिरोबस्तिविधिस्तु बस्ति सुमृदितं द्विमुखं शिरः प्रमाणमाकर्णप्रदेशं द्वादशाङ्गुलविस्तारं कुर्यात्। अथ शुद्धतनोः सायं रात्रौ वा स्वभ्यक्तस्विन्नस्य सोपाश्रयासनोपविष्टस्य केशान्ते श्लक्ष्णं द्वयङ्गुलं सुसूक्ष्मेण माषपिष्टेन सद्यः सुखाम्बुपूदितेनोभयतः प्रदिग्धं वस्त्रपट्टं बध्नीयात्। ततस्तस्योपरि सन्धाय बस्ति बस्तिमूलं च दृढमवलीकं समं चैलवेणिकया बध्वा पुनर्माषपिष्टेनावरिलावि कृत्वा यथाव्याधि दोषदूष्यहितं सिद्धमन्यतमं स्नेहं सुखोष्णमासेचयेद्यावत्केशभूमेरुपर्यंङ्गुलम्। तावच्च धार्यो यावत्कर्णमुखनासास्रुतिर्वेदनोपशमो वा विशेषतो वातजेषु विकारेषु दशमात्रासहस्राणि पित्तरक्तजेष्वष्टौ षट् कफजेषु सहस्रमरोगकर्मणि। ततोऽपनीते स्नेहे विमुच्य बस्ति शिरसः स्कन्ध ग्रीवापृष्ठललाटादीन्यनुसुखं मर्दयेत्। उष्णाम्बुना स्नातं च यथार्हं भोजयेत्। स्नेहोक्तं चास्याचारमादिशेत्। एवं त्रीणि पञ्च सप्त वा दिनानि योजयेदिति।

अ० सं. सू. ३१।१९

.....बस्तिस्तु प्रसुप्त्यर्दितजागरे।
नासास्यशोषे तिमिरे शिरोरोगे च दारुणे।
विधिस्तस्य निषण्णस्य पीठे जानु समे मृदौ।
शुद्धाक्तस्विन्न देहस्य दिनान्ते गव्यमाहिषम्।

द्वादशाङ्गुलविस्तीर्णं चर्मपट्टं शिरः समम् ।
आकर्णबन्धनस्थानं ललाटे वस्त्रवेष्टिते ।
चैलवेणिकया बद्ध्वा माषकल्केन लेपयेत् ।
ततो यथा व्याधि भृतं स्नेहं कोष्णं निषेचयेत् ।
ऊर्ध्वं केशभुवो यावदङ्गुलम् धारयेच्च तम् ।
आवक्त्रनासिकोत्क्लेदाद्दशाष्टौषट् चलादिषु ।
मात्रासहस्राण्यरुजे त्वेकं स्कन्धादि मर्दयेत् ।
मुक्तस्नेहस्य परमं सप्ताहं तस्य सेवनम् ।

अ. हृ, सू. २२।२५-३० ॥

शिरोबस्तिश्चर्मणः स्याद् द्विमुखो द्वादशाङ्गुलः ।
शिरः प्रमाणस्तं बध्वा मस्तके माषपिष्टकैः ।
सन्धिरोधं विधायाशु स्नेहैः कोष्णैः प्रपूरयेत् ।
तावद्धार्यस्तु यावत्स्यान्नासाकर्णमुखस्रुतिः ।
वेदनोपशमो वापि मात्राणां वा सहस्रकम् ।
स्वजानुतः करावर्तं कुर्याच्छोटिकया युतम् ।
एषा मात्रा भवेदेका सर्वत्रैवेष निश्चयः ।
विना भोजनमेवात्र शिरोबस्तिः प्रशस्यते ।
प्रयोज्यस्तु शिरोबस्तिः पञ्च सप्त दिनानि वा ।
विमोच्य शिरसो वस्तिं गृह्णीयाच्च समन्ततः ।
ऊर्ध्वं कायं ततः कोष्णे नीरे स्नानं समाचरेत् ।
अनेन दुर्जया रोगा वातजा यान्ति सङ्क्षयम् ।
शिरः कम्पादयस्तेन सर्वकालेषु युज्यते ।

भावप्रकाशः

हि० व्या०—शिरोबस्ति की विधि – शिरोबस्ति के लिए गाय-भैंस आदि का चर्म लेकर उसे अच्छी प्रकार मलकर मुलायम बना लेना चाहिए। इसके दो मुख होता हैं। एक मुख सिर पर चढ़ाया जाता है और दूसरे मुख में तेल भरा जाता है। इसका प्रमाण शिर से कान तक पहुंच जाने वाला-बारह अंगुल चौड़ा होना चाहिए। वमनादि से शरीर का शोधन करने के पश्चात् सायं काल या रात्रि में स्नेहन-स्वेदन करके जानु के बराबर ऊंचे आसन पर रोगी को बिठाना चाहिए। एक वस्त्र पर उड़द के आटे को गरम पानी में गाढ़ा लेप सा बनाकर लेप कर दें। फिर इस कपड़े को बालों की समाप्ति पर दो अंगुल तक लपेट देना चाहिए। कपड़े के ऊपर बस्ति मजबूत झुर्रियों रहित, समान तथा वस्त्र की वेणी या मजबूत धागे से बांधकर ऊपर से उड़द के आटे का लेप कर देना चाहिए। रोगानुसार (दोष दूष्य का निराकरण कर) किसी एक सिद्ध स्नेह को हल्का गरम कर परिषेचन करना चाहिए। इस प्रक्रिया में

स्नेह बालों की जड़ से एक अंगुल ऊपर तक भर देना चाहिए। जब तक कान-मुख-नासिका से स्नेह का स्राव हो अथवा रोग की शान्ति हो तब तक शिर पर स्नेह धारण करना चाहिए। विशेषकर वातजन्य रोगों में दशहजार मात्रा समय तक धारण करना चाहिए। पित्त एवं रक्त जन्य रोग में आठ हजार मात्रा समय तक, कफजन्य रोगों में छः हजार मात्रा तक धारण करना चाहिए।

स्वस्थ व्यक्ति को एक हजार मात्रा समय तक धारण करना चाहिए। पश्चात् स्नेह को निकालकर, बस्ति को शिर से हटाकर कपड़े की पट्टी खोल देनी चाहिए। शिर, कन्धे, ग्रीवा, पीठ आदि को सुखपूर्वक मलना चाहिए। उष्ण जल से स्नान कर यथायोग्य (पथ्य) भोजन करना चाहिए स्नेह प्रकरण में विहित आचार का पालन करना चाहिए। इस प्रकार तीन, पांच या सात दिन इस विधि का यथावश्यक प्रयोग करना चाहिए।

अष्टाङ्गहृदय में शिरोबस्ति का प्रसुप्ति, अदित, अनिद्रा, नाशाशोष, आस्य शोष, तिमिर और दारुण शिरो रोगों में प्रयोग करने का निर्देश देते हुए शेष प्रक्रिया को अष्टाङ्ग संग्रह के समान ही वर्णन किया गया है। आचार्य भावमिश्र ने असाध्य वातरोगों में भी शिरोबस्ति की प्रशंसा की है। शिरः कम्प आदि रोगों में प्रयोग करने का भी निर्देश किया है।

सद्यः स्नेहनार्थयोगानां वर्णनम्

स्नेहयन्ति तिलाः पूर्वं जग्ध्वा सस्नेहफाणिताः ।
कृशराश्च बहुस्नेहास्तिलकाम्बलिकास्तथा ॥
फाणितं शृङ्गवेरं च तैलं च सुरया सह ।
पिबेद्रूक्षो भृतैर्मांसैर्जीर्णेऽश्नीयाच्च भोजनम् ॥
तैलं सुराया मण्डेन वसां मज्जानमेव वा
पिबन्सफाणितं क्षीरं नरः स्निह्यति वातिकः ॥
धारोष्णं स्नेहसंयुक्तं पीत्वा सशर्करं पयः ।
नरः स्निह्यति पीत्वा वा सरं दध्नः सफाणितम् ॥
पाञ्चप्रसृतिकी पेया पायसोमाषमिश्रकः ।
क्षीरसिद्धो बहुस्नेहः स्नेहयेदचिरान्नरम् ॥
सर्पिस्तैलवसामज्जतण्डुलप्रसृतैः भृता ।
पाञ्चप्रसृतिकी पेया पेया स्नेहनमिच्छता ॥ च० सू० १३।८५-९०

पूर्वमिति भोजनात्पूर्वम् । तिलप्रधानः काम्बलिकस्तिलकाम्बलिकः । फाणितमित्यादौ शृङ्गवेररसम्, भृतैर्भटित्रीकृतैः । पाञ्चप्रसृतिक्यग्रे वक्ष्यमाणा, माषमिश्रको माषतण्डुलकृतमन्नं; पेया =पातव्या ।

चक्रपाणिः ॥

---

१ एक ह्रस्व अक्षर के उच्चारण का समय या एक सैकेण्ड ।

चरक में निर्दिष्ट कतिपय सद्यः स्नेहन योग—

हि० व्या०—(१) भोजन से पूर्व स्नेह (घृत, तैल, वसा, मज्जा) के साथ राब खाकर तिल और प्रभूत स्नेह मिलाकर खिचड़ी खाने से स्नेहन होता है। तिल-काम्बलिक खाने से भी शीघ्र ही स्नेहन हो जाता है।

(२) मदिरा के साथ राब, सोंठ, तिल तैल मिलाकर सेवन करना चाहिए। स्नेह के पच जाने पर भुने हुए मांस के साथ भोजन करने से रूक्ष मनुष्यों का स्नेहन हो जाता है।

(३) मदिरा मण्ड के साथ तैल, वसा, मज्जा का सेवन करने से अथवा दूध में राब मिलाकर पीने से वात प्रधान मनुष्यों का स्नेहन हो जाता है।

(४) धारोष्ण दूध में स्नेह (घृत, तैल, वसा, मज्जा) और चीनी मिलाकर पीने से या दही की मलाई में राब मिलाकर पीने से मनुष्य का स्नेहन हो जाता है।

(५) पञ्च प्रसृति की पेया और दूध में सिद्ध चावल तथा उड़द की खीर प्रभूत मात्रा में घृत मिलाकर सेवन करने से शीघ्र ही मनुष्य का स्नेहन हो जाता है।

(६) घृत, तैल, वसा, मज्जा और चावल एक-एक प्रसृत लेकर बनाई गयी पेया का नाम 'पञ्च प्रसृतिकी पेया' है स्नेहन के लिए इच्छुक व्यक्ति को इसे पीना चाहिए।

पिप्पल्यो लवणं स्नेहाश्चत्वारो दधिमस्तुकः।
पीतमेकध्यमेतद्धि सद्यः स्नेहनमुच्यते॥
भृष्टमांसरसे स्निग्धा यवागूः सूपकल्पिता।
प्रक्षुद्रा पीयमाना तु सद्यः स्नेहनमुच्यते॥
सर्पिष्मति पयः सिद्धा यवागूः स्वल्पतण्डुला।
सुखोष्णा सेव्यमाना तु सद्यः स्नेहनमुच्यते॥
पिप्पल्यो लवणं सर्पिस्तिलपिष्टं वराहजा।
वसा च पीतमेकध्यं सद्यः स्नेहनमुच्यते॥
शर्करा चूर्णसंसृष्टे दोहनस्थे घृते तु गाम्।
दुग्ध्वाक्षीरं पिबेद्यूक्षः सद्यः स्नेहनमुच्यते॥
यवकोलकुलत्थानां क्वाथो मागधिकान्वितः।
पयोदधि सुराचेति घृतमप्यष्टमं भवेत्॥
सिद्धमेतैर्घृतं पीतं सद्यः स्नेहनमुत्तमम्।
राज्ञे राजसमेभ्यो वा देयमेतद्घृतोत्तमम्॥
बलहीनेषु वृद्धेषु मृदुग्निस्त्रीहतात्मसु।
अल्पदोषेषु योज्यः स्युर्ये योगाः सम्यगीरिताः॥

सु० चि० ३१।३८-४५

सुश्रुत के अनुसार सद्यः स्नेहन योग

हि० व्या०—(१) पिप्पली, सैंधव लवण, चतुः स्नेह (घृत, तैल, वसा, मज्जा), दही और दही का पानी एक साथ मिलाकर पीने से शीघ्र स्नेहन होता है।

(२) भुने हुए मांस के रस में बनाई गई स्नेहन युक्त यवागू राब मिलाकर पीने से शीघ्र स्नेहत होता है।

(३) अल्प मात्रा में चावल और दूध में पकी हुई घृतयुक्त सुखोष्ण यवागू का सेवन सद्यः स्नेहन करता है।

(४) पिप्पली, सैंधव लवण, घी, तिल की पिट्ठी और सूअर की चर्बी, एक साथ मिलाकर पीने से सद्यः स्नेहन होता है। (च० सं० में भी यह योग आया है।)[1]

(५) दूध दुहने वाले पात्र में घी मिली हुई शर्करा रखकर, उसमें दूध दुह कर पीने से रूक्ष मनुष्य का शीघ्र स्नेहन होता है।

(६) जौ, बेर और कुलथी के क्वाथ में पिप्पली के कल्क के साथ दूध, दही, सुरा एवं घृत को मिलाकर घृत पाक किया जाय, इस घृत के पीने से शीघ्र स्नेहन होता है। राजा तथा राजा के समान वैभव सम्पन्न व्यक्तियों को इस घृत का प्रयोग करना चाहिए।

उपरोक्त योगों का प्रयोग निर्बल, वृद्ध, मृदु अग्नि वाले, स्त्री प्रसंग से अत्यधिक क्षीण तथा अल्प दोष युक्त व्यक्तियों के लिए करना चाहिए।

बालवृद्धादिषु स्नेहपरिहारासहिष्णुषु॥
योगानिमाननुद्वेगान् सद्यः स्नेहान्प्रयोजयेत्।
प्रभूतमांसनिःक्वाथान् जाङ्गलानूपजान् रसान्॥
स्नेहभृष्टेषु वा तेषु यवागूं वाऽतिसंहताम्।
तिलचूर्णं च सस्नेहं फाणितं कृशरां तथा॥
तिलकाम्बलिकं भूरिस्नेहं सर्पिष्मतीमपि।
पेयां सुखोष्णां क्षीरेयीं पात्रे वा सितासृते॥
सर्पिर्लवणयुक्तं वा सद्यः स्निग्धं तथा पयः।
पेयां च पञ्चप्रसृतां स्नेहैस्तन्दुलपञ्चमैः॥
पायसं माषमिश्रं च बहुस्नेहसमायुतम्।
तैलशुण्ठीगुडसुरं जीर्णे मांसरसाशिनः॥

---

१. शौकरो वा रसः स्निग्धः सविर्लवणसंयुतः।
पीतो द्विवासरे यत्नात् स्नेहयेदचिरान्नरम्॥

च० सू० १३।९० के बाद अन्यत्र आया है।

स्नेहं वैकं सुराऽच्छेन दध्नो वा सगुडं सरम् ।
वसां वराहजां सर्पिः पिप्पलीं लवणं तिलान् ॥
पिप्पली लवणं स्नेहांश्चतुरो दधि मस्तुकम् ।
दध्ना सिद्धं व्योषगर्भं धात्री द्राक्षा रसे घृतम् ॥
यवकोल कुलत्थाम्बुक्षारक्षीरसुरादधि ।
घृतं च सिद्धं तुल्यांशं सद्यः स्नेहनमुत्तमम् ॥
सिद्धांश्च चतुरः स्नेहान् बदरत्रिफला रसैः ।
योनिशुक्रामयहरान् सद्यः स्नेहान्प्रयोजयेत् ॥
लवणोपहिताः स्नेहाः स्नेहयन्त्यचिरान्नरम् ।
तद्धि विष्यन्द्यरूक्षं च सूक्ष्ममुष्णं व्यवायि च ॥

अ० सं० सू० २५।६७-७२

बालवृद्धादिषु स्नेहपरिहारासहिष्णुषु ॥
योगानिमाननुद्वेगान् सद्यः स्नेहान् प्रयोजयेत् ।
[1]प्राज्यमांसरसास्तेषु, पेया वा स्नेहभर्जिता ॥
तिलचूर्णश्च सस्नेहफाणितः कृशरा तथा ।
क्षीरपेया घृताढ्योष्णा, दध्नो वा सगुडः सरः ॥
पेया च पञ्चप्रसृता स्नेहैस्तण्डुलपञ्चमैः
सप्तैते स्नेहनाः सद्यः स्नेहाश्च लवणोल्बणाः ॥
तद्व्यभिष्यंद्यरूक्षं च सूक्ष्ममुष्णं व्यवायि च ।

अ० हृ० सू० १६।४६-४९

सर्पिष्मती बहुतिला यवागूस्वल्पतण्डुला ।
सुखोष्णा सेव्यमाना तु सद्यः स्नेहनकारिणी ॥
शर्कराचूर्णसंयुक्ते दोहनस्थे घृते तु गाम् ।
दुग्ध्वा क्षीरं पिबेद्यूक्षः सद्यः स्नेहनमुत्तमम् ॥

भाव प्र० स्नेहादि०, वंगसेन, चक्रदत्तः

वाग्भट के अनुसार सद्यः स्नेहन योग

बालक, वृद्ध एवं स्नेहन के नियमों का पालन करने में असमर्थ व्यक्तियों के लिए निरापद एवं शीघ्र स्नेहन करने वाले निम्नांकित योगों का सेवन करना चाहिए ।

१. प्रभूत मात्रा में स्नेह मिलाकर मांस रस भूनकर बनायी गई पेया, तिल का चूर्ण, घी के साथ मिली राब, घी के साथ खिचड़ी, जांगल या आनूप मांस को उबाल कर बनाया गया रस सेवन करना चाहिए ।

२. घी में भूने मांस रसों में यवागू बनाकर सेवन करना चाहिए ।

---

१ प्राज्यमांसरसाः—प्रभूतमांसाक्ति निष्क्वाथ्य तद्रसाः (अरूणदत्तः) ।

३. अत्यधिक स्नेहयुक्त तिलकाम्बलिक का सेवन करना चाहिए ।

४. घी बहुल गरम-गरम पेया को दूध के साथ पीना चाहिए ।

५. चीनी और घी वाले पात्र में धारोष्ण दूध दुहकर पीना चाहिए अथवा घी लवण मिश्रित दूध का सेवन करना चाहिए ।

६. वसा, तैल, घी, मज्जा और चावल प्रत्येक एक-एक पल की मात्रा में लेकर पेया बनाकर पीना चाहिए । यह सद्यः स्नेहन करने वाली पञ्च-प्रसृति पेया कहलाती है ।

७. बहुत स्नेहयुक्त दूध में सिद्ध उड़द और चावल की खीर सद्यः स्नेहन कारक है ।

८. घी आदि किसी एक स्नेह में तैल सोंठ और गुड़ मिलाकर सुरामण्ड के साथ या दही के साथ पीना चाहिए । पच जाने पर मांस रस का भोजन करना चाहिए । अथवा दही की मलाई को गुड़ के साथ सेवन करना चाहिए ।

९. सूअर की वसा को घी, पिप्पली, लवण और तिल के साथ खाना चाहिए ।

१०. घी, तैल, वसा, मज्जा, चारों स्नेहों को पिप्पली, नमक, दधि मस्तु के साथ खाना चाहिए ।

११. द्राक्षा और आँवले के रस में दही, सोंठ, मरिच, पीपल से घी सिद्ध कर पीना चाहिए ।

१२. जौ, कुलथी, बेर इनका क्वाथ, यवक्षार, सुरा, दही, सम भाग घृत सिद्ध कर पीने से शीघ्र स्नेहन होता है ।

१३. त्रिफला के रस में चारों स्नेहों (घृत, तैल, वसा, मज्जा) को सिद्ध कर पीने से योनि रोग, एवं शुक्रदोष, नष्ट होते है तथा सद्यः स्नेहन कारक है ।

१४. नमक मिश्रित स्नेह मनुष्य को शीघ्र ही स्निग्ध कर देता है ।

अष्टाङ्ग हृदय, भाव प्र०, वंगसेन एवं चक्रदत्त में भी इन्हीं योगों का वर्णन किया गया है ।

रोग विशेषे सद्यः स्नेहन योग निषेधः

ग्राम्यानूपौदकं मांसं गुडं दधि पयस्तिलान् ।
कुष्ठी शोथी प्रमेही च स्नेहने न प्रयोजयेत् ॥ च० सू० १३।९१
गुडानूपामिषक्षीरतिलमाषसुरादधि ।
कुष्ठशोफप्रमेहेषु स्नेहार्थं न प्रकल्पयेत् ॥

अ० सं० सू० २५।७७, अ० हृ० सू० १६

हि० व्या०—कुष्ठ, शोथ तथा प्रमेह के रोगियों को ग्राम्य, आनूप और जलीय जीवों का मांस, गुड़, दही, दूध और तिल का स्नेहन कर्म में प्रयोग नहीं कराना चाहिए ।

कस्य स्नेहस्य किमनुपानमिति प्रश्नस्योत्तरम्

जलमुष्णं घृते पेयं यूषस्तैलेऽनुशस्यते ।
वसामज्ज्ञोस्तु मण्डः स्यात् सर्वेषूष्णमथाम्बु वा ॥

च० सू० १३।२२, चक्रदत्तः, भावप्रकाशः स्नेहाधि०

अनुपानमुष्णमुदकं घृतस्य तैलस्य यूषमिच्छन्ति ।
मज्जवसयोस्तु मण्डं, सर्वेषां कश्यपः पूर्वम् ॥का० सू० २२।२२

वार्युष्णमच्छेऽनुपिबेत् स्नेहे तत्सुख पक्तये ।
आश्योपलेपशुद्ध्यै च तौवरारुष्करे न तु ॥
उष्णोपचारः स्नेहे स्यादुष्णो ह्युष्णैर्विरुद्धयते ।

अ सं० सू० २५।३६, अ० हृ० सू० १६।

उष्णोदकानुपानं तु स्नेहानामथ शस्यते ।
ऋते भल्लातकस्नेहास्तत्र तोयं सुशीतलम् ॥

का० सू० ४६।४२८, डल्हमत, भावप्र० चक्रदत्तः

पयसि दधनि मधुमये तूक्ते नोष्णोदकं भवेत् पथ्यम् ।
पित्ते रक्तस्रावे गर्भस्यन्दने च गर्भदाहे च ॥

का० सू० २२।१४

स्नेहपान में अनुपान का विचार

घृतपान के पश्चात् उष्ण जल, तैलपान के पश्चात् यूष, वसा और मज्जा पान के पश्चात् मण्ड पीना चाहिए। अभाव में इन सभी स्नेहों का अनुपान उष्ण जल माना गया है।

विशेष—अनुपान से औषध शरीर में शीघ्र ही फैलकर अपना कार्य करने लगती है। अनुपान इस प्रकार का होना चाहिए जो औषध के गुणों को शीघ्र ही विकसित करे। अनुपान प्रायः औषध गुण से विपरीत होता है। घृत शीतवीर्य है, वह उष्ण जल से मिलकर शीघ्र ही शरीर के सारे स्रोत और अनुस्रोतों में फैलकर अपना कार्य सम्पादन करता है।

तैल का अनुपान यूष बताया गया है। यूष प्रायः वातनाशक है। यूष में मूंग के यूष का ग्रहण करना चाहिए। वह वात व्याधि में लाभदायक है। यथा-मसूर मुद्ग गोधूमकुलत्थलवणैः कृतः। कफपित्तविरोधि स्याद् वातव्याधौ च शस्यते ॥' (सु० सू० ४६)

वसा और मज्जा का अनुपान मण्ड बताया गया है। मण्ड स्वभावतः धान के खील से तैयार किया जाता है। वह दीपन पाचन और वातानुलोमन होता है। यथा—'लाजमण्डो विशुद्धानां पथ्यः पाचनदीपनः। वातानुलोमनो हृद्यः पिप्पलीनागरायुतः' ॥ (सु० सू० ४६) कफजन्य विकारों में वसा-मज्जा का प्रयोग होता है। कफ की वृद्धि से अग्निमांद्य, अपक्ति तथा वात की गतियों में बाधा होती है। अतः मण्डानुपान वसा एवं मज्जा इन विकारों को दूर करने

में समर्थ होती है।

[1]अनुपान के अभाव में सभी स्नेहों का अनुपान उष्ण जल बताया गया है। उष्ण जल दीपन-पाचन, वातानुलोमक और वातकफ नाशक है। अतः वसा मज्जा और तैल जो कफ और वातजन्य विकारों में प्रयुक्त होते हैं उनमें यह अनुपान के रूप में दिया जाता है। घृत के अनुपान में प्रधानरूप से उष्ण जल का प्रयोग बताया गया है। सुश्रुत ने सभी स्नेहों का अनुपान उष्ण जल बताते हुए भिलावे के तैल और चालमुंगरा (तुवरक) के तैल के अनुपान में उष्ण जल का निषेध किया है क्योंकि ये दोनों स्नेह स्वाभाविक रूप से अत्यन्त उष्ण होते हैं। यदि इसका अनुपान उष्ण जल दिया जाए तो शरीर में उष्णता की वृद्धि से भयंकर रोग हो सकते हैं। अतः इसके अनुपान में शीतल जल का उपयोग करना चाहिए। दूध, दही तथा शहद युक्त द्रव्य के सेवन के पश्चात्, पित्त प्रकोप, रक्तस्राव, गर्भस्राव तथा गर्भदाह में भी उष्णोदक का अनुपान नहीं करना चाहिए। वाग्भट एवं अन्य आचार्यों का विचार भी इन्हीं के समान है।

उष्णजलनिर्माण प्रकारः तद् गुणाश्च

पादावशेष सिद्धं तद्दोषघ्नैः श्रृतं जलं मुख्यम् ।
पेयं कवलग्राह्यं स्नेहं हि तथा विलाययति ॥
शूलकफानिलतृष्णा हिक्कारोचकविबन्धगुल्मघ्नम् ।
व्रणधातुमृदूकरणं दीपनमुष्णोदकमुशन्ति ॥

का० सू० २२।१३

हि० व्या०—आचार्य काश्यप ने प्रसंगवश उष्ण जल निर्माण करने का विधान भी बताया है। दोषानुसार अलग-अलग द्रव्यों से जल को पकाकर चतुर्थांश शेष रहने पर उस जल को अनुपान के लिए सेवन करना चाहिए और कवल धारण करना चाहिए। इससे स्नेह का विलय हो जाता है। उष्ण जल शूल, कफ, वायु, तृष्णा, हिक्का, अरुचि, मलबन्ध तथा गुल्म नाशक है। व्रण और धातुओं को मृदु करता है तथा दीपन है।

दोषानुसार स्नेहानुपानानि

वाते सलवणं सर्पिः पित्ते केवलमिष्यते ।
वैद्यो दद्याद्बहुकफे क्षारत्रिकटुकान्वितम् ॥ अ० सं० सू० अ० २५

हि० व्या०—चिकित्सक को चाहिए कि स्नेहनार्थ वाताधिक्य में घी को नमक के साथ, पित्त की अधिकता में केवल मात्र शुद्ध घी और कफाधिक्य में यवक्षार, त्रिकटु मिलाकर घृत का प्रयोग करें।

---

१. यदि बताया गया अनुपान सुलभ न हो सके अथवा जहाँ अनुपान का उल्लेख ही नहीं किया गया हो वहाँ सभी प्रकार के स्नेहों का अनुपान (भल्लातक आदि छोड़कर) उष्ण जल शास्त्र सम्मत है।

तृतीयोऽध्यायः

स्वेदन प्रकरणम्

पञ्चकर्म चिकित्सान्तर्गत जिन दो पूर्वकर्मों का उल्लेख है उनमें स्नेहन के पश्चात् यथाक्रम स्वेदन का निरूपण किया जा रहा है—

यद्यपि स्वेद की गणना त्रिविध मलों में की गई है तथा शरीर को मलिन करने के कारण ही इनकी मलसंज्ञा है। यह शारीरिक क्लिन्नता (आप्य भाव) को समानावस्था में रखने हेतु प्रधान उपादान है। स्वेद द्वारा क्लेद का धारण होता है" —"स्वेदस्य क्लेद विधृति" (अ० हृ० सू० १२-१५) स्वेद, उष्मा के प्रभाव से प्राकृतिक अवस्था में शरीर से बाहर निकलता रहता है। इस प्रक्रिया में हीनता अथवा मात्राधीक्य होना ही रोग का सूचक है।

विशेष रूप से वातज एवं कफज रोगों में वातावरोध एवं मेदो धातु तथा श्लेष्मा की वृद्धि होती है अतः साम्यावस्था हेतु स्वेदन प्रक्रिया को उत्तम बताया गया है—"स्वेद साध्या प्रशाम्यंति गदा वातकफात्मकाः" इति

च० सू० १४।३।

यद्यपि स्वेदन पंचकर्म चिकित्सा की दृष्टि से "पूर्वकर्म" में पठित है तथापि षड् उपक्रमों की दृष्टि से प्रधान कर्म के रूप में एवं शल्यकर्म, बस्ति, आदि कर्म में पश्चात् कर्म के रूप में भी इसका उपयोग किया जाता है। प्रस्तुत प्रकरण में इन विषयों का यथाक्रम विवरण दिया जा रहा है।

यहाँ स्वेदन कर्म से मात्र स्वेद (पसीना) निर्हरण का ही भाव नहीं ग्रहण करना चाहिए। जब मेद एवं कफ से वात के आवृत्त होने पर शरीर में स्तम्भ एवं गौरव आदि लक्षणों की उत्पत्ति होती है तब इस स्वेदन कर्म द्वारा द्रव्यों के उष्णादि गुणों के प्रभाव से; कफ का विलयन, मेदनिवृत्ति एवं स्रोतों संग दूर होने पर शरीर की जकड़ाहट, गुरुता एवं शीत का भी निर्हरण होता है। स्वेद (पसीना) प्रवृत्ति भी इस कर्म का एक लक्षण है। विभिन्न रोगों में उपर्युक्त विकारों को दूर करने के लिए स्वेदन कर्म कराना अभीष्ट है।

किन्नाम स्वेदनम्

(क) स्निग्धस्य स्वेदनं कार्यमिति स्वेदोविधीयते।

अ० हृ० सू० १७।१

(ख) शरीरे सहाग्नेः संयोगः तापनम् स्वेदनम्।

आ० शब्दकोशः

(ग) अस्विन्ने स्नेहनं कृत्वा ततः स्वेदंरुपाचरेत्। भे० सं० सू० २२।२९

हि० व्या०— स्निग्ध व्यक्ति के सम्पूर्ण शरीर अथवा अंग विशेष को साग्नि अथवा निरग्नि, जिस किसी भी प्रक्रिया से ऊष्मा द्वारा तपाना ही स्वेदन कहलाता है।

स्वेदनशब्दस्य निरुक्ति

स्विद् धातु में ल्युट् प्रत्यय करने से स्वेदन शब्द बनता है।[1]

स्वेदनलक्षणम्

स्तम्भगौरवशीतघ्नं स्वेदनं स्वेदकारकम्॥[2]—च० सू० २२।११

हि० व्या०- जिन उपक्रमों या जिन द्रव्यों के प्रयोग से शरीर की जकड़ाहट, भारीपन और शीत नष्ट होता है तथा स्वेद (पसीना) का निर्गमन होता है उसे स्वेदन कर्म कहते है।

स्वेदनकर्मणः सामान्यगुणाः

अग्नेर्दीप्तिं मार्दवं त्वक्प्रसादं
भक्तश्रद्धां स्रोतसां निर्मलत्वम्॥
कुर्यात् स्वेदो हन्ति निद्रां सतन्द्रां
सन्धीन् स्तब्धांश्चेष्टयेदाशु युक्तः॥

सु० चि० अ० ३२।२२ अ० सं० सू० २६।३७
वंगसेन स्वेदा०

हि० व्या०—स्वेदन क्रिया से अग्नि प्रदीप्त होती है, शरीर में मृदुता आती है, त्वचा का वर्ण निखरता है, आहार में रुचि होती है, स्रोतों की शुद्धि हो जाती है, निद्रा एवं तन्द्रा का परिहार होता है तथा सन्धियों की जड़ता दूर होने से चेष्टा (कार्यकारिता', युक्त हो जाती है।

स्नेहनानन्तरं स्वेदप्रयोगे युक्तिः।

स्नेहपूर्वं प्रयुक्तेन स्वेदेनावजितेऽनिले।
पुरीषमूत्ररेतांसि न सज्जन्ति[3] कथंचन॥
शुष्काण्यपि हि काष्ठानि स्नेहस्वेदोपपादनैः।
नमयन्तिः यथान्यायं[4] किं पुनर्जीवतोनरान्॥

च० सू० १४।४-५ भे० सं० सू० २२।९-१०

---

१. स्विद्-णिच् ल्युट् गात्रादितो घर्मादिनिः सारण व्यापारे। (वाचस्पत्यम्)
२. स्वेदकारकम् =घर्मकारकं॥ चक्रपाणिः॥
३. न सज्जन्ति =अप्रवृत्तानि न भवन्ति।
४. यथान्यायं=यथागमम्, एतच्च स्नेहस्वेदोपपादनैरित्यनेन संबध्यते। यदि वा यथान्यायं यथासहजं नमयन्तीति सम्बन्धः॥ चक्रपाणिः॥

नानभ्यक्ते नापि चास्निग्धदेहे
स्वेदो योज्यः स्वेदविद्भिः कथंचित् ।
दृष्टं लोके कोष्ठमस्निग्धमाशु[1]
गच्छेद्भङ्गं स्वेदयोगैर्गृहीतम् ॥

सु० चि० अ० ३२।२०

[2]स्नेहपूर्वप्रयुक्तो हि स्वेदो जयति मारुतम् ।

भे० सं० सू०।२२।६

न तैलेन विना स्वेदं कदाचिदपि कारयेत् ।
तैलेनाभ्यंजयेत्स्वेदं स भवेद्गुणकारकः ॥

ह० सं० चि० ४।१

हि० व्या०—पूर्व में स्नेहन किया जाता है तदनन्तर स्वेदन करने का विधान है। इसकी युक्ति क्या है? इसी का इन श्लोकों में वर्णन किया गया है—स्नेहन के पश्चात् स्वेदन करने से वात दोष दूर होता है, तथा मल-मूत्र एवं शुक्र बाधारहित गति कर सकते हैं। यदि सूखे काष्ठ को भी यथा विधि स्नेहन एवं स्वेदन कराया जाय तो उसे आसानी से (इच्छानुसार) मोड़ा या झुकाया जा सकता है, फिर जीवित मनुष्य को क्यों नहीं उपचारित किया जा सकता है अर्थात् अवश्य ही उपचारित किया जा सकता है। इसी सिद्धान्त से स्नेहन के पश्चात् स्वेदन को लाभदायक बताया गया है। सुश्रुत हारीत एवं भेलसंहिता का भी यही अभिमत है।

स्नेहोत्तर स्वेदकार्य वर्णनम्

स्निग्धस्य सूक्ष्मेष्वयनेषु लीनं स्वेदस्तु दोषं नयति द्रवत्वम् ॥

च० सि० १।८ क

सु० चि० ३२।२१ वंगसेन स्वेदाधि० १२।-

[3]स्नेहक्लिन्ना धातुसंस्थाश्च दोषाः
स्वस्थानस्था ये च मार्गेषु लीनाः ।
सम्यक् [4]स्वेदैर्योजितास्ते द्रवत्वं
प्राप्ताः कोष्ठं शोधनैर्यान्त्यशेषम् ॥

सु० चि० ३२।२१ वंगसेन स्वेदाधि० १३

---

१. यथा हि काष्ठमस्निग्धं स्विद्यमानं विशीर्यते, एवं शरीरमस्निग्धं स्विद्यमानं विनश्यति ॥ डल्हणः ॥

२. आगे का श्लोक सं० दश चरक के श्लोक ५ के समान ही है।

३. स्नेहपूर्वकमेव दोषाणां कोष्ठशाखाश्रयाणां शोधनं न पुनरन्यथा ॥ डल्हण॥

४. स्वेदैर्द्रवत्वं प्राप्य द्रवत्वात् कोष्ठं प्राप्ताः शोधनैर्निः शेषं यान्ति बहिर्निः सरन्तीत्यर्थः ॥ डल्हण; ॥

स्नेहक्लिन्ना कोष्ठगा धातुगा वा
स्रोतोलीना ये च शाखास्थिसंस्थाः ।
दोषाः स्वेदैस्ते द्रवीकृत्य कोष्ठं
नीताः सम्यक् शुद्धिभिर्निर्हियन्ते ॥

अ० सं० सू० २६।३८ अ० हृ० सू० १७।२५

ये दोषा वातादयः कोष्ठे महास्रोतसि स्थिताः धातुषु वा रक्तादिषु गताः स्वेभ्यः स्थानेभ्यस्तथा ये स्रोतस्संलीनास्तथा ये च शाखास्थिषु बाह्वादिनलिकास्थिषु स्थितास्ते सर्वे अनन्तरोक्तप्रकारावहितेन स्नेहक्लिन्नाः स्रुतियोग्यत्वमापादिताः सन्तो यथोक्तेन स्वेदेन द्रवीकृत्य शाखादिभ्यः कोष्ठं नीताः ततः कोष्ठात् वक्ष्यमाणादिभिः शुद्धिभिर्निर्हियन्ते। शाखास्थिग्रहणं तत्स्थेषु दोषेष्वत्यन्तस्वेदयोग्यताप्रतिपत्त्यर्थम्। अथवा धातुगा ये वृथा कोष्ठाद्धातुषु गताः। शाखास्था ये धातुष्वेव स्थिताः कोष्ठं याताः। अत्राप्यस्थिग्रहणं प्राधान्यार्थम्। तस्मादनेन स्वेदस्य दोषाणां द्रवीकृत्य कोष्ठानयनं प्रयोजनमुक्तम् ॥ इन्दुः ॥

हि० व्या०—स्नेहन के पश्चात् स्वेदन करने से सूक्ष्म मार्गों में (शरीरस्थ स्रोतों में) लीन दोष द्रवित हो जाते हैं अर्थात् पिघल जाते हैं। महर्षि सुश्रुत के अनुसार स्नेहन से क्लिन्न अर्थात् आर्द्र (गीला) धातु तथा अपने स्थान में स्थित एवं मार्गों में (शाखाओं में) ठहरे हुए दोष विधिवत् स्वेदन से चलायमान होकर (पिघलकर) कोष्ठ में आ जाते हैं और शोधनकर्म द्वारा बाहर निकल जाते हैं। आचार्य वाग्भट, भेल एवं हारीत सभी के विचार एक ही हैं।

विविध स्वेद भेदाः

इस शीर्षक में संहिता एवं संग्रह ग्रन्थों में उपयोगिता की दृष्टि से स्वेदन की जिन-जिन विधियों का वर्णन किया गया है उन सभी का नामोल्लेख है वयानुसार, सामग्री तथा उपयोगिता की दृष्टि से सर्वाङ्ग एवं एकाङ्ग, रूक्ष एवं स्निग्ध तथा साग्नि एवं निरग्नि रूप सभी भेदों का यथा स्थान उल्लेख किया गया है। विवरण साथ की तालिका में देखें—

स्वेद द्वैविध्यम्

इत्युक्तो द्विविधः स्वेदः संयुक्तोऽग्निगुणैर्न च ।
एकाङ्गसर्वाङ्गगतः, स्निग्धो रूक्षस्तथैव च ।
इत्येतद्द्विविधं द्वन्द्वं स्वेदमुद्दिश्य कीर्तितम् ।

च० सू० १४।६५-६६

सर्वस्वेदनुपसंहरति इत्युक्त इत्यादि। एकांगगताः संकरनाड्यादयः। सर्वाङ्गगताः प्रस्तरजेन्ताकादयः। स्निग्धो वातविहितः स्वेदः, रूक्षः कफविहितः, स्निग्धरूक्षस्तु वातश्लेष्मविहितोऽनयोर्न भिद्यत इति पृथङ्नोक्तः। द्वन्द्वं परस्परं विरुद्धं युग्मम् ॥ चक्रपाणिः ॥

सर्वाङ्गैकाङ्गभेदेन स्वेदप्रयोगः

चतुर्विधो योऽभिहितो द्विधा स्वेदः प्रयुज्यते ।
सर्वस्मिन्नेव देहे तु देहस्यावयवे तथा ॥

सु० चि० ३२।१६

अत्र सर्वाङ्ग स्वेदे प्रोक्ते तन्त्रान्तर विरोधः स्यात्, तथा च —"वृषणौ हृदयं दृष्टी स्वेदयेन्मृदु नैव वा" (च० सू० अ० १४) इत्युक्तत्वात्; तस्मात् सर्वशब्दोऽत्र संकुचितवृत्त्या तत्परिहारेण व्याख्यातव्यः ॥ डल्हणः ॥

[1]**डल्हणोक्त द्विविध स्वेदनस्य कार्मुक भेद** । (१) संशमनीय (२) संशोधनाङ्भूताश्च ।

हि० व्या०—आचार्य डल्हण ने स्वेदन के दो भेद किए हैं जो स्वेदन की कामुकता की दृष्टि से है—संशमनीय स्वेद, संशोधनांगभूत स्वेद । स्वेदन के अनेक प्रकारों का वर्णन करके उपसंहार में दो दो प्रकार के स्वेदन युग्मों का वर्णन इस प्रकार किया है – १ अग्निस्वेद एवं निरग्नि स्वेद (२) एकांग एवं सर्वांग स्वेद, (३) स्निग्ध स्वेद एवं रूक्षस्वेद ।

विशेष—उपर्युक्त स्वेदन भेदों को निम्न प्रकार से विभाजित किया गया है–

(१) गुण की दृष्टि—स्निग्ध एवं रूक्ष स्वेद
(२) स्थान की दृष्टि से – सर्वांग एवं एकांगस्वेद
(३) प्रक्रिया की दृष्टि से—अग्निस्वेद एवं निरग्नि स्वेद
(४) कार्मुकता की दृष्टि से – संशमनीय एवं संशोधनांगभूत-१

त्रिविधभेदाः

महान् दुर्बल मध्यम स्वेदवर्णनम्

व्याधौ शीते शरीरे च महान् स्वेदो महाबले ।
दुर्बले दुर्बलः स्वेदो मध्यमे मध्यमा मतः ॥

(चरक सू० १४।७ चक्रदत्तः स्वेदा)

रोगाद्यपेक्षयाऽपि स्वेदस्य कल्पनाभेदमाह, व्याधावित्यादि । व्याधौ महाबले शीते शीतलकृते शीतले तथा शरीरे च महाबले महानिति मृदु मध्यस्वेदापेक्षया प्रचण्डतापत्वेन कालबाहुल्येन च । एवं दुर्बले इति मध्यमे इति च व्याख्येयम् ॥

(शिवदास सेनः)

हि० व्या०—स्वेदक्रिया की कार्मुकता एवं बलानुसार स्वेदन के तीन भेद किए हैं—शीत से उत्पन्न व्याधियों तथा बलवती व्याधियों तथा बलशाली

१. केचिदाचार्या एवं वदन्ति-द्विविधः स्वेदःसंशमनीयः संशोधनांगभूताश्च । तत्र संशमनीयः सामेषु व्याधिषु रूक्ष एव योज्यः, तद्गुणः पुनः अग्नेर्दीप्ति, इत्यादिश्लोकोक्ता ज्ञातव्याः, संशोधनांगभूतस्तु स्नेह पूर्वो योज्यः तस्य गुणस्तु स्नेहक्लिन्ना, इत्यादि श्लोकेन प्रोक्ता इति ज्ञेयम् ॥ डल्हणः ॥

शरीरधारियों के लिए महास्वेद तथा मध्यम पुरुषों को मध्यम स्वेद कराना चाहिए । भावप्रकाश में भी यही श्लोक आया है । (स्वेदन प्रकरण) ॥

तापादि चतुर्विधः स्वेदः

चतुर्विधः स्वेदः, तद्यथा—तापस्वेद, ऊष्मस्वेद, उपनाहस्वेदो, द्रवस्वेद इति; अत्र सर्वस्वेद विकल्पावरोधः ॥

सु० चि० ३२।३ अष्टाङ्ग संग्रह भावप्र०

तपनं तापः, ऊष्मा बाष्पः, उपनह्यते इत्युपनाहो बन्धनमित्यर्थः, द्रवतीति द्रवः कषायक्षीरादिः । अत्र एषु चतुर्षु सर्वेषां त्रयोदशानामपि चरकोक्तानां संकरप्रभृतीनामवरोधः । तत्र तापस्वेदे कन्दुकग्रहणादेव जेन्ताककर्षूकुटीकूपहोलाकस्वेदाः पञ्चैवान्तर्भवन्ति, ऊष्मस्वेदे संकरप्रस्तराश्यघननाडीकुम्भीभूस्वेदाः षडप्यन्तर्भवन्ति, द्रवस्वेदे परिषेकावगाहावन्तर्भवतः ॥ डल्हणः ॥

स्वेद[1]श्चतुर्विधः प्रोक्तस्तापोष्मस्वेदसंज्ञितः ।
उपनाहो द्रव स्वेदः सर्वे वातातिहारिणः ॥

भा० प्र० स्वे०

हि० व्या०—स्वेदन कर्म चार प्रकार का होता है—१. तापस्वेद, २. ऊष्मस्वेद, ३. उपनाह स्वेद एव ४. द्रवस्वेद । सभी प्रकार के स्वेदों का इन्हीं चार प्रकारों में अन्तर्भाव हो जाता है । चार्ट में देखें

सप्तविध स्वेदनम्

स्वेदः सप्तविधिः प्रोक्तो, लोष्टस्वेदोऽग्निज्वालास्वेदः घटीजलस्वेदः फलस्वेदो वालुकास्वेदश्च ॥

हा० सं० चतुर्थस्था० अ० ४।१

हि० व्या० —हारीत संहिता में —स्वेदन की सात विधियाँ बताई गई है—१. लोष्टस्वेद (मृत्तिकापिण्डस्वेद), २. बाष्पस्वेद, ३. अग्निज्वालास्वेद, ४' घटी स्वेद, ५. जलस्वेद, ६. फलस्वेद, ७. बालुकास्वेद ।

बालके—अष्टविधस्वेद प्रयोगः

का० सं० सू० २३।२५-२६

जन्मप्रभृतिबालानां स्वेदयेदष्टविधं भिषक् ।
प्रयुञ्जीत यथाकालं रोग देह व्यपेक्षया ॥
हस्तस्वेदः प्रदेहश्च नाडीप्रस्तरसंकराः ।
उपनाहोऽवगाहश्च परिषेकस्तथाऽष्टमः ॥ भेल सं० सू० २२।१
मांसमाषतिलादीनां वालुकानामथापि वा ।
कुम्भीपिण्डेष्टकास्वेदान्नाड्यं प्रस्तरसंकरात् ।

(वंगसेन)

१. भावविश्र ने सुश्रुत के गद्य को श्लोकबद्ध किया है ।

ग्रन्थ नाम	द्विविध भेद			त्रिविधस्वेद	चतुर्विधस्वेद	सप्तविधस्वेद	अष्टविधस्वेद			त्रयोदश-विध स्वेद
	क	ग	घ	१. महा	१. ताप	१. लोष्ठ	१. हस्त	१. मांस	१. संकर	१.संकर
	१. अग्नि	१. एकाङ्ग	१. संशमनीय	२. मध्य	२. ऊष्म		२. प्रदेह	२. उड़द	२. प्रस्तर	२.प्रस्तर
	२ निरग्नि	२. सर्वाङ्ग	२. संशोधनाङ्गभूत	३. हीन	३. उपनाह	२. वाष्प	३. नाड़ी	व तिल	३. परिषेक	३.नाड़ी
					४. द्रव	३ अग्नि	४ प्रस्तर	३.बालुका	४. नाड़ी	४.परिषेक
	ख				(अग्नि)	४. घटी	५. संकर	४. कुम्भी	५. द्रोणी	५.अवगाह
	१. स्निध					५. जल	६. उपनाह	५. पिण्ड	६. जल	६.जेंताक
	२. रूक्ष					६. फल	७. अवगाह	६.इष्टिका	७. उपकोष्ठ	७.अश्मघन
						७. बालुका	८. परिषेक	७. प्रस्तर	८. कुटी	८.कर्षू
								८. संकर		९. कुटी
										१०. भू
										११. कुम्भी
										१२. कूप
										१३. होलाक
१ चरक	+	+								
२. सुश्रुत		+			+					
३. अष्टाङ्ग संग्रह										
४. अष्टांग हृदय										
५. काश्यप										
६. हारीत						+				
७. भेल									+	
८. भाव प्रकाश				+	+					
९. चक्रदत्त				+						
१०. वंगसेन								+		
११. शार्ङ्गधर					+					

* निरग्नि स्वेद के-१० प्रकार है—
व्यायाम, उष्णगृह, गुरु प्रावरण, क्षुधा बहुपान, भय, क्रोध, उपनाह, मल्लयुद्ध तथा आतप ।
चरक, सुश्रुत-भेल, अ० सं अ० हृ० चक्रदत्त भाव प्रकाश

सङ्करं प्रस्तरं सेक नाड़ीं द्रोणिं जलानि च ।
उदकोष्ठं कुटिं चैव स्वेदमष्टविधं विदुः ॥

भे० सं० सू० २२।१

हि० व्या०—बालकों में जन्म से लेकर यथाकाल रोग एवं शरीर शक्ति के यथावश्यक आठ प्रकार का स्वेदन कराना चाहिए—१. हस्तस्वेद, २. प्रदेहस्वेद, ३. नाड़ीस्वेद, ४. प्रस्तरस्वेद, ५. सङ्करस्वेद, ६. उपनाहस्वेद, ७. अवगाहस्वेद तथा ८. परिषेक स्वेद ।

आचार्य वङ्गसेन के अनुसार १. मांसस्वेद, २. उड़द और तिलों द्वारा स्वेद, ४. कुम्भीस्वेद, ५. पिण्डस्वेद, ६. ईंट का स्वेद, ७ प्रस्तरस्वेद तथा ८. संकरस्वेद, भेद से स्वेदन आठ प्रकार का होता है ।

आचार्य भेल के अनुसार स्वेदन आठ प्रकार का होता है—१. संकरस्वेद, २. प्रस्तरस्वेद, ३. परिषेकस्वेद, ४. नाड़ीस्वेद, ५. द्रोणीस्वेद, ६. जलस्वेद, ७. उदकस्वेद (उदकोष्ठ) तथा ८. कुटी स्वेद ।

संकरादिभेदेन त्रयोदश स्वेदप्रकाराः

सङ्करः प्रस्तरो नाडी परिषेकोऽवगाहनम् ।
जेन्ताकोऽश्मघनः कर्षूः कुटी भूः कुम्भिकैव च ॥
कूपो होलाक इत्येते स्वेदयन्ति त्रयोदश ।
तान् यथावत् प्रवक्ष्यामि सर्वनिवानुपूर्वशः ॥

च० सू० १४।३६-४०

आ० दी०—सम्प्रति साग्निस्वेदानां लक्षणमभिधातुं सङ्करादीन् स्वेदान् नामतस्तावदुद्दिशति सङ्कर इत्यादि । सङ्करादिस्वेदाश्चायुर्वेदपरम्परासिद्धाः, तत्र क्वचिन्नाडीस्वेदादौ नड्या प्रणीयत इत्यन्वयोऽप्यनुसरणीयः जेन्ताकादयश्चान्वयनिरपेक्षा एव ॥ चक्रपाणिः ॥

हि० व्या०—महर्षि चरक के अनुसार तेरह प्रकार के स्वेद इस प्रकार हैं—१. संकर, २. प्रस्तर, ३. नाड़ी, ४. परिषेक, ५. अवगाह ६. जेन्ताक, ७. अश्मघन, ८. कर्षू, ९. कुटी, १०. भूस्वेद, ११. कुम्भीस्वेद, १२. कूपस्वेद, तथा १३. होलाकस्वेद ।

दोषानुसारेण स्वेद निर्देशः

अतः स्वेदाः प्रवक्ष्यन्ते यैर्यथावत्प्रयोजितैः ।
स्वेदसाध्याः प्रशाम्यन्ति गदा वातकफात्मकः ॥

हि० व्या०—स्नेहन प्रकरण के पश्चात् स्वेदन प्रकरण का प्रारम्भ करते हुए महर्षि आत्रेय पुनर्वसू ने कहा कि विधिवत् स्वेदन करने से वात और कफदोषजन्य रोग नष्ट हो जाते हैं ॥

वातकफात्मका=असंसृष्टवातकफजा, वातकफजत्वेऽप्युदरादयः स्वेदेन न शाम्यन्ति, अत आह—'स्वेदसाध्याः' एतेनोदरादयोऽस्वेद्या व्यावर्त्यन्ते ॥ चक्रपाणिः ।

व्याधौ शीते शरीरे च महान स्वेदो महाबले ।
दुर्बले दुर्बलः स्वेदो मध्यमे मध्यमो हितः ॥
वातश्लेष्मणि वाते वा कफे वा स्वेद इष्यते ।
स्निग्धरूक्षस्तथा स्निग्धो रूक्षश्चाप्युपकल्पितः ॥
आमाशयगते वाते कफे पक्वाशयाश्रिते
रूक्षपूर्वो हितः स्वेदः स्नेहपूर्वस्तथैव च ॥

च० सू० १४।७-९ ॥ अ० सं० सू० २६।१९
अ० हृ० सू० १७।१२, चक्रदत्त वंगसेन स्वेदा०

रोगाद्यपेक्षयोक्तकल्पनां दर्शयति—व्याधावित्यादि । व्याधौ महाबले तथा शीते कालकृते महाबले, महानिति चंडताप एव पुनः पुनः क्रियमाणत्वेन मृदुस्वेदादपेक्षयाऽधिकतापत्वेन ज्ञेयः । दुर्बल इति च तथा मध्यम इति च व्याध्यादिषु पूर्ववद्योजनीयम् । स्निग्धरूक्षद्रव्यकृतः स्निग्धरूक्षः, स्निग्धरूक्षद्रव्यादयो वातश्लेष्मादिषु यथासंख्यं मन्तव्याः । एतच्च स्निग्धरूक्षादिकथनं द्रव्यापेक्षकल्पनोदाहरणम् । वाते स्निग्धः कफे रूक्षः । तं देशविशेषसम्बन्धेन व्यभिचारयन् दशापेक्षां कल्पनामाह-आमाशयेत्यादि । आमाशयगते वाते रूक्षपूर्वः स्थानापेक्षया पूर्वं रूक्षणं कृत्वा पश्चाद्वातापेक्षः स्निग्धः कार्यः एवं पक्वाशयगतेकफे स्नेहपूर्वो व्याख्येयः, आमाशयशब्देन कफस्थानं ज्ञेयम्, कफस्थानापेक्षया हि प्रथमं रूक्षणं क्रियते, यदुक्तम् —"स्थानंजयेद्धि पूर्वं तु स्थानस्थस्याविरोधतः" इति ॥ चक्रपाणिः ॥

वातश्लेष्मोद्भवं दृष्ट्वा पृथग्वा स्वेद इष्यते ।
वाते स्निग्धः कफे रूक्षो द्वयोः साधारणो मतः ॥

का० सं० सू० २३।७

स्वेद्यास्तु वातकफजा वातजाः कफजास्तथा ।

भे० सं० सू० २३।३२

तेषां विशेषतस्तापोष्मस्वेदौ कफे प्रयोजयेत् ।
उपनाहमनिले किंचित् पित्तसंसृष्टेऽन्यतरस्मिन् द्रवमिति ।

सु० चि० ३२।१४, अ० सं० सू० २६।१६

कफार्तो रूक्षणं रूक्षो रूक्षस्निग्धं कफानिले ।

अ० सं० सू० २६।१७

बलासे रूक्षणः स्वेदो रूक्षस्निग्धः कफानिले ।
कफमेदोवृते वाते सेवेत्कोष्णं गृहं रविम् ॥

वंगसेन स्वेदा० १२

वातश्लेष्मणि वाते वा कफे वा स्वेद इष्यते ।
स्निग्धरूक्षस्तथा स्निग्धो रूक्षश्चाप्युपकल्पितः ॥
चक्रदत्तः स्वेदाः १।

स्वेदौ तापोष्मजौ प्रायः श्लेष्मघ्नौसमुदीरितौ ।
उपनाहस्तु वातघ्नः पित्तसङ्के द्रवो हितः ॥ भावप्र०
वध्यमां मध्यमानां च दरिद्राणां च दुःखिनाम् ।
निषेक देशसात्म्ये च तान विद्यात् पण्डितो भिषक् ॥
का० सू० २३।३०

तेषां चानन्तरोक्तानां स्वेदानां मध्ये तापस्वेद ऊष्मस्वेदश्च कफेऽधिके प्रयोज्यौ । उपनाहनामा स्वेदोऽनिले वायावधिकेयोज्यः । अन्यस्मिन् प्राकृते कफेऽनिले वा किञ्चन स्तोकेन पित्तेन संसृष्टे द्रवस्वेदो योज्यः । इन्दुः ।

रूक्षस्निग्धभेदेन स्वेदयोग्यता संकेतः

कफार्तो रूक्षणं रूक्षो रूक्षस्निग्धं कफानिले ।
अ० हृ० सू० १७।११

कफार्तः कफग्रस्तो रूक्षः सन्नंतर्बहिरस्निग्धो रूक्षणं न च स्निग्धं स्वेदमाचरेत् । अथ श्लेष्मवाते रूक्षस्निग्धं केनचिदङ्गेन रूक्षं केनचिदङ्गेन स्निग्धमेवंविधस्वेदमाचरेत् ॥ अरुणदत्तः ॥

हि० व्या०—कफज रोगी को रूक्ष द्रव्यों से स्वेदन करावें तथा रूक्ष एवं कफवातज रोगियों में रूक्ष एवं स्निग्ध द्रव्यों से स्वेदन करावें ।

स्वेदन के तीन प्रकार—१. महान, २. मध्यम और ३. मृदु ।

१. महान स्वेद—रोग की उग्रता, बलवान रोगी और शीतकाल होने पर महान स्वेद कराया जाता है ।

२. मध्यम रोग, मध्यम बल और समशीतोष्णकाल में मध्यम स्वेद किया जाता है ।

३. दुर्बल रोगी, दुर्बल रोग और समशीतोष्ण काल होने पर मृदु स्वेद किया जाता है ।

स्वेद के दो प्रकार—वातकफ रोगों में स्निग्ध और रूक्ष, वातविकार में स्निग्ध और कफजन्य विकार में रूक्ष द्रव्यों से स्वेद करना चाहिए ।

आमाश्यगत वायु के कुपित होने की स्थिति में पहले रूक्ष द्रव्यों से स्वेदन कराकर पश्चात् स्निग्ध द्रव्यों से स्वेद कराना चाहिए । पक्वाशय में कफ कुपित हो तो पहले स्निग्ध द्रव्यों से स्वेदन कर पश्चात् रूक्ष द्रव्यों से स्वेदन करना चाहिए । अन्य आचार्यों ने भी इन विचारों का समर्थन किया है ।

तापस्वेद और ऊष्म स्वेद विशेषकर कफनाशक है । उपनाह स्वेद वातनाशक है । कफ या वात के साथ पित्त का अनुबन्ध होने पर द्रवस्वेद करना चाहिए ।

साग्नि स्वेदनस्य त्रयोदशविध प्रकाराणाम् वर्णनम्

संकरस्वेद निरूपणम्

तत्र वस्त्रान्तरितैरवस्त्रान्तरितैर्वा पिण्डैर्यथोक्तैरुपस्वेदनं संकरस्वेद इति विद्यात् ॥ च० सू० १४।४१

पिण्डैर्यथोक्तैरिति तिलमाषादिपिण्डैः, तथा गोरवरादि ग्रन्थोक्तसम्पुटकरूपैश्च पिण्डैः स्वेदनमेवोपस्वेदनम् ॥ चक्रपाणिः ॥

बिल्वाग्निमन्थश्योनाकं काश्मरीं पाटलां तथा ।
यवान् कुलत्थान् कोलानि स्थाल्यामासिच्य साधयेत् ।
यवपाकानि विज्ञान सुखोष्माण्यवतारयेत् ॥
ततोऽभ्यक्तस्य विधिवत्स्वेदनीयस्य देहिनः ।
गात्रं गात्रैकदेशं वा सुखोष्णैश्छादयेच्छनैः ॥
ततः प्रच्छादयेद्भूयः कौशेयाजिनकाम्बलैः ।
सङ्करस्त्वेष विज्ञेयः स्वेदानामग्र्य उच्यते ॥
भे० सं० सू० २२।१३-१६

पायसैः कृशरैर्मांसैरोदनैस्त्रिकठोर[1]कैः
उष्णैः सलवणस्नेहैतुम्बरास्तरितैः सुखैः ॥
किण्वातसीदधिक्षीरसंयुक्तैः पिण्डकैः कृतैः
स्थानस्वेदमिच्छन्ति सङ्कर स्वेद उच्यते ॥
का० सं० सू० १३।४१-४२

हि० व्या०—चरक में संकर स्वेद की परिभाषा बताते हुए लिखा है कि दोषानुसार स्वेदन कराने वाले द्रव्यों के मिश्रण का विधिपूर्वक पिण्ड बनाकर वस्त्र में बाँधकर अथवा वस्त्ररहित केवलमात्र औषधपिण्ड से ही स्वेदन कराना संकरस्वेद कहलाता है । भेल ने संकरस्वेद की विधि एवं प्रक्रिया में प्रयुक्त द्रव्यों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि—बिल्व, अग्निमन्थ, श्योनाक, गम्भारी, पाटला, जौ, कुलथी, बदर आदि औषधियों को पकाने के पात्र में डालकर सिद्ध करें यव पाक वत जानकर उतार लें एवं सुखोष्ण होने दें । तब विधिवत् स्वेदन योग्य पुरुष के सम्पूर्ण शरीर अथवा अङ्गविशेष पर धीरे-धीरे सुखोष्ण लेप करें । पश्चात रेशमी वस्त्र या गर्म कम्बल से पुनः भली प्रकार ढक दें । यह संकर स्वेद सभी स्वेदों में अग्रणी है ।

इसी प्रकार काश्यप ने लवण एवं स्नेह के साथ उष्ण (सुखोष्ण) खीर, कृशरा (खिचड़ी) मांस, भात तथा तीन कठोर[1] वस्तुएं वस्त्र पर फैला दें तथा

---

१. चरक में पिण्ड स्वेदोक्त तीन कठोर वस्तुयें सिकतापांशुपाषाण लेने का भाव दर्शित होता है ।

उनको किण्व (पिण्याक। सुराबीज) अलसी, दधि, दूध के साथ सम्मिश्रित करके पिण्ड बना लें एवं उससे स्थान विशेष का स्वेदन करावें। यही संकर स्वेद है।

पिण्डस्वेद व्यवहारोदाहरणानि

तत्र मृत्कपालपाषाणलोष्टलोहपिण्डानग्निवर्णान् सन्दंशेन गृहीत्वाम्भस्यम्ले वा निमज्जयेत् तैरार्द्राविकवस्त्रेण वेष्टितैः श्लेष्ममेदोभूयिष्ठं सरुजमंग ग्रन्थिमद्वा स्वेदयेत् । पांसुसिकतागवादिपुरीषधान्यबुसपुलाकपललैर्वाऽम्लोत्क्वथितैः पूर्ववद्वेष्टितैः । गवादिशकृतार्द्रेण पिण्डीकृतेनोपनाहद्रव्योत्कारिकाकृसरमांसपिण्डैर्वा वातरोगेष्वितिपिण्डस्वेदः । सएवसंकाराक्ष्य ।।

अ० सं० सू० अ० २६।५

तत्र मृत्कपालपाषाणादीनग्निवर्णान् सन्दंशेनादायास्कारतप्तपिण्डग्रहणयन्त्रेण गृहीत्वा स्वेद्यादोषाद्यपेक्षयाम्भस्यम्ले वा कांजिकशुक्तादौ निमंजयेत् । अथ तैर्निमज्जनजातबाष्पैरार्द्रेण धान्याम्लादिसिक्तेनाविकवस्त्रेणोर्णपटेन समन्ताद्वेष्टितैरंग देहं सरुजं रुजायुक्तं ग्रन्थिमद्वास्वेदयोग्यं स्वेदयेत् । श्लेष्ममेदोभूयिष्ठमंग सरुजं ग्रन्थिमद्वा पांस्वादिभिरम्लोत्क्वथितैः पिण्डीभूतैः पूर्ववदेवार्द्राविकवस्त्रवेष्टितैः स्वेदयेत् । अथवा तथाविधमंग गवाश्वादिशकृतार्द्रेणाशुष्केण स्वेदयेदिति सम्बन्धः । वातरोगेषु वा पुनरुपनाहोत्कारिकादिभिः स्वेदयेत् । विकल्पः पूर्वापेक्षः । गवादिकीर्यं गवाश्वादिशकृत् । पुलाकाख्य धान्यविशेषस्य पलालः कक्षम् केवलेन वा ग्रहणम् । उपनाहद्रव्योत्कारिकाः पूर्वोक्तः मांसवेशवारादि कृता इति पिण्डस्वेदः प्रथमस्तस्यैव च पिण्डस्वेदस्य संकर इत्याख्या । आख्या नाम । इन्दुः ।

हि० व्या०—पिण्ड स्वेद का ही दूसरे रूपमे स्वेद कहा गया है मिट्टी, कपाल (घड़े का टुकड़ा) पत्थर, मिट्टी का ढेला अथवा लौह पिण्ड को अग्नि में गरम करके संडासी से पकड़ कर पानी या कांजी में बुझा देना चाहिए। इसको गीले कम्बल के टुकड़े में लपेटकर कफमेदा बहुल, पीड़ायुक्त अंग विशेष या ग्रन्थि स्थान पर सेक करना चाहिए। इसी प्रकार, पांसु, रेत, गाय, घोडे, हाथी आदि की लीद को धान्य की तुष, पुलाक, मांस आदि को अम्ल द्रव में पकाकर पूर्ववत् कम्बल में लपेटकर स्वेदन कराना चाहिए। उपर्युक्त पशुओं के गीले गोबर, उपनाहोक्त द्रव्यों की रोटी या खिचड़ी अथवा कुट्टित मांस पिण्ड को उष्ण करके पिण्ड रूप में स्वेदन कराना चाहिए।

वातविकारेषु पिण्डस्वेदसामग्री संकेतः

तिलमाषकुलत्थाम्लघृततैलाऽऽमिषौदनैः ।
पायसैः कृशरैर्मांसैः पिण्डस्वेदं प्रयोजयेत् ।।

च० सू० १४।२५

रोगास्तत्रोष्णलवणस्निग्धाम्लैरेव वातजाः ।

भे० सं० सू० २२।

हि० व्या०—वात रोगों में पिण्ड स्वेद की सामग्री—तिल, उड़द, कुलथी, अम्ल रस द्रव्य, घृत, तैल, भात, खीर, खिचड़ी, मांस इन द्रव्यों से पिण्डाकार पोटली बनाकर स्वेदन करना चाहिए। आचार्य भेल के अनुसार उष्णवीर्य द्रव्य, लवण, स्निग्ध द्रव्य या स्नेह (घी, तैल, वसा, मज्जा) एवं अम्लरस युक्त द्रव्यों से स्वेदन करना चाहिए।

स्वेदानां द्रव्याण्याह—तिलमाषेत्यादि पिण्डरूपः स्वेदः पिण्डस्वेदः । चक्रपाणिः ।

प्रस्तरस्वेद निरूपणम्

शूकशमीधान्यपुलकानां वेशवारपायसकृशरोत्कारिकादीनां वा प्रस्तरे कौशेयाविकोत्तरप्रच्छदे पञ्चाङ्गुलोरुबूकार्कपत्रप्रच्छदे वा स्वभ्यक्त सर्वगात्रस्य शयानस्योपस्वेदनं प्रस्तरस्वेद इति विद्यात् ।। च० सू० १४।४२

पुलाकस्तुच्छधान्यम्, उत्कारिका =माषादि कृतोत्काराकृतिव्यञ्जनविशेषः । प्रस्तीर्यत इति प्रस्तरः शयनप्रमाणेन स्वेदवस्तूनां विस्तरणं, तस्मिन् प्रस्तरे । कौशेयाविकोत्तरप्रच्छदे कौशेयाविकपिहित इत्यर्थः पञ्चाङ्गुल एरण्ड भेदः ।। चक्रपाणिः ।।

कोश[1]धान्यानि वा सम्यगुपस्वेत्तास्तीर्यं किलिञ्जेऽन्यस्मिन् वा तत्प्रतिरूपके शयानं प्रावृत्य स्वेदयेत; एवं पांशुगोकुत्तुषबुसपलालोष्मभिः स्वेदयेत् ।।

सु० चि० ३२।११

उष्णान् पुलाकानास्तीर्य पायसं कृशरादि वा ।
वाससान्तरिते बालमभ्यक्तं शाययेत् सुखम् ।।
पञ्चाङ्गुलोरुबूकार्कपत्रैर्वा स्नेहितोष्णितैः ।
प्रस्तरस्वेदमित्याचारभौक्ष्णपरिवर्तिनः ।। का० सं० सू० २३।३९-४०
एतान्यन्यानि च भिषक् स्वेदद्रव्याणि संहरेत् ।
प्रकीर्य तानि शयने कम्बलेनावगुण्ठितम् ।
स्वभ्यक्तं शाययेज्जन्तुं स्वेदं प्रस्तरमादिशेत् ।।

भे० सं० सू० २२।१७-१८

यथार्ह[2] स्वेदद्रव्याणि पिहितमुखायां कुंभ्यां सम्यगुणस्वेद्य निवात शरण-

१. (क) कोशधान्यानि शमीआन्यानि माषादीनि ।। डल्हणः ।।
(ख) सुश्रुत में इसे शिलास्वेद एवं प्रस्तीर्ण स्वेद नाम दिया है—"पूर्ववत् स्वेदयेद्गृह्वा भस्मापोह्यापि वा शिलाम् सु० चि० ३२।९ ख
(ग) भाव प्रकाश ने भी इसी का अनुकरण किया है—भा० प्र० स्वेदाधि.
२. यथार्ह स्वेदद्रव्याण्येरण्डमूलादीनि मांसादीनि च पिहितमुखायां स्थाल्यं स्वेदयेत् ।

शयनकिलि[1]जे प्रस्तार्याविक कौशेय वातहर पत्रान्यनवोत्तर प्रच्छदे कुथ[2]का-विकाजिनप्रवारादिष्ववच्छन्नं स्वेदयेदिति संस्तरस्वेदः ।

अ० सं० सू० २६।१

हि० व्या०—प्रस्तरस्वेद कराने हेतु—शूकधान्य (चावल, गेहूं, जौ), शमीधान्य (मूग, चना आदि द्विदल), क्षुद्रधान्य अथवा वेशवार (सुसंस्कृत मांस अथवा शाकादि में उपयुक्त धनियाँ, जीरा आदि मशाले), खीर, खिचड़ी, उत्कारिका (लपसी या हलवा) आदि को एक शिला पर (व्यक्ति के शयन योग्य लम्बाई वाले शिलाखण्ड पर) फैला दिया जाता है उसके ऊपर रेशमी या ऊनी वस्त्र अथवा एरण्डपत्र या अर्कपत्र से ढककर स्वेदन कराने योग्य व्यक्ति को सम्पूर्ण शरीर में स्नेहन कराकर उस पर लिटा दें एवं वस्त्र से ढक दें। यही प्रस्तर स्वेद है।

सुश्रुत ने चरक के समान विधि का वर्णन करते हुए लिखा है—शमीधान्य को उबाल कर काष्ठपट्टे पर अथवा अन्य किसी वस्तु पर फैलाकर उस पर रोगी को सुलावें। उसको वस्त्र से ढक दें इससे स्वेदन हो जाता है। इसी प्रकार मिट्टी, गोबर, तुष (भूसा), तिल, खली द्वारा भी स्वेदन करावें। आचार्य भेल ने लिखा है कि अन्य स्वेदन योग्य द्रव्यों को एकत्र करके शयन स्थान पर फैलाकर उसे कम्बल आदि से ढककर स्नेहित पुरुष को सुला लें। यह प्रस्तर स्वेद है।

प्रस्तर स्वेदोपयोगी द्रव्याणि

प्रस्तरस्वेदेऽपि पिण्डस्वेदसमग्री प्रयोज्या

द्रव्याण्येतानि शस्यन्ते यथा[3]स्वं प्रस्तरेष्वपि ।

च० सू० १४।२७

हि० व्या०—प्रस्तरस्वेद में पिण्डस्वेद की ही सामग्री का प्रयोग करना चाहिए।

नाडीस्वेदनिरूपणम्

स्वेदनद्रव्याणां पुनर्मूलफलपत्रशुङ्गादीनां मृगशकुनपिशितशिरः पदादीनामुष्ण-स्वभावानां वा यथार्हमम्लल्वणस्नेहोपसंहितानां मूत्रक्षारादीनां वा कुम्भ्यां वाष्प-मनुद्वमन्त्यांमुत्त्वथितानां नाड्या शरेषीकावंशदलकरञ्जार्कपत्रान्यतमकृतया

१. (क) आस्तरणविशेषः कटः सु० चि० ३२।७ (ख) देवनलः (ग) काष्ठ पट्टिका अ० सं० चि० २१

(घ) वंशादित्वग्रथितपेटिकाकारा (सु० सू० १०।४····· चटाई·····

२. कार्पासपूरितप्रावरणम् (अ० सं० सू० ४।१८)

३. यथास्वमित्यनेन तिलमाषादयो वाते, गोरवरादिग्रन्थोक्ताश्च श्लेष्मणि प्रस्तरस्वेदे कर्तव्या इति दर्शयति। चक्रपाणिः।

गजाग्रहस्तसंस्थानया व्यामदीर्घया व्यामार्द्धदीर्घया वा व्यामचतुर्भागाष्टभाग-मूलाग्रपरिणाह स्रोतसा सर्वतो वातहरपत्रसंवृतच्छिद्रया द्विस्त्रिर्वा विनामितया वातहर स्निग्धस्नेहाभ्यक्तगात्रो वाष्पमुपहरेत्। वाष्पो ह्यनुजुगामी विहतचण्ड-वेगस्त्वचमविदहन् सुखं स्वेदयतीति नाडीस्वेदः। च० सू० १४।४३

स्वेदनेत्यादिना नाडीस्वेदमाह। स्वेदनद्रव्याणि स्वेदोपगगणोक्तानि, इह च नाडीस्वेदक्वाथार्थमुक्तानि, शिरः पद—मस्तकं, वाष्पमनुद्वमन्त्यामित्यनेन क्वथनकाले वाष्पो यथा न निर्याति तथा कर्तव्यमिति दर्शयति, उत्क्वथितानां वाष्पं स्नेहाक्त गात्र मनु नाड्या उपहरेदिति संबन्धः। नाडीकरणविधिमाह शरेषीकेत्यादि। वंशदलो वंशविदलः, गजाग्रहस्तसंस्थानत्वं नाड्या अग्र एव बोद्धव्यं, व्यामस्त्वियंगविस्तृदव्याहुद्वयप्रमाणं, व्यामदीर्घत्वं नाड्या वहनरवेदे कर्तव्यम्, व्यामचतुर्भागेन व्यामाष्टभागेन च मूले अग्रे च यथासंख्यमानं नाड्या वेदितव्यं, परिणाहेन वेष्टनेन स्रोतो यस्याः सा तथा। यथोक्तनाडीकरणगुण-माह —वाष्पो ह्यित्यादि। विहतचण्डवेगत्वं नाडिकाया दीर्घत्वेन वक्रत्वेन च बोद्धव्यम्। चक्रपाणिः।

नार्यां गजकराकारं छिद्रस्तां तादृशीं तथा।
धान्याम्लद्रवपूर्णायां धान्यां सन्धाय लेपयेत्॥
तां छिद्रस्तां समाहृत्य स्नेह्यक्ताङ्गस्य देहिनः।
प्रच्छन्नगात्रस्य तु तां नाडीमुद्घाटयेद्भिषक्॥
नाडीस्वेदः समाख्यातः सर्वतस्वेदनादिति।

भे० सू० २२।२०-२२

वंशपुञ्जलताश्चैव यथायोगं यथाबलम्।
नाडीस्वेदं प्रयुञ्जीतनिवाते वस्त्रसंवृतम्॥

का० सू० २३।२८

पूर्ववदेव वोपस्तोरवास्तेनाधोमुखीं नाडी मूलच्छिद्रप्रमाणपार्श्वच्छिद्राम-भिसन्धायावलिप्य च पार्श्वच्छिद्रस्थया नाड्या शरेषिकावंशदलकिञ्जकरंज-पत्रान्यतमकृतयागजाग्रहस्तसंस्थानया व्यामदीर्घयाऽध्यर्धव्यामदीर्घया वा स्वायाम चतुर्भागाष्टभागपरिणाहमूलाग्रस्रोतसा सर्वतो वातहरपत्रसंवृतछिद्रया द्विस्त्रिर्वा विनामितया सुखोपविष्टस्य स्वभ्यक्त प्रावृतांगे वाष्पमुपहरेत्। वाष्पो ह्यनुजुगामी विहतचण्डवेगस्त्वचमविदहन् सुखं स्वेदयतीति नाडीस्वेदः।

अ० सं० सू० २६।१०

नाडीस्वेद उच्यते। पूर्ववत् प्रस्तरस्वेदवदुपस्वेद्य द्रवद्रव्यपूर्णाया उखाया मुखेऽन्यां द्वितीयामुखामुपसंधाय तस्याः पार्श्वच्छिद्रस्थया नाड्या सञ्चारिणं वाष्प-मुपहरेत्। स वाष्पः सुखं स्वेदयेदिति संबन्धः। तेनैतदुक्तं भवति। वातहरद्रव-द्रव्यपूर्णामेकामुखीं कारयेत्। तस्या अधोऽग्निं प्रज्वालयेत्। तस्या उखाया उपरि

द्वितीयोरवा कल्पनीया। तस्याश्चोपरिस्थिताया उखायाः पार्श्वे द्वितीयं वक्ष्यमाण नाड़ीमूलप्रमाणछिद्रं कारयेत्। तथा शरेषिकादिसंस्तरणचिता दैर्घ्येण केवल व्याम दीर्घा सार्धव्यामदीर्घा वा नाडी कार्या। तस्याश्च नाड्याः स्वदीर्घचतुर्भागप्रमाणवृत्ततया मूलेऽन्तः स्रोतः कार्यम्। सा च नाडी यथाक्रमेण गजाग्रहस्तसदृशी कार्या। यथा स्वायामादष्टभागवृत्तं अग्रस्रोतः तस्या भवति। मूलस्रोतसोऽर्धपरिणाहमग्रस्रोत इत्यर्थः। गजाग्रहस्तसदृशमुखनाडी वर्तुलत्वादङ्गानान्नैव वाष्पायपे। तथाविधानाडी उपरितनोखापार्श्वच्छिद्रेनिवेश्या। तस्याश्चोरवायाः पिहितमुखत्वान्नाड़ीमुख एवोष्मा भवति। तस्या नाड्या ईषिकाद्युद्भवत्वाद्यानि छिद्राणि तैर्वाष्पनिर्गमपरिहाराय सर्वतो वातहरद्रायपत्रैर्वेष्टनम्। हा च नाडी द्वौ वारौ त्रीन् वा वारान् विनमिता करभग्रीवानुकारेण कुटिलीकृता कार्या। तयैवं भूताया नाड्या मुखोपविष्टस्य पुरुषस्य स्वेदयोग्येऽङ्गे स्वभ्यक्त प्रावृते वस्त्रमुपहरेत्। तथाविधो बाष्पो ह्यनृजुगामित्वाद्विहतचण्डवेगत्वात्वचमविदहन् सुखं स्वेदयतीति नाडीस्वेदस्तृतीयः। इन्दुः।

हि० व्या०—स्वेदन में यथावश्यक द्रव्यों की मूल-फल-पत्ते और अंकुर (पत्रशुङ्ग) तथा पशु, पक्षियों के मांस, सिर, पाँव आदि उष्ण स्वभाव वाले मांस (एवं शरीराङ्ग) आवश्यकतानुसार कांजी, नमक तैलघृतादि मिलाकर मूत्र, दूध आदि के साथ मिश्रित करके एक बड़े पात्र में क्वाथ करें। इस क्वाथ की भाप को प्रयोग में लाने के लिए बर्तन के ऊपरी भाग में एक छेद करें उसमें शरकण्डे, सींक या बाँस की नली अथवा करञ्ज, आक आदि के पत्र से बनाई हुई नली जो हाथी की सूंड के समान हो अर्थात् जिसका घेरा ऊपर से मोटा एवं क्रमशः आगे पतला होना चाहिए। इसमें मोटा भाग पात्र के छिद्र में लगाना चाहिए। इस नली की लम्बाई एक व्याम (साढ़े तीन हाथ) तथा चौड़ाई आधा या चौथाई व्याम पात्र के साथ एवं क्रमशः कम होते हुए अन्तिम शिरा व्याम का आठवाँ भाग होना चाहिए (अर्थात् लगभग एक बालिस्त) यदि मध्य में कहीं कोई छिद्र हो तो वातहर द्रव्यों से बन्द कर देना चाहिए। यह नली दो तीन स्थानों पर मुड़ी होनी चाहिए। वातरोगी जब वातहर तैलों का मर्दन कर ले तब पात्र का मुख बन्द कर दें जिससे वाष्प ऊपर नहीं जा पाएगी।

अतः मध्य में रुकी हुई वाष्प की मध्यम गति से त्वचा को हानि नहीं होगी एवं नली द्वारा आई हुई वाष्प से सुखपूर्वक स्वेदन हो जाता है। यही नाड़ी स्वेद है। (वाष्पस्वेद भी इसी प्रकार किया जाता है।) सुश्रुत एवं वाग्भट में इसे वाष्प स्वेद कहा गया है। आचार्य काश्यप ने बांस, मूंज तथा नल आदि के द्वारा आवश्यकतानुसार नली बनाकर यथाविधि सुखकर नाड़ीस्वेद का वर्णन किया है। बालक को नाड़ी स्वेद कराते समय वस्त्र से ढककर स्वेदन कराना चाहिए। तथा वायुरहित स्थान में स्वेदन कराना चाहिए।

वातविकारेषु नाडीस्वेदयोगः

ग्राम्यानूपौदकं मांसं पयोबस्तशिरस्तथा।
वराहमध्यपित्तासृक्स्नेहवत्तिलतण्डुलान्॥
इत्येतानि समुत्क्वाथ्य नाडीस्वेदं प्रयोजयेत्।
देशकालविभागज्ञो युक्त्यपेक्षोभिषक्तमः॥ च० सू० १४।२९-३०

बस्तशिरश्छागमस्तकं स्नेहवन्तश्चैरण्डबीजादयः तिलाश्च तण्डुलाश्च स्नेहवत्तिलतण्डुलाः। ग्राम्येत्यादिना वातापहो नाडीस्वेद उक्तः। चक्रपाणिः।

हि० व्या०—वात रोगों के लिए नाड़ीस्वेद में प्रयोग की जाने वाली औषधियाँ—ग्राम्यमांस, आनूप मांस, जलीय जीवों का मांस, दूध, बकरे का शिर, सूअर का मेद, पित्त, रक्त, तैल (एरण्ड), तिल एवं तण्डुल का क्वाथ बनाकर नाड़ीस्वेद में (प्रयोग करना चाहिए) देश-काल का ज्ञान रखने वाला (कुशल) वैद्य युक्ति पूर्वक प्रयोग करें।

वातकफविकारेषु नाड़ीस्वेदप्रयोगः

वारुणामृतकैरण्डशिग्रुमूलकसर्षपैः।
वासावंशकरञ्जार्कपत्रैरश्मन्तकस्य च॥
शोभाञ्जनकशैरयी मालतीसुरसार्जकैः।
पत्रैरुत्क्वाथ्य सलिलं नाडीस्वेदं प्रयोजयेत्॥ च० सू० १४।३१-३२

वारुणेत्यादिना कफापहः। वारुणः=वरुणः अमृतका=गुडूची, सर्षपैरित्यत्र पत्रैरिति सबध्यते, वंशो वेणुः। पुनः शोभाञ्जनग्रहणाद् द्वितीयो वित्यशोभांजनो गृह्यते। शैरयीः झिण्टी॥ चक्रपाणिः॥

हि० व्या०—वातकफविकार में नाड़ीस्वेद के लिए औषधियाँ—वरना, गिलोय, एरण्डमूल, सहिजनछाल, मूली का पञ्चांग, सरसों का शाक, अडूसा (वासा) का पत्र, बाँस की पत्ती, मदारपत्र, करञ्ज की पत्ती, पाषाण भेद की पत्ती, लाल सहिजन की पत्ती, कटसरैया की पत्ती मालतीपत्र, काली और सफेद तुलसी पत्र, इन सबका क्वाथ नाड़ी स्वेद में प्रयोग करना चाहिए।

पितानुबन्धी वात विकारेषु नाडीस्वेद संकेतः।

[1]भूतीकपञ्चमूलाभ्यां सुरया दधिमस्तुना।
मूत्रैरम्लैश्च सस्नेहैर्नाडीस्वेदं प्रयोजयेत्॥

च० सू० १४।३३

हि० व्या० पित्तानुबन्धी वातरोग हेतु नाडी स्वेद की औषधियाँ—गंध तृण, दोनों पञ्चमूल (दशमूल), मदिरा, दही का पानी, गोमूत्र, काँजी, इन्हें

१ भूतीकेत्यादिना वातश्लेष्मापहः। चक्र०

गरम कर और गंधतृणादि का क्वाथ बनाकर स्नेहमिलाकर, नाडीस्वेद में प्रयोग करना चाहिए।

परिषेकस्वेद निरूपणम्

वातिकोत्तरवातिकानां पुनर्मूलादीनामुत्क्वाथैः सुखोष्णैः कुम्भीवार्पुलिकाः प्रनाडीर्वा पूरयित्वा यथार्हसिद्धस्नेहाभ्यक्तगात्रं वस्त्रावच्छन्नं परिषेचयेदिति परिषेकः।

च० सू० १४।४४

वसातैल घृतं क्षीरमूत्रमत्स्वम्लकाञ्जिकैः।
सुखोष्णैः सेचयेत्स्वेद्यं सेकः स परिकीर्तितः॥

भे० सं० सू० ३२।१६

वातिकानि = वातहराणि, उत्तरवातिकानि = उत्तरवाते = प्रधानवाते वातश्लेष्मणि हितानीह ग्राह्यानि, वार्पुलिका = अल्पघटी, सहस्रधारा इत्यन्ये, प्रनाडी = वेणुनलनाड्याद्याः। चक्रपाणिः।

हि० व्या०—शुद्ध वातरोगी अथवा अन्य दोष सहित वातरोगी के लिए परिषेक स्वेद कराना चाहिए। नाड़ी-स्वेद में बताए गए द्रव्यों के मूल पत्र आदि का यथाविधि क्वाथ बनाकर ऐसे वर्तन में डाले जिसके असंख्य छिद्र हो (सहस्रधारा या बहुत सी नलियाँ लगी हों) सिद्ध स्नेहों से रोगी को मालिश करके वस्त्र से ढक दें एवं इस सुखोष्ण क्वाथ से परिषेक करें। यही परिषेक स्वेद है। वसा, तैल, घृत, दूध, मूत्र, अम्ल, कांजी आदि सुखोष्ण द्रवों से सिंचन करते हुए जो सेक दिया जाता है उसे ही परिषेक कहते हैं। अष्टांग हृदय में परिषेक का द्रवस्वेद में वर्णन किया गया है।

अवगाह स्वेद वर्णन

इस विधि का विवरण द्रव स्वेद में किया गया है। द्रव स्वेद की अवगाह एवं परिषेक दो विधियाँ बताई है। जहाँ अवगाह का स्वतन्त्र परिचय दिया गया है उसे चरक के इन तेरह प्रकारों में वर्णित अवगाह के साथ यहाँ दिया जा रहा है प्रायः उष्ण जल को द्रोणी में भरकर रोगी को बिठाया जाता है जैसा कि आजकल योगिक प्रक्रियाओं, प्राकृतिक चिकित्सा तथा पंचकर्म में विविध धातु तथा सिमेन्ट आदि के टब बनाए जाते हैं।

[1]अवगाहस्वेदनिरूपणम्

वातहरोत्क्वाथक्षीरतैलघृतपिशितरसोष्णसलिलकोष्ठकावगाहस्तु यथोक्त एवावगाहः।

च० सू० १४।४५

१. (क) आचार्य सुश्रुत ने अवगाह स्वेद का द्रव स्वेद के अन्तर्गत वर्णन किया है।

तैरेव वा द्रवैः पूर्णं कुंडं सर्वांगगेऽनिले।
अवगाह्याऽऽतुरस्तिष्ठेदर्शः कृच्छ्रादिरुक्षु च॥

अ० हृ० सू० १७।८

तैरेव पूर्वोक्तैः स्वेदद्रवैः पूर्णं कुंडं भृशमवगाह्य प्रविश्याऽऽतुरो रोगी तिष्ठेत्। कीदृशे दोषे इत्याह सर्वांगगेऽनिले सर्वशरीरव्यापिनि वायौ तथार्शः प्रभृति रोगकष्टपीडासु। आदिग्रहणेन हस्तपादपीडासु वा। कुंडग्रहणमुपलक्षणार्थम्। तेन कूपकुटी स्वेदौ च वेद्यौ। संग्रहे उक्तम्। शयनस्याऽर्धोविस्तारद्विगुणखाते कूपे वातहरदारुकरीषाद्यन्यतरपूर्णदग्धे विगत धूमे स्वास्तीर्णशयनस्थं स्वेदयेदिति कूपस्वेदः। कुटीं नाऽत्युच्चविस्तारां वृत्तामच्छिद्रामुपनाहद्रव्यकल्कघनप्रदिग्धकुड्यां सर्वतो विधूमप्रदिप्तखादिरांगारपूर्णहसंतिकासमूहपरिवृतां विधाय तन्मध्यस्थितशय्यास्थं स्वेदयेदिति कुटीस्वेदः। पद्मोत्पलादिभिः सक्तुपिड्या वाऽऽच्छाद्य चक्षुषी। शीतैर्मुक्तावलीपद्ममुकुलोत्पलभाजनैः। मुहुः करैश्च सजलैः स्विद्यतो हृदयं स्पृशेदिति। अरुणदत्तः।

…परिषेक क्वाथैः पूर्णं कुण्डमवगाह्यानुप्रविश्यातुरहृदयादीन रक्षंस्तिष्ठेत्। (चन्दनन्दनः)

—अर्शः कृच्छ्रादि रुक्षु आदि शब्देन योनि शूल गुल्मादयो गृह्यन्ते। कुण्ड ग्रहणमुपलक्षणार्थम्। कटाह द्रोण्योरपि ग्रहणम्। (परमेश्वरः)।

द्रोण्याम अवगाहस्वेदः

कण्ठावगाहामच्छिद्रां तावदेवायतां समाम्।
द्रोणिं पायस निष्क्वाथकृशराक्षीरपूरिताम्।
कृत्वा तस्यां सुखोष्णायां स्वभ्यक्तं वातरोगिणम्॥
ज्ञात्वावगाहयेत्तावद्यावत्स्वेदोद्गमो भवेत्॥

भे० सं० सू० २२।२२-२४

जलावगाहस्वेदः

तप्तैः पात्रयुतैर्वापि शुद्धैर्वा सलिलैर्भिषक्।
स्वभ्यक्तगात्रस्य ततः सलिलस्वेदमाचरेत्॥

भे० सं० सू० २२।२४-२५

(ख) आचार्य वाग्भट ने भी अवगाहन के लिए द्रव्यों का उल्लेख द्रवस्वेद में किया है।

(ग) भावप्रकाश में द्रोणी बनाने की विधि का वर्णन भी द्रवस्वेद प्रकरण में ही किया है।

कटाहद्वाराऽवगाहस्वेदः

इदृशैरेव सलिलैः कटाहे चार्धपूरिते ।
प्रवेश्य स्वेदयेत्स्वेद्यमुदकोष्ठः प्रकीर्तितः ।

भे० सं०सू० २२।२५-२६

अवगाहः स्वेद विधिः

मुहूर्त्तकं समारभ्य यावत्स्यातच्चतुष्टयम् ।
तावत्तदवगाहेत यावदारोग्यनिश्चयः ॥
एवं तैलेन दुग्धेन सर्पिषा स्वेदयेन्नरम् ।
एकान्तरो द्वयन्तरो वा युक्तः स्नेहोऽवगाहने ॥
शिरामुखैर्लोमकूपैर्धमनीभिश्च तर्पयेत् ।
शरीरे बलमाधत्ते युक्तः स्नेहोऽवगाहने ॥
जलसिक्तस्य वर्द्धन्ते यथा मूलेऽङ्कुरादयः ।
तथैव धातुवृद्धिर्हि स्नेहसिक्तस्य जायते ॥
नातः परतर कश्चिदुपायो वातनाशनः ॥

भाव० प्र० स्वेदा०

एतावता क्वाथो दुग्धञ्च नित्यमेव युज्यते स्नेहस्तु दिनमेकं द्वे वा दिने गमयित्वा युक्तः । अग्निमान्द्यशङ्कया इति भावः ।

भाव० प्र०

अवगाह स्वेदन परिचयः

हि० व्या०—वातहर द्रव्यों के क्वाथ, दूध, तैल, घृत, मांस रस तथा गर्मजल के पात्र में बैठाकर स्वेदन किया जाना अवगाहन स्वेद है। कवोष्ण जल में बिठाकर आजकल टब बाथ कराने का प्रयोग प्रचलित है।

अष्टांग हृदय में लिखा है कि द्रवस्वेद में प्रयुक्त द्रव्यों को पकाकर स्नेह आदि मिलाकर तैयार किए क्वाथ से द्रोणी भरकर उसमें रोगी को बिठाना अवगाहस्वेद कहलाता है। यह स्वेद सर्वाङ्गव्यापी वातरोगियों तथा अर्श व मूत्रकृच्छ्र आदि रोगों में उपयोगी है। टीकाकार अरुणदत्त ने आदि शब्द से हाथ एवं पाँव की पीड़ा का अर्थ लिया है तथा परमेश्वर ने योनिशूल गुल्मादि का भी ग्रहण किया है।

रोगी के कण्ठ तक गहरी एवं उतनी ही चौड़ी छिद्ररहित द्रोणी में खीर, क्वाथ, खिचड़ी, एवं दूध आदि भर दें उसके सुखोष्ण होने पर स्नेह से अभ्यंग किए हुए वातरोगी को उसमें प्रवेश करा दें। जब पसीने आने लगे तब सम्यक् अवगाह समझना चाहिए। अवगाहन प्रयोग में लाया जाने वाला स्नेह सिराओं के मुखों, लोमकूपों तथा धमनियों के द्वारा शरीर का तर्पण करता है। जिस प्रकार जल सींचने से वनस्पतियों में अंकुरोत्पत्ति होती है। उसी

प्रकार स्नेह द्वारा स्नेह सिक्त करने से शारीरिक धातुओं की वृद्धि होती है। अतः इस अवगाहन से उत्तम विधि वातरोगियों के लिए और कोई नहीं है। इस अवगाहन विधि को कब समाप्त करना चाहिए इसके लिए लिखा है कि शीत एवं शूल की शान्ति हो जाने पर अङ्ग स्तब्धता एवं शारीरिक गुरुता नष्ट हो जाने पर, अग्नि प्रदीप्त हो जाने पर तथा शरीर में मृदुता आने पर स्वेदनविधि का समापन कर देना चाहिए।

आचार्य भेल ने अवगाह स्वेद को तीन प्रकारों का उदकोष्ठ, अवगाह तथा सलिल स्वेद के रूप में प्रकट किया है। तथा पृथक विधि का भी निर्देश किया है। उदकोष्ठ स्वेदमें सलिल स्वेद के समान ऊष्ण जल से बड़ी कड़ाही को भर दें। इसमें रोगी को प्रवेश कराके स्वेदन कराना उदकोष्ठ स्वेद कहा जाता है।

भाव प्रकाश में अवगाह स्वेदन विधि का वर्णन करते हुए लिखा है कि—द्रव स्वेद विधि में बताए गए प्रयोग द्वारा जल सिंचित करते हुए या क्वाथ सिंचित करते हुए जब जल रोगी की नाभि से छे अङ्गुल ऊपर तक भर जाए तब उस क्वाथ या जल में एक मुहूर्त से ४ मुहूर्त तक बैठा रहे। इसी विधि से तैल, दूध या घृत को उष्ण करके स्वेदन करावें। इसमें स्नेह से अवगाहन कराने में एक दिन अथवा दो दिन का अन्तराल होना चाहिए। यह अवगाहन तब तक करावे जब तक निश्चितरूप से आरोग्यप्राप्ति न हो जाए।

जेन्ताकस्वेद निरूपणम्

अथ जेन्ताकं चिकीर्षुर्भूमिं परीक्षेत्, तत्र पूर्वस्यां दिश्युत्तरस्यां वा गुणवति प्रशस्ते भूमिभागे कृष्णमृत्तिके सुवर्णमृत्तिके वा परीवापपुष्करिण्यादीनां जलाशयानामन्यतमस्य कूले दक्षिणे पश्चिमे वा सूपतीर्थे समसुविभक्तभूमिभागे सप्ताष्टौ वाऽरत्नीरुपक्रम्योदकान्प्राङ्मुखमुदङ्मुखं वाभिमुखतीर्थं कूटागारं कारयेत्, उत्सेधविस्तारतः परमरत्नीः षोडशः समन्तात् सुवृत्तं मृत्कर्मसम्पन्नमनेक वातायनम्; अस्य कूटागारस्यान्तः समन्ततो भित्तिमरत्निविस्तारोत्सेधां पिण्डिकां कारयेदाकपटात्, मध्ये चास्य कूटागारस्य चतुष्किष्कु मात्रं पुरुषप्रमाणं मृण्मयं कन्दुसंस्थानं बहुसूक्ष्मच्छिद्रमङ्गारकोष्ठकस्तम्भं सपिधानं कारयेत्। तं च खादिराणामश्वकर्णादीनां वा काष्ठानां पूरयित्वा प्रदीपयेत्। स यदा जानीयात् साधु दग्धानि काष्ठानि गतधूमानि, अवतप्तं च केवलमग्निना तदग्निगृहं स्वेदयोग्येन चोष्मणा युक्तमिति तत्रैनं पुरुषं वातहराभ्यक्तगात्रं वस्त्रावच्छन्नं प्रवेशयेत्,

प्रवेशयंश्चैनमनुशिष्यात्—"सौम्य ! प्रविशकल्याणायारोग्याय चेति, प्रविश्य चैनां पिण्डिकामधिरुह्य पार्श्वयोरपरपार्श्वाभ्यां यथासुखं शयीथाः, न च त्वया स्वेदमूर्च्छापरीतेनापिसता पिण्डिकैषा विमोक्तव्याऽऽप्राणोच्छ्वासात्, भ्रश्यमानो ह्यतः पिण्डिकावकाशाद् द्वारमनधिगच्छन् स्वेदमूर्च्छापरीततया सद्यः प्राणाञ् जह्याः, तस्मात् पिण्डिकामेनां न कथञ्चनमुञ्चेथाः, त्वं यदा जानीयाः-

विगताभिष्यन्दमात्मानं सम्यक्प्रस्तुतस्वेदपिच्छं सर्वस्रोतो विमुक्तं लघुभूतमपगत-विबन्धस्तम्भसुप्तिवेदनमिति, ततस्तां पिण्डिकामनुसरन् द्वारं प्रपद्येथाः, निष्क्रम्य च न सहसा चक्षुषोः परिपालनार्थं शीतोदकमुपस्पृशेथाः, अपगतसन्तापक्लमस्तु मुहूर्तात्सुखोष्णेन वारिणा यथान्यायं परिषिक्तोऽग्नीयाः, इति जेन्ताकः स्वेदः ॥

च० सू० १४।४६ अ० सं० सू० २६ ।

जेन्ताकविधिमाह—अथेत्यादि । अथ शब्दो मंगल आनन्तर्ये वा, पूर्वस्या-मुत्तरस्यां वा इति ग्रामाद्वोद्धव्यम्, गुणवतीति सम्यक् प्ररोहादियुक्तेन, प्रशस्तभूमिभागत्वं तुषांगरादिरहितत्वेन । परीवापो=दीर्घिका । सुष्ठुच उपसमीपे तीर्थं यस्य तस्मिन् सुपतीर्थे । अरत्निर्हस्तः । प्राङ्मुखमिति पश्चिमे, उदङ्मुखामिति—दक्षिणे, एवं ह्यभिमुखं तीर्थंस्यात् । कूटागारमिति वर्तुला-गारम् । आकपाटादित्यनेन द्वारपर्यन्तं लक्षयति । किष्कुर्हस्तः । पुरुषप्रमाणमि-त्यूर्ध्वतः । कन्दुः=कन्दाकाराग्निस्थानं । अंगारार्थं कोष्ठोऽवकाशो विद्यते यस्मिन् सोऽङ्गारकोष्ठकः स एव स्तंभः इत्यङ्गारकोष्ठकस्तंभः । खादिराणामिति-पूरणेषष्ठी, स इत्यत्र त्वमित्यध्याहार्यं, जानीया इत्यर्थः । किंवा, जनीयादिति पाठः, उत्तरत्रापि प्रपद्येतेति पाठः, एवं च सुगमम् । पिच्छा स्वेदस्यैव पिच्छिलो भागः । सर्वेषु स्रोतः सु विमुक्तमपगतबन्धं सर्वस्रोतोविमुक्तम् ।

अपगतविबन्धस्तु अपगतबलविबन्धो वोद्धव्यः । चक्षुषोः परिपालनार्थमिति अत्रोपतप्तस्य सहसा शीतजलप्रवेशेन शीतजलपरिहत ऊष्मा नयनोपघातं करोती-त्यभिप्रायः । अत्र जेन्ताके भूमिविशेषपरिग्रहजलसान्निध्यादयो मंगलार्थाः; जलसान्निध्यं तु स्वेद्यमानस्य दर्शनेन दृष्टेः परिपालनार्थं च स्यात्, तथा स्वेदा-तियोगप्रतिक्रियार्थं कूटागारस्य जलसान्निध्ये मुखेन करणार्थं च ॥ चक्रपाणिः ॥

जेन्ताक स्वेद

जेन्ताक विधि से स्वेदन कराने हेतु सर्वप्रथम भूमि परीक्षण आवश्यक है । यह भूमि वासस्थान से पूर्व या उत्तर दिशा में निश्चित करना चाहिए । भूमि गुणदायक, प्रशस्त काली या पीली मिट्टी से युक्त होना चाहिए । इस भूमि के आस-पास तलैया या पुष्करिणी (कमल पुष्पों से शोभायमान जलाशय) होना चाहिए । जलाशय में सुरम्य सीढ़ियाँ बनी हों । वह भूमि जलाशय के दक्षिण या पश्चिम तट पर होनाा चाहिए । भूमिभाग समतल होना चाहिए । जलाशय से ७ या ८ हाथ पर पूर्व मुख या उत्तर मुख वाला गोलाकार कूटागार बनाना चाहिए । कूटागार का मुख्य द्वार जलाशय की सीढ़ियों पर खुलना चाहिए । इस कूटागार की लम्बाई और चौड़ाई १६ हाथ होनी चाहिए । इसकी दीवार मिट्टी से अच्छी प्रकार लिपी गई हों । इस गृह में अनेक खिड़की होना चाहिए । इस गृह के भीतर चारों तरफ दीवारों से सटा हुआ एक अरत्नि (१ हाथ) की ऊंचाई और चोड़ाई में चबूदरा बनाना चाहिए । कूटागार के मध्यभाग में चार हाथ लम्बा मिट्टी का गोलाकार अनेकों छिद्र युक्त अंगार

कोष्ठक बनाना चाहिए जिसमें ऊपर से ढक्कन भी हो अंगार कोष्ठक में खदिर या अश्वकर्ण आदि वातघ्न औषधियों को डालकर आग लगाना चाहिए। औषधियाँ जलकर जब निर्धूम अग्नि से अंगारकोष्ठक और कूटागार तप्त हो गया हो तब स्वेदन करने योग्य पुरुष (व्यक्ति) के शरीर में वातनाशक तैल का अभ्यङ्ग कराकर वस्त्र से ढककर कूटागार में प्रवेश कराना चाहिए । रोगी को समझा देना चाहिये कि अपने कल्याण और रोग निवृत्ति के लिए कूटागार में प्रवेश करो और किनारे पर बने चबूतरे पर लेट कर क्रमशः करवट बदलते हुए सुखपूर्वक शयन करो । चबूतरे पर शयन करते हुए पसीना से अधिक पीड़ित हो जाने पर भी या मूर्च्छा आ जाने पर जब तक शरीर में श्वास प्रश्वास रहे तब तक चबूतरे पर लेटा रहना क्योंकि चबूतरे से गिरने पर पीड़ा के कारण मुख्य द्वार तक न पहुंचकर शरीर का नाश हो सकता है । रोगी जब अपने को कफदोष से रहित समझने लगे, या शरीर के सभी स्रोत खुल जाए, शरीर में हल्कापन महसूस हो, और शरीर की जकड़ाहट, शून्यता, वेदना निकल गई हो तब चबूतरे के सहारे-लेटे ही लेटे मुख्य द्वार पर आकर उस कूटागार से बाहर निकलना । निकलकर नेत्रों की रक्षा करने के लिए शीतल जल से स्नान नहीं करना, शरीर से संताप और श्रम दूर हो गया है ऐसा अनुभव होने के पश्चात् कुछ गरमजल से परिषेककर उसके बाद भोजन करना ।

नाड़ीस्वेदद्रव्याणां जलकोष्ठक अवगाहस्वेदेऽपि प्रयोगनिर्देशः

एत[1] एव च निर्यूहाः प्रयोज्या जलकोष्ठके ॥

च० सू० १४।३४

हि० व्या०—अवगाह स्वेद की औषधियाँ—नाड़ी स्वेद में निर्दिष्ट औषधियों का क्वाथ बनाकर क्रमशः वात, वातकफ, और पित्तानुबन्धी वात रोगों में एक वृहत् पात्र में रखकर) उसमें बैठने या तैरने को या अंग विशेष को डुबोकर स्वेदन करने पर अवगाह स्वेद कहलाता है । अर्थात् नाड़ी स्वेद में निर्दिष्ट औषधियों का क्वाथ बनाकर अवगाहस्वेद में प्रयोग करना चाहिए ।

अश्मघनस्वेदनिरूपणम्

शयानस्य प्रमाणेन घनाश्ममयीं शिलाम् ।
तापयित्वामारुतघ्नैर्वारुभिः संप्रदीपितैः ॥
व्यपोह्य सर्वानङ्गरागान प्रोक्ष्य चैवोष्णवारिणा ।
तां शिलामथ कुर्वीत कौषेयाविकसंस्तराम् ॥

---

१. एत एवेति नाडीस्वेदोक्तास्त्रयोऽपि । जलकोष्ठोऽवगाहार्थकृतं महज्जल-पात्रम् । (चक्रपाणिः)

तस्यां स्वभ्यक्तसर्वांगः स्वपन् स्विद्यति ना सुखम् ।
[1]कौरवाजिनकोषेय प्रावाराद्यैः सुसंवृतम् ॥
इत्युक्तोऽश्मघनस्वेदः,

च० सू० १४।४७-४९

पुरुषाययाममात्रमधिक वा घनं सम च शिलातलं भूप्रदेशं वा वातहरदारु-दीप्तेनाग्निनासर्वतस्तापयित्वाऽग्निमपोह्योष्णोदकाम्लादिभिरभ्युक्ष्य यथोक्तप्रच्छदे संस्तरवत्स्वेदयेदिति घनाश्मस्वेदः ।

अ० सं० सू० २६।

घनाश्मस्वेद उच्यते । पुरुषेत्यादि पुरुषाययाममात्रं सार्धहस्तत्रयमात्रमतोऽपि वा किञ्चिदधिकप्रमाणं शिलातलं घनमभङ्गुरं सममनिम्नोन्नतमेवं विधं वा प्रमाणगुणाभ्यां भूप्रदेशं सर्वतोदिक्कमुपर्यधश्च वातहरदार्वग्निना प्रताप्य अग्नि-मनन्तमपोह्यान्यतः कृत्वा तत्तप्तं शिलातलं भूप्रदेशं वा उष्णोदकेनाम्लादिभि-श्चकाञ्जिकमूत्रादिभिरभिषिच्य यथोक्तप्रच्छदे पूर्वोक्तवातहरपत्र प्रच्छदे संस्तर-स्वेदोक्तप्रकारेण स्वेदयेदिति घनाश्म स्वेदः ॥ इन्दुः ॥

हि० व्या०—मनुष्य के शयन प्रमाण की शिला लेकर उस पर वातनाशक (दारुहरिद्रा आदि की) लकड़ी जलाकर गर्म करें। भली प्रकार गर्म होने पर अंगारों को पृथक् करके तथा शिला को गर्म पानी से अथवा कांजी से साफ करके जब वाष्प निकलने लगे तब उस शिला पर रेशमी या गर्म वस्त्र बिछा दें, जिसे स्वेदन कराना हो उसको सर्वांग में अभ्यंग करके उस पर सुला दें उसे सूती वस्त्र, मृगचर्म रेशमी वस्त्र या कबम्ल से ढक दें। इससे सुखपूर्वक स्वेदन हो जाता है यही अश्मघनस्वेद हैं। इसे वाग्भट ने घनाश्म स्वेद नाम दिया है।

भूस्वेदनिरूपणम्

य एवाश्मघनस्वेद विधिर्भूमौ स एव तु
प्रशस्तायां निवातायां समायामुपदिश्यते ॥

च० सू० १४।५५

हि० व्या०—अश्मघन स्वेद विधि से समतल, प्रशस्त भूमि एवं निवात स्थान पर जो स्वेद विधि की जाय उसे भूस्वेद या भूमि स्वेद कहा जाता है।

[2]कर्षूस्वेदनिरूपणम्

खानयेच्छयनस्याधः कर्षूं स्थानविभागवित् ।
दोप्तैरधूमैरङ्गारैस्तां कर्षूं पूरयेत्ततः ।
तस्यामुपरिशय्यायां स्वपन् स्विद्यति ना सुखम् ।

च० १४।५०-५१

१. कौरवं कार्यासम् । चक्रपाणिः ।
२. कर्षूः—अभ्यन्तरविस्तीर्णः स्वल्पमुखो गर्तः । चक्रपाणिः ।

पुरुषायाममात्रां च भूमिमुत्कीर्य खादिरैः ।
काष्ठैर्दग्ध्वा तथाऽभ्युक्ष्यक्षीरधान्याम्लवारिभिः ।
पत्रभङ्गैरवच्छाद्य शयानं स्वेदयेत्ततः ।

सु० चि० ३२।८-९ भावप्र० पूर्वरव० स्वेदा०

नाडीस्वेदं वाष्पस्वेदे एवाभिधाय भूस्वेदमपि वाष्पस्वेदे एव दर्शयन्नाह—पुरुषेत्यादि । आयामो दैर्घ्यम् । उत्कीर्य खनित्वा । अभ्युक्ष्य सिक्त्वा । पत्रभङ्गैरिति वातघ्नैरण्डादिपल्लवैः । डल्हणः ॥

हि० व्या०—चिकित्सक को चाहिए कि चारपाई के नीचे एक गड्ढा खुदवायें उसमें निर्धूम अंगादे भरें तथा स्वेदन योग्य व्यक्ति को उस चारपाई पर सुलाना चाहिए। इससे सुखपूर्वक स्वेदन हो जाता है। यह कर्षू स्वेद कहलाता है।

भूस्वेद

पुरुष प्रमाण लंबाई के बराबर भूमि खोदकर और उसमें खैर की लकड़ी जलाकर, आग सहित राख आदि साफ कर उस तप्त भूमि (गड्ढे) में दूध, कांजी एवं जल छिड़कना चाहिए, फिर वातघ्न द्रव्यों के पत्ते बिछा, उस पर रोगी को सुलाकर स्वेदन करना चाहिए अथवा पत्थर पर इसी विधि से स्वेदन करना चाहिए। यही भूस्वेद है।

कुटीस्वेद निरूपणम्

अनत्युत्सेधविस्तारां वृत्ताकारामलोचनाम् ।
घनभित्तिं कुटीं कृत्वा कुष्ठाद्यैः संप्रलेपयेत् ।
कुटीमध्ये भिषक् शय्यां स्वास्तीर्णामुपकल्पयेत् ।
प्रवाराजिनकौशेयकुथकम्बलगोलकैः ।
हसन्तिकाभिरङ्गारदूर्णाभिस्तां च सर्वशः ।
परिवार्यान्तरारोहेदभ्यक्त. स्विद्यते सुखम् ॥

च० सू० १४।५२-५४

अनत्युत्सेधविस्तारामिति स्वल्पप्रमाणोच्छ्रायविस्ताराम्; अलोचनां=निर्जालिकाम् । कुष्ठाद्यैरिति अत्रादिशब्दः प्रकारवचन, तेनोष्णसुगन्धिद्रव्यैरिति भवति । हसन्तिकाऽङ्गारधानिका, परिवार्येति हसन्तिकाभिरित्यनेन सम्बध्यते तामिति उपकल्पितशय्यां कुटीं आरोहेदिति सम्बन्धः ॥चक्रपाणिः ॥

पूर्ववत् कुटीं वा चतुर्द्वारां कृत्वा तस्यामुपविष्टस्यान्तश्चतुर्द्वारेऽङ्गारानुपसन्धाय तं स्वेदयेत् ॥

सु० चि० ३२।१०

वाष्पस्वेदे एव कुटीस्वेदं दर्शयन्नाह—पूर्ववदित्यादि । शिलातल वाष्पस्वेदो कुटीस्वेदेऽपि संबध्यते । अङ्गारानुपसन्धाय अङ्गारानारोप्य । पूर्ववदित्यनेन

दग्ध्वा, भस्मापोह्य अभ्युक्ष्य च, द्वारमुखैर्बाष्पमुद्वमन्त्यां तस्यामन्तर्मध्ये स्थितं स्वेदयेत् ॥ डल्हण: ॥

सुलिप्तां संवृतद्वारां यन्त्रितां कारयेत्कुटीम् ।
हस्त्यागारमितां हृद्यां शिलास्तीर्णतलां दृढाम् ।
तस्याश्चुल्ल्यौ च कर्तव्ये अधस्तात्पार्श्वसंवृते ।
तत्र स्थाल्यौ प्रतिष्ठाप्य सर्वतः परिवृंहयेत् ।
स्थाल्यौ तप्ते कुटिश्चापि यदा तेनोष्मणा तदा ।
सर्वाङ्गं रोगि पुरुषः प्रविशेत्स कुटिं ततः ।
स्वभ्यक्तगात्रः सुस्विन्नः क्षौमप्रावृतलोचनः ।
ततः प्रवेशयेतत्र शीताम्बुमणिकां शुभाम् ।
क्लान्तः शीताम्बुना तत्र स्पर्शसौख्यमवाप्नुयात् ।
कुटिस्वेद इति ज्ञेयः सद्यो रोगनिबर्हकः ॥

भे० सं० सू० २२।२६-३१

भूगृहेषु च जेन्ताकेष्वुष्णगर्भगृहेषु च ।
विधूमाङ्गारतप्तेषु स्वभ्यक्तः स्विद्यते सुखम् ॥

च० सू० १४।२८

भूगृहेष्विति =भूस्वेदार्थेषु गृहेषु, उष्णगर्भगृहेष्विति कुटीं स्वेदं दर्शयति, स्वभ्यक्त इति सम्यगभ्यक्तः । चक्रपाणिः ।

कुटीं नात्युच्चविस्तारां वृत्तावच्छिद्रमुपनाहकल्कघनप्रदिग्धकुड्यां सर्वतो विधूम प्रदीप्त खदिरांगारपूर्णहसन्तिकासमूह परिवृत्तां विधाय तन्मध्ये च शय्यां तत्रस्थं स्वेदयेदिति कुटीस्वेदः ॥ अ० सं० सू० २६।१४

कुटीं नात्युच्चेत्यादिना कुटीस्वेद उच्यते नात्युच्चविस्तारां कुटीं विधाय तस्याश्च कुट्या मध्ये शय्यां विधाय तत्रस्थं पुरुष स्वेदयेत् । किंभूतां कुटीमाह । वृत्तामन्तः कोणरहितां छिद्रैश्च रहिताम् तथा पूर्वोक्तानां उपनाहस्वेदद्रव्याणां कल्केन घनप्रदिग्धमभितः कुड्य यस्याः सा तथाविधा । किंभूतां शय्यां सर्वतो दिवकं खदिरदार्वाङ्गारपूर्णाभिर्विधूमाभिर्हसन्तिकाभिरग्निशकटीभिः परिवृतामिति कुटीस्वेदः । इन्दुः ॥

हि० व्या०—कुटी स्वेद हेतु इस प्रकार का मकान (कमरा) बनावें जो न अधिक ऊँचा हो और न अधिक चौड़ा हो एवं गोलाई लिये हुए (गोल), जिसमें एक भी खिड़की न हो, दीवारें मोटी हों, उस पर कुष्ठादि वातहर औषधियों की लिपाई की हुई हो, इस प्रकार की कुटी में चारपाई पर सुन्दर बिछाने के वस्त्र हों तथा ऊनी कपड़े, मृगचर्म, रेशम वस्त्र कम्बल भेड़ की ऊन का कम्बल, सन के वस्त्र आदि में से यथोपलब्ध वस्त्र रखा होना चाहिए । इसमें चारपाई के नीचे दहकते हुए अंगारों की अंगारधानिका (तापने आदि के काम में लाई

जाने वाली अंगीठी) रख दें । वातनाशक तैलों का मर्दन किए हुए व्यक्ति को उस पर बिठा दें । इससे सुखपूर्वक स्वेदन हो जाता है ।

आचार्य सुश्रुत लिखते हैं कि चार द्वार वाली कुटी बनाकर उसमें रोगी को बिठावें, चारों द्वारों पर अग्नि (अंगारयुक्त पात्र) रखकर स्वेदन कराना चाहिए । इस स्वेद में चारों द्वारों से हवा के द्वारा ऊष्मा अन्दर प्रवेश करने से रोगी का स्वेदन हो जाता है ।

भूगृह (भूमि में बनाया घर) या तहखाना, जेन्ताक में उष्ण गर्भ घर में धूमरहित अंगार रखकर तप्त करें । उसमें सर्वाङ्ग वातनाशक तैलों से मर्दन किए हुए व्यक्ति के सोने से सुखपूर्वक स्वेदन हो जाता है ।

कुम्भीस्वेद निरूपणम्

कुम्भीं वातहरक्वाथपूर्णां भूमौ निखानयेत् ।
अर्धभागं त्रिभागं वा शयनं तत्र चोपरि ॥
स्थापयेदासनं वापि नातिसान्द्रपरिच्छदम् ।
अथ कुम्भ्यां सुसन्तप्तान् प्रक्षिपेदयसोगुडान् ॥
पाषाणान् वोष्मणा तेन तत्स्थः स्विद्यति नासुखम् ।
सुसंवृताङ्गः स्वभ्यक्तः स्नेहैरनिलनाशनैः ।

च० सू० १४।४६-४८

शयनं तत्र चोपरीति अत्र कुम्भिकोपरि शयनं खट्वादि तथा कर्तव्यं यथा कुम्भीका न भज्यते । तत्स्थ इति यथोक्तशयनासनस्थः ॥ चक्रपाणि: ।

पूर्ववत्स्वेदद्रव्याणि कुम्भ्यामुत्क्वाथ्योपश्लिष्योपविष्टस्तद्वदुष्माणं गृह्णीयात् । भूमौ वा तां निखायतद्वर्वमासनं शयनं वा नातिघनप्रच्छदं परितः प्रलम्बकुथाकम्बलगोणिकं निधाय तत्रस्थोष्माणं गृह्णतः कुम्भ्यामग्निवर्णानि-योगुडानुपलांश्च शनैर्निमज्जयेदिति कुम्भीस्वेदः ।

अ० सं० सू० २६।१२॥

कुम्भीस्वेद उच्यते । पूर्ववदित्यादि । पूर्ववन्नाडीः स्वेदद्रव्याणि कुम्भ्यामुत्क्वाथ्य तां कुम्भीमाश्लिष्य उपविष्टः सन् अस्याः कुम्भ्या ऊष्माणं गृह्णीयादित्येकः प्रकारः कुम्भीस्वेदस्य : अथवा वातहरक्वाथपूर्णां कुम्भीं भूमि खनिजा निधाय तस्या उपरि शयनं जानुमात्रोच्चमासनं वा निधेयम् । तस्मिंश्च नातिघनं प्रच्छदं कुथाद्यन्यतमं सर्वतोदिक्कमाभूमिसंयोगात् प्रलबमानं कार्यम् । तत्र तस्मिञ्छयन आसने वा स्थितस्य पुरुषस्योष्माणमधस्थित कुम्भी-संक्रान्तं गृह्णतस्तस्यां कुम्भ्यां वाष्पापरिक्षयाय पुनः पुनरग्नितप्तानयः पिण्डान् तप्तांश्चोपलान् निमज्जयेदिति कुम्भीस्वेदः । इन्दुः ॥

हि० व्या०—वातनाशक औषधियों के क्वाथ से एक घड़ा भरकर, उसे आधा या तीन चौथाई भाग तक पृथ्वी में दबा दें । उसके ऊपर सोने के लिए

चारपाई या बैठने योग्य खटोला रख दें। उस पर बिछाने वाला कपड़ा अधिक मोटा नहीं होना चाहिए। उस पर स्वेदन कराने योग्य व्यक्ति को अभ्यंग कराकर, कपड़ा से ढककर बिठा दें। तत्पश्चात् उस घड़े में लोह का अथवा पाषाण का टुकड़ा आग में तप्त करके डाल दें इससे क्वाथ गर्म हो जाएगा एवं भाप निकलने लगेगी जिससे स्वेदन हो जाएगा।

वाग्भट के अनुसार शयन अथवा बैठने की वस्तु पर बिछाया जाने वाला कपडा इतना नीचे हो कि चारों तरफ से चारपाई के नीचे का रिक्त स्थान ढक जाए जिससे कि वाष्प चारपाई के द्वारा रोगी तक पहुँचती रहे। अन्यथा सभी तरफ फैलने का भय रहेगा।

कूपस्वेद निरूपणम्

कूपं शयनविस्तारं द्विगुणं चापि वेधतः।
देशे निवाते शस्ते च कुर्यादन्तः सुमार्जितम्॥
हस्त्यश्वगोखरोष्ट्राणां करीषैर्दग्धपूरिते।
स्वक्छन्नः सुसंस्तीर्णेऽभ्यक्तः स्विद्यति नात्र सुखम्॥

च० सू० १४।५६-६०

कूपमिति कूपमिव कूपं गंभीरत्वेन। द्विगुणमिति विस्तारादवोद्धव्यम्। वेधत इत्यधः खनय प्रमाणेन। सुसंस्तीर्ण इति सुष्ठु संस्तीर्णे आच्छादिते, शय्यया खट्वोपरिस्थितया आच्छादिते कूपे इति बोद्धव्यम्। चक्रपाणिः॥

शयनस्याधो विस्तारद्विगुणखाते कूपे वातहरदारुकरीषान्यतरपूर्णदग्धे विगतधूमे स्वास्तीर्णं शयनस्थं स्वेदयेदिति कूपस्वेदः॥

अ० स० सू० २६।१३

शयनस्येत्यादिना कूपस्वेद उच्यते। शयनस्याधोविस्तारात् द्विगुणमधः खातं कूपं कृत्वा वातहरैर्द्रव्यैः करीषेण गोमयेन च चूर्णं कृत्वा विगतधूमं च ज्ञात्वा तस्योपरिस्थ शय्यायां तिष्ठन्तं स्वेदयेदिति। विस्तारस्य च शयनान्तममत्वं सामर्थ्यलभ्यमिति कूपस्वेदः॥ इन्दुः॥

हि० व्या०—वायुरहित भूभाग में, जो विषम न हो उस स्थान पर चारपाई के परिमाण का गढ़ा बनावें (जो लंबा प्रायः लम्बाई से अधिक गहरा हो एवं कूप के आकार का हो) उसके अन्तःभाग को भली प्रकार साफ कर लें। उसमें हाथी, घोड़े, गाय, गधा और ऊँट इनके सूखे गोबर के टुकड़े भर कर उसमें आग लगा दें वह धूमरहित हो जाए तब उस पर एक चारपाई रख कर उस पर अच्छा आसन लगा दे (बिस्तरा) उस पर अभ्यंग किए हुए रोगी को चादर ओढ़ाकर सुला दें। इससे सुखपूर्वक स्वेदन हो जाता है।

होलाक स्वेद निरूपणम्

धीतीकां तु करीषाणां यथोक्तानां प्रदीपयेत्।
शयनान्तः प्रमाणेन शय्यामुपरि तत्र च॥

सुदग्धायां विधूमायां यथोक्तामुपकल्पयेत्।
स्वक्छन्नः स्वपंस्तत्राभ्यक्तः स्विद्यति नात्र सुखम्॥
होलाक स्वेद इत्येषः सुखः प्रोक्तो महर्षिणा।
इति त्रयोदशविधः स्वेदोऽग्निगुणसंश्रयः॥

च० सू० १४।६१-६३

धीतीकामिति होलाकस्वेदः। धीतीका = शुष्कगोमयादिकृतोऽग्न्याश्रयविशेषः। यथोक्तानामिति पूर्वोक्तहस्त्यश्वादिभवानाम्। शयनान्तः प्रमाणेति "धीतीकां कृत्वा" इत्यध्याहार्यं योज्यम्। यथोक्तामिति नातिसान्द्रपरिच्छदाम्। उपसंहरति इतीत्यादि। साक्षादग्नेर्गुणमुष्णत्वमाश्रित्य स्वेदयतीत्यग्निगुणसंश्रयः॥ चक्र पपाणिः॥

हि० व्या०—जैसा कि पूर्व में बताया गया है (कूपस्वेदे) हाथी, घोड़े, गाय आदि के सूखे गोबर खण्डों को एक शयन प्रमाण की अंगीठी में भरकर जलावें, निर्धूम होने पर उस पर चारपाई बिछा दें। वातनाशक-तैलाभ्यंग कराकर रोगी को कपड़ा ओढ़ाकर सुला दें। इस प्रकार शयन से सुखपूर्वक स्वेदन हो जाता है इसे महर्षियों ने होलाक स्वेद कहा है।

चतुर्विध साग्नि स्वेद निरुपण

चरकोक्त स्वेदन प्रकारों द्वारा साक्षात् या किसी माध्यम से ताप एवं ऊष्मा का संचार एकांग अथवा सर्वांग शरीर में स्वेदनार्थ कराया जाता है। स्वेदन के उपकरणों में जल-तैलादि को उष्णरूप में रुग्ण स्थान पर, धारा रूप में अथवा तरल में रखते हुए स्वेदन कराया जाता है। अन्यविधियों में उपनाह (पुल्टिस) रूप में या पोटली आदि में आवश्यक द्रव्य रखकर ताप करते हुए स्वेदन कराया जाता है। अतः कुछ आचार्यों ने विषय स्पष्टीकरण अथवा प्रयोग करने की सुविधा की दृष्टि से समस्त प्रकारों को प्रमुख चार भागों में विभक्त किया है—ताप, ऊष्म, उपनाह एवं द्रवस्वेद, इनमें तथा चरकोक्त प्रकारों में मौलिक रूप से कोई अन्तर नहीं हैं। यहां इन चारों विधियों का यथाक्रम वर्णन किया जा रहा है

अग्निसंयोगकृतचतुर्विधस्वेदभेदाः

चतुर्विधोऽग्निस्वेदो भवति। तापोपनाहद्रवोष्णभेदेन।

अ० सं० सू० २६।३१

हि० व्या०—अग्नि स्वेद चार प्रकार के होते हैं—(१) तापस्वेद (२) उपनाह स्वेद (३) द्रव स्वेद (४) उष्मस्वेद।

[1]चक्रपाणि ने चक्रदत्त में ऊष्म स्वेद के स्थान पर वाष्प स्वेद का उल्लेख किया है।

---

१. तापोपनाहद्रववाष्पपूर्वाः—चक्रदत्त स्वेदाधिकारे श्लोक-१६

दोषविशेषे स्वेदचतुष्टयानां विषयनिर्देशः

तापोपनाहद्रवपाष्पपूर्वाः स्वेदाः ततोऽन्यत्प्रथमौ कफेस्तः ।
वायौ द्वितीयः पवने कफे च पित्तोपसृष्टे विहितस्तृतीयः ॥

चक्रदत्तः ।

एषां स्वेदानां विषयमाह, तत्: इत्यादि । तत इति । मप्तस्यन्तात् तसिः । तेषु स्वेदेषु मध्ये आद्यन्त स्वेदौ तापस्वेद-वाष्पस्वेदौ कफे स्तः । द्वितीय इति—उपनाहो वायौ । तृतीय इति द्रव स्वेदः पित्तोपसृष्टे वाते कफे च भवति; सुश्रुतेऽप्युक्तं "तत्र तापोष्मस्वेदौ विशेषतः श्लेष्मघ्नौ । उपनाहस्वेदो वातघ्नः । अन्यतरस्मिन् पित्तसंसृष्टे द्रवस्वेदः" (चि० ३२ अ०) इति । ननु पित्तोपसृष्टे कथं स्वेदो वातश्लेष्मणि वाते वेत्यनेनैव विरोधात् ? उच्यते – पित्तयुक्तेऽपि द्रवस्वेदविधानात्वातश्लेष्मणीत्यादिवचनं प्रायिकंज्ञेयमिति ॥ शिवदाससेनः ॥

हि० व्या०—पूर्व में वर्णित चारों प्रकार के स्वेद भेदों का दोषानुसार प्रयोग क्रम का उल्लेख करते हुए चक्रदत्त में लिखा है कि—

१ तापस्वेद एवं वाष्प स्वेद का-कफज रोगों में
२ उपनाह स्वेद का प्रयोग वायु रोगों में तथा
३ पित्त युक्त कफ या वायु में द्रव स्वेद का प्रयोग कराना चाहिए ।

तापस्वेद वर्णनम्

तापस्वेदोपकरणानि

तत्र तापस्वेदः पाणिकांस्यकन्दु[1]ककपालबालुकावस्त्रैः प्रयुज्यते, शयानस्य चाङ्गतापो बहुशः खादिराङ्गारैरिति ।

सु० चि० ३२।४

तत्र तापस्वेदः पाणिकांस्यफालबालुकावस्त्रघटिकादिभिः साक्षादग्निना च प्रयोक्तव्यः ॥ अ० सं० सू० २८।४

तापोऽग्नितप्तवस[2]तफालहस्ततलादिभिः ।

अ० हृ० सू० १७।३

---

१. कन्दुकम् अपूपपाचनभाण्डम् । कपालं ज्वालातप्तकर्परम् । डल्हणः ।

२. (क) तापस्वेदोऽग्नितप्तेन वसनेन तथा फालेनाऽयोमयेनाऽग्निना तप्तेन तथा हस्ततलेनाऽपि आदिग्रहणाद्दारुबालुकाघटिकाकांस्यपात्रादयो गृह्यन्ते । अरुणदत्तः

(ख) वसनं वस्त्रमूर्णादिमयम् । चंद्रनन्दनः ।

(ग) वस्त्रं पिण्डीकृत्यांगारतापेन तप्तं कृत्वा तेन शनैर्हृदेशे निक्षेपः कार्यः । (परमेश्वरः)

तेषु तापाभिधः स्वेदो बालुकावस्त्र पाणिभिः ।
कपालकन्दुकाङ्गारैर्यथायोग्यं हि जायते ॥

भावप्रकाश पूर्व० खण्ड, द्वितीय भाग स्वेद विधि

अग्निसंयोग कृत चारों प्रकार के स्वेद भेदों का यथाक्रम यहाँ वर्णन किया जा रहा है—

परिचय की दृष्टि से—

१. तापस्वेद—अग्नि सम्पर्क या धातु, कपाल, बालुका वस्त्रादि से अंगों को तपाकर स्वेदन करना ।

२. उपनाह स्वेद—गोधूम यवादि के चूर्ण में अम्ल, स्नेह लवणादि मिश्रित कर पुल्टिस रूप लेप लगाकर उष्ण चर्म या रेशमी वस्त्र से बांधकर स्वेदन कराना ।

३. द्रवस्वेद—वातहर द्रव्यों के क्वाथ, दूध, तैल मांसरस यूषादि से परिपूर्ण पात्र में अवगाहन या परिषेक द्वारा स्वेदन कराना ।

४. वाष्पस्वेद—तप्त पत्थर पर क्वाथादि डालकर निकली उष्मा पर यथाविधि लिटाकर अथवा नाड़ी द्वारा वाष्प से स्वेदन कराना ।[1]

विशेष—आचार्य भावमिश्र ने सुश्रुत के भावों को श्लोकबद्ध किया है—

बालकस्य अवस्थाविशेषे हस्तस्वेदपटस्वेदादिविधानम्

हस्तस्वेदं च शूलेषु बालकानां विधापयेत् ।
षड्वर्षप्रभृतीनां तु पटस्वेदः प्रशस्यते ॥
जातस्य चतुरो मासान् हस्तस्वेदं प्रयोजयेत् ।
अप्रमादी निवातस्थो विधूमाग्न्यूष्मणाशनैः ॥
निवर्तमाने बालस्य सौकुमार्ये यथाक्रमम् ।
प्रवर्तमाने काठिन्ये तेषां स्वेदं प्रवर्धयेत् ।
सन्ति चाप्यपरे बालाः सुकुमाराः सदासुखाः ।
घृतक्षीराशिनः कल्या ईश्वराणां महात्मनाम् ॥
गलकर्णशिरोमन्याकर्णाक्षिचिबुकोरसि ।
अभिष्यन्दात् समुच्छ्वने प्रदेह स्वेद इष्यते ॥ काश्यप

सू० २३, २६-२९ ३४

हि० व्या० तापस्वेद—[2] हाथ (हथेली), कांस्यपात्र, कन्दुक (लोहे की गेंद या कड़ाहीं), कपाल (मिट्टी का ठिकरा), बालू और वस्त्र के द्वारा तथा

---

१. तत्र तापस्वेदोऽग्नितप्तैः पाण्यादिभिः साक्षादव्यवधानेनाग्निना वा प्रयोक्तव्यः । कांस्यः कांस्यमयः पट्टः । फालः शस्त्रपट्टः । बालुका सिकता । घटिकाग्नितप्ता गुल्माद्युच्छेदयोज्या ॥ इन्दुः ।

२. आचार्य वाग्भट ने घटिकादि का अधिक वर्णन किया है । तथा कन्दुक के स्थान पर फाल (शस्त्रपट्ट) का उल्लेख किया है ।

खैर की लकड़ी के अङ्गारों से, लेटे हुए रोगी के अङ्गों को अनेक बार तपाकर तापस्वेद किया जाता है। इस सन्दर्भ में आचार्य वाग्भट एवं परवर्ती आचार्यों के विचार भी समान ही है। (सुश्रुत का अनुकरण ही किया है) बालकों के लिए तापस्वेद के विविध प्रकारों में आचार्य काश्यप द्वारा अवस्थानुसार हस्त एवं पट स्वेद का वर्णन:—

आचार्य [1]काश्यप के अनुसार बालकों के शूलरोग (उदरशूल) में हस्तस्वेद एवं छः वर्ष के बालकों को वस्त्र की पोटली से स्वेदन करना प्रशंसनीय है। नवजात बालक को चार मास तक प्रमादरहित अर्थात् सावधानतया निवात-स्थान में बैठकर निर्धूम अग्नि की ताप के द्वारा धीरे-धीरे हस्तस्वेद का प्रयोग करना चाहिए। शनैः शनैः बालक की सुकुमारता कम होती जाती है एवं शरीर में घनता (कठोरता) आती है। शरीर में कठोरता आ जाने पर स्वेदन बढ़ाना चाहिए। कुछ बालक सुकुमार प्रकृति के तथा सदासुखी होते हैं उन्हें पर्याप्त घृत-दुग्ध सेवन करने को मिलता है तथा वे स्वस्थ होते हैं। अतः उन्हें, सुकुमार होने से मृदुस्वेद कराना चाहिए।

गल, कर्ण, शिर, मन्या, आँख, चिबुक तथा छाती में और अभिष्यन्द रोग के कारण नेत्र में शोथ होने पर बालकों को प्रदेह (प्रलेप) स्वेद करना चाहिए।

उपनाहस्वेदवर्णनम्

उपनाहशब्दस्यनिरूक्तिः परिभाषा च

उपनाह (क) उपनह्यते बध्यते चर्मपट्टादिनेत्यन्वर्थं नामास्योपनाह—इति (अरुणदत्तः)।

(ख) वचादिभिर्यः स्वेदः क्रियते स उपनाहः। हेमाद्रिः

(ग) उपनहनमुपनाहो बन्धनमित्यर्थः (चन्द्रनन्दनः)

(घ) उपनाहशब्दस्त्विह "णह बन्धने" इत्यस्येति (डल्हणः)

(च) उपनाह उष्ण पिण्डबन्धः। (इन्दुः)

उपनाहस्वेदद्रव्य प्रयोगः

गोधूमशकलैश्चूर्णैर्यवानामम्लसंयुतैः।
सस्नेहकिण्वलवणैरुपनाहः प्रशस्यते॥
गन्धैः सुरायाः किण्वेन जीवन्त्या शतपुष्पया।
[2]उमया कुष्ठतैलाभ्यां युक्त्या चोपनाहयेत्॥

१. तापस्वेद के उपकरणों एवं विधियों का काश्यप ने अवस्था एवं प्रयोग स्थल, क्रम से वृद्धि का वर्णन किया है—(१) ४ माह के बालक को हस्तस्वेद (२) ६ वर्ष के बालक को वस्त्र स्वेद (३) शनैः शनैः बालक के शरीर में दृढ़ता आने पर स्वेदन बढ़ाना चाहिए। (४) इसी प्रकार सुकुमार प्रकृति वालों को मृदुस्वेद कराना बताया है।

२. उमया-अत स्या

चर्मभिश्चोपनद्धव्यः सलोमभिरपूतिभिः।
उष्णवीर्यैरलाभे तु कौशेयाविकशाटकैः॥

च० सू० १४।३५-३७

गोधूमशकलैर्गोधूमचूर्णैः। किण्वम्=सुराबीजम्। उपनाहो=बहलं लेपं दत्वा चर्मादिभिरावृत्य व्याधियुक्तस्याङ्गस्यबन्धनम्; उपनाहः प्रशस्यते इत्यत्र उपनाहोऽग्निस्वेदो ग्राह्यः। गन्धैश्च सुगन्धिद्रव्यैरुपनाहो बन्धनीयः। उष्णवीर्यैरिति उष्णवीर्यानूपादिप्राणिप्रभवैः, आविकशाटकः=कम्बलः॥ चक्रपाणिः॥

उपनाह स्वेदस्तु वातहरमूलकल्कैरम्लपिष्टैर्लवणप्रगाढैः सुस्निग्धैः सुखोष्णैः प्रदिह्य स्वेदयेत्। एवं काकोल्यादिभिरेलादिभिः सुरसादिभिस्तिलातसीसर्षपकल्कैः कृशरापायसोत्कारिकाभिर्वेशवारैः साल्वणैर्वा तनुवस्त्रावनद्धैः स्वेदयेत्॥

सु० चि० ३२।१२

तृतीयमुपनाहस्वेदं दर्शयन्नाह—उपनाहेत्यादि। अम्लं काञ्जिकम्। सङ्करस्वेदमप्युपनाहस्वेद एव दर्शयन्नाह—एवमित्यादि। एभिरेव पोटलिकां बद्ध्वा स्वेदयेत्। काकोल्यादि 'काकोलीक्षीरकाकोली (सू० अ० ३८) इत्यादिकः। एलादिः 'एलातगरमांसी' (सू० अ० ३८) इत्यादिः। सुरसादिः 'सुरासाश्वेतसुरसा' (सू० अ० ३८) इत्यादिः। कृशरा तिलतण्डुलमाषैः कृता यवागूः, क्षीरसिद्धास्तण्डुलाः पायसः, उत्कारिका लप्सिका, वेशवारः 'चटनी' इति भाषा साल्वणो वातव्याध्युक्तः। तनुवस्त्रावनद्धैः सूक्ष्मवस्त्रानुबद्धैः। अत्र काकोल्यादिभिः पित्तानुगते वाते एलादिभिः सुरसादिभिश्च, कफानुगते वाते तिलातसीप्रभृतिभिः, कृशरादिभिः वेशवारैः साल्वणैश्च केवले वाते। उपनाहशब्दस्त्विह 'णह बन्धने' इत्यस्येति उपनाहो बन्धनम्। डल्हणः॥

उपनाहस्वेदस्तु सर्वगन्धधान्यसर्षपकिण्ववचादेवदारुरास्नैरण्डमूलमधुकशताह्वासुराकिट्टादिवातहरद्रव्यचूर्णैर्यवगोधूमशकलैरानूपासृक्पित्तशिरःपादामिषवेशवारैश्च। तथा श्लेष्मसंसृष्ट वायौ सुरसादिभिः पित्तसंसृष्टे च पद्मकादिभिः। पृथक्सहितैर्वा क्षीरशुक्तधान्याम्ललवणमस्तुप्रगाढैः सुस्निग्धैः सुखोष्णैः साल्वणाभिधानैः बहुशः प्रदिह्योष्णवीर्यापूतिमृदुरोमचर्मभिस्तदभावे घनवातहरपत्राविककौशेयैरुपनद्धमंगमहः स्थितं विदाहपरिहारार्थं निशिमुच्चेत् दिवा वा निशि बद्धं, दोष देश कालवशेन वा॥

अ० सं० सू० २६।३

उपनाहस्वेदः पुनः सर्वगन्धाद्यैः। उपनाह उष्ण पिण्डबन्धः। गन्धाः कुष्ठादयः। धान्यान्युष्णवीर्याणि तिलादीनि। किण्वं प्रसिद्धम्। सुराकिट्टं जगलः। अन्येषां वातहराणां द्रव्याणां शोधनादिपठितानां चूर्णैः। यवगोधूमशकलैरित्यश्लक्ष्णपिष्टैरित्यर्थः। तथा आनूपोद्भवैरसृक्पित्तैः शिरः प्रभृतिभिः मांसैः। वेशवारैश्च। वेशवारः सूक्ष्मच्छिन्नं मांसम्। तथा श्लेष्मसंयुक्ते वायौ सुरसा-

दिभिरुपनाहः । तथा पित्तसंसृष्टे वायौ पद्मकादिभिरेव साल्वणाभिधानैरौषधैः । पुनः पुनरङ्गं शरीरं प्रदिह्य चर्मभिर्बद्धं विदाहपरिहारार्थमहोरात्रमध्ये द्वौ वारौ मुञ्चेत् । किंभूतैः साल्वलाभिधानैराह । पृथग्भूतैः सहितैर्वा । क्षीरादिप्रगाढैः । प्रगाढो घनपिष्टः । तथा सुस्निग्धैः स्नेहमिश्रत्वात् । सुखोष्णैश्च । एवंभूतैः साल्वलादिभिर्बहुशोऽनेकवारमङ्गं प्रदिह्यालिप्य । एवं विधानि पद्मकादीन्येव साल्वलाभिधानानि । चर्मभिः किंभूतैरुष्णवीर्यैरपूतिभिरदुर्गन्धैर्मृदुरोमभिश्च । तदभावे तथाविधचर्माभावे घनपिष्टानां निबिडानां वातहराणां द्रव्याणां मात्रया संयुक्तैः पत्रैः । कौशेयरुपनद्धमङ्गं कस्मिन् काले मुञ्चेत् आह । अहस्थितमङ्गलग्नं निशि मुञ्चेत् । निशि स्थितं दिवा मुञ्चेत् । देशकालाद्यपेक्ष्य यथा विदाहो नोत्पद्यते तथा मुञ्चेत् । इत्युपनाह स्वेदः ॥इन्दुः ।

उपनाहो वचा किण्वशताह्वादेवदारुभिः ।
धान्यैः समस्तैर्गंधैश्च रास्नैरण्डजटामिषैः ॥
उद्रिक्तलवणैः स्नेहचुक्रतक्रपयःप्लुतैः ।
केवले पवने श्लेष्मसंसृष्टे सुरसादिभिः ॥
पित्तेन पद्मकाद्यैस्तु सा[1]ल्वणाख्यैः पुनः पुनः ॥

अ० हृ० सू० १७।४

किण्वं सुराप्रकृतिः । धान्यैरिति सामान्योक्तावपि तिलातसीमाषादीनि योग्यत्वाद्यान्युष्णवीर्याणि स्निग्धानि वा तानि प्रायेण प्रयोज्यानीति । समस्तग्रहणं गंधैरेव युज्यते । अत एव संग्रहेऽवदत् । सर्वगंधानीति । गंधैर्गंधद्रव्यैः कुष्ठागुरुतगरसुरसादिभिस्तथा रास्नादिभिः । किंभूतैः पूर्वोक्तैः उद्रिक्तलवणैर्लवणाढ्यैः । तथा स्नेहश्च चुक्रं च तक्रं च पयश्च तैः प्लुतैरालोडितैः । चुक्रमम्लम् । तक्रस्य चुक्रत्वादेव ग्रहणे सिद्धे तक्रग्रहणमतिशयाय । अतिशयेन साल्वणाख्ये स्वेदे तक्रं प्रयोज्यमिति । केवले पवने वचादिभिरुपनाहः स्वेदः कार्यः श्लेष्मसंसृष्टे पवने सुरसादिभिः सुरसयुगादिनागणेन । पित्तेन संसृष्टे पवने पद्मकाद्यैः पद्मकपुंड्रादित्यादिभिः । पित्तेन संसृष्टे पवन इत्यत्र किंचिदेव पित्तेन संसृष्टे पवने पद्मकादिभिरुपनाहः कार्य इत्यादि योज्यं नाऽधिकेन पित्तेन मरुत्पित्तेन युक्ते नापि तुल्येन पित्तेन युक्ते पवन इति । एवं ह्युक्तम् । ग्रैष्मः प्रायो मरुत्पित्ते विधिः कार्य इति ग्रैष्मश्च विधिः प्रायेण सर्वैः शीतस्तत्र स्वेदो दूरोत्सारित एव । तस्मात् किंचित्पित्तेन संसृष्टे पवने पद्मकाद्यैरुपनाहः कार्य इति वेद्यम् । एते च त्रय उपनाहाः केवले वायौ तथा कफयुक्ते पित्तयुक्ते च क्रमेण योज्याः । एते च

१. साल्वण इत्यस्य च—
यथा च धन्वन्तरिः (सु० चि० ४।१४-१५)
काकोल्यादि सवातघ्नः सर्वाम्लद्रव्य संयुतः । अरुणदत्तः

साल्वणाभिधाना स्वेदा इत्याह । साल्वणाख्यैरिति । पुनः पुनरिति । असकृतैः स्वेदयोजना कार्येत्यर्थः । निरपायो हि यथाऽयं साल्वणापरसंज्ञ उपनाहाख्यः स्वेदो न तथाऽपरे स्वेदा इति । अरुणदत्तः ।

किण्वातसीदधिक्षीरलवणैः साम्लचिक्कणैः ।
कुष्ठादिभिश्च सस्नेहैरुपनाहः प्रशस्यते ॥

का० सू० २३।४३

तथोपनाहस्वेदश्च कुर्याद्वातहरौषधैः ।
प्रदिह्य देहं वातार्तं क्षीरमांसरसादिभिः ॥
अम्लपिष्टैः सलवणैः सुखोष्णैः स्नेहसंयुतैः ।
अथ ग्राम्यानूपमांसैर्जीवनीयगणेन च ।
दधिसौवीरकक्षीरैर्वीरतर्वादिना तथा
कुलत्थमाषगोधूमैरतसीतिलसर्षपैः ॥

भावप्रकाश (स्वेदा०)

द्रव्यैर्वात कफघ्नैश्च प्रदेहः शिग्रुवद्धिताः ।
अन्यैरपि करीषैश्च गोखराश्वाविबस्तजैः ॥

का० सू० अ० २३।३७

हि० व्या०—चरक के अनुसार उपनाह स्वेद के द्रव्य—गेहूं का आटा, जौ का आटा इन दोनों को कांजी और तैल आदि स्नेहद्रव्य, सुरा (किण्व)व, नमक सभी को एक में पकाकर पुल्टिश बाँधकर उपनाह स्वेद करना उत्तम है । तगर आदि सुगन्ध द्रव्य, मदिरा, सुराकिट्ट, जीवन्ती, सौंफ, अलसी, कूठ में तैल मिलाकर लेप तैयार करें । यह पुल्टिस रखकर लोमयुक्त दुर्गन्धरहित उष्णवीर्य वाले चर्म से बाँधना चाहिए । उष्णवीर्ययुक्त चर्म के अभाव में रेशम या ऊन के कपड़े से बांधना चाहिए । इसको उपनाह स्वेद कहते हैं ।प्रायः सभी आचार्यों के विचार समान ही है । उपनाह के लिए प्रयुक्त द्रव्यों के उल्लेख में भिन्नता है । आचार्य सुश्रुत के अनुसार वातघ्न द्रव्यों के मूल का कल्क कांजी में पीस कर तथा प्रभूतमात्रा में लवण और स्नेहयुक्त करके सुखोष्ण (सहने के लायक) लेप लगाने पर उपनाह स्वेद कहलाता है । इस कार्य के लिए [1]काकोल्यादिगण, एलादिगण, सुरसादिगण तिल, अलसी और सरसों के कल्क तथा खिचड़ी, खीर, लप्सी, वेशवार (कुट्टितमांस) या साल्वण (वातव्याधि में उक्त) स्वेद को महीन वस्त्र में बाँधकर स्वेदन करना चाहिए ।

उपनाहस्वेदद्रव्याणि

काकोल्यादिगणः

काकोलीक्षीरकाकोलीजीवकर्षभकमुद्गपर्णीमाषपर्णी मेदामहामेदाच्छि[1]

१. छिन्नरुहा गुडूची;

न्तरुहाकर्कटशृङ्गीतुगाक्षीरी[1] पद्मकप्रपौण्डरीक[2]धिवृद्धिमृद्वीकाजीवन्त्यो[3]मधुकं चेति ।

काकोल्यादिरयं पित्तशोणितानिलनाशनः ।
जीवनो बृंहणो वृष्यः स्तन्यश्लेष्मकरस्तथा ॥

सु० सू० ३८।३५-३६

एलादिगणः—

एलातगरकुष्ठमांसीध्यामकत्वक्पत्रनागपुष्पप्रियङ्गुहरेणुकाव्याघ्रनखशुक्तिचण्डास्थौणेयकश्रीवेष्टकचोचचोरकवालुकगुग्गुलुसर्जरसतुरुष्ककुन्दुरुकागरुस्पृक्कोशीरभद्रदारुकुङ्कुमानिपुन्नागकेशरञ्चेति ॥ सु० सू० ३८।२४।

एलेत्यादि । श्यामकं कत्तृणं 'रोहिष' इति लोकेः, त्वक् वरांग 'गुड्तज' इति लोके, पत्रं पत्रकं, नागपुष्पं नागकेशरम्, अन्ये नागकेशरपुष्पसमपुष्पो महातरुरित्याहुः, हरेणुका, व्याघ्रनखो बृहन्नखः, बृहन्नखीत्यन्ये शुक्तिस्तद्भेदोऽल्पनखः, चण्डा स्वनामख्यातेषत्कृष्णा चोरकभेदः अजमोदाकाराः, स्थौणेयकं थुणेरकः, श्रीवेष्टकः सरलचोपः 'गुग्गुली' इति लोकेः, चोचस्त्वग्भेदो वनवासिकात्वक् चोरक स्वनाम ख्यातः ग्रन्थीपर्णकभेदो ग्रन्थिपर्णाकार एव सर्जः सर्जरसः, 'राल' इति प्रसिद्धः, अन्तलोपात् रसः गन्धरसः 'बोल' इति लोके तुरुष्कः सिल्हकः कुन्दुरुकः शल्लकीचोपः, स्पृक्का कुटिलपुष्पा सुगन्धिद्रव्यमौत्तरापथिकं, भद्रदारुः, देवदास पुन्नागः सुरपर्णिका, सुगन्धिपुष्पा दक्षिणापथे 'सुरपति' (सुरंगी) नाम्ना प्रतीताः, केशरं बकुलं, केचित् समुदितं व्याख्यानयन्ति पुन्नागकेशरं पद्मकेशरमित्यर्थः, अन्ये त्वेवं पठन्ति—"पुन्नागनागकेशरं च" इति पुन्नागं देववल्लभं राजचम्पकमिति लोके, नागकेशरं स्वनामप्रसिद्धम् । कोठनाशन इति अत्र कोठलक्षणमुच्यते,—वरटीदष्टसंकाशः कण्डूमान् लोहितोऽल्पकफपित्तात् । क्षिप्रोत्पादविनाशः कोठ इति निगद्यते साद्भिः, इति (डल्हणः)

सुरसादिगणः—

सुरसाश्वेतसुरसाफणिज्झकार्जकभूस्तृणसुगन्धकसुमुखकालमालकुठेककासमर्दक्षवककखरपुष्पाविडङ्गकट्फलसुरसीनिर्गुण्डीकुलाहलेन्दुरुकणिकाफञ्जीप्राचीबलकाकमाच्योविषमुष्टिकश्चेति ॥ सु० सू० ३८।१८

सुरसेत्यादि । सुरसे द्वे श्वेतकृष्णकुसुमे, ते च लोके "तुलसी" इति प्रसिद्धे फणिज्झकस्तीक्ष्णगन्धो 'मरुवक' इति लोके, अन्ये त्वनेनैव नाम्ना प्रसिद्धः, अर्जको बर्बरिकाकारो लघुमंजरीकः सूक्ष्मपत्रो निर्गन्धः श्वेतकुठेरकः, भूस्तृणो गुदाक-

१. तुगाक्षीरी वंशलोचना;
२. प्रपौण्डरीकं स्वनामख्यातं यष्टीमधुद्रव्यादीषत्स्थूलं मधुरसं नेत्राश्च्योतनार्हं द्रव्यम् अन्ये श्वी पुष्पमाहुः;
३. जीवन्ती 'डोडिका' इति लोके ।

नामधेयो द्रोणपुष्पीसदृशः, सुगन्धको द्रोणपुष्पः अन्ये भूस्तृणं रोहिषं, सुगन्धको बृहतसुगन्धतृणं, सुमुखो राजिका, अन्ये तु वनबर्बरिका 'सउहा' इति नाम्ना जेजीभुक्तौ प्रसिद्धा, कालमालः कृष्णमल्लिका 'बर्बरिका' इति लोकेः, कासमर्दः स्वनाम ख्यातः, क्षवकः क्षवथुकारः फणिज्झकाकारः 'चिल्हरियाक' इति पारियात्रे प्रसिद्धः 'छिकिनी' इति लोकेः, खरपुष्पः तस्यैव भेदः, बोवइकामपरे, मरुवकमन्येः, विडंग प्रसिद्धः कटफल सोमवल्कः 'कायफल' इति लोके सुरसी कपित्थसदृशपत्रा विल्वनासी इति लोके प्रसिद्धः, श्वेतनिर्गुण्डीत्यन्येः, निर्गुण्डी नीलनिर्गुण्डी कुलाहलः 'मुण्डिका' इति प्रसिद्धः उन्दुरकर्णिका मूषिक कर्णिका "उन्दुरी" इति लोके उन्दुरकरणी द्रवन्तीमाहुरन्ये, अपरे दन्तिनीमाहुः, 'उन्दुरकर्णाः इत्येके पठन्ति, तत्रापि स एवार्थः फंजी भार्गीः, प्राचीवलो मत्स्याक्षकः, 'काकजंघा नदीपिप्पली वा' इत्यपरे, केचिदाचार्या एवं वदन्ति—यद्यपि प्राचीबलशब्देन, काकजंघा, गण्डदूर्वा, जलपिप्पली चोच्यते, तथा च काकजंघैव, काकमाचीसान्निध्याद्वातकफकृमिबाधिर्यहरत्वाच्चः, काकमाची मृष्टफला स्वनामप्रसिद्धाः विषमुष्टिको द्रेका 'राजनिम्ब इति प्रसिद्धः, वृहदलम्बुषामरेः, कर्कोटीमन्ये । कृमिसूदन इति कृमिघ्न इत्यर्थः ॥ डल्हणः ॥

द्रव्यों का प्रयोग दोषानुसार भी बताया गया है । यथा—

(१) कफ युक्त वात में सुरसादिगण की औषधियों से उपनाह स्वेद कराना चाहिए ।

(२) पित्त युक्त वात में पद्मकादि गण की औषधियों से तथा मस्तु को घना गाढ़ा पीसकर स्निग्ध एवं कवोष्ण, उपनाह हेतु प्रयोग कराना चाहिए ।

आचार्य काश्यप ने—चरक के समान ही वर्णन करते हुए भी दधि, दूध इन दो द्रव्यों की अधिक गणना की है तथा चर्मादि से बांधने का विधान बताया ही नहीं है ।

विशेष प्रलेप योग्य द्रव्य

वात एवं कफ नाशक द्रव्यों के द्वारा, गाय, गदहे, घोड़े, भेड़ तथा बकरी के पुरीष (गोबर के उपलों) द्वारा किया गया प्रदेह (उपनाह) भी पूर्वोक्त शिग्रु आदि के समान किया जाता है ।

काकोल्यादिगण के द्रव्य—

काकोली, क्षीरकाकोली, जीवक, ऋषभक, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, मेदा, महामेदा, गिलोय, काकड़ासिंगी, वंशलोचन, पद्मकाठ, श्वेतकमल, ऋद्धि वृद्धि, द्राक्षा, जीवन्ती और मुलेठी ये काकोल्यादिगण की औषधियां हैं ।

एलादिगण के द्रव्य—

छोटी इलायची, तगर, कूठ, जठामासी, रोहिस तृण, दालचीनी, तमालपत्र या तेजपत्र, नागकेशर, प्रियङ्गु, हरेणुका, व्याघ्रनख, शुक्ति (नखीभेद), चण्डा,

(चोरक) स्थौणेयक (थुने) श्रीवेष्टक, चोत्र (दालचीनी भेद) चौरक (ग्रन्थिपर्ण)' खस, गुग्गुलु, सर्जरस, तुरुष्क, कुन्दुरु, लोबान, अगुरु, स्पृक्का, उशीर, देवदार, केशर, पुंनागकेशर (कमलकेशर) ये द्रव्य एलादिगण में होते हैं।

सुरसादिगण की औषधियां—

कृष्णतुलसी, श्वेततुलसी, मरुवक, बर्बरिका, रोहिसघास, द्रोणपुष्पी (गूमा), राजिका, कालमालिका (कृष्णजीरक), कसौंदी, क्षवक (नकछिकनी), खरपुष्पा (वनबर्बरिका), विडङ्ग, कायफल, सुरसी (श्वेत निर्गुण्डी) नीलपुष्पासम्भालू, मुण्डिका, उन्दुरुकर्णिका (मूसाकानी) भारङ्गी, काकजंघा, मकोय और पिप्पलिष्टि (राजनिम्ब, बड़ी अलम्बुषा, कर्कोटी या कुचिला इनमें से एक) लेना चाहिए।

उपनाहस्वेदे बन्धमोक्षविधिभेदः

रात्रौ बद्धं दिवा मुञ्चेन्मुञ्चेद्रात्रौ दिवाकृतम्।
विदाह परिहारार्थं स्यात्प्रकर्षस्तु शीतले॥

—च० सू० १४।३८

उपनाह स्वेदे बन्धमोक्षविधि दर्शयति-रात्रौ बद्धमित्यादि। दिवाकृतमित्यत्र बद्धमिति शेषः विदाहो रक्तादिविदाहः, शीतल इत्यत्र काल इति शेषः, प्रकर्ष उक्ताद्बन्धनकालादधिककालत्वं बन्धस्य॥ चक्रपाणिः॥

उपनाहस्वेदस्य प्रकारान्तरेण बन्धनविधिवर्णनम्

स्निग्धोष्णवीर्यैर्मृदुभिश्चर्मपट्टैरपूतिभिः।
अलाभे वातजित्पत्रकौशेयाऽविकशाटकैः।
रात्रौ बद्धं दिवा मुञ्चेन्मुञ्चेद्रात्रौ दिवाकृतम्॥

—अ० हृ० सू० १७।५

चर्मपट्टैर्बद्धमुपनद्धमंगं रात्रौदिवा मुंचेत्। किंभूतैः। स्निग्धोष्णवीर्यैस्तथाऽपूतिभिरदुर्गन्धैः। सुपरिकर्मितत्वात्। अलाभे चर्मपट्टादीनामभावे वातजित्पत्रैरेरंडजादिभिस्तथा कौशेयादिभिः। कौशेयं रांकवादिवस्त्रविशेषः। आविकं कंबलम्। तैर्बद्धं रात्रौ दिवा मुंचेत्। दिवा बद्धं रात्रौ मुंचेद्रात्रौ मोक्तव्यम्॥

अरुणदत्तः।

अतो बहुशः प्रदिह्यः स्निग्धोष्णवीर्यमृदुरोमापूतिश्चर्मपटटैरलाभे तदभावे सति घनवातहरपत्रकौशेयाविकपट्टैर्बद्धमुपनद्धमित्यर्थः। अङ्गभङ्गं रात्रौ निशायां कृतं दिवा मुञ्चेद्विहारपरिहार्यार्थं दिवाकृतं दिवा बद्धं रात्रौ मुञ्चेत्। देशकालवशेन क्वचिद् द्विरप्यहानि धारयितव्योऽङ्गभङ्गादौ। किट्टं सुरसा प्रकृतिः, शताह्वा शतपुष्पा, धान्यानि शूकशिम्बिधान्यपठितानि। गन्धद्रव्याणि कुष्टमांसी तगर प्रभृतीनि। एरण्डजटा एरण्डमूलम्। आमिषं मांसं वेसवारीकृतम्। स्नेहास्तैलादयः। चुक्रं शुक्तं तक्रं कालमेयम्। पयः क्षीरम्॥

चंद्रनन्दनः।

बन्धनापेक्षश्चायं स्वेद इति बन्धनोपायभूतांश्चर्मपट्टादीनाह—

स्निग्धोष्णेति॥ स्निग्धादिगुणैश्चर्मपट्टैः रात्रौ बद्धमुपनद्धं दिवा मुञ्चेत्, विदाहपरिहारार्थम्। दिवा कृतं कल्पितमुपनाहं रात्रौ मुञ्चेत्। हरिणादीनाञ्चर्मभिर्बन्धनयोग्यता छिन्नैः पट्टेन वाससा च। किं भूतैः? अपूतिभिर्दुर्गन्धरहितैः। अलाभे तथाविध चर्मपट्टादीनाभावे वातजित्पत्रादिभिः, वातजित्पत्रमेरण्डादिपत्रम्। कौशेयं तृणकृतम्॥ परमेश्वरः॥

हि० व्या०—उपनाह स्वेद को रात्रि में बाँधा गया हो तो दिन में और दिन में बाँधा गया हो तो रात्रि में खोल देना चाहिए। इस विधि से रक्त में दाह उत्पन्न नहीं होता है। शीतकाल में इससे अधिककाल तक भी बाँधा जा सकता है।

शीतीभूतं तु निर्मृज्य लेपयेदपरापरम्।
अनेकशस्तु विज्ञाय स्विन्न स्वेदं निवर्तयेत्॥

हि० या०—पूर्व में किए गये लेप के शीतल हो जाने पर उसे उतार कर दूसरा लेप कर देना चाहिए। इस प्रकार पुनः पुनः लेप करते हुए स्वेदित हुआ जानकर इस लेप को हटा देना चाहिए।

अ० हृदय एवं संग्रहोक्त विशिष्ट उपनाह योग तालिका

अ० हृ०	अ० सं०
वचा	सर्वगन्ध द्रव्य (अगुरु, तगर एवं कूठ आदि)
किण्व (काञ्जी अथवा सुरा सन्धान के नीचे बैठे द्रव्य)	धनिया
शताह्वा (सोया) या सौंफ ?	सरसों
देवदारु (का बुरादा या गोंद)	किण्व
धान्यैः (जौ एवं गेहूं आदि सब प्रकार के धान्य)	वचा
गन्ध द्रव्य (नालुका एवं लवंग आदि सब गन्ध द्रव्य)	देवदारु
एरण्ड मूल	रास्ना
,, बीज	एरण्डमूल
,, पत्र	मधुक (सौंफ या महुआ या मधुयष्टि) ?
,, मांस	सोया
	सुराकिट्ट आदि वात नाशक द्रव्य का चूर्ण
+ पर्याप्त लवण	
घृत	अथवा जौ एवं गेहूँ आदि धान्य
चुक्र	अथवा सूअर आदि आनूप देशीय

तक्र अथवा दूध में पकाएँ। — प्राणियों के रक्त, पित्त, तथा शिर एवं पाँव के मांस का वेशवार
सुरसादि गण — —सुरसादि गण द्रव्य
पद्मकादि गण, साल्वण योग। — —पद्मकादि गण द्रव्य

उपनाहे साल्वणस्वेद वर्णनम्

काकोल्यादिः सवातघ्नः सर्वाम्लद्रव्यसंयुतः।
सानूपौदकमांसस्तु सर्वस्नेहसमन्वितः।
सुखोष्णः स्पष्टलवणः साल्वणः परिकीर्तितः॥
तेनोपनाहं कुर्वीत सर्वदा वातरोगिणाम्।

सु० चि० ४।१४-१५

उपनाहस्वेदमाह-काकोल्यादिरित्यादि। काकोल्यादिः प्रसिद्धः। सवातघ्न इति सह वातघ्नैर्भद्रदार्वादिभिर्विदारिगन्धादिभिर्वर्तत इति सवातघ्नः। सर्वाम्लद्रव्यसंयुत इति अम्लद्रव्याणि शुक्तकाञ्जिकसुरासौवीरकदधिमस्त्वादीनि, केचिदाचार्याः एवं वदन्ति- अम्लद्रव्याणि दाडिमादीनि। आनूपौदकमांसेन सह वर्तत इति सानूपोदकमांसः, अत्रानूपशब्दोऽयं कूलचरेष्वेव वर्तते औदकशब्देन तु कोशस्थाः पादिनो मत्स्याश्च गृह्यन्ते; ये पुनरौदकग्रहणं न पठन्ति ते तु पञ्चस्वपि वर्तयन्ति। सर्वस्नेहाघृततैलवसामज्जानस्तैः समन्वितः। सुखोष्ण ईषदुष्णः। स्पष्टलवण इति स्पष्टानि व्यक्तानि सैन्धवादीनि लवणानि यत्र सः स्पष्ट लवणः। सह आसमन्ताल्लवणेन वर्तत इति साल्वणः। उपनाहो बन्धनम्। एषां च भागमानमाह—"मांसेनात्रौषधं तुल्यं यावताऽम्लेन चाम्लता। तावन्तश्च चतुः स्नेहाः स्निग्धत्वं च यथा भवेत्"– इति। द्रव्यस्वभावं स्वेद्य देशमप्यवेक्ष्य कल्पनीय इत्येके वदन्ति॥ डल्हणः॥

कुच्यमानं रुजार्तं वा गात्रं स्तब्धमथापि वा।
गाढं पट्टैर्निबध्नीयात् क्षौमकार्पासकौणिकैः॥

विडालनकुलोन्द्राणां चर्मगोण्यां मृगस्य वा।
प्रवेशयेद्वा स्वभ्यक्तं साल्वणेनोपनाहितम्॥

सु० चि० ४।१७-२८

अनग्निमेव स्वेदं दर्शयन्नाह—कुञ्च्यमानमित्यादि। कुञ्च्यमानं संकोच्यमानं, तच्च सिरागतेन वायुना; यदाह—"कुर्यात् सिरागतः शूलं सिराकुञ्चन पूरणम्"-(नि० अ० १) इति। रुजार्तं वेदनार्तम्, अत्र प्रधानेन वायुना; एतेन पित्तरक्तावृते वाते बन्धनविधिर्निषिद्धः। अन्ये तु वाल्ककर्पासकौणिकैः' इति पठन्ति, तत्र वाल्कं वल्कलमयम्। उन्द्रः पानीयविडालः। चर्मगोणीचर्मप्रवेशकः, छगलादिगल्ल इत्यर्थः। डल्हणः।

शतपुष्पादेवदारु शेफालीस्थूलजीरकैः।
एरण्डमूलजीरैश्च रास्नामूलकशिग्रुभिः॥
मिसिकृष्णाकुठेरैश्च लवणैरम्लसंयुतैः।
प्रसारण्यश्वगन्धाभ्यां बलाभिर्दशमूलकैः॥
गुडूच्या वानरीबीजैर्यथालाभसमाहृतैः।
क्षुण्णैः स्विन्नैश्च वस्त्रेण बद्धैः संस्वेदयेन्नरम्।
महाशाल्वणसंज्ञोऽयं योगः सर्वानिलातिहृत्।
अथवाम्लेन सम्पिष्टैः कोष्णैः सूक्ष्मपटस्थितैः।
भेषजैः स्वेदयेत्किं वा स्विन्नैः कोष्णैः पटस्थितैः॥

(भाव प्र० स्वे०)

उपनाह (शाल्वण) स्वेद द्रव्य और विधि –

आचार्य सुश्रुत के अनुसार-काकोल्यादिगण, वातघ्नगण (भद्रदार्वादि, विदारिगन्धादिगण), अम्लद्रव्य (शुक्त, काञ्जी, सुरा, सौवीर, दधिमस्तु आदि) आनूप तथा जलजंतुओं का मांस और सभी प्रकार के स्नेहों में प्रचुर लवण मिलाकर (सुखोष्णकर) पुल्टिश में उपयोग करना चाहिए। इसे शाल्वण' कहते हैं। इस योग से वातरोगों में उपनाहस्वेद करना चाहिए।

अनग्नि उपनाह स्वेद विधि –

संकुचित पीडायुक्त और जकड़े हुए अङ्ग को क्षोम (अलसी से निर्मित वस्त्र), कपास तथा ऊन की पट्टी से कसकर बाँधना चाहिए। अथवा स्नेह की मालिश के उपरान्त 'शाल्वण' का उपनाह लगाकर बिल्ली, नेवला, उदविलाव या मृग के चर्म की गोणी (खोल) में प्रभावित अङ्ग को रखना चाहिए।

इस सन्दर्भ में आचार्य भावमिश्र ने 'महाशाल्वण' नामक अलग योग का निर्देश किया है—सौंफ, देवदार का चूर्ण, सम्हालु की जड़, मोटा जीरा, अथवा एरण्डमूल, एवं जीरा अथवा रास्ना, मूलीबीज एवं सहजन के बीज अथवा सौंफ पीपल एवं तुलसीपत्र अथवा अम्लद्रव्यों से मिश्रित सब प्रकार के लवण अथवा प्रसारणी के पत्र एवं असगन्ध अथवा चारों प्रकार की बला या दशमूल के द्रव्य अथवा गिलोय, केबाँच के बीज इनमें से जो द्रव्य मिल जाय उनको पीसकर एवं सुखोष्णकर मोटा लेप लगाकर कपड़े से बाँधना चाहिए। इस योग का नाम 'महाशाल्वण" है और यह वातजन्य सभी रोगों को दूर

---

१. उपनाह स्वेदञ्च कुर्यात्। केनप्रकारेण इत्याकांक्षायां तत्प्रकारमाह— वातहरौषधैः। कथम्भूतैः ? अम्लपिष्टैः-अम्लेन काञ्जिकतक्रादिना पिष्टैः। सलवणैः, स्नेह संयुतैः, क्षीरमांसरसान्वितैः सुखोष्णैः वातार्तं देहं प्रविश्य प्रलिप्य स्वेदयेदित्यर्थः॥ भावप्रकाश टिप्पण॥

करता है। उक्त द्रव्यों को कांजी में पीसकर (सुखोष्णकर) पोटली बाँधकर स्वेदन करना चाहिए।

द्रवस्वेद वर्णनम्

दूध, मांसरस, तैल तथा क्वाथ आदि द्रव में रोगी को खड़ा करना अथवा अंग विशेष को डुबाकर स्वेदन कराना या कवोष्ण द्रव का शरीर अथवा अंग विशेष पर गिराना द्रवस्वेद कहलाता है।

द्रवस्वेद भेदाः

द्रवस्वेदस्तु द्विविधः परिषेकोऽवगाहश्च।

अ० सं० सू० २७।७

हि० व्या० – द्रवस्वेद दो प्रकार का है—१. परिषेक एवं २. अवगाह।

परिषेक नाड़ीयन्त्र, वाष्पयन्त्र अथवा पौधों में पानी देने वाली वर्पणिका (बहुत से छिद्रों वाली नाड़ी) में स्वेदन द्रव भरकर संपूर्ण शरीर अथवा अंगविशेष पर उष्ण द्रव गिराना परिषेक कहलाता है।

अवगाह – उपर्युक्त औषध द्रवों को मिश्रित या पृथक् से टब अथवा कटाह में भरकर रोगी को अथवा अंगविशेष को डुबोना अवगाह स्वेद कहलाता है।

अवगाहस्वेदानां परिषेकस्वेदानाञ्च वर्णनम्

द्रवस्वेदस्तु वातहरद्रव्यक्वाथपूर्णे कोष्णकटाहे द्रोण्यां वाऽवगाह्य स्वेदयेत्, एवं पयोमांसरसयूषतैलधान्याम्लघृतवसामूत्रेष्ववगाहयेत्; एतैरेव सुखोष्णैः कषायैश्च परिषिञ्चेदिति॥ सु० चि० ३२।१३

तत्र शिग्रुवरणा[1] भ्रातकमूलकसर्षपसुरसार्जकवासासवंशाश्मन्तकाशोकशिरीषार्ककरंजैरण्डमालतीपत्रभंगभूतिकदशमूलादिवातहरद्रव्यसुराक्षीर शुक्तादिक्वाथैः पूर्वोक्तैश्च यथादोष पृथक्सहितैर्वा कुम्भीवर्पणिकाः प्रणालीर्वा पूरयित्वा वातहरसिद्धस्नेहाभ्यक्तमनभ्यक्तं वोपविष्ठं किलिञ्जे वा शयानमेकांगे सर्वांगे वा वस्त्रावच्छन्ने परिषेचयेत् तैरेवाभिपूर्णे महति कटाहे कुण्डे द्रोण्यां वाऽवगाहयेत्।

अ० सं० सू० २६।६

द्रवस्वेदः परिषेकावगाहभेदेन द्विविधः। तत्र परिषेकः शिग्र्वादिवातहरैर्मस्तु सलिलादिद्रवद्रव्यक्वथितैः। तथा न केवलं शिग्रवादिभिः यावत् पूर्वोक्तैरुपनाहस्वेदपठितैः सर्वगन्धादिभिरेतैश्च सर्वैर्यथादोषं दोषविशेषापेक्षया कदाचित् पृथग्भूतैः। कदाचिद्विषयविशेषेण द्वित्रादिसहितैः सर्वैर्वा। तेषां क्वाथैः कुम्भाद्यन्यतमं पूरयित्वा स्वेद्यं प्रयोजनापेक्षया एकाङ्गे शरीरैकदेशे सर्वाङ्गे वा वस्त्रेणावच्छादिते। तेन तथाविधेन क्वाथेन परिषेचयेत। किंभूतं स्वेद्यम्। वातहर द्रव्य सिद्धेन स्नेहेनाभ्यक्तं दोषाद्यपेक्षयानभ्यक्तं वा। तथा आसन उपविष्टम्। किलिञ्जे वा शयानम्। कुम्भीः स्थालीः वर्पलिका आधूताः। प्रणालिका उर्ध्वताविशिष्टं भाण्डम्। किलिञ्जम् तृणैर्वद्धा शय्येति परिषेकः। अवगाहः पुनस्तैरेव परिषेकक्वाथैः पूर्णे कटाहे कार्यं इत्युभयथा द्रवस्वेदः। (इन्दुः)

द्रवस्वेदवर्णनं तत्र परिषेकस्वेदः

शिग्रुवीरण[1]कैरंडकारंजसुरसार्जकात्।
शिरीषवासावंशार्कमालतीदीर्घवृंततः॥
[2]पत्रभंगैर्वचाद्यैश्च मांसैश्चाऽनूपवारिजैः।
दशमूलेन च पृथक् सहितैर्वा यथामलम्॥
स्नेहवद्भिः सुराशुक्तवारिक्षीरादिसाधितैः।
कुंभीर्गलंतीर्नाडीर्वा पूरयित्वा रुजादितम्॥
वाससाच्छादितं गात्रं स्निग्धं सिंचेद्यथा सुखम्॥

अ० हृ० सू० अ० १७।७१०

शिग्र्वादिभिः पत्रसमूहैस्तथा वचाद्यैर्वचादिगणोक्तैस्तथा मांसैरनूपजैर्जलजैश्च दशमूलेन च पृथग्व्यस्तैर्द्वित्रादिभिः सहितैः समस्तैर्वा यथामलं स्नेहवद्भिर्दोषहरधृताद्यन्यतमस्नेहयुक्तैर्यथादोषं सुराशुक्तवारिक्षीरादिसाधितैः कुंभीः स्थालीः पूरयित्वा तथा गलंतीर्गंगरीश्च वंशादिमयीर्नाडीर्वा पूरयित्वा रुजादितं पीडार्तं गात्रमङ्गं वाससाच्छादितं तथा स्निग्धं सद्यथासुखं सुखस्पर्शं कदाचिदत्युष्णं कदाचिदीषदुष्णं दोषपीडावशात् सिंचेदिति॥

अरुणदत्तः।

शिग्रोरारभ्य यावद्दीर्घवृन्तमौषधम्। तस्मादौषधगणात् पत्रभङ्गैः पत्रक्षोदैः पत्राणां भङ्गाः पत्रभङ्गाः। संक्षुण्णानि पत्राणि तैस्तथा वचाद्यैः। पूर्वोक्तैरुपनाहस्वेदपठितैः वचाकिण्वशताह्वादिभिस्तथा मांसैश्चानूपवारिजैः। रोहीतकूर्मप्रभृतिभिर्मत्स्यैस्तथा दशमूलेन यथादोषं पृथक्सहितैर्वा पृथक्व्यस्तैर्वा सहितैः समस्तैः मिश्रैर्वा यथामलं मलानतिक्रमेण दोषानुसारेणेति यावत्। स्नेहवद्भिर्विद्यमानस्नेहोऽत्रापि यथामलमितियोज्यम्। योग्यः स्नेहो योग्यादन्यतमस्तेन युक्तैस्तथा यथामलं सुरादिभिः साधितैस्तत्क्वथितैरेतैः पीस्थालीर्गलन्तीर्गंगरिका वा धान्यापरपर्यायाः। नाडी उद्धृतारिष्टः वयित्वा रुजादितं शूलाद्याक्रान्तं गात्रं गात्रमङ्गं वाससाच्छादितं वस्त्रावइस्निग्धं वातहरस्निग्धसिद्धस्नेहाभ्यक्तं सिञ्चेत्परिषेचयेत्। यथासुखं र्श कदाचिदीषदुष्णं कदाचिदुष्णतर जलाधारविशेषा गलन्त्यो या धारणा जलादि स्रवन्ति ता गलन्त्यो भण्यन्ते। द्रवस्वेदस्तु द्विविधः। वगाहश्च तत्र परिषेक उक्तः॥

चंद्रनन्दनः॥

रणकेति॥ यथामल सुरसादिसाधितैः स्नेहवद्भिः शिग्रुवारणत्रभङ्गैर्वचाद्यैश्चानूपवारिजैर्मांसैश्च पृथग्दशमूलेन च सहितैर्वा

---

[1] = कटंकीकरञ्ज (कोष आ०)
[2] = कुट्टित पत्र समूहः (हाराण चन्द्र)

कुंभीर्गलन्तीर्न्नालीर्वा पूरयित्वा रुजादितं गात्रं स्निग्धं वाससाच्छादितं यथासुखं सिञ्चेत्। दोषानुरोधेन सुराद्यन्यतमसाधितैस्तथा दोषानुरोधेन घृताद्यन्यतमयुक्तैस्तथा च दोषानुरोधेन शिग्रवाद्यन्यतमानां पत्रभङ्गैस्तथा वचादिभिस्तथा पृथग्दशमूलेन विल्वमूलेन काश्मर्येण वा तथा संयुक्तैर्दशभिर्मूलैः कुंभ्यादिकाः पूरयित्वा रुक्पीड़ितं गात्रं स्नेहेनाभ्यज्य वस्त्रेणाच्छादयित्वा यथासुखस्पर्शं कदाचिदुष्णं कदाचिदीषदुष्णं परिषिञ्चेत्। दूष्याद्यनुरोधेन शिग्रवादीनां पत्रं वचादिगणञ्चानूपेषु वारिजं मांसं युक्त्याव्यस्तं समस्तन्दशमूलञ्च जले सुराद्यन्यतमद्रवेण सह पक्त्वा चतुर्भागावशिष्टं घृतादिस्नेहयुक्तं तत् कषायमौचित्यवशात् कुंभ्यादिष्वापूर्यं पुनः स्नेहाभ्यक्त गात्रं वाससाच्छादयित्वा परिषेचनं कार्यमित्यर्थः। अयं परिषेकाख्यो द्रवस्वेदः॥ परमेश्वरः॥

द्रवस्वेदोपकरणानि स्वेदनविधिश्च

द्रवस्वेदस्तु वातघ्नो, द्रव्यक्वाथेन पूरिते।
कटाहे कोष्ठके वापि, सूपविष्टोऽवगाहयेत्॥
सौवर्णं राजतं वापि, ताम्रं लौहञ्च दारुजम्।
कोष्ठकं तत्र कुर्वीतोच्छ्रये षड्विंशदङ्गुलम्।
आयामे वा तदेव स्याच्चतुष्कोणन्तु चिक्कणम्॥
नाभे षडङ्गुलं यावन्मग्नं क्वाथस्य धारया।
कोष्णया स्कन्धयोः सिक्तस्तिष्ठेत् स्निग्धतनुर्नरः॥

प्रथमतो वातघ्नद्रव्यक्वाथेन कण्ठपूरित कोष्ठके कटाहे वा सूपविष्टस्तिष्ठेत्। अथवा नाभेः षडंगुलमूर्ध्वं यावत् क्वाथे मग्न उपविष्टः। पश्चात् क्वाथस्य धारणा स्कन्धयो सिच्यमानस्तिष्ठेत्। यावत् कोष्ठकं परिपूर्णं भवति इत्यर्थः। क्वाथपक्षे प्रथमतः स्नेहाभ्यक्ततनुरुपविशेत्॥

हि० व्या०—वातहर द्रव्यों के उष्ण क्वाथ से पूर्ण कड़ाही (टब) में रोगी को बिठाकर, द्रवस्वेद करना चाहिए। इसी तरह दूध, रस, यूष, तैल, कांजी, घी, वसा और मूत्र (मूत्राष्टक) में रोगी को भर कर और उपर्युक्त (वातहर) द्रव्यों के क्वाथ (सुखोष्ण) से स्नान करना चाहिए। इस सन्दर्भ में आचार्य वाग्भट ने, कुछ औषधियों के नाम निर्देश किया है। आचार्य भावमिश्र ने द्रोणी बनाने की विधि का भी वर्णन किया है।

सुवर्ण, रजत, ताम्र, लौह अथवा लकडी का यथावश्यक कोष्ठक (टब) अथवा सुविधानुसार यन्त्र बनावें। इसका माप ३६ अंगुल ऊंचा, इतना ही लम्बा, चौड़ा अर्थात् चौकोर होना चाहिए तथा स्निग्ध होना चाहिए ताकि अंगों में किसी प्रकार की रगड़ न लग सके।

द्रव स्वेद विधि—भाव प्रकाश में स्वेदन विधि का दोनों प्रकार का वर्णन किया है—

१. अवगाह स्वेद विधि—वातनाशक क्वाथ से भरे हुए कटाह, कोष्ठक या टब में सुख पूर्वक बैठकर अवगाह करे। इस क्वाथ से स्वेदन हो जाता है।

२. परिषेक विधि - द्रोणी या टब में स्नेहाभ्यक्त सुखपूर्वक बैठे हुए रोगी, की वातनाशक द्रव्यों के क्वाथ की धारा कन्धों पर डालते रहें। यह क्रम तब तक चलता रहे जब तक कि द्रव रोगी की नाभि से ६ अंगुल ऊपर तक आ जावे। २ से ५ घटी तक रोगी को उसी अवस्था में बैठे रहने देना चाहिए। इसी विधि से तैल, दुग्ध अथवा घृत को उष्ण करके द्रव स्वेद कराया जाता है। यहां यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि किसी भी स्नेह का स्वेदनार्थ प्रयोग एक या दो दिन के अन्तर पर करना चाहिए।

द्रवस्वेदोपयोगि विविध द्रव्य

शिग्रु, वरुण, आम्रातक, मूलक, सरसों, तुलसी, अर्जक, अडूसा, बाँस, अश्मन्तक, अशोक, सिरस, आक, करञ्ज, एरण्ड, मालती इन सबके पत्र, पूतिकरञ्ज तथा दशमूल आदि वातनाशक द्रव्यों को जौ—कुट करके जल में पकावें और उसमें सुरा, दूध तथा सिरका आदि मिला लें अथवा अपनाह-स्वेदोपयोगी उक्त द्रव्यों को दोषानुसार पृथक्पृथक् अथवा समस्त द्रव्य का क्वाथ बना लें। और इन द्रव्यों को घड़ा में अथवा वर्षणिका (जिससे पौधों में पानी दिया जाता है—इसमें से वर्षा के समान जल गिरता है—फौवारा) अथवा प्रणाली (बड़ी-मोटी-लम्बी नाली) में भर कर अवसेचन करें। अवसेचन के पूर्व वातनाशक द्रव्यों के योग से सिद्ध नारायण तैल आदि) किसी स्नेह से आवश्यकता हो तो अभ्यङ्ग कर लेना चाहिए यदि आवश्यकता न हो तो न करे। रोगी को चटाई पर बिठा दें अथवा लेटा दें और रोग-पीड़ित अवयव को वस्त्र से ढँक दे। यह द्रव-स्वेदन (सुखोष्ण) एक अङ्ग पर अथवा सर्वाङ्ग पर किया जाता है।

इस प्रकार परिषेक नामक स्वेदन किया जाता है और इन्ही द्रवों से बड़ा कटाह (कड़ाह) अथवा कुण्ड या द्रोणी भर लें और उसमें अवगाहन करें। इसका नाम अवगाहन स्वेद है।

ऊष्मस्वेदवर्णनम्

सुश्रुत संहिता एवं अन्य संग्रह ग्रन्थों में साग्नि स्वेद के चार प्रकार बताए हैं—इन्हीं में चतुर्थ उष्म स्वेद है। वाग्भट में इसी स्वेद के आठ भागों में विभाजित करते हुए नाड़ी, कुम्भी, कूप, कुटी आदि का विवरण दिया है

ऊष्मस्वेदस्य विविधप्रकाराणां वर्णनम् स्वेदविधिश्च

ऊष्मस्वेदस्तु कपालपाषाणेष्टकालोहपिण्डानग्निवर्णानद्भिरासिञ्चेदम्ल-द्रव्यैर्वा, तैरार्द्रालक्तकपरिवेष्टितैरङ्गप्रदेशं स्वेदयेत्। मांसरसपयोदधिस्नेह-

धान्याम्लवातहरपत्रभङ्गक्वाथपूर्णां वा कुम्भीमनुतप्तां प्रावृत्योष्माणं गृह्णीयात्। पार्श्वच्छिद्रेहस्तिशुण्डाकारां नाडीं प्रणिधाय तं स्वेदयेत्।:

सुखोपविष्टं स्वभ्यक्तं गुरुप्रावरणावृतम्
हस्तिशुण्डिकया नाड्या स्वेदयेद्वातरोगिणम्।
सुखा सर्वाङ्गगाह्येषा न च क्लिश्नाति मानवम्।
व्यामार्धमात्रा त्रिवंका हस्तिहस्तसमाकृतिः॥
स्वेदनार्थे हिता नाडी कैलिञ्जी हस्तिशुण्डिका॥

सु० चि० ३२/५-७

उष्मेत्यादि। तैः कपालादिभिरग्निवर्णैर्जलाद्यवसिक्तैरार्द्रवस्त्रच्छन्नैः स्वेदयेदङ्गप्रदेशं; जेज्जटाचार्यस्तु आर्द्रालक्तकपरिवेष्टितम्, इति पठित्वा अङ्गप्रदेशविशेषण व्याख्यानयति। मांसरसादिपूर्णां स्थालीं चोष्मणो मन्दीकरणार्थं कम्बलादिना प्रावृत्य पिधाय, ऊष्माणं गृह्णीयात्। वातहराणां एरण्डादीनां, पत्रभङ्गाः पल्लवाः। तथैव कुंभ्यां वाष्पमनुद्रमयन्त्यां स्वेदान्तर मुत्पादयन्नाहपार्श्वेत्यादि। तस्याः कुम्भ्याः। तस्मिञ्छिद्रे इति उपरिस्थितकुम्भस्य पार्श्वच्छिद्रे। किलिञ्जसाधनतृणकाशादिद्रव्यविरचितामन्तः सुषिरत्वेन नाडीमिव नाडीं गोपुच्छाकृतित्वेन दैर्घ्येण च हस्तिहस्तसमाकारां छिद्रेण निर्गच्छतो बाष्पवेगस्य वेगविधातार्थं त्रिषु स्थानेषु वक्रामुपनिधापयेत्। स्वभ्यक्तमिति सुष्ठु अभ्यक्तम्। गुरुप्रावरणावृतमिति गुरुप्रावरणेन कम्बलादिनोष्मणोऽतितापनिषेधायावृतं पिहितम्। एतदेव सुखपाठार्थं श्लोकेनदर्शयन्नाह हस्तिशुण्डिकयेत्यादि। व्यामार्धमात्रेत्यत्र व्याममात्रा व्यामार्धमात्रावेति व्याख्यातव्यम्। व्यामः बाह्वोः सकरणयोः संप्रसारितयोरन्तरालम्। किलिञ्जसाधनानां कुशकाशादिद्रव्याणामियं कैलिञ्जी। डल्हणः॥

कुट्टितः पत्रसमूहः पत्रभङ्गाः पार्श्वेत्यादि तस्यामांसरसादिपूर्णायाः कुम्भम् अभिसन्धाय दृढं मृद्गोमयतुषपट्टखण्डैः संयोज्य। व्यामो नाम तिर्यक् पार्श्वतो विस्तृतयोर्बाह्वोरन्तरालपरिमाणम् कैलिञ्जी कटोपकरणकाशादिरचितेत्यर्थः। पत्रभङ्गैरित्यौपयौगिकत्वात् वातहरैरित्येव पूर्ववत् स्वेदयेदित्यन्वयः। किलिञ्जे कटे॥

हाराणचन्द्रः।

उष्मस्वेदभेदाः

ऊष्मस्वेदः पुनरष्टधा भिद्यते। पिण्डः संस्तरो नाडी घनाश्म कुम्भी कूपः कुटी जेन्ताकश्चेति।

अ० सं० सू० २६।७

तत्र कपालपाषाणलोष्ठलोहपिण्डाग्निवर्णान्संदंशेन गृहीत्वाऽभ्यस्यम्ले वा निमज्जयेत्। तैरार्द्राविकवस्त्रेण वेष्टितैः श्लेष्ममेदोभूयिष्ठं सरुजमङ्गं

ग्रन्थिमद्वा स्वेदयेत्। पांशुसिकतागवादिपुरीषधान्यबुसपुलाकफलैर्वाऽम्लोत्क्वथितैः पूर्ववद्वेष्टितैर्गवादि शकृताऽऽद्रेण पिण्डीकृतेनोपनाहद्रव्योत्कारिकाकृशरापायसपिण्डैर्वा वातरोगेष्विति पिण्डस्वेदः स एव संकराख्यः॥

अ० सं० सू० २६।८

ऊष्मस्वेदः पुनर्वक्ष्यमाणपिण्डादि भेदेनाष्टविधः। ऊष्मा बाष्पः। तत्र मृत्कपालपाषाणादीनग्निवर्णान् संदंशेनादायायस्कारतप्तपिण्डग्रहणयन्त्रेण गृहीत्वा स्वेद्यदोषाद्यपेक्षयाऽभ्यस्यम्ले वा काञ्जिक शुक्तादौ निमज्जयेत्। अथ तैर्निमज्जनजातबाष्पैरार्द्रेण धान्याम्लादिसिक्तेनाविकवस्त्रेणोर्णपट्टेन समन्ताद्वेष्टितैरङ्गं देहं सरुजं रुजा युक्तं ग्रन्थिमद्वा स्वेदयोग्यं स्वेदयेत्। श्लेष्ममेदोभूयिष्ठमङ्गं सरुजं ग्रन्थिमद्वा पांस्वादिभिरम्लोत्क्वथितैः पिण्डीभूतैः पूर्ववदेवार्द्राविकवस्त्रवेष्टितैः स्वेदयेत्। विकल्पः पूर्वापेक्षः। गवादिकरीषं गवाश्वादिशकृत्। पुलाकाख्य धान्यविशेषस्य पलालः कक्षम् केवलेन वा गवाद्यन्यतमेन शकृता। आदिग्रहणेनाश्वगर्दभहस्त्यादीनां ग्रहणम्। उपनाहद्रव्योत्कारिकाः पूर्वोक्ताः मांसवेशवारादि कृता इति पिण्डस्वेदः प्रथमस्तस्यैव च पिण्ड स्वेदस्य सङ्कर इत्याख्या। आख्या नाम। (इन्दुः)

अपि च

ऊष्मा तूत्कारिकालोष्टकपालोपलपांसुभिः।
पत्रभंगेन धान्येन करीषसिकतातुषैः॥
अनेकोपायसंतप्तैः प्रयोज्यो देशकालतः॥

अ० हृ० सू० २६।६

उष्मोष्णवाष्पः। ऊष्माख्यः स्वेद उत्कारिकादिभिः प्रयोज्यः। तत्र यवमाषैरंडबीजातसीकुसुंभबीजादिभिः पिष्टखिन्नैर्लेपसिकाकृतिर्यः। स्वेदनोपायः सा उत्कारिका। लोष्टं मृत्पिंडः। कपालं कर्परम्। उपलः पाषाणः। पांसुधूलिः। तथा पत्रभंगेन छदसमूहेन। तथा धान्येन। करीषो गवादिशकृच्चूर्णम्। सिकता वालुका तुषो धान्यत्वक्। एतैरुत्कारिकादिभिस्तुषांतैः स्वेदो विधातव्यः। किंभूतैः। अनेके च त उपायास्तैः संतप्तोष्णीकृता य उत्कारिकादयस्तैरनेकोपायसंतप्तैः। कथं प्रयोज्य इत्याह। देशकालतः। त्यब्लोपे पंचमी चेयम्। तेन देशकालावपेक्ष्य उपलक्षणं चदम्। तेन दोषदूष्यादीनपेक्ष्य स्वेदोऽयं प्रयोज्यः। लोष्ठकपालपाषाणनग्निवर्णान्संदंशेन गृहीत्वा स्वेद्यदोषपेक्षयाऽभ्यस्यम्ले धान्यम्ले शुक्तादौ वा निमज्जयेत्। तदुद्भूतबाष्पैः स्वेदः शयनस्थस्य कार्यः। अथवा गवादिशकृता पिंडीकृतेनोष्णेव स्वेदः स च पिंडस्वेदसंज्ञः। अथवैरण्डादिद्रव्ययुक्तानि। यवादीनि धान्यानि साम्लकादीनि गृहीत्वा पिहितमुखायां सम्यगुपस्वेद्य निवाते गृहे शयनस्थे किलिंजे प्रस्तीर्याऽविककौशेयवातहरपत्रान्यतमोत्तरप्रच्छदे रौरवाजिनप्रावारादिष्ववच्छन्नं स्वेदयेत्। अथवा पूर्ववत्स्वेद्यद्रव्याणि कुंभ्यामुत्क्वाथ्यं तन्निकटोप-

विष्टो घनवस्त्रप्रावृत उष्माणं गृह्णीयात् । एष संस्तरस्वेदः । एवमनेकोपाय-संतप्तत्वं दोषदूष्याद्यपेक्षया निरूप्य स्वेदो योज्यः ॥

अरुणदत्तः

ऊष्माख्यः स्वेदः उत्कारिकादिभिः प्रयोज्यः । यवमाषैरण्डतिलादिभिः स्विन्नः पुपूलिकाकृतिभिर्यः स्वेदनोपायः स उत्कारिकास्वेदो भण्यते । लोष्ट-कपालपाषाणानग्निवर्णान् कृत्वाऽम्भस्यम्ले वा निमज्जयेत् । तैरार्द्रान्वित-वस्त्रेण वेष्टितैः स्वेदयेत् । पांशुना पत्रभङ्गेन धान्येन च तथा गवां करीषैः सिकतादिभिः सुखैश्चाम्लैः क्वथितैर्वस्त्रवेष्टितैः, स्वेदयेत् । अनेकोपायसन्त-प्तैरिति कुम्भीनाडीघटाद्यादिभिरुपायैः सन्तप्तैरुत्कारिकादिभिरुष्माख्यः स्वेदो देशतः कालश्च योज्यः । देशतः शरीरदेशो भूमिदेशश्च । कालो मुहुर्तादि-लक्षणः आतुरावस्थालक्षणश्च । तद्वशात्तत्सामर्थ्यादस्य स्वेदस्य प्रयोगः कार्यः । शरीरदेशतो यथा—आमाशयगते वायावित्यादि । तथाऽल्पवङ्क्षणयोरिति । भूमिदेशतो यथा—आनूपं स्वेदस्य योग्यं न तथा जाङ्गलम् । कालतो यथा—हेमन्तेऽन्योन्यस्वेदयोग्यता न तथा ग्रीष्मे । व्यवस्थातोयथा— पित्त-संसृष्टे वायौ कश्चिद्योगः कश्चित् श्लेश्म संसृष्टे कश्चिदबले वाते पत्रभङ्गे धान्येनेति पत्राणामङ्गभञ्जनं क्षोदनमामर्दनमङ्गभङ्गो यस्य धान्यस्य तत्पत्रभङ्ग धान्यम् । करीषो गवां शकृत् । सिकता वालुका ॥

चंद्रनन्दनः ।

उष्णस्वेदस्य लक्षणमाह उत्कारिकादिभिः सोष्मभिः कंबलादिवेष्टितैर्यः स्वेदः क्रियते स ऊष्म स्वेदः । उत्कारिका, रोटिका, पत्रभंगेन खंडशः कृतैः पत्रैः धान्येन गोधूमादिना । संग्रहे तु ऊष्मभेदः पुनरष्टधा भिद्यते पिण्डः, संस्तरो, नाडी; घनाश्मा, कुंभी, कूपः, कुटी, जर्यताकश्च । तत्र कपाल-पाषाणलोष्ठलोहपिंडानग्निवर्णान् संदंशेन गृहीत्वांभस्यम्ले वा निमज्जयेत् । तैरार्द्राविकवस्त्रेण वेष्टितैः श्लेष्ममेदोभूयिष्ठं सरुजमंगं ग्रंथिमद्वा स्वेदयेत् । पांशु-सिकतागवादिकरीषतुषधान्यबुसापुलाकपललैर्वाऽम्लोत्क्वथितैः पूर्ववद्वेष्टितैर्गवादि-शकृताद्रेण पिंडोक्तेनोपनाहद्रव्योत्कारिकाकृशरापायसपिंडैर्वा वातरोगिण्वति पिंडस्वेदः । स एव च संकराख्यः । यवार्हस्वेदद्रव्याणि पिहितमुखायामूषायां सम्यगुपस्वेद्य निवातशरणशयनस्थे कलिंजे प्रस्तार्याविककौशेयवातहरपत्रान्यत मोत्तरप्रच्छेदरौरवाजिनेष्ववच्छन्नं स्वेदयेदिति संस्तरस्वेदः । पूर्ववदेवोपस्वेद्यो-खामुखेनामुखां नाड़ीमूलच्छिद्रप्रणामपार्श्वच्छिद्रामभिसंधायोपलिप्य च पार्श्व-च्छिद्रस्थया नाड्या शरीरेषीकावंशदलकलिंजकरंजपत्रान्यतमकृतया गजाग्रहस्त-संस्थानया व्यामदीर्घयाऽध्यर्द्धव्यामदीर्घया वा स्वायामचतुर्भागाष्टभागपरिणाह-मूलाग्रस्रोतसा सर्वतोवातहरपत्रमसंवृत्तच्छिद्रया द्विस्त्रिर्वा विनामितया सुखो-पविष्टस्य स्वभ्यक्त प्रावृतेंऽगे बाष्पमुपहरेत् । बाष्पो ह्यनृजुगामी विहतचंड-वेगस्त्वचमविवहन् सुखं स्वेदयतीति नाडीस्वेदः ।

पुरुषायाममात्रधिकं वा घनं समं सुखं च शिलातलं भूप्रदेशं वातहरदारु-दीप्तेनाग्निना सर्वतस्तापयित्वा अग्निना सर्वतस्तापयित्वा अग्निमपोह्यौष्णोद-काम्लादिभिरभ्युक्ष्य यथोक्तप्रच्छदे संस्तरवत्स्वेदयेदिति घनाश्मस्वेदः । पूर्ववत्स्वेदद्रव्याणि कुंभ्या समुत्क्वाथ्याश्लिष्योपविष्टस्तदूष्माणं गृह्णीयात् । भूमौ वा तां निखाय तदूर्ध्वमासनं शयनं वा नातिघनप्रच्छदं परितः प्रलम्बमान-कुथकम्बलगोणकान्निधाय तत्रस्थस्योष्माणं गृह्णतः स्थाल्यामग्निवर्णानयोगुडा-नुपलांश्च शनैर्निमज्जयेदिति कुम्भीस्वेदः । शयनस्याधो विस्तारद्विगुणखाते कूपे वातहरदारुकरीषान्यतरपूर्णदग्धे विगतधूमे स्वास्तीर्णशयनस्थं स्वेदयेदिति कूपस्वेदः । कुटीं नात्युच्चविस्तारां वृत्तामच्छिद्रामुपनाहद्रव्यकल्कघनप्रदिग्ध-कुड्यां सर्वतो विधूमप्रदीप्त खदिरांगारपूर्णहसंतिका समूहपरितप्तां विधाय तन्मध्ये च शय्यां तत्रस्थं स्वेदयेदिति कुटीस्वेदः । जर्यताकस्वेदस्तु अशक्य-त्वान्न लिख्यते ॥

हेमाद्रिः ।

उष्मेति ॥ उष्मा तु अनेकोपायसन्तप्तैरुत्कारिकादिभिर्देशकालतः प्रयोज्यः । उष्मस्वेदः पुनर्बहुविधोपायैरुष्णीकृतैरुत्कारिकादिभिः देहदेशजाङ्गलादिदेश-शीतादिकालानुरोधतः कार्यः । तत्र पिष्टस्विन्नैर्यवमाषतिलादिभिर्लंपसिका-कृतिर्या सा उत्कारिका । तस्या उष्मणा स्वेदः । लोष्ठादीनग्निवर्णान् दग्ध्वा काञ्जिकादौ क्षिप्त्वा तत्रभवेनोष्मणा स्वेदः । एरण्डादिवातघ्नपत्रभङ्गान् काञ्जिकादिद्रवेणान्तर्धूमंविपाच्य पुनः सूत्रादिकृतखट्वोपरि रोगिणं संवेश्य चतुष्पञ्चसप्तभिः पट्टैश्छादयित्वा खट्वाया अधस्तादन्तर्धूमपाचितैरण्डा-दिपत्राधारभूतं स्थाल्यादिकन्निधाय तद्गतेनोष्मणा स्वेदः कार्य इत्यादि-कमनेकोपायसन्तप्तत्वम् । पिण्डस्संस्तरो नाली घनाश्म कुंभी कूपः कुटी जेन्ताक" इत्यष्टावुष्मस्वेदभेदास्संग्रहतो द्रष्टव्याः ॥

परमेश्वरः

प्रतप्तैरम्लसिक्तैश्च काये (ल) नक्तकवेष्टिते ।
ऊष्मस्वेदः प्रयोक्तव्यो लोहपिण्डेष्टकादिभिः ॥
अथवा वातनिर्णाशिद्रव्यक्वाथवसादिभिः ।
उर्ष्णघटं पूरयित्वा पार्श्वे छिद्रं विधाय च ॥
विमुद्रयास्यं त्रि[1]खण्डां च धातुजां काष्ठजामुत ।
षडङ्गुलास्यां गोपुच्छां नाडीं युञ्ज्याद् द्विहस्तकाम् ।

१ त्रिखण्डामिति स्वेदसौकर्यार्थम् । षडङ्गुलास्यामिति मूले षडङ्गुलं विशाल-मुखं गोपुच्छमिव क्रमकृशम् तेन अग्रे गोपुच्छाग्रपरिमाणेन कृशां नाडीम् अन्तः सरन्ध्राम् द्विहस्तकां हस्तद्वयपरिमाणाम् । हस्तिशुण्डिकयेति-हस्तिशुण्डेव क्रमकृशत्वान्नाड्या इयं संज्ञा ॥

सुखोपविष्टं स्वभ्यक्तं गुरुप्रावरणावृतम् ।
हस्तिशुण्डिकया नाड्या स्वेदयेद्वातरोगिणम् ॥ भा० प्र०

हि० व्या०—उष्म स्वेद के लिए कपाल, पाषाण, ईंट और लोहपिण्ड को अग्नि में लाल करके या काञ्जी आदि अम्ल द्रव्य का सिञ्चन करके आर्द्र वस्त्र में लपेट कर उससे अङ्गों का स्वेदन करना चाहिये। अथवा दूध, दही, धान्याम्ल और वातघ्न द्रव्यों के पत्तों (एरण्डादि के पत्र) के उष्ण क्वाथ से भरे हुए घड़े के मुख को ढँककर उससे निकलने वाले वाष्प के द्वारा स्वेदन अथवा पार्श्व में छिद्रयुक्त उल्टे मुख वाले दूसरे घड़े के मुख पर रखकर, सन्धिबन्धन करके ऊपर वाले घड़े के छिद्र में हाथी के सूंड की आकृति वाली नली लगानी चाहिए और उससे स्वेदन करना चाहिए।

अभ्यङ्ग से युक्त सुखपूर्वक बैठे हुए और कम्बल आदि से ढँककर वात के रोगी का हस्तिशुण्डाकार नाड़ी से स्वेदन करना चाहिए। इससे सभी अङ्गों का स्वेदन सुखपूर्वक होता है तथा रोगी को किसी प्रकार का कष्ट भी नहीं होता।

अर्धव्याम लम्बी तीन स्थानों में मुड़ी हुई एवं हाथी के सूंड की भाँति आकृति वाली कैलिञ्जी (कुशकाश आदि से निर्मित) हस्तिशुण्डि का नाड़ी स्वेदन के लिए हितकर होता है।

दशविधं अनग्निस्वेदनिरूपणम्

व्यायाम उष्णसदनं गुरुप्रावरणं क्षुधा ।
बहुपानं भयक्रोधावुपनाहाहवातपाः ॥
स्वेदयन्ति दशैतानि नरमग्निगुणादृते ॥

च० सू० १४।६४-६५

संप्रत्यनग्निस्वेदानाह–व्यायाम इत्यादि। उष्णं सदनमित्यग्निसन्तापव्यतिरेकेण निर्जालकतया घनभित्तितया च यद्गृहं स्वेदयति, तद्बोद्धव्यम्। बहुपानमिति बहुमद्यपानम्, उपनाहो द्विविधः साग्निरनग्निश्च, तत्र यः साग्निरुपनाहः स सङ्कर एव बोद्धव्यः, यदुक्तं—"कोलं कुलत्थाः सुरदारुरास्नाः" इत्यादिनाऽऽरग्वधीये यस्त्वनग्निबलत्वेन शरीरोष्णरोधं कृत्वा स्वेदयति स इह बोद्धव्यः। आतपश्च यद्यपि उष्णः; तथाप्यग्निकृतं तस्योष्णत्वं न भवतीत्यनग्निस्वेद उक्तः। अग्निगुणादृते साक्षादग्निसम्बन्धेन कृतादुष्णात्वाद्विना ॥ चक्रपाणिः ॥

निवातातपगुरुप्रावरणनियुद्धाध्वव्यायामभारहरणा[1]मर्षैः स्वेदमुत्पादयेदिति।
सु० चि० ३२।१५

१. अमर्षोविरोधो द्वन्द्वयुद्धादिरिति यावत्। अत्र व्यायामग्रहणेनैषामुपलब्धेऽपि पृथगुपादानं प्रपञ्चार्थम् ॥ हाराणचन्द्रः ॥

स्वेदोऽग्निहीनः क्षुत्तृष्णाभयं क्रोधस्तथाहवः ।
निवातवध्वसन्तापौ गुरुप्रावरणं तथा ॥

भेल सं० सू० २२।३१-३२

निवातसदन गुरुप्रावरणमुहुर्मद्यपान क्षुद्व्यायामातपनियुद्धाध्वभारहरणामर्षभयैः।
अ० सं० सू० २६।१७

निवातं गृहमायासो गुरुप्रावरणं भयम् ।
उप[1]नाहाहवक्रोध भूरिपानं क्षुधातपाः ॥

अ० हृ० सू० १०।२४ चक्रदत्तः।

अनाग्नेयोऽग्नियोगविना शक्तयैव स्वेदयति तं च तेन मेदसा कफेन वावृते वायौ प्रयोजयेत् स चानाग्नेयो निवातसदनादिभिर्भवति। निवातसदनं निषिद्धवायु प्रवेशं वेश्म। नियुद्धं बाहुयुद्धमतिधनुष्काण्डादिना ॥ इन्दुः।

निवात गृहादयोऽनाग्नेयाः स्वेदाः। आयासो व्यायामः। गुरुप्रावरणं रल्लकादि। भयं खड्गहस्तराजपुरुषदर्शनादिना। उपनाहोऽप्यनाग्नेयः स्वेदः। उपनाहस्य द्वैविध्यात्। तत्रोपनाहो वचाकिण्वेत्यादिराग्नेयः। तत्र तापोऽग्नितप्तवसनेत्यनुवृत्तेः। अनाग्नेयस्तु स्निग्धोष्णवीर्यैर्मृदुभिश्चर्मपट्टैरित्यादिकः। आहवः समरः। भूरिपानं बहुमद्यपानम्। (अरुणदत्तः)

..... कोष्णं गेहे रवेः करान्।
नियुद्धं मार्गगमनं गुरुप्रावरणं ध्रुवम् ॥

भाव प्र० स्वेदा०

..... कालेयागुरुरूषितान्।
भिषक् बलाबलं दृष्ट्वा बलिनो दुर्बलानपि।
कुथकम्बलकौशेयैः प्रवेण्यजिनकादिभिः।
किटिजैराविजैर्वस्त्रैः प्रच्छाय स्वेदयेन्नरान् ॥

भे० सं० सू० २२।४-५

दश प्रकार के निरग्नि स्वेद निम्न है—

(१) व्यायाम, (२) ऊष्मगृह, (३) ओढ़ने के भारी वस्त्र (कम्बल रजाई आदि) (४) भूख (उपवास), (५) अत्यधिक पान करना, (मद्य आदि उष्ण द्रव्यों का पान), (६) भय दिखाना, (७) क्रोध, (८) उपनाह, (९) युद्ध (कुस्ती मल्लयुद्ध), एवं (१०) आतप सेवन।

वक्तव्य—दश प्रकार के निरग्निस्वेद भेदों में भी साग्नि स्वेद के समान स्वेदप्रवृत्ति, लघुता की उत्पत्ति, श्रमनाश, वातशमन, श्लेष्ममेदसावृतवातजन्य रोगनाश, एवं स्रोतो शुद्धि होने से इनका भी रोग, रोगी अवस्था तथा स्थान

१. उपनाहः बहलो लेपः, स हि बहलत्वेन शरीरोष्मरोधं कृत्वा स्वेदयति। भूरिपानं मद्यस्य ॥ शिवदासेन ॥
अनाग्नेयोऽग्नियोगं विना शक्तयैव स्वेदयति तं च मेदसा कफेन वावृते वायौ

भेद एवं काल की दृष्टि से बहुत महत्त्व है।

व्यायाम—विविध प्रकार की व्यायाम प्रक्रियाओं द्वारा शरीर के अङ्गो-पाङ्गों में जो आयास[1] होता है उसे व्यायाम कहा जाता है। इसमें ऊष्मा की

---

१. (क) विशिष्ट आयामः व्यायामः।
(२) शरीरायासजननं कर्मव्यायाम संज्ञितम्। सु० चि० २४
(३) व्यायामः स्थैर्यकराणां श्रेष्ठः। च० सू० २५।४०
(४) स्थिरी भवति मांसं च व्यायामाभिरतस्य च।
सु० चि० २४।४२
(५) शरीरोपचयः कान्तिर्गात्राणां सुविभक्तता।
दीप्ताग्नित्वमनालस्यं स्थिरत्वं लाघवं मृजा॥
श्रमक्लमपिपासोष्णशीतादीनां सहिष्णुता।
आरोग्यं चापि परमं व्यायामादुपजायते॥
सु० चि० २४।
(६) शरीरचेष्टा या चेष्टा स्थैर्यार्था बलवर्धनी।
देहव्यायामसंख्याता मात्रया तां समाचारेत्॥
च० सू० ७।३१
क्रमवृद्धया समारोग्यशरीरबलपुष्टिदः।
आरोग्यबलपुष्टिघ्नः स एवाक्रमसेवितः॥
अन्यत्र अधिकः पाठः
(७) स्याच्छिलालगुडाकर्षाद्धनुराकर्षणादपि।
आयामाद्बृहुधाङ्गानां व्यायाम इति शब्दितः॥
गात्रेष्वायम्यमानेषु तेषु रक्तं विभज्यते।
तद्गात्रेषु विभक्तं हि मांसी भवति मर्दनात्॥
स्रोतस्सु रुद्धो वायुर्यः स चापि प्रतिसार्यते।
मारुते प्रगुणीभूते सुखं गात्रेषु जायते॥
कान्तवर्णत्वमङ्गानां सुविभक्तत्वमेव च।
प्रशुद्धोच्छासनिश्वासचेष्टा समशनेरुचिः॥
(८) अनेक प्रकार के आसन, योग प्रक्रियायें एवं आधुनिक फिजियो थैरेपी प्रक्रिया द्वारा स्तम्भ एवं गौरव को दूर करने की विविध विधियां भी निरग्नि व्यायाम के ही प्रकार है।
(८) अनग्नि स्वेदः। सु० चि० ३२।१५
(९) व्यायामाच्छरीरस्य सम्यक्पुष्टिः, सुघटितत्वं, कान्तिः, अग्निदीप्तता, अनाऽऽलस्यं, स्थिरत्वं लाघवं, मृजा (शुद्धिः), श्रमक्लमपिपासोष्णशीतादीनां सहिष्णुता, आरोग्यञ्चोपजायते। व्यायामसदृशं स्थौल्याऽपकर्षणं किंचिन्नास्ति। व्यायामिनोऽरिभयं नास्ति। व्यायामी सहसा जरां न

उत्पत्ति होने से, गात्रस्वेद प्रवृत होने लगता है। यह भी एकाङ्ग सर्वाङ्ग दोनों ही प्रकार का होता है। अंगविशेष का व्यायाम एकाङ्ग एवं दौड़ना, घूमना, मुद्गर घुमाना, दण्ड-बैठक आदि से सार्वदेहिक स्वेदन होता है। स्वेद प्रवृत्त होने से स्रोतों शुद्धि तथा आयास से मांसपेशियों में स्थिरता एवं अंगविशेष की जकड़ाहट दूर होने से स्वाभाविक कार्य क्षमता की उत्पत्ति होती है।

ऊष्मा की उत्पत्ति से वात का भी अंगविशेष से निर्हरण हो जाता है तथा स्रोतोसंग की स्थिति में दोष स्थान छोड़कर चलायमानावस्था में आ जाते हैं। दैनिक व्यायाम की अनेक विशेषताओं का शास्त्रों में वर्णन किया गया है। भार उठाना, विविध प्रकार के आसन, किसी स्प्रिंग लगी वस्तु को खैंचना तथा विविध प्रकार के खेल भी व्यायाम के ही प्रकार है। रोगी, रोग, शरीर शक्ति तथा काल का ज्ञान करते हुए व्यायाम का नियमपूर्वक सेवन करना हितकर होता है। अन्यथा प्रयोग से विविध उपद्रवों को उत्पन्न करता है।

उष्ण सदन

प्राकृतिक उष्मा वाले किसी कमरे या कुटी से उष्णसदन का अर्थ लिया जाता है। अग्निस्वेद से भिन्न निरग्नि स्वेद में रोगी को इस प्रकार के कमरे में रखा जाता है जिसकी दीवारें मोटी हो तथा वातायन एवं खिड़कियों रहित-

---

प्राप्नोति। तस्य मांसं स्थिरी भवति। व्यायामस्विन्नगात्रस्य पद्भ्यामुद्वर्तितस्य व्याधयो न भवन्ति। वायोरूपगुणैर्हीनाऽपि पुरुषाः व्यायामेन सुदर्शना भवन्ति। व्यायामिनो विरुद्धं भोजनं विदग्धमविदग्धं वाऽन्नं निर्दोषं पच्यते। बलिनां स्निग्ध भोजिनां च व्यायामः सदा पथ्यो भवति। व्यायामादग्निदीप्तौ सत्यां सर्वरोगोपशमः।
सु० चि० २४।३८-३५
(१०) अति व्यायामजा रोगाः—क्षयस्तृष्णाऽरुचिश्छर्दिः रक्तपित्तं भ्रमः क्लमः, कासः शोष ज्वरः श्वासश्च। सु० चि० २४।४८-५०
(११) वर्षाकाले मृदुव्यायाममाचरेदित्युक्तम्। स च शरीरक्लेशदोषार्थं वह्नि-संधुक्षणार्थं च। सु० उ० ७४।६-१०।
(१२) स्निग्धभोजिनां बलिनां पुरुषाणां कृते व्यायाम सदैव हितकरः, आत्म-हितैषिभिर्जनैः सर्वेष्वृतुष्वहरहः स्वबलार्धेन व्यायामः कर्तव्योऽन्यथा स एव व्यायामो मनुजं हन्यात्, यावत्कालपर्यन्तं हृदिस्थितो वायुर्वक्त्रतां न प्रपद्यते व्यायामं कुर्वतो जन्तोस्तद्बलार्धस्य लक्षणम्॥" वयोबलशरीरकालाशनदेशा-ऽनुसारेणैव व्यायामः कर्तव्योऽन्यथा स एव व्यायामः व्याधिजनकः स्यात्। सु० चि० २४।४५-४६
(१३) व्यायामायोग्य—रक्तपित्ती कृशः शोषी श्वासकासक्षयाऽऽतुरो भुक्तवान्व्यवायक्षीणो भ्रमाऽऽर्तश्च। सु० चि० २४।५०-५१

हो। उसमें प्रवेश के लिए मात्र एक दरवाजा हो, जिसे बन्द कर देने पर रोगी को अन्दर की उष्मा से स्वेदन हो जाता है। कमरे की छत पर घास डालकर अथवा चावलों की घास गुरुप्रावरण (पुआल) बिछाकर भी उष्ण किया जाता है।

गुरु प्रावरण

भारी वस्त्र कम्बल अथवा रजाई से रोगी को ढक देना गुरु प्रावरण विधि है। इस प्रक्रिया से स्वेद प्रवृत्त होने लगता है। ज्वर या प्रतिश्याय आदि रोगों में अथवा तैल आदि मर्दन कर रोगी को मोटे वस्त्र से ढक देने का प्रायः व्यवहार में उपयोग किया जाता है। इससे कफावृत वात, के आवरण रहित होने के साथ-साथ स्वेद प्रवृत्ति द्वारा शरीर की गुरुता एवं जकड़ाहट भी दूर हो जाती है।

क्षुधा

उपवास का ही एक प्रकार क्षुधानिग्रह है। इस अधारणीय वेग को धारण कर निरग्नि स्वेद किया जाता है। प्रतिदिन स्वाभाविक आहारकाल में जाठराग्नि की स्वाभाविक वृद्धि होती है। भोजन नहीं दिए जाने पर अथवा न्यून मात्रा में भोजन किए जाने पर भी क्षुधा की अधिक उत्पत्ति होती है। पाचन के लिए पर्याप्त अन्न न मिलने अथवा अल्पाहार मिलने पर जाठराग्नि दोषों का पाचन करती है। निरग्निस्वेद प्रायः कफावृत वात या "वाते मेदः कफावृते" अवस्था में दिया जाता है। अतः कफ एवं मेदा का पाचन हो जाने से शरीर में गुरुता एवं स्तम्भ नष्ट हो जाते हैं। यद्यपि इससे स्वेद प्रवृत्त नहीं होता तथापि स्वेदन के कार्य "स्तम्भ गौरवशीतघ्नं" भाव स्पष्ट देखे जाते हैं। इसका भी मात्रावत् प्रयोग करना चाहिए, अन्यथा अति क्षुधा निरोधज रोग उत्पन्न हो जायेंगे।

अनुपवास्याः

आहिताग्निरनड्वांश्चब्रह्मचारी च ते त्रयः।
अश्नन्त एव शोभन्ते नैषां सिद्धिरनश्नताम्॥ स्मृतिः।

केचिदातुरा अप्युपवासार्हाः—

त्वग्दोषिणां प्रमीढानां स्निग्धाभिष्यन्दिबृंहिणाम्।
शिशिरे लंघनं शस्तमपि वातविकारिणाम्॥
अबहुश्लेष्मपित्तास्रमलाः संसृष्टमारुताः।
बृहच्छरीरा बलिनः उपवासाय ते मताः॥
येषामल्पबला रोगा कफपित्तसमुत्थिताः।
वम्यतीसारहृद्रोगविसूच्यलसकज्वराः॥
विबन्ध गौरवोद्गार हृल्लासारोचकादयः।
पिपासानिग्रहैस्तेषामुपवासैश्च तान् जयेत्। च० सू० २२

प्राणाविरोधिना लङ्घनोपदेशः

प्राणाविरोधिना चैनं लङ्घनेनोपपादयेत्।
बलाधिष्ठानमारोग्यं यदर्थोऽयं क्रियाक्रमः॥ च०

सुलङ्घितलक्षणम्

वातमूत्रपुरीषाणां विसर्गः गात्रलाघवे।
हृदयोद्गारकण्ठास्यशुद्धौ तन्द्राक्लमे गते॥
स्वेदे जाते रुचौ चैव क्षुत्पिपासासहोदये।
कृतं लङ्घनमादेश्यं निर्व्यथे चान्तरात्मनि॥ च० सू० २२।-

अतिलङ्घन दोषाः

पर्वभेदोऽङ्गमर्दश्च कासः शोषो मुखस्य च।
क्षुत्प्रणाशोऽरुचिस्तृष्णादौर्बल्यं श्रोत्रनेत्रयोः॥
मनसः सम्भ्रमोऽभीक्ष्णमूर्ध्ववातस्तमो हृदि
देहाग्निबलनाशश्च लङ्घनेऽतिकृते भवेत्॥ च० सू० २२।-
कार्श्यं दौर्बल्य वैवर्ण्यमङ्गमर्दोऽरुचिर्भ्रमः।
क्षुद्वेगनिग्रहात् तत्र स्निग्धोष्णं लघु भोजनम्॥ च० सू० ७।२०

बहुपान—

बहुपान का अर्थ अत्यधिक मद्यपान से लिया गया है। अत्यधिक मद्यपान से स्वेद प्रवृत्ति, शीतनाश, स्तम्भ तथा गौरव आदि विकार दूर होते हैं। व्यवायी एवं मादक द्रव्यों के समान मद्य का प्रभाव भी बिना पाक के पूर्व सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हो जाता है। उष्ण गुण के कारण स्वेद की प्रवृत्ति मद्य की स्वाभाविक प्रक्रिया है। शरीर में शीघ्र फैलने के कारण स्रोतो

---

१. सर्वं मद्यं पित्तकरमम्लं रोचनं दीपनं भेदनं कफवातघ्नं हृद्यं बस्तिविशोधनं पाके लघूष्णं तीक्ष्णमिन्द्रियबोधनं विकासि सृष्टविण्मूत्रं च।
सु० सू० ४५।१७०

२. सूतासु दुष्प्रजातासु योनिभ्रंशेऽतिमैथुने, बालानां दन्तजन्मनि, पिपासया पीडितेषु तालुकण्ठौष्ठशोषे रोदितेऽतिप्रजागरे वातश्लेष्माऽऽत्मके व्याधौ मद्यं हितम्। च० सू० ५७।३२४

३. मद्यनिषेध—
(क) सर्पविषे मद्यमहितकरम्। सु० क० ५।१८
(ख) व्रणिनामहितम्। सु० सू० १६;१६

४. मद्यनिषेधः—
मोहो भयं शोकः क्रोधो मृत्युरुन्मादो मदो मूर्च्छायोऽपस्मारोऽपतानकश्चेत्याद्या मद्य दोषाः। अ० सं० नि० ६।१०

५. मद्यप्रवृत्तो रोगस्त्रिविधः,—तद्यथा-पानात्ययः, पानविभ्रमः, पानाऽपक्रमश्च। (का० सं० पानात्य०)

शुद्धि होने से गुरुता एवं स्तम्भ भी दूर हो जाता है। मद्य के रोचन, दीपन एवं भेदन कर्म भी निरग्नि स्वेद के लक्ष्य की पूर्ति करने में सहायक होते हैं।

भयदर्शन—

भय एक मनो विकार है। भय दिखाने से मानसिक दोषों की प्रवृत्ति, मनोवाही स्रोतों में प्रारम्भ होती है। आधुनिक दृष्टि से भी भय से आक्रान्त होने पर वातनाड़ियों में चेष्टाएँ बढ़ जाती हैं। इनका प्रभाव शरीर की सम्पूर्ण त्वचा पर होने से स्वेद प्रवृत होने लगता है। "कामशोकभयात् वायुः" भय से वात की वृद्धि एवं चेष्टाएं बढ़ जाती है; भय से उत्तेजना के कारण मेद एवं कफ का आवरण दूर हो जाने से भी आवृत वात अपनी प्राकृत चेष्टाएँ करने में समर्थ हो जाती हैं अतः स्वेद प्रवृत्ति के साथ-साथ स्रोतो शुद्धि होने से स्तम्भ एवं गौरव दोष भी दूर होने लगते हैं। प्रायः भय में व्यक्ति की प्रवृत्तियाँ बढ़ जाती हैं यथा—दौड़ना, उछलना, घूमना, अंगों की गतिशीलता आदि ये समस्त प्रवृत्तियाँ वात के कारण तथा स्रोतोशुद्धि के कारण होती है।

क्रोध —

यह भी एक मनोभाव ही है। राजसगुण प्रधान होने से क्रोध से पित्त प्रकुपित हो जाता है "क्रोधात्पित्तम्"। ऊष्मा की अस्वाभाविक एवं अकस्मात् वृद्धि होने से रक्त में भी ऊष्णता बढ़ जाती है। इसी से स्वेद ग्रन्थियाँ प्रभावित होकर स्वेद का निर्हरण होने लगता है। हाथ-पाँवों को चलाना, अस्त्र-शस्त्र चलाना, मारने के लिए दौड़ना आदि चेष्टाएँ स्वाभाविक रूप में देखी जाती हैं। पित्त से ऊष्मा वृद्धि होकर दोषों को पचाने लग जाती है एवं कफावृत वात का आवरण दूर होने पर ही शरीर में क्रियाशीलता की वृद्धि होना सम्भव है।

उपनाहः—

उपनाह स्वेद को साग्नि एवं निरग्नि दोनों प्रकार के स्वेद भेदों में प्रयुक्त किया जाता है। यहाँ निरग्नि स्वेद में उन द्रव्यों द्वारा कल्क रूप में उपनाह बनाया जाता है जो अपने उष्ण वीर्य के प्रभाव से स्वेदन कर्म कराने में समर्थ होते हैं यथा-बेर, कुलथी, कूठ, वच, सौंफ, रास्ना, उड़द, अलसी का तेल; मदनफल, देवदारु, दारुहरिद्रा, हरिद्रा आदि। इन द्रव्यों को कांजी में मिश्रित कर प्रदेह या प्रलेप तैयार किया जाता है। इस प्रकार के अनेक प्रदेह-प्रलेप प्रयोगों का च० सू० ३।१७ से २९ तक वर्णन किया गया है। अन्य संहिता एवं संग्रह ग्रन्थों में भी विवरण मिलता है।

आहवः (मल्लयुद्ध) —

इसमें विविध दाव पेंच की चेष्टाओं से शारीरिक अंगों में आयाम होने से इसे व्यायाम का ही एक प्रकार माना जाता है। अतः व्यायाम से निरग्नि स्वेद के समान ही दोष निर्हरण प्रक्रिया देखी जाती है। शरीर के विभिन्न

भागों की मांसपेशियों की जकड़ाहट, शरीर में उत्पन्न कफ एवं मेदा के आवरण तथा गौरव भी दूर होते हैं।

[1]आतप—

सूर्य ताप में बैठाकर उष्मा देना, (आतप सेवन) निरग्नि स्वेद है। कुष्ठ जैसे अन्य त्वचा रोगों में शीत शमनार्थ मेद के पाचन के तथा वात विकारों में भी आतप का प्रयोग कराया जाता है।

कुत्र अनग्निस्वेदः कर्तव्यः

कफमेदोन्विते वायौ·····।

सु० चि० ३२।१५

अनाग्नेयं पुनर्मेदः कफावृते वायौ।·····

उपनाहं च पित्तान्वये पूर्वोक्तेनैव विधिनाऽग्निरहितमिति।

अ० सं० सू० २६।१७

कफमेदोवृते वाते·····।

भाव प्र०

स्वेदो हितस्त्वनाग्नेयो वाते मेदः कफावृते॥ ८॥

अ० हृ० सू० १७।२३

चक्रदत्त स्वेदाधिकार

अनग्नि स्वेद के प्रयोग स्थल

हि० व्या०—जब वातदोष मेद तथा कफ से आवृत्त हो तब अनग्निस्वेद का प्रयोग करना चाहिए।—इस सन्दर्भ में सुश्रुत के वचनों का ही संग्रहकारों ने अनुसरण किया है। अ० संग्रह में वायु के पित्त से मिले होने पर अग्नि रहित उपनाह द्रव्यों का प्रयोग कराने अर्थात् कल्क को ही उपनाह रूप में बाँध देने का निर्देश किया है।

निरग्नि स्वेद के आवश्यक उपकरण

अनग्नि स्वेद के लिये पीतचन्दन या दारुहरिद्रा, अगर तथा अर्क आदि औषधियों का संग्रह कर लेना चाहिए रोगी के बल आदि का परीक्षण करके कन्था (मोटी गद्दे जैसी बिछाने की वस्तु), रेशमी वस्त्र, कम्बल (गरमवस्त्र), मृगचर्म वनसूकर या भेड़ के बालों के कम्बल से ढककर रोगी का निरग्निस्वेद कराना चाहिए।

---

[1] आतप—पु० सूर्यातपः, रविप्रकाशः, तेजः परमाणुपुञ्जः, आ० शब्दकोशः।
तद्गुणाः—पित्ततृष्णाग्निस्वेदमूर्च्छाश्रमास्रकृत्। सु० चि० २४।८६
(क)—लंघन प्रकारः आतपसेवनम्। च० सू० १३।१९
(ख)—मध्यबलस्थूलमनुष्येषु स्थौल्यापनयनाय। च० सू० १२।२३
(ग)—दुष्टव्रणपीडितेषु कुण्ठिषु तैलपानाभ्यङ्गादनन्तरमन्तःशोधनार्थं प्रयुक्तश्चिकित्सोपक्रमः। सु० चि० ३।६६

स्वेदन द्रव्यगुणाः, लक्षणम्

उष्णं तीक्ष्णं सरं स्निग्धं रूक्षं सूक्ष्मं द्रवं स्थिरम् ।
द्रव्यं गुरु च यत्प्रायस्तद्धि स्वेदनमुच्यते ॥
अ० सं० सू० २६

स्वेदनं गुरुतीक्ष्णोष्णं प्रायः[1]..... च० सू० २२।१६

द्रवस्थिरसरस्निग्धरूक्षसूक्ष्मं च भेषजम् ।
स्वेदनं... ... ...॥
हृ० सू०-१७।१६

पाषाणभस्मसिकतातुषपांसुबुसानि च ।
अजाविगोपुरीषाणि प्रावाराणि प्रवातिकाः ॥
पयांस्यम्लानि धान्यानि गिरिसाधारणानि च ।
सर्वाणि मद्यमांसानि लवणानि तथैव च ॥
विधिवद्योजयेत्स्वेदे,
भे० सू० २२।२-३ ॥

विविधस्वेदोपयोगी द्रव्याणिः—

शोभाञ्जनकैरण्डार्कवृश्चीरपुनर्नवायवतिल्वकुलत्थमाषबदरागीति दशेमानि स्वेदोपगानि भवन्ति ॥ च० सू० ४।२२

हि० व्या०—उष्ण, तीक्ष्ण, सर, स्निग्ध, रुक्ष, सूक्ष्म, द्रव स्थिर और गुरु गुणयुक्त द्रव्य प्रायः स्वेदन में कार्य कर होते हैं । आचार्यवाग्भट का विचार भी समान है । अग्रिम श्लोक में रसों की दृष्टि से लवण अम्ल, तथा कटु रस वाले द्रव्यों को स्वेदन योग्य बताया है ।

आचार्य भेल के अनुसार पाषाण, राख, मिट्टी, तुष, धूलि, भूसा, बकरी, भेड़ व गाय का गोबर, दूध, अम्ल द्रव्य; धान्य, सिन्दूर (आदि साधारण द्रव्य,) सभी प्रकार का मद्य एवं मांस तथा लवणों का विधिवत् प्रयोग स्वेदनार्थ करना चाहिए ।

स्वेदोपगद्रव्याणि दशेमानि

१-सहिजन	६-यव (जौ)
२-एरण्ड	७-तिल
३-मदार (आक)	८-कुलत्थ (कुलथी)
४-श्वेतपुनर्नवा	९-उड़द
५-रक्तपुनर्दवा	१०-बेर

ये दश औषधिभाँ स्वेदनकर्म में सहायक है ।

१. प्रायस्तिक्तं कषायं च मधुरं च समासतः । अ० हृ० सू० १७

प्रदेहस्वेदोपयोगी द्रव्याणि

एरण्डवृषशिग्रूणां त्वक्पत्रैः कल्कसाधितैः ।
समूत्रबुक्क (किण्व) लवणैः प्रदेहःस्यात्सुखोष्णभिः ॥
शीतिभूतं तु निर्मृज्य लेपयेदपरापरम् ।
अनेकशस्तु विज्ञाय स्विन्नं स्वेदं निवर्तयेत् ॥
द्रव्यैर्वातकफघ्नैश्च प्रदेहः शिग्रुवर्द्धितः ।
अन्यैरपि करीषैश्च गोखराश्वाविबस्तजैः ॥
का० सू० २३

एरण्ड, वासा, सहजन की छाल (त्वचा) एवं पत्तों के कल्क बनाकर उसमें गोमूत्र और बुक्क (हृदय का मांस) अथवा किण्व तथा सैन्धव मिश्रित कल्क तैयार कर उस कल्क को सुखोष्णकर प्रदेह स्वेद किया जाता है । शीतल हो जाने पर लेप को उतार कर पुनः दूसरा और तीसरा लेप पर्याप्त स्वेदन होने तक करना चाहिए । इसी प्रकार अन्य वात-कफ नाशक द्रव्य, गाय, गदहे घोड़ एवं बकरी के पुरीष (उपलों) के द्वारा किया गया प्रदेह भी हितकारी है ।

प्रस्तर स्वेद द्रव्याणि

शूकशमीधान्यपुलाकानां वेशवारपायसकृशरोत्कारिकादीनां वा प्रस्तरे कौशेयाविकोत्तरप्रच्छदे पञ्चाङ्गुलोरुबूकार्कपत्रप्रच्छदे वा स्वभ्यक्तसर्वगात्रस्य शयानस्योपस्वेदनं प्रस्तरस्वेद इति विद्यात् । च० सू० १४।४२

सामान्यतः—

हि० व्या०—प्रस्तरस्वेद में प्रयुक्त द्रव्य— शूकधान्य (जौ, गेहूं), शमीधान्य उड़द, मूंग, चना आदि), पुलाक (क्षुद्रधान्य), इनको उबालकर सुखोष्ण, वेशवार, खीर, खिचड़ी, हलवा प्रभृति द्रव्य को एक प्रस्तर (पत्थर) पर फैलाया जाता है । प्रस्तर की लम्बाई पुरुष प्रमाण की होती है जिस पर रोगी आसानी से लेट सके । प्रस्तर के ऊपर रेशम या ऊनी चादर अथवा एरण्डपत्र या मदार के पत्र बिछाकर उसके ऊपर रोगी या जिनका स्वेदन करना हो उनको स्नेहन कर (वातनाशक तैल का अभ्यंग कराकर) सुलाया जाता है और ऊपर से रेशमी या ऊनी चादर अभाव में एरण्ड या मदार के पत्ते से ढककर स्वेदन किया जाता है ।

पुलाकस्तुच्छधान्यम्, उत्कारिका =माषादिकृतमूषिकोत्काकृतिव्यञ्जन-विशेषः, प्रस्तीर्यते इति प्रस्तरः शयनप्रमाणेन स्वेदवस्तूनां विस्तरणं, तस्मिन् प्रस्तरे कौशेयाविकोत्तरप्रच्छदे =कौशेयाविकपिहित इत्यर्थः, पञ्चाङ्गुल =एरण्डभेदः ॥ चक्रपाणिः ॥

चतुर्विध स्वेदोपयोगि द्रव्याणि उपकरणानि च

तप्तैः सैकतपाणिकांस्यवसनैः स्वेदोऽथवाऽङ्गारकै
र्लेपाद्यातहरैः सहाम्ललवणस्नेहैः सुखोष्णंभवेत् ।

एवं तप्तपयोऽम्लवातशमनक्वाथादिसेकादिभि-
स्तप्तैस्तोयनिषेचनोद्भवबृहद्वाष्पं शिलाद्यैः क्रमात् ।

चक्रदत्तः । स्वेदाधिकारे

सुश्रुते तापवाष्पोपनाहद्रवभेदेन चतुर्विध स्वेदः उक्तः, तप्तैरित्यादिना वाष्पपूर्वमित्यन्तेन तानाह, तप्तैरित्यादि । तत्र तप्तैरित्यादिना अङ्गारकैरित्यन्तेन तापस्वेदः । सिकतैव सैकतम् । सुश्रुतेऽप्युक्तं –"तत्र तापस्वेदो नाम यः पाणिकांस्यकन्दुकपालफालबालुकावस्त्रैः प्रयुज्यते शयानस्य चाङ्गतापो बहुशः खादिरङ्गारैः" (चि० ३२ इति) ।

लेपादित्यादिना भवेदित्यन्तेन उपनाह स्वेदः । लेपमाह वातहरैवराहादिमांसैर्भद्रदार्वादिभिश्च काञ्जिकादियुक्तैः सुखोष्णैर्लेपात् यः स्वेद उक्तः स उपनाह इत्यर्थः । एवमित्यादिना सेकादिभिरित्यन्तेन द्रवस्वेदः । पयः दुग्धम् । अम्लं काञ्जिकं; सुश्रुतेऽपि—"द्रवस्वेदश्च वातहरद्रव्यक्वाथपूर्णे कोष्णकटाह द्रोण्या वाऽवगाह्य स्वेदयेत् । एवं पयोमांसरसयूषतैलधान्याम्लघृतवसामूत्रेष्ववगाहयेत्, एतैरेव सुखोष्णैः कषायैश्च परिषिञ्चेत्" (चि० ३२ अ०) इति । तप्तैरित्यादिना शिलाद्यैरित्यन्तेन वाष्पस्वेदः । शिलाद्यैरित्याद्यशब्दात् कपालेष्टकालोहपिण्डादीनां ग्रहणम्, अस्यैव विशेषणं तप्तैरित्यादि; सुश्रुते तु—"वाष्पस्वेदस्तु कपालपाषाणेष्टकालोहपिण्डानग्निवर्णाद्द्विरासिञ्चेत्" (चि० अ० ३२ इति)

(शिवदाससेनः)

हि० व्या०—उष्ण की हुई बालू, हाथ, कांस्यपात्र वस्त्र, अंगारे अथवा वातहर द्रव्य, काञ्जी, नमक एवं स्नेहयुक्त उष्ण लेप अथवा उष्ण दुग्ध, जल, वातनाशक क्वाथादि में अगाहन या उष्ण प्रस्तर पर क्वाथ, उष्ण जलादि डालने पर उठती हुई वाष्प या नाड़ी द्वारा वाष्प प्रयोग तथा यथावश्यक उपकरण जिनका स्वेदन हेतु उपयोग किया जा रहा है प्रयोग में लाने चाहिए ।

आवश्यक द्रव्य एवं उपकरणों का विधि से पूर्व संग्रह कर लेना चाहिए ।

श्लैष्मिकरोगिभ्यः स्वेदसामग्रीसंकेतः ।

गोखरोष्ट्रवराहाश्वशकृद्भिः सतुषैर्यवैः ।
सिकतापांशुपाषाणकरीषाऽऽयसपूटकैः ॥
श्लैष्मिकान् स्वेदयेत्पूर्ववातिकान्समुपाचरेत् ।

च० सू० १४।२६-२७ ॥

करीषबुसपाषाणवाष्पाङ्गारैः कफात्मकाः ।
स्वेद्यास्तु स्निग्धरूक्षाभ्यां ज्ञात्वाव्याधिबलाबलम् ॥

भे० सं० सू० २२।३३

हि० व्या०—कफ रोगों में पिण्डस्वेद के लिए द्रव्य—गाय, गधा, ऊँट, सूअर, घोड़ा, इनकी विष्ठा, भूसी, जौ, बालू, मिट्टी, पत्थर, गोबर का चूर्ण) लोह का चूर्ण, इन द्रव्यों से पिण्डाकार पोटली बनाकर स्वेदन करना चाहिए । आचार्य भेल का मत भी समान है ।

करीषः शुष्कगोमयः, आयसः अयो विकारः, स चेह पुटकरण योग्यो बोद्धव्यः । पूर्वैरिति तिलमाषादिभिः ॥ चक्रपाणिः ॥

स्वेदनाय घृतक्षीरतैल कोष्ठ प्रयोगः

स्वेदनार्थं घृतक्षीरतैलकोष्ठांश्च कारयेत् ॥ च० सू० १४।३४

हि० व्या०—जलकोष्ठक (अवगाह) स्वेदन की भाँति घी, दूध एवं तैल पूर्ण कोष्ठक (द्रोणी या टब) में भी अवगाहन कराकर स्वेदन कराना चाहिए ।

स्वेद्यास्वेद्यानाम वर्णनम्

जिन व्यक्तियों को स्वेदन कराना आवश्यक है एवं जो स्वेदन के योग्य हैं तथा जिन्हें आवश्यक होते हुए भी स्वेदन नहीं कराया जा सकता अथवा भावी उपद्रवों के परिणाम की कल्पना करते हुए जिन्हें स्वेदन नहीं कराना चाहिए, इन सभी का इस शीर्षक में वर्णन किया गया है ।

स्वेद्यानां वर्णनम्

प्रतिश्याये च कासे च हिक्काश्वासेष्वलाघवे ।
कर्णमन्याशिरः शूले स्वरभेदे गलग्रहे ॥
अदितैकाङ्गसर्वाङ्गपक्षाघाते विनामके ।
कोष्ठानाहविबन्धेषु शुक्राघाते विजृम्भके ॥
पार्श्वपृष्ठकटीकुक्षिसंग्रहे गृध्रसीषु च ।
खल्लीष्वामेषु शीते च वेपथौ वातकण्टके ॥
संकोचायामशूलेषु स्तंभगौरवसुप्तिषु ।
सर्वा[illegible]षु विकारेषु स्वेदनं हितमुच्यते ॥ च० सू० १४।२०-२४

प्रतिश्याये चेत्यादिना स्वेद्यान् दर्शयति-विनामकः = शरीरविनमनकारी वातः, विजृम्भको = बहिरायामः, जृंभाबहुत्वं वा, पादजानूरुजंघाभिरामि संग्रहश्च पृथक्संबध्यते । खल्ली = हस्तपदावमोटनम्, वातकण्टको = गुल्फाश्रितो वातः, अलाघव इति पूर्वमुक्तेऽपि पुनर्गौरववचनमङ्गानां गुरुतरत्वप्रतिपादनार्थम्, अलाघववचनं तु लाघव प्रतिषेधमात्रप्रयोजनम् नाति गुरुत्वं ब्रूते, यतः सर्वत्र नञ् विरुद्धे न वर्तते, यतः "अरुक्षमनभिष्यंदि त्वासीनप्रचलायितम्" (सू० अ० २१) इत्यत्र न ह्यरूक्षशब्देन स्निग्धत्वमभिप्रेतम्, किंतर्हि, रूक्षताप्रतिषेधमात्रमेव ॥ चक्रपाणिः ॥

मुख्य कर्मणः प्राक् पश्चात् आदौ अन्ते च स्वेदन योग्यानां वर्णनम्

येषां नस्यं विधातव्यं बस्तिश्चैव हि देहिनाम् ।
शोधनीयाश्च ये केचित् पूर्वं स्वेद्यास्तु ते मताः ॥

पश्चात् स्वेद्या हृते शल्ये मूढगर्भाऽनुपद्रवा ।
सम्यक् प्रजाता काले या पश्चात् स्वेद्या विजानता ॥
स्वेद्यः पूर्वं च पश्चाच्च भगन्दर्यर्शसस्तथा ।
अश्मर्या चातुरो जन्तुः शेषाञ्छास्त्रे प्रचक्ष्महे ॥
सु० चि० ३२।१७-१९ वंगसेन स्वेदाधि०, भावप्रकाश, चक्रदत्तः ॥

स्वेदयेत हनुस्तम्भमायाममपि चादितम् ।
पार्श्वं रोगं च गुल्मं च वातव्याधींश्च सर्वशः ॥

भेल सं० सू० २१।६

स्वरभेदप्रतिश्यायगलग्रहशिरोरुजि ।
मन्याकर्ण शिरः शूले गौरवे श्वासकासयोः ॥
कुक्षिपार्श्वकटीपृष्ठविड्ग्रहे मूत्रयक्ष्मणि ।
शुक्राघाते पक्षवधे कोष्ठानाह विबन्धयोः ॥
विनामादितजृम्भासु हनुमन्याशिरोग्रहे ।
अङ्गमर्दे महत्त्वे च वेपथौ वातकण्टके ॥
शीतशोथामखल्लीषु पाणिपादाङ्गमारुते ।
आयाम क्षेपशूलादौ स्वेदः पथ्यतमो नृणाम् ॥

का० सू० २३/२१-२४

श्वासकासप्रतिश्यायहिध्माऽऽध्मानविबन्धिषु ।
स्वरभेदानिलव्याधि पक्षाघातापतानके ।
अंगमर्दकटीपार्श्वपृष्ठकक्षिहनुग्रहे ।
महत्त्वे मुष्कयोः खल्यामायामे वातकण्टके ।
मूत्रकृच्छ्रार्बुदग्रन्थिशुक्राघाताढ्यमारुते ॥
वेपथुश्वयथुस्वापस्तम्भजृम्भाङ्गगौरवे ।
कर्णमन्याशिरः कोष्ठ जंघापादोरुरुक्षु च ।
स्वेदं यथायथं कुर्यात्तदौषध विभागतः ॥

अ० सं० सू० २६।३२-३५; अ० हृ० सू० १७।२२

श्वासकासादयस्त्ववश्यं स्वेद्याः । एषां च श्वासकासादीनां यथायथं स्वेदं कुर्यात् । कथं आह । तदौषधा विभागतः । तेनैतदुक्तं भवति । यदा श्वासे स्वेद उपयुज्यते तदा श्वासोक्तैरेवौषधैः स्वेद उपयोज्यः । एवं कासादीनामपि स्वैः स्वैरौषधैर्वाच्यम् । ग्रहशब्दस्य कट्यादिभिः सम्बन्धः । शुक्राघातः शुक्ररोधः । रुक्शब्दस्य कर्णादिभिः सम्बन्धः ॥ इन्दुः ॥

शूलशोफातुरे वाते शीतश्लेष्मातुरेषु च ।
एतेषां शस्यते स्वेदो नराणां सुखदायकः ॥

हा० सं० चि० ४।३

स्तैमित्यशूलकाठिन्यविबन्धानाहवाग्ग्रहैः ।
हृल्लासारुच्यलसकशीतासहनवेपनैः ॥

का० सं० सू० २२।६

हि० व्या०—स्वेद के योग्य रोग तथा रोगी—चरक के अनुसार—प्रतिश्याय, कास, हिचकी, श्वास रोग, स्रोतों के कफ से आवृत हो जाने के कारण शरीर में गुरुता, कर्णशूल, मन्याशूल, शिरःशूल, स्वरभेद, गलग्रह, अर्दित एकाङ्गवात, सर्वाङ्गवात, पक्षाघात, विनामक, धनुस्तम्भ, कोष्ठ आनाह, विबन्ध, मूत्राघात, विशेष जंभाई आना, पार्श्वग्रह, पृष्ठग्रह, कटीग्रह, कुक्षिग्रह, गृध्रसी, मूत्रकृच्छ, अण्डकोषवृद्धि, अङ्गमर्द, पाद, जानु, ऊरु, जंघा इन अङ्गों में शूल, जकड़ाहट, शोथरोग, आमदोष, शीतजन्यरोग, कम्पवात, वातकण्टक, अंगों का सङ्कोच, अन्तरायाम, बहिरायाम, सर्वांङ्गवात, अङ्गस्तम्भ, गुरुता और शून्यता होने पर स्वेदनकर्म किया जाता है। आचार्य सुश्रुत के अनुसार—जिन लोगों को नस्य और वस्तिकर्म करना हो और जो शोधन के योग्य हों उनको प्रधानकर्म के पहले स्वेदन करना चाहिए। शल्यक्रिया के पश्चात्, अनुपद्रव मूढ़गर्भ तथा सुखपूर्वक काल प्रसवा स्त्री का प्रधानकर्म के पश्चात् स्वेदन कराना चाहिए। भगन्दर, अर्श, अश्मरी में रोगी को प्रधानकर्म के पहले और पश्चात् स्वेदन करना चाहिए। आचार्य काश्यप ने यक्ष्मा रोग में स्वेदन कराने का भी विशेष विचार व्यक्त किया है।

विशेष—सुश्रुत में स्वेदन योग्य व्यक्तियों का उल्लेख करते हुए स्वेदन कर्म की रोगानुसार उपयोगिता का समय बताया है।

(१) प्रधान कर्म से पूर्व स्वेदन योग्य रुग्ण।
(२) प्रधान कर्म के पश्चात् स्वेदन योग्य रुग्ण।
(३) प्रधान कर्म के पूर्व एवं पश्चात् स्वेदन योग्य रुग्ण।

अस्वेद्यानां वर्णनम्

कषायमद्यनित्यानां गर्भिण्या रक्तपित्तिनाम् ।
पित्तिनां सातिसाराणां रूक्षाणां मधुमेहिनाम् ॥
विदग्धभ्रष्टभ्रघ्नानां विषमद्यविकारिणाम् ।
श्रान्तानां नष्टसंज्ञानां स्थूलानां पित्तमेहिनाम् ।
तृष्यतां क्षुधितानां च क्रुद्धानां शोचतामपि ।
कामल्युदरिणां चैव क्षतानामाढ्यरोगिणाम् ।
दुर्बलातिविशुष्काणामुपक्षीणौजसां तथा ।
भिषक्तैमिरिकाणां च न स्वेदमवतारयेत् ।

च० सू० १४।१६-१९

अस्वेद्यानाह—कषायेत्यादि । कषायद्रव्यकृतं मद्यं कषायमद्यं, किंवा कषायशब्दोऽमधुरवचनः, तेन यदुच्यते—कषायनित्यस्य वातप्रधानता स्यात्

वातकारित्वात्, वाते च स्वेदो विहित एव तत्कथं कषायनित्यं प्रति स्वेदनिषेध इति ? तन्निरस्तम् । किंवा कषायनित्या रूक्षातिस्तब्धगात्रा भवन्ति कषायस्य विरूक्षकस्तम्भकत्वेन, ततश्च तेषां स्वेदः पर्वभेदमावहतीत्यतः कषायनित्यनिषेधः । रक्तपित्तिनामविधानादेव स्वेदे निषिद्धे, पुनः स्वेदनिषेधो रक्तपित्तिनां यद्यन्योऽपि स्वेदसाध्यो वातश्लेषमजो विकारो भवति तत्रापि स्वेदनिषेधार्थम्, तथा रक्तपित्तिनां वमनविरेचनाङ्गतया प्राप्तस्वेदप्रतिप्रसवनिषेधार्थं च । एवं पित्तमेहि कामल्यादिष्वपि व्याख्येयम् । पित्तिनामिति पित्तप्रकृतीनां, मधुमेहशब्देन सर्व एव मेहाः गृह्यन्ते, मधुमेहशब्दो हि सर्वेष्वेव मेहेषु च सर्वेष्वेव शरीरशैथिल्यप्रवृत्तेषु विशेषतः शरीरशैथिल्यहेतुत्वेन स्वेदो न युज्यते, पित्तमेहिनामिति तु पुनरभिधानं पित्तसंबन्धेन विशेषप्रतिषेध दर्शनार्थम् । ब्रघ्न गुदः । मद्यविकारिणामिति मद्यनित्यस्य वातकफजमदात्यये स्वेदनिषेधार्थम्, आढ्यरोगीह वातरक्ती; एषु चाऽस्वेद विषयेषु यदि स्वेदैकसाध्यः सन्यासादिर्भवति तदा महाप्रत्यवाय भयादल्पप्रत्यवायमुपेक्ष्यापि स्वेदो विधेय इति न्यायसिद्धमेव, यदाहुर्न्यायविदो—'यद् भूयोविरोधे स्वल्पमन्याय्यम्' इति ॥ चक्रपाणिः ॥

पाण्डुमेही पित्तरक्ती क्षयार्तः
क्षामोऽजीर्णी चोदरार्तो विषार्तः ।
तृड्च्छर्द्यार्तो गर्भिणी पीतमद्यो
नैते स्वेद्या यश्च मर्त्योऽतिसारी ।
स्वेदादेषां यान्ति देहा विनाशं
नोसाध्यत्वं यान्ति चैषां विकाराः ॥

सु० चि० अ० ३२।२५

पिपासुं वा न सक्तं च गर्भिणीं कुक्षिरोगिणीम् ।
सर्वांश्च पित्तजान् व्याधीन् कः स्वेदैः समुपाचरेत् ॥

भे० सं० सू० २२।१२

तीव्रज्वरे दाहशोषे तथातीसारपीडिते ।
मूर्च्छाभ्रमदाहार्ते च विषे स्वेदं न कारयेत् ॥

हा० सं० चि० ४।२

पित्तात्मा पित्तरोगी च गर्भिणी मधुमेहिनः ।
क्षुतृष्णाशोषरोषार्ताः कामल्युदरिविक्षताः ।
कार्श्यमद्यविषार्ताश्च भृशाग्नितिमिरस्तृताः ।
भ्रष्टभग्नविदग्धाङ्गा न स्वेद्यास्ते कथंचन ॥

का० सं० सू० २३।१९-२०

न स्वेदयेदतिस्थूलरूक्षदुर्बल मूर्च्छितान् ।
स्तम्भनीयक्षतक्षीण क्षाममद्यविकारिणः ॥

तिमिरोदरवीसर्पकुष्ठरोगाद्यरोगिणः ।
पीतदुग्धदधिस्नेहमधून्कृतविरेचनान् ।
भ्रष्टदग्ध गुदग्लानि क्रोधशोक भयार्दितान् ।
क्षुत्तृष्णाकामलापाण्डुमेहिनः पित्तपीडितान् ।
गर्भिणीं पुष्पितां सूतां मृदुचात्ययिके गदे ॥

अ० सं० सू० २६।२९-३१; अ० हृ० सू० १७।२१; चक्रदत्त

न स्वेदयेदित्यादिना स्वेद प्रतिषेध उच्यते । यः स्तम्भनीयत्वेनोक्तः स न स्वेद्यः । मद्यविकारो मदात्ययोक्तो ध्वंसकविक्षयादिः । आढ्यरोगो वातशोणितम् । पीतदुग्धादयो यैस्तैस्तत्कालमजीर्णे दुग्धादौ स्वेदो वर्जनीयः । कृतविरेचनस्यावललाभात् स्वेदो न योज्यः तथा भ्रष्टगुदान्दग्धगुदांश्च क्षारादिना न स्वेदयेत् । अतिस्थूलादयः सूतान्ता न स्वेद्या इति यद्यप्युक्तं तथाप्यात्ययिके विषूचिकादौ स्वेदार्हे गदे अतिस्थूलादीन् मृदु स्वेदयेत् ॥ इन्दुः ।

अजीर्णी दुर्बली मेही क्षतक्षीणः पिपासितः ।
अतिसारी रक्तपित्ती पाण्डुरोगी तथोदरी ।
मेदस्वी गर्भिणी चैव न हि स्वेद्या विजानता ॥

भाव प्रका० स्वेदा०

हि० व्या०—स्वेदन कराते समय वैद्य को चाहिए कि जो व्यक्ति प्रतिदिन कषाय द्रव्यों का सेवन करते हैं तथा नित्य मद्य का सेवन करते हैं, गर्भिणी, रक्तपित्त रोगी, अतिसार रोगी, रूक्ष शरीर वाले, मधुमेह रोगी, किन्हीं कारणों से जिनकी गुदा दग्ध एवं जिन्हें गुदभ्रंश हो, विष सेवन एवं मदिरा सेवन से जिन्हें विकार हो गया हो, जिन्हें थकान हो, ज्ञान शून्य (संज्ञा नाश) हो, जिनमें स्थूलता हो, जो पित्तज प्रमेही हो, अधिक प्यास लगने वाले, भूख से व्याकुल, व्रणक्षत रोगी, अत्यधिक क्रोधी, शोक पीड़ित, कामला एवं उदर रोगी, आढ्यवात रोगी, अति दुर्बल, शुष्क देह वाले, जिनका ओज क्षीण हो गया हो तथा तिमिर रोग वालों को स्वेदन नहीं करावें ।

आचार्य सुश्रुत ने भी चरकोक्त वर्णित व्यक्तियों को स्वेदन नहीं कराने का उल्लेख करते हुए अजीर्ण एवं वमन से पीड़ित व्यक्ति को भी अस्वेद्य बताया है । इन व्यक्तियों को स्वेदन कराने से शरीर में हानि होती है तथा इनके विकार असाध्य हो जाते हैं ।

श्री हारीत ने तीव्रज्वर, दाह, मूर्च्छा, एवं भ्रमावस्था में भी स्वेदन नहीं करने का वर्णन किया है । श्री वाग्भट ने विसर्प, कुष्ठ रोगी, जिसने दूध, दही तथा मधुपान किया हो, विरेचन लिया हो, एवं ऋतुमती, प्रसूता को भी स्वेदन नहीं कराने का विचार प्रकट किया है ।

स्वेदैः साध्यो दुर्बलोऽजीर्ण भक्तः ।
स्यातां चेद् द्वौ स्वेदनीयौ ततस्तौ ॥ सु० चि० ३२।२६ (क)

स्वेदन योग्य रोग एवं रोगी तालिका

ग्रन्थों के नाम → / लक्षण ↓	चरक	सुश्रुत	काश्यप	अ० संग्रह	अ० हृदय	हारित	भेल
प्रतिश्याय	+	—	+	+	+	—	—
कास	+	—	+	+	+	—	—
हिक्का	+	—	—	+	+	—	—
श्वास	+	—	+	+	+	—	—
अंगगौरव	+	—	+	+	+	—	—
कर्णशूल	+	—	+	+	+	—	—
मन्याशूल	+	—	+	+	+	—	—
शिरः शूल	+	—	+	+	+	—	—
स्वर भेद	+	—	+	+	+	—	—
गलग्रह	+	—	+	+	+	—	—
पक्षाघात (अदित)	+	—	+	—	—	—	—
विनामक	+	—	+	—	—	—	—
कोष्ठ आनाह	+	—	+	+	+	—	+
विबन्ध	+	—	+	—	—	—	—
शुक्राघात	+	—	+	+	+	—	—
विशेष जृम्भा	+	—	+	+	+	—	—
पार्श्व ग्रह	+	—	+	+	+	—	—
पृष्ठ ग्रह	+	—	+	+	+	—	—
कटि ग्रह	+	—	+	+	+	—	—
कुक्षि ग्रह	+	—	+	+	+	—	—
मूत्रकृच्छ	+	—	+	+	+	—	—
मुष्करोग (महत्व)	+	—	+	+	+	—	—
अंगमर्द	+	—	+	+	+	—	—
पाद पीड़ा	+	—	—	—	+	—	—
उरु पीड़ा	+	—	—	—	+	—	—
शोथ रोग	+	—	—	—	+	—	—
खल्ली रोग	+	—	+	+	+	—	—
आम दोष	+	—	+	+	+	—	—
शीत जन्य रोग	+	—	+	+	+	—	—
कम्पवात	+	—	+	+	+	—	—
वातकण्टक	+	—	+	+	+	—	—
अन्तरायाम	+	—	+	+	+	—	+

बहिरायाम	+	—	+	+	+	—	+
अंगस्तम्भ	+	—	—	+	+	—	—

विशिष्ट विवरण विविध ग्रन्थानुसार

एकाङ्गवात	+	तस्य योग्य	शिरोरुजा	आध्मान	+	वात रोग	हनुस्तम्भ
सर्वांगवात	+	वस्ति योग्य	यक्ष्मा	वातव्याधि	+	श्लेष्मज रोग	वातव्याधि
गृध्रसी	+	वमन योग्य	हनुग्रह	अपतानक	—		गुल्म
जानुपीड़ा	+	विरेचन योग्य	शिरोग्रह	अर्बुद	+		
अंग संकोच	+	शल्यापहृत	मन्याग्रह	ग्रन्थि शोथ	+		
सर्वांग विकार	+	सम्यक् प्रसूता	आक्षेप	व्रण शोथ	—		
		अर्श	शूल	उदर शूल	—		
		अश्मरी		हनुगह	श्लेष्मरोग		
		मूढ़ गर्भ		आढ्यवात	हनुग्रह		
		नोट—वंगसेन, चक्रदत्त भावप्रकाश, शार्ङ्गधर में सुश्रुतवत् ।			आढ्यवात		

अस्वेदन योग्य रोग एवं रोगी तालिका

ग्रन्थ नाम / लक्षण	चरक सं०	वाग्भट	काश्प सं०	भेल संहिता	हारीत संहिता	भाव प्रकाश	शार्ङ्गधर संहिता	चक्रदत्त	सुश्रुत संहिता
मद्यसेवी	+	+	+	—	—	+	+	+	+
गर्भिणी स्त्री	+	+	+	+	—	+	+	+	+
रक्त पित्ती	+	—	+	—	—	—	—	—	+
अतिसार	+	—	—	—	+	+	+	—	+
रुक्ष व्यक्ति	+	+	—	—	—	—	—	+	—
मधुमेही	+	—	—	—	—	—	—	—	+
दग्ध	+	+	+	—	—	—	—	+	—
गुदभ्रंश	+	+	+	—	—	—	—	+	—
गुदव्रण	+	+	—	—	—	—	—	+	—
विष विकार	+	+	+	—	+	—	—	+	+
मूर्च्छा	+	+	—	—	+	—	—	+	—
स्थौल्य	+	+	—	—	—	—	+	+	+
पित्तज प्रमेह	+	+	+	—	—	—	—	+	—

तृषित	+	+	+	+	—	+	+	+	+
क्रुद्ध	+	+	+	—	—	—	—	+	—
चिन्ताग्रस्त	+	+	+	—	—	—	—	+	—
कामला	+	+	—	—	—	+	+	—	—
उदर रोग	+	+	—	—	—	—	—	+	+
क्षत	+	+	—	—	—	+	+	+	—
वातरक्त	+	+	—	—	—	+	+	+	—
दुर्बल	+	—	—	+	—	—	—	—	+
तिमिर रोग	+	+	+	—	—	—	—	+	—
मद्यजन्य रोग	+	—	+	—	—	—	—	—	—
श्रान्त रोगी	+	—	—	—	—	—	—	—	—
क्षुधित	+	—	—	—	—	—	—	—	—
विशुष्क	+	—	—	—	—	—	—	—	—
ओज: क्षय	+	—	—	—	—	—	—	—	—
पाण्डु रोग	—	—	—	—	—	—	—	—	+
क्षय रोग	—	—	—	—	—	—	—	—	+
छर्दि रोग	—	—	—	—	—	—	—	—	+
अजीर्ण रोग	—	—	+	—	—	—	—	—	+

अत्ययिक रोग	—	+	—	—	—	—	—	+	—
प्रसूता	—	+	—	—	—	—	—	+	—
रजस्वला	—	+	—	—	—	—	—	+	—
पित्तजरोग	—	+	—	—	—	—	—	+	—
पाण्डु	—	+	—	—	—	—	—	+	—
भय ग्रस्त	—	+	—	—	—	—	—	+	—
शोक ग्रस्त	—	+	—	—	—	—	—	+	—
विसर्प	—	+	—	—	—	—	—	+	—
कुष्ठ	—	+	—	—	—	—	—	+	—
दुग्धपीत	—	+	—	—	—	—	—	+	—
दधिपीत	—	+	—	—	—	—	—	+	—
स्नेह पीत	—	+	—	—	—	—	—	+	—
विरेचित	—	+	+	—	—	—	—	+	—
भृशाग्नि	—	—	+	—	—	—	—	+	—
अस्थिभग्न	—	—	+	—	—	—	—	+	—
पित्तजन्य समस्त रोग	—	—	—	+	—	—	—	—	—
कुक्षिरोग की रुग्ण	—	—	—	+	—	—	—	—	—
तीव्र ज्वर	—	—	—	—	+	—	—	—	—

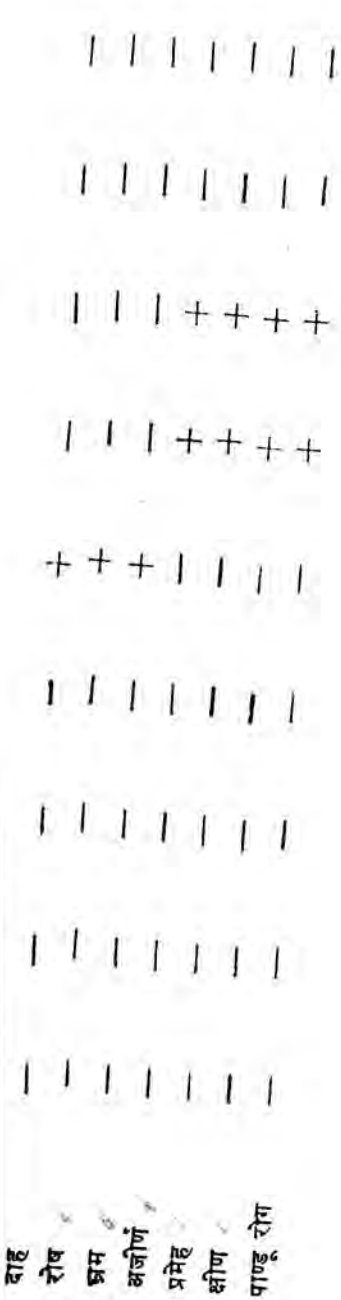

एतान्यपि मृदुस्वेदैः स्वेदसाध्यानुपाचरेत् ।

भावप्र०

हि० व्या० यदि दुर्बल मनुष्य और अजीर्णावस्था में जिसने भोजन कर लिया है तथा स्वेदसाध्य व्याधि से ग्रस्त है तो दोनों रोगियों का स्वेदन करना चाहिए। श्री वाग्भट ने भी (अ० हृ०) अस्वेद्य रोगियों की गणना करके अन्त में "मृदु चात्ययिके गदे" से आवश्यक स्वेद्य रोगी में मृदु स्वेद कराना लिखा है।

स्वेदन काले विचारणीय विषयाः

स्नेहक्लिन्न शरीराय तैलाभ्यक्ताय देहिने ।
क्षोपानार्तवकालज्ञो ध्यानस्वेदं प्रयोजयेत् ॥

वंगसेन स्वेदा० ४

हि० व्या०—स्नेहपान से शरीर स्निग्ध हो गया हो और शरीर में तैल का अभ्यंग कर लिया हो, ऐसे व्यक्तियों को ऋतु काल और रोग को जानने वाले (दक्षवैद्य) विधिवत् स्वेदन कराए।

स्वेदफलप्राप्तये रोगर्तुव्याधितादीनां परीक्षणम्

रोगर्तु व्याधितापेक्षो नात्युष्णोऽतिमृदुर्न च ।
द्रव्यवान् कल्पितो वेशे स्वेदः कार्यकरो मतः ॥

च० सू० १४।२

रोगमृतुं व्याधितं च बलवत्त्वादिनाऽपेक्षत इति रोगर्तुव्याधितापेक्षः। नात्युष्णो नाति चण्डतापः, द्रव्यवानिति स्निग्ध रूक्षादिद्रव्यवान्, कल्पित-इति रोगादीनपेक्ष्य यथोचितेन द्रव्येण, देशे आमाशयादौ यथायोग्यतया सम्पादित इति मन्तव्यम् ॥

चक्रपाणिः ॥

स्वेद के उचित गुण प्राप्त हेतु परीक्ष्य भाव

हि० व्या०—रोग ऋतु और रोगी के बलाबल की जानकारी कर, न अधिक उष्ण और न मृदु, दोषों के अनुसार तत्तद्दोषनाशक द्रव्यों से कल्पना (योग) बनाकर, शरीर के रुग्ण भाग में या सम्पूर्ण शरीर में जितना स्वेद अपेक्षित हो उसी मात्रा में स्वेदन करने से लाभकारी होता है।

बालकस्य शरीरे स्वेदमात्रा प्रयोगभेदे युक्तिः

अविशेषेण बाधन्ते सर्वे सर्वान्नरान् गदाः ।
विशेषस्तु महान् वृष्टो दक्षिणाहार भेषजे ॥
देशकालवयोमात्रासर्वरुग्गुरुलाघवैः ।
स्वेदोऽतिरिक्तो हीनो वा हन्याद्बालं यथा विषम् ॥

तस्मादवेक्ष्य देशादीन् काठीन्यं सुकुमारताम् ।
शिशोः स्वेदं प्रयुञ्जीत यशोधन्यार्थ सिद्धये ॥

का० सं० सू० २३।३१-३३

हि० व्या०—सभी प्रकार के रोग सभी प्रकार के व्यक्तियों को समान रूप से बाधा पहुँचाते रहते हैं। विशेषता तो धन, आहार एवं औषध में ही होती है।

देश, काल, आयु, मात्रा एवं सभी प्रकार के विकारों की गुरुता एवं लघुता का विचार करते हुए स्वेदन कराना चाहिए क्योंकि अतिस्वेद एवं हीन स्वेद विष के समान बालक के लिए मारक होता है। अतः यश, धन और चिकित्सा की सफलता के लिए बालकों में सावधानी पूर्वक स्वेदन कराना चाहिए।

हृदयादि शरीराङ्गविशेषाणां मृदुस्वेद विधानम्

वृषणौ हृदयं दृष्टी स्वेदयेन्मृदु नैव वा।
मध्यमं वंक्षणौ शेषमङ्गावयवमिष्टतः ॥

च० सू० १४।१०

एतेषां स्वेद साध्या ये व्याधयस्तेषु बुद्धिमान् ।
मृदून् स्वेदान् प्रयुञ्जीत तथा हृन्मुष्कदृष्टिषु ॥

सु० चि० ३२।२६

वृषणौ हृदयं चक्षुर्मृदु वा स्वेदयेन्न वा।
शेफो वङ्क्षणसन्धीस्तु मध्यमं शेषमिष्टतः ॥

का० सू० २३।९

अल्पं वंक्षणयोः स्वल्पं वृङ्मुष्क हृदये न वा ॥

अ० सं० सू० २६।२०, अ० हृ० सू० १७।१३

मृदुनैव वेति। स्वेदैकसाध्ये वृषणादिगते व्याधौ मृदुस्वेदव्यतिरिक्तोपान्तरसंभवे तु नैव वेति बोद्धव्यम्। इष्टतः इत्यातुरेच्छातो वैद्येच्छातश्च। इष्टतः इति भावक्तादिच्छावचनः। चक्रपाणिः ॥

हि० व्या०—वृषण (फलकोष), हृदय तथा नेत्र का स्वेदन नहीं करना चाहिए, अगर करना आवश्यक हो तो मृदु स्वेद करना चाहिए। वंक्षण प्रदेश में मध्यम स्वेद करना चाहिए। शेष अंगों में रोग और रोगी का विचार करके स्वेद करना चाहिए। अन्य आचार्यों के विचार भी समान हैं।

सर्वाङ्गस्वेदे नेत्रयोः हृदयस्य रक्षा संकेतः

सुशुद्धैर्नक्तकैः पिण्ड्या गोधूमानामथापि वा।
पद्मोत्पलपलाशैर्वा स्वेद्यः संवृत्य चक्षुषी ॥
मुक्तावलीभिः शीताभिः शीतलैर्भाजनैरपि।
जलार्द्रैर्जलजैर्हस्तैः स्विद्यतो हृदयं स्पृशेत् ॥ च० सू० १४।११

... ...शीतैराच्छाद्यचक्षुषी ॥

सु० चि० ३२।२७

स्विद्यमानस्य च मुहुर्हृदयं शीतलैः स्पृशेत् ॥

सु० चि० ३२।२८

शीतैर्मुक्तावलीपद्म कुमुदोत्पलभाजनैः।
मुहुः करैश्च तोयार्द्रैः स्विद्यतो हृदयं स्पृशेत् ॥

अ० सं० सू० २६।२१-२२

स्वेदे क्रियमाणे चक्षुषः स्वेदे परिहारोपायमाह-सुशुद्धैरित्यादि। नक्तकः कर्पटावयवः। स्वेदे क्रियमाणे हृदयरक्षणार्थमाह-मुक्तावलीत्यादि। जलजानि पङ्कजादीनि; एवमस्वेद्यत्वसामान्यत्वाद् वृषणरक्षाऽप्युन्नेतव्या, प्राधान्यात् हृदयचक्षुः पालनमुक्तम्। चक्रपाणिः।

कुमुदोत्पलपद्मानां पत्रैराच्छाद्य लोचने।
वाससा वाऽथ श्लक्ष्णेन बाले स्वेदं प्रयोजयेत् ॥
मुक्तावलीचन्द्रकान्तशीताम्बुकरभाजनैः।
स्पृशेदभीक्ष्णं हृदयं बालस्य स्वेदकर्मणि ॥

का० सं० सू० २३।१०-११

... ... शीतैराच्छाद्य चक्षुषी।
स्वेद्यमानशरीरस्य हृदयं शीतलैः स्पृशेत् ॥

भावप्रकाश स्वेदा०

तथा पद्मोत्पलादिभिः स्वभावशीतैः सक्तुपिण्ड्या वा चक्षुषी आच्छाद्य मुक्तावल्यादिभिः शीतसंस्कारेण शीततरैर्हृदयं संस्पृशेत्। स्वेदस्य सम्यग्योगातियोगलक्षणं चिकीर्षुरिदमाह ॥ इन्दुः ॥

हि० व्या०—सम्पूर्ण शरीर का स्वेदन कराते समय यत्नपूर्वक नेत्र एवं हृदय की रक्षा करने का विधान लिखा है। नेत्रों को अच्छी प्रकार स्वच्छ कपड़े के टुकड़े से ढककर या जौ-गेहूँ के पिण्ड से अथवा कमल, नीलकमल या पलाश पत्र से ढक कर स्वेदन करावें।

इसी प्रकार हृदय की रक्षा में शीतल मोतियों की माला से या शीतल बर्तन (काँसे आदि) से अथवा जल में भीगे कमलों से या जल में हाथ भिगो कर स्वेदन किए जाने वाला रोगी के हृदय को स्पर्श करें। आचार्य सुश्रुत वाग्भट एवं आचार्य काश्यप का विचार भी समान है।

स्वेदन समये हृदयोत्क्लेशनिवारणोपचारः

कर्पूरचूर्णं धारयेत् स्विद्यतः सुखम्।
फलाम्लयुक्तं खण्डं वा मृद्वीकां वा सशर्कराम् ॥

का० सं० सू० २३।१२

हि० व्या०—आचार्य काश्यप के अनुसार स्वेदन काल में मुख में कर्पूर चूर्ण धारण करना चाहिए। अथवा खाड्युक्त अम्लफल, शर्करायुक्त मुनक्का मुख में रखना चाहिए। इससे शीतलता का अनुभव होता है और स्वेदन से रोगी को बेचैनी नहीं होती।

सम्यक् स्विन्नस्य स्वेदप्रयोगकालावधेश्च वर्णनम्

शीतशूलव्यूपरमे स्तम्भगौरवनिग्रहे।
संजाते मार्दवे स्वेदे स्वेदनाद्विरतिर्मता॥
च० सू० १४।१३, चक्रदत्त: स्वेदा०, भावप्र० स्वेदा०,

शीतगौरवविष्टम्भशूलादीनां निर्वतने।
तद्विपर्ययभावे च स्वेदं प्राज्ञो निवर्तयेत्॥ का० सू० २३।१३

शीतशूलक्षये स्विन्नो जातेऽगानां च मार्दवे।
स्याच्छन्नंमृदितः स्नातस्ततः स्नेहविधिं भजेत्॥
अ० सं० सू० २६।२२, अ० हृ० सू० १७।१४

शीतशूलेत्यादौ स्वेदे इति=स्वेदभव धर्मे, स्वेदनाद्विरतिर्मतेत्युपदिशन् शीतादिव्युपरमे सति स्वेदो निवर्तनीयः, शीताद्यनुपमे च स्वेदः कर्तव्य इति द्वयमुपदिशति; ततश्च, इतएव स्वेदनिवृत्तिविषयशीतादिव्युपरमोत्पाद, स्वेदस्य सम्यग्योगलक्षणं तथा शीतादिव्युपरमानुत्पादश्च स्वेदानिवृत्तिविषयोऽयोगलक्षणमूक्तं भवतीति नाऽयोगलक्षणानभिधानमुद्भावनीयम्॥ चक्रपाणिः॥

शीतशूलेत्यादि। शीतशूले च क्षीयमाणे मार्दवे चाङ्गानां जाते पुरुषः सम्यक् स्विन्नः स्यादिति सम्यग्योगः। एवं विधे लक्षणेऽधिगतेऽनन्तरं पुरुषो मृदितः स्नातः सन् उष्णोदकोपचारीत्यादिकं स्नेहविधिं भजेत्। इन्दुः॥

हि० व्या०—उचित रूप से स्वेदन हो जाने पर रोगी के शरीर में शीतलता की निवृत्ति होती है। शूल की शान्ति होती है। शरीर की जकड़ाहट और गुरुता दूर हो जाती हैं। रोगी हल्कापन एवं प्रसन्नता का अनुभव करता है। इन लक्षणों से उचित स्वेदन का निर्णय कर स्वेदन कर्म बन्द कर देना चाहिए। आचार्य काश्यप एवं वाग्भट का भी यही विचार है। वाग्भट ने इन लक्षणों को देखकर रोगी के शरीर पर मृदु मालिश कर पश्चात् सुखोष्ण जल से स्नान कर पथ्यपालन का विशेष विचार व्यक्त किया है।

स्वेदास्रावो व्याधिहानिर्लघुत्वं
शीतार्थित्वं मार्दवं चातुरस्य।
सम्यक्स्विन्ने लक्षणं प्राहुरेत-
न्मिथ्यास्विन्ने व्यत्ययेनेतदेव॥
सु० चि० ३२।२३

१. मिथ्यास्विन्ने व्याधिवृद्धिः, देहस्य गुरुत्वम्, उष्णाभिलाषः, देहस्य काठिन्यं च। डल्हणः॥

स्वेदाभिनन्दिता सौख्यं मृदुता रोगदेहयोः।
काले विसृष्टिः क्षुत्तृष्णा सम्यक् स्विन्नस्य लक्षणम्॥
का० सं० सू० २३।१८

स्पर्शसौख्यमवैवर्ण्यं स्वेदोऽङ्गेषु च मार्दवम्।
शीताभिनिर्गमश्चैव सम्यक् स्विन्नस्य लक्षणम्॥
भे० सं० सू० २२।६

हि० व्या०—सम्यक् स्वेदन के लक्षण—रोगी के शरीर से स्वेद (पसीना) का निर्गमन (निकलना), रोग का नाश, शरीर में लघुत्व (हल्कापन), शीतल आहार विहार की आकांक्षा, शरीर का कोमल होना, आदि लक्षण सम्यक् स्वेदन हो जाने पर देखा जाता है। मिथ्या स्वेदन होने पर इनके विपरीत लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। आचार्य काश्यप ने सम्यक् स्वेदन होने पर भूख, प्यास का लगना एवं समय पर मलमूत्र की प्रवृत्ति ये दों लक्षण विशेष रूप से (सुश्रुत की अपेक्षा अधिक) निर्दिष्ट किये हैं। आचार्य भेल ने अन्य लक्षण सुश्रुत एवं काश्यप के समान ही निर्दिष्ट किये है किञ्च 'अवैवर्ण्य' ऐसा लिखकर उन्होंने शरीर को कान्तिमान् होने का विचार व्यक्त किया है।

मन्द स्विन्न लक्षणानि तत्र चिकित्सा च

उद्वेष्टनं दारुणता गुरुत्वं स्तब्धगात्रता।
मरुतश्चाप्रसिद्धिश्च न तत् स्विन्नस्य लक्षणम्॥
भे० सं० सू० २२।८

वातस्याप्रगुणत्वं च गुरुत्वं स्तब्धगात्रता।
मन्दस्विन्ने न च ग्लानिस्तृष्णादीनां च विभ्रमः॥
तत्र स्वेदं प्रयुञ्जीत भिषग्भूयो विचारयन्।
बलकालवयो दोषान् पथ्यचेष्टासनस्थितिः॥
का० सं० सू० अ० २३।१६-१७

हि० व्या० —स्वेदन के अल्पमात्रा में होने पर वायु का अनुलोमन नहीं होता, शरीर में भारीपन, जकड़न अनुभव होती है। ग्लानि होती है और तृष्णा शान्त नहीं होती। अतः सम्यक् स्वेदन नहीं होने पर चिकित्सक का कर्तव्य है कि रोगी के बल, काल, (ऋतु) अवस्था, दोष, चेष्टा तथा पथ्यापथ्य का विचार करते हुए पुनः स्वेदन करावें।

अतिस्विन्न लक्षणम् तस्य चिकित्सा च

पित्तप्रकोपो मूर्च्छा च शरीरसदनं तृषा।
दाहः स्वराङ्ग दौर्बल्यमतिस्विन्नस्य लक्षणम्।

उक्तस्तस्याशितीये यो ग्रैष्मिकः सर्वशो विधिः ॥
सोऽतिस्विन्नस्य कर्तव्यो मधुरः स्निग्धशीतलः ॥
स्विन्नेत्यर्थं सन्धिपीडा विदाहः
स्फोटोत्पत्तिः पित्तरक्तप्रकोपः ॥
मूर्च्छा भ्रान्तिर्दाहतृष्णे क्लमश्च
कुर्यात्तूर्णं तत्र शीतं विधानम् ॥

सु० चि० ३२।२४, चक्रदत्त, वंगसेन

अतिस्विन्नस्य चिकित्सामाह-उक्त इत्यादि। ग्रैष्मिकविधिरित्यनेन लब्धे शैत्ये पुनर्मधुरः शीतल इत्यादि वचनम्, "मद्यमल्पं न वा पेयम् (सू० अ० ६) इत्यत्रोपदिष्टमद्यपानस्य प्रतिषेधार्थम् मधुरशीतादियोगविशेष विधानार्थं च ॥

(चक्रपाणिः)

पित्तप्रकोपो दाहश्च तृष्णा मूर्च्छा विलायनम्।
स्वेदद्वेषोऽङ्गरागश्चेत्यतिस्विन्नस्य लक्षणम् ॥
अतिस्विन्ने विशेषेण कारयेच्छीतलां क्रियाम्।
अथवा शीतलैर्वाथ क्षीरैः सिञ्चेद् घृतेन वा ॥

भेल सं० सू० २२।११

विषादमूर्च्छातृड्दाहपित्तकोपारतिभ्रमाः।
स्वराङ्गहानिर्वह्ल्यमतिस्विन्नस्य लक्षणम् ॥
तच्चिकित्सां प्रयुञ्जीत यथा वैसर्पिणां तथा।
रागव्रणविसंज्ञाभिः कृच्छ्रसाध्यं तमादिशेत् ॥

का० सं० सू० २३।१४-१५

पित्तास्रकोपतृष्मूर्च्छास्वरांगसदनभ्रमाः।
सन्धिपीडाज्वरःश्यावरक्तमण्डलदर्शनम्।
स्वेदातियोगाच्छर्दिश्च तत्र स्तम्भनमौषधम्।
विषक्षाराग्न्यतीसारच्छर्दिमोहातुरेषु च ॥

अ० सं० सू० २६।२४, अ० हृ० सू० १७।१५

स्वेदस्यातियोगात्तु पित्तास्रकोपादयो भवन्ति। सदनशब्दः स्वराङ्गाभ्यां सम्बध्यते। श्यावानि रक्तानि च मण्डलान्यग्रतः आतुरः पश्यति। तत्र स्वेदातियोगरोगोद्भवे वक्ष्यमाणं स्तम्भनमौषधं भवति ॥ इन्दुः।

अति स्वेदात्सन्धिपीडा दाहतृष्णाक्लमो भ्रमः।
पित्तासृक्प्लिडकाकोपस्तत्र शीतैरुपाचरेत् ॥

भावप्र०

अतिस्विन्न नराणां च शीताम्बुप्राशनं हितम्।
स्नानमुष्णाम्बुना चापि ह्यनभिष्यंदि भोजनम् ॥

वंगसेन

हि० व्या०—स्वेदन का अतियोग—अधिक मात्रा में स्वेदन का प्रयोग होने पर पित्तप्रकोप होता है, मूर्च्छा, शरीर में अवसाद, प्यास अधिक लगना, शरीर में जलन, अधिक स्वेद (पसीना) आना, स्वर में क्षीणता, अंगों में दुर्बलता, इन लक्षणों से स्वेदन के अतियोग का निर्णय होता है। महर्षि सुश्रुत के अनुसार स्वेदन के अति योग की अवस्था में (चरक के लक्षणों के अतिरिक्त) शरीर की सन्धियों में पीड़ा होना स्फोटोत्पत्ति और रक्तप्रकोप ये विशेष लक्षण बताये हैं। आचार्य वाग्भट ने इन लक्षणों के अतिरिक्त वमन होने का लक्षण भी निर्दिष्ट किया है। अन्य आचार्यों के मत समान हैं।

अतियोग की चिकित्सा

स्वेदन के अतियोग की चिकित्सा का निर्देश करते हुए आचार्य चरक ने 'तस्याशितीय' अध्याय में विहित ग्रीष्म ऋतुचर्या का उल्लेख किया है एवं मधुर, स्निग्ध और शीतल चिकित्सा करने का निर्देश किया है। अन्य आचार्यों ने भी यही विचार व्यक्त किये हैं केवल आचार्य वाग्भट ने स्तम्भन चिकित्सा का निर्देश किया है।

दिवा शीतगृहे निद्रां निशिचंद्रांशु शीतले।
भजेच्चन्दनदिग्धाङ्गः प्रवाते हर्म्यमस्तके ॥
व्यजनैः पाणिसंस्पर्शैं चन्दनोदकशीतलैः।
सेव्यमानो भजेदास्यां मुक्तामणिविभूषितः ॥
काननानि च शीतानि जलानि कुसुमानि च।
ग्रीष्मकाले निषेवेत मैथुनाद् विरतो नरः ॥

च० सू० ६।३०-३२

सरांसि सरितो वापीर्वनानि रूचिराणि च।
चन्दनानि परार्ध्याणि स्रजः सकमलोत्पलाः ॥
तालवृन्तानिलाहारांस्तथा शीतगृहाणि च।
घर्मकाले निषेवेत वासांसि सुलघूनि च।
शर्कराखण्डदिग्धानि सुगन्धीनि हिमानि च।
पानकानि च सेवेत मन्थांश्चापि सशर्करान्।
भोजनं च हितं शीतं सघृतं मधुरद्रवम्।
घृतेन पयसा रात्रौ शर्करा मधुरेण च ॥
प्रत्यग्रकुसुमाकीर्णे शयने हर्म्यसंस्थिते।
शयीत चन्दनाङ्गार्द्रः स्पृश्यमानोऽनिलैः सुखैः ॥

सु० उ० त० ६४।४०-४५

स्वेदनान्ते आहार-विहारादि वर्णनम्

स्निग्धः स्वेदैरुपक्रम्यः स्विन्नः[1] पथ्याशनो भवेत् ।
तदहः स्विन्नगात्रस्तु व्यायामं वर्जयेन्नरः ॥
सम्यक् स्विन्नं विमृदितं स्नातमुष्णाम्बुभिः शनैः ।
स्वभ्यक्तं प्रावृताङ्गं च निवातशरणस्थितम् ॥
भोजयेदनभिष्य[2]न्दि सर्वं चाचारमादिशेत् ॥
स्विन्नोऽन्नं पथ्यमश्नीयाद्दोष रोगानुरोधतः ।
तदहः स्निग्ध सर्वांगो व्यायामं सुतरां त्यजेत् ॥

हि० व्या० – स्निग्ध व्यक्ति को चाहिये कि स्वेदन कराने के उपरान्त सम्यक् स्वेदन हो जाने पर पथ्य का सेवन करे और उसी दिन से उसे व्यायाम का परिहार करना चाहिए ।

आचार्य सुश्रुत के अनुसार सम्यक् स्वेदन हो जाने पर शनैः शनैः मर्दन करें तथा उष्ण जल से स्नान करावें । अङ्गों को वस्त्रादि से ढककर वायु-रहित स्थान में रखें (ऐसा स्थान जहाँ सीधी वायु न आती हो) तथा इस प्रकार का आहार देवें जो अभिष्यन्दी न हो। साथ ही स्वेदन किए हुए व्यक्ति के लिए जिन आचार विचारों का एवं विहार का विधान बताया है उनका भी पालन करना चाहिए ।

सर्वान् स्वेदान्निवाते च जीर्णान्निस्यावचारयेत् ।
स्नेहाभ्यक्त शरीरस्य ... ...॥

सु० चि० ३२।१७

निवातेऽन्तर्बहिः स्निग्धो जीर्णान्नेस्वेदमाचरेत् ।
व्याधि व्याधित देशर्तुवशान्मध्य वरावरम्॥

अ० सं० सु० २६।१८, अ० हृ० सू० १७।६
वंगसेम स्वेदा०, चक्रदत्त स्वेदा०

---

१. स्विन्नेन यथा कर्तव्यं, तदाह-स्निग्ध इत्यादि । पथ्याशनो भवेदित्यत्र यद्यपि शृंगग्राहिकया नोक्तं, तथापि स्वेदप्रवृत्तिविषयदोषस्य यत्पथ्यं तदेव बोद्धव्यम् ॥ चक्रपाणिः ॥

२. सद्यो व्याधिकरणीयामवस्थां स्यन्दयत्यापादयति यद्द्रव्यं तदभिष्यन्दि, स्रोतसामुपलेपकारि वा, तद्विपरीतमनभिष्यन्दि ॥ डल्हणः

३, व्याधिषु स्विन्नः सन् पथ्यमन्नमश्नीयादित्यर्थः । तथा यश्च जेन्ताकादिना सर्वाङ्स्विन्नः सन् तदहः स्वेदोपयोगादिवसमेकं सुतरां व्यायामं वर्जयेत् । अग्रेऽवसुतरां ग्रहणम् ॥ इन्दुः ।

निवाते देशे स्वेदमाचरेत् । किंभूतः अन्तः स्नेह पानेन बहिश्चाभ्यंगादिना स्निग्धः । तथा जीर्णान्नः । यस्य ह्यस्तनमन्नं जीर्णम् । किं भूतं स्वेदमाचरेदित्याह व्याधित्यादिना । तेनैतदुक्तं भवति । व्याध्यपेक्षया च । यथाविध एव योग्यो मध्ये वा वर उत्कृष्टे वा अवरो अल्पो स्वेदस्तमाचरेदितिसम्बन्धः ।

(इन्दुः)

हि० व्या०—सभी प्रकार का स्वेदन वायुरहित स्थान में तथा अन्न का पाचन होने पर एवं स्नेहाभ्यंग किए हुए व्यक्ति को कराना चाहिए । इस प्रकार रोग, रोगी, देश, ऋतु का विचार कर उत्कृष्ट मध्य और अल्प स्वेद करना चाहिए ।

चतुर्थ-अध्याय

संशोधन-प्रकरणम्

यद्यपि विषय प्रवेश में संशोधन का स्पष्टीकरण कर दिया गया है तथापि मलरूप दोष एवं धातुओं को शरीर से निर्हरण करने में वमन-विरेचन की ग्रन्थकारों ने संशोधन के रूप में श्रेष्ठ कर्मों में गणना की है। अतः इन दोनों कर्मों की व्यवहार में संशोधन संज्ञा है।" प्राधान्येन वमन विरेचने वर्तेते निर्हरणे दोषान्" सु० सू० ३३

अतः शास्त्रकारों ने जहाँ वमन एवं विरेचन दोनों ही कर्मों के सम्बन्ध में संशोधन अथवा विरेचन[२] के नाम से जिन सूत्रों का एक साथ निर्देश किया है उसे सामान्य संशोधन शीर्षक में ग्रहण करतेहुए वमन विरेचन प्रकरण से पूर्व इनका वर्णन किया गया है आगे वमन-विरेचन दोनों का पृथक् पृथक् वर्णन भी किया जायेगा।

उद्धर्वाधः शोधन भेदेन वमन विरेचन संकेतः।

तत्र दोषहरणमूर्ध्वभागं वमनसंज्ञकम्, अधोभागं विरेचन संज्ञकम्; उभयं वा शरीरमलविरेचनाद्विरेचन संज्ञा लभते ॥

च० क० १।४ अ० सं० सू० २७।३

वमनविरेचनशब्दार्थं विभजते-तत्रेत्यादि। ऊर्ध्वं मुखेन दोषनिर्हरणं भजत इत्यूर्ध्वं भागम् अधो गुदेन दोषनिर्हरणं भजत इत्यधोभागम्। वमनविरेचनयोरपि कदाचिद्विरेचनसंज्ञा षड्विरेचनशताश्रितीयोक्तां दर्शयन्नाह,—उभयमपीत्यादि। न चैवं सति वमनविरेचनवन्निरुहेऽपि विरेचनसंज्ञा प्रसक्तिरुद्भावनीया यतः पङ्कजशब्दवदियं विरेचन संज्ञा वमनविरेचनयोरपि योगरूढया वर्तते ॥ चक्रपाणिः।

---

१. पक्वाशयगतावेव वातपित्तकफानेकद्वित्रिर्दत्तोवस्तिरपकर्षति; धूमनस्यकवल ग्रहादयः पुनरल्पाल्पतया, न तु वमनविरेचनवत् सकृन्नापि बाहुल्येन, तस्मादुक्तं प्राधान्येन वमन विरेचने इति। सु० सू० ३३।४ डल्हण ॥

२. न चैवं सति वमनविरेचनवन्निरुहेऽपि विरेचन संज्ञा प्रसक्ति रुद्भावनीया, यतः पङ्कजशब्दवदियं विरेचन संज्ञा वमन विरेचनयो रपि योगरूढया वर्तते। चक्रपाणिः ॥

तत्रेति वाक्योपन्यासार्थो निर्धारणार्थो वा दोषहरणमूर्ध्वभागं वमनसंज्ञकमधोभागं विरेचनसंज्ञकमुभयं वा शरीरमलविरेचनाद्विरेचन शब्देनोच्यत इत्यर्थः। भागग्रहणं दोषवशेन तथा च प्राङ्निर्दिष्टमन्येषु"वमनं श्लेष्महराणाम्। (जज्जटः)

सामान्यतया दो प्रकार की चिकित्सा का शास्त्रों में वर्णन है—लंघन एवं बृंहण जिन्हें क्रमशः अपतर्पण एवं संतर्पण भी कहा गया है।

वाग्भट ने अपतर्पण चिकित्सा का शोधन एवं शमन दो भेद किए हैं इस प्रकरण में संशोधन का भाव ग्रहण करते हुए वमन एवं विरेचन अर्थात् अध एवं ऊर्ध्व मार्ग से मलों को बाहर निकालने से अभिप्राय है वह नस्य एवं बस्ति द्वारा भी हो सकती है किन्तु दोनों में ऊर्ध्व अधः भाग ही प्रमुख कार्यकारी होने से संशोधन में तो सभी का समावेश हो जाता है किन्तु यहां मात्र वमन विरेचन ही अभिप्रेत है।

दोष निर्हरणे वमन विरेचनयोः महत्व सूचनम्

प्राधान्येन वमनविरेचने वर्तेते निर्हरणे दोषाणाम् तस्मात्तयोर्विधानमुच्यमानमुपधारय ॥ सु० चि० ३३।४

विरेचनं पित्तहराणाम्। अवस्थाविशेषश्चोक्तः,-उपस्थिते श्लेष्मपित्ते व्याधावामाशयाश्रये वमनार्थं प्रयुञ्जीतेति। तथा विरेकार्थं प्रयोजयेत्। अन्ये त्वाममपि मन्यन्ते दोषशब्देन व्याधिदोषशब्दयोर्द्वयोरपि व्याधिपर्यायत्वात् तस्य च व्याधित्वाद्द्विविधं चाममिति तथा चान्यैर्ग्रन्थकारैर्निर्दिष्टमामकफ शमनं वमन विरेचनं विधीयते। तत्र संज्ञिकग्रहणं विसूचिकादिकारणाप्रेक्षापूर्वकोत्पन्न परिहारार्थमुद्गिरण साधारणार्थत्वेन भेषजेष्विव तत्संज्ञोपचारः। एवं च शिरो विरेचनेऽपि दोषहरणैकप्रसंगः। संज्ञान्तरेणास्कन्दितत्वान्नात्राभिनिवेशः। न च शरीरमलेरेचनसामान्ये सत्यपि निरूहस्य विरेचनसंज्ञा, प्रायशस्सर्वो व्यवहारो रूढित एव। यथा निर्हरणसामान्येऽपि वमनसंज्ञान्यत्र विरुद्धा, विरेचकत्वं पुनः प्रवर्तते शोधनसंज्ञकत्वं च। तयान्यैरप्यभियुक्तैः प्रतिपादितम्। सति प्रवृत्तिकारणं सामान्ये यत्र विशेषे व्यावृत्तिस्सा रूढिरिति। तस्मात् क्वचित्संज्ञितेन व्यवहारः क्वचिद्रूढित इति मलशब्दाभिधानम् ॥

पक्वाशयगतानेव वातपित्तकफानेकद्वित्रिर्दत्तोवस्तिरपकर्षति, धूमनस्यकवलग्रहादयः पुनरल्पाल्पतया, न तु वमन विरेचनवत् सकृन्नापि बाहुल्येन, तस्मादुक्तं प्राधान्येन वमनविरेचने इति। ननु वमनविरेचने कफपित्तयोर्दोषयोर्निहरणे वर्तेते तत्कथं दोषणामिति उच्यतेवायोरपि स्वाशयक्षोभलक्षणतया विलीनस्य विमार्गनिर्हरणपूर्वाधोमार्गेणानुलोमनं वमनविरेचने कुर्वाते, तस्माद्दोषाणामत्र बाहुल्यमुपपन्नम्; अन्ये तु न्यायभीरुतया दोषयोरिति पठन्ति। शिष्यबहुत्वेऽपि सुश्रुतस्यैव प्रश्नेऽधिकृतत्वादुपधारयेत्येकवचननिर्देशः ॥ डल्हणः ॥

अत्र प्राधान्येनेति स्वेदादीन् व्यावर्त्तयति आमनन्ति हि प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्तीति। तस्मान्निर्हरणं प्रति प्राधान्यात्। हाराणचन्द्रः।

वमन तथा विरेचन की परिभाषा—

हि० व्या०—चरक ने संशोधन में दोनों प्रकारों की परिभाषा इस प्रकार दी है।

(क) शरीर के ऊर्ध्वभाग (मुखमार्ग) से दोष निर्हरण (निकालने) करने की क्रिया को वमन कहते हैं।

(ख) शरीर के अधोभाग (गुदामार्ग) से दोषनिर्हरण (निकालने) की क्रिया को विरेचन कहते हैं।

(ग) उभयमार्गों से मल को निर्हरण करने के कारण उभयकर्म (प्रक्रियाओं) को विरेचन कहा जाता है।

अथवा उभयमार्गों से मलों का निर्हरण किए जाने के कारण दोनों के लिए ही विरेचन का व्यवहार भी इतस्ततः दृष्टिगोचर होता है। दोनों कर्मों में दोष की प्रधानता एवं निर्हरण प्रकार में अन्तर को स्पष्ट करने के लिए शास्त्रों में वमन एवं विरेचन दोनों का पृथक पृथक् विवरण दिया है

वमन विरेचन का निर्देश करते हुए सुश्रुत लिखते हैं कि शरीर से दोषों को निर्हरण (बाहर निकालने) में मुख्य रूप से वमन और विरेचन कर्म का प्रयोग किया जाता है। अतः उन दोनों कर्मों की विधि का निर्देश किया जा रहा है।

संशोधनस्य महत्त्वम्

मलापहं रोगहरं बलवर्णप्रसादनम्।
पीत्वा संशोधनं सम्यगायुष्मान्पूज्यते चिरम्॥

वंगसेन (स्नेहा० ३)

हि० व्या०—सम्यग् संशोधन करने पर शरीर का मल एवं रोगों का का नाश होता है, बल एवं कान्ति बढ़ती है और दीर्घायु प्राप्त होती है।

संशोधन द्रव्य(परिभाषा) लक्षणम्

स्थानाद्बहिर्नयेद्यद्ध्वमधो वा मलसंचयम्।
देहसंशोधनं तत्स्याद्देवदाली फलं यथा॥

स्थानादिति। यद्द्रव्यं स्थानात् प्रकुपित स्थानात् मलसञ्चयं दोषादीनां स्वस्थानादूर्ध्वमधो वा बहिर्नयेत् बहिः करोति तद्देहे शरीरे शोधनं कथितम्। यथा देवदाली फलम्। देवदाली वल्लीसंज्ञा॥ ऊर्ध्वं मुखनासिकाभ्यां, अधः पायुमार्गेण। देहग्रहणेन शोणितावसेचनमपि गृह्यते शोधनत्वात्। यतः शोधनं द्विविधमाचक्षते बहिराश्रयमभ्यन्तराश्रयं च। तत्र बहिराश्रयं शस्त्र-क्षाराग्निप्रलेपादयः। अभ्यन्तराश्रयं तु चतुः प्रकारं वमनरेचनास्थापनशोणित-मोक्षणं च। एके शिरोविरेचनं मन्यन्ते। तच्चात्र वमनान्तर्भूतं बोद्धव्यम्, ऊर्ध्वं शोधनत्वात्॥ (आडमल्लः)

यद्द्रव्यं स्थानाद्बहिः स्थानान्निरस्य ऊर्ध्वं वा अधः मलसञ्चयं नयेत् तद्देहे संशोधनं स्यात्। यथा देवदाली फलम्॥ (काशिरामः)

हि० व्या०—जो द्रव्य अपने-अपने स्थानों में संचित मलों को ऊपर ले जाकर मुख द्वारा बाहर निकाल दें अथवा नीचे ले जाकर गुदामार्ग द्वारा बाहर कर दे उसे संशोधन द्रव्य कहते हैं जैसे देवदाली का फल (बंदालडोडा)।

संशोधन-योग्यायोग्यानाम् वर्णनम्

संशोधन योग्याः

ह्रीभय लोभैश्च वेगाभिघात शीलाः। प्रायशः स्त्रियो राजसमीपस्था वणिजश्च भवन्ति। तस्मादेते वेगधारण प्रवृद्धवातत्वात्सदाऽऽतुरा दुर्विरेच्याश्च। तान्सुस्निग्धान् शोधयेत्॥ अ० सं० सू० अ० ॥२७।३३॥

हि० व्या०—लज्जाशील होने के कारण प्रायः स्त्रियां, राज सेवक भय के कारण, वणिक, लोभ के कारण समय पर उत्पन्न हुए वेगों को उत्सर्ग नहीं कर पाते। ये प्रायः वेग धारण करते रहते हैं। इससे इनके कोष्ठ में वायु की वृद्धि हो जाती है अतः ये सदैव रोगी रहते हैं। विरेचन भी इनको कठिनता से होता है। अतः इनको भली प्रकार स्नेहन एवं स्वेदन कराकर संशोधन कराना चाहिए।

ह्रिया लज्जया स्त्रियो भयेन च राजसमीपस्था लोभेन च वणिजः प्रायो वेगाघातशीला भवन्ति। अतस्तेषां वेगधारणेन प्रवृद्धवातत्वात् सदातुरत्वं दुर्विरेच्यत्वं चा अतस्तानतिस्निग्धान् कृत्वा शोधयेत्। (इन्दुः)

संशोधन अयोग्याः

चिन्ताप्रसक्ताश्चात्र धूमान्तैः प्रायः सर्वकर्मभिर्वक्ष्यमाणैः परिहर्तव्याः। अजीर्णी तु सर्वैरेव वमनवर्जैरामदोषभयात्। नवज्वरस्य दोषस्तम्भभयादिति॥ अ० सं० सू० २७।८

हि० व्या०—अष्टाङ्गसंग्रह सूत्रस्थान के २७वें अध्याय में सातवें सूत्र पर संशोधन कर्म में अयोग्य व्यक्तियों का निर्देश किया गया है। गर्भिणी से लेकर चिन्ताप्रसक्त व्यक्तियों को वमन-विरेचन-आस्थापन-अनुवासन-शिरोविरेचन और धूमपान तक सभी कर्मों में अयोग्य समझना चाहिए। अजीर्ण रोगी को मात्र वमन कर्म कराना चाहिए शेष कर्मों का निषेध है क्योंकि आमदोष की शंका रहती है। आमदोष से मन्द हुई अग्नि औषध को जीर्ण नहीं करती। नवज्वरी को वमन कर्म के अतिरिक्त और कोई भी कर्म नहीं करना चाहिए क्योंकि विरेचन से स्तम्भन हो जाता है। (आगे वमन प्रकरण में अधिक स्पष्ट किया जाएगा।)

अ० हृ० क० १।१

वमन विरेचने श्रेष्ठ द्रव्य संकेतः

वमने मदनं श्रेष्ठं त्रिवृन्मूलं विरेचने ।
नित्यमन्यस्य तु व्याधि विशेषेण विशिष्टता ॥

वमन विषये नित्यं मदनं श्रेष्ठम् । निरपायत्वादन्यद्रव्यविषयेऽपि वा तस्योपयोगात्सर्वत्रानिषिद्ध प्रसरत्वाच्च । लाघवमिच्छंश्च तन्त्रकृदिदमवोचत् । त्रिवृन्मूलं विरेचने इति । यथा मदनं वमने नित्यं श्रेष्ठं तथा त्रिवृन्मूलं विरेचने निरपायत्वादिहेतुना । मदनं वर्जयित्वा व्याधिवशादन्यस्य जीमूतादेर्विशिष्टता । वक्ष्यति हि जीमूतं तु विशेषतः । प्रयोक्तव्यं ज्वरकासश्वासहिध्मातिसारिणामिति । एवं त्रिवृन्मूलं वर्जयित्वा परस्य विरेचन द्रव्यस्य व्याधिविशेषेण विशिष्टत्वम् । न तु त्रिवृन्मूलवत्सर्वत्रानिषिद्धप्रसरत्वं निरपायत्वं च । तथा चोक्तं चरके । त्रिवृत्सुखविरेचनानामिति । तदेवं वमने मदनं श्रेष्ठं त्रिवृन्मूल विरेचने सर्वदेति स्थितम् ॥ अरुणदत्तः ॥

हि० व्या०—वमन प्रक्रिया हेतु मदनफल तथा विरेचन हेतु निशोथमूल को श्रेष्ठ बताया गया है । सर्व सुलभ एवं श्रेष्ठ द्रव्यों में दोनों कर्मों हेतु इन्ही द्रव्यों को सभी ग्रन्थकारों ने श्रेष्ठ बताया है ।

च० सू० १।११९

षट् शोधनार्थाः वृक्षाः

वृक्षाश्च षड् ये दिष्टपयस्त्वचः ।

तथा षट् शोधनार्थाः वृक्षाः । के ते ? ये दिष्टपयस्त्वचः दिष्टे उपदिष्टे पयस्त्वक् च प्रयोज्यतया येषां ते । क्षीरत्वक् प्रधानतया इह उपदिष्टाः स्नुह्यादयस्त्रयः पूतीकादयस्त्रयश्च । ते सर्वे उक्ताः । (योगीन्द्रनाथ सेनः)

हि० व्या०—वमन एवं विवेचनार्थ जिन षड् द्रव्यों का उल्लेख किया गया है उनको तालिका में दर्शाया गया है—

१. पूतीकः (कण्टकिकरञ्जः)
२. कृष्णगन्धा—(सहिजन)
३. तिल्वक—(लोध्र)
४. स्नुही—
५. अर्क
६. अश्मन्तक

वमनहेतु	विरेचनहेतु	रक्तशोधन
१. अश्मन्तक	१. स्नुहीक्षीर	१. कृष्णगन्धात्वक्
२. अर्कक्षीर	२. अर्कक्षीर	
	३. पूतीक	
	४. तिल्वक	

प्रयोज्य अङ्ग—

१. स्नुही-क्षीर	४. पूतीक-त्वक्
२. अर्क-,,	५. कृष्णगन्धा ,,
३. अश्मन्तक-,,	६. तिल्वक ,;

च० सू० अ० १।११५ ग

अर्कक्षीरगुणाः

क्षीरमर्कस्य विज्ञेयं वमने सविरेचने ।

अर्कस्य क्षीरं सविरेचमे वमने, वमने विरेचने उभयभागरोषं हरणे च विद्यात् ।

हि० व्या०—अर्क क्षीर का भी वमन एवं विरेचार्थ ग्रहण किया जाता है ।

विशेष—संशोधन वमन एवं विरेचन हेतु प्रयुक्त यथावश्यक द्रव्यों एवं विविध कल्पनाओं का विवरण तत् ततप्रकरण में यथास्थान दृष्टव्य है ।

शोधनद्रव्याणां कार्मुकत्वम्

अपि च

तत्रोष्णतीक्ष्णसूक्ष्मव्यवायिविकाशीन्यौषधानि स्ववीर्येण हृदयमुपेत्य धमनीरनुसृत्य स्थूलाणु स्रोतोभ्यः केवलं शरीरगतं दोषसंघातमाग्नेयत्वाद् विष्यन्दयति तक्ष्ण्याद् विच्छिन्दन्ति, न विच्छिन्नः परिप्लवन् स्नेहभाविते काये स्नेहाक्तभाजनगम्योदानप्रणुन्नोऽग्निवाय्वात्मकत्वादूर्ध्वभागप्रभावादौषधस्योर्ध्वमुत्क्षिप्यते सलिलपृथिव्यात्मकत्वादधोभाग प्रभावाच्चौषधस्या प्रवर्तते, उभयतश्चोभयगुणत्वात् । इति लक्षणोद्देशः । च० क० १।५, अ० सं० सू० २७।४

सम्प्रति द्वयोरपि वमनविरेचनद्रव्ययोः साधारणोष्णतीक्ष्णत्वादिगुणयोगकृतदोषविष्यन्दनादि साधारणकार्यदर्शनपूर्वकमग्निवाय्वात्मकत्वादि विशिष्टधर्मयोगकृतं विशिष्टं च कार्यं वमनविरेचनं दर्शयन्नाह तत्रोष्णेत्यादि । उष्णमिति उष्णवीर्यम् । स्ववीर्येणेति स्वप्रभावेण । धमनीरनुसृत्य; सकलदेहगतधमन्यनुसरणं च वीर्येण ज्ञेयं, न साक्षात् । आग्नेयत्वाद्विष्यन्दयन्तीति विलीनं कुर्वन्ति ।

विच्छिन्दन्ति छिन्नं कुर्वन्ति । परिप्लवन् इतस्ततो गच्छन् । असज्जन्निति न क्वचिदपि सङ्गं गच्छन् । अणुप्रवणभावादिति अणुत्वात् प्रवणभावाच्च; प्रवणत्वमिह कोष्ठगमनोन्मुखत्वम्, अणुत्वं च अणुमार्गसंचारित्वम् । उदानप्रणुन्न इति उदानवायु प्रेरितः । अग्निवाय्वात्मकत्वादिति अग्निवायूत्कर्षवत्वात् । ऊर्ध्वभागप्रभावादिति ऊर्ध्वभागदोषहरत्वरूपप्रभावात् । एवं सलिलपृथिव्यात्मकत्वमपि व्याख्येयम् । उभयतश्चेति ऊर्ध्वमधश्च क्षिप्यत् इत्यर्थः । उभयगुणत्वादिति अग्निवाय्वात्मकत्वात् सलिलपृथिव्यात्मकत्वादूर्ध्वाधोभागप्रभावाच्चेत्यर्थः । इति लक्षणोद्देश इति अनन्तरग्रन्थेन वमनविरेचनद्रव्यस्वरूपा-

भिधानं कृतमित्यर्थः । अत्र च प्रकरणे सामान्येनैव वमनविरेचनद्रव्याणाम् 'आग्नेयत्वाद्विष्यन्दयति' इत्यनेनाग्नेयत्वं प्रतिपादितं; पुनश्च विशेषेण 'अग्नि-वाय्वात्मकत्वात् प्रतिपाद्यते; तेन सामान्ये विशेषे च वमनद्रव्याणामाग्नेयत्वप्रतिपादनात् प्रकृष्टमाग्नेयत्वं भवति; विरेचनद्रव्याणां तु सामान्योक्ताग्नेयत्वसंबन्धाद् विशेषगुणकथन प्रस्तावे च सलिलपृथिव्यात्मकत्वाभिधानाद्वमनद्रव्यापेक्षयाऽपकृष्टा माग्नेयत्वं भवति ।

तथाहि सुश्रुतेऽपि वमनविरेचनयोरप्याग्नेयत्वमुक्तम्—"सरत्वसौक्ष्म्य-तैक्ष्ण्यौष्ण्यविकाशित्वैविरेचनम् । वमनं च हरेद्दोषान् प्रकृत्यागतमन्यथा' (सु० चि० ३३) इत्यनेन । यच्चात्रोच्यते—वमनं यद्यूर्ध्वभागहरत्वप्रभावादूर्ध्वं यति, तदाऽग्नि वाय्वात्मकत्वादिति हेतुवर्णनं न युज्यते; यतः यत् सोपपत्तिकं कार्यं न तत् प्रभावकृतमिति व्यपदिश्यते; उक्तं हि—"प्रभावोऽचिन्त्य उच्यते-" (सू० अ० २६) इति । तन्न यतः प्रभावस्यैवेह वमन कार्यं वाय्वग्न्यात्मकगुणतया वाय्वग्न्यात्मकत्वं स्वतन्त्रो वमन हेतुः; तथाहि सति यदन्यदपि वाय्वग्न्यात्मक-मूर्ध्वभागदोषहरत्वप्रभावरहितं, तदपि वमनकरं स्यात्; तस्मात् प्रभावगुणतयैव हेतुवर्णन—एवं विरेचनद्रव्येऽपि पूर्वपक्ष सिद्धान्तावनुसर्तव्यौ ॥ चक्रपाणिः ॥

कथं हि कोष्ठस्थो दोष ऊर्ध्वं प्रपद्यते कथं वाधो यातीत्याह । तत्रेत्यादि । तत्रेति निर्धारणे । उष्णत्वादिगुणयुक्तान्यौषधानि सकलं दोषसंघातं विष्यन्दयन्ति विच्छिन्दयन्ति । स विष्यण्णो विच्छिन्नो दोषसङ्घात ऊर्ध्वं प्रपद्यत इति सम्बन्धः । कथं दोषसङ्घातं विष्यन्दयन्ति विच्छिन्दयन्ति वेत्याह । स्ववीर्येण स्वशक्तया हृदयमुपेत्य प्राप्यातिसौक्ष्म्यात् सूक्ष्मस्रोतः प्रवेशित्वात् व्याप्तिशील त्वाच्च हेतोर्धमनीः स्रोतांस्यनुसृत्य शरीरेन्तस्नेहेन मृदूकृते सति ततः स्वेदोष्माण आर्द्रदारुवद्विष्यण्णो सस्रावे शरीरे सति तान्यौषधान्यौष्ण्याद्धेतोस्तेभ्यः स्थूलेभ्यो-ऽणुभ्यश्च स्रोतोभ्यो दोषसङ्घातं विष्यन्दयन्ति महानिम्ने स्रावयन्ति । तैक्ष्ण्या-द्विकाशित्वाच्च हेतोस्तं दोषसङ्घातं विच्छिन्दयन्ति विगतसंहतिं कुर्वन्ति । केन प्रकारेण ऊर्ध्वं प्रवर्तत इत्याह । स विष्यण्णविच्छिन्न इत्यादि । स दोषसङ्घातो विष्यण्णविच्छिन्नः सन् पारिप्लवः परिप्लवनरूपः । यथा स्नेहाभ्यक्ते भाजने उदकाञ्जलिरसञ्जन न कुत्रचित्सङ्गं प्राप्नुवन् । अनुप्रसरणभावादामाशयमाग-म्यौषधस्याग्निवाय्वात्मकत्वादूर्ध्वभागदोषापनयनप्रभावाच्च उदानप्रणुन्न उदान प्रेरितः ऊर्ध्वं मुखेन प्रतिपद्यत इति । एवमौषधस्य सलिलाद्यात्मकत्वादधोभाग-प्रभावाच्च सकलस्रोतोभ्यो दोषसङ्घातोऽधः प्रतिपद्यत इति सम्बन्धः । औषधस्य उभयगुणात्मकत्वादौष्ण्यतैक्ष्ण्यादितः सलिलात्मकत्वादितश्चोभयत ऊर्ध्वमधश्च युगपद्दोषसङ्घातः प्रतिपद्यत इति सम्बन्धः ॥ इन्दुः ॥

हि० व्या०—वामक और विरेचक द्रव्यों के ऊर्ध्व और अधोभाग द्वारा दोषनिर्हरणप्रक्रिया की कारणता का उल्लेख करते हुए बताया गया है कि

उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, व्यवायि, विकासी, गुणयुक्त द्रव्य अपने प्रभाव द्वारा हृदय में जाकर धमनियों का अनुसरण करते हुए स्थूल एवं सूक्ष्म स्रोतों में पहुंचकर सम्पूर्ण शरीर के दोषों को उष्ण गुण के कारण विलीन कर देते हैं । तीक्ष्ण गुण के कारण दोषों को विच्छेद करते हैं । विच्छिन्न हुए दोष चलायमान हो जाते हैं । स्नेहाभ्यक्त शरीर होने से चिकने पात्र में रखे शहद के समान संसृष्ट नहीं होते । कोष्ठोन्मुख होकर आमाशय में आ जाते हैं तथा उदान वायु से प्रेरित होकर अग्नि और वायु के प्रकर्ष से एवं ऊर्ध्व भागगत दोषों के हरण करने का स्वभाव होने से, ऊर्ध्वगति में कारण होते हैं । इसी प्रकार जल और पृथिवी की उत्कृष्टता या प्रबलता के कारण, औषध में अधोभागगत दोषों के हरण का स्वभाव होने से औषध नीचे की ओर गति करती है । उभयगुण समन्वित होने से प्रयुक्त औषध उभय मार्गों में प्रवृत्त होती है । यही इसका लक्षण है । आचार्य वाग्भट ने भी अ० संग्रह में इसी पाठ को उद्धृत किया है ।

अपि च—

तानि सम्प्राप्य हृदयं धमनीः प्रतिपद्य हि ।
तिर्यगूर्ध्वमधश्चैव दोषान्निष्यन्दयन्त्यपि ॥
सूक्ष्माञ्छरीरावयवान् सौक्ष्म्यादनुसरन्ति च ।
विस्रावयन्ति धातूंश्च विमार्गैरपि देहिनाम् ॥
आनयन्तीव हृदयं दोषांस्तानतिमूच्छितान् ।
आमाशयं पूरयित्वा ह्यूर्ध्वभागभवांस्तथा ॥
एवमेव च विष्यन्दीन्यापूर्यामाशयः पुनः ।
अधोभागे प्रवर्तन्ते विकारेष्विह देहिनाम् ॥
विष्यन्दयन्ति दोषांश्च यावत्तिष्ठन्ति देहिनाम् ।
संशोधयन्त्यतः यश्चाधूर्ध्वं वा यदि वाप्यधः ॥ भे० सि ४।३७

हि० व्या० - आचार्य भेल के अनुसार शोधन द्रव्य सेवनोपरान्त परिपाक क्रम से हृदय में पहुँचकर ऊर्ध्व, अधः और तिर्यग् धमनियों के द्वारा सम्पूर्ण शरीरावयवों में पहुँचकर दोषों को चलायमान करते हैं । शरीर के सूक्ष्म अवयवों में जाकर अपने सूक्ष्म गुण के कारण अनुसरण करते हुए विमार्गगामी दोष एवं धातुओं का विस्रावण करते हैं । अति मूच्छित दोषों को सिरामार्ग से हृदय में लाते है (शाखाओं को छोड़कर दोष, संशोधन द्रव्यों के प्रभाव से कोष्ठ में आ जाते हैं ।) इस प्रकार दोषों द्वारा आशयों को पूर्ण करने पर उनका ऊर्ध्व या अधो मार्ग से निर्हरण हो जाता है ।

वमन विरेचन द्रव्याणां रसवीर्यविपाकप्रभावादि विचार-पूर्वकं तत्तदनुपानादि भेदेन षड्विरेचनयोगशतानां संकेतः ।

तत्र फलजीमूतकेक्ष्वाकुधामार्गवकुटजकृतवेधनानां, श्यामा त्रिवृच्चतुरंगुल-

तिल्वकमहावृक्ष सप्तलाशङ्खिनीदन्तीद्रवन्तीनां च, नानाविध देशकालसंभवास्वादरसवीर्यविपाकप्रभावग्रहणाद् देहदोष प्रकृतिवयोवलाग्निभक्तिसात्म्यरोगावस्थादीनां नानाप्रभाववत्वाच्च, विचित्र गन्धवर्णरसस्पर्शानामुपयोगसुखार्थमसंख्येय संयोगानामपि च सतां द्रव्याणां विकल्पमार्गोपदर्शनार्थं षड्विरेचनयोगशतानि व्याख्यास्यामः।

च० क० १।६

तानि तु द्रव्याणि देशकालगुणभाजन संपद्वीर्यबलाधानात् क्रियासमर्थेतमानि भवन्ति ॥

च० क० १।७

तत्र कृतवेधनान्तानां विच्छेदपाठेन वमनप्रयोगप्रयोज्यत्वं, श्यामादीनां विरेचनप्रयोगनयोज्यत्वं च दर्शयति। अत्रैप वमने विरेचने चैकैकेपां पुनर्वस्तूनां मदनफलानां श्यामादीनां च बहवः प्रयोगा अभिधीयन्ते, न पुनरेकैकमेव द्रव्यं वमनकारकं विरेचनकारकं वा। स्वल्पसंख्याप्रयोगेण ग्रहणसुखता वमन विरेचनयोगस्य भवति, कार्यं च सिध्यतीत्याशङ्क्याह—नानाविधेत्यादि यावद्योगावस्थादीनांनानाप्रभाववत्वाच्चेति। अस्यार्थः यस्मान्नानाविधदेशकालसंभवा नानाविधास्वादाः, नानाविधवीर्याः, नानाविधविपाकाः, नानाविधप्रभावाश्च मदनफलादिका ओषध्यः, तथा तत्संस्कारकाः कोविदारादिका ओषध्य उपलभ्यन्ते; पुरुषाश्च देहदोषप्रकृतिवयोवलाग्निभक्तिसात्म्य रोगावस्थाभिन्ना नानाविधा दृश्यन्ते; तेन नैकं द्रव्यं सर्वस्मिन देहदोषादौ यौगिकं, सर्वत्र काले वा प्राप्यते सर्वत्र देशे वा; तस्माद्देह दोषादिना भेदवति पुरुषे बहुन्येव द्रव्याणि बहुभिश्च प्रयोगैरुपकल्पितानि यथा योग्यतया यथाप्राप्ति च प्रयोक्तुंशक्यन्तेअतो बहूनामेव मदनादिद्रव्याणां बहुप्रकारप्रयोगाणामुपन्यासो युक्त इति भावः। ग्रहणादुपलम्भात्। देहो नाना स्थूलकृशादि भेदेन, भक्तिरिच्छा अवस्थाशब्देनेह रोगावस्थैव ग्राह्या आदिशब्देनेह सत्त्वाहारयोर्ग्रहणम्। भूरिविरेचन प्रयोगोपदर्शनप्रयोजनान्तरमप्याह-विचित्रेत्यादि। नानाविधगन्धवर्णरसतया प्रयोगे तत्कालमुत्तरकालं च सुखार्थं चेत्यर्थः। अथ किंप्रभेदान्मदनफलादीनां षट्प्रयोगशतानि भवन्ति, येनाधिकाः प्रयोगा अभिधीयन्त इत्याशङ्क्याह-असंख्येयेत्यादि। विकल्पमार्गोपदर्शनार्थमिति अधिकप्रयोगकल्पनासमर्थान् भिषजः प्रति एतत् षट्प्रयोगशतोपदर्शनं कर्तव्याधिकप्रयोगकल्पनामार्गोपदर्शकं, तेनाऽपरेऽप्यत्र प्रयोगाः कल्पनीयाः; ग्रन्थे निःशेषप्रयोगानभिधानं प्रयोगाणामसंख्येयत्वेनाशक्यत्वादेव। अनतिविस्तरेण षट्प्रयोगशताभिधानं मन्दबुद्धिसंव्यवहारार्थमिति भावः। उक्तं हयन्यत्र— 'एतावन्तो ह्यल्पमल्पबुद्धीनां व्यवहाराय, बुद्धिमतां च स्वालक्षण्यानुमानयुक्तिकुशलानामनुक्तार्थज्ञानाय" (सू० अ० ४) इति।

—तानीत्यादि। देशादिभिश्चतुर्भिः संपच्छब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते। भाजनं भेषजस्थापनम्। वीर्यस्य बलं वीर्याधिकत्वमेव ॥, चक्रपाणिः ॥

छः सौ विरेचन योगों की कल्पना
वमन विरेचन योग

वामक द्रव्य	विरेचन द्रव्य
१. मदनफल	१. श्यामा (त्रिवृत्)
२. देवदाली	२. श्वेतमूला (")
३. इक्ष्वाकु	३. अमलतास (चतुरङ्गुल)
४. धामार्गव	४ तिल्वक (लोध्र)
५. कुटज	५ महावृक्ष (स्नुही)
६. कृतवेधन	६. सप्तला (सातला)
	७. शंखिनी (यवतिक्ता)
	८. दंती (जयपाल बीज)
	९. द्रवंती (बड़ी दन्ती)

योगों में देश काल प्रभाव से या स्वभाव में किञ्चित् परिवर्तन अवश्य होता है। इसमें उत्पत्ति स्थान और काल की कारणता होती है अतः स्वाद रस, वीर्य, विपाक, प्रभाव में भिन्नता के कारण शारीरिक दोष प्रकृति, आयु, बल, पाचकाग्नि, स्वभाव, सात्म्य, असात्म्य तथा रोग की अवस्था पर होने वाले विविध प्रभाव के कारण, विचित्र गन्ध, रस, स्पर्श, उपयोग, रोगी के सुखार्थ (लाभ प्राप्त) के अनुसार असंख्य संयोगों के आधार पर कल्पनायें तेयार करने के विधान का निर्देश करते हुए छः सौ योगों का उल्लेख किया है।

अष्टाङ्ग हृदय में वमन हेतु मदन फल और विरेचनार्थ त्रिवृत् मूल को श्रेष्ठ बताया है। तथा कुछ कल्प भी चरक से भिन्न बताये हैं जो तालिका में द्रष्टव्य हैं।

ऊर्ध्वाधः शोधनद्रव्याणां यथायथं विरेचकत्वे वामकत्वे च युक्ति विचारः।

सरत्वसौक्ष्म्यतैक्ष्ण्योष्ण्यविकाशित्वैर्विरेचनम्।
वमनं तु हरेद्दोषं प्रकृत्या गतमन्यथा ॥
यात्यधोदोषमादाय पच्यमानं विरेचनम्।
गुणोत्कर्षाद्विजत्यूर्ध्वमपक्वं वमनं पुनः ॥

सु० चि० अ० ३३।३३,३४

विरेचनद्रव्येण सह गुण साम्ये सति कथं वमनद्रव्यस्योर्ध्वभागगामित्वमित्याह—सरत्वेत्यादि। सरस्य भावः सरत्वमानुलोम्यं, गयौ तु विसरणस्वभावत्वं सरत्वमाहसूक्ष्मस्य भावः सौक्ष्म्यं सूक्ष्मस्रोतोऽनुसारित्वं; तीक्ष्णस्य भावस्तैक्ष्ण्यं शीघ्रतरदोषस्रावणकरत्वम्; उष्णस्य भाव औष्ण्यं, सौम्यद्रव्योपमर्दनकरणसामर्थ्यं; विकाशिनो भावः विकाशित्वं, विकाशिभावेन धातोः

शैथिल्यकरणसामर्थ्यम् । अत्र प्रकृतिः, स्वभावः, शक्तिविशेषः, प्रभावो, वीर्यमित्यनर्थान्तरम् । तेन प्रकृत्या वीर्येणान्यथागतमूर्ध्वंगतं, सत्यपि सरत्वादिविरेचनगुणसाम्ये वमनस्योर्ध्वंगामित्वं प्रभावविभावितं, कृतः ? यत उच्यते

"कटुकः कटुक पाके चित्रको वह्निदीपनः ।
तद्वद्दन्ती प्रभावात्तु विरेचयति सा नरम् ॥

तथा च—

"विषं विषघ्नमुदिष्टं प्रभावस्तत्र कारणम्"

इति; तथा

"ऊर्ध्वानुलोमिकं यच्च तत्प्रभावप्रभावितम्"

(च० सू० २६) इति

एतेनैतदुक्तं भवति—सरत्वादिभिर्गुणैर्विरेचनमधो दोषानपहरेत्; वमनस्य तुल्यगुणत्वेऽपि वीर्येणोर्ध्वगामित्वम् । पञ्जिकाकारेण 'प्रकृत्यागतमन्यथा इत्यत्र 'सम्यग्युक्त्याऽतथाऽन्यथा' इति पठित्वैवं व्याख्यातं—सम्यग्युक्त्या सरत्वादिगुणैर्विरेचनमधोभागेन, वमनमूर्ध्वभागेन दोषानपहरेत्; अतथाऽन्यथेति नञत्र वैपरीत्ये; अतथा असम्यग्युक्त्या विरेचनं च वमनं चान्यथा दोष विपरीतान् गुणान् हरेदिति । केचित्तु 'सम्यग्युक्तं वृथाऽन्यथा इति पठन्ति । अयमर्थो युक्तः किल; सरत्वादयो गुणाः सुयुक्ता आशुतरदोषहराः, तथैव चान्यायोपयुक्ता एव जीवशोणितधात्वसेन्द्रियमन ओजः प्रभृतीनाकृष्य मारयन्तीति । कीदृशं सत् पुनः विरेचनं वमनद्रव्यं च दोषानादाय अध ऊर्ध्वं च यातीत्याह – यात्यधो दोषमित्यादि । विरेचनद्रव्याणि स्थिरगुर्व्योः पृथिव्यम्भसोर्गुणभूयिष्ठानि, अत एव स्थिरत्वात् पक्यमानानि गुरुत्वादधो यान्ति; वमनद्रव्याणि तु वाय्वग्न्योः शीघ्रगलघुगुणयोर्गुणभूयिष्ठानि, अतः शीघ्रगत्वादपक्वान्येव लघुत्वादूर्ध्वमुत्तिष्ठन्ति । द्रव्याणि हि द्रव्यप्रभावात् गुणप्रभावाच्च कार्मुकाणि भवन्ति ॥ डल्हणः ॥

हि० व्या० - वामक एवं विरेचक द्रव्यों में गुण साम्यता होते हुए भी वमन द्रव्य किस प्रकार उर्ध्व भाग से दोषों को बाहर निकालते हैं । इस शका का आचार्य समाधान करते हुए लिखते हैं कि यहाँ प्रभाव की विशेषता है वामक एवं विरेचक दोनों ही प्रकार के द्रव्यों में सर, सूक्ष्म, तीक्ष्ण, ऊष्ण एवं विकासी इन गुणों की विद्यमानता रहती है फिर भी दोनों में कर्म सादृश्य नहीं है । इसका कारण प्रभाव है यथा विष की चिकित्सा भी विष है अथवा चित्रक एवं दन्ती में रस, गुण, वीर्य की समानता होते हुए भी चित्रक अग्नि दीपक है एवं दन्ती विरेचक है । प्रभाव के कारण पाचन अवस्था को प्राप्त विरेचन द्रव्य दोषों को लेकर अधोमार्ग में गति करते हैं तथा वामक द्रव्य अपक्व अवस्था में ही अपने गुण प्रभ व के कारण दोषों को ऊर्ध्व भाग से बाहर निकालते हैं ।

उभयतोभागहर भेषजानि ।

कोशातकी सप्तलाशङ्खिनी देवदाली कारवेल्लिका चेत्युभयतो भागहराणि । एषां स्वरसा इति ॥ सु० सू० ३९।५

कोषातकी घोषकः; सप्तला स्नुही भेदः, अपरे श्रीफलिकामाहुः; देवदाली स्वनामख्याता 'देवली' इति लोके । उभयतो भागहराणि इति वमनानि विरेचनानि चेत्यर्थः । एतानि कोशातकी प्रभृतीनि नियमेनोभयतोभागहराणि, गवाक्षी-प्रभृतीनां पूर्वोक्तानां तु पत्रादिविशेषेण कदाचिद्वामकत्वं कदाचिद्विरेचकत्वमिति न तेषामुभयतोभागहरत्वम् । डल्हणः ॥

कोशातक्यादीनां स्वरसा उभयतोभागहराः । फलं तु कोषातकीदेवदाल्योर्वामनमुक्तमिति शेषः । देवदाली घोषाभेदः ॥ चक्रपाणिः ॥

कोशातकीत्यादि । कोशातकी देवदाली च घोषक भेदौ, फलमनयोर्वामनमियुक्तमिह स्वरसः प्रतिगृह्यत इत्युभयतोभागहरत्वेनाभिधानमविप्रतिषिद्धमित्यनुसन्धेयम्; कारवेल्लिका 'क्षुद्रकरेला' इत्याख्यायते ॥ हाराणचन्द्रः ॥

प्रमुख उभयतो भागहर द्रव्य एवं कल्पना

– द्रव्य	कल्पना
१. कोशातकी	स्वरस
२. सप्तला	"
३. शंखिनी	"
४. देवदाली	"
५. कारवेल्लिका	"

कल्पस्थाने प्रोक्तानां वमनविरेचन योगानां षट्शतानि

त्रिशतं पञ्चपञ्चाशद्योगानां वमने स्मृतम् ।
द्वे शते नवकाः पञ्च योगानां तु विरेचने ॥
ऊर्ध्वानुलोमभागानामित्युक्तानि शतानिषट् ।
[1]प्राधान्यतः समाश्रित्य द्रव्याणि दश पञ्च च ॥

च० क० २२।३८-३९

हि० व्या०—चरकसंहिता कल्पस्थान में ३५५ वामक और दो सौ पैंतालिस (२४५) विरेचन योगों का निर्देश किया गया है । अतः वमन एवं विरेचन के प्रधान द्रव्यों का आश्रय करके ६०० योग बताये गये हैं ।

---

१. प्राधान्यतः समाश्रित्येति प्राधान्येन मदनफलादीनि द्रवन्तीपर्यन्तानि पञ्चदशद्रव्याणि योग व्यपदेशतयाऽऽश्रित्य ॥ चक्रपाणिः ॥

विशेष—परिशिष्ट में समस्त ६०० योगों की तालिका दी गई है तथा अन्य स्थलों पर आये वामक एवं विरेचन योगों के साथ अन्य संहिता एवं संग्रहोक्त ग्रन्थों के भी योग दिए गए हैं।

यथावश्यकासंख्ययोगकल्पना संकेतः।
स्वबुद्ध्यैवं सहस्राणि कोटीर्वाऽपि प्रकल्पयेत्।
बहुद्रव्यविकल्पत्वाद्योगसंख्या न विद्यते॥

च० क० १२।४७

हि० व्या०—चरकोक्त ६०० योगों की कल्पनानुसार बुद्धिमान वैद्य को चाहिए कि यथावश्यक हजारों और करोड़ों योगों की कल्पना करें क्योंकि दोष, देश, काल, वय, सत्व, सात्म्य, प्रकृति तथा मनुष्यों के स्वभाव एवं दोषों की अंशांस कल्पनानुसार संख्या निश्चित करना सम्भव नहीं है। अतः यहाँ शास्त्रकार ने भविष्य में चिकित्सकों की सुविधा हेतु कल्पनाओं की नवीन योजनाओं के लिए मार्ग प्रशस्त किया है।

चिकित्सा सिद्ध्यर्थं वमन विरेचन विविध कल्पज्ञानस्यावश्यकता।

अथ खलु वमनविरेचनार्थं वमनविरेचनद्रव्याणां सुखोपभोग (ग्य) तमैः सहान्यैर्द्रव्यैर्विविधैः कल्पनार्थं भेदार्थं विभागार्थं चेत्यर्थः, तद्योगानां च क्रियाविधेः सुखोपायस्य सम्यगुपकल्पनार्थं कल्पस्थानमुपदेक्ष्यामोऽग्निवेश।

च. क. १।३

चिकित्सितस्थाने तु तत्र तत्र विहितवमनविरेचनयोः प्रयोगान् विस्तरेणाभिधातुं चिकित्साधिकृतयोगस्थानरूपकल्पस्थानमुच्यते। यद्यपि चिकित्सायां बस्तेरपि प्रतिपादित्वाद्वस्त्यभिधायकं सिद्धिस्थानमपि चिकित्साङ्गतयाऽभिधातव्यं, तथाऽपि पञ्चकर्मणामौत्सर्गिकप्रवृत्तौ वमनविरेचनपूर्विकैव वास्तिकर्मप्रवृत्तिर्भवतीति कृत्वा वमनविरेचनाभिधायकं कल्पस्थानमेव वस्त्यभिधायकसिद्धिस्थानादग्रेऽभिधीयते। वमनविरेचनानां कल्पास्तिष्ठन्त्यस्मिन्निति कल्पस्थानम्। कल्पभिधानेऽपि विरेचनस्यौत्सर्गिकप्रवृत्तौ वमनपूर्विकैव प्रवृत्तिर्भवतीति वमनपूर्वकत्वाद्विरेचनस्य वमनकल्पा एवाग्रेऽभिधातव्याः। वमनकल्पेष्वपि वमनद्रव्य श्रेष्ठत्वान्मदनफलस्यैवादौ कल्पोऽभिधीयते, श्रेष्ठत्वं च मदनफलस्य 'वमनद्रव्याणां मदनफलानि श्रेष्ठतमान्याचक्षतेऽनपायित्वात्' इत्यनेनात्रैव वक्ष्यति। कल्पार्थं दर्शयन्नाह—अथ खल्वित्यादि। अथ शब्दः प्राक् प्रस्तुते। खलु शब्दः प्रकाशने। वमनविरेचनार्थमिति वमननिमित्तं विरेचननिमित्तं च। वमनविरेचनद्रव्याणामिति मदनफलादित्रिवृतादीनाम्। अन्यैरिति सुरासौवीरकाद्यैः कोविदारादिप्रकारैश्च। अन्यैरित्यस्य विशेषणं—सुखोपभोगतमैरिति।

अत्र सुखायोपभोगो येषां ते सुखोपभोगाः, न तदात्वसुख उपभोगो येषां ते सुखोपभोगाः, तथाहि तदात्वेऽसुखोपभोगानां कोविदारादीनामग्रहणं स्यात्। कल्पनार्थमिति पदस्य क्रियया सम्बन्धमदर्शयित्वैव तद्व्याख्यान प्रत्यायनार्थं व्याकरोति—भेदार्थं विभागार्थं चेत्यर्थ इति। तत्र भेदार्थमिति वमनविरेचनद्रव्यप्रयोगभेदार्थं, ते च प्रयोगभेदाः 'त्रयस्त्रिंशद्योगशतं प्रणीतं फलेषु' (सू० अ० ४) इत्यादिकाः। विभागार्थमिति अत्र 'फलपिप्पलीनां द्वौ भागौ कोविदारादि कषायेण' इत्यादि वक्ष्यमाणद्रव्यविभागार्थम्। उपोद्घातं समाप्य प्रकृतमाह—तद्योगानामिति, वमनविरेचनद्रव्यप्रयोगाणाम्। क्रियाया इति कर्तव्यताया विधिः क्रियाविधिः, स्वरसादिरूपतया करणानीति यावत्; तस्य क्रियाविधेर्विशेषणं सुखोपायस्येति; सुखार्थः सुखो वा उपायो यस्य स सुखोपायस्तस्य क्रियाविधेः; सम्यगुपकल्पनार्थमिति सम्यगुपदेशार्थम्॥ चक्रपाणिः

योगनानात्वं कल्पनाचिकित्सितमन्यकर्मणां तत्पूर्वकत्वात् कल्पनाच्च कल्पाः। यद्येवं सर्वत्र कल्पनायाः विद्यमानत्वात् कल्पस्थानप्रसङ्गः?। तन्न सर्वेषामेक संज्ञात्वे संख्याव्यवहारस्यच्छेदः। अन्यत्र प्रासङ्गिकमाभिधानं स्यात्। (षड्विरेचनश) तानां सूत्रस्थानोद्दिष्टानां कल्पोपनिषदि व्याख्यानमिति। तस्यावसरः, अध्यायसम्बन्धोऽपि प्रतिपादितः। आनुपूर्व्यप्रयोजनत्वेन। कर्मणां वमनकल्पाः पूर्वास्तेभ्योऽपि मदनकल्पो यतो मदनफलान्यनपायीनि। अग्रेष्वभिधानादस्मिन् अध्याये च मदनकल्पार्थस्योपसंग्रहात् प्रतिज्ञासिद्धिरध्यायात्तद्वयवस्थितिश्चोद्दैशनिर्देशशास्त्रसामर्थ्यान्न चेतरेतराश्रयदोषाः। आयुर्वेदस्य नित्यत्वान्न ह्यायुर्वेदस्याभूत्वोत्पत्तिः अन्यत्रोपदेशाववोधाभ्यामित्यतो युक्तेयमध्यायसंज्ञा। न च समाससंज्ञाया व्यवहारोऽप्रणेतुं शक्यः। द्रव्यं चाधिकृत्य विशेष संज्ञा मदनानिकल्पे यस्मिन्, संज्ञिप्रधानो निर्देशः। मदनफलानां वा कल्पा मध्यपदलोपात्प्रकरणानामपि स्थानसाधारणार्थप्रत्याय न हेतुत्वात्। अन्येषामपि प्रकरणानां कल्पार्थप्रतिपादकं तदाश्रयत्वात्। सर्वेषां वमनविरेचन विकल्पानामिति सूत्रसम्बन्धोऽपि शोधनाय प्रवृत्तः।

अथ वमनविरेचनोपन्यासे प्रयोजनाभिधानाय वमनविरेकार्थं वमनविरेचन द्रव्याणां तत्कारिण्यपि वमनविरेचनव्यपदेशभाञ्जि द्रव्याण्युच्यन्ते। यद्यप्यनेककार्यकारीणिमरनादीनि। मदनफलं च वमनास्थापनानुवासनोपयोगसुभगं तस्योपयोगस्य वमनविरेचनयोः प्राधान्येन विवक्षितत्वात्। ततः क्रियाभिधानम्। अन्ये त्वेवं पठन्ति—विरेचनद्रव्याणीति। षड्विरेचनशतानि कल्पोपनिषदि व्याख्यास्याम इति प्रतिज्ञानाद्वमनोपदेशाद्विरोध इति। यद्येवं वमनविरेचनयोरन्यतरस्य दोषमलविरेचनत्वेन परिग्रहो वमनस्य। एवं तर्हि निरूहस्यापि प्राप्तिः। तस्मात्संग्रहसूत्रे सामान्येनाभिधानात्। इह कल्पार्थस्य विस्तरेणाधिकृतत्वाद्विशेषसंज्ञाभिधानम् सुखोपभोग्यतमैस्सहान्यैर्द्रव्यैरिति व्याचष्टे—ननु तत्र च केषांचिदेवात्र सुरासौवीरकमोदकलेहादीनां सुखोपभोग्यतमत्वम्। न कृत्स्नानां

ततश्च प्रादेशिकमेतत् । कोविदारादीनामेकसुखकरत्वात् । तच्च नैवं परिग्राह्यं सुखमुपयुज्यत इति किन्तु सुखायोपयुज्यत इति तदेवं समासवेदादिव्यतिशायिनि कोऽत्र न्यायः ।

"स्वबुद्ध्यैवं सहस्राणि कोटीर्वा संप्रकल्पयेत् ।"

तस्माद्यन्यत्र महर्षिकल्पितानि तानि सुखोपभोग्यतमानि यानि पुनर्विपुलबुद्धिकल्पितानि तानिसुखोपभोग योग्यानि, कल्पितत्वात् । कोविदारादीनि सुखोपभोज्यानि सुरादीन्यतिशयेनेति । तन्न । स्वविषये सर्वेषामेव प्राधान्यात् । तस्मात्पूर्व एव परिहारः । सहान्यैर्द्रव्यैर्विविधैः प्रकल्पनार्थं सुखोपयोग्यस्य ख्यात्यर्थं विविधग्रहणम् । ततश्च गुणभूतास्सुरादयः प्रधानभूतानि कोविदारादीनि मदनादीनि च मूलद्रव्याण्यस्य ग्रहणं च, वमनादिद्रव्यैः प्रधानैर्मदनादिभिर्यतो न तैर्विकल्पनास्संभवन्ति । यतो न भवति कल्पना मदनादीन्यन्तरेणापि सुरादिभिस्सकेशराम्रादिभिर्नानाविधैर्मिष्टभेषजातुरनानात्वेने गुणोत्कर्षार्थं, भेदार्थं, भेदास्त्रयस्त्रिंशच्छतं, विभागार्थं, यथ पिप्पली । इदमिदानीं चिन्त्यते किं कल्पितद्रव्यं द्रव्यान्तरेण स्वभावं जहाति न वा यदि त्यजति नियतद्रव्यं मदनादि निष्प्रयोजनमथ न जहाति तथापि विकल्पो निरर्थक इति । अत्रोच्यते । नैव स्वभावं त्यजति । कल्पितमथ च संयोगसंस्काराभ्यां परिवर्तितगुणं दृश्यते । अजहत्स्वार्थत्वात् द्रव्याणामुक्तं च—ते गुणास्तोयाग्निसंनिकर्षशौचमंथनदेशकालवासभावनादिभिश्चाधीयन्ते । तथा—सुभावितं ह्यल्पमपि द्रव्यं स्यात् । बहुकर्मकृदेवं गुणोत्कर्षाधानाय प्रकल्पनभेदविभागः (तस्मादत्र) कल्पार्थं प्रधानद्रव्याणामुक्तं वदनादीनां सुखोपभाज्यतमैः प्रकल्पनम् । बहुदोषाणामुर्ध्वाधोभागहरणम् । भेदोऽपि प्रत्यध्यायस्त्रयस्त्रिंशद्योगशतं फलेषु श्यामात्रिवृद्योगशतमित्यादि । विभागोऽपि फलपिप्पलीनां द्वौ द्वौ भागौ कोविदारादिकषायेत्यादि । एवं विरेचनकल्पेष्वपि प्रकल्पनभेदविभागा वाच्याः । अन्ये पुनराचार्या विकल्पनं प्रकल्पनमाचक्षते । यथा पञ्चविधकषायकल्पनम् । न च कषाय क्षीरधृतफाणितलेहचूर्णा (सवारिष्टरागषाडबमोदकोत्कारिका भेदाद्ध्वाधोभागोभयभागित्वेन, स च भेदो...दोषव्याधिकालावस्थाकोष्ठाधारविशेषान्मदनश्यामादीनां, तत्र दोषविशेषाद्वातकफयोसुखोष्णं, व्याधिविशेषाद्दाहोदावर्तपीडिते, काले यथैषस्सर्वर्तुको योगः, कोष्ठविशेषात् सुखमाशुविरिच्यन्ते मृदुकोष्ठा नराधिपाः, आधाराविशेषे चतुर्वर्षे सुखो बाले यावद्वादशवार्षिक इति । आश्रयविशेषेणोपकल्पनाय तद्योगानां चेत्यादि । तद्योगानां वमनविरेचनयोगानां क्रियाविधेः कर्तव्यरूपाया विधेरिति यावत् । चिकित्सितविधेर्वा क्रियाविधेः क्रियाभिधानस्यौषधवाचकत्वात् । प्रवृत्तिस्तु क्रिया कर्मेत्यर्थः । सुखोपायस्य सुखसाधनस्य सुखं भवेदिति । वमनविरेचनमेववहुमलानां सुखमावहति । कफपित्तप्रतिनियतप्रतिपक्षत्वात् पाचनादिक्रियाक्रमपूर्वकत्वेन पुनः वमनाद्युपयोग, सुखायैवोपकारेण वमनप्रयोगाणामिति नोच्यते । कल्पस्थानमुपदेक्ष्यामोऽग्निवेशेति सम्बन्धः । ननु च न

कल्पस्थानमेवेदं भेदविभागादीनामप्यभिधानात् ?, न शब्दलोपात् । पाण्डुरोगवत् । पर्यायोक्तानामभिन्नार्थकैः शब्दैः कल्पार्थं क्रियाफलभेदावगमार्थं संज्ञाकथनम् ।

इति जज्जटः ।।

कल्पस्थान का उद्देश्यः—

हि० व्या०—वमन एवं विरेचन हेतु वामक विरेचक द्रव्यों को सुखपूर्वक उपयोग में लाने के योग्य तथा विविध सहायक द्रव्यों की कल्पना के लिए उनके भेदोपभेद और कल्पना विभाग यथा त्रिवृत या मदन फल के विविध योग तथा उनकी क्रियाविधि एवं रोगियों में प्रयोग करने योग्य विविध कल्पनाओं को सम्यक् योजना के लिए विविध कल्पों के ज्ञान की आवश्यकता होती है । अवस्था एवं कालानुसार किसी कल्प का कहाँ उपयोग कराना चाहिए एवं किन-किन कल्पों का उपयोग कहाँ कहाँ नहीं कराना चाहिए इन सभी विषयों का विचार करना आवश्यक होता है इन सभी का संहिताओं एवं संग्रह ग्रन्थों के कल्प नामक स्वतन्त्र स्थान में आचार्यों ने वर्णन किया है । विविध योग, उनका प्रयोग एवं फल प्राप्ति के लिए आवश्यक जानकारी कल्पस्थान में ही दी गई है । आचार्य चक्रपाणि एवं जज्जट ने अपनी टीका में विषय को स्पष्ट किया है ।

संशोधनप्रधानद्रव्येन सह विरुद्धवीर्याप्रधानद्रव्य संयोगे युक्तिः

विरुद्धवीर्यमप्येषां प्रधानानामबाधकम् ।
अधिकं तुल्य वीर्ये हि क्रियासामर्थ्यमिष्यते ।।

च० क० १२।४२

ननु ये तावदनुगुणा मदनादीनां ते गुणभूता भवन्तु विपरीता ये दन्त्यादय उग्रतया तथा मांसरसादयो हृद्यतया वमनप्रतिकूला मदनादीनां ते कथं गुणभूता इत्याह—विरुद्धवीर्यमप्येषां प्रधानानामबाधकमिति । विरुद्धवीर्यमपीति विरेचनरूपकार्याप्रबाधकतयागुणभूतमित्यर्थः यदि हि विरुद्धवीर्यं गुणभूतं न स्यात् तदा मदनादीनां कार्यं प्रति हन्यात्; विरुद्धस्यापि च कार्याप्रतीघातोऽयं गुणभूतत्वमेवेति भावः । विपरीतस्य कार्याबाधनरूपं साहाय्यमभिधाय तुल्यवीर्यस्य कार्यमाह-अधिकमित्यादि । तुल्यवीर्ये संयुक्ते सति क्रियासामर्थ्यमधिकं भवतीत्यर्थः ।। चक्रपाणिः ।।

हि० व्या०—प्रायः परस्पर गुणों को बाधित न करने वाले वीर्य विरुद्ध द्रव्यों का भी योगों में प्रयोग किया जाता है (जैसे मदनफल योग में एला) । योगों का इस प्रकार प्रयोग करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि संशोधन हेतु जिस रूप में द्रव्य प्रयुक्त किए जाते हैं वे परस्पर बाधक न हों क्योंकि तुल्य वीर्य वाले द्रव्य परस्पर कार्यशक्ति की वृद्धि करते हैं ।

मुख्यद्रव्यानुसारं योगनामकल्पनायां तथा प्रधानद्रव्य गौणद्रव्ययोः परस्परं सहायकत्वे युक्तिश्च

यद्धि येन प्रधानेन द्रव्यं समुपसृज्यते ।
तत्संज्ञकः स संयोगो भवन्तीति विनिश्चितम् ॥
फलादीनां प्रधानानां गुणभूताः सुरादयः ।
ते हि तान्यनुवर्तन्ते मनुजेन्द्रमिवेतरे ॥

च० क० १२।४०-४१

यद्यपि मदनादिभिः सुरादिभिश्च मिलित्वैवामी योगाः क्रियन्ते, तथाऽपि फलादीनां प्राधान्यात् फलादीनां योगा एत इति व्यपदेशो भवति, न सुरादि योगा इति । गुण भूता इत्यप्रधानभूताः । सुरादीनाम प्राधान्य एव हेतुमाह-ते हि तान्यनुवर्तन्त इति सुरादयो हि मदनादीनि वमनविरेचनप्रकारकार्यानुगुणतयाऽप्रतीघातेन चानुवर्तन्ते ॥ चक्रपाणिः ॥

हि० व्या०—किसी भी योग में प्रधान द्रव्य से नामकरण किया जाता है। योग निर्माण में सुरा आदि अनेक द्रव्यों का प्रयोग होता है तथापि गुण भूत सिद्धान्त से ये सहायक द्रव्य प्रधान द्रव्यों का ही अनुसरण करते हैं (उनके गुणों में वृद्धि करते हैं) जिस प्रकार प्रजा सदैव राजा का ही अनुकरण करती है।

प्रयोजनानुसारं तीक्ष्णमन्दमध्य कार्यकर भेषज योग कल्पना संकेतः ।

जलाग्निकीटैरस्पृष्टं देशकालगुणान्वितम् ।
ईषन्मात्राधिकैर्युक्तं तुल्यवीर्यैः सुभावितम् ॥
स्नेहस्वेदोपपन्नस्य तीक्ष्णत्वं याति भेषजम् ।
किंचिदेभिर्गुणैर्हीनं पूर्वोक्तैर्मात्रया तथा ॥
स्निग्ध स्विन्नस्य वा सम्यङ्मध्यं भवति भेषजम् ॥
मन्दवीर्यं विरूक्षस्य हीनमात्र तु भेषजम् ।
अतुल्यवीर्यैः संयुक्तं मृदु स्यान्मन्दवेगवत् ॥च० क० १२।५०-५३

हि० व्या०—**(१) तीक्ष्ण वमन-विरेचनकारक द्रव्य कल्पना—**

वमन विरेचनार्थ उपयोग में लाए जाने वाले द्रव्य जल से भरे, अग्निदग्ध एवं कीटयुक्त नहीं होने चाहिए। उत्तम देश और काल में उत्पन्न तथा उपयुक्त गुणों से युक्त अर्थात् रस, वीर्यादि से परिपूर्ण हों। अल्पमात्रा में प्रयुक्त होने पर भी अधिक गुणकारी हों एवं गुणवृद्धिकर समान वीर्य वाले द्रव्यों से भावित हो तो वह औषधियोग स्नेहन-स्वेदनोपरान्त प्रयुक्त कराने पर तीक्ष्ण (वमन-विरेचन) गुण युक्त हो जाता है।

(२) मध्यम संशोधन कारक द्रव्य कल्पना—

उपरोक्त तीक्ष्णगुणयुक्त संशोधन द्रव्यों से किञ्चित् न्यून गुण युक्त एवं

मात्रा में भी कम प्रयुक्त किए गए हों तो स्निग्ध स्विन्न व्यक्ति को इस औषधि के प्रयोग से मध्यम संशोधन होता है।

(३) मृदु संशोधन कारक द्रव्य कल्पना—

जो भैषजद्रव्य मन्दवीर्य, हीन मात्रा, अतुल्यवीर्य वाले द्रव्यों से भावित हों तो उसके प्रयोग कराए जाने पर, मन्द वेग से दोषों का निर्हरण होता है।

मध्य मृदुवीर्य भेषज योग प्रयोगस्थल संकेतः ।

अकृत्स्नदोषहरणादशुद्धी ते बलीयसाम् ।
मध्यावरबलानां तु प्रयोज्ये सिद्धमिच्छता ॥

च० क० १२।५४

तीक्ष्णादिशुद्धिविषयावचारणार्थमाह—अकृत्स्नेन्यादि । ते मध्याल्पशुद्धी बलीयसां पुरुषाणां कृत्स्नं दोषं यस्मान्न निर्हरतः, तस्मादशुद्धी । अकृत्स्न दोष हरणादिति हेतुवर्णनेन यदा बलीयसोऽल्पदोषतया कृत्स्नदोषहरणकारिके मध्याल्पशुद्धी भवतः, तदा सम्यक्शुद्धी एव ते इति सूचयति । मध्येत्यादि मध्यबले मध्या, अवरबले तु मृद्वी शुद्धिः प्रयोज्येति वाक्यार्थः । अत्र प्रयोज्यभाषया असम्यक्शुद्धी अपि बलापेक्षया कर्तव्ये, मध्यावरौ प्रति तयोः सम्यक्शुद्धि कर्तृत्व भवतीति दर्शयति ॥ चक्रपाणिः ।

हि० व्या०—पूर्वोक्त द्रव्य कल्पनाओं का प्रबल, मध्य और हीनबल व्यक्तियों के लिए प्रबल-मध्य और मृदु संशोधन का प्रयोग कराना चाहिए। यदि बलवान् व्यक्तियों को मध्य एवं मृदु भेषज प्रयोग की जाती हैं तो पूर्ण रूप से संशोधन नहीं होता है।

तीक्ष्णवीर्य भेषजयोग प्रयोगस्थल संकेतः ।

तीक्ष्णो मध्यो मृदुर्व्याधिः सर्वमध्याल्पलक्षणः ।
तीक्ष्णादीनि बलापेक्षि भेषजान्येषु योजयेत् ॥

च० क० १२।५५; अ० सं० सू० २७।५८

हि० व्या०—तीक्ष्ण, मध्य और मृदु स्वभाव वाली व्याधियों में क्रमशः सम्पूर्ण, मध्य और अल्प लक्षण विद्यमान होते हैं अतः बल का ज्ञान रखने वाले चिकित्सक को क्रमशः तीक्ष्ण, मध्य और मृदु औषध कल्पनाओं का संशोधन हेतु प्रयोग कराना चाहिए।

शोधितदुर्बलेऽपरिज्ञातकोष्ठे च मृदुशोधकद्रव्य प्रयोगः ।

दुर्बलं शोधितं पूर्वमल्पदोषं च मानवम् ।
अपरिज्ञातकोष्ठं च पाययेतौषधं मृदु ॥
श्रेयो मृदसकृत्पीतमल्पबाधं निरत्ययम् ।
न चातितीक्ष्णं यत्क्षिप्तं जनयेत्प्राणसंशयम् ॥

च० क० १२।६४-६५

हि० व्या०—जो व्यक्ति प्रायः दुर्बल हों, जिसका पूर्व में संशोधन किया गया हो, दोष भी अल्प मात्रा में हो और जिसके कोष्ठ का ज्ञान न हो ऐसे व्यक्तियों को मृदु भेषज पिलानी चाहिए। मृदु द्रव्यों का पुनः पुनः प्रयोग लाभदायक होता है क्योंकि मृदुविरेचन से कोई उपद्रव नहीं होते। ऐसी स्थिति में तीक्ष्ण द्रव्यों का प्रयोग भी लाभकारी नहीं होता। क्योंकि इनके प्रयोग से प्राण संशय की स्थिति भी उत्पन्न हो सकती है।

शोधनद्रव्यकल्पनानिर्देशः—

अधोभागोर्ध्वभागानि भेषजानि प्रयत्नतः।
कल्पयेन्मतिमान् वैद्यो विषशस्त्रनिभानितु॥
कटुतिक्तकषायाणि विदाहीनीतराणि च।
सूक्ष्माण्युष्णानि तीक्ष्णानि विष्यन्दीनि गुरुणि च॥

भे० सं० सि० अ० च० ४।१-२

हि० व्या०—वमन विरेचन में प्रयुक्त औषध द्रव्यों का प्रयत्नपूर्वक प्रयोग करना चाहिए। द्रव्यों की कल्पनायें विष और शस्त्र के समान हैं (अर्थात् अनुचित रूप से प्रयोग करने पर प्राणनाशक है) क्योंकि वामक एवं विरेचक द्रव्य कटु, तिक्त, कषाय, विदाही सूक्ष्म, उष्ण, तीक्ष्ण अभिष्यन्दी और गुरु गुणयुक्त होते हैं। अतः द्रव्यों का विचार करते हुए कल्पना करनी चाहिए। अपि च—

विभ्रंशो विषवत्सम्यग्योगो यस्यामृतोपमः।
कालेऽवश्यं प्रयोज्यं च यस्माद्यत्नेन तत् पिबेत्॥
तच्च शोधनं शास्त्रोक्तेन विधानेनावहितः पिबेत्।
यतस्तस्य शोधनस्य विभ्रंशो विपरीता सेवा विषवत्। सम्यग्योगश्च यस्यामृतोपमः। ननु कदाचिदुपेक्ष्य इत्यत आह। कालेऽवश्यं प्रयोज्यंच व्याधिभयात् उपसंहरन्नाहः। इन्दुः

अ० सं० सू० अ० २७।६०

हि० व्या०—संशोधनौषध का विधिवत् प्रयोग न करने पर विष के समान हानिकारक होता है और सम्यक् प्रयोग अमृत तुल्य लाभकारी है अतः जहाँ प्रयोग करने की आवश्यकता हो, उसका प्रयत्न पूर्वक (सावधानी पूर्वक) प्रयोग करना चाहिए।

दुर्बले बहुदोषे रुग्णे शोधन निर्देशः

दुर्बलोऽपि महादोषो विरेच्यो बहु[1]शोऽल्पशः।
मृदुभिर्भेषजैर्दोषा हन्युर्ह्यनमनिर्हृताः॥

१. बहुशोऽल्पश इति पुनः पुनः स्तोकमात्रया। चक्रपाणिः

च० क० १२।६६

रोगे शोधनसाध्ये तु यो भवेद्दो[2]ष दुर्बलः।
तस्मै दद्यात्भिषक् प्राज्ञो दोषप्रच्यावनं मृदु॥

सु० सू० ३९।११

हि० व्या०—जिस व्यक्ति में दुर्बलता हो, दोष प्रबल हो ऐसी स्थिति में (दोष प्रकोप होने पर) यदि विरेचन कराना हो तो उसके दोषों को निकालने के लिए मृदु भेषजों द्वारा (आहार द्वारा) धीरे धीरे दोषों को निकालना चाहिए। शीघ्रता नहीं करनी चाहिए। आचार्य सुश्रुत के अनुसार शोधन साध्य रोगों में यदि रोगी दोषों की प्रबलता से दुर्बल हो गया हो ऐसी स्थिति में बुद्धिमान् वैद्य को चाहिए कि दोषों को निर्हरण करने वाली मृदुवीर्य विरेचक एवं वामक औषधियों का प्रयोग करावें।

आशय भेदेन शोधनम्

वामयेद्वामनीयांस्तु समीक्ष्यामाशयान्नरान्।
विरेचयेद्विरेच्यांस्तु तथा पक्वाशयाश्रयान्॥

भे० सं० सू० २१।९

हि० व्या०—आचार्य भेल लिखते हैं कि मनुष्य के आशय की समीक्षा करते हुए वमन योग्य व्यक्ति को वमन करावें तथा पक्वाशय में आश्रित दोषों को विरेचन द्वारा निर्हरण करना चाहिए।

दोषानुसार संशोधनयोग्यावस्था संकेतः।

तत्रोत्क्लिष्टे श्लेष्ममपि पित्तसंसृष्टे वा तत्स्थान गते वा पित्तेऽनिले वा श्लेष्मोत्तरे वा वमनमाचरेत् पित्ते तु विरेकं श्लेष्मसंसृष्टे वा तत्स्थानगते वा श्लेष्मणीति॥

अ० सं० सू० २७।५

२. (क) यो भवेद्दोषदुर्बलः यः पुरुषो दोषैर्दुर्बलो नतूपवासदिभिः; यस्माद्दोषदुर्बले दोषहरणादेव बलं भवति, उपवासादिकृशे त्वपहृतेऽपि दोषे बलं न भवति। दोषप्रच्यावनं विरेचनम्। मृद्वितिं मृदुवीर्यं चतुरङ्गुल विरेकादि॥ डल्हणः।

(ख) संप्रति दुर्बलस्य संशोधनं निषिद्धमिह प्रदेशान्तरेऽपि; यदुक्तम्—"अग्निक्षारविरेकैस्तु बालवृद्धौ विवर्जयेत्" (सू० अ० ३५) इति; अत्र हि बालवृद्धौ दुर्बलतयैव विरेचने निषिद्धौ, तेनान्योऽपि दुर्बलो न शोध्य इति फलति, अतस्तत्प्रसवमाह-रोग इत्यादि। दोषदुर्बलमिति दोषप्रभावादुर्बलं, न तु हेत्वन्तरदुर्बलम्। समीक्ष्येति सम्यग्बलं निरूप्य। मृद्विति आरग्वधादिमृदुद्रव्यकृतमल्पमात्रं च। अत्र दोष सम्बन्धे दुर्बले दोषापहरणे नैव बलं भवतीति भावः। (चक्रपाणिः भानुमति व्याख्या)

हि० व्या० —यदि श्लेष्मा स्वस्थान में बढ़ा हुआ हो अथवा किंचित् मात्रा में उसके साथ पित्त भी मिला हो तो वमन कराना चाहिए। कफस्थान में पित्त आ जाए या वात आ जाए अथवा श्लेष्मा अतिशय वृद्ध हो ऐसी अवस्था में भी वमन कराया जाता है। केवल पित्त में विरेचन अथवा पित्त के स्थान पर कफ आया हो या पित्त के साथ मिला हो तब भी विरेचन कराना चाहिए। यदि कफ के स्थान पर पित्त अतिशय मात्रा में पहुंच जावे तब भी विरेचन देना चाहिए।

अपि च—

कफे विदध्याद्वमनं संयोगे वा कफोल्वणे।
तद्वद्विरेचनं पित्ते ॥ अ० हृ० सू० अ० १८।२

केवले कफे वमनं विदध्यात् कुर्यात्। अथवा संयोगे संसर्गे कफोल्वणे कफ प्रधाने श्लेष्मपित्ताख्ये च वमनं विदध्यात्। तद्वत् विरेचनं पित्त इति। तेन तुल्यं तद्वत्। तेन कफेन तुल्यम्। यथा केवले कफे वमनं कफोल्वणे संयोगे वा वमनं तथैव केवले पित्ते विरेचनं विदध्यात्। संयोगे च पित्तोल्वणेऽपि पित्त-श्लेष्माख्ये पित्तमारुताख्ये विरेचनं विदध्यात्। चंद्रनन्दनः।

हि० व्या०—कफज रोग में वमन कराना चाहिए अथवा कफपित्त के संसर्ग में वमन कराना चाहिए। पित्तज रोगों में, पित्तकफज एवं पित्तवातज रोगों में विरेचन कराना चाहिए।

संशोधन योग्य काल निर्देशः।

प्रावट् शुचिर्नभो ज्ञेयौ शरद्वर्जसहौ पुनः।
तपस्यश्च मधुश्चैव वसन्तः शोधनं प्रति।
एनानृतून् विकल्प्यैव दद्यात् संशोधनं भिषक्।
स्वस्थवृत्तमभिप्रेत्य व्याधौ व्याधिवशेन तु ॥ च० सि० ६।५
शरत्काले वसन्ते च प्रावृट्काले च देहिनाम्।
वमनं रेचनं चैव कारयेत्कुशलो भिषक् ॥

[1]शा० सं० उ० अ० ३।१ भावप्रकाश, वंगसेन

---

१. क भिषजः शोधनं प्राहुर्वर्ज्यः स्वस्थेन सर्वदा।
पन्नगस्य वधो वंक्षणे दोषस्य समुदीरणम् ॥ ज्ञा० सं० गू० दी०
ख अतिविष्टेनातिघर्मे प्रावृडित्यभिधीयते।
तत्रैव शोधनं पथ्यं न वर्षासु कदाचन ॥ ,, ,,
ग प्रावृट्घनात्यवसन्तदिनेषु यस्मात्।
प्रादुर्भवन्ति पवनादि रुजस्ततश्च।
वातादिदोषविगमाच्च शरीरशुद्धिः ॥ इति ॥ ,, ,,

ऋतौ वसन्ते शरदि देहशुद्धौ विरेचयेत्।
अन्यदात्ययिके काले शोधनं शीलयेद्बुधः ॥

वंगसेन विरेचन प्र०

हि० व्या०—पंचकर्म सामान्य परिचय नामक प्रथम प्रकरण के काल शीर्षक में भी इस पर विचार किया गया है। प्रावृट् काल आषाढ़ एवं श्रावण, शरद काल कार्तिक एवं अगहन तथा वसन्तकाल फाल्गुन एवं चैत्र है। वातपित्त तथा श्लेष्मा दोषों के संशोधन के लिए क्रमशः प्रावृट्, शरद तथा वसन्त इन तीन ऋतुओं का निर्देश किया गया है। इन तीन ऋतुओं का विचार करते हुए संशोधन कराना चाहिए यह समय स्वस्थ व्यक्तियों के लिए बताया गया है। रोगी अथवा रोग के अनुसार उचित समय देखकर संशोधन कराना चाहिए। अथवा उचित काल न होने पर भी संशोधन की आवश्यकता होने पर कृत्रिम काल निर्माण करके भी संशोधन कराने का निर्देश पूर्व में दिया गया है।

यथर्तु द्रव्य सेवन फलम्

एवं तु वर्तमानानामायुर्बुद्धिमवाप्नुयात्।
नृणां समाधिपूर्णानामदीनमनसां तथा ॥ भे० सं० सू० १४।२०

हि० व्या०—ऋतु, काल एवं दोषानुसार पथ्य पालन करते हुए किया गया संशोधन आयुवर्धक है जैसे समाधि से प्रसन्नता प्राप्त होती है।

मलशोधनकाल विचारः।

यतेत च यथाकालं मलानां शोधनं प्रति।
अत्यर्थं संचितास्ते हि क्रुद्धाः स्युर्जीवितच्छिदः ॥

अ० हृ० सू० ४।२६

मलानां वातपित्तश्लेष्मपुरीषादीनां यथाकालं शोधनं प्रति यतेत यत्नं कुर्यात्। यो यस्य मलस्य शोधनकालः स तस्मिन् काले शोधनीय इत्यर्थः। किमर्थं मलानां शोधनं कार्यमित्याह। अत्यर्थेत्यादि। यस्मात्ते मला अत्यर्थसंचिता अतिशयेन स्वस्थाने वृद्धिं गताः कुतोप्याहारविहाररूपात् कोपहेतोः क्रुद्धाः कुपिताः संतः कदाचिज्जीवितच्छिदः स्युर्भवेयुः। तस्मात्ते शोधनीयाः। अत्यर्थसंचित ग्रहणेनैतद्द्योतयति। यदि ते मला अत्यर्थं संचिताः स्युस्तदैव तेषामन्योपक्रमेभ्यः शोधनाख्यः उपक्रमो ज्यायान्। लंघनपाचने तूपक्रम मात्रे ॥ अरुणदत्तः ॥

शोधनं विधत्ते—यतेत चेति। मलानां—वातपित्तकफानां, शोधनार्थं प्रयत्नं कुर्यात्। हि – यस्मात्, ते शोधनं विना, अत्यर्थं सञ्चिताः स्युः, ततः क्रुद्धाः स्युः ततो जीवितच्छिदः स्युः। यथाकालं=यस्य यस्य दोषस्य यस्य यस्य शोधनस्य च यो यः कालः, तदातदा तस्य तस्य दोषस्य तत्तच्छोधनं कुर्यात्, अत्यर्थं सञ्चयाद्यथा जीवितच्छित्त्वं न स्यात्। यथोक्तं सङ्ग्रहे (सू० अ० ५) चय काष्ठामुपारुह्य कुर्वते ते ह्युपेक्षिताः। प्रायशः सुचिरेणापि भेषजद्वेषिणो गदान्।

अतिस्थौल्याग्निसदनकुष्ठमेहहृतौजसः। स्रोतोरोधाक्षविभ्रंशश्वासश्वयथुपाण्डुताः। आमोरुस्तम्भ जठरकृच्छ्रालसकदण्डकान्। तृप्तिप्रमीलकालस्यग्रहण्यर्शोभन्दरान्। प्लीहबिद्रधिवीसर्पमदसंन्यास पीनसान्। छर्दिगण्डकृमिग्रन्थितन्द्रादुःस्वप्न-दर्शनम्। कण्ठामयान् मूर्धरुजः प्रणाशं वृद्धिनिद्रयोः। तेजो वर्णबलानां च तृप्यतो बृंहणैरपि। उचितैरपि चाहारैर्यस्मादस्य वहन्ति न। दोषोपलिप्त-वदना रस रसवहाः शिरा ॥ वमनादीनतो युञ्ज्यास्वस्थस्यैव यथाविधिः ॥" इति। ननु, भिषजः शोधनं प्राहुर्वज्यं स्वस्थेन सर्वदा। पन्नगस्येव घोरस्य समुदीरणम् ॥ इति सुश्रुतादिभिः स्वस्थस्य शोधनं निषिद्धम्, इह तु विहित-मिति विरोधः। मैवम्। विषयभेदात्। द्विविधो हि स्वस्थः, सञ्चित दोषोऽसञ्चित दोषश्च। तत्राद्यो विधेर्विषयोऽपरः प्रतिषेधस्येति। ननु, सञ्चयो-वैषम्यम्, वैषम्यं च रोगः, निरोगश्च स्वस्थः, इति सञ्चित दोषस्य न स्वास्थ्यम्। मैवम्, (हृ० सू० १२।२२) —चयो वृद्धिः स्वधाम्न्येव प्रद्वेषो वृद्धिहेतुषु। विपरीत गुणेच्छा च कोपस्तून्मार्गगामिता ॥ लिङ्गानां दर्शनं स्वेषामस्वास्थ्यं रोगसम्भवः। इति कोपलक्षणेष्वस्वास्थ्यं रोगसम्भवश्च पठता-ऽऽचार्येण चयलक्षणेषु स्वास्थ्यं रोगसम्भवश्चेति ज्ञापितम्, अतः सञ्चितदोषोऽपि स्वस्थ इति ॥ हेमाद्रिः ॥

मलानां—वातपित्तश्लेष्मपुरीषादीनां शोधनं प्रति-निर्हरणं प्रति यतेत यत्नं कुर्वीत। यथाकालं—कालानति क्रमेण। यस्मात्ते मला अत्यर्थं संचिताः, कदाचित् कोपहेतुमासाद्याहारविहाररूपं यदा क्रुद्धयन्ति तदा क्रुद्धास्ते मलाः सन्तो जीवितच्छिदः स्यु : आयुषो हर्त्तारो भवेयुः। ततस्ते शोधनीयाः। एव-मत्यर्थं संचितानां प्रधानोपक्रमः शोधनाख्यो यतः शीघ्रमेव तेनोपशयो जायते। चिरेण पुनर्लंघनपाचनाभ्यां संचितप्रायाणां लंघन पाचने प्रधानोपक्रमः। ईप-त्संचितानां लंघनमेव प्रधानोपक्रमः। एवं क्वचित्संशोधनं प्रधानं क्वचिच्च लंघनमेव प्रधानोपक्रमः। यत एनं ततोऽयं ग्रन्थ आरब्धुं न्याय्यः ॥

चंद्रनन्दनः।

अन्यदपि रोगानुत्पत्तिकारणान्दर्शयति यतेतेति। मलशोधने निमित्तमाह-अत्यर्थमिति। यथाकालं मलानां शोधनं प्रति यतेत च इत्यन्वयः। स्वशोधन-कालानतिक्रमेण मलानां वातादीनां शोधनं वस्त्यादिना बहिर्निष्कासनं प्रति यत्नं च कुर्यात्। यो यस्य मलस्य विहितश्शोधनकालस्स तस्मिन् काले शोधनीय इत्यर्थः। मलशोधने निमित्तमाह-अत्यर्थमिति। ते अत्यर्थं सञ्चिताः क्रुद्धा जीवितच्छिदः स्यु हि इत्यन्वयः। ते वातादयोऽतिशयेव स्वस्थाने वृद्धि गताः कुपितास्सन्तः प्रतीकाराविषयभूतत्वात् कदाचिज्जीवितविनाशकारा भवेयुः, यस्मात्तस्मात्ते शोधनीया इत्यर्थः। अत्यर्थं सञ्चिता इत्यनेन सञ्चय-पूर्वं कुपितानां शोधनमेव श्रेष्ठमिति द्योतयति ॥

परमेश्वरः ॥

हि० व्या०—वातादि दोष एवं पुरीषादि मलों का यथाकाल (उचित समय पर) संशोधन कराने का प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि अत्यन्त सञ्चित दोष कुपित होकर जीवन का विनाश कर सकते हैं। अतः अतिशय मात्रा में वृद्ध होने से पूर्व ही संशोधन कराना उचित है।

शोधन कर्मणि स्नेहस्वेदयोः प्रयोगकाल संकेतः

कर्मणां वमनादीनामन्तरेष्वन्तरेषु च।
स्नेहस्वेदौ प्रयुञ्जीत स्नेहं चान्ते प्रयोजयेत् ॥

च० सि० ६।७; अ० स० सू० अ० २७।५१; अ० हृ० सू० अ० १८।५०

कर्मणामित्यादौ अन्तरेष्विति वमनानन्तरं विरेचने कर्तव्येविरेचनानन्तरं वा वस्तौ कर्तव्ये स्नेहस्वेदौ यथोक्तविधानेन पुनः कर्तव्यौ, न सकृत्प्रयुक्तेनैव स्नेहस्वेदेन पञ्चकर्माणि कर्तव्यानीत्यर्थः। स्नेहं चान्ते प्रयोजयेदिति संशोधन कर्मपरिसमाप्तौ संशोधनजनितग्लानिपरिहारार्थं संशमनीयस्नेहं प्रयोजयेदि-त्यर्थः।

(चक्रपाणि)

शास्त्रोपदेशः क्रियते। कर्मानुपूर्व्या हि सकृत्कृताभ्यामेवादौ स्नेहस्वेदाभ्यः सर्वकर्मानुष्ठान् प्रसङ्गः स्यादिति। तन्निवृत्यर्थः कर्मणां वमनादीनामिति। स्नेहस्वेदपूर्वकमेव। कर्माद्युपदेशात्। यत्र प्राथमिककल्पिते त्वपर्यायकरणे वा कृतार्थः स्यादिति पुनर्विधानम्। कर्मशब्दोऽत्र कर्मत्रयवृत्तिः। अनुवासन-शिरोविरेचनयोरस्नेहपूर्वकत्वात्। स्नेहः तथा स्वेदश्च धर्ममात्रमिति चतु-र्वृत्तिः। पञ्चवृत्तिर्वास्तु। न तु पाचनादिनिवृत्तिः। यानीहकर्मान्युक्तानि। यथाप्रतिकर्मसंसर्जनान्तं स्नेहस्वेदविधानम्। वीप्सा प्रयोगात्तुशब्दो व्यवधाने चार्थः। पुनश्शब्दो व्युत्क्रान्तापेक्षः। अन्तरे चान्तरे च स्नेहस्वेदौ पुनरन्ते च स्नेहं प्रयोजयेदिति। पञ्चकर्मपरिसमाप्तौ स्नेहमेव न स्वेदमित्येके। प्रत्येक परिसमाप्तावप्यक्रियमाणे कर्मान्तरे पुनस्स्नेहमित्यन्ये ॥ (जज्जटः)

हि० व्या०—संशोधनार्थ वमन् विरेचन एवं वस्ति कर्मों के पूर्व एवं अन्त में पृथक रूप से स्नेहन-स्वेदन कराना चाहिए अर्थात् एक बार स्नेहन स्वेदन कराने पर ही क्रमशः सभी कर्म नहीं कराने चाहिए। प्रत्येक कर्म के लिए पुनः कर्म से पूर्व एवं कर्म के पश्चात् पृथक्-पृथक रूप से स्नेहन स्वेदन कराना चाहिए।

स्नेहस्वेदौ विना शोधने विकारोत्पत्तौ युक्तिः।

स्नेहस्वेदावनभ्यस्य यस्तु संशोधनं पिबेत्।
दारुशुष्कमिवानामे देहस्तस्य विशीर्यते ॥ ४६ ॥

सु० चि० ३३, अ० सं० सू० २७।५३; अ० हृ० सू० १८।५२; वंगसेन विरेचनाधिकार

हि० व्या०—स्नेहन एवं स्वेदन का प्रयोग किए बिना जो व्यक्ति संशोधन औषध का सेवन करता है उसका शरीर उसी प्रकार नष्ट हो जाता है जिस प्रकार सूखा काष्ठ मोड़ने पर टूट जाती है। अतः संशोधन के पूर्व यथावश्यक स्नेहन स्वेदन कराना चाहिए।

वक्त०—चरक सूत्र अ० १४ में इसी भाव को व्यक्त करते हुए लिखा है

"शुष्काण्यापि हि काष्ठानि स्नेहस्वेदोपपादनैः।
नमयन्ति यथान्यायं किं पुनर्जीवितोनरान्॥"
स्निग्धस्विन्नस्य भैषज्यैर्दोषस्तूत्क्लेशितो बलात्।
निलीयते न मार्गेषु स्निग्धे भाण्ड इवोदकम्॥ सु० चि० ३३।४०

स्निग्धस्विन्नस्य पुरुषस्य भैषज्यैर्भोजनौषधरूपैः, यतो भैषज्यग्रहणेन भोजनमपि गृह्यते। बलात् पुरुषबलादिकमभिसमीक्ष्य दोष उत्क्लेशितः। न मार्गेषु निलीयते न श्लिष्यति, न संयुज्यते न लग्नो भवतीत्यर्थः।

(डल्हणः)

हि० व्या०—जिसे स्नेहन एवं स्वेदन करा दिया गया हो, उसका दोष औषधियों के द्वारा उत्क्लेशित किए जाने पर मार्ग में चलायमान हो जाता है। वह मार्ग में उसी प्रकार नहीं ठहर सकता जिस प्रकार चिकने घड़े पर पानी नहीं ठहरता।

संशोधने क्रम निर्देशः।

स्नेहमग्रे प्रयुञ्जीत ततः स्वेदमनन्तरम्।
स्नेहस्वेदोपपन्नस्य संशोधनमथान्तरम्॥ ३६॥

चक्रदत्त स्नेहा०

हि० व्या०—संशोधन में सर्वप्रथम स्नेहन कराना चाहिए। सम्यक् स्नेहन-स्वेदन किए गए व्यक्ति को ही वमन विरेचनादि द्वारा संशोधन करना चाहिए।

स्नेहस्वेदानन्तरं संशोधन विधानम्।

स्नेहस्वेदावकृत्वाग्रेयस्तु संशोधनं पिबेत्।
दारुशुष्कमिवानाम्य तद्देहमतिपातयेत्॥ ७॥

वगसेन विरेचनाधि०

हि० व्या०—जो व्यक्ति बिना स्नेहन एवं स्वेदन किए ही संशोधन औषध पी लेता है उनका शरीर उसी प्रकार नष्ट हो जाता है जैसे सूखे काष्ठ को झुकाने से टूट जाता है।

अपि च—

स्नेहनैर्व्याधितस्थानाद्रसंश्चाभ्यधिकीकृताः।
स्वेदैर्मृदूकृतासन्तः स्रोतसा च समागताः॥

मृदुसर्वाङ्ग कोष्ठस्य भेषजैश्शुचिभिस्तदा।
दोषास्सुनिर्हरा जन्तोर्भवन्तीति विनिश्चयः॥
एष हेतुर्विरेकेषु छर्दनेष्वेव एव तु।
एष हेतुर्निरूहेषु शिरसश्च विरेचने॥

भेल० सू० १४।

हि० व्या०—स्नेहन से विकृत स्थान में रस की वृद्धि होकर दोष क्लिन्न होते हैं एवं स्नेदन से दोष मृदु होकर स्रोतों में आ जाते हैं तथा स्नेहन व स्नेदन से सम्पूर्ण शरीर और कोष्ठ मृदु होने के कारण संशोधन औषधियों से शरीर का शोधन होकर, शरीर स्वच्छ हो जाता है। वमन-विरेचन-निरूहण एवं शिरो विरेचन में भी यही हेतु हैं।

दोष संशोधन काले ब्रह्मचर्य पालने युक्तिः

यन्मैथुनाच्छुक्लवाहा वस्तिसक्थित्रिकादि च।
हृदयं दुर्बलं चास्य समुद्गीर्णश्च मारुतः॥

ब्रह्मचारी भवेत्तमस्तु भे० सं० सू० २५।२२-३३

हि० व्या०—दोष संशोधन काल में व्यवाय करने से शुक्रवहा नाड़ी, बस्ति, सक्थि, त्रिकप्रदेश एवं हृदय दुर्बल होते हैं, वायु की वृद्धि होती है अतः संशोधन काल में रोगी को ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए।

वमनविरेचनकर्मणः प्राक् दोषोत्क्लेशक भोजनसंकेतः

ग्राम्यौदकानूपरसैः समांसैरुत्क्लेशनीयैः पयसा च वम्यः।
रसैस्तथा जाङ्गलजैः सयूषैः स्निग्धैः कफावृद्धिकरैर्विरेच्यः॥

च० सि० १।८-९

संप्रति स्निग्धस्य वामनीयस्य वमनानु गुणं विरेचनीयस्य च विरेचनानुगुणं भोजनं पृथगाह—ग्राम्यौदकेत्यादि। रसैस्तथेत्यादिना विरेचनीयस्याहारविधानेन्। अत्र च उत्क्लेशनीय इति यदा सम्बन्धो भवेत्तदा उत्क्लेशनं पित्तस्यैव ज्ञेयं; किं वा 'उत्क्लेशनीयः' इति नानुवर्तत एवः तेन कफावृद्धिकरैः रसैर्यूषैश्च 'भोजनीय' इति शेषः। एतद्विरेचनार्थं प्रतिभोजनं त्र्यहं ज्ञेयं, वमनार्थं तु प्रतिभोजनमेकाहमेव; उक्तं हि—"स्नेहात् प्रस्कन्दनं जन्तुस्त्रिरात्रोपरतः पिबेत्। 'स्नेहवद्द्रवमुष्णं च त्र्यहं भुक्त्वा रसौदनम्। एकाहोपरतस्तद्वद्भुक्त्वा प्रच्छर्दनं पिबेत्" (सू० अ० १३) इति।

चक्रपाणिः।

वमनात् प्राक् कफोत्क्लेशावस्थायां विरेचनात् प्राक् कफ न्यूनतावस्यकतायां युक्तिः

श्लेष्मोत्तरश्छर्दयतिह्यदुःखं
विरिच्यते मन्दकफस्तु सम्यक्

अधः कफेऽल्पे वमनं हि याति
विरेचनं वृद्धकफे तथोर्ध्वम् ।

वामनीयस्य श्लेष्मोत्तरत्वे कर्तव्ये विरेचनीयस्य चाल्पकफत्वे सम्पाद्ये उपपत्तिमाह-श्लेष्मोत्तर इत्यादि । उक्त विपर्यये हेतुमाह—अध इत्यादि । कफेऽल्पे सति वमनं पीतं वमनमकृत्वैवाधो याति, वृद्धे कफे तु विरेचनं प्रयुक्तमूर्ध्वं याति वमनाय संपद्यत इत्यर्थः । चक्रपाणिः ।

वमनात् प्राक् तथा वमनादनंतरं प्रयोज्य विरेचनात् प्राक् च कर्तव्य विधि संकेतः ।

स्निग्धाय देयं वमनं यथोक्तं
वान्तस्य पेयादिरनुक्रमश्च ॥
स्निग्धस्य सुस्विन्नतनोर्यथावद्वि-
रेचनं योग्यतमं प्रयोज्यम् ॥

च० सि० १।९-१०

स्निग्धाय देयं वमनमिति वमनपानदिनेऽभ्यङ्गेन स्निग्धाय वमनं देयमित्यर्थः, पानजनितस्नेहस्तु पूर्वमेवोक्तत्वान्न पुनरभिधानमर्हति; अन्ये तु 'उपजातस्नेह गुणाय इति वदन्ति । यथोक्तमिति मदनकल्पोक्तविधिना देयम् । वमनानन्तरं कर्तव्यमाह-वान्तस्येत्यादि । पेयादिः 'पेयां विलेपीम्' इत्यादिना वक्ष्यमाणः । वमनक्रममभिधाय विरेचनक्रममाहस्निग्धस्येत्यादि । सुस्विन्नतनोरिति सम्यक्स्विन्न देहस्य । अयं च विरेचनाङ्गः स्नेहस्वेदक्रमो वमनाव्तरभावि विरेचनेऽपि पेयादिक्रमोत्तरकालं कर्तव्यः, यदुक्तं "विलेप्याः क्रमागतं चैनं पुनरेव स्नेहस्वेदाभ्यामुपपाद्य विरेचयेत्'—इति । स्नेहानन्तरं च यत् त्र्यहं विरेचनार्थं प्रतिभोजनं, तदुपक्रमाभिधानानुषङ्गप्रतिपादितमेवेति न पुनरिह प्रतिपाद्यते । यथावदिति कल्पस्थानोक्तविधिना । योग्यतममिति शरीरदोषाद्यपेक्षया यद्विरेचनं यौगिकं भवति तद्देयम् ॥

चक्रपाणिः ।

हि० व्या० —१. संशोधन से पूर्व वमन योग्य व्यक्तियों को पहले ग्राम्य, जलीय और अनूप पशु पक्षियों के मांस रस के साथ दूध का प्रयोग कराने से कफ का उत्क्लेशन होता है । जैसा कि सूत्र अ० १३ में बताया गया है ।

२. विरेचन योग्य व्यक्तियों को जांगल पशु पक्षियों के स्निग्ध मांस रस, (जिससे कफ वर्धन न हो और मल उत्क्लेशित हो जाए) सेवन कराना चाहिए ।

३. संशोधन कराते समय कफ की वृद्धावस्था एवं अल्पावस्था का ज्ञान आवश्यक है क्योंकि कफ प्रधान मनुष्यों को सुखपूर्वक वमन हो जाता है । मन्दकफ वाले व्यक्तियों को सुखपूर्वक विरेचन हो जाता है । अल्प कफवाले

व्यक्तियों में वमनौषधि से विरेचन हो जाता है एवं कफदोष की वृद्धि की स्थिति में विरेचनौषधि से भी वमन हो जाता है ।

वमनादि कर्मों के क्रम का उल्लेख करते हुए निर्देश किया है कि स्नेहनोपरान्त यथाविधि वमन कराना चाहिए । वमन के सम्यक रूप से हो जाने पर पेया, विलेपी आदि का क्रम से सेवन करना चाहिए । तब यथाविधि स्नेहन और स्वेदन के पश्चात् विरेचन के योग्य समझ कर विरेचनौषध का प्रयोग कराना चाहिए ।

वमनविरेचनयोः पूर्व दिने पथ्यपालन संकेतः

नरः श्वो वमनं पाता भुञ्जीत कफवर्धनम् ।
सुजरं द्रवभूयिष्ठं लघ्वशीतं विरेचनम् ॥
उत्क्लिष्टाल्पकफत्वेन क्षिप्रंदोषाः स्रवन्ति हि ।

च० सि० ६।१८-१९

वमनविरेचनयोः पूर्वदिने यथा भोक्तव्यं तदाह—नर इत्यादि । एतत् प्रागुक्तमपि प्रकरणवशाद्विशेषाभिधित्सताऽभिधीयते । पातेति पातुकामः । द्रवभूयिष्ठमितिच्छेदः । विरेचनं पाता लघु अशीतं च भुञ्जीतेति सम्बन्धः । एव भूत भोजनोपपत्तिमाह—उत्क्लिष्टेत्यादि । उत्क्लिष्टाल्पकफत्वेनेति वमनं प्रति उत्क्लिष्टकफत्वेन, विरेचनं प्रति त्वल्पकफत्वेनेति विभागः । चक्रपाणिः ।

भोजनाद्युपदेशः—"नरः श्वो वमनं पातेति । उक्तेऽपि ग्राम्यानूपौदकभृत मांसक्षीरादीनि च तद्वद् भुक्त्वा प्रच्छर्दनं पिबेदिति च सम्यग्विधानाधिगमनात् तदधिकाराच्चोच्यते । सर्वस्य प्रकारस्यानुक्तत्वादिति । "सुजरं द्रवभूयिष्ठमिति । स्नेहवद्द्रवमुष्णं च त्र्यहमिति । अपुनरुक्तत्वाच्च प्रकरणाद्विशिष्टभोजनगुणान्तरोपदेश सम्बन्धाद्वा लघुशीतमुष्णं मांसरसयूपादन्यदेव पेयादिकम् । यदुक्तं (अन्यत्र) त्रिरात्रोषितमिति । "वमनं विरेचनं चात्र न द्रव्याणि किन्तु क्रियाफलम् । भोजनोत्क्लिष्टकफत्वे सति वमनमल्पकफत्वे सति विरेचनं सम्यग्भवतीति । सम्यग्योगविशेषणञ्च पुनरयोगातियोगाद्युपद्रवानुपादानार्थम् । तेषां च पृथग्वक्ष्यमाणत्वादित्युच्यते ॥ जज्जटः ।

हि० व्या०—जिस व्यक्ति का संशोधन कराना हो उसे वमन कर्म हेतु, वामकौषध पिलाने से पहले दिन श्लेष्मावर्धक एवं सुपाच्य आहार कराना चाहिए ।

जिसे विरेचन कराना हो उसे भी पूर्व दिन द्रवप्रधान लघु और उष्ण औषध पिलाना चाहिए । इससे कफ उत्क्लिष्ट होने पर ऊर्ध्वभाग से वमन द्वारा दोषों का निर्हरण हो जाता है तथा कफ की अल्पता के कारण विरेचन से अधोभाग हर दोषो का निर्हरण हो जाता है ।

शोधन भेषज प्रयोगकाले मानसशान्त्यावश्यकता

विधूय मानसान् दोषा कामादीनशुभोदयान् ।
एकाग्रमनसापीतं सम्यग्योगाय कल्पते ॥ च० सि० ६।१७

हि० व्या०—काम, क्रोध, भय, शोक, ईर्ष्या आदि मानसिक दोषों से रहित होकर एकाग्रमन से संशोधनौषध को पीने वाला व्यक्ति सम्यक् रूप से शोधित होता है अर्थात् किसी प्रकार के उपद्रव की सम्भावना नहीं रहती है।

वमनविरेचनकर्मणि विशेषदशायां कर्तव्यम्

जीर्णेऽन्ने वमनं योज्यं कफे जीर्णे विरेचनम् ।
मन्दवह्निमसंशुद्धमक्षामं दोष दुर्बलम् ॥
अदृष्ट जीर्ण लिङ्गं च लंघयेत्पीत भेषजम् ।
स्नेहस्वेदौषधोत्क्लेश संगैरिति न बाध्यते ॥
संशोधनात्लविस्रावस्नेहयोजनलंघनैः ।
यात्यग्निर्मन्दतां तस्मात्क्रमं पेयादिमाचरेत् ॥
लघुताल्पपित्तश्लेष्माणं मद्यपं वातपैत्तिकम् ।
पेयां न पाययेत्तेषां तर्पणादिक्रमो हितः ।
अ० स० सू० अ० २७।३७ से ४०

ह्यस्तनेऽन्ने जीर्णे वमनं देयम् । श्लेष्मणि च जीर्णे विरेचनम् । तेनैतदुक्तं भवति । वमनं जीर्णेऽन्ने ह्यस्तने देय, श्लेष्मणि च स्थित एव देयम् । विरेचनं पुनरन्ने श्लेष्मणि च जीर्णे देयमिति । वमनाय विरेचनाय च पीतौषधं मन्दाग्निमसंशुद्धमप्रवृत्तदोषमक्षामं दोषैर्दुष्टैर्हीनबलमदृष्टजीर्णौषधलक्षणं च तं तदहर्लङ्घयेत् आजीर्णलिङ्गात् । एतावता हि स्नेहोत्क्लेशादिभिरातुरो न बाध्यते । संशोधनेत्यादिना प्रसङ्गेन यथोक्तस्य पेयादिक्रमस्य विषयं दर्शयति । तत्र संशोधने प्रवृत्ते यस्य पित्तश्लेष्माणौ अल्पौ लघुतौ देहावस्थितौ । यश्च स्वभावेन मद्यपो यश्च प्रकृत्या वातपैत्तिकस्तान् पेयां न पाययेत् । तेषां हि तर्पणादिक्रमो हितः । पेयास्थाने तर्पणा देया इत्यर्थः । तर्पणा लाजसक्तवः ।

अपक्वं वमनं दोषान् पच्यमानं विरेचनम् ।
निर्हरेद्वमनस्यातः पाकं न प्रतिपालयेत् ॥
ऊर्ध्वाधो रेचनं युक्तं वैपरीत्येन जायते ।
यदा यदा छर्दयतः सिञ्चेदुष्णेन वारिणा ॥
पादौ शीतेन चोर्ध्वांगं विपरीतं विरेचनम् ।
दुर्बलो बहुदोषश्च दोषपाकेन यः स्वयम् ॥
अ० स० सू० २७।४१ से ४३

तथा वैद्यो वमनस्य पाकावस्थां न प्रतिपालयेत् । अयोगे शीघ्रमेव प्रतिक्रियां कुर्यादित्यर्थः । विरेचने तु पाकावस्थां प्रतिपालयेदेव । कुत इत्याह । अपक्वमित्यादि । सुबोधम् । ऊर्ध्वरेचनं वमनं युक्तं सदा केनचित् कारणेन

वैपरीत्येन विरेचनतया जायते । तथाधोरेचनं विरेचनं या कुतश्चिन्निमित्ताद्विपरीत्येन वमनत्वेन जायते तदा विरेचनेन वैपरीत्याच्छर्दयत उष्णेन वारिणा पादौ सिञ्चेत् । शीतेन चोर्ध्वाङ्गं सिञ्चेत् या तु वमने वैपरीत्याद्विरेकस्तदा विरिच्यतः पूर्वं विपरीतं कार्यं पादौ शीतोदकेन सिञ्चेदुष्णोदकेन चोर्ध्वाङ्गमित्यर्थः । दौर्बल्यादियुक्तो दोषपाकेन यः स्वयं विरिच्यते । तं भेदनीयैराहारैरुपपादयेत् ।

विरिच्यते भेदनीयैर्भोज्यैस्तमुपपादयेत् ।
दुर्बलः शोधितः पूर्वमल्पदोषः कृशोनरः ॥
अपरिज्ञात कोष्ठश्च पिबेन्मृद्वल्पमौषधम् ।
वरं तदसकृत्पीतमन्यथा संशयावहम् ॥
हरेद्बहूंश्चलान्दोषानल्पानल्पान्पुनः पुनः ।
दुर्बलस्यमृदुद्रव्यैरल्पान्संशमयेत्तु तान् ।
क्लेशयन्ति चिरं ते हि हन्युश्चैनमनिर्हृताः ॥
मन्दाग्नि क्रूरकोष्ठं च सक्षारलवणैर्घृतैः ।
सन्धुक्षिताग्नि विजितकफवातं विशोधयेत् ।
अ० सं० सू० २७।४४ से ४७

न तस्मै विरेचनमौषधं देयं नापि स्तम्भनमित्यर्थः । दुर्बलः सन् पूर्वं शुद्धः तथाल्पदोषस्तथा कृशः तथा मृद्वादिविशेषेणापरिज्ञातकोष्ठः स मृद्वल्पं चौषधं पिबेत् यतस्तदौषधं प्रयोजनापेक्षायामसकृदनेकवारं पीतं वरं । न त्वन्यथा सकृत् संशयावहं पीतं वरमतियोगभयात् । तथा दुर्बलस्य चलान् दोषान् बहून् प्रभूतान् सतः स्तोकं स्तोकं कृत्वा मृदुभिर्द्रव्यैर्हरेत् पुनः पुनः । तांस्तु दुर्बलस्य चलान् दोषानल्पान् सतः अनिर्हृतानेव शमनैः शमयेत् । यतस्ते दोषा बहवः प्रचलिता एनमातुरमनिर्हृताः सन्तश्चिरं व्याधिभिः क्लेशयन्ति । हन्युरेव वा । मन्दाग्नि पुरुषं शोधनप्रसङ्गे सतिस क्षारैश्च घृतैर्यथोक्तैः सन्धुक्षिन्ताग्नि विजितश्लेष्माणं च शोधयेत् । तथा क्रूरकोष्ठं सलवणैर्घृतैः सन्धुक्षितग्नि विजितवातं च शोधयेत् ।

रूक्ष बह्वानिलक्रूरकोष्ठव्यायामशीलिनाम् ।
दीप्ताग्निनां च भेषज्यमविरेच्यैव जीर्यति ।
तेभ्यो वस्तिं पुरादद्यात्ततः स्निग्धं विरेचनम् ।
शकृन्निर्हृत्य वा किञ्चितीक्ष्णाभिः फलवर्तिभिः ।
प्रवृत्तं हि मलं स्निग्धो विरेको निर्हरेत्सुखम् ॥
अ० सं० सू० अ० २७।३६-४६

रूक्षत्वादियुक्तानां विरेचनं भैषज्यमविरेच्यैव जरां याति । अतस्तेषां प्रथमं वस्तिं दत्वा स्निग्धं विरेचनं देयम् । अथवा तेषां तीक्ष्णाभिः फलवर्तिभिः किञ्चित् पुरीषं निर्हृत्य स्निग्धं विरेचनं देयमिति सम्बन्धः । यतः फलवर्तिभिर्वस्तिना वा प्रवृत्तं मलं स्निग्धो विरेकः सुखं निर्हरेत् । इन्दुः ॥

हि० व्या०—आचार्य वाग्भट के अनुसार अन्न के जीर्ण हो जाने पर वमन कर्म कराना चाहिए; विरेचन कर्म भी अन्न एवं कफ के जीर्ण होने पर ही करना चाहिए। यदि संशोधन ओषध पीने से मन्दाग्नि; शोधन का सम्यक् रूप से न होना, कृशता का अनुभव नहीं होना, दोषों की प्रवृत्ति का अभाव आदि लक्षण दृष्टिगोचर हों तो रोगी को औषधि जीर्ण होने तक लंघन कराना चाहिए। इस प्रकार स्नेह, स्वेद और औषध के उत्क्लेश आदि से रोगी को कोई कष्ट नहीं होता है।

संशोधन, रक्तमोक्षण, स्नेहन तथा लंघन से अग्निमन्द होती है। अतः पेयादिक्रम का अनुसरण करना चाहिए। कफ और पित्तदोष का अल्पनिर्हरण होने की स्थिति में, मद्यपायी व्यक्ति एवं वातपित्त प्रकृति के व्यक्तियों को पेयादिक्रम नहीं कराना चाहिए। इनको लाजसक्तु का तर्पण देना चाहिए। सिद्धान्त बताया गया है कि वामक औषध अपक्व दोषों को बाहर निकालती हैं (अर्थात वमन हो जाता है) किन्तु विरेचन औषध पचाते हुए दोषों को निकालसाहैवमन के विलम्ब होने पर वमनौषध के जीर्ण होने की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए।

विवेचनौषध से वमन होने की स्थिति में वमन होते हुए रोगी के पैरों को सुखोष्ण जल से धोना चाहिए और शिर को शीतल जल से धोना चाहिए। वमनौषध से विरेचन होने की स्थिति में रोगी के पैरों को शीतल जल से एवं शिर को सुखोष्ण जल से धोना चाहिए। दुर्बल और बहुदोषयुक्त रोगी में दोषपाक के कारण स्वयं विरेचन या वमन होने लगे। उस व्यक्ति (रोगी) को विरेचन या स्तम्भन औषधि नहीं देनी चाहिए बल्कि भेदनीय आहारों से ही विरेचन करना चाहिए।

दुर्बल, पूर्व में शोधित, अल्पदोषयुक्त कृश एवं अविज्ञात कोष्ठ इन व्यक्तियों को संशोधनौषध मृदुवीर्य वाली तथा स्वल्प मात्रा में देनी चाहिए। अल्प मात्रा में बार-बार औषध प्रयोग किया जा सकता है किन्तु एक ही बार अधिक मात्रा में औषध नहीं देनी चाहिए। इससे प्राणसंकट का सन्देह होता है। अनेक बार दी गई मृदु एवं स्वल्प औषधि चलायमान दोषों को थोड़ा-थोड़ा करके बारः बार निकालती है। दुर्बल व्यक्ति में अल्पदोषों को मृदु द्रव्य से शान्त करना चाहिए क्योंकि चलायमान दोष को बाहर न निकालने से रोगी को बहुतकाल तक कष्ट देते हैं।

मन्दाग्नि एवं क्रूरकोष्ठ व्यक्ति को क्षार, लवण एवं घृत प्रयोग से अग्नि प्रदीप्त कर कफ और वायु को शान्त करना चाहिए तत्पश्चात् शोधन प्रयोग करना चाहिए।

वायु की अधिकता से क्रूरकोष्ठ वाले, व्यायाम करने वाले और प्रदीप्त अग्नि वाले व्यक्तियों में विरेचक औषध जीर्ण हो जाती है। अतः इनको प्रथम निरूह बस्ति देकर फिर स्निग्ध औषधि (एरण्डतैल) से विरेचन देना चाहिए।

अथवा तीक्ष्णफलवर्तियों से कुछ मल को निकालकर फिर स्निग्ध विरेचन देना चाहिए क्योंकि प्रवृत्त मल स्निग्ध विरेचनों से सुखपूर्वक बाहर निकल जाता है।

शोधनौषध प्रयोगक्रमः

पेयां मण्डं पिबेत्तस्मात्सुस्निग्धं लवणान्वितम्।
सौम्ये तिथौ मुहूर्ते च नक्षत्रे करणे शुभे॥
शुक्लवस्त्रः शुचिर्भूत्वा ह्यर्चयित्वा द्विजन्मनः।
ततोऽस्मै वमनं देयं पूजयित्वा भिषग्वरान्॥
प्राङ्मुखेन तु पातव्यं निवाते शरणे शुभे।
न चास्य कुर्यादायासं मण्डं भोज्यं प्रशस्यते॥
विधिरेष भवेत्कार्यो वमने च विरेचने॥

का० खि० अ० १।२-४॥

हि० व्या०—आचार्य भेल के अनुसार वमन कर्म के पूर्व अर्थात् वमनौषध पिलाने के एक दिन पहले रोगी को स्निग्ध और लवणयुक्त पेया या मण्ड पिलाना चाहिए। तत्पश्चात् सौम्य तिथि, मुहूर्त शुभनक्षत्र, और करण वाले दिन में स्नानादि से पवित्र होकर, स्वच्छ वस्त्र धारण कर, वैद्य, देवता और ब्राह्मण की पूजा कर, निवात आगार में पूर्वाभिमुख बैठकर वमनौषध या विरेचनौषध पान करना चाहिए और विश्राम करना चाहिए।

दोषानुसार वमनविरेचन भेषजपान संकेतः

कषायमधुरैः पित्ते विरेकः कटुकैः कफे।
स्निग्धोष्णलवणैर्वायौ॥

अ० हृ० सू० १८।२८

कषायमधुरैरारग्वधादिभिः पित्ते विरेकः। कटुकैः कफेः विरेकः। स्निग्धाम्ललवणैः क्षीरतैलादिभिर्वायौ विरेकः कार्यः। अरुणदत्तः॥

अत्रौषधं पीते छर्दिविघाताय संग्रहोक्तं शीताम्बुना मुखपरिषेचनं आर्द्रसुरभिमृन्मातुलुङ्गजंबीरसुभगसौगन्धिकादीनामाघ्राणञ्च कार्यम्। परमेश्वरः

हि० व्या०—कषाय एवं मधुर द्रव्यों से निर्मित भेषज का पित्तजन्य विकारों में विरेचनार्थ प्रयोग करना चाहिए। श्लैष्मिक विकारों में कटुद्रव्यों से निर्मित भेषज का प्रयोग वमनार्थ करना चाहिए। वातजन्य विकारों में स्निग्ध, उष्ण और लवण द्रव्यों से विरेचन देनी चाहिए। (प्रायः सभी टीकाकारों ने इन्हीं भावों का निर्देश किया है।)

अवस्थाविशेषे मृदु स्वल्पमात्र भेषज योगे युक्तिः

दुर्बलः शोधितः पूर्वमल्पदोषः कृशो नरः।
अपरिज्ञातकोष्ठश्च पिबेन्मृदल्पमौषधम्॥

वरं तदसकृत्पीतमन्यथा संशयावहम् ।
हरेद्बहूंश्चलान् दोषानल्पानल्पान् पुनः पुनः ॥ अ० हृ० सू० १८।४३

हि० व्या०—जो व्यक्ति दुर्बल हो, जिसका पूर्व में शोधन किया गया हो और अल्पदोष शेष रह गया हो, जो कृश हो तथा जिसके कोष्ठ का ज्ञान हो उसे मृदु विरेचनौषध का अल्प मात्रा में सेवन करना चाहिए। संशोधनोषध अल्प मात्रा में पुनः पुनः पीना अच्छा है। एक साथ ज्यादा मात्रा में पीने से हानिकारक है। चलायमान दोषों के निर्हरण हेतु थोड़ी-थोड़ी मात्रा में पुनः पुनः दोषों को निकालना चाहिए।

शोधन भेषज मात्रा निर्देशः

अल्पमात्रं महावेगं बहुदोषहरं सुखम् ।
लघुपाकं सुखास्वादं प्रीणनं व्याधिनाशनम् ॥
अविकारि च व्यापत्तौ नातिग्लानिकरं च यत् ।
गन्धवर्णरसोपेतं विद्यान्मात्रावदौषधम् ॥ च० सि० ६।१५-१६

अल्पमात्रं महावेगमिति अल्पमात्रत्वे सत्यपि प्रशस्त महावेगम्। अविकारीति व्यापत्तावपि ईषद्विकारकारि। मात्रावदिति प्रशस्तमात्रावत्। यद्यपि च सुखास्वादादयो मात्रायाः फलं न भवन्ति, तथाऽपीह मात्रायाः प्रशस्त्यमिह, किंवा एवम्भूत एव संशोधने एतन्मात्रावत्त्वं परिभाषितं ज्ञेयम्। चक्रपाणिः।

अल्पमात्रत्वं शक्तेः लघुपाकं शीघ्रपाकं तदुदाहरणार्थमिति लक्षणाधिगम्यत्वन्मात्रावद्वचनं पारिभाषिकं, परिमाण पदार्थकमिति ॥ जज्जटः ॥

मध्यबले साधारणतः शोधन भेषज मात्रा संकेतः

व्याध्यादिषु तु मध्येषु क्वाथस्याञ्जलिरिष्यते ।
बिडालपदकं चूर्णं देयः कल्कोऽक्ष संमितः ॥ सु० सू० ३६।१४

व्याध्यग्निपुरुषेषु मध्यमबलेषु कियन्मात्रमौषधं दद्यादित्याह—व्याध्यादिष्वित्यादि। मध्येषु मध्यमबलेषु। क्वाथस्याञ्जलिरिष्यत इति क्वाथग्रहणाच्छृतशीतफाण्टानां, न तु स्वरसक्षीरयोः, ते हि गुरुत्वादल्पप्रमाणे प्रयोक्तव्ये। अञ्जलिश्चत्वारिपलानि। बिडालपदकं कर्ष इत्यर्थः। अक्षसंमित इति कर्षप्रमाण इत्यर्थः, कल्को द्रवपिष्टः। एतेन व्याध्यादिषु हीन बलेष्वञ्जल्यादयोऽप्यपकर्षणीयाः, तेषामेवाधिके बले तूत्कर्षणीया इति। अनुवासनस्थापन शिरोविरेचनादीनामन्यत्र मात्रोद्देशः कार्य इति। डल्हण।

प्रस्थमानम्

वमने च विरेके च तथा शोणितमोक्षणे ।
सार्धं त्रयोदशपलं प्रस्थमाहुर्मनीषिणः ॥ शा० सं० उ० ३।१७
ओषधीहीनवीर्याश्च मात्राहीनाश्च वर्जयेत् ।
अतिमात्रं हि भैषज्यं जीवं हरति देहिनाम् ॥ भे० सं० सू० १४।५-६

हि० व्या०—शोधन भेषज मात्रा का वर्णन करते हुए निर्देश किया है कि अल्प (उचित) मात्रा में प्रयुक्त औषधि वेगपूर्वक बहुदोषों को निर्हरण करने वाली और सुखकारी होती है। जो भेषज लघुपाकी हो, रुचिकर, इन्द्रिय-प्रसादक तथा व्याधियों को दूर करने में समर्थ हो, जिससे कोई विकार न हो, व्यापत्तिरहित हो, जिसके सेवन से ग्लानि न हो, गन्ध, वर्ण और रस उत्तम हो, इस प्रकार की औषधि को मात्रापूर्वक सेवित समझना चाहिए।

आचार्य सुश्रुत के अनुसार व्याधि (अग्नि बलानुसार) के मध्यम होने पर क्वाथ की मात्रा एक एक अंजलि होती है (एक अञ्जलि=४ पल=१६ तो०=१६० ग्राम), चूर्ण का मान एक विडालपदक (१ कर्ष=१ तो०=१० ग्रा०) देना चाहिए और कल्क की मात्रा—एक अक्ष (१ तो०=दशग्राम) प्रयोग करानी चाहिए।

आचार्य शार्ङ्गधर ने वमन-विरेचन एवं रक्तमोक्षण में उल्लिखित प्रस्थ का मान साढ़े तेरह पल बताया है। आचार्य भेल ने हीनवीर्य, हीनमात्रा एवं अति मात्रा में औषधि सेवन का निषेध किया है। क्योंकि अतिमात्रा में औषधि लेने से प्राणसंशय होता है।

स्नेहनोत्तर शोधनप्रयोग कालमर्यादा तत्र कर्तव्यानि च

स्निग्ध द्रवोष्णधन्वोत्थ रसभुक् स्वेदमाचरेत् ।
स्निग्धस्त्र्यहं स्थितः कुर्याद्विरेकं वमनं पुनः ॥
एकाहं दिनमन्यच्छ कफमुत्क्लेश्यतत्करैः ।
तिलमाषदधिक्षीरगुडमत्स्यरसादिभिः ॥
अ० सं० सू० अ० २५।; अ० हृ० सू० अ० १६।; चक्रदत्तः।

हि० व्या०—सम्यक् स्नेहन के तीन दिन पश्चात् स्वेदन कराना चाहिए। स्वेदनकाल में स्निग्ध, द्रव तथा उष्ण पदार्थों का, जाङ्गल देशीय पशुपक्षियों के मांसरस का भोजन हितकर है। तीन दिन पश्चात् विरेचन कराना चाहिए। यदि वमन भी अभिप्रेत हो तो एक दिन पश्चात् मांसरस, दही, दूध, आदि कफवर्धक पदार्थों द्वारा कफ का उत्क्लेशन करके अथवा तिल, उड़द, दही, दूध, गुड़ और मछली आदि जलचर जीवों के मांसरस का सेवन कराकर कफ का उत्क्लेशन करके वमनौषध से वमन कराना चाहिए।

शोधनभेषज जीर्णता लक्षणानि

अनुलोमोऽनिलः स्वास्थ्यं क्षुत्तृष्णोर्जो[1] मनस्विता ।
लघुत्वमिन्द्रियोद्गारशुद्धिर्जीर्णौषधाकृतिः ॥ च० सि० ६।२६

---

१. ऊर्जो=बलम्। इन्द्रियशुद्धिरिन्द्रियपाटवम्। उद्गारस्य चौषधगन्धादिविरहित्वमेवशुद्धिः।

शोधनभेषज सावशेषता लक्षणानि

क्लमो[1] दाहोऽङ्गसदनं भ्रमोमर्च्छा शिरोरुजा।
अरतिर्बलहानिश्च सावशेषौषधाकृतिः॥

च० सि० ६।२७

हि० व्या०—संशोधन औषध के भली प्रकार जीर्ण हो जाने पर वायु का अनुलोमन हो जाता है, रोग दूर हो जाता है, क्षुधा, प्यास और ओज बढ़ जाता है, मन में उत्साह भी बढ़ जाता है। इन्द्रियों में लघुता, (कार्यसामर्थ्य), एवं उद्गारशुद्धि (डकारे आना) होते हैं। संशोधन औषधि के सम्यक् पच जाने पर उपरोक्त लक्षण दृष्टिगोचर होता है। यदि औषध का सम्यक् परिपाक नहीं हुआ हो तो निम्न निर्दिष्ट लक्षण होते हैं--थकावट, दाह, अङ्गों में शैथिल्य, भ्रम, मूर्च्छा, शिरदर्द, अरति (पीड़ा) और दुर्बलता।

वमनविरेचनादीनां प्रयोगादनन्तरं निःसृतमलमात्रादि ज्ञानद्वारा उत्तम शुद्ध्यादि ज्ञानसंकेतः

जघन्यमध्यप्रवरे तु वेगाश्चत्वार इष्टा वमने षडष्टौ
दशैव ते द्वित्रिगुणाविरेके प्रस्थस्तथा द्वित्रिचतुर्गुणश्च।
पित्तान्तमिष्टं वमनं विरेकादर्धकफान्तं च विरेकमाहुः॥
द्वित्रान् सविट्कानपनीय वेगान्मेयं विरेके वमने तु पीतम्॥

च० सि० १।१३-१४; अ० सं० सू० २७।; अ० हृ० सू० १८।
चक्रदत्त; वंगसेन

चतुर्भिर्वेगैर्यच्छोधनं वमनं तज्जघन्यं, यस्तु षड्भिस्तन्मध्यमं, यत्वष्टाभिस्तत् प्रवरम्। विरेके जघन्ये दश, मध्ये तु विरेचने द्विगुणा दश विंशतिरित्यर्थः। प्रवेर तु विरेचने त्रिगुणा दशत्रिंशदित्यर्थः वेगसंख्याविभेदेन जघन्यादिभेदमभिधाय दोषमानभेदेनापि विरेचनस्य जघन्यमध्यप्रवरतां यथाक्रममाह—प्रस्थस्तथेत्यादि। द्विगुणः प्रस्थो जघन्ये विरेचने, त्रिगुणश्च मध्यमे, चतुर्गुणस्तु प्रवरे। अत्र च प्रस्थशब्देन सार्धत्रयोदशपलान्युच्यन्ते; उक्तं हि तन्त्रान्तरे—वमने च विरेके च तथा शोणितमोक्षणे। सार्धं त्रयोदशपलं प्रस्थमाहुर्मनीषिणः' इति। पित्तान्तमिष्टं वमनं विरेकादर्धमिति विरेके यन्मानं जघन्यमध्यप्रवरविभागे प्रोक्तं यथाक्रमं तथा वमनेऽपि जघन्यमध्य प्रवरविभागे तदर्धं ज्ञेयं, परं तु यत् पित्तान्तत्वं वमनस्य, कफान्तत्वं विरेकस्य, तत् त्रिविधशुद्धावप्यर्थागतं

१. क्लमो दाहोऽङ्गसदनमिति भेषजापरिणामलक्षणं, जीर्यमाणे तृष्मोहभ्रममूर्च्छाः स्युरित्यस्य दोषाधिकारेणोक्त्वादिति। जज्जटः।

ज्ञेयम्। यदा चतुर्भिर्वेगैः प्रस्थमाने दोषे गते पित्तान्तत्वं सम्यग्वमनशुद्धिजलक्षणमुपलभ्यते तदा जघन्या शुद्धिः, यदा च विरेके दशभिर्वेगैर्द्विप्रस्थमानदोषगमनेन कफान्तत्वं विरेचनसम्यग्योगलक्षणमुपलभ्यते तदा विरेचनस्य जघन्या शुद्धिर्भवति, एवं मध्यप्रवरशुद्धावपि वमने पित्तान्तत्वं विरेचने कफान्तत्वं सम्यग्योगलक्षणं ज्ञेयम्। वेगसंख्यादोषमानाभिधानन्तरं सम्यक्शुद्धिर्लैङ्गिकशुद्धेः पित्तान्तत्वादि लक्षणप्रतिपादनार्थमिहाभिधानं, तेन यदुच्यते— आन्तिकी, वैगिकी, मानिकी, लैङ्गिकी चेति चतुर्विधा शुद्धिरिहोच्यते वमनविरेचनयोः, तदस्माकमसंमतमेव; किन्तु लैङ्गिकी चैका शुद्धिः। तत्र च पित्तान्तत्वं तथा 'क्रमात् कफः' इत्यादिग्रन्थवक्ष्यमाणं च लिङ्गं वमने, विरेचने च कफान्तत्वं तथा 'स्रोतोविशुद्धीन्द्रिय' इत्यादि ग्रन्थवक्ष्यमाणं च लिङ्गं ज्ञेयम्। तेन यदत्र आषाढवर्मणा "सम्यग्विशुद्धिलिङ्गं लक्षणतोऽथमानाच्च वेगाच्च दोषगमनाच्चोक्तं, किमिदं व्यस्तं समस्तं वा" इत्यादिनाऽऽक्षिप्तं, तदनभ्युपगमनिरस्तमेव। अन्येषां त्वत्र परिहाराविस्तरभयान्न लिखिताः। जघन्यादिशुद्धित्रैविध्यं चात्र जघन्यमध्योत्कृष्टदोषविषयतया व्यवस्थापनीयम्। जघन्यादिशुद्धिलक्षणोऽपि यद्वेगेन जघन्यादिशुद्धिलक्षणाभिधानं, तत् प्रायोभावितया ज्ञेयम्। दोषमानभेदेन जघन्यादिमानभेदः परमार्थिकः, तेन यत्र वमनेऽष्टाभिर्वेगद्विप्रस्थदोषस्तिर्भवति तत्र प्रवरैव शुद्धिः, यत्र वमने षड्भिरेव वेगैः सार्धं प्रस्थदोषस्तिर्भवति तत्र प्रवरैव शुद्धिः, यत्र वमने षड्भिरेव वेगैः सार्धं प्रस्थदोषस्तिर्भवति तत्र मध्यैव शुद्धिः, यत्र च चतुर्भिरपि वेगैरेकप्रस्थदोषस्तिस्तत्र जघन्यशुद्धिरेव; एवं विरेचनेष्वप्युदाहार्यम्। पित्तप्रवृत्तिरन्ते यस्मिन् तत् पित्तान्तम्, एवं कफान्तमपि व्याख्येयम्। तेन "क्रमात् कफः पित्तमथानिलश्च' इत्यनेन यत् सम्यग्वमनलक्षणं वक्तव्यं, तथा 'प्राप्तिश्च विद्पित्तकफानिलानाम्' च सम्यग्विरेचनलक्षणं यद्वक्तव्यं, तदनेन सहाविरुद्धं भवति। तत्र च यदनिलागममन्ते वक्तव्यं, तत् पित्तान्तस्य कफान्तस्य च सूचकतया ज्ञेयं; निःशेषकृते ह्याशयगते पित्ते कफे च वायुः केवलः सरति; तेन च केवलवायुसरणेन पित्तान्तता कफान्तता च ज्ञायते। ननु यदि 'क्रमात् कफः' इत्यादिनैव ग्रन्थेनायमर्थोऽभिहितस्तत् कथमिह पित्तान्तं च वमनं, कफान्तं च विरेकमाहुरिति कृतम्? ब्रूमः—वेगसंख्यादोषमानभेदप्रतिपाद्यमान जघन्यादि शुद्धित्रये पित्तान्तत्वाद्यनुगतिप्रतिपादनार्थमिहाभिधानम्; एवं तद्वमनविरेचनसम्यग्योगलक्षणानभिधाने हि शिष्यस्य प्रबलदोषेऽपि पुरुषेऽयोगशुद्धावेव जघन्यशुद्धिगतवेगमानोदये सति अथ पित्तान्तत्वाद्यनुदये जघन्यशुद्धिभ्रमः स्यात्। एवमन्यदप्युदाहार्यम्। वमने च विरेके च यथादोषमापनं कर्तव्यं तदाह=द्वित्रानित्यादि। द्वित्रानित्यव्यवस्थितभाषणेन मलभागस्यामेयतां दर्शयति; वमने तु पीतमिति वमने पीतमौषधं वर्जयित्वा शेषो मेयः॥ चक्रपाणिः॥

पित्तान्तं वमनं कुर्यात् कफान्तं च विरेचनम्।
स्वयं चोपरतं श्रेष्ठमनाबाधं त·····॥

हि० व्या० संशोधन कर्म के पश्चात् शुद्धि लक्षण - वमन के हीन, मध्य और उत्तम शुद्धि में क्रमशः चार, छे और आठ वेग आने चाहिए। विरेचन में क्रमशः दश, बीस और तीस वेग होने चाहिए। विरेचन में निकलनेवाला मल हीनवेग में २ प्रस्थ, मध्य में ३ प्रस्थ और उत्तम शुद्धि में ४ प्रस्थ परिमाण में आना चाहिए। वमन में जब अन्त में पित्त निकलने लगे तो सम्यक् समझना चाहिए। वमन में, क्रमशः विरेचन के वेगों से आधे परिमाण में मल निकलना सम्यक् शुद्धि के लक्षण माना गया है। वमन के समान विरेचन के अन्त में कफ निकलना सम्यक् शुद्धि का द्योतक है। विरेचन के प्रारम्भिक दो वेग निकल जाने के पश्चात् मल का परिमाण जानना चाहिए। वमन में पिलाई गई औषधि के निकल जाने के पश्चात् मल का परिमाण जानना चाहिए।

वमने विरेचने च दोषाणां यथाक्रम निर्गम ज्ञानम्

यथा च वमने प्रसेकौषध कफपित्तानिलाः क्रमेण गच्छन्ति, एवं विरेचने मूत्रपुरीषपित्तौषधकफा इति। सु० चि० अ० ३३।२३

प्रसेकः आस्ये लालास्रवणम्। औषधं पीतं, कफः पुनरामाशयस्थः, तस्मिन् वमनेन हृते तत्रैव पित्तं वमनावधिसूचकं निस्सरति, वातेन उद्गाररूपेणानिल-संशुद्धिः। विरेचने मूत्रपुरीषपीतौषधकफा इति, वातगमनं पुनः "गतेऽनिले चाप्यनुलोमभागं" इत्यनेन वक्ष्यति। कफोऽत्र पक्वाशये विरेकावधि सूचकः स्फटिकसमद्युतिः॥ डल्हण॥

हि० व्या०—संशोधन कर्म में दोष निर्हरण क्रम—वमन कर्म में लाला-स्राव, पीतौषध, कफ, पित्त और वायु का क्रम से निर्हरण होता है उसी प्रकार विरेचन कर्म में मूत्र, मल, पित्त, पीतौषध और कफ का निर्हरण होता है।

संशोधनार्थं सम्यक् योगः कदा कल्पते सम्यक् शुद्धि-लक्षणानि च

स्नेहस्वेदोपपन्नेन जीर्णे मात्रावदौषधम्।
एकाग्र मनसा पीतं सम्यग्योगाय कल्पते॥

च० सि० ६।१०

पीतौषधस्य तु भिषक् शुद्धि लिङ्गानि लक्षयेत्।
ऊर्ध्वं कफानुगे पित्ते विट्पित्तेऽनुकफे त्वधः।
हृतदोषं वदेत् कार्श्यदौर्बल्ये चेत् सलाघवे॥

च० सि० अ० ६।१९-२०

कफानुगे पित्ते ऊर्ध्वहृतदोषं वदेत् विट्पित्ते चानुकफे दृश्यमानेऽधोहृत दोषं वदेदिति योजना; एतत् कफान्तत्वं विरेचनस्य, वमनस्य च पित्तान्तत्वं पूर्वमेव

व्याहृतम्। एतत् पित्तान्तत्वं कफान्तत्वं वाऽसम्यक् शुद्धेऽपि दोषस्यानु-पूर्व्याविस्थाद्भवतीति कृत्वा लक्षणान्तराण्यपि एतयोः साहचर्येणाह—कार्श्य-दौर्बल्ये चेत् सलाघवे इति। चक्रपाणिः।

पीतौषधस्येति। अपरिपक्वौषस्य वा शुद्धिलक्षणान्युपलक्षयितव्यानि। कानि पुनस्तानि। ऊर्ध्वं विशुद्ध्यमानस्य वमनेन यदा कफस्यानुगं पित्तं भवति। पित्तान्तमिष्टं वमनमिति। विट् पितानुकफे त्वधः। अधः शुद्धौ विरेचनेन विट्पित्तयोरनुकफो भवति। प्राप्तिश्च विट्पित्तकफानिलानामिति। अनिल ग्रहणं तर्हि कर्तव्यं ? न कर्तव्यम्। कफान्तं च विरेकमाहुरित्यादि शुद्धिनिर्देशा-दिति। हृतदोषं वदेदेव, अनेन लक्षणनिर्देशेन तत्परिच्छेद इति : जज्जटः।

हि० व्या०—सम्यक् स्नेहन-स्वेदन के पश्चात् आहार के पच जाने पर (रिक्त कोष्ठ) औषध को एकाग्र मन से और मात्रापूर्वक पीना चाहिए इस प्रकार अयोग एवं अतियोग की संभावना नहीं रहती और सम्यक् योग होता है।

वमन-विरेचन (संशोधनौषध) द्रव्य पीए हुए व्यक्तियों में शुद्धि के लक्षणों को वैद्य को देखना चाहिए। यदि वमन में कफ के बाद पित्त निकले और विरेचन में मल एवं पित्त के पश्चात् कफ निकले और दुर्बलता के साथ-साथ शरीर में लघुता भी हो तो दोष का निर्हरण समुचित हो गया है ऐसा समझना चाहिए।

संशोधन भेषजानां योगातियोगायोगलक्षणानि

योगः सम्यक् प्रवृत्तिः स्यादतियोगोऽतिवर्तनम्।
अयोगः प्रतिलोम्येन न चाल्पं वा प्रवर्तनम्॥
श्लेष्मोक्लिष्टेन दुर्गन्धमहृद्यमति वा बहु।
विरेचनमजीर्णे च पीतमूर्ध्वं प्रवर्तते॥
क्षुधार्तमृदुकोष्ठाभ्यां स्वल्पोत्क्लिष्टकफेन वा।
तीक्ष्णे पीतं स्थितं क्षुब्धं वमनं स्याद्विरेचनम्।
प्रातिलोम्येन दोषाणां हरणात्ते ह्यकृत्स्नशः॥
अयोगसंज्ञे कृच्छ्रेण याति दोषो न वाल्पशः।

ग० सि० ६।३१-३४

वमन विरेचनातियोग विपर्ययः

वमनं च विरेकाय, विरेको वमनाय च।
यदा भवति तं प्राहुरतियोगविपर्ययम्॥

का० सं० सि० ३

योगातियोगायोगस्वरूपमाह—योग इत्यादि। अतिवर्तनमिति संशोध्यातिरिक्तप्रवर्तनम्। प्रातिलोम्येनेति वमनस्य विरेचनेन प्रवर्तनम्; एतच्च प्राति

लोम्यप्रवर्तनं प्रायो ।ववक्षितदोषाप्रवर्तकतयैवायोगनिक्षिप्तम्। न चाल्पं वा प्रवर्तनमिति सर्वथाऽप्रवर्तनमल्पं वा प्रवर्तनमिति। स्थितमिति झटिति ऊर्ध्वं गच्छत्। एतत्प्रातिलोम्यप्रवृत्त्या यथाऽयोगत्वं तदाह—प्रातिलोम्येनेत्यादि। प्रतिलोम्येनाकृत्स्नहरणात् अयोगसंज्ञे त इति योज्यम्। प्रातिलोम्यहरणेऽकृत्स्नो-दोषहरणमेव दर्शयन्नाह—कृच्छ्रेणेत्यादि। प्रतिलोमहरणे कृत्स्नो दोषो न याति, अल्पशो वा यातीति भावः तेनाकृत्स्नदोषहरणं प्रतिलोमहरणे उपपत्नमिति भावः। कृच्छ्रेण यदा गच्छति चाल्पश इति पाठे, यच्छब्दो हेतौ; पूर्वत्र पाठे वाकारा हेतौ ॥ चक्रपाणिः ॥

व्यावद्वक्तव्यताधिकारे सति योगादिस्वरूपावधारणं तदुपकारार्थं, तस्याशितीये यथा सात्म्याधिकारे कालस्वभावगतिविशेषरूपावधारणपरिच्छेदद्वारेण कालतुं विज्ञाने सात्म्योपवेशस्तद्धेतुको भवति। योगः सम्यक्प्रवृत्तिः स्यादिति सम्यक् ...लक्षणानुसारमिति प्रवृत्तियोगाधिकपे न तु फेनिलरक्तचन्द्रिकोद्गमनमिति अतियोगलक्षणानीति। अयोगः प्रातिलोम्येन नवाल्पं वा प्रवर्तनमिति प्रातिलोम्येन च मिथ्यायोगो—"यथा स्वलक्षणो मिथ्यायोग" इति वचनात्। तदेवायोगसंगृहीतो मिथ्यायोगो वेदितव्यः। अन्यत्रापि तह्येवमयोगशब्देन मिथ्यायोगग्रहः। ननु तत्र भेद श्रवणेन कृतार्थ भेदाद्भेदः। न चाभेदः। तुल्यलक्षणचिकित्सितत्वादिति। अल्पप्रवर्तनमप्रवर्तनमयोगः। यथोक्तं – "प्रवृत्ति कुतश्चित्केवलस्य वात्यौषधस्य विभ्रंशो विबन्धो वेगानामयोगलक्षणानीति। उपकल्पनीयेऽध्याये तु मिथ्यायोगो विभ्रंशवचनेनोक्तः। विपरीतप्रवृत्तिविभ्रंशत इति। स पुनरयोगो यथा भवति तथोच्यते। उत्क्लिष्टेन श्लेष्मणा= प्रभूतकफेनाहृद्यमप्रियम्। अजीर्णेति बहुविरेचनं वमनं संपद्यते, उत्क्लिष्ट कफत्वं प्रधानमिष्टम्। दुर्गन्धत्वादहृद्यमपि बहुत्वादजीर्णात् बहुत्वमवशिष्टादिति। "क्षुधार्तमृदुकोष्ठस्यां पीतं स्यल्पकफेन वा। तीक्ष्णं स्थितं संक्षुभितमिति। क्षुधार्तस्य पित्तमुद्भूतवृत्ति - तदधो येन केनचिदुष्णतीक्ष्णेन प्रवर्त्यते। विशेषेण मृदुकोष्ठस्य स्थितमप्रवृत्तं पूर्व; क्षुभितं प्रचलितम्। ननु गुणप्रत्ययागृहीतं वमनं विरेचनं च। तथा प्रातिलोम्येन दोषाणामिति। विपरीतदोषप्रवृत्तावपि न तत्संज्ञाविशोधनयोस्तथा कृत्स्नदोषहरणासमर्थत्वात् अप्रातिलोम्येनापि यदा कृच्छ्रेण वा गच्छति अल्पं वा गच्छति प्रवर्तत् इत्यर्थः। सर्वं एवायोगरूपा इति।

जज्जटः ॥

हि० व्या० सम्यग्योग-अतियोग-अयोग लक्षण

१. संशोधन का प्रयोग यदि सम्यक् रूप से हो गया हो तो उसे सम्यक् योग (समुचित) कहते हैं।

२. दोषों का निरहंण यदि अधिक रूप में हो गया हो तो उसे अतियोग कहते हैं।

३. वामक औषधि अधोमार्ग द्वारा निकलने लगे या विरेचक औषधि ऊर्ध्व मार्ग द्वारा निकलने लगे और दोष अल्प मात्रा में ही निकले या निकले ही नहीं तो अयोग माना जाता है।

विरेचनौषधि से वमन होने का कारण

जिस व्यक्ति का कफदोष उत्क्लेशित हो और विरेचक औषधि का उसे सेवन कराया जाए, विरेचक औषधि दुर्गन्धयुक्त हो, हृदय के लिए अहितकर हो, अत्यधिक मात्रा में दे दी गई हो, भोजन के जीर्ण न होने पर औषधि प्रयोग की गई हो तो विरेचक औषधियों से वमन हो जाता है।

वामक औषधि से विरेचन होने का कारण

मृदु कोष्ठ व्यक्ति, क्षुधा से पीड़ित अल्पमात्रा में उत्क्लेशित कफ, युक्त हो ऐसे व्यक्ति को यदि तीक्ष्ण वामक औषधि का सेवन कराया जाए तो औषधि क्षोभ उत्पन्न कर विरेचन द्वारा बाहर विकल जाती है।

अयोग की परिभाषा

विपरीत मार्ग से संशोधन द्रव्य निकलना, दोषों का पूर्ण रूप से निर्हरण न होना अयोग कहलाता है। अयोग की स्थिति में दोष कठिनाई से निकलते हैं, नहीं निकलते या अल्पमात्रा में निकलते हैं।

अतियोग

स्निग्ध स्विन्नस्यातिमात्रमृदुकोष्ठस्य वाऽतितीक्ष्ण-
मधिकं वा दत्तमौषधमतियोगं कुर्यात्।

सु० चि० अ० ३४।११ क

हि० व्या०—अत्यधिक स्नेहन-स्वेदन वाले अथवा अत्यन्त मृदु कोष्ठवाले व्यक्ति को अति तीक्ष्ण और अधिक परिमाण में औषध देने पर अतियोग कारक होती है।

शोधन भेषजस्य अयोग लक्षणानां कारणम्

अस्निग्धास्विन्नदेहस्य रूक्षस्यानवमौषधम्।
दोषानुत्क्लिश्य निर्हर्तुमशक्तं जनयेद् गदान्॥
विभ्रंशं श्वयथुं हिक्कां तमसो दर्शनं भृशम्।
पिण्डिकोद्वेष्टनं कण्डूमूर्वोः सादं विवर्णताम्॥

च० सि० ६।३८-३९

"अस्निग्ध स्विन्नदेहस्य रूक्षस्यानवमोषधम्" इति। योगं तत्र भेदहेतुन भवतीति तत्रास्निग्धेनैव रूक्षत्वोक्तेः अपि पुनर्वचनं विचारणास्नेहाभावेन रूक्षः अच्छपानाभावेनास्निग्ध इति। अनवः पुराण इत्यर्थः। अधममिति वा पाठः। अधममप्रधानसममित्यर्थः। केचितु हीनमात्रमाहुः। तदेतेन हीनमात्रं दोषवदिति। विभ्रंशादिविकारानुभवमिति। विभ्रंशो मूर्च्छा स्रस्तांगता वा संभवादवस्थाप्रकारनिर्देशोऽयन्त व्यापद इति। यद्ययोगनिमित्तमेवात्र कथं न व्यापदः?

विभ्रंशसमोऽन्यानि च तत्संज्ञानीत्येके । व्यापत्समस्तहेतुकानि चैतानि विकारान्तराणि व्यापदामुक्तकालं भावादित्यन्ये ।

अयोगों वा विभ्रंशादयो न विकार व्यापदां विकारः । दृष्टश्च विकार शब्दयोगो यथा "विषमारम्भमूलानां लिङ्गमेकं ज्वरो मत" इत्यपरे । अत्रतु नायोगस्यापि विकारा लिङ्गं भवेयुः । अव्याधित्वाद् व्याधेर्यदुक्तं । "तस्योपलब्धिनिदान प्राग्रूपोपशयसंप्राप्तित" इति । अयोगोऽपि विकार एव । "विकारो दुःखमेव तु" । स हि दुःखनिमित्तं स्वयमपि वा दुःखमुपचारादिति । तदेतद्वमनायोगकारण सकलोत्पादितं विरेचनमयोगस्सर्वएव तु । जज्जटः ॥

हि० व्या०—विना स्नेहन और स्वेदन का प्रयोग किए, रूक्ष व्यक्ति संशोधन के लिए यदि पुरानी औषधि का सेवन करता है तो वह औषधि दोषों को उत्क्लिष्ट कर (उभाड़कर) उनको निकालने में असमर्थ होकर विभ्रंश, शोथ, हिचकी, नेत्रों के आगे अन्धेरा, पिण्डिकोद्वेष्टन; खुजली, अरुंशैथिल्य, वैवर्ण्य आदि रोगों को उत्पन्न करती है ।

अयोगावस्थायां पुनः औषधपान निर्देशः

पीतौषधो न शुद्धश्चेज्जीर्णे तस्मिन् पुनः पिबेत् ।
औषधं न त्वजीर्णेऽन्यद्भूयं स्यादतियोगतः ॥
कोष्ठस्य गुरुतां ज्ञात्वा लघुत्वं बलमेव च ।
अयोगे मृदु वा दद्यादौषधं तीक्ष्णमेव वा ॥

च० सि० ६।३५-३६

जीर्णे इत्यौषधे जीर्णे । पुनः पिबेदिति तदहरेव । भयं स्यादतियोगत इति पूर्वाजीर्णोविद्याभ्यामति योगः स्यात् । मृदु वा दद्यादित्यादौ गुरुकोष्ठे बलवति तीक्ष्णं, लघुकोष्ठे दुर्बले च मृदु दद्यादिति व्यवस्था । चक्रपाणिः ॥

पीतौषधो न तु शुद्धश्चेदिति । त्रिविधेनाप्ययोगेन सत्यशुद्धे तस्मिन्नेवाहनि जीर्णे भेषजे नाजीर्णे पुनः प्रयोगः । अतियोगप्रसङ्गभयात् । तत्र पुनर्भेषजनियमः । ज्ञात्वा कोष्ठस्य गुरुतामिति । गुरुकोष्ठता क्रूरकोष्ठत्वं, आशयस्य धर्मो वा मृदुतीक्ष्णयोर्भिन्नत्वादवस्थाभेदेन विकल्पः । तीक्ष्णसंप्रवृत्तिलक्षणे अयोगे कृच्छ्रप्रवृत्तिलक्षणयोगे मृद्विति । जज्जटः ॥

हि० व्या०—औषधि जीर्णता (पच जाने) पर कर्तव्य-संशोधनोषध सेवन करने पर भी संशोधन (वमन विरेचन) समुचित न हो, सेवन की गई औषधि पच जाए तो उक्त रोगी को पुनः संशोधनार्थ उसी दिन औषधि पान करना चाहिए । यदि औषधि पची न हो औरऔषधि पिला दी जाए तो अतियोग होने का भय है ।

संशोधन में अयोग होने पर उस व्यक्ति के कोष्ठ की गुरुता का ज्ञान कर और बल को देखकर तीक्ष्ण संशोधन औषधि पिलाना चाहिए । यदि मृदु कोष्ठ हो और रोगी दुर्बल हो तो मृदु औषधि का सेवन करना चाहिए ।

अतियोग कारणानाम् वर्णनं तत्र ज्ञातानां उपद्रवाणां वर्णनं तेषां चिकित्सा विशेषश्च

अति तीक्ष्णं क्षुधार्तस्य मृदुकोष्ठस्य भेषजम् ।
हृत्वाऽशुविट्पित्तकफान् धातून्विस्रावयेद्द्रवान् ।
बलस्वरक्षयं दाहं कण्ठशोषं भ्रमं तृषाम् ।
कुर्याच्च मधुरैस्तत्र शेषमौषधमुल्लिखेत् ॥
वमने तु विरेकः स्याद्विरेके वमनं पुनः ।
परिषेकावगाहाद्यैः सुशीतैः स्तम्भयेच्च तत् ॥
कषायमधुरैः शीतैरन्नपानौषधैस्तथा ।
रक्तपित्तातिसारघ्नैर्दाहज्वरहरैरपि ॥
अञ्जनं चन्दनोशीरमज्जासृच्छर्करोदकम् ।
लाजचूर्णैः पिबेन्यमतियोगहरं परम् ॥
शुङ्गाभिर्वा वटादीनां सिद्धां पेयां समाक्षिकाम् ।
वर्चः सांग्राहिकैः सिद्धं क्षीरं भोज्यं च दापयेत् ॥
जाङ्गलैर्वा रसैर्भोज्यं पिच्छाबस्तिश्च शस्यते ।
मधुरैरनुवास्यश्च सिद्धेन क्षीरसर्पिषा ॥

च० सि० ६।४५-५१

अतियोगस्य हेत्वादिकमाह—अतितीक्ष्णमित्यादि । इयं च सामग्री विरेचनातियोगस्यैव घटते; यतो मृदुकोष्ठे बुभुक्षिते च विट्पित्तकफहरणक्रमेण च सैवाति युज्यते; वमनाति योगसामग्री चानेनोदाहरणेनोन्नेया; किंवा अति तीक्ष्णमिति पदेनैव वमनस्याप्यतितीक्ष्णत्वमतियोगकारणमुक्तं, विड्पित्तवफहरणं यथायोग्यतया क्रमेण विरेचने वमने च बोद्धव्यम् । शेषमौषधमुल्लिखेदिति तादात्विकी चिकित्सा । मृद्विति पदं वमनेन विरेचनेन च सम्बध्यते । वटादीनामिति न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थकपीतनानाम् । वर्चः संग्राहिकाः षड्विरेचन शताश्रितीयोक्ताः प्रियङ्ग्वनन्तादयः ॥ चक्रपाणिः ॥

अतितीक्ष्णं क्षुधार्तस्येत्यादि । आशु विट्पित्तकफ निर्हरणं कृत्वा द्रवान्धातून् रसरुधिरमेदोमज्ज शुक्लान्तान् । अस्थिमांसे अतिकठिने । इति योगाधिक्ये रक्तपितोक्तचन्द्रिकोद्भ्रमणादि । ततो बलस्वरक्षयं दाहमित्यादि तदनन्तरं व्यापदाक्रमानादिका भविष्यति । तद्व्यतिरिक्ता अन्या एवेति । औषधशेषे सत्येते बलस्वरक्षयादयः । परिणतौषधस्य वाऽतियोगनिमित्ता व्यापदो भवन्तीति । एवमुक्तं "हृतदोषस्तु शेषमौषधमुल्लिखेत्" । तत्र वमने अतियुक्ते स्यात् । विरेके चातियुक्ते वमनं मृदुशीतैश्च स्तम्भनमन्नपानौषधैस्तथा रक्तपित्तातिसारघ्नैः, प्रागुक्तान्येव निर्दिश्यन्ते अञ्जनादिभिर्मन्थं विरेचनातियोगे । वमनस्यातियोगे तु फलरसैर्मन्थकिति । शुङ्गादिभिर्वा वटादीना-

मिति। तेषामति बहुत्वाद्यत्र शुङ्गास्सु भवन्ति शीतं वीर्यं च। अथवा वटक-पीतनोदुम्बराश्वत्थभल्लातकस्योनाक सोमवल्काः वटादयः। वर्च्चसङ्ग्राहिकैस्सिद्धं क्षीरं भोज्यं च दापयेदपरमिति। दोषावस्थायां भोज्यं जाङ्गलैर्वा रसैर्भोज्यमिति। पिच्छाबस्तिश्च शस्यते। पिच्छाबस्तिः पठ्यते। क्षीरसर्पिषानुसिद्धेन। मधुरद्रव्यैः जीवनीयैरिति ॥ जज्जटः ॥

अतियोग के कारण—उपद्रव और चिकित्सा

बुभुक्षा से पीड़ित (रिक्त कोष्ठ) और मृदु कोष्ठ वाले व्यक्तियों को यदि अति तीक्ष्ण संशोधन औषध दी जाए तो वह शीघ्र ही मल, पित्त और कफ को बाहर निकालकर रस रक्त आदि धातुओं का भी स्राव कराने लगती है। इससे बल एवं स्वर का क्षय, दाह, कण्ठ का सूखना, भ्रम, प्यास की अधिकता आदि उपद्रव उत्पन्न होते हैं। इसी हालत में अवशिष्ट औषधि को मधुर द्रव्य से वमन द्वारा निर्हरण कराना चाहिए। यदि वमन का अतियोग हो तो मृदु विरेचन देना चाहिए और विरेचन का अतियोग हो तो मृदु वमन देना चाहिए। शीतल परिषेक एवं अवगाह के द्वारा उनके वेगों को रोकना चाहिए। कषाय, मधुर, शीतल अन्नपान एवं औषधियों का प्रयोग करना चाहिए। रक्तपित्त, अतिसार, दाह और ज्वरनाशक औषधियों से वमन एवं विरेचन के वेगों को रोकना चाहिए। अञ्जन, चन्दन, खश, मञ्जा, रक्त चौनी का शर्बत इनमें धान के खील एवं सत्तू मिलाकर 'मन्थ' बनाकर खिलाना चाहिए। यह अतियोगनाशक है।

अथवा वट आदि पञ्चक्षीरा वृक्ष के अङ्कुरों के स्वरस या क्वाथ से बनाई गई पेया शहद मिलाकर पिलानी चाहिए। अथवा ग्राही औषधियों से सिद्ध दूध या ग्राही आहार द्रव्य का प्रयोग करना चाहिए। अथवा जांगल पशु-पक्षियों के मांसरस के साथ शालि चावल देना चाहिए। इसमें पिच्छाबस्ति लाभदायक है। मधुररसयुक्तद्रव्य से सिद्ध दुग्ध या घृत से अनुवासनबस्ति देनी चाहिए।

वमनविरेचने अतियोगोपद्रव सन्तापारुचितृष्णाशमनाय दध्यारनालादि प्रलेपः।

दध्यारनालधात्रीचूर्णयुताः शक्तवः प्रलेपेन।
सन्तापारुचितृष्णा वमनविरेकातियोगहराः ॥

वङ्गसेन (विरेच०) ५४

हि० व्या०—आचार्य वङ्गसेन के अनुसार वमन विरेचन की अतियोगावस्था में दही, कांजी, धात्री (आँवला) चूर्ण और सत्तू का प्रलेप करने से सन्ताप, (जलन), अरुचि, प्यास आदि लक्षण दूर होता है।

अयोग कारणविशेषे चिकित्सा विशेष वर्णनम्

स्निग्धे स्विन्नस्य चात्यल्पं दीप्ताग्नेर्जीर्णमौषधम्।
शीतैर्वा स्तब्धमामे वा दोषानुत्क्लिश्य नाहरेत् ॥
तानेव जनयेद्रोगानयोगः सर्व एव सः।
विज्ञाय मतिमांस्तत्र यथोक्तां कारयेत् क्रियाम् ॥
तं तैललवणाभ्यक्तं स्विन्नं प्रस्तरसङ्करैः।
पाययेत पुनर्जीर्णे समूत्रं वा निरूहयेत् ॥
निरूहं च रसैर्धान्वैर्भोजयित्वाऽनुवासयेत्।
फलमागधिकादारुसिद्धतैलेन मात्रया ॥
स्निग्धं वातहरैः स्नेहैः पुनस्तीक्ष्णैर्नशोधयेत्।
न चातितीक्ष्णैर्नं ततो ह्यतियोगस्तु जायते ॥

च० सि० ६।४०-४४॥

हि० व्या०- स्नेहन और स्वेदन सम्यक् हो जाने पर तथा अग्नि के प्रदीप्त होने पर भी यदि संशोधनौषधि अल्प मात्रा में दी गई हो और औषधि पच गई हो अथवा शीतल वातावरण या आमदोष के कारण जकड़ गई हो तो दोषों का उत्क्लेशन नहीं करती ऐसी अवस्था में पूर्वोक्त नौ व्याधियाँ उत्पन्न करती है। इनको अयोग के अन्तर्गत ही मानते हैं। अतः बुद्धिमान् चिकित्सक को इन बातों का समुचित ज्ञान रखते हुए यथावत् चिकित्सा करनी चाहिए। इन लक्षणों से युक्त रोगी (व्यक्ति) को सैंधवलवणमिश्रित अभ्यङ्ग कराकर प्रस्तरस्वेद या सङ्कर स्वेद से स्वेदन कर औषधि के पच जाने पर पुनः संशोधन औषधि देना चाहिए या गोमूत्र युक्त निरूह बस्ति देना चाहिए। तत्पश्चात् जंगली पशुपक्षियों के मांसरस के साथ शालि चावल का भोजन कराकर, मैनफल, पिप्पली देवदारु से साधित तैल की उचित मात्रा में अनुवासनबस्ति देना चाहिए। अनुवासन बस्ति के पश्चात् वातनाशक स्नेहों से स्नेहन कराकर पुनः तीक्ष्ण संशोधन द्रव्यों से शोधन कराना चाहिए। अत्यन्त तीक्ष्ण औषधि का प्रयोग नहीं करना चाहिए अन्यथा अतियोग का भय हो सकता है।

वमन विरेचन भेषजस्य अयोगे चिकित्सा क्रमः।

कषायमल्पमप्रत्यग्रं रूक्षं वा भेषजमस्निग्धस्विन्नेन वा पीतं शीतोपचारेण स्तब्धं दोषविग्रथितमयोगीभवति। तत्र वमने भूयो वामयेत्। विरेचने स्निग्धस्विन्नं पुनर्विरेचयेत्। उत्क्लिष्ट भूरिदोषं वा तृतीयेऽहनि। उभयोश्च संशोधनयोर्लवणतैलाभ्यक्तं पिण्डप्रस्ताराभ्यां स्वेदयेत् ॥ अ० सं० क० ३।५॥

कषायादिगुणं वा भेषजमस्निग्धादिवेन वा पीतं स्वयं स्तब्धत्वात् दोषावष्टब्धत्वाच्चायोगाय सम्पद्यते। कषायं कषायरसप्रायम्। अप्रत्यग्रम-

सम्पन्नम्। तत्रैवमयोगीभूते वमने पुनर्वामयेत्। विरेचने पुनर्विरेचयेत्। उभयोरपि वमनविरेचनयोरेवमयोगीभूतयोस्तैलाभ्यक्तस्य सूत्रोदिताभ्यां पिण्डप्रस्ताराभ्यां स्वेदं विदध्यात्। इन्दुः॥

हि० व्या०—अस्निग्धस्विन्न व्यक्ति को कषायरसयुक्त वमन-विरेचनौषध सेवन कराने पर, अल्पमात्रा में औषध प्रयोग कराने पर, हीनवीर्य औषध प्रयोग कराने पर अथवा रूक्ष औषध सेवन कराने पर या औषध सेवन काल में शीतल उपचार कराने पर दोष विग्रथित होकर स्तब्ध हो जाता है और अयोग उत्पन्न करता है। ऐसी अवस्था में वमन कर्म में पुनः औषध सेवन कराकर वमन कराना चाहिए। विरेचन कर्म में स्नेहन स्वेदन कराकर दोषों को उत्क्लेशित कर तीसरे दिन पुनः विरेचन कराना चाहिए। वमन विरेचन दोनों कर्मों में अयोग होने पर सैंधव लवण मिश्रित तैल का अभ्यंग कराकर पिण्ड और प्रस्तर स्वेद से स्वेदन कराना चाहिए।

वेगानां अयोग लक्षणानि

तद्यथा—अप्रवृत्तिः कुतश्चित्, केवलस्य वाप्यौषधस्य विभ्रंशो, विबन्धो वेगानामयोग लक्षणानि भवंति। च० सू० १५।१३

अप्रवृत्तिः कुतश्चिदिति सर्वस्यैवाप्रवृत्तिः, तथा केवलस्य = कृत्स्नस्य शोधनीयदोषस्याप्रवृत्तिः, तथौषधस्य विभ्रंशः = प्रातिलोम्येन गमनं यथा वमनस्याध ऊर्ध्वं च विरेचनस्य, एतदेव सिद्धावुक्तम्,—अयोगः प्रातिलोम्येन नवाऽल्पं वा प्रवर्तनम् (सि० अ० ६) इति। किंवा, कुतश्चिद्वाऽप्रवृत्तिः = स्तोकदोषप्रवृत्तिरित्यर्थः, तथा केवलस्य चाप्यौषधस्य प्रवृत्तिरिति। चक्रपाणिः।

हि० व्या० - किसी विशेष कारणवश वमन के वेगों का न होना अर्थात् वमन का न होना, केवल वमन कर्म हेतु प्रयुक्त की गई औषध का निकल जाना, अथवा वमन के वेगों का बीच में ही रुक जाना ये सभी अयोग के लक्षण हैं।

अयोगलक्षणे चिकित्सासूत्रम्

यस्य त्वयोगस्तं स्निग्धं पुनः संशोधयेन्नरम्।
मात्रा कालबलापेक्षी स्मरन्पूर्वमनुक्रमम्॥ च० सू० अ० १६।२५

हि० व्या०—जिसको संशोधन औषध पीने पर अयोग हो गया हो उसे मात्रा, काल और बल का विचार करते हुए, पूर्व में प्रयोग कराई गई औषध का ज्ञान करके यथाविधि स्नेहन के बाद पुनः संशोधन कराना चाहिए।

वमनविरेचनायोगजनककारण संकेतः तदुपद्रव चिकित्सासूत्रं च।

कफोल्वणस्यातिस्निग्धस्य गुरुकोष्ठस्य मन्दाग्नेर्वा मृदुप्रणीतमौषधं भृशमुत्क्लेश्य दोषान् जाड्यतन्द्रादौर्बल्याङ्गसादान् जनयति। तच्छ्रीघ्रमुल्लिखेत्। लङ्घितं च संधुक्षितार्ग्नि पुनः स्निग्धं तीक्ष्णोष्णैर्विशोधयेत्॥

अ० सं० क० ३।७

क्रूरकोष्ठोऽनुपस्निग्धोऽल्पेनौषधेन मृदुना····· (अति)श्यायानाहकफप्रसेकाः। सश्लेष्मणि ज्वरेऽतिसारे चौषधं कुर्वतो विबन्ध उत्पद्यते मृदल्पौषधेन वा। अति विस्रंसनाद्गुदभ्रंशानिलप्रकोपसंज्ञानाशः·····परिकर्तिकाः। स्नेहस्वेदहीनस्याजीर्णे पिबतश्चौषधं प्रवाहिकाशूलच्छर्दिहिक्काध्मानश्वासकासारोचकहृल्लासग्रहाः। अतिस्निग्धस्यशूलतन्द्रीनिद्रागुदस्रावशिरो ····· दाहौष्ठसंवेष्टाग्निसादयक्ष्माणः। वेगविधारणाद्दोषत्रयप्रकोपश्चाल्पजीवादानोन्मादभ्रमाः। स्नेहस्वेदोपपन्नंमृदुकोष्ठमपि बहुनौषधेन य उपक्रमते तस्यौषधं जीवादानाय (संपद्यते) ·····गुणमवाप्नोत्यनिलं चास्य प्रकोपयति; सप्रकुपितः प्रलापोन्मादहिक्काश्वासकासतालुशोष तृष्णाशूल बाधिर्यवाग्ग्रहबीजोपघाततिमिरपुष्पोपघाताय (संपद्यते)····· का० सं० सि० ३।

हि० व्या—जिन व्यक्तियों में कफ की उल्वणता (अधिकता) हो, अतिस्निग्ध, कोष्ठ की गुरुता एवं मन्दाग्नि होने पर मृदु संशोधनौषध प्रयोग कराये जाने पर दोषों को अतिशय मात्रा में उत्क्लेशित करती है (किन्तु बाहर नहीं निकालती) इसमें अंगों में जड़ता, तन्द्रा, दुर्बलता तथा अंगपीड़ा आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में शीघ्र अंगुली आदि डालकर वमन करा देना चाहिए। लंघन कराना जिससे अग्नि प्रज्वलित हो जाने पर पुनः तीक्ष्ण एवं उष्ण औषधि से संशोधन कराना चाहिए।

आचार्य काश्यप के अनुसार क्रूर कोष्ठ वाले तथा सम्यक् प्रकार से स्नेहन नहीं कराये गये व्यक्ति को अल्प मात्रा में एवं मृदु औषध दिए जाने पर प्रतिश्याय, आनाह, कफ का उत्क्लेश होता है। श्लेष्मा के प्रकुपित होने पर ज्वरातिसार में भी अल्प एवं मृदु औषध प्रयोग कराये जाने पर विबन्ध हो जाता है।·····अति विरेचन से गुदभ्रंश, वात प्रकोप संज्ञानाश··· ··एवं परिकर्तिका नामक उपद्रव होता है। इसी प्रकार विना स्नेहन-स्वेदन प्रयोग किये गये तथा अजीर्ण की स्थिति में संशोधन औषध का प्रयोग कराये जाने पर प्रवाहिका, शूल, वमन, हिचकी, आध्मान, श्वास-कास-अरुचि, हृल्लास एवं हृद्ग्रह नामक उपद्रव उत्पन्न होते हैं। स्नेहन के अतियोग से शूल, निद्रा, गुदस्राव एव शिरोरुक् आदि उत्पन्न होते हैं। स्नेहन के समान अति स्वेदन से दाह, ओष्ठ रोग, अग्निमांद्य तथा यक्ष्मा रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

वेग विधारण से त्रिदोष प्रकोप, जीवादान, उन्माद भ्रम आदि उपद्रव हो जाते हैं। सम्यक् रूप से स्नेहन-स्वेदन कराये हुए मृदुकोष्ठ वाले व्यक्ति को अति मात्रा में औषध सेवन कराने से जीवादान की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।·····अन्य कारणों से वायु प्रकुपित होती है जिससे प्रलाप, उन्माद क्का-श्वास-कास-तालुशोष, तृष्णा शूल, बाधीर्य, वाग्ग्रह, बीजोपघात, तिमिर तथा पुष्पोपघात आदि अतियोगजन्य उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं।

वमनातियोग लक्षणानि चिकित्सा च

अति प्रयुक्त वमने कफपित्तानिलागमात् ।
परं स्रवति यद्रक्तं मेदोमांसोदकोपमम् ॥
निः श्लेष्मपित्तमुदकं शोणितं कृष्णमेव वा ।
तृष्यतो मारुतार्तस्य सोऽतियोगः प्रमुह्यतः ॥
ऊर्ध्वगा वातरोगाश्च वाग्ग्रहश्चाधिको भवेत् ।

च० सू० १६-६-११

अतियोगानुबद्धानां सर्पिः पानं प्रशस्यते ।
तैलं मधुरकैः सिद्धमथवाप्यनुवासनम्॥

च० सू० १६।२४

वमन प्रयोगे कफपित्तानिलागमरूपः क्रमो भवेत् । यदुक्तं—'क्रमात्कफः पित्तमथानिलश्च यस्यैति सम्यग्वमितः स इष्टः' (सि० अ० १) इति चक्रपाणिः ।

मतिलवणमतिकषायमतिप्रतान्तकालवनुदीरितमवशेषितमौषधं वमनीयमुपकल्पितमस्य विरेचनाय संपद्यते । अजीर्णे सश्लेष्मणि वाऽतिद्रवमतिशीत····· यतो वा विरेचेनं वमनाय संपद्यते; तमौषधविपर्ययमाचक्षतेऽतियोगं च ।
··· ··· ··· ··· ··· ···

···मानस्य तथाऽतिमात्रं शीताम्भसा लेहनमेव पथ्यम् ।
तथोभयोः शीतकषायपान···घृतेन चैनं सशिरस्कमाशु दिग्धं सुशीतेन जलेन सिञ्चेत् । पादौ च धाव्यौ शिशिरोदकेन····· ।
सकट्फलं पद्मयवासमोचं सकेशरोशीरसमङ्गयुक्तम् ।
एतैः सुपिष्टैः शिशिराम्बुयुक्तैः कल्कैस्तथा शीतपयोद्रुमाणाम् ।
प्रलिप्यमानं सशिरस्कपादं सं·····श्च शय्यासनपानभोज्यैः ।
संस्थापयेदत्ययमाशु विद्वान् गृहं यथा प्रज्वलितैकदेशम् । का० सं०
अतिमात्रमकालेऽल्पं तुल्यवीर्यैरभावितम् ।
असम्यक् संस्कृतं जीर्णं व्यापद्येतौषधं ध्रुवम् ॥
छर्दनं न तु दुश्छर्दं बुविरेच्यं न रेचनम् ।
पाययेदौषधं भूयस्तं निहन्ति तथा हितौ ॥
यस्योर्ध्वं कफसंसृष्टं पीतं यात्यानुलोमिकम् ।
वमितं कवलैः शुद्धं लङ्घितं पाययेत्तु तम् ॥
विबद्धेऽल्पे चिराद्दोषे स्रवत्युष्णं पिबेज्जलम् ।
तेनाध्मानं वमिस्तृष्णा विबन्धश्चानुशाम्यति ॥
भेषजं रोधरुद्धं चेन्नोर्ध्वं नाधः प्रवर्तते ।
सोद्गारं साङ्गशूलं स्वेदं तत्रावचारयेत् ॥
सम्यग्विरिक्त सोद्गारभेषजं क्षिप्रमुल्लिखेत् ।
अजीर्णमप्रवृत्तौ तु सुशीतैः स्तंभयेद्भिषक् ॥

कदाचिच्छ्लेष्मणा रुद्धं तिष्ठत्युरसि भेषजम् ।
क्षीणे श्लेष्मणि सायान्हे रात्रौ वा तत्प्रवर्तते ॥
रूक्षान्नाहारयोर्जीर्णे तिष्ठत्यूर्ध्वगतेऽपि वा ।
वायुना भेषजे त्वन्यत्सस्नेहलवणं पिबेत् ॥
तृष्मोहभ्रममूर्च्छाद्याः स्युर्जीर्यति च भेषजे ।
पित्तघ्नं स्वादुशीतं च भेषजं तत्र शस्यते ॥
लालाहृल्लास विष्टंभरोमहर्षान्कफावृते ।
भेषजं तत्र तीक्ष्णोष्णं कटूवादि कफनुद्धितम् ॥

अ० सं० क० ३।३०-३७

हि० व्या०—आचार्य चरक के अनुसार अति विरेचन होने पर क्रमशः मल, पित्त, कफ और वायु के निःसरण होने से यदि मेद, मांसधोवन सदृशरक्त निःसरण होता है अथवा कफपित्त रहित जल का निःसरण होता है या काला रक्त निःसरण होता है । प्यास अधिक लगती है, वातजन्य पीड़ा होती है और रोगी चेतनाशून्य हो जाता है । यह विरेचनाति योग का लक्षण है । वमनातियोग होने पर भी उपरोक्त सभी लक्षण होते हैं परन्तु विशेष रूप से ऊर्ध्वजत्रुगत वात रोग, वाक् ग्रह लक्षण होता है । संशोधन के अतियोग में मधुर[1] द्रव्यों से सिद्ध घृत का पान कराना चाहिए । अथवा मधुर द्रव्यों से सिद्ध तैल से अनुवासनवस्ति देनी चाहिए ।

आचार्य काश्यप के अनुसार वमन कर्म हेतु अति लवण एवं कषाय रसयुक्त औषध का निरन्तर प्रयोग किया जाय तो कफ का उत्क्लेश न होकर अवशिष्ट औषध से वमन के विपरीत विरेचन हो जाता है तथा विरेचन के लिए प्रयुक्त द्रव और शीतगुण औषध श्लेष्माधिक्य तथा अजीर्ण के कारण विरेचन के विपरीत वमन हो जाता है । इसे औषध विपर्यय या अतियोग कहा जाता है । चिकित्सा निर्देश करते हुए कहा है कि शोधन वेगों के अयोग तथा अतियोग में अत्यन्त शीत जल के साथ उपरोक्त औषधियों का लेहन कराना चाहिए । शीतल कषायपान, सम्पूर्ण शरीर (आपादमस्तक) पर घृत की मालिश करके शीतल जल का परिषेक तथा शीतल जल से पैरों को धोना चाहिए । आचार्य काश्यप का यह सूत्र खण्डित है अतः औषधियों के नाम का ज्ञान नहीं हो पा रहा है । अगले सूत्र में आचार्य ने बताया है कि कट्फल, कमल, यवासा, मोचरस, नागकेशर, खस तथा मंजिष्ठा इन औषधियों को शीतल जल या पंचक्षीरी वृक्षों के कलक मे मिलाकर सर्वांग शरीर पर लेप करना चाहिए । शीतल शय्या, आसन, शीतल आहार एवं शीतल पान के द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए । जलते हुए घर को जिस प्रकार शीतल जल

यहाँ आचार्य गङ्गाधर ने 'मधुरकैजीवनीयैर्दशभिः' द्वारा मधुर द्रव्यों की व्याख्या में जीवनीयगण की औषधियों का उल्लेख किया है ।

के सिंचन से आग बुझाकर रक्षा की जाती है उसी प्रकार वमन-विरेचन (संशोधन) के अतियोग में रोगी की रक्षा करनी चाहिए।

(१) संशोधनौषध के अतिमात्रा में सेवन से, अकाल में प्रयोग कराये जाने पर, अल्पमात्रा में सेवन कराने पर अतुल्य वीर्य औषध से भावित, अथवा अविधि से निर्माण की गयी औषध एवं पुरानी औषध के प्रयोग कराने से व्यापत्तियां निश्चित रूप से उत्पन्न होती है।

(२) जिन व्यक्तियों को कठिनाई से वमन हो उन्हें पुनः अतिमात्रा में वामक औषध पिला देने से तथा जिन्हें कठिनाई से विरेचन हो उन्हें पुनः अतिमात्रा में विरेचनौषध पिलाने से उन दोनों व्यक्तियों का जीवन संकटापन्न हो जाता है।

(३) विरेचनौषध के सेवन करने पर जब कफ से संश्लिष्ट औषध की ऊर्ध्वगति हो जाए तब उस व्यक्ति को वमन हो जाने पर केवल से शुद्ध कराकर लंघन कराना चाहिए और अनुलोमक औषध का सेवन कराना चाहिए।

(४) दोषों के विबद्ध हो जाने पर अल्प या देर से दोषों का निर्हरण (विरेचन) होने पर उष्णोदक पान कराना चाहिए, जिससे आध्मान, वमन, प्यास और विबन्ध शीघ्र शान्त हो जाते हैं।

(५) संशोधनौषध दोषों के साथ अवरुद्ध हो जाने पर उसकी ऊर्ध्व या अधोमार्ग में प्रवृत्ति न होने पर अर्थात् जकड़ जाने पर, डकारें आती हों और अङ्गों में शूल होने पर स्वेदन कराना चाहिए।

(६) सम्यक् विरिक्त के लक्षण उत्पन्न होने पर भी यदि उद्गार शुद्धि न हो तो शीघ्र ही औषध को वमन द्वारा निकालना चाहिए वमन की प्रवृत्ति नहीं होने पर शीतोपचार परिषेकादि से स्तम्भन कराना चाहिए जिससे विरेचन का अतियोग न हो।

(७) कभी-कभी संशोधनौषध उपयोग काल में ही कफ से अवरुद्ध होकर उरःप्रदेश में स्थित हो जाती है कोष्ठ की प्राप्ति नहीं होने से विरेचन नहीं हो पाता है। औषधि की तीक्ष्णता से श्लेष्मा क्षीण होने पर कोष्ठ में पहुँच कर सायंकाल में या रात्रिकाल में (विलम्ब से) विरेचन होता है।

संशोधनानन्तरं पेयादि संसर्जन क्रम वर्णनम्

संशोधनाभ्यां शुद्धस्य हृतदोषस्य देहिनः।
यात्यग्निर्मन्दतां तस्मात् क्रमं पेयादिमाचरेत्॥

च० सि० ६।२४

भेषज क्षपिते पथ्यमाहारैरेव बृंहणम्।
घृतमांसरसक्षीर द्व्यूषोपसंहितैः॥

अभ्यङ्गोत्सादनैः स्नानैर्निरूहैः सानुवासनैः।
तथा स लभते शर्म युज्यते चायुषा चिरम्॥

च० सू० १६।२२-२३

यद्यपि निरूढ़स्याप्यग्निमान्द्यं भवति, तथाऽपि निरूढ़स्य तादृगग्निमाद्यं न भवति येन पेयादिक्रमः क्रियते, अतो निरूहव्युदासार्थं संशोधनाभ्यामिति द्विवचनं कृतम्। या तु सम्यग्विरिक्तिलक्षणे—"ऊर्जोऽग्निः" इत्यनेनाग्निवृद्धिरुक्ता, सा च विरेचनौषधक्षोभातिसङ्गात्कृताऽग्निमान्द्यापेक्षयाऽग्निवृद्धिः; तेनेह यात्यग्निर्मन्दतामिति वचनेन समं न विरोधः॥ चक्रपाणिः॥

आहारैरेवेत्येवावधारणे, तेन भैषज्यैर्बृंहणं निषेधति, भेषजस्य वीर्यप्रधानस्य तदा दुःसहत्वात्। अनुवासनैरित्यत्र चकारो बोद्धव्यः तेन अभ्यङ्गादिभिश्च बृंहणं पथ्यम्॥ चक्रपाणिः॥

हि० व्या०—संशोधनौषधसेवनजन्य दुर्बलता में आहार द्वारा बृंहण का निर्देश—

उपर्युक्त सन्दर्भ में महर्षि पुनर्वसू आत्रेय ने कहा है कि संशोधनोपरान्त मनुष्य के शरीर से दोषों का निर्हरण हो जाने पर अग्निमंद हो जाती है अतः पेयादि संसर्जनक्रम करना चाहिए।

संशोधनौषध निरन्तर प्रयोग करने से शारीरिक बल के क्षीण हो जाने पर आहार द्वारा बृंहण कराना श्रेष्ठ है। आहार द्रव्यों में घृत, मांसरस, दूध और हृदय को बलदायक यूष के साथ आहार देना चाहिए। अभ्यङ्ग, उवटन, (उत्सादन) स्नान, निरूहबस्ति तथा अनुवासनवस्ति का प्रयोग करना चाहिए। इन प्रयोगों से रोगी को लाभ होता है और वह दीर्घकाल तक जीवन धारण करता है।

शोधन चिकित्सानन्तरं प्रायः प्रयोज्यानां आहारद्रव्याणां संकेतः।

विरक्तवान्तैर्हरिणेणलावकाः
शशश्च सेव्यः समयूरतित्तिरिः॥
सषष्टिकाश्चैव पुराणशालय-
स्तथैव मुद्गा लघु यच्च कीर्तितम्॥

सु० चि० ३८।३८

आसात्म्यभोजनं बलवर्णहरं प्रतिपादितं, तत् किमत्र सात्म्यं यदपेक्षयाऽन्यदसात्म्यमिति सात्म्यमेवाह—विरिक्त वान्तैरित्यादि। इह निर्दिष्टादन्यदनुपदिष्टमाह—लघु यच्च कीर्तितमिति। विष्किरजाङ्गलेषुशालिषष्टिकेषु मुद्गादिषु चोक्तादन्यदपि यच्च लघु प्रोक्तं तच्च सेव्यमित्यर्थः। जेज्जटाचार्यस्त्वन्यथा व्याख्यानयति, यथा—विरिक्तवान्तैरित्याद्यारम्भप्रयोजनं विरिक्त कथितविधिनियमार्थं वमनानुक्तविधिप्रापणार्थं च; यतो विरिक्तस्य प्रमाणापेक्षया यवाग्वादिक्रम एकशो द्विशस्त्रिशश्च विहितो न वान्तस्य। डल्हणः॥

हि० व्या०—संशोधनोपरान्त आहारद्रव्य का निर्देश करते हुए आचार्य सुश्रुत ने कहा है कि—हरिण, कृष्णमृग, लावापक्षी, खरगोश, मयूर और तित्तिर आदि का मांसरस, साठी एवं पुराने शालिचावल, मूंग और लघु अन्न जो पथ्य हेतु शास्त्र में निर्दिष्ट है, उनका सेवन करना चाहिए।

लङ्घनादिद्वाराजाठराग्निमन्दतायामपि पेयादिक्रमप्रयोग सूचनम्

वेदनालाभनियमशोकवैचित्यहेतुभिः।
नरानुपोषितांश्चापि विरिक्तवदुपाचरेत्॥

सु० चि० ३८।१४

वेदनालाभ नियमेत्यादि। वेदनायालाभो वेदनालाभः, अलाभ इष्टस्येति केचिदाचक्षते, लाभोऽनिष्टस्येत्यन्ये, नियमे उपवासादिः, वैचित्त्यम् उन्मादादिः एतैर्हेतुभिरुपोपितान्नरान् विरिक्तवदुपाचरेत्। तत्रापि लङ्घनमानेन हीनमध्योत्तमाभिहितेन द्व्यहं चतुरहं षडहमेवान्नसंसर्जनम्। डल्हणः।

अलाभो अभ्यवहार्य्याणामत्र पानानामप्राप्तिः नियमो व्रत एकादश्यादि, वैचित्यं यथाकथंच्चिच्चित्तवैकल्यम्। हाराणचन्द्रः॥

अवस्थाविशेषे पेयादिकमापवादः तर्पणप्रयोगश्च

कफपित्ते विशुद्धेऽल्पं मद्यपे वातपैत्तिके।
तर्पणादि क्रमं कुर्यात् पेयाऽभिष्यन्दयेद्धितान्॥

च० सि० ६।२५

विशुद्धेऽल्पमिति असम्यग्विशुद्धे। तर्पणादिक्रमे च पेयायाः स्थाने स्वच्छतर्पणं, विलेप्याः स्थाने च घनतर्पणं देयम्। चक्रपाणिः।

कफपित्ते विशुद्धेऽल्पमिति तर्पणादि विधानेन पेयाद्यपवादः। तद्दोपदर्शनादल्पं विशुद्ध इति। जघन्यशुद्धौसत्यां संसृष्टे कफपित्ते कफप्रधाने पित्ते, पित्तप्रधाने वा कफे। न तु केवले पेयास्तयोः प्रकल्पितापवादविषयविधाने तस्योत्सर्गस्य समावेशात्। प्रत्येकं वा कफपित्ते विशुद्धेऽल्पं च तथा मद्यपे मद्यनित्ये वातपैत्तिके प्रकृत्या च वातपैत्तिक इति पेयायाः केवलायाः प्रतिषेधः। समानजातीयत्वात् तर्पणादिकत्वेन च यूपरसनिर्देशः। उक्तं च—"जीर्णतर्पणं तनुना समुद्गयूपेण जाङ्गलानां रसेन वेति" तर्पणस्यापि निषेधः। पेया विलेप्योश्च दोषवत्वादग्रहणम् न तदवदुपलक्षणत्त्वात्तर्पणस्येत्येके। तर्पणमप्यत्र यथान्यत्र—"मदात्यये मद्यनित्ये ग्रीष्मे पित्त कफाधिके यावतत्र तर्पणमेवाग्रत" इति तद्गुणसंविज्ञानादपि बहुव्रीहेरिष्टमित्यन्ये॥ (जज्जटः)

अपि च—

कफपित्ताधिकान्मद्यनित्यान् हीनविशोधितान्॥
पेयाऽभिष्यन्दयेत्येषां तर्पणादिक्रमो हितः।

सु० चि० ३९।१३॥

ये कफपित्ताधिकास्तथा मद्यनित्यास्तान् हीनविशोधितान् पेयाऽभिष्यन्दयेत् अभिषण्णस्रोतस्कान् कुर्यात्, अतस्तेषां हीनशोधितानां तर्पणादिक्रमो हितः। तत्र प्रथमेऽन्नकाले तर्पणं सक्तुभिः कार्यं ततोयूषभक्तादिकमिति। डल्हणः॥

अपि च

स्रुताल्पपित्तश्लेष्माणं मद्यपं वातपैत्तिकम्।
पंयां न पाययेत्तेषां तर्पणादिक्रमो हितः॥

अ० हृ० सू० १८।४०

स्रुताल्पपित्तश्लेष्माणमिति। स्रुतौ पतितावल्पौ पित्तश्लेष्माणौ यस्य तं तथा मद्यपो यो नरस्तं मद्यपं तथा वातपैत्तिकमेतांस्त्रौन्पेयां न पाययेत्। तर्ह्येषां किं कार्यमित्याह। प्रथमेऽन्नकाले लाजसक्तवो द्वितीयेऽन्नकाले जीर्णशाल्योदनं तृतीये मांसरसौदनमित्येष तर्पणादिक्रमस्तेषां हितः॥ अरुणदत्तः॥

स्रुताल्पपित्तश्लेष्माण मद्यपं वातपैत्तिकं पेयां न पाययेत्। स्रुतौ प्रवृत्तावल्पौ पित्तश्लेष्माणौ यस्य। अल्पमात्रप्रवृत्तपित्तश्लेष्माणमित्यर्थः। तं तथा स्वभावेन मद्यपायिनं च तथा वातपित्त संसर्गयुक्तं च पेयां न पाययेत्। तर्हि तेषां किं कार्यमित्याह—तेषां तर्पणादिः क्रमो हितः कार्यं इत्यर्थः। "लाजसक्तून पिबेत् पूर्वं ततो यूपान्नभोजनम्। पश्चान्मांसरसान्नं स्यात्तर्पणादिरयं क्रमः॥

परमेश्वरः।

हि० व्या०—जिस व्यक्ति के कफ और पित्त का सम्यक् शोधन नहीं हुआ हो, मद्यपान के अभ्यासी तथा वातपित्त प्रकृति वाले को तर्पणक्रम करना चाहिए क्योंकि इन व्यक्तियों को पेयाक्रम से अभिष्यन्द हो जाता है। आचार्य सुश्रुत एवं अष्टाङ्ग हृदयकार ने भी इसी भाव का समर्थन किया है।

शोधन प्रक्रियायां प्रसङ्गात् पेयादि प्रयोगक्रमवर्णनम्

पेयां विलेपीमकृतं कृतं च
यूषं रसं त्रिद्विरथैकशश्च
क्रमेण सेवेत विशुद्धकायः
प्रधानमध्यावरशुद्धिशुद्धः॥

च० सि० १।-११-१२; अ० सं० सू० २६।२३;
अ० हृ० सू० १८।२०; चक्रदत्त-वंगसेन

वमनविरेचनोत्तरभाविपेयादिक्रममाह—पेयां विलेपीमित्यादि। यवागूर्बहुसिक्था। विलेपी विरलद्रवा। उक्तं हि—"सिक्थकै रहितो मण्डः, पेया सिक्थसमन्विता। यवागूर्बहुसिक्थास्याद्विलेपी विरलद्रवा" (सु० सू० अ० ४६) इति। अत्र अकृत यूषः स्नेहलवणाद्यसंस्कृतः; एवं रसेऽपि कृताकृतव्यवस्था। यदुक्तं सूदशास्त्रे—'अस्नेहलवणं सर्वमकृतं कटुकैर्विना। विज्ञेयं लवणस्नेहकटुकैः संस्कृतं कृतम्' इति। त्रिरित्यन्नकालत्रयं व्याप्य, द्विरित्यन्नकालद्वयम्, एकश इत्येकान्नकालम्; एतच्च त्रिरित्यादि प्रत्येकं पेयादिभिः संबध्यते। एतच्च

त्रिरित्यादि पक्षत्रयं प्रधानशुद्धिशुद्धाद्यपेक्षया यथाक्रमं ज्ञेयम् ।

अपि च

हीन मध्योत्तमेष्वेषु विरेकेषु प्रकीर्तितः ।
एक द्वि त्रिगुणः सम्यगाहारस्य क्रमस्त्वयम् ॥

सु० चि० ३८।१२-१३

तेन प्रधानशुद्धिशुद्धे प्रत्येकं त्रिः पेयादि कर्तव्यं; तेनान्नकालत्रये पेया ततः परेणान्नकालत्रये विलेपी, ततः परेणान्नकालत्रये कृताकृतयूषसहितमन्नं, ततोऽपि च परेण कृताकृतरसेनान्नमन्नकालत्रये देयम्; एवं द्वादशभिरन्नकालैर्वमनदिन-सायाह्नात् प्रभृति सप्तरात्रेण पेयादिक्रमः । अयमेव क्रम उपलल्पनीयेऽपि—'ततः सायाह्ने लोहितशालितण्डुलानाम्' (सू० अ० १५) इत्यनेनोक्तः । अत्र यूष रसयोस्तु यद्यपि कालविभागो न प्रतिपादितस्तथाऽपि यूषकालत्रये रसकाल-त्रये च प्रथममकृतस्य उत्तरकाले च कृतस्य यूषस्या एवं रसस्यापि कालविभागः कथनीयः । एवं द्विः पेयाक्रमस्तथा एकश्च पेयाक्रमो वर्णनीय इति । एककाले तु पेयादिक्रमे यद्यपिकृताकृतयूषरसयोः कालविभागो न प्राप्यते, तथाऽप्येक-स्मिन्नेव काले स्तोक संस्कारेण यूषरसयोस्तत्र कृताकृतत्वं ज्ञेयम् । प्रधानशुद्धे भूरिदोषगमनक्षोभादग्निमांद्यं सम्भवति, तेन तत्र पेयादिक्रमश्चिरं क्रियत इति ज्ञेयम् । प्रधान शुद्ध्यादिलक्षणं चाग्रे वक्ष्यमाणम् ॥ चक्रपाणिः ॥

अपि च

यथाऽणुरग्निस्तृणगोमयाद्यैः
संधुक्ष्यमाणो भवति क्रमेण ॥
महान् स्थिरः सर्वपचस्तथैव
शुद्धस्य पेयादिभिरन्तरग्निः ॥

च० सि० १।१२-१३; अ० सं० सू० २७।२४; अ० हृ० सू० १८।२१; चक्रदत्त

प्रस्थे परिस्रुते हीनो विरेकः, तस्मिन् पेयादिक्रम एकैकमन्नकालं देयः; अर्धाढ़के परिस्रुते मध्यो विरेकः, तस्मिन् पेयादिः प्रत्येकं द्वौ द्वावन्नकालौ देय आढ़के परिस्रुते उत्तमो विरेकः तस्मिन् पेयादिः देयः । एषु पूर्वोक्तेषु हीनातिविरेकेषु हृतदोषमानापेक्षया एक द्वि त्रिगुणोऽयमाहारक्रमः सम्यक् प्रकीर्तित; ततो मिथ्याहीनादियोगेनासम्यगित्यर्थः । एतदुक्तं भवतिहीने विरेके चतुर्भिरन्नकालैः सायंप्रातिकभोजनाभ्यां द्व्यहं, मध्ये तद्विगुणेन चतुरहं, उत्तमे त्रिगुणेन षडहमिति ॥ डल्हणः ॥

हि० व्या०—पेयादि संसर्जनक्रम—प्रधान, मध्य हीन शुद्धि से जिन व्यक्तियों का शरीर शुद्ध हो गया है उनको पेया, विलेपी, अकृतयूष (स्नेहलवण-रहित यूष), कृतयूष (स्नेहलवण से संस्कारित यूष), अकृत मांसरस (स्नेह-लवणरहित मांसरस), कृत मांसरस (स्नेहलवण से संस्कारित मांसरस), क्रमशः

तीन अन्ननाल, दो अन्नकाल और एक अन्नकाल में सेवन करना चाहिए ।

संसर्जन क्रम की उपयोगिता का निर्देश करते हुए आचार्य ने कहा है कि जिस प्रकार स्वल्प अग्निकण में भी तृण एवं उपले आदि रखकर हवा की जाय तो वह अग्नि बढ़कर तीक्ष्ण रूप धारण कर लेती है और सभी प्रकार के अन्न पकाने में समर्थ होती है उसी प्रकार संशोधन चिकित्सा से शुद्ध व्यक्ति की जाठराग्नि जो मन्द हो जाती है वह पेयादि प्रयोग से बढ़कर स्थिर और सभी प्रकार के आहार को पचाने में समर्थ होती है ।

शोधनातियोगेऽपि पेयादिक्रम पालनावश्यकता

वमितश्च विरिक्तश्च मन्दाग्निश्च विलङ्घितः ।
अग्निप्राणविवृद्ध्यर्थं क्रमं पेयादिकं भजेत् ॥

च० सि० ६।५७

अतियोगेऽपि यथा पेयादिक्रमो भवति तदाहवमितश्चेत्यादि । अतिहरणा-दतिवमितोऽतिविरिक्तश्चेति बोद्धव्यम् । चक्रपाणिः ।

क्रमविशेषणार्थं पुनर्वमितश्च विरिक्तश्चेति । यदा मन्दाग्निर्वमितो विरिक्तो वा भवति तदा लङ्घितस्यैव तस्य पेयादिक्रमो नालङ्घितस्य । लङ्घन-विकल्पनञ्चान्यत्राप्युक्तम् । "यथैनं सायाह्ने परे व हीत्यनेनैव चार्थेन पुन-रुक्तं; पूर्वेण संशोधनाभ्यां शुद्धस्येत्यनेन चाभिधानमस्यायोगातियोगयोर्मन्दा-ग्न्यवस्थायामेव पेयादिद्वारा तस्येदमुपक्रमं कुर्यादिति ॥ जज्जटः ॥

हि० व्या० —संशोधन (वमन विरेचन) कर्म के पश्चात् और मन्दाग्नि रोगयुक्त तथा लङ्घन (उपवास) किए हुए व्यक्ति को जठराग्नि और प्राण (बल) वर्धन हेतु पेया-विलेपी का प्रयोग करना चाहिए ।

शोधनोपक्रमजन्य कायाग्निमन्दता तत् सन्धुक्षणे युक्तिश्च

स्नेहपीतस्य वान्तस्य विरिक्तस्य स्रुतासृजः ।
निरूढ़स्य च कायाग्निर्मन्दो भवति देहिनः ॥
सोऽन्नैरत्यर्थगुरुभिरुपयुक्तैः प्रशाम्यति ।
अल्पो महद्भिर्बहुभिश्छादितोऽग्निरिवेन्धनैः ।
स चाल्पैर्लघुभिश्चान्नैरुपयुक्तैर्विवर्धते ।
काष्ठैरणुभिरल्पैश्च सन्धक्षित इवानलः ॥

सु० चि० ३९।३-५

निरूढस्य चेति चकारेणानुवासितमनुक्तं समुच्चिनोति । ननु स्नेहपाना-दयोऽनल प्रबोधोदय हेतव इत्युक्तत्वात् कथं तैर्मन्दोऽग्निर्भवति देहिनः ? उच्यते, तत्काल एव मन्दः, क्रमेण तु तेन दीप्तो भवतीति न दोष प्रसङ्गः । तस्य क्रमेण यथा प्राकृतावस्थापन्नत्वं भवति तथा निर्दिशन्नाहसोऽन्नैरित्यादि ॥

डल्हणः ।

पूर्व्वं हि चि० ३१ अ० "स्नेहोहितो दुर्व्वलवह्निदेहसन्धुक्षणे" इत्यादिना स्नेहोपयोगस्योदकं फलमग्निसंधुक्षणमित्यभिहितम्; इहतूपयोगात् परं सप्ताहं यावदग्निमंदो भवतीत्यभिहितमिति बुद्धिविषयमारोहति इत्यनयोर्भिन्नकाल-विषयत्वादविरोधः। हाराणच०

हि० व्या०—स्नेहपान किए हुए, वमन, विरेचन तथा निरूहवस्ति का सेवन किए हुए व्यक्तियों की जठराग्नि मन्द हो जाती है ऐसी अवस्था में अत्यन्त गुरु आहार के सेवन से अग्नि उसी प्रकार शान्त हो जाती है जिस प्रकार अत्यल्प अग्नि लकड़ियों के ढेर से आच्छादित करने पर शान्त हो जाती है। वह जाठराग्नि अल्पमात्रा में और लघु आहार के सेवन से बढ़ती है जिस प्रकार छोटे-छोटे काष्ठ के टुकड़ों से अल्प अग्नि प्रज्वलित हो जाती है। प्रायः पञ्चकर्म क्रिया के पश्चात् एक सप्ताहतक मन्दाग्नि हो जाती है। अतः लघु आहार का सेवन हितकारी है।

संसर्जनक्रमस्य एकद्वित्रिवारं प्रयोगे युक्तिः

बलं यत्रिविधं प्रोक्तमतस्तत्र क्रमस्त्रिधा।
तत्रानुक्रममेकं तु बलस्थः सकृदाचरेत्॥
द्विराचरेन्मध्यबलस्त्रीन वारान् दुर्बलस्तथा।
केचिदेवं क्रमं प्राहुमन्दमध्योत्तमाग्निषु॥

सु० चि० ३६।१७-१८

बलमत्रोपचयलक्षणमेव। यस्मात् प्रागेक एव विरेक उपवर्णितः, अतस्त्रिविध आहारक्रमो बलं यत्रिविधं प्रोक्तं तत्र ज्ञेयः। तत्र त्रिविधेऽपि बले सर्वत्र त्रिविधमप्यन्नसंसर्जनं प्राप्नोति; क्वचित् कंचिन्निदिशन्नाह— तत्रानुक्रममित्यादि। तत्रैव मतान्तरं दर्शयन्नाह— केचिदेवमित्यादि। डल्हण।

आतुराश्च तत्तद्विरेक प्रमाणविशेषसुपजीव्योपयुज्यन्ते क्षामता तारतम्येन। तदिहविरिक्तान् प्रति प्राक् त्रेधोपचारो विहित इत्याकूतम्। एवञ्चाढकादि तत्तद्विरेकप्रमाणप्रभावभावितदौर्ब्बल्यमात्रसाम्येन तत्तत् प्रमाणाधिकारोपचार-प्रकारमेवाति देशेऽस्मिन् शरणमुपगच्छेत्येताचक्षाणो भगवानाह बलमिति। तत्रोपोषितेष्वपि क्रमः प्राग्वत् यवाग्वाद्युपचारक्रमः त्रिधेत्युपपन्नं भवति विरिक्त-वदुपाचरेदिति उक्तमर्थं स्फुटीकृत्यावगमयति तत्रेति। तत्रोपोषितेषु मध्ये बलस्थो अनुक्रमो यवाग्वादिक्रमं लक्ष्मीकृत्य एकमिति एका यवागूः एका विलेपो एकमंशद्वितयमितमोदनम् एकश्चांसत्रितयमितमोदनम् "नपुंसकमन-पुंसकेन इति पा० १।२।६९ एकवत् क्लीवत्वञ्च तदिदमेकं सकृदाचरेदेतेन सर्व्वमवदातम्। मन्दाग्न्यादयो ह्युत्तरोत्तरमुपवसेन क्षीणात् क्षीणतमा भवन्ति तदिदं तेषु प्रोक्तानुक्तमेणाहारोपयोगमभीप्सतां मतं व्याजेनाङ्गी-करोति केचिदित्यादिना। हाराण च०।

संशोधनोत्तरं संसर्जनक्रमे मधुरादिरसानां यथायथं क्रमशः प्रयोगे युक्तिः

संसर्गेण विवृद्धेऽग्नौ दोषकोपभयाद्भजेत्।
प्राक्स्वादुतिक्तौ स्निग्धाम्ललवणान् कटुकं ततः॥
स्वाद्वम्ललवणान् भूयः स्वादुतिक्तावतः परम्।
स्निग्धरुक्षान् रसांश्चैव व्यत्यासात् स्वस्थवत्ततः॥

सु० चि० ३६।१६-२०

अतः परं क्रमेणैव कृतसंसजनस्य रसावचारणक्रममाह—संसर्गेणेत्यादि। अन्नसंसर्जन क्रमविवृद्धेऽग्नौ दोषकोपभयात् स्निग्धान् मधुराम्ललवणान्, रूक्षान् कटुतिक्तकषायान् रसान् व्यत्यासात् विपर्ययात्, एवमत्रोक्तपरि-पाट्या भजेत् तत्र प्रवृद्धाग्निहेतु वातपित्तस्याबजयार्थमग्नेः, समीकरणार्थं च पूर्वं स्वादुतिक्तकौ, ततो वातकफावजयार्थमग्नेः सन्धुक्षणार्थं च व्यत्यासा-दितिप्रागुक्तरसप्रत्यनीकान् स्निग्धाम्ललवणकटुकान्। ततश्चाम्ललवणकटुक-जनितपित्तवातावजयार्थं स्वादुतिक्तौ, ततोभूयः कषायकटुकौ, ततोभूयः कषाय-कटुकौ, ततोऽन्योन्यप्रत्यनीकरसानां स्निग्धरूक्षयोर्व्यत्यासादुपयोगेन प्रकृतिगो भवेत् वृद्ध वाग्वटस्त्वाह—

द्वे चैवार्धाढके देये तिस्रश्चाप्याढके गते॥
"दद्यान्मधुरहृद्यानि ततोऽम्ललवणौ रसौ।
स्वादुतिक्तौ ततो भूयः कषायकटुकौ ततः॥
अन्योन्य प्रत्यनीकानां रसानां स्निग्धरूक्षयोः।
व्यत्यासादुपयोगेन क्रमात्तं प्रकृतिं नयेत्"

प्रस्थश्चात्रसार्धत्रयोदशपलः। यवागूशब्देन पेया विवक्षिता, स्वल्पतण्डुला अष्टांश तण्डुलाकृताः, तदुक्तं - "पेयां पिबेदुचितभवतकृताष्टभागां त्रिद्विः सकृत्प्रवरमध्यजघण्यशुद्धः—"—इति। यवागूरित्यत्रैकवचननिर्देशादेकवार-मिति बोद्धव्यम्। द्वे चैवार्धाढके इत्यत्र द्वे पेये द्वौ वारावितिं बोद्धव्यम्। तिस्रश्चाप्याढके गते इत्यत्र तिस्रः पेवा इति बोद्धव्यम्॥ डल्हणः॥

निः सारितमलपरिमाणानुसारं हीन मध्य उत्तम शोधन परिकल्पनं तदनुसारं यवागू परिमाण विधानं च

हृतदोष प्रमाणेन सदाऽऽहारविधिः स्मृतः।
त्रीणि चात्र प्रमाणानि प्रस्थोऽर्धाढकमाढकम्॥
तत्रावरं प्रस्थमत्रं द्वे शेषे मध्यमोत्तमे।
प्रस्थे परिस्रुते देया यवागूः स्वल्पतण्डुला।

सु० चि० ३६।६-७॥

हृतशब्देनेह विरेचननिर्हृता एवोच्यन्ते अनन्तरं हीनेत्यादिना विधेरस्य विरेक विषयत्वेनोपदेशात्। एवं सति दोषास्त्वत्र "विरेचने मूत्र पुरीषपित्तौ-

षधकफाः इति चि० ३३ अध्याय स्मरणात् मूत्रादय एव। स्यादेतत् कति नाम तत्र प्रमाणानीत्याह त्रीणीति। अत्र प्रमाणस्य त्रेधा विभागो दोषबल त्रैविध्येनाध्यवसेयः। प्रस्थेति द्वे यवाग्वो देये इत्यर्थः। एतावता दिनद्वयं यवागुर्देयेत्यायातं भवति। एतेनैव तिस्र इत्यापि व्याख्यातत्। अत्र "यवागूमुचिताद्भक्ताच्चतुर्भाग कृतां वदेत्" इत्यनुस्मरन्नन्तरम् विलेप्या ओदनस्य चोपदेशात् यवागुशब्देन पारिशेष्यान् मण्डः पेया वा यदृच्छया पादमात्रेण देयेतिचेत् ब्रवीषि तर्हीदमुच्यते विधिरयमाहारस्याग्निसन्धूक्षणार्थमुपदिश्यते, मण्डाश्च सिक्थवयात् पेयागुर्व्वी गुरुत्वाच्च सा प्राक्प्रयुक्ताग्नि नाशयतीति मन्यते नहि वरविघाताय कन्योद्वाह इति वक्तुं न्याय्यम्॥ तथा च लघुपूर्वं यथोचितभक्तोपयोगविधावत्र यवागूशब्देन सिक्थरहितत्वात् लघिष्ठस्य मण्डस्यानायासेनावगमेऽपि चेदात्मनो बुद्धिदौर्बल्यादातुरस्यानिष्टापायगमनयन् पेयां ग्राहयितुमिच्छसि तर्हि चौरापराधान् माण्डव्यनिग्रह न्यायायात् इति विचिन्तनीयम्। हाराण च०।

यवागूप्रयोगानन्तरं विलेपी कृताकृतयूषयोः यथाक्रमं प्रयोग विधानम्

विलेपीमुचिताद्भक्ताच्चतुर्थांशकृतां ततः।
दद्यादुक्तेन विधिना क्लिन्नसिक्थामपिच्छिलाम्।
अस्निग्धलवणां स्वच्छमुद्गयूषयुतं ततः।
अंशद्वयप्रमाणेन दद्यात् सुस्विन्नमोदनम्॥
ततस्तुकृतसंज्ञेन हृद्येनेन्द्रियबोधिना।
त्रीनंशान् वितरेद्भोक्तुमातुरायौदनं मृदु॥
ततो यथोचितं भक्तं भोक्तुमस्मै विचक्षणः॥
लावैणहरिणादीनां रसैर्दद्यात् सुसंस्कृतैः॥

सु० चि० ३९।८-११

उचितादभ्यस्तात्तण्डुलाच्चतुर्थभागेन कृताम्। उक्तेन विधिनेति एकद्वित्रिक्रमेण। क्लिन्नसिक्थाम् अतिपक्वतण्डुलाम्। अपिच्छिलाम् मण्डरहिताम्, यवागूं दद्यात् 'भिषक्' इत्यध्याहारः। अंशद्वयप्रमाणेनेत्यादि। उचितादर्धभागतण्डुलात् कृतं भक्तमित्यर्थः। त्रिनंशानिति त्रिभागकल्पित सम्यक्पक्वं घृतमण्डेनसमन्वितम्। तत् इत्यादि। ततोऽनन्तरं कृतसंज्ञेन यूषेण सह आतुराय रोगिणे ओदनं भक्तमुचितं तण्डुलांशत्रयकृतं भोक्तुं वितरेद् दद्यादिति संबन्धः। अस्य श्लोकस्यादौ 'त्रिभागकलितं सम्यग् कृतेनाथ संमितम्' इति प्रति पुस्तकेषु पाठो दृश्यते स च न पठनीयः, जेज्जटादिनिबन्धकारैः सर्वैरपि परिहृतत्वात्। ततो यथोचितमित्यादि। यथोचितमिति अंशचतुष्टय प्रमाण परिपूर्णमित्यर्थः। हृतदोषप्रमाणेनेत्यादि दद्यात्। सुसंस्कृतैरित्यन्तग्रन्थेनैतदनुक्तं भवति—हीनशुद्धिशुद्धस्य पुरुषस्य तावत् प्रथमेऽन्नकाले उचितभक्तकृताष्टभागां पेयां दयात्,

तस्मिन्नेवदिने द्वितीयेऽन्नकाले प्रकृतिस्थात् जरणकालोचिताद्भक्तात् चतुर्थांशेन कृतामतिपक्वतण्डुलावयवां मण्डरहितां विलेपीं दद्यात्; द्वितीयेऽह्नि तृतीयेऽन्नकालेऽस्निग्धाम्लवणस्वच्छेनाकृतमुद्गयूषेणोचितादर्धभागतण्डुलकृतं सुस्विन्नमोदनं दद्यात्. तस्मिन्नेव दिने चतुर्थेऽन्नकाले हृद्येनेन्द्रियबोधिना कृतसंज्ञेन यूषेणोचिततण्डुलांशत्रयकृतमोदनं भोक्तुं दद्यात्; ततस्तृतीयेऽह्नि पञ्चमेऽन्नकाले लावैणहरिणादीनां सुसंस्कृतरसैरंशचतुष्टय प्रमाणं भक्तं भोक्तुं दद्यात्, तृतीयेऽह्नि षष्ठेऽन्नकाले प्रकृतिभोजनमागच्छेत्। मध्यशुद्धिशुद्धस्य च तावदादौ द्वयोरन्नकालयोः पेयां दद्यात्, द्वितीयेऽह्नि द्वयोरप्यन्नकालयोर्विलेपिकां, तृतीयेऽह्नि अन्न कालद्वयेऽप्यकृतयूषं, चतुर्थेऽह्नि कालद्वयेऽपि कृतयूषं, पञ्चमेऽह्नि कालद्वयेऽपि मांसरसमित्यतः षष्ठेऽह्नि प्रकृतिभोजनमागच्छेत्। उत्तम शुद्धिशुद्धस्य च तावत् प्रथमेऽह्नि द्वयोरप्यन्नकालयोः पेयां दद्यात्, द्वितीयेऽह्नि प्रथमेऽन्नकाले पेयां, द्वितीये विलेपिकां; तृतीयेऽह्नि द्वयोरप्यन्नकालयोर्विलेपिकां; चतुर्थेऽह्नि द्वयोरप्यन्नकालयोरकृतयूषं; पञ्चमेऽह्नि प्रथमेऽन्नकालेऽकृतयूषं, द्वितीयेऽन्नकाले कृतयूषं; षष्ठेऽह्नि द्वयोरप्यन्नकालयोः कृतयूषं; सप्तमेऽह्नि द्वयोरप्यन्नकालयोमांसरसं; अष्टमेऽह्नि प्रथमे अन्नकाले मांसरसम्, अतोऽष्टमदिवसस्य द्वितीयेऽन्नकाले प्रकृति भोजनमाहरेत्। गयी तु हीनशुद्धौ प्रथमेऽन्नकाले उचित तण्डुलाष्टभागकृता पेया, द्वितीयेऽन्नकाले तूचिततण्डुलचतुर्थभागकृता विलेपी, तृतीयेऽन्नकाले तूचित तन्डुलार्धभागकृतेन भक्तेन सह दकलावणिको यूषो रसो वा यथा दोषं, चतुर्थेऽन्नकाले तूचिततण्डुलभागत्रयकृतेन भक्तेन सह कृतसंज्ञो यूषः पिप्पलीशृङ्गवेरसिद्धः कृतो रसो वा यथा दोषं, ततो यथोचितं परिपूर्णभक्तं सुसस्कृतेन रसेन यूषेण वा देयमिति तृतीये दिने प्रकृति भोजनम्। एवं मध्यमोत्तम शुद्धौ पेयादीनां द्वित्रिकालदानेन यथाक्रमं पञ्चमे सप्तमे च दिने प्रकृति भोजनम्। उक्तं च, तन्त्रान्तरे—

पेयाविलेपीमकृतं कृतं च
यूषंरसं त्रिनुभयं तथैकम्।
क्रमेण सेवेत नरोऽन्नकालान्
प्रधानमध्यावरशुद्धिशुद्धः"

वा० सू० १८ इति डल्हणः।

संशोधन प्रयोगजन्य मानसिकविकार (अवसाद) की चिकित्सा

वेदना, इच्छित वस्तु की प्राप्ति न होना, तथा आवश्यक नियमों के पालन न करने से, शोक, वैचित्य (भ्रमादि) विकार उत्पन्न होने पर विरेचन क्रम के अनुसार उपचार करना चाहिए।

बलानुसार संसर्जन क्रम—बल तीन प्रकार के बताए गए हैं। इस कारण आहार क्रम में विविधता का निर्देश किया गया है। अतः बलवान व्यक्ति को संसर्जन क्रम से आहार का सेवन एक बार मध्यम बल वाले को

दो बार और दुर्बल व्यक्ति को तीन बार कराना चाहिए। कुछ आचार्यों का मत है कि बल का ज्ञान मन्द, मध्य और उत्तम अग्नि के अनुसार करते हुए आहार संसर्जन क्रम कराना चाहिए।

संसर्जन क्रम में जठराग्नि की तीव्रता के अनुसार रस सेवन कर्म-संसर्जन द्वारा बढ़ी हुई अग्नि से दोषों का प्रकोप भय न हों इसलिए प्रथम मधुर और तिक्त रस फिर स्निग्ध, अम्ल, लवण और कटुरस तत्पश्चात् मधुराम्ल-लवण रस, पुनः मधुर और तिक्त रस तथा रुक्ष और स्निग्ध द्रव्यों को क्रमशः परिवर्तन करते हुए एक रस के बाद उसके विपरीत वाले रस का सेवस करना चाहिए। इसके बाद स्वास्थ्य रक्षक प्राकृतिक आहार देना चाहिए।

संशोधनौषध के द्वारा निकले हुए दोषों के प्रमाण (परिणाम) के अनुसार सदा आहार विधि का पालन करना चाहिए। दोषनिर्हरण के लिए एक प्रस्थ, आधा आढ़क और एक आढ़क ये तीन प्रमाण माने गए हैं। इनमें प्रस्थ प्रमाण निकृष्ट है, आधा आढ़क मध्यम तथा एक आढ़क उत्तम माना गया है। एक प्रस्थ दोषानिर्हरण में चावल से युक्त अल्प यवागू का सेवन कराना चाहिए, आधा आढ़क संशोधन में दो बार पेया पिलानी चाहिए, एक आढ़क परिमाण में तीन बार पेया पिलानी चाहिए। तदनन्तर स्वाभाविक आहार में जितने चावल व्यक्ति प्रतिदिन ग्रहण करता है उसके चतुर्थांश चावकु से सिद्ध की गई और पिच्छिलता रहित भली भाँति पक्व विलेपी का पूर्वोक्त क्रम में सेवन कराना चाहिए। फिर स्नेह तथा लवण रहित स्वच्छ मुद्गयूप के साथ प्रतिदिन के स्वाभाविक आहार के अर्द्ध परिमाण में पक्व चावल खिलाने चाहिए। तत्पश्चात् क्रमशः हृदय और मन को प्रिय लगने वाले, इन्द्रियों को चैतन्यय प्रधान करने वाले सिद्ध यूष के साथ स्वाभाविक आहार का तीन भाग पक्व मृदु चावल रोगी को खिलाने चाहिए। अन्त में रुग्न को स्वाभाविक आहार, लावा पक्षी, हिरण और एक आदि मृगों के सुसंस्कृत कांस रस के साथ देना चाहिए।

शोधन कर्मणि सद्वैद्यस्य सुखहेतुत्वम्

चिकित्साप्राभृतो विद्वान् शास्त्रवान् कर्मतत्परः।
नरं विरेचयति यं स योगात्सुखमश्नुते।

च० सू० १६।३

चिकित्सा प्राभृतं तस्मादुपेयाच्छरणं नरः।
युञ्जाद्य एनमत्यन्तमायुषा च सुखेन च॥

च० सू० १६।१२

विरेचयतीत्यत्र वामयतीत्यपि बोद्धव्यं विरेचन शब्दस्य वमनेऽपि प्रवृत्तेः॥

चक्रपाणिः।

शोधनकर्मणि मूर्खं वैद्यस्य दुःख हेतुत्वम्।

यं वैद्यमानी त्वबुधो विरेचयति मानवम्।
सोऽतियोगादयोगाच्च मानवो दुःखमश्नुते॥ च सू० १६।४

दुःखं=विकारं, यदुक्तं "विकारोदुःखमेव तु" (सू० ६) ननु वमनादौ कस्मान्मिथ्यायोगो नोच्यते, तस्यैवातिमात्र योगो विकारकरोऽतियोगः। अनुचितसम्बन्धेन तु वस्तुनो मिथ्यायोगः तेनेहाप्युत्क्लिष्टश्लेष्मादि धर्मप्रयुक्ते पुरुषे सर्वथाऽयौगिकमेव, तच्च प्रयुक्तं प्रतीपगमनेनैव याति विरेचनमिथ्यायोगोऽयमुचितः, एवं वमनादिष्वपि ज्ञेयम्? नैवम्, एवं भूतस्य मिथ्यायोगस्यायोगेनैव ग्रहणात्, उक्तं हि—"प्रातिलोम्येन दोषाणां हरणात्ते ह्यकृत्स्नशः। अयोगसंज्ञे कृच्छ्रेण चाल्पशः" (च० सि० अ० ६) इति। दुष्टविरेचनौषधस्य वमनोपयुज्यमानस्य हीनमात्रत्वातिमात्रत्वाभ्यां विना यत् व्याधिकरणत्वं तन्मिथ्यायोगादेव परं भवति, यदुक्तं तिस्रैषणीयेमिथायोगो राशिवर्जेष्वाहारविधिविशेषायतनेषूपदेक्ष्यते' (सू० अ० ११) इति। सत्यं भेषजस्य मिथ्यायोगोऽयं वमनस्य तु दोषहरणरूपस्यायोग इति; एवं च विरेचनादावपि ज्ञेयम्। यद्यप्यत्रापि मिथ्यायोगः कथञ्चित् पार्यते कल्पयितुं तथापि प्रयोजनशून्यत्वादाचार्येण पृथङ् न कृतः, शब्दादिषु तु मिथ्यायोगिनां संबन्धमात्रस्यापि परिहारार्थं पृथक् कृत इति। चक्रपाणिः॥

हि० व्या०—जो चिकित्सक चिकित्सा के सभी साधनों से युक्त होता है, बुद्धिमान् तथा शास्त्रज्ञान में कुशल होता है साथ ही क्रियाशील होता है, ऐसे चिकित्सक द्वारा जिस व्यक्ति को संशोधन (वमन-विरेचन) कराया जाता है वह सम्यक् होता है, जिससे मनुष्य सुख का अनुभव करता है।

अतः उपरोक्त गुणयुक्त कुशल चिकित्सक से उपचार कराने वाला व्यक्ति अधिक आयु और सुख को प्राप्त करता है।

उपर्युक्त गुणों से रहित चिकित्सक जिस व्यक्ति को संशोधन कराता है वह रोगी अयोगातियोग प्रभाव से कष्ट को प्राप्त करता है।

पुनः पुनः शोधनप्रयोग संकेतः।

बल त्रैविध्यमालक्ष्य दोषाणामातुरस्य च।
पुनः प्रदद्याद्भेषज्यं सर्वशो वा विवर्जयेत्॥
निर्हृते वाऽपि जीर्णे वा दोष निर्हरणे बुधः।
भेषजेऽन्यत्प्रयुञ्जीत् प्रार्थयन्सिद्धिमुत्तमान्। च० क० १२।५७-५८
अप्रवर्त्यं मलान् द्रव्यं सात्मीभूतं हि जीर्यति।
वमनं वा विरेकं वा तस्मात्सात्म्यं न योजयेत्॥

अ० सं० सू० २७।५६

हि० व्या०—आतुर के त्रिविध बल एवं दोषों के विषय में विचार करके तीनों प्रकार के संशोधन द्रव्यों का पुनः प्रयोग करना चाहिए या सर्वथा प्रयोग बन्द कर देना चाहिए। संशोधन हेतु पिलाई गई औषध दोषों का निर्हरण किए बिना निकल जाए अथवा पच जाए तब चिकित्सक को सफलता के लिए संशोधनकारक द्रव्यों का पुनः प्रयोग कराना चाहिए।

आचार्य वाग्भट के अनुसार औषधि द्रव्य सात्म्य हो जाने पर उचित संशोधन नहीं कराता। अतः वमन और विरेचन के लिए सात्म्य औषध का उपयोग नहीं कराना चाहिए क्योंकि सात्म्यीभूत औषध मलों का निर्हरण न करके स्वयम् जीर्ण हो जाती है।

वमनविरेचन प्रयोग सफलतायाः अभावे पुनः शोधक भेषज प्रयोग संकेतः।

पीते प्रत्र्यंसने दोषान्न निर्हृत्य जरां गते।
[1]वमिते चौषधे धीरः पाययेदौषधं पुनः॥

च० क० १२।६०

हि० व्या०—विरेचनौषध पान के पश्चात् यदि औषध दोष निर्हरण में असमर्थ हो जाए (पच जाए) या वमन हो जाए तो वैद्य को पुनः उसी दिन विरेचनौषध प्रयोग कराना चाहिए।

क्वचित् शोधकभेषजप्रयोगे स्तब्धदोषावस्थायां स्वेदन प्रयोग सूचनम्।

भेषजं दोषरुद्धं चेन्नोर्ध्वं नाधः प्रवर्तते।
सोद्गारं साङ्गशूलं च स्वेदं तत्रावचारयेत्॥ च० क० १२।६१

हि० व्या०—दोषों की स्तब्धता में स्वेदन प्रयोग यदि दोषों के द्वारा औषधि अवरुद्ध हो जाए उद्गार और अंगों में वेदना हो, औषधि स्तब्ध हो, दोष ऊर्ध्व या अधोमार्ग से बाहर न निकले तो वमन के लिए वक्ष प्रदेश पर स्वेदन करना चाहिए और विरेचन के लिए उदर प्रदेश पर स्वेदन करना चाहिए।

आम विरेचन प्रयोग पाक काल विचारः।

अपक्वं वमनं दोषं पच्यमानं विरेचनम्।
निर्हरेद्वमनस्यातः पाकं न प्रतिपालयेत्॥

च० क० १२।५९

हि० व्या०—वमन द्रव्य बिना पचे हुए दोषों को बाहर निकालते हैं, तथा विरेचन द्रव्य पच्यमानावस्था में दोषों को बाहर निकालते हैं अतः

१. वमिते चौषध इति विरेचनौषधमात्रे वमिते। पुनरिति तदहरेव।
चक्रपाणिः।

वामक औषधियों के प्रयोग करने पर पाक की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए। विशेषार्थ यह है कि वमन द्रव्य आमाशय में पहुँचकर शीघ्र ही वमन-द्वारा दोषों को बाहर निकालता है (इनका आमाशय में पाक नहीं होता है)। यदि शीघ्र वमन नहीं हुआ तो औषधि शरीर में पचने लग जाएगी जिससे हानि (उपद्रव) हो सकती है। अतः वामक द्रव्य सेवन के पश्चात् शीघ्र ही वमन न हो तो तीक्ष्ण वामक औषधियों से उसका निर्हरण करना चाहिए। विरेचन द्रव्य पच्यमानावस्था में दोषों को बाहर निकालते हैं। अतः इसमें कुछ समय लगता है। विरेचन द्रव्य के पश्चात् तीन घंटे तक प्रतीक्षा करनी चाहिए। तीन घंटे के पश्चात् यदि विरेचन न हो तो तीक्ष्ण विरेचनौषध द्वारा दोषों को बाहर निकाल देना चाहिए। यदि वमन या विरेचनौषध का सर्वथा पाक हो जाए, दोष का निर्हरण न हो और शरीर में कुछ उपद्रव भी न हो तो उस दिन उपेक्षा भी की जा सकती है। पुनः दूसरे दिन दोष निर्हरण हेतु वमन या विरेचनौषधि का प्रयोग करना चाहिए।

पुनः पुनः वमनविरेचनौषध प्रयोग निषेधः

वमनं न तु दुश्छर्दं दुष्कोष्ठं न विरेचनम्।
पाययेत्तौषधं भूयो हन्यात् पीतं पुनर्हितौ॥

हि० व्या०—जिस व्यक्ति को वमन द्रव्य पिलाने पर भी वमन न हो या अल्प वमन हो अथवा वमन द्रव्य पिलाने से विरेचन हो जाए तो ऐसे व्यक्ति को पुनः वामक औषधि नहीं पिलाना चाहिए।

क्रूरकोष्ठ रोगी को विरेचन द्रव्य पिलाने पर यदि विरेचन न हो या अल्प विरेचन हो अथवा विरेचन द्रव्य प्रयोग से वमन हो जाए तो पुनः विरेचन द्रव्य का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

शोधनानन्तरम् अल्पावशिष्ट दोषशेष शमनाय संकेतः।

वमनैश्च विरेकैश्च विशुद्धस्याप्रमाणतः।
भोजनान्तरपानाभ्यां दोषशेषं शमं नयेत्॥

च० क० १२।६३

अत्र बहुवचनं वेगबहुत्वापेक्षया। अप्रमाणत इति न निःशेषेण। तत्र भोजनं पाचनं यवाग्वादि भोजनम्। अन्तरपानं कषायपानं। ये तु प्रमाणतः इति पठन्ति, ते सम्यक्शुद्धावपि कोष्ठोपलेपकदोषप्रशमनार्थं भोजनान्तरपानं व्याख्यानयति।
चक्रपाणिः।

हि० व्या०—अल्पावशिष्ट दोषों की शान्ति संशोधनौषधों के द्वारा पूर्णरूप से संशोधन नहीं होने पर आहार और कषायपान से बचे हुए दोषों की शान्ति करनी चाहिए।

क्वचित् सम्यक् शोधनं विनैव भेषज जीर्णतायां द्वितीय दिने पुनः शोधक भेषजपान सूचनं तथा दुर्बल शरीरे मृदु शोधन भेषज योग सूचनम्

दीप्ताग्नि बहुदोषं तु दृढस्नेह गुणं नरम् ।
दुः शुद्धं तदहर्भुक्तं श्वोभूते पाययेत् पुनः ॥
दुर्बलो बहुदोषश्च दोषपाकेन यो नरः ।
विरिच्यते शनैर्भोज्यैर्भूयस्तमनुसारयेत् ॥

च० क० १२।६१-६२

दृढस्नेहगुणमित्यनेन स्नेहलक्षणो गुणो देहे यदा दृढो नास्ति तदाऽस्य भेषजं न दातव्यं, किन्तु स्नेह एव तावत् कर्तव्यः; असम्यक् स्निग्धे हि पुनरपि क्रियमाणं विरेचनमसम्यग्योगायैव भवति । दुःशुद्धमित्ययोगेनाविशुद्धम् । श्वोभूते दिनान्तरे भूते, किंवा 'श्वो भूयः' इति पाठः । दोषपाकेनेति पक्वदोषेऽविबद्धत्वाद्बहुत्वाच्चशनैर्विरिच्यते । भोज्यैरित्यनुलोमनैः । अत्र च प्रवृत्तदोषेऽतियोगभयान्न पुनर्विरेचनप्रयोगमनुजानीते ॥ चक्रपाणिः ॥

हि० व्या०—जठराग्नि जिस व्यक्ति की प्रदीप्त हो और दोषाधिक्य हो, शरीर में स्नेहगुण की प्रधानता हो किन्तु दोषों का निर्हरण सम्यक् रूप से न हुआ हो और अगले दिन औषध सेवन आवश्यक हो तो उस दिन भोजनोपरान्त पुनः विरेचनौषधि सेवन करानी चाहिए । दुर्बल एवं दोषाधिक्यव्यक्ति के दोषों का पाक हो जाने से अपने-आप विरेचन हो रहा हो तो उसे पुनः दोषों को निर्हरण करने वाले आहार कराकर धीरे धीरे मल का निर्हरण कराना चाहिए ।

शोधनभेषजानाम् अयोगात् अतियोगाच्च जायमानानां दश व्यापदां नामानि तत्र कारण संकेतश्च

आध्मानं परिकर्तिश्च स्रावो हृद्गात्रयोर्ग्रहः ।
जीवादानं सविभ्रंशः स्तम्भः सोपद्रवः क्लमः ॥
अयोगादतियोगाच्च दशैता व्यापदो मताः ।
प्रेष्य भैषज्य वैद्यानां वैगुण्यादातुरस्य च ॥

च० सि० ६।२९-२०

संशोधनायोगातियोगजन्या आविष्कृता व्यापदः प्राह—आध्मानमित्यादि । आध्मानादयश्चामी नावश्यमयोगातियोगान्ते भवन्ति, तेनोपद्रवभूतत्वात् पृथगुक्ताः; एता व्यापदः प्रेष्यादिवैगुण्यादुत्पन्ना अयोगादतियोगाच्च भवन्तीति वाक्यार्थः । तत्राध्मानमयोगाद्भवति, परिकर्तिका त्वतियोगात् स्रावोऽयोगात्, हृदग्रहोऽप्ययोगादेव, तथाऽङ्गग्रहोऽयोगाच्च भवति, जीवादानमतियोगात्;

विभ्रंशस्तु गुदभ्रंशसंज्ञाभ्रंशकण्डूवादिलक्षणभ्रंशभेदात् त्रिविधोवक्तव्यः; गुदभ्रंशसंज्ञा भ्रंशावतियोगजन्यौ, शेषस्तु विभ्रंशोऽयोगजन्यः; उपद्रवोऽप्ययोगजन्य एव, क्लमोऽप्ययोगजः । एतेषां च योगातियोगजन्यत्वविभाग उत्तरग्रन्थे स्फुटो भविष्यति । यद्यपि चायोगातियोगमिथ्यायोगास्तत्र तत्र कारणत्वेनोक्ताः, तथाऽपीह वमनविरेचनयोर्मिथ्यायोगं नेच्छति; यतो दोषाणां चतुर्विधैव प्रवृत्तिर्भवति, यत्-अतिप्रवृत्ति असम्यक्प्रवृत्तिर्वातत्राप्यप्रवृत्तयल्पवृत्ती अयोगगृहीते एव; याऽपि चात्र प्रातिलोम्येन प्रवृत्तिः, साऽपि दोषस्यापेक्षितस्याप्रवर्तकत्वादयोगगृहीतैव; वक्ष्यति हि—"अयोगः प्रातिलोम्येन न चाल्पं वा प्रवर्तनम्' इति चक्रपाणिः ।

ताभ्यां पुनराध्मानं परिकर्तिश्चेति । एवमादिप्रागुक्तमाध्मानं परिकर्तिश्च स्रावो हृद्गात्रयोर्ग्रहः हृदयोपसरणमिह हृद्ग्रहः । अङ्गग्रह इहगात्रग्रहः । जीवादानं सहविभ्रंशेन पृथगेवसंज्ञया व्यापद्विशेषः । स्तम्भः उपद्रवः तत्र बहुवचनमनेकत्वादेषाम् । क्लमो ग्लानिर्मन, कायेन्द्रियाणामिति । दशैता व्यापदस्मृता इति दशसंख्यानियमो परतन्त्रोक्तसंख्याधिक्यनिषेधः । यदुक्तमथ खलु वैद्यातुरनिमित्तमौषधं पञ्चदशधा व्यापद्यत इति । तदेतदत्रैवान्तर्गतमयोगातियोगाच्च पृथगपि व्यापदः वैद्यातुरयोश्च प्राधान्यात् ग्रहः । प्रेष्य भैषज्ययोर्नेति । तदेतयोरयोगातियोगयोरभिनिष्पन्नलक्षणयोरुत्तरकालं व्यापदः प्रेष्य भैषज्यवैद्यातुरवैगुण्यादुत्पद्यन्त इति । मिथ्यायोगस्तृतीयस्तु शास्त्रे व्याधिनिमित्तज । इत्यत्र द्वयमिति उक्तमिदयोगसंगृहीतत्वान्मिथ्यायोगस्येत्येवमदोषः । पूर्वोक्ता अपि व्यापदः उप कल्पनीये पुनरिहहेतुलक्षणचिकित्सानिर्देशार्थमुक्ताः । तदर्थप्रवृत्तित्वात्सिद्धेरिति । जज्जटः ।

वैद्यातुरनिमित्तं वमनं विरेचनं च पञ्चदशधा व्यापद्यते । तत्र वमनस्याधोगतिरुर्ध्वं विरेचनस्येति पृथक्; सामान्यमुभयोः—सावशेषौषधत्वं, जीर्णौषधत्वं हीन दोषापहृतत्वं, वातशूलम्, अयोगो, अतियोगो, जीवादानम्, आध्मानं परिकर्तिका, परिस्रावः, प्रवाहिका, हृदयोपसरणम्, विबन्ध, अङ्गग्रह इति ॥ सु० चि० ३४।३

वैद्यातुर ग्रहणेनैव भेषजपरिचारकयोर्ग्रहणम्, अतस्तयोरपि व्यापन्निमित्तता स्यात् । तत्रेत्यादि । तत्र वमनस्याधोगतिः 'व्यापत्' इति शेषः । ऊर्ध्वगतिविरेचनस्येत्यत्रापि व्यापत् इति शेषः । उभयोस्तु वमनविरेचनयोः सावशेषौषधादिकं त्रयोदशसंख्योक्तं व्यापत्त्वेन सामान्यं तुल्यम् । संख्ययनिर्देशेऽपि पञ्चदशधेति संख्याकरणं तन्त्रान्तरोक्तसंख्यानिषेधार्थम् ॥ डल्हणः ॥

भवति चात्र—

यास्त्वेता व्यापदः प्रोक्ता दशपञ्च च तत्वतः ।
एता विरेकातियोगदुर्योगायोगजाः स्मृताः ॥

सु० चि० ३४।२२

श्लोकसंग्रहमाह-भवति चात्रेत्यादि। तत्त्वतः परमार्थतः। विरेकोऽत्र दोषमलरेचनाद्विरेचनं वमनं च। जेज्जटाचार्यस्तु विपाकातियोगेत्यादि पठित्वा व्याख्यानयति—विषमः पाकोऽनिष्टं फलं येषां ते विपाकाः, विपाकाश्च तेऽतियोगदुर्योगायोगाश्च तेभ्यो जायन्ते ते तथा। तत्रातियोजनमतियोग अतिप्रयोग इति यावत्; तज्जाते द्वे व्यापदौ—जीवादानमतियोगश्चेति। दुर्योजनं दुर्योगः दुष्प्रयोगो मिथ्याप्रयोग इति यावत्; तत्र वैद्यदुर्योगनिमित्ताश्चतस्रः—वमनमिथ्याप्रयोगो, विरेचनमिथ्याप्रयोग, आध्मानं, परिकर्तिका चेति; आतुरदुर्योगनिमित्ते द्वे—हृदयोपसरणविबन्धाविति; उभय दुर्योगजे अपि द्वे—प्रवाहिका वातशूलं चेति। अयोजनम् अयोगः हीनप्रयोगः, नञ् ईषदर्थत्वात्। तत्रायोगजाः पञ्च—सावशेषौषधत्वं, जीर्णौषधता, हीनदोषहृतत्वम् अयोगः, परिस्रावश्चेति। ता एता वैद्यातुरनिमित्ता, आतुरनिमित्ता, वैद्यनिमित्ताश्चेति त्रिविधाः।

अन्ये तु तन्त्रान्तरदर्शनादयोगातियोगजाः सर्वा अपि व्यापदो यथासंख्यं मन्यन्ते; तत्रायोगजा दश, तद्यथा सावशेषौषधत्वं जीर्णौषधत्वम्, अल्पदोषहृतत्वम्, विबन्धो, वातशूलम्, आध्मानं, परिस्रावः, प्रवाहिका, हृदयोपसरणम्, अयोगश्चेति; अतियोगजाश्च तिस्रः—जीवादानं, परिकर्तिका, अतियोगश्चेति; अयोगातियोगौ च हेतुत्वेनोक्तावित्येवं पञ्चदश ॥ डल्हण ॥

या तु विरेचने गुदपरिकर्तिका तद्वमने कण्ठक्षणनं, यदधः परिस्रवणं, ऊर्ध्वभागे श्लेष्मप्रसेकः, या त्वधः प्रवाहिका सा तूर्ध्वं शुष्कोद्गारा इति ॥

सु० चि० ३४।२१

प्रतिकूलागतिः पायोर्ग्रथितत्वं सगौरवम्।
दोषोत्क्लेशोभृशाध्मानं परिकर्तः परिस्रवः॥
प्रवाहिका हृद्ग्रहणं सर्वगात्रपरिग्रहः।
सर्वधातुस्रवेणैता द्वादशोक्ताः ससाधनाः॥
व्यापदो योगविभ्रंशाद्विविधेऽपि विरेचने॥

अ० सं० क० ३।२७

प्रतिकूलेत्यादि। प्रतिकूलागतिर्वमनस्याधोगमनम्। विरेचनस्योर्ध्वगमनम्। पाकोऽकृतकार्यस्यैव॥ इन्दुः॥

तेषां तु दुष्प्रयुक्तानां विभ्रान्तानां विधावताम्।
अयोगाच्चातियोगाच्च जायन्ते व्यापदो दश॥
परिस्रावस्तथाध्मानं विबन्धो गुदनिःस्रवः।
हृद्रोगश्चैव शूलं च तथैव परिकर्तिका॥
जीवादानं शिरोरोगो दशमी च प्रवाहिका।
तासामेकैकतस्सिद्धिं व्यापदां तु निबोध मे॥

भे० सं० सि० ४।८-१०

हि० व्या०—संशोधन प्रक्रिया में अयोगातियोगजन्य उपद्रवों (व्यापत्तियों) का वर्णन करते हुए चरक में लिखा है कि आध्मान, परिकर्तिका, स्राव, हृद्ग्रह गात्रग्रह, जीवादान, विभ्रंश, स्तम्भ, उपद्रव एवं क्लमनामक व्यापत्तियाँ होती हैं। ये व्यापत्तियां परिचारक, औषध, चिकित्सक तथा आतुर की विगुणता अर्थात् अज्ञानता से भी उत्पन्न हो जाती है।

चक्रपाणि लिखते हैं कि—दोषों की चार प्रकार की प्रवृत्ति होती है—अतिप्रवृत्ति, असम्यक् प्रवृत्ति, अप्रवृत्ति तथा अल्पप्रवृत्ति। इनमें भी अप्रवृत्ति भी अयोग में ही अन्तर्भावित हो जाती है। अतः इन व्यापत्तियों को वर्गीकृत करते हुए—आध्मान, स्राव, हृद्ग्रह अंगग्रह तथा विभ्रंश नामक व्यापत्तियां अयोग जन्य होती है तथा परिकर्तिका, जीवादान, गुदभ्रंश, स्तम्भ, उपद्रव एवं क्लम अतियोगजन्य व्यापत्तियाँ हैं। आचार्य सुश्रुत ने पन्द्रह व्यापत्तियों का वर्णन किया है। आचार्य वाग्भट ने १२ एवं भेल ने दश ही व्यापत्तियों का वर्णन किया है।

संशोधन कर्म में अयोगातियोग जन्य उपद्रव तालिका

संहिता नाम	चरक	सुश्रुत	वाग्भट (असंग्रह)	भेल संहिता	काश्यप
आध्मान	+	+	—	—	—
परिकर्तिका	+	+	+	+	+
स्राव	+	—	—	—	—
हृदग्रह	+	—	—	—	—
गात्रग्रह	+	—	+	—	—
जीवादान	+	+	—	+	+
विभ्रंश	+	—	—	—	—
स्तम्भ	+	—	—	—	—
उपद्रव	+	—	—	—	—
क्लम	+	—	—	—	—
औषधि की प्रतिकूल प्रवृत्ति	+	—	—	—	—
सावशेषौषधत्व	—	+	—	—	—
जीर्णौषधत्व	—	+	—	—	—
हीनदोषापहृतत्व	+	—	—	—	—
वातशूल	—	+	—	—	—
अयोग	—	+	—	—	—

अतियोग	+	—	—	—	—
प्रवाहिका	—	—	—	—	—
हृदयोपसरण	—	+	—	—	—
परिस्रव	—	+	+	—	—
विबंध	—	+	—	+	+
अंगमर्द	—	+	—	—	—
पाक	—	+	—	—	—
ग्रथितत्व	—	—	+	—	—
गौरव	—	—	+	—	—
दोषोत्क्लेश	—	—	+	—	—
भृशाध्मान	—	—	+	—	—
सर्वधातुस्रवण	—	—	—	+	—
गुदपरिस्रव	—	—	—	+	—
हृदरोग	—	—	—	+	—
शूल	—	—	—	+	+
शिरोरोग	—	—	—	—	—
प्रतिश्याय	—	—	—	+	—
हृदयोपग्रह	—	—	—	—	+
दृदि	—	—	—	—	+
शिरोग्रह	—	—	—	—	+
हिक्का	—	—	—	—	+
श्वास	—	—	—	—	+
कास	—	—	—	—	+
शोष (तालु)	—	—	—	—	+
कण्ठवैरस्य	—	—	—	—	+
मुख वैरस्य	—	—	—	—	+
निष्ठिविका	—	—	—	—	+
उरोघात	—	—	—	—	+
विषाद	—	—	—	—	+
ज्वर	—	—	—	—	+
स्रोतोमलप्रादुर्भाव	—	—	—	—	+
श्रम	—	—	—	—	—

दौर्बल्य	वंक्षणशूल	—	—	—	—
विषाद	बस्तिशूल	ये सब लक्षण काश्यप संहिता			
मोह	मेददाह	ने अतिरिक्त बताए हैं।			
स्मृतिभ्रंश	गुद शूल				
पक्वाशयशूल	गुद पाक				
आप्लावन	गुद भ्रंश				
मुखशोष	अतिसार				
हृदयशोष	उरुकम्प				
मन्यास्तम्भ	जानुघात				
पार्श्वक्षेप	जंघाघात				
हृदकम्प					
केश, मुख एवं अंगों में रूक्षता					

शोधन भेषज व्यापत्ति कारणानि।

अकालेऽल्पातिमात्रं च पुराणं न च भावितम्।
असम्यक्संस्कृतं चैव व्यापद्येतौषधं द्रुतम्॥

च० सि० ६।२८

भेषजाभियोगमाह—अकाल इत्यादि। अल्पं वा अतिमात्रं वाऽल्पातिमात्रम्। न च भावितमिति स्वरसैस्तुल्यवीर्यैर्वाऽभावितम्॥ चक्रपाणिः।

अयोगाश्रयव्यापन्निमित्तप्रकारनिर्देशः। अकालेऽल्पातिमात्रं चेति। अकालत्वेनातुराणामल्पातिमात्रत्वेन वैद्यानामपराधः। पुराणत्वेन द्रव्यवैगुण्यविधिनाऽसंस्कृतत्वेन प्रेष्यानादरः। सर्वो वा वैद्यदोषः। तदनुविधानात्तेषां तदेभिरयोगोऽतियोगो वा भवति॥ जज्जटः॥

संशोधनौषध की व्यापत्ति में कारण

अकाल में प्रयुक्त, अल्पमात्रा में प्रयुक्त, अधिक मात्रा में प्रयुक्त, पुरानी औषधि, अतुल्य गुण धर्म वाली औषधियों से भावित, अनुचित ढंग से निर्मित औषधियों के प्रयोग आदि कारणों से संशोधन औषधि निश्चित रूप से व्यापत्ति उत्पन्न करती है। च० सि० अ० ६।२८।

शोधन भेषजजन्यस्याध्मानोपद्रवस्य सम्प्राप्तिः तत्र चिकित्सा सूत्रं च

बहुदोषस्य रूक्षस्य हीनाग्नेरल्पमौषधम्।
सोदावर्तस्य चोत्क्लिश्य दोषान्मार्गान्निरुध्य च।
भृशमाध्मापयेन्नाभिं पृष्ठपार्श्वशिरोरुजम्।
श्वासविण्मूत्रवातानां सङ्गं कुर्याच्च दारुणम्॥

अभ्यङ्गस्वेदवर्त्यादि सनिरूहानुवासनम् ।
उदावर्तहरं सर्वं कर्माध्मातस्य शस्यते ॥

च० सि० ६।५८-६०, अ० हृ० क० ३।१०-१३

अयोगातियोगलक्षणमुक्तम् । इदानीं ताभ्यामयोगातियोगाभ्यामुत्तरकालं या व्यापदस्ता उच्यन्ते । भेषजप्रयोगावस्थाविशेषेणाध्मानादि व्यापदो भवन्तीति । आध्मानपरिकर्तनपरिस्रावजीवादानाद्या इति । किं पुनरेवमेता भवन्त्यो व्यापदो वमनविरेचनकृतायोगातियोगनिमित्ता उतान्यतोऽपि जायन्त एवेति । तत्रेदमुच्यते निमित्तत्वमेवैषां रोगवदृष्टानां कथनं । परिकर्तनपरिस्रावयोर्वमने संभवः । अयं तु विरेचनाश्रय एव । तत उपकल्पनीये वमनाधिकारे नाभिधानम् । इह विरेचनस्याकुशलैर्दत्तस्य वमनस्य चेत्येके ।

अनेकधा उभयविरुद्धा न तूभाभ्यां । प्रत्येकं दशेत्यदोषः इत्याचार्याः । परिकर्तिका विरेचने शूलं, वमने कण्ठक्षणनं । पीतं गत्वा गुदमिति विरेचने सामे । दोषमाशु निरस्येति वमने सामे इति । तदुभयमिति विरेचनेल्पाल्पः परिस्रावः । वमने कफप्रसेकः । शेषेऽप्यत्र विरेचनश्रवणेऽपि शरीरमलविरेचनत्वादुभयोरपि सर्वत्र निमित्तत्वं योज्यमित्यपरे । बहुदोषस्य रूक्षस्येति व्यापन्निमित्तलक्षण चिकित्सितान्युच्यन्ते । आध्मानसंज्ञिते व्यापदि श्वासादयोऽपि विकारास्सन्ति । कथमाध्मानमेव व्यापदिति । श्वासादीनां तत्पूर्वकत्वादाध्मानं व्यापत् । यो हि निमित्त भावं प्रतिपद्यते व्याध्यन्तराणां स विकार इत्युच्यते । उदावर्तहरं सर्वं कर्मेति । अपरमपि कर्म यच्चिकित्सितोपदिष्टं स्नेहावगाहक्षीरमांसरसकाञ्जिकमस्तुसुराचूर्णादिकमिति ॥ जज्जटः ॥

सशेषान्नेन बहुदोषेण रूक्षेणानिलप्रायकोष्ठेनानुष्णमस्निग्धं वा पीतमौषधाध्मापयति, तत्रानिलमूत्रपुरीषसङ्गः समुन्नद्धोदरता पार्श्वभङ्गो गुदवस्तिनिस्तोदनं भक्तारुचिश्च भवति, तं चाध्मानमित्याचक्षते; तमुपस्नेद्यानाह—वर्तिदीपनबस्तिक्रियाभिरुपचरेत् ॥ सु० चि० ३४।१५

समुन्नद्धोदरतेति वमनकृतं समुन्नद्धोदरत्वमामाशये विरेचनकृतं पक्वाशये । तत्र स्वेदनमूत्राद्यनुलोमनलङ्घनदीपनक्रियाश्चेति चिकित्सितम् । (डल्हणः)

स्नेहस्वेदविमुक्तं च क्रूरकोष्ठं च देहिनाम् ।
अजीर्णे चौषधं पीतमाध्मापयति मानवम् ॥

भे० सि० अ० ४।१५

आध्मान नामक उपद्रव विवरण—

हि० व्या०—जिस पुरुष के दोष बाहुल्य हो, शरीर में रूक्षता हो, अग्निहीन हो, उदावर्त रोग से उत्क्लेशित हो इस प्रकार के व्यक्ति को अल्पमात्रा में या अल्प बल वाली संशोधन औषध सेवन कराये जाने पर, औषध के उन्मार्गगामी होने पर वह दोषों को अवरुद्ध करके नाभिप्रदेश को विशेष रूप से

फुला देती है तथा पीठ, दोनों पार्श्व और सिर में पीड़ा उत्पन्न कर देती है इससे श्वास, मल-मूत्र तथा अपान वायु का दारुण रूप से संग (रुकावट) कर देती है । यह आध्मान नामक उपद्रव की सम्प्राप्ति बताई गई हैं । इस उपद्रव से पीड़ित व्यक्तियों को अभ्यंग, स्वेदन, वर्त्ति, निरूह तथा अनुवासन वस्ति का प्रयोग कराना चाहिए । उदावर्त को दूर करने वाले सभी उपचार करने चाहिए ।

चरक में 'बहुदोषस्य' आदि लक्षणों वाले जिन व्यक्तियों का वर्णन किया गया है उनको सुश्रुत ने स्नेहरहित एवं शीतल औषध पिलाने से आध्मान व्यापद् होना बताया है । इससे उत्पन्न होने वाले लक्षण चरक के समान है तथा उपचार भी उसी के अनुरूप है । अष्टाङ्ग हृदय में चरक का अनुसरण किया गया है ।

संशोधनोपद्रवस्य परिकर्तिकारूपस्य सम्प्राप्ति वर्णनं तत्र चिकित्सा सूत्रं च ।

स्निग्धेन गुरुकोष्ठेन सामे बलवदौषधम् ।
क्षामेण मृदुकोष्ठेन श्रान्तेनाल्पबलेन वा ॥
पीतं गत्वा गुदं साममाशु दोषं निरस्य च ।
तीव्रशूलां सपिच्छास्रां करोति परिकर्तिकाम् ।
लङ्घनं पाचनं सामे रूक्षोष्णं लघुभोजनम् ॥
बृंहणीयो विधिः सर्वः क्षामस्य मधुरस्तथा ।

च० सि० ६।६१-६३

पीतं गत्वा गुदमित्यादि विरेचनातियोगजन्यपरिकर्तिकायां सङ्गतं न वमनातियोगजन्यपरिकर्तिकायां; उपकल्पनीये च साक्षाद्वमनायोगातियोगजन्यतयैवाध्मानादय उक्ताः तेनानुक्तोऽपि वमनव्यापत्तौ परिकर्त्तोऽनेनोदाहरणेन कल्पनीयः; तन्त्रान्तरेऽप्युक्तम्, -"या तु परिकर्तिका विरेचने तद्वमने कण्ठकर्षणं, योऽधः परिस्रावः स वमने कफप्रसेकः" (सु० चि० ३४) इति; तदनया दिशा आध्मानादीनि वमनविरेचनयोरयोगातियोगाजन्यतया व्याख्यातानीत्येके । आशुदोषं निरस्येति वमनातियोगजन्येयं व्यापत् ।

अत्र लङ्घनादिक्रिया अतियोगे सत्यप्यामपाचनार्थं ज्ञेया । क्षामेण मृदुकोष्ठेनेत्यादि संप्राप्तिजनितस्य क्षामपुरुषप्रभवस्य लङ्घनपाचनाद्यमुपक्रान्तमेव ॥

चक्रपाणिः ॥

क्षामेणातिमृदुकोष्ठेन मन्दाग्निना रूक्षेण वाऽतितीक्ष्णेष्णातिलक्षणमतिरूक्षं वा पीतमौषधं पित्तानिलौ प्रदूष्य परिकर्तिकामापादयति, तत्र गुदनाभिभेदबस्तिशिरः सु सदाहं परिकर्तनमनिलसङ्गो वायुविष्टम्भो भक्तारुचिश्च भवति; तत्र पिच्छाबस्तिर्यष्टीमधुककृष्णतिलकल्कमधुघृतयुक्तः, शीताम्बुपरिषिक्तं चैनं

पयसा भुक्तवन्तं घृतमण्डेन यष्टीमधुकसिद्धेन तैलेन वाऽनुवासयेत् ॥

सु० चि० ३४।१६, अ० सं० क० ३।६ ॥

क्षामः क्षीणबलकायः । परि सर्वतोभावेन कृन्ततीव छिनत्तीव वस्त्यादीनीति परिकर्तिका । तत्र पित्तोल्वण परिकर्तिकाया घृतमण्डेननानुवासनं, वातोल्वणायां तु तैलेनेति । वमने पुनः कण्ठोरसि सदाहपरिकर्तनं; तत्र घृतमधुमधुरैः सशीतैर्लेपैरुपचारः पयः सिता भोजनं च । डल्हण ॥

लङ्घितस्य सुभक्तस्य रूक्षस्यानशनस्य च ।
परिकर्तः परिस्रावः प्रलेपोऽस्वेदितस्य च ॥

भे० सि० ४।२६

हि० व्या०—जिस व्यक्ति को स्नेहन कराया गया हो, कोष्ठ गुरु हो, दोष सामावस्था में हो, इस स्थिति में संशोधनार्थ प्रयुक्त की गई बलवान औषधि अथवा जिसका शरीर रूक्ष हो, कोष्ठ मृदु हो, थकावट हो, शारीरिक निर्बलता हो ऐसा व्यक्ति यदि बलवान औषध का संशोधनार्थ सेवन करता है तो पान की गई औषध गुदस्थान में आकर साम दोष को शीघ्र निकाल देती है । इससे तीव्र उदरशूल, पिच्छिल तथा रक्तयुक्त परिकर्तिका नामक उपद्रव उत्पन्न हो जाता हैं । इस अवस्था में सामदोष के लिए लंघन और पाचन, रूक्ष उष्ण तथा लघु भोजन का सेवन कराना चाहिए । क्षामता (क्षीण बलकाय) के लिए मधुर रसों का सेवन कराना चाहिए तथा सभी प्रकार के बृंहण उपचार हितकारी होते हैं । परिकर्तिका से अपानवायु का संग, वायु विष्टम्भित होना (वातवैगुण्य) तथा भोजन में अरुचि हो जाती है । ऐसी अवस्था में मधु, घृत तथा मधुयष्टि तथा कृष्ण तिलों की पिच्छाबस्ति देनी चाहिए । शीतल जल का परिषेचन, दुग्ध के साथ भोजन, घृत मण्ड अथवा मधुयष्टि से सिद्ध तैल का अनुवासन देना चाहिए ।

परिकर्तिकानन्तरं आमानुबन्ध शमनार्थं चिकित्सा सूत्रम् ।

आमे जीर्णेऽनुबन्धश्चेत् क्षाराम्लं लघु शस्यते ।
पुष्पकासीसमिश्रं वा क्षारेण लवणेन वा ॥
सदाडिमरसं सर्पिः पिबेद्वातेऽधिके सति ।
दध्यम्लं भोजने पाने संयुक्तं दाडिमत्वचा ॥
देवदारुतिलानां वा कल्कमुष्णाम्बुना पिबेत् ।
अश्वत्थोदुम्बरप्लक्षकदम्बैर्वा श्रृतं पयः ॥
कषायमधुरं शीतं पिच्छाबस्तिमथापि वा ।
यष्टीमधुकसिद्धं वा स्नेहबस्तिं प्रदापयेत् ॥

च० सि० ६।६४-६७

क्षाराम्लं लघु शस्यते इति, अतिसारे यदुक्तं,— "चाङ्गेरीकोलदध्यम्लनागरक्षारसंयुक्तं । घृतम्" (चि० अ० १९) इति; लघुमात्रं च शस्यत इति

ज्ञेयम् । पुष्पकासीसमित्यत्र पुष्पशब्देन केचित् संग्राहिकाणि धातकीकुसुमादीनि ग्राहयन्ति ॥ चक्रपाणिः ॥

सामे लङ्घनो दीपनश्च लघुरूक्षोष्णं चान्नपानम् । निरामीभूते (मध्यबलोपचार इन वातातपाभ्यामिव पांशुभस्मावकिरणेरितादि) वातानुबन्धे लघुक्षाराम्ल वातेऽधिके दधि साम्लं दाड़िमत्वचा युक्त भोजने पाने च युञ्जीत । सदाडिमरसं च सर्पिः पिबेत । उष्णाम्बुना वा तिलदेवदारुकल्कम् ।

अ. सं. क. ३।१० ॥

हि० व्या०—आमदोषों का पाचन हो जाने पर, क्षार, अम्ल रसयुक्त तथा लघु भोजन देना चाहिए, यदि वात की प्रबलता हो तो अनार का रस और घृत में शुद्ध कासीस या नमक या यवक्षार मिलाकर पीना चाहिए । अनार के छिलके अम्ल दधि में मिलाकर आहार करावें, देवदारु अथवा तिलकल्क को गर्म पानी के साथ प्रयोग कराना चाहिए, पीपल, गूलर, कदम्ब आदि के छाल का कल्कपाचित दूध का पान करना चाहिए । कषाय, मधुर तथा शीतल द्रव्यों की पिच्छाबस्ति देनी चाहिए । अथवा मधुयष्टी से सिद्ध स्नेह की अनुवासन बस्ति देवें । आचार्य वाग्भट के अनुसार दोषों की निरामावस्था में तथा वातानुबन्ध में लघु आहार, क्षार एवं अम्ल रसों का प्रयोग, वाताधिक्य में दधि, कांजी, दाडिम की छालयुक्त भोजन कराना चाहिए । दाडिम रस के साथ घृत पिलावे तथा उष्ण जल अथवा तिल व देवदारु का कल्क प्रयोग करावें ।

वमने जायमानस्य शुष्कोद्गाररूपस्योपद्रवस्य विरेचने जायमानस्य प्रवाहिकारूपस्योपद्रवस्य वर्णनं तत्र चिकित्सा सूत्रं च

अतिरूक्षेऽतिस्निग्धे वा भेषजमवचारितमप्राप्तं वात वर्चं उदीरयति वेगाघातेन वा तदा प्रवाहिका भवति तत्र सवात सदाहं सशूलंगुरुपिच्छिलं श्वेत कृष्णं सरक्त वा भृशं प्रवाहमाणं कफमुपविशति; तां परिस्रावविधानेनोपचरेत ॥

सु. चि. ३४।१-८

अति रूक्षे पुरुषे भेषजमवचारितमप्राप्तवेगमेव वातवर्च उदीरयति प्रवर्तयति यदा तदा प्रवाहिका; अति स्निग्धे पुरुषे भेषजमवचारितं यदा तदा वेगाघातेन प्रवाहिका भवतीत्यर्थः । उपविशति अतिसारयत्ति । तां परिस्रावविधानेनेत्यादि । तत्रातिरूक्षजां क्रूरकोष्ठविधानेन, अतिस्निग्धजां मृदुकोष्ठप्रचुर दोषपरिस्रावोक्तपाचनादि विधानेन ॥ डल्हण ॥

स्नेहस्वेदविमुक्तस्य मृदुकोष्ठस्य देहिनः ।
दोषास्तथावशिष्टास्तु जनयन्ति प्रवाहिकाम् ॥

भे सि. अ. ४।१७ ॥

हि० व्या० जो व्यक्ति अतिरूक्ष या अतिस्निग्ध है उसे संशोधनार्थ प्रयुक्तौषधि अप्रवृद्ध वेगों का प्रवर्तन अथवा वेगावरोध उत्पन्न करती है इससे

प्रवाहिका नामक उपद्रवोत्पत्ति होती है। इस कारण वातसहित दाह एवं शूलयुक्त, गुरु पिच्छिल श्वेत, कृष्ण अथवा रक्त मिश्रित बहुत अधिक प्रवाहन करने से मल निकलता है। इसकी शान्ति के लिए परिस्राव नामक उपद्रव की चिकित्साविधि का अनुसरण करना चाहिए।

प्रवाहिका-परिस्रव-परिकर्तिका व्यापच्चिकित्सा निर्देशः

पिप्पसी दाडिमक्षार हिंगु शुठ्यम्लवेतसाम्।
ससैन्धवान्पिबेन्मद्यैः सर्पिषोष्णोदकेन वा
प्रवाहिका परिस्रावे वेदना परिकर्तने॥ अ. हृ. क. अ. ३।१५

प्रवाहिका बिब्रिसी। परिस्रावः पित्तकफयोः। परिकर्तनं समन्तात् छेदनमिवोदरे। (इन्दुः)

प्रवाहिकादित्रये भेषजमाह—पिप्पलीति। पिप्पल्यादि चूर्णं मद्याद्यन्यतमेन प्रवाहिकादिषु तिसृषु व्यापत्सु पिबेत्। वेदनया परिकर्तनं छेदनमिव। सङ्ग्रहे तु (क. अ ३)—"क्षामेणाल्पबलेन मृदुकोष्ठाग्निना रूक्षेण स्निग्धेन वा स्विन्नेन सामेन वा बलवदौषधमुपयुक्तं सपित्तमनिलं परिदूष्य परिकर्तनमनिल-सङ्गो विष्टम्भश्च। तं कृष्णातिलमधुकमधुयुक्तैः पिच्छाबस्तिभिरास्थापयेत्। आरिवृक्षश्रृतक्षीरेण वा, शीताम्बुपरिपिक्तं चैनं पयसा भुक्तवन्तं घृतमण्डेन यष्टीमधुकतैलेन वाऽनुवासयेत्। क्षामस्य च मधुरो बृंहणश्च सर्वो विधिरिष्टः। सामे दीपनो लङ्घनश्च, लघुरुष्णं चान्न पानम्। निरामीभूते चानुबन्धे लघ्वाराम्लम्। वातेऽधिके दधि साम्लं दाडिमत्वचा युक्तं भोजने पाने च युञ्जीत। सदाडिमरसं सर्पिः पिबेत्। उष्णाम्बुना वा तिलदेवदारुकल्कम्। क्रूरकोष्ठस्य बहुदोषस्याल्पमल्पगुणं मृदुस्निग्धं वा शोधनमवचारितमुत्क्लेश्य दोषान्निर्हरति, अल्पाल्पं च पित्तकफसंसृष्टं परिस्रवति, विष्टम्भगौरवशोफ-कोठकण्डूपाण्डुताङ्गसादगुदशूलादि चापादयति। तं तिनिशधवाश्वकर्णपलाश-बलानिर्यूहैर्मधुयुक्तैरास्थापयेत्। उपशान्तपरिस्रवं च पुनरुपस्निग्धं तीक्ष्णैः शोधयेत्। शुद्धे च दीपनांश्चूर्णासवारिष्टादीन् योजयेत्। पीतौषधो यदा वेगमुदीरयति निगृह्णाति वा, तदा प्रवाहिकाऽस्य जायते। तस्यां सदाहशूलं सपिच्छं श्वेतं कृष्णं सरक्तं वा भृशं प्रवाहमानः कफमुपविशति। तं परिस्रव-विधिनोपचरेत्"। इति। (हेमाद्रिः)

हि० व्या०—प्रवाहिका, परिस्राव तथा परिकर्तिका व्यापद की चिकित्सा—पिप्पली, अनारदान,, यवक्षार, घृत भर्जित हींग, सोंठ, अम्ल वेतस् तथा सैंधव लवण का चूर्ण समभाग मिलाकर योग तैयार करें तथा इस चूर्ण को मद्य, घृत अथवा उष्ण जल के साथ प्रयोग करावें।

ग्रथितत्व-पाक-गौरव व्यापत्सूचनम् तस्य चिकित्सा च

अस्निग्ध स्विन्नदेहस्य पुराणं रूक्षमौषधम्।
दोषानूत्क्लेश्य निर्हर्तुमशक्तं जनयेद्गदान्॥

विभ्रंश श्वयथुं हिध्मं तमसो दर्शनं तृषम्।
पिण्डिकोद्वेष्टनं कंडुमूर्वोः सादं विवर्णताम्॥
स्निग्धस्विन्नस्य वात्यल्पं दीप्ताग्नेर्जीर्णमौषधम्।
शीतैर्वा स्तब्धमामे वा समुत्क्लेश्य हरेन्मलान्।
तानेव जनयेद्रोगान्योगः सर्व एव सः॥

अ. हृ. क. ३।५-८ क

अस्निग्धेत्यादि—पुराणमप्रत्यग्रम् विभ्रंशं विभ्रमं व्यापदं। अत्यल्पं मात्रया वीर्येण वा दीप्ताग्नेस्तीक्ष्णाग्नेः। जीर्णं पाकं प्राप्तम्। शीतैः शीतोपचारैः स्तब्धं वा। आमेऽजीर्णे सति स्तब्धं वा मलान् समुत्क्लेश्याहरदौषधं पूर्वोक्तानेवामयान् जनयेत्। स सर्वश्चतुर्विधः। संग्रहेऽप्युक्तम्—क्रूरकोष्ठस्याति·····
··· ··· ··· पुनर्विरेचयेदिति। इन्दुः।

ग्रथितत्वपाकगौरवाण्याह—अस्निग्धेति। तत्र "विवर्णताम्" इत्यन्तेन ग्रथितत्वम् 'औषधेन' इत्यन्तेनपाकम्। शेषेण गौरवम्। विभ्रंश इष्टहानिम्। जीर्णं—पक्वम्। शीतैःऔषधपानानन्तरमन्तर्बहिर्वा सेवितैः, औषधं स्तब्धं भवति। तद्वदामे—अपक्व-दोषे। तानेव विभ्रंशादीन्। संग्रहे तु. क. अ. ३

"स्निग्धस्विन्नस्य च वमनकृत्वा विरेचनं पीतवतः सामस्य वा मृदु वा विरिक्तस्याधोभागेऽत्यर्थंगुरुस्तब्धोदरता शूलो वातपुरीषसङ्गश्च भवति।" इत्युक्तम्। हेमाद्रिः।

क्रूर कोष्ठस्यातितीक्ष्णाग्नेरल्पवीर्यं वा भेषजमूर्ध्वभागिकमधोभागिकं वा भक्तवदुपैति पाकम्। तत्र समुदीर्णा दोषा यथाकालमनिर्ह्रियमाणा विभ्रमं कुर्वन्ति। तं सुस्निग्धकोष्ठमनल्पमन्नं चौषधं पाययेत॥ अ. सं क. ३।४

क्रूरकोष्ठादियुक्तस्याल्पशक्ति वा वमनं विरेचनमप्यकृत्वैवेष्टं कार्यं भक्तवत् पाकमुपैति। पाकेन चौषधस्य सञ्चिता दोषा अनिर्ह्रियमाणा विभ्रमं कुर्वन्ति। यस्मादपक्वं वमनं दोषान् पच्यमानं विरेचनं निर्हरेन्न तु तत् पक्वमिति। तं पक्वौषधं स्निग्धकोष्ठं कृत्वा बहुशीक्ष्णं चौषधं पाययेत्। इन्दुः॥

तं तैल लवणाभ्यक्तं स्विन्नं प्रस्तरशंकरैः।
निरूढं जाङ्गलरसैर्भोजयित्वाऽनुवासयेत्।
फलमागधिका दारु सिद्धतैलेन मात्रया।
स्नेहं वातहरैः स्नेहैः पुनस्तीक्ष्णेन शोधयेत्।

अ. हृ. क. ३।८-१०

तमुत्क्लिष्टदोषं तैललवणाभ्यक्तं प्रस्तरशंकराख्यैः स्वेदैः स्विन्नं तथा निरूढं जांगलरसैर्भोजयित्वा फलादिसिद्धतैलेन मात्रयाऽनुवासयेत्। वातहरैः स्नेहैः स्निग्धं पुनस्तीक्ष्णेन विरेचनेन विशोधयेत्। अरुणदत्तः॥

तं संशोधनायोगेनोत्क्लिष्टदोषं प्रस्तर संकरैः सूत्रोक्तैः स्विन्नं निरूढम्।

तीक्ष्णैरिति मन्तव्यम् । संग्रहे—"तीक्ष्णैः समूत्रैरास्थाप्य—इति वचनात् फलं मदनस्य । मागधिका कणा । वातघ्न स्नेह स्निग्धं तीक्ष्णेन शोधयेद्विरेचयेत् । इन्दुः ॥

हि० व्या० – (१) ग्रथितत्व—जिस व्यक्ति को बिना स्नेहन और स्वेदन किये पुरानी और रूक्ष संशोधनौषध प्रयोग की गई हो उसके दोष चलायमान तो हो जाते हैं किन्तु वह औषध दोष निर्हरण करने में असमर्थ होकर रोगों को उत्पन्न करती है यथा—विभ्रंश, शोथ, हिक्का, आँखों के आगे अन्धेरा, प्यास, पिण्डलियों में ऐंठन, कण्डू, उरुसाद तथा विवर्णता आदि ।

(२) पाक—जिस व्यक्ति का स्नेहन-स्वेदन सम्यक् हुआ हो ओर अग्नि प्रदीप्त हो, किन्तु औषध अल्प मात्रा में प्रयोग की गई हो तो वह औषध पच जाती है और अभीष्ट संशोधन कर्म नहीं होता ।

(३) ऐसी अवस्था में भी औषध शीतोपचार के कारण या आमदोष के कारण दोषों को स्तब्ध कर पूर्वोक्त रोगों को उत्पन्न करती हैं । अतः दोषों को चलायमान करके निर्हरण करना चाहिए ।

(४) चिकित्सा—उपरोक्त अवस्थाओं में लवण मिश्रित तैल का अभ्यङ्ग, प्रस्तर तथा संकर स्वेद का प्रयोग कराना चाहिए तथा जाङ्गल प्राणियों के मांसरसयुक्त आहार देकर अनुवासन बस्ति का प्रयोग कराना चाहिए तथा मदनफल, पिप्पली, देवदारु से सिद्ध, तैल से मात्रावस्ति का प्रयोग कराना चाहिए । वातहर स्नेहों से स्निग्ध कर पुनः तीक्ष्ण संशोधनौषध का प्रयोग कर शोधन कराना चाहिए ।

शोधनोपद्रवस्य परिस्रावरूपस्य सम्प्राप्तिवर्णनं तदुपद्रवाणां वर्णनं तत्र चिकित्सा सूत्रं च ।

अल्पं तु बहुदोषस्य दोषमुत्क्लिश्य भेषजम् ।
अल्पाल्पं स्रावयेत् कण्डूं शोफं कुष्ठानि गौरवम् ॥
कूर्याच्चाग्निबधौत्क्लेशस्तैमित्यारुचिपाण्डुता ।
परिस्रावः स तं दोषं शमयेद्वामयेदपि ॥
स्नेहितं वा पुनस्तीक्ष्णं पाययेत् विरेचनम् ।
शुद्धे चूर्णासवारिष्टान् संस्कृताश्च प्रदापयेत् ॥

च. सि. ६।६८-७०

क्रूरकोष्ठस्य बहुदोषस्याल्पमात्रगुणं मृदु स्निग्धं वा शोधप्रमवचान्सिमुत्क्लेश्यदोषान्न निर्हरत्यल्पाल्पं च पित्तकफसंसृष्ट परिस्रवति । विष्टम्भगौरवशोफकोठकंडुपांडुताङ्गसादशूलानि चापादयति । तं तिनिशधवाश्वकर्णपलाशबला शुद्धे च दीपनांश्चूर्णासवारिष्टादादीन् योजयेत ॥

अ. सं. क. ३।११

क्रूरकोष्ठस्यातिप्रभूतदोषस्य मृद्वौषधमवचारित समुत्क्लिश्य दोषान्न निःशेषानपहरति ततस्ते दोषाः परिस्रावमापादयन्ति, तत्र दौर्बल्यौदरविष्टम्भारुचिगात्रसदनानि भवन्ति, सवेदनो चास्य पित्तश्लेष्माणौ परिस्रवतः, तं परिस्रावमित्याचक्षते, तमजकर्णधवतिनिशपलाशबलाकषायं मधुसंयुक्तं रास्थापयेत् ॥ उपशान्त दोषं स्निग्धं च भूयः संशोधयेत् सु. चि. ३४।१७

अजकर्णोऽश्वकर्णः प्रसिद्ध एव पूर्वदेशे, धव इन्द्रवृक्षः, तिनिशः स्यन्दनः । उपशान्तदोषमिति उपशान्तपरिस्रावम् । भूयः पुनरपिस्निग्धं तीक्ष्णैः संशोधनैः संशोधयेत् । वमने पुनरूर्ध्वं कफप्रसेकः; तत्राध्याहारेणोपशान्तदोषं सुस्निग्धस्विन्नं मृदुनाल्पेन वमनेन यथायोगं वामयेत् । गयी तु उपशान्तदोषमिति रूक्षस्निग्धकोष्ठं संशमनपाचनाभ्यां शमितोत्क्लिष्टदोषकास्थापयेच्छोधयेद्वेति व्याख्याति । डल्हण ॥

पिप्पलीदाडिमक्षारहिंगुशुंठ्यम्लवेतसान् ।
ससैंधवान्पिवेन्मद्यैः सपिषोष्णोदकेन वा ।
प्रवाहिका परिस्रावे वेदना परिकर्तने ।।

अ. हृ. क. ३।१४-१५

परिस्राव नामक उपद्रव की सम्प्राप्ति व चिकित्सा

हि० व्या०—चरक लिखते हैं कि दोषों की अधिकता में अल्प मात्रा में प्रयुक्त औषध दोषों को उभाड़ कर अल्प मात्रा में बाहर निकालती है । इससे कण्डु, शोथ, कुष्ठ और शरीर में गुरुता की उत्पत्ति होती है, अग्निबल का क्षय होता है । उत्क्लेशन, शिथिलता, अरुचि तथा पाण्डु रोग की भी उत्पत्ति होती हैं, अतः परिस्राव उपद्रव की शान्ति के लिए वमन कराना चाहिए अथवा स्नेहन प्रयोग द्वारा तीक्ष्ण विरेचन कराना चाहिए । वमन-विरेचन से दोष निर्हरण होकर भली प्रकार शोधन हो जाने पर चूर्ण, आसव, अरिष्ट को सुसंस्कृत करके रोगी को प्रयोग करावें । सुश्रुत में भी इसी सम्प्राप्ति का उल्लेख करते हुए दुर्बलता, वातवैगुण्य तथा वेदना के साथ पित्त एवं श्लेष्मा निकलने का भी उल्लेख किया गया है । परिस्रावावस्था में अजकर्ण, धव, तिनिश, पलाश और बला के क्वाथ में मधु मिलाकर आस्थापन बस्ति का प्रयोग कराना चाहिए । परिस्राव के शान्त हो जाने पर स्नेहन कराकर पुनः संशोधन कराना चाहिए ।

धातुस्राव व्यापत्सूचनं तत्र चिकित्सा सूत्रं च

बहुतीक्ष्णं क्षुधार्तस्य मृदुकोष्ठस्य भेषजम् ।
हृत्वाऽऽशु विट्पित्तकफान् धातूनास्रावयेद्द्रवान् ।

तत्रातियोगे मधुरैः शेषमौषधमुल्लिखेत् ।
योज्योऽति वमने रेको विरेको वमनं मृदु ॥
परिषेकावगाहाद्यैः सुशीतैः स्तंभयेच्च तम् ।
अंजनं चन्दनोशीरमज्जासृक् शर्करोदकम् ॥
लाजचूर्णैः पिबेन्मन्थमतियोगहरं परम् ।

अ. हृ. क. ३।२३-२६

क्षुधार्तस्य मृदुकोष्ठस्य नरस्य बहुतीक्ष्णं चौषधं विट्पित्तकफान् शीघ्रमेव हृत्वा द्रवान्धातूनास्रावयेत् । तस्मिन् विरेचनातियोगे मधुरैर्द्रव्यैः शेषं विरेचन द्रव्यमुद्धरेत् । अति वमने सति विरेको योज्यम् । परिषेकादिभिश्च शीतैस्तं-विरेकं, स्तम्भयेत् । आदिशब्दो जलार्द्रशीतमारुतादि ग्रहणाय । अञ्जनादिकं लाजचूर्णैः सह मन्थं परं विरेकातियोगहरं पिबेत् ॥ अरुणदत्त ॥

अजासृग् छागरुधिरम् । अञ्जनादि षट्कं लाजचूर्णैः सह पिबेत् । "सक्तवः सर्पिषाभ्यक्ताः शीतवारिपरिप्लुताः । नातिसान्द्रा न चात्यच्छा मन्थ इत्यभिधीयते" ॥ हेमाद्रिः ॥

बह्वतिभूरि तीक्ष्णं वा क्षुधितस्य मृदुकोष्ठस्य वा प्रयुक्तमौषधं विट् पित्त कफान् शीघ्रमेव हृत्वा धातून् द्रवान् द्रवीकृत्य स्रावयेदित्यर्थः । तत्र तस्मिन् विरेकातियोगे मधुरौषधैः शेषं विरेचनद्रव्यमुद्धरेत् । अंजनादिकं लाजशक्तुभिः सह मंथं परं विरेकातियोगहरं । अजासृक् छागरक्तम् । उदकं शीताम्बु । इन्दुः ।

स्निग्धस्विन्नस्यातिमृदुकोष्ठस्य क्षुधितस्य वा तीक्ष्णवेगमतिभूरि वा प्रयुक्तमौषधं सर्वं निर्हृत्य मलं धातूनपि द्रवीकृत्य स्रावयेदतियोगि भवति । तं शतधौतघृतेनाभ्यज्य कषायस्वादुशीतैः प्रदेहपरिषेकावगाहान्नपानैः शर्करामधु-मद्भिश्च लेहैः स्तम्भयेत । चन्दनाञ्जनोशीरच्छागासृक्शीतोदकलाजिसक्तून पाययेत् । पिच्छाबस्तिं चास्मै दद्यात् । मधुरवर्ग सिद्धं च क्षीरसर्पि सर्पिमण्डो वाऽनुवासनम् रक्तपित्तविधानं च कुर्यात् ॥

अ. सं. क. ३।

हि० व्या०—रिक्तकोष्ठ एवं मृदुकोष्ठ में संशोधनौषध के अति मात्रा में प्रयोग करने से या अति तीक्ष्ण (विरेचन) शोधनौषध प्रयोग करने पर मल, पित्त एवं कफ का शीघ्रता से निर्हरण हो जाता है । तत्पश्चात् रसादि धातुओं का भी निर्हरण होने लगता है । ऐसी अवस्था में उदरस्थ अवशिष्ट औषधि को वमन द्वारा निर्हरण करना चाहिए । अति वमन की अवस्था में विरेचन प्रयोग कराना चाहिए । शीतल परिषेक, अवगाहन आदि शीतोपचार द्वारा स्तम्भन करना चाहिए ।

(क) अञ्जन (सुरमा), लाल चन्दन तथा खस को पीसकर पीने में प्रयोग करना चाहिए ।

(ख) बकरी का रक्त, खण्ड का पानी, सत्तू एवं लाजचूर्ण (धान के खील का चूर्ण), इन सबका मन्थ बनाकर पीना चाहिए । यह अतियोग नाशक है ।

तं च चन्दनादिभिर्लाजसक्तून् पाययेत् । अस्मै चाति योगिने पिच्छाबस्तीन दद्यात् । क्षीरोद्भवं घृतादिकं मधुरवर्गं सिद्धमनुवासनम् । तथा यत्किञ्चिद्रक्त-पित्तघ्नं तदपि कुर्यादिति सामान्येन साधनान्यतियोगे । इन्दुः ॥

संशोधनोपद्रवरूपस्य हृद्ग्रहस्य सम्प्राप्तिवर्णनं तदुपद्रवाणां वर्णनं तत्र चिकित्सा सूत्रं च ।

पीतौषधस्य वेगानां निग्रहान्मारुतादयः ।
कुपिता हृदयं गत्वा घोरं कुर्वन्ति हृद्ग्रहम् ।
स हिक्काकासपार्श्वार्तिदैन्यलालाक्षिविभ्रमैः ।
जिह्वां खादति निःसंज्ञो दन्तान् किटकिटापयन् ॥
न गच्छेद्विभ्रमं तत्र वामयेदाशु तं भिषक् ।
मधुरैः पीतमूर्च्छार्तं कटुभिः कफमूर्च्छितम् ॥
पाचनीयैस्ततश्चास्य दोषशेषं विपाचयेत् ।
कार्याग्नि च बलं चास्य क्रमेणोत्थापयेत्ततः ॥
पवनेनातिवमतो हृदयं यस्य पीड्यते ।
तस्मै स्निग्धाम्ललवणं दद्यात् पित्तकफेऽन्यथा ॥

च. सि. ६।-७५, अ. हृ. क. ३।१६-१७

पीतौषधस्येत्यादिना हृदग्रहमाह । नगच्छेद्विभ्रमं तत्रेति—हृद्ग्रहपीडितोऽयं म्रियमाणो वाऽयमिति भ्रान्तिं न गच्छेदित्यर्थः । वमनं चात्र मूर्च्छिते दुःशक-प्रयोगं, तेन मूर्च्छारम्भ एव वमनंकारयितव्यं; किं वा मूर्च्छायामप्यङ्गुलीप्रवेशादिना वमनं कारयितव्यम् । पित्तमूर्च्छार्तमिति पित्तप्रबलदोषजनितमूर्च्छार्तम् । अति वमत इतिवमनायाति प्रवाहणं कुर्वतः । पित्तकफेऽन्यथेति पित्ते कफे वा हृदय-पीडाकरे स्निग्धाम्लालवणविपरीतं रूक्षतिक्तकटुकादि क्रमं कुर्यात् ।

चक्रपाणिः ।

यस्तूर्ध्वमधो वा भेषजवेगं प्रवृत्तमज्ञात्वाद्विनिहन्ति तस्योपसरणं हृदि कुर्वन्ति दोषाः, तत्र प्रधानमर्मसन्तापाद्वेदनाभिरत्यर्थं पीड्यमानो दन्तान् किटकिटायते उद्गताक्षो जिह्वां खादति प्रताम्यत्य चेताश्च भवति, तं परिवर्ज-यन्ति मूर्खाः; तमभ्यज्य धान्यस्वेदेन स्वेदयेत्, यष्टीमधुकसिद्धेन च तैलेनानुवाना-येत्, शिरोविरेचनं चास्मै तीक्ष्णं विदध्यात् ततो यष्टीमधुकमिश्रेण तण्डुलाम्बुना-छर्दयेत्, यथादोषोच्छ्रायेण चैनं बस्तिभिरुपाचरेत् ॥ सु. चि. ३४।१७

प्रधानमर्मसन्तापात् हृदयसन्तापात् । प्रताम्यति मुह्यति अचेता नष्टसंज्ञः । तं परिवर्जयन्ति मूर्खाः कुवैद्याः मुमूर्षतीति हेतोः । यष्टिमधुकमिश्रेण तण्डुलाम्बुना पित्तमूर्च्छार्तं छर्दयेत; कफमूर्च्छायां तु कटुकद्रव्याणां क्वाथेन वामयेत् बस्तभि-रिति नैरूहिकैः स्नैहिकश्चेति ॥ डल्हणः ॥

पीतौषधस्य भेषजोद्गारच्छर्दीनां निग्रहाद्वातादयः कुपिता हृदयमुपश्लित्य हृद्ग्रहं घोरमावहन्ति । ततः प्रधानमर्मोपतापाद्वेदनाभिरत्यर्थमातुरः पीड्यते मोहहिध्माकासलालापार्श्वशूलयुतो वेपथुमान्नष्टसंज्ञो दंतान्कटकटायत्त्युद्धृताक्षो जिह्वां खादति । तं हृदयापसरणमाहुस्तस्मै भिषक् शीघ्रममुह्यन्नभ्यंगपूर्वं धान्यस्वेदेन परिस्वेद्य तीक्ष्णमवपीडं दद्यात् । यष्टीमधुकमिश्रेण तंदुलाम्बुना वमनम् । कटुभिर्वा कफोत्तराय । ततो दोषशेषं पाचनीयैः पाचयेत् यथा दोषोच्छ्रयं च बस्तीन् वितरेत् ॥

अ० सं० क० ३।१२

पीतौषधस्य भेषजोद्गारादिनिरोधात् सर्वे दोषाः कुपिता हृदयं प्राप्य हृद्ग्रहं कुर्वन्ति । ततश्च प्रधानमर्मणो हृदयस्योपतापान्नानाविधाभिर्वेदनाभी रुजाभिः पीड्यते । मोहादिमांश्च नष्टसंज्ञत्वादियुक्तो भवति । तं हृदग्रहमाचार्या हृदयोपसरणमित्याहुः । तस्मै हृदयोपसरणिने भिषगमुह्यन मोहमप्राप्नुवन्नभ्यंगपूर्वं धान्य स्वेदेन संस्वेद्य तीक्ष्णमवपीडं कल्कनस्यं दद्यात् । यष्ट्यादिभिस्तण्डुलाम्बुना वमनम् । श्लेष्माधिकायकटुभिर्वमनौषधैर्वमनम् । ततोऽस्य दोषशेषं पाचनीयौषधैः पाचयेत् । पक्वदोषस्य च य एव दोषोऽधिकस्तदनुगुणानेव बस्तीन् वितरेदास्वास्थ्यात् ॥ इन्दुः ।

वमने रेचने वापि पीते वेगविधारिते ।
वातपित्तकफाः क्रुद्धाः कुर्वन्ति हृदयग्रहम् ॥
तस्य गात्राणि सीदन्ति क्लमः शूलश्च दारुणः ।
शिरोग्रहश्च कोष्ठार्तिर्विसंज्ञश्च भवत्यपि ॥

भे० सि० ४।१९-२०

हि० व्या०—**हृद्ग्रह नामक उपद्रव—**

संशोधन के लिए प्रयुक्त औषध से वेग उत्पन्न होने पर उसे रोक लेने पर कुपित हुए वातादि दोष हृदय में पहुंचकर हृद्ग्रह उत्पन्न करते हैं । इस कारण हिक्का, कास, पार्श्वशूल, दैन्यभाव, लालास्राव, नेत्रविभ्रम हो जाता है, व्यक्ति स्वयं अपनी जिह्वा को काटने लगता है, दाँतों को कटकटाने लगता है एवं संज्ञाहीन हो जाता है । इस अवस्था में चिकित्सक को भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए । उस रोगी को शीघ्र, पित्तज मूर्च्छा में मधुर द्रव्यों से, श्लेष्म प्रधान मूर्च्छा में कटु द्रव्यों से वमन कराना चाहिए । शेष दोषों का पाचनौषधों से पाचन कराना चाहिए । तत्पश्चात् क्रमशः उपचार करते हुए जठराग्नि एवं बल को बढ़ाना चाहिए । अधिक वमन हो जाने के कारण कुपित हुई वात हृदय में पीड़ा उत्पन्न करे तो स्निग्ध, अम्ल, लवण रस प्रधान द्रव्यों का सेवन कराना चाहिए यदि वमन से पित्त कुपित हो तो विपरीत (रूक्ष तिक्त एवं कटु) द्रव्यों का सेवन कराना चाहिए अथवा मधुर द्रव्यों का सेवन कराना चाहिए

आचार्य सुश्रुत के अनुसार रोगी को अभ्यंग कराना चाहिए एवं धान्य से स्वेदन कराना चाहिए । मधुयष्टि सिद्ध तैल का अनुवासन कराना चाहिए, तीक्ष्ण शिरोविरेचन का प्रयोग कराना चाहिए । तत्पश्चात् मधुयष्टि युक्त तण्डुलोदक से वमन कराना चाहिए । एवं दोषों के अनुसार बस्तियों से इसकी चिकित्सा करनी चाहिए ।

टि०—भेल, अष्टाङ्गहृदय एवं अ० संग्रहकार ने चरक एवं सुश्रुत के भावों को ही व्यक्त किया है ।

संशोधनोपद्रवस्य जीवादानरूप रक्तक्षयस्य सम्प्राप्तिवर्णनं विकृतरक्तज्ञानोपायाः, तथा तदुपद्रवाणां वर्णनं तत्र चिकित्सा सूत्रं च

अतितीक्ष्णं मृदौ कोष्ठे लघुदोषस्य भेषजम् ।
दोषान् हृत्वा विनिर्मथ्य जीवं हरति शोणितम् ॥
तेनान्नं मिश्रितं दद्याद्वायसाय शुनेऽपि वा ।
भुंक्ते तच्चेद्वयेज्जीवं न भुंक्ते पित्तमादिशेत् ॥
शुक्लं वा भावितं वस्त्रमावानं कोष्णवारिणा ।
प्रक्षालितं विवर्णं स्यात् पित्ते शुद्धं तु शोणिते ॥
तृष्णामूर्च्छामदार्तस्य कुर्यादामरणात् क्रियाम् ।
तस्य पित्तहरीं सर्वामतियोगे च या हिता ॥
मृगगोमहिषाजानां सद्यस्कं जीवतामसृक् ।
पिबेज्जीवाभिसन्धानं जीवं तद्ध्याशु यच्छति ॥
तदेव दर्भैः मृदितं रक्तं बस्तिं प्रदापयेत् ।
श्यामाकाश्मर्यबदरी दूर्वोशीरैः भृतं पयः ॥
घृतमण्डाञ्जनयुतं शीतं बस्तिं प्रदापयेत् ।
पिच्छाबस्तिं सुशीतं वा घृतमण्डानुवासनम् ॥

च० सि० ६।७८-८४, अ० हृ० क० ३।३०

अतितीक्ष्णमित्यादिना जीवादानमाह । लघुदोषस्येति स्वल्पदोषस्य । निर्मथ्येति शोणितमेव क्षोभयित्वा । जीवमिति जीवनहेतुधातुरूपं शोणितम् । शोणितं किञ्चिद्रक्तपित्त क्षोभाद्भवति, किञ्चिच्च जीवशोणितं भवति, तद्विशेष परीक्षार्थमाह-तेनान्नमित्यादि । पित्तमादिशेदिति शोणितगतं पित्तमादिशेद्रक्तापित्तमिति यावत् । आवानमिति शुष्कम् । पित्ते इति रक्तपित्ते सति क्षालितं वस्त्रं विवर्णं भवति, जीवशोणिते तु सति शुद्धं वस्त्रं भवति, परीक्षा च चिकित्साभेदार्थमेव; रक्तपित्ते रक्तपित्तहरी क्रिया, जीवशोणितं तु दृष्ट्वा 'तृष्णामूर्च्छामदार्तस्य इत्यादिनोक्ता कर्तव्या । अतियोगे च या हितेति अत्रैव 'परिषेकावगाहाद्यैः सुशीतः स्तम्भयेच्च तम्' इत्यादिनोक्ता ज्ञेया । जीवं तद्ध्याशु गच्छतीति असृक्प्रभावादाश्वेव शोणितरूपतां याति सद्य-

स्कमसृक्। श्यामेत्यादौ श्यामा=प्रियङ्गुः ॥ चक्रपाणिः।

तादृशस्तदाश्रित्य जीवत्प्राण्यधिष्ठितं शोणितं जीवमेव प्राप्नोति। भेषज-विशेषकादिति। तदेवं रक्तं दर्भमृदितं रक्तं वस्तिं प्रदापयेदिति। जज्जटः ॥

अतितीक्ष्णं मृदुकोष्ठे। लघु दोषस्येति अल्पदोषस्येत्यर्थः। यथा लघुसंतर्पणं च यदिति (वक्ष्यति हि)। भुंक्ते चेत् तज्जीवसंज्ञितं हि तीक्ष्णोष्णकट्वम्लादिभिः पित्तगुणैरुपेतं, तस्मान्न भुंक्ते। नैनान्न मिश्रितं दद्याद्वायसाय शुनेऽपि वा" एवं बाह्यैर्लक्षणैस्तत्परिच्छेदः कर्तव्यः। शुक्लं वा भावितं वस्त्रमावानमित्येत-द्विधेऽपि तस्मिंस्तत्र पित्तशोणिते पित्तहरीः। अतियोग निर्दिष्टाश्च शीताम्बु-परिषेकमन्थादिका इति। जीवशोणिते च जीवनीयाः वाताभिभूतश्च पित्तेज्जीवादाने जीवाभिसन्धानं जीवं तद्व्याशु गच्छतीति स उभयत्र च जीवपित्तयोर्ज्ञानार्थं रक्तं शुक्लं पिचु प्लोतं वा क्षिपेत्। तस्मिन्नावाने कोष्णां बुक्षालितशुद्धे रक्तं वैवर्ण्यं तु रक्तपित्तं विद्यात्। अन्नं वा तद्विमिश्रं शुने काकाय वा दद्यात्। तस्मिन् भुक्ते जीवमभुक्ते पित्तम्। आमरणाच्च तस्य तृणमूर्च्छामदार्तस्य क्रियां पित्तघ्नीमतियोगोक्तं च कुर्यात्। खड्गादिरुधिरं चातिस्रुतरक्तोक्तविधिना सक्षौद्रं शीघ्रमुपयुञ्जीत। श्यामाकाश्मर्यदूर्वाशीरैर्वा श्रृतं पयो घृतमण्डाञ्जनयुक्त शीतं बस्तौ निषेचयेत् ॥

अ० सं० सू० ३१-२२-२४

वमनातियोगे विरेचनातियोगे च रक्तप्रवृत्तौ रक्तपित्तभ्रान्तिनिरासायेदमिदं कुर्यात्। प्रवृत्ते रक्ते शुक्लं पिचु, कार्पासतूलकं, प्लोतं वा वस्त्रखण्डं शुक्लं क्षिपेत्। तं च रक्तादुद्धृत्याधानं शुष्कं कृत्वा कोष्णाम्बुना प्रक्षालयेत्। प्रक्षालितं तद्यदा पूर्ववच्छुक्लं भवति तदा जीवरक्तमित्यध्यवस्येत्। विवर्णे तु रक्तपित्त-मिति। अथवा तेन रक्तेन मिश्रमन्नं शुने दद्यात् काकाय वा। तस्मिंस्तु भुक्ते जीवं वदेदभुक्ते पित्तम्।

प्रवृत्तजीवोऽपि जीवति चेदवश्यं तस्य आमरणात पित्तघ्न्यादिकं क्रियां कुर्यात् न तूपेक्षेत्। एणादीनां च मृगाणां रुधिरमतिस्रुतरक्तोक्त विधिना सिराव्यधोक्तेन शीघ्र समाक्षिकमुपयुञ्जीत। तदित्येणादिरक्तम्। तत्र च श्यामादिभिः श्रृतं पयोघृतादियुक्तं शीतं वस्तावास्थापनेन निषेचयेत्।

स्विन्नस्य मृदुकोष्ठस्य स्नेहितस्य विरेचनम्।
अतिमात्रौषधं पीतं जीवादानाय कल्पते ॥
सृजेच्छुक्लं स शकृता कृष्णं वा रक्तमेव वा।
लोध्रपुष्पसवर्णं वा भण्डिपुष्पनिभं तथा ॥
प्रविरिक्तो यदा शीतां क्रियां समुपसेवते।
शरणानि च शीतानि वारि शीतं च सेवते ॥
स्रोतांसि कुपितो वायुस्तस्य चावृत्यतिष्ठति।
खरीभवति तेनास्य दोषाः स्कन्दन्ति देहिनः ॥ भे० सि० अ० ४

जीवादान नामक उपद्रव

हि० व्या०—जिसका कोष्ठ मृदु हो इस प्रकार के व्यक्ति को तथा अल्प दोष वाले व्यक्ति को, अति तीक्ष्ण औषध पिलाने पर प्रयुक्त औषध दोषों का निर्हरण करके रक्त को मथकर शुद्ध रक्त को निकालने लग जाती है। रक्त पित्त एवं जीवरक्त का अन्तर बताते हुए लिखा है कि जीवरक्त के निकलने पर रक्तपित्त का भी भ्रम हो सकता है अतः निकले हुए रक्त को अन्न में मिलाकर कौवे अथवा कुत्तों को खिलाना चाहिए। यदि कौवा या कुत्ता उसे खा ले तो जीवरक्त जानना चाहिए। यदि न खाए तो रक्तपित्त का ज्ञान करना चाहिए। दूसरी पहचान विधि इस प्रकार है—श्वेत वस्त्र को रक्त में भिगोकर सुखा देना चाहिए। सूख जाने पर उस वस्त्र को गरम जल से धो ले यदि कपड़ा विवर्ण हो जाए तो रक्तपित्त अन्यथा जीवरक्त जानना चाहिए। अर्थात् धोने पर वस्त्र साफ हो जाए तो जीव रक्त समझना चाहिए।

चिकित्सा—जीवरक्त निकलने पर तृष्णा, मूर्च्छा और मद आदि उपद्रव उत्पन्न होते हैं। अतः मरणपर्यंत चिकित्सा करनी चाहिए। अतियोग में जो चिकित्सा की जाती है उनका प्रयोग एवं पित्त नाशक चिकित्सा करनी चाहिए।

रक्तक्षय होने पर रक्तपान का विधान

जीवित प्राणियों में मृग, गौ, भैंस तथा बकरे के ताजा रक्त को केवल या मधु मिश्रित कर पिलाना चाहिए। तुरन्त निकाला रक्त पिलाने से जीवरक्त के साथ मिलकर शीघ्र शोणित रूप को प्राप्त कर लेता है।

दूसरी विधि—ताजा रक्त दर्भों में मलकर बस्ति प्रयोग करना चाहिए। अथवा काली निशोथ, गाम्भारी, बेर, दूर्वा और खस आदि द्वारा साधित घृत-मण्ड एवं अञ्जन मिलाकर औषध के शीत होने पर बस्ति देनी चाहिए। अथवा शीतल पिच्छाबस्ति का प्रयोग करना चाहिए अथवा घृतमण्ड से अनु-वासन देना चाहिए। अष्टाङ्गहृदय में चरक के मूल पाठ को किञ्चित् परिवर्तित करके लिखा गया है—

संशोधनोपद्रवस्य गुदभ्रंशस्य सम्प्राप्तिः तदुपद्रवाणां वर्णनं चिकित्सा सूत्रं च।

गुदभ्रष्टं कषायेश्च स्तम्भयित्वा प्रवेशयेत्।
सामगान्धर्वशब्दांश्च संज्ञानाशेऽस्यकारयेत् ॥
यदा विरेचनं पीतं विड्न्तमवतिष्ठते।
वमनं भेषजान्तं वा दोषनुत्क्लिश्य नावहेत् ॥
तदा कुर्वन्ति कण्ड्वादीन् दोषाः प्रकुपिता गदान्।
स विभ्रंशो मतस्तत्र स्याद्यथाव्याधिभेषजम् ॥
च० सि० ६।८५-८७ अ० हृ० क० ३।३८

गुदं भ्रष्टमित्यादिना गुदभ्रंशरूपं विभ्रंशमाह। कषायैरिति कषायरसैः। सामेत्यादिना संज्ञाविभ्रंशरूप विभ्रशचिकित्सामाह। सामं सान्त्वनम्। गन्धर्वशब्दो गीतम्। एतौ च विभ्रंशाबतियोगजन्यौ। यदेत्यादिना तृतीयमयोगजन्यविभ्रंशमाह। विडन्तमवतिष्ठत इति मलमात्रमपहृत्यावतिष्ठते। भेषजान्तमिति भेषजमात्रं वमनेनावतिष्ठते। नावहेदिति नापहरति। एतद् व्यापदश्च विभ्रंशसंज्ञा पारिभाषिकी। यथाव्याधि भेषजमिति कण्ड्वादिविपतीतं भेषजम्॥

चक्रपाणिः।

गुदं निःसृतमभ्यज्य स्वेदयित्वा कषायैश्च स्तम्भयित्वा प्रवेशयेत्। पूर्ववच्च वाक्[1] संगादीन् साधयेत्॥ अ० सं० क० अ० ३।२१

अतिरौक्ष्यतिस्नेहादौषधानां च सम्भ्रमात्।
नृणां शूलं प्रभवति गुदस्रंसश्च दारुणः॥ भे० सि० ४।१८

हि० व्या०— गुदभ्रंश नामक उपद्रव—

जब विरेचन का अतियोग हो जाता है तब गुदभ्रंश नामक उपद्रव उत्पन्न होता है इसके उपचार हेतु—कषाय रस वाले द्रव्यों का प्रयोग कल्क या क्वाथ रूप में गुदा में प्रवेश कराकर स्तम्भन करावें। विरेचनातियोग से संज्ञानाश की स्थिति उत्पन्न हो तो सामवेद, वेणु एवं गायन आदि का स्रवण कराना चाहिए। विरेचनौषध पान के पश्चात् मल का निर्हरण तो कर दे किन्तु पश्चात् पित्त एवं कफ का निर्हरण न हो तथा वमनौषध द्रव्य वमन द्वारा निकल जाए किन्तु दोषों को उत्क्लेशित करके बाहर नहीं निकाले तब प्रकुपित दोष कण्डु आदि रोगों की उत्पत्ति करते हैं उसे विभ्रंश कहा जाता है। इसकी चिकित्सा दोषानुसार करनी चाहिए।

संशोधनोपद्रवस्य मलस्तम्भस्य ससम्प्राप्तिकोपद्रवाणां वर्णनं तत्र चिकित्सा सूत्रं च

पीतं स्निग्धेन सस्नेहं तद्दोषैर्मार्दवाद्वृतम्।
न वाहयति दोषांस्तु स्वस्थानात् स्तम्भयेच्च्युतान्॥
वातसङ्गः गुदस्तम्भशूलैः क्षरति चाल्पशः।
तीक्ष्णं बस्तिं विरेकं वा सोऽर्हो लङ्घितपाचितः॥

च० सि० ६।८८-८९

सोऽर्हं इति लङ्घनपाचनानन्तरं तीक्ष्णं बस्तिं विरेकं वा तीक्ष्णमर्हतीत्यर्थः।

चक्रपाणिः।

स्तम्भो व्यापत्पीतं स्निग्धेन स्नेहं तद्दोषैर्मार्दवाद् वृतम् रेचनमावृतं दोषेण वाहयति। दोषान्न हरतीति तांश्च दोषान्स्वस्थानात् प्रच्युतान्स्तम्भयति। गुदं

१. वाक्संगादीन् पूर्वद्वमनातियोगवत् साधयेच्चिकित्सेत्।

स्तब्धं कृत्वा वा तमङ्गशूलादिभिर्युक्तमल्पाल्पं क्षरति। तत्र तीक्ष्णबस्त्यादय इति। जज्जटः।

यस्तूर्ध्वमधो वा प्रवृत्त दोषः शीतागारमुदकमनिलमन्यद्वा सेवेत्, तस्य दोषाः स्रोतः स्ववलीयमाना घनीभावमापन्ना वातमूत्रशकृद्ग्रहमापद्यविबध्यन्ते, तस्याटोपो दाहो ज्वरो वेदनाश्च तीव्रा भवन्ति; तमाशु वामयित्वा प्राप्तकालां क्रियां कुर्वीतः; अधो भागे त्वधोभागदोषहरद्रव्यं सैन्धवाम्लमूत्रसंसृष्ट विरेचनाय पाययेत्, आस्थापनमनुवासनं च यथादोषं विदध्यात्, यथादोषमाहारक्रमं च; उभयतो भागे तूपद्रवविशेषान् यथास्वं प्रतिकुर्वीत॥ सु० चि० ३४।२०

विबध्यन्ते वमनविरेचनयोः प्रवृत्ति निवारयन्तीत्यर्थः। प्राप्तकालां प्राप्तावस्था क्रियां कुर्वीत। अधोभागे इत्यादि। विरेचने तु विबन्धे अधोभागहरद्रव्यं त्रिवृदादि सैन्धवादिसंसृष्टं विरेकार्थं पाययेत्। यथादोषमेव यूषक्षीर रसाद्याहारक्रमश्च। किं बहुना उभयतो भागे तु उपद्रवविशेषान् यथा स्वं प्रतिकुर्वीत। यत्री तु अप्रवृत्तदोषोऽप्रच्युत दोष इति कृत्वा व्याख्याति॥

डल्हणः॥

वातमूत्रपुरीषाणामप्रवृत्तिस्तृषाज्वरः।
विबन्ध एष व्याख्यातो भिषजा बुद्धिविभ्रमात्॥

भे० सि० ४।२५

संशोधनोपद्रव मलस्तम्भ सम्प्राप्ति और चिकित्सा

हि० व्या० स्निग्ध व्यक्ति को स्नेह के साथ दी गई संशोधनौषधि मृदु गुण के कारण दोषों से ढक (आवृत्त) जाती है अतः दोष बाहर नहीं निकल पाता किन्तु चलायमान दोष रुक जाता है। फलस्वरूप अपान वायु का अवरोध गुदस्तम्भ और गुदशूल के साथ अल्प मात्रा में मल निकलता है। इस प्रकार के लक्षण में लंघन और पाचन कराने के बाद तीक्ष्ण वस्ति या तीक्ष्ण विरेचन देकर दोषों को बाहर निकालने का प्रबन्ध करना चाहिए।

आचार्य सुश्रुत के अनुसार जिस व्यक्ति के दोष प्रवृत्तावस्था में हों अर्थात् ऊपर या नीचे की ओर चलायमान हो गये हैं ऐसी दशा में वह व्यक्ति शीतल घर या शीतल जल, वायु या अन्य शीतल आहार-विहार करता है, तो उसके दोष स्रोतों में लीन होकर ठोस रूप धारण कर लेते हैं और वायु, मल, मूत्र को रोककर स्थिर हो जाता है। इससे पेट फूलना (आध्मान), दाह, ज्वर तथा तीव्र वेदना होती है। ऐसी दशा में शीघ्र वमन कराना चाहिए और यथोचित चिकित्सा करनी चाहिए। विरेचन की अवस्था में विरेचन द्रव्यों को सैंधवलवण, कांजी और मूत्र में मिलाकर विरेचन देना चाहिए। दोष के अनुसार आस्थापन और अनुवासन बस्ति की योजना करनी चाहिए। दोषानुसार ही आहार विहार की कल्पना करनी चाहिए। वमन-विरेचन दोनों अवस्था में दोषानुसार उपद्रवों की चिकित्सा करनी चाहिए।

आचार्य भेल के अनुसार—वैद्य की लापरवाही से विबन्ध नामक व्यापद, होता है इससे वात, मूत्र एवं पुरीष की अप्रवृत्ति हो जाती है तथा तृष्णा एवं ज्वर की उत्पत्ति हो जाती है।

संशोधनोपद्रवस्याङ्गमर्दस्य सम्प्राप्ति वर्णनं तदुपद्रवाणां वर्णनं तत्र चिकित्सा च।

पीतौषधस्य वेगानां निग्रहेण कफेन[1] वा।
रुद्धोऽति वा विशुद्धस्य गृह्णात्यङ्गानि मारुतः॥
स्तम्भ वेपथु निस्तोदसादोद्वेष्टन मन्थनैः।
तत्र वातहरं सर्वं स्नेहस्वेदादिकारयेत्॥

च० सि० ६।७६-७७, अ० स० क० २। २२-२३

हि० व्या०—संशोधन औषध सेवन कराने पर उत्पन्न वेगों को रोक लिया जाए अथवा कफ के द्वारा वेगों में रुकावट उत्पन्न होने पर वायु कुपित हो जाती है। इस कुपित वात से अंगग्रह उत्पन्न हो जाता है। इससे शरीर में स्तम्भ, कम्प, निस्तोद (सूचीवेधन के समान पीडा) उत्पन्न हो जाती है एवं अंगसाद, ऐंठन तथा मथने जैसी पीड़ा होती है। इस स्थिति में वातनाशक स्नेह, स्वेद आदि सभी क्रियाओं का प्रयोग करना चाहिए।

रूक्षसंशोधनजन्योपद्रवाणां वर्णनम् तत्र चिकित्सा सूत्रं च।

रूक्षं विरेचनं पीतं रूक्षेणाल्पबलेन वा।
मारुतं कोपयित्वाऽऽशु कुर्याद्घोरानुपद्रवान्॥
स्तम्भशूलानि घोराणि सर्वगात्रेषु मुह्यतः।
स्नेहस्वेदादिकस्तत्र कार्यो वातहरो विधिः॥

च० सि० ६।९०-९१

अस्निग्धं तु यदारूक्षमौषधं पाययेद् भिषक्।
गृह्णाति कुपितस्तस्य सर्वगात्राणि मारुतः॥

भे० सि० अ० ४

यद्यप्याध्मानादयोऽप्यमी उपद्रवा एव, तथाऽपि तेषां संज्ञान्तरेणैव गृहीतत्वाच्छूलादय एव उपद्रवशब्दाभिहिताः। शूलादयश्चामी प्रधानादुत्तरकालभावित्वादनुपद्रवरूपा अप्युपद्रवशब्देनोच्यते; यथा—"धूमः कुर्यादुपद्रवान्" (सू० अ० ५) इति, किं वा, अयोगाख्यस्य व्याधेरमी उपद्रवा इति ज्ञेयम्॥ चक्रपाणिः॥

कुर्याद् घोरानुपद्रवान्घोराः=कष्टाः। उपद्रवाः=विकाराः। आध्मानादीनां तूक्तत्वात्तेभ्योऽन्ये वातिकाः। मारुतं कोपयित्वेति वचनात्। उपद्रवसंज्ञा च विकारे दृष्टा, "धूमः कुर्यादुपद्रवानिति। अथवा पारिभाषिकमेव यथा

१. कफेन वा रुद्धो दोषः पुनरङ्गानि निगृह्णाति; शुद्धस्य वा मारुतः कुपितोऽङ्गानि प्रतिगृह्णाति स्तम्भादिभिः॥ इति चक्रपाणिः॥

"उपद्रवस्तु रोगोत्तरकालजातो रोगाश्रयो रोग एवे स्थूलोऽणुर्वा पश्चाज्जातः इत्युपद्रवसंज्ञः" इत्यत्र शब्दज्ञैर्वाभिधानम्। स्तम्भशूलानि घोराणि। सर्वगात्रेषु स्तम्भः शूलं च कष्टमिति॥ जज्जटः॥

हि० व्या०—रूक्ष एवं दुर्बलव्यक्ति जब विरेचनौषधि पान करता है तो वह औषधि वायु को कुपित कर भयंकर उपद्रव उत्पन्न करता है। इसमें रोगी मोहयुक्त हो जाता है तथा उसके सर्वाङ्ग में भयंकर स्तम्भ और शूल उत्पन्न हो जाता है। ऐसी अवस्था में स्नेहन एवं स्वेदन करने के बाद वातनाशक उपाय करने चाहिए।

अयोगजव्याप वर्णनम् चिकित्सा सूत्रं च

चिकित्सां तासु कुर्वीत यथात्रेयस्य शासनम्॥
तत्रायोगिनमभ्यज्य तैलेन लवणेन च।
सङ्करप्रस्तरस्वेदैर्नाडीस्वेदैरथापि वा॥
सम्यङ् निरूढं विश्रान्तं परिषिच्य सुखाम्बुना।
जाङ्गलेन रसेनैव भोजयेन्मृदुमोदनम्॥
फलतैलेन कोष्णेन ततस्तमनुवासयेत्।
आध्मानं परिकर्तश्च परिस्रावश्च शाम्यति॥
सालोरुबूकस्त्रिफला दन्ती चित्रक एव च।
सर्पिरेभिर्विपक्वं च पाययेच्च यथाबलम्॥
तस्स्नेहपीतं सुस्निग्धं स्वेदकर्मोपपादितम्।
वमनं रेचनं वापि पाययेत्तीक्ष्यमौषधम्॥
हृद्रोगो गात्रहर्षश्च शीर्षस्कन्धग्रहस्तथा।
विबन्धः परिकर्तश्च शूलश्चानेन शाम्यति॥
परिकर्तः परिस्रावो यथातत्त्वेन शाम्यति।
कषायवस्तिं प्रणयेत्पिच्छाबस्तिमथापि वा॥
भृतं मधु घृतं वापि क्षीरबस्तिं प्रदापयेत्।
जीवनीयोपसिद्धेन सर्पिषा चानुवासयेत्॥
एरण्ड मूलंत्रिफला द्राक्षाकाश्मर्यमेव च।
एभिः भृतं पयोदध्यादिविधैरपि मिश्रयेत्॥
यावशूको भवेत्क्षारः सैन्धवं साम्लवेतसम्।
हिङ्गु दाडिमसारश्च पिप्पल्यो विश्वभेषजम्॥
सर्पिषा पयसा वापि मद्येनोष्णोदकेन वा।
पीतं निवर्तयेच्छूलं तीव्रं च परिकर्तिकाम्॥
देवदारु सबिल्वं च रास्ना कर्कटकाह्वया।
एरण्डोऽप्यथ पूतिश्च तैलमेभिर्विपाचयेत्॥

तेनानुवासयेच्चैनं तदा सम्पद्यते सुखम् ।
गात्रस्तम्भश्च शूलश्च परिकर्तश्च शाम्यति ॥
उपद्रवाणामेतेषां शान्तिर्यदि न विद्यते ।
तेषां चिकित्सितं कुर्याद्यथास्वं स्वं चिकित्सितम् ॥
एवं चिकित्सितं प्रोक्तमयोगे विस्तरेण मे ।

भै० सि० अ० ४।२८-४५

अयोगजन्य व्यापत्तियों की चिकित्सा

हि० व्या० —आचार्य मेल के अनुसार अयोगजन्य व्यापत्तियों की चिकित्सा भगवान् आत्रेय के निर्देशानुसार करना चाहिए। जिस व्यक्ति को वमन विरेचन में अयोग हुआ हो उनको तैल और सैन्धव लवण का अभ्यंग कराकर सङ्कर प्रस्तर और नाड़ी स्वेद से स्वेदन कराना चाहिए। सम्यक् शान्त हो जाने पर और पूर्ण विश्राम के पश्चात् कोष्ण जल का (स्नान) परिषेक कर जाङ्गल मांसरस के साथ भात खिलाना चाहिए। तत्पश्चात् इषदुष्ण मदनफल तैल से अनुवासन देना चाहिए। इससे आध्मान, परिकर्तिका और परिस्राव रोगों की शान्ति होती है। साल, एरण्ड, त्रिफला, दन्ती चित्रक से सिद्ध घृत को अग्निबल के अनुसार पान करना चाहिए। इस स्नेह पीने के पश्चात् सुस्निग्ध व्यक्ति को स्वेदन कराकर तीक्ष्ण वमन या विरेचनौषध पान कराना चाहिए। इस विधि से हृदय रोग, गात्रहर्ष, शीर्ष (शिरोरोग) स्कन्धशूल, विबन्ध, परिकर्तिका और शूल रोगों का शमन होता है। विशेषतया परिकर्तिका और परिस्राव रोगों का शमन होता है। कषाय बस्ति अथवा पिच्छाबस्ति का प्रयोग करना चाहिए। मधु और घृत से क्षीर बस्ति का प्रयोग करना चाहिए। अथवा जीवनीयगण की औषधियों से सिद्ध घृत का अनुवासन देना चाहिए।

एरण्डमूल, त्रिफला, द्राक्षा गंभारीफल इनसे सिद्ध दूध का सेवन कराना चाहिए।

यवक्षार सैन्धवलवण, अम्लवेत, हिङ्गुदाड़िम स्वरस से पिप्पली और सोंठ, घृत, दूध, मद्य या सुखोष्ण जल सेवन करने पर तीव्रशूल और परिकर्तिका रोग दूर होता है।

देवदार, बिल्व, रास्ना, कर्कट शृङ्गी एरण्ड, पूति, करञ्ज इन द्रव्यों से तैलपाक कर उससे अनुवासन देने से गात्रस्तम्भ शूल और परिकर्तिका का शमन होता है। इन उपचारों से यदि इन उपद्रवों की शान्ति नहीं हो तो तत्तत् रोगाधिकार की चिकित्सा करनी चाहिए।

वमनविरेचनायोगे उपक्रमः—

अथैतिपीतं वमनं तच्च तीक्ष्णतरं पिबेत् ।
अनुपानान्नसिद्धिश्च संशोध्यास्थापयेन्नरम् ॥

असिध्यति विरेकेऽपि भूयस्तमनुवासयेत् ।
अस्मिन्नपि जरां याति त्र्यहादूर्ध्वं पिबेदघृतम् ॥
स्नेहस्वेदोपपन्नश्च लघु च प्रतिभोजितः ।
विरेचनं च वमनं नरस्तीक्ष्णतरं पिबेत् ॥
यदा विरेचनं पीतं वमनायोपपद्यते ।
प्रयोग एवं वमने विरेकेऽपि च यः स्मृतः ॥

भै० सि० भा० ४ ॥ ११-१४

हि० व्या०—वमनौषध सेवन के पश्चात् वमन न होने पर (वमनायोग में) पुनः तीक्ष्ण वामक औषध सेवन कराना चाहिए। तीक्ष्ण औषध सेवन के उपरान्त भी यदि वमन न हो तो संशोधन (विरेचन) करने आस्थापन वस्ति देनी चाहिए।

विरेचन में अयोग होने पर अनुवासन वस्ति देनी चाहिए। इससे भी विरेचन नहीं होने पर तीन दिन पश्चात् घृतपान कराना चाहिए। स्नेहन और स्वेदन के पश्चात्, हल्का भोजन कराकर तीक्ष्ण वमन या विरेचन औषध पिलाना चाहिए।

यदि विरेचनौषध सेवन करने पर वमन हो जाय तो विरेचन विधि के अनुसार चिकित्सा करनी चाहिए।

अतियोगजव्यापच्चिकित्सा

अतिप्रवृत्तौ वमने विरेचनमुपाचरेत् ॥
विरेचने चातियुक्ते वमनं पाययेद्भिषक् ॥
वमने चातियुक्ते तु कार्यमास्थापनं भवेत् ।
उभयोरतियोगे तु स्तम्भनं हितमुच्यते ॥
उल्लिखेत्क्षौद्रयुक्तेन स नरस्तण्डुलाम्बुना ।
पादौ च सेचयेद्धस्तौ तथा वाप्यवगाहयेत् ॥
लामज्जकमृणालैश्च चन्दनैश्च सपद्मकैः ।
सन्दिह्यात्सर्वगात्राणि कषायैश्चावसेचयेत् ॥
धातकी मधुकं लोध्रं पद्मं मोचरसस्तथा ।
नीलोत्पलं समङ्गा च कट्फलं पद्मकेसरम् ॥
एतैर्लोहितशालीनां सिद्धां पेयां सुशीतलाम् ।
पिबेन्माक्षिकसंयुक्तं तदस्य स्थापनं परम् ॥
लाक्षालोध्रस्समङ्गा च माक्षिकं कमलोत्पलम् ।
आजेन पयसा पीतं रक्तस्तम्भनमुच्यते ॥
रसं कपित्थपत्रस्य पाययेन्मधुसंयुतम् ।
पयसा बादरं द्राक्षां मधुना च पिबेन्नरः ॥

रसाश्च जाङ्गलादेया व्यक्ता दाडिमसारकैः।
घृतदाडिमसंयुक्ता देयाः स्युः क्षीरबस्तयः॥
अति प्रवृत्ते रक्ते तु रक्तमेवानुवासयेत्।
शाशं मार्गमथौरभ्रं छागं माहिषमेव वा॥
ओदनं पयसाऽऽमृद्य पारिप्लुतं समाक्षिकम्।
पिबेदिक्षुरसैर्वाऽपि परिमृद्योदनं पुनः॥
न्यग्रोधोदुम्बरप्लक्षवेतसाश्वत्थजैस्तथा।
शृङ्गैरर्थेषां क्षीरेण यवागूः स्थापनं परम्॥
पद्मं शाल्मलिनिर्यासः समङ्गा धातकी तथा।
जम्ब्वाम्रसारो मधुकः लाजा लाक्षा प्रियङ्गवः॥
एतैः शृतं पयः पेयं यवागूं चापि पाययेत्।
तण्डुलोदक युक्तानि पिबेद्वामधुना सह॥
ओदनः कोरदूषाणां मधुना सस्य संभृतः।
पलङ्कषासमायुक्तश्चातिसारं निवर्तयेत्॥
संयुक्तं तिलतैलेन सप्तरात्रस्थितं दधि।
कोरदूषोदनोपेतमतिसारप्रणाशनम्॥
सप्तरात्रं स्थिते तक्रे मूलकं साधयेद्भिषक्।
कोरदूषोदनो योज्यः तेनातीसारनाशनम्॥
वटाङ्कुरो मोचरसो लोध्रमाम्रास्थिकन्दकः।
तरुणानि च बिल्वानि धातकीकुसुमानि च॥
पञ्चरात्रेस्थिते तक्रे यूषमेभिस्तु कारयेत्।
कोरदूषौदनो योज्यः तथातीसारनाशनः॥
नीलोत्पलं नीलतिलाः समङ्गालोध्रमेव च।
क्षीरं विपाचयेदेभिरतीसारविनाशनम्॥
तिलतैलं तथा लोध्रमाजं क्षीरं विपाचयेत्।
प्रवाहिका गुदभ्रंशः सर्वमेतेन शाम्यति॥
बला चातिबला बिल्वमेरण्ड चोरकस्तथा।
एभिर्विपाचयेत्क्षीरं कफपित्तप्रणाशनम्॥
हनुस्तम्भे च पातव्यमशंः शूले च दारुणे।
अनेनैव च कल्केन कुर्यादाच्छादितं शिरः॥
तेन मूर्च्छा भ्रमश्चैव प्रशाम्यति शरीरिणाम्।
उपद्रवाश्च येऽप्यन्ये तेषां तत्तच्चिकित्सितम्॥
शर्करापद्मकौशीरन्यग्रोधोदुम्बरास्तथा।
एभिर्विपाचयेत्क्षीरं तृष्णादाहप्रणाशनम्॥

क्षीरबस्तिं विदद्याच्च पिच्छाबस्तिमथापि वा।
अतियोगे प्रशस्यन्ते शीताश्च घृतबस्तयः॥
जीवादानचिकित्सायां यत्पूर्वं परिकीर्तितम्।
तत्कर्तव्यं गुदभ्रंशे तथा सम्पद्यते सुखम्॥
वातशूले तु सञ्जाते सङ्करप्रस्तरादिकान्।
स्वेदांश्चैवोपदेहांश्च स्वभ्यक्तानां प्रयोजयेत्॥
वचां श्वदंष्ट्रां पूतीकां पञ्चमूलीं च साधिताम्।
यदि वाऽऽस्थापनं दद्यात्सुखोष्णं चानुवासनम्॥
क्षारैः क्षारघृतैश्चापि शूलघ्नैसमुपाचरेत्।
दाधिकं षट्पलं वापि पाययेन्मात्रयाघृतम्॥
एवमेव विबन्धेऽपि विधिं कुर्याच्चिकित्सकः।
याश्च व्यापत्तयः पश्चाद्वमने च विरेचने।
ताश्चिकित्सेत मतिमान् यथा स्वे स्वे चिकित्सिते॥

भे० सि० अ० ४।४४-७४

तत्रोपक्रमसूत्रम्—

तत्रानुपानमेवाहुः केचित्केचित्त्वसाम्प्रतम्॥
भेषजं ह्यतिमात्रं तु जीवादानाय कल्पते।
ऊर्ध्वं दशाहात्परतः स्नेहस्वेदोपपादितम्॥
पाययेत्तीक्ष्णमेवैतं भेषजं कल्पकल्पितम्।
सिद्धिर्विरेचनस्यैषा वमनस्य च कीर्तिता॥
व्यापदश्च चिकित्सा या यथावदनुपूर्वशः।

—भे० सि० आ० ४—७९-८१

अतियोगजन्य व्यापत्तियों की चिकित्सा

हि० व्या०—वमन की अति प्रवृत्ति में विरेचन प्रयोग करना चाहिए। विरेचन की अति प्रवृत्ति में वमन करना चाहिए। वमन के अतियोग में आस्थापन वस्ति का प्रयोग करना चाहिए। वमन और विरेचन दोनों के अतियोग में स्तम्भन औषधि देनी चाहिए। अथवा शहदयुक्ततण्डुलोदक से उस व्यक्ति का उल्लेखन करना चाहिए। हाथ एवं पैर को शीतल जल से धोना चाहिए अथवा शीतल जल से स्नान कराना चाहिए।

लाजवन्ती, मृणाल, चन्दन, पद्मकाष्ठ इनको जल में पीसकर सम्पूर्ण शरीर पर लेप करना चाहिए। अथवा इनके कषाय (क्वाथ) से स्नान कराना चाहिए।

धातकी पुष्प, मधूकपुष्प, लोध्र, कमल, मोचरस, नीलकमल, समङ्गा, (मजीठ) कट्फल, कमलकेशर इनको रक्तशालि से सिद्धकर (शीतल कर) पेया बनाकर, शहद मिलाकर पीना चाहिए। यह अत्यन्त ही स्थापन कारक है।

लाक्षा, लोध्र, समङ्गा, (उशीर) शहद, कमल, नीलकमल बकरी के दूध से सेवन करने पर रक्त स्तम्भन होता है।

कपित्थ पत्रस्वरस, शहद के साथ पीने से रक्त स्तम्भन होता है।

द्राक्षा, बेरफल, दूध और शहद मिलाकर पीने से रक्त स्तम्भन होता है।

जाङ्गल पशु पक्षियों के मांस रस दाड़िम स्वरस के साथ सेवन करना चाहिए। दाड़िम स्वरस और घृत के साथ क्षीरवस्ति देनी चाहिए।

अतिरक्त प्रवृत्ति होने पर खरगोश, हरिण, भेड़, बकरा, एवं भैंस के रक्त का अनुवासन वस्ति में प्रयोग करना चाहिए।

भात को दूध में मथकर छानकर शहद मिलाकर पीना चाहिए।

अथवा इक्षुरस में भात को मथकर छानकर पीना चाहिए।

वट, गूलर, पिलखन, वेत, एवं पिप्पल (पंच क्षीरीवृक्ष) इनके अङ्कुर दूध में पकाकर (यवागू) सेवन करने से परम स्थापक है।

कमल, मोचरस, लाजवन्ती, धातकी पुष्प, जामुन एवं आम की गुठली का सारभाग, मधुआ लाजा (खील), लाक्षा और प्रियङ्गु इनको दूध में पकाकर पीना चाहिए (यवागू पीना चाहिए) अथवा तण्डुलोदक में शहद मिलाकर पीना चाहिए।

तिल तैल में दही मिलाकर सात रात सुरक्षित रखकर कोदो के चावल के भात के साथ सेवन करने से अतिसार नाशक है।

मट्ठा में मूली रखकर सात रात तक सुरक्षित रखकर कोदोचावल के भात के साथ पीने से अतिसार दूर होता है।

वटाङ्कुर, मोचरस, लोध्र, आमकी मज्जा, विल्व, धातकीपुष्प, इनको ५ रात तक मट्ठे में सिद्धकर यूष बनाना चाहिए इनको कोदो चावल के भात के साथ सेवन करने से अतिसार नाशक है।

नील कमल, नीला तिल, लाजवन्ती, लोध्र इनका क्षीर पाक बनाकर सेवन करने से अतिसार दूर होता है।

बला अतिबला, विल्व, एरण्ड, चोरक (ग्रन्थिपर्ण या गठिवन) इनसे क्षीर पाक बनाकर सेवन करने से कफ और पित्त नाशक है। हनुस्तभ, अर्श, शूल, में इनको पिलाना चाहिए और इनके कल्क से शिर को आच्छादित करना चाहिए। इससे मूर्च्छा, भ्रम आदि का शमन होता है। अन्य उपद्रवों के लिए तत्तत् रोगाधिकार की चिकित्सा करनी चाहिए।

शर्करा, पद्मकाष्ठ, उशीर, वट-त्वक्, गूलर-त्वक, इनके क्षीर पाक से तृष्णा और दाह की शान्ति होती है। इनमें क्षीर वस्ति और पिच्छावस्ति भी लाभकारी है। अतियोग की अवस्था में शीतोपचार एवं घृत वस्ति लाभकारी है।

जीवादान की चिकित्सा जो इसी प्रकरण में पहले लिखी गयी है गुद भ्रंश में भी सुखकारी है।

वातजन्यशूल होने पर स्नेहन कराकर सङ्कर और प्रस्तर स्वेद तथा उपदेह करना चाहिए।

वच, गोखरू, करञ्ज, पञ्चमूल से सिद्ध आस्थापन या अनुवासन वस्ति देना चाहिए। क्षार या क्षार सिद्ध घृत का उपयोग करना चाहिए अथवा शूलघ्न औषधियों का प्रयोग करना चाहिए। दाधिक घृत अथवा षट्पल घृत पिलाना चाहिये। विबन्ध में भी इसी प्रकार की चिकित्सा करनी चाहिए।

वमन-विरेचन में जो व्यापत्तियाँ होती हैं उनमें बुद्धिमान् चिकित्सक उन-उन रोगाधिकार की चिकित्साविधि का प्रयोग करें।

वमन विरेचनातियोगोपद्रवानाम् सामान्य चिकित्सा सूत्रम्

शेषेष्वपि चासम्यक्प्रयुक्तवमनविरेचनोपद्रवेषु यथामयं दोषादीनपेक्ष्य प्रतिकुर्याद्वस्तिव्यापत्सिद्धिं चेक्षेत ॥

अ० सं० कल्प० अ० ३।२५

अन्येष्वपि शोधनस्यासम्यग्योगेनोत्पन्नेषु व्याधिषु दोषाद्यपेक्षं कुर्याच्चिकित्साम्। वस्तिव्यापत्सिद्धिं चेक्षेत। एतदौपयिकचिकित्सापरिज्ञानायेत्यर्थः। अत्रो दोषहरणंप्रति तयोर्वस्ति विरेचनयोः सादृश्यात्। सुबोधम्। (इन्दुः)

हि० व्या०—असम्यक प्रयुक्त वमन विरेचन के उपद्रवों में रोगानुसार (उपद्रवानुसार) दोषों का निरीक्षणकर प्रतीकार करना चाहिए या वस्ति चिकित्सा करनी चाहिए।

वमनविरेचनयोः (अनुत्पाद्यैव वेगं) जीर्णावस्थायां जायमानानां उपद्रवाणां वर्णनं तत्र चिकित्सासूत्रं च।

क्रूरकोष्ठस्यतितीक्ष्णाग्नेरल्पमौषधमल्पगुणं वा भक्तवत् पाकमुपैति, तत्र समुदीर्णा दोषा यथाकालमनिर्हृतप्रमाणा व्याधिविभ्रमं बलविभ्रंशं चापादयन्ति तमनल्पममन्दमौषधं च पाययेत् ॥ सु० चि० ३४।७

समुदीर्णाः प्रकुपिताः व्याधिविभ्रमंकोष्ठादि क्षोभलक्षणम् बलविभ्रंशं सन्धिविश्लेषादिलक्षणं दोषादिविज्ञानीयोक्तम्। तमनल्पमित्यादि प्रभूतं तीक्ष्णं च पातुं प्रयच्छेत्। डल्हण॥

हि० व्या०—जिस व्यक्ति की अग्नि तीक्ष्ण हो तथा कोष्ठ क्रूर हो उसे अल्पमात्रा में और अल्पगुणयुक्त औषध का संशोधनार्थ प्रयोग कराये जाने पर भोजन के समान पच जाती है इस स्थिति में उचित समय पर जिन दोषों का

निर्हरण नहीं हो पाया है वे व्याधिविभ्रम और बल विभ्रम की उत्पत्ति करते हैं। अतः उसे प्रचुर मात्रा में तीक्ष्ण औषध पिलानी चाहिए।

संशोधनोपद्रवस्य क्लमरूपस्य सम्प्राप्तिः चिकित्सा सूत्रं च।

स्निग्धस्य मृदु कोष्ठस्य मृदूत्क्लिश्यौषधं कफम्।
पित्तं वातं च संरुध्य सतन्द्रागौरवं क्लमम्॥
दौर्बल्यं चाङ्गसादं च कुर्यादाशु तदुल्लिखेत्।
लंघनं पाचनं चात्र स्निग्धं तीक्ष्णं च शोधनम्॥

च० सि० ६।९२-९३

कफं पित्तं च मरुच्च व्यापत् क्लमं करोति। यद्यपि तत्र गौरवादयस्तथाऽपि क्लमं प्रधानं, बहुत्वं चेति। क्लमेऽपि तत्र लङ्घनादि भेषजमिति। जज्जटः।

हि० व्या०—जिन मनुष्यों का कोष्ठ स्निग्ध और मृदु है। उनको मृदु औषध सेवन करने पर कफ और पित्त को उत्क्लेशित करती है तथा वायु को अवरुद्ध कर तन्द्रा, गौरव एवं क्लम को उत्पन्न करती है। इन लक्षणों से शरीर में दौर्बल्य और शिथिलता आ जाती है। अतः ऐसी अवस्था में शीघ्र वमन कराना चाहिए। वमन के पश्चात् लंघन पाचन तथा स्निग्ध द्रव्यों द्वारा तीक्ष्ण संशोधन (विरेचन) कराना चाहिए।

संशोधन काले ब्रह्मचर्य परित्यागे जायमानाः व्यापदः

.....पैत्तिकान् भजतेऽन्यथा।
मुखपाकं मदं मूर्च्छां प्रलापं पाक विभ्रमौ।
दाहं पिपासां सन्तापं वक्त्रस्याक्ष्णोश्च पीतताम्॥
धूमाभिदूषिते पित्तविकारा ये प्रकीर्तिताः॥

हि० व्या०—ब्रह्मचर्य पालन नहीं करने पर पित्तप्रकृति व्यक्तियों में, मुखपाक, मद, मूर्च्छा, प्रलाप, विषमाग्नि दाह, प्यास, सन्ताप, मुख एवं नेत्रों में पीलापन, तथाधूआं लगने से जो विकार होते हैं वे सभी पित्तजन्य विकार उत्पन्न होते हैं। अतः सावधानता पूर्वक ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए।

अपक्वमलानां शोधने जायमानोपद्रवाणां संकेतः।

अजीर्णेवर्धते ग्लानिर्विबन्धश्चापि जायते।
पीतं संशोधनं चैव विपरीतं प्रवर्तते॥ च० सि० ६।१४

शोधनसम्यग्योगसामग्र्यभिधानं प्रोक्तस्नेहस्वेदयोः फलमभिधाय क्रमागतस्यजीर्णे पीतमित्यस्य विपर्यये दोषमाह—अजीर्णे वर्धते ग्लानिरिति, अजीर्णावस्थायां पीते शोधने सति ग्लानिमर्महती भवति। विपरीतं प्रवर्तते इति वमनमधो याति, विरेचनं चोर्ध्वं याति। चक्रपाणिः।

आमदोषोद्भावनार्थमेवाजीर्णे वर्धत इति। विपरीत प्रवर्तनमजीर्णसामर्थ्यादेव वमनं विरेचनमापद्यते। विरेचनं वा वमनमिति प्रत्येकमुभयस्य चोभयथा प्रवृत्तिर्विपरीतं च। जज्जटः।

अजीर्णावस्था में संशोधन औषध सेवन से हानि—

ह० व्य०- आहार का सम्यक् पाचन न होने पर अर्थात् अजीर्ण की स्थिति में संशोधन (वमन – विरेचन) औषध सेवन करने पर शरीर में ग्लानि उत्पन्न होती है। विबन्ध (कब्ज) हो जाता है। यदि वमनद्रव्य सेवन कराया गया हो तो विरेचन और विरेचन द्रव्य पिलाया गया हो तो वमन हो जाता है। अतः अजीर्णावस्था में संशोधन औषध का प्रयोग नहीं कराना चाहिए।

रूक्ष संशोधनजन्योपद्रवाणां वर्णनं तत्र चिकित्सा सूत्रं च।

रूक्षं विरेचनं पीतं रूक्षेणाल्पबलेन वा।
मारुतं कोपयित्वाऽऽशु कुर्याद्घोरानुपद्रवान्॥
स्तम्भशूलानि घोराणि सर्वगात्रेषु मुह्यतः।
स्नेहस्वेदादिकस्तत्र कार्यो वातहरो विधिः॥

च० सि० ६।९०-९१

अपि च

अस्निग्धं तु यदा रूक्षमौषधं पाययेद्भिषक्।
गृह्णाति कुपितस्तस्य सर्वगात्राणि मारुतः॥ भे० सं० सि० ४।-

रूक्षमित्यादिना उपद्रवानाह। यद्यप्याध्मानादयोऽप्यमी उपद्रवा एव, तथाऽपि तेषां संज्ञान्तरेणैव गृहीतत्वाच्छूलादय एव उपद्रवशब्दाभिहिताः। शूलादयश्चामी प्रधानादुत्तरकालभावित्वादनुपद्रवरूपा अप्युपद्रवशब्देनोच्यते; यथा -"धूमः कुर्यादुपद्रवान्" सू०अ० ५ इति, किंवा, अयोगाख्यस्य व्याधेरमी-उपद्रवा इति ज्ञेयम्। चक्रपाणिः।

रूक्षं विरेचनमिति। कुर्याद् घोरानुपद्रवान्घोराः=कष्टाः। उपद्रवाः=विकाराः। आध्मानादीनां नृक्तत्वात्तेभ्योऽन्ये वातिकाः मारुतं कोपयित्वेति वचनात्। उपद्रवसंज्ञा च विकारे दृष्टा, "धूमः कुर्यादुपद्रवानिति। अथवा पारिभाषिकमेव यथा "उपद्रवस्तु रोगोत्तर काल जातो रोगाश्रयो रोग एव स्थूलोऽणुर्वा पश्चाज्जातः स्तदुपद्रवसंज्ञः" इत्यत्र शब्दज्ञैर्वाभिधानम्। तस्येति। स्तम्भशूलानि घोराणि। सर्वगात्रेषु स्तम्भः शूलं च कष्टमिति। जज्जटः।

हि० व्या०—रूक्ष एवं दुर्बल व्यक्तियों को रूक्ष विरेचन द्रव्यों का सेवन कराने से वह द्रव्य वायु को शीघ्र ही कुपित कर भयंकर उपद्रव उत्पन्न करता है। इन उपद्रवों में रोगी को मोह तथा सर्वाङ्ग में स्तम्भ (जकड़ाहट) और शूल उत्पन्न हो जाता है। ऐसी अवस्था उत्पन्न होने पर रोगी को स्नेहन-स्वेदन कराकर वातनाशक चिकित्सा करनी चाहिए।

अस्निग्धास्विन्नस्य वमनविरेचनप्रयोगात् जायमानस्य वातशूलोपद्रववर्णनं तत्र चिकित्सा सूत्रं च।

अस्निग्धस्विन्नेन रूक्षौषधमुपयुक्तमब्रह्मचारिणा वा वायुं कोपयति, तत्र वायुः प्रकुपितः पार्श्वपृष्ठश्रोणिमन्यामर्मशूलं मूर्च्छां भ्रमं मदं संज्ञानाशं च करोति, तं वातशूलमित्याचक्षते; तमभ्यज्य धान्यस्वेदेन स्वेदयित्वा यष्टीमधुकविपक्वेन तैलेनानुवासयेत् । सु० चि० ३४।७

श्रोणिः कटिः, मर्मात्र हृदयम् । भ्रमः चक्रारूढस्येव भ्रमणम् । मदः पूगफलादनेनेव मत्तता । धान्यस्वेदेन माषादिशमीधान्यस्वेदेन । मूर्च्छाभ्रमयोरनुवासनप्रतिषेधव्यवस्थापेक्षया शीतलेन यष्टीमधुकतैलेनानुवासनं वेदितव्यमिति । डल्हण ।

हि० व्या० स्नेहन-स्वेदन एवं ब्रह्मचर्यरहित व्यक्ति को संशोधनार्थ रूक्ष औषध का सेवन कराने पर वायु कुपित हो जाती है, उस कुपित वायु से पार्श्व, पृष्ठ, श्रोणि प्रदेश, मन्या, मर्मस्थान (हृदय) आदि में शूल एवं मूर्च्छा, भ्रम, संज्ञानाश की स्थिति उत्पन्न हो जाती है । इसे वातशूल कहा जाता है । इस अवस्था में अभ्यंग, धान्यस्वेद से स्वेदन कर मधुयष्टीसिद्ध तैल से अनुवासनवस्ति देनी चाहिए ।

वमनविरेचनयोः भेषजस्य अल्पयोगावस्थायां केवलं दोषोत्क्लेशजन्यानांम् उपद्रवाणां वर्णनम् तत्र यथायथं चिकित्सा सूत्रं च ।

अस्निग्धस्विन्नेनाल्पगुणं वा भेषजमुपयुक्तमल्पान् दोषान् हन्ति; तत्र वमने दोषशेषो गौरवमुत्क्लेशं हृदयाविशुद्धिं व्याधिवृद्धिं च करोति, तत्र तं यथायोगं पाययित्वा वामेदृढतरं; विरेचने तु गुदपरिकर्तनमाध्मानं शिरोगौरवमनिःसरणं वा दायोर्व्याधिवृद्धिं च करोति; तमुपपाद्य भूयः स्नेहस्वेदाभ्यां विरेचयेदृढतरं, दृढं बहुप्रचलितदोषं वा तृतीये दिवसेऽल्पगुणं चेति ॥ सु० चि० ३४।८

अल्पोऽतिसूक्ष्मो गुणो यस्य तत्तथा तम् । तं दोषशेषम् । यथायोगं योगानतिक्रमेण स्नेहादिपूर्वमित्यर्थः । पाययित्वा 'आतुरं वमनद्रव्यम्' इति शेषः । दृढतरमिति दृढतरं यथा भवति तथा । विरेचनेत्विति । अत्रापि दोषशेष इति संबध्यते । गुदपरिकर्तनं गुदस्य सर्वतः कर्तनमिव वेदनाविशेषः । दृढदेहं बहुदोषं प्रचलितदोषं च पूर्वं स्निग्धस्विन्नं तृतीयेह्नि; अन्ये तु वमनदिवसाद्विरेचयेद्वेति । डल्हणः ।

हि० व्या० — दोषोत्क्लेशजन्य उपद्रव वर्णन —

बिना स्नेहन स्वेदन के अल्पगुणों वाली औषध का संशोधनार्थ प्रयोग करने पर अल्पदोषों का निर्हरण होता है । अतः वमन कर्म में अवशिष्ट दोष, गौरव, उत्क्लेश, हृदय की अशुद्धि और व्याधि की वृद्धि करते हैं । इस स्थिति में उपयुक्त व्यवस्था करके (स्नेहन स्वेदनादि) वामक औषध द्वारा भली प्रकार वमन कराना चाहिए । इसी प्रकार सम्यक् विरेचन न होने पर अवशिष्ट दोष गुदपरिकर्तन, आध्मान, शिरोगौरव, वातावरोध, तथा रोग की वृद्धि करते हैं । इस स्थिति में स्नेहन स्वेदन का प्रयोग कर तीक्ष्ण विरेचन देना चाहिए ।

चलायमान और बहुदोष वाले व्यक्ति को स्नेहन स्वेदनादि के अनन्तर तीसरे दिन अल्पगुण वाली औषध का प्रयोग करना चाहिए ।

वमनविरेचनयोः सशेषभेषजरूपव्यापदां वर्णनं तत्र चिकित्सा सूत्रं च

दोष विग्रथितमल्पमौषधमवस्थितमूर्ध्वभागिकमधोभागिकं वा न स्रंसयति दोषान्, तत्र तृष्णा पार्श्वशूलं छर्दिर्मूर्च्छा पर्वभेदो हृल्लासोऽरतिरुद्गारविशुद्धिश्च भवति; तमुष्णाभिरद्भिराशु वामयेदूर्ध्वभागिके, अधोभागिकेऽपि च सावशेषौषधमति प्रधावितदोषमतिबलमसम्यग्विरिक्तलक्षणमप्येवं वामयेत् ॥ सु० चि० ३४।६

दोषविग्रथितं दोषमिश्रितम् । न स्रंसयति न च्यावयति । पर्वभेदः ग्रन्थिस्फुटनम् । हृल्लासः थूत्करणं, 'थुकथुकी' इति लोके । अरतिर्न कुत्रचिदवस्थितिश्चित्तस्य । तमवस्थितात्पौषधं तृष्णादन्वितमूर्ध्वभागिके वमनद्रव्यविषये वामयेत् । अधोभागिकेऽपि चेत्यादि । अधोभागिके विरेचनद्रव्यविषये यः सावशेषौषधोऽतिप्रधावितदोषस्तमसम्यग्विरिक्तमप्यतिप्रधावितदोषत्वहेतुना वामयेत् परमतिबलं पुरुषम् ॥ डल्हणः ॥

सशेषभेषज व्यापद का वर्णन—

संशोधनार्थ औषध के जीर्णावशेष और दोषयुक्त अल्प मात्रा में प्रयुक्त औषध दोषों के निर्हरण में समर्थ नहीं होती तृष्णा, पार्श्वशूल, वमन, मूर्च्छा, पर्वभेद, हृल्लास, अरति तथा उद्गार भी शुद्ध नहीं होता । वमन योग्य व्यक्ति को जीर्णावशेष औषध को निर्हरण के लिए उष्ण जल से शीघ्र वमन करना चाहिए । विरेचन की स्थिति में भी असम्यक् विरिक्त के लक्षणों का ज्ञान करके बलवान् पुरुष को बहुदोष युक्त जीर्णावशेष औषध को वमन द्वारा निर्हरण करना चाहिए ।

व्यापदां चिकित्सायां आरोग्याथम् आवश्यकता ।

इत्येता व्यापदः प्रोक्ताः सरूपाः सचिकित्सिताः ।
वमनस्य विरेकस्य कृतस्याकुशलैर्नृणाम् ॥
एता विज्ञाय मतिमानवस्थाश्चैव तत्त्वतः ।
दद्यात् संशोधनं सम्यगारोग्यार्थी नृणां सदा ॥

च० सि० ६।९४-९५

हि० व्या०—संशोधन (वमन-विरेचन) की व्यापत्तियों का वर्णन करने के अनन्तर महर्षि पुनर्वसु आत्रेय ने कहा कि अदक्ष चिकित्सक द्वारा संशोधन कर्म कराये जाने पर उत्पन्न होने वाली व्यापत्तियों (रोगों) का लक्षण एवं चिकित्सा का वर्णन कर दिया गया है । ज्ञानवान् चिकित्सक इन व्यापत्तियों को भली प्रकार समझकर तथा अवस्थाओं को समझकर प्रयोग करे जिससे मानव सदा स्वस्थ रह सके ।

वमनस्य कदाचित् अधोगमनरूपव्यापत्ति कारणम् तत्र चिकित्सा सूत्रं च

तत्र बुभुक्षापीडितस्यातितीक्ष्णाग्नेर्मृदुकोष्ठस्य चावतिष्ठमानं दुर्बलस्य वा गुणसामान्यभावाद्वमनमधो गच्छति, तत्रेप्सितानवाप्तिर्दोषोत्क्लेशश्च; तमाशु स्नेहयित्वा भूयस्तीक्ष्णतरैर्वामयेत् ॥ सु० चि० ३४।४

वमनस्याधोगमनाख्यां व्यापदं दर्शयन्नाह—तत्रेत्यादि । प्रथमं क्षुत्पीडितस्य पीतमात्रमेवाधो याति, तीक्ष्णाग्नेरग्निबलात् पाकं याति, मृदुकोष्ठस्यापि कोष्ठमार्दवादधो याति, दुर्बलस्य चावतिष्ठमानं पाकं गच्छत् सरत्वादिगुणसाम्यादधो याति । दोषोत्क्लेशश्चेति दोषस्य सामान्यवाचित्वेऽपि कफो गृह्यते, तस्य वमनार्हत्वात् । स्नेहयित्वेत्यत्र स्नेहेनैव स्वेद आक्षिप्तो बोद्धव्यः । डल्हणः ।

परिशिष्टाच्चतुर्दशव्यापदस्तु वमनविरेचने प्रतिसमाना इत्यभिसन्धायाऽऽसामान्यमिति । सूत्रितमर्थं क्रमेण विवृणोति तत्रेति दुर्बलस्याद्दुर्बलस्य बुभुक्षापीडितादेस्त्रितयस्य हि कफाल्पभावात् बलवता पित्तेनामाशयमधितिष्ठत्तीक्ष्णं नाम वमनमाश्वेव स्वगतेनाग्निगुणेनातुरशरीरस्थमुद्रिक्तं पित्तं सामान्यादभिवर्ध्यप्रबलपित्तान्वयात् सदोषमात्मानमधोनिमीपतीति साम्प्रतमुक्तं बुभुक्षेति । अत्र समानमेव सामान्यम् तद्धितोऽयमनन्यार्थः । तया च गुणसामान्यभावात् नेदिष्ठविरेचनेनातुरशरीरस्थेन बलीयसापित्तेन सह भेषजगतस्याऽग्निगुणस्य तुल्यत्वादित्यर्थः । न तावदव्याख्यानमिदमश्रद्धेयम् "क्षुधार्तमृदुकोष्ठाभ्यां स्वल्पोत्क्लिष्टकफेन वा । तीक्ष्णं पीतं स्थितं क्षुब्धं वमनं स्याद्विरेचनम्" इति । "च० सि० ५-६") स्मरणात् । हाराणचन्द्रः अपि च — ॥

कर्शिते रूक्षिते वापि सुकुमारे सुदारुणे ।
असंजातकलस्यैव न च स्निग्धस्य देहिनः ॥
छर्दनं वा स्थितं क्षुब्धं विरेकायोपपादयेत ।
भे० सि० ४।७८

अतिक्षुधितेन मृदुकोष्ठेनाल्पश्लेष्मणा दुर्बलेन दुर्बलेन हीनमात्रमतितीक्ष्णमतिशीतमजीर्णे वा पीतं वमनमधो गच्छति ॥

तत्रेप्सितानवाप्तिर्मलोत्क्लेशश्च । तं पुनराशु स्नेहयित्वा यौगिकैर्मात्राकालाद्यपेक्षं व्यापत्कारणानि च पूर्वमति स्मरन् परिहरेत् ॥
अ० सं० क० ३।१-२ ॥

वमनं मृदु कोष्ठेन क्षुताल्पकफेन वा ।
अतितीक्ष्ण हिमस्तोकमजीर्णे दुर्बलेन वा ॥
पीतं प्रयात्यधस्तस्मिन्निष्टहानिर्मलोदयः ।
वामयेत्तं पुनः स्निग्धं स्मरन् पूर्वमतिक्रमम् ॥ अ० हृ० क० ३।१-२
फलाम्ल वल्कश्च रसाञ्जनं च
लोध्रं च तत्तण्डुलवारियुक्तम् ।

पिबेद्विरेके वमनेन वृद्धे
तेनाशु शान्तिं लभते हि बालः ॥ का० सि० अ० ३।

अति क्षुधितत्वादियुक्तेन पीतं वमनमधो गच्छति । नैव वामयतीत्यर्थः । येनैव वा हीनमात्रत्वादियुक्तं पीतमधो गच्छति । तत्राधो गते वमन ईप्सितस्य छर्दितरोगोपशमनस्यानवाप्तिर्दोषोत्क्लेशश्च तं पुनर्वामयेत् व्यापत्कारणानि च परिहरेत् ॥ इन्दुः ॥

एवं विधेन पुरुषेणैवंविधं वमनं पीतमधः प्रयाति । तस्मिन्वमनेऽधस्तात्प्रयाते सतीष्टहानिरभिप्रेतस्य वमनकार्यस्यानिष्पत्तिः । तथा मलस्य वमनसाध्यस्य श्लेष्मणः केवलस्यान्यदोषयुक्तस्य वोदयः स्वस्थानस्थस्यैवामयकरणं प्रति चलप्रबलके च तं पुरुषं पीतवमनं पुरुषमथवा वातं पुनः स्निग्धं वामयेत् ।

पूर्वं स्निग्धमपीति पुनः शब्दस्यार्थः । कथं वामयेत् । स्मरन् पूर्वमतिक्रमम् यतोऽतिक्रमात् पीतवमनोऽथवाऽसौ पुरुषो वमनकर्मणः फलं नाप्तवान् । तमतिक्रममपराधं स्मरंश्चेतसि कुर्वाणो नत्वेवमेव वामयेत् ॥ अरुणदत्तः ।

वमनमित्यादि—मृदुकोष्ठत्वादियुक्तेन पीतं वमनमधोगच्छति । नैव वामयतीत्यर्थः क्षुद्वताऽति क्षुधितेन दुर्बलेन वा । अतितीक्ष्णमतिशीतम् । स्तोकं हीनमात्रम् । अजीर्णे वा पीतं वमनमधः प्रयाति । तस्मिन्नित्यधोगते वमने इष्टस्येप्सितस्य छर्दितरोगोपशमादेर्हानिरनवाप्तिः । मलोदयो दोषोत्क्लेशः कफस्य केवलस्यान्यदोषस्य वोदयः स्वस्थानस्थस्यैवामयकरणं प्रतिप्रचलिकेव । तमित्यधोगतवमनं पुनर्वामयेत् । पूर्वं स्निग्धमपीति पुनश्शब्दार्थः कथमित्याह पूर्वमतिक्रमं येन च व्यतिक्रमेण पूर्वं सम्यग्योगहानिरभूत् तमित्यर्थः । स्मरन् चेतसि कुर्वन् नत्वेवमेव वामयेत् ॥ इन्दुः ॥

हि० व्या०—आचार्य सुश्रुत के अनुसार रिक्तकोष्ठ (क्षुधा से पीड़ित) तीक्ष्णाग्नि व्यक्ति, मृदुकोष्ठ, या दुर्बल व्यक्ति का वमन द्रव्य पचकर अपने सरल गुण के कारण नीचे की ओर प्रवृत्त होकर निकल जाता है इससे इच्छित (वमन) कर्म नहीं होता है तथा कफदोष की वृद्धि (उत्क्लेश) होती है । ऐसी अवस्था में रोगी का शीघ्र स्नेहन करके पुनः अतितीक्ष्ण वामक औषधि पिलाकर वमन कराना चाहिए । इस सन्दर्भ में आचार्य वाग्भट का विचार भी समान ही है । आचार्य काश्यप के अनुसार अम्लरसयुक्त फलों के छिलके, रसाञ्जन तथा लोध्र को तण्डुलोदक के साथ पीसकर पिलाना चाहिए । इससे शीघ्र ही शान्ति मिल जाती है ।

पंचम अध्याय

वमन-प्रकरणम्

वमन कर्म परिचय:

प्रथम-प्रकरण विषय प्रवेश में जिन पांच प्रधान कर्मों का नामोल्लेख किया गया है उनके गणनाक्रम में सर्व प्रथम 'वमन कर्म' को लिया गया है। आहार-विहार की उपेक्षा से आम दोष की उत्पत्ति हो जाने तथा किन्हीं कारणों से श्लेष्मा की वृद्धि हो जाने से जठराग्नि प्रभावित होती है। जठराग्निमांद्य अथवा विषमाग्नि से शारीरिक पोषण में अवरोध हो जाता है तथा वृद्ध दोष धातुओं को दूषित करने लगते हैं यह सामान्य प्रक्रिया है। प्रमुख रूप से कफज रोगों में वमन कर्म को श्रेष्ठ बताया गया है। कफ का प्रमुख स्थान शरीर का ऊर्ध्व भाग है इसमें आमाशय को प्रधान स्थान बताया गया है। जो जो विकृतियां दोषानुसार शरीर के विभिन्न भागों में उत्पन्न होती है उनके संशोधन हेतु सन्निकट मार्ग को शास्त्रों में प्रशस्त माना है। अतः कफ का स्थान आमाशय होने से उसके सन्निकट मार्ग मुख द्वारा वृद्ध कफ एवं आम दोष को बाहर निकालना ही सर्व श्रेष्ठ है। इसी प्रक्रिया को वमन कर्म कहते हैं।

यदि कफ को आमाशय से पृथक् कर दिया जाय तो उसकी विकारोत्पत्ति जन्य प्रवृति का अवरोध हो जाएगा। आमाशयगत कफ के उपशमन से कफ के अन्यान्य भेदों की दुष्प्रवृतियों का भी नियमन हो जाता है। अतः आमाशय शुद्धि से अन्य श्लेष्म भेदों में नियमित प्रक्रिया होने से सम्पूर्ण शरीर से विकार की शनैः शनैः उपशान्ति हो जाती है।

अन्य सिद्धान्त के अनुसार बढ़े हुए दोषों का निर्हरण कर देना भी रोगों के उपशमन में सहायक प्रक्रिया है- 'वृद्धानिर्हरतव्यो' (सु० चि० ३३।२)

जिस व्यक्ति का संशोधन कराया जाता है उसके दोषों को स्नेहन एवं स्वेदन द्वारा स्थान से हटाकर चलायमानावस्था में प्रवृत करते हैं। शाखाओं से दोष कोष्ठ के जिस भाग में आते हैं उनके लिए सन्निकट मार्ग द्वारा निर्हरण प्रक्रिया को अपनाया जाता है। अतः आमाशयगत दोषों में वमन कर्म श्रेष्ठ है।

इस प्रकरण में वमन के उपयोग, योग्य रोग एवं रोगी, औषध तथा संशोधन प्रक्रिया विधि, सम्भावित उपद्रव एवं उनके शमन के उपायों का यथाक्रम वर्णन किया जा रहा है।

वमन शब्दस्य निरुक्तिः

जिस कर्म द्वारा दोषों को ऊर्ध्व मार्ग से छर्दन, आहरण या निःसारण होता है उसे वमन कर्म कहा जाता है।

वम + भावे ल्युट् से वमन शब्द निष्पन्न हुआ है।

वाचस्पत्यम्। षष्ठोभागः।
पृ० सं० ४८४७

वमन परिभाषा

अपक्वपित्तश्लेष्माणं। बलादूर्ध्वं नयेत्तु यत्।
वमनं तद्धि विज्ञेयं मदनस्य फलं यथा। शा०प्र०४।७

वमनं तु सर्वोपक्रमेभ्यः श्लेष्मणि प्रधानतमं मन्यन्ते भिषजः।
च० सू० अ० २०।१९

वमनं श्लेष्महराणाम्। च० सू० अ० २५।४०

अपक्वमिति। यद्द्रव्यमपक्वं पाकमगच्छन्तं पित्तश्लेष्माणं व्यस्तं मिश्रितं वा बलात् हठात्कारेण ऊर्ध्वं नयेत् मुखे कृत्वा वामयेदित्यभिप्रायः। तद्वमनं विज्ञेयं यथा मदनस्य फलम्। बलादिति प्रभाव सूचकशब्दः, यतो वमनद्रव्याणि वाय्वग्निगुणभूयिष्ठानि वाय्वग्नी हि लघुत्वाच्च तान्यूर्ध्वमुत्तिष्ठन्ति। लघुत्वं चेह प्रभावविशेषाधिष्ठितं मदनफलादिद्रव्यसमवेतं ग्राह्यं न तु लघुत्वमात्र, अन्यथा कपिञ्जलकलाजादीनां च वामनीयत्वं स्यात्। ननु कफस्य वमनं पित्तस्य विरेचनं प्रशस्तमिति प्रसिद्धिः, तत् कथं पित्तस्य वमनमिति? उच्यते—अपक्वपित्तस्य वमनादेव निवर्हणं बोद्धव्यम्। तच्च दृश्यते हि कटुतिक्तहरित्पीताम्लवमनत्वेन यतः पित्तदग्धमम्लतामुपैतीति। अत एवाऽम्लपित्तचिकित्सायामादौ वमनमित्यदोषः॥ आढ़मल्लः॥

यद्द्व्यं अपक्वं पित्तश्लेष्मान्नचयं ऊर्ध्वं नयेत् हि निश्चयेन तत् वमनं विज्ञेयं। यथा मदनस्यफलं, अपक्वं पित्तं च, अपक्वः श्लेष्मा च अपक्वमन्नं च अपक्वपित्तं च, अपक्वः श्लेष्मा च अपक्वमन्नं च अपक्वपित्तश्लेष्मान्नानां चयं अपक्वपित्तश्लेष्मान्नचयं अत्र श्लेष्मन् शब्दस्य नकारस्य लोपे याते सति लोपशि

---

१. वमन न० वम ल्युट्।
क मर्दने
ख छर्दने (मेदि०)
ग आहृतौ (विश्वः)
घ निःसारणे च

पुनर्नसंधिरित्युक्तत्वात् । स सवर्णे दीर्घः सह' इत्यनेन सूत्रेण पूर्वापरवर्णयोर्मिथो घटनरूपसन्धिर्नं अत्र पुनर्ग्रहादेव सन्धिः, अन्यथा दामोदडिण्डित्यादौ सन्धिर्नं स्यात् । अतोऽत्र सन्धिर्युक्त एव ॥ काशीराम शास्त्री

हि० व्या० — जिस द्रव्य के प्रयोग से अपक्वपित्त, कफ तथा अन्न हठात् ऊर्ध्वभाग द्वारा बाहर निकल जाय उसे 'वमन' की संज्ञा दी जाती है । यथा मदनफल (मैनफल) । वमनद्रव्य वायु एवं अग्निगुण प्रधान तथा लघु होने के कारण आमाशय से ऊर्ध्व मार्ग की ओर जाकर वमनकर्म करते हैं ।

अतः श्लेष्महर प्रक्रियाओं में जिस कर्म को प्रधान बताया गया है उसे वमन कहा जाता है ।

वमन सामान्य गुणाः

मेदोदौर्गन्ध्यकफजं रोगंर्वान्तिश्च मुच्यते ।
रोगोपशान्तिर्ह्रासो वा विशुद्धि लाघवासु च ॥ का० सि० च

हि० व्या० — वमन के गुणों का निर्देश करते हुए लिखा है कि वमन से मेदो रोग (मेदस्विता-मोटापा), शरीर की दुर्गन्धि एवं कफज रोग दूर हो जाते हैं । कफज रोगों की शान्ति या ह्रास होता है । शरीर शुद्ध हो जाता है तथा शरीर में लघुता आ जाती है ।

विरेचनात् प्राक् वमन विधानस्य सयुक्तिकं महत्वम्

विरेचनमपि स्निग्धस्विन्नाय वान्ताय च देयम्, अवान्तस्य हि सम्यग्विरिक्तस्यापि सतोऽधः स्रस्तः श्लेष्मा ग्रहणी छादयति; गौरवमापादयति, प्रवाहिकां वा जनयति ॥ सु० चि० ३३।३९

विरेचनमपीत्यादि । वान्तायापि पुनः स्निग्धस्विन्नाय देयं; तच्च पक्षादूर्ध्वं, 'पक्षाद्विरेको वान्तस्य' (चि० अ० २६) इत्युक्तत्वात् । तत्रान्नसंसर्गेण दिनानि षट्, स्नेहेनापि, ततः स्विन्नं त्र्यहमेव लघूष्णभोजिनं रेचयेत् । 'वान्तं षडहसंसृष्टं पुनः संस्नेहितं क्रमात् । उष्णं लघु त्र्यहं भुक्तं षांडशेऽह्नि विरेचयेत्' इति । तत्र वमने स्नेहादेकाहमेवोपरमो, विरेके त्र्यहम् । तथा हि चरकः— 'एकाहोपरतः स्नेहाद् भुक्त्वा प्रच्छर्दनं पिबेत्' (च० सू० १३) इति । अवान्तस्य हि विरेकदाने को दोष इत्याह-अवान्तस्येत्यादि । तस्मात् स्निग्ध स्विन्नाय वान्ताय देयमिति ॥ डल्हणः ॥

अकृतवमनस्य हि श्लेष्मणोपहतमौषधमूर्ध्वं प्रवर्तते । उरसि वाऽवरुद्धमवतिष्ठते । ततो नालं विरेकाय । सम्यग्विरिक्तस्यापि चाधः सस्तः श्लेष्मा ग्रहणी छादयित्वा गौरवमापादयति प्रवाहिकां वा । न त्वेष दोषोऽति क्रूरकोष्ठस्य वाय्वात्मकत्वात् ।

श्लेष्मकाले त्वकृतवमनोक्त दोषः । शूलाध्मानगौरवाणि च कृत्वा छर्दिक्षीणे श्लेष्मण्यपराह्णे रात्रौ वा विरेचयेत् । तेनान्नावृतमपि तुल्यं छर्दि च पुनस्तज्ज-

नयति । अविरिक्तस्य तु श्लेष्मकाले वमय योज्यं तथोर्ध्वं सुखेन निर्हरणात् ॥
अ० सं० सू० २७।२८-२९

अकृत वमनस्येत्यादि । अकृतवमनस्य स्नेहादिना हृदि श्लेष्मावश्यमेव भवतीति । तेन श्लेष्मणा उपहतं विरेकौषधं पीतं मुखेन प्रत्यागच्छति । अथवा वक्षसिरुद्धं विरेकाय तथा विरिक्तस्य श्लेष्मा हृदयात् कुक्षावपस्रस्तो ग्रहणीं छादयित्वा कोष्ठगौरव प्रवाहिकां वापादयति । क्रूरकोष्ठस्य तु वातकोष्ठत्वात् श्लेष्मा कोष्ठे न किञ्चिच्छकनोति । य एवाकृत वमनस्य विरेचनेन दोष उक्तः । स एव कृत वमनस्यापि श्लेष्मकालपीतेन - अथवा श्लेष्मकालपीतेन विरेचनेनान्नावृतमपि विरेचनं पीयते तदन्नावृतं विरेचनं क्षीणेऽन्ने सायाह्ने रात्रौ वा विरेचयेत् । तदन्नावृतं पुनश्छर्दि जनयतीति श्लेष्मकालपीताद्विशेषः । यः पुनः पूर्वमविरिक्तस्तस्या विरिक्तस्य श्लेष्मकालपीतं वमनं सुखेन स्वकार्यं करोति ।
इन्दुः ॥

हि० व्या० —स्नेहन-स्वेदन के अनन्तर एवं विरेचन से पूर्व ही वमन कर्म कराना चाहिए । क्योंकि वमन कर्म से रहित सम्यक् विरिक्त रोगी का भी अधः प्रवृत्त कफ, ग्रहणी को आच्छादित कर लेता है और गुरुता तथा प्रवाहिका रोग उत्पन्न करता है ।

आचार्य वाग्भट ने भी इस सन्दर्भ में अपना विचार व्यक्त करते हुए लिखा है कि वमन कर्म से पूर्व यदि विरेचन दे दिया जाय तो विरेचनौषध कफ से मिश्रित होकर (मिलकर) उर्ध्व भाग से मुख में आ जाती है । या उरः प्रदेश में रुक जाती है और अभिप्रेत विरेचनकर्म नहीं हो पाता है । यदि विरेचन हो भी जाय तो कफ से ग्रहणी आच्छादित हो जाती है जिससे अङ्ग गौरव या प्रवाहिका रोग उत्पन्न हो जाते हैं परन्तु अति क्रूर कोष्ठवाले व्यक्ति में वमन नहीं कराने से इस तरह के उपद्रव नहीं होते क्योंकि उनमें वायु की प्रधानता होती है । कफ काल (प्रातः) में पिलायी गयी विरेचनौषध से विरेचन न होकर वमन हो जाता है अथवा वमन के कारण शरीर में क्षीणता होने पर कफ काल (प्रातः काल) में पिलायी गयी विरेचनौषध से शूल आध्मान, गौरव (भारीपन) उत्पन्न हो जाते है । अपराह्ण में या रात्रिकाल में कफ के क्षीण होने पर विरेचन होता है । अन्न से भरे कोष्ठ में भी विरेचनौषध पिलाने से इसी प्रकार के लक्षण उत्पन्न होते हैं । अन्नावृत कोष्ठ में विरेचनौषध से वमन भी हो जाता है । इस प्रकार के लक्षण होने पर कफकाल (प्रातः काल) में तथा रोगी को रिक्त कोष्ठ में वमन देना चाहिए । यदि अन्न से विरेचनौषध आवृत हो जाय तो दोषों को ऊर्ध्वमार्ग से निर्हरण कराना चाहिए ।

वमनयोग्यानां संकेतः

विशेषतस्तु पीनसकुष्ठनवज्वरराजयक्ष्मकासश्वासगलग्रहगलगण्डश्लीपदमेह-मन्दाग्निविरुद्धाजीर्णान्नविसूचिकालसकविषगरपीतदष्टदिग्धविद्धाघःशोणितपित्त-प्रसेकदुर्नामहृल्लासारोचकाविपाकापच्यपस्मारोन्मादातिसारशोफपाण्डुरोगमुख - पाकदुष्टस्तन्यादयः श्लेष्मव्याधयो विशेषेण रोगाध्यायोक्ताश्च; एतेषु हि वमनं प्रधानतममित्युक्तं केदारसेतुभेदे शाल्याद्यशोषदोषविनाशवत् ॥

च० सि० २।१०

पीनसादीन् पुनर्वमनविषयतया दर्शयन् तेषु विशेषेण वमनस्य यौगिकतां दर्शयति; एवमुत्तरत्रापि पुनर्विरेचनादिविषयोपदर्शने व्याख्येयम् । प्रधानतम-मित्यनेन महारोगाध्याये 'केदारसेतुभेद' इत्यादिनैकदेशेनोक्तं प्राधान्यख्यापकं ग्रन्थं ग्राह्यति; तेन यदुक्तं तत्र—'वमनं खलु सर्वोपक्रमेभ्यः श्लेष्मणि प्रधानतमं मन्यन्ते भिषजः, तद्ध्यादित एवामाशयमनुप्रविश्य केवलं वैकारिकं श्लेष्ममूल-मपकर्षति, तत्रावजिते, श्लेष्मविकाराः प्रशान्तिमापद्यन्ते, यथा भिन्ने केदारसेतौ शालिषष्टिकादीन्यभिष्यन्दमानान्यम्भसा प्रशोषमापद्यन्ते, तद्वत्' (सू० अ० २०) इति ग्रन्थखण्डकं, तदिह संबध्यते; एवं विरेचन प्राधान्ये तथा बस्तिप्राधान्येऽपि यदिहैकदेशं महारोगाध्यायोक्त प्रधान्यख्यापकग्रन्थखण्डकं वक्ष्यति, तत्र तद्-ग्रन्थाध्याहारेण योजनीयम् । चक्रपाणिः ॥

वाग्भास्तु – विषशोषस्तन्यदोषमन्दाग्न्युन्मादापस्मार श्लीपदार्बुदविदारिका-मेदोमेहगरज्वरारुच्यपच्यामातीसारहृद्रोगचित्तविभ्रमविसर्पविद्रध्यजीर्णमुखप्रसेक-हृल्लासश्वासकासपीनसपूतिनाशकण्ठौष्ठ वक्त्रपाककर्णस्रावाधिजिह्वोपजिह्विका-गलशुण्डिकाधः शोणितपित्तिनः कफस्थानजेषु विकारेष्वन्ये च कफव्याधिपरीता इति ॥

सु० चि० ३३।१८

ज्वरोऽत्र नवज्वरो विषमज्वरश्च, क्वचित् पूतिनाशाग्रे कुष्ठगलगण्डप्रमेह-शोफाः पठिताः । केचित् सुश्रुताध्यायिनो न पठन्त्यमुं पाठं, तेषामयमभिप्रायः-यथास्वं तत्प्रत्यनीकव्याधिषु वमननिर्देशान्नार्थोऽनेनेति । डल्हणः ॥

कासोपलेपस्वरभेदनिद्रा-
तन्द्रास्य दौर्गन्ध्यविषोपसर्गाः ॥
कफप्रसेकग्रहणीप्रदोषा
न सन्ति जन्तोर्वमतः कदाचित् ॥
छिन्ने तरौ पुष्पफलप्ररोहा
यथा विनाशं सहसा व्रजन्ति
तथा हृते श्लेष्मणि शोधनेन
तज्जा विकाराः प्रशमं प्रयान्ति ॥

सु० चि०३३।१२-१३ ।

अतः परं वमनफलाभिधानं-कासेत्यादि : उपलेपः स्रोतः सु मलवृद्धिः, उपसर्गाः शीतलिकादयः । केचित् 'कफप्रसेकस्वरभेदतन्द्रानिद्रास्यदौर्गन्ध्यकफोप-सर्गाः । गुरुत्वकण्डूग्रहणीप्रदोषा न सन्ति जन्तोर्वमतः कदचित्' इति पठन्ति ॥

डल्हणः ॥

तत्र वमनसाध्या विषपीतदष्टदिग्धविद्धविरुद्धाजीर्णान्नवज्वरराजयक्ष्माति-साराधोरक्तपित्तविसूचिकाऽलसकाविपाकारोचकापचीग्र-न्थ्यर्बुदश्लीपदमेदोगरो-न्मादपस्मार श्वासकासहृल्लासविसर्पप्रमेहकुष्ठपाण्डुवर्त्ममुखघ्राणकपालरोग कर्णकोथशोफस्तन्यदोषादयो दोषभेदीयोक्ताश्च श्लेष्मव्याधयो विशेषेणैते हि परं वमनेन नाशमुपयान्ति । सलिलापगमेनानिष्पन्न शाल्यादिवत् ॥

अ० सं० सू० २७।६

तत्र विषपीतादयो दोषभेदीयोक्ताश्च ये श्लेष्मव्याधयस्ते सर्वे वमन-साध्याः । यद्यपि सकलदेहदोषापनयनात्सकलरोगपथ्यत्वं वमनस्य । तथाप्येते यथोद्दिष्टा रोगा विशेषेणात्यन्तिकं नाशमुपयान्ति । यथा निष्पन्ना अर्धपक्वाः शाल्यादयः केदारात्सलिलापगमनेनाश्वेव नश्यन्ति । तद्वदेतेऽपि दोषहरणेन । विषपीतो येन स्वरूपेणैव विषं पीतं । दष्टः सर्पादिना । दिग्धविद्धो विषोप-लिप्तसायकाद्याहतः । मेदोगदाः सर्वे मेदोहेतुका विकाराः । रोगशब्दस्य पाण्ड्वादिभिः सम्बन्धः । स्तन्यदोषा बालामयोक्ताः आदिग्रहणेनान्येषां श्लेष्म-जानां ग्रहणम् । शालिदृष्टान्तः एतेषां रोगानामभिनवानां वमनयोग्यताप्रदर्श-नार्थम् ।

इन्दुः ॥

विशेषेण तु वामयेत् ।
नवज्वरातिसाराधः पित्तासृग्राजयक्ष्मणः ।
कुष्ठमेहाऽपचीग्रंथिश्लीपदोन्मादकासिनः ॥
श्वासहृल्लासवीसर्पस्तन्यदोषोर्ध्वरोगिणः ॥

अ० हृ० सू० १८।३

ऊर्ध्वरोगा जत्रूर्ध्वरोगाः । संग्रहे तु विषपीतदष्टादिग्धविद्धविरुद्धाजीर्णान्न-विसूचिकालसकाविपाकारोचकार्बुद मेदोगदापस्मारपाण्डुरोगा दोषभेदीयोक्ताश्च श्लेष्मव्याधय इत्यधिका युक्तिश्च एते हि परं वमनेन नाशमुपयांति सलिलाप-गमादनिष्पन्नशाल्यादिवदिति ॥ हेमाद्रि ॥

तत्र कफजेषु कफादिकदोषजेषु च व्याधिषु मध्ये नवज्वरादयो वमनेनात्य-न्तिकन्नाशमुपयान्तीति दर्शयन्नाह-विशेषेणेति । नवज्वरादिमतः । विशेषेण वामयेत् । नवज्वरादियुक्ताषोडश वमनयोग्याः । स्तन्यदोषा बालामय प्रति-षेधोक्ताः । ऊर्ध्वरोगिणो जत्रूर्ध्वरोगिणः ।

परमेश्वरः ॥

वामयेच्छ्लेष्मकासे च प्रतिश्याये च मानवान् ।
हृद्रोगे चैव कुष्ठे च सर्वश्लेष्मामयेषु च ।
भे० सं० सू० २१।२

बलवन्तं कफव्याप्तं हृल्लासादिनिपीडितम् ।
तथा वमनसात्म्यं च धीरचित्तं च वामयेत् ॥
विषदोषे स्तन्यरोगे मन्दाग्नौ श्लीपदेऽर्बुदे ।
हृद्रोगकुष्ठवीसर्पमेहाजीर्णभ्रमेषु च ॥
विदारिकापचीकासश्वासपीनसवृद्धिषु ।
अपस्मारे ज्वरोन्मादे तथा रक्तातिसारिषु ॥
नासातालोष्ठपाके च कर्णस्रावेऽधिजिह्विके ।
गलशुण्ड्यामतीसारे पित्तश्लेष्मगदे तथा ।
मेदोदोषेऽरुचौ चैव वमनं कारयेद्भिषक् ॥
शार्ङ्गधर, योगरत्नाकर, भावप्रकाश

कर्के कफोल्वणे चापि वमनं सम्प्रशस्यते ।
वामयेदतिसारार्त्तमधः पित्तास्रयोगिणम् ।
ग्रंथिमेहापचीकुष्ठश्लीपदोन्मादरोगिणः
सर्वदोषप्रतीसर्पश्वासकासोर्ध्वरोगिणः ।
नवज्वरप्रतीतञ्च हृल्लासार्तं विशेषतः ॥ वंगसेन वमन प्र० ३।४

वमनयोग्य रोग और रोगी

हि० व्या०—विशेषतया पीनस, कुष्ठरोग, नवीन ज्वर, राजयक्ष्मा, कास, श्वास, गलग्रह, गलगण्ड, श्लीपद, प्रमेह, मन्दाग्नि, विरुद्धभोजी, अजीर्ण, विसूचिका, अलसक, विष, कृत्रिमविष, सर्पदंश, दिग्ध-विद्ध (विष में बुझे बाण आदि शस्त्रजन्यक्षत), अधोगरक्तपित्त, कफ के उत्क्लेश होने पर, अर्श, हृल्लास, अरोचक, अविपाक, अपची, अपस्मार, उन्माद, अतिसार, शोथ, पाण्डुरोग, मुखपाक एवं स्तन्यदोष इन रोगों में वमनकर्म कराना चाहिए। चरक सं० सूत्रस्थान महारोगाध्याय में वर्णित कफज रोगों में विशेष रूप से वमन कर्म कराना चाहिए। इनमें प्रधान चिकित्सा वमनकर्म है। जिस तरह धान के खेतों का मेड टूट जाने पर पानी निकल जाता है और फसल सूख जाती है उसी प्रकार वमन द्वारा कफ का निर्हरण हो जाने पर रोग शान्त हो जाते हैं।

आचार्य सुश्रुत के अनुसार अर्बुद, विदारिका, मेदोरोग, प्रमेहरोग, हृदयरोग, विसर्प, पित्तविभ्रम, विद्रधि, पूतिनाश, कण्ठ के रोग, ओष्ठपाक, कर्णस्राव, आधिजिह्विका एवं गलशुण्डी इन रोगों में भी वमन कर्म कराना चाहिए। अष्टाङ्ग हृदय, अष्टाङ्ग संग्रह, योगरत्नाकर, भावप्रकाशकार आदि परवर्ती आचार्यों ने भी सुश्रुत के विचारों का ही अनुकरण किया है।

अवम्याः

अवम्यास्तावत्-क्षत क्षीणातिस्थूलातिकृशबालवृद्धदुर्बलश्रांतपिपासितक्षुधितकर्मभारास्वहतोपवासमैथुनाध्ययनव्यायामचिन्ताप्रसक्तक्षामगर्भिणीसुकुमारसंवृतकोष्ठदुश्छर्दनोर्ध्वरक्तपित्त[1]प्रसक्तच्छर्दितास्थापितानुवासितहृद्रोगोदावर्तमूत्राघातप्लीहगुल्मोदराष्ठीलास्वरोपघाततिमिरशिरःशङ्खकर्णाक्षिशूलार्ताः ।
च० सि० २।८

न वामयेत्तैमिरिकोर्ध्ववात-
गुल्मोदरप्लीहकृमिश्रमार्तान् ॥
स्थूलक्षतक्षीणकृशातिवृद्ध-
मूत्रातुरान् केवलवात रोगान् ॥
स्वरोपघाताध्ययनप्रसक्त-
दुश्छर्दिदुःकोष्ठतृडार्तबालान् ।
ऊर्ध्वास्रपित्ति क्षुधितातिरूक्ष-
गर्भिण्युदावर्तिनिरूहितांश्च ।
अवम्यवमनाद्रोगाः कृच्छ्रतां यान्ति देहिनाम् ।
असाध्यतां वा गच्छन्ति नैते वाम्यास्ततः स्मृताः ॥
सु० चि० ३३।१४-१६

तैमिरकं तिमिर रोगार्तम्। अत्र केचित्—'न वामयेत्तैमिरकं च गुल्मिनं न चापि पाण्डुदररोगपीडितम् । स्थूलक्षतक्षीणकृशातिवृद्धानशोदिताक्षेपकपीडितांश्च' इति पठन्ति। उर्ध्ववातं केचिच्छ्वासं मन्यन्ते; तन्न, श्वासिनो वमनार्हत्वात्; उर्ध्ववातस्तन्त्रान्तरे प्रोक्त एव—'अधः प्रतिहतो वायुः श्लेष्मणा कुपितेन च । करोत्यनिशमुद्गारमूर्ध्ववातः स उच्यते' इति । डल्हणः ॥

अवम्यास्तु गर्भिणीसुकुमारान्यकार्यव्यग्ररुक्षाशनप्रयातिदीप्ताग्निभाराध्वकर्मनित्यक्लान्तक्षतक्षीणातिस्थूलकृशवृद्धबालदुर्बलश्रमभयशोकक्रोधमदमूर्च्छाक्षुत्पिपासार्त्तोपवासव्यवायव्यायामाध्ययनचिन्ताप्रसक्तच्छर्दिरुर्ध्वरक्तपित्तवाता-स्थापितानुवासितसंवृतकोष्ठदुश्छर्दहृद्रोगोदावर्तमूत्राघातप्लीहगुल्मोदराष्ठीलार्शः-स्वरोपघातमिमिरभ्रमानिलार्तादिताक्षेपकाक्षिशिरःशंखकर्णपार्श्वशूलिनोऽनास्था-पितकृमिणकोष्ठ इति । अन्यत्रामगरविषविरुद्धान्यवहारेभ्यः शीघ्रतरविकारित्वादेषाम् । तत्र गर्भिण्या गर्भव्यापदामगर्भभ्रंशाच्च दारुणरोगप्राप्तिः स्यात्। सुकुमारस्य हृदय विकर्षणादूर्ध्वमधो वा रुधिरप्रवृत्तिः। अन्यकार्यव्यग्रस्यौषधं न प्रवर्तते। कृच्छ्रेण वा प्रवर्तमानमयोगाद्दोषान्कुर्यात्। रूक्षस्य

---

१. प्रसक्तशब्दो मैथुनादिभिः प्रत्येकं संबध्यते। संवृतकोष्ठो वायुनाऽल्पीकृतकोष्ठः, वायुव्याप्तकोष्ठ इत्येके। चक्रपाणिः।

वायुरंगग्रहम् । रूक्षाशन प्रायस्य वायुनाक्षपितदोषत्वाद्बलक्षयः स्यात् । तथाऽति दीप्ताग्नेरग्निबलेन । भाराध्वकर्मनित्यानां चायासेन । क्षतस्य भूयः क्षणनाद्रक्तांति प्रवृत्तिः । क्षीणादीनामौषधबलाक्षमत्वाद्दे हबलोपरोधोऽन्तः क्षतभयं वा प्रसक्तच्छर्दूर्ध्वरक्तपित्तयोरुदान उत्क्षिप्य प्राणान् हरेद्रक्तं चाऽतिप्रवर्तयेत् । ऊर्ध्ववातास्थापितानुवासितानामूर्ध्ववातादि प्रवृत्तिः । संवृत्तकोष्ठस्य दुश्छर्द्यस्य चातिमात्र प्रवाहणादन्तः कोष्ठ समुत्क्लिष्टैर्दोषैर्विसर्पस्तम्भजाड्यवैचित्यानि मरणं वा । हृद्रोगिणो हृदयोपरोधः । उदावर्तादिभिरार्तानामर्दितादिभिश्च यथायथमामयप्रवृद्धिर्मरणं वा । कृमिणकोष्ठस्यास्थापनेनाधः पूर्वमनिर्हृतैः कृमिभिरतिबहुत्वादशेषानिःसरणेन हृदयमतिकर्षद्भिः छर्दिषोऽतिप्रवृत्तिः स्यात् ॥

अ० सं० सू० २७।७

गर्भिणी सुकुमारादयः कृमिणकोष्ठान्ता अवाम्याः वमने वर्जयितव्याः । तेनैतदुक्तं भवति । गर्भिण्यादीनामप्यामादिषु वमनं विधेयमेव यत एवमादयः शीघ्रकारिणः स्वं कर्म मारणाख्यं शीघ्रं कुर्वन्ति । अतो गर्भिण्यादयोऽपि वाम्या एवैतेषु । अनास्थापितश्चासौ कृमिणकोष्ठस्तथोक्तः । सर्वस्यास्थापितस्य वमनं निषिद्धम् । कृमिणकोष्ठस्य त्वनास्थापितस्य सुबोधमन्यत् । इन्दुः ।

अवाम्या गर्भिणी रूक्षः क्षुधितो नित्यदुःखितः ।
बालवृद्धकृशस्थूलहृद्रोगिक्षतदुर्बलाः ॥
प्रसक्तवमथुप्लीहतिमिरकृमिकोष्ठिनः ।
ऊर्ध्वंप्रवृद्धदाय्वस्रदत्तदस्तिहतस्वराः ॥
मूत्राघात्युदरी गुल्मी दुर्वमोऽत्यग्निरर्शसः ।
उदावर्तभ्रमाऽष्ठीलापार्श्वरुग्वातरोगिणः ॥

अ० हृ० सू० १८।४

गर्भिण्यादयोऽवम्या न वमनमर्हन्ति । सङ्ग्रहे त्वेषां हेतव उक्ताः । तत्र गर्भिण्या व्यापदामगर्भभ्रंशश्च दारुणरोगप्राप्तिः स्यात् । सुकुमारस्य हृदयविकर्षणाद्ऊर्ध्वमधो वा भवति प्रवृत्तिः । अन्यकार्यव्यग्रस्यौषधं न प्रवर्तते कृच्छ्रेण वा प्रवर्तनमयोगदोषान् कुर्यात् । रूक्षस्य वायुरङ्गग्रहं, रूक्षाशनप्रियस्य वायुना कुपितदोषत्वात् बलक्षयः स्यात् । तथातिदीप्ताग्नेरग्निबलेन भाराध्वनित्यानामायासेन वा भुक्तान्नस्य क्षतस्य भूयः क्षपणाद्रूक्षातिप्रवृत्तिः । क्षीणादीनामौषधबलाक्षमत्वाद्बलोपरोधः स्यात् । अन्तः क्षतभयं च । प्रसक्तच्छर्दिरूर्ध्वरक्तपित्त योरुदानमुत्क्षिप्य प्राणान् हरेत् । रक्तं चाति प्रवर्तयेत् । ऊर्ध्ववातास्थापितानुवासितानामूर्ध्वं वातादिप्रवृत्तिः । संवृतकोष्ठष्य दुश्छर्दनस्यातिमात्रप्रवाहणे तदन्तः कोष्ठ समुत्कटैर्दोषैर्विसर्पस्तम्भजाड्यवैचित्यानि मरणं वा हृद्रोगिणां हृदयोपरोधः । उदावर्तादिभिरार्तानांमर्दितादिभिश्च यथास्वमामयवृद्धिर्मरणं वा । कृमिकोष्ठस्यापनेनाधः पूर्वमनिहितैः । कृमिभिरतिबहुत्वादशेषानिःसारेण हृदयमतिकर्षद्भिः छर्दिषोऽतिप्रवृत्तिः स्यात् ॥ चन्द्रनन्दनः ।

प्रसक्तवमथुश्छर्द्यनुबन्धात् । कृमिकोष्ठी कृमिबहुलकोष्ठः, ऊर्ध्वप्रवृत्तो वायुरस्रं च यस्य । हृस्वरादयः उदावर्तदियश्च । विषादिभ्य ऋते विषपानादौ तु गर्भिण्यादरोऽपि वम्याः । विरुद्धाभ्यवहार आनूपमामिषं मापेत्याद्युक्तः । संग्रहे तु तत्र गर्भिण्याः गर्भव्यापदामगर्भभ्रंशाच्च दारुणयोग प्राप्तिः स्यात् । सुकुमारस्य हृदयविकर्षणादूर्ध्वमधो वा रुधिरप्रवृत्तिः । अन्यकार्यव्यग्रस्यौषधं न प्रवर्तते कृच्छ्रेण वा प्रवर्तमानमयोगाद्दोषान् कुर्यात् । रूक्षस्य वायुरंगग्रहणं रूक्षाशनप्रायस्य वायुना क्षपितदोषत्वाद्बलक्षयः स्यात् । तथातिदीप्ताग्नेरग्निबलेन । भाराध्वकर्मनित्ययानक्लान्तानां प्रयासेन क्षतस्यभूयः क्षपणाद्रक्तातिप्रवृत्तिः । क्षीणादीनामौषधबलाक्षमत्वाद्दे हबलोपरोधोंऽतःक्षतभयं च । प्रसक्तच्छर्दूर्ध्वरक्तपित्तयोरुदानमुत्क्षिप्य प्राणान् हरेत् । रक्तं चातिप्रवर्तयेत् । ऊर्ध्ववातास्थापितानुवासिताना मूर्ध्ववातादिप्रवृत्तिः । संवृतकोष्ठस्य दुश्छर्दस्य चातिमात्रप्रवाहणादन्तःकोष्ठे समुत्क्लिष्टैर्दोषैर्विसर्पस्तम्भजाड्यवैचित्यानि मरणं वा । हृद्रोगिणो हृदयोपरोधः । उदावर्तादिभिरार्तानांमर्दितादिभिश्च यथास्वमामयवृद्धिर्मरणं वा कृमिकोष्ठस्यास्थापनेनाधः पूर्वमनिर्हृतैः कृमिभिरितिबहुत्वादशेषानिःसरणेन हृदयमतिकर्षा द्भिश्छर्दिषोऽतिप्रवृत्तिः स्यादिति । उदावर्तादयोऽनुपहतस्वरादयः । हेमाद्रिः ॥

कफाधिकरोगेषु वमनं शस्तमित्युक्त्या तद्व्यतिरेकेषु रोगेषु वमन्न शस्तमिति सिद्धमेव । तथापि केषाञ्चित् कफरोगत्वेप्यवस्थावशाद्वमनमत्यन्तनिषिद्धमिति तान्दर्शयति—अवम्या इति । गर्भिण्यादयोऽवाम्या वमनायोग्याः । तत्र गर्भिण्या वमनाद् गर्भव्यापत् । रूक्षस्य वायुरङ्गग्रहं कुर्यात् । क्षुधित नित्यदुःखितबालवृद्धकृशस्थूलदुर्बलानां देहबलाक्षमत्वाद्दे हबलयोपरोधोऽन्तः क्षतपीडा च स्यात् । हृद्रोगिणो हृदयोपरोधः । उरः क्षतिनो भूयः क्षणनाद्रक्तातिप्रवृत्तिः । प्रसक्तच्छर्दिरूर्ध्वरक्तपित्तयोरतिप्रवृत्या देहनाशः । गुल्मोदावर्ताष्ठीलोदरपीडितानां रोगवृद्ध्या मरणम् । तिमिरहृतस्वरमूत्राघातवातरोगपार्श्वरुगर्शःपीडितानां यथास्वमामयवृद्धिः । क्रिमिकोष्ठिनः पूर्वमनिर्हृतैः क्रिमिभिर्हृदयमतिकर्षद्भिश्छर्दिषोऽतिप्रवृत्तिः । मूढ़त्वाद्वायोरूर्ध्वमेव प्रवृत्तिरूर्ध्वप्रवृत्तवातः । तस्य वमनेन वमिहिक्काद्युत्पत्तिः । दत्तवस्तेः प्रकृतिप्रापणादर्वाक् प्रयुक्तेन वमनेन वायुकोपः । दुर्वमस्यातिप्रवाहणादन्तःकोष्ठपरिक्लेशात् स्तंभ जाड्यवैचित्र्यादीनि अत्यग्नेरग्निबलबर्द्धनाद्बलक्षयः । परमेश्वरः ।

न वामनीयस्तिमिरी न गुल्मी नोदरी कृशः ।
नातिवृद्धो गर्भिणी च न स्थूलो न क्षतातुरः ॥
मदार्त्तो बालको रूक्षः क्षुधितश्च निरूहितः ।
उदावर्त्यूर्ध्वरक्ती च दुश्छर्द्यः केवलानिली ।
पाण्डुरोगीकृमिव्याप्तः पठनात्स्वरघातवान् ॥ भावप्र० शार्ङ्गधर

तिमिरप्रभृतिभिर्व्याधिभिर्व्याप्ताः पुरुषा न वामनीया इत्यभिप्रायः। यतः—"अवम्यवमनाद्रोगाः कृच्छ्रतां यान्ति देहिनः। असाध्यतां वा गच्छन्ति नैते ह्याम्या ह्यतिश्रुता" इति। दुश्छर्दिरित्यनेन यत्सामान्यं तथापिबहुदोषान्वितश्छर्द्यां वमनं कार्यं न दोषः। यदुक्तं सुश्रुते—छर्दिषु बहुदोषासु वमनं हितमुच्यते इति। आढमल्लः॥

न वामयेत्तैमिरिकं न गुल्मिनं
न चापि पाण्डूदररोगपीडितम्।
स्थूलक्षतक्षीणकृशातिवृद्धा-
नशोंदिताक्षेपकपीडितांश्च॥
रूक्षे प्रमेहे तरुणे च गर्भे
गच्छत्यथोर्ध्वं रुधिरे च तीव्रे
दुष्टे च कोष्ठे कृमिभिर्मनुष्यं
वर्चोऽभिघाते न च वामयेत्तु॥ वङ्गसेन

वमन कर्म में निषिद्ध रोगी—

हि० व्या०—उरः क्षत, क्षीण, अतिस्थूल, अतिकृश, बालक, वृद्ध, दुर्बल, श्रान्त, पिपासा से युक्त, क्षुधित, काम से थका हुआ, भारवाहन या रास्ता चलने से थका हुआ, उपवास, मैथुन, अध्ययन, व्यायाम और चिन्तन में निरन्तर रत रहने वाला व्यक्ति, क्षाम, (धातुक्षयजन्य दुर्बलता या कृशता), गर्भिणी, सुकुमार, संवृत कोष्ठ, (आमाशय आदि संकुचित कोष्ठ वाला), जिनको वमन कठिनाई से होता हो, ऊर्ध्वग रक्तपित्त, निरन्तर वमन से पीडित, ऊर्ध्ववात रोग, निरूहण एवं अनुवासनवस्ति कर्म किया गया व्यक्ति, हृदय रोगी, उदावर्त रोगी, मूत्राघात, प्लीहा, गुल्म, उदर रोगी, अष्ठीला-ग्रन्थिशोथ, स्वरभेद रोगी, तिमिर रोगी, शिरः शूल, शङ्खक रोग, कर्णशूल और नेत्रशूल रोग से पीडित। इन रोगियों का वमन कर्म में निषेध बताया है। अन्य आचार्यों ने भी चरक सुश्रुत का अनुकरण किया है।

निषिद्ध वमनानामपि अवस्थाविशेषे वमनविधानम्

छर्दिहृद्रोगगुल्मानां वमनं स्वे चिकित्सिते।
अवस्थां प्राप्य निर्दिष्टं कुष्ठिनां बस्तिकर्म च॥
तस्मात् सत्यपि निर्देशे कुर्यादूह्य स्वयं धिया।
विना तर्केण या सिद्धिर्यदृच्छासिद्धिरेव वा॥

च० सि० अ० २।२७-२८

निषिद्धस्यैवावस्थावशात् क्रियमाणस्य वमनादेरुदाहरणमाह-छर्दिद्रोगेत्यादि। स्वेचिकित्सिते इति छर्दिचिकित्साध्याये। अवस्थां प्राप्य निर्दिष्टमित्यनेन अवस्थाविशेष एव निषिद्धविधानमुत्सर्गापवादत इत्यविरोधं दर्शयति, एवमन्यत्राप्यवादविषये वमनादिविधानमवस्थाविशेषपरतया समाधेयम्। न्यायोपपादितमुक्तं चार्थमुपसंहरन्नाहतस्मादित्यादि। शास्त्रोपदेशे सत्यपि स्वबुद्धयव शास्त्रानुगततयाऽनुक्तमपि कर्तव्यं, यदुक्तं—'प्रचरणमिव भिक्षुकस्य बीजमिव कर्षकस्य सूत्रं बुद्धिमतामल्पमप्यनल्पज्ञानाय भवति'॥ चक्रपाणिः॥

वातगुल्मे कफो वृद्धो हत्वाग्निमरुचिं यदि।
हृत्लासगौरवं तन्द्रां जनयेदुल्लिखेत्तु तम्॥

च० चि० अ० ५।२९

एतेऽप्यजीर्णव्यथिता वाम्या ये च विषातुराः।
अतीव चोल्वणकफास्ते च स्युर्मधुकाम्बुना॥

सु० चि० ३३।चक्रदत्त, भावप्र०, शार्ङ्गधर

गुल्मे यद्यपि वमनं निषिद्धं, तथाऽप्यवस्थायां वमनं तदपवादरूपं दर्शयन्नाह-वातगुल्म इत्यादि। चक्रपाणिः।

एतेऽप्यजीर्णव्यथिता इत्यादि। एषामजीर्णपीडायां स्थावरजङ्गमकृत्रिमविषबाधायां चात्यर्थोच्छितकफाश्चैते वाम्या वमनार्हाः। तत्रैषावमने चिराद्भावाऽजीर्णे, विषैश्च सद्य एव, उल्बणकफानां च गलामयादिषु सद्य एव विनाशः। केचित् 'एतेऽप्यजीर्णे' इत्यादि पाठं त्यक्त्वा 'सर्वेऽप्येते विरुद्धान्नविषमार्तगरातुराः। कफप्रवृद्धे जीर्णे च वामयेत्' इति पठन्ति। तत्रापि द्रव्य विशेषमुपदिशन्नाह—मधुकाम्बुनेति। यष्टीमधुकषायेण वमनाङ्ग प्रधानेन वामयेत्। जेज्जटः पुनराह—मधु एव मधुकं, स्वार्थे कः, तेन मधुकाम्बुना। एतेन प्रति प्रसवो ह्यवाम्यानामप्युक्तः।

'न वामनीयस्तिमिरी दकोदरी न गुल्मवान् पाण्डुगदेन पीडितः। स्थूलक्षत क्षीणकृशातिवृद्धा नार्शोदिताक्षेपकपीडितश्च॥ रुक्षप्रमेहे तरुणे च गर्भे गच्छत्यथोर्ध्वं रुधिरे च तीव्रे। दुष्टे च कोष्ठे कृमिभिर्मनुष्यं न वामयेद्वर्चसि संप्रवृद्धे' इति केचित् पठन्ति। डल्हणः॥

सुकुमारं कृशं बालं वृद्धं भीरु च वामयेत्।
पीत्वा यवागूमाकण्ठं क्षीरतक्रदधीनि वा
असात्म्यैः श्लेष्मलैर्भोज्यैर्दोषानुत्क्लिश्य देहिनः।
स्निग्धस्विन्नाय वमनं दत्तं सम्यक् प्रवर्तते॥

शा० सं० उ० ३।१०-११ भावप्रकाश

यदाऽजीर्णादि पीडिततिमिरादयोऽपि सुकुमारादिषु भवन्ति तदा वक्ष्यमाणप्रयोगेनैव वाम्या इत्यत आह—वमनसाध्यविकारपीडिताः सुकुमारादयोऽपि यवाग्वादीनामन्यतमेनाकण्ठं पाययित्वावामयेदित्यर्थः। यवाग्वप्यनेन कफकरत्वात् कफोत्क्लेशनार्थमित्यभिप्रायः। यदुक्तः 'पांशुधान्ये यथा वृष्टिः क्लेदयन्यति कर्दमम्। तथा श्लेष्मणि संवृद्धे यवागू श्लेष्मवर्धनी' ति। इत्यभिप्रायविषयं वक्ष्यमाणेनैव चरितार्थत्वात्। क्षीरतक्रदधि यथादोषापेक्षया व्यस्तं देयं।

पूर्वमुक्तं वक्ष्यमाणेनैव चरितार्थत्वात्ताह— 'असात्म्यैः श्लेष्मलैर्भोज्यैर्दोषानुक्तेश्च देहिनः। स्निग्धस्विन्नाय वमनं दत्तं सम्यक् प्रवर्त्तते'। स्निग्धस्विन्नायेति स्नेहपानपूर्वकाय स्वेदपूर्वकाय पुरुषायेत्यर्थः। ननु स्नेहस्वेदायेति, यतः स्नेहपानादेकाहमुपरतमपरादिना एतत्स्विन्नमिति प्रसिद्धिः। भालुकिना स्नेहपानात् व्यहेन वमनं दर्शितं। तद्यथा 'स्निग्धस्विन्नशरीरस्य तद्यात्प्रच्छर्दनं व्यहात्। दशरात्रे गते वान्ते भूयो दद्याद्विरेचनम् इति। आढ़मल्लः

ऋते विषगराज्जीर्णविरुद्धाऽभ्यवहारतः॥

अ० हृ० सू० १८।५

विषगराजीर्णविरुद्धाभ्यवहारत ऋते। मारणात्मके विष उपयुक्ते गर्भिण्यादयो वाम्या एव। तथा गराभ्यवहारे अजीर्णाभ्यवहारे विरुद्धाभ्यवहारे च। विषादिषूपयुक्तष्वेतेषां विषादीनां शीघ्रतरविकारित्वाद्वमनायोग्या गर्भिण्यादयोपि वमनयोग्या एवेत्यर्थः। परमेश्वरः॥

हि० व्या०—सामान्यतः हृदयरोग एवं गुल्मरोग में वमनकर्म नहीं कराया जाता है किन्तु इन रोगों के चिकित्सा प्रकरण में अवस्थानुसार वमन का विधान बताया गया है। कुष्ठ रोगी में वस्तिकर्म नहीं किया जाता है किन्तु कुष्ठ चिकित्सा प्रकरण में अवस्थानुसार वमन का विधान बताया गया है। कुष्ठ रोगी में वस्तिकर्म नहीं किया जाता है किन्तु कुष्ठ चिकित्सा प्रकरण में अवस्था के अनुसार निरूहवस्ति का विधान बतलाया गया है। अतः शास्त्र में निर्देश होने पर भी बुद्धिमान चिकित्सक को स्वयं विचारकर चिकित्सा करनी चाहिए। क्योंकि बिना तर्क के सिद्धि देवाधीन है।

आचार्य सुश्रुत एवं चक्रपाणि ने भी वमन के अयोग्य रोगों जैसे—अजीर्ण, विषविकार, अत्यधिक कफ की वृद्धि, आदि में मुलेठी के क्वाथ से वमन कराना चाहिए ऐसा निर्देश किया है।

वातगुल्म में कफबढ़कर अग्नि को नष्ट कर देता है। अरुचि, हृल्लास, शरीर में भारीपन और तन्द्रा उत्पन्न करता है। ऐसी अवस्था में वमन द्वारा उस कफ को निकाल देना चाहिए।

आचार्य शार्ङ्गधर के अनुसार वमन कर्म में निषिद्ध को भी यदि अजीर्ण, विषपीडित, अत्यन्त वृद्ध कफ हो तो उनको उष्णजल में शहद मिलाकर या मधुयष्टीक्वाथ पिलाकर वमन कराना चाहिए। सुकुमार, कृश, बालक, वृद्ध, भीरु इनको यवागू, दूध, मट्ठा या दही दोषानुसार आकण्ठ पिलाकर वमन कराना चाहिए इससे वमन आसानी से हो जाता है और कोई उपद्रव नहीं होता है। स्निग्ध-स्विन्न पुरुष को पहले दोष प्रतिकूल तथा कफ कारक आहार देना चाहिए। इस आहार से कफ उत्क्लेशित होगा और असात्म्य होने से स्वतः वमन हो जायगा। अन्य आचार्यों के विचार भी इस सन्दर्भ में समान है।

वामकद्रव्य निरूपणम्

यानि तु खलु वमनादिषु भेषजद्रव्याण्युपयोगं गच्छन्ति, तान्यनुव्याख्यास्यन्ते। तद्यथा—फलजीमूतकेक्ष्वाकुधामार्गवकुटजकृतवेधनफलानि, फलजीमूतकेक्ष्वाकुधामार्गवपत्रपुष्पाणि, आरग्वधवृक्षकमदनस्वादुकण्टकपाठापाटलाशार्ङ्गेष्टा, मूर्वासप्तपर्णनक्तमालपिचुमर्दपटोलसुषवीगुडूचीचित्रकसोमवल्कद्वीपिशिग्रुमूल-कषायैश्च, मधुकमधूककोविदारकर्बुदारनीपविदुल बिम्बीशणपुष्पीसदापुष्पीप्रत्यक्पुष्पीकपायैश्च, एलाहरेणुप्रियङ्गुपृथ्वीकाकुस्तुम्बुरुतगरनलदह्रीवेर (तालीशीशीर) वालगोपीकषायैश्च. इक्षुकाण्डेक्षिवक्षुवालिकादर्भपोटगलकालङ्कृतकषायैश्च, सुमनासौमनस्यायनीहरिद्रादारुहरिद्रावृश्चीरपुनर्नवामहासहाक्षुद्रसहाकषायैश्च, शाल्मलि शाल्मलिकभद्रपर्ण्येलापर्ण्यूपोदिकोछालकधन्वनराजादनोपचित्रा गोपीशृङ्गाटिकाकषायैश्च. पिप्पली पिप्पलीमूलचव्यचित्रकशृङ्गवेरसर्षपफाणितक्षीरक्षारलवणोदकैश्च, यथालाभं यथेष्टं चाप्युपसंस्कृत्य वर्तिक्रियाचूर्णविलेहस्नेहकषाय मांसरसयवागूयूषकाम्बलिक क्षीरोपधेयान्मोदकानन्यांश्च भक्ष्यप्रकारान् योगांश्च विविधाननुविधाय यथार्हं वमनार्हाय दद्यात् विधिवद्वमनम्। इति कल्पसंग्रहो वमनद्रव्याणाम्। च० वि० ८।१३९

सम्प्रति कानि च वमनादिषु भेषजद्रव्याणि संयोगं गच्छन्तीत्यस्योत्तरं यानीत्यादि। शार्ङ्गेष्टा=गुञ्जा। सोमवल्कः=खदिरः। द्वीपि कण्टकारी द्वीपिशत्रुरिति पाठे शतावरी ज्ञेया। विदुलो=वेतसः, शणपुष्पी=घण्टारवा, सदापुष्पी=रक्तार्कः। कालङ्कृतो=कासमर्दः। पोटगलो=होगलः। सुषवी=कारवेल्लः। सुमना=जाती। सौमनस्यायनी=जातिकलिका, जातिकोषो वा शाल्मलिको—रोहितः, स्वल्पशाल्मलिर्वा। भद्रपर्णी=भादाली। एलापर्णी=रास्ना। उद्दालो=बहुवारः। गोपी=शारिवा। वर्तिक्रिया=वर्तिरूपदीर्घभक्ष्यकरणम्। तत्र 'आरग्वधादि' मध्वादि इति पृथग्वर्गकरणं प्रायः, समानगुणतां विच्छेदपाठेन दर्शयितुं कृतम्। कल्पनं=कल्पः=प्रयोग इत्यर्थः। चक्रपाणिः।

अपि च

[1]धामार्गवमथेक्ष्वाकु जीमूतं कृतवेधनम्।
मदनं कुटजं चैव त्रपुषं हस्तिपर्णिनी।
एतानि वमने चैवं··· ··· ··· ॥

च० सू० १।८४-८५

शण्पुष्पी च बिम्बी च छर्दने हेम[2]वत्यपि।

च० सू० १।७८ (क)

---

१. धामार्गवः=पीतघोषकः। इक्ष्वाकु=तिक्तालावुः। जीमूतो=घोषकभेदः। कृतवेधनं=ज्योत्स्निका। चक्रपाणिः।
२. हेमवती वचा। बिम्बी ओष्ठोपमफला। शणपुष्पी घण्टारवः। चक्रपाणिः।

हि० व्या०—इस प्रकरण में उन द्रव्यों का उल्लेख किया गया है जो वमन आदि कर्मों में प्रयुक्त होते हैं। वे निम्न हैं - फल (मदनफल), जीमूतक (देवदाली), इक्ष्वाकु (तितलौकी या कटुतुम्बी), धामार्गव (पीतघोषा, नेनुआ), कुटज (इन्द्र जौ). कृतवेधन (तरोई) इनके फल वमन कराने के लिए ग्रहण किये जाते हैं। मदनफल, जीमूतक तथा धामार्गव के पत्र और पुष्प का भी ग्रहण किया जाता है। अमलतास, कुटज, मदनफल, गोखरू, पाठा, पाटला (पाढ़ल), शार्ङ्गेष्टा (काकजंघा, काकमाची अथवा गुज्जा, अथवा महाकरञ्ज, लताकरञ्ज, मूर्वा, सप्तपर्ण, नक्तमाल, (करञ्ज), पिचुमर्द (नीम), पटोल (परवल, सुषवी (करेला), गिलोय, सोमवल्क (सफेदखैर), शतावरी, द्वीपी (कण्टकारी), शिग्रुमूल इन द्रव्यों का कषाय (काढ़ा) पिलाकर वमन कराया जाता है।

मधुक (मधुयष्टी), मधूक (महुआ), कोविदार (सफेद कचनार), कर्बुदार (लाल कचनार), नीप (कदम्ब), विदुल (बेंत), बिम्बी (कुन्दरु), शणपुष्पी (जंगली सनई), सदापुष्पी (लालमदार), प्रत्यक्तपुष्पी (अपामार्ग) इन द्रव्यों के कषाय कल्पना से वमन कराया जाता है।

एला (छोटी इलायची), हरेणु (निर्गुण्डीबीज), प्रियंगु, पृश्नी का (जीरा), कुस्तुम्बरू (नेपाली धनियाँ), तगर, नलद (उशीर), ह्रीवेर (सुगन्ध वाला), तालीसपत्र, उशीर (खस), इन द्रव्यों के कषाय से वमन कराया जाता है।

इक्षु, काण्डेक्षु (इक्षुबालिका (खागड़तृण), दर्भ (कुशभेद), पोटगल (नरकट), कालंकृत (कासमर्द), इनके कषाय का वमन में उपयोग किया जाता है।

सुमना (चमेली, सौमनस्यायनी (जावित्री), हल्दी, दारुहल्दी, वृश्चीर (सफेदपुनर्नवा, लालपुनर्नवा, महासहा (माषपर्णी) क्षुद्रसहा (मुद्गपर्णी) इनके कषाय का वमन में उपयोग किया जाता है।

शाल्मलि (सेमल), शाल्मलिक (रोहेड़ा), भद्रपर्णी (गम्भारी), एलापर्णी (रास्ना), उपोदिका (पोई का शाक), उद्दालक (लिसोड़ा), धन्वन (धामनवृक्ष की छाल), राजादन (खिरनी), उपचित्रा (पृश्निपर्णी), गोपी (सारिवा), शृंगारिका (सिंघाड़ा), इन द्रव्यों के कषाय से वमन कराया जाता है।

पीपल, पीपलामूल, चव्य, चित्रक (चीता), शृंगवेर (सोंठ), सर्षप (सरसों), फाणित (राब), दूध, क्षार, नमक, इनके जलों से यथालाभ (ये जितने प्राप्त हो सकें) अथवा यथेष्ट (जितनी आवश्यकता हो) उनसे संस्कार कर वर्ति, चूर्ण, अवलेह स्नेह, कषाय, मांसरस, यवागू, यूष, काम्बलिकयूष आदि तैयार कर तथा दूध के रूप में उपयोग किए जाने वाले योगों, मोदकों अथवा अन्य प्रकार के विविध भक्ष्य पदार्थों का निर्माण कराकर वमन कराने योग्य रोगी को विधिपूर्वक वमन करायें। यह वमन द्रव्यों का कल्प संग्रह है।

दशेमानि वमनोपगानि।

मधुमधुककोविदारकर्बुदारनीपविदुलबिम्बीशणपुष्पीप्रत्यक्पुष्प्य इति दशेमानि वमनोपगानि भवन्ति। च० सू० ४।१४-(३)

कोविदारः=स्वनामप्रसिद्धः, कर्बुदारः=श्वेतकाञ्चनः, विदुलो=हिज्जलः, शणपुष्पी=घण्टारवा, सदापुष्पी=अर्कः, प्रत्यक्पुष्पी=अपामार्गः। चक्रपाणिः॥

हि० व्या०—मधु, यष्टीमधु, रक्त कचनार, श्वेतकचनार, कदम्ब, जलवेतस, बिम्बी, शणपुष्पी, अर्क, अपामार्ग। ये वामक द्रव्य हैं।

अपि च

वमनद्रव्याणां मदनजीमूतकेक्ष्वाकु द्विकोशातकी कुटजफलानि च श्रेष्ठानि। तेष्वपि मदनफलम्। दोषदूष्यादिवशाच्चैषामेतत्कल्पनानां प्राधान्यम्। दोषादीनामेव चाति बह्वल्पाभेदाद्वमनादिषु कल्पानां व्यापदां साधनानां च यदसंख्येयत्वम्। अ० सं० क० १।१

वमनानामोषधानाम्। तत्र वमनानि शोधनादि सङ्ग्रहे पठितानि। मदनादीनां फलपत्रपुष्पाणि। कुटजादीनां फलानि। हस्तिपर्ण्याः शारदानि फलानि। कोविदारादीनां फूलानि। शाल्मल्यादीनां पिच्छा। प्रियङ्गवे पुष्पम्। तालीसस्य पत्रम्। हरिद्रायाः शृङ्गवेरस्य च कन्दः। यष्टीदार्व्योः सारः। तगरादीनि चेति। एतेषां वमनद्रव्याणां मध्ये मदनादीनि षट् श्रेष्ठानि। तेष्वपि मदनफलमेव श्रेष्ठम्। ननु मदनादीनां केन रूपेण प्राधान्यं मन्यते नैकं प्रधानं भवत्येकस्य प्रधानत्वेऽपरस्य प्रधानत्वहानेरत उच्यते। दोषेत्यादि। दोषदूष्यबलकालप्रकृति कोष्ठानिवशादेषां मदनफलादीनामेतत्कल्पनानां च संयोगसंस्कारादिकृतान् प्राधान्यम् तेनैतदुक्तं भवति। न ह्येषामेकविषयत्वेन प्राधान्यमपि तु विषयभेदेन। यतः। क्वचिदपि स विलक्षणा दोषाणां सामग्री।

यस्यां मदनमेव कार्यकर्तृत्वमासादयति। न तु तथा जीमूतकादीनि। अन्यस्यां जीमूतक एव न तु मदनादीनि। सर्वत्रैवं वाच्यं दोषाद्यपेक्षयेति। अपि प्राधान्ये एतद्वर्जितानां तथा शक्त्यभावान्न प्राधान्यं एषां प्राधान्यमित्युक्तं न ह्ययकल्पनानां प्रयोग उपपद्यत इति। यद्यपि कल्पनानामेव सुप्रयोग उक्तो भवति तथापि तासां पृथक् प्राधान्यमेतदर्थमुच्यते। यद्वास्तवेन रूपेणैषां तन्न कयापि विधिकल्पनयापहर्तुं शक्यते। अन्यानि हि द्रव्याणि संयोगसंस्कारादिभिरन्यथाभूतानि दृष्टानि। मदनादीनां पुनर्दोषाद्यपेक्षया प्रयुक्तानां न कथञ्चिदपि प्रधानत्वहानिरिति। इन्दुः।

अपि च

फलजीमूतकेक्ष्वाकु-कुटजाः कृतवेधनः।
धामार्गवश्च संयोज्याः सर्वथा वमनेष्वमी॥ चक्रदत्तः।

अपि च

बीभत्सं वमनं दद्यात् विपरीतं विरेचनम् ॥ शा० सं०

कीदृशं वमनार्हं द्रव्यं तदाह—बीभत्सविकृतरसवर्णप्रायं वमनं वमनद्रव्यमित्यर्थः। तेन लालाटुल्लासकरद्रव्यमित्यभिप्रायः। तेन भक्षणे मनोज्ञमविकृतमित्यर्थः॥ आढमल्लः।

वमनं बीभत्सं सघृणं, विरेचनं घृणादिरहितम् ॥ काशिरामः

अपि च

मदनं मधुकं निम्बं जीमूतं कृतवेधनम्।
पिप्पली कुटजेक्ष्वाकूण्येलां धामार्गवाणि च।
उपस्थिते श्लेष्मपित्ते व्याधावामाशयाश्रये।
वमनार्थं प्रयुंजीत भिषगदेहमदूषयन् ॥ च० सू० २।७-८

वमनद्रव्ये, आदौ मदनमुक्तं प्राधान्यात्। उक्तं हि "वमनद्रव्येषु मदनफलानि श्रेष्ठतमान्याचक्षतेऽनपायित्वात्" (क० अ० १) इति। उपस्थित इति आमाशयोर्ध्वभागे श्लेष्मणः स्थानं गत्वोत्क्लेशं गता इति व्याख्येयम्। श्लेष्मपित्त इति श्लेष्मणिपित्ते च। पित्तं च यद्यपि साक्षान्न वमनविषयं, तथापि श्लेष्मस्थान गतत्वेन श्लेष्मसंबन्धाद्वमनविषयम्। यदुक्तं—"दोषस्थानगतं दोषं स्थानिवत्समुपाचरेत्" इति। देहमदूषयन्निति यद्यपि वमने प्रोक्तं तथापि विरेचनादिष्वपि बोद्धव्यम्। तत्राप्यतियोगायोगमिथ्यायोगैर्देहदुष्टिशङ्कायाः समानत्वात् उच्यते च न्यायविद्भिर्यत्—'समानेष्वेकत्राभिहितो विधिरन्यत्राप्यनुषज्जनीयः" इति॥ चक्रपाणिः।

वमनार्थ द्रव्यों के नाम

हि० व्या०—मैनफल, मधुयष्टी, नीम, देवदाली, कोषातकी, पिप्पली, कुटज, कड़वीतुम्बी, छोटी इलायची, धामार्गव, इन द्रव्यों का कफ तथा पित्त की वृद्धि होने पर अथवा आमाशय में आश्रित कोई रोग हो तो वमनार्थ प्रयोग करना चाहिए। प्रयोग के समय रोगी के बलाबल का अवश्य ध्यान रखना चाहिए।

एकोनविंशति प्रयोगस्थलनिर्देशः

धामार्गवमयेक्ष्वाकु जीमूतं कृतवेधनम्।
मदनं कुटजं चैव त्रपुषं हस्ति पर्णिनी।
एतानि वमने चैव योज्यान्यास्थापनेषु च ॥ च० सू० १।८४-८५

वामकद्रव्याणां प्रयोज्याङ्गनिर्देशः

मदनकुटजजीमूतकेक्ष्वाकुधामार्गवकृतवेधनसर्षपविडङ्गपिप्पलीकरञ्ज प्रपुन्नाडकोविदारकर्बुदारारिष्टाश्वगन्धाविदुलवन्धुजीवकश्वेताशणपुष्पीबिम्बीवचामूगे-

र्वारवाश्चित्राचेत्यूर्ध्वभागहराणि। तत्र, कोविदारपूर्वाणां फलानि, कोविदारादीनां मूलानि। सु० सू० ३९।३

जीमूतको देवदाली, इक्ष्वाकुं कटुकालाबूः, धामार्गवः पीतपुष्पा कोषातकी, कृतवेधनः कोषातकीभेदः, सर्षपाः श्वेतसर्षपा विशेषेण वमनार्हाः, कोविदारः काञ्चनारः, कर्बुदारः श्लेष्मान्तकः 'बवहार' इति 'लिहुसाडक' इति च देशभाषया प्रसिद्धः, अरिष्टो निम्बः, विदुलो वेतसः, बन्धुजीवो मध्याह्नपुष्पकः 'मरुनियाँ' इति लोके श्वेता श्वेतवचा, शणपुष्पी, शणसदृशविटपः 'सणहुली' इति लोके, बिम्बी किन्दुरिका, वचा द्वितीयाऽरुणा, मूर्गेवारुरिन्द्रवारुणी, चित्रा चित्राण्डिका पटोलफलाकारफला आरण्यकचण्डकेत्यर्थः, अन्ये द्रवन्तीमाहुः। शेषं प्रसिद्धम्। डल्हणः।

वमन द्रव्य

मैनफल	प्रयोज्य अंग
कुटज	
देवदाली	
कड़वी तुरई	
कोषातकी	फल
सर्षप	
वाय विडंग	
पिप्पली	
करञ्ज	
पनियाड़ (प्रपुन्नाड)	
कचनार (कोविदार)	मूल
लसोड़ा	
नीम	
असगन्ध	
वेतस	
बन्धुजीव	
श्वेत वचा	
शण पुष्पी	
कन्दूरी	
वचा	
इन्द्रायण	
द्रवन्ती	

वामकगणगुणसंकेतः।

मदनमधुकलंबार्निबविबीविशाला
त्रपुसकुटजमूर्वादेवदालीकुमिघ्नम्।
विदुलदहनचित्राः कोशवत्यौ करंजः
कणलवणवचैलासर्षपाश्छर्दनानि। अ० हृ० सू १५।२

मदनं राव: मधुकं मधुयष्टिका । लंबा तुम्बी दीर्घतिक्ताऽलाबुसंज्ञा । निंब: पिचुमन्द: बिंबी गोल्हा ओष्ठोपमफलसंज्ञा । विशाला इन्द्रवारुणी । त्रपुसं तिक्त त्रपुषं वेद्यम् । तस्य वमने योग्यत्वात् । कुटजं वत्सकम् । मूर्वा पीलुपर्णी । देवदाली धरंधरा । कृमिघ्नम् विडंगम् । विदुलो जलवेतस: । दहनश्चित्रक: । चित्रा मूषिकपर्णी । कोशवत्यौ घंटालिकैका धामार्गवो द्वितीया राजकोशातकी । करंजो नक्तमालम् । कण: पिप्पली । लवणं सैन्धवम् । वचा गोलोमी । एला त्रुटि: । सर्षपो रक्षोघ्न: । एतानि मदनादीनि छर्दनानि छर्दिकृन्ति छर्दिकराणि । अत्र मदनविशालात्रपुसकुटजविडंगैला सर्षपाणां फलानि वमनकृति । मधुकविदुल चित्रकदंतीवचानां तु मूलानि । शेषाणांफलपत्रपुष्पाणीति । अरुणदत्त:

शोधनपञ्चकर्माख्यस्य वमनादिभेदभिन्नस्योत्तरोत्तर प्रधानस्य प्राधान्यादग्रे वमनस्य तावदौषधगणं प्रधानं व्याख्यातुमिदमाह-मदनादीनि द्रव्याणि छर्दनानि वमनोपयोगीनि । मदनं मदन फलम् । मधुकं मधुयष्टिका । लम्बा कटुका । निम्ब:, बिम्बीगोल्हा रक्तफलापरपर्याया । त्रपुषं कटुकम् । कुटक: वत्सक: । मूर्वा मधुरसा । देवदाली जीमूतक: । कृमिघ्नम् विडङ्गम् । विदुलो वेतस: । दहनश्चित्रक: । चित्रा द्रवन्ती । कोशवत्यौ द्वे राजकोशातकी एका, कटुकोशातकी द्वितीया । करञ्ज: पूतिकरञ्ज: । कणापिप्पली । एला सूक्ष्मैला सर्षप: श्वेतसर्षप: । चन्द्रनन्दन: ।

तत्र वमनगणमाह-मदनमधुकेत्यादि । मदनं गाल:, मधुकं यष्टीमधु, लंबा कटुतुम्बी, निम्ब:-पिचुमन्द:, बिंबी कटुतुण्डिकेरी, विशाला इन्द्रवारुणी, त्रपुसं कठुवालुकं, कुटजो-वत्सक:, मूर्वा-मधुरसा, देवदाली-जीमूतक:, कृमिघ्नंविडङ्गं, वेतस:, दहन:-चित्रक:, चित्रा चिल्लांडका, कटुपटोलाफलं, पत्रकं च, कोशवत्यौ-कटुकोशातकी, राजकोशातकी, करंजो नक्तमाल:, कणा पिप्पली; लवणं सैन्धवं, वचा उग्रा, एला-त्रुटि:, सर्षपो-रक्षोघ्न:, छर्दनानीति बहुवचनगुणबहुत्वार्थं तेन वमनादिद्रव्याणां यस्य कस्यचित्त्रिकचतुष्कपंचकादे: प्रयोजकत्वम् । उक्तं च सुश्रुतेन "समस्तवर्गमर्धं वा यथालाभमथापि वा प्रयुंजति भिषक् प्राज्ञो यथोद्दिष्टेषु कर्मसु ॥" इति । उपलक्षणं चेदम् । अत एव संग्रहकारोऽधिकमधीते । मदनजीमूतेक्ष्वाकुकोशातकीद्वयफलपुष्पपत्राणि । कुटजकरंजतत्रपुससर्षपपिप्पलीविडंगैलाप्रत्यक्पुष्पीहरेणुपृथ्वीकाकुस्तुंबरुप्रपुन्नाटां फलानि शारदानि । बस्तितर्पणकोविदारकबृंदारकछुलाविदुरविबीबंधुजीवकश्वेताशणपुष्पीसदापुष्पीवचाचित्राचित्रकमृगैर्वारुकेंद्रवारुणीसुषवीचतुरंगुलस्वादुकंटकपाठापाटली शार्ङ्गेष्टामधुकमूर्वासप्तपर्णसोमवल्कद्विपशिग्रुसुमनस्सौमुनस्यायवानीवृश्चीवपुनर्नवामहाक्षुद्रसहेक्षुसहाकांडेक्षुकांडकतकपिप्पलीकदंबचविकानलदेशी ह्रीवेरमूलानि शाल्मलीशालुकाभद्रपर्ण्यैरावण्युपोदकौदालकधन्वनरसांजन राजादनोपवित्राणोपशृंगादिकापिच्छा: प्रियंगुपुष्प्य: तालीशपत्रं, हरिद्राशृंगवेरकंदौमधूकदारुहरिद्रासारौ तगरगुडूचीमधुकफाणितक्षीरक्षारलवणानि चेति वमनोपयोगीनीति । हेमाद्रि: ।

वमन गण द्रव्य

मैनफल, मुलहठी, कटुतुम्बी, कन्दूरी, इन्द्रायण, खीरा, मूर्वा, कुरैया, देवदाली, वायविडंग, जलवेतस, चित्ता, (चित्रक) चित्रा (द्रवन्ती) धामार्गव, राजकोषातकी, करञ्ज, पीपल, लवण, बालयच (वचा) इलायची तथा सरसों ।

विशेष—उपर्युक्त द्रव्यों में—मदनफल, इन्द्र वारुणि, त्रपुस, कुटज, विडंग, ऐला तथा सरसों के फलों का, महुआ, वेतस् चित्रक, दन्ती तथा वचा की मूल का एवं शेष के फल पत्र तथा पुष्पों का उपयोग वमनार्थ किया जाता है ।

वामकद्रव्येषु मधुसैन्धवप्रयोगस्य महत्वम् ।

सर्वेषु तु मधुसैन्धवं कफविलयनच्छेदार्थं वमनेषु विदध्यात् । न चोष्णविरोधो मधुनश्छर्दनयोगयुक्तस्य अविपक्वप्रत्यागमनाद्दोषनिर्हरणाच्च ॥

च० क० १।१५

यद्यपि च घ्रेयादिवमनयोगेषु मधुसैन्धवयोगो न भवति, तथाऽपि 'सर्वेषु' इति पदं बाहुल्यार्थम् । वमनार्थं कषाये उष्णे मधु प्रक्षेपो विरोधित्वान्न युज्यते, उक्तं हि "मधूष्णार्तमथवा" (सू० अ० २७) इत्यादि एवमाशङ्क्य समाधानमाह—न चोष्णविरोधो मधुन इत्यादि । अविपक्वप्रत्यागमनादित्यनेन पच्यमानं मधूष्णयुक्तं विरुध्तेयेति दर्शयति । दोषनिर्हरणाच्चेति मधूष्णविरुद्धमपि वमनयोगे उष्णे इष्यते । तस्य दोषनिर्हरणादेव न विरोधो भवतीति दर्शयति । एवं वस्तिप्रयोगेऽपि मधुन उष्णविरोधो वर्णनीय: एतेन यष्टीमध्वादिनवद्रव्यकृतैर्नवभि: कषायैर्नवयोगा: ॥ चक्रपाणि: ॥

वमनेषु च सर्वेषु सैन्धवं मधु वा हितम् । शा० सं० उ० ३।१२

मधुसैन्धवयोरभिमन्त्रणं च सर्वत्रैव ज्ञेयं । यदुक्तं – यथा व्याधि च विहितं मधुसैन्धवसंयुतं । कोष्ठं विभज्य भैषज्यं मात्रा मन्त्राभिमन्त्रिता'मित्यादि । अत्रोष्णेऽपि कषाये मधुसैन्धवे न विरुद्धे । वमनस्यापक्वस्यैवोर्ध्वगमनत्वात् । वैद्यास्त्वत्र योगे पाकसंभवं मन्यमाना मधु न प्रक्षिपन्ते इति केचित् । मन्त्रश्च ब्रह्मदक्षाश्विरुद्रेन्द्रे'त्यादिश्लोको ज्ञेय: । आढ़मल्ल: ॥

हि० व्या०—सभी प्रकार के वामक योगों में कफ दोष को पिघलाकर तथा खण्डित कर बाहर निकालने के लिए मधु एवं सैंधव नमक पिलाना चाहिए ।

वामक द्रव्य का क्वाथ उष्ण ही प्रयोग किया जाता है । उसमें मधु (शहद) मिलाना विरोधी नहीं होता है क्योंकि वामक औषधियों के साथ मधु शरीर में बिना पचे ही निकल आता है और दोषों को भी निकालता है ।

दोषभेदेन वामकद्रव्य संकेत: ।

एवं कटूतीक्ष्णै: कफे छर्दयेत् । स्वादुभि: पित्त युते । अम्लै: सस्नेहैरनिल संसृष्टे । यावत् कफच्छेद: केवलौषध प्रवृत्ति: पित्त दर्शनं वा ।

अ० सं० सू० २७।१६

तत्र केवले श्लेष्मणि कटुतीक्ष्णैरौषधैश्छर्दयेत् । पित्तयुक्ते श्लेष्मणि स्वादुभिर्मधुरैर्वमनद्रव्यैः । वायुसंसृष्टे श्लेष्मणि अम्लैः सस्नेहैश्छर्दयेदिति सम्बन्धः । किमवधि छर्दयेदित्याह । यावदित्यादि । यावत् प्रथममेव कफः क्षीणस्तावद्यत्नेनाङ्गुल्यादिना छर्दयेत् । अथवा कफच्छेदानन्तरं केवलौषधप्रवृत्तिदर्शनं यावत् । अथवा ततोऽप्यनन्तरं यावत् पित्तदर्शनं । एतच्चव्याध्यादिवलापेक्षया । कफे तीक्ष्णोष्णकटुकैर्द्रव्यैर्वमेत् । पित्ते स्वादुशीतैर्द्रव्यैर्वमेत् । स्निग्धाम्ललवणैर्वायुयुक्ते कफे वमेत् । अरुणदत्तः ।

कफे तीक्ष्णोष्णकटुकैः पित्ते स्वादुहिमैरिति ।
वमेत् स्निग्धाम्ललवणैः संसृष्टे मारुता कफे ॥ अ० हृ० सू० १८।२

कफजेषु रोगेषु च तीक्ष्णोष्णकटुकैर्द्रव्यैरित्युक्तप्रकारेण वमेत् । कफे पित्तयुक्ते स्वादुशीतैर्वमेत् । कफे मारुता संसृष्टे युक्ते स्निग्धाम्लवणैर्द्रव्यैरेवं वमेत् । अत्र वायोर्योगवाहित्वात् कफहरौषधहितत्वेऽपि वायोर्वमनयोग्यत्वात् कुत्रचिदवस्थान्तरे वमने कर्तव्ये वातशमनैः स्निग्धादिभिरेव वमनं कर्तव्यमिति । परमेश्वर

कफं कटुकतीक्ष्णोष्णैः पित्तं स्वादु हिमैर्जयेत् ।
सुस्वादुलवणाम्लोष्णैः संसृष्टं वायुना कफम् ॥
कृष्णा राठफलं सिन्धु कफे कोष्णजलैः पिबेत् ।
पटोलवासानिम्बैश्च पित्तेशीतजलं पिबेत् ।
सश्लेष्मवातपीडायां सक्षीरं मदनं पिबेत् ।
अजीर्णे कोष्णपानीयैः सिन्धु पीत्वा वमेत्सुधीः ॥
शा० सं० उ० ३।१८-२० भावप्रकाश, वंगसेन

कृष्णा राठफलं मदनफलं, सिन्धु सैन्धवं एतच्च कल्कीकृतं उष्णपानीयेनालोड्य पीत्वा वमेदित्यर्थः । कृष्णादीनां मिलित्वा कर्षं इति केचित् व्यवहाराच्च कृष्णादीनां पृथक् कर्षमात्रं देयमिति संप्रदायः । पटोलवासानिम्बश्चेति । पटोलादिभिः कृत्वा श्रृतः शीतः कार्यः । पटोलादीनां मिलित्वा पलं, पाकार्थं जलाढकं पादशेषं कषायं सक्षीरमदन पिबेदिति । क्षीरेण मदनफलं कल्कीकृत्य तेनैवसहालोड्य पिबेत् इत्यभिप्रायः । मदनफलकल्कस्य कर्षः प्रक्षेपेण प्रचारः । अजीर्णेत्यादि । अत्र सैन्धवप्रक्षेपमाहुः । आढ़मल्लः ॥

दोषभेद से वामक द्रव्य--

कफदोष में कटुतीक्ष्ण द्रव्यों से वमन कराना चाहिए । पित्तसंश्लिष्ट कफ में मधुर द्रव्यों से वमन कराना चाहिए । वातसंश्लिष्ट कफ में अम्ल द्रव्य तथा अल्प स्नेहयुक्त द्रव्यों से वमन कराना चाहिए । अष्टाङ्ग हृदयकार ने कफदोष में तीक्ष्ण, ऊष्ण और कटु द्रव्य, पित्तसंश्लिष्ट कफ दोष में मधुर और शीतल तथा वातसंश्लिष्ट कफ में स्निग्ध अम्ल और लवण द्रव्य से वमन कराने का

निर्देश किया है । आचार्य शार्ङ्गधर ने अष्टाङ्ग हृदय के विचार का समर्थन किया है साथ ही निम्न योग का भी निर्देश किया है ।

१. पिप्पली, मदनफल और सैंधव नमक का कल्क सुखोष्ण जल से कफ निर्हरण के लिए पीना चाहिए ।

२. पित्तसंश्लिष्ट कफ में पटोल, अडूसा तथा नीम का क्वाथ शीतल करके पीना चाहिए ।

३. कफसंश्लिष्ट वात में मदनफल दूध के साथ पीना चाहिए ।

४. अजीर्ण में सुखोष्ण जल में सेंधवलवण मिलाकर पीना चाहिए ।

वामकद्रव्येषु मदनफलस्य महत्व सूचनम्

वमनद्रव्याणां मदनफलानि श्रेष्ठतमान्याचक्षते, [1]अनपायित्वात् ।
च० क० १।१३

हि० व्या० - वामक द्रव्यों में मदनफल श्रेष्ठमाना जाता है क्योंकि अन्य द्रव्यों की अपेक्षा इससे उपद्रव कम होता है । अष्टाङ्ग हृदय में भी वमनार्थ मदनफल को ही श्रेष्ठ बताया गया है

मदनफलस्य पर्यायः

मदनः करहाटश्च राठः पिण्डीतकः फलम् ।
श्वसनश्चेति पर्यायैरुच्यते तस्य कल्पना ॥ च० क० १।२७

हि० व्या० -- मदन, करहाट, राठ, पिण्डीतकफल, श्वसन आदि मदनफल के पर्यायवाची नाम है जिनका उल्लेख विविध प्रयोगों में बहुशः प्राप्त होता है ।

मदनफल संग्रहकाल संकेतः ।

तानि वसन्तग्रीष्मयोरन्तरे पुष्पाश्वयुग्भ्यांमृगशिरसा वा गृह्णीयान्मैत्रे मुहूर्ते ॥
च० क० १।१३ख

अन्तर इति मध्ये, स च ग्रीष्मवसन्तयोरन्तरवर्तिकतिपयदिनान्येव मध्यो ज्ञेयः । अश्वयुक् अश्विनी । मैत्रे मुहूर्त इति शिवभुजगमित्रादीनां मध्ये मित्रदेवताके, एवं मैत्रे मुहूर्ते । चक्रपाणिः ।

संग्रहणीय मदनफल संकेतः ।

यानि पक्वान्यकाणान्यहरितानि पाण्डून्यक्रिमिण्यपूतीन्य जन्तुजग्धान्यह्रस्वानि,
च० क० १।१३ (ग)

मदनफल संस्कार प्रकारः ।

तानि प्रमृज्य कुशपुटे बद्ध्वा गोमयेनालिप्य यवतु (पु) पमाषशालिकुलत्थमुद्गपलानामन्यतमे निदध्यादष्टरात्रम् ॥ च० क० १।१३ घ

पलानामिति राशीनाम् । चक्रपाणिः ।

मदनफल बीजरूप पिप्पली संग्रह प्रकारः।

अत ऊर्ध्वं मृदुभूतानि मध्वि'ष्टगन्धान्युद्धृत्य शोषयेत् । सुशुष्काणां फलपिप्पलीरुद्धरेत् ।

च० क० १।१३५

मधुवदिष्टगन्धो येषां तानि, यानि मध्विष्टगन्धानि भवन्ति तानि ग्राह्याणीति दर्शयति । फलपिप्पलीरिति मदनफलमध्यगतानि पिप्पलीसंस्थानानि बीजानि।

चक्रपाणि०

मदनफलपिप्पली सुरक्षाप्रकारः

तासां घृतदधिमधुपललविमृदितानां पुनः शुष्काणां नवं कलशं सुप्रमृष्टवालुकमरजस्कमाकण्ठं पूरयित्वा स्ववच्छन्नं स्वनुगुप्तं शिक्येष्वासज्य सम्यक् स्थापयेत् ।

च० क० १।१३ (च)

तासामित्यादि पूरणवाचकशब्दयोगात् करणे षष्ठी स्वनुगुप्तमिति कृतरक्षाविधानम् । चक्रपाणिः ।

(क) अनपायित्वादिति वमनद्रव्यान्तरापेक्षयाऽल्प व्यापतिकरत्वात् । चक्रपाणिः ।

(ख) वमने मदने श्रेष्ठं··· ···

अ० हृ० क० १।१

अथ वसन्तग्रीष्मयोरन्तरे प्रशस्तेऽहनि मुहूर्ते च नातिहरितपाण्डूनि मदनफलान्यादद्दीत । तानि प्रमृज्य कुशमूढके बध्वा गोमयेनालिप्य यववुसमाषशालिव्रीहिकुलत्थमुद्गान्यतमराशामष्टरात्रमुषितान्ययुद्धृत्यातपे शोषयेत् । सुशुष्काणां पिप्पली रुद्धृत्य दधिघृतमधुपललविमृदिताः पुनः शोषयित्वा नवं कलशमरजस्कमाकण्ठं पूरयित्वा सुगुप्तं निधापयेत् ।।

अ० सं० क० १।२

फलानि तानि पांडूनि न चाऽति हरितान्यपि ।
आदायाऽह्नि प्रशस्तर्क्षे मध्यग्रीष्मवसंतयोः
प्रमृज्य कुशमुत्तोल्यां क्षित्वा बवा प्रलेपयेत् ।
गोमयेनानुमुत्तोलीं धान्यमध्ये निधापयेत् ।
मृदुभूतानि मध्विष्टगंधानि कुशवेष्टनात् ।।
निष्कृष्य निर्गतेऽष्टाहे शोषयेतान्यथातपे ।
तेषां ततः सुशुष्काणामूद्धृत्य फल पिप्पलीः ।।
दधिमध्वाज्यपललैर्मृदित्वा शोषयेत्पुनः ।
ततः सुगुप्तं संस्थाप्य कार्यकाले प्रयोजयेत् ।। अ० हृ० क० १।२६

तानि मदनस्य फलानि पांडूनि गृहीत्वा नत्वतिपांडून्यतिक्रांतपाकत्वात् । न वाऽतिहरितान्यामत्वात् । कदादाय । प्रशस्तनक्षत्रे दिवसे । कस्मिन्नृतौ । मध्ये ग्रीष्मवसन्तयोः एवमृतुसंधौ गृहीतानि प्रमृज्य व्यपगतमलादि दोषाणि कृत्वाकुशमय्यां मुत्तोल्यां मूटिकायां क्षिप्त्वा पुनरुपरिष्टाद्बद्धवा च ततो गोमयेन तां मुत्तोली लिंपेत् । अनन्तरं धान्यमध्ये निधापयेत् स्थापयेत् कुशानां समूहो

रचनाविशेषो निष्पादितः कुशमुत्तोलीत्युच्यते । मृदुभूतानि तानि मध्विष्टगन्धानि कदाचिन्मधुगंधानि कदाचिदिष्टगन्धानि कुशवेष्टनाष्टाहेन ज्ञात्वाऽनं तरमष्टाहेऽतिक्रांते कुशमुत्तोल्याः निष्कृष्टानि बहिः कृतान्यनंतरमातपे शोषयेत् । ततोऽनंतरं तेषां मदनफलानां शुष्काणां फलपिप्पलीरुद्धृत्य दधिमध्वाज्यपललैर्मृदित्वा संक्षुद्य पुनरातपे शोषयेत् । ततोऽनंतरं सुष्ठु गुप्तं धारयित्वा कार्यकाले वमनावसरे ताः प्रयोजयेत् । अरुणदत्तः ।

ईषद्गृहीतपाकत्वान्नातिहरितानि न चाति पाण्डूनि तानि ह्यूत्तरसंस्कारसहानि भवन्ति । मध्ये अन्तरे । प्रमृज्य पांस्वादि शोधनार्थम् । कुशमुत्तोली दर्भमयी गुच्छिका । गोमयेन प्रलेपयेत् । (अन्तरं तां) मुत्तोलीं कुशमूढं (धान्यराशौ निधापयेत्) । अष्टाहे गते मृदूनि भवन्ति । तावताकालेनोष्मविशेषान्मृदुत्वम् । नवमेऽह्नि गोमये लिप्तदर्भमूढान्निष्कृष्टान्युद्धृतानि तान्यातपे शोषयेत् । तेषामिति फलानां सुशुष्काणां फलपिप्पलीः फलान्तर्भवा उद्धृत्य दध्यादिभिस्ताः क्रमेण मृदिताः पुनरातप एव शोषयेत् । पललं तिलकल्कः । ततः सुगुप्तं कृत्वा संस्थाप्य कार्यकाले प्रयोगकाले प्रयोजयेत् । इन्दुः ।

मदनफल का संग्रह और प्रयोगविधि

हि० व्या० – मदनफल को वसन्तऋतु और ग्रीष्मऋतु के मध्य में, पुष्य-अश्विनी और मृगशिरा नक्षत्रयुक्त मैत्र मुहूर्त में संग्रह करना चाहिए। सुपक्वफल, पाण्डुवर्ण का संग्रह करना चाहिए। काने फल और हरे फल का परित्याग करना चाहिए। कृमिजुष्ट एवं दुर्गन्धयुक्त फल त्याज्य है। छोटाफल भी संग्रह नहीं करना चाहिए। मदनफलों को संग्रहकर, साफकर, कुशा से आवेष्टित करना चाहिए। तत्पश्चात् गाय का गोबर लगाकर जौ के भूसा या उड़द, शालि, धान, कुलथी या मूंग इनमें से किसी एक की राशि में आठ दिन दबाकर रखना चाहिए। उसके बाद निकालकर सुरक्षित करना चाहिए। इस विधि से मदनफल मुलायम हो जाते हैं तथा उनमें मधु के समान गन्ध आने लगती है। निकालने के पश्चात् छाया शुष्क करना चाहिए। सूख जाने पर मदनफल के बीजों को निकालकर अलग रखना चाहिए। उस बीज को घृत, दही, मधु या तिलकल्क से मर्दनकर पुनः सुखाना चाहिए। सूख जाने पर एक नूतन मिट्टी के घड़े में जो अन्दर से साफ हो उसमें भरकर मुखमुद्रा कर छीकों के ऊपर लटकाकर रखना चाहिए ।।

मदनफलपिप्पलीसंस्कारपूर्वक सहपानानुपान भेदेन प्रयोग प्रकाराः।

निर्वृत्तानां वा नातिहरितपाण्डूनां कुशमूढ़ावबद्ध मृद्गोमयप्रलिप्तानां यवबु (तु) षमुद्गमाषशाल्यादिधान्यराशावष्टरात्रोषितक्लिन्न भिन्नानां फलानां फलपिप्पलीरुद्धृत्यातपे शोषयेत्, तासां दधिमधुपललविमृदितपरिशुष्काणांसुभा-

जनस्थानामन्तर्नखमुष्टिमुष्णे यष्टीमधुककषाये कोविदारादीनामन्यतमे वा कषाये प्रमृद्य रात्रि पर्युषितं मधुसैन्धवयुक्तमाशीर्भिमन्त्रितमुदङ्मुखः प्राङ्मुख-मातुरं पाययेद् ।

सु० सू० ४३।३ (घ)

तदेवं शलाटु चूर्णेषु मदनस्य चत्वारो योगाः । मदनफलानां पक्वानां प्रधानं योग निर्दिशन्नाह—निर्वृत्तानामित्यादि । निर्वृत्तानां निष्पन्नानां नातिहरित-पाण्डुत्वेन, परिपाकातिपाण्डुत्वे हि वीर्यातिक्रमः स्यात् । कुशमूढः कुशविरचितः पुटकः । फलपिप्पलीः मदनफलबीजानि । तासामिति तासां फलपिप्पलीनाम् । अन्तर्नखमुष्टिमिति नखानां मध्ये मुष्टिर्न तु परिभाषिका पलाभिधाना, अन्तर्नखमुष्टि यष्टीमधुकषाये आतुरं पाययेदिति संबन्धः । कोविदारेत्यादि । कोविदारादीनां संशोधनसंशमनीयोक्तानामेकादशानामन्यतमस्यैकतमस्य कषाये । एतेनैकादश योगा उक्ताः । प्रमृद्येति फलपिप्पलीनामन्तर्नखमुष्टिमिति संबन्धः । किंविशिष्टमन्तर्नखमुष्टि ? रात्रिपर्युषितं मधुसैंधवयुक्तं च । आशीर्भिरभिमन्त्रितमिति इष्टाशानिष्पादनमन्त्रोऽप्याशीः, ताभिर्वदोक्ताभिरभिमन्त्रितमन्तर्नख-मुष्टिम् । उदङ्मुख उत्तराभिमुखोवैद्यः, प्राङ्मुखं पूर्वाभिमुखमातुरम् । डल्हणः ।

निर्वृत्तानामिति पक्वानाम् । नातिहरितपाण्डूनामित्यनेनाभिमतपाकावस्थो-च्यते । क्लिन्नभिन्नानामिति यथोक्तविधिनाऽष्टरात्रस्थितत्वेन क्लिन्नानां सतां यत्नेन भिन्नानाम् । पिप्पलीमदनफलमध्यबीजम् । पलं तिलचूर्णम् । अन्तर्नख-मुष्टिमितिपारिभाषिकपलरूपमुष्टिनिपेधेनान्तः स्थितनखेन मुष्टिना यावद्गृह्यते तावद् ग्राह्यम् । कोविदारादीन्येकादशसंशोधनसंशमनीयपठितानि । रात्रिपर्युषित-त्वेन शीतकषायं ग्राह्यति । आशिभिरिति बहुवचनाद् वक्ष्यमाणमन्त्रादन्यदपि वेदोक्तमाशीर्मन्त्रं ग्राह्यति । उदङ्मुखो वैद्यः, प्राङ्मुखत्वंत्वातुरस्य तथैव प्रशस्तत्वात् ।

चक्रपाणिः ।

निर्वृत्तानां पक्वानां, नातिहरितपाण्डुनामित्यनेनाभिमतपक्वावस्थोप-दिश्यते । कुशमूढः कुशपुटः, आत्रेयोऽपि "कुशपुटे वद्ध्या" इत्याह । तथोषित-त्वेन क्लिन्नानां यत्नतो भिन्नानामिति क्लिन्नभिन्नानाम्, फलपिप्पलीः फलकणाः । पलं तिलचूर्णम्, अन्तर्नखमुष्टिम् अन्तः स्थितनखेन मुष्टिना यावद्गृह्यते तावन्मानमित्यर्थः, एतेन तोलकमितमित्येव प्रत्येतव्यम्, तथा परिगृहीतं हि प्रायेण तावदेव भवति । अत्र 'यावद्वा साधु मन्यते" इत्यप्याहु-रात्रेयादयो महर्षयः । कोविदारादीनि संशोधन संशमनीयोक्तानि । कषायमधु-सैन्धवादीनां परिमाणन्तु प्राग्वदेव । आशीर्भिरभिमन्त्रितं विघ्नोपशमार्थं ब्राह्मण द्वारा स्वस्तिवाचनेन संस्कृतम् । हाराणचद्र० ।

हि० व्या०—मदनफलपिप्पली संस्कार विधि को चरक संहिता के समान ही सुश्रुत संहिता में भी लिखा गया है । प्रयोग विधि में सुश्रुत के अनुसार—। संस्कारित बीज को तिलचूर्ण के साथ मर्दन कर या खरल कर अन्तर्नखमुष्टि (मुट्ठी बंद करके निकालने पर जितना चूर्ण आ जाए) परिमित मात्रा में

वधुयष्टी के सुखोष्ण क्वाथ में अथवा कोविदारादि संशोधन-संशमनीय एकादश क्वाथों में से किसी एक क्वाथ में रात भर भिगोकर प्रातः इसमें शहद तथा सैन्धव लवण मिलाकर सेवन करना चाहिए ।

मदनफलस्य विविधाङ्गानां प्रयोग प्रकाराः

वमनद्रव्याणां फलादीनां मदनफलानि श्रेष्ठतमानि भवन्ति । अथ मदन पुष्पाणां आतपपरिशुष्काणां चूर्णं प्रकुञ्चं प्रत्यक्पुष्पासदापुष्पी निम्बकषायाणा-मन्यतमेनालोड्य मधुसैन्धवयुक्तां पुष्पचूर्णमात्रां पाययित्वा वामयेत् ।

सु० सू० ४३।३ (क)

फलादीनामिति फलं मदनफलं, आदिग्रहणात् कुटजजीमूतकेक्ष्वाकुधामार्गव-कृतवेधनानि गृह्यन्ते । मदनपुष्पाणामिति अत्र पुष्पशब्दः फले वर्तते, कारणे कार्योपचारात् । चूर्णं प्रकुञ्चं पुनरस्य मध्यमा मात्राः, प्रकुञ्चः पलं, "मुष्टिः" इत्येके, 'कराङ्गुलिचतुष्कमूलावधिमितं चूर्णम्' इत्यपरे । प्रत्यक्पुष्पा अपामार्गः । सदापुष्पी अर्कस्तस्यमूलं, निम्बः प्रसिद्धः; कषायाणां त्रित्वाद्योगत्रयमुक्तम् । पुष्पचूर्णमात्रामिति मात्रा च तन्त्रान्तरे चूर्ण शरावः, अत्र मात्राशब्दो यथायोग-वचनोऽभिप्रेतः । अस्यार्थे 'अक्रूराशयमुपस्थित दोषं मृदु प्रच्छर्दनं' इति केचित् पठन्ति तन्ननिवन्धकारैरपठितत्वात् । डल्हणः ।

फलादीनामित्यत्रादिशब्देन कुटज जीमूतकेक्ष्वाकुधामार्गवकृतवेधनानां संशोधन संशमनीयोक्तानां ग्रहणम् । सर्षपादीनां तु कोविदारादीनां च तत्रोक्ता-नामपि मदनफलादिप्रयोगोपकरणतया वक्ष्यमाणत्वान्नेह प्राधान्येन ग्रहणम्; अतश्च मदनादीनां षण्णामेवात्र प्रयोगाः प्रपञ्चेन वक्तव्याः । तेष्वपि मदनफल-प्राधान्याह—मदनफलानि श्रेष्ठतमानीति; श्रेष्ठत्वं चानपायित्वात् । तदुक्तं चरके—"मदनफलानि श्रेष्ठान्याहुरनपायित्वात्" (च० क० अ० १) इति । अत्र पक्षे मदनफलयोगस्यैवानपायित्वाद् बहुविषयत्वाच्च यद्यपि प्राधान्यं, तत्प्राधान्यादेव च तत्प्रयोगे सर्वमनप्रयोगसाधारणं मन्त्राभिमन्त्रणं दर्शितं; तयाऽपि मदनफलस्य पुष्पादिपूर्वकत्वात् पक्वमदनफलस्य तत्प्रयोगस्य बलवत्वात् तत्पुष्पादिप्रयोगानेव क्रमेणाह—तत्र मदनेत्यादि । प्रकुञ्चः पलम् । परिशुष्क-त्वमिह आतपेनैव, यथा कुर्वन्ति स उपाय इति न्यायात् । प्रत्यक्पुष्पी अपामार्गः, तस्येह मूलम् । पुष्पाणां कषायत्रयेण प्रयोगास्त्रयः । चक्रपाणिः ।

मदनशलाटुचूर्णान्येवं वा बकुलरम्यकोपयुक्तानि मधुलवण युक्तान्यभि-प्रतप्तानि;

सु० सू० ४३।३ (ख)

मदनेत्यादि । शलाटु आमं फलम् । एवमिति एवं शब्दात् प्रत्यक्पुष्पादीनां त्रयः कषाया ज्ञेयाः तेन योगाऽपि त्रयः । रम्यको महानिम्बः । अभिप्रतप्तानि उष्णीकृतानि, 'पाययित्वा वामयेत्' इत्यनुवर्तनीयम् । डल्हणः ॥

शलाटुः आमफलम्। एवमिति पृथक् पूर्वोक्तकषायत्रयेण। अत्र चातिप्रतप्ते मधुप्रक्षेपो न विरुध्यते। तदुक्तं—"उष्णेन मधु संयुक्तं वमनेष्ववचारितम्। अपाकादनवस्थानान्न विरुध्येत पूर्ववत्।" (सू० ४५) इति। मदनशलाटुचूर्ण-सिद्धमामित्यत्र चूर्णस्य पूर्वोक्तप्रकुञ्चो मात्रा; इयं च मात्रा मध्यविषया; तेनात्रापकर्षश्च वलाद्यपेक्षया न्यायसिद्धः कर्तव्य एव; यदुक्तमन्यत्र—"द्रव्य-प्रमाणं तु यदुक्तमत्र मध्येषु तत् कोष्ठबलोवयेषु। तन्मूलमालक्ष्य भवेद्विकल्प-स्तेषां विकल्पोऽभ्यधिकोन भावः" (च० क० अ० १२) इति। एतेषां विषयोऽनुक्तोऽपि वामनीय एव पुरुषो ज्ञेयः॥ चक्रपाणिः।

मदनशलाटुचूर्णसिद्धां वा तिलतण्डुलयवागूम्। सु० सू० ४३।३ ग

शलाटुचूर्णेषु योगानन्तरं निर्दिशन्नाह—मदनेत्यादि। अत्रापि चूर्णस्य प्रकुञ्च एव, तिलतण्डुलयोस्तु यवागूप्रमाणेन मात्राकल्पनं; लेहयित्वा वामयेदिति ज्ञेयं, लेह्यत्वाद्यवाग्वाः। डल्हण॥

हि० व्या०—वमन द्रव्यों में मदनफल उत्तम है। धूप में सुखाये हुए मदन के पुष्पों का चूर्ण एक पल (४ तो०) लेकर अपामार्ग, आक की मूल और निम्ब की छाल इनमें से किसी एक के क्वाथ के साथ शहद और सैन्धव नमक मिलाकर यथोचित मात्रा में प्रयोग करना चाहिए।

मदन के अपक्व फल चूर्ण एक पल की मात्रा में पूर्वोक्त विधि से अपामार्गादि अनुपान के साथ प्रयोग करें या मौलसिरी, महानिम्ब इनकी छाल के क्वाथ में शहद और नमक मिलाकर सुखोष्ण पिलाना चाहिए अथवा मदन के कच्चे फल के चूर्ण से सिद्ध की हुई तिल और चावलों की यवागू पिलाकर वमन कराना चाहिए।

मदनफलप्रयोगविधिः।

ततः प्रयोगकाले तासां फलपिप्पलीनामन्तर्नखमुष्टि यावद्वा साधु मन्येत जर्जरीकृत्य यष्टीमधुककोविदारकर्बुदारनीपविदुलबिंबीशणपुष्पीसदापुष्पीप्रत्यक्-पुष्प्यन्तमकषाये वा रात्रिमुषितं विमृदितं पूतं सूत्रोक्तविधिना पाययेत्। श्लेष्मज्वरगुल्मप्रतिश्यायांतर्विद्रधिषु विशेषेण पुनरापित्त गमनात्। तेन साधु वमति॥ अ० सं० क० १।३

प्रयोगकाले यदाऽऽतुरे प्रयुज्यन्ते। अन्तर्नखा मुष्टिर्यस्मिन् मुष्टौ नखानि न दृश्यन्ते। अथवा यावत् साधु मन्येतेति दोषाद्यपेक्षया। जर्जरीकृत्यावक्षुद्य। मधुयष्टीकषाये वा कोविदाराद्यन्यतमकषाये वा। कोविदारः प्रसिद्धः। कच्छुदारः श्लेष्मातकः। नीपो धूलीकदम्बः। विदुलो वेतसः। बिम्बी रक्तफला गोधा पीलुपर्णी च तुण्डिका। शणपुष्पी बृहत्पुष्पी सा चोक्ता शणघण्टिका महाशणा माल्यपुष्पी वामिनी कटुतिक्तका। सदापुष्पी अर्को विल्वं च। प्रत्यक्पुष्प्यपामार्गः। इति। इन्दुः।

अथाऽऽदाय ततो मात्रां जर्जरीकृत्य वासयेत्।
शर्वरी मधुयष्ट्या वा कोविदारस्य वा जले॥
कर्बुदारस्य बिंब्या वा नीपस्य विदुलस्य वा।
शणपुष्प्याः सदापुष्प्याः प्रत्यक्पुष्प्युदकेऽथवा।
ततः पिबेत्कषायं तं प्रातर्मृदितगालितम्॥
सूत्रोदितेन विधिना साधु तेन तथा वमेत्। अ० हृ० क० १।१०

अथाऽनन्तरं ततः पिप्पलीभ्यो मात्रां परिमाणं प्रायेण देशकालादिवशाद्वा मात्रां विकल्प्याऽनंतरं तां मात्रां जर्जरीकृत्य संचूर्ण्य मधुयष्ट्यादीनामन्यतमस्य जले शर्वरीं सकलां रात्रिं वासयेदभिषवनाय। ततोऽनंतरं तं कषायं मृदित-गालितं पूर्वं मृदितं पश्चाद्गालितं वस्त्रपूतं कृत्वा सूत्रोदितेन विधिना श्वोवम्य-मित्यादिग्रन्थोक्तेन पिवेत्। एवं कृते सति तेन साधु वमेत्। अरुणदतः॥

हि० व्या०—मदनफल पिप्पली अन्तर्नखमुष्टि परिमित मात्रा को यवकूटकर मधुयष्टी, कोविदार, कुन्दरु की जड़, कदम्ब की छाल, वेतस, शणपुष्पी, सदापुष्पी, (वनकार्पासी या अर्कपुष्पी), अपामार्ग के जल में रात्रि भर भिगोकर रखना चाहिए। प्रातःकाल मल, छानकर शीतकषाय को विधिपूर्वक सेवन करने से वमन होता है।

वमनद्रव्याणां पेयलेह्यभोज्यातिरूपेण प्रयोगाय संकेतः

वमनद्रव्ययोगानां दिगियं संप्रकीर्तिता।
तान् विभज्य यथाव्याधि कालशक्तिविनिश्चयात्॥
कषायं स्वरसैः कल्कैश्चूर्णैरपि च बुद्धिमान्।
पेयलेह्याद्य भोज्येषु वमनान्युपकल्पयेत्॥
सु० सू० ४३।१०-११

वमनद्रव्येत्यादि। दिगियं संप्रकीर्तितेति इयं दिक् संप्रकीर्तिता कथितेत्यर्थः। तान् वान्तिद्रव्य विकल्पान्, विभज्य पृथक्कृत्य, यथाव्याधि 'वमनान्युपकल्पयेत्' इत्यग्रेतनेन संबन्धः। कस्मात्? कालशक्तिविनिश्चयात्। केषु वमनान्युपकल्पये-दित्याह—पेयलेह्याद्यभोज्येषु। कैः कृत्वा? कषायैरित्यादिभिः। कषायैः शृतशीतफाण्टभेदात्त्रिविधैः, स्वरसैः यन्त्रादिपीडितार्द्र द्रवोत्थैः, कल्कैर्दृषदि पिष्टैः, चूर्णैः शुष्कपेषणाणूकृतावयवैः। अपिशब्दाद्वमनद्रव्यपक्वैः स्नेहैरित्यनुक्तं समुच्चीयते। भोज्यग्रहणान्मोदकोत्कारिका शष्कुली प्रभृतीनां ग्रहणम्। डल्हणः।

कषायैरित्यादि। अत्र कषायशब्देनशृतशीतफाण्टानां ग्रहणं, चूर्णश्च कल्कभेदः, तेन पञ्चापि कल्पनाः स्वरसकल्कशृतशीतफाण्टरूपा गृहीता भवन्ति। पेयादीनां चतुर्विधानामेव विधानान्मोदकोत्कारिकाशष्कुलीप्रभृतीनां तन्त्रान्तरोक्तानाम् सर्वेषामेव ग्रहणम्। यैरपि चात्र प्रयोगप्रपञ्चः कृतश्चरका-दिभिस्तैरप्यस्ति प्रयोगानवस्थानं दर्शितं; यथा—"बहुद्रव्य विकल्पत्वाद् योग

संख्या न विद्यते। स्वबुद्धैवं सहस्राणि कोटीर्वाऽपि प्रकल्पयेत्" (क० अ० १२) इति। तेनायमनतिविस्तरोऽपिदेशश्च विस्तरार्थः कृत इति भावः। चक्रपाणिः।

वमनानां दिगित्येषां सुतरामुपयोगिनां।
बीजेनानेन मतिमानन्यानपि विकल्पयेदिति॥ अ० सं० क० १।३३

इत्यनन्तरोक्तप्रकारेण वमनानां वमनद्रव्याणामेषा दिक् कल्पना मार्गः प्रदर्शितः। किं भूतानामाह। सुतरामुपयोगिनाम्। यथोक्तेन बीजेन युक्त्यान्यानपि वमनादीन् कल्पयेन्मतिमान् प्राज्ञः। अप्राज्ञस्तु शास्त्रानुसारेण ग्रहितुमशक्यत्वात् केवलं व्यापदा योजयतीति। इन्दुः।

हि० व्या०—आचार्य सुश्रुत ने वामक योगों का संक्षिप्त रूप में यहां निर्देश किया है। रोग, काल और रोगी या रोग की शक्ति का निश्चय करके इन वमन द्रव्यों का विभाग कर, कषाय, स्वरस, कल्क, चूर्ण आदि के रूप में पेय, लेह्य, भोज्य द्रव्यों के साथ वमन हेतु बुद्धिमान् वैद्य को प्रयोग कराना चाहिए। आचार्य वाग्भट ने भी इनका ही अनुकरण किया है।

मदनफलप्रयोगाणां संख्या संकेतः

नव योगाः कषायेषु मात्रास्वष्टौ पयोघृते।
पञ्च, फाणितचूर्णे द्वौ, द्रव्ये वर्तिक्रियासुषट्॥
विंशतिर्विंशतिर्लेहमोदकोत्कारिकासु च।
शष्कुलीपूपयोश्चोक्ता योगाः षोडश षोडशः॥
दशान्ये षाडवाद्येषु त्रयस्त्रिंशदिदं शतम्।
योगानां विधिवद्दिष्टं फलकल्पे महर्षिणा॥

च० क० १।२८-३०

हि० व्या०—महर्षि आत्रेय ने १३३ वामक योगों का निर्देश किया है। कषाय के ९ योग, मात्राओं में ८ योग, दूध और घृत में ५ योग, फाणित में एक योग, चूर्ण का एक योग, नस्य का एक योग, वर्तिक्रिया में ६ योग, लेह में २० योग, मोदक में २० योग, शष्कुली के १६ योग, पूप के १६ योग, एवं षाडव के १० योग।

मदनफलमज्जायाः अनुपानभेदेनविविधाः प्रयोग प्रकाराः।

मदनफलमज्जचूर्णं वा तत्क्वाथपरिभावितं मदनफलकषायेण; मदनफलमज्जसिद्धस्य वा पयसः सन्तानिकां क्षौद्रयुक्तां, मदनफलमज्जसिद्धं वा पयः, मदनफलमज्जसिद्धेन वा पयसा यवागूम्, अधोभागासृक्पित्तहृद्दाहयोः; मदनफलमज्जसिद्धस्य वा पयसो दधिभावमुपगतस्य दध्युत्तरं दधि वा कफप्रसेकच्छर्दिमूर्च्छातमकेषु; मदनफलमज्जरसं स्नेहं वा भल्लातकस्नेहवदादायफाणितभूतं लेहयेत्, आतपपरिशुष्कं वा तमेव जीवन्तीकषायेण, पित्तकफस्थानगते; मदनफलमज्जक्वाथं वा पिप्पल्यादिप्रतीवापं, तच्चूर्णं वा निम्बरूपिकाकषाययोरन्यतरेण संतर्पणकफजव्याधिहरं, मदनफलमज्जचूर्णं वा मधूककाश्मर्यद्राक्षाकषायेण।

मदनफलविधानमुक्तम्। सु० सू० ४३।३

मदनफलमज्जसिद्धं क्षीरं दधितां गतं तत्समं वा।
वमनाय कफप्रसेके वमनं कफेषु च प्रयुञ्ज्यात्॥

वङ्गसेन (वमना० २२)

हि० व्या०—(१) मदनफलमज्ज चूर्ण को मदनफलक्वाथ की भावना देकर मदनफलक्वाथ के अनुपान से प्रयोग करना चाहिए।

(२) मदनफल की मज्जा से सिद्ध दूध की मलाई को शहद में मिलाकर प्रयोग करना चाहिए।

(३) मदनफल की मज्जा से सिद्ध दुग्ध पिलाकर वमन कराना चाहिए।

(४) मदनफल मज्जा से सिद्ध दुग्ध में यवागू बनाकर अधोग रक्तपित्त और हृदयदाह में प्रयोगकरना चाहिए।

(५) कफ निकलने, वमन मूर्च्छा और तमक श्वास की स्थिति में मदन फलमज्जा से सिद्ध दुग्ध का दही जमाकर उसका पानी या दही का प्रयोग करना चाहिए।

(६) भिलावे की तरह मदनफल मज्जा का तेल या स्वरस निकालकर पकाकर गाढ़ा करके चटाना चाहिए।

(७) पित्त के अनुबन्ध में धूप में सूखे हुए मदनफल की मज्जा के चूर्ण को जीवन्तीकषाय के साथ पिलाना चाहिए।

(८) मदनफल की मज्जा के क्वाथ में पिप्पल्यादिगण की औषधियों का चूर्ण, निम्ब तथा आक के क्वाथ मिलाकर पिलाने से सन्तर्पणजन्य तथा कफजन्यरोग दूर हो जाते हैं।

(९) मदनफलमज्जा के चूर्ण को मुलेठी, गम्भारी और द्राक्षा इनके क्वाथ के साथ पिलाना चाहिए।

षाडवराग इत्यादिभेदेन फलपिप्पली प्रयोग संकेतः।

बदरषाडवरागलेहमोदकोत्कारिकातर्पणपानकमांसरसयूषमद्यानां मदनफलान्यतमेनोपसंसृज्य यथादोषरोगभक्ति दद्यात्; तैः साधुवमतीति॥

च० क० १।२६

मदनफलप्रयोग विविध कल्पना

(१) बेर का षाडव, (२) राग, (३) अवलेह, (४) मोदक, (५) उत्कारिका, (६) तर्पण, (७) पानक, (८) मांसरस, (९) यूष, (१०) मद्य इनमें से किसी एक में मदनफल पिप्पली के चूर्ण को मिलाकर दोष, रोग तथा रोगी के अनुसार व्यवहार करना चाहिए। इससे भली भाँति वमन होता है।

रक्तपित्तहृद्दाहे च फलपिप्पली प्रयोगः।

फलपिप्पलीक्षीरं तेन वा क्षीरयवागूमधोभागे रक्तपित्ते हृद्दाहे च; तज्जस्य वा दध्न उत्तरकं कफच्छर्दितमकप्रसेकेषु तस्य वा पयसः शीतस्य सन्तानिका-

ञ्जलि पित्ते प्रकुपिते उरः कण्ठहृदये च तनुकफोपदिग्धे;

च० क० १।१७

फलपिप्पल्या क्षीरपाकविधिना साधितं क्षीरं फलपिप्पली क्षीरं। अयमेको योगः। तेनेति फलपिप्पलीसाधितक्षीरेण। तज्जस्येति फलपिप्पलीक्षीरजातस्य दध्नः। उत्तरकमिति सरम्। सन्तानिका क्षीरोपरिस्थः स्त्यानोभागः। चक्रपाणिः।

मदनफलमज्जसिद्धं वा पयस्तस्मिन्वा यवागूमधो भागे रक्तपित्ते हृद्दाहे च। तस्य वा पयसः शीतस्य सन्तानिकांऽजलि पित्ते प्रकुपिते उरः कण्ठहृदये च तनुकफोपदिग्धे॥ तज्जं वा दधि दध्युत्तरं वा कफच्छर्दिप्रसेकतमकेषु॥

अ० स० क० १।६

हृद्दाहेऽधोस्रपित्ते च क्षीरं तत्पिप्पली भृतम्।
क्षीरेयीं वा ... ... ॥
... ... कफच्छर्दितमकेषु तु।
दध्युत्तरं वा दधि वा तच्छृत क्षीरसम्भवम्॥

अ० हृ० क० १।१२-१३

पयो यवागूश्चाधोगास्रपित्तहृद्दाहयोः। तस्मिन्निति फलपिप्पलीसिद्धे पयसि सिद्धा यवागूम्। तस्येति पिप्पलीसिद्धस्य पयसः। सन्तानिकां शीतस्य क्षीरस्योपरिजालिकां ततः अञ्जलि चत्वारि पलानि। पित्ते प्रकुपिते उरः प्रभृतौ च तनुना कफेनोपदिग्धे समन्ताल्लिप्ते तज्जं क्षीरजं दध्युत्तरं सरः एवं कफच्छर्द्यादिषु। इन्दुः।

हृदयदाहेऽधोगे रक्तपित्तेः तस्य मदनस्य फलपिप्पलीभिः क्वथितं क्षीरं क्षीरेयीं वा पिबेत्। तन्त्रान्तरे च 'द्रव्यादष्टगुणं क्षीरं क्षीरात्तोयं चतुर्गुणम्। क्षीरावशेष कर्तव्यः क्षीरपाके त्वयं विधिरिति॥' अरुणदत्तः।

रक्तपित्त एवं हृदयदाह रोग में मदनफलपिप्पली प्रयोग

हि० व्या०—(१) मदनफलपिप्पली क्षीर तथा उससे साधित यवागू का अधोग रक्तपित्त या हृदयदाह में प्रयोग करना चाहिए।

(२) फलपिप्पली क्षीर से प्रस्तुत दधि की मलाई को कफज छर्दि, तमक श्वास और कफ प्रसेक में प्रयोग करना चाहिए।

(३) शीतल फल पिप्पली क्षीर की सन्तानिका या मलाई एक अञ्जलि (चार पल) प्रमाण में पित्तप्रकोप या उरः कण्ठ और हृदय में कफोपलेप में प्रयोग करना चाहिए।

बलवत् श्लेष्मप्रसेकग्रन्थिज्वरादिषु प्रयोज्य फलपिप्पलीनां विशेष योगः

फलपिप्पलीनां द्वौ द्वौ भागौ कोविदारादिकषायेण त्रिः सप्तकृत्वः स्रावयेत्, तेन रसेन तृतीयं भागं पिष्ट्वा मात्रां हरीतकीभिर्बिभीतकैरामलैर्वा तुल्यां वर्तयेत्, तासामेकां द्वे वा पूर्वोक्तानां कषायाणामन्यतमस्याञ्जलिमात्रेण विमृद्य

बलवच्छ्लेष्मप्रसेकग्रन्थिज्वरोदरारुचिषु पाययेदिति।

च० क० १।१६

फलपिप्पलीनां द्वौ भागावित्यादौ फलपिप्पलीनां भागत्रयं कर्तव्यं। तत्र भाग द्वयं षड्गुणेन कोविदारकषायेण क्षारपरिस्रावणविधिवदेकविंशति वारान् परिस्रावणीयम्। कोविदारादीनां चाष्टानामष्टौ कषायाः पृथक् परिस्रावणे प्रयोक्तव्याः। येन च कषायेण फलपिप्पली भागद्वयं परिस्राव्य हरीतक्यादिपरिमाणा मात्रा तृतीय भागफलपिप्पलीकल्कस्य क्रियते तेनैव कषायेण मात्रा योगः; एवमष्टौ हरीतक्यादिमात्रया निर्दिष्टाः फलपिप्पली योगा भवन्ति। मात्रा विकल्पश्च दोषबलादिविकल्पकृतो ज्ञेयः। चक्रपाणिः।

फलपिप्पलीचूर्णं वा स्वक्वाथभावितं त्रिभाग त्रिफलाचूर्णं कोविदारादि निर्यूहेण बलवत्कफप्रसेकापच्यर्बुद ग्रन्थिज्वरोदरारोचकेषु पिबेत्॥

अ० सं० क० १।४

बल्वत्कफादिषु फलपिप्पलीनां चूर्णं स्वेन वचाक्वाथेनैव भावितमनन्तरोक्त कोविदाराद्यन्यतमनिर्यूहेण पिबेत्। इन्दुः।

मदनफलपिप्पली विविध प्रयोगविधि

फलपिप्पली के दो भाग कल्क, रक्त कांचनार आदि आठ द्रव्यों के अलग-अलग क्वाथ को २१ वार कपड़े से छानकर इस क्वाथ में मदनफल पिप्पली के तीसरे भाग को पीसकर हरीतकी, विभीतक या आँवले के समान वटी बना कर रक्त कांचनार के क्वाथ एक अञ्जलि (४ पल) में एक या दो वटी मर्दन कर, तीव्र कफ प्रसेक, ग्रन्थिज्वर, उदर रोग और अरुचि रोगों में पिलाना चाहिए।

श्लेष्मज्वरादि रोगादिविशेषेषु वामकौषध प्रयोगः

विशेषेण श्लेष्मज्वरप्रतिश्यायान्तर्विद्रधिषु; अप्रवर्तमाने वा दोषे पिप्पलीवचागौरसर्षपकल्कोन्मिश्रैः सलवणैरुष्णाम्बुभिः पुनः पुनः प्रवर्तयेदासम्यग्वान्तलक्षणादिति॥

सु० सू० ४३।३

विशेषेणेति वचनात् सर्ववामनीयविषयतां चास्य विधेर्दर्शयति। एषु च वमनप्रयोगेषु वक्ष्यमाणेषु च पूर्वकर्म स्नेहादि, उत्तरकर्म च पेयादि चिकित्सा-वक्ष्यमाणं सर्वं योजनीयम्। वमनयोगे विधानमाह अप्रवर्तमानेवेत्यादि। प्रवर्तयेदिति यथोक्तमम्बु पीत्वा पुनः पुनर्वमेत्। असम्यग्वान्तिलक्षणादिति 'पित्ते कफस्यानुसुखं प्रवृत्ते (चि० अ० ३३) इत्यादिना वक्ष्यमाणसम्यग्वान्तिलिङ्ग-दर्शनं यावत्। चक्रपाणिः॥

हि० व्या०—कफजन्यज्वर प्रतिश्याय तथा अन्तर्विद्रधि में एवं दोष के बाहर न निकलने पर पीपल, वचा और श्वेत सरसों के कल्क में नमक मिला कर सुखोष्ण जल को, सम्यग् वमन होने तक बार-बार पिलाना चाहिए।

कफाभिभूताग्नौ शुष्कदेहे च प्रयोज्यफलपिप्पली योगः

फलपिप्पलीभृतक्षीरान्नवनीतमुत्पन्नं फलादिकल्ककषायसिद्धं कफाभिभूताग्निविशुष्यद्देहं च मात्रया पाययेदिति ।

च० क० १।१८

फलादीनि फलजीमूतकेक्ष्वाकुधामार्गवकुटजकृतवेधनानि षट् । एते क्षीरयोग चतुष्टयेन घृतयोगेन च समं पञ्चयोगा अध्यायसंग्रहेवक्तव्याः । चक्रपाणिः ।

तस्माद्वा पयसो नवनीतमुत्पन्नं फलादिषट्क्वाथेन फलषट्कचूर्णोन्मिश्रेण सिद्धं कफाभिभूतेऽग्नौ शुष्यच्छरीरे च ॥

अ० सं० क० १।७

फलादिक्वाथकल्काभ्यां सिद्धं तत्सिद्ध दुग्धजम् ।
सर्पिः कफाभिभूतेऽग्नौ शुष्यद्देहे च वामनम् ॥

अ० हृ० क० १।१४

हि० व्या०—मदनफलपिप्पली से सिद्ध दूध से मक्खन निकालकर उसमें मदनफल, जीमूतक, इक्ष्वाकु, धामार्गव, कुटज, कृतवेधन इन छः द्रव्यों के क्वाथ और कल्क से घृत पाक करना चाहिए । इस घृत का प्रयोग कफवृद्धि से जिन व्यक्तियों की अग्नि मन्द हो गई हो और शरीर सूख गया हो उन्हें बल और मात्रा के अनुसार वमन हेतु पिलाना चाहिए ।

पित्ते कफस्थानगते वामक फलपिप्पली योगः

फलपिप्पलीनां भल्लातकविधिपरिस्रुतं स्वरसं पक्त्वा फाणितीभूतमातन्तुलीभावाल्लेहयेत्; आतपशुष्कं वा चूर्णीकृतं जीमूतकादिकषायेण पित्ते कफस्थानगते पाययेदिति ।

च० क० १।२०

भल्लातकविधिस्रुतमिति रसायनोक्त भल्लातकस्नेहग्रहणविधानेन परिस्रुतः स्वरसो ग्राह्यः । फाणितयोगोऽयमेकः । आतपशुष्कं वेत्यादिना चूर्णयोगोऽप्येकः । चक्रपाणिः ।

फलपिप्पलीनां वा भल्लातकविधिभृतं स्वरसमादर्वी प्रलेपात्पक्त्वा लेहयेत् । अन्नपानेषु वा तं लेहमवचारयेत् तत्कषायैरेव चान्नपानानि कल्पयेत् ।

अ० सं० क० १।१५

रसायनोक्त भल्लातकस्रावणविधिना परिस्रुतं फलपिप्पली स्वरसं दर्वीलेपं यावत् तावत् पक्त्वा लेहयेत् । अथवा तं लेहमन्नपानेषु योजयेत् कषायैर्मदनफलपिप्पलीकषायैरन्नपानानि कल्पयेत् । इन्दुः ।

मदनफलमज्जाचूर्णं वा जीमूतकादि निर्यूहेण पित्ते कफस्थानगते ।

अ० सं० क० १।५

जीमूतादीत्यादि ग्रहणेनैव प्रथमसुक्तानामिक्ष्वाक्वादीनां चतुर्णां परिग्रहः । तच्च चूर्णं जीमूतादिनिर्यूहेण कफस्थानगते पित्ते पिबेत् । इन्दुः ।

स्वरसं फलमज्ज्ञो वा भल्लातकविधिभृतम् ।
आदर्वीलेपनात्सिद्धं लोढ्वा प्रच्छर्दयेत्सुखम् ॥
तं लेहं भक्ष्यभोज्येषु तत्कषायांश्च योजयेत् ॥

अ० हृ० क० १।१५-१६

फलमज्ज्ञो वा स्वरसं भल्लातकविधानेन भृतं दर्वी लेपं यावत्पक्त्वा लीढ्वा सुखेन वमेत् । तं च लेहं भक्ष्यादिषु तथा तस्य मदनफलस्य कषायान्योजयेत् । अरुणदत्तः ।

मदनफलस्वरस प्रयोग—

हि० व्या०—१. रसायनप्रकरण (चरक चि०) में निर्दिष्ट भल्लातक विधि से मदनफलपिप्पली का स्वरस निकालकर उसे पकाना चाहिए । पककर जब राब के समान घन हो जाए तो उसे उतारकर शीतल होने पर रोगी को चाटने के लिए देना चाहिए ।

२. अथवा मदनफल पिप्पली को आतप शुष्क कर चूर्ण तैयार करना चाहिए । इस चूर्ण का जीमूतकादि के क्वाथ से सेवन करना चाहिए ।

उपरोक्त योगों से कफस्थान में गया हुआ पित्त वमन द्वारा बाहर निकल जाता है । कुछ आचार्यों ने इस योग में मधु एवं सैंधा नमक मिलाने का निर्देश किया है । आचार्य वाग्भट ने मदनफलमज्जा चूर्ण का ही निर्देश किया है ।

फलपिप्पली चूर्णं वा क्वाथेन स्वेन भावितम् ।
त्रिभागत्रिफलाचूर्णं कोविदारादिवारिणा ॥
पिबेज्ज्वरारुचिछर्दिवं ग्रन्थपच्यर्बुदोदरी ।
पित्ते कफस्थानगते जीमूतादि जलेन तत् ॥

अ० हृ० क० १।१०-१२

हि० व्या०—मदनफल के बीजों के चूर्ण को मदनफल के क्वाथ से भावित कर उसमें तीन भाग त्रिफला चूर्ण मिलाकर, कोविदार आदि किसी एक द्रव्य के क्वाथ के अनुपान से सेवन करना चाहिए । ज्वर, अरुचि, ग्रन्थि, अपची, अर्बुद तथा उदर रोगों में इस योग से वमन कराना चाहिए । पित्त के कफ स्थान में चले जाने पर जीमूतक कषाय के अनुपान से प्रयोग करना चाहिए ।

मदनक्वाथस्य सर्वश्लेष्मव्याधिहरत्वम् ।

फलमज्जक्वाथं वा वत्सकादिप्रतीवापं निंबार्कान्यतरकषायोपसर्जनं संतर्पणोत्थ सर्वश्लेष्म व्याधिहरम् । अ० सं० क० १।१२

वत्सकादिप्रतीवापः कषायः फलमज्जजः ।
निम्बार्कान्यतरक्वाथसमायुक्तो नियच्छति ॥

बद्धमूलानपि व्याधीन्सर्वान्संतर्पणोद्भवान् ।

अ० हृ० क० १।१६-१७

हि० व्या०—मदनफल के मज्जा या बीज (पिप्पली) का कषाय, वत्सकादिगण (सु० सू० ३८) की औषधियों का कल्क मिलाकर निम्ब की छाल या अर्कपूल छाल के क्वाथ से पीना चाहिए। इससे वमन हो जाता है तथा यह सन्तर्पण से उत्पन्न श्लेष्म व्याधियों को नष्ट करता है।

सुकुमाराणां कृते वामको गन्ध योगः

फलपिप्पलीनां फलादिकषायेण त्रिः सप्तकृत्व सुपरिभावितेन पुष्परजः प्रकाशेन चूर्णेन सरसि संजातं बृहत्सरोरुहं सायाह्ने ऽवचूर्णयेत्, तद्रात्रिव्युषितं प्रभाते पुनरवचूर्णितमुद्धृत्य हरिद्राकृसरक्षीरयवागूनामन्यतमं सन्धवगुडफाणित-युक्तमाकण्ठं पीतवन्तमाघ्रापयेत् सुकुमारमुत्क्लिष्टपित्तकफमौषधद्वेषिणमिति ।

च० क० १।१६

फलपिप्पलीनां फलादिकषायेत्यादिना एकं घ्रेययोगमाह । पुष्परजः प्रकाशेनेति पुष्पधूलिसदृशेन । हरिद्राप्रधानः कृशरो हरिद्राकृशरः । चक्रपाणिः ।

.....फलपिप्पलीनां वमनद्रव्यकषायपरिपीतानां बहुशश्चूर्णमुत्पलादिषु दत्तमाघ्रातं वामयति, तत्त्वनवबद्धदोषेषु यवागूमाकण्ठात्पीतवत्सु च विदध्यात् । वमनविरेचनशिरोविरेचनद्रव्याण्येवं वा प्रधानतमानि भवन्ति ।

सू०सू०४३।६

परिपीतानामिति भावितानाम् । उत्पलादिष्विति आदिग्रहणाद्रक्तोत्पलकुमुदपुण्डरीकसौगन्धिकानि गृह्यन्ते । तस्य प्रयोगविशेषस्य विषयं दर्शयन्नाह-तत्त्वित्यादि । तत्तु प्रागुक्तं चूर्णविदध्यादिति संबन्धं । केषु ? अनवबद्धदोषेषु पुरुषेष्वित्यर्थः । पुनरपि किं विशिष्टेषु ? यवागूमाकण्ठात् पीतवत्सु च ।

डल्हणः ।

वमनद्रव्यकषायपरिपीतानां मदनफलादिकषायभावितानाम्, चूर्णमुत्पलादिषु दत्तं विकीर्णमित्यर्थः । न चैतन्मृदुवीर्य्यत्वात्शाश्वत्कार्यकरं भवतीत्यतो विशिनष्टि तदित्यादिना । तत् उत्पलादिषु दत्तं चूर्णं, अनवबद्ध दोषेषु उत्कृष्ट दोषेषु इत्यर्थः । अत्र जिज्ञास्यं किन्नु खलु भगवन् द्रव्यस्वरूपसंयोगं हित्वा तत्कषायेण भावयितुमभीप्सन्त्याचार्य्याः, न हि द्रव्यात्कषायो गुणवत्तरइति वक्तुं युक्तमित्याह वमनेत्यादि । वमनादिद्रव्याण्येवं कषायभावनयैव प्रधानतमानि विशेषेण गुणवन्ति भवन्ति, द्रव्यशक्तेरचिन्त्यत्ववदिति भावः । वाशब्दोऽवधारणार्थः । तथा चाह दृढबलः "भूयश्चैषां बलाधानं कार्यं स्वरसभावनैः । सुभावितं ह्यल्पमपि द्रव्यं स्याद्बहुकर्मकृत् । हारीतश्च० ।

फलपिप्पलीनां वा फलादिनियूहेणैकविंशतिकृत्वः भावितानां कुसुमरजः प्रकाशेन चूर्णेनावचूर्णयेत् सरसि सरोरुहे बृहत्सायाह्ने तद्रात्रिमुषितं प्रभाते पुनरुपचूर्णितमुद्धृत्य हरिद्राकृशराक्षीरयवागूनामन्यतमं सैन्धवगुडफणितोपेतमा-

कण्ठं पीतवानुपजिघ्रन् सुकुमारः समुचितगन्धसंपदुत्क्लिष्टकफपित्तौ भेषजद्वेषी च तथा सुखेनच्छर्दयति । अ० सं०क० १।१३

फलादिप्रधानषट्कक्वाथभावितानां फल पिप्पलीनां चूर्णेन सरसि स्थितं सरोरुहं पद्मादि सायाह्ने ऽवचूर्णयेत् तत् सरसीरुहं रात्रिमुषितं प्रभाते पुनरवचूर्णितं सरस उद्धृत्य सुकुमारः भेषजद्वेषी च पुरुषो जिघ्रतु वा तथा हि सुखेन छर्दयति । किंभूतं आह । हरिद्रादीनामन्यतमं सैन्धवाद्युपेतमाकण्ठं पीतवान् । समुचितः अभ्यस्त सुरभिगंन्ध सम्पद्यस्य । कुसुमरजः पुष्परागः । भेषजद्वेषी यो नरः भेषजं द्वेष्टि । इन्दुः ।

राठपुष्पफलश्लक्ष्ण चूर्णैर्माल्यं सुरक्षितम् ।
वमेन्मंडरसादीनां तृप्तो जिघ्रन् सुखं सुखी ॥
एवमेवफलाभावे कल्प्यं पुष्पं शलाटु वा ।

अ० हृ० क० १।१७

हि० व्या०—मदनफल की पिप्पली को कूटकर चूर्ण तैयार करें। चूर्ण पुष्पराग सदृश मसृण होना चाहिए। जीमूतकादिकषाय की २१ भावना देकर शुष्क करें। इस चूर्ण को तालाब में खिले हुए कमल पुष्प पर छिड़क दें। प्रातःकाल उस चूर्ण को उतार लें। रोगी को हल्दी, कृशरा, दूध, यवागू इनमें से किसी एक की, जिसमें सैंधानमक, गुड़ और फाणित मिलाहो, आकण्ठ पिला दें तत्पश्चात् उपरोक्त चूर्ण को सूंघने के लिए दें। यह घ्रेय योग है। इसके आघ्राण से वमन होकर कफपित्तज रोग दूर हो जाते हैं। यह योग विशेषतया सुकुमार व्यक्तियों के लिये है। जो औषध ग्रहण करने में किसी कारण से असमर्थ हो उन्हें भी प्रयोग कराया जा सकता है। आचार्य वाग्भट के अनुसार मदनफल के अभाव में (सुपक्व फलों के अभाव में) कच्चे फलों का भी व्यवहार किया जा सकता है।

बालवृद्ध सुकुमाराणां कृते निरुपद्रवः वामक योगः ।

तत्र सुकुमारं कृशं, बालं, वृद्धं भीरुं वा वमन साध्येषु विकारेषु क्षीरदधितक्र यवागूनामन्यतमेनाकण्ठं पाययित्वा वामयेत् । वङ्गसेन वमना० २१

हि० व्या०—सुकुमार, कृश, बालक, वृद्ध और भयभीत इनको यदि वमन कराना हो और रोग वमन साध्य हो तो दूध, दही, तक्र और यवागू इनमें से किसी एक को कंठपर्यन्त पान कराकर वमन कराना चाहिए।

वामक शष्कुलीकल्प पूपकल्पश्च ।

फलपिप्पलीस्वरसकषायपरिभावितानि तिलशालितण्डुलपिष्टानि तत्कषायोपसृष्टानि शष्कुलीकल्पेन वा शष्कुल्यः पूपकल्पेन वा पूपा इति ।

च० क० १।२४

फलपिप्पलीस्वरसकषायपरिपीतैर्वा तिलशालितंदुलपिष्टैस्तत्कषायोपसृष्टैः

सुरसादि द्रव्यान्यतमनिर्यूहोपसृष्टैर्वा शष्कुलीरपूपानन्यं वा भक्ष्यं साधयित्वा भक्षयेत् ।

अ० सं० क० १।१०

फलपिप्पलीस्वरसेनेत्यादिना शष्कुल्यपूपयोः पृथगेको योगः । एतेनैव च कल्पेनेत्यादिना सुमुखादिपञ्चदशद्रव्यकषायेण पृथक् शष्कुल्यपूपयोः करणात् पञ्चदश योगा भवन्ति । एवं मिलित्वा शष्कुलीपूपयोः पृथक् षोडश योगा भवन्ति ।

चक्रपाणिः ।

तिलानां शालितण्डुलानां च पिष्टैश्चूर्णैः फलपिप्पलीकषायपरिपीतैः तत्स्वरसपरिपीतैश्च फलपिप्पलीकषायेणैव संसृष्टैः सुरसादिगण स्यान्यतमद्रव्य-कषायेणोपसंसृष्टैः शष्कुल्यादीन् साधयित्वा वमनार्थं भक्षयेत् । कषायपरिपीतैः कषायभावितैरनेकशः । इन्दुः ।

एतेनैव च कल्पेन सुमुखसुरसकुठेरकाण्डरिकालमालकपर्णासकक्षवक[1] फणि-ज्झकगृञ्जनकासमर्दभृङ्गराजानां पोटेक्षुवालिकाकालङ्कतकदण्डैरकाणां चान्यत-मस्य कषायेण कारयेत् ॥

च० क० १।२५

हि० व्या०—तिलचूर्ण और शालि चावलों के आटे को मदनफल पिप्पली कषाय या स्वरस की भावना देकर शष्कुली (कचौड़ी) या अपूप (पूए) बना लें । इनमें मधु और घृत मिलाना आवश्यक है । इस योग से भी वमन होकर दोष का निर्हरण होता है । इसके साथ चरक ने एक और योग की कल्पना की है—पूर्वोक्त योग में—सुमुख (जङ्गली तुलसी), सुरसा (तुलसी), कुठेरक (छोटे पत्र की श्वेत तुलसी), काण्डेरी (नागदन्ती), कालमालक (छोटे पत्तें की काली तुलसी), पर्णासक (काली तुलसी), क्षवक (हौचिया-नकछिकनी-अथवा राई), फणिज्झक (गन्ध तुलसी), गृञ्जन (शलगम-पलाण्डु भेद अथवा गाजर), कासमर्द (कसौंदी) भांगरा, पोटा (इक्षुगन्ध या काश), इक्षुवालिका (इक्षुभेद) कालङ्कतक (कासमर्द), दण्डैरक (तृणविशेष), इनमें से किसी एक के क्वाथ से शष्कुली और अपूप तैयार करें ।

आचार्य वाग्भट के अनुसार तिल और शालि चावल के आटे को मदन-फलपिप्पली कषाय की भावना देकर उपरोक्त द्रव्यों में से किसी एक द्रव्य के कषाय में घोलकर शष्कुली या अपूप तैयार करके खिलाना चाहिए । इससे वमन होकर दोष का निर्हरण हो जाता है ।

वामकफलपिप्पली गुटिका निर्माण प्रकारः ।

फलपिप्पलीचूर्णानि पूर्ववत् फलादीनां षण्णामन्यतमकषायस्तानि वर्ति-क्रियाः फलादिकषायोपसर्जनाः पेया इति ।

च० क० १।२१

फलादिषट्कषायभेदेन कृतत्वात् षड्वर्तिकप्रयोगा ज्ञेयाः । वर्तिक्रियाय चतुर्गुणेन क्वाथेन पाकाद्वर्त्याकारता कर्तव्या । अत्रापि च तथा लेहादौ च

१. क्षवक = रक्त सर्षप, कृष्ण सर्षप, राकमास, शिग्रु, श्वेत अपामार्ग ।

सामान्योक्तेन मधुप्रक्षेपो युक्तः; तं चैके मधुनः पाकविरोधान्नानुमन्यन्ते ॥

चक्रपाणिः ।

हि० व्या० - मदनफल वर्ति या गुटिका निर्माण विधि—मदनफल की पिप्पली का चूर्ण जीमूतकादि क्वाथ में छान-घोंटकर वर्ति या गुटिका बनाकर जीमूतकादि क्वाथ से वमन हेतु खिलाना चाहिए ।

वामकफलपिप्पली अवलेहयोगः ।

फलपिप्पलीनामारग्वधवृक्षकस्वादुकण्टकपाठापाटलाशार्ङ्गेष्टामूर्वासप्तपर्णन-क्तपिचुमर्दपटोलसुषवीगुडूचीसोमवल्क द्वीपिकानां पिप्पलीपिप्पलीमूलहस्ति-पिप्पलीचित्रकशृङ्गवेराणां चान्यतमकषायेण सिद्धो लेह इति । च० क० १।२२

आरग्वधादिविंशतिद्रव्यक्वाथभेदेन कृतत्वाद्विंशतिर्लेहा ज्ञेयाः । वृक्षकः कुटजः, स्वादुकण्टको विकङ्कतः, शार्ङ्गेष्टा गुञ्जा, सुषवी कारवेल्लकं, द्वीपिका हिंस्रा, कण्टकारीत्यन्ये । चक्रपाणिः ।

हि० व्या०—मदनफल के बीस अवलेह योग—मदनफलपिप्पली (१) अमलतास की गुद्दी, (२) कुटजत्वक्, (३) विकंकत, (४) पाठा, (५) पाटला, (६) शार्ङ्गेष्टा (गुंजा), (७) मूर्वा, (८) सप्तपर्ण, (९) करंज, (१०) नीम की छाल, (११) पटोलपत्र, (१२) सुषवी (करेला), (१३) गुडूची, (१४) सोमवल्क (सफेद खैर), (१५) द्वीपिका (भटकटैया), (१६) पिप्पली, (१७) पिपलीमूल, (१८) गजपिप्पली, (१९) चित्रक, (२०) अदरख, इन बीस द्रव्यों में किसी भी एक द्रव्य के क्वाथ में पकाकर अवलेह तैयार करे । रोगी को वमन विधि के अनुसार चाटने के लिए दें । इससे वमन होकर दोष का निर्हरण हो जाएगा ।

फलमज्जाचूर्णमिश्रेण वाऽऽरग्वधादि द्रव्याणां घोंटाभूनिंबवाणवर्ज्यानां ससोमवल्कपञ्चकोलकानामन्यतमस्य निर्यूहेणसाधितं लेहपमुयुञ्जीत ॥

अं०सं०क० १।८

कफाभिभूताग्निशुष्यद्धेरारग्वधादिगणद्रव्याणां निर्यूहेण क्वाथेन फलपिप्पलीचूर्णमिश्रेण साधितं लेहमुपयुञ्जीत । घोण्टाया भूनिम्बस्य वाणस्य चारग्वधादितो निष्कृष्य प्रतिवेधः । घोण्टा गोपघोण्टः । भूनिम्बः किराततिक्तः । वाणः सहचरः । इन्दुः ।

उत्कारिका, मोदकरूपेण फलपिप्पली प्रयोगः ।

फलपिप्पलीश्वेलाहरेणुकाशतपुष्पाकुस्तुम्बुरुतगरकुष्ठत्वक्चोरकमरुवकागुरु - गुग्गुल्वेलवालुकश्रीवेष्टकपरिपेलवमांशी शैलेयकस्थौणेयकसरलपारावतपद्मशोक-रोहिणीनां विंशतेरन्यतमस्य कषायेण साधितोत्कारिका उत्कारिकाकल्पेन, मोदक वा मोदककल्पेन यथादोषरोगभक्तिप्रयोज्या इति । च० क० १।२३

उत्कारिका मोदकाश्च प्रत्येकं विंशतिः चोरको गन्धद्रव्यं स्वनामख्यातं, परिपेलवं कैवर्तमुस्तकं, स्थौणेयको ग्रन्थिपर्णकं, पारावतपदी ज्योतिष्मती,

अशोकरोहिणी अशोकसदृशपत्रलता, कटुरोहिणीत्यन्ये । केचिदत्र स्थौणेयकं परित्यज्यापाकीपाद्या विंशति पूरयन्ति, अपाकीपादी स्वनामख्याता । उत्कारिकाकल्पेनेति सूदशास्त्रोक्तोत्कारिका विधानेन । चक्रपाणिः ।

फलमज्जचूर्णमिश्रेण वा रेणुकैलाशताह्वाकुस्तुंबरुतगरकुष्टत्वक्कोरकमरुबकागुरुगुग्गुलुवालकश्लेष्टकपरिपेलवांशीशैलेयकस्थौणेयकसुरसापालेवतपूत्यशोकरोहिणीनां द्वाविंशतेरन्यतरस्य कषायेण साधितानुत्कारिकां मोदकं वा भक्षयेत् ।

अ० सं० क० १।६

क्षये विषये रेणुकादीनां द्वाविंशतेरन्यतमस्य कषायेण दोषाद्यपेक्षया फलपिप्पलीचूर्णोत्कारिकां मोदकं वा भक्षयेत् । उत्कारिका स्विन्नपिष्टपिण्डी । रेणुका हरेणुः । शतह्वा शतपुष्पा । कुस्तुम्बरु धान्यकफलं । शैलेयम् शिलापुष्पं शुकपुच्छं शुकबर्हं स्थौणेयं तैलपीतकम् । पूती करञ्जः । अशोकः प्रसिद्धः । रोहिणी कटुका । श्रीवेष्टको वायसको दधिश्यावश्च शब्दितः । इन्दुः ॥

मदनफलसाधित उत्कारिका या मोदक योग –

हि० व्या०—मदनफलपिप्पली—(१) इलायची, (२) हरीतकी, (३) सौंफ, (४) धनियाँ, (५) तगर, (६) कूठ, (७) दालचीनी, (८) चोरपुष्पी, (९) मरुवा, (१०) अगर, (११) गुग्गुलु, (१२) एलुआ, गंधविरोजा, (१४) केवटीमोथा, (१५) जटामांसी, (१६) छड़ीला, (१७) पठिवन, (१८) धूप, (१९) मालकांगनी, (२०) कुटकी । इन बीस द्रव्यों में से किसी एक द्रव्य के क्वाथ में पकाकर उत्कारिका या मोदक बनाकर दोष व रोग के अनुसार प्रयोग करना चाहिए । अष्टाङ्ग सङ्ग्रह में २२ द्रव्यों का वर्णन मिलता है जिनमें सुरसा की चरक से अधिक गणना की है तथा अशोक रोहिणी को चरक ने एक ही द्रव्य माना है किन्तु इन्दुकर ने दो द्रव्यों में गणना की है इस प्रकार २२ द्रव्यों के, उत्कारिका तथा मोदक के २२ योग हो जाते हैं ।

वामक द्रव्येषु कृतवेधन प्रयोगः ।

कृतवेधन नामानि प्रयोगयोग्याः रोगाश्च

क्ष्वेडः कोशातकी चोक्तं मृदङ्गफलमेव च ।
अत्यर्थं कटुतीक्ष्णोष्णं [1]गाढेष्विष्टं गदेषु च ॥
कुष्ठपाण्ड्वामयप्लीहशोफगुल्मगरादिषु ॥ च० क० ६।३-४

कृतवेधनमत्यर्थकटुतीक्ष्णोष्णं सुतरां गरोदरगुल्मप्लीहपाण्डूरोगश्वयथुषु कल्पयेत् ।

अ० सं० क० १।२५

क्ष्वेडोऽतिकटु तीक्ष्णोष्णः प्रगाढेषु प्रशस्यते
कुष्ठपांड्वामयप्लीहशोफगुल्मगरादिषु ॥ अ० हृ० क० १।४१

१. गाढेष्वित्यत्यर्थगाढेषु कुष्ठादिषु । चक्रपाणिः ।

कृतवेधनमत्यर्थं कट्वादि गुणत्वात् गुल्मोदरादिषु सुतरां कल्पयेत् कृतवेधनं कोशातकी । कोशातकी कृतच्छिद्रा जालिनी कृतवेधनी । क्ष्वेडा सुतिक्ता घण्टोली मृदङ्गफलिका मता ॥ इन्दुः ।

कृतवेधन के पर्यायवाची नाम एवं गुण

हि० व्या०—क्ष्वेड, कोशातकी और मृदङ्गफल ये कृतवेधन के पर्यायवाची नाम है । हिन्दी में इसे कड़वी तरोई के नाम से जाना जाता है ।

गुण—यह अतिकटु, तीक्ष्ण और उष्णवीर्य होता है । इसका प्रयोग कुष्ठ रोग, पाण्डु रोग, प्लीहा वृद्धि, शोथ रोग, गुल्म रोग और गरविष (कृत्रिमविष) से पीड़ित रोगियों में किया जाता है ।

कृतवेधन प्रयोगाणां संख्याः (जीमूतकप्रयोग संख्या समानम् ।)

क्षीरादि कुसुमादीनां सुरा चैतेषु पूर्ववत् । च० क० ६।५ (क)

क्षीरादीत्यादिना क्षीरयोगा उच्यन्ते । क्षीरयोगचतुष्टयं मदिरायोगं च जीमूतककल्पविधानातिदेशेनाह । क्षीरादिशब्देन क्षीरकृतपेया क्षीरसन्तानिकाद्युत्तराणां ग्रहणम् । एते च संग्रहेऽक्षीररूपा अपि क्षीरविकारतया क्षीरशब्देनैव गृहीताः 'क्षीरे द्वौ द्वौ' इति वचनेन । कुसुमादीनामिति कृतवेधनस्य पुष्पादीनां 'पयः पुष्पेऽस्य निर्वृत्तं फले पेया पयस्कृता । लोमशे क्षीरसंतानं दध्युत्तरमलोमशे' (क० अ० २) इति जीमूतक विधानोक्तानाम् । सुरा चैतेषु पूर्ववदिति यथा जीमूतक कल्पविधानेन क्षीरादयः कर्तव्यास्तथा सुरा च कर्तव्या । चक्रपाणिः ।

हि० व्या०—कृतवेधन के पाँच वामक योगों की कल्पना कृतवेधन के पुष्प आदि से संस्कृत ४ योग तथा सुरा में एक योग जीमूतक कल्प की तरह पाँच योगों की कल्पना करनी चाहिए ।

कृतवेधनस्य मदनफलवत् नव कषाय योगाः ।

सुशुष्काणां तु जीर्णानामेकं द्वे वा यथाबलम् ।
कषायैर्मधुकादीनां नवभिः फलवत् पिबेत् ॥
क्वाथयित्वा फलं तस्य पूत्वा लेहं निधापयेत् ।
कृतवेधनकल्कांशं फलाद्यर्धांशसंयुतम् ॥
च० क० ६।५-७ (क)

सुशुष्काणामित्यादिना नवकषाययोगानाह । फलवदिति मदनफलं यथा यष्टीमधुकादिभिः पीयते, तथैदपि पातव्यमित्यर्थः । एके नवकषायप्रयोगेषु शेषविधिप्रत्यायकं लेहं पठन्ति—'क्वाथयित्वा रसं तस्य पूत्वा लेहं निधापयेत्' इत्यादि तच्च सङ्गतार्थम् । उक्तं च जतूकर्णे—'अत्र जीर्णबीजानां मदनफलवत् कषायैर्लेहा भवन्ति नव इति । चक्रपाणिः ।

कृतवेधनस्य त्रयोदश कषाययोगाः ।

पृथक् चारग्वधादीनां त्रयोदशभिरासुतम् । च० क० ६।७

पृथगित्यादिना त्रयोदशकषाययोगानाह। एवं द्वाविंशति कषाययोगा भवन्ति। आरग्वधवृक्षकः' (क० अ० १) इत्यादिना गुडूच्यन्तेनोक्ता ज्ञेयाः। चक्रपाणिः।

कृतवेधन की विविध योग कल्पना

हि० व्या०—नवकषाय योग—पके हुए एवं शुष्क कृतवेधन के फल को बल के अनुसार (एक या दो फल के चूर्ण को) मधुयष्टी, रक्तकचनार, श्वेत कचनार आदि नौ द्रव्यों (मदनफलकल्पवत्) के अलग-अलग क्वाथ से प्रयोग करना चाहिए। यहाँ कृतवेधन के नौ (९) योगों की कल्पना की गई है। कृतवेधन के फलों का क्वाथ बनाकर, छानकर, पुनः आग पर पकाकर अवलेह तैयारकर पूर्वोक्त मधुयष्ट्यादि नौ द्रव्यों के अलग-अलग क्वाथों से सेवन करना चाहिए। अथवा मधुयष्ट्यादि द्रव्यों के अलग-अलग क्वाथ मिलाकर कृतवेधन का अवलेह बनाना चाहिए और सेवन करना चाहिए।

त्रयोदश कषाय योग

अथवा कृतवेधनफल का कल्क ९ तोला, मदनफल का कल्क डेढ़ तोला इन्हें एकत्र कर १ अमलताश, २ इन्द्र यव, ३ स्वादुकण्टक, ४ पाठा ५ पाटला, ६ मुञ्जा, ७ मूर्वा, ८ सप्तपर्ण, ९ करञ्ज, १० नीम, ११ पटोलपत्र, १२ करेला १३ गुडूची इन तेरह द्रव्यों में से किसी एक द्रव्य के क्वाथ से प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार नौ एवं तेरह कषाय योग मिल कर २२ हो जाते हैं।

कृतवेधनस्य दशपिच्छा योगाः।

शाल्मलीमूलचूर्णानां पिच्छाभिर्दशभिस्तथा॥ च० क० ६।८ (क)

शाल्मलीत्यादिना दश पिच्छायोगानाह। शाल्मलीमूलमादिः येषां ते शाल्मलीमूलाः शाल्मल्यादयो विमानपठिता दश—'शाल्मलीशाल्मलकभद्रपर्ण्य-लापर्ण्युपोदिकोच्छालधन्वनराजादनोपचित्रागोप्यन्ताः' (च० वि० ८) एषां वा। भद्रपर्णी=गम्भारी एलापर्णी=नागबला अहिस्त्वित्यन्ये राजादनं=क्षीरिका, उपचित्रा=दन्ती, गोपी=सारिवा। चक्रपाणिः।

हि० व्या०—प्रस्तुत श्लोक में सेमर आदि दश द्रव्यों के चूर्णों से पिच्छा तैयार कर इसके साथ कृतवेधन के चूर्ण का प्रयोग निर्दिष्ट है। शाल्मल्यादि औषधियाँ (च० वि० अ० ८ में) यथा – सेमल, रोहितक, गम्भारी, रास्ना, पोई का शाक, उद्दालक (लिसोड़ा), धन्वन (धामनवृक्ष की छाल), पियाल, पृश्निपर्णी, सारिवा।

कृतवेधनस्य मदनफलवत् षट् वर्तिक्रिया योगाः तथा कृतवेधनफलस्य मदनफलस्य मदनफलवत् एको घृत योगः

वर्तिक्रियाः षट् फलवत्, फलादीनां घृतं तथा।

च० क० ६।८

वर्तिक्रियाः षट् फलवदिति 'फलपिप्पलीचूर्णानि पूर्ववत्' (क० अ० १) इत्यादिना ग्रन्थेन या वर्तिक्रिया उक्ता मदनकल्पे, तद्वदिहापि कृतवेधनचूर्णानां षड्वर्तिक्रियाः कर्तव्याः। फलादीनां घृतं तथेत्यनेन कृतवेधनसाधित क्षीरा-दुत्थितं नवनीतं फलादि कषायेण साधनीयं मदनफलघृतवदित्यर्थः। चक्रपाणिः।

हि० व्या०—मदनफल के समान कृतवेधन के भी छः वर्तिक्रिया योग है तथा क्वाथ साधित घृत का एक योग वमनार्थ तैयार किया जाता है। इस प्रकार ७ योगों का वर्णन किया गया है।

कृतवेधनफलस्य अष्टौ अवलेह योगाः।

कोशातकानि पंचाशत् कोविदाररसे पचेत्।
तं कषायं फलादीनां कल्कैर्लेहं पुनः पचेत्।
क्ष्वेडस्य तत्र भागः स्याच्छेषाण्यर्धांशिकानि तु।
कषायैः कोविदाराद्यैरेवं तत्कल्पयेत् पृथक्॥

च० क० ६।९-१०

कोशातकानीत्यादि। अत्रैव क्वाथ पादिके कल्के कर्तव्ये क्ष्वेडस्य पूर्णो भागो देयः फलादीनां च प्रत्येकं क्ष्वेडादर्धभागिकत्वम्॥ चक्रपाणिः।

हि० व्या०—**आठ अवलेह योग**—कोशातकी के पचास फलों को कोविदार के स्वरस में पाक करके इस कषाय में मदनफलादि का कल्क डाल कर लेहपाक करें। इसमें कोशातकी का कल्क एक भाग तथा अन्य फलों (मदन फलादि) का कल्क आधा भाग डालना चाहिए। इसी विधि से रक्त कचनार आदि के क्वाथों से पृथक्-पृथक् लेह पाक करें।

कृतवेधनस्य सप्तमांसरस योगाः।

कषायेषु फलादीनामानूपं पिशितं पृथक्।
कोशातक्या समं पक्त्वा रसं सलवणं पिबेत्।
फलादि पिप्पली तुल्यं तद्वत् क्ष्वेडरसं पिबेत्॥ च०क० ६।११-१२

कषायेष्वित्यादिना सप्तमांसयोगानाह। सममिति कोशातकी तुल्यं मांसम्। अत्र पिबेदित्यन्तेन षण्मांसरसाः, फलादित्यनेन चैकः। फलादि पिप्पलीतुल्यं तद्वदित्यनेन फलादिभिः समं मांसम्। तद्वदिति वचनात् कोशातक्याः कषायेण साधनीयम्। चक्रपाणिः।

पृथक्फलादिषट्कस्य क्वाथे मांसमनूपजम्।
कोशातक्यासमं सिद्धं तद्रसं लवणं पिबेत्॥

अ० हृ० क० १।४२

पृथक् फलादिषट्कस्य मदनफलेक्ष्वादिकस्य क्वाथे मांसमनूपजं कोशा-तक्या समं तया तुल्यं सिद्धं पक्वं तद्रसं तस्य मांसस्य रसं लवणान्वितं पिबेत्। अरुणदत्तः।

हि० व्या०—मदनफल आदि ६ विशेष वामक द्रव्यो के पृथक्-पृथक् क्वाथ में आनूप मांस तथा मांसरस के समान भाग कृतवेधन (कड़वी तरोई) का चूर्ण मिलाकर मांसरस तैयार करें। इसमें सैंधव लवण मिलाकर रोगी को पिलावें। इसी प्रकार प्रधान ६ द्रव्यों के साथ पृथक्-पृथक् मांस को कृतवेधन क्वाथ में पकाकर मांसरस तैयार करे।

कृतवेधनस्य एका इक्षु रस योगा।

क्ष्वेडं कासी पिबेत् सिद्धं मिश्रमिक्षुरसेन च।

च० क० ६।१२

सिद्धमिति इक्षुरसेन मिश्रितं सत् साधितं पिबेदित्यर्थः। उक्तं हि जतूकर्णे 'क्ष्वेडमिक्षुरसे श्रृतम्' इति। चक्रपाणिः।

फलादिपिप्पली तुल्यं सिद्धं क्ष्वेडरसेऽथवा।
क्ष्वेडक्वाथे पिबेत्सिद्धं मिश्रमिक्षुरसेन वा॥

अ० हृ० क० १।४३

फलादिपिप्पल्यो मदनफलजीमूतेक्ष्वाकुफलमध्य बीजानि ताभिस्तुल्यमानूपं मांस समक्ष्वेडरसेन सिद्धं वा पिबेत्। अट्टेक्षुरसेन मिश्रं क्ष्वेड क्वाथे सिद्धमानूपजं मांसरसं सलवणं पिबेत्। अरुणदत्तः।

हि० व्या०—कास रोगी को इक्षुरस में साधित कृतवेधन चूर्ण का प्रयोग करना चाहिए।

कृतवेधन योगानां संख्या सूचनम्।

क्षीरे द्वौ द्वौ सुरा चैका क्वाथा द्वाविंशतिस्तथा।
दश पिच्छा घृतं चैकं षट् च बस्तिक्रियाः शुभाः
लेहेऽष्टौ सप्तमांसे च यो इक्षु रसेऽपरः।
कृतवेधन कल्पेऽस्मिन् षष्टियोगाः प्रकीर्तिताः॥

च० क० ६।१३-१४

हि० व्या०—कृतवेधन के योगों की (वामक) कुल संख्या साठ है जो निम्नलिखित है—

दूध के साथ—	४
मदिरा—	१
क्वाथ—	२२
पिच्छा—	१०
घी—	१
वस्तियोग—	६
अवलेह—	८

१. द्वौ द्वाविति चत्वारः। चक्रपाणिः।

मांसरस—	७
इक्षु रस—	९
कुल	=६० योग

कुटजफल-वामक प्रयोगाः

वत्सक भेदाः नामपर्यायाश्च।

वत्सकः कुटजः शक्रो वृक्षको गिरिमल्लिका।
बीजानीन्द्रयवास्तस्य तथोच्यन्ते कलिङ्गकाः॥
वृहत्फलः श्वेतपुष्पः स्निग्धपत्रः पुमान् भवेत्।
श्यामा चारुणपुष्पा स्त्रीफलवृन्तैस्तथाऽणुभिः।

च० क० ५।४-५

अत्र वत्सकस्त्रीपुरुषभेदेन यद्यपि गुणभेदः प्रयोग भेदो वा न प्रतिपादितः, तथाऽपि स्त्रीरूपवत्सकेऽपुष्पफलत्वादिविशिष्टलक्षणयुक्तेऽप्यविशेषेणोभाभ्यामेवामयनिवृत्तिः स्यादित्येतदर्थमुभयोरपि समानगुणता ज्ञातव्या। चक्रपाणिः।

हि० व्या०—वत्सक नामक वमनकल्प का वर्णन करते हुए लिखा है कि वत्सक, कुटज, शक्र (इन्द्र), गिरिमल्लिका आदि वत्सक के नाम हैं। इसके बीज को इन्द्रयव और कलिङ्ग कहा जाता है।

इनमें जिस वत्सक के फल बड़े हों, पुष्प श्वेत तथा पत्र स्निग्ध हों उसे पुरुष वत्सक कहते हैं तथा जिसका पुष्प वर्ण में श्यामारुण हो, फलवृन्त, फल और पुष्प आकार में छोटे हों उसे स्त्री वत्सक कहते हैं।

वत्सक प्रयोगस्थलानि।

रक्तपित्त कफघ्नस्तु सुकुमारेष्वनत्ययः।
हृद्रोगज्वरवातासृग्वीसर्पादिषु शस्यते॥

च० क० ५।६

कुटजफलं पुनः सुकुमारेपूल्वणासृपित्तकफेषु वातशोणितविसर्पज्वरकुष्ठादिषु च प्रयोजयेत्।

अ० सं० क० १।२५

कुटजं सुकुमारेषु पित्तरक्तकफोदये।
ज्वरे विसर्पे हृद्रोगे खुडे कुष्ठे च पूजितम्॥

अ० हृ० क० १।४४

कुटजं सुकुमारेष्वत्यंत वमनासहिष्णुषु पित्तरक्तकफोदयेऽतिशयेनाधिके तस्मिंस्तथा ज्वरादिषु वमनं श्रेष्ठम्। अरुणदत्त,।

हि० व्या०—दोनों प्रकार के वत्सक (कुटज द्वय) सुकुमार व्यक्ति में होने वाली रक्तपित्त और श्लेष्मज व्याधियों में उपयोगी है। हृद्रोग, ज्वर, वातरक्त, वीसर्प आदि विकारों में भी इनका प्रयोग किया जाता है। आचार्य वाग्भट ने कुष्ठ रोग में भी इसका उपयोग लिखा है।

वत्सकफलानां नवसंख्याकाः प्रयोग योगाः

काले फलानि संगृह्य तयोः शुष्काणि संक्षिपेत् ।
तेषामन्तर्नखं मुष्टिं जर्जरीकृत्य भावयेत् ॥
मधुकस्य कषायेण कोविदारादिभिस्तथा ।
निशिस्थितं विमृद्यैतल्लवणक्षौद्रसंयुतम् ।
पिबेत्तदमनं श्रेष्ठं पित्तश्लेष्मनिबर्हणम् ।

च० क० ५।७-९ (क)

काल इति उचिते काले । शुष्काणीति पक्वशुष्काणि । तेषामन्तर्नखमित्यादिना कषायैर्नव योगानाह । क्षौद्रसैन्धवयोगो यद्यपि सर्वेवमनेष्वेव सामान्येन विहितः, तथाऽपीह 'लवणक्षौद्रसंयुतम्' इति वचनादुत्कर्षो लवणसैन्धवयोरभिधीयते । चक्रपाणिः ।

दूसरी विधि—उपयुक्त ऋतु काल में कुटज के पक्वफलों का शुष्कावस्था में संग्रह करना चाहिए । मुष्टि प्रमाण कुटज बीजों को कूटकर मधुयष्टी या कोविदार आदि अन्य आठ द्रव्यों के पृथक पृथक क्वाथ में रात भर भिगो कर प्रातः मर्दन करके लवण (सैंधव) एवं मधु के साथ देने से उत्तम वमन होता है । इससे पित एवं कफ का निर्हरण होता है । ये वत्सक के ९ कषाय योग हैं ।

वत्सकचूर्ण योगाः ।

अष्टाहं पयसार्केण तेषां चूर्णानि भावयेत् ।
जीवकस्य कषायेण ततः पाणितले पिबेत् ।
फलजीमूतकेक्ष्वाकुजीवन्तीनां पृथक् तथा ।
सर्षपाणां मधूकानां लवणस्याथवाऽम्बुना ॥
कृशरेणाथवा युक्तं विदध्याद्वमनं भिषक् ॥ च० क० ५।९-११

कुटजफलचूर्णान्यर्क क्षीरेण सप्ताहं श्रावयित्वा मदनफलजीमूतकेक्ष्वाकुजीवंतीजीवक मूलान्यतमकषायेण वा सर्षपमधूकलवणान्यतमांभसा वा कुटजफलचूर्णं कृशरया वा वमनाय कल्पयेदिति । अ० सं० क० १।२६

सर्षपाणां मधूकानां तोयेन लवणस्य वा ।
पाययेत्कौटजं बीजं युक्तं कृशरयाऽथ वा ॥
सप्ताहं वार्कदुग्धाक्तं तच्चूर्णं पाययेत्पृथक् ।
फलजीमूतकेक्ष्वाकु जीवंती जीवकोदकैः ॥

अ० हृ० क० १।४५-४६

सर्षपादीनां पृथक् तोयेन क्वाथेन सैंधवस्य च जलेन कुटजबीजं पाययेत् । अथवा कृशरया सह कौटजं बीजं पाययेत् ।

अथवा सप्ताहमर्कदुग्धाक्तं कुटजबीजचूर्णं पृथङ् मदनफलाद्युदकैः पाययेत् । अरुणदत्तः ।

हि० व्या०—इन्द्रयव के चूर्ण को आठ दिन अर्क-दुग्ध में भावित करके एक कर्ष (एक तोला) की मात्रा में जीवक के क्वाथ के साथ विरेचनार्थ पिलाना चाहिए । यह एक योग है । इसी प्रकार मदनफल, जीमूतक, कटुतुम्बी, जीवन्ती इनके पृथक्-पृथक् क्वाथ से भी इन्द्रयवचूर्ण का वमनार्थ प्रयोग कराया जाता है । उपरोक्त विधि से १ कर्ष इन्द्रयव के चूर्ण को सरसों के क्वाथ, महुए के फूल का स्वरस अथवा नमक के जल के साथ रोगी को पिलाना चाहिए । आचार्य वाग्भट ने सात दिन तक अर्कदुग्ध में भावित करने का निर्देश किया है । तिलतण्डुल की खिचड़ी में इन्द्रयव का चूर्ण मिलाकर रोगी को सेवन कराकर वमन कराना चाहिए ।

वत्सक प्रयोग संख्या सूचनम्

कषायैर्नवचूर्णैश्च पञ्चोक्ताः सलिलैस्त्रयः ।
एकश्च कृशरायां स्याद्योगास्तेऽष्टादशस्मृताः ॥ च० क० ५।१२

कुटज के वामक योगों की संख्या

हि० व्या०—इस प्रकार कषाय से नौ योग, चूर्ण से ५ योग, जल से ३ योग और खिचड़ी से एक योग, कुल मिलाकर १८ योगों की कल्पना की गई है ।

जीमूतक नामानि

कल्पं जीमूतकस्येमं फलपुष्पाश्रयं शृणु ।
गरागरी च वेणी च तथा स्याद्देवताडकः ॥

च० क० २।१

फलपुष्पाश्रयमिति वचनेन जीमूतस्य पत्रनालादिषु वमन प्रयोगं निषेधयति । जीमूतः पीतघोषकः । चक्रपाणिः ।

हि० व्या० – यहां जीमूतक के फल एवं पुष्प सम्बन्धी कल्पों की व्याख्या करते हुए चरक लिखते हैं कि इसके पर्याय, गरागरी, वेणी एवं देवताड़क है । यहां फल एवं पुष्प दोनों का उल्लेख करने से ज्ञात होता है कि पत्र एवं नाल के ग्रहण का वमनार्थ निषेध किया गया है ।

जीमूतक सामान्य गुणाः ।

जीमूतकं त्रिदोषघ्नं यथास्वौषधकल्पितम् ।
प्रयोक्तव्यं ज्वरश्वासहिक्काद्येष्वामयेषु च ॥

च० क० २।४ अ० सं० क० १। अ० हृ० क० १।

त्रिदोषघ्नमिति यथास्वं वातहरादिद्रव्ययुक्तं, तथा वातादिहरद्रव्यकल्पितं च सत् त्रिदोषघ्नं भवति । हिक्काद्येष्विति आद्यशब्देन कासादीनामुरोगतदोषजन्यानां ग्रहणम् । चक्रपाणिः ।

हि० व्या०—त्रिदोषहर औषधियों के साथ जीमूतक का विविध कल्पनाओं

में प्रयोग त्रिदोषनाशक है। प्रायः जीमूतक का प्रयोग ज्वर, श्वास, हिक्का, कास एवं उरोगत दोषों के शमन हेतु किया जाता है।

जीमूतकस्य अङ्गप्रत्यङ्गानां सहपानानुपान भेदेन प्रयोगप्रकारः

यथोक्तगणयुक्तानां देशजानां यथाविधि।
पयः पुष्पेस्य निर्वृत्ते फले पेया पयस्कृता॥
लोमशे क्षीरसंतानं, दध्युत्तरमलोमशे।
भृते पयसि दध्यम्लं जातं हरितपाण्डुके॥
जीर्णानां च सुशुष्काणां न्यस्तानां भाजने शुचौ।
चूर्णस्य पयसा शुक्ति वातपित्तार्दितः पिबेत्॥

च० क० २।५-७। अ० हृ० क० १।२०-२२॥

यथोक्तगुणयुक्तानामिति कालजत्वसंपूर्णरसत्वादिगुणयुक्तानि मदनफलोक्तः गुणद्वाराऽनुसर्तव्यानि। देशजानामिति मदनकल्पोक्तप्रशस्तभूमिजातानाम्। यथा विधीतिमदनकल्पोक्तविधानगृहीतानाम्। (१) पयः पुष्प इत्येको योगः। (२) निर्वृत्त इत्यादि द्वितीयो योगः। निर्वृत्त इत्युपपन्नमात्रे फले, तत्र फलैः क्षीरं साधयित्वा तेन क्षीरेण पेया साधनीया (३) रोमश इत्यादिना तृतीय-रोमश इति उपगत रोम्णि फले, अत्रापि रोमश फलसाधितक्षीरात् सन्तानिका ज्ञेया। (४) दध्युत्तरमित्यादिकश्चतुर्थो योगः, अत्राप्युपगतरोमावस्थफलसाधित-क्षीरसंभूतदधिसरो ज्ञेयः।

(५) भृते पयसीत्यादि पञ्चमः। दध्यम्लमित्यम्लावस्थं दधि जातम्, हरितपाण्डुक इति हरितपाण्डवस्थाप्राप्ते जीमूतकफले। (६) जीर्णानामित्याऽदिकः षष्ठः क्षीरयोगः। एते च योगाः क्षीरसम्बन्धेन अविधीयमानक्षीराकारा अपि क्षीरप्रयोगत्वेनैव संग्रहे-षट्क्षीरे, इत्यनेन संग्रहीतव्याः। चक्रपाणिः।

जीमूतककुसुमचूर्णं पूर्ववदेवक्षीरेण, निर्वृत्तेषु क्षीरयवागूं, रोमशेषु, सन्तानिकां, अरोमशेषु दध्युत्तरं, हरितपाण्डुषु दधि। तत्कषायसंसृष्टां वा सुरां कफारोचककासपाण्डुरोगयक्ष्मसु; पर्यागतेषु मदनफलमज्जवदुपयोगः।

सु० सू० ४३।४

जीमूतको देवदाली। पूर्ववदेवेति प्रत्यक्पुष्पादिद्रव्य त्रयक्वार्थस्त्रयो योगाः पुष्पचूर्णस्य। अन्ये तु चरके प्रत्यक्पुष्पादियोगान् सन्तीति क्षीरेणैवान्यमेकं योगमिच्छन्ति, पूर्ववदित्यनेन प्रकुञ्चमधुसैन्धवादि युक्तं चामनन्ति। निर्वृत्तेष्वित्यादि। निर्वृत्तेषु जातमात्रेषु; क्षीरयवागूं जीमूतशलाटुक्वथित क्षीर यवागूम्। रोमशेष्वित्यादि। रोमशेषु कठिनावस्थां प्राप्तेषु सन्तानिकामिति जीमूतचूर्णक्वथित क्षीरसन्तानिकाम्। अरोमशेष्वित्यादि। अरोमशेषु बृहत्तमेषु, चूर्णक्वथित क्षीरस्य दधिभावं गतस्योत्तरं सरकम्। हरिपाण्डुष्वित्यादि हरित-पाण्डुषु कठिनतमेषु तच्चूर्णक्वथित क्षीरस्य दधि।

तत्कषाय संसृष्टमिति जीमूतकषायकृताम्। तस्यास्तु कल्पनं जीमूतक्वाथे माषाः साधनीयाः, जीमूतकस्य क्वाथेनैवशालितण्डुलाः प्रक्षालनीयाः, माषाः शालितण्डुलास्ते च संक्षुद्य कत्र पिण्डाः कार्याः, ताञ् शुष्कचूर्णितान्कृत्वाऽपर-शालितण्डुलचूर्णं पिष्टपाचनिकायां जीमूतकषायोष्मणा सम्यगुत्स्वेद्यावतारयेत् ततः स्विन्नशीतलस्य तस्य पिष्टस्य त्रयो भागाः किण्वभागश्चतुर्थः, सन्धानार्थे भार्गीक्वाथः, तत्सर्वं कलशे निधापितं जातरसं सुरा भवति; पैष्टीयं तेनात्रनास्ति गुडो न वा मधुः, अन्ये पुनः 'अत्रानुक्तोऽपि गुडो दातव्यः' इत्यहुः। गुडप्रमाणं त्वर्शोनिर्दिष्टाभयारिष्टक्वाथशेषद्रोणे गुडपलशतद्वयं प्रक्षेपविभागपरिभाषा-रूपेण सर्वत्र। अन्ये तु 'जीमूतकषायेण सह सुरामेव, न पुनर्जीमूतकषायसाधि-ताम्' इति वदन्ति। जीमूतकुसुमचूर्णं वेत्यादिना योगाना विषयमाह—कफेत्यादि। 'दद्यात्' इति शेषः। पर्यागतेषु नातिहरितपाण्डुष्वतिदेशेन योगं निर्दिशन्नाह—पर्यागतेष्वित्यादि। मदनफलमज्जवदितिवत्करणान्मदनपुष्पशला-टुयोगानवर्जयित्वाऽन्ये ये मदनफलयोगास्ते सर्वे पर्यागतेषु जीमूतकेषु विज्ञेयाः। एतेन पर्यागत जीमूतकयोगाश्चतुर्विंशतिरुक्ताः पर्यागतेषु 'परिपक्वेषु' इत्यन्ये ॥ डल्हण ॥

पूर्ववदिति। मदनपुष्पचूर्णप्रयोगवत्। जीमूतकपुष्पेऽपि प्रत्येकपुष्पादि-भिस्त्रयो योगाः। क्षीरेणेत्यादिना यवागू योगः। निर्वृत्तेष्विति निर्वृत्तमाणेषु फलेषु। सन्तानिकामिति रोमशकणसाधितां; सन्तानिका क्षीर सन्तानिका। एवं दध्युत्तरे दध्नि च क्षीरसाधनपूर्वकता ज्ञेया। तत्कषायसंसृष्टां वा सुरामिति हरितपाण्डुदशास्थित जीमूत क्वाथ सहितां सुरां; सुराक्वाथयोश्चात्र समता। अन्ये तु संसृष्टमिति कृतां सुरां वदन्ति। सुराकरणं च विरेचनाध्या-योक्तसुराकल्पनं; यदुक्तं तत्र—"स एव हि सुराकल्पो वमनेष्वपि कीर्तितः" (सू० अ० ४४) इति। अयं चातिदेशः सर्ववमनद्रव्यविपयतयैवोक्तः। इह वा शब्दं स्वकारणमिति नेच्छन्ति। पर्यायागतेष्विति पक्वेषु। मदनफलमज्जविधा-नातिदेशेन च पक्वजीमूतफलानां 'अन्तर्नखं मुष्टि यष्टिमधुकषायेण' इत्यादिना सर्वयोगाः चतुर्विंशतिरधिकावाऽप्यनन्तरगृहीता गृह्यन्ते। चक्रपाणिः।

जीमूतकेत्यादि। वा शब्दः पक्षान्तरसूचनार्थः। अत्र क्षीरेणेति विशेषणात् प्रत्यक्पुष्पीप्रभृतीनां कषायं हित्वा पूर्ववदित्यनेन केवलं मदनपुष्पवन्मात्रामधु-सैन्धवे च परिगृह्यन्ते निर्वृत्तेष्वित्यादिषु चतुर्षु सप्तमीर्धटकत्वार्थे पश्यामः, यथा "कासीसे सैन्धवे किण्वे" इति मिश्रकोक्तो; पर्य्यागतेष्विति तु षष्ठ्यर्थे; तथा च निर्वृत्तेषु परिपक्वेषु परिपक्वजीमूतफल घटितामित्यर्थः, क्षीरयवागू-मिति समन्वयः। एतेन शेषमपि व्याख्यातप्रायम्। अत्र जीमूतकफलानाम् प्रतिलोमशत्वे सत्यपि लोमशेष्वितिविशेषणं नितरां लोमशानां परिग्रहार्थं मित्यनुसन्धेयम्। तत्कषायसंसृष्टां जीमूतककषायविमिश्रिताम्। सुरां कफरो-चकादिपुपाययेदिति पूर्वस्मादाक्षिप्यान्वेयम्। पर्यागतेषु पाकातिक्रान्तेषु पक्व-

शुष्काणामिति यावत्, इदमपि कफारोचकादिष्वेवान्वीयते काकाक्षिगोलकन्यायात् । हाराणचन्द्रः ।

हि० व्या०—यहाँ जीमूतक के छः योगों का उल्लेख करते हुए चरक लिखते हैं कि उत्तमगुणों से युक्त, प्रशस्तभूमि में उत्पन्न तथा विधिवत् ग्रहण किये गए—(जैसा कि मदनफलग्रहण विधि का उल्लेख है। जीमूतक के (१) पुष्प सिद्ध क्षीर, (२) फलसिद्ध पेया, (३) रोमशफल से सिद्ध क्षीर की मलाई, (४) रोमरहित फल से सिद्ध क्षीर से निर्मित दधि की मलाई (५) हरित या पाण्डुवर्ण के जीमूतक से सिद्ध क्षीर के खट्टे दही के रूप में पाँच योगों का उल्लेख है। (६) जीमूतक के फलों को सुखाकर चूर्ण तैयार करें। इसे स्वच्छ एवं उपयुक्त पात्र में रख दें। इसमें से २ तो० (प्रतिदिन) दूध के साथ वात-पित्त जन्य रोगों में सम्यक् शोधन होने तक रोगियों को पिलाना चाहिए।

रोगविशेषे जीमूतकासव प्रयोगः।

आसुत्य च सुरामण्डं मृदित्वा प्रस्तुतं पिबेत्।
कफजेऽरोचके कासे पाण्डुरोगे सयक्ष्मणि॥ च० क० २।८

आसुत्य वारुणी मंडं पिबेन्मृदितगालितम्।
कफादरोचके कासे पांडुत्वे राजयक्ष्मणि। अ० हृ० क० अ० १।२२

आसुत्येत्यादिना मदिरायोग एक उच्चयते। चक्रपाणिः।

जीमूतफलेन वाऽऽसुत्य वारुणी मंडं पिबेत्। किं भूतं मृदितगालितं पूर्वं मृदितं खजादिना पश्चात् गालितम प्रस्तुतम्। केषु। कफारोचकादिषु।

अरुणदत्तः

हि० व्या०—कफज अरोचक, कास एवं पाण्डुरोग में तथा राजयक्ष्मा में जीमूत के फल को सुरामण्ड में भिगोकर मलकर छान लें अथवा मदिरा के समान आसुत या अर्क निकालकर वमनार्थ प्रयोग करना चाहिए।

पित्तश्लेष्मज्वरे अनुपान भेदेन जीमूतकस्य विविधाः प्रयोगाः।

द्वे चापोथ्याथवा त्रीणि गुडुच्या मधुकस्य वा॥
कोविदारादिकानां वा निम्बस्य कुटजस्य वा।
कषायेष्वासुतं पूत्वा तेनैव विधिना पिबेत्।
अथवाऽऽरग्वधादीनां सप्तानां पूर्ववत् पिबेत्।
एकैकस्य कषायेण पित्तश्लेष्मज्वरार्दितः॥ च० क० २।९-११

द्वे वा त्रिण्यपि वाऽऽपोथ्य क्वाथे तिक्तोत्तमस्य वा।
आरग्वधादि नवकादासुत्यान्यतमस्य वा।
विमृद्य पूतं तं क्वाथं पित्तश्लेष्मज्वरी पिबेत्।

अ० हृ० क० १।

द्वे चेत्यादिना द्वादशकषाय भेदाद् द्वादशयोगा उच्यन्ते। तेनैव विधिनेति मदन कल्पोक्तेन साधनविधिना। अथवेत्यादौ आरग्वधादिसप्तद्रव्यकषाय-

भेदात् सप्त योगा भवन्ति। आरग्वधादयः आरग्वधवृक्षकस्वादुकण्टकपाठापाटलिशाङ्ष्टा मूर्वाः पूर्वाध्यायोक्ताः। चक्रपाणिः।

आरग्वधादिनवकादारग्वधवर्गादाद्यौषध नवकादन्यतमस्य क्वाथे द्वे वा त्रीण्यपि वा जीमूतफलासुत्य संधाय तथा विमृद्य पूतं क्वाथं पित्तश्लेष्मज्वरी पिबेत्। अरुणदत्तः।

हि० व्या०—जीमूतक प्रयोग के अन्य साधन एवं कल्पना रूप बारह एवं सात योगों का विवरण इस प्रकार है—जीमूतक के पके हुए दो या तीन फलों का चूर्ण बनाकर गिलोय, मुलेठी, रक्तकांचनार, श्वेतकांचनार, कदम्ब, जलवेत, शणपुष्पी, मदार (आक), अपामार्ग, नीम, इन्द्रजौ एवं कुटज की छाल। इन बारह द्रव्यों में से किसी एक द्रव्य के क्वाथ में रातभर भिगोकर, प्रातःकाल हाथ से मलकर यथाविधि रोगी को पिलावें। अथवा आरग्वधादि प्रधान सात द्रव्यों के पृथक-पृथक क्वाथ में जीमूतक चूर्ण को भिगोकर प्रातःकाल यथाविधि पित्त एवं श्लेष्म ज्वर से पीड़ित रोगियों को सेवन कराना चाहिए।

मदनफलकल्पप्रोक्तमात्राभेदेन प्रयोज्याः जीमूतकस्य अष्टौ प्रयोगाः।

मात्रा स्युः फलवच्चाष्टौ कोलमात्रास्तु ता मताः। च० क० २।११

मात्राः स्युरित्यादिनाऽष्टौ मात्रायोगानाह। फलवदिति मदनफले यथा अष्टौ मात्रा योगा उक्तास्तथेहापि कर्तव्याः, विशेषतस्तु एताः कोलमात्राः कर्तव्याः, न तु फलवद्हरीतक्यादिप्रमाणाः कर्तव्या। चक्रपाणिः।

हि० व्या०—मदनफल के समान जीमूतक के भी आठ मात्रा योग बताये हैं अर्थात् जीमूतक के कल्क में २ भाग रक्तकांचनार, श्वेतकांचनार, कदम्ब, जलवेत, नीम, शणपुष्पी, मदार तथा अपामार्ग के छः गुने क्वाथ में मिलाकर २१ बार छान लिया जाता है उसमें एक भाग जीमूतक के फल को मिलाकर कोल (½ तो०) प्रमाण में गोली बनाकर प्रयोग कराना चाहिए।

वातपित्तज्वरे जीमूतकस्य अनुपानभेदेन चत्वारो योगाः।

जीवकर्षभकेक्षूणां शतावर्या रसेन वा।
पित्तश्लेष्मज्वरे दद्याद्वातपित्तज्वरेऽथवा॥ च० क० २।१२

हि० व्या०—पित्तश्लेष्मज्वर एवं वात पित्तज्वर में वमनार्थ जीमूतक के फल चूर्ण को जीवक, ऋषभक, इक्षु तथा शतावर इन चार द्रव्यों में से किसी एक के रस के साथ पिलाना चाहिए।

जीमूतकस्य घृत योगः।

तथा जीमूतक क्षीरात् समुत्पन्नं पचेद्घृतम्।
फलादीनां कषायेण श्रेष्ठं तद्वमनं मतम्॥ च० क० २।१३

हि० व्या०—जीमूतक के साथ विधिवत् साधित दूध से निकाले गए घृत

को मदनफल आदि प्रधान द्रव्यों के क्वाथ से यथाविधि पाककर, प्रयोग कराने से उत्तम वमन होता है।

दोषानुसार जीमूतकफलचूर्ण कल्पः।

जीमूतचूर्णं कल्कं वा पिबेच्छीतेन वारिणा।
ज्वरे पैत्ते कवोष्णेन कफवातात्कफादपि॥ अ० हृ० क० १।२६

जीमूतकचूर्णं फलपिष्टं कल्कीकृत्याथवा तच्चूर्णं पित्तज्वरे शीतजलेनालोड्य पिबेत्। तस्यैव कल्कं चूर्णं वा कफवातात् कफाच्चोद्भूतेज्वरे कवोष्णेन वारिणा पिबेत्। अरुणदत्तः।

हि० व्या०—जीमूतक के चूर्ण अथवा कल्क को पित्तज्वर में शीतल जल के साथ तथा कफवात ज्वर में कवोष्ण (कोसा) जल से पिलाना चाहिए।

जीमूतक योग संग्रह श्लोकः।

षट् क्षीरे मदिरामण्डे एको द्वादश चापरे।
सप्त चारग्वधादीनां कषायेऽष्टौ च वर्तिषु॥
जीवकादिषु चत्वारो घृतं चैकं प्रकीर्तितम्।
कल्पे जीमूतकानां च योगास्त्रिंशन्नवाधिकाः॥ च० क० २।१४-१५

हि० व्या०—जीमूतक के दुग्ध सहित ६ योग, सुरामण्ड में एक योग, गुडूच्यादि से १२ योग, आरग्वधादि से ७ योग, मात्रा के आठ योग, जीवकादि से चार योग होते हैं। इस प्रकार कुल ३९ योग बनते हैं।

इक्ष्वाकुकल्पः—

इक्ष्वाकु पर्याय नामानि

लम्बाऽथ कटुकालाबूस्तुम्बी पिण्डफला तथा।
इक्ष्वाकुः फलिनी चैव— — — — ॥ च० क० ३।३

हि० व्या०—लम्बा, कटुका, अलाबू, तुम्बी, पिण्डफला, फलिनी आदि इक्ष्वाकु के पर्यायवाची नाम है।

इक्ष्वाकु प्रयोग योग्याः

कासश्वासविषच्छर्दिज्वरार्ते कफकर्षिते।
प्रताम्यति नरे चैव वमनार्थं तदिष्यते॥ च० क० ३।४
इक्ष्वाकु कुसमचूर्णं वा पूर्ववदेवं— —
क्षीरेण कासश्वासच्छर्दिकफ रोगेषूपयोगः। सु० सु० ४३।७
कासश्वासविषच्छर्दि ज्वरार्ते कफकर्षिते।
इक्ष्वाकुर्वमने शस्तः प्रताम्यति च मानवे॥ अ० हृ० क० १।२७
इक्ष्वाकुस्तु विशेषेण कासश्वासज्वरच्छर्दिविषश्लेष्मरोगेषूपयोज्यः।
अ० सं० क० १।२३

इक्ष्वाकुः कटुकालाबूः। एवं क्षीरेण तथा पूर्ववन्मदनफलवत्; न पुनः

कुटजवत् कृतवेधनवच्च, तयोः पुष्पशलाटुवर्जनात्। इति मदनफलवत् एकत्रिंशत्, तथा पूर्वं ग्रहणेन सुरा गृह्यते एतेनेक्ष्वाकुयोगास्त्रयस्त्रिंशदुक्ताः॥ डल्हणः।

इक्ष्वाकुकल्पमाह—इक्ष्वाकुकुसुमचूर्णं वा पूर्ववदेव क्षीरेणेति। पूर्ववदेवेत्यने मदनपुष्पचूर्णवत्रयो योगाः, तथा क्षीरेणैवं जीमूतक योगे 'क्षीरेण निर्वृत्तेषु यवागूं' इत्यादिनोक्ताः सर्वे जीमूतवद्योगा गृह्यन्ते। किं वा इक्ष्वाकुकुसुमचूर्णमारभ्य सर्वे योगाः पूर्ववदिति मदनवत् कर्तव्याः, तेन सर्वं मदनयोगातिदेशः। क्षीरेणेत्यनेन तु पुष्पचूर्णं तत्रोक्त प्रत्यक्पुष्पादिक्वाथं बाधयित्वा क्षीरेण पुष्पचूर्णपानमत्र विधीयत इति विशेषः। यदितु यथाश्रुत इक्ष्वाकुकुसुमचूर्णं क्षीरेण एक एव योग; स्यात् तदा इक्ष्वाकु फले वमनद्रव्येषूक्तेषु मुख्य एव प्रयोगे न कथितः स्यात्। चरके चेक्ष्वाकुकुसुमादावुक्तो विस्तरेणागृहीतः स्यात्। (भानुमती)

चक्रपाणिः।

हि० व्या०—इक्ष्वाकु का वमनार्थ उन रोगियों को प्रयोग कराना चाहिए जो कास-श्वास, विषविकार, छर्दि, ज्वरपीड़ित, कफ से क्षीण तथा विना श्रम के थकान अनुभव करते हैं। सुश्रुत ने इक्ष्वाकु के पुष्प चूर्ण का पूर्ववत् (मदन पुष्प चूर्ण के समान) दुग्ध के साथ (जीमूतक पुष्प सिद्ध क्षीरवत्) उपर्युक्त रोगों में वमनार्थ प्रयोग कराने का निर्देश किया है। "पूर्ववत् एव" से मदनफल के समान प्रयोग कराने का स्पष्टीकरण टीकाकारों ने किया है। सुश्रुत के मदनफल कल्प में कुल ३३ योग बताये गए हैं। चरक क० तृतीय अध्याय में इक्ष्वाकु के ४५ योगों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है।

कफज्वरे इक्ष्वाकु साधित क्षीर योगः

अपुष्पस्य प्रवालानां मुष्टि प्रादेश संमितम्।
क्षीरप्रस्थे श्रृतं दद्यात् पित्तोद्रिक्ते कफज्वरे॥ च० क० ३।५-६

तस्यापुष्पफलस्य प्रवालैः श्रृतं क्षीरमुद्रिक्तपित्ते कफज्वरे।
अ० सं० क० १।२३

फलपुष्पविहीनस्य प्रवालैस्तस्य साधितम्।
पित्तश्लेष्मज्वरे क्षीरं पित्तोद्रिक्ते प्रयोजयेत्॥ अ० हृ० सू० १।२८

अपुष्पस्येत्यादिना एकः क्षीरयोगः। अपुष्पस्येत्यनुत्पन्नपुष्पस्य। मुष्टि प्रादेशसंमितमिति प्रदेशिन्यामूलपर्यंतकृतमुष्टिपरिमाणम्; एवं च नात्र मुष्टि शब्दः पलवचनः। क्षीरप्रस्थे श्रृतमिति वचनात् क्षीरप्रस्थे यथोक्तानमिक्ष्वाकुमावाप्य चतुर्गुणं पानीयं दत्वा क्षीरं साधनीयम्। चक्रपाणिः।

तस्येक्ष्वाकोरसञ्जातपुष्पफलस्य प्रवालैरभिनवोद्भिन्नैः किसलयैः श्रृतं क्षीरमुद्रिक्तपित्त उन्मार्गपित्ते कफज्वरे। इन्दुः।

हि० व्या०—पुष्परहित इक्ष्वाकु (तितलौकी) के कोमल पत्तों को एक मुट्ठी लेकर एक प्रस्थ दूध में पकाकर कफज्वर में पित्तोद्रेक होने पर वमन हेतु पिलाना चाहिए।

चत्वारः क्षीर योगाः ।

पुष्पादिषु च चत्वारः क्षीरे जीमूतके यथा ।
योगा हरितपाण्डूनां सुरामण्डेन पञ्चमः ॥ च० क० ३।६-७
पुष्पादिषु च सुतरां जीमूतवत्प्रयोगाः । अ० सं० क०

पुष्पादिष्वित्यादिना चतुरः क्षीरयोगानाह । जीमूतके यथा—"पयः पुष्पेऽस्य निर्वृत्ते फलेपेया पयस्कृता । रोमशे क्षीरसंतानं दध्युत्तरमरोमशे" क० अ० २ इत्यनेनोक्तं, तथेहापि योगचतुष्टयं करणीयम् । हरितेत्यादिना सुरायोगमाह । हरितपाण्डूनामिक्ष्वाकुफलानां सुरामण्डे जीमूतकवद्योगः कर्त्तव्यः; जीमूतकविधानातिदेशेन "आसुत्य च सुरा—मण्डे मृदित्वा प्रस्रुतं पिबेत्'। (क० अ० २) इति ग्रन्थोक्तविधानमिहापि भवति । चक्रपाणिः ।

पुष्पादिष्विक्ष्वाकोः पुष्पफललोमशनिर्लोमहरितपाण्डुत्वावस्थासु सुरान्ताः प्रयोगाः क्षीरक्षीरपेयासन्तानिकादधिदध्युत्तरक्षीरसुरा इति जीमूतवत् । इन्दुः ।

हि० व्या० —जीमूतक के समान इक्ष्वाकु के (पुष्प आदि के) दुग्ध के साथ चार योगों की कल्पना की गई है । पाँचवा योग हरित और पाण्डु वर्ण के इक्ष्वाकु फल को सुरा में संधान कर तैयार किया जाता है ।

कफनाशक इक्ष्वाकुफलस्वरस प्रयोगः

फलस्वरसभागं च त्रिगुण क्षीरसाधितम् ।
उरः स्थिते कफे दद्यात् स्वरभेदे च पीनसे ॥ च० क० ३।

इक्ष्वाकुफलस्वरसं वा त्रिगुणक्षीरसाधितमुरस्थिते कफे पीनसे स्वरसादे वा वमनार्थी पिबेत् । अ० सं० क० १।२४

फलस्वरसेत्यादिना षष्ठः क्षीरयोगोऽभिधीयते । त्रिगुणक्षीरसाधितमिति त्रिगुणेन क्षीरेण साधितं; तच्च चतुर्गुणेन तोयेन साधनीयम् । फलशब्देनात्रेक्ष्वाकुफलमुच्यते । चक्रपाणिः ।

यत्र तु पीनसस्वरसादयोरपि कफो वर्तते तत्रेक्ष्वाकुफलस्वरसं त्रिगुणेन क्षीरेण पानयोग्यं पिबेत् । इन्दुः ।

हि० व्या० —यदि उरः प्रदेश में कफ व्याप्त हो, स्वरभंग तथा पीनस रोग हो तो रोगी को वमन हेतु इक्ष्वाकु का स्वरस एक भाग, गोदुग्ध तीन भाग एकत्र पकाकर क्षीरावशेष छानकर पिलाना चाहिए ।

इक्ष्वाकुसाधित दधि योगः ।

जीर्णे मध्योद्धृते क्षीरं प्रक्षिपेत्तद्यदा दधि ।
जातं स्यात् सकफे श्वासे वम्यां च तत् पिबेत् ॥ च० क० ३।८-९
जीर्णे वा समुद्धृत बीजे क्षीरं प्रक्षिपेत् तत्र जातं दधि श्लेष्मकास-श्वासच्छर्दिषु । अ० सं० क० १।२४
हृत् मध्ये फले जीर्णे स्थितं क्षीरं यदा दधि ।
स्यात्तदा कफजे कासे श्वासे वम्यां च पाययेत् ॥ अ० हृ० क० १।२९

जीर्णे इत्यादिना सप्तमः क्षीरयोगः । मध्योद्धृते ईत्युद्धृतमध्ये । चक्रपाणिः । श्लेष्मजेषु कासादिषु बीजरहितेक्ष्वाकुफलान्तस्थितक्षीरजातं दधि । इन्दुः ।

हृतमध्ये जीर्णे-सुपक्वे, तस्मिन् इक्ष्वाकोः फले हृतमध्यभागत्वाच्छून्यमध्ये क्षीरं स्थितं सत् यदा दधि जातं स्यात्तदा कफकासादिषु वमनार्थं पाययेत् ।

हि० व्या०—सुपक्व इक्ष्वाकु फल (तितलौकी) के मध्यभाग (बीज और गूदा) निकालकर उसकी तुमडी में दूध डाल दें, जब दही जम जाए तो उस दही का कफज कास, श्वास और वमन रोग में वमन हेतु प्रयोग करें ।

इक्ष्वाकु बीज साधित क्षीरप्रयोगः ।

अजाक्षीरेण बीजानि भावयेत् पाययेत् च ।
विषगुल्मोदरग्रन्थिगण्डेषु श्लीपदेषु च ॥
च० क० ३।९-१०

इक्ष्वाकुबीजानि वा छागक्षीरभावितानि विषगुल्मोदरगरगण्डग्रन्थ्यर्बुदश्लीपदेषु । अ० सं० क० १।२५

भावयित्वाऽऽजदुग्धेन बीजं तेनैव वा पिबेत् ।
विषगुल्मोदरग्रन्थिगण्डेषु श्लीपदेषु च ॥
अ० हृ० क० १।३१

अजाक्षीरमित्यादिना अष्टमः क्षीर योगः ।
चक्रपाणिः ।

इक्ष्वाकु भवानि बीजानि छागक्षीरभावितानि विषादिषु पिबेत् । अर्बुदं नीरुक् ग्रन्थ्याकृत्यधिकं मांसम् । इन्दुः ।

अजादुग्धेन तद्बीजं भावयित्वा तेनैव छगली क्षीरेण, विषगुल्मादिषु पिबेत् । अरुणदत्तः ।

हि० व्या०—इक्ष्वाकु बीजों को कूटकर बकरी के दूध से भावितकर उस चूर्ण को विषविकार, गुल्म, उदररोग, ग्रन्थिरोग, गण्डमाला, गलगण्ड और श्लीपद रोगों में बकरी के दूध से पिलाना चाहिए । अष्टाङ्ग संग्रह में अर्बुद रोग में भी पिलाने का निर्देश है ।

इक्ष्वाकु फल तक्र योगः

मस्तुना वा फलान्मध्यं पाण्डुकुष्ठ विषार्दितः ।
तेन तक्रं विपक्वं वा सक्षौद्रलवणं पिबेत् ॥
च० क० ३।१०-११

इक्ष्वाकुफलमध्यं वा मस्तुना कुष्ठविषपाण्ड्वामयेषु । तद्विपक्वं वा तक्रं समधुसैन्धवम् । अ० सं० क० १।२५

मस्तुना वा फलान्मध्यं पाण्डुकुष्ठविषार्दितः ।
तेन तक्रं विपक्वं वा पिबेत्समधुसैन्धवम् ॥
अ० हृ० क० १।३०

तेन तक्रमित्यादिना तक्रयोगः। तेनेति तुम्बीफलमध्येन। चक्रपाणिः

कुष्ठविषपाण्डवामयेष्विक्ष्वाकुफलानां मध्यं मज्जानं मस्तुना पिबेत्। अथवा तद्विपक्वं तक्रं समधुसैन्धवं कुष्ठादिषु पिबेत्। इन्दुः॥

इक्ष्वाकुफलमध्यं वा मस्तुना पाण्डवाद्यर्दितः पिबेत्। तेन-इक्ष्वाकुफलमध्येन, तक्रं वा विपक्वं मधुसैन्धवयुतं पिबेत्। समधुसैन्धवमित्युक्तं स्पष्टार्थम्, वमन विधौ हि समधुसैन्धवस्य वमनस्यानुज्ञानात्। अरुणदत्तः।

हि० व्या०—इक्ष्वाकुफल की गुद्दी को दही के पानी में मथकर पाण्डुरोग, कुष्ठरोग, और विषविकार से पीड़ित रोगी को वमन हेतु पिलाना चाहिए। अथवा गुद्दे से मट्ठा पकाकर उसमें मधु और सैन्धव लवण मिलाकर उपरोक्त रोगों में वमन हेतु प्रयोग करना चाहिए।

इक्ष्वाकुफलरसपुष्पभावित घ्रेययोगः।

तुम्ब्यफलरसैः शुष्कैः सपुष्पैरवचूर्णितम्।
छर्दयेन्माल्यमाघ्राय गंधसंपत्सुखोचितः॥

च० क० ३।११। अ० हृ० क० १।३४

तुम्ब्या इत्यादिना घ्रेययोगमाह। गंधसंपत्सुखोचित इति गंध संपत् सुगन्धवत्त्वं, तया गंधसंपदा सुखमुचितमभ्यस्तं येन सः, अवचूर्णितेक्ष्वाकुफलरस-पुष्पं माल्यमाघ्रायैव वमत्यनभ्यस्तदुर्गन्ध इति भावः। चक्रपाणिः।

हि० व्या०—इक्ष्वाकु के फलों के रस एवं पुष्पों को सुखाकर चूर्ण बनावें। इसे फूलों से बनी माला पर छिड़क दें। दुर्गन्ध का अनभ्यासी व्यक्ति उसे सूँघने पर वमन करने लगता है।

इक्ष्वाकुफलमध्यप्रयोगः तथा इक्ष्वाकुफलबीज तैल सिद्ध घृत योगः।

भक्षयेत् फलमध्यं वा गुडेन पललेन च।
इक्ष्वाकुफलतैलं वा सिद्धं वा पूर्ववद्घृतम्॥

च० क० ३।१२

तदेव वा मध्यं सगुडपललं भक्षयेत्। इक्ष्वाकुफलतैलं वा पिबेत्।

अ० सं० क० १।२५।२६

भक्षयेदित्यादिना वमनयोगमेकमाह। फलमध्यमिक्ष्वाकुफलमध्यम्। इक्ष्वा-कुफलकल्कसाधितं तैलमिक्ष्वाकुफलतैलम्; अयमेकमेव तैलयोगः। पूर्ववदिति जीमूतकवत्, तेन "तथा जीमूतक क्षीरात्" (क० अ० २(इत्यादिनोक्तविधा-नेन जीमूतक स्थाने इक्ष्वाकुफलं दत्त्वेह घृतं साधनीयम्। चक्रपाणिः।

तदेवेक्ष्वाकुफलजातं मध्यं सगुडपललम्। पललं तिलकल्कः। श्लेष्मजेषु ज्वरादिष्विक्ष्वाकुफलतैलं वा। इन्दुः।

हि० व्या० - इक्ष्वाकुफलमज्जा को गुड एवं तिलकल्क के साथ सेवन करने से अथवा इसके बीजों के तैल को अथवा फल से सिद्ध दूध से निर्मित घृत को मदन फल आदि प्रधान छः वामक द्रव्यों के क्वाथ से विधिपूर्वक पकाकर सेवन

कराना चाहिए। चक्रपाणि ने इक्ष्वाकु बीजों के तैल के स्थान पर इक्ष्वाकुफल कल्क से साधित तैल का ग्रहण किया है।

इक्ष्वाकुफलबीजानां क्रमवृद्ध्या मदनफलादि कषायानुपान भेदेन षड् योगाः।

पञ्चाशद्दशवृद्धानि फलादीनां यथोत्तरम्।
पिबेद्विमृद्य बीजानि कषायेष्वाशतं पृथक्॥ च० क० ३।१३

पञ्चाशदित्यादिना षड् वर्धमानक योगानाह। पञ्चाशदारभ्य दशकेन वृद्धैरिक्ष्वाकुबीजैः शतं पूरणीयम्। तेन षड्योगा भवन्ति तानि च यथासंख्यं मदनफलादीनां षण्णामन्यतमकषायेष्वासुत्य विमृदितानि पातव्यानि। अन्ये तु दश बीजादारभ्य पञ्चाशद्बीजपर्यंतं दोषाद्यपेक्षया पातव्यं; तत्र मदनादि कषायभेदादेव योगभेद इत्याहुः। च० क० ३।१३

हि० व्या—जीमूतक कल्प के समान यह इक्ष्वाकु का वर्धमान योग है। इक्ष्वाकु के पचास बीजों से प्रति दिन दश-दश बीज बढ़ाते हुए मदन फलादि[1] छः द्रव्यों के क्वाथ में भिगोकर एक सौ बीजों तक छः दिन में पिलाना चाहिए।

इक्ष्वाकुबीज प्रयोगः

यष्ट्याह्वं कोविदाराद्यैर्मुष्टिमन्तर्नखं पिबेत्। च० क० ३।१४

हि० व्या०—मदनफल के कल्प में पूर्व बताई गई विधि के अनुसार रक्तकांचनार आदि नौ द्रव्यों के क्वाथ में एक मुट्ठी इक्ष्वाकु के बीजों का कल्क बनाकर सेवन करें।

नोट—नौ द्रव्य—मधुयष्टि, कोविदार(कांचनार), कर्बुदार, नीप, विदुल, बिम्बी, शणपुष्पी, अर्कपुष्पी, तथा प्रत्यक्पुष्पी।

यष्ट्याह्वेत्यादिना नव कषाय योगनाह। तत्र यष्ट्याह्वमेके कोविदारादयो मदन कल्पोक्ताअष्टौ। चक्रपाणिः।

इक्ष्वाकु बीजानां मात्रा योगाः

कषायैः कोविदाराद्यैर्मात्राश्च फलवत् स्मृता। च० क० ३।१५

हि० व्या०—मदनकल्पोक्त रक्तकांचनार आदि आठ द्रव्यों के क्वाथ से मदनफल के समान इक्ष्वाकु बीजों से आठ योग बनाये जाते है। दो भाग तिक्तलोकी के बीज के कल्क को रक्त कांचनार आदि आठ द्रव्यों के क्वाथ में घोलकर, २१ बार छानकर, उस भाग में एक भाग तिक्तलोकी के बीज को पीसकर फलवत् (आँवला, हरड़ और बहेड़ा के समान) गोली बनाकर एक या दो गोली को आठ द्रव्यों में से किसी एक द्रव्य के क्वाथ से पिलाना चाहिए।

नोट—इसमें मधुयष्टि को ग्रहण नहीं किया गया है। अतः आठ वतियोग होते हैं।

---

१. मदनफल, जीमूतक, इक्ष्वाकु, धामार्गव, कुटज तथा कृतवेधन।

इक्ष्वाकुफल, फलबीजावलेह पञ्च योगाः ।

बिल्वमूलकषायेण तुम्बीबीजाञ्जलिं पचेत् ।
पूतस्यास्य त्रयो भागाश्चतुर्थः फाणितस्य तु ॥
सघृतो बीजभागश्च पिष्टानर्धांशिकांस्तथा ।
महाजालिनिजीमूतकृतवेधनवत्सकान् ॥
तं लेहं साधयेद्दर्व्या घट्टयन्मृदुनाऽग्निना ।
यावत् स्यात्तन्तुमत्तोये पतितं तु न शीर्यते ॥
तं लिह्यान्मात्रया लेहं प्रमथ्यां च पिबेदनु ।
कल्प एषोऽग्निमन्थादौ चतुष्के पृथगुच्यते ॥ च० क० ३।१६-१९

बिल्वेत्यादिना एको लेहः, तथा 'कल्प' इत्यादिना चत्वारो लेहा अन्ते दृष्टव्याः, एवं पञ्च लेहा अञ्जलिः पलचतुष्टयम् । अत्र च "ततश्च कुडवं यावत्तोयमष्टगुणं भवेत्" इति वचनाद्बिल्वमूलकषास्याष्टावञ्जलयो देयाः, ततश्चतुर्भागावशेषेण कुडद्रद्वयम् । फाणितमर्धं श्रृत इक्षुरसः । 'चतुर्थः फाणितस्य च' एतस्य स्थाने 'त्रयस्त्रिकटुकस्य' च इति केचित् पठन्ति । सघृतो घृतस्यैको भागः । अर्धांशिकानिति एक भागार्धमानान् प्रत्येक महाजालिन्यादीन् । महाजालिनी पीतकोषातकी, कृतवेधनो घोषक भेदः 'ज्योस्निका' इति ख्यातः यावत् स्यात्तन्तुमदित्यादिना लेहपाकलक्षणमाहः; एतच्च लक्षणं लेहान्तरेष्वपि पाचनीयेषु ज्ञेयम् । न शीर्यते न विस्तीर्यते । प्रमथ्यां च पिबेदग्निति अतिसार चिकित्सते "पिप्पली नागरं धान्यम्" (चि० अ० १९) इत्यादिनोक्त प्रथथ्याना मध्येऽन्यतम प्रमथ्या कृतं कषायं पिबेदित्यर्थः । 'प्रमथ्यां च' इत्यस्य स्थाने केचित् 'मन्थं चापि', इति पठन्ति । अग्निमन्थादाविति प्रत्येकमग्निमन्थश्योनाकपाटला गम्भारीमूल चतुष्क पञ्चमूल कथनप्रस्तावे रसायने कथितम् । चक्रपाणिः ।

बिल्वमूलप्रस्थक्वाथेन वा तुंबीबीजानि क्वाथयेत् । ततस्तस्मिंस्त्रिभागघृतेघृतसमानिपिष्ट्वा तुबीबीजानि तदर्द्धांशिकानि च प्रत्येक जीमूतमहाजालिनिवत्सककृतवेधनानि क्वांथ तुल्यभेव च त्रिकटूकमावपेत् । ततः पुनरपि श्रृत्वा लेहं साधयेत् । तमवलिह्य प्रमथ्याम नुपिवेत्तद्वदयमेव च कल्पः काश्मर्यादिषु चतुर्षु-महापञ्चमूलाङ्गेषु पृथक्पृथगुक्तो वेदितव्यः । अ०सं० क० १।२२

बिल्वमूलक्वाथस्य चतुषष्टिपलानि तैस्तुम्बी बीजानां चत्वारि पलानि क्वथ्येत् । त्रिभागः पञ्चपलान्यष्टमाषकाधिककर्षाधिकानि । जीमूतो देवदाली । महाजालिनी घण्टोली । कृतवेधनं द्वितीया कोशातकी । अधिश्रयणं पाकाय चुल्यामारोहणम् । प्रमथ्य मध्यदोषमधिकत्यातींसारे मागधिकाजलदादिक्वाथयोराख्या । अयमेवेक्ष्वाकुकल्पो महापञ्चमूलाङ्गेषु चतुर्षु काश्मर्यादिषु काश्मर्यतर्कारीपाटलीटुण्टूकेषू काश्मर्य प्रसिद्धम् । तर्कारी अग्निमन्थः टुण्टुको मयूर जङ्घः । इन्दुः ।

हि० व्या०—बिल्वमूल के क्वाथ में १६ तो० इक्ष्वाकुबीजों का पाक करें। इसे छानकर तीनभाग मान लें। इसमें चौथा भाग फणित मिला दें। घृत एक भाग, महाजालिनी (पीत अथवा राजकोषातकी), जीमूतक, कृतवेधन (कोशातकी) तथा कुटज प्रत्येक आधा-आधा भाग मिलाकर मन्द अग्नि पर कड़छी से चलाते हुए लेहपाक करें। इस पाक की परीक्षा अंगुलियों में लेह लेकर तन्तुमयता तथा पानी में डालकर गलित न होने से की जाती है। अर्थात् पानी में डालने पर घुले नहीं व अंगुलियों में तन्तु बनने लग जाय तब उतार लेना चाहिए। इसका समुचित मात्रा में प्रयोग करके प्रमथ्या का अनुपान रूप में सेवन करें। इसी विधि से वृहत् पंचमूल के बिल्व; अग्निमन्थ, गम्भारी, पाटला तथा श्योनाक से भी यह लेह बनाया जा सकता है। अतः इक्ष्वाकु के साथ वृहत् पंचमूल के पाँचों द्रव्यों से पृथक्-पृथक पांच लेह योग बनते हैं।

इक्ष्वाकुफलबीजसक्तुमन्थयोगः ।

[1]सक्तुभिर्वा पिबेन्मंथं तुम्बीस्वरसभावितैः ।
कफजेऽथ ज्वरे कासे कण्ठरोगेष्वरोचके ॥
च० क० ३।२०, अ० हृ० क० १।३२

तत्फलस्वरसभावितैर्वा सक्तुभिर्मन्थं श्लेष्मज्वरकासकण्ठरोगारोचकेषु ।
अ० सं० क० १।२६

हि० व्या०—इक्ष्वाकु के स्वरस में भावित सत्तू के मन्थ का कफज्वर, कास, कण्ठरोग तथा अरोचक में वमनार्थ प्रयोग करना चाहिए।

इक्ष्वाकुफलकल्कमांसरसानुपानयोगः ।

गुल्मे मेहे प्रसेके च कल्कं[2] मांसरसैः पिबेत् ।
नरः साधु वमत्येवं न च दौर्बल्यमश्नुते ॥
च० क० ३।२१, अ० हृ० १।३३

इक्ष्वाकुकल्कं वा मांसरसेन वातकफगुल्मप्र[3]सक्तज्वरेषु ॥
अ० सं० क० १।२६

हि० व्या० – इक्ष्वाकु के कल्क को मांसरस के साथ गुल्म, प्रमेह एवं कफ प्रसेक में प्रयोग कराना चाहिए। इससे रोगी को भली प्रकार वमन हो जाता है तथा दुर्बलता भी नहीं होती।

---

१. सक्तुभिरित्यादिर्नकोमन्थयोगः। चक्रपाणिः।
२. कल्कमिक्ष्वाकुबीजकल्कम् ।चक्रपाणिः।
३. प्रसक्त अनुषक्तो ज्वरः। इन्दुः।

इक्ष्वाकुफलस्य योगसंख्या

पयस्यष्टौ सुरामण्डमस्तुतक्रेषु च त्रयः।
त्रयं सपललं क्षीरं वर्धमानाः फलेषु षट्।
घृतमेकं कषायेषु नवान्ये मधुकादिषु।
अष्टावेतिक्रिया लेहाः पञ्चमन्थोरसस्तथा।
योगा इक्ष्वाकु कल्पे ते चत्वारिंशच्च पञ्च च।
उक्ता महर्षिणा सम्यक् प्रजानां हितकाम्यया। च० क० ३।३४

हि० व्या०—इस प्रकार इक्ष्वाकु के कुलयोग ४५ है जो इस प्रकार हैं—

क्षीर सहित पुष्पादि से	८ योग
सुरा-मण्ड-दधि-तक्र	३ योग
नस्यहेतु गन्ध योग	१ योग
तिलकल्क	१ योग
तैल	१ योग
मदनफलादि द्रव्यों के वर्धमान	६ योग
घृत सहित	१ योग
मधुयष्टी आदि द्रव्यों के कषाय	९ योग
मात्रा के	८ योग
वृ० पञ्चमूल के द्रव्यों से अवलेह	५ योग
सक्तुमन्थ	१ योग
मांसरस	१ योग
कुल	४५ योग

धामार्गव पर्यायाः।

कर्कोटकी कोटफला महाजालिनिरेव च।
धामार्गवस्य पर्याया राजकोशातकी तथा॥ च० क० ४।३

हि० व्या०—कर्कोटकी, कोठफला, महाजालिनी तथा राजकोशातकी, धामार्गव के पर्याय नाम हैं।

धामार्गव-प्रयोज्य-रोगाः।

गरे गुल्मोदरे कासे वाते श्लेष्माशयस्थिते।
कफे च कण्ठवक्त्रस्थ कफसंचयजेषु च॥
रोगेष्वेषु प्रयोज्यं स्यात् स्थिराश्च गुरवश्चये। च० क० ४।४-५

धामार्गवस्यापि मदनफलमज्जवदुपयोगः, विशेषतस्तु गरगुल्मोदरकासश्वास-श्लेष्मामयेषु वायौ च कफस्थानगते। सु० सू० ४३।८

धामार्गवो विशेषेण गरगुल्मोदरकासकफसञ्चयोत्थरोगेषु स्थिरेषु गुरुषु च श्लेष्माशयस्थे वातश्लेष्मणि च कण्ठाश्रये प्रकल्प्यः। अ० सं० क० १।२९

कासगुल्मोदरगरे वाते श्लेष्माशयस्थिते।
कफे च कण्ठवक्त्रस्थे कफसञ्चयजेषु च॥
धामार्गवो गदेष्विष्टः स्थिरेषु च महत्सु च। अ० हृ० क० १।३५

धामार्गवस्येत्यादि। एतेन धामार्गवस्य चतुर्विंशति योगाः। अपि शब्दात् पुष्पशलाटुक्षीरसुरायोगाश्च। वमनद्रव्येषु सर्वेषामेवातिदेशयोगानां मदनफल-तुल्यकल्पानां मदनफलयोग विषय एव विषयो नापूर्वः। डल्हणः॥

धामार्गवेष्वपीत्यादि। अपि शब्दात्र केचित् पुष्पादिप्रयोगमपि मदनवद्व-दन्ति॥ चक्रपाणिः।

कासादिषु, तथा कफस्थानस्थे वाते, श्लेष्मणि गलस्थे मुखस्थे च, तथा कफसञ्चयजेष्वरोचकादिषु तथा स्थिरेषु दीर्घकालप्ररूढ़ेषु, महत्सु-चात्यन्तं प्रवृद्धेषु रोगेषु, धामार्गवः-कोशफलाख्यः, इष्टः। अरुणदत्तः।

हि० व्या०—गरविष प्रयोग, गुल्म, उदररोग, कास एवं आमाशय में वातवृद्धि होने पर, कण्ठ एवं मुख में कफवृद्धि होने पर, कफ संचयावस्था में उत्पन्न रोगों में तथा गुरु व्याधियों में धामार्गव का वमनार्थ प्रयोग कराना चाहिए।

धामार्गवस्य प्रयोज्याङ्गप्रत्यङ्गानि।

फलं पुष्पं प्रवालं च विधिना तस्य संहरेत्। च० क० ४।५

हि० व्या०—प्रयोग हेतु धामार्गव के फल, पुष्प एवं कोमल पत्तियों का यथाविधि संग्रह करना चाहिए।

धामार्गवपत्रस्वरसप्रयोगः।

प्रवालस्वरससंशुष्कं कृताश्च गुलिकाः पृथक्।
कोविदारादिभिः पेयाः कषायैर्मधुकस्य च॥ च० क० ४।६

प्रवालेत्यादिना नवयोगानाह। प्रवालस्य स्वरसः प्रवाल स्वरसः। अत्र कोविदारादिकषायैर्गुडिका करणं पानं च ज्ञेयम्। चक्रपाणिः।

हि० व्या०—धामार्गव के कोमल पत्तों के स्वरस को थोड़ा सुखाकर गोलियाँ बना लें। इनको रक्त कांचनार आदि नौ (पूर्वोक्त) द्रव्यों के क्वाथ से पृथक्-पृथक् वमनार्थ यथाविधि पान करावें।

धामार्गवपुष्पादियोगाः सुरायोगाश्च।

पुष्पादिषु पयोयोगाश्चत्वारः पञ्चमी सुरा।
पूर्ववत् च० क० ४।७

पुष्पादिष्वित्यादिना जीमूतककल्पविधानेन निर्दिष्टाश्चत्वारः क्षीरप्रयोगाः पञ्चमश्च सुरायोगोऽतिदिश्यते; ते च पयः पुष्पेऽस्य (क० अ० २) इत्यादि-नोक्ता ज्ञेयाः। पूर्ववदिति पूर्वेण संबध्यते। चक्रपाणिः।

हि० व्या०—जीमूतक के समान धामार्गव के फूलों आदि से चार क्षीरयोग तथा सुरा मण्ड से एक योग बनाना चाहिए।

धामार्गवस्यपक्वफलबीजप्रयोगाः

……जीर्णशुष्काणामतः कल्पः प्रवक्ष्यते।
मधुकस्य कषायेण बीजकण्ठोद्धृतं फलम्॥
सगुडं व्युषितं रात्रि कोविदारादिभिस्तथा।
दद्याद्गुल्मोदरार्त्तेभ्यो ये चाप्यन्ये कफामयाः॥ च० क० ४।७-९॥

जीर्णशुष्काणामित्यादिना नव कषाय योगानाह, तथा 'जात्याः' इत्यादिना एकादश कषाय योगान् वक्ष्यति; एवं विंशतिः कषाययोगाः संग्रहे वक्ष्यमाणाः पूर्यन्ते। बीजकण्ठोद्धृतं फलमिति यत्र बीजानि बद्धानि सन्ति स बीज कण्ठ उद्धृतो यस्मिन् तद्बीजकण्ठोद्धृतं फलम्। अत्र च पूर्वनिपातानियम आहिताग्न्यादिपूर्वनिपातवद्बोद्धव्यः। एवं भूतं च फलं कषायेण सगुडेन पूरितं रात्रिव्युषितं कर्त्तव्यम्। उक्तं हि जतूकर्णे धामार्गव कल्पे "धामार्गवफलेषूद्धृत् बीजमध्येषु सगुडोषिताः कोविदारादिकषाया नव" इति। गुल्मिनां चावस्थायां वमनं हितमेव, तेनेह गुल्मविषयतया वमनोपदर्शनं न विरोधि। चक्रपाणिः।

हि० व्या०—धामार्गव में से बीज वाले भाग को निकालकर उसमें गुड़ भर दें। इसे रातभर पड़ा रहने दें। प्रातःकाल मधुयष्टि के क्वाथ से अथवा कोविदार आदि पूर्वोक्त (८) द्रव्यों के क्वाथ के साथ गुल्म, उदर रोग एवं कफज रोगों में सेवन कराना चाहिए।

धामार्गवसंयुक्तान्नप्रयोगः।

दद्यादन्नेन संयुक्तं छर्दि हृद्रोगशान्तये। च० क० ४-९
दद्यादित्यादिना एकोऽन्नयोग उच्यते। अन्ने च धामार्गवस्य संयोगे नैको योगः॥ चक्रपाणिः।

हि० व्या०—धामार्गव को अन्न में मिलाकर वमन एवं हृदय रोग शमनार्थ प्रयोग कराना चाहिए।

धामार्गवस्य घ्रेययोगः।

चूर्णं वाऽप्युत्पलादीनि भावितानि प्रभूतशः।
रसक्षीरयवाग्वादितृप्तो घ्रात्वा वमेत्सुखम्॥ च० क० ४।१०

चूर्णमित्यादिना घ्रेये एकयोगमाह। उत्पलादीनां चात्र भेदोऽविवक्षितः। उत्पलस्यैक एव घ्रेय योगः। अत्र आदि शब्देन सौगन्धिकपद्मादीनां ग्रहणम्। प्रभूतशश्चूर्णेर्भावितानीति ज्ञेयम्। चक्रपाणिः।

हि० व्या०—धामार्गव चूर्ण को नीलकमल आदि (अर्थात् इसी जाति के अन्य सुगन्धित उत्पलों) के साथ अनेक बार भावित करके सूंघने के लिए देवें। इससे पूर्व रोगी को मांसरस, क्षीर अथवा यवागू से तृप्त कर दें। भर पेट खाये हुए व्यक्ति को इस घ्रेय योग से शीघ्र वमन हो जाता है।

धामार्गवचूर्ण गुटिका योगाः

चूर्णीकृतस्य वर्तिं वा कृत्वा बदरसंमिताम्।
विनीयाञ्जलिमात्रे तु पिबेद्गोश्वशकृद्रसे॥
पृषतर्ष्यंकुरङ्गाह्वगजोष्ट्राश्वतराविके।
श्वदंष्ट्रखरखड्गाना चैवं पेया शकृद्रसे॥ च० क०

चूर्णीकृतस्येत्यादिना गोऽश्मशकृद्रसे इति द्वौ योगौ। तथा पृषतेत्यादि दशयोगैः समं शकृद्रसयोग संबन्धाद्द्वादश शकृद्योगा उच्यन्ते। पृषतो बिन्दुचित्रितहरिणः, ऋष्यो नीलाण्डः कुरङ्गश्चंचलगतिः, अश्वतरो वेगसरः, श्वदंष्ट्रश्चतुर्दंष्ट्रो मृगविशेषः। चक्रपाणिः।

हि० व्या०—धामार्गव चूर्ण की जल के साथ वर्ति निर्माण करें। इसे १६ तो० गाय के गोबर अथवा घोड़े की लीद के रस से पिलाना है। इसी प्रकार हरिण जाति के चित्तल, नीलाण्ड मृग, खरहा, हरिण, बकरी, चार दंष्ट्रा वाले मृग तथा भेड़ आदि के पुरीष के रस से भी वर्ति पिलाने से वमन शीघ्र हो जाता है।

धामार्गवसाधिताः दश लेहयोगाः।

जीवकर्षभकौ वीरामात्मगुप्तां शतावरीम्।
काकोलीं श्रावणीं मेदा महामेदा मधूलिकाम्॥
एकैकशोऽभिसंचूर्ण्य सह धामार्गवेण ते।
शर्करामधुसंयुक्ता लेहा हृद्याहकासिनाम्॥
सुखोदकानुपानाः स्युः पित्तोष्मसहिते कफे। च० क० ४।१३-१५

जीवनीयान्यतमचूर्णसंयुक्तान् समधुशर्करांस्तत्कषायैर्लेहान् पित्तोपसर्जने श्लेष्मणि विदध्यात्॥ अ० सं० क० १।२९

जीवकेत्यादिना दश लेहानाह। मधुलिका 'मर्कटहस्त' इति ख्याता। अत्र लेहेषु धामार्गवादितरद्रव्यचूर्णस्य समानत्वं; मधुशर्करयोश्च तावती मात्रा यावत्या लेहत्वापत्तिर्भवति। पित्तोष्मसहिते कफे इति उद्यतोष्म गुणेन पित्तेन युक्ते कफे, अन्ये तु पित्तोष्म शब्देन पित्तोष्मणा कृतं ज्वरमाहुः। चक्रपाणिः।

जीवकर्षभकौ वीरा कपिच्छुः शतावरी।
काकोली श्रावणी मेदा महामेदा मधूलिका॥
तद्रजोभिः पृथग्लेहा धामार्गवरजोन्विताः।
कासे हृदय दाहे च शस्ता मधुसिताद्रुताः॥ अ० हृ० क० १।३६-३७

पित्तोपसर्जने श्लेष्मणि पित्तप्रधाने कफपित्ते। तत्कषायैर्धामार्गवक्वाथैर्लेहान् पूर्व एव विषये कल्पयेत्। किम्भूतान् जीवनीयानामन्यतमस्य चूर्णेन संयुक्तान् समधुशर्करांश्च। इन्दुः।

जीवकर्षभादीनां पृथक्-प्रत्येकं, तेषां रजोभिश्चूर्णैर्मधुसिताभ्यामत्यन्तं द्रुताः-द्रवीकृताः, धामार्गवरजोन्विताः तच्चूर्णमिश्राः, लेहाः कासे हृदयदाहे च शस्ताः। मधूलिका मधुयष्टिः। अरुणदत्तः।

हि० व्या०—धामार्गव साधित १० लेह योग—जीवक, ऋषभक, क्षीरकाकोली,कौंच बीज, शतावरी, काकोली, श्रावणी (मुण्डी), मेदा, महामेदा, मधुयष्टी इनमें से किसी एक द्रव्य का चूर्ण करके धामार्गवफल चूर्ण के साथ मिश्रित करें। इसमें शर्करा एवं मधु मिश्रित कर (यथावश्यक) हृद्दाह एवं कास रोगियों को चटाना चाहिए। पित्त की ऊष्मा से युक्त श्लेष्मा में कवोष्ण जल के अनुपान से प्रयोग कराना चाहिए।

कुछ लोग पित्तोष्म शब्द से पित्तोष्मणाकृतं ज्वर का ग्रहण करते हैं।

धामार्गवस्य विषनाशको योगः।

धान्यतुम्बुरुयूषेण कल्कः सर्वविषापहः।

च० क० ४।१५, अ० हृ० क० १।३९ क

धान्येत्यादिनैकं कल्कयोगमाह। धान्यतुम्बुरुवाथ एव धान्यतुम्बुरुयूषः। उक्तं हि जतूकर्णे—'धान्यतुम्बुरुरसेन कल्को विषनुत्' इति॥ चक्रपाणिः।

हि० व्या०—धान्य तथा नेपाली धनिये के यूष में धामार्गव कल्क का सेवन सभी विषों का नाशक है।

मनोरोगेषु धामार्गववमनयोगाः।

जात्याः सौमनसायिन्या रजन्याश्चोरकस्य च।
धृश्चीरस्य महाक्षुद्रसहाहैमवतस्य च॥
बिम्ब्याः पुनर्नवाया वा कासमर्दस्य वा पृथक्।
एकं धामार्गवं द्वे वा कषाये परिमृद्य तु॥
पूतं मनोविकारेषु पिबेद्वमनमुत्तमम्।
तच्छृतक्षीरजं सर्पिः साधितं वा फलादिभिः॥ च० क० ४।१६-१८

सुमनः सौमनस्यायनीहरिद्राचोरकहैमवतीमहासहाक्षुद्रसहावृश्चीवबिम्बीपुनर्नवाकासमर्दान्यतमकषायेण वा धामार्गवफलमेकं द्वे वा मनोविकारेषु।

अ० सं० क० १।३०

जात्या इत्यादिना एकादशकषाय योगानाह। जाती सौमनसायिनी, अन्ये यूथिका वदन्ति। वृश्चीरः श्वेतपुनर्नवा महासहा क्षुद्रसहा मुद्गमाषपर्ण्यौ। हैमवती वचा। तच्छृतेत्यादिनैकं घृतयोगः। चक्रपाणिः।

बिम्ब्याः पुनर्नवाया वा कासमर्दस्य वा रसे।
एकं धामार्गवं द्वे वा मानसे मृदितं पिबेत्॥
तच्छृतक्षीरजं सर्पिः साधितं वा फलादिभिः।

अ० हृ० क० १।३९-४०

सुमनः प्रभृतीनामन्यतमस्य वा कषायेण समधुशर्करान् लेहान् पूर्व एव विषये कल्पयेत्। सौमनस्यायनी जातिपत्रिका। हैमवती काञ्चनी। महासहा माषपर्णी। क्षुद्रसहा मुद्गपर्णी। वृश्चीवः पुनर्नवा भेदः। बिम्बी रक्तफला तुण्डी तुण्डीकेरफला च सा। मनोविकारेषु मदादिष्वेकं धामार्गवफलं द्वे वा धामार्गवफले इति मागधिकाजलदादि ववाथयोराख्या। इन्दुः।

बिम्ब्यादीनामन्यतमस्य रसे-क्वाथे, धामार्गवफलमेकं मृदितं कृत्वा, अथवा द्वे फले, मानसे-मनोविकारे, वमनार्थं पिबेत्। अथवा, तच्छृतक्षीरजं सर्पिः—धामार्गवफलसाधितं—मदनफलजीमूतकेक्ष्वाकुधामार्गवकोशातकीकुटजैः षड्भिः पक्वं, मानसे वमनार्थं पिबेत्। अरुणदत्तः।

हि० व्या०—मनोविकारों में चमेली, यूथिका, हरिद्रा, चोरक, श्वेतपुनर्नवा, माषपर्णी: मुद्गपर्णी, वचा, बिम्बी, पुनर्नवा, कासमर्द इनमें से किसी एक के क्वाथ में एक या दो धामार्गवफलों को मलकर वमनार्थ पिलाना चाहिए।

धामार्गवस्य योगसंख्या

पल्लवे नवचत्वारः क्षीरः एक सुरासवे।
कषाये विंशतिः कल्के दश द्वौ च शकृद्रसे॥
अन्न एकस्तथा घ्रेये दश लेहास्तथा घृतम्।
कल्पे धामार्गवस्योक्त : षष्टियोगा महर्षिणा।

च० क० ४ १९।२०

पल्लवे नवेत्यादिसंग्रहे व्युत्क्रमसंग्रहाभिधानं छन्दोऽनुरोधात्। दश द्वौ चेति द्वादशेत्यर्थः। चक्रपाणिः।

हि० व्या०—चरकोक्त धामार्गव के कुल ६० योग हैं—

पल्लवस्वरस	= ९ योग
दुग्ध के	= ४ योग
सुरासव के	= १ योग
कषाय के	= २० योग
कल्क के	= १ योग
शकृतादि के	= १२ योग
अन्न से	= १ योग
घ्रेय योग	= १ योग
लेह योग	= १० योग
घृत योग	= १ योग
कुल	६० योग

यष्टीमधुकादि वामक योगः

यष्टीमधुवचाकुष्ठं बीजानां कुटजस्य च।
कल्कैरालोड्य निम्बस्य कषायं [illegible]दिषक्॥

प्रवृत्तलालाहृल्लासं वामयेत् स्निग्धमातुरम् ।

वङ्गसेन (वमना०) १६

हि० व्या० —मधुयष्टि, वच, कूठ एवं इन्द्र जौ का एकत्र कल्क तैयार कर निम्ब क्वाथ में अलोड़ित कर सुस्निग्ध व्यक्ति को पिलाना चाहिए। इससे लालास्राव एवं हृल्लास (उवकाई) उत्पन्न होकर वमन होता है।

वमनार्थं ताम्रप्रयोगः ।

क्षौद्रलीढं ताम्ररजो वमनं गरदोषनुत् । चक्रदत्त (वमन०)

अत्र रसायनाधिकारोक्तताम्रयोगवन्मारितपुटित नैपालताम्रचूर्णं रवित-पञ्चकं मधुना सम्मर्द्य लेह्यम् । अस्य ताम्र योगस्य वमनकारकत्वं वमनौषध-भावितत्वादेवेति ज्ञेयम् । शिवदाससेन ।

हि० व्या०—मधु के साथ ताम्रचूर्ण (भस्म) का प्रयोग छर्दि एवं गरविषनाशन हेतु किया जाता है।

प्रियङ्गुकल्कप्रयोगः ।

तण्डुलजलनिष्पिष्टं यः पीत्वा तथा वमति पूर्वाह्णे ।
फलिनीवल्कलमुष्णं हरति गरं सकफपित्तरुजम् ।

चक्रदत्त (वमना०), वङ्गसेन (वमना०)

अत्र पानमपि तण्डुलजलेनैव । फलिनी प्रियङ्गुः, तद्वल्कलं कर्षमानं, मधुसैन्धवे अपि कर्षमाने । एतच्च दिङ्मात्रं, तेन कोष्ठाद्यपेक्षया स्तोक बहु वा क्रियते । पानार्थं तण्डुलसलिलमपि शराव मात्रं 'पूर्णं शरावं' (च० सं० मदन-कल्प०) इत्युक्तेः ॥ शिवदाससेन ॥

हि० व्या०—तण्डुलोदक के साथ प्रियंगु की छाल को पीसकर, उसे कवोष्ण करके प्रातःकाल पीने से समुचित वमन होता है। इससे गरविष तथा पित्तकफज व्याधियाँ दूर होती है।

अपि च—

निम्बकषायोपेतं फलिनीगदमदनमधुकसिन्धूत्थम्
मधुयुतमेतद्वमनं खलु कफपूर्णाशये शस्तम् ॥ चक्रदत्तः, वंगसेन

अत्र गदः कुष्ठम् । फलिनीकुष्ठमधुकानां मिलित्वा १ कर्षः, मदनफलस्य च कर्षः, सैन्धवस्य माषकचतुष्टयं, मधुनोऽष्टौ माषका इति प्रक्षेप व्यवस्था इत्याहुः । शिवदाससेनः ।

हि० व्या०—प्रियङ्गु, कूठ, मैनफल, मधुयष्टि तथा सैन्धव नमक आदि के कल्क तथा मधु के साथ, निम्ब क्वाथ के साथ कफपूर्ण कोष्ठ वाले को वमनार्थ देना चाहिए।

पञ्चकषायः

आटरुषं वचा निम्बं पटोलं फलिनीत्वचम् ।
क्वाथयित्वा पिबेत् तोयं वान्तिकृन्मदनान्वितम् ।

चक्रदत्तः (वमना०) वङ्गसेन (वमना०)

अत्रापि पूर्वोक्त परिभाषयैव क्वाथः करणीयः, मदनफलन्तु कर्षमात्रं प्रक्षेप्यमित्याहुः । शिवदाससेन ।

हि० व्या०—वासा, वच, निम्ब, परवलपत्र एवं प्रियंगुछाल का क्वाथ बनाकर उसमें मदनफल चूर्ण का प्रक्षेप डालकर वमनार्थ पिलाना चाहिए। शिवदास सेन के अनुसार क्वाथ परिभाषा के अनुसार क्वाथ बनाकर मदनफल चूर्ण का प्रक्षेप एक कर्ष (एक तो०) मिलाना चाहिए।

कृष्णादिकल्कः

कृष्णेन्द्रयवसिन्धूत्थ—वचाकल्कयुतं पिबेत् ।
यष्टीकषायं सक्षौद्रं तेन साधु वमत्यलम् ॥

वमने क्वाथविधिः

क्वाथ द्रव्यस्य कुड़वं श्रपयित्वा जलाढके ।
चतुर्भागावशिष्टन्तु वमनेष्ववचारयेत् ॥

चक्रदत्तः (वमनाधिकारः)

वमनविधिमभिधाय वमनयोगानाह, कृष्णेत्यादि । अत्र कृष्णादीनां मिलित्वा कर्षः यष्टीकषायं यष्टीमधुकषायम् । कषायश्च 'क्वाथद्रव्यस्य कुड़वं श्रपयित्वा जलाढ़के । चतुर्भागावशिष्टन्तु वमनेष्ववचारयेत् ।' इति परिभाषया कार्य्यः । नन्वत्र चतुर्भागावशिष्टः कषायः प्रस्थमात्रो भवति; चरके तु—"पूर्णं शरावं पिबेत्' (मदनकल्पः) इत्युक्तम्, अतो विरोधः ? नैवं, चरके तु 'पूर्णं शरावम्' इति यदुक्तम् तदेकशरावपानाभिप्रायेण; तेनेहं प्रस्थमात्रे कषाये शरावमेकं पीत्वा शेषकषायभागो रक्षणीयोऽयोगे सति पुनः पानार्थमित्यभि-प्रायः । एतच्च मात्राकथनं मन्दबुद्धेरनध्यवसायस्य (वुद्धिवर्द्धनार्थं महाबुद्धेरपि अनुक्तसङ्ग्रहार्थम् इति प्रकाशकः) स्यात्, इत्येवं कथं क्रियते (?) इति, वस्तुतस्तु कोष्ठाद्यपेक्षयैव मात्रा कल्पनीयेति सिद्धान्तः, अत एव कोष्ठं विभज्य भैषज्यमात्राम् इत्युक्तम् । सर्वत्रैव वमनयोगे उष्णीकरणं मधु सैन्धवञ्च ज्ञेयं, न चोष्णं मधु, विरुध्यते इति वाच्यं, वमनस्यापक्वस्यैव ऊर्द्धगमनात्; जठराग्नि-पाके हि विरोधो भवति । वृद्धवैद्यास्तु अयोगे कदाचित् पाकसम्भावनया मधु न प्रक्षिपन्त्येव ॥ (शिवदास)

हि० व्या०—पिप्पली, इन्द्र जौ, सैन्धव तथा वच का कल्क मधु एवं मधुयष्टि क्वाथ के साथ पीने से समुचित वमन हो जाता है।

क्वाथविधि—

वमननार्थं क्वाथ बनाने हेतु क्वाथ्य द्रव्य एक कुडव (१६ तो०) को एक

द्रोण (२५० तो०) जल में पाक करके चतुर्थांश अवशेष रहने पर उतार लें। इसमें यथावश्यक प्रक्षेप डालकर वमनार्थ पिलाना चाहिए।

अंकोलादिवामक योगः

अंकोलस्यायनिम्बस्य निष्क्वाथं साधु योजयेत।
सर्पिषा भेषजैश्चैमैः सुखोष्णं शीतमेव वा॥

हि० व्या०—अंकोल एवं निम्ब (पत्र या छाल) को (पूर्वोक्त दोष, वय, कोष्ठ और बलानुसार) भली-प्रकार मिलाकर क्वाथ करें। इस क्वाथ को घृत के साथ सुखोष्ण अथवा शीतल पान करना चाहिए।

अश्मन्तकगुणाः

वमनेऽश्मन्तकं[1] विद्यात्[2]।

च० सू० अ० १।११५ (क)

हि० व्या०—अश्मन्तक क्षीर का भी वमनार्थ प्रयोग करने का आदेश किया गया है।

वामकयोगः

मदनस्य फलं पिष्ट्वा देवदालीफलैस्सह। भे० सि० १।१३

हि० व्या०—मदनफल और देवदाली (बंदालडोडा) का कल्क, जल के साथ वमन हेतु पिलाना चाहिए।

अपि च—

निम्बपत्राणि सार्द्राणि सैंधवं मरिचानि च।
सैन्धवेनसमायुक्तं तक्रमण्डेनवा पुनः॥ भे० सि० १।

हि० व्या०—ताजे (हरे) निम्बपत्र का कल्क सैंधव लवण एवं काली मिर्च मिलाकर वमन हेतु पिलाना चाहिए। अथवा तक्रमण्ड के साथ सैन्धव लवण मिलाकर पिलाना चाहिए।

अपि च—

बन्धुजीवोऽथ पिप्पल्यो मदनं सर्पिरेव च।
तत्कषायेण संयुक्तं प्रधानं वमनौषधम्॥ भे० सि १।१५

हि० व्या०—पुत्रजीवक, पिप्पली एवं मदनफल के क्वाथ को घृत के साथ सेवन कराना चाहिए। यह प्रधान वामकौषध है।

---

१. अश्मन्तको मालुयासदृश पत्रो वृक्षः। चक्रपाणिः
अश्मन्तकं-अश्मन्तकस्य क्षीरं वमने विद्यात्।
योगीन्द्रनाथसेन

२. अश्मन्तकः-पाषाणभेदीति गंगाधरो योगीन्द्रश्च। वयन्तु पाषाणभेदात् भिन्नमेव प्रतीमः क्षीरप्रयुक्तत्वात् इति॥ पं० हरिदत्तशास्त्री।

अपि च—

मदनं वन्धुजीवश्च शतपुष्पा शुकानना।
सैंधवेन समायुक्तं प्रधानं वमनौषधम्॥ भे० सि० १।१६

हि० व्या०—मदनफल, पुत्रजीवक, सौंफ एवं शुकनासा, क्वाथ को सैंधव लवण के साथ वमन हेतु पिलाना चाहिए। यह भी प्रधान वामक योग है।

यपि च—

मदनस्य च पत्राणि पुष्पाणि सफलानि च।
सैंधवं वन्धुजीवश्च राजकोशातकानि च॥
एवं प्रच्वर्छनो योगः प्रधानं वमनौषधम्।
श्रेष्ठश्च विषयुक्तेषु कासश्वासे तु पूजितः॥ भे० सि० १७।१८

हि० व्या०—मदनफल के पत्र, पुष्प एवं फलों के क्वाथ में सैंधव लवण, पुत्र जीवक तथा धामार्गव का चूर्ण मिलाकर वमनार्थ पिलाना चाहिए। यह वामक योग गरविष एवं कास-श्वास रोग में उपयोगी है।

वामकभेषजमात्राप्रमाणं प्रतिपुरुषापेक्षम्

मदनफलकषायमात्राप्रमाणं न तु खलु सर्वसंशोधनमात्राप्रमाणानि च प्रतिपुरुषमपेक्षितव्यानि भवन्ति यावद्धि यस्य संशोधनं पीतं वैकारिकदोषहरणायोपपद्यते न चातियोगायोगाय, तावदस्य मात्राप्रमाणं वेदितव्यं भवति।

च० सू० १५।१०

प्रतिपुरुषमपेक्षितव्यानीत्यनेन प्रतिपुरुषं शोधनमात्रा भेदं दर्शयति; यावद्धीत्यादि मात्राशितीयोक्तं 'यावद्ध्यस्याशनम्' (सू० अ० ५) इत्यादिग्रन्थव्याख्यानानुसारेण व्याख्येयम्। चक्रपाणिः।

तत्र सर्वाण्येवौषधानि व्याध्यग्निपुरुषबलान्यभिसमीक्ष्य विदध्यात् तत्र व्याधिबलादधिकमौषधमुपयुक्तं तमुपशम्य व्याधिं व्याधिमन्यमावहति, अग्निबलादधिकमजीर्णं विष्टम्भं वा पच्यते, पुरुषबलादधिकं ग्लानिमूर्च्छामदानावहति संशमनम्, एवं संशोधनमतिपातयति। हीनमेभ्यो दत्तमकिंचित्करं भवति। तस्मात् सममेव विदध्यात्।

सु० सू० ३६।१०

सर्वाणीति संशोधनानि संशमनानि चेत्यर्थः। व्याध्यग्नि पुरुषाणां च बलं शक्तिमभिसमीक्ष्य न्यूनाधिकभावेन, विदध्यात् कुर्यात्। व्याधिशब्देन दोषा रोगाश्च। तेषां व्याधीनां बलादिकमनपेक्ष्यभेषज प्रयोगे क्रियमाणे व्याधिबलादधिके दोषं निर्दिशन्नाह-तत्रेत्यादि। विष्टभ्य वा पच्यत इति चिरकालं स्थिरीभूय शूलादिकं कृत्वेत्यर्थः। ग्लानिः शरीरशैथिल्यं, मूर्च्छा चेतनाच्युतिः। मदो मद्यमत्तस्येव, आवहति करोति। शमनमिति संशमनौषधमित्यर्थः। संशोधनदोषमाह एवं संशोधनमिति। एवमेतद्दोषं संशोधनमपि करोतीत्यर्थः। अतिपातयति अतिपातनमप्यधिकं करोत्यातुरबलस्येत्यर्थः।

व्याधिबलन्यूनाया औषधमात्राया दाने दोषमाह हीनेत्यादि। अकिंचित्करं न किंचित्करोति अनर्थकमित्यर्थः, अन्येऽकिंचित्करमल्पार्थकरमित्याहुः, नञ् ईषदर्थे। सिद्धिहेतुमुपाधिं दर्शयन्नाह—तस्मादित्यादि। सममेव रोगादिसमबलमित्यर्थः। डल्हणः।

निष्क्वाथस्य त्रयः प्रस्थाः मागधास्तु कनीयसि।
ज्येष्ठे तु पुरुषे ज्येष्ठं वमनं न कनीयसि॥
चतुः प्रस्थं तु मध्यं स्याज्ज्येष्ठं प्रस्थास्तुते नव।
कनीयोमध्यमं ज्येष्ठं त्रिविधानि पृथक् पृथक्॥
अपीतपूर्वं वमनं विरेको वापि येन तु।
कनीयसा प्रमाणेन परीक्षेत च बुद्धिमान्॥
त्रिपलं श्रेष्ठमाख्यातं कनीयस्तु पलं भवेत्।
मध्यमं द्वे पले विद्यादिति मे निश्चिता मतिः।
विषकुष्ठ हता येतु कासश्वास प्रपीडिताः॥
तरुणा बलवन्तश्च वामयेदुत्तमेन तान्।
मध्यमे प्राणवयसि मध्यमं तत्र कारयेत्॥
कनीयसि कनीयस्तु तथा प्राणे कनीयसि।
विपरीतं प्रयुञ्जानो न रोगान्विजयिष्यति॥
उपद्रवान्वा जनयेदातुरं वा विनाशयेत्। भे० सि० १-५।१२
क्वाथपाने नवप्रस्था ज्येष्ठा मात्रा प्रकीर्तिता।
मध्यमा षण्मिता प्रोक्ता त्रिप्रस्था च कनीयसी॥
शा० सं० उत्त० ३४

क्वाथ्यादीनां पानेऽत्रमानमाह—षण्मितेति। षट्प्रस्था कनीयसी लघ्वी। एतत्परिमाणं स्यात्। यद्वा पूर्वपरिमाणं तु यवाग्वादीनां पाचनार्थमभिहितं। पश्चात्क्वाथपानस्येत्यर्थः। तत्र यवाग्वाद्युपकल्पयेदिति पाठान्तरे वृन्दोक्तमात्रया व्यवहारः इति चक्रः। चरके तु मदनफलकषायमात्रा प्रमाणं खलु सर्वसंशोधन-मात्राप्रमाणानि प्रतिपुरुषमपेक्षितव्यानि भवन्ति·····(च० सू० १५।२२) तत्र वाग्भटेन कोष्ठं विभज्य भैषज्य मात्रामित्यादिवचनेनैव दर्शितं कोष्ठश्च प्रतिपुरुषं भिन्न एव। दृढ़बलेन शरावमात्रा चोक्ता। एकवारं पानार्थं जलाढ़कावशिष्टं प्रशस्तं च। द्वि त्रिवारंपानमित्येके। शरावस्य पूर्णत्वाभिधानं मंगलमिति जेज्जटचक्रौ इति। आढ़मल्लः।

क्वाथपाने नवप्रस्था ज्येष्ठा मात्रा मध्यमा षट् प्रस्था त्रिप्रस्था कनीयसी इदं क्वाथपानप्रमाणम्। ननु शार्ङ्गधरेण कुडव द्रव्ये आढकं जलं दत्वा अर्धावशिष्टं क्वाथं वमने देयमित्युक्तं पुनः क्वाथस्य नवप्रस्थमाणा ज्येष्ठा मात्रा लिखिता तत्कथं न विरोध उच्यते, एतत्प्रमाणे शार्ङ्गधरेण भेडमतं लिखितं तदाकण्ठपानार्थं विषादौ ज्ञेयम्। काशीराम।

कल्कचूर्णावलेहानां त्रिपलाश्रेष्ठमात्रया।
मध्यमां द्विपलां विद्यात्कनीया पलसंमिता॥ शा० उ० ३।५

क्वाथ निर्माण प्रकारः—

क्वाथ्यद्रव्यस्य कुडवं श्रपयित्वा जलाढके।
अर्धभागावशिष्टं च मनेष्ववचारययेत्॥
शा० उ० ३।२३, वंगसेन, भाव प्र०

क्वाथ्यद्रव्यं पटोलवासानिम्बप्रभृतिकं, तेषु कुडवमिति चतुः पलप्रमाणं। जलाढ़कमिति चतुः षष्टिपलमिते पानीये अर्धपरिमाणोऽप्येकदेव पानाशक्तत्वाद्विभज्य देयः। क्वाथ बहुत्वे व्यवहारादयमेवावगन्तव्यः। कषायमपि पूर्णशरावं पाययेत्युक्तं तथेहाऽपि कषायपानव्यवस्थेति केचित्। आढ़मल्लः।

वमनादौ प्रस्थमानस्य विशेषपरिभाषा

वमने च विरेके च तथा शोणितमोक्षणे।
सार्द्धत्रयोदशपलं प्रस्थमाहुर्मनीषिणः॥
चक्रदत्त, भाव प्र० वमनाधिकार

पानद्रव्यरसस्योक्तः स्वरसः पलमिष्यते।
वमनं रेचनं चाक्षं स्नेहादि शमनं परम्॥ वंगसेन

हि० व्या०—

सभी संशोधन औषधियों की मात्रा का प्रमाण तथा मदनफल क्वाथ की मात्रा का प्रमाण प्रत्येक पुरुषों के बल तथा कोष्ठ के अनुसार पृथक्-पृथक् होता है। जितनी मात्रा जिस व्यक्ति को सेवन कराई जाए और सेवन करने के बाद वह विकार करने वाले दोषों को निकालने में समर्थ हो जाए तथा उससे अतियोग तथा अयोग के लक्षण उत्पन्न न हो वही मात्रा उस व्यक्ति के लिए उचित होती है। (चरक सूत्रस्थान मात्राशितीय अध्याय में दिए गए प्रमाण के अनुसार मदनफल क्वाथ या अन्य संशोधनौषधियों की मात्रा का यही प्रमाण है।)

आचार्य सुश्रुत के अनुसार सभी प्रकार की औषधियाँ व्याधि, जठराग्नि और रोगी का बल देखकर न्यूनाधिक मात्रा में प्रयोग करनी चाहिए। व्याधि बल से अधिक मात्रा में प्रयुक्त संशमनौषधि उस व्याधि को शान्त करके, किसी अन्य व्याधि को उत्पन्न करती है यथा – अजीर्ण, शूल आदि। रोगी के बल से अधिक मात्रा में प्रयुक्त औषधि ग्लानि, मूर्च्छा और मद उत्पन्न करती है। उसी प्रकार संशोधनौषधि भी अधिक हानि करती है। इसी प्रकार व्याधि, अग्नि और रोगी की शक्ति से न्यून मात्रा में प्रयुक्त औषधि निष्फल हो जाती है। अतः व्याधि, अग्नि और रोगी इनके बल के अनुसार औषधि का सम मात्रा में प्रयोग करना चाहिए।

आचार्य भेल के अनुसार जो व्यक्ति विष, कुष्ठरोग और श्वास से पीड़ित हो, तरुण अवस्था एवं बलवान् हो उन्हें उत्तम मात्रा पिलाकर वमन कराना चाहिए। अल्प अवस्था एवं अल्प बल वाले को लघु मात्रा पिलाकर वमन कराना चाहिए। मध्यम बल एवं मध्यम आयु वाले व्यक्ति को मध्यम मात्रा पिलाकर वमन कराना चाहिए। इससे विपरीत प्रयोग करने से रोग दूर नहीं होता परञ्च उपद्रव उत्पन्न होते हैं एवं रोगी की मृत्यु भी हो जाती है। मागधमान से वामक क्वाथ की छोटी मात्रा तीन पल (१२ तो०) की, मध्यम मात्रा ४ पल (१६ तो०) की और उत्तम मात्रा नौ पल की होती है। जो व्यक्ति जीवन में प्रथम बार संशोधन औषध ले रहा हो उसे छोटी मात्रा देकर पहले परीक्षा कर लेनी चाहिए। उसके लिए उत्तम मात्रा तीन पल की; मध्यम मात्रा दो पल की और छोटी मात्रा एक पल की बतायी गयी है।

आचार्य शार्ङ्गधर ने भेल की मात्रा का अनुकरण करते हुए "क्वाथपाने नवप्रस्था ज्येष्ठामात्रा प्रकीर्तिता मध्यमा षण्मिता प्रोक्ता" ऐसा लिखा है परन्तु केन्द्रीय आयुर्वेदानुसंधान परिषद द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित भेल संहिता में मध्यम मात्रा ४ पल की बतायी गयी है। शार्ङ्गधर संहिता की गूढ़ार्थ दीपिका व्याख्या में उक्त श्लोक उद्धृत किया है। कल्क, चूर्ण, अवलेह की उत्तम मात्रा तीन पल, मध्यम मात्रा दो पल और छोटी मात्रा एक पल का आचार्य शार्ङ्गधर ने निर्देश किया है।

वामक क्वाथ निर्माण प्रकार

सामान्य विधि—पटोल, वासा, निम्बप्रभृति क्वाथ्य द्रव्य एक कुडव (४ पल), जल एक आढ़क (ढाई सेर) को पकाकर अर्धावशेष उतारकर छान लें। इस विधि से निर्मित क्वाथ का वमन हेतु प्रयोग करना चाहिए। शार्ङ्गधर संहिता, वंगसेन एवं भाव प्रकाश में इसी विधि का अनुसरण किया गया है।

आचार्य चक्रपाणिदत्त के अनुसार वमन, विरेचन तथा शोणितमोक्षण में साढ़े तेरह तोला द्रव्य परिमाण को एक प्रस्थ समझना चाहिए। भावप्रकाश में इसका समर्थन किया गया है। आचार्य वंगसेन के अनुसार वमन-विरेचन में पान द्रव्यों का स्वरस एक पल (४ तो०) परिमाण में लेना चाहिए।

स्नेहस्वेदोत्तरं संशोधनभेषजप्रयोगः रुग्णसज्जीकरणप्रकारश्च

ततस्तं पुरुषं स्नेहस्वेदोपपन्नमनुपहतमानसमभिसमीक्ष्य सुखोषितं सुप्रजीर्णभक्तं शिरः स्नातमनुलिप्तगात्रं स्रग्विणमनुपहतवस्त्रसंवीतं देवताग्निद्विजगुरुवृद्धवैद्यानर्चितवन्तमिष्टे नक्षत्रतिथिकरणमुहूर्ते कारयित्वा ब्राह्मणान् स्वस्तिवाचनं प्रयुक्ताभिराभिरभिमन्त्रितां मधुमधुकसैन्धवफाणितोपहितां मदनफल कषायमात्रां पाययेत्। च० सू० १५।९

इष्ट इति शोधनकर्तृनक्षत्राद्यनुगुणे औषधप्रयोगार्थं विहित इत्यर्थः, यदुक्तं

ज्योतिषे "पुष्यो हस्तस्तथा ज्येष्ठा रौहिणी श्रवणाश्विनौ स्वाति सौम्यं[1] च भैषज्ये कुर्यादन्यत्र वर्जयेत्" इति। कारयित्वेति स्वस्तिवाचनं कारयित्वा।

चक्रपाणिः।

हि० व्या०—स्नेहन और स्वेदन के अनन्तर संशोध्य पुरुष को प्रसन्नचित्त देखकर तथा जो रात्रि में सुखपूर्वक सोया हो, जिसका भोजन भली प्रकार पच गया हो, जिसने शिर से स्नान किया हो, चन्दन लगाया हो, माला धारण की हो, साफ-सुथरे नए वस्त्र धारण किए हो, देवता, अग्नि, ब्राह्मण, गुरु, वृद्ध और चिकित्सक की जिसने पूजा की हो, उस पुरुष को शुभ नक्षत्र,[1] तिथिकरण मुहूर्त में ब्राह्मणों द्वारा स्वस्तिवाचन कराकर और उनके आशीर्वचनों से, अभिमन्त्रित मधु (शहद), मधुयष्टी चूर्ण, सैंधानमक तथा राव से युक्त मदनफलक्वाथ उचित मात्रा में पिलाना चाहिए।

इस गद्य का तात्पर्य वामक क्वाथ प्रातःकाल पिलाने से है। अतः वमन कर्म प्रातःकाल करवाना ही हितकर होता है।

वमनकर्मणः पूर्वदिने दोषोक्लेशनावश्यकता।

[2]पेशलैर्विविधैरन्नैर्दोशानुत्क्लेश्य देहिनः।
स्निग्धस्विन्नाय वमनं दत्तं सम्यक् प्रवर्तते॥सु० चि० ३६।६,वंगसेन

हि० व्या०—स्नेहन और स्वेदन दिए गए रोगी के दोषों को, कोमल, कफवर्धक भोजनों से उत्क्लेशित करने के पश्चात् पिलाए गए वमन द्रव्य से भली प्रकार वमन हो जाता है।

रुग्णस्य विविधशरीरांगानां वमनानुकूलचेष्टार्थमनुमता परिचारक क्रिया।

[3]प्रतिग्रहांश्चोपचारयेत्—ललाटप्रतिग्रहे, पार्श्वोपग्रहणे, नाभिप्रपीडने पृष्ठोन्मर्दनेचानपत्रपणीयाः सुहृदोऽनुमताः प्रयतेरन्॥ च० सू० १५।११ (ग)

हि० व्या०—वमन हेतु प्रस्तुत रोगी के लिए सामयिक उपचार—रोगी जब वमन कर्म हेतु आसन पर बैठ जाए तब उसको संभालने के लिए घृणा या लज्जा न करने वाले अनुकूल मित्रों को नियुक्त करना चाहिए। रोगी के आगे पीकदान रख दें, सिर दबाने के लिए, पार्श्व भाग को पकड़ने के लिए, नाभि को दबाने के लिए तथा पृष्ठ भाग को नीचे से ऊपर तक सहलाने के लिए परिचारकों की नियुक्ति करनी चाहिए।

---

१. ज्योतिष शास्त्र में पुष्य, हस्त, ज्येष्ठा, रोहिणी, श्रवण, अश्विनी, स्वाती तथा मृगशिरा नक्षत्र औषध सेवन के लिए शुभ बताए गए हैं।
२. पेशलैः कोमलैः स्निग्धैरित्यर्थः। हाराणच०।
३. प्रतिगृह्णान्तीति प्रतिग्रहाः=ललाटप्रतिग्रहादयः। अनपत्रपणीया=अलज्जाविषयाः। चक्रपाणिः।

वमनकर्मण्युपवेष्टुं समुचितासन विधानम्।

अथास्मै जानुसमम[1] संबाधं सुप्रयुक्तास्तरणोत्तर प्रच्छदोपधानं सोपाश्रयमासनमुपवेष्टुं प्रयच्छेत्। च० सू० १५।११ ख

हि० व्या०—वमनकर्म हेतु बैठने के लिए उचित आसन का प्रबन्ध—वमनकर्म हेतु रोगी को घुटने तक ऊँचा आसन देना चाहिए, जिस पर बिस्तर लगा हो ऊपर चादर बिछी हो, तकिया रखा हो तथा जिसमें लेटा भी जा सके (असुविधाजनक न हो) बैठने के लिए देना चाहिए। एतदर्थ गद्देदार सुखासन्दिका (आरामकुर्सी) का उपयोग किया जा सकता है।

स्नेहपानोत्तरं वमनकालनियमस्तत्र पथ्यञ्च

एकाहोपरतस्तद्वद्भुक्त्वा प्रच्छर्दनं पिबेत्। च० सू० १३।८१ क

वमने स्नेहवृत्तिमाह—एकेत्यादि। एकाहोपरतः स्नेहादिति योजना, तद्वदिति स्नेहवद्द्रवमुष्णं च रसौदनम् स्नेहो परमदिवस एव। चक्रपाणिः।

हि० व्या०—वमनार्थ स्नेहपान—वमन हेतु जो स्नेह पान कराया जाता है उसमें एक दिन के बाद स्नेह युक्त उष्ण मांस रस के साथ भात का सेवन कराकर, वामक द्रव्यों को पिलाकर वमन कराना चाहिए।

वमनकर्मणः पूर्वकर्मक्रमः।

अथातुरं स्निग्धं स्विन्नभिष्यन्दिराहारैरनवबद्ध दोषमवलोक्य श्वोवमनं पाययिताऽस्मीति संभोजयेत्तीक्ष्णाग्नि बलवन्तं बहुदोषं महाव्याधिपरीतं वमन सात्म्यं च॥ सु० चि० ३३।५

सम्भोजयेदग्निबलमभिसमीक्ष्य दोषोत्क्लेशार्थं दधिमाषगुडादीनि सम्यक् भोजयेत्। अत्र तीक्ष्णाग्न्यादिविशेषणमजीर्णादिशङ्कानिरासार्थम्। हाराणचन्द्रः।

हि० व्या०—वमनपूर्व कर्म—तीक्ष्ण अग्नि वाले बलवान, बहुदोषयुक्त, महारोगग्रस्त और वमन सात्म्य रोगी को स्नेहन स्वेदन के अनन्तर अभिष्यन्दी आहारों द्वारा दोषों को उत्क्लेशित समझकर "कल इसको वमन द्रव्य पिलाना है ऐसा निश्चय करके उस रोगी को पेट भर भोजन कराना चाहिए।

छर्दनप्रयोगविधिः।

अथ च्छर्दनीयमातुरं द्व्यहं त्र्यहं वा स्नेहस्वेदोपपन्नं श्वश्छर्दयितव्यमिति ग्राम्यानूपौदकमांसरसक्षीरदधिमाषतिलशाकादिभिः समुत्क्लेशितश्लेष्माणं व्युषितं जीर्णाहारं पूर्वाह्णे कृतबलिहोममङ्गलप्रायश्चित्तं निरन्नमतिस्निग्धं यवाग्वा घृतमात्रां पीतवन्तं तासां फलपिप्पलीनामन्तर्नखमुष्टि यावद्वा साधु मन्यते जर्जरीकृत्य यष्टिमधुकषायेण कोविदारकर्वुदारनीपविदुलबिम्बीशणपुष्पीसदापुष्पीप्रत्यक्पुष्पीकषायाणामन्यतमेन वा रात्रिमुषितं विमृद्य पूतं मधुसैंधवयुक्तं सुखोष्णं कृत्वा पूर्णं शरावं मन्त्रेणानेनाभिमन्त्रयेत्—

१. असंबाधमित्यसंकीर्णम्। चक्रपा०।

ॐ ब्रह्मदक्षाश्विरुद्रेन्द्रभूचन्द्रार्कानिलानलाः।
ऋषयः सौषधिग्रामा भूतसङ्घाश्च पान्तु ते॥
रसायनमिवर्षीणां देवानाममृतं यथा।
सुधेवोत्तमनागानां भैषज्यमिदमस्तु ते॥"

इत्येवमभिमन्त्र्योदङ्मुखं प्राङ्मुखं वाऽऽतुरं पाययेत्, श्लेष्मज्वरगुल्मप्रतिश्यायार्तं विशेषेण पुनः पुनरापित्तागमनात्, तेन साधुवमति; च० क० १।१४

द्व्यहं त्र्यहं वा स्नेहस्वेदोपपन्नमित्यनेन, अभ्यङ्गे क्रियमाणे स्नेहसहचरितस्वेदोपपादनं द्व्यहं त्र्यहं वा विधीयते, 'त्र्यहावरं सप्तदिनं परं तु स्निग्धो नरः स्वेदयितव्य इष्टः' (सि० अ० १) इत्यनेन पान प्रयुज्यमानस्नेहस्य सप्तरात्र त्रिरात्रं वा प्रकर्षं उच्यते इति न विरोधः। एताच्चाभ्यङ्गस्वेदसहित स्नेहस्वेदकरणं पानस्नेहान्तदिवसमारभ्य क्रियते। तेन, स्नेहपानविश्रामदिनेन सम द्व्यहत्र्यहपूरणमभ्यङ्गस्नेहसहित स्वेद प्रयोगस्य भवति। स्नेहपानाच्च यद्विश्रामदिनम्, "एकाहोंपरतस्तद्वद्भुक्त्वा प्रच्छर्दनं पिबेत्" (सू० अ० १३) इत्यनेनोक्तं, तथैवेहापि। कफोत्क्लेशकारि भोजनमाह—श्वश्छर्दयितव्यमित्यादिना। श्व इति परस्मिन्नह्नि। व्युषितमिति रात्रिमतिक्रान्तम्। निरन्नमिति पक्षच्छेदः?। अनतिस्निग्धमित्यादिना वमनदिन एव घृतमात्रायुक्तयवागूपानपूर्वकं वमनमनतिस्निग्धपुरुषविषं ब्रूते। अन्ये तु पूर्व दिन एवानतिस्निग्धस्य घृतमात्रां पीतवत एव यवाग्वाः पानमाहुः, "पेशलैर्विविधैरन्नैर्दोषानुत्क्लेश्य देहिनः। स्निग्धस्विन्नाय वमनं दत्तं सम्यक् प्रवर्तते।

अथापरेद्युः पूर्वाह्णे साधारणे काले वमनद्रव्यकषायकल्कचूर्णस्नेहानामन्यतमस्य" (सु० चि० अ० ३३) इत्यादि सुश्रुतोक्तेः। अन्तर्नखमुष्टिमिति अन्तरीकृत नखमुष्टि परिमाणम्। यावद्वा साधु मन्येतेत्यनेन मात्राया बलदोषादिभेदेनास्थिरत्वमित्याह। यष्टीमधुकस्य कोविदारादिषु विच्छेदपाठ उत्तरप्रयोगेषु कोविदारादेर्यष्टीमधुविरहितस्य ग्रहणार्थः। कोविदारः स्वनामख्यातः, स शरदि पुष्पति; कर्वुदारस्तु काञ्चनारः, स वसन्ते पुष्पति; नीपः कदम्बः, विदुलो वेतसः, शणपुष्पी घण्टारवा, सदापुष्पी अर्कपुष्पिका, प्रत्यक्पुष्पी अपामार्गः। रात्रिमुषितं विमृद्य पूतमिति भृतकषायात् कषायान्तरोपदर्शकं पक्षान्तरं; किंवा, कषायपान एव शीतकषायविधानमिहोच्यते। पूर्णं शरावमिति मङ्गलार्थं पूर्णकुम्भवत्। पुनः पुनरिति यावत् पित्तागमनं न भवति, तावत् पुनः पुनः कषायं पिबेदित्यर्थः। अन्यत्राप्युक्तम्—"पित्तान्तमिष्टं वमनं विरेकादर्धम्" (सि० अ० १) इत्यादि। चक्रपाणिः।

अथापरेद्युः पूर्वाह्णे साधारणे काले वमनद्रव्यकषायकल्कचूर्णस्नेहानामन्यतमस्य मात्रां पाययित्वा वामयेद्यथा योगं कोष्ठविशेषमवेक्ष्य; असात्म्य बीभत्स-

दुर्गन्धदुर्दर्शनानि च वमनानि विदध्यात्, अतो विपरीतानि विरेचनानि; तत्र सुकुमार कृशं बालं वृद्धं भीरुं वा वमनसाध्येषु विकारेषु क्षीरदधितक्रयवागूनामन्यतममाकण्ठं पाययेत्, पीतौषधं च पाणिभिरग्नितप्तैः प्रताप्यमानं मुहूर्तमुपेक्षेत्; तस्य च स्वेदप्रादुर्भावेण शिथिलतामापन्नं स्वेभ्यः स्थानेभ्यः प्रचलितं कुक्षिमनुसृतं जानीयात्, ततः प्रवृत्तहृल्लासं ज्ञात्वा जानुमात्रासनोपविष्टमाप्तैर्ललाटे पृष्ठे पार्श्वयोः कण्ठे च पाणिभिः सुपरिगृहीतमङ्गुलीगन्धर्वहस्तोत्पलनालानामन्यतमेन कण्ठमभिस्पृशन्तं वामयेत्तावद्यावत् सम्यग्वान्तलिङ्गानीति ॥ सु० चि० ३३।७

तत्र वमनस्य करणमाह—अथेत्यादि। संभोजयेत् सम्यक् भोजनं कारयेद् वैद्यः। कम्? आतुरं। किं कृत्वा? आलोक्य दृष्ट्वा। किं विशिष्टं? स्निग्धं स्विन्नं च। पुनः किं विशिष्टं? अनवबद्धदोषम्। कैः संभोजयेत्? आहारैः। किं विशिष्टैः? अभिष्यन्दिभिः। कुतः कारणादित्याह—श्वो वमनं पाययिताऽस्मीति, इति हेतोः; यत् आगामिनि अहनि अस्मि अहं पाययिता पाययिष्यामि। किं तत्? वमनम्। क्व? श्वः अपरेद्युः; अन्यस्मिन्नहनीति संबन्धः। आतुरं रोगिणम्। अभिष्यन्दिभिराहारैः ग्राम्यानूपौदकमांसपयोमाषादिभिः। अनवबद्धदोषं मुक्तस्रोतोबन्धनत्वात् प्रचलितदोषम्। भोजनविधिः कफोत्क्लेशनार्थः; संभोजयेत् समशनं कारयेत्, "पथ्यापथ्यमिहैकत्र भुक्तं समशनं स्मृतम्" (च० चि० अ० १५) इत्युक्तत्वात्। किं विशिष्टमातुरं संभोजयेदित्याह—तीक्ष्णाग्निं दीप्ताग्निम्। बलवन्तमिति प्रशस्तबलयुक्तोऽपि संभोजनार्हः; यतः—"जग्धाः षडधिगच्छन्ति बलिनो वशतां रसाः" (सू० अ० ४२ इति वचनात्। बहुदोषः संभोजनार्हः इति। बहुदोषे भोजनोत्क्लिष्टो दोषः सम्यग्योगेन प्रवर्तते; अन्यथा पुनरयोगेनैव, एवं दोषकार्यं महाव्याधिपरिगृहीतेऽपि वाच्यम्। वमनसात्म्यस्य तु अभिष्यन्दिभिराहारैर्दोषोत्क्लेशनम्। डल्हणः।

अथ साधारणेकाले सम्यक् स्निग्ध स्विन्नमनुपहतमानसं सुच्छर्दयितव्यमिति ग्राम्यानूपौदकश्रुतमांसरस क्षीरदधिमाषतिलपललशाकादिभिर्द्रव्यैः समुत्क्लेशित श्लेष्माणं सुखोषितं जीर्णाहारं पूर्वाह्णे स्नातानुलिप्तं स्रग्विणमुपमहतवाससं देवताऽग्नि द्विजगुरुवृद्धवैद्यार्चितवन्तं कृतहोमबलिमंगल प्रायश्चित् स्वस्तिवाचनं जानुसमसंस्तृत महोपधानोपाश्रयासनोपविष्टं निरन्नमीषत्स्निग्धं वा यवागु मण्डेन घृतमात्रां पीतवन्तंभीरुकृशबालवृद्धसुकुमारान्वा दोषानुरूपेणाकण्ठं पीतक्षीरतक्रयूषेक्षुमांसरसमद्यतुषोदकयवागूमण्डान्यतमं नक्षत्रतिथिकरणमुहूर्तोदये प्रशस्ते यथाव्याधिदोष दूष्यादिविहितामौषधमात्रां मधुसैन्धवयुक्तां सुखोष्णां ब्राह्मण प्रयुक्ताभिराशीर्भिरभिमन्त्रिताम्।

ब्रह्मदक्षाश्विरुद्रेन्द्र·····। अ० सं० सू० २७।११-१४

साधारणे यथोक्ते काले प्राङ्मुखमातुरमौषधमात्रां पाययेदिति सम्बन्धः। साधारण इति स्वस्थवृत्तोपलक्षणम्। आतुरवृत्ते तु व्याध्यादिवशाद्यमनमाचरेत्। तत्कालाद्यानुरूपेणैव विधानेन। किंभूतमातुरं पाययेदित्याह। सम्यगित्यादि।

श्वः छर्दयितव्य इत्येतेन वमनात् पूर्वमेकमहः श्लेष्मोत्क्लेशकान्न प्रयोगंदर्शयति। निरन्नं तद्दिवसमकृत भोजनं वमनं पाययेत्। अथवा ईषत् स्तोकमात्रं। स्निग्धं किं भूतमित्याह। यवागू मण्डेन घृत मात्रां पीतवन्तम्। मात्रां शब्दः स्तोकपर्यायः। अथवा भीरु कृशादीनातुरान् दोषानुगुण्येनक्षीरतक्रादीनामन्यतमं पाययित्वा वमनं पाययेत्। आकण्ठग्रहणम्। बहुत्वोपलक्षणार्थम्। कामौषधमात्रामित्याह। यथाव्याधीत्यादि। व्याधिर्दोषस्य दूष्यस्य च या यस्य स्वेषु प्रकरणेषु विहिता ताम्। तथा मधुना सैन्धवेन चयुक्ताम्। ब्राह्मणप्रयुक्ताभिर्वेदविहिताभिराशीभिरमिमन्त्रिताम्। इन्दुः।

ब्रह्मदक्षाश्विरुद्रेन्द्र·····। अ० सं० सू० २७।११-१४
अथ साधारणे काले स्निग्ध स्विन्नं यथाविधि।
श्वो वम्यमुत्क्लिष्ट कफं मत्स्यमाषतिलादिभिः॥
निशां सुप्तं सुजीर्णान्नं पूर्वाह्णे कृतमंगलम्।
निरन्नमीषत्स्निग्धं वा पेयया पीतसर्पिषम्॥
वृद्धबालाबलक्लीबभीरून् रोगानुरोधतः।
आकण्ठं पायितान्मद्यं क्षीरमिक्षुरसं रसम्॥
यथाविकारविहितां मधुसैंधवसंयुताम्।
कोष्ठं विभज्य भैषज्यमात्रां मंत्राभिमंत्रिताम्॥
ब्रह्मदक्षाश्व·····
····· प्राङ्मुखंपाययेत्।
अ० हृ० सू० १८।९

एतत् पूर्वोक्तं वाम्यावम्यत्वमवगम्याऽनंतरं साधारणे स्रावणादौ काले यथाविधि स्नेहस्वेदाध्यायोदितेन क्रमेण स्निग्धस्विन्नमातुरं भैषज्यमात्रां प्राङ्मुखं पाययेदिति वक्ष्यमाणेन संबन्धः। श्वोवम्यं प्रातर्वमनार्हम्। वम्यमित्यर्हेकृत्यतृचश्चेत्यर्हार्थे पोरदुपधादितियत्। उत्क्लिष्टः स्थानाच्चलितः कफो यस्य तमुत्क्लिष्टकफम्। कैः। मत्स्यादिभिः। अंतर्भावितण्यर्थोऽत्रउत्क्लेशितकफमित्यर्थः। तथा रात्रि सुप्तम्। कालाध्वनोरिति द्वितीया। अत एव सकलनिशास्वापोऽत्र लक्ष्यते। सुष्ठु जीर्णमन्नमाहारो यस्य तम्। कदा पाययेत्। पूर्वाह्णे प्रातःकाले। किं भूतम्। कृतं मंगलं स्वस्त्ययनादि यस्य तम्। कृतमंगलमित्युपलक्षणार्थम्। कृतदेवद्विजाग्निगुरुवृद्धार्चनमपीति द्रष्टव्यम्। तथा, निरन्नमकृताहारमातुरवशात् किंचित्स्निग्धम्। कथमित्याह। पेयया पीतसर्पिषम्। वृद्धेत्यादि अथ असौ वाम्यो वृद्धो बालो वा दुर्बलो वा क्लीबः स्वेदासहिष्णुर्वा भवति भीरुर्वा कातरो भवति तदा रोगानुरोधादाकंठमतिमात्रं मद्यक्षीरादिकं पाययेत्तदनंतरं भैषज्यमात्रां पाययेत्। संग्रहेऽप्युक्तम्। भीरुकृशबालवृद्धसुकुमारत्वाद्दोषानुरोधेनाऽऽकंठं पीतयूषेक्षुरसक्षीरमांसरसमद्यतुषोदकयवागूमंडान्यतमिति किंभूतां मात्राम्। यथाविकारविहितां रोगानुसारेण साधितां तथा मधुसैंधवाभ्यां

युताम्। किं कृत्वा। कोष्ठं मृदुमध्यक्रूरलक्षण विभज्य विचार्य। श्लेष्माधिक्येन मृदुत्वं श्लेष्ममध्यत्वेन मध्यत्वं श्लेष्महीनत्वेन क्रूरत्वमिति मानं कोष्ठस्य बोध्यम्। तथा चोक्तम्। श्लेष्मोत्तरं छर्दयते ह्यदुःखमिति। भैषज्यमात्रां किंभूताम् मंत्राभिमंत्रिताम्। तानेव मंत्रानाह। ब्रह्मेत्यादिग्रन्थेन। अरुणदत्तः।

अथेति मङ्गलार्थे। साधारणे काले श्रावणे कार्तिके चैत्रे मासि सम्यक स्निग्धस्विन्नं पुरुषं यथाविध्यनतिक्रमेण श्वोऽन्यस्मिन्नहनि अवश्यं छर्दयितव्यमेकरात्रस्नेहादुपरतं भैषज्यमात्रां प्राङ्मुखमातुरमुदङ्मुखं वा वैद्य इत्येवमभिमन्त्र्य पाययेदित्यक्षरयोजना। कीदृशं श्वोवम्यमुत्क्लिष्टकफम्। उत्क्लिष्टः कफोयस्य। स्वस्थानात्। प्रच्यावितश्लेष्मा। कैः मांसमाषतिलादिभिः। आदिग्रहणात् क्षीरदधितिलपललशालिभिर्भोज्यविशेषैः। निशिष्सुप्तं रात्रौ सुखसुतं सुजीर्णान्नं सुष्ठुपरिणताहारम्। पूर्वाह्णे अह्नः पूर्वे भागे कृतमङ्गलं कृतमनुष्ठितं मङ्गलं शुभसूचकं यस्य। यथा निरन्नमकताहारमीषत् स्निग्धं वा किञ्चित्स्नेहितं पेयया वा पीतसर्पिषं घृतमात्रां पीतवन्तं तथा च बलादीन् रोगानुरोधेन कण्ठं यावत् सौहित्यं कृत्वा मद्यादीन् पायितान्। तथा विकारविहिता यथारोग कल्पितां मधुसैन्धवाभ्यां मिश्रितां संयुतां कोष्ठं विभज्य मृदुमध्यक्रूरभेदेन मृदुकोष्ठे मृद्वीं भैषज्यमात्रां मध्ये मध्यां क्रूरे तीक्ष्णं महतीं मन्त्राभिरक्षितां ब्राह्मणप्रयुक्ताशीर्भिर्मन्त्रितां तथा ब्रह्मदक्षाश्वित्यादिभिर्मन्त्रैः। ब्रह्मा च दक्षाश्चाश्विनौच रुद्रश्चेन्द्रश्च भूश्चन्द्रश्चार्कश्चानिलश्चानलश्च ते ब्रह्माद्यनिलान्ताः पान्तु रक्षन्तु। तथा न केवलमेते यावदृषयो मुनय सौषधग्रामाः सहौषधिभिर्विषयैर्वर्त्तन्ते ये तथाभूतसङ्घाः असुरगन्धर्वकिन्नरप्रभृतयः। इदं च भैषज्यमस्तु भवतु ते तव किं च रसायनमिव ऋषीणां यथर्षीणां च्यवनप्रभृतीनां रसायनम्। तथाऽमराणां देवानां यथामृतम्। उत्तमाश्च नागानामनन्तवासुकिकुलिक प्रभृतयः। नहि सर्वेषां नागानां सुधा सुलभा। सुधा अमृतभेदः प्राङ्मुखमातुरं पाययेत्। चंद्रनन्दनः।

वमन विधिमाह—अथेति। कृतस्नेहनादिकमातुरं प्राङ्मुखं भैषज्यमात्रां पाययेदित्यन्वयः। श्वोवम्यमिति। वमनदिनात्पूर्वदिने उत्क्लिष्टकफम्। सम्यक् स्निग्धश्चेन्निरन्नम्, ईषत्स्नेहश्चेत् पेयया पीतसर्पिषम्। वृद्धादिष्वन्यतमश्चेद्रोगानुसारेण मद्यादिष्वन्यतममाकंठं पायितान्। ब्रह्मेत्यादिस्वाहातेन मन्त्रेणाभिमंत्रितमयं चौषधपानविधिविशेषपरिहारेण सर्वेष्वौषधेषु ज्ञेयः। संग्रहे तु स्नानानुलिप्तं लग्विणमहतवासं देवताग्निद्विजगुरुवृद्धवैद्यानर्चिवंतंकृतहोमबलिमंगल प्रायश्चित्तस्वस्तिवाचनं जानुसमसंस्तृत सोपधानापाश्रयासनोपविष्टंपीततक्र्यूषतुषोदकयवागूमंडान्यतमं नक्षत्रतिथिकरणमुहूर्तोदये प्रशस्ते इति॥ हेमाद्रिः।

वमनविरेचनयोरुपयोगान्वर्शयति अथेति॥ अथ साधारणे काले यथाविधि स्निग्धस्विन्नं श्वो वम्यं मत्स्यादिभिरुत्क्लिष्ट कफं निशां सुप्तं सुजीर्णान्नं पूर्वाह्ण कृतमङ्गलं निरन्नं पेयया पीतसर्पिषं ईषत्स्निग्धं वा कोष्ठं विभज्य

यथाविकारं विहितां मद्यादियुतां भैषज्य मात्रां मन्त्राभिमन्त्रितां प्राङ्मुखं रोगिणं पाययेत्; वैद्य इति शेषः। असौ वमनयोग्य इति ज्ञानादनन्तरं पूर्वोक्ते श्रावणादौ काले स्नेहस्वेदविधुक्तक्रमेणानुष्ठितस्नेहस्वेदं श्वः छर्दयिव्य इति ह्यस्तने दिवसेऽभ्यवहृतैःकफोत्क्लेशकरैर्मत्स्यमाषादिभिः कफं स्वस्थानात् सञ्चलय्य सकलां रात्रिं सुप्तं सुष्ठु जीर्णाहारमिति ज्ञात्वा पूर्वाह्णे श्लेष्मवृद्धिकाले प्रथमयाम एव शोधनस्य व्यापद्बहुलत्वात् कृतमङ्गलं देवगुरुद्विजवृद्धवैद्यादीन् तद्योग्येन वस्त्रादिना संपूज्य तैः स्वस्तिवाचनं कारयित्वेति यावत्। निरन्नमिति क्रियाविशेषणम्। सिक्थरहितं यथा भवति तथा पेयया अल्पमात्रपीतसर्पिष ईषत् स्निग्धं कृत्वा वा तथा क्रूरकोष्ठादिष्वेतदिति विचार्य तत्तदनुरुपतवेनोत्पन्नव्याध्यनुगुणत्वेन च कल्पितामौषधमात्रां मद्यादियुतां पारंपर्यक्रमागतवक्ष्यमाणमन्त्रैरभिजप्तां कृत्वा प्राङ्मुखस्थितमातुरं पाययेत्। उदङ्मुखो वैद्य इति शेषः। वाशब्देन वमनासहिष्णुत्वात् केषाञ्चिदेव पेयया सह सर्पिष्पानं कार्यं न सर्वेषामित्युक्तम्। वृद्धादीन् रोगानुरोधतो रोगानुगुण्येन मद्याद्यन्यतमाकण्ठमतिमात्रं पायितान् पाययित्वा भैषज्यमात्रां पाययेत्॥ परमेश्वर

अपि च

वमनं पाययित्वा च जानुमात्रासने स्थितम्।
कण्ठमेरण्डनालेन स्पृशन्तं वामयेद् भिषक्॥
ललाटं वमतः पुंसः पार्श्वेद्वे च प्रदापयेत्। शा० उ० ३।२१

वमनं वमनक्वाथं पाययित्वा भिषक् वामयेत्। कं जानुमात्रे आसने स्थितं रोगिणम्। किं भूतं एरण्डनालेन कण्ठं स्पृशन्तं, तस्य वमतः ललाटं द्वे पार्श्वे धारयेत्। आढमल्लः।

अपि च

स्निग्धस्विन्नं कफे सम्यक् संयोगे वा कफोल्वणे।
श्वो वम्यमुत्क्लिष्टकफं मत्स्यमांसतिलादिभिः।
यथाविकारविहितां मधुसैंधवसंयुताम्।
कोष्ठं विभज्य भैषज्य-मात्रां मन्त्राभिमन्त्रिताम्।
ब्रह्मदक्षाश्विरुद्रेन्द्र — —
— — — —
पूर्वाह्णे पाययेत् पीतो जानुतुल्यासने स्थितः।
तन्मना जातहल्लास-प्रसेकश्छर्दयेत् ततः॥
अङ्गुलीभ्यामनायस्त-नालेन मृदुनाऽथवा॥ चक्रदत्तः॥

सम्यक् स्निग्ध स्विन्नं पुरुषं भैषज्यमात्रां पूर्वाह्णे पाययेत् इति वक्ष्यमाणेनान्वयः। वमनस्य विषयमाह, कफे इत्यादि। कफे केवल कफे। कफोल्वणे इति कफ प्रधाने। श्वो वम्यमित्यादि। श्व इति-आगामि दिवसे। यदि पुरुषो वम्यो वमनार्हो भवति, तदा तत्पूर्वदिवसे मत्स्यादिभिः कफ उत्क्लेशनीय

इत्यर्थः, उत्क्लिष्टकफाय दीयमानं वमनं न दुःखमावहति; उक्तं हि—"कफोत्तरश्छर्दयतीह्यदुःखम्" (च० कल्पनासिद्धिः) इति। मधुसैंधवसंयुतमित्यनेन सर्वस्मिन्नेव वमनयोगे मधुसैंधवयोर्देयतां बोधयति। कोष्ठं विभज्येति-कोष्ठाद्यपेक्षया मधुसैंधवं च स्तोकं बहु वा देयमित्यर्थः।

मात्रामिति—अनपायिपरिमाणम्। मन्त्राभिमन्त्रितामित्युक्तमं—अतो मन्त्रमाह, ब्रह्मेत्यादि। वमनौषधपानान्तरीयविधिमाह, पीत इत्यादि। तन्मना इति वान्तिमनाः। अंगुलीभ्यामित्यत्र परिकर्तितनखाभ्यां कण्ठमभिस्पृशन्निति शेषः; चरकेऽपि ',सुपरिलिखितनखाभ्यामंगुलीभ्यां कण्ठमभिस्पृशन्" (सू० उपकल्पनीय०) इत्युक्तम्। अनायस्तेति ऋजुः। मृदुना नालेनेति—उत्पलनालेन

शिवदाससेन।

अथैनमनुशिष्यात् विवृतोष्ठतालुकण्ठो नातिमहताव्यायामेन वेगानुदीर्णानुदीरयन् किंचिदवनम्य ग्रीवामूर्ध्वशरीरमुपवेगमप्रवृत्तान्प्रवर्तयन् सुपरिलिखितनखाभ्यामङ्गुलीभ्यामुत्पलकुमुदसौगन्धिकनालैर्वा कण्ठमभिस्पृशन्सुखं प्रवर्तयस्वेति। स तथा विधं कुर्यात्।

च० सू० १५।१२ (क)

उपवेगं=वेगसमीपं एतेन सर्वथाऽप्रवृत्ते वेगे प्रवर्तनं निषेधयति। चक्रपाणिः।

अपि च

——मयस्वलक्षणैर्वमनेनोपपादयेद्विधिवदुपस्निग्धमग्निबलापेक्षी वा यथा शक्तिस्विन्नमुपितमपरेद्युर्विजीर्णभक्तं प्रातरेवदन्तकाष्ठाद्यनु— —— — कट्फलनिचुलशिरीषादीनां लाभतः पल्लवान सर्वशो वाऽऽहृत्याणां द्रोणमात्रेऽधिके वारिण्युत्क्वाथ्य ग्रहघ्नीकृतवेधनवचासैंधवपिप्पलीवत्सकत्रपुसमदनबीजा — — — (उप) विष्टमासने प्राङ्मुखोभिषगालोड्य तं कषायं ग्रहघ्न्यादिकल्कैर्नातिघनोष्णशीतमाकण्ठात् पाययेत्, यथाबलमरिष्टं वा पञ्चषट् कालोत्तरमथविधायोत्पलकुमुद-- — — न वेगमुत्पन्नमवगृह्णीयात्, न वेगान्तरे विश्रमयेत्, उपसंगृहीत पार्श्वः स्यादीषन्युब्जः ॥का० सं० सि० ३।१

हि० व्या०—वमनविधि—जिस व्यक्ति को वमन कर्म कराना हो उनको वमन कराने से पूर्व दो-तीन दिन तक स्नेहन-स्वेदन कराना चाहिए। सम्यक् स्नेहन-स्वेदन के पश्चात् वमन कर्म से एक दिन पूर्व ग्राम्य, आनूप या जलज (मत्स्य) मांसरस या दूध, दही, उड़द, तिल शाक आदि का सेवन करना चाहिए। इन द्रव्यों से कफ का उत्क्लेशन हो जाने पर दूसरे दिन प्रातः काल (यदि रात का आहार पच गया हो तो) बलि, होम, मंगल, प्रायश्चित्त आदि कराकर रिक्तकोष्ठ में यवागू के साथ घृत की पूर्णमात्रा पिलाना चाहिए। इसके पश्चात् विधिपूर्वक तैयार किए गये मदनफलपिप्पली को बँधी हुयी मुट्ठी में जितना आ जाय उतनी मात्रा में अथवा जितनी मात्रा उस व्यक्ति के

लिए आवश्यक हो उतना लेकर चूर्ण तैयार कर, उस चूर्ण में मधुयष्टी, रक्त कचनार, श्वेतकचनार, कदम्ब, जलवेत, कुन्दुरु, सनई, मदार या अपामार्ग इनमें से किसी एक द्रव्य के क्वाथ में भिगोकर रातभर रख, प्रातः काल मसलछानकर, छने हुए क्वाथ में मधु और सैंधव मिलाकर, गर्म कर एक मिट्टी के सकोरे में भरकर, उपर्युक्त मन्त्र से अभिमन्त्रित कर, उत्तराभिमुख या पूर्वाभिमुख बैठे हुए विशेषतः कफज ज्वर, गुल्म और प्रतिश्याय के रोगी को पिलाकर पित्तान्त वमन कराना चाहिए।

वमन के अनुकूल चेष्टा का उपदेश

रोगी के होंठ, तालु और कण्ठ को वमन के वेग की प्रवृत्ति के लिए खोल कर रखना चाहिए जिससे अल्प परिश्रम से उभरे हुए वेगों को प्रेरित करते हुए ग्रीवा तथा शरीर के ऊपरी भाग को कुछ आगे की ओर झुकाकर अप्रवृत्त वेग को भी कुछ और सहायता देकर, प्रवृत्त करता हुआ. नाखून काटी हुई, तर्जनी व मध्यम अंगुलियों को गले तक डालकर अथवा नीलोत्पल, कुमुद, सौगन्धिक में से किसी एक की नाल से कण्ठ प्रदेश बार-बार स्पर्श करें तथा सुखपूर्वक वमन के लिए तैयार होओ ऐसा कहें और वह रोगी चिकित्सक के आदेश के अनुसार वैसा ही करे।

वान्तमलवेगदर्शने वैद्यस्य सावधानताऽऽवश्यकता

ततोऽस्य वेगान् प्रतिग्रहगतानवेक्षेतावहितः। वेगविशेषदर्शनाद्धि कुशलो योगायोगातियोगविशेषानुपलभेत, वेगविशेषदर्शी पुनः कृत्यं यथार्हमवबुध्येत लक्षणेनः तस्माद्वेगानवेक्षेतावहितः।

च० सू० १५।१२

वेगविशेषदर्शनाद्धीत्यादिग्रन्थस्य भाविनो योगायोगादीन्वेगविषयानुपलभ्य तर्कयतीत्यर्थः। किं वा, वैगिकी शुद्धिरभिधातव्या "जघन्यमध्यप्रवरे तु वेगाश्चत्वार इष्टा वमने षडष्टौ" (सि० अ० १) इत्यादिना, तामनेन दर्शयति। चक्रपाणिः।

हि० व्या०—वमन होने पर पीकदान (चिलमची) में स्थित वमन को चिकित्सक ध्यान से देखें। कुशल चिकित्सक वेगों की स्थिति को देखकर ही वमन का सम्यग्योग, अयोग और अतियोग का निर्णय कर लेते हैं। वमन के वेगों को सावधान होकर देखने वाले चिकित्सक इसके आगे क्या करना चाहिए, इस विषय को भली-भांति समझ जाते हैं, अतः उन्हें वमन के वेगों को देखते रहना चाहिए।

वमनवेगसम्प्राप्तिः

पीतवन्तं तु खल्वेनं मुहूर्तमनुकांक्षेत्तस्य यदा जानीयात्स्वेदप्रादुर्भावेण दोषं प्रविलयनमापद्यमानं लोमहर्षेण च स्थानेभ्यः प्रचलितं कुक्षिसमाध्मानेन च

कुक्षिमनुगतं हृल्लासास्यस्रवणाभ्यामपि चोर्ध्वमुखीभूतम् । च० सू० अ० १५।११

अनुकांक्षेदिति —परीक्षयन् धारयेत् । चक्रपाणि; ।

पीतवानूरून्यस्तभुजो वमनानुगतमानसोऽग्नितप्तैः पाणिभिरुपतप्यमानो मुहूर्तमनुपालयेत् । स यदा जानीयात् स्वेदप्रादुर्भावेन दोषं प्रविलयमापद्यमानं रोमहर्षेण स्थानेभ्यः प्रविचलितं कुक्ष्याध्मानेन च कुक्षिमनुसृतं क्रमात् हृदयोपमर्दं-हृल्लासास्यसंस्रवणैश्चोर्ध्वमभिमुखीभूतम् । समुपस्थितानेकप्रतिग्राहः पार्श्व-ललाटोपग्रहेण नाभिप्रपीडनेन पृष्ठप्रतिलोममर्दनेन च प्रवृत्त व्यपत्रपाणीय पुरुषो विवृतौष्ठतालुकण्ठो नातिमहता व्यायामेन वेगानुदीरयन्नप्रवृत्तान् प्रवर्तयन् प्रवृत्तांश्चानुप्रवर्तयन् सुपरिलिखित नखाभ्यांगुलीभ्यामुत्पलकुमुदैरण्डनालैर्वा कण्ठमभिस्पृशन् वमेन्नात्युन्नतो नात्यवनतः पार्श्वापवृत्तो वा । तत्रात्युन्नतस्य पृष्ठहृदयपीडा भवति अत्यवनतस्य शिरः कोष्ठपीडा पार्श्वापवृत्तस्य पार्श्वकोष्ठ-हृदयोर्ध्वजत्रुपीडेति ।

अ० सं० सू० २७।१५

तत आतुरो वमनं पीतवानूरून्यस्तभुजत्वादियुक्तो मुक्तो मुहूर्तं नाडिकाद्वय मनुपालयेत् प्रतीक्षेत् । स चातुरः स्वेदप्रादुर्भावादिना चिह्नेनापनेयदोषावस्थं विशेषं यदा जानीयात् । यथोक्तेन तदाङ्गुलीभ्यामुत्पलनालादिना वा छर्दयेदिति सम्बन्धः । अनेक प्रतिग्राहस्थापनान्नैकट्येन वेगधारणं भवति । पार्श्वाद्युपग्रहे प्रवृत्ता अत्यपत्रपणीयाः पुरुषो यस्य स तथोक्तः । अपत्रपणीयो निर्यन्त्रण इत्यर्थः । विवृतमरुद्धमोष्ठताल्वादि यस्य स तथोक्तः । स्वल्पेन व्यायामेनोदीरयत् स्वयं प्रवृत्तात् वेगान् । सुष्ठु परिलिखिते छिन्ने नख ययोरङ्गुल्योस्ताभ्याम् । उन्नत-मूर्ध्वशिराः । पार्श्वापवृत्तं तिर्यक्शिराः अवनतोऽधः शिराः । इन्दुः ।

हृदयं पृष्ठदेशं च विगृह्य च वमेन्नरः ।
तथास्य चलति स्थानांत्पीतं ह्यस्मिन्नुपक्रमे ॥ भे० सि० १।२२
उभे पार्श्वे ललाटे च वमतश्चाऽस्य धारयेत् ।
प्रपीडयेत्तथा नाभिं पृष्ठं च प्रतिलोमतः ॥

अ० हृ० सू० १८।१२

अपरमस्य नरस्य वमनं कुर्वतो द्वे पार्श्वे ललाटं च धारयेत् । परिचारक इति शेषः । प्रतिलोमतोऽसन्मार्गेण । अरुणदत्तः ।

नात्युन्नतो नात्यवनतः पार्श्ववृतो वा तत्राप्युन्नतस्य पृष्ठहृदयपीडा भवति । अत्यवनतस्य शिरः कोष्ठपीडा, पार्श्ववृतस्य पार्श्वकोष्ठ हृदयोर्ध्वजत्रु-पीडेति । हेमाद्रिः ।

अपि च—

वमने चाऽपि वेगाः स्युरष्टौ पित्तान्तमुत्तमाः ।
षड्वेगा मध्यमा वेगाश्चत्वारस्त्ववरे स्मृताः ॥

शा० उ० ३।१६ योगरत्ना

वमनं तु द्वित्रिवेगं कनीयः, चतुष्पञ्चवेगं मध्यमं, षट्सप्तवेगमुत्तममिति कौत्सः,

का० सं० सि० ३।

वमने तु मध्यमोत्तमावरवेगानां षडष्टौ चत्वारो विहिताः । इयमेव दोषादि-व्यवस्था कल्पिता । अष्टौ वेगा इति अष्टवारं यद्वामयेदित्यभिप्रायः । एवं षट्चत्वारोऽवगन्तव्याः । पित्तान्ते इति कफे । आढमल्लः ।

हि० व्या०—वमनौषध पान के पश्चात् रोगी दोनों हाथों को घुटनों पर रखकर, मन को एकाग्र कर और हाथों को आग में गरम करते हुए कुछ देर प्रतीक्षा करे । जब रोगी को चेहरे पर स्वेद आ जाए तो उसे दोषों के चलायमान होने का लक्षण समझना चाहिए । शरीर में रोमाञ्च होने पर दोष अपने स्थान से प्रवृत्त हो गया है ऐसा समझना चाहिए । कुक्षि में आध्मान होने से कुक्षि में आकर क्रमशः हृदय को पीडित करके हृल्लास (मुख से लालास्राव) होने पर दोष को ऊपर जाते हुए समझना चाहिए । वेग के उपस्थित होने पर परिचारकों द्वारा रोगी के पार्श्व और मस्तक को सहारा देते हुए, नाभि को दबाना चाहिए तथा पीठ को प्रतिलोम गति से मर्दन करना चाहिए । ओष्ठ, तालु, गले को खोलकर वेग के समय (बिना जोर लगाये), वेग को बाहर निकालना चाहिए । यदि वेग की प्रवृत्ति न हो तो जोर नहीं लगाना चाहिए । प्रवृत्त वेगों को और अधिक प्रवृत्त करने के लिए दो अंगुलियों के नखों को भली प्रकार काट कर इन से या कमल, कुमुद, एरण्डनाल से गले को स्पर्श कराकर वमन कराना चाहिए ।

शिर को ऊँचा रखकर या बहुत नीचा करके या एक पार्श्व में रखकर वमन नहीं कराना चाहिए । शिर को ऊँचा रखने से पीठ और हृदय में पीडा होती है । नीचा रखने से शिर एवं कोष्ठ में पीडा होती है । पार्श्व में रखने से पार्श्व, कोष्ठ, हृदय और जत्रु से ऊपर के भाग में पीडा होती है ।

आचार्य शार्ङ्गधर के अनुसार वमनकर्म में आठ वेग (आठबार के होना) उत्तम, छः वेग मध्यम और ४ वेग को हीन समझना चाहिए किन्तु पित्तान्त वमन होना ही सम्यग्योग समझा जाता है । काश्यप ने आचार्य कौत्स के मत को उद्धृत करते हुए लिखा है कि दो तीन वेग हीन, चार पाँच वेग मध्यम और छः सात वेग उत्तम है ।

सम्यक् वमनकालमर्यादा

देयं त्वनिर्हृते पूर्वं पीते पश्चात् पुनः पुनः ।
भेषजं वमनार्थीयं प्राय आपित्त दर्शनात् ॥ च० क० १२।५६
पित्तस्य दर्शनं यावत् छेदो वा श्लेष्मणो भवेत् ।

अ० हृ० सू० १८।१३

श्लेष्मज्वर प्रतिश्यायगुल्मान्तर्विद्रधीषु च ।
प्रच्छर्वयेद्विशेषेण यावत्पित्तस्य दर्शनम् ॥ अ० हृ० क० १।६-१०

पीते वमने सत्यनिर्हृते दोषे पश्चात् पुनः पुनर्वमनार्थीये भेषजं देयम्। आपित्तदर्शनादि—यावत् पित्तं न दृश्यते तावत् पुनः पुनर्वमनं देयम्। वमनं हि पित्तान्ततया सम्यग्युक्तं भवति। उक्तं हि—'पित्तान्तमिष्टं वमनं विरेकाद् (च० सि० १) इति। चक्रपाणिः।

यावत् पित्तस्य दर्शनं तावद्वमेत्। यावत् श्लेष्मणः छेदो भवेत् तावद्वमेद्वा। यावन्मात्रच्छर्दनेन छर्दिते पित्तं पीताभं जलं दृश्यते तदा छर्दनाद्विरमेद्वा।

परमेश्वरः।

हि० व्या०—वमन तब तक कराना चाहिए जब तक पित्त का निःसरण हो रहा हो तथा कफ का छेदन हो जाए। विशेषतया कफ ज्वर, प्रतिश्याय, कफजगुल्म तथा अन्तर्विद्रधि नामक रोगों में पित्तान्त वमन करवाना चाहिए।

वेगानां योगलक्षणानि भेदाश्च

काले प्रवृत्तिरनतिमहती व्यथा, यथा[1]क्रमं दोषहरणं स्वयं चावस्थानमिति योगलक्षणानि भवन्ति। योगेन तु दोषप्रमाणविशेषेण तीक्ष्णमृदुमध्यविभागो ज्ञेयः।

च० सू० १५।१३

हि० व्या०—वमन के सम्यग्योगलक्षण—उचित समय पर वेगों का निर्हरण होना अल्प कष्ट होना, क्रमशः कफ, पित्त एवं वायु का निर्हरण होना, वेग का स्वयं बन्द हो जाना सम्यग्योग का लक्षण है। दोष के प्रभावों की भिन्नता के कारण तीक्ष्ण, मृदु और मध्य ये तीन सम्यग्योग के भेद हैं।

वमने दोषनिर्गमक्रमः

कफं हि पूर्वं वमति ततः **पित्तमनन्तरम्।**
पित्तस्यान्ते भवेद्वातः ततो वमति शोणितम्॥ भे० सि० १।२३

हि० व्या०—वमन कर्म में दोषनिर्हरण क्रम—वमन में सर्वप्रथम कफदोष का निर्हरण होता है, कफ के पश्चात् पित्त उसके बाद वायु तथा रक्त का निर्हरण होता है।

सम्यग्वमितलक्षणानि

वमिते वर्द्धते वह्निः शमं दोषा व्रजन्ति हि। च० सि० ६।२२
क्रमात् कफः पित्तमथानिलश्च
यस्यैति सम्यग्वमितः स इष्टः॥
हृत्पार्श्वमूर्धेन्द्रियमार्गशुद्धौ
तथा लघुत्वेऽपि च लक्ष्यमाणे॥

च० सि० १।१५-१६; चक्रदत्त वमना० १३

क्रमादित्यनेन वचनेन यथोक्तक्रमलङ्घनेन कफाद्यागमनं न सम्यग्योगलक्षणमिति न दर्शयति, यतः कफादूर्ध्वं गतं यदा पित्तं भवति, तदा तु पित्तागमनेऽपि

१. यथा क्रममिति वमने श्लेष्मा, तदनुपित्तं, तदनु वायुः। चक्रपाणिः।

सति न शुद्धिः, किंतु यदैवामाशयाधोभागगतं पित्तं वमनमानयति तदैव शुद्धिः, तत् पित्तानयनं च कफानयनान्तरमेव भवति; एवं सम्यक्कृतविरेचनलक्षणेऽपि क्रमादितिपदस्यार्थोऽत्र व्याख्येयः। चक्रपाणिः।

अपि च

पित्ते कफस्यानु सुखं प्रवृत्ते
शुद्धेषु हृत्कण्ठशिरःसु चापि।
लघौ च देहे कफसंक्षये च
स्थिते सुवान्तं पुरुषं व्यवस्येत्॥ सु० चि० ३३।९; वंगसेन वमना०

अनुशब्दः पश्चादर्थः। शुद्धेषु अगौरवादिलक्षण युक्तेषु। व्यवस्येत् जानीयात्। सम्यग्वान्तलक्षणं कार्यत्वेन, दुर्वान्तातिवान्तलक्षणं परिहार्यत्वेन व्यापत्प्रतीकारार्थमुक्तम्। तत्र कैश्चित्त्रिधा शुद्धिरभिहिता; यथा—लैङ्गिकी, वैगिकी; मानिकी चेति। तत्र लिङ्गैर्वान्तिविनिक्तसम्यक्चिह्नैर्ज्ञायते इति लैङ्गिकी-हीनमध्योत्तमैर्वमनवेगैश्चतुः षडष्टभिर्दशविंशतित्रिंशद्भिर्विरेचनवेगैश्च ज्ञायत इति वैगिकी, मानेन श्लेष्मपित्तयोः प्रस्थार्धाढ़नाढकमानेन हीनमध्यमोत्तमेन ज्ञायत इति मानिकी। तत्र न तावन्मारिकी शुद्धिः, दीर्घह्रस्वस्थूलकृशदेहसंहति-प्रकृतिसारादिभिर्विविधलक्षणशरीराणां प्राणिनां दोषधातुमलानां परिमाणाभावात्; नापि वैगिकी, यतो बहुभिर्वेगैः कदाचित् कस्यचिन्न शुद्धिः, प्रकृति-वयोबलशरीरदोषव्यपेक्षया कस्यचित् कतिपयैरपि वेगैः शुद्धिरिति; अतस्तृतीयां पित्ते कफस्येत्यादिलिङ्गैर्लैङ्गिकीं शुद्धिमत्रोक्तवान् सुश्रुताचार्यः। डल्हणः।

अपि च—

लघुरामाशये शुद्धिर्हृच्छुद्धिश्चाप्यतन्द्रिता।
क्षुत्पिपासे यथाकालं स्रोतः शुद्धिर्यथाग्निता
श्लैष्मिकाणां च सर्वेषां व्याधीनां विनिवर्तनम्
न च वैरस्यमास्यस्य सम्यग्वान्तस्य लक्षणम्।

भे० सि० अ० १।२४।२५

अपि च—

योगलक्षणं पुनः काले क्रमात्कफपित्तानिलप्रवृत्तिर्नाति महती व्यथा स्वयं चावस्थानम्। ततश्च स्वस्थता मनः प्रसादः स्वरविशुद्धिररोचकादिवैपरीत्यं च।

अ० सं० सू० २७।१९

निर्विबन्धं प्रवर्तते कफपित्तानिलाः क्रमात्।
सम्यग्योगे ... ...॥ अ० हृ० सू० १८।१६

सम्यग्योगलक्षणं पुनः क्रमेण कफादिप्रवृत्तिः काले। काले चौषधपानं कृत्वा यथोक्तान्मुहूर्तादननतरम् स्वल्पा चाङ्गव्यथा। वेगानां च स्वयं रोधः स्तम्भननिरपेक्षम्। तत् इत्यौषधं कृतमपेक्ष्य स्वस्थता। अरोचकादीनामयोगरोगाणां वैपरीत्यं रुचिलाघवकोष्ठतनुत्ववक्त्रवैशद्यादिकम्। इन्दुः।

सम्यग्योगे कफपित्ताऽनिलाः क्रमेण निर्विबंधं निःसङ्गं प्रवर्तते । अरुणदत्तः ।

अपि च—

हृत्कण्ठशिरसां शुद्धिर्दीप्ताग्नित्वं च लाघवम् ।
कफपित्तविनाशश्च सम्यग्वांतस्य लक्षणम् ॥ शार्ङ्गधर उ० ३।३०

हृच्छुद्धिः हृदयलघुतारूपा, कण्ठशुद्धिः कण्ठे पाटवं कण्ठस्थश्लेष्मापगमात् । शिरः शुद्धिः शिरो लघुत्वं तत्स्थपीडादिविनाशात् । दीप्ताग्नित्वमिति । ननु वान्तस्य सहसा मन्दोऽग्निर्भवति । उक्तं च—संशोधनास्रविस्रावस्नेहयोजलङ्घनैः । यात्यग्निर्मन्दतां तस्मात् क्रमं पेयादिकं भजेत् इति । तत्कथमत्रदीप्ताग्नित्वम् । इति । उच्यते अत्र शोधनेनाग्निरूपघातो भवति नाग्नेर्हानिः, तस्योपघातस्य पेयादि पथ्यदानेन पुनर्दीप्तत्वात् दीप्तत्वम् । उक्तं च दृढबलेन पेया विलेपीमकृतं कृतं च यूषं रसं त्रीनुभयं तथैकम् । क्रमेण सेवेत नरोऽन्नकाले प्रधानमध्यावरशुद्धिशुद्धः इति । तथाऽणुरग्निस्तृणगोमयाद्यैः संधुक्षमाणो भवति क्रमेण । महान् स्थिरः सर्वसमं तथैव शुद्धस्य पेयादिभिरन्तराग्निरिति । तस्माद्दीप्ताग्नित्वं युक्तं, तथा लाघवं शरीरस्य, अत एव कफपित्तविनाशश्च इति ।

आढ्मल्लः ।

हि० व्या०—वमन के सम्यग्योग का फल—

सम्यग् वमन का फल बताते हुए कहा है कि "सम्यग् वमन हो जाने से जाठराग्नि बढ़ती है और दोष शांत जाते हैं।" चरक सिद्धि प्रथमाध्याय में निर्देश है कि सम्यग वमन में क्रमशः कफ-पित्त और वायु का निर्हरण होता है। हृदय, पार्श्व, मस्तक तथा इन्द्रिय मार्गों की शुद्धि और शरीर में हल्कापन प्रतीत होता हो तो सम्यग्वमन हो गया है ऐसा समझना चाहिए। अन्य आचार्यों के विचार भी समान ही है।

असम्यग्वमितलक्षणानि

दुश्छर्दिते स्फोटककोठकण्डूहृत्खाविशुद्धिर्गुरुगात्रता च ॥ १६ ॥

च० सि० १।१६, च० द०

कफप्रसेकं हृदयाविशुद्धिं ।
कण्डूं च दुश्छर्दितलिङ्गमाहुः ॥ सु० चि० ३३।८ क, वंगसेन वमना०
प्रसेको हृदग्रहः कोठः ।
कण्डूदुश्छर्दिते भवेत् ॥ भावप्रकाश, शार्ङ्गधर सं०

दुश्छर्दित इत्याद्ययोगकृत वमनलक्षणम् । चक्रपाणिः ।

प्रसेको मुखस्य कफस्राव इत्यर्थः । हृद्ग्रहो हृदयाविशुद्धिः हृद्रोग इत्यपरे । कोठः क्षुद्ररोगे पठितः स यथा – वरटीदष्टसंकाशः कण्डुमान् लोहिताम्रकफपित्तान् । क्षणिकोत्पादविनाशः कोठ इति निगद्यते तज्ज्ञैरिति । दुश्छर्दिता च वान्तिविधारणादेव प्रोक्ता तस्मादपि कोठादयः संभवन्ति । तथा हि विसर्पकोठकुष्ठाक्षिकण्डूपाण्ड्वामयज्वराः । सकासश्वासहृल्लासव्यंगश्चश्वयथुर्वमेरिति । आढमल्ल ॥

अपि च—

आमाशयस्य पूर्णत्वं गौरवं हृदयस्य च ।
शीतज्वरागमाध्मानं ष्ठीवनं च मुहुर्मुहुः ॥
शिरोग्रहोऽरुचिर्जाड्यमग्निसारोऽति निद्रता ।
आलस्यं व्याधिवृद्धिश्च विद्याद्दुर्वान्तलक्षणम् ॥ का० सं० सि० २।

अपि च—

तत्राप्रवृत्तिः केवलस्य वा भेषजस्य प्रवृत्तिर्विबन्धो वा वेगानामयोग लक्षणम् । ततश्चारोचक गौरवाध्मान कण्डूस्फोटकोठालस्यशूलप्रतिश्यायलोमहर्षप्रसेकशोफशीतज्वरादयः । अ० सं० सू० २७।१८

तत्रेत्यादिना वमनस्यायोगादिलक्षणमुच्यते । अप्रवृत्तिरौषधं पीते न किञ्चित् प्रत्यागच्छति । अथवा विना दोषेण केवलमेवौषधं प्रत्यागच्छति । वेगानां वा विबन्धः स्वल्पं स्वल्पमागमनमिति वमनयोग लक्षणम् । ततो वमनायोगादरोचक गौरवादयो जायन्ते । इन्दुः ।

तत्र वेगानामप्रवर्तनम् ।
प्रवृत्तिः सविबंधा वा केवलस्यौषधस्य वा ॥
अयोगस्तेन निष्ठीवकंडूकोठज्वरादयः ॥ अ० हृ० सू० १८।१५

तत्र तेषु सम्यग्योगाऽतियोगेषु मध्याद्वेगानामप्रवर्तनमसावयोगः । सविबंधा च या प्रवृत्तिः सोऽप्ययोगः । केवलस्य दोषादि रहितस्यौषधस्य या प्रवृत्तिः सोऽप्ययोगः । तेनाऽयोगेन निष्ठीवनादयः स्युः । अरुणदत्तः ।

निष्ठीवः श्लेष्मप्रसेकः । आदिग्रहणादरोचकगौरवानाहस्फोटालस्यशूलप्रतिश्यायरोमहर्षादयोऽपि भवन्ति । चंद्रनन्दनः ।

निष्ठीवनं सदा जलष्ठीवनम् । परमेश्वरः ।

हि० व्या०—वमन के हीन योग (अयोग) का लक्षण—सम्यक वमन न होने पर शरीर में स्फोट, कोठ एवं खुजली होती है। हृदय और स्रोतों में अशुद्धि के कारण भारीपन (गुरुता) एवं सम्पूर्ण शरीर में गुरुता का आभास होता है। इस विषय में प्रायः चरक, सुश्रुत, वंगसेन, शार्ङ्गधरसंहिता में विचार साम्य है। आचार्य वाग्भट ने अरुचि, आध्मान, आलस्य, शूल प्रतिश्याय, लोमहर्ष, कफप्रसेक, शोफ एवं शीतज्वर आदि हीनयोग होने पर विशेष लक्षण का संकेत किया है।

वमनातियोगलक्षणानि

तृष्मोहमूर्च्छानिलकोपनिद्राबलादिहानिर्वमनेऽति स्यात् ।

च० सि० १।१७ क, चक्रदत्त

योगाधिक्येन तु फेनिलरक्तचन्द्रिकोपगमनमित्यतियोगलक्षणानि भवन्ति ॥
च० सू० १५।१३

अत्रादि शब्देन वर्णस्वरादि ग्रहणम् । निद्राहानिश्चात्रानिलकापकृतैव ।
चक्रपाणिः ।

तत्रातियोगेत्यादौ आध्मानादयः शोधनसिद्धौ "बहुदोषस्य रूक्षस्य" (सि० अ० ६) इत्यादिना ग्रन्थेन प्रपञ्चेन वक्तव्याः, अतस्तत्रैषां योगातियोगजन्यो यश्चायोगजन्यः स स्फुटो ज्ञेयः । चक्रपाणिः ।

अपि च—

पित्तातियोगं च विसंज्ञता च ।
हृत्कण्ठपीडामपि चातिवान्ते ॥
सु० चि० ३३।८ ख, वंगसेन (वमना०) २३।

अतियोगे तु फेनिलरक्तचन्द्रिकोद्गमनं ततश्च क्षामता स्वरक्षयदाहकण्ठशोषभ्रममोहोन्मादमूर्च्छाशिरःशून्यताहृद्धूमायनगात्रशूलसुप्ति तृष्णोर्ध्वानिलप्रकोपकर्णशूलार्दितवाक्संगहनुसंहननजिह्वाप्रवेशनिर्गमाक्षिव्यावृत्तिविसंज्ञतानिद्राबलाग्निहानयो भवन्ति । जीवशोणितप्रवृत्त्या मरणं वा । अ० सं० सू० २७।२०

फेनिलाद्युद्गमनमतियोगलक्षणम् । ततश्चौषधात् पीताद्या क्षमता सातियोगदधिका भवति । जिह्वाया वायुवशात् प्रवेशो निर्गमो वा । हानिशब्दस्य निद्रादिभिः सम्बन्धः । एते वमनातियोगाद् भवन्ति । अथवा वमनातियोगे जीवाख्यस्य रक्तस्यातिप्रवृत्त्या मरणं भवति । इन्दुः ।

अपि च—

.....अतियोगे तु फेनचंद्रकरक्तवत् ।
वमितं क्षामता दाहः कंठशोषस्तमो भ्रमः ।
घोरावाव्वामया मृत्युर्जीवशोणितनिर्गमात् ॥ अ० हृ० सू० १८

अतियोगे पुनः फेनचंद्रकरक्तवद्वमितं भवति । फेनश्च चंद्रकश्च रक्तं च तानि विद्यंते । यस्य वमितस्य तदेवम् । तथा क्षामतादयो भवंति । तमस्तिमिरदर्शनं दारुणाश्च वातरोगास्तथा मृत्युर्भवति । जीवाख्यस्य शोणितस्य निर्गमान्निष्कासात् । अरुणदत्तः ।

घोरा वाव्वामयाः आर्दितकर्णशूलवाक्सङ्गजिह्वाप्रवेशनिर्गमाक्षिव्यावृत्तहनुसंहननविसंज्ञतानिद्रालस्यादयः अथवा जीवशोणितप्रवृत्त्या मरणम् । चंद्रनन्दनः ।

फेनादियुक्तं वमितं, चंद्रिकामयूरपिच्छेष्विव तमः अज्ञानम्, भ्रमश्चक्राधिरूढस्येव । जीवशोणितं ओजः । हेमाद्रिः ।

अपि च—

अतिवान्ते भवेत् तृष्णा हिक्कोद्गारौ विसंज्ञिता ।
जिह्वानिः सर्पणं चाक्ष्णोर्व्यावृत्तिर्हनुसंहतिः ।

रक्तच्छर्दिः ष्ठीवनं च कण्ठपीडा च जायते ।
शार्ङ्गधर, भावप्रकाश वमना०

विसंज्ञिता मूर्च्छाभेदः, जिह्वानिः सर्पणं च भवति । जिह्वायानिः सर्पणमत्र-द्विविधं एकमन्तः प्रविष्टरूपं अपरं बहिर्निगमविषयं अक्ष्णोर्व्यावृत्तिर्नेत्रयोः परिवर्तनं । अथवा व्यावृत्तिरित्याकुञ्चनं । हनुसंहतिरिति चिबुकचलनादिराहित्यं । ष्ठीवनं रक्तस्येति । आढमल्लः ।

हृल्लासोऽथ सिराहर्षो मन्या कण्ठश्च दीर्यते ।
अत्युद्गारस्तमः कासो हिक्काश्वासः स्वरक्षयः ॥
वातज्वरः शुष्कवमिस्तृष्णा शूलो ह्यनिद्रता ।
आस्यहृच्छोषणं चैव क्षताच्च रुधिरागमः ।
इन्द्रियाण्युपरुध्यन्ते मूर्च्छा चास्योपजायते ॥
हनुस्तम्भश्च कम्पश्च ह्यतिवान्ते प्रवर्तते ।
भे० सि० १।२६-२८

हि० व्या०—वमनातियोगलक्षण—

महर्षि आत्रेय पुनर्वसु ने वमनातियोग का लक्षण बताते हुए लिखा है कि वमनातियोग में प्यास की अधिकता, मोह, मूर्च्छा, वातप्रकोप, निद्रानाश और अतिशय बल की हानि होती है । चन्द्रिका युक्त झागदार रक्त निःसरण होता है । आचार्य सुश्रुत ने पित्त की अति प्रवृत्ति, मूर्च्छा, हृदय एवं गले में पीड़ा होना लिखा है ।

आचार्य वाग्भट ने इस संदर्भ में सुन्दर विवेचन प्रस्तुत किया है । झागदार लाल रंग की रक्तचन्द्रिका वमनद्रव्य में दृष्टिगोचर होती है । कृशता, स्वरक्षय, दाह, गले में शुष्कता, भ्रम, मोह, उन्माद, मूर्च्छा, शिर में शून्यता, धूमोद्गार, सर्वाङ्गवेदना, प्यास, वात की ऊर्ध्वगति, वातप्रकोप, कर्णशूल, अर्दित, वाक्संग, हनुस्तम्भ, जिह्वा का बाह्यनिःसरण या जिह्वा का अन्तः प्रवेश, आँख का बाहर आ जाना, चेतना नाश, निद्रानाश, बल नाश, अग्नि नाश होती है । जीवरक्त निकलने से जीवन-संकट भी हो सकता है । अन्य आचार्यों ने भी इन्हीं लक्षणों का समावेश किया है ।

अतियोगायोगोपद्रवाः

तत्रातियोगायोगनिमित्तानिमानुपद्रवान् विद्यात् आध्मानं, परिकर्तिका, परिस्रावो हृदयोपसरणमङ्गग्रहो जीवादानं विभ्रंशः, स्तम्भः क्लमश्चेत्युपद्रवाः ।
च० सू० १५।१३

तस्मिन्नेव वमनातियोगे प्रवृद्धे शोणितं ष्ठीवयति छर्दयति वा, तत्र जिह्वानिःसरणमपसरणमक्ष्णोर्व्यावृत्तिर्हनुसंहननं तृष्णा हिक्काज्वरो वैसंज्ञमित्युपद्रवा भवन्ति;
सु० चि० अ० ३४।

हि० व्या०—**वमनकर्म के अयोग-अतियोगजन्य उपद्रव** - महर्षि पुनर्वसु आत्रेय के अनुसार वामकौषध के अयोग-अतियोग से निम्न उपद्रव होते हैं—आध्मान (पेट-फूलना), परिकर्तिका (गुदा में कैंची से काटने जैसी पीड़ा का अनुभव), परिस्राव (मुख से निरन्तर लालास्राव होना), हृदयोपसरण (अनियमित स्फुरण), अङ्गग्रह (अङ्गों में स्तब्धता), जीवादान (जीवरक्त-निःसरण), विभ्रंश (कोष्ठाङ्गों का वमन वेग के कारण अपने स्थान से विचलित होना), शरीरजाड्य, थकावट इत्यादि उपद्रव होते हैं।

आचार्य सुश्रुत के अनुसार वमन के अतियोग की अवस्था में थूक में या वमन (द्रव्य) में रक्त निःसरण होता है। जिह्वा मुख से बाहर आ जाती है। आँखें पलट जाती हैं, जबड़े बन्द हो जाते हैं तथा प्यास, हिचकी, ज्वर एवं विसंज्ञता आदि उपद्रव होते हैं।

वमनातियोगसामान्यचिकित्सा सूत्रम्

वमनस्यातियोगे तु शीताम्बु परिषेचितः।
पिबेत्कफहरैर्मन्थं सघृतक्षौद्रशर्करम् ॥
च० सि० ६।५२, अ० हृ० क० ३।२६, वंगसेन (वमना)

अपि च -

वमनस्यातियोगे तु मृदु कुर्याद्विरेचनम्। शा०उ० ३।, भावप्र०

अपि च—

विशेषेण तु वमनातियोगे सघृतसिताक्षौद्रं फलरसैर्मन्थं पिबेत्। क्षीरिवृक्ष-शुंगसिद्धां वा समाक्षिकां पेयां क्षीरं वा संग्रहादिद्रव्यसिद्धं च क्षीरं भोजने चावचारयेत् ॥
अ० सं० क० ३।१५

अपि च—

अतिवान्तं घृताभ्यक्तं अवगाह्य हिमे जले।
उपाचरेत् सिताक्षौद्र मिश्रैर्लेहैश्चिकित्सकः
वमनेऽतिप्रवृत्ते तु हृद्यं कार्यं विरेचनम्। चक्रदत्त

हि० व्या० – **वमनातियोग की सामान्य चिकित्सा**—

वमन के अतियोग में शीतल जल से परिषेक (स्नान) कर फलरस (दाड़िम) से मन्थ बनाकर घी, शक्कर एवं शहद मिलाकर सेवन करना चाहिए। अन्य आचार्यों ने भी चरक संहिता के इस विचार का अनुमोदन किया है। आचार्य शार्ङ्गधर एवं भावमिश्र जी ने वमन के अतियोग में मृदु विरेचन कराने का विचार व्यक्त किया है। चक्रदत्त में घृत का अभ्यंग कराकर शीतल जल में अवगाहन कराने का निर्देश किया गया है तथा चीनी एवं शहद मिश्रित अवलेह देने का विचार व्यक्त किया गया है। वमन के अतियोग में हृद्य चिकित्सा एवं विरेचन का निर्देश भी किया गया है।

वमनायोग (हीनवेग) चिकित्सा

हीनवेगं तु पिप्पल्यामलकसर्षपवचाकल्कलवणोष्णोदकैः पुनः पुनः प्रवर्तयेदा-पित्तदर्शनात्। इत्येष सर्वश्छर्दन योगविधिः ॥
च० क० १।१४, अ० सं० सू० २७।

हीनवेगः कणाधात्रीसिद्धार्थःलवणोदकैः ॥
वमेत्पुनः पुनः। अ० हृ० सू० १८।१४

दर्शयेत्तस्य तु भिषक् पालि तानि पृथक् पृथक्।
मक्षिकाकेशचूर्णानि तच्च मण्डे नियोजयेत् ॥
एतेन तु प्रयोगेण क्षिप्रं छर्दयते नरः।
एषा क्रिया समाख्याता दुर्बलानां विशेषतः।
भे० सि० १।२०-२१

अयोगे लङ्घनं कार्यं पुनर्वाऽपि विशोधनम्।
चक्रदत्तः।

वान्त्यर्थमौषधे पीते वान्तिर्भवति नो यदि।
पिबेद्धात्रीकणानिम्बकषायमुष्णवारिणा ॥
वङ्गसेन

हि० व्या०—वमन के हीन योग होने पर पिप्पली, आमलकी, सर्षप और वचाकल्क समशीतोष्ण नमक के पानी से बार-बार पिलाना चाहिए अथवा वमन में जब पित्त निकले तब तक इस योग को पिलाकर वमन कराना चाहिए। आचार्य वाग्भट ने भी इस योग को उद्धृत किया है। आचार्य भेल ने सुकुमार प्रकृति मनुष्य के लिए, मक्षिका, केशचूर्ण आदि मण्ड में मिश्रित कर पिलाने का आदेश किया है। चक्रदत्त में वमन के अयोग की अवस्था में लङ्घन अथवा वमन-विरेचन का निर्देश किया गया है। आचार्य वंगसेन ने पिप्पली, आँवला और निम्बकषाय उष्ण जल के साथ सेवन करने का निर्देश किया है।

वमनस्यातियोगे सोद्गारमूर्च्छोपद्रव चिकित्सा

सोद्गारायां भृशं वम्यां मूर्च्छायां धान्यमुस्तयोः।
समधूकाञ्जनं चूर्णं लेहयेन्मधुसंयुतम् ॥
च० सि० ६।५३, अ० हृ० क० ३।, वंगसेन

सोद्गारायां च च्छर्द्यां घनिकामधूकमधुरसमुस्ताञ्जनानि मधुना लिह्यात्। अ० सं० क० ३।१५

सोद्गारायां बहुलायां वम्यां मूर्च्छायां धान्यमुस्तयोश्चूर्णं सरसाञ्जनय-ष्ट्याह्वमिति प्रत्येकमत्र वा षष्ठीनिर्देशात् इति। जज्जटः।

हि० व्या० - यदि उद्गार (डकार) के साथ वमन हो रहा हो तो मूर्वा, धनियाँ, नागरमोथा, यष्टीमधु तथा अञ्जन (अथवा रसौंत) इनके चूर्ण को शहद से लेना चाहिए।

वमनातियोगे निःसृतजिह्वोपद्रव चिकित्सा

निःसृतां तु तिलद्राक्षाकल्कलिप्तां प्रवेशयेत्।

च० सि० ६।५५, शार्ङ्गधर उ० ३।२६, अष्टा० हृ० क० ३।, वंगसेन, भाव प्र०

जिह्वामतिसर्पितां कटुकलवणचूर्णप्रघृष्टां तिलद्राक्षाप्रलिप्तां वाऽन्तः पीडयेत्;

सु० चि० ३४।१२

निर्गतां तु जिह्वां तिलद्राक्षाकल्कलिप्तां व्योषलवणचूर्णप्रघृष्टां वा प्रवेशयेत्।

अ० सं० क० ३

हि० व्या०—यदि जिह्वा बाहर निकल आई हो तो तिल और मुनक्का के कल्क का जीभ पर लेप करके अन्दर प्रविष्ट कर देना चाहिए। आचार्य सुश्रुत ने मरिच आदि कटु द्रव्य तथा लवण मिलाने का निर्देश किया है।

वमनातियोगे अन्तःप्रविष्टजिह्वोपद्रव चिकित्सासूत्रम्।

वमतोऽन्तः प्रविष्टायां जिह्वायां कवलग्रहाः।
स्निग्धाम्ललवणैर्हृद्यैर्यूषक्षीररसैर्हिताः॥
फलान्यम्लानि खादेयुस्तस्य चान्येऽग्रतो नराः।

च० सि० ६।५४-५५, अ० हृ० क० ३। वंगसेन। शार्ङ्गधर, भाव प्र०

अन्तः प्रविष्टायामम्लमन्येतस्य पुरस्तात् खादयेयुः;

सु० चि० ३४।१२

जिह्वाप्रवेशे स्निग्धाम्ललवणान्कवलग्रहगंडूषान् हृद्यांश्चाजमांसरसान्। पुरतश्चास्य फलान्यम्लानि खादयेत्।

अ० सं० क० ३।१७

हि० व्या०—अति वमन के कारण यदि जीभ अन्दर की ओर चली जाए तो स्नेहयुक्त अम्ल, लवण, हृद्ययूष, क्षीर या मांसरस का कवल धारण करना चाहिए। रोगी के आगे अन्य व्यक्ति को खट्टे फल खाना चाहिए।

वमनातियोगे वाग्ग्रहोपद्रव चिकित्सा

वाग्ग्रहानिलरोगेषु घृतमांसोपसाधिताम्।
यवागूं तनुकां दद्यात् स्नेहस्वेदौ च बुद्धिमान्।

च० सि० ६।५६, अ० क० ३।३१, वंगसेन

हनुसंहनने वातश्लेष्महरं नस्यं स्वेदांश्च विदध्यात्।

सु० चि० अ० ३४।१२

बाक्संगे हनुसंहननेऽनिलात्तौ च घृतमांसरससिद्धामल्पतंडुलां पेयां पिवेत्। स्नेहस्वेदौ चावचारयेत्। अ० सं० क० ३।

हनुमोक्षे स्मृतः स्वेदो नस्यञ्च श्लेष्मवातहृत्।

शार्ङ्ग०, भाव प्र०

हि० व्या०—वाक्ग्रह (वाक्बन्द) एवं अन्य वात रोग (हनुस्तम्भ) आदि में घी और मांस से साधित पतली यवागू का सेवन कराना चाहिए तथा स्नेहन का प्रयोग करना चाहिए। सुश्रुत के अनुसार वात-कफ नाशक नस्य का प्रयोग करना चाहिए। आचार्य वाग्भट ने भी इनका अनुसरण किया है।

वमनातियोगोपद्रव व्यावृत्ताक्षि चिकित्सासूत्रम्

व्यावृत्ते चाक्षिणी घृताभ्यक्ते पीडयेत्।

सु० चि० ३४।१२

व्यावृत्तेऽक्षिणी घृताभ्यक्ते पीडयेच्च शनैः शनैः।

शार्ङ्ग० ३।२७, भाव प्र०

अक्षिणीव्यावृत्ते घृताभ्यक्ते पीडयेत्।

अ० सं० क० ३।-

हि० व्या०—आँख के पलट जाने पर, आँखों पर घी का अभ्यङ्ग करके अन्दर दवाना चाहिए।

वमनातियोगे उपद्रवरूप तृष्णा विसंज्ञकता चिकित्सा

तृष्णादिषु च यथास्वं प्रतिकुर्वीत, विसंज्ञे वेणुवीणागीतस्वनं श्रावयेत्।

सु० चि० ३४।१२

विसंज्ञं सामवेणुगीतशब्दान् श्रावयेत्।

अ० सं० क० ३।

धात्रीरसाञ्जनोशीरलाजाचन्दनवारिभिः
मन्थं कृत्वा पाययेच्च मधूतक्षौद्रशर्करम्।
शाम्यन्त्यनेन तृष्णाद्याः पीडाश्छर्दिसमुद्भवाः।

शा० उ० ३। भाव प्र०

हि० व्या० वमन के अतियोग में तृष्णा होने पर तृष्णानिवारक चिकित्सा करनी चाहिए तथा संज्ञानाश की अवस्था में बाँसुरी एवं वीणा की मधुरध्वनि सुनाना चाहिए। आचार्य शार्ङ्गधर एवं भावमिश्र जी ने तृष्णा शमन हेतु धात्री, रसाञ्जन, उशीर, धान का खील, चन्दन इनको जल में पीस कर मन्थ बनाकर घृत, शहद और शर्करा मिलाकर पिलाने का निर्देश किया है।

वमनातियोगे रक्तष्ठीवनोपद्रव चिकित्सा।

रक्तपित्तातिसारघ्नैः.....

च० सि० ६।४८

अतिस्रुतशोणितविधानेनोपचरेत्।

सु० चि० ३४।१२

रक्तपित्तविधानेन रक्तच्छर्दिमुपाचरेत् ।

शार्ङ्गधर उ० ३।, भाव प्र०

हि० व्या०—वमन के अतियोग में रक्तष्ठीवन होने पर रक्तपित्त नाशक चिकित्सा करनी चाहिए। आचार्य सुश्रुत ने भी अतिरक्तस्राव की विधि से चिकित्सा करने का निर्देश किया है।

निषिद्ध वमनानां वमितेसति उत्पन्नानामुपद्रवाणां निर्देशः ।

तत्र क्षतस्य भूयः क्षणनाद्रक्तातिप्रवृत्तिः स्यात् क्षीणातिस्थूलकृशबालवृद्ध-दुर्बलानामौषधबलासहत्वात् प्राणोपरोधः श्रान्तपिपासितक्षुधितानां च तद्वत्, कर्मभाराध्वहतौपवासमैथुनाध्ययनव्ययामचिन्ताप्रसक्तक्षामाणां रौक्ष्याद्वातरक्तच्छेदक्षतभयंस्यात्, गर्भिण्या गर्भव्यापदामगर्भभ्रंशाश्च दारुण रोगप्राप्तिः, सुकुमारस्य हृदयापकर्षणादूर्ध्वमधोवारुधिरातिप्रवृतिः, संवृतकोष्ठदुछर्दनयोरति मात्र प्रवाहणाद्दोषाः समुत्क्लिष्टा अन्तः कोष्ठे जनयन्त्यन्तविर्सपं स्तम्भं जाड्यं वैचित्यं मरणं वा, ऊर्ध्वगरक्तपित्तिन उदानमुत्क्षिप्य प्राणान् हरेद्रक्तं चातिप्रवर्तयेत्, प्रसक्तच्छर्देस्तद्वत्, ऊर्ध्ववातस्थापितानुवासितानामूर्ध्वं वाताति प्रवृत्तिः हृद्रोगिणो हृदयोपरोधः, उदावर्तिनो घोरतर उदावर्तः स्याच्छीघ्रतरहन्ता, मूत्राघातादिभिरार्तानां तीव्रतरशूल प्रादुर्भावः, तिमिरार्तानां तिमिरातिवृद्धिः, शिर.शूलादिषु शूलातिवृद्धिः, तस्मादेते न वम्याः। सर्वेष्वपि तु खल्वेतेषु विषगरविरुद्धाजीर्णाव्यवहारामकृतेष्वप्रतिषिद्धं शीघ्रतरकारित्वादेषामिति ।

चरक संहिता पञ्चकर्मीया-सिद्धिरध्यायः २।९

हि० व्या०—उरः क्षत के रोगी का फुप्फुस क्षत युक्त होता है अतः उनको वमन कराने से क्षत बढ़ जाता है और रक्त अधिकमात्रा में प्रवृत्त होने लगता है। अतएव उसको वमन नहीं कराना चाहिए। क्षीण, अतिस्थूल, कृश, बालक, वृद्ध, दुर्बल ये व्यक्ति स्वभावतः दुर्बल होते हैं। औषधि के बल को सहन करने में असमर्थ होते हैं अतः वमन की औषधियाँ इनके जीवन को नष्ट कर सकती हैं। थके हुए, प्यास से पीड़ित, भूख से पीड़ित रोगियों में भी जीवनीय शक्ति अल्प हो जाती हैं इन्हें भी वमनद्रव्य पिलाया जाय तो इनकी शक्ति का ह्रास होता है। अत्यधिक श्रम करने से, भार वहन करने, से मार्ग चलने से जो थके हुए हैं तथा उपवास, मैथुन, अध्ययन, व्यायाम और चिन्तन में निरन्तर लगे हुए व्यक्ति तथा क्षाम व्यक्तियों में वमन द्रव्य को पिलाने से उनके शरीर की रुक्षता के कारण वात प्रकोप हो जाता है। अत्यधिक रक्त स्राव होता है तथा उरः क्षत की संभावना रहती है।

गर्भिणी स्त्रियों में वमन द्रव्यों का पान करने से गर्भ की व्यापत्ति, आमगर्भस्राव जन्य भयंकर रोगों की उत्पत्ति हो सकती है। सुकुमार व्यक्तियों में वामक द्रव्य से हृदय में आघात लग जाता है और ऊर्ध्वाधः मार्गो से (मुख, नासिका, गुदा) रक्त स्राव होता है। संकुचित कोष्ठ तथा जिन व्यक्तियों को कठिनाई से वमन होता हैं उन्हें यदि वमन द्रव्य पिलाया जाय तो वमन निकालने के लिए उन्हें प्रवाहण करना पड़ता है इससे दोष उत्क्लिष्ट होकर कोष्ठ के अन्दर विसर्प, जकड़ाहट, जड़ता और मन में उद्वेग तथा मृत्यु भी कर देते हैं। ऊर्ध्वगरक्तपित्त से पीड़ित रोगियों में जब वमन द्रव्य पिलाया जाता है तो वमन द्रव्य उदान वायु को ऊपर की ओर ले जाकर प्राण को नष्ट कर देती है तथा रक्त को अधिक मात्रा में निकालने लगती है। इसी प्रकार निरन्तर वमन से पीड़ित रोगियों को वमनद्रव्य पिलाने से उदान वायु ऊपर की ओर प्रवृत्त हो जाती है जिससे प्राण संकट का भय होता है एवं ऊर्ध्वमार्ग से रक्तप्रवृत्त होता है। ऊर्ध्ववात से पीड़ित रोगियों में वमन द्रव्य पिलाने से वायु की गति ऊर्ध्व हो जाती है। हृदय रोग से पीड़ित रोगियों को वमन द्रव्य पिलाने से हृदय की गति में रुकावट होती है।

उदावर्त के रोगियों में वामक द्रव्य पिलाने से भयंकर उदावर्त रोग हो जाता है जिससे मृत्यु भी हो सकती है। मूत्राघात से पीड़ित रोगियों को वामकद्रव्य पिलाने से तीव्र शूल की उत्पत्ति होती है। तिमिर रोग में वामक द्रव्य पिलाने से रोग और उग्र रूप धारण कर लेता है। शिरः शूल में शूल की वृद्धि होती है। अतः उपरोक्त रोग से पीड़ित रोगियों में वमन कर्म निषेध किया गया है।

वमनातियोग दुःसाध्यता लक्षणानि ।

यदा तु पित्तं रक्तं वा पुरीषं मिश्रमेव वा ।
वमत्यविरसं शूली न स सिद्ध्यति कुर्वतः ॥ का० सं० सि० २।

हि० व्या०—वमन के साथ पित्त रक्त, अथवा मलमिश्रित वेग की प्रवृत्ति हो, वमन पतला हो तथा उदरशूल हो, इस प्रकार के रोगी की चिकित्सा करने पर भी सफलता नहीं मिलती अर्थात् यह असाध्यावस्था है।

वमनोत्तर कर्म

योगेन तु खल्वेनं छर्दितवन्तमभिसमीक्ष्य सुप्रक्षालितपाणिपादास्यं मुहूर्तमाश्वास्य स्नैहिक वैरेचनिकोपशमनीयानां धूमानामन्यतमं सामर्थ्यतः पाययित्वा पुनरेवोदकमुपस्पर्शयेत् ।

च० सू० १५।१४

सम्यग्वान्तंचैनमभिसमीक्ष्य स्नेहनविरेचन शमनानां धूमानामन्यतमं सामर्थ्यतः पाययित्वाऽऽचारिकमादिशेत् ॥ सु० चि० ३३।१०, वंगसेन

वमनानन्तरं स्रोतोविलग्नकफहरणार्थं धूमपानमत्रोक्तम् । वातप्रकृतौ स्नैहिकं, कफपित्तप्रकृतावुत्क्लिष्टदोषे च वैरेचनिकं, समदोषप्रकृतावुपशमनीयं प्रायोगिकं स्वस्थवृत्तिकमित्यर्थः। आचारिकमादिशेदिति चरतेर्गति भक्षणार्थकत्वादाहारो विहारश्चाचारः। डल्हणः।

अपि च

योगेन तु खल्वेनं छर्दितवन्तं सुविशोधित पाणिपादमुखं मुहूर्तमाश्वास्य धूमत्रयस्यान्यतमं सामर्थ्यतः पाययित्वा पुनरुपस्पृष्टोदकं सम्मानितसुरभिताम्बूलं निवातागार शय्यास्थितं स्नेहोक्तेनाहारविधिनाऽनुशिष्यात् । अ० सं० सू० २७।

सम्यग्योगेन वमितं क्षणमाश्वास्य पाययेत् ।
धूमत्रयस्यान्यतमं स्नेहाचारमथाऽऽदिशेत् ॥ अ० हृ० सू० १८

सम्यग् योगेन छर्दितवन्तं स्नेहोक्तेनाचारविधिनानुशिष्यादिति सम्बन्धः। धूमत्रयस्यान्यतमं मृदु मध्यं विरेचनं वा आतुरापेक्षया। स्नेहोक्त आचार उष्णोदकोपचारीस्यादित्यादि। इन्दुः।

वमनोत्तर कर्म—

हि० व्या०—सम्यक् रूप से वमन हो गया है ऐसा देखकर रोगी के हाथ पैर और मुख प्रक्षालितकर, कुछ क्षण आश्वस्त कर स्नैहिक वैरेचनिक, उपशमनीय धूमों में से एक धूम आवश्यकतानुसार पिलाना चाहिए। पुनः जल से हाथ पैर और मुख को सुप्रक्षालित करना चाहिए। आचार्य वाग्भट ने पान खिलाकर निवातगृह में सुखपूर्वक विश्राम करने का निर्देश किया है। और स्नेहन प्रकरण में विहित आचार का अनुपालन करने का निर्देश भी किया है।

वमनोत्तर विशेषदिनरात्रिचर्या विधानम्

उपस्पृष्टोदकं चैनं निवातमागारमनुप्रवेश्य संवेश्य चानुशिष्यात्-उच्चैर्भाष्य-मत्यासनमतिस्थानमतिचङ्क्रमणं क्रोधशोकहिमातपावश्यायातिप्रवातान् यानयानं ग्राम्यधर्ममास्वपनं निशि, दिवास्वप्नम् विरुद्धाजीर्णासात्म्याकाल प्रमितातिहीनगुरुविषमभोजनवेगसन्धारणोदीरणमिति भावानेतान्मनसाऽप्य सेवमानः सर्वमहो गमयस्वेति। स तथा कुर्यात्। च० सू० १५।१५

अतिस्थानमिति अत्यर्थं दण्डायमानत्वेनावास्थितिः। प्रमितभोजनमेकरसोभ्यासः। अतिहीनकं नष्टशक्तिकं धान्यादि। गुरुशब्देन स्वाभाव गुरुलड्डुकचिपिटकादेर्यथोक्तमात्रयापि भोजन निषेधः। चक्रपाणिः।

वमनोत्तर विशेष दिनचर्या-रात्रिचर्या

हि० व्या०—हाथ-पैर प्रक्षालित कर उस रोगी को निवातगृह में रखकर शिक्षा देनी चाहिए कि ऊँचा बोलना, अधिक काल तक बैठना, अधिक काल तक खड़ा रहना, अधिक चलना, क्रोध, शोक, अधिक शीत, अधिक धूप, ओस, प्रवात, सवारी से चलना, स्त्री प्रसंग, रात में न सोना, दिन में सोना, संयोग विरुद्ध, संस्कार विरुद्ध, वीर्यविरुद्ध आदि भोजन, अजीर्ण में भोजन, अपथ्य भोजन, अकाल में भोजन, प्रमित भोजन, अधिक भोजन, हीन भोजन, गुरुद्रव्य भोजन, विषम भोजन, वेगविधारण, अप्रवृत्त वेगों को बलात् प्रवृत्त करना, ईन बातों को मन से भी सेवन न करते हुए समय व्यतीत करना चाहिए।

वमनोत्तरमासप्तरात्रं पेयादिक्रमः

अथैनं सायाह्णे परे वाह्नि सुखोदकपरिषिक्तं पुराणानां लोहितशालितण्डुलानां स्ववल्किन्नां मण्डपूर्वां सुखोष्णां यवागूं पाययेदग्निबलमभिसमीक्ष्य एवं द्वितीये तृतीये चान्नकाले। चतुर्थे त्वन्नकाले तथा विधानामेव शालितण्डुलानामुत्स्विन्नां विलेपीमुष्णोदकद्वितीयामस्नेहलवणामल्पस्नेहलवणां वा भोजयेत्। एवं पञ्चमे षष्ठे चान्न काले। सप्तमे त्वन्नकाले तथा विधानामेव शालीनां द्विप्रसृतं सुस्विन्नमोदनमुष्णोदकानुपानं तनुना तनुस्नेहलवणोपपन्नेन मुद्गयूषेण भोजयेत्। एवमष्टमे नवमे चान्नकाले। दशमे त्वन्नकाले लावकपिञ्जलादीनामन्यतमस्य मांसरसेनौदकलावणिकेन नाति सारवता भोजयेत्, उष्णोदकानुपानम्; एवमेकादशे द्वादशे चान्नकाले। अत ऊर्ध्वमन्नगुणान् क्रमेणोपभुञ्जानः सप्तरात्रेण प्रकृतिभोजनमागच्छेत्॥ च० सू० १५।१६

सायाह्ण इत्यादौ सम्यगग्निशुद्धिलक्षणभूते सायाह्णे किंचित्वविशुद्धावपरेऽह्नि। यदुक्तं सिद्धौ "वमितं लंघयेत्सम्यग्जीर्णलिङ्गान्न वेक्षयन्। तानि दृष्ट्वा तु पेयादिक्रमं कुर्यान्न लंघनम्" (सि० अ० ६) इति। मण्डपूर्वां = मण्डप्रधानां, अयं च द्वादशकाल निर्वर्तनीयः क्रमः प्रधानशुद्धिशुद्धे ज्ञेयः। मध्येत्वष्टानुकालिकः, उक्तं हि—"पेयां विलेपीम्" (सि० अ० १) इत्यादि। अनुगुणान् मधुरादीन् गुरुकठिनादींश्च। एतच्च संसर्जनक्रमादूर्ध्वं सप्तरात्रेण प्रकृतिभोजन गमनं तदा कर्तव्यम्, यदि वमनानन्तरं विरेचनं न कर्तव्यं भवति। तत्करणे तु संसर्जनक्रमादूर्ध्वमेव स्नेहपानं यदुक्तं—'संसृष्टभक्तं नवमेऽह्नि सर्पिस्तं पाययेताप्यनुवासयेद्वा' (सि० अ० १) इति। तथा सुश्रुतेऽप्युक्तं 'पक्षाद्विरेको वान्तस्य' (सु० चि० अ० ३६) इति। यदि संसर्जनक्रमं तथानुगुणाभ्यासं च कृत्वा स्नेहः क्रियते, तदा पक्षाद्विरेको वान्तस्य न स्यात्। चक्रपाणिः।

अपि च—

ततोऽपराह्णे शुचिशद्धदेह—
मुष्णाभिरद्भिः परिषिक्तगात्रम्।
कुलत्थमुद्गाढ़किजाङ्गलानां
यूषं रसैर्वाऽप्युपभोजयेत्तु॥ सु० चि० ३३।११ वंगसेन

वान्तस्य हि मन्दाग्नेः पेयादिक्रमयोग्यस्य कथं यूषमांसरसोपदेशः? अत्रोच्यते - अपिशब्दात् पेयादिक्रमोऽत्राप्युक्त एव। तत्रात्यन्तक्षीणकफानां पेयादिः; तेषामपि वातभूयिष्ठानां दीप्ताग्नीनां सात्म्यापेक्षया मांसरसोपयोगः; दोषर्तुप्रकृत्यपेक्षया किञ्चित्कफयुक्तानां यूषोपदेशः; न तु विलेपी यवागूनाम्; उक्तं च,—"पांशुधाने यथा वृष्टिः क्लेदयत्यति कर्दमम्। तथा श्लेष्मणि संदुष्टे यवागूः श्लेष्मवर्धिनी"—इति। डल्हणः।

ततोऽग्निबलमवेक्ष्यक्षुधं च सायाह्ने सुखोदकपरिषिक्तः पुराणानां रक्तशालितण्डुलानां सुसिद्धमन्नमस्नेहलवणकटुकमल्पस्नेहलवणकटुकं वा द्रवप्राय-

मुष्णोदकानुप्रायं[1] सायं प्रातरुपयुञ्जानोविधिमिममवेक्षेत । अ० सं० सू० २७।

ततो यद्यस्यातुरस्याग्निर्बलवांस्ततः सायाह्ने तस्मिन्नेवाहनि तं भोजयेत् अथस्वरूप बलस्ततो द्वितीयेऽह्नि भोजयेत् । अन्नं रक्तशालितण्डुलानां सम्बन्धि । इमं विधिमवेक्षेत । इन्दुः ।

ततः सायं प्रभाते वा क्षुद्वान् स्नातः सुखाम्बुना ।
भुजानो रक्तशाल्यन्नं भजेत्पेयादिकं क्रमम् ॥
पुराणरक्तशालीनामस्नेहलवणोषणम् ।
भुञ्जानोऽन्नमुपेक्षेत पेयादिकमिमं क्रमात् ॥

अ० हृ० सू० १६।१६

ततोऽनन्तरं कृतवमनः सन् सायं दिवसपरिणामेऽथवा द्वितीयेऽहनि प्रभाते प्रत्युषपि वमनेन स्वस्थान—प्रच्युतदोषस्य स्वस्थानं स्थापनार्थं क्षुद्वान् उत्पन्न-बुभुक्षः स्नातः सुखोदकपरिषिक्तो रक्तशाल्यन्नं भुञ्जानः येयादिकं क्रममेवं वक्ष्यमाणं भजेत् सेवेत । न केवलं पेयादिवृत्तिरेव सौख्याय यावत्पुराणानां रक्तशालितन्दुलानां सुस्निग्धमन्नमस्नेहलवणकटुकं वा द्रवप्रायमुष्णोदकानुपानं सायं प्रातरुपयुज्याग्निबलमपेक्ष्य क्षुधं च विधिमुममनुसरेत् । चंद्रनन्दनः ।

ततः सायं प्रभाते वा क्षुद्वान् सुखांबुना स्नातो रक्तशाल्यन्नं भुञ्जानः पेयादिकं क्रमं भजेत् । ततो वमनजनितपीडानिर्हरणानन्तरं तस्मिन्नेवाहनि सायं प्रशस्तबुभुक्षीयद्युष्णोदकेन स्नातो रक्तशाल्यन्नं भुञ्जानो भोक्तुमारब्धः । पूर्वं रक्तशालितण्डुलकृतमेव पेयादिकं क्रमं वक्ष्यमाणं भजेत् । अग्निबलापेक्षया प्रभाते द्वितीयेऽह्नि वा प्रशस्तबुभुक्षः एवं कुर्यात् । तत्र नित्य भोजनसमये यथोचिता-दन्नादेकभागं द्विभागं त्रिभागं वा पेयादिकमासेव्य यथोचितभोजनस्य शेषं रक्तशाल्यन्नेन पूरयेदित्यर्थः । परमेश्वरः ।

हि० व्या०—वमनोत्तर पथ्यपालनक्रम—वमन के पश्चात् उसी दिन सायं काल वा अगले दिन सुखोष्ण जल से परिषेचन वा स्नान करने के बाद उस संशोध्य पुरुष को पुराने लाल शालि (साठी चावल) चावलों की सुखोष्ण मण्डप्रधान यवागू (जिसमें चावल अच्छी तरह गल गए हों) अग्निबल के अनुसार पिलाना चाहिए । चौथे भोजन काल में उसी प्रकार साठी चावलों से सिद्ध की गई विलेपी स्नेह एवं नमकरहित या स्वल्पस्नेहलवणमिश्रित देना चाहिए तथा अनुपान में उष्ण जल पिलाना चाहिए । पाँचवें और छठे भोजन काल में भी विलेपी ही देना चाहिए । सातवें भोजन काल में साठी चावलों को उबालकर दो प्रसृत भात को घृत एवं नमक युक्त मूंग के पतले यूष से खिलाना चाहिए और अनुपान में उष्ण जल का प्रयोग करना चाहिए । आठवें और नवें भोजन काल में भी इसी विधान का अनुसरण करना चाहिए ।

१. 'प्रायं' के स्थान पर कुछ विद्वान् 'पानं' पाठ का निर्देश करते हैं ।

दशवें भोजन काल में लाव, कपिञ्जल आदि में से किसी एक के मांसरस जल तथा नमक से संस्कारित सारतुक्त तथा स्नेहयुक्त भात खिलाना चाहिए । सेवन के पश्चात् उष्ण जल का उपयोग करना चाहिए । इसी विधान के अनुसार ग्यारहवें और बारहवें भोजन काल में भी खिलाना चाहिए । तदनन्तर क्रमशः रोगी को सात दिन के पश्चात् स्वाभाविक आहार लेना चाहिए ।

पीतस्नेहस्य वान्तस्य वा लघुभोजन काल मर्यादा अपथ्य संकेतश्च

केवलं स्नेहपीतो वा वान्तो यश्चापि केवलम् ।
ससप्तरात्रं मनुजो भुञ्जीत लघु भोजनम् ॥ सु० चि० ३६।२१
अजीर्णे शीतपानीयं व्यायामं मैथुनं तथा ।
स्नेहाभ्यङ्गं प्ररोषं च दिनैकं वर्जयेत्सुधीः ॥

भावप्र० योगरत्ना० वंगसेन

वमनादि विधानेषु यावत्कालस्तु गच्छति ।
तावद्धि परिहर्तव्यं शीततोयाति मैथुनम् ॥ वङ्गसेन

हि० व्या०—स्नेहपान और वमन कर्म के पश्चात् रोगी को सात दिन तक लघु भोजन कराना चाहिए ।

वमन कर्म के पश्चात् अतिभोजन, शीतल जल का व्यवहार, व्यायाम, स्त्री-सहवास, स्नेह का अभ्यंग तथा क्रोध आदि का निषेध करना चाहिए । वमन आदि पञ्चकर्म प्रक्रिया के समय या इन कर्मों के करने में जितना समय लगता है, तब तक शीतल जल का उपयोग और स्त्री-सहवास नहीं करना चाहिए ।

षष्ठोऽध्यायः

विरेचन प्रकरणम्

विरेचन कर्म परिचय

पचकर्म चिकित्सा में संशोधन का विशेष महत्व है। शरीर के विकृत दोष एवं मलों को यथासन्न मार्गों से निकालना ही संशोधन कहलाता है।

दोषों को अधोमार्ग से बाहर निकलने के रूप में विरेचन कर्म अभीष्ट है। यद्यपि विरेचन शब्द अनेक स्थानों एवं कर्मों के साथ प्रयुक्त हुआ है। जैसे—पित्त विरेचन, कफ विरेचन, मूत्र विरेचन, शुक्र विरेचन, शिरोविरेचन आदि तथापि यह प्रयोग केवल मात्र शरीर में एकत्र विकृत दोष एवं मलों को उद्रेचित करने के अर्थ में रूढ़ी भाव को व्यक्त करता है। वास्तव में मल मार्ग द्वारा विशोधन कर्म के प्रकार का नाम विरेचन के रूप में ग्रहण करना शास्त्रकारों का मन्तव्य है : निरूह आदि बस्तियों में भी तो विरेचन होता है तथा मल विसर्जन प्रक्रिया के एक प्रकार को रेचन या विरेचन भी कहते हैं किन्तु यहां मलाशय शोधन एवं मल निर्हरण किए जाने से वस्ति कर्म का विरेचन शब्द से सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता।

यह पित्त दोष के संशोधन हेतु विशेष कर्म माना जाता है। यथा विरेचनं पित्तहराणाम् (च० सू० २५।-) अन्य आचार्यों ने श्लेष्मा के अवस्था विशेष में भी विरेचन को उपयुक्त बताया है। इस सम्बन्ध में आचार्य वाग्भट लिखते हैं कि पित्तप्रधान दोषों के लिए यद्यपि विरेचन कर्म को उपयुक्त बताया है तथापि श्लेष्मा के लिए भी विपरीत कर्म नहीं है जब श्लेष्मा के संसृष्टावस्था में अथवा वस्तिस्थानगत श्लेष्मा में भी विरेचन लाभप्रद होता है।

प्रस्तुत प्रकरण में विरेचन परिभाषा लक्षण, उपयोगिता प्रकार, औषध एवं कल्पना विवरण के साथ विधि सम्यक विरेचन एवं असावधानी से होने वाले उपद्रवों का वर्णन उनकी चिकित्सा तथा विविध विरेचन योगों का क्रमशः यथास्थान वर्णन किया जा रहा है।

विरेचन शब्दस्य निरुक्तिः

[1]सम्पर्क का वियोग कराने वाली 'रिच्' धातु में 'वि' उपसर्ग पूर्वक णिच् और ल्युट् प्रत्यय लगाने से अतिशय मल निर्हरण रूप में [2]विरेचन शब्द का अर्थ लिया जाता है।

१. रिच् धातु का कविकल्पद्रुम में 'सम्पर्क वियोगयो' भाव लिया है।

विरेचनं पित्तहराणाम्।

च० सू० २५।४०

पित्ते तु विरेकं श्लेष्म संसृष्टे वा तत्स्थानगते वा श्लेष्मणीति।

अ० सं० सू० २७।४

केवले पित्ते विरेचनमाचरेत्। स्तोकेन श्लेष्मणा संसृष्टे पित्ते विरेचनमेव। तथा पित्तस्थान गते श्लेष्मणि प्रभूतपित्ते विरेचनमेव। कफस्थानगते वा प्रभूत पित्ते इति। इन्दुः।

हि० व्या०—पित्त निर्हरण में विरेचन प्रशस्त हैं। यद्यपि पित्त प्रधान विकारों में विरेचन कराया जाता है तथापि पित्त के साथ कफ संसृष्ट होने पर अथवा पित्त के स्थान में कफ के चले जाने पर अथवा कफ के स्थान पर पित्त के चले जाने पर भी विरेचन कराया जाता है।

विरेचन सामान्य गुणाः

विरेचनेन शुद्ध्यन्ति प्रसीदन्तीन्द्रियाणि च।
धातवश्च विशुद्धयन्ते बीजं भवति कार्मुकम्॥

का० सं० सि० २।-

[3]ययोदकानामुदकेऽपनीते
चरस्थिराणां भवति प्रणाशः।
पित्ते हृते त्वेवमुपद्रवाणां
पित्तात्मकानां भवति प्रणाशः॥

सु० चि० ३३।२८

ययोदकानां स्थिरजङ्गमानां
जलेऽपनीते ध्रुवमेव नाशः।

२. (क) विरेचन न० वि + रिच्-णिच्-ल्युट्। मलादेः निःसारणे।

वाचस्पत्यम्

(ख) रेचन-'रिच' धातु में ल्युट् प्रत्यय लगाने से रेचन शब्द बनता है जिसका अर्थ है 'मल भेदन'

(ग) विरेचन 'वि' उपसर्ग पूर्वक 'रिच' धातु में णिच् एवं ल्युट् प्रत्यय लगाने से विरेचन शब्द बनता है जिसका अर्थ है 'विशेषेण रेचयतीति' (शब्दकल्पद्रुम)

३. औदकानां चरस्थिराणां स्थावरजङ्गमानां पद्मादीनां मत्स्यादीनां च। उपद्रवाणां व्याधीनाम्। पित्तात्मकानां पित्तकारणानाम्। डल्हणः।

पित्ते हृते त्वेवमुपद्रवाणां
पित्तात्मकानां ध्रुवमेवनाशः ॥

वंगसेन

हि० व्या० – विरेचन द्वारा इन्द्रियाँ स्वच्छ एवं प्रसन्न होती हैं। रस-रक्तादि धातुयें भी विशुद्ध होती हैं एवं प्रयुक्त औषध की कार्मुकता बढ़ती है। विरेचन द्वारा पित्त का निर्हरण कर दिए जाने पर, पैत्तिक व्याधियों का उसी प्रकार विनाश हो जाता है जिस प्रकार जलाशय से जल निकाल दिए जाने पर स्थावर एवं जंगम (कमल, मछली आदि) जीवधारियों का विनाश हो जाता है। इन्हीं भावों को किंचित् परिवर्तन के साथ वंगसेन ने श्लोक निबद्ध किया है।

कुत्र विरेचनं हितम्

विरेचनं तु सर्वोपक्रमेभ्यः पित्ते प्रधानतमं मन्यन्ते भिषजः, तद्ध्यादित एवामाशयमनुप्रविश्य केवलं वैकारिकं पित्तमूलमपकर्षति। तत्रावजिते पित्तेऽपि शरीरान्तर्गताः पित्तविकाराः प्रशान्तिमापद्यन्ते, यथाग्नौ व्यपोढे केवलमग्नि-गृहं शीति भवति तद्वत्।

च० सू० २०।१९

हि० व्या०—सभी प्रकार के उपक्रमों में पित्तदोष हेतु विरेचन चिकित्सा को सर्वोत्तम बताया गया है। विरेचन द्रव्य आमाशय में प्रवेश करके विकारोत्पत्तिकारक पित्त अथवा मल रूप पित्त को नष्ट करते हैं (मूलरहित करते हैं अथवा चलायमान करते हैं)। आमाशय में पित्त के नष्ट हो जाने पर शरीर के विभिन्न मार्गों, आशयों आदि में उत्पन्न पित्तजन्य विकारो की भी उपशान्ति उसी प्रकार हो जाती है जिस प्रकार तप्त गृह में अग्नि को बुझा देने पर सम्पूर्ण गृह शीतल हो जाता है। (पित्त के प्रधान स्थान आमाशय ग्रहणी आदि में पित्त के शान्त हो जाने पर अन्यत्र शरीर मार्गों में स्थित पित्तज विकृति भी शान्त हो जाती है।

पित्ते विरेचनं युंज्यादामोद्भूते गदे तथा।
उदरे च तथाऽध्माने कोष्ठशुद्ध्यै विशेषतः ॥

शा० उ० ४।५ भा० प्र० योगर०

पित्तजनितानां उवद्रवाणां पित्तात्मकानां नियतो विनाश इति केवल पित्तेऽपि विरेचनमभिहितम्। तथा च तन्त्रान्तरेऽपि शरीरजातानां दोषाणां क्रमेण परमौषधं। बस्तिविरेको वमनं तथा तैलघृतं मधु इति। आमोद्भूते गदे तथेति। आमजनितव्याधौ। आमवातविकारादावित्यर्थः। उदर इति उदररोगरूढिः। आध्मनोदरापूराः। कोष्ठाशुद्धाविति। कोष्ठस्य अशुद्धिः बद्धकोष्ठ इति प्रसिद्धिः। विशेषेण कुर्यादित्यर्थः। अथ शोधनस्य प्राधान्य-विषयत्वेन विरेचनमुख्यत्वमाह-अयं श्लोकः शोधनपदग्रहणेनान्यच्छोधन-

परोऽपि भवति। अत्राचार्येण लंघनपाचनैरित्युक्तेन वमनविषयस्य निषेधपर-त्वाद्विरेचनाध्याये स्वीकृतः। ननु येऽपि लंघनपाचनैर्जितास्ते पुनः कथं जिता अप्यजितः दोषमूलामुच्छेदात् मूलभूताशयगतदोषदूष्यसमुद्भवात् सम्यग्जिताः अल्पमपि हेतुं प्राप्य पुनः कुप्यन्तीति भावः। तेन तेषां पुनरुद्भव इति। संशोधनेन मूलदोषजन्यादल्पहेतुना न कदापि प्रकोपः बलवत्तर हेतुना भवत्येव। आढमल्लः।

हि० व्या०—पैत्तिक विकारों एवं आमजन्य विकारों में उदर रोग, आध्मान तथा कोष्ठ शुद्धि हेतु विशेष रूप से विरेचन कराना चाहिए।

वमनोत्तरं विरेचनप्रयोगक्रम वर्णनम्।

अथैनं पुनरेव स्नेहस्वेदाभ्यामुपाद्यानुपहतमनसमभिसमीक्ष्य सुखोषितं सुप्रजोर्णं भवतं कृतहोमबलिमंगलजपप्रायश्चित्तमिष्टे तिथिनक्षत्रकरणमुहूर्ते ब्राह्मणान्स्वस्ति वाचयित्वा त्रिवृत्कल्कमक्षमात्रं यथार्हलोडनप्रतिविनीतं पाययेत् प्रसमीक्ष्यदोषभेषजदेशकालबलशरीराहारसात्म्यसत्वप्रकृतिवयसामवस्थान्तराणि विकारांश्च।

च० सू० १५।१७

अथैनमिति कृतसंसर्जनक्रम, प्रतिविनीतं=आलोडितं, दोषादयः पूर्ववत् व्याख्येया;, विकारांश्चेति कुष्ठज्वरादीन् विरेचनसाध्यान्, पूर्वं तु 'सूक्ष्माणि हि' इत्यादौ विकारो नोक्तः, तस्य परीक्ष्यत्वेनैव ग्रहणात्, किंवा दोषग्रहणेनैव तत्र विकारग्रहणम्। चक्रपाणिः।

हि० व्या०—**विरेचन विधि**—वमन कर्म के बाद पुनः स्वेदन कराना चाहिए तत्पश्चात् जब व्यक्ति का मन चिन्तारहित हो, रात्रि में सुखपूर्वक शयन किया हो, जिसको पूर्व दिन का खाया हुआ अन्न सुखपूर्वक पच गया हो, इस प्रकार लक्षणों की समीक्षा करते हुए, रोगी को विधिपूर्वक हवन, मंगलकर्म, जप, प्रायश्चित्त कर लेने पर, उत्तम तिथि, नक्षत्रकरण और अच्छे मुहूर्त में ब्राह्मणों द्वारा स्वस्तिवाचन कराकर निशोथ का कल्क एक तोले की मात्रा में पिलावें। औषध पिलाते समय दोष, औषध, देश, काल, बल, शरीर तथा रोग के भेद एवं अवस्थाओं की भी समीक्षा कर लेनी चाहिए।

वमनानन्तरं विरेचन प्रयोगः

अथैनं वामितं भूयः स्नेहस्वेदोपपादितम्।
श्लेष्मकाले गते ज्ञात्वा कोष्ठं सम्यग्विरेचयेत् ॥

अ० हृ० सू० १८।२५

एनं नरं वामितं भूयः पुनरपि स्नेहस्वेदाभ्यामुपपादितमनंतरं सम्यग्विरेच-येत्। कदा। श्लेष्मणः कालः संविभागप्रहरस्तस्मिन् गते सति। किं कृत्वा कोष्ठं मृदु मध्यक्रूर लक्षणं ज्ञात्वाऽवगम्य। अरुणदत्तः।

स्नेहस्वेदाभ्यां पुनरप्युपपादितं शोधनयोग्यतां नीतं विरेचयेद्विरेचनौषधं दद्यात्। संग्रहे तु नत्वकृतवमनमन्यत्रातिक्रूरकोष्ठात्। अकृतवमनस्य हि श्लेष्मणोपहतमौषधम् ऊर्ध्वं प्रवर्तते। उरसि चावरुद्धमवतिष्ठते ततो नालं विरेचनाय। सम्यग्विरिक्तस्यापि चाधः स्रस्तः श्लेष्मा ग्रहणीं छादयित्वा गौरवमापादयति प्रवाहिकां वा। नत्वेष दोषोऽतिक्रूरकोष्ठस्य वाय्वात्मकत्वात्। श्लेष्मकालेऽप्यकृत वमनोक्तौ दोषः शूलाध्मान गौरवाणि च कृत्वा क्षीणे श्लेष्मण्यपराह्णे रात्रौ वा विरेचयेत् तेनान्नावृतमपि तुल्यं छर्दि च पुनस्तज्जनयति। अविरिक्तस्य श्लेष्मकाले च वमनं योज्यं तथोर्ध्वं सुखेन निर्हरणादिति॥ हेमाद्रिः।

अथ वामितमेनं भूयः स्नेहस्वेदोपपादितं श्लेष्मकाले गते कोष्ठं सम्यक् ज्ञात्वा विरेचयेत्। प्रकृति भोजनानन्तरं कृतवमनमेनं नरं पक्षादूर्ध्वं पुनरपि विरेकाङ्गत्वेन स्निग्धं स्विन्नं कृत्वा कोष्ठं मृदु मध्यक्रूरलक्षणं सम्यक् ज्ञात्वा प्रथमे यामेऽतिक्रान्तेऽतीतयादोननाडिकाचतुष्टये वा वमनोक्तमन्त्राभिजप्तेन त्रिवृन्मूलादिना विरेकं कुर्यात्। परमेश्वरः।

स्निग्ध स्विन्नाय वान्ताय दातव्यन्तु विरेचनम्।
अन्यथा योजितं ह्येतत् ग्रहणीगदकृन्मतम्॥

चक्रदत्तः, योगरः०, भावप्रः०

स्निग्धस्विन्नायेति-वमनानन्तरमपि पुनः स्निग्धस्विन्नाय; तदुक्तं—'कर्मणां वमनादीनामन्तरे त्वन्तरे पुनः। स्नेहस्वेदौ प्रयुञ्जीत संशोधनमनन्तरम्'। संशोधनमनन्तरमित्यत्र 'स्नेहमन्ते प्रयोजयेत्' (च० सि० वमनविरेचनव्यापत्) 'स्नेहमन्ते बलाय च' (वा० सू० १८) इति पाठ द्वयं युक्ति संगतम्; अन्यथेति—वमनं विना; सुश्रुतेऽप्युक्तम्—'अवान्तस्य हि सम्यक् विरिक्तस्यापि सतोऽधः स्रस्तः श्लेष्माग्रहणीं छादयेत्' (चि० ३३ अ०) इति। अयं च विरेचन योगः पूर्वाह्णमतिक्रम्यैव देयः; उक्तं हि वाग्भटे—'श्लेष्मकाले गते ज्ञात्वा कोष्ठं सम्यक् विरेचयेत्' (सू० १८ अ०) इति। शिवदास सेनः)

वमने च कृते पूर्वं ततः सम्यग्विरेचयेत्।
अन्यथा योजितं कुर्य्यान्मन्दाग्निं गौरवारुची॥ वङ्गसेन
अवान्तस्य त्वधः स्रस्तो ग्रहणीं छादयेत्कफः।
मन्दाग्निं गौरवं कुर्य्याज्जनयेद् वा प्रवाहिकाम्॥
अथवा पाचनैरामं बलासं च विपाचयेत्।
स्निग्ध स्नेहनैः कार्यं स्वेदैः स्विन्नस्य रेचनम्॥ शा० उ० ४।१-२

अवान्तस्येत्यादि। अधः स्रस्तोधः प्राप्तः रेचनद्रव्य प्रभाववशात्। एतादृशः कफस्तदा ग्रहणीमाच्छादयेत्। ग्रहणीमग्निस्थितान्स्थानं। यदुक्तं—अग्न्यधिष्ठानमन्तस्य ग्रहणाद् ग्रहणीमतेति। अत एवादौ वमनेनात्र कफनिग्रहो विधेयः। सोऽप्याश्रयसमाश्रयणात्स्रोतोऽवरोध हेतुः न केवलं ग्रहणीच्छादनं

करोति। मन्दाग्निमित्यादि। अत गौरवं शरीरस्येति। प्रवाहिकातीसारभेदः। अथ कार्यान्तरमाह-पाचनैरिति। पाचनद्रव्यैः साममित्यपरिपक्वरसं। तथाहि—जठरानलदौर्बल्यादविपक्वस्तु यो रसः। स आमसंज्ञको देहे सर्वदोषप्रकोपक' इति। न केवलमामं श्लेष्माणं च विपाचयेत्। एतेन कृतवमनस्यापि पूर्वं पाचनं दत्वा पश्चाद्विरेचयेदित्यभिप्रायः। अथवेति ग्रहणात्तेन वमनं विना पाचनं वेयमित्यर्थं,। संशोधनक्रमेऽपि पाचनस्य प्राधान्यमुक्तं। तथा तीसटे चोक्तं—प्राक् पाचनं स्नेहविधिविधेयः स्वेदस्ततः स्याद् वमनं विरेकः। निरूहनं स्नेहन बस्तिकर्म नस्यं क्रमश्चेति भिषग्वराणाम् इति। एषां क्रमाभिप्रायेण विनापि विरेचनस्य पूर्वं पाचनं कर्तव्यमेवेति व्यवहारः संगत एव। अथ पाचनमभिधाय विरेचनमपि कस्य कथं दातव्यमित्याहस्निग्धस्येति। पूर्वकृतस्निग्धपाचनस्य, कैः स्नेहनैर्धूतादिभिः। न केवलं स्निग्धस्य रेचनं किंतु स्वेदैरपि स्विन्नस्य स्वेदितस्य विरेचनं प्रशस्तं। यद्वा स्नेहनैः स्विन्नस्य स्वेदितस्य विरेचनं प्रशस्तं। यद् वा स्नेहनैः स्वेदैरपि स्विन्नस्य संबन्धः। स्नेहस्वेदैरित्यनेन दोषाणां सुखमुत्पाटनं सूचितं। यतः स्नेहस्वेदैः प्रचलिता रसैः स्निग्धैरुदीरिताः। दोषाः कोष्ठगता जन्तोः सुखं हन्ति विरेचनैरिति। पूर्वमुक्तमप्यतः पुनरेव द्रढयति न दोषः पौनरुक्त्येन। केचिद्वक्ष्यमाणेन शरदृताविति श्लोकेन मिलित्वा व्याख्यानयन्ति। तत्र शरदृतौ स्निग्धस्य स्नेहनैः कृत्वा विरेचनं कार्यं वसन्ते च स्वेदैः स्विन्नमेव रेचनं देयं नतु स्निग्धस्य इति न सर्वमतम्। आढमल्लः।

अधः स्रस्तः पतितः, ग्रहणीं पित्तधारिणीं कृत्वा कफ आच्छादयेत् तदा किं कुर्यात् इत्याह मन्दाग्निं गौरवं च कुर्यात्। प्रवाहिकातीसारभेदस्तां जनयेत। अधस्रस्तस्य कफस्य प्रतीकारमाह अथवा पक्षान्तरे। आमं बलासं कफं च पाचनैः शुण्ठ्यैरण्डादिभिः पाचयेत्। यद्वा स्नेहनैर्धूतदुग्धादिभिः स्निग्धस्य स्वेदितस्य रेचनं कार्यमिति विधिः तत्रोच्यते। वमनाद्विरेचनं कदा देयमित्यपेक्षायामत्रानुक्तमिति लिख्यते। तत्र भेदः। सम्यक्प्रवृत्ते वमने सप्तरात्रे गते सति। सुसंस्कृतशरीरस्य प्रदातव्यं विरेचनं। चरके च वातं षडह संसृष्टं पुनः संस्नेहितं तथा। उष्णं लघु त्र्यहं भुक्तैः षोडशेऽह्नि विरेचयेत्। षोडशदिने यद्वा पक्षान्तरे पक्षाद्विरेको वान्तस्येति सुश्रुत वचनं। अस्यार्थः वांतं कृतं सम्यग्वमनं षडहसंसृष्टं षडहेत्युक्तवमनं पुनस्त्र्यहं संस्नेहितं पुनस्त्र्यहमुष्णकृत स्वेदं पुनस्त्र्यहं लघुभक्तं अथैनं वांतितं भूयः स्नेहस्वेदोपपादितम्। श्लेष्मकालं गते ज्ञात्वा कोष्ठं सम्यग्विरेचयेत्। वाग्भटे एवं लिखितं। अस्यार्थः अथैनं पुरुषं वामितं कृतवमनं षडहानन्तरं स्नेहस्वेदोपपादितं भूयः पुनः श्लेष्मकाले द्वादशदिवसे गते सति पुनस्त्र्यहं लघुभक्तं षोडशेह्नियेवकोष्ठं सम्यग्विरेचयेदिति वाग्भटार्थः। काशीराम।

हि० व्या०—स्नेहन, स्वेदन तथा वमन का सम्यक् प्रयोग कराने के

पश्चात् यथा विधि अर्थात् संसर्जनक्रम तथा पुनः स्नेहन एवम् स्वेदन कराकर विरेचन कराना चाहिए। क्रम का उल्लंघन करके विरेचन कराने से ग्रहणी रोग के विकार उत्पन्न हो जाते हैं। वंगसेन ने अन्यथा क्रम से विरेचन कराने पर मन्दाग्नि, गौरव एवं अरुचि उत्पन्न होना बताया है। आचार्य शार्ङ्गधर ने पूर्व कर्म एवं वमनादि का परिहार करके विरेचन कराए जाने पर उत्पन्न होने वाली विषम स्थिति एवं प्रक्रियायों का वर्णन करते हुए लिखा है कि—विरेचनौषध के प्रभाव से श्लेष्मा अधोगति को प्राप्त हो जाने से ग्रहणी को आच्छादित कर देता है जिससे शरीर में मन्दाग्नि एवं गौरव उत्पन्न होता है अथवा प्रवाहिका की उत्पत्ति हो जाती है। विरेचन कराना आवश्यक हो तथा रोगी वमन के आयोग्य हो ऐसी स्थिति में आमरस एवं कफ का पाचक औषधियों से पाक करना चाहिए। पश्चात् स्नेहन एवं स्वेदन से सम्यक् स्निग्ध एवं स्विन्न को विरेचन कराना चाहिए।

विरेचन योग्या:

विशेषतस्तु कुष्ठज्वरमेहोर्ध्व रक्तपित्तभगन्दरोदरार्शोब्रघ्नप्लीहगुल्मार्बुद-गलगण्डग्रन्थि [1]विसूचिकालसकमूत्राघातक्रिमिकोष्ठविसर्पपाण्डुरोगशिरः पार्श्व-शूलोदावर्तनेत्रास्यदाहहृद्रोगव्यङ्गनीलिकानेत्रनासिकास्यस्रवणहलीमकश्वासकास-कामलापच्यपस्मारोन्मादवातरक्तयोनिरेतोदोषतैमिर्यारोचकादिपाकच्छर्दिश्वय – थूदरविस्फोटकादयः पित्तव्याधयोविशेषेण रोगाध्यायोक्ताश्च; एतेषु हि विरेचनं प्रधानतममित्युक्तमग्न्युपशमेऽग्निगृहवत्। च० सि० २।१३

विरेच्यास्तु – ज्वरगरारुच्यर्शोऽर्बुदोदरग्रन्थिविद्रधि पाण्डुरोगापरमारहृद्रोग-वातरक्तभगन्दरच्छर्दियोनिरोगविसर्पगुल्मपक्वाशयरुग्विबन्धविसूचिकालसकमूत्रा-घातकुष्ठविस्फोटकप्रमेहानाहप्लीहशोफवृद्धिशस्त्रक्षतक्षाराग्निदग्धदुष्टव्रणाक्षि—पाककाच[2]तिमिराभिष्यन्दशिरः कर्णाक्षिनासास्यगुदमेढ्रदाहोर्ध्वरक्तपित्तकृमि-कोष्ठिनः पित्तस्थानजेष्वन्येषु च विकारेष्वन्ये च पैत्तिकव्याधि परीता इति।

सु० चि० अ० ३३।३२

विरेचयेद्धि कुष्ठानि ज्वरान्विस्फोटकानि च।
दाहं विचर्चिकां चैव वातव्याधींश्च सर्वशः॥ भे० सं० सू० २१।३

अथ विरेचनसाध्याजीर्णज्वरोर्ध्वरक्तपित्तगुल्मविद्रधिप्लीहार्शो भगन्दरोदर कृमिणकोष्ठमूत्राघातरेतोयोनिदोषवातशोणित हलीमकव्यंगतिमिरकाचाभिष्यन्दा-क्षिपाकक्षाराग्निदग्ध दुष्टव्रणशिरः पक्वाशयशूलोदावर्तविबन्धच्छर्दिविस्फोटादयो वम्योक्ताश्च विसूचिकोदयो दोषभेदीयोक्ताश्च पित्तव्याधयो विशेषेण। एते हि परं विरेचनेननावमुपयान्त्यग्न्यपनयनेनाग्नि गृहतापवत्॥ अ० सं० सू० २७।६

१. विसूचिकायां विरेचनमुत्तरकालं शेषदोषहरणार्थं ज्ञेयम्। चक्रपाणिः।
२. काचो नेत्ररोग भेदः। हाराणच०।

जीर्णज्वरादयोऽपि वाम्यप्रकरणपठिताश्च विषूचिकालसकाविपाकादयो दोषभेदीयोक्ताश्च पित्तव्याधयः। एते सर्वे विरेचनसाध्याः। यद्यपि दोषहरणेन सर्वे व्याधयः शमं यान्ति, तथाप्येते विशेषेण शीघ्रं शमं यान्ति। दृष्टान्तो यथाग्निगेहेऽग्नावपनीते तत्र स्थितोऽग्निसञ्जातो भृशतापः शमं याति तद्वदेतेऽपि व्याधयोग्न्यपनयनरूपेण विरेकदोषापनयनेन दृष्टान्तेन तप्तवेश्मदिशा परिपाका-वस्थायां विरेकयोग्यता दर्शयति। इन्दुः।

विरेकसाध्या गुल्माशोंविस्फोटव्यंगकामलाः।
जीर्णज्वरोदरगरच्छर्दिप्लीहहलीमकाः॥
विद्रधिस्तिमिरं काचः स्यंदः पक्वाशयव्यथा।
योनिशुक्राशया रोगाः कोष्ठगाः कृमयो व्रणाः॥
वातास्रमूर्ध्वगं रक्तं मूत्राघातः शकृद्ग्रहः।
वम्याश्चकष्टमेहाद्याः .....। अ० हृ० सू० १८।७

संग्रहे तु भन्दरार्शिपाकक्षाराग्निदग्धशिरः शूलोदावर्ता दोषभेदीयोक्ताश्च पित्तव्याधय इत्यधिकं युक्तिश्च। एते हि परं विरेचनेन नाशमुपयान्त्यग्न्यपनये-नाग्निः गृहतापवदिति। हेमाद्रिः।

जीर्णज्वरी गरव्याप्तो वातरक्तो भगन्दरी।
अर्शः पाण्डूदरग्रन्थिहृद्रोगारुचिपीडिताः॥
योनिरोगप्रमेहार्ता गुल्मप्लीहव्रणार्दिताः।
विद्रधिच्छर्दिविस्फोटविसूचीकुष्ठसंयुताः।
कर्णनासाशिरोवक्त्रगुदमेढ्रामयान्विताः॥
प्लीहशोथाक्षिरोगार्ताः क्रिमिक्षीणानिलार्दिताः।
शूलिनोमूत्रघातार्ताविरेकार्हा नरा मताः॥

शा० उ० ४।८-१० भा० प्र०-पू० ख०, योगरत्नाकर

जीर्णज्वरीति पुराणज्वरी तस्य विरेकसाध्यत्वात्। गर व्याप्त इति गरं कृत्रिमं विषं तेन व्याप्तः दुःखितः। तथाऽर्शादिपीडिताः। तथा योनिरोगादिभि-र्दिताः। तथा विद्रध्यादियुताः। तथा कर्णादिजनितामयान्विता इत्यर्थः। तेनामयशब्दो कर्णादिभिः सह संबध्यते। प्लीहशोथाक्षिरोगार्ता इति प्लीहादि-रोगव्याप्ता इत्यर्थः। क्रिमिक्षीणानिलार्दिता इति कृम्यादिभिरर्दिः पीडिताः। विरेकार्हा इति विरेचनयोग्या इत्यर्थः। आढमल्लः।

हि० व्या०—विशेष रूप से कुष्ठ, ज्वर, प्रमेह, ऊर्ध्वरक्तपित्त, भगन्दर, उदररोग, अर्श, ब्रघ्न, प्लीहारोग, गुल्म, अर्बुद, गलगण्ड, ग्रन्थि, विसूचिका, अलसक, मूत्राघात, क्रिमिकोष्ठ, विसर्प, पाण्डु, शिरः शूल, पार्श्वशूल, उदावर्त, नेत्रदाह, मुखदाह, हृद्रोग, व्यंग, नीलिका, नेत्र-नासिका तथा मुखस्राव की

स्थिति में, हलीमक, श्वास-कास, कामला, अपची, अपस्मार, उन्माद, वातरक्त, योनिदोष, शुक्रदोष, तिमिर, अरोचक, अविपाक, वमन, शोथ, उदर, विस्फोटक आदि रोगों से पीडित तथा महारोगाध्याय में वर्णित पित्तज व्याधियों में विरेचन प्रशस्त है। जिस प्रकार जलते हुए घर की अग्नि को जल शान्त कर देता है उसी प्रकार विरेचन द्वारा पित्तनिर्हरण होने पर उपर्युक्त सभी रोग शान्त हो जाते हैं।

आचार्य सुश्रुत ने चरक (में जिन विरेचन योग्य व्यक्तियों का उल्लेख है उन्हों) के समान रोगियों का उल्लेख करते हुए शस्त्रक्षत, क्षार एवं अग्निदग्ध, दुष्टव्रण, अक्षिपाक, काच, गुद, मेढ़ दाह के रोगों की भी गणना की है।

अविरेच्याः।

अविरेच्यास्तु सुभगक्षतगुदमुक्तनालाधोभागरक्तपित्तविलङ्घितदुर्बलेन्द्रियाल्पाग्निनिरूढकामादिव्यग्राजीर्णिनवज्वरिमदात्ययिताध्मातशल्यादिताभिहितातिस्निग्धरूक्षदारुणकोष्ठाः क्षतादयश्च गर्भिण्यन्ताः॥ च० सि० २।११

तत्र सुभगस्य सुकुमारोक्तो दोषः स्यात्, क्षतगुदस्य क्षते गुदे प्राणोपरोधकरीं रुजां जनयेत्, मुक्तनालमतिप्रवृत्या हन्यात्, अधोभाग रक्तपित्तिनं तद्वत्, विलङ्घित दुर्बलेन्द्रियाल्पाग्निनिरूढा औषधवेगं न सहेरन्, कामादिव्यग्रमनसो न प्रवर्तते कृच्छ्रेण वा प्रवर्तमानयोगदोषान् कुर्यात्, अजीर्णिन आमदोषः स्यात्, नवज्वरिणोऽविपक्वान् दोषान् न निर्हरेद् दातमेव च कोपयेत्, मदात्ययितस्य मद्यक्षीणे देहे वायुः प्राणोपरोधं कुर्यात् आध्मातस्याधमतो वा पुरीषकोष्ठे निचितो वायुर्विसर्पन् सहसाऽऽनाहं तीव्रतरं मरणं वा जनयेत्, शल्यादिताभिहतयोः क्षते वायुराश्रितो जीवितं हिंस्यात् अतिस्निग्धस्यातियोगभयं भवेत्, रूक्षस्य वायुरङ्गप्रग्रहं कुर्यात्, दारुणकोष्ठस्य विरेचनोद्धता दोषा हृच्छूल पर्वभेदानाहाङ्गमर्दच्छर्दिमूर्च्छा क्लमाञ्जनयित्वा प्राणान् हन्युः, क्षतादीनां गर्भिण्यन्तानां छर्दनोक्तो दोषः स्यात्; तस्मादेते न विरेच्याः। च० सि० २।१२

सुभगक्षतगुद इति सुभगगुदः क्षतगुदश्च; अन्ये तु सुभग सुखसंवर्धितमाहुः। मुक्तनालोऽसंवृतगुदः। क्षतादयश्च गर्भिण्यन्ता इति वमनविषयमध्यपठिताः। रुजां जनयेद् 'विरेचनं' इति शेषः। अधोभागरक्तपित्तिनं तद्वदिति अतिवृत्त्या हन्यादित्यर्थः। कामादीत्यादावादिशब्देन शोकक्रोधादीनां ग्रहणम्। अत्र चाप्रवृत्तिः स्तोकप्रवृत्तिश्चायोग एव; उक्तं हि—'अयोगः प्रातिलोम्येन न चाल्पं वा प्रवर्तनम्' (सि० अ० ६) इति। अयोगदोषाश्च विभ्रंशहिक्कास्तम्भादयो वक्ष्यमाणाः। आमदोष इति आमदोषनिमित्तविसूचिकादिः। पुरीषकोष्ठ इति पुरीषाद्यासक्तकोष्ठः। दुश्छर्दनोक्त इति प्राग्वमनोक्तदोषः स्यात्। चक्रपाणिः।

मन्दाग्न्यतिस्नेहित बालवृद्ध-
स्थूलाः क्षतक्षीणभयोपतप्ताः॥

श्रान्तस्तृषार्तोऽपरिजीर्णभक्तो
गर्भिण्यधो गच्छति यस्य चासृक्॥
नवप्रतिश्याय मदात्ययी च
नवज्वरी या च नवप्रसूता॥
शल्यार्दिताश्चाप्यविरेचनीयाः
स्नेहादिभिर्ये त्वनुपस्कृताश्च॥

सु० चि० ३३।२८-३०, वंगसेन विरेचना० ५५-५६

अनुपस्निग्धरिक्तकोष्ठकृशस्थूलदुष्णाफ (दुर्बल ?) ललितसुकुमारश्रीधनष्ट .....षक्षतरक्षहततृष्णातालुशोषोरुस्तम्भादितहनुग्रहवातहृद्रोगरेवती केवल वातार्ताश्च न विरेच्याः॥ (का० सं० सि० अ० ७)

अविरेच्याः 'पुननवज्वरातीसार्यधोरक्तपित्तक्षतगुद लंघित रात्रिजागरितास्थापितात्यग्निराजयक्ष्ममदात्ययाध्मात सशल्याभिहतातिस्निग्धरूक्षक्रूर कोष्ठाः। तत्र नवज्वरस्या विपक्वान्दोषान्न निर्हरेद्घातमेव तु कोपयेत् अतिसार्यधोरक्तपित्तयोरति प्रवृत्या हन्यात्। क्षतगुदस्य गुदे प्राणोपरोधकरीं रुजं जनयेत्। लंघितादयो भेषजं वेगं न सहेरन्। राजयक्ष्मार्तस्य क्षीणधातुतया मलबलत्वं तदभावाद्देहनाशः स्यात्। मदात्ययर्त्तस्य मद्यक्षीणे देहे वायुः प्राणोपरोधाय। आध्मातस्य पुरीषाशये निचितो वायुविसर्पन्। सहसा तीव्रतरमाध्मानं मरणं वा जनयेत्। सशल्याभिहरणयोः क्षते वायुराश्रितो जीवितं हिंस्यात्। अति स्निग्धस्यातियोगो भवेत् क्रूरकोष्ठायौषधोद्धता दोषा ह्यप्रवर्तमाना हृदयशूलपर्वभेदानाहछर्दिमूर्च्छा क्लमान् जनयित्वा प्राणान् हन्युः। गर्भिण्यादीनां पूर्वोक्त दोषः स्यात्। अ० सं० सू० २७।१०

न तु रेच्यो नवज्वरी।
अल्पाऽग्न्यधोगपित्तास्रक्षतपार्श्वतिसारिणः॥
सशल्यास्थापितक्रूरकोष्ठाऽतिस्निग्धशोषिणः।

अ० हृ० सू० १८।८

नवज्वरी नैव रेच्यः तस्य हि विरेचनमपक्वान् दोषान् निर्हरद्घातकोपायैव स्यात्। यक्ष्मादीनां त्ववस्थावशान्मृदुविरेच्यत्वमनुज्ञातमेव तथाऽपि चाऽऽध्मानगुरुताशूलस्तैमित्यकारिणीत्यादिनाऽतीसारस्यापि मृदुविरेचनवनुज्ञातं नैवं नवज्वरस्य स्वल्पविरेच्यत्वं कराऽपिअल्पाग्न्यादयः शोष्यतां न विरेच्याः। अत्राऽल्पाग्निरबलत्वाद्भेषजवेगं न सहते। अधोगरक्तपित्ताऽतिसारिणावतिप्रवृत्त्या हन्यात्। क्षतगायोः प्राणापहारकारिणी रुक् स्यात। सशल्यस्य क्षते वायुराश्रितो जीवितं हन्यात्। आस्थापितस्य भेषजवेगासहनाद्बलोपरोधः स्यात्। क्रूरकोष्ठस्यौषधाद्धेतोर्दोषा ह्यप्रवर्तमाना हृदयशूलपर्वभेदाऽऽनाहच्छर्दिमूर्च्छाक्लमान् जनयित्वा प्राणान् हन्युः अतिस्निग्धस्याऽतियोगाय स्यात्। शोषिणः क्षीणधातुतया मलबलत्वं तदभावाद्देहविनाशनं स्यादिति। अरुणदत्तः।

बालवृद्धावतिस्निग्धः क्षतक्षीणो भयान्वितः।
श्रान्तस्तृषार्तः स्थूलश्च गर्भिणीं च नवज्वरी।
नवप्रसूता नारी च मन्दाग्निश्च मदात्ययी॥
शल्यार्दितश्च रूक्षश्च न विरेच्या विजानता।
शा० उत्त० ४।६-७ योगर०, भावप्र०

विशेषेण रेच्या न भवन्तीत्यभिप्रायेणाल्परेचनस्या प्राप्तिरेव। अतएव बालवृद्धयोरप्ययं निषेधः सामान्यः। विशेषेण तु विरेकसाध्यव्याध्युपग्रस्तयोः किंचिद्देयवित्युक्तं तथा च अग्निक्षारविरेकैस्तु बालवृद्धौ विवर्जयेत्। तत्साध्येषु विकारेषु मृद्वीं कुर्यात् लघुक्रियाम् इति। निषिद्धाचरणमन्यत्राप्युक्तं अत्यन्त-पित्ताद्विपरीतदेहान् विरेचयेत्तानपि मन्दमन्दम्' इति। तानपि निषिद्धबालवृद्धा-दीन्। अतिस्निग्ध इत्यतिस्नेहपानाद्वियुक्तः। तथाहि नवाऽतिस्निग्धकायस्य दद्यात्स्नेहविरेचनम्। दोषाः प्रभाविता भूयो लीयन्ते तेन वर्त्मसु इति। क्षतक्षीणा इति। धातुशोषणत्वेन शोषी कथितः। स च राजयक्ष्म भेदः। भयान्वितो भययुक्तः। भयग्रहणत्वेन शोकाभितप्तस्य दीनस्य वा निषेधो दर्शितः। यदुक्तं 'क्षीणस्तथा रूक्षितबालवृद्धदीनोऽथ शोषी भयशोकतप्तः' इत्यादि। स्थूलो बहुमेदोन्वितः। मन्दाग्निरपि कफोल्बणत्वात्। रूक्षो वातोल्वण इति। अथवा रूक्ष इत्यस्निग्धः। तथाह्युक्तं विरूक्षं स्नेहसात्म्यं तु भूयः संस्निह्य रेचयेदिति। विजानतेत्यनेन विरेचनविषयविकल्पविशेषज्ञेन वैद्येनेत्यर्थः। यतः—'विरेचनैर्यान्ति नराविनाशमज्ञप्रयुक्तैरविरेचनीया'। इति। आढ़मल्लः।

अविरेच्या बालवृद्ध—श्रान्तभीतनवज्वराः।
अल्पाग्न्यधोगपित्तास्र क्षतपाण्डुतिसारिणः॥
सशल्यास्थापितक्रूर—कोष्ठातिस्निग्धशोषिणः।
गर्भिणी नवसूता च तृष्णार्तोऽजीर्णवानपि॥ चक्रदत्तः

आस्थापितो निरूढः। अयञ्च निरूहानन्तरं विरेक निषेध औत्सिर्गिकः, तेन "तेभ्यो वर्स्ति पुरादत्वा" (च० क० दन्तीद्रवन्ती०) इत्यादि विशेषविधिना तदपवादो युज्यते एव। किं वा निरूहानन्तरं हि विरेक निषेधः सप्ताहाभ्यन्तरे एव ज्ञेयः, सप्ताहादूर्ध्वन्तु विरेको विहित एवेति विधिनिषधयोः कालभेदेन न विरोधः; उक्तं हि चरके—"नरो विरिक्तस्तु निरूहदानं विवर्जयेत् सप्तदिना-न्यवश्यम्। शुद्धो विरेकेण निरूहदानम्'—(च० सि० १) इति वदन्ति। अन्ये त्वेतद्विरोधभियैव 'तेभ्यो वर्स्ति पुरा दत्वा' (च० क० दन्तीद्रव०) इत्यत्र वस्तिशब्दस्यानुवासनार्थमाहुरिति प्रागेवोक्तम्॥ शिवदाससेन॥

विषाभिघातपिडिकाः शोफपांडुविसर्पिणः।
नातिस्निग्धा विशोध्याः स्युस्तथाकुष्ठप्रमेहिणः॥ वंगसेन

हि० व्या०—स्वभाव से कोमल, क्षतगुद, मुक्तनाल, (गुद वलियों की कार्यहीनता), अधोग रक्तपित्त, लंघन के पश्चात्, दुर्बल इन्द्रियों वाले,

मंदाग्नि-रोगी, निरूह के पश्चात्, कामादि प्रवृत्ति से व्यग्र, अजीर्ण रोगी, नवीनज्वरी, मदात्यय, आध्मान के रोगी, अन्तः शल्य वाले, अतिस्निग्ध, भयंकर कोठ रोगी, वमन प्रकरण में बताये गए अयोग्य व्यक्तियों में क्षत रोग से लेकर गर्भिणी तक के रोगी भी विरेचन के योग्य नहीं बताये गए हैं।

उपर्युक्त व्यक्तियों को विरेचन नहीं कराने के कारणों का उल्लेख करते हुए आगे लिखा है कि इन्हें विरेचन दिए जाने पर वे सभी दोष उत्पन्न हो जाते हैं जो वामक द्रव्य पिलाने से उत्पन्न होते हैं अर्थात् क्षतगुद वाले को व्रण हो जाता है जो प्राणनाशक पीड़ा उत्पन्न करता है। मुक्तनाल व्यक्तियों को विरेचनौषध पिलाने से मल की अत्यधिक प्रवृत्ति हो जाती है जिससे मृत्यु तक हो सकती है। अधोग रक्तपित्त रोगी को रक्त अतिशय रूप में निकलने लगता है यह भी मृत्यु जनक है।

लंघन किए हुए, दुर्बल इन्द्रियों वाले, जिसकी अग्नि मन्द हो, जिन्हें निरूह-बस्ति का सेवन कराया गया हो ऐसी अवस्था में औषध वेग सहन न करने के कारण विरेचन अत्यधिक मात्रा में होने लगता है। काम, क्रोध, शोक, चिन्ता जन्य व्यक्तियों में विरेचन से या तो वेग उत्पन्न ही नहीं होता अथवा कठिनता से वेग उत्पन्न होता है जिससे अयोग जन्य उपद्रवों की उत्पत्ति हो जाती है. अजीर्ण रोगी को विरेचनौषध पिलाने से आमदोषोत्पत्ति होती है। नवज्वर में विरेचन देने से अविपक्व दोषों का निर्हरण नहीं होता किन्तु वात दोष कुपित हो जाता है। मदात्यय में मद्य से क्षीण देह वाले व्यक्तियों को विरेचन औषध पिलाने से वायु प्रकुपित हो जाता है। वह प्राणों का अवरोध उत्पन्न करती है। आध्मान युक्त व्यक्ति को विरेचनौषध पिलाने से मलाशय में संचित वायु फैलकर तीव्र आनाह उत्पन्न करती है अथवा रोगी का प्राणान्त कर देती है। शल्य पीड़ित अथवा आघातजन्य पीड़ा वाले व्यक्ति को विरेचनौषध सेवन से क्षत स्थान में स्थित वायु प्राणनाशक होती है। अति स्निग्धों में विरेचन से अतियोग का भय रहता है। अतिरूक्ष व्यक्ति को विरेचनौषध पान से कुपित हुई वायु अवग्रह उत्पन्न करती है। दारुण कोष्ठ वाले व्यक्तियों के दोष बढ़ जाते हैं जिससे हृत्शूल, पर्वभेद, आनाह, अंगमर्द, वमन, मूर्च्छा एवं क्लम उत्पन्न होकर मृत्यु हो जाती है। क्षत से गर्भिणी तक के व्यक्तियों में वमन से उत्पन्न होने वाले लक्षण विरेचन से भी उत्पन्न होते हैं अतः इन सभी अवस्थाओं में विरेचन प्रशस्त नहीं है।

अवस्थाविशेषे निषिद्ध विरेचनेष्वपि मन्द विरेचन विधानं तत्र सावधानतावश्यकता च

अत्यर्थपित्ताभिपरीत देहान्
विरेचयेत्तानपि मन्दमन्दम्[1]।

विरेचनैर्यान्ति नरा विनाश-
मज्ञप्रयुक्तैरविरेचनीयाः ॥ सु० चि० ३३।३१, वंगसेन

हि० व्या०—पित्ताधिक्य से जिन व्यक्तियों की शारीरिक स्थिति विषम होती जा रही हो, ऐसी अवस्था में विरेचन के अयोग्य होने पर भी शनैः-शनैः विरेचन दिया जाता है किन्तु अज्ञानता से अविरेच्यों को विरेचन औषध का प्रयोग कराने से व्यक्ति का विनाश भी हो जाता है।

स्नेहविरेचने समशीतोष्णकालव्यवस्था

नातिशीते न चात्युष्णे पेयं स्नेह विरेचनम्। भे० सं० सू० २५।१८

हि० व्या०—स्नेह विरेचन समशीतोष्ण काल में पिलाना चाहिए।

स्नेहविरेचनाङ्गे स्नेहपानकाल मर्यादा

त्र्यहं तु दापयेत् स्नेहं देये स्नेह विरेचने। भे० सि० सू० २५।१८

हि० व्या०—तीन दिन तक स्नेह विरेचन पिलाना चाहिए।

विरेचन प्रयोगेषु मध्यकोष्ठ वयोबलविचारानुसारं मात्रा निर्देशः

द्रव्यप्रमाणं तु यदुक्तमस्मिन्नमध्येषु तत् कोष्ठ वयोबलेषु।
तन्मूलमालम्ब्य भवेद्विकल्प्यं तेषां विकल्प्योऽभ्यधिकोनभावः ॥
च० क० १२।८३

संप्रति यदेच्छोधनस्य क्वचित् कर्षादिमानमुक्तं न तत् सर्वपुरुषविषयं, किन्तु मध्येषु कोष्ठवयोबलेषु तन्मानं ज्ञेयमिति दर्शयन्नाह— द्रव्येत्यादि। तन्मूलमवलम्ब्येति उक्त प्रमाणमनुक्तप्रमाणानुमानबीजं कृत्वा। विकल्पार्थमाह— तेषां विकल्प्योऽभ्यधिकोनभाव इति; भेषजप्रमाणस्याधिकभावं ऊनभावश्च विकल्प्य इत्यर्थः। (चक्रपाणिः)

तत्र मृदौ मात्रा मृद्वी, तीक्ष्णा क्रूरे, मध्ये मध्या कर्तव्येति पीतौषधश्च तन्मनाः शय्याभ्यासे विरेच्यते। सु० चि० ३३।२१ (ख)

मृद्वी मात्रा मृदुकोष्ठे मध्यकोष्ठे च मध्यमा।
क्रूरे तीक्ष्णा मता द्रव्यैर्मृदुमध्यमतीक्ष्णकैः ॥
शा० उ० ४।१३, वंगसेन

मृद्वी मृदुगुणोपेता वैरेचनिकद्रव्यगुणानां तीक्ष्णत्वादीनामपकर्षेण; तीक्ष्णा तीक्ष्णगुणोपेता, वैरेचनिकद्रव्यगुणानां तीक्ष्णत्वादीनां प्रकर्षेण। तन्मनाः विरेकमनाः। अभ्यासे समीपे। डल्हणः।

मृद्वादिद्रव्यैः मृद्वादिकोष्ठकेषु मृद्वादिमात्रा मता, आचार्याणामिति शेषः।

१. 'मन्दं मन्दं' इत्यत्र केचित् 'मन्दवीर्यैः ईत्येवं पठन्ति, तत्र 'द्रव्यैः' इति शेषः। डल्हणः।

ननु मृदुद्रव्यैर्मृद्वाद्या मात्रा भवति किमर्थं मृद्वादिमात्रेतीत्यादि। उच्यते— हीनयोगातियोगसम्यग्योगाय, ते च तस्याल्पकर्मता। कुर्यात् संश्लेषविश्लेषकाल-संस्कारयुक्तिः' इत्यादि मात्राज्ञानार्थमुक्तम्। आढमल्लः।

मृदुमध्यक्रूरकोष्ठे कर्षमर्द्धपलम्पलम्।
उष्णोदकानुपानन्तु पलं द्वे च पलत्रयम् ॥
तदर्द्धं पाययेच्चूर्णमनुपानञ्च तादृशम्।
क्वाथे क्वाथविधिः कार्य्यस्तदर्द्धः स्वरसोऽपि च ॥
पिचुं दद्यात्तथा स्नेहं पलार्द्धं पलमेव वा।
मृदुकोष्ठस्य दीप्ताग्नेर्दत्तं सम्यग्विरेचनम् ॥
न सम्यङ्निर्हरेद्दोषानतिमात्रप्रधावितम् ॥ वंगसेन
किञ्चान्यद्विधिवत्कालेस्निग्धास्विन्नेन भेषजम्।
मात्रावल्लघु पीतं हि न कदाचिद्विपद्यते ॥
नाचरेदतिमात्रं हि बहुशोऽपि पिबेन्मृदु।
कषायेण तु दातव्यं कषायैः साधुसिध्यति ॥
भे० सू० २५।१०-११

द्विपलं श्रेष्ठमाख्यातं मध्यमं च पलं भवेत्।
पलार्द्धं च कषायाणां कनीयं तु विरेचनम् ॥
कल्कमोदकचूर्णानां कर्षोमध्वाज्य लेहतः।
कर्षद्वयं पलं वापि वयोरोगाद्यपेक्षया ॥ भा० प्र०

हि० व्या०—संशोधनार्थ कल्पस्थान (चरक) में जितनी औषध ग्रहण करने का मान बताया गया है वह मान-मध्यम कोष्ठ, मध्यम वय और मध्यम बल वालों के लिए निर्दिष्ट है। इसी के आधार पर मृदु और क्रूरकोष्ठ उत्तम और हीन बल तथा बाल एवं वृद्धों के मान की कल्पना करनी चाहिए।

आचार्य सुश्रुत के अनुसार जिनका कोष्ठ मृदु हो, उन्हें संशोधनार्थ मृदु मात्रा, जिनका कोष्ठ क्रूर हो उन्हें तीक्ष्ण मात्रा तथा मध्यम कोष्ठ वाले को मध्यम मात्रा पिलाना चाहिए।

आचार्य वंगसेन के अनुसार मृदुकोष्ठ वाले व्यक्ति को एक कर्ष (तोला), क्रूरकोष्ठ वाले व्यक्ति को एक पल (चार तोले) तथा मध्यम कोष्ठ वाले व्यक्ति को आधा पल (२ तो०) की मात्रा में औषध सेवन कराना चाहिए। इसी प्रकार मृदु, मध्यम तथा क्रूर कोष्ठ वाले व्यक्ति को उष्ण जल का पान कराना हो तो क्रमशः चार तोले, आठ तोले और १२ तोले अनुपान रूप में उष्णोदक का पान कराना चाहिए। चूर्ण की मात्रा औषध मात्रा (जो पूर्व में बताई गई है) से आधी देनी चाहिए तथा अनुपान भी तदनुरूप आधा ही देना चाहिए। क्वाथ देना हो तो क्वाथ विधि से मात्रा तैयार करें। स्वरस की

मात्रा क्वाथ से आधी होनी चाहिए। स्नेह-पिचु २ अथवा ४ तोले प्रमाण में लेना चाहिए। मृदु कोष्ठ एवं दीप्ताग्नि वाले व्यक्ति को मात्राधिक्य औषधपान कराने से अच्छी प्रकार से दोषों का निर्हरण नही हो पाता।

अतिस्निग्धस्य स्नेहविरेचन निषेधे युक्तिः।

न चाति स्नेहपीतस्तु पिबेत् स्नेहविरेचनम्।
दोषाः प्रचलिताः स्थानाद्भूयः[1] श्लिष्यन्ति वर्त्मसु॥

सु० चि० ३३।४१

हि० व्या०—अतिस्निग्ध व्यक्ति को स्नेह विरेचन नहीं देना चाहिए। स्नेह विरेचन देने से, स्नेहन द्वारा अपने स्थान से गतिमान् दोष मार्गों में चिपक जाते हैं अतः उनका निर्हरण नहीं हो पाता।

मृदुकोष्ठक्रूरकोष्ठयोर्लक्षणं तत्र युक्तिश्च

गुडमिक्षुरसं मस्तु क्षीरमुल्लोडितं दधि।
पायसं कृशरां सर्पिः काश्मर्यत्रिफलारसम्॥
द्राक्षारसं पीलुरसं जलमुष्णमथापि वा।
मद्यं वा तरुणं पीत्वा मृदुकोष्ठो विरिच्यते॥
विरेचयन्ति नैतानि क्रूरकोष्ठं कदाचन।
भवति क्रूरकोष्ठस्य ग्रहण्यत्युल्बणानिला।
उदीर्णपित्तात्पकफा ग्रहणी मन्दमारुता।
मृदुकोष्ठस्य तस्मात्स सुविरेच्यो नरः स्मृतः॥

च० सू० १३।६८-६९

अभ्यर्हितत्वात् कोष्ठज्ञानस्यान्यथापि तल्लक्षणमाह गुडमित्यादि। उल्लोडितं दधि =दधिसरः। कृशरा तिलतण्डुलमाषकृता यवागूः। वचनं हि—"तिलतण्डुलमाषैस्तु कृशरा त्रिसरेति च"। क्रूरकोष्ठा विरेचन हेतुमाह—भवतीत्यादि। ग्रहणी=कोष्ठस्थाग्न्यधिष्ठान भूता नाडी। यदुक्तं—"अग्न्यधिष्ठानमन्नस्य ग्रहणाद्ग्रहणी मता" (चि० अ० १५) इति। उदीर्णपित्तेत्यादि मृदुकोष्ठ स्वरूपकथनम्। क्रूरकोष्ठस्य ग्रहणीगतो वायुगुडादीनां सरत्वं प्रतिबध्नाति, मृदुकोष्ठस्य हि ग्रहण्यां विरोधको वायुर्नास्ति स्तंभकोऽपि श्लेष्माऽल्पः, उद्भूतसरत्वगुणं च पित्तं प्रबलं, तेन गुडादिभिः सुखं विरेचनं भवतीति भावः। चक्रपाणिः।

तत्रमृदुः, क्रूरो मध्यम इति त्रिविधः कोष्ठो भवति। तत्र बहुपित्तो मृदुः, स दुग्धेनापि विरिच्यते; बहुवातश्लेष्मा क्रूरः, स दुर्विरेच्य; समदोषो मध्यमः, स साधारण इति।

सु० चि० ३३।२१

१. भूय इत्यादि पुनर्निलीयन्ते मार्गेष्वित्यर्थः। "न चाति स्निग्धकायस्तु" इति केचित् पठन्ति। डल्हणः।

दुग्धं चात्रोपलक्षणमात्रं - तेनेक्षुरसाम्लतत्रमस्तुगुडकृशरासर्पिर्नवमद्योष्णोदकपीलुद्राक्षारसादिभिरपि विरिच्यते, दुर्विरेच्यस्त्रिवृत्रिफलातिल्वकनीलिनीफलादिभिरपि दुःखेन विरिच्यते। डल्हणः।

कोष्ठस्तु त्रिविधो भवति। मृदुः क्रूरो मध्यश्च। तत्र बहुपित्तो मृदुः। सविरिच्यते क्षीरेक्षुरसाम्लतक्रमस्तुगुडकृशरा सर्पिर्नवमद्योष्णोदकपीलुद्राक्षापूगफलादिभिरपि। बहुवातः क्रूरः स दुर्विरेच्यस्त्रिफलातिल्वकत्रिवृन्नीलिनीफलादिभिरपि। बहुश्लेष्मा समदोषश्च मध्यः। स साधारणः ये च स्निग्धास्त्वच्छपानेन प्रायशस्त्रिसप्तपंचरात्रैरिति॥ अ० सं० सू० २६।३०

योऽच्छपेयस्नेहेन त्रिरात्रेण स्निह्यति स मृदु कोष्ठः। यः पञ्चरात्रेण स्निह्यति स मध्य इति। इन्दुः।

बहु पित्तो मृदुः कोष्ठः क्षीरेणाऽपि विरेच्यते।
प्रभूतमारुतः क्रूरः कृच्छ्राच्छ्यामादिकैरपि॥ अ० हृ० सू० १८।३४

अपिशब्दादारग्वधादिभिरपि। प्रभूतमारुतः क्रूरः कोष्ठो भवति। सकृच्छ्रेण कथंचिदपि श्यामादिकैर्विरेच्यते। आदिशब्देन द्रवंतिसुधादीनां ग्रहणम्।

अरुणदत्तः

अपिशब्दाद् द्राक्षारग्वधादिभिश्च तत्र तीक्ष्णद्रव्येण विरेकादतियोगजनिता पीडा स्यात्। अधिकमारुतः क्रूरसंज्ञा इत्युक्तस्य कोष्ठः श्यामादिभिरपि कथञ्चिदेव विरिच्यते। आदिशब्देन समुद्रैरण्डदन्त्यादीनां ग्रहणम्। अपि शब्दादारग्वधादिभिर्न्नविरिच्यत एव। श्लेष्मोत्तरमध्यकोष्ठस्तु छर्दनार्हः। समदोषमध्यकोष्ठस्त्रिवृदादिभिर्विरेच्य इत्यर्थादुक्तं भवति। परमेश्वरः।

बहुवातः क्रूरकोष्ठो दुर्विरेच्यः स कथ्यते।
मृद्वीमात्रा ददौ कोष्ठे मध्यकोष्ठे च मध्यमा॥
क्रूरे तीक्ष्णा मतादद्रव्यैर्मृदुमध्यमतीक्ष्णकैः।
मृदुर्द्राक्षापयश्चञ्चु तैलैरपि विरिच्यते॥
मध्यमस्त्रिवृतातिक्त। राजवृक्षैर्विरिच्यते।
क्रूरः स्नुक् पयसा हेमक्षीरीदन्तीफलादिभि॥ भावप्र०
पिताधिको मृदुः कोष्ठः पयसापिविरिच्यते।
वातेन श्लेष्मणा क्रूरो दुर्विरेच्यः स उच्यते॥ वङ्गसेन॥
पित्तबहुलेतराल्पा ग्रहणी भवति मृदुकोष्ठिनां तस्मात्।
सुविरेच्यामृदुकोष्ठाः प्रायः पित्तं ह्यधोभागि।
द्राक्षापीलुत्रिफलागोरसतप्ताम्बुतरुणमद्यानि ।
भुक्त्वाऽथ पायसं यो मृदुकोष्ठं स्रंस्य (स) ते नान्यः॥

क० सू० २२।३८-३९

पित्तेन मृदुकोष्ठः स्यात् क्रूरो वातकफाश्रयात्।
मध्यमः समदोषत्वान्मात्रा योज्याऽनुरूपतः॥

चक्रदत्तः॥

त्रिविधकोष्ठलक्षण

हि० व्या०—कोष्ठ तीन प्रकार के बताये गये हैं—मृदु, मध्य, एवं क्रूर। पित्त की अधिकता से कोष्ठ मृदु होता है। मृदुकोष्ठ वालों को मात्र दूध से ही विरेचन हो जाता है। श्लेष्मा एवं वात की प्रबलता से कोष्ठ क्रूर होता है। यह दुर्विरेच्य होता है। तीनों दोषों की समावस्था से कोष्ठ मध्यम होता है। इसे साधारण भी कहा जाता है क्योंकि सामान्य विरेचक द्रव्यों से ही विरेचन हो जाता है। अष्टाङ्ग संग्रह में मृदुकोष्ठ वाले व्यक्तियों को दुग्ध आदि चरकोक्त द्रव्यों के साथ पूगफल (सुपारी) तथा क्रूर कोष्ठ वाले व्यक्तियों को विरेचनार्थ त्रिफला, लोध्र, निशोथ, त्रायमाण आदि का उल्लेख किया है। मध्यमकोष्ठ, कफाधिक्य तथा समदोषों वाला होता है (यहाँ दो लक्षणों का उल्लेख किया है।)

अतः साधारण को अच्छ स्नेहपान से तीन दिन में शोधन हो जाता है अतः उसे मृदुकोष्ट समझना चाहिए। सात दिन में स्निग्ध होने वाले को क्रूरकोष्ठ तथा पाँच दिन में शुद्ध होने वाले को मध्यकोष्ठ वाला व्यक्ति जानना चाहिए। वंगसेन, चक्रदत्त, भावप्रकाश एवं शार्ङ्गधर में भी संहिताओं का अनुकरण किया है

मृदुकोष्ठ परिचय—

जिस व्यक्ति को गुड, ईख का रस दधि का पानी, दूध, मथा हुआ दही (मट्ठा), खिचड़ी, घी, गम्भारी, त्रिफला, मुनक्का, पीलू का रस (या क्वाथ आदि अन्य कल्पना) अथवा उष्ण जल, नवीन मदिरा पिलाने से विरेचन हो जाता हैं (इससे कोष्ठ का ज्ञान किया जाता है) काश्यप संहिता में भी यही निर्देश किया है।

क्रूरकोष्ठ परिचय

क्रूरकोष्ठ वाले व्यक्तियों को ग्रहणी स्थान में वातोल्वणता (प्रधानता) के कारण मृदु कोष्ठ वाले व्यक्तियों को विरेचक द्रव्य भी विरेचन नहीं कराते हैं। अतः मृदु विरेचक द्रव्यों के प्रयोग से विरेचन न होने पर व्यक्ति का क्रूरकोष्ठ जानना चाहिए।

मृदु कोष्ठ वाले व्यक्ति सुख विरेच्य होते हैं। मृदुकोष्ठ वाले व्यक्तियों के ग्रहणी स्थान में पित्तदोष की प्रधानता है तथा कफ एवं वायु अल्प होती है अतः मृदु विरेचक द्रव्यों से ही विरेचन सुखपूर्वक हो जाता है।

क्रूरकोष्ठस्य सम्यग्विरेचनाय दशदिन पर्यंतं मलोत्क्लेशक स्नेहन स्वेदन विधानम्।

अदृढस्नेहकोष्ठस्तु पिबेदूर्ध्वं दशाहतः।
भूयोऽप्युपस्कृततनुः स्नेहस्वेदैर्विरेचनम्।
यौगिकं सम्यगालोच्य स्मरन्पूर्वमतिक्रमम्॥

अ० हृ० सू० १८।३१ चक्रदत्तः

दृढस्नेहः कोष्ठो यस्य स दृस्नेहकोष्ठः। न दृढस्नेहकोष्ठोऽदृढ स्नेहकोष्ठः स भूयोऽति स्नेह स्वेदैः संस्कृतशरीरो दशाहादूर्ध्वं यौगिकं विरेचनं पिबेत्। यथावन्निरूप्य पूर्वमनुक्रमं भैषज्यमात्रां मंत्राभिमंत्रितामित्यादिकं तथाऽप्रवृत्तौ तु पाययेत्। उष्णांबु स्वेदयेदस्य पाणितापेनेत्यादिकं च तथापि अतिक्रमं स्मरन् पिबेदिति। अरुणदत्तः।

यौगिकं योगार्हं दूष्यादिकमालोच्यादृढस्नेहकोष्ठो यः स दशाहादूर्ध्वं भूयोऽपि स्नेहन स्वेदैः संस्कृतदेहः सन् तथा पूर्वमतिक्रमं स्मरन् पूर्वायोगकारणं चिन्तयन् अवहितो विरेचनं पिबेत्। चंद्रनन्दनः।

यस्तु निवृत्तस्नेहत्वान्न विरिच्यते स पुनः स्निग्धः स्विन्नो दशाहादूर्ध्वं विरेचनं पिबेत्। पूर्वमतिक्रमं प्रथमे विरेचने सामग्रीवैकल्यं स्मरन्सम्यगालोच्य यद्योग्यं स्यात्तत्पुनर्देयं न प्रथमेव। संग्रहे तु ह्रीभयलोभैश्च वेगाघातशीलाः प्रायशस्त्रिशो राजसमीपस्था वाणिजश्च भवंति। तस्मादेते वेगाधारणात् प्रवृद्ध वातत्वात्सदातुरा दुर्विरेच्याश्च। तान् सुस्निग्धान् शोधयेदन्यान्यपि चाकालनिहाराविहारान् तश्चैषां सदातुरत्वादल्पोऽप्यामयोदुःसाध्यो भवतीति। हेमाद्रिः।

अदृढ़स्नेहकोष्ठस्तु भूयोऽपि दशाहात् स्नेहस्वेदैरुपस्कृदतनुरुर्ध्वं पूर्वमतिक्रमं स्मरन् सम्यग्। लोच्य यौगिकं विरेचनं पिबेत्। अदृढ़स्नेहकोष्ठोसम्यक्स्निग्धकोष्ठस्तु पुनरपि दशाहमवलंब्य स्नेहस्वेदैरूपस्कृततनुः सप्ताहं स्नेहनं कृत्वा त्र्यहं स्वेदनं विधायोत्पन्नस्नेहफलशरीरस्सन् पश्चात् कोष्ठस्य स्थिरताया अभावञ्च तन्निमित्तौषधान्यथात्वं च सर्वमयोगनिमितञ्च स्मरन् पूर्वायोगकारणत्यागार्थं यथावदस्य रोगिण एवंविधमौषधं कार्यकरमिति निरूप्य योगार्हं विरेचनौषधं पिबेत्। परमेश्वरः

अदृढ़स्नेहकोष्ठ इति-असम्यक्स्निग्धकोष्ठ इत्यर्थः। स्मरन् पूर्वमनुक्रममितियेन मात्राभियोगेन पूर्वमयोगोऽभूत् तत् स्मृत्वा परिहर्तव्यमिति भावः।

शिवदाससेनः।

हि० व्या०—जिन व्यक्तियों का कोष्ठ अच्छी प्रकार स्निग्ध नहीं हो उन्हें दश दिन बाद पुनः स्नेहन स्वेदन कराना चाहिए और पूर्वानुक्रम का स्मरण करते हुए सम्यक् रूप से विरेचन कराना चाहिए।

अविज्ञातकोष्ठस्य मृदुविरेचने युक्तिः

प्रागपीतं नरं शोध्यं पाययेत्तौषधं मृदु ।
ततो विज्ञात कोष्ठस्य कार्यं संशोधनं पुनः । सु० चि० ३३।३४

हि० व्या०—जिस व्यक्ति ने पूर्व में कभी संशोधन औषध का पान नहीं किया है, उसे मृदु औषध पिलाना चाहिए। इससे उसका कोष्ठ ज्ञात हो जाता है, पुनः यथामात्रा संशोधन औषध पिलाना चाहिए।

इति तीक्ष्णस्यापि शोधकस्यौषधस्य कदाचित् न सम्यक् विरेचकत्वे कारणानां निर्देशः ।

मृदु कोष्ठस्य दीप्ताग्नेरतितीक्ष्णं विरेचनम् ।
न सम्यङ्निर्हरेद्दोषानतिवेगप्रधावितम् ॥ सु० चि० ३३।३५

अतिवेग प्रधावितम् अतिवेगप्रवर्तितम्। न सम्यङ्निर्हरेद्दोषानिति कुतः? कोष्ठमार्दवादग्निदीप्तेरतितैक्ष्ण्याच्च। अयमभिप्राय-मृदुकोष्ठस्य कोष्ठमार्दवेन शीघ्रप्रवृत्तिः, दीप्ताग्नेश्चाग्निदीप्त्या आशुपाकित्वादचिरस्थायिनी पच्यमानावस्था अतस्तद्धेतुकाऽतिप्रवृत्तिरपि तथाभूतैव; तथा विरेचनस्य तीक्ष्णतयाऽपि शीघ्रप्रवृत्तिरितिहेतुत्रयेण शीघ्रं प्रवर्तनाद्दोषाणां न निःशेषेण दोष निर्हरणम्। तस्मान्मृदेव विरेचनं स्वल्पमात्रं देयमिति। डल्हणः।

हि० व्या०—जिन व्यक्तियों की अग्नि प्रदीप्त हो, कोष्ठ मृदु हो उनको अति तीक्ष्ण विरेचनौषध का सेवन कराने पर औषध के अत्यन्त वेग से गति करने के कारण सम्यक् रूप से दोषों को बाहर नहीं निकालती है।

विरेचन प्रयोगात् पूर्व दिने तथा अपरेऽह्नि किं कर्तव्यम्

अथातुरं श्वो विरेचनं पाययिताऽस्मीति पूर्वाह्णे लघुभोजयेत्, फलाम्लमुष्णोदकं चैनमनुपाययेत्॥ अथापरेऽह्नि विगतश्लेष्मधातुमातुरोपक्रमणीयादवेक्ष्यातुरमथास्मै औषधमात्रां पातुं प्रयच्छेत्। सु० चि० ३३।२०

विरेचनस्य प्राक्कर्म निर्दिशन्नाह-अथेत्यादि। पूर्वाह्ण ग्रहणं सायम्भोजननिषेधार्थम्। फलाम्लं बीजपूरादि। फलाम्लोष्णोदकानुपानं पित्तवर्द्धनार्थम्, अन्ये तु कफावजयार्थमाहुः। विगतश्लेष्मधातुमिति विगतश्लेष्माणमिति कर्तव्ये धातुग्रहणं श्लेष्मसहचरितरसधातूपलक्षणं, रसावशेषेऽपि सप्रसेकत्वात् पुरुषस्य विरेचनं न देयमिति मात्रा पुरुषस्य बलापेक्षया प्रधानमध्यादिभेदेन तन्त्रान्तरोक्ता कथ्यते—

'द्वे पले ज्येष्ठमाख्यातं मध्यमं तु पलं भवेत्। पलार्धमुपयुञ्जीत कनीयस्तु विरेचनम्' इति। डल्हणः।

१. अविज्ञातकोष्ठस्य मृदुविरेचनं देय मित्याहप्रागित्यादि। प्राक् पूर्वं न पीतं विरेचनं येन सः तम्॥ डल्हण।

अथ वमितवन्तं पुनरेव स्नेहस्वेदाभ्यामुपपाद्य श्वो विरेचयितव्य इति सुजरमश्लेष्मलं स्निग्धं फलाम्लमुष्णमुष्णोदकानुपानं जांगलरसौदनं भोजयेत्। ततः सुखोषितं पूर्वोक्ते विधिनाऽतीतश्लेष्मकाले निरन्नं विभज्य कोष्ठं यथार्हौषधमात्रां पाययेत्। न त्वकृतवमनमन्यत्रातिक्रूरकोष्ठात्।

अ० सं० सू० २७।२७

अथ वमितवन्तं विधिना संस्नेह्य संस्वेद्य च श्व अयमातुरो विरेच्य इति रसौदनं भोजयेत्। किंभूतमित्याह सुजरमित्यादि। फलेन दाडिमादिनाम्लम्। ततो रसौदनं भुक्त्वा रात्रौ सुखेनानायासेनोषितं प्रातर्निरन्नं श्लेष्मकाले दिनस्य प्रथमत्रिभागे गते कोष्ठं मृद्वादि भेदेन विभज्य विकल्प्य यथार्हामौषध मात्रां पाययेत् पूर्वोक्ते नैव वमनोक्तेन मङ्गलपूर्वेण विधिना। अकृतवमनमातुरं विरेचनं न पाययेत्। क्रूरकोष्ठमकृतवमनमेव विरेचनं पाययेत्। कुत एवमित्याह। इन्दुः।

विरेचन के पूर्व कर्म एवं विधि

हि० व्या०—यदि कल विरेचनौषध पिलाना हो तो प्रातः काल लघु आहार देना चाहिए। अम्ल फलों का रस तथा उष्ण जल का पान कराना चाहिए। द्वितीय दिन आतुरोपक्रमणीय अध्याय में निर्देशित विधि के अनुसार श्लेष्मा एवं रस धातु के हीन होने की (नष्ट होने की) परीक्षा करके विरेचनौषध पिलाना चाहिए, (अर्थात् श्लेष्मा एवं रस धातु की वृद्धि की स्थिति में विरेचन नहीं कराना चाहिए।)

अष्टाङ्ग संग्रहकार लिखते हैं कि—सम्यक् रूप से वमन कर्म सम्पन्न हो जाने के पश्चात् रोगी में बलाधान हो गया हो तब उस रोगी को विरेचन कर्म भी कराना अभीष्ट हो तो उसे पुनः स्नेहन एवं स्वेदन से उपपादित करें। सुश्रुतोक्त लघु भोजन के स्थान पर मांसरस के साथ भात के आहार का उल्लेख किया है। इस आहार को सुपाच्य बनाने के लिए अम्ल द्रव्य (अनारदाना, इमली आदि) डालें। यह आहार कफकारक भी न हो तथा स्निग्ध भी होना चाहिए। यथाक्रम वमन के पश्चात् संसर्जन कर्म एवं स्नेह स्वेदादि के उपरान्त विरेचन कराने का विधान होते हुए भी क्रूरकोष्ठवाले व्यक्ति को वमन कराये बिना भी विरेचक औषध पिलाई जा सकती है।

वमनानन्तरं विरेचनात् प्राक् आस्थापनविचारः

स्नेह स्वेदोपपन्नं तु छर्दितं भावितं पुनः।
विरेचनस्य सिद्ध्यर्थं पूर्वमास्थापयेद्भिषक्।
अजीर्यदथ रुक्षं हि विरेचनमथोल्लिखेत्॥ भे० सं० सू० १४।
प्रवृत्तं हि मलं स्निग्धं विरेको निर्हरेत्सुखम्। अ० हृ० सू० १९

हि० व्या०—विरेचन से पूर्व स्नेहन कराने से प्रवृत्त हुए मलों का सुख-

पूर्वक विरेचन से निर्हरण हो जाता है। अथवा प्रवृत्त मलावस्था में स्नेह विरेचन सुखपूर्वक उन्हें बाहर निकाल देता है।[1]

कतिपय रोगेषु विरेचनात् प्राक् स्नेहनप्रयोग निषेधः

विषाभिघातपिटिकाकुष्ठशोथ विसर्पिणः।
कामलापांडुमेहार्तान्नातिस्निग्धान् विरेचयेत ॥ अ० हृ० सू० १८

नातिशब्दोऽत्रेषदर्थे। नातिशीतगुप्तमित्यत्र यथा। विषाद्यार्तानीषत्स्निग्धान् विरेचयेत्। अरुणदत्तः।

विषाभिघातादिभिर्मेहान्तैरार्तानातुरान् नातिस्निग्धान् सामर्थ्यादीषत्स्निग्धान् कृत्वा यथायथं योग्यैर्विरेचनौषधैः प्रायेण रूक्षैर्विशोधयेत्।

चंद्रनन्दनः।

हि० व्या०—विष विकार, अभिघात, पिडिका, कुष्ठ, शोथ, विसर्प, कामला, पाण्डु तथा प्रमेह रोग से सन्तप्त व्यक्तियों को ईषद् स्नेहन के बाद विरेचन कराना चाहिए। (अधिक स्नेहपान कराना उचित नहीं है।

स्नेहविरेचनस्य रूक्षविरेचनस्य च प्रयोगस्थलानि।

नातिस्निग्धशरीराय दद्यात् स्नेह विरेचनम्।
स्नेहोत्क्लिष्टशरीराय रूक्षं दद्याद्विरेचनम्।
एवं ज्ञात्वा विधिं धीरो देशकालप्रमाणवित्।
विरेचनं विरेच्येभ्यः प्रयच्छन्नापराध्यति ॥

च० सि० ६।१६ च० क० १२।८०-८१

स्नेह विरेचनमिति स्निग्धं विरेचनमित्यर्थः। अनति स्निग्धे स्नेहविरेचनमनतिस्निग्धत्वेन क्रियमाण विरेचनायोगप्रतिषेधार्थम्; अतिस्निग्धस्य स्नेहविरेचनं स्नेहन प्रकर्षादतिवेगं गच्छत् प्रचलितानपि दोषान् निहन्तुं न शक्नोति दोषास्तु तेन विरेचनेन स्वस्थानात् प्रच्यावित भूयः स्रोतः सु लीयन्ते, तत्प्रतिषेधार्थं रूक्षं विरेचनं सम्यग्योगकारकं दद्यादित्ययमाशयः। चक्रपाणिः।

नाति स्निग्ध शरीरायेति। मन्दस्निग्धादीनां सस्नेहमतिस्निग्धानां च रूक्षणं विरेचनमिति प्रतिनियमे। विसर्पचिकित्सतोपदेशात्। अयमत्र निषेध आद्यानपेक्ष इत्यन्ये। यदा तु सर्वाश्रयो विधिस्तदा स्नेहविरेचनं स्निग्धस्य विहितमेव। 'स्निग्धाय स्वेदिताङ्गाय दद्यात्स्नेहविरेचनम्' इति। अतिस्निग्धस्य स्नेहनविरेचन प्रतिषेधः। किं तर्हि, तस्य स्नेहोत्क्लिष्ट दोषस्य सुखेन विरेचनविधानादति स्निग्धस्य स्नेहविरेचन विधानमिति। एवं हि तद्विपर्ययेण सूत्रार्थ सम्पादितो भवतीति। कथं तर्हि, रूक्षस्य वायुरङ्गग्रहं करोति; इत्युक्तं, तेन नानर्थकः प्रसङ्गः। अत्राप्यतिदिनग्धस्यातियोगभयं भवेदिति।

१. यस्यान्मलं प्रवृत्तं सन्तं किंचित्पतितं स्निग्धो विरेकः सुखं मलप्रेरणेन निर्हरेत्॥ अरुणदत्तः।

कतमेन विरेचनेन किं स्निग्धेन रूक्षेणेति। अवचनाददोषः। यदि च नातिस्निग्धे प्रतिषेधः। एवं च नोभयप्रसङ्ग इति। स्नेहादीनामनुक्तगुणनिर्देशार्थमुद्देशश्लोकः। जज्जटः।

हि० व्या०—जिन व्यक्तियों का शरीर अत्यधिक स्निग्ध हो गया हो उन्हें स्नेह विरेचन का प्रयोग कराना चाहिए। कदाचित्—स्नेहाधिक्य से जिन व्यक्तियों के शरीर में दोष उभर गये हों उन्हें दोष निर्हरण हेतु रूक्ष विरेचन औषध प्रयोग कराना चाहिए। देश, काल तथा प्रमाण को जानने वाले धैर्यवान् चिकित्सक का कर्तव्य है कि वह नियमानुसार विरेच्य व्यक्ति को विरेचनौषध का प्रयोग करावें इससे उसे किसी प्रकार की कार्यहानि अथवा त्रुटि नहीं होती हैं।

दुर्बलस्य मृदुविरेचनयोगदाने युक्तिः

दुर्बलस्य मृदुद्रव्यैरल्पान् संशमयेत्तु तान्।
क्लेशयंति चिरं ते हि हन्युर्वेनमनिर्हृताः ॥ अ० हृ० सू० १८।५१
दुर्बलः शोधितः पूर्वमल्पदोषः कृशो नरः।
अपरिज्ञातकोष्ठस्तु पिबेन्मृदल्पमौषधम् ॥

अ० हृ० सू० अ० १८।४६, चक्रदत्तः। (विरेचनाधिकारे-२८)

हि० व्या०—जो व्यक्ति दुर्बल हों, जिनका शोधन किया गया हो, जिसमें दोष अल्प हों, शारीरिक बल हीन हो तथा जिसके कोष्ठ के विषय में ज्ञान न हो उन व्यक्तियों के लिए मृदु औषध का भी स्वल्प मात्रा में प्रयोग कराना चाहिए।

स्नेह सात्म्यस्य किंचिद्विरूक्षणपूर्वकं स्नेहनोत्तरं विरेचन विधानम्

[1]विरूक्ष्य स्नेहसात्म्यं तु भूयः संस्नेह्य शोधयेत्।
तेन दोषा हुतास्तस्य भवन्ति बलवर्धनाः ॥ सु० चि० ३३।४३
[2]सर्वान् स्नेहविरेकैश्च रूक्षैस्तु स्नेह भावितान्।

अ० सं० सू० २७। अ० हृ० सू० १८।

हि० व्या०—जिन्हें स्नेह सात्म्य हो गया है उन्हें सर्वप्रथम रूक्ष क्रिया द्वारा रूक्ष करके पुनः स्नेहन कराकर संशोधन कराना चाहिए। इससे निष्क्रिय हुए दोष निकलते हैं एवं शरीर में बल वृद्धि होती है।

१. विरूक्षेत्यादि। 'बलवर्धना' इत्यत्र 'स्नेहबन्धना' इति पठन्ति, स्नेहबन्धना; स्नेहोपलिप्तस्रोतोबन्धना इत्यर्थः। डल्हणः।

२. एतान् सर्वान् विशोध्यव्याध्यार्तान् स्नेहविरेचनैः शोधयेत्। स्नेहभावितदेहान् वा रूक्षैरेव विरेचनैः शोधयेत्। स्नेहभाविदेहा येषां संचितस्नेहसंस्कारो देहस्य विद्यते। इन्दुः।

अस्निग्धादि पुरुषे विरेचन प्रयोगः

अस्निग्धे रेचनं स्निग्धं रूक्षं स्निग्धेति शस्यते ।
विरूक्ष्य स्नेहसात्म्यन्तु भूयः स्निग्धं विरेचयेत् ॥ चक्रदत्तः
विरूक्ष्य स्नेहसात्म्यन्तु भूयः संस्नेहय रेचयेत् ।
तेन दोषा हृतास्तस्य भवन्ति मलबन्धनाः ॥ वङ्गसेन

हि० व्या०—रूक्ष व्यक्तियों को स्नेहविरेचन कराना चाहिए तथा स्निग्ध व्यक्तियों को रूक्ष विरेचन का प्रयोग कराना चाहिए। जिन व्यक्तियों को स्नेह सात्म्य हो गया हो उन्हें पूर्व में रूक्षण कर्म कराकर स्नेहन कराना चाहिए तत्पश्चात् विरेचनौषध पिलानी चाहिए। वंगसेन में लिखा है कि इस क्रम से विरेचन कराने से दोष नष्ट हो जाते हैं तथा उनके बन्धन शिथिल हो जाते हैं।

विरेचने दोषादि निर्हरण संकेतः।

यथा वमने प्रसेकौषधकफपित्तानिलाः क्रमेणायान्ति तथा विरेचने पुरीष! पित्तौषधकफा इति। वङ्गसेन (विरेचनाधिकार)

हि० व्या० – जिस प्रकार वमन में प्रसेक औषध का सेवन करने पर क्रमशः कफ-पित्त और वायु का निर्हरण होता है उसी प्रकार विरेचनौषध सेवन से मल-पित्त, औषध तथा कफ का क्रमशः निर्हरण होता है।

विरेचकौषध पीतवतः कर्तव्यानि

विरेचनं पीतवांस्तु न वेगान् धारयेद्बुधः।
निवातशायी शीताम्बु न स्पृशेन्न प्रवाहयेत् ॥ सु० चि० ३३।२२

हि० व्या०—जिसने विरेचनौषध का पान किया हो उसे मल-मूत्र आदि वेगों को धारण नहीं करना चाहिए। उसे वायुरहित स्थान पर सोना चाहिए। शीतल जल का सेवन नहीं करना चाहिए तथा मल निकालने के लिए श्रम नहीं करना चाहिए।

क्वचित् जाठराग्निबलात् विरेचन योग निस्फलतायां पुनर्विरेचनोपक्रम वर्णनम्

रूक्षबह्वनिलक्रूरकोष्ठव्यायामशीलिनाम् ।
दीप्ताग्नीनां च भैषज्यमविरेच्यैव जीर्यति ॥
तेभ्यो बस्तिं पुरा दद्यात्ततः स्निग्धं विरेचनम् ।
शकृन्निर्हृत्य वा किंचित्तीक्ष्णाभिः फलवर्तिभिः ॥ अ० हृ० सू० १८।

रूक्षादीनां भैषज्यमविरेच्यैव विरेचनमकृत्वैव परिणतिमेति। तेभ्यो रूक्षादिभ्यः पूर्वं बस्तिं – दद्यादनंतरमेरण्डतैलविदुघृतादिकं विरेचनं योजयेत्। अथवा फलवर्तिभिस्तीक्ष्णाभिः पुरीषं किंचिदल्पं निर्हृत्य निःसार्यं स्निग्धं विरेचनं दद्यात्। अरुणदत्तः।

रूक्षादियुक्तानां पुंसां तथा दीप्ताग्नीनां भेषजं विरेचनमौषधमविरिच्यैव विरेचनमकृत्वैव अतस्तेभ्यो नरेभ्यः पुरा बस्तिं दत्त्वा ततोऽनन्तरं नीलिनीघृतादिकं दद्यात्। अथवा तीक्ष्णाभिः फलवर्तिभिः शकृत् पुरीषं स्तोकं निर्हृत्य विरेचनं दद्यात्। यस्मात् फलवर्तिभिर्विरेचयेत्। चंद्रनन्दन।

रूक्षादीनां विरेचनार्थं पीतं भैषज्यमविरेच्यविरेचनमकृत्वा जीर्यत्येव जरां यात्येव शीघ्रपाक गमनादिति। अतिरूक्षस्य बह्वनिलत्वेपि पृथगुक्तो रूक्षतया विना लघुशीतादिना कुपितस्य वोरुस्तंभादिकरत्वदर्शनात्। तेभ्यः पुरो बस्तिं दद्यात्। तेभ्यो रूक्षादिभ्यो वाताधिकत्वात्तज्जयाय पूर्वं बस्तिं स्नेहन प्रयोजयेत्। ततोऽनन्तरं विन्दुघृतैरण्डतैलादिकं विरेचनं योजयेद्वा। तीक्ष्णाभिः फलवर्तिभिश्शकृत् किञ्चिन्निर्हृत्य स्निग्धविरेचन दद्यात्। परमेश्वर।

हि० व्या०—जिनका कोष्ठ रूक्ष हो, वात की प्रबलता से कोष्ठ क्रूर हो गया हो, जो प्रतिदिन व्यायाम करते हों तथा जिनकी अग्नि प्रबल हो इस प्रकार के व्यक्तियों को विरेचनार्थ दी गई औषध विरेचन कराये बिना ही पच जाती है ऐसी अवस्था में पहले स्नेहबस्ति देनी चाहिए। तीक्ष्ण द्रव्यों की फलवर्ति देकर थोड़ा मल निकाल देना चाहिए तब सिद्ध विरेचन देना चाहिए।

रूक्षादिकोष्ठे विरेचन प्रयोग विधिः

रूक्षबह्वनिलक्रूर—कोष्ठव्यायामशीलिनाम् ।
दीप्ताग्नीनाञ्च भैषज्यमविरिच्यैव जीर्यति ॥
तेभ्यो बस्तिं पुरा दद्यात् ततः स्निग्धं विरेचनम् ।
चक्रदत्तः (विरेचना०) २६

रूक्षादयः कोष्ठेन सार्द्धं सम्बध्यन्ते। अविरिच्येवेति विरेकमकृत्वा। बस्तिनिरूह इति केचित्; अन्ये तु निरूहापेक्षया स्नेहबस्तेर्वातप्रशमकत्वेनानुवासनमत्रबस्तिशब्दार्थ इत्याहुः; तूभयमित्याहुः। शिवदाससेन।

हि० व्या०—रूक्ष शरीर वाले, जिनके शरीर में वात प्रबल हो, जिनका कोष्ठ क्रूर हो, प्रतिदिन व्यायाम करने वाले, जिनकी अग्नि प्रदीप्त हो, उनको प्रयोग कराई गई विरेचनौषध विरेचन नहीं कराते हुए पच जाती है। इस प्रकार के व्यक्तियों को पूर्व में स्नेह बस्ति का प्रयोग कराना चाहिए तदनन्तर स्नेह विरेचन का प्रयोग कराना चाहिए।

सम्यक् विरिक्तस्य लक्षणानि

स्रोतोविशुद्धौन्द्रियसंप्रसादौ
लघुत्व[1]मूर्जोऽग्निरनामयत्वम् ।

१. ऊर्जोऽग्निरिति पटुरग्नि। अनामयत्वमिति विरेचन जेतव्यदोषजनितविकारव्यपगमः। चक्रपाणिः।

प्राप्तिश्च विट्पित्तकफानिलानां
सम्यग्विरिक्तस्य भवेत्क्रमेण ॥ च० सि० १।१७-१८, चक्रदत्त
दौर्बल्यं लाघवं ग्लानिर्व्याधीनामणुता रुचिः ।
हृद्वर्णशुद्धिः क्षुत्तृष्णा काले वेग प्रवर्तनम् ॥
बुद्धीन्द्रिय मनः शुद्धिर्मारुतस्यानुलोमता ।
सम्यग्विरिक्तलिङ्गानि कायाग्नेश्चानुवर्तनम् ॥ च० सू० १६।५-६
[1]गतेषु दोषेषु कफान्वितेषु
नाभ्या लघुत्वे मनसश्च तुष्टौ ।
गतेऽनिले चाप्यनुलोमभावं
सम्यग्विरिक्तं मनुजं व्यवस्येत् ॥ सु० चि० ३३।२५, वंगसेन
सम्यग्विरेकाद् व्याध्युपशमो यथोक्त विपर्ययश्च । अ० सं० सू० २७।
अस्निग्धारक्ततात्राणां लाघवं गात्रमार्दवम् ।
हृदयोद्गारमूत्राणां शुद्धिर्वातानुलोमतः ॥
प्रसन्नस्वरवर्णत्वं बुभुक्षा व्याधिनिग्रहः ।
श्लेष्मणा च स्वयं स्थानं सुविरिक्तस्य लक्षणम् ॥
भे० सि० १।३४-३५
आमपक्वाशयौ पित्त गुदो गर्भाशयामृजी ।
विरेक··· ··· ··· ॥
··· ··· ···क्षुद्वातमूत्रानुलोमता ।
लाघवं चाग्निदीप्तिश्च सम्यक्स्त्रंसितलक्षणम् ॥ का० सि० २।
बलासौषधपित्तानि वायुर्वान्ते यथा व्रजेत् ।
रेकान्तथा मलं पित्तं भेषजं च कफो व्रजेत् ॥ शा० उ० ४।३६

यथा वमने प्रथमं बलासः कफः प्रवर्तते । पश्चाद्वमनद्रव्यं निर्गच्छेत् । तदनु पित्तानि बहुवचनत्वेन हरितपीतानि कटुतिक्त प्रायाणीति । तत्पश्चाद्वायुरिति । तथा एवमपि विरेकात्प्रथमं मलं पुरीषं तदनु पित्तं तत्पश्चाद्विरेचनं द्रव्यं । तदनु कफः प्रवर्तत इति । तेन कफान्ते च विरेचनमिति वचनात् । एतेन सम्यग्वाऽसम्यग्विरिक्तश्च कथित इत्यभिप्रायः । अन्यथा दुर्वान्तो दुर्विरिक्त इति । तेन दुर्वान्त लक्षणमनाध्यायेऽभिहितं दुर्विरिक्तलक्षणमत्रैवाग्रे वक्ष्यति । नाभेरिति षष्ठं वदन्ति केचित् । तत्र नाभेरेव स्रस्तत्वम् । आढमल्लः ।

बुद्धेः प्रसादं बलमिन्द्रियाणां
धातुस्थिरत्वं बलमग्निदीप्तिम् ।
चिराच्च पाकं वयसः करोति
विरेचनं सम्यगुपास्यमानम् ॥
सु० चि० ३३।२७, अ० सं० सू० २७।६४, अ० हृ० सू० १८।५३, वंगसेन

१. गतेष्वित्यादि । दोषोऽत्र पित्तस्थान गतं दोषोपलक्षितं पुरीषं कफपित्तं च ।

कायमनसोरन्योन्यानुविधानात् कायमपि मनोऽनुविधत्ते मनश्च काय इति । शरीरशुद्धिकारणं हि विरेचनं, तच्छुद्धौ मनसो विशुद्धिः, मनः शुद्धौ बुद्धिप्रसाद उपपन्न एवेत्यतो बुद्धिप्रसादं करोतीत्युक्तम् । धातुस्थिरत्वमुपचयलक्षणबलेन । अत्र बलशब्देनोत्साहलक्षणबलम् । केचित् 'विरेचनं सम्यगुपास्यमेव' इति पठन्ति । केचिद्बुद्धिप्रसादादयस्तात्कालिका विरेचनस्य गुणाः, अग्निदीप्ति प्रभृतयस्तु केचित्संसर्जनक्रमानन्तरभाविन इति कथयन्ति । उपस्तम्भादिकारिणो मलस्य क्षयकार्यपि विरेकः स्रोतः शुद्धया बलमादधाति तक्रपानवत् । उक्तं च—"स्रोतः सु तक्रशुद्धेषु रसः सम्यगुपैति यः । तेन पुष्टिर्बलं वर्णः प्रहर्षश्चोपजायते ।" डल्हणः ।

इन्द्रियाणां बलं बुद्धिः प्रसादो वह्निदीप्तता ।
धातुस्थैर्यं वयः स्थैर्यं भवेद्रेचनसेवनात् ॥
योगरत्नाकर, शार्ङ्गधर, उ० ४।४५

इन्द्रियाणामिति । चक्षुरादीनां बलं स्व-स्व विषय—ग्राहकताशक्त्यतिशयः । बुद्धेः प्रसादः प्रसन्नता, वह्नेः कायाग्नेः । दीपनं भवति । धातूनां रसादीनां स्थैर्यं मार्गस्य शुद्धत्वात् । तेनैव हेतुना वयसः स्थैर्यं करोति । आढमल्लः ।

यथा वृक्षस्य पुष्पेषु पलाशेषु फलेषु च ।
शीर्णेष्वन्यानि रोहन्ति तथा व्याधिरनिर्हृतः ॥
यथा मूले तरोश्छिन्ने मलायत्यग्रं न संशयः ।
एवं विरेचिते व्याधिरुपशाम्यति देहिनाम् ॥ भे० सू० १४।७-८
आढकाधाढक प्रस्थसंख्या ह्येषा विरेचने ।
श्लेष्मान्तत्वाद्विरेकस्य न तामिच्छति तद्विदः ॥
एको विरेकः श्लेष्मान्तो न द्वितीयोऽस्ति कश्चन । इति डल्हणः ।

अग्न्यधिष्ठान संश्लवादत्यर्थमग्निमांद्यहेतौ विरेचन एवाढकादिसंख्या, वमनास्थापनयोस्त्वग्न्यधिष्ठानानभिभवेन तादृशाग्निमान्द्याभावान्माननियमो नास्तिः अतएव तदहरेव वमने कुलत्थमुद्गयूषभोजनं, आस्थापने मांसरसभोजनमनुवासनं च । एतन्मतं निरस्यन्नाह—श्लेष्मान्तत्वादित्यादि । अयमभिप्रायः—विरेचनं निःशेषपित्तहरणाय प्रयुज्यते, निःशेष पित्त निर्हरणं च तदैवानुमीयते यदा पित्तप्रवर्तनानन्तरं तत् परदेशस्थ आम रूपः कफः प्रवर्तते; तस्मात् कफान्तिकत्वाद्विरेकस्य तां प्रस्थादिकां संख्यां विरेचनविदो नेच्छन्ति । एतेन वैंगिकोऽपि निराकृतः, लैङ्गिकः पुनरेकान्तेन विशुद्ध एव । यतो लैङ्गिकेऽपि कफान्तिकत्वमस्ति । तथा च 'वमने प्रसेकौषधकफपित्तानिलाः क्रमेण गच्छति, एवमेव विरेचने पुरीषपित्तौषधकफा' इति । अतो वैंगिकमानिकौ विरेकौ गौणतया प्रतिपादितौ क्वचिद्बालवृद्धाद्यवस्थावशात् प्रयुक्तौ कर्तव्यौ । मुख्यः पुनरेकः कफान्तिक एवेत्याह—एको विरेक इत्यादि । न द्वितीयोऽस्तीति तृतीयस्य पुनः का कथा, एवं वमनमप्येकमेव । तथा च भोजः,

"तस्मान्मतिमता नित्यमात्मानं परिरक्षिता।
पित्तान्तं वमनं स्थाप्यं कफान्तं च विरेचनम्।" इति डल्हणः।

सम्यक् विरेचन होने पर

हि० व्या०—विरेचन जन्य दुर्बलता का अनुभव होना, शरीर में लघुता प्राप्त होना, ग्लानि, व्याधि में न्यूनता आना, आहार में रुचि उत्पन्न होना, हृदय एवं वर्ण की शुद्धि होना, भूख-प्यास की उत्पत्ति, समय पर मल-मूत्र का उत्सर्जन होना, बुद्धि, इन्द्रियां एवं मन का स्वच्छ होना, वायु का अनुलोमन होना तथा जठराग्नि का सम होना सम्यक् विरिक्त के लक्षण जानने चाहिए। चरक सिद्धिस्थान में वर्णित सम्यक् विरिक्त के लक्षणों में स्रोतो शुद्धि, उत्साह, स्वास्थ्य की अनुभूति तथा क्रमशः मल, पित्त, कफ एवं वायु की प्रवृत्ति होना विशेष लक्षण बताए हैं।

सुश्रुत ने भी इन्हीं लक्षणों का उल्लेख किया है। अष्टाङ्गसंग्रह में इन सभी लक्षणों का संक्षेप में सारगर्भित वर्णन करते हुए लिखा है कि रोग की उपशान्ति हो जाना तथा किसी प्रकार के उपद्रव उत्पन्न नहीं होना अपितु सभी शुभ लक्षणों की उत्पत्ति होने पर सम्यक् विरेचन जानना चाहिए। काश्यप ने विरेचन के पश्चात् आमाशय, पित्ताशय, पक्वाशय, गुदा, गर्भाशय तथा रक्त अथवा रक्त की परिभ्रमण क्रिया में स्वाभाविकता होने से सम्यक् विरिक्त के लक्षण बताए हैं।

दोष निर्हरण क्रम से शार्ङ्गधर ने सम्यक् विरिक्त लक्षण बताए हैं—जिस प्रकार वमन में पहले कफ फिर औषध, पित्त तथा वायु क्रमशः निकलते हैं उसी प्रकार विरेचन में क्रमशः मल, पित्त, औषध तथा कफ के निकलने पर सम्यक् विरेचन जानना चाहिए।

विरेचनायोग लक्षणानि

ष्ठीवनं हृदयाऽशुद्धिरुत्क्लेशः श्लेष्मपित्तयोः।
आध्मानमरुचिश्छर्दिरदौर्बल्यमलाघवम्॥
जंघोरुसदनं तन्द्रा स्तैमित्यं पीनसागमः।
लक्षणान्यविरिक्तानां मारुतस्य च निग्रहः॥

च० सू० १६।७-८

श्यावच्छ्लेष्मपित्तानिलसंप्रकोपः सादस्तथाऽग्नेर्गुरुता प्रतिश्या।
तन्द्रा तथाच्छर्दिररोचकश्च वातानुलोम्यं न च दुर्विरिक्ते॥

च० सि० १।१८-१९, चक्रदत्तः

हृत्कुक्ष्यशुद्धिः परिदाह कण्डूर्विण्मूत्रसङ्गाश्च न सद्विरेके।

सु० चि० ३३।२४ (क), वङ्गसेन

१. अदौर्बल्यं=स्थौल्यानपगमः। चक्रपाणिः।

स्निग्धास्विन्नस्य च वमनमकृत्वा विरेचनं पीतवतः सामस्य वा मृदु वा विरिक्तस्याधोभागेऽत्यर्थगुरुस्तब्धोदरता शूलो वातपुरीषसंगश्च भवति।

अ० सं० क० ३।६ क

हृत्कुक्ष्यशुद्धिररुचिरुत्क्लेशः श्लेष्मपित्तयोः
कंडूर्विदाहः पिटिका पीनसो वातविग्रहः।
अयोगलक्षणं·····

अ० हृ० सू० १८

स्निग्ध स्विन्नस्य वमनमकृत्वैव विरेचन उपयुक्ते सामे वोपयुक्ते मृद्वौषधे तस्य विरिक्तस्य सतोऽधोभागेऽत्यर्थं गुरुत्वादिकं भवति।

इन्दुः (शशिलेखा)

हृदयस्य तथा कुक्षेरशुद्धिरनिर्मलत्वम्। अरूचिरन्नाश्रद्धा। तथा श्लेष्म-पित्तयोरुत्क्लेशः प्रच्यावः। विदाहो विधि सन्तापः। पिटिका अङ्गावयवेषु। पीनसः प्रतिश्याय। तथा वातनिग्रहो वातपुरीषयोः सङ्गः। चंद्रनन्दनः।

दुर्विरिक्तस्य नाभेस्तु स्तब्धत्वं कुक्षिशूलता।
पुरीष वातसंगश्च कण्डूमण्डलगौरवः।
विदाहोऽरुचिराध्मानं भ्रमश्छर्दिश्च जायते।

शा० सं० उ० ४।३७-३८, भावप्र०

न सम्यग्विरिक्तस्य नरस्य नाभेः स्तब्धत्वादयो जायन्ते। नाभेरिति। जायन्ते। नाभेरिति। नाभेः नाभ्युपलक्षितस्य प्रदेशस्य पक्वाशयाख्यस्य स्तब्धत्वं स्तब्धता तथा कुक्षिशूलता कुक्ष्योः शूलं। पुरीषवातसंगश्चेति मलवातयोः संगो रोधः। तथा कण्डूमण्डलगौरवमिति कण्डूः शरीरे मण्डलशब्देनात्र वरटीदंश सदृशं गौरवं शरीरोदरयोः। विदाहः पित्तवद्दाहः। अरुचिररोचक आध्मान-मुदरापूरः। भ्रमश्चक्रारूढस्येव वस्तुदर्शनम्। वान्तिः छर्दिश्चेति।

आढमल्लः।

कृच्छ्र विण्मूत्रता त्वक्षपिडका ज्वरसंभवः।
अरुचिर्गौरवाध्माने दुर्विरिक्तस्य लक्षणम्॥

का० सि० २।

उदरं वात सम्पूर्णं कण्डूमण्डलसंभवः।
पिटकाजन्म गात्रेषु भ्रमणं ज्वर संप्लवः॥
हृदयावेष्टनं वह्नेः सादस्यात्कुक्षिगौरवम्।
कृच्छ्रविण्मूत्रवातत्वं दुर्विरिक्तस्य लक्षणम्॥

भे० सि० १।३से-३७

हि० व्या०—विरेचन की अयोगावस्था में उत्पन्न होने वाले लक्षणों में ष्ठीवन अथवा लार का आना, हृदय का अशुद्ध होना (मलिन होना), कफ तथा पित्त का उत्क्लेशन होना; आध्मान, अरुचि, वमन, गौरवता जंघा तथा

उरु प्रदेश में भारीपन, तन्द्रा, शरीर में स्तिमितता (आर्द्रवस्त्र ओढ़ने का सा अनुभव) पीनसोत्पत्ति तथा वात के उदरस्थ होने से अवरोध आदि लक्षणों की उत्पत्ति हो जाती है।

समुचित विरेचन नहीं होने पर पित्त, कफ, एवं वात प्रकुपित हो जाते हैं। प्रायः अग्नि का मन्द होना, देह में गौरव, प्रतिश्यायोत्पत्ति, तन्द्रा, वमन, आहार में अरुचि होती है तथा वातानुलोमन भी नहीं हो पाता।

आचार्य सुश्रुत के अनुसार विरेचन के अयोग होने पर हृदय एवं कुक्षि की शुद्धि नहीं हो पाती अपितु दाह व कण्डू की उत्पत्ति तथा मलमूत्र का अवरोध हो जाता है।

अष्टाङ्ग संग्रहकार लिखते हैं कि विधिवत् विरेचन औषध के प्रयोग न होने से अधोभाग में गुरूता, स्तब्धता तथा शूल की उत्पत्ति हो जाती है तथा वात एवं पुरीष का संग हो जाता है।

अष्टाङ्ग हृदय के अनुसार विरेचन के अयोग होने पर, हृदय एवं कुक्षि (उदर) में शोधन नहीं हो पाता। अरुचि, पित्त एवं कफ का उत्क्लेशन होना, कण्डू दाह, पिटिकोत्पत्ति, पीनस तथा वायु व पुरीष का निरोध (रुकावट) हो जाता है।

आचार्य शार्ङ्गधर के अनुसार जब विरेचन का अयोग हो जाता है तब नाभिप्रदेश में स्तब्धता, कुक्षि शूल, मल एवं वात का संग हो जाता है। शरीर में कण्डू, मण्डल एवं गुरूता की उत्पत्ति होना, दाह, अरुचि, आध्मान, भ्रम तथा वमन आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। प्रायः अन्य आचार्यों के विचार भी समान ही है। आचार्य कश्यप एवं भेल ने ज्वर की उत्पत्ति का भी वर्णन किया है।

विरेचनातियोग लक्षणानि

विट्पित्तश्लेष्मवातानामागतानां यथा क्रमम्।
परं स्रवति यद्वक्तं मेदोमांसोदकोपमम्॥
निःश्लेष्मपित्तमुदकं शोणितं कृष्णमेव वा।
तृष्यतो मारुतार्तस्य सोऽतियोगः प्रमुह्यतः॥ च० सू० १६।९-१०
कफास्रपित्तक्षयजानिलोत्थाः
सुप्त्यङ्गमर्दक्लमवेपनाद्याः॥
निद्राबलाभावतमः प्रवेशा।
सोन्मादहिक्काश्च विरेचितेऽति॥
च० सि० १।१९-२०, चक्रदत्त (विरेच०) २१

यथाक्रममितिपठन् क्रमेणैवेति दर्शयति, यदुक्तं 'प्राप्तिश्च विट्पित्तकफानिलानां सम्यग्विरिक्तस्य भवेत् क्रमेण' (सि० अ० १।१६)। आगतानां परमूर्ध्वमिति योजना। चक्रपाणिः।

मूर्च्छागुदभ्रंशकफातियोगाः।
शूलोद्गमश्चार्ति विरिक्त लिङ्गम्॥
सु० चि० ३३।२४ (ख)

पार्श्वशूलं गुदभ्रंशः शाखासंकोचसम्भ्रमः।
वातवृद्धिर्विसंज्ञत्वं गुदशूलस्तृषा क्लमः॥
शून्यतां जर्जरीभावस्ततश्चिमचिमायनम्।
रूपाण्यतिविरिक्तानां शूलः शोफश्च जायते॥
भे० सि० १।३८-३९

मूर्च्छा शूलं गुदभ्रंशो वात····· का० सि० २।

अतिविरेकात्तु केवलं दोषरहितमुदकं रक्तं वा मेदो मांसधावनोपमं कृष्णं वा प्रवर्तते। परिकर्तिका हृदयोद्वेष्टनं गुदनिस्सरणं नयन प्रवेशः पिपीलिकासञ्चार इवाङ्गे वमनातियोग तुल्यता च। अ० सं० सू० २७।३५

वमनातियोगात्तु दोषप्रवृत्यन्तरं दोषरहितस्य केवलस्योदकस्य रक्तस्य वा मेदोमांसधावन तुल्यस्य कृष्णस्य वा प्रवृत्तिः। परिकर्तिकादयो वमनातियोगोक्ताश्च क्षामतास्वरक्षयादयो व्याधयो जायन्ते। इन्दुः।

विट्पित्तकफवातेषु निःसृतेषु क्रमात्स्रवेत्।
निःश्लेष्म पित्तमुदकं श्वेतं कृष्णं सलोहितम्॥
मांसधावन तुल्यं वा मेदः खंडाभमेव वा।
गुदनिःसरणम् तृष्णा भ्रमो नेत्र प्रवेशनम्॥
भवंत्यतिविरिक्तस्य तथाऽति वमनामया॥
अ० हृ० सू० १८।३४

अति विरिक्तस्य विट्पित्तकफवातेषु क्रमान्निः सृतेषु शूलं स्रवेत्। किंभूतम्। निःश्लेष्मपित्तं तथाश्वेतं कृष्णं सलोहितम् पीतरक्तमथवा मांसधावनसदृशमथवा मेदः शकलाभः स्रवेत्। तथा गुद निःसरणादयोऽतिवमनामयाश्च क्षामतादयो भवंति। अरुणदत्तः।

अति विरिक्तस्य पुरुषस्य एते उपद्रवा भवन्ति। विडादिषु निःसृतेषु सत्सु क्रमात् क्रमेण सर्वं निर्गच्छेत्। उदकं पानीय रूपम्। मलं केवलम्। निश्लेष्मपित्तं दोषरहितम्। तथा श्वेतं शुक्लं कृष्णं मषीवर्णं सलोहितं सरक्तं मांस धावनोपमम्। तथा मेदः-खण्डाभं मेदः शकलवर्णम्। तदा गुदनिःसरणं पायुनिर्गमनम् तथा तृष्णा पिपासा। नेत्रप्रवेशनं नयनयोरन्तर्गमनमेतेऽतिविरिक्तस्य भवन्ति। पूर्वोक्तक्षामतादाहकण्ठरोगतमो भ्रमाः मृत्युपर्यन्ताः। चन्द्रनन्दन।

अति विरिक्तस्य निःश्लेष्मपित्तं जलं स्रवेत् स्रवति। विट्पित्तकफप्रवृत्यन्तरं श्लेष्मपित्तरहितं केवलजलप्रवर्तनं तथा श्वेताद्यन्यतमवर्णजलस्रवणञ्च भवति। सलोहितमीषद्रक्तं तथा मांसप्रक्षालनसदृशं मेदश्शकलवर्णं वा जलं स्रवेत् तथा गुद निस्सरणादयश्च भवन्ति। गुदनिस्सरणं गुदभ्रंशः। परमेश्वरः॥

विरेकस्यातियोगेन मूर्च्छा भ्रंशो गुदस्य च ।
शूलं कफातियोगः स्यान्मांसधावनसंनिभम् ॥
मेदोनिभं जलाभासं रक्तं वाऽपि विरिच्यते ॥

शा० उत्त० ४।३६-४०, भाव प्र०, योगरत्नाक०

विरेकस्यातियोगेन मूर्च्छादयो भवन्ति । गुदस्य भ्रंश इति । गुदस्य बहिर्निर्गमनं, तच्चातिसंप्रहणाद्भवति । उक्तं च- प्रवाहिकाऽतिसाराभ्यां निर्गच्छति गुदो बहिः इति । शूलं नानाप्रकारमत्र ज्ञेयम् । तेन परिकर्तिकाऽप्यत्र भवति । कफातियोगः स्यात् कफस्य अतिसरणं भवति । तथा मांस धावनसंनिभादिकं विरिच्यते मांसधावनोदकतुल्यं, मेदोनिभं मेदः सदृशम् । जलाभासमिति । जलसदृशं स्वच्छमित्यर्थः । रक्तं वाऽपि विरिच्यत इति रक्तमेव वा विरिच्यते । अन्ये मांसधावनादीनि चास्य विशेषणानि मन्यन्ते निष्पुरीषत्वात् । आढ्मल्लः ।

हि० व्या०—विरेचन का अतियोग होने पर क्रमशः मल, पित्त, कफ और वायु के निकल जाने पर मेद व मांसरस जैसा रक्त निकलता है या कफ एवं पित्त रहित जल निकलता है अथवा कृष्ण वर्ण का रक्त निकलता है, प्यास अधिक लगती है वात से पीड़ित होने एवं ज्ञान शून्यता के लक्षण उत्पन्न होने पर अतियोग समझना चाहिए। इसमें कफ, रक्त एवं पित्त का क्षय हो जाता है और वात प्रबल हो जाता है। वात कुपित होकर सम्पूर्ण शरीर में शून्यता अंगमर्द, क्लम, कम्प, निद्रानाश, बलक्षय, आँखों में तमः प्रवेश, उन्माद और हिक्का आदि लक्षण उत्पन्न करता है। मूर्च्छा, गुदभ्रंश, कफ का अतिशय स्राव तथा शूलोत्पत्ति होती है। इसी प्रकार के लक्षण अ० हृ०, भेल, काश्यप एवं शार्ङ्गधर में में उल्लिखित है।

विरेचनायोगदशायां कर्तव्यानि ।

अप्रवृत्तौ भेषजोत्तेजनार्थमुष्णोदकपाययेत् । पाणितापैश्च जठरं स्वेदयेत् । प्रवृत्ते च दीप्ताग्नेः स्निग्ध वपुषो बहु दोषस्याल्पे दोषे नैव वा प्रवृत्तेऽल्पदोषस्यापि जीर्णे भेषजस्याह शेषं बलं चापेक्ष्य भूयो मात्रां विदध्यात् । न त्वजीर्णे पथ्यस्यातियोगभयात् । तदहर्वा भुक्तवतोऽन्येद्युः । अदृढस्नेहं वा दशरात्रादूर्ध्वमुपस्कृतदेहमविहतो भूयः पाययेत् । अ० सं० सू० २७।३२

विरेचने च वेगाप्रवृत्तावुष्णोदकं च पानाय योजयेत् । जठरं च स्वेदयेत् दीप्ताग्नेः स्निग्धशरीरस्य बहुदोषस्य चौषधनाल्पे दोषप्रवृत्तें नैव वा प्रवृत्ते योग्यं दिवसशेषं दृष्ट्वा बलं च पुनरौषधमात्रां विदध्यात् । अल्पदोषस्यापि दीप्ताग्नित्वादकृतविरेक एव भेषजे जीर्णे भूयो मात्रां विदध्यात् । अल्पदोषस्य पुनर्यद्यजीर्णं एवौषधे पुनरौषधं दीयते ततो विरेचनातियोगमुत्पादयति । इन्दुः ।

तं पुनः पाचनैः स्नेहः पक्त्वा संस्नेह्य रेचयेत् ।
तेनाऽस्योपद्रवा यान्ति दीप्ताग्नेर्लघुता भवेत् ॥

शा० उ० ४।३८ भावप्र०

दुर्विरिक्तं पुरुषं पाचनैः पाचनौषधैः पक्त्वा अर्थादामं दोषं च स्नेहैः संस्नेह्य रेचयेत् । तेनेति । तेन स्वेदस्नेहनास्य दुर्विरिक्तस्योपद्रवा यान्ति नश्यन्तीत्यर्थः । ततः दीप्ताग्निर्भवेत् । लघुता च शरीरस्य भवति ।

आढमल्लः

आस्थाप्य स्नेहितं तीक्ष्णैं रेचयेद्धीन रेचितम् । वंगसेन

हि० व्या०—किन्हीं कारणों से विरेचनौषध देने पर विरेचन की प्रवृत्ति न हो ऐसी अवस्था में भेषज को उत्तेजित करने के लिए उष्ण जल पिलाना चाहिए। हाथों को आग में तपाकर उदर पर स्वेदन करना चाहिए। यदि वेग प्रवृत्त हो जाए, अग्नि प्रदीप्त हो, शरीर स्निग्ध हो तथा दोषों की अधिकता होने पर भी उपरोक्त विधि से स्वेदन की प्रक्रिया चलती रहनी चाहिए।

यदि दोष अल्प हों, विरेचन की प्रवृत्ति नहीं हो रही हो, भेषज का पाचन हो गया हो तो दिन के समय रोगी की बलवत्ता देखकर पुनः भेषज मात्रा पिलानी चाहिए। यदि औषध मात्रा पाचित नहीं हुई हो तो पुनः औषध नहीं पिलानी चाहिए। ऐसी अवस्था में औषध पिलाने पर अतियोग होने का भय रहता है। तब रोगी को समुचित आहार देकर अगले दिन विरेचनौषध पिलानी चाहिए। अच्छी प्रकार स्नेहित न होने से वेग की प्रवृत्ति न हुई हो तो दश दिन तक स्नेहन स्वेदन से शरीर को संस्कारित करके पुनः औषध मात्रा पिलानी चाहिए।

आचार्य शार्ङ्गधर के अनुसार यदि वमन औषध पिलाने पर असम्यक् विरेचन हुआ है तो उस व्यक्ति को सर्वप्रथम पाचनौषधों से मल का पाक करें फिर स्नेहपान द्वारा उसके कोष्ठ को स्निग्ध कर विरेचनौषध देनी चाहिए। इससे उपद्रवों की शान्ति होती है, अग्नि दीप्त होती है एवं शरीर में लघुता आती है।

विरेकस्योत्तमादि मात्रा

मात्रोत्तमा विरेकस्य त्रिंशद्वेगैः कफान्तगा ।
वेगैर्विंशतिभिर्मध्या हीनोक्ता दशवेगकैः ॥

शा० उ० अ० ४।१५

हि० व्या०—विरेचन की उत्तम मात्रा में तीस वेग तथा अन्त में कफ आना चाहिए। मध्यम विरेचन में बीस वेग तथा अन्त में श्लेष्मा आना चाहिए। तथा हीन विरेचन में दश वेग और अन्त में श्लेष्मा आना ही प्रमुख लक्षण है।

---

१. प्रवरा वेगमात्रा त्रिंशद्वेगैर्ज्ञेया, तथा कफान्तगेतिकैलिङ्गकं मानम्। तथा-विंशतिभिर्वेगैर्मध्या, तथादशभिर्वेगैर्हीना। आढमल्लः

असम्यग्वेगे कर्तव्य निर्देशः

अप्रवृत्तौ तु पाययेत् ।
उष्णांबु स्वेदयेदस्य पाणितापेन चोदरम् ।

अ० हृ० सू० १८, चक्रदत्त

विरेकाप्रवृत्तावुष्णांबु पाययेद्वैद्यः अस्य चाऽऽतुरस्य पाणितापेन जठरं स्वेदयेत् । अरुणदत्तः ।

शोधनयोरप्रवृत्तौ सत्यां भेषजोत्तेजनार्थमुष्णोदकं पाययेत् । तथास्य पुंसः पाणितापैश्चोदरं जठरं स्वेदयेत् । चंद्रनन्दनः ।

हि० व्या०—यदि विरेचनौषध से मल प्रवृत्त न हो तो उष्ण जल पान कराना चाहिए तथा हाथों को तपाकर पेट पर स्वेदन कराना चाहिए ।

प्रथम विरेचन निष्फलतायां पुनरपि द्वितीय दिवसे विरेचन विधानम् ।

उत्थानेऽल्पे दिने तस्मिन् भुक्तवाऽन्येद्युः पुनः पिबेत् ।

अ० हृ० सू० १८।३०, चक्रदत्तः ।

तस्मिन् विरेकस्य दिनेऽल्प उत्थाने स्तोकायां प्रवृत्तौ सत्यां भुक्ताऽन्नमन्येद्युरन्यस्मिन् दिने पुनर्विरेचनौषधं पिबेदातुरः । अरुणदत्तः ।

तस्मिन् दिने उत्थानेऽल्पे सति भुक्तवा अन्येद्युः पुनः औषधं पिबेत् । उष्णोदकपानादिनाऽप्युत्थाने वेगानां प्रवृत्तौ मन्दायां सत्यामर्थादप्रवृत्तौ च भुक्तवा द्वितीयेऽहनि पुनर्विरेचनमौषधं पिबेत् । विरेचनाहृतसमस्त दोषस्य विहितं भोजनं शास्त्रान्तरदृष्टम् । "शनैर्विरेचनं कार्यनेकद्वित्रिचतुर्दिनैः । भोजनन्तु यथासात्म्यं तथा कर्मसमापनात् । समाप्ते कर्मणि पुनः पेयादिक्रम इष्यते" इत्युक्तत्वात । परमेश्वरः ।

हि० व्या०—दोषों का वेग अल्पप्रवृत्त होने पर (उदर का स्वेदन कराकर) उस दिन भोजन देना चाहिए, दूसरे दिन पुनः विरेचन देना चाहिए ।

विरेचनातियोगे जायमानानां उपद्रवाणां वर्णनं तत्र चिकित्सा सूत्रं च

विरेचनातियोगे, कफस्याति प्रवृत्तिरुत्तरकालं च सरक्तस्य, तत्रापि बलविस्रंसो वातकोपश्च बलवान् भवति, तमति शीताम्बुभिः परिषिच्यावगाह्य वा शीतैस्तंडुलाम्बुभिर्मधुमिश्रैश्छर्दयेत्, पिच्छावस्तिं चास्मै दद्यात्, क्षीरसर्पिषाचैनमनुवासयेत्, प्रियङ्ग्वादिं चास्मै तण्डुलाम्बुना पातुं प्रयच्छेत्, क्षीररसयोश्चान्यतरेण भोजयेत् ॥ सु० चि० ३४।११

तस्य शीताम्बुभिः सिक्त्वा शरीर तण्डुलाम्बुभिः ।
मधुमिश्रैस्तथा शीतैः कारयेद्वमनं मृदु ।
सहकारत्वचः कल्को दग्धा सौवीरकेण वा ॥

पिष्ट्वा नाभिप्रलेपेन हन्त्यतीसारमुल्बणम् ।
अजाक्षीरं रसं वाऽपि वैष्किरं हारिणं तथा ॥
शालिभिः षष्टिकैः स्वल्पं मसूरैर्वापि भोजयेत् ।
शीतैः संग्राहिभिर्द्रव्यैः कुर्यात् संग्रहणं भिषक् ।

शार्ङ्गधर उ० ४।४१-४४, भाव प्र०, योगरत्ना०

छर्दितोक्तं क्रमं सर्वं धूपं मुक्त्वा प्रयोजयेत् ।
शोणितस्रावसंशुद्धि स्नेहयोजन लंघनैः ।
वह्निर्यस्य ततो मन्दः स्याद्वैद्यस्तमुपचारेत् ।
मद्यपो वात पित्ताढ्यो योऽल्पपित्तकफाश्रयः ।
पेयादि रहितस्तस्य तर्पणादि क्रमं दिशेत् ।
शाल्मली मूलकल्कञ्च मस्तुना सह संपिबेत् ।
गङ्गा प्रवाहतुल्यं हि नाशयेद्ग्रहणी गदम् ॥
अञ्जनं चन्दनोशीरं मज्जात्रं चातियोगनुत् ।
लाजचूर्णैः पिबेन्मन्थमतियोगहरं परम् ॥
सौवीर पिष्टः सहकारकल्को नाभिप्रलेपादतिसारहन्ता

वंगसेन० (विरेचन)

... ... नाम ।
तत् स्थापनं श्रेष्ठमुदाहरन्ति कपित्थ सिद्धश्च रसश्चमध्वा ।
जम्बाम्रवेत्सपयोदुमाग्रैस्तोयं विपक्वमथदुग्धमिश्रम् ।
भूयः श्रृतं प्रवरमाहुरेतत् पाने तथा वस्तिविधौ प्रयुक्तम् ।
... ... घ्नमोचौ ।
धातक्यर्थतैरुदकं पयो वा श्रृतं यवागूश्च हिताऽतियोगे ।
मांसानि मुख्यानि च जाङ्गलानि संस्कृत्ययूषाम्रसकापयश्च ।
साज्ये विदद्धचादतियोगशान्त्यै... ... ।
... ... सी विरेकौ गुदशूलपाकौ ।
उपद्रवाश्चापि न कीर्तिता ये सर्वेशमं यान्तिभवत्यरोगः ।
स्वभ्यक्त गात्रस्य तु वात शूले
स्वेदं यथा योग्यमुशन्ति वैद्याः ।
पेयां पिबेद्दीपन... ...

का० सि० ३।

पद्मकोशीर नागाह्वा-चन्दनानि प्रयोजयेत् ।
अतियोगे विरेकस्य पानलेपनसेचनैः ॥

चक्रदत्त, वंगसेन

हि० व्या०—अति विरेचनजन्य लक्षण दिखाई देने पर रोगी के शरीर पर शीतल जल छिड़ककर उसे पूर्ण आश्वासन देना चाहिए । चावल का पानी

शहद मिलाकर पिलाना चाहिए। आम्रवृक्ष की छाल के चूर्ण को दधि या सौवीर में मिलाकर नाभिप्रदेश में लेप करना चाहिए। इससे अतिमात्रा में होने वाला अतिसार दूर हो जाता है। रोगी को बकरी का दूध अथवा विष्किर पक्षियों तथा हरिण आदि पशुओं के मांस रस के साथ शालि चावल या साठी चावल आहार में देवें। अथवा मसूर का यूष पिलावें।

आचार्य वङ्गसेन के अनुसार वमन में वर्णित धूम्रपान को छोड़कर सभी क्रियाएँ करनी चाहिए। रक्त मोक्षण से शोधन कराना चाहिए। स्नेहित कराकर व्यक्ति को लंघन कराना चाहिए। इससे अग्नि मंद हो जाती है। अत एव चिकित्सक को चाहिए कि उसे दीप्त करने वाली प्रक्रिया करनी चाहिए। मद्यसेवी', वात-पित्त प्रकृति वाला तथा अल्पपित्त तथा कफ वाले मनुष्यों को पेयादि का क्रम से रहित होकर तर्पणादिक्रिया प्रारम्भ करनी चाहिए।

अति विरेचन के उपद्रव स्वरूप ग्रहणी रोग उत्पन्न हो जाने पर सेमल की जड़ के कल्क दही के पानी में (मस्तु) मिलाकर पान कराना चाहिए। इससे गंगा के प्रवाह के समान वेग वाला ग्रहणी रोग भी दूर हो जाता है।

रसौत, चन्दन, खस और आम की मज्जा को पीसकर शीतल जल के साथ पान करना चाहिए अथवा चावल का मन्थ के साथ सेवन करने से अतीव विरेचन से हुआ विकार नष्ट हो जाता है।

आचार्य काश्यप के अनुसार कपित्थ का सिद्ध किया हुआ रस मधु के साथ प्रयोग कराने से अतियोग की शान्ति होती है।

जामुन, आम्र, जलवेतस तथा क्षीरी वृक्षों के अग्रभाग को जल में पकाकर उसमें दुग्ध मिश्रित करके पुनः पकाना चाहिए। यह द्रव पीने तथा वस्तिकर्म हेतु अतियोग में श्रेष्ठ माना जाता है।

विरेचन के अतियोग होने पर (ग्रहघ्न-सरसों, कृमिघ्न-विडङ्ग, दोषघ्न आदि), मोचरस, धातकी इत्यादि के द्वारा जल एवं दूध या यवागू सिद्ध करके उपयोग में लाना तथा प्रमुख जंगल पशुपक्षियों के मांस, यूष, आम्ररस तथा दूध सिद्ध करके घृत मिश्रित कर प्रयोग करना चाहिए, विरेचन के अतियोग में वातिक शूल हो जाने पर सम्पूर्ण शरीर में अभ्यंग कराना चाहिए तत्पश्चात् स्वेदन कराना चाहिए तथा अग्नि को प्रबल करने वाली पेया का पान कराना चाहिए।

चक्रदत्त में लिखा है कि विरेचन के अतियोग होने पर पद्मकाष्ठ, खस, नागकेशर तथा लाल चन्दन इनके चूर्ण को पानी में पीसकर पीना चाहिए अथवा लेप करना चाहिए।

अति विरिक्तजन्य पुरीषक्षय चिकित्सासूत्रम्।

अथवाऽतिविरिक्तः स्यात् क्षीणविट्कः सभक्षयेत्।
माषयूषेण [1]कुल्माषान् पिबेन्मद्यथवा सुराम्॥

च० सि० ८।१८

हि० व्या०—अतिविरेचन हो जाने पर (मलक्षय) उड़द के यूष के साथ कुल्माष को आहार में देना चाहिए। अथवा मधु या सुरा का पान कराना चाहिए।

विरेचन योग सावशेषे एव औषधे शुद्धिलक्षणदर्शने कर्तव्यता विचारः

वामयेत्तु ततः शेषमौषधं न त्व लाघवे।
स्तैमित्येऽनिलसङ्गे च निरुद्गारेऽपि वामयेत्।
अलाघवात्तनुत्वाच्च कफस्यापत् परं भवेत्॥ च० सि० ६।२१-२२

विरेचन योगे सावशेष शुद्धिलक्षणदर्शने सति कर्तव्यमाह—वामयेत्तु ततः शेषमौषधमिति। शुद्धिलक्षणे जाते शेषमौषधमुपलभ्य विरेचनातियोग प्रतिषेधार्थं वामयेदित्यर्थः। न त्वलाघव इत्यनेन लाघव व्यतिरिक्तशेष शुद्धिलक्षणदर्शने सत्यपि न विरेचन शेषौषधवमिः कर्तव्या। वमनौषधप्रयोगे कर्तव्यमाह—स्तैमित्यानिलसङ्गौ वर्तेते, तावनिरुद्गारेऽपि भेषजे सति वमनं कारयितव्यम्। एतद्वमनावधिमाह - अलाघवात्तनुत्वाच्च कफस्येति। प्रमादाल्लाघवतनुत्वयोः परतः क्रियमाण वमनस्य दोषमाह—आपत् परं भवेदिति; आपदित्यतियोगलक्षणा। अन्ये तु स्तैमित्य इत्यादिनाऽपि विरेचनौषधस्यैवावस्थिकं वमनमुच्यते इत्याहुः। चक्रपाणिः।

दृश्यते च पुनरधिकशुद्धावपि लाघवालाघव हेतुः। यत्र च कार्श्य दौर्बल्यमस्ति, ततः कार्श्यदौर्बल्यलाघवे सति वामयितव्यम्। तद्विपर्ययेण सप्राणोपचयगौरवयुक्तस्य तत्वलाघवे शेषमौषधमुल्लिखेत्। शरीरस्यातिस्तैमित्येऽनिलसङ्गे च अजीर्णयोरनिरुद्गारयोर्वमनविरेचन भेषजयोरभिहितमेव। "सोद्गारं च सशूलं च स्वेदं तत्रावचारयेत्। सम्यग्विरिक्त उद्गारशेषमौषधमुल्लिखेत्।" इति। तत्सामान्येनोक्तं त्ववस्थाविशेष सम्बन्धविशेषेणैवोक्तमिति न दोषः। उभयोरपि शोधनयोरित्थं भूतयोर्वमनमेवेति न सावशेषौषधत्वं कफानुगे पित्तेऽस्ति। तस्माद्वमनमेवेति अन्ये आचार्याः। अलाघवात्तनुत्वाच्च कफस्येति। तादात्विकवमनलक्षणोपदेशः। मर्यादातिक्रमात् परं व्यापद्भवेदिति। जज्जटः।

हि० व्या० विरेचन औषध प्रयोग कराए जाने पर शरीर शुद्धि के लक्षण दर्शित होने पर भी यदि औषध पूर्णरूप से न निकले तो ऐसी अवस्था में वमन द्वारा शेष औषध को निकाल देना चाहिए। दूसरी अवस्था यह है कि

---

१. कुल्माषा इति अर्धस्विन्नयवादिमया भक्ष्याः। चक्रपाणिः।

जब शुद्धि के लक्षण उत्पन्न हो भी जायें और शरीर में लघुता नहीं उत्पन्न हो ऐसी अवस्था में वमन नहीं कराना चाहिए, विरेचन होने देना चाहिए। जब शरीर में जकड़ाहट हो, वायु की संगावस्था हो, उद्गार नहीं आते हैं ऐसी स्थिति में भी वमन कराना श्रेयस्कर है। इस प्रकार जब तक शरीर में लघुता उत्पन्न हो तब तक वमन कराना चाहिए।

अवस्था विशेषे कर्तव्य निर्देशः

सुविरिक्ते तु सोद्गारमाश्वेवौषधमुल्लिखेत्।
अति प्रवर्तनं जीर्णं सुशीतैः स्तम्भयेद्भिषक्॥ च० क० १२।७०

सुविरिक्त इति सम्यक् प्रमाणेन निर्हृत इत्यर्थः। सोद्गारमिति उद्गारेण पच्यमानावस्थाऽभिहिता। एतेन सम्यग्विरेचने भूतेऽपि यदौषधं तिष्ठति तत्तदिन एवोल्लिखेत्। तस्याप्यौषधैक देशस्यापच्यमानतायां विरेचनातियोगः स्यादिति। चक्रपाणिः।

हि० व्या०—समुचित रूप से विरेचन हो जाने पर भी उद्गार आदि लक्षणों से अतियोग की आशंका हो तब वमन द्वारा औषध को बाहर निकाल देना चाहिए। औषध पच जाने एवं अतिविरेचन हो ऐसी दशा में शीतल औषधों द्वारा रोगी का स्तम्भन करना चाहिए।

क्वचित् रूक्षकोष्ठसंचित वायुद्वारा मलविष्टम्भदशायां पुनः सस्नेह लवणयुक्त विरेचक भेषज प्रयोग संकेतः

रूक्षानाहारयोर्जीर्णे विष्टभ्योर्ध्वं गतेऽपि वा।
वायुना भेषजेत्वन्यत्सस्नेहलवणं पिबेत्॥ च० क० १२।७२

हि० व्या०—विरेचनौषध सेवनोपरान्त रूक्ष आहार एवं उपवास करने वाले व्यक्तियों में तथा औषध का पूर्ण रूप से पाचन नहीं होने पर वायु से विष्टम्भित औषधियां ऊर्ध्वभाग में चली जाय तब अन्य औषधियों को स्नेह एवं नमक मिलाकर पिलाना चाहिए।

क्वचित् पित्तावृत विरेचक भेषजजन्योपद्रवेषु पित्तघ्न स्वादुशीत भेषज प्रयोग संकेतः

तृष्मोहभ्रममूर्च्छायाः स्युश्चेज्जीर्यति भेषजे।
पित्तघ्नं स्वादुशीतं च भेषजं तत्र शस्यते॥ च० क० १२।७३

हि० व्या०—यदि विरेचन औषध के जीर्ण काल में तृष्णा, मोह, भ्रम और मूर्च्छा आदि विकार उत्पन्न हो जाए तो औषध को पित्तावृत जानकर पित्तनाशक स्वादु एवं शीतल औषधियों का प्रयोग करना चाहिए।

क्वचित् कफावृत शोधन भेषज प्रयोगोपद्रव शमनाय कफनाशकभेषजानां प्रयोग संकेतः

लाला हृल्लासविष्टम्भलोमहर्षाः कफावृते।
भेषजं तत्र तीक्ष्णोष्णं कट्वादि कफनुद्धितम्॥ च० क० १२।७४

हि० व्या०—विरेचनौषध श्लेष्मा से आवृत होने पर (अधोभाग में नहीं आने से) विरेचन नहीं होता है ऐसी अवस्था में तीक्ष्ण, उष्ण और कटु रसप्रधान कफनाशक औषधियों का प्रयोग कराना चाहिए।

क्वचित्स्नेहपानोत्तरं कफजन्य भेषजसङ्ग शमनाय लंघन विधानम्

सुस्निग्धं क्रूरकोष्ठं च लङ्घयेदविरेचितम्।
तेनास्य स्नेहजः श्लेष्मा सङ्गश्चैवोपशाम्यति॥ च० क० १२।७५

सुस्निग्धमित्यादौ अविरेचितमिति ईषद्विरेचितम्। स्नेहज इति स्नेहप्रयोग-जनितः श्लेष्मा। सङ्गो दोषसङ्गः। तेन लङ्घनेन दोषपाकादेव प्रबलश्लेष्मोप-शमो दोषसङ्गोपशमश्च क्रियत इत्यर्थः॥ चक्रपाणिः।

हि० व्या०—अच्छी प्रकार स्निग्ध हुए, क्रूरकोष्ठ वाले व्यक्ति को जब विरेचन अल्प मात्रा में होता हो तब लंघन का प्रयोग कराना चाहिए। स्नेह एवं लंघन प्रक्रिया से श्लेष्मा एवं दोषों की संगावस्था भी शान्त हो जाती है।

विरेचकौषधानां विनैव विरेचनं जीर्णतायां शोधन चिकित्सा

रूक्षबद्धनिलक्रूरकोष्ठव्यायामशालिनाम्।
दीप्ताग्नीनां च भैषज्यमविरेच्यैव जीर्यति॥
तेभ्यो बस्तिं पुरा दत्वा पश्चाद्यद्विरेचनम्।
बस्तिप्रवर्तितं दोषं हरेच्छीघ्रं विरेचनम्॥ च० क० १२।७६-७७

रूक्षादीनां विरेचनप्रयोगे क्रमविशेषं सोपपत्तिकमाह—रूक्षेत्यादि। बस्तिं पुरादत्वेत्यत्र बस्तिशब्देन स्नेहबस्तिमिच्छन्ति, निरूहस्तु वातकोपकतया तथा निरूहानन्तरं विरेचनस्य निषिद्धत्वादिह नेष्यते; उक्तं हि—"निरूहदानात् पवनाद्भयं स्यात्" इति, तथा 'नरो विरिक्तस्तु निरूहदानं विवर्जतेत्सप्तदिना-न्यवश्यम्। शुद्धो निरूहेण विरेचनं तु (सि० अ० १) इति; किंतु बस्तिशब्देन निरूहः स्नेहबस्तिश्च गृह्यते। निरूहस्य यद्वातकर्तृत्वमुक्तं तदेकस्यैव स्नेहबस्ति-रहितस्याभ्यासात्, उत्सर्गस्तु वातहन्तृत्वं 'बस्तिर्वातहराणां' (सू० अ० २५) इत्यनेनैवोक्तम्। निरूहानन्तर विरेचननिषेधस्त्वौत्सर्गिकः, तेन विशेषविधिना तस्यापवादो युज्यत एव; किं च इह बस्त्यनन्तरं यद्विरेचनं विधीयते तच्च बस्तिदानादूर्ध्वं सप्ताहानन्तरेव भविष्यतीति न कश्चिद्विरोधः। प्रवर्तितमिति प्रवृत्त्युन्मुखीकृतम्। चक्रपाणिः।

हि० व्या०—प्रायः रूक्षप्रकृति वाले, वातप्रधान, क्रूरकोष्ठ, व्यायाम करने वाले, जिनकी अग्नि प्रबल हो, उनको विरेचन औषधियाँ बिना विरेचन कराए ही पच जाती हैं। इस प्रकार के व्यक्तियों को पूर्व में बस्ति का प्रयोग कराना चाहिए तत्पश्चात् विरेचनौषध का पान कराना चाहिए। बस्ति द्वारा प्रवृत्त हुए दोषों को विरेचकौषध शीघ्र ही निकाल देती है।

दीप्ताग्नीनां विरेचन प्रयोगे कर्तव्य निर्देशः

रूक्षाशनाः कर्मनित्या ये नरा दीप्तपावकाः।
तेषां दोषाः क्षयं यान्ति कर्मवातातपाग्निभिः॥

विरुद्धाध्यशनाजीर्णदोषानपि सहन्ति ते।
स्नेह्यास्ते मारुताद्रक्ष्या नाव्याधौ तन्विशोधयेत् ॥

च० क० १२।७८-७९

रूक्षाशना इत्यादिना स्नेह्या अपि न व्याधि व्यतिरेकेण शोधनीया इत्याह। कर्मनित्या इति नित्यं व्यायामादिकर्मकराः। विरुद्धाध्यशनाजीर्णान् दोषान् सहन्तीति विरुद्धाध्यशनादयो दोषरूपा न तेषां विकारं जनयन्तीत्यर्थः; विरुद्धाध्यशनादयश्च दोषजनकतया दोषशब्देनोच्यन्ते। नाव्याधाविति अविद्यमानसंशोधनैकसाध्ये व्याधौ न तान् विशोधयेदिति; अन्यत्राप्युक्तोऽयमर्थः—'अनीरितानां दोषाणामीरणं न प्रशस्यते। उपर्युपरिसक्तानामश्मनामिव घट्टनम्' इति। चक्रपाणिः।

हि० व्या०—रूक्ष आहार करने वाले, नित्य क्रियाशील (मेहनतकश) अथवा किसी भी रूप में जिनको शारीरिक व्यायाम होता रहता है। जिनकी अग्नि दीप्त हो इस प्रकार के व्यक्तियों में दोष शारीरिक श्रम से, रूक्षाहार के कारण, वातवृद्ध होने से, धूप से तथा अग्नि की प्रबलता से नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार के व्यक्ति विरुद्ध भोजन, अध्यशन और अजीर्ण से उत्पन्न होने वाली दोष विकृति को भी सहन कर लेते हैं। इस प्रकार के व्यक्तियों को स्नेहन कराना चाहिए। इनके शरीर में वात अधिक प्रकुपित न हो इसका भी ध्यान रखना चाहिए तथा वात की रक्षा भी करनी चाहिए। इस प्रकार के व्यक्तियों को किसी प्रकार के रोग नहीं होने पर संशोधन नहीं कराना चाहिए। अर्थात् रोगावस्था में आवश्यक होने पर ही युक्तिपूर्वक विरेचन कराना चाहिए।

क्वचित् विरेचन प्रयोगे वमन प्रवृत्तौ कर्तव्यता विचारः

यस्योर्ध्वं कफसंसृष्टं पीतं यात्यानुलोमिकम्।
वमितं कवलैः शुद्धैः लङ्घितं पाययेत्तु तम् ॥

यस्येत्यादावानुलोमिकं विरेचनमौषधमूर्ध्वं याति यस्य, तं पाययेत् 'विरेचनमौषध' इति शेषः। कवलैः शुद्धमिति कवलैः शोधितः मुखकण्ठम्। तेनेति उष्णजलेन पीतेन। चक्रपाणिः।

अपरिशुद्धामाशयोत्क्लिष्ट श्लेष्मणः सशेषान्नस्य वाऽहृद्यमतिप्रभूतं वा विरेचनं पीतमूर्ध्वं गच्छति, तत्रेप्सितानवाप्तिर्दोषोत्क्लेशश्च; तत्राशुद्धामाशयमुल्बण श्लेष्माणमाशु वामयित्वा भूयस्तीक्ष्णतरैर्विरेचयेत्, आमान्वये त्वामवत् संविधानम्, अहृद्येऽतिप्रभूते च हृद्यं प्रमाणयुक्तं च; अत ऊर्ध्वमुत्तिष्ठत्यौषधे न तृतीयं पाययेत्, ततस्त्वेनं मधु घृतफाणित युक्तैर्लेहैर्विरेचयेत्। सु० चि० ३४।५

विरेचनस्योर्ध्वगतिं व्यापदां दर्शयन्नाह—अपरिशुद्धेत्यादि। दोषोऽत्र पित्तम्। आमवत् संविधानं लङ्घनपाचनादि। न तृतीयं पाययेत् 'विरेचनमौषधम्' इति शेषः। अथ केन विरेचयेत्? तदाह—ततस्त्वेनमित्यादि। डल्हणः

अजीर्णिनः श्लेष्मवतोऽत्युष्णतीक्ष्णलवणमात्रमहृद्यं वा विरेचनमन्यद्वा भेषजमूर्ध्वं प्रवर्तते। तत्र पूर्वोक्ता व्यापत्साधनं च। अतोऽप्यूर्ध्वमुत्तिष्ठति हृद्यावलेखनवटकवर्जमौषधं न तृतीयमवचारयेत् ॥ अ० सं० क० ३।३

अजीर्णिनस्तथा बहुश्लेष्मणो विरेचनमूर्ध्वं व्रजति। शुद्धेन गच्छति। तत्र तस्मिन्नुर्ध्वंव्रजति पूर्वेदिता व्यापत् तथैव सिद्धः पूर्वोदितमेव साधनम्। पुनः स्निग्धस्य पूर्वस्यातिक्रमस्य स्मरतो व्यापत्कारणं परिहरत् औषधयोजनम्। तत् इति पुनर्युक्ते विरेचन उर्ध्वमुत्तिष्ठति मुखेन गच्छति तृतीयं विरेचनं नावचारयेत्। हृदयादिगुणमौषधं वर्जयित्वा। तथाविधं हि तृतीयमप्यवचारयेदित्यर्थः। इन्दुः।

अजीर्णिनः श्लेष्मवतो व्रजत्यूर्ध्वं विरेचनम्।
अतितीक्ष्णोष्णलवणमहृद्यमतिभूरि वा ॥
तत्र पूर्वोदिता व्यापत्सिद्धिश्च न तथाऽपि चेत्।

अ० हृ० क० ३।३

अजीर्णिनस्तथा बहुश्लेष्मिणो विरेचनमतितीक्ष्णोष्णलवणमहृद्यमति प्रभूतं च पीतमूर्ध्वं याति। तत्र तस्मिन्नूर्ध्वं व्रजति पूर्वोक्ता व्यापत्। इष्टहानिर्मलोदय इति। तत्र तथैव सिद्धिश्चिकित्सितम्। तथाऽनंतरं विरेचनस्योर्ध्व० गमनाद् विरिक्तं पुनः स्निग्धं विरेचयेत्। तथैव पूर्वं विरेचनातिक्रमं स्मरन्नितोऽपराधात्पूर्वं विरेचनेन विरिक्तस्तमतिक्रमं परिहरन् विरेचयेदित्यर्थः। तथा तदप्येवमनुष्ठीयमाने तद्विरेचनौषधं पीतं यद्यामाशये कोष्ठलक्षण न तिष्ठति तत्र स्थितिं न बध्नाति। उर्ध्वमेव पुनरेति। ततस्तृतीयं विरेचनौषधं मदनारग्वधादि नावचारयेत्। यदि तु सात्म्यं हृद्यं निरपायं च भेषजं तदा तृतीयमप्यवचारयेत्। अरुणदत्तः।

ग्राम्यानूपौदकं मांस स्नेहितोयोऽपि सेवते।
कफे प्रवृद्धे तस्याशु विरेको वमनं भवेत्।
अजीर्णे चौषधं पीतमल्पं वा यदि वा बहु।
उत्क्लेशो चोर्ध्ववाते च दुर्युक्ते वापि भेषजे।
एवं विरेचनं पीतं वमनायोपपद्यते ॥ भे० सि० ४।७५-७७

हि० व्या०—विरेचन कराये जाने वाले रोगी का यदि आमाशय शुद्ध न हो एवं कफ उत्क्लेशित अवस्था में हो, अथवा जिसके आहार का समुचित परिपाक नहीं हुआ हो, इस प्रकार के व्यक्ति को अप्रिय एवं मात्रा से अधिक विरेचनौषध पिलाने से द्रव्य की उर्ध्व प्रवृत्ति हो जाती है (अर्थात् वमन की प्रवृत्ति हो जाती है। इससे कार्य में सफलता तो मिलती ही नहीं, दोष भी वृद्ध हो जाते हैं।

इस अवस्था में वृद्ध दोष एवं आमाशय की अशुद्धि दूर करने के लिए शीघ्र वमन कराना चाहिए एवं शोधन के पश्चात् तीक्ष्णतर विरेचन औषध का प्रयोग कराना चाहिए। आम की अनुबन्ध्यावस्था में लंघन एवं पाचन कराना चाहिए प्रिय एवं समुचित प्रमाण में औषध का प्रयोग करना चाहिए इस स्थिति में भी विरेचन औषध की ऊर्ध्व प्रवृत्ति हो तो तीसरी बार विरेचन नहीं करना चाहिए। विरेचन हेतु मधु, घृत एवं राव के अवलेह का प्रयोग समुचित है।

क्वचित् विरेचनायोगे सम्यक् प्रवर्तनार्थम्।

विबद्धेऽल्पे चिराद्दोषे स्रवत्युष्णं पिबेज्जलम्।
तेनाध्मानं तृषाच्छर्दिविबन्धश्चैव शाम्यति॥

च० क० १२।६६

हि० व्या० यदि उदर में दोष विबद्ध हो, यदि अल्पमात्रा में निकलता हो अथवा देर से निकलता हो ऐसी अवस्था में उष्ण जल पीना चाहिए। इससे आध्मान, तृष्णा, वमन एवं विबन्ध शान्त हो जाते हैं।

विरेचक द्रव्य प्रयोगोत्तरं कफरुद्ध भेषजदशायां कफ शामक काल प्रतीक्षा संकेतः।

कदाचिच्छ्लेष्मणा रुद्धं तिष्ठत्युरसि भेषजम्।
क्षीणश्लेष्मणि सायाह्ने रात्रौ वा तत्प्रवर्तते॥ च० क० १२।७१

कदाचिदित्यादिना विरेचनस्याविक्रमत्वे हेतुमाह। अत्र कर्तव्यं यद्यपि नोक्तं तथाऽपि श्लेष्मणा निरोधं भेषजस्य गौरवादिभिरुपलभ्य रात्रि पर्यन्तं भेषजस्यायोगप्रवृत्तिरुपेक्षणीयेति कर्तव्यमूहनीयम्। प्रवर्तत इति दोषसहितं भेषजं प्रवर्तते। चक्रपाणिः।

हि० व्या०—जब कभी विरेचनौषध श्लेष्मा के द्वारा अवरुद्ध होकर उरः प्रदेश में स्थित हो जाय ऐसी अवस्था में सायंकाल कफ के क्षीण होने पर अथवा रात्रि के समय उसके क्षीण होने पर मल प्रवृत्त होने लगता है।

विरेचनोत्तर कर्म संकेतः

सम्यग् विरिक्तं चैनं वमनान्तरलक्षणोक्तेन धूमवर्जेन विधिनोपपादयेदा-बल वर्णप्रकृति लाभात्। च० सू० १५।१७ (ख)

अ० सं० सू० २७।३६

सम्यग्विरिक्तमेनं च वमनोक्तेन योजयेत्। धूमवर्ज्येन विधिना।

अ० हृ० सू० १८।३५

हि० व्या०—समुचित रूप से विरेचन हो जाने पर धूम्रपान को छोड़कर सभी प्रकार की वमनोक्त विधि का उस समय तक पालन करावें जब तक रोगी में बल वर्ण की यथावश्यक उपलब्धि हो जाय।

कृत विरेचनस्य प्रवातादीन् निषेधः

प्रवातसेवा शीताम्बुस्नेहाभ्यंगजीर्णताम्।
व्यायामं मैथुनं चैव न सेवेत् विरेचितः॥

शा० उ० ४।४३

हि० व्या०—जिस व्यक्ति ने विरेचन लिया है उसे तेज हवा में नहीं रहना चाहिए। शीतल जल का प्रयोग नहीं करना चाहिए। स्नेह का अभ्यंग नहीं करना चाहिए। उसे अजीर्ण न हो इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए। मैथुन का भी परित्याग कराते हुए किसी भी प्रकार की मेहनत का परिहार करना चाहिए।

विरेचनोत्तरं रुग्ण परिष्कारः

बलवर्णोपपन्नं चैनमनुपहतमनसमभिसमीक्ष्य सुखोषितं सुप्रजीर्णभक्तं शिरः स्नातमनुलिप्तगात्रं स्रग्विणमनुपहतवस्त्रसंवीतमनुरूपालङ्कारालङ्कृतं सुहृदां दर्शयित्वा ज्ञातीनां दर्शयेदथैनं [1]कामेष्ववसृजेत्।

च० सू० १५।१७ (ग)

हि० व्या०—विरेचनोपरान्त जब रोगी में बलवर्ण की समुचित प्राप्ति हो जाए तथा मन भी प्रसन्न हो, सुखपूर्वक रात्रि में निद्रा आ गई हो, पूर्व दिन का किया हुआ आहार पच गया हो, इन लक्षणों पर समुचित रूप से विचार करके स्नान कराना चाहिए, चन्दनादि का अनुलेप, सुन्दर फूलों की माला, स्वच्छ नवीन वस्त्रों को धारण करना चाहिए। अपने सामर्थ्य के अनुसार आभूषणों को धारण कराना चाहिए। इस प्रकार के विधान के पश्चात् इष्ट मित्रों एवं बन्धु जनों के सम्पर्क में रखें। तत्पश्चात् यथायोग्य आहार विहार के लिए उपदेश किया जाना चाहिए।

विरेचनद्रव्यनिरूपणम्

विरेचन द्रव्याणि तु श्यामात्रिवृत्चतुरङ्गुल[2]तिल्वकमहावृक्षसप्तलाशंखिनी दन्तीद्रवन्तीनां क्षीरमूलत्वक्पत्रपुष्पफलानि यथायोगं तैस्तैः क्षीरमूलत्वक्पत्र-पुष्पफलैर्विविलप्तैर्विविलप्तैरजगन्धाश्वगन्धाजशृंगी क्षीरिणीनीलिनीवलीतक-कषायैश्च, प्रकीर्योदकीर्यामसूरविदलाकम्पिल्लकविडङ्गवाक्षीकषायैश्च, पीलु-पियालमृद्वीकाकाश्मर्यपरुषकबदरदाडिमामलकहरीतकीविभीतकवृक्षचीरपुनर्नवा-विदारिगन्धादिकषायैश्च, सीधुसुरासौवीरकतुषोदकमैरेयमेदकमदिरामधुमधू-दकधान्याम्लकुवलबदरखर्जूर कर्कन्धुसीधुभिश्च, दधिदधिमण्डोदश्विद्भिश्च, गोमहिष्यजावीनां च क्षीरमूत्रैर्यथालाभं यथेष्टं वाप्युपसंस्कृत्य वर्तिक्रियाचूर्णा-

१. कामेष्वीप्सितेषु, अवसृजेन्नियंत्रणं कुर्यात्। चक्रपाणिः।
२. सुश्रुत सूत्र स्था० ३८ श्यामादिगण में पठित तिल्वक को डल्हण ने 'तिल्वको रीध्राकारो वृहत्पत्रो रक्तत्वक्को वरेचनिकः लिखा है।

सबलेहस्नेहकषायमांसरसयूषकाम्बलिकयवागूक्षीरोपधेयान् मोदकानन्यांश्चभक्ष्य-प्रकारान् विविधांश्च योगाननुविधाय यथार्हं विरेचनार्हाय दद्याद्विरेचनमिति-कल्पसंग्रहो विरेचनद्रव्याणाम्। च० वि० ८।१४०

विक्लिप्तिर्द्रव्यान्तरसंयोगः, अविक्लिप्तिः=केवल प्रयोगः। तेन विक्लिप्ताविक्लिप्तैरिति संयुक्तायुक्तैरित्यर्थः। क्षीरिणी=दुग्धिका। क्लीतकं=यष्टीमधु। मसूरविदला=श्यामलता। प्रथमं तु श्यामा श्याममूला त्रिवृदेवोक्ता। चक्रपाणिः।

विरेचन द्रव्य

	प्रयोज्य अंग
श्यामा त्रिवृत अमलतास तिल्वक सेहुंड सप्तला शङ्खिनी (यवतिक्ता) जयपाल दन्ती-द्रवन्ती (बड़ी दन्ती)	दूध मूल, पत्र, पुष्प, त्वचा एवं फल का योगानुसार जहां जो उचित हो प्रयोग करें।

अजवाइन
अश्वगन्धा
अजशृंगी (मेष शृंगी)
दुग्धिका
नीलिनी (नीलीमूल)
मुलहठी

इन उपरोक्त औषधियों के क्वाथ में—

नाटाकरञ्ज (लताकरंज)	शतावरी
करञ्ज (पूति करंज)	
मसूर-विदला (श्यामलता)	सारिवा
कम्पिल्लक	कृष्ण सारिवा
वायविडंग	जीवक
इन्द्रायण इनके क्वाथ से	ऋषभक
पीलु	माषपर्णी
चिरौंजीफल	मुद्गपर्णी
मुनक्का	दोनो वृहती
गाम्भारी	पुनर्नवा

फालसा	एरण्ड
बदर	हंसराज
दाड़िम	मेषशृंगी
आंवला	कौंचफल के कषाय से
हरड़	सीधु
बहेड़ा	सुरा
श्वेत पुनर्नवा	सौवीर
लाल पुनर्नवा	तुषोदक
विदारीगन्धा गण के कषाय से	मैरेय
भूमिकूष्माण्ड	मेदक
श्वेतबला	मदिरा
सहदेवा	मधू
गोखरू	मधूलक
पृश्निपर्णी	धान्याम्ल
	कुवल (बड़ा बेर) तथा

बदर, खर्जूर, झरबेरी का बेर, दही, दही का पानी, छाछ, गौ, भैंस, बकरी, भेड इनके दूध और मूत्र से सभी द्रव्यों का संस्कार करके विभिन्न कल्पनाओं चूर्ण, आसव, अवलेह आदि का प्रयोग विरेचनार्थ किया जाता है।

मूलिन्यः षोडश

हस्तिदन्ती हैमवती श्यामा त्रिवृदधोगुडा।
सप्तला श्वेतनामा च प्रत्यक् श्रेणी गवाक्ष्यपि॥
ज्योतिष्मती च बिम्बी च शणपुष्पी विषाणिका।
अजगन्धा द्रवन्ती च क्षीरिणी चात्र षोडशी॥
शणपुष्पी च बिम्बी च छर्दने हैमवत्यपि।
श्वेता ज्योतिष्मती चैव योज्या शीर्षविरेचने॥
एकादशावशिष्टा याः प्रयोज्यास्ता विरेचने।
इत्युक्ता नाम कर्मस्थां मूलिन्यः..... ॥

च० सू० अ० १।७७-८०

मूलं प्रशस्तं यासां ता मूलिन्यः। हस्तिदन्ती वृहत्फला गोडुम्बा, इयमेव नागदन्ती भण्यते इत्येके। हैमवती वचा। श्यामा श्याममूलात्रिवृत् अधोगुडा वृद्धदारकः। सप्तला=चर्मकषा। श्वेतनामा श्वेताऽपराजिता। प्रत्यक् श्रेणी दन्ती। बिम्बी ओष्ठोपमफला, शणपुष्पी घण्टारवः। विषाणिका आवर्तनी। अजगन्धा फीकान्दी काकाण्डीति वा व्याख्याता। द्रन्त्येव चीरितपत्रा। क्षीरिणी दुग्धिका। मूलिनीनां वमनादि विनियोगमाह शणपुष्पीत्यादि। चक्रपाणिः।

विरेचनार्थ

मूलिनी औषधियाँ

नागदन्ती
वचा
श्यामा
विशोथ
विधारा
सप्तला
श्वेतनामा (श्वेत अपराजिता)
दन्ती
इन्द्रायण
मालकांगनी
बिम्बी
श्वेत पुष्पी
मेष शृंगी
अजगन्धा
द्रवन्ती
स्वर्ण क्षीरी

फलमूलिन्यः स्नुह्यार्कांशमन्तकानां पार्थक्यम् ।

अथापरे त्रयो वृक्षाः पृथग् ये फलमूलिभिः ।
स्नुहयार्काश्मन्तकास्तेषामिदं कर्म पृथक् पृथक् ॥

च० सू० १।११४

हि० व्या०—शोधनार्थ तीन अन्य वृक्ष भी बताए गए हैं। ये तीनों वृक्ष फलिनी एवं मूलिनी द्रव्यों के अतिरिक्त हैं—(१) स्नुही (थूहर) (२) अर्क (३) अश्मन्तक का वमनार्थ, स्नुही का विरेचनार्थ तथा अर्क का उभय कर्मों में प्रयोग किया जाता है।

स्नुही महावृक्ष। अर्क=प्रसिद्धः। अश्मन्तकः पाषाणभेदी। योगीन्द्रनाथ सेनः।

षड् विरेचनाश्रयाः

षड् विरेचनाश्रया इति क्षीरमूलत्वक्पत्रपुष्पफलानि ॥ च० सू० ४।६

हि० व्या०—विरेचन द्रव्यों के छः आश्रय इस प्रकार है-दूध, मूल, छाल, पत्र, पुष्प, तथा फल। (यहां द्रव्यों के वानस्पतिक आश्रयों का वर्णन किया गया है

षडिति,-षडेव विरेचनाश्रया=विरेचनाधिकरणानि। अत्र हि क्षीरमादौ कृतं तीक्ष्णविरेचनत्वात्। उक्तं हि "स्नुक्पयस्तीक्ष्णविरेचनानां'—(च० सू०

अ० २५) इति। त्वगित्यनेन लोध्रत्वग्गृह्यते। पत्रमित्यनेन इक्ष्वाक्वादि पत्रम्। यद्वक्ष्यति कल्पे-"अपुष्पस्य प्रवालानां मुष्टि प्रादेशसंमितां। क्षीर प्रस्थे श्रृता दद्यात् पित्तोद्रिक्ते कफज्वरे-" (क० अ० ३) इति। यद्यपि चैरण्डतैलताम्रपारदादीनां क्षीराद्यधिकानामपि विरेचनाश्रयत्वं संभवति, तथापि तेषामिह तन्त्रे कल्पस्थाने विरेचनाश्रयत्वेनानवस्थापनादध्यायादिप्रतिपादितेनेहशब्देन योगादिह षडाश्रया इत्यविरुद्धमेव। चक्रपाणिः।

विरेचने पूतीकस्त्वक् प्रयोगः :

विरेचने प्रयोक्तव्यः पूतीकः। च० सू० अ० १।११७ क

पूतीकः=कण्टकीकरजः। चक्रपाणिः

अत्र हि कण्टकीकरञ्जस्य विरेचनानुपयुक्तत्वं केचिदाचक्षीरन् प्रसारिणीञ्च सस्मरुः, किन्तु ते प्रसारिण्यां वृक्षशब्दप्रयोगं प्रष्टव्याः। करञ्जस्य च त्वग् विरेचनोपयोगिनी न फलमिति प्रतीमः।

विरेचने तिल्वकस्त्वग् प्रयोगः

तिल्वकस्तथा...। च० सू० अ० १।११७ (ख)

तिस्वको[1] लोध्रः। चक्रपाणिः।

स्नुहीक्षीर गुणाः।

स्नूहक्षीरं विरेचने। च० सू० १।११५ (ख)

स्नुह्याः क्षीरं विरेचने विद्यात्। योगीन्द्रनाथ सेन

उदाहरणतः त्वग् प्रयोज्यांशाः वृक्षाः।

इमांस्त्रीनपरान् वृक्षानाहुर्येषां हितास्त्वचः।
पूतीकः कृष्णगन्धा च तिल्वक तथा तरुः ॥ च० सू० १।११६

कथा तरुरिति विशेषणेन पट्टिकालोध्रं व्युदस्यति। शावरलोध्रं च महाप्रमाणं तरुशब्दयोग्यं ग्राहयति। किं वा तरुविशेषणं बालं लोध्रं व्युदस्यति। चक्रपाणिः।

विरेचन द्रव्य	प्रयोज्य अंग
१. लता करञ्ज २. शोभाञ्जन ३. शावर लोध्र	त्वक्

दशेमानि भेदनीयानि

सुवहार्कोरुबूकाग्निमुखीचित्राचित्रकचिरबिल्वशंखिनी शकुलादनीस्वर्णक्षीरिण्यः इति दशेमानि भेदनीयानि भवन्ति। च० सू० ४।१०-४

सुवहा=त्रिवृत, अग्निमुखी=लाङ्गलिया इति ख्याता, चित्रा=दन्ती,

---

१. तिल्वकञ्च तिलकमाहुर्निघण्ट्वन्तरसंवादात्, किन्तु वक्ष्यमाणकल्पस्थानोक्तिल्वकलक्षणानुसारं भावनिघण्ट्प्रतीत लोध्र भिन्नमेव चरकीय लोध्रमेनं वयं प्रतीमः। सवितेमाने गुलेचीन इत्याख्यस्यः पुष्पवृक्ष इति च।

शंखिनी = श्वेतवुहना, शकुलादनी – कटुरोहिणी, स्वर्णक्षीरिणी = अंगुष्ठ प्रभा । चक्रपाणिः ।

भेदनीय द्रव्यः—

१. त्रिवृत्
२. अर्क
३. एरण्ड
४. लांगली
५. दन्ती
६. चित्रक
७. करञ्ज
८. शंखिनी
९. शकुलादनी (कटुकी)
१०. स्वर्ण क्षीरी

विरेचक योगानां कल्पनोदाहरणानि ।

षड्विरेचनशतानि इति यदुक्तं, तदिह संग्रहेणोदाहृत्य विस्तरेण कल्पोपनिषदि व्याख्यास्यामः । च० सू० ४।४

संग्रहेणोद्देशनात्रेण । कल्प एवोपनिषत् कल्पोपनिषत् । उपनिषदित्यत्युपयुक्तरस्यविद्योपदेशस्थानमुच्यते वेदे । तद्वदिहापि कल्पस्याप्युपयुक्तत्वेन रहस्यवमनविरेचनप्रयोगोपदेशकत्वात् कल्पएवोपनिषदित्युच्यते । न च वाच्यं, कल्प एव विस्तरेण षड्विरेचन शतान्यभिधास्यन्ते, तेन च तदेवास्तु अलमनेन संक्षेपाभिधानेन, सम्यगबवोधानुपायत्वात् ? यतस्तन्त्रधर्मोऽयं यत् प्रथमं सूत्रणं भवति, तदनु तद्विवरणं प्रपञ्चेन । उच्यते च न्यायविद्भि—"ते वै विषयाश्च सुसंगृहीता भवन्ति येषां समासो व्यासश्च" इति । चक्रपाणिः ।

हि० व्या०—विविध वामक एवं रेचक द्रव्यों के कुल ६०० योग बताए गए हैं। उनमें विरेचन के २४५ योग हैं ।

द्रव्य नाम	योग संख्या
१. श्यामा (कृष्ण निशोथ)	१००
२. एवं श्वेत निशोथ के अन्य योग	१०
३. अमलतास	१२
४. लोध्र	१६
५. महावृक्ष (सेहुण्ड)	२०
६. सप्तला शंखिनी	३९
७. द्रन्तीद्रवन्ती	४८
कुल	२४५

फलिन्यः एकोनविंशतिः स्मृताः ।

फलिनीः शृणु ।
[1]शङ्खिन्यथ विडङ्गानि त्रपुषं मदनानि च ॥
आनूपं स्थलजं चैव [2]क्लीतकं द्विविधं स्मृतम् ।
[3]धामार्गवमथेक्ष्वाकु[4] [4]जीमूतं [5]कृतवेधनम् ।
[6]प्रकीर्या चोदकीर्या च [7]प्रत्यक् पुष्पी तथा भया ॥
[8]अन्तः कोटरपुष्पी च [9] हस्तिपर्ण्याश्च शारदम् ।
[10]कम्पिल्लकारग्वधयोः फलं यत् कुटजस्य च ॥

च० सू० १।८१-८३

[1]शंखिनी—श्वेत वुल्ला । [2]क्लीतकं-यष्टीमधु । अस्य तु यद्यपि सुश्रुते मूलं प्रशस्तं मूलेनैव च व्यवहारः, तथापि विरेचनं प्रति यष्टीमधुद्वयस्ययापि फलमेव प्रशस्तं ज्ञेयम् । [3]धामार्गवः—पीतघोषकः ।[4] इक्ष्वाकुः=तिक्तालाबुः । [5]जीमूतो घोषकभेदः । [6] कृतवेधनं—ज्योत्स्निका । [7]प्रकीर्योदकीर्ये = करंज द्वयम् । [8]प्रत्यक्पुष्पी =अपामार्गः । [9]अन्तः कोटरपुष्पी =नीलवुल्ला । [10]हस्ति पर्णी मोरटः । अस्याश्च शरत्कालमेव फलं ग्राह्यं, यत उक्तं—'हस्तिपर्ण्यश्च =शारदम्" ईति । [11]कम्पिल्लकं = गुण्डारोचनी । आरग्वधस्य यद्यपि । सुश्रुते पत्रं प्रधानमुक्तं तथापीह फलं प्रधानतमं ज्ञेयम् । चक्रपाणिः ।

विरेचने फलिनी प्रयोगः

दश यान्यवशिष्टानि तान्युक्तानि विरेचने ।
नामकर्मभिरुक्तानि फलान्येकोनविंशतिः ॥ च० सू० १।८६

यानि शंखिनी, विडंगं आनूपं स्थलजमिति द्विविधं क्लीतकं प्रकीर्या उदकीर्या अभया कम्पिल्लकारग्वधकुटजानां फलानि इति दश अवशिष्टानि तानि विरेचने उक्तानि । उपसंहरति-नामेति । इति नामकर्मभिः नामभिः कर्मभिश्च एकोनविंशतिः फलानि उक्तानि । योगीन्द्रनाथसेन

विरेचन द्रव्य

१) शंखिनी
२) वायविडङ्ग
३) तिक्त खीरा
४) मैनफल
५) जलज मुलैठी
६) स्थलज मुलैठी
७) लता करंज
८) वृक्ष करंज
९) अपामार्ग
१०) अभया
११) नील वुल्हा
१२) कर्कटी (हस्तिपर्णी)
१३) कम्पिल्लक
१४) आरग्वध
१५) कुटज
१६) धामार्गव
१७) इक्ष्वाकु
१८) देवदाली
१९) कोशातकी

वामक एवं आस्थापन द्रव्य	शिरोविरेचन	विरेचन
१) धामार्गव	१) अपामार्ग	१) विडंग
२) इक्ष्वाकु		२) शंखिनी
३) बन्दाल (देवदाली)		३) करंज
४) कृतवेधन		४) लताकरंज
५) मदनफल		५) अभया
६) इन्द्र जौ		६) नीलबुन्हा
७) त्रपुष		७) कम्पिल्लक
८) हस्तिपर्णिनी (कड़वी ककड़ी)		८) अमलतास
९) मधुयष्टि		९) कुटज

कुल ९ + १ + ९=१९

इस प्रकार उपर्युक्त प्रकार से १९ विरेचन द्रव्यों के साथ उनके अन्य कर्मों का भी निर्देश करते हुए विभाजन किया गया है।

विरेचन भेषज नामानि प्रयोग समय संकेतश्च।

त्रिवृतां त्रिफलां दन्तीं नीलिनीं सप्तलां वचाम्।
कम्पिल्लकं गवाक्षीं च क्षीरिणीमुदकीर्यकाम्।
पीलून्यारग्वधं द्राक्षां द्रवन्तीं निचुलानि च।
पक्वाशयगते दोषे विरेकार्थं प्रयोजयेत्॥

च० सू० २।९-१०

वमनमनुविरेचनाभिधानं शिरः पूर्वक देहशोधनाभिधानानुक्रमेणाशयोर्ध्व भागशोधनानन्तरमामाशयाधोभागस्थितपित्तहरत्वेन। एवं विरेचनानन्तरं वस्त्यभिधानेऽपि वाच्यम्। त्रिवृदादावुच्यते विरेचनद्रव्येषु श्रेष्ठत्वात्। उक्तं हि "त्रिवृत् सुखविरेचनानाम—" (सू० अ० २५) इति। नीलिका= नीलबुह्वा। क्षीरिणी = दुग्धिका। द्रवन्ती=दन्ती भेदः। निचुलं=हिज्जल-मिति प्रसिद्धम्। पक्वश्चासावाशयगतश्चेति पक्वाशयगतः। तेन पित्ताशय एवमाशयाधोभागलक्षणे दोषो विरेचनविषयो भवति न पक्वाशयगतः। दोषशब्देन चेह विरेचन निहरणयोग्यत्वात्पित्तं कफपित्तं वा गृह्यते। यदुक्तं— "पित्तं वा कफपित्तं वा पित्ताशयगतं हरेत्। स्रंसनं त्रीन् मलान् बस्तिर्हरेत् पक्वाशयस्थितान्" (च० चि अ० ३) इति। यदि वा पक्वाशयसमीपगतत्वेनाधः प्रवृत्युन्मुखो दोषः पक्वाशयगत इत्युच्यते, यथा गंगायां घोषः" इति। चक्रपाणिः।

विरेचन द्रव्य—(पक्वाशयगत दोषों के विरेचनार्थ)

त्रिवृत
त्रिफला
दन्ती

नीलिनी
वचा
कम्पिल्लक
इन्द्रायण
दुग्धिका या स्वर्ण क्षीरी
करञ्ज
पीलु
अमलतास
द्राक्षा
द्रवन्ती
समुद्र फल

विरेचनद्रव्य पञ्चाङ्ग विशेषाः

विरेचनद्रव्याणां मूलेषु त्रिवृत्त्वक्षु तिल्वकः।
क्षीरेषु स्नुही, फलेषु हरीतकी प्रधानानि॥

अ० सं० क० २।१

हि० व्या०=इस प्रकार पूर्व में वर्णन किए गए विरेचन द्रव्यों में उसके अंग विशेष का प्रधानतया का निर्देश करके हुए लिखा है कि—मूल में त्रिवृत मूल, छाल, तिल्वक (लोध्र), दूध में स्नुही क्षीर तथा फल में हरीतकी का फल श्रेष्ट विरेचन है।

दशेमानि विरेचनोपगानि

द्राक्षाकाश्मर्यपरुषकाभयामलकविभीतककुवलबदरकर्कन्धुपीलुनीति दशेमानि विरेचनोपगानि भवन्ति। च० सू० ४।१४ (क)

विरेचन द्रव्य—विरेचनोपग दशेमानि द्रव्य

१. द्राक्षा
२. गाम्भारी
३. फालसा
४. अभया
५. आमलक
६. विभीतक
७. बेर (कुवल)
८. बदर
९. झरबेरी
१०. पीलू

अधोभागहर भेषज नामानि तेषां ग्राह्याङ्ग संकेतश्च

त्रिवृताश्यामादन्तीद्रवन्तीसप्तलाशङ्खिनीविषाणिकागवाक्षीच्छगलान्त्रीस्नु-

क्सुवर्णक्षीरीचित्रककिणिहीकुशकासतिल्वककम्पिल्लकरम्यकपाटलापूगहरीतक्यामलकविभीतकनीलिनीचतुरङ्गुलेरण्डपूतीकमहावृक्षसप्तच्छदार्का ज्योतिष्मतीन्चेत्यधोभागहराणि। तत्र तिल्वकपूर्वाणां मूलानि, तिल्वकादीनां पाटलान्तानां त्वचः, कम्पिल्लकफलरुजः, पूगादीनामेरण्डान्तानां फलानि, पूतीकारग्वधयोः पत्राणि, शेषाणां क्षीराणीति।

सु० सू० ३६।४

निवृत् रक्तमूला 'निसोत्' इति लोके; श्यामा कृष्णमूला त्रिवृत्; दन्ती दन्तिनी; द्रवन्ती दन्ती भेदः 'संवरी' इति लोके, सप्तला सातला सेहुण्ड भेदः, अपरे बुध्नामाहुः; शंखिनी यवतिक्ता भेदः, श्वेतबुह्लेत्यपरे; विषाणिका मेषशृङ्गी; गवाक्षी श्वेतपुष्पेन्द्रवारुणी; छगलान्त्री वृद्धदारकः; स्नुक् सेहुण्डः; सुवर्णक्षर्यनन्तासदृशपत्रा 'हियावलि' इति लोके; 'कङ्गुष्ठ' इत्यपरे; किणिही कटभी; तिल्वकः स्वल्परोध्रः, कम्पिल्लको रोचनिकः स्वनामख्यातः; रम्यको द्रेवका 'बकाइणि' इति लोके, पटोलमूलमित्यपरे, नीलिनी नीलबुध्ना, 'श्रीफलिका' इति लोके, चतुरङ्गुल किरमालकः, अत्रैके चतुरङ्गुलस्थाने 'पञ्चाङ्गुल' इति पठन्ति, तेषां मते पञ्चाङ्गुल एरण्डः; अन्ये तु पञ्चाङ्गुल शब्देन पटोलफल सदृशफलां लतां स्निग्धपत्रां शारदफलामाहुः; पूतीकश्चिरबिल्वः; महावृक्षः सेहुण्डभेदः, तस्य क्षीरम्, एतेन न पुनरुक्तदोषः; सप्तच्छदः सप्तपर्णः; ज्योतिष्मती काकमर्दनिका। अधोभागहराणीति।

डल्हणः।

त्रिवृत् अरुणमूला त्रिवृत्; दन्त्येव चीरितपत्रा द्रवन्ती; विषाणिका आवर्तनी छगलान्त्री वृद्धदारकः; नीलिनी नीलबुध्ना; स्नुही सेहुण्ड; किणिही कटभी; शानुक्तम्? औत्तरापथिकं फलं; तिल्वको लोध्रः; कम्पिल्लको गुण्डारोचनिका; रम्यकं पटोलमूलं; पञ्चाङ्गुलः चित्रैरण्डः; महावृक्षः स्नुहीभेदः। ज्योतिष्मती स्वनामख्याता। तिल्वकपूर्वाणां किणिह्यन्तानाम्। मूलवर्गे स्नुहीपाठान्मूलमपि स्नुह्या गृह्यते, क्षीरवर्गेपाठाच्च क्षीरमपि। कम्पिल्लकस्तु त्वग्वर्गे पाठात् त्वचा ग्राह्य एव, परं वैद्य व्यवहाराच्चरकवचनाच्च तस्य फलरजो गृह्यते; उक्तं हि चरके—'कम्पिल्लकारग्वधयोः फलं यत् कुटजस्य च' (च० सू० अ० १) एवमारग्वधस्य पत्रं विरेचनं चरक वचनात्, फलं च। पूतीकस्य तु पत्रमिह विरेचनमुक्तम्, चरके तु—'पूतीकः कृष्णगन्धा च' (च० सू० अ० १) इत्यादिना त्वक् प्रधानमुक्ता; तेन सापि प्रयोगेषु ग्रहीतव्या। चक्रपाणिः।

त्रिवृते त्यादि। श्यामा श्याममूला त्रिवृत्, द्रवन्ती दन्तीभेदः, सप्तला शंखिन्यौ व्याहृते, गवाक्षी इन्द्रवारुणीभेदः, छगलान्त्री वृद्धदारकः, स्नुगत्र सुतीक्ष्णाल्पकण्टका स्नुहीति प्रत्येतव्यमनन्तरं महावृक्षोपदेशात्, किणिही अपामार्गः, रम्यकं पटोलमूलम्, नीलिनी 'वननील' इत्याख्यायते, 'चतुरङ्गुल आरग्वधः, महावृक्षो बहुकण्टका स्नुही, पूर्वस्मादयमेव प्रधानमित्युन्नेयम्

'प्रवरो बहुकण्टकः' इति चरकानुशासनात्। ज्योतिष्मती 'नेफुटकी' इत्याभाष्यते, अधोभागहराणि विरेचनानि। अत्राविशेषेऽपि तिल्वकमूलत्वमेव ग्राहयन्ति 'तस्य मूलत्वचं शुष्काम्' इति चरकेकवाक्यत्वात्। हाराण च०

नाम	प्रयोज्य अंग
१. त्रिवृत	मूल
२. श्यामा (निशोथ)	
३. जमालगोटा	
४. द्रवन्ती	
५. सप्तला	
६. शंखिनी (कालमेघ)	
७. मेढाश्रृंगी	
८. इन्द्रायण	
९. वृद्धदारक्	
१०. स्नुही	
११. स्वर्णक्षीरी	
१२. चित्रक	
१३. कटभी	
१४. कुश	
१५. काश	
१६. कम्पिल्लक	रज
२७. तिल्वक	त्वक्
१८. बकायन	
१९. पाटला	
२०. सुपारी	
२१. त्रिफला	फल
२२. नीलिनी	
२३. अमलतास	
२४. एरण्ड	
२५. पूतीक	पत्र
२६. महावृक्ष (स्नुही)	
२७. सप्तपर्ण	क्षीर
२८. मालकंगनी	

विरेचकगण गुण संकेतः

निकुंभकुम्भत्रिफलागवाक्षी
स्नुक्शंखिनीनीलिनितिल्वकानि।
शंम्याककंपिल्लकहेमदुग्धा
दुग्धं च मूत्रं च विरेचनानि॥ अ० हृ० सूमे १५।३

निकुंभो दन्ती। कुंभस्त्रिवृत्। त्रिफला वरा। गवाक्षी विशाला द्वियेंद्रवारुणी। स्नुग्गुडा। शंखिनी यवतिक्ता। नीलिनी नीलपुष्पा भारवाही संज्ञा। तिल्वको रोध्रः। शम्याकः कर्णिकारः। कंपिल्लको रंजनकः। हेमदुग्धा कनकक्षीरी। दुग्धं क्षीरम्। मूत्रं प्रसिद्धम्। निकुंभादीन्येतानि विरेचनानि। अरुणदत्तः।

विरेचनगण अ० हृ० सू० अ० १५।३

१. दन्ती
२. निशोथ
३. त्रिफला
४. इन्द्रायण
५. स्नुही
६. कालमेघ
७. नीलिनी
८. लोध्र
९. कर्णिकार (कर्णिकार को अमलतास भेद मानते है)
१०. कम्पिल्लक
११. स्वर्णक्षीरी
१२. गोमूत्रादि
१३. दुग्ध

दोषविशेषे विरेचनौषधः

कषायमधुरैः पित्ते विरेकः कटुकैः कफे।
स्निग्धोष्णलवणैर्वायौ ... ...॥ च० द०
पित्तोत्तरे त्रिवृच्चूर्णं द्राक्षाक्वाथादिभिः पिबेत्।
त्रिफलाक्वाथ गोमूत्रैः पिबेद् व्योषं कफार्दितः॥
त्रिवृत्सैन्धव शुण्ठीनां चूर्णमम्लैः पिबेन्नरः।
वातार्दितो विरेकाय जाङ्गलानां रसेन वा॥
भाव प्र० (विरेच०), शा० सं० उत्त० ४।

हि० व्या० – विरेचन औषध का प्रयोग कराते समय पित्त प्रकृति वाले व्यक्तियों को कषाय और मधुर द्रव्य, कफज प्रकृति वालों को कटु तथा वातप्रकृति वालों को स्निग्ध, उष्ण तथा लवणयुक्त विरेचन औषध पिलाना चाहिए.

आचार्य भावमिश्र के अनुसार पित्त की अधिकता में त्रिवृण् चूर्ण को मुनक्का के क्वाथ के साथ पीना चाहिए। कफ की अधिकता में त्रिकटु चूर्ण त्रिफला के क्वाथ से अथवा गोमूत्र के साथ पीना चाहिए। सामान्यावस्था में सैंधा नमक और शुण्ठी चूर्ण कांजी के साथ अथवा हरिण बटेर, आदि प्राणियों

के मांसरस के प्रयोग से विरेचन कराना चाहिए।

दोषानुसारं विरेचनद्रव्य भेदाः विरेचनावस्थायां पथ्य पालन संकेतश्च

तत्र कषायमधुरद्रव्यैः पित्ते विरेचनम्। मूत्रकटुष्णैः कफे। स्निग्धोष्णवाते। पीतमात्र एव चौषधे छर्दिविघाताय शीताम्बूना मुखमस्य सहसा सिञ्चेत्। ततश्चोष्णोदकेन सोऽन्तर्मुखं विशोध्यार्द्र सुरभिमृन्मातुलुङ्ग जम्बीरसुमनः सौगन्धिकादि हृद्यगन्धानुपजिघ्रेत। निवात सुखशय्यास्थितश्चाविबन्धार्थमल्पाल्प मुष्णोदकमनुकण्ठ्यं स्तन्मनावेगानधारयन्न नीरयमाणश्च शय्यासने प्रतिग्राहेऽशीतस्पृक् विरिच्येत। यथा च वमने स्वेदप्रसेकौषध कफपित्तानिलाः क्रमेण प्रवर्तन्ते तथा विरेचने वातमूत्रपुरीष पित्तकफाः पुनश्चान्ते वायुः दोषाणां हि देहे तथा सन्निवेशान्मार्गे वैपरीत्याच्च शोधनयोरिति।

अ० सं० सू० अ० २७।३१

तत्र कषायत्वादियुक्तैर्द्रव्यैः पित्तेविरेचनं योज्यम्। मूत्रादिभिः श्लेष्मणि। स्निग्धत्वादियुक्तैर्वाते। सुबोधम्। अनुकण्ठ्यं स्तोकमात्रं पिबन्। यथा च वमने स्वेदादीनि क्रमेण प्रवर्तन्ते, तद्विरेचने वातादीनि। कुतोऽयं वमनविरेचनयोर्दोषनिर्गमे परस्पर विपरीतः क्रम इत्याह। दोषाणामित्यादि। मुखेन वमनमूर्ध्वं भागनैकट्यादादौ कफं निर्हरति। ततः पित्तम्। पश्चादनिलम्। विरेचनं वैपरीत्यादधोभागनैकट्यादादावनिलम्। मध्ये पित्तम्। अन्तेकफम्। तत्र च पुनरन्तेऽनिलमपतर्पणादिति विज्ञेयम्। इन्दुः।

हि० व्या०—पित्त प्रकृति वाले व्यक्तियों को अथवा पित्त की प्रधानता में कषाय-मधुर द्रव्यों से विरेचन देना चाहिए। कफ की प्रधानता में मूत्र (गोमूत्र), कटु और उष्ण द्रव्यों से विरेचन देना चाहिए। वायु की प्रधानता में स्निग्ध, उष्ण एवं लवण द्रव्यों से विरेचन कराना चाहिए, औषध पीने के बाद शीघ्र वमन न हो जाए अतः रोगी के मुख पर शीतल जल का सिंचन करना चाहिए। तत्पश्चात् उष्ण जल से कुल्ले द्वारा अन्तर्मुख का शोधन करा कर गीली (भिगोई हुई सुगन्धित मिट्टी), सुगन्धित तथा मधुर मातुलुंग बिजौरा), जम्बीरी निम्बू, चमेली के पुष्प अथवा मन को भाने वाली गंधों को सूंघने के लिए देवें। रोगी की शय्या हवा रहित स्थान में बिछाकर रोगी को बिठा देवें अथवा लिटाकर आराम करने देवें। कण्ठ को गीला करने के लिए थोड़ा-थोड़ा उष्णजल पिलाते रहें ताकि मल की रुकावट नहीं हो। उत्पन्न हुए वेग को धारण नहीं करना चाहिए। वेग उत्पन्न होने पर शय्या के पास रखे हुए मलपात्र में मल त्याग करें उष्ण जल से ही शौच कार्य सम्पन्न करना चाहिए।

कफरोगे पिप्पल्यादि चूर्णम्।

पिप्पलीनागरक्षारं श्यामा त्रिवृतया सह।
लेहयेन्मधुना सार्द्धं कफव्याधौ विरेचनम्॥ चक्रदत्तः (विरेचन०)

'क्षारः यवक्षारः। श्यामेति-श्यामामूला त्रिवृत्। त्रिवृदिति अरुणमूला। अत्र पिप्पलीनागरयोः कटुत्वमात्रकारिका मात्रा, तेन पिप्पलीचूर्ण माशा २ शुण्ठीचूर्ण माशा २ क्षारत्रितयस्य प्रत्येकं मापकचतुष्टयं ततो मिलित्वा कर्षो लेह्यः; एवमन्यत्राप्युक्तमित्याहुः।

शिवदाससेन

हि० व्या०—श्लैष्मिक व्याधियों में पिप्पली, सौंठ, यवक्षार तथा काली निशोथ के चूर्ण को शहद के साथ मिलाकर चाटने से उत्तम विरेचन होता है।

विरेचकौषधानां मूलत्वक् फल तैल स्वरसक्षीररूपेण प्रयोज्यानां अङ्गानां मुख्यं कार्यकरत्वम् उद्दिश्य त्रिवृतादि विरेचनद्रव्य संकेतः।

अरुणाभं त्रिवृन्मूलं श्रेष्ठं मूल विरेचने।
प्रधानं तिल्वकस्त्वक्षु फलेष्वपि हरीतकी॥
तैलेष्वेरण्डजं तैलं स्वरसे कारवेल्लिका।
सुधापयः पयः सूक्तमिति प्राधान्य संग्रहः॥
तेषां विधानं वक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः।

सु० सू० ४४।३-४॥

अरुणाभमित्यादि। अरुणाभमिषल्लोहितम्। त्रिवृत् 'निशोत्त' इति लोके। मूलविरेचने मूल विरेचनानां मध्ये। तिल्वकः स्वल्परोध्रः। त्वक्षिक्षवति त्वग्विरेचनानां मध्ये तिल्वक् त्वक् प्रधानमित्यर्थः। सुधा 'सेहुण्ड' इति लोके। पयः सूक्तमिति पयः सुक्षीरविरेचनानां मध्ये सुधापयः प्रधानमुक्तमिति संदन्धः। फलेष्वपि हरीतकी अस्याग्रे 'तैलेष्वेरण्डजं तैलं स्वरसे कारवेल्लिका' इति जेज्जटाचार्यः पठति, तन्नेच्छति गयी। विधानमिति विधानं प्रयोगकरणम्। एषां त्रिवृतादीनाम्। यथावत् सत्यम्। अनुपूर्वशः अनुक्रमेणेत्यर्थः। डल्हण।

पूर्वं विरेचन द्रव्येषु फलमूलत्वक् क्षीरपत्राश्रयतया पञ्चविधं विरेचनमुक्तं तत्र पत्रस्याल्पत्रिषयादिह प्रपञ्चावसरेऽनभिधानं; तेन मूलादि चतुरङ्गप्रयोज्यानां प्रत्येक त्रिवृतादीनां प्रपञ्चेनेह कल्पाभिधानं भविष्यति। अतस्तदर्थं मूलाद्यङ्गोपयोज्यानां विरेचनौषधीनां त्रिवृतादीनां विधानमाह—अरुणाभमित्यादि। श्यामामूलायाश्च त्रिवृतौ विद्यमानत्वात् अरुणाश्यामादीनां द्वादशानां कल्पातिदेशः, तिल्वककल्पेन च त्रयाणां कम्पिल्लकादीनां, हरीतकी कल्पेन सप्तच्छदादीनां त्रयाणामतिदेशः। केचित् 'तैलेष्वेरण्डजं तैलं स्वरसे कारवेल्लिका' इति पठन्ति; एतत् पाठं चान्ये नेच्छन्ति। एवं सति सार्धं (?) मसुष्ठु स्वयं भवति। तैलं च संशोधनसंशमनीये न पठितं, कारवेल्लिका च स्वरसप्रयोज्या अत्र न पठिता; तथेहापि च तैल स्वरसयोः योगो न भविष्यति। यश्चैरण्डतैलप्रयोगो भविष्यति स त्रिफलाङ्गतया; तथाऽध्यायान्तकृतसंग्रहेऽपि तैलं स्वरसो वा न पठितः; यद्वक्ष्यति 'क्षीरत्वक्फलमूलानां विधानैः' इति, अनया

युक्त्या नेच्छन्ति तैलेष्वित्याद्यर्धश्लोकम्। एतत्समाधानं च बुद्धिमत्ता चिन्त्यम्। एषामिति मूलत्वक् फलक्षीरप्रधानानां त्रिवृतादीनाम्। चक्रपाणिः।

त्रिवृत् विरेचन योग	संख्या
अम्लादि द्रव्यों द्वारा	९ योग
सैन्धवादि द्वारा	१२ योग
गोमूत्र द्वारा	१८ योग
मधुयष्टि द्वारा	१ योग
जीवकादि द्वारा	१५ योग
दूध द्वारा	७ योग
अवलेह योग	८ योग
शर्करा योग	४ योग
पानक आदि द्वारा	५ योग
ऋतु के अनुसार	६ योग
मोदक रूप में	५ योग
घृत और दूध से	४ योग
तर्पण और चूर्ण से	२ योग
मद्य से	२ योग
सौवीर व तुषोदक से	२ योग
षाडव के	१० योग
कुल	= ११०

इस प्रकार विरेचनार्थ त्रिवृत् के ११० योग बताए गए हैं।

सर्वर्तुको विरेचन योगः।।

त्रिवृतां हपुषां दन्तीं सप्तलां कटुरोहिणीम्।
स्वर्णक्षीरीं च संचूर्ण्य गोमूत्रे भावयेत्र्यहम्॥
एष सर्वर्तुको योगः स्निग्धानां मलदोषहा। शा०उ० ४।२५-२६

हि० व्या०—सभी ऋतुओं में विरेचन के लिए योगः—

निशोथ, दन्तीमूल, हपुषा (हाउवेर), सप्तला, कुटकी एवं स्वर्णक्षीरी का चूर्ण समभाग लें। इसे तीन दिन तक गोमूत्र में भावित कर सुखा लें। यह सभी ऋतुओं में लिया जाने वाला विरेचक योग है। इसके प्रयोग से स्निग्ध पुरुषों के मलदोष दूर हो जाते हैं।

मृद्वादि द्रव्याणि

मृद्वर्द्राक्षापयश्चाम्बुतैलैरपि विरिच्यते।
मध्यमस्त्रिवृतातिक्तराजवृक्षैर्विरिच्यते॥
क्रूरः स्नुक्पयसाहेमक्षीरीदन्तीफलादिभिः। शा० उ० अ० ४।४

मृदु कोष्ठः द्राक्षादिभिः सम्यक् विरिच्यते। तत्र द्राक्षा गोस्तनी, पयः गोदुग्धं, उष्णाम्बु उष्णोदकम् पानीयत्वेन मध्यमेऽपि ग्रहणं। अथवाम्बुशब्दः सारकमस्त्वादिद्रवोपलक्षणः तैलमेरण्डतैलम्। मध्यस्तु मध्यकोष्ठः न क्रूरो न मृदुरिति मध्यपदाभिधानात्। स च त्रिवृतादिभिः सम्यक् विरिच्यते। त्रिवृता श्यामा, तिक्ता कटुकी, राजवृक्षो गिरिमालकः। क्रूर इति। क्रूरकोष्ठः स्नुक्पयोहेमक्षीर्यादिभिर्विरिच्यते। स्नुक् सेहुण्डः। हेमक्षीरी स्वर्णक्षीरी, दन्तीफलं जयपालः। आदिग्रहणात् कुम्भातिल्वकादयः। आढमल्लः।

पयो दुग्धम्, तैलैः एरण्डादितैलैः, त्रिवृता निःसृता, तिक्ता कटुकी, राजवृक्षो गिरिमालकः। स्नुक् सेहुण्डः तस्य दुग्धम्, हेमक्षीरी स्वर्णक्षीरी, दन्ती जयपालः। आदिशब्दात् इन्द्रवारुणीवह्वलवण्यादयः। काशीराम।

हि० व्या०—मुनक्का, उष्णदुग्ध, उष्णजल, एरण्ड तैल आदि द्वारा मृदुकोष्ठ वाले व्यक्ति को सामान्य विरेचन हो जाता है। निशोथ, कुटकी, अमलतास से मध्यम कोष्ठ वाले व्यक्ति को विरेचन हो जाता है। क्रूरकोष्ठ वाले व्यक्ति को विरेचनार्थ सेहुण्ड का दूध, स्वर्णक्षीरी तथा जयपाल आदि तीक्ष्ण द्रव्यों से विरेचन कराना चाहिए।

त्रिवृत् सुखविरेचनानाम्। च० सू० अ० २५।४०
विरेचने त्रिवृन्मूलं श्रेष्ठमाहुर्मनीषिणः।
तस्याः संज्ञा गुणाः कर्म भेदः कल्पश्च वक्ष्यते॥

च० क० ७।३

हि० व्या०—सुखपूर्वक विरेचन कराने वाले द्रव्यों में त्रिवृत् को उत्तम बताया गया है। वमन में मदनफल एवं विरेचन में त्रिवृत् को ही अ० हृ० में भी श्रेष्ठ बताया है जिसका वर्णन सामान्य संशोधन प्रकरण में किया गया है।

इसी द्रव्य के पर्याय नाम, गुण, कर्म एवं विविध कल्पों का वर्णन किया जा रहा है।

त्रिवृत् पर्यायाः

त्रिभण्डी त्रिवृता चैव श्यामा कूटरणा तथा।
सर्वानुभूतिः सुवहा शब्दैः पर्यायवाचकैः॥

च० क० ७।४

हि० व्या०—त्रिभण्डी, त्रिवृता, श्यामा, कूटरणा, सर्वानुभूति, सुवहा त्रिवृत के पर्यायवाचक नाम हैं। विशेष—कहीं-कहीं सरला एवं कौटरा भी पर्याय नामों से पठित है।

त्रिवृत गुणविशेषाः

काषाया मधुरा रूक्षा विपाके कटुका च सा
कफवित्तप्रशमनी रौक्ष्याच्चानिलकोपनी॥

[1]सेदानीमौषधैर्युक्ता वातपित्तकफापहैः।
कल्पवैशेष्यमासाद्य सर्वरोगहरा भवेत्॥

च० क० ७।५-६, अ० हृ० क० २।२

हि० व्या०—त्रिवृत् रसमें कषाय-मधुर, गुण में रूक्ष तथा विपाक में कटु होती है। कफ एवं पित्तशामक कर्म हैं। रूक्ष होने से वातप्रकोपक है।

वात, पित्त तथा कफनाशक औषधियों से युक्त होकर तथा विशिष्ट कल्पना के रूप में एक दोषज, द्विदोषज या सन्निपाज समस्त व्याधियों को दूर करने वाली है।

द्विविध त्रिवृत् गुणविशेषाः

मूलं तु द्विविधं तस्याः श्यामं चारुणमेव च।
तयोर्मुख्यतरं[2] विद्धि मूलं यदरुणप्रभम्।
सुकुमारे शिशौ वृद्धे मृदुकोष्ठे च तच्छुभम्।
मोहयेदाशुकारित्वात् श्यामाक्षिण्वीतमूर्छयेत्।
तैक्ष्ण्यात कर्षति हृत्कण्ठमाशुदोषं हरत्यपि।
शस्यते बहुदोषाणां क्रूरकोष्ठाश्च ये नराः॥

च० क० ७।७-९

हि० व्या०—श्यामा एवं अरुणमूल भेद से त्रिवृत दो प्रकार की होती है। इन दोनों में अरुणमूल उत्तम होता है। इसका प्रयोग सुकुमार, शिशु, वृद्ध एवं मृदुकोष्ठ वाले व्यक्तियों के लिए प्रशस्त बताया गया है। श्याममूला निशोथ में शीघ्र क्रियाकारित्व स्वभाव होने से मोह उत्पन्न करने वाली बताई गई है। धातुक्षय कारक एवं मूर्च्छा को उत्पन्न करती है। तीक्ष्ण होने से हृदय एवं कण्ठ का कर्षण करती है। दोषों को भी शीघ्र नष्ट करती है इसी कारण बहुदोष वाले व्यक्तियों में एवं क्रुरकोष्ठ वालों के लिए हितकर बताई गई है।

त्रिवृतायाः खलुः द्विविधं मूलमरुणं श्यामं च तत्रारुणं कषायमधुरं विपाके कटुकं रूक्षं श्लेष्मपित्तहरं कल्पनाविशेषात्पुनः सर्वव्याधि शमनं सुखविरेचनत्वाच्छिशुस्थविर सुकुमारमृदुकोष्ठेषु प्रशस्तं त्रिवृच्छब्दवाच्यं च। इतरदपि तस्माद्गुणैः किञ्चिदूनं तीक्ष्णं कण्ठहृदयकर्षणंमूर्च्छा संमोहकृदाशु दोषहरत्वाद्बहुदोष

---

१. सेदानीमित्यादि। वातापहौषध योगेन वातहन्तृत्वमविद्यमानं भवति, कफपित्त हन्तृत्वं विद्यमानमधिकं भवतीति ज्ञेयम्। कल्पवैशेष्यमिति कल्पनाविशेषम्। सर्वरोगहरेति व्यस्तसमस्त सर्वदोषारब्धरोगहरा। चक्रपाणिः।

२. मुख्यतरमिति विरेचनक्रियामेवाव्यापत्तिकरत्वात् श्रेष्ठतरम्। सुकुमाराः शिशवश्च यद्यप्यविरेचनीया उक्तास्तथाऽपि तेषां विधीयमानविरेचने हितमिति ज्ञेयम्। मोहयेदित्यादिना श्याममूलाया गुणकर्मणीवृते। क्षिण्वीतेति धातुक्षयं कुर्यात्। चक्रपाणिः।

क्लेशक्षमक्रूरकोष्ठेषु प्रशस्तं श्यामाशब्दवाच्यं च ।

अ० सं० क० अ० २।२

तदरुणं त्रिवृन्मूलं त्रिवृच्छब्दवाच्यम् । उभयोक्तावपि । इतरच्छ्यावम् । तस्मादित्यरुणात् । गुणः रसादिभिः । मूर्छा प्रलयः सम्मोहोऽस्फुटज्ञत्वम् । तद्वच्छ्यावं त्रिवृन्मूलं श्यामाशब्दवाच्यम् । इन्दुः ।

द्विधा ख्यातं च तन्मूलं श्यामं श्यामारुणं त्रिवृत् ।
त्रिवृदाख्यं वरतरं निरपायं सुखं तयोः ।
सुकुमारे शिशोवृद्धे मृदुकोष्ठे च तद्धितम् ॥
मूर्छा संमोहहृत्कंठकर्षणक्षणनप्रदम् ।
श्यामं तीक्ष्णाशुकारित्वादतस्तदपि शस्यते ॥
क्रूरे कोष्ठे बहौ दोषे क्लेशक्षमिणि चातुरे ।

अ० हृ० क० २।३५

तस्यास्त्रिवृतो मूलं द्विप्रकारम् । एकं श्याममपरं श्यामारूपम् । श्यामं मूलं श्यामा त्रिवृत् श्यामरूणं मूलमिति द्वयारव्य द्विसंज्ञम् । तयोः श्याम श्यामारुणयोर्यदरुणं मूलं तद्वरतरम् । सामर्थ्याद्धयं वरं श्यामारुणं यन्मूलं तन्निरपायत्वात्सुकुमारादिषु हितं न श्यामं सापायत्वात् । सापायत्वे विशेषेण हेतुमाह । श्यामं मूलं मूर्छादि हृत्कण्ठकर्षणक्षणनप्रदम् । तत्तीक्ष्णत्वादाशुकारित्वाच्च सापायत्वमस्य तदेवं रूक्षमपि श्यामं शस्येत क्रूरकोष्ठादिविषये ।

अरुणदत्तः ।

त्रिवृत मूल ग्रहण प्रकारः रक्षा प्रकारश्च ।

गुणवत्यां तयोर्भूमौ जातं मूलं समुद्धरेत् ॥
अपोष्य प्रयतः शुक्ले शुक्लवासाः समाहितः ॥
गम्भीरानुगतं श्लक्ष्णमतिर्यग्विसृतं च यत् ।
तद्विपाट्योद्धरेद्गर्भं त्वचं शुष्कां निधापयेत् ॥

च० क० ७।१०-११, अ० हृ० क० २७

यद्यपि मदनकल्प एव गुणवद्भूमि जातत्वादि सामान्येन भेषजानामुक्तमेव, तथाऽपि गम्भीरानुगतत्वादिविशेषस्य तत्रानुक्तस्येहाविधाने सति तत्प्रसंगात् तत्किंचिदुच्यते-गुणवत्यामित्यादि । शुक्ल इति शुक्लपक्षे । गम्भीरानुगतमिति दूरप्रविष्टम् । उद्धरेद्गर्भमितिमूलस्यास्थि उद्धरेत् । निधापयेदिति यथोक्तभैषज्यस्थापन विधानेन स्थापयेत् । चत्रपाणिः ।

अथ तयोर्मूलमतिर्यग्विसृतं गंभीरानुगतं श्लक्ष्णमाहरेत् । ततस्त्वचं शोषयित्वा सम्यक् स्थापयेत् ॥

अ० सं० क० २।३

हि० व्या०—सामान्यतः उत्तम भूमि में उत्पन्न दोनों प्रकार की त्रिवृत् का मूल व्रत रखकर, शुक्ल पक्ष में श्वेत वस्त्र धारण कर सावधानी पूर्वक एकाग्र मन से उखाड़ना चाहिए । जिसका मूल भूमि में अधिक गहराई तक

चला गया हो, चिकना हो और सीधा हो उसे उखाड़कर, चीरकर उसकी त्वचा को सुखाकर पात्र में रखना चाहिए ।

स्रंसन परिभाषा

पक्तव्यं यदपक्त्वैव श्लिष्टं कोष्ठे मलादिकम् ।
नयत्यधः स्रंसनं तद्यथा स्यात्कृतमालकम् ॥

शार्ङ्गधर प्र० ख० ४।४

पक्तव्यमिति । यद्द्रव्यं मलादिकं अपक्त्वैव तेषां पाकमकृत्वा अधो नयति अधः पतनं करोति तत् स्रंसनं स्यात् । यथा कृतमालकः । कीदृशं मलादिकम् ? इत्याह - पक्तव्यमिति । पच्यमानं अत एव कोष्ठे आश्लिष्टं कोष्ठ इति पाचकस्थाने, आश्लिष्टमित्याश्रितम् । केचित् कोष्ठशब्देन हृदयादीन्यपि गृह्यन्ते । तथा हि—स्थानान्यामाग्निपक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च । हृदुण्डुकः फुप्फुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते' इति । एतदभिप्रायेणाऽपि शोधनमस्याहुः । आढ़मल्लः ।

यद्द्रव्यं कोष्ठे श्लिष्टं पक्तव्यं मलादिकं अपक्त्वैवापाचयित्वा अधः नयति तत्स्रंसनं स्यात् । यथा कृतमालकः आरग्वधः । काशीराम ।

हि० व्या०—जो द्रव्य कोष्ठ में चिपके हुए एवं पच्यमान मलों को बिना पकाए ही (अपक्वावस्था में) बाहर निकाल दें उन्हें स्रंसन कहते हैं जैसे—अमलतास ।

अनुलोमन परिभाषा ।

कृत्वा पाकं मलानां यद् भित्त्वा बन्धमधो नयेत् ।
तच्चानुलोमनं ज्ञेयं यथा प्रोक्ता हरीतकी ॥

शा० प्र० खं० ४।३

यद्द्रव्यं मलानां दोषाणां पाकं कोपशान्तिं कृत्वा बन्धं विबन्धं च भित्त्वा भिन्नतां नीत्वा अधो नयेत् अधः करोति वातादिकमिति शेषः. तेन प्रतिलोमानुलोमं करोतीत्यर्थः । तच्चानुलोमनं ज्ञेयं, अनुलोमनं वातादीनामधः प्रवर्तनं रसगुणत्वात् । यथा हरीतकी । सैवाऽनुलोमिनी प्रसिद्धैव । बन्धमिति दोषाणां परस्परग्रथितत्वं । एके वातमूत्रपुरीषादीनामप्रवृत्तिरूपं निबन्धमाहुः ।

आढमल्लः ।

यद्द्रव्यं अपरिपच्यमानानां मलानां पाकं कृत्वा बन्धं च भित्त्वा अधः नयेत् कोष्ठादधः पातयेत् ततः अनुलोमनं ज्ञेयं । यथा हरीतकी । काशीराम ।

हि० व्या०—जो द्रव्य अपक्व मलों को पकाकर तथा वायु के बन्ध को तोड़कर मल एवं वात को नीचे ले जाते हैं उन्हें अनुलोमन द्रव्य कहा जाता है । यथा—हरीतकी ।

भेदन परिभाषा

मलादिकमबद्धं च बद्धं वा पिण्डितं मलैः ।

भित्त्वाधः पातयति तद् भेदनं कटुकी यथा ॥

शा० प्र० ख० ४।५

यन्मलादिकमबद्धं मलबद्धं वा अत एव मलैर्दोषैश्च कृत्वा पिण्डित परिपाकात् पिण्डिभूतम् । ईदृशं मलादिकं भित्त्वा स्थानात् सञ्चाल्याधः पातयति तद् भेदनं ज्ञातव्यमिति शेषः । यथा कटुकी । बद्धं, निबद्धं, शुष्कं ग्रथितं दोषादीनाम् । तथा अबद्धमपि द्विविधं । एकं द्रवरूपं पुरीष विषयं स्वतन्त्रमेकं मलादिकमिति, मलोऽत्र दोषः । आदि ग्रहणात् रूक्षदूषितादीनामपि ग्रहणम् । भित्त्वेति तत्पुरीषं भित्त्वा विदार्याध पातयति द्रव्यमिति शेषः । आढमल्लः ।

यद्द्रव्यं अबद्धं मलादिकं पिण्डितैः पिन्डीभूतैर्मलैर्बद्धं वा भित्त्वाधः पातयति उद्भेदनं । यथा कटुकी । काशीराम ।

हि० व्या – किन्हीं कारणों से आबद्ध, बद्ध या पिण्डीरूप मल को भेदन करके अधो भाग से बाहर निकाल दे उन्हें भेदन द्रव्य कहा जाता है यथा कुटकी ।

रेचन परिभाषा

विपक्वं यदपक्वंवा मलादि द्रवतां नयेत् ।
रेचयत्यपि तज्ज्ञेयम् रेचनं त्रिवृता यथा ॥

शा० पू० ख० ४।६७

यद्द्रव्यं विपक्वमपक्वं वा मलादि दोषादिकं द्रवतां नयेत् द्रवभावं करोतीत्यर्थः । न केवलं द्रवतां नयेत् रेचयत्यपि च तद्रेचनं ज्ञेयं. यथा त्रिवृता 'निसोतः' यतो विरेचन द्रव्याणि गुर्वम्बुगुणभूयिष्ठानि तानि गुरुत्वादयो गच्छन्ति । गुरुत्वादिति गुरुत्वं चेह प्रभावविशेषाधिष्ठितं । त्रिवृतादिकं समवेतं ग्राह्यं न तु गुरुत्वमात्रं । अन्यथा मत्स्यपिष्टान्न मसूरादीनां विरेचकत्वं स्यात् । अम्बुगुणभूयिष्ठमित्यर्थं प्रभावात मलादिकमिति आदि ग्रहणात् दूष्यदूषितादीनामत्र संग्रहः । आढमल्लः ।

यद्द्रव्यं विपक्वं मलादि अपक्वं वा द्रवतां नयेत् प्रापयेत् पुनर्बहिरेव याति तत रेचनं ज्ञेयं । यथा-त्रिवृता । काशीराम ।

हि० व्या—जो द्रव्य पक्व अथवा अपक्व मल आदि को पतला कर दे तथा विरेचन करा दे उसे रेचन द्रव्य कहा जाता है । यथा— निशोथ ।

त्रिवृत्प्रयोगः ।

त्रिवृच्चूर्णं सितायुक्तं पिबेच्छ्रेष्ठं विरेचनम् ॥

चक्रदत्त (विरे०)

हि० व्या०—त्रिवृत् चूर्ण और सम भाग मिश्री मिलाकर ३ माशे से ६ माशे की मात्रा में शीतल जल के अनुपान से सेवन करने से उत्तम विरेचन होता है ।

तीक्ष्ण विरेचन-निरूहण द्रव्य कार्याणि

तीक्ष्णमध्यमृदूनां तु तेषां शृणुत लक्षणम् ।
[1]सुखं क्षिप्रं महावेगमसक्तं यत् प्रवर्तते ॥
नाग्लानिकरं पायौ हृदये न च रुक्करम् ।
अन्तराशयमक्षिण्वन् कृत्स्नं दोषं निरस्यति ॥
विरेचनं निरूहो वा तत्तीक्ष्णमिति निर्दिशेत् ।

च० क० १२।४८-५० अ० सं० सू० २७।५४-५५

हि० व्या० जो द्रव्य सुखपूर्वक शीघ्र ही अधिक वेग से बिना किसी बाधा के वेगोत्पत्ति करती है जिससे अधिक ग्लानि उत्पन्न नहीं हो, हृदय एवं गुदा में किसी प्रकार की पीड़ा उत्पन्न नहीं करे, शरीर के आभ्यन्तर आशयों को किसी प्रकार की हानि नही पहुंचाकर सम्पूर्ण दोंषों को निकालने वाले हों, वे विरेचन अथवा निरूहण द्रव्य तीक्ष्ण कहे जाते हैं ।

त्रिवृत् चूर्णस्य प्रयोगोपद्रवरूपेण प्रकटछर्दिनिरोधाय चिकित्सा क्रमः

त्वक्केशरास्रातकदाडिमंलासितोपलामाक्षिकमातुलुङ्गं ।
मद्यैस्तथाऽम्लैश्च मनोनुकूलैर्युक्तानि देयानि विरेचनानि ॥
शीताम्बुना पीतवतश्च तस्य सिञ्चेन्मुखं छर्दिविघातहेतोः ।
हृद्यांश्च मृत्पुष्पफलप्रवालानम्लं च दद्याद्रुपजिघ्रणार्थम् ॥

च० क० ७।७५-७६

हि० व्या०—मनोनुकूल द्रव्यों के साथ त्रिवृत् का प्रयोग दालचीनी, नागकेशर, आमड़ा, अनार, इलायची, मिश्री, मधु, बिजौड़ा नींबू, मदिरा तथा मन को प्रिय लगने वाले द्रव्यों के साथ विरेचन औषधियों का प्रयोग करना चाहिए । विरेचन द्रव्य पिलाने के पश्चात् रोगी को वमन न हो जाय इसके लिए मुख के ऊपर शीतल जल का छींटा देना चाहिए तथा हृदय के अनुकूल, मिट्टी, फूल, फल, पत्ती तथा अन्य सुगन्ध द्रव्य रोगी को सूंघने के लि देने चाहिए ।

वातदोषे विरेचन योगः

त्रिवृत्सैन्धवशुण्ठीनां चूर्णमम्लैः पिबेन्नरः ।
वातादितो विरेकाय जाङ्गलानां रसेन वा ॥ (वङ्गसेन विरेचना०)

---

१. सुखमिति दुखमकुर्वन् । असक्तमित्यप्रतिबद्धम् । नातिग्लानिकरं पायाविति विरेचनस्य निरूहस्य च, हृदये न च रुक्करमिति तु वमनस्य निरूहस्य च, हृदये न च रुक्करमिति तु वमनस्य लक्षणं ज्ञेयम् । अक्षिण्वन्नित्यपीडयन् । विरेचनमिति वमनं विरेचनं च, उक्तं हि 'उभयं हि शरीर दोष मलविरेचनाद्विरेचनशब्दं लभते' (क० स्थान अ० १) इति । चक्रपाणिः ।

हि० व्या० ——आचार्य वङ्गसेन के अनुसार त्रिवृत् चूर्ण को सैंधवलवण, सोंठ का चूर्ण मिलाकर वात रोग से पीड़ित रोगी को पीना चाहिए अथवा जाङ्गल पशु पक्षियों के मांस रस में मिलाकर पीना चाहिए।

कफरोगे पिप्पल्यादि अवलेह योगः

पिप्पलीनागरक्षार श्यामास्त्रिवृतया सह।
लेहयेन्मधुना सार्द्धं कफव्याधौ विरेचनम्॥ वङ्गसेन

हि० व्या० – पिप्पली, सोंठ, यवक्षार, काली निशोथ और सफेद निशोथ एकत्र चूर्ण करके शहद में मिलाकर सेवन करने से कफज रोगों में उत्तम विरेचन होता है।

विरेचन चूर्णम्

चूर्णं श्यामा त्रिवृन्नीली कट्वी मुस्ता दुरालभा।
चव्येन्द्रबीजं त्रिफला सर्पिर्मांसरसाम्बुभिः॥
पीतं विरेचनं तद्धि रूक्षाणामपि शस्यते।
सु० सू० ४४।२६-२७

नीली नीलिनी, श्रीफलिकेति लोके। कट्वी कटुरोहिणी। रूक्षाणां सर्पिषा मांसरसेन च, स्निग्धानां पुनरपिशब्दसमुच्चितानामम्बुना पानीयेन सह योगो देयः। डल्हण।

चूर्णं श्यामेत्यादौ श्यामादयस्त्रिफलान्ताः, चूर्णमिति समानाधिकरण्येन योजनीयम्। कट्वी कटुरोहिणी। रूक्षाणामपि इत्यपि शब्दादम्बुना पानं चारूक्षज्ञानविषयं ज्ञेयम्। एते च प्रयोगाः सर्वैरपि च टीकाकारैर्नन्दिपूरवराह-प्रभृतिभिर्व्याख्यातत्वात् प्रसिद्धा एव। चक्रपाणिः। भानु०

कट्वी कटुरोहिणी। हाराणचन्द्रः।

हि० व्या०—काली निशोथ, सफेद निशोथ, नीली, कुटकी, नागरमोथा, धमासा, चव्य, इन्द्रयव और त्रिफला इन्हें समभाग चूर्णकर घृत, मांस रस और जल किसी भी अनुपान के साथ सेवन करने से विरेचन होता है। यह योग रूक्ष प्रकृति वाले मनुष्यों के लिए भी लाभदायक है।

सन्निपातज्वरादिषु त्रिवृद् विरेचन योगः

अजगन्धातवक्षीरीविदारीशर्करात्रिवृत्।
चूर्णितं मधुसर्पिर्भ्यां लीढ्वा साधु विरिच्यते॥
सन्निपातज्वरस्तंभ पिपासादाहपीडितः।
अ० सं० क० २।६, अ० हृ० क० २।१०-११

हि० व्या० —अजगन्धा (अजमोद), तवक्षीरी (तवाशीर), विदारीकन्द, खाड़ तथा निशोथ का समभाग चूर्ण मधु एवं घृत मिलाकर सेवन करने से सन्निपातज्वर, शरीर की स्तब्धता, तृषा तथा दाह रोग के रोगी को भली-

गुल्महरं त्रिवृत् सिद्ध पयः

श्यामात्रिवृत्कषायेण सिद्धं सर्पिः पयोऽपि वा। अ० सं० क० २।२०

श्यामा त्रिवृतयोः कषाये घृतपाकः कल्कं विना। केचित्तु सर्वकषायपाकेषु कषायौषधात् कल्कमपीच्छन्ति पयोऽपि वा श्यामात्रिवृत्कषायसिद्धम्। इन्दुः।

हि० व्या० – काली निशोथ के क्वाथ में त्रिवृत्कल्क डालकर घृत या दुग्ध सिद्धकर पीने से गुल्म रोग दूर होता है।

गुल्महरं त्रिवृत् घृतम्

तुल्याम्लं त्रिवृताकल्कसिद्धं गुल्महरं घृतम्। अ० सं० क० अ० २

त्रिवृद्घृते यथालाभमम्लानि काञ्जिका पृथक् स्नेह समानि। घृतं कल्कपादम्। इन्दुः।

हि० व्या०—त्रिवृत् कल्क में समभाग कांजी मिलाकर विधिवत् घृत सिद्ध कर सेवन करने से गुल्म रोग दूर होता है।

गुल्मपार्श्वार्तिहरस्त्रिवृदयोगः

त्र्यूषणं त्रिफलाहिङ्गु कार्तिकं त्रिवृता पलम्।
सौवर्चलार्द्धकर्षश्च पलार्द्धं चाम्लवेतसात्॥
तच्चूर्णं शर्करातुल्यं मंडेनाम्लेन वा पिबेत्।
गुल्म पार्श्वार्तिनुत्सिद्धं जीर्णे चास्मिन् रसौदनम्॥
अ० सं० क० २।१७

त्र्यूषणादिकं मिद्धं विरेकेण दृष्टफलं गुल्म पार्श्वार्तिनुत् भवति। त्र्यूषण-त्रिफले समुदाये। अम्लवेतसस्यार्धपलम्। मण्डः स्वच्छा पेया। अम्लः काञ्जिक-मद्यादिः। रसौदनो मांसरसमिश्र ओदनः। इन्दुः।

हि० व्या०—सोंठ, पीपर, मरिच, हरड़, बहेड़ा, आँवला प्रत्येक एक-एक तोला, त्रिवृत् चूर्ण चार तोला, सौवर्चल नमक आधा तोला, अम्लवेत चूर्ण दो तो० सभी के समान भाग चीनी मिलाकर मण्ड से या अम्ल फलों भ स्वरस के अनुपान से पीना चाहिए। यह गुल्म रोग एवं पार्श्वपीड़ा नाशक है। औषध पच जाने पर भात और मांसरस खिलाना चाहिए।

यूषादिषु प्रयोज्यस्त्रिवृदयोगः

त्रिवृतात्रिफलादन्ती सातला व्योषसैन्धवैः।
प्रकल्प्यचूर्णं सप्ताहं भाव्यमामलकाद्रसे॥
तद्योज्यं तर्पणे यूषे पिशिते रागयुक्तिषु। अ० सं० क० २।२८

त्रिवृतादि सप्तदिनान्यामलकरसेन भावितं तर्पणादिषु दोषाद्यपेक्षया योज्यम्। तर्पणाः सक्तवः। रागा बदरमण्डादयः॥ इन्दुः।

हि० व्या०—त्रिवृत् चूर्ण, हरड़, बहेड़ा, आँवला, सातला, शुण्ठी (सोंठ), पिप्पली, मरिच। समभाग चूर्ण बनाकर एक सप्ताह तक आमलकी स्वरस

की भावना देकर तैयार किया गया चूर्ण को सत्तु, यूष, मांसरस या राग से सेवन करना चाहिए।

सुकुमाराणां कृते त्रिवृत् विरेचन योगः

शर्कराक्षौद्रसंयुक्ते त्रिवृच्चूर्णावचूर्णितम्।
रेचनं सुकुमाराणां त्वक्पत्रमरिचान्वितम् ॥वङ्गसेन (विरेचन प्र०)

हि० व्या०—त्रिवृत् का चूर्ण, मिश्री, शहद, दालचीनी, तेजपत्र और काली मिर्च का चूर्ण मिलाकर सेवन करने से सुकुमार प्रकृति वाले व्यक्तियों में उत्तम विरेचन होता है।

त्रिवृतादि सर्वदोषहर विरेचन योगः

त्रिवृत्पिप्पलि सिन्धूत्थैरन्वितं गुग्गुलुं पिबेत्।
फलत्रिककषायेण रेचनं सर्वदोषनुत् ॥ वङ्गसेन (विरेचना०)

हि० व्या०—निशोथ, पिप्पली, सैंधानमक और गूगल इन सबको एकत्र करके त्रिफला क्वाथ के साथ पान करने से उत्तम विरेचन होता है तथा त्रिदोष का शमन होता है।

वातकफरोगे त्रिवृन्मूल प्रयोगः

त्रिवर्णकत्र्यूषणयुक्तमेत-
द्गुडेन लिह्यादनवेन चूर्णम्।
प्रस्थं च तन्मूलरसस्य दत्वा
तन्मूलकल्कं कुडव प्रमाणम् ॥
कर्षोन्मितं सैन्धवनागरे च
विपाच्य कल्कीकृतमेत दद्यात्
तत्कल्कभागः समहौषधार्धः
ससैन्धवो मूत्र युतश्च पेयः ॥ सु० सू० ४४।८

त्रिवर्ण त्रिजातकम्। एतत् त्रिवृन्मूलम्। तत्र त्रिवर्ण त्रिकटुगुडानामेको भागः, अपरास्तु त्रिवृतायाः, तस्याः प्रधानत्वात्। वातश्लेष्म विषयमपरमपि-प्रयोगमाह - प्रस्थे चेत्यादि। प्रस्थोद्वात्रिंशत् पलानि, द्रव द्रव्यत्वात्। तन्मूल-रसस्य त्रिवृन्मूलक्वाथस्य, तन्मूलं त्रिवृन्मूलम्। कुडवश्चत्वारि पलानि। कर्षोन्मिता इति प्रत्येकं कर्षप्रमाणे। विपाच्य कल्कीकृतमेतदिति एतत सर्वं तावत् पक्तव्यं यावत् कल्कावशेषं भवति। अद्यात् भक्षयेत्। अन्येत्वेवं पठन्ति—"क्वाथप्रस्थे कुडवं तस्य दद्याद्युक्त्या दद्यान्नागरं सैन्धवं च। पचेत् सर्वं यावदेतद्घनं स्याल्लेही भूतं तत् प्रयोज्यं ततस्तु" इति। अन्ये तु 'कुडवं घृतस्य दद्यात्' इति पठन्ति। तत्र कुडवौऽष्टौ पलानि, सैन्धवनागरे च प्रत्येकं पलिके। तन्मते घृतमेतद्विरेचनं, तच्च वात पित्ते, 'वाताधिककफे' इत्यन्ये। वातश्लेष्मविषयमेव योगान्तरमाह—तदित्यादि। तत्कल्कः त्रिवृत्कल्कः। समहौषधार्धः शुण्ठ्याः पलार्धयुक्तः। ससैन्धव इति सैन्धवमपि त्रिवृदर्धम्। अन्ये

तु पठन्ति,—'त्रिवृत्कल्को नागरभागयुक्तः ससैन्धवो यूत्रयुतः प्रदेयः' इति।

डल्हणः।

त्रिवर्णकेत्यादियोगो वातश्लेष्मणि। त्रिवर्णकं त्वकपत्रैलाः। एतदिति प्रक्रान्तं त्रिवृन्मूलं, त्रिवर्णकत्रिकटुसमुदायसमं प्राधान्यात्। गुडस्तु लेहत्वापत्ति-प्रमाणः सर्वसमो वा। प्रस्थे चेत्यादिश्च वातश्लेष्मणि व्याख्यायते, तत्रैव योगत्वात्। ये तु पठन्ति 'क्वाथप्रस्थे कुडवं वा घृतस्य, इत्यादि, तन्मते वातपित्ते घृतमेतत्। सैन्धवनागरे च कार्षिके भवतः। तत्कल्कभाग इत्यादौ ससैन्धव-स्यापि त्रिवृदर्धत्वम्। अयं वातकफे। चक्रपाणिः।

त्रिवर्णकं त्रिफला, त्र्यूषणं त्रिकटुकम्, पादिकाभ्यां ताभ्यां युक्तं त्रिवर्णक-त्र्यूषणायुक्तम्, एतत् त्रैवृतं चूर्णं गुडेन लेहोपयोगितया द्विगुणेनेत्यनुसन्धेयम्। प्रस्थ इत्यादौ तच्छब्दस्त्रिवृत्। प्रत्यवमर्शकः, कल्कीकृतं कल्कवन्निष्पादितं सदद्यादिति योजना। हाराणचन्द्रः।

हि० व्या०—कफज रोगों में निशोथ के चूर्ण को त्रिवर्णक अर्थात् त्रिजात (दालचीनी, तेजपत्र और छोटी एला) तथा त्र्यूषण (सोंठ, मरिच और पिप्पली) के चूर्ण के साथ मिलाकर पुराने गुड़ के साथ अवलेह बनाकर चाटना चाहिए। अथवा निशोथ का स्वरस एक प्रस्थ (१६ पल), निशोथ का कल्क एक कुडव (४ पल), सैन्धव लवण और सोंठ का चूर्ण एक-एक कर्ष (प्रक्षेप) मिलाकर पकावें। जब कल्क के समान गाढ़ा हो जाय तब सेवन करें। अथवा इस कल्क का एक तोला, सोंठ का चूर्ण आधा तोला, अल्पमात्रा में सैंधव लवण तथा गोमूत्र मिलाकर पीना चाहिए।

त्रिदोषजे रोगे त्रिवृन्मूल प्रयोगः

समास्त्रिवृन्नागरकाभयाः स्युः
भागार्धकं पूगफलं सुपक्वम्।
विडङ्गसारो मरिचं सदारु
योगः ससिन्धूद्भवमूत्रयुक्तः ॥ सु० सू० ४४।९

भागार्धकमिति आदिद्रव्यपेक्षया पूगादिकं प्रत्येकमर्धभागिकं ग्राह्यम्। विडङ्गसारो विडङ्गबीजानि। सिन्धूद्भवं सैन्धवं, तदप्यर्धभागेन ग्राह्यम्। सैन्धवमूत्रयुक्तो योगः पेय इति संबन्धः। 'समे त्रिवृन्नागरके' इति केचित् पठन्ति॥ डल्हणः।

समास्त्रिवृत्यादौ समाः प्रत्येकं समभागिकाः। देवदारुपूगविडङ्गमरिच-सैन्धवाः प्रत्येकमर्धभागिकाः। चक्रपाणिः।

अत्र विडङ्गसारादीनां पादिकं भागं, गोमूत्रस्य च समुदितचूर्णापेक्षया चतुर्गुणं भागमेवाभीप्सन्ति कुशलाः प्रयोगसाद्गुण्यात्। हाराणच०।

हि० व्या०—निशोथ, सोंठ और हरड़ प्रत्येक एक तो० की मात्रा में लें।

पकी हुई सुपारी, विडङ्ग, मरिच, और देवदारु इन्हें आधा तो० की मात्रा में सेवन करना चाहिए।

त्रिवृत्प्रयोगे दोषानुसारं विविधानुपानानि

तच्चूर्णं शुण्ठी सैन्धवयुक्तमम्लैर्मांसरसेनापि तद्वातामायेषु। क्षीरक्षौद्रद्राक्षेक्षुकाश्मर्यस्वरस सर्पिः स्वादुक्वाथैः सशर्करं पित्तोत्थेषु। मूत्राक्षौद्रद्राक्षरिष्टपीलुरसत्रिफलापचकोलकक्वाथैर्व्योषचूर्णानुविद्धं कफजेषु।

अ० सं० क० अ० २।४

तच्चूर्णं त्रिवृन्मूलचूर्णं शुण्ठीसैंधव संयुक्तं अम्लैः काञ्जिक मद्यादिभिर्वा मांसरसेन वा दोषाद्यपेक्षयावातामयेषु। पिबेद्विरेकयोग्येषु। क्षीरादियुक्तं चूर्णं पित्तोत्थेषु दोषाद्यपेक्षया सर्वथा वा सशर्करम्। कफव्याधिषु मूत्रादीनामन्यतमेन सर्वथा वा व्योपचूर्णानुविद्धम्।

हि० व्या०—निशोथ का चूर्ण, शुण्ठी (सोंठ) तथा सैंधव नमक मिलाकर अम्लफलों के रस तथा मांस रस के अनुपान से वातज रोगों में सेवन करना चाहिये। पित्तज रोगों में दूध, शहद, द्राक्षारस या क्वाथ, इक्षुरस, गम्भारीफल स्वरस, घृत, मधुररस औषधियों के क्वाथ में मिश्री मिलाकर सेवन करना चाहिए। कफज रोगों में निशोथ के चूर्ण को, गोमूत्र, शहद, द्राक्षारिष्ट, पीलू, फल स्वरस, त्रिफला क्वाथ, पञ्चकोलक्वाथ, त्रिकटुचूर्ण मिश्रितकर सेवन करना चाहिए।

त्रिवृत् चूर्णस्य सौवीरक-तुषोदक-काञ्जी योगः

यवैः श्यामात्रिवृत्क्वाथस्विन्नैः कुल्माषमम्भसा।
आसुतं षडहं पल्ले जातं सौवीरकं पिबेत्॥
भृष्टान् वा सतुषाञ्छुद्धान् यवांस्तच्चूर्णसंयुतान्।
आसुतानम्भसा तद्वत् पिबेज्जातं तुषोदकम्।

च० क० ७।७२-७३, अ० सं० क० २।२३-४

यवैरित्यादिना सौवीरकतुषोदके प्राह। एतौ द्वौ कांञ्जिकयोगौ। कुल्माष =उत्स्विन्नयवपिष्टकम् पल्ल इति धान्यादिराशौ। तच्चूर्णसंयुतानिति त्रिवृच्चूर्णसंयुतान्। तद्वदिति-षडहंपल्ले स्थितान्। चक्रपाणिः

मूलानि त्रिवृदादीनां प्रथमस्य गणस्य च।
महतः पञ्चमूलस्य मूर्वा शाङ्ग्रेष्टयोरपि॥
सुधां हैमवतीं चैव त्रिफलातिविषेवचाम्।
संहृत्यैतानि भागौ द्वौ कारयेदेकमेतयोः॥
कुर्यान्निःक्वाथमेकस्मिन्नेकस्मिंश्चूर्णमेव तु।
क्षुण्णांस्तांस्मिस्तु निःक्वाथे भावयेद्बहुशोयवान्।
शुष्काणां मृदुभुष्टानां तेषां भागास्त्रयोमताः॥

चतुर्थं भागमावाप्य चूर्णानामत्र कीर्तितम्।
प्रक्षिप्य कलशे सम्यक् ततस्तं तदनन्तरम्।
तेषामेव कषायेण शीतलेन सुयोजितम्।
पूर्ववत् सन्निदध्यात्तुज्ञेयं सौवीरकं हि तत्॥

सु० सू० ४४।३५-४०

त्रिवृदादीनां संशोधनसंशमनीयोक्तानां ग्रहणम्। प्रथमोगणो विदारिगन्धादिः। मूर्वा चोरस्नायुः; शाङ्ग्रेष्टा विटपकरञ्जः, चिरपोटिकेत्यन्ये, अपरे तु काकजङ्घामाहुः। सुधा सेहुण्डः। हैमवती श्वेतवचा एतानि सर्वाण्यपि त्रिवृदादीनि संहृत्य एकीकृत्य द्वौ भागौ कारयेत् ततश्चैतयोर्द्वयोर्भागयोर्मध्य एकस्मिन् भाग एकं निःक्वाथं कुर्यात्, एकस्मिंस्तु भागे चूर्णं कुर्यात्। क्षुण्णान् कुट्टितान्। पूर्वोक्ते निःक्वाथे भावयेत् सप्ताहं यावत् : तेषां यवानाम्। अवाप्य निक्षिप्य। चूर्णानां पूर्वोक्तोर्वरित त्रिवृदादिद्रव्यैकभागचूर्णानाम्। अत्र अस्मिन् शास्त्रे। कीर्तितम् कथितम्। सौवरिकं हितं ज्ञेयमिति संबन्धः। ततस्तस्माच्चूर्णभागनिक्षेपणादनन्तरं कलसे प्रक्षिप्य, तत् सौवीरकं तदनन्तरं तेषामेव त्रिवृदादीनामन्यतमस्य कषायेण क्वाथेन शीतलेन सुयोजितं पूर्ववत् संनिदध्याद्रिति संबंधः। सौवीरकं सौवीरक संज्ञम्। डल्हणः।

मूलानीत्यादौ सौवीरकविधाने त्रिवृतादीनामित्यादिशब्देन श्यामादीनामेकादशानां ग्रहणम्। प्रथमगणो विदारिगन्धादिः। शाङ्ग्रेष्टयोरित्यन्तैर्मूलानीति योज्यम्। कारयेदिति भागौ द्वावित्यनेन, तथा चूर्णमेप चेत्यनेन च योज्यम्। बहुश इति सप्तधा। यवानीति निस्तुपयवान्; यतस्तुषोदके सतुपयवविधानादिह निस्तुषा एव यवा भवन्ति। चूर्णानामिति औषधचूर्णानाम्। तेषामेवेति त्रिवृदादीनां वचनान्तानां पृथग्गृहीतक्वाथ्यकृतकषायेण। चक्रपाणिः॥

मूलानीत्यादि। त्रिवृतादयः संशोधनीये प्रागुक्ताः, प्रथमो गणो विदारिगन्धादिः, शाङ्ग्रेष्टा महाकरञ्जः 'काँटाकरञ्जा' इत्याख्यायते, सुधात्र स्नुहीक्षीरम्, हैमवती वचा, एतानि शार्ङ्गेष्टान्तानां मूलानि सुधादीनि च संहृत्येति 'भागेष्ध्यनुक्ते समता विधेया' इति स्मरणात् समांशेनाहृत्य द्वौ भागौ कारयेत्। तयोरेकं भागम् एकस्मिन् एकत्र निःक्वाथं तुकारादेकञ्च भागम् एकस्मिन्नेकत्रचूर्णं कुर्य्यादित्यन्वयः। तस्मिन्निः क्वाथे क्षुणान् कुट्टितान् यवान् बहुश इति वृद्धोपदेशादेकविंशतिकृत्वो भावयेत् प्राग्वत् वासयेत्, शुष्काणां मृदुभृष्टानां तेषां यवानां त्रयो भागा मता ग्राह्या इत्यर्थः। चूर्णानांतु चतुर्थो भाग आवाप्यस्तेषु यवेषु निक्षेप्य इति तात्पर्य्यम्, अनु पञ्चात् कीर्त्तितं कथितं चूर्णयवात्मकं तत् समस्तं द्रव्यं, सम्यग्दृढ़प्रशंसयोः" इति मेदिनी, कलसे निक्षेप्यम्; अनन्तरं तेषां त्रिवृन्मूलादीनामेव शीतलेनकषायेण सुयोजितं यथा स्यात्तथा पूर्व्ववत् आसववत्कृतसंस्कारे कलसे इति यावत् सन्निदध्यादिति निष्कर्षः॥

हाराणच०।

पूर्वोक्तं वर्गमाहृत्य द्विधाकृत्वैकमेतयोः ।
भागं संक्षुद्य संसृज्य यवैः स्थाल्यमधिश्रयेत् ॥
अजशृङ्ग्याः कषायेण तमभ्यासिच्य साधयेत् ।
सुसिद्धांश्चावतार्यैनामौषधिभ्यो विरेचयेत् ॥
विमृद्य सतुषान् सम्यक् ततस्तान् पूर्ववन्मितान् ।
पूर्वोक्तौषध भागस्य चूर्णं दत्त्वा तु पूर्ववत् ।
तेनैवसह यूषेण कलसे पूर्ववत् क्षिपेत् ।
ज्ञात्वा जातरसं चापि तत्तुषोदकमादिशेत् ॥
तुषाम्बुसौवीरकयोर्विधिरेष प्रकीर्तितः ।
षड्रात्रात् सप्तरात्राद्वा ते च पेये प्रकीर्तिते ॥

सु० सू० ४४।४०-४५

त्रिविदादिमूलं विदारिगन्धादिस्तथा महत् पञ्चमूलं मूर्वा शार्ङ्गेष्टा चेति पूर्वोक्तो वर्गः । द्विधा कृत्वा द्वौ भागौ कृत्वेत्यर्थः । एतयोर्भागयोर्मध्ये एकं भागं संक्षुद्य कुट्टयित्वा, सतुषैर्यवैः सह संसृज्य संबद्धौ अजशृङ्ग्या कर्कटशृङ्ग्या, 'विषाणिका' इत्यपरे । तं पूर्वोक्तं सयवं भागं, साधयेत् रन्धयेत् । सुसिद्धान् सुस्विन्नान्, एतान् यवान्, औषधेभ्यो विवेचयेत् पृथक् कुर्यात् । तान् यवान् । पूर्ववन्मितान् भागद्वयपरिमितान्, 'पूर्वोक्तौषधभागस्योद्धरितव्य' इति शेषः । पूर्ववत् चतुर्थभागप्रमाणमित्यर्थः ।

तेनैव सह यूषेणेति प्रोक्तस्विन्नौषधवर्गयवाजशृङ्ग्यौ कषायेणोद्धृतौषधयवेन; स पुनरौषधसंसर्गेण घनत्वाद्यूष इव जातः । जातरसं व्यक्ताम्लम् । तयोः सौवीरकतुषोदकयोर्व्यक्ताम्लत्वे कालावधिं दर्शयन्नाह षड्रात्रात् सप्तरात्राद्वा; षड्रात्रसप्तरात्रविकल्पोऽप्युष्णशीतकालापेक्षः । ते चेति सौवीरकतुषोदके ।

डल्हणः ।

पूर्वोक्तमित्यादि तुषोदक विधानम् । तत्र यवाः सतुषाः समक्षुण्णौषधैक भागसहिता अजशृङ्गीकषायेण सुस्विन्नतापर्यंतं साध्याः । विवेचयेदिति पृथक्कुर्यात् । पूर्वसंमितानिति पूर्वौषध भागेन तुल्यान् । प्रथमं पूर्ववदिति पदं शीतलेन सुयोजितमित्यस्यार्थमतिदिशति, द्वितीयं तु कलससंस्कार पूर्ववद्दर्शयति । तेनैवेत्यौषधसहित यवसाधनावशिष्टाजशृङ्गीक्वाथेन; अस्य च यवसंबन्धाद् घनत्वेन यूषेणेति कृतम् । जातरसमिति अम्लरसम् षड्रात्रसप्तरात्रविकल्प उष्णशीतकालापेक्षः । चक्रपाणिः ।

पूर्वोक्तमित्यादि । पूर्वोक्तं वर्गं त्रिवृन्मूलादिकम् । संक्षुद्य संकुट्य, यवानित्यविशेषात्त्रिवृन्मूलादिकेनौषधभागेन सम्मितानित्येव, संभृज्य, संसृज्य तेनौषध भागेन संयोज्य, अधिश्रयेत् स्थापयेत् । कषायेणेत्यष्टगुणेन । औषधेभ्यस्त्रिवृन्मूलादिभ्यो विवेचयेत् पृथक् कुर्य्यात् । सतुषान् तुषेणानुगतान् यवान्, पूर्ववन्मितानिति पूर्वोक्तसौवीरकयववत् भागत्रयेणान्वितान्, चूर्णं पूर्ववत् चतुर्थ

भागमिति तात्पर्य्यम् । तेन सौषधयवपाकावशिष्टेनाजशृङ्गीकषायात्मकेनैव यूषेण पूर्ववत् दृढ़े प्रशस्ते वा कलसे, न्यसेत् सन्निदध्यात् । अत्र षड्रात्रात् सप्तरात्राद्वेति यथाक्रमं तुषाम्बुसौवीरके प्रतिलक्षणीयम्, एतत्तु प्रायिकत्वादेवोपात्तमित्यनुसन्धेयम्, सर्व्वेष्वृतुषु तावता कालेन जातरसत्वानुपपत्तेः ॥ २२-२४ ॥

सु० सू० अ० ४४।-

हि० व्या०—(१) काली निशोथ और सफेद निशोथ के क्वाथ में जौ को उबाल कर उसी क्वाथ से पीसकर क्वाथ में मिला दें । पश्चात् घृत लिप्त मिट्टी के पात्र में भरकर मुखमुद्रा कर अनाज के ढेर में छः दिन तक दबायें । इस प्रकार बने हुए सोवीर को विरेचन हेतु रोगियों को पिलावें ।

(२) सूखी भूसी के साथ जौ को भूनकर चूर्ण बना लें । उस चूर्ण को जल में मिलाकर, मिट्टी के पात्र में भरकर उपरोक्त विधि से सन्धान करें । पश्चात् तुषोदक को त्रिवृत् चूर्ण के साथ विरेचनार्थ रोगियों को सेवन करायें ।

आचार्य सुश्रुत के अनुसार त्रिवृतादि संशोधनीय गण के द्रव्यों की मूल, विदारिगन्धादिगण के द्रव्यों की मूल, बृहतपञ्चमूल, मूर्वा, शार्ङ्गेष्टा (पूतिकरञ्ज) की जड़, थूहर, उसारेरेवन्द, त्रिफला, अतीस और वचा इन्हें सम भाग लेकर एकत्र कर, दो भाग कर लें । एक भाग का क्वाथ तथा दूसरे भाग का चूर्ण तैयार कर लें । पुनः ओखली में कूटे हुए यवों को उक्त क्वाथ में कई बार भावित कर सुखाकर थोड़ा भून लें । भूने हुए यवों के तीन भाग के साथ पूर्व चूर्ण का एक भाग मिलाकर सबको एक मिट्टी के पात्र में भरकर उसमें त्रिवृतादि द्रव्यों का शीतल क्वाथ मिलाकर सन्धान करें । इसे सौवीरक कहते हैं ।

उपर्युक्त सौवीरक योग में त्रिवृतादि से शार्ङ्गेष्टा तक के द्रव्य लेकर उनके दो भाग बनाकर एक भाग को कूटकर सतुष यवों के साथ मिलाकर पात्र में रख कर मेढ़ासिङ्गी का क्वाथ डालकर पकावे । पके हुए यवों को चूर्ण से पृथक् करें, ओखली में कूटकर शेष बचे हुए आधे औषध के चूर्ण के साथ मिलाकर, एक कलस में भर कर, जौ के उबले हुए क्वाथ को डालकर, मुख सुद्रा कर, धान्यराशि में रख दें । जब उसमें अम्ल रस उत्पन्न हो जाए तब उसे तुषोदक कहना चाहिए ।

त्रिवृत् चूर्णस्य मदनफलवत् दश षाडवादि योगा ।
तथा मदनकल्पोक्तान् षाडवादीन् पृथग्दश ।
त्रिवृच्चूर्णेन संयोज्य विरेकार्थं प्रयोजयेत् ॥ च० क० ७।७४

तथेत्यादिना षाडवादियोगान् दशाह । दश षाडवादयोवदरषाडवरागलेहमोदकोत्कारिकातर्पणशाकमांसरसयूषमद्यानां' (क० आ० १) इति ग्रन्थेन मदनकल्पोक्ताः ॥ चक्रपाणिः ।

हि० व्या०—मदनकल्प में वर्णित दश षाडव आदि योगों में निशोथ के चूर्ण को मिलाकर विरेचनार्थ रोगियों को देना चाहिए।

त्रिवृत् मूलस्य कल्याणक गुड योगः

विडङ्ग पिप्पलीमूलत्रिफलाधान्यचित्रकान्।
मरिचेन्द्र यवाजाजी पिप्पली हस्तिपिप्पली॥
लवणान्यजमोदां च चूर्णितं कार्षिकं पृथक्।
तिलतैल त्रिवृच्चूर्णभागौ चाष्टपलोन्मितौ॥
धात्रीफलरसप्रस्थांस्त्रीन् गुडार्धतुलां तथा।
पक्त्वा मृद्वग्निना खादेद्वदरोदुम्बरोपमान्॥
गुडान् कृत्वा न चात्र स्याद्विहाराहारयन्त्रणा।
मन्दाग्नित्वं ज्वरं मूर्च्छां मूत्रकृच्छ्रमरोचकम्॥
अस्वप्नं गात्रशूलं च कासं श्वासं भ्रमं क्षयम्।
कुष्ठार्शः कामलामेहगुल्मोदरभगन्दरान्॥
ग्रहणीपाण्डुरोगांश्च हन्युः पुंसवनाश्च ते।
कल्याणका इति ख्याताः सर्वेष्वृतुषु यौगिकाः॥

च० क० ७।४०-४५ अ० सं० क० अ० २। अ० हृ० क० अ० २।

विडंगादीनि कार्षिकाणि त्रिवृताचूर्ण तिल तैले पृथगष्टपल प्रमाण आमलक फलरस प्रस्थांस्त्रीन् गुड पलानि पंचाशत्। मृद्वग्निना पक्त्वा तस्मान्मात्रामयंत्रयो यंत्रणा रहितः सन्भक्षयेत्। स च भक्षितः कुष्ठादीन्हंति पुंसवनश्च स्यात्। गुडोऽयं कल्याणकसंज्ञः सर्वेष्वृतुषु यौगिको युज्यते। अरुणदत्तः।

हि० व्या०—विडङ्ग, पिपरामूल, हरड़, बहेड़ा, आँवला, धनियाँ, चित्रक, मरिच, इन्द्रयव, जीरा, गजपिप्पला, सेंधानमक, सोंचर नमक, समुद्र नमक, विडनमक, औद्भिदनमक और अजमोदा प्रत्येक एक-एक कर्ष इन सब द्रव्यों का सूक्ष्म चूर्ण तैयार करें। इस चूर्ण में तिल का तेल आठ पल, सफेद निशोथ का चूर्ण आठ पल, आँवले का स्वरस तीन प्रस्थ और गुड़ आधा तुला मिलावें। इसे मृदु अग्नि पर पाक करें। पाक के समय इतनी सावधानी रखें जिससे यह न जलने पावे और न पात्र में चिपकने लगे। पश्चात् बेर या गूलर फल के समान गोलियाँ बना लें। इसके सेवन में आहार विहार में किसी विशेष नियम की आवश्यकता नहीं है। यह कल्याणक गुड़ मन्दाग्नि, रोग, ज्वर, मूर्च्छा, मूत्रकृच्छ्र, अरोचक, निद्रानाश, गात्रशूल, कास, श्वास, भ्रम, क्षय, कुष्ठ, अर्श, कामला, प्रमेह, गुल्म, उदर रोग, भगन्दर, ग्रहणी और पाण्डु रोग को दूर करता है। इसके सेवन से शुक्र की पुष्टि होती है। यह कल्याणक गुड पुंसवन कारक है। इसका उपयोग सभी ऋतुओं में किया जा सकता है।

रूक्षकोष्ठेऽपि प्रयोज्यं त्रिवृद्विरेचनम्।

श्यामात्रिवृद्दुरालंभाहस्तिपिप्पलिवत्सकम्।
नीलिनीकटुकामुस्तश्रेष्ठायुक्तं सुचूर्णितम्॥
रसाज्योष्णांबुभिः शस्तं रूक्षाणामपि सर्वदा॥

अ० सं० क० २। अ० हृ० क० २।२९

हि० व्या०—काली निशोथ मूल का त्वक्, धमासा, गजपीपल, कुटजत्वक्, नीली का मूल, कुटकी, मोथा, हरड़, बहेड़ा, आँवला का समभाग चूर्ण मिलाकर रख लें। यह चूर्ण रूक्ष व्यक्तियों एवं क्रूर कोष्ठ व्यक्तियों को भी सभी ऋतुओं में विरेचनार्थ उपयोगी है।

पैत्तिकरोगे त्रिवृत् मूल द्वारा इक्षुखण्डानां पुटपाक प्रकारः

भित्वा द्विधेक्षुं परिलिप्य कल्कै-
स्त्रिभण्डिजातैः प्रतिबध्य रज्ज्वा।
पक्वं च सम्यक् पुटपाकयुक्त्या
खादेत्तु तं पित्तगदी सुशीतम्॥ सु० सू० ४४।१५

भित्त्वा विदार्य। त्रिभण्डी शुक्ला त्रिवृत्। पुटपाक युक्त्या पुटपाकक्रमेण शालाक्योक्त क्रियाकल्पनिर्दिष्ट पुटपाकविधिना तेन काश्मर्यादि पत्राच्छादन कुशपरिवेष्टनं मृदावपलेपनं निर्धूमाङ्गारान्तरुपस्वेदनादिसर्वमतिदेशेन लभ्यते। अन्ये त्वेवं पठन्ति—'इक्षु द्विधां पाटयित्वाऽवलिख्य त्रिवृत्कल्कैः प्रतिसन्धाय चापि। पक्वं सम्यक् पुटपाकक्रमेण खादेच्छीतं पित्तरोगाभिभूतः' इति। व्याख्यानयन्ति च—त्रिवृत्कल्कैरिति बहुवचनात्त्रिवृतादिकल्कैरित्यादिशब्दो लुप्तनिर्दिष्टो द्रष्टव्यः, तेनान्येषां वैरेचनिकानामयमेव पुटपाकविधिरिति द्योतयति। डल्हण।

इक्षु पुटपाक द्वारा त्रिवृत् प्रयोगः

लिपेदन्तस्त्रिवृत्तया द्विधाकृत्वेक्षुगंडिकं।
एकीकृत्य च तस्विन्नं पुटपाकेन भक्षयेत्॥

अ० सं० क० अ० २।७, अ० हृ० क० अ० २।१२, चक्रदत्त (विरेचना०)

इक्षुगण्डस्य दीर्घपाटितस्यान्तस्त्रिवृत्प्रलिप्तस्य पुनः संयोजितस्य पुटपाकेन स्वेदनं स्विन्नस्य च भक्षणम्। इन्दुः।

हि० व्या०—ईख की गण्डेरी को दो भागों में फाड़कर त्रिवृत का कल्क भरकर दोनों भागों को मिलाकर पुटपाक विधि से पकावें। स्विन्न हो जाने पर गण्डेरी को चूसना चाहिए। इस प्रकार भी विरेचन हो जाता है।

---

१. पं० लालचन्द जी की हिन्दी व्याख्या अष्टाङ्ग हृदय में नील मूल के स्थान पर 'बोल के बीज' लिखा हुआ है।

क्षीरादि अनुपान भेदेन त्रिवृत् मूलस्य सप्तयोगाः

क्षीरमांसेक्षुकाश्मर्य द्राक्षापीलु[1] रसैः पृथक् ।
सर्पिषा वा तयोश्चूर्णमभयार्धांशिकं पिबेत् ॥

च० क० ७।२०-२१

हि० व्या०—दूध, मांस रस, ईख का रस, गंभारी के फल का रस, अंगूर का रस, पीलु का रस और घृत पृथक्-पृथक् आधा भाग और त्रिवृत् चूर्ण को एक भाग मिलाकर रोगी को विरेचनार्थ पिलाना चाहिए। इस प्रकार यहाँ सात द्रव्यों के संयोग से त्रिवृत के सात योग हो जाते है।

त्रिवृत् मूलस्य त्र्यूषणादि चूर्णयोगः।

त्र्यूषणं त्रिफला हिङ्गु कार्षिकं त्रिवृता पलम् ।
सौवर्चलार्धकर्षं च पलार्धं चाम्लवेतसात् ॥
तच्चूर्णं शर्करातुल्यं मद्येनाम्लेन वा पिबेत् ।
गुल्मपार्श्वार्तिनुत्सिद्धं जीर्णे चाद्याद्रसौदनम् ॥

च० क० ७।६३-६४

हि० व्या०—त्र्यूषणादि चूर्ण—सोंठ, पीपर, मरिच, आँवला, हरड़, बहेड़ा और हींग प्रत्येक एक-एक कर्ष, सफेद निशोथ एक पल, सोंचर नमक आधा कर्ष और अम्ल वेंत आधा पल इन सब द्रव्यों का चूर्ण तैयार कर लें। चूर्ण के समान भाग चीनी मिलाकर मदिरा या कांजी में घोलकर गुल्म, पार्श्वपीड़ा के रोगियों को पिलावें। जब इस औषधि का पाचन हो जाए तब रोगी को मांस रस के साथ भात खिलावें।

विविध विकारे त्रिवृत् चूर्ण प्रयोग प्रकारः।

अथ काले तु तच्चूर्णं किंचिन्नागरसैंधवम् ।
वातामये पिबेदम्लैः पित्ते साज्यसितामधु ॥
क्षीरद्राक्षेक्षु काश्मर्यस्वादुस्कन्ध वरारसैः ।
कफामये पीलू रस मूत्रमद्याम्लकांजिकैः ।
पञ्चकोलादि चूर्णैश्च युक्त्या युक्तं कफापहैः ॥

अ० हृ० क० २।७-९

अथ काले विरेचन प्रस्तावे ततो मूलत्वचश्चूर्णमीषन्नागरसैंधवमम्लैः काञ्जिकादिभिर्वातविकारे पिबेत्। पैत्तिक विकारे सह घृतशर्करामधु तच्चूर्णं क्षीरेण द्राक्षादिरसैर्वा पिबेत्। कफविकारे तच्चूर्णं पीलुरसादिभिः पिबेत्। पंचकोलादिभिश्चूर्णैश्च कफघ्नैर्युक्तम् । कथम्। युक्त्यायुक्तम् पंचकोलादि चूर्णेन त्रिवृता चूर्णस्य सम्यग्योगः स्यादित्यर्थः। आदिशब्देनान्येषां पाचन-दीपनानां पञ्चकोलसदृशानां चित्रकादीनां ग्रहणम्। अरुणदत्तः।

---

१. पीलु=उत्तरापथिकं फलम्। चक्रपाणिः।

ततस्मिन्मूलत्वचश्चूर्णं अम्लैः काञ्जिकमस्त्वादिभिः वातामये विरेकयोग्ये। दोषाद्यपेक्षया पिबेत्। क्षीरादिभिर्युतं सर्वथा साज्यादिकं पैत्ते गदे कफामये पीलुरसादिभिः पञ्चकोलादि चूर्णैर्वा। इन्दुः।

हि० व्या०—त्रिवृत् मूल छाल का चूर्ण बनाकर, उसमें अल्प सोंठ तथा सैन्धव लवण का चूर्ण मिलाकर विरेचनार्थ निम्नलिखित अनुपानों के साथ पीना चाहिए। (१) वात विकार में काञ्जी आदि अम्ल द्रव्यों के साथ, (२) पित्त विकार में घृत, खांड, मधु, दूध, दाख का रस, ईख के रस, गम्भारीफल का रस, मधुर गण के द्रव्यों के स्वरस अथवा फलों के रस के साथ, (३) कफ विकार में पीलु के स्वरस, गोमूत्र, मद्य, खट्टी कांजी अथवा पञ्च-कोल आदि कफ नाशक द्रव्यों के साथ युक्ति पूर्वक सेवन करें।

त्रिवृत् मूलस्य अनुपानभेदेन वातरोगेषु प्रयोगः।

वैरेचनद्रव्यरसानुपीतं
मूलं महत्त्रैवृतमस्तदोषम् ।
चूर्णीकृतं सैंधवनागराढ्य-
मम्लैः पिबेन्मारुतरोगजुष्टः ॥

सु० सू० ४४।५

वैरेचनद्रव्यरसानुपीतं त्रिवृदादिद्रव्यरसानुभावितम्। अस्तदोषं कृम्यादि-दोषरहितम्। आढ्यमधिकम् ॥ अम्लैः शुक्तसौवीरतुषोदकधान्याम्लमद्यम-स्तुभिः। 'वैरेचनस्वरसक्वाथपीतां गाढमूलां त्रिवृतां कालपुष्टाम्। चूर्णीकृतां नागरसैंधवाढ्यां पिबेदम्लैरनिलव्याधिजुष्टः'। इति क्वचित् पाठः। डल्हणः।

वैरेचनद्रव्यं त्रिवृतादि; रसशब्देनात्रस्वरसोऽभिधीयते, तदभावे वैरेचन-क्वाथेन भावना कर्तव्या। चरके तु भाव्य द्रव्यसमचूर्णकृत शीतक्वाथेन सप्ताहं यावद्भावना विहिता। सप्ताहं भावना विधानं तावतैव कालेन भाव्य भावना-समाप्तेः. ततोऽधिक भावना निष्फला, हीना न गुणवतीत्यागमादेवावर्यते। अस्तदोषमिति क्रिम्याद्यनुपहतत्वेन। अम्लैरिति काञ्जिकादिभिः। यद्यप्यत्रा-निलरोगप्रशान्तिरूक्ता, तथाऽपि विरेचनस्य पित्तविषयतया पित्तस्थान गते पित्तावृते वा वाते प्रयोगोऽयं ज्ञेयः। चक्रपाणिः।

वैरेचनद्रव्यरसानुपीतं त्रिवृदादि विरेचनद्रव्यरसपरिभावितम्, महत् गम्भीरभूमिमनुप्राप्तम्, अस्तदोषं कार्कश्यादिदोषरहितम् 'गम्भीरानुगतं श्लक्ष्णम्' इति चरकः। सैंधव नागराढ्यं पादिक सैन्धवनागरसंयुक्तम्, चूर्णी-कृतं त्रैवृतं मूलम् अम्लैर्मातुलुङ्गरसादिभिः पिबेत् शानमानमित्येवोपदिश्यन्ति प्राञ्चः। अनेनैव निदर्शनेन परिशिष्यस्त्रिवृद् योगा विमृष्य मानतोलक्षणीयाः। हाराण च०।

हि० व्या०—अन्य विरेचक औषधियों के स्वरस से भावित तथा कृमि, विषादि दोषों से रहित निशोथ मूल का चूर्ण तैयार कर चतुर्थांश सैंधव लवण

और सोंठ का चूर्ण मिलाकर अम्ल फलों के रस (बिजौरा नीबू या अनार-दाना) के साथ वात रोगों में प्रयोग करना चाहिए।

अनुपानभेदेन त्रिवृत् मूलस्य पित्तरोगेषु प्रयोगः

इक्षोर्विकारैर्मधुरैरसंस्तत्
पैत्ते गदे क्षीरयुतं पिबेच्च।

सु० सू० ४४।६ (क)

इक्षोर्विकारैः खण्डादिभिः; न पुनर्गुडेन, उष्णवीर्यत्वात्तस्य; न च फाणितेन, त्रिदोषकरत्वात्तस्य; नापीक्षुरसेन, विदाहित्वात्तस्येति। मधुरै रसैः काकोल्यादि क्वाथैः। तदिति त्रिवृन्मूलम्। 'स्वादुक्वाथैश्चापि नोष्णैर्विकारे पैत्ते द्राक्षा-क्षीरयुक्तां पिबेद्वा' इति केचित् पठन्ति। डल्हण।

इक्षुविकाराः खाण्डादयः। पित्तेयोग्यत्वान्मधुराणां काकोल्यादीनां रसाः क्वाथाः, तैर्मधुरैरसैः। गुडूचीकृतोऽरिष्टो गुडूच्यरिष्टः। चक्रपाणिः।

हि० व्या० – पैत्तिक रोगों में खांड के साथ अथवा मधुर रस द्रव्यों के साथ या दूध के साथ त्रिवृत् चूर्ण का सेवन करना चाहिए।

अनुपानभेदेन त्रिवृत् मूलस्य कफरोगेषु प्रयोगः।

गुडूच्यरिष्टत्रिफलारसेन
सव्योषमूत्रं कफजे पिबेत्तत्॥

सु० सू० ४४।६

गुडूचीत्यादि। अरिष्टो निम्बः। रसोऽत्र क्वाथः। तत् त्रिवृन्मूलम्। अन्ये तु 'क्षौद्रारिष्ट त्रिफलाक्वाथयुक्ता मूत्रैः पेया कफजे व्योषगाढ़ा' इति पठन्ति। तत्र त्रिवृतेति संबन्धनीयम्। अन्ये तु द्राक्षारसेनेत्यादि पठन्ति, तत्र पित्तमपि द्रष्टव्यं; तेन पित्ताधिके श्लेष्ममपि द्राक्षारसेन, कफाधिके मूत्रैरिति; अयं तु पाठोऽभावात् समग्रो न लिखितः। डल्हणः।

हि० व्या०—कफ रोगों में त्रिवृत् चूर्ण को गिलोय, निम्ब और त्रिफला के क्वाथ में सौंठ, मरिच, और पिप्पली के चूर्ण का प्रक्षेप तथा गोमूत्र मिला कर सेवन करना चाहिए।

विरेचनार्थं हरीतकीफलानां विविधाः प्रयोगाः।

हरीतक्याः फलं त्वस्थिविमुक्तं दोषवर्जितम्।
योज्यं त्रिविद्विधानेन सर्वव्याधिनिबर्हणम्।
रसायनं परं मेध्यं दुष्टान्तर्व्रणशोधनम्॥

सु० सू० ४४।६२-६३

हरीतकीमपि त्रिवृद्विधानेनोपकल्पयेत्।
विशोद्ग्रहणीपाण्डुशोषमेहोदरापहाम्॥ अ० हृ० क० २।-

हरीतकीमपि त्रिवृद्विधानेनोपकल्पयेत्।

अ० सं० क० २।४६

हि० व्या०—विरेचनीय फलों की विधि का वर्णन करते हुए लिखा है कि दोषरहित हरीतकी के (गुठली रहित) फल त्रिवृत् कल्प की विधि से प्रयोग करने पर सभी रोगों को दूर करने वाली है। हरीतकी उत्तम रसायन, परम मेध्य तथा दुष्ट और अन्तर्व्रण को शुद्ध करने वाली है। अष्टाङ्ग संग्रह में ग्रहणी, पाण्डु, शोष, प्रमेह तथा उदर रोगों में भी हरीतकी के प्रयोग का विशेष निर्देश किया है।

१. हरीतकी विडङ्गानि सैंधवं नागरं त्रिवृत्।
मरिचानि च तत्सर्वं गोमूत्रेण विरेचनम्॥
२. हरीतकी भद्रदारु कुष्ठं पूगफलं तथा।
सैन्धवं शृङ्गवेरं च गोमूत्रेण विरेचनम्॥
३. नीलिनीफलचूर्णं च नागराभययोस्तथा।
लिह्याद्गुडेन सलिलं पश्चादुष्णं पिबेन्नरः॥
४. पिप्पल्यादिकषायेण पिबेत्पिष्टां हरीतकीम्।
सैन्धवोपहितां सद्य एष योगो विरेचयेत्॥
५. हरीतकीभक्ष्यमाणा नागरेण गुडेन वा।
सैन्धवोपहिता वाऽपि सातत्येनाग्निदीपनी॥
वातानुलोमिनी वृष्या चेन्द्रियाणां प्रसादनी।
संतर्पण कृतान् रोगान् प्रायो हन्ति हरीतकी॥

सु० सू० ४४।६२-६९

व्याधिशब्दोऽयं दोषेषु व्याधिषु च वर्तते। सर्वेषां हरीतकी योगानां सामान्यं फलं दर्शयन्नाह-रसायनमित्यादि। सुखोपायोज्यान् रोगान् सर्वतुकान् सर्वधातुकांश्चाहरीतकीत्यादि। मात्रा प्रमाणं मध्येषु कोष्ठ वयोवलेषु चूर्णकर्षः, उत्तमाधमयोर्वृद्धया विकल्पनीयः। डल्हणः।

हि० व्या०—सुश्रुत ने हरीतकी के पाँच विरेचन योगों का वर्णन किया है—

विविध कार्यों में दोष, शरीर, धातु, बल, काल वयानुसार विविध अवस्था में विकारापेक्षया प्रयोग करने हेतु अनेक कल्पनाओं का निर्देश किया है।

(१) हरीतकी, विड़ंग, सैंधव, शुण्ठी, निशोथ, और काली मिर्च, समान मात्रा में लेकर चूर्ण बनावें। इसे गोमूत्र के साथ सेवन करने से विरेचन होता है।

(२) हरीतकी देवदारु, कूठ, सुपारी, सैंधव और सोंठ को समभाग लेकर चूर्ण बनावें। इसे उष्ण जल से पीने से विरेचन हो जाता है।

(३) नीलिनी का फल, शुण्ठी और हरीतकी चूर्ण को गुड़ के साथ प्रयोग कर उष्ण जल से सेवन करने से विरेचन हो जाता है।

(४) हरीतकी चूर्ण में सैंधव मिलाकर पिप्पल्यादिगण के क्वाथ से प्रयोग किए जाने पर सद्यः विरेचन होता है।

(५) हरीतकी चूर्ण को शुण्ठी, गुड़ या सैंधव के साथ निरन्तर प्रयोग करने से अग्नि को दीप्त करती है, वातानुलोमिनी, वृष्य गुणवाली एवं इन्द्रियों को प्रसन्न करने वाली है। सन्तर्पणजन्य रोगों को हरीतकी प्रायः दूर करने वाली है।

पिबेत्पथ्यां ससिंधूत्थविडंगोत्पलनागराम्।
मूत्रेण वत्सकादेर्वा निर्यूहेण हरीतकीम्॥
पथ्या नागरचूर्णं वा संयुक्तं नीलिनी फले।
गुडेन भक्षयेत्तोयं कवोष्णं च पिबेदनु॥
पथ्या त्रिवृदभ्यां गुलिकाः कार्याः क्षौद्ररसाप्लुताः।
माषप्रमाणास्ताः शुष्का यक्ष्मी लिह्याद्घृतद्रुताः॥
पथ्यात्रिवृत्कदुष्णांबु[2] सर्वत्रेष्टं विरेचनम्॥

अ० सं० क० २।५०-५३

हि० व्या०—हरीतकी, सैंधव, विडंग, उत्पल सोंठ का चूर्ण बनाकर वत्सक क्वाथ गोमूत्र अथवा हरीतकी क्वाथ के अनुपान से विरेचनार्थ प्रयोग कराना चाहिए। अष्टाङ्ग हृदय में प्रथम योग में उत्पल का समावेश किया गया है। हरीतकी क्वाथ अथवा वत्सक क्वाथ, गोमूत्र के अनुपान का उल्लेख किया गया है। तृतीय योग को उसी प्रकार ग्रहण किया है। मात्र श्लोक की योजना भिन्न है। हरीतकी एवं त्रिवृत् चूर्ण को मधु में आलोड़ित करके अथवा इन्दु के अनुसार द्राक्षारस में मिलाकर) अथवा चम्पक वृक्ष के रस में भिगोकर गुटिका बनावें। माष प्रमाण में गुटिका बनाकर सूखने पर गुटिका को अजा घृत में मिलाकर यक्ष्मा रोगी को प्रयोग कराना चाहिए।

सामान्य विरेचनार्थ हरीतकी, त्रिवृत् तथा नमक मिलाकर किंचिद् उष्ण जल के साथ सभी को सभी अवस्थाओं में यथामात्रा विरेचनार्थ प्रयोग कराया जा सकता है।

हरीतक्यादि मोदकः

हरीतक्यास्तु कर्षार्द्धं तदर्द्धं त्रिवृतास्तथा।
शीताम्बुना समं पिष्ट्वा घृते तु भर्जयेत् मनाक्॥
तद्द्रव्यं शीतलं कृत्वा सिताकर्षेण योजयेत्।
तावत् विरिच्यते जन्तुर्यावदुष्णं न सेवते॥

वंगसेन (विरेच०)

१. शब्दचन्द्रिका में जयदत्त ने क्षौद्र से चम्पकवृक्ष लिया है।
२. पटूष्णाम्बु (पाठभेदः)

हि० व्या०—हरीतकी और निशोथ का चूर्ण ६-६ माशे की मात्रा में एकत्र शीतल जल में पीसकर घी में मन्दाग्नि से भून लें। शीतल होने पर एक तोला मिश्री मिलाकर सेवन करें। अनुपान में शीतल जल का सेवन करें। जब तक उष्ण जल का सेवन नहीं किया जाएगा तब तक विरेचन होता रहेगा।

गुल्मोदरविकारे स्नुहीक्षीरभावित पथ्याप्रयोगः

स्नुक्क्षीरभाविते पथ्याचूर्णं कुर्वीत मोदकान्।
कोलास्थिमात्रात् शुष्कांश्च नवनीतेन लेहयेत्॥
गुल्मोदर यकृत्प्लीह शूलानाह विबंधिनः।

अ० सं० क० २।५४

हरीतकी चूर्णेन सुधा क्षीरालोडितेन वदरास्थिप्रमाणां गुटिकां कृत्वा शुष्काः प्रयोगकाले नवनीत युक्ताः वैद्यो लेहयेत्। इन्दुः।

हि० व्या०—हरीतकी को स्नुहीक्षीर में भावित करके बदर के समान गुटिकाएँ बना लें। इसे मक्खन के साथ चाटने से गुल्म, उदर, यकृत, प्लीहा, शूल, आनाह एवं विबंध रोग नाशक है।

विरेचनाय हरीतकी मोदक योगः

गुडस्याष्टपले पथ्या विंशतिः स्यात्पलं पलम्।
दन्तीचित्रकयोः कर्षौ पिप्पली त्रिवृतोर्दश॥
प्रकल्प्य मोदकानेवं दशमे दशमेऽहनि।
उष्णांभो नु पिबेत्खादेत्तान्सर्वान्विधिनाऽमुना॥
एते निः परिहारा स्युः सर्व व्याधिनिबर्हणाः।
विशेषाद्ग्रहणी पाण्डु कंडूकोष्ठार्शसां हिताः॥

अ० हृ० क० २।५८-६०

गुडस्याष्ट पले हि पथ्या विंशतिर्दंतीचित्रकयोः पलं प्रत्येकं स्यात्। पिप्पली-त्रिवृतयोः कर्षाविभौ। दश मोदकानेवं प्रकल्प्यैकमेकं दशमे २ दिने योजयेत्। पश्चादुष्णांबु पिबेत्। अमुना विधिना सर्वान्मोदकान् भक्षयेत्। एते मोदका निःपरिहारास्तथाऽशेष व्याधि निबर्हणाः स्युः। विशेषेण ग्रहण्यादीनां हिताः संबन्धमात्रस्य विवक्षितत्वादत्र षष्ठी। अन्यथा तु हितयोगे चतुर्थी स्यात्। अरुणदत्तः।

हरीतकी मोदकः

हि० व्या०—गुड़ ८ पल, हरीतकी २० नग, एक-एक पल दन्ती एवं चित्रकमूल, एक-एक कर्ष पिप्पली एवं त्रिवृत्। इन सभी औषधियों को यथाविधि पाक करके इसके १० मोदक बनाकर १०-१० दिन के पश्चात् एक-एक मोदक खाएं। अनुपान में ऊष्ण जल लें। इस विधि में किसी प्रकार के परिहार की विशेष आवश्यकता नहीं है। ये मोदक सभी प्रकार की व्याधि को

दूर करने वाले हैं। विशेष रूप से ग्रहणी, पाण्डु, कण्डू, कोठ और अर्श रोग में लाभकारी है।

आचार्य वंगसेन ने भी अभया मोदक तथा मणिभद्र मोदक का उल्लेख किया है जो इस योग से किञ्चित् परिवर्तित एवं परिवर्धित है।

अभयाद्य मोदक

अभया पिप्पलीमूलं मरिचं विश्वभेषजम्।
त्वक्पत्रपिप्पलीमुस्तविडङ्गामलकानि च॥
एतानि समभागानि दन्ती च त्रिगुणा भवेत्।
त्रिवृदष्ट गुणा ज्ञेया षड्गुणा चात्र शर्करा॥
मधुना मोदकान्कृत्वा चाक्षमात्रान् प्रमाणतः॥
एकैकं भक्षयेत्प्रातः शीतं चानु पिबेज्जलम्।
तावद्विरिच्यिते जन्तुर्यावदुष्णं न सेवते॥
पानाहारविहारेषु भवेन्नियन्त्रणः सदा।
पाण्डुत्वकासविषमज्वरवह्निसादान्।
जंघोरुपृष्ठजघनोदरपार्श्वशूलान्।
दुर्नाममण्डलभगन्दरशोफगुल्मान्।
यक्ष्मोदरभ्रमविदाहकमूत्रकृच्छ्रान्॥
प्लीहाक्षिरोगयकृदश्मरिकुष्ठमेहान्।
हन्याद्रसायनमिदं भिषजा प्रयुक्तम्॥
अल्पव्ययं बहुफलं सततं प्रयोज्य-
मायुष्करं पलितनाशनमश्विदृष्टम्॥ वङ्गसेन (विरेच०) ३३-३८

अभया मोदक

हि० व्या०—हरीतकी, पिपलामूल, काली मिर्च, सौंठ, दालचीनी, तेजपत्र, पीपल, नागरमोथा, वायविडंग और आँवला, ये सभी औषधियाँ समान भाग लेकर तीन गुने प्रमाण में दन्ती, आठ गुने प्रमाण में निशोथ तथा छः गुने प्रमाण में मिश्री चूर्ण लेकर इन सभी को एकत्र पीसकर शहद में मिलाकर मधु मिश्रित कर एक-एक तोले के मोदक प्रातःकाल खाने से तथा शीतल जल का अनुपान करने से तब तक विरेचन होता रहेगा जब तक गर्म जल का सेवन नहीं कराया जाएगा। इस योग के सेवन करने वाले को विशेष प्रकार के परिहार की आवश्यकता नहीं है। यह पाण्डु, कास, विषम ज्वर, मन्दाग्नि, जंघा, ऊरु, पृष्ठ, जघन, उदर और पार्श्वशूल, बवासीर, मण्डल, भगन्दर, शोथ, गुल्म, राजयक्ष्मा, उदर रोग, भ्रम, दाह, मूत्रकृच्छ्र, प्लीहा, नेत्ररोग, यकृत, अश्मरी कुष्ठ और प्रमेह आदि रोगों को दूर करने वाला है। यह योग प्रसिद्ध वैद्यों द्वारा प्रयोग किया हुआ है। रसायन के रूप में यह कम व्यय वाला एवं महान् फल देने वाला है। इसका प्रतिदिन प्रयोग करना चाहिए।

यह औषधयोग आयुष्कर, पलित रोगहर है तथा अश्विकुमारों द्वारा इसके उत्तम फल देखे हुए हैं।

मणिभद्र मोदक

विडङ्गसारामलकाभयानां
पलं पलं स्यात्रिवृतस्त्रयञ्च।
गुडस्य षड् द्वादशभागयुक्ता
मानेन त्रिंशद्गुटिका विधेया॥
निवारणे यक्षवरेण सृष्टः
स माणिभद्रः किल शाक्यभिक्षवे॥
अयं हि कुष्ठ क्षयकासनाशनो
भगन्दरप्लीहगुदोदरातिजित्।
यथेष्टचेष्टान्नविहार सेवी
ह्यनेन वृद्धस्तरुणो भवेच्च॥ वङ्गसेन (विरेच०) ३९-४०

हि० व्या—विडङ्गसार, आँवला और हरड़ ये प्रत्येक औषधियाँ ४-४ तो०, निशोथ १२ तो० और गुड़ १८ भाग लेकर यथाविधि सभी को एकत्र कर ३० मोदक बनावें। इस माणिभद्र नामक योग का शाक्यभिक्षु नामक मुनि के कष्ट निवारण हेतु कुवेर ने निर्माण किया। इसके प्रयोग से कुष्ठ, राजयक्ष्मा, खाँसी, भगन्दर, प्लीहा, गुदरोग और उदर रोग दूर करने वाला है। इसका प्रयोग करते समय उचित आहार-विहार करने से वृद्ध मनुष्य तरुणावस्था को प्राप्त हो जाता है।

हरीतकीभिः क्वथितं सुवीरं
दन्त्यग्निकृष्णाविड्चूर्णयुक्तम्।
विरेचनं वा ऋतुतैलमिश्रं
निरत्ययं योज्यमथामयघ्नम्॥ वङ्गसेन (विरेच०)

हि व्या०—हरीतकी को सौवीर में मिलाकर क्वाथ बना लें। इसमें दन्ती, चित्रक, पिप्पली और विड्नमक का चूर्ण मिलावें अन्यथा एरण्ड स्नेह डालकर निरन्तर पान करने से भली प्रकार विरेचन हो जाता है। यह सर्व रोगहर योग है।

विरेचनाय आमलक विभीतकयोः प्रयोगः

शीतमाममलकं रूक्षं पित्तमेदः कफापहम्।
बिभीतकमनुष्णं तु कफपित्तनिबर्हणम्॥
त्रीण्यप्यम्लकषायाणि सतिक्तमधुराणि च। सु० सू० ४४।७०-७१

हि० व्या०—आमलकी स्वभाव में शीतल, रूक्ष एवं पित्त, मेद तथा कफनाशक है। बहेड़ा अनुष्ण है पित्त और कफनाशक है। हरीतकी, आमलकी एवं बहेड़ा तीनों का कषाय अम्ल, तिक्त और मधुर रस वाला है। इन्हीं

गुणानुरूप त्रिफला कषाय की योजना बनाई जाती है ।

विरेचनाय त्रिफला प्रयोग संकेतः

त्रिफला सर्व रोगघ्नी त्रिभागघृतमूच्छिता ।
रोगशब्दोऽत्र त्रिदोषवचनो व्याधि वचनो वा । मूच्छिता संयुक्ता ।

डल्हणः ।

त्रिफलेत्यादौ त्रिभागघृतं त्रिफलायास्तृतीयाभाग घृतम् वयसः स्थापनमिति तरुणवयोऽवस्थास्थैर्यंकरी । चक्रपाणिः ।

वयसः स्थापनं चापि कुर्यात् संततसेविता ॥ सु० सू० ४४।७१-७२

हि० व्या०—त्रिफला सभी रोगों को हरने वाला है । तीन गुणे घृत में सम्मूच्छित करके नित्य सेवन करने से सभी रोगों को नष्ट करने वाला तथा आयु को स्थापित करने वाला है ।

कफजरोगे त्रिफलादि उत्तम विरेचन योगः

त्रिफलाक्वाथमूत्रैश्च सव्योषं कफपीड़ितः ।
कृष्णा शुण्ठी त्रिवृत्क्षारचूर्णं क्षौद्रेण लेहयेत् ॥
एतद्विरेचनं मुख्यं सर्वश्लेष्मविकारिणाम् । वङ्गसेन (विरे०)

हि० व्या०—त्रिफला के क्वाथ से त्रिकटु चूर्ण अथवा त्रिकटु चूर्ण को गोमूत्र के साथ विरेचनार्थ पान करने से अथवा पिप्पली, शुण्ठी, निशोथ तथा यवक्षार को मधु से चाटने पर सभी प्रकार के कफ रोगियों के लिए उत्तम विरेचन योग है ।

सर्वदोषहर नाराच विरेचन योगः

पथ्यासैंधवकृष्णानां कल्कमुष्णाम्बुना पिबेत् ।
विरेकः सर्वदोषघ्नः श्रेष्ठो नाराचसंज्ञितः ॥ वङ्गसेने (विरे०)

हि० व्या०—हरीतकी, सैंधव, पिप्पली का कल्क बनाकर गर्म जल के साथ सेवन करने से यह नाराच नामक योग विरेचन के लिए श्रेष्ठ एवं सभी प्रकार के दोषों को हरण करने वाला है ।

तिल्वक कल्पः

तिल्वक् पर्यायाः

तिल्लकस्तु मतो लोध्रो बृहत्पत्रस्तिरीटकः ।
तस्य मूल त्वचं शुष्कमन्तर्बल्कलवर्जितम् ॥ च० क० ८।३

तिल्वकस्यान्तर्बल्कलं कठिनं भवति, तदर्थं तद्वर्जनं । चक्रपाणिः ।

हि० व्या०—तिल्वक के पर्याय—लोध्र, वृहत्पत्र तथा तिरीटक है । लोध्र की बाह्य मूल त्वचा को सुखाकर प्रयोग में लाते हैं क्योंकि अन्तर्वल्कल कठिन होती है । व्यवहार में दो प्रकार का लोध्र कहा जाता है (१) पठानी, (२) शाबर । इनमें शाबर लोध्र का विरेचनार्थ प्रयोग किया जाता है ।

तिल्वकस्य मूलत्वक्चूर्णस्य भावनाविशेष युक्त एको योगः

चूर्णयेत्तु त्रिधा कृत्वा द्वौ भागौ श्च्योतयेत्ततः ।
लोध्रस्यैव कषायेण तृतीयं तेन भावयेत् ॥
भागं तं दशमूलस्य पुनः क्वाथेन भावयेत् ।
शुष्कं चूर्णं पुन कृत्वा तत ऊर्ध्वं प्रयोजयेत् ॥ च० क० ६।४-५
तिल्वकस्य त्वचं बाह्यमन्तर्वल्क विवर्जिताम् ।
चूर्णयित्वा तु द्वौ भागौ तत्कषायेण गालयेत् ॥
तृतीयं भावितं तेन भागं शुष्कं तु भावितम् ।
दशमूलीकषायेण त्रिवृद्वत्संप्रयोजयेत् ॥

सु० सू० ४४।६०-६१

श्च्योतयेदिति वचनेन षड्गुणद्रवेणैकविंशतिवारान् स्रावयेदिति ज्ञेयं, मदनफलकल्पे एवं भूतस्यैव स्रावणस्य दृष्टत्वात् । भावना विधिश्च निरन्तरं व्याकृत एव । चक्रपाणिः ।

गालयेत् क्षारकल्पेन, गालनं पुनरिहैकविंशति वारान् पारम्पर्यात् । तृतीयं भावितं तेन भागमिति अपरं चूर्णस्य स्थापितं तृतीयं भागं तेनैवतिल्वककषाय-जलेन चूर्णभागद्वयगालन लब्धगुणातिशयेन भावितमित्यर्थः । शुष्कं तु भावितं दशमूलकषायेणेति तृतीयं भागं शुष्कं पुनः सन्तं दशमूलीकषायेण भावितं त्रिवृद्वत संप्रयोजयेदिति संबन्धः । डल्हणः ।

गालयेदिति स्रावणवत् षड्गुणेन क्वाथेन एकविंशति वारान् स्रावणं वैद्योपदेशात्, तेन परिस्रावणलब्धगुणतिल्वकक्वाथेनानुभावितमिति यथोक्त तिल्वकक्वाथकृत सप्तदिन भावनान्तरं दशमूलकषाय भावितम्, एतदपि सप्तदिन भावनम् । चक्रपाणिः ।

तुकारः पुनरर्थे, अत्र त्रिवृद्वदित्यनेन "सैंधवनागराढ्यमम्लैः पिबेत्" इत्युपक्रम्य त्रिवृदधिकरणोक्तो वातादिषूपयोगविधिरतिदिश्यते । हाराणच० ।

त्वचं तिल्वकमूलस्य त्यक्त्वाऽभ्यंतरवल्कलम् ।
विशोष्य चूर्णयित्वा च द्वौ भागौ गालयेत्ततः ॥
रोध्रस्यैव कषायेण तृतीयं तेन भावयेत् ।
कषाये दशमूलस्य तंभागं भावितं पुनः ॥ अ० सं० क० २।

अभ्यन्तरवल्कलः अन्तर्भागस्त्यक्तो यया त्वचा तां त्वचं चूर्णयित्वा तस्य त्रीन भागान् कुर्यात ततो द्वौ भागौ लोध्रक्वाथेन स्रावयेत् तेन शिष्टस्तृतीयो भागो भाव्यः । स एव पुनर्दशमूल कषायेण भाव्यः । इन्दुः ।

हि० व्या०—लोध्र मूल त्वक् को (यथा मात्रा) ग्रहण करके उसके तीन समभाग करें । इसमें से दो भाग का क्वाथ बनाकर उस क्वाथ से तीसरे भाग को भावित करें । पुनः इस भावित शुष्कचूर्ण को दशमूल क्वाथ से भावित करें । इसे सुखाकर चूर्ण बनावें । इस चूर्ण का यथा मात्रा में स्निग्ध

एवं स्विन्न रोगी को प्रयोग कराना चाहिए। सुश्रुत में इसके प्रयोग के लिए 'त्रिवृतवत्' विधि का उल्लेख किया है।

विशेष—चरक के भावयेत् के स्थान पर सुश्रुत ने गालयेत शब्द का उल्लेख किया है। इसके सम्बन्ध में टीकाकार चक्रपाणिदत्त ने 'गालयेत् इति स्रावणवत् अर्थ किया है। अर्थात् लोध्र के ही क्वाथ से (६ गुने क्वाथ से) २१ वार स्रावण करने की विधि बताई है। सात दिन भावना के बाद पुनः दशमूल क्वांथ से भावित करें तथा इसमें भी सात दिन भावित करना चाहिए। डल्हण ने क्षारकल्पेन गालयेत् अर्थ लिया है। तत् के पश्चात् का पाठ भेद-स्निग्ध स्विन्ने प्रदापयेत्' भी है। टीकाओं के अंश द्रष्टव्य है। वाग्भट का भी यही पाठ है।

तिल्वक मूलत्वचा चूर्णस्य दधिमण्डादि अनुपान भेदेन पञ्च योगाः

दधिमण्ड सुरामण्डमूत्रैर्बदरसीधुना।
रसेनामलकानां वा ततः पाणितलं पिबेत्॥

च० क० ६।६

शुष्कचूर्णं ततः कृत्वा ततः पाणितलं पिबेत्।
मस्तुमूत्र सुरामण्ड कोलधात्रीफलाम्बुभिः॥

अ० सं० क० अ० २।३१

हि० व्या०—लोध्र के चूर्ण को एक कर्ष मात्रा में ग्रहण करके दधिमण्ड, सुरामण्ड, गोमूत्र, बेर की सीधु अथवा आमलकी के रस में मिलाकर विरेचनार्थ पिलाना चाहिए। इस प्रकार चूर्ण के पाँच योग बताए हैं।

तिल्वकमूलत्वचः मेषशृङ्ग्यादि साधित सौवीरकानुपान युक्तः एको योगः

मेषशृङ्ग्यभयाकृष्णा चित्रकैः सलिले श्रृते।
मरुजान् सुनुयातच्च जातं सौवीरकं सदा॥
भवेदञ्जलिना तस्य लोध्रकल्कं पिबेत् सदा।

च० क० ६।७।८ अ० सं० क० अ० २।३२

हि० व्या०—मेढ़ासींगी, हरीतकी, पिप्पली व चित्रक इनके समभाग से विधिवत् बनाए हुए क्वाथ में तुष रहित जौ का संधान करें। जब सौवीर तैयार हो जाए तब उसकी एक अञ्जलि (४ पल १६ तो०) लेकर लोध्रचूर्ण का यथा मात्रा प्रयोग करें।

तिल्वकस्य स्वरसकल्कसाधित एको अवलेह योगः

तिल्वकस्य कषायेण कल्केन च सशर्करः।
सघृतः साधितो लेहः स च श्रेष्ठो विरेचने॥

च० क० ६।१३ अ० सं० क० २।३४

हि० व्या०—लोध्र के कषाय अथवा कल्क में चीनी और घी से निर्मित अवलेह उत्तम विरेचन कराने वाला योग है।

तिल्वककषायस्य सुरायोग एकः

सुरां लोध्रकषायेण जातां पक्षस्थितां पिबेत्।

च० क० ६।८ अ० सं० क० २।३३

हि० व्या०—लोध्र के क्वाथ को १५ दिन तक संधान करके रख दें। इससे निर्मित सुरा का विरेचनार्थ प्रयोग कराना चाहिए।

तिल्वकस्य दन्त्यादिक्वाथसाधित एको अरिष्ट योगः

दन्तीचित्रकयोर्द्रोणे सलिलस्याढकं पृथक्।
समुत्क्वाथ्य गुडस्यैकां तुलां लोध्रस्य चाञ्जलिम्॥
आवपेत्तत परं पक्षान्मद्यपानां विरेचनम्।

च० क० ६।६-१०

हि० व्या०—दन्तीमूल तथा चित्रक एक-एक आढ़क लें उन्हें एक-एक द्रोण जल में पृथक्-पृथक् क्वाथ बनावें। दोनों को एकत्र मिलाकर एक-तुला गुड़ मिला दें। एक अञ्जलि (४ पल, १६ तो०) लोध्र मिलाकर पात्र में भरकर संधान कर दें। १५ दिन बाद यह तैयार हो जाएगा। इस मद्य को पीने से विरेचन हो जाता है।

तिल्वकस्य कम्पिल्लक सहपानानुपानयुक्तः एको योगः

कम्पिल्लक कषायेण दशकृत्वः सुभावितम्।
मात्रां कम्पिल्लकस्यैव कषायेण पुनः पिबेत्॥

च० क० ६।१०-११

कम्पिल्लको गुण्डारोचनिका। मात्रामिति तिल्वकचूर्णमात्राम्। चक्रपाणिः।

हि० व्या०—लोध्र चूर्ण को कम्पिल्लक के क्वाथ से दश बार भावित कर लें। इसे कम्पिल्लक के क्वाथ के साथ पीने से विरेचन हो जाता है। मात्र से यथावश्यक चूर्ण ग्रहण करने का भाव लिया जाता है।

तिल्वकस्य त्रिवृत् चूर्ण युक्तः एको अवलेह योगः

चतुरङ्गुल कल्पेन लेहोऽन्यः कार्य एव च। च० क० ६।११

चतुरङ्गुलकल्पेनेति कषायेणाथवा तस्य' (क० अ० ८) इत्यादिनोक्त विधानेन। तेनात्र तिल्वकक्वाथेन गुडान्वित त्रिवृच्चूर्णं पक्त्वा लेहः कर्तव्यः। चक्रपाणिः।

हि० व्या०—अमलतास कल्प में बताई गई विधि के अनुसार अमलतास एवं लोध्र से यथाविधि विरेचन लेह तैयार करना चाहिए।

तिल्वकस्यत्रिफलाकषायादि साधितः अवलेहः योगः

त्रिफलायाः कषायेण सर्पिषमधुफाणितः।
लोध्रचूर्णयुतः सिद्धो लेहः श्रेष्ठो विरेचने॥ च० क० ६।१२

हि० व्या०—त्रिफला का कषाय, घी, शहद, फाणित एवं लोध्र चूर्ण से सिद्ध किया अवलेह विरेचन के लिए श्रेष्ठ है।

तिल्वकस्य त्रिवृतादिक्वाथसाधित एको घृत योगः

अष्टाष्टौ त्रिवृतादीनां मुष्टीस्तु सनखान् पृथक्।
द्रोणेऽपां साधयेत् पादशेषे प्रस्थं घृतात् पचेत्।
पिष्टैस्तैरेव विल्वांशैः समूत्रलवणैरथ।
ततो मात्रां पिबेत्काले श्रेष्ठमेतद्विरेचनम्॥

च० क ६।१४-१५

अष्टाष्टावित्यादिना प्रथमं घृतम्। सनखानिति विद्यमाननखान्। अत्र त्रिवृदादिगृहीतलोध्रस्य प्रधानत्वाद् द्विगुणो भागो भवति। उक्तं हि जतूकर्णे। 'त्रिवृदादिद्विगुणो लोध्रक्वाथ इति। समभागत्वेतु लोध्र प्रयोगस्य केन विशेष, स्यात् तस्माद् यथा व्याख्यातमेव साधु। लवणमप्यत्र पलांशमेव। चक्रपाणिः।

हि० व्या०—निशोथादि विरेचन द्रव्यों को आठ-आठ मुट्ठी प्रमाण में ग्रहण कर पृथक्-पृथक् क्वाथ तैयार करें। चतुर्थांश शेष रहने पर छान लें। इन द्रव्यों के कल्क, गोमूत्र, सैन्धा नमक, प्रत्येक एक पल से ३२ पल तक। इन सभी से यथाविधि घृतपाक करे। मात्रायुक्त उचित काल में सेवन करने से श्रेष्ठ विरेचन होता है।

तिल्वकस्य लोध्रादिक्वाथ साधित एकोयोगः

लोध्रकल्केन मूत्राम्ललवणैश्च पचेद्घृतम्।

च० क० ६।१६ क

हि० व्या०—लोध्र के कल्क, गोमूत्र, कांजी तथा सैंधव लवण के साथ घृतपाक करें यह उत्तम विरेचक योग है।

तिल्वकस्य चतुरङ्गुलकल्पवत् साधितौ द्वौ घृतयोगौ

चतुरङ्गुल कल्पेन सर्पिषी द्वे च साधयेत्।

च० क० ८।१६

चतुरङ्गुलेत्यादिना घृतद्वयमतिदिश्यते एवं घृतेन चत्वारो योगा भवन्ति। चतुरङ्गुल घृते च 'चतुरङ्गुलसिद्धात्' (क० स्था० अ० ८) इत्यादिना, तथा 'तदेव दशमूलस्य' (क० स्था० अ० ८) इत्यादिना प्रोक्ते ज्ञेये, तथा च चतुरङ्गुलकल्पेन लोध्रादिना द्वे लोध्रघृते भवतः। चक्रपाणिः।

हि० व्या०—अमलतास कल्प के समान दो घृत योग लोध्र से भी सिद्ध करें।

विशेष—पूर्व में बताए सैंधव, कांजी आदि से सिद्ध किया जाने वाला अथवा ६ विरेचन द्रव्यों से पाक किए जाने वाले घृत सिद्ध करने की विधि की ओर इंगित किया है।

तिल्वकस्य योगसंख्यासंकेतः

पञ्चदध्यादिभिस्त्वेका सुरा सौवीरकेण च।
एकाऽरिष्टस्तथा योग एकः कम्पिल्लकेन च॥
लेहास्त्रयो घृतेनापि चत्वारः संप्रकीर्तिताः।
योगास्ते लोध्रमूलानां कल्पे षोडश दर्शिताः॥

च० क० ८।१७-१८

हि० व्या०—तिल्वक मूल त्वक के १६ योग इस प्रकार है।

दधि आदि से—५ योग
सुरा से —१ योग
सौवीर से —१ योग
अरिष्ट से —१ योग
कम्पिल्लक से—१ योग
लेहपाक से —३ योग
घृतपाक से —४ योग
कुल योग = १६ योग

सप्तला पर्यायाः

[2]सप्तला चर्मसाह्वा च बहुफेनरसा च सा। च० क० ११।३ (क)

इह चाध्याये ये योगा अभिधीयन्ते ते सप्तलया वा शङ्खिन्या वा उभाभ्यां संपाद्यन्ते श्यामात्रिवृद्योगवत्। चक्रपाणिः।

हि० व्या०—सप्तला के पर्याय—सप्ता, चर्मसाह्वा तथा बहुफेनरसा है।

विशेष—इस प्रकरण में सप्तला एवं शंखिनी दोनों के संयुक्त योगों का "श्यामात्रिवृद्योगवत्" प्रयोग किए जाने से दोनों का ही उल्लेख किया गया है।

शङ्खिनी पर्यायाः

[1]शङ्खिनी तिक्तला चैव यवतिक्ताऽक्षिपीडकः। च० क० ११।३

हि० व्या०—शंखिनी के पर्याय - शङ्खिनी, तिक्तला, यवतिक्ता तथा अक्षिपीडक ये चार नाम हैं।

अ० सं० क० अ० २।५७ पर शशिलेखा।

सप्तलाशङ्खिनी प्रयोगयोग्य अङ्गानां वर्णनम्

नाति शुष्कं फलं ग्राह्यं शङ्खिन्या निस्तुषीकृतम्।
सप्तलायाश्च मूलानि गृहीत्वा भाजने क्षिपेत्॥ च० क० ११।५

---

१. सातला, सप्तला, सारी, विदुला, विमला, आमला, बहुफेना, चर्मकषा, फेना, दीप्ता, मरालिका। अ० सं० क० २ पर शशिलेखा।

१. यवतिक्ता शङ्खिनी च दृढ़पाता विसर्पिणी।
नाकुली चाक्षपीडा च नेत्रमीला यशस्करी॥

[1]सप्तलायास्तथा मूलं ते तु तीक्ष्ण विकाशिनी ।

अ० सं० क० २।४० अ० हृ० क० २।४२

शंखिन्याः फलं विरेचनाय ग्राह्यम् । तच्च निस्तुषी कृतम् । सप्तलायास्तु यथाविधमेव मूलम् । ते च सप्तला शङ्खिन्यौ तीक्ष्णत्वगुणयुक्ते विकाषिण्यौ च । अत एव श्लेष्मामयादिषु कल्पयेत् । तीक्ष्णक्षिप्रकारी विकाषी विकषन् धातून् सन्धिबन्धान् विमुञ्चन्ति । इन्दुः ।

हि० व्या०—सप्तला एवं शंखिनी में से शंखिनी के फल को उस अवस्था में ग्रहण करें जब अधिक न सूखे हों। उसकी ऊपरी छिलके को हटाकर रख लेना चाहिए तथा सप्तला के मूल को ग्रहण करके स्वच्छ पात्र में रख लेना चाहिए। वाग्भट लिखते हैं कि ये दोनों ही द्रव्य अत्यन्त तीक्ष्ण एवं विकासी है।

अष्टाङ्ग हृदय एवं संग्रह में श्लोक की दूसरी पंक्ति (तृतीय एवं चतुर्थ चरण) किंचित् परिवर्तित है।

सप्तलाशङ्खिनी प्रयोगयोग्य रोगाणां वर्णनम्

ते गुल्म गरहृद्रोगकुष्ठशोफोदरादिषु ।
विकाशि तीक्ष्णरूक्षत्वाद्योज्ये श्लेष्माधिकेषु तु ॥ च० क० ११।४
श्लेष्मामयोदरगरश्वयथ्वादिषु कल्पयेत् ।

अ० सं० क० अ० २।४०; अ० हृ० क० २।४६

हि० व्या०—सप्तला और शंखिनी का प्रयोग गुल्म, विषविकार, हृदय रोग, कुष्ठ, शोथ, उदर आदि रोगों में और कफ की अधिकता की स्थिति में प्रयोग करना चाहिए। ये दोनों ही गुणों में विकासी, तीक्ष्ण एवं रूक्ष हैं इसी कारण श्लेष्माधिक्य को दूर करने में समर्थ है। स्वभाव में सप्तला एवं शंखिनी दोनों ही अत्यन्त तीक्ष्ण एवं विकासी है अतः इनका प्रयोग श्लेष्मज व्याधियों में, उदर रोगों में, गरविष जनित विकारों में तथा शोथ आदि रोगों में किया जाता है।

अनुपानभेदेन सप्तलाशङ्खिन्योः षोडश योगाः

अक्षमात्रं तयोः पिष्डं प्रसन्ना लवणायुतम् ।
हृद्रोगे कफवातोत्थे गुल्मे चैव प्रयोजयेत् ॥
प्रियालपीलुकर्कन्धुकोलाम्रातकदाडिमैः ।
मैरेये दधिमण्डेऽम्ले सौवीरकतुषोदके ।
सीधौ चाप्येष कल्पः स्यात्सुखं शोध्रविरेचनः ॥

च० क० ११।६-८ ॥

अक्षमात्रमित्यादिना कल्कस्य प्रसन्नालवणयुक्तस्य प्रियालादिकषायेषु योगा भवन्ति। अत्र यद्यपि मैरेयेक्षवौ न कषायौ तथाऽपि बहुकषायान्तर्गतत्वात् कषायावेव वक्तव्यौ संग्रहे। 'कषाया दश षट्' इत्यनेन व्यपदिष्टौ।

कषायशब्देन कल्ककषायोऽभिप्रेतः। कर्कन्धू कोलबदरशब्देन त्रिप्रकार बदर ग्रहणम्। चक्रपाणिः।

हि० व्या०—अक्षमात्र सप्तला शंखिनी के कल्क पिण्ड को चिरौंजी, पीलु, छोटा बेर, बड़ा बेर, आम्रातक, अनार, मुनक्का, कटहल, खर्जूर, बनबेर (झरबेर), सौवीरक, अम्लफालसा, मैरेय, खट्टा दही, तुषोदक एवं सीधु में एक कर्ष प्रमाण में घोलकर पीने से भी हृद्रोग एवं वातकफज गुल्म नष्ट होता है।

आचार्य वाग्भट के अनुसार अक्षप्रमाण में (२ कोल) सप्तला शंखिनी का पिण्ड (कल्क पिण्ड) को मदिरा में घोलकर लवण के साथ प्रयोग करने से हृद्रोग, वातकफज रोग तथा गुल्म रोग दूर होते हैं।

सप्तलाशङ्खिन्योः षट् तैल योगाः

तैलं विदारिगन्धाद्यैः पयसि क्वथिते पचेत् ।
सप्तलाशङ्खिनीकल्के त्रिवृच्छ्यामार्धभागिके ॥
दधिमण्डेन सन्नीय सिद्धं तत् पाययेत् च ।
शङ्खिनीचूर्णं भागौ द्वौ तिलचूर्णस्य चापरः ॥
हरीतकीकषायेण तैलं तत्पीडितं पिबेत् ।
अतसी सर्षपैरण्ड करञ्जेष्वेव संविधिः ॥

च० क० ११।९-११ अ० सं० क० २।

हि० व्या०—(१) विदारिगन्धादिक द्रव्यों से पक्व दूध में तैल पक्व करें। तैल पकाते समय सप्तलाशंखिनी का कल्क, श्वेत निशोथ आधा भाग, काली निशोथ आधा भाग पकते हुए तैल में डालें। तैल पक्व हो जाने पर दधिमण्ड मिलावे एवं विरेचनार्थ प्रयोग करावें। (२) शंखिनी चूर्ण २ भाग, तिल चूर्ण १ भाग को पेरकर तैल निकालें। इस तैल में हरड़ का क्वाथ मिलाकर विरेचनार्थ पान कराना चाहिए। (३) इसी प्रकार अलसी, सरसों, एरण्ड तथा करंज के तैल सिद्ध करके विरेचनार्थ पिलाना चाहिए।

सप्तलाशंखिन्योः अष्टौ घृत योगाः

शङ्खिनी सप्तलासिद्धात् क्षीराद्यदुद्धियाद्घृतम् ।
कल्कभागे तयोरेव त्रिवृच्छ्यामार्धसंयुते ॥
क्षीरेणालोड्य संपक्वे पिबेतच्च विरेचनम् ॥
दन्तीद्रवन्त्योः कल्पोऽयमजशृङ्ग्यजगन्धयोः ।
क्षीरिण्या नीलिकायाश्च तथैव च करञ्जयोः ॥
मसूर विदलायाश्च प्रत्यक्पर्ण्यास्तथैव च ॥
द्विगर्धांशकल्केन तद्वत् साध्यं घृतं पुनः ।
शङ्खिनीसप्तलाधात्री कषाये साधयेद्घृतम् ॥

च० क० ११।१२-१५

शङ्खिनीसप्तलेत्यादि प्रथमं घृतम् । दन्तीद्रवन्त्योरित्यादिना द्वि द्वि द्रव्यकल्केन सप्तलाशङ्खिनी कल्कार्धेन पूर्वधृतवत्पाकाच्च पञ्चघृतयोगा अपरे । द्रवन्ती=दन्ती भेदः । अजशृङ्गी=विषाणिका । क्षीरिणी=दुग्धिका । मसूर विदला=श्यामलता । प्रत्यक्पर्णी=मूषिकपर्णी । द्विवर्गार्धांशकल्केनेति दन्त्यादिद्विवर्गशङ्खिनीसप्तलार्धभागिकेन कल्केन । शङ्खिनीत्यादिना सप्तमं घृतम् । चक्रपाणिः ।

सप्तलाशंखिन्योः लोध्रवत् त्रयो अवलेह योगाः पञ्च मद्ययोगाश्च ।
त्रिवृत्कल्केन सर्पिश्च त्रयो लेहाश्च लोध्रवत् ।
सुराकम्पिल्लयोर्योगः कार्यो लोध्रवदेव च ॥

च० क० ११।१६

त्रिवृत्कल्केनेत्याद्यष्टमं घृतम् । अत्र त्वधिकृतत्वात् सप्तलाशंखिन्योर्द्विगुणः कषायो विधीयते । लोध्रवदिति लोध्रकल्पवत्; लोध्रकल्पे यथा त्रयो लेहाः 'चतुरङ्गुलकल्पेन' (क० अ० ६) इत्यादिनोक्ताः, तेन लोध्रस्थाने सप्तलांशंखिनीयोगः कर्तव्यः । तथा सुरा योगः कम्पिल्लयोगश्च लोध्रवदिति अत्रापि सप्तलाशंखिनी प्रक्षेपः कर्तव्यः ॥ चक्रपाणिः ।

हि० व्या०—सप्तला एवं शंखिनी के पृथक् पृथक् क्वाथ से दूध को सिद्ध करके घृत निकालें । इस घृत में सप्तला और शंखिनी के आधे भाग कल्क तथा निशोथ के भी आधा भाग कल्क से यथा विधि घृत पाक करें । इस सिद्ध घृत को दुग्ध में मिलाकर पिलाने से विरेचन हो जाता है ।

इसी प्रकार (२) दन्ती द्रवन्ती के कल्क, (३) अजशृंगी-अजमोद के कल्क से, (४) क्षीरिणी नील के कल्क से, (५) दोनों करञ्ज के कल्क से, (६) मसूर एवं कृष्ण निशोथ के कल्क से एवं प्रत्यक्पर्णी (अपामार्ग) के कल्क से, (७) इस प्रकार दो दो वनस्पतियों के संयुक्त अर्ध कल्क को एवं सप्तला शंखिनी के आधे भाग कल्क से विधिपूर्वक घृतपाक करके प्रयोग करें । (८) सप्तला, शंखिनी, आँवला इनके सम भाग के चतुर्गुण कषाय से घृतपाक करें । अथवा (९) त्रिवृत् कल्प के अनुसार घृतपाक करना चाहिए, (१०) निशोथ के अनुसार घृतपाक करें । (११) लोध्र के समान ३ लेहयोग तैयार करें । (१२) लोध्र के समान सुरा एवं कंपिल्लक का योग बनाना चाहिए ।

सप्तलाशंखिन्योः दन्तीद्रवन्तीकल्पवत् चत्वारः काञ्जिक योगाः
अजगन्धाजशृंगीयुक्तौ गौडारिष्टयोगौ
दन्तीद्रवन्त्योः कल्पेन सौवीरक तुषोदके ।
अजगन्धाजशृङ्ग्योश्च तद्वत्स्यातां विरेचने ॥

च० क० ११।१७

दन्ती द्रवन्त्योरित्यादिना संधान चतुष्टयमाह । एतत् संधानचतुष्टयं पूर्वसुरायोगेन समं 'पञ्चमद्ये' इति वचनेन संग्रहगृहीतं; सौवीरकादीनां च मद्यशब्देनाभिधानमिहासुतत्वसामान्याज्ज्ञेयम् । दन्तीद्रवन्त्यो कल्पेनेति अनागतावेक्षणेनदन्तीद्रवन्ती कल्पे सौवीरकतुषोदके ये वक्तव्ये तद्विधानमिहाप्यतिदिशति । तत्र 'अजगन्धा कषायेण सौवीरकतुषोदके' (क० अ० १२) इति वक्तव्ये, तेनेहाप्यजगन्धाकषाययुक्त सप्तलाशंखिन्यो, सौवीरकतुषोदके कर्तव्ये । अत्र 'तथा दन्ती द्रवन्त्योश्च कषाये साजगन्धयोः । गौडः कार्योऽजशृंग्या वा स वै सुखविरेचनः' (क० अ० १२) इत्यनेनोक्तस्य गौडारिष्टस्य दन्तीद्रवन्तीकल्पोक्तस्य विधानमतिदिशति । चक्रपाणिः ।

हि० व्या०—दन्ती द्रवन्ती के कल्क से निर्मित सौवीर तथा तुषोदक के समान सप्तला एवं शंखिनी से सौवीर व तुषोदक का निर्माण करना चाहिए । अजगन्धा एवं कर्कट शृंगी में सौवीर बनाकर प्रयोग करना चाहिए । ये सभी योग विरेचन के लिए बताए गए हैं ।

सप्तलाशंखिन्योः प्रयोग संख्या

कषाया दश षट् चैव षट् तैलेऽष्टौ च सर्पिषि ।
पञ्चमद्ये त्रयो लेहा योगः कम्पिल्लके तथा ॥
सप्तला शंखिनीभ्यां ते त्रिंशदुक्ता नवाधिकाः ।
योगाः सिद्धाः समस्ताभ्यामेकशोऽपि च ते हिताः ॥

च० क० ११।१७-१९

हि० व्या० सप्तला-शंखिनी के कुल विरेचन योग इस प्रकार है—

कषाय के	१६ योग
तैल के	६ योग
घृत ,,	८ योग
मद्य ,,	५ योग
लेह ,,	३ योग
कम्पिल्लक	१ योग

कुल=३९ योग

चतुरङ्गुल कल्पः ।

चतुरङ्गुलो मृदुविरेचनानाम् ।

च० सू० अ० १५।४०

हि० व्या०—मृदु विरेचक द्रव्यों में अमलताश को उत्तम माना गया है ।

आरग्वध पर्यायाः ।

आरग्वधो राजवृक्षः शम्पाकश्चतुरङ्गुलः ।
प्रग्रहः कृतमालश्च कर्णिकारोऽवघातकः ॥

च० क० ८।३

हि० व्या०—आरग्वध के पर्याय-राजवृक्ष, शम्पाक, चतुरङ्गुल, प्रग्रह, कृतमाल, कर्णिकार तथा अवघातक ।

ज्वरहृद्रोग वातासृगुदावर्तादिरोगिषु ।
राजवृक्षोऽधिकं पथ्यो मृदुर्मधुरशीतलः ॥
बाले वृद्धे क्षते क्षीणे सुकुमारे च मानवे ।
योज्यो मृद्वनपायित्वाद्विशेषाच्चतुरङ्गुलः ॥

च० क० ८।४-५, अ० सं० क० अ० २।२५, अ० हृ० क० अ० २।३०

हि० व्या०—ज्वर, हृदय, वातरक्त तथा उदावर्त आदि रोगियों को अमलताश विशेष पथ्य होता है। गुणों में मृदु एवं शीत तथा रस में मधुर होता है। यह मृदु विरेचन होने से बालक, वृद्ध, क्षत-क्षीण, सुकुमार प्रकृति वाले व्यक्तियों को भी प्रयोग कराया जा सकता है।

आरग्वध संग्रह प्रकारो रक्षा प्रकारश्च ।

फलकाले फलं तस्य ग्राह्यं परिणतं च यत् ।
तेषां गुणवतां भारं सिकतासु निधापयेत् ॥
सप्तरात्रात् समुद्धृत्य शोषयेदातपे भिषक् ।
ततो मज्जानमुद्धृत्य शुचौ भाण्डे निधापयेत् ॥

च० क० ८।६-७, अ० सं० २।२६, अ० हृ० क० २।३२-३३

... ...विशेषाच्चतुरङ्गुलात् ॥
फलं काले समुद्धृत्य सिकतायां निधापयेत् ।
सप्ताहमातपे शुष्कमतोमज्जानमुद्धरेत् ॥
तैलं ग्राह्यं जले पक्त्वा तिलवद्वा प्रपीड्य च ।
तस्योपयोगो बालानां यावद्वर्षाणि द्वादश ।
लिह्यादेरण्डतैलेन कुष्ठत्रिकटुकान्वितम् ॥
सुखोदकं चानुपिबेदेष योगो विरेचयेत् ।

सु० सू० ४४।७३-७५

फलकाल इति उचितफलकाले। तेषामिति फलानाम्। भारमिति भूरि-द्रव्योपलक्षणम्। मज्जानमिति फलमज्जानम्। चक्रपाणिः।

चतुरङ्गुलात् किरमालकात्, समुद्धृत्य फलम्' इति शेषः। सिकतायां बालुकायां, निधापयेत्, सप्ताहमिति संबन्धः। अतः अस्मात् चतुरङ्गुलफलात्। लिह्यादित्यादि। एष योगो वातकफप्रशमनः। डल्हणः।

हि० व्या०—चिकित्सा कर्म हेतु आरग्वध को संग्रहित करने की विधि इस प्रकार है—जिस ऋतु में फल आते हैं उन्हीं दिनों परिपक्व होने पर भारी तथा गुणवान् फलों का संग्रह कर लेना चाहिए। इस फल को सात दिन तक बालू में दबाकर रखना चाहिए। तत्पश्चात् निकालकर धूप में रखें। सूखे फल की मज्जा को निकालकर स्वच्छ पात्र में रख दें। ग्राह्य विधि का चरकवत् विवेचन कर सुश्रुत में लिखा है कि छाल को जल में उबालकर अथवा तिलों की तरह पेरकर तैल निकालना चाहिए। इसका उपयोग १२

वर्ष तक के बच्चों के लिए करना चाहिए। इस तैल का एरण्ड तैल, कुष्ठ तथा त्रिकटु के साथ मिलाकर प्रयोग में लाना चाहिए। तथा उष्ण जल का अनुपान लेना चाहिए। यह योग विरेचन के लिए होता है।

आरग्वधस्य द्राक्षारसयुक्त एको योगः ।

च० क० ८।८, अ० सं० क० २, अ० हृ० क० २।

द्राक्षारसयुतं दद्याद्दाहोदावर्तपीडिते ।
चतुर्वर्षमुखे बाले यावद्द्वादशवार्षिके ॥

द्राक्षेत्यादिः प्रथमो योगः। चतुर्वर्षमुखे बाले यावदद्वादशवार्षिक इत्यनेनास्य प्रयोगस्य चतुर्वर्षादर्वागूर्ध्वं च द्वादशवर्षादवश्यतया यौगिकत्वं निषेधयति। चक्रपाणिः।

हि० व्या०—यथा विधि संरक्षित की गई। आरग्वध फलमज्जा का चार वर्ष से बारह वर्ष तक के बालक के लिए उदावर्त एवं दाह रोग में प्रयोग कराई जा सकती है। उसका प्रयोग अंगूर रस अथवा द्राक्षा क्वाथ के साथ कराना चाहिए।

आरग्धवस्य अनुपान भेदेन त्रयो योगाः ।

चतुरङ्गुलमज्जस्तु प्रसृतं वाऽथवाञ्जलिम् ।
सुरामण्डेन संयुक्तमथवा कोलसीधुना ॥
दधिमण्डेन वा युक्तं रसेनामलकस्य वा ।
कृत्वा शीतकषायं तं पिबेत् सौवीरकेण वा ॥

च० क० ८।९-१०, अ० सं० क० २, अ० हृ० क० २।-

हि० व्या०—अनुपान भेद से आरग्वधमज्जा के कुछ योग इस प्रकार हैं। चतुरङ्गुल की दो पल मज्जा अथवा एक अञ्जलि या चार पल प्रमाण में ग्रहण कर शीत कषाय बनावें इस कषाय को सुरामण्ड के साथ अथवा बेर की सीधु के साथ अथवा दही के जल के साथ, आँवले के रस के साथ अथवा सौवीर के साथ मिलाकर पिलाना चाहिए। इस प्रकार पृथक् पृथक् अनुपान से ५ योग बताये गये हैं।

आरग्वधस्य त्रिवृत् कषायेण एको योगः तथा बिल्व कषायेण एको योगश्च ।

त्रिवृतो वा कषायेण मज्जः कल्कं तथा पिबेत् ।
तथा बिल्वकषायेण लवणक्षौद्र संयुतम् ॥

च० क० ८।११

एतत्कल्ककषाययोर्द्वयं जतूकर्णेऽप्युक्तमेव—'त्रिवृद्बिल्वकषायाभ्यां सक्षौद्र-लवणौ द्वौ' इति। चक्रपाणिः।

हि० व्या०—त्रिवृता के कषाय में आरग्वध मज्जा मिलाकर अथवा बेल के क्वाथ में मिलाकर नमक एवं मधु मिश्रित करके पीना चाहिए।

विशेष—यहां औषध मान नहीं दिया गया है अतः रोग एवं रोगी के बलानुसार यथावश्यक ग्रहण करें।

आरग्वधस्य एकः अवलेह योगः।

कषायेणाथवा तस्य त्रिवृच्चूर्णं गुडान्वितम्॥
साधयित्वा शनैर्लेहं लेहयेन्मात्रया नरम्॥ च० क० ८।१२
कल्केन त्रैवृतेन वा। अ० हृ० क० २।-

हि० व्या०—विरेचनार्थ आरग्वध का अवलेह योग अमलतास मज्जा के क्वाथ में निशोथचूर्ण एवं गुड़ मिलाकर (अवलेह विधि के अनुसार) मन्द अग्नि पर पाक करें। लेह्य स्वरूप रह जाने पर उतार लें इसे मात्रा पूर्वक विरेचनार्थ प्रयोग कराना चाहिए।

आरग्वधस्य द्वौ घृत योगौ

चतुरङ्गुल सिद्धाद्वा क्षीराद्यदुदियाद्घृतम्।
मज्ज्ञः कल्केन धात्रीणां रसे तत्साधितं पिबेत्॥ च० क० ८।१३
तदेव दशमूलस्य कुलत्थानां यवस्य च।
कषाये साधितं सर्पिः कल्कैः श्यामादिभिः पिबेत्।
च० क० ८।१४

हि० व्या०—(१) अमलतासमज्जा मिश्रित दूध को जमाकर घृत निकालें। इस घृत को अमलतासमज्जा कल्क एवं आमलकी स्वरस में पाककर विरेचनार्थ प्रयोग करना चाहिए।

(२) उपरोक्त विधि से निर्मित घृत को दशमूल कुलथी तथा जौ के क्वाथ से पाक करें। पाक के समय दोनों निशोथ (अमलतास, तिल्वक, सेहुण्ड, सप्तला, शंखिनी, दन्ती, द्रवन्ती) आदि विरेचन द्रव्यों का कल्क मिलाकर पाक करें इसका विरेचनार्थ प्रयोग कराना चाहिए।

विशेष—यहां बताये गये दोनों घृत योगों में प्रथम का मृदुकोष्ठ तथा मध्यम बल बालों के लिए तथा द्वितीय का क्रूरकोष्ठ एवं बलवान् व्यक्तियों के लिए प्रयोग करना चाहिए क्योंकि क्रमशः दोनों सौम्य एवं तीक्ष्ण विरेचन कारी है।

आरग्वधस्य अरिष्ट योगः

च० क० ८।१५, अ सं० क० २।,
अ० हृ० क० २।

दन्तीक्वाथेऽञ्जलिं मज्ज्ञः शम्पाकस्य गुडस्य च।
दत्त्वा मासार्धमासस्थमरिष्टं पाययेत् च॥
दन्तीकषाये तन्मज्ज्ञो गुडं जीर्णं च निक्षिपेत्।
तमरिष्टं स्थितं मासं पाययेत् पक्षमेव वा॥
च० क० ८।१३।१४

हि० व्या०—दन्ती के कषाय में एक-एक अञ्जलि अमलतासमज्जा एवं गुड डालकर उपयुक्तपात्र में संधान करें। डेढ़ मास तक संधानित हो जाने पर विरेचनार्थ प्रयोग में लाना चाहिए।

आरग्वधस्य हृद्यानुपान युक्त एको योगः।

यस्य यत् पानमन्नं च हृद्यं स्वाद्वथवा कटु।
लवणं वा भवेत्तेन युक्तं दद्याद्विरेचनम्॥ च० क० ८।१६

यस्य यदित्यादिनाऽनुक्तमपरापरसाधनं विधत्ते। हृद्येन हि विरेचन योगस्य प्रियता स्यात्। पानमन्नं चेति हृद्धामित्यादिभिः प्रत्येकं संबध्यते। चक्रपाणिः।

हि० व्या०—रोगी को जो जो अन्नपान हृद्य एवं मनोनुकूल हो (प्रिय एवं रुचिकर हो) चाहे वे मधुर हो या कटु (चरपरे) या नमकीन उन्हीं के साथ अमलतास की मज्जा को मिश्रितकर प्रयोग करना चाहिए।

आरग्वधस्य योग संख्या सूचनम्।

द्राक्षारसे सुरा सीध्वोर्दध्निचामलकी रसे।
सौवीरके कषाये च त्रिवृतो बिल्वकस्य च॥
लेहेऽरिष्टे घृते द्वे च योगा द्वादश कीर्तिताः।
चतुरङ्गुलकल्पेऽस्मिन् सुकुमाराः सुखोदयाः॥
च० क० ८।१७-१८

हि० व्या०—अमलतास के (विविध कल्पनाओं के) कुल १२ योग बताये गये हैं।

द्राक्षारस से १ योग
कोल सीधु ,, १ ,,
आमलकी स्वरस ,, १ ,,
त्रिवृत् क्वाथ ,, १ ,,
अवलेहयोग ,, १ ,,
घृतयोग ,, २ ,,
सुरामण्ड ,, १ ,,
दधिमण्ड ,, १ ,,
सौवीर ,, १ ,,
बिल्वक्वाथ ,, १ ,,
अरिष्ट योग ,, १ ,,

इनके अतिरिक्त मनोनुकूल अन्नपान के साथ भी विरेचन योग का वर्णन किया गया है।

सुधा (स्नुही) कल्पः।

स्नुक् पयस्तीक्ष्णविरेचनानाम्। च० सू० अ० २५।४०

हि० व्या०—स्नुहीक्षीर तीक्ष्ण विरेचन द्रव्यो में श्रेष्ठ हैं।

सुधा प्रयोगस्थल विचारः।

विरेचनानां सर्वेषां सुधा तीक्ष्णतमा मता।
संघातं हि भिनत्याशु दोषाणां कष्टविभ्रमा॥
तस्मान्नैषा मृदौ कोष्ठे प्रयोक्तव्या कदाचन।
न दोषनिचये चाल्पे सति मार्गे परिक्रमे॥

च० क० १०।३-४

विरेचनानां तीक्ष्णानां पयः सौधं परं मतम्।
अज्ञ प्रयुक्तं तद्धन्ति विषवत् कर्म विभ्रमात्।
विजानता प्रयुक्तं तु महान्तमपि संचयम्।
भिनत्याश्वेव दोषाणां रोगान् हन्ति च दुस्तराम्

सु० सू० ४४।७८।८०

विरेचनानामिति विरेचन द्रव्याणाम्। कष्टविभ्रमेति दुःखसाध्यविभ्रमजनिका। तस्मादिति अतितीक्ष्णत्वात् कष्ठविभ्रमत्वाच्च। सति मार्गपरिक्रम इति उपक्रम मार्गान्तरे सति न सुधा प्रयोक्तव्या, तेन गत्यन्तरासंभव एव सुधा प्रयोक्तव्येत्यर्थः। चक्रपाणिः।

हि० व्या०—विविध विरेचन दव्यों में स्नुही (सेहुण्ड) तीक्ष्णतम विरेचन द्रव्य है। यह दोषों के संघात को शीघ्र भेदन करता है। यदि इसका सम्यक् प्रयोग न हो तो कष्टदायक हो जाता है। इसी कारण मृदु कोष्ठ वाले व्यक्तियों को इसका कभी भी प्रयोग नहीं कराना चाहिए। शरीर में दोषों की अल्प संचयावस्था में भी प्रयोग नहीं कराना चाहिए। (यदि समय पर अन्य उपाय न हो तो इसका प्रयोग कराना चाहिए।

द्विविधा सुधा लक्षणानि।

द्विविधः स मतोऽल्पैश्च बहुभिश्चैव कण्टकैः।
सुतीक्ष्णः कण्टकैरल्पैः प्रवरो बहुकण्टकः॥
स नाम्ना स्नुग्गुडानन्दा सुधा निस्त्रिंशपत्रकः।
तौ विपाट्याहरेत् क्षीरं शस्त्रेणामतिमान् भिषक्।
द्विवर्षं वा त्रिवर्षं वा शिशिरान्ते विशेषतः।

च० क० १०।७-९

द्विवर्षां वा त्रिवर्षां वा शिशिरान्ते विशेषतः।
तां पाटयित्वा शस्त्रेण क्षीरमुद्धारयेत्ततः॥

अ० सं० क० २।- अ० हृ० क० २।-

प्रवरो बहुकण्टक इति अनतितीक्ष्णतयाऽल्पकण्टकमहावृक्षतः श्रेष्ठ इत्यर्थः। तावितिं स्वल्पकण्टकौमहावृक्षौ। यद्यपि मदनकल्पे 'शरदित्ववकन्दक्षीराणि,

(क० अ० १) इत्युक्तं, तथाऽपि सुधाया अत्र शिशिरान्ते क्षीरग्रहणमपवादरूपं ज्ञेयम्। शिशिरस्यशेषा दिवसाः शिशिरान्ताः। चक्रपाणिः।

हि० व्या०—स्नुही के दो भेद होते हैं। एक अधिक कण्टकित तथा दूसरी न्यून कण्टकित होती है किन्तु इसके कांटे अत्यन्त तीक्ष्ण होते हैं। स्नुक्, गुडा, नन्दा, सुधा निस्त्रिंशपत्रक आदि सेहुण्ड के पर्याय नाम होते हैं। इनको शस्त्र से चीरा लगाकर दूध ग्रहण करना चाहिए। दूध ग्रहण किए जाने वाला सेहुण्ड दो या तीन वर्ष पुराना होना चाहिए। दूध ग्रहण का समय शिशिर ऋतु के अन्तिम दिन हैं।

सुधा (स्नुही) दुग्धशोधनप्रकारः अनुपान भेदाश्च।

बिल्वादीनां बृहत्या वा कण्टकार्यास्तथैकशः।
कषायेण समांशं तं कृत्वाऽङ्गारेषु शोषयेत्॥
ततः कोल समां मात्रामिबेत् सौवीरकेण वा।
तुषोदकेन कोलानां रसेनामलकस्य वा।
सुरया दधिमण्डेन मातुलुङ्गरसेन वा॥

च० क० १०।१०-१२

महत्याः पञ्चमूल्यास्तु बृहत्योश्चैकशः पृथक्।
कषायैः समभागं तु तदङ्गारेषु शोषितम्॥
अम्लादिभिः पूर्ववत्तु प्रयोज्यं कोलसंमितम्।

सु० सू० ४४।

बिल्वादीनां बृहत्योर्वा क्वाथेन सममेकशः।
मिश्रयित्वा सुधाक्षीरं ततोऽङ्गारेषु शोषयेत्॥
पिवेत्कृत्वा च गुलिकां मस्तुमूत्र सुरादिभिः।

अ० सं० क० २। अ० हृ० क० २।

बिल्वादीनामिति बिल्वादिपञ्चमूलस्य। अङ्गारेषु शोषयेदिति अङ्गारोपरिस्थितपात्रस्थं तत् सुधाक्षीरं बिल्वादीनामन्यतमस्य कषायेण समानं शोषणेन कठिनं कुर्यात्; ततः कोल मात्रा गुटिकाः कार्या ततः सौवीरकादीनामन्यतमेन पातव्या। एवं सौवीरकादिभेदात् सप्त योगा भवन्ति। चक्रपाणिः।

हि० व्या०—बिल्वादि बृहत् पञ्चमूल, बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी इनमें से किसी एक के क्वाथ में समान अंश सेहुण्ड मिलाकर अंगारों पर सुखा दें। सूख जाने पर उसकी एक कोल की मात्रा (एक कर्ष) सौवीरतुषोदक, बेर स्वरस, आमलकी स्वरस, सुरा, दही का पानी, बिजौरे का रस इनमें से किसी एक के साथ विरेचनार्थ पिलावें।

सुधा क्षीरभावितगुडपानक प्रयोगः।

त्र्यूषणं त्रिफलां दन्तीं चित्रकं त्रिवृता तथा।
स्नुक्क्षीरभावितं सम्यग्विदध्याद्गुडपानकम्॥ च० क० १०।१४

महावृक्षपयः पीतैर्यवागूस्तण्डुलैः कृता ।
पीता विरेचयत्याशु गुडेनोत्कारिका कृता ॥

सु० सू० ४४।८२

हि० व्या० –सौंठ, काली मिर्च, पिप्पली, हरीतकी, बहेड़ा आँवला, दन्तीमूल, चित्रक एवं त्रिवृता को स्नुहीक्षीर से भावित करके गुडपानक के साथ पीने से विरेचन होता है ।

विशेष भावित सुधाक्षीरप्रयोग द्वयम् ।

सातलां काञ्चनक्षीरी श्यामादीनि कटुत्रिकम् ।
यथोपपत्ति सप्ताहं सुधाक्षीरेण भावयेत् ।
कोलमात्रां घृतेनातः पिबेन्मांसरसेन वा ॥

सातलामित्यादिना वातसाधन घृतमांसरस भेदाद्योगद्वयमाह-सातला चर्मकषा । श्यमादिग्रहणेनैव सातलायामपि लब्धायां पृथक् सातलाभिधानमेकयाऽपि सातलयाकृत सुधा यौगस्य प्राधान्य ख्यापनार्थम् । चक्रपाणिः ।

हि० व्या०—सप्तला, स्वर्णक्षीरी तथा श्यामा आदि विरेचन द्रव्यों में से किसी एक द्रव्य को लेकर उसमें त्रिकटु मिलाकर सेहुण्ड क्षीर की सात भावना देनी चाहिए । तत्पश्चात् उसमें से एक कर्ष प्रमाण में घी व मांसरस के साथ विरेचनार्थ प्रयोग कराना चाहिए ।

सुधा (स्नुही) प्रयोग योग्य रोगाणां संकेतः ।

पाण्डुरोगोदरे गुल्मे कुष्ठे दूषीविषादिते ।
श्वयथौ मधुमेहे च दोषविभ्रान्त चेतसि ॥
रोगैरेवंविधैर्ग्रस्तं ज्ञात्वा सप्राणमातुरम् ।
प्रयोजयेन्महावृक्षं सम्यक् स ह्यवचारितः ॥
सद्यो हरति दोषाणां महान्तमति संचयम् ॥ च० क० १०।५-७

पाण्डुरोगेत्यादौ मधुमेहशब्देन प्रमेहा एवोच्यन्ते; विशिष्टस्तु वातिक मधुमेहोऽसाध्य एव; तेन तं प्रति विरेचनोपदेशोऽनर्थक एव स्यात् । मधुमेहशब्दश्च यथा प्रमेहमात्र एव वर्तते तत् प्रतिपादित मेव प्रमेह चिकित्सते । दोषवृद्ध्या विभ्रान्तं चेतो यस्मिन् तस्मिन् दोषविभ्रान्तचेतसि=उन्मादे । सप्राणमिति बलवन्तम् । चक्रपाणिः ।

सुधा भिनत्ति दोषाणां महान्तमपि सञ्चयम् ।
आश्वेव कष्टविभ्रंशान्नैव तां कल्पयेत्ततः ॥
मृदौकोष्ठेऽबले बाले स्थविरे दीर्घ रोगिणि ।
कल्प्या गुल्मोदरगरत्वग्रोगमधुमेहिषु ॥
पाण्डौ दूषी विषे शोफे दोष विभ्रान्त चेतसि ।
सा श्रेष्ठा कण्टकैस्तीक्ष्णैर्बहुभिश्च समाचिता ॥

अ० सं० क० अ० २। अ० हृ० क० अ० २।

सुधा महान्तमपि दोषाणां सञ्चयामाश्वेव भिनत्ति । कष्टविभ्रंशा तदसम्यग्योगेन कष्टा अपाया भवन्तीत्यर्थः । अतस्तां सुधां नैव कस्यचित् कल्पयेत् । किं सर्वत्रैव सा न कल्प्या नैवमपि तु मृदुकोष्ठादिष्वेव । क्व तर्हि सा कल्प्या गुल्मादिषू । सा च सुधा तीक्ष्णैर्बहुभिश्च कण्टकः समाचिता सति श्रेष्ठा । (इन्दुः)

हि० व्या०—स्नुही का प्रयोग –पाण्डु, उदर रोग, गुल्म रोग, कुष्ठ, दूषी विष से पीडित, शोथ, मधुमेह, जिनका चित्त दोषों से विभ्रान्त हो, मानसिक रोग, तथा इसी प्रकार के अन्य रोगों से पीड़ित होने वाले व्यक्तियों को जो बलवान् हो तो सेहुण्ड का प्रयोग कराया जाए इससे अत्यन्त सञ्चित दोष भी शीघ्र दूर हो जाती है ।

त्रिवृतारग्वधं दन्तीं शङ्खिनीं सप्तलां समम् ।
गोमूत्रे रजनीं कृत्वा शोषयेदातपे ततः ॥
सप्ताहं भावयित्वैवं स्नुक्क्षीरेणापरं पुनः ।
सप्ताहं भावयेच्छुष्कं ततस्तेनापि भावितम् ॥
गन्धमाल्यं तदाघ्राय प्रावृत्य पाटमेव च ।
सुखमाशु विरिच्यन्ते मृदुकोष्ठा नराधिपाः ॥

च० क० १०।१५-१७ ॥

निकुम्भकुम्भशम्याकशङ्खिनीसप्तला रजः ।
रात्रौ मूत्रे दिवा धर्मे सप्ताहं स्थापयेदिति ॥
स्नुक्क्षीरेऽपि ततस्तेन माल्यं वासोऽवचूर्णितम् ॥
आजिघ्रन् प्रावृणानश्च मृदुकोष्ठो विरिच्यते ॥

अ० सं० क० अ० २।

निकुंभादीनां रजश्चूर्णं रात्रौ गोमूत्रे स्थापयेत् । दिवा च धर्मे आतपे शोषयन् स्थापयेत् । स्नुक्क्षीरेऽपि सप्ताहमातपे स्थापयेत् ततस्तेन चूर्णेन माल्यमवचूर्णितं आजिघ्रन् वासश्च प्रावृण्वानो मृदुकोष्ठो विरिच्यते । इन्दुः ।

हि० व्या०—निशोथ, अमलताश, दन्ती, शंखिनी, सप्तला आदि औषधियों को सम भाग चूर्ण को रात्रि में गोमूत्र में भिगो दें तथा प्रातः निकालकर धूप में सुखा दें । इसी प्रकार सात बार भावना दें । तत्पश्चात् सेहुण्ड के दूध में सात बार भावित करें । इस चूर्ण को पुष्पों की सुगन्धित माला पर लगायें या ओढ़ने के वस्त्र पर लगा दें । इनकी गन्ध से ही विरेचन हो जाता है । मृदु कोष्ठ वालों को यही विरेचन करना चाहिए ।

सुधां क्षीरयुक्तावलेह प्रयोगाः ।

श्यामा त्रिवृत्कषायेण स्नुक् क्षीरघृतफाणितैः ।
लेहं पक्ता विरेकार्थं लेहयेन्मात्रया वरम् ॥

च० क० १०।१८

लेहो वा साधितः सम्यक् स्नुही क्षीरपयोघृतैः ॥

सु० सू० ४४।८३

हि० व्या०—श्यामा एवं श्वेत निशोथ के क्वाथ सेसुण्ड का क्षीर, घृत एवं फाणित से यथाविधि लेह बनाकर विरेचनार्थ आयु, प्रकृति एवं बलानुसार मनुष्य को चटाने से विरेचन हो जाता है।

सुधा क्षीरस्य अनुपानभेदेन त्रयः योगाः द्वौ मांसयोगौ च।

पाययेत् सुधाक्षीरं यूषैर्मांसरसैर्घृतैः।
भावितान् शुष्कमत्स्यान् वा मांसं वा भक्षयेन्नरः॥

च० क० १०।१९

हि० व्या०—सेहुण्ड क्षीर को यूष, मांसरस अथवा घृत के साथ पृथक् पृथक् रूप से पिलाने पर विरेचन हो जाता है।

सूखी मछलियों को अथवा सूखे मांस को सेहुण्ड के दुग्ध में भावित करके प्रयोग कराने से विरेचन हो जाता है।

सुधाक्षीरघृत योगः, सुरायोगः तथा तिल्वक कल्केन घृत योगश्च

क्षीरेणामलकैः सर्पिश्चतुरङ्गुलवत् पचेत्।
सुरां वा कारयेत् क्षीरे घृतं वा पूर्ववत् पचेत्॥

च० क० १०।२०

क्षीरेणेत्यादिना एकं घृतम्। घृतं वेत्यादिना एकं वक्ष्यति। आमलकैश्चतुरङ्गुलवदिति। वचनादामलकरसयुक्तं यच्चतुरङ्गुलकल्पे 'चतुरङ्गुल सिद्धाद्या' (क० स्था० अ० ८) इत्यादिनोक्तं तस्य विज्ञानमतिदिशति। सुरां वा कारयेत्। क्षीर इति स्नुक्क्षीरभावितमित्यादिविधिना सुरां कुर्यात्। घृतं वा पूर्ववत् पचेदित्यत्र पूर्ववद्विधिरेव प्रत्यासन्नत्वादतिदिश्यते। चक्रपाणिः।

हि० व्या०—(१) अमलतास कल्प के समान सेहुण्ड दूध के कल्क और आँवले के स्वरस से, सेहुण्ड दुग्ध साधित दुग्ध से निःसृत घृत का विधिवत् पाक करना चाहिए।

(२) अथवा सेहुड़ के दूध से अमलतास की तरह सुरा की कल्पना करनी चाहिए।

(३) सेहुड़ के वा दूध से अमलतास की तरह घृतपाक करना चाहिए इस प्रकार इस सूत्र में तीन योगों का वर्णन किया गया हैं।

सुधा (स्नुही) क्षीरस्य विंशति योगाः।

सौवीरकादिभिः सप्त सर्पिषा च रसेन च।
पानकं घ्रेयलेहौ च योगा यूषादिभिस्त्रयः॥
द्वौ शुष्कमत्स्यमांसाभ्यां सुरैका द्वे च सर्पिषी॥
महावृक्षस्य योगास्ते विंशतिः समुदाहृताः॥

च० क० १०।२१-२२

हि० व्या०—इस प्रकार स्नुहीक्षीर के कुल २० योग बताए गए हैं।

सौवीरादिद्वारा—७ योग		लेह का—१ योग	
घृतानुपान	,, १ योग	यूष ,,	३ योग
मांसरस	,, १ योग	शुष्कमांस व मछली	२ योग
पानक	,, १ योग	सुरा	१ योग
नस्य	,, १ योग	घृत	१ योग

११ योग + ९ योग = २० योग

स्नुही क्षीर भावित चूर्ण योगः।

त्रिवृतादीन्नव वरां स्वर्णक्षीरीं ससातलाम्।
सप्ताहं स्नुक्पयः पीतान् रसेनाज्येन वा पिबेत्॥
तद्वद् व्योषोत्तमा कुम्भनिकुम्भादीन् गुडाम्बुना।

अ० सं० क० अ० २। अ० हृ० क० अ० २।

हि० व्या०—त्रिवृत् आदि ९ द्रव्यों (त्रिवृत्, श्यामा, राजवृक्ष, सुधाकाण्ड, शंखिनी, सप्तला, दन्ती, द्रवन्ती तथा तिल्वक) का चूर्ण अथवा सत्यानाशी मूल-त्वक् एवं सप्तपर्ण के मिश्रित चूर्ण को, सात दिन तक सेहुण्ड दूध की सात भावना देकर मांसरस अथवा घृत के साथ सेवन करें। इसी प्रकार त्रिकटु, त्रिफला, त्रिवृत् अथवा दन्तीमूल आदि विरेचक औषधियों को सुधा (सेहुण्ड) दूध से भावित करके गुड़ के शर्बत से पीना चाहिए।

त्रिवृतादीन्नव त्रिवृच्छ्यामाराजवृक्षास्वधातिल्वकसुधाशङ्खिनीद्रवन्ती-दन्ताख्यान्। सातलायाः पृथग्युक्तिरपि निश्चिता। वरा त्रिफला। स्नुक्पयः पीतान् सुधाक्षीरभावितान्। इन्दुः।

भावितास्तु स्नुही क्षीरे पिप्पल्यो लवणान्विताः।
चूर्णं काम्पिल्लकं वाऽपि तत्पीतं गुटिकीकृतम्॥

सु० सू० ४४।८४

हि० व्या०—सेहुण्ड (थूहर) के दुग्ध में भावित चावलों से सिद्ध यवागू अथवा इस दुग्ध में भावित गोधूम (गेहूँ) से गुड़ में बनाई हुई उत्कारिका, अथवा थूहर का दूध, शक्कर और घी इनका यथाविधि बनाया हुआ अवलेह अथवा थूहर के दूध से लवणमिश्रित पिप्पली अथवा थूहर के दूध में भावित काम्पिल्लक की गुटिका इनमें से किसी एक योग का सेवन करने से सद्यः विरेचन होता है।

स्नुहीक्षीर भावित क्वाथ योगाः

अद्याच्छ्यामा त्रिवृत्क्वाथं स्नुक् क्षीरघृतफाणितैः।
कासारिरसयूषाद्यैर्युक्तं वा स्नुक् पयः पिबेत्॥

अ० सं० क० २।

हि० व्या० – श्यामा त्रिवृत क्वाथ में स्नुहीक्षीर, घृत एवं फाणित के साथ अथवा कासमर्द के स्वरस से साथ स्नुहीक्षीर मिलाकर प्रयोग करने से विरेचन हो जाता है।

दन्ती द्रवन्ती कल्पः।

दन्ती द्रवन्ती पर्यायः—

दन्त्युदुम्बरपर्णीस्यान्निकुम्भोऽथमुकूलकः।
द्रवन्ती नामतश्चित्रा न्यग्रोधी मूषिकाह्वया॥
तथा मूषिकपर्णी चाप्युपचित्रा च शम्बरी।
प्रत्यक श्रेणी सुतश्रेणी दन्ती रण्डा च कीर्तिता॥

च० क० १२।३-४

हि० व्या०—दन्ती-द्रवन्ती पर्याय—

दन्ती, उदुम्बरपर्णी, निकुम्भ, मूकूलक, प्रत्यक्श्रेणी, सुतश्रेणी तथा रण्डा (चण्डा) दन्ती के पर्याय नाम है। द्रवन्ती, चित्रा, न्यग्रोधी, मूपिकाह्वया (मूपिककर्णी के पर्याय नामों वाली) उपचित्रा तथा शम्बरी ये सभी द्रवन्ती के पर्याय नाम है।

दन्ती द्रवन्ती गुणविशेषवर्णनम्

तीक्ष्णोष्णान्याशुकारीणि विकाशीनि गुरूणि च।
विलाययन्ति दोषौ द्वौ मारुतं कोपयन्ति च॥

च० क० १२।७

... ... तीक्ष्णोष्णमाशुकारि विकाशि च।
गुरु प्रकोपि वातस्य पित्तश्लेष्मविलायनम्॥

अ० सं० क० २।-

... ... योजयेत्श्लेष्मपित्तयोः॥

सुश्रुत् सू० ४४।

हि० व्या० दन्ती और द्रवन्ती का गुण –

दन्ती और द्रवन्ती का मूल तीक्ष्ण, उष्ण; आशुकारी, विकाशी और गुरु होता है अतः पित्त और कफ को द्रवित कर बाहर निकालता है और वायु को प्रकुपित करता है।

दन्ती द्रवन्ती मूल रक्षा प्रकारः गुणवर्धक शोधनं च।

पिप्पलीमधुलिप्तानि स्वेदयेन्मृत्कुशान्तरे।
शोषयेदातपेऽन्यर्को हतो ह्यासां विकाशिताम्।

च० क० १२।६

दन्तीद्रवन्त्योर्मूलानि विशेषान्मृत्कुशान्तरे।
पिप्पलीक्षौद्रयुक्तानि स्विन्नान्युद्धृत्य शोषयेत्॥

सु० सू० ४४।४५-४६

तत्क्षौद्र पिप्पलीलिप्तं स्वेदयेन्मृत्कुशान्तरे।
शोषयेच्चातपेऽन्यर्को हतो ह्यस्य विकाशिताम्॥

अ० सं० क० २।-

स्वेदयेन्मृत्कुशान्तर इति पिप्पली मधूकल्काभ्यां परिलिप्य कुशैः परिवेष्ट्य ततो मृदावलिप्तानि स्वेदयेत्। अग्निस्वेदातपशोषणफलमाह— अन्यर्को हतो ह्यासां विकाशितामिति। एषां दन्तीद्रवन्तीमूलानां विकाशिता लक्षणं गुणं स्वेदोपशोषणाभ्यामन्यर्कोहतः; तेन नातिदोषाणि दन्तीद्रवन्तीमूलानि स्युरिति भावः। चक्रपाणिः।

हि० व्या०—दन्ती द्रवन्ती संग्रह विधि—

दन्ती, द्रवन्ती का मूल संग्रह कर, मूल पर पिप्पली चूर्ण और शहद के कल्क का लेप कर कुशाओं से वेष्टित कर मिट्टी का लेप करें। इस गोले का अग्नि में स्वेदन करें। स्वेदनोपरान्त गोले को तोड़कर धूप में सुखा लें। इस प्रकार अग्नि और धूप में इसको सुखाने से इसका विकाशित्वगुण नष्ट हो जाता है। सुश्रुत में भी समान भाव प्रकट किया गया है।

दन्ती द्रवन्ती मूल प्रशस्त लक्षणानि।

तयोर्मूलानि संगृह्य स्थिराणि बहलानि च।
हस्तिदन्तप्रकाराणि श्यावताम्राणि बुद्धिमान्॥

च० क० १२।५

स्थिराणीति सारभूतानि। बहलानीति घनत्वक्कानि। हस्तिदन्तप्रकाराणीत्यन्तपूर्वोपचितानि। श्यावताम्राणीति यथा क्रमेण दन्त्याः श्यावानि, द्रवन्त्यास्ताम्राणि॥ चक्रपाणिः।

हि व्या—स्थिर (सार युक्त), बहल (घनत्वक् युक्त), हस्तिदन्त के समान श्याव और ताम्रवर्ण की दन्ती या द्रवन्ती के मूल का संग्रह करना चाहिए;

दन्ति दन्त स्थिरं स्थूलं मूलं दन्ति द्रवंतिजम्।
आताम्रश्यावं ... ... ।

अ० सं० क० २।

कक्ष्यालजी विसर्पेषु दन्तीद्रवन्ती मूलघृत प्रयोगः

तयोः कल्के कषाये च दशमूल रसायुते।
कक्ष्यालजी विसर्पेषु दाहे च विपचेद्घृतम्॥ च० क० १२।१०
तयोः कल्ककषायाभ्यां चक्रतैलं विपाचयेत्।
सर्पिश्च पक्वं वीसर्पकक्षादाहालजीर्जयेत्॥ सु० सू० ४४।४७
सिद्धं तत्क्वाथ कल्काभ्यां दशमूलरसेन च।
विसर्पविद्रध्यलजीकक्षादाहान् जयेद्घृतम्॥ अ० सं० क० २।

हि० व्या०—दन्ती द्रवन्ती कल्क तथा क्वाथ एवं दशमूल क्वाथ से यथा विधि घृतपाक करना चाहिए। इस घृत का कक्षा, अलजी, विसर्प तथा दाह रोगियों को प्रयोगार्थ देना चाहिए।

तयोः कल्ककषायेण दशमूलरसतुल्य भागेन घृतं पचेद्विसर्पादिषु। चक्रपाणिः।

प्रमेहे गुल्मे च मूल दन्तीद्रवन्ती पक्वतैल योगः

तैलं मेहे च गुल्मे च सोदावर्ते कफानिले। च० क० १२।११ (क)
तैलं तु गुल्ममेहार्शो विबन्ध कफ मारुतान्। अ० सं० क० २।
मेहगुल्मानिलश्लेष्मविबन्धांस्तैलमेव च। सु० सू० ४४।४८ क

हि० व्या०—प्रमेह, गुल्म, उदावर्त तथा कफवातज रोगों में दन्ती द्रवन्ती कल्क एवं दन्ती द्रवन्ती तथा दशमूल क्वाथ से सिद्ध तैल का प्रयोग कराना चाहिए।

वातप्रधान पुरीषशुक्रसङ्गादिषु दन्तीद्रवन्तीमूलसाधित चतुः स्नेह प्रयोगः

चतुः स्नेहं शकृच्छुक्रवातसङ्गानिलार्तिषु। च० क० १२।११
चतुः स्नेहं शकृच्छुक्रवातसंरोधजा रुजः। सु० सू० ४४।४६
महास्नेहः शकृच्छुक्रवातसंगानिलव्यथाः। अ० सं० क० २।

हि० व्या०—मलमूत्र एवं वात का सङ्ग होने पर तथा वातज वेदनाओं में दन्ती-द्रवन्ती कल्क एवं क्वाथ से घृत, तैल, वसा एवं मज्जा का पाक करें तथा विरेचनार्थ प्रयोग करें।

अनुपानभेदेन गुल्मोदरे दन्तीद्रवन्ती मूल प्रयोगः

दधितक्रसुरामण्डैः पिण्डमक्षसमं तयोः।
प्रियाल कोलबदर पीलुशीधुभिरेव च॥
पिबेद्गुल्मोदरी दोषैरभिखिन्नश्च यो नरः॥ च० क० १२।८-९
तत्पिबेन्मस्तुमदिरातक्रपीलुरसाभवैः।
अभिषण्णतनुर्गुल्मी प्रमेही जठरी गरी॥ अ० सं० क० २।

हि० व्या०—दन्ती द्रवन्ती के मूल का कल्क एक अक्ष की मात्रा में दही, तक्र, सुरामण्ड, चिरौंजी के रस से निर्मित सीधु, बड़ी बेर की रस से निर्मित सीधु, इनमें से किसी एक द्रव्य मे घोलकर गुल्म, उदर रोग और दोषों से खिन्न व्यक्तियों को पिलाना चाहिए।

अनुपानभेदेन पाण्डु क्रिमिकोष्ठ भगन्दरेषु दन्तीद्रवन्ती मूलप्रयोगः

गोमृगाजरसैः पाण्डु कृमि कोष्ठी भगन्दरी।
च० क० १२।९, अ० सं० क० २।

हि० व्या०—गोमांस के रस, मृगमांस के रस, बकरी के मांस के रस में दन्ती-द्रवन्ती के मूल का कल्क एक अक्ष प्रमाण में घोलकर, पाण्डुरोग, कृमि

कोष्ठ और भगन्दर रोग से पीड़ित रोगी को पिलाना चाहिए।

पित्तप्रधान दाहसंतापयुक्त प्रमेहे दन्तीद्रवन्तीमूल साधितावलेह योगः

रसे दन्त्यजशृङ्ग्योश्च गुडक्षौद्रघृतान्वितः।
लेहः सिद्धो विरेकार्थे दाहसंतापमेहनुत्॥
च० क० १२।१२ अ० सं० क० २।

हि० व्या०—दन्तीमूल और काकड़ाशृंगी के क्वाथ में गुड़, शहद और घृत मिलाकर बनाया हुआ अवलेह उत्तम होता है। इसके सेवन से दाह, संताप और प्रमेह रोग दूर होते हैं।

वाततृषायां पित्तज्वरे च दन्तीद्रवन्तीमूलसाधित अवलेह योगः

वाततर्षे ज्वरे पैत्ते स्यात् स एवाजगन्धया।
च० क० १२।१३; अ० सं० क० २।

हि० व्या०—दन्ती मूल और अजमोदा के क्वाथ में गुड़, शहद और घृत मिलाकर बनाया हुआ अवलेह विरेचन के लिए उत्तम होता है। वातजन्य तृष्णा एवं पित्तज ज्वर में लाभकारी है।

दन्तीद्रवन्तीमूलसाधित सुखविरेचनावलेहः

दन्तीद्रवन्त्योर्मूलानि पचेदामलकी रसे।
त्रींस्तु तस्य कषायस्य भागौ द्वौ फाणितस्य च।
तप्ते सर्पिषि तैले वा भर्जयेत्तत्र चावपेत्।
कल्कं दन्तीद्रवन्त्योश्च श्यामादीनां च भागशः।
तत्सिद्धं प्राशयेल्लेहं सुखं तेन विरिच्यते।
च० क० १२।१३-१५

रसे च दशमूलस्य तथा वैभीतके रसे।
हरीतकी रसे चैव लेहानेवं पचेत् पृथक्॥ च० क० १२।१६
पथ्याक्षदशमूलानां तल्लेहाः पृथग्रसैः। अ० सं० क० २।

हि० व्या०—दन्ती और द्रवन्ती के मूल को कूटकर आँवले के रस में क्वाथ बनावें। चतुर्थांश शेष उतार कर छान लें। छाने हुए क्वाथ को तीन तीन भाग में (समान भाग) बाँट दें। दो भाग के बराबर राव मिला दें। इसे गर्म घृत अथवा तेल में भून लें। तत्पश्चात् दन्ती, द्रवन्ती और काली निशोथ, सफेद निशोथ आदि जो मदनकल्प में ९ द्रव्य बताये गए हैं उनमें दन्ती और द्रवन्ती को छोड़कर शेष सात द्रव्यों का कल्क एक-एक भाग मिलावें। इस लेह के सेवन से सुखपूर्वक विरेचन होता है। इसी प्रकार दशमूल क्वाथ बहेड़ा या हरीतकी के क्वाथ में दन्ती और द्रवन्ती का कल्क मिलाकर अवलेह बनाया जा सकता है।

दन्तीद्रवन्ती मूलावलेहः

दंतीद्रवंत्योर्मूलानि पचेद्धात्री रसे ततः।
त्रीनंशान्फाणिताद्द्वौ च भजेत्तैलेघृतेऽथवा॥
श्यामादिकल्क युक्तोऽयं लेहः सिद्धं विरेचनम्॥ अ० सं क० २।

वात गुल्मे दन्ती द्रवन्ती प्रलेह योगः

तयोर्बिल्वसमं चूर्णं तद्रसेनैव भावितम्।
असृष्टे विशि वातोत्थे गुल्मे चाम्लयुतं शुभम्॥
च० क० १२।१७; अ० सं० क० २।

हि० व्या०—दन्ती और द्रवन्ती के मूल का चूर्ण एक बिल्व (एक पल), दन्ती द्रवन्ती के क्वाथ की भावना देकर, भावित चूर्ण को अम्ल द्रव्य जैसे काञ्जी, अनार का रस, बिजौरा नींबू का रस आदि में मिलाकर मलबन्ध और वात गुल्म से पीड़ित रोगियों को खिलाना चाहिए।

दन्ती द्रवन्ती मूलकल्कप्रलिप्तकाण्डेक्षु प्रयोगः

पाटयित्वेक्षुकाण्डं वा कल्केनालिप्य चान्तरा।
स्वेदयित्वा ततः खादेत् सुखं तेन विरिच्यते॥ च० क० १२।१८

हि० व्या०—ईख को दो भागो में चीरकर उसके दोनों भागों को भीतर से दन्ती और द्रवन्ती के मूल का कल्क बनाकर लेप कर दें। इसे कुश में बाँधकर मिट्टी लगाकर पुटपाक विधि से पकाकर ईख को चूसने से सुखपूर्वक विरेचन होता है।

दन्तीद्रवन्तीमूलसाधित मांसरसयोगाः

मूलं दन्ती द्रवन्त्योश्च सह मुद्गैर्विपाचयेत्।
लाववर्तीरकाद्यैश्च ते रसाः स्युर्विरेचने॥ च० क० १२।
मुद्गादि सिद्धं स्तन्मूलैर्यूषादीश्च प्रकल्पयेत्। अ० सं० क० २।

अत्र लाववर्तीरकादयः 'लावो वर्तीरकश्चैव वार्तीकः स कपिञ्जलः। चकोरश्चोपचक्रश्चककुभो रक्तचर्मकः' (सू० स्था० अ० २७) इति ग्रन्थेनाष्टावुक्ताः, तेषां प्रत्येक योगादष्टौ रसा भवन्ति। चक्रपाणिः।

हि० व्या०—दन्ती और द्रवन्ती के मूल का कल्क बना मूंग की दाल, लावा पक्षी का मांस, बटेर, लाल, गोरैया, चकोर, ककुभ, रक्तवर्तक, चकवा-चकई इनमें से किसी एक पक्षी के मांस के साथ यूष बनाकर उसका सेवन करना चाहिए। इससे विरेचन होता है।

दन्तीद्रवन्तीमूलसाधित सुखविरेचन माष सूप योगः

तयोर्वाऽपि कषायेण यवागूं जाङ्गलं रसम्।
माष यूषं च संस्कृत्य दद्यात्तैश्च विरिच्यते॥ च० क० १२।२०

हि० व्या०—दन्ती और द्रवन्ती के मूल के क्वाथ से यवागू, जाङ्गल पशु-

पक्षियों का मांस रस, उड़द का यूष बनाकर रोगी को खिलाने से विरेचन होता है।

दन्तीद्रवन्ती मूलसाधित मद्य योगः

तयोश्चापि कषायेण मद्यान्यस्योपकल्पयेत्। च० क० १२।२२

हि० व्या०—दन्ती और द्रवन्ती के मूलों के क्वाथ से सन्धान विधि द्वारा मद्य तैयार कर पीने से विरेचन होता है।

दन्तीद्रवन्तीमूलक्वाथ साधित विविध भक्ष्य योगाः।

दन्तीक्वाथेन चालोड्य दन्तीतैलेन साधितान्।
गुडलावणिकान् भक्ष्यान्विविधान् भक्षयेन्नरः॥ च० क० २२।२३

हि०व्या०—दन्तीमूल के क्वाथ से गेहूं के आटे को गूंथकर गुड़ या सैंधा नमक मिलाकर दन्ती के तेल में पकाकर अनेक प्रकार के भक्ष्य पदार्थों को बनाकर सेवन करना चाहिए।

पित्तकासे पाण्डुरोगे दन्त्यादि क्वाथः

दन्ती द्विपल निर्यूहो द्राक्षार्धप्रस्थसाधितः।
विरेचनं पित्तकासे पाण्डुरोगे च शस्यते॥ च० क० १२।३१

हि० व्या०—दन्तीमूल दो पल (आठ तो०) और मुनक्का आधा प्रस्थ, इन दोनों का क्वाथ बनाकर पित्तज कास और पाण्डु रोग में विरेचन के लिए देना चाहिए।

कामलानाशनः दन्तीमूलकल्क योगः

दन्तीकल्कं समगुडं शीतवारियुतं पिबेत्।
विरेचनं मुख्यतमं कामलाहरमुत्तमम्॥ च० क० १२।३२

हि० व्या०—दन्तीमूल का कल्क समभाग गुड़ मिलाकर कामला के रोगी को शीतल जल के अनुपान से सेवन करना चाहिए। यह विरेचन योगो में प्रमुख है। इसके सेवन से कामला रोग अवश्य ही नष्ट हो जाता है।

श्यामादन्तीमूलक्वाथ साधितः गौडारिष्ट योगः

श्यामदन्ती रसे गौडः पिप्पली फल चित्रकैः।
लिप्तेऽरिष्टोऽनिलश्लेष्मप्लीहपाण्डूदरापहः॥
च० क० १२।३३

हि० व्या०—काली निशोथ और दन्तीमूल के क्वाथ को, पीपर, मैनफल, चित्रकमूल इनके कल्क को एक मिट्टी के मटके के भीतर लेपकर, उसी में भरकर गुड़ मिलाकर सन्धान करें। अरिष्ट तैयार हो जाने पर छानकर पीने से वातकफजन्य प्लीहा रोग, पाण्डु रोग तथा उदर रोग दूर होता है।

दन्तीद्रवन्ती क्वाथसाधितः गौडारिष्ट योगान्तरः

तथा दन्ती द्रवन्त्योश्च कषाये साजगन्धयोः।
गौडः कार्योऽजशृंग्या वा स वै सुख विरेचनः॥ च० क० १२।३४

हि० व्या०—दन्तीमूल, द्रवन्तीमूल और अजमोद इनका समानभाग क्वाथ बनाकर गुड़ मिलाकर अरिष्ट सन्धान करना चाहिए। अथवा दन्तीमूल, द्रवन्तीमूल और मेढ़ाशृङ्गी इनको समान भाग में क्वाथ एवं गुड़ मिलाकर अरिष्ट सन्धान करना चाहिए। इनके सेवन से सुखपूर्वक विरेचन होता है।

दन्तीद्रवन्तीमूलसाधितः सुरायोगः

तच्चूर्णक्वाथमाषाम्बुकिण्वतोय समुद्भवा।
मदिराकफगुल्माल्पवह्निपार्श्वकटिग्रहे॥ च० क० १२।३५

हि० व्या०—दन्तीमूल और द्रवन्तीमूल का चूर्ण तथा क्वाथ, उड़द का क्वाथ, सुराकिट्ट इन सबको लेकर एकत्र मिट्टी के मटके में सन्धान कर पन्द्रह दिन तक रखें। इस मदिरा के सेवन से कफजन्य गुल्म रोग अग्निमांद्य, पार्श्वग्रह और कटिग्रह रोग नष्ट होते हैं।

दन्तीद्रवन्तीमूलसाधितौ सौवीरकतुषोदक काञ्जी योगः

अजगन्धाकषायेण सौवीरकतुषोदके।
सुरा कम्पिल्लके योगौ लोध्रवच्चतयोः स्मृतौ॥ च० क० १२।३६

अजगन्धेत्यादिना योगद्वयमाह। तत्राजगन्धाकषायेण दन्तीद्रवन्तीभ्यां सौवीरकतुषोदके कर्तव्ये। सुरेत्यादिनाऽपरं योगद्वयमाह। लोध्रवच्च तयोरिति तथा लोध्रकल्पेषु 'सुरा लोध्र कषायेण' इत्यादिना सुरा प्रोक्ता, तथा कम्पिल्लक-कषायेण (क० अ० ६) इत्यादिना कम्पिल्लक योग उक्तः, तथा तयोरपि दन्तीद्रवन्त्योर्लोध्रस्थाने प्रक्षेपात् सुरा योगः सौवीरक तुषोदकविधानेनैव कर्तव्यः। चक्रपाणिः।

हि० व्या०—दन्तीमूल, द्रवन्तीमूल और अजमोदा के क्वाथ से सौवीरक और तुषोदक का निर्माण करना चाहिए। तथा लोध्र कल्प के अनुसार दन्ती और द्रवन्ती से सुरा और कम्पिल्लक योग का निर्माण करना चाहिए। इनसे बने चारों योग विरेचक होते हैं।

दन्त्यादि चूर्ण योगः

दन्तीद्रवन्तीमरिचकनकाह्वयवासकैः।
विश्वभेषजमृद्वीकाचित्रकैर्मूत्रभावितम्॥
सप्ताहं सर्पिषा चूर्णं योज्यमेतद्विरेचनम्।
जीर्णे संतर्पणं क्षौद्रं पित्तश्लेष्मरुजापहम्॥
अजीर्णपार्श्वरुक्पाण्डुप्लीहोदरनिबर्हणम्। सु० सू० ४४।४६

हि० व्या०—दन्ती, द्रवन्ती, काली मरिच, कनकाह्वा (नागकेशर), वंशवासा (दुरालभा), सोंठ, द्राक्षा और चित्रक इन्हें समभाग लेकर चूर्ण तैयार करें। सात दिन तक गोमूत्र में भावित कर घृत के साथ प्रयोग करें। औषध के जीर्ण हो जाने पर लाजसक्तु से संतर्पण तथा शहद का सेवन करना चाहिए।

यह पित्तकफ रोग, अजीर्ण, पार्श्व पीड़ा, पाण्डु तथा प्लीहोदर को नष्ट करता है।

सर्वरोगहरं दन्तीद्रवन्ती मूलाद्यं चूर्णम्

दन्तीं द्रवन्तीं मरिचं यमानीमुपकुञ्चिकाम्।
नागरं हेमदुग्धां च चित्रकं चेति चूर्णितम्॥
सप्ताहं भावयेन्मूत्रं गवां पाणितलं ततः।
पिबेद्घृतेन जीर्णं तु विरिक्तश्चापि तर्पणम्॥
सर्वरोगहरं मुख्यं सर्वेष्वृतुषु यौगिकम्।
चूर्णं तदनपायित्वाद्बालवृद्धेषु पूजितम्॥
दुर्भक्ताजीर्णपार्श्वार्तिगुल्मप्लीहोदरेषु च।
गण्डमालासु वाते च पाण्डु रोगे च शस्यते॥
च० क० १२।२४-२७; अ० सं० क० २।

हि० व्या०—दन्तीमूल, द्रवन्तीमूल, मरिच, अजवायन, मंगरैला, सोंठ, स्वर्णक्षीरी का मूल, समभाग चूर्ण बनाकर सात दिन तक गोमूत्र में भावित कर एक तो० की मात्रा में घृत से चाटना चाहिए। औषध के पच जाने पर सत्तू जल में घोलकर पिलाना चाहिए। यह योग सभी रोगों में मुख्य है। सभी ऋतुओं में इसका सेवन किया जा सकता है। यह निरुपद्रव है। अतः बालक और वृद्ध सभी के लिए उपयुक्त है। यह अनुचित भोजन से उत्पन्न अजीर्ण रोग, पसलियों की पीड़ा उदर रोग, गण्डमाला, वातरोग और पाण्डुरोग में उपयोगी है। आचार्य वाग्भट ने भी इसको समर्थन किया है।

दन्तीद्रवन्तीसाधित उत्कारिकामोदकयोगौ

तत्कषायात्त्रयोभागा द्वौ सितायास्तथैव च।
एको गोधूमचूर्णानां कार्या चोत्कारिका शुभा॥
मोदको वाऽस्य कल्पेन कार्यस्तच्च विरेचनम्। च० क० १२।२१

हि० व्या०—दन्ती और द्रवन्ती मूल का क्वाथ तीन भाग, मिश्री तीन भाग, गेहू का आटा एक भाग, इन्हें एकत्र पकाकर उत्कारिका बनानी चाहिए। अथवा दन्ती-द्रवन्ती का क्वाथ ३ भाग, चीनी २ भाग और एक भाग गेहूं के आटे को आग पर पकाकर मोदक बनायें एवं विरेचनार्थ प्रयोग करें।

दन्ती द्रवन्ती मूलसाधित मोदक योगः

पलं चित्रकदन्त्योश्च हरीतक्याश्च विंशतिः।
त्रिवृत्पिप्पलीकर्षौ द्वौ गुडस्याष्टपलेन तत्॥
विनीयमोदकान् कुर्याद्दशैकं भक्षयेत्ततः।
उष्णाम्बु च पिबेच्चानु दशमे दशमेऽह्नि च॥
एते निष्परीहाराः स्युः सर्वरोगनिबर्हणाः।
प्रहणीपाण्डुरोगार्शः कण्डूकोठानिलापहाः॥ च० क० १२।२६-३०

पलमित्यादिकः षष्ठः । हरीतक्याश्च विंशतिरित्याकृतिमानेन । अयं योगस्तन्त्रान्तरेऽगस्त्यमोदक इति ख्यातः ॥ चक्रपाणिः ।

दन्त्यादि मोदकः

गुडस्याष्टपले पथ्या विंशतिः स्युः पलं पलम् ।
दन्ती चित्रकयोः कर्षौ पिप्पलीत्रिवृतोर्दश ॥
कृत्वैतान्मोदकानेकं दशमे दशमेऽहनि ।
ततः खादेदुष्णतोयसेवी नियन्त्रणास्त्विमे ॥
दोषघ्ना ग्रहणीपाण्डुरोगार्शः कुष्ठनाशनाः ।

सु० सू० ४४।५२-५४, अ० सं० क० २।, वंगसेन

हि० व्या०—चित्रकमूल छाल का चूर्ण एक पल (४ तो०), दन्तीमूल का चूर्ण एक पल (४ तो०), मध्यम आकार का हरड़ संख्या में बीस लेकर चूर्ण तैयार करें, सफेद त्रिवृत् का चूर्ण २ तो०, पीपर चूर्ण २ तो०, आठ पल (६४ तो०) गुड़ की चासनी में मिलाकर दश मोदक तैयार करना चाहिए। इस मोदक का सेवन दश-दश दिन बाद (एक मोदक) करना चाहिए। साथ ही उष्ण जल का सेवन करना चाहिए। इसके सेवन काल में किसी विशेष नियम पालन की आवश्यकता नहीं है। यह सभी रोगों को दूर करने वाला है विशेष कर ग्रहणी, पाण्डुरोग, अर्श, कण्डू, कोठ और वायु को दूर करता है। आचार्य सुश्रुत ने कुष्ठ नाशक भी लिखा है।

गुडाष्टक चूर्ण योगः

सव्योषं पिप्पलीमूलं त्रिवृद्दन्ती सचित्रकम् ।
तच्चूर्णं गुडसम्मिश्रं भक्षयेत्प्रातरुत्थितः ॥
एतद्गुडाष्टकं चूर्णं बलवर्णाग्निवर्द्धनम् ।
शोथोदावर्तगुल्मघ्नं प्लीहपाण्ड्वामयापहम् ॥

वङ्गसेन (विरेच०) ६३।६४

हि० व्या—त्रिकटु, पिप्पलीमूल, निशोथ, दन्ती और चित्रक समभाग बनाकर गुड मिलाकर प्रति दिन प्रातः काल उचित मात्रा में सेवन करना चाहिए। यह गुडाष्टकचूर्ण बल, वर्ण और अग्निवर्धक है। शोथ, उदावर्त, गुल्म, प्लीहा और पाण्डुरोग नाशक है।

सप्तलाशंखिनी दन्ती प्रभृतीनां मृदुकोष्ठेषु प्रयोगाय संकेतः

सप्तला शंखिनी दन्ती त्रिवृदारग्वधं गवाम् ।
मूत्रेणाप्लाव्य सप्ताहं स्नुहीक्षीरे ततः परम् ॥
कीर्णं तेनैव चूर्णेन माल्यं वसनमेव च ।
आघ्रायावृत्य वा सम्यङ्मृदुकोष्ठो विरिच्यते ॥

सू० सू० ५४।८४।८४-८६

हि० व्या०—सप्तला, शंखिनी, दन्ती, निशोथ, अमलतास का गूदा, समभाग लेकर सात दिन तक गोमूत्र के साथ भावित कर घोटकर सुखा लें। पश्चात् सात दिन तक सेहुड़ (थूहर) के दुग्ध में भावित कर घोटकर सुखाकर चूर्ण तैयार कर लें। फिर इस चूर्ण को माला पर अथवा रुमाल पर छिड़क-कर सूंघने से मृदु कोष्ठ वाले को विरेचन हो जाता है।

एरण्डतैलस्य विरेचनार्थं प्रयोग प्रकारः।

एरण्डतैलं त्रिफला क्वाथेन त्रिगुणेन[1] तु ।
युक्तपीतं तथा क्षीररसाभ्यां तु विरेचयेत् ॥
बालवृद्धक्षतक्षीण सुकुमारेषु योजितम् ।

योगरत्ना० सु० सू० ४४।७६-७७

हि० व्या०—एरण्डतैल को तीन गुने त्रिफलाक्वाथ के साथ अथवा दुग्ध के साथ या मांसरसों के साथ मिलाकर, बालक, वृद्ध, क्षत क्षीण एवं सुकुमार प्रकृति वालों को विरेचनार्थ प्रयोग कराना चाहिए।

सुख विरेचन एरण्ड तैल योगः।

लिह्यादेरण्डतैलेन कुष्ठत्रिकटुकान्वितम् ।
सुखोदकं चानुपिबेत्सुखमेतद्विरेचनम् ॥

अ० सं० क० २।५५

हि० व्या० – त्रिकटु एवं कुष्ठ को समान मात्रा में लेकर चुर्ण बना लें। इसे (मात्रानुसार) एरण्ड तैल के साथ चाटने एवं कवोष्ण जल के अनुपान से सुख विरेचन होता है।

त्रिवृत्कल्पः

एभिरेव च द्रव्यैर्यथास्वं घृतशर्कराक्षौडतवक्षीरी मधुराणि मातुलुंगदाडि-मामलककोलकरमर्दकपित्थरसतक्राम्लानिसैन्धवलवणानि व्योषतीक्ष्णानि विविध वेसवारपूरितानि सहकाररसत्रिजातकनागकेशरकर्पूर सुरभीणिलेह-गुटिकामोदकभक्ष्यभोज्यान्युपकल्पयेदिति । भवति चात्र—

त्रिवृत्कल्क कषायेण साधितः ससितो हिमः ।
मधु त्रिजात संयुक्तो लेहो हृद्यं विरेचनम् ॥

अ० सं० क० २।५, अ० हृ० क० २।६

एभिरेव विरेचन द्रव्यैस्त्रिवृच्चूर्णं शुण्ठीसैन्धवादिभिर्यथादोषं लेहादि कल्पयेत् । तत्र माधूर्यं घृतादिभिरेव । अम्लत्वं मातुलुङ्गादिभिरेव । लावण्यं सैन्धवेनैव । तैक्ष्ण्य कार्यकरणं व्योषेण । विविधैर्वेशवारैर्मांसधान्यकृतैः परिपूरणं सम्भवान्मोदकादीनां विशेषणम् । सहकारादि सर्वेषां विशेषणम् । सहकारादिना सर्वत्र सुरभीकरणम् । इन्दुः ।

---

१. त्रिगुणेन त्रिफलाक्वाथेन युक्तं तथा क्षीररसाभ्यां युक्तमिति सम्बन्धः ।

व्योषादि त्रिवृद्वटी विषोपद्रवेषु ।

व्योषत्रिजातकांभोद कृमिघ्नामलकैस्त्रिवृत् ।
सर्वैः समा समसिता क्षौद्रेणगुलिकाः कृताः ॥
मूत्रकृच्छ्रज्वरच्छर्दि कासे शोषे भ्रमे क्षये ।
तापे पाण्डवामयेऽल्पाग्नौ शस्ताः सर्वविषेषु च ॥
अविपत्तिरयं योगः प्रशस्तः पित्तरोगिणाम् ॥

अ० सं० क० २।११

अविपत्तिकर (त्रिवृत्) कल्पः ।

व्योषस्त्रिजातकांभोदकृमिघ्नामलकैस्त्रिवृत् ।
सर्वैः समा समसिताः क्षौद्रेण गुटिकाः कृताः ॥
मूत्रकृच्छ्रज्वरच्छर्दिकासशोषभ्रमक्षये ।
तापे पाण्ड्वामयेऽल्पेऽग्नौ शस्ताः सर्वविषेषु च ।
अविपत्तिरयं योगः प्रशस्तः पित्तरोगिणाम् ।

अ० हृ० क० २।२१-२३

अविपत्तिरियं योगः प्रयोक्तव्यो व्योषादिभिः समभागैः सर्वद्रव्यैस्त्रिवृत् समा सा च त्रिवृत्तुल्यशर्करा । एवमेताः क्षौद्रेण गुटिकाः कृता मूत्रकृच्छ्रादिषु शस्यते । अरुणदत्तः ।

हि० व्या०—सोंठ, काली मिर्च, पीपल, दालचीनी, बड़ी इलायची, तेजपत्ता, नागरमोथा, विडंग तथा आँवला १-१ भाग त्रिवृत् १६ भाग, खांड २८ भाग मधु से घोंटकर १-१ तो० की गोलियाँ बनाकर रखें। यह मूत्र कृच्छ्र, ज्वर, छर्दि, कास, शोथ, भ्रम, क्षय, पाण्डुरोग, मन्दाग्नि तथा सब प्रकार के विष विकारों में प्रशस्त है। यह अविपत्तिकर योग पित्त रोगों में अत्यन्त उपयोगी है।

त्रिवृत्चूर्णस्य दशोत्तरशत् योगानां संकेतः

एकोऽम्लादिभिरष्टौ च दश द्वौ सैन्धवादिभिः ।
मूत्रेऽष्टादश षष्ट्यां द्वौ जीवकादौ चतुर्दश ॥
क्षीरादौ सप्तलेहेऽष्टौ चत्वारः सितयाऽपि च ।
पानकादिषु पञ्चैव षड्तौ पञ्च मोदकाः ॥
चत्वारश्च घृते क्षीरे द्वौ चूर्णे तर्पणे तथा ।
द्वौ मद्ये काञ्जिके द्वौ च दशान्ये षाडवादिषु ॥
श्यामायास्त्रिवृतायाश्च कल्पेऽस्मिन् समुदाहृतम् ।
शतं दशोत्तरं सिद्धं योगानां परमर्षिणा ॥ च० क० ७।७७-८०

हि० व्या०—

(१) अम्लादिद्रव्यों के योग से ९ योग
(२) सैंधव आदि से १२ योग

(३) गोमूत्र से १८ योग
(४) मुलेठी से २ योग
(५) जीवक आदि से १४ योग
(६) दूध आदि से ७ योग
(७) अवलेह का ८ योग
(८) चीनी से ४ योग
(९) पानक से ५ योग
(१०) ऋतु कालानुसार ६ योग
(११) मोदक से ५ योग
(१२) घृत और दूध से ४ योग
(१३) तर्पण और चूर्ण से २ योग
(१४) मद्य से २ योग
(१५) काञ्जी से प्रवीर २ योग
(१६) षाडव आदि से १० योग

=कुल—११० योग

अनुपान भेदेन त्रिवृत्मूलस्य नवसंख्याका प्रयोगः

अक्षमात्रं तयोः पिण्डं विनीयाम्लेन वा पिबेत् ।
गोव्यजामहिषीमूत्रसौवीरकतुषोदकैः ॥
प्रसन्नया त्रिफलया भृतयाच पृथक् पिबेत् ॥ च० क०७।१२-१३

अक्षमात्रमित्यादिना नवभिरम्लादिभिर्द्रव्यैर्नव योगानाह । तयोरिति श्यामात्रिवृदरुणत्रिवृतयोः । एतयोश्च मिलितयोः प्रत्येकं च प्रयोगा इति प्रागेव प्रतिपादितम् । अम्लेनेति काञ्जिकेन । चक्रपाणिः ।

हि० व्या०—दोनों प्रकार के त्रिवृत् मूल को एक कर्ष की मात्रा में पीसकर कल्क बनावें और उसे कांजी में घोलकर रोगी को पिलावें। अथवा एक कर्ष त्रिवृत् मूल कल्क को गोमूत्र, भेंड का मूत्र, बकरी का मूत्र, भैंस का मूत्र, सौवीर, तुषोदक, प्रसन्ना, त्रिफला का क्वाथ इनमें से किसी एक द्रव्य में घोलकर रोगी को पिलावें। इस तरह यही निशोथ के नौ योग बताये गये हैं।

त्रिवृत् चूर्णस्य सहपानानुपान भेदेन द्वादश प्रयोगाः

एकैकं सैन्धवादीनां द्वादशानां सनागरम् ।
त्रिवृद् द्विगुणसंयुक्तं चूर्णमुष्णाम्बुना पिबेत् ॥ च० क० ७।१४

हि० व्या०—सैंधव आदि बारह प्रकार के नमकों के साथ सोंठ का चूर्ण मिलाकर, त्रिवृत् का चूर्ण उनसे द्विगुण मात्रा में मिलाकर उष्ण जल के साथ पिलाना चाहिए।

सैंधवादयश्च द्वादश रोग भिषग्जितीये लवणस्कन्धोक्ता ज्ञेयाः। सनागर मिति नागरसहितं सत् प्रत्येकं सैन्धवादीनां चूर्णं द्विगुण त्रिवृताचूर्णं युक्तं पातव्यम्। चक्रपाणिः।

१२ प्रकार के नमक—सैंधव, सौंचर, काला, विड, पाक्य, आनूप, कूप्य, बालू नामक, ऐल, मौलक, सामुद्र तथा रोमक, (च० वि० ८।१४१) उद्भिद्, ओषर, पारेयक पांशुज आदि का समावेश अन्य विद्वानों ने १२ में ही किया है।

सहपानानुपानभेदेन त्रिवृत् मूलस्य अष्टादश योगाः।

पिप्पली पिप्पलीमूलं मरिचं गजपिप्पली।
सरलः किलिमं हिङ्गु भार्गी तेजोवती तथा।
मुस्तं हैमवती पथ्या चित्रको रजनी वचा।
स्वर्णक्षीर्यमोदा च शृङ्गवेरं च तैः पृथक्॥
एकैकार्धांश संयुक्तं पिबेद्गोमूत्र संयुतम्। च० क० ७।१५-१७

हि० व्या - इस प्रकरण में निशोथ के अठारह योगों का उल्लेख आया है। पीपल, पिपलामूल, मरिच, गजपिप्पली, सरल, देवदार, हिंगु, भारंगी, तेजबल, नागरमोथा, हेमवतीवच, हरड़, चित्रक, हरिद्रा, वच, स्वर्णक्षीरी, अजमोद, शुण्ठी इनमें से किसी एक द्रव्य के चूर्ण में समभाग निशोथ चूर्ण मिलाकर यथावश्यक पृथक्-पृथक् योग बनाकर रोगी को गोमूत्र से पिलाना चाहिए। ये योग कफ वातजन्य रोगों में हितकर है।

मधुयष्टी सम्पृक्त त्रिवृत् मूलस्य एको योगः।

मधुकार्धांशसंयुक्तं शर्करार्धयुतं पिबेत्॥ च० क० ७।१७

हि० व्या० — मधुयष्टि सहित त्रिवृता प्रयोग —

मुलेठी चूर्ण आधा भाग, सफेद निशोथ का चूर्ण एक भाग, चीनी के शर्बत में घोलकर रुग्ण को पिलाया जाता है। कफवातजन्य रोगों में हितकर है।

त्रिवृतमूलस्य जीवकादिचूर्णयुक्ताः पञ्चदश योगा।

जीवकर्षभकौ मेदां श्रावणीं कर्कटाह्वयाम्।
मुद्गमाषारण्यपर्ण्यौ च महतीं श्रावणीं तथा॥
काकोलीं क्षीरकाकोलीमिन्द्रां छिन्नरुहां तथा।
क्षीरशुक्लां पयस्यां च यष्ट्याह्वं विधिना पिबेत्॥
वातपित्तहितान्येतान्यन्यानि तु कफानिले। च० क० ७।१८-२०

हि० व्या०—त्रिवृता के १५ योग—जीवक, ऋषभक, मेदा, मुण्डी, ककंटशृंगी, मुंगवन, मसवन, वड़ी-गोरखमुण्डी, काकोली, क्षीरकाकोली, कोकिलाक्ष (तालमखाना), गिलोय, क्षीरविदारी, अर्कपुष्पी तथा मुलेठी इन प्रत्येक द्रव्यों का पृथक्-पृथक् आधा-आधा भाग तथा त्रिवृत् चूर्ण एक भाग के परिमाण में लेकर चीनी के शर्बत में मिलाकर यथावश्यक प्रत्येक योग का

प्रयोग कराना चाहिए। ये योग वातपित्तघ्न (रोगों में लाभकारी) है। अन्य बताए हुए योग अर्थात् पूर्वोक्त त्रिवृत योग कफवातजन्य रोगों में हितकर है।

त्रिवृत् मूलस्य अष्टौ अवलेह योगाः

लिह्याद्वा मधुसर्पिर्भ्यां संयुक्तं ससितोपलम्॥
अजगन्धा तुगाक्षीरी विदारी शर्करा त्रिवृत्।
चूर्णितं क्षौद्रसर्पिभ्यां लीढ्वा साधु विरिच्यते॥
सन्निपातज्वरस्तम्भदाहतृष्णार्दितो नरः।
श्यामात्रिवृत् कषायेण कल्केन च सशर्करम्॥
साधयेद्विधिवल्लेहं लिह्यात् पाणितलं ततः।
सक्षौद्रां शर्करां पक्त्वा कुर्यान्मृदभाजने नवे॥
क्षिपेच्छीते त्रिवृच्चूर्णं त्वक्पत्रमरिचैः सह।
मात्रया लेहयेदेतदीश्वराणां विरेचनम्॥
कुडवांशानूसानिक्षुद्राक्षापीलुपरूषकात्।
सितोपलापलं क्षौद्रात कुडवार्धं च साधयेत्॥
तं लेहं योजयेच्छीतं त्रिवृच्चूर्णेन शास्त्रवित्।
एतदुत्सन्नपित्तानामीश्वराणां विरेचनम्॥
शर्करामोदकान् वर्तीगुलिकामांसपूपकान्।
अनेन विधिना कुर्यात् पैत्तिकानां विरेचनम्॥
पिप्पलीं नागरक्षारं श्यामां त्रिवृतया सह।
लेहयेन्मधुना सार्धं श्लेष्मलानां विरेचनम्॥
मातुलुङ्गाभयाधात्रीश्रीपर्णीकोलदाडिमात्।
सुमृष्टान् स्व(सु) रसांस्तैले साधयेत्तत्र चावपेत्॥
सहकारात् कपित्थाच्च मध्यमम्लं च यत् फलम्।
पूर्ववद्बहलीभूते त्रिवृच्चूर्णं समावपेत्॥
त्वक्पत्रकेशरैलानां चूर्णं मधु च मात्रया।
लेहोऽयं कफपूर्णनामीश्वराणां विरेचनम्॥

च० क० ७।२१-३२

लिह्याद्वा मध्वित्यादिनाऽष्टौ लेहानाह। लिह्याद्वेत्यादिना प्रथमो लेहः। अजगन्धेत्यादिना द्वितीयः। अजगन्धा=अजमोदा। श्यामात्रिवृदित्यादिना तृतीयो लेहः। अत्र शर्करात्रिवृच्चूर्णाभ्यां क्वाथपादिकाभ्यां लेहः। सक्षौद्रामित्यादिना चतुर्थः। अत्र क्षौद्रपाको योगमहिम्ना। त्रिवृच्चूर्णं मात्रापादिकत्वं त्वक्पत्रादीनां सौगन्धमात्र प्रयोजनत्वात्। ईश्वराणां विरेचनमिति वचनेन सुकुमारत्वादस्निग्धविषयतामस्य दर्शयति। ईश्वरा हि प्रायेण सुकुमाराः स्निग्धाश्च भवन्ति। कुडवांशानित्यादिः पञ्चमः। अत्र त्रिवृच्चूर्णमनिर्दिष्टमानं, तच्च प्रक्षेपन्यायाल्लेहात् पादिकं कर्तव्यम्। उत्सन्नपित्तानामुद्भूतपित्ता-

नाम्। शर्करेत्यादिना सितायोगांश्चतुरोऽतिदेशानुगुण्याल्लेहानां मध्य एवाह। अत्र व्रत्यादयोऽपि शर्कराकृता एव ज्ञेयाः। अनेन विधिनेति इक्ष्वादिरस-संस्कारेण त्रिवृच्चूर्णयोगेन च। पिप्पलीं नागरमित्यादिना षष्ठो लेहः। मध्यमित्यम्लकपित्थस्य मध्यं भागम्। अम्लं च यत् फलमिति मातुलुङ्गादि। पूर्ववदिति कौडविकत्वं मातुलुङ्गादिरसानां दर्शयति ॥ चक्रपाणिः।

त्रिवृच्छाणा मतास्तिस्रस्तिस्रश्च त्रिफलात्वचः।
विडङ्गपिप्पलीक्षार शाणास्तिस्रश्च चूर्णिताः॥
लिह्यात् सर्पिर्मधुभ्यां च मोदकं वा गुडेन तु।
भक्षयेन्निष्परीहारमेतच्छोधनमुत्तमम् ॥
गुल्मं प्लीहोदरं श्वासां हलीमकमरोचकम्।
कफवातकृतांश्चान्यान् व्याधीनेतद्व्यपोहति॥

च० क० ७।३७-३९

त्रिवृच्छाणा इत्यादिनेह मोदके च यद्यपि पठ्यते योगः, तथाऽप्यस्य लेहे-नैव ग्रहणादयमष्टमो लेहो भवति ॥ चक्रपाणिः।

हि० व्या०—(१) एक भाग मिश्री आधा भाग निशोथ मूल के चूर्ण को मधु और घी में मिलाकर रोगी को चाटने के लिए देना चाहिए।

(२) अजमोदा, वंशलोचन, विदारीकंद, चीनी, निशोथ इन्हें समान मात्रा में चूर्ण बनाकर शहद और घी के साथ चाटने से उत्तम विरेचन होता है: इसका प्रयोग सन्निपातज्वर, शरीर में जकड़ाहट, उदर में दाह और प्यास रोग से पीड़ित रोगियों के लिए लाभकारी है।

(३) कृष्ण त्रिवृत् मूल क्वाथ, कृष्ण त्रिवृत् मूल का कल्क और चीनी मिलाकर पाक कर अवलेह तैयार करें, इसको एक कर्ष की मात्रा में रोगी को चटावें। यह योग तीव्र विरेचक होता है।

(४) एक नवीन मिट्टी के पात्र में शहद और चीनी को पकावें। जब चाशनी बन जाए तो उतार लें। शीतल होने पर सफेद निशोथ का चूर्ण, दालचीनी का चूर्ण, तेजपत्ता का चूर्ण और मरिच का चूर्ण चाशनी में मिला कर अवलेह बनाकर रख लें: रोगी के बल के अनुसार प्रयोग करें। यह योग धनी, सुकुमार, वृद्ध, बालकों के लिए उत्तम विरेचक होता है।

(५) ईख का रस, अंगूर का रस, पीलु का रस एवं फालसे का रस प्रत्येक एक-एक कुडव, मिश्री एक पल, मिलाकर अवलेह बनावें। शीतल होने पर एक कुडव मधु और आधा कुडव सफेद निशोथ का चूर्ण मिलावें। इसका उपयोग पित्तज रोगों में, धनी एवं सुकुमार व्यक्तियों को विरेचनार्थ कराएँ।

(६) पित्तजन्य रोग ग्रस्त व्यक्तियों के लिए उपरोक्त विधि के अनुसार सफेद निशोथ के चूर्ण को चीनी की चाशनी द्वारा मोदक, वर्ति, गुटिका, मांसरस और माल पूआ बनाकर विरेचनार्थ उपयोग करना चाहिए।

(७) पिप्पली, शुण्ठी, यवक्षार, कृष्ण त्रिवृत् इन सबको समान मात्रा में लेकर चूर्ण बना लें। इस चूर्ण को मधु के साथ चाटने से कफ प्रकृति वाले या कफदोष से पीड़ित रोगियों में विरेचन होता है।

(८) बिजौरा नीबू का रस, हरीतकी का स्वरस या क्वाथ, आँवला स्वरस गम्भारी की छाल का स्वरस, बेर का स्वरस, खट्टे अनार का स्वरस प्रत्येक एक-एक कुडव की मात्रा में लेकर तिल के तेल में भून दें। गाढ़ा होने पर आम के फल का चूर्ण, कैथ की गुद्दी का चूर्ण और अन्य खट्टे फल जैसे खट्टी बेर, तिन्तिडीक आदि द्रव्यों का चूर्ण मिला दें। जब अवलेह गाढ़ा हो जाए तब उसमें निशोथ का चूर्ण, दालचीनी का चूर्ण, तेजपत्ता का चूर्ण, नागकेशर का चूर्ण और इलायची का चूर्ण मिला दें। शीतल होने पर मधु मिला दें। इसका उपयोग कफजन्य रोगों में धनी एवं सुकुमार व्यक्तियों के विरेचनार्थ करना चाहिए।

विरेचनार्थं विविधा अवलेह योगाः।

सिताजगन्धात्वक्क्षीरीविदारी त्रिवृतः समाः।
लिह्यान्मधुघृताभ्यां तु तृड्दाहज्वरशान्तये॥
शर्कराक्षौद्रसंयुक्तं त्रिवृच्चूर्णविचूर्णितम्।
रेचनं सुकुमाराणां त्वक्पत्रमरिचांशकम्॥
पचेल्लेहं सिताक्षौद्र पलार्धकुडवान्वितम्।
त्रिवृच्चूर्णयुतं शीतं पित्तघ्नं तद्विरेचनम्॥
त्रिवृच्छ्यामाक्षारशुण्ठीपिप्पलीमधुनाऽऽप्नुयात्।
सर्वश्लेष्मविकाराणां श्रेष्ठमेतद्विरेचनम्॥
बीजाढ्यपथ्याकाश्मर्यधात्रीदाडिमकोलजान्।
तैलभृष्टान् रसानम्लफलैरावाप्य साधयेत्॥
घनीभूतं त्रिसौगन्ध्यत्रिवृत्क्षौद्र समन्वितम्।
लेह्यमेतत्कफप्रायैः सुकुमारैर्विरेचनम्॥
नीलीतुल्यं त्वगेलं च तैस्त्रिवृत्सलितोपला।
चूर्णं संतर्पणं क्षौद्रफलाम्लं सन्निपातनुत्॥

सु० सू० ४४।१६-२२

इदानीं विरेचनलेहानाह-सितेत्यादि। सिता शर्करा, अजगन्धा जवानिका, 'बोथइका' इत्यन्ये; त्वक्क्षीरी वंशलोचना; विदारी विडाली (विराली); त्रिवृत् 'निशोत्र' इति लोके। शर्करेत्यादि। मरिचांशकमिति अंशश्चतुर्थो भागः। पचेत्यादि। सिता शर्करा तस्य पलं, क्षौद्रं मधु, तस्यार्धकुडवश्चत्वारि पलानि; त्रिवृत् लेहस्य चतुर्थांशेन। अत्र मधुनोऽग्निसंयोगो न विरुध्यते, अन-वस्थानात् प्रयोगाभावाच्च। त्रिवृदित्यादि। श्यामा वृद्धदारकः, क्षारो यवक्षारः, आप्नुयात् लिह्यात्। बीजाढ्येत्यादि बीजाढ्यान् सुपक्वान् पथ्यादीन् सहैव

बीजैः साधयेत्; तान् रसान् पथ्याधात्रीदाडिमकोलजानेरण्डतैलभृष्टान्, पुनरम्लफलैर्बीजपूरादिभिः सह आवाप्य प्रक्षिप्य साधयेत्; पथ्यादीनां यदृच्छया ल्मात्रा, जले तु षोडशगुणे तेषां क्वाथः कर्तव्यः, एरण्डतैलमात्रा तु यावता तस्य भर्जनं संभवति, अम्लफलं तु क्वाथस्य चतुर्थांशेन, त्रिसौगन्ध्यमात्रा तु यावता सौगन्ध्यं भवति, त्रिवृत क्षौद्रं तु प्रत्येकं लेहस्य चतुर्थांशेन। कफप्रायैर्भूयिष्ठकफैः पुरुषैः सेव्यम। नीलीतुल्यमिति नीलीफलतुल्यं त्वगेलं, नीली श्रीफलिका। तैर्नील्यादिभिः सह तुल्या त्रिवृत्। ससितोपला शर्करा युक्ता। संतर्पणं प्रीणनम्। केचित् 'संतर्पणम्' इति पठन्ति, व्याख्यानयन्ति च—तर्पणाः शक्तवः, तैः सह युक्तम्। क्षौद्रफलाम्लं मधुबीजपूराम्लरसेन सह चूर्णं देयम्। सन्निपातनुत् प्रशान्ते सन्निपातेऽनुबन्ध परिरक्षणार्थमित्यर्थः। डल्हणः।

केचित् सिताजगन्धेत्यादिना योगान् पठन्ति। अजगन्धा यमानी। शर्करेत्यादौ। सिताक्षौद्रयोर्लेहत्वापादन प्रमाणा मात्रा, त्वक्पत्रमरिचानां मिलित्वा त्रिवृच्चूर्णानां पादिकत्वम्। पचेल्लेहमित्यादौ सितापलं, क्षौद्रमर्धकुडवंचतुः, पलं, त्रिवृच्चूर्णं पादिकम्। त्रिवृदित्यादौ श्यामा श्याममूला त्रिवृत्। क्षारो यवक्षारः। बीजाढ्येत्यादौ बीजाढ्यमिति सुपक्वम्। अत्र च हरीतक्यादीनां फलानां स्वरसास्तैलभृष्टाः कर्तव्याः; ततोऽम्लफलमातुलुङ्गादिरसैर्योजयित्वा पुनघनत्वं यावत् पाकः। त्रिवृच्चूर्णं क्षौद्रयोर्मिलित्वा पादिकत्वं, त्रिसौगन्ध्यं सुगन्धितापादनमात्रम्। नीलीत्यादौ तैस्त्रिवृत्तुल्या, तैर्नीलीत्वगेलात्रिवृद्भिः शर्करातुल्या। अत्र हि धरकः—'भृङ्गैलाभ्यां समा नीली तैस्त्रिवृतैश्च शर्करा चूर्णफलरसक्षौद्रयुक्तं सन्तर्पणं पिबेत्' (च० क० अ० ७) इत्यादि। संनिपातनुदिति दोषत्रयनुत्। चक्रपा०

सितेत्यादि। सिता शर्करा, अजगन्धा वनयमानी, त्वक्क्षीरी वंशलोचना, विदारी भूमि कुष्माण्डः। शर्करेत्यादि। त्वगादीनामंशस्त्रिवृदपेक्षया चतुर्थो भागोऽत्रेति त्वक्पत्रमरिचांशकं रेचनं विरेचन भेषजम्। त्वगत्र गुडत्वक्, पत्रञ्च तेजपत्रम्। पचेदित्यादि। सितायाः पलं मधुनश्चार्द्ध-कुडवोऽत्र द्वैगुण्य प्रतिषेधा द्वे पले एवेति निष्कर्षः। त्रिवृन्मूलचूर्णन्तु युक्त्या पलं देयम्। अत्र 'पचेल्लेहं सिताक्षौद्रम्' इति सामान्येनोक्तेऽपि सितापलं जलेन द्रवीकृत्य पक्त्या तन्तुलीभूते त्रिवृच्चूर्णं प्रक्षिप्यावतार्य शीते मधु कुडवो देय इत्युपदिशन्ति प्राञ्चः, मधुन उष्णविरोधात्। त्रिवृदित्यादि। श्यामा वृद्धदारकः, क्षारो यव क्षारः, आप्नुयात् लेहार्थं मिश्रीकुर्य्यात्। बीजेत्यादि। बीजाढ्यपथ्या प्रवरबीजा हरीतकी, काश्मर्य्यं गम्भारीफलं, तैलभृष्टानित्यौपयौगिकतया भर्ज्जनविधिना एरण्डतैलसंस्कृतान्, रसान् यथासम्भवं स्वरसकषायान् अम्लफलैः कल्कीकृतै र्दाडिमामलकादिभिः सह आवाप्य स्थाल्यां प्रक्षिप्य साधयेत् विपचेत्। अत्र बीजाढ्यपथ्यादीनां रस प्रस्थम् अग्निसंतप्त एरण्डतैलपलचतुष्टये निक्षिप्य अम्लफलादीनां यथालाभं दाडिमादीनां चतु; पलं कल्कं दत्वा पाकेन घनीभूते चूर्णितं

त्रिवृन्मूलं चतुः पलं त्वगेलापत्रचूर्णञ्च कर्षमितं प्रक्षिप्यावतार्य शीते मधुंपलद्वयं देयमित्युपदेशः। नीलीत्यादि। नीली नीलिनी नामौषधिः 'नील' इत्यभिधीयते, तस्यामूलत्वगिह गृह्यते, तत्तुल्यं मिलितं त्वगेलं, तैर्नीली प्रभृतिभिस्तुल्या ससितोपला सशर्करा त्रिवृत्, क्षौद्रफलाम्लं मधुदाडिमरसाभ्यां लेहीभूतम्। चूर्णमित्यादि। चूर्णमिति। श्यामादीनां त्रिफलान्तानामेव।

हाराणचन्द्रः।

हि० व्या०—(१) मिश्री, जङ्गली अजवायन, वंशलोचन, भूमि-कुष्माण्ड और निशोथ, सम भाग लेकर चूर्ण तैयार करें। १ माशा से तीन माशे तक की मात्रा में शहद तथा घृत के साथ प्रयोग करने से दाह और ज्वर की शान्ति होती है।

(२) मिश्री और शहद के साथ त्रिवृत् का चूर्ण मिलाकर उसमें दालचीनी, तेजपात और काली मिर्च का चतुर्थांश भाग मिलाकर सुकुमार प्रकृति व्यक्तियों को विरेचन हेतु देना चाहिए।

(३) सफेद त्रिवृत् कृष्ण त्रिवृत्, यवक्षार, सोंठ और पीपल इनका चूर्ण तैयार कर मधु के साथ सभी प्रकार के कफ जन्य विकारों में सेवन करना चाहिए।

(४) सुपक्व हरड़, गम्भारी: आँवले, अनारदाने और बेर इनको सम प्रमाण में लेकर एरण्डतैल में भूनकर बिजौरे आदि खट्टे फलों के रस में पकाना चाहिए। गाढ़ा होने पर इसमें दालचीनी, इलायची और तेजपात का चूर्ण एवं निशोथ का चूर्ण तथा शहद मिलावें। जिनको कफ प्रकोप अधिक हो और जो सुकुमार प्रकृति के हो उनके लिए यह अवलेह उत्तम विरेचकहै।

(५) नीली, दालचीनी और छोटी इलायची इन्हें तुल्य (समभाग) प्रमाण में लेकर सबके समान मिश्री और निशोथ का चूर्ण लेकर शहद और अम्ल फलों के रसानुपान के साथ सेवन करने से सन्तर्पण होता है तथा त्रिदोषनाशक है।

त्रिवृत् लेह प्रयोग प्रकारः।

त्रिवृत्कल्ककषायेण साधितः ससितो हिमः।
मधु त्रिजात संयुक्तो लेहो हृद्यं विरेचनम्॥ अ० हृ० क० २।१०

त्रिवृतः कषायेण कल्केन वा साधितः सशर्करो लेहः शीतो मधु त्रिजातसंयुक्तो हृद्यं विरेचनम् स्यात्। अत्र च कासचिकित्सितोक्त कंटकारिका लेहवत् प्रमाणं निरूपयितव्यम्। अरुणदत्तः।

हि० व्या—त्रिवृत् के कल्क एवं क्वाथ में मिश्री मिलाकर पाक कर अवलेह तैयार करें और शीतल होने पर दालचीनी, बड़ी इलायची तथा तेजपत्र का चूर्ण मिलाकर रखें। इस विरेचन योग का सेवन करने से हृदय की शक्ति बढ़ती है।

प्लीहोदरे त्रिवृदवलेहः।

विडंगतंदुलवरायावशूककणास्त्रिवृत्।
सर्वतोऽर्द्धेन तल्लीढं मध्वाज्येन गुडेन वा॥
गुल्मं प्लीहोदरं कासं हलीमकमरोचकम्।
कफवातकृतांश्चान्यान् परिमार्ष्टि गदान् बहून्॥

अ० सं० क० २।९; अ० हृ० क० २।१५-१६

विडङ्गतण्डुलादीनां सममिश्रितानामर्धेन त्रिवृत् गुडयोगे जलेन लेहः एतच्चूर्णं गुल्मादीनन्यांश्च कफवातकृतान् बहून् गदान् परिमार्ष्टि नाशयति। इन्दुः।

हि० व्या०—वायविडंग, हरड़, बहेड़ा, आँवला, यवक्षार तथा पीपल त्रिवृत् का चूर्ण समभाग मिलाकर रख लें और उस चूर्ण से आधा भाग शहद एवं घृत अथवा गुड़ मिलाकर सेवन करना चाहिए। यह गुल्म प्लीहोदर; कास, हलीमक, अरुचि तथा कफवात जनित अन्य रोगों में भी लाभकारी है।

त्रिवृत् मूलस्य एकः तर्पण योगः

भृङ्गैलाभ्यां समा नीली तैस्त्रिवृतैश्च शर्करा।
चूर्णं फलरस क्षौद्रशक्तुभिस्तर्पणं पिबेत्॥
वातपित्तकफोत्थेषु रोगेष्वल्पानलेषु च।
नरेषु सुकुमारेषु निरपायं विरेचनम्॥

च० क० ७।३४-३५; अ० हृ० क० २।१४-१५; अ० सं० क० २।८

भृङ्गैलाभ्यामित्यादिना तर्पणयोगं प्रथममेवाह, द्वितीयस्तु तर्पण योगो भविष्यतीति। भृङ्ग गुडत्वक्। तैश्च शर्करेति भृङ्गैलानीली त्रिवृद्भिः। फलरसो दाडिमरसः चक्रपाणिः।

हि० व्या०—दालचीनी एक भाग, छोटी इलायची एक भाग नील का मूल २ भाग और सबके समान भाग निशोथ का चूर्ण (चार भाग), चीनी आठ भाग, इनको एकत्र मिलाकर बिजौरा नीबू, अनार आदि अम्ल फलों के रस, मधु और जौ के सत्तु को एक में मिलाकर तर्पण बनाकर रोगी को पिलाना चाहिए। इसका उपयोग वातपित्तकफजन्य रोगों में और मन्दाग्नि मे करना चाहिए। सुकुमार व्यक्तियों के लिए यह सुखकारक योग है।

त्रिवृतमूलस्य पानकादि पञ्च योगाः।

पानकानि रसान् यूषान्मोदकान्रागषाडवान्।
अनेन विधिना कुर्याद्विरेकार्थं कफाधिके॥ च० क० ७।३३

पानकानीत्यादिनाऽतिदेशानुगुण्यात् पानकादि पञ्चयोगानाह। रागप्रधानः षाडवो रागषाडवः। अनेन विधिनेति पूर्वलेहोक्तविधिना। चक्रपाणिः।

हि० व्या०—उपरोक्त विधि से पानक, मांसरस, यूष, मोदक, राग, षाडव बनाकर कफ प्रकृति के रोगियों में विरेचन के लिए देना चाहिए।

त्रिवृत् चूर्णस्य वसन्तादि ऋतुभेदेन षड् योगाः।

त्रिवृतां कौटजं बीजं पिप्पलीं विश्वभेषजम्।
क्षौद्रद्राक्षारसोपेतं वर्षास्वेतद्विरेचनम्॥
त्रिवृद्दुरालभामुस्तशर्करोदीच्यचन्दनम्।
द्राक्षाम्बुना सयष्ट्याह्वसातलं जलदात्यये॥
त्रिवृतां चित्रकं पाठामजाजीं सरलं वचाम्।
स्वर्णक्षीरीं च हेमन्ते पिष्ट्वा तूष्णाम्बुना पिबेत्॥
शर्करा त्रिवृता तुल्या ग्रीष्मकाले विरेचनम्।
त्रिवृत् त्रायन्तिहपुषाः सातलां कटुरोहिणीम्॥
स्वर्णक्षीरीं च संचूर्ण्य गोमूत्रे भावयेत्र्यहम्।
एष सर्वर्तुको योगः स्निग्धानां मलदोष हृत्॥
त्रिवृच्छ्यामा दुरालम्भा वत्सकं हस्तिपिप्पली।
नीलिनी त्रिफला मुस्तं कटुका च सुचूर्णितम्॥
सर्पिर्मांसरसोष्णाम्बुयुक्तं पाणितलं ततः।
पिबेत सुखतमं ह्येतद्रूक्षाणामपि शस्यते॥

च० क० ७।५६-६२, अ० सं० क० २। अ० हृ० क० ४।२३-२९
वंगसेन, योगरत्ना०, भा० प्र०, शा० सं०

त्रिवृतां कौटजमित्यादिना षड्ऋतुविहितान् योगान् रुक्षाणामपि शस्यते इत्यन्तेनाह। सातला चर्मकशा। जलदात्यये शरदि। हेमन्ते यद्यपि प्रबल शीतवाते विरेचनं निषिद्धं, तथाऽपि व्याधिविषयविहितं विरेचनमेतज्ज्ञेयम्। सर्वर्तुक योगौ अनुक्ते ऋतौ वसन्तादौ च ज्ञेयौ। त्रिवृच्छ्यामेत्यादिकोऽपि सर्वर्तुको योगः। चक्रपाणिः।

वर्षाकाल में विरेचन योग निशोथ, इन्द्रजौ, पिप्पली, सौंठ इनके सम भाग चूर्ण को मधु और द्राक्षा के रस में मिलाकर विरेचन के लिए प्रयोग में लाना चाहिए।

शरद् काल में विरेचन योग—निशोथ, दुरालभा, नागरमोथा, शर्करा, सुगन्ध बाला, चन्दन, मधुयष्टि और सातला के चूर्ण को द्राक्षा स्वरस के साथ लेने से विरेचन हो जाता है।

हेमन्तकाल में विरेचन योग – त्रिवृता, चित्रक, पाठा, जीरा, सरल, वच और स्वर्ण क्षीरी मूल को समान भाग लेकर, गर्म जल में पीसकर विरेचनार्थ प्रयोग कराना चाहिए।

ग्रीष्मकाल में विरेचन योग—शर्करा, निशोथ, इनका समान भाग चूर्ण गर्म जल के साथ विरेचनार्थ प्रयोग कराया जाता है।

सभी ऋतुओं में विरेचन योग—निशोथ, त्रायमाणा, हाऊ वेर, साप्तला, कुटकी, स्वर्णक्षीरीमूल इन सभी को समान भाग चूर्ण तीन दिन तक गोमूत्र में भावित कर इस योग का सभी ऋतुओं में प्रयोग किया जा सकता है। स्नेहन के पश्चात् इस योग का उष्ण जल से सेवन कराना चाहिए।

अन्य योग श्वेत निशोथ, काली निशोथ, दुरालभा, इन्द्रजौ, गजपिप्पली, नीलिनी, त्रिफला, नागरमोथा और कुटकी के समान मात्रा में तैयार किए चूर्ण को घृत, मांसरस अथवा उष्ण जल के साथ रूक्ष व्यक्तियों को प्रयोग कराने से सुखपूर्वक विरेचन होता है।

त्रिवृत् मूलस्य एकः मोदक योगः

शर्करात्रिफलाश्यामात्रिवृत् पिप्पलिमाक्षिकैः।
मोदकः सन्निपातोर्ध्वरक्तपित्तज्वरापहः॥ च० क० ७।३६

शर्करेत्यादिना मोदकः प्रथगः। तत्र च "मोदके द्विगुणो गुड़ः" इति वचनात्। गुडशर्करां चूर्णाद् द्विगुणमिच्छन्ति। चक्रपाणिः।

हि० व्या०—चीनी, आँवला, हरड़, बहेड़ा, काली निशोथ, पीपर और मधु इन द्रव्यों से मोदक बनाकर सन्निपात, ऊर्ध्वग् रक्तपित्त और सामान्य ज्वर में प्रयोग करने से विरेचन होकर रोग दूर होता है।

त्रिवृत् मोदकः।

त्रिवृच्छाणा मतास्तिस्रस्तिस्रश्च त्रिफलात्वचः।
विडङ्गपिप्पलीक्षारशाणास्तिस्त्रश्च चूर्णिताः॥
लिह्यात् सर्पिर्मधुभ्यां च मोदकं वा गुडेन वा।
भक्षयेन्निष्परीहारमेतच्छ्रेष्ठं विरेचनम्॥
गुल्मं प्लीहोदरं कासं हलीमकमरोचकम्।
कफवातकृतांश्चान्यान् व्याधीनेतद्व्यपोहति॥
च० क० ७।३७-३९ सु० सू० ४४।८७-८९ चक्रदत्त-वंगसेन

हि० व्या०—सफेद निशोथ के मूल का चूर्ण ३ शाण, त्रिफला का चूर्ण ३ शाण, वायविडंग, पीपर और यवक्षार का चूर्ण ३ शाण, एकत्र मिलाकर शहद और घी मिलाकर चाटना चाहिए अथवा गुड की चासनी से मोदक बनाकर रोगी को खिलाना चाहिए। इस योग के प्रयोग काल में किसी खास नियम का पालन नहीं किया जाता है। यह उत्तम शोधक योग है। गुल्म, प्लीहा, उदररोग, श्वास, हलीमक अरोचक तथा अन्य कफ जन्य रोगों में लाभकारी है।

वैरेचनिक मोदकः।

त्रिवृच्छ्यामासिताकृष्णात्रिफलामाक्षिकैः समैः।
मोदकाः सन्निपातोर्ध्वरक्तपित्तज्वरापहः॥ सु० सू० ४४।२३

श्यामा वृद्धदारकः। त्रिफलायाः प्रत्येकं भागाः समाः। यद्यप्यत्र भागश्रुतिर्नास्ति तथाऽपि सितामाक्षिके पक्त्वा गुटिकाः कार्याः, सितामाक्षिके समस्तद्रव्येभ्यो द्विगुणे ग्राह्ये। डल्हणः।

हि० व्या०—निशोथ, विधारा, पीपल और हरीत की, विभीतक, आँवला इन्हें सम भाग लेकर चूर्ण तैयार कर शहद के साथ एक-एक तोला का मोदक बनाकर सेवन करने से सन्निपात ऊर्ध्व रक्तपित्त और ज्वर नष्ट होता है।

त्रिवृत् मूलस्य पथ्यादि मोदक योगः।

पथ्याधात्र्युरुबूकाणां प्रसृतौ द्वौ त्रिवृत्पलम्।
दशतान्मोदकान् कुर्यादीश्वराणां विरेचनम्॥ च० क० ७।५०

हि० व्या०—हरीतकी, आँवला, एरण्डबीज का सार भाग कुल मिलाकर दो प्रसृत, स्वेत निशोथ एक पल इन सभी द्रव्यों का चूर्ण बनाकर दश मोदक तैयार करना चाहिए। सुकुमार (धनी) व्यक्तियों के लिए इनका प्रयोग विरेचनार्थ कराना चाहिए।

त्रिवृत् चूर्णस्य हैमवत्यादि मोदक योगः।

त्रिवृद्धैमवती श्यामा नीलिनी हस्तिपिप्पली।
समूला पिप्पली मुस्तमजमोदा दुरालभा।
कार्षिकं नागरपलं गुडस्य पल विंशतिम्।
चूर्णितं मोदकान् कुर्यादुदुम्बरफलोपमान्।
हिङ्गुसौवर्चलव्योषयमानीबिडजीरकैः।
वचाजगन्धा त्रिफलाचव्यचित्रकधान्यकैः।
मोदकान् वेष्टयेच्चूर्णैस्तान् सतुम्बुरुदाडिमैः।
त्रिकबंक्षणहृद्वस्तिकोष्ठार्शः प्लीहशूलिनाम्।
हिक्का कासारुचिश्वासकफोदावर्तिनां शुभाः।
च० क० ७।५१-५५

हि० व्या०—सफेद निशोथ, श्वेत वच, काली निशोथ, नील का मूल, गज पीपर, पिपरामूल, मोथा, अजमोदा और दुरालभा, सौंठ प्रत्येक एक-एक पल लेकर चूर्ण तैयार कर २० पल गुड़ की चासनी में डालकर गूलर फल के परिमाण में मोदक बनाकर सुरक्षित करें। मोदक के ऊपर घृत भृष्ट हींग, सोंचर नमक, सोंठ, पीपर, मरिच, अजवायन, विडनमक, जीरा, वच, अजमोदा, आँवला, हरड़, बहेड़ा, चव्य, चित्रक, धनिया, तेजबल, खट्टा अनारदाना, समान भाग चूर्ण का अवचूर्णन करें। इसका प्रयोग त्रिक प्रदेश वंक्षण प्रदेश, हृदय, वस्ति, कोष्ठ, अर्श, प्लीहा, इन स्थानों में शूल होने पर तथा हिक्का, कास, अरुचि, श्वास और कफ की वृद्धि और उदावर्त रोगियों के करना चाहिए।

त्रिवृत् चूर्णस्य त्रयो घृत योगाः एको दुग्ध योगश्च ।

तुल्याम्लं त्रिवृताकल्कसिद्धं गुल्महरं घृतम् ।
श्यामात्रिवृतयोर्मूलं पचेदामलकैः सह ।
जले तेन कषायेण पक्त्वा सर्पिः पिबेन्नरः ॥
श्यामात्रिवृत्कषायेण सिद्धं सर्पिः पिबेत्तथा ।
साधितं वा पयस्ताभ्यां सुखं तेन विरिच्यते ॥ च० क० ७।६६-६८

तुल्याम्लमित्येकं घृतं, श्यामेत्यादि द्वितीयं, श्यामा त्रिवृत्कषायेणेत्यादि तृतीयम् । साधितं वेत्यादिना क्षीरयोगमेकमाह । घृतेन त्रयः, क्षीरेण च एकः एवं घृतेन क्षीरेण च मिलित्वा चत्वारो घृतक्षीरैर्भवन्ति । चक्रपाणिः ।

हि० व्या०—१. घृत के समान भाग काजी और घृत से चतुर्थांश भाग सफेद निशोथ का कल्क मिलाकर घृत पाक करें । यह गुल्मरोग नाशक है ।

(२) सफेद निशोथ, काली निशोथ का मूल, आँवला समभाग, जल में क्वाथ करे । इस क्वाथ से घृत सिद्ध करें । इस घृत के पीने से गुल्म रोग दूर होता है ।

(३) काली निशोथ और सफेद निशोथ के क्वाथ से साधित घृत का पान करना गुल्म नाशक है ।

(४) दोनों प्रकार के निशोथ के क्वाथ से सिद्ध दूध से उत्तम विरेचन होता है ।

त्रिवृदादि चूर्णम् ।

शर्करा क्षौद्रसंयुक्तं त्रिवृच्चूर्णविचूर्णितम् ।
रेचनं सुकुमाराणां त्वक्पत्रमरिचांशिकम् ॥ चक्रदत्त (विरे०)

त्रिवृच्च श्रेष्ठत्वादरुणमूला ग्राह्या, एवमन्यत्रापि; यदाह सुश्रुतः,—"अरुणाभं त्रिवृन्मूलं श्रेष्ठं मूल विरेचने" (चि० ४४ अ०) इति । अत्र शर्करा त्रिवृच्चूर्णसमा, त्रिवृच्चूर्णमपि कोष्ठाद्यपक्षेया ग्राह्यं, लेहत्वमात्रकारकं क्षौद्रम् । त्वक्पत्रमरिचांशिकमिति-त्रिवृच्चूर्णापेक्षया त्वक्पत्रादि मिलित्वा पादिक मित्यर्थः । "त्वक्पत्रसुरभीकृतम्" इति पाठान्तरे—यावता सौरभ्यं स्यात् तावदेव त्वक्पत्रं देयमिति । त्रिवृच्चूर्ण मा० ८, शर्करामा० ८, गुडत्वकृतेजपत्र-मरिचं प्रति रत्ती ७ । शिवदाससेन ।

हि० व्या०—निशोथ चूर्ण चारभाग, दालचीनी, तेजपत्र, कालीमिर्च के चूर्ण एक-एक भाग मिलाकर सबके समान भाग मिश्री मिलाकर छः माशे से एक तोला तक मधु के साथ चटाने से मृदुकोष्ठ वाले सुकुमार पुरुषों को विरेचन होता है ।

त्रिवृत् चूर्णस्य एका तर्पण योगा

त्रिवृतां त्रिफलां दन्तीं सप्तलां व्योषसैन्धवम् ।

कृत्वा चूर्णं तु सप्ताहं भाव्यमामलकी रसे ।
तद्योज्यं तर्पणे यूषे पिशिते रागयुक्तिषु । च० क० ७।६५-६६

हि० व्या०—सफेद निशोथ, आँवला, हरड़ बहेड़ा, दन्ती मूल सातला, सोंठ, मरिच, पीपर और सेंधा नमक इनके समान भाग चूर्ण को सात दिन तक आँवले के रस में भावना दें । इस चूर्ण को जल में घोलकर, जौ का सत्त या यूष या मांसरस या राग में घोलकर उपयोग करना चाहिए ।

त्रिवृत् चूर्णस्य द्वौ सुरासव योगौ ।

त्रिवृन्मुष्टींस्तु सनखानष्टौ द्रोणेऽम्भसः पचेत् ।
पादशेषं कषायं तं पूतं गुडतुलायुतम् ॥ ६९ ॥
स्निग्धे स्थाप्यं घटे क्षौद्रपिप्पलीफलचित्रकैः ।
प्रलिप्ते मधुना, मांसं जातं तन्मात्रया पिबेत् ॥ ७० ॥
ग्रहणीपाण्डुरोगघ्नं गुल्मश्वयथुनाशनम् ।
सुरां वा त्रिवृतायोगकिण्वां तत्क्वाथसंयुताम् ॥ ७१ ॥

च. क. ७।६९-७१

—त्रिवृन्मुष्टीनित्यादिना प्रथमा सुरा, सुरां वेत्यादिना द्वितीया, एवं द्वौ सुरायोगौ भवतः । त्रिवृद्योगयुक्तं किण्वं यस्यां सा तथा ॥ चक्रपाणिः ।

विरेचक त्रिवृत् साधितमरिष्टम् ।

त्रिवृन्मुष्टींस्तु सनखानष्टौ द्रोणेऽभसः पचेत् ।
पादशेषं कषायं तं पूतं गुडतुलायुतम् ॥
स्निग्धे स्थाप्यं घटे क्षौद्रपिप्पलीफलचित्रकैः ।
लिप्ते मांसे गते पीतं पाण्डुश्वयथुगुल्मजित् ॥ अ० सं० क० २।

अष्टौ त्रिवृन्मुष्टीन् सनखानन्तर्नखान्यत्राङ्गुलिनखा अपि मुष्टौ प्रविशन्ति । द्रोणोऽम्भसः सद्वादशानि पञ्चपलशतानि । पाकत्वाच्चतुर्भागः । क्षौद्रादिकेन स्निग्धघटालेपः । इन्दुः ।

विरेचनी त्रिवृत् सुरा

सुरा वा त्रिवृतापादकिण्वातत्क्वाथसंयुता । अ० सं० क० २।२२

एवं भूता सुरा पाण्डवादिजित् । किंभूता त्रिवृता पाद किण्वा त्रिवृता पाद एव किण्व यस्याः । सुरापादेन त्रिवृद्देयेत्यर्थः । किण्वः सुराकल्कः । तत्क्वाथेन संयुता युक्ता । इन्दुः ।

हि० व्या०—(१) निशोथ (नखबन्द) मुट्टी से आठ मुट्ठी एक द्रोण जल में क्वाथ बनावें । चौथाई शेष रहने पर एक तुला गुड डाल दें । एक स्निग्ध मुट्टी मिट्टी के पात्र के भीतरी भाग में पीपर, मदनफल, चित्रक इनके चूर्ण को मधु में मिलाकर लेप कर दें । इस घड़े में मधु मिश्रित क्वाथ

को भरकर मुखमुद्राकर एक मास तक सन्धान करें। पश्चात् छानकर बोतलो में भर लें। यह अरिष्ट ग्रहणी, पाण्डुरोग, गुल्म, और शोथ रोग नाशक है।

(२) सफेद निशोथ के चतुर्थांश किण्व (सुराकिट्ट) और त्रिवृता के क्वाथ से बनाई हुई सुरा को ग्रहणी आदि रोग से पीड़ित रोगियों को पिलाना चाहिए।

वैरेचनिक आसव प्रयोगाः

वैरेचनिक निःक्वाथ भागाः शीतास्त्रयो मताः।
द्वौ फाणितस्य तच्चापि पुनरग्नावधिश्रयेत्॥
तत् साधुसिद्धं विज्ञाय शीतं कृत्वा निधापयेत्।
कलसेकृतसंस्कारे विभज्यर्तू हिमाहिमौ॥
मासादूर्ध्वं जातरसं मधुगन्धं वरासवम्।
पिबेदसावेव विधिः क्षारमूत्रासवेष्वपि॥

सु० सू० ४४।२८-३०

वैरेचनिकं गौडमासवं निर्दिशन्नाह—वैरेचनिकेत्यादि। वैरेचनिकं द्रव्यं सेहुण्डवर्जितं ग्राह्यम्। एकेव त्रिवृदित्येके। शीता इत्यनेन वैरेचनिकक्वाथे, उष्णे फाणिते न योजयेदित्युक्तं भवति। द्वौ फाणितस्येति फाणितं काकवी, एतेन पञ्च भागाः क्वथनीया इत्यर्थः साधु सिद्धमिति अर्धावशिष्टम्। पुनः शीतग्रहणेनोष्णं न सन्धातव्यमित्युक्तम्। त्रिवृदधिकारे वैरेचनिक क्वाथभागा इति सामान्यशब्दप्रयोगादपरवैरेचनिकानामप्येवमेवासव इति बोधयति। निधापयेत् क्व? इत्याह-कलसे। कथं भूते? कृतसंस्कारे; अन्तः क्षालित शुष्कस्य मधुपिप्पलीलेपोऽगुरूधूपनं चेति संस्कारः। विभज्यर्तू हिमाहिमाविति हिमे मासं धान्यराशौ स्थाप्यम् अहिमे पुनरूर्ध्वं पक्षमिति जातरससमुत्पन्नरसं वरासवं पिबेदिति संबन्धः। जातरसस्य लक्षणमाह-मधुगन्धमिति। असावेव विधिः क्षारमूत्रासवेष्विति अयमेव विधिश्चिकित्सितादौवक्ष्यमाण क्षारोदकासावादिषु गुडमधुयोनिष्वन्येषु च हिमाहिमकाल स्थापनस्य पाकप्राप्तिलक्षणस्य चेति। डल्हणः।

वैरेचनिकेत्याद्यासवे यद्यपि अधिकृतत्वात् त्रिवृदेव गृहीतव्या, तथाऽपि 'वैरेचनिक' इति वचनमनेनैव विधानेन श्यामादीनामपि विरेचनोक्तानां मूलप्रधानानामासवकल्पनाप्राप्त्यर्थम्। एवं सुरासौवीरतुषोदकेष्वपि व्याख्येयम्। अन्ये तु त्रिवृतादीन् मूलोपयोज्यान् सर्वानेव ग्राहयन्ति। साधुसिद्धमित्यर्थक्षयीकृतम्; कृतसंस्कारे इति क्षालनधूपादिसंस्कृते। विभज्यर्तू हिमाहिमाविति हिम मासादूर्ध्वम्, अहिमे तु ग्रीष्मे मासार्धंस्थितम्। क्षारासवमूत्रासवाश्चिकित्सावक्ष्यमाणाः। चक्रपाणिः।

वैरेचनिकेत्यादि। अधिश्रयेद्विपचेत्, साधुसिद्धमिति वृद्धोपदेशादर्द्धावशिष्टत्वेन सम्यक् पक्वमित्यर्थः। कृतसंस्कारे घृतलेपनादिनागुरुधूपनादिना च

संस्कृते कलसे, हिमाहिमौ ऋतूविभज्य मासादूर्ध्वं न्यूनं वेति तात्पर्यम्, जातरसमासवं मधुगन्धिकमित्यनन्तरोक्तेः, निधापयेदिति सम्बन्धः। क्षारमूत्रासवेष्विति वैरेचनिकेष्वित्यर्थः। अनेन विधिना क्षारमूत्रसावेषु कर्त्तव्येषु फाणितस्थाने क्षारोदकं मूत्रं वा देयमित्यनुसंधेयम्। हाराण च०।

हि० व्या०—वैरेचनिक द्रव्यों (निशोथादि) के शीतल क्वाथ तीन भाग तथा गुड की राव दो भाग मिलाकर अग्नि पर पकावें अच्छी प्रकार पक जाने पर शीतल करके संस्कारित कलस, कांच पात्र या चीनी मिट्टी के पात्र में सन्धान करें। शीत ऋतु में एक मास और उष्ण ऋतु में पन्द्रह दिन रखें। जब मधु के समान गन्ध आने लगे तब उसका सेवन करना चाहिए। क्षार, मूत्र तथा अन्य आसवों के बनाने की भी यही विधि है।

वैरेचनिकी सुरा प्रयोगः

वैरेचनिकमूलानां क्वाथे माषान् सुभावितान्।
सुधौतांस्तत्कषायेण शालीनां चापि तण्डुलान्॥
अवक्षुण्णकतः पिण्डान् कृत्वा शुष्कान् सुचूर्णितान्।
शालितण्डुलचूर्णं च तत्कषायोष्मसाधितम्।
तस्य पिष्टस्य भागांस्त्रीन् किण्वभागविमिश्रितात।
मण्डोदकार्थे क्वाथं च दद्यात्तत्सर्वमेकतः॥
निदध्यात्कलसे तां तु सुरां जातरसां पिबेत्।
एष एव सुराकल्पो वमनेष्वपि कीर्तितः॥

सु० सू० ४४।३१-३४

त्रिवृदादिक्वाथेन माषविदलानि विभावयेदित्यर्थः। तत्कषायेणेत्यादि तेनैव वैरेचनिकक्वाथेन। अवक्षुण्णकतः एकीकृत्य कुट्टयित्वेत्यर्थः। पिण्डान् कृत्वेतिकिण्वनिमित्तं पिण्डं कृत्वेत्यर्थः। तत्कषायोष्मसाधितमिति त्रिवृदादिक्वाथोष्मस्वेदितम्। तस्य पिष्टस्येत्यादि पिष्टपाचनिकायां शीतलीकृत्य तस्य पिष्टस्व भागांस्त्रीन् पूर्वकिण्यभागेनैकेन मिश्रितान कृत्वेत्यर्थः। क्वाथ दद्यादिति त्रिवृदादे। तस्य प्रमाणं तु आसुतीवला एव जानन्ति। एतस्यैव योगस्यान्यत्राप्यनिदेशं निर्दिशन्नाह एष एवेत्यादि। एष एव सर्वपिष्टसुराणां विधिः; तथा वामनीयेषु मदनफलादीष्वपि, इत्यर्थः।

डल्हणः

वैरेचनिकमूलानामित्यादौ सुराकल्पे माषानिति निस्तुषमाषान्। सुधौतानिति तण्डुलानित्यनेन योज्यम्। एकत इति माषं तण्डुलं च एकीकृत्य। पिण्डानिति सुराबीजसंज्ञकान् पिण्डान्, सुचूर्णितानत्र 'कुर्यात्' इति शेषः। शालितण्डुलचूर्णमित्यपरं पिष्टान्नं ज्ञेयम्। सम्यक्स्विन्नमिति वैरेचनिकक्वाथेनैव स्विन्नं ज्ञेयम्। किण्वभागविमिश्रितानिति सुचूर्णितानित्यनन्तरोक्तसुराबीजभागैक-

मिश्रितान् । मण्डोदकार्थे इति मण्डेनोदकेन वा कर्तव्य द्रवकार्ये । जातरसत्व-मिहापि पूर्ववन्मासादर्धमासाद्वा । वमनेष्वपीति मदनफलादिष्वपि वमनार्थमेव ।

चक्रपाणिः

वैरेचनिकेत्यादि । वैरेचनिकमूलानां त्रिवृदादिमूलानां क्वाथे सुभावितान् "दिवा दिवातपे शुष्कं रात्रौ निवासयेत्" इत्याद्युक्तेन विधिनं सप्तरात्रं वासितान्, तत्कषायेण वैरेचनिकमूलक्वाथेन सुधौतान् वृद्धयोपदेशात् यामद्वयं सिक्त्वा त्रिः प्रक्षालितान् शालीनां तण्डुलांश्च, एकत एकध्यम् अवक्षुद्य उदूखले सम्पिष्य, पिण्डान् आर्द्रत्वेन संहृतांस्तान् शुष्कान् सुचूर्णिताश्च कृत्वा; शालितण्डुलचूर्णञ्च तत्कषायोष्मसाधितं प्रागुक्तमोदकोपात्तसमितास्वेदनविधिना वैरेचनिकक्वाथोष्मणा पृथक् पाचितं, कृत्वेन समन्वयः, तस्य पिष्टस्य समापशालितण्डुलचूर्णसमूहस्य तत्कषायोष्णासाधितशालितण्डुलचूर्णस्य च, त्रीन् भागान् किण्वभागविमिश्रतान् किण्वैकभागसंयुक्तान्, इहापि कृत्वेति क्रियापदमाक्षिप्यान्वेयम् किण्वं सुरावीजम् "किण्वादिभ्यो मदशक्तिवत्" इति सांख्याः । मण्डोदकार्थे सुरायामस्यामुदककार्य्यनिमित्तिमित्यर्थः, निमित्तमात्रे सप्तमी मन्तव्या" इति कलापचन्द्रः । "मण्डा सुरा" इति हारावली । क्वाथमिति प्रकृतत्वाद्वैरेचनिक मूलानामेव चतुर्गुणं कषाय । एष एवेति प्रासङ्गिकम्; एषकल्पो विधिर्वमनेषु वमनद्रव्येषु मदनफलादिष्वपि कीर्तितो महर्षिभिर्वमने कारयितव्ये इति शेषः ।

हाराण०

हि० व्या०—वैरेचनिक द्रव्यों की जड़ के क्वाथ में सावुत उड़दों को तथा उन्हीं द्रव्यों के क्वाथ में भावित शाली के चावलों को अच्छी प्रकार कूट-कर पिण्ड बनाकर सुखा लें। फिर अन्य शाली चावलों का चूर्ण लेकर विरेचनीय द्रव्यों के क्वाथ की ऊष्मा (भाप) से पकावें फिर इसे उपरोक्त माष-तण्डुल मिलित चूर्ण के तीन भाग तथा किण्व एक भाग मिलाकर सुरा बनाने के लिए वैरेचनिक द्रव्यों का क्वाथ भी उसी के साथ मिलाकर सबको एक मिट्टी के सुवासित कलसे में भरकर मास भर रख दें। पश्चात् विरेचन के लिए पीना चाहिए। वमन के लिए भी इसी कल्प के अनुसार वामक द्रव्यों से सुरा निर्माण कर लेनी चाहिए।

अभयादि मोदक योगः

व्योषत्वक्पत्रमुस्तैलाविडङ्गमलकाभयाः ।
समभागा भिषग्दद्याद् द्विगुणं च मकूलकम् ॥
त्रिवृतोऽष्टगुणं भागं शर्करायाश्च षड्गुणम् ।
चूर्णितं गुडिकाः कृत्वा क्षौद्रेण पलसंमिताः ॥
भक्षयेत् कल्यमुत्थाय शीतं चानु पिवेज्जलम् ।
मूत्रकृच्छे ज्वरे वम्यां कासेश्वासे भृमेक्षये ॥

तापे पाण्ड्वामयेऽल्पेऽग्नौ शस्ता निर्यन्त्रणाशिनः ।
योगः सर्वविषाणां च मनः श्रेष्ठो विरेचने ।
मूत्रजानां च रोगाणां विधिज्ञेनावचारितः ॥

च० क० ७।४६-५०

अयं मोदकस्तन्त्रान्तरेऽभयाद्य इति ख्यातः । मकूलकं दन्ती । अत्र मकूलादीनामेकैक द्रव्यापेक्षया द्विगुण्यादि भवति । केचिदत्र व्योषादिमिलितचूर्णादन्त्यादीनां द्विगुण्यं वदन्ति । मधु च तावन्मात्रंयावता मोदको भवति ।

चक्रपाणिः ।

अभयामोदकनाम्ना प्रसिद्ध त्रिवृदष्टक योगः

व्योषं त्रिजातकं मुस्ता विडङ्गामलके तथा ।
नवैतानिसमांसानि त्रिवृदष्टगुणानि वै ॥
श्लक्ष्णचूर्णीकृतानीह दन्तीभागद्वयं तथा ।
सर्वाणि चूर्णितानीह गालितानि विमिश्रयेत् ॥
षड्भिश्च शर्कराभागैरीषत्सैन्धवमाक्षिकैः ।
पिण्डितं भक्षयित्वा तु ततः शीताम्बु पाययेत् ॥
बस्तिरुक्तृडज्वरच्छर्दिशोषपाण्डुभ्रमापहम् ।
निर्यन्त्रणमिदं सर्वं विषघ्नं तु विरेचनम् ॥
त्रिवृदष्टकसंज्ञोऽयं प्रशस्तः पित्तरोगिणाम् ।
भक्ष्यः क्षीरानुपानो वा पित्तश्लेष्मातुरैर्नरैः ॥
भक्ष्यरूपसधर्मत्वादाढ्येष्वेव विधीयते ।

सु० सू० ४४।५४-५९

व्योषादीनि प्रसिद्धानि । त्रिवृदष्टगुणानीति त्रिवृदष्टगुणायेषु तानि तथा । ईषत्सैन्धवमाक्षिकैरिति ईषच्छब्दश्चतुर्थांशवाचकः । भक्ष्यो भक्षणीय. । भक्ष्यरूपसधर्मत्वात् भक्ष्यरूपतुल्यादित्यर्थः । 'वातश्लेष्मातुरैर्नरैः इति केचित् पठन्ति ।

डल्हणः ।

व्योषेत्यादौ ईषत्सैन्धवं माक्षिकं यत्र तैः षड्भिः शर्कराभागैः पिण्डितं 'कुर्यात्' इत्याहार्यं योज्यम् । तेन तावदत्र मधु देयं यावता पिण्डिता भवति, तथाऽपि तन्त्रान्तरे अयमेव 'अभयापिप्पली" इत्यादिना अभयामोदकः प्रसिद्धः पठ्यते; ईषत्सैन्धववता परमत्र विशेषः । शीताम्बुपानं चात्र विरेचन विरुद्धमपि प्रयोगमहिम्ना भवति ।

चक्रपाणिः ।

व्योषं त्रिकटुकम्, त्रिजातकं त्वगेलापत्रम्, मुस्तामुस्तकं, एकभागापेक्षया त्रिवृदष्टगुणोऽत्रेति त्रिवृदष्टगुणानि । गालितानि वस्त्रपूतानि, षडभिरित्येकभागमपेक्ष्येति बोध्यम्; ईषत् सैन्धवमाक्षिकैरितिषच्छब्दोऽयं भागैकपादं लक्षयन् केवलं सैन्धवशब्देनान्वेतीव्यायुर्व्वेदविदो भाषन्ते, माक्षिकन्तुपिण्डितत्वसम्पादनयोग्यमेव देयमित्यवधेयं पिण्डितमिति विशेषणात् । आतुराणां प्रीतिप्रकर्षमापा-

दयन् स्तौति भक्ष्यरूपेत्यातिना भक्ष्यरूपसधर्म्मत्वात् अपूपाद्यनुरूपत्वादित्यर्थः ।

हाराणच० ।

अभयाद्यो मोदकः

अभया पिप्पलीमूलं मरिचं नागरं तथा ।
त्वक्पत्रपिप्पलीमुस्त विडङ्गामलकानि च ॥
कर्षः प्रत्येकमेषान्तु दन्त्याः कर्षत्रयं तथा ।
षट्कर्षाश्च सितायास्तु द्विपलं त्रिवृतोभवेत् ॥
सर्वं सुचूर्णितं कृत्वा मधुना मोदकं कृतम् ।
खादेत् प्रतिदिनञ्चैकं शीतञ्चानु पिबेज्जलम् ॥
तावद्विरिच्यते जन्तुर्यावदुष्णं न सेवते ।
पाण्डुरोगं विषं कासं जङ्घापार्श्वरुजां तथा ॥
पृष्ठार्त्तिं मूत्रकृच्छ्रञ्च दुर्नाम सभगन्दरम् ।
अश्मरी मेहकुष्ठञ्च दाहशोथोदराणि च ॥
यक्ष्माणं चक्षुषो रोगं कर्मं वैद्येन जानता ।
योजितोऽयं निहन्त्याशु अभयाद्योहिमोदकः ॥

चक्रदन्तः (विरेचना)

अभयादिमोदकः

अभया मरिचं शुण्ठीविडंगामलकानि च ॥
पिप्पली पिप्पलीमूलं त्वक्पत्रं मुस्तमेव च ।
एतानि समभागानि दन्ती च द्विगुणा भवेत् ॥
त्रिवृदष्टगुणा ज्ञेया षड्गुणा चात्र शर्करा ।
मधुना मोदकान्कृत्वा कर्षमात्रप्रमाणतः ॥
एकैकं भक्षयेत्प्रातः शीतं चानु पिबेज्जलम् ।
तावद्विरिच्यते जन्तुर्यावदुष्णं न सेवते ॥
पानाहारविहारेषु भवेन्निर्यन्त्रणः सदा ।
विषमम्वरमन्दाग्निपाण्डुकास भगन्दरान् ॥
दुर्नामकुष्ठगुल्मार्शोगलगण्डभ्रमोदरान ।
विदाहप्लीहमेहांश्च यक्ष्माणं नयनामयान् ॥
वातरोगांस्तथाध्मानं मूत्रकृच्छाणि चाश्मरीम् ।
पृष्ठपार्श्वरूजधनजंघोदररूजो जयेत् ॥
सततं शीलनादेषां पलितानि प्रणाशयेत् ।
अभयामोदका ह्येते रसायनवराः स्मृताः ॥

शा० सं० उ० अ० ४१।२६-३३

अथ सर्वकालीनशीलनार्थं अभयामोदकानाह-अभयेति । एते अभयामोदकः सर्वतुषु प्रसिद्धाः । क्वापि शीतविरेचनसंज्ञाः । त्वक् गुडत्वक्, दन्ती त्रिगुणा

पृथग्भागापेक्षया, एवं त्रवृदपि चाष्टगुणा, शर्कराप्येवं षड्गुणा । केचित्सकलद्रव्येभ्यः षड्गुणत्वमष्टगुणत्वं व्याख्यानयन्ति, तन्न तन्त्रान्तरसंवादात् उक्तंच—

अभया, पिप्पलीमूलं: मरिच, नागरं तथा ।
त्वक्, पत्रं, पिप्ली मुस्तं विडंगमलकानि च ॥
कर्षः प्रत्येकमेषां तु दन्त्याः कर्षत्रयं तथा ।
षट्कर्षास्तु सिता देया द्विपलं त्रिवृता भवेत् ॥
सर्वं संचूर्णितं कृत्वा मधुना मोदकं तथा ।
खादेत्प्रतिदिनं चैकं शीतं चानु पिबेज्जलम् ॥
तावद्विरिच्यते जन्तुर्यावदुष्णं न सेवते ।
पृष्टर्यातिमूत्रकृच्छं च दुर्नामं सभगन्दरम् ॥
अश्मरी मेहकुष्ठं च दाहशोथोदराणि च ।
यक्ष्माणं चक्षुरोगं च कर्मं वैद्येन जानता ॥

योजितोऽयं निहन्त्याशु अभयानाम मोदकः, इति । दृढबलेन एलाचाधिकाऽस्ति-व्योषत्वक् पत्रमुस्तैलां विडंगामलकाभयाः । समभागा भिषक् दद्यात् त्रिगुणं च मुकूलकम् । त्रिवृताऽष्टगुणं भागं शर्करायाश्च षड्गुणं इत्यादि । मुकुलं दन्ती, मधुनेति मोदककरणोचितमानेन । शीताम्बुना पिबेज्जलमिति योगप्रभावोऽयम् । अन्यत्र शीताम्भसा स्तम्भः स्यात् रसायनम् इति । रसादिकरणाद्रसायनम् । पुष्टिबलवर्णकृत् । अथवा रसायनांगमिदं विरेचनं रसायनमिति प्राणदा मोदकाः ।।आढमल्लः

अथ सुखविरेचनमाह-अभया हरीतकी, आमलकं, त्वक् गुडत्वक्, पत्रं पत्रजं मुस्तं भद्रमुस्तकं, एतानि समभागानि, दन्ती, जयपालमूलोत्रिगुणा त्रिभागा तृवृत् श्यामा अष्टभागा, शर्करा षड्गुणा षड्भागा । केचिद्दन्त्यादीन् चूर्णान्भागवृद्धानाहुः । स्पष्टमन्यत् ।।काशिराम०।। शा॰ सं० उ० अ० ४।-

अभया मोदकः

अभया मरिचं शुण्ठी विडङ्गमलकानि च ।
पिप्पली पिप्पलीमूलं त्वक्पत्रं मुस्तमेव च ।
एतानि समभागानि दन्ती तु त्रिगुणा भवेत् ।
त्रिवृताष्टगुणा ज्ञेया षड्गुणा चात्र शर्करा ।
मधुना मोदकान्कृत्वा कर्षमात्रान्प्रमाणतः ॥
एकैकं भक्षयेत्प्रातः शीतञ्चानु पिबेज्जलम् ।
तावद्विरिच्यते जन्तुर्यावदुष्णं न सेवते ॥
पानाहार विहारेषु भवेन्निर्यन्त्रणा सदा ।
विषमज्वर मन्दाग्नि पाण्डुकास भगन्दरान् ॥
पृष्ठपार्श्वोरुजधन जङ्घोदर रुजं जयेत् ।
स्नेहाभ्यङ्गञ्च रोषञ्च दिनमेकं सुधीस्त्यजेत् ॥

सततं शीलनादेव पलितानि प्रणाशयेत् ।
अभया मोदका ह्येते रसायनवराः स्मृताः ॥

भावप्रकाश (विरेचना०)

हि० व्या०—हरीतकी, कालीमिर्च, शुण्ठी, विडंग, आंवला, पीपल, पिपलामूल, दालचीनी, तेजपत्र तथा नागर मोथा एक-एक भाग, दन्तीमूल तीन भाग, निशोथ आठ भाग, खाड़ छः भाग, एकत्रकर शहद मिलाकर एक-एक तोला का मोदक (लड्डू) तैयार करें। प्रातः काल एक मोदक खाकर शीतल जल का सेवन करना चाहिए। इससे तब तक विरेचन होता रहता है जब तक उष्ण जल नही पीया जाता। इसके सेवन के समय खान-पान सम्बन्धी किसी नियम पालन की आवश्यकता नहीं है। इस योग के सेवन से विषम ज्वर, मन्दाग्नि, पाण्डुरोग, कामला, भगन्दर तथा पीठ, पसली, ऊरू, जघन, जंघा तथा उदर की पीड़ा शान्त हो जाती है। औषध सेवन काल में तेल की मालिस करना चाहिए। क्रोध नहीं करना चाहिए। यह अभया मोकद निरन्तर सेवन करने से अकालपलित को नष्ट करता है और उत्तम रसायन है।

विरेचनद्रव्यायां सुखोपयोगाय भक्ष्याः मोदकाः

वैरेकीयद्रव्य चूर्णस्यभागं
सिद्धं सार्द्धं क्वाथभागैश्चतुर्भिः ।
आमृद्नीयात् सर्पिषा तच्छृतेन
तत्क्वाथोष्मस्वेदितं सामितं च ॥
पाकप्राप्ते फाणिते चूर्णितं तत्
क्षिप्तं पक्वं चावतार्य प्रयत्नात् ॥
शीतीभूता मोदका हृद्यगन्धाः
कार्यास्त्वेते भक्ष्यकल्पाः समासात् ॥

सु० सू० ४४।१२-१३

वैरेकीयद्रव्याणां त्रिवृच्छायामादीनां ग्रहणम्। क्वाथभागैरिति विरेचनद्रव्यक्वाथभागैश्चतुर्भिर्मन्देऽग्नौ घृतेन विरेचनद्रव्यसिद्धेन, सामिताभागं गोधूमचूर्णं तुल्यभागं प्रक्षिप्य मर्दयित्वा पिष्टपाचनिकायां घृत्वा ऊष्मणा स्वेदयित्वाऽन्यस्मिन् फाणिते पाकप्राप्ते प्रक्षिप्य मोदकाः कार्याः। उल्हणः

वैरेचनद्रव्यचूर्णस्यभागमित्यादि मोदककल्पः। अत्र विरेचनद्रव्याणि त्रिवृतादीनि सर्वाण्येव पृथगधिकारार्थमुक्तानि। तच्छृतेनेति यस्यचूर्णं गृहीतं तत्साधितेन सर्पिषा। सामितं गोधूमचूर्णम्। तदिति विरेचनद्रव्यचूर्णं समितायुक्तम् हृद्यगन्धा इत्यनेन त्रिसुगन्धियोगं दर्शयति। अत्र च बहूनि पाठान्तराणि संभवन्ति, तान्यनया दिशाव्याख्येयानि। विषयोऽपि प्रयोगाणां पुरुषेच्छावशेन द्रव्यदोषस्वरूपालोचनया कल्प्यः। चक्रपाणिः।

वैरकीयद्रव्यचूर्णस्य त्रिवृदादिचूर्णस्य भागमेकंक्वाथभागैश्चतुर्भिः चतुर्गुणैर्वैरेकीयद्रव्यकषायैः, सार्द्धं सहसिद्धं पाकेन पुनश्चूर्णवत् कृतं, तत्क्वाथौष्मस्वेदितं वैरेकीयक्वाथ त्रिभागपरिपूर्णपात्रोपरिसविधाने पात्रान्तरे संस्थाप्य यथावत् पाचितं, समिता एव सामितं गोधूमचूर्णमित्येतत् "गोधूमा धवला धौताः कुट्टिताः शोधितास्ततः। प्रोक्षिताश्च विनिस्पृष्टाश्चालिताः समिताः स्मृताः, इति राजनिर्घण्टः। तच्छृतेन त्रिवृत्पक्वेन सर्पिषा आमृद्नीयात्। पाकप्राप्तेआ सन्नपाकमागतेफाणिते इति मोदकसाधनत्वात् चूर्णाद्विगुणीभूते, तत्सामित्सहितं चूर्णितं वैरेकीयद्रव्यचूर्णस्य भागं क्षिप्तं पक्वञ्च प्रयत्नादवतार्य्य शीतीभूताः हृद्यगन्धा मोदकाः कार्य्याः ऐते भक्ष्यकल्पा गुटिकादयो विरेचनयोगांस्तु समासादुक्ताः, एतन्निदर्शनेनान्येऽपि कार्य्याइति भावः। हाराणचन्द्रः।

हि० व्या०—त्रिवृतादि विरेचनीयद्रव्यों के चूर्ण का एक भाग तथा क्वाथ का चार भाग परस्पर मिलाकर, पकाकर चूर्ण तैयार कर लें। पुनः विशिष्ट रूप से तैयार की गई श्वेत गेहूं को लेकर त्रिवृतादि द्रव्यों के क्वाथ की ऊष्मा (भाप) से स्वेदित कर त्रिवृतादि से सिद्ध घृत के साथ इन गेहूं को मिलाकर मर्दन करें। फिर चूर्ण के रूप में करके उपरोक्त पकाये हुए त्रिवृतादि चूर्ण में मिलाकर, गुड़ की चासनी में मिलाकर पकाकर उतार लें। शीतल होने पर दाल चीनी, तेजपत्र, और इलायची का चूर्ण प्रक्षिप्त कर (मिलाकर) एक या दो तोले का मोदक बनाकर सुरक्षित रख लें। यह हृदय के लिए हितकर है।

विरेचनद्रव्याणां सुखपूर्वक प्रयोगाय सामान्यतः गुटिका निर्माण प्रकारः

विरेचनद्रव्य भवं तु चूर्णं
रसेन तेषां भिषजा विमृद्य।
तन्मूल सिद्धेन च सर्पिषाऽक्तं
सेव्यं तदाज्ये गुटिको कृतं च ॥
गुडे च पाकाभिमुखे निधाय
चूर्णो कृतं सम्यगिदं विपाच्य।
शीतं त्रिजाताक्तमथो विमृद्य
योगानुरूपा गुटिकाः प्रयोज्याः ॥

सु० सू० ४४।१०-११

विरेचनद्रव्य भवं चूर्णं यदृच्छया ग्राह्यम्। रसेन तेषां विमृद्येति तेषां विरेचनद्रव्याणां रसेन भावना कार्येत्यर्थः। यावता चूर्णमार्द्रो भवति तावद्रसो देयः। भिषजा वैद्येन योगानुरूपा वटकाः प्रयोज्या इति संबन्धः। तन्मूलसिद्धेन च सर्पिषाऽक्तमिति विरेचनद्रव्यजटापक्वेन घृतेन पुनरपि भावना कार्येत्यर्थः; यावता स्नैग्ध्यमुत्पद्यते तावन्मात्रं घृतं देयमित्यर्थः। सेव्यं सेवनीयंम्। तदाज्येत-

स्मिन्नेव घृते। गुटिकी कृतं गुटिका रूपं कृतम्। निधाय निक्षिप्य। गुडोऽत्र द्विगुणो देयः। त्रिजातकमत्र यावता सौगन्ध्यं भवति। डल्हण।

विरेचनद्रव्य भवं त्रिवृदादिकृतं, तेषां त्रिवृदादीनां, रसेन विमृद्य भावयित्वा, तन्मूलसिद्धेन त्रिवृन्मूलक्वाथकल्काभ्यां सिद्धेन सर्पिषा आक्तं गुटिकीकृतं च तदाज्ये त्रिवृन्मूलसिद्धे आज्ये लेहीभूतं कृत्वा सेव्यमिति योजना। अत्र गुटिकीकृतञ्चेति विशेषणं बलवति पुरुषे मात्रातःकर्षं दातुमिति गम्यते "कषाचूर्णस्य कल्कस्य गुटिकानाञ्च सर्व्वशः" इत्यनुशासनात् गुड इत्यादि। गुडे मोदक पाक युक्त्या चुर्णाद्विगुणे, पाकाभिमुखे आसन्नपाके, इदं त्रिवृन्मूलं, शीतमपचितोष्णत्वेन शीतलमिव मत्वा, त्रिजाताक्तं सौगन्ध्यर्थं त्रिवृच्चूर्णादिष्टमांशेन त्वगेलापत्र-केणरचूर्णेन मिश्रितम्, अतो अन्यथा अत्रिजाताक्तं वेत्यर्थः। हाराणच०।

हि० व्या०—त्रिवृतादि विरेचन द्रव्यों के चूर्ण को उन्हीं द्रव्यों के स्वरस या क्वाथ से भावित कर त्रिवृत की जड़ के कल्क क्वाथ द्वारा सिद्ध घृत के साथ घोंटकर गोली बनावें तथा घृत के साथ ही सेवन करें। गोलियां तीन माशे की बनावें। बच्चों के लिए एक-एक गोली, वयस्कों के लिए दो गोली एवं क्रूर कोष्ठ वालों के लिए चार गोली की मात्रा में सेवन करायें। अथवा त्रिवृतादि विरेचन द्रव्यों के चूर्ण को गुड़ की चासनी में मिलाकर विधिपूर्वक पाक कर उसमें दाल चीनी, तेजपत्र, छोटी इलायची का चूर्ण मिलाकर घोंटकर एक या दो माशे की गुटिका बना लेनी चाहिए। एक से चार गुटिका तक विरेचनार्थ सेवन करावें।

वैरेचनिक गुटिका

त्रिवृद्वागास्त्रयः प्रोक्तस्त्रिफला तत्समा तथा।
क्षारकृष्णाविडङ्गानि संचूर्ण्य मधुसर्पिषा॥
लिह्याद्गुडेन गुटिकाः कृत्वावाऽप्यथ भक्षयेत्।
कफवातकृतान् गुल्मान् प्लीहोदरहलीमकान्
हन्त्यन्यानपि चाप्येतन्निरपायं विरेचनम्॥

सु० सू० ४४।२४-१६

त्रिफलाया अपि त्रयो भागाः, क्षारकृष्णाविडङ्गानामपि त्रयोभागा ग्राह्याः। निरपायं व्यापद्रहितम्। डल्हणः।

त्रिवृद्वागा इत्यादौ त्रिफला तत्समेति समुदितैः त्रिफला समा शाणत्रयं; तथा शब्दात् क्षारदीनां च मिलितानां त्रिवृच्छाणत्रयसमत्वं; पठ्यते हि तन्त्रान्तरे—"त्रिवृच्छाणमितास्तिस्रस्त्रिगुणश्च त्रिफलात्वचः। विडङ्गपिप्पली क्षारभागस्तिस्रश्च चूर्णिताः। लिह्यात् सर्पिर्मधुभ्यां तु गुटिकां वा गुडेन तु" (च० क० अ० ७) इत्यादि। अत्र हि त्रिफलाया विशेष्यायास्तच्च एकरूपत्वान्मिलित्वैक भागो भवति; यथा—अष्टपलिके घृते "त्र्यूषण त्रिफलाकल्के बिल्वमात्रे"-

इत्यत्रकल्कविशेषणीभूतत्र्यूषणत्रिफलयोरपि एकत्रैव बिल्वप्रमाणो भागो भवति। चक्रपाणिः।

हि० व्या०—निशोथ तीन भाग, त्रिफला, तीन भाग, यवक्षार एक भाग, पिप्पली एक भाग, विडङ्ग एक भाग, चूर्ण करके १ माशे से ४ माशे की मात्रा में शहद और घृत के अनुपान से सेवन करें। अथवा गुड़ के साथ गोली बनाकर सेवन करना चाहिए। यह योग कफ तथा वायु से उत्पन्न गुल्म रोग, प्लीहावृद्धि, उदर रोग, हलीमक तथा अन्य रोगों को भी दूर करता है। यह निरुपद्रव विरेचन योग है।

कषायगुटिकाचूर्णात्मकानां विरेचनद्रव्याणां परिमाणम्

द्विपलं श्रेष्ठमाख्यातं मध्यमं च पलं भवेत्।
पलार्धं च कषायाणां कनीयस्तु विरेचनम्॥
कल्कमोदक चूर्णानां कर्षं मध्वाज्यलेहतः।
कर्षद्वयं पलं वाऽपि वयो रोगाद्यपेक्षया॥

शा० उत्त० अ० ४।

कषायशब्देन रसः श्रुतः शीतफाण्टानां चतुर्णां ग्रहणम् कल्कस्य पृथगुपादानात्। द्विपलं श्रेष्ठमित्यनेन वातजनितकोष्ठस्येत्यर्थः। विरेचनं मध्यमा मात्रा पित्तजनितमृदुकोष्ठस्येत्यर्थः। अर्धपलं कनीयो मात्रा हीनामात्रेत्यर्थः। कफेन मध्यमकोष्ठः कथितः। कल्कमोदकचूर्णानामिति। कल्कादीनां कर्षं मध्वाज्ययोगतः विरेचनम्। अथवा वयोरोगाद्यपेक्षया कर्षद्वयं पलं वा विरेचनम्। मधुघृतमानं विषमतया योज्यम्। आढमल्लः।

विरेके कषायादीनां मात्रा द्विपलं श्रेष्ठं, पलं मध्यमं, पलार्धं कनीयः स्वल्पम्। कषायानन्तरं विरेचनं कल्कादीनां मध्वाज्य लेहतः कर्षद्वयं त्रयं वाऽपि देयम्। वयोरोगाद्यपेक्षया विचारणीयम्। काशीराम

हि० व्या०—कोष्ठानुसार दो पल क्वाथ मात्रा उत्तम कोष्ठ के लिए, एक पल मध्यमकोष्ठ तथा आधा पल हीन कोष्ठ में प्रयोग कराना चाहिए। कल्क, मोदक अथवा चूर्ण की धात्रा भी आयु, रोग, आदि दृष्टि से विचार करके एक कर्ष या दो कर्ष में मधु या घृत मिलाकर चाटने के लिए देना चाहिए।

विरेचन द्रव्याणां यूष कल्प प्रयोगाय संकेतः।

रसेन तेषां परिभाव्य मुद्गान्।
यूषः ससिन्धूद्भवसर्पिरिष्टः॥
वैरेचनेऽन्यैरपि वैदलैः स्या-
देवं विदध्याद्वमनौषधैश्च॥ सु० सू० ४४।१४

तेषामिति विरेचन द्रव्याणाम्। अन्ये त्वेवं पठन्ति 'मुद्गानां वा तद्रसे

भावितानां यूषः कल्प्यः सघृतः सैन्धवाद्यः' इति । तद्रसे प्रधान कल्पनया त्रिवृता रसे। बैरेचने इति विरेचन द्रव्यभावितैरन्यैरविवैदलैर्मसूरादिभिर्यूषः स्यात् भवेदित्यर्थः । एवमित्यादि । एष एव वमनीयादि यूषाणां कर्ममार्गः ।

डल्हणः ।

मुद्गदानां वेत्यादि । यूषेमुद्गाच्चतुर्थभागेन त्रिवृतादि । अत्र कृतत्वं हिङ्गजीरकादि संपाद्यम् । वामनीयैरिति मदनफलादिभिः । अयं च वमनार्थमेवज्ञेयः ।

चक्रपाणिः ।

तेषां त्रिवृतादि विरेचन द्रव्याणाम् । अन्यैरपि वैदलैर्मसूरादिभिरेवं यूषः स्यात् । प्रसङ्गात् यूषविधिरयं वमनेऽप्यतिदिश्यते विदध्यादित्यादिना । चकार एवं शब्द प्रत्यवमर्शार्थः । वमनौषधैश्च एवं यूषं विदध्यात् वमने कारयितव्ये इति शेषः । एतेनैतदुक्तं भवति, यथा विरेचने कारयितव्ये वैरेचनिक द्रव्यभावितानां वैदलानां सर्पिः सैन्धवसंस्कृतो यूष इष्टस्तथैव वमने कारयितव्ये वमनौषधभावितानां वैदलानामिति ।

हाराणच०

हि० व्या०—वैरेचनिक द्रव्यों के स्वरस या क्वाथ से मूंगों को भावित कर उनका यूष बनाकर, सैंधव नमक तथा घृत मिश्रित कर विरेचनार्थ सेवन करायें । इसी तरह मसूरादि अन्य द्विदलों को भी वैरेचनिक द्रव्यों के स्वरस या क्वाथ से भावित कर यूष बना लेना चाहिए । इसी प्रकार वामक द्रव्यों के स्वरस या क्वाथ से विदलों को भावित कर यूष बनाना चाहिए ।

उत्तम विरेचन योगः

सक्षौद्रां शर्करां पक्त्वा कुर्यान्मृद्भाजने नवे ।
दद्याच्छीते त्रिवृच्चूर्णं त्वक्पत्र मरिचैः सह ।
लिहयात्तं मात्रया लेहमीश्वराणां विरेचनम् ॥

वङ्गसेन (विरेचनः)

हि० व्या०—शहद और चीनी मिलाकर मिट्टी के नये पात्र में डालकर आग पर पकायें । गाढ़ा हो जाने पर आग से उतारकर रख लें । शीतल होने पर त्रिवृत् चूर्णः दालचीनी, तेजपात्र, काली मिर्च का चूर्ण मिलाकर सेवन करने से उत्तम विरेचन होता है । यह धनाढ्य व्यक्तियों के लिए उत्तम योग है ।

मेघनाद रेचन रसः

दरवं टङ्कणं चैव सैन्धवं च कटुत्रयम् ।
त्रिफलाहारहूरा च कृमिघ्नं रामठं तथा ॥
दस्यु दीप्यं समानं च दन्ती सर्वार्द्धभागिका ।
जम्बीर वारा सम्मर्द्य चणकस्य प्रमाणतः ॥
उष्णोदकानुपानेन कृम्यामान्तं विरेचनम् ।
तस्योपरि हितं देयं पथ्यं दध्योदनं परम् ॥

उदरे पाण्डुशोफे च शोफोदरजलोदरे ।
सर्वज्वरे च विषमे मेघनादः प्रशस्यते ॥

योगरत्ना० (विरेच० प्र०)

हि० व्या०—हिंगुल, टंकण, सैंधव, त्रिकटु, त्रिफला, मुनक्का, विडंग, हींग, चोरक, अजवायन सभी को समान भाग लें । इनमें आधा दन्ती का चूर्ण मिलाकर जम्बीरी नीबू के स्वरस में घोटकर चणकप्रमाण में गोलियां बनावें । इनको उष्ण जल के अनुपान से प्रयोग करने पर कृमि और आम का विरेचन हो जाता है । इस प्रयोग के समय दही, भात आदि हितकर पथ्य का प्रयोग करना चाहिए । यह उदर रोग, पाण्डु, शोथ, जलोदर, सभी प्रकार के ज्वर, विषम ज्वर में मेघनाद रस हितकर विरेचन कहा गया है ।

पिप्पल्यादि विरेचन योगः

पिप्पलीपिप्पलीमूलमभयाद्विगुणोत्तरम् ।
चूर्णमुष्णाम्बुना पेयं स्वस्थे सुखविरेचनम् ॥

योगरत्ना० (विरेचना०)

हि० व्या०—पिप्पली, पिपलामूल, हरीतकी तीनों को क्रमशः द्विगुण-मात्रा में लेकर उष्ण जल के साथ सेवन करने से स्वस्थ पुरुष को उत्तम विरेचन हो जाता है ।

नाराच (पथ्यादि) विरेचन चूर्णम्

प्रपथ्या सैंधवकणाचूर्णमुष्णाम्बुना सह ।
एतन्नाराचकं ख्यातं रेचनं च हितावहम् ॥

योगरत्नान (विरेच० प्र०)

हि० व्या०—हरीतकी, सैंधव, पिप्पली, का समभाग चूर्ण उष्ण जल से प्रयोग करना उत्तम विरेचन होता है । इसे नाराच कहते हैं ।

विचित्र विद्याधर विरेचन योगः

वराम्बुना देशसमाख्यबीजं
सुवर्णमित्रं कुसुमाभिधानम् ॥
विचित्र विद्याधरनामकोऽयं ।
मलं विना मुञ्चति चाऽऽममेव ॥

योगरत्ना० (विरेच०)

हि० व्या०—त्रिफला स्वरस या क्वाथ में इन्द्र जौ, सुहागा एवं लवंग चूर्ण के सेवन से मलरहित आम निकाला जाता है । यह विचित्र विद्याधर योग है ।

सुखकर विरेचन योगः

पादमदकर्णहस्तैः पथ्या त्रिवृतं च नागरं लवणम् ।
निष्क्वथित पीतसारं नरपति योग्यं विरेचनं भवति ॥

हि० व्या०– हरीतकी चार भाग, निशोथ तीन भाग, सोंठ दो भाग, सैंधव-नमक एक भाग का क्वाथ कर निकाला हुआ सार पदार्थ सुकुमारों को पिलाने के लिए सुखकर विरेचन होता है ।

विरेचन समनन्तरं पेयादिक्रम पालने युक्तिः

संशोधनासृविस्राव स्नेहयोजनलंघनैः ।
यात्यग्निर्मंदता तस्माक्रमं पेयादिमाचरेत् ॥

अ० हृ० सू० १८।३९

हि० व्या०—वमन, विरेचन, रक्तस्रावण, स्नेहपान तथा लंघन के पश्चात् प्रायः जठराग्नि मन्द हो जाती है अतः पेयादिक्रम का सेवन करना चाहिए ।

विरेचन योग सेवन समनन्तरं मंदाग्निकृशता प्रभृति लक्षणेषु क्वचित् लंघन विधानम् ।

मंदवह्निमसंशुद्धमक्षामं दोष दुर्बलम् ।
अदृष्टजीर्णलिङ्गं च लंघयेत्पीतभेषजम् ॥
स्नेहस्वेदौषधोत्क्लेश संगैरिति न बाध्यते ।

अ० हृ० सू० १८।-

हि० व्या०—वमन विरेचन के पश्चात् यदि अग्नि मन्द हो, अच्छी तरह शोधन न हुआ हो, क्षीणता या दुर्बलता न हो, दोष दुर्बल हो अथवा अपच के लक्षण हो, तो लंघन कराना चाहिए क्योंकि लंघन करने से स्नेहन एवं स्वेदन के कारण उत्पन्न उत्क्लेश से तथा मलों के अवरोध से उत्पन्न किसी प्रकार का कष्ट नहीं रह जाता है । अर्थात् लंघन से सभी उपद्रव दूर हो जाते हैं ।

विरेचनोत्तरं वर्ज्याः

उदकं चोदमन्थं च मत्स्यान्मांसतिलानपि ।
गुरुचान्नं न भुञ्जीत स्नेह सन्तर्पणानि च ॥

भे० सं० सू० १४।९

हि० व्या०— विरेचनोपरान्त, अधिक उष्ण और अधिक शीतल जल, मछली, मांस, तिल के भोज्यपदार्थ, गुरुअन्न स्नेह एवं सन्तर्पण पदार्थों का सेवन नहीं कराना चाहिए ।

विरेचन प्रयोगे कठिन भोजन निषेधः

विरेचनं तु यः पीत्वा दारुणं रुक्षिते गुदे ।
दारुणं भक्तमश्नाति तमामिषरसैन वै ॥

भे० सं० सू० १४।१०

दोषबलात् स्वयं विरिच्यमानस्य सम्यग्विरेचनाय भेदनीय भोजन विधानम् ।

दुर्बलो बहुदोषश्च दोषपाकेन यः स्वयम् ।
विरिच्यते भेदनीयैर्भोज्यैस्तमुपपादयेत् ॥

अ० हृ० सू० १८।४२

हि० व्या०—यदि मल अधिक हो और रोगी दुर्बल हो परन्तु दोष का पाक हो जाने के कारण विरेचन हो रहा हों तो उसे भेदनीय (मलभेदक) आहारों द्वारा उपपन्न कहना चाहिए ।

विरेचनान्ते पथ्यानि

पीत्वा विरेचनं शीत जलैः संसिच्य चक्षुषी ।
सुगन्धि किञ्चिदाघ्राय ताम्बूलं शीलयेद् बुधः ॥
निर्वातस्थो न वेगांश्च धारयेन्न शयीत च ।
शीताम्बु न स्पृशेत् क्वापि कोष्णनीरं पिबेन्मुहुः ॥
बलासौषध पित्तानिवायुर्वान्ते यथाव्रजेत् ।
रेकात्तथा मलं पित्तं भेषजञ्च कफोव्रजेत् ॥

भा०प्र० (विरेचना०)

हि० व्या० –विरेचनौषधि पीने के पश्चात् नेत्रों पर शीतल जल का सिंचन करना चाहिए । किसी सुगन्धयुक्त द्रव्य को सूंघना चाहिए और पान खाना चाहिए । निवात स्थान में रहना, मल के वेग को न रोकना, तथा सोना नहीं चाहिए । शौचादि किसी कार्य के लिए उष्ण जल का प्रयोग करना चाहिए और बार-बार उष्ण जल पीना चाहिए । जिस प्रकार वमन में पहले कफ फिर औषध फिर पित्त और अन्त में केवल वायु निकलता है उसी प्रकार विरेचन में पहले मल फिर पित्त फिर औषध और अन्त में कफ के लच्छे निकलते है ।

सम्यग्विरिक्त पथ्यपालन निर्देशः

शीतैः संग्राहिभिर्द्रव्यैः कुर्यात्संग्रहणंभिषक् ।
लाघवे मनसस्तुष्टावनुलोमं गतेऽनिले ॥
सुविरिक्तंनरं ज्ञात्वा पाचनं पाययेन्निशि ।
इन्द्रियाणां बलं बुद्धेः प्रसादो वह्निदीप्तता ॥
धातुस्थैर्यं वयः स्थैर्यं भवेद्रेचनसेवनात् ॥
प्रवातसेवा शीताम्बु स्नेहाभ्यङ्गमजीर्णताम् ॥
व्यायामं मैथुनं चैव न सेवेत विरेचितः ।
शालिषष्टिकमुद्गाद्यैर्यवागू भोजयेत्कृताम् ॥
जङ्घाल विष्किराणां वा रसैः शाल्योदनं हितम् ।

हरिणैणकुरङ्गर्ष्य वातायुमृगमातृकाः ॥
राजीवः पृषतश्चैव, जङ्घालाः शरभादयः ॥
भा० प्र० (विरेचना०)

सम्यक् विरेचन हो जाने पर भी विरेचन होता रहे अथवा असम्यक विरेचनावस्था में विरेचन अति विरेचन होने पर सर्वप्रथम शीतल और संग्राही द्रव्यों के प्रयोग से अधिक विरेचन को रोकना चाहिए।

जब शरीर में लघुता हो, मन में प्रसन्नता हो तथा वायु अनुलोम हो जाय तब उत्तम विरेचन जानना चाहिए इस स्थिति में रात्रि में पाचन आहार का सेवन कराना चाहिए। विरेचन प्रयोग से इन्द्रियों में बलवृद्धि होती है, बुद्धि विकसित होती है, जठराग्नि प्रदीप्त होती है और रसादि धातु एवं पाचन में स्थिरता आती है। विरेचन काल एवं विरेचनोपरान्त कुछ काल तक ताप, शीतल जल, स्नेह प्रयोग, अभ्यंग, अपची, व्यायाम तथा मैथुन का परिहार कराना चाहिए।

शाली तथा साँठी चावल तथा मूंग आदि की खिचड़ी या यवागू का आहार कराना चाहिए। हरिण, एण, कुरंग, ऋष्य, वातायु, मृग, मातृका, राजीव तथा पृषत् एवं शरभ आदि प्राणी जंघाल के नाम से व्यवहृत है।

न सम्यग् विरिक्तस्य रुग्णस्य कृते पेयापान निषेधः

सम्यग्विरिक्तस्य कृते पेया पान विधानम्

मन्दाग्निमक्षीणमसद्विरिक्तं
न पाययेताहनि तत्र पेयाम् ॥
क्षीणं तृषार्तं सुविरेचितं च
तन्वीं सुखोष्णां लघु पाययेच्च ॥
सु० चि० ३३।२६ चक्रदत्त विरे०) वङ्गसेन (विरे०)

हि०व्या०—विरेचनोपरान्त मन्दाग्निवाले व्यक्तियों को क्षीण तथा जिन्हें सम्यक् विरेचन नहीं हुआ हो, उन व्यक्तियों को उसी दिन यवागू नहीं देनी चाहिए। सम्यग्विरेचनोपरान्त क्षीणता एवं तृष्णा होने पर यवागू पिलानी चाहिये।

असम्यक् विरेचने उष्ण जलपान विचारः

विरेकायौषधं पीतं न सम्यग्यदि रेचयेत्।
पिबेदुष्णांभसा तत्र सैन्धवं दोषशान्यते ॥ वङ्गसेन

हि० व्या०—यदि सम्यविरेचन न हो तो उष्णजल में सैंधव मिलाकर पिलाना चाहिए।

दुर्विरिक्तादीनामुपक्रमः

गौरवे दुर्विरिक्तस्य यदजीर्णं तदुल्लिखेत्।
सात्म्यं तु पेयं भैषज्यं निरूहो गाढ़वर्चसाम् ॥

रूपाण्यतिविरिक्तस्य हरेत्क्षीरघृतादिभिः।
स्नेहैश्चैवोपनाहैश्च साभ्यङ्गैश्च भिषग्जयेत् ॥
भे० सि० १।४०-४१

विरेचने पथ्यः

शालिषष्टिकमुद्गाद्यैर्यवागूं भोजयेत्कृताम्।
जाङ्गलैर्विष्किराणां वा रसैः शाल्योदनं हितम् ॥
यो० रत्ना० शा० उप० ४।४४

हि० व्या०—विरेचन के पश्चात् शालि चावल, साठी चावल तथा मूंग आदि की यवागू अथवा जाङ्गल तथा विष्किर जीवों के मांसरस के साथ शालि चावल का भात खाना चाहिए। इस प्रकार जैसे-जैसे अग्नि वृद्धि हो क्रमशः पूर्व भोजन पर आना चाहिए।

सुविरिक्ते पाचनौषध प्रयोगः

लाघवे मनसस्तुष्टावनुलोमे गतेऽनिले।
सुविरिक्तं नरं ज्ञात्वा पाचनं पाययेन्निशि ॥
शा० उ० ४।४६

हि० व्या०—शरीर में लघुता, मन में संतोष, वायु का अनुलोमन होना, इन लक्षणों से विरेचन सम्यक् हो गया है ऐसा समझना चाहिए। उसी दिन रात्रिकाल में पाचन औषध देना चाहिए। पाचन औषध से अवशिष्ट दोष भी दूर हो जाते हैं।

सुकुमारतरपुरुष विशेषेषु विरेचक भेषज प्रयोगः

सुखं दृष्टफलं हृद्यमल्पमात्रं महागुणम्।
व्यापत्स्वप्यात्ययं चापि पिबेन्नृपतिरौषधम् ॥
सु० चि० ३३।४५

हि० व्या०—राजा के योग्य विरेचनौषध—पीने में सुखकर, जिसका गुण ज्ञात हो चुका हो मन को प्रिय लगने वाली, अल्पमात्रा वाली, अधिक गुणकारी तथा हानिकारक दोष स्वल्प हो, ऐसी औषधि राजा को पीनी चाहिए।

विरेचन प्रयोगे विशेष सावधानतायां युक्तिः

विभ्रंशो विषवद्यस्य सम्यग्योगो यथाऽमृतम्।
कालेष्ववश्यं पेयं च तस्माद्यत्नात्प्रयोजयेत् ॥
च० क० १२।८२

हि० व्या०—संशोधन का विभ्रंश, विष के समान हानिकारक होता है तथा संशोधन का सम्यक् योग अमृत के समान लाभदायक होता है। अतः संशोधन को अवश्य ही समुचितकाल में पीना चाहिए। अतः हानि और लाभ का विचार कर यत्नपूर्वक संशोधन का प्रयोग करना चाहिए।

सम्यग्विरिक्त पथ्य पालन विधिः

सम्यग्विरिक्तं चैनं वमनोक्तेन धूमवर्जेनविधिनोपपादयेत् । अथ वमितवानिव क्रमेणानुगुणानुपयुंजानः प्रकृतिभोजनमागच्छेदिति ।

अ० सं० सू० २७।३८

... ... ततो वमितवानिव ।
क्रमेणान्नानि भुञ्जानो भजेत्प्रकृतिभोजनम् ॥

अ० सं० सू० १८।३६

हि० व्या०—सम्यक् विरेचन होने पर वमनकर्म में वर्णित धूम्रपान रहित समस्त विधि का पालन करना चाहिए । उसी प्रकार क्रमशः पेयादि का सेवन कराते हुए प्राकृतिक भोजन पर लाना चाहिए ।

विरेचनस्य अतियोगे उग्रावस्थायां जायमानानां उपद्रवाणां वर्णनं तथा अवस्थाभेदेन चिकित्सा सूत्राणां वर्णनं च ।

विरेचनातियोगे च सचन्द्रकं सलिलमधः स्रवति ततो मांसधावन प्रकाशमुत्तरकालं जीवशोणितं च, ततो गुदनिःसरणं वेपथुर्वमनातियोगोपद्रवाश्चास्य भवन्ति, तमपि निःस्रुतशोणितविधानेनोपचरेत्, निःसर्पितगुदस्य गुदमभ्यज्य परिस्वेद्यान्तः पीडयेत् क्षुद्ररोगचिकित्सितं वा वीक्षेत, वेपथौ वातव्याधिविधानं कुर्वीत, जिह्वानिःसरणादिषूक्तः प्रतीकारः, अतिप्रवृत्ते वा जीवशोणिते काश्मरीफलबदरीदूर्वोशीरैः शृतेन पयसा घृतमण्डाञ्जनयुतेन शीलेनास्थापयेत्, न्यग्रोधादिकषायेक्षुरसघृतशोणितसंसृष्टैश्चैनं बस्तिभिरुपाचरेत्, शोणितष्ठीवने रक्तपित्तरक्तातीसारक्रियाश्चास्य विदध्यात्, न्यग्रोधादिं चास्य विदध्यात् पानभोजनेषु ॥

सु० चि० अ० ३४।१३

विरेचनातियोगे चेत्यादि । सचन्द्रकं मयूरपिच्छचन्द्रकाकारम् । जीवशोणितं शरीरेन्द्रिय सत्त्वात्मसंयोगाश्रयंविशुद्धं शोणितमित्यर्थः । वमनातिप्रवृत्तौ तावच्छोणित निष्ठीवनप्रच्छर्दने उक्ते, अत्र तु मांसप्रक्षालनोदक जीवशोणितनिर्गमाभ्यां प्रवृत्तिरुक्तेति शोणित प्रवृत्तिर्वमन विरेचनातियोगे सामान्यं, भेदस्तु जिह्वानिःस्सरणस्थानेऽत्र गुदनिःस्सरणं, तथाऽक्ष्णोर्व्यावृत्तिर्मनागपि नास्ति किन्त्वन्तः प्रवेश एव भवति, नास्ति चाप्रत्यासत्त्या हनुसंहननं हिक्कोद्गारौ चेति गयदासाचार्य जेज्जटाचार्यस्तु जिह्वानिःसर्पणं परित्यज्य अन्ये प्रवृद्धवमनातियोगोक्ता उपद्रवा भवन्तीति व्याख्याति । वेपथुः कम्पः । वमनातियोगोपद्रवा इत्यादि । सर्वाङ्गप्रवृत्तरसधातुक्षयेण वातकृता वमनातियोगोपद्रवा पित्तातिप्रवृत्तिबलविभ्रंशवातकोपतृष्णामोहादयः । जिह्वापसर्पणादिष्विति जिह्वापसर्पण मत्रोपलक्षणं, तेन जिह्वापसर्पणादिविरेचनातियोगोत्पन्नेषु वमनातियोगोक्तः प्रतीकार इतिजेज्जटः । गयी तुजिह्वानिःस्सर्पणादयो वमनातियोगे एव भवन्तीति प्रतिपादयति—जिह्वानिःस्सर्पणादिष्वित्यादिना । उक्तः प्रतीकार इति वमनातियोगे इत्यर्थः । फलं मदनफलं, घृतमण्डः घृतस्य स्त्यानस्योपर्यच्छो भागः । अञ्जनं स्रोतोऽञ्जनम् । बस्तिकल्पना चात्र सामान्यनिरूहकल्पेन । विरेचनातियोगे जीवशोणितातिप्रवृत्तौ चिकित्सितमुपदिश्य वमनातियोगेपि शोणितनिष्ठीवनादौ रक्तातिसारक्तपित्तक्रियामाहशोणितेस्यादि । पानभोजनसंस्कारे चास्य न्यग्रोधादिषडङ्गोदककल्पेन । डल्हणः ।

हि० व्या०—विरेचन के अतियोग होने पर मोरपंख चन्द्रिका सदृश जल बाहर निकलता है । इसके अनन्तर मांसधावन के समान जीवशोणित का निर्गमन होता है, फिर गुदभ्रंश, कम्प एवं वमन के अतियोग में निर्दिष्ट अन्य उपद्रव भी उत्पन्न होते हैं । इसकी चिकित्सा भी रक्तस्राव रोधक करनी चाहिए । गुदभ्रंश होने पर गुदा में स्नेहन एवं स्वेदन करके अन्दर की ओर प्रवेश कराना चाहिए । कम्प में वातव्याधि में निर्दिष्ट चिकित्सा का अनुसरण करना चाहिए अधिक जीव शोणित का स्राव होने पर गम्भारी के फल, बेर, दूर्वा और खस से सिद्ध दूध में घृतमण्ड और सौवीराञ्जन मिलाकर शीतल करके आस्थापनबस्ति का प्रयोग करना चाहिए । न्यग्रोधादि गण के क्वाथ में गन्ने का रस, घृत और बकरी का रक्त मिलाकर बस्ति चिकित्सा करनी चाहिए । थूक के साथ रक्त निकलने पर रक्तपित्त और रक्तातिसार चिकित्साविधि के अनुसार प्रतीकार करना चाहिए एवं पीने के लिए न्यग्रोधादिकषाय को व्यवहार में लाना चाहिए ।

अति विरेकात्तु केवलं दोषरहितमुदकं रक्तं वा मेदो मांसधावनोपमं कृष्णं वा प्रवर्तते । परिकर्तिका हृदयोद्वेष्टनं गुदनिःसरणं नयन प्रवेशः पिपीलिका संचार इवांगे वमनातियोग तुल्यता च । अ० सं० सू० २७।३७

विरेचनातियोगात्तु दोषप्रवृत्यनन्तरम् दोषरहितस्य केवलस्योदकस्य रक्तस्य वा मेदोमांसधावनतुल्यस्य कृष्णस्य वा प्रवृत्तिः । परिकर्तिकादयो वमनातियोगोक्ताश्च क्षामता स्वरसादयो व्याधयो जायन्ते । इन्दुः ।

हि० व्या०—आचार्य वाग्भट के अनुसार अति विरेचन होने पर केवल दोष रहित पानी या रक्त, मेद या मांस के धोवन के समान या काला द्रव पदार्थ बाहर आता है । परिकर्तिका, हृदय में ऐंठन के समान पीड़ा, गुदा का बाहर आना, आंखों का अन्दर दब जाना, शरीर पर कीड़ियों के चलने जैसा आभास होना एवं वमन के अतियोग में होने वाले अन्य उपद्रवों का होना भी माना है ।

असम्यग्विरेचितोपद्रवाः

तत्रासम्यग्विरेकात्कुक्षिहृदयाविशुद्धिराध्मानमरुचिः प्रसेकः कफपित्तोत्क्लेशश्छर्दि भ्रमाः कण्डूः पिटका विदाहो गौरवमग्निसादस्तन्द्रास्तैमित्यं प्रतिश्यायो वातविण्मूत्रसंगश्च ।

अ० सं० सू० २७।३५

हि० व्या०—असम्यग्विरेचन से कुक्षि तथा हृदय की अविशुद्धि, आध्मान, अरुचि, मुख से स्राव, कफ-पित्त का उत्क्लेश, वमन भ्रम कण्डू, पिटका, विदाह गुरूता, अग्निमान्द्य, तन्द्रा, स्तिमिता, प्रतिश्याय, एवं वायु तथा मल-मूत्र का अवरोध उत्पन्न होता है।

विरेचनप्रयोगायोगजन्योदावर्त कारण संकेतः तत्र चिकित्सा सूत्रं च

सशेषान्नाय च वातश्लेष्मवते रूक्षाय सोदावर्त्ताय मन्दाग्नये वा शीतं रूक्षं वा दत्तमौषधं भृशमाध्मानं करोति तत्र मलसंगा समुन्नह्य दह्यत्युदरमंतः शूलं दृतिवत्पार्श्वयोरापूर्णता शिरः पृष्टरुजा श्वासः पायुबस्तिनिस्तोदश्च भवति। तमुदावर्तानाहहराभ्यङ्गस्वेदवर्तिदीपन चूर्णबस्तिक्रियाभिरुपचरेत्।

अ० सं० क० ३।

सशेषान्नादिमते वा शोधनार्थं शीतं रूक्षं वा दत्त भृशमाध्मानं करोति तत्र च मलसङ्गाद्धेतोरुदरे समुन्नतादिकं भवति। शशेषान्नोऽजीर्णी। उदावर्त्त अर्शोनिदान उक्तः समुन्नाहः सर्वतो बन्धः।

इन्दुः।

विरेचनोपद्रव सर्वाङ्गग्रह कारण संकेतः तत्र चिकित्सा च

अस्निग्धस्विन्नेनाब्रह्मचारिणा वेगविधारिणा मृदुकोष्ठेन सुकुमारेण वा रूक्षमौषधमतिमात्रं प्रयुक्तमतिविरेकाद्वायुं कोपयति तेन सर्वाङ्गग्रहो विशेषात्पार्श्वपृष्ठश्रोणीमन्यामर्मसु शूलं मूर्च्छा भ्रमः कंपः स्तंभो निस्तोदो भेदउद्वेष्टनं संज्ञानाशश्च स्यात् तमभ्यज्य धान्यैः स्वेदयित्वा यष्टीमधुविपक्वेन तैलेनानुवासयेत्। वातहरं चान्नपानम्।

अ० सं० क० ३।

समशीतोष्णकालोपेक्षया जन्यानाम् उपद्रवाणां संकेतः

तृष्णाबाधा भवत्युष्णे शीते तु व्यपलीयते।
अथ ग्रीष्मे तु सन्तप्तैर्धातुभिर्देहिनो भवेत्॥
अतियोगः पिपासा च तदा तस्मान्न दापयेत्।
हेमन्ते चापि तद्वीर्याद्दोषा दारूणतां गताः॥
भवन्त्यकाले स्नेहस्य तदाप्यथ न दापयेत्।
इह भैषज्यमुष्णं हि विक्रियामेति कालतः॥
मन्दी भवति वैतत्तु ग्रीष्मे तैक्ष्ण्यं नियच्छति॥

भे० सं० सू०, अ०, २५। १९-२२

हि० व्या०—अजीर्णावस्था में वात श्लैष्मिक एवं मन्दाग्नि के रोगों को शीत एवं रूक्ष विरेचनौषध सेवन करने पर अत्यन्त आध्मानकारक होता है। मलसंग होने के कारण उदर में दाह, शूल, जलपूर्णमशक के समान उदर में आध्यान, शिरःशूल, पृष्ठशूल, श्वासकृच्छ्रता; गुदा एवं बस्ति प्रदेश में शोथ उत्पन्न होता है। ऐसी अवस्था में उदावर्तनाशक एवं आनाहनाशक चिकित्सा करनी चाहिए। स्नेहन, स्वेदन, गुदवर्ति का प्रयोग, चूर्ण एवं क्रिया द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए।

हि० व्या०—जिनको स्नेहन एवं स्वेदन नहीं कराया गया हो, जो ब्रह्मचर्य का पालन नहीं करते हों, वेगविधारण करने वाले, जिनका कोष्ठ मृदु हो, जो सुकुमार प्रकृति के हों, ऐसे व्यक्तियों को रूक्ष विरेचनौषधि का अतिमात्रा में प्रयोग कराने पर अति विरेचन के कारण वात प्रकुपित हो जाती है। जिससे सर्वाङ्गग्रह के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। विशेष रूप से पार्श्व, पृष्ट, श्रोणी, मन्यामर्म में शूल उत्पन्न हो जाता है। मूर्च्छा, भ्रम, कम्प, स्तम्भ निस्तोद, भेदन, उद्वेष्टन, संज्ञानाश आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में स्नेहन, धान्य से स्वेदन कराकर यष्टिमधु तैल से अनुवासन कराना चाहिए एवं वात हर अन्नपान का प्रयोग कराना चाहिए।

हि० व्या०—भेल संहिताकार ने काल व्यवस्था की उपेक्षा के कारण होने वाले व्यापदों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि स्नेह विरेचन का समशीतोष्ण काल में प्रयोग कराना चाहिए। क्योंकि अधिक उष्णकाल में स्नेह विरेचन का प्रयोग कराने पर तृष्णा रूप उपद्रव उत्पन्न हो जाता है तथा शीतकाल में प्रभाव विशेष नहीं होता। क्योंकि उष्णकाल में शरीर की समस्त धातुएं स्वाभाविक सन्तप्त रहती हैं अतः अतियोगज पिपासा की उत्पत्ति होने से ऐसे सयय में स्नेह विरेचन का प्रयोग नहीं कराना चाहिए। इसी प्रकार अकाल के कारण स्नेह विरेचन से हेमन्त ऋतु में भी शीत के प्रभाव से दोष कठिनता को प्राप्त हो जाते हैं। इस ऋतु में प्रयुक्त स्नेह विरेचनौषधि निष्क्रिय होकर पड़ी रहती है। उष्णकाल आने पर अपनी प्रकृति के अनुरूप अतितीक्ष्णता को प्राप्त हो जाती है। अतः समुचित काल का ज्ञान आवश्यक है

—०—

सप्तमोऽध्यायः

बस्ति प्रकरणम्

आयुर्वेदीय चिकित्सा में पंचकर्म को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। पंचकर्म में रूढ़ी अर्थ से पांच ही कर्म नहीं लिए जाकर अन्य अन्य कर्मों का भी ग्रहण किया जाना विद्वानों को अभीष्ट है। पंचकर्म चिकित्सा में भी बस्ति कर्म की सर्वाधिक महत्ता देखी जाती है। कायचिकित्सा में इसे आधी चिकित्सा माना गया है तथा रोग-रोगी एवं स्थिति के अनुसार कहीं-कहीं पूर्ण चिकित्सा भी कहा गया है।

सामान्यतया बस्ति शब्द सभी प्रकार की बस्तियों के लिए प्रयोग में लाया जाता है। तथापि चरक ने केवल निरूह बस्ति के लिए ही प्रयुक्त किया है। चिकित्सा में अनुवासन, उत्तरबस्ति, शिरोबस्ति एवं कटिबस्ति आदि अनेक कर्मों के साथ बस्ति शब्द को स्वीकार किया गया है।

इस कर्म में प्रयुक्त उपादान यन्त्र उस काल में प्राणियों के मूत्राशय (बस्ति) या URINARYBLADDER से ही बनाया जाता रहा इसीलिए इसको बस्ति कहा जाने लगा। "बस्तिना दीयते इति बस्ति"।

(अ० हृ० सू० १९।१ पर टीका)

शरीर के त्रिविध दोष वात, पित एवं कफ की विकृतावस्था में बस्ति, विरेचन एवं वमन तीनों प्रधान कर्म बताये गये हैं। वात प्रधान विकारों में बस्ति का प्रयोग प्रधान रूप से किया जाता है। अनेक प्रकार के कर्मों में बस्ति प्रयोग का विधान एवं बस्तियों के अनेक भेद किए गए हैं। यथा-शोधन, लेखन, उत्क्लेशन, शमन, बृंहण, कर्षण. रसायन एवं बाजीकरण। साथ ही संख्या, काल, कर्म, योग आदि के आधार पर भी अनेक प्रकार की बस्तियों की कल्पना की गई है यथा—कर्मबस्ति, कालबस्ति, योगबस्ति, संख्यावस्ति, मात्रा-बस्ति, यापन, प्रासृति, योगिकी, पादहीन, तीक्ष्ण, मृदु आदि। इसी क्रम में कुछ आचार्यों ने पिच्छा बस्ति एवं रक्त बस्ति का भी उल्लेख किया है।

प्रायः चल गुण होने के कारण वायु तीनों दोषों में अग्रणी है। सभी की अपेक्षा स्वतन्त्र रूप से शरीर की समस्त क्रियाओं का सम्पादन करती है। शरीर के त्रिविध मार्गों में उत्पन्न होने वाले रोगों में भी वात को ही कारण

माना जाता है। इस प्रकार प्रत्येक रोग में वात के उपशमन का विशेष विचार किया जाता है। वात की उपशान्ति में बस्ति कर्म का विशेष महत्व होने से ही बस्ति चिकित्सा को आधी चिकित्सा कहा गया है। यह क्रमशः चार प्रकरणों में सामान्य बस्ति परिचय, निरुह, अनुवासन एवं उत्तरबस्ति विवरण के साथ अन्य विविध भेदों का विवरण दिया जा रहा है।

बस्ति शब्दस्य परिचयः

काय चिकित्सा में बस्ति को आधी चिकित्सा कहा गया है। यद्यपि चरक ने बस्ति शब्द से निरूहबस्ति का ही ग्रहण किया है इसकी पुष्टि जेज्जट एवं चक्रपाणि ने भी की है। "अत्र बस्तिशब्दो निरूह एव वर्तते। तद् व्यापदामेवात्र वक्तव्यत्वात्। चक्र०। तथा बस्ति शब्दोत्र निरूहबस्तिः जज्जटः।" तथापि सामान्यतः बस्ति शब्द सभी बस्तियों के लिए व्यवहृत है जिसमें निरूह, अनु-वासन, उत्तरबस्ति आदि सभी का समावेश हो जाता है। प्राचीन काल में आज की तरह रबड़ आदि की नलिका का प्रचलन नहीं होने से इस प्रक्रिया के लिए गाय, बैल, बकरे, महिष या अन्य उपयोगी पशुओं की बस्ति (मूत्राशय) का उपयोग किया जाता रहा। अतः बस्तिशब्द बस्तिदान में उपयोगी साधन (मूत्राशय) के लिए ही प्रचलित रहा है।

बस्ति प्रक्रिया में प्रायः गुदमार्ग से उपयोगी औषध द्रव को पक्वाशय में प्रवेश कराया जाता है। तथापि गुदमार्ग के अतिरिक्त मूत्रमार्ग, अपत्यमार्ग व्रणस्थान आदि में भी औषध का प्रवेश कराया जाता है। आजकल सूचीवेध द्वारा रक्तवाहिनियों में भी औषध प्रविष्ट कराई जाती है। बस्तिशब्द बस्ति द्वारा प्रयोग कराये जाने से रूढ़ शब्द बन गया है। अतः उपयोगी औषध को पक्वाशय में प्रवेश कराने के जो भी सुलभ साधन आज उपलब्ध हैं उन सभी को बस्ति शब्द से ही व्यवहृत किया जाता है।

यद्यपि पञ्चकर्म प्रक्रिया में पूर्वकर्म की विशेषता का सर्वत्र प्रतिपादन किया गया है तथापि अनेक कार्य करने वाली, बस्ति का भी कम महत्व नही है सुश्रुत लिखते हैं कि "तत्र स्नेहादीनां कर्मणां बस्तिकर्म प्रधानतममाहुराचार्याः। कस्मात्? अनेककार्यकरत्वाद्बस्तेः", (सु० चि० ३५)। इस प्रकार बस्ति व्या-पक कर्म करने वाली होने से पञ्चकर्म में उपयोगी प्रक्रिया है।

व्यवहार में बस्ति से सामान्य एनिमा का भाव लिया जाता है किन्तु आयुर्वेद में वर्णित बस्ति के विविध कर्म एवं प्रकारों में एनिमा जैसा भी एक कर्म होने से यह भी बस्ति का एक कर्म है। एनिमा मात्र मलनिर्हरण कर्म करती है जबकि बस्ति अनेकविध औषधियों के संयोग से दोषों का शोधन करने वाली, संशमन करने वाली, शुक्रवर्धक, रसायन, बृंहण, कर्षण, वयः स्थापन, बलवर्धन तथा नेत्र ज्योति वर्धक भी है। इसी कारण सभी अवस्थाओं में सभी

प्रकृति वालों के लिए विविध द्रव्यों के संयोग से बस्तिकल्पना की जाकर सर्वोपयोगी होती है।

बस्ति शब्दस्य निरूक्तिः

[1]बस्तिभिर्दीयते यस्मात्तस्माद्बस्तिरितिस्मृतः।
वंगसेन, भा० प्र०, शा० सं० उ० ४।

बस्तिना दीयते बस्ति वा पूर्वमन्वेत्यतो बस्तिः।
अ० सं सू० २८।२ (क)

हि० व्या०—भैंस, बकरी आदि की बस्ति (मूत्राशय) अथवा उसी के समान चर्म निर्मित पुटक द्वारा औषध अधोमार्ग से प्रवेश कराये जाने से इसे बस्ति कहा जाता है।

बस्तिविधानमधिकृत्य पुनर्वसुं प्रति अग्निवेशस्य प्रश्नाः।

कृतक्षणं शैलवरस्य रम्ये
स्थितं धनेशायतनस्यपार्श्वे
महर्षिसङ्घैर्वृतमग्निवेशः
पूनर्वसुं प्राञ्जलिरन्वपृच्छत्॥
बस्तिर्नरेभ्यः किमपेक्ष्य दत्तः
स्यात् सिद्धिमान् किम्मयमस्यनेत्रम्।
कीदृक् प्रमाणाकृति किं गुणं च
केभ्यश्च कियोनिगुणश्चबस्तिः॥
निरूहकल्पः प्रणिधानमात्रा
स्नेहस्य का वा शयने विधिः कः।
के बस्तयः केषु हिता इतीदं
श्रुत्वोत्तरं प्राह वचो महर्षिः॥ च० सि० ३।३५

धनेशायतनस्येति हिमालयस्य। बस्तिर्नरेभ्य इत्यादयो दश प्रश्नाः। नेत्रं नलिका। किं योनिगुणश्च बस्तिरित्यत्र बस्तिर्बस्तिपुटकः, योनिः प्रभवस्थानम्।

---

१ (क)—यस्माद् बस्तिभिश्चर्मपुटकैर्दीयते तस्तात् बस्तिः, आढ़मल्लः।
(ख)—बस्तिर्यस्माद्वस्तिभिर्दीयते गुददेशे तस्माद्वस्तिरिति स्मृतः।
काशीराम।
(ग)—बस्ति पु-बस्ते आवृणोति मूत्रं बस्-तिच्। नाभेरधोभागे मूत्राधारे (१) स्थाने (२) वासे च वसनदशायां पुंस्त्री० ब० ब० अमरः (पिचकारी) औषधदानार्थे द्रव्यभेदे पु०। वाचस्पत्यम्।
(घ) तत्र बस्तिसंज्ञाया अन्वर्थतोच्यचे। बस्तिना अजादिमूत्रधारेण यतो दीयतेऽतोबस्तिः। अथवा यतो दत्तं सत् पूर्वमादौ बस्तिमनुगच्छत्यतो बस्तिरिति। इन्दुः।

स्नेहस्य वा केति अनुवासस्य का प्रणिधान मात्रा। अनुवासनस्य चात्र प्रपञ्चोऽभिधातव्यः, तेनानुवासनस्य कल्पमात्र प्रश्नोऽत्र बोद्धव्यः, यदा तु 'स्नेहस्यवाकः' इति पाठः, तदा स्नेहस्य निरूहादिन दीयमानस्य को विधिरित्यर्थः। स चोत्तर ग्रन्थेन सङ्गतार्थ एव। के बस्तयः केषु हिता इति केभ्यः पुरुषेभ्यः किं योनयो हिता बस्तय इत्यर्थः। चक्रपाणिः।

बस्ति चिकित्सायां काश्यपं प्रति प्रश्नाः

भगवन् राजपुत्राणामन्येषां वा महात्मनाम्।
कतिवत्सर युक्तस्य बस्ति कर्म समीरितम्॥
स्नेह प्रमाणं किं बस्तौ बस्तयः के च तद्विताः।
केषु रोगेषु शस्यन्ते बस्तयः केषु गर्हिताः॥
आस्थापनमवस्थायां कस्यां केषु गदेषु च।
बस्तिकर्म प्रमाणं कि·····
हिताहितं व्यापदः काः किं च तासां चिकित्सितम्।
ऋषिमध्ये तथा पृष्टः प्रश्नान् प्रोवाच कश्यपः॥

हि० व्या०—कुबेर के निवासस्थान पर्वतराज हिमालय के एक सुरम्य प्रदेश के सन्निकट महर्षियों से घिरे हुए, (महर्षियों के साथ बैठे हुए), शौच स्नानसन्ध्यातर्पणादि नित्य नैमित्तिक कार्यों से निवृत महर्षि पुनर्वसु से हाथ जोड़कर अभिवादन करते हुए बस्ति प्रक्रिया के विषय में अग्निवेश ने पूछा।

अग्निवेश के प्रश्न—

(१) किन-किन बातों की सावधानी रखकर मनुष्यों में दी गई बस्ति कार्यकर होती है?
(२) बस्ति का नेत्र (अग्रभाग) किस धातु से निर्माण किया जाता है?
(३) नेत्रप्रमाण (लम्बाई मोटाई या गोलाई) और स्वरूप कैसा होना चाहिए तथा उसमें क्या-क्या गुण होने चाहिए?
(४) किन किन व्यक्तियों के लिए किस योनि की और किस गुण वाली बस्ति हितकर है?
(५) निरूह बस्ति की कल्पना कैसे की जाती है?
(६) निरूह बस्ति की मात्रा क्या है?
(७) अनुवासन बस्ति की मात्रा क्या है?
(८) बस्ति प्रयोग करते समय रोगी के सोने (लिटाने) की विधि क्या है?
(९) कितनी बस्तियाँ होती हैं?
(१०) किन व्यक्ति के लिए कौन कौनसी बस्तियां कल्याणकारी होती हैं?

इन दश प्रश्नों को सुनकर महर्षि पुनर्वसु आत्रेय ने उत्तर दिया। जिसका यथाक्रम वर्णन किया गया है। अष्टाङ्ग संग्रह एवं काश्यप संहिता में भी इसी प्रकार से प्रश्न किये गये हैं। श्लोक भिन्न होते हुए भी भाव यही है।

टि०—प्रश्नों के उत्तर इसी प्रकरण में यथाक्रम दिये गये हैं। प्रकरण पढ़ते हुए विवरण प्राप्त होता जाएगा।

आत्रेय पुनर्वसुं प्रति तच्छिष्याणां बस्तिप्रयोगस्य सर्वदोष शामकत्वं कथं इति प्रश्नं तत्र पुनर्वसूं कृतं सयुक्तिकं समाधानं च ।

गुरुणेति वचस्युदाहृते
मुनिसङ्घेन च पूजितेततः ।
प्रणिपत्य मुदा समन्वितः
सहितः शिष्यगणोऽनुपृष्टवान् ॥
सर्वकर्मगुणकृद्गुरुणोक्तो
बतिरुर्ध्वमथ नैति नाभितः ।
नाऽप्यधो गुदमतः स शरीरात्
सर्वतः कथमपोहति दोषान् ॥
तद्गुरुरब्रवीदिदं शरीरं
तन्त्रयतेऽनिलः सङ्गविधातात् ।
केवल एव दोषसहितो वा
स्वाशयगः प्रकोपमुपयाति ॥
तं पवनं सपित्तकफविट्कं
शुद्धिकरोऽनुलोमयति बस्तिः ।
सर्वशरीरगश्च गदसंघ-
स्तत्प्रशमात् प्रशान्तिमुपयाति ॥

च० सि० ११।१५-१८

सर्वकर्मगुणकृदिति सर्वकर्मणां वमनादीनां गुणं दोषहरणादिकं करोतीति सर्वकर्मगुणकृत्; किं वा सर्वकर्माणि लङ्घनबृंहणादीनि, गुणांश्च बलाग्न्यादीन् करोति । नाऽप्यधो गुदमिति । गुदादधोवर्तिषु जङ्घादिषु शरीरावयवेषु न व्रजति । तन्त्रयते धारयते । सङ्गविघातादिति प्रकोपकहेतुनाऽसम्बंधात् । स्वाशयगः स्वाशय एव प्रायः प्रकोपंव्रजति; यस्तु प्रदेशान्तरे वातप्रकोपः स तन्मूल एवेति भावः । तत्प्रशमात् प्रशान्तिमुपयाति पक्वाशयस्थ,वातमूलप्रशमाद्बस्तिना कृतात्तन्मूलानुबन्धाः शेषस्थानगतविकाराः प्रशाम्यन्ति । एतच्च वनस्पतिमूलच्छेदवदित्यादिदृष्टान्तेन प्राक्प्रतिपादितमेव । एतेन बस्तिना मूलविजयाछेशान्तर्गत तन्मूलविकारजयो यः क्रियते स युक्तः । युक्तु बस्ते वीर्यमापादमस्तकं प्रसरति तच्च वीर्यं सर्वविकारान् हन्तीति प्रागुक्तमेव ज्ञेयम् । इह तु, वीर्यमपिहितं कृत्वैव शिष्यप्रश्नानुगुणमेवोत्तरं दत्तमिति ज्ञेयम् ।

चक्रपाणिः

वस्तिकर्मणः महत्वं विविध रोगनाशकता रसायन वाजीकरण फलं च

तत्र स्नेहनादीनां कर्मणां बस्तिकर्म प्रधानतममाहुराचार्याः । कस्मात् ! अनेककर्मकरत्वाद्बस्तेः, इह खलु बस्तिर्नानाविधद्रव्यसंयोगाद्दोषाणां संशोधन-

संशमनसंग्रहणानि करोति, क्षीणशुक्रं वाजीकरोति, कृशं बृंहयति, स्थूलं कर्शयति, चक्षुः प्रीणयति, वलिपलितमपहन्ति, वयः स्थापयति ।

सु० चि० ३५।३

शरीरोपचयं वर्णं बलमारोग्यमायुषः ।
कुरुते परिवृंढि च बस्तिः सम्यगुपासितः ॥

सु० चि० ३५।४, शा० सं० उ० ५।५

बस्तिकर्म तु मूत्राधारपुटकेन साध्यं कर्म, बस्तिशब्दो हि सामान्यो निरुहे स्नेहबस्तौ च । वमन विरेचने तु प्रधानतरे, बस्तिकर्म तु प्रधानतमम् । संग्रहणानीति दोषाणामेवातिप्रवर्तमानानामित्यर्थः । क्षीणशुक्रं वाजीकरोति, अनेनाश्व इव बलकारिणी हर्षजा शक्तिरुक्ता । कृशं बृंहयतीत्युपचयलक्षणा शक्तिरुक्ता । वयः स्थापयतीत्यनेन आयुर्वृंढिकरत्वं सूचयति । एतदेव प्रधानतमत्वसाधनं श्लोकेनापि दर्शयन्नाह शरीरोपचयमित्यादि ।

डल्हणः ।

बस्तिद्वारा दोषशमनाय जिज्ञासा

चित्रकर्मगुणकृद् गुरुणोक्तो ।
बस्तिमूर्धमथ चैति न नाभेः ॥
शीघ्रमापतति चानु स देहात् ।
सर्वतः कथमपोहति दोषान् ॥

अ० सं० सि० ५।६२

चित्रेत्यादि । गुरुणा भवता बस्तिर्विचितकर्मकृत् विचित्रगुणकृच्चोक्तः । अथ च बस्तिर्नाभेरूर्ध्वं नैति । न च बहुकालं देहे तिष्ठत्यपि तु शीघ्रमापतत्येवं स्वरूपः स कथं दोषानपोहतीति विज्ञापना । इन्दुः ।

बस्तिप्रयोगद्वारा दोषानुलोमने युक्तिः

ऊचे गुरुः स्तिमितमारुतवश्यमेत ।
देहस्य यद्बहिरपाश्रितमंतरे वा ॥
दुष्टस्य तस्य जनयन्ननुलोमनं नु ।
बस्तिर्हिनस्ति विषमानतिरोगपूगान् ॥

अ० सं० सि० ५।६३

एवं विज्ञप्तो गुरुः पुनर्वसुस्तमग्निवेशमित्यूचे किमित्याह देहस्य यत्किञ्चित् बहिराश्रितं धात्वादि तत् सर्वं मारुत वश्यं वातवशात् भवति । तस्य तु सर्वशरीरोपकारकरण् भूतस्य वायोर्बस्तिदुष्टस्य सतोऽनुलोमतां जनयद्विषमानपि [illegible] रोगपूगान् व्याधिसंङ्घान् हिनस्ति । इन्दुः ।

गयी है ।

बस्ति महत्वम्

अनिलो हि [illegible]मशिशूनां च बस्तिकर्मामृतं यथा ॥
संप्रत्यङ्गाङ्गव्यापी [illegible]मर्थयशसी शिशोरायुः प्रजा पितुः ॥

त्रयमेकपदे हन्ति भेषजं दुरनुष्ठितम् ।
तस्मादापन्न रोगेषु वातप्रायेषु देहिषु ॥

का० सं० सि० १

.....

आकेशाग्रनखाग्रेभ्यो बस्तिर्बृंहयते नरान् ।
वर्णतेजो बलकरं आयुष्यं शुक्रवर्धनम् ॥
योनि प्रसादनं धन्यं वन्ध्यानामपि पुत्रदम् ।
बस्तिकर्म कृतं काले बालानाममृतोपमम् ।
वातिकान् वात संष्ठान्..... ॥

का० सि १।-

गर्भस्रावादौ वस्तिप्रयोग महत्वम्

यासां च गर्भाः स्रंसन्ते जाता वा न वृढाः सुतः ।
सुकुमार्यश्च या नार्यः सुभगा नित्यमैथुनाः ॥
बहुस्त्रीकाश्च ये बाला ईश्वराणामयोवनाः ।
संक्षीयन्तेऽतिसङ्क्षाद्वाये च..... ॥
.....तेषां प्रशस्तममृतं यथा ।

का० सं० सि० १।

स च सर्वोपक्रमाणां प्रधानतमः शीघ्रसुख बृंहणानुकारित्वाद्विकृतानिलोच्छेदित्वाच्च ।

अ० सं० सू० २८।

स च बस्ति सर्वेषां वमनादोनामुपक्रमाणां मध्ये प्रधानः । कुत इत्याह । शीघ्रेत्यादि । शीघ्रमनायासेन वक्ष्यमाण बृंहणादिगुणकारित्वाद्विकृतानिलोच्छेदित्वाच्च । यतः सोऽनिलो दोषव्यापारकः । एतदेवाह ।

इन्दुः ।

बस्तयः कल्पदृष्टाहि यथाकाले सुखावहाः ।
क्षीणातिरिक्ता दूष्यन्ते तस्माद्योगं समाहरेत् ॥
नित्यं नारी विहाराणां क्षीणानामल्परेतसाम् ।
एवमेव विधानं च रेतोबर्ल विवर्धनम् ॥

भे० सि० ८।६०-६१

सिराव्यधदृष्टान्तेन बस्तिमहत्व सूचनम्

तस्माच्चिकित्सार्धं इति प्रदिष्टः
कृत्स्ना चिकित्साऽपि च बस्तिरेकः ।
तथा निजागंतुविकारकारि-
रक्तौषधत्वेन शिराव्यधोऽपि

तस्माद्दोषप्राधान्यस्य पवनस्य शमनार्थात्कारणाद्बस्तिश्चिकित्सार्धं इति कथितः । एकैश्चाऽचार्यैर्निरवशेषाऽपि चिकित्सा बस्तिः प्रदिष्टः । ननु चतुर्णा भिषजादीनामित्यादिलक्षणा चिकित्सा तत्कथं तस्या भागकल्पना कर्तुं युज्यते । न च सर्वाचिकित्सा बस्तिरिति वक्तुंशक्यते । शेषचिकित्साशास्त्रविस्तरस्यानर्थक्यप्रसंगात् । तस्मादेतदुक्तमिवाऽऽभाति । अत्रोच्यते । तथाऽपि वायुविकारा अशीतिरुक्ताः । पित्तश्लेष्मविकाराश्चषष्टिरुक्ताः तत्र वातविकाराणां प्रधानोपक्रमो बस्तिस्तस्माच्चिकित्सार्धो बस्तिः कार्यद्वारेणोक्ताः । अथवा मारुतं पित्तश्लेष्मविट् सहितं बस्तिः समूलमेवापकर्षतीत्युक्तया सर्वाचिकित्साकार्यद्वारैकैरुपदिष्टः । अन्यत्राऽपि चैवं प्रायो निर्दिशत आचार्यैः । तथा च मुनिः । यानीह कर्माण्युक्तानि विसर्पविनिवृत्तये । एकस्तानि सर्वाणि रक्तमोक्षणमेकत इति । चिकित्सार्धमित्यं तु पाठो न युक्त एव । अर्धशब्दस्य हि समविभाग एव नपुंसकत्वम् । न चाऽत्र समप्रविभागो गम्यते तस्मान्नपुंसकत्वमात्रज्ञाप्यम् । तथेत्यादि । न केवलं बस्तिर्यावच्छिराव्यधोऽपि चिकित्सार्धः सर्वा वा चिकित्सेत्युपदिष्टः । कुतः । निजेत्यादिना । निजा वातादिसमुत्था आगंतवो विष वह्न्यादिसमुत्थाः । निजाश्चाऽगंतवश्च ते चते विकाराश्च निजागंतु विकारास्तान्कर्तुं शीलमस्य तन्निजागंतुविकारकारि तच्च तद्रक्तं च निजागंतुविकारकारिरक्तं तस्यौषधत्वेन । तत्र विसर्पविद्रधि प्रभृतिरोगविशेषोपशमकरणाच्चिकित्सार्धः शिराव्यध उपदिष्टः । तथाऽपरेऽपि ये रोगाः शीतोष्ण स्निग्धरूक्षाद्यैरुपक्रमैरनुपशांतास्तेऽपि शिराव्यधसाध्याः । अत एव सर्वाऽपि चिकित्साशिराव्यध उक्त इति ।

अरुणदत्तः

यत एवं गुणो बस्तिस्तस्मात्तेन प्रकारेण बस्तिश्चिकित्सार्धं साधनमिति प्रदिष्टमित्युक्तम् । कृत्स्ना चिकित्साऽपि च बस्तिरेके । यतः स पित्तकफमूत्रादिकं सर्वमेव विकृतं मूलादुद्धरति तस्मात्तमधिकृत्य कृत्स्नाऽपि चिकित्सा बस्तिना साध्यत इत्यर्थः । अतोऽपरे आचार्या आयुर्वेदविदः कृत्स्ना सकलाऽपि चिकित्सा बस्तिना साध्यतइत्यर्थः । तथा बस्तिश्चिकित्सार्धमिति केचित् । प्रतिपन्ना निजाश्चागन्तवश्चेति विकारा निजागन्तुविकारास्तान् करोतीति तच्छीलं रक्तं निजागन्तुविकारकारिरक्तं तस्यौषधत्वेन प्रशमनंतस्य भावो निजागन्तुविकारकारिरक्तौषधत्वेन शिराव्यधश्च चिकित्सार्धं कृत्स्ना वा चिकित्सा अपिशब्दः [illegible] केवलं बस्तिश्चिकित्सार्धमथवा सकलापि चिकित्सेति भद्रम् ।

बल. चंद्रनन्दनः ।

दोषनाशक वस्ति के विषय में प्रश्नमहर्षि आत्रेय पुनर्वसु
के पश्चात् मुनियों द्वारा उसे आदर से स्वीकार कर

लेने पर अग्निवेश प्रभृति शिष्यों ने प्रसन्न मन से अभिवादन करके एक साथ ही पूछा। आपने बस्ति को सभी कर्मों के गुणों को बहुत ही उपयोगी बताया है। परन्तु बस्ति नाभि के ऊपर तो जाती नहीं तथा गुदा की ओर शीघ्र लौट जाती है अतः वह सम्पूर्ण शरीरगत दोषों को किस प्रकार दूर करती है। इसका उत्तर समझाते हुए गुरु ने कहा कि वायु सङ्गविघात से शरीर धारण करता है। वायु स्वयं गतिमान है शेष दोष पङ्गु है। यदि वायु अपना स्वाभाविक कर्म छोड़ दे तो पित्त और कफ स्वयं कहीं भी नहीं जा सकते और एक ही स्थान पर रुके रहेंगे। तथा शरीर का पालन न होगा, पित्त-कफ-पुरीष एवं वायु का शोधन कर बस्ति वायु का अनुलोमन करती है जिससे उस आशय गत वायु की शान्ति हो जाने पर सम्पूर्ण शरीर के रोग समूह दूर हो जाते हैं।

आचार्य सुश्रुत के अनुसार—स्नेहादि पंचकर्मों में आचार्य वस्ति को प्रधान कर्म मानते हैं क्योंकि—वस्ति अनेक कार्यों को सिद्ध करती है। नाना प्रकार के द्रव्यों के संयोग से वस्ति तैयार की जाती है अतः दोषों का संशोधन, संशमन, संग्रहण करती है, क्षीण शुक्र को शुक्रवान् बनाती है, कृश को पुष्ट करती है, मेदस्वी को पतला करती है, आंखों को पोषण करती है। वलिपलित दूर करती है। वयः स्थापक है। विधिवत् सेवन की गयी बस्ति शरीर की पुष्टि, वर्ण, बल, आरोग्य एवं दीर्घायु उत्पन्न करती है।

वृद्ध वाग्भट के अनुसार बस्ति सभी चिकित्सा कर्मों में मुख्य है। यह शीघ्र ही बृंहणादि गुणों को करती है। एवं विकृत वायु का नाश करती है। अष्टाङ्गहृदयकार ने इसे आधी चिकित्सा माना है। कुछ आचार्य इसे सम्पूर्ण चिकित्सा मानते हैं। जिस प्रकार शारीरिक तथा आगन्तुक रोगों के उत्पादक रक्त की प्रधान चिकित्सा सिरावेध शल्यतन्त्र में मानी गयी है उसी प्रकार कायचिकित्सा में बस्तिचिकित्सा को सम्पूर्ण चिकित्सा मानी गयी है।

आचार्य काश्यप ने बस्ति के महत्व का निर्देश करते हुए कहा है कि शिशुओं तथा युवकों के लिए बस्ति अमृत के समान है। इससे वैद्य को धन एवं यश, शिशु को आयु तथा पिता को सन्तान की प्राप्ति होती है। यदि बस्ति औषधि द्रव्य का समुचित प्रयोग न किया जाय तो उपरोक्त तीनों एक साथ नष्ट हो जाते हैं। अर्थात् चिकित्सक का धन एवं यश, शिशु की आयु तथा पिता की सन्तान ये तीनों एक साथ नष्ट हो जाते हैं। अतः [illegible] में मनुष्यों को बस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

बस्ति मनुष्यों के केशों के अग्रभाग से लेकर नखों सम्पूर्ण शरी का बृंहण करती है। जिन स्त्रियों का गर्भ जिनकी सन्तान अपुष्ट होने के कारण अल्पायु होत सुकुमार प्रकृति की हैं, जो नित्य रमण करती हैं, जो

तथा ऐश्वर्यशाली व्यक्तियों के बालक जो यौवन पूर्व ही अत्यन्त स्त्री संग से क्षीण हो गये हों उन सभी के लिए बस्ति का प्रयोग अमृत के समान है।

बस्ति सामान्य गुणः

स्तब्धाश्चये संकुचिताश्चयेपि
ये पङ्गवो येऽपि च भग्न रुग्णाः।
येषां च शाखासु चरन्तिवाताः
शस्तो विशेषेण हि तेषु बस्तिः॥
आध्मापने विग्रथिते पुरीषे
शूले च भक्तानभिनन्दने च
एवं प्रकाराश्च भवन्ति कुक्षौ
ये चामयास्तेषु च बस्तिरिष्टः।
याश्चस्त्रियो वातकृतोपसर्गा
गर्भं न गृह्णन्ति नृभिः समेताः।
क्षीणेन्द्रिया ये च नराः कृशाश्च
बस्तिः प्रशस्तः परमं च तेषु॥

च० सि० १।३३-३४

सामान्येन निरूहानुवासनयोर्गुणमाह स्तब्धाश्च य इत्यादि। भग्ना इति भग्नकायाः; रुग्ण इति सन्धिमुक्ताः। भक्तानभिनन्दने=अरोचके। वातकृतोपसर्गा इति वातकृतोपद्रवाः। क्षीणेन्द्रिया इति अतिक्षीणशुक्राः। अत्र शुद्धवातादिष्वनुवासनं, भक्ताभिनन्दनप्रकारेषु च निरूह इत्यादर्थोऽनुसरणीयः।

चक्रपाणि०

हि० व्या०—जिन व्यक्तियों का शरीर स्तम्भित हो गया हो (जकड़ गया हो), संकुचित हो गया हो, पंगु हो गया हो, अस्थिभग्न हो गया हो, शरीर में वातजन्य वेदना होती हो और जिनकी कुपित वायु शाखाओं में गमन करती हो, ऐसे व्यक्तियों में विशेष रूप से बस्ति का प्रयोग लाभकारी है। उदर में आध्मान, गाँठदारमल, उदरशूल, अरुचि तथा अन्य उदर रोगों में भी बस्ति का प्रयोग लाभकारी है। वातजन्य उपसर्ग के कारण जो स्त्रियां पुरुषों के संसर्ग करने पर भी गर्भधारण नहीं करती हैं तथा जो पुरुष क्षीणेन्द्रिय हो गया है उनके लिए बस्ति का प्रयोग अत्यन्त लाभकारी है।

बस्तिगुणाः

बलदोषकालरोगप्रकृतीः
विभज्य योजिताः सम्यक्।
स्वैरौषधवर्गैः
स्वान् रोगान्नियच्छन्ति॥

च० सि० १०।४
अ० हृ० क० ४।६८

अवेक्ष्यभेषजं बुद्ध्या विकारं च विकारवित् ।
बीजानेन शास्त्रज्ञः कुर्याद्वस्तिशतान्यपि ॥

सु० चि० ३६।११२

अत्र च बलादौ यथा प्रधानमिह गृहीते सर्वपरीक्षावरोधो व्याख्येयः; 'परीक्ष्य दोषौषध' (सि० अ० ३) इत्यादिनोक्तोऽप्ययमर्थः पुनः प्रकरणवशादुच्यते । स्वैः स्वैरौषधवर्गैरिति यथाव्याधिप्रतिपादितैरौषधैः । स्वान् स्वानिति तत्तद्वस्ति विधेयौषधस्य प्रशमनीयान् । चक्रपाणिः ।

अवेक्ष्यभेषजमित्यादि । तत्र भेषजंव्रणज्वरादिहरं, विकारं च व्रणज्वरादिकं वातपित्तकफसंसर्ग सन्निपातजं शोणितजं च । चकारेणानुक्तं कालबलादि समुच्चीयते । 'वातघ्नौषधनिष्क्वाथा' इत्यादिषु बस्तिषूक्तेनबीजेनेत्यर्थः । डल्हणः ।

हि० व्या०—बल, दोष, काल, रोग एवं रोगी की प्रकृति का विचारकर वातादिदोषों को नाश करने वाले अपने-अपने औषध वर्गों द्वारा निर्मित, वस्ति का समुचित प्रयोग तत्तद् रोगों को अवश्य दूर करता है ।

वायुप्रधान रोगेषु बस्तिचिकित्साया महत्वम् ।

शाखागताः कोष्ठगताश्च रोगा,
ममेर्ध्वसर्वावयवाङ्गजाश्च ।
ये सन्ति तेषां न हि कश्चिदन्यो,
वायोः परं जन्मनि हेतुरस्ति ॥
विण्मूत्रपित्तादिमलाशयानां,
विक्षेपसंघातकरः स यस्मात् ।
तस्यातिवृद्धस्य शमाय नान्य,
द्वस्तिंविना भेषजमस्ति किञ्चित् ॥
तस्माच्चिकित्सार्धमिति ब्रुवन्ति,
सर्वा चिकित्सामपि बस्तिमेके । च० सि० १।३८-४०,
अ० सं० सि० ५, अ० हृ० सू० १६।-

शाखाकोष्ठमर्मगता इत्यनेन त्रिविधशाखादि रोगमार्गो गृहीतः; मर्मशब्देन हि मध्यरोगमार्गाश्रयिणां सन्धिजानामपि साहचर्याद् ग्रहणम्; इह मर्मास्थिसन्धयो हि मध्यमो रोगमार्ग उक्तः । ऊर्ध्वसर्वशब्देन च ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्भेदादप्युक्त रोगमार्गइह ग्रहणम् । अवयवाङ्गजशब्देन च प्रादेशिक सर्वाङ्गभेदादप्युक्तग्रहणम् । वायोः पररिति वायोः परो न कश्चित् श्रेष्ठ इतियावत् । एतेन यद्य[illegible] अपि रोगकारणे भवतः, तथाऽपि वायुरेव श्रेष्ठ इत्युच्यते । व[illegible] हेतुमाह-विण्मूत्रेत्यादि । पित्तादीत्यत्रादिशब्देन कफस्य ग्र[illegible] कफस्य ग्रहणम्, मलशब्देन चेतरधातुमलानां खमलादीनां च आशयशब्देन मलव्यतिरिक्त प्रसादाख्यानामाशयानां

विक्षेपसंघातकर इति वियोगमेलककरः; एतेन यस्माद्वायुरेव दोषधातूनां संयोग विभागौकरोति, तेन दोषदूष्यविण्मलमेलकरूपनिखिलव्याधिकरणे वायुरेवप्रधानं भवतीति भावः । किं वा-आशयशब्दः प्रत्येक विडादिभिः सम्बध्यते, स्थानेन च स्थानिनो लभ्यन्ते, विडादिसंयोगविभागेनैव च सर्वव्याधिकरण परिग्रहो भवति । भवत्वेवं वातस्यप्राधान्यमतः किमित्याह-तस्येत्यादि । भेषजमिति प्रधानं भेषजं, यदुक्तं "बस्तिर्वातहराणाम्" (सूत्र० अ० २५) इति । अतोबस्तावर्धचिकित्सा रूपता तथा सर्वचिकित्सारूपता च युक्तैव । चक्रपाणिः

हि० व्या०—शाखा, कोष्ठ, मर्मप्रदेश तथा शरीर के ऊर्ध्वभाग या प्रत्येक अङ्ग प्रत्यङ्ग में होने वाले जो कोई भी रोग होते हैं, वायु के अतिरिक्त उनकी उत्पत्ति में अन्य कोई दोष कारण नहीं है अर्थात् उन रोगों की उत्पत्ति में वायु प्रधान कारण है । मल-मूत्र-पित्त आदि मलाशयों को अलग करना तथा संयोग करना वायु का कर्म है, अतः वृद्धि को प्राप्त उस वायु की शान्ति के लिए वस्ति के अतिरिक्त अन्य कोई औषध नहीं है, इसलिए वस्ति चिकित्सा कर्म का आधाभाग है । विद्वानों का ऐसा ही विचार है । कुछ विद्वान वस्ति को सभी रोगों की चिकित्सा मानते हैं । वंगसेन में चरक के समान पाठ है । अष्टाङ्गहृदयकारने 'विट्श्लेष्मपित्तादिमलाचयानां, पाठ उद्धृत किया है । पित्तादि से मूत्र का ग्रहण इन्दुकर ने किया है । चरक संहिता में 'विण्मूत्र-पित्तादि' ऐसा पाठ है । चत्रपाणि ने भी अपनी व्याख्या में पित्तादि से श्लेष्मा का ग्रहण किया है ।

बस्तिकर्मणः प्रशंसा

बस्तिदानात् परं नास्ति चिकित्साङ्गसुखावहा ।
शाखा कोष्ठगता रोगाः सर्वार्धाङ्गगताश्च ये ॥
तेषां समुद्भवे हेतुर्वातादन्यो न विद्यते ।
जेता चास्य प्रवृद्धस्य बस्तितुल्यो न कश्चन ।
तदुपार्धं चिकित्सायाः सर्वं बाह्यचिकित्सितम् ॥

का० खि० ८।३-५

हि० व्या०—कोई भी चिकित्सा बस्ति से बढ़कर शरीर के अङ्गों के लिए सुखकारी नहीं है । शाखागत कोष्ठगत, सम्पूर्ण शरीरगत अथवा अर्ध शरीरगत जितने भी रोग हैं । उनकी उत्पत्ति में वायु के अतिरिक्त अन्य कोई कारण नहीं है । बढ़े हुये वायु को जीतने के लिए वस्ति के समान अन्य कोई उपाय नहीं है । इस प्रकार बस्तिचिकित्सा समस्त वात रोगों की आधी चिकित्सा मानी गयी है ।

अनिलो हि दोषाणां नेता स्वतन्त्रः सर्वशरीरचेष्टैककारणं पंचात्मतया संप्रत्यङ्गाङ्गव्यापी विधाता विविध बाह्याध्यात्मिकभावसर्गस्थिति प्रलयानां हेतु-

मार्गत्रयजानामपि रोगाणामिति । अ० सं० सू० २८।

अनिलेत्यादिना । अङ्गानि शिरः प्रभृतीनि । प्रत्यङ्गानि नेत्रकर्णाङ्गुल्यादीनि । विविधानां बाह्यानां तरुप्रभृतीनामाध्यात्मिकानां च देहस्थानां भावानां ये सर्गस्थिति प्रलयास्तेषां विधाता । सर्ग उत्पत्तिः । स्थिति स्थानम् । प्रलयो विनाशः । अन्तर्मार्गजानां बहिर्मार्गजानां मध्यम मार्गजानां च हेतुः । इन्दुः

हि० व्या०—वायु सभी दोषों में प्रधान है । कफ और पित्त दोष का वाहक वायु है । सम्पूर्ण शरीर में होने वाली चेष्टा या गति वायु के द्वारा ही होता है । पंचमहाभूतों के गुण से युक्त होने के कारण वायु सिर एवं नेत्र (अङ्ग एवं उपाङ्गों) में व्याप्त है । अनेक प्रकार के बाह्य एवं आध्यात्मिक भावों को धारण करने वाला है । उत्पत्ति स्थिति एवं विनाश का कारण है, अन्तर्मार्ग और मध्यममार्ग में उत्पन्न होने वाले रोगों की उत्पत्ति में कारण है ।

चिकित्सार्धं कृत्सना चिकित्सा वस्तिः

बस्तिवेगोऽनिलं हन्ति पर्यन्यं च यथानिलः ।
कफपित्तविकारा हि सर्वे वातवशानुगाः ॥
अशीतिर्वातिका रोगाश्चत्वारिंशत्तु पित्तजाः ।
विंशतिः श्लैष्मिकाश्चापि संतृष्टानामसंग्राहात् ॥
सर्वेषामेव चैतेषां रोगाणां संग्रहैस्सदा ।
अर्दितानां हि भूतानां वस्तिरग्र्यं परायणम् ॥
अनिलप्रभवा ह्येते सर्वे वस्तिवशानुगाः ।
तस्मादर्धं चिकित्सायाः सर्वं वस्तिरुच्यते ॥

भे० सि० अ० ६।-

वस्ति प्रशस्तिः

ज्ञानवान् सुमिताहारो वैद्यशुश्रूषुरेव च ।
यश्चवस्तिमुपाससीत स जीवेच्छरदां शतम् ॥

भे० सि० ५।३३

यस्तु बस्तिं निषेवेत चातुर्मास्यं सदा नरः ।
रोगास्संवर्जयेयुस्तं सिंहावासं यथा गजाः ॥
एते गुण विशेषाश्च व्याख्याता वस्तिकर्मणि ।

भे० सि० ६।१९-२०

वस्तेरमृतकल्पत्वम्

एकतो वस्तिकर्माणि ह्येकतोऽन्यच्चिकित्सितम् ।
अमृताय वस्तिकर्म कृते सुप्रयोजितम् ॥
शुक्लं बह्ववरोधस्य न क्षयं जाति देहिनः ।
स्त्रीषु प्रधर्षणंकुर्यान्नराणां क्षीणरेतसाम् ॥

इत्याद्वातरजः स्त्रीणां वन्ध्या गर्भं लभेत च ।
वस्ति प्रयोगात् षण्डोऽपि पुमान् भवति सर्वशः ॥
कृशानामपि मर्त्यानां मांससंजननं स्मृतम् ।

भे० सि० ६।३१-३३

बस्ति प्रयोगस्य शीघ्रफलकारित्वे युक्तिः ।

कर्मान्यद्वस्ति समं न विद्यते
शीघ्रं सुखविशोधित्वात् ।
आश्वपतर्पण तर्पणयोगाच्च
निरत्ययत्वाच्च ॥ च० सि० १०।१५

बस्ति विशेष गुणः

शाखा वातार्तानां संकुचित-
स्तब्धभग्नरुग्णानाम् ।
विट्सङ्गाध्मानारुचिपरिकर्ति-
रुगादिषु च शस्तः ॥ च० सि० १०।९

आश्वपतर्पणयोगादिति अपतर्पणार्थप्रयुक्तो बस्तिरन्यापतर्पणभेषजेभ्यः शीघ्रमपतर्पणं करोति; एवं तर्पकद्रव्ययुक्तोऽपि बस्तिः शीघ्रमितरतर्पणापेक्षया तर्पणं करोति । चक्रपाणिः ।

हि० व्या०—सुखपूर्वक और शीघ्र मलों का शोधन करने से, शीघ्र अपतर्पण करने से, किसी प्रकार के उपद्रवों का भय न होने से अन्य चिकित्सा विधियां बस्ति चिकित्सा के समान नहीं हैं अर्थात् अन्य चिकित्सा पद्धतियों से श्रेष्ठ है ।

जो व्यक्ति शाखागत वातप्रकोप से पीड़ित हो, अंगों में संकोच हो गया हो, जड़ता, भग्न, आध्मान, अरुचि और परिकर्तिका रोग से पीड़ित हो तो उसमें बस्ति का प्रयोग उत्तम है ।

बस्ति प्रशस्तिः

वस्तिर्वयः स्थापयिता सुखायु-
र्बलाग्निमेधास्वरवर्णकृच्च ।
सर्वार्थकारी शिशुवृद्धयूनां
निरत्ययः सर्वगदापहश्च ॥ चक्रदत्तः

हि० व्या०—आचार्य चक्रदत्त के अनुसार—बस्ति के उपयोग से आयु स्थिर होती है, सुख, आयु, बल, अग्नि, मेधा स्वर और वर्ण की वृद्धि होती है । बालक, वृद्ध तथा युवा सब अवस्थाओं में लाभकारी है । बिना उपद्रव के सभी प्रकार के रोगों को नष्ट करता है ।

वस्तेस्सर्वार्हत्वम्

बालानामथ वृद्धानां युवमध्यनयोस्तथा ।
स्वस्थानामातुराणां च बस्तिकर्म प्रशस्यते ॥

भे० सि० अ० ६।२

हि० व्या०—आचार्य भेल के अनुसार बस्ति—बालकों; वृद्धों, युवकों और मध्यम आयु के सभी लोगों के लिए तथा रोगियों एवं स्वस्थ व्यक्तियों के लिए भी प्रशंशनीय है ।

सामान्यतो बस्तिप्रयोगजन्य फलानि ।

अष्टादशाष्टदशकान् वस्तीनां यो निषेवते ।
विधिना ना यथोक्तेन स भवेदजडोऽरुजः ॥
सहस्रायुः श्रुतधरो वीतपाप्मामरप्रभः ।
वाजिस्यदो नागबलः स्थिरबुद्धीन्द्रियानलः ॥

अ० सं० सू० २८।६०-६१

यो हि पुरुषो बस्तीनां सम्बन्धिनोष्टादशकान्यथोक्ते कालकर्मयोगादिना विधिना निषेवते । सोऽजरादिगुणो भवति । क्रियतोऽष्टादशकानित्याह । अष्टादशा एवमष्टादशाभिरष्टादशकैर्वस्तीनां त्रीणिशतानि चतुर्विंशत्यधिकानि भवन्ति । वाजिस्यदो योऽश्वइव स्त्रीषु स्रवति । इन्दुः ।

हि० व्या०—जो पुरुष विधिपूर्वक १८ × १८ = ३२४ बस्तियों का सेवन करता है वह बुद्धिमान्, निरोगी; दीर्घायु, श्रुतधर, पापरहित' घोड़े के समान बलवान्, हाथी के समान शक्तिमन्त, स्थिर बुद्धि एवं इन्द्रिय तथा प्रखर अग्निबल से युक्त होता है ।

बस्तिरनिल प्रधानेषु दोषेषु प्रयुज्यते । अ० सं० सू० २८।२(क)
स्नेह शोधन युक्त्यैवं बस्तिकर्म त्रिदोषजित् । अ० हृ० सू०१९
वातो[1]ल्वणेषु दोषेषु वाते वा बस्तिरिष्यते ।
उपक्रमाणां सर्वेषां सोऽग्रणी । अ० हृ० सू० १९।२

हि० व्या०—स्नेहन, स्वेदन, शोधन (वमन-विरेचन), कर्म करने के पश्चात् और युक्तिपूर्वक अर्थात् विधिवत् वस्ति सेवन करने से तीनों दोषों को जीत लेता है । इससे तात्पर्य है कि तीनों दोषों से होने वाले रोग दूर होते हैं । संसर्गज व्याधियों में वात दोष प्रधान होने पर तथा केवल वात दोष से उत्पन्न व्याधियों में बस्ति लाभकारी है । सभी उपक्रमों में बस्ति चिकित्सा श्रेष्ठ है ।

---

१. वात उल्वणोऽधिको येषां दोषाणां तेषु बस्तिरिष्यते । आचार्येरिति शेषः । तत्र वातपित्ते वातश्लेष्मण्यथवा केवले वायौ बस्तिरिष्यते । उपक्रमाणां चिकित्सानां सर्वेषां स बस्तिरग्रणीः प्रधान तमः अरुणदत्तः ।

बस्ति द्वारा केवल शोधने युक्तिः ।

यथा कुसुंभादियुतात्तोयाद्रागं हरेत्पटः ।
तथा द्रवीकृताद्देहाद्वस्तिर्निर्हरते मलान् ॥ अ०हृ०सू० १९

कुसुंभकुंकुमादियुक्ताज्जलायया पटो वासो रागं हरेद् गृहणीयन्न कुसुंभादिकं तथैव द्रवीकृत्कायाद्दषधातूनामेकलोलीभावेऽपि बस्तिर्दोषान्निर्हरेन्न धातून् ।

अरुणदत्तः ।

हि० व्या०—यद्यपि बस्ति गुदामार्ग द्वारा केवल मलाशय में ही जाती है और उससे केवल मलाशय का ही विकार दूर होना चाहिए तथापि जिस प्रकार कुसुम्भ आदि रंगों से मिश्रित जल में से वस्त्र रंग को ग्रहण कर लेता है उसी प्रकार स्नेहन, स्वेदन से द्रवीभूत (चलायमान) मलों को बस्ति शरीर से बाहर निकाल देती है ।

सम्पूर्ण शरीरान् मलशोधने बस्ति प्रभाव संकेतः ।

आपाद तलमूर्धस्थान् दोषान् पक्वाशये स्थितः ।
वीर्येण बस्तिरादत्ते रवस्थोऽर्को भूरसानिव ॥

च० सि० ७।६४ वङ्गसेन

पक्वाशये स्थित इति पक्वाशयगत एव । आदत्ते वीर्येणेकि शक्तया स्वभाव सम्बद्धया । एवं भूतवीर्यं बस्तावेव; तेन पाचनादि प्रयोगाणां न बस्तिवत्तदहरेव सकलदेहगतदोष विजेतृत्वं भवति । रवस्थ इत्याकाष गतम् । चक्रपाणिः ।

यच्च पक्वाशयथो दोषानापादमस्तम् ।
वीर्येण बस्तिरादत्ते रवस्थोऽर्को भूरसानिव॥

अ० सं०सि० ५

पक्वाशयाद्बस्तिवीर्यं स्वदेहमनुसार्यति ।
वृक्षमूले निषिक्तानामपांपूर इव द्रुमम् ॥

वङ्गसेन बस्ति प्र० ८२

पक्वाशययस्थितोऽपि बस्तिरापादमलमस्तकंस्थितान् । दोषान् वीर्येणादत्ते । यथा रवस्थ आकाशस्थोऽर्को भूरसान् दूरस्थानाप्यायते । इन्दुः ।

हि० व्या०—जिस प्रकार सूर्य आकाशचारी होते हुए भी पृथ्वी के रस को अपनी शक्ति द्वारा खींच लेता है उसी प्रकार पक्वाशय में स्थित बस्ति की औषधि अपनी (वीर्य) शक्ति के द्वारा पैर के तलवे से लेकर शिर के समस्त दोषों को खींचकर निकाल देती है ।

आचार्य वंगसेन ने एक और उदाहरण देते हुए लिखा है कि—जिस प्रकार वृक्ष की मूल (जड़)में जल सींचने से सम्पूर्ण वृक्ष में व्याप्त होता है उसी प्रकार वस्ति द्रव्य का वीर्य पक्वाशय से सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होता है ।

अपान-समान-व्यानादि वायु संचार क्षेत्रे बस्तिप्रभावेयुक्तिः।

यत्तत्रौषध वीर्यं हि तदपानेन वायुना।
पर्याप्तमचिरादेव समानः प्रतिपद्यते॥
समानादूत्तरं चैवं व्यानाद्याः पवनाक्रमात्।
ते तृप्ताः प्रकृतिं यान्ति शरीरानुग्रहे स्थिताः॥
प्रसह्यपित्तश्लेष्माणौ यथास्थानं निवेश्य च।
सन्तर्पयन्ति परितः स्वान्स्वान् भूतगुणांस्तनौ॥
व्यानस्तिर्यगपानोऽधः प्राणश्चोर्ध्वं प्रकर्षति।
यथास्वमेव नाडीभिर्हारिणीभिरिवोदकम्॥
एवं वा तैः सिराभिश्च वपुर्बस्तिः सुयोजितः।
व्याप्नुवन्प्रसभं हन्ति सुकृच्छ्रानपि यक्ष्मणः॥

अ० सं० सि०५

तत्रेति बस्तौ यदौषधानां वीर्यं तदपानाख्येन वायुना समन्तात् प्राप्तमचिरादेव वीर्यं समानाख्यः प्राप्नोति। समानस्य पश्चाद व्यानोदानप्राणः क्रमेण पञ्च वायव इत्यौषध वीर्येण तृप्ताः प्रकृतिं स्वरूपं यातास्तनौ शरीरे स्वान् स्वान् वायव्यान् भूतगुणास्तैर्गुणैस्तर्पयन्ति परितः समन्तात्। किमुक्ता आह शरीरानुग्रहे स्वास्थ्यसंवाहने स्थिताः। किं कृत्याह। प्रसह्य पित्तश्लेष्माणौ यथास्वं स्थाने निवेश्य। तर्पयन्ति परितश्च। बस्तिं व्यानस्तिर्यगपकर्षति। अपानाश्चाधः प्राणश्चोर्ध्वमपकर्षति यथात्मीय नाडीभिः। यथान्यः कश्चिद्वारिभि केदारे पूदकमपकर्षति। हारिण्यः केदारजल सञ्चरणीयः।

इन्दुः।

हि० व्या—बस्ति के सम्पूर्ण शरीर में व्यापकता में हेतु--जो बस्ति तत्तद्रव्यों के कार्मुकता (वीर्य) के आधार पर पक्वाशय में दी जाती है वह सद्यः अपान वायु के द्वारा (उस औषधि वीर्य को) समान वायु ग्रहण करता है और समान वायु के बाद व्यान वायु, उदान वायु और प्राण वायु उसे ग्रहण करते हैं इस प्रकार पांचों प्रकार के वायु औषधिवीर्य के प्रभाव से तृप्त होकर स्वाभाविक अवस्था में आकर स्वास्थ्य को अनुकूल रखती है। पित्त और श्लेष्मा को अपने अपने स्थान पर स्थापित करती है और शरीर में पंचमहाभूतात्मक औषध द्रव्यों से अपने वायव्य गुणों को चारों तरफ से सन्तर्पण करती है। उस बस्तिद्रव्य के प्रभाव को व्यान वायु तिर्यक् प्रदेश में, अपान वायु अधःप्रदेश में, प्राणवायु ऊपर की ओर सारे शरीर में पहुंचाती है जैसे किसी केदारी में नालियों द्वारा चारों ओर से जल पहुंचाया जाता है। इस प्रकार से सम्यक् प्रयुक्त बस्ति वात और शिराओं के द्वारा शरीर में व्याप्त होते हुए अत्यन्त दुःसाध्य यक्ष्मा जैसे रोगों को भी दूर करते हैं।

स्रोतः शोधन कर्मणि बस्ति प्राधान्य सूचन द्वारा स्वस्थता लाभे युक्तिः।

बस्तिस्तस्मात् सर्वकर्मप्रधानं सर्वातंकान्
हंति निःशेषतश्च। स्रोतांस्यतः शोधयित्वा च
कुर्याद्दोषांस्तेजः शुक्रद्वेहाग्निदीप्तिमिति॥ अ० सं० क० ५

तस्मात् सर्वकर्मणां वमनादीनां बस्तिः प्रधानं निःशेषतश्च सर्वातंकान् हन्ति। अन्तः स्रोतांस्यणूनिशोधयित्वा ओजः प्रभृतींश्च कुर्यात्। इन्दुः।

हि० व्या—चिकित्सा के सभी कर्मों में प्रधान है, सभी रोगों का मूलोच्छेद करता है। दोष और स्रोतों का शोधन करता है। शरीर में ओज एवं शुक्र को बढ़ाता है। अग्नि को प्रदीप्त करता है।

त्रिदोष चिकित्सायां बस्ति कर्मणः महत्वम्

बस्तिर्वाते च पित्ते च कफे रक्ते च शस्यते।
सं[1]सर्गे सन्निपाते च बस्तिरेव हितः सदा॥

सु० चि० ३५।६, वङ्गसेन

दोष[2]त्रयस्य यस्माच्च प्रकोपेवायुरीश्वरः।
तस्मात्तस्यातिवृद्धस्य शरीरमभिनिघ्नतः॥
वायोर्विषहते वेगं नान्या बस्तेर्ऋतेक्रिया।
पवनाविद्ध तोयस्य वेला वेगमिवोदधेः॥
शरीरोपचयं वर्णं बलमारोग्यमायुषः।
कुरुते परिवृद्धिं च बस्तिः सम्यगुपासितः॥ सु०चि० ३५।२९-३१

हि० व्या०—आचार्य सुश्रुत के अनुसार वातज, पित्तज, कफज रोगों, दोष संसर्ग तथा सन्निपात में बस्ति उत्तम है। वायु, पित्त, कफ इन तीनों दोषों को कुपित करने में वायु सामर्थ्यवान है। बढ़ी हुई वायु जो शरीर में हानि करती है उस वेग को बस्ति के अतिरिक्त अन्य कोई भी चिकित्सा कर्म सहन नहीं कर सकती है। जिस प्रकार वायु से ताड़ित समुद्र जल को वेला (किनारा)ही सहन करती है उसी प्रकार शरीरस्थ प्रकुपित वायु के वेग को बस्ति चिकित्सा ही सहन कर सकती है। सम्यक् सेवन की गई बस्ति शरीर की पुष्टि वर्ण, वल, आरोग्य एवं आयु की वृद्धि करती है। वाग्भट एवं आचार्य वंगसेन ने भी इसी आशय को उद्धृत किया है।

तथा कफस्य पित्तस्य मलानां च रसस्य च।
विक्षेपणो संहरणो वायुरेवात्र कारणम्॥ का० सं० सि० ८।४

१. संसर्गो दोषद्वय प्रकोपः, प्रकृतिसमसमवेतज्वराद्यारम्भ दोषत्रय प्रकोपः सन्निपातोऽत्राभिप्रेतः। डल्हणः।
२. दोषत्रयस्येत्यादि। यथा उदधेः समुद्रस्य पवनाविद्धतोयस्य अनिलेनाभुग्नसलिलस्य, वेला कूल मर्यादा, वेगं विषहते विशेषेण सहते। डल्हणः।

हि० व्या०—जिस प्रकार रोगोत्पत्ति में वायु को विशिष्ट कारण माना गया है उसी प्रकार कफ, पित्त, मल एवं रस के विक्षेप तथा संघात में भी वायु ही कारण है। उपर्युक्त चारों उपादानों के संयोग एवं वियोग में वायु को कारणता होने से वायु को ही कारण माना गया है।

पक्वाशय गतोऽपि बस्तिः कथं स्वाग्नैः शरीरं व्याप्नोति इत्यत्र युक्तिः दृष्टान्तश्च।

पक्वाशये तथा श्रोण्यां नाभ्यधस्ताच्च सर्वतः।
सम्यक् प्रणिहितो बस्तिः स्थानेष्वेतेषु तिष्ठति॥
पक्वाशयाद्बस्तिवीर्यं खैर्देहमनुसर्पति।
वृक्षमूले निषिक्तानामपां वीर्यमिव द्रुमम्॥
स चापि सहसा बस्तिः केवलः समलोऽपिवा।
प्रत्येति वीर्यं स्वनिलैरपानाद्यैर्विनीयते॥
वीर्येण बस्तिरादत्ते दोषानापादमस्तकात्(न्)।
पक्वाशयस्थोऽम्बरगो भूमेरर्को रसानिव॥
स कटीपृष्ठकोष्ठस्थान् वीर्येणालोड्य संचयान्।
उत्खात् मूलान् हरति दोषाणां साधुयोजितः॥

सु० चि० ३५।२४-२८

सम्यक् प्रदत्तो बस्तिर्येषु स्थानेष्ववतिष्ठते तान्याहपक्वाशये इत्यादि। कथं तर्हि पक्वाशयादिमात्रगतो बस्तिः क्वचित् सर्वेषामवयवानामवसादं, क्वचित् सर्वाङ्ग गतानां दोषाणां हरणं शमनं च जनयतीत्याह-पक्वाशय इत्यादि। पक्वाशयाद्बस्तिवीर्यं खैः स्रोतोभिरनुसर्पति कृत्स्न देहे, वीर्यं, शक्तिः प्रभाव इत्यनर्थान्तरम्। तिष्ठंस्तावास्रोद्बस्तिर्गुणकारी भवतु, कथं निर्गतोऽपि तादृश स्यादित्याह स चापीत्यादि प्रत्येति प्रत्यागच्छति। वीर्यं स्नेहादिगुणः। अपानादयैरिति आद्यपदेनोदानादयो बोद्धव्याः। अपानेनाधः, उदानेनोर्ध्वं, व्यानेन सर्वत्र, विनीयते विशेषेण सर्वशरीरावयवेषु नीयते। सकलावयवगतदोषहरणं बस्तेरेकस्थानस्थितस्योपमानेन दर्शयन्नाह—वीर्येणेत्यादि। अन्ये त्वत्रामुं श्लोकं न पठन्ति। डल्हणः।

हि० व्या०—विधिपूर्वक दी गई बस्ति पक्वाशय श्रोणी और नाभि के नीचे (चारों ओर) इन्ही स्थानों में स्थित होती है। पक्वाशय से बस्ति की शक्ति स्रोतों द्वारा सम्पूर्ण शरीर में फैल जाती है, जिस प्रकार वृक्ष की मूल में दिये गए पानी वृक्ष के स्रोतों द्वारा सम्पूर्ण वृक्ष में फैल जाती है। बस्ति अकेली या मल के साथ अपान वायु या उदान वायु की शक्ति से शीघ्र वापस आ जाती है, अथवा ऊपर को चली जाती है। सम्पूर्ण शरीर में फैल जाती है। पक्वाशय में स्थित बस्ति अपनी वीर्य (शक्ति) के कारण सिर से लेकर पैर तक के सब

दोषों को ग्रहण कर लेती है जिस प्रकार सूर्य आकाश में रहते हुए भी भूमि के रसों को खींच लेता है। विधिवत् दी गई बस्ति अपनी शक्ति से कटि, पीठ एवं कोष्ठ में स्थित (संचित) दोषों को जड़ सहित उखाड़ देती है।

बस्तिभेदाः

सामान्यतः द्विविधबस्तिभेदाः—
तत्र द्विविधो बस्तिः—नैरूहिकः, स्नैहिकश्च।

सु० चि० अ० ३५।१८

हि० व्या०—आचार्य सुश्रुत के अनुसार बस्ति दो प्रकार की है। (१) निरूहबस्तिः (२) स्नेहबस्ति। आचार्य भावमिश्र एवं शार्ङ्गधर ने सुश्रुत के इस मत का समर्थन किया है।

सामान्यतः त्रिविधो बस्तिः

अनुवासनं निरूहश्चोत्तरबस्तिश्च स त्रिविधाः।

च० सि० १०।८

स तु बस्तिस्त्रिविधः।
आस्थापनमनुवासन उत्तरबस्तिश्च॥

अ० सं० सू० २८।-

उपक्रमाणां सर्वेषांसोऽग्रणी त्रिविधश्च सः।
निरूहश्चानुवासनो बस्तिरुत्तरः॥

अ० हृ० सू० १९।२

निरूहोऽनुवासनाख्यश्च लिङ्गे चोत्तरसंज्ञितः। वंगसेन

हि० व्या०—आचार्य पुनर्वसु आत्रेय के अनुसार बस्ति तीन प्रकार की होती है—(१) अनुवासन बस्ति (२) निरूह बस्ति और (३) उत्तर बस्ति। अष्टाङ्ग संग्रह, अष्टाङ्ग हृदय तथा वंगसेन ने इनका समर्थन किया है।

मतान्तरेण केवलं बस्तित्रयम्

त्रिभ्यः परं बस्तिमतो नेच्छंत्यन्ये चिकित्सकाः।
नहि दोषश्चतुर्थोऽस्ति पुनर्दीयेत यं प्रति॥

अ० हृ० सू० १९।-

अतएव हेतोस्त्रिभ्यो बस्तिभ्यः परमपरे भिषजो निरूहं नेच्छंति। यतस्त्रयो दोषास्त्रिभिर्बस्तिभिर्निवर्तित इति चतुर्थो दोषो न विद्यते यं लक्षीकृत्य भूयश्चतुष्कोदीयते। अरुणदतः।

हि० व्या०—बस्ति तीन प्रकार की होती है क्योंकि चौथा कोई दोष नहीं [illegible] कल्पना की जाय।

प्रयोजनानुसारेण त्रिविधा भेदाः

उत्क्लेशनं शुद्धिकरं दोषाणां शमनं क्रमात् ।
त्रिधैव कल्पयेद्वस्तिमित्यन्येऽपि प्रचक्षते ॥

अ० सं० सू० २८।४३
अ० हृ० सू० १९।५०

अन्ये पुनराचार्या दोषयोगपद्यहरणेऽप्युत्क्लेशनादि भेदेन वस्तित्रयमिच्छन्ति । इन्दुः ।

अन्ये आचार्यास्त्रिविधैव त्रिविधमपि बस्तिं प्रकल्पयेदित्येवमाहुः । एकं बस्तिमुत्क्लेशनं दोषाणां कल्पयेत् द्वितीयं बस्तिं दोषाणां शुद्धिकरं तृतीयं दोषाणां शमनं क्रमात् परिपाट्या । तत्र दोषानुत्क्लेशयतीत्युत्क्लेशनः । दोषाणां शुद्धिं करोतीति शुद्धिकरः । दोषान् शमयंतीति शमनः । चंद्रनन्दनः ।

हि० व्या०—दोषों को उत्क्लेशित करने वाली, दोषों की शुद्धि करने वाली, दोषों का शमन करने वाली, ये तीनों वस्तियां क्रमशः कोपन, शोधन और शमन करती हैं । अन्य आचार्य भी तीन प्रकार की ही बस्ति मानते हैं ।

बस्तिप्रयोगे यथाक्रमं उत्क्लेशन दोषहर संशमन बस्ति प्रयोग संकेतः

दद्यादुत्क्लेशनं पूर्वं मध्ये दोषहरं पुनः ।
पश्चात् संशमनीयं च दद्याद्वस्तिं विचक्षणः ॥

सु० चि० ३८।९२
भाव प्र० वंगसेन

तत्रानुत्क्लिष्टदोषस्य आदावुत्क्लेशनं, मध्ये दोषहरं, ततः पश्चादोषशेषस्य संशमनाय संशमनमिति । उत्क्लिष्टदोषस्य दोषहरणसंशमने एव कर्तव्ये । दोषहरस्य बस्तेः प्रथमपुटकदानेन सम्यग्दोषानिर्हरणे द्वितीयं, तृतीयं वा पुटकंदद्यात्, एवमुत्क्लेशन संशमनयोरपि वेद्यम् । उत्क्लिष्टादिज्ञानं तु दोषाणां प्रकोपादि लक्षणेन । डल्हणः ।

हि० व्या०—बस्तिकर्म में दक्ष वैद्य को पहले उत्क्लेशन बस्ति देनी चाहिए । मध्य में दोषनाशक और अन्त में संशमन बस्ति देनी चाहिए ।

बस्तिकर्मणास्त्रयो भेदास्तेषां लक्षणानि च

कर्मकालश्च योगश्च तिसृः संज्ञा यथाक्रमम् ।
वक्ष्ये निरुक्तनिर्देश संख्यादोष विकल्पतः ॥

का० सं० खिल० ८

हि० व्या०—निरुक्ति निर्देश, संख्या तथा दोषभेद के अनुसार समूह तीन प्रकार का होता है । (१) कर्मबस्ति, (२) कालबस्ति (३) योगबस्ति ।

कर्मकालयोगरूप त्रिविधबस्तिसंख्यानिरूपणम्

त्रिंशदर्धं कर्मसु बस्तयो हि ।
कालस्ततोऽर्धेन ततश्च योगः ॥ च० सि० १।४७

कर्मकालयोगसंज्ञा यथाक्रमं त्रिंशत्षोडशाष्टबस्ति समुदायेषु ज्ञेया । कालस्तदर्धेनेत्यत्र अर्धशब्दो न समप्रतिवचनः; तेन त्रिंशदर्धं षोडश भवन्ति । चक्रपाणिः ।

हि० व्या०—तीस बस्तियों के समुदाय (कोर्स) का नाम कर्म बस्ति है । इससे आधा अर्थात् १६ बस्तियों के समुदाय (कोर्स) का नाम कालबस्ति है और आठ बस्तियों के समुदाय (कोर्स) का नाम योग वस्ति है ।

कर्म वस्ति लक्षणम्

बाहु··· ··· ··· ते कर्म संज्ञितम् ।
अत्युदीर्णे बले जाते प्रयोज्यं तद्यथाविधि ।

का० सं० खि० ८।७

हि० व्या०—शरीर में बल अधिक रहने पर (बलवान् रोगी को) कर्मबस्ति का विधिवत् प्रयोग करना चाहिए ।

कर्मबस्ति योग्यायोग्यम्

गम्भीरानुगता यस्य क्रमेणोपचिता मलाः ।
कुपिता वातभूयिष्ठा बस्तिसाध्या विशेषतः ॥
संपन्नस्य सहिष्णोश्चकर्म तस्य परायणम् ।

का० सं० खि० ८।२८-२९

हि० व्या०—जिस व्यक्ति के क्रमशः संचित हुए एवं गम्भीरधातुओं में प्रविष्ट मल कुपित हो गया हो तथा वात की प्रधानता हो वे दोष विशेष रूप से बस्ति साध्य हो तथा रोगी अभावग्रस्त नहीं हो और सहनशील हो तो उस रोगी को कर्मबस्ति का प्रयोग कराना चाहिए ।

कर्मबस्ति संख्या निरूपणम्

सान्वासना द्वादश वै निरूहाः
प्राक् स्नेह एकः परतश्च पञ्च ।

च० सि० १।४८ (क)

प्राक् स्नेह एकः पञ्चान्ते द्वादशास्थापनानि च ।
सान्वासनानि कर्मैवं बस्तयस्त्रिंशदीरिताः ॥

अ० सं० सू० २८।५५
अ० हृ० सू० १९।५३

अन्वासनाश्चतुर्विंशतिनिरूहः षट् च कर्मणि ।

क० सं० खि० ८।१०

चतुर्विंशति सङ्ख्याताः निरूह[illegible]नुवासनाः ।
एतत्कर्मेति निर्दिष्टमूर्ध्ववाते [illegible]पयेत् ॥

भे० सि० ५।२८

हि० व्या०—कर्मबस्ति में बारह अनुवासनबस्तियों के साथ [illegible]रूह-बस्तियां तथा सर्वप्रथम एक अनुवासनबस्ति और सबके अन्त में पांच अनुवासन बस्ति दी जाती है। इस प्रकार कुल मिलाकर तीस बस्तियां होती है। आचार्य भेल के अनुसार २४ बस्तियां होती हैं।

बस्ति मात्रा संख्या परिभाषितनामानि

— — — ।
— (ब) स्तयः कर्मसंज्ञिताः ।
अन्तरेषु निरूहाः स्युरतश्चोर्ध्वं न दापयेत् ॥

(का० सं० सि० अ०२)

हि० व्या०—कुछ बस्तियां कर्म संज्ञक होती है। इनके बीच-बीच में निरूह बस्तियां देनी चाहिए। इसके पश्चात् अन्य बस्तियां नहीं देनी चाहिए।

कालबस्ति लक्षणम्

तदर्धकलनात् कालः स हि मध्यबलान्वये ।
पवने पित्त संसृष्टे विधातज्ञो विजानता ॥

का० खि० ८।८-९

हि० व्या०—मध्यम बलयुक्त रोगी तथा वायु के साथ पित्त का संसर्ग होने पर बुद्धिमान् (वैद्य) को कालबस्ति का प्रयोग करना चाहिए। कर्मबस्ति की अपेक्षा संख्या में आधी होने के कारण इसे कालबस्ति कहते हैं।

कालबस्ति योग्याः प्रयोग विधानं च

अतो मध्यस्य कालस्यस्यादव (र) स्थावरस्तथा ।
स्नेहस्वेदोपपन्नस्य वामितस्य यथाक्रमम् ॥
स्निग्धस्विन्नस्य तु पुनर्विरिक्तस्य क्रमेगते ।
दत्तानुवासनस्यास्य यथायोगं ततस्त्र्यहात् ॥
क्षणिकस्य प्रशान्तस्य निरूहमुपलक्षयेत् ।

का० सं० खि० ८।३०-३१

हि० व्या०—मध्यम बल, मध्यम दोष, तथा मध्यम साधन से युक्त (मध्यम आय समूह) रोगी को कालबस्ति देनी चाहिए तथा हीनबल, हीनदोष एवं हीन साधन वाले रोगी को क्रमशः स्नेहन, स्वेदन तथा वमन कराकर पुनः (दुबारा) क्रमशः स्नेहन, स्वेदन तथा विरेचन के पश्चात् अनुवासनबस्ति देकर तीन दिन तक रोगी को विश्राम कराकर निरूहबस्ति देनी चाहिए।

कालबस्ति संख्या निरूपणम्

काले त्रयोऽन्ते पुरतस्तथैकः ।
स्नेहा निरूहान्तरिताश्च षट्स्युः ॥ च० सि० १।४८
कालः पञ्चदशकोऽत्र प्राक्स्नेहोऽन्ते त्रयस्तथा ।
षट्पंच बस्त्यन्तरिता ... ...

अ० सं० सू० २८।५६
अ० हृ० सू० १९।५४

द्वादशाऽन्वासनाः काले निरूहाश्चात्र वै त्रयः ।

क० खि० अ० ८।११

हि० व्या०—कालबस्ति में तीन अनुवासन बस्ति अन्त में आदि में एक अनुवासन बस्ति और छः अनुवासन के साथ छः निरूहबस्ति का क्रमशः प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार इसमें १६ बस्तियां होती है।

योगबस्ति लक्षणम्

अल्पत्वात् स्नेहबस्तीनां युक्तेर्योगः स लाघवम् ।
प्रयोज्यः कफ संसृष्टे नातितीव्रबलेऽनिले ॥

का० सं० खि० ८।९-१०

हि० व्या०—आचार्य काश्यप के अनुसार योग बस्ति में स्नेह बस्तियों के योग के कम होने से तथा लघु होने से इसे योगबस्ति कहा जाता है। कफ के अनुबन्ध से उत्पन्न रोग तथा वायु प्रबल नहीं होने पर इसका प्रयोग करना चाहिए।

योगबस्ति विधानम्

त्रिभिरन्वासितस्यातः सप्ताहः कर्मकालयोः ।
पुनरास्थापनं कार्यं योगः स्यात् पञ्चमोऽहनि ॥
स्वभ्यक्तस्विन्नगात्रस्य कल्यमप्रतिराशिनः ।
कोष्ठानु साऽऽमं शाखाभ्यःसम्यक् संवाहितस्य च ॥ का० सं खि० ८

हि०व्या०—तीन दिन जिसे अनुवासनबस्ति दिया हो उसे एक सप्ताह के पश्चात् कर्म तथा काल बस्ति देनी चाहिए। पुनः निरूहबस्ति देकर शरीर का स्नेहन तथा स्वेदन करके प्रात; रिक्त कोष्ठ में योग बस्ति देनी चाहिए। यदि कोष्ठ में आम प्रकोप हो तो शाखाओं पर संवाहन करके पांचवें दिन योग बस्ति देनी चाहिए।

योगबस्ति संख्या संकेतः

योगे निरूहास्त्रय एव देयाः ।
स्नेहाश्च पञ्चैव परादि मध्याः ॥ च० सि० १।४९

योगेऽष्टौ बस्तयोत्र तु ।
त्रयो निरूहाः स्नेहाश्चस्नेहावाद्यन्तयोरुभौ ॥
अ० सं० सू० २८।५७
अ० हृ० सू० १९।५५
त्रय एव निरूहाः स्युर्योगे पञ्चानुवासनाः ।
का० खि० ८।१२

हि० व्या०—योगबस्ति—योगबस्ति में तीन निरूह तथा, आदि, मध्य और अन्त में पांच अनुवासन बस्ति का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार योगरूप में आठ बस्तियाँ होती है।

कार्मुक भेदाः
विशोधनीय बस्ति योग्यायोग्यम्

न क्षीणक्षतदुर्बलमूर्च्छितकृशशुष्कदेहानाम् ।
युञ्ज्याद्विशोधनीयान् [1]दोषनिबद्धायुषो ये च ॥ च० सि० १०।१२
अ० हृ० क० ४।७२

हि० व्या०—शोधनबस्ति के अयोग्य - क्षीण, छत, दुर्बल, मूर्च्छारोग से पीड़ित, कृश और शुष्क व्यक्ति को, तथा वमन आदि से तत्काल जिनका शरीर शुद्ध कराया गया हो एवं जो व्यक्ति दोषों के रुकने के कारण ही जीवित हों उन्हें शोधन बस्ति नहीं देनी चाहिए।

सामान्यतः शोधनबस्ति द्रव्य वर्णनम्

शोधनद्रव्यनिष्क्वाथास्तत्कल्कस्नेह सैन्धवैः ।
युक्ताः खजेन मथितबस्तयः शोधनाः स्मृताः ॥ सु० चि० ३१।३८
शा० उ० ६।२० वंगसेन

(१) शोधनद्रव्याणां वमनविरेचनपठितानां क्वाथः पूर्ववत्, सैन्धवं च, तेषामेव शोधनद्रव्याणां कल्कस्य पलद्वयं, स्नेहस्य षट् पलानि, अनुक्तस्यापि मधुनः चत्वारि पलानि, क्षीरस्यैकं पलं, मूत्रस्य सार्धपलं, तथा काञ्जिकस्यापि, इत्येवं चतुर्विंशति पलानि भवन्ति। 'बस्तयः शोधनाः स्मृता' इति सामान्य वाक्यत्वात् सामान्य बस्तिपरिभाषामनेनायं बस्तिः परिकल्पितः, तथा वक्ष्यमाणा अपि कल्पनीया, वातादिविशेषं च वीक्ष्य विशेषमानेन च प्रयोज्याः। डल्हणः।

१. दोषानिबद्धायुष इति दोषे मलादिरूपे देहस्थे निबद्धमायुर्येषां शोष्यति दुर्बल प्रभृतीनां ते तथा, उक्तं हि—'शोषी मुञ्चति गात्राणि पुरीष स्रंसनादपि।
अबलापेक्षिणी मात्रां किं पुनर्यो विरिच्यते" (च०चि० ८)
इति चक्रपाणिः।

(२) शोधनद्रव्याणीह विशेषेणोपयोगित्वात् "सू० ३९ अ०" उक्तानि त्रिवृतादीन्येवेत्यवधेयम्। हाराण०।

(३) शोधनद्रव्याणि निकुम्भादीनि प्रसिद्धानि। तानि निकुम्भ-त्रिफला-गवाक्षी-स्नुक्-शंखिनी-तिल्वकानि, शम्याक-कम्पिल्लक-हेमदुग्धा-दुग्धं च विरेचनानि। आढ़मल्लः

हि० व्या०—वमन एवं विरेचन प्रकरण में निर्दिष्ट शोधन द्रव्यों के क्वाथ (निकुम्भ, त्रिफला, गवाक्षी, स्नुही, शंखिनी, तिल्वक, अमलतास, कम्पिलक स्वर्णक्षीरी) में उन्हीं द्रव्यों का कल्क मिलाकर स्नेह और सैंधव लवण मिलाकर अच्छी प्रकार मथानी से मथकर बस्ति तैयार करने पर शोधनबस्ति कहलाती है। सुश्रुत के इस पाठ को शार्ङ्गधर एवं वंगसेन ने भी उद्धृत किया है।

शताह्वा शिग्रु सिद्धार्थवका क्रौञ्चवचाघनैः।
राठेन्द्रयवसिंधूत्थैः पिष्टैर्बस्तिः प्रकल्पितः॥
दशमूलीरसक्षौद्रतैलकाञ्जिकयोगतः।
शोधनो दोषनाशाय पुष्टिवर्णाग्नि वर्धनः॥ वंगसेन
बस्ति १५८-१५९

हि० व्या०—सौंफ, सहिजन, श्वेत सर्षप (सरसों), तगर, पिप्पली, वच, नागरमोथा, हींग, इन्द्रजौ और सैंधव नमक इन सबका एकत्र कल्क बनाकर दशमूल के क्वाथ, शहद, तेल और कांजी में मिलाकर बस्ति देनी चाहिए। यह बस्ति शोधन, दोषनाशक, पुष्टिकारक, वर्ण और अग्निवर्धक है।

सामान्यतः लेखन बस्तिद्रव्याणां वर्णनम्।

त्रिफलाक्वाथगोमूत्र क्षौद्रक्षार समायुताः।
ऊषकादि प्रतीवापा बस्तयो लेखनाः स्मृताः॥ सु० चि० ३८।८२
शा० उ० ६।२१ भा० प्र०, वंगसेन

त्रिफलाक्वाथेत्यादि। त्रिफलाक्वाथः पूर्ववत्, गोमूत्रस्य च पलत्रयं, निरूहणाङ्गत्वादनुक्तस्यापि सैंधवस्याक्षं, क्षौद्रस्य चत्वारि पलानि, यवक्षारस्य कर्षत्रयं, तथा निरूहणाङ्गत्वात् स्नेहः प्राप्तस्ततो लेखनीयस्य कटुतैलस्य षट्पलानि, ऊषकादि द्रव्याणां पलद्वयमित्येवं चतुर्विंशतिः। डल्हणः।

हि० व्या०—त्रिफलाक्वाथ, गोमूत्र, मधु, यवक्षार, ऊषकादिगण की औषधियों का प्रक्षेप युक्त बस्ति को लेखन बस्ति कहा जाता है। आचार्य सुश्रुत के इस विचार का शार्ङ्गधर, भावमिश्र और वंगसेन ने अनुकरण किया है।

बृंहण बस्तिः

न बृंहणीयान् विदधीत बस्तीन्
विशोधनीयेषु गदेषु वैद्यः।

कुष्ठ प्रमेहादिषु मेदुरेषु
नरेषु ये चापि विशोधनीयाः ॥ च० सि० १।३६

हि० व्या०— कुष्ठ, प्रमेह एवं मेदस्वी पुरुषों तथा अन्य विशोधन करने योग्य रोगों में, शोधन करने योग्य पुरुषों में बृंहणबस्ति का प्रयोग नहीं करना चाहिए। चक्रपाणि ने कुष्ठ प्रमेहादिषु की व्याख्या करते हुए अरोचक, तन्द्रा, श्लीपद आदि रोगों का भी ग्रहण किया है। चरक सिद्धिस्थान अध्याय दश में इसी आशय को आचार्य ने पुनः उद्धृत किया है जिसे टिप्पणी में प्रदर्शित किया गया है।

बृंहण बस्ति द्रव्य वर्णनम्।

बृंहणद्रव्यनिष्क्वाथाः कल्कैर्मधुरकैर्युताः।
सर्पिर्मांसरसोपेताः बस्तयो बृंहणाः स्मृताः ॥ सु० चि० ३८।८३
शार्ङ्गधर, भाव प्र०, वंगसेन

बृंहणद्रव्याणां विदारीगन्धादीनां क्वाथः पूर्ववत् कल्कैरित्यादिना काकोल्यादीनां कल्कपलद्वयं, मधुनः पूर्ववत्, घृतस्य षट् पलानि, सैन्धवं पूर्ववत्, मांस रसस्य सप्तदङ्काधिकं पलत्रयमित्येवं चतुर्विंशति पलानि। डल्हणः।

हि०व्या०—बृंहण द्रव्यों (विदारीगन्धादिगण की औषधियों) के क्वाथ में मधुर रस युक्त (काकोल्यादि गण की) औषधियों का कल्क मिलाकर घी एवं माँस रस में जो वस्ति दी जाती है उसको बृंहणवस्ति कहते हैं। सुश्रुत के इस श्लोक को भावप्रकाश एवं वंगसेन में अविकल रूप से उद्धृत किया गया है। आचार्य शार्ङ्गधर ने भी इसका अनुकरण किया है।

चत्वारो मदनाः पिष्टाः क्षौद्रा तैल चतुष्पलम्।
कुडवं मांस निर्यासाद्त्वार्द्धं रुचकाद्भवेत् ॥
बल वर्णकरो बस्तिर्बृंह्यो मांसबलप्रदः।
वातशोषित देहानां बृंहणः स्थैर्यकारकः ॥
वंगसेन बस्ति प्र० १६०-१६१

हि० व्या०— मदनफल कल्क ४ पल, मांसरस एक कुडव, सैंधा नमक आधा कुडव सबको एकत्र कर वस्ति देनी चाहिए। यह बल और वर्ण वर्द्धक, वीर्योत्पादक, मांस वर्धक और बलदायक है। वायु प्रकोप से जिनका शरीर शुष्क हो गया हो उनको पुष्ट और स्थिर करती है।

---

(१) नित्यविशोधनीयगदानाह कुष्ठप्रमेहादिष्वित्यादि। अत्र, आदिशब्देनारोचकतन्द्राश्लीपदादीनां ग्रहणम्। मेदुरेष्विति मेदस्विषु। चक्रपाणिः।

(२) बस्तीन्न बृंहणीयान् दद्याद् व्याधिषु विशोधनीयेषु। मेदस्विनो वशिोध्या येऽपि नराः कुष्ठमेहार्ताः। च० सि० १०।११, अ० हृ० क० ४।७१

उत्क्लेशन बस्तिः

एरण्डबीजं मधुकं पिप्पली सैन्धवं वचा।
हपुषा फलकल्कश्च बस्तिरुत्क्लेशनः स्मृतः ॥
सु० चि० ३८।७३, शार्ङ्गधरः, वंगसेन, भा० प्र०

हि० व्या०—एरण्डबीज, महुआ, पीपर, सैंधवनमक, बच तथा हाउबेर के फल का कल्क मिलाकर उत्क्लेशन बस्ति देनी चाहिए। इनसे दोषों का उत्क्लेशन होता है।

शमनबस्तिः।

प्रियङ्गुर्मधुकं मुस्ता तथैव च रसाञ्जनम्।
सक्षीरः शस्यते बस्तिर्दोषाणां शमनः परः ॥
सु० चि० ३८, शार्ङ्गधर उ० ६।१९, भा० प्र०, वंगसेन

हि० व्या०—प्रियंगु, महुआ, नागरमोथा, रसाञ्जन का कल्क दूध मिलाकर प्रयोग किया जाता है। इससे दोषों का शमन होता है। अतः इसे शमन बस्ति कहा जाता है।

वाजीकरणो निरूह योगः।

पयस्येक्षुस्थिरारास्नाविदारी क्षौद्रसर्पिषाम्।
एकैकः प्रसृतो बस्तिः कृष्णाकल्कोवृषत्वकृत् ॥
च० सि० ८।११

यद्यपि पयस्यादीनां क्वाथो न श्रूयते, तथाऽपि द्रवान्तरैः सममेकैकप्रसृत विधानात् प्रत्येकं पयस्यादिक्वाथस्य प्रसृतमानत्वम्। वृषत्वकृदिति शुक्रवृद्धिकृत्। चक्रपाणिः।

हि० व्या०—सप्त प्रासृतिक बस्तिः—क्षीरविदारी का क्वाथ, ईख का रस, सरिवन का क्वाथ, रास्नाक्वाथ, बिदारीकन्द स्वरस या क्वाथ, मधु, घी तथा पीपर का कल्क, एक-एक प्रसृत मिलाकर मथनी से आलोड़ित कर वृष्य कर्म हेतु बस्ति का प्रयोग कराना चाहिए।

शुक्रवर्धनो निरूह योगः।

सैन्धवार्धाक्ष एकैकः क्षौद्रतैलपयोघृतात्।
प्रसृतो हपुषाकर्षो निरूहः शुक्रकृत् परम् ॥
च० सि० ८।७

वक्तव्य १. आचार्य वंगसेन ने 'एरण्डबीजं' के स्थान पर 'एरण्डमूलं' पाठ लिखा है।

२. शार्ङ्गधर के हिन्दी टीकाकार श्री प्रयागदत्त शर्मा 'मधुकं' से महुआ का ग्रहण किया है। वंगसेन के हिन्दी व्याख्याकार राजीव कुमार राय मधुकं से 'मधुयष्टी' का ग्रहण किया है। शार्ङ्गधर के गूढार्थ दीपिका व्याख्या में 'मधुकं-गुडपुष्पं लिखा है।

हि० व्या० —चतुःप्रासृतिक बस्तिः—सैंधव नमक आधाकर्ष, मधु, तेल, घृत, दूध प्रत्येक एक प्रसृत और हाउवेर का कल्क एक कर्ष एकत्रकर, मथनी से मथकर निरूहबस्ति देने पर अत्यन्त शुक्रवृद्धि होती है।

द्विपञ्चमूलीत्यादि वाजीकरणप्रधानः निरूहबस्तिः।

द्विपञ्चमूलीकुक्कुटरससिद्धं पयः पादशेषम् पिप्पलीमधुकरास्नामदनकल्कं शर्करामधुघृतयुक्तं स्त्रीष्वतिकामानां बलजननो बस्तिः। च० चि० १२।२९

हि० व्या० —दोनों पञ्चमूल (दशमूल) का कल्क और मुर्गी के अण्डे के रस से चतुर्गुण दूध को पकाना चाहिए। चतुर्थांश शेष रहने पर छानकर उसमें पीपर, मुलेठी, रास्ना और मदनफल का कल्क तथा चीनी, मधु, घृत, मिलाकर बस्ति देने से अधिक मैथुन की अभिलाषा रखने वाले व्यक्तियों में बलसंजनन होता है।

बस्तिषु माक्षिक प्रयोग विशेषः।

एते माक्षिक संयुक्ताः कुर्वन्त्यतिवृषं नरम्।

च० सि० १२।५७

अतिवृषमिति शुक्रोपचयवन्तम्। च० पा०।

हि० व्या०—बस्तिद्रव्यों में मधु मिलाकर बस्ति देने से अति वृष्य होता है।

सामान्यतः वाजीकरणबस्ति द्रव्यवर्णनम्।

चटकाण्डोच्चटा क्वाथाः सक्षीरघृतशर्कराः।
आत्मगुप्ताफलावापाः स्मृता वाजीकरा नृणाम्॥

सु० चि० ३८।८४

चटका ग्रामचटकाः तेषामण्डानि, उच्चटा घुर्घुराख्यः शणघण्टाकारफलोऽल्पो विटपः सरयूपकण्ठे हिमवति वारेन्द्यां च प्रायसः उपलभ्यते, चटकाण्डोच्चटानां षोडशपलप्रमितानां क्वाथः पूर्ववत्, अत एक पुटकस्यार्थे पलाष्टकं क्षीरस्य पल-चतुष्टयं, मधुघृते पूर्ववत्, शर्करायाः एकं पलं तथा कपिच्छूफलानां, मध्ये सैन्धवं चाल्पतरं प्रयोज्यं नैव वा 'शुक्रार्थेषु न तैलगुडसैन्धवम्' इति वचनात्;।

डल्हणः।

हि० व्या० - चटक (गौरैया) नामक चिड़िया के अण्डे, स्वेत घुंघची का क्वाथ, दूध, घी, शर्करा और केवाच के फल का कल्क मिलाकर तैयार की गई बस्ति को वाजीकरण बस्ति की संज्ञा दी गई है।

वाजीकरावस्तयः

रसः ककंटकानां तु शर्करामस्तुसंयुतः।
घृत सौवर्चलयुतो बस्तिर्वृष्यतमः स्मृतः॥

हंससारसलावानां तित्तिरिक्रौंचबर्हिणाम्।
कल्पेनानेन कर्तव्या वाजीकरणवस्तयः॥
पयः कुक्कुटमांसेन विपक्वं मधुसंयुतम्।
चटकाण्डरसश्चैव कुक्कुटाण्डरसस्तथा॥
घृतमाक्षिकसंयुक्तः शर्करासैन्धवैर्युतः।
एष वस्तिः स्मृतो वृष्यः मांशशुक्लविवर्धनः॥
यतशतं वा षष्टिं वा नारीर्गच्छतिमानवः।
एष वर्णबलोत्साहः स्थविरेऽपि प्रदृश्यते॥
तिमिङ्गिले वा मकरे पाठीने नक्रमीनयोः।
दुग्धं कूर्मेऽथ कुम्भीरे कल्पयेच्छिशुमारवत्॥

भे० सि० ८।७३-७८

हि० व्या०—केकड़े के मांस का रस, चीनी, दही का पानी, घृत और नमक मिलाकर बस्ति प्रयोग करने से शरीर में वृषता आती है। इसी कल्पना के अनुसार हंस, सारस, लावापक्षी, चकवा पक्षी, मोर पक्षी के मांस रस एवं मुर्गे के मांस को दूध में पकाकर और शहद मिलाकर बस्तियों की कल्पना की जा सकती है।

गोरैया पक्षी के अण्डे का रस, मुर्गी के अण्डे का रस, घृत, शहद, चीनी और सैन्धव लवण (अल्प मात्रा में) मिलाकर बस्ति देने से अत्यन्त बाजीकरण शक्ति वर्धक है। यह मांसधातु और शुक्रधातुवर्धक है। इसके उपयोग से सौ या साठ स्त्रियों के साथ रमण किया जा सकता है। यह वृद्धावस्था मे वर्ण, बल, और उत्साह वर्धक है। तिमिंगिल मत्स्य, घड़ियाल, रोहूमछली, गोधा और (गोह) कछुआ, इनके मांस को मगर की कल्पना के समानदूध में सिद्ध कर इनसे भी बस्ति की कल्पना की जा सकती है।

क्रीड़ा बस्तिः

वाराहबस्तवृषणौ वृषणौ गोवृषस्य च।
चटककर्कटकांश्चैव क्षीरेण सह साधयेत्॥
तन्निरूहं तु शुक्रेण बस्तानामथमिश्रयेत्।
उच्चटेक्षुरकं चात्र कल्कपेष्यं समावपेत्॥
घृतमाक्षिकसंयुक्तं प्रणीतः शर्करायुतः।
किंचिल्लवणितो वस्तिगमयेत्स्त्रीशतान्यपि॥
एष नारीविहाराणां बह्वन्तः पुरवासिनाम्।
रेतो बलकरः श्रेष्ठः क्रीड़ावस्तिरनुत्तमः॥
आत्मगुप्ताफलैः क्षीरमुच्चटेक्षुरकैः भृतम्।
भोजने वानुपाने वा वृष्यार्थं सम्प्रयोजयेत्॥

भे० सि० ८।७९-८३

हि० व्या०—शूकर का अण्डकोष, बकरे का अण्डकोष, बैल का अण्डकोष, गोरैया का अण्डा, केकड़े का मांस इनको दूध सिद्ध कर उसमें बकरे के अण्डकोष का रस मिलाकर, गुञ्जा, तालमखाना, का कल्क मिलाकर घी, शहद, शर्करा मिलाकर अल्पमात्रा में लवण का प्रक्षेप कर बस्ति प्रयोग करने से अत्यन्त शक्तिवर्धक है। सौ स्त्रियों के साथ रमण करने की शक्ति प्राप्त होती है। शुक्र वर्धक है। इसके साथ कौंचबीज गुंजा और तालमखाना को दूध में सिद्ध कर पीना चाहिये। इसका नाम क्रीड़ा बस्ति है।

पनसबीजादि बस्तिः।

क्षीरं पनसबीजानि कपिकच्छूफलानि च ॥
उच्चटेक्षुरबीजानि मधुकं तालमस्तकम्।
पिप्पल्यश्शारिवा द्राक्षा खर्जूरो मदनान्यपि।
जीवकर्षभकौ मेदा बीजं नीलोत्पलस्य च ॥
गर्भेणानेन संसिद्धं चटकाण्डरसायुतम्।
शर्करामधुसंयुक्तं ··· ··· ···॥

भे० सि० ८।८६-८८

हि० व्या०—कटहल का बीज कौंच बीज, गुंजाबीज, तालमखाना: मधुयष्टी, पिप्पली, अनन्तमूल, दाख, ऋषभक, मेदा, कमलगट्टा सभी द्रव्यों को समभाग दूध में पकाकर गोरैया पक्षी के अण्डे का रस मिलाकर शर्करा (चीनी) और शहद मिलाकर बस्ति में उपयोग करने से अत्यन्त शक्ति वर्धक होता है।

वृष्य बस्तिः

सिद्धेन पयसा भोज्यमात्मगुप्तोच्चटेक्षुरैः।
अतो दशदशाहेन यस्तु बस्तीन्निषेवते ॥
बाजीवपुष्टः सवृषो गच्छति प्रमदाशतम्।
एते माक्षिकसंयुक्ताः कुर्वन्त्यति वृषं नरम् ॥

अ० सं० क० ५।-

हि०व्या०—साठी चावल, कौंचबीज, गुञ्जा बीज, तालमखाना, समभाग दूध में पकाकर शहद मिलाकर बस्ति में उपयोग करने से दश दिन के पश्चात् शरीर वृष होता है। यह वाजीकरण गुण वर्धक है। एक सौ स्त्रियों से रमण करने की सामर्थ्य प्राप्त होती है।

बस्तसूकरमुष्कादिसाधितोऽपरो बृष्यो बस्तिः।

बस्तसूकरजैर्मुष्कैः कुलीरचटकामिषैः।
सिद्धं पयोबस्तमुष्कमुच्चटेक्षुरकं मधुः ॥
तैर्घृताढ्योऽप्लवणो बस्तिर्वृष्यतमः परः ॥

अ० सं० बकल्प ५।१३

वस्तमुष्कादिना सिद्धं पयो बस्तशुक्रादिना युक्तं घृताढ्योऽल्पलवणञ्च बस्तिर्वृष्यतम, परमत्यर्थम्। बस्तः छगलः। मुष्को वृषणः। उच्चटा सोमवल्ली च प्रचला तरला तथा। महौषधी सर्वगामा वृद्धिदा वार्धिता पुरा इक्षुरकं गोक्षुरकः। इन्दुः।

हि० व्या०—बकड़े का अण्डकोष, शूकर का अण्डकोष, केकड़े का मांस रस और चटक (गोरैया) पक्षी का मांस रस अथवा बकरे का अण्डकोष गुंजा, तालमखाना इनको दूध में पकाकर शहद और घी मिलाकर अल्पमात्रा में लवण का प्रक्षेप कर बस्ति प्रयोग करने से अत्यन्त वृष, शक्तिवर्धक होता है।

कुलीर मांसाद्यो वृष्यो बस्तिः।

रसः कुलीरमांसस्य चटकाण्डरसान्वितः।
सशर्कराघृतमधुर्बस्तिर्वृष्यतमो मतः ॥ अ० सं० क०५।१२

कुलीरमांसस्य रसः चटकाण्डरसेन युक्तः सशर्करादिश्च बस्तिर्वृष्यतमः, कुलीरोमत्स्यः कर्कटाख्यः। इन्दुः।

हि० व्या०—केकड़े के मांस का रस, गोरैया पक्षी के अण्डे का रस एकत्र कर घृत, मधु और चीनी मिलाकर बस्ति सेवन करने से अत्यन्त शुक्रवृद्धि और वृष गुण कारक होता है।

कुक्कुटाण्डरसाद्यो माधुतैलिकः शुक्रकृत्बस्तिः।

पञ्चमूलं बृहत्यादि प्रतिद्रव्यं पलोन्मितम्।
द्विपलं शालिगोधूमयवमाषं सयष्टिकम् ॥
तैः सिद्धं छागलं क्षीरं कुक्कुटाण्डरसः सिता।
साज्य क्षौद्रद्विलवणस्तैर्बस्तिः शुक्रकृत्परम्।
कल्पोऽयं शिखिगोनर्दमत्स्याद्यण्डरसेष्वपि ॥ अ० सं० क० ५।११

बृहत्यादि पञ्चमूलादिना सिद्धं छागलं क्षीरं कुक्कुटाण्डरसादिना युक्तो बस्तिः परं शुक्रकृत्। अस्मिन्नेव च वस्तौ कुक्कुटरसस्थाने शिख्यादिनामन्यतमस्याण्डरसयोगात् त्रयो वस्तयो भवेयुः। अण्डेषु च रसोऽन्तर्भवति। इन्दुः।

हि० व्या०—बृहत् पञ्चमूल के पांच द्रव्य प्रत्येक एक पल (चार तोले) की मात्रा में शालि चावल (साठी चावल), गेहूं, जौ और उड़द प्रत्येक दो पल (८ तोले) की मात्रा में, यष्टीमधु दो पल (८ तोले) एकत्र बकड़ी के दुग्ध में पकाकर छानकर उसमें मुर्गी के अण्डे का रस, घृत, शहद, सैंधव और काला नमक मिलाकर अच्छी तरह घोंटकर बस्ति सेवन करने से अत्यन्त शुक्रवर्धक है। इस तरह मुर्गी के अण्डे, गोनर्द (वक) एवं मछली के अण्डों से भी यह बस्ति तैयार की जा सकती है।

वातनाशक निरूहवस्ति वृष्यवस्तिश्च ।

मृगाणां लघुबध्रूणां दशमूलस्य चांभसा ।
हपुषा मिसि गाङ्गेयी कल्कैर्वातहरः परम् ॥
निरूहोत्यर्थं वृष्यश्च महास्नेह समन्वितः ।

ह्रस्वानां वृहतामुभयरूपाणां मृगाणां मांसानां तथा दशमूलस्य च क्वाथेन सह हपुषादिकल्को बस्तिः सुष्ठु वातहरो महानेस्ह युतो वृष्यश्च स्यात् ।

अरुणदत्तः ।

हि० व्या०—लघु एवं विशाल मृगों के मांसरस, दशमूल के क्वाथ, हाउवेर, सौंफ एवं नागरमोथा का कल्क मिलाकर तैयार किया गया वस्ति अत्यन्त वातनाशक होती है । इसमें चारों प्रकार के स्नेह (घृत, तैल, वसा, मज्जा) मिला देने पर अत्यन्त वृष्य होती है ।

दोषहर निरूहबस्तिः ।

१ सुरदारू वरारास्ना शतपुष्पा वचा मधु ।
हिङ्गुसैंधवसंयुक्तो बस्तिर्दोषहरः स्मृतः ॥
सु० चि० ३८।१०३

सक्वाथो मधुषड्ङ्गो वा शताह्वाहिङ्गुसैन्धवम् ।
सुरदारू च रास्ना च बस्तिर्दोषहरः शिवः ॥
अ० सं० क० ५।५ अ०, हृ० क० ४।३२

२ शताह्वा मधुकं बिल्वं कौटजं फलमेव च ।
सकांजिकः सगोमूत्रो बस्तिर्दोषहरः स्मृतः ॥
सु० चि० ३८।७४, शा० उ० ७।१८, वंगसेन, भावमिश्र

हि० व्या०—आचार्य सुश्रुत ने दोषहर वस्ति नाम से दो योगों की कल्पना की है । अष्टाङ्ग संग्रह एवं अष्टाङ्ग हृदय में प्रथम योग का समर्थन किया गया है । आचार्य वागभट ने इससे पूर्व युक्तरथ वस्ति की कल्पना की है । पूर्व श्लोक में एरण्डमूलत्वक् क्वाथ का व्यवहार किया गया है अतः यहां भी (१) एरण्डमूलत्वक् क्वाथ, मधु, वच, सोया, हिंगु, सैंधवनमक, देवदारू, त्रिफला तथा रास्ना का कल्क मिलाकर बस्ति देने का निर्देश किया गया है ।

(२) सौंफ, महुआ, बिल्वमूल, इन्द्रयव का कल्क, कांजी और गोमूत्र मिलाकर बस्ति देने से दोषहर वस्ति कहलाती है । यह दोषों को शरीर से निकाल देती है । शार्ङ्गधर, भावप्रकाश और वंगसेन में पाठ समान है ।

दोषानुसार निरूहबस्तिमात्रा ।

मधुस्नेहनकल्काख्याः कषाया वा मताः क्रमात् ।
त्रीणि षड्द्वादश त्रीणि पलान्यनिलरोगिषु ॥

पित्ते चत्वारि चत्वारि द्वे द्वे चैव चतुष्टयम् ।
षट्त्रीणि द्वादशत्रीणि कफे चापि निरूहणम् ॥ वंगसेन

हि० व्या० – (१) वात रोगों में निरूहबस्ति देनी हो तो शहद तीन पल, स्नेह छः पल, कल्क बारह पल, क्वाथ तीन पल मिलाना चाहिए ।

(२) पित्तज रोगों में शहद चार पल, स्नेह चार पल, कल्क दो पल एवं क्वाथ दो पल मिलाना चाहिए ।

(३) कफज रोगों में शहद छः पल, स्नेह तीन पल, कल्क बारह पल और क्वाथ तीन पल मिलाना चाहिए ।

वाते चतुष्पलं क्षौद्रं दद्यात् स्नेहस्य षट् पलम् ।
पित्ते चतुष्पलं क्षौद्रं दद्यात् स्नेहे पल त्रयम् ॥

कफे तु षट् पलं क्षौद्रं क्षिपेत्स्नेहं चतुष्पलम् ॥ भा० प्र०

हि० व्या०—आचार्य भावमिश्र के अनुसार वातज रोगों में शहद चार पल, स्नेह छः पल देना चाहिए । पित्तज रोगों में शहद चार पल, स्नेह तीन पल देना चाहिए और कफज रोगों में शहद छः पल और स्नेह चार पल देना चाहिए ।

सहचरादि रसायनबस्ति योगः ।

सहचराभीरुबला रास्नागोक्षुरकात् पृथक् ।
तुलां जलद्रोणशते [1]पञ्चद्रोणावशेषिते ॥
पूतशीते बिसद्राक्षातवक्षीरीनिदिग्धिकाः ॥
महासहा क्षुद्रसहायष्टीमधुमधूलिकाः ॥
जीवकर्षभकोदीच्यमृणालोत्पलचन्दनम् ।
खर्जूरतालमज्जास्मगुप्तातामलकोकणाः ॥
पटोलमेदात्वक्पत्र शीतपाक्योदनाह्वयाः ।
कल्कीकृत्यक्षिपेत्तस्मिन्पृथक् च प्रस्थसंमितम् ॥
रसं वराहमहिषवस्तमुष्कोद्भवं तथा ।
शिखिकुक्कुटहंसाण्डसंभवं तैलसर्पिषी ॥
धात्रीविदारीस्वरस गव्यक्षीराढ़कद्वयम् ।
ब्रह्मभेरीमृदङ्गानां निनादैः साधितं च यत् ॥
सितच्छत्रकृतच्छायां सितवस्त्रावगुण्ठितम् ।
आरोपितं गजस्कन्धे पूजयित्वा वृषध्वजम् ॥
कृत्वा स्वस्त्ययनं दद्यात्स्नेहबस्तिमयंत्रणम् ।
प्राप्तस्तेनातिवृषतां रमयेद्वनिता शतम् ॥

---

१. पचेत् द्रोणावशेषिते— पाठ भेदः

निर्वली पलितः कांतश्चिरजीवी भवेत्स च ।
नष्टशुक्रक्षतक्षीणविषमज्वरिणां हितः ॥
व्यापन्नार्त्तवशुक्राणां पुत्रदातारसायनम् ॥ अ० सं० क० ५।२०

सहचरादीनां पञ्चशतानि पलानि । जलस्य द्रोणशतम् । क्वथितशेषो द्रोणः । पूते शीते च विसादि कल्कीकृत्य सूत्रविधानेन क्षिपेत् । वराहादीनां मुष्करसं पृथक् प्रस्थसम्मितम् । निनादशब्दस्य ब्रह्मादिभिः सम्बन्धः । ब्रह्मानिनादो वेदघोषः अभीरूः शतावरी मधूलिका गुडतृणः शराद्यन्यतमकाण्डः । उदीच्यं वालकम् । मृणालं बिसाङ्कुरम् । (नि) चूडामणिः शीतपाकी शिखण्डी कृष्णला तथा । उच्चटा ताम्रका गुञ्जा चतस्रः काकसाह्वया । ओदनपाकी नीलसहचरः । वराहः सूकरः । बस्तः छगलः । धात्र्याम्लकम् । विदारी विदारिका । ब्रह्मवेदः । भेरी दुन्दुभी । तेनेति स्नेहबस्तिना सहचराद्येनातिवृषतां प्राप्तो वनिताशतं श्रमं नयेत् । स च निर्वलीपलित्वादिमान भवेत् । एष च वस्तिर्नष्टशुक्रादीनां हितः । पुत्रदाता रसायनं च ।

इन्दुः ।

हि० व्या०—सहचरादि बस्तिः—पियावांसा, शतावरी, बला, रास्ना, गोखरू, प्रत्येक पांच किलो, जल (पकाकर एक द्रोण शेष रहने पर) एक सौ द्रोण, क्वाथवशिष्ट पांच द्रोण रहने पर, शीतलकर बिस, द्राक्षा, तवक्षीर, निदिग्धिका, (कण्टकारी), महासहा, (माषपर्णी), क्षुद्रपर्णी (मुद्गपर्णी, यष्टिमधु, महुवा, जीवक, ऋषभक, सुगन्धवाला, मृणाल, नीलकमल, चन्दन, खजूर, तालमज्जा, आत्मगुप्ता, भूम्यामलकी, पिप्पली, पेटोल, मेदा, दालचीनी, तेजपत्र, नीलसहचर, क्वाथ के अनुरूप शास्त्रोक्त विधि से उक्त द्रव्यों का कल्ल तैयार कर (सामान्य कल्क विधि के अनुरूप प्रत्येक द्रव्य आधी किलो की मात्रा में एकत्र कर) प्रक्षेप करें । सुअर, भैंसा और बकरे के अण्डों का स्वरस आधी किलो की मात्रा में प्रत्येक मिलावें और मयूर, मुर्गा, हंस के अण्डों का स्वरस प्रत्येक आधी किलों, तैल और घी प्रत्येक, आधी किलो मिलावें ।

पश्चात् धात्री स्वरस, विदारी स्वरस तथा गो दुग्ध प्रत्येक साढ़े छः किलो की मात्रा में मिला दें । तत्पश्चात् भेरीमृदङ्ग आदि वाद्ययन्त्र बजाते हुए श्वेत छत्र की छाया करके श्वेत वस्त्र से ढ़ंककर उस रोगी को हाथी की पीठ पर बिठाकर शिव की पूजा कर स्वस्तिवाचन कराकर इस स्नेह बस्ति का उपयोग करना चाहिए । यह निरूपद्रव है, इससे अत्यन्त वृषता प्राप्त होती है । इस औषधि के प्रभाव से एक सौ स्त्रियों के साथ रमण करने की सामर्थ्य प्राप्त होता है । अकाल में पके हुए वाल कृष्ण वर्ण के हो जाते है । शरीर कान्तिमान हो जाता है । चेहरे की झुर्रियां दूर हो जाती हैं । इसके विधिवत् उपयोग से चिरजीवी होने का निर्देश किया गया है । जिनका शुक्रधातु नष्ट हो

गया हो, क्षत-क्षीण हो, विषमज्वर विनाशक, एवं पुत्र के लिए समस्त आर्तव विकृति जन्य दोषों को दूर करने वाला एवं पुत्रदाता योग है ।

मूत्रबस्तिः

अष्टौ पलानि मूत्रस्य रुक्वक्वाथाच्चतुष्पलम् ।
पल द्वयं तु तैलस्य माक्षिकप्रसृतं तथा ॥
रसक क्षीरसौवीरतित्तिडीकम्पलम्पलम् ।
गुडादेकं पलं दद्यान्मदनस्य तथा पलं ॥
शतपुष्पावचारास्ना कुष्ठदारुघनं निशा ।
सिद्धार्थकं बिल्वपेशी यवानी सैन्धवं बला ॥
कर्षान्वितं श्लक्ष्णपिष्टं खजेनाशु प्रमथ्य च ।
युञ्ज्यानिरूहवत्प्राज्ञो निरपाय महद्गुणम् ॥
मूत्रबस्तिरिति ख्यातः सर्वव्याधिहरः परः । वंगसेन

हि० व्या०—गोमूत्र आठ पल, एरण्डमूलक्वाथ चार पल, तिलतैल दो पल, शहद एक प्रसृत, मांसरस, दूध, कांजी और इमली प्रत्येक एक-एक पल, गुड एक पल, मदनफल एक पल, सौंफ, वच, रास्ना, कूठ देवदार, नागरमोथा हल्दी, सरसों, वेलगिरि, अजवायन, सैंधव नमक और बला प्रत्येक एक-एक तोला बारीक चूर्ण मिलाकर मथानी से मथकर निरूहवस्ति के समान देना चाहिए । इस बस्ति के प्रयोग से किसी प्रकार की व्यापत्ति नहीं होती एवं यह अत्यन्त गुणकारी है । यह सभी प्रकार के रोगों को दूर करती है । आचार्य वंगसेन ने मूत्रबस्ति नाम से इस योग को उद्धृत किया है ।

वैतरण बस्तिः

पलशुक्तिकर्षकुडवैरम्लीगुडसिन्धुजन्मगामूत्रः ।
ईषत्तैलयुतोऽयं बस्तिः शूलानाहामवातहरः ॥
वैतरणः क्षारबस्तिर्भुक्ते चापि प्रदीयते ॥
चक्रदत्तः वंगसेन ।

हि० व्या०—इमली चार तोला, सैंधव लवण एक तोला, गोमूत्र बत्तीस तोला, एक पल तिल तैल मिलाकर वस्ति प्रयोग करना चाहिए । इसको वैतरण बस्ति कहते हैं । इससे शूल, आनाह, आमवात रोग दूर होते हैं । वैतरण बस्ति तथा क्षार बस्तियों का प्रयोग सर्वथा भोजन के पश्चात् ही करना चाहिए तथापि रोगी के बलवान होने पर रिक्त कोष्ठ में भी दिये जाने का निर्देश है, इसके अतिरिक्त आचार्य वंगसेन ने इसे कटि, उरू एवं पृष्ठशोथ,

जीर्ण उरू स्तम्भ रोग, गृध्रसी, जानुसंकोच, विषमज्वर तथा नपुंसकता नाशक बताया है। वंगसेन का मूल पाठ टिप्पणी में निर्दिष्ट है।

क्षारबस्तिः

सैन्धवाक्षं समादाय शताह्वाक्षं तथैव च।
गोमूत्रस्य पलान्यष्टावम्लिकायाः पलद्वयम्॥
गुडस्य द्वे पले चैव सर्वमालोड्य यत्नतः।
वस्त्रपूतं सुखोष्णञ्च बस्तिं दद्याद्विचक्षणः॥
शूलं विट्सङ्गमानाहं मूत्रकृच्छ्रञ्च दारुणम्।
क्रिम्युदावर्तगुल्मादीन् सद्यो हन्यान्निषेवितः॥

चक्रदत्त, वंगसेन

हि० व्या०—क्षारबस्ति—सैंधव नमक एक तोला, सौंफ एक तोला, गोमूत्र आठ पल (बत्तीस तोला), इमली दो पल, गुड दो पल, इन सबको एकत्र खरल में घोंटकर वस्त्र में छानकर सुखोष्ण बस्ति प्रयोग करना चाहिए। इसका नाम क्षारबस्ति है। शूल, विबन्ध, आनाह, दारुण मूत्रकृच्छ्र, कृमि, उदावर्त और वातादि रोगों को तत्काल नष्ट कर देती है।

युक्तरथबस्ति निर्वचनम्

रथेष्वपि च युक्तेषु हस्त्यश्वे चापि कल्पिते।
यस्मान्न प्रतिषिद्धोऽयमतो युक्तरथः स्मृतः॥

सु० चि० ३८।-

हि० व्या०—बस्ति क उपयाग काल म यद्यपि आचार्यों ने रथ की सवारी करना निषेध किया है तथापि वैकल्पिक रूप से इस वस्ति के उपयोग का

टि०—सिन्धूद्भवस्य कर्षमम्लीकायाः पलं गुडार्धपलम्।
सुरभीपयसः कुडवः सर्वैरेतैः कृतो बस्तिः।
ईषत्तैलयुतोऽयं भुक्ते दत्ते निहन्ति रोगगणम्।
कट्यूरूपृष्ठोथं शूलं चामानिलं घोरम्॥
चिरभवमूरूस्तम्भं गृध्रसिं रोगं च जानुसंकोचनम्॥
विषमज्वराणि घोरं क्लैब्यञ्च विनाशितायाशु।
बस्तिर्वैतरणोक्तो गुणगणयुक्तः सुविख्यातः।
भोजयित्व [illegible]॥
अथ चेद्बल

विचार व्यक्त किया है। कहीं जाने के लिए उद्यत रथ में घोड़े जुड़े हुए हों फिर भी इस बस्ति का उपयोग कियाजा सकता है अतः इसे युक्तरथ बस्ति कहते हैं। इसमें कोई विधि निषेध नहीं है।

युक्तरथनामक निरूहबस्तिः

वचामधुक तैलं च क्वायः सरससैन्धवः।
पिप्पलीफलसंयुक्तो बस्तिर्युक्तरथः स्मृतः॥

सु० चि० ३८।१०२

वचासैन्धवपिप्पलीमदनफलानां प्रत्येकं कार्षिका भागा, मधुतैलयोश्चत्वारः प्रसृताः कर्षद्वयाधिकाः, एरण्डमूल क्वाथस्तावान्मात्र एव; इति युक्तरथभिधानो माधुतैलिकः। डल्हणः।

वचेति क्वाथोऽत्र सन्निहितत्वादेरण्डमूलज एव रसस्तु मांसरसः। वचादीनामदव्राणां कल्को युक्त्या देयः, द्रवाणान्तु मिलित्वा नव प्रसृता एव।

हाराण०।

हि० व्या०—आचार्य सुश्रुत के अनुसार वच, सैंधव, पिप्पली, मुलेठी, मदनफल प्रत्येक एक तोला, मधु और तैल चार प्रसृत, एरण्ड का क्वाथ चार प्रसृत सब एकत्र मिलाकर बस्ति देने से युक्तरथ बस्ति कहा जाता है।

एरण्डमूलानिः क्वाथो मधुतैलं ससैन्धवम्।
एष युक्तरथोबस्तिः सवचापिप्पलीफलम्॥

अ० सं० क० ५।४, अ० हृ० क० ४।३१, शार्ङ्गधर, वंगसेन

हि० व्या०—एरण्डमूल त्वक्, मधु, तैल, सैंधवलवण, वच, पिप्पली तथा मदनफल का कल्क मिलाकर बस्ति देनी चाहिए। सामान्यतया बस्तिकर्म में रथ की सवारी त्याज्य है। अतः इसके विकल्प में यह वस्ति देने की आचार्यों ने योजना की है। अतः इसे युक्तरथ बस्ति की संज्ञा दी गयी है। अष्टाङ्गहृदय, शार्ङ्गधर एवं भावप्रकाश में भी पाठ समान है।

रक्तबस्तिः

.....रक्ते रक्तेन।

च० सि० ८।७५

रक्ते रक्तेनेति सरक्ते ऽतिसार्यमाणे रक्तेन बस्तिर्देयः। च० पा०।

हि० व्या०—रक्तातिसार में रक्तबस्ति का प्रयोग करें। इसके लिए शास्त्रकारों ने बकरे के ताजा रक्त की बस्ति का उल्लेख किया है।

यापनबस्तीनां प्रयोगस्थलानि।

इत्येते बस्तयः स्नेहाश्चोक्ता यापन संज्ञिताः।
स्वस्थानामातुराणां च वृद्धानां चाविरोधिनः॥

अतिव्यवायशीलानां शुक्रमांसबलप्रदाः ।
सर्वरोग प्रशमनाः सर्वेष्वृतुषु यौगिकाः ॥
नारीणामप्रजातानां नराणां चाप्यपत्यदाः ।
भयार्थंकरा दृष्टाः स्नेहबस्तिनिरूहयोः ॥

च० सि० १२ ४६-५०

उभयार्थंकरा दृष्टा इति स्नेहबस्ति निरूहयोरपि साध्यमर्थं स्नेहनं शोधनं च कुर्वते इति भावः। चक्रपाणिः ।

हि० व्या०—यापन बस्तियाँ—चरक संहिता सिद्धिस्थान के बारहवें अध्याय में यापन नामक स्नेह और निरूह बस्तियों का वर्णन आचार्य आत्रेय-पुनर्वसु ने किया है। ये वस्तियाँ स्वस्थ रोगी और वृद्धों के लिए निरूपद्रव (उपद्रव रहित) है। अत्यन्त स्त्री प्रसंग करने वाले (कामुक) के लिए शुक्र, बल एवं मांस वर्धक है। सभी प्रकार के रोगों में इनका प्रयोग किया जा सकता है तथा सभी ऋतुओं में इनका प्रयोग विहित है। जिन स्त्रियों को सन्तान नहीं होती है उनको तथा पुरुषों के लिए भी सन्तान प्राप्ति हेतु उत्तम एवं जिनकी कन्या सन्तान होती है उनके लिए पुरुष सन्तान की प्राप्ति के लिए भी यापन बस्ति का प्रयोग विहित है।

यापना ऽबस्तौऽप्रवृत्तौ कर्तव्यम् ।

नातियोगं न वा योगं स्तम्भि[1]तास्ते च कुर्वते ।
मृदुत्वान्न निवर्तन्ते यस्य त्वेते प्रयोजिताः ॥
समूत्रैर्बस्तिभिस्तीक्ष्णैरास्थाप्यः क्षिप्रमेव सः ।

च० सि० १२।५८

मृद्वल्पौषधसंयोगात्पादहो न प्रमाणतः ।
अल्पकालोपयोगाच्च तेषु निष्परिहारिता ॥

अ० सं० क० ५।-

हि० व्या—यापन बस्तियां मधु के साथ प्रयुक्त होने से अतियोग, अयोग, स्तम्भन नहीं करती। शहद मिलाने से ये बस्तियां मृदु होती हैं। अतः इनका प्रयोग करने पर कभी-कभी औषध द्रव्य पक्वाशय में रह जाती है, बाहर नहीं निकल पाती। ऐसी अवस्था में गोमूत्रयुक्त तीक्ष्ण निरूहबस्ति देकर बाहर निकालना चाहिए।

यापन बस्तिषु वर्जनीयानां संकेतः ।

व्यायामो मैथुनं मद्यं मधूनि शिशिराम्बु च ।
संभोजनं रथक्षोभो बस्तिष्वितेषु गर्हितम् ॥ च० सि० १२।५२

१. स्तम्भिताश्चेति मधुना स्तम्भिताः। चक्रपाणिः ।

हि० व्या०—यापन बस्ति में अपथ्य—यापन बस्तियों के प्रयोगकाल में व्यायाम, स्त्रीप्रसंग मद्य, शीतलजल, अधिक भोजन करना, बैलगाड़ी, घोड़ा-गाड़ी आदि पर सवारी (यात्रा) करना निषिद्ध है।

यापनः प्रासृतिको बस्तिः ।

यापनो घनकल्केन मधु तैल रसाज्यवान् ।
पायुजंघोरुवृषण बस्ति मेहन शूलजित् ॥
प्रसृतांशैर्धृत क्षौद्रवसातैलैः प्रकल्पयेत् ।
यापनं सैन्धवाक्षार्द्ध हपुषार्द्ध पलोन्मितम् ॥

अ० सं० क० ५। अ० हृ० क० ४।२६-३०

क्षौद्राज्यक्षीरतैलानां प्रसृतं प्रसृतं भवेत् ।
हपुषासैन्धवाक्षांशो बस्तिः स्याद्दीपनः परः ॥

शा० उ० ७।३ भा० प्र० वंगसेन

हि० व्या०—आचार्य वाग्भट ने यापन बस्ति के दो योगों की कल्पना की हैं (१) नागरमोथाकल्क, मधु, तैल, मांसरस तथा घृत मिलाकर विधिवत् आलोडित करके बस्ति देनी चाहिए। इससे गुदा, जंघा, ऊरु, वृषण, बस्ति तथा मेहन के शूल दूर हो जाते हैं।

(२) घृत, मधु, वसा, तैल, प्रत्येक दो दो पल, सैंधव आधा कर्ष तथा हाउवेर दो कर्ष मिलाकर बस्ति देनी चाहिए। इसका गुण पूर्वोक्त बस्ति के समान है तथा ये दो यापन बस्ति के योग हैं।

आचार्य शार्ङ्गधर के अनुसार शहद, घी; दूध और तेल प्रत्येक एक-एक प्रसृत, हाउवेर सैंधव लवण एक एक तोला मिलाकर बस्ति देने को यापनबस्ति कहते हैं। भावप्रकाश एवं वंगसेन में शार्ङ्गधर के पाठ का अनुसरण किया गया है।

यापन बस्ति प्रयोगान्तर संकेतः ।

एवं च बस्तयोऽन्येऽपि कल्प्याः पाक्याश्चनैकशः। अ० सं० क० ५।

एवं चानया दिशान्येऽपि स्वबुद्धया बृंहणावस्तयः कल्प्याः। यथासंभवं चाने कशः पाक्याश्च शुक्रकरौषधैः। इन्दुः।

हि० व्या०—इसी प्रकार वैद्य को अपनी बुद्धि के अनुसार अन्य बृंहण बस्तियों की कल्पना (शुक्रवर्धक औषधियों के द्वारा) करनी चाहिए।

अति यापनबस्ति प्रयोगात् जायमानानामुपद्रवाणां वर्णनं तत्र चिकित्सा सूत्रं च ।

शोफाग्निनाशपाण्डुत्वशूलार्शः परिकर्तिकाः ।
स्युर्ज्वरश्चातिसारश्च यापनात्यर्थ सेवनात् ॥

च० सि० १२।५६ अ०सं०क० ५।१६

अरिष्टक्षीरसीध्वाद्या तत्रेष्टा दीपनी क्रिया।
युक्त्या तस्मान्निषेवेत् यापनान्न प्रसङ्गतः॥
च० सि० १२।६० अ० सं० क० ५।१७

मृदुत्वाद्यापनानां केचिद्विभ्रमभीरुः।
दीपनानां कषायेण योजयन्ति चिकित्सकाः॥
एवमन्येषु विभ्रांतौ सनिरूहेषु वा पुनः। भे० सि० अ० ८।

हि० व्या०—अति यापनवस्ति प्रयोगजन्य उपद्रव- यापन वस्ति के अत्यधिक प्रयोग से शोथ, अग्निमांद्य, पाण्डुरोग, शूल, अर्श, परिकर्तिका, ज्वर तथा अतिसार रोग हो जाते हैं। यापन वस्तिजन्य उपद्रवों में अरिष्ट, दूध, सीधु पीना चाहिए। दीपनीय औषधियों का प्रयोग करना चाहिए। यापन बस्ति के अधिक प्रयोग से हानि होती है अतः युक्तिपूर्वक इसका सेवन करना चाहिए।

विविध यापनबस्ति योग निर्माणाय तदुदाहरण सूचनम्

द्रव्येषु यापनार्थेषु सिद्धात्स्नेहात्पृथक्पृथक्।
वस्तीन्सर्वेषु युञ्ज्यात्परिहार विवर्जितान्॥ अ० सं० क० ५।१९

अथवा सर्वेषु पुरुषेषु पृथग्यापनीयद्रव्यसिद्धान् स्नेहान् निष्परिहारान् युञ्ज्यात्। इन्दुः।

मुस्तकादिः बल्यः यापनश्च निरूहबस्ति प्रयोगः।

मुस्तापाठामूलत्वक्बलारास्ना पुनर्नवाः।
मञ्जिष्ठारग्वधोशीरत्रायमाणाख्यगोक्षुरान्।
पालिकान् पञ्चमूलाल्पसहितान्मदनाष्टकम्।
जलाढ़के पचेत्क्वाथं पादशेषं पुनः पचेत्॥
क्षीरार्धाढ़कसंयुक्तमाक्षीरात् सुपरिस्रुतम्।
पादेन जाङ्गल रसस्तथा मधुघृतम् समम्॥
शताह्वाफलिनीयष्टीवत्सकैः सरसाञ्जनैः।
कार्षिकैः सैन्धवोन्मिश्रैः कल्कैर्बस्तिः प्रयोजितः॥
वातासृङ्मेहशोफार्शोगुल्ममूत्र विबन्धनुत्।
विसर्पज्वरविड्भङ्गरक्तपित्तविनाशनः।
बल्यः संजीवनो वृष्यश्चक्षुष्यः शूलनाशनः।
यापनानामयं राजा बस्तिर्मुस्तादिको मतः॥

सु० चि० ३८।१०६-१११, अ० सं० क० ५।, अ० हृ० क० ४।३६-४२, माधुतैलिकस्याग्रतो गयदासाचार्यमते मुस्तादिरथापनबस्तिर्नास्ति, जेज्जटाचार्यस्तु मुस्तादिस्थापनबस्तिः पठति व्याख्यानयति च, तद्व्याख्यानाभिप्रायेण मयाऽप्यसौ व्याख्यायते—मुस्तापाठेत्यादि। मुस्तादीनि पंचमूलाल्पसहितान्यष्टादशपलानि, ततो मदनस्याष्टाभिः फलैर्द्विपलमित्येवं विंशतिपल प्रमितानि जलाढ़केऽष्टाविंशत्यधिकशतपलप्रमिते पचेत्, ततो द्वात्रिंशत्पलप्रमितः क्वाथोऽवशिष्टो भवति, ततस्तत्क्वाथंपादशेषं क्षीरार्धाढ़कसंयुक्तं दुग्धस्य चतुः षष्टिपलोपेतं पुनः पचेतावद्यावत् क्षीरावशेषं प्रस्थद्वयं चतुः षष्टिपलानि भवन्ति, पादेन प्रस्थस्याष्टौ पलानि मांसरसस्य, एवं द्वासप्ततिपलानि भवन्ति। अतो मध्यादेकस्य पुटकस्यार्थे चतुर्विंशतिपलानि ग्राह्याणि; तत्र मधुनः प्रसृतः सार्धः, घृतस्य तावादित्येवं षट्पलानि क्षिप्यन्ते, शताह्वादीनां षड्द्रव्याणां कर्षप्रमितानां कल्कस्य सार्धं पलं, निरूहाङ्गत्वान्मदनफलस्यार्धपलमेवं कल्कस्य प्रसृतो भवतीत्येकस्मिन् पुटके द्वात्रिंशत्पलप्रमितप्रस्थो भवति; एवमपरमपि पुटकद्वयं करणीयं, एवं पुटकत्रयस्यार्थे षण्णवतिपलानि भवन्ति। इदं मुस्तादि यापनवस्तिमानं जेज्जटाचार्येण तन्त्रान्तरोक्तमध्यमानेन कल्पितं। तथा च पराशरः—'निरूहस्य प्रमाणं तु प्रस्थं पादोत्तरं स्मृतम्। मध्यमं प्रस्थमुद्दिष्टं हीनं च कुडवास्त्रयः'—इति। गूढ़पदभङ्गटिप्पणकारेण पुनरन्यथा व्याख्यातम्। तथाहि—

'मुस्तादिद्रव्याणां पालिकान् भागान् द्रवत्वाद्गिगुणतया कल्पनया जलस्याढ़के अष्टाविंशत्यधिके पलशते पक्त्वा पादशेषं द्वात्रिंशत्पलप्रमाणं क्षीरार्धाढ़कसंयुक्तं पुनः पचेद्यावत्क्षीरशेषं चतुः षष्टिपलानि भवन्ति। ततश्च स पाद प्रस्थे जाङ्गल रसस्य पञ्चपलानि, मधुघृतं पृथक् सार्धद्विपलसंमितं शताह्वादिकल्कस्य मदन फलाष्टकेन युक्तं पलद्वयं प्रक्षिप्यैकध्यं षट्सप्तत्या पलैः पुटकत्रयं देयम्।

डल्हणः।

हि० व्या०—नागरमोथा, पाठा, गिलोय, एरण्डमूलत्वक्, बलामूलत्वक्, रास्ना, पुनर्नवा, मजीठ; अमलतास, खस, त्रायमाणा, कुटकी तथा लघुपंचमूल के पांचों द्रव्य अलग-अलग एक पल की मात्रा में ग्रहणकर, मदनफल संख्या में आठ (फल) कूटकर ढाई सेर जल में पकाकर एकप्रस्थ शेष रहने पर छानकर दो प्रस्थ दूध मिलाकर पुनः पाक करना चाहिए। दुग्धमात्र शेष रहने पर ८ पल जांगल मांसरस, घृत, मधु, सैंधव नमक, मुलेठी, सौंफ, प्रियङ्गु, इन्द्र यव तथा रसांजनकल्क मिलाकर सुखोष्ण बस्ति देनी चाहिए।

इससे मांस, अग्नि, बल तथा शुक्र धातु की वृद्धि होती है। वातरक्त मोह, प्रमेह, अर्श गुल्म, विबन्ध, मूत्राघात, विषमज्वर, विसर्प, वृद्धि, आध्मान, प्रवाहिका, वंक्षण, ऊरू, कटि, कुक्षि, मन्या, कर्ण तथा शिरःशूल, रक्तप्रदर, उन्माद, शोथ, कास, अश्मरी तथा वातकुण्डलिका को दूर करती है। नेत्रों के लिए हितकारी है। यह पुत्रदायक एवं सभी यापन वस्तियों में श्रेष्ठ रसायन है।

सिद्धबस्ति निर्वचनम्

बलोपचयवर्णानां यस्माद् व्याधिशतस्य च ।
भवत्येतेन सिद्धिस्तु सिद्धबस्तिरतो मतः ॥

सु० चि० २८।११६

हि० व्या०—सैकड़ों रोगों में इनसे बल, वर्ण और पुष्टि में सिद्धि मिलती है अतः इनको सिद्ध बस्ति कहते हैं ।

सिद्धबस्ति महत्वम् ।

मृदुत्वात् पादहीनत्वादकृत्स्न विधि सेवनात् ।
एकबस्तिप्रदानाच्च सिद्धबस्तिष्वयन्त्रणा ॥

सु० चि० ३८।११८

मृदुवीर्यैरौषधैः कल्पितो मृदुः । पादहीनत्वादिति पादेन हीनः पादाभ्यां वा हीनः, ततश्च पादहीना नवप्रसृता भवन्ति. पादाभ्यां हीनाः षट्प्रसृता भवन्ति । आकृत्स्नविधि सेवनादिति वमनादिसंस्कारवर्जनात् । एकबस्तिप्रदानाच्चेति एक पुटक प्रदानात्; 'एकाहं प्रणिधानाच्च' इति केचित् पठन्ति, एकाहमेव प्रणिधानं बस्तिदानमित्यर्थः । परं कालैककृते दोषकोपे कदाचित् सम्यङ्निरूढलक्षणमवेक्ष्य द्वित्र्यादिवस्तिदानमपीति पाठविशेषाद्विशिष्टोऽर्थः; अतो 'नैकाहप्रणिधानात्' इत्यपरे पठन्ति; तत्र शोधननिरूहवदेकाहमेव प्रणिधानं नारत्येव; किं तर्हि साधारणत्वात् समधातुषु वाजीकरणादावसकृद्दानमपीति । डल्हणः ।

हि० व्या०—सिद्धवस्तियों की औषधियां मृदु वीर्य होने से, पादहीन होने से, वमनादि विधि विना भी प्रयुक्त होने से, एक ही वस्ति के अधिक गुणकारी होने से तथा इनमें किसी प्रकार का विधि निषेध नहीं होने से प्रशस्त है ।

सिद्धिप्रदाः कतिपय बस्तियोगाः ।

सिद्धानां बस्तीनां शस्तानां तेषु तेषु रोगेषु ।
शृण्वग्निवेश ! गदतः सिद्धिं सिद्धिप्रदां भिषजाम् ॥

च० सि० १०।३

सिद्धबस्तीनतो वक्ष्ये सर्वदा यान्प्रयोजयेत् ।
निर्व्यापदो बहुफलान्बलपुष्टिकरान् सुखान् ॥

अ० सं० क० ५।१, अ० हृ० क० ४।२६-२७

हि० व्या०—महर्षि आत्रेयपुनर्वसु ने बस्तिसिद्धि अध्याय का शुभारम्भ करते हुए कहा कि हे अग्निवेश ! विभिन्न प्रकार के रोगों में श्रेष्ठ और निश्चित रूप से लाभकारी बस्तियों का मैं इस अध्याय में वर्णन कर रहा हूं । इसी प्रकार आचार्य वाग्भट ने भी लिखा है ।

आमवाते उदावर्ते च सिद्धबस्ति संकेतः ।

गोमूत्रस्य पलान्यष्टौ गुडाज्यम्लकयोः पलम् ।
शताह्वा सैन्धवे स्यातामक्षमात्रे प्रमाणतः ॥
देय आमेऽनिले रूक्षे तद्वत्तैलपलान्वितः ।
उदावर्ते वातकोष्ठे सिद्धबस्तिरिति स्मृतः ॥ वंगसेन

हि०व्या०—गोमूत्र आठ पल, गुड चार तोले, चूका चार तोला, सौंफ एक तोला, सैंधव नमक एक तोला सभी द्रव्यों को एकत्र अच्छी प्रकार घोंटकर चार तोला तिल तैल मिलाकर आमवात, उदावर्त, रूक्षता और वातकोष्ठ, इन रोगों में वस्तिप्रयोग करना चाहिए । इसे सिद्धबस्ति कहा जाता है ।

यवकोलादिकः सिद्ध बस्ति प्रयोगः ।

यवकोल कुलत्थानां क्वाथो मागधिका मधु ।
सैसैन्धवः सयष्ट्याह्वः सिद्धबस्तिरिति स्मृतः ॥

सु० चि० ३८।-

हि० व्या०—जौ, बेर, कुलथी का क्वाथ, पिप्पली, मधु, सैंधव लवण, मधुयष्टी इन द्रव्यो से तैयार की गई वस्ति को सिद्धबस्ति कहते हैं ।

सिद्धबस्तेः पथ्यम् ।

सिद्धेन पयसा भोज्यमात्मगुप्तोच्चटेक्षुरैः ।

अ० हृ० क० ५।५२

हि० व्या० –सिद्धवस्ति प्रयोगकाल में कौंच बीज, श्वेत गुञ्जा तथा तालमखाना के बीज से सिद्ध दूध के साथ भोजन करना चाहिए ।

स्नेहांश्चायंत्रणान् सिद्धान्सिद्धद्रव्यैः प्रकल्पयेत् ।

अ० हृ० क० ४।५३

हि० व्या०—पूर्वोक्त सिद्धबस्तियों के द्रव्यों से सिद्ध स्नेह से अनुवासनवस्ति करना चाहिए । इस वस्ति में किसी प्रकार की परिहार की आवश्यकता नहीं है ।

मांस बस्तयः

कुछ वस्तियां, वृष्य, बाजीकर रसायन, बल्य एवं बृंहण होती हैं जिनमें विभिन्न पशु पक्षियों का मांस प्रयुक्त होता है । उनकी गणना कर्मानुसार किए जाने पर भी उनको मांस वस्ति नाम भी दिया गया है । यथा स्थान विविध शीर्षकों में आई बस्तियों से इसे स्पष्ट कर लेना चाहिए ।

मायूर बस्तिः

मयूरपक्षपित्तांत्र पावविट्तुण्डवर्जितम् ।
लघुना पञ्चमूलेन पालिकेन समन्वितम् ॥

अरिष्टक्षीरसीध्वाद्या तत्रेष्टा दीपनी क्रिया ।
युक्त्या तस्मान्निषेवेत् यापनान्न प्रसङ्गतः ॥
च० सि० १२।६० अ० सं० क० ५।१७

मृदुत्वाद्यापनानां केचिद्विभ्रमभीरवः ।
दीपनानां कषायेण योजयन्ति चिकित्सकाः ॥
एवमन्येषु विभ्रांतो सनिरूहेषु वा पुनः । भे० सि० अ० ८।

हि० व्या०—अति यापनवस्ति प्रयोगजन्य उपद्रव- यापन वस्ति के अत्यधिक प्रयोग से शोथ, अग्निमांद्य, पाण्डुरोग, शूल, अर्श, परिकर्तिका, ज्वर तथा अतिसार रोग हो जाते हैं। यापन वस्तिजन्य उपद्रवों में अरिष्ट, दूध, सीधु पीना चाहिए। दीपनीय औषधियों का प्रयोग करना चाहिए। यापन बस्ति के अधिक प्रयोग से हानि होती है अतः युक्तिपूर्वक इसका सेवन करना चाहिए।

विविध यापनबस्ति योग निर्माणाय तदुदाहरण सूचनम्

द्रव्येषु यापनार्थेषु सिद्धात्स्नेहात्पृथक्पृथक् ।
वस्तीन्सर्वेषु युञ्ज्यात्परिहार विवर्जितान् ॥ अ० सं० क० ५।१६

अथवा सर्वेषु पुरुषेषु पृथग्यापनीयद्रव्यसिद्धान् स्नेहान् निष्परिहारान् युञ्ज्यात्। इन्दुः।

मुस्तकादिः बल्यः यापनश्च निरूहबस्ति प्रयोगः।

मुस्तापाठामृतातिक्ताबलारास्ना पुनर्नवाः ।
मञ्जिष्ठारग्वधोशीरत्रायमाणाख्यगोक्षुरान् ।
पालिकान् पञ्चमूलाल्पसहितान्मदनाष्टकम् ।
जलाढ़के पचेत्क्वाथं पादशेषं पुनः पचेत् ॥
क्षीरार्धाढ़कसंयुक्तमाक्षीरात् सुपरिस्रुतम् ।
पादेन जाङ्गल रसस्तथा मधुघृतम् समम् ॥
शताह्वाफलिनीयष्टीवत्सकैः सरसाञ्जनैः ।
कार्षिकैः सैन्धवोन्मिश्रैः कल्कैर्बस्तिः प्रयोजितः ॥
वातासृङ्मेहशोफार्शोगुल्ममूत्र विबन्धनुत् ।
विसर्पज्वरविड्भङ्गरक्तपित्तविनाशनः ।
बल्यः संजीवनो वृष्यश्चक्षुष्यः शूलनाशनः ।
यापनानामयं राजा बस्तिर्मुस्तादिको मतः ॥

सु० चि० ३८।१०६-१११, अ० सं० क० ५।, अ० हृ० क० ४।३६-४२, माधुतैलिकस्याग्रतो गयदासाचार्यमते मुस्तादिरथापनवस्तिर्नास्ति, जेज्जटाचार्यस्तु मुस्तादिस्थापनबस्तिः पठति व्याख्यानयति च, तद्व्याख्यानाभिप्रायेण मयाऽप्यसौ व्याख्यायते—मुस्तापाठेत्यादि। मुस्तादीनि पंचमूलाल्पसहितान्यष्टादशपलानि, ततो मदनस्याष्टाभिः फलैर्द्विपलमित्येवं विंशतिपल प्रमितानि जलाढ़केऽष्टाविंशत्यधिकशतपलप्रमिते पचेत्, ततो द्वात्रिंशत्पलप्रमितः क्वाथोऽवशिष्टो भवति, ततस्तत्क्वाथंपादशेषं क्षीरार्धाढ़कसंयुक्तं दुग्धस्य चतुः षष्टिपलोपेतं पुनः पचेतावद्यावत् क्षीरावशेषं प्रस्थद्वयं चतुः षष्टिपलानि भवन्ति, पादेन प्रस्थस्याष्टौ पलानि मांसरसस्य, एवं द्वासप्ततिपलानि भवन्ति। अतो मध्यादेकस्य पुटकस्यार्थे चतुर्विंशतिपलानि ग्राह्याणि; तत्र मधुनः प्रसृतः सार्धः, घृतस्य तावदित्येवं षट्पलानि क्षिप्यन्ते, शताह्वादीनां षड्द्रव्याणां कर्षप्रमितानां कल्कस्य सार्धं पलं, निरूहाङ्गत्वान्मदनफलस्यार्धपलमेवं कल्कस्य प्रसृतो भवतीत्येकस्मिन् पुटके द्वात्रिंशत्पलप्रमितप्रस्थो भवति; एवमपरमपि पुटकद्वयं करणीयं, एवं पुटकत्रयस्यार्थे षण्णवतिपलानि भवन्ति। इदं मुस्तादि यापनबस्तिमानं जेज्जटाचार्येण तन्त्रान्तरोक्तमध्यमानेन कल्पितं। तथा च पराशरः—'निरूहस्य प्रमाणं तु प्रस्थं पादोत्तरं स्मृतम्। मध्यमं प्रस्थमुद्दिष्टं हीनं च कुडवास्त्रयः'—इति। गूढ़पदभङ्गटिप्पणकारेण पुनरन्यथा व्याख्यातम्। तथाहि—

'मुस्तादिद्रव्याणां पालिकान् भागान् द्रवत्वाद्विगुणतया कल्पनया जलस्याढ़के अष्टाविंशत्यधिके पलशते पक्त्वा पादशेषं द्वात्रिंशत्पलप्रमाणं क्षीरार्धाढ़कसंयुक्तं पुनः पचेद्यावत्क्षीरशेषं चतुः षष्टिपलानि भवन्ति। ततश्च स पाद प्रस्थे जाङ्गल रसस्य पञ्चपलानि, मधुघृतं पृथक् सार्धद्विपलसंमितं शताह्वादिकल्कस्य मदन फलाष्टकेन युक्तं पलद्वयं प्रक्षिप्यैकध्यं षट्सप्तत्या पलैः पुटकत्रयं देयम्।

डल्हणः।

हि० व्या०—नागरमोथा, पाठा, गिलोय, एरण्डमूलत्वक्, बलामूलत्वक्, रास्ना, पुनर्नवा, मजीठ, अमलतास, खस, त्रायमाणा, कुटकी तथा लघुपंचमूल के पांचों द्रव्य अलग-अलग एक पल की मात्रा में ग्रहणकर, मदनफल संख्या में आठ (फल) कूटकर ढाई सेर जल में पकाकर एकप्रस्थ शेष रहने पर छानकर दो प्रस्थ दूध मिलाकर पुनः पाक करना चाहिए। दुग्धमात्र शेष रहने पर ८ पल जांगल मांसरस, घृत, मधु, सैंधव नमक, मुलेठी, सौंफ, प्रियङ्गु, इन्द्र यव तथा रसांजनकल्क मिलाकर सुखोष्ण बस्ति देनी चाहिए।

इससे मांस, अग्नि, बल तथा शुक्र धातु की वृद्धि होती है। वातरक्त मोह, प्रमेह, अर्श गुल्म, विबन्ध, मूत्राघात, विषमज्वर, विसर्प, वृद्धि, आध्मान, प्रवाहिका, वंक्षण, ऊरू, कटि, कुक्षि, मन्या, कर्ण तथा शिरःशूल, रक्तप्रदर, उन्माद, शोथ, कास, अश्मरी तथा वातकुण्डलिका को दूर करती है। नेत्रों के लिए हितकारी है। यह पुत्रदायक एवं सभी यापन वस्तियों में श्रेष्ठ रसायन है।

सिद्धबस्ति निर्वचनम्

बलोपचयवर्णानां यस्माद् व्याधिशतस्य च ।
भवत्येतेन सिद्धिस्तु सिद्धबस्तिरतो मतः ॥

सु० चि० २८।११६

हि० व्या०—सैकड़ों रोगों में इनसे बल, वर्ण और पुष्टि में सिद्धि मिलती है अतः इनको सिद्ध बस्ति कहते हैं ।

सिद्धबस्ति महत्वम् ।

मृदुत्वात् पादहीनत्वादकृत्स्न विधि सेवनात् ।
एकबस्तिप्रदानाच्च सिद्धबस्तिष्वयन्त्रणा ॥

सु० चि० ३८।११८

मृदुवीर्यैरौषधैः कल्पितो मृदुः । पादहीनत्वादिति पादेन हीनः पादाभ्यां वा हीनः, ततश्च पादहीना नवप्रसृता भवन्ति. पादाभ्यां हीनाः षट्प्रसृता भवन्ति । आकृत्स्नविधि सेवनादिति वमनादिसंस्कारवर्जनात् । एकबस्तिप्रदानाच्चेति एक पुटक प्रदानात्; 'एकाहं प्रणिधानाच्च' इति केचित् पठन्ति, एकाहमेव प्रणिधानं बस्तिदानमित्यर्थः । परं कालैककृते दोषकोपे कदाचित् सम्यङ्निरूढलक्षणमवेक्ष्य द्विर्त्र्यादिबस्तिदानमपीति पाठविशेषाद्विशिष्टोऽर्थः; अतो 'नैकाहप्रणिधानात्' इत्यपरे पठन्ति; तत्र शोधननिरूहवदेकाहमेव प्रणिधानं नारत्येव; किं तर्हि साधारणत्वात् समधातुषु वाजीकरणादावसकृद्दानमपीति । डल्हणः ।

हि० व्या०—सिद्धबस्तियों की औषधियां मृदु वीर्य होने से, पादहीन होने से, वमनादि विधि विना भी प्रयुक्त होने से, एक ही बस्ति के अधिक गुणकारी होने से तथा इनमें किसी प्रकार का विधि निषेध नहीं होने से प्रशस्त है ।

सिद्धिप्रदाः कतिपय बस्तियोगाः ।

सिद्धानां बस्तीनां शस्तानां तेषु तेषु रोगेषु ।
शृण्वग्निवेश ! गदतः सिद्धिं सिद्धिप्रदां भिषजाम् ॥

च० सि० १०।३

सिद्धबस्तीनतो वक्ष्ये सर्वदा यान्प्रयोजयेत् ।
निर्व्यापदो बहुफलान्बलपुष्टिकरान् सुखान् ॥

अ० सं० क० ५।१, अ० हृ० क० ४।२६-२७

हि० व्या०—महर्षि आत्रेयपुनर्वसु ने बस्तिसिद्धि अध्याय का शुभारम्भ करते हुए कहा कि हे अग्निवेश ! विभिन्न प्रकार के रोगों में श्रेष्ठ और निश्चित रूप से लाभकारी बस्तियों का मैं इस अध्याय में वर्णन कर रहा हूं । इसी प्रकार आचार्य वाग्भट ने भी लिखा है ।

आमवाते उदावर्ते च सिद्धबस्ति संकेतः ।

गोमूत्रस्य पलान्यष्टौ गुडाऽत्यम्लकयोः पलम् ।
शताह्वा सैन्धवे स्यातामक्षमात्रे प्रमाणतः ॥
देय आमेऽनिले रूक्षे तद्वत्तैलपलान्वितः ।
उदावर्ते वातकोष्ठे सिद्धबस्तिरिति स्मृतः ॥ वंगसेन

हि०व्या०—गोमूत्र आठ पल, गुड चार तोले, चूका चार तोला, सौंफ एक तोला, सैंधव नमक एक तोला सभी द्रव्यों को एकत्र अच्छी प्रकार घोंटकर चार तोला तिल तैल मिलाकर आमवात, उदावर्त, रूक्षता और वातकोष्ठ, इन रोगों में वस्तिप्रयोग करना चाहिए । इसे सिद्धबस्ति कहा जाता है ।

यवकोलादिकः सिद्ध बस्ति प्रयोगः ।

यवकोल कुलत्थानां क्वाथो मागधिका मधु ।
संसैन्धवः सयष्ट्याह्वः सिद्धबस्तिरिति स्मृतः ॥

सु० चि० ३८।-

हि० व्या०—जौ, बेर, कुलथी का क्वाथ, पिप्पली, मधु, सैंधव लवण, मधुयष्टी इन द्रव्यो से तैयार की गई बस्ति को सिद्धबस्ति कहते हैं ।

सिद्धबस्तेः पथ्यम् ।

सिद्धेन पयसा भोज्यमात्मगुप्तोच्चटेक्षुरैः ।

अ० हृ० क० ५।५२

हि० व्या० –सिद्धबस्ति प्रयोगकाल में कौंच बीज, श्वेत गुञ्जा तथा तालमखाना के बीज से सिद्ध दूध के साथ भोजन करना चाहिए ।

स्नेहांश्चायंत्रणान् सिद्धान्सिद्धद्रव्यैः प्रकल्पयेत् ।

अ० हृ० क० ४।५३

हि० व्या०—पूर्वोक्त सिद्धबस्तियों के द्रव्यों से सिद्ध स्नेह से अनुवासन-बस्ति करना चाहिए । इस बस्ति में किसी प्रकार की परिहार की आवश्यकता नहीं है ।

मांस बस्तयः

कुछ बस्तियां, वृष्य, बाजीकर रसायन, बल्य एवं बृंहण होती हैं जिनमें विभिन्न पशु पक्षियों का मांस प्रयुक्त होता है । उनकी गणना कर्मानुसार किए जाने पर भी उनको मांस बस्ति नाम भी दिया गया है । यथा स्थान विविध शीर्षकों में आई बस्तियों से इसे स्पष्ट कर लेना चाहिए ।

मायूर बस्तिः

मयूरपक्षपित्तांत्र पादविट्तुण्डवर्जितम् ।
लघुना पञ्चमूलेन पालिकेन समन्वितम् ॥

पक्त्वा क्षीरजले क्षीरशेषं सघृतमाक्षिकम् ।
तद्विदारीकणायष्टी शताह्वाफलकल्कवत् ॥
बस्तिरीषत्पटुयुतः परमं बलशुक्रकृत् ॥

अ० हृ० क० ४।४५-४६

मयूरं पक्षादिवर्जितं दशपलमात्रं ह्रस्वेन पञ्चमूलेन पलमितेन यूतं क्षीरं जले पक्त्वा क्षीरस्य द्वयादिको जलस्य द्वयादिक इत्येवं कृत्वा तावत्त्वंवाधयेत् यावत्क्षीरावशेषं स्यात् । क्षीरं च तच्छेषं च क्षीरशेषं । घृतमाक्षिक सहितं विदार्यादिकल्कान्वितं इषल्लवणयुक्तं बस्तिः परम शुक्रकृत् । अरुणदत्तः ।

हि० व्या०—मोर का मांस (पंख, पित्ताशय, आन्त्र, पाद, पुरीष, तथा चोंच को पृथक् कर), लघुपञ्चमूल के पाँच द्रव्य एक-एक पल की मात्रा में लेकर, चतुर्गुण दूध एवं जल में पकाकर, दुग्धमात्र शेष रहने पर छानकर फिर उसमें घृत, मधु, विदारीकन्द, पीपल, मधुयष्ठी, सोया तथा मदनफल का कल्क और सैंधव लवण मिलाकर बस्ति प्रयोग करना चाहिए । यह बस्ति बल एवं शुक्रवर्धक है ।

पृथक् पृथक् पक्षिमांसद्वारा बस्तिकल्पना

कल्पनेयं पृथक् कार्यातित्तिरिप्रभृतिष्वपि ।
विष्किरेषु समस्तेषु प्रतुदप्रसहेषु च ॥
जलचारिषु तद्वच्च मत्स्येषु क्षीरवर्जिताः ।

अ० हृ० क० ४।४७-४८

हि० व्या० —पूर्वोक्त मायूरबस्ति की विधि से तीतर आदि विष्किर वर्ग, समस्तप्रतुद एवं प्रसहवर्ग प्राणियों के मांसरस से अलग-अलग बस्तियों की कल्पना की जा सकती है तथा जलचरों के मांसरस से भी कल्पना की जा सकती है किन्तु मछलियों के मांसरस की बस्ति दूध रहित बनानी चाहिए ।

गोधादि मांससाधित विविध रसायन बस्तिः ।

गोधानकुलमार्जारशल्यकोंदुरजंपलम् ।
पृथक् दशपलं क्षीरे पंचमूलं च साधयेत् ॥
तत्पयः फलवैदेहीकल्कद्विलवणान्वितम् ।
ससितातैलमध्वाज्यो बस्तिर्योज्यो रसायनम् ।
व्यायाममधितोरस्क क्षीणेन्द्रियबलौजसाम् ॥
विबद्ध शुक्रविण्मूत्रखुडवातविकारिणाम् ।
गजवाजिरथक्षोभभग्नजर्जरितात्मनाम् ॥
पुनर्नवत्वं कुरुते वाजीकरणसत्तमः ।

अ० हृ० क० ४।४८-५२

हि० व्या०—गोधादिवस्तिः—गोधा (गोह), नेवला, मार्जार (बिल्ली), शल्यक (शाही), यथा मूषक (चूहे) का मांस प्रत्येक दश पल (४० तोला), लघुपञ्चमूल दश पल (४० तोला), आठ गुणे दूध तथा दूध से चतुर्गुण जल में पकाकर दुग्धमात्र शेष रहने पर मदनफल, पीपल, सैंधव तथा सोवर्चल लवण का कल्क, खाण्ड, तैल, मधु तथा घृत मिलाकर बस्ति देनी चाहिए । यह रसायन बस्ति है । धनुष चलाने से उत्पन्न उरः क्षत, क्षय, इन्द्रिय दौर्बल्य, बलक्षय, ओजः क्षय, शुक्रावरोध, विबंध मूत्राघात, वातरक्त एवं वातव्याधियों में लाभकारी है । हाथी, घोड़ा, रथ आदि के क्षोभ से भग्न तथा जीर्ण शरीर वालों को पुनः नवजीवन प्रदान करती है एवं श्रेष्ठ वाजीकरण है ।

प्रशस्त वस्ति संकेतः

न कुर्याद्व्यापदः काश्चित् सुखेन च निवर्तते ।
युक्तो युक्तेन भिषजा स वस्तिः संप्रशस्यते ॥

का० सं० व० अ० ८।७२

हि० व्या० —जो बस्ति शरीर में किसी प्रकार का उपद्रव उत्पन्न नहीं करे । सुख पूर्वक शरीर से बाहर आ जाए तथा वस्ति कर्म में कुशल चिकित्सक द्वारा प्रयोग कराया गया हो वह बस्ति निरापद होने से प्रशस्त मानी जाती है ।

प्रसृत परिमाण भेदेन मृदुनिरूहणानां कतिपय योगानां सुकुमाराणां कृते प्रयोज्यानां उदाहरणानि ।

अर्थेमान् सुकुमाराणां निरूहान् स्नेहनान् मृदून् ।
कर्मणा विप्लुतानां च वक्ष्यामि प्रसृतैः पृथक् ॥

च० सि० ८।३, अ० सं० क० ४, अ० हृ० क० ४।२०

हि० व्या० —सुकुमार व्यक्तियों के लिए अथवा नित्य कार्य करने से थके हुए व्यक्तियों के लिए मृदु और स्नेहन गुणयुक्त निरूह बस्तियों की अलग-अलग कल्पना चरक संहिता में की गयी है । इसी पाठ को अष्टाङ्गसंग्रह और अष्टाङ्गहृदयकार ने भी उद्धृत किया है। सुश्रुत संहिता में भी द्वादशप्रसृत वस्ति का उल्लेख किया गया है ।

बालवृद्धयोर्मृदुबस्ति प्रयोग निर्देशः ।

सुकुमारस्य वृद्धस्य बालस्य मृदुर्हितः ।
बस्तिस्तीक्ष्णः प्रयुक्तस्तु तेषां हन्याद्बलायुषी ॥

सु० चि० ३५।१० शा० उत्त० ७।१५ वंगसेन भा० प्र०

हि० व्या०—सुकुमार, वृद्ध एवं बालकों को मृदुबस्ति देनी चाहिए । तीक्ष्ण बस्ति का प्रयोग करने से उनके बल और आयु का नाश हो जाता है । आचार्य भाव मिश्र एवं वंगसेन ने भी इसका अनुकरण किया है ।

द्वादश प्रसृत निरूहबस्तिद्रव्यकषायस्नेहद्रव्य मात्रायाः दोषानुसार निर्णयः।

भागाः कषायस्य तु पञ्च पित्ते।
स्नेहस्य षष्ठः प्रकृतौ स्थिते च॥
वाते विवृद्धे तु चतुर्थभागो।
मात्रा निरूहेषु कफेऽष्टभागः॥

च० सि० ३।३०-३१

संप्रति त्रिविधो यो द्वादशप्रसृतौ निरूहस्तस्य कषायस्नेहमात्रां निरूपयन्नाह भागा इत्यादि। भागाः कषायस्य पञ्चेत्यनेन सर्वत्रैव दोषे स्वस्थे च पुरुषे द्वादशप्रसृतभागरूपे निरूहे पञ्चभागाः कषायस्य भवन्ति, तेन पञ्चप्रसृताः कषायस्य। स्नेहस्य च दोषभेदेन स्वस्थे च मानभेदमाह पित्त इत्यादि। पित्ते स्नेहस्य षष्ठः, तथा प्रकृतौ स्थिते च पुरुषे स्वस्थे षष्ठ इत्यर्थः, तत्र षण्णां पूरणः षष्ठः तेन द्वादशप्रसृतस्य षष्ठो द्विप्रसृतं भवति। स्नेहशब्देन न घृत तैलादि ग्रहणम्। वाते तु वृद्धे चतुर्थो भागः, स्नेह चतुर्थो भाग प्रसृतत्रयम्। अष्ट भाग इति सार्धः प्रसृतः। अस्मिन्नर्थे हारीतः, –'क्वाथस्य पञ्चप्रसृताविभागाः स्नेहस्य षष्ठो ह्यधिके तु पित्ते। स्वस्थे च तावत् पवने चतुर्थः कफेऽष्टमोऽत्यन्तगते विकल्पः" इति। एषा स्नेहमात्रा हीनमात्रेऽपि निरूहे क्वाथस्नेहयोरुक्तमात्रानुसारेण योजनीया:, शेषाणां तु मधुकल्कसैन्धवानामिह मात्रा नियमो नोक्तः, तेषामपि प्रकृत्यादिभेदेनानियतत्वात्, तेन मध्वादीनां प्रकृत्याद्यनुसारेण प्रसृतमानेन द्वादश प्रसृतत्वं पूरणीयम्। तत्र जतूकर्ण प्रत्ययात् सर्वत्र कल्कस्य पलद्वयं भवति।

उक्तं हि तत्र—'चतुर्विंशतिके पुटके पेष्याणां द्विपलं, किञ्चिच्च मधुसैन्धवाय, स्नेहो वक्ष्यमाणः, शेषं कषायस्य, वाते तैल षट्पलं स्वस्थे च, चत्वारि पित्ते घृतस्य; कफेत्रीणि तैलस्य इति, सैन्धवं तु कर्षप्रमाणमस्ति, यथा सुश्रुते, —'सैन्धवाक्षं समादाय मधुनः प्रसृत द्वयम्" (सु० चि० ३८) इत्याद्युक्तं, हारीते 'तु क्षौद्रं तु देयं प्रसृतप्रमाणं द्वितीयमाहुर्लवणस्य चाक्षम्" इत्युक्तम्, तेनानया दिशा सैन्धवमधुकल्पना। यथोक्तकषायस्नेह कल्कमधुसैन्धवापूरितांशपूरणं चावापेनैव कर्तव्यम्, आवापश्चात्रानुक्तोऽप्युत्तरत्र वक्ष्यमाणो वातादिभेदेन मांसरसक्षीरगोमूत्रादिको ज्ञेयः। वक्ष्यतिहि 'स्निग्धोष्ण एकः पवने निरूहो, द्वौ स्वादु शीतौ पयसा च पित्ते। त्रयः समूत्राः कटुकोष्णतीक्ष्णाः कफे निरूहा, न परं विधेयाः'। इति। हारीतेऽप्युक्तं,—'स्नेहं गुडं मांसरसे पयश्च ह्यम्लानि मूत्राणि च सैन्धवं च। एतानि सर्वाण्यपि योजयीत निरूहयोगे मदनात् फलं च" इति। यत्तु तन्त्रान्तरे द्वादशप्रसृतपूरणं प्रति-प्रति द्रव्य विभागे नोक्तम्, यथा —'दत्वादौ सैन्धवस्याक्षं मधुनः प्रसृतद्वयम्। विनिर्मथ्य ततो

दद्यात् स्नेहस्य प्रसृतत्रयम्। एकीभूते ततः स्नेहे कल्कस्य प्रसृतं क्षिपेत्। संमूर्च्छिते कषायं तु चतुः प्रसृतसंमितम्। वितरेच्च तदावापमन्ते द्विप्रसृतोन्मितम्। एवं सुकल्पितो बस्तिर्द्वादशप्रसृतो भवेत्" (सु० चि० ३८) इति। तद्वातविषयमेव, स्नेहस्य वातघ्नत्वात्, कित्वत्र यच्चतुः प्रसृतं कषायस्य मन्यते, तदस्मत्तन्त्रानुमतमेव। यत्वन्ये पठन्ति—'मधुस्नेहनकल्काख्यकषायावापतः क्रमात्। त्रीणिषट् द्वादश त्रीणि पलान्यनिलरोगिणाम्। पित्ते चत्वारि चत्वारिद्वे द्विपञ्च चतुष्टयम्। षट्त्रीणि द्वे दश त्रीणि कफे चापि निरूहणम्" इति, तदस्मत्तन्त्रानुगतत्वादनुमतमेव। चक्रपाणिः।

निरूहमात्राधिकारस्य द्विविधः। समुदायावयवभेदात्। तयोः पूर्वमवयवस्योच्यते। भागा कषायस्य तु पञ्च पित्त, इति द्वादशभागास्समुदायमात्राः। ततोऽवयवविकल्पः। तत्र कषायस्य मानम् पञ्चप्रसृता इत्यर्थः। स्नेहस्य षष्ठः मज्जवर्जितस्य स्नेहस्य ग्रहणमित्येके। पित्तभाग इति च वर्तते षण्णां पूरणः षष्ठो भागः। द्वै प्रसृतावित्यर्थः। कथं भूते पुनरिदं पित्ते प्रमाणम्। अत आह प्रकृतौ स्थिते च। ननु च प्रकृतिस्थानां दोषाणां चालनं प्रतिषिद्धमेव तन्त्रान्तरीयैः। यथा —'यो हि संचालयेत् सुप्तं वने सिंहं करादिभिः। स दोषांश्चालयेत् स्वस्थान्प्रच्छर्दनविरेचनैः।" इति। एवं ब्रुवाणा वक्तव्याः। स्वस्थस्य वा स्वस्थवृत्तिरातुरस्य वा विकारप्रशमने प्रमाद इति। एतद्वयं न स्यात्। तथा चोक्तं —'तस्य संशोधनैश्शुद्धौ रसायन वाजीकरणविधानात् तस्य च स्वस्थवृत्तिवात्। तुल्ये वाप्यनुचोदिते प्रकृत्यभिधानं ज्ञापनार्थम्। शेषेऽपि दोषद्वये प्रकृतौ स्थिते प्रमाणम्। इदमेवोत्तरकालं विवृद्धवचनत्वादित। अतश्च पूर्वतर मस्याभिधानमभिधीयते। अन्यदपि तावत्त्रयाणां प्रकृतौ स्थितानामेकं प्रमाणं पित्तस्य पुनः कुपिता कुपितस्य कथमेवेति। तत्र न तावत् प्राकृत प्रमाणनिर्देशा न्यूनमस्ति। दोषवृद्धित्वात्। नापिश्लेष्मनिर्दिष्ट प्रमाण तुल्यत्वं तद्गुणत्वात्। प्राकृतेन समानप्रसङ्गादास्थापनस्योक्तादेवास्य पलाभिवृद्धिरेव" न चासावतियुक्तोऽल्परूक्षत्वात् [पित्तस्येति। असम्भवो हि विकल्पं निवर्तयतीति। तदेतद्युक्तमित्याचार्याः। त्रयाणां हि समानानामेकत्रतदिष्टं परिमाणम् तेन पित्तस्येदमिति व्यपदेशासंभवात्। सामान्येनोक्तेन वा सर्वेषु तस्य तत्रापि प्रत्यनीकत्वात्। तस्मात् पूर्वोक्त दोषाभाव इति पैतामहाः। एतेऽपि बृहत्तमोऽत्र च भागः स्नेहस्येत्यनुवर्तते।

चतुर्णां पूरणश्चतुर्थः स एव भागः। प्रसृतास्त्रयः कषायस्यापि तावत्संख्या अनभिधानात्। अथवा कषायस्य प्रमाणविधानार्थश्चतुर्थशब्दः। एवं चतुः संख्या प्रतिपादकवचने सर्वनामपद सम्बन्धाभावात् पूरण प्रत्ययस्संख्याविधायको दृष्टः। यथा दशमं भोजयेदिति। यद्यन्यानपेक्षः स्यात् भोजनं तत एकमिममेवेत्युच्येत सामान्यानपेक्षं, प्रयोगः त·····प्रयोगः कषायस्येत्यर्थः। एकश्चाने-

कार्थं उक्तशब्दः कालभेदादिहेतुः . एवं च पित्तेऽपि षष्ठः, कषायार्थं भागाषष्ट भवन्ति। ततश्च भेदः प्रकृतिस्थे स्नेहप्रमाणत्वं भिन्नमेव तयोरतिभेदात्। पित्तयोर्यस्मात् पित्ताभिवृद्धिरपि भवेत् तत्र दोषावृद्धिमात्रं प्रकृतिरपिदोषाधिक्यानुबन्धसमुत्पन्ना न समानेन भवतीत्याचार्या वर्णयन्ति। कफे कषाय प्रमाणस्य तेनैव शब्देन अष्ठौ च ते भागाश्चेति कृत्वा ततश्च कषायष्याष्टौ प्रसृता इति। अथवा तत्रेदम् उभयम् उभयत्र स्यादिति पूरणप्रययान्तवचनादपीहाष्टमो भागः। आपूरणान्तेन चानेन। तत्र पूरणप्रत्ययाभावः कषायभागार्थं वाते कषायस्य चत्वारो भागा इति। एवं च कृत्वोक्तमिदं—'चतुर्थंषष्टाष्टभागशेषो निरूह इष्टः प्रसृतिस्तु वस्तिवातादिषु स्नेहकषाययोश्च समेषु षष्टप्रसृताश्च पञ्चेति"। अथवा प्रकृतमेव कषायभागाः पञ्चेति तस्य ग्रहणमन्यस्यानभिधानात् स्नेहविकल्पः एवं वातादिषु युक्त इति। स उक्तः मात्रा शेषश्च कल्कसमेत एवेति पूरयितव्यम्। तदङ्गत्वात्। प्रमाणं तु लवणकर्षः क्षौद्र प्रसृतद्वयं स्नेहप्रसृतत्रयं कल्कपलद्वयं कषायप्रसृतचतुष्टयं मांसरससुराकाञ्जिकशुक्तक्षीरमूत्रायामावापसंज्ञितानां प्रसृतद्वयमिति। शेषयोरपि दोषयोर्थथायोगमुक्तं वेदितव्यम्। एवं च कृत्वोक्तं—'दत्वादौ सैन्धवात् कर्षं मधुनः प्रसृतद्वयम्। विनिर्मथ्य ततो दद्यात्स्नेहस्य प्रसृतत्रयम्। सम्मूच्छिते ततः स्नेहे कल्कस्य द्विपलं क्षिपेत्। एकीभूते ततः क्वाथं चतुष्प्रसृतसंमितम्। एवं प्रकल्पितो वस्तिर्द्वादशप्रसृतौ भवेत्। सर्वत्र लवणक्षौद्रस्नेह कल्कपलानि च। क्वाथावापाश्च विधिवद्विज्ञेयाश्चानुपूर्वशः। इति समुदायमात्र नियमार्थम्। जज्जटः।

द्वादशप्रसृत निरूहबस्तिनिर्माण प्रकिया—

हि० व्या०—दोषानुसार औषधिद्रव्यों का क्वाथ पाँच भाग, पित्तजरोग या स्वस्थ व्यक्ति में छः भाग स्नेह का, वातज रोग में स्नेह का चौथा भाग, और कफज रोग में स्नेह का आठ भाग देकर निरूहबस्ति तैयार करनी चाहिए।

वक्तव्य— निरूह की उत्तम मात्रा १२ प्रसृत की है। स्वस्थ व्यक्ति या वातज रोगी को ५ प्रसृत औषध द्रव्यों का क्वाथ लेना चाहिए। पित्तजरोग में ५ प्रसृत क्वाथ, स्नेह छठा भाग अर्थात् २ प्रसृत, घृत और मधु दो प्रसृत, कल्क एक प्रसृत अन्य द्रव्य सैन्धव नमक आदि प्रक्षेप द्रव्य दो प्रसृत। इस प्रकार १२ प्रसृत की निरूह बस्ति पित्तज रोगों में देनी चाहिए। वातज रोग में क्वाथ ५ प्रसृत, स्नेह ३ प्रसृत, मधु १½ प्रसृत, कल्क एक प्रसृत, सैंधव नमक आदि प्रक्षेप द्रव्य १½ प्रसृत, इस प्रकार बारह प्रसृत निरूह बस्ति देनी चाहिए। कफज रोग में क्वाथ ५ प्रसृत, स्नेह १[illegible] प्रसृत, मधु ३ प्रसृत कल्क एक प्रसृत सैंधव नमक १½ प्रसृत देना चाहिए। आचार्य सुश्रुत ने बारह प्रसृत की निरूह बस्ति में सैंधव नमक एक कर्ष, मधु २ प्रसृत (१६ तोला), स्नेह तीन प्रसृत;

कल्क एक प्रसृत, कषाय ४ प्रसृत, और प्रक्षेप द्रव्य २ प्रसृत डालने का निर्देश किया है। इस प्रकार एक कर्ष द्रव्य अधिक हो जाता है।

द्वादशप्रसृत नाम्ना प्रसिद्ध निरूहणबस्तेः प्रयोग प्रकारः।

दत्त्वाऽदौ सैन्धवस्याक्षं मधुनः प्रसृतिद्वयम्।
विनिर्मथ्य ततो दद्यात् स्नेहस्य प्रसृति त्रयम्॥
एकीभूते ततः स्नेहे कल्कस्य प्रसृतिक्षिपेत्।
संमूच्छिते कषायं तु चतुः प्रसृति संमितम्॥
वितरेच्च तदावापमन्ते द्विप्रसृतोन्मितम्।
एवं प्रकल्पितो बस्ति द्वादश प्रसृतो भवेत्॥

सु० चि० ३९।३७-३९, चक्रदत्त, वंगसेन, भा०प्र०

संमूच्छिते संमिलिते। वितरेत् दद्यात्। आवापः पश्चान्निक्षेप्यं क्षीर काञ्जिकादिद्रव्यम्। द्विप्रसृतोन्मितं चतुः पल प्रमाणम्। डल्हणः।

अत्र द्वादश प्रसृतेति संज्ञेयं पञ्चाम्रवत् पारिभाषिकीति नेयं तथा च सैन्धवादिभिः सह द्वादशप्रसृतेति क्रमेऽपि नाभ्युपगतहानन्तावदापतति। प्रसृतः[illegible] प्रसृतिः पलद्वयमिति पर्यायाः। हाराणच०।

प्रथमं शिलादिगभीरमसृणभाजने यथोक्तमानं मधुसैन्धवचूर्णञ्च स्थापयित्वा चिरं घर्षणं कार्य्यं यावदेकी भवति, तदनुस्नेहप्रसृतद्वयमपि मधुना सार्द्धं मश्नीयात् यावदेकी भवति, एकीभूते च स्नेहे कल्कस्य प्रसृतं कषायस्य च पञ्च प्रसृतानि दत्वा आलोडयेत्, तदनु प्रसृतद्वयमावापं वितरेत् दद्यादित्यर्थः।

शिवदाससेनः।

वयोऽवस्थानुसारं द्वादशप्रसृतमात्रायां यथायथं न्यून परिमाण मात्राकल्पनं विशेषः।

ज्येष्ठायाः खलुमात्रायाः प्रमाणमिदमीरितम्।
अपह्रासे भिषक्कुर्यात्तद्वत् प्रसृति हापनम्॥
यथा वयो निरूहाणां कल्पनेयमुदाहृता।
सैन्धवादिद्रवान्तानां सिद्धिकामैर्भिषग्वरैः॥

सु० चि० ३८।४०-४१

सैन्धवकर्षस्तु स्तोकत्वाच्चतुर्विंशतिपलेष्वेवान्तर्भवतीत्यतिरिक्त दोषो न वाच्यः। अपह्रासे अपह्रासविषये स्तोककारणाभिलाषे प्रसृतहापनं पलद्वयादित्यागं भिषक् कुर्यात्। डल्हणः।

द्वादश प्रसृत बस्ति निर्माण प्रकार—

हि० व्या०—सर्वप्रथम सैंधवलवण एक तोला, मधु दो प्रसृत (४ पल) मिलाकर स्नेह तीन प्रसृत मिलाना चाहिए। सबको अच्छी तरह मिलाकर एक प्रसृत कल्क मिलाना चाहिए। फिर ४ प्रसृत कषाय मिलाकर पश्चात् दो प्रसृत

प्रक्षेप मिलाना चाहिए। कुल मिलाकर बारह प्रसृत होती है। यह बस्ति की श्रेष्ठ (उत्तम) मात्रा है। घटाने में अवस्था के अनुसार एक प्रसृत घटाना चाहिए। सफलता की इच्छा वाले वैद्य सैंधव से लेकर कषाय पर्यन्त द्रव्यों में इसी अनुपात से घटाये। वंगसेन, भा० प्र० और चक्रदत में सुश्रुत के इसी पाठ को उद्धृत किया गया है। आचार्य काश्यप के अनुसार—

भिषङ्निरूहं मृद्नीयात् प्राङ्मुखः सुसमाहितः।
पूर्वमेवात्र निक्षेप्यं मधुनः प्रसृतद्वयम्॥
सैन्धवस्यार्धकर्षं च तैलं च मधुनः समम्।
ततश्च कल्क प्रसृतं क्वाथं कल्क चतुर्गुणम्॥
प्रसृतौ मांसनिर्यूहान्मूत्रप्रसृतमेव च।
द्वादश प्रसृतो बस्तिरित्येवं खजमूच्छितः॥
यथार्थं च ययावच्च प्रणिधेयो विजानता। का० खि० ७।३६-३८

हि० व्या०—चिकित्सक को पूर्व दिशा की ओर मुख करके तथा सावधान होकर निरूह बस्ति (मथकर) तैयार करना चाहिए। सर्वप्रथम दो प्रसृत शहद डालना चाहिए। उसमें आधा तोला सेंधव लवण तथा दो प्रसृत तैल डालना चाहिए। एक प्रसृत कल्क तथा कल्क से चतुगुण अर्थात् चार प्रसृत क्वाथ द्रव्य मिलाना चाहिए। इसमें दो प्रसृत मांसनिर्यूह (मांसरस) तथा एक प्रसृत गोमूत्र डालना चाहिए। इस प्रकार कुल बारह प्रसृत बस्ति द्रव्य होता है। इन सब को खरल में अच्छी तरह घोंटकर विधिपूर्वक बस्ति द्रव्य तैयार करना चाहिए।

मङ्गल्यं मंगलार्थाय मधुपूर्वं निषिच्यते॥
पैच्छिल्यं बहुलत्वं च कषायत्वं च माक्षिके।
भिनत्ति लवणं तैक्ष्ण्यात् सङ्घातं च नियच्छति॥
मधुनोऽनन्तरं तस्माल्लवणांशो निषिच्यते।
ततस्तैलं विनिक्षिप्तमेकीभावाय कल्पते॥
कल्कः संसृज्यते चाशु क्वाथश्च समतां व्रजेत्।
स्नेह कल्ककषायाणामेवं संमूर्च्छने कृते॥
मूत्रं पटुत्वं कुरुते वीर्यं चोद्भावयत्यपि।
सम्यगेवं विमृदितः सोतोभ्यः कफमारुतौ॥
विष्यन्दयति पित्तं च क्षिप्रंचैव हरत्यपि।
अतोऽन्यथा मृद्यमानो न श्लेषमधिगच्छति॥ का० खि० ८।४०-४५

हि० व्या० - प्रसृत निरूहबस्ति द्रव्य मिश्रण क्रम का वर्णन करते हुए आचार्य काश्यप ने लिखा है कि शुभ होने की दृष्टि से मधु सबसे पहले डाला जाता है। मधु की पिच्छिलता, बहुलता तथा कषैलापन को अपने तीक्ष्ण गुण के कारण लवण नष्ट कर देता है और संघात बना देता है अतः मधु के बाद उसमें लवण डाला जाता है। इसके पश्चात् तैल डालने से सभी द्रव्यों में

एकीभाव (एकात्मता) उत्पन्न होता है। कल्क का शीघ्र ही संसर्जन हो जाता है तथा क्वाथ से समरूपता आ जाती है। पश्चात् मूत्र डालने से गुण में वृद्धि करता है तथा वीर्य (शक्ति) को बढ़ाता है। इस प्रकार ठीक ढंग से मथकर तैयार की गई बस्ति स्रोतों से कफ, वायु तथा पित्त को शीघ्र ही निकाल देती है। इससे विपरीत (अनुचित) ढंग से तैयार की गई बस्ति ठीक प्रकार से मिल नहीं पाती है।

असम्यङ्मथितः श्लिष्टो बस्तिर्नार्थायकल्पते।
तत एष क्रमो दृष्टो निरूहस्योपयोजने॥ क० खि० ८।४३

हि० व्या०—ठीक प्रकार से न मथी हुई तथा परस्पर ठीक प्रकार से न मिली हुई बस्ति अपने प्रयोजन को सिद्ध नहीं करती हैं या सम्यक् रूप से कार्य नहीं करती हैं। अतः निरूहबस्ति में औषध की योजना उपरोक्त क्रम से करना चाहिए।

प्रमाणं च प्रकृष्टस्य प्रसृतेर्यदुदाहृतम्।
तस्मात् प्रमाणादुत्कर्षो वयोबलवदिष्यते॥
अपकर्षस्तु कर्तव्यः संप्रधार्य वयोबलम्।
गुणतस्तूभयत्वेन दृष्ट्वा व्याधिबलाबलम्॥
का० खि० ८।४७-४८

हि० व्या०—द्वादश प्रसृति निरूहबस्ति का जो प्रमाण पहले बताया गया है वह प्रकृष्ट प्रमाण है। इस प्रमाण में रोगी की अवस्था तथा बल के अनुसार वृद्धि की जा सकती है उसी प्रकार रोगी की अवस्था तथा बल के अनुसार न्यूनता भी की जा सकती है। रोग के बलाबल को देखकर भी कभी वृद्धि की जा सकती है।

निरूहमात्रा निर्देशः।

निरूहमात्रा प्रसृतार्धमाद्ये वर्षे ततोऽर्धप्रसृताभिवृद्धिः॥
आद्वादशात् स्यात् प्रसृताभिवृद्धिरष्टादशाद् द्वादशतः परं स्युः।
आसप्ततेस्तद्विहितं प्रमाणमतः परं षोडशवद्विधेयम्॥
निरूहमात्रा प्रसृतप्रमाणा बाले च वृद्धे च मृदुविशेषः॥
च० सि० ३।३१-३३

निरूहमात्रा प्रथमे प्रकुञ्चो वत्सरे परम्।
प्रकुञ्चवृद्धिः प्रत्यब्दं यावत् षट् प्रसृतास्ततः॥
प्रसृतं वर्द्धयेदूर्ध्वं द्वादशाष्टादशावधि।
आसप्ततेरिदं मानं दशैव प्रसृतं परम्॥
यथायथं निरूहस्य पादो मात्रानुवासने। वंगसेन

हि० व्या०—एक वर्ष के बालक के लिए निरूह बस्ति की मात्रा आधा

प्रसृत (१ पल) इसके बाद प्रत्येक वर्ष के बालक में आधा-आधा प्रसृत की मात्रा बढ़ाकर १२ वर्ष तक ६ प्रसृत की मात्रा देनी चाहिए। इसके बाद १८ वर्ष तक एक-एक प्रसृत की मात्रा बढ़ाकर १२ प्रसृति की मात्रा देनी चाहिए। १८ वर्ष से लेकर ७० वर्ष तक १२ प्रसृत की मात्रा, ७० वर्ष से ऊपर दश प्रसृत की मात्रा देनी चाहिए। बाल और वृद्धों में विशेष रूप से मृदु निरूह बस्ति की कल्पना करनी चाहिए।

मात्रा वस्ति प्रयोगे सावधानता संकेतः स्तम्भनबस्ति महत्वं च।

नाति योगं न चायोगं स्तम्भिनस्ते च कुर्वते।
निरूहा लेखनाः प्रायो बृंहणाः स्नेहबस्तयः॥
यापनेषूभयं तस्मान्नेष्टं तेष्वनुवासनम्। अ० सं० क० ५।

हि० व्या०—मात्रा बस्ति में अतियोग या अयोग जन्य उपद्रव का भय नहीं रहता है। सभी बस्तियों में सामान्यतः एक दिन पश्चात् अनुवासन बस्ति देने का विधान है क्योंकि वायु प्रकोप का भय हो सकता है। निरूह बस्ति प्रायः लेखन गुण युक्त है और स्नेह बस्ति बृंहण गुण कारक है यापन बस्तियों में दोनों ही गुण विद्यमान हैं। अतः अनुवासन की आवश्यकता नहीं होती।

सामान्यतः पिच्छाबस्ति द्रव्य वर्णनम्।

बदर्येरावतीशेलुशाल्मली धन्वनाङ्कुराः
क्षीरसिद्धाः क्षौद्रयुक्ताः सासृाः पिच्छिलसंज्ञिताः।
वाराहमहिषैरभ्रैडालैणेय कौक्कुटम्।
सद्यस्कमसृगाजं वा देयं पिच्छिलबस्तिषु॥ सु० चि० ३८।८५-८६
योगरत्नाकरः० शा० ६।२३, वंगसेन, भा० प्र०

एरावती नागबला, शेलुः श्लेष्मातकः, धन्वनोधनुर्वृक्षः, यस्य 'धामन' इति लोके प्रसिद्धः, अंकुराअग्रपल्लवाः। सासृा: सरुधिरा। बदर्याद्यङ्कुरान् समुदायेन पलत्रय प्रमितान् चतुर्विंशतिपलप्रमितं दुग्धं दत्त्वा, चतुर्गुणं जलं निक्षिप्य क्वाथयेत्, ततः क्षीरशेषं चतुर्विंशति पलानि ग्राह्याणि; तत्र सामान्य परिभाषोक्तत्वान्मधुनश्चत्वारि पलान्यावाप्य, द्रवत्वाद्घृतस्य चत्वारि पलानीति; एवं पिच्छाबस्तेर्द्वात्रिंशत्पलानि भवन्ति। तथा चोक्तम्—"पिच्छाबस्तेर्भवेत् प्रस्थः पादोनः कीर्तितोऽपरः। चतुर्विंशतिमुष्टिश्च निरूहः समुदाहृतः"—इति। एवमपरेष्वपि पुटकेषु पिच्छाबस्तिमानं कल्पनीयम्। सासृा इति यदुक्तं तत् कस्यास्रमित्याहवाराहेत्यादि। उरभ्रोमेषः, एणस्येदम् ऐणेयम्, एणः कृष्णसार इति जेज्जटाचार्यः, ब्रह्मदेवस्तु एण्या इदमैणेयं, न पुनरेणस्येदं एणम्, सद्योजातं सद्यस्कं तत्कालीनं जीववतामेव ग्राह्यम्, जीवानुसन्धानार्थम्। डल्हणः।

हि० व्या०—पिच्छिलबस्ति—बेरी का फल, नागबला, लिसाड़ा, सेमल वृक्ष का छाल, (या अंकुर), नागरमोथा एकत्र कल्क बनाकर दूध में पकाना चाहिए। पश्चात् शहद मिलाकर पिच्छिलबस्ति देनी चाहिए। इसमें सूकर, महिष, हरिण, भेड़, विडाल, तथा बकरी का ताजा रक्त मिलाकर बस्ति देने का भी विधान है। इस योग को चक्रदत्त, शार्ङ्गधर एवं वंगसेन ने भी उद्धृत किया है। आचार्य वंगसेन ने—बदर्यैरावतीः के स्थान पर विदार्यैरावतीपाठ लिखा है। आचार्यशार्ङ्गधर ने 'धन्वांकुराः' के स्थान पर 'धन्वनागराः' पाठ लिखा है। आचार्य डल्हण ने पिच्छावस्ति की मात्रा ३२ पल लिखा है जबकि आचार्य शार्ङ्गधर, वंगसेन एवं भावमिश्र ने पिच्छावस्ति की मात्रा १२ पल लिखा है। आचार्य भेल ने दो पिच्छाबस्ति के योगों को उद्धृत किया है।

मधुतैलिक बस्ति निर्वचनम्।

यस्मान् मधु च तैलं च प्राधान्येन प्रदीयते।
माधुतैलिक इत्येवं भिषग्भिर्बस्तिरुच्यते॥
सु० चि० ३८।११४

हि०व्या० - माधुतैलिकवस्ति—मुख्यतः इसमें मधु और तैल का प्रयोग होता है अतः इसे माधुतैलिकबस्ति कहते हैं।

प्रसिद्धस्यमाधुतैलिक बस्ति प्रयोगस्य महत्व सूचनम्।

नृपाणां तत्समानानां तथा सुमहतामपि।
नारीणां सुकुमाराणां शिशुस्थविरयोरपि॥
दोषनिर्हरणार्थाय बलवर्णोदयाय च।
समासेनोपदेक्ष्यामि विधानं माधुतैलिकम्॥
यानस्त्रीभोज्यपानेषु नियमश्चात्र नोच्यते।
फलं च विपुलं दृष्टं व्यापदां चाप्यसंभवः।
योज्यस्तत्रः सुखेनैच निरूहक्रम मिच्छता।
यदेच्छति तदैवैष प्रयोक्तव्यो विपश्चिता॥ सु० चि० ३८।९६-९९

नृपाणामित्यादि। तत्समानां राजतुल्यपुरुषाणां वाणिज्यव्यवहारिणां वार्धुषिकाणाम्। शिशुस्थविरयोः बालवृद्धयोः। दोषनिर्हरणार्थाय स्वस्थेऽपि कालेकृत दोषनिर्हरणार्थायः बलवर्णोदयाय च अपेतसकलदोषस्येत्यर्थः। नियमो निषेधः अत्र माधुतैलिकविधाने। यदेच्छतीति यदा यस्मिन् काले आतुर इच्छति तदा तस्मिन काले विपश्चिता वैद्येन एष बस्तिः प्रयोक्तव्यः, एतेन सार्वकालिकत्व मुक्तं भवति। डल्हणः।

हि० व्या०—राजाओं या राजाओं के तुल्य धनवान पुरुषों के लिए, स्त्रियों के लिए, सुकुमार, बालक तथा वृद्धों के दोषनिर्हरण हेतु, बल वर्ण को बढ़ाने वाली 'माधुतैलिकबस्ति' का सुश्रुत संहिता में वर्णन किया गया है। इन बस्तियों में सवारी पर यात्रा करना, स्त्री प्रसंग एवं भोजन (पथ्यापथ्य) में कोई विधि निषेध नहीं है। इस बस्ति का गुण उत्तम है एवं हानिरहित

(निरापद) हैं। अतः निरूहबस्ति के अन्तर्गत सुखपूर्वक (आसानी से) इसका व्यवहार किया जा सकता हैं। बुद्धिमान वैद्य आवश्यकतानुसार कभी भी इसका व्यवहार कर सकते हैं। उनमें शोधनविधि आवश्यक नहीं है।

माधुतैलिक बस्ति प्रयोग प्रकारः।

मधुतैले समे स्यातां क्वाथश्चैरण्डमूलजः।
पलार्धं शतपुष्पायास्ततोऽर्धं सैन्धवस्य च॥
फलेनैकेन संयुक्तः खजेन च विलोडितः।
देयः सुखोष्णो भिषजा माधुतैलिक संज्ञितः॥

सु० चि० ३८।१००-१०१ वंगसेन

पादहीनाः सर्वे एव माधुतैलिकाः, ततश्च तथा कल्पनीया यथा नव प्रसृता भवन्ति; मधुतैलयोः प्रसृताश्चत्वारो द्विकर्षाधिकाः, एरण्डमूल कषायस्य तावन्त एव, शतपुष्पार्धपलं, सैन्धवस्य कर्षं, मदनफलं चैकमित्येवं नव प्रसृता भवन्ति। अनयाकल्पनया सर्वे एव माधुतैलिकाः कल्पनीया इति जेज्जटाचार्यः गयी तु 'पलेनैकेन संयुक्तः, इति पठित्वा मृदुनाऽनुक्तेन मांसरसकाञ्जिकादिना पूरणं करोति। एवमपरेषु चतुर्षु नव प्रसृताः पूरणीया इत्याह। डल्हणः।

मधुतैले समे कर्षः सैंधवाद् द्विपिचुमिसिः।
एरण्डमूलक्वाथेन निरूहो माधुतैलिकः।
रसायनं प्रमेहार्शः कृमिगुल्मांत्रवृद्धिनुत्।
सयष्टिमधुकश्चैव चक्षुस्यो रक्तपित्तजित्॥

अ० सं० क० ५।२, अ० हृ० क० ४।२७-२८

एरण्डक्वाथ तुल्यांशं मधुतैलपलांशकम्॥
शतपुष्पा पलार्धेन सैन्धवार्धेन संयुतम्॥
माधुतैलिकसंज्ञोऽयं बस्तिः खजविलोडितः।
मेदोगुल्मकृमिप्लीहमलोदावर्तनाशनः।
बलवर्णकरश्चैव वृष्यो दीपन बृंहणः।

शा० उ० ६।२८-३० भा० प्र०।

हि० व्या०—माधुतैलिकबस्ति—मधु और तैल समान भाग (चार प्रसृत-दो कर्ष), एरण्डमूल का क्वाथ चार प्रसृत (शेर दो कर्ष,) सौंफ आधा पल, सैंधव लवण एक कर्ष, मदनफल संख्या में एक कुल मिलाकर नौ प्रसृत द्रव्य को मथानी से विधिवत् मथकर सुखोष्ण बस्ति देनी चाहिए। इसका नाम माधुतैलिक वस्ति है। आचार्य 'गयी के अनुसार इसमें मांसरस एवं काजी मिलाना चाहिए। आचार्य वंगसेन ने सुश्रुत के समान पाठ उद्धृत किया है।

आचार्य वाग्भट के अनुसार मधु एवं तिल तैल एक-एक पल, सैंधवलवण एक कर्ष, सौंफ दो कर्ष, एरण्डमूलत्वक् का क्वाथ चार पल मिलाकर निरूहण-

बस्ति देनी चाहिए। इसका नाम 'माधुतैलिक' वस्ति है। यह रसायन है। प्रमेह, अर्श, कृमि, गुल्म एवं वृद्धि रोग नाशक है।

उपरोक्त कल्प में मुलेठी का क्वाथ मिला देने पर नेत्रों के लिए लाभकारी तथा रक्तपित्त रोग नाशक है।

आचार्य शार्ङ्गधर ने वाग्भट के पाठ का समर्थन किया है। उनके विचार से यह योग मेद, हलीमक, उदावर्त नाशक है तथा बल्य, वर्ण्य, वृष्य, दीपन और पाचन गुण भी है।

दाशमूलिको माधुतैलिको बस्तिः।

पृथक्पलांशं विपचेत्पञ्चमूलमगोक्षुरम्।
क्षीराढके चतुः प्रस्थं पिष्टैर्यष्ट्यादिभिर्युतम्॥
क्षौद्रतैलाज्यसिधूत्थयुक्तं बस्तिः सुपूजितः।
विशेषाद्बालवृद्धस्त्रीसुकुमारसुखात्मनाम्।
तद्वत्सहचरबलासारिवादर्भसाधितम्॥

अ० सं० क० ५।-

अगोक्षुरं पञ्चमूलं चत्वारिद्रव्याणि। चतुर्थस्य पादशेषं कथितम्। एष बस्ति सर्वहितोऽपि बालादिषु विशेषात् पूजितः। अगोक्षुरं गोक्षुररहितम्। यष्ट्यादीन्यनन्तरबस्तिपठितानि यष्टिमित्यादीनि। सहचरादिसिद्धं क्षीरं तद्वदिति पूर्ववत् कल्कादियुक्तं तत् पूर्वस्मिन्नेव विषये।

हि० व्या०—शालिपर्णी, पृश्निपर्णी, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी इन चारों द्रव्यों को एक-एक पल की मात्रा में एकत्र कर एक आढ़क दुग्ध में यष्ट्यादि द्रव्यों के चार प्रस्थ कल्क में पकाकर चतुर्थांष शेष रहने पर शहद, तैल, घृत, और सैंधव लवण मिलाकर बस्ति का प्रयोग करना चाहिए। यह बस्ति विशेष रूप से बालक, वृद्ध और सुकुमार प्रकृति के सुखासीन लोगों के लिए लाभदायक है। इसी प्रकार से हरें, बला और सारिवा से सिद्ध बस्ति की भी कल्पना कर सकते हैं।

माधुतैलिकः क्षीरबस्ति योगः।

क्षीरबस्तिस्तथाभीरुगुडूचीबृहतीद्वयैः।
सिद्धं पयो मागधिकायष्टीमधुककल्कवत्॥

अ० सं० क० ५।१८

अभीर्वादिसिद्धं पयो मागधिकादिकल्कवत्तथा पूर्वगुण इत्यर्थः। इन्दुः।

हि० व्या०—शतावरी, गुडूची, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, दूध में सिद्धकर पिप्पली और यष्टी मधु का कल्क मिलाकर क्षीर बस्ति देने से पूर्व वर्णित योग के समान लाभकारी है।

मधुकादिबस्तिः ।

मधुकं सैन्धवं कुष्ठं शतपुष्पा हरेणवः ।
मदनानि च रास्ना च भार्ङ्गी नीपरकज्वलम् ॥
मरि··· ··· ··· ··· ···।

भे० सि० ४।५३-

हि० व्या०—आचार्य भेल ने भी माधुतैलिक बस्ति का उल्लेख किया है। परन्तु श्लोकार्ध नष्ट होने के कारण इसका अर्थ समझना कठिन है।

माधुतैलिकबस्ति

मधुतैलात्प्रकुञ्चाः षट् षट् चैरण्डकषायतः ।
युक्तः सैंधवकर्षेण शताह्वार्द्धपलेन च ॥
बल्यो वृष्यो निरूहोऽयं मलहृन्माधुतैलिकः ।
गुल्मोदावर्तवृद्ध्यर्शोमेहहन्ता निरत्ययः ॥ वङ्गसेन

हि० व्या०—मधु, तैल, एरण्डमूल क्वाथ प्रत्येक छः पल, सैंधव लवण एक तोला, सौंफ का कल्क दो तोला, विधिवत् मथकर निरूह वस्ति की तरह देनी चाहिए। यह माधुतैलिकबस्ति बल्य, वीर्यवर्द्धक, मलों को निर्हरण करने वाली तथा गुल्म, उदावर्त, आयुवृद्धि अर्श एवं प्रमेह को नष्ट करती है।

पञ्चमूलादिका माधुतैलिक बस्तियोगः ।

पञ्चमूलीकषायं च तैलं मागधिका मधु ।
बस्तिरेष विधातव्यः सशताह्वः ससैंधवः ॥

सु० चि० ३८।१०४, अ० सं० क० ५।६,
अ० हृ० क० ४।३३, शा० उ० अ० ६।-

पञ्चमूलीकषायस्य कर्षद्वयाधिकानि अष्टौ पलानि, मधुतैलेऽपि तावन्मात्रे एव, मागधिका शताह्वा सैन्धवानामेकं पलम्। अयं च पाञ्चमूलिको माधुतैलिकः। डल्हणः।

हि० व्या०—वृहत् पञ्चमूल क्वाथ में तैल; पिप्पली, मधु, सौंफ, सैंधव मिलाकर वस्ति देनी चाहिए।

द्विपञ्चमूलादि माधुतैलिक बस्तिः

द्विपञ्चमूलत्रिफलाफलबिल्वानि पाचयेत् ।
गोमूत्रे तेनपिष्टैश्च पाठावत्सकतोयदैः ॥
सफलैः क्षौद्रतैलाभ्यां क्षारेण लवणेन च ।
युक्तो बस्तिः कफव्याधि पाण्डुरोगविसूचिषु ॥
शुक्रानिलविबंधेषु बस्त्याटोपेषु पूजितः ।

अ० सं० क० ५।७, अ० हृ० क० ४।३४-३६

हि० व्या०—दोनों पञ्चमूल (दशमूल), त्रिफला, मदनफल, तथा वेल-

गिरि को गोमूत्र में पकाकर, जलीयांस जल जाने पर छानकर, पाठा, कुटज-त्वक्, मदनफल, नागरमोथा, मधु, तैल, यवक्षार तथा लवण का कल्क मिलाकर वस्ति प्रयोग करना चाहिए। यह बस्ति कफजनित रोग, पाण्डुरोग, विसूची, शुक्रोदावर्त, वातोदावर्त तथा वस्तिगत आध्मान में लाभकारी है।

एरण्डक्वाथ तुल्यांशं मधुतैल पलाष्टकम् ।
शतपुष्पा पलार्द्धं च सैन्धवाक्षेण संयुतः ॥
बलवर्णकरो बस्तिर्वृष्यो दीपन बृंहणः ।
मेदोगुल्मकृमिप्लीहगूथोदावर्तनाशनः ॥

वङ्गसेन, वस्ति १६६-१६७

हि० व्या०—एरण्डक्वाथ आठ पल (बत्तीस तोला), शहद चार पल, (सोलह तोला), तैल चार पल (सोलह तोला), सौंफ दो तोले, और सैंधव-लवण एक तोला विधिवत् मथकर वस्ति देने से बल और वर्ण की वृद्धि होती है। वीर्यवर्द्धक है, अग्नि दीपक एवं पौष्टिक है। मेदस्विता, गुल्म, कृमि, प्लीहा, उदावर्तादि रोग नाशक है।

चतुष्पलं तु मधुनस्तैलस्यापि चतुष्पलम् ।
एरण्डमूलक्वाथस्य तथा देयं पलाष्टकम् ॥
पलार्द्धं शतपुष्पायास्ततोऽर्द्धं सैंधवस्य च ।
मदनस्य पलञ्चैकं योज्यं युक्त्या विमर्दयेत् ॥
रसक्षीराम्लमूत्राणामाज्यञ्च पलमात्रकम् ।
खजेनालोड़ितः कोष्ठो माधुतैलिक संज्ञितः ॥
पादहीनोऽपि देयः स्याद्बस्तिर्लेखनबृंहणः ।
दीपनो गाढ़विट्कञ्च कृमीणां नाशनः परः ॥
पाचनो निष्परीहारः सुखदो निरुपद्रवः ॥
पुटकैकं प्रदानेन सिद्धोऽयं बस्तिरुत्तमः ॥

वङ्गसेन, वस्ति (१७१-१७५)

हि० व्या०—मधु चार पल (सोलह तोला), तैल चार पल (सोलह तोला), एरण्डमूल क्वाथ ३२ तोला, सौंफ कल्क २ तोला, सैंधव लवण एक तोला, मदनफल एक पल (चार तोला), मिलाकर एकत्र मर्दन करके मांसरस, दूध, कांजी, गोमूत्र, एवं घृत प्रत्येक चार-चार तोले, डालकर विधिवत् मथकर सुखोष्ण बस्ति देनी चाहिए। यह माधुतैलिक बस्ति कहलाता है। यह लेखन और बृंहण के गुणों से युक्त है। अग्निवर्धक, विबन्धनाशक एवं पाचक है। इसके साथ पथ्यापथ्य की विधि निषेध नहीं है।

माधुतैलिक बस्ति प्रयोगस्थलः ।

सुखिनामल्पदोषाणां नित्यं स्निग्धाशयेषु नराः ।
मृदुकोष्ठाश्च ये तेषां विधेया माधुतैलिकाः ॥ सु० चि० ३८।

हि० व्या०—जो व्यक्ति सुखी जीवन व्यतीत करने वाले हैं या सुकुमार स्वभाव के हैं, अल्पदोषयुक्त हैं, जो नित्य स्नेह का उपयोग करते हैं और मृदु-कोष्ठ वाले हैं उनको माधुतैलिक बस्ति देनी चाहिए।

सामान्यतः माधुतैलिक ग्राही वस्तिः।

प्रियङ्ग्वादिगणक्वाथा अम्बष्ठाद्येन संयुताः।
सक्षौद्राः सघृताश्चैव ग्राहिणो बस्तयः स्मृताः॥

सु० चि० ३८।८७, वंगसेन

प्रियङ्ग्वादिगणस्य षोडशपलप्रमितानि द्रव्याणि अष्टगुणं जलं दत्वा क्वाथयेत्, अतो द्वात्रिंशत्पलानि ग्राह्याणि, अत एकपुटकस्यार्थे क्वाथस्याष्टौ पलानि, अम्बष्ठाद्येनेति अम्बष्ठाद्योऽत्र कल्करूपः प्रयोज्यः, तथा च वृद्धवाग्भटः,—"ग्राही प्रियङ्ग्वम्बष्ठादिक्वाथकल्कैः क्रमेण—" इति। अतोऽम्बष्ठादिसंग्राहकद्रव्याणां कल्कस्य त्रीणि पलानि, मधुनश्चत्वारि, संग्राहकद्रव्यसिद्ध घृतस्य षट् पलानि, अनुक्तो यद्यपीहावापस्तथाऽपि संग्राहकत्वात्तस्य त्रीणि पलान्येवं चतुर्विंशतिः।

डल्हणः।

हि० व्या०—प्रियंग्वादिगण की औषधियों के क्वाथ में अम्बष्ठादिगण की औषधियों का कल्क, शहद और घी मिलाकर वस्ति देनी चाहिए। इसको ग्राही वस्ति की संज्ञा दी गई है। यह अतिसार और संग्रहणी रोग में लाभकारी है।

आस्थापनबस्ति भेदोपभेद वर्णनम्।

तत्रास्थापनं दोषदूष्यानुसारेण नानाद्रव्य संयोगादिनिर्वृत्तम्। तस्यभेदा उत्क्लेशनं शोधनं शमनं लेखनं बृंहणं वाजीकरणं पिच्छाबस्तिर्माधुतैलिकमित्यादयः। माधुतैलिकस्य पर्याया यापनो युक्तरथो दोषहरः सिद्धबस्तिरिति। तेषां नामभिरेव स्वरूपमाख्यातम्। अ० सं० सू० २८।६

तत्रेत्यादिना ऽऽस्थापनलक्षणमुच्यते। तस्यैवोत्क्लेशनादयो भेदाः। तेषामुत्क्लेशनादीनां नामभिरेवस्वरूपं व्याख्यातम्। तत्र यो वस्तिः संयोगादिवशा दोषमुत्क्लेशयति स उत्क्लेशकः। यस्तु शमयति स शमनः। यः शोधयति दोषान् स शोधनः। पिच्छास्वरूपत्वात् पिच्छाबस्तिः। मधुतैलप्राधान्यान्माधुतैलिकः एवं माधुतैलिक पर्यायाणामर्थोऽप्यूहः। तेन तेषामित्यादि व्याख्यातम्।

इन्दुः।

हि० व्या०—आस्थापन (निरूह) बस्ति दोष एवं द्रव्य का विचार करके अनेक द्रव्यों के मिश्रण से निर्मित की जाती है। इसके भेद उत्क्लेशन, संशोधन, संशमन, लेखन बृंहण, वाजीकरण, पिच्छाबस्ति, माधुतैलिक आदि है। माधुतैलिक का पर्याय यापन, युक्तरथ, दोषहर एवं स्निग्ध बस्ति है। इन बस्तियों के नाम से ही इनके स्वरूप का ज्ञान हो जाता है।

अनुवासनबस्ति भेदोपभेद वर्णनम्

तस्यभेदो मात्रा बस्तिः। स पेयस्नेहह्रस्वमात्रातुल्यः। सेव्यः सदा च माधुतैलिकवत्। बालवृद्धाध्वभारयानव्यायामचिन्तास्त्रीनित्यस्त्रीनृपेश्वरसुकुमारदुर्बलानिलभग्नाल्पाग्निभिनिष्परिहारतया सुखो बल्यो वर्ण्यः सृष्टमलो दोषघ्नश्च तथापि तौ नाजीर्णे योज्यौ न च दिवा स्वप्नः सेव्यः यतश्च सोऽन्नमनुवसन्नपि न दुष्यत्यनुवासरमपि वा दीयत इत्यनुवासनम्।

अ० सं० सू० २८।२९॥

तस्य चानुवासनस्य भेदो मात्राबस्तिर्नाम। एतच्च सर्वं.....। स च मात्राबस्तिः पेयस्नेहस्य ह्रस्वया मात्राया तुल्यः सेव्यः तेनैतदुक्तं भवति। आतुरो मुखेनोपयुक्तं स्नेहं यत्परिणामं याभ्यां यामाभ्यां ज्जरयितुं शक्नोति तत्परिमाणं तस्य मात्राबस्तिर्भवतीति स च मात्रावस्तिः माधुतैलिक विधानेन बालवृद्धादिभिः सेव्यो निष्परिहारत्वादिहेतोः एवं गुणयुक्तत्वेऽपि तावनुवासन मात्राबस्त्री अजीर्णे न च योज्यौ न च तयोरुपयुक्तयोर्दिवास्वप्नः सेव्यः। यत श्चेत्यादिनानुवासनान्वर्थतामाह। इन्दुः।

हि० व्या०—अनुवासन बस्ति का भेद मात्रा बस्ति है। यह मात्रा बस्ति स्नेह की मुख से ग्रहण की जाने वाली ह्रस्व मात्रा के समान होती है। इस बस्ति का प्रयोग माधुतैलिक के समान करना चाहिए। बालक, वृद्ध, अधिक यात्रा करने वाले, अधिक भार उठाने वाले, अधिक सवारी करने वाले, व्यायाम करने वाले, चिंतातुर, स्त्री, नित्य स्त्री प्रसंग करने वाले, राजा, सुकुमार प्रकृति वाले, दुर्बल, वात रोगी, भग्न से पीड़ित, अल्पाग्नि वाले को इस वस्ति का सेवन करना चाहिए। इसमें किसी प्रकार के परिहार की आवश्यकता नहीं है। यह सुखकारक, बल एवं वर्ण की वृद्धि करने वाली, मलों को प्रवृत करने वाली तथा दोषों को नष्ट करने वाली है।

अनुवासन एवं मात्रा बस्ति का अजीर्ण अवस्था में प्रयोग नहीं कराना चाहिए। बस्ति लेकर दिन में सोना नहीं चाहिए[1]। यह बस्ति शरीर में रह जाने पर भी (अन्य बस्तियों के समान) दोष उत्पन्न नहीं करती। यह किसी भी दिन या प्रतिदिन दी जा सकती है इसीलिए इसे अनुवासन कहते हैं।

अग्निवेशकृतः प्रायः सदा रुग्णानां बस्तियोग्यानां विषयकः प्रश्नः आत्रेयकृतं तदुत्तरं च।

अथाग्निवेशः सततातुरान् नरान्
हितं[1] च पप्रच्छ गुरुस्तदाह च।

---

१. हितं चेति सदातुराणां हितम्।

सदातुराः श्रोतिय राजसेवका-
स्तथैव वेश्या सह पण्य[1]जीविभिः ।

च० सि० ११।२७

हि० व्या०—महर्षि अग्निवेश ने गुरु आत्रेय पुनर्वसु से प्रश्न पूछा कि सदा रोगी रहने वाले व्यक्ति कौन-कौन से हैं ? उनके लिए लाभकारी वस्तु क्या है ? गुरु ने उत्तर दिया कि श्रोत्रिय (वेदपाठी), राजा के नौकर, वेश्या एवं व्यापारी ये सदा रोगयुक्त या रोगी रहते हैं ।

प्रायः सदारुग्णानां रोगानुकूलत्वे युक्तयः

द्विजो हि वेदाध्ययनव्रताह्निक-
क्रियादिभिर्देह हितं न चेष्टते ।
नृपोपसेवी नृपचित्त रक्षणात्
परानुरोधाद्बहुचिन्तनाद्भयात् ॥
नृचित्तवर्तिन्युपचार तत्परा-
मृजाविभूषानिरता पणाङ्गना ।
सदासनादत्यनुबन्धविक्रय-
क्रयादिलोभादपि पण्यजीविनः ॥
सदैव ते ह्यागत वेगनिग्रहं
समाचरन्ते न च कालभोजनम् ।
अकालनिर्हारविहार सेविनो-
भवन्ति येऽन्येऽपि सदातुराश्च ते ॥

च० सि० ११।२८-३०

यथोक्तानां सदातुरत्वेहेतुमाह-द्विजो हीत्यादि । देहहितं न चेष्टते इति पण्य जीविन् इत्यन्तं यावदनुवर्तनीयम् । परानुरोधादिति नृपानुजीवि पुरुषान्तरानुरोधात् । उपचार तत्परेति पुरुषोपचार तत्परा मृजा=शरीर मार्जनम् । पणाङ्गना वेश्येत्यर्थः । अत्यनुबन्धविक्रयक्रयादिलोभादिति निरन्तराबद्धक्रयविक्रयादेर्लोभात् । अन्यानपि सदातुरानाह अकालेत्यादि । निर्हारो मलादिनिर्गमः ।

चक्रपाणिः ।

हि० व्या०—उपरोक्त व्यक्ति सदा रोगी क्यों रहते हैं ? इसको समझाते हुए आचार्य ने कहा कि ब्राह्मण नित्य वेदाभ्यास करते रहने, वतानुष्ठान के पालन में तत्पर एवं दैनिक देवपूजन तथा पितृकर्म में लगे रहने के कारण शरीर रक्षा पर अधिक ध्यान नहीं देते हैं । राजा का सेवक राजा के मनोनुकूल सेवा कार्य करते रहने के कारण, दूसरे लोगों के अनुरोध से, अधिक चिन्ता के कारण या राजा को प्रसन्न रखने की चिन्ता के कारण, भय से या राजभय के

१. पण्यजीविनो वणिजाः । चक्रपाणिः ।

कारण अपने शरीर की रक्षा में तत्पर नहीं रहते हैं । वेश्यायें सदा मनुष्यों की इच्छानुसार व्यवहार करती हैं और सेवा में तत्तर रहती हैं तथा अपने सौंदर्य की रक्षा के लिए सदा अंगराग एवं शृंगार में लिप्त रहती हैं अतः अपने शरीर की रक्षा नहीं कर पाती हैं । व्यापारी वर्ग अपने व्यापार के कारण व्यस्त रहते है तथा दूकान पर क्रय-विक्रय हेतु हमेशा बैठे रहते हैं या अधिक लाभ के लोभ से बैठे रहते हैं, वेग विधारण करते हैं अतः सदा रोगी रहते हैं ।

प्रायः सदातुराणां कृते प्रयोज्याः विविधा निरूहबस्ति प्रयोगाः

समीरणं वेगविधारणोद्धतं
विबन्धसर्वाङ्ग रुजाकरं भिषक् ।
समीक्ष्य तेषां फलवर्तिमादितः
सुकल्पितां स्नेहवतीं प्रयोजयेत् ॥
पुनर्नवैरण्डनिकुम्भचित्रकान् ।
सदेवदारु त्रिवृतानिदिग्धिकान् ।
महान्तिमूलानि च पंच यानि
विपाच्य मूत्रे दधिमण्डसंयुते ॥
सतैलसर्पिर्वणैश्च पंचभि-
र्विमूर्च्छितं बस्तिमथ प्रयोजयेत् ।
निरूहितं धन्वरसेन भोजितं
निकुम्भतैलेन ततोऽनुवासयेत् ॥
बलां सरास्नां फलबिल्वचित्रकान्
द्विपंचमूलं कृतमालकात् फलम् ।
यवान् कुलात्थांश्च पचेज्जलाढ़के
रसः स पेष्यैस्तु कलिङ्गकादिभिः ॥
सतैलसर्पिर्गुड सैन्धवो हितः
सदातुराणां बलवर्णवर्धनः ॥
तथाऽनुवास्ये मधुकेन साधितं
फलेन बिल्वेन शताह्वयापि वा ॥
सजीवनीय रसोऽनुवासने
निरूहणे चालवणः शिशोर्हितः ।
न चान्यदाश्वङ्गबलाभिवर्धनं
निरूहवस्तेः शिशु वृद्धयो परम् ॥

च० सि० ११।३१-३६

पुनर्नवेत्यादिनिरूहः । निकुम्भो दन्ती । महान्तिमूलानि पञ्चेति बिल्वादि पञ्चमूलानि । निकुम्भतैलेनेति निकुम्भक्वाथकल्क सिद्धेन तैलेन । बलामित्यादौ

कलिङ्गकादिभिरिति कलिङ्गकुष्ठमधुकबिल्वकेत्यादिनेहोक्तैः। फलेन बिल्वेन शताह्वयाऽपि वेति तैलत्रयमानुवासनिकम्। सजीवनीयस्तु रसोऽनुवासन इति जीवनीयकषायकर्तव्यः। अनुवासनमपि जीवनीयसाधितं शिशोरेव। न चान्य दित्यादिना बालवृद्धयौगिकत्वं बस्तेराह। परमिति श्रेष्ठम्। चक्रपाणिः।

हि० व्या०—निरन्तर रोगी रहने वाले व्यक्तियों की चिकित्सा—मल-मूत्रादि वेगों को रोकने से प्रकुपित वायु रुक जाती है तथा वह विबन्ध, सर्वांग में पीड़ा उत्पन्न करती है। वायु की विकृति को ध्यान में रखकर चिकित्सक को सर्वप्रथम विधिपूर्वक बनाई हुई स्नेहयुक्त फलवर्ति का प्रयोग करना चाहिए।

निरूहबस्ति का प्रयोग—फलवर्ति प्रयोग के पश्चात्, पुनर्नवा, एरण्डमूल, दन्तीमूल, चित्रकमूल, देवदारु, सफेद निशोथ छोटी कटेरी और बृहत्पञ्चमूल, (अरणी, अरवू, बेल, गम्भारी, पाढ़ल) इन्हें समानभाग संग्रहकर यवकूटकर, दही के पानी और गोमूत्र में मिलाकर क्वाथकर चतुर्थांश शेष रहने पर तेल, घृत पाँचों नमक मिलाकर, मथनी से मथकर निरूहबस्ति देना चाहिए। बस्ति द्रव्य बाहर निकल जाने के पश्चात् जाङ्गल पशुपक्षियों के मांसरस से भोजन कराकर दन्तीमूल के क्वाथ से सिद्ध तेल से अनुवासनवस्ति देना चाहिए।

बलादिबस्ति—बलामूल, रास्ना, मदनफल, बेलगिरि, चित्रकमूल, दशमूल, अमलताश का सारभाग, जौ और कुलथी (यवकूट) दो आढ़क, (१२ से ६४ तोला) जल में सिद्धकर चतुर्थांश शेष छानकर कलिङ्गकुष्ठादि द्रव्यों (इसी अध्याय में पठित) का कल्क, तेल, घृत; गुड़, सैन्धव लवण मिलाकर बस्ति देनी चाहिए। इस बस्ति के प्रयोग से सर्वदा रोगी रहने वाले व्यक्तियों के बल और वर्ण की वृद्धि होती है। सम्यक् निरूहण हो जाने पर जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस के साथ भोजन कराकर मुलेठी, बेलगिरी, सौंफ इनमें से किसी एक द्रव्य से सिद्ध तैल से अनुवासन वस्ति देनी चाहिए।

बालक तथा वृद्ध के लिए बस्ति—

बालकों तथा वृद्धों के लिए जीवनीयगण की औषधियों के क्वाथ और कल्क से सिद्ध तैल की अनुवासन बस्ति तथा जीवनीय गण के क्वाथ में नमक रहित निरूहबस्ति देना हितकर होता है। बालक और वृद्ध व्यक्तियों के लिए शीघ्र ही शरीर की वृद्धि और बल की वृद्धि करने के लिए निरूहबस्ति के अतिरिक्त अन्य कोई चिकित्सा विधि नहीं है।

बस्तिद्वारा प्रायः साध्याना रोगाणां सूचनम्।

ज्व[1]रातीसारतिमिरप्रतिश्यायशिरोरोगाधिमन्थार्दिताक्षेपकपक्षाघातैकाङ्ग-सर्वाङ्गरोगाष्ठमानोदरयोनिशूलशर्कराशूल वृध्युपदंशानाहमूत्रकृच्छ्रगुल्मवातशो-

१. ज्वरादिषु चावस्थाविशेषो वस्तेर्विषयः, सच शास्त्रादेव ज्ञेयः। डल्हणः

णितवातमूत्रपुरीषोदावर्तशुक्रार्तवस्तन्यनाशहृद्ग्रहमन्याग्रहशर्कराश्मरीमूढ़गर्भप्रभृ-तिषु चात्यर्थमुपयुज्यते।

सु० चि० अ० ३५।५

हि० व्या०—महर्षि सुश्रुत के अनुसार—ज्वर, अतिसार, तिमिर, शिरो-रोग, अधिमन्थ, अर्दित, आक्षेपक, पक्षाघात, एकाङ्गरोग, सर्वाङ्गरोग, आष्ठमान, उदर, योनिशूल, शर्कराशूल, वृद्धिरोग, उपदंश, आनाह, मूत्रकृच्छ्र, गुल्म, वातरक्त, वात-मूत्र-मल उदावर्त, शुक्रनाश, आर्तवनाश, स्तन्यनाश, हृद्ग्रह, मन्याग्रह, हनुग्रह, शर्करा, अश्मरी, मूढ़गर्भ, इन रोगों में विशेषरूप से वस्ति प्रयोग किया जाता है।

सुखत्वादेव च बस्तिर्बालवृद्धकृशस्थूलक्षीणधात्विन्द्रियेषु स्त्रीष्वनिलोपसर्गाद प्रजासु कृच्छ्रप्रजासु चोपदिश्यते। तथाऽग्निबलवर्णमेधास्वरायुः सुखप्रदो वयः स्थापनः पंगुरुग्णभग्नस्तब्ध संकुचितानिलाष्ठमानशूलारोचकोदावर्त परिकर्तिका-दिषु हित इति।

अ० सं० सू० २८।४

अयं बस्ति सुख सेव्यत्वादेव बालादिषु वातोपसृष्ट देहत्वाच्चाप्रजासु स्त्रीषु चोपदिश्यते। तथाऽग्न्यादिप्रदः। वयसो यौवनस्य स्थापनः पङ्गुवादिषु हितः पथ्यश्च।

इन्दुः।

हि० व्या०—आचार्य वाग्भट के अनुसार सुखपूर्वक सेवन योग्य होने के कारण वस्ति—बालक, वृद्ध, कृश, स्थूल, क्षीणधातु, क्षीण इन्द्रियवाले पुरुषों में एवं वातपीड़ित होने के कारण जिन स्त्रियों में सन्तान नहीं होती उनमें उप-योगी है। इसी प्रकार अग्नि, बल, वर्ण, मेधा, स्वर, आयु और सुखकारक है तथा वयः स्थापक है। पंगुता, भग्न, स्तंभ, संकुचित वायु, आष्ठमान, शूल, अरोचक, उदावर्त, परिकर्तिका आदि रोगों में बस्ति लाभकारी है।

तेन साधयेत्।

गुल्माऽऽनाहखुडप्लीहशुद्धातीसारशूलिनः ।
जीर्णज्वर प्रतिश्यायशुक्ताऽनिलमलग्रहान्।
वर्ष्माऽश्मरीरजोनाशान् दारूणांश्चाऽनिलामयान्॥

अ० हृ० सू० १९।३

तेनेत्यनेन निरूहः परामृश्यते। कथमिति चेत्। ब्रूमः। अनास्थाप्याश्चेत्य धीयते। तत्र के निरूह्या इत्यपि। ते संत्यत्राऽनिरूह्याः पुनरिमे प्रतिवक्तुं युज्यंते। अपि च। आस्थाप्या एव चान्वास्था इति पठति के आस्थाप्या इति न गम्येत् यदीह निरूहो न परमृश्येत। तस्मात्तेनेत्यनेन निरूहस्य ग्रहणं न्याय्यम् तेन निरूहेण गुल्मादींस्तथा जीर्णज्वरादीन् कृच्छ्रान् वातरोगांश्चोपक्रमेत्। गुल्मादीनां शूलांतानां द्वंद्व इनिः कार्यः। शुक्रादीनां ग्रहेण संबन्धः। शुक्रग्रहो

रेतोविबंधः। अनिलग्रहो वायोरसंचारः। रजोनाशः स्त्रियाः पुष्पनाशः।

अरुणदत्तः।

हि० व्या०—अष्टाङ्ग हृदय के अनुसार—गुल्म, अनाह, वातरोग, प्लीहा रोग, निरामातिसार, शूल रोग, जीर्णज्वर, प्रतिश्याय, शुक्रग्रह (शुक्ररोध), वातोदावर्त, मलग्रह, (पुरीषोदावर्त), वृद्धिरोग, अश्मरी, रजोरोध तथा भीषण वातरोगों को दूर करने के लिए निरूहबस्ति का प्रयोग किया जाता है।

आगूलापिते प्रग्रथिते पुरीषे
शूले च भक्तानभिनन्दने च।
एवं प्रकाराश्च भवन्ति कुक्षौ
य आमयास्तेषु च बस्तिरिष्टः॥
याश्च स्त्रियो वातकृतोपसर्गा
गर्भन्न विदन्ति नृभिः समेताः।
क्षीणेन्द्रिया ये च नराः कृशाश्च
बस्तिः प्रशस्तः परमो हि तेषु॥ वंगसेन

बस्ति प्र०—८६-८७

हि० व्या०—आचार्य वंगसेन ने भी बस्तिकर्म के योग्य व्यक्तियों का वर्णन करते हुए लिखा है कि—अंगग्लानि, आनाह, मलबन्ध, शूल, अरुचि और अन्य उदर रोगों में बस्तिकर्म हितकारक है। वात प्रकृति स्त्रियां जिनको गर्भाधान नहीं होता है और जिन पुरुषों की इन्द्रियां क्षीण हो गयी हैं एवं कृश हैं उनके लिए भी बस्ति अभिप्रेत है।

वस्त्यार्हाणां विषये मतभेदाः

संसृष्ट भक्ते शंसन्ति बस्तिकर्म चिकित्सकाः।
विरिक्तेष्वपरे वैद्या निरूढे त्वपरे जनाः॥
त्रीण्येतान्यवराण्याहुः न शंसन्ति विशारदाः।
मतं तेषामहं सम्यग् व्याहनिष्यामि हेतुभिः॥
सततन्तु विरिक्तस्य शीतीभवति पावकः।
हृदाश्रयाणि स्रोतांसि गुद कोष्ठाश्रयाणि च॥
प्रबृद्धो मारुतस्तस्य पक्वाधानं प्रधावति।
शीतीकरोति कार्याग्नि बलं चास्यापकर्षति॥
स्रोतस्सु शुद्धाशुद्धेषु यदि बस्तिः प्रदीयते।
स गम्भीरो गतः काये सर्वशो न निवर्तते॥
छर्दिं पिपासां हृद्रोगं पाण्डुत्वं श्वयथुं तथा।
जनयेदिह तस्माद्धि विरिक्तं नानुवासयेत्॥
संसृष्टभक्तस्य पुनः जात दोषस्य देहिनः।

स्रोतस्सु मललिप्तेषु भवेत्स्नेहो निरर्थकः॥
तीक्ष्णेतरनिरूहेण निरूढस्य शरीरिणः।
समुत्क्लिष्टेषु दोषेषु स्नेहवस्तिर्न शस्यते॥

भे० सि० ५।१-८

बालवृद्धयोः मृदुबस्तिप्रयोगे युक्तिः।

मृदुर्बस्तिः प्रयोक्तव्यो विशेषाद्बालवृद्धयोः।
तयोस्तीक्ष्णः प्रयुक्तस्तु बस्तिर्हिंस्याद्बलायुषी॥

सु० चि० ३५।१०

बालवृद्धतोर्हीनोपचयशक्तिलक्षणबलत्वेनास्थापनस्य मात्राकृतं हीनत्वं प्रदर्श्य तीक्ष्णादिगुणहीनत्वं दर्शयन्नाह—मृदुर्बस्तिः प्रयोक्तव्य इत्यादि। तत्र मृदुद्रव्यकृतो बस्तिर्मृदुः, तीक्ष्णश्च तद्विपर्ययः।

हि० व्या०—बालकों और वृद्धों को विशेषरूप से मृदुबस्ति देनी चाहिए। इनमें तीक्ष्णबस्ति का प्रयोग करने पर बल और जीवन का नाश हो सकता है।

सामान्यतः नास्थापनानुवासनयोः रोगरुग्णानां वर्णनम्

तत्रोन्मादभयशोकपिपासारोचकाजीर्णार्शः पाण्डुरोगभ्रममदमूर्च्छाच्छर्दि-कुष्ठमेहोदरस्थौल्यश्वासकासकण्ठशोषशोफोपसृष्टक्षतक्षीणचतुस्त्रिमासगर्भिणी दुर्बलाग्न्यसहा बालवृद्धौ च वातरोगादृते क्षीणा नानुवास्या नास्थापयितव्याः।

सु० चि० ३५।२१

भयोन्मादतृषाशोषाऽजीर्णारुचि प्रमेहिणः।
मूर्च्छाकुष्ठोदर स्थौल्यकासश्वासक्षयातुराः॥
शोषभ्रममदच्छर्दियुता बस्त्यसहा बलाः।
नास्थाप्या नानुवास्याश्च वातरोगाहते नराः॥

वंगसेन।

तत्रेत्यादि। भ्रमः चक्रारूढस्येव भ्रमणम्। मदः पूगफलेनेव मत्तता। मूर्च्छा चेतनाच्युतिः। उपसृष्टशब्द उन्मादादिभिः शोफान्तैः सह सम्बन्धनीयः। क्षतः क्षतोरस्कः, क्षीणः कृशः। चतुस्त्रिमासगर्भिणीतिसप्तमासान् यावद्गर्भिणीः, तथा च वाग्भटः 'मासान् सप्त च गर्भिणी' (वा० सू० अ० १९)। वातरोगाहृते क्षीणा इति क्षीणशब्दस्य पुनरुपादानादतिकृशा वातरोगंविना क्षीणा नानुवास्या इति। उन्मादादिषु सामान्येन बस्तिनिषेधोऽत्राभिहितः, केचित्तु केषांचित्प्रति-प्रसवमपवादरूपेणाहुः। तत्रोन्मादापस्मार भ्रममदमूर्च्छासु संज्ञानाशापगमे शुद्धस्यातुरस्य अनुबन्धोपचरणाय बस्तिर्देयः, कुष्ठिनामर्शसां च मूढ़वातानां

प्रयोज्यः, वाताद्युदरिषु त्रिषु निषिद्धोऽपि शेषेषु पञ्चसु बस्तिः प्रयोक्तव्यः, शोथक्षतोरस्कयोरनुवासननिषेधो न निरूहस्य, वर्षाद्वर्ग् बालस्य, नवत्यूर्ध्वं वृद्धस्य मृदुरपि बस्तिनिषिद्धः, अतोऽन्यथा तीक्ष्ण एव; एतेनावस्थावशान्निषिद्धमपि कार्यं स्यात् 'उत्पद्यते हि साऽवस्था देशकाल बलं प्रति । यस्यां कार्यमकार्यं स्यात् कर्मकार्यं च गर्हितम्' इति । डल्हणः ।

हि० व्या०—आस्थापन और अनुवासन में निषिद्ध रोगी—

आचार्य सुश्रुत के अनुसार— उन्माद, भय, शोक, प्यास, अरोचक, अजीर्ण, अर्श, पाण्डुरोग, भ्रम, मद, मूर्च्छा, वमन, कुष्ठ, मेह, उदररोग, स्थूलता, श्वास, कास' कण्ठशोष, शोफ से पीड़ित, उरः क्षत, क्षीण, सातमास तक की गर्भवती स्त्री, दुर्बल अग्नि वाले, सहनशक्ति हीन, बालक, वृद्ध तथा वायुरोग के विना अन्य कारणों से कृश हुए व्यक्तियों को अनुवासन और आस्थापन बस्ति नही देनी चाहिए । आचार्य वंगसेन ने भी समान विचार व्यक्त किया है ।

दोषकालबलानुसारं बस्तिद्रव्याणि उत्कर्षापकर्षं सूचनम् ।

तां तामवस्थामन्वीक्ष्य दोषकालबलाश्रयाम् ।
उत्कर्षेच्चावकर्षेच्च बस्तीन् द्रव्याणि वा भिषक् ॥
कुर्याद्योगे तयोत्कर्षमपकर्षं तु कर्मणि ।
कालेतदुभयं चैव बोक्ष्य दोषबलाबलम् ॥ का० खि० ८
दोषौषधादि बलतः सर्वमेतत्प्रमाणयेत् । अ० हृ० सू० १६।५१

दोषौषधादिबलतः दोषौषधादिबलादिग्रहणात् । देशकालबलशरीराहारसात्म्यसत्त्वप्रकृतिबलात्तद्वशात् सामर्थ्यात् । चंद्रनन्दन ।

दोषाधिक्ये औषधमृदुत्वे बलाधिक्ये च पुटाधिक्यं विपर्यये न्यूनत्वमित्यर्थः ।
हेमाद्रिः ।

एकेन यदि वा द्वाभ्यां त्रिभिर्वाति प्रमाणतः ।
किंचिन्न्यूनातिरिक्तं वा ज्ञात्वा व्याधिबलाबलम् ॥
भे० सि० ७।२२-२३

हि० व्या०—दोषकाल तथा रोगी के बलानुसार अवस्था को देखकर चिकित्सक वस्ति तथा वस्तिद्रव्यों में न्यूनाधिक कर सकते हैं । योगवस्ति में वृद्धि कर्मवस्ति में ह्रास तथा कालबस्ति में दोषों के बलाबल को देखकर अवस्थानुसार वृद्धि एवं ह्रास किए जा सकते हैं । आचार्य वाग्भट ने भी काश्यप के वचनों का अनुकरण किया है ।

शरीरधातुमभिलक्ष्य बस्तिद्रव्याणां प्रयोगः

युञ्ज्याद्द्रव्याणि बस्तिष्वम्लं मूत्रं पयः सुरांक्वाथान् ।
अविरोधाद्धातूनां रसयोनित्वाच्च जलमुष्णम् ॥
च० सि० १०।१४

यस्मिन् संस्कारे अम्लादिषूमध्ये यद्धातुविरोधि न भवति तद्देयं, यत्तु धातुविरोधि भवति न तद्देयं; व्याधिप्रत्यविरुद्धं यद् यस्यभवति तत् तस्य देयमित्यर्थः । रसयोनित्वाच्च जलमुष्णमिति जलं यस्माद्रसयोनिः, तेन तदुष्णं सत् सर्ववस्तिगतरसस्य पोषणार्थं सर्ववस्तिषु देयम्; एतच्च जलं बस्तिषु साक्षात् प्रक्षेपादर्शनात् कल्कादिपेषणे विनियोज्यं; किंवा अत्र तद्वचन प्रमाण्यादेव ज्ञेयं; किंवा जलशब्दोऽयं द्रवोपलक्षणः, तेनाम्लादिद्रवदानस्यैवेयमुपपत्तिः । रसयोनित्वं द्रवसम्बन्धादेवाम्लादीनामुपपन्नम् । अन्ये तु जलमुष्णं प्रतिनियतमेव, चूर्णबस्तावेच्छन्ति, चूर्णबस्तिश्च यः केवल द्रवेण दीयते; तन्त्रान्तरेऽप्युक्तम्—यथा "रास्नावचाविल्वशताह्वयैलापूतीककृष्णाफलदारुकुष्ठैः । ससैन्धवाम्लोष्ण जलः सतैलः शूलघ्न इष्टः खलु चूर्णबस्तिः"—इति । चक्रपाणिः ।

हि० व्या०—बस्ति में प्रक्षेपद्रव्य—अम्लद्रव्य (काञ्जी), गोमूत्र, दूध, सुरा, क्वाथ इन द्रव्यों को प्रयोग करना चाहिए । परं च जो द्रव्य धातुओं के विरोधी न हों अर्थात् वातादि दोष वर्धक न हों उन द्रव्यों को ही वस्ति में प्रयोग करना चाहिए । जल रस का कारण होता है अतः प्रत्येक वस्ति में सुखोष्ण जल मिलाना चाहिए ।

दोषापेक्षया बस्तिषु प्रक्षेप्यानां आलोड्यानां च आवाप द्रव्याणां तथा अवस्था विशेषे मृदुतीक्ष्णबस्तीनां च प्रयोगः ।

सुरदारुशताह्वं लाकुष्ठमधुकपिप्पलीमधुस्नेहाः ।
ऊर्ध्वानुलोमभागाः ससर्षपाः शर्करा लवणम् ॥
आवापा वस्तीनामतः प्रयोज्यानि येषु यानि स्युः ।
युक्तानि सह कषायैस्तान्युत्तरतः प्रवक्ष्यामि ॥
चिरजातकठिनबलिषु व्याधिषु तीक्ष्णा विपर्यये मृदवः ।
सप्रतिवापकषाया योज्यास्तनुवासननिरूहाः ॥
च० सि० १०।१५-१६

सुरदार्वीत्यादिना बस्तिषु दोषाद्यपेक्षया व्यस्त समस्तविधया प्रक्षेप्यानाह । आवापा बस्तीनामिति वस्त्विष्वावाप्या इत्यर्थः । यानीति कषाययुक्तानि । चिरजात कठिन बलिषु तीक्ष्णा इति अत्रोक्ततीक्ष्ण द्रव्ययोगेन तीक्ष्णाः । विपर्यये चेति अचिरजाते अकठिने अबले च । अनुवासन निरूहा इति अनुवासने कषाययोगः स्नेहसाधनमेव, आवापस्त्वनुवासनेऽपि शताह्वादीनां कर्तव्य एव; यदुक्तमन्यत्र—"पिप्पलीं मदनं कुष्ठं शताह्वां मधुकं वचाम् । योजयेन्मात्रया पिष्ट्वा आवापमनुवासने" इति । चक्रपाणिः ।

हि० व्या०—वस्ति में प्रक्षेप द्रव्य—देवदारु, सौंफ, इलायची, कूठ, मुलेठी, पीपर, मधु, स्नेह (घृत-तेल वसा-मज्जा), उर्ध्व और अनुलोम कारण अर्थात् वमन-विरेचन द्रव्य, सरसो, चीनी सैंधवलवण इन द्रव्यों को वस्तियोगों

में प्रक्षेप के रूप में प्रयोग करना चाहिए। जिन बस्तियों में कषायों के साथ मिलाकर इन द्रव्यों में से जिनका प्रयोग करना उचित है उनको आगे प्रत्येक वस्ति के साथ बताया जाएगा।

तीक्ष्ण और मृदुवस्ति—जीर्ण व्याधियों में तथा बलवान् व्याधियों में प्रक्षेप एवं कषायों के साथ तीक्ष्ण बस्तियों का प्रयोग करना चाहिए। इसके विपरीत नूतन व्याधि एवं अल्पबल व्याधियों में प्रक्षेप और क्वाथ से युक्त मृदु अनुवासन और निरूह वस्तियों का प्रयोग करना चाहिए।

वातदोषशमनाय आलोडनद्रव्याणां त्रयो योगाः।

अर्धश्लोकैरतः सिद्धान् नाना व्या[1]धिषु सर्वशः।
बस्तीन् वीर्य[2]समैर्भागैर्यथार्हालोडनाञ्छृणु ॥
बिल्वोऽग्निमन्थः श्योनाकः काश्मर्यः पाटलिस्तथा।
शालपर्णी पृश्निपर्णी बृहत्यौ वर्धमानकः।
यवाः कुलत्थाः कोलानि स्थिरा चेति त्रयोऽनिले।
शास्यन्ते सचतुः स्नेहाः पिशितस्वरसान्विताः ॥

च० सि० १०।१८-२०

हि० व्या०—इसके पश्चात् अब आधे-आधे श्लोक से अनेक रोगों को दूर करने वाली सफल एवं सिद्ध वस्तियों का वर्णन किया जाता है। दोषानुसार समानवीर्य औषधियों के क्वाथ या स्वरस में घोलकर उनका प्रयोग करना चाहिए।

वातनाशक वस्तियां—(१) बिल्व, अरणी, सोनापाठा, गम्भारी और पाटला, प्रत्येक की छाल के क्वाथघृत, तैल वसा-मज्जा तथा मांसरस वस्तियंत्र में रखकर वस्ति देनी चाहिए।

(२) सरिवन, पिठिवन, बड़ीकटेरी, भटकटैया और एरण्ड का मूल, घृत-तैल, वसा, मज्जा तथा मांसरस मिलाकर वस्तियंत्र द्वारा वस्ति देनी चाहिए।

(३) जौ, कुलथी, खट्टीवेर, सरिवन, इनके क्वाथ में घृत-तैल वसा मज्जा तथा मांसरस मिलाकर वस्तियंत्र द्वारा वस्ति देनी चाहिए। यहां तीन वस्तियों का उल्लेख किया गया है। इनसे वात रोग दूर होते हैं।

---

१. व्याधिषु इत्यत्र व्याधिशब्दो दोषेऽपि वर्तनीयः। बहुश इति एकैकस्मिन् व्याधौ दोषे च बहुश इति अर्थः। चक्रः।
२. वीर्य समैर्भागैरिति अन्योन्यानुपहत सामर्थ्यैर्द्रव्यभागैः। वर्धमानक एरण्डः। पिशितस्वरसान्विता इति प्रक्षिप्तमांसरसाः। चक्रपाणिः।

पित्तदोषशमनायं विविधानां आवापद्रव्याणां संकेतः

नलव[1]ञ्जुलवा[2]नीरशतपत्राणि शैवलम्।
मञ्जिष्ठा सारिवाऽनन्ता पयस्या मधुयष्टिका ॥
चन्दनं पद्मकोशीरं तु[3]ङ्गं ते पैत्तिके त्रयः।
शर्करारासक्षौद्रघृताः सक्षीरा बस्तयो हिताः ॥

च० सि० १०।२१-२२

हि० व्या०—पित्तनाशक बस्तियां—(१)—नरकट का मूल, बेत, जलबेत, शतपत्रकमल, (गुलाब) शैवल (सिवार), इनके क्वाथ में चीनी, मधु, घृत और दूध मिलाकर बस्ति देने से पित्तजन्य रोगों में लाभ होता है।

(१) मंजिष्ठा, सारिवा, अनन्ता (दुरालभा), पयस्या (विदारीकन्द) और मुलेठी इनके क्वाथ में चीनी, मधु, घृत और दूध मिलाकर बस्ति देने से पित्त रोग में लाभदायक है।

(३) लालचन्दन, पद्मकाष्ठ, खश, नागकेशर इनके क्वाथ में चीनी, मधु, घृत और दूध मिलाकर वस्ति देने से पित्तरोग में लाभदायक है।

कफदोष शमनाय विविधानां आवापद्रव्याणां संकेतः।

अर्कस्तथैव चा[4]लर्क एका[5]ष्ठीला पुनर्नवा।
हरिद्रा त्रिफला मुस्तं पीतदारु कुट[6]न्नटम् ॥
पिप्पल्याश्चित्रकश्चेति त्रयस्तेश्लेष्मरोगिषु।
सक्षार क्षौद्रगोमूत्रा नातिस्नेहान्विता हिताः ॥

च० सि० १०।२३-२४

हि० व्या०—कफनाशक बस्तियां—(१) रक्तमदार का मूल, श्वेतमदार का मूल, पाठा, पुनर्नवा इनके क्वाथ में यवक्षार, मधु, गोमूत्र एवं कुछ स्नेह मिलाकर वस्ति देने से कफजन्य रोग दूर होती है।

(२) हल्दी, आंवला, हरीतकी, बिभीतक, नागरमोथा, दारू हल्दी, सोनापाठा की छाल, (केवटी मोथा या तगर) इनके क्वाथ में यवक्षार, मधु, गोमूत्र और कुछ स्नेह मिलाकर वस्ति देने से कफज रोग दूर होती है।

(३) पीपर और चित्रक के क्वाथ में यवक्षार, मधु, गोमूत्र और कुछ स्नेह मिलाकर दी गयी वस्तियां कफजन्य रोगों को दूर करती है।

---

१. वञ्जुलो वेतसः।
२. वानीरस्तद्भेदः।
३. तुङ्गः पुन्नागः। चक्रपाणिः।
४. अलर्को=मन्दारः, ५. एकाष्ठीला=पाठा; ६. कुटन्नटं कैवर्तं=मुस्तकम्, अन्ये तगरमाहुः। चक्रपाणिः।

पक्वाशय विशोधनाय चत्वारः आवापद्रव्य योगाः।

फल जीमूतकेक्ष्वाकुधामार्गवक्ष्वे[1]डवत्सकाः ।
श्यामा च त्रिफला चैव स्थिरादन्ती द्रवन्त्यपि ॥
प्रकीर्या चोदकीर्या च नीलिनी क्षीरणी तथा।
सप्तला शङ्खिनी लोध्रं फलं कम्पिल्लकस्य च ॥
चत्वारो मूत्र सिद्धास्ते पक्वाशय विशोधनाः।
व्यस्तैरपि समस्तैश्च चतुर्योगा उदाहृताः ॥

च० सि० १०।२५-२६

पक्वाशय शोधक बस्तियां—

हि० व्या०— (१) मदनफल, देवदाली, कटुकालाबू (तितलौकी), धामार्गव, इन्द्रयव इनको गोमूत्र में पकाकर बस्ति प्रयोग करने से पक्वाशय की शुद्धि हो जाती है।

(२) काली निशोथ, आंवला, हरड़, बहेड़ा, सरिवन, दन्ती और द्रवन्तीमूल इनको गोमूत्र में पकाकर बस्ति देने से पक्वाशय की शुद्धि हो जाती है।

(३) करञ्ज, पूतिकरञ्ज, नील का मूल, दूधियाघास, इनको गोमूत्र में पकाकर वस्ति प्रयोग करने से पक्वाशय की शुद्धि हो जाती है।

(४) सप्तला, शंखनी (यवतिक्ता), लोध, कवीला का फल इनके गोमूत्र में बने क्वाथ से बस्ति देने पर पक्वाशय का शोधन हो जाता है। यहां चार योगों का उल्लेख किया गया है। इनका अलग-अलग या एक मे मिलाकर भी प्रयोग किया जा सकता है।

बस्तिनेत्र निर्वचनम्

[2]नेत्रं नलिका। बस्तिगतस्नेहकषायादिद्रव्यनेतृत्वान्नेत्रमिति संज्ञा।

शिवदाससेनः (चक्रदत्तटीका)

हि० व्या०—नेत्र से नलिका का भाव लिया जाता है। बस्ति में प्रयुक्त स्नेहकषायादि द्रव्यों के प्रवेश कराने में नेतृत्व करने वाला भाग (अगुवा) होने से ही नेत्र कहा गया है।

विश्वप्रकाश कोष में नेत्र शब्द मथानी, रस्सी, वस्त्र, वृक्ष की जड़, आंख ओक बन्धन तथा नाली का वाचक होता है तथा नेत्र का भी वाचक है।[2]

---

१. क्ष्वेडः कृतवेधनः; द्रवन्ती दन्तीभेदः; प्रकीर्या करञ्जः; नीलिनी नील समाह्वा, नीलाञ्जनिकेत्यन्ये। चक्रपाणिः।

२. तथा चोक्तं विश्वप्रकाशे—
नेत्रं मन्थगुणे वस्त्रे तरुमूले विलोचने।
नेत्रबन्धे च नाड्यां च नेत्रो नेतरि भेद्यवत् ॥

बस्तिनेत्र निर्माणयोग्य द्रव्याणां नामानि।

सुवर्णरूप्यत्रपूतामृरीति—
कांस्यास्थिशस्त्रद्रुमवेणुदन्तैः।
नलैर्विषाणैर्मणिभिश्च तैस्तैः—
नेत्राणि कार्याणि सुकर्णिकानि ॥

च० सि० ३।७, चक्रदत्तः, वंगसेन

त्रपु वङ्गं, रीतिः पित्तलम्। विषाणैरिति महिषादिशृङ्गैः। सुकर्णिका नीति सुसमाहितकर्णिकानि; 'निकाणिकानि' इति केचित् पठन्ति।

चक्रपाणिः।

तत्र नेत्राणि सुवर्णरजताताम्रायोरीतिदन्तशृङ्गमणितरूसारमयानि।

सु० चि० ३५।-

सौवर्णं राजतं ताम्रं कांस्यं त्रपुजमायसम्।
शृंगवंशास्थि वंशाग्राण्याहुर्नेत्राणि पण्डिताः।

भे० सं० सि० ६।३

भिषक् पुण्याहे कनकरजतताम्रकांस्यत्रपुसीसलोहगजदन्ततरुवेणुशृंगास्थिनलानामन्यतमस्योपपत्त्यामत्रकं। का० सं० सि० १

तयोस्तु नेत्रं सुवर्णादिधातुमणिशङ्खशृंगदन्तास्थिवेणुनलखदिरकदरतिनिशतिन्दुकादिदारुसारमयमृज्व·····। अ०सं०सू० २८।२

नेत्रं कार्यं सुवर्णादिधातुभिर्वृक्षवेणुभिः।
नलैर्दन्तैर्विषाणाग्रैर्मणिभिर्वा विधीयते ॥

शा० उत० ६।७-८

तच्च सुवर्णादिधातुभिर्विधीयते क्रियते। आदिग्रहणाद्रौप्यताम्रत्रपुलोहादीनां ग्रहणम्। तथा वेण्वादिभिर्वेणुवंशः। नलैर्नलिकादिभिः तृणविशेषजातैः। दन्तैर्हस्तिदन्तैः। विषाणाग्रैरिति शृंगाग्रैः। उपरितनसूक्ष्मभागैः। मणिभिर्मरकत पुष्परागवैडूर्यादिभिः। एतेन शुद्धपाषाणैरपि विधीयते इति। आढ़मल्लः।

हि० व्या०—अग्निवेश के द्वितीय प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य ने कहा कि सोना, चांदी, सीसक, रांगा, ताम्बा, पीतल, कांसा, अस्थि, लौह, लकड़ी, बांस, दांत, नरकट, पशुओं के सींग और मणि आदि के द्वारा बस्तिनेत्र का निर्माण करना चाहिए। उस नेत्र में सुन्दर कर्णिका होनी चाहिए। आचार्य सुश्रुत और काश्यप ने लौह का भी नेत्र निर्माण हेतु धातुओं में वर्णन किया है। अष्टांङ्गसंग्रह में शंख एवं काष्ठसारों में खदिर विट्खदिर, तिनिश, तिन्दुक आदि की भी गणना की है।

बस्तिनेत्रे नियोज्यस्य बस्तिपुटकस्य लक्षणं निर्माण प्रकारश्च ।

[1]जारद्गवो माहिषहारिणो वा ।
स्याच्छौकरो वस्तिरजस्य वाऽपि ॥
दृढ़स्तनुर्नष्टसिरो विगन्धः ।
कषायरक्तः सुमृदुः सुशुद्धः ॥
नृणां वयो वीक्ष्य यथानुरूपं ।
नेत्रेषु योज्यस्तु सुबद्ध सूत्रः ॥ च० सि० ३।१०-११

वंगसेन । चक्रदत्तः ।

वस्तयश्च बन्ध्या मृदवो नाति[2]बहला दृढ़ाः ।
प्रमाणवन्तो गोमहिष वराहाजोरभ्राणाम् ॥

सु० चि० ३५।१३

ततोऽजाविवराहहरिणगोमहिषान्यतमजं स्नेह मुद्गविमृदित विगतच्छिद्र शिराग्रन्थि स्कन्धं नातिवर्तुलं मृदु दृढ़ं कषायरक्तं सुखसंस्थाप्यौषध प्रमाणं न्युब्ज विवृताननं निवेश्य बस्ति कर्णिकयोर्दृढ़ेन सूत्रेण धनं समं च बध्वा परिवर्त्य पुनश्चान्यद्बस्तिमुख बन्धनार्थं सूत्रमुपधायानुगुप्तं निधापयेत् ।

अ० सं० सू० २८।२०

तत्र च योजयेत् ।
अजाविमहिषादीनां बस्तिं सुमृदितं दृढ़म् ॥
कषायरक्तं निश्छिद्रग्रन्थिगंध शिरं तनुम् ।
ग्रंथितं साधुसूत्रेण सुखसंस्थाप्य भेषजम् ॥ अ०हृ०सू० १९।१३

तत्रेत्यादि । तस्मिंश्च कर्णिका द्वितयेऽजादीनां बस्तिं योजयेत् । आदि शब्देन गोहरिणवराहमहिषाणां ग्रहणम् । अजादीनामित्येवं निर्देशेऽप्यविमहिष ग्रहणे लब्धे साक्षादेतयोर्ग्रहणमन्यजंभ्यो बस्तिभ्य एतद्बस्तेर्योग्यतरत्वप्रतिपादनार्थम् । किंभूतं बस्तिम् । सुमृदितं सस्नेहं मुहुः सुष्ठु मर्दितं तथा दृढं तथा कषायेण हरीतक्यादिना रक्तं तथा छिद्रं च ग्रन्थिश्च गंधश्च शिराश्च ताः निर्गता न संति यस्य तन्निश्छिद्रग्रंथिगन्धशिरम् । तथा तनुं न स्थूलं तथा साधु सम्यक् सूत्रेण ग्रंथितं बद्धं तथा सुखेनाऽकृच्छ्रेण संस्थापनीयमौषधं यत्र तदेवम् ।

अरुणदत्तः ।

मृगाजशूकरगवां महिषस्यापि वा भवेत् ।
मूत्रकोषस्य वस्तेस्तु तदलाभे तु चर्मणः ॥

---

१. जारद्गवो वृद्धगोभवः । बस्तिरिपि मूत्राशय पुटकम् । नष्टशिर इति समुद्धत सिरासन्ततिः । विगतः पूतिगन्धो यस्य स विगन्धः । कषाय रक्त इति कषाय भावनया रक्ती कृतः । वयो वीक्ष्य यथानुरूपमिति वयोभेदेन यथोक्तेन यो बस्तिर्यस्योचितप्रमाणो भवति, स तस्य नेत्रे निबन्धनीयः । चक्रपाणिः ।

२. नातिबहला नात्युपचिताः, नातिदीर्घा इत्यन्ये ।

कषायरक्तः समृदुबस्तिः स्निग्धो दृढ़ो हितः ।
योजयेत्तत्र बस्तिञ्च बन्धद्वय विधानतः ॥ भा० प्र०

हि० व्या०—अग्निवेश के चतुर्थ प्रश्न (केभ्यश्च कि योनिगुणश्च वस्ति ?) का उत्तर समझाते हुए आचार्य ने कहा कि वृद्ध बैल, भैंस, हरिण, सूअर या बकरे की दृढ़, पतली, शिरारहित, गन्धरहित, कषायरक्त, मृदु और शुद्ध बस्ति होनी चाहिए । मनुष्य के अवस्था के अनुसार किसी भी एक बस्ति को लेकर नली से संयोग कराना चाहिए तथा उस नली को बस्ति के साथ धागे से बांध देना चाहिए । अन्य आचार्यों ने भी इसी आधार पर बस्तिनिर्माण की कल्पना की है ।

वक्तव्य—यद्यपि संहिताग्रन्थों और संग्रहग्रन्थों में बस्ति निर्माण की विधि सविस्तार लिखी हुई है किन्तु आज के वैज्ञानिक युग में इसका व्यवहार प्रायः नहीं हो रहा है । अधुना विभिन्न प्रकार के एनिमा सिरीञ्ज प्राप्त होते हैं तथा बस्ति यन्त्र भी विशेष रूप से(लौहधातुनिर्मित)बनाकर प्रयोग किया जा रहा है ।

बस्तिनेत्राणां परिमाणं आकृति विशेषाश्च ।

षडद्वादशाष्टाङ्गुलसंमितानि ।
षड्विंशतिद्वादशवर्षजानाम् ।
स्युर्मुद्गकर्कन्धु सतीनवाहि-
च्छिद्राणि दर्त्या पिहितानि चैव ॥
यथावयोऽङ्गुष्ठ कनिष्ठकाभ्यां
मूलाग्रयोः स्युः परिणाहवन्ति ।
ऋजूनि श्रोपूच्छ समाकृतीनि
श्लक्ष्णानि च स्युर्गुडिकामुखानि ॥
स्यात् कर्णिकैकाग्र चतुर्थभागे ।
मूलाश्रिते बस्तिनिबन्धने द्वे । च० सि० ३।८-१०

वंगसेन । चक्रदत्त ।

'कीदृक् प्रमाणाकृति' इत्यस्योत्तरं षडित्यादि । तत्र षडङ्गुलमेकवर्षात् प्रभृति यावत् षडवर्षं: द्वादशवर्षस्याष्टांगुलं नेत्रं भवति, विंशतिवर्षस्य द्वादशांगुलं नेत्रं भवति । अत्र व्युत्क्रमाभिधानेन षड्वर्षादर्वाग्विंतिवर्षादूर्ध्वं च नेत्रमानविकल्पोनास्ति, षडवर्षादूर्ध्वं नेत्रमानविकल्पोऽस्तीति दर्शयति; तेन षड्वर्षादूर्ध्वं प्रत्यब्दमंगुलितृतीय भागवृद्धिर्भवति, द्वादशादूर्ध्वं प्रत्यब्दमर्धाङ्गुलवृद्धिः, एवमुक्तमानपूरतं भवति । सुश्रुते नेत्रमानभेद उक्तः, स नातिविरोध कारितया उपेक्षणीय एव । उक्तं हि तत्र सांवत्सरिकाष्टद्विरष्ट वर्षाणां षडाष्टदशांगुलं नेत्रं, पञ्चविंशतिवर्षा दूर्ध्वं द्वादशांगुलं' (सु० चि० ३५) इति ।

मुद्गादिवाहिच्छिद्रत्वं यथासंख्यं षड्द्वाशाष्टांगुलनेत्रेषु ज्ञेयम् । कर्कन्धुशब्देनेह

शृगालबदरी स्वल्पा गृह्यते; उक्तं हि—सुश्रुते —'कोलास्थिमात्रच्छिद्रम्' (सु० चि० ३५) इति। वृहद्बदरीग्रहणे तु कनिष्ठाप्रमाणाग्रं तद्वहनं नार्हति; केचिदेवं विरोधं पश्यन्तो बदरास्थिमज्जानमिह कर्कन्धू शब्देन ग्राह्यन्ति। सतीनो वर्तुलकलायः। वर्त्यापिहितानि इति द्रव्यान्तर प्रवेश निरासार्थं वर्त्यापिहितमुखानि कर्तव्यानि। यथावय इति यस्मिन् वयसि नेत्रं विहितं, तद्वयः स्थस्यैवाङ्गुष्ठकनिष्ठिकाभ्यां यथासंख्यं मूलेऽग्रे च तुल्य परिणाहं नेत्रं कर्तव्यम्। ऋजूनित्यादिना नेत्रगुणानाह। श्लक्ष्णानीत्यकर्कशानि। गुडिकामुखानीत्यनेन वर्तुलमुखतया-तीक्ष्णामुखतां दर्शयति। एकाकर्णिकाग्रेकर्तव्या नेत्रस्यान्तः प्रवेशनिरासार्थं, बस्तिनिबन्धने द्वे इति बस्ति निबन्धन प्रयोजनके द्वे। चक्रपाणिः।

तत्रान्तरालिकवर्षापेक्षमपि प्रमाणमभिधेयम्। तेषां हि निरूहादिद्रव्येष्वप्युक्त एव प्रमाण विकल्पभावः। तस्य तथाविधस्यायोग्यत्वात्। द्वादशवर्षस्य तूभयतोऽपि विकल्पः, एकादश वर्षस्य (चात्राप्यन्यद् एव) प्रमाण मुक्तम्। अत ऊर्ध्वं प्राप्त्यर्थं सकृत्प्रमाणप्राप्तिदोषोऽप्येवं परिहृतो भवति। यथा च बाले षट्सु वर्षेषु षडङ्गुलमिच्छन्ति। तदेवं सांवत्सरिकादपि बालादारभ्य षड्वर्षेपीति सामर्थ्यादेव षट् सप्तमुखाष्टांगुलं पञ्चविंशतेश्चोर्ध्वं द्वादशांगुलमिति, अंगुलप्रमाणंचोक्तं तत्र मुद्गकर्कन्धुसतीनवाहीत्याभ्यन्तरतः प्रक्षिप्ता मुद्गकमकुष्ठादयो यत्रेति यथासंख्यमेव प्रमाणाश्रयं छिद्रनिर्देशः षट्द्वादशांगुष्ठाङ्गुलसम्मितानां नेत्राणामिति वदन्ति। अत्र च वर्षपरिमाणं वयो न तु वयश्शब्देन मध्यं, बालं, जीर्णं, किंतर्हि, यद्यस्य वयो वर्तते प्रतिवर्षमिति।तत्राङ्गुष्ठपरिणाहं मूले कनिष्ठिकापरिणाहं च अग्रे, इत्येवं गोपुच्छसमाकृतित्वेनानुपूर्वोपचयः न तु मुद्गादिवाहित्वेन समाकृतित्वम्। तथा हि तत्राग्र विनिर्गममात्रं तेन यथाऽनुकूलं गोपुच्छ समाकृतित्वं चेत्येकैकेभ्यश्च कृतमं नेत्रं षड्विंशतिद्वादशवार्षिकेभ्य इत्युक्तमिह द्रष्टव्यम्। तत्र प्रमाण सम्बन्धनोक्तमित्यदोषः। जज्जटः।

तत्र सांवत्सरिकाष्टद्विरष्टवर्षाणां षडष्टदशाङ्गुल प्रमाणानि कनिष्ठिकानामिकामध्यमाङ्गुलिपरिणाहान्यग्रेऽध्यर्धाङ्गुल द्वयङ्गुलार्धतृतीयाङ्गुलसन्निविष्टकर्णिकानि कङ्कश्येनबर्हिणपक्षनाडीतुल्यप्रवेशानि मुद्गमाषकलायमात्र स्रोतांसि विदध्यान्नेत्राणि।

सु० चि० ३५।१२

श्लक्ष्यानि दृढ़ानि गोपुच्छाकृती न्यृजूनि गुटिकामुखानि च।

सु० चि० ३५।१२

तत्र सांवत्सरिकाष्टद्विरष्टवर्षाणमित्यत्र यथासंख्य व्याख्यानेन सांवत्सरिकबालस्य निरुहयन्त्र षडङ्गुलप्रमाणं, तत्कनिष्ठिकापरिणाहम्, अग्रेऽध्यर्धाङ्गुलसन्निविष्टकर्णिकं, कङ्कपक्षनाडीतुल्यप्रवेशं मूले, मुद्गवाहिस्रोतश्चाग्रे विदध्यात्। छत्राकारा गुदेऽधिकान्तः प्रवेशरोधिनी कर्णिका कथ्यते। कङ्कः वक्रचञ्चुः कृष्णवर्ण प्रसिद्ध एव। अष्टवर्षस्य पुनरष्टाङ्गुलप्रमाणं, तदनागिकापरिणाहम्, अग्रे

द्वयङ्गुल सन्निविष्टकर्णिकं, श्येनपक्षनाडीतुल्य प्रवेशं मूले, माषवाहिस्रोतश्चाग्रे-विदध्यात्। द्विरष्टवर्षस्य षोडशवर्षस्येत्यर्थः। किम्भूतं यन्त्रं ? द्वादशाङ्गुलप्रमाणं, तन्मध्याङ्गुलिपरिणाहम्, अर्धतृतीयाङ्गुलसन्निविष्टकर्णिकं, बर्ही मयूरस्तत्पक्षनाडीतुल्य प्रवेशं मूले; कलायवाहि स्रोतश्चाग्रे विदध्यात्। डल्हणः

वर्षान्तरेषु नेत्राणां बस्तिमानस्य चैव हि।
वयो बलशरीराणि समीक्ष्योत्कर्षयेद्विधिम्॥

सु० चि० ३५।८

वर्षान्तरेष्वित्यादि। पञ्चविंशतियावत् समीक्ष्य यथायथमभ्यूह्य नेत्रप्रमाणं बस्तिद्रव्यप्रमाणं चोत्कर्षयेत्। डल्हणः।

पञ्चविंशतेरूर्ध्वं द्वादशाङ्गुलं, मूलेऽङ्गुष्ठोदरपरिणाहम्, अग्रे कनिष्ठिकोदरपरीणाहम्, अग्रे त्र्यङ्गुलसन्निविष्टकर्णिकं, गृध्रपक्षनाडीतुल्यप्रवेशं, कोलास्थिमात्रछिद्रं, क्लिन्नकलायमात्रछिद्रमित्येके; सर्वाणि मूले बस्तिनिबन्धनार्थं द्विकर्णिकानि।

सु० चि० ३५।९

पञ्चविंशतेरित्यादि। गृध्रपक्षनाडीतुल्य प्रवेशं मूले। क्लिन्नकलायमात्रच्छिद्रमग्रे। सर्वाणि तु मूले बस्तिनिबन्धनार्थं द्विकर्णिकानि द्वयङ्गुलान्तराणि कुर्यात् द्वयङ्गुलमध्यानीत्यर्थः। डल्हण;।

मृज्वकर्कशं गोपुच्छाकृति गुलिकामुखमूनवर्षंवार्षिक सप्तद्वादशषोडवर्षाणां विंशति प्रभृतिषु च क्रमात् पंच षट् सप्ताष्ट नवद्वादशाङ्गुलप्रमाणं मूलेऽग्रे चातुरांगुष्ठ कनिष्ठिकापरिणाहमर्धांगुलात् प्रभृत्यर्धार्धाङ्गुलप्रवृद्धि त्र्यंगुल पर्यन्तप्रवेशमूलच्छिद्रं वनमुद्गमाषकलायक्लिन्नकलायकर्कन्धु बाह्याग्रच्छिद्रं मूलच्छिद्रप्रमाणाङ्गुलैरग्रं यथास्वं सन्निविष्टकर्णिकं कर्णिकान्ता प्रतिबद्ध सूत्रान्तगृहीताग्रपिधान घनचैल वर्तिमूले द्वयंगुलान्तराले कर्णिकाद्वयं कारयेत्। वर्षान्तरेषु च वयोबलशरीराण्यवेक्ष्य नेत्रप्रमाणमुत्कर्षयेत्।

अ० सं० सू० २८।१९

अकर्कशं श्लक्ष्णं गुलिकामुखमतीक्ष्णात्वाद् गुदं न क्षिणोति। अस्य च नेत्रस्य यत् गुदे प्रविशति तदग्रं यत्र बस्तिर्बध्यते तन्मूलमिति क्रमाद्यथा सङ्ख्येनेत्यर्थः। तत्रोनवर्षस्य पञ्चाङ्गुल प्रमाणं नेत्रं कारयेत्। अग्रे चातुरकनिष्ठिका परिणाहं परिणाहस्यौल्ये पर्यायवत्तुल्ये उच्येते। अर्धाङ्गुलादाम्यार्धाङ्गुलमर्धाङ्गुलं बधयन् यावत् त्र्यङ्गुलपरिमण्डलं वस्तु यस्य मूलछिद्रे प्रविशतित्तथोक्तम् तेनोनवर्षस्यार्धाङ्गुलपरिमण्डलप्रवेशं मूलछिद्रंकारयेत्। वार्षिकस्याङ्गुलम् सप्तवर्षस्य सार्धाङ्गुलम्। द्वादशवर्षस्य द्वयङ्गुलम्। षोडशवर्षस्य सार्धद्वयङ्गुलम्। विंशतिवर्षप्रभृति त्र्यङ्गुलमिति। तस्माद् द्वदशाङ्गुलायामे नेत्रे स्थौल्येनाङ्गुष्ठसमे मूले द्वयङ्गुपर्यन्तं त्र्यङ्गुलपरिमण्डलप्रवेशाङ्गुलमानेन योज्यम्। तस्य च नेत्रस्य गोपुच्छाकृतित्वात्तदग्रं कनिष्ठिकास्थौल्यमुक्तम्।

तद्वनमुङ्गादिप्रवेशच्छिद्रं कारयेत् । मकुष्ठवाच्यो वनमुङ्गः । क्लिन्नः कलायो उच्छूनो भवति। पञ्चाङ्गुलादीनां षण्णां नेत्राणां वनमुद्गादयः षट् योजनीयाः । तच्च नेत्रमग्रे सन्निविष्टकर्णिकं कारयेत् । किं प्रमाणे अग्रइत्याह । मूलच्छिद्र प्रमाणाङ्गुले । यथास्वमिति । ते नैतदुक्तं भवति । त्र्यङ्गुल प्रवेशे नेत्रं त्रीण्यङ्गुलानि विमुच्याग्रे कर्णिकां कारयेदिति । कर्णिका-कृतित्वात् कर्णिका । अन्येषां यथास्वं भागेप्रमाणमूह्यम् । तत्कर्णिकावसक्तसूत्रात् गृहीता अग्र पिधानार्थं घनचैल सम्बन्धिनी वर्तिर्यस्त तत्तथोक्तं कर्णिकाया छिद्रे सूत्रस्यालम्बनम् । तस्य नेत्रस्य मूले परस्परं द्वयङ्गुलान्तरालं कर्णिकाद्वयं कारयेदिति नेत्रस्यायामपरिणाहच्छिद्रैः प्रमाणम् वर्षान्तरेपूक्त वर्षशेषेषु विंशतेरधो यान्युक्तानि वर्षान्तराणि तान्यवधीकृत्य । तदनुगुणे चाङ्गुलमाने अवधीकृत्य । तदन्तरानुवर्तिनो वर्षानङ्गुलभागांश्चाकलय्यो वयोबलशरीराद्यपेक्षया नेत्रप्रमाणं वर्धयेत् ।

इन्दुः ।

गोपुच्छाकारमच्छिद्रं श्लक्ष्णजुं गुलिकामुखम् ।

अ० हृ० सू० १९।७

कारयेल्च्छक्ष्णमव्रणमृजु गुलिकामुखं गोपुच्छ···

का० सं० सि० ९।

ऊनेऽब्दे पंचपूर्णेऽस्मिन्नासप्तयोंऽगुलानिषट् ।
सप्तमे सप्ततान्यष्टौ द्वादशे षोडशे नव ॥
द्वादशैव परं विंशात् वीक्ष्य वर्षांतरेषु च ।
वयोबलशरीराणि प्रमाणमभिवर्धयेत् ॥

अ० हृ० सू० १९।९

स्वाङ्गुष्ठेन समं मूले स्थौल्येनाग्रे कनिष्ठया ।
पूर्णेऽब्देऽगुलमादाय तदर्धार्धं प्रवर्धितम् ॥
त्र्यङ्गुलं परमं छिद्रं मूलेऽग्रे वहते तु यत् ।
मुद्गं माषं कलायं च क्लिन्नं कर्कन्धुकंक्रमात् ॥

अ० हृ० सू० १७।११

मूलच्छिद्रप्रमाणेन प्रांते घटितकर्णिकम् । वर्त्याग्रे पिहितं मूले पथास्वं द्वयंगुलान्तरम् कर्णिकाद्वितयं नेत्रे कुर्यात् ।

अ० हृ० सू० १९।१२

गुलिकास्यं तु नेत्रं स्यादनूनद्वादषाङ्गुलम् ।
अङ्गुले कर्णिका वा सः तां चन क्रमयेङ्गुदे ॥
तत्रगोपुच्छ संस्थानं सुश्लक्ष्णं सुखकर्णिकाम् ।
प्रदेशिनीपरीणाह दानं तेन प्रशस्यते ॥६॥

भे० सि० ६।५६

एकंवर्षात्तु षड्वर्षं यावन्मानं षडंगुलम् ।
ततो द्वाशकं यावन्मानं स्यादष्टसंमितम् ।
ततः परं द्वादशभिरंगुलैर्नेत्रदीर्घता ।
मुग्दच्छिद्रं कलायामं छिद्रं कोलास्थिसंनिभम् ।
यथासंख्यं भवेन्नेत्रं श्लक्ष्णं गोपुच्छसन्निभम् ।
आतुरांगुष्ठमानेन मूले स्थूलं विधीयते ।
कनिष्ठकापरीणाहमग्रे च गुटकामुखम् ।
तन्मूले कर्णिके द्वे च कार्ये भागाच्चतुर्थकात् ।
योजयेतत्र बस्तिं च बन्धद्वयविधानतः ।
मृगाजशूकरगवां महिषस्यापि वा भवेत् ।
मूत्रकोषस्य बस्तिस्तु तदलाभेन चर्मजः ।
कषायरक्तः सुमृदुर्वस्तिः स्निग्धो दृढोहितः ।
व्रणवस्तेस्तु नेत्रं स्याच्छलक्ष्णमष्टांगुलोन्मितम् ।
मुग्दच्छिद्रं गृध्रपक्ष तलिका परिणाहि च ॥

शा० ३०७।-भाव प्र०

हि० व्या०—अग्निवेश के तृतीय प्रश्न बस्तिनेत्र का प्रमाण (लम्बाई) एवं आकृति कैसी होती है ? का उत्तर समझाते हुए महर्षि ने कहा कि छः वर्ष के बालक के लिए छः अंगुल लम्बा, बारह वर्ष के बालक के लिए आठ अंगुल लम्बा और बीस वर्ष के युवक के लिए बारह अंगुल लम्बा बस्तिनेत्र होना चाहिए । छः अंगुल की बस्तिनेत्र का छिद्र मूंग निकल जाने के लायक, आठ अंगुल की बस्तिनेत्र का छिद्र मटर निकल जाने के लायक और बारह अंगुल की बस्तिनेत्र का छिद्र छोटी बेर निकल जाने के लायक होनी चाहिए । नेत्र का छिद्र कपड़े की बत्ती से बन्द रखना चाहिए । मनुष्य की आयु के अनुसार (नेत्र) नली के ऊपर का भाग अंगूठे के समान मोटा तथा कानी अंगुली के समान नीचे का भाग होना चाहिए । बस्तिनेत्र सीधा गोपुच्छ के समान चढ़ाव-उतार युक्त एवं चिकना होना चाहिए । बस्तिनेत्र का अग्रभाग में एक गुटिका होनी चाहिए । बस्तिनेत्र में एक कर्णिका नली के चतुर्थांश भाग में आगे की ओर बनानी चाहिए और वस्पिुटक को बाँधने के लिए नेत्र के मूल भाग में दो कर्णिकाएँ बनानी चाहिए ।

आचार्य सुश्रुत के अनुसार बस्तिनेत्र की लम्बाई एक वर्ष के बालक के लिए छः अंगुल, आठ वर्ष के लिए आठ अंगुल और १६ वर्ष के लिए दश अंगुल होनी चाहिए । इनकी मुटाई क्रमशः एक वर्ष के लिए कनिष्ठिका अंगुल के समान, आठ वर्ष के लिए अनामिका अंगुल के समान होनी चाहिए । इनमें कर्णिका डेढ़ अंगुल, दो अंगुल एवं साढ़े तीन अंगुल दूरी पर बनानी चाहिए ।

इनका प्रवेश स्थल क्रमशः कंकपक्षी, श्येन और मोर के पंख की नाड़ी के समान बनाना चाहिए। इनका स्रोत (छिद्र) क्रमशः मूंग, उड़द और मटर के के दाने निकल जाने के लायक रखनी चाहिए। मध्यम आयु वालों में नेत्र और वस्ति का परिमाण रोगी के बल, वय और शरीर को देखकर उसके अनुसार बढ़ा लेना चाहिए।

पचीस वर्ष के ऊपर बस्तिनेत्र की लम्बाई १२ अंगुल, मूलभाग में अंगुष्ठ की मोटाई के समान, अग्रभाग में कनिष्ठिका अंगुल की मोटाई के समान, आगे से तीन अंगुल की दूरी पर कर्णिका, गीध के पंख की नाड़ी के तुल्य, बेर की गुठली के समान छिद्र वाली अथवा फुलाए गए मटर के प्रवेश योग्य होनी चाहिए। वस्ति को बांधने के लिए सभी प्रकार के नेत्रों के मूल में दो कर्णिकाएं होनी चाहिए। इन पर बस्ति का मुख बांध दिया जाता है।

आचार्य वाग्भट के अनुसार बस्तिनेत्र सीधा, चिकना गाय के पूंछ के समान मूलभाग में मोटा आगे से पतला, एवं मुख पर गुलिका (सुपारी) की आकृति वाला बनाना चाहिए। इस नेत्र की लम्बाई (रोगी की अपनी अंगुलि से) एक वर्ष से कम आयु वालों के लिए पांच अंगुल, एक वर्ष के लिए छः अंगुल, सात वर्ष की आयु वालों के लिए सात अंगुल, बारह वर्ष की आयु वालों के लिए आठ अंगुल, सोलह वर्ष की आयु वालों के लिए नौ अंगुल और बीस वर्ष की आयु वालों के लिए बारह अंगुल होना चाहिए।

व्रणस्थाने प्रयोज्यस्य बस्तिनेत्रस्य परिमाणम्।

व्रणनेत्रमष्टाङ्गुलं मुद्गवाहिस्रोतः; व्रणमवेक्ष्य यथास्वं स्नेहकषाये विदधीत।

सु० चि० अ० ३८।११

व्रणवस्तेतु नेत्रं स्यात्श्लक्ष्णमष्टाङ्गुलोन्मितम्।
मुद्गच्छिद्रं गृध्रपक्षनालिका परिणाहि च॥

भावप्र०॥

हि० व्या०—व्रणस्थान में बस्ति लेने के लिए नेत्र की लम्बाई आठ अंगुल, मूंग निकल जाने के लायक छिद्रयुक्त होना चाहिए। व्रण और दोषों के अनुसार स्नेह या क्वाथ की मात्रा का विचार कर प्रयोग किया जाता है।

उल्लिखित बस्तियन्त्रोपकरण विविधावयवानां प्राप्याभावे प्रतिनिधिवस्तु निर्देशः।

शास्त्र में बस्ति यंत्र के विविध नेत्र, पुटक, आदि अवयवों के लिए जिन धातु; चर्मादि का वर्णन किया है। उनके प्राप्त नहीं होने अथवा समयानुसार जिन वस्तुओं के द्वारा अभाव में इनका निर्माण किया जा सकता है, शास्त्रकारों ने उनका भी साथ ही उल्लेख कर दिया है ताकि चिकित्सक को कार्य

में सुविधा रहे एवं अभाव में धैर्य धारण करते हुए इनका समुचित उपयोग करायें यथा—

बस्तेरलाभे [1]प्लवजो गलो वा।
स्यादाङ्घ्रिपादः सुघनः पटो वा॥

च० सि० ३।१२ (क)

[2]औरभ्रः शौकरोवाऽपि बस्तिराजश्च पूजतः।
तदलाभे प्रयुञ्जीत गलचर्म तु पक्षिणाम्।
तस्यालाभे दृतेः पादो मृदुचर्म ततोऽपि वा॥

सु० चि० ३७।१०७

बस्त्यभावे प्लवनी जगलांकपादमधूच्छिष्टोपदिग्ध घनसूक्ष्मतान्तवान्यतम् निवेशयेत्। अ० सं० सू० २८।२१

बस्त्यभावेऽकपादं वा न्यसेद्वासोऽथवाधनम्।

अ० हृ० सू० १७।१४

नेत्रालाभे हिता नाडी नलवंशास्थिसंभवा।
बस्त्यलाभे हितं चर्म सूक्ष्मं वा तान्तवंधनम्॥

सु० चि० ३५।११ वंगसेन

हि० व्या०—यदि पशुओं की बस्ति (मूत्राशय) उपलब्ध न हो तो (पलव) जलचर पक्षिविशेष, बकरा एवं चमगादर के चर्म का वस्ति पुटक बनाकर उपयोग करना चाहिए अथवा मोटे वस्त्र का थैला बनाकर प्रयोग करना चाहिए।

बस्तिनेत्र के अभाव में नरकट, बांस, अथवा अस्ति की नलिका को व्यवमें लाना चाहिए।

बस्तियन्त्रोपादानभूतस्य जन्तुबस्तेः स्वच्छीकरणादिप्रकारः नेत्रे बन्धन प्रकारः सुरक्षा प्रकारश्च।

बस्तिं निरूपदिग्धं तु शुद्धं सुपरिमार्जितम्।
मृदनुद्धतहीनं च मुहुः स्नेहविमर्दितम्॥
नेत्रमूलं प्रतिष्ठाप्यन्युब्जं तु विवृताननम्।
बद्ध्वालोहेन तप्तेन चर्मलोतसि निर्वहेत्॥

---

१. प्लवज इति प्रसेवक गलः पक्षी='प्लव' इति ख्यातः।
अङ्घ्र पादश्चर्म चटकः तस्य चर्म ग्राह्यं बस्त्यर्थम्॥ चक्रपाणि।

२. औरभ्रो मेषस्य, शौकरो वन्यशूकरस्य, आजः छागस्य बस्तिः पूजितः। डल्हणः।

परिवर्त्य ततो वस्तिं बद्ध्वा गुप्तं निधापयेत् ।
आस्थापनं च तैलं च यथावत्तेन दापयेत् ॥

सु० चि० ३५।१५-१७

निरूपदिग्धं मांसाद्युपलेप वर्जितम् । शुद्धं कषायरञ्जितम् । सुपरिमार्जितं सुष्ठु निर्मार्जितम् । अनुद्धतहीनं नाधिकं न हीनम्; एतेनाधेयद्रव्यमानं समीक्ष्याधारभूतस्य बस्तेः प्रमाणं विधेयमित्यर्थः । प्रतिष्ठाप्य संयोज्य । न्युब्जम् अधोमुखम् । गोमहिषादिबस्तयो निरूहयन्त्रे । डल्हणः ।

नेत्रेत्यादि । प्रतिष्ठाप्य वैपरीत्येन स्थापयित्वा पश्चाद्भावे स्थापयित्वेति यावत् । स्रोतसि नेत्रस्रोतोऽवच्छेदे चर्म्म निर्देहेत् नेत्रानुसारि स्फुटशुषिरार्थमित्याकूतम् । परिवर्त्यान्तर्भागं वहिष्कर्तुमपवृत्य, वद्धा सूत्रेणेति शेषः । एवमुपदिष्टऽप्यर्वाचीनाः परिदृष्टकर्माणोभिषजोऽचिरन्तनैः पाश्चात्यभिषग्भिराविष्कृतमचिरन्तनम् "डुस" इत्यादि समाख्यं बस्तिजातमेवायद्य पयुयुक्षन्त्युपयोग सौकर्याद्वियापद्विनाकृतत्वाच्च । हाराण० ।

हि० व्या०—बस्ति मांसादि से रहित, शुद्ध, स्वच्छ कोमल, न बड़ी और न छोटी, जिसमें बार-बार तेल लगाया गया हो लेकर नेत्र की मूल में नीचे की ओर मुख रखकर बांधनी चाहिए । पुनः गरम किये गए लौहशलाका से चमड़े के छेद को जला देना चाहिए । पुनः बस्ति को (उल्टाकर) बांधकर सुरक्षित रखना चाहिए । इससे आस्थापन और स्नेहबस्ति देनी चाहिए ।

सामान्यतः सर्वविध रोग चिकित्सा प्रारम्भतः प्राक्विशेषतस्तु बस्तिचिकित्सा प्रारम्भतः प्राक् सम्यक् समीक्षणीय दोषादि दशकस्य निरूपणम् ।

समीक्ष्य दोषौषध देशकाल—
सात्म्याग्निसत्वौकवयोबलानि ।
बस्तिः प्रयुक्तो नियतं गुणाय—
स्यात् सर्वकर्माणि च सिद्धिमन्ति ॥

च० सि० ३।६०

समीक्ष्यतेत्यादि । अत्र दोषादयो ये दश परीक्षणीयाः प्रोक्तास्तेष्वेव उपकल्पनीयोक्तदोषभेषजाद्येकादशकस्य तथा रोगभिषग्जियोक्तदशपरीक्ष्यस्यावरोधो व्याख्येयः । अनुक्तावरोधश्चायं योनिव्यापत्तिक एवास्माभिरूक्तोऽनुसरणीयः; समीक्ष्येति ज्ञानपूर्वकमपेक्ष्यः । सर्वकर्माणि चेति वमनादीनि च दोषादीनपेक्ष्य प्रयुक्तानि गुणकराणि भवन्ति । चक्रपाणिः ।

एवं कालं बलं दोषं विकारं च विकारवित् ।
बस्तिद्रव्यबलं चैव वीक्ष्य बस्तीन् प्रयोजयेत् ॥

सु० चि० ३८।७१

एवं कालमित्यादि । काले शीतेषु तीक्ष्णः, उष्णेषु मृदुः, वसन्तशरदोः साधारणः, शीतोष्णयोर्मध्यः, एवं बले शक्तयुपचयलक्षणे श्रेष्ठे तीक्ष्णः, मध्ये मध्यः, कनिष्ठ मृदुः, कफवाते दोषेतीक्ष्यः, पित्तरक्ते मृदुः, कफपित्ते मध्यः; एवं विकारेऽपि; चकारस्यानुक्त समुच्चयार्थत्वात् क्रूरमध्यमृदुकोष्ठेष्वपि बोद्धव्यम् । डल्हणः ।

हि० व्या०—दोष, औषध, देश, काल, सात्म्य, अग्नि, सत्व, वय एवं बल इनकी विधिवत् परीक्षा करके दी गई बस्ति निश्चित रूप से लाभदायक होती है । तथा वमन विरेचनादि सभी कर्म सफल होते हैं ।

सामायन्तः बस्ति विधि

पूर्वमेव तु वैद्यो वर्त्यासुपिहिताग्रच्छिद्रं नेत्रं भाजनस्योपरिकृत्वा दक्षिणपादां गुष्ठांगुलिभ्यां कर्णिकाया उपरिष्टान्निपीड्याविबंधाय शताह्वा सैन्धवचूर्णाविचूर्णितं प्रागेव नेत्रस्पर्शात्पूर्वंवदभिमन्त्रितं यथार्हं यथार्होपिधविपक्वं सुखोष्णं वस्तौ स्नेहमासिच्याबलीकोच्छ्रासं निःसारितवातबुद्बुदौषधान्ते सूत्रेण द्विस्त्रिर्वा बस्तिमुखमावेष्ट्य दक्षिणापणौ नेत्रमुपनिधाय तिष्ठेत् । ततो घृताभ्यक्ते पायौ वामहस्तप्रदेशिन्याभ्यक्त प्रवेश प्रदेशमपनीतवर्त्युंत्तानवामहस्तांगुष्ठोदरपिहिताग्रं मध्यमाप्रदेशिन्युपगृहीतकर्णिकमृज्वनुपृष्ठवंशमनुसुखमेकमना लाघवेन निष्कम्पमद्रुतमविलम्बितं नेत्रमाकर्णिक प्रवेशयेत् । आतुरोऽपि तदनुलोमवलम्बेत । ततश्च वैद्यो बस्तिमुखं दक्षिणहस्तांगुष्ठप्रदेशिनीभ्यामुच्चन्नेत्रमचालयन् हस्तद्वयेनोत्तानेनैकग्रहणेनैवानिलाधिष्ठानभूतं किंचिदवशेषयन्न शनैरवेगमनुपीडयेत् । अन्यथा हिव्यापदो भवन्ति । अ० सं० सू० २८।३१

हि० व्या०—एक मोटे कपड़े की बत्ती से नेत्र के मुख को बन्द करके बस्ति को औषध पात्र के ऊपर पकड़कर दाहिने पैर की अंगुली और अंगुष्ठ से नेत्र के ऊपर की कर्णिका को दवाकर, (जिससे यह खुली रहे) बस्ति में सोया और सैंधव नमक का चूर्ण छिड़ककर रखना चाहिए । बस्ति द्रव को मन्त्रों से अभिमन्त्रित कर लेना चाहिए । बस्ति द्रव्य रोगानुसार औषधियों से पकाया हुआ हल्का गरम (गुनगुना) होना चाहिए । बस्ति में स्नेह (घी) लगाकर, दवाकर वायु के बुलबुलों को निकाल देना चाहिए । बस्ति के मुख को धागे से कसकर बांध देना चाहिए । नेत्र को दाहिने हाथ से पकड़कर, गुदा में घी लगाकर वामहस्त की अंगुली पर घी लगाकर गुदा में डालकर इसके साथ-साथ नेत्र की वर्ति को निकालकर नेत्र को बांएं अंगूठे से अगले छेद को बंद रखते हुए मध्यमा और प्रदेशिनी अंगुलि से कर्णिका को पकड़कर पृष्ठ वंश के साथ-साथ हस्त कुशलतापूर्वक, हाथ को बिना हिलाए नेत्र को कर्णिका तक गुदा में प्रविष्ट करना चाहिए । रोगी को भी शांतिपूर्वक बस्ति ग्रहण करना चाहिए । पश्चात् बस्ति के मुख को दक्षिण हाथ के अंगुष्ठ और प्रदेशिनी बिना

छोड़े नेत्र को बिना हिलाए दोनों हाथों की हथेली से एक ही क्रमसे थोड़ा सा द्रव वस्ति में शेष रखते हुए धीरे-धीरे बस्ति को दबाना चाहिए अन्यथा व्यापत् होने की संभावना रहती है।

सामान्यतः रात्रौ बस्ति निषेधः,

रात्रौ बस्तिं न दद्यात्तुदोषो ह्युत्क्लेशोहि रात्रिजः।
स्नेहवीर्ययुतः कुर्यादाध्मानं गौरवं ज्वरम् ॥

सु० चि० ३७

दोषात्क्लेश इति यस्माद्रात्रावाहारविदाहेन कालशैत्यात् स्रोतोमुखसंवृतत्वेन च दोषधातुमलेषु विक्लेदनलक्षण उत्क्लेशो भवति। अन्यत्राप्युक्तम्—"अविशुद्धे तु हृदये निशि क्लिन्नेषु धातुषु। विदग्धेऽन्नरसे स्रोतः सूपलिप्तेषु देहिनाम्। व्यापारेभ्यो निवृत्तानां दोषोत्क्लेषो भवेदिति"। डल्हणः।

दोषोत्क्लेश इति दोष शब्देनेह कफ एवाभिप्रेयते साधारण शब्द विशेषात्, वक्ष्यति हि "पित्तेधिके कफे क्षीणे" इत्यादि। तथा च दोषोत्क्लेशः कफस्यौत्क्लेणम्, उक्तमर्थं स्फोरयति स्नेह इति। वीर्य्ययुतः उष्णवीर्य्येणान्वितोऽपि स्नेहः प्रतिपक्षमूल माध्मानादिकं कुर्य्याद्, रात्रेः सौम्यादिव्याकृतम्। हाराणच०

हि० व्या०—रात्रि में वस्ति का प्रयोग नहीं करना चाहिए क्योंकि आहार जन्य विदाह से या समय की शीतलता से रात्रि में दोषों का उत्क्लेश होता है। वह उत्क्लेश स्नेह की शक्ति से संयुक्त होकर आध्मान, उदर में गुरुत्व तथा ज्वर आदि उपद्रव उत्पन्न करता है।

दिने एव बस्तिदाने कारण संकेतः।

अहिनस्थानस्थिते दोषे वह्नौ चान्नरसान्विते।
स्फुट स्रोतोमुखे देहे स्नेहौजः परिसर्यति ॥

सु० चि० ३७।४८

अह्नि दिवा। विवृत स्रोतोमुखे शरीरे, तथा स्थान स्थितेषु दोषेषु, तथा निःशेषपरिपक्वस्यान्नस्य रसेन वीर्येणाग्निसंवर्धितेनोपचिते पक्तुं समर्थे च वह्नौ, स्नेहवीर्यं, शरीरं परिसर्पति अनुक्रामति। डल्हणः।

हि० व्या०—दिन में दोषों के अपने स्थान में स्थित होने के कारण, शरीरस्थ स्रोतों के मुख खुले होने के कारण स्नेह का वीर्य सम्पूर्ण शरीर में फैल जाता है अतः वस्ति का प्रयोग दिन में करना चाहिए।

अवस्थाविशेषे (उष्णकाले) दिवा बस्ति प्रयोगे दोषाः।

उष्णे पित्ताधिके वाऽपि दिवा दाहादयो गदाः।
संभवन्ति यतस्तस्मात् प्रदोषे योजयेद्भिषक् ॥

सु० चि० ३७।५०

प्रदोषे योजयेद्भिषगिति वक्ष्यमाणवचनात्। कुतः पुनरुष्णकाले पित्तेऽधिके वा दिवा न देयमित्याह उष्ण इत्यादि। प्रदोषशब्दात् सन्ध्यापरनिशानिवृत्तिः। डल्हणः।

हि० व्या०—वातरोग से पीड़ित, रूक्षव्यक्तियों में, कफ के क्षीण होने पर और पित्ताधिक्य में ग्रीष्मऋतु होने पर रात्रि में भी अनुवासन देना चाहिए। ग्रीष्मकाल में या पित्ताधिक्य में दिन के समय अनुवासन देने पर दाह आदि रोग होते हैं। अतः रात्रि के प्रथम प्रहर में अनुवासन देना चाहिए।

बालकेषु बस्ति प्रयोग काले मतभेदाः।

जन्मप्रभृति बालानां बस्तिकर्मेपिकल्पयेत्।
इत्याह गार्ग्यो नेत्याह बालत्वादि (व) ति माठरः॥
मासेन शस्यते यावद् बालोहि स्यादवस्थितः।
अल्पान्तरत्वान्नेत्याह तमात्रेयः पुनर्वसुः।
चतुर्भास्योऽनुवास्य स्तु··· ··· ··· ···
··· प्राह स्तन्यक्षीरघृताशनात्।
ऊर्ध्वाधो बृंहमाणस्तु रोगैः संतर्पणोद्भवैः॥
कृच्छ्रसाध्यो भवेद्ग्रस्तस्तस्मात् संवत्सराद्धितम्।
तदा शक्यश्च शक्तश्च बालो व्रजति जल्पति॥
मति··· ··· ··· ··· ···।
··· ··· ··· न्नभुक्।
पाराशर्यस्तु नेत्याह तदा दुर्ललितो हि सः।
त्रिवर्षस्यैव तु हितं नेति भेलस्मवर्वीत्।
अल्पान्तरत्वाद्व्याघाताद्विभ्रमाणामसंसहात्।
षड्वर्ष प्रभृतीनां तु ··· ···।
··· ··· षु पक्षेषु सूल्मेष्वपि पुनः पुनः।
निश्चयार्थं ततः सर्वे कश्यपं पर्यचोदयन्।
अधस्तनोऽन्नभोक्ता च चयदावा··· ···।

का० सं० सि० १।

हि० व्या०···काश्यप संहिता (सिद्धिस्थान) में बालकों में वस्ति प्रयोग विषय पर एक संभाषा परिषद् की झलक मिलती है। उस संभाषा परिषद् में गार्ग्य, माठर, आत्रेय पुनर्वसु, पाराशर, भेल तथा काश्यप प्रभृति वैद्यों ने भाग लिया था। सर्वप्रथम गार्ग्य ने कहा—बालकों को जन्म से ही बस्ति दी जा सकती है। इसका विरोध करते हुए माठर ने कहा—यह ठीक नहीं है क्योंकि जन्म के समय बालक अत्यन्त छोटा होता है। एक मास की आयु के उपरान्त

बालकों को बस्ति देनी चाहिए। एक मास के बाद बालक स्थिर हो जाता है। आचार्य माठर की युक्ति को काटते हुए आत्रेय पुनर्वसु ने कहा यह ठीक नहीं है क्योंकि उस समय (एक मास के पश्चात्) बालक के आन्तरिक अवयव बहुत अल्प होते हैं। अतः चार मास की आयु के पश्चात् बालक को अनुवासन वस्ति देनी चाहिए। किसी अन्य आचार्य ने (जिनका नाम खंडित है) कहा कि माता के स्तनो का दूध एवं घृत के सेवन द्वारा, ऊर्ध्व एवं अधोमार्ग द्वारा बृंहण किए जाने पर संतर्पण जन्य रोगों से आक्रान्त होकर बालक कृच्छ्रसाध्य हो जाता है अतः एक वर्ष की आयु के पश्चात् वस्ति कर्म कराना चाहिए। एक वर्ष के पश्चात् बालक समर्थ एवं शक्तिमान् हो जाता है तथा वह चलने फिरने एवं बोलने लगता है। आचार्य पराशर ने कहा यह ठीक नहीं है क्योंकि उस समय बालक का पालन पोषण उचित नहीं होता है अतः तीन वर्ष के पश्चात् बालकों में बस्तिकर्म करना चाहिए।

आचार्य पाराशर का विरोध करते हुए आचार्य भेल ने कहा यह ठीक नहीं है क्योंकि उस समय तक बालक की आन्तरिक शक्ति अल्प होती है तथा वह व्याघातों एवं विभ्रमों को सहन करने में असमर्थ होते हैं। अतः छः वर्ष के बालकों को बस्तिकर्म कराना चाहिए। इस प्रकार बार-बार अत्यन्त सूक्ष्म-पक्षों (तर्कों) को उत्पन्न होने पर उन उपस्थित वैद्यों ने महर्षि कश्यप से निश्चित मत देने की प्रार्थना की। तदनन्तर महर्षि कश्यप ने निर्णय दिया कि जो बालक जमीन पर चलता फिरता हो तथा अन्न खाता हो अर्थात् जिसकी गोद की अवस्था व्यतीत हो गई हो उसे बस्तिकर्म कराना चाहिए।

बस्ति प्रयोग काल संख्या संकेतः तत्र कारणानि च।

एतेन विधिना बस्तीन् दद्यादेकान्तरं भिषक्।
अहन्यहनि बस्तीनां प्रणिधानं विनाशनम्॥
स्नेहो गुरुः स्वभावेन बहुत्वाद्ध··· ··· ···।
··· ··· ···च्छूल ज्वरोऽरुचिः।
आनाहाध्मानकृमयो विड्भेदः कुष्ठ संभवः।
अपस्मारजडत्वाद्यास्तस्मादेकान्तरं हितः॥ का० सं सि० १।

हि० व्या—इस विधि से (पूर्वोक्त विधि से) एक दिन छोड़कर बस्तियाँ देदी चाहिए। प्रतिदिन वस्ति का प्रयोग अहितकर होता है क्योंकि स्वाभाविक रूप से स्नेह अति गुरु होता है। प्रतिदिन अनुवासन करने से स्नेह का पाचन नहीं होता और शूल, ज्वर, अरुचि, आनाह, आध्मान, कृमि, अतिसार, कुष्ठ अपस्मार तथा जड़त्व आदि रोग (उपद्रव) उत्पन्न हो जाते हैं। अतः एक दिन छोड़कर ही बस्ति देनी चाहिए।

अवस्था विशेषे बस्ति निषेधः।

एकान्तरमपि प्राप्ते बस्तौ देये शरीरिणाम्।
न देयो धातु वैषम्ये धातूनेव स सादयेत्॥ का० सं० सि० १।

हि० व्या०—एक दिन छोड़कर बस्ति देना चाहिए और ध्यान रखना चाहिए कि रोगी की धातुयें समावस्था में हों धातुओं की विषमता होने पर दिया गया अनुवासन धातुओं को ही नष्ट कर देता है।

सामान्यतः बस्ति मर्यादा सूचनम्।

पक्षाद्विरेको वान्तस्य ततश्चापि निरूहणम्।
सद्यो निरूढोऽनुवास्यः सप्तरात्राद्विरेचितः॥ सु० चि० ३६।५१

इदानी पञ्चानां कर्मणां क्रमेण क्रियमाणानां यतो यतो यद्यद्यावता कालेन करणीयं तत्तदुपदिशन्नाह—पक्षादित्यादि। सम्यग्योगेन वान्तस्य पुरुषस्य विरेचनं पक्षान्नार्वाङ्नापि परतः; तत्रार्वाक् क्रियमाणं पुरुषानलबलयोरबलत्वाद् व्यापदमावहति, अतिपरतः पुनः स्नेहस्वेदादिगुणोऽन्तरितः स्यात्; तस्मात् पक्षादेव वान्तो विरेचनीयः। तत्र प्रधानशुद्धिमपेक्ष्यान्न संसर्गेण दिनानि षडतिक्रम्य मधुरादि रससंसर्गमाचरेत्। स्नेहपानेनापि दिनानि षडतिक्रमेत्। ततः स्वेदं समाचरन् लघूष्णं भुज्यमानस्त्रयहं स्थितश्चतुर्थेऽहनि विरेकं कुर्यात्। ततस्तस्माद्विरेकादसंसर्गेण दिनानि षडतिक्रम्यान्तरं मधुरादि संसर्गं समाचरन् सप्तरात्राद्विरेचित इति वाक्यादष्टमादिवसेष्वनुवासनानि यथादोषं विदध्यात्। ततः षोडशेऽन्हि स्नेहाभ्यक्तः स्वेदितश्चास्थापनं सेवेत्। गदयासस्तु चरकाचार्याभिप्रायेण विरेचनादूर्ध्वं षडहं कृतान्न संसर्गस्यावस्था विशेषेण स्नेहपानमनुवासनं च द्वयमपि मन्यते। तथा चचरक चार्यवचनम्—संसृष्टभक्तं नवमेऽह्नि सर्पिस्तं पाययेताप्यनुवासयेद्वा"—(च० सि० अ० १)इति। तत्र विरेचनादूर्ध्वमन्नसंसर्गेण दिनानि षट्, ततो मधुरादिरससंसर्गमाचरेत्, स्नेहपानेनापि दिनानि षडतिक्रामेत्, ततो दिनत्रयं लघूष्णं भुञ्जानश्चतुर्थेऽहनि स्नेहाभ्यक्तः स्वेदितश्चास्थापनं सेवेत। स्नेहपानपूर्वकस्यानुवासनपूर्वकस्य चास्थापनस्यावस्था गयदासेन दर्शिताः; यथा हीनविरिक्तस्यावशिष्टपरिपक्वामसंचयावृते वायौ स्नेहपानपूर्वकमास्थापनं क्वचिद्व्याध्यवस्थावशात् प्राक् स्नेहविरेचितस्यास्थापनमिति। निरूढः पुरुष सद्य एव तद्दिवसे एवानुवास्यः। एतेन दत्तनिरूहो यथोक्तं भोजयित्वाऽऽर्द्रपाणिरेवानुवास्यः। विरेचितस्तु सप्तरात्रात् परतोऽनुवास्यो नार्वाक् उक्तं हि—"विरेचनात् सप्तरात्रे गते जातबलाय वै। कृतान्नायानुवास्याय सम्यग्देयोऽनुवासनः" (चि० अ० १८) इति। केचिदन्यादृशं व्याख्यानं कुर्वन्ति; तच्च गवदासाचार्येण बहुधा दूषितत्वादस्माभिरप्युपेक्षितम् डल्हणः।

टि०—सु० चि० अ० ३६।५१, अ० सं० सू० २८।७६, अ० हृ० सू० १९।७१

हि० व्या०—उचित रूप से वमन करा देने के १५ दिन पश्चात् विरेचन तथा इसके बाद निरूहण का प्रयोग कराना चाहिए। निरूहण कराये हुए व्यक्ति को शीघ्र अनुवासन देना चाहिए किन्तु विरेचन के पश्चात् अनुवासान कराना हो तो सात दिन के पश्चात् अनुवासन कराना चाहिए।

सु० चि० अ० ३६।५१, अ० सं० सू० २८।७६, अ० हृ० सू० १९।७१ वंगसेने पाठ समानम्।

आवश्यकतानुसारं शीतोष्ण बस्ति प्रयोग संकेतः।

उष्णा[1]भिभूतेषु वदन्ति शीता-
ञ्छीताभिभूतेषु तथा सुखोष्णान्।
तत्प्रत्यनीकौषधसंप्रयुक्तान्
सर्वत्र वस्तीन् प्रविभज्य युञ्ज्यात्॥ च० सि० १।३५ वंगसेन।

उष्णार्तानां शीताञ्छातार्तानां तथा सुखोष्णांश्च।
यद्यो[2]ग्यौषधयुक्तान् बस्तीन् संतर्प्य विनियुञ्ज्यात्॥
च० सि० १०।१०, अ० हृ० क० ४।७०

हि० व्या०—अग्निवेश के छठे प्रश्न किन व्यक्तियों में कौनसी वस्ति दी जाय (केषु कश्च वस्तिः ?) का उत्तर समझाते हुए आचार्य ने कहा कि गर्मी के कारण आर्त रोगियों में शीतल द्रव्यों के द्वारा कल्पित शीतलवस्ति का प्रयोग करना चाहिए तथा शीत से आर्त रोगियों में उष्ण द्रव्यों द्वारा कल्पित उष्ण (सुखोष्ण) वस्तियों का प्रयोग करना चाहिए। दोषों के विपरीत गुणयुक्तद्रव्यों से वस्ति की कल्पना कर प्रयोग करना चाहिए। इस तरह सभी जगह विभाग कर प्रयोग करना चाहिए।

विशेषार्थ यह है कि स्निग्धद्रव्यों से आर्त रोगी को रूक्ष बस्ति, रूक्षद्रव्यों के सेवन से आर्त रोगी को स्निग्ध बस्ति, गुरुद्रव्यों के सेवन से आर्त रोगी को लघु वस्ति, तथा लघु बस्ति से पीडित रोगी को गुरुद्रव्य से कल्पित वस्ति देनी चाहिए। इसी आशय को आचार्य ने पुनः सिद्धिस्थान के दशवें अध्याय में उद्धृत किया है। अष्टाङ्गहृदय तथा वंगसेन में समान पाठ का उल्लेख किया गया है।

---

१. उष्णाभिभूते तथा शीताभिभूत इति वक्तव्ये, येन 'सर्वत्र' इति करोति, तेन स्निग्धरूक्षगुरुलघ्वभिभूतेऽपि तद्विपरीतौषधसम्पादितो बस्तिर्देय इति दर्शयति। चक्रपाणिः।

२. तद्योग्यौषधयुक्तानीति उष्णार्तिहरेण शीतार्तिहरेण वा औषधेन कल्पितान्। चक्रपाणिः।

दोषानुसारं उष्ण, शीत, तीक्ष्णबस्ति प्रयोग संकेतः।

वाते समांशः स्निग्धोष्णो निरूहः पानतैलिकः।
षड्भागस्नैहिको पित्ते सक्षीरौ स्वादुशीतलौ॥
त्रयः समूत्रास्तीक्ष्णोष्णः श्लेष्मण्यष्टाङ्गतैलिकाः।
सकृत प्रणिहितो वातमाशयस्थं निरस्यति।
सपित्तं सकफं द्विस्त्रिस्त ऊर्ध्वं न शस्यते॥ का०खि० ८।१८-२०

हि० व्या०—वातजन्य रोगों में समभाग तेल मिलाकर स्निग्धोष्ण एक वस्ति देनी चाहिए। पित्तजन्य रोगों में छः भाग तेल तथा दूध के द्वारा स्वादु तथा शीतल करके दो वस्तियां देनी चाहिए। कफज रोगो में आठ भाग तेल तथा गोमूत्र मिलाकर तीक्ष्ण तथा उष्ण वस्तियां देनी चाहिए। वातज रोगों में एक वस्ति आशयों में से वातदोष को निकाल देती हैं। पित्तज रोगों में दो तथा कफजन्य रोगो में तीन वस्तियां देनी चाहिए। इससे अधिक वस्तियों का निषेध किया गया है।

बस्तेर्हीनातिमात्रा निषेधः।

हीनामात्रावुभौ बस्ति नातिकार्यकरौ स्मृतौ।
अतिमात्रौ तथाऽऽनाह क्लमातीसारकारकौ॥
शा० सि० ३०५।१९

उभौ अनुवासननिरूहाख्यौ हीनमात्रौ मात्राल्पौ अतिकार्यकरौ न। अतिमात्रौ तौ क्लमातीसारकारकौ भवतः मात्राया वस्तेर्बहुफलत्वात्। काशीराम।

हि० व्या—निरूह एवं अनुवासनवस्ति हीनमात्रा में प्रयोग करने पर कार्यकर नहीं होती है। अति मात्रा में प्रयोग करने पर आनाह, क्लम, अतिसार आदि उपद्रव उत्पन्न करते हैं।

बस्ति मंद प्रयोग दोषाः।

न भावयति मंदस्तु बाह्यत्वाशु निवर्तते।
स्नेहस्तत्र पुनः सम्यक् प्रायेणः सिद्धिमिच्छता॥
च० सि० ५।१७, अ० सं० का० ७।३०

शनैः प्रपीडितो बस्तिः पक्वाधानं न गच्छति।
न च संपादयत्यर्थं तस्माद्युक्तं प्रपीडयेत्॥ सु०चि० ३६।१४

शनैः प्रपीडितो मन्दपीडतः। अर्थं न सम्पादयति कार्यं न करोति। डल्हणः।

हि०व्या०—मंद वेग से बस्ति देने पर हानि—यदि मंद वेग (दबाव) से बस्ति की औषधि प्रविष्ट करायी जाय तो वह पक्वाशय तक नहीं पहुंच पाती अतः पक्वाशय को भावित(आप्यायित) नहीं करती तथा शीघ्र वापस आ जाती

है। अतः चिकित्सा में सफलता चाहने वाले वैद्य को पुनः उचित रूप से बस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

सत्त्व भेदानुसारं तीक्ष्ण, मध्य, मृदुबस्ति प्रयोग संकेतः।

नरस्योत्तमसत्त्वस्य तीक्ष्णं बस्तिं निधाययेत्।
मध्यमं मध्यसत्त्वस्य [1]विपरीतस्य वै मृदुम् ॥

सु० चि० ३८।६०

मृदुमध्यमतीक्ष्णेषु रोगेषु कुशलो भिषक्।
मृदुमध्यमतीक्ष्णं च बस्तिकर्म च कारयेत् ॥

भे० सि० ५।२६

हि० व्या०—उत्तम सत्त्व युक्त मनुष्य में तीक्ष्ण बस्ति का प्रयोग करना चाहिए, मध्यमसत्व वाले व्यक्ति में मध्यम और हीन सत्व युक्त व्यक्तियों में मृदु बस्ति का प्रयोग करना चाहिए। आचार्य भेल ने भी इसी आशय को उद्धृत किया है।

मृदुतीक्ष्णबस्ति प्रयोगे सावधानता सूचनम्।

मृदुबस्ति जडीभूते तीक्ष्णोऽन्यो बस्तिरिष्यते।
तीक्ष्णैर्विकर्षिते स्निग्धो मधुरः शिशरो मृदुः ॥

अ० सं० क० ४।४८
अ० हृ० क० ४।६७६८

मृदुश्चासौ बस्तिश्च मृदुबस्तिर्मधुरस्निग्धशीतलात्मकत्वान्मृदु बस्तिश्चासौ जडीभूतश्च मृदुबस्तिजडीभूतः कोष्ठाद्बहिर्निःसरणात्कोष्ठ एवावस्थितं कृत्वा स्थितस्तस्मिंस्तथाभूतेऽन्यो बस्तितीक्ष्णः शस्यते। तीक्ष्णैर्मूत्रादिनिष्पादितैर्बस्तिभिर्विकर्षिते कोष्ठे सति स्निग्धादि गुणो बस्तिरिष्यते।

अरुणदत्तः।

मृदुना बस्तिना जडीभूते अप्रवर्तमाने दोषे देहे तत्कालमप्यस्तीक्ष्णो बस्तिरिष्यते। तीक्ष्णैश्च बस्तिभिर्विकर्षिते देहे स्निग्धमधुरादि गुणो बस्तिः।

इन्दुः।

हि० व्या०—कदाचित् बस्तिद्रव्य मृदु (हीनवीर्य) होने के कारण स्तम्भित (जड़) हो जाय (बस्तिद्रव्य बाहर न निकले) तो तत्काल तीक्ष्ण बस्ति देना चाहिए। बस्तिद्रव्य तीक्ष्ण होने के कारण मलों का अधिक निःसारण हो जाय तो स्निग्ध, मधुर, शीतल तथा मृदु द्रव्यों से कल्पित बस्ति का तत्काल प्रयोग करना चाहिए।

---

१. विपरीतस्य हीनसत्त्वस्येत्यर्थः। डल्हणः।

बस्तिप्रयोगे मृदुद्रव्याणां तीक्ष्णद्रव्याणां च यथावश्यकं प्रयोग संकेतः।

तीक्ष्णत्वं मूत्रपील्वग्निलवणक्षारसर्षपैः।
प्राप्तकालं विधातव्यं क्षीराद्यैर्मार्दवं तथा ॥

च० सि० ७।६३, अ० सं० क० ४।४६, अ० हृ० क० ४।६८

संप्रति तत्र तत्र बस्तीनां मृदुत्वं तीक्ष्णत्वं च विहितं; तेन तद्विज्ञानार्थं मार्दवतीक्ष्णत्वकारकद्रव्यगणमाहतीक्ष्णत्वमित्यादि। पीलुरौत्तरापथिकं फलं; पीलुस्थाने केचिद् बिल्वं पठन्ति। प्राप्तकालमित्युक्तावस्थम्।

चक्रपाणिः।

हि० व्या०—मृदु या तीक्ष्णबस्ति—गोमूत्र में पीलू, चित्रक, सैंधव नमक यवक्षार और सरसों का कल्क मिलाकर बस्ति देने पर वह तीक्ष्ण हो जाती है। दूध में तथा मधुरद्रव्य एवं शीतलद्रव्य मिलाकर बस्ति देने पर मृदु होती है। चिकित्सक को आवश्यकतानुसार मृदु या तीक्ष्ण बस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

केवलं अनुवासनस्य केवलं निरुहस्य वा प्रयोग निषेधे युक्तिः।

स्नेहबस्तिं निरुहं वा नैकमेवातिशीलयेत्।
उत्क्लेशाग्निबधौ स्नेहान्निरुहात् पवनाद्भयम् ॥
तस्मान्निरूढः संस्नेह्यो निरूहश्चानुवासितः।
स्नेहशोधनयुक्त्यैवं बस्तिकर्म त्रिदोषनुत् ॥

च० सि० ४।५०।५१-५१, सु० चि० ३७।७७-७८,
अ० सं सू० २८।५८-५९, अ० हृ० सू० १९।५६-५७

चक्रदत्त, वंगसेन

निरूहणानुवासनयोः परस्परव्यवधानदाने दोषमाह-स्नेहबस्तिं निरुहं वेत्यादि एकमेवेति परस्परानन्तरितम्। उत्क्लेशः कफपित्तोत्क्लेशः। निरुहात् पवनाद्भयमिति निरन्तरनिरूहेण शरीरस्य शोधनातियोगात् पवनाद्भयं भवति। निरूढः संस्नेह्य इति निरूहेण स्रोतःसु शोधितेषु कफपित्तजन्येकृते स्नेहबस्तिरभ्यस्यः; तथानुवासितश्च सम्यगनुवासनेन हि स्निग्धः सन्निरूह्य एव। एवं प्रयुज्यमान स्नेह निरूहयोस्त्रिदोषहन्तृत्वं स्नेहेन वातजयान्निरूहेण कफपित्तजयाद्भवतीत्याह-स्नेहशोधनेत्यादि। शोधनमिहनिरूहोऽभिप्रेतः।

चक्रपाणिः।

आस्थापनानुवासनं तु खलु सर्वोपक्रमेभ्यो वाते प्रधानतमं मन्यन्त इति कृत्वा अन्यतरस्यापि प्रसङ्गस्यादिति। अन्यतरैकान्तिकशीलनप्रतिषेधार्थमस्नेहजीर्णनिरूहदानानन्तरमपि तावदनुवासनस्य प्रसङ्गः। निरूहस्य तु कथम्। कर्मणां वमनादीनां पुनरप्यन्तरान्तरा स्नेहस्वेदौ प्रयुञ्जीत् स्नेहं चान्तेषु योजयेदिति। तं पाययेताप्यनुवासयेद्वा निरूहं दद्यात्त्र्यहादिति त्र्यहे त्र्यहे वाऽप्य-

थपञ्चमे वा दद्यान्निरूहादनुवासनं त्विति वचनात् निरूहैकान्तदानदोषादेवमुक्त मित्येके। विधिरेवायमितीह प्रतिपादितः। अनुवासनादास्थापनमास्थापनादनु वासनमिष्यत इति वा कर्मकालयोगादिबस्तिशीलनप्रसंगवच्छोधनबस्ति प्रसंग स्यानन्तरस्यापि स्यादप्रतिषेधः। एवं च कृत्वा वक्ष्यति—'स्नेहशोधनयुक्तयैवं बस्तिकर्म त्रिदोषनुत।' इति अन्ये पूर्वविध्ययनपेक्षत्वाद्यापनबस्ति समेतस्य निषेधः स्यात्। ज्वरस्सातिसारश्च यापनात्यर्थं सेवनादिति वचनात्। पवन प्रकोपभयं चैतन्निमित्तमेवेति। उभयोरपि विरोधः इत्यपरे। एकाधिकारेण बस्तिप्रयोगनिषेधोऽयम् यदा बस्तियस्य प्रधानता तदा एकाहान्तरे, बस्तिरिति सत्तामात्रेण वा द्वयोरन्योन्यव्यवधानाभाव एव तेन प्रसगः। तस्मात् प्रतिषेधोऽय मिति केचित्। उत्क्लेशाग्निवधौ स्नेहात्। अनुवासने शीत्यमाने उत्क्लेशः कफ प्रसेकः। अग्निवधो मन्दाग्निता। निरूहात् पवनाद्भयंयत् अपतर्पणात् प्रमाणमब्रुवन वातकोपः कदाचि द्भवति। वातप्रकोपकृतं तु नित्य-मिति दोषप्रसंगपरिहारार्थम्। तस्मान्निरूढः स्नेह्यः स्नेहशोधनशब्दा-भ्यामनुवासनं निरूहणं चाह। तदेवमुभयमपि युक्तया कर्तव्यम्। क्रियमाणं बस्तिकर्म त्रिदोषनुद्भवति। नान्यथेति। वस्तिर्वातहरा णामिति। दोषत्रयप्रशमनमधिकृतं स्यात्। उक्तया त्रिदोषहरं स्नेहेन हि श्लेष्मा भवति। तस्मादुत्क्लेशाग्निवधात् कफः कुप्यति तथा निरूहेणापि वायु स्तस्मात् पवनभयमिति। बस्तेरेव द्रव्यसंयोगविशेषः। संयोगसामर्थ्यात् संसृष्ट दोषप्रशमनाद्वेत्यदोषः। जज्जटः।

हि० व्या०—अनुवासन तथा निरूह (किसी एक का) बस्ति का निरन्तर अति प्रयोग हानिकारक—स्नेहबस्ति तथा निरूहबस्ति में से किसी एक बस्ति का अति प्रयोग नहीं करना चाहिए क्योंकि अधिक स्नेहबस्ति के प्रयोग से उत्क्लेश तथा जठराग्नि का नाश होता है। निरूहबस्ति के अधिक प्रयोग से वातजन्य रोग हो सकता है। अतः निरूह के पश्चात् अनुवासन और अनुवासन के पश्चात् निरूहबस्ति का प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार युक्ति पूर्वक स्नेहन और शोधन (अनुवासन-निरूह) कर्म त्रिदोष नाशक है। चरक संहिता के इस विचार को अन्य आचार्यों ने भी अनुकरण किया है।

पश्चात् कर्म वर्णनम्—

कालस्तु बस्त्यादिषु यावां।
स्तावान् भवेद्विः परिहारकालः॥ च० सि० अ० १।

कृते कियान् वा परिहार कालः, इत्यस्यतोत्तरमाहकालस्तित्वत्यादि। तावान् भवेद्विद्वः परिहारकाल इति बस्त्यादि प्रयोगे यावान् कालो व्याप्यते, ततः कालाद्द्वियुणं कालं यावत् परिहार्यत्वेनोक्तं परिहर्तव्यम्। अत्र आदि शब्देन वमन विरेचन शिरोविरेचनानां ग्रहणम्। बस्तेस्त्वादौ व्युत्पादनेन प्राधान्यं दर्शयति।

चक्रपाणिः।

हि० व्या०—अग्निवेश के सातवें प्रश्न का उत्तर समझाते हुए आचार्य ने कहा कि बस्ति आदि कर्मों में जितना समय लगता है उससे दूने समय तक नियमपूर्वक पथ्यपालन करना चाहिए। यहां चक्रपाणि के अनुसार वमन-विरेचन-निरूह, अनुवासन-नस्य इन पांचों कर्मों में यह नियम अभिप्रेत है।

वमनाद्यैर्विशुद्धं च क्षामदेहबलानलम्।
यथाण्डं तरुणं पूर्णं तैलपात्रं यथा तथा॥
भिषक् प्रयत्नतो रक्षेत्सर्वस्मादपवादतः।
दद्यान्मधुरहृद्यानि ततोम्ललवणौ रसौ॥
स्वादुतिक्तौ ततो भूयः कषायकटुकौ ततः।

अ० हृ० क० ५।ण१-५३

वमनविरेकाद्यैश्च विशुद्धं क्षामदेहं क्षामबलं क्षामानलं च पुरुषं वैद्यः प्रयत्नेन सर्वस्मादेवापवादाद्रक्षेत्। किमिव यथा तरुणमभिनयं कृतमंड यथातैलपूर्ण पात्र रक्ष्यते तथा यत्नेन रक्षेत्। स्वादु तिक्तौ ततो भूयः कषायकटुकौ ततस्तस्मिन् मधुरहृद्यानि दद्यात्। अनंतरमम्ललवणौ रसौ ततः स्वादुतिक्तरसौ ततः कषायकटुकौ रसौ दद्यात्। अरुणदत्तः।

हि० व्या०—वमन-विरेचन तथा बस्तिकर्म के पश्चात् व्यक्ति का शरीर विशुद्ध हो जाता है। बल एवं अग्नि क्षीण हो जाती है। अतः कच्चे अण्डे एवं तैलपूर्ण भाण्ड की यरह सावधानी से उसकी रक्षा करनी चाहिए। इस प्रकार सावधान वैद्य सभी प्रकार की निन्दाओं से बचा रहता है। उस व्यक्ति को पहले मधुररसयुक्त एवं हृदय का बल बढ़ाने वाला रुचिकर आहार देना चाहिए। तत्पश्चात् अम्ल एवं लवण रस, मधुर एवं तिक्त, और पुनः तिक्त-कषाय एवं कटु रस युक्त आहार क्रमशः देना चाहिए। प्रतिकूल रसों तथा स्निग्ध एवं रूक्ष आहारों का परिवर्तन पूर्वक उपयोग करके प्राकृतिक आहार पर लाना चाहिए।

बस्तिप्रयोग कालिक विड्वातोपक्रमे पुनर्बस्ति प्रयोगः तथा बस्तिप्रयोगोत्तरं उत्तानदेह स्थिति प्रयोजनं च।

विड्वातवेगो यदि चार्धदत्ते
निष्कृष्य मुक्ते प्रणयेदशेषम्।
उत्तान देहश्च कृतोपधानः
स्याद्वीर्यमाप्नोति तथाऽस्य देहः॥

च० सि० ३।२५-२६

विड्वातेत्यादि। निष्कृष्य मुक्त इति नलिकामाकृष्य विड्वातवेगे मुक्ते। दत्ते तु बस्तौ उत्तानदेहः कृतोपधानश्च स्यात् एतत्करण् प्रयोजनमाह-वीर्यमाप्नोतीत्यादि।

चक्रपाणिः।

विघातवेगो यदि वार्धदत्ते तदा बस्तेः निष्कृष्य नेत्रं मुक्ते तस्तिन्वातपुरीष-वेगे शेषं प्रणयेदिति । उत्तानदेहश्च कृतोपधानश्चेति । उत्तानदेहस्यादिति सम्बन्धः शरीरयन्त्रणा वगमादुत्तानदेहस्य विस्रब्धत्वात् । सामर्थ्यमुपजायते । तच्च वीर्यं निरूहबस्त्यादिजनितं नियमार्थम् । जज्जटः ।

हि० व्या०—अपान वायु के प्रकोप पर वस्तिविधि— आधी औषध गुदा में प्रविष्ट कराने के पश्चात् यदि तत्काल अपान वायु का वेग उत्पन्न हो जाय तो नली को गुदामार्ग से निकाल लेना चाहिए । रोगी के मल या अपान वायु त्यागने के पश्चात् शेष औषध पुनः प्रविष्ट कराना चाहिए । जब वस्ति का द्रव्य पूर्णरूप से अन्दर चला जाय तो रोगी को उत्तान सुला देना चाहिए । शिर के नीचे तकिया लगा देना चाहिए । इससे वस्ति का वीर्य (शक्ति) सम्पूर्ण शरीर में पहुंच जाता है ।

क्वचित्स्नेह प्रयोगेऽपि वातविकारवृद्धि कारण संकेतः ।

मेदः कफाभ्यामनिलो निरूद्धः
शूलाङ्गसुप्तिश्वयथून करोति ।
स्नेहं तु युञ्जन्नबुधस्तु तस्मं
संवर्धयत्येव हि तान् विकारान् ॥ च० सि० १।५७-५८

मेदसा कफेन वेति मेदः कफाभ्याम् । अत्र शूलादीन्निरीक्ष्य शुद्ध वातभ्रान्त्या स्नेहं प्रयुंक्ते, नावरणं जानाति, अतएव "अवृधः" इति कृतम् । अन्यत्राप्युक्तम् —"कुपिते मार्ग संरोधान्मेदसा वा कफेन वा अति वृद्धेऽनिले नादौ शस्तं स्नेहेन बृंहणम्—" इति । चक्रपाणिः ।

हि० व्या०—मेद और कफ से अवरुद्ध वायु शूल, अङ्गों में संज्ञा हीनता एवं शोथ रोग उत्पन्न करती है । ऐसी अवस्था में यदि स्नेह का प्रयोग किया जाय तो रोग बढ़ जाता है साथ ही जिन रोगों की कल्पना भी नहीं की जा सकती ऐसे दूसरे रोग उत्पन्न हो जाता है । परस्पर एक दूसरे के मार्ग को अवरुद्ध किए हुए यह रोग प्रायः दुर्जय होते हैं । पुनः रक्तादि अन्य धातुओं को दूषित कर ऐसे रोग उत्पन्न करते हैं जो अपनी चिकित्सा से शान्त नहीं होते ।

पुनरपि प्रयोज्य वस्ति संकेतः ।

स्वयं निवृत्ते तु पूर्ववद् द्वितीयं तृतीयं च दद्याद्यावद्वा सुनिरूढः तत्राद्योऽनिलं स्वमार्गादपकर्षति द्वितीयः पित्तं तृतीय श्लेष्माणमिति । अ० सं० सु० २८।४४

स्वयं ग्रहणं यत्राप्रवर्तमानं यत्नेनानीतं तत्र तदहः पुनः प्रयोग प्रतिषेधार्थम् । प्रथमे बस्तावागते द्वितीयो देयः । द्वितीये तृतीयः । तृतीये आगते चतुर्थः । यावद्वा सम्यङ्निरूढलक्षणानि वक्ष्यमाणान्युत्पन्नानि । तेन कदाचिदेकः । कदाचिद् बहवोऽपि । तत्र वस्तिस्तु मध्ये य आद्यो बस्तिः स वातमेव सुतरामपकर्षति तस्यापकृष्टत्वात् । द्वितीयः पित्तजयाय कल्पते ततोऽवशिष्टं श्लेष्माणं तृतीयो

नाशयतियत्र च दोषा एवं नापकृष्टाः संयोगादिवशात् तत्र चतुर्थादीनां विषयः । इन्दुः ॥

हि० व्या०—स्वाभाविकरूप से बस्तिद्रव्य वापस आ जाने पर दूसरी, तीसरी और चौथी निरूहवस्ति देनी चाहिए । अथवा पूर्ण रूप से निरूहण होने तक वस्ति देनी चाहिए । प्रथम वस्ति वायु को अपने मार्ग से खीचती हैं, दूसरी वस्ति पित्त को और तीसरी वस्ति कफ को नष्ट करती है । इन बस्तियों से दोष का शमन न होने पर चौथी या अधिक वस्ति प्रयोग करनी चाहिए ।

सम्यक् बस्ति प्रयोग सामान्य लक्षणानि ।

नाभि प्रदेशं कटिपार्श्वकुक्षि
गत्वा शकृद्दोषचयं विलोड्य ।
संस्नेह्य कायं सपुरीषदोषः
सम्यक् सुखेनैति च यः स बस्ति ॥

च० सि० १।४०-४१

तत्र बस्तेः कृताकृतलक्षणानि क्रमेणाह-नाभीत्यादि । विलोड्येति संक्षोभ्य । संस्नेह्य कायमिति वीर्यरूपेण सारेण कायं व्याप्य, उक्तं हि—"वीर्येणबस्तिरादत्ते दोषानापादमस्तकात्" (सु० चि० ३५) इति । स्नेह शब्देन च सारोऽभिधीयते; यथा—"देहःस्नेहपरिक्षयात्" इति । सम्यगिति निरवशेषेण । सुखेनेति विकार-मकृत्वा । चक्रपाणिः ।

विविक्ता मनस्तुष्टिः स्निग्धता व्याधिनिग्रहः ।
आस्थापनस्नेहबस्त्योः सम्यग्दाने तु लक्षणम् ॥

सु० चि० ३८।१४

इदानीं सान्वासनास्थापनस्य सम्यग्दत्तस्य लक्षणमाह-विविक्ततेत्यादि । विविक्तता सम्यग्पृथगवधारणं, मानस एवेन्द्रियार्थेषु सम्यगवधारणसामर्थ्यं, रसादि धातुवहस्रोतसामनावृतत्वं वा विविक्तता । डल्हणः ।

विविक्तता पवित्रता ग्लानिरहितेति यावत् । हाराणचन्द्र० ।

हि० व्या०—नाभिप्रदेश, कटि, पार्श्व एवं उदर में जाकर मल और दोषों के संचय को विलोडित कर, शरीर को स्निग्ध कर मल और दोषों से संयुक्त होकर जो सुखपूर्वक वापस चली आती है उसे वस्ति कहते हैं ।

आचार्य सुश्रुत के अनुसार निरूह और अनुवासन वस्ति के सम्यक् (विधिवत् प्रयोग होने पर अवधारण शक्ति (विवेक), मन की प्रसन्नता, शरीर की स्निग्धता और रोग की शान्ति होती है ।

बस्त्ययोगलक्षणानि

तस्य हीन सम्यगति योगास्तु विरिक्तवत् ।

अ० सं० सू० २८।४५

··· ··· ··· गुदे मलाभिभूते गुदे समुपस्थितानिले वोपस्थितपुरीषे वा संस्थित श्लेष्मणि वा नेत्रे वा जिह्वे शिथिलवत्यवपीडिते न स्नेहः पक्वाशयमनुप्राप्नोति । तमयोगं विद्यात् । का० सं० सि० ६।३

अयोगश्चातियोगश्च निरूहस्य विरिक्तवत् । चक्रदत्तः ।

हि० व्या० —वस्ति के हीनयोग, सम्यग्योग और अतियोग विरेचन प्रकरण के समान है ।

आचार्य काश्यप के अनुसार जब गुदा मल से युक्त हो या गुदा में मल भरा हुआ हो, गुदा में वायु, पुरीष, एवं श्लेष्मा विद्यमान हो, वस्ति नेत्र टेढ़ा हो, अथवा वस्तिपुटक शिथिल हो या अल्प दबाव से बस्ति दी गयी हो तो वस्ति कार्य में प्रयुक्त स्नेह पक्वाशल में नहीं पहुंचता । इस अवस्था को अयोग कहते हैं ।

वस्त्ययोग चिकित्सा

क्वाथद्वयं प्राग्विहितं मध्यदोषेऽतिसारिणि ।
उष्णस्य तस्मादेकस्य तत्र पानं प्रशस्यते
फलवर्त्यस्तथा स्वेदाः कालं ज्ञात्वा विरेचनम् ॥

अ० सं० क० ६।३

प्राक्चिकित्सिते मध्यदोषेऽतिसारिणि क्वाथद्वयं विहितं प्रमथ्याख्यं मागधिकादीनां जलजलदादीनां च तस्मात् क्वाथद्वयाद्दोषाद्यपेक्षयैकस्य क्वाथस्य तत्रायोगस्य षड्विधत्वान्नाभिशूलादिके पानं प्रशस्यते । फलवर्त्यादिकं च प्रशस्यते । कालं ज्ञात्वा विरेचन योग्ये विरेचनं हितम् । इन्दुः ।

हि० व्या०—अष्टाङ्ग संग्रह चिकित्सा स्थान अतिसार चिकित्साप्रकरण में दो क्वाथ योगों का निर्देश किया गया है (पिप्पल्यादि और जलजलदादि कषाय) उसमें से एक कषाय का सेवन करना चाहिए, फलवर्ति, स्वेदन तथा अवस्थानुसार विरेचन चिकित्सा की व्यवस्था करना चाहिए ।

कुष्ठं सुपिष्टं कुमुदेन सार्धं
गव्यं च पित्तं प्रपिबेज्जलेन ।
गोमूत्रयुक्तामभया पिबेद् वा
युक्तं त्रिवृत् सैन्धव सप्तलार्द्धैः ॥ का० सि० ६।

हि० व्या०—वस्ति के अयोग की चिकित्सा—नीलकमल के साथ कुष्ठ को अच्छी प्रकार से पीसकर पिलाना चाहिए । अथवा गोपित्त को जल के साथ सेवन कराना चाहिए । अथवा गोमूत्र से युक्त हरीतकी, या सैंधव-सप्तला के साथ युक्तिपूर्वक त्रिवृत् का सेवन कराना चाहिए ।

वस्त्ययोगजन्योपद्रवाः चिकित्सा च ।

तयोस्तृष्णामूर्च्छाहृल्लासज्वरदाहहृद्रोगश्वयथुशूलार्शः पाण्डुकामला ··· ···

स्तैमित्याद्या रोगा उत्पद्यन्ते । तत्रापि यथादोषं स्नेहस्वेदवमनविरेचनास्थापनफलवर्तिहितमिताशनादिभिः शममापद्यते । का० सं०

हि० व्या० —आचार्य काश्यप के अनुसार अयोग तथा अतियोग में उपद्रव-स्वरूप तृष्णा, मूर्च्छा, हृल्लास, ज्वर, दाह, हृदय रोग, श्वयथु, शूल, अर्श, पाण्डु: कामला, स्तैमित्य आदि रोग उत्पन्न हो जाते है । इनमें दोषानुसार, स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन, आस्थापन, फलवर्ति तथा हितकर आहार के द्वारा शांति होती है ।

बस्त्यतियोग लक्षणानि ।

यः वातपित्तकफपुरीषमूत्राभिभूतस्य ···· ···· ···· गच्छन्नूर्ध्वं वा प्रपद्यते, विरिक्तस्नुतविशोषितवुभुक्षित श्रान्तचिन्तेर्ष्यायासशोकभयार्तस्य वा न प्रत्यागच्छति, तमतियोगं विद्यात् । का० सं० सि० ६।४

हि० व्या०—बस्ति के अतियोग का लक्षण – बस्ति के द्वारा दिया गया स्नेह, वात, पित्त, कफ, पुरीष से गुदा में व्याप्त हो जाने के कारण पक्वाशय से भी ऊपर चला जाता है अथवा जो स्नेह विरिक्त (विरेचन किया गया), स्रुत (जिसको स्राव हो रहा है), जिसका शोषण हुआ है, जो प्यासा, भूखा, थका हुआ, चिन्ता ईर्ष्या, परिश्रम शोक एवं भय से ग्रस्त है ऐसे रोगी का स्नेह लौटकर वापस नहीं आता है । उसे अतियोग समझना चाहिए ।

बस्ति प्रयोगजन्योपद्रवाणां नामतः संकेतः ।

धीधैर्यौदार्यगाम्भीर्यक्षमादमतपोनिधिम् ।
पुनर्वसुं शिष्यगणः पप्रच्छ विनयान्वितः ॥३॥
काः कति व्यापदो वस्तेः किं समुत्थानलक्षणाः ।
का चिकित्सा इति प्रश्नाञ्छ्रुत्वा तानब्रवीद गुरुः ॥४॥
नातियोगो क्लमाध्माने हिक्का हृत्प्राप्तिरूर्ध्वता ।
प्रवाहिका शिरोरुग्गतिः परिकर्तः परिस्रवः ॥
द्वादश व्यापदो बस्तेरसम्यग्योगसंभवाः ।
आसामेकैकशो रूपं चिकित्सां च निबोधत ॥६॥ च० सि० ७।३-८

काः कतीत्यादि पञ्चप्रश्नाः । नातियोगावित्यादिना आद्यप्रश्नस्योत्तरम् । नातियोगावित्ययोगातियोगौ । एतद्वादशव्यापदां च विवरण एव स्फुटार्थो भविष्यन्ति । असम्यग्योगसंभवाः इति निरूहस्यायोगातियोगरूपासम्यग्योगसंभवाः । अनेन च समुत्थानप्रश्नस्य सामान्यकारणाभिधानेनोत्तरं दत्तं भवति । अत्र बस्ति प्रयोगस्यासम्यग्योगेन निरूहकार्यदोषहरणस्यातियोगायोगौ व्यापत्तिरूपौ जन्येते, क्लमादयोऽपि चाति योगायोगजाता एव विशिष्टहेतुलक्षण चिकित्सिततया इहापि पृथगुच्यन्ते, यथा संशोधने आध्मानादयोऽयोगातियोगजाता अपि पृथगुक्ताः । केचित् 'नातियोगात् क्लमाध्माने' इत्यादि, तथा 'दशैता व्यापदो बस्तेः'

इत्यादि पठन्ति, तत्र पूर्वाध्यायोक्तव्याख्यानादर्थो नेयः, किन्तु पूर्व एव पाठो निर्व्यूढः। आसामित्यादौ रूपशब्देनैव प्रति प्रतिवक्ष्यमाणहेतुविशेषोऽवरुद्धो ज्ञेयः, येन हेतुरपि हि व्यासगमकतया रूपमेव ॥ चक्रपाणिः।

धीर्बुद्धिः त्रिकालविषया। धैर्यं स्थिरता, औदार्यं प्रश्रयः, गाम्भीर्यमक्षोभः। क्षमा =सर्वंसहनं (इन्द्रिय क्षान्तिर्दमः। कायवाङ्मनः प्रशमः तपः, शीलविशेष सम्बन्धः। एषां निधानभूतं पुनर्वसुं। प्रश्ननिर्देशार्थकः कतीति संज्ञासंख्यासंश्रयः प्रश्नः। तासां पुनस्समुत्थानचिकित्सितलक्षणान्येवं प्रश्नः। अनन्तरं च प्रश्नप्रतिख्याकरणं नातियोगाद्या द्वादशव्यापदो वस्तेरिति। अतियोगातियोगौ व्यापत्तेर्लक्षणा येव्याधयः पूर्वत्र व्यापन्निमित्तमुक्तत्वादिहेतुः स्वयमपि व्यापत् कदाचिद्भवति। तस्याः कदाचिच्च हेतुवशादनेकभेदा निरुक्ताः सर्वेऽपि भवन्तीति। पूर्ववत्, तद्यथा ज्वरो रक्तपित्तस्य निमित्तं रोगाधिकरणे संख्यातश्चेति। अथवा पूर्ववदेवानयोर्व्यापद्धेतुत्वेन स्वयं व्यापत्वं, अवस्था भेदस्तु स्व स्वहेतुज एवेति पाठोऽयं व्याख्येयो नातियोगमिथ्यायोगास्तद्धेतुकाः क्लमाद्याः अनन्तरमुक्ताः त एव तद्धेतुका इति। नातियोगादीति। पूर्वबाधोऽप्यसम्यग्योगसंज्ञकः इति ॥

जज्जटः।

हि० व्या० —बुद्धि, धीरता, उदारता, गम्भीरता, क्षमा, दम और तपस्या के निधि भगवान पुनर्वसु से विनयावनत शिष्यों ने पूछा। निरूहबस्ति में कौन-कौन और कितनी व्यापत्तियां होती हैं उन व्यापत्तियो के होने का क्या-क्या कारण हैं और उनके लक्षण क्या-क्या होते हैं ? इन चार प्रश्नों को सुनकर उन शिष्यों से गुरु ने कहा—(१) अयोग (२) अतियोग (३) क्लम (४) आध्मान (५) हिक्का (६) हृदयप्राप्ति (७) ऊर्ध्वगमन (८) प्रवाहिका (९) शिरःशूल (१०) अंगों में पीड़ा (११) परिकर्तिका (१२) परिस्राव। इस तरह बारह व्यापत्तियां विधिविपरीत बस्ति कर्म करने से होती हैं। इन सभी व्यापत्तियों का लक्षण और चिकित्सा मैं बता रहा हू उन्हें सुनो।

बस्तिव्यापदां नामतः संकेतः।

विबंध गौरवाध्मान शिरोरुग्वाहनोर्ध्वगाः।
कुक्षिशूलाङ्गरुग्हिध्मा हृत्पीडाकर्तनस्रवाः॥
अयोगादतियोगाच्च बस्तेः स्युः षट्षडापदः।

अ० सं० क० ६।१

बस्तेरयोगाद्विबन्धादयः षडापदो व्याधयः स्युः। तस्यैवातियोगात् कुक्षिशूलादयः षडापदः स्युः। एताश्चापदः प्रधानाः कीर्तिता एतदनुयायिनां हि पृथगत्रैव वक्ष्यमाणत्वात्। वाहनं प्रवाहिका। उर्ध्वंगाख्या व्यापत् यत्र वस्ति मुँखनासिकान्निरेति। कर्तनं नाभ्यादीनां कर्तनमिव। स्रवोऽसृगादिपरिस्रवः।

इन्दुः।

षट् सप्तति संख्यानां विविध बस्तिव्यापदां संक्षिप्तंवर्णनम्

अत ऊर्ध्वंव्यापदो वक्ष्यामः। तत्र नेत्रं विचलितं, विवर्तितम्, पार्श्वापीडितम्, अत्युत्क्षिप्तम्, अवसन्नं, तिर्यक्प्रक्षिप्तमिति षट् प्रणिधानदोषाः;

अतिस्थूलं, कर्कशम्, अवनतं, अणुभिन्नं, सन्निकृष्ट विप्रकृष्टकर्णिक, सूक्ष्मातिच्छिद्रम् अतिदीर्घम्, अतिह्रस्वम्, अस्निमदित्येकादश नेत्र दोषाः; बहलता, अल्पता, सच्छिद्रता, प्रस्तीर्णता, दुर्बद्धतेतिपञ्च बस्तिदोषः;

अति पीडितता, शिथिलपीडितता, भूयो भूयोऽवपीडनं, कालातिक्रम इति चत्वारः पीडन दोषाः;

आमता, हीनता, अतिमात्रता, अतिशीतता, अत्युष्णता, अतितीक्ष्णता, अतिमृदुता, अतिस्निग्धता, अतिरूक्षता, अतिसान्द्रता, अतिद्रवता, इत्येकादश द्रव्यदोषाः।

अवाक्शीर्षच्छीर्षन्युब्जोत्तानसङ्कुचितदेहस्थित दक्षिणंपार्श्वशायिनः प्रदानमिति सप्तशय्यादोषाः एवमेताश्चनुश्चत्वारिंशत् व्यापदो वैद्यनिमित्ता। आतुरनिमित्ताः पञ्चदश आतुरोपद्रवचिकित्सिते वक्ष्यन्ते। स्नेहस्त्वष्टभिः कारणैः प्रतिहतो न प्रत्यागच्छति त्रिभिर्दोषैः अशनाभिभूतो, मलव्यामिश्रो, दूरानुप्रविष्टो, अस्विन्नस्य अनुष्णो, अल्पम्भुक्तवतो, अल्पश्चेति वैद्यातुरनिमित्ता भवन्ति। अयोगस्तूभयोः, आध्मानं, परिकर्तिका, परिस्रावः, प्रवाहिका, हृदयोपसरणम्, अङ्गप्रग्रहो, अतियोगो, जीवादानमिति नवव्यापदो वैद्यनिमित्ता भवन्ति।

सु० चि० ३५।३२

हि० व्या० —**बस्ति की व्यापत्तियों का निर्देश**—इसके पश्चात् वस्ति के दोषों का वर्णन किया जा रहा है।

(१)—नेत्र का विशेष हिलना, (२) प्रविष्ट होते ही मुड़ जाना, (३) दक्षिण और वामपार्श्वों का दवना, (४) अत्यधिक ऊपर उठना, (५) नीचे को दबना (६) और तिरछा प्रविष्ट करना ये छः दोष वस्ति प्रवेश करने के हैं।

नेत्रदोष से होने वाले व्यापत—(१) बहुत मोटा, (२) खुरदरा (३) नीचे को झुका होना, (४) परमाणुओं का भिन्न होना, (५) समीपकर्णिका युक्त, (६) दूर कर्णिकायुक्त, (७) अत्यधिक छोटे छिद्रवाला, (८) बहुत बड़े छिद्र वाला, (९) बहुत लम्बा, (१०) बहुत छोटा, (११) किनारे से युक्त ये ग्यारह नेत्र के दोष हैं।

वस्ति दोष -(१) मांस सहित होना, (२) छोटी होना, (३) छिद्रयुक्त होना, (४) स्नायुजाल से युक्त होना और (५) अच्छी तरह न बाँधना ये पांच वस्ति के दोष हैं।

बस्ति दबाने के दोष--(१) अधिक दबना, (२) कम दवना, (३) बार-

बार दबना और (४) पीड़नकाल का अतिक्रमण करना ये चार बस्ति को दबाने के दोष हैं।

द्रव्य दोष—(१) अपक्वस्नेह, (२) अल्प होना, (३) अधिक होना, (४) अत्यन्तशीतल होना, (५) अत्यधिक उष्ण होना, (६) अत्यन्त तीक्ष्ण होना, (७) अत्यन्त मृदु होना, (८) अत्यन्त स्निग्ध होना, (९) अत्यन्त रूक्ष होना, (१०) अधिक गाढ़ा होना और (११) अधिक द्रव (पतला) होना, ये ग्यारह द्रव्य के दोष हैं।

शय्यादोष—(१) शिर नीचे रखना, (२) सिर ऊंचा रखना, (३) पेट के बल लिटाना (४) चित्त लिटाना, (५) शरीर सिकोड़कर रखना, (६) बैठे रहना, और (७) दाहिने पार्श्व से सोये हुए को वस्ति देना, ये सात शय्या दोष हैं। उपरोक्त ४४ दोष चिकित्सक के द्वारा उत्पन्न होते हैं। आतुर (रोगी) के द्वारा १५ प्रकार के उपद्रव होते हैं।

आठ कारणों से रुका हुआ स्नेह पुनः वापस नहीं आता—(१) तीनों दोषों के कारण (२) भोजन के द्वारा दबाये जाने से (३) मल के मिश्रण से (४) दूर प्रविष्ट हो जाने से, (५) स्वेदन के बिना प्रयुक्त होने से, (६) शीतल होने से (७) आहार नहीं करने से तथा (८) अल्प आहार करने से। ये दोष वैद्य आतुर दोनों के द्वारा होते हैं।

(१) दोनों बस्तियों का अयोग, (२) आध्मान (३) परिकर्तिका, (४) परिस्राव, (५) प्रवाहिका (६) हृदयोपसरण (७) अङ्गप्रग्रह (८) अतियोग और (९) जीवादान ये नौ व्यापद् वैद्य के द्वारा उत्पन्न होते हैं।

वस्तिव्यापदाः तच्चिकित्सा च

स्नेहबस्तिनिरूहश्च द्विविधं याति विभ्रमम्।
न युज्यते वा दुर्युक्तो युक्तो वाप्यतिपूर्यते ॥
तेषां विप्रतिपन्नानां वस्तीनां व्यापदो दश।
तासां रूपं चिकित्सां च प्रवक्ष्याम्यपूर्वशः ॥
न याति वा गुदे युक्तो वातादिगदपीडिते।
पुरीषेणावृते वापि स न गाढं प्रपीडितः ॥
अर्शसा प्रतिसंरुद्धः श्लेष्मणा पिहिते गुदे।
गुरु यन्त्रयुक्तो वापि नेत्रे वा जीर्णसर्पिते ॥
न गच्छति गुदे वस्तिर्विभ्रान्तेषु च धातुषु।
तमयोगमिति ब्रूयादतियोगं निबोध मे ॥
वाताभिभूतपित्ते वा श्लेष्मणा वाऽहिताशिनः।
पुरीषेणाभिभूतश्च दूरं याति प्रपीडितः ॥
न प्रत्यायात्यधो वस्तिर्भीतस्योन्मथितस्यवा।

गुदवल्यां तृतीयायामर्शोभिर्वा निवारितः ॥
विरेचितस्य वान्तस्य मद्यशोकाकुलस्य च।
न प्रत्यायात्यधो वस्तिरूर्ध्वं वातिप्रवर्तते ॥
तेषामुपद्रवा घोरा जायन्ते वस्तिविभ्रमात्।
जीवादानं तृषाच्छर्दिः हृद्रोगः श्वयथुस्तथा ॥
शूलमर्शांसि पाण्डुत्वं श्वासोऽथ परिकर्तिका।
एषां प्रत्येकशो रूपं चिकित्सां च निबोध मे ॥
गुरुकोष्ठस्य रूक्षस्य बहुदेशस्य देहिनः।
अस्निग्धस्य गुरुव्याधेर्यदि वस्तिः प्रदीयते ॥
अत्यल्पो वाथ रूक्षो वा शीतवीर्यौषधिस्तथा।
लवणस्नेहरिक्तो वा तनुस्सान्द्रोऽथ वा भृशम् ॥
सम्बद्धबहुदोषस्य दोषानुत्क्लेशयत्यपि।
तत्रस्था यत्र सर्पन्ति दोषास्ते पीडिता भृशम् ॥
कटावस्थ्यूरुजङ्घे च पादपृष्ठोदरे तथा।
स्पन्दन्ते भवेच्चास्य सशूलमुदकोदरम् ॥
सशूलमुदावर्तो गुदशोषो ज्वरस्तथा।
वैवर्कासहृल्लासा भक्तद्वेषो विवर्णता ॥
स्निग्धं तस्य स्विन्नस्य संकरप्रस्तरादिभिः ॥
निरूहं प्रयोक्तीक्ष्णममोघाप्रतिवारणम् ॥

भे० सि० अ० ८।१-१६

वस्ति प्रयोगकाले परिहार्याऽसम्यक्बस्ति प्रयोग कारणानां संकेतः।

बद्धे प्रणे, विषमं च नेत्रे
मार्गे तथाऽऽकफविडविबद्धे।
न याति बर्हि सुखं निरेति
दोषावृतोवा यदि वाऽल्पवीर्यः ॥

च० सि० १।५५।५६

नेत्रे बद्धे विषमं प्रणीते च गुदावरुद्धत्वान्न याति। यथा 'न सुखं निरेति' इत्यादिना "सुचिराच्च केन" इति प्रश्नस्योत्तरम्। न सुखं निरेतीति दुःखं कृत्वा चागच्छतीत्यर्थः। दोषावृतेति दोषेण बलीयसाऽवरुद्धः। अल्प इति अल्पमानः। अल्प वीर्य इति उष्णत्वेनाद्यभावान्मृदुवीर्यः। चक्रपाणिः।

हि० व्या० - वस्ति नेत्र के मार्ग में अवरोध होने से, विषम रूप में नेत्र को गुदा में प्रवेश करने से अर्शरोग होता है। कफ अथवा मल के कारण गुदा मार्ग में अवरोध होने से वस्ति अन्दर प्रविष्ट नहीं हो पाती और आसानी से बाहर भी नहीं निकलती है। वस्तिद्रव्य अन्दर जाने पर दोषों द्वारा मार्ग

आवृत हो जाने से भी बाहर नहीं निकल पाती है। वस्ति में प्रयुक्त औषध की मात्रा अल्प होने पर या औषधि हीनवीर्य होने पर भी अदर गयी हुई बस्ति सुखपूर्वक बाहर नहीं निकल पाती है।

बस्तिप्रयोगे सम्भाव्यमानानां दोषाणां वर्णनम्।

तिर्यक् प्रणीते न तु याति धारा
गुदे व्रणः स्याच्चलिते तु नेत्रे।
दत्तः शनैर्नाशयमेति बस्तिः
कण्ठं प्रधावत्यतिपीडितश्च।
शीतस्त्वतिस्तंभकरो विदाहं
मूर्च्छां च कुर्यादतिमात्रमुष्णः॥
स्निग्धोतिजाड्यं पवनं तु रूक्ष-
स्तन्वल्पमात्रालवणस्त्वयोगम्।
करोतिमात्रास्यधिकोऽति योगं
क्षामं तु सान्द्रः सुचिरेण चैति॥
दाहातिसारौ लवणोऽति कुर्यात्त-
स्मात् सुयुक्तं सममेव दद्यात्। च० ३।२०-२३

तिर्यक् प्रणिधानादिदोषमाह - तिर्यगित्यादि। न यं धारेति तिर्यक् प्रणिधाने सति गुदवली रोधो भवति तेनधारा न याति। ति स्तम्भकर इति बस्तिर्देहस्य स्तम्भं करोति। जाड्यमिति शरीरजड़त्वन्वल्पमात्रालवणस्त्वयोगमिति तनुर्वा अल्पमात्रलवणो वा। सान्द्रस्तनुवातः, क्षामं पुरुषं कुर्यात्। लवणोऽतीति अतिमात्रलवणः। तस्मादिति यथो विधानेषु दोषनिदर्शनात्। सुयुक्तमिति तिर्यक्प्रणिधानादिरहितं, शीतत्वरहितं च। चक्रपाणिः।

"तिर्यक्प्रणीते तु न याति धारा विषं गच्छति नैव वा गच्छतीति।" गुदे व्रणः स्याच्चलिते (च) नेत्रे असकृद्विचाल्यम व्रणो भवतीति दत्तशनैर्नाशयमेति बस्तिः। आशयः स्थानं नाभिप्रदेशकटीपार्श्वक्षमिति। स्वैर प्रथमप्राप्तिरिति। अल्पागमनप्रथमकर्मासमर्थत्वात् स्वकार्यमकुर्वाप्नोतीत्युच्यत इति। कण्ठं प्रधावेदतिपीडितश्चेति। सति सामान्याश्रयमेतविषाश्रयं तु पुनर्वचनं चिकित्सित नानात्वोपदेशात्। निरूढ कल्पः कल्पनं कल्प इति दोषादिपरिहारार्थं शीतादिगुणकल्पनाप्रतिषेधो दोषदर्शनाच्छीतस्त्वतिस्तंभकरः इतिः। अतिशीतः स्तम्भकरः। "सर्वेन्धवं शीतलमेव दद्यादिति" चनं पैत्तिकस्य तदुपयोज्यमितितस्यैवाप्रतिषेधः। अति समस्य विधानात्। तल्पमात्रं लवणः तनुरल्पमात्रः अल्पलवणश्चेति। क्षामं तु सान्द्रः घनः। कस्मात् पुनस्सान्द्रस्य चिरं गमनं नतूष्णतादीनपि (दोषानाह यतस्ता) नैव हिनदीन् बाधते। सङ्घाताद्गुरुत्वं यच्छीघ्रगतित्वाभाव इति। तत्प्रमाणनिर्देशतियोगादधिक प्रक्षेपणादास्वादेन

वाऽतिलवण इति। समकृतिप्रदर्शनार्थं, तस्मात्सुयुक्तस्सममेव दद्यादिति अत्यर्थमभियुक्तस्सुयुक्त इत्यनेनास्याप्रमत्तत्वं प्रेक्षापूर्वकारी समः। विपरीतो यथोक्त विपरीतान् न गणदोषयोस्तुल्यत्वं समत्वमिति शयनविधान प्रयोजनं शस्यते ऽस्मिन्निति कृत्वा। जज्जटः।

नातिशीतं न वा त्युष्णं कषायमुपकल्पयेत्॥
वायुः कुप्यति शीतत्वादत्युष्णं तु गुदं दहेत्।
अतिसान्द्रातिग्रथितो दोषेण स हि मूर्छति॥
मंदप्रवेगो भवति व्यापच्चास्योप जायते।
अथवाऽपि तनुर्यस्य कषायो योजितो भवेत्॥
सोऽल्पं हरति दोषं च न च संशोधयेद्गुदम्।
परिकर्तं च शूलं च जनयेच्च प्रवाहिकाम्।
अत्यर्थमधुरो दत्तो विदग्धः स्तम्भ वेदनाम्।
ग्रहणीं रक्तमर्शांसि पाण्डुरोगं भगन्दरम्।
अतितीक्ष्णस्तु दुर्युक्तः क्षिप्रं प्रति निवर्तते।
न निर्हरति दोषांश्च ज्वरं मूर्छा करोति च।
भे० सि० ७।२६।३१

हि० व्या०—वस्तिप्रयोग में सम्भावित दोषों (उपद्रवों) का वर्णन—

१—बस्ति की नली तिरछी करके वस्ति लगाने से औषधि की धारा ठीक से प्रविष्ट नहीं होती है।

२— वस्ति लगाते समय नली के हिल जाने से गुदा में व्रण हो जाता है।

३—औषधि को धीरे से दबाकर औषधि प्रयोग कराया जाय तो पक्वाशय तक औषधि नहीं पहुंच पाती है।

४—अधिक दबाव से वस्ति दी जाय तो औषध गले में चली जाती है और वमन द्वारा बाहर निकल जाती है।

५—बस्ति का द्रव्य शीतल होने पर स्तम्भित हो जाता है। इससे बस्ति द्रव्य बाहर नहीं निकलता।

६—बस्ति द्रव्य अति उष्ण हो तो विदाह और मूर्छा उत्पन्न करता है।

७—वस्तिद्रव्य अति स्निग्ध होने से जड़ता उत्पन्न होती है।

८—औषधि पतली हो, अल्पमात्रा में हो और नमकरहित हो तो अयोग उत्पन्न करती है तथा अपेक्षित लाभ नहीं मिलता है।

९—औषधि अधिक गाढ़ी होने से पक्वाशय में क्षोभ होता है तथा देर से वस्ति द्रव्य बाहर निकलता है।

१०—औषधि की मात्रा अधिक होने से अयोग होता है।

११—औषध में नमक की मात्रा अधिक होने से उदर में दाह और अतिसार रोग उत्पन्न होते है।

अतः चिकित्सक को विधिपूर्वक और समयोग से बस्ति प्रयोग करना चाहिए।

बस्तिनेत्र दोषाणां नामानि तदुपद्रवाश्च।

ह्रस्वं दीर्घं तनुस्थूलं जीर्णं शिथिलबन्धनम्।
पार्श्वच्छिद्रं तथा वक्रमष्टौ नेत्राणि वर्जयेत्॥
अप्राप्त्यतिगति क्षोभकर्षणक्षणनस्रवाः।
गुदपीडा गतिर्जिह्मा तेषां दोषा यथाक्रमम्॥

च० सि० ५।४-५, अ० सं० क० ७।१५-१६

नेत्रदोषकथने अष्टाविंतिपदमनुक्तकर्कशत्वादि दोषाणामत्रैवान्तर्भावोपदर्शनार्थम्। कर्कशत्वस्य जीर्णेन कर्तृत्वसाम्यादग्रहणम्। एवमन्यत्रापि संख्यावचने प्रयोजनमिह वर्णनीयम्। तनु=कृशम्। अप्राप्त्यादि यथाक्रमं ह्रस्वेनादिषु ज्ञेयम्। अतिगतिर्दूरप्रवेशः। क्षोभो गुद प्रविष्टस्येततस्ततो गमनम्। गुदपीडेति पार्श्वच्छिद्रनिर्गतेन बस्तिद्रवेण योगाद्गुदपीडा। जिह्मेति कुटिला। चक्रपाणिः।

ह्रस्वं दीर्घम् इति आपेक्षिकत्वाद्दोषो यस्मात्प्रमाणादिति गम्यते। अप्राप्त्यतिगतिक्षोभादयस्त्वेषां यथासंख्येन भवन्तीति। तनुः क्षोभयति। तच्च लग्नं शिथिलबन्धनं शिथिलबद्धिकं स्राविभेषजत्वात्। पार्श्वच्छिद्रेण न पुनरुक्तं छिद्रस्य विकारार्थत्वात्। शिथिलबन्धनं वा बस्तिबन्धनं यस्येति। संख्यानिर्देशोऽन्यविकल्पप्रतिषेधार्थः। यत; स्वपक्षपरिग्रहो ऽन्यपक्षे दोषात्वमुद्भावयति। तथाहि—अनिर्देश्यं प्रतिक्षेप्यमसम्मतमथापि च "असम्भवाद्विरुद्धत्वान्नोक्तत्वात् त्रिधा वचः" इति। अत्र केषांचिदविद्यमानत्वात् केषांचिदयुक्तत्वात् केषांचिदेव विरुद्धत्वात्। ते चोक्ता दोषा अन्यत्र यथा कर्कशाग्रं तनुछिद्रं दूरसंसक्तकर्णिकम् अकर्णिकं महाकर्णं विनालं साग्रकर्णिकम्। प्रायेण कर्णिकाचतुर्भागाश्रया दोषा उक्ताः तेषामेवात्र वर्जनमिति॥ जज्जटः।

अतिस्थूले कर्कशे च नेत्रेऽस्त्रिमति घर्षणात्।
गुदे भवेत् क्षतं रुक् च साधनं तस्य पूर्ववत्॥
आसन्नकर्णिके नेत्रे भिन्नेऽणौ वाऽप्यपार्थकः।
अवसेको भवेद्वस्तेस्तस्माद्दोषान् विवर्जयेत्।
प्रकृष्टकर्णिके रक्तं गुदमर्म प्रपीडनात्।
क्षरत्यत्रापि पित्तघ्नो विधिर्ह्यस्तिश्च पिच्छिलः॥
ह्रस्वे त्वणुस्रोतसि च क्लेशो बस्तिश्च पूर्ववत्।
प्रत्यागच्छंतः कुर्याद्रोगान् बस्तिविघातजान्।
दीर्घे महास्रोतसि च ज्ञेयमत्ववपीडवत्॥

सु० चि० ३६।६-१० क

अतिस्थूल इत्यादि। पूर्ववच्छब्देन सद्यः क्षतवत्क्रियेत्यर्थः। आसन्नकर्णिके बस्तिरपार्थको व्यर्थः। भिन्नेऽणौ अणुभिन्ने नेत्रे। अवसेकः क्षरणम्। प्रकृष्टकर्णिकं व्यङ्गुलादूर्ध्वं चतुरङ्गुले सन्निविष्टकर्णिकम्। तत्राशौयन्त्रेण पञ्चाङ्गुलेनान्तः प्रविष्टेन स्थूलाग्रत्वाद्गुदक्षणनं न स्यात्, बस्तियन्त्रेण पुनस्तीक्ष्णाग्रेण चतुरंगुलेन सद्यः प्राणहर गुदमर्म संपीड्यते, अतस्तच्चिकित्सितं युक्तम। ह्रस्वे यथोचित प्रमाणहीने। अणु स्रोतसि सूक्ष्मच्छिद्रे। क्लेश इति संनिकृष्टकर्णिके यथा अपार्थको बस्तिस्तद्वदिति। ह्रस्वस्वात्वाद्धेतोरत्रापि तथा; अत एवहेतोः प्रत्यागच्छन् व्याघुटन् बस्तिविधातजान् रोगान् मूत्राघातमूत्रकृच्छादीन् कुर्यात्। चिकित्सितं चानुक्तमपि रोगापेक्षया मूत्राघातादिचिकित्सितम्। जेज्जटाचार्यस्तु इदृशं व्याख्यानयति-पूर्ववद्वस्तिः पिच्छाबस्तिरित्यर्थः। दीर्घे महास्रोतसि च यन्त्रे ऽत्यवपीडवन्नासामुखान्निर्गमनं, गलपीडादिचिकित्सितं च ज्ञेयम्। डल्हणः।

हि० व्या०—बस्तिनेत्र के आठ दोष होते हैं। (१) ह्रस्व (प्रमाण से छोटा होना), (२) प्रमाण से लम्बाई में दीर्घ होना, (३) पतला होना, (४) मोटा होना, (५) अधिक पुराना होना, (६) नेत्र और बस्ति का शिथिलबन्धन होना, (७) पार्श्व में छिद्र होना, (८) टेढ़ा होना ये नेत्र के आठ दोष बताये गए हैं।

नेत्र दोष के परिणाम—(१) नेत्र के छोटा होने से औषधि पक्वाशय तक नहीं पहुंचती, (२) नेत्र के दीर्घ होने से औषध ऊपर की ओर चली जाती है, (३) नेत्र के पतला होने से गुदा में क्षोभ होता है। (४) नेत्र के मोटा होने से गुदा में खिचाव होता है। (५) नेत्र के पुराना होने से गुदा कट जाती है। (६) शिथिलबन्धन होने से औषधद्रव बस्ति से बाहर निकल जाता है। (७) पार्श्व में छिद्र होने से औषध द्रव गुदामार्ग में फैलकर पीड़ा उत्पन्न करता है।

(८) नेत्र टेढ़ा होने से औषध सीधे रूप में प्रवेश नहीं करती है। इस प्रकार आठ दोष से आठ प्रकार की हानियां होती हैं।

आचार्य सुश्रुत ने आसन्नकर्णिका (कर्णिका बहुत निकट रहना), प्रकृष्टकर्णिका (कर्णिका बहुत दूर होने से), अणुनेत्रता, (नेत्र का छोटा होना), भिन्न नेत्रता (फूटा हुआ या छिद्रयुक्त नेत्र), अणुस्रोतता (छिद्र छोटा रहना) महास्रोतता (छिद्र बड़ा रहना) ये और दोष बताए हैं।

बस्तिपुटक दोषाणां नामानि तदुपद्रवाश्च।

विषममांसलच्छिद्रन्नस्थूलजालिकवातलाः।
स्निग्धः क्लिन्नश्च तानष्टौ बस्तीन् कर्मसुवर्जयेत्॥
गतिर्वैषम्यविलत्वस्रावदौर्ग्राह्यनिस्रवाः।
फेनिलच्युत्यधार्यत्वं बस्तेः स्युर्बस्तिदोषतः॥

च० सि० ५।६-७, अ० सं० क० ६।२१

विषमो विषम संस्थानः, स्थूलोऽतिप्रमाणः, जालिकः सूक्ष्मानेकाच्छिद्रः, वातलो वातदुष्टः 'स चात्र विहितस्नेहादेः फेनिलत्वादिना निश्चीयते । स्निग्धोऽतिस्निग्धः । क्लिन्नः शीर्णावयवः । गतिवैषम्यादयो यथा क्रमं विषमादिष्वस्तौ दोषाः । विस्रत्वमामगन्धता, दौर्ग्राह्यं दुर्ग्रहता, च्युतिर्हस्ताद्भंशः, अधार्यत्वं बस्तेरिति क्लिन्नत्वाद्धि धारणायोग्यत्वं बस्तिपुटकस्य । चक्रपाणिः

प्रस्तीर्णे बहले चापि बस्तौ दुर्बद्ध दोषवत् ।
बस्तवल्पेऽल्पता वाऽपि द्रव्यस्याल्पागुणामताः ।।
दुर्बद्धे चाणुभिन्ने च विज्ञेयं भिन्ननेत्रवत् ।।

सु० चि० अ० ३६।१०-११

प्रस्तीर्णे इत्यादि । अल्पे यथोचित प्रमाणहीने । बस्तेरल्पतया च द्रव्यस्याप्यल्पता, अत एव अल्पागुणः । भिन्ननेत्र वदिति भिन्ननेत्रेण तुल्यं, यथा भिन्ने नेत्रे बस्तेरवसेकः, तदुर्बद्धे भिन्ने च बस्तावित्यर्थः । डल्हणः

एकादश नेत्रदोषान् प्रति व्याचिख्यासितमर्थजातं व्याख्यातम् इदानीन्तु वस्तिदोषानेव प्रकृत्य ब्रूम इत्याह प्रस्तीर्णे इति । प्रस्तीर्णे विस्तीर्णे, बहले दृढे दुर्बद्धदोषवत् "दुर्बद्धे" इत्यादिना वक्ष्यमाणदोषवत् । अल्पे क्षुद्र द्रव्यस्याल्पता अल्पगुणाश्च मताः । अणुभिन्ने अल्पं भिन्ने सर्षपाकारच्छिद्रान्वितत्वे इति यावत्, भिन्ननेत्रवत् अपार्थक समाख्योदोष इत्यर्थ निष्कर्षः व्याहृतास्तावत् पञ्चवस्तिव्यापदः इदानीन्तु पीडनदोषानेव व्याख्यास्यामः इत्याह अतीत्यादि । शनैः प्रपीडिता शिथिलं प्रपीडितः । व्याख्याता हि चत्वारः पीडनदोषाः इदानीन्तु द्रव्यदोषानेव प्रक्लेयिष्याम इत्याह गुदोपेति । स्नेहणब्दोऽत्र वस्तिद्रव्यमात्रमुपलक्षयतीति नास्थापने विप्रतिपत्तिः । उभावस्थापनानुवासने बस्तौ इत्यर्थः । हीनादिषु हीनातिमात्रोष्णतीक्ष्णमृदुशीतेषु दत्तेष्विनिशेषः प्रत्यनीकस्तु तत्सञ्जातोपद्रव विरुद्ध : क्रियाविधिः प्रतीकारः क्रमकार्य इति शेषः । यथा हि हीनादिषु सञ्जातोपद्रवा यथास्वं प्रतीकारमन्तरेण प्रशांति नापपद्यन्ते न तथा मान्द्रादिषु सञ्जातोपद्रवास्तदिह स्वल्पोपद्रवत्वेन विशिनष्टि तत्रेत्यादिना दापयेदित्यन्तेन ग्रन्थसन्दर्भेण । हाराणच० ।

मांसलादीन् बस्तीन् नेत्रमूलयोज्यानौषधाधारानष्टौबस्तिकर्मणिवर्जयेत् । यतोऽस्मान्मांसलत्वादित्वाद्वस्तिदोषतो बस्तेरौषधस्य गतिवैषम्यादयः स्युः । मांसलत्वेन बस्तेरौषधस्य विषमा गतिः । स्निग्धत्वेन बस्तिचर्मण औषधस्य दौर्गन्ध्यम् । विषमत्वेन वस्तेर्धनत्वम् । तनुत्वेनौषधस्य जिह्मत्वं यन्त्रादनिर्गमनम् जालवत्त्वेन सिराजालत्वेन स्रुतिः । स्थूलत्वेन चर्मण औषधस्य दुःखेन ग्रहणम् । वातलत्वेन चर्मण औषधस्य फेनिलत्वं । छिन्नत्वेनौषधस्य च्युतिः । क्लिन्नत्वेन बस्तेरौषधं धारयितुमशक्यत्वमिति । इन्दुः ।

अतिदीर्घमतिस्थूलं जर्जरं स्फुटितं तनु ।
कुटिलं ··· ··· च वर्जयेत् ।।
अतिह्रस्वः स्वरः स्थूलस्तनुदीर्घचिरस्थिताः ।
छिद्री महानुपहतो वर्जिता बस्तयो नव ।।

(का० सं० चि० ५।१२-१३

हि० व्या० — वस्ति पुटक के आठ दोष होते हैं (१) विषम, (२) मांसल (३) छिद्रयुक्त (४) स्थूल, (५) शिराजाल युक्त, (६) वातपूरित, (७) स्निग्ध (अधिक चिकना होना), (८) क्लिन्न (गीला) इस प्रकार बस्ति पुटक में आठ दोष बताए गए हैं । दोष युक्त बस्तिपुटक को चिकित्सा कर्म में प्रयोग नहीं करना चाहिए ।

आठ बस्ति दोषों की हानियां—(१) बस्ति की विषमता के कारण औषधि की गति विषम हो जाती है । (२) बस्ति के मांसल होने के कारण उससे कच्चे मांस की गन्ध आती रहती है । (३) बस्ति के छिद्रयुक्त होने से औषध का स्राव हो जाता है । (४) बस्ति के मोटा होने से हाथ से पकड़ने में कठिनाई होती है । (५) बस्ति के शिराजालयुक्त होने से स्राव अधिक होता है । (६) वायु भरा रहने के कारण बस्ति में झाग होता है । (७) बस्ति में अधिक चिकनाहट के कारण हाथ से फिसल जाने का भय रहता है । (८) बस्ति में गीलापन रहने से हाथ में उसका ठीक से धारण नहीं होता है । आचार्यवाग्भट ने चरक के पाठ को उद्धृत किया है । काश्यपने नौ वस्तिपुटक दोषों की गणना की है । आचार्यसुश्रुत के अनुसार बस्ति के स्नायुजाल से आवृत या मोटा होने से अल्पद्रव्य होने के कारण गुण अल्प होता है । बस्तिनेत्र ठीक से न बंधने पर या बस्ति के फटी होने के कारण औषध द्रव का स्रावहो जाता है ।

बस्ति प्रणिधान समये प्रयोज्य शय्यादिजन्यानां दोषाणां वर्णनं तत्र चिकित्सा सूत्रं च ।

अतिपीडितवद्दोषान् विद्धि चाप्यवशीर्षके ।
उच्छीर्षकेसमुन्नाहं बस्तिः कुर्याच्च मेहनम् ।।
तत्रोत्तरो हितो बस्तिः सुस्विन्नस्य सुखावहः ।
न्युब्जस्य बस्तिनाप्नोति पक्वाधानं विमार्गगः ।।
हृद्गुदं बाधते चात्र वायुः कोष्ठमयापि च ।।
उत्तानस्यावृते मार्गे बस्तिर्नान्तिः प्रपद्यते ।
नेत्र संवेजनश्रान्तो वायुश्चान्तः प्रकूप्यति ।।
देहे सङ्कुचिते दत्तः सक्थ्नोरप्युभयोस्तथा ।
न सम्यगनिलाविष्टो बस्तिः प्रत्येति देहिनः ।।
स्थितस्य बस्तिर्दत्तस्तु क्षिप्रमायात्यबाङ्मुखः ।
न चाशयं तर्पयति तस्मान्नार्थकरो हि सः ।।

नाप्नोति बस्तिर्दत्तस्तु कृत्स्नं पक्वाशयं पुनः ।
दक्षिणाश्रितपार्श्वस्य वामपार्श्वानुगो यतः ॥
न्युब्जादीनां प्रदानं च बस्तेर्नैव प्रशस्यते ।
पश्चादनिलकोपोऽत्र यथास्वं तत्र कारयेत् ॥

सु० चि० ३८।२३-२७

अति प्रीडितो बस्तिः प्रयात्यामाशयमित्यादिवदित्यर्थः । उच्छीर्षके उच्छ्रितशिरस्के पुरुषे बस्तिर्दत्तः मेहनं मेढं समुन्नाहं सम्यगुन्नाहो यत्र तत्ताहशमाध्मानं कुर्यादित्यर्थः । तस्यामापदि सुस्निग्धस्य पुरुषस्योत्तरो बस्तिः हितः सुखावह इति गयी । जेज्जटाचार्यस्तु "उच्छीर्षकेसमुन्नाहं कुर्यात् सस्नेह मेहनम् । तत्रोत्तरो हितो बस्तिः सुस्निग्धश्च सुखावहः" इति पठित्वा व्याख्यानयति—सस्नेहमेहनं स्नेहसंसृष्टमूत्रप्रवर्तनं; तत्र प्रतीकार उत्तरोबस्तिरिति सुस्निग्धस्य शोधनो निरूह इति, न पुनरुत्तर बस्तिरिति । वृद्ध सुश्रुते चायं पाठोऽन्यथा; तथा च—"उच्छीर्षके समुन्नाहो बस्तेः कृच्छाच्च मेहनम्" इति । न्युब्जस्य पुरुषस्य विमार्गगो बस्तिः पक्काधानं पक्वाशयं नाप्नोति । हृद्गुदं बाधते वायुः कोष्ठं च बाधते इत्यर्थः । उत्तानस्येत्यादि । नेत्र संवेजनं नेत्रकम्पनं, तेन भ्रान्तो वायुरित्यर्थः । सकथ्नोरूर्वो न प्रत्येति न प्रत्यागच्छति न निष्काशयतीत्यर्थः । अवाङ्मुखः अधोमुखः । दक्षिणाश्रितपार्श्वस्य पुरुषस्य बस्तिर्दत्तःसन् कृत्स्नं पक्वाशयं न प्राप्नोति । कुत इत्याह—यतः पक्वाशयो वामपार्श्वानुगो वामपार्श्वमनुगच्छति । उपसंहार व्याजेन निदानवर्जनं चिकित्सितमाह—न्युब्जादीनामित्यादि । अत्रैव दोष साधनं निर्दिशन्नाह—पश्चादनिलकोप इत्यादि । हृदय पृष्ठगुदादिबाधासु तत्तद्व्याध्युपरमेण भेषजे नैव साधितेन बस्तिना साध्य इत्यर्थः । डल्हणः ।

उच्चकैरत्यवाक्शीर्षमूर्ध्वसंकुचितस्थितम् ।
उत्तानं दक्षिणं पार्श्वं सप्तशय्याः परित्यजेत् ॥
मूत्राघातोऽस्रसंप्राप्तिरप्राप्तिः साधुता गतिः ।
आश्वागतिर्मरुत्कोपस्तृप्तिः पक्वाशयस्य च ॥
तद्दोषाः स्युर्विधातव्यं यथोपयिकमात्र च ।

अ० सं० क० ७।१९-२०

उच्चकैरित्यादिना सप्तशय्या बस्तिकर्मणि क्रमेण मूत्राघातादि सप्तदोष भयात् । उच्चकैरित्युच्छ्रिता शय्या पूर्वभागे । एवं हि मूत्राघातः । अवाक्शिरसत्वेनौषधस्यातिसम्प्राप्तिः । न्युब्जत्वेनावाङ्मुखत्वेनौषधस्य स्थानात्प्राप्तिः । सङ्कुचिताङ्गत्वेन साधुना मार्गेणौषधस्यानागतिः । अथवा साधु कृत्वा गमनं न भवति । स्थिते निषण्ण उपविष्ट आशु शीघ्रं बस्तेः प्रतिनिवर्तनं । उत्ताने मरुत्कोपः । दक्षिणपार्श्वेन स्थितस्य पक्वाशयस्य तृप्तिः । अत्र शय्यादोषेषु सर्वेषु

हि नेत्रादि दोषेषु च यथोपयिकं यथोपयोगि चिकित्सिते विधातव्यम् । इन्दुः ।

हि०व्या०—शिर को नीचा रखकर दी गई पीडन के समान दोषों को उत्पन्न करती है । शिर को ऊंचा रखकर दी गयी बस्ति मेहन (लिङ्ग) को स्तब्धकर देती है ऐसी अवस्था में मेहन पर स्वेदन करके उत्तरबस्ति देना लाभकर है । मुख को नीचा करके दी गई बस्ति पक्वाशय में नहीं पहुंच पाती । विमार्ग पर जाकर हृदय और गुदा पर जाकर दबाव डालती है । वायु से कोष्ठ पर दबाव पड़ता है । चित्त लिटाकर बस्ति देने से मार्ग में रुकावट होती है । नेत्र कम्पन से चलायमान वायु अन्दर कुपित हो जाती है । शरीर को या दोनों सक्थि को संकुचित करके बस्ति देने से बस्ति प्रदेश वायु से भर जाती है अतः बाहर नहीं निकलती । खड़ा करके दी गई बस्ति शीघ्र वापस आ जाती है पक्वाशय का तर्पण नहीं करती व्यर्थ हो जाती है । दाहिने पार्श्व से लिटाकर दी गई बस्ति पक्वाशय में नहीं पहुंच पाती क्योंकि पक्वाशय का स्थान बाएं भाग में है । अतः उपरोक्त प्रकार से बस्ति नहीं देनी चाहिए ।

बस्तिप्रयोगे प्रणेतुः प्रमादजन्य व्यापदां वर्णनं तेषां चिकित्सा च ।

अनुच्छ्वास्य च बद्धे वा दत्ते निःशेष एव वा ।
प्रविश्य कुपितो वायुः शूलतोदकरो भवेत् ॥
तत्राभ्यङ्गो गुदे स्वेदो वातघ्नान्यशनानि च ।

च० सि० ५।९-१०, आ० सं० क० ७।२२

एतद्व्यापदां चिकित्सितानि प्रत्येकमाह—अनुच्छ्वास्येत्यादि । एते चानुच्छ्वासनादयो यद्यपि पूर्वमेव निषिद्धाः, "सुबुद्धमुच्छ्वास्य च निर्वलीकम्" (सि० अ० ३) इत्यादिनैव, तथाऽपि प्रमादात्तथाप्रयोगसति जातव्यापदां चिकित्साभिधानार्थमस्मिन् प्रकरणे पुनरुक्ताः । चक्रपाणिः ।

सवातो द्विविधः । "अनुच्छ्वास्य तु बद्धे वा दत्ते निःशेष एव वा इत्युक्ताः तथा एवमन्यत्र सुबुद्धमुच्छ्वास्य सावशेषं च कुर्वीतेत्युक्तम् । इदं न तु तन्निमित्तो दोषश्चिकित्सितम् वा तत्रोक्तम् । इह तु लक्षणं—"प्रविश्य क्षुभितो वायुः" इति । चिकित्सितं तत्राभ्यङ्गो गुदे स्वेदः इत्यादि । जज्जटः ।

बस्ति प्रणेतृ प्रमादजन्य दोषाणां वर्णनम्

सवातातिद्रुतोत्क्षिप्ततिर्यगुल्लुप्तकम्पिताः ।
अतिबाह्यागमन्दातिवेगदोषाः प्रणेतृतः ॥

च० सि० ५।८, अ० सं० क० ७।२१
का० सं० सि० ५।१४-१५

सवातेत्यादयः प्रणेतृदोषजिनाः प्रणेतृ दोषा उच्यन्ते । तत्र सवाताऽनुच्छ्वास्य बद्धे बस्तौ तथा निःशेषं च दत्ते भवति । अति द्रुतत्वमपि प्रणयने निर्गं-

मनेन। उत्क्षिप्तत्वमूर्ध्वक्षिप्तत्वम्। तिर्यगिति तिर्यक् प्रणिधानम् उल्लुप्तत्वमिह पीडन दोषों यः पीडनविच्छेदं कृत्वा पुनः पीड्यते सज्ञेयः। कम्पितत्वं नेत्रस्य। अतीति अति प्रणयनं नेत्रस्य। बाह्यगं गुदे न प्रविष्यमौषधम्। मन्दत्वं च पक्वाशयाप्राप्तत्वम्' एतद्धि मन्द पीडनाद्भवति। अतिवेगो दूरप्रवेशाभवति, स चाति पीडनकृतः। चक्रपाणिः।

प्रणेतृदोषास्सवातातिद्रुतोक्षिप्ततिर्यगुल्लुप्तकम्पिताः इति। सवातो द्विविधा अनुच्छ्वास्य बन्धनं निःशेषादानं च। द्रुतोऽपिद्विविधः द्रुतप्रणीतो द्रुतनिष्कृत श्चेति। उत्क्षिप्तश्चेति। सहसोत्क्षिप्तः। तिर्यगपि द्विविधः वस्त्यावृतद्वारो बद्ध-द्वारश्चेति। नेत्रप्रणिधानाश्रया बस्तिबन्धनप्रभृतयश्च। जज्जटः।

अप्राप्तमतिनीतं च विन्यस्तमवपीडितम्।
स्रुतं विलग्नं शिथिलं रुद्धवातं चिराचिरम्॥
प्रज्ञापराधजा दोषाः प्रणेतुर्बस्ति कर्मणि।
... ... भगन्दरम्॥
जीव कर्षभ सिद्धेन तं घृतेनानुवासयेत्।
निरूहयेत्स्रंसयेद्वा ततः संपद्यते सुखी॥

का० सं० चि० ५।१३-१६

अथ नेत्रे विचलिते तथा चैव विवर्तिते।
गुदे क्षतं रूजा वा स्यात्तत्र सद्यः क्षतक्रियाः॥
अत्युत्क्षिप्तेऽवसन्ने च नेत्रे पायौ भवेद्रुजा।
विधिरत्रापि पित्तघ्नः कार्यः स्नेहैश्चसेचनम्॥
तिर्यक् प्रणिहिते नेत्रे तथा पार्श्वावपीडिते।
मुखस्यावरणाद्वस्तिर्न सम्यक् प्रतिपद्यते॥
ऋजुनेत्रं विधेयं स्यात्तत्र सम्यग्विजानता॥

सु० चि० ३६।३-५

तत्र सद्यः क्षतक्रिया मधुघृताभ्यङ्गाद्याः। अत्युत्क्षिप्त इत्यादि। अत्र अत्यु-त्क्षिप्तेऽवसन्ने च नेत्रेऽभिघातेन वातपैत्तिकपायुवेदनायाम्। पित्तघ्न इति मधुर-शीतादिः स्नेहैश्च सेचनमिति घृतादिस्नेह सेचनं, तच्चानिलापहम्। डल्हणः

हि० व्या० -आचार्य आत्रेय पुनर्वसु ने बस्तिदाता के दश दोषों का वर्णन किया है।

(१) सवात—वातयुक्त औषधि को बस्ति द्वारा गुदा में प्रविष्ट करना।

(२) अतिद्रुत—वस्तिनेत्र की शीघ्रता से गुदा में प्रविष्ट करना और बाहर निकालना।

(३) उत्क्षिप्त—नेत्र को ऊपर की ओर करके गुदा में प्रविष्ट करना।

(४) तिर्यक्—नेत्र को तिरछाकर गुदा में प्रविष्ट करना।

(५) उल्लुप्त—नेत्र को गुदा में प्रविष्टकर वस्ति को बार-बार दबाना और छोड़ना।

(६) कम्पित—नेत्र का गुदा में प्रविष्ट करते समय हिल जाना।

(७) अति - वस्तिनेत्र को गुदा में बार-बार प्रविष्ट करना और निका-लना।

(८) बाह्यग्—बस्तिनेत्र को गुदा के बाहर ही रखना।

(९) मन्द—औषध को गुदा में धीरे-धीरे प्रविष्ट करना।

(१०) अतिवेग—औषध को गुदा में तीव्रवेग से प्रवेश करना। इस प्रकार वस्तिदाता (चिकित्सक) के दश दोषों का वर्णन किया गया है। आचार्य वग्भट ने चरक के पाठ का ही समुल्लेख किया है। आचार्य काश्यपने भी दश दोषों का वर्णन किया है।

अनुच्छ्वास बस्ति प्रयोग से हानि—यदि बस्ति पुटक में औषध भरकर, भली प्रकार नेत्र को बांधकर बिना वायु निकाले हुए नेत्र को गुदा में प्रविष्ट किया जाय अथवा बस्तिपुटक में भरी गयी सारी औषधियों को गुदा में प्रविष्ट कराई जाए तो गुदा में वायु का प्रवेश हो जाता है। जिससे उदर में शूल और सूचीवेधवत् पीड़ा होती है। ऐसी अवस्था में अभ्यङ्ग और गुदा के चारो-ओर स्वेदन करना चाहिए एवं वातनाशक आहार देना चाहिए। आचार्य वाग्भट का पाठ चरक के समान है।

उपरोक्त दश दोषों की चिकित्सा का निर्देश करते हुए आचार्य काश्यप ने कहा है कि जीवक ऋषभक आदि औषधियों से सिद्ध घृत से अनुवासन देना चाहिए। निरूह वस्ति का प्रयोग करना चाहिए। विरेचन देना चाहिए। इस प्रकार की चिकित्सा से रोगी स्वस्थ हो जाता है।

आचार्य सुश्रुत के अनुसार वस्तिनेत्र के हिल जाने से गुदा में क्षत और पीड़ा होती है। ऐसी अवस्था में सदा क्षत की चिकित्सा करनी चाहिए। नेत्र ऊपर को उठ जाने या नीचे हो जाने से गुदा में वेदना होती है। इसमें पित्त-उपाय और स्नेह का परिषेक करना चाहिए। नेत्र प्रविष्ट होते समय तिरछी हो जाने से या पार्श्व में दब जाने से मुख बन्द हो जाता है और औषधि भली प्रकार नहीं जाती अतः वस्ति कर्म में दक्ष चिकित्सक नेत्र को सीधा रखकर वस्ति प्रयोग करें।

बस्तिप्रयोगे हस्तकम्पादि जन्योपद्रवाः तत्र चिकित्सा च।

स्याद्दाहो दवथुः कम्पनाभिहते गुदे।
कषाय मधुराः शीताः सेकास्तत्र सबस्तयः॥

च० सि० ५।१४, अ० सं० क० ८।२८

नेत्रस्य कम्पेन गुदेऽभिहते दाहादिकं स्यात्। तत्र कषायादि गुणाः सेकाश्च वस्तयश्च हिताः। इन्दुः।

हि० व्या०—गुदा में बस्तिनेत्र प्रविष्ट करते समय यदि हाथ कांपने लगे तो उस कम्पन से गुदा में आघात होता है तथा गुदा में दाह, इन्द्रियों में जलन और शोथ होता है। ऐसी अवस्था में कषाय, मधुररसयुक्त शीतल द्रव्यों का परिषेक करना चाहिए तथा कषाय, मधुर रस युक्त शीतल वस्तियों का व्यवहार करना चाहिए। आचार्य वाग्भट का पाठ चरक के समान है।

पुनः पुनः वस्तिनेत्र प्रवेशजन्योपद्रवाः तत्र चिकित्सा च

अतिमात्र प्रणीतेन नेत्रेण क्षणनाद्वलेः ।
स्यात् सार्ति दाहनिस्तोदगुदवर्चः प्रवर्तनम् ॥
तत्र सर्पिः पिचुः क्षीरं पिच्छावस्तिश्च शस्यते ॥

च० सि० ५।१५-१६, अ० सं० क० ७।२६

अतिमात्रप्रणीतेनेति पुनः पुनः प्रणीतेन, अन्ये तु दुष्प्रवेश नमतिमात्रप्रणीतमाहुः, अति प्रणयनं यद्यपि ग्रन्थित कणिकाया उपरि न भवति, तथाऽपि कणिका पीडया गुदपीडनादति प्रवेशो ज्ञेयः। पिच्छाबस्तिर्वक्ष्यमाणः।

चक्रपाणिः।

अति प्रणीत इत्यर्थः। उक्तमेवेदमन्यत्र विधिना स्निग्धे गुदे नेत्र चतुर्थभागं प्रणयेदिति। तस्यात्र लक्षणचिकित्सते। क्षणनाद्वलेः स्यात् सार्तिदानिस्तोदादि। तत्र सर्पिः पिचूः क्षीरमित्यादि। कार्पासतूलस्ससर्पिः पिचु :

जज्जटः।

हि० व्या०—पुनः पुनः नेत्र प्रवेश से हानि—गुदा में पुनः पुनः नेत्र प्रवेश करने से गुदवलियां कट जाती हैं। अतः गुदा में दाह, पीड़ा (सुई चुभोने जैसी) होती है। गुदा से मल का निःसरण होता है। ऐसी अवस्था में गुदा में घृत लगाना तथा घृत युक्त पिचु धारण करना चाहिए। दूध का परिषेक तथा पिच्छावस्ति लाभकर सिद्ध होता है। आचार्य वाग्भट का पाठ भी चरक के समान है।

अति प्रपीडित बस्तियन्त्र दोषाः तत्र चिकित्सा च

अति प्रपीडितः कोष्ठे तिष्ठत्यायाति वा गलम् ।
तत्र बस्तिर्विरेकश्च गलपीडादि कर्म च ॥

च० सि० ५।१८, अ० सं० क० ७।३१, अ० हृ० क० ५।५०

अति प्रपीडितो बस्तिः प्रयात्यामाशयं ततः।
वातेरितो नासिकाभ्यां मुखतो वा प्रपद्यते ॥
तत्र तूर्णं गलापीडं कुर्याच्चाप्यवधूननम् ।
शिरः कायविरेकौ च तीक्ष्णौ सेकांश्च शीतलान् ॥

सु० चि० ३६।१२-१३, वंगसेनः, चक्रदत्तः।

भृशमुत्पीडितो बस्तिर्बाहुल्याद्वतमूच्छितः ।
... ... ॥

.....पित्तकफसंमिश्रो मुखे निपतितेऽहि वा ।
विष्टभ्यति वा तीव्रं प्राणानुपरुणद्धि वा ॥

का० सि० ६।

अति प्रपीडित इत्यादि। प्रपद्यते निर्गच्छतीत्यर्थः। अवधूननं केषादिषूत्क्षिप्य चालनम्। सेकांश्च शीतलान् क्षीरेक्षुरसयष्टिमधुककषायधान्याम्लचुक्तादिशीतद्रव्यपरिषेकान्।

डल्हणः।

हि० व्या—अति दबाव युक्त वस्ति से हानि और उसकी चिकित्सा—यदि अधिक दबाव से बस्ति की औषधि प्रविष्ट की जाय तो वह औषधि पक्वाशय में जाकर वहीं रुक जाती है वापस नहीं आती अथवा औषधि गले तक चली जाती है।

चिकित्सा—ऐसी अवस्था में वस्ति और विरेचन का प्रयोग करना चाहिए। यदि औषधि गले तक आ गई सो तो गले को हाथ से दबा देना चाहिए। इस क्रिया से औषधि का वेग नीचे की ओर प्रवृत्त हो जाता है। परं च गला सावधानी से दबाएँ जिससे रोगी को ज्यादा कष्ट का अनुभव नही हो। आचार्य सुश्रुत के अनुसार शिरोविरेचन, विरेचन और शीतल परिषेक करने का विचार उद्धृत किया है। अन्य आचार्यों का विचार भी समान है।

अयोगोपद्रव वर्णनं तस्य चिकित्सा सूत्रं च।

गुरुकोष्ठेऽनिलप्राये रूक्षे वातोल्बणेऽपि वा ।
शीतोऽल्पलवणस्नेह द्रवमात्रो घनोऽपि वा ॥
बस्तिः संक्षोभ्य तं दोषं दुर्बलत्वादनिर्हरन् ।
करोति गुरुकोष्ठत्वं वातमूत्रशकृद्ग्रहम् ॥
नाभिबस्तिरुजं दाहं हृल्लेपं श्वयथुं गुदे ।
कण्डूगण्डानि वैवर्ण्यमरुचिं वह्निमार्दवम् ॥
तत्रोष्णायाः प्रमथ्यायाः पानं स्वेदाः पृथग्विधा ।
फलवर्त्योऽथवा कालं ज्ञात्वा शस्तं विरेचनम् ॥
बिल्वमूलत्रिवृद्दारुयवकोलकुलत्थवान् ।
सुराक्षिमूत्रवान् बस्तिः सप्राक्पेष्यस्तमानयेत् ॥

च० सि० ७।७-११

गुरुकोष्ठे इति क्रूरकोष्ठे मलपूर्णकोष्ठे वा। अल्पशब्दो मात्रान्तैः प्रत्येकं सम्बध्यते। उष्णायाः प्रमथ्याया इति अतीसारोक्त प्रमथ्यानां या प्रमथ्या उष्ण तस्याः प्रयोगः; प्रमथ्येति पाचनकषायस्यायुर्वेदसमयसिद्धसंज्ञेति प्रतिपादित मेवातीसारे। कालं ज्ञात्वेति विरेचनयोग्यावस्थां ज्ञात्वा। सुरादिवानित्यत्र आदिशब्देनसौवीरकतुषोदकादीनां ग्रहणम्। स प्राक्पेष्य इति बस्तिसूत्रीयोक्त बलादिबस्त्युक्तकल्कयुक्तः। तमानयेदिति अयोगकारकं विबद्धं बस्ति हरति ॥

चक्रपाणिः।

गुरुकोष्ठे ऽनिलप्राये, इति विशेषवाते क्लेश प्रायवद्वा केवल वाते रूक्षे चात्यल्पलवणस्नेहद्रव्यमात्रं वातोल्वणं वा वाताधिके शीतोऽल्पोऽप्यघनः वा घनोऽपि गुरुकोष्टत्वं करोति जाड्यापादयति । नाभिवस्तिरुजादिकं कण्डूगन्धादिकं च करोतीत्येके । अन्ये तु गुरुकोष्ठादिषु शीतादिकं समुदितम् अन्यतरद्वा प्रयुक्तं यथासंख्यं मूत्रशकृत्सङ्गादिकं जनयतीति । अत्रोष्णाया: प्रमथ्याया: "पिप्पली नागरं धान्यं भूतीकमभयं वचामिति । उष्ण द्रव्यगुणयोगादुष्ण प्रमथ्या अतीसारे तिस्रः प्रमथ्या विहता इति वचनात् । दाहे चोष्णप्रमथ्याभिधानात् । वातिकस्य न तु पित्तस्य, तदधिकदाहं करोतीति । फलवर्तयस्तथा कालं ज्ञात्वा विज्ञानं प्रसङ्ग इति । यदि तु मलवर्तयो विहन्यन्ते । बलादुपचितदोषो वा पाचनादिर्वानुपशान्तिकरस्ततो विरेचनमेवेति । शैत्यादिदुष्टो हि बस्तिरेवानिर्गच्छति । नत्वप्रवर्तमाने बिल्वमूलत्रिवृद्दारुयवकोलकुलत्थवान् सुरादिमांस्तत्र बस्तिरिति सुरासौवीरकतुषोदकमैरेयमेदकदधिमण्डोदश्वित्कट्वराम्लकाञ्जिकानि । प्राक्पेष्यः यवान्यादिद्रव्यपेष्यः अन्ये तु अत्र बलादिकं पेष्यमाहुः । पाठं च पठन्ति । सुरादिमूत्रवान्वस्तिः पेष्यैर्युक्तस्समानयेत्" । इति कल्पना सामर्थ्यात् । जज्जटः ।

अयोगोपद्रवलक्षणं तत्र चिकित्सा च

अनुष्णो ऽल्पौषधे हीनो वस्तिर्नेति प्रयोजितः ।
विष्टम्भाध्मानशूलंश्च तमयोगं प्रचक्षते ॥
तत्र तीक्ष्णो हितो बस्तिस्तीक्ष्णं चापि विरेचनम् ।

सु० चि० ३७।३२-३२

अल्पौषध इति अल्पानि औषधानि यत्र, एतेनाल्पौषधत्वादतैक्ष्ण्येन हीन वीर्यत्वमुक्तं, हीन इति समुदायस्याल्पमात्रत्वेन । नैति नागच्छति, गस्तिः विष्टम्भादिभिरुपलक्षितः । तीक्ष्णो हितो बस्तिरित्युपलक्षणं, तेन पूर्वोक्तगुणत्रयविपरीत उष्णो बहुल भेषजो यथोचित प्रमाणो हित पूजित इत्यर्थः । डल्हणः ।

अस्निग्धस्विन्न देहस्य गुरुकोष्ठस्य योजिताः ।
शीतोल्पस्नेहलवणद्रव्यमात्रो घनोऽपि वा ।
वस्तिः संक्षोभ्य तं दोषं दुर्बलत्वादनिर्हरन् ।
करोति वात विण्मूत्र विबंधमतिदारुणम् ॥
बस्तिनाभिरूजानाहं हृल्लेपंश्वयथुं गुदे ।
कंडूगण्डानि वैवर्ण्यमरतिं वह्निमार्दवम् ।
क्वाथद्वयं प्राग्विहितं मध्यदोषेऽतिसारिणी ।
उष्णस्य तस्माद्वयेकस्य तत्र पानं प्रशस्यते ।
फलवर्त्यस्तथा स्वेदाः कालं ज्ञात्वा विरेचनम् ।

बिल्वमूल त्रिवृद्दारू यवकोलकुलत्थवान् ॥
सुरादिमांस्तत्र बस्तिः स प्राक्पेष्यस्तमानयेत् ।

अ० सं० क० ५।१-७, अ० हृ० क० ५।१६

तत्रास्निग्धादिगुणस्य पुंसः शीतादिगुणो बस्तिर्दोषं संक्षोभ्य दुर्बलत्वाच्छीतवीर्यत्वात्तं क्षुब्धदोषमनिर्हरन् वातादीनां विबन्धमतिदारुणं करोति नाभिदाहादिकं च । अल्पद्रव्य मात्रः स्नेहामलमूत्रादिवर्जितः । प्राक्चिकित्सिते मध्यदोषेऽतिसारिणि क्वाथद्वयं विहितं प्रमथ्याख्यं मागधिकादीनां जलजलदादीनां च तस्मात् क्वाथद्वयाद्यपेक्षयैकस्य क्वाथस्य तत्रायोगस्य षड्विधत्वन्नाभिशूलादिके पानं प्रशस्यते । फलवर्त्यादिकं च प्रशस्यते कालं ज्ञात्वा विरेचनयोग्ये विरेचनहितम् । बिल्वमूलादिमान् बस्तिः प्राक्पेष्यैर्यवान्यादिभिर्बस्तिकल्पोक्तैर्युक्तस्तमयोगिनं बस्तिमानयेत् । इन्दुः ।

आनाहिनं शूलरुजापरीतं सुस्निग्ध गात्रं फलवर्तियोगैः
विस्रंसयेत् पथ्यभुजं यथोक्तं ··· ··· ···।

का० सि० ६।

हि० व्या०—बिना स्नेहन स्वेदन किए गुरुकोष्ठ व्यक्ति को यदि शीतवीर्य, अल्पस्नेहयुक्त या अल्प लवणयुक्त, या अल्पमात्रा में बस्ति दी जाय या गाढ़ी बस्ति दी जाय तो बस्ति दोषोत्क्लेशन करती है किन्तु शक्तिहीन होने के कारण दोषों को निकाल नहीं पाती परिणामतः 'अयोग' हो जाता है । अयोग के कारण वायु का अवरोध, मूत्ररोध, मलस्तम्भ, नाभि एवं वस्तिप्रदेश में वेदना दाह, हृदय में चिपचिपाहट, गुदा में शोथ, कण्डू, गलगण्ड, विवर्णता, अरति तथा मन्दाग्नि, अरुचि आदि उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं ।

चिकित्सा-अयोग होने पर सुखोष्ण प्रमाथ्या का पान कराना चाहिए । अनेक प्रकार के स्वेद एवं फलवर्ति अथवा विरेचन (विचारकर) देना चाहिए । बिल्वमूलछाल, सफेद निशोथ, देवदारू, यव, बेर, कुलथी इनके कल्क, और सुरा, सौवीर, आदि तथा गोमूत्र मिलाकर बलादि बस्ति में प्रोक्त कल्क अजवायन आदि मिलाकर निरूहबस्ति देनी चाहिए ।

अतियोगोपद्रव वर्णनं तस्य चिकित्सा सूत्रं च ।

स्निग्ध स्विन्नेऽतितीक्ष्णोष्णो मृदुकोष्ठेऽतियुज्यते ।
तस्य लिङ्गं चिकित्सा च शोधनाभ्यां समा भवेत् ॥
पृश्निपर्णी स्थिरां पद्मं काश्मर्यं मधुकं बलाम् ।
पिष्ट्वा द्राक्षां मधूकं च क्षीरे तण्डुल धावने ॥
द्राक्षायाः पक्वलोष्टस्य प्रसादे मधुकस्य च ।
विनीय सघृतं बस्तिं दद्याद्दाहेऽतियोगजे ॥

च० सि० ७।१२-१४, अ० सं० क० अ० ६

अतियुज्यत इति अतियोगकारको भवति। शोधनाभ्यां समा भवेदितिवमन विरेचनातियोगोक्त लिङ्ग चिकित्सिताभ्यां समाभवेत्। वस्त्यतियोगजे दाहे विशिष्ट चिकित्सामाह —पृश्निपर्णीमित्यादि। अत्र क्षीरादिषु पञ्चद्रवेषु कल्कस्य विलयनम्। द्राक्षादि प्रसादाः शीतकषायविधि कृताज्ञेयाः। चक्रपाणिः।

स्निग्धस्विन्नोऽतितीक्ष्णोष्ण इति। अतिदेशः—"तस्य लिङ्गम् चिकित्सा च शोधनाभ्यां समा भवेदिति। अतियोगलक्षणं यच्चिकित्सा च पूर्वाध्याय ख्याता "बलस्वरक्षयं दाहमित्यादि।" परिषेकावगाहाद्यैस्सुशीतैः स्तम्भयेच्चतम्। कषायमधुरैश्शीतैरित्यादि। वमन विरेचनयोरतियोगलक्षणतुल्यत्वं तत्किमर्थमिह शोधनाभ्यामित्युच्यते। अन्यतराभिधानेनापि तद्ग्रहणं भवेदिति वमनस्यातियोगे तु शीताम्बुपरिषेचितमिति। अतश्शोधनाभ्यामिति चिकित्सासम्बन्धेनैवोक्तमित्यदोषः। तत्र यदधिकृतं—"लिङ्गं यदेवातिरेचितस्येति" तदिहातिदिश्यते। तेनैतदुक्तं भवति। एतान्यपि पृश्निपर्णीस्थिराद्राक्षेत्यादिमधुपक्वलोष्ठानां प्रसादस्तत्कृतः। क्षीरे तण्डुलधावने प्रसादे च प्रत्येकं, समुदितेषु वा विनीय प्रक्षिप्यतानि द्रव्याणि सघृतं बस्तिं दद्याद्दाहेऽतियोगज इति। जज्जटः।

अत्युष्णतीक्ष्णोऽतिबहुर्दत्तोऽति स्वेदितस्य च।
अल्पदोषस्य वा वस्तिरतियोगाय कल्पते॥
विरेचनातियोगेन समानं तस्य लक्षणम्।
पिच्छाबस्तिप्रयोगश्च तत्र शीतः[1] सुखावहः॥

सु. चि० ३७।४७-४८

बस्तिरत्युष्णतीक्ष्णाम्ल घनोतिस्वेदितस्य च।
अल्प दोषे मृदौ कोष्ठे प्रयुक्तो वा पुनः पुनः॥
अतियोगत्वमापन्नो भवेत्कुक्षि रुजाकरः।
विरेचनाति योगेन स तुल्याकृति साधनः॥

अ० सं० क० ६।३१-३२, अ० हृ० क० ५।२१-२३

उष्णादिगुणवान्वस्तिः प्रयुक्तोऽतिस्वेदितस्य वा प्रयुक्तः अल्पदोषादिके वा पुनः पुनः प्रयुक्तोऽतियोगमापन्नः सन् कुक्षिरुजाकरो भवेत्। सोऽतियोगो विरेचनातियोगेन तुल्यलक्षणस्तुल्यसाधनश्च। इन्दुः।

अत्युष्णतीक्ष्णाम्लघनोवस्ति प्रयुक्तोऽतिस्वेदितस्य वा पुंसोऽल्पे दोषे तथा मृदौ कोष्ठे मुहुर्मुहुः प्रयुक्तत्वादतियोगत्वं प्राप्तोऽयं कुक्षिरुग्जनकः स्यात्। स तथाविधो बस्तिर्विरेचनातियोगेन तुल्ये सदृशेलक्षण चिकित्सिते यस्य स एव स्यात्। अरुणदत्तः।

हि० व्या०—अतियोग का कारण लक्षण और चिकित्सा—स्नेहन-स्वेदन के पश्चात् मृदुकोष्ठ युवक व्यक्तियों में यदि अत्यधिक तीक्ष्ण और उष्ण वस्ति

१. शीतः शीतोपचारश्च सुखावह इत्यर्थः। डल्हणः।

का प्रयोग किया जाय तो उसे अतियोग हो जाता है। इसका लक्षण और चिकित्सा वमन और विरेचन के अतियोग के समान होती है। अतियोग से यदि दाह उत्पन्न हो तो पिठिवन, सरिवन, कमल का पुष्प, गम्भारी का फल मुलेठी, बला, मुनक्का और महुआ इन्हें दूध में घोलकर या चावल के पानी में घोलकर या अंगूर के रस में घोलकर या मिट्टी को आग में पकाकर जल में बुझाकर उस बुझाए हुए जल में घोलकर या मुलेठी के क्वाथ में घोलकर घृत मिलाकर बस्ति देनी चाहिए। आचार्य सुश्रुत ने इसमें पिच्छाबस्ति देने का विशेष वचन उद्धृत किया है और शीतोपचार का निर्देश किया है।

बस्तिप्रयोगे परिस्राव नामकस्य उपद्रवस्य वर्णनं तस्य चिकित्सा सूत्रं च।

पित्तरोगेऽम्ल उष्णो वा तीक्ष्णो वा लवणोऽथवा।
बस्तिर्लिखित पायुं तु क्षिणोति विदहत्यपि॥
सविदग्धः स्रवत्यस्रं पित्तं चानेक वर्णवत्।
सार्यते बहुवेगेन मोहं गच्छति चासकृत्॥
आर्द्रशाल्मलिवृन्तैस्तु क्षुण्णैराजं पयः भृतम्।
सर्पिषा योजितं शीतं बस्तिमस्मै प्रदापयेत्॥
वटादिपल्लवेष्वेव कल्पो यवतिलेषु च।
सुवर्चलोपोदिकयोः कर्बुदारे च शस्यते॥
गुदे सेकाः प्रदेहाश्च शीताः स्युर्मधुराश्च ये।
रक्तपित्तातिसारघ्नी क्रिया चात्र प्रशस्यते॥

च० सि० ७।५८-६२, अ० सं० क० क० ३।०६

पित्तरोग इत्यादिना परिस्रावमाह। क्षिणोतीति हिनस्ति। एष कल्प इति आर्द्रशाल्मलीवृन्तोक्तक्षीरसंस्कारकल्पः। सुवर्चलमिति सुनिषण्णकमाहुः। कर्बुदारः काञ्चनारः। चक्रपाणिः।

अत्यम्ललवणस्तीक्ष्णः परिस्रावायकल्पते।
दौर्बल्यमङ्गसादश्च जायते तत्र देहिनः॥
परिस्रवेत्तत पित्तं दाहं सञ्जनयेद् गुदे।
पिच्छाबस्तिर्हितस्तत्र बस्तिः क्षीरघृतेन च॥

सु० चि० ३७।३९-४०

परिस्रावाय कल्पते इति परिस्रावोऽयं केवल पित्तजो न तु वमन विरेचन परिस्रववत् कफपित्तसंभवः। तत्र पित्तरक्तभूयिष्ठायां सर्पिषा, वातरक्तभूयिष्ठायां तैलेनानुवासनम्। डल्हणः।

बस्तिः क्षाराम्लतीक्ष्णोष्णलवणः पैत्तिकस्य वा।
गुदं लिखन् दहन् क्षिण्वन् करोत्यसृपरिस्रवम्॥

स विदग्धं स्रवत्यत्यं वर्णैः पित्तं च भूरिभिः ।
बहुशश्चातियोगेन मोहं गच्छति चासकृत् ॥
तत्रार्द्रैः शाल्मलीपत्रैः क्षुण्णैराजपयः श्रृतम् ।
पूतं घृतान्वितं बस्तिं दद्यादन्यांश्च पिच्छिलान् ॥
वटादिपल्लवेष्वेवं कल्पो यवतिलेषु च ।
सुवर्चलोपोदकयोः कच्छुदारे च शस्यते ॥
गुदे च शीत मधुरान् कुर्यात सेक प्रलेपनान् ।
रक्त पित्तातिसारघ्नी क्रिया चात्र प्रशस्यते ॥
दाहादिषुत्रिवृताकल्कं मृद्वीकावारिणापिबेत् ।
तद्धि पित्तशकृद्घातान् हृत्वा दाहादिकान् जयेत् ॥
विशुद्धश्च पिबेच्छीतां यवागूं शर्करायुताम् ॥
युञ्ज्याद्वातिविरिक्तस्य क्षीणविट्कस्य भोजनम् ।
माषयूषेण कुल्माषान् पानं दध्यथवा सुराम् ॥

अ० सं० क० ६।४८-५४, अ० हृ० क० ५।२३-२८

पैत्तिकस्य क्षारादिगुणो वस्तिर्गुददाहादिकं कुर्वन्नत्र परिस्रवं करोति । स परिस्रववान् विदग्धमसृग्बहु वर्णैः स्रवति । पित्तं च तथाविधमनेकवर्णं स्रवत्यति योगेन । असकृच्चासौ मोहं गच्छति । तत्राद्रैः शाल्मलीपत्रैः क्षुण्णैराजं पयः श्रृतम् । पूतं घृतान्वितं च बस्तिं दद्यात् । अन्यांश्च पूर्वोक्तान् पिच्छिलान् बस्तीन् दद्यात् । एष च शाल्मलीपत्रकल्पो, वटादिपल्लवेषु यवतिलानां पल्लवेष्वपीष्टः सुवर्चलादीनां च शस्यते । गुदे च शीतादिगुणान् सेकान् प्रलेपांश्च कुर्यात् । अत्र च रक्तपित्तघ्नी क्रिया शस्यते रक्तातिसारघ्नी च । दाहादिषु द्राक्षामृदित वारिणा त्रिवृत्कल्कं पिबेत् । तत् त्रिवृत्कल्कयुक्तं मृद्वीकावारि पित्तादीन् हृत्वा दाहादिकान् जयेत् । तेन च विशुद्धो यवागूं शर्करायुक्तां पिबेत् । अथवा योऽति विरिक्ततया क्षीणविट्कस्य माषयूषेण भोजनं युञ्ज्यात् । कुल्माषः स्विन्नसस्यम् । पानं दधि व सुरां व युञ्ज्यात् । इन्दुः

हि व्या० —परिस्राव नामक व्यापत्ति का कारण, लक्षण और चिकित्सा—पित्तजन्य रोग से पीड़ित रोगियों में अम्ल, उष्ण, तीक्ष्ण अथवा लवणयुक्त निरूहबस्ति देने पर गुदा में लेखन होता है । लेखन होने के कारण गुदा कट जाती है और गुदा में जलन होती है । यह विदग्ध वस्ति रक्त और पित्त को अनेक (वर्ण के) रूपों में निकालती है । रक्त और पित्त बहुधा अति वेग से निकला करता है । अधिक वेग से रक्त और पित्त निकलने से रोगी बार-बार मूच्छित हो जाता है । ऐसी अवस्था में—(१) ताजा शाल्मली (सेमल) पत्र या पुष्प वृन्त को कूटकर बकरी के दूध में पकाकर, शीतल होने पर घी मिला

कर बस्ति देना चाहिए । (२) इसी प्रकार वट आदि पञ्चक्षीरी वृक्ष के कोमल पत्र बकरी के दूध में पकाकर तथा शीतल होने पर घृत मिश्रितकर बस्ति देनी चाहिए । (३) जौ, तिल, सुवर्चला, पोई का साग, तथा कचनार के पुष्प को अलग-अलग बकरी के दूध में पका घी मिलाकर बस्ति देनी चाहिए । (४) गुदा के ऊपरी भाग में शीतल और मधुर द्रव्यों के क्वाथ से परिषेक करना चाहिए । (५) शीतल और मधुर द्रव्यों के कल्क प्रदेह लगाना चाहिए । (६) परिस्राव में रक्तपित्त और अतिसार नाशक चिकित्सा करनी चाहिए ।

आचार्य सुश्रुत ने इसमें पिच्छा बस्ति एवं दूध और घृत की बस्ति देने का निर्देश किया है ।

आचार्य वाग्भट ने दाह की अवस्था में द्राक्षाका जल त्रिवृत् कल्क के साथ पिलाने का निर्देश दिया है । शोधन के पश्चात् खाड़ मिश्रित शीतल यवागू (दलिया) देना चाहिए । अत्यन्त विरेचन हो जाने पर पुरीषक्षय की अवस्था में उड़द के यूष के साथ कुलमाष का सेवन करना चाहिए । दही अथवा सुरा पान करना चाहिए ।

गुददाहादिशमनः प्रत्यास्थापन योगः ।

वातोपसृष्टस्योष्णैः स्युर्गुददाहादयो यदि ।
द्राक्षाम्बुना त्रिवृत्कल्कं दद्याद्दोषानुलोमनम् ॥
तद्धि पित्तशकृद्घातान् हृत्वा दाहादिकाञ्जयेत् ।
शुद्धश्चापि पिबेच्छीतां यवागूं शर्करायुतम् ॥

च० सि० ८।१६-१७

वातोपसृष्टस्येत्यादौ उष्णैरिति बस्तिविशेषणम् । दाहादयो दाहमोहतृष्णादयो वातपित्तजन्याः द्राक्षाम्बुना त्रिवृत्पानस्य दाहादिकारके पित्ते वाते च हितत्वं दर्शयन्नाह । तद्धीत्यादि । चक्रपाणिः ।

हि० व्या० - गुददाहनाशक उपद्रव चिकित्सा—वातपीड़ित व्यक्तियों में यदि उष्ण वस्ति का प्रयोग कराया जाय तो गुदा में दाह उत्पन्न हो जाता है । उसमें द्राक्षादि द्रव्यों के क्वाथ में निशोथ कल्क मिलाकर मात्रा के अनुसार पिलाना चाहिए । इससे दोषों का अनुलोमन होता है । यह योग पित्त मल एवं वात को दूरकर दाहादि उपद्रवों को शांत करता है । इसके प्रयोग से शरीर शुद्ध होने पर चीनी मिलाकर शीतल यवागू पिलाना चाहिए ।

निरूहातियोग गुददाहोपद्रव चिकित्सा ।

दाहादिषु त्रिवृत्कल्कं मृद्वीकावारिणा पिबेत् ।
तद्धि पित्त शकृद्घातान्हत्वा दाहादिकान् जयेत् ॥
विशुद्धश्च पिबेच्छीतां यवागूं शर्करायुताम् ॥

युञ्ज्याद्वाऽतिविरिक्तस्य क्षीणविट्कस्यभोजनम् ।
माषयूषेण कुल्माषान्पानं दध्यथवा सुराम् ॥

अ० सं० क० ६।-

दाहादिषु द्राक्षामृदितवारिणा त्रिवृत्कल्कं पिबेत् । तत् त्रिवृत्कल्कयुक्तं मृद्वीकावारि पित्तादीन् हत्वा दाहादिकान् जयेत् । तेन च विशुद्धो यवागूं शर्करायुतां पिबेत् । अथवा योऽति विरिक्तताक्षीणविट्कस्तस्य माषयूषेण भोजनं युञ्ज्यात् । कुल्माषान् वा युञ्ज्जात् । कुल्माषः स्विन्नसरयम् । पानं तु दधि वा सुरां वा युञ्ज्यात् । इन्दुः ।

बस्तिनेत्र तिर्यक् प्रयोगोपद्रवाः तत्र चिकित्सा च

तिर्यग्वल्यावृतद्वारे बद्धे वापि न गच्छति ।
नेत्रे तदृजु निष्कृष्य संशोध्य च प्रवेशयेत् ॥

च० सि० ५।१२, अ० सं० क० ७।२६

तिर्यक् प्रणिधान दोषेऽभिधातव्ये नलिकामुखरोधि द्रव्यान्तरं तत्समान व्यापत्तिकरत्वादुच्यते । तिर्यग्वल्यावृतद्वारे बद्धे वाऽपीति तिर्यक् प्रणिहिते नेत्रे वल्यावृतद्वारे सति तथा बस्तिद्रव्यगतसूत्रद्रव्यादिना विबद्धे नेत्रे बस्तिद्रव्यं न याति तन्नेत्रं तिर्यक् प्रणिहितं निष्कृत्य ऋजु प्रवेशयेत्, बद्धद्वार च संशोध्य प्रवेशयेदिति योज्यम् । चक्रपाणिः ।

तिर्यक् प्रणीते वल्यावृतद्वारे (बद्धे वाऽपि च) नेत्रे न गच्छतीति । उक्तमेवेदमन्यत्र सह दोषेणेति । "तिर्यक् प्रणीते तु न याति धारा बद्धे प्रणीते विषमे च नेत्रे" । उद्देशेऽपि च तिर्यग्ग्रहणं लिङ्गार्थम् । नेत्रं तदूर्ध्वं निष्कृस्येति निःशेषेण शनैः । चिकित्सितं—"संशोध्य च पुननयेत्" नेत्रं गुदं च संशोध्येति गुप्तम् । जज्जटः ।

तिर्यक् प्रणिहिते नेत्रे नेत्रद्वारे यदा वल्यावृतत्वादौषधमन्तर्न गच्छति तिर्यग्वा बद्धे बस्तावेवं भवति । बद्धं रुद्धमार्गं नेत्रम् । उभयत्रापि तं नेत्रं ऋजुकृत्वा यथैव प्रविष्टं तथैव निष्कृष्य संशोध्य च पुनर्गुदं नयेन्नेत्रम् । इन्दुः ।

हि० व्या०—तिरछी नेत्र प्रयोग से हानि- यदि वस्तिनेत्र को तिरछा करके गुदा में प्रविष्ट किया जाय तो गुदद्वार के वलियों से आवृत होने के कारण औषधि भीतर प्रविष्ट नहीं होती अथवा बस्ति नेत्र जिस धागे से बांधा गया हो उसी धागे से बस्ति पुटक का द्वार बंध गया हो तो औषध भीतर नहीं जाती है । ऐसी अवस्था में वस्तिनेत्र निकालकर और उसका शोधनकर सीधी करके गुदा में प्रविष्ट करना चाहिए । आचार्य वाग्भट का पाठ समान है ।

त्वरित बस्ति :प्रयोगोपद्रवाः तत्र चिकित्सा च

द्रुतं प्रणीते निष्कृष्टे सहसोत्क्षिप्त एव वा ।

स्यात् कटीगुदजङ्घार्तिबस्तिस्तम्भोरुवेदनाः ॥
भोजनं तत्र वातघ्नं स्नेहाः स्वेदाः सबस्तयः ।

च० सि० ५।१०-११, अ० सं० क० ७।२४

द्रुतमित्यादि । उत्क्षिप्तमपि समान व्यापत्तिकरतयैकग्रन्थेनैव पठ्यते । निष्कृष्टे सहसेतिच्छेदः, उत्क्षेपस्त्वसहसाऽपि व्यापत्तिकर एव । बस्तेर्मूत्राशयस्य स्तम्भो बस्तिस्तम्भः सबस्तय इति वातहरबस्तियुक्ताः । चक्रपा० ।

द्रुतो द्विविधः, उत्क्षिप्ततुल्यलक्षणचिकित्सितात् स्यात् । कटीगुदजङ्घार्तिलक्षणम् । भोजनं वातघ्नं स्नेहस्वेदास्सबस्तयः ।" इति चिकित्सितम् ।

जेज्जटः ।

अतिद्रुतं नेत्रे प्रणीते वा निष्कृष्टे वा कटिस्तम्भादिकं स्यात् । तथा सहसा झटित्युत्क्षिप्ते नेत्रे कटिस्तम्भादिकं स्यात् । इन्दु, ।

हि० व्या०—यदि बस्तिनेत्र को शीघ्रतापूर्वक गुदा में प्रवेश किया जाय या शीघ्रतापूर्वक निकाला जाय, अथवा नेत्र का मुख ऊपर की ओर करके औषध प्रवेश किया जाय तो कटिप्रदेश, गुदा और जंघा में वेदना होती है । मूत्राशय में जकड़ाहट उरु प्रदेश में वेदना होती है । ऐसी अवस्था में वातनाशक आहार का सेवन करना चाहिए । स्नेहन, स्वेदन और वातनाशक बस्तियों का प्रयोग लाभकर है । आचार्य वाग्भट ने समान पाठ उद्धृत किया है ।

आमादि षट्कसमुदायरूपसंसर्गे चिकित्सासूत्रम् तथा निरामोपद्रव चिकित्सासूत्रं च ।

युगपत् षड्रसे षण्णां संसर्गे पाचनं भवेत् ।
निरामाणां तु पञ्चानां बस्तिः षाड्रसिको मतः ॥

च० सि० ८।३५

आमादिषट्क समुदायरूपसंसर्गे कार्यमाहयुगपदित्यादि । युगपदिति । एकदैव मिलितानां षण्णामिति यावत् । षड्रसमिति मिलितषड्रसकृतम् । निरामाणामिति आमवर्जितानां शकृदादीनां पञ्चानाम् । षाड्रसिक इति षड्रसमेलकेन कृतः । चक्रपाणिः ।

हि० व्या०- यदि आम और मल का संसर्ग हो तो मधुरादि छः रसों से युक्त पाचन औषधियों का उपयोग करना चाहिए । आम दोष से रहित मल आदि पांच दोषों का संसर्ग हो तो छहों रसों से युक्त बस्ति का प्रयोग करना चाहिए ।

हीन मात्रा जन्य बस्तिव्यापत् लक्षणम् तत्र चिकित्सा च

हीनमात्रावुभौ बस्ती नातिकार्यकरौ मतौ ।
तत्र हीनादिषु हितः प्रत्यनीकः क्रियाविधिः ॥

सु० चि० ३६।१८ (क)

हि० व्या०—हीनमात्रा में दी गई निरूह-अनुवासन बस्ति से अपेक्षित कार्य नहीं होता है। हीन आदि दोषों में विरोधी चिकित्सा करनी चाहिए।

अतिमात्राजन्य व्यापत् लक्षणम् तत्र चिकित्सा च

अतिमात्रौ तथाऽऽनाह क्लमातीसारकारकौ।

सु० चि० ३६।१६

हि० व्या०—अति मात्रा में दी गई बस्ति से आनाह, क्लम, अतिसार आदि उपद्रव उत्पन्न होते हैं।

अपक्वस्नेहजन्य बस्तिव्यापत तत्र चिकित्सा च।

गुदोपदेह[1] शोफौ तु स्नेहोऽपक्वः करोति हि।
तत्र संशोधनो बस्तिर्हितं चापि विरेचनम्॥

सु० चि० ३६।१७

हि० व्या०—अपक्व स्नेह के कारण गुदा में मलवृद्धि एवं शोफ उत्पन्न होता है। इसमें शोधनबस्ति एवं विरेचन लाभकर है।

अत्युष्णतीक्ष्ण बस्तिव्यापत् लक्षणम्।

मूर्च्छा दाहमतीसारं पित्तं चात्युष्णतीक्ष्णकौ। सु० चि० ३६।२०

हि० व्या०—अति उष्ण या अति तीक्ष्ण बस्ति से मूर्च्छा, दाह अतिसार और पित्तवृद्धि होती है।

मृदुशीत बस्ति व्यापत् लक्षणम्।

मृदुशीतावुभौ वातविबन्धाध्मानकारकौ। सु० चि० ३६।२०

हि० व्या०—मृदु और शीतल बस्ति वातवर्धक, विबन्ध और आध्मान उत्पन्न करती है।

पक्वाशये आमशेषे निरूहबस्तिजन्य उपद्रवाः तत्र चिकित्सा च।

सशेषामेऽनुत्पन्ननिरामके पुरुषे मृदुना निरूहेण दोष ईरितः।
मूर्च्छत्यनिलं मार्गं रुणद्ध्यग्निं हिनस्ति च॥
गौरवक्लमहृच्छूलदाहसंमोहवेष्टनम्।
ततः कुर्यादुपचरेत्तं रूक्षस्वेदपाचनैः॥

अ० सं०, का० ६।८-९

सशेषामेऽनुत्पन्ननिरामके पुरुषे मृदुना निरूहेण दोष ईरितोऽनिलं वायुं मूर्छयति ज्वलयति मार्गं च रुणद्धि अग्निं च हिनस्ति ततोऽनन्तरं गौरवादिकं कुर्यात्। तमातुरं रुक्षादिभिरूपचरेत्। इन्दुः।

हि० व्या०—पक्वाशय में आम दोष होने पर मृदुवीर्य औषधियों की

१. उपदेह उपलेपः। 'हितं चापि विरेचनम्' इत्यत्र 'रूक्षं चापि विरेचनम्' इति गयदासः। डल्हणः।

बस्ति देने से कुपित वायु मार्ग को रोककर अग्निमांद्य उत्पन्न करती है फलस्वरूप सम्पूर्ण शरीर में गुरुता, थकावट, हृदय में शूल, जलन एवं संज्ञानाश आदि उपद्रव होता है। रूक्षस्वेद एवं पाचन औषधियों से इसकी चिकित्सा करनी चाहिए।

मृदुवीर्यबस्तिभेषजोपद्रवशमनो योगाः।

पिप्पलीकतृणोशीदारुमूर्वाश्रृतं जलम्।
पिबेत्सौवर्चलोन्मिश्रं दीपनं हृद्विशोधनम्॥
वचानागरशठ्यो वा दधिमण्डेन मूर्च्छिताः।
पेयाः प्रसन्नया वा स्युररिष्टेनासवेन वा॥
दारुत्रिकटुकं पथ्यां पलाशं चित्रकं शठीम्।
पिष्ट्वा कुष्ठं च मूत्रेण पिबेत्क्षारांश्च दीपनान्।
बस्तिमस्य विदध्याच्च समूत्रं दाशमूलिकम्॥

अ० सं०, क० ६।

तत्र च पिप्पल्यादिभिः श्रृतं जलं सौवर्चलोन्मिश्रं पिबेत्। तद्धि दीपनं शोधनं च। अथवा वचादयो दधिमण्डेन मस्तुना मूर्छिता आलोडिताः प्रसन्नया वा पेयाः स्युः आसवेन वारिष्टेन वा पेयाः स्युः। दार्वादिकं च मूत्रेण पिष्टं पिबेत्। चिकित्सितोक्तांश्च दीपनान् क्षारान् पिबेत्। अस्य चायोगिनो दशमूल निर्वृत्तं बस्तिं समूत्रं विदध्यादित्युक्तं गौरवम्। इन्दुः।

हि० व्या०—पिप्पली, कतृण (रोहिशघास), दारुहल्दी, मूर्वा (मरुवक), इन औषधियों से सिद्ध जल (क्वाथ) में सौवर्चल नमक मिलाकर पीने से दीपन (अग्निवर्धन) और हृदय का शोधन होता है।

वच, सोंठ, शठी, दधिमण्ड में पकाकर पीना चाहिए। प्रसन्ना, आसव, अरिष्ट भी पीना चाहिए।

दारुहल्दी, त्रिकटु, हरीतकी, पलाश, चित्रक, शठी और कुष्ठ को गोमूत्र में पीसकर दीपनीय क्षार मिलाकर पीना चाहिए। गोमूत्र के साथ दशमूल को औषधियों को पकाकर बस्ति देनी चाहिए।

सान्द्रबस्ति व्यापत् लक्षणम् तत्र चिकित्सा च।

गुदबस्त्युपदेहं तु कुर्यात् सान्द्रो निरूहणः।
प्रवाहिकां वा जनयेत्तनुरल्पगुणावहः॥
तत्र सान्द्रे तनुं बस्तिं तनौ सान्द्रं च दापयेत्॥

सु० चि० ३६।२१

हि० व्या०—गाढ़ी (निरूह) बस्ति गुदा में मलवृद्धि करती है अथवा प्रवाहिका उत्पन्न करती है। पतली बस्ति से अल्प लाभ होता है। सान्द्रबस्ति के दोष में तनु बस्ति और तनुबस्ति के दोष में सान्द्र बस्ति देनी चाहिए।

अतिस्निग्ध अतिरूक्ष बस्तिव्यापत् तत्र चिकित्सा च।

स्निग्धोऽतिजाड्यकृद्रूक्षः स्तम्भाध्मानकृदुच्यते।
बस्तिं रूक्षमतिस्निग्धे स्निग्धं रूक्षे च दापयेत्॥

हि० व्या०—स्निग्ध बस्ति अतिशय जड़ता उत्पन्न करती है। रूक्ष बस्ति से स्तम्भ और आध्मान उत्पन्न होता है। अतिस्निग्ध में रूक्ष बस्ति और रूक्ष में स्निग्ध बस्ति देनी चाहिए।

सामान्यतः वातपित्तरक्तकफजन्योपद्रवशमनाय सामान्यं चिकित्सा सूत्रम्।

स्निग्धाम्ललवणमधुरं पानं बस्तिश्च मारुते कोष्णः।
शीतं तिक्तकषायं मधुरं पित्ते च रक्ते च॥
तिक्तोष्णकषायकटु श्लेष्मणिसंग्राहि वातनुच्छकृति।
पाचनमामे पानं पिच्छासृग्बस्तयो रक्ते॥
अतिसारं प्रत्युक्तं मिश्रं द्वन्द्वादियोगजेष्वपि च।
तत्रोद्रेकविशेषाद्दोषेषूपक्रमः कार्यः॥

च० सि० ८।४३-४५

प्रपञ्चोक्तं भेषजं संग्रहेणाभिदधाति—भवन्ति चात्रेत्यादि। पानमिति पाचनपानम्। बस्तिश्चेति स्निग्धाम्ल लवणमधुर एव बस्ति। मारुते इति मारुतातिसारे; एवमन्यत्रापि पित्ते इत्यादौ पित्तादिजातिसारे इति ज्ञेयम्।

संग्राहि वातनुदित्यत्र 'भेषजं' इति शेषः; तच्च भेषजं यथोक्तबस्त्यादिरूपमेव। पाचनमामे पानमिति पाचनघनातिविषादिद्रव्यकृतं पानमित्यर्थः। पिच्छाबस्तयोऽसृग्बस्तयश्चेति पिच्छासृग्बस्तयः। उक्तमिति साक्षादतिदेशेन च त्रिकादिसंसर्गे प्रोक्तम्। मिश्रमिति एतदेव प्रत्येकं मिश्रीकृतम्। द्वन्द्वादियोगजेष्विति त्रिचतुष्कादि संसर्गजेऽतिसारे। तत्रोद्रेकादिविशेषादिति संसर्गे एव बलाबलविशेषादुपक्रमस्यापि विशेषो भवति। एतदेव बलापेक्षं बहुदुर्बलाऽप्रत्यनीकं बस्त्येकभेषजमिति शेषः। चक्रपाणिः।

हि० व्या०—(१) वातजन्य अतिसार में स्निग्ध, अम्ल, लवण और मधुर द्रव्यों का कल्क बनाकर रोगी को उष्ण जल के साथ पान कराना चाहिए। इन्हीं द्रव्यों के सुखोष्ण क्वाथ से बस्ति देनी चाहिए।

(२) पित्त एवं रक्तजन्य अतिसार में शीतल, तिक्त, कषाय और मधुर द्रव्यों से बनाई गई बस्ति का प्रयोग करना चाहिए तथा उनके चूर्ण या क्वाथ का पान करना चाहिए।

(३) कफजन्य अतिसार में तिक्त, उष्ण कषाय एवं कटु द्रव्यों से बनाई गई बस्ति प्रयोग करनी चाहिए एवं तिक्त द्रव्यों के क्वाथ या चूर्ण का सुखोष्ण जल से पान कराना चाहिए।

(४) शकृदतिसार में वातनाशक संग्राही द्रव्यों से बनाई गई बस्ति का प्रयोग एवं उनसे बने हुए चूर्ण या क्वाथ का पान कराना चाहिए।

(५) आमजन्य अतिसार में पाचन द्रव्यों का पान कराना चाहिए।

(६) रक्तातिसार में पिच्छा बस्ति का प्रयोग तथा बकरे के रक्त की बस्तियों का प्रयोग करना उत्तम है।

इसी प्रकार कई दोषों के संसर्ग से होने वाले अतिसार में उन दोषों की औषधियों को एकत्र कर बुद्धिपूर्वक सेवन करना चाहिए। दोष-संसर्गों में प्रधान दोषनाशक औषधि मिश्रित कर चिकित्सा करनी चाहिए।

कालातिक्रमणजन्य बस्तिव्यापत् तत्र चिकित्सा च।

कालातिक्रमणात् क्लेशो व्याधिश्चाभिप्रवर्धते।
तत्र व्याधि बलघ्नं तु भूयो बस्तिं निधापयेत्॥

सु० चि० ३६।१६

व्याधिश्चाभिप्रवर्धते इति चिरकालनेत्रावस्थान हेतुकगुदमार्गविरोधत्वेन प्रवृत्याभिमुखीभूतवातविघातेनानुलोमसाध्यो व्याधिः प्रवर्धत इत्यर्थः।

हि० व्या०—बस्ति के निश्चित समय बीत जाने पर बस्ति प्रयोग करने से रोग और क्लेश दोनों बढ़ जाते हैं। ऐसी अवस्था में व्याधि की उग्रता को नष्ट करने वाली बस्ति का पुनः प्रयोग करना चाहिए।

बस्तिप्रयोगकाले (मध्ये) व्यवधानजन्याः उपद्रवाः तत्र चिकित्सा च

पीड्यमानेऽन्तरा मुक्ते गुदे प्रतिहतोऽनिलः।
उरः शिरोतिमूर्वोश्च सदनं जनयेद्बली॥
बस्तिः स्यात्तत्र बिल्वादिफलश्यामादि मूत्रवान्।

च० सि० ५।१३, अ० सं० क० ७।-, अ० हृ० क० ५।४८-४९

अन्तरामुक्ते मध्ये विच्छेदे कृते। गुदप्रतिहतोऽनिल इति पीडनविच्छेदजनितो वायुर्गुदात् प्रत्याहतः। बिल्वादिदशमूलम्। श्यामादि श्यामात्रिवृदादि विरेचनद्रव्यम्। चक्रपाणिः।

"पीड्यमानेऽन्तरा मुक्ते गुदे प्रतिहतोऽनिलः" इति। उक्तमेवेदमन्यत्र "गुदे व्रणः स्याच्चलिते च नेत्रे" इति। अतिमात्रा प्रणीतेनानेन नेत्रेणेति। अतिबाह्यातिमन्दातिवेगदोषा इत्युक्तम्। जज्जटः।

पीड्यमानो बस्तिर्यदान्तरा शिथिलहस्तत्वादुन्मुक्तो भवति तदा तेनौषधेन प्रतिहतोऽनिलो बलवानुरोरुजादिकं जनयेत्। तत्र बिल्वादिपञ्चमूलमदनफलश्यामादिगणवान् बस्तिः स्यात्। इन्दुः।

भूयो भूयोऽवपीडेन वायुरन्तः प्रपीड्यते।
तेनाध्मानं रुजश्चोग्रा यथास्वं तत्र बस्तयः॥

सु० चि० ३६।१५

अन्तः उदरस्य इति शेषः। तेनेति उदरान्तर्गतेन वायुना तत्राध्मानं रुजश्च यथास्वं वस्तयः इति ये यस्यात्मीया वस्तयः प्रतीकारहेतुत्वेन।

डल्हणः।

हि० व्या०—बस्ति को बार-बार दबाकर प्रयोग करने से गुदामार्ग में प्रवाहित वायु उरः प्रदेश और शिर में वेदना करती है। उरुओं में शिथिलता होती है। ऐसी अवस्था में बिल्वादिपञ्चमूल या दशमूल, मदनफल, काली निशोध आदि द्रव्यों के क्वाथ, कल्क में गोमूत्र मिलाकर निरूहबस्ति देनी चाहिए। आचार्य वाग्भट का विचार समान है। आचार्य सुश्रुत ने उदर में आध्मान और पीड़ा होने का संकेत किया है।

बस्तिप्रयोगे परिकर्तिकानामकस्य उपद्रवस्य वर्णनं तस्य चिकित्सा सूत्रं च।

मृदुकोष्ठाल्पदोषस्य रूक्षस्तीक्ष्णोऽतिमात्रवान्।
बस्तिर्दोषान्निरस्याशु जनयेत् परिकर्तिकाम्॥
त्रिकवंक्षणबस्तीनां तोदं नाभेरधोरुजम्।
विबन्धोऽल्पाल्पमुत्थानं बस्ति[1] निर्लेखनाद्भवेत्॥
स्वादु शीतौषधैस्तत्र पयः इक्ष्वादिभिः श्रृतम्।
षष्ट्याह्वातिकल्काभ्यां बस्तिः स्यात् क्षीरभोजिनः॥
सर्जरसषष्ट्याह्वजिङ्गिनीकर्दमाञ्जनम्।
विनीय दुग्धे बस्तिः स्यात् व्यक्ताम्लमनुभोजिनः॥

च० सि० ७।५४-५७
अ० सं० क० अ०।६

अतितीक्ष्णोऽतिलवणो रूक्षो बस्तिः प्रयोजितः।
सपित्तं कोपयेद्वायुं कुर्याच्च परिकर्तिकाम्॥
नाभि बस्ति गुदं तत्र छिनत्तीवातिदेहिनः।
पिच्छाबस्तिर्हितस्तस्य स्नेहैश्च मधुरैः श्रृतः॥

हि० व्या०—परिकर्तिका नामक उपद्रव का निदान एवं चिकित्सा—

अल्पदोष और मृदुकोष्ठ से युक्त रोगी को रूक्ष, तीक्ष्ण और अधिक मात्रा में दी गई निरूह वस्ति शीघ्र ही दोषों को निर्हरण कर 'परिकर्तिका' रोग उत्पन्न करती है। त्रिक् प्रदेश, वंक्षण प्रदेश और मूत्राशय में तोद उत्पन्न होता है। नाभि के नीचे वेदना उत्पन्न होती है। विबन्ध के कारण मल अल्प मात्रा में बाहर निकलता है। यह वस्ति लेखन करती है।

---

१. बस्तिर्निर्लेखनादिति वायुना च तीक्ष्णेन बस्तिकर्षणात्।
चक्रपाणिः।

चिकित्सा—(१) ऐसी अवस्था में इक्षुरस अथवा मधुर एवं शीतल द्रव्यों से सिद्ध दूध में मधुयष्टी तथा तिलकल्क मिलाकर बस्ति देनी चाहिए।

(२) रोगी को दुग्ध आहार पर रखना चाहिए।

(३) राल, मधुयष्टी, कमलपङ्क, रसौत, इन्हें दूध में मिलाकर बस्ति देनी चाहिए।

(४) इस बस्ति के प्रयोग-काल में रोगी को अम्लरस युक्त भोजन देना चाहिए।

आचार्य सुश्रुत ने पिच्छा बस्ति देने का निर्देश किया है।

परिकर्तिका गुदपरिस्रावादीनां बस्त्युपद्रवाणां शमनाय कर्बुदारादिको निरूहयोगः।

कर्बुदाराढकी नीपविदुलैः क्षीरसाधितैः।
परिकर्ते तथा वृन्तैः श्वीपर्णीकोविदारजैः॥
परिस्रवे पयः सिद्धं सवृश्चीवपुनर्नवम्।
आखुकर्णिकया तद्वत्तंदुलीयकयुक्तया॥
अश्वावरोहकः काकनासाराजकसेरुकाः।
सिद्धाः क्षीरेऽतियोगे स्युः क्षौद्राञ्जनघृतैर्युता।
न्यग्रोधाद्यैश्चतुर्भिश्च तेनैव विधिनाऽपरः॥

अ० सं० क० ४

कर्बुदारादिभिः क्षीरसिद्धैर्बस्तिः परिकर्ते। श्वीपर्णीकोविदारजैर्वृन्तैः क्षीरसिद्धैस्तथा परिकर्तेहिताः। वृश्चीवपुनर्नवाभ्यां सिद्धं क्षीरं बस्ति गुदपरिस्रवे-हितः। वृश्चीवः क्षुद्रपुनर्नवः। आखुकर्णिका तण्डुलीयकाभ्यां तद्वदिति सिद्धं क्षीरं परिस्रवे हितम्। अश्वावरोहकादयः क्षीरे सिद्धाः क्षौद्रादियुक्ताः शोधन-क्रियातियोगेबस्तयः स्युः। न्यग्रोधाद्यैश्चतुर्भिः न्यग्रोधपिप्पलसदाफललोध्रै-स्तेनैव क्षीरसाधनेन क्षौद्रादियोगेन चापरो बस्तिः शोधनातियोगे। अश्वावरो-होऽश्वकर्णोऽश्वगन्धा च। राजकशेरुको मुस्तकः। इन्दुः।

हि० व्या०—बस्त्युपद्रवस्वरूप परिकर्तिका और परिस्राव नामक उपद्रव चिकित्सा—

(१) कर्बुदार (कांचनार), अरहर की दाल, कदम्ब, और कचनार के वृन्त से सिद्ध दूध की बस्ति देनी चाहिए।

(२) दोनों प्रकार के पुनर्नवा दूध में सिद्धकर बस्ति देनी चाहिए।

(३) मूषकपर्णी और चौलाई के शाक को दुग्ध में सिद्धकर उस दूध की बस्ति देनी चाहिए।

(४) अश्वकर्ण, काकनासा, नागरमोथा से सिद्ध दूध में क्षौद्राञ्जन (शहद और अञ्जन) मिलाकर बस्ति देनी चाहिए।

(५) न्यग्रोधादि (गूलर, पिप्पल, सदाफल, लोध्र) द्रव्यों से सिद्ध दूध में शहद और अञ्जन मिलाकर बस्ति देनी चाहिए।

बस्तिप्रयोगे अंगप्रत्यंगपीडा नामकस्य उपद्रवस्य वर्णनं तस्यचिकित्सा सूत्रं च।

स्नेहस्वेदैरनापाद्य[1] गुरुस्तीक्ष्णोऽतिमात्रया।
यस्य बस्तिः प्रयुज्येत सोऽतिमात्रं प्रवर्तयेत्॥
धातुषु तस्य दोषेषु निरूढस्यातिमात्रशः।
स्तब्धोदावृतकोष्ठस्य वायुः संप्रतिहन्यते॥
विलोमनसमुद्भूतो रुजत्यत्यङ्गानि देहिनः।
गात्रवेष्टननिस्तोदभेदस्फुरणजृम्भणैः॥
तं तैल लवणाभ्यक्तं से चयेदुष्णवारिणा।
एरण्डपत्रनिष्क्वाथैः प्रस्तरैश्चोपपादयेत्॥
यवान् कुलत्थान् कोलानि पञ्चमूले तथोभये।
जलाढकद्वये पक्त्वा पादशेषेण तेन च॥
कुर्यात् सबिल्वतैलोष्णलवणेन निरूहणम्।
तं निरूढं समाश्वस्तं द्रोण्यां समवगाहयेत्॥
ततो भुक्तवतस्तस्य कारयेदनुवासनम्।
यष्टीमधुकतैलेन बिल्वतैलेन वा भिषक्॥

च० सि० ७।४७-५३

रूक्ष[2]स्य बहुवातस्य तथा दुःशायितस्य च।
बस्तिरङ्गग्रहं कुर्याद्रूक्षो मृदल्पभेषजः॥
तत्राङ्गसादः प्रस्तम्भो जृम्भोद्वेष्टनवेपकाः।
पर्वभेदश्च तत्रेष्टाः स्वेदाभ्यञ्जनवस्तयः॥

सु० चि० ३७।४५-४६

अङ्गमर्द नामक उपद्रव का निदान एवं चिकित्सा

हि० व्या०—जिन व्यक्तियों में बिना स्नेहन, स्वेदन कराये गुरु, तीक्ष्ण तथा अधिक मात्रा में निरूह बस्ति का प्रयोग कराया गया हो, तो वह बस्ति अतिशय मात्रा में दोषों को निकालने लगती है। अधिक दोषों के निकलने से

१. अनापाद्येति स्नेहस्वेदैः शरीरं नोपपाद्य। सोऽतिमात्रं प्रवर्तयेत् 'दोषान्' इति शेषः। ततः स्तब्धोदावृतकोष्ठस्य रुजां करोति। भुक्तवतो यद्यप्यनुवासनं सर्वत्र भवति, तथाऽपि 'भुक्तवत्' इतिवचनेन भोजनान्तरमेवानुवासनं दर्शयति। चक्रपाणिः।

२. रूक्षोऽत्र वातप्रकृतिः। डल्हणः।

निरूह के अतियोग के कारण कोष्ठ जकड़ जाता है तथा उदावर्त हो जाता है। वायु की गति में अवरोध होता है। बस्ति के विलोम गति होने से प्रकुपित वायु अङ्गों में वेदना उत्पन्न करती है शरीर में ऐंठन, तोद, भेद, फड़कन और जंभाई उत्पन्न करता है।

चिकित्सा—(१) शरीर में तेल और सैंधवलवण की मालिश कर सुखोष्ण जल से स्नान कराना चाहिए।

(२) एरण्डपत्र के क्वाथ से तथा प्रस्तरस्वेद विधि से स्वेदन करना चाहिए।

(३) लघुपञ्चमूल (शालिपर्णी, पृश्निपर्णी, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, गोखरू), बृहत्पञ्चमूल (बिल्व, श्योनाक, गंभारी, पाटला, गणिकारिका), इनके क्वाथ (दो आढक जल) में चतुर्थांश शेष रखकर, उष्ण बिल्वतैल, सैंधव नमक मिलाकर निरूहबस्ति देनी चाहिए।

(४) निरूहबस्ति निकल जाने पर जलद्रोणी (टब) में बिठाकर अवगाह कराना चाहिए।

(५) इसके पश्चात् भोजन कराकर मधुयष्टी तैल या बिल्व तैल से अनुवासन देना चाहिए।

बस्ति प्रयोगे बस्तिद्रव्याणां ऊर्ध्वागमननामकस्य उपद्रवस्य वर्णनं तस्य चिकित्सा सूत्रं च।

वातमूत्रपुरीषाणां दत्ते वेगान्निगृह्णतः।
अति वा पीडितो बस्तिमुखेनायाति वेगवान्॥
मूर्च्छां विकारं तस्यादौ दृष्ट्वा शीताम्बुना मुखम्।
सिञ्चेत् पार्श्वोदरं चाधः प्रमृज्याद्वीजयेच्च तम्॥
केशेष्वालम्ब्य चाकाशे धुनुयात त्रासयेच्च तम्।
गोखराश्वगजैः सिंहैः राजप्रेष्यैस्तथोरगैः॥
उल्काभिरेवमन्यैश्च भीतस्याधः प्रवर्तते।
वस्त्रपाणिग्रहैः काण्डं रुन्ध्यान्न म्रियते यथा।
प्राणोदाननिरोधाद्धि प्रसिद्धतरमार्गवान्।
अपानः पवनो बस्तिं तमाश्वेवापकर्षति।
ततः क्रमुककल्काक्षं पाययेताम्लसंयुतम्॥
औष्ण्यात्तैक्ष्ण्यात् सरत्वाच्च बस्तिं सोऽस्यानुलोमयेत्।
पक्वाशय स्थिते स्विन्ने निरूहो दाशमूलिकः।
यवकोलकुलत्थैश्च विधेयो मूत्रसाधितः॥

बिल्वादिपञ्चमूलेन सिद्धो बस्तिरुरःस्थिते ।
शिरःस्थे नावनं धूमः प्रच्छाद्यं सर्षपैः शिरः ॥

च० सि० ७।३२-३६
अ० सं० क० अ० ६, अ० हृ० क० अ० ५

वातमूत्रेत्यादिनोर्ध्वतामाह । दत्त इति बस्तौ दत्ते । तस्योर्ध्वं गच्छतो बस्तेः मूर्च्छारूपं विकारं दृष्ट्वा मुखसेचनादि कर्तव्यम् । आकाशे धुनुयादिति निरवलम्बं धुनुयात् । त्रासयेच्च गोखरादिभिरिति ज्ञेयम् । एवमन्यैरिति अनुक्तैरपि त्रासनप्रकारैः । कण्ठावरोधो यथा कर्तव्यस्तदाह – न म्रियते यथेति । कण्ठोपरोधप्रयोजनमाहप्राणोदाननिरोधाद्धि प्रसिद्धतरमार्गवानित्यादि कण्ठप्रग्रहेण प्राणोदाननिरोधात् प्रसिद्धतरमार्गवानपानो भवति गुदप्रवर्तनस्वरूपो भवतीत्यर्थः, ततश्च बस्तिमूर्ध्वक्षिप्तमधोनयति, प्राणोदाननिरोधेन तु प्राणोदानाभ्यां पीडितोऽपानः स्वमार्गगामी भवतीति ज्ञेयम् । केचित्तु 'यावत् प्राणोपरोधाद्धि' इति पठन्ति, प्राणोपरोधं यावत् कण्ठपीडनं कर्तव्यमित्यर्थः । क्रमुकं पूगफलम् । शिरःस्थ इति बस्त्येक देशे शिरसि स्थिते सति । प्रच्छाद्यमित्यालेपनीयम् ।

चक्रपाणिः ।

वातमूत्रपुरीषाणां दत्ते वेगान्निगृह्णतः । दत्ते बस्तौ बातादिविनिग्रहात् । अति वा पीडितो बस्तिरिति मुखप्राप्तौ बस्तेर्निर्गमः । एवं सर्वस्येति । अथवातिपीडितो वेगवान् मुखेनायाति । जज्जटः ।

वेगसंरोधं कुर्वतः पुरुषस्यास्निग्धत्वादिगुणो बस्तिर्मारुतेनोर्ध्वं विक्षिप्तो मुखनासिकान्निरेति मूर्छादीन् प्रवर्तयन् अतिमात्रया वा प्रणीयमानः पीडितः । अस्य त्वातुरस्य मूर्छाविकारं दृष्ट्वा झटिति शीताम्बुना मुखं सिञ्चेत् । एवं हि बस्तिरूर्ध्वं न याति । यावच्च क्लमनाशस्तावद्व्यजनैर्वीजेत् । ततश्च प्राणायामं श्वासरोधं कारयेत् । उष्णैश्च करैरधोमुखमातुरस्य पृष्ठादिकं मृद्यात् । तं च केशेषूत्क्षिप्य धुन्वीत । व्यालादिभिश्च भाययेत् । तथा ह्यूर्ध्वं प्रवर्तमानो बस्तिरध एवैति । तस्य च मरणं रक्षन् पाण्यादिभिर्गलापीडं कुर्यात् । एवं हि प्राणस्योदानस्य च निरोधादपानः सुप्रसिद्धतरमार्गः सन् तं बस्तिमाश्वेवापकर्षति । तं च कुष्ठक्रमुकयोः कल्कमम्लेन काञ्जिकादिना पाययेत् । क्रमुकं लोध्रम् । स कल्कोऽस्यातुरस्यौष्ण्यादिना बस्तिमूर्ध्वं प्रवर्तमानमधोऽनुलोमयेत् । अथवा त्रिवृत्पथ्याकल्कं गोमूत्रेण पाययेत् । पक्वाशयस्थे बस्तौ स्विन्ने पुरुषे दाशमूलिको निरूहो विधेयः । यवादिभिश्च मूत्रसाधितैर्बस्तिर्विधेयः । अथवा पूतीकरञ्जादिभिरमृतावंशपल्लवाभ्यां युक्तः सतैलादिको विरेचनद्रव्यकल्कवान् बस्तिर्विधेयः । उरःस्थिते बस्तौ बिल्वादिपञ्चमूलेन सिद्धो बस्तिर्विधेयः । शिरःप्राप्ते बस्तौ नावनादिकम् । इत्युक्ताः षडयोगापदः । इन्दुः ।

वेगसंरोधं वेगविधारणं कुर्वतः पुंसो यः पीडितो बस्तिरतिमात्रया वा

पीडितोऽस्निग्धलवणोष्णो वा तथाल्पो मात्रयाल्पभेषजश्च मृदुर्वा, स तथाभूतो मारुतेनोर्ध्वं क्षिप्तो मुखनासिकात् निरेतिनिर्गच्छति । मूर्च्छादीन् प्रवर्तयेत् । अस्य तु तथाविधबस्तेः पुरुषस्य, मूर्च्छादिविकारं दृष्ट्वा शीताम्बुना मुखं सिञ्चेत् । तथा क्लमनाशं यावत् तं तालवृन्तादिना वीजयेत् । तथा तं पुरुषं प्राणायामं च कारयेत्, प्राणायामेन ह्यूर्ध्वं विक्षिप्तो बस्तिरधो याति । उष्णैः करैः पृष्ठं पार्श्वमुदरं च मृज्यात् । तथा तं पुरुषमधोमुखं कृत्वा केशेरुत्क्षिप्योर्ध्वं नीत्वा वपुर्धुन्वीत । तथा व्यालादिभिर्भीषपेत् । तथोर्ध्वं प्रवृत्तो बस्तिर्यस्मादधो गच्छति । तथा पाणिवस्त्रैर्गलापीडं कुर्याद्यथा न म्रियेत् । एवं सति प्राणोदाननिरोधः सम्पद्यते, प्राणोदाननिरोधाद्यस्मादधोगः सुप्रसिद्धतरायनो भूत्वाऽपानो वायुस्तं बस्तिं द्रागेवापकर्षतिऊर्ध्वाधः क्षिपति । सुष्ठु प्रकर्षेण, प्रसिद्धतरमयनं यस्य स सुप्रसिद्धतरायनः । कुष्ठादिकल्कं चाम्लसंयुतं पाययेत् । सः कल्कः, अस्य आतुरस्य, उष्णादिगुणयोगात्तं बस्तिमनुलोमयेत् । त्रिवृतादिकल्कं पीतं गोमूत्रणाधोनुलोमनम् । पक्वाशयस्थिते दोषे स्निग्धे (स्विन्ने) निरूहो दाशमूलिको विधातव्यः । अथवा गोमूत्रसिद्धैर्यूडूच्यादिभिस्तैलगुडसैन्धवयुक्तो बस्तिर्विरेकद्रव्यकल्कवान् विधेयः । उरसि स्थिते बिल्वादिपंचमूलेन सिद्धो बस्तिर्विधातव्यः । शिरसि स्थिते बस्तौ नस्यं धूमश्च, शिरश्च सर्षपकल्केन प्रच्छादनीयम् ।

अरुणदत्तः ।

तृण्मूर्च्छास्विेदहृल्लासदाहगौरवविभ्रमाः ।
ऊर्ध्वमागच्छतस्तस्य रूपाण्येतानि लक्षयेत् ॥
एतानिरूपाण्युपलभ्य··· ··· ··· ···
··· ··· ··· विश्राम्य विश्राम्य पुनः पुनश्च ।
निपीडयेज्जातबलंबलेन शीताभिरद्भिः परिषेयेच्च ।
वित्रासयेद्भीषयेद्रोदयेच्च ब्रूयान्मृतान् वा स्वजनेष्टबन्धून् ।
नद्धान् हतान् विप्रकृतांस्तथैव शीताम्बुसिक्तैर्व्यजनैः ॥
··· ··· ··· ··· ··· ।
विरेचनद्रव्यकषायसिद्धं सतैलमुष्णं लवणीकृतं च ।
निवृत्तदोषस्य सपञ्चमूलमास्थापनेऽस्यन्तमुशन्ति वृद्धाः ।
··· ··· ··· ···म्बुयुक्तेनरसेन चैनम् ।
संभोजयेज्जाङ्गलकेन शालीन स्नानादिसर्वं परिहारयेच्च ॥

का० सं० सि० अ० ६

ऊर्ध्वगमन नामक व्यापत्ति का कारण, लक्षण और चिकित्सा

हि० व्या०—निरूह बस्ति के पश्चात् वात, मूत्र तथा मल के वेगों को रोकने से अथवा बस्ति पुटक के तीव्र दबाव से बस्ति देने पर औषधि मुख द्वारा बाहर आने लगती है । ऐसी अवस्था में यदि मूर्च्छा हो जाय तो मुख पर

शीतल जल का सिंचन करना चाहिए। रोगी के पार्श्व भाग तथा उदर प्रदेश में हल्के हाथ से मर्दन करना चाहिए। शीतल पंखे की हवा करनी चाहिए। बालों को खींचकर झकझोरना चाहिए। सांड़, गदहा, घोड़ा, हाथी, सिंह, पुलिस, सर्प, उल्का आदि भयोत्पादक प्राणियों से डराना चाहिए। डर जाने से वेगपरिवर्तन हो जाता है। अथवा गले में वस्त्र लपेटकर ऐसे दबाना चाहिए जिससे रोगी की मृत्यु न हो। गले के दब जाने से प्राण और उदान वायु की रुकावट हो जाती है जिससे अपान वायु अपने मार्ग (गुदा-प्रदेश) में चली आती है और ऊपर गई वस्ति की औषधि को शीघ्र ही नीचे की ओर खींच लाती है।

(१) सुपारी के कल्क को एक अक्ष (तोला) की मात्रा में काञ्जी में घोलकर रोगी को पिलाना चाहिए। इसके उष्ण, तीक्ष्ण और सरत्व गुण होने के कारण बस्ति का अनुलोमन होता है।

(२) यदि बस्ति का द्रव्य पक्वाशय में रुक गया हो तो उदर के ऊपर स्वेदन कराकर दशमूलक्वाथ की निरूह बस्ति देनी चाहिए।

(३) अथवा जौ, बेर, कुलथी के कल्क को गोमूत्र में पकाकर बनी हुई निरूह बस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

(४) यदि बस्ति का द्रव्य वक्ष-प्रदेश में जाकर स्थित हो गया है तो बिल्वादि पञ्चमूल के क्वाथ से तैयार की गई निरूह वस्ति देनी चाहिए।

(५) यदि बस्ति का द्रव्य मुख से ऊपर जाकर शिरः प्रदेश में स्थित हो गया हो तो नस्य, धूम्रपान और शिर के ऊपर सरसों के कल्क का लेप करना चाहिए।

बस्तिप्रयोगे शिरोतिनामकस्य उपद्रवस्य वर्णनं तस्य चिकित्सासूत्रं च।

दुर्बले क्रूरकोष्ठे च तीव्रदोषे तनुर्मृदुः।
शीतोऽल्पश्चावृतो दोषैर्बस्तिस्तद्विहितोऽनिलः॥
मार्गमात्राणि सन्धावन्नूर्ध्वं मूर्ध्नि विहन्यते।
ग्रीवां मन्ये च गृह्णाति शिरः कण्ठं भिनत्ति च॥
बधिरं कर्णनादं च पीनसं नेत्रविभ्रमम्।
कुर्यादभ्यञ्जनं तैललवणेन यथाविधि॥
युञ्ज्यात् प्रधमनैर्नस्यैर्धूमैरस्य विरेचयेत्।
तीक्ष्णानुलोमिकेनाथ स्निग्धं भुक्तेऽनुवासयेत्॥

च० सि० ६।४३-४६

दुर्बल इत्यादिना शिरोतिमाह। तनुरघनः। तद्विहित इति निरूहबस्ति प्रकोपितः। ऊर्ध्वं मूर्ध्नि विहन्यते इति ऊर्ध्वमनुसरन्मूर्ध्नि विहन्यते; ये तु 'ऊर्ध्वं विधावति' इति पठन्ति, तन्मते उपर्युपरि धावतीत्यर्थः। अस्य विरेचयेदित्यत्र

'शिर, इति शेषः, 'अनुविरेचयेत्' इति वा पाठः। तीक्ष्णानुलोमिकेऽन्ने भुक्ते सति अनुवासयेदिति योज्यम्; किंवा तीक्ष्णानुलोमिके नैवानुवासनं साध्यमित्यर्थः। चक्रपाणिः।

शिरोति (शिर में पीड़ा) नामक उपद्रव का निदान, चिकित्सा

हि० व्या०—बहुदोषयुक्त, क्रूरकोष्ठ और दुर्बल व्यक्तियों में पतली, मृदु, शीतल अथवा अल्पमात्रा में दी गई निरूहबस्ति दोषों से आवृत हो जाता है। आवृत बस्ति से वायु का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। वायु के मार्गों में बस्ति की औषधि प्रकट होकर सम्पूर्ण शरीर या संधियों में चली जाती है। वहाँ से ऊपर शिर में जाकर, नीचे आती है। ग्रीवा में और मन्या में जकड़ाहट, शिर और कण्ठ में भेदन के समान पीड़ा, बाधिर्य, कर्णनाद, पीनस, नेत्रभ्रम आदि उत्पन्न करती है।

चिकित्सा—(१) नमक और तेल का अभ्यंग, प्रधमन नस्य और वैरेचनिक धूप का प्रयोग करना चाहिए।

(२) वातानुलोमक एवं तीक्ष्ण द्रव्यों से सिद्ध स्नेह द्वारा स्निग्ध व्यक्ति को भोजन के पश्चात् अनुवासन बस्ति देनी चाहिए।

निरूहोपद्रव शिरोगौरव चिकित्सासूत्रम्।

शिरःस्थे नावनं धूमः प्रच्छाद्यं सर्षपैः शिरः।

अ० सं० क० ४

हि० व्या०—निरूहबस्ति-जन्य उपद्रवस्वरूप उत्पन्न शिरोगौरव में नस्य कर्म, एवं धूम्रपान कराना चाहिए। सरसों के कल्क का शिर पर लेप करना चाहिए।

बस्तिप्रयोगे प्रवाहिकानामकस्य उपद्रवस्य वर्णनं तस्य चिकित्सा सूत्रं च।

स्निग्धस्विन्ने महादोषे बस्तिमृद्वल्प भेषजः।
उत्क्लिश्यात्यं हरे दोषं जनयेच्च प्रवाहिकाम्॥
सबस्ति पायुशोफेन जङ्घोरुसदनेन वा।
निरुद्धमारुतो जन्तुरभीक्ष्णं संप्रवाहते॥
स्वेदाभ्यङ्गान्निरूहांश्च शोधनीयानुलोमिकान्।
विदध्याल्लङ्घयित्वा तु वृत्तिं कुर्याद्विरिक्तवत्॥

च० सि० ७।४०-४२

अ० सं० क० अ० ६।१५

स्निग्धस्विन्नेत्यादिना प्रवाहिकामाह। प्रवाहिकामतिसारोक्तलक्षणामुक्तां जनयति। शोधनीयानुलोमिकानित्यत्र शोधनीयानीति त्रिवृदादिशोधनद्रव्ययुक्तान्;

आनुलोमिकानीति अनुलोमनक्षीरेक्षुरसयुक्तान् । वृत्तमिति पेयादिक्रमम् ।

चक्रपाणिः ।

प्रवाहिका भवेत्तीक्ष्णान्निरूहात् सानुवासनात् ।
सदाहमूलं कृच्छ्रेण कफासृगुपवेश्यते ॥
पिच्छाबस्तिर्हितस्तत्र पयसा चैव भोजनम् ।
सर्पिर्मधुरकैः सिद्धं तैलं चाप्यनुवासनम् ॥

सु० चि० ३७।४१-४२

क्षीरेण भोजनं वातपित्तकफप्रत्यनीकं; कफसंसर्गे तु कफहरद्रव्यसंस्कृत क्षीर-भोजनमिति ज्ञेयं, तन्त्रान्तरदर्शनात् । डल्हणः ।

प्रवाहिका नामक उपद्रव का निदान, लक्षण और चिकित्सा ।

हि० व्या०—स्नेहन-स्वेदन के पश्चात् बहुदोषयुक्त व्यक्ति को मृदुवीर्य औषधि या अल्पमात्रा में प्रयुक्त औषधि से बस्ति दी जाय तो दोष उत्क्लेशित होकर अल्प मात्रा में बाहर निकलने से प्रवाहिका रोग उत्पन्न होता है । मत्राशय और गुदा में शोथ, जंघा और ऊरु में शैथिल्य, अपान वायु का अव-रोध, आदि लक्षण होते हैं साथ ही निरन्तर प्रवाहण होता है ।

चिकित्सा—लंघन, स्वेदन, अभ्यंग के पश्चात् शोधन और अनुलोमन करने वाली निरूह बस्ति का प्रयोग करना चाहिए । विरेचन के समान पथ्यपालन करना चाहिए ।

प्रवाहिकाहरः शाल्मलिवृन्तादिनिरूहः ।
मुष्टिं शाल्मलिवृन्तानां क्षीरसिद्धो घृतान्वितः ।
हितः प्रवाहणे तद्वद्वृन्तैः शाल्मलकस्य च ॥

अ० सं० क० ४

शाल्मलीपत्राणां ग्राह्यो मुष्टिः । क्षीरेण सिद्धो बस्तिः प्रवाहिकायां हितः । शाल्मलकस्य वृन्तैस्तद्वन्मुष्टिः क्षीरसिद्धो प्रवाहिकायांहितः । इन्दुः ।

हि० व्या०—एक मुट्ठी सेमल के वृन्त को दूध में सिद्धकर, घृत मिला कर बस्ति प्रयोग करने से प्रवाहिका में लाभ होता है ।

बस्त्युपद्रवरूप शकृत्क्षय, चिकित्सासूत्रम् ।

वातघ्नैर्ग्राहिवर्गोयैर्बस्तिः शकृति शस्यते ।

च० सि० ८।२४ क, अ० सं० क० अ० ६

वातघ्नैरित्यादौ वातघ्न दशमूलं, ग्राहिवर्गश्च षड्विरेचनशताश्रितीयोक्त एव । अत्र जतूकर्णः—"शकृति शोफघ्नग्राहिभिर्बस्तिः" इत्याह—शोफघ्नं च दशमूलमेव । चक्रपाणिः ।

हि० व्या०—वातनाशक क्वाथ (दशमूल या सू० अ० पुरीषसंग्रहणीय में) ग्राहीद्रव्यों के विधिवत् क्वाथ से बस्ति देनी चाहिए । यह बस्ति रक्तातिसार में श्रेष्ठ है ।

बस्त्युपद्रवरूप शकृत्पित्तमिश्र रक्तपित्तकफ चिकित्सासूत्रम् ।

रक्ते रक्तेन, पित्ते तु कषायस्वादुतिक्तकैः ।
सार्यमाणे कफे बस्तिः कषायकटुतिक्तकैः ॥

च० सि० ८।२५, अ० सं० क० अ० ६

रक्ते रक्तेनेति सरक्तेऽतीसार्यमाणे रक्तेन बस्तिर्देयः । पित्तेत्विति पित्तेऽती-सार्यमाणे कषायादिकृतो बस्तिरेव । चक्रपाणिः ।

हि० व्या०—रक्तपित्त और कफजन्य अतिसार की चिकित्सा—

१—रक्तातिसार में बकरे के ताजे रक्त की बस्ति देनी चाहिए ।

२—पित्तातिसार में कषाय, मधुर एवं तिक्त द्रव्यों से सिद्ध बस्ति का प्रयोग करना चाहिए ।

३—कफजन्य अतिसार में कषाय, कटु एवं तिक्त द्रव्यों से सिद्ध बस्ति का प्रयोग करना चाहिए ।

बस्त्युपद्रव षट्त्रिंशत् अतीसारभेदाः तदुपद्रवाश्च ।

षण्णामेषां द्विसंसर्गात् त्रिंशद्भेदा भवन्ति तु ॥
केवलैः सह षट्त्रिंशद्विद्यात् सोपद्रवानपि ॥
शूलप्रवाहिकाध्मानपरिकर्त्यरुचिज्वरान् ।
तृष्णोष्णदाहमूर्च्छादींश्चैषां विद्यादुपद्रवान् ॥

च० सि० ८।२१-२२, अ० सं० क० अ० ६

अतीसारभेदानाह—षण्णामित्यादि । एषामिति एतदभिहितानाम् । अन्ये तु बस्तिविभ्रंशजाः षट्संख्या भवन्तीति वदन्ति; पूर्वव्याख्यानमेव साधु । उप-द्रवानेषामाह—शूलेत्यादि । चक्रपाणिः ।

हि० व्या०—पूर्व में जो छ प्रकार के अतिसारों का वर्णन किया गया है । इनमें यदि दो दोषों का संसर्ग हो जाय तो ३० भेद हो जायेंगे । तथा पृथक् ६ भेदों को भी इसी में मिला दिया जाय तो इनकी संख्या ३६ हो जाती है । ये ३६ अतिसार उपद्रवयुक्त होते हैं । उदरशूल, प्रवाहिका, आध्मान, परि-कर्तिका, अरुचि, ज्वर, प्यास उष्णता, दाह और मूर्च्छा ये उपद्रव उत्पन्न होते हैं ।

बस्तिप्रयोगे हृत्प्राप्तिनामकस्य उपद्रवस्य वर्णनं तस्य चिकित्सासूत्रं च ।

अतितीक्ष्णः सयातो वा न वा सम्यक् प्रपीडितः ।
घट्टयेद्हृदयं बस्तिस्तत्र काशकुशेक्षटैः ॥
स्यात् साम्ललवणस्कन्ध-करीरबदरीफलैः ।
श्रुतैर्बस्तिर्हितः सिद्धं वातघ्नैश्चानुवासनम् ॥

च० सि० ७।३०-३१, अ० सं० क० अ० ६

सवातत्वं बस्तेर्नि:शेषदानादिना ज्ञेयम्। असम्यक् पीडितत्वमेव हृत्प्राप्ति जनकतत्रा ज्ञेयम। लवणस्कन्धो रोगभिषग्जितीयोक्तः। वातघ्नैरितिदशमूलादिभिः। चक्रपा०

अतितीक्ष्णस्यततो वाऽनुच्छ्वासस्य सम्बद्धः "अनुच्छ्वासस्य तु सम्बद्धे दत्ते नि:शेष एव वा"। सोच्छ्वासस्य वातपूर्णांशादिति। वस्तिस्तत्र कुशकाशोत्कटैः करीरादिभिश्च। लवणस्कन्धो विमानोक्त सैन्धव सौवर्चलकाचविडादीनि लवणवर्गपरिसंख्यातानि, अम्लोपहितानि वा स्नेह बस्तिं दद्यादिति। जज्जटः।

अतितीक्ष्णो निरूहो वा सवाते चानुवासनः।
हृदयस्योपसरणं कुरुते चाङ्गपीडनम्॥
दोषैस्तत्र रुजस्तास्ता मदो मूर्च्छाङ्गगौरवम्।
सर्वदोषहरं बस्तिं शोधनं तत्र दापयेत्॥

सु० चि० ३७।४३-४४

रुजस्तास्ताः तोदादयः, ओष चोषादयः, कण्ड्वादयश्च। सर्वदोषहरमिति सर्वदोषहरद्रव्यक्वाथं, गोमूत्रात्रिवृदादि कल्कं शोधनं बस्तिं; शोधनत्वेन्नोर्ध्वगत-दोषमधो नयति, सर्वदोषहरत्वेन सर्वानेव दोषान् दुष्टाञ्छमयति। डल्हणः।

हृत्प्राप्ति नामक उपद्रव का निदान, लक्षण और चिकित्सा

हि० व्या०—अतितीक्ष्ण बस्ति का प्रयोग करने से, वायुयुक्त बस्ति प्रयोग करने से एव अनुचित दबाव के साथ बस्ति का प्रयोग करने से बस्ति हृदय प्रदेश में जाकर संघर्ष उत्पन्न करती है।

चिकित्सा—१—कुश, कास की मूल, अम्लस्कन्ध एवं लवणस्कन्ध के द्रव्य, करील और बेर के फल से सिद्ध निरूह बस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

२—वातनाशक द्रव्यों में तैल सिद्ध करके अनुवासन वस्ति देनी चाहिए।

आचार्य सुश्रुत के अनुसार सर्वदोषहर शोधन बस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

क्लमनामकस्य उपद्रवस्य वर्णनं तस्य चिकित्सासूत्रं च।

आमशेषे निरूहेण मृदुना दोष ईरितः।
मार्गं रुणद्धि वातस्य हन्त्यग्निं मूर्च्छयत्यपि॥
क्लमं विदाहं हृच्छूलं मोहवेष्टन गौरवम्।
कुर्यात् स्वेदैर्विरूक्षैस्तं पाचनैश्चाप्युपचारयेत्॥
पिप्पलीकत्तृणोशीरदारुमूर्वाश्रृतं जलम्।
पिबेत् सौवर्चलोन्मिश्रं दीपनं हृद्विशोधनम्॥
वचानागरशट्येला वधिमण्डेन मूर्च्छिताः।
पेयाः प्रसन्नया वा स्युरिष्टेनासवेन वा॥

दारु त्रिकटुकं पथ्यां पलाशं चित्रकं शटीम्।
पिष्ट्वा कुष्ठं च मूत्रेण पिबेत् क्षारांश्च दीपनान्॥
बस्तिमस्य विदध्याच्च समूत्रं दाशमूलिकम्।
समूत्रमथवा व्यक्तलवणं माधुतैलिकम्॥

च० सि० ७।१५-२०

आमशेषे सति दत्तेन निरूहेण दोष ईरित इति योज्यम्। दोषशब्देन चात्र पित्तकफावामसहितो मार्गावरकावुच्येते। मूर्च्छयतीति मार्गावरोधात् कोपयति। मार्गं रुणद्धीति देहे स्रोतांसि रुणद्धि। ये तु दोषशब्देनेह कफमात्रं ग्राह्यन्ति, तन्मते सदाहत्वं क्लमस्याप्यनुपपन्नम्। वचेत्यादौ मूर्च्छिता इत्यालोडिताः। क्षारांश्च दीपनानीति ग्रहणीचिकित्साद्युक्तान्। दाशमूलिकमिति "द्विपञ्चमूलस्य रसोऽम्लयुक्तः" (सि० अ० ३) इत्यनेनोक्तं, किंवा दशमूलक्वाथकृतम्। चक्रपाणिः।

आमशेषे निरूहेणेति। (मृदुना) दोषः श्लेष्मा तस्य पवनमार्गसंरोधात्। अग्न्युपघातकरत्वान्मूर्च्छाक्लमादीनां गौरवान्तानां लिङ्गत्वादिति। आममेव दोषः। यथोक्तमूर्ध्वं चाधश्च प्रवृत्तामदोषमिति। अत्र चामपूर्वो विकारस्सदोषस्यैव भवतीति दोषनिर्देशनामाहुः ज्वरस्यामाशयसमुत्थत्वात्। तथा—"स आमाशय-मन्वेत्य रसस्वेदवाहिनीति। आमनिमित्तत्वात् क्लमादीनां परिषेचनात्स्यवत-न्यपि तत्प्रत्यनीकत्वादिति केचित्। पाचनैश्चाप्युपचारयेत्। कानि पुनः पाच-नानि। पिप्पलीकत्तृणोशीरादीनि। दधिमण्डेनव मण्डितेनवचानागरशट्येलादिना। आसवस्सुरा। बस्ती प्रमदः ? छेदी मद्यासवस्तीक्ष्ण इति। एतयोर्द्वयोरासवत्व-मिह न तु सर्वं मद्यमिति। दारु त्रिकटुकादि, मूत्रेण गोमूत्रेण"। 'बस्तिमस्य विदध्याच्च समूत्रं दाशमूलिकम्॥" इति। दाशमूलिकमिति "द्विपञ्चमूलस्य" (सि० अ० ३) इत्यादिकः। समूत्रमथवा व्यक्तलवणं। माधुतैलिकाष्षट् तेषाम-न्यतमं मधुतैले चतुष्प्रसृत इत्यादि। जज्जटः।

क्लम नामक उपद्रव का कारण, लक्षण और चिकित्सा।

हि० व्या०—यदि रोगी के शरीर में आमदोष शेष हों और निरूहबस्ति दी जाय तो आम दोष के साथ पित्त-कफ प्रकुपित होकर वायु के मार्ग को रोग देते हैं। जठराग्नि का नाश हो जाता है और मार्गावरोध के कारण वायु भी कुपित हो जाते हैं जिससे क्लम, विदाह, हृदय में शूल, मोह उद्वेष्टन और शरीर में गुरुता ये लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में रूक्षस्वेद और पाचन चिकित्सा की व्यवस्था करनी चाहिए।

१—पिप्पल्यादिक्वाथ—पीपर, सुगंधतृण, खस, देवदारु और मूर्वा—इन द्रव्यों का समानभाग में क्वाथकर, सोंचर (काला नमक) मिलाकर रोगी को पिलाना चाहिए। यह क्वाथ दीपन है और हृदय को शुद्ध करता है।

२—वचादियोग—वच, सोंठ, कचूर, इलायची, इनके (समान भाग) चूर्ण

को दही के पानी में घोलकर या मदिरा के उपरि भाग (प्रसन्ना) में अथक आसव या अरिष्ट घोलकर पिलाना चाहिए।

३ दार्वादियोग—देवदारु, सोंठ, पीपर, मरिच, हरड़, पलाश की छाल, चित्रकमूल, कचूर, कूठ, समभाग गोमूत्र में पीसकर, गोमूत्र में घोलकर रोगी को पिलाना चाहिए।

४—ग्रहणी चिकित्सा में उद्धृत अग्निवर्धक क्षारों का प्रयोग करना चाहिए।

५—दशमूलक्वाथ में गोमूत्र मिलाकर बस्ति देनी चाहिए।

६—माधुतैलिक बस्ति में गोमूत्र या नमक मिलाकर देना चाहिए। नमक की मात्रा इतनी हो कि नमक का स्वाद अनुभव किया जा सके।

बस्तिप्रयोगे हिक्कानामकस्य उपद्रवस्य वर्णनं तस्य चिकित्सासूत्रं च।

मृदुकोष्ठेऽबले बस्तिरतितीक्ष्णोऽतिनिर्हरन्।
कुर्याद्धिक्कां हितं तस्मै हिक्काघ्नं बृंहणं च यत्॥
बलास्थिरादिकाश्मर्यत्रिफलागुडसैन्धवैः।
सप्रसन्नारनालाम्लैस्तैलं पक्त्वाऽनुवासयेत्॥
कृष्णालवणयोरक्षं पिबेदुष्णाम्बुना युतम्।
धूमलेहरसक्षीरस्वेदाश्चान्नं च वातनुत्॥

च० सि० ७।२७-२९, अ० सं० क० ६।३९-४१

अतिनिर्हरन्नित्यतियोगेन दोषान्निर्हरन्। हिक्काघ्नमिति हिक्काचिकित्सोक्तं भेषजम्। हिक्कायां च यद्यपि "प्रसक्तच्छर्दिनिष्ठीविकाकासश्वासहिक्कार्तानामूर्ध्वीभूतो वायुरूर्ध्वं बस्तिं नयेत्" (सि० अ० २) इत्यनेन बस्तिनिषिद्धः, तथाऽपीह विशिष्टहिक्कायामनुवासनस्य हितत्वात्, 'बलास्थिरा' इत्यादिनोक्तमनुवासनमनवद्यम्। वातनुदिति पदं लिङ्गविपरिणामेन धूमादिभिश्च सम्बध्यते; तेन वातहितानामेवात्र धूमादीनां प्रयोगः। चक्रपाणिः।

अबले=दुर्बले। बिल्वादिश्च निरूहस्यादिति। "बिल्वमूलत्रिवृद्दारुयवकोलकुलत्थादिकः" इति। निरूहद्रव्याणि तैः विधीयते यदा तत् प्रतिषिद्धमेव—'प्रसक्तच्छर्दिनिष्ठीविकाकासश्वासहिक्कानामूर्ध्वीभूतो वायुरूर्ध्वं बस्तिं नयेदिति। बस्तिसामान्यो नरस्यानुवासनप्रतिषेधो न विशेषे निषेधः। आवस्थिकश्च पुनरदोष एवेति। उष्णाम्बुनाक्ष इति। आमलोहादिकाऽतिदेशः। जज्जटः।

हिक्का नामक उपद्रव का निदान, लक्षण और चिकित्सा।

हि० व्या०—मृदुकोष्ठवाले एवं बलहीन रोगी को यदि अति तीक्ष्ण बस्ति दी जाय तो वह दोषों को अधिक रूप में निकालती है एवं हिक्का रोग

उत्पन्न करती है। ऐसी अवस्था में हिक्का रोगनिवारक एवं बृंहण चिकित्सा की योजना करनी चाहिए।

१—बलामूल, स्थिरादिवर्ग (शालिपर्णी, पृश्निपर्णी, बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी, गोखरू) गंभारीफल, आंवला, हरड़, बहेड़ा, गुड, सैंधवलवण इनके कल्क, मदिरा का स्वच्छभाग, कांजी और अम्ल द्रव्यों से विधिपूर्वक तैलपाक करके इस तैल से अनुवासनबस्ति देनी चाहिए।

२—पीपर, सैंधवनमक, एक तोला की मात्रा में सुखोष्ण जल से पान कराना चाहिए।

३—वातनाशक धूम, अवलेह, मांसरस एवं दूध का प्रयोग करना चाहिए। स्वेदन करना चाहिए तथा अन्न खिलाना चाहिए।

वातादिदोषाणां रक्तस्य च आमेन सह शकृत सह संसर्गजन्यानां उपद्रवाणां चिकित्सासूत्राणि।

शकृता वायुना वाऽऽमे तेन वर्चस्यथानिले।
संसृष्टेऽन्तरपानं स्याद् व्योषाम्ललवणैर्युतम्॥
पित्तेनामेऽसृजा वाऽपि तयोरामेन वा पुनः।
संसृष्टयोर्भवेत पानं सव्योषस्वादुतिक्तकम्॥
तथाऽऽमे कफसंसृष्टे कषायव्योषतिक्तकम्।
आमेन तु कफे व्योषकषायलवणैर्युतम्॥
वातेन विशि पित्ते वा विट् पित्ताभ्यां तथाऽनिले।
मधुराम्लकषायः स्यात् संसृष्टे बस्तिरुत्तमः॥
शकृच्छोणितयोः पित्तशकृतो रक्तपित्तयोः।
बस्तिरन्योन्यसंसर्गे कषायस्वादुतिक्तकः॥
कफेन विशि पित्ते वा कफे विट्पित्तशोणितैः।
व्योषतिक्तकषायः स्यात् संसृष्टे बस्तिरुत्तमः॥
स्याद्बस्तिर्व्योषतिक्ताम्लः संसृष्टे वायुना कफे।
मधुरव्योषतिक्तस्तु रक्ते कफविमूर्च्छिते॥
मारुते कफसंसृष्टे व्योषाम्ललवणो भवेत्।
बस्तिर्वातेन पित्ते तु कार्यः स्वादुम्लतिक्तकः॥

च० सि० ८।२६-३३, अ० सं० क० ६।६२-६७

संसर्गे चिकित्सामाह—शकृतेत्यादि। शकृता आमे प्रधाने संसृष्टे; तथा वायुनाऽऽत्रामे संसृष्टे; तेनेत्यामेनाप्रधानेन वर्चसि अनिले च पृथक् संसृष्टे, अत्र तेनेति पूर्ववद्वयाख्येयम्। अत्र संसृष्टेषु तृतीयानिर्दिष्टमल्पमानतयाऽप्रधानं, सप्तमीनिर्दिष्टं बहुमानत्वात् प्रधानं ज्ञेयम्। तयोरिति पित्तसृजोः। संसृष्टयोरित्येकमानेन युक्तयोः। कफे व्योषलवणकषायैर्युतमित्यन्तं यावत् 'अन्तरपानं'

इत्यनुवर्तते। वातेन विशीत्यादौ मधुराम्लकषायो बस्तिरिति मधुरादिद्रव्यक्वाथादिकृतो बस्तिर्देय इत्यर्थः। शकृच्छोणितयोरित्यादौ अन्योन्यसंसर्गे सति शकृता शोणिते शोणितेन वा शकृति संसृष्टेः एवं पित्तशकृतोः रक्तपित्तयोश्च द्विविधः संसर्गो व्याख्येयः। विट्पित्तशोत्तणितैरिति प्रत्येकं विडादिभिः। कफे संसृष्टे। कफविमूर्च्छित इति कफेनाप्रधानेन संसृते इत्यर्थः। चक्रपाणिः।

हि० व्या०—यदि मल के साथ आम की प्रधानता हो, वायु के साथ आम की प्रधानता हो या आम दोष के साथ वायु की प्रधानता हो तो त्रिकटु चूर्ण (सोंठ-पीपर-मरिच), नमक और अम्ल द्रव्यों को द्रव में मिलाकर पाचन के लिए देना चाहिए।

पित्त के साथ आमदोष की प्रधानता हो, रक्त के साथ पित्त की प्रधानता हो, आम के साथ पित्त की प्रबलता हो या आम के साथ रक्त की प्रधानता हो, तो त्रिकटु चूर्ण मधुर और तिक्त द्रव्यों के कषाय में मिलाकर पान करने के लिए देना चाहिए।

कफ के साथ आमदोष प्रबल हो और अतिसार भी हो तो कषाय रस युक्त द्रव्यों के साथ त्रिकटु चूर्ण और तिक्तद्रव्यों से बने हुए चूर्ण या क्वाथ पीना चाहिए। अगर आमदोष के साथ कफ की प्रबलता से अतिसार हो तो त्रिकटु चूर्ण के साथ कषाय और लवण द्रव्य के साथ बने हुए चूर्ण या क्वाथ पान करना चाहिए।

वायु के साथ मल की प्रबलता हो, वायु के साथ पित्त की प्रबलता हो, मल के साथ वायु की प्रधानता हो, पित्त के साथ वायु की प्रबलता हो, रक्त के साथ वायु की प्रधानता और अतिसार हो तो मधुर-अम्ल और कषाय द्रव्यों से निर्मित बस्ति उत्तम है।

मल और वात संसर्गजन्य, पित्त और मल संसर्गजन्य, रक्त एवं पित्त संसर्गजन्य अतिसार होने पर कषाय, मधुर और तिक्तद्रव्यों के क्वाथ से बस्ति प्रयोग करना चाहिए।

कफ के साथ मल के प्राबल्य, कफ के साथ पित्त के प्राबल्य, पित्त के साथ कफ के प्राबल्य, रक्त के साथ कफ के प्राबल्य से होने वाले अतिसार में त्रिकटु चूर्ण तिक्त एवं कषाय द्रव्यों के क्वाथ से बस्ति का प्रयोग करना उत्तम है।

वायु के साथ कफ के संसर्ग से उत्पन्न अतिसार में त्रिकटु चूर्ण, तिक्त एवं अम्ल द्रव्यों के क्वाथ से बस्ति प्रयोग करना चाहिए। कफ के साथ रक्त की प्रधानता होने पर मधुर द्रव्य, त्रिकटु चूर्ण और तिक्त द्रव्यों के क्वाथ से बस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

वायु एवं कफ का संसर्ग होने पर उत्पन्न अतिसार में त्रिकटु चूर्ण अम्ल-

द्रव्य के क्वाथ में लवण मिलाकर बस्ति देनी चाहिए। वायु के साथ पित्त का संसर्ग होने पर मधुर अम्ल और तिक्त द्रव्यों के साथ बस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

बस्तिप्रयोगे आध्माननामकस्य उपद्रवस्य वर्णनं तस्य चिकित्सासूत्रं च।

अल्पवीर्यो महादोषे रूक्षे क्रूराशये कृतः।
बस्तिर्दोषावृतो रुद्धमार्गो रुन्ध्यात् समीरणम्॥
सविमार्गोऽनिलः कुर्यादाध्मानं मर्मपीडनम्।
विदाहं गुरुकोष्ठस्य मुष्कवंक्षणवेदनाम्॥
रुणद्धि हृदयं शूलैरितश्चेतश्च धावति।
श्यामाफलादिभिः कुष्ठकृष्णालवणसर्षपैः॥
धूममाषवचाकिण्वक्षारचूर्णगुडैः कृताम्।
करांगुष्ठनिभां वर्तिं यवमध्यां निधापयेत्॥
अभ्यक्तस्विन्नगात्रस्य तैलाक्तां स्नेहिते गुदे।
अथवा लवणागारधूमसिद्धार्थकैः कृताम्॥
बिल्वादीनां निरूहः स्यात् पीलुसर्षपमूत्रवान्।
सरलामरदारुभ्यां सिद्धं चैवानुवासनम्॥

च० सि० ७।२१-२६, अ० सं० क० ६।१३-१५, अ० हृ० क० ५।६-९

अल्पवीर्य इत्यादिना आध्मानमाह। रुद्धमार्ग इति निवारिताधोमार्गः; स चानिलं रुणद्धि, अनिलश्च रुद्धमार्गतया आध्मानं करोतीति। मर्मपीडनमित्याध्मानविशेषणम्। रुणद्धि हृदयं शूलैरिति शूलैर्हृदयं व्याप्नोति। श्यामाफलादिभिरिति श्यामादिभिर्नवभिः, फलादिभिश्च षड्भिः कल्पस्थानोक्तैः। धूमशब्देनेह गृहधूमग्रहणम्। गुडश्चात्र तावन्मात्रो भवति यावता वर्तिः कर्तुं युज्यते। करांगुष्ठेत्यत्र करग्रहणं पादांगुष्ठनिषेधार्थम्। अथवेत्यादिनोक्तद्वितीयवर्तावपि वर्तित्वसम्पत्यर्थं गुडो देयः। बिल्वादिभिश्च निरूहे इति "बिल्वमूलत्रिवृद्दारुयवकोलकुलत्थवान्" इत्यादिनोक्तः। सरलेत्यादौ सिद्धमित्यत्र 'तैलम्' इति शेषः।

चक्रपाणिः।

अल्पवीर्योमन्दवीर्यो वा स्वल्पगुणो वा महादोषे रूक्षे रूक्षगुणो वा। ततस्सरुद्धमार्गोऽनिलः कुर्यादाध्मानमिति। आध्मानव्यापदं करोति। विगतोऽस्य मार्गः। ततश्च रुद्धमार्ग इतश्चेतश्च धावतीति। वायोः प्रयुक्तप्रतियातेनाध्मानमेवभृशं हि निरुद्ध्यते। तत्र श्यामाफलाद्यैः श्यामादीनि त्रिवृतादीनि फलादीनि जीमूतकादीनि तीक्ष्णोष्णद्रव्याणि तैः कृतां वर्तिम्। अथवा लवणागारधूमसिद्धार्थकैः कृतामिति।

जज्जटः।

दोषाढ्ये तथा रूक्षे क्रूरकोष्ठे वा बस्तिरल्पवीर्यो दत्तो दोषैर्वाय्वाद्यैरावरकैरावृतोऽनंतरं स बस्ती रुद्धमार्गः प्रतिहृतगतिप्रसरणोवायुं रुंध्यात्। सोऽनिलो विमार्गश्च आध्मानं कुर्यात्। तथा हृदयादीनां मर्मणा वा व्यधनं पीडनं, तथा गुदकोष्ठस्य विदाहं, तथा मुष्कवंक्षणवेदनां च कुर्यात्। तथा शूलैः नानाविधाभग्नरुद्धमृदितपीडितावनद्धादिभिः पीडाभिः, हृदयं रुणद्धि---आवृणोति। हृदमयावृत्यानन्तरम्, इतश्चेतश्च अनियते देशे, धावति पवनः। तथा—अवस्थाविशेषे, सुष्ठ्वभ्यक्ताङ्गस्य स्विन्नाङ्गस्यच फलवर्ति प्रयोजयेत्। बिल्वादिकश्च निरूहः स्यात् पीलुसर्षपमूत्रवान्। सरलदेवदारुभ्यां साधितं तैलं चानुवासनं स्यात्। अरुणदत्तः।

सशेषान्नेऽथवा भुक्ते बहुदोषे च योजितः।
अत्याशितस्यातिबहुर्बस्तिर्मन्दोष्ण एव च॥
अनुष्ण लवणस्नेहो ह्यतिमात्रोऽथ वा पुनः।
तथा बहू पुरीषं च क्षिप्रमाध्मापयेन्नरम्॥
हृत्कटीपार्श्वपृष्ठेषु शूलं तत्रातिदारुणम्।
तत्र तीक्ष्णतरो बस्तिर्हितं चाप्यनुवासनम्॥

सु० चि० ३७।३४-३६

सशेषान्ने इत्यादि। सशेषान्ने अन्नाजीर्णशेषे, भुक्ते च निरूहबस्तिः, तथा बहुदोषेऽनुष्णलवणस्नेहो निरूहबस्तिर्योजितो नरमाध्मापयेत्; नत्वनुवासनः, तस्य सान्न एव हितत्वात्। अत्याशितस्य स्नेहबस्तिस्तथा मात्राशितस्याति बहुमन्दोष्णतायुक्तः स्नेहबस्तिराध्मानं जनयेत्। डल्हणः।

आध्मान नामक उपद्रव का कारण, लक्षण और चिकित्सा।

हि० व्या० – जिन व्यक्तियों में दोष की मात्रा अधिक हो, शरीर में रूक्षता हो तथा कोष्ठ क्रूर हो, ऐसे व्यक्तियों को यदि अल्पवीर्य औषधि की बस्ति दी जाय तो वह बस्ति दोषों द्वारा आवृत हो जाती है। उसके निकलने का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। अतः वायु के मार्ग को बस्ति रोक देती है। रुकी हुई और विमार्ग में गई हुई वायु आध्मान, मर्मस्थानों में पीड़ा, विदाह, कोष्ठ में भारीपन, अण्डकोष व वंक्षण प्रदेश में वेदना उत्पन्न करती है। शूलवृद्धि से हृदय के कार्यों में रुकावट होती है। वायु का उदर में संचार होता है। ऐसी अवस्था में काला त्रिवृत्, मदनफल, कूट, पीपर, नमक, सरसों, गृहधूम, उड़द, वच, सुराकिट्ट, यवक्षार इन द्रव्यों का चूर्ण और गुड—इनसे निर्मित यव की आकृति की अंगूठे के समान वर्ति तेल में डुबो दें। स्नेहन-स्वेदन कराकर, गुदा में स्नेह लगाकर वर्त्ती गुदा में लगा दें। अथवा सैंधानमक, गृहधूम, सरसों इनसे बनी हुई वर्त्ती गुदा में प्रयोग करें। अथवा बिल्वादि औषध द्रव्यों के क्वाथ में पीलु सरसों, गोमूत्र मिलाकर निरूह बस्ति देनी चाहिए तथा सरल

और देवदार के क्वाथ एवं कल्क में सिद्ध तैल की अनुवासन बस्ति देनी चाहिए। आचार्यवाग्भट ने भी समान विचार व्यक्त किया है।

दुर्बलस्य पथ्यपालनकाले व्यवायाज्जायमानोपद्रवाः

व्यवायाज्जीवितभ्रंशात्तंस्तंरस्यानिलामयैः।
गुदोऽवलुप्यत इव भ्रमतीव च चेतना॥
मेढ्रं धूमायति मनस्तमसीव प्रवेक्ष्यते।

अ० सं० क० ७।४०

व्यावायादस्य वस्त्युपयोगिनस्तैस्तैरनिलामयैर्वातव्याधिभिर्नानाविधैर्जीवितभ्रंश स्यात्। अवलुम्पनं छेदनं। चेतना संचित मनश्चिन्तम्। इन्दुः।

व्यवायोपद्रव चिकित्सासूत्रम्।

जीवनीयश्रृतक्षीर सर्पिषोरुपयोजनम्।
आहारो बृंहणस्तत्र वृष्यास्ते ते च बस्तयः॥

अ० सं० क० ७।४१

तत्र जीवनीयगणसिद्धस्य क्षीरस्य सर्पिषश्चोपसेवनम्। इन्दुः।

हि० व्या० – जीवनीयगण से सिद्ध दुग्ध एवं घृत का उपयोग तथा बृंहण आहार से व्यवाय-जन्य उपद्रव शान्त होते हैं। वृष्य बस्तियों का उपयोग भी करना चाहिए।

मांसक्षय-शुक्रक्षयशमनाय चत्वारः आवापद्रव्ययोगाः।

काकोलीक्षीरकाकोली मुद्गपर्णी शतावरी।
विदारी मधुयष्ट्याह्वा शृङ्गाटककशेरुके॥
आत्मगुप्ताफलं माषाः सगोधूमा यवास्तथा।
जलजानूप जंमांसमित्येते शुक्रमांसलाः॥

च० सि० १०।२८-२९

हि० व्या०—शुक्र एवं मांसवर्धक चार बस्तियां—

१—काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्गपर्णी, शतावर—इनके क्वाथ की वस्ति देने से शुक्रधातु एवं मांसधातु की वृद्धि होती है।

२ विदारीकन्द, मुलेठी, सिंघाड़ा और कशेरूक—इनके क्वाथ की वस्ति देने से शुक्र और मांसधातु की वृद्धि होती है।

३—कौंचबीज, उड़द, गेहूं और जौ—इनको विधिपूर्वक जल में पकाकर क्वाथ बनाकर वस्ति देने से शुक्र और मांसधातु की वृद्धि होती है।

४ जलीय और आनूप पशुपक्षियों के विधिवत् बने मांसरस को बस्ति द्वारा प्रयोग करने पर शुक्र और मांस की वृद्धि होती है।

मलसंग्राहकाः चत्वारः आवापद्रव्ययोगाः।

जीवन्ती चाग्निमन्थश्च धातकीपुष्पवत्सकौ।
प्रग्रहः[1] खदिरः कुष्ठं शमी पिण्डीतको[2] यवाः॥
प्रियङ्गुः रक्तमूली[3] च तरुणी[4] स्वर्णयूथिकाः।
वटाद्याः किंशुकं लोध्रमिति सांग्राहिका मताः॥

च० सि० १०।३०-३१

हि० व्या०—मलसंग्राहक बस्तियां—

१—जीवन्ती, अरणी की छाल, धातकी, पुष्प, इन्द्रयव, इनके – क्वाथ की बस्ति देने से अतिसार और ग्रहणी रोग दूर होते हैं।

२—अमलतास की गुद्दी, खैर, कूठ, शमी की छाल, मैनफल और जौ के क्वाथ की बस्ति देने से अतिसार और ग्रहणी रोग दूर होते हैं।

३—प्रियङ्गु, रक्तमूली (मजीठ या लज्जालु), तरुणी (गुलाब पुष्प) स्वर्णजूही इनके क्वाथ की बस्ति देने से अतिसार और ग्रहणी रोग दूर होते हैं।

४—बट का बरोह, पाकड़ की छाल, पीपल की छाल, गूलर की छाल, पारस पीपल की छाल, पलाश का फूल, लोध्र—इनके क्वाथ की बस्तियां देने से मल की रुकावट होती है। अतिसार और ग्रहणी रोग दूर होते हैं।

गुदबलिस्रावोपद्रव शमनाय द्वौ आवापद्रव्यप्रयोगौ

परिस्रावे श्रृतं क्षीरं सपृश्निरपुनर्नवम्।
आखुपर्णिकया वाऽपि तण्डुलीयकयुक्तया॥

च० सि० १०।३२

तण्डुलीयकयुक्तयेत्यन्तेन परिस्रावे द्वावुक्तौ। चक्रपाणिः।

हि० व्या०—परिस्रावनाशक २ बस्तियां—

(१) रक्तपुनर्नवा, श्वेतपुनर्नवा के कल्क से विधिपूर्वक सिद्ध दूध की अथवा (२) मूषिकपर्णी और चौलाई के कल्क से सिद्ध दूध की बस्ति देने से परिस्राव रोग दूर हो जाता है।

दाहप्रशमनौ द्वौ आवापद्रव्ययोगौ।

कालङ्कतककाण्डेक्षुदर्भपोटगलेक्षुभिः।
दाहघ्नः सघृतक्षीरो द्वितीयश्चोत्पलादिभिः।

च० सि० १०।३३

१. प्रग्रहः=आरग्वधः
२. पिण्डीतको=मदनः
३. रक्तमूली=समङ्गा
४. तरुणी=आमतरुणी, नवमालिका वा। चक्रपाणिः

कालङ्कतकः=कासमर्दः, काण्डेक्षुर्बृहदिक्षुः, पोटगलो=होग्गलः। उत्पलादिभिरिति उत्पलादयो नलिनसौगन्धिकादयो जलजाः पुष्पविशेषाः। चक्रपाणिः।

हि० व्या०—दाहनाशक बस्तियां - (१) कासमर्द, बड़ी ईख, डाभ, पोटगल (गोनख), ईख इनके क्वाथ में दूध और घृत मिलाकर दी गई बस्ति दाहनाशक है। (२) अथवा उत्पलादिगण के क्वाथ में दूध, घी मिलाकर बस्ति देने से दाह का नाश हो जाता है।

परिकर्तिका शमनाय द्वौ आवापद्रव्य योगौ।

कर्बुदाराढकीनीपविदुलैः क्षीरसाधितैः।
बस्तिः प्रदेयो भिषजा शीतः समधुशर्करः।
परिकर्ते तथा वृन्तैः श्योपर्णीकोविदारजैः।
देयो बस्तिः सुवैद्यस्तु यथावद्विदितक्रियः॥

च० सि० १०।३४-३५

कर्बुदारः कांचनारः, विदुलो वेतसः। कोविदारजैरित्यनेन द्वितीयः परिकर्ते। चक्रपाणिः।

हि० व्या०—परिकर्तिकानाशक बस्तियां – (१) कचनार की छाल, अरहर की पत्ती, कदम्ब की छाल, वेत के कल्क से सिद्ध दूध में मधु और चीनी मिलाकर, अथवा (२) गम्भारी और कचनार के वृन्त के कल्क से सिद्ध दूध में मधु या चीनी मिलाकर चिकित्सा में दक्ष वैद्यों द्वारा दी गई शीतल बस्ति परिकर्तिका रोगनाशक है।

प्रवाहणोपद्रव शमनाय द्वौ आवापद्रव्यप्रयोगौ।

बस्तिः शाल्मलिवृन्तानां क्षीरसिद्धो घृतान्वितः।
हितः प्रवाहणे तद्वद्वेष्टैः शाल्मलिकस्य च॥

च० सि० १०।३६

वेष्टैः शाल्मलिकस्य चेत्यन्तेन द्वितीयः प्रवाहणे। चक्रपाणिः।

हि० व्या०—प्रवाहिका नाशक बस्तियां—(१) सेमर के वृन्त के कल्क से सिद्ध दूध में घृत मिलाकर; अथवा (२) मोचरस से विधिपूर्वक सिद्ध दूध में घृत मिलाकर दी गई बस्ति प्रवाहिका रोग में लाभकारी है।

बस्त्यतिप्रयोगोपद्रवशमनाय द्वौ आवापद्रव्ययोगौ।

अश्वावरोहिकाकाकनासाराजकशेरुकैः।
सिद्धाः क्षीरेऽतियोगे स्युः क्षौद्राञ्जनघृतैर्युताः।
न्यग्रोधाद्यैश्चतुर्भिश्च तेनैव विधिना परैः॥

च० सि० १०।३७

अश्वावरोहिका=अश्वगन्धा, अश्वकर्ण=इक्षुरको वा, जतूकर्ण दर्शनात्,

अश्वावरोहकोऽश्वकर्णः, न्यग्रोधाद्याश्चत्वारः न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थप्लक्षाः। तेनैव विधिनेति पूर्वयोगविधिना एतौ द्वावतियोगे। चक्रपाणिः।

हि० व्या०—विरेचनातियोगनाशक बस्तियां—

(१) अश्वावरोहिका (बड़े पत्ते का साखु या तालमखाना), काकनासा, बड़ा कसेरू, इनके कल्क से सिद्ध दूध में मधु, रसौत और घृत मिलाकर; अथवा (२) वट, पीपल, पाकड़, गूलर इन द्रव्यों की छाल को कल्क से सिद्ध दूध में मधु, रसवत और घृत मिलाकर दी गई बस्ति विरेचन के अतियोग में लाभकर है।

बलातिबलारास्नारग्वध प्रभृति महौषध क्वाथ मधुकमदनानिकल्क-प्रयुक्तो गुल्महृद्रोगाध्मानशमनः निरूहयोगः

बलातिबलारास्नारग्वधमदनबिल्वगुडूचीपुनर्नवैरण्डाश्वगन्धासहचरपलाश-देवदारुद्विपंचमूलानि पलिकानि यवकोलकुलत्थद्विप्रसृतं शुष्कमूलकानां च जलद्रोणसिद्धं निरूहं प्रमाणावशेषं कषायं पूतं मधुकमदनशतपुष्पाकुष्ठपिप्पली-वचावत्सकफलरसांजनप्रियङ्गुयवानीकल्कीकृतं गुडघृततैल क्षौद्रक्षीरमांसरसाम्ल-कांजिक सैन्धवयुक्तं सुखोष्णं बस्तिं दद्याच्छुक्रमूत्रवर्चः सङ्गेऽनिलजे गुल्महृद्रो-गाध्मानबृघ्नपार्श्वपृष्ठकटीग्रहसंज्ञानाशबलक्षयेषु च। च० सि० १२।२०

बलारास्नेत्यादिकः षष्ठः। शुष्कमूलकानां चेत्यत्र प्रसृतमित्यनुवर्तते। निरूहप्रमाणशेषं कषायमिति निरूहपुटकत्रययोग्यप्रमाणं कषायं, एवं पुटक-त्रय देयाः पंचकषाय प्रसृताः स्थाप्या भविष्यन्ति। क्वाथपरिभाषयैव कर्तव्योऽत्र च क्वाथः निरूहप्रमाणशेषं कषायं मधुकमदनादिना युक्तं सिद्धं बस्तिं दद्यादिति योजनीयम्। चक्रपाणिः।

हि० व्या०—बलामूल, अतिबला, रास्ना, अमलतास का गूदा, मदनफल, बेलगिरी, गुडूची, पुनर्नवा, एरण्डमूल, असगन्ध, कटसरैया, पलाश की छाल, देवदार और दोनों पंचमूल (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, गोखरू, बेल, सोनापाठा, गम्भारी, पाढ़ल, गनियार) ये प्रत्येक एक-एक पल, जौ, खट्टीबेर, कुलथी, ये प्रत्येक दो-दो प्रसृत की मात्रा में कूटकर एक द्रोण जल में पकावे। जितनी मात्रा में निरूहबस्ति देनी हो उतना ही क्वाथ शेष रखें। उसे छानकर उसमें मुलेठी, मदनफल, सौंफ कूठ, पीपर, वच, इन्द्रजौ, रसौत, प्रियङ्गु और अजवायन का कल्क मिलाकर गुड़, घृत, तेल, मधु, दूध, मांसरस, खट्टी कांजी, सेंधानमक मिलाकर मथानी से मथकर बस्तिपुटक में सुखोष्ण रखकर बस्ति दें। इसका प्रयोग शुक्र, मूत्र और मल की वात से रुकावट होने पर करना चाहिए तथा गुल्म, हृदय रोग, आध्मान, बृघ्न, पार्श्व ग्रह, पृष्ठग्रह, कटिग्रह, संज्ञानाश और बलक्षय होने पर करना चाहिए।

रुधिरक्षय उपद्रवशमनः बलातिबलापामार्गादि निरूहयोगः।

बलातिबलापामार्गात्मगुप्ताष्टपलार्धक्षुण्णयवाञ्जलिकषायः सगुडघृततैल-लवणयुक्तः पूर्ववद्बस्तिः स्थविरदुर्बलक्षीणशुक्ररुधिराणां पथ्यतमः।

च० सि० १२।२३

हि० व्या०—बला, अतिबला, अपामार्ग, आत्मगुप्ता (कौंचबीज) को २-२ पल ग्रहण करके तथा एक अञ्जलि कटे हुए जौ इन सभी को यथाविधि कषाय बनाकर गुड, घृत, तैल, लवण मिश्रित कर बस्ति तैयार करनी चाहिए। यह वृद्ध, क्षीण, दुर्बल, क्षीणशुक्र एवं क्षीणरक्त वाले व्यक्तियों को प्रयोग कराना चाहिए।

बुद्धिमेधाग्निबलजननः ह्रस्वपञ्चमूलीक्वाथ साधितो निरूहयोगः विषमज्वरशमनः।

ह्रस्वपञ्चमूलीकषायः क्षीरोदकसिद्धः पिप्पलीमधुकमदनकल्कीकृतः सगुड-घृततैललवणः क्षीणविषमज्वरकर्शितस्य बस्तिः। च० सि० १२।२२

हि० व्या०—लघुपञ्चमूल को दुग्ध एवं जल में पकाकर क्वाथ तैयार करें। दूध मात्र शेष रह जाने पर छानकर, पिप्पली, मधुयष्टी, मदनफल कल्क एवं गुड, घृत, तैल, सैंधव लवण मिलाकर भली प्रकार मथी हुई इस बस्ति का विषमज्वरी एवं कृश पुरुषों में प्रयोग करना चाहिए।

बस्त्युपद्रवरूपजीवादानकष्टशमनाय बस्तियोगाः

वृहती क्षीरकाकोली पृश्निपर्णी शतावरी॥
काश्मर्यबदरीदूर्वास्त्योशीरप्रियङ्गवः।
जीवादाने श्रृतौ क्षीरे द्वौ घृताञ्जन संयुतौ॥
बस्ती प्रदेयौ भिषजा शीतौ समधुशर्करौ।
गोऽव्यजामहिषीक्षीरैर्जीवनीययुतैस्तथा॥
शशैणदक्षमार्जारमहिषाव्यजशोणितैः।
सद्यस्कर्मर्दितैर्बस्तिर्जीवादाने प्रशस्यते॥
मधूकमधुकद्राक्षादूर्वाकाश्मर्यचन्दनैः।
तेनैव विधिना बस्तिर्देयः सक्षौद्रशर्करः॥

च० सि० १०।३८-४२, अ० सं० क० ४

जीवादाने द्वौ बस्ती क्षीरे घृताञ्जन संयुतौ शीतौ माक्षिकशर्कराभ्यां युक्ता देयौ। एको बृहत्यादिभिर्द्वितीयः काश्मर्यादिभिः। गोव्यजादिक्षीरैर्जीवनीयगण-युक्तैरयमपि बस्तिर्जीवादानेतियोगप्रवृत्तजीवरक्ते। शशादिशोणितैः सद्यस्कं-र्जीवादीन्। अत्र मृदितैरित्येतावदुक्तम्। इन्दुः।

हि० व्या०—जीवादान नाशक बस्तियां—बड़ी कटेरी, क्षीरकाकोली, पृश्निपर्णी, शतावर इनके और जीवनीयगण[1] की दश औषधियों से बनाये हुए कल्क से गाय, भेड़, बकरी, भैंस के दूध को विधिपूर्वक पकाकर उसमें खरहा, मृग, मुर्गा, बिल्ली, भैंस, भेड़ और बकरी के ताजे रक्त मिलाकर (मथानी से सम्यक् मथकर) घृत, रसौत, मधु और चीनी मिलाकर ये दो वस्तियां जीवादान अर्थात् अधिक शोधन से जीवरक्त के निकलने पर चिकित्सक को उपयोग में लानी चाहिए।

महुआ, मधुयष्टी, मुनक्का, दूर्वा, गम्भारी की छाल, लालचन्दन इनके और जीवनीयगण की दश औषधियों के कल्क से गाय, भेड़, बकरी, भैंस के दूध को विधिपूर्वक पकाकर उसमें खरगोश, मृग, मुर्गा, बिल्ली, भैंस, भेड़ और बकरी के ताजे रक्त मिला, मथकर मधु और चीनी मिलाकर बस्ति देनी चाहिए। इससे जीवरक्त का निकलना बन्द हो जाता है।

उदुम्बर-शलाटु-प्रभृतिकः सर्वातीसारशमनो घृतयोगः

उदुम्बरशलाटूनि जम्ब्वाम्रोदुम्बरत्वचः।
शङ्खं सर्जरसं लाक्षां कर्दमं च पलांशिकम्॥
पिष्ट्वा तैः सर्पिषः प्रस्थं क्षीरद्विगुणितं पचेत्।
अतीसारेषु सर्वेषु पेयमेतद्यथाबलम्।

च० सि० ८।३६-३७, अ० सं० क० अ० ६

हि० व्या०—सर्वातिसारनाशकघृतयोग—कच्चे-गूलर का फल, जामुन की छाल, आम की छाल, गूलर की छाल, शंख भस्म, राल, लाख, कमल का कीचड़, प्रत्येक एक पल की मात्रा में लेकर कल्क तैयार करना चाहिए। एक प्रस्थ घृत तथा दो प्रस्थ दूध मिलाकर विधिवत् घृत का पाक करना चाहिए। अग्निबल के अनुसार सभी प्रकार के अतिसार रोगों में सेवन करना चाहिए।

बस्त्युपद्रवरूपाऽऽमातीसारस्य चिकित्सासूत्रम्।

तत्रामेऽन्तरपानं स्यात् व्योषाम्ललवणैर्युतम्।
पाचनं शस्यते बस्तिरामे हि प्रतिषिध्यते।

च० सि० ८।२३

अन्तरपानं पाचनमाहुः। पाचनमित्यनेन चेह पूर्वं 'स घनातिविषा' इत्याद्युक्तं पाचनं गृह्यते। व्योषाम्ललवणैर्युतमिति व्योषाम्ललवणयोगेन कृतम्।

चक्रपाणि

१. जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, जीवन्ती, मधुयष्टी।

हि० व्या० आमातिसार में सोंठ, पीपर, मरिच, अम्लद्रव्य। जैसे—अनार, अम्लवेत:, सैंधवनमक, मिलाकर पीना चाहिए। आम दोष में पाचन चिकित्सा श्रेष्ठ है। इसमें वस्तिप्रयोग निषेध है।

अतिसारोपद्रवोदाहरणद्वारा विविधानां बस्त्युद्रपवाणां चिकित्सासूत्र सूचनम्।

त्रिचतुः पञ्चसंसर्गनिवमेव विकल्पयेत्।
युक्तिश्चैषातिसारोक्ता सर्वरोगेष्वपि स्मृता॥

च० सि० ८।३४

अनुक्तसंसर्गचिकित्सां सूत्रयन्नाह---त्रिचतरित्यादि। त्रिचतु:पञ्चसंसर्गानिति आमादीनां त्रिकचतुष्कपञ्चकरूपान् संसर्गान्। एवमेव विकल्पयेदिति प्रधानादिमेलकेन विकल्पयेत्, तथा भेषजमपि तेषां यथोक्तभेषजानुसारेण कल्पयेदित्यर्थः। एते च भेदा लिख्यमाना अतिबहु प्रभेदतया ग्रन्थगौरवमापदयन्ति, स्वयं च बुद्धिमता सुकरविभागा एवेति न लिख्यन्ते। एवमादिसंसर्गकृतं रोगभेदमन्यत्रापि बुद्ध्य कर्तव्यतयाऽतिदिशन्नाह—सर्वरोगेष्वपि स्मृतेति इयं व्यवस्था सर्वरोगेष्वेव यथासंभवमाचार्यानुमतेत्यर्थः। तत्र ग्रहणीगदे यत्र तु षडप्यामादयः सम्भवन्ति, शोणितेन वा समं चत्वारः तत्र तेषामेव परस्परसंसर्गो भेषजविभागार्थं कल्पनीयः। चक्रपाणिः।

हि० व्या०—यहाँ आचार्य ने दो दोषों के संसर्ग से उत्पन्न तीस प्रकार के अतिसारों का वर्णन किया है। इसी प्रकार ३-४-५ और ६ दोषों के संसर्ग से उत्पन्न होने वाले अतिसार की चिकित्सा में भी कल्पना करनी चाहिए। यही युक्ति अन्य रोगों मे भी मानी जाती है।

आमातिसारादि विविधरोगाणां शमनाय यथास्वौषधसिद्ध विविधबस्तिप्रयोग कल्पनासूचनम्।

गुल्मातिसारोदावर्तस्तम्भसंकुचितादिषु।
सर्वाङ्गैकाङ्गरोगेषु रोगेष्वेवंविधेषु च॥
यथास्वैरौषधैः सिद्धान् बस्तीन् दद्याद्विचक्षणः।
पूर्वोक्तेन विधानेन कुर्वन् योगान्पृथग्विधान्॥

च० सि० १०।४७-४८

अनुक्तबस्तिकल्पनार्थमाह— गुल्मातिसारेत्यादि। यथास्वैरौषधैरिति यथास्वव्याधिप्रत्यनीकैर्भेषजैः। कुर्याद्योगान् पृथग्विधानिति यथोक्तविधिना द्रव्यावापादिना योगान् यथोचितान् गुल्मादिकल्पनीयान् बस्तिषु कुर्यात्। चक्रपाणिः।

हि० व्या—गुल्म, अतिसार, उदावर्त, स्तम्भ, संकोच आदि रोगों में तथा सर्वाङ्ग एवं एकाङ्ग रोगों में, इसी प्रकार अन्य रोगों में भी, पहले बताई गई

विधि के अनुसार अलग-अलग औषधियों द्वारा वस्तियोगों की कल्पना कर (वातादि दोषजन्य भिन्न-भिन्न रोगनाशक औषधियों से वस्तियों की कल्पना कर) प्रयोग करना चाहिए।

अतिसारोपद्रवशमनः विविधाः यवागूयोगाः।

कच्छुरा धातकीबिल्वसमंगारक्तशालिभिः।
मसूराश्वत्थशुङ्गैश्च यवागूः स्याज्जले श्रृतैः॥
बालोदुम्बरकट्वङ्गसमङ्गाप्लक्षपल्लवैः।
मसूरधातकीपुष्पबलाभिश्च तथा भवेत्॥
स्थिरादीनां बलादीनामिक्ष्वादीनामथापि वा।
क्वाथेषु समसूराणां यवाग्वः स्युः पृथक् पृथक्॥
कच्छुरामूलशाल्यादितण्डुलैरुपसाधिताः।
दधितक्कारनालाम्लक्षीरेक्ष्विक्षुरसेऽपि वा।
शीताः सशर्कराक्षौद्राः सर्वातीसारनाशनाः॥
ससर्पिर्मरिचाजाज्यो मधुरा लवणाः शिवाः।

च० सि० ८।३८-४२, अ० सं० क० अ० ६

रक्तशालिभिः' इत्यत्र 'रक्तमूलिभिः' इति पाठे 'रक्तमूली रक्तैरण्डम्' इत्यपरे। जले श्रृतैरिति षडङ्गविधानेन जले श्रृतैः। बालोदुम्बरमुदुम्बरशलाटु। भवेदिति यवागूर्भवेत्। इक्ष्वादीनामिति तृणपञ्चमूलपठितानां शरवर्जितानां इक्षुकुशकासशालिमूलानाम् शाल्यादितण्डुलैरिति रक्तशालिकलमादितण्डुलैः। दध्यादिभिरत्र जलस्थानीयैर्यवागूः साधनीया। चक्रपाणिः।

हि० व्या०—सर्वातीसार नाशक यवागू—

(१) दुरालभा, धातकीपुष्प, बेलगिरी, लाजवन्ती, रक्तशालि, मसूर, पीपलवृक्ष के पत्राङ्कुर से बनायी गई यवागू प्रयोग करने से सभी प्रकार के अतिसार नष्ट होते हैं।

(२) गूलर के कच्चे फल, सोनापाठा की छाल, लाजवन्ती, पर्कटी वृक्ष के पत्राङ्कुर, मसूर की दाल, धातकीपुष्प और बलामूल से बनायी गयी यवागू सभी प्रकार के अतिसार को दूर करती है।

(३) स्थिरादिवर्ग (लघुपञ्चमूल), बला, इक्षु आदि तृणपञ्चमूल में शर-मूल को छोड़कर ईख, कुश, काश और शालिधान्य मूल के क्वाथों में अलग-अलग मसूर की दाल मिलाकर यवागू बनाकर प्रयोग करना चाहिए। इनसे सभी प्रकार का अतिसार दूर हो जाता है।

(४) दुरालभा का मूल, रक्तशालि और कलम शालि के चावल से बनी यवागू, खट्टा दही, मट्ठा, कांजी, अम्लरस क्षार और ईख के रस में बनायी

गयी यवागू शीतल होने पर चीनी और मधु मिलाकर सेवन करने पर सभी प्रकार का अतिसार रोग दूर होता है।

निरूहोपद्रवरूपाऽऽमातिसार चिकित्सा

आमं यः कुणपं रुग्वानुपवेश्येत सारुचिः।
स घनातिविषाकुष्ठनतदारुवचाः पिबेत्॥

अ० सं० क० ६।५५

यस्तु पुरुषो रुग्वानामं कुणपं दुर्गन्धमुपवेश्येतारुच्या युक्तः स घनादिकं जलेन पिबेत्। इन्दुः

हि० व्या०—निरूहबस्ति उपद्रव जन्य आमयुक्त अतिसार में यदि दुर्गन्धयुक्त मल पीड़ा के साथ निकले और रोगी को अरुचि भी हो तो नागर-मोथा, अतिविषा, कुष्ठ, तगर, दारुहल्दी और वच का काढ़ा पिलाना चाहिए।

निरूहोपद्रव दोषातिसार चिकित्सा।

शकृद्वातमसृक् पित्तं कफं वा योऽतिसार्यते।
पक्वं तत्र स्ववर्गीयो बस्तिः श्रेष्ठं भिषग्जितम्॥

अ० सं० क० ६।५६

अस्मिंश्चातियोगे शकृदादिकं पक्वं योऽतिसार्यते तत्र स्ववर्गीय आत्मीयौषधनिर्वृतो बस्तिः श्रेष्ठं भिषग्जितम्। शकृदतिसारे सूत्रोक्तेन पुरीषसंग्रहणेन वर्गेण बस्तिः। एवं वातादीनामपि स्वशब्दार्थो व्याख्येयः। इन्दुः।

हि० व्या०—रक्तातिसार, पित्तातिसार, वातातिसार, कफातिसार—जो पक्वावस्था में हों तो उन-उन दोषों को शमन करने वाले बस्ति योगों की कल्पना करनी चाहिए।

आमदोषपाचनाय प्रदेयक्वाथ संकेतः।

तत्रामेऽन्तरपानं तु कटवम्ललवणैर्युतम्।
पाचनं शस्यते बस्तिरामे हि प्रतिषिध्यते॥

अ० सं० क० ६।५६

आमे केवले कटवादिगणौषधैर्युक्तमन्तरपानकं मुखेन योज्यं शस्यते। किं तदाह पाचनम्। इन्दुः।

हि० व्या०—आमदोष के पाचन हेतु कटु, अम्ल और लवण रस से युक्त औषधियों का काढ़ा पिलाना चाहिए। इससे आमदोष का पाचन होता है।

बस्त्युपद्रवरूप वायुवृद्ध शमन चिकित्सासूत्रम्।

स्वाद्वम्ललवणैः शस्तः स्नेहबस्तिसमीरणे।

च० सि० ८।२४, अ० सं० क० अ० ६

स्वाद्वम्ललवणैः शस्तः स्नेहबस्तिरिति स्वाद्वम्ललवणद्रव्यसाधितस्नेहकृतमनुवासनमित्यर्थः। समीरण इति केवल वातातीसारे। चक्रपाणिः।

हि० व्या—वातज अतिसार चिकित्सा—

वातजन्य अतिसार में मधुर और अम्लद्रव्यों में नमक संयुक्तकर सिद्ध स्नेह से अनुवासन बस्ति देना श्रेष्ठ है।

स्वस्थहितौ निरूहबस्ति प्रयोगः।

बलां गुडूचीं त्रिफलां सरास्नां
द्विपञ्चमूलं च पलोन्मितानि।
अष्टौफलान्यर्धतुलां च मांसात्
छागात् पचेदप्सु चतुर्थशेषम् ॥
पूतो यवानीफलबिल्वकुष्ठ—
वचाशताह्वाघनपिप्पलीनाम।
कल्कैर्गुडक्षौद्रघृतः सतैलै—
र्युक्तः सुखोष्णो लवणान्वितश्च ॥
बस्तिः परं सर्वगदप्रमाथी—
स्वस्थे हितो जीवनबृंहणश्च।
बस्तौ च यस्मिन् पठितो न कल्कः
सर्वत्र दद्यादमुमेव तत्र ॥

अ० सं० क० ४।२-४

बलादीनां पाकात् क्वाथपरिकल्पना। द्विपञ्चमूलं पृथग्द्रव्यम्। यवान्यादिकं कल्कः। कल्कादीनां माने सूत्रोक्तस्य स्मर्तव्यम्। सुबोधम्। बस्तीनां च सर्वेषामपठितकल्कानाममुमेव यवान्यादिकं कल्कं दद्यात्। इन्दुः।

हि० व्या०—बला, गुडूची, त्रिफला, रास्ना, दशमूल की औषधियां प्रत्येक एक-एक पल (४ तोला) की मात्रा में मदनफल संख्या में आठ, ढाई सेर बकरे का मांस चतुर्गुण जल में पकाकर चौथा भाग शेष रहने पर छानकर उस क्वाथ में, अजवायन, बेलफल, कूठ, वच, सौंफ, नागरमोथा, पिप्पली इनका कल्क मिलाकर, गुड़, शहद, घी और तेल मिलाकर बस्ति देनी चाहिए। यह बस्ति सभी रोगों को दूर करती है। स्वस्थ व्यक्ति के लिए जीवनीय शक्तिवर्धक एवं बृंहणीय है। इसके अतिरिक्त बस्तियोगों में जहां कल्क द्रव्य का उल्लेख नहीं किया गया है वहां भी इन्हीं औषधियों का कल्क प्रयोग करना चाहिए।

निरूहासम्यग्योगजन्योदावर्तोपद्रवः

बहुदोषबलेक्रूरकोष्ठे बस्तिस्तनुर्मृदुः।
शीतोऽल्पश्चावृतो दोषैः प्रतिहंति समीरणम ॥
ऊर्ध्वं सोऽनुसरन्देहं कुर्याद्वायुः शिरोरुजम्।
ग्रीवास्तंभं प्रतिश्यायं बाधिर्यं दृष्टिविभ्रमम् ॥

अ० सं० क० ६।

बहुदोषेत्यादिना शिरोरुगुच्यते। बहुदोषबलरहितादिके तनुत्वादिगुणो बस्तिर्युक्तो दोषैरावृतत्वात् समीरणस्य वेगप्रतिघातं करोति। स प्रतिहतो वायुरूर्ध्वं देहमनुसरञ्छिरोरुगादीन् कुर्यात्। दृष्टिविभ्रमो दृष्टिविकारः। इन्दुः।

हि० व्या०—बहुदोष युक्त क्रूरकोष्ठ के रोगी को यदि तनु (पतला), मृदुवीर्य तथा शीतवीर्य औषधियों से बनाई गई बस्ति दी जाए या अल्पमात्रा में दी जाए तो वह औषधि दोषों से आवृत होकर वायु को कुपित करती है। वह वायु शरीर में घूमते हुए शिरः शूल ग्रीवास्तंभ, प्रतिश्याय, बाधिर्य एवं दृष्टिविभ्रम आदि रोग उत्पन्न करती है।

निरूहातियोग जन्यस्य अंगमर्दोपद्रव चिकित्सा

तं तैललवणाभ्यक्तं स्वेदितं संस्तरादिभिः।
बिल्वकोलयवैरण्डवर्षाभूबृहतीद्वयैः ॥
सकुलत्थैः श्रृतंमस्तु फलसौवीरकान्वितैः।
आस्थापयेत्ससिन्धूत्थैर्जाङ्गलैरशितं रसैं ॥
तैलेनानिलजिद्द्रव्य विपक्वेनानुवासयेत्।

अ० सं० क० ६।

तमतियोगिनं तैललवणाभ्यामभ्यक्तं प्रस्तरादिभिश्च स्वेदविष्युक्तैः स्वेदितं बिल्वादि भिर्मस्त्याद्यन्वितैशृतैः ससिन्धूत्थैश्चास्थापयेत्। अनु च जाङ्गलैरसैराशितं भोजितं वातहरद्रव्यसिद्धेन तैलेनानुवासयेदित्युक्ताङ्गरुक्।

हि० व्या०—निरूह बस्ति के अतियोग जन्य अंगमर्द नामक उपद्रव होने पर सरसों तेल और लवण मिलाकर मालिश करना चाहिए। संस्तर स्वेद कराना चाहिए। बेल, बेरी का फल, यव, एरण्ड, पुनर्नवा, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, कुलथी के क्वाथ में दही का पानी, मदन फल और सौवीराञ्जन और नमक मिलाकर आस्थापन बस्ति देनी चाहिए। जांगल मांस रस का सेवन करा कर वातनाशक द्रव्यों से सिद्ध तैल से अनुवासन बस्ति देनी चाहिए।

अष्टमोऽध्यायः

आस्थापन (निरूह) बस्ति प्रकरणम्

सामान्य बस्ति प्रकरण में बस्तियों के महत्व एवं सामान्य प्रकारों का यथासम्भव परिचय दिया गया है। चिकित्सा सौकर्य की दृष्टि से आचार्यों ने समस्त बस्तियों में प्रयुक्त द्रव्य एवं उपयोगिता की दृष्टि से प्रमुख दो भेद किए हैं— (१) निरूह एवं (२) अनुवासन।

इनमें क्वाथ की प्रधानता वाली बस्ति को निरूह बस्ति कहा गया है। इसी का दूसरा नाम आस्थापन भी है। इन दोनों नाम संज्ञा में इनकी कार्मुकता ही कारण है। दोषों को शरीर से निर्हरण[1] करने के कारण या शरीर से रोग निवारण के कारण निरूह कहा जाता है। आयु अथवा वय को स्थापन[2] करने के कारण इसकी आस्थापन संज्ञा है। इस बस्ति की कार्मुकता के आधार पर अनेक भेद किए गए हैं। माधुतैलिक भी इसका एक प्रकार है। इसी के उपभेद या प्रकार यापन, सिद्ध, युक्तरथ बस्ति हैं।

मधु एवं तैल की प्रधानता होने से इसे माधुतैलिक कहा जाता है। शरीर की बल वृद्धि अथवा बस्ति के समय अपथ्य सेवन से उत्पन्न व्यापत्तियों के निर्हरण हेतु प्रयोग की जाने वाली यापन बस्ति होती है। इसका प्रत्येक समय[3] प्रयोग किया जा सकता है। आचार्य चक्रपाणि लिखते हैं कि यह आयुष्य का यापन करती है। शरीर के वर्ण को बढ़ाने वाली एवं बलवृद्धि करने वाली बस्ति को सिद्ध[4] बस्ति कहा जाता है। यान पर सवार होकर जाने पर भी जिस बस्ति के दिए जाने पर शास्त्रों में कोई निषेध नहीं किया गया उसे

१. स दोष निर्हरणात् शरीर दोषहरणाद्वा निरूहः ॥
२. वयः स्थापनात् आयुः स्थापनात् वा आस्थापनम् ॥
सु० चि० अ० ३५।१८
३. यापनस्तु बस्तयः सर्व काले देयाः। —च० सि० १२।१५
४. बलोपचय वर्णानां यस्माद् व्याधिशतस्य च।
सु० चि० ३८।११६

युक्तरथ[1] बस्ति कहा जाता है। कार्मुकता की दृष्टि से शोधन, लेखन, स्नेहन, बृंहण, उत्क्लेशन, दोषहर एवं शमन तथा शार्ङ्गधर के अनुसार-उत्क्लेशन, दोषहर, पिच्छिल, दीपन आदि का उल्लेख किया है। चरक सिद्धिस्थान में दोष, धातु, रोग आदि के अनुरूप, बलवर्णकृत, शुक्रकृत, वातघ्न, क्रिमिघ्न, वृषत्वकृत आदि भेद किए हैं। इस प्रकार इस प्रकरण में इनका क्रमशः यथा सम्भव वर्णन किया जा रहा है।

आस्थापन शब्दस्य निरुक्तिः

वयः स्थापनादायुः स्थापनाद्वा आस्थापनम्।
(सु० चि० अ० ३५।१८ ख)

तद्वयः स्थापनाद्दोषस्थापनाद्वाऽस्थापनमित्युच्यते।
(अ० सं० सू० अ० २८।६)

आस्थाप्येद्वयो देहं तस्मादास्थापनः स्मृतः।
(बंङ्गसेन)

निरूह शब्दस्य निरुक्तिः

सदोष निर्हरणाच्छरीरनिरोहणाद्वा निरूहः।
(सु० चि० अ० ३५।१८ ख)

शरीर रोहणाद्दोषनिर्हरणादचिन्त्यवीर्य प्रभावतया चास्मिनूहासम्भवान्निरूह इति।
(अ० सं० सू० अ० २८)

निरूहो दोषहरणाद्रोहणादथवा तनोः। (बंङ्गसेन)

हि० व्या०—उपर्युक्त सूत्रो में आस्थापन एवं निरूह शब्दों का निर्वचन इस प्रकार लिखा है।

आस्थापनः—वय (आयु) को स्थिर करने अथवा दोषों को शान्त करके उन्हें अपने-अपने स्थानो में स्थापित करने के कारण इसे अस्थापन कहा जाता है।

निरूह—इसे निरूह इसलिए कहा जाता है क्योंकि यह अपने प्रभाव के कारण शरीर का रोहण अर्थात् वृद्धि करती है। अथवा शरीर के दोषों का निर्हरण करती है। इसका प्रभाव एवं वीर्य अचिन्त्य होने से इसके विषय में किसी प्रकार के उहापोह की सम्भावना नहीं रहती है। अतः ऊह्य रहित होने से भी निरूह कहलाती है।

१. रथेष्वपि युक्तेषु··· ··· ···।
यस्मान्न प्रतिषिद्धोयमतो युक्तरथः स्मृतः ॥
सु० चि० ३८।११२

निरूह लक्षणम्

कषायैर्विविधैर्मिश्रैः स्नेहैः स्नेहैश्च मूर्च्छितः
सक्षौद्रमूत्रलवणो निरूहो दोष बाहनात्।

—क० सं० ।८

कषाय क्षीरतैलैर्यो निरूहः स निगद्यते।

—शा० सं० उ० ४, भाव प्र०

कषायक्षीरितो बस्तिर्निरूहः स निगद्यते। (वंङ्गसेन)

हि० व्या०—निरूह बस्ति की परिभाषा बताते हुए काश्यप संहिता में लिखा है कि अनेकविध क्वाथों से मिश्रित तथा स्नेहों द्वारा मूर्च्छित (कल्पना की गई) एवं जिसमें मधु, गोमूत्र व सैंधव डाला गया हो इस प्रकार से निर्मित निरूह दोषों का निर्हरण करता है।

शार्ङ्गधर, भाव प्रकाश एवं वंगसेन में दूध, क्वाथ एवं तैल मिश्रित कर दिए जाने को निरूह संज्ञा दी है।

किं गुणो बस्तिः

बस्तिर्वयः स्थापयिता सुखार्युबलाग्निमेधास्वरवर्णकृच्च।
सर्वार्थकारी शिशुवृद्धयूनां निरत्ययः सर्वगदापहश्च॥
विट्श्लेष्मपित्तानिलमूत्रकर्षी दार्ढ्यावहः शुक्रबलप्रदश्च।
विश्वक्स्थितं दोषचयं निरस्य सर्वान् विकारान् शमेयन्निरूहः।

च० सि० १।२७-२८

अयं चास्थापनगुणः। अनुवासनस्य तु 'देहे निरुहेण, इत्यादिना ग्रन्थेन गुणान् वक्ष्यति। वयः स्थापयतीति वयः स्थापयिता, वयः स्थापनत्वं चास्य स्रोतः—शुद्धिकरत्वात् सर्वार्थकारीति स्थिरत्वापकर्षादिविरुद्धार्थस्यापि भेषज विशेष योगात्। शिशुवृद्धयूनां निरत्यय इत्यनेन वमन विरेचनाभ्यामुत्कर्ष उच्यते ते हि शिशुवृद्धयोर्निपिद्धे। सर्वगदापहत्वं संशमनेन ज्ञेयं, सर्वान् विकारान् शमयेदित्यनेन दोषसंशोधन द्वारा सर्वगदापहत्वमुच्यत इति न पौनरुक्त्यं, किं वा सर्वान् विकारानिति सर्वावस्थान् विकारानिति शेषः। (चक्रपाणिः।

सत्यपि दोषहरत्वे कटुतीक्ष्णोष्णादिभेषजादानात्।
दुःखोद्गारोत्क्लेशाहृद्यत्वकोष्ठरूजा विरेके स्युः॥
अविरेच्यौ शिशुवृद्धौतावप्राप्तप्रहीणधातुबलौ।
आस्थापनमेव तयोः सर्वार्थकृदुत्तमं कर्म॥
बलवर्णहर्षमार्दवगात्रस्नेहान्नृणां ददात्याशु।

—च० सि० १०।६-८

बस्त्यपेक्षया शोधनान्तरेण दोषहरणं दोषमाह सत्यपीत्यादि। कटुकादिभेषजै विरेकदानाददुःखं चोद्गारश्चोत्क्लेशश्चाहृद्यत्वं च कोष्ठरुजाश्चैते सर्वे भवन्ति, अत्र दुःखं कटुकादिना रसनोद्वेगादेव भवति, एते दोषा बस्तौ न संभवन्तीति भावः। विरेकशब्देन वमनविरेकावपि ग्राह्यौ, किं वा वमनं बस्तिना सममत्यन्तर्मिन्नविषयत्वादेव नोदाहृतं, विरेकस्तु पक्वाशयस्थेऽपि दोषे वस्ति विषये भवतीति कृत्वा विरेकमेव प्रति वस्तेः प्राधान्यमिहोच्यते। अविरेकादिविषये बस्तेर्योगिकतया प्राधान्यमाह-अविरेच्यावित्यादि। तावित्यादौ यथासंख्यं व्याख्येयम् - अप्राप्तधातुरप्राप्त बलश्च बालः, प्रहीणधातुः प्रहीणबलश्च वृद्धः एवम्भूतत्वाच्चाविरेच्यावेतौ। सर्वार्थकृदिति निरत्ययदोषहरणबृंहणादिकृत्। चक्रपाणि

वस्त्रस्य धावनमिव दर्पणस्येव मार्जनम्।
आस्थापनं नृणां तद्वत्प्राज्ञैः कालोपपादितम्॥
न हि तादृग्विधं किंचित् कर्मन्यदुपपद्यते।
क्षिप्रं रोगाभिघाताय रोगाणां चोपपत्तये॥
वयसः स्थापनो वृष्यः स्वरवर्णबलाग्निकृत्।
वातपित्तकफानां च मलानां चापकर्षणः॥
बालवृद्धवयस्थानां क्षिप्रमूर्जस्करः परम्।
सर्वेन्द्रियाणां वैशद्यं कुरुते चाङ्गमार्दवम्।
एवमेते समाख्याता निरुहस्य गुणागुणाः।
वातं मूत्रं पुरीषं च देहिनां विषमस्थितम्
अनुलोमयते शीघ्रं निरूहः साधुयोजितः॥
आमं जडत्वमरुचिं विष्टम्भं वो ... ...।
... ... दीपयत्यपि॥ का० सं०

निरुहस्यास्य सामर्थ्यमुपचारं च मे शृणु॥
स्विन्ने पर्युषिते जीर्णे स्वत्यन्तं च निरुहयेत्।
सोऽस्य मूत्रं पुरीषं च श्लेष्माणं चापकर्षति॥
वातानुलोम्यं कुरुते बलं सञ्जनयत्यपि।
विष स्थिरं दोषबलं यच्च नाडीषु संस्थितम्॥
विशोधयति तत्सर्वं निरुहः स प्रयोजितः।
रोगानीकस्य सर्वस्य परोनास्ति हि तत्समः॥
व्याकुलानां च केशानां सीमन्तकरणं यथा।
तथा भृशं व्याकुलानां दोषाणां स्यान्निरुहतः॥
निरुहो हि समायुक्तस्सम्यग्वीर्यस्समैर्गुणैः।
व्याधीनथोद्धरेत्क्षिप्रं पुष्पं युक्तं नरंयथा॥

भे० सि० अ० ६।२५-२५

विट्श्लेष्मपित्तानिलमूत्रकर्षीदार्ढ्यावहः शुक्रबलप्रदश्च ।
विट्कं स्थितं दोषचयं निरस्य सर्वान् विकारान् शमयेन्निरूहः ॥
शतशः सन्ति निरुहाः सुश्रुतचरकादिमुनिगदिताः ।
भिषजा पुनरमुनैव व्यवहारश्चार्द्धमात्रेण ॥
—(वङ्गसेन)

हि० व्या०—निरूह बस्ति आयु को स्थिर करने वाली, वृष्य, स्वर, वर्ण, बल और अग्नि वृद्धिकर हैं। वात, पित, कफ रूप त्रिदोष एवं त्रिविध मलों का अपकर्षण करने वाली है। बालक, वृद्धजन एवं युवकों के बल को शीघ्र बढ़ाने वाली है। समस्त विकारों में प्रयुक्त समस्त इन्द्रियों को शुद्ध करती है। (स्त्रोतसों को निर्मल करती है), शरीर के अंगों को मृदु बनाने वाली है। इस प्रकार निरूह बस्ति के गुणों का वर्णन किया गया है। निरूह बस्ति में रोगो पचार की कितनी सामर्थ्य है इसका वर्णन करते हुए लिखा है कि जिसको सम्यक् स्नेहन स्वेदन करा दिया गया हो जिसका रात्रि में ग्रहण किया हुआ भोजन जीर्ण (पाक) हो गया हो उसे निरूह का प्रयोग करना चाहिए। वह प्रयुक्त बस्ति मूत्र, पुरीष एवं श्लेष्मा का अपकर्षण करती है, वात का अनुलोमन करती है, बल का आधान कराती है, जिसके दोष प्रबल हो, विष के समान स्थिर हो एवं नाड़ी में स्थित हो निरूह उन सभी का शोधन करती है। अनेक विध रोगों को शमन करने में इसके समान अन्य नहीं है। जिस प्रकार अस्त व्यस्त हुए बालों को कंघी संवार देती है उसी प्रकार अत्यन्त व्याकुल हुए (विषम दोषों) को निरूह समावस्था में लाती है। जिस प्रकार पुण्य कर्म से मनुष्य का उद्धार हो जाता है उसी प्रकार सम्यक् प्रकार से प्रयुक्त, सम्यक् वीर्य एवं गुण युक्त बस्ति व्याधियों से उद्धार कर देती है।

बुद्धिमान् चिकित्सक के द्वारा उचित समय पर प्रयोग करायी गयी आस्थापन बस्ति उसी प्रकार शरीर के दोषों को निकाल कर शुद्ध कर देती है जिस प्रकार वस्त्र को धोने से एवं शीशे को साफ करने से शुद्ध (निर्मल) हो जाते हैं।

आस्थापन बस्ति रोगोपशामक भी है एवं रोगोत्पादक भी है अर्थात् सम्यक् प्रयोग से रोग शीघ्र नष्ट होते हैं किन्तु असम्यक् प्रयोग से शीघ्र अनेक रोगों को उत्पन्न भी कर देती है। अतः सावधानी पूर्वक नियमानुसार प्रयोग करना चाहिए।

विरेचन से बस्ति कर्म को श्रेष्ठ बताते हुए लिखा है कि यद्यपि विरेचन प्रयोग भी दोषों का निर्हरण करता है तथापि विरेचन में कटु, तीक्ष्ण और रुक्षादि औषधियों का उपयोग होता है। अतः रोगी को विरेचनौषध ग्रहण का दुःख होता है, उद्गार आते हैं, उत्क्लेश होता है विरेचन हृदय को अच्छा न

लगने वाला तथा कोष्ठ में वेदना उत्पन्न करने वाला है किन्तु बस्ति में इस प्रकार के लक्षण नहीं होते अतः विरेचन से बस्ति श्रेष्ठ है। जिन अवस्थाओं में विरेचन नहीं कराना चाहिए उनमें बालक एवं वृद्ध की भी गणना की गई है क्योंकि बालक के शरीर में धातु एवं बल की प्राप्ति नहीं हो सकती तथा वृद्ध के शरीर में इन दोनों का ह्रास हो जाता है। अतः इन्हें आस्थापन का प्रयोग कराना चाहिए। इसके प्रयोग से बल, वर्ण, हर्ष, मृदुता तथा स्निग्धता आदि गुणों की उत्पत्ति हो जाती है।

सुश्रुत एवं चरकादि महर्षियों ने यद्यपि सैकड़ों बस्तियों का उल्लेख किया है तथापि चिकित्सक प्रायः इसी बस्ति को (अनेक रोगों में) प्रयोग में लाते हैं यह इसकी विशेषता का द्योतक है।

आस्थापनबस्ति योजनामधिकृत्य आत्रेयभृगुकौशिकादि महर्षीणां तद्विद्यसंभाषेतिहासः।

भगवन्तमुदारसत्वधी श्रुतिविज्ञान समृद्धमत्रिजम् ।
फलबस्तिवरत्वनिश्चये सविवादा मुनयोऽभ्युपागमम् ॥
भृगुकौशिकाप्यशौनकः सपुलस्त्यासितगौतमादयः ।
कतमत् प्रवरं फलादिषु स्मृतमास्थापनयोजनास्विति ॥
च० सि० ११।३-४

इतिहासश्च संहिताधर्मतया ग्रन्थे पूज्यतोपदर्शनार्थं च क्रियत एव। फलादीनां बस्तौ वरत्वं फलबस्तिवरत्वं, तस्य निश्चये अवधारणे ॥
(च० पा०)

धामार्गवमर्यक्वाकु जीमूतं कृतवेधनम् ।
मदनं कुटजं चैव त्रपुषं हस्तिपर्णिनी ॥
एतानि वमने चैव योज्यान्यास्थापनेषु च ।
च० सू० १।८५

धामार्गवः=पीतघोषकः (राजकोशातकी) इक्ष्वाकु=तिक्ता (कुटुम्बी) जीमूत=घोषक भेदः (देवदाली) कृतवेधनं=ज्योत्स्निका (कोशातकी) हस्तिपर्णी=मोरटः (त्रपुषः) कर्कटी अस्याश्च शरत्कालभवमेव जलं ग्राह्यं यत्र उक्तं "हस्ति-पर्ण्याश्च शारदम्" इति। चक्रपाणिः।

द्रव्य विषयक तद्विद्यसम्भाषा

तत्र महर्षि शौनकस्य मतं वामक नृपस्य च संयुक्तिकं तदुत्तरम्।
कफपित्तहरं फलेष्वथ जीमूतकमाह शौनकः।
मृदुवीर्यतयाऽभिनत्ति तच्छकृदित्याह नृपोऽथ वामकः ॥
च० सि० ११।५

फलादिष्विति मदनजीमूतकादिषु। कल्पे जीमूतस्य यद्यपि पित्तदोषहरत्व-

मुक्तं, तथाऽपीहवचनात् कफपित्तहरत्वमस्य प्राधान्यादुन्नीयते। मृदुवीर्यतया ऽभिनत्तीति नात्यर्थं भिनत्ति। (चक्रपाणिः)

महर्षि गौतमकृतं वामक नृपमतनिरासः।

कटुतुम्बममन्यतोत्तमं वमने दोषसमीरणं च तत्।
तदवृष्यमशंत्यतीक्ष्णताकटुरौक्ष्यादिति गौतमोऽब्रवीत्॥
च० सि० ११।६

बडिशकृतो गौतममत निरासः

कफपित्तनिर्बहणं परं स च धार्मागवमित्यमन्यत।
तदमन्यत वातलं[1] पुनर्बडिशो ग्लानिकरं बलापहम्॥
च० सि० ११।७

काप्यकृतो बडिशमतो निरासः।

कुटजं प्रशशंस चोत्तमं न बलघ्नं कफपित्तहारि च।
अतिविज्जलमौर्ध्वभागिकं पवनक्षोभि च काप्य आह तत्॥
च० सि० ११।८

भद्रशौनककृतः काप्यमत निरासः।

कृतवेधनमाह वातलं[1] कफपित्तं प्रबलं हरेदिति।
तदसाध्विति भद्रशौनकः कटुकं चातिबलघ्नमित्यपि॥
च० सि० ११।९

बस्ति प्रयोग योजनान्तर्गत उपयोगी फल विषयक आत्रेय समक्ष महर्षियों की सम्भाषा—

मन एवं बुद्धि से उदार, शास्त्रज्ञान में विशेषता रखने वाले, जिनका विज्ञान विशाल है इस प्रकार के विज्ञ भगवान आत्रेय के पास विवाद निराकरण के लिए भृगु, कौशिक, काप्य, शौनक, पुलस्त्य, असित, गौतम आदि मुनि आये। उन्होंने पूछा भगवन् फलों में कौनसा फल आस्थापन बस्तियों में श्रेष्ठ है। सर्वप्रथम शौनक ने अपना मत प्रस्तुत किया—फलों में जीमूतक श्रेष्ठ है। क्योंकि यह कफ एवं पित्त निर्हरण करने वाले द्रव्यों में श्रेष्ठ है। इस पर राजा वामक ने कहा कि यह (जीमूतक) मृदु वीर्य होने से मल का समुचित रूप से भेदन नहीं करता। अतः इसे श्रेष्ठ कहना उचित नहीं है। अपने मत की पुष्टि में राजा वामक ने कहा कि कटुतुम्बी का फल श्रेष्ठ होता है। जिस प्रकार यह वमन में दोष को प्रेरित करके निकालता है उसी प्रकार बस्ति में भी कफ एवं पित्त को प्रेरित करके बाहर निकालेगा।

१. वातलं – पाठ भेद से बातकारक एवं वामक से अत्यन्त वमन कारक भाव लिए गए हैं।

इस पर गौतम ने कहा कि इनका मत उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि कटुतुम्बी उष्ण, तीक्ष्ण, कटु एवं रूक्ष होने से अवृष्य होती है अतः समुचित प्रभावी नहीं हो सकती। अतः गौतम ने धामार्गव को श्रेष्ठ बतलाया क्योंकि यह कफ पित्त नाशक है। इस विषय पर बडिश ने कहा कि धामार्गव तो वात वर्धक ग्लानि उत्पन्न करने वाला और बल क्षय करने वाला भी है अतः उपयोगी नहीं हो सकता। बडिश के मत से कुटज प्रशंशनीय एवं उत्तम है क्योंकि यह बल की क्षति नहीं करता तथा कफ एवं पित्त का निर्हरण करने वाला है। इस पर काप्य ने कहा कि कुटज अत्यन्त पिच्छिल है। यह ऊर्ध्वभागिक (अर्थात् वामक है) तथा क्षोभ उत्पन्न करने वाला है। अतः यह श्रेष्ठ नहीं हो सकता है। काप्य ने अपने मत की स्थापना करते हुए कृतवेधन को श्रेष्ठ बताया क्योंकि यह प्रबल कफ एवं पित्त को दूर करने वाला है। भद्र शौनक ने इसकी उत्तमता स्वीकार न करते हुए कहा कि कृतवेधन अत्यन्त कटु होता है तथा बल का हरण करने वाला है।

आत्रेय महर्षिकृतः परस्परविरोध परिहारः तत्र युक्तिश्च।

इति तद्वचनानि हेतुभिः
सुविचित्राणि निशम्य बुद्धिमान्।
प्रशशंस फलेषु निश्चयं
परमं चात्रिसुतोऽब्रवीदिदम्॥
फलदोषगुणान् सरस्वती प्रति सर्वेरपि सम्यगीरित।
न तु किंचिददोषनिर्गुणं गुणभूयस्त्वमतो विचिन्त्यते॥
च० सि० ११।१०-११

इहर्षिविवादकथनेन जीमूतकादीनां गुणदोषाश्च कथिता भवन्तीति तात्पर्यं ज्ञेयम्। प्रशशंसेत्यादि। फलेषु जीमूतकादिषु फलदोषगुणान् प्रतीति लक्षीकृत्य सरस्वतीति वाक् अदोषनिर्गुणमिति दोषवदेव गुणवदेव वा न किंचिदित्यर्थः। तेन सत्यपि स्तोकदोष सम्बन्धे यद्गुणभूयिष्ठं तदिह रोग प्रशमप्रयोगेषु सार्वयौगिकम्। (चक्रपाणि)

बस्त्यर्हं फलविषये मतानि भेलाचार्याशयश्च।

जीमूतकं प्रशंसन्ति केचिद्धामार्गवं तथा।
कृतवेधनमित्येके कुटजं प्राहुरप्यथ॥
गर्हितास्सर्व एवैते वादाः प्रत्येकशः स्मृताः।
भेषजानां च सङ्घातो निरूहेषु प्रशस्यते॥
भे० सि० ७।

आचार्य भेल का संक्षिप्त विवरण भी महर्षि आत्रेय के अनुरूप ही है। इस प्रकार उनके विवादपूर्ण विभिन्न विचारों को हेतुओं सहित (मतों की पुष्टि

सहित) बुद्धिमानों में श्रेष्ठ महर्षि आत्रेय के विचार सुनकर कहा कि आप लोगों ने इन फलों के विषय में जिन गुण दोषों का वर्णन किया वे सभी उचित हैं किन्तु कोई ऐसा द्रव्य नहीं है जिनमें गुण एवं दोष नहीं हों तथापि विचार पूर्वक देखने पर द्रव्य में गुण ही अधिक प्राप्त होंगे। आगे के श्लोकों में मदनफल को सर्वश्रेष्ठ बताया है।

आस्थापने मदनफलस्य सर्वोपयोगिकत्वम् जीमूतक कटुतुम्बी धामार्गवकुटजकृतवेधनफलानां च सर्वत्रोपयोगिकत्वं तत्र युक्तिश्च

इह कुष्ठहिता गरागरी हितमिक्ष्वाकु तु मेहिनेस्मृतम्।
कुटजस्य फलं हृदामये प्रवरं काठफलं च पाण्डुपु ।।
उदरे कृतवेधनं हितं, मदनं सर्वगदाविरोधित्।
मधुरं सकषायतिक्तकं तदरुक्षं सकटूष्णविज्जलम् ।।
कफपित्त हृदाशुकारि चाप्यनपायं पवनानुलोमि च।
फलनाम विशेषस्त्वतो लभतेऽन्येषु फलेषु सत्स्वपि ।।

च० सि० ११।१२-१४

सर्वगदाविरोधीतिपदेन मदनस्य सार्वयौगिकत्वं ब्रूते। आशुकारीति आशु-दोषनिर्हरणकारि। अतो लभत इति फलेषु प्रकर्षत्वादेव मदनफलं फलमित्युच्यते न जीमूतकादिफलम्।। चक्रपाणिः।

अ०—संग्रह में चरक के पाठ को उद्धृत किया है अन्तिम श्लोक को इस पंक्ति से पूरा किया है—

"प्रवरं तदतः फलादिषु
स्मृतमास्थापन योजनास्विति ।।"

श्लोक ५८-६०

जीमूतकों देवताडस्तिक्तकोशा गरागरी। प्रोक्ताखुविषहा वेणी देवताली च ताडकः। कटुकालाबुनी तुम्बी लम्बा, पिण्डफला तथा। इक्ष्वाकु क्षत्रियवरस्तिक्तबीजा महाफला। कुटजफलमिन्द्रयवम्। कोशफलं धामार्गवाख्याया राजकोशातक्याः फलम्। कृतवेधनम् घण्टोलिकाख्याया राजकोशातक्यः तदिति मदनम् सर्वगदाविरोधित्वे हेतुर्मधुरादिगुणत्वेन। वातादिहत्वे च। पिच्छिलमार्दवापादनम्। आशु स्वं कर्म करोतीत्याशुकारी। निरपायमयोगादिना अपायं न करोती मधुरत्वादि हेतोस्तत् फलादिषु मदनफलादिषु शोधनादिगणपठितेषु बस्तिद्रव्येषु प्रवरं श्रेष्ठं आस्थापनानां योजनासु स्मृतमाचार्यैः। इन्दुः।

बस्तौ मदनस्य श्रैष्ठ्यम्—

फलमात्रं निरूहेषु श्रेष्ठमाहुर्मनीषिणः।
तेषां तु मदनं श्रेष्ठं प्रवदन्ति चिकित्सकाः ।। (भे० सं० ७)

हि० व्या०—(१) गरागरी (जीमूतक) कुष्ठरोग में हितकर है।
(२) कटुतुम्बी प्रमेह रोग में हितकर है।
(३) इन्द्रयव हृदयरोग में हितकारक है।
(४) धार्मागव का फल पाण्डुरोग में हितकर है।
(५) मदनफल सभी रोगों में उपयोगी है।

यह (मदनफल) रस में कषाय और तिक्तरस के साथ मधुर होता है। रूक्ष नहीं होता है कटु, उष्ण और पिच्छिल होता है। कफ पित्त को नष्ट करता है और सम्पूर्ण शरीर में शीघ्र ही फैल जाता है। इसके सेवन से हानि नहीं होती है, वायु का अनुलोमन करता है। अतः अनेक फलों में मदनफल श्रेष्ठ है। अष्टांग संग्रहकार ने भी चरक के इन्हीं श्लोकों को किंचित् परिवर्तन के साथ उद्धृत किया है। आचार्य भेल ने भी इसी का अनुसरण किया है।

अथ (पारिशेष्यात्) निरूहबस्ति विधिम् तद्भेदांश्च

निरूहबस्तिर्बहुधा भिद्यते कारणान्तरैः।
तैरेव तस्य नामानि कृतानि मुनिपुंगवैः ।।
निरुहस्यापरं नाम प्रोक्तमास्थापनं बुधैः।
स्वस्थानस्थापनाद्दोषधातूनां स्थापनं मतम् ।।

शा० सं०, (भा० प्र०)

यो निरूहबस्तिः पूर्वं संगृहीतः सोऽप्यत्र कारणान्तराणि वक्ष्यमाणदोषहरसंशमन-शोधन-लेखन बृंहणानि-पिच्छिल-यापन-बैतरणबस्तिप्रभृतीनि बोद्धव्यानि। तैरेव कारणान्तरैरेव तस्या निरूहबस्तेः नामानि मुनिपुंगवैः ऋषिश्रेष्ठैः कृतानि कथितानि इत्यभिप्रायः, दोषहरबस्तिरित्यादीनि तस्य विशेषनामास्थापनं प्रोक्तं आस्थापयति वयः इति आस्थापनं परमुत्कृष्टं च वयः स्थापनेनैव अथवा दोषधातूनां स्वस्थाने स्थापनादास्थापनं, तच्च क्षीरेण क्वाथैश्च क्रियते। उक्तं च स्नेहैर्यो दीयते स स्यादनुवासननामकः। पयः कषायकैः सोपि निरुहास्थापनो मतः इति। एके स्वस्थापनं स्थापनाद्दोषधातूनां स्थापनं मतम् इति नाम पठन्ति व्याख्यानयन्ति च। सुश्रुतेऽपिसदोष निर्हरणाच्छरीरारोहणाद्वा निरूह इति सोऽस्थापन इति नाम। अस्यामपि निरुक्तौ स एव। यथा वयः स्थापनाद्वाऽयुःस्थापनाद्वाऽस्थापनं, ततश्च सर्वदोषनिर्हरणान्निरूह इति वमनादिकम्।

अथ निरूहणबस्तिविधिः। निरुहस्य नामान्तरमाह स दोषनिर्हरणाद्वा निरूहः तस्य निरूहस्य अपरं आस्थापितं नाम बुधैः दोषधातूनां स्वस्थापने स्थापनाद्वा नाम मतम्।

शा० सं० ऊ० ७।

हि० व्या०—विविध कारणों से जो द्रव्य बस्ति कर्म में प्रयुक्त होते हैं उनकी विभिन्नता के कारक बस्ति भी अनेक प्रकार की होती है। अतः श्रेष्ठ महर्षियों ने उनके नाम भी उन्हीं के अनुरूप भिन्न-भिन्न रखे हैं। निरूह का

ही दूसरा नाम आस्थापन है। अपने-अपने स्थानों से चलायमान हुए न्यूनातिरिक्त या विकृत धातुओं को उचित रूप से अपने-अपने स्थानों में स्थापन करने के कारण ही इस वस्ति का नाम आस्थापन वस्ति है।

आस्थापनानुवासन भेषजनामानि प्रयोग समय संकेतश्च

पाटलां चग्निमन्थं च बिल्वं श्योनाकमेव च।
काश्मर्यं शालपर्णी च पृश्निपर्णी निदिग्धिकाम्॥
बलां श्वदंष्ट्रां बृहतीमेरण्डं सपुनर्नवम्।
यवान् कुलत्थान् कोलानि गुडूचीं मदनानि च॥
पलाशं कतृणं चैव स्नेहांश्च लवणानि च।
उदावर्ते बिबन्धेषु युञ्ज्यादास्थापनेषु च॥

च० सू० ।११।१३

सर्पिस्तैलं वसा मज्जा स्नेहोदिष्टश्चतुर्विधः।
पानाभ्यंजनबस्त्यर्थं नस्यार्थं चैव योगतः॥
स्नेहना जीवना वर्ण्या बलोपचयवर्धनाः।

च० सू० ।१

दशेमान्यास्थापनोपगानि

त्रिवृद्बिल्व पिप्पलीकुष्ठसर्षपवचावत्सकफलशतपुष्पामधुक मदनफलानीति दशेमान्यास्थापनोपगानि भवन्ति। च० सू० ४।१४

रसभेदादास्थापनौषध वर्णने युक्तिः

आस्थापनेषु तु भूयिष्ठकल्पानि द्रव्याणि यानि योगमुपयान्ति तेषु तेष्वबस्थान्तरेष्वातुराणाम्, तानि द्रव्याणि नामतो विस्तरेणोपदिश्यमानान्यपरिसंख्येयानि स्युरतिबहुत्वात्। इष्टश्चानतिसंक्षेपविस्तरोपदेशस्तन्त्रे इष्टं च केवलं ज्ञानम्। तस्माद्रसत एव तान्यत्र व्याख्यास्यन्ते। रससंसर्गविकल्प विस्तरो ह्यषामपरिसङ्ख्येयः समवेतानां रसानामंशांशबलविकल्पातिबहुत्वात्। तस्माद्द्रव्याणां चैकदेशमुदाहरणार्थं रसेष्वनुविभज्य रसैकैकश्येन रसकैवल्येन च नामलक्षणार्थं षडास्थापनस्कन्धाः रसतोऽनुविभज्य व्याख्यास्यन्ते।

च० वि० ८।१४१

षड्वर्गाः परिसंख्याता य एते रसभेदतः।
आस्थापनमभिप्रेत्य तान्विद्यात्सार्वयौगिकान्॥
सर्वशो हि प्रणिहिताः सर्वरोगेषु जानता।
सर्वान् रोगान् नियच्छन्ति येभ्यः आस्थापनं हितम्॥
येषां येषां प्रशान्त्यर्थं ये ये न परिकीर्तिताः।
द्रव्यवर्गा विकाराणां तेषां ते परिकोपकाः॥

च० वि० ८।१४८-१५०

भूयिष्टकल्पानीति=बहुप्रयोगाणि प्रायः प्रयोज्यानि च। इष्टश्चानतिसंक्षेप विस्तरोपदेश इत्यनतिसङ्क्षेप विस्तरतः शास्त्रे कथनमिष्टम्, इष्टं च केवलं ज्ञानमिति अनतिसंक्षेपविस्ताराभिधानेन यदनुक्तम् तस्यापि यथा सामान्य द्वारा ज्ञानं भवति, तदपीष्टम् ग्रन्थकर्तुः श्रोतुश्चेत्यर्थः। तस्माद्रसत एवेति रसं प्राधान्येनोद्दिश्य रसाश्रयद्रव्यस्यानतिसंक्षेप विस्तरोपदेशेनेत्यर्थः। तानीत्यास्थापनोपयोगीनि द्रव्याणि अत्र च रसद्वारा निर्देशेऽपि रससंसर्गस्यातिबहुत्वेन च कृत्स्नद्रव्यनिर्देशवदसंख्येयता स्यादिति कृत्वा षड्भिरेव रसैनिर्देशः कर्त्तव्यः आस्थापनोपयोगिद्रव्याणामितिप्रदर्शयन्नाह-रसेत्यादि। उदाहरणार्थमितिमधुरादिरसस्याधारभूतस्य द्रव्यस्योदाहरणार्थम्। रसेष्वनुविभज्येति-रसेषु मधुरादिषु द्रव्याणामेक देशमाधारतयोपदिश्येत्यर्थः। रसैकैकश्येनेति न रससंसर्गेण रसकैवल्येनेति=रससंसर्गत्वेन च। नामलक्षणार्थं-षडास्थापनस्कन्धा इति साक्षादुक्तानां जीवकादीनां नामार्थं-, तथा अनुक्तानां मधुरादिद्रव्याणां तज्जातीयत्वेन लक्षणार्थमास्थापनयोगिद्रव्यसमूहा व्याख्यास्यन्त इति। किंवा, नामलक्षणार्थमिति-नामज्ञानार्थम्। स्कन्धः=समूहः। रसतोऽनु-विभज्येति-मधुरादि रसतयां निर्दिश्येत्यर्थ। चक्रपाणिः।

सार्वयौगिकानिति। सर्वेष्वास्थापनसाध्येषु रोगेषु वातव्याधिज्वरगुल्मादिषु यथोक्तदोषसंबन्धेसति यौगिकानित्यर्थः। एतदेव विवृणोति-सर्वशो हीत्यादि। सर्वश इति समस्तवर्गेणार्धवर्गेण यथालाभेन वा।

इदानीं सर्ववर्गाणां सर्वास्थापनसाध्यरोगेषु यौगिकत्वं यदुक्तम्, तत्र ज्वरे कटुकवर्गेणास्थापनं पित्तकरत्वात् ज्वरं वर्धयति, कफमेव हरति। तेन, न दोषविशेषेणास्थापनविशेषार्थं। सर्वगणानां यौगिकत्वमेतदुक्तम, किन्तु सामान्येन सर्वास्थापनसाध्यरोगहितत्वम्, दोषविशेषेषु तु तत्र तत्राननुगुणवर्गस्य प्रकोपकस्य निषेध एवेति दर्शयन्नाह-येषामित्यादि। येषां येषामिति वातादिविकाराणामुक्ता नामिह। तत्र मधुरस्स्कन्धो न कफप्रशान्त्यर्थमुक्तः। तेन कफवर्धकः। एवमम्लादि वर्गेष्वपि ज्ञेयम्। किंवा, सार्वयौगिकानित्यनेनोक्तानां वर्गाणां समासव्यासयोगेन सकलास्थापनसाध्य रोगहरत्वमुच्यते, न प्रत्येकम्। प्रत्येक तु वर्गाणां साध्यत्वेनानुक्तरोगाऽन्तृत्वमुच्यते येषां' इत्यादिना। चक्रपा०

अविमूत्रमजामूत्रं गोमूत्रं महिषंच यत्।
हस्तिमूत्रमथोष्ट्रस्य हयस्य च खरस्य च॥
उष्णं तीक्ष्णमथोऽरूक्षं कटुकं लवणान्वितम्।
मूत्रमुत्सादने युक्तं युक्तमालेपनेषु च॥
युक्तमास्थापने मूत्रं युक्तं चापि विरेचने।

च० सू० अ० १।९४-९५

अवीमूत्रमित्यादौ स्त्रीमूत्रमेव प्रशस्तं लिंगपरिग्रहाद्दर्शयति। यतः स्त्रीणां पुंसां च गौरवम् इति। यत्तूच्यते पुंसा, मूत्रं शुक्रसंबन्धादगुरुः, तन्न शुक्रसम्ब-

न्धस्य स्त्रीणामपि शुक्रवत्त्वेन तुल्यत्वात् वचनं हि—यदा नारी हि नार्यातु मैथुनायोपपद्यते। मुंचतः शुक्रमन्योऽन्यमनस्थिस्तत्र जायते-इत्यादि नपुंसकसूत्रं-स्वमंगलत्वान्न गृह्यते। च० पा०

क्षीराण्यम्लानि मूत्राणि स्नेहाः क्वाथा रसास्तथा ॥
लवणानि फलं क्षौद्रं शताह्वा सर्षपं वचाः ॥
एला त्रिकटुकं रास्ना सरलो देवदारू च।
रजनी मधुकं हिंगु कुष्ठं संशोधनानि च ॥
कटुका शर्करा चण्डा त्रायमाणा शक्रजायवाः।
मंजिष्ठा मदनं चण्डा त्रायमाणा रसांजनम् ॥
बिल्वमध्यं यवानी च फलिनी शक्रजायवाः।
काकोली क्षीरकाकोली जीवकर्षभकावुभौ ॥
तथा मेदा महामेदा ऋद्धिर्वृद्धिर्मधूलिका।
निरूहेषु यथालाभमेष वर्गो विधीयते ॥

सु० चि० अ० ३८।२४-२८

फलं त्रिफला। सरलो वृक्ष विशेषः संशोधनानि त्रिवृदादीनि। मदनं मदन-फलम्। शक्रजायवा इन्द्रयवाः मधूलिका तृण विशेषः मर्कटिका इति लोके। डल्हणः।

मदनकुटजकुष्ठदेवदाली-मधुकवचादशमूलदारुरास्नाः यवमिसिकृतवेधनं कुलत्थो मधु लवणं त्रिवृता निरूहणानि। अ० हृ० सू० अ० १५।४१

सुनिरूहयोग्य औषध द्रव्य लक्षणम्।

धार्यंदौषधं पाणि न तिष्ठत्यवलिप्य च।
न करोति च सीमन्तं सुनिरूहः प्रयोजितः ॥

बङ्गसेन बस्ति (१४२)

हि० व्या०—संहिता एवं संग्रह ग्रन्थों में आस्थापनोपग विविध द्रव्य एवं वर्गों का उल्लेख किया गया है यथा—

आस्थापन बस्ति के द्रव्य – पाटला (पाढ़ल), अग्निमंथ (अरणी), बेल की गुद्दी, सौनपाठा, काश्मर्य (गम्भार), सरिवन, पिठिवन, भटकटैया, बलामूल, गोखरू, बृहती (वनभण्टा), एरण्ड, पुनर्नवा, यव, कुलथी, बेर, गिलोय, मदन-फल, कतृण (गन्धतृण), स्नेहन (तैल, घृत, वसा (मज्जा)पांचों नमक इन द्रव्यों का प्रयोग विबन्ध, उदावर्त और आस्थापनबस्ति में करना चाहिए।

आस्थापन हेतु चतुःस्नेहः—घृत, तैल, वसा, मज्जा चार प्रकार के स्नेह का वर्णन किया गया है। इनका प्रयोग पान, अभ्यंग, वस्तिकर्म और नस्य कर्म में किया जाता है। ये स्नेह शरीर को स्निग्ध करते हैं, जीवनीय, शक्तिदायक, बलवर्धक, वर्ण और शरीर के उपचय को बढ़ाने वाले हैं।

आस्थापनोपगान्निदशेमानिः—त्रिवृत, बिल्व, पिप्पली, कूठ, सर्षप, वचा कुटज (इन्द्र जौ), सौंफ, मुलेठी, मैनफल ये दस औषधियां आस्थापनार्थ प्रयुक्त किये जाने योग्य हैं।

फलिनी द्रव्यों में आस्थापन योग्य द्रव्य—धामार्गव, इक्ष्वाकु, जीमूत (बन्दाल), कृतवेधन (कड़वी तोरई) मदनफल, त्रपुष (तिक्त खीरा), कुटज, हस्तिपर्णिनी (कड़वी ककड़ी)।

मूत्राष्टक विवरणः—भेड़, बकरी, गौ, भैंस, हथिनी, ऊंटनी, घोड़ी तथा गदही का मूत्र। ये आठों प्रकार के मूत्र सामान्यतया उष्ण, तीक्ष्ण, रूक्ष, लवण रस तथा कटु रस युक्त होते हैं। इन मूत्रों का उत्सादन (रगड़ना) आलेप एवं आस्थापन हेतु प्रयोग किया जाता है। इनमें गोमूत्र का प्रयोग सर्वसुलभतया तथा उपयोगिता की दृष्टि से विशेष रूप से किया जाता है। सुश्रुत में आस्थापनोपयोगी द्रव्य में सभी प्रकार के दूध. अम्ल वर्ग, मूत्र वर्ग, स्नेह, क्वाथ, मांस रस. लवण, त्रिफला, मधु, सौंफ, सरसों, वच, एला, त्रिकटु, रास्ना, चीरि वृक्ष, देवदारू, हल्दी, हींग, कूठ, संशोधन वर्ग के द्रव्य, कुटकी, शर्करा, नागरमोथा, खस, चन्दन, कचूर, मंजीठ, मदनफल, रक्तकनेर, त्रायमाण, रसौंत, बिल्व अजवायन, प्रियंगु, इन्द्र जौ और अष्ट वर्ग के द्रव्य तथा मधूलिका आदि के वर्णन किया गया है।

वाग्भट ने निरूहणार्थ बहुत कम द्रव्यों का वर्णन किया है। मदनफल कुटज, कूठ, देवदाली, मुलेठी, वच, दशमूल, देवदारू, रास्ना, जौ, सोया, धामार्गव, कुलथी, मधु, लवण एवं निशोथ।

आस्थापन बस्ति की विविध कल्पनाओं में उपयोगी द्रव्य, आस्थापन रोगियों में विशिष्ट स्थिति के अनुसार पृथक-पृथक नामों से उल्लेख किया जाए तो उनकी गणना करना कठिन होगा क्योंकि वे असंख्य हो जायेंगे। अतः यहां (इस ग्रन्थ में) न अधिक संक्षेप में तथा न अधिक विस्तार से उपदेश करना उचित समझा है। अतः रस से ही आवश्यक द्रव्यों का उपदेश किया गया है। उन रसों युक्त द्रव्यों के परस्पर संयोग भी विकल्प भेद से अपरिसंख्येय हैं क्योंकि अंशांश कल्पना में बल कल्पना अधिक होती है अतः द्रव्यों के उदाहरणार्थ उनके एक भाग को ग्रहण करके, उनके रसों से विभक्त करके पृथक-पृथक रसों के नाम से ही लक्षणानुसार ६ प्रकार के आस्थापन रस स्कन्धों की ही व्याख्या की गई है।

(१) मधुर स्कन्ध, (२) लवण स्कन्ध, (३) अम्ल स्कन्ध, (४) कटु स्कन्ध (५) तिक्त स्कन्ध तथा (६) कषाय स्कन्ध। इनका वर्णन विमान स्थान में किया गया है।

वंगसेन ने आस्थापन द्रव्य ग्रहण करते हुए उनकी विशेषता बताते हुए लिखा है कि जो औषध द्रव्य हाथ में धारण करने पर रुके नहीं, न चिपके, न सीमन्त करे (भयादि एवं ग्लानि की उत्पत्ति न करे) वे निरूह के लिए उत्तम माने जाते हैं।

आस्थापननिरूह भेषजनामानि तां ....

चरक	सुश्रुत	वाग्भट
१. सामान्य—पाटला, अग्निमन्थ, बेल की गुद्दी, सोनापाठा, गम्भार, मरिवन, गिठिवन, भटकटैया, गोखरू, बलामूल बृहती, एरण्ड, पुनर्नवा, यव, कुलथी, बेर, गिलोय, मदनफल, कतृण ।	सभी प्रकार के दूध, अम्लवर्ग, मूत्रवर्ग, स्नेह, क्वाथ, मांसरस, लवण, त्रिफला, मधु, सौंफ, सरसों, वच, एला त्रिकटु, रास्ना, चीड़, देवदारु, हल्दी, हींग, कूठ, मंजीठ वर्ग के द्रव्य, शर्करा, नागरमोथा, खस, चन्दन, कचूर, मंजीठ, मदनफल, रक्तकनेर, त्रायमाण, रसौंत त्रिवृत, अजवायन, प्रियंगु, इन्द्र जौ, मधूलिका और अम्ल वर्ग के द्रव्य ।	मदनफल, कुटज, कूठ, देवदारु, मुलेठी, वच, दशमूल, देवदारु, रास्ना, जौ, सोया, शामांग, कुलथी, मधु, लवण, निगोध ।
२. आस्थापनोपगानिदशेमानि—त्रिवृत त्रिल्व, पिप्पली, कूठ, सर्षप, वचा, कुटज सौंफ, मुलेठी, मैनफल ।		
३. फलिनी द्रव्य—धामार्गव, इक्ष्वाकु, जीमूत, कृतवेधन, मदनफल, त्रपुष, कुटज, हस्तिकर्णिनी ।		
४. आस्थापनोपयोगी मूत्र वर्ग—भेड़, बकरी, गो, भैंस, हथिनी, ऊंटनी, घोड़ी गदही का मूत्र ।		
५. आस्थापन हेतु चतुःस्नेहः—घृत, तैल, वसा, मज्जा ।		
६. आस्थापनोपयोगी षडस्कन्ध—(१) मधुर स्कन्ध (२) लवण स्कन्ध (३) अम्ल स्कन्ध (४) कटु स्कन्ध (५) तिक्त स्कन्ध (६) कषाय स्कन्ध ।		

निरूहणे दोषभेदानुसारं क्वाथादि परिमाण वर्णनम्

स्वस्थे क्वाथस्य चत्वारो भागाः स्नेहस्य पञ्चमः ।
क्रुद्धेऽनिले चतुर्थस्तु षष्ठः पित्ते कफेऽष्टमः ॥
सर्वेषु चाष्टमो भागः कल्कानां लवणं पुनः ।
क्षौद्रं मूत्रं फलं क्षीरमम्लं मांसरसं तथा ॥
युक्त्या प्रकल्पयेद्धीमान् निरूहे— ।

सु० चि० अ० ३८।२६-३०

संप्रति निरूहणेषु क्वाथादिषु प्रतिदोषं कियती कस्य मात्रेत्याह—स्वस्थ इत्यादि । स्वस्थे समवातपित्तकफे पुरुषे । द्वादशप्रसृतस्य निरूहस्य क्वाथस्य चत्वारो भागाश्चत्वारः प्रसृताः अष्टौ पलानि । स्नेहस्य पञ्चम इति चतुर्विंशतिपलनिरूहापेक्षया पादोनपञ्चपलानि । क्रुद्धेऽनिले चतुर्थ इति चतुर्थो भागः षट् पलानीत्यर्थः । षष्ठः पित्ते इति क्रुद्धे पित्ते स्नेहस्य षष्ठो भागश्चत्वारि पलानीत्यर्थः । कफेऽष्टम इति क्रुद्धे कफे स्नेहस्याष्टमो भागस्त्रीणि पलानीत्यर्थः । कषायस्नेहौ विभज्य कल्कभागं दर्शयन्नाह-सर्वेष्विति सर्वेषु वातपित्तश्लेष्मसु कल्कस्याष्टमो भागस्त्रीणि पलानीत्यर्थः । 'सर्वेषु स्वस्थास्वस्थेषु' इति गयी । लवणं पुनरित्यादि लवणादीनि विशेषप्रमाणेनानुक्तान्यपि युक्तया दापयेत्, युक्तया योगेनेत्यर्थः ।

यथा योगातियोगौ न भवतः । ननु कषायादिवल्लवणादिषु कुतो मात्रा नोक्ता ? सत्यं लवणादीनां दोषभेषजयोः सामान्यविशेषेण गुणमवलोक्य सम्यग्योगसाधनमेव मानम् । तद्यथा—वाते क्षौद्रमित, पित्तेनाति बहु, बहु पुनः कफे इति । एवमन्येष्वपि द्रव्येषु ज्ञेयम् । नियतेपुनर्माने क्वचिद्योगः क्वचिदयोग इति स्यात् । एतदुक्तं भवति—कषायादिना नियतमानेन सहानियत—मानैर्लवणादिभिर्युक्तया द्वादश प्रसृताः पूरणीया इति । ततो लवणादीनां मात्रां दोषभेषजयोः—सामान्यविशेषन्यायेन गुणमवलोक्य सम्यक् प्रकल्पयेत् क्वचिद्वातादिविषयसात्म्यमन्यथा पठ्यते ।

तथा हि—'मधुस्नेहनकल्काख्य कषायावापतः क्रमात् । त्रीणि षड् द्वादश त्रीणि पलान्यनिलरोगिणाम् । पित्ते चत्वारि चत्वारि द्वे द्विपञ्च चतुष्टयम्" —इति पूर्वाचार्यभणितत्वाद्वयमपि मतं प्रमाणम् । डल्हणः

हि० व्या०—निरूह बस्ति में दोषानुसार क्वाथ की मात्रा स्वस्थ व्यक्ति हेतु द्वादशप्रसृत निरूह वस्ति में क्वाथ के चार भाग (चार प्रसृत या आठपल), स्नेह का पांचवां भाग २४ पल निरूह बस्ति की अपेक्षा अर्थात् पौने पांच पल, वात प्रकोप में स्नेह की मात्रा चतुर्थ भाग छै पल, पित्त प्रकोप में स्नेह की

मात्रा छठा भाग अर्थात् चार पल, कफ प्रकोप में स्नेह की मात्रा आठ भाग अर्थात् तीन पल, सभी दोषों में कल्क की मात्रा आठवां भाग अर्थात् तीन पल देना चाहिए। लवण की मात्रा स्वल्प देनी चाहिए। लवण, मधु, मूत्र, फल, दूध, काञ्जी एवं मांस रस का योग युक्ति पूर्वक करनी चाहिए।

रुग्णस्य वयोभेदेन निरूहद्रव्य परिमाण मात्रा वर्णनम्

निरूहमात्रा प्रसृताधंमाद्ये
वर्षे ततोऽर्धप्रसृताभिवृद्धिः।
आद्वादशात् स्यात् प्रसृताभिवृद्धि
रष्टादशाद् द्वादशतः परं स्युः।
आसप्ततेस्तद्धितं प्रमाण
मतः परं षोडशवद्विधेयम् ॥
निरूहमात्रा प्रसृतप्रमाणा
बाले च वृद्धे च मृदुविशेषः।

च० सि० ३।३१-३३

आद्ये वर्षे बालस्य पलमाने निरूहे क्वाथादि यथोक्तमानानुसारेण वक्तव्यम्; अर्धप्रसृताभिवृद्धाः ततः प्रति वर्षं भवति; तेन द्वादशवर्षे षट्प्रसृतोवस्तिर्भवति; द्वादशादूर्ध्वमष्टादशवर्षपर्यंतं प्रतिवर्षं प्रसृत वृद्धया द्वादशप्रसृतपूरणः भवति; 'द्वादशतः परं स्युः, इत्यनेनाधिकप्रमाणवस्तिमानं महात्ययकरं कश्चिदनुमतं निषेधयति; यथा हारीते एकीय मतं पठ्यते,—"अर्धाढकं परमतं प्रमाणम्" इति; तथा सुश्रुतेऽपि "द्वादशप्रसृतं केचित् त्रिंशत्पलमथाऽपरे" इत्यादि। वस्तिमानं दर्शयितुमाह—आसप्ततेरित्यादि। आसप्ततेस्तदिति द्वादशप्रसृतमानं सप्ततिं यावद्भवति। षोडशवदिति दशप्रसृत प्रमाणम्। बालवृद्धयोर्यथोक्त प्रसृतमानविषयं दर्शयन् यत्रान्यं विशेषमाह—निरूहमात्रेत्यादि।

बालवृद्धयोर्यथोक्तैव निरूहमात्रा प्रसृतप्रमाणाकार्या, विशेषेण तयोर्वस्तिर्मृदुः कार्यः। तीक्ष्णत्वमार्दवकरं च विधानं वक्ष्यति, यथा "तीक्ष्णत्वं मूत्रबील्वाग्निलवणक्षारसर्षपैः प्राप्तकालं विधातव्यं क्षीराद्यैर्मार्दवं तथा"—(सि० अ० ७) इति। चक्रपाणिः।

निरूहमात्रा प्रसृताधंमाद्ये वर्षे प्रथमे। अत्र अर्धप्रसृता चाभिवृद्धिः। तत्र द्वादश प्रसृता भवन्ति। यावत् सप्तति वर्षाणीति ततः परं षोडशवद्विधेयमिति। षोडशवर्षस्य दशप्रसृता उक्ताः। सप्ततेः परता विधेया इति। तथा च सांवत्सरिकाष्टद्विरष्ट वर्षाणां यावन्मात्रहस्तसंमित एवेति। तदविरुद्धं व्याख्येयम्। तस्य यमेव न बस्तिविशेषादारथापनद्रव्यनिर्देशादनधिकृतत्वापत्तेः षट्कायचिकित्सामिति। एवमेव निरूहमात्रा प्रसृतप्रमाणमुक्तम्। पुनस्तस्यैव संख्या नियमार्थमन्यामपि कल्पनामाह—"बाले च वृद्धे च मृदुविशेषः" तस्य वयसः

सर्वां कल्पना। मृदुशब्दोऽल्पपर्यायो गुणवचनो वा, अल्पप्रमाणतया पुनर्बालवृद्धयोर्विशेष एवेष्यते। तीक्ष्णकल्पना संयोगनिषेधेन तथा तस्यैव मार्दवं च द्रव्यविशेषकल्पनया भवति तथा ह्युक्तं "तीक्ष्णत्वं मूत्रबील्वाग्निलवणक्षारसर्षपैः। प्राप्तकालं विधातव्यं क्षीराद्यैर्मार्दवं तथा"। इति। मृदुमधुरशीतद्रव्यसम्बन्धान्मार्दवमेव अत्र च तत्तद्द्रव्यसम्बन्धे विशेष इति। वयः प्रकर्षापकर्षविशेषादल्पतरं वा प्रमाणम्। अतो विकल्पयितव्यमिति। जज्जटः।

आस्थापनमात्रा तु प्रथमे वर्षे प्रकुञ्चः। ततः परं प्रतिवर्षं प्रकुञ्चमभिवर्द्धयेदाषट् प्रसृतः ततश्चोर्ध्वं प्रसृताभिवृद्धिः। प्राप्तानतीताष्टदश सप्ततेस्तु द्वादश प्रसृताः। परंचातो दशैव। अन्ये पुनर्द्वादश प्रसृतस्याप्यष्टाविच्छन्ति।

अ० सं० सू० २८।२२

आस्थापनमात्रेत्यादिना प्रदेयौषधमात्रोच्यते। प्रथमवर्षे आस्थापनस्य प्रकुञ्च पलं मात्रा। ततो द्वितीयादिषु वर्षेषु प्रकुञ्चं प्रकुञ्चमभिवर्धयेत्। यावद् द्वादशे वर्षे षट् प्रसृताः द्वादश पलानि भवन्ति। ततस्त्रयोदशादिषु वर्षेषु प्रसृतं प्रसृतं वर्धयेत्। यावदष्टादशे वर्षे द्वादश प्रसृताः। अष्टादशप्रभृति सप्ततिर्यावदिदमेवावस्थापनमानम्। यद्वा दश प्रसृताः सप्ततेरुपरि यावन्नीवं दशैव प्रसृताः। अन्ये पुनराचार्या द्वादश प्रसृतस्थानेऽष्टौ प्रसृतानिच्छन्ति। इन्दुः।

तत्र विंशति मात्राणि पलान्यौषधानां मदनफलाष्टकं च क्वाथ कल्पेन विपचेत्। क्वाथाच्चतुर्थांशं स्नेहमनिले षष्ठांशं पित्ते स्वस्थवृत्ते चाष्टमांशं तु कफे। सर्वत्र चाष्टमांशं कल्कस्य स्याद्यावतां वा नात्यच्छसान्द्रता भवेत्। गुडस्य पलं युक्तया मधुसैन्धवे यथायोग्यं च शेषाणि कल्पयेत्।

अ० सं० सू० २८।३६

तत्रौषधपलानि विंशतिमात्राणि पानीय पल शतानि त्रीणि षट्त्रिंशदधिकानि प्रक्षिप्य मदनफलाष्टकं गणनया क्वाथयेत्। क्वथितावशिष्टानि चतुरसीति पलान्यवतारयेत् इति क्वाथकल्पः। यदाऽनिलेधिके बस्तिः प्रकल्पयेत तदा क्वाथाच्चतुर्भाग एकविंशतिपलानि तत्र क्वाथे स्नेहस्यक्षिपेत्। यदा कफेऽधिबस्तिस्तदा क्वाथादष्टमांशं सार्धानि दशपलानि स्नेहस्य क्वाथेक्षिपेत्। इन्दुः।

अन्ये पुनराहुः—

मात्रां त्रिपालिकां कुर्यात् स्नेहमाक्षिकयो पृथक्।
कर्षार्द्धं माणिमन्थस्य स्वस्थे कल्कपलद्वयम् ॥
सर्वद्रवाणां शेषाणां पलानि दश कल्पयेत्।
माक्षिकं लवणं तैलं कल्कं क्वाथमिति क्रमात् ॥
आवपेत् निरूहाणामेष संयोजने विधिः।

अ० सं० सू० २८

स्नेह पलानि त्रीणि माक्षिकपलानि त्रीणिमाणिमन्थस्य सैन्धवस्यार्द्धकर्षः कल्कस्य पलद्वयं शेषाणां क्वाथादीनां त्रयाणां दशपलानि एवमेते ह्यष्टादशैव पलानि बस्तेर्मानमिच्छन्ति । एतेषामेव च मतस्मिन्नेवाध्याये नवप्रसृतानाहुरित्युक्तम् माक्षिकादीनामावपने क्रमोऽयंविधेयः । इन्दुः ।

निरूहमात्रा प्रथमे प्रकुञ्चो वत्सरात्परम् ।
प्रकुञ्चवृद्धिः प्रत्यब्दं यावत्षट् प्रसृतास्ततः ॥
प्रसृतं वर्धयेदूर्ध्वं द्वादशाष्टदशस्य च ।
आसप्ततेरिदं मानं दशैव प्रसृताः परम् ॥

अ० हृ० सू० १९

चक्रदत्तः ।

निरूहस्यमात्रा प्रथमे वर्षे कषायस्नेहसहितस्य प्रकुञ्चः पलप्रमाणम् । षण्मासादौ त्वेतदनुसारेणार्धपलादिकल्प्यम् । वर्षात्परं प्रकुंचवृद्धिः प्रतिसंवत्सरं कार्या यावत्षट् प्रसृत द्वादशपलानि । तत ऊर्ध्वं प्रसृतं वर्धयेत् । प्रत्यब्दमित्यनुवर्तते । ततो द्वादश वर्षस्यैव द्वादशपलानि । अनन्तर त्रयोदशवर्षादिषु प्रतिवर्ष पलद्वयं निरूहमात्रायां वर्धयितव्यं क्रमेणैवं यावत्सप्तदश वर्षाणि । अष्टादश वर्षस्य तु द्वादश प्रसृताश्चतुर्विंशति पलानि । इदं मानं प्रमाणं सप्तति वर्षाणि यावत् । परं सप्ततेरूर्ध्वं दशैव प्रसृता मानं नाधिकम् । अरुणदत्तः ।

निरूहे मात्रा ह्रासवृद्धि संकेतः ।

... ...विचक्षणः ।
निरूहयेदर्थतस्तु ह्रासवृद्धया निरूहयन् ॥

का० सं० सि० १।

बस्तिकर्मणि सर्वथा सम्यक् गुणाधीक्य द्रव्याणां प्रयोग निर्देशः ।

प्रायो यत्र गुणाधीक्यं सम्यग्योगे लक्ष्यते ।
तदप्रमादं कुर्वीत बस्तिकर्मणि बुद्धिमान् ॥

का० खि० ८

...विंशतिवर्षाणां तत्र प्रस्थ प्रमाणतः ।
अथ द्वादशवर्षाणामर्ध प्रस्थं प्रयोजयेत् ॥
कषायकुडवं चात्र षड्वर्षाणां प्रयोजयेत् ।
युक्तं लवण तैलाभ्यां क्षीरेण मधुना तथा ॥
कषायबस्तिं कुर्वीत स्नेहाद द्विप्रसृतंभिषक् ।
प्रसृतं मध्यम कुर्यात्प्रसृतार्ध कनीयसि ॥

भे० सि० ७।२३-२५

हि० व्या०—एक वर्ष के बालक के लिए निरूहबस्ति की मात्रा एक पल

होती है । इसके बाद प्रत्येक वर्ष आगे के बालक में एक-एक पल की मात्रा बढ़ाकर बारह वर्ष तक बारह पल की मात्रा होती है । इसके पश्चात् अठारह वर्ष तक २-२ पल की मात्रा बढ़ाकर चौबीस पल की मात्रा देनी चाहिए । अठारह वर्ष से सत्तर वर्ष तक चौबीस पल की मात्रा होती है । सत्तर वर्ष के पश्चात् सोलह वर्ष तक की मात्रा के समान अर्थात् २० पल तक की मात्रा देनी चाहिए ।

आचार्य वाग्भट के अनुसार प्रथम वर्ष में आस्थापन बस्ति की मात्रा चार तोले, तत्पश्चात् बारह वर्ष की आयु तक प्रति वर्ष चार-चार तोला मात्रा बढ़ाई जाती है । बारह वर्ष के बाद प्रति वर्ष आठ तो० मात्रा अठारह वर्ष तक बढ़ाना चाहिए । अठारह वर्ष के पश्चात् सत्तर वर्ष तक यही मात्रा अर्थात् ९६ तोला देनी चाहिए । सत्तर वर्ष के बाद अस्सी तोला मात्रा प्रयुक्त करानी चहिए । कुछ आचार्य छ्यानवे तो० के स्थान पर चौंसठ तोला लिखते हैं ।

एक अन्य प्रकरण में आचार्य वाग्भट ने निरूह द्रव्यों की मात्रा बताते हुए लिखा है कि—निरूहद्रव्य को २० पल तथा मदनफल को संख्या में आठ लेने चाहिए । यथाविधि क्वाथ करते हुए जब चतुर्थांश शेष रह जाय तब वातज रोगियों को क्वाथ से चतुर्थांश पल स्नेह, पित्त के लिए छठा भाग स्नेह तथा कफ के लिए अष्टमांश स्नेह मिलाकर पाक करें । सभी अवस्थाओं में अष्टमांश कल्क का प्रयोग करें अथवा जितने कल्क में बस्ति सघन न हो उतना कल्क मिलाना चाहिए ।

निरूह सम्मिश्रण विधि—स्नेह एवं मधु की पृथक्-पृथक् मात्रा १२-१२ तो०, सैन्धवलवण आधा तोला, कल्क आठ तो० शेष समस्त द्रव्य ४०-४० तो० लेने से बस्ति का परिमाण १८ पल (७२ तो०) स्वस्थ व्यक्ति के लिए है । बस्ति में द्रव्य मिश्रण क्रम में सर्वप्रथम मधु डालकर नमक मिलाकर फिर स्नेह तत्पश्चात् औषधकल्क अन्त में क्वाथ मिलायें । इस क्रम से मिश्रण करने पर द्रव्यों का रस प्रायः समान हो जाता है । इसी कारण निरूह का समयोग होता है ।

यद्यपि काश्यप संहिता का श्लोक पूर्ण नहीं है तथापि अनुवासन के बाद लिखा गया है—भाव यह है कि अनुवासन में धातुओं का ह्रास होता है अतः अनुवासन के बाद आस्थापन का प्रयोग कराना चाहिए । निरूह को क्रमशः बढ़ाना एवं घटाना चाहिए । इसके पश्चात् आचार्य काश्यप ने लिखा है कि सम्यक् योग की दृष्टि से जो-जो बस्तु अधिक गुणकारी हो उन-उन का बिना लापरवाही किए प्रयोग करना चाहिए ।

आचार्य भेल के अनुसार बीस वर्ष की अवस्था तक प्रस्थ प्रमाण में बस्ति देनी चाहिए । बारह वर्ष में आधा प्रस्थबस्ति मात्रा होनी चाहिए । ६ वर्ष तक कषाय की कुडव(१६ तो०) प्रमाण में बस्ति मात्रा देनी चाहिए । इसमें लवण,

तैल, दुग्ध तथा मधु मिलाना चाहिए। कषाय बस्ति स्नेह से दो प्रसृत लेनी चाहिए। मध्यम मात्रा एक प्रसृत तथा कनीय मात्रा आधा प्रसृत होती है।

बस्तिद्रव्य सम्मिश्रण प्रकारः

पूर्वं हि दद्यान्मधु सैन्धवं तु
स्नेहं विनिर्मथ्य ततोऽनुकल्कम्।
विमथ्य संयोज्य पुनर्द्रवैस्तं
बस्तौ निदध्यान्मथितं खजेन॥

च० सि० ३।२३।२४

कल्कस्नेहकषायाणामविवेकाद्भिषग्वरैः।
बस्तेः सुकल्पना प्रोक्ता तस्य दानं यथार्थकृत्॥

सु० चि० ३८।३२

अविवेकादिति ल्यब्लोपे पञ्चमी; तेन कल्कादीनां विवेकाभावमपृथग्भावं वीक्ष्य सुकल्पना भिषग्वरैः प्रोक्ता। एतेन हस्तप्रधावनसीमंतादिकृन्मिथ्यायुक्तः। "न धावत्यौषधं पाणि न तिष्ठत्यवलिप्य च। न करोति च सौमन्तं स निरूहः सुयोजितः"। इति तस्य दानं यथार्थं कृत् इति वातपित्तकफशोणितहरण शोधन-संग्रहणलेखनबृंहणवाजीकरणरसायनादियोगकृत्। डल्हण।

"अविवेकादपृथग्भावात् विवेकः पृथगात्मता" इत्यमरः। हाराणचंद्रः

दत्वादौ सैन्धवस्याक्षं मधुनः प्रसृतद्वयम्।
पात्रे तलेन मथ्नीयात्तद्वत् स्नेहं शनैः शनैः॥
सम्यक् सुमथिते दद्यात् फलकल्कमतः परम्।
ततो यथोचितान् कल्कान् भागैः स्वैः श्लक्ष्णपेषितान्॥
गम्भीरे भाजनेऽन्यस्मिन्मथ्नीयात्तं खजेन च।
यथा वा साधुमन्येत न सान्द्रो न तनुः समः॥
रसक्षीराम्लमूत्राणां दोषावस्थामवेक्ष्य तु॥
कषाय प्रसृतान् पञ्च सुपूतांस्तत्र दापयेत्॥

सु० चि० ३८।३३-३६

बस्तिद्रव्याणि येन क्रमेण योज्यन्ते तमाह-दत्वेत्यादि। अक्षः कर्षमित्यर्थः। मधुनः प्रसृतद्वयं चत्वारि पलानि। तलेन हस्ततलेन। तद्वत् स्नेहं मधुप्रमाणम्। शनैः शनैरल्पमल्पं स्नेहं दत्वेत्यर्थः शनैः शनैरित्युत्तरत्रापि संबध्यते। फलकल्क-मतः परं अतः परमस्मिन् सुमथिते फलकल्कं मदनफलकल्कम्। तत इत्यादि ततः फलकल्कादिदानोत्तरम्। कल्कादीन्। यथोचितान् वातादिपूचितानतिक्रमेण। भागैः स्वैरिति अंशैरात्मीयैः, यथा मदनफलेन सह सर्वकल्कद्रव्याणां पलत्रयं भवत्येवं कल्पितैः। श्लक्ष्णपेषितान् सूक्ष्मपेषितान् कल्कान् दद्यादिति संबन्धः। गम्भीरे इत्यादि पूर्वपात्रादन्यस्मिन् गम्भीरभाजने खजेन मथ्नीयात्। खजोऽत्र

पञ्चाङ्गुलो हस्तो मन्थानश्च। यथेदित्यादि मथ्नीयादित्यत्रापि संबन्धनीयम्। एतेन करेणापि मथ्नीयादित्यर्थः। रसेत्यादि। रसादीनां दोषावस्थामपेक्ष्य 'मात्रामर्पयेत्। इति शेषः। तन्त्रान्तरे—"माक्षिकलवणं स्नेहं कल्कं क्वाथमिति क्रमात्। आवाप्यावाप्य पात्रे तन्मथ्नीयादन्तराऽन्तरा सम्यक्। पाणितलेनैव निरूहे योजनाविधिः इति। डल्हणः।

निरूहं योजयेत् प्राज्ञः सर्वोपकरणान्वितः
हैमे रौप्येऽथवा कांस्ये समृष्टे भाजने समे।
प्रक्षिप्यैकैकशो द्रव्य यत् क्रमेणोपदेक्ष्यते॥
भिषङ्निरूहं मृद्नीयात् प्राङ्मुखः सुसमाहितः।
पूर्वमेवात्र निक्षेप्यं मधुनः प्रसृतद्वयम्॥
सैन्धवस्यार्धकर्षं च तैलं च मधुनः समम्।
ततश्च कल्कप्रसृतं क्वाथं कल्कचतुर्गुणम्।
प्रसृतौ मांसनिर्यूहान्मूत्रप्रसृतमेव च।
द्वादशप्रसृतो बस्तिरित्येवं खजमूच्छितः॥
यथार्थं च यथावच्च प्रणिधेयो विजानता।
स्याच्चेद्विवक्षा द्रव्याणां प्रक्षेपं प्रति कस्यचित्।
तत्र वाच्यमिदं व्यस्तक्रमसंयोगकारणम्।
मङ्गलं मङ्गलार्थाय मधुपूर्वं निषिच्यते।
पैच्छिल्यं बहुलत्वं च कषायत्वं च माक्षिके॥
भिनत्ति लवणं तैक्ष्ण्यात् सङ्घातं च नियच्छति।
मधुनोऽनन्तरं तस्माल्लवणांशो निषिच्यते॥
ततस्तैलं विनिक्षिप्तमेकीभावाय कल्पते।
कल्कः संसृज्यते चाशु क्वाथश्च समता व्रजेत्॥
स्नेहकल्ककषायाणामेवं संमूर्च्छने कृते।
मूत्रं पटुत्वं कुरुते वीर्यं चोद्भावयत्यपि॥
सम्यगेवं विमृदितः स्रोतोभ्यः कफमारुतौ।
विष्यन्दयति पित्तं च क्षिप्रंचैव हरत्यपि॥
अतोऽन्यथा मृद्यमानो न श्लेषमधिगच्छति॥
असम्यङ्मथितः श्लिष्टो बस्तिर्नार्थायकल्पते।
तत् एव क्रमो दृष्टो निरूहस्योपयोजने॥

का० सं० खि० ८।३६-४६

माक्षिकं लवणं स्नेहं कल्कं क्वाथमिति क्रमात्।
आवपेत् निरूहाणामेष संयोजने विधिः॥

अ० हृ० सू० १६।३३

लवणमदनयोर्माननिर्देशः दोषविशेषे प्रक्षेप निर्देशश्च ।

लवणं कार्शिकं दद्यात् फलमेकन्तु मादनम् ।
वाते गुडः सिता पित्ते कफे सिद्धार्थकादयः ॥ चक्रदत्तः ।

माक्षिकादिक्रमादाबपेत् । कुंडके माक्षिकं प्रथमं प्रक्षिप्य मर्दयेत् । ततस्तत्रैव लवणं क्षिप्त्वा मेलयेत् । ततो लवणं मर्दयित्वा मिश्रयेत् । एवं स्नेहं ततोऽनुकल्कं ततः क्वाथमित्यनेन क्रमेण मिश्रयेदित्यर्थः । एवं योजितानि द्रव्याणि समरसतां यांति । समरसभावेन निरूहस्य सम्यग्योगो भवति निरूहाणां संयोजने मिश्रण एष विधिरेतद्विधानम् । अरुणदत्तः ।

प्रक्षेपद्रव्यमात्रा—

देवदारूवचारास्नाशताह्वाकुष्ठसैन्धवैः ।
अवचूर्णम्प्रदातव्यं षट्चतुर्द्वयमापकैः ॥
यद्वा सैन्धवचूर्णेन शताह्वेन च संयुतम् ।
चूर्णं माषं पले स्नेहे सिन्धुजन्मशताह्वयोः । वंगसेनः
दत्वादौ सैन्धवस्याक्षं मधुनः प्रसृति द्वयम् ।
विनिर्मथ्य ततो दद्यात्स्नेहस्य प्रसृति त्रयम् ॥
एकीभूते ततः स्नेहे कल्कस्य प्रसृति क्षिपेत् ।
संमूर्च्छिते कषाये तु चतुः प्रसृति संमितम् ॥
क्षिप्त्वा विमथ्य दद्याच्च निरूहं कुशलो भिषक् ।
वाते चतुष्पलं क्षौद्रं दद्यात्स्नेहस्य षट्पलम् ।
पित्ते चतुष्पलं क्षौद्रं स्नेहं दद्यात्पलत्रयम् ।
कफे च षट्पलं क्षौद्रं क्षिपेत्स्नेहं चतुष्पलम् ॥

शा० उ० ६।२४।२७

सैन्धवस्य अक्षं दद्यात् । मधुना । प्रसृति द्वयं, चतुः पलं स्नेहस्य तैलादेः प्रसृति त्रयं, षटपलं कल्कस्य द्रव्यस्य प्रसृतिः द्विपलम् । संमूर्च्छिते परिपक्वे कषाये चतुः प्रसृतिसंमितं अष्टपलं क्षिप्त्वा विमथ्य निरूहं दद्यात्, वाते क्षौद्रं चतुः पलं दद्यात्स्नेहं षट्पलं पित्ते क्षौद्रं चतुः पलं, स्नेहं पलत्रयं कफे षट्पलं क्षौद्रं स्नेहं चतुः पलं एवं विभज्य देयं । इति निरूहमात्राविधिः । काशीरामः

सम्यक् मिश्रणस्य लक्षणम्

न धावत्यौषधं पाणि न तिष्ठत्यबलिप्य च ।
न करोति च सीमन्तं स निरूहः सुयोजितः ॥ चक्रदत्तः ।

इदानीं सम्यग्योजितस्य निरूहस्य लक्षणमाह, न धावतीत्यादि । औषधं मिलितमधुस्नेहकषायकल्करूपं निरूहौषधं, पाणि न धावति तनुतया प्रक्षालित प्रायं हस्तं न करोतीत्यर्थः, तथाऽपिघनतया पाणिञ्चावलिप्य यदौषधं न

तिष्ठति, एवं यदौषधं सीमन्तं तैलादि रेखां न करोति न दर्शयति । सुयोजित इति सम्यग् योजितः । शिवदाससेनः ।

हि० व्या०—निरूह के निर्मित क्वाथ में, मधु एवं सैन्धव को स्नेह में मिलाकर, मथकर, क्वाथ में मिलाना चाहिए । जब तीनों का समुचित संयोग हो जाय तब कल्क मिलाकर मथानी से मथना चाहिए तत् पश्चात् वस्ति पुटक में डालना चाहिए ।

आचार्य सुश्रुत के अनुसार सर्वप्रथम सैंधव एक कर्ष (तोला) तथा शहद दो प्रसृत मिलाकर भली प्रकार हाथ से मथना चाहिए । मथते समय धीरे-धीरे मधु प्रमाण में स्नेह मिश्रित करना चाहिए । अच्छी प्रकार मथन हो जाने पर मदन फल-कल्क मिलाकर त्रिदोषहर अन्य द्रव्यों का कल्क अंशानुसार मिलाना चाहिए। तत्पश्चात् अन्य पात्र में सभी को डालकर मथानी से भली प्रकार मथन करें । मथते हुए यह ध्यान रखना चाहिए कि द्रव्य न अधिक गाढ़ा एवं न अधिक पतला हो किन्तु मध्यम हो ।

मांस रस, दूध, अम्लद्रव्य और मूत्र का मिश्रण दोषों की अवस्था का विचार करके ग्रहण करें एवं अच्छी तरह छना हुआ क्वाथ इसमें मिलाना चाहिए ।

आचार्य काश्यप के अनुसार वस्तिकर्म से पूर्व ही सभी प्रकार के आवश्यक उपकरणों का संग्रह कर लेना चाहिए । स्वर्ण-रजत-कांसे अथवा अन्य पात्रों में जो स्वच्छ हों एवं समतल हों, उनमें एक-एक डालकर आगे बताई हुई विधि के अनुसार बस्तिकल्पना करनी चाहिए । पूर्व दिशा की ओर मुख करके, दत्तचित्त होकर चिकित्सक को औषध द्रव्यों को मिलाना चाहिए । इस क्रम में पहले दो प्रस्थ शहद डालना चाहिए आधाकर्ष सैन्धानमक एवं दो प्रसृत तैल डालना चाहिए । एक प्रस्थ कल्क एवं कल्क से चार गुणा क्वाथ मिलावें । दो प्रस्थ मांसरस एवं एक प्रसृत गोमूत्र मिलावें । इस प्रकार १२ प्रसृत बस्तिद्रव्य होता है । इसको मथानी से भली प्रकार मथकर तैयार करें । इन सभी से यथाविधि बस्ति तैयार करनी चाहिए ।

आचार्य काश्यप ने प्रक्षेप द्रव्यों का युक्तिपूर्वक विवरण देते हुए लिखा है कि यदि किसी व्यक्ति को यह जानने की जिज्ञासा हो कि द्रव्यों को बस्ति में प्रयोग हेतु शास्त्र निर्दिष्ट क्रम से ही क्यों मिलाना चाहिए तो उसके संयोग के विषय में कहा गया है कि—मांगल्यसूचक होने से मधु को सर्वप्रथम डाला जाता है । मधु की पिच्छिलता, बहुलता तथा कषाय रस को तीक्ष्ण गुण के कारण लवण नष्ट कर देता है तथा उनका संघात बना देता है । इसीलिए मधु के बाद उसको डाला जाता है । इसके बाद तैल डाला जाता है वह सम्पूर्ण द्रव्यों में एकीभाव उत्पन्न करता है । कल्क का शीघ्र ही संसर्जन हो जाता है तथा क्वाथ समरूप में हो जाता है । इसीलिए स्नेह, कल्क तथा कषाय को

इसमें डाला जाता है। डाला गया मूत्र इसकी गुणवृद्धि करता है तथा इन द्रव्यों के वीर्य को बढाता है। इस प्रकार उचित रूप से मथकर तैयार की गई बस्ति स्रोतों से कफ, वात एवं पित्त को शीघ्र ही निकाल देती है। इसके विपरीत मथकर तैयार किया हुआ बस्ति द्रव्य समुचित नहीं होता।

वाग्भट लिखते हैं कि अन्य आचार्यों के मत से निरूह बस्ति में स्नेह एवं मधु की मात्रा तीन-तीन पल, लवण आधा कर्ष, कल्क २ पल तथा शेष द्रवपदार्थ १० पल मिलाकर स्वस्थ व्यक्ति के लिए बस्ति द्रव्य का निर्माण करना चाहिए।

आचार्य चक्रदत्त के अनुसार निरूह द्रव्यों में लवण का मान एक तोला तथा मदनफल नग एक के चूर्ण को ग्रहण करें। इस योग को वातज व्याधियों में गुड़ मिलाकर पित्तज व्याधियों में मिश्री एवं श्लेष्मज व्याधियों में सरसों आदि मिलाकर, प्रयोग कराना चाहिए। स्नेह में देवदारु, वच, रास्ना, सौंफ, कूठ एवं सैंधव नमक इनका चूर्ण बनाकर उत्तम मात्रा में छः मासे, मध्यम में ४ मासे तथा ह्रस्व मात्रा २ मासे डालना चाहिए।

वस्ति द्रव्य योजना—विद्वान वैद्यों ने कल्क, स्नेह तथा कषाय का एकीभाव को ही वस्ति की समुचित कल्पना बताई है तथा इसी प्रकार की बस्ति का प्रयोग ही वात, पित्त एवं कफ व रक्त दोष का निर्हरण कर सकता है तथा अनेक प्रकार के प्रयोगों में प्रयुक्त हो सकता है। अतः यह बस्ति यथार्थ कृत होती है।

भली प्रकार न मथी हुयी तथा परस्पर द्रव्यों के उचित संयोग न होने पर बस्ति कार्यकारी नहीं होती। इसलिए निरूह बस्ति योजना में निर्देशित क्रम का पूर्ण रूप से उपयोग करना चाहिए।

प्रायः वात व्याधियों में शहद, स्नेह, कल्क एवं क्वाथ को क्रमशः तीन, छः एवं बारह तथा तीन पल मिश्रण मरना चाहिए।

दोषानुसार निरूह द्रव्य कल्पना—सुश्रुत लिखते हैं कि स्वस्थ व्यक्ति के लिए क्वाथ के चार भाग तथा वात प्रकोप में स्नेह का चौथा भाग, पित्त प्रकोप में छठा भाग होना चाहिए। तीनों दोषों के प्रकोप में कल्क आठवां भाग तथा लवण; मधु, मूत्र, दूध, कांजी, मांसरस का योग बुद्धिमान चिकित्सक को यत्न पूर्वक करना चाहिए।

अष्टाङ्गहृदयकार लिखते हैं कि निरूहोपयोगी द्रव्यों को २० पल लेकर उसमें आठ मैनफल मिलाकर यथाविधि आठगुणे जल में क्वाथ करें। अष्टमांश शेष रहने पर छान लें। वात की अधिकता होने पर क्वाथ से चतुर्थांश स्नेह मिलावें, पित्ताधिक्य में तथा समावस्था में एवं स्वस्थ व्यक्ति को बस्ति प्रयोग

कराने में छठा भाग स्नेह मिलाना चाहिए तथा कफाधिक्य में आठवीं भाग स्नेह मिलाना चाहिए।

चक्रदत्त में मधु, स्नेह तथा कल्क का प्रमाण इस प्रकार बताया गया है। वात रोगों में मधु १२ तोला कल्क आठ तोला क्वाथ साठ तोला तथा प्रक्षेप १२ तोला ग्रहण करना चाहिए।

पित्तज रोगियों में मधु सोलह तो०, स्नेह सोलह तो०, कल्क आठ तो०, क्वाथ चालीस तोला तथा प्रक्षेप १६ तो० एवं कफज रोगियों को मधु २४ तो० स्नेह बारह तोला, कल्क आठ तो०, क्वाथ चालीस तो० तथा प्रक्षेप बारह तो० ग्रहण करना चाहिए।

निरूह बस्ति में प्रयुक्त औषधमात्रा का प्रमाण दोषादि के बलानुसार उत्तममात्रा सवाप्रस्थ (८० तोला), मध्यममात्रा एक प्रस्थ (६४ तोला), तथा हीन मात्रा तीन कुडव (४८ तो०) बताई गई है।

सामान्य बस्ति में स्नेह की जितनी मात्रा प्रयुक्त की जाती है निरूह में उस प्रमाण के तीन गुना प्रयोग में लाना चाहिए। कुछ विद्वानों के अनुसार निरूह में भी आयु एवं कालादि का विचार करते हुए सामान्य बस्ति के प्रमाण में ही स्नेह डालना चाहिए।

आस्थापन योग्यानां संकेतः

विशेषतस्तु सर्वाङ्गैकाङ्गकुक्षिरोगवातवर्चोमूत्रसङ्गबलवर्णमांसरेतः क्षयदोषाध्मानाङ्गसुप्तिक्रिमिकोष्ठोदावर्तशुद्धातिसारपर्वभेदाभितापप्लीहगुल्मशूल—हृद्रोगभगन्दरोन्मादज्वरव्रघ्नशिरः कर्णशूलहृदयपार्श्वपृष्ठकटीग्रहवेपनाक्षेपकगौरवातिलाघवरजः क्षयार्तविषमाग्निस्फिग्जानुजङ्घोरुगुल्मपाणिप्रपदयोनिबह्वङ्गलिस्तनान्तदन्तनखपर्वास्थिशूलशोषस्तम्भान्त्रकूजपरिकर्तिकाल्पाल्पसशब्दोग्रगन्धोत्थानादयो वातव्याधयो विशेषेण महारोगाध्यायोक्ताश्च; एतेष्वास्थापनं प्रधानतममित्युक्तं वनस्पतिमूलच्छेदवत्। च० सि० २।१६

स्थापयेद्धि गुल्मांश्च मूत्राघातोदराणि च।
अपस्मारांश्च कुष्ठं च वातव्याधींश्च सर्वशः॥
—भे० सू० २१।५

कृच्छ्रमूत्रपुरीषाणां शूलिनां वातगुल्मिनाम्।
विरेचनाद्युदावर्ते हृदोगे पार्श्वशूलिनी॥
उदरेषु प्रमेहेषु कुष्ठेषु कृमिकोष्ठिषु
श्लेष्मणा सह संसृष्टे शोणितेन च दूषिते॥
संसृष्टेषु च सर्वेषु सन्निपातोद्भवेषु च।
गम्भीरा धातुगा ये च तेषां श्रेष्ठं निरूहणम्॥
—भे० सि० ६।२६-२८

वातव्याधावुदावर्ते वातासृग्विषमज्वरे ।
मूर्च्छातृष्णोदरानाहमूत्रकृच्छ्राश्मरीषु च ॥
वृद्धासृग्दरमन्दाग्निप्रमेहेषु निरूहणम् ।
शूलेऽम्लपित्ते हृद्रोगे योजयेद् विधिवद्बुधः ॥

शा० उ० ६।१६-१७
वंगसेन, भाव प्र०

हृद्रोगे पार्श्वशूलेषु कुष्ठेषु कृमिकोष्ठिषु ।
प्रमेहोदरगुल्मेषु वातशूले सकुण्डले ॥
संसृष्टदोष रोगेषु लीनगम्भीरगेषु च ।
रक्ते श्लेष्मणि वा···दुष्टे निरूहमुपकल्पयेत् ॥

—का० सि० १

स्विन्नं पर्युषितं जीर्णं निवातशयनादिकम् ।
स्वभ्यक्तमकृताहारं भिषग्वालं निरूहयेत् ॥

का० सि० १।

वातव्याधिषु निरूहणं आस्थापनसंज्ञं योजयेत् । वातव्याधिः आक्षेपकादिः, उदावर्तं उदरापूरः, वातासृक् वातरक्तं, विषमज्वरः ऐकाहिकादिः, उदरमत्र जलोदर व्यतिरिक्तं सर्वोदरं ग्राह्यण् एके मूत्रकृच्छोदरानाहमूत्रदोषाश्मरीषु च इति पठन्ति । अत्र मूत्रदोषं मूत्राघातमपि ज्ञेयम अथवा मूत्रग्रहणेन स्त्रीणामपि मूत्ररेतोरजो दोषा अपि गृह्यन्ते । यदुक्तंमूत्ररेतो रजोदोषान् स्त्रीणां हन्ति निरूहणम् इति । अतएवाग्रे असृग्दरग्रहणं प्रमेहेषु इत्यत्रापि मधुमेहव्यतिरेकेणान्ये प्रमेहा ग्राह्याः । आदमल्लः ।

तत्रास्थाप्या गुल्मप्लीहानाहशूलशुद्धातीसारजीर्णज्वरप्रतिश्यायाढ्यारोग-हृदयकुक्षिपार्श्वग्रहहर्षाभितापपार्श्वयोनिशूलांगसुप्तिशोषकम्पगौरवातिलाघवांत्र-कूजवातविण्मूत्रशुक्रसंगाश्मरीशर्करावृद्धिशुक्रार्तवस्तन्यनाशरजः क्षयोन्माददोष-कृमिणकोष्ठविषमाग्निसशब्दाल्पाल्पोग्रगन्धोत्थानादयोदोषभेदीयोक्ताश्च वात-व्याधयाः । विशेषेणैते हि परं बस्तिना नाशमुपयान्ति मूलच्छेदेन वृक्षवत् ।

—अ० सं० सू० २८।१०

तत्र च बस्तिभेदेषु मध्ये गुल्मादयो वातप्रधाना दोषभेदीय पठिताश्च वात-हेतुका व्याधय आस्थाप्याः । एतेष्वास्थापनो योज्य इत्यर्थः । एते ह्यनेन बाते छिन्ने नाशमुपयान्ति । यथामूले छिन्ने वृक्षाः । शुद्धश्चासावतिसारस्तथोक्तः । शुद्धशब्दे नाम रक्तयोः प्रतिषेधः । ग्रह शब्दस्य हृदयादिभिः सम्बन्धः । शूल-शब्दस्य पार्श्वयोनिभयाभ्याम्, सङ्गशब्दस्य वातादिभिः, नाशशब्दस्य शुक्रादिभिः । रेतोदोषाः कृणपादयः । अल्पाल्पमुग्रगन्धं च तदुत्थानं चेति समासः । इन्दुः ।

हि० व्या०—विशेष रूप से सर्वाङ्गवात, एकाङ्गवात, उदर रोग, वात,

मल, मूत्र और शुक्र का अवरोध होने पर बल, वर्ण, मांस तथा शुक्र के क्षय होने की अवस्था में आध्मान, अंगसुप्ति, कृमिकोष्ठ, उदावर्त से पीडित होने पर शुद्धातिसार, पर्वभेद, अभिताप, प्लीहारोग, गुल्म रोग, शूल, हृद्रोग, भगन्दर, उन्माद, ज्वर, बध्न, शिरः शूल, कर्णशूल, हृदयग्रह, पार्श्वग्रह, पृष्ठग्रह, कटिग्रह कम्प, आक्षेपक, शरीरगौरवः अत्यन्त लघुता, रजः क्षय, विषमाग्नि तथा नितम्ब, जानु, जंघा, उरु, गुल्फः एड़ी प्रपदः योनि, बाहु, अंगुली, स्तन के अन्तभाग दन्त, नख, पर्व और अस्थि में शूल होना, शोथ, स्तम्भ, आन्त्र-कूजन, परिकर्तिका तथा बार-बार थोड़ा-थोड़ा तथा शब्द के साथ उग्रगन्धवाला मल का त्याग होने पर, विशेष रूप से महारोगाध्याय में वर्णित वातव्याधियों में निरूह का प्रयोग कराना चाहिए । क्योंकि जिस प्रकार वनस्पतियों की मूल काट देने पर वनस्पति नष्ट हो जाती है उसी प्रकार रोगों के मूल वात को नष्ट कर देने से रोग स्वयं शान्त हो जाते हैं । अतः वातशमन हेतु आस्थापन को प्रशस्त बताया गया है ।

आस्थापनायोग्याः तत्र युक्तिश्च

अनास्थाप्यास्तु—अजीर्ण्यतिस्निग्धपीतस्नेहोत्क्लिष्ट दोषाल्पाग्नियानबला-न्तातिदुर्बलक्षुत्तृष्णाश्रमार्तातिकृशभुक्तभक्तपीतोदकवमितविरिक्त कृतनस्तः कर्म क्रुद्धभीतमत्तमूर्च्छित प्रसक्तच्छर्दिनिष्ठीविकाश्वासकासहिक्काबद्धच्छिद्रोदर-दकोदराध्मातालसकविसूचिक्रिमिप्रजातामातिसारमधुमेहकुष्ठार्ताः ।

च० सि० २।१४

तत्राजीर्ण्यतिस्निग्ध पीतस्नेहानां दूष्योदरं मूर्च्छाश्वयथुर्वास्यात्, उत्क्लिष्ट-दोषमन्दाग्न्योररोचकस्तीव्रः, यान बलान्तस्य क्षोभव्यापन्नोबस्तिषु देहंशोषयेत्, अतिदुर्बल क्षुत्तृष्णाश्रमार्तानां पूर्वोक्तो दोषः स्यात्, अति कृशस्य कार्श्यं पुनर्जयेत् भुक्तभक्तपीतोदकयोरुत्क्लिश्योर्ध्वमधो वा वायुर्बस्तिमुत्क्षिप्यक्षिप्रंधोरान् विका-राञ्जनयेत्, वमित विरिक्तयोस्तु रूक्ष शरीरं निरूहाः क्षतंक्षार इव दहेत्, कृतनस्तः कर्मणोविभ्रंशं भृशसंरुद्धस्रोतसः कुर्यात्, क्रुद्धभीतयोर्वैरितरूर्ध्वमुत्प्लवेत, मत्तमूर्छितयोर्भृशं विचलितायां संज्ञायां चित्तोपघाताद् व्यापत् स्यात्, प्रसक्त-च्छर्दिनिष्ठीविकाश्वासकासहिक्कार्तानामूर्ध्वीभूतो वायुरूर्ध्वं बस्तिं नयेत्, । बद्धच्छिद्रोदकोदराध्मानार्तानां भृशतरमाध्माप्य बस्तिः प्राणान् हिंस्यात् अलसकविसूचिकाप्रजातामातिसारिणामामकृतो दोषः स्यात्, मधुमेहकुष्ठिनो-र्व्याधेः पुनर्वृद्धि; तस्मादेते नास्थाप्याः । च० सि० २।१५

मधुमेहशब्देन सर्वप्रमेहग्रहणम् । दूष्योदरमिति सन्निपातोदरम् । यानं रथादि यानम् । दहेद् 'बस्तिः' इति शेषः । विभ्रंशमित्यत्र 'इन्द्रियाणाम्' इति शेषः । ऊर्ध्वं मुत्प्लवेदिति मुखादिरुद्गच्छेत् । मत्त मूर्च्छितयोर्व्यापत् स्या-दिति मूर्च्छारूपा व्यापत् स्यादित्याहुः । बद्धोदरादावाध्मार्तानां बस्तिर्निषिध्यते;

तेन "स्निग्धाय बद्धोदरिणे" इत्यादिना यावच्च "निरूहं सानुवासनं" (चि० अ० १३) इति ग्रन्थेन निरूहविधाममविरुद्धं भवति, अन्ये तु उदराध्मान एव 'बद्धोदरिणे' इत्यनेन सविबन्धोदरिविषयं निरूहं वर्णयन्ति, तेनात्र सामान्येन बद्धोदरे निरूहनिषेधो न विरुद्धः। चक्रपाणिः।

अनास्थाप्यास्त्वति स्निग्धोत्क्लिष्टदोषक्षतोरस्कातिकृशा निरन्नाः कृतवमनविरेकनस्यप्रसक्तच्छर्दिनिष्ठीविका कासश्वासहिध्माऽर्शोबद्धछिद्रोदकोदराध्मातालसकविसूचिकाऽऽमातिसारारोचकाल्पाग्निगुदशोफकुष्ठमदमेहार्ता गर्भिणी चाप्रसक्ताष्टममासा। तत्रातिस्निग्धोत्क्लिष्ट दोषयोर्दोषानुत्क्लेश्योदरं मूर्च्छा श्वयथुं वा निरूहो जनयेत्। क्षतोरस्कस्यातिकृशस्य च क्षोभ व्यापन्न शरीरमाशु पीडयेत्।

निरन्नस्य वक्ष्यते। कृत वमनविरेकयोस्तु रिक्तं देहं क्षतं क्षार इव दहेत्। स्नेहबस्तिस्तु सद्योऽग्निमवसाद्यश्लेष्मामयाय स्यात्; कृतनस्यस्यास्य विभ्रंशं भृश विवृतोर्ध्वं स्रोतस्त"या कुर्यात् अनुवासनन्तु दोषोत्क्लेशनम्। प्रसक्तच्छर्द्यादीनां वायुर्निरूहमूर्ध्वं नयेत्। अर्शस्यावृत मार्गत्वादनागच्छन्बस्तिः प्राणान् हिंस्यात्। स्नेहः पुनरर्शस्यभिष्यन्दाध्माताय स्यात्। बद्धोदराध्मातानां भृशतरमाध्मानान्मृत्युः। अलसकार्यादीनां चामदोषात्। अरोचकार्तादीनां यथास्वमामयवृद्धिः। गर्भिण्याः पूर्वोक्तो दोषः।

—अ० सं० सू० २८।

गर्भिण्या आस्थापनेन पूर्वोक्तो वमनोक्तो दोषा आमगर्भभ्रंसादिः सा चा प्रवृत्ताष्टममासायस्या न प्रवृत्तोऽष्टमो मासः प्रवृत्तेत्वष्टमेमासि बस्तिर्विहित एव तस्मादेतेऽनास्थाप्याः। इन्दुः।

हृद्रोगोदावर्त वातगुल्मवातोदरविबन्धमूत्रग्रहबस्तिकुण्डलप्रमेहरक्तगुल्मयोनिजाड्योपरोधपार्श्वरुजामधुमेहकुष्ठश्वित्रभगन्दरापस्तम्भसंसृष्ट··· ··· ··· ··· हृदयद्रवकृशव्याधिपरिगतरक्तातीसारमूर्च्छा शोथमैथुनश्रमभयचिन्तेर्ष्याप्रजागरहृताश्च न निरूह्या इति। का० सं० सि० ७।

अतिस्निग्धोत्क्लिष्टदोषो क्षतोरस्कः कृशस्तथा।
आध्मानच्छर्दिहिक्कार्शः कासश्वासप्रपीडितः॥
गुदशोफातिसारार्तो विषूचीकुष्ठसंयुतः।
गर्भिणी मधुमेही च नास्थाप्याश्च जलोदरी॥

—शा० उ० ६।४-५ (भाव प्र०)

एते नास्थाप्याः, चकारादनुवास्याश्च न। उक्तं च भयोन्मादस्तथा शोषाजीर्णारुचिप्रमेहिनः। मूर्च्छाकुष्ठोदरस्थौल्यश्वासकासक्षयातुराः। शोथश्रममदच्छर्दियुता बस्त्यमलाचलाः। नास्थाप्या नानुवास्याश्च वातरोगादृतेनराः इति। कुष्ठशब्देनात्र महाकुष्ठं ग्राह्यं न क्षुद्रकुष्ठं तस्य विहितत्वात्। प्रमेहग्रहणात्

सर्वं प्रमेहेषु हितम्। उक्तं च—उदरी च प्रमेही च कुष्ठी स्थूलश्च मानवः अवश्यं स्थापनीयास्ते नानुवास्यास्त एव च। इति आढ़मल्लः।

अनास्थाप्यास्त्वतिस्निग्धः क्षतोरस्को भृशंकृशः।
आमातिसारी वमिमान् संशुद्धो दत्तनावनः॥
श्वासकास प्रमेहार्शो-हिक्काऽऽध्मानाल्पवर्चसः।
शूनपायुः कृताहारो बद्धच्छिद्रदकोदरी॥
कुष्ठी च मधुमेही च मासान् सप्त च गर्भिणी।

अ० हृ० सू० १९। चक्रदत्तः

अतिस्निग्धादयः सप्तममासगर्भिण्यन्ता अनास्थाप्या अनिरूह्याः। वमिमान् प्रसक्तच्छर्दिः। बद्धादेरुदरेण संबंधः। तत इनिर्मत्वर्थीयः। यद्वाऽतिसारिण आस्थाप्या इत्यनेनाऽऽमातिसारियोऽनास्थाप्यत्वे लब्धे पुनर्वचनमतिप्रमाथित्वेनाऽऽमातिसारिणः कथंचिदप्यनास्थाप्या इति। तत्राऽतिस्निग्धस्य दोषानुत्क्लेश्य निरूहःश्वयथुमुदरं च जनयेत्। क्षतोरस्ककृशयोः क्षोभव्यापन्नं शरीरमाशु पीडयेत्। आमातिसारिणो दोषस्य सम्यग् निबर्हणाद्हेस्य शामत्वादतिपीडां कुर्यात्। प्रसक्तच्छर्दिषो दोषोत्क्लेशो निरूहमूर्ध्वं जयेत्। कृतवमनविरेकयोः सुविरिक्तं देहं क्षतं क्षार इव दहेत्। कृत नस्यस्यविवृतोर्ध्वस्रोतस्तया विभ्रंशं कुर्यात्। कासश्वासादीनामुल्लिकष्टदोषत्वान्निरूह ऊर्ध्वं व्रजेत्। अर्शः प्रभृतीनां भृशतरमाध्मानान्मृत्युर्वा स्यात्। अलसवर्चस्कादीनां स्तंभजाड्यादीनावहेत्। गर्भिण्या पूर्वोक्ता एव दोषाः। अरुणदत्तः।

ज्वरेच्छर्द्यामतीसारे गूढशल्यार्दितेषु च।
हृद्ग्रहे कृताहारे दुर्बले व्याधिकर्षिते॥
क्षीणे रक्तातिसारे च तथा मूर्च्छार्तिकर्षिते।
प्रथितानां नराणाञ्च निरूहो न प्रशस्यते॥

—वंगसेन

हि० व्या०—जिन्हें निरूह एवं आस्थापन नहीं कराना चाहिए उनमें—अजीर्ण, अतिस्निग्ध, स्नेह पीत, उत्क्लिष्ट दोष वाले, अल्पाग्नियुक्त, यान पर चढ़ने से क्लान्त, अति दुर्बल, भूख-प्यास से पीड़ित, श्रमित, अति दुर्बल, सद्यः भोजन किया हुआ, तत्काल जलपीत, जिसने वमन विरेचन किया हो, नस्य लिया हो, क्रोधवाला, मूर्च्छा रोगी, निरन्तर वमी, वार-वार थूकने वाला, श्वाश-कास, हिक्का रोगी, बद्धोदरी, छिद्रोदरी, जलोदरी, जिसे आध्मान हो, अलशक, विसूचिका, अल्पदोषयुक्त, सूतिका, आमातिसार, मधुमेह तथा कुष्ठरोग से पीडित व्यक्तियों को प्रयोग नहीं कराना चाहिए। वाग्भट ने अष्टम मास तथा काश्यप ने सप्तम् मास में गर्भिणी के लिए भी निरुह बस्ति का निषेध किया है।

आस्थापन बस्ति प्रयोग कालः

आस्थापनार्हं पुरुषं विधिज्ञः
समीक्ष्यपुष्येऽहनि शुक्लपक्षे ।
प्रशस्तनक्षत्रमुहूर्त योगे
जीर्णान्नमेकाग्रमुपक्रमेत ॥

– च० सि० ३।१२-१३

शुक्लपक्ष इति शुक्लपक्षस्य सर्वारम्भेषु प्रशस्तत्वात्, हारीतेन तु कृष्णपक्ष एवात्रविहितः; उक्तं हि "कृष्णपक्षे कार्यं, जन्मनि हताः सुहृता भवन्तीति वदन्ति शास्त्रज्ञाः; शुक्ले देवा जाताः कृष्णेऽसुराश्च सर्वरोगाश्च; तस्माद्रोगचिकित्सा कृष्णे सदैव कर्तव्या; इति । एकाग्रमिति बस्तिप्रयोगैकमनसम् ।

चक्रपाणिः ।

सुप्रजीर्णोपितं च नक्षत्र मुहूर्तानां च रक्षा प्रभावात् प्रशस्ता वा । योगो लग्नं सर्वग्रहाणामानुकूल्यंता वा ज्ञेया एतच्चाग्निवेशग्रन्थप्रसिद्धं स्याद्धारीते ग्रन्थान्यथात्वाच्च शुक्लपक्षे धातुसाम्यसमानत्वादितरस्य च रोगसमानत्वादतश्च शुक्ल एवोक्तम् न चानुत्पन्नोत्पत्तियोगकालाद्दोष इति । अजीर्णेन प्रतिषेधेन जीर्णान्नवचनम् । अजीर्णस्य विकारत्वान्नातिक्षुधार्तमिति क्षुधार्तनिषेधेन चाक्षुधितोऽपि । तस्य रसशेषप्रसङ्गात् । तस्माज्जीर्णान्नवचनं शरीरलाघवार्थम् सम्यग् बस्तिकल्पनार्थंवा । एकाग्रवचनं विरेचनोक्तक्रमादतिव्यग्रफलातिदेशार्थं, निरूहोदाहरणार्थं सर्वावस्थाप्रयोजनार्थं वा प्राग्वचनम् ।

जज्जटः ।

वत्सकालदेशसात्म्यप्रकृतीः प्रविभज्य योजितोबस्तिः ।
स्वैः स्वैरौषधवर्गैः स्वान्स्वान्रोगान्निवर्तयति ॥
उष्णार्तानां शीताश्छीतार्तानां तथा सुखोष्णांश्च ॥
तद्योग्यौषधयुक्तान् बस्तीन्सन्तर्प्य युञ्जीत् ।

अ० सं० क० ४।२६-३०

प्रतिव्याधि दोषादिभेदे य औषधवर्गा उक्ताः तैर्वर्गैर्बलादिकं प्रविभज्य बुद्धया विकल्प्य बस्तिर्योजितः स्वान् स्वान् योग्यौषधवर्गविषयान् बस्तिसाध्यान् रोगान् निवर्तयति । उष्णेनौषधादिना आर्तानां शीतान् बस्तीनातुरयोग्यौषधयुक्तान् सन्तर्प्य विकल्प्य युञ्जीत । शीतार्तानां च तद्वत् सुखोष्णांस्तद्योग्यौषधयुक्तान् युञ्जीत् ।

इन्दुः ।

पक्षाद्विरेको वमिते ततः पक्षान्निरूहणम् ।
सद्यो निरूढश्चाऽनुवास्यः सप्तरात्राद्विरेचितः ॥

अ० हृ० सू० १९।

उत्तमशुद्धया शुद्धे वमिते पक्षादनन्तरं विरेकः कार्यः । यस्मात्प्रवरया शुद्धया शुद्धे तु वमिते पेयादि क्रमेण सप्ताहात् प्रकृति भोजनापत्तिः । सप्ताहैकान्तराऽनुवासनदानेन स्निग्धस्य विरेक इति पक्षेणैव युज्यते । ततोऽनंतरं पक्षात्परतो निरूहो यतः कृतविरेकस्य सप्ताहात् प्रकृति भोजनापत्तौ स्नेहनार्थमनुवासनेनैकांतरितेन स्निग्धस्य निरूहो युज्यत इति पक्षेणैव युक्तः । निरूहश्च सद्य एवाऽनुवास्यः । तथा च प्रागभ्यधायि । अथ वातादितं भूयः सद्य एवाऽनुवासयेदिति । विरेचितः सप्तरात्राद्ऊर्ध्वमनुवास्यो यतः सप्ताहेन प्रकृति भोजनापत्तिस्ततः स्नेहार्थमनुवासनं युक्तम् ।

अरुणदत्तः ।

न रात्रौ प्रणयेद्बस्तिं स्नेहोत्क्लेशो हि रात्रिजः ।
स्नेह वीर्य युतः कुर्यादाध्मानं गौरवं ज्वरम् ॥
अह्निस्थान स्थिते दोषे वह्नौ चान्नरसान्विते ।
स्फुटस्रोतोमुखं देहं स्नेहो यत्परिसर्पति ॥
अल्पपित्तकफं रूक्षं भृशं वातरुजादितम् ।
भुक्तं जीर्णाशनं कामं रात्रावप्यनुवासयेत् ॥
केवलानिलनिपीडितं त्वशुद्धमप्यनिरूपितं ।
बलं चाप्यनुवासयेदात्ययिकत्वाद्व्याधेः ॥

अ० सं० सू० २८।२५-२८

धन्वन्तरीयाः पुनराचार्या एवमाहुः । यथा सर्वो बस्ता रात्रा न देयः दिवैव देयः अथवा कदाचिदल्पपित्तादीनां रात्रावपि देयः । एतदेव मतं न रात्रावित्याद्यिश्लोकत्रयेण पठति । केवलानिलेत्यादिना स्वमतमनुसरति, अत्र ह्यात्ययिक व्याध्यपेक्षितत्वाद्बस्तिविधेः कालनियमो नाश्रयितव्यः ।

इन्दुः ।

अनुवास्य स्निग्धतनुं तृतीयेऽह्नि निरूहयेत् ।
मध्याह्ने किञ्चिदावृत्ते प्रयुक्ते बलिमङ्गले ॥
अभ्यक्तस्वेदितोत्सृष्ट-मलं नाति बुभुक्षितम् ।

चक्रदत्तः ।

तृतीयेऽह्नीति-अनुवासनदिनमारभ्य तृतीयेदिने इत्यर्थः; तृतीयेऽह्नीति प्रायिकं ज्ञेयं पञ्चमेऽपि तद्विधानात्; यदाह वाग्भटः—पञ्चमेऽथ तृतीये वा दिवसे साधके शुभे" (सू० १६ अ०) । निरूहनिरुक्तश्च सुश्रुते··· ··· ··· निरूहदानसमयमाह, मध्याह्ने इत्यादि । किञ्चिदावृते इति—अल्पस्खलिते । अभ्यक्तस्वेदितोत्सृष्टमलमिति । अभ्यक्तेत्यनेन अभ्यङ्गविधयाऽपि स्नेहप्रयोगं कर्तव्यतया अनुजानाति ।

शिवदास सेनः ।

हि० व्या० – बस्ति प्रयोग कराने वाले चिकित्सक को बस्ति प्रयोज्य रोगी के दोष, बल, प्रकृति आदि का विचार कर शुक्लपक्ष के शुभ दिन, शुभ नक्षत्र और मुहूर्त के योग में, जीर्णान्न होने पर मन की एकाग्रता को देखते हुए बस्ति प्रयोग कराना चाहिए ।

आचार्य वाग्भट के अनुसार निरूह प्रयोग के समय बल, काल, देश, सात्म्य

प्रकृति आदि के अनुसार रोग एवं योग का विभाजन करके बस्ति की योजना करनी चाहिए। उनके अनुसार ही वे, वे औषध योग उन-उन रोगों का निवर्तन करते हैं अर्थात् दूर करते हैं। उष्ण प्रकृति वालों को शीत स्वभाव की एवं शीत प्रकृति वालों को सुखोष्ण बस्ति का प्रयोग कराना चाहिए।

प्रायः स्वस्थ व्यक्ति को पंचकर्म विधि में वमन के १५ दिन पश्चात् विरेचन कराना चाहिए। तथा विरेचन के १५ दिन बाद निरूहण बस्ति देनी चाहिए। निरूह के पश्चात् तत्काल अनुवासन वस्ति का प्रयोग करे तथा विरेचन के सात दिन के पश्चात् अनुवासन कराना चाहिए।

धन्वन्तरि आदि आचार्यों के वचनों का उल्लेख करते हुए वाग्भट लिखते हैं कि—कोई भी वस्ति रात्रि में नहीं देनी चाहिए। इसका कारण यह है कि रात्रि में स्नेह का उत्क्लेश होता है। दिन में दोषों के अपने स्थानों पर स्थित रहने से, जाठराग्नि के अन्न रस से युक्त होने के कारण तथा स्रोतों के मुख खुले होने के कारण स्नेह सरलता से शरीर में फैल जाता है। इतना होने पर भी जिनमें पित्त या कफ कम हो जो अत्यन्त रूक्ष हों, वात रोगी हों, भोजन किया हुआ हो एवं जिनका भोजन पच गया हो ऐसे व्यक्तियों को रात्रि में भी अनुवासन दिया जा सकता है। जो मनुष्य केवल वात रोग से पीडित हो उनमें वमनादि शोधन क्रिया के बिना बल का निश्चय न करके भी अनुवासन का प्रयोग कराना चाहिए। प्रतीत होता है कि यह नियम आत्ययिक व्याधियों के लिए बताया गया है।

अष्टाङ्गहृदयकार के अनुसार अनुवासन द्वारा शरीर को स्निग्ध करके तीसरे दिन निरूह बस्ति देनी चाहिए। दोपहर से कुछ अधिक समय होने पर बलि, मंगल, आदि स्वस्तिवाचन कराकर स्नेहन, स्वेदनोपरान्त मलमूत्र त्याग करके, सामान्य भूख लगने पर निरूहबस्ति का प्रयोग कराना चाहिए।

विरेचनानन्तरं निरूहणानुवासन बस्तिप्रयोगक्रमः

संसृष्टभक्तं नवमेऽह्नि सर्पि
स्तं पाययेताप्नुवासयेद्वा ।
तैलाक्तगात्राय ततोनिरूहं
दद्यात् त्र्यहान्नाति बुभुक्षिताय
प्रत्यागते घन्वंरसेन भोज्यः
समीक्ष्य वा दोषबलं यथार्हम्
नरस्ततो निश्यनुवासनार्हो
नात्याशितः स्यादनुवासनीयः ॥

—च० सि० १।२०-२२

सप्तभिर्दिनैः कृतसंसर्जनक्रमस्याष्टमे भक्तमुपयुक्तस्य नवमेऽह्नि सर्पिः पानमनुवासनं च देयम्; अत्र विकल्पद्वये यदि वमनानन्तरं विरेचनं कर्तव्यं तदा नवमेऽह्नि सर्पिः पानम्, अथ विरेचनानन्तरं यदा बस्तिर्देयस्तदाऽनुवासनं नवमेऽह्नि देयमिति व्यवस्था। वमनानन्तरं नवमदिवसे सर्पिः पानं पूर्वोक्तं तेनेदानीं विरेचनानन्तरकर्तव्यनिरूहानुवासनसमानकालतया सर्पिः पानमपि दर्शितं, तेन न निरूहाङ्गता सर्पि पानस्य कल्पनीया। नवमश्च दिवसोऽत्र शोधनदिनमार-भ्यैवज्ञेयः; उक्तं च जतूकर्णे—"शोधनानन्तरं नवमेऽह्निस्नेहपानमनुवासनं वा" तथा सुश्रुतेऽप्युक्तं "विरेचनात् सप्तरात्रे जातबलायच। कृतान्नायानुवाश्याय सम्यग्देयोऽनुवासनः" (सु० चि० ३७ इतिगते)।

विरेकः पावकं हन्ति तदधिष्ठानसंप्लवात्। न तु बस्तिस्तथा तस्माद्यथोन्नयति पावकम्' इति। निरूह एव दोषाग्निबलापेक्षया रसादिना पेयादिना वा भोजनं दर्शयन्नाह समीक्ष्यवा दोषबलं यथार्हमिति; बलमित्यग्निबलम्। नरस्तत इत्यादिना निरूहानन्तरं तद्दिनेक्रियमाणमनुवासनं निश्येव कर्तव्यमिति दर्शयति, तेन शीते वसन्ते च सद्यो निरूढस्य रात्रावेवानुवासनं न देयमिति। अन्ये तु निशीत्यनेन तदहरेव निरूढाय सायमनुवासनं देयमिति दर्शयति, तेन यथा वक्ष्यमाणविभागेन रात्रौ दिवा वा देयमित्याहुः। अनुवासनार्हं इति वचनेन यदि समता मन्दो वा पावको भवति तदा तदहरनुवासनं न देयमिति सूचयति। अत एव जतूकर्णे द्वितीयदिवस एवानुवासनमुक्तं,—"ततस्त्र्यहान्निरूहे व्युषिते मुक्तवतोऽनुवासनम्, इति। हारीतेऽपि 'व्युष्टंरजन्यां प्रसमीक्ष्य तस्माद्बलाबलं वाऽप्यनुवासनीयः" इत्युक्तम्। 'सद्योनिरूढोऽनुवास्यः स्यात्' इति वचनं निरूहजनितवातक्षोभयुक्त पुरुषविषयम्। चक्रपाणिः।

उत्तरबस्ति चिकित्सिते स यः पेयादिक्रमानन्तरं रससंसर्जनक्रम उक्तः स सर्वकर्मावसाने प्रकृति भोजनगमनार्थं कर्तव्यः; न वमन विरेचनकर्म परिसमाप्ता वेव, तेनेहाकृतद्रसंसर्गस्यैवनवमेदिने सर्पिः पानमनुवासनं चोपपन्नम् यत्तुभद्रशौनके—"संसृष्टभक्तः सुमनाः स्नेहपीतो दृढ़ानलः। संशुद्धः परतो मसादनुवास्यस्ततो नरः" इत्युक्तं, तत् प्रागनुवासनविषयं रोगविशेषविषयं वेति नैत द्विरुद्धं भवति; बहूनि चात्र व्याख्यानानि टीकाकृतामङ्गिरिसैन्धवजेज्जटेश्वर सेनादीनां संति; अन्यैस्तु तद्व्यख्यानानि दोषोद्धारादेव निरस्तानि। तैलाक्तगात्रायेति बचनमभ्यङ्गेनापि स्नेहप्रयोगदर्शनार्थम्। स्वेदस्तत्र पञ्चकर्म पूर्वतया विहितोऽनुक्तोऽप्यायात्येव; यदुक्तं—"तान्युपस्थितदोषाणां स्नेहस्वेदोपपादनैः। पञ्चकर्माणिकुर्वीत" (सू० अ० २) इति। दद्यात्र्यहादित्यनुवासनदिनादूर्ध्वं त्र्यहात्, तेन यथा वक्ष्यमाणक्रमेण एकाहाद्द्वयहादधिकाद्वास्नेहात्तदहर्वा निरूहो देयः। नातिबुभुक्षितायेत्यनेन अतिबुभूक्षितस्य निरूहोऽतियोगायोर्ध्वगमनाय च भवतीति सूचयति। तत्र धन्वरसेन प्रति भोजनं विरेचनवदग्निमांद्याभावाद्बला-

बहुत्वाच्च युक्तमेव; यदुक्तं भोजे "आमस्तकाद्विशुद्धस्य निरूहेन रसादिकम्। किमर्थं विहित भोज्यं संसर्गश्चविरिक्तवत्।

हि० व्या० — वमनादि से शुद्ध तथा संसर्जन क्रम से बल प्राप्त किए हुए, व्यक्ति को नौवें दिन घृत पान कराना चाहिए अथवा अनुवासन बस्ति देनी चाहिए। तत् पश्चात् तीसरे दिन सामान्य आहार ग्रहण किए हुए एवं शरीर में तैल का अभ्यंग करके निरूह का प्रयोग कराना चाहिए। प्रयुक्त की गई बस्ति के गुदा से बाहर आने पर जांगल पशु पक्षियों के मांस रस के साथ भोजन कराना चाहिए। अथवा दोष एवं बल का विचार करते हुए उसको यथोचित आहार कराना चाहिऐ। तत् पश्चात् अनुवासन का प्रयोग कराए जाने वाले पुरुष को, जिसने अत्यधिक भोजन नहीं किया हो तो उसी दिन अनुवासन बस्ति देनी चाहिए। (यह निरूह के बाद अनुवासन का क्रम है)।

रूक्षस्य बहुवातस्य-अनुवासनोत्तरं निरूहः

रूक्षस्य बहुवातस्य द्वौ त्रीनप्यनुवासनान्।
दत्वा स्निग्ध तनुं ज्ञात्वा ततः पश्चान्निरूहयेत्॥

सु० चि० ३६।-

रूक्षस्य वाताधिकस्य वात वेग विधारणाय प्रागेव स्नेहवस्तिं दत्वा पश्चाच्छोधनो बस्तिर्देय इति दर्शयन्नाह—रूक्षस्येत्यादि। डल्हणः।

हि० व्या० —रूक्ष एवं बहु वात वाले व्यक्ति को दो-तीन बार अनुवासन देकर, शरीर के स्निग्ध होने पर निरूह बस्ति का प्रयोग कराना चाहिए।

भुक्तवतः तत्कालं निरूहण निषेधे युक्तिः

न तु भुक्तवतो देयमास्थापनमितिस्थितिः।
विसूचिकां वा जनयेच्छर्दिं वाऽपि सुदारुणाम्॥
कोपयेत् सर्वदोषान वा तस्मादद्यादभोजिने॥

सु० चि० ३८।१९-२० चक्रदत्तः
वंगसेन

न तु भुक्तवत इत्यादिना या आस्थापननिषेधोऽभिहितस्तस्य दृढ़ीकरणार्थं भुक्तवतो विसूचिकादिदोषोद्भावनयाऽभोजिने दानमाह विसूचिकां वेत्यादि।

डल्हणः।

हि० व्या० —भोजन किये हुए व्यक्ति को आस्थापन के निषेध का कारण बताते हुए लिखा है कि भोजन किए हुए को आस्थापन प्रयोग कराने से विसूचिका की उत्पत्ति हो जाती है। अथवा दारुण (अति तीव्र) वमन होता है। इस समय प्रयुक्त बस्ति सम्पूर्ण दोषों को कुपित करती है।

किञ्चिदपि भोजनात् प्रागेव निराहारस्यैव निरूहण बस्ति प्रयोगे युक्तिः।

जीर्णनस्याशये दोषाः पुंसः [1]प्रव्यक्तिमागताः।
निः शेषाः सुखमायान्ति भोजनेनाप्रपीडिताः॥
नवाऽऽस्थापनविक्षिप्तमग्नमग्निः [2]प्रधावति।
तस्मात्स्थापनंदेयं निराहाराय जानता॥

सु० चि० ३८।२१-२२

हि० व्या०—जीर्णान्निरोगी को आस्थापन प्रयोग कराने से व्यक्ति के पक्वाशय में स्थित दोष, भोजन के द्वारा पीडित नहीं होने पर पूर्ण रूप से निष्काशित हो जाते हैं।

आस्थापन द्वारा विक्षिप्त जाठराग्नि अन्न की तरफ नहीं दौड़ती (अन्न का परिपाक नहीं करती) अतः अन्न का पाचन न होने से, आमरस की उत्पत्ति हो जाने से अन्यरोगों की सम्भावना की कल्पना करते हुए निराहार व्यक्ति को आस्थापन देना चाहिए।

यथा काल निरूहणम्

निरूह काले सम्प्राप्ते यो बालो न निरूहते।
स ... ...॥
स्विन्नं पर्युषितं जीर्णं निवातशयनादिकम्।
स्वभ्यक्तमकृताहारं भिषग्बालं निरूहयेत्॥

—का० सं० सि० १।

तीव्रशूलाध्मानादि रोगावस्था विशेषे क्वचित् भुक्तोवतोऽपि निरूहणम्।

आवस्थिकं क्रमं चापि बुद्ध्वा कार्यं निरूहणम्।
मलेऽप्रकृष्टे दोषाणां बलवत्वं न विद्यते॥

—सु० चि० ३८।२३

तीव्रशूलाध्मानादिरोगावस्थस्योपक्रमेणापिनोर्ध्वं शुद्ध्यतः फलवर्त्यादि प्रणिधानपूर्वकं भुक्तवतोऽपि निरूहदानं कर्तव्यं स्यादत आहआवस्थिकमित्यादि।

डल्हणः।

अनुवासनानन्तरं निरूहण प्रयोगस्य क्रम काल विचारः।

प्रत्यागते चाप्यनुवासनेये
दिवा प्रदेयं व्युषिताय भोज्यम्॥

---

१. प्रव्यक्ति स्पष्टता निरावरणतामित्यर्थः। डल्हणः
२. प्रधावति जरयतीत्यर्थः। हारणच।

सायं च भोज्यं परतो द्वयहे वा
त्र्यहेऽनुवास्योऽहनि पञ्चमे वा।
त्र्यहे त्र्यहे वाऽप्यथ पञ्चमे वा
दद्यान्निरूहादनुवासनं च ॥

—च० सि० १।२३-२४

व्युषितायेति निर्विकारं रात्रि व्युषिताय दिवा भोज्यं देयं, तथा सायं भोज्यं देयम्। अनुवासनानन्तरं पुनरनुवासनकालमाह—त्र्यहे वेत्यादि। अत्रापि त्र्यह-पञ्चाहव्यवस्था पूर्ववत्; अयं चानुवासनकालो निरूह दिन एव दातव्यानुवासने परिज्ञेयः। अन्ये तु पठन्ति यत्—'परतो द्वयहे वा त्र्यहेऽनुवास्योऽहनि पञ्चमे वा, इति; व्याख्यानयन्ति च—परतो द्वयहे वा त्र्यहेऽनुवास्योऽहनि पञ्चमे वेति; अत्र तु द्वयहेऽनुवासनमतिप्रबलवातस्त, अनति वृद्धवातस्यत्र्यहे, पञ्चमे तु प्रवृद्धकफ पित्तस्येति व्यवस्था। द्वितीय दिनानुवासनं हारीतेऽप्युक्तं; वचनं हि—"दृष्ट्वाऽतिवृद्धं पवनस्य रूपं दिने-दिने बस्तिमुदाहरन्ति" सुश्रुतेऽप्युक्तं "रूक्षस्यबहुवातस्य स्नेहबस्तिं दिने-दिने। दद्यद्वैद्यास्ततोऽन्येषामसम्याबाधभयात् त्र्यहात्" (सु० चि० ३७) इति। इहापि 'रूक्षनित्यस्तु' इत्यादिना, उदावर्तं वातार्तांश्च दिने-दिने' (सि० अ० ४) इत्यनेन द्वयहे दातं विधास्यति, तेन 'द्वयहे वा त्र्यहे वा' इति पाठः साधुः, 'द्वयह शब्देन चात्र दिन द्वय संबंधमात्रमुच्यते न द्वयहपूरणं, तेन प्रथमदिवसदत्तानुवासनात् प्रभृतिपूर्णे, तृतीये दिवसेऽनुवासनं प्राप्नोति, इति यदुच्यते, तन्निरस्तम्, एवं त्र्यहेऽपि तृतीयाह संबन्ध एव विवक्षितोज्ञेयइति। चक्रपाणिः।

वातपित्तकफस्थानानुसारं एक द्वि त्रि वस्ति प्रयोगे युक्तिः

एकोऽपकर्षत्यनिलं स्वमार्गात्।
पित्तं द्वितीयस्तु कफं तृतीयः ॥

च० सि० ३।२६

एतद्वातादिभेदेन एकादिबस्तिदान विधानं, न तु त्रिदोषे प्रथमो वातं जयति द्वितीयः पित्तं जयति तृतीयः कफमित्यादि व्याख्येयं; यतः "स्निग्धोष्ण एकः पवने समांसः" इत्यादिना पवनादिभेदेनैव संख्यानियमं करिष्यति। एवं स्वमार्गाच्चानिलमेको बस्तिरपकर्षति, पित्तं द्वितीयस्तु स्वमार्गादिति पित्तं द्वावेवावजयतः, कफं त्रय एव जयन्तीति ज्ञेयं; स्वमार्गादिति स्वस्थानात्। यद्यपि च बस्तिः पक्वाशयगतमेव दोषं जयतीत्युक्तं, तथाऽपि पित्तादिस्थानेऽपि विशेषवस्तिविधि सामर्थ्याद्दोषहरणमुच्यते; तेन उत्सर्गतस्तद्गतदोषहरणं विशिष्टविधानेन च स्थानान्तरगतदोषहरणं भवति। अयमर्थोजतूकर्णेऽप्युच्यते—"बस्ति कार्यः सकृद्वस्तिस्थानशक्त्याऽनिलादिषु" इति। अत्र द्वितीयः पित्तमपकर्षति, तृतीयः कफमपकर्षतीत्युच्यते; तथाऽपि प्रथम द्वितीययोरपि पित्तकफापहृत्व-

मस्त्वेव; परं द्वितीयेन पित्तापहरणं, तृतीयेन च कफापहरणं स्थानप्रत्यासत्त्या क्रियति इति। कृत्वा द्वितीयः पित्तं हरति, तृतीयः कफं हरतीति योक्तम्। पित्तकफयोश्च यद्यपि सुखं चिकित्सितं वस्तिर्नहरति, तृतीयः कफं हरतीति चोक्तम् पित्तकफयोश्च यद्यपि सुखं चिकित्सितं बस्तिर्न भवति, तथाऽपि बातावरके वातानुबन्धे वा पित्ते कफे चैतद्वस्ति दानं ज्ञेयम्। उक्तं हि सुश्रुते—"बस्तिर्वाते च पित्ते च कफे रक्ते च शस्यते" (सु० चि० ३५) इति।

चक्रपाणिः।

एकोऽपकर्षत्यनिलमिति। एकशब्दः प्राथम्यवाची न संख्यावचनः, नासहायार्थः, पित्तकफयोरपि पूरणप्रत्ययेनैकैकस्यासहायस्य चेष्टत्वात्। यथाहि, बस्तिदोषसंख्या। न चोभयथाऽज्ञ नियम भेदविकल्पः, भेदोऽपि चादुष्टः। वातहरादिप्रतिनियमेन बस्तिशेषे च चोदनाविरोधप्रसङ्ग। भुक्तमाज्ञान्नपरिणामसर्वं दोषकरत्वोत्तरकालिकविशेषदोषाहरत्वनियमाद्दोषपदम् दोषः दोषविशेष (एवं च कदाचिद्। विकाराभावमापन्ने तद्वददोषः कल्पनान्तरविशेषादिति। यदि च संख्यावचनं तत् उत्तरत्र संख्याभिधानप्रसङ्गस्यात्। तथासहायस्य चेति। द्वौ त्रय इति एवमेवेष्टं स्यात्। तत्र तस्याऽपि ख्यातः प्राधान्य सामान्यार्थस्त्वेकशब्दोऽत्र युक्त एवेति। अवधारणादप्यनिल एवैको न पित्तादिष्विति। अतस्तत्र द्वित्रिचोदनान्न पूरणप्रत्ययार्थः। अवधारणे दोषः स्यान्नतु संख्यावधारणे। एक एवाश्रितो द्वौ त्रयो वेति। एवं च भेदे तर्हि पूरणप्रत्ययाभावः। अन्यविषयकत्वापेक्षया द्वितीयशब्दप्रयोगाभावात् बस्तेस्संख्याश्रयत्वाददोषः। यथाऽत्यत्र द्वितीयः कन्यां वहतीति। वातादिषु कर्मकाल योगसंख्याविरोधः। तर्ह्यन्यथा विकराापेक्षया तद्वचनमिदं तु दोषमात्रापेक्षया। अथवा मासाद्यपेक्षं तदेतत्त्वेकाहापेक्षमित्यदोषः। अपकर्षमपजयः स्वमार्गादिति मार्गशब्दो न सिरादिपर्यायः। सर्वशरीरचरत्वेऽपि वायोः पक्वाशयो विशेषेण वातस्थानं इदं वा बस्तिः पक्वाशयमनुप्रविश्य केवलं वैकारिकं छिनत्तीति पित्तकफस्थानाप्राप्तावति बस्तेवीर्येण तत्प्रशमनमिति। एकोऽनिलं स्वाशयगं निहन्तीति। पाठविकल्पो वा स्वाशयः मलमार्गः। स चामपक्वाशयः स्रोतः पर्यायश्च, गतशब्दश्च स्थानवचनः हन्तीति चापकर्षणं तदेवं मार्गशब्दस्य गतशब्दस्यापकर्षणस्य व्याख्यागम्यत्वादिति केचित। तेषामपि स्वविषये गत्यन्तरमवधार्यम्। यदप्युक्तं—"श्लेष्मस्थानगतः श्लेष्मा पित्तं वा वमनासुखम्।" इति प्रत्येकं प्रत्यागमनस्येष्टत्वादेकवचनम् ॥

जज्जटः।

हि० व्या०—एक निरूह बस्ति का प्रयोग किये जाने पर वह वायु को अपने मार्ग से खींचकर निकालती है, दूसरी निरूहबस्ति पित्तका अपकर्षण करती है। इसी प्रकार तीसरी बस्ति का प्रयोग कफ को अपने स्थान से अपकर्षण का कार्य करती है।

निरूह का प्रयोग किये जाने पर शीघ्र ही ऊंचा सिरहाना लगाकर पीठ के

बल शय्या पर लेट जाना चाहिए। निरूह अपने प्रभाव से सम्पूर्ण शरीर में फैल जाय इसके लिए तन्मय होकर प्रतीक्षा करनी चाहिए। (बस्ति देने पर सम्पूर्ण शरीर की क्रियाओं में सामान्य सा परिवर्तन एवं अवयवों में हलचल सी भी प्रतीत होती है) मलवेग के उपस्थित होने पर शय्या के समीप अथवा शौचालय में जाकर उत्कट आसन से मल त्याग करें। बस्ति के लौट आने का समय एक मुहूर्त (२ घड़ी या ४८ मिनट) है। यदि इतने समय में बस्ति नहीं लौटे तो इसे मृत्युकारक जानना चाहिए। अत: उसे लौटाने के लिए अनुलोमन कराने वाले द्रव्यों के क्वाथ, एरण्ड स्नेह, क्षार, (यवक्षार), मूत्र (गोमूत्र), अम्ल (कांजी), आदि द्रव्यों से बनाया हुआ योग स्निग्ध, तीक्ष्ण और उष्ण गुण युक्त दूसरा निरूह देना चाहिए। इसी प्रकार की तीक्ष्णफलवर्ति का प्रयोग कराना चाहिए। स्वेदन, भय एवं उत्रासन (धमकाना, डांटना) करना चाहिए तथा बस्ति व्यापद् का विचार करके उसी के अनुरूप व्यवस्था (चिकित्सा) कराना चाहिए।

रोगी वय बलानुसारं बस्तिकर्म निर्देशः

व्याध्यातुराग्निभैषज्यबलं प्रकृतिमेव च।
वयः शरीरमौचित्यं सौकुमार्यं सहिष्णुताम्॥
प्रधार्य बुद्धया मतिमांस्तत्कर्माचारणम्॥
अतस्थायामवस्थायां कुर्यात् सम्यगतन्द्रितः॥

का० सं० खि० ८।५७-५८

हि० व्या०—व्याधि, आतुर, अग्नि, औषध, बल, प्रकृति, आयु, शरीर, औचित्य, सुकुमारता तथा सहिष्णुता का विवेकपूर्वक विचार करके, प्रमाद-रहित होकर, उचित रूप से (सम्यक् प्रकार से) उन सभी कर्मों को किया जाय।

निरूहण सम्यग्योग प्रयोजनम्।

दोषौषधादिबलतः सर्वमेतत्प्रमाणयेत्।
सम्यङ्निरूढ़लिंगं तु नासम्भाव्य निवर्तयेत्॥

अ० सं० सू० २८।-

हि० व्या०—आचार्य वाग्भट के अनुसार बस्ति प्रयोग करते समय दोष, औषध एवं रोगी के शरीर बल का विचार कर लेना चाहिए। इन्हीं के अनुसार बस्तिमात्रा निश्चित की जाती है। अर्थात् दोषाधिक्य में, औषध के मृदु होने पर तथा रोगी बलवान् होने पर बस्तिसंख्या अधिक होती है। इसके विपरीत दोष के कम होने पर तथा औषध के तीक्ष्ण होने पर तथा बल सामान्य होने पर मात्रा कम देनी चाहिए। बस्ति देते समय जितनी बस्ति संख्या से

सम्यक् निरूहण के लक्षण उत्पन्न हो उतनी ही बस्तियां देकर कार्य पूर्ण करना चाहिए।

न्यूनाधिक मात्रायां वस्ति प्रयोगे हानि संकेतः।

अल्पमात्रो न (चा) प्येति कृच्छ्राद्वाऽपि निवर्तते।
अतिमात्रोऽतियोगाय तस्मादेते विगर्हिताः॥

का० सं० खि० ६।५८

हि० व्या०—अल्पमात्रा में प्रयुक्त कराई गई बस्ति वापिस लौटकर नहीं आती। अधिक मात्रा में दी गई बस्ति अतियोग के लक्षण उत्पन्न कर देती है अत: पूर्व में बताई गई अति शीत, अत्युष्ण आदि बस्तियां निन्दित बतायी गई है।

अति सान्द्रातिद्रव बस्ति प्रयोगे हानि संकेतः

क्षपयत्यति सान्द्रस्तु न वा नेत्राद्विनिष्क्रमेत्।
अति द्रवोऽल्पवीर्यत्वादयोगायोपपद्यते॥

का० सं० खि० ८।६४

हि० व्या०—अत्यन्त सान्द्र (गाढ़ी) बस्ति शरीर में जाकर स्थिर हो जाती है। अथवा गाढ़ी होने से बस्तिनेत्र से भी बाहर नहीं निकल पाती। अति द्रव बस्ति अल्प वीर्य होने के कारण शरीर में अयोग उत्पन्न करती है। अर्थात् प्रभावहीन होती है या अल्प प्रभाव वाली होती है। अथवा विपरीत प्रभाव भी हो सकता है।

निरूहवस्ति प्रयोगे सावधानता संकेतः।

दतः शनैर्नाशनमेति बस्तिः
कण्ठं प्रधावत्यतिपीडितस्तु।
शीतस्तु विष्टभ्य करोति दाहं-
मूर्च्छाञ्च तापन्त्वतिमात्रमुष्णः॥ वंगसेन

हि० व्या०—बस्ति प्रयोग में अनियमितताओं के परिहार हेतु सावधानियां बताई गई हैं। धीरे-धीरे प्रवेश कराई जाने वाली बस्ति आशय में नहीं जाती तथा अत्यन्त शीघ्रता से दी गई बस्ति कण्ठ में आ जाती है एवं पीडाकर होती है। अत्यन्त शीतल बस्ति विष्टब्धता उत्पन्न करती है एवं अति उष्ण बस्ति दाह, मूर्च्छा एवं सन्ताप को उत्पन्न करती है।

स्निग्धोऽग्निनाशं पवनं विरूक्ष-
स्तथाल्पमात्रोऽलवणस्त्वयोगम्।
करोति मात्राभ्यधिकोऽतिरोगं
क्षामन्तु सांद्रः सुचिरेण चैति॥ वंगसेन

हि० व्या०—स्निग्धबस्ति अग्नि को मन्द करती है, रूक्षबस्ति वात को वृद्धि करती है। अल्प मात्रा में विना लवण के प्रयुक्त कराई गई बस्ति अयोग उत्पन्न करती है। अति मात्रा में प्रयुक्त बस्ति घोर उपद्रव उत्पन्न करती है। दुर्बल व्यक्ति को बहुत गाढ़ी बस्ति प्रयुक्त कराने पर बहुत समय में अपना कार्य सम्पन्न करती है।

दाहातिसारौ लवणोऽतिकुर्य्यात्त-
स्मात्सुयुक्त्या सममेव दद्यात्।
विड्वात वेगं च विधार्य दत्ते
निःकृष्य मुक्ते प्रणयेच्च शेषम्॥ वङ्गसेन

हि० व्या०—बस्ति में लवण का मात्रा से अधिक प्रयोग कराने से दाह, अतिसार आदि उपद्रव हो जाते हैं। अतः युक्ति पूर्वक यथा मात्रा लवण मिलाना चाहिए। बस्ति प्रयोग काल में मल-मूत्र एवं अपानवायु के वेग उत्पन्न हो जाने पर बस्ति को निकालकर उनका निर्हरण करें। तत्पश्चात् शेष बस्ति द्रव को प्रवेश कराना चाहिए।

निरूहस्य अल्पशः प्रयोगः कार्यः। तत्र युक्तिश्च।

निरूहं यदि वा बस्तिं मल्पमल्पं महर्षयः।
प्रशंशन्ति बहु त्वज्ञाः प्रभूतादत्ययो ध्रुवः॥ का० सि० ७।

हि० व्या०—महर्षियों ने कहा है कि निरूह अथवा अन्य बस्तियों के कर्म थोड़ा-थोड़ा करना चाहिए। यही प्रशंसनीय है। अतिमात्रा में अधिक वार करने से उपद्रवों की उत्पत्ति हो जाती है।

निरूहे आवस्थिक चिकित्सा

ज्वरितं दह्यमानं च मूर्छमानं च मानवम्।
शीतैर्मधुरसंयुक्तैर्योजयेत्क्षीरवस्तिभिः॥
यस्याथलवणः कोष्ठे निरूहः पैत्तिकीं रुजाम्।
जनयेत्तत्र पेय्यं स्यान्मधुरेण निरूहणम्॥
निरूहो मधुरोयस्यश्लेष्माणं परिकोपयेत्।
कटुकैश्च कषायैस्तं निरूहेद्यस्य मारुतः॥
प्रकुप्येदधिकं तत्र मारुतघ्नं निरूहणम्।
तस्माल्लवणयुक्तानि द्रव्याणि मधुराणि च॥
भिषग्दद्यान्न शीतानि तथोष्णानिविवेचयेत्।

भे० सि० ७।३२-३५

हि० व्या०—ज्वर, दाह एवं मूर्च्छा से युक्त व्यक्ति को शीत, मधुर, क्षीर-बस्ति का प्रयोग कराना चाहिए। लवण युक्त निरूहबस्ति से यदि कोष्ठ में पीड़ा उत्पन्न हो तो मधुर रस युक्त द्रव्यों से बस्ति देनी चाहिए। मधुर रस

युक्त बस्ति से यदि कफ प्रकोप हो तो कटु रस युक्त औषधियों के क्वाथ से निरूहण कराना चाहिए। यदि निरूहबस्ति से वात प्रकोप हो तो वातघ्न औषधियों के क्वाथ से निरूहण बस्ति देनी चाहिए। इसलिए लवणयुक्त मधुर रस औषधियों तथा शीतल द्रव्य का प्रयोग नहीं कराना चाहिए। तथा उष्ण द्रव्य औषधियों का विचार करना चाहिए।

बस्ति शीघ्र प्रत्यागमन कारण संकेतः

प्राप्ते तु वर्चोनिलमूत्रवेगे
वातेऽतिवृद्धेऽल्पबले गुदे वा।
अत्युष्णतीक्ष्णश्चमृदौ च कोष्ठे
प्रणीतमात्रः पुनरेति बस्तिः॥

च० सि० १।५६-५७

प्राप्ते चेत्यनेन शीघ्रागमनहेतुमाह—वातोऽतिवृद्धे स्नेहो गुदे वातेन प्रतिहत-त्वान्न यात्याशयं, ततः शीघ्रमागच्छति, अल्पबले गुदे स्नेहं धारयितुं न शकनोति पुरुषः, अल्पबलत्वं गुदस्य संवरणी बली दौर्बल्यात्। चक्रपाणिः।

हि० व्या०—यदि मल-मूत्र एवं वायु के वेग उत्पन्न होने पर बस्ति प्रयोग कराया जाय तो वह पुनः बाहर आ जाती है। अथवा वातवृद्धि होने पर या गुदा के अल्पवल होने पर भी यही स्थिति होती है। बस्ति में प्रयुक्त औषध अत्यधिक उष्ण हो, तीक्ष्ण हो तब भी बस्ति शीघ्र लौट आती है।

निरूहणानन्तरं तृतीय चतुर्थ दिनेऽपिस्नेहबस्ति प्रयोगे युक्तिः

पश्चादग्निबलं मत्वा पवनस्य च चेष्टितम्।
अन्नोपस्तम्भिते कोष्ठे स्नेहवस्तिर्विधीयते॥

सु० चि० ३८-१६

निरूहणादनन्तरं तृतीय चतुर्थादावपि दिने बस्तिदानमाह पश्चादित्यादि। पश्चात् सावासनान्निरूहणात्। अग्निबलं दीप्तं बलं वयः शक्त्यनुरूपमुप-लभ्य पवनस्य च चेष्टितं मत्वेति सञ्चालन शब्दकरस्फुणादिकमवधार्य, अन्न-स्वापानेनावष्टब्धे कोष्ठे स्नेहबस्तिरुत्तममात्रारूपः षट् पलः क्रियते। तथा च तन्त्रान्तरं, द्वयहाद्व्यहाच्चतुर्थे पञ्चमे वा दद्यान्निरूहादनुवासनम्, इति। डल्हणः।

हि० व्या०—निरूह के पश्चात् अग्नि, शरीर बल तथा वात क्रियाओं का ज्ञान करके, अहार से अवरुद्ध कोष्ठ होने पर स्नेह बस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

विशेष दशायां विशोधनीयबस्ति प्रयोगनिषेधः

क्षीणक्षतानां न विशोधनीयान्न
शोषिणां नो भृशदुर्बलानाम्।

न मूर्च्छितानां न विशोधितानां
येषां च दोषेषु निबद्धमायुः ॥.

च० सि० १।३७

न मूर्च्छितानां विदधीत बस्तिं ।
येषाञ्च दोषाः पुनरूर्ध्वगाः स्युः ॥

वंगसेन

क्षीणक्षतानां नेतिक्षीणः राजयक्ष्मप्रभृतयोः ज्ञेयाः । विशोधनीयानिति अपकर्षणकारकान् । येषां च दोषेषु निबद्धमायुरिति ये संशोधन (दोष) हरण मात्रेणैव प्राणान् जहति ।

चक्रपाणिः ।

हि० व्या०—विशोधनीय निरूहबस्ति का निषेध - क्षीण एवं उरःक्षत रोग से ग्रस्त (पीडित) राजयक्ष्मा से ग्रस्त, अत्यन्त दुर्बल, मूर्च्छारोग से युक्त, जिनका संशोधन (वमन-विरेचन) कराया गया हो तथा जिन व्यक्तियों में दोष में ही आयु रुकी हो ऐसे व्यक्तियों में विशोधनीय बस्ति का उपयोग नहीं करना चाहिए । अर्थात् शोधन से दोषों का निर्हरण किए जाने से मृत्यु होने का भय रहता है । वंगसेन ने यहां बस्ति शब्द का स्पष्ट उल्लेख किया है तथा दोषों के ऊर्ध्वगत होना भी बताया है ।

आस्थापनबस्ति प्रयोग प्रकारः

बलां गुडूचीं त्रिफलां सरास्नां ।
द्वे पञ्चमूले च पलोन्मितानि ॥
अष्टौफलान्यर्धतुलां च मांसा-
च्छागात् पचेदप्सु चतुर्थशेषम् ।
पूतं यवानी फलबिल्वकुष्ठ-
वचाशताह्वाघनपिप्पलीनाम् ॥
कल्कैर्गुडक्षौद्रघृतैः सतैलै-
र्युतं सुखोष्णैस्तु पिचुप्रमाणैः ।
गुडात् पलं द्विप्रसृतां तु मात्रां,
स्नेहस्य युक्त्या मधु सैन्धवं च ॥
प्रक्षिप्य बस्तौ मथितं खजेन
सुबद्धमुच्छ्वास्य च निर्बलीकम् ।
अङ्गुष्ठमध्येन मुखं पिधाय
नेत्राग्रसंस्थामपनीय वर्तिम् ॥
तैलाक्तगात्रं कृतमूत्रविटकं
नातिक्षुधार्तं शयने मनुष्यम् ।
समेऽथवेषन्नतशीर्षके वा
नास्युच्छ्रिते स्वास्तरणोपपन्ने ॥

सव्येन पार्श्वेन सुखं शयानं
कृत्वर्जुदेहं स्वभुजोपधानम् ।
संकोच्य सव्येतरदस्य सक्थि
वामं प्रसार्य प्रणयेत्ततस्तम् ॥
स्निग्धे गुदे नेत्र चतुर्थभागं
स्निग्धं शनैर्ऋज्वनुपृष्ठवंशम् ।
अकम्पना लेपनलाघवनादीन्
पाण्योर्गुणांश्चापि विदर्शयंस्तम् ॥
प्रपीड्य चैकग्रहणेन दत्तं
नेत्रं शनैरेव ततोऽपकर्षेत् ॥

च० सि० ३।१३-२०, अ० हृ० क० ४।१-३

पलोन्मितत्वमिह त्रिफला पञ्चमूल्योरपि प्रतिद्रव्यम् । फलानीति मदनफलानि, तानि चाकृत्स्नैवाष्टाविह । अत्र बलादीनामौषधानामौत्सर्गिकक्वाथ विधिराऽष्टमदनफलादिकषट्षष्टिपलत्वं "क्वाथः दत्राथसमः" इति वचनाद् बहुक्वाथोभवति, बस्तौ च पुटत्रय दानेऽपि प्रति पुटके दशपलक्वाथदाननियमात् त्रिंशत् पलानि परमुपयुज्यन्ते,—शेषस्तु यद्यपि निष्प्रयोजनस्तथाऽपि महर्षिवचनाद्यावत्प्रमाणयुक्तं तावतैव क्रियमाणः क्वाथोऽत्र गुणवान् भवतीति, तेन न मीमांस्यमेतत्, उक्तं हि—"यथा कुर्वन्ति, स उपायः" (सू० अ० २६) किंवा उपयुक्तक्वाथ्यद्रव्यमानविभागोदाहणार्थमेतदुक्तं, तेन तदनुसारेणोपयुक्तक्वाथ साधनयोग्यमानमेवक्वाथ्यं ग्रहीतव्यम् । यवान्यादीनां प्रत्येकं प्रतिनिरूहं पिचुमानत्वं, पिचु=कर्षः । स्नेहस्येति घृततैलस्य, उक्तत्वात् । एतच्च स्नेहमानं प्रकृतिस्थे पुरुषेवक्ष्यमाणव्यवस्थया ज्ञेयम् । 'युक्त्या मधुसैन्धवे' च इत्यनेन मधुसैन्धवयोः प्रकृत्याद्यपेक्षयाऽनियतं मानं दर्शयति; चकारो मांसरसक्षीरगोमूत्रादीनां चानियतं मानं दर्शयति, एषां च मानव्यवस्थामग्रे कथायमान प्रस्तावे दर्शयिष्यामः । उच्छ्वास्येति उच्छ्वासनेन द्रव्याभिघातजनितवातनिर्गममिच्छति निर्बलीकमिति क्रियाविशेषणम् । नेत्राग्रसंस्थामिति प्रथमं द्रवनिर्गमादिप्रतिषेधार्थं नलिकाग्रमुखदत्तां वर्तिम् । तैलाक्तगात्रमित्यभ्यङ्गसाहचर्यात् स्वेदेऽपि ज्ञेयः तेनाभ्यक्तस्वेदनमित्यर्थः, उक्तं ह्यन्यत्र—"अनुवासितमास्थापयेदभ्यक्तस्विन्नशरीरम्'। (सु० चि० अ० ३८)—इति ।

प्रस्तावागतशयनविधिमाह - शयने मनुष्यमित्यादि । समेऽथवेषन्नतशीर्षके वेति विकल्पद्वयमातुरेच्छया कर्तव्यं, किंवा, उन्नतकटिदेशस्य पुरुषस्य समं, तुच्छकटीकस्योन्नतशीर्षं शयने विधेयम्, एवं हि तयोः सम्यग्वस्तिर्देहानुसारी भवति । सव्येनेति वामेन, वामपार्श्वप्रयोजनं 'वामाश्रयोऽग्निः इत्यादिना वक्ष्यमाणम् । मनुष्यं यथोक्तसर्वगुणं कृत्वा तं प्रणयेदिति सम्बन्धः । स्वभुजोपधानं यथा भवति

तथा शयानं, उपधानं=कन्दुकः ।सव्येतरद् दक्षिणम् । सक्विथ जङ्घा । वामं सक्थि प्रसार्य तदुपरि दक्षिणं सक्थि संकोच्य, विस्तृतसव्यसक्थि संकुचित दक्षिणसक्थीत्यर्थः । स्निग्धे गुदे नेत्र चतुर्थभागमिति कर्णिकावच्छिन्नं सर्वं चतुर्थ भागमिति । अनुपृष्टवंशमिति पृष्ठवंशमनुगतं कृत्वा । अकम्पनेत्यादौ=कम्पनं =चलनं, वेपनं वेपथु, लाघवं=शीघ्रक्रियता, आदिशब्देन बस्तिग्रहणपीडनादि गृह्यते । विदर्शयन्निह संपादयन् । प्रपीड्य चैकग्रहणेन दत्तमित्यनेन विश्रम्य पुनः पीडनं वायुजनकं निषेधयति ।

वलां गुलूचीमिति निरूहद्रव्याणि । लवणमधुस्नेहकल्ककषायावापाः तत्समुदायस्य यौगिकत्वमुपपन्नं वक्ष्यतीति । द्रव्यमात्रावचनं संयोगसंस्कार गुणप्रदर्शनार्थम् । न तु कल्कः कषायो वा अनुक्त इति । सर्व एव निरूहकल्पनायाः प्रत्युपयोजनायमात्रा निर्देशविरोधः चतुर्थभागेपतः 'इति अपां चतुर्भागा' नामेकस्यावस्थानं, चतुर्गुणत्वं पुनष्पोडशभ्यो द्रव्येभ्यः । षोडशपलं प्रस्थ इति । पाराशर्यास्त्वाहुः—

"निरूहस्य प्रमाणं तु प्रस्थः पादोत्तरः परम् ।
मध्यः प्रस्थो निकृष्टस्तु निर्दिष्टः कुडवद्वयम् ।।

(अत्र तत् परिमाणं च) मांसान्तेभ्य इत्यन्ये । निरूहमात्रा समुदायादित्यपरे प्रसृतस्तु मात्रास्नेहस्येति । स्नेहस्चतुर्विधोऽपि सामान्यात् श्रूयते स तु यथादोषमेकोऽत्र न चत्वारोऽपि तत्र च त्रिस्नेहवचनान्मज्जवसयोर्मज्जारहितः)चतुर्विधः । नैतदस्ति "वास्यन्ते त्रिचतुः स्नेहाः पिशितस्य रसाश्शिवा" इति अस्ति प्रसङ्गः । तस्माद्यथादोषमेण स्नेहविकल्पः । प्रकृत्याश्रय इति युक्त्या मधुसैन्धवादीनि ।

आदिग्रहणात् कल्कस्यापि युक्त्या प्रमाणं न कषायादेः । उद्देशेऽपि पादिकमपि मानमुक्तमिति, आदिवचनं वा मधुसैन्धवमादौ दत्त्वेति । भेलादौ चाप्युक्तं —"पूर्वं प्रदद्यान्मधुसैन्धवन्तु स्नेहं विनिर्मथ्यं ततश्च कल्कम् । विमथ्य संयोज्य पुनर्द्रवैश्च बस्तौ निदध्यान्मथितं खजेन ।।" इति मथितं प्रक्षिपेत् खजेनेति वचनं पञ्चाङ्गुलो वा हस्तस्तेन मधुलवणस्नेहकल्कद्रवाणामेकीभावंगमनं पृथक् पृथक् द्रव्याऽवयवावस्थान् प्रतिषेधार्थं, मन्थनादिभिर्गुणाधानं क्रियते इति । मुबद्धमुच्छ्वास्येति वक्ष्येतिः "अनुच्छ्वास्य तु बद्धे वा" (सि० अ० ६) इत्यादिना शूलतोदादीन्" । सर्वमेव रूपं प्रणेतुं नेत्रप्रणयनस्याकारस्य शिक्षाविधानार्थमा नेत्र व्याहत्सिद्धौ तु प्रतिपदं तेषां वचनं तच्च विकारोपशमनाधिकारादिति । मुखं पिधायेति । नेत्रान्तोमुखं नेत्राग्रादि वर्त्यपनयनमुक्तम् असंकुलं प्रवेशार्थं पिधानमन्तरा वस्तिविनिर्गम प्रतिषेधार्थः । क्षुतृष्णाश्रमार्तानां पूर्वोक्तो दोषः स्यादित्यपि निषेधात् ।

निरूहकल्पनप्रणिधानमात्रा सामान्येनाभिहिता । शयने विधिरुच्यते । समेऽथवेषन्नत इति शरीरावस्थानसुखार्थम् । यथा शरीरस्य सुखं भवतीति । भोजनाप्युक्तम्—"उपविष्टोऽथवा तिर्यक् शरीरसुखसंस्थितः ।।" कस्यचित् कथं चित्सुखं भवतीति समशीर्षमेव नतशीर्षकं चेति । निरूहदष्यादिव्याप्त्यर्थं च, सव्येन वामेन तत्प्रयोजनं वक्ष्यति—वामश्चियोऽग्निरिति । खट्वाया रचनाविन्यासोऽयमुक्तः । कथं पुनस्तत्र शयितव्यम् । सव्येन पार्श्वेन सुखं शयानमिति सव्यं मस्तकं सव्येन पाणिना (सोपधानं कृत्वापरेण नाभिमृश्य । व्यापारनियमो अधीतः । सुखमसंकुचितोऽनुत्तानतो वा । दुःखदक्षिणपार्श्वशयनं निषेधेनाह । रचनाविक्षेपः उभयोरपि शयने विधिरयमिति । नेत्रप्रणिधानं स्निग्धे गुदे नेत्र चातुर्भागमिति । यद्यपि च (यथावयः कर्णिको) पदेशस्तथापि । न्यूनप्रतिषेधार्थमुक्तम् । अकम्पनं शरीरस्य अवेपनम् । मनसस्साध्वसप्रतिषेधार्थं मनौनु विधानात् । पाण्योर्गुणः, कम्पनं प्रचलनं वेपनमसंश्लेषं तत्व प्रतिषेधेन वा भेदाः लाघवाद्याश्शीर्ष (तएवोक्ताः । प्रपीड्य च) एक ग्रहणेनेति । स्थित्वा स्थित्वा पुनरर्धार्धं प्रपीडन प्रतिषेधः । तिर्यक्प्रणयनविषमप्रणयनं यत्तदुक्तम्, इह तु पुनः पाणिगुणनिर्देशाधिकाराद्वक्ष्यमाणप्रणेत् दोषास्सवातातिद्रुतोत्क्लिष्टादय उद्भाव्यन्ते । तदाधिक्येन वर्जनीयत्वाच्चेहाभिधानमेषामिति ।। जज्जटः ।

अथानुवासितमाश्वापयेत; स्वभ्यक्तस्विन्नशरीरमुत्सृष्ट बहिर्वेगमवाते शुचौ वेश्मनि मध्याह्ने प्रततायां शय्यायामधः सुपरिग्रहायां श्रोणिप्रदेश प्रतिव्यूढायामनुपधानायां वामपार्श्वशायिनमाकुञ्चितदक्षिणसक्थियमितरप्रसारितसक्थिं सुमनसं जीर्णान्नं वाग्यतं सुनिषण्णदेहं विदित्वा, ततो वाम पादस्योपरि नेत्रं कृत्वेतरपादाङ्गुष्ठाङ्गुलिभ्यां कर्णिकामुपरि निष्पीड्य, सव्यपाणिकनिष्ठिकानामिकाभ्यां बस्तेर्मुखार्धं सङ्कोच्य, मध्यमाप्रदेशिन्यङ्गुष्ठैरर्धं तु विवृताश्यं कृत्वा, वस्तावौषधं प्रक्षिप्य, दक्षिणहस्ताङ्गुष्ठेन प्रदेशिनीमध्यमाभ्यां चानुसिक्तमनायतमवुद्बुदमसंकुचितमवातमौषधसन्नमुपसंगृह्य, पुनरुपरि तदितरेण गृहीत्वा दक्षिणनावसिञ्चेत् ततः सूत्रेणौषधान्ते द्विस्त्रिर्वाऽऽवेष्ट्य बध्नीयात्, अथ दक्षिणेनोत्तानेन पाणिना गृहीत्वा वामहस्तमध्यमाङ्गुलिप्रदेशिनीभ्यां नेत्रमुपसंगृह्याङ्गुष्ठेन नेत्र द्वारं पिधाय, घृताभ्यक्ताग्रनेत्रंघृताक्तमुपादाय प्रयच्छेदनुपृष्ठवंशं समभुन्मुखमाकर्णिकंनेत्रं प्रणिधत्स्वेति ब्रूयात् ।

वस्तिं सव्ये करे कृत्वा दक्षिणेनावपीडयेत् ।
एकेनैवावपीडेन न द्रुतं न विलम्बितम् ।।

सु० चि० ३८।३-४

अनुक्रमप्रणयनसंबन्धं दर्शयन्नाह अथानुवासितमित्यादि । अनुवासितं दत्तानुवासनं स्निग्धस्रोतोमार्गतया सुखमेव दोषनिर्हरणार्थमास्थापयेत् । निरूहस्य प्रणिधान विधानमाह—स्वभ्यक्तमित्यादि । उत्सृष्टबहिर्वेगं त्यक्ताविण्मूत्रादि-

कम् । प्रततायां शय्यायां स्तब्धायां, विस्तीर्णायामिति केचित् । अधः सुपरिगृहीतायां पादतलयोः शोभनप्रतिवाहकायाम् । श्रोणिप्रदेशव्यूढायां कटिप्रदेशविशालायां, व्यूढायां शोभनोन्नतायामिति केचिद् व्याख्यानयन्ति । अनुपधानायाम् अनुपशीर्षकायाम् । सुनिपण्णदेहं शोभनं विश्रान्तशरीरम् । सव्यपाणिः वामकरः औषधं प्रक्षिप्य उपसंग्रहणेन क्रियाविशेषेण । अनुत्सिक्तमूर्ध्वंक्षरणरहितं यथा भवति तथा सिक्तम् अनायतम् अनतिदीर्घं (अचिरात् प्रवृत्तम) । अबुद्बुदं बुद्बुद् रहितम् । असङ्क्षुभितं वस्तुसंचरणक्षमम् । अवातम् औषधदानेन निस्सारितवातम् एवं दक्षिणहस्ताङ्गुष्ठेन प्रदेशिनीमध्यमाभ्यां चौषधान्त मुपसंगृह्य पुनर्दक्षिणहस्तोपगृहीतोपरि तदितरेण वामकरेण गृहीत्वा, दक्षिणौषधान्ते सूत्रेण द्विस्त्रिर्वाऽऽवेष्ट्य बध्नीयात् । आकर्णिकं कर्णिकां मर्यादीकृत्य नेत्रं प्रणिधत्स्व प्रवेशयेति आतुरं प्रतिभिषग् ब्रूयादिति संबन्धः । डल्हणः ।

आस्थापनबस्ति प्रयोग प्रकारः ।

अथास्थापनीयमातुरं स्नेहस्वेदोपपन्नं कृतवमन विरेकमासेवितपेयादि संसर्ग क्रममुपजातबलमनुवासनार्हं पूर्वमेवानुवासयेत् शीतवसन्तयोर्दिवा अन्यथा रात्रावपेक्ष्य वा दोषादीन् अन्यथा हि स्नेहोक्तामय प्रादुर्भावः ।

अ० सं० सू० २८।

य आतुर आस्थापनीयस्तमादावनुवासयेत् । किंभूतमित्याह । स्नेहेत्यादि अनुवासनार्हमित्यनेनेतदर्शयति । दोषव्याध्यपेक्षया कदाचिदकृतानुवासन एवास्थाप्य इति । कस्मिन् कालेऽनुवासयेदित्याह । शीते वसन्ते च दिवानुवासयेत् । अन्यत्र ग्रीष्मादिषु रात्राविति । अथवा दोषदूष्या आतुरादीनवेक्ष्य रात्रौ दिवा वा । अन्यथा शीतवसन्तयोः रात्रावनुवासनेन ग्रीष्म शरदोश्च दिवानुवासनेन । एषु कालेषु स्नेहपाने स्नेहविधौ य आमया उक्ताः तेषां प्रादुर्भावः । इन्दुः ।

निरूहबस्ति प्रयोगात् प्राक् कर्तव्यानां कर्मणां वर्णनम् ।

आस्थाप्यं स्नेहितं स्विन्नं शुद्धं लब्धबलं पुनः ।
अन्वासनार्हं विज्ञाय पूर्वमेवाऽनुवासयेत् ॥
शीते वसंते च दिवा रात्रौ केचित्ततोऽन्यथा ।
अभ्यक्तस्नातमुचितात्पादहीनं हितं लघु ॥
अस्निग्धरूक्षमशितं सानुपानं द्रवादि च ॥
कृतचंक्रमणं मुक्तविण्मूत्रं शयने सुखे ॥
नात्युच्छ्रिते न चोच्छीर्षे संविष्टं वामपार्श्वतः ।
संकोच्य दक्षिणं सक्थि प्रसार्य च ततोऽपरम् ॥

अ० हृ० सू० अ० १६

आस्थाप्यं निरूहणार्थं स्निग्धं तथा स्विन्नं तथा शुद्ध मूर्ध्वाधस्तथा भूयोऽपि लब्धबलं तथाऽनुवासनयोग्यं विदित्वा पूर्वमेव निरूहादनुवासयेत् । शीते हेमंत-

शिशिरयोर्ऋत्वोस्तथा वसंते दिवाऽनुवासयेत् । केचिदाचार्या अन्यथा शीताद्वसंताच्चाऽन्यस्मिन् ग्रीष्मप्रावृट्शरदाख्ये ऋतौ रात्रावनुवासयेत् । केचिदिति भिन्न क्रमस्ततोऽन्यदेत्यतोऽनन्तरं द्रष्टव्यः इति केचिदांहुरिति वाक्यशेषः । धान्वन्तरास्तु सर्वर्तवे रात्रावनुवासनं नेच्छंति । धन्वन्तरिमतमधिकृत्य संग्रहेऽधिजगे । न रात्रौ प्रणयेद्वस्तिं दोषोत्क्लेशो हि रात्रिजः । स्नेहो वीर्ययुतः कुर्यादाध्मानं गौरवं ज्वरमिति । तदेवं तद्देशान्तरादिवशात् प्रमाणयितव्यम् किं भूतं नरम् । अभ्यक्तस्नातं पूर्वमभ्यक्तः पश्चात्स्नातः ।

पूर्वकालेति समासः । उचिताद्यदन्नेन भोजनमभ्यस्तं तस्माच्चतुर्थभागहीनमशितं तथा हितं लघुगुणयुक्तं तथा किंचिदस्निग्धरूक्षं तथा सानुपानं द्रवादि च । आदिशब्देन द्रवोष्णमनभिष्यंदीत्यादि विशिष्टं भुक्तवंतमिति गमयति उक्तं च संग्रहे । अतिस्निग्धाशिनो ह्यु भयमार्गात् स्नेहो मदमूर्च्छाऽग्निसादहृल्लासादीन जनयति । रूक्षाशिनो विष्टंभं बलवर्णहानिं च । अल्पमात्रद्रवाशिनोऽविसृष्टविण्मूत्रस्य चान्नावृतेन तदवरणाद्व्यापदमिति । किं भूतम् । कृतचंक्रमणं तथा त्यक्त मूत्रपुरीषं तथा शयने सुखावहे संविष्टं स्थितम् । किं भूते नात्युच्छ्रिते नात्युन्नते न चोच्छीर्षे त्यक्तोच्छीर्षे । कथं संविष्टम् । वामपार्श्वतो वामपार्श्वेन संकोच्य दक्षिणं सक्थि वामसक्थ्न उपरीति वृद्धवैद्याः । ततो दक्षिण सक्थ्नोऽपरं वामं सक्थि प्रसार्य । संग्रहे चोक्तम् । शयने नात्युच्छ्रिते स्वास्तृत ईषदुन्नतपाद देशे वामपार्श्वेन प्राक्शिरसं संवेशयेदिति । अरुणदत्तः ।

कास्थापनीय अस्थाप्यः आस्थापन योग्यः । तमास्थाप्यं स्नेहितं स्विन्नमादौ स्नेहित पश्चात्स्नेहितं पश्चात्तथा शुद्धं वमनविरेचनाभ्यां लब्धबलं प्राप्तबलमन्वासनयोग्यं पुरुषं विज्ञाय ततः पूर्वमेव कृतास्थापनमनुवासयेत् । शीते काले शीतसामान्याद्धेमंते शिशिरे तयोस्तथा वसन्ते दिवाऽनुवासयेत् । ततोऽन्यदाऽन्यस्मिन् काले वर्षाशरद्ग्रीष्मारख्ये रात्रावनुवासयेत् । इति केचिदाचार्याः । आदावभ्यक्तं पश्चात् स्नातमातुरमुचितादभ्यस्तात्पादहीनं चतुर्भागन्यूनमस्निग्धरूक्षसाधारणम् । अशितं भुक्तवन्तं सानुपानं तथा द्रवादि द्रवपूर्वं तथा कृत चङ्क्रमणं मुक्तविण्मूत्रमूत्सृष्टशकृन्मलं निवाते वेश्मनि शयने नात्युच्छ्रिते नचोच्छीर्षे ईषदुन्नतपादशेषे वा वामपार्श्वेन संनिविष्टं मुक्तप्राक्शिरसं दक्षिणं सक्थि सङ्कोच्य परं वामं सक्थि प्रसार्यैवंविधं संस्थाप्यास्थाप्य । चंद्रनन्दनः ।

निरूहस्यानुवासनमाह- आस्थाप्यमिति । कृतस्नेहादिक - मास्थाप्यमनुवासनयोग्यत्वे सति पूर्वमनुवासयेत् । अनुवासनकालमाहशीत इति । शीते वसंते ततोऽन्यदा च दिवा अनुवासयेत् । केचित्ततोऽन्यदा रात्राविति वदंति । संग्रहे तु अवेक्ष्य वा दोषादीन् अन्यथा स्नेहोक्तामयप्रादुर्भावः । धन्वंतरीयाः पुनः प्राहुः—"न रात्रौ प्रणयेद्बस्तिं दोषोत्क्लेशो हि रात्रिजः । स्नेहवीर्ययुतः कुर्यादाध्मानं गौरवं ज्वरम् ॥ अह्निस्थानस्थिते दोषे वह्नौ चान्नरसान्विते । स्फुटस्रो-

तोमुखं देहं स्नेहो यः परिसर्पति ॥ अल्पपित्तकफं रूक्षं भृशं वातरुजार्दितम्। भुक्तं जीर्णशनं कामं रात्रावप्यनुवासयेत् ॥" केवलानिलातिपीडितं त्वशुद्धमप्यनिरूपितकेवलमप्यनुवासयेदात्ययिकत्वादिति। अनुवासनीयस्य पूर्वकर्तव्यमाह—अभ्यक्तेति। उचितान्नित्यभोजनात्पादहीनमशितं द्रवादिद्रवपूर्णं न चोच्छीर्षे उच्छीर्षकं विना॥ हेमाद्रिः।

आस्थाप्यमिति ॥ आस्थाप्यं स्नेहितं स्विन्नं शुद्धं पुनर्लब्धबलमन्वासनार्हं विज्ञाय पूर्वमनुवासयेदेव इति। आस्थापनार्हं पुरुषं कृत स्वेदस्नेहमनुष्ठितवमनविरेचनमाचरितपेयादिक्रमेण भूयोपि लब्धबलम्, अन्वासनयोग्यो न वेत्ति निरूप्यान्वासनयोग्यत्वं निर्णीय निरूहात् पूर्वमनुवासयेदेव। न निरूहयेदित्येवशब्दार्थः। अन्वासनार्हमित्यनेन दोषव्याध्यपेक्षयान्वासनानर्हस्त्वकृतान्वासन एवास्थाप्य इत्युक्तम्। अकृतान्वासस्य निरूहेणातिशयेन वातकोपभयरक्षार्थमुत्क्लेशनार्थं च निरूहात् पूर्वं स्नेहवस्तेः करणीयत्वम्। केचिच्छीते वसन्ते च दिवानुवासयेत् ततोन्यदा रात्रावनुवासयेदित्याहुः। केचिदाचार्या हेमन्तशिशिरयोर्वसन्ते च अहन्यनुवासनं कार्यं ततोन्यस्मिन्नृतुत्रये रात्रावन्वासनं कार्यमिति वदन्ति। तेन सर्वर्तुषु दिवैवानुवासनं कार्यमिति स्वपक्षः॥ अभ्यक्तमिति॥ अभ्यक्तस्नातं कुर्यात्। वस्तियोग्यं रोगिणं तद्दिने तद्योग्यस्नेहेनाभ्यज्य स्नापयेदित्यर्थः। पुनर्हितादिगुणमन्नमुचितादभ्यस्तात् पादहीनं चतुर्थांशहीनं कृत्वा अशित भुक्तवन्तं कुर्यात्। पुनः कृतचंक्रमणं शनैश्शनैरत इतोनुष्ठित पादसञ्चरणं तत्काले पुनरप्युत्सृष्टमूत्रपुरीषं च कुर्यात्। पुनर्नात्युच्छ्रिते नोच्छीर्षे च सुखे शयने दक्षिणं सक्थि संकोच्य ततोऽवरं वामं सक्थि प्रसार्य च स्वबाहुप्रधान वामपार्श्वेन संविष्टं सवेशितं कुर्यात्। नात्युच्छ्रिते नात्युन्नते जानुतुल्यतयोच्च एवेत्यर्थः। नोच्छीर्षे अनुन्नतशिरोभागे च। अर्थात् किञ्चिदुन्नतपाददेशे चेति। वामपार्श्वेसंविष्टस्यैव तत्पार्श्वाश्रयाणि ग्रहणीगुद वलीमुखानि निम्नानि भवन्ति। अतस्तदौषधमस्खलितमाप्नोति प्रवेशनिर्गमाविति वामपार्श्वसवेशनफलम् ॥ परमेश्वरः

निरूहबस्तिः प्रयोग प्राक्कर्म संकेतः।
पंचमेऽथ तृतीये दिवसे साधके शुभे।
मध्याह्ने किंचिदावृत्ते प्रयुक्ते बलिमंगले॥
अभ्यक्तस्वेदितोत्सृष्टमलं नातिबुभुक्षितम्।
अवेक्ष्यं पुरुषं दोषभेषजादीनि चादरात्
बस्तिं प्रकल्पयेद्वैद्यस्तद्विद्यैर्बहुभिः सह॥

अ० हृ० सू० अ० १६

अथानुवासनादनंतरं तृतीये पंचमे वा वासरे मध्याह्ने किंचिदावृत्तेऽतिक्रांते तथा बलिमंगले विहिते सति पुरुषं कृताभ्यक्तस्वेदितं त्यक्तमलं किंचिदबुभुक्षितं

तथा प्रकृत्यादिभिर्ज्ञात्वा दोषादीन् विदित्वा। आदिशब्देन सात्म्यबलादिपरिग्रहः। इत्येवं सर्वमधिगत्य वैद्यो बस्तिं प्रकल्पयेत्। ननु दूष्यं देशमित्यादिना सर्वमुक्तमेवैतत्किमनेनेति। ब्रूमः निरूहमपि सापायं पश्यताचार्येणैतदुक्तम्। दुष्यदेशादि महता यत्नेनाऽऽलोचनीयमिति प्रतिपादनार्थं निरूहमात्रा प्रथममित्यादि सर्वमालोच्यम्। कथं प्रकल्पयेदित्याह। तद्विद्यैर्वैद्यकशास्त्रज्ञैर्बहुभिः सह सार्धम्। अरुणदत्तः।

अथ स्नेहवस्तेरनन्तरं पञ्चमे दिवसे तृतीये वा दिवसे साधके प्रशस्ततिथिकरणमुहूर्तनक्षत्रे शुभे पुण्येऽहनि किञ्चिदावृत्ते सपरिवृत्ते मध्याह्ने दिनमध्यमे भागे प्रयुक्ते कृतबलिमङ्गले उपहारमाङ्गल्ये स्वस्त्ययनादिके सति। निरूहबस्तिं प्रकल्पयेत्। तद्विद्यैर्बस्तिविधानविद्भिः बहुभिः प्रभूतैः सहालोच्य तथा पुरुषमवेक्ष्य ज्ञात्वा। किंभूतम्। अभ्यक्तस्वेदितोत्सृष्टमल्पमभ्यक्तस्वेदितं कृतशकृन्मूत्रम्। नातिबुभुक्षितं नातिक्षुधाक्रान्तम्। नातिदोषभेषजादीनि चादरात् अतिशयात् प्रयत्नेनाद्यबस्तिं प्रकल्पयेत्। चंद्रनन्दनः।

निरूहविधिमाह—पञ्चम इति। अन्त्यानुवासनदिनात्तृतीये पंचमे वा साधके ज्योतिः शास्त्रोक्ते शुभे अशौचादिरहिते अवेक्ष्य ज्ञात्वा तद्विद्यैर्बस्तिकुशलः। संग्रहे तु आर्यावलोकितं नाथमार्यां तारामात्मभुवं धातारमश्विनाविंद्रभात्रेयं सप्तर्षीन् काश्यपविदेहप्रभृतीनाग्निवेषादीश्च तन्त्रकारान् दीपगंधपुष्पफलबलिधूपैर्यज्ञ इव प्रकल्पितभागान् कृत्वा ओषधीर्वृत्तवैद्यान् द्विजातींश्च संपूज्य तद्विधसहितो दोषौषधादिबलेन यथार्हमुपकल्पयेद्वस्तिमिति।

हेमाद्रिः।

पञ्चम इत्यादि ॥ अथानुवासनादनन्तरम्। अथशब्दो मङ्गलार्थो वा। अन्वासनस्य पञ्चमे तृतीये वा दिवसे। साधके नक्षत्रे आतुरजन्मनक्षत्रस्य षष्ठे साधके वा फलस्यानुकूले नक्षत्र इत्यर्थः। मध्याह्ने किञ्चिदावृते अतिक्रान्त इत्यर्थ.। बलिमङ्गले विहिते सति। बलिरन्नमांसादिभिर्विघ्नशान्त्यर्थः। मङ्गलं स्वस्त्ययनादिकम्। पुरुषमभ्यक्तस्वेदितं त्यक्तमलमीषत्सञ्जातबुभुक्षं प्रकृत्यादिभिर्ज्ञात्वा दोषभेषजादीनि च विदित्वा। आदिशब्देन देशकालबलसात्म्यादयो गृह्यन्ते। इत्येवं सर्वमवगम्य वैद्यो वस्तिं प्रकल्पयेत्। तद्विद्यैरिति—तच्छब्देन वस्तिः परामृश्येत। वस्तिविद्भिर्बहुभिर्वैद्यैरमत्सरैस्सह कल्पयेत्। "दूष्यन्तदेश" मित्यादिना सिद्धेपि पुनरपि दोषादीनवेक्ष्येत्युक्तम्, निरूहस्य सापायत्वादतिमहता यत्नेनात्रालोचनीयमिति प्रतिपादनार्थम् ॥ परमेश्वरः

उत्सृष्टानिलविण्मूत्र स्निग्धस्विन्नमभोजिनम्।
मध्याह्ने गृहमध्ये च यथायोग्यंनिरूहयेत्॥
स्नेहवस्ति विधानेन बुधः कुर्यान्निरूहणम्॥

शा० उ० ६।१८

उत्सृष्टं परित्यक्तं वातमूत्रपुरीषं येन । स्निग्धं कृतस्नेहनं । स्विन्नं स्वेदितम् । अभोजितमकृतभोजनं । मध्याह्नेति तस्योचितकालत्वख्यापनार्थम् । गृहमध्ये इति वातातपरजोदोषादिनिरासार्थम् । आढ़मल्लः ।

तस्यविधिर्वमनादधिकतरं कृतमंगलमनुसुखमभ्यक्तमुष्णाम्बुस्नातं युक्तस्नेहमुचितात्पादहीनं द्रवपूर्णं लघुष्णं सानुपानमशनमशितवन्तं कृत चंक्रमणमुत्सृष्टविण्मूत्रमनार्द्रहस्तमशंकनीय परिवारं निवाते वेश्मनि प्रतते शयने नात्युच्छ्रिते स्वास्तृत ईषदुन्नत पाददेशे वामपार्श्वेन प्राक् शिरसं संवेशयेत् ।

अ० सं० सू० २८।

सर्वाणि चैकध्यमुष्णोदक कुम्भीवाष्पाभितप्तानि खजमथितानि वस्तौ प्रक्षिप्यानुवासनवन्निरूहं प्रणयेन्नात्युष्णशीतं नातिमृदुतीक्ष्णं नातिस्निग्धरूक्षं नातितनुसान्द्रं न हीनातिमात्रं नालवणाति लवणं नात्यम्लं च । तत्र वाष्पानुतापादोषघस्य विदाहो न भवति । खज प्रमथनात्तु क्वाथस्नेहादयः सम्यक् संप्रयुक्ताः सम्यगेव योगमारभते । अन्यथा पुनः क्वाथादीनांमुल्वणोऽन्यतमोऽन्यतमं यथास्वं दोषमुदीरयेत् । अत्युष्णादीनां तु पृथग्व्यापदः साधनानि च सिद्धिपुत्तरकालमुपदेक्ष्यते ॥

अ० सं० सू० २८।

तिर्यक् प्रणीते हि न यातिधारा
गुदे व्रणः स्याच्चलिते च नेत्रे ।
दत्तः शनैर्नाशयमेति वस्तिः
कण्ठं प्रधावेदतिपीडितस्तु ॥
स्तम्भं विधत्तेऽतिमृदुर्हिमश्च
तप्ताम्लतीक्ष्णो भ्रमदाह मोहान् ।
स्निग्धोऽति जाड्यं पवनं तु रूक्ष–
स्तन्वल्पमात्रालवणस्त्वयोगम् ॥
करोति मात्राभ्यधिकोऽति योगं
क्षोभन्तु सान्द्रः सुचिरेण चैति ।
दाहातिसारौ लवणोऽति कुर्यात्तस्मात्सुयुक्तं सममेव दद्यात् ॥

—अ० सं० सू० २८।

तैलाक्तगात्रं कृत मूत्रविट्कं
नाति क्षुधार्तं शयने मनुष्यम् ।
समे सुदेशे नत शीर्षकञ्च
नात्युच्छ्रितो नास्तरणोपपन्ने ॥
सव्येन पार्श्वेन सुखं शयानं
कृत्वर्जु देहञ्च भुजोपपन्नम् ।
निष्कुंच्य सव्येतरमस्य सक्थि

वामं प्रसार्य्य प्रणयेच्च बस्तिम् ॥
स्निग्धे गुदे नेत्र चतुर्थभागं
स्निग्धं शनैरक्षित पृष्ठवंशम् ।
अकम्पनावेपन लाघवाद्यैः
पाण्यौगुणांश्चापि हि दर्शयद्भिः ॥
प्रपीड्य चैक ग्रहणेन दत्तं
नेत्रं शनैरेव ततोऽपकर्षेत् ।
तिर्य्यक् प्रणीते न गता च धारा
गुदं प्रणश्येच्चलिते च नेत्रे ॥

वंगसेन

कृतचङ्क्रमणं मुक्त—विण्मूत्रं शयने सुखे ।
नात्युच्छ्रिते न चोच्छीर्षे संविष्टं वामपार्श्वतः ॥
सङ्कोच्य दक्षिणं सक्थि प्रसार्य्यं च ततोपरम्
बस्तिं सव्ये करे कृत्वा दक्षिणेनावपीडयेत् ।
तथाऽस्य नेत्रं प्रणयेत् स्निग्धे स्निग्धमुखं गुदे
उच्छ्वास्य बस्तेर्वदनं बद्धा हस्तमकम्पयन् ।
पृष्ठवंशं प्रति ततो नातिद्रुतविलम्बितम् ॥
नाति वेगं न वा मन्दं सकृदेव प्रपीडयेत् ।
सावशेषं प्रकुर्वीत वायुः शेषे हि तिष्ठति ॥
निरूहदानेऽपि विधिरयमेव समीरितः ।

चक्रदत्तः

इदनीं किम्भूतस्य तदनुवासनं देयम्? इत्याह कृतेत्यादि । शयने इति शय्यायाम् । वामपार्श्वत इति वामपार्श्वेन, संविष्टं सुप्तम् । वामपार्श्वे शयनप्रयोजनञ्च चरकेनोक्तं यथा – "वामाश्रयोऽग्निग्रहणी गुदञ्च तत्पार्श्वसंस्थस्य सुखोपलब्धिः । लीयन्त एवं बलयश्च तस्मात् सव्यं शयानोऽर्हति बस्तिदानम्" (सि० बस्तिसूत्रीय) इतिवामे । वस्तिमितिबद्धचर्मपुटाहितस्नेहयुक्तं नेत्रमेव । दक्षिणेनेतिदक्षहस्तेन । उच्छ्वास्य, बस्तेर्वदनं बद्धेति—वस्तेश्चर्मपुटकस्य मुखम्, उच्छ्वास्य उद्घाट्य पश्चात् बद्धेत्यर्थः । वस्तिमुखोच्छ्वासनञ्च द्रवाभिघातजनिवातस्य निर्गमनार्थम् ।

"उच्छ्वास्य वस्तेर्वदनं निबद्धः" इति पाठः । पृष्ठवंशं प्रतीति पृष्ठवंशं लक्षीकृत्य, तेन पृष्ठवंशानुसारेण ऋजु यथा स्यात् तथा नेत्रं प्रणयेदित्यर्थः । चरकेऽपि "ऋजुपृष्ठवंशं" (सि० वस्तिसूत्रीय०) इत्युक्तम् । सकृतिति—एकवार मेव । वस्ति पुटकान्तरगत द्रवभागस्तु न निःशेषो देय इत्याह, सावशेषमित्यादि । वायु शेषे हि तिष्ठति इति निः शेषदाने हि पुटकान्तर्गतो वायुगुदं प्रविश्य बस्तिमाध्मापयेदिति भावः इदानीमुक्तानुवासनदान विधि निरूहेऽप्यतिदिशति, निरूहदानेऽपीत्यादि ।

शिवदाससेन ।

... ... सर्वं तदेकतः ।
उष्णांबुकुंभीवाष्पेण तप्तं खजसमाहतम् ॥
प्रक्षाल्य बस्तौ प्रणयेत्पायौ नात्युष्णशीतलम् ।
नाऽतिस्निग्धं न वा रूक्षं नाऽतितीक्ष्णं नवामृदु ॥
नात्यच्छसांद्रं नोनाऽतिमात्रं नाऽप्टुनाऽति च ।
लवणं तद्वदम्लं च ।

—अ० हृ० सू० १९।३२

तदेतत्सर्वमौषधमेकत एकस्मिन्कृत्वा भेषजपाकातिक्रांतिपरिहरार्थमुष्णां-कुंभीवाष्पेण तप्तं खजेन दर्व्या हनन काष्ठेन समाहृतमालोडितं तथा ब्रह्मदक्षे-त्यादिना चाऽभिमन्त्रितं बस्तौ प्रक्षिप्य पायौ गुदे प्रणयेत् । नाऽत्युष्णं नाऽतिशा-तं नाऽतिस्निग्धं न वा रूक्षं नाऽतितीक्ष्णं न वा मृदु नाऽत्यच्छं नाऽतिसांद्रं नाऽतिघनं नोनमात्रं न चाऽतिमात्रं नाऽप्टु नाऽतिलवणं तद्वदम्लं चेत्यादिना नाऽत्यम्लम् । अतिशब्द प्रयोगादत्र मध्यमावस्थानुगमः । अरुणदत्तः ।

नाति शीतं न चात्युष्णं नातितीक्ष्णं न चेतरम् ।
नाति रूक्षमतिस्निग्धं नाति सान्द्रं न च द्रवम् ॥
नातिमात्रं न चात्यल्पं निरूहमुपकल्पयेत् ।

—का० सं० खि० ८।

स्नेहवस्ति विधानेन बुधः कुर्यान्निरूहणम् । भाव प्र० ।

चतुरङ्गुला वेणुमयीं नाडीं प्रतिलक्षणं कृत्वा तया बस्तिप्रतिकर्म कुर्य्यात् ।

नाति चोष्णे च काले च न शीते न च भोजिते ।
न च निद्रालौ मूत्रार्ते विष्ठार्त्ते न च वेदभाक् ॥
निरूहं बस्तिकर्म च कारयेत्तं नरस्य च ॥

आदौमूत्र विष्ठोत्सर्गं कृत्वा गुदं प्रक्षाल्य नातिशिथिलशय्यायां वामाङ्के ामपादं दक्षिणाङ्के दक्षिणपादं च सङ्कोच्य जंघोपरि संस्थाप्य गुदाभ्यन्तरं द्वय-ङ्गुलमात्रां नाड़ीं संचारयेत्सुधीः । ततः शनैः शनैर्वस्तिं निष्पीड्य द्विपलपरिमित लेन निरूहं कुर्यात् । निरूहान्तरं शनैः शनैरुत्तानं शाययित्वा ऊर्ध्वीकृत्वा च श्चात्संकोच्य पाणिभिः पञ्चवारान्स्फिक्पिण्डास्त्रोटयेत । ततः स्वस्थं कृत्वा णेनापि आमाशयं मलस्थानं बोधयति । बस्त्युदरवातान्दोषान्निवारयति । ण्डितास्तं बस्तिनिरूहं तद्वस्तिकर्म च विदुः ॥ हा० सं० चि० ३।

अनुवासनवस्तेरनन्तरमास्थापनदान विधिमाह

अथैनं तृतीये पंचमे वाऽहनि किञ्चिदावृत्ते मध्याह्ने कृतमंगल स्वस्त्ययन भ्यक्त देहं स्वेदितमुत्सृष्टमलमनाशितं नातिक्षुधितेमवेत्यातुरमार्यावलोकितं यमार्यतारामात्मभुवं धातारमश्विनाविन्द्रमात्रेयं सप्तमुनीन्काशिविदेहपति भृतीनग्निवेश्यादींश्च तन्त्रकारान्दीपगन्धपुष्पफलवलिधूपैर्यज्ञ इव प्रकल्पितभा-

गान् कृत्वौषधि वृद्धवैद्य द्विजातींश्च संपूज्य तद्विद्यसहितो दोषौषधादिवलेन यथार्हमुपकल्पयेद्वस्तिम् ।

अ० सं० सू० २८।३५

अनुवासितमभ्यक्तं स्विन्नं स्नेहैर्निरूहयेत् ।
अनुवासनस्निग्धतनुं तृतीयेह्नि निरूहयेत् ॥
मध्याह्ने किञ्चिदावृत्ते निरूहन्तु समाचरेत् ।
सव्यं प्रसारयेत् सक्थि दक्षिणञ्चोपकुञ्चयेत् ॥
मध्याह्ने सुमनाः जीर्णे निरन्नो वाग्यतो नरः ।
बस्तिं सव्ये करे कृत्वा दक्षिणेनावपीडयेत् ॥
एकेनैवावपीडेन न द्रुतं न विलम्बितम् ॥ वंगसेन

चतुर्षु त्रिषु वा वैद्यो यावद्वा स्निग्धता पुनः ।
स्नेहवस्तिषु दत्तेषु कुर्यादास्थापनं ततः ॥
आर्द्रीकृतेषु स्रोतस्सु स्नेहेन विहितेन च ।
शुद्धये स्रोतसां दद्यान्निरूहान्युक्ततः सुखम् ॥
अशुद्धे मलिने कोष्ठे स्नेहवस्तिः प्रयोजितः ।
प्रदर्शयति वैशिष्ट्यं शुक्ले पर्वण्ययीकृतम् ॥

—भे० सि० ५।

ततो नेत्रमपनीय त्रिंशन्मात्राः पीडनकालादुपेक्ष्योत्तिष्ठेत्यातुरं ब्रूयात् । अथातुरमुपवेशयेदुत्कटुकंबस्त्यागमनार्थम् । निरूह प्रत्यागमन कालस्तु मुहूर्त्तो भवति ।

—सु० चि० २८।५

त्रिंशन्मात्रा इति मात्रा मानं हि अग्निवेशेन व्याख्यातम्—"यावत्पर्येति हस्ताग्रं दक्षिणं जानुमण्डलम् । निमेषोन्मेष कालो वा सा मात्रा परिकीर्तिता" इति । पराशरस्तु बस्तिकर्मणि मात्रासंख्यामाह—"जानुमण्डलमावेष्ट्य दत्ते दक्षिणपाणिना । कृष्टनेत्रश्छटाशब्दशतं तिष्ठेदवेगवान्"—इति । तत्र पराशरेण क्रूरकोष्ठ पुरुषमङ्गी कृत्यमात्राशतमभिहितं, शेषयोर्मध्यमृदुकोष्ठयोः सप्ततित्रिंशदित्यनुक्तमप्यूहनीयम् स्यादित्येके मन्यन्ते; यतः सुश्रुताचार्येणापि मृदुकोष्ठपुरुषापेक्षया प्रोक्तस्त्रिंशन्मात्रापीडनकालः; अथवा त्रिंशन्मात्रानन्तरं वैद्यैनोत्तिष्ठेत्युक्ते सति आतुरस्योत्थानोपवेशनोत्कुटुकभवनादिकालविलम्बेनैव मात्राशतं पूर्णं स्यादिति शास्त्रयोरविरोधः । मुहूर्तः घटिकाद्वयम् । मुहूर्तादिप्रवर्तमानं शोधननिरूहैरेवव्यक्तक्षाराम्ललवणैर्हरेत् । डल्हणः ।

अन्ये तु त्रिंशन्मात्राः पीडनकालमाहुः । न च बस्तौ दीयमाने क्षवकासहासजृम्भास्पदनान्याचरेत् । विण्मूत्रानिलवेगे तु नेत्रमाकृष्य वेगान्ते शेषं प्रणयेत् । अन्ते चोत्तानस्य स्फिजौपाणितलेन त्रिचतुरो वारांस्ताडयेत् । तथा तत्पार्ष्णिभ्यो पादतश्च शय्यां त्रिरुत्क्षिपेत् । सोपधान च प्रसारित सर्वाङ्गस्य पार्ष्णिके मुष्टि-

नाऽऽहन्यात्। तथा पार्ष्ण्यङ्गुलि पादतलपिण्डिकाः सरुजं चांगं स्नेहेन प्रतिलोमं वाक्शतमात्रं शनैर्विगृहणीयात्। एवमाशु स्नेहो न निवर्तते समनुगच्छति चासमन्तात्सिराः। ततः परं तु स्नेहोक्तमाचार मनुवर्तते।

—अ० सं० सू० २८।२२

अन्ये पुनराचार्यास्त्रिंशन्मात्रा वस्तेः पीडनकालमाहुः। मात्रा च यावत् पर्यंतीत्यादिवक्ष्यमाणलक्षणया। यदा तु बस्तौ दीयमाने विण्मूत्रानिलानामागमो मध्ये भवति तदा समुत्सृज्य तत्कालं पुनश्शेषं देयम्। सरुजमङ्ग स्नेहेन मृदनीयादिति सम्बन्धः। न निवर्तते न प्रत्यागच्छति गुदम्।

उत्तानो दत्त मात्रे तु निरूहे तत्मना भवेत्।
कृतोपधानः संजातवेगश्चोत्कटकः सुजेत् ॥

—अ० हृ० सू० १६।३४

निरूहे दत्तमात्रे तूत्तानः संस्तन्मना निरूहवेगे दत्तावधानस्तथा कृतोपधानः संतिष्ठेत्। समुद्गतवेगश्चोत्कटकः संस्त्यजेद्वेगमितिशेषः। अरुणदत्तः।

बलादिनिरुहबस्ति—

हि० व्या०—अरणी, गिलोय, आंवला, हरड़, बहेड़ा, रास्ना, दोनों पंचमूल के दशों द्रव्य एक-एक पल मदनफल संख्या में आठ नग, तथा बकरे का मांस आधा तुला (ढाई सेर) को ग्रहण करके चार गुने जल में यथाविधि क्वाथ करें। जब चतुर्थांश शेष रह जाए तब छानकर रख दें। इस क्वाथ में अजवायन, मदनफल, बिल्व, कूठ, वच, सौंफ, नागरमोथा व पिप्पली प्रत्येक एक-एक कर्ष का कल्क एवं गुड, शहद, घी, तैल दोषानुसार प्रमाण में मिला दें।' यह ध्यान रहे कि क्वाथ उष्ण न हो किन्तु कवोष्ण हो (थोड़ा उष्ण)। मात्रा में गुड एक पल तथा दोषानुसार घृत तैल एवं २ प्रस्थ मधु (शहद) तथा सैंधव युक्ति पूर्वक मिलाना चाहिए। अब समस्त योग को मथानी से मथकर बस्ति में भर दे फिर नेत्र के मूल भाग को बस्ति के साथ भली प्रकार बाँध दें। बस्ति को इस प्रकार दबाएं की औषध द्रव बस्ति के नेत्र भाग तक पहुंच जाए। यह क्रम इसलिए किया जाता है कि नली एवं बस्ति में वायु न रहने पाये। नेत्र तक द्रव आजाने पर अंगूठे से बंद करले।

बस्तिनेत्र के अग्रभाग में जो बर्ति लगाई गई होती है उसे निकाल देना चाहिए। बस्ति के पूर्व व्यक्ति को अभ्यंग करा देना चाहिए, जिसने मल मूत्र का त्याग कर लिया हो, भूख से पीडित न हो ऐसी अवस्था में समतल शय्या पर लिटा देना चाहिए। शय्या शिर की तरफ कुछ नीची एवं पांव की तरफ सामान्य ऊंची होनी चाहिए उस पर स्वच्छ एवं मुलायम वस्त्रादि बिछा होना चाहिये। वाम करवट से सुखपूर्वक शरीर को सीधा करके बाहों को सिरहाना जैसे बनाकर सोते हुए, दाहिने पैर को सिकोड़कर वाम पैर को फैलाकर रखें।

इस प्रकार की स्थिति में, गुदा में तैल लगाकर नेत्र का ¼ भाग शनैः शनैः प्रवेश कराना चाहिए। प्रवेश कराते समय चिकित्सक का हाथ कांपना नहीं चाहिए एवं हल्के हाथ से प्रवेश कराना चाहिए। जब भली प्रकार नेत्र प्रविष्ट हो जाए तब बस्ति को हाथ से दबायें एवं यह क्रम शनैः शनैः निरन्तर होना चाहिए। जब औषध प्रविष्ट हो जाए तब धीरे-से नेत्र बाहर निकाल लें। कुछ औषध शेष रहने पर ही बस्ति नेत्र निकाल लेना चाहिए क्योंकि खाली पात्र में वायु रहने के कारण वह भी प्रविष्ट हो सकती है। पश्चात् एक से लेकर एक सौ तक गिनने तक उत्तान सोना चाहिए।

आस्थापन का प्रयोग कराये जाने वाले रोगी को स्नेहन स्वेदन के पश्चात् वमन विरेचन सम्पन्न कराकर पेयादि संसर्जन विधि का पालन कराने पर जब रोगी में बल आ जाए एवं अनुवासन के योग्य हो तो पूर्व में अनुवासन बस्ति का प्रयोग कराना चाहिए अन्यथा बिना अनुवासन के ही आस्थापन देना चाहिए। शीत ऋतु एवं वसन्त ऋतु में दिन के समय ग्रीष्मादि में रात्रि के समय अथवा रोग एवं दोष की अपेक्षा से (इन पर विचार करते हुए) रात्रि या दिन में जब भी उचित हो तभी आस्थापन देना चाहिए।

आचार्य शार्ङ्गधर के अनुसार जिस व्यक्ति को विधिपूर्वक स्नेहन स्वेदन करा दिया गया हो, जिसने मलमूत्र एवं आपान वायु का शोधन कर लिया है उसे निराहार रखकर, दोपहर घर में यथोचित निरूह बस्ति का प्रयोग कराना चाहिए। निरूह का प्रयोग स्नेह बस्ति के विधि विधान से कराना चाहिए।

आष्टाङ्गहृदयकार के अनुसार बस्ति में वर्णित सभी द्रव्यों को एकत्र मिला कर उष्ण जल से भरी हुई कुम्भी (घट जैसा पात्र) की भाप से गर्म करें। मथानी से मथ लें। इसे बस्तिपुट में डालकर अनुवासन में वर्णित विधि के अनुसार देना चाहिए।

(१) तैयार किया हुआ बस्तिद्रव न तो अधिक उष्ण हो न शीत हो न अत्यन्त मृदु हो और न ही अधिक पतला और न अति गाढ़ा हो न मात्रा में न्यून हो और न परिमाण से अधिक हो, न अत्यधिक लवणयुक्त हो और न सर्वथा लवण रहित हो। इसी प्रकार न अधिक अम्ल वाला और न अमल रहित होना चाहिए।

(२) उष्ण वाष्प प्रयोग से औषध विदाही प्रभाव वाला नहीं रहता। खज से मथने के कारण क्वाथ, स्नेहादि अच्छी प्रकार मिश्रित हो जाती है। अतः अपनी क्रिया उचित रूप से सम्पादित करते हैं। यदि मथा न जाय तो परस्पर समानधर्मी किसी दोष को प्रकुपित कर देते हैं। यदि द्रव्य अति उष्ण या अति शीत होंगे तो उसमें अनेक प्रकार के व्यापद उत्पन्न होंगे।

आचार्य हारीत के अनुसार चार अंगुल प्रमाण की वंश नलिका निर्मित

करके उसमें चर्म बस्ति बाँधकर बस्ति कर्म का प्रयोग करें। अत्यन्त उष्णकाल एवं अत्यन्त शीतकाल न हो, मल-मूत्र की प्रवृत्ति न हो, इस प्रकार के पुरुष को बस्तिकर्म सम्पन्न कराना चाहिए। मल-मूत्र का उत्सर्ग कराकर गुदा को भली प्रकार स्वच्छ कराकर कसी हुई शय्या पर सुला दें। बायें अंग की तरफ बायें पाँव को और दाहिने अंग की तरफ दाहिने पाँव को सिकोड़कर जंघा के ऊपर संस्थापितकर नलिका को दो अंगुल प्रमाण में गुदा में प्रवेश कराना चाहिए। तब धीरे-धीरे बस्ति को पीड़ित करके ८ तोला प्रमाण तैल से निरूह कराना चाहिए। निरूहण के पश्चात् धीरे-धीरे उत्तान सुलाकर, ऊपर करके संकोच करावें। चिकित्सक को चाहिए कि अपने हाथ से रोगी के स्फिक् प्रदेश को धीरे-धीरे मलें। तब समान्य होने पर अमाशय और मलाशय को धीरे-धीरे मलें। इस क्रिया से बस्ति में उत्पन्न होने वाले वातादि दोषों का निवारण होता है। इस बस्ति कर्म को विद्वान निरूहण बस्ति कहते हैं।

—वाग्भट लिखते हैं कि अन्य कुछ आचार्यों का मत है कि बस्ति पीडनकाल तीस मात्रा है। एक मात्रा ,प्रमाण, 'आँख की पलक के एक वार खोलने का समय होता है। बस्ति प्रयोग के समय रोगी को बतलाना चाहिए कि क्षींक, खाँसी, हंसी एवं जम्भाई का परिहार करें तथा हिले डुलें नहीं। मल-मूत्रादि एवं वायु के वेग (अपान वायु) उत्पन्न होने पर बस्ति नेत्र को निकालकर वेग परिहार के बाद पुनः शेष औषध बस्तिनेत्र लगाकर प्रयोग करावें।

बस्ति प्रयोग के उपरान्त उत्तान लेटें एवं स्फिक् प्रदेश को तीन-चार बार हाथ से ताड़न कराना चाहिए। पैर की ओर से शय्या को थोड़ा-थोड़ा तीन बार ऊंचा उठाना चाहिए। सिर के नीचे तकिया लगाकर सारे शरीर को फैलाकर एड़ियों को मुट्ठी से तोडन करे। जो अंग पीड़ित हो उसे स्नेह से धीरे-धीरे अभ्यंग करें। इनसे स्नेह शीघ्र वापिस नहीं आने पाता। इसके पश्चात् स्नेहन प्रकरण में वर्णित आचरण का पालन कराना चाहिए।

दोषानुसारं निरूहबस्ति प्रयोगाणां संख्या संकेतः।

स्निग्धोष्ण एकः पवने समांशो
द्वौ स्वादु शीतौ पयसा च पित्ते।
त्रयः समूत्राः कटुकोष्ण तीक्ष्णः
कफे निरूहा न परं विधेयाः॥

च० सि० ३।६९, चक्रदत्त, वंगसेन

उक्तानां वातादिहरबस्तीनां संख्याकल्पानां विशिष्टां दर्शयन्नाह— स्निग्धोष्ण इत्यादि। एक इत्येक एव पुटकः। पयसा चेति पयो युक्तौ। कटुकोष्ण-तीक्ष्णत्वकभहरद्रव्ययोगादेव ज्ञेवम्। न परं विधेया इत्यनेन तन्त्रान्तर विहितं

चतुर्थं बस्तिदानमत्यर्थशरीर हिंसकं निषेधयति; यथा सुश्रुते—"द्वितीयं वा तृतीयं वा चतुर्थं वा यथार्हतः। सम्यङ्निरूढ़ लिङ्गे तु प्राप्ते बस्ति निवर्तयेत्" (सु० चि० ३२) इत्येने नोक्तं चतुर्थ दानमिति। चक्रपाणिः।

बस्तेर्गुणविशेषयोगनियमार्थं स्निग्धोष्ण एक इति। वाताद्यवजये प्रथम-द्वितीय तृतीयानामेवानुक्रमात्, सति सामर्थ्ये तत्प्रत्यनीकद्रव्यसम्बन्धवचनादेक-द्वित्रि निर्देशः। पूर्वपूर्वदोषस्य योगापेक्षया न तु प्रत्येकदोषापेक्षया। तथा हि षड्बस्तयः प्रसञ्जेरन्निति। विधिरेव चायमेकद्वित्रिचतुष्पञ्च षड्वा बस्तीन्प्रदा-पयेत्। तथा चोक्तं····· "द्वितीयं वा तृतीयं वा चतुर्थं वा यथार्थत" इति (सु० चि० अ० ३२) तथाहुः—"षट्द्वित्रिपरा योज्या बस्तयः शुद्धितोऽपरे" भवन्ती-त्युक्तम्। सर्वत्र वा त्रयो वा बस्तयो विधेया इति। तेषां तु वाते स्निग्धोष्ण एक एव पूर्वं शेषे (समे च पित्ते तु द्वौ प्रथमौ स्वादुशीतौ शेषं समम् श्लेष्मणि त्रयोऽपि कटुकोष्णतीक्ष्णा इति। कथं पुनः स्निग्धोष्णमांसरसप्रयुक्तः प्रदेयो यावतान्यत्रोक्तम्। "दद्यादुत्क्लेशनं पूर्वं मध्ये दोषहरं पुनः पश्चात् संशमनीयं च बस्तिं दद्याद्विचक्षणः। (सु० चि० अ० ३८)इति। नैषदोषः। समुत्क्लिष्टता-वस्थायामेवैतद्विधानं न सर्वत्रेत्येके। अन्य एव वा एक उत्क्लेशत्यन्यश्शमयत्य-न्य एवमेव स्निग्धेऽपि ज्ञेय उत् क्लेशनादिशमनपर्यंतः तात्कालिकदोषप्रत्यनीक भावेन भवतीत्यपरे ततश्चाशयविप्रकर्षादपि पित्ते द्वौ श्लेष्माणि च त्रयः।

वाते त्वेक एवाश्रय संनिकर्षात्। बहूनां चापतर्पणत्वादिति निरूहेण च स्व-वीर्येण बस्तेस्सर्वस्य दोषापकर्षणमिष्टम्। नैकस्यैव सर्वदोष निर्हरणमिति युक्तं तद्गुणसम्बन्धनिर्देशः। कफे निरूहा न परं विधेया इति शब्द चोदितस्य प्रति-षेधो युक्त इति। यथोक्त संख्या निर्देशसम्बन्धेनावधारणार्थं वचनमिति।

जज्जटः।

एक इति - एक पुटकः। समांस इति—मांसरसहित,; उक्तं हि वाग्भटे—"बस्तिरेकोऽनिले स्निग्धे स्वाद्वम्लोष्णो रसान्वितः" (सू० १९ अ०) इति। वाते स्निग्धोष्णस्तथा मांसरससहितस्तथा एक एव निरूहपुटको देयो न त्वधिकः। समांस इत्यत्र "निरूहः" इति केचित्पठन्ति निरूहोऽत्र पुटकाभिधायी। पयसा चेत्युपलक्षणे तृतीया, पयसा युक्तावित्यर्थः। कटूष्णतीक्ष्णत्वञ्च कट्वादिद्रव्य-योगादेवज्ञेयम्। न परं विधेया इत्यनेन सुश्रुतोक्तचतुर्थबस्तिदानमत्यर्थं शरीर हिंसकं निषेधयति। वाग्भटेऽप्युक्तं—"त्रिभ्यः परं बस्तिमतोनेच्छन्त्यन्ये चिकि-त्सकाः। न हि दोष चतुर्थोऽस्ति पुनर्दीयेत यं प्रति॥" (सु० १९ अ०)

शिवदाससेन।

हि० व्या—स्निग्ध और उष्ण एक निरूहबस्ति (सम भाग द्रव्यों से कल्पित) वातजन्य विकारों में प्रयोग करना चाहिए। मधुररस, शीतवीर्य द्रव्यों से कल्पित एवं क्षीर सिद्ध दो निरूहबस्ति पित्तजन्य विकारों में प्रयोग करना चाहिए। कटु रस एवं उष्ण वीर्य द्रव्यों से कल्पित तथा गोमूत्र युक्त तीक्ष्ण

तीन निरूहबस्ति कफजन्य विकारों में प्रयोग करना चाहिए। इससे अधिक निरूहबस्ति का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

वक्तव्य—यहां दोषानुसार केवल निरूहबस्ति के उपयोग का निर्देश किया गया है। दोष की अधिकता में अधिक वस्ति का प्रयोग करना हो तो निरूह और अनुवासन दोनों बस्तियों का प्रयोग क्रमशः करना चाहिए। किन्तु सामान्य दोष होने की स्थिति में केवल निरूहबस्ति का प्रयोग करना हो तो इससे अधिक प्रयोग नहीं करना चाहिए।

निरूहणानंतर कर्म संकेतः

प्रत्यागते कोष्णजलावसिक्तः
शाल्यन्नमश्नात्तनुना रसेन ॥
जीर्णे तु सायं लघु चाल्पमात्रं
भुक्तोऽनुवास्यः परिबृंहणार्थम् ॥
निरूहपादांशसमेन तैले-
नाम्लानिलघ्नौषध साधितेन।
दत्वा स्फिचौ पाणितलेनहन्यात्
स्नेहस्य शीघ्रागमरक्षणार्थम्।
ईषच्च पादाङ्गुलियुग्मसा—
ञ्छेदुत्तानदेहस्य तलौ प्रमृज्यात्।
स्नेहेनपार्ष्ण्यंङ्गुलिपिण्डिकाश्च
ये चास्य गात्रावयवा रुगार्याः।
तांश्चावमृद्नीत् सुखं ततश्च
निद्रामुपासीत कृतोपधानः ॥

च० सि० ३।२७-२९

शाल्यन्नमित्यादौ। जीर्ण इति आस्थापनोपलेपे कोष्ठस्थे जीर्णे। तनुमांसरसादिभोजनं चेह निरूहेण मनागुपहतस्य वह्नेः परिपालनार्थम्। पेयादिक्रमस्त्वत्र न क्रियते, विरेचनवदिहामस्याभावात्; अतएव सुश्रुते पेयादिक्रमं त्यक्त्वा रसादि क्रम उक्तः। परिबृंहणार्थमित्यनेन लेखनार्थं क्रियमाणे निरूहे परिबृंहणार्थमनुवासनं तदहः कर्तव्यमिति दर्शयति। अत एव कल्पनासिद्धावपि—"नरस्ततो निश्यनुवासनार्हः" (सि० अ० १) इत्यनेन तदहरनुवासनस्यावश्यकत्वमुक्तम्; जतूकर्णेऽप्युक्तम्—"जीर्णे सायं कृतान्नं च पुष्ट्यर्थमनुवासयेत्" इति। निरूहपादांशसमेन तैलेनेति निरूहपादप्रमाणेन, चतुर्विंशतिपले निरूहे षट्पलेन स्नेहेत्यर्थः, इयं चोत्तमामात्राऽनुवासनस्य; उक्तं ह्यन्यत्र - "उत्तमा षट्पली प्रोक्ता मध्यमा त्रिपली भवेत्। कनीयसी सार्द्धपला त्रिधा मात्राऽनुवासने" इति; सुश्रुतेऽप्येतावन्मानमेव स्नेहस्यानुवासनमात्रावस्ति। विभागेनानु-

वासने उक्तम्। स्नेहशीघ्रगमनरक्षार्थं विधानमाह—ईषदित्यादि। तच्च पादाङ्गुल्योत्तानदेहस्य मात्राशत स्थापयित्वा कर्तव्यम्। निरूहे तु त्रिंशन्मात्रा कालं यावदुत्तानस्य स्थापनं मन्यन्ते। युग्ममिति पर्वसन्धिः आञ्छेदित्याकर्षेत्। निद्रामुपासीते वचनं क्रियान्तरस्य निषेधार्थम्। चक्रपाणिः।

प्रत्यागत इति। अवयवप्रत्यगमनापेक्षया चेति। कोष्णजलावसिक्त इत्याह। प्रतिषेधार्थं मांसरसनिर्देशः पुनस्त्वन्नं न स्वरूपावधारणार्थम्। जीर्णेतु सायमिति। तु शब्दो विशेषार्थः। जीर्णशब्दप्रयोगात्। प्राग्भुक्ते तु जीर्णे पुनस्त्वल्पमात्रं सायं भुञ्जते त्वजीर्णे न भोज्यं किं तर्हि सायमनुवास्य एव परिबृंहणार्थमिति। उत्सर्गश्चायं निरपवाद इत्याचार्यः। सन्तर्पणनिरूहप्रयोगविषयोऽयमुत्सर्गो, नापतर्पणविषयः परिबृंहणकारणोपदेशात्। यस्तुपरिबृंहितः तत्र न प्रयोक्तव्य इति केचित्। प्रत्यागते सुखोदकपरिषिक्तस्ततस्तस्मिन्निरूहोपलेपे जीर्णे सायं शाल्यन्नमश्नात्। तदेवं स्वल्पमात्रं सकृद्भक्तं परिबृंहणार्थमनुवास्यो भोजनकालद्वयसम्भवश्च बलिनि वह्नौ। अप्रच्युतांजीर्णे तु निरूहोपलेपे प्रातर्भुक्तस्य न सम्भवोऽस्ति। जीर्णेऽपि च तस्मिन् सायमाशस्याप्रतिषेधादभुक्तभक्तस्य चानुवासनासम्भवात्। भोजनमनुवासनं चोभयमपि इष्टमेव भवतीति वैष्णवाः। तथा चोक्तं—"यदेनं भोजयित्वा द्रवाधिकम्। ज्वरं विदग्धभक्तस्य कुर्यात्स्नेहः प्रयोजितः॥" यदुक्तं स्नेहस्य च का मात्रेति तदुच्यते। अनुवासनमात्रा नियमार्थं निरूहपादांशसमेन तैलेनेति निरूहस्य पादस्य एव अनुवासने-त्रिप्रसृता भवन्तीत्येके। अंशशब्दोर्धवचनः। तवांशोममांश इति। यथा पेन पादस्यार्धांशोऽध्यर्धः प्रसृत इत्यपरे। अंशशब्दः चतुर्भागवचनोऽपि स्यादिति कृत्वा ततोऽध्यर्धपलः स्यादिति केचित्। स्नेहस्यांशमुक्तं प्राक् शुद्धि निमित्तं यन्निरूहानन्तरं इदं तु निरूहशुद्धयनपेक्षस्यानुवासनस्योक्तं, दत्वास्फिजेन पाणितलेनेत्यविरोधादुभयनिमित्तं वेत्यदोषः। मनः प्रतिषेधो यस्मात्तस्मात् पश्चात्कालानिषेध इति। अङ्गुष्ठयुगमङ्गुष्ठ युगलं, पादाङ्गुष्ठयुगमाञ्छेदांञ्छनमाकर्षणं पादतलयोश्च मार्जनमभिहननं हस्तस्पृष्टमत्रावयवेन पार्ष्ण्यादीनामपि मर्दननियमार्थम्। गात्रशेषस्य तु वेदनायां सत्यामिति। निद्रोपासनमत्र यथाकालमप्रतिषिद्धं निद्राकालप्रतीक्षणं वा निद्रोपासनं यथा वास्य शयानस्येत्यस्वप्नोप्युचित एवान्क्रिया निषिध्यते। अत्र च निद्राशब्देन निषिध्योच्यत इति। जज्जटः।

सुनिरूढस्य पश्चात्कर्म वर्णनं पथ्यायथ्यव्यवस्था च।

सुनिरूढं ततो जन्तुं स्नातवन्तं तु भोजयेत्।
पित्त श्लेष्मानिलाविष्टं क्षीरयूषरसैः क्रमात्।
सर्वं वा जाङ्गलरसैर्भोजयेदविकारिभिः।
त्रिभागहीनमर्धं वा हीनमात्रमथापिवा।

यथाग्निदोषं मात्रेयं भोजनस्य विधीयते ॥
अनन्तरं ततो युञ्ज्याधथास्वं स्नेहबस्तिना ।

सु० चि० ३८।११-१३

सुनिरूढ़स्य पश्चात् कर्म निर्दिशन्नाह—सुनिरूढ़मित्यादि । केचिदत्र निरूढ़लिङ्गोत्पादपुटप्रत्यागमानन्तरं पीतनागरकर्षं तोयस्योद्वर्तनस्नानादिकं मन्यन्ते । तदुक्तं—"ततः प्रत्यागते बस्तौ वार्युष्णं नागरैः शृतम् । पाययेत कृतशौचं च स्नापयेदुष्णवारिणा—" इति । कियद्भोजनं तदाह - त्रिभागेत्यादि । हीनमात्रमथापि वेत्यत्र मात्रशब्दोऽप्यर्थः; तेन हीनमात्रमल्पहीनम् । यतः मात्रावद्भोजनानन्तरम् । यथास्वं यो य आत्मीयदोषापेक्षया स्नेहबस्तिस्तेन स्नेहबस्तिना युञ्ज्यात् परं सुनिरूढमेवपुरुषं न तु दुर्निरूढं, तत्र सदोषतया यथादोषं निरूहणमेव कार्यम् । न चातिरूढं, तत्रातिविरिक्तवद्भेषजं शीतपरिषेकपिच्छाबस्त्यादिकं न तु स्नेहबस्तिः; यथा च विदेहः—"अतितीक्ष्णैर्निरूढस्य हृतदोषस्य सर्वतः । कञ्चिदेवानभिप्रेतं मार्गं स्नेहोऽनुगच्छति" इति । गयदासस्तु परिभाषितं षट्पलप्रमाणं स्नेहबस्तिमत्र देयं न मन्यन्ते, किञ्चानुवासनाख्यंपलत्रयप्रमाणं स्नेहबस्तिं देयं मन्यन्ते । यत्र तु स्नेहबस्तिः स्वतन्त्रः, तत्रैव षट्पलप्रमाणः ।

डल्हणः ।

दीप्ताग्नि च सायं लघ्वन्नं भोजयेत् । नैव चानागतं स्नेहमिति द्वितीयेऽहनि । न च तमनुवासयेत् । आगमनकालस्तु परो यामत्रयं ततः परमनागच्छन्तमहोरात्रमुपेक्षेत । तदप्यनिवर्तमानं फलवर्तिभिर्लवणारनालप्रायैर्वा तीक्ष्णबस्तिभिः । शोधयेत् । स्नेहव्यापत्सिद्धिं चेक्षेत । अतिरौक्ष्यादनागच्छन्तं चेज्जाड्याद्युपद्रवाय स्यात् । ततस्तथाप्युपेक्षेत । शीघ्रं निवृत्ते तु बिना मलेन केवले स्नेहे स्नेहमन्यं पुनर्योजयेत् न ह्यासावतिष्ठन् कार्यं करोति । सुखोषितं चैनं तथा कृतवमन विरेचनास्थापनान्यतमं प्रातः शुण्ठी धान्यक्वाथमितरद्वोष्णमुदकं स्नेहशेष जरणाय वातकफोपशान्तये च पाययेत् । अ० सं० सू० २८।३३

दीप्ताग्नि सायं भोजयेत् । अदीप्ताग्नि द्वितीयेऽहनि अनागतस्नेहमास्नेहपरिणमन्न भोजयेत् तं चानागत् स्नेहं द्वितीयेऽह्नि नानुवासयेत् । तदाप्यनिवर्तमानं फलवर्त्यादिभिः शोधयेत् । इन्दुः ।

ततोऽन्नकाले यथोक्तमन्नमश्नीयात् । न चानुवासितं पेयां पाययेत् सा हि सस्नेह कोष्ठमेनमभिष्यन्दयति । पुनश्च तृतीयेऽहन्यनुवासयेत्पंचमे वा । यथा वा स्नेहपक्तिः स्यात् । अतश्च दीप्ताग्निरुक्षवातोल्वण व्यायामनित्यान्प्रत्यहम् । एवममुना क्रमेण दोषाद्यनुसारतस्त्रिचतुरैः स्नेहबस्तिभिरूपस्निग्धं शोधनेनास्थापनेन स्रोतो विशुद्धयर्थतास्थापयेत् । वाताधिक्यादस्निग्धं तु स्नेहनेन ।

अ० सं सू० २८।३४

ततोऽन्नकाल इत्यादि स्नेहपक्तिः स्यादित्येवमन्तं सुबोधम् । अतश्चेति यतः स्नेहपाकपरतन्त्रमनुवासनविधानं अतो दीप्ताग्नित्वादियुक्तं प्रत्यहमनुवासयेत् ।

इन्दुः ।

... ... योगे तु भोजयेत् ।
कोष्णेन वारिणा स्नातं तनुधन्वरसौदनम् ॥

अ० हृ० सू० १९।३८

योगे तु निरूहस्य सम्यग्योगे सति सुखोष्णजलस्नातं संतं भोजयेत् । किम् । धन्वरसौ जांगलरसश्चौदनश्च तद्धन्वरसौदनम् । किं भूतं धन्वरसौदनम् । तनु अघनम् । ननु यूष क्षीररसैः क्रमादिति वक्ष्यति तत्कथमिहेदमभ्युपपद्यते । ब्रूमः । वातविकारशमनार्थो हि निरूहः प्रायेणेष्यते । तस्मिंश्च रसकौदनमेव पथ्यं श्रेयः । अग्रे च दोषापेक्षया पथ्यं विशेषेणोपदेक्ष्यतेऽतो नाऽत्र किंचिदनुपपन्नम् । ननु दोषनिर्हरणं वमनविरेकाभ्यां द्रवादेव क्रियते । तत्र पेयादिक्रमो युक्तस्तथेहाऽपि युक्तः स्यात् । नैवम् । विरेक वमनाभ्यां हि वह्निस्थानमाच्छाद्यते तेनाग्निमांद्यं भवति । निरूहस्तु नाभेरूर्ध्वमगछन्नेव दोषनिर्हरणं करोति । तेन नाऽत्राग्निमांद्यापत्तिः । तस्मान्नाऽत्र पेयादिक्रमः । अपि च वातविकारविषयत्वाच्च रसौदनप्रायमेव पथ्यं युक्तम् ।

अरुणदत्तः ।

विकारा ये निरूहस्य भवंति प्रचलैर्मलैः ।
ते सुखोष्णांबुसिक्तस्य यांति भुक्तवतः शमम् ॥

अ० हृ० सू० १९।३९

प्रकर्षेण चलैर्दोषैर्ये विकारा भवंति ते कोष्णसलिल स्नातस्य कृतभोजनस्य सतः शमं गच्छंति । अत एव तत्कार्यमिति भावः । अरुणदत्तः ।

सुनिरूढ़मयोष्णाम्बु-स्नातं भुक्तरसौदनम् ।
यथोक्तेन विधानेन योजयेत् स्नेहवस्तिना ॥ चक्रदत्तः ।

उष्णाम्बुस्नानमिति शिरो विहाय ज्ञेयं, शिरसि तु शीतलजलेनेति वृद्धा व्यवहरन्ति । अत्र केचित् षडङ्गविधिनानागरसाधितमुष्णोदकं पानार्थमुपदिशन्ति; यदुक्तं—"ततः प्रत्यागते वस्तौ वार्य्युष्णं नागरैः शृतम् । पाययेत् कृतशौचञ्च स्नापयेदुष्णवारिणा ॥" स्नेहबस्तिनेति । स्नेहवस्तिदानन्तु दृढ़बलेनोक्तं यथा—"प्रत्यागते कोष्णजलाभिषिक्तः शाल्यन्नमश्नात् तनुना रसेन । जीर्णे तु सायं लघु चाल्पमात्रं भुक्ताऽनुवास्यः परिबृंहणार्थम् । निरूहपादांशसमेन तैलेनाम्लानिलघ्नौषधसाधितेन ।" (च० सि० बस्तिसूत्रीयः) शिवादास सेनः ।

पित्तश्लेष्मानिलाविष्टं क्षीरयूषरसैः क्रमात् ।
निरूहं भोजयित्वा च ततस्तमनुवासयेत् ॥

शा० उ० ६।१४

पित्तादीनामत्र क्षीरयूपरसैः सह भोजनं कार्यम् । क्रमादिति अनुक्रमेणैव । अनुक्रमो यथा पित्ताविष्टं निरूहं क्षीरोदनं भोजयित्वा पश्चावनुवासयेत्, बृंहणार्थमिति भावः । श्लेष्माविष्टं यूषौदनं भोजयित्वा पश्चाद्नुवासनं देयम् । अनिलाविष्टं मांसरसोदनं भोजयित्वा अनुवासयेदिति पदार्थः । आढमल्लः ।

प्रत्यागते कोष्ण जलावसिक्तः
शाल्यन्नमद्यात्तनुना रसेन ।
जीर्णे च सायं लघु चाल्पमात्रं
भुक्त्वानुवास्यः परिवृंहणार्थम् ।
निरूहणार्द्धांशमनेन तैले—
नाम्लानिलघ्नौषध साधितेन ॥
दत्वा स्फिजौ पाणितलेन तालं ।
स्नेहस्य शीघ्रागमनाय वैद्यः ॥ वंगसेन

सम्यङ्निरूढ़माश्वस्तं परिषिक्तं सुखाम्बुना ।
तनु वा (ना) भोजयेन्मात्रां जाङ्गलानां रसेन वा ॥
भुक्तवन्तं च तैलस्य प्रसृतेनानुवासयेत् ।
वायुः प्रशाम्यते तेन निरूहेण प्रचालितः ॥
आस्थापनो बस्तिरयं गुदनिर्वापणं नरः ।
एकान्तरं ततश्चोर्ध्वं यथोक्तमनुवासनम् ॥
का० सं० खि० ८।८०-८२

सम्यङ्निरूढ़ं तैलाक्तं जलेनोष्णेन सेचितम् ।
अल्पस्नेहं जाङ्गलेन रसेनार्द्धन्तु भोजितम् ॥ वङ्गसेन

दत्ते तूत्तानदेहस्य पाणिना ताड़येत्स्फिचौ ।
तत्पार्ष्णिभ्यां तथा शय्यां पादतश्च त्रिरुत्क्षिपेत् ॥
ततः प्रसारितांगस्य सोपधानस्य पार्ष्णिके ।
आहन्यान्मुष्टिनाङ्गं च स्नेहेनाभ्यज्य मर्दयेत् ॥
वेदनार्तमिति स्नेहो नहिशीघ्रं निवर्तते ।
योज्यः निवृतेऽन्यः स्नेहोऽतिष्ठन्न कार्यकृत् ॥
अ० हृ० सू० १९।२०-२१

दत्ते च स्नेहे सत्युत्तानगात्रस्य तु तस्य स्फिजौ हस्ते नाहन्यात् । तथा तेनैव प्रकारेण तत्पार्ष्णिभ्यां स्फिजौ ताडयेत् । शय्यां खट्वा पादतश्चरणदेशात्त्रीन् वारान् उत्क्षिपेन्न तु मूर्धतः । ततः शय्योत्क्षेपादननारं प्रसारित शरीरस्य दत्तगेंदुकस्य पार्ष्णिके पार्ष्ण्या मुष्ट्या हन्यात् । अंगं शरीरं च स्नेहेन तैलादिनाऽभ्यज्य मर्दयेत् । किमेवं क्रियत इत्याह । अंगवेदनार्तं पीडातुरमिति हेतोर्यस्मानाशु स्नेहो न निवर्तते । शीघ्रमपयाते च स्नेहे सत्यपरः स्नेहोदेयः । कस्मादेवं

विधीयत इत्याह । स्नेहश्चशरीराभ्यंतरेऽतिष्ठन्नैव कार्यकृन्न स्नेहने समर्थ इत्यर्थः । अरुणदत्तः ।

दत्ते चोपक्षेपे वैद्यः स्वपाणिना स्फिजौ ताड़येत् । तत आतुरपार्ष्णिभ्यां ततः पादतः शय्यामुत्क्षिपेत् ततः पार्ष्णी स्वमुष्टिना आहन्यात् । त्रिरिति । पाणिताडनादिषु चतुर्ष्वपि योज्यम् ॥

ततो वेदनार्तमंगं मर्दयेत् । संग्रहे तु वमनादधिकतरं कृतमंगलमशनार्द्रहस्तमशंकनीय परिवारं निवाते वेश्मनि प्रततेशयने । स्वास्तृते ईषदुन्नतपाददेशे प्राक्शिरसं निवेशयेत् । अतिस्निग्धाशिनो हयुमयमार्गसंसर्गात्स्नेहो मदमूर्च्छाग्निसादहल्लासान् जनयति । रुक्षाशिनो विष्टंभं बलवर्णहानि च । अल्पमात्र द्व्याशिनो विसृष्टविण्मूत्रस्य चान्नावृतो न तदावरणाद्व्यापदम् । चिरमशितवतो विदाहाभिमुखभक्तस्य ज्वरं कुर्यात् यतश्च वामपार्श्वाश्रयाणि वह्निग्रहणीगुदवलीमुखानि तानि तत्पार्श्वशायिनो निम्नानि भवंति । अतस्तदौषधमस्खलितं प्राप्नोति प्रवेश निर्गगावेति । संविष्टं चैनमृजुस्थितदेहं स्वबाहूपधानं प्रसारित वामशक्थिमाकुंचितेतरं तस्योपरि प्रसारितदक्षिणबाहूं कारयेत् । पूर्वमेव तु वैद्यो वर्त्या तु पिहिताग्रच्छिद्रं नेत्रं भाजनस्योपरि कृत्वा दक्षिणपादांङ्गुष्ठांगुलिभ्यां कर्णिकायामुपरिष्टान्निष्पीड्याविबन्धाय शताह्वासैन्धवचूर्णां च चूर्णितं प्रागेवनेत्रस्य स्पर्शात्पूर्ववदभिमंत्रितं यथार्हं यथार्हं षधविपक्वं सुखोष्णं बस्तौ स्नेहमासिच्यावलीकोच्छ्वासं निःसारितवातबुद्बुदमौषधान्ते सूत्रेण द्विस्त्रिर्वा बस्तिमुखमावेष्ट्य दक्षिणपाणौ नेत्रमुपधाय तिष्ठेत् । ततो वामहस्त प्रदेशिन्याऽभ्यक्तप्रवेशप्रदेशमपनीतवलिमुत्तानवामहस्तांगुष्ठोदर पिहिताग्रं मध्यमाप्रदेशिन्युपगूहीतकर्णिकमृजुसुखमेकमना लाघवेन नेत्रमाकर्णिकं प्रवेशयेत् । आतुरोऽपि तदनुलोममवलम्बते । ततश्च वैद्यो बस्तिमुखं दक्षिणहस्तांगुष्ठप्रदेशिनीभ्यामभिगृह्य नेत्रमचालयन् हस्तद्वयेनोत्तानेनैकग्रहणेनैवप्रपीडयेत् ।

अन्यथा हि व्यापदो भवंति । अन्ये तु त्रिंशन्मात्रापीडनकालमाहुः । न च बस्तौ दीयमाने क्षवकासहासजृंभास्पंदनान्याचरेत् विण्मूत्रावलिवेगे तु नेत्रमाकृष्यवेगान्ते शेषं प्रणयेत् । तथा पाण्यर्यगुलिपादतलपिंडिकाः सरुजं चंगस्नेहेन प्रतिलोमवाक्षतमात्रं शनैर्मृदनीयादिति । वैद्यकृत्यस्य फलमाह—इति स्नेह इति । समनुगच्छति च समन्तात्सिरा इत्यधिकं संग्रहे । प्रमादाच्छीघ्रनिवृतौ पुनस्तदेवानुवासनं कार्यमित्याह—योज्यइति । शीघ्रनिवृत्तिर्विना मलेन चेत् ।

हेमाद्रिः ।

निरूह बस्ति पश्चात्कर्म—निरूह बस्ति की औषधि वापस आ जाने पर गुन-गुने जल से रोगी को स्नान कराना चाहिए । तत् पश्चात् पतले मांसरस

के साथ शालिचावलों का भात् खिलाना चाहिए। किए गए भोजन का पूर्ण रूप से पाचन हो जाने पर सायं काल हल्का (लघु) और अल्पमात्रा में भोजन करने के पश्चात शरीर में बल की वृद्धि के लिए अम्ल (काञ्जी) और वात द्रव्यों से सिद्ध किए हुए तेल से अनुवासन बस्ति देनी चाहिए। अनुवासन बस्ति में तेल की मात्रा निरूहबस्ति से चतुर्थांश होनी चाहिए। तदनन्तर तलुवे से नितम्ब के ऊपर बार-बार थपथपाना चाहिए। इस प्रक्रिया से स्नेह का शीघ्र वापस आना रुक जाता है। दोनों पैर की दो अंगुलियों को कुछ खींचना चाहिए। उत्तान सुलाकर उस व्यक्ति के पैर के तलवे, एड़ी, अंगुलियों और पिण्डिकाओं को तैलाभ्यंग करना चाहिए। तथा अन्य किसी भी अंग में वेदना हो तो उस अंग पर भी अभ्यंग और मालिश धीरे-धीरे करना चाहिए। पश्चात् तकिया लगाकर सुख पूर्वक रोगी को सुलाना चाहिए।

आचार्य सुश्रुत के अनुसार निरूहोपरान्त यथा विधि स्नानादि करा देने के उपरान्त भोजन कराना चाहिए। पित्तश्लेष्मा और वात युक्त व्यक्ति को निरूह के पश्चात् क्रमशः दूध, यूष, एवं मांस रसों के साथ भोजन देना चाहिए।

भोजन प्रमाण में भोजन तीन भाग, आधाभाग, और अल्प मात्रा में अग्नि बल एवं दोषानुसार देना चाहिए। इसके पश्चात् दोषानुसार स्नेह बस्ति का प्रयोग कराना चाहिए।

आचार्य वाग्भट ने बस्ति समनन्तर पथ्यापथ्य का विधान इस प्रकार बताया है। जिसकी अग्नि दीप्त हो उस व्यक्ति को सायंकाल लघु भोजन देना चाहिए। यदि अग्निमन्द हो एवं स्नेह लौटकर नहीं आये तो उसे भोजन नहीं देना चाहिए। स्नेह के वापस नही आने पर उसे अनुवासन भी नहीं देना चाहिए। स्नेह के वापस आने का समय प्रायः तीन याम (नो घंटे) बताया गया है। यदि इसके बाद भी स्नेह लौटकर नहीं आवे तो एक दिन रात प्रतीक्षा करनी चाहिए। इस प्रतीक्षा तक भी स्नेह नहीं लौटे तब फलवर्तियों से या नमक, कांजी की तीक्ष्णबस्ति से शोधन कराना चाहिए। स्नेहजन्य व्यापद का ध्यान रखना चाहिए।

यदि अति रूक्षता से स्नेह नहीं लौटे और शरीर में जड़ता आदि लक्षण भी उत्पन्न न हो तब तीक्ष्णफलवर्ति की उपेक्षा करनी चाहिए। यदि स्नेह मल-रहित वापस लौट आए तब शीघ्र स्नेह वस्ति देनी चाहिए क्योंकि वहां कुछ काल तक नहीं रुका हुआ स्नेह प्रयोजन सिद्ध नहीं करता। यदि व्यक्ति रात्रि में सुखपूर्वक सोया हो तथा वमन विरेचन एवं आस्थापन के पश्चात् भी सुख-पूर्वक सोया हो तब दूसरे दिन प्रातः काल सोंठ एवं धनियां का क्वाथ पिलाना चाहिए अथवा उष्ण जल पिलाना चाहिए। इससे शेष बचे हुए स्नेह का पाक

हो जाता है तथा वायु एवं कफ का शमन हो जाता है। भूख लगने पर यथा योग्य पेयादि आहार का सेवन कराना चाहिए। अनुवासनोपरान्त पेयादि क्रम का सेवन नहीं कराना चाहिए। क्योंकि यह स्नेहयुक्त कोष्ठ में अभिष्यन्द उत्पन्न करती है। इसके पश्चात् तीसरे या पांचवें दिन पुनः बस्ति प्रयोग कराना चाहिए। अथवा जब तक स्नेह पचता जाय तब तक स्नेह बस्ति देनी चाहिए। इसमें यदि रोगी की अग्नि प्रदीप्त हो, रोगी रूक्ष हो, वात दोष उत्कृष्ट हो, रोगी नित्य व्यायाम करता हो तब स्नेह पचता रहेगा अतः जब तक स्नेह का पाक होता रहे तब तक अनुवासन देते रहना चाहिए। इसप्रकार इसी क्रम से दोषानुसार तीन-चार बस्ति से स्नेहित करके स्रोतों शोधन के लिए शोधन या आस्थापन से आस्थापन करना चाहिए। वात की अधिकता होने पर बिना स्नेहन के ही स्नेहयुक्त शोधन आस्थापन देना चाहिए।

आचार्य काश्यप के अनुसार समुचित रूप से निरूह हो जाने पर रोगी को आश्वासन देकर थोड़े उष्ण जल से उसका परिषेक करें यथा मात्रा जांगल मांस रसों का भोजन देना चाहिए। निरूह में संसर्जन क्रम के बिना ही मांस-रसादि दे दिया जाता है क्योंकि इसमें अग्निमांद्य की सम्भावना नहीं रहती। पश्चात् एक प्रसृत तैल से अनुवासन देनी चाहिए। इससे निरूह द्वारा प्रचालित वात का शमन हो जाता है। अन्य आचार्यों के विचार चरक के समान है।

सम्यग्निरूढ़लक्षणपर्यंतं बस्तिविधानमावश्यकम्।

सम्यग्निरूढ़लिङ्गं तु नाऽसंभाव्य निवर्तयेत्।

अ० हृ० सू० १९।५२

सम्यङ्निरूढ़लिङ्गं त्वसंभाव्याऽसंपाद्य न निवर्तयेत्। बस्तिदानं कारयेदेवेति। अरुणदत्तः।

तावन्निरुहादयो यावत्सम्यग्निरूढ़लिङ्गोत्पत्तिर्जायते इत्येतदुपलक्षणार्थम्। सम्यक्त्वासितलिङ्गमप्यसम्भाव्यानुवासनादपि न निवर्तयेत्। तावदनुवासनं देयम्। यावत्सम्यगनुवासितलिङ्गोत्पत्तिर्जायते। चंद्रनन्दन।

हि० व्या०—जब तक निरूह के सम्यक् लक्षण उत्पन्न न हो जाय तब तक बस्ति कर्म कराना चाहिए।

सम्यक् निरूहण लक्षणानि

प्रसृष्टविण्मूत्रसमीरणत्वं
रुच्यग्निवृद्धयाशयलाघवानि।
रोगोपशान्तिः प्रकृतिस्थता च
बलं च तत् स्यात् सुनिरूढ़लिङ्गम्॥

च० सि० १।४१-४२, चक्रदत्तः

प्रसृष्टेत्यादि। 'आशयलाघवानि' इत्यत्र 'आमयलाघवानि' इति पाठे रोगोपशान्तिरित्यन्तरं वाशब्दो ज्ञेयः,—तेन रोगोपशान्तिरिह निरुहसाध्यविकाराणामुपशान्तिः। चक्रपाणिः।

रोगोपशान्तिरिति वचनं रोगिविषयकं, प्रकृतिस्थतेति तु सुस्थविषयकं, तेनात्र पौनरुक्त्यं नाशङ्कनीयम्। शिवदाससेन।

यस्य क्रमेण गच्छन्ति विट्पित्तकफवायवः।
लाघवं चोपजायेत सुनिरूढं तमादिशेत्॥

सु० चि० ३८।१०-११, शा० उ० ६।

—वंगसेन, भाव प्र०

यस्य क्रमेण तन्त्रान्तरोक्तेऽग्निमूत्रपित्तकफवायवः गच्छन्ति लाघवं चोपजायते सुनिरूढं तमादिशेत्। उक्तं च दृढबले प्रसृष्टविण्मूत्रसमीरणत्वं रुग्व्यग्निवृद्धयाशयलाघवानि। रोगोपशान्तिः प्रकृतिस्थता च बलं च तत्स्यात्सुनिरूढलिंगम् इति। आढ्मल्लः।

शुद्धस्फटिकसंकाशं यदा श्लेष्म विरिच्यते।
विना मूत्र पुरीषेण — —।
— — — —।
निरुपद्रवता क्षुच्च निरूढः सम्यगुच्यते।

का० सं० सि० २।

पुरीषं मारुतः पित्तं कफश्च क्रमशो यदा।
प्रवर्तन्ते च फेनं च शङ्खस्फटिकसन्निभम्॥
सम्यङ्निरूढगात्राणां मार्दवं जनयेत् परम्।
अन्नाभिलाषो वंशद्यं लघुता वाऽथमार्दवम्॥
सृष्ट विण्मूत्रवातत्वमिन्द्रियाणां प्रसन्नता॥

का० सं० खि० ८।

सम्यङ्निरूढस्य न रुग्रुजा सम्यक् प्रशाम्यति।
यतो मूत्रपुरीषाभ्यां वातो ह्यस्य निवर्तते॥
निरूढं तं भिषग्विद्यादनिरूढस्य लक्षणम्।
तथैव व्याधिराध्मानं शूलं विण्मूत्रनिग्रहः।
यदा कफं विरिच्येत शङ्खस्फटिकसन्निभम्।
ऋते मूत्र पुरीषाभ्यां तन्निरूहस्य लक्षणम्॥

—भे० सि० ६।

विविक्तता मनस्तुष्टिः स्निग्धता व्याधिनिग्रहः।
आस्थापने स्नेहबस्तौ सम्यग्दत्ते तु लक्षणम्॥

वंगसेन, भाव प्र०

हि० व्या०—निरूह के सम्यक् प्रयोग से मलमूत्र एवं वायु की सरलता से प्रवृति होना, भोजन में रुचि उत्पन्न होना, अग्नि की वृद्धि होना, आशयों में लघुता रोग की उपशान्ति, प्रकृति का साम्यावस्था में आना तथा सम्पूर्ण शरीर में बल की वृद्धि होना आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं।

आचार्य काश्यप के अनुसार सम्यक् निरूह होने पर क्रमशः मल, वायु, पित्त तथा कफ निकलते हैं तत्पश्चात् शंख एवं स्फटिक के समान श्वेत झाग निकलते हैं। इस प्रकार सम्यक् निरूह होने से अंगों में मृदुता अन्न में रुचि, शरीर में विशदता, लघुता तथा मृदुता आती है। मल, मूत्र तथा वात का उचित रूप से अपसरण होता है तथा सम्पूर्ण इन्द्रियां प्रसन्न हो जाती है।

आचार्य भेल के मतानुसार रोगी की पीड़ा शान्त हो जाती है तथा जब मूत्र पुरीष एवं अपान वायु की निवृत्ति हो जाए तब समयक् निरूह के लक्षण जानना चाहिए। उसी प्रकार आध्मान, शूल एवं मल मूत्र का निर्हरण हो जाने पर भी सम्यक् निरूढ़ जानना चाहिए। अन्य आचार्यों ने भी इन्हीं भावों को प्रकट किया है।

हीन निरूढ़ लक्षणानि

यस्य स्याद्बस्तिरल्पोऽल्पवेगो हीन महानिलः।
दुर्निरूढ़ः स विज्ञेयो मूत्रार्त्यरुचिजाड्यवान्॥

सु० चि० ३८।८-९, भा० प्र०, शा० उ० ६।-

यस्येत्यादि। अल्पः अल्पगुणमात्रः। अल्प वेगः स्तोकवेगः। मूत्रार्तिः मूत्रपीडा। अल्पगुणमात्रबस्त्युपयोगोत्क्लेशितमलावरोधेन जाड्यमपटुता। डल्हणः।

विण्मूत्रनिग्रहः शूलमानाहो व्याधिसन्ततिः।
तन्द्री निद्राऽरुचिस्तृप्तिर्दुर्निरूढस्य लक्षणम्॥

का० सं० सि० २।-

अयोगे विपरीतं स्यात्··· ··· ···। का० सि० ८।-
पूर्णकुक्षित्वमानाहो दुर्निरूढस्य लक्षणम्। भे० सि० २।१९
विरिक्तवच्च योगादीन्विद्यात्। अ० हृ० सू० १९।

हि० व्या०—जिस व्यक्ति को प्रयुक्त कराई गई बस्ति अल्पगुण वाली, अल्पवेग वाली तथा वायु एवं मल की न्यूनता वाली हो तथा मूत्र पीडा, अरुचि, जड़ता उत्पन्न करने वाली हो तब दुर्निरूढ़ समझना चाहिए।

आचार्य काश्यप के अनुसार बस्ति के अयोग होने पर मल व मूत्र का रुक जाना, शूल एवं आध्मान की उत्पत्ति, व्याधि वृद्धि, तन्द्रा, निद्रा, अरुचि एवं तृप्ति (पेट भरा हुआ अनुभव करना) आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

अष्टाङ्ग हृदय में निरूह बस्ति के अयोग का लक्षण विरेचन के अयोग के समान बताया गया है।

निरूहण अति योगलक्षणम् ।

लिङ्गं यदेवाति विरेचितस्य
भवेत्तदेवाति निरूहितस्य च० सि० १।४३

यान्येव प्राङ्मयोक्तानि लिङ्गान्यतिविरेचिते ।
तान्येवातिनिरूढेऽपि विज्ञेयानि विपश्चिता ।
सु० चि० ३८।९

अतीव तु निरूढस्य निष्पुरीषस्यमारुतः ।
शूलेनावेष्ट्यमानस्य सर्वगात्राणि पीडयेत् ॥ भे० सि० २।३०

अतियोगेऽतिवर्तनम् ।
कफपित्तासृजां मांसप्रक्षालननिभस्य वा ।
हिक्काकम्पस्तृषा ग्लानिर्गात्रभेदस्तमः क्लमः ॥
निद्रःनाशः प्रलापश्च यत्र चाप्युपजायते ॥
का० खि० ८।७८-७९

हि० व्या०—विरेचन के अतियोग होने पर जो लक्षण उत्पन्न होते हैं वे ही लक्षण निरूह के अतियोग होने पर होते हैं ।

आचार्य काश्यप के अनुसार अति योग होने पर शरीर से कफ, पित्त, रक्त एवं मांस के धोवन के समान जल की अति प्रवृत्ति हो जाती है । हिक्का, कम्प, प्यास, ग्लानि, अंग भेद (टूटने जैसी पीड़ा) तमः प्रवेश, थकान, निद्रा हानि, प्रलाप, आदि लक्षण प्रायः उत्पन्न हो जाते हैं ।

आचार्य भेल के अनुसार निरूहण के अतियोग में वायु एवं मल के नहीं निकलने पर शूल एवं वायु द्वारा आवृत होने के कारण सम्पूर्ण शरीर में पीड़ा उत्पन्न होती है ।

दुष्प्रयुक्त-सम्यक् प्रयुक्त आस्थापनवस्ति फलाफल संकेतः ।

आस्थापनं दुष्प्रयुक्तं भवत्याशीविषोपमम् ।
संप्रयुक्तं तदेवेह प्राणिनाममृतोपमम् ॥
का० सं० सि० ८।

हि० व्या० - आस्थापन बस्ति के समुचित प्रयोग न होने पर वह विष के समान हानिकारक हो जाती है । सम्यक् प्रकार से प्रयुक्त होने पर अमृत के समान लाभकारी है ।

अनुवासन निरूहणयोः क्रम एवं संख्या संकेतः ।

अनेन विधिना षड् वा सप्तवाष्टौ नवैव वा ।
विधेया बस्तयस्तेषामन्तरा तु निरूहणम् ॥
सु० चि० ३७।७०, भा० ख० ५।३४

षड्वेत्यादि संख्याविकल्पा वक्ष्यमाणस्नेहादिधात्वन्तरगतदोषापेक्षया । तत्र दीयमानेषु स्नेहबस्तिषु तृतीये चतुर्थे पञ्चमे वा स्नेहेऽग्न्याद्यपेक्षया स्नेहस्योपरतिं कृत्वा (स्नेहस्वेदावधिकृत्य) संसर्जनविधानेनोपवृंहितबलाय अन्तरा निरूहणं दद्याद् दोषसंचयसंशोधनाय । डल्हणः ।

हि० व्या० —इसी विधि से छः, सात, आठ अथवा नौ स्नेहबस्तियां देनी चाहिए तथा इनके मध्य में निरूह बस्ति का प्रयोग भी कराना चाहिए ।

सुनिरूढ़ता लक्षण प्रकटता पर्यंत भूयोऽपि निरूहबस्ति प्रयोग संकेतः ।

स्वयमेव निवृत्ते तु द्वितीयो बस्तिरिष्यते ।
तृतीयोऽपि चतुर्थोऽपि यावद्वा सुनिरूढता ॥
अ० हृ० सू० १९।३६

फलवर्त्याद्यायासं विनापि निवृत्ते निरूहे सति द्वितीयो निरूह इष्यते । यत्न विशेषेण तु निरूहे निवृत्ते सति नाऽन्यं बस्तिं प्रपीडयेदित्युक्तं भवति । तृतीयोऽपीत्यपिः समुच्चये । एवं चतुर्थोऽपीति । यावद्वेति । पञ्चमादयोऽवस्तयो देया यावत्सम्यङ्निरूढत्वं स्यात् । अरुणदत्तः ।

हि० व्या०—मलादिरहित बस्ति स्वयं लौट जाय तो यथावश्यक दूसरी, तीसरी, अथवा चौथी बस्ति या जब तक निरूह के सम्यक् लक्षण उत्पन्न न हो तब तक प्रयोग कराना चाहिए ।

निरूहणजन्य रूक्षता हेतुक वातप्रकोपशमनाय स्नेहन प्रयोगः

तदहस्तस्य पवनाद्भयं बलवदिष्यते ।
रसौदनस्तेन शस्तस्तदहश्चानुवासनम् ॥ सु० चि० ३८।१५

निरूहणाद्विड्वातादि प्रवृत्तिलक्षणेन धातुक्षयेण कुपितानिलस्य बलवदेव भयमतस्तदहरेव रसौदन भोजनं, तच्च निरूहण मन्दीकृतानलवधभयान्मात्रावत्; तथा पवनभयात्तदहरेव द्वादशप्रसृतिनिरूहचतुर्थांशेन स्नेहेनानुवासनम् । गयदासस्तु सुनिरूढस्य तदहः पलत्रयमेवानुवासनं; तथा तदहश्चेति चकारो भिन्नक्रमे, तेनानुवासनं चेत्यत्र संबन्धादनुक्तोऽपि मात्रा बस्तिश्चात्र समुच्चीयत इति मन्यन्ते; न षट्पलप्रमाणं स्नेहबस्तिं, भोजदर्शनादिति । डल्हणः ।

हि० व्या० —निरूहबस्ति प्रयोग वाले दिन वात प्रकोप का डर रहने के कारण मांस रस के साथ चावल का भोजन तथा उसी दिन अनुवासन वस्ति लगानी चाहिए ।

वातादि दोषानुसारं निरूहबस्ति प्रयोग काले भोज्य द्रव्य संकेतः ।

रसेन वाते प्रतिभोजनं स्यात्
क्षीरेण पित्ते तु कफे च यूषैः ।

तथाऽनुवास्येषु च बिल्वतैलं
स्याज्जीवनीयं फलसाधितं च ॥ च० सि० ३।७०

संप्रति वातादिभेदेन प्रतिभोजनं विशिष्टं तथाऽनुवासनं चाह-रसेन वाते इत्यादि। प्रति भोजनं-निरूहानन्तरभोजनम्। वाते बिल्वतैलानुवासनम्, पित्ते जीवनीयसाधितं, कफे च मदनफलसाधितम्। अत्र बिल्वतैलादीनि वक्ष्यमाणानि व्याख्यानयन्ति; तेन स्नेहव्यापत्सिद्धौ यद् वक्ष्यति 'दशमूलं' (सि० अ० ४) इत्यादिना बिल्व तैलं, जीवनीयं च 'जीवन्ती मदनं' (सि० अ० ४) इत्यादिना वक्ष्यमाण यमकं, तथा "मदनैर्वाम्लसंयुक्तः" (सि० अ० ४) इत्यादिना वक्ष्यमाणं मदन तैलं ज्ञेयम्;

चक्रपाणिः।

दोषप्रतिनियमेन भोजनोपदेशः। रसेन वाते प्रतिभोजनं स्यादिति। यूषपयोरसाद्यैरिति। यदुक्तं बलाद्ये। एवं सर्वदोष प्रत्यनीक बस्तिविकल्पसंभवतो वा। इदं त्ववधृतरूपमेव। तावत् नान्यत्र शेषबस्तिविषयं च तत्र वातादिविकाराश्रयं, इह तु वाताद्याश्रयमेवेति। तथानुवास्येषु च बिल्वतैलमिति। बिल्वादि साधितं वाते, पित्ते जीवनीयसाधितं फलादि साधितं कफे, तानि तु तान्यन्तरं वक्ष्यति-दशमूलीं बलां रास्नामिति। बिल्वादिफलमूल्या सह दशमूलीं। एतत्तैलं, जीवन्ती मदनं मेदामिति जीवनीयतैलं, मदनैर्वाम्लसंयुक्तैः बिल्वाद्येन गणेन चेत्यतत् फल-तैलमिति। बिल्वाद्यगणेनान्यसहितेन फल तैलमेव कफघ्नगणोपदेशाद्वा बिल्व-तैलं तु तदन्यसहितैरिति निरूहानन्तरमनुवासनमिति। कल्पनान्युक्तानि संग्रहा-र्थमुक्तम् ॥

जज्जटः।

हि० व्या०—निरूहोपरान्त सम्यक् लक्षण उत्पन्न हो जाने पर वातजन्य विकृति में मांसरस के साथ, पित्तजन्य विकृति में दूध के साथ, कफजन्यविकृति में यूष के साथ भोजन कराना चाहिए। अनुवासन बस्ति देने योग्य मनुष्यों में यदि वातज विकृति से पीडित हो तो बिल्व तैल से, पित्तज विकृति वालों में जीवनीयगण से सिद्ध स्नेह से तथा कफज विकृति वालों में मदनफल सिद्ध तैल से अनुवासन कराना चाहिए।

विरेचनानन्तरं निरूहबस्तिदानस्य निरूहणानंतरं विरेचन प्रयोगस्य च सप्तदिनानन्तरं प्रयोगे युक्तिः

नरो विरिक्तस्तु निरूह दानं
विवर्जयेत् सप्तदिनान्यवश्यम्।
शुद्धो निरूहेण विरेचनं च
तद्वस्य शून्यं विकसेच्छरीरम् ॥ च० सि० १।१६

अवश्यमिति वचनादेकाहसाध्येऽपि व्याधावश्यं सप्तदिनच्छेदः कर्तव्य इति दर्शयति। यद्यपि विरेचनानन्तरं निषिद्ध एव निरूहः पञ्चकर्मीयायां सिद्धौ; तथा निरूढस्य विरेचनं निषिद्धं, तथाऽपि तत्कालमेव स निषेधः तेन त्रिचतुरादि

दिनेऽपि प्रसक्तिनिरासार्थमिदं नवमेऽह्नयनुवासनकालादुत्तरकालमेव निरूह-विधानं, तेनार्वाग्वस्तेः प्रसक्तिरपि न स्यादित्युच्यते, तन्न, यतोऽनुवासनशुद्धय-पेक्ष संसर्जनक्रमस्येवं विधा, यदाऽवरशुद्धया व्यहेणैव पेयादिक्रमः समाप्यते, तदा चतुर्थदिनेऽनुवासनदानात् पञ्चमे षष्ठे वा दिने निरूहः प्रसज्येत, अतस्तन्निरा-सार्थमेतद्वचनम्। निरूहानन्तरं तु संसर्जनक्रमो नास्त्येव, तेन व्यहं स्नेहं दत्वा विरेचनप्रसक्तिरस्त्येव। सप्ताहादर्वाक् सप्ताह यावच्च निरूहविरेचनवर्जने हेतुमाह—तद्वयस्येत्यादि। विकसेदिति हिंस्यात्। शून्यमिति पूर्वशोधनशून्य-शरीरं पुनः शोधनाद्धिंस्यादिति भावः "आसप्ताहाद्विरेकोवा ततश्चापि निरूह-णम्" इति तन्त्रान्तरे प्रोक्तं, तच्च संसर्गविधया क्रियमाणसंशोधनक्रमे ज्ञेयम्। तत्रापि च सप्ताहपूरणं संसर्जनस्नेहादीनामनुमतविकल्पपरिहाराद् व्याख्येयम्।

चक्रपाणिः।

हि० व्या०— विरेचन के बाद सात दिन तक निश्चित रूप से निरूहबस्ति का प्रयोग नहीं कराना चाहिए। इसी प्रकार निरूह प्रयोग के सात दिन पश्चात् तक विरेचन का प्रयोग नहीं कराना चाहिए क्योंकि परस्पर दोनों के क्रम का पालन न करते हुए अज्ञानतावश प्रयोग कराये जाने पर शरीर को नष्ट कर देते हैं।

वातव्याधौ मधुराम्ललवणोष्ण द्रव्याणां समुचित मात्रायां प्रयोग निर्देशः।

स्वाद्वम्ललवणोष्णानामुत्कर्षं नातिमात्रशः।
वातव्याधौ भिषक्कुर्य्यात् स्नेहस्य तु विधापयेत् ॥
रूक्षाणां शीतवीर्याणामपकर्षं च युक्तितः।

का० खि० ८।५०-५१

हि० व्या०—वातव्याधि में मधुर, अम्ल, लवण तथा उष्ण वीर्य द्रव्यों की अति मात्रा में वृद्धि नहीं करनी चाहिए। स्नेह को समावस्था में रखना चाहिए तथा सूक्ष्म एवं शीतवीर्य द्रव्यों में युक्तिपूर्वक कमी कर देना चाहिए।

पित्तज विकारे स्वादु तिक्तकषाय द्रव्याणां वृद्धिः तीक्ष्णोष्णद्रव्याणां च ह्रास संकेतः

स्वादुतिक्तकषायाणां व्याधौ पित्तोत्तरे भिषक्।
उत्कर्षमपकर्षं तु कुर्यात्तीक्ष्णोष्णयोस्तथा ॥

का० खि० खि० ८।५१

हि० व्या०—पित्तप्रधान व्याधि में (स्वादु) मधुर, तिक्त एवं कषाय द्रव्यों में वृद्धि तथा तीक्ष्ण और उष्ण द्रव्यों में कमी कर देनी चाहिए।

कफज विकारेषु तीक्ष्णोष्णरूक्षद्रव्याणां वृद्धि निर्देशः।

तीक्ष्णोष्णरूक्षद्रव्याणांमुत्कर्षं तु कफोत्तरे।

का० खि० अ० ८।२२

हि० व्या० – कफप्रधान व्याधि में तीक्ष्ण, उष्ण तथा रूक्षद्रव्यों की वृद्धि कर देनी चाहिए।

सामान्यतो वातशमनानां निरूहयोगानां संकेतः

वातघ्नौषधनिष्क्वाथाः सैन्धव त्रिवृतायुताः।
साम्लाः सुखोष्णा योज्याः स्युर्बस्तयः कुपितेऽनिले॥

सु० चि० ३८।७७, अ० सं० सू० २८।४६, अ० हृ० सू० १७।४५

तत्र वातघ्नौषधानां भद्रदार्वादीनां षोडशपलप्रमितानामष्टगुणजलेऽवधितानां चतुर्भागावशेषेण क्वाथस्य द्वात्रिंशत्पलानि, अत एकपुटकस्यार्थे क्वाथ पलाष्टकं, सैन्धवस्य टङ्कत्रयं, वातव्याधावुक्तस्य त्रिवृतस्य स्नेहस्य षट्पलानि, क्षीराण्यम्लानिमूत्राणीत्यादि वर्गमध्ये यानि बातहर द्रव्याणि तेषां गुडसहितस्य कल्कस्य पलत्रयं, निरूहाङ्गत्वान्मधुनः पलत्रयम्, अनुक्तान्यप्यावापद्रव्याणि वातहराणि प्रयोज्यान्यतो मांसरसस्यैकं पलं, तथा क्षीरस्य काञ्जिकस्य सटङ्काधिकं पलमेवं चतुर्विंशति पलानि भवन्ति। वस्तय इति त्रिपुट चतुः पुटापेक्षं बहुवचनम्। एवं वक्ष्यमाण योगेष्वपि बाच्यम्। डल्हणः।

वातघ्नौषधनिःक्वाथस्त्रिवृतासैंधवैर्युतः।
बस्तिरेकोऽनिले स्निग्धः स्वाद्वम्लोष्णरसान्वितः॥

अ० सं० सू० २८।४६, अ० हृ० सू० १६।४५

हि० व्या०—वातनाशक औषधियों के क्वाथ में सैंधव, निशोथ, तथा अम्ल द्रव्यों को मिलाकर सुखोष्ण बस्तियों का वात प्रकोप में प्रयोग कराना चाहिए।

गृध्रसी तूनीगुल्मादिषु प्रयोज्यः वृषाश्मभेदादि निरुह बस्तिः

वृषाश्मभेदवर्षाभूधान्यगन्धर्वहस्तकैः।
दशमूलबलामूर्वायवकोलनिशाच्छदैः॥
कुलत्थबिल्वभूनिम्बैः क्वथितैः पलसंमितैः।
कल्कैर्मदनयष्ट्याह्वपडग्रन्थामरसर्षपैः॥
पिप्पलीमूल सिन्धूत्थयवानीमिसिवत्सकैः।
क्षौद्रेक्षुक्षीरगोमूत्र सर्पिस्तैलरसप्लुतैः॥
तूर्णमास्थापनं कार्यं संसृष्ट बहुरोगिणाम्।
गृध्रसी शर्कराष्ठीलातूनीगुल्मगदापहम्॥ सु० चि० ३८।६७-७०

वृषाश्मभेदेत्यादि। निशाच्छदः शटी षड्ग्रन्था वचा। वृषादिभूनिम्बान्तानि त्रयोविंशति द्रव्याणि षोडशपलप्रमितानि अष्टाविंशत्यधिकशतपलमितं जलं

दत्त्वा क्वाथयेत्, अतो द्वात्रिंशत्पलानि ग्राह्याणि, अत एक पुटकस्यार्थे क्वाथस्याष्टौ पलानि, मदनादिवत्सकान्तदंशद्रव्याणां कल्कस्य त्रीणि पलानि, इक्षुक्षीरगोमूत्राणां प्रत्येकं सार्धपलं घृतस्य द्वे पले, तैलस्य द्वे, मांसस्यार्धपलम्। संसृष्ट बहुरोगिणामित्यनेन संसर्गसन्निपातरोगप्रशमनत्वमुक्तं स्यात्। तत्र संसर्गो दोषद्वयसमुदायः, सन्निपातस्तु दोषत्रय समुदायः। तत्र संसर्गे द्वयोरेकस्या प्रकर्षं प्रकल्प्य तदपेक्षया क्षौद्रस्नेहाद्यावापद्रव्याणि पूर्वोक्त न्यायेन स्वबुद्ध्य परिकल्प्य प्रयोज्यानि। यदा तु संसर्गस्तुल्यप्रकर्षो भवति तदा क्षौद्रादीनां गुणदोषान्निपुणबुद्ध्या विचार्योत्कर्षापकर्षतया मिश्रमानेन निक्षिप्य चतुर्विंशतिपलानि पूरणीयानि। एवं दोषत्रयसंयोगेऽपि क्षौद्रादिद्रव्याणामुत्कर्षापकर्षः परिकल्पनीयः। डल्हणः।

हि० व्या०—वृषादि आस्थापन बस्ति-वासा, पाषाणभेद, पुनर्नवा, धनियाँ, एरण्ड, दशमूल, बला मूर्वा, जौ, बेर, कचूर, कुलथी, बेलगिरी, और चिरायता को एक-एक पल ग्रहण करके यथाविधि क्वाथ करें। इसमें मदनफल, मुलहठी, वच, देवदारु, सरसों, पिप्पलीमूल, सैन्धव, अजवायन, सौंफ, इन्द्र जौ का कल्क मिलाकर मधु, इक्षु रस, दूध, गोमूत्र, घृत, तैल एवं मांस रस मिलाकर, सन्निपातज रोगों में शीघ्र शमन के लिए आस्थापन प्रयोग कराना चाहिए। इसके प्रयोग से गृध्रसी, शर्करा, वाताष्ठीला, तूनी एवं गुल्म रोग नष्ट होते हैं।

महावातव्याधौ विशेषतः प्रयोज्यः शम्पाकोरुबूक आदि निरुहबस्ति प्रयोगः।

शम्पाकोरुबुवर्षाभूवाजिगन्धानिशाच्छदैः।
पञ्चमूलीबलारास्नागुडूचीसुरदारुभिः॥
क्वथितैः पालिकैरेभिर्मदनाष्टकसंयुतैः।
कल्कैर्मार्गधिकाम्भोदहपुषामिसिसैन्धवैः॥
वत्साह्वयप्रियङ्गुग्रायष्ट्याह्वयरसाञ्जनैः।
दद्यास्थापनं कोष्णं क्षौद्राद्यैरभिसंस्कृतम्॥
पृष्ठोरुत्रिकशूलाश्मविण्मूत्रानिलसङ्गिनाम्।
ग्रहणीमारुतार्शोघ्नं रक्तमांसबलप्रदम्॥ सु० चि० ३८।४३।४६

शम्पाकः किरमालकः। निशाच्छदः शटी। पञ्चमूली अत्र ह्रस्वा। अम्भोदः मुस्ता। तत्र शम्पाकादीनि सुरदारुपर्यन्तानि चतुर्दशपलप्रमितानि, मदनाष्टकसंयुतानि चतुर्भिर्मदनफलैः पलं भवति। एवं षोडश पलानि द्रव्याणि जर्जरीकृत्याष्टगुणमष्टाविंशत्यधिकशतपलप्रमाणं जलं दत्त्वा क्वाथयेद् यावद्द्वात्रिंशत् पलानि भवन्ति, ततो वस्त्रपूतं कृत्वाऽष्टपलं क्वाथं गृह्णीयात्; चतुर्वारप्रयोजनोऽयं क्वाथः, द्वितीयं वा तृतीयं वेत्यादिनोक्तत्वात्। ततश्च गम्भीरं ताम्रभाजनमानीय, टङ्कत्रय परिमितं सैन्धवं निक्षिप्य, क्षौद्रमित्यु-

वत्वात् पलत्रयपरिमितं मधु च करतलेन मथ्नीयात्, ततः सैन्धवमधुनी एकीकृत्यक्षौद्राद्यैरभिसंस्कृतमित्यत्राद्यशब्देन स्नेह क्षीरकाञ्जिकमूत्रमांसरसादीनां संगृहीतत्वात् षट्पल प्रमाणं पक्वं तैलं प्रक्षिप्य मथ्नीयात्; तदनु चैकीभूते स्नेहे मागधिकादिरसान्जनपर्यंतनवद्रव्यचूर्णं सैंधवटङ्कत्रयेण पलत्रयप्रमितं निक्षिप्तो भवति; ततश्च द्वात्रिंशत्पल परिमितक्वाथमध्यादष्टौ पलानुद्धृत्य तत्र निक्षिपेत्; तदनु च मांस रसस्य सार्धपलं काञ्जिकस्यार्धं पलं, तथा गोमूत्रस्यापि तत्र निक्षिप्यते। एवं चतुर्विंशति पलानि भवन्ति। एवं द्वितीयं तृतीयं चतुर्थं वा पुटकं दद्यात्। अयं बस्तिर्वातरोगे च प्रयोज्यः। डल्हणः।

हि०—वातादिदोषानुसार ये बस्तियाँ प्रयुक्त कराई जाने पर नाना प्रकार के रोगों को नष्ट करती हैं। अमलतास, एरण्ड, पुनर्नवा, गुडूची, देवदारु एक-एक पल तथा आठ नग मदनफल, इस प्रकार इन सोलह पल द्रव्यों का क्वाथ तैयार करें और इसमें पिप्पली, नागरमोथा, हाउ वेर, सौंफ, सैन्धव, इन्द्र जौ, प्रियंगु, मुलेठी तथा रसौत का कल्क मिश्रित कर मधु आदि से संस्कृत करके सुखोष्ण आस्थापन का प्रयोग कराना चाहिए।

इसके प्रयोग से पृष्ठ से उरू और कटि शूल, अश्मरी, मल, मूत्र वायु का अवरोध, ग्रहणी, वात तथा अर्श रोग नष्ट होते हैं तथा रक्त, मास एवं बल की वृद्धि होती है।

सर्वमारुतरोगघ्नः वयः स्थापनाश्च गुडूची त्रिफलादि निरूहः।

गुडूची त्रिफला रास्ना दशमूलबलापलैः।
क्वथितैः श्लक्ष्णपिष्टैस्तु प्रियङ्गुघनसैन्धवैः॥
शतपुष्पावचाकृष्णायवानीकुष्ठबिल्वजैः।
सगुडैरक्षमात्रैस्तु मदनार्धपलान्वितैः॥
क्षौद्रतैलघृतक्षीरशुक्तकाञ्जिकमस्तुभिः।
समालोड्यच मूत्रेण दद्यादास्थापनं परम्॥
तेजोवर्णबलोत्साहवीर्याग्नि प्राणवर्धनम्।
सर्वमारुतरोगघ्नं वयः स्थापनमुत्तमम्॥ सु० चि० ३८।४७-५०

गूडूचीत्यादि। पलं मासम्। शेषं प्रसिद्धम्। गुडुच्यादीनि बलान्तानि षोडशद्रव्याणि प्रत्येकं पलमितानि, तथा मांसस्यापि षोडश पलानि, एवं सप्तदशद्रव्याणि द्वात्रिंशत्पलपरिमितानि, मांसस्य बहुलत्वाच्चतुर्गुणं षट्त्रिंशदधिकशतपलप्रमाणं जलं दत्वा क्वाथयेत्, ततश्चतुर्थांशावशिष्टानि द्वात्रिंशत्पलानि ग्राह्याणि, अत एक पुटकस्यार्थे पलाष्टकं ग्राह्यम्। प्रियंग्वादिद्रव्यकल्को यथोक्त प्रमाणेन। बिल्वजं बिल्वफलम्। मधु पूर्ववत्, तैलघृते च पूर्ववत्, क्षीरस्य द्विपलं; शुक्तकाञ्जिकमस्तुगोमूत्राणां प्रत्येकमर्धपलमित्येवं चतुर्विंशतिपलानि भवन्ति। द्रव्यनिक्षेपक्रमः पूर्ववत्। तेजोवर्णेत्यादि तेजस्त्वगतं भ्राजकाग्निसंज्ञं पित्तम्। वर्णो गौरादिः। बलं मांसोपचयः। उत्साहः

चैतसिको धर्मः। वीर्यं शक्तिः। प्राणा अग्नीषोमादयः। अयमपि वाते वात रोगे च योज्यः। डल्हणः।

हि०—गुडूची, त्रिफला, रास्ना, दशमूल और बला समभाग (एक एक पल) मांस सोलह पल लेकर एक सौ छत्तीस पल पानी में क्वाथ करना चाहिए। चतुर्थांश शेष छानकर एक पुटक के लिए आठ पल लेकर, प्रियंगु, मुस्ता, सैन्धव, सौंफ, वच, पिप्पली, अजवायन, कूठ, बिल्व, इनका बारीक कल्क और गुड एक एक अक्ष मिलाकर इसमें मैन फल, आधा पल, मधु, घी, दूध, शुक्त, कांजी, मस्तु और मूत्र इन सबको घोलकर आस्थापन देना चाहिए। इस निरूह बस्ति के प्रयोग से तेज, वर्ण, बल, उत्साह, वीर्य, अग्नि और प्राण बढ़ता है। सभी प्रकार के वात रोग नाशक है तथा वयः स्थापन करने वाला है।

वातरोगे गाढ़ स्नेह निरूहः।

अशुद्धमपि वातेन केवलेनातिपीडितम्।
स्नेहप्रगाढमंतिमान्निरूहैः समुपाचरेत्॥ वंङ्गसेन

हि०—अशुद्ध शरीर वाले व्यक्ति को तथा केवल मात्र वात से पीड़ित व्यक्ति को प्रगाढ़ स्नेहों द्वारा निरूहण बस्ति का प्रयोग कराना चाहिए।

केवल वातनुत् निरूह योगः।

एकैकः प्रसृतस्तैलप्रसन्नाक्षौद्रसर्षिषाम्।
बिल्वादिमूलक्वाथाद्ढौ कौलत्थाद्ढौ सवातनुत्॥
च० सि० ८।५; आ० सं० क० ४।२३

बिल्वादिमूलं दशमूलम्। स वातनुदिति स वस्तिवानं हन्तीति। चक्रपाणिः।

हि० व्या०—अष्टमात्रिक बस्ति में तेल एक प्रसृत (आठ तो०), प्रसन्ना एक प्रसृत, मधु एक प्रसृत, घृत एक प्रसृत तथा बिल्वादि पचमूल का क्वाथ सोलह तोला, कुलथी का क्वाथ सोलह तोला, सभी को ग्रहण करके भली प्रकार मथकर निर्मित बस्ति वातरोगों में हितकर है। आचार्य चक्रपाणिदत्त के अनुसार बिल्वादि मूल में दशमूल का ग्रहण करना चाहिए।

वातघ्नो बलवर्णकृत् निरुहयोगः।

क्षीराद्ढौ प्रसृतौ कार्यौ मधुतैल घृतात्त्रयः।
खजेन मथितो वस्तिर्वातघ्नो बलवर्णकृत्॥
च० सि० ८।४ अ० सं० क० ४।१२

प्रसृतं पलद्वयम्। मधुतैलघृतात्त्रय इतिमिलितात्। अत्र च यथोक्तैरेव द्रव्यबस्तिर्देयः; तेने नेतरबस्तिन्यायेनानुक्तकल्कादिकल्पना; यत्र नियतमानद्रव्यविभागेन बस्त्यभिधानम्, तत्र सामान्यबस्तिद्रव्यमानावकाशः; यत्र त्वेकदेशकथनं तत्र निरूह योगितयोक्त द्रव्य मानाधिकारः; सैन्धवप्रवेशस्त्वत्याज्य एव। चक्रपाणिः।

हि० व्या०—दूध सोलह तो० मधु ८ तो० तैल आठ तोला घृत आठ तोला इन सभी को मिलाकर भली प्रकार मथकर तैयार की गई निरूहबस्ति बल एवं वर्ण को बढ़ानेवाली तथा वात को दूर करने वाली है।

पित्तशमनानां निरूहयोगानां संकेतः।

न्यग्रोधादिगणः क्वाथाः काकोल्यादि समायुताः।
विधेया वस्तयः पित्ते ससर्पिष्काः सशर्कराः॥

सु० चि० ३८।७८

न्यग्रोधादीनां षोडशपलप्रमितानां क्वाथः पूर्ववत् अत एक पुटकस्यार्थे क्वाथ पलाष्टकं, काकोल्यादेः कल्कीकृतस्य पलद्वयं, घृतस्य चत्वारिपलानि, शर्करायाः पलम्, एतेन काकोल्यादिपलद्वयेन शर्करायाः पलसहितेन कल्कपलत्रयं, निरूहाङ्गत्वादनुक्तस्यापि सैन्धवस्याक्षं, तथा मधुनोऽपि चात्वारि पलानि, क्षीराण्यम्लानि मूत्राणि, इत्यादि वर्गमध्ये यानि पित्तहरद्रव्याणि तान्यपि प्रक्षेपणीयानि, तेनेक्षुरसस्य पलं, क्षीरस्य पादोनं पलचतुष्टयमित्येवं चतुर्विंशति पलानि भवन्ति। डल्हणः।

हि० व्या०—पित्तज रोगों में न्यग्रोधादि गणकी औषधियों के साथ कालोल्यादि गण की औषधियों के क्वाथ में घृत एवं शर्करा मिलाकर पित्त प्रकोप में इन निरूहबस्ति योग का प्रयोग करना चाहिए।

पित्तरोगेषु प्रयोज्यः कुशपञ्चमूलादि निरुह बस्ति प्रयोगः।

कुशादिपञ्चमूलाब्द त्रिफलोत्पलवासकैः।
सारिवोशीरमञ्जिष्ठारास्ना रेणुपरुषकैः॥
पलिकैः क्वथितैः सम्यग् द्रव्यैरेभिश्चपेषितैः।
शृङ्गारकात्मगुप्तेभकेसरागुरुचन्दनैः॥
विदारीमिसिमञ्जिष्ठाश्यामेन्द्रयवसिन्धुजैः।
पलपञ्चकयष्ट्याह्वैः क्षौद्रक्षीरघृताप्लुतैः॥
दत्तमास्थापनं शीतमम्लहीनैस्तथा द्रवैः।
दाहासृग्दरपित्तासृक्पित्तगुल्मज्वराञ्जयेत्॥ सु० चि० ३८।५१।५४

कुशकासनलदर्भकाण्डेक्षव इति कुशादिपञ्चमूलम्। अब्दो मुस्ता, उत्पलं नीलोत्पलम्, रेणुः पर्पटकः। आत्मगुप्ता कपिकच्छूकः, श्यामा प्रियङ्गुः। फलं मदनफलम्। पेषितैः पिष्टैः। कुशादि सप्तदशद्रव्याणि पलप्रमितानि, अष्टगुणं षट्त्रिंशदधिकपलशतप्रमाणं जलं दत्त्वा क्वाथयेत्, ततश्चतुर्थांशावशिष्टानि चतुस्त्रिंशत् पलानि ग्राह्याणि। अत एक पुटकस्यार्थे क्वाथपलाष्टकं ग्राह्य, शृङ्गाटकादि यष्टीमधुकान्तानां पञ्चदशद्रव्याणां कल्कं पलत्रयप्रमाणं, 'पित्ते नाति बहुक्षौद्रं' इत्युक्तत्वान्मधुनश्चत्वारि पलानि, क्रुद्धे पित्तेऽष्टमो भागः स्नेहस्येत्युक्तत्वाद् घृतस्य चत्वारिपलानि, क्षीरस्य पलद्वयं, 'अम्लहीनैस्तथा द्रवैः" इत्युक्तत्वान्मांसरसस्यैकं पलं इक्षुरसस्यपलद्वयं, एवं चतुर्विंशति पलानि

भवन्ति। द्रव्याणां निक्षेपक्रमः पूर्ववत्। अयं बस्तिः पित्ते पित्तरोगे च प्रयोज्यः। 'विदारीमिसिमञ्जिष्ठा' इत्यत्र मिसिस्थाने विषेति केचित् पठन्ति, तत्र विषम् अतिविषाः; विषं वा वालकं, तोय नामत्वात्। डल्हणः।

हि० व्या०—कुश, काश, नल, दर्भ, इक्षु, मुस्ता, त्रिफला, नीलकमल, अडूसा, सारिवा, खस, मजीठ, रास्ना, रेणु (पर्पटक), फालसा, इनको एक-एक पल की मात्रा में लेकर क्वाथ करना चाहिए। इसमें सिंघाड़ा, कौंच, नागकेशर, अगरू, चन्दन, विदारी, सौंफ, मजीठ, निशोथ, इन्द्र जौ, सैन्धव, मैनफल, पद्माख, मुलेठी इनका बारीक पिसा कल्क, मधु, दूध, घी, इनका प्रक्षेप मिलाकर विधिवत् मथकर तैयार की गई निरूह बस्ति (शीतल होने पर) देना चाहिए। इसमें कांजी आदि अम्ल द्रव्य न मिलाया जाए। यह दाह, रक्तप्रदर, पित्तरक्त, पित्तगुल्म और ज्वर में लाभकारी है।

पित्तनाशनो निरुहः।

त्रिफलासारिवाश्यामा बृहत्यौ वत्सकत्वचम्।
त्रायमाणाबलारास्नागुडूचीनिम्बमकूलकम्॥
... ... कल्पयेत्।
महासहा शकयवाः शतपुष्पाऽथ वत्सकः॥
मधूकांशूमतीद्राक्षाः समुद्रान्ताऽथ बालकम्।
क्षीरक्षौद्रघृतोपेतो निरूहः पित्तनाशनः॥ का० सि० ८।

हि० व्या०—त्रिफला, सारिवा, त्रिवृत्, दोनों कण्टकारी कुटज छाल, त्रायमाण, बला, रास्ना, गिलोय, नीमः पटोल पत्र, मापपर्णी, इन्द्रजौ, सौंफ, कुटज, महुआ, शालपर्णी, द्राक्षा, अपराजिता, तथा नेत्र वाला इत्यादि के यथाविधि सिद्धकषाय में दूध, मधु, एवं घृत मिलाकर निर्मित निरूह पित्त रोगों में उपयोगी है।

पित्तरोगे निरुहण बस्तियोगः।

न्यग्रोधादिगणक्वाथौ पद्मकादिसितायुतौ।
पित्ते स्वादु हिमौ साज्यक्षीरेक्षुरसमाक्षिकौ॥

अ० सं० सू० २८।४१ अ० हृ० सू० १९।४९

पित्ते मधूर शिशिरौ सघृतदुग्धेक्षुरसमधू द्वौ वस्ती हितौ। अरुणदत्तः।

हि० व्या०—पित्त में न्यग्रोधादिगण की ओषधियों का क्वाथ पद्मकादिगण की ओषधियों का कल्क तथा मिसी मिलाकर दूध, घृत, इक्षु रस एवं मधु आदि मधुर तथा शीतलद्रव्य मिलाकर बस्ति देनी चाहिए।

पित्तविकारे मधुयष्ट्यादि बस्तिः।

यष्ट्याह्वयस्याष्टपलेन सिद्धं
पयः शताह्वाफलपिप्पलीभिः।

युक्तं ससर्पिर्मधु वातरक्त-
वैश्वर्यवीसर्पहितो निरूहः ॥

च० सि० ३।४६ अ० सं० क० ४।६

हि० व्या०—आठ पल (चौंसठ तो०) मधुयष्टि को दूध में यथाविधि पाककर उसमें सौंफ, मदनफल तथा पिप्पली का चूर्ण या कल्क मिला दें, तथा मात्रा घृत, एवं मधु भी मिश्रित करें। इस विधि से निर्मित निरूहबस्ति का वातरक्त, स्वरभेद तथा विसर्प के रोगियों में प्रयोग कराना चाहिए।

अपि च—

यष्ट्याह्वलोध्राभयचन्दनैश्च
शृतं पयोऽग्र्यं कमलोत्पलैश्च।
सशर्करं क्षौद्रयुतं सुशीतं
पित्तामयान् हन्ति सजीवनीयम् ॥

च० सि० ३।४७ अ० हृ० क० ४।११ अ० सं० क० ४।६

हि० व्या०—मधुयष्टि, लोध्र, लालचन्दन तथा नीलकमल के कल्क से विधिपूर्वक पाक किए हुए दूध में मिश्री मधु और घृत मिला दें, यथावश्यक जीवनीयगण का कल्क भी मिश्रित करें। इस बस्ति का पित्त रोगों में प्रयोग लाभकारी है।

पित्तरोगे द्राक्षादि निरुह बस्तिः।

द्राक्षर्द्धिकाश्मर्यमधूकसेव्यैः
ससारिवाचन्दनशीतपाक्यैः।
पयः शृतं श्रावणिमुद्गपर्णी-
तुगात्मगुप्तामधुयष्टिकल्कैः ॥
गोधूमचूर्णेश्च तथाऽक्षमात्रैः
सक्षौद्रसर्पिर्मधुयष्टि तैलैः।
पथ्याविदारीक्षुरसेगुडेन
बस्तिं युतं पित्तहरं विदध्यात् ॥
हृन्नाभिपार्श्वोत्तमदेहदाहे
दाहेऽन्तरस्थे च सकृच्छ्रमूत्रे
क्षीणे क्षते रेतसि चापि नष्टे
पैत्तेऽतिसारे च नृणां प्रशस्तः। च० सि० ३।५१५५

द्राक्षादिनिरूहबस्तिः—मुनक्का, ऋद्धि, गम्भारी का फल, महुआ, खस, अनन्तमूल, चन्दन, शीतल चीनी इन द्रव्यों के कल्क से सिद्ध दूध में गोरख-मुण्डी, मुद्गपर्णी, वंशलोचन, केवाचकावीज, मुलेठी और गेहूं का आटा इनको एक-एक तोला की मात्रा में लेकर कल्क बना दूध में मिला दें, तथा मधु, घृत, मुलेठी से सिद्ध तेल, विदारीकन्द का स्वरस, ईंख का रस, गुड़ इन्हें

उचित मात्रा में मिलाकर निरुहबस्ति का प्रयोग करना चाहिए। यह बस्ति पित्तनाशक है। इसका उपयोग हृदय, नाभि, पार्श्व, शिरोरोगजन्यदाह, उदर गत दाह रोग में, मूत्रकृच्छ्र, क्षीण, क्षत और शुक्र के नष्ट हो जाने पर एवं पित्तातिसार में (निरूहबस्तिद्वारा) करना चाहिए।

पित्तरोगे चन्दनादि बस्ति।

द्विकार्षिकाश्चन्दनपद्मकर्धि-
यष्ट्याह्वरास्नावृषसारिवाश्च।
सलोध्रमञ्जिष्ठमथाप्यनन्ता-
बलास्थिरादितृणपञ्चमूलम् ॥
तोये समुत्क्वाथ्य रसेन तेन
शृतं पयोऽर्धाढकमम्बुहीनम् ॥
जीवन्तिमेदर्धिशतावरीभि-
र्वीराद्विकाकोलिकशेरुकाभिः।
सितोपलाजीवकपद्मरेणु-
प्रपौण्डरीकैः कमलोत्पलैश्च
लोध्रात्मगुप्तामधुकैर्विदारी
मुञ्जातकैः केशरचन्दनैश्च।
पिष्टैर्घृतक्षौद्रयुतं निरूहं
ससैन्धवं शीतलमेव दद्यात् ॥
प्रत्यागते धन्वरसेन शालीन्
क्षीरेण वाऽद्यात् परिषिक्त गात्रः।
दाहातिसार प्रदरान्त्रपित्त-
हृत्पाण्डुरोगान् विषमज्वरं च ॥
सगुल्ममूत्रग्रहकामलादीन्
सर्वामयान् पित्तकृतान्निहन्ति ॥

च० सि० ३।४८ ५२ अ० हृवे क० ४।१२-१६

चन्दनादि निरुहबस्तिः—

हि० व्या०—चन्दन, पद्मकाष्ठ, ऋद्धि, मधुयष्ठी, रास्ना, अडूसा, अनन्तमूल, लोध, मजीठ, अनन्ता (दुरालभा), बलामूल, स्थिरादि वर्ग (सखिन, पिठिवन, बड़ी कटेरी, भटकटैया, गोखरू), तृणपञ्चमूल (सर्पत का मूल, ईख का मूल, दर्भ का मूल, कास का मूल, शालिधान का मूल), प्रत्येक २-२ तोला इन सभी को यवकूटकर आठ गुने जल में क्वाथ करना चाहिए।

चतुर्थांश शेष रहने पर छान लें। इस क्वाथ में आधा आढक दूध पकाना चाहिए। दुग्धशेष उतार कर उस जीवन्ती, मेदा, ऋद्धि, शतावर, क्षीर विदारी, काकोली, क्षीर काकोली, कसेरू, मिश्री, जीवक. कमल का पराग, पुण्डरियाकाष्ठ, लाल कमल, नील कमल, लोध, केवाच के बीज, मुलेटी, विदारीकन्द, मुञ्जातक (तालमस्तक), नागकेशर, चन्दन इन सभी द्रव्यों को (पीसकर) कल्क तैयार कर उपरोक्त क्वाथ में मिला दें और उचित मात्रा में घृत, मधु और सैंधव मिला लेना चाहिए। शीतल होने पर निरूह बस्ति में उपयोग करना चाहिए। औषधि निकल जाने पर रोगी को स्नान कराकर जाङ्गल पशुपक्षियों के मांसरस के साथ अथवा दूध के साथ आहार (शालि चावल) देना चाहिए।

गुण तथा उपयोग—यह निरूहबस्ति दाह, अतिसार, प्रदर, रक्तपित्त, हृदय रोग, पाण्डुरोग, तथा विषमज्वर नाशक है। गुल्म, मूत्रकृच्छ, कामला और पित्तदोषजन्य सभी रोगों को दूर करती है। अष्टाङ्ग हृदय में इस योग को रास्नादि निरूहबस्ति' के नाम से लिखा गया है।

स्थिरादि निरूह बस्तिः।

स्थिरादिवर्गस्य बला पटोल-
त्रायन्तिकैरण्डयवैर्युतस्य
प्रस्थोरसाच्छागरसार्धयुक्तः
साध्यः पुनः प्रस्थसमस्तु यावत् ॥
प्रियङ्गुकृष्णाधनकल्कयुक्तः।
सतैलसर्पिर्मधुसैन्धवश्च ॥
स्याद्दीपनो मांसबलप्रदश्च।
चक्षुर्बलं चापि ददाति बस्तिः ॥

च० सि० ३।३६-३७ अ० सं० क० ४।३

हि०—लघु पंचमूल बला, पटोल पत्र, त्रायमाणा, एरण्डमूल तथा जौ, इन सभी को (यथा मात्रा) एक-एक प्रस्थ ग्रहण कर विधिवत् पाक करें। इसमें बकरे का मांस आधा प्रस्थ मिला दें। इस योग को पुनः आग पर पकायें जब एक प्रस्थ शेष रहे तब पिप्पली, प्रियंगु, नागरमोथा इनका यथावश्यक कल्क, तैल, घृत, मधु एवं सैन्धव (बलादि निरूह योग के समान) प्रयोग में लाना चाहिए। यह निरूह अग्निदीपक, मांस एवं बलवर्धक तथा बलवर्धक तथा नेत्र ज्योतिवर्धक है।

निरूहे मांसरस प्रयोगः

चतुष्पले तैलघृतस्य भृष्टा-
च्छागाच्छतार्धो दधिदाडिमाम्लः

रसः स पेष्यो बलमांसवर्ण-
रेतोग्निदश्चान्ध्यशिरोतिशस्तः ॥

च० सि० ३।४३ अ० सं० क० ४।१२

हि० व्या०—बस्ति में मांस का प्रयोग बताते हुए लिखा है कि स्वच्छ करके ग्रहण किए हुए बकरे के मांस को चार पल घृत एवं तैल में भून लें इसमें दधि एवं अनार मिला दें। बलादि बस्ति में वर्णित कल्क यथा मात्रा मिला दें। यह विरुह बस्ति बल, वर्ण, मांश, शुक्र और जठराग्नि की शक्ति को बढ़ाने वाली होती है। अन्धेपन एवं शिर की वेदना को भी शान्त करती है।

पलाशादि बस्तिः

जल द्विकंतेऽष्टपलं पलाशात्
पक्त्वा रसोऽर्धाढकमात्रशेषः।
कल्कैर्वचासागधिकापलाभ्यां
युक्तः शताह्वाद्विपलेन चापि ॥
ससैन्धवः क्षौद्रयुतः सतैलो
देयो निरूहो बलवर्णकारी।
आनाहपार्श्वामययोनिदोषान्
गुल्मानुदावर्तरुजं च हन्यात् ॥

च० सि० ३।४४-४५

हि० व्या०—पलाशादि बस्तिः—दो आढ़क जल में आठ पल पलाश डालकर यथाविधि क्वाथ करें चतुर्थांश शेष रह जाए तब छानकर वल और पिप्पली एक-एक पल (४ तो०), तथा सौंफ आठ तोले का कल्क बनाकर छोड़ दें। यथा मात्रा सैन्धव, मधु एवं तैल मिलाकर तैयार करें। यह निरुह बल, वर्ण की वृद्धि करने वाली तथा आनाह, पार्श्वशूल, योनिदोष, गुल्म और उदावर्त रोगों का शमन करने वाली है।

कफरोगे रास्नादि निरूह बस्तिः।

रास्नामृतैरण्डविडङ्गदार्वी
सप्तच्छदोशीरसुराह्व निम्बैः।
शम्पाकभूनिम्बपटोलपाठा-
तिक्ताखुपर्णीदशमूलमुस्तैः ॥
त्रायन्तिकाशिग्रुफलत्रिकैश्च
क्वाथः सपिण्डीतकतोयमूत्रैः।
यष्ट्याह्वकृष्णाफलिनीशताह्वा
रसाञ्जनश्वेतवचाविडङ्गैः।
कलिङ्गपाठाम्बुदसैन्धवैश्च
कल्कैः ससर्पिर्मधुतैलमिश्रैः ॥
अयं निरूहः कृमिकुष्ठमेह-
ग्रन्थ्युदराजीर्णकफातुरेभ्यः ॥

रूक्षौषधैरप्यपतर्पितेभ्यः
एतेषु रोगेष्वपि सत्सु दत्तः।
निहत्य वातं ज्वलनं प्रदीप्य
विजित्य रोगांश्च बलं करोति ॥ च० सि० ३।६१-६४

रास्नादि निरुह बस्ति—

हि०—रास्ना, गुडूची, एरण्डमूल, बायविडंग, दारुहल्दी, सप्तपर्ण, खश, देवदार, नीम की छाल, अमलतास की छाल, चिरायता, पटोलपत्र, पाठा, कुटकी, मूर्वा, दशमूल, मोथा, त्रायमाणा, सहिजन की छाल, आँवला, हरड़, बहेरा, इन सभी औषधियों को समान भाग में (लेकर) कूटकर आठ गुने जल में मिलाकर क्वाथ करें। चतुर्थांश शेष रहने पर मदनफल, सुगंध वाला, गोमूत्र, मुलेठी, पीपर, प्रियंगु, सौंफ, रसवत, श्वेतवच, बायविडंग, इन्द्रयव, पाठा, मोथा इनका कल्क बनाकर मिला दें। घृत, मधु और सरसों का तेल भी उचित मात्रा में मिलाकर निरुह बस्ति तैयार कर प्रयोग करना चाहिए। इसका उपयोग कृमि रोग, कुष्ठ, प्रमेह, बद्धन, उदर रोग, अजीर्ण और कफजन्य रोग से ग्रस्त व्यक्तियों में करना चाहिए। रूक्ष औषधिजन्य अपतर्पण की अवस्था में भी यह निरुह बस्ति प्रयोग करना चाहिए। इससे वात रोग दूर होता है। अग्नि प्रदीप्त होती है। और शरीर में बलसंजनन होता है।

कफ शमनानां निरुहयोगानां संकेतः।

आरग्वधादिनिष्क्वाथाः पिप्पल्यादि समायुताः।
सक्षौद्रमूत्रा देयाः स्युर्बस्तयः कुपिते कफे ॥ सु० चि० ३८।७८

आरग्वधादीनां षोडशपलप्रमितानां क्वाथः पूर्ववतः अत एक पुटकस्यार्थे क्वाथपलाष्टकं, पिप्पल्यादिकल्कस्य पलत्रयं, मधुनः षट्पलानि, अनुक्तस्यापि सैन्धवस्य टङ्कत्रयं तथा कटुतैलस्य त्रीणि पलानि, मूत्रस्य सप्तटङ्काधिकानि त्रीणिपलानि, इत्येवं चतुर्विंशतिपलानि भवन्ति। डल्हणः।

हि० व्या०—आरग्वधादि गण की औषधियों के साथ पिप्पल्यादि गण की औषधियाँ मिलाकर क्वाथ तैयार करें। उसमें मधु एवं गोमूत्र मिलाकर कफ प्रयोग में निरुह बस्ति का उपयोग करना चाहिए।

आरग्वधादि गण की औषधियां सोलह पल का क्वाथ करना चाहिए। एक पुटक (एक बस्ति) के लिए क्वाथ आठ पल, पिप्पल्यादि गण की औषधियों का कल्क तीन पल, मधु छः पल, सैंधव लवण तीन माशा, सरसों तेल तीन पल, मूत्र तीन पल सात माशा ग्रहण करें।

आरग्वधादि निः क्वाथ वत्सकादि युतास्त्रयः।
रूक्षाः सक्षौद्रगोमूत्रास्तीक्ष्णोष्णकटुकाः कफे ॥
अ० सं० सू० २८।५, आ० हृ० सू० १९-४७

तथाऽऽरग्वधेंद्रयवेत्यादिकषाय वत्सकमूर्वेत्यादिकषायाभ्यां युक्ता रूक्षा माक्षिकगोमूत्राभ्यां सहितास्तीक्ष्णादि गुणयुक्तास्त्रयो बस्तयः कफे हिताः। अरुणदत्तः।

हि०—कफजन्य विकारों में आरग्वधादिगण का क्वाथ, वत्सकादिगण का कल्क तथा रूक्षण युक्त मधु, गोमूत्र, तीक्ष्ण, उष्ण एवं कटु द्रव्यों को यथा मात्रा मिश्रित कर तीन तीन बस्तियाँ देनी चाहिए।

मेदस्विषु कफरोगग्रस्तेषु प्रयोज्यः भद्रनिम्बकुलत्थादि निरुहबस्ति योगः।

भद्रनिम्बकुलत्थार्क कोशातकपयूषामरैः।
सारिवा बृहतीपाठामूर्वारग्वधवत्सकैः ॥
क्वाथः कल्कस्तु कर्तव्यो वचामदनसर्षपैः।
सैन्धवामरकुष्ठैलापिप्पलीबिल्वनागरैः ॥
कटुतैलमधुक्षारमूत्रतैलाम्लसंयुतैः।
कार्यमास्थापनं तूर्णं कामलापाण्डुमेहिनाम् ॥
मेदस्विनामनग्नीनां कफरोगाशनद्विषाम्।
गलगण्डगरग्लानिश्लीपदोदररोगिणाम् ॥ सु० चि० ३८।६०-६३

भद्रा कट्फलं, भद्रादि वत्सकान्तानां त्रयोदशद्रव्याणां षोडश पलानि अष्टगुणमष्टाविंशत्यधिक शतपलप्रमाणं जलं दत्त्वा क्वाथयेत्, अतो द्वात्रिंशत् पलानि ग्राह्यानि, अत एक पुटकस्यार्थे, क्वाथ पलाष्टकं, वचादि नागरान्तानां दशद्रव्याणां कल्कस्य पलत्रयं, कटुतैल तिलतैलयोस्त्रीणि पलानि कफेऽष्टम् इत्युक्तत्वात् मधुनः पुनः षट्पलानि, यवक्षारस्यैकपलं, मूत्रस्य सार्धपलं तथा काञ्जिकस्य एवं चतुर्विंशति पलानि। द्रव्य निक्षेप क्रमः पूर्ववत्। अयं बस्ति कफे कफ रोगे च योज्यम्। डल्हणः।

भद्रा भद्रमुस्तकम्। कोशातकी घोषक भेदः। अमरो देवदारुः हारीणच०।

हि० व्या०—कायफल, नीम, कुलथी, मदार (अर्क) कोशातकी, (कटवी तोरी), गिलोय, देवदारु, सरिवा, बड़ी कण्टकारी, पाठा, मूर्वा, अमलतास, तथा इन्द्र जौ का क्वाथ तैयार करके इसमें वच, मदनफल, सरसों, सैंधव नमक, देवदारु, कुठ, एला, पिप्पली, बिल्व तथा सौंठ का कल्क मिलाकर, सरसों का तेल, मधु, यवक्षार, गोमूत्र, तिल तैल तथा कांजी आदि अम्ल द्रव्य मिला दें। यह आस्थापन, कामला, पाण्डु, प्रमेह पीडित, मेदस्वी, अग्निमांद्य, कफजरोगी, अन्न द्वेषी, गलगण्ड, गरविष, ग्लानि, श्लीपद एवं उदर रोगों में शीघ्र आस्थापन बस्ति का प्रयोग लाभकारी है।

कफगुल्मविकारिषु प्रयोज्यः दशमूलादि निरुहः।

दशमूलीनिशाबिल्वपटोलत्रिफलामरैः।
क्वथितैः कल्कपिष्टैस्तु मुस्तसैंधवदारुभिः ॥

पाठामागधिकोन्द्राह्वैस्तैलक्षारमधुप्लुतैः ।
कुर्यादास्थापनं सम्यङ्मूत्राम्लफलयोजितैः ॥
कफपाण्डुगदालस्यमूत्रमारुतसंगिनाम् ।
आमाटोपापचीश्लेष्मगुल्मक्रिमिविकारिणाम् ॥

सु० चि० ३८।६४-६६

इन्द्राह्वयः कुटजः । दशमूलाद्यमरान्तत सप्तदशद्रव्याणि अष्टगुणं षट्त्रिंशदधिकशतपलप्रमाणं जलं दत्त्वा क्वाथयेत्, अतश्चतुस्त्रिंशत्पलानि ग्राह्याणि, अत एक पुटकस्यार्थे क्वाथपलाष्टकं, ग्राह्यं, मुस्तादीन्द्राह्वान्त षड्द्रव्याणां कल्कं पूर्ववत्, तथा तैल मधुनोः प्रत्येकं चत्वारिपलानि, क्षारस्यार्धपलं, मूत्रस्य सार्धपलं, तथा काञ्जिकस्य सार्धपलं, मदनफलस्य सार्धपलमित्येवं चतुर्विंशति पलानि भवन्ति । द्रव्य निःक्षेपक्रमः पूर्ववत् । अयमपि बस्तिः कफे कफ रोगे च प्रयोज्यः । डल्हणः ।

दशमूलादि निरूहः

हि० व्या०—दशमूल, हल्दी, वेलगिरी, पटोलपत्र, त्रिफला एवं देवदारु का क्वाथ तैयार करके इसमें नागरमोथा, सैंधव नमक, दारुहल्दी, पाठा, पिप्पली एवं कुटजका कल्क मिलाकर, तिल तैल यवक्षार, मधु, गोमूत्र, अम्ल द्रव एवं मदनफल भलीभाँति मिलाकर आस्थापन बस्ति तैयार करें । इससे पाण्डु, आलस्य, मूत्र एवं वातावरोधजन्य पीड़ा, आमदोष, आटोप, अपची, कफज गुल्म तथा क्रिमिविकार युक्त रोगियों को इसका प्रयोग कराना चाहिए ।

कफरोगे द्विपञ्चमूलादि (दशमूलादि) निरुह बस्तिः ।

द्विपञ्चमूले त्रिफलां सबिल्वां
फलानिगोमूत्रयुतः कषायः ।
कलिङ्गपाठापलमुस्तकल्कः
ससैन्धवक्षारयुतः सतैलः ॥
निरूह मुख्यः कफजान् विकारान्
सपाण्डुरोगालसकामदोषान् ॥
हन्यात्तथा मारुतमूत्रसङ्गं
बस्तेस्तथाऽऽटोपमथापिघोरम् ॥ च० सि० ३।५६-६०

हि० व्या०—दशमूलादि निरूहबस्तिः-दशमूल के प्रत्येक द्रव्य, आँवला, हरड़, बहेड़ा, विल्व छाल, मदनफल इनको समानभाग में लेकर गोमूत्र में क्वाथ बनाना चाहिए । इस क्वाथ में इन्द्रयव, पाठा, मदनफल और मोथा का कल्क सैन्धव नमक, यवक्षार और तिल का तैल मिलाकर निरूहबिस्त तैयार कर इसके प्रयोग से सभी प्रकार के कफ जन्य रोग, पाण्डुरोग, अलसक, आमदोष नष्ट होते है । वातज मूत्राघात और बस्ति में भयंकर आटोप में भी लाभ होता है ।

श्लेश्मघ्न निरुहः ।

दशमूली करञ्जौ द्वौ दन्ती चित्रकमेव च ।
एकाष्ठीला तुरङ्गी च त्रिफला देवदारु च ॥
पूतिकं रोहिषं श्यामा मूर्वा राजतृणानि च ।
पृथक् पञ्चपलानेतान् साधयेत्सर्वकल्पवित् ॥
अधोभागोर्ध्वभागद्रव्यैस्साधयेत्साधु योजितैः ।
मूत्र तैलयुतः श्रेष्ठः निरूहः श्लेष्मनाशनः ।

भे० सि० आ० ७।१३।१५

हि० व्या०—दशमूल, दोनो करंज, दन्ती, चित्रक, पाठा, घोण्टा, त्रिफला देवदारू चिरबिल्व, रोहिष ऋण, श्यामादन्ति, मूर्वा, राजतृण सबको पांच पांच पल लेकर क्वाथ सिद्ध करें । अधोभाग एवं ऊर्ध्वभाग शोधक द्रव्य यथा मात्रा में डालें । इस क्वाथ में गोमूत्र व तैल उचित परिमाण में डालकर श्रेष्ट निरूह नाशक योग तैयार करें -

कफनाशनो निरुहः

त्रिफलादारुभूतीक करञ्जद्वयचित्रकान् ॥
एकाष्ठीलां विषाणीं च... ...।
(कणा) मूलं त्रिवृन्त्यौ पूर्वकल्पेन शोधयेत् ॥
ऊर्ध्वाधः शोधनैः कल्कैर्युक्तो लवणतैलयोः ।
ईषदुष्णः सगोमूत्रो निरूहः कफनाशनः ॥

(का० सं० सि० अ० ८)

हि० व्या०—त्रिफला (हरीतकी, विभीतक, आमला देवदारू, भूतीक (कचूर, यवानी), करञ्ज, पूतिकरञ्ज, चित्रक, पाठा, क्षीरकाकोली (पिप्पली मूल), त्रिवृता दन्ती-द्रवन्ती आदि का क्वाथ बनाकर तथा उर्ध्व एवं अधः शोधन औषधियों के कल्क में तैल और लवण तथा कवोष्ण होने पर गोमूत्र मिलाकर निरूह प्रयोग करना चाहिए । यह कफ रोगों को नाश करने वाला निरूह है

कफ विकारेषु कोषातक्यादि निरुह बस्तिः ।

कोषातकारग्वधदेवदारु
शाङ्गेष्टमूर्वाकुटजार्क पाठाः ।
पक्त्वा कुलत्थान् वृहतीं च तोये
रसस्य तस्य प्रसृता दश स्युः ॥
तान् सर्षपैलामदनैः सकुष्ठै-
रक्षप्रमाणैः प्रसृतैश्च युक्तान् ।

फलाह्व तैलस्य समाक्षिकस्य
क्षारस्य तैलस्य च सार्षपस्य ॥
दद्यान्निरूहं कफरोगिणे ज्ञो-
मन्दाग्नये चाप्यशनद्विषे च ॥
च० सि० ३।५६-५७ अ० हृ० क० ४, अ० सं० क० ४।८

हि० व्या०—कोषातकी (पीतपुष्पा नेनुआ) फल, अमलताश की गुद्दी, देवदार, गुञ्जा, मूर्वा, इन्द्रयव, मदार के मूल का छिलका, पाठा, कुलथी, बड़ी कण्टकारी प्रत्येक २-२ पल की मात्रा में लेकर आठ गुने जल में क्वाथ करना चाहिए। अष्टमांशशेष छानकर सरसों छोटी इलायची, मदनफल, कूठ प्रत्येक एक-एक कर्ष इनका कल्क बना क्वाथ में मिलावें। मदनफल से विधिपूर्वक सिद्ध किया हुआ तेल २ पल, मधु, यवक्षार, सरसों का तेल प्रत्येक एक-एक प्रसृत इन सबको क्वाथ में मिलाकर मथकर निरूहबस्ति तैयार करें। इसका उपयोग कफ रोगग्रस्त, मन्दाग्नि रोग तथा अरूचि में करना चाहिए।

कफरोगे पटोलादि निरुह बस्तिः।

पटोलपथ्यामरदारुभिर्वा
सपिप्पलीकैः क्वथितैर्जलेऽग्नौ ॥ च० सि० ३।५८

हि० व्या०—पटोलादि वस्ति-पर्वल पत्र, हरड़, देवदार, पीपर, इनको समान भाग लेकर आठगुने जल में क्वाथकर अष्टमांश शेष रखें। इस क्वाथ में सरसों, छोटी इलायची, मदनफल और कूठ का कल्क एक-एक कर्ष की मात्रा में और एक-एक प्रसृत की मात्रा में मदनफलतैल, मधु यवक्षार और सरसों का तेल मिलाकर निरूह बस्ति देनी चाहिए। इसका उपयोग भी कफरोग, मन्दाग्नि और अरुचि में किया जाता है।

एरण्डमूलादि निरुह बस्तिः

एरण्डमूलं त्रिपलं पलाशो
ह्रस्वानि मूलानि च यानि पञ्च।
रसाश्वगन्धातिबला गुडूची-
पुनर्नवारग्वधदेवदारु ॥
भागाः पलांशा मदनाष्टयुक्ता
जलद्विकंसे क्वथितेऽष्टशेषे।
पेष्यः शताह्वा हपुषा प्रियङ्गुः
सपिप्पलीकं मधुकं बला च ॥
रसाञ्जनं वत्सकबीजमुस्तं
भागाक्षमात्रं लवणांशयुक्तम्।
समाक्षिकस्तैलयुतः समूत्रो
बस्तिर्नृणां दीपन लेखनीयः।

जङ्घोरुपादत्रिकपृष्ठ शूलं
कफावृतं मारुतनिग्रहं च ॥
विण्मूत्र वातग्रहणं सशूल-
माध्मानतामश्मरिशर्करे च।
आनाहमर्शोग्रहणीप्रदोषा-
नेरण्डबस्तिः शमयेत् प्रयुक्तः ॥
च० सि० ३।३८-४२ १० हृ० क० ४।७-१० अ० सं० क० ४।४

हि० व्या०—एरण्डादि निरूह

एरण्ड ३ पल, पलाश एक पल, लघु पंचमूल के पांचोद्रव्य, रास्ना अश्व गन्धा, बला, गुडूची, पुनर्नवा, आरग्वध, देवदारु आदि द्रव्यों के एक-एक पल तथा मदनफल आठ (नग) को कूटकर दो आढ़क जल में क्वाथ तैयार करते हुए अष्टमांसशेष रह जाने पर छान कर सौंफ, हाउबेर, प्रियंगु, पिप्पली, मुलेठी, बला रसौंत, इन्द्र जौ और नागर मोथा, प्रत्येक एक-एक कर्ष का कल्क तैयार करके क्वाथ में डालें तथा सैंधव, मधु, तैल एवं गोमूत्र सभी एक मिलाकर यथा विधि बस्ति तैयार करें। इस बस्ति का प्रयोग कराने से दीपन एवं लेखन कर्म करती है। जंघा, ऊरु, पाँव, त्रिकसन्धि पीठ के शूल को दूर करती है। कफावृत वातरक्त, किसी भी कारण से रुकी हुई वात को सम करती है। मल-मूत्र एवं अपान वायु की संगता (रुकावट), आध्मान, अश्मरी, शर्करा, आनाह, अर्श और ग्रहणी दोष में प्रयुक्त यह एरण्डादि निरूह रोगों को शमन करने वाली है।

वातादिदोषसंसर्गे प्रयोज्याः निरुहबस्ति प्रयोगाः

पुनर्नवैरण्डवृषाश्मभेद
वृश्चीरभूतीकबलापलाशाः।
द्विपञ्चमूलं च पलांशिकानि
क्षुण्णानि धौतानि पलानि चाष्टौ ॥
बिल्वं यवान् कोलकुलत्थधान्य
फलानि चैव प्रसृतोन्मितानि।
पयोजलद्र्याढकवच्छृतं तत्
क्षीरावशेषं सितवस्त्रपूतम् ॥
वचाशताह्वामरदारुकुष्ठ-
यष्ट्याह्वसिद्धार्थक पिप्पलीनाम्।
कल्कैर्यवान्या मदनैश्च युक्तं
नात्युष्णशीतं गुडसैन्धवाक्तम् ॥
क्षौद्रस्य तैलस्य च सर्पिषश्च
तथैव युक्तं प्रसृतैस्त्रिभिश्च।

दद्यान्निरूहं विधिना विधिज्ञः
स सर्वसंसर्गकृतामयघ्नः ॥

च० सि० ३।६५-६८ अ० सं० क० ४।६

पुनर्नवेत्यादिकः सर्ववातादिसंसर्गविषयः । वृश्चीरः श्वेतपुनर्नवा। धान्यानि बलानि चेति धान्यफलानि । पयोजलद्वयाढकवदिति समजलक्षीरद्विप्रस्थ युक्तम् ॥ चक्रपाणिः ।

पुनर्नवैरण्डवृषाश्मभेदादीनि पलाशकानि पालिकानि कल्पनीयानि यवांकोलकुलत्थधान्यजलानिसर्षपातसीतिलादीनि तेषां फलानि धान्यानि मदन फलानि चेति वा फलानि वाच फलगुडसैन्धवाक्तः गुड सैन्धवयुक्त इति। (औद्रस्य) तैलस्य च सर्पिषश्चेति तैलसर्पिषोः प्रयोगो दोष संसर्गात् । स सर्व संसर्गकृतामयघ्न इति । सर्वसंसर्गाः संसृष्टास्सन्निपतिताश्च दोषास्तैः कृतामयान् हन्तीति । सर्वकृतास्संसर्गकृता इति वा । न एते वातादिषु चत्वारश्चत्वारो बस्तय उक्ताः । सर्वसंसर्गेष्वेकः बलाद्यस्सर्वार्थः स्वस्थातुरहितत्वात् । अत एव वचनं सामान्ये विधानार्थम् । साधारणत्वात्पूर्वमुपन्यस्तः । एरण्डबस्तिश्चानार्षः। वाते वस्तिपञ्चक प्रसङ्गात् । केचित्तु पञ्च वात एव बस्तय इति । तस्मादधिक निर्देशः क्रियत इत्याहुः ॥ जज्जटः ।

हि० व्या० – पुनर्नवादि निरूह बस्ति—इसे संसर्गज दोष युक्त अवस्था में प्रयुक्त किया आता है ।—पुनर्नवा, एरण्ड, वासा, पाषण भेद,वृश्चीर (रक्त पुनर्नवा) भूतीक, बल, पलाश, दोनों पंचमूल के दश द्रव्यों, को पृथक्-पृथक् एक पल ग्रहण करें, मदनफल ८ नग, बिल्व मज्जा, जौ, बेर, कुलथी, धनिया तथा मैनफल प्रत्येक ८-८ तोले लेकर २५६ तोले जल एवं २५६ तो० दूध में मिलाकर यथाविधि पाक करें । जल के जल जाने एवं दूध मात्र शेष रह जाने पर स्वच्छ वस्त्र से छान लें । उसमें वच, सौंफ, देवदारू, कूठ, मुलहठी सरसों पीप्पली, अजवायन, मदन फल का कल्क मिला दे । समशीतोष्ण होने पर गुड़ तथा सैंधव नमक ८ तो० मधु ८ तो० तैल ८ तो० घृत ८ तोला मिला दें । इसके बाद इस कार्य में दक्ष चिकित्सक को द्विदोषज एवं त्रिदोषज अवस्था में इस बस्ति का प्रयोग कराना चाहिए ।

रक्तपित्ते कफवाते च यथायोग्यं बस्तिप्रयोग संकेतः

वाजीकरणेऽसृक्पित्तयोश्च मधुघृतपयोयुक्ताः ।
शस्ताः सतैल मूत्रारनाललवणाश्च कफवाते ॥ च० सि० १०।१३

हि० व्या० – वाजीकरण एवं रक्तपित्त के लिए सभी प्रकार की बस्तियों में मधु, घृत और दुग्ध मिलाना चाहिए । कफावृत वात रोग में गोमूत्र, काँजी एवं सैंधव लवण मिलाकर वस्तियों का प्रयोग कराना चाहिए

मधुप्रक्षेपो बस्तौ पूर्वोक्तसामान्यविज्ञानलब्धोऽत्यधिकमात्रया प्रक्षेपार्थमवश्यप्रक्षेपार्थं चेहोच्यते । चक्रपाणिः ।

शोणितशोधनानां निरुहयोगानां संकेतः ।

शर्करेक्षुरसक्षीरघृतयुक्ताः सुशीतलाः ।
क्षीरवृक्षकषायाढ्या वस्तयः शोणिते हिताः ॥ सु० चि० ३८।८०

क्षीरवृक्षाणां न्यग्रोधादीनां षोडशपलप्रमितानां क्वाथः पूर्व वत,अनुक्तमपि सैंधवं पूर्ववत्, क्षीरादिवर्गमध्ये कथित शोणितहरद्रव्याणां कल्कस्य पलद्वयम्, अनुक्तस्यापि मधुनश्चत्वारिपलानि तथा च घृतस्य, शर्करायाः पलं तथेक्षुरसस्य क्षीरस्य टङ्क सप्ताधिकं पलत्रितयमानमित्येवं चतुर्विंशति पलानि भवन्ति । तदेव पित्तं तदेवरक्तमिति मनसि पर्यालोच्य चित्तमानेनायमपि बस्तिः कल्पितः । डल्हणः ।

हि० व्या० —रक्तज रोगों में शर्करा, इक्षुरस, दूध, तथा, घृतयुक्त, शीतल एवं क्षीरीवृक्ष के क्वाथ की प्रचुर मात्रा में उपयोग करना चाहिए ।

बलादि निरुहः

बलापटोली लघुपञ्चमूल
त्रायन्तिकैरण्डयवात्सुसिद्धात् ।
प्रस्थोरसाच्छागरसार्धयुक्तः
साध्यः पुनः प्रस्थसमः स यावत् ॥
प्रियंगुकृष्णाघनकल्कयुक्तः
सतैल सर्पिर्मधुसैंधवश्च ।
स्याद्दीपनो मांसबलप्रदश्च
चक्षुर्बलं चोपदधाति सद्यः ॥ अ० हृ० क० ४-५-६

हि० व्या०—बलामूल, पटोलपत्र, लघुपंचमूल के द्रव्य, त्रायमाण, एरण्डमूल तथा जौ का क्वाथ ६४ तो० उसमें बकरे का मांस २२ तो० मिला कर पाक करें । जब आठ तोले रह जाय तब उसमें प्रियंगु, पिप्पली तथा नागर मोंथा का कल्क, तैल, घृत, मधु एवं सैंधव यथा मात्रा मिलाकर बस्ति तैयार करें । यह बस्ति अग्नि को प्रदीप्त करती हैं, मांस तथा बल को बढ़ाती है । नेत्रों की ज्योति को शीघ्र बढ़ाती है ।

रक्तपित्तादिषु प्रयोज्यः रोध्रचन्दनादि निरुहः ।

रोध्रचन्दनमञ्जिष्ठारास्नानन्ताबलाधिभिः ।
सारिवावृषकाश्मर्यमेदामधुकपद्मकैः ॥
स्थिरादितृणमूलैश्च क्वाथः कर्षत्रयोन्मितैः ।
पिष्टैर्जीवकर्षकाकोलीयुगंधिमधुकोत्पलैः ॥
प्रपौण्डरीकजीवन्तीमेदारेणुपरूषकैः ।
कसेरुशर्करायुक्तैः सर्पिर्मधुपयः प्लुतैः ।
द्रवैष्टोक्ष्णाम्लवर्ज्यैश्च दत्तो बस्तिः सुशीतलः ।

गुल्मासृग्दरहृत्पाण्डुरोगान् सविषमज्वरान् ॥
असृक्पित्तातिसारौच हन्यात्पित्तकृतान् गदान् ॥

सु० चि० ३८।५५-५९

रोध्रेत्यादि। अनन्ता उत्पलसारिवा। स्थिरादि लघुपञ्चमूली, तृणमूली, तृणमूलं कुशादिपञ्चमूलं, अभीरुः शतावरी। रोध्रादितृणमूल्यन्तानां त्रयोविंशति-द्रव्याणां कर्षत्रयप्रमितत्वेन सप्तदशपलानि कर्षाधिकानि, अष्टगुणमष्टत्रिंशदधि-कशतपलप्रमाणं जलं दत्त्वा क्वाथयेत, अतः सार्धं चतुस्त्रिंशत्पलानिग्राह्याणि, अत एक पुटकार्थं क्वाथपलाष्टकं ग्राह्यं, जीवकादिशर्करान्तैकोनविंशतिद्रव्याणां कल्कः पलत्रयप्रमाणः, मधुघृते पूर्ववत्, 'द्रवैस्तीक्ष्णाम्लवर्ज्यैः' इत्युक्तत्वात् क्षीर मांसरसेक्षुरसाः पूर्ववत्, इत्येवं चतुर्विंशतिपलानि भवन्ति। द्रव्यनिःक्षेपक्रम, पूर्ववत्। अयमपिबस्तिः पित्ते पित्तरोगे च प्रयोज्यः। डल्हणः।

रोध्रादि निरूहबस्तिः—

हि० व्या० – रोध्र, चन्दन, मजीठ, रास्ना, अनन्तमूल, वला, (या ऋद्धि) सारिवा, वासा, गम्भारी, मेदा, मुलहठी, पद्मकाष्ठ, लघुपञ्चमूल तथा तृणपञ्चमूल, आदि को तीन-तीन कर्ष लेकर यथाविधि क्वाथ निर्माण करे। इसमें जीवक, काकोली, क्षीर काकोली, ऋद्धि, मुलहठी, नीलकमल, प्रपौण्ड-रीक, जीवन्ती, मेदा, पित्तपापड़ा, फालसा, शतावरी, सौंफ, सैन्धव नमक, इन्द्रयव, खस, पद्मारव और कशेरू का पिसा हुआ चूर्ण तथा शर्करा, घृत, मधु, और दूध मिलाकर, तीक्ष्ण और अम्लद्रव्यों से रहित शीतल बस्ति का गुल्म, रक्तप्रदर, हृद्रोग, पाण्डुरोग, विषमज्वर, रक्तातिसार, पित्तातिसार तथा अन्य पित्तज व्याधियाँ दूर होती हैं।

शुक्रमांसबलप्रदः रास्नारग्वधादि निरूहबस्तिः।

रास्नारग्वधवर्षाभूकटुकोशीरवारिदैः।
त्रायमाणामृतारक्तापञ्चमूलीबिभीतकैः॥
सबलैः पालिकैः क्वाथः कल्कस्तु मदनान्वितैः।
यष्ट्याह्वमिसिसिन्धूत्थफलिनीन्द्रयवाह्वयैः॥
रसाञ्जनरसक्षौद्रद्राक्षासौवीरसंयुतैः।
युक्तो बस्तिः सुखोष्णोऽयं मांसशुक्रबलौजसाम्॥
आयुषोऽग्नेश्च संस्कर्ता हन्ति चाशु गदानिमान्।
गुल्मामृग्दरवीसर्पमूत्रकृच्छ्रक्षतक्षयान्॥
विषमज्वरमर्शांसि ग्रहणीं वातकुण्डलीम्।
जानुजङ्घाशिरोबस्तिग्रहोदावर्तमारुतान्॥
वातासृक्शर्कराष्ठीलाकुक्षिशूलोदरारुचिः।
रक्तपित्तकफोन्माद प्रमेहाध्मानहृद्ग्रहान्॥

सु० चि० ३८।७१-७६

रास्नारग्वधेत्यादि। सबलैः बलासहितैः। रसो मांस रसः। रास्नादि-बलान्तषोडशद्रव्याणि पलप्रमितानि अष्टगुणं जलं दत्त्वा क्वाथयेत्, ततो द्वात्रि-शत्पलानि ग्राह्याणि, अत एक पुटकस्यार्थे क्वाथस्य पलाष्टकं, मदनादीन्द्रय' वान्तानां षण्णां द्रव्याणां कल्कस्य त्रीणि पलानि, स्नेहस्य निरूहणद्धत्वादनुक्तो-ऽप्यत्र षट्पलप्रमाणो निक्षेपणीयः तथा च हारीतः—'स्नेहो गुडो मांसरसः पर्यासि साम्लानिमूत्रं मधुसैन्धवं च। एते निरूहे विदुषा प्रयोज्याः क्वाथश्च-कल्को मदनात् फलं च"—इति।

मधुस्त्रीणि पलानि। रसाञ्जनमांसरसक्षीरसौवीराणां प्रत्येकमेकपल-मित्येवं चतुर्विंशतिपलानि भवन्ति। एष बस्तिः स्वस्थानुर्विषयः सर्वरोग-हरश्च। डल्हणः।

हि० व्या०—रास्नादि आस्थापन वस्ति—रास्ना, अमलतास, पुनर्नवा, कुटकी, खस, नागरमोथा, त्रायमाणा, गिलोय, मजीठ, लघुपंचमूल, बहेड़ा और बला एक-एक पल ग्रहण कर यथाविधि क्वाथ कर इस क्वाथ में मदनफल, मधुयष्टी, सैन्धानमक प्रियंगु तथा इन्द्र जौ का कल्क, रसौत, मांसरस, मधु, द्राक्षा एवं सौवीर मिलाकर इस वस्ति का मुखोष्ण-प्रयोग करना चाहिए। इसका प्रयोग मांश, शुक्र, ओज युक्त तथा बलवान् व्यक्तियों में कराना चाहिए। इससे आयु एवं अग्नि की वृद्धि होती है। गुल्म, रक्तप्रदर, विसर्प, मूत्रकृच्छ्र, उरः क्षत, क्षय, विषम ज्वर, अर्श, ग्रहणी, वातकुण्डलिका, जानु, जंघा, शिर, वस्ति में जकड़ाहट, उदावर्त, वातरोग, वातरक्त, शर्करा, अष्ठीला कुक्षिशूल, उदर अरुचि, रक्तपित्त, कफज उन्माद प्रमेह, आध्यमान हृदग्रह आदि व्याधिहों का शमन होती है।

बिल्वादि निरुहः।

बिल्वाग्निमन्थश्योनाककाश्मर्याश्च सपाटलाः।
रास्नाबलागोक्षुरकपत्रकोलकुलत्थकाः॥
एतत्सर्वं समाहृत्य जलद्रोणे विपाचयेत्॥
चतुर्भागावशिष्टं तं कषायमवतारयेत्॥
कल्केन सर्षपाणां च पोलूनां मदनस्य च।
सयवासकषायं तु तत्तैल लवणेन च॥
मूत्राणि च यथा लाभमथसम्यङ्निरूहयेत्।
यथातिबला... ... ...॥
तत्र वाद्यत्रिशब्दांश्च श्रेयसश्च स्वनानपि।
शान्ति पुण्याहघोषांश्च कुर्याच्चापि प्रदक्षिणम्॥
तं निधाय शुभे कुम्भे बस्तिं दद्यात्प्रमाणतः।
देव प्रसादतो बस्तिर्गदितानां महागुणः॥

सर्वरोगहरो वृष्यः क्षतक्षीणरुजापहः ।
वातपित्तसमुत्थानां रोगा ये परिकीर्तिताः ॥
कासदाहज्वराद्यांस्तान्नाशयेदविशङ्कितः ।
त्रिभागमाक्षिको ह्येष वलीपलितनाशनः ॥
रूपवर्णकरः पुंसां बलमांसविवर्धनः । भे० सि० ८।१७-२४

हि०—विल्वादिवस्ति—बिल्व, अरणी, श्योनाक, गम्भारी, पाटला; रास्ना, बला, गोखरू; जौ, बेर, कुलथी, इन सभी को समान मात्रा में ग्रहण कर यथाविधि एक द्रोण जल में (पाक) क्वाथ करें। चतुर्थांश शेष क्वाथ में सरसों, पीलू, मदनफल, दुरालभा का कल्क, डाल दें एवं यथा मात्रा तैल, लवण, गोमूत्र मिलावें। एक स्वच्छ घट में रखकर यथाप्रमाण वस्ति दे। भगवान् की कृपा से यह अदित के रोगियों के लिए अत्यन्त गुणकारी है। सभी रोगों को हरने वाली, वृष्य, क्षत क्षीण एवं पीड़ा नाशक है। वात-पित्त से उत्पन्न कास, दाह, ज्वर आदि का यह नाश करती है। इसमें कोई शंका नहीं है। इसमें तीन भाग माक्षिक मिलाने से यह वली-पलित का नाश करती है।

कर्तृणादिक निरूहण योगः।

कर्तृणोशीरभूतीकत्रिफला... ... ।
रास्नाश्वगन्धाश्वदंष्ट्राशिग्रुश्यामाः शतावरी ॥
एलापुनर्नवाभार्ग्यः सपटोला गुडूच्यपि ।
त्रिपलोनां जलद्रोणे पचेत् पादावशेषिते ॥
ततस्तेन कषायेण पेष्याणीमानि योजयेत् ।
वचाजमोमदनपि ... ... ।

हि०—रोहिष तृण, खस, अजवायन, त्रिफला, रास्ना, अश्वगन्धा, गोखरू, सहजना, निशोथ शतावरी, छोटी इलायची, पुनर्नवा, भारंगी, पटोलपत्र तथा गिलोय आदि औषधियों को तीन पल लेकर, एक द्रोण जल में क्वाथ करके चतुर्थांश ग्रहण करें। इसमें वच, अजमोद, मैनफल, पिप्पली डालकर सर्वदोषघ्न निरूह तैयार करें।

चतुर्भद्रकल्पः।

हि० व्या०—यह चतुर्भद्र नामक कल्प है। इस कल्प में प्रारम्भ में चार स्नेह वस्तियाँ एवं अन्त में चार स्नेह वस्तियाँ तथा इनके मध्य में चार आस्थापन वस्तियाँ देनी चाहिए। यह क्रम उपद्रव रहित होता है। इस क्रम का दो या तीन बार प्रयोग करने से सुखकारक होता है।

पञ्चतिक्त निरूह योगः।

हि० व्या०—पटोलपत्र, नीम, चिरायता, रास्ना, सप्तपर्ण, इनक क्वाथ ४ प्रसृत, घी १ प्रसृत, सरसों का कल्क डालकर बस्ति देनी चाहिए। इसे

पञ्चतिक्त वस्ति कहते हैं। यह प्रमेह और अभिष्यन्द में हितकारी है।

विडङ्गादि निरूह योगः।

विडङ्गत्रिफलादन्तीमुस्ताखुपर्णिकास्तथा ।
कषायाः प्रसृताः पञ्च तैलादेको विमथ्यताम् ।
विडङ्गादिकषायेण निरूहः कफनाशनः ॥ वङ्गसेनेः

हि० व्या०—विडङ्ग, त्रिफला, दन्ती, नागरमोथा, मूषकपर्णी इनका क्वाथ ५ प्रसृत एकत्र मर्दन करके वस्ति देनी चाहिए। इसे विडङ्गादि निरूह कहते हैं। यह कफनाशक है।

मुस्तोशीरादिक्वाथपक्वक्षीरसाधितः निरूहविशेष योगः

तानुपदेक्ष्यामः—मुस्तोशीरबलारग्वधरास्नामञ्जिष्ठाकटुरोहिणीत्रायमाणा पुनर्नवाविभीतकगुडूचीस्थिरादिपञ्चमूलानि पालिकानि खण्डशः कृत्वान्यष्टौ च मदनफलानि प्रक्षाल्य जलाढके परिक्वाथ्य पादशेषो रसः क्षीरद्विप्रस्थसंयुक्तः पुनः श्रृतः क्षीरावशेषः पादजाङ्गलरससतुल्यमधुघृतः शतकुसुमामधुककुटजफलरसाञ्जनप्रियङ्गकल्कीकृतः ससैन्धवः सुखोष्णो बस्तिः शुक्रमांसबलजननः क्षतक्षीणकाशगुल्मशुलविषमज्वरव्रघ्न (व्रध्न) कुण्डलोदावर्तकुक्षिशूलमूत्रकृच्छ्रासृग्जोविसर्पप्रवाहिकाशिरोरुजाजानुरुजङ्घावस्तिग्रहाश्मर्युन्मादार्शः प्रमेहाध्मान. वातरक्तपित्तश्लेष्मव्याधिहरः सद्यो बलजननो रसायनश्चेति मुस्तेत्यादौ खण्डशः कल्पितानीति खण्डं खण्डं कृतानि। पादजाङ्गलरस इति यथोक्तक्षीरकृतक्वेथपादिकजाङ्गलरस इत्यर्थः। तुल्यं मधुना घृतं यस्मिन् स तुल्यमधुकृतः, एतेन पूर्वं बस्तौ यथा नियमितस्नेहमानेन यावद् घृतं देयं भवति तावन्मात्रं मध्वप्यत्र देयम्। अस्मिंश्च बस्तौ पूर्वोक्तबस्तिमानविभागेनैव बस्तिः कल्पयितव्यः। अत्र क्षीरं कषायस्थाने भवति। शतकुसुमाशतपुष्पा। ससैन्धवमितीषत्सैन्धवम्। चक्रपाणिः।

हि०—नागरमोथा, खस, बला, अगलतास, रास्ना, मजीठ, कुटकी, त्रायमाण, पुनर्नवा, बहेड़ा, गुडूची, स्थिरादि पंचमूल (लघु पंचमूल) के पांचों द्रव्य सभी एक एक पल मात्रा में ग्रहण कर छोटे छोटे टुकड़े करें तथा मदन फल नग आठ लेकर उनके भी टुकड़े कर इसी में मिश्रित करें। इन्हें एक आढक गण में क्वथित करें। जब चतुर्थांश शेष रहे तब छानकर इसमें दो प्रस्थ गो दुग्ध मिलाकर पुनः पाक करें जब मात्र दूध शेष रह जाए तब उसका चतुर्थांश भाग जांगल पशु पक्षियों का मांस रस तथा तत्सम मधु व घृत मिलादें। इसमें सौंफ, मुलहठी इन्द्र जौ, रसौत, प्रियंगु, सैन्धव का कल्क बनाकर मथानी से मथकर बस्ति निर्माण करें। इस प्रकार निर्माण की गई बस्ति का उष्ण अवस्था में ही प्रयोग करने से शुक्र, मांस और बल की वृद्धि होती है। क्षत क्षीण, कास, गुल्म, उदरशूल, विषम ज्वर, व्रघ्न रोग, बस्ति

कुण्डलक उदावर्त, कुक्षि शूल, मूत्रकृच्छ्र रक्त विकार रजोविकार, विसप प्रवाहिका, शिरः शूल, जानुशूल, ऊरु शूल, जंघाशूल, वस्तिग्रह, अश्मरी, उन्माद, अर्श, प्रमेह, आध्मान, वातरक्त तथा पित्तज एवं कफज विकार नाश होते हैं। इसके सेवन से शीघ्र ही बल एवं रसायनगुण की प्राप्ति होती है।

हपुषादिक्वाथ साधित दुग्धकल्पितो निरूह योगः

हपुषार्धकुडवो द्विगुणार्धक्षुण्णयवः क्षीरोदक सिद्धः क्षीरशेषो मधुघृततैल लवणयुक्तः सर्वाङ्गविसृतवातरक्तसक्तविण्मूत्रस्त्रीखेदितहितो वातहरो बुद्धि मेधाग्निबलजननश्च

च० सि० १२।२१

हपुषेत्यादिकः सप्तमः। स्तिमिताः शुष्काः पुनः कण्डिताःक्षुण्णाः उच्यन्ते। पूर्वं पठितं मुस्तादिकमत्र प्रदेशे काश्मीराः पठन्ति। चक्रपाणिः।

हि० व्या०—हाऊबेर, आधा कुड़व, दो गुना अधकुटे जौ लेकर चौगुने दूध एवं जल में पकायें, दूध मात्र शेष रह जाने पर छानकर मधु, घृत, तैल, सैन्धव मिलाकर मलकर तैयार करें। इस बस्ति के प्रयोग से सम्पूर्ण शरीर में फैले हुए वातरक्त से मलमूत्र बद्धता में अत्यधिक मैथुन से क्षीण पुरुषों में, वातनाशक तथा यह बस्ति बुद्धि; मेधा, जठराग्नि और बल का उत्पन्न करने वाली है।

तित्तिरिमांसरसादिसाधितः शुक्रजननो निरूह योगः

सतित्तिरिः समयूरः सराजहंसः पञ्चमूलोपयः सिद्धः शतपुष्पामधुकरास्नाकुटजमदनफलपिप्पली कल्को घृततैलगुडसैन्धवयुक्तोबस्तिर्बलवर्णशुक्रजननो रसायनश्च।

च० सि० १२।२८

सतित्तिरिरित्यादिक एकैकयोगेन वक्ष्यमाणानामेकोनत्रिंशतां बस्तीनां मध्ये त्रयोदशः॥ चक्रपाणिः।

हि० व्या०—तीतर, मोर, राजहंस इनके मांस और लघु पंचमूल के द्रव्यों से यथा विधि पाक किए बकरी के दूध में सौंफ; मुलहठी, रास्ना, मदनफल और पिप्पली का कल्क तथा, घृत, गुड़ और सैन्धव मिलाकर दी गई बस्ति बल, वर्ण और शुक्रको उत्पन्न करने वाली है तथा रसायन है।

स्थिरादि पञ्चमूली साधितः बलवर्णजननः निरूहयोगः

स्थिरादिपञ्चमूलीपञ्चपलेन शालिषष्टिक यवगोधूममाषपञ्चप्रसृतेन छागं पयः श्रृतं पादशेषं कुक्कुटाण्डरससममधुघृतशर्करा सैन्धवससौवर्चलयुक्तो बस्तिर्वृष्यतमो बलवर्णजननश्च। इति यापना वस्तयो द्वादश॥

च० सि० १२।२६

कल्पश्चैष शिखिगोनर्दहंससारसाण्डरसेषु स्यात् स्थिरेत्यादिको द्वादशः। एरकाहोग्गलः कल्पश्चेत्यादिना आतिदेशिकास्त्रयोऽभिधीयन्ते॥ चक्रपाणिः।

हि० व्या०—लघु पंचमूल के पांचों द्रव्य पांच पल, शालि चावल, सांठी चावल, जौ, गेहूं और उड़द १-१ प्रसृति लेकर सभी को कूटकर चौगुने बकरी

के दूध में पाक करें, चतुर्थांश शेष रहने पर छान कर उसमें मुर्गे के अण्डों का रस, तथा इसके समान मधु, घृत, चीनी और थोड़ा सैन्धानमक, सौचर नमक मिलाकर दी गई बस्ति उत्तम वृष्यकारी होती है। यह बल और वर्ण की उत्पन्न करती है,

एरण्डमूलादि परिपक्वक्षीरसाधितः निरूह विशेष योगः

एरण्डमूलपलाशात् षट्पलं शालिपर्णी पृश्निपर्णी बृहती कण्टकारिका गोक्षुरको रास्नाऽश्वगन्धा गुडूची वर्षाभूरारग्वधो देवदारविति पलिकानि खण्डशः कल्पितानि फलानि चाष्टौ प्रक्षाल्य जलादके क्षीरपादे पचेत्। पादशेषं कषायं पूतं शर्कराकुष्ठपुष्करपिप्पली हपुषाबिल्वबचावत्सक फलरञ्जन प्रियङ्गु यवानीप्रक्षेपकल्कितं मधुघृततैलसैन्धवयुक्तं सुखोष्णं निरूहमेकं द्वौ त्रिन् वा दद्यात्। सर्वेषां प्रशस्तौ ललितसुकुमारस्त्रीविहारक्षीणक्षतस्थविरचिरार्शसामपत्यकामानां च॥ च. सि. १२।१७

हि० व्या०—एरण्ड एवं पलाश की छाल ६ पल शालि पर्णी, पृश्निपर्णी, बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी गोखरू, रास्ना, अश्वगन्धा गिलोय, पुनर्नवा, अमलतास एवं देवदारू को एक एक पल की मात्रा में ग्रहण करके इनके टुकड़े करें तथा आठ नग मदन फल लेकर उसके भी टुकड़े एक आढक जल एवं एक प्रस्थ दूध में पाक करें। चतुर्थांश शेष रहने पर छानकर उसमें सौंफ, कूठ, नागरमोथा, पिप्पली, हाऊबेर, बिल्व, वच, इन्द्रजौ, रसौत, प्रियंगु, अजवायन इनका कल्क बनाकर मिश्रित करें। मधु, घृत, तैल तथा सैंधानमक मिलाकर मथानी से मथकर तैयार करें। उष्ण अवस्था में ही बस्ति पुटक में रखकर एक, दो, या तीन बार निरूह का प्रयोग कराना चाहिए। यह निरूह सभी प्रकार के व्यक्तियों को लाभकारी है। विशेष रूप से ललित, सुकुमार, विषय भोगी, क्षीण, क्षत, वृद्ध, जीर्ण अर्श से पीड़ित तथा सन्तान की इच्छा रखने वाले मनुष्यों के लिए हितकर है।

बलातिबलादिसाधित क्षीरप्रयुक्तः निरूहयोगः

तथा बलातिबलाविदारीशालिपर्णीपृश्निपर्णीबृहतीकण्टकारिकादर्भमूलपरूषकाश्मर्यबिल्वफलयवसिद्धेन पयसा मधूकमदनकल्कितेनमधुघृतसौवर्चलयुक्तेन कासज्वरगुल्मप्लीहार्दितस्त्रीमद्यक्लिष्टानां सद्योबलजननो रसायनश्च॥

च० सि० १२।१९

तद्वदिति पूर्ववद्वस्तिविधानेन। तथा बृहतीत्यादिकश्चतुर्थः। अत्र च बस्तौ फलश्रुतिर्नास्ति, सामान्येन 'इत्येते वस्तयः स्नेहाश्चोक्ता' इत्यादिना वक्ष्यमाणा फलश्रुतिर्ज्ञेया। बलातिबलाविदारीत्यादिकः पञ्चमः॥ चक्रपाणिः।

हि० व्या०—बला, अतिबला, विदारीकन्द, शालिपर्णी, पृश्निपर्णी, बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी, दशमूल, फालसा, गम्भारी, बेलगिरी, तथा जौ से विधि पूर्वक पाक किए हुए दूध में मुलहठी; तथा मदनफल का कल्क, मधु, घृत सौवर्चल नमक मिलाकर भलिप्रकार मथकर तैयार की गई बस्ति का कास, ज्वर, गुल्म, प्लीहा, अर्दित, स्त्री और मद्य से क्षीण, व्यक्तियों में प्रयोग कराने से शीघ्र ही बल बढ़ाने वाली और रसायन होती है।

ज्वरशमनः बलामधुकादि साधितो निरूह योगः

बलामधुकविदारीदर्भमूलमृद्वीकायवैः कषायमाजेन पयसा पक्त्वा मधुक-मदनकल्कितं समधुघृतसैन्धवं ज्वरार्तेभ्यो बस्तिं दद्यात् ॥ च० सि० १२।२४

बलामधुकेत्यादिको दशमः। अत्र बलादिकषायस्य पुनराजेनपयसा पाकात् क्षीरशेषः पाकः कर्तव्यः। चक्रपाणि।

हि० व्या०—बलादि यापन बस्ति—बला, मुलेटी, विदारीकन्द डाभ का मूल, मुनक्का, यव इन सभी को समान मात्रा में लेकर यथाविधि क्वाथ तैयार करें। इसमें बकरी का दूध मिलाकर क्वाथ को फिर पकावें। जब दूध मात्र शेष रह जाय तब उसमें मुलहठी व मदनफल का कल्क तथा मधु, घृत, सैंधव मिलाकर भली प्रकार मथकर ज्वर रोगियों को यह बलादि बस्ति देवें।

क्षीणेन्द्रिय विषमज्वरकर्षित हितः शालिपर्ण्यादि निरूह योगः

शालिपर्णीपृश्निपर्णीगोक्षुरकमूलकाश्मर्यपरुषकखर्जूरफलमधूकपुष्पैरजाक्षीर-जलप्रस्थाभ्यां सिद्धः कषायः पिप्पलीमधुकोत्पलकल्कितः सघृतसैन्धवः क्षीणेन्द्रिय-विषमज्वरकर्शितस्य बस्तिः शस्तः ॥ च० सि० १२।२५

हि० व्या०—शालिपर्णी, पृश्निपर्णी, गोखरू की जड़ गम्भारी, फालसा, खजूर, महुआ का, फूल, इन द्रव्यों को १ प्रस्थ बकरी का दूध एवं एक प्रस्थ जल में यथाविधि पाक करें। दूध मात्र शेष रहने पर छान लें। इसमें पिप्पली, मुलेठी, नीलकमल, का कल्क और घृत, सैंधव नमक मिश्रित करके भली प्रकार मथकर उनको प्रयोग करानी चाहिए जिनकी इन्द्रियां क्षीण हो गई हो तथा विषम ज्वर से कृश हो गये हो।

निरूहवस्ति उपद्रवशमनाय फलतैल प्रयोग फलतैल निर्माण प्रकारश्च

पञ्चमूलाढकेऽध्यर्धं फलानामाढकं भवेत्।
यदकोलकुलत्थानां कुडवाः स्युस्त्रयः पृथक् ॥
चतुर्भागावशिष्टं तु पश्चाद्दष्टगुणे जले।
मस्तुनश्चाढकेनैतत्तैलप्रस्थं विपाचयेत् ॥
कुष्ठस्य शतपुष्पाया वचाया मधुकस्य च।
कुटजस्य च बीजानां बीजानां मदनस्य च ॥

यवान्या पिप्पलीनां च हरेण्वा देवदारुणः।
बिल्वस्य देवपुष्पस्य रास्नाया मुस्तकस्य च ॥
सुक्ष्मैलायाः प्रियङ्गवाश्च भागैरक्षसमैः पृथक्।
सिद्धं सुलवणं पूत निदध्याद्भाजने शुचौ ॥
एतन्मन्दनिरूढानां बस्तिव्यापत्सु चोत्तमम्।
फलतैलमिति ख्यातमुदावर्ते निवर्तनम् ॥
तथैवोदरिणां सिद्धं गुल्मिनां क्रिमिकोष्ठिनाम्।
पृष्ठश्रोण्यूरुजङ्घासु वातेष्वप्रगुणेषु च ॥
निरूहसाध्या ये केचिद्विकाराः समुदाहृताः।
तान्जयेद्बस्तिनाऽनेन मूत्राघातांश्च नाशयेत् ॥

का० स० खि० अ० ८

हि० व्या०—निरूह उपद्रव हेतु फल तैल निर्माण लघु पंचमूल १ आढक (२५६ तो०) मदनफल ३८४ तोला(डेढ़ आढक), जौ बेर, एवं कुलथी प्रत्येक ३-३ कुड़व (४८ तो०) इन सभी को आठ गुने जल में पकाकर चतुर्थांश शेष रखें। इसमें २५६ तो० दही का पानी तथा ६४ तोले तिल तैल मिश्रित करें। इसमें कूठ, सौंफ, वच मुलहठी, कुटज बीज, मैनफल बीज, अजवायन, पिप्पली, हरेन्द्र, देवदारु, विल्व, लौंग, रास्ना, नागरमोथा, छोटी इलायची, एवं प्रियंगु सभी को पृथक् पृथक् एक एक अक्ष (१-१ तोला) डालकर यथाविधि तैल सिद्ध करें। इस तैल में कपड़छन किया हुआ लवण (यथा मात्रा) डालकर स्वच्छ पात्र में रख दें। इसे फल तैल कहा जाता है। इसे निरूह बस्ति के उपद्रव में प्रयोग करें। यह उदावर्त रोग नाशक उत्तम तैल है। अतः उदररोगी, गुल्मी, कृमि वाले, पृष्ट श्रोणि, उरु एवं जंघाओं में यदि वायु का प्रकोप हो, निरूहा-साध्य रोगों में, मूत्राघात आदि रोगों में इसकी स्नेह बस्ति देकर शमन करें।

कतिपय सिद्धः बस्तयः

कुष्ठघ्नः पञ्चतिक्तो निरूह योगः

पटोलनिम्बराभूनिम्बत्वनासप्तच्छदाम्भसः।
चत्वारः प्रसृता एको घृतात् सर्षपकल्कितः ॥
निरूहः पञ्चतिक्तोऽयं मेहाभिष्यन्दकुष्ठनुत्। च० सि० ८।८-९क

पटोलेत्यादावम्भस इति क्वाथात्। सर्षपकल्कित इत्यत्र यद्यपि कल्कमानं नोक्तं तथाऽपि द्वादशप्रसृते निरूहे द्विपलकल्कस्य विहितत्वादिह पञ्चप्रसृते तदनुसारात् षड्भागोनं पलं भवति; एवमन्यत्राप्यनुक्तमानकल्कव्यवस्था ॥

चक्रपाणिः।

हि० व्या०—पटोल पत्र, नीम की छाल, चिरायता, रास्ना सप्तपर्ण को समान भाग लेकर विधिवत् क्वाथ तैयार करें, यह क्वाथ पाँचप्रस्थ घृत एक

प्रसृत में सरसों का कल्क मिलाकर वस्ति तैयार करें यह पंचतिक्त निरूह वस्ति प्रमेह, अभिष्यन्द और कुष्ठ रोग को दूर करती है।

कृमिनाशनो निरूहयोगः

विडङ्गत्रिफलाशिग्रुफलमुस्ताखुपर्णिजात् ॥
कषायात् प्रसृताः पञ्च तैलादेको विमथ्य तान्।
विडङ्गपिप्पलीकल्को निरूहः कृमिनाशनः ॥

विडङ्गेत्यादौ फलं मदनफलम् ।अखुपर्णी दन्ती ॥ चक्रपाणिः।

हि० व्या०—वायविडंग, हरीतकी, बहेड़ा, आमला, सहिजन, मैनफल, नागरमोथा, मूषाकर्णी इन सभी द्रव्यों को समान मात्रा में लेकर विधिपूर्वक निर्मित क्वाथ ५ प्रसृत तैल, १ प्रसृत वायाविडंग तथा पिप्पली का कल्क, मिलाकर तैयार की गई वस्ति कृमि रोग नाशक है।

आनाहनाशनो निरूह योगः

चत्वारस्तैलगोमूत्रदधिमण्डाम्लकाञ्जिकात्।
प्रसृताः सर्षपैः कल्कैर्विट्सङ्गानाहभेदनः ॥ च० सि० ८।१२

हि० व्या०—चार प्रसृत तैल, गोमुत्र, दही का पानी, कांजी, को एक-एक प्रसृत लेकर मिलाले सरसों का कल्क मिलाकर मथानी से मथकर बस्ति तैयार करें। यह बस्ति मलावरोध व आनाह को दूर करती है।

मूत्रकृच्छ्रनाशनो निरूह योगः

श्वदंष्ट्राश्मभिदैरण्ड रसात्तैलात् सुरासवात्।
प्रसृताः पञ्चयष्ट्वाह्वकौन्तीमागधिकासिताः ॥
कल्कः स्यान्मूत्रकृच्छ्रे तु सानाहे बस्तिरुत्तमः।
एते सलवणाः कोष्णा निरूहाः प्रसृतैर्नव ॥ च० सि० ८।१३-१४

श्वदंष्ट्रेत्यादौ श्वदंष्ट्रादिद्रव्यत्रय क्वाथस्य प्रत्येकं प्रसृतमानत्वम्, एवं तैलसुरासवप्रसृताभ्यां सह पञ्चप्रसृताः पूरणीयाः; सुराकृत आसवः=सुरासवः चक्रपाणिः।

हि० व्या०—गोखरू का क्वाथ, पाषाण भेद का क्वाथ, एरण्डमूल क्वाथ तैल सुरा एवं आसव प्रत्येक १-१ प्रसृत मिलाकर इसमें मुलहठी रेणुका पिप्पली, और मिश्री का कल्क मिलाकर मथानी से मथना चाहिए यह बस्ति आनाह, मूत्रकृच्छ्र को दूर करने वाली है। ये वस्तियां लवण मिलाकर गर्म, गर्म प्रयोग में लाई जाती है।

स्नेहनीयो निरूहयोगः

पञ्चमूलरसात् पञ्च द्वौ तैलात् क्षौद्रसर्पिषोः।
एकैकः प्रसृतो बस्तिः स्नेहनीयोऽनिलापहः ॥ च० सि० ८।१६

हि० व्या०—वृहत् पंचमूल पांच प्रसृत, तैल २ प्रसृत, मधु १ प्रसृत, घृत १ प्रसृत इन सभी को एकत्र मिलाकर बस्ति देने से वातिक का स्नेहन

होता है तथा वात नाशक भी है।

पक्वातीसार शमनः बस्ति प्रयोग सूचनम्

शकृद्वातमसृक् पित्तं कफं वा योऽतिसार्यते।
पक्वं, तत्र स्ववर्गीयैर्बस्तिः श्रेष्ठैरभिषञ्जितम् ॥ च० सि० ८।२०

केवलशकृदादिजन्यांश्चातिसारानाह—शकृद्वातमित्यादि । पक्वमिति निरामम्। आमशब्देनेहाग्निदौर्बल्यादविपक्वाहाररस एव कोष्ठोपलेपक आमो गृह्यते; यदुक्तमन्यत्र,—आमाशयस्थः कायाग्नेर्दौर्बल्यादविपाचितः। आद्य आहार धातुर्यः स आम इति संज्ञितः" इति। स्ववर्गीयैरिति पुरीष संग्रहणवात-शोणितास्थापन पित्तकफहरभेषजवर्गैः; किं वा उत्तरत्र प्रत्येकं शकृदादिवक्ष्य-माणभेषजैः ॥ चपक्राणिः।

हि० व्या०—बस्ति के आयोग होने पर अतिसार रूप उपद्रव हो जाता है। यह अतिसार दोषानुसार, वातातिसार, रक्तातिसार, पित्तातिसार या कफातिसार के रूप में प्रकट होता है। तब अपने अपने वर्ग की दोषानुसार औषधियों से बस्ति निर्माण कर प्रयोग करने से उत्तम लाभ होता है।

अर्द्धमात्रिकबस्तिः

दशमूलीकषायेण शताह्वाक्षं प्रयोजयेत्।
सैन्धवाक्षञ्च मधुनो द्विपलं द्विपलं तथा ॥
तैलस्य फलमेकन्तु फलस्यैकत्र योजयेत्।
अर्द्धमात्रिकसंज्ञोऽयं बस्तिर्देयो निरूहवत् ॥
न च स्नेहो न च स्वेदः परिहारविधिर्न च।
आत्रेयानुमतो ह्येष सर्वरोगनिवारणः ॥
पक्ष्मघ्नश्च शूलघ्नश्च क्रिमिघ्नश्च विशेषतः।
शुक्रसञ्जननो ह्येष वातशोणितनाशनः ॥
बलवर्णकरो वृष्यो बस्तिःपुंसवनः परः ॥

चक्रदत्तः (निरूहाधिकारः)

इदानीं निरूहयोगा वाच्याः; तत्र प्रथम प्रसिद्धत्वादर्द्धमात्रिकबस्तिमाह, दशमूलीत्यादि चन्द्रटोक्तः। —तन्त्रान्तरस्य उत्सर्गसिद्धचतुर्विंशतिपलनिरूहा-पेक्षया मात्रार्द्धमस्येति कृत्वः द्वादशपलोऽयं निरूहा अर्द्धमात्रिक इत्युच्यते; अत एव मधुस्नेहनइत्यादिपरिभाषया यत् द्रव्यमानमुक्तं, तदर्द्धमानमेवात्र ज्ञेयं, तेन द्वादशभिः पलैरेकः पुटकः, एवं त्रयः पुटका देयाः। अत्र पुटकत्रयार्थं दशमूलस्य प्रत्येकं कर्षत्रयम्, अतः सार्द्धसप्तपलानि तत्र क्वाथपरिभाषया जलस्यापि सार्द्धसप्तशरावाः, एभिः षष्टिपलानि भवन्ति; एषां चतुर्थांशशेषात् पञ्चदशपलानि दशमूलकषायस्य भवन्ति, तत्रैकपुटकार्थं पञ्चपलानि ग्राह्याणि, अपरपुटकणोर्द्वयोरपि दशपलं विभज्य देयम्। शताह्वा शतपुष्पा, तस्या अक्षं कर्षः, एतत्प्रमाणमपि दशमूलक्वाथेनैव विधेयम्। वृद्धास्तु जलेनापि

पेषणं कुर्वन्ति। एतच्चाक्षमानं नैकैकपुटकं प्रत्येकं बोध्यम्; एवं सैन्धवाक्षादिकमप्येकस्मिन्नेकस्मिन् पुटके देयं, तैलस्यापि द्विपलमित्यर्थः। फलस्येति—मदनफलस्य फलमेकम् आकृतिमानात्। संयोजनपरिपाटी च "दत्त्वाऽऽदौ सैन्धवस्याक्षम्" इत्यादि वाक्येनैवोक्ता; एवं सर्वत्र। सर्वत्रैव निरूहे अनुक्तगोमूत्रकाञ्जिकादिद्रव्यदानार्थं "स्नेहं गुडम्" इति परिभागमनन्तरमेव वक्ष्यति; तेषाञ्च द्रव्याणां माननिर्णयार्थं वृन्दवचनमेवानुस्मर्तव्यम्; तद्यथा—"कर्षं सिन्धुजरजसो द्विपलं मधुनः पलद्वयं तैलात्। करतलमथितं पात्रे गूढस्नेहं भवेत् यावत्॥ दशमूलस्य कषायं दत्त्वा पलपञ्चकं मदनमेकम्। गुडशतपुष्पाम्लीनां कर्षं कर्षं तथा कर्षम्॥ माषकपञ्चकसहितं पूरकजम्बीरमांसरसपयसाम्। तुषजलगोजलयोरपि प्रत्येकञ्चैकपुटमाह॥" इति अम्लीति—पक्वतिन्तिडिफलं, तदपि सास्थि ग्राह्यमित्युपदेशः। पूरकजम्बीरादीनां माषकपञ्चसहितं कर्षमित्यर्थः। पूरकः मातुलुङ्गम्, अस्य पक्वफलरसो गृह्यते; एवं जम्बीरस्यापि माषकपञ्चसहितं। कर्षम् क्षीरकर्षन्तु उष्णीकृतस्य मिलितनिरूहस्य चर्मपुटकप्रवेशनसमये प्रक्षेप्तव्यम्, अन्यथा "न धावत्यौषधानिम्" इत्यादि लक्षणं न स्यादित्याहुर्वृद्धवैद्याः।

अनेन प्रकारेण पुटकत्रयमुत्सर्गः; एतेन पुटकद्वयेनैव यत्र सम्यङ्निरूहलक्षणं, तत्र तावन्मात्रमेवेति। सुखग्रहणार्थमर्द्धमात्रिकवस्तेः पत्रिका लिख्यते—पुटकत्रयार्थं दशमूल प्र क ३, पा पा श ७, पल ४, शेष पल १४; एतत् भागत्रयं कृत्वा एकपुटकार्थं दशमूलकषाय पल ४' प्रक्षेपार्थं सुपिष्टशलुका क १, सैन्धव क १, मधु प २, पक्वतैल प २, पिष्टमदनफल गो १, पुराणगुड़ क १, सास्थिसुपक्वतिन्तिडिफल क १, सुपक्वमातुलुङ्गरस, सुपक्वजम्बीररस, मांसरस, काञ्जिक, गोमूत्र प्र क १, मा ५; एतत् सर्वं पूर्वोक्त संयोजनपरिपाट्या मेलयित्वा वस्त्र धृष्ट्वा बाष्पस्वेदेन कटुष्णीकृत्य ग्राह्य, तदनु गव्य दुग्ध क १, मा ५, प्रक्षिप्यालोड्य चर्मपुटके प्रलेप्यमिति एतदेव विधानं द्वितीये तृतीयेऽपि ज्ञेयम्। इत्यर्धमात्रिकः

तत्र चन्द्रिका शिवदासः)

दशमूल का क्वाथ बनाकर एक तोला सौंफ का चूर्ण, एक तोला सैन्धव नमक, दो पल (८ तो०) मधु ८ तोले तल एवं ४ तोले मदनपल का चूर्ण मिश्रित कर निरूह बस्ति की विधि से प्रयोग करना चाहिए। इसी का नाम अर्धमात्रिक वस्ति है। इसे प्रयोग करते समय स्नेह तथा स्वेदन एवं आहार आदि विधि का परिहार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। (अर्थात् न भी किया जाए या किया जाए तब भी कोई हानि की सम्भावना नहीं है) इसका उपदेश भगवान आत्रेय ने किया है। यह बस्ति समस्त व्याधियों को नष्ट करने वाली है प्रायः यक्ष्मा, क्रिमि और शूल को विशेष रूप से शमन करने वाली है शुक्र वर्धक है, वातरक्त को नष्ट करने वाली है। बल एवं वर्ण का आधान कराती है, वृष्य प्रभावकारी है। इस वस्ति से पुंसवन भी हो जाता है।

कविराज वंगसेन ने इस बस्ति के महत्त्व एवं उपयोग का विवरण देते हुए जिन रोगों का उल्लेख किया है उनमें—सुकुमार, स्त्री, भयभीत, विषम ज्वर, अश्मरी, मूत्रकृच्छ्र, गुल्म, प्लीहा, हलीमक, वात पित्तज तथा कफज और सन्निपातज रोगों में प्रशस्त बताई गई है।

वातव्याधिषु द्विपञ्चमूलाद्यो निरूहः

द्विपञ्चमूलस्य रसोऽम्लयुक्तः
सच्छागमांसस्य सपूर्व पेष्यः।
त्रिस्नेहयुक्तः प्रवरो निरूहः
सर्वानिलव्याधिहरः प्रदिष्टः॥

च० सि० ३।३५-३६ अ० सं० क० ४।-

हि० व्या०—दोनों पञ्चमूल (दशमूल) के क्वाथ में कांजी आदि अम्ल द्रव्य, बकरे का मांस एवं बलादि वस्ति में वर्णित प्रक्षेप द्रव्यों का कल्क, घृत-तैल एवं वसा इन तीन स्नेहों को मिलाकर तैयार की गई निरूह सभी प्रकार की वात व्याधियों को दूर करती है।

शतावर्यादि रसायनवस्तिः

शतावरीं सहचरं रास्नां गोक्षुरकं बलाम्।
शतं शतं कल्पयित्वा तोयद्रोणशते पचेत्॥
द्रोणावशेषितं तच्च परिपूतं निधापयेत्।
बर्हिकुक्कुटहंसानां मांसान्यपि पृथक् पृथक्॥
वसामहिषवाराहमेषाणां प्रस्थसंमितम्।
विदार्यामलकेक्षूणां रसप्रस्थाः पृथक् पृथक्॥
तत्र तैलघृतप्रस्थौ क्षीरमष्टगुणं भवेत्।
तद्गोमयाग्निना युक्त्या कल्केनानेन साधयेत्॥
तुगाक्षीर्यामलक्यौ च द्राक्षामधुकचन्दनैः।
मधूलिकापटोलाभ्यां पत्रं नीलोत्पलस्य च॥
विशालां च मृणालं च कपिकच्छुफलानि च।
खर्जूरोदनपाक्यौ च शीतपाकीं निदिग्धिकाम्॥
सलामज्जत्वचं पत्रं ह्रीवेरं समहासहम्।
जीवकर्षभकौ मेदां पिप्पलीश्चापि संहरेत्।
तत्सिद्धं शीतलीकृत्य क्षौद्रप्रस्थे नियोजयेत्॥
तत्र वादित्रशब्दांश्च कुर्यात्स्वस्त्ययनानि च।
गजस्कन्धं समारोप्य श्वेतच्छत्रानुपालितम्॥
चेलावृतं च कुर्वीत साधुशब्दांश्च सर्वशः।
ततोऽस्मिन् दापयेद्वस्तिं पुण्येऽहनि रसायनम्॥
वस्तिनानेन दत्तेन गच्छेन्नारीशतं नरः।
न वात्र यन्त्रणा काचिदुक्ता नारीविहारगा॥

वृष्यो बलकरो वस्तिराप्त आयुर्विवर्धनः ।
वलीपलित खालित्यं सेवमानो नियच्छति ॥
षण्डांश्च पुरुषान् कुर्याल्लक्षणाढ्यान् गुणान्वितान् ।
क्षीणाक्षतानष्टशुक्रान् विषमज्वरपीडितान् ॥
योनीनां व्यापदो वन्ध्यां वस्तिरेष नियच्छति ।
भे० सं० सि० ८।२५-३७

रासायनिक वस्तिः

गुडूचीस्वरस प्रस्थं ग्राह्यमेयन्त्रपीडितम् ॥
शतावरीरसप्रस्थं तद्वत्सहचरस्य च ।
विदार्यामलकेक्षूणां द्राक्षाखर्जूरयोरपि ॥
पृथक् कुर्याद्रसप्रस्थं प्रस्थौ द्वौ तैलसर्पिषोः ।
आजमाहिषगव्यानि क्षीराणि द्विगुणानि च ॥
क्षुण्णपिष्टानि चेमानि पेषयित्वा विपाचयेत् ।
वधूटिकामुच्चटां च मधुकं पिप्पलीमपि ॥
शृङ्गाटकं पुष्करिकां काण्डं नीलोत्पलस्य च ।
जीवकर्षभकौ मेदां बलां नीलोत्पलानि च ॥
तुगाक्षीरीं महामेदां पुण्डरीकस्य केशरम् ।
वृषमेषचकोराणां हंसकुक्कुटयोरिह ॥
जीवञ्जीवकमत्ताक्षकुररीकौञ्चबर्हिणाम् ।
वसामज्जा च सत्वानां मेषमांसरसंस्सह ॥
त्रिभागं माक्षिकं चैव युञ्ज्यात्सम्यक्विपाचिते ।
शङ्खभेरीनिनादैश्च पटहैर्वा मुरोस्वनैः ॥
आरोपयेद्गजस्कन्धे श्वेतच्छत्रध्वजायुतम् ।
सिद्धानां परमं देवं महर्षिगण सेवितम् ॥
शरणं सर्वभूतानामर्चयेद् वृषभध्वजम् ।
आशीर्भिमङ्गलाशंसिस्तुतिभिर्देवतार्चनैः ॥
रसायनानि सिद्ध्यन्ति विपरीतानि चान्यथा ।
तं स्नेहं गमयेद्बस्तिं रासायनिकमुत्तमम् ॥
अथाहारविहारेषु न चैनं यन्त्रयेद्भिषक् ।
व्यापन्नयोनयो वन्ध्या रक्तगुल्मिन्य एव च ॥
या वाऽपत्यं मृतं सूते याश्चनष्टार्तवास्तथा ।
नष्टशुक्लक्षतक्षीणा विषमज्वरपीडिताः ॥
प्रक्षीणमांसरुधिरा वलीपलित पीडिताः ।
आशु प्रशमयेद्रोगान् तानायुर्मांसवर्धनम् ॥

रसायनमिदं श्रेष्ठं नराणाममृतोपमम् ।
सहस्रशतपाकानि कार्याणि विभवे सति । भे० सि० ३८-५२।

मायूराद्यनिरूहाः

मायूरं कौक्कुटं वापि वेशवारं सुकुट्टितम् ।
सहितं दशमूल्या तु जल द्रोणे विपाचयेत् ॥
रसस्य तस्य पूतस्य प्रस्थार्धं च प्रदापयेत् ।
वसातैल घृतानां तु मधुनः प्रसृतद्वयम् ॥
हपुषा शतपुष्पाणां मुस्तानां चापिकार्षिकम् ।
कल्कपेष्यं पुनर्दद्याद्वास्तं सलवणं सुखम् ॥
पादगुल्फोरुजाङ्घासु त्रिकवङ्क्षणबस्तिषु ।
शिश्नेवृषणयोश्चैव वातरोगं नियच्छति ।
मृगाणां तित्तिराणां च तथैव बिलवासिनाम् ॥
आनूपानां खगानां च कल्पनेव प्रयोजयेत् ॥
तुल्यं मधु च तैलं च तस्मादुष्णोदकं समम् ।
द्वौ कर्षौ शतपुष्पाणां कर्षश्च लवणोत्तमः ॥
एष रसायनवस्तिर्दीपनीयोऽथ बृंहणः ।
बलवर्णकरो वृष्यो यापनो निरुपद्रवः ॥
गुल्मोदावर्तिताध्मानप्रमेहकृमिकोष्ठिनाम् ।
नित्यं गाढपुरीषाणां बस्तिरेष हितः स्मृतः ॥
घृतं मधु च तैलं च तेषा मानं समं भवेत् ।
पूर्वकल्केन देयानि स वस्तिर्बलवर्णकृत् ॥
वस्तौ मेढ्रगते दोषे वस्त्यसात्म्यविकिस्सिते ।
पैत्तिके मूत्रकृच्छ्रे च पित्तव्याधिषु चोत्तमः ॥
तुल्यं घृतमथ क्षौद्रं तयोर्मांसरसस्समः ।
अक्षमात्रं च मुस्तानां स वस्तिः पूर्वकल्पवत् ॥
गुल्फोरुजानुपृष्ठेषु सर्वतः स्तम्भितेषु च ।
बलासपादहर्षेषु वस्तिः प्रशमनः स्मृतः ॥
वस्तौ वृषणमेढ्रेषु शूलमाशु नियच्छति ।
त्रिकजानूरूपृष्ठादि वेदनां चापकर्षति ॥ भे० सि० भा० ८।५५-६७

शतावर्यादि रसायन बस्ति विधि

हि०—शतावरी, पियाबांसा, रास्ना, गोखरू वला, १००, १०० पल लेकर १०० द्रोण जल में पाक करें, एक द्रोण शेष रहने पर छान कर रख लें। मोर, मुर्गा एवं हंस के पृथक पृथक मांस तथा सूकर, भैंसा एवं भेड़ की वसा एक एक प्रस्थ लें, विदारी, आमलकी, इक्षु (गन्ना) के एक एक प्रस्थ स्वरस, तैल एवं घृत एक एक प्रस्थ तथा आठ गुना दूध लें। इन सभी

को मिलाकर, उपलों की अग्नि पर पाक करें। इसमें स्वांग शीत होने पर वंश लोचन, आमलकी, द्राक्षा, मुलहठी, चन्दन, महुआ, पटोल पत्र, नीलोफर, इंद्रायण, कमलगट्टा कौंच के बीज, खजूर, चावल, वला के बीज (खरैंटी), कंटकारी, लामञ्जक की त्वचा, ह्रीवेर के पत्र, मुगपर्णी, माष पर्णी, जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, पिप्पली का चूर्ण मिला दें तथा एक प्रस्थ मधु मिला दें।

इसके पश्चात् मंगलाचरण, स्वस्ति वाचन एवं मधुर शब्दों के साथ हाथी पर चढ़ाकर शिर पर छत्र धारण कराकर इसके पश्चात् पुण्यकाल (वस्ति के लिए बताए गए उपयुक्त समय) में वस्ति का प्रयोग कराना चाहिए।

इस वस्ति के प्रयोग के पश्चात् मनुष्य में अतिशय मैथुन की प्रवृत्ति एवं प्रबलता आ जाती है। इसके प्रयोग से नारी विहार कार्य में किसी प्रकार की पीड़ा भी नहीं होती। यह वस्ति वृष्य है। बलकारी है एवं आयु को बढ़ाने वाली है। इसके प्रयोग से खालित्य एवं बालों का पकना दूर हो जाता है। नपुंसक मनुष्यों को पुंस्त्व के सभी लक्षण एवं गुणों का प्रदान करने वाली है। जो क्षीण हैं क्षत रोगी है, जिनका शुक्र नष्ट हो गया हो, जो विषम ज्वर से रुग्ण हो उनके लिए उत्तम है। जिन नारियों को वन्ध्या नामक रोग एवं योनि व्यापद हों वह भी इस वस्ति के सेवन से दूर हो जाता है।

द्वितीय रसायन बस्ति

गुडूची का स्वरस, शतावरी स्वरस, सहचर (पीयाबांसा) स्वरस, विदारी स्वरस, ईक्षु स्वरस, आमलक स्वरस, द्राक्षा स्वरस, खजूर स्वरस प्रत्येक एक एक प्रस्थ, घृत एक प्रस्थ, तैल एक प्रस्थ, बकरी, भैंस एवं गाय का दूध दो-दो प्रस्थ ग्रहण करें। उपरोक्त द्रव्यों को मिलाकर पीस लें एवं पाक करे। स्पृक्का, उच्चटा, महुआ, पिप्पली, सिहाड़ा, पुष्कर मूल, नील कमल काण्ड, जीवक, ऋषभक, मेदा, वला, नीलकमल, तुगाक्षीरी, महामेदा कमल-केशर, बैल-भेड़ की वसा, मज्जा, चकोर हंस, मुर्गा तथा प्रतुद् पक्षियों में कोकिल कुररी; कौञ्च तथा मयूर के अण्डों का रस एक एक प्रस्थ लेकर भेड़ के मांस के साथ मिलावें, तीन भाग मधु मिलाकर, ससुचित पकावें तथा पूर्वोक्त विधि से हाथी पर विठाकर भगवान शंकर की अर्चना करवाकर वाद्य यन्त्रों के निनाद में यथाविधि सेवन कराने से नष्टार्तव, नष्ट शुक्र क्षत क्षीण, विषम ज्वर, क्षीण मांस एवं रक्त वाले, वलि-पलित रोगों से पीड़ित व्यक्तियों के रोगों का निवारण होता है तथा आयु एवं मांस की अभिवृद्धि होती है यह रसायन बस्ति मनुष्यों के लिए अमृत के समान है।

मायुराद्य बस्ति

मयूर एवं मुर्गे के कुट्टित मांस में दशमूल मिलाकर एक द्रोण जल में पाक करें। यथा विधि पाक होने पर छान कर उसमें आधा आधा प्रस्थ वसा एवं

तैल डालना चाहिए तथा प्रसृत मधु मिलाकर इसमें हाउ बेर, सोया, नागर मोथा एक एक कर्ष लेकर कल्क बनाकर इसमें मिला दें एवं यथामान लवण मिला कर बस्ति का प्रयोग करना चाहिए। यह वस्ति पांव, गुल्फ, उरु, जंघा त्रिकप्रदेश, वंक्षण एवं वस्ति रोगों में, शिश्न रोग, वृषण रोग तथा वात रोगों में उपयोगी है।

इसी प्रकार का कल्प, पशु, त्तित्तिर आदि पक्षियों तथा विलेशय जीवों, आनूप पक्षियों के मांस आदि के द्वारा भी तैयार किया जा सकता है। इसमें समान भाग मधु एवं तैल तथा उष्ण जल के साथ दो कर्ष सोया एवं एक कर्ष लवण मिलाकर प्रयोग किया जा सकता है।

यह रसायन बस्ति दीपनीय एवं वृंहण है। बल वर्ण को देने वाली वृष्य, यापन एवं निरूपद्रव हैं, गुल्म उदावर्त, आध्मान, प्रमेह, कृमि कोष्ठ वालों के लिए जिनको नित्य कोष्ठबद्धता रहती है उनके लिए हितकर है। घी, मधु और तैल का मान समान लिए जाने का उल्लेख किया है। पूर्व में वर्णित कल्क के साथ देने से यह बस्ति बल एवं वर्ण को बढ़ाती है।

दोषों के मेढ्र में चले जाने पर एवं जो बस्ति के साध्य हों, पैत्तिक रोग, मूत्रकृच्छ् तथा अनेक पित्त रोगों में उपयोगी है। इसमें तुल्य घृत एवं मधु मिलाकर एवं उपर्युक्त पशु पक्षियों के मांस को समान भाग मिलाकर एक अक्ष नागर मोथा का कल्क मिलावें एवं पूर्वोक्त विधि से सेवन कराने पर गुल्फ, ऊरु, जानु, पृष्ठ एवं सर्व शरीरगत स्तम्भ वातबलास; पाद हर्ष में यह बस्ति उत्तम बताई गई है। वृषण, मेढ्र में उत्पन्न होने वाले शूल को शीघ्र दूर करती है एवं त्रिक, जानु उरु तथा पृष्ठादि वेदनाओं का शमन करती है।

शीतोष्णादिद्रव्याणां मात्रा ह्रासवृद्धि निर्देशः

उत्कर्षणं यदङ्गेन तदङ्गेनापकर्षयेत्।
शीतोष्णस्निग्धरूक्षाणां द्रव्याणामुपकल्पयेत्॥

का० सं० सि० ८।४६

हि० व्या०—शीत, उष्ण, स्निग्ध तथा रूक्ष द्रव्यों में जिस क्रम से मात्रा में वृद्धि की जाती है उसी क्रम से उसमें ह्रास भी करनी चाहिए।

अतिशीत अतिउष्ण द्रव्य प्रयोगे हानि संकेतः

अतिशीतोऽतिशैत्येन स्कन्नो वातबलावृताः॥
भृशं स्तम्भयते गात्रं कृच्छ्रेण च निवर्तते।
अत्युष्णः कुरुते दाहं मूर्च्छां चाशु निरेति च॥

का० सं० सि० अ० ८।६०६-१

हि०—अत्यन्त शीतल बस्ति शीतलता के कारण वायु के बल से आवृत हो जाती हैं जिससे शरीर और भी जकड़ जाता है तथा वह शरीर से बाहर भी कठिनाई से होती है। इसी प्रकार अत्यन्त उष्ण बस्ति दाह उत्पन्न करती है तथा शीघ्र ही रोगी को मूच्छित करती है।

शीतोष्णनिरूहविषयाः

पित्ते शीतो निरूहः स्यादुष्णस्तु कफवातयोः।
श्लेष्मणि प्रवाते वा प्युष्णमास्थापनं भवेत्॥

भे० सि० अ० ७।३६

हि० व्या०—पित्त में शीतल निरूहण, कफ एवं वात में उष्ण निरूहण बस्ति का प्रयोग करना चाहिये।

अतितीक्ष्ण वस्ति प्रयोगे मन्द वस्ति प्रयोगे च हानि संकेतः

अतितीक्ष्णस्तथैवास्य जीवादानं करोति वा।
मन्दो न दोषान् हरति दूषयत्येव केवलम्॥

का० सं० खि० अ० ८।६२

हि० व्या०—अत्यन्त तीक्ष्ण बस्ति शरीर में जीवादान नामक उपद्रव उत्पन्न करती है तथा अत्यन्त मन्द बस्ति शरीर दोषों को नष्ट न करते हुये शरीर को और भी दूषित कर देती है।

अति रूक्ष वस्ति प्रयोगे अतिस्निग्ध वस्ति प्रयोगे च हानि संकेतः

कर्षयत्यतिरूक्षश्च मारूतं च प्रकोपयेत्।
स्निग्धोऽति जाड्यं कुरुते व्यापदयति चानलम्॥

का० सं० खि० अ० ८।६३

हि० व्या०—अत्यन्त रूक्ष बस्ति शरीर का अति मात्रा में कर्षण करती है तथा वात का प्रकोप करती है। अत्यन्त स्निग्ध बस्ति शरीर में जड़ता की उत्पत्ति करती है तथा जठराग्नि को बुझाती है अर्थात् नष्ट करती है।

अति तीक्ष्णवस्तिनिषेधः

तीक्ष्णो मात्राशताद्ध्वं नातितीक्ष्णः (प्रयुज्यते)।
न तिष्ठति, मृदुस्तिष्ठत्यधिकं वाऽपि यापनः॥

का० सं० खि० अ० ८।६९

हि० व्या०—तीक्ष्ण बस्ति एक सौ मात्रा याने एक से एक सौ की गिनती करने में जितना समय लगता है उतनी ही देर तक शरीर में ठहरती है। अतः अत्यन्त तीक्ष्ण बस्ति प्रयोग नहीं करनी चाहिए। इसके विपरीत मृदु या यापन बस्ति शरीर में बहुत देर तक स्थित रहती है।

अवस्थाविशेषे निरूहणात् प्राक् विशेषतः अनुवासन बस्ति प्रयोग विधानम्।

त्रीन् पञ्च वाऽऽहुश्चतुरोऽथ षड्वा
वातादिकानामनुवासनीयान्॥
स्नेहान प्रदायाशु भिषग्विदध्यात्
स्रोतो विशुद्ध्यर्थमतो निरूहान्॥ च० सि० १।४७-५० क

त्रीन् पञ्चेत्यादिना स्नेहनार्थमनुवासनमाह। अत्र ये 'वातादिकानाम्' इति पठन्ति, तेषामादिशब्देन पित्तकफयोऽपि ग्रहणं; बहुवचनं तु तद्गुण-संविज्ञानबहुव्रीहिणा वातस्य ग्रहणाद्बहुत्वसंख्यायोगादुपपन्नम्। यथोक्तं कुष्ठ-निदाने—"वातादिषु प्रदुष्टेषु" (नि० अ० ५) तथा क्वियन्तः शिरसीयेऽपि "वातादीनां रसादीनां" (सू० अ० १७) इति बहुत्वं निर्दिष्टम्। अन्ये तु—'वाताधिकानाम्' इति पठन्ति। अत्र चतुर्णां षण्णां च स्नेहानां युग्मरूपा-णामपि दानमविरुद्धमेव, एतदनुवासनस्य निरूङ्ग या स्नेहनार्थं क्रियमाणत्वात्; अयुग्मदानं तु 'बस्तीनयुग्मान्' इत्यनेन स्वप्रधानतयाऽनुवासनस्य विहितमति भिन्नविषयतया न विरोधः; यतः स्नेहन प्रयोजनमनुवासनं स्नेहे भूत एवा-युग्मदानेन निवर्तनीयम्; किं वा अयुग्मातन्त्रता व्याख्यानेन संख्यैवोच्यते, तथा हि—त्रीन्, पंच, त्रीन् चतुर इति सप्त, पञ्च चतुर इति नव, पञ्च षडित्येकादश इति पञ्च विकल्पाः इह विधीयन्ते। तन्त्रान्तरे स्नेहस्य युग्मदानमुक्तम्, यथा—"रूक्षस्य बहुवातस्य द्वौ त्रीन् वाऽप्यनुवासनान्। दद्यात् स्निग्धतनुं ज्ञात्वा ततः पश्चान्निरूहयेत्" (सु० चि० अ० ३७) इति। स्रोतः शब्देन विबद्धसिराऽभिहिता॥ चक्रपाणिः।

इति स्नेहैस्त्रिचतुरैः स्निग्धे स्रोतोविशुद्धये।
निरूहं शोधनं युंज्यादस्निग्धे स्नेहनं तनोः॥ अ० हृ० सू० २९।२६

इति पूर्वोक्तेन प्रकारेण स्नैहैस्त्रिचतुरैर्वा स्निग्धे सति स्रोतोविशोधनार्थं निरूहं शोधनं प्रयोजयेत्। अस्निग्धे सति तनो शरीरस्य स्नेहनं प्रयोजयेत्। त्रयो वा चत्वारो वा त्रिचतुराः। अरुणदत्तः।

हि० व्या०—वातादि दोषज प्रकृति वालों को तीन-चार, पाँच अथवा छः अनुवासन बस्ति देकर (स्रोतोंशुद्धि हेतु) पश्चात् निरूह बस्ति का प्रयोग कराना चाहिए।

अष्टाङ्ग हृदय में तीन या चार स्नेह बस्तियों द्वारा स्रोतो शोधन के पश्चात् निरूह बस्ति का क्रम बताया गया है।

वस्तिद्रव्य क्रमशः शरीरावयवव्याप्ति निर्देशः।

श्रोणिबस्तिकटीपार्श्वनाभिमूलोदराश्रितः।
सम्यक्समुच्छ्रयं कृत्स्नं वीर्यतः प्रतिपद्यते॥

(का० सं० खि० अ० ८।६७)

हि० व्या० –यह बस्ति श्रोणि, बस्ति, कटि, पार्श्व, नाभिमूल तथा उदर में उचित रूप से आश्रित हुई अपनी शक्ति के द्वारा पूर्ण रूप से ऊपर तक पहुँच जाती है।

ऊर्ध्वभागैर्बलात् क्षिप्तो मारुतेरिव पावकः।
पित्तस्थानमतिक्रम्य स्वल्पमाक्षिपते कफम्॥ का० सं० खि० अ०

हि० व्या०– शरीर के ऊर्ध्व भागों में स्थित वात के द्वारा मानो बलपूर्वक फैंकी गई अग्नि पित्त स्थान का अतिक्रमण करके सामान्यतया काम को व्याप्त कर लेती है।

निरूहण प्रयोगात् एकहोराकालमध्ये एव निरूहण द्रव्य प्रत्यागमनं न भवेत् चेत् शूलानाहघोरोपद्रवा भवन्ति तत्र तीक्ष्णशोधन प्रयोगावश्यकता।

अनायान्तं मुहूर्त्तात्तु निरूहं शोधनैर्हरेत्।
तीक्ष्णैर्निरूहैर्मतिमान् क्षारमूत्राम्लसंयुतैः॥
विगुणानिलविष्टब्धं चिरं तिष्ठन्निरूहणम्।
शूलारतिज्वरानाहान्मरणं वा प्रवर्तयेत्॥

सु० चि० ३८।१७-१८ भाव प्र०, वंगसेन

निरूहैर्मतिमान् हरेदिति संबन्धः। कथंभूतैर्निरूहैरित्याह:— शोधनैः तीक्ष्णैः। क्षारमूत्राम्लसंयुतैः क्षारो यवक्षारः, मूत्रं गोमूत्रम्, अम्लं काञ्जिकम्। विगुणो विपरीतः। अरतिर्न कुत्रचिदवस्थितिश्चेतसः। डल्हणः।

आगतौ परमः कालो मुहूर्तो मृत्यवे परम्।
तत्राऽनुलोमिकं स्नेह क्षारमूत्राऽम्लकल्पितम्॥
त्वरितं स्निग्धतीक्ष्णोष्णं बस्तिमन्यं प्रपीडयेत्।
विदध्यात्फलवर्ति वा स्वेदनोत्रासनादि च॥

अ० हृ० सू० १९।३५

आगतौ प्रत्यागमने कालः परमो मुहूर्तः। अरस्तस्मान्मुहूर्तादन्यो विट्-श्रद्धागमनकालो मृत्यवे मरणाय। तत्र तस्मान्मुहूर्तात्परमनागतनिरूहस्य त्वरितमपरं बस्तिं निरूह प्रपीडयेदिति संबंधः। किं भूतं निरूहम्। आनुलोमिकमनुलोमकरम्। स्नेहस्तथा क्षारोयवक्षारादिस्तथा मूत्रं गोमूत्रमम्लं तत्र कांजिकादि तैः कल्पितं निरूहितम्। तथा स्निग्धं च तीक्ष्णमुष्णं च। स्नेहयोगादेव स्निग्धत्वे सिद्धे स्निग्ध ग्रहणं निरूहाणामस्निग्धतरत्वप्रतिपादनार्थम्। अथवा फलवर्ति विदध्यात्। फलेन मदनफलेन युक्ता वर्तिः सा चार्शश्चिकित्सिते वक्ष्यमाणा। स्वेदनोत्रासनादि च। स्वेदनं स्वेदः। उत्त्रासन खड्गहस्तयोद्यदर्शनादिना। कुपितनृपखड्गव्यग्रोग्रबाहुदर्शनाऽऽकुलं कुर्यात्। अरुणदत्तः।

हि० व्या० – यदि एक मुहूर्त प्रतीक्षा के बाद भी बस्ति द्रव्य लौट न आवे तब शोधनीय द्रव्यों से निर्हरण कराना चाहिए। क्षार-मूत्र एवं कांजी आदि अम्ल द्रव्यों से तीक्ष्ण निरूह का प्रयोग कराना चाहिए क्योंकि अधिक समय तक द्रव्यों के अन्दर रुकने मे वायु की विगुणता प्रधान कारण है जिससे शूल, अरति, ज्वर एवं मृत्यु भी हो सकती है।

आचार्य वाग्भट के अनुसार निरूह बस्ति के लौट आने का समय अधिकाधिक एक मुहूर्त बताया गया है (लगभग पचास मिनट)। इसके बाद भी न लौटे तो उपद्रवों के कारण मृत्यु भी हो सकती है। नियत काल में न लौटने पर शीघ्र ही अनुलोमन करने वाला स्नेह, क्षार एवं गोमूत्र मिलाकर बनाई गई स्निग्ध, तीक्ष्ण एवं उष्ण गुण युक्त दूसरी बस्ति का प्रयोग कराना चाहिए। उदर पर स्वेदन तथा भय उत्पादक कर्म करना चाहिए।

बस्ति व्यापत् संख्या।

षट्सप्तति व्यापदस्तु जायन्ते बस्तिकर्मणा।
दूषितात् समुदायेन तश्चिकित्स्यास्तु सुश्रुतात्॥

शा० सं० उ० ५।५०

षोढ़ा सप्त व्यापदस्तु जायन्ते बस्तिकर्मणः।
दूषितात्समुदायेन ताश्चिकित्स्यास्तु सुश्रुतात्॥ भावप्र०

हि० व्या० –विधि विपरीत बस्ति कर्म करने पर ७६ प्रकार की व्यापत्तियां (उपद्रव) उत्पन्न होती है। उनकी चिकित्सा विधि सुश्रुत संहिता चिकित्सा स्थान अध्याय ३७ में निर्दिष्ट विधि के अनुसार करना चाहिए।

आस्थापनबस्ति काले जायमानोपद्रवकारणानि।

अतिस्निग्धाशिनो ह्युभयमार्ग संसर्गात्स्नेहोमतमूर्च्छाग्निसादहृल्लासान् जनयति। रूक्षाशिनो विष्टम्भं बलवर्णहानि वा। अल्पमात्र द्रवाशिनो विसृष्टविष्टम्भं बलवर्णहानि वा। अल्पमात्र द्रवाशिनो विसृष्टविण्मूत्रस्य चान्नावृतेन तदावरणाद् व्यापदय्। चिरमशितवतो विदाहाभिमुखभक्तस्य ज्वरं कुर्यात्। यतश्च वामपार्श्वाश्रयाणि वह्निग्रहणी गुदवली मुखानि तानि तत्पार्श्वशायिनो निम्नानि भवन्ति। अथस्तथौषधमस्खलि तमाप्नोति प्रवेशनिर्गमाविति। संविष्टं चैनमृजुस्थितदेहं स्ववाहूपधानं प्रसारितवामसक्थिमकुंचितेतरं तस्यैव चोपरि प्रसारित दक्षिणवाहुं कारयेत्।

अ० सं० सू० २८।३०

वामपार्श्वशायिनस्तत्पार्श्वाश्रयानि ग्रहण्यग्न्यादीनि निम्नान्यविरोधकान्यौषधस्य भवन्ति। बस्तिना ह्यमूर्तेनाप्यग्निर्मौषधस्य प्रतिघातः क्रियत एव। स्व स्व वामो बाहुर्द्विगुणीकृत उपधानं शिरस उपाश्रयो यस्य तं तथोक्तत्। इतरेति दक्षिणस्य सक्थ्नः परामर्शः। इन्दुः।

पथ्यापथ्य का पालन नहीं कराये जाने से अथवा वस्ति प्रयोग में असावधानी के कारण अनेक उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं। अतिस्निग्ध भोजन करने वाले व्यक्ति में दोनों ओर से स्नेह प्रयोग मद, मूर्च्छा, अग्निमांद्य, जी मिचलाना आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं रूक्ष आहार से विष्टम्भ तथा बल वर्ण की क्षति होती है, थोड़ी मात्रा में ग्रहण किया गया द्रव भोजन, मल-मूत्र उत्सर्ग कर देने पर मार्ग के खुले होने से अन्नावृत के कारण व्यापत्तियां उत्पन्न हो जाती है। वस्ति प्रयोग से बहुत देर पूर्व किया गया भोजन विदाही होने से ज्वरोत्पत्तिकारक होता है। चूंकि अग्नि, ग्रहणी एवं गुदवलियों के मुख वाम पार्श्वाभिमुख होते हैं। इसीलिए वामपार्श्व में लेटने से नीचे की तरफ हो जाते हैं। इसी कारण औषध बिना बाधा के अन्दर प्रविष्ट हो जाती है और बाहर भी आ जाती है। वस्ति देते समय रोगी की स्थिति-शय्या पर सीधा लेटकर वाम पांव को फैलाकर दाहिनी टांग को उरु पर रखकर मोड़ ले, हाथों का सिरहाना जैसा बना लें दक्षिण टांग के ऊपर अपना दाहिना हाथ सीधा फैला देना चाहिए।

बस्तिमिथ्या प्रयोगजन्योपद्रवरूप शूलशमन चिकित्सासूत्रम्।

सामं चेत् कुणपं शूलैरुपविशेदरोचकी।
स घनातिविषाकुष्ठनतदारुवचाः पिबेत्॥ च० सि० ८।१९

वस्तिविथ्याप्रयोगोदीरितानामतीसारभेदानां चिकित्सितमाह- सामं चेत्यादि सामं यथा स्यात् तथोपविशेदिति: तेन मलादि व्यतिरिक्तममात्रोपवेशरूपोऽयमतीसार: केवलामशकृद्वातरक्तपित्तकफजन्यानामिह षण्णामतीसाराणां वक्तव्यानां प्रथम उक्तो भवति। कुणपमिति शवगन्धम्। शूलैः 'युक्त' इति शेषः। घनं मुस्तकम्॥ चक्रपाणिः॥

हि०—बस्ति के समुचित प्रयोग न होने पर उदर शूल तथा आम दोष के साथ, मुर्दे के समान गन्ध वाले मल का निर्हरण होता है। अरोचक रोग हो जाता है। ऐसी स्थिति में नागरमोथा, अतीस तगर, देवदारु और वच इनको समान भाग से विधिवत किए हुए क्वाथ को पिलाना चाहिए।

अति निरूहणस्य बहुव्यापत् करत्वात् सामन्यतः निरूहणस्य अल्प प्रयोग एव श्रेयान्।

विशेषात् सुकुमाराणां हीन एव क्रमो हितः।
अपि हीनक्रमं कुर्यान्न तु कुर्यादतिक्रमम् सु० चि० ३८।७

हीनयोगजातियोगमयोगयोर्व्यापदोर्मध्ये अतियोगजा व्यापन्महात्ययं करोतीति ततो विभ्यग्राह अपि हीनेत्यादि। डल्हणः।

हि०—सुकुमार मनुष्यों के लिए विशेष रूप से वस्तियों का कम मात्रा में प्रयोग करना चाहिए। बस्ति प्रयोग का क्रम अल्प भले ही रहे किन्तु उस का अधिक प्रयोग नहीं करना चाहिए।

असम्यक् निरूहणप्रयोगजन्यानामुपद्रवाणां वर्णनम्

स्याद्रुक्छिरोहृगुदबस्तिलिङ्गे
शोफः प्रतिश्यायविकर्तिके च।
हृल्लासिका मारुतमूत्रसङ्गः
श्वासो न सम्यक् च निरूहिते स्युः। च० सि० १।४२-४३ क

स्यादित्यादि वस्त्ययोगलक्षणम्। न सम्यङ्निरूहिते इत्ययोगेन निरुहिते। चक्रपाणिः

हि० व्या०— निरूह के उचित रूप से प्रयोग नहीं होने पर अथवा उसके मल के समुचित रूप से निर्हरण नहीं होने पर, शिरः शूल, हृदय शूल, गुदा में शूल एवं बस्ति तथा मेढ्र में शोफ हो जाता है। प्रतिश्याय, गुद परिकर्तन हृल्लास, वात एवं मूत्र का रुकना तथा श्वास वृद्धि आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

दिवास्वप्नोपद्रवचिकित्सासूत्रम्

हलीमकाद्यः प्रोक्ता दिवास्वप्नात्पुरा गदाः।
विदध्यात्कफजित्तेषु धूमरूक्षान्नलङ्घनम्॥ अ० सं० क० ७।३९

दिवास्वप्नाद्धलीमकादयो गदाः पुरा विरुद्धान्नविज्ञानीयेअहितनिद्रया ये प्रोक्ताः। तेषु हलीमकादिषु धूमादिकादिकं कफजिद्विदध्यात्। इन्दुः।

हि०—दिवा स्वाप से भी उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं यथा—हलीमक आदि रोगोत्पत्ति दिन में सोने से होती है जैसा कि पूर्व में विरुद्ध अन्नपानीय प्रकरण में बताया गया हैं अतः कफ को जीतने के लिए धूमपान, रूक्ष आहार तथा लंघन कर्म उपयोगी है।

जीवन्त्याद्य यमक

जीवन्तीं मदनं मेदां श्रावणीं मधुकं बलाम्।
जीवकर्षभकौ कृष्णां काकनासां शतावरीम्॥
स्वगुप्तां क्षीरकाकोलीं कर्कटाख्यां शटीं वचाम्।
पिष्ट्वा तैलं घृतं क्षीरे साधयेत् चतुर्गुणे।
बृंहणं वातपित्तघ्नं बलशुक्राग्निवर्धनम्।
मूत्ररेतोरजोदोषान् हरेत्तदनुवासनात्॥ वंगसेन (वस्तिप्र०)

हि०— जीवन्ती, मदनफल, मेदा, गोरखमुण्डी, मधुयष्टी, बला, जीवक, ऋषभक, पिप्पली, काकनासा तथा शतावरी, कौंचबीज, क्षीरकाकोली, काकड़ाश्रृङ्गी, कचूर एवं वच इन सभी को समान भाग लेकर कल्क तैयार करे। इस कल्क के संयोग से तैल एवं घृत को चार गुने दूध में पाक करें।

इस यमक से अनुवासन देना चाहिए। यह बस्ति बृंहण, वात पित्तनाशक, बल, शुक्र, अग्निवर्धक है। शुक्र, रज एवं मूत्रदोष को दूर करती है।

निरूहोपद्रवोदावर्त चिकित्सा सूत्रम्

तमुष्णतैललवणप्रदिग्धास्विन्नमर्दितम्।
तीक्ष्णैर्धूमैः प्रधमनैर्नस्यैरास्यविरेचनैः॥
विरेकैर्बस्तिभिश्चाशु योजयेदानुलोमिकैः। अ० सं० क० ६।-

तमातुरमुष्णतैललवणाभ्यां प्रदिग्धं पश्चात् स्विन्नं पश्चाच्च मर्दितं तीक्ष्णैरानुलोमिकैश्च धूमादिभिर्योजयेदित्युक्ता। इन्दुः।

हि०—निरूहबस्ति सेवन क्रम में यदि उपद्रव स्वरूप उदावर्त हो जाए तो सुखोष्ण तैल और सैंधव लवण से मर्दन (मालिश) करना चाहिए। तीक्ष्ण विरेचन एवं तीक्ष्ण औषधियों से बनाई गयी बस्ति देनी चाहिए। वातानुलोमक औषधियों का सेवन कराना चाहिए।

निरूह तीक्ष्णतासाधकानां निरूह मृदुता साधकानां च द्रव्याणां संकेतः

तीक्ष्णत्वं मूत्रबिल्वाग्नि लवणक्षारसर्षपैः।
प्राप्तकालं विधातव्यं क्षीराज्याद्यैस्तु मार्दवम्॥ अ० सं० क० ४।-

तीक्ष्णत्वमित्यादि। प्राप्तकालं तैक्ष्ण्यं मृदोर्मूत्रादिभिर्विधेयम्। न केवलं चैत एव बस्तयो यावदिदमपि बोद्धव्यम्। इन्दुः।

हि०व्या०— बस्तिद्रव्य में मूत्र (गोमूत्र), बिल्व, चित्रकमूललवण, क्षार एवं सरसों मिलाने से तीक्ष्ण, बस्ति मृदु बनाना हो तो उसमें दूध और घृत मिलाना चाहिए।

अश्वगन्धादिनिरूहः

अश्वगन्धां बलांरास्नां श्वदंष्ट्रां सपुनर्नवाम्॥
पटोल पञ्चमूल्यौ च भार्ङ्गीं श्यामां शतावरीम्।
गुडूचीं त्रिफलां शिग्रुं कणिकायाः फलानि च॥
उशीरं रजनीपत्रं पूतिकं कतृणानि च।
पृथक् पञ्चपलानेतान् खण्डशश्छेदयेद भिषक्॥
जलद्रोणे विपक्तव्यमष्टभागावशेषितम्।
मधुकं शतपुष्पां च सैन्धवं सर्षपान् गुडम्॥
हपुषामजमोदां च मदनस्य फलानि च।
वचामशोकबीजानि पिप्पलीकुष्ठमेव च॥
एतानि कल्कपेष्याणि भेषजानि पृथक् पृथक्।
क्षीरतैलसमायुक्तो घृतमूत्रसमन्वितः॥
खजेन मथितः पूतः स निरूहः प्रशस्यते।

भे० सि० अ० ७।१६-२१

हि०—अश्वगन्ध, बलामूल, गोखरू, पुनर्नवा, पटोल, दोनों पञ्चमूल, भारंगी, त्रिवृत्, शतावरी, गुडूची (गिलोय) हरड़, बहेड़ा, आँवला, सहिजन छाल, कमलगट्टा, उशीर, रजनीपत्र (लताकरञ्ज) पूतिकरञ्ज, रोहिसतृण इन द्रव्यों को पृथक् पृथक् पाँच पल की मात्रा में लेकर यवकूट कर एक द्रोण जल में क्वाथ करना चाहिए। अष्टमांश शेष क्वाथ में यष्टीमधु, सौंफ, सैन्धव लवण, सरसों, गुड, हपुषा (हाउबेर), अजमोद, मदनफल, बच, अशोकबीज, पिप्पली, कूठ प्रत्येक एक-एक तोला की मात्रा में कल्क बनाकर दूध, तैल, घृत और मूत्र मिलाकर मथकर बस्ति देनी चाहिए।

पक्वाशय शोधना निरूहाः

अर्धश्लोकैर्विहितान् बस्तीनतश्चित्रान् प्रवक्ष्यते।
कोशातकी द्वयेश्वाकुफलजीमूतवत्सकाः॥
श्यामात्रिवृत्तयोर्मूलं तथा दन्तीद्रवन्तिजम्।
प्रकीर्या चोदकीर्या च क्षीरिणो नीलिनीफलम्॥
सप्तला शङ्खिनी रोध्रफलं कंपिल्लकस्य च।
सकल्कसैन्धवयुताः पक्वाशयविशोधनाः॥ अ० सं० क० ४।-

कोशातकीत्यादिभिरर्धश्लोकैर्विहितत्वात् बस्तीन् प्रवक्ष्यते। चित्रान् शोधनादिभेदेनानेकप्रकारान्। यत्र चत्वारो बस्तयः स्वौषधकल्केन सैन्धवेन च युक्ताः पक्वाशयस्य विशोधनाः। इन्दुः।

हि०—पक्वाशय विशोधक बस्तियाँ—इस प्रकरण में पक्वाशय शोधक चार बस्तियों का निर्देश किया गया है। १. कड़वी तरोई, मीठी तरोई, तिक्तलौकी, मदनफल, देवदाली, इन्द्रयव, २. कृष्ण निशोथ का मूल, श्वेत निशोथ का मूल, दन्ति तथा द्रवन्ति, ३. पूतिकरञ्ज, लताकरञ्ज, स्वर्ण क्षीरी, नील का फल, ४. सातला, यवतिक्ता, तिल्वक, मदनफल, कबीला। इस तरह इन द्रव्यों के क्वाथ और इन्हीं द्रव्यों के कल्क में सैंधव लवण मिलाकर बस्ति की कल्पना करनी चाहिए।

पुरीषसंग्राहका निरूहाः

धातकीपुष्पतर्कारीजीवंतीमूलवत्सकाः।
प्रग्रहः खदिरो कुष्ठं शमीपिण्डीतकायवाः॥
प्रियङ्गु रक्तमूले च भरणीजातियूथिकाः।
वटाद्याः किंशुकं रोध्रमिति सङ्ग्राहिका मताः।
ग्राहि प्रियंग्वंबष्ठादिक्वाथकल्कैः क्रमेण च॥ अ० सं० क०४।-

धातकयादिभिश्चत्वारः सङ्ग्राहिका मताः। एषु सामान्यकल्को यवान्यादिः। एषः प्रियंग्वादिगणक्वाथेनाम्बष्ठादिगणकल्केन च ग्राही मताः। इन्दुः।

हि०व्या०—पुरीष संग्राहक बस्तियाँ—(१) धातकीपुष्प (धाय), जयंती, जीवंतीमूल, वत्सक (इन्द्रयव) से निर्मित।

(२) आरग्वध, खदिर, कूष्ठ (कूठ), शमी, मदनफल, यव।

(३) प्रियंङ्गु, लज्जालू (लाजवंती), पीतधोपा, चमेली, जूही।

(४) वटादिगण की औषधियाँ—पलाश, लोध्र। इनको प्रियंग्वादी गण की औषधियों के क्वाथ तथा अम्बष्ठादिगण की औषधियों के कल्क से वस्ति की कल्पना करनी चाहिए।

ऊषकादिर्लेखनो निरूहः

ऊषकादि प्रतीवापो लेखनस्त्रिफलारसः।
मधुकक्वाथकल्केन सरसाज्येन बृंहणः॥ अ० सं० क० ८।

एष त्रिफलारस ऊषकादिगणप्रतीवापो लेखनः। एष च बृंहणो मधुरौषधानां क्वाथेन तेषामेव च कल्केन मांसरसेनाज्येन च युक्तः। इन्दुः।

हि०—त्रिफलाकषाय में उषकादिगण की औषधियों का प्रक्षेप (कल्क का प्रक्षेप) मिलाकर बस्तिकल्पना करने से लेखन गुणकारक होती है। त्रिफला कषाय में मधुर वर्ग की औषधियों के क्वाथ एवं कल्क में मांसरस और घृत मिलाकर बस्ति की कल्पना करने से बृंहण गुणकारक होती है।

त्रिफलादयो निरूहण विशेष योगः

श्रेष्ठामदन बीजानामाढकं निस्तुषीकृतम्।
विपाचयेदपां द्रोणे चतुर्भागावशेषितम्॥
उपकुञ्चीखरबुषापिप्पल्यः सैन्धवं वचा।
त्रपुसो·····नि शतपुष्पा यवान्यपि।
स कषायः समायुक्तः क्षीरगोमूत्रकाञ्जिकः॥
सर्वानिलामयहरः स निरूहोऽर्ध तैलिकः।

का० सि० अं० ८

हि०—त्रिफला तथा छिलका रहित मदनफलबीज एक आढ़क लेकर एक द्रोण पानी में पकाकर चतुर्थांश शेष रखे, इसमें स्याह जीरा, मरुवक, पिप्पली, सैन्धवलवण, वच, खीरा के बीज.....सौंफ तथा अजवायन, दूध, गोमूत्र, कांजी तथा क्वाथ का आधा भाग तिल तैल डालकर पुनः पकाना चाहिए। इस कषाय से निरूहण बस्ति करने पर सभी प्रकार के वातरोग दूर होते हैं।

अर्द्धमात्रिक निरूहः

दशमूलीकषायस्य पलान्यष्टौ पलद्वयम्।
तैलस्य मधुनश्चाथ शताह्वाक्षं प्रयोजयेत्॥
अक्षञ्च सैन्धवस्येष्ट बस्तिरेभिर्महागुणः।
आत्रेयानुमतो ह्येष भुक्ते योज्यो विचक्षणैः॥
नित्यमेकान्तरं वापि परिहार विवर्जितः।
सुकुमारेषु वृद्धेषु स्त्रीषु यन्त्रणभीरुषु॥

दीयमानो निहन्त्याशु, दोषानोकान् सुदुस्तरान्।
वातरक्तं क्षयं कासं कुष्ठञ्च विषमज्वरम्॥
अश्मरीं मूत्रकृच्छ्रं च गुल्मप्लीहहलीमकम्।
वातपित्तभवान्रोगान् कफजान सान्निपातिकान्।
तान् सर्वान्नाशयत्याशु बलवर्णाग्निवर्धनः।
नैरूहिकेषु सर्वेषु वस्तिषु प्रवरो मतः॥
शुक्रसञ्जननो वृष्यश्चार्द्धमात्रिकसंज्ञकः।

वंगसेन (वस्ति०) १६-१६७॥

हि०—दशमूल क्वाथ आठ पल, तेल और शहद दो पल, सौंफ कल्क एक तोला और सैंधव लवण एक तोला इन सबको एकत्र मथकर दी गई बस्ति अनेक गुण उत्पन्न करती है। आत्रेयादि महर्षियों के मत से भोजन के पश्चात् इनका प्रयोग करना चाहिए। इस बस्ति का नित्य या एक दिन के अन्तर पर प्रयोग किया जा सकता है। इसके प्रयोग काल में किसी विशेष नियम (परहेज) पालन की आवश्यकता नहीं है। सुकुमार, वृद्ध, स्त्री और भयभीत (डरपोक) व्यक्ति भी इसको ले सकते हैं। यह अनेक प्रकार के दोषों को दूर करती है। वातरक्त, क्षय, खाँसी, कुष्ठ, विषमज्वर, अश्मरी, मूत्रकृच्छ्र, गुल्म, प्लीहा, हलीमक, वातपित्तज रोग, कफ और सन्निपातजन्य रोगों को दूर करती है। बल, वर्ण और अग्नि को बढ़ाती है। सभी प्रकार की निरूह वस्तियों में उत्तम है। यह शुक्रवर्धक और अत्यन्त पौष्टिक है।

वातघ्नो निरूहः

द्वौ पञ्चमूल्यौ कोलानि नलदशुष्कमूलकम्।
द्विपलीनानि सर्वाणि जलद्रोणे विपाचयेत्॥
अष्टभागावशेषं तु कषायमवतारयेत्।
कल्कपेष्याणि चेमानि भेषजानि शमावपेत्॥
निकुञ्चिका खरपुष्पां पिप्पलीं सैन्धवं वचाम्।
त्रपुसोर्वारुबीजानि शतपुष्पां यवानिकाम्॥
कुष्ठं च तगरं चैव यष्टिमधुकमेव च।
सक्षीरस्सकषायश्च सगोमूत्रश्च कीर्तितः।
सतैलश्च निरूहः स्याद्वातरोगविनाशनः।

भै० सि० अ० ७—

हि० व्या०—**दशमूलादि निरूह**—दशमूल के प्रत्येक द्रव्य, पञ्चकोल के प्रत्येक द्रव्य, जटामांसी, शुष्कमूली, पृथक् पृथक् दो पल की मात्रा में लेकर एक द्रोण जल में पकायें, अष्टमांश शेष कषाय उतारकर छानकर निम्नलिखित ओषधियों के कल्क मिलाएँ—जलवेतस, कट्फल, पिप्पली, सैंधवलवण, वच,

खीरा बीज, ककड़ीबीज, सौंफ, अजवायन, कूठ, तगर, यष्टीमधु, दूध गोमूत्र एवं तैल मिलाकर विधिवत् मथकर बस्ति देने से वात रोग दूर होते हैं।

पित्तहर निरूहः।

पटोलपत्रमूलं च पिचुमन्दं शतावरीम् ॥
त्रायमाणां बला रास्नां बृहतीं कण्टकारिकाम्।
गुडूचीं त्रिफलां श्यामां सारिवां वंशकत्वचम् ॥
द्विपलोनान् पृथग्भागान् पूर्वकल्पेन साधयेत्।
मधुकं वंशकफलं शतपुष्पां दुरालभाम् ॥
महासहाभंगुसतीं कल्कं कुर्यात्पृथक् पृथक्।
क्षीरेणाथ कषायेण घृतेन मधुना तथा ॥
कल्पमिश्रः सुमथितो निरूहः पित्तनाशनः।

भै० सि० अ० ७।९-१२

हि० व्या०—पटोलादि निरूह—पटोल पत्र और मूत्र, निम्ब, शतावरी त्रायमाणा, बला, रास्ना, बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी, गिलोय, त्रिफला, काली निशोथ, अनन्तमूल, बस का छिलका, प्रत्येक द्रव्य दो पल की मात्रा में लेकर एक द्रोण जल में पकाकर क्वाथ (अष्टमांश शेष) तैयार करें, यष्टीमधु, वांस का फल, सौंफ, दुरालभा, मापपर्णी, शालिपर्णी, इन द्रव्यों का पृथक् पृथक् (कल्क कर) कल्क मिलाकर दूध, क्वाथ, घृत और शहद मिलाकर निरूह बस्ति देने से पित्तज रोग दूर होते हैं।

बदर्यादि पिच्छाबस्तिः।

बदर्यैरावणी शेलू शाल्मली घन्वनाङ्कुराः
समाक्षिकाः क्षीरयुताः सासृजाः पिच्छिलाः स्मृताः ॥

अ० सं० क० ४।-

हि० व्या०—बदर्यादि पिच्छाबस्ति-बेरी का पत्र, बटशुंगा, लिसोढा, सेमलपत्र, धामनवृक्ष का अंकुर, दूध, शहद और रक्त मिलाकर बस्ति दी जाती है। इसे पिच्छाबस्ति कहते हैं।

दाहघ्नः कोलादि उत्पलादि निरूहयोगौ।

कोलङ्कतककाण्डेक्षुदर्भपाठेक्षुवालिभिः ।
दाहघ्नः सघृतक्षीरो द्वितीयश्चोत्पलादिभिः

अ० सं० क० ४।

कोलङ्कतकादिभिः सघृतक्षीरो बस्तिर्दाहघ्नः। चन्दनादिभिर्द्वितीयोऽपि दाहघ्नः। कोलङ्कतकोदर्भविशेषः। काण्डेक्षुरिक्षुः इक्षुपालिका करम्भशालिनामा इक्षुः। इन्दुः।

हि० व्या०—कोलङ्कतक (दर्भविशेष), ईंख, दर्भ कुश, इक्षुवालिका ईंख, विशेष), दूध में पकाकर घृत मिलाकर बस्ति देने से दाह नाश होता है।

सहचरबलादिसाधित क्षीर प्रयुक्तः निरूहः

तद्वत् सहचरबलादर्भमूलसारिवासिद्धेन पयसा तथा बृहतीकण्टकारीशतावरीच्छिन्नरूहा शृतेन पयसा मधुकमदनपिप्पलीकल्कितेनपूर्ववद्बस्तिः।

च० सि १२।१८

हि० व्या०—सहचरादियापनबस्ति-इसी प्रकार कटसरैया, बलामूल, दर्भ का मूल तथा अनन्त मूल से सिद्ध दूध की बस्ति देनी चाहिए। बृहत्यादियापन बस्ति—बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी, शतावर, गुडूची से सिद्ध दूध में मधुयष्टी, मदनफल और पिप्पली का कल्क मिलाकर बस्ति देनी चाहिए। इन दोनों बस्तियों में मधु, घृत, तैल, सैंधानमक मिलाकर मथनी से मथकर बस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

कृमिनाशनो विडङ्गाद्यः प्रासृतिको निरूहः।

विडङ्गत्रिफलाशिग्वफलमुस्ताखुकर्णिजाः ।
कषायाः प्रसृताः पञ्चतैलादेको विमथ्य तान् ॥
निरूहः कृमिहा वेल्ल पिप्पलीकल्कयोजितः।
पयस्येक्षु स्थिरारास्ना विदारी क्षौद्र सर्पिषः
एकैकः प्रसृतो बस्तिः कृष्णाकल्को वृषत्वकृत् ॥

अ० सं० क० ४

विडङ्गादीनां मिश्रितानां कषायात् पञ्चप्रसृतास्तैलादेकः प्रसृत इति तान् सर्वान् प्रसृतान् विमथ्य विडङ्गपिप्पलीभ्यां कल्केन योजितो निरूहः कृमिहा भवति। पयस्यादीनां प्रत्येकं प्रसृतः पिप्पलीचूर्णयुक्तो वस्तिर्वाजीकरणः। इन्दुः।

हि० व्या०—(१) विडंग, त्रिफला, सहजने का मूलत्वक, मदनफल, नागरमोथा, मूषकपर्णी, इनके पांच प्रसृत कषाय में एक प्रसृत तैल, काली मिर्च और पिप्पली का प्रक्षेप मिलाकर बस्ति प्रयोग करने से कृमि बाहर निकल आते हैं।

(२) क्षीर काकोली, ईंख, शतावरी रास्ना, विदारीकंद, प्रत्येक का एक-एक प्रसृत क्वाथ में सरसों का कल्क, पिप्पली का कल्क और शहद मिलाकर बस्ति देने से शरीर बलवान् होता है।

मूत्रकृच्छ्रे प्रासृतिको निरूहः।

चत्वारस्तैलगोमूत्रदधिमण्डाम्लकाञ्जिकात् ।
बस्तिः कवोष्णः सानाहे मूत्रकृच्छ्रे परोमतः ॥

अ० सं० क० ४॥

तैलादीनां मिश्रितानां चत्वारः प्रसृताः सर्षपकल्केन युक्तो वस्तिर्विट्सङ्गमानाहं च भिनत्ति। दधिमण्डो मस्तु। इन्दुः।

हि० व्या—तैल, घृत, वसा, मज्जा, गोमूत्र दधिमण्ड, खट्टी काञ्जी कुल मिलाकर चार प्रसृत सरसों का कल्क मिलाकर सुखोष्ण वस्ति देने से आनाह और मूत्रकृच्छ्र रोग दूर होता है।

आनाहे मूत्रकृच्छे श्वदंष्ट्रादिबस्तिः।

श्वदंष्ट्राश्मभिदेरण्डक्वाथतैलसुरासवात् ।
प्रसृताः पञ्च चपलाकौन्तीयष्ट्याह्वकल्कवान्
बस्तिः कवोष्णः सानाहे मूत्रकृच्छ्रे वरो मतः ॥अ० सं० क० ४।

श्वदंष्ट्रादित्रयक्वाथस्य तैलादीनां च समानां सर्वेषां मिश्रितानां पञ्च-प्रसृताः। चपलादीनां कल्केन युक्तो बस्तिः सानाहे मूत्रकृच्छ्रे वरः श्रेष्ठो मतः। चपला पिप्पली। इन्दुः।

हि० व्या०— गोखरू, पाषाणभेद एवं एरण्ड के समभाग क्वाथ में तैल, सुरा, आसव कुल पाँच प्रसृत की मात्रा में पिप्पली, सम्हालूबीज, यष्टीमधु का कल्क मिलाकर बस्ति देने से आनाह और मूत्रकृच्छ्र रोग दूर होते हैं।

अभिष्यन्द कृमिकुष्ठापहः प्रासृतिको निरूहः।

पटोलनिंबभूतीकरास्नासप्तच्छदांभसः
प्रसृतः पृथगाज्याच्चबस्तिः सर्षपकल्कवान्।
सपञ्चतिक्तोऽभिष्यंदकृमिकुष्ठप्रमेहहा ॥ अ. सं. क. ४।

पटोलादीनां क्वथितानामम्भसामेकमेकं प्रसृतम्। घृताच्चैकं प्रसृतम्। इत्ययं बस्तिः सर्षपकल्केन पञ्चभिश्च तिक्तोनिम्बगुडूचीवृषपटोल निदिग्धिकाख्यैर्युक्तोऽभिष्यन्दादिहा। इन्दुः।

हि० व्या० —परवल पत्र, निम्ब (नीम) कतृण, रास्ना, छतवन, नागर-मोथा, प्रत्येक का समभाग क्वाथ छः प्रसृत, सरसों और पञ्चतिक्त (नीम, गुडूची, वासा, पटोल (परवल, कटेरी) इनके कल्क और एक प्रसृत घृत मिलाकर मथकर बस्ति देने से, अभिष्यंद, कृमि रोग, कुष्ठ और प्रमेह रोग दूर होता है।

दाहप्रशमनः सारिवाद्यो निरूहबस्ति योगः

गोपाङ्गनाचन्दनशीतपाकी
द्राक्षाद्विकाश्मर्यमधूकसेव्यैः।
पयः श्रृतं श्रावणिमुद्गपर्णी-
बलास्वगुप्तामधुयष्टिकल्कैः।
गोधूमचूर्णेश्च पिचुप्रमाणं—
रिक्षोर्विदार्याश्च रसेन युक्तम्।
तैलेन यष्टीमधुसाधितेन
सितोपलाक्षौद्रघृतैश्च शीतः॥

बस्तिः प्रशस्तः स समस्तदेह—
दाहे सशूलेऽवयवाश्रिते वा।
गुल्मातिसारभ्रममूत्रकृच्छ्र-
क्षीणे क्षतौजोबलसंक्षये च॥ अ० क० सं ४।

गोपाङ्गनेत्याद्यवयवाश्रिते वा दाहेऽपि शूलेऽपि सङ्क्षयशब्दस्यौजोबलाभ्यां सम्बन्धः। गोपाङ्गना सारिवा। शीतपाकां चूड़ामणिः (निः) चूड़ामणिः शीतपाकी शिखण्डी कृष्णलालता। कृष्णा काम्बोजिका गुञ्जा रक्तिका काकमात्रुया। सेव्यसुशीरम्। इन्दुः।

हि०—सारिवा, चन्दन, काकोली, दाख, ऋद्धि, गम्भारीफल, महुआ, उशीर, इनको समभाग ग्रहण कर दुग्ध में पकाना चाहिए। मुण्डी, मुद्गपर्णी, बला, कौंच बीज और मधुयष्टी समभाग ग्रहण कर कल्क तैयार कर दुग्ध में मिलाएँ। गोधूम (गेहूं का) आटा एक तोला और ईख तथा विदारीकन्द का स्वरस मिलाकरबस्ति तैयार करें। अथवा यष्टीमधु का कल्क मिलाकर तैल पाक करें। शीतल होने पर चीनी, वंशलोचन, पिप्पली एवं छोटी इलायची का चूर्ण मिलाकर शहद और घी मिलावें पश्चात् घोंटकर बस्ति देनी चाहिए। यह बस्ति सार्वदैहिक दाह, शूल, गुल्म, अतिसार, भ्रम, मूत्रकृच्छ्र, क्षीण, क्षत और ओजःक्षय तथा बलक्षय में लाभकारी है।

नवमोऽध्यायः

अनुवासन प्रकरणम्

प्रस्तुत प्रकरण में यथा क्रम स्नैहिक बस्तियों का वर्णन किया जा रहा है। स्नेहबस्ति को प्रमुख तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। इस बस्ति में प्रमुख रूप से स्नेह का प्रयोग किया जाता है। अतः स्नेह की मात्रा के आधार पर ही प्रमुख तीन भेदों का शास्त्रों में उल्लेख है:—

१. स्नेह बस्ति (सामान्य)
२. मात्रा बस्ति
३. अनुवासन बस्ति

यद्यपि अनुवासन स्नेह का एक भेद है, तथापि व्यवहार में स्नेह बस्ति के योगरूढ़ रूप में अनुवासन का भी प्रयोग होता है, एवं इसी के नाम से सभी भेदों का ज्ञान हो जाता है। अतः जिस बस्ति में मुख्य द्रव्य स्नेह हो उसे अनुवासन कहते हैं, अथवा निरूक्ति के आधार पर —जो अनुवासन अर्थात् अन्तः स्थितावस्था में भी कोई विकार उत्पन्न नहीं करती या जिसका प्रतिदिन प्रयोग कराया जा सकता है, उसे अनुवासन कहते हैं।

सामान्य स्नेह बस्ति में आयु के अनुरूप निरूह की जो मात्रा शास्त्र-सम्मत है, उससे पादावकृष्ट अर्थात् चतुर्थांश कम स्नेह बस्ति में प्रयोग किया जाता है। यथा द्वादश प्रसृति निरूह बस्ति का उल्लेख हो तो स्नेह बस्ति ९ प्रसृति की जाननी चाहिए। इसी प्रकरण में क्रमशः मात्रा का उल्लेख करते हुए विद्वानों के विचारों को स्पष्ट किया गया है। मात्रा बस्ति में ह्रस्वादि स्नेहपान मात्राओं के जरणकाल का वर्णन करते हुए मात्रा को स्पष्ट किया गया है। सामान्य स्नेह बस्ति के आधे प्रमाण में स्नेह प्रयोग कराना ही अनुवासन का स्वरूप बताया है।

इस प्रकार सामान्य नियमानुसार एवं मात्रानुसार निरूह के चतुर्थांश कम प्रमाण में दी जाने वाली सामान्य स्नेह बस्ति, स्नेह के आधे प्रमाण में दी जाने वाली अनुवासन एवं अनुवासन के आधे प्रमाण में दी जाने वाली मात्रा बस्ति है।

अनुवासन बस्ति निरूक्तिः लक्षणश्च

यथाप्रमाणगुणविहितः स्नेह बस्ति विकल्पोऽनुवासनः। पादाव (प) कृष्टः। अनुवसन्नपि न दुष्टत्यनुदिवसं वा दीयत इत्यनुवासनः तस्यापि विकल्पोऽर्धार्ध-मात्रावकृष्टोऽपरिहार्यो मात्राबस्तिरिति। सु० चि० अ० ३५।१८

बस्तेर्नैरूहिकस्नैहिक भेदाभ्यां यो द्वौ विकल्पौ तौ निरूह स्नेहबस्त्याख्यौ तयोर्नैरूहिकमभिधाय स्नैहिकं बस्तिविकल्पमभिधत्तेयथेत्यादि। यस्य यत् प्रमाणं यो यो गुणस्ताभ्यां विहितः स्नेहबस्ताख्योऽनुवासनसंज्ञ इत्यर्थः यथावयो निरूहा-णामित्यादिना विधास्यमानोऽपि स्नेहबस्तिविकल्पोऽनागतावेक्षणतन्त्रयुक्त्या विहित इति प्रदिष्टः। यथाप्रमाणमित्यनेन सूचितं प्रमाणं प्रकटयन्नाह पादाव (प) कृष्ट इति। यथावय इत्यादिवक्ष्यमाणवाक्यदर्शनादास्थापनस्य पादैस्त्रिभि रपकृष्टो हीनः पादाव (प) कृष्टः। अयमर्थः सांवत्सरिकादिकालाद्यपेक्षं यत् प्रकुञ्चादि चतुर्विंशति पलावसानं निरूहप्रमाणं तच्चतुर्थांशेन कर्षमारभ्य षट्-पलानि यावदनुवासनस्य प्रमाणमिति। तन्त्रान्तरे च मध्यवयस्कमाश्रित्यानुवा-सनस्योत्तमादिमात्राभेदेन त्रैविध्यमुक्तं, यथा—"षट्पली तु भवेच्छ्रेष्ठा मध्यमा त्रिपली भवेत्। कनीयस्यध्यर्धपला त्रिधा मात्रानुवासने" इति। तस्यापि विकल्प इत्यादि तस्याप्यनुवासनस्य षट्पलप्रमाणस्यार्धार्धमात्रावशिष्टः पादावशिष्टोऽध्य र्धपलमात्र इत्यर्थः। अपरिहार्यः अविद्यमानपरिहरणार्हः। यथा तु यथाप्रमाण-विहिताच्च बस्तेः पादांशः स्नेहबस्तिः, स्नेहविकल्पोऽर्धमात्रापकृष्टोऽनुवासनं तस्यापि विकल्पोऽर्धमात्रापकृष्टोऽनुवासनं,तस्यापि विकल्पोऽर्धमात्रापकृष्टोऽपरि-हार्यो मात्राबस्तिरिति। एतेन तन्मते षट्पलप्रमाणः स्नेहबस्तिः, तदर्धेन पलत्रय-प्रमाणमनुवासनं, तस्यार्धेन सार्धपलप्रमाणो मात्राबस्तिरिति।

डल्हणः।

अनुवासन न. अनु+वास—सोरभ्येल्युट्। धूपादिभिः सुरभीकरणे, वैद्य-कोक्ते स्नेहार्थे: बस्तिकर्म्मणि च। द्विधाबस्ति परिज्ञेयो निरूहश्चानुवासनम्"इति वैद्यकम्। अनुवसति, अनुवासरं दीयते वा पृ०। सुश्रुतोक्ते अनुवासन द्रव्ये पु०।

वाचस्पत्यम्।

अनुवासनं यथार्हौषधसिद्धः स्नेहनार्थः स्नेहः स्नेहविधौ स चतुर्धाऽभिहितः।

अ० सं० सू० २८।८

यस्तु बस्ति स्नेहार्थं यथादोषं यथाव्याधि चौषधैः सिद्धः स्नेहो दीयते तदनु-वासनम्। स च स्नेहः स्नेहविधौ घृतादिभेदेन चतुर्धाऽभिहितः।

इन्दुः।

आमः पक्वोऽपि वा स्नेहो बस्ति··· ···।
··· ··· नित्ये च तच्चोक्तमनुवासनम् ॥

का० सं० सि० ८।

यः स्नेहैर्दीयते स स्यादनुवासन नामकः ।

शा० सं० उ० ४।२ क

भावप्रकाश ,वंगसेन

निशानुवासनात् स्नेहोऽन्वासनश्चानुवासनम् ।
विरिक्तसम्पूर्ण हिताशनस्य आस्थाप्यशय्यामनुदीयते यत्
तदुच्यते वाप्यनुवासनञ्च तेनानुवासश्च बभूव नाम ॥

वंगसेन ।

हि० व्या०—निरूह वस्ति के परिमाण से चतुर्थांश भाग निकाल लेने पर जो शेष बच जाता है वह स्नेह वस्ति है । स्नेह वस्ति का ही भेद अनुवासन वस्ति कहलाता है ।

"शरीर के अन्दर रहने पर भी दूषित नहीं होती या प्रतिदिन इसका प्रयोग किया जाता है अतः इसे अनुवासन कहते हैं । अनुवासन का भेद मात्रा बस्ति है । इससे आधे की भी आधी मात्रा दी जाती है एवं इसमें परिहार (पथ्यापथ्य) का कोई विचार नहीं किया जाता है ।

वक्तव्य—इनका प्रमाण क्रमशः छः पल, तीन पल, और डेढ़ पल है ।

निरूहणानन्तरं तैलानुवासन प्रयोगावश्यकतायां युक्तिः ।

देहे निरूहेण विशुद्ध मार्गे संस्नेहनं वर्णबलप्रदं च ।
न तैलदानात् परमस्ति किञ्चिद्द्रव्यं विशेषेण समीरणार्ते ॥
स्नेहेन रौक्ष्यं लघुतां गुरुत्वादौष्ण्याच्च शैत्यं पवनस्यहत्वा ।
तैलं ददात्याशु मनः प्रसादं वीर्यं बलं वर्णमथाग्निपुष्टिम् ॥
मूले निषिक्तो हि यथा द्रुमः स्यान्नीलच्छदः कोमलपल्लवाग्रयः ·
काले महान् पुष्पफलप्रदश्च तथा नरः स्यादनुवासनेन ॥

च० सि० १।२९-३१

देह इत्यादिनाऽनुवासन गुणमाह । निरूहेण विशुद्धमार्गे इति । वचनान्निरूहशोधित एव मार्गे संसर्जनादनुवासनं यथोक्तगुणकर्तृ भवतीति दर्शयति । न तैलदानादित्यत्र तैलशब्देन स्नेहोपलक्षणेन केचिद्घृतमपि ग्राहयन्ति, किन्तु तैलमेवात्र वातहरप्रधानतया ब्रूत इति युक्तं पश्यामः, तथा ह्यत्र औष्ण्याच्छैत्य मित्युक्तं, औष्ण्यं च न सर्पिषीति, स्नेहामज्जवर्जिता अनुवासनाधिकृता अप्रधानत्वान्नात्र घृतमनुमन्यते । परमस्तीत्यादौ द्रव्यमिति कारणं, तच्च कारणमनिलप्रशमनेनज्ञेयम्, 'नान्वासनात् किञ्चिदिहास्ति कर्म' इति केचित् पठन्ति। तैलकृत्यमेव सकारणं व्याकरोति स्नेहेनेत्यादि । तैलं चानुवासनं पक्वमेवज्ञेयम्, तत्पक्वस्य तु "न चामं प्रणयेत् स्नेहं स ह्यभिष्यन्दयेद्गुदम्"(सि० अ०४)इत्यनेन

निषिद्धत्वात् । अत्र तैलानिलयोर्विपरीतगुणयोर्मेलके द्रव्यप्रभावात्तैलमेव वातं हन्ति न वातस्तैलम्, अणुत्वं गुणो यद्यपि तैले वाते चास्ति, तथाऽपीह प्रभावाद्वातसूक्ष्मवयव सम्बद्धं तैलं स्नेहादिना वातं जयति, तेन सामानमप्यणुत्वमिह विरुद्धार्थकार्येवेति । तैलस्य यथोक्तकार्यकर्तृत्वे दृष्टान्तमाह मूल इत्यादि । मूलदृष्टान्तेन चानुवासनेन साक्षात्तर्पणीयस्य गुदस्य देहमूलत्वं दर्शयति । उक्तं हि पाराशरे—मूल गुदं शरीरस्य सिरास्तत्र प्रतिष्ठिताः सर्वे शरीरं पुष्णन्ति मूर्धानं यावदाश्रिताः''—इति, तथाऽनुवासनादपि नरो बलवीर्ययुपेतोऽपत्यवांश्च स्यादित्यर्थः । चक्रपाणिः ।

निरूहः शोधनो लेखी स्नैहिको बृंहणोमतः ।
निरूहशोधितान्मार्गान् सम्यक् स्नेहोऽनुगच्छति ॥
अपेतसर्वदोषासु नाडीष्विव वहज्जलम् ।
सर्वदोषहरश्चासौ शरीरस्य च जीवनः ॥
तस्माद्विशुद्धदेहस्य स्नेहवस्तिर्विधीयते ।

सु० चि० ३५।१९-२०

शोधनद्रव्यसंयुक्तः शोधनो निरूहः । सर्वनिरूहानुवासनधर्मोऽयं, द्रव्यविशेषसंयोगात्तु क्वचिच्छोधनादीनामुत्कर्षापकर्षौ । जेज्जटाचार्यस्तु 'स्नेहनो बृंहणोमत इति पठित्वा शोधनादिचतुष्कं निरूहस्य कर्मेति वर्णयति निरूहशोधितमार्गेषु सम्यक् स्नेहवीर्यानुसरणं दर्शयन्नाह – निरूहेत्यादि । डल्हणः ।

सुशोधितं निरूहेण नातिपर्युषितं तथा ।
सुखोषितं समाश्वस्तं भोजितं चानुवासयेत् ॥

भे० सि० अ० ६।३०

न च तैलात् परं किञ्चिद्द्रव्यमस्त्यनिशापहम् ।
स्नेहाद्रौक्ष्यं गुरुत्वाच्च लघुत्वं मारुतस्य तु ॥
औष्ण्याच्छैत्यं निहन्त्याशु तैलं पुष्टिं करोति च ।
मनः प्रसादः (द) स्नेह च बलवर्णमथापि च ॥
स्यात् स्निग्धविटपस्कन्धः कोमलाङ्कुरपल्लवः ।
मूले सिक्तो यथा वृक्षः काले पुष्पफलप्रदः ॥
स्नेहवस्तेर्नरस्तद्वद् दृढ़कायो दृढ़प्रजः ।
वातात्मकैर्विकारैश्च पूर्वोक्तैर्नाभिभूयते ॥

का० सं० खि० ८।८५-८८

मूले निषिक्तो हि यथा द्रुमः स्यान्नीलच्छदः कोमलपल्लवश्च ।
कालेबृहत्पुष्पफलानुबन्धस्तथा नरः स्यादनुवासनेन ॥

वंगसेन ।

सुनिरूढं ततो जन्तुं स्नातु भुक्तरसौदनम् ।
यथोक्तेन विधानेन योजयेत् स्नेहबस्तिना ॥

योजयेदल्पमात्रेण तत्क्षणं स्नेहवस्तिना ।
पश्चादग्निबलं ज्ञात्वा पवनस्य विचेष्टितम् ॥
अन्नोपस्तम्भिते कोष्ठे स्नेहबस्तिर्विधीयते ।
द्व्यहे त्र्यहे चाहन्यथ पञ्चमे च दद्यान्निरूहादनुवासनञ्च ॥

वंगसेन।

हि० व्या०—निरूह वस्ति के द्वारा शरीरस्थ स्रोतों के शुद्ध हो जाने के पश्चात् अनुवासन बस्ति का प्रयोग करने पर शरीर में बल और कान्ति की उत्पत्ति होती है। विशेषतया वातजन्य पीड़ा शमन के लिए तेल प्रयोग से बढ़कर कोई अन्य द्रव्य नहीं है। तेल अपने स्नेह गुण के कारण वायु की रूक्षता को, गुरु गुण के कारण वायु की लघुता को, उष्ण वीर्य के कारण वायु की शीतलता को नष्ट करती है। शीघ्र ही मन को प्रसन्न करती है, वीर्य, बल, वर्ण एवं जठराग्नि को पुष्ट करती है, जिस प्रकार वृक्ष के मूल को जल से सिंचित करने पर वृक्ष नीलवर्ण के कोमल किसलय से युक्त होता है, समय पर पुष्प और फल से परिपूर्ण होता है उसी प्रकार अनुवासन बस्ति के प्रयोग से मनुष्य स्वस्थ महान और अनेक सन्तानों से युक्त हो जाता है।

आचार्य सुश्रुत के अनुसार निरूहबस्ति शोधन द्रव्यों से कल्पित होने के कारण लेखन करता है। स्नैहिक बस्ति बृहण करती है। निरूह से शोधित शरीर में स्नेह बस्ति अच्छी तरह अनुगमन करती है। जिस प्रकार नालियों में कचरा न होने पर जल अबाधगति से बहता है। स्नेह बस्ति त्रिदोषनाशक है। शरीर को जीवनदायक है। अतः स्नेह बस्ति का प्रयोग शुद्ध शरीर में करना चाहिए।

अनुवासन योग्यानां संकेतः।

य एवास्थाप्यास्त एवानुवास्याः, विशेषतस्तु रूक्षतीक्ष्णाग्नयः केवलवातरोगार्ताश्च, एतेषु ह्यनुवासनं प्रधानतममित्युक्तं मूलेद्रुमप्रसेकवत्।

च० सि० २।१६

निरूह प्राधान्यख्यापयन् वनस्पतिमूलोच्छेदनवदित्यनेन महारोगाध्यायोक्त बस्तिप्राधान्यख्यापनग्रन्थोपदर्शनं, "यथा वनस्पतेर्मूलेच्छिन्ने स्कन्धशाखावरोह कुसुमफलपलाशादीनां नियतो विनाशस्तद्वत्" (सु० अ० २०) इति मूले द्रुमप्रसेकवच्चेत्यनेनकल्पनासिध्यूक्तं—"मूले निषिक्तो हि यथा द्रुमः स्यात्" इत्यादि यथोक्तानुवासनप्राधान्यख्यापनग्रन्थग्रहणं करोति।

चक्रपाणिः।

य एवास्थाप्यास्त एवानुवास्याः। रूक्षातिदीप्ताग्नयः केवलानिलार्ताश्च विशेषेण। ते हि परमनुवासनेनाप्यायन्ते मूलसेकेन वृक्षवत्।

अ० सं० सू० २८।१२

आस्थाप्या एव चान्वास्या विशेषादतिवह्नयः। रूक्षाः केवलवातार्ताः।

अ० हृ० सू० १६।५

अन्वासयेत्कटीपृष्ठपार्श्वरोगान् विचक्षणः।
उद्वेष्टनं च गुल्मं च वातव्याधींश्च सर्वशः॥

भे० सु० २१।४

ज्वरादिभिः परिक्लिष्टे हीनवर्णबलौजसि।
जातानुवासनावस्थे बलपुंस्त्वाग्निवर्धना॥
..... शोषमर्म वातप्लीहवातगुल्ममूत्रकृच्छ्रपक्वाशय शूलकुक्षिवातकुण्डल योनिशूलोदावर्तसन्धिग्रहगात्रवेष्टगात्र भेदापतानकादितालुपुष्पानष्टपुष्पानष्टबीजा कर्मण्य बीजपरीता··· ··· ··· अनुवास्य इति।

वातिका वातभूयिष्ठाः शोषणः स्तम्भना गदाः।
हुण्डना भञ्जनाश्चैव तेऽनुवास्या हितैषिणा॥

का० सं० सि० ७।

अनुवास्यस्तु रूक्षः स्यात्तीक्ष्णाग्निः केवलानिली॥

भाव प्र०, शा० सं० उ० ५।५

हि० व्या० अनुवासनवस्ति योग्य—जिन व्यक्तियों में निरूहवस्ति का प्रयोग किया जाता है। उन्हीं व्यक्तियों में अनुवासन बस्ति का भी प्रयोग करना चाहिए। विशेषतः रूक्षशरीर, जठराग्नि तीक्ष्ण हो एवं केवल वात रोग से ग्रस्त हो उन्हें अनुवासन बस्ति देनी चाहिए। इन रोगों में अनुवासन बस्ति की प्रधानता मानी गई है। जिस प्रकार वृक्ष के मूल भाग को जल सिंचित करने से वृक्ष कोमल किसलय से युक्त होता है उसी प्रकार अनुवासन वस्ति से शरीरस्थ धातुएं बलवान हो जाती हैं। आचार्य वाग्भट ने चरक संहिता के पाठ को उद्धृत किया है। आचार्य भेल के अनुसार कमर, पृष्ठ, पार्श्व रोग उद्वेष्टन (ऐंठन), गुल्म और वातव्याधियों में अनुवासन बस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

आचार्य काश्यप के अनुसार जो रोगी ज्वर आदि के कारण खिन्न हो तथा वर्ण-बल, ओज रहित हो गया हो उनमें अनुवासनबस्ति का प्रयोग करना चाहिए। ऐसी अवस्था में अनुवासन देने से बल पौरुष जठराग्नि की वृद्धि होती है। आचार्य काश्यप ने शिष्य जीवक के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा कि—शोष, मर्म, वात, प्लीहा, गुल्म, मूत्रकृच्छ्र, पक्वाशयशूल, कुक्षिशूल, वातकुण्डल योनिशूल, उदावर्त, सन्धिग्रह, गात्रवेष्टन, गात्रभेद, अपतानक, अर्दित, अल्पार्तवा, नष्टार्तवा, नष्टबीज, निष्क्रियबीज, दूषितबीज इन व्यक्तियों में अनुवासन बस्ति वा प्रयोग करना चाहिए।

वातिक, वातप्रधान तथा जिनका शोषण, स्तम्भन, हुण्डन एवं भञ्जन

करना अपेक्षित है उनको अनुवासन बस्ति का प्रयोग करना चाहिए। अन्य आचार्यों के विचार चरक संहिता के समान है।

अननुवास्यानां संकेतः युक्तिश्च

य एवानास्थाप्यास्त एवाननुवास्याः स्युः, विशेषतस्त्वभुक्तनवज्वर पाण्डुरोगकामला प्रमेहार्शः प्रतिश्यायारोचकमन्दाग्नि दुर्बलप्लीह कफोदरोरुस्तम्भवर्चोभेदविषगरपीतपित्तकफाभिष्यन्दगुरुकोष्ठश्लीपदगलगण्डापचिक्रिमि——कोष्ठिनः।

तत्राभुक्तभक्तस्यानावृतमार्गत्वादूर्ध्वमतिवर्तते स्नेहः, नवज्वरपाण्डुरोगकामला प्रमेहिणां दोषानुत्क्लिश्योदरं जनयेत्, अर्शसस्यार्शस्यभिष्यन्द्यामानं कुर्यात्, अरोचकार्तस्यान्तर्गृद्धिं पुनर्हन्यात्, मन्दाग्निदुर्बलयोर्मन्दतरमग्निं कुर्यात्, प्रतिश्यायप्लीहादिमतां भूयसुत्क्लिष्ट दोषाणां भूय एव दोषं वर्धयेत्, तस्मादेते नानुवास्याः।

च० सि० २।१७-१८

अनुवासन विषयोपदर्शने अनास्थाप्येषु भुक्त भक्तः पठितः, तद् व्युदासार्थमभुक्तभक्तोपादनम्; अनुवासनमभुक्तस्यानावृतत्वादूर्ध्वं याति, न तु इति विशेषः, अनुवासनं तु स्नेहस्य सूक्ष्मतया विसरणशीलं सायं दीयते, तेन तावत्कालमभोजनाच्छून्यशरीरस्योर्ध्वं याति। अनुवासनं च "शूले च भक्तानभिनंदने च" (सि० अ० १) इत्यनेन यद्यपि विहितं, तथाऽपीह भक्तानभिनन्दनहेत्वन्तर्भूतायामरुचौ तन्निषेधो न विरुद्धः, अनभिनन्दनं ह्यश्रद्धामात्रं वातकृतम्, अरुचिस्तु सर्वदा अनिच्छा; केवलवातरोगश्चाश्रद्धा; शुद्धवातरोगयुक्तोऽनुवासार्हः। चक्रपाणिः।

उदरी च प्रमेही च कुष्ठी स्थूलश्च मानवः।
अवश्यं स्थापनीयास्ते नानुवास्याः कथञ्चन॥
असाध्यताविकाराणां स्यादेषामनुवासनात्।
असाध्यत्वेऽपि भूयिष्ठं गात्राणां सदनं भवेत्॥

सु० चि० ३५।२२-२३

क्वचिदेवास्थापनस्यावस्थायां प्रतिप्रसवमुद्दिश्यान्नाहउदरी चेत्यादि। सा चावस्था तन्त्रान्तरादनुसर्तव्या। तत्रोदरे वाग्भटः—"सुविरिक्तस्य यस्य स्यादाध्मानं पुनरेव तम्। सुस्निग्धैरम्ललवणैर्निरूहैः समुपाचरेत्"(वा० चि० अ० १५) इतिः एवं प्रमेहादिषु चिकित्सितमालोक्यास्थापनावस्था ज्ञातव्या। निषिद्धाचरणदोषमुद्दिश्यान्नाह असाध्येत्यादि। एषां विकाराणाम् उदरादीनाम्। गात्र सदनम् अङ्गग्लानिः। डल्हणः।

हृदयग्रहपाण्डुत्वश्वयथूदर प्रमेहकुष्ठरोगार्शो भगन्दरराजयक्ष्मावँसपं·····कफरोगार्ताश्च नानुवासयेत्।

का० सं४ सि० ७।

य एवानास्थाप्यास्त एवाननुवास्याः। तथा निरन्नपाण्डुरोग कामला प्रमेह प्रतिश्यायप्लीहकफोदराढ्यवातवर्चो भेदार्त पीतविषगर पित्तकफाभिष्यन्दगुरुकोष्ठातिस्थूलश्लीपदगलगण्डापचीकृमिणकोष्ठाः। तत्रातिस्निग्धादीनां यथास्वमुक्ता पृथग्दोषाः। अ० सं० सू० २८।१२

नानुवास्यास्त एव च।
येऽनास्थाप्यास्तथा पांडुकामलामेहपीनसाः।
निरन्नप्लीह विड्भेदिगुरुकोष्ठकफोदराः॥
अभिष्यंदिकृशस्थूल कृमिकोष्ठाढ्यमारुताः।
पीते विषे गरेऽपच्यां श्लीपदी गलगण्डवान्॥

अ० हृ० सू० १९।६

य एवास्थाप्या गुल्मादयः त एवानुवास्या अपि। तथा निरन्नादयो नानुवास्याः। निरन्नप्लीहादीनामास्थापनविधानादपवादवचनमनुवासने अतिस्निग्धादीनां यथास्वमिति प्रत्येकं पृथगसंकरेणास्थापन प्रतिषेध प्रसङ्गोऽस्मिन्नध्याय एवोक्तः। इन्दुः।

अभुक्ते रिक्तकोष्ठस्य प्रयुक्तमनुवासनम्।
सरदूरगसूक्ष्मत्वैः क्षिप्रमूर्ध्वं प्रपद्यते॥
तेन वातयोर्जयो न स्यात् वातस्थानेह्यतिष्ठता।
कायाग्नेराशु नाशश्च विशेषादनिवर्तनात्॥
स्नेहः सद्योशिताहाररुद्धे त्वामाशये ऽनिलम्।
पक्वस्थं हन्ति पक्वस्थश्च्यवते चान्नपाकतः॥
निरूहश्च समीरश्च तीक्ष्णवेगावुभावपि।
तावन्नमूर्च्छतो तीक्ष्णवधोऽन्नेन सहागतौ॥
ऊर्ध्वं वा शकृता सार्द्धं संस्थितौ कोष्ठ एव वा।
समलाहार विष्टब्धौ हरेतामाशु जीवितम्॥
भुक्तवाननुवास्योऽस्मान्न निरूह्यस्तु भुक्तवान्॥

अ० सं० सू० १८।१५-२०

अभुक्त इत्यादि। अभुक्ते निरन्ने रिक्तकोष्ठस्य सतः पुरुषस्यानुवासनं प्रयुक्तं सरत्वात् दूरगत्वात् सूक्ष्मस्रोतः प्रवेशित्वाच्च शीघ्रमेवोर्ध्वं पूर्वकायं प्रपद्यते। ततः किमित्याह। तेनेत्यादि। तेनानुवासनेनोर्ध्वं प्रवृत्तेन वातधाम्नि पक्वाशये अतिष्ठता वायोर्जयो न स्यात्। स्नेहस्य चानिवर्तनाद्विशेषेणाग्निनाशः स्यात्। यदा तु भुक्तं तदानुवासनं देयमेव। यतः सद्योशितेनाहारेणामाशये रुद्धे पक्वाशयस्थोऽनुवासनस्नेहः पक्वाशयस्थमेवानिलं हन्ति। अन्नपाकतश्च पक्वाशयस्थ एव च्यवते स्नेह पतत्यतोऽग्निनाशं न करोतीति भावः अस्मादन्नं भुक्तवाननुवास्य इति सम्बन्धः। निरूह्यः पुनरभुक्तवानेवान्नम्। यतो भुक्ते निरूहो

जीवितं हन्ति । कथमित्याह निरूहश्चेत्यादि । निरूहस्तावत्तीक्ष्णवेगः । समीरो वायुरपि तीक्ष्ण एव । तावुभौनिरूहसमीरौ तीक्ष्णवेगत्वादन्ने न सहाधो गुदेनागतौ शकृता पुरीष वा सार्धमूर्ध्व मुखेन वागतौ समलेन सपुरीषेण वा आहारेण विष्टब्धौ कोष्ठ एव स्थितौ । सर्वथा सान्ने कोष्ठे निरूहसमीरावाशु जीवितम् हरेताम् । अतोऽस्मान्न निरूह्यस्वन्नं भुक्तवानिति सम्बन्धः । इन्दुः ।

य एवाऽनास्थाप्या अनिरूह्यास्ते चाऽपि नानुवास्याः । तथा पांडवादयो नानुवासनार्हाः । ऐतेषां हि दोषानुत्क्लेश्य स्नेह वस्तिरुदरं जनयेत् । निरन्नस्याऽनुवासनात् स्नेह विपत्तिः । तथा चोक्तं खरनादेन । अभुक्तदत्तश्च तथा स्नेहे बस्तिर्विपद्यत इति । प्लीहादीनां स्तंभजाड्यादीनावहेत् । कृमिकोष्टस्याऽनुवासनात्पूर्वमनिर्हृतैः कृमिभिरिति । बहुत्वादशेषनिःसरणेन हृदयमतिकर्षद्भिश्छर्दयेयुः । आढ्यमारुतस्य सम्यग्दोषनिर्हरणादामवृद्धिः । पीते विषे गरे च नानुवास्या इति योज्यम् । अपच्यां च क्रमेण । श्लीपदीति निर्गलगण्डवानिति ।

अरुणदत्तः ।

नानुवास्यति कुष्ठी स्यान्मेहीस्थूलस्तथोदरी ।

शा० सं० उ० ५।७, भा० पू०

अनास्थाप्या ये ऽभिधेया नानुवास्याश्च ते मताः ।
विशेषतस्त्वमी पाण्डु-कामलामेहपीनसाः ॥
निरन्नप्लीहविड्भेदि-गुरुकोष्ठकफोदराः ।
अभिष्यन्दभृशस्थूल-कृमिकोष्ठाढ्यमारुताः ॥
पीते विषे गरेऽपच्यां श्लीपदी गलगण्डवान् ॥

चक्रदत्तः ।

हि० व्या०—अनुवासन के अयोग्य रोगी—निरूहबस्ति का प्रयोग जिन व्यक्तियों में नहीं करना चाहिए, उन व्यक्तियों में अनुवासनवस्ति का प्रयोग भी नहीं करना चाहिए। विशेषरूप से रिक्त उदर, नये ज्वर, पाण्डुरोग, कामला, प्रमेह, अर्श, प्रतिश्याय अरोचक, मन्दाग्नि, दुर्बल, प्लीहारोग, कफजन्य उदररोग, उरुस्तम्भ, वर्चोभेद (अतिसार),विष, कृत्रिमविष, पित्तज अभिष्यन्द, कफज अभिष्यन्द इन रोगों से आर्त तथा गुरुकोष्ठ, श्लीपद, गलगण्ड, अपची. उदरकृमि इन रोगों में अनुवासन बस्ति नही करनी चाहिए ।

आचार्य सुश्रुत के अनुसार, उदररोग, प्रमेह, कुष्ठ, स्थौल्य (मेदस्विता), इनके रोगियों को आवश्यकतानुसार आस्थापन (निरूह) बस्ति देनी चाहिए। अनुवासनबस्ति इन रोगों में कदापि नहीं करनी चाहिए । इन रोगों में अनुवासन देने से रोग असाध्य हो जाता है और विशेषरूप से अङ्गमर्द हो जाता है ।

उपरोक्त रोगों में अनुवासन बस्ति न देने का कारण— अभुक्त (रिक्त

कोष्ठ) में अनुवासन बस्ति देने से स्रोतों के अनावृत हो जाने के कारण स्नेह अधिक मात्रा में ऊपर की ओर चला जाता है । नवज्वर, पाण्डुरोग, कामला तथा प्रमेह से पीडित रोगियों में अनुवासनबस्ति दोषों को उभाड़कर उदर रोगों को उत्पन्न करती है ।

अर्श के रोगियों में अनुवासनबस्ति देने से अर्श के अंकुर को गीलाकर आध्मान उत्पन्न करती है । अरोचक में अनुवासन बस्ति देने से अन्न खाने की इच्छा को नष्ट कर देती है । मन्दाग्नि और दुर्बल व्यक्तियों में प्रयुक्त अनुवासन बस्ति अग्नि को अतिशय मन्द कर देती है । प्रतिश्याय प्लीहा आदि रोग से पीड़ित व्यक्तियों में (पहले से ही अधिक दोष उत्क्लेशित रहता है) अनुवासन बस्ति देने से दोष अधिक बढ़ जाते हैं । अतः इन रोगों में अनुवासन बस्ति का प्रयोग नहीं करना चाहिए । आचार्य वाग्भट ने इसी भाव को पद्य बद्ध किया है । अन्य आचार्यों ने चरक के विचार का अनुगमन किया है ।

अनुवासन द्रव्याणि

अतः परमनुवासनद्रव्याण्यनुव्याख्यास्यन्ते अनुवासनं तु स्नेह एव । स्नेहस्तु द्विविधः—स्थावरात्मको जङ्गमात्मकश्च, तत्र स्थावरात्मकः स्नेहः तैलमेव च । तद् द्वयं तैलमेव कृत्स्नोपदिश्यते सर्वतः तैलप्राधान्यात् । जङ्गमात्मकस्तु—वसामज्जा सर्पिरिति । तेषां तु तैलवसामज्जसर्पिषां यथापूर्वं श्रेष्ठं वातश्लेष्मविकारेष्वनुवासनीयेषु यथोत्तरं तु पित्तविकारेषु, सर्व एव वा सर्वं विकारेष्वपि च योगमुपयान्ति संस्कारविधिविशेषादिति । च० वि० ८।१५३

तत्र तैलमिति=तैलभूतं सर्षपस्नेहादि । तैलप्राधान्यादिति—स्थावरस्नेहेषु तिलतैलस्यैव प्राधान्यात् । एतेन तैले यो विधिः, स सर्षपादौ बोद्धव्यः, 'तैलशब्देन' तु सार्षपादीनामिह ग्रहणम् । तिलभवस्नेहस्य प्राधान्यप्ररूपणार्थं ,तैलं' सार्षपादीनामग्रहणं भवत्येव यदुक्तं सुश्रुते—निष्पत्तेस्तदगुणत्वाच्च तैलमितरेष्वपि । (सु० सू० अ० ४५) इति चक्रपाणिः ।

[1]एतेष्वेव च योगेषु स्नेहाः सिद्धाः पृथक्-पृथक् ।
समस्तेष्वथवा सम्यग्विधेयाः स्नेहबस्तयः ॥

सु० चि० ३८।८८

हि० व्या०—अनुवासनद्रव्य—आचार्य चरक के अनुसार स्नेह को ही अनुवासन कहा जाता है । स्नेह के दो भेद होते हैं (१) स्थावर (२) जङ्गम । स्थावर स्नेह दो प्रकार के हैं । तैल और अतैल, इनका ही यहां उपदेश किया गया है क्योंकि इन दोनों में भी तैल ही प्रधान है । जङ्गम स्नेह वसा-मज्जा-और घृत है । तैल-वसा-मज्जा और घृत इन स्नेहों में से अनुवासन योग्य वात

१. एतेष्वेव योगेष्वित्यादि । एतेषु पूर्वोक्तेषु गणेषु । डल्हणः ।

एवं कफ के रोगियों में यथापूर्व श्रेष्ठ माना जाता है। वात और कफ जन्य रोग में तैल का अनुवासन देना लाभकारी है। तैल से वसा कम लाभकारी है, वसा से मज्जा कम लाभकारी है, एवं मज्जा से घृत कम लाभकारी है। पित्त-जन्य रोग में उत्तरोत्तर ये स्नेह श्रेष्ठ होते हैं। अर्थात् पित्तजन्य रोगों में अनुवासन के लिए घृत सबसे श्रेष्ठ है। मज्जा घृत से कम लाभकारी है। चारों स्नेह रोगानुसार विशेष संस्कारित होने पर सभी रोगों में लाभकारी होते हैं।

दशेमान्यनुवासनोपयोगानि।

रास्नासुरदारूबिल्वमदनशतपुष्पावृश्चीरपुनर्नवाश्वदृष्टांग्निमन्थश्योनाका इति। दशेमान्यनुवासनोपयोगानि भवन्ति। च० सू० ४।१४

हि० व्या०—अनुवासनोपयोगी महाकषाय—रास्ना, देवदारू, बिल्व, मदनफल, सौंफ, श्वेतपुनर्नवा, रक्तपुनर्नवा, गोखरू, अरणी, श्योनाक (सोनापाठा), ये दश औषधियां अनुवासन कर्म में उपयोगी हैं।

अनुवासने स्नेह परिणाम निर्देशः।

निरूहपादांशसमेन तैलेनाम्लानिलघ्नौषधसाधितेन। च० सि० ३।२८ (क)

निरूहपादांशसमेनतैलेनेति निरूहपादप्रमाणेन, चतुर्विंशतिपले निरूहे षट्पलेन स्नेहेनेत्यर्थः, इयं चोत्तममात्राऽनुवासनस्य, उक्तं ह्यन्यत्रउत्तमा षट्पलीपोक्ता मध्यमात्रिपली भवेत्। कनीयसीसार्धपला, त्रिधामात्राऽनुवासने" इति। सुश्रुतेऽप्येतावन्मानमेव स्नेहस्यानुवासनमात्रा मात्रावस्तिविभागेनानुवासने उक्तम्। चक्रपाणिः।

यथावयो निरूहाणां या मात्राः परिकीर्तिताः।
पादावकृष्टास्ताः कार्याः स्नेहबस्तिषु देहिनाम्।

सु० चि० ३७।४, अ० हृ० सू० १९।१६, चक्रदत्तः।

वय इह सांवत्सरिकादीनां शरीरावस्थाविशेषः। पादपकृष्टाः चतुर्भागावशिष्टाः। डल्हणः।

प्रकृष्टः कन्यसीमात्रा, ततोऽध्यर्धा तु मध्यमा।
उत्तमा द्विपला मात्रा मात्रावस्तौ तु भार्गव॥
अपस्तनस्यार्धं पलं परिहार्या निरत्यया।
कर्षत्रयं त्रिवर्षस्य, चतुर्वर्षस्य वै पलम्॥
षड्वर्षस्य तु बालस्य स्व एव प्रसृतः स्मृतः।
द्वौ द्वौ द्वादशवर्षाणां चत्वारः प्रसृतास्तथा।
देयाः षोडशकादीनां पूर्वाह्णे वाऽन्तरेषु च।
यावन्मध्यं वयो, वार्धे त्वपकर्षेद्यथाक्रमम्॥
समीक्ष्य देहदोषाग्निबलं प्रकृतिमेव च॥

का० सं० ८।१०४।१०८

यथास्वमास्थापनमात्रा पादहीना माधुतैलिके प्रयोजा अनुवासने त्वेवमेवास्थापनस्य पाद इति। अ० सं० सू० २८।२३

यथास्वमित्यादिना माधुतैलिकमात्रोच्यते। येषु वर्षेषु यावत्या स्थापनमात्रा विहिता तेषु वर्षेषु माधुतैलिकस्य नव प्रसृता देयाः। अनुवासनस्य त्रयः प्रसृताः। एवं सर्वत्रोह्यम्। इन्दुः।

उत्तमा स्यात्पलैः षड्भिर्मध्यमा स्यात्पलैस्त्रिभिः।
तदर्द्धेन च हीना स्यात्त्रिधामात्रानुवासने।

चक्रदत्त, वंगसेन।

उत्तमस्य पलैः षड्भिर्मध्यमस्य पलैस्त्रिभिः।
पलस्यार्धेन हीनस्य युक्ता मात्रानुवासने॥

शा० सं० उ० ५।२०, भावप्र०, वंगसेन

प्राग्देयमाद्ये द्विपलं पलार्द्धवृद्धिर्द्वितीये पलमक्षवृद्धिः।
कर्षद्वयं वा वसुमात्रवृद्धिर्वस्तौतृतीये क्रम एष उक्तः॥

चक्रदत्त।

प्रसृतस्य पलार्द्धेन पलस्य पिचुना तथा।
तदर्द्धस्यार्द्धकर्षेण वृद्धिः कार्या यथाक्रमम्॥
षट् पलं त्रिपलं सार्द्धपलं पूर्णं यथा भवेत्॥ वंगसेन।

एतच्च षटपलादि मात्राविधानं क्रमेणैव विधेयं, न त्वेकदिने एवेत्याह प्रागित्यादि। आद्ये षट्पलस्नेहे गुरु मात्रारूपे प्रथमं पक्वस्नेहस्य द्विपलं, ततो दिनैकं विश्राम्य पलार्द्धेन वृद्धिः एवं क्रमेण नवभिः स्नेहदानदिनैः षट्पलानि स्युः अन्तरालदिवसाश्चाष्टवतो मिलित्वासप्तदश वासराभवन्ति। द्वितीये मध्यमे त्रिपले इति यावत्, तत्पलमादौ देयं, तत एकैकदिनं विश्राम्य अक्षेण कर्षेण वृद्धिः; अत्रापि नवभिः स्नेहदानदिवसैः पलत्रयं पूर्य्यते। तृतीये कनीयसि सार्द्धपले आदौ कर्षद्वयं, तथैव एकैकदिनं विश्राम्य वसुपरिमितैरिति—अष्टाभिर्माषकैर्वृद्धिः कार्या; अत्राहि तावद्भिरेव स्नेहदानदिवसैः सार्द्धपलमानं पूर्य्यते। इयमेव हि कनीयसी मात्रा निरपाया सार्वलौकिकी सार्वकालिकी वृद्धव्यवहारसिद्धा च। शिवदास सेन।

हि० व्या०—आचार्य पुनर्वसु आत्रेय के अनुसार अनुवासन वस्ति में स्नेह की मात्रा निरूहवस्ति से चतुर्थांश प्रयोग करनी चाहिए। अम्ल एवं वातनाशक औषधियों के क्वाथ के साथ तेल (स्नेह) मिलाकर अनुवासन वस्ति देनी चाहिए। आयु के अनुसार निरूहवस्ति की जो मात्रा बताई गई है उसका चतुर्थांश भाग (चौथाई मात्रा) स्नेहवस्ति में प्रयोग करना चाहिए। चरक और सुश्रुत के इस मत को आचार्य वाग्भट एवं अन्य आचार्यों ने भी समर्थन किया है।

आचार्य काश्यप ने जीवक को संबोधित करते हुए कहा है कि मात्रा वस्ति में छोटी मात्रा एक प्रकुञ्च (४ तो०), मध्यम मात्रा डेढ़ प्रकुञ्च (छः तो०) और उत्तम मात्रा २ प्रकुञ्च (८ तो०) की होती है। जो बालक दूध पीना छोड़ चुका हो उसके लिए यह मात्रा २ तो० की होती है। यह मात्रा सभी अवस्थाओं में प्रयोग की जा सकती है एवं निरापद है।

स्नेह बस्ति की मात्रा—आचार्य काश्यप के अनुसार तीन वर्ष तक के बालक के लिए स्नेहवस्ति की मात्रा ३ तो० होती है। चार वर्ष के बालक के लिए एक पल (४ तो०), छः वर्ष के बालकों के लिए दो प्रसृत १६ तोला, सोलह वर्ष के बाद ६० वर्ष तक की आयु या उसके बीच में ४ प्रसृत ३२ तो० मात्रा देनी चाहिए। वृद्धावस्था में रोगी के शरीर, दोष, अग्निबल तथा प्रकृति को देखकर इस मात्रा को क्रमशः कम करना चाहिए।

आचार्य वंगसेन, चक्रपाणिदत्त, शार्ङ्गधर एवं भाव मिश्र जी ने अनुवासन की उत्तम मात्रा छः पल (२४ तो), मध्यम मात्रा तीन पल (१२ तो०), और छोटी मात्रा डेढ़ पल (६ तो०) की मानी है।

त्रिविध मात्रा प्रयोग क्रम - (१) उत्तम मात्रा में अनुवासन बस्ति देने के लिए दो पल (८ तो०) से प्रारम्भ करनी चाहिए। तदनन्तर दो दो तोले बढ़ाकर सम्पूर्ण मात्रा छः पल (२४ तो०) तक देनी चाहिए।

(२) मध्यममात्रा में अनुवासनवस्ति देने के लिए पहले एक पल (४ तो०) से देनी चाहिए तदनन्तर १-१ तो० बढ़ाकर ३ पल (१२ तो०) तक देनी चाहिए।

(३) छोटी मात्रा में अनुवासम वस्ति देनी हो तो पहले दो तोले से अनुवासन प्रारम्भ करानी चाहिए पश्चात् छः-छः माशे बढ़ाकर (प्रतिदिन) सम्पूर्ण मात्रा डेढ़ पल (६ तो०) तक देनी चाहिए।

बालकों में अवस्थानुसार एक तो०, २ तो० ४ तो०, आठ तोला के क्रम से बढ़ाकर डेढ़पल, तीन पल, और छः पल तक देनी चाहिए।

अनुवासनबस्ति काल विशेष विचारः।

शीते वसन्ते च दिवाऽनुवास्यो
रात्रौ शरद्ग्रीष्मघनागमेषु।
तानेव दोषान् परिरक्षता ये
स्नेहस्य पाने परिकीर्तिताः प्राक्।

च० सि० १।२२-२३, वंगसेन

शीतशब्देन शिशिरहेमन्तयोरपि ग्रहणम्। दिवेति निशासमीपे दिवाविभागे, रात्रावपि च दिन समीपायां रात्रौ। दोषान् परिरक्षता दोषान् दृष्ट्वा, अन्तरं च दोष वर्जनेन परिरक्षता; ये स्नेहस्य पाने परिकीर्तिताः स्नेहाध्याये,—"श्लेष्माधिको दिवाशीते" (सू० अ० १३) इत्यादिना ग्रन्थेन, य एवाकालपीतस्नेहदोषा भवन्ति त एव यथोक्तकाल विपर्ययकृतानुवासनेऽपिदोषा भवन्तीत्युक्तं भवति। स्नेहाध्याये यद्वात पित्ताधिकत्वादिविशेषेणापि रात्रौ दिवा च स्नेहपानं विहितं तदिहापिसमानन्यायत्वादेकदेशाभिधानेनापरैकदेशानुमानाच्च ज्ञेयम्।

चक्रपाणिः।

शीते वसन्ते च दिवा ग्रीष्मप्रावृड्घनात्यये।
स्नेह्यो दिनान्ते पानोक्तान् दोषान् [1]परिजिहीर्षता॥

सु० चि० ३७।५१

दिवा शीते वसन्ते च स्नेहबस्तिः प्रदीयते।
ग्रीष्मवर्षा शरत्काले रात्रौ स्यादनुवासनम्॥

शा० उ० ५।१८, भाव प्र०

उष्णकाले क्वचिद्रात्रेऽपि अनुवासनम्।

पित्तेऽधिके कफे क्षीणे रूक्षे वातरुगर्दिते।
नरे रात्रौ तु दातव्यं काले चोष्णेऽनुवासनम्॥
उष्णे पित्ताधिके वाऽपि दिवा दाहादयो गदाः।
संभवन्ति यतस्तस्मात् प्रदोषे योजयेद्भिषक्॥

सु० चि० ३७।४६-५०

रात्रिशब्दोऽत्र प्रथमप्रहरवाचकः। डल्हणः।

हि० व्या० वातरोग से आर्त, रूक्ष शरीर व्यक्ति में कफ के क्षीण होने पर और पित्त की अधिकता में तथा ग्रीष्म ऋतु में रात्रि में अनुवासन देना चाहिए। ग्रीष्मकाल में या पित्त की अधिकता में दिन में अनुवासन देने पर दाह आदि रोग होते हैं। अतः प्रदोषकाल (रात्रि के प्रथम प्रहर) में अनुवासन प्रयोग करना चाहिए।

आत्ययिके रोगे शीघ्रमपि अनुवासने युक्तिः।

अहोरात्रस्य कालेषु सर्वेष्वेवानिलाधिकम्।
तीव्रायां रुजि जीर्णान्नं भोजयित्वाऽनुवासयेत्॥

सु० चि० ३७।५२

विशिष्टावस्थायामस्यापवादमाह—अहोरात्रस्येत्यादि। कालेषु सर्वेष्विति 'तत्तत्कालविरुद्धकृत्रिमगुणोपधानं कृत्वैव' इति शेषः। प्रागशुद्धस्य केवल वातपीडितस्य सर्वेष्वप्यहोरात्रावयवेष्वनुवासनमभिहितम्, इह तु शुद्धस्येति न पौनरुक्त्यम्। डल्हणः।

हि० व्या०—आचार्य सुश्रुत के अनुसार आत्ययिक अवस्था में कभी भी (हमेशा) अनुवासन बस्ति का प्रयोग किया जा सकता है। यदि वात रोगी को

१. परिजिहीर्षता = परिहर्तुमिच्छता। डल्हणः।

अत्यन्त वेदना हो तो अनुवासनवस्ति का प्रयोग दिन में भी या तत्काल किया जा सकता है। रोगी को यदि खाया हुआ आहार पच गया हो तो पुनः खाना खिलाकर अनुवासन वस्ति देनी चाहिए।

पुनः पुनः अनुवासन कालः।

त्र्यहे त्र्यहे वाऽप्यथ पञ्चमे वा
दद्यान्निरूहादनुवासनं च। च० सि० १।२४

अन्वासयेत्तृतीयेऽह्नि पंचमे वा पुनश्च तम्।
यथा वा स्नेह पक्तिः स्यादतोऽत्युल्बणमारुतान्।
व्यायामनित्यान् दीप्ताग्नीन् रूक्षांश्च प्रतिवासरम्।

अ० हृ० सू० १९।२५, चक्रदत्तः।

तमातुरं भूयस्तृतीये दिवसे पंचमे वाऽनुवासयेत्। अथवा यथा स्नेह पाको भवेदित्यग्न्यपेक्षया सप्तरात्रेऽधिके न्यूने वा त्रिरात्रे वा यथायोग्यमनुवासयेत्। अतोऽस्मादेवहेतोरधिकपवनान्व्यायाम्शीलान्त्यग्निदीप्तान् रूक्षांश्च पुरुषान् प्रत्यहमनुवासयेत्।

अरुणदत्तः।

प्रथममनुवासितं तृतीये पञ्चमे वाऽहनि अनुवासयेत्; अत्र अति वृद्ध वाते त्र्यहेऽनुवासन देयं, मन्दाग्नौ वृद्धकफपित्ते तु पञ्चमदिनेऽनुवासनमिति व्यवस्था। यथा वा स्नेहपक्तिः स्यादित्यनेनाग्न्यपेक्षया उक्तकालातिक्रमोऽपि कार्य्य इति बोधयति। उष्णवातादीन् प्रति तु प्रत्यहमेवानुवासनं देयमित्याह, अतोऽपीत्यादि। अतोऽपीति—त्र्यहादिदेयानुवासनापेक्षयाऽपीत्यर्थः।

शिवदास सेनः।

हि० व्या०—तीसरे या पांचवे दिन पुनः अनुवासन बस्ति देनी चाहिए। अथवा जैसे-जैसे स्नेह का पाचन हो उसी प्रकार अनुवासन देना चाहिए।

जिनका बात बढ़ा हुआ हो, जो प्रतिदिन व्यायाम करता हो तथा अग्नि प्रदीप्त हो एवं रूक्षता हो ऐसे व्यक्तियों को प्रतिदिन अनुवासन दिया जा सकता है।

प्रत्यहं अनुवासनबस्ति सेवनयोग्य रोगी निर्देशः।

रूक्षाय बहु वाताय स्नेहबस्तिं दिने दिने।
दद्याद्वैद्यस्तथान्येषांमग्न्याबाध भयात् त्र्यहात्।

सु० चि० ३७।७९, भाव प्र०

अथ वातादितं भूयः सप्त एवाऽनुवासयेत्।

अ० हृ० सू० १९।४०

दीप्ताग्नेर्दृढदेहस्य सोदावर्तं विमार्गगे।
श्रोणिबंक्षणसंस्थे च वाते शस्तं दिने-दिने॥

का० सं० खि० ८।८३

अवस्था विशेषे अशोधितस्यापि अनुवासननिर्देशः।

अशुद्धमपि वातेन केवलेनाभिपीडितम्।
अहोरात्रस्य काले तु सर्वेष्वेवानुवासयेत्॥

सु० चि० ३७।४३, चक्रदत्तः, वंगसेन

हि० व्या०—केवल वात रोग से पीडित अशुद्ध शरीर वाले पुरुष को (दिन या रात) कभी भी अनुवासनबस्ति देना चाहिए।

दोषभेदन अनुवासन वस्तिप्रयोगसंख्या।

एकं तथा त्रिन् कफजे विकारे
पित्तात्मके पञ्च तु सप्त वाऽपि।
वाते नवैकादश वा पुनर्वा—
बस्तीनयुग्मान् कुशलो विदध्यात्॥

च० सि० १।२५, वंगसेन

संप्रति दोषभेदेनानुवासननियममाह—एकं तथा त्रीनित्यादि। एतच्च 'संख्याः कति' इति। प्रश्नस्योत्तरं 'त्रिंशन्मताः कर्मनु' इत्यादिना भविष्यति। कफपित्तविषयतयैतद्बोद्धव्यम्। पुनर्वेत्यनेन वाते नव एकादश वा कुर्यात्। अयुग्मानित्यनेन द्विचतुः षडादि संख्यया युग्मदानं निषेधयति, अयुग्मदानं प्रभावादेवात्रोपकारीति महर्षिवचनाद्बोध्यं, यथा "युग्मेष्वहः सु पुत्रकामौ संवसेताम्" (शा० उ० ८) इति; उपपत्तिश्चात्रातिप्रसङ्गभीत्या न कथिताऽऽचार्येण। यत्तु,—त्रीन् पञ्च वाऽऽहुश्चतुरोऽथ षड् वा' इत्यादिना युग्मबस्तिदानं वक्ष्यति, तन्निरूहाङ्गतया स्नेहनार्थं क्रियमाणानुवासनविषययुग्मबस्तिदानं ज्ञेयम्, इह तु प्रधानतया क्रियमाणानुवासनविषयमयुग्मदानमिति न विरोधः। एतेन, यदुक्तमाषाढवर्मणा "निरूहकार्यकारणमयुग्मदानमस्मिन्नोक्तं निपिद्धपूर्वं च योगस्यान्ते क्रमादेकं तथा त्रीनित्यादीन् स्नेहान् प्राह" इति, तन्निरस्तं ज्ञेयम्। किं च, अयुग्मानित्यनेन पुनर्वेत्यनेन च यत्रानुवृत्त्याऽनुवासनं देयं तत्रायुग्मकं निरूहान्तरितं च कर्तव्यमित्यर्थः। तेन यथोक्तं संख्याकान्निरूहान् दत्त्वा यथोक्तसंख्यया स्नेहो देयः विषमसंख्योपादानं तु मध्यविधयाऽपि द्वयहचतुरहादिग्राहकं भवति, तेनोत्तरत्र वक्ष्यमाणसंख्यानुवासनम् न विरोधीति ब्रूते। जतूकर्णेऽप्युक्तं – "निरूहे व्युदिते भुक्तवातोऽनुवासनं परं द्वितीयेऽहनि पञ्चमे वा तथैकादशाहेऽपकर्षतो द्वि त्रि चतुरादि (?) वातादिषूच्यते" इति। चक्रपाणिः।

एवं कफे स्नेहबस्तिमेकं त्रीन्वा प्रयोजयेत।
पञ्च वा सप्त वा पित्ते नवैकादशवाऽनिले।
पुनस्ततोऽप्य युग्मांस्तु पुनरास्थापनं ततः।

अ० हृ० सू० २८।४८

एकेन त्रिभिर्वा स्नेहबस्तिभिः कफे प्रधाने साम्यग्योगलिङ्गे चानुत्पन्ने पुनरपि बस्तीन् प्रकल्पयेत्। अयुग्मानिति सर्वत्र सम्बध्यते। वाते पित्ते कफे च यथोक्तादधिकानपि एवमेव। तत्र द्वितीय चतुर्थषष्ठाष्टमादयो युग्माः तृतीय पञ्चमसप्तमादयोऽयुग्माः। ततः सम्यक् स्निग्ध आस्थापनम्। इन्दुः।

एक त्रीन् वा बलासे तु स्नेहबस्तीन् प्रकल्पयेत्।
पंच वा सप्त वा पित्ते नवैकादश वाऽनिले।
पुनस्ततोऽप्ययुग्मांस्तु पुनरास्थापनम् ततः॥

अ० हृ० सू० १६।४३

स्नेहबस्तीननुवासनानि एकं त्रीन्वा श्लेष्मविकारे प्रकल्पयेत्। कार्ये कारणोपचारादेवमुक्तम्। एवमग्रेऽपि चिन्त्यम्। पित्ते पंच स्नेहबस्तीनथवासप्तदद्यात्। नव एकादश वा वायौ दद्यात् ततः पुनरयुग्मान् स्नेहबस्तीन् दद्यात्। ततः पुनरास्थापनं दद्यात्। अयुग्मवचनम् स्नेहबाहुल्येनाऽयं व्यवहारो युक्तइति प्रतिपादयितुम्। वातार्तस्य तु युग्मा अपि देया एव। तथा चाऽमुनैवाऽभ्यधायि व्यायामनित्यान्। दीप्ताग्नीन् रूक्षांश्च प्रतिवासरमिति। अरुणदत्तः।

अनेन विधिना षड् वा सप्त चाष्टौ नवापि वा।
विधेया वस्तयस्तेषामन्ते चैव निरूहणम्॥ भावप्र०
इति स्नेहैस्त्रिचतुरैः स्निग्धे स्रोतोविशुद्धये।
निरूहं शोधनं युञ्ज्यादस्निग्धे स्नेहनं तनोः॥ चक्रदत्तः

त्रिचतुरैः स्नेहैरित्यनेन चतुः सङ्ख्यवस्तिदानं विधीयते, तथा च विरोधः; उक्तं हि चरके—"बस्तीन्युग्मान् कुशलो विदध्यात्" (सि० क०) इति। अयुग्मबस्तिदानञ्च प्रभावादेवाग्रोपकारीति महर्षिवचनादुन्नीयते; यथा "युग्मेष्वहःसु पुत्रकामौ संवसेताम्" इति। अयुग्मदानोपपत्तिश्चात्रातिप्रसङ्गभीत्या न कथिता आचार्येण। यत्त अत्र त्रिचतुरैरित्यनेन युग्मवस्तिदानमुक्तं, तन्निरूहाङ्गतया स्नेहनार्थक्रियमाणानुवासनविषयम्, अयुग्मवस्तिदानं तु स्वतंत्रक्रियमाणानुवासनविषयम्, अतो भिन्नविषयतया न विरोधः। किं वा चरके अयुग्मानित्यस्य सान्तरानित्यर्थः; तेन यत्रानुवृत्त्याऽनुवासनं देयं तत्रायुग्मकं निरूहान्तरितं कर्तव्यम्; तेन नवसु एकादशसु वाऽनुवासनेषु दत्तेषु यदि वायुर्न शाम्यति तदा तस्य मार्गावरण निवृत्त्यर्थंनिरूहं दत्त्वा पुनर्यथोक्तसङ्ख्ययाऽनुवासनं देयमित्यर्थः। शिवदाससेनः।

हि० व्या०—कफजन्य रोगों में एक या तीन अनुवासनबस्तियां देनी चाहिए। पित्तजन्य रोगों में पाँच या सात बस्ति देनी चाहिए। वातजन्य रोगों में नौ अथवा ग्यारह अनुवासन वस्तियां देनी चाहिए। इस प्रकार विषम संख्या में अनुवासन वस्ति देनी चाहिए। इस संदर्भ में वाग्भट, वंगसेन तथा भावमिश्र के विचार समान है।

विरेचनानन्तरं अनुवासन प्रयोगात् प्राक् रोगी बलाधानाय सप्तरात्रं यावत् व्यवधाने युक्तिः।

विरेचनात् सप्तरात्रे गते जातबलाय वै।
कृतान्नायानुवास्याय सम्यग्देयोऽनुवासनः॥

सु० चि० ३७।३, शा० उ० ५।२२, वंगसेन, भावप्र०

विरिक्तश्चानुवास्यश्चेत् सप्तरात्रात् परं तदा। चक्रदत्तः।

अनुवास्यः सप्तरात्राद्विरेचित इति यदुक्तं तद्बललाभे एव नान्यथेति दर्शयन्नाह—विरेचनादित्यादि। जातबलायेति जातबलस्यैवानुवासनं देयं, यत उदावृत्तबलस्यैवाग्निर्बलवानुवासन हेतुः। तथा चोक्तं—"पश्चादग्निबलं ज्ञात्वा सम्यग्देयोऽनुवासनः"। "कृताहाराय सायाह्ने" इति केचित् पठन्ति, "कृताहाराय सततम्" इत्यन्ये। डल्हणः।

हि० व्या०—विरेचन के एक सप्ताह पश्चात् अन्न ग्रहण करने से रोगी के बलयुक्त (अनुवासन के योग्य) हो जाने पर विधिवत् अनुवासनवस्ति देनी चाहिए। इस सन्दर्भ में वंगसेन, शार्ङ्गधर, चक्रदत्त एवं भावमिश्र सभी आचार्यों का विचार सुश्रुत के समान है।

स्नेहबस्ति दानात् प्राक् रुग्णस्य उत्सृष्टानिलविण्मूत्रत्वे युक्तिः।

उत्सृष्टानिलविण्मूत्रे नरे बस्तिं विधापयेत्।
एतैर्हि विहतः स्नेहो नैवान्तं प्रतिपद्यते॥

सु० चि० ३७।५, वंगसेनः

बस्तेः पूर्वकर्म निर्दिशन्नाह – उत्सृष्टेत्यादि। यस्मादेतैः कारणैरनुत्सृष्टैरनिलविण्मूत्रैर्नैद्वारावरकैरन्तर्विहतः अवरुद्धो दत्तः स्नेहो नैवान्तं प्रतिपद्यते नैवान्तः प्रविशतीत्यर्थः। 'एतैर्हि विहत' इत्यत्र 'अन्यथा विहत' इति केचित् पठन्ति, तत्रान्यथा अन्येन प्रकारेण, अनुत्सृष्टानिलविण्मूत्रत्वेनाविशुद्धस्य देहिन इत्यर्थः। डल्हण।

हि व्या—वायु, मल एवं मूत्र आदि वेगों को उत्सर्जित करने के पश्चात् बस्ति देनी चाहिए क्योंकि इन वेगों के त्याग नहीं करने पर स्नेह को अन्दर प्रवेश करने में रुकावट होती है। आचार्य वंगसेन ने सुश्रुत का अनुगमन किया है।

स्नेहबस्ति दानात् प्राक् महास्रोत संशोधनस्य आवश्यकतायां युक्तिः

स्नेहबस्तिर्विधेयस्तु नाविशुद्धस्य देहिनः।
स्नेह वीर्यं तथा दत्ते देहं चानु विसर्पति॥

सु० सि० ३७।६, चक्रदत्त

अतो विण्मूत्रनिर्हरणे कृत् स्नेहबस्तिविधीयते इति दर्शयन्नाह—स्नेहेत्यादि।

तथा तेन प्रकारेण शुद्धे शरीरे स्नेहबस्तिः स्नेहवीर्यं दत्तो ददातीत्यर्थः। 'स्नेहो दोषैरपिहितः स्रोतः सु न विसर्पति—" इति केचिदर्धं पठन्तिः। अपिहित आच्छादित इत्यर्थः। डल्हणः।

हि० व्या०—अशोधित व्यक्ति को अनुवासन वस्ति नहीं देनी चाहिए। शुद्ध शरीर में स्नेहवस्ति का प्रयोग करने पर स्नेह का वीर्य सम्पूर्ण शरीर में फैल जाता है।

किञ्चित् भुक्तवत एव अनुवासन दाने युक्तिः।

न चाभुक्तवतः स्नेहः प्रणिधेयः कथञ्चन
शुद्धत्वाच्छून्यकोष्ठस्य स्नेह ऊर्ध्वं समुत्पतेत्।

सु० चि० ३७।५३, चक्रदत्तः।

अभुक्तवतः प्रतिषेधमाह—न चेत्यादि। स्नेह ऊर्ध्वं समुत्पतेत् सम्यगूर्ध्वं गच्छेत्। ततश्चातिपीडितवद् व्यापत् स्यात्। शुद्धत्वादित्यत्र सूक्ष्मत्वादिति पठित्वा गयदासः सूक्ष्ममार्गानुसरणशीलत्वादस्येति व्याख्यानयति। डल्हणः।

हि० व्या०—रिक्तकोष्ठ (खाली पेट) में स्नेह का प्रयोग नहीं करना चाहिए क्योंकि शुद्ध एवं रिक्तकोष्ठ में स्नेह प्रयोग करने से स्नेह के मुख मार्ग से बाहर निकल जाने की शंका रहती है।

अनुवासनात् प्राक् भोजनादि विशेष नियमाः।

सदाऽनुवासयेच्चापि भोजयित्वाऽऽर्द्रपाणिनम्।
ज्वरं विदग्धभुक्तस्य कुर्यात् स्नेहः प्रयोजितः॥
न चाति स्निग्ध शमनं भोजयित्वाऽनुवासयेत्।
मदं मूर्छां च जनयेद् द्विधा स्नेहः प्रयोजितः॥
रूक्षं भुक्तवतो ह्यन्नं बलं वर्णं च हापयेत्।
युक्तस्नेहमतो जन्तुं भोजयित्वाऽनुवासयेत्॥
यूषक्षीररसैस्तस्माद्यथाव्याधि समीक्ष्य वा।
यथोचितात् पादहीनं भोजयित्वाऽनुवासयेत्॥

सु० चि० ३७।५४-५८, वंगसेन

भोजनोत्तर कालमेवानुवासनमविलम्बिताह-सदेत्यादि। भोजनाद्विलम्बितदाने दोषं दर्शयन्नाह ज्वरमित्यादि। कीदृशमन्नं भुक्तवन्तमनुवासयेत्तदाह न चेत्यादि। हापयेदित्यत्र स्नेहः प्रयोजित इति संबध्यते। युक्तस्नेहम् अल्पस्नेहम्। यथाव्याधीति रोगनातिक्रमेण, रोगानुरूपमिति यावत्। अत्रैवानुवक्तमप्यवेक्षमाण आह समीक्ष्य वेति। सम्यगीक्षित्वा 'सात्म्यं दोषं च' इति शेषः। अत्र यूषो मुद्गयूषः स च कृतो ग्राह्यः, क्षीरं गव्यं, रसो मांसरसः, तैर्यथासंख्यं कफपित्तवात प्रत्यनीकैर्भोजयित्वा, यथोचितात् पादहीनमिति प्राक् संशुद्धस्य कृतसंसर्जनस्य उचिताद्भुक्तात्पादहीनमुत्तममध्यममन्दाग्निविशेषेण पादेन पादा-

ध्यां पादैर्वा हीनमिति ज्ञेयं; अर्धहीनं त्रिभागंवा भोजयित्वाऽनुवासयेत्" मुनिना प्रोक्तत्वात्। डल्हण।

न चातिस्निग्धमसनं भोजयित्वानुवासयेत्।
मदं मूर्च्छाञ्च जनयेद् द्विधा स्नेहःप्रयोजितः॥
रूक्षं भुक्तवतोऽत्यन्तं बलं वर्णञ्च हापयेत्।
युक्तस्नेहमतोजन्तुं भोजयित्वाऽनुवासयेत्॥

भा० प्र०

हि० व्या०—भोजन के पश्चात् हाथ धोने के अनन्तर यथाशीघ्र अनुवासन वस्ति देनी चाहिए। अन्न की विदग्धावस्था (पच्यमानावस्था) में अनुवासन (स्नेहवस्ति) देने पर ज्वर उत्पन्न हो जाता है। अति स्निग्ध भोजन के पश्चात् भी अनुवासन नहीं देनी चाहिए। उपरोक्त दो विधियों का पालन नहीं करने पर रोगी में मद और मूर्च्छा हो सकती है। रूक्ष अन्न का भोजन करने पर बल और वर्ण की हानि होती है। अतः अल्पमात्रा में स्नेह का भोजन के साथ प्रयोग करना चाहिए। मूंग आदि का यूष, दूध, मांसरस, रोग के अनुकूल और सात्म्य पदार्थ, भोजन की मात्रा से चतुर्थांश कम खिलाकर अनुवासन (स्नेहबस्ति) देनी चाहिए।

अभुक्त रिक्त कोष्ठस्य प्रयुक्तमनुवासनम्।
सरद्रुगसूक्ष्मत्वैः क्षिप्रमूर्ध्वं प्रपद्यते॥
तेन वायोर्जयो न स्याद्वातधामन्यतिष्ठता।
कायाग्नेरासुनाशश्च विशेषादनिवर्तिना॥
स्नेहः सद्योऽशिताहाररुद्धे त्वामाशयेऽनिलं।
पक्वस्थं हन्ति पक्वस्थश्च्यवते चान्नपाकतः॥
निरूहश्च समीरश्च तीक्ष्णवेगावुभावपि।
तावन्नमूर्छितौ तीक्ष्णवधोऽन्नेन सहागतौ॥
ऊर्ध्वं वा शकृता सार्धं संस्थितौ कोष्ठ एव वा।
समलाहारविष्टब्धौ हरेतामाशु जीवितम्॥
भुक्त एवानुवास्योऽस्मान्न निरूह्योऽत्र भुक्तवान्।
पाण्डुरोगार्तादीनां दोषानुत्क्लेश्य स्नेहबस्तिरुदरं जनयेत्।
प्रतिश्यायादिवतां भूयएव दोष वर्धयेत्।

अ० सं०सू० २८।१३-१८

अभुक्ते निरन्ने रिक्तकोष्ठस्य सतः पुरुषस्यानुवासनं प्रयुक्तं सरत्वात् दूरगत्वात सूक्ष्मस्रोतः प्रवेशित्वाच्च शीघ्रमूर्ध्वं पूर्वकायं प्रपद्यते। तेनानुवासनेनोर्ध्वं प्रवृत्तेन वातधाम्नि पक्वाशये अतिष्ठता वायोर्जयो न स्यात्। स्नेहस्य चानिवर्तनादपतनाद्विशेषेणाग्निनाशः स्यात्। यदा तु भुक्तं तदानुवासनं देयमेव। यतः

सद्योशितेनाहारेणामाशये रुद्धे पक्वाशयस्थोऽनुवासनस्नेहः पक्वाशयस्थमेवानिलं हन्ति। अन्नपाकतश्च पक्वाशयस्थ एव च्यवते। स्नेहः पतत्यतोऽग्निनाशं न करोतीति भावः अस्मादन्नं भुक्तवाननुवास्य इति सम्बन्धः। निरूह्यः पुनरभुक्तवानेवान्नम्। यतो भुक्ते निरूहो जीवितं हन्ति। कथमित्याह निरूहश्चेत्यादि। निरूहस्तावत्तीक्ष्णवेगः समीरो वायुरपि तीक्ष्ण एव। तावुभौ निरूहसमीरौ तीक्ष्णवेगत्वादन्नेन सहाधो गुदेनागतौ शकृता पुरीषेण वा सार्धमूर्ध्वं मुखेन वागतौ समलेन सपुरीषेण वा आहारेण विष्टब्धौ कोष्ठ एव स्थितौ। सर्वथा सान्ने कोष्ठे निरूहसमीरावाशु जीवितं हरेताम्। अतोऽस्मान्न निरूह्यस्त्वन्न भुक्तवानिति सम्बन्धः। इन्दुः।

हि० व्या०—रिक्त कोष्ठ में अनुवासन वस्ति देने से शीघ्र ही ऊपर की ओर पहुंच जाता है क्योंकि अनुवासन सरणशील होता है, दूरगामी होता है तथा सूक्ष्म होता है। पक्वाशय में न ठहरने से वायु की शान्ति नहीं होती। स्नेह वापस न आने से जठराग्निनाश होता है। अतः भोजन कराकर अनुवासन वस्ति देना चाहिए। आहार से आमाशय पूर्ण होने पर पक्वाशय में स्थित स्नेह वायु को शान्त करती है। अन्नपाक के कारण पक्वाशय से ही बाहर आ जाती है। स्नेह पक्वाशय से बाहर आकर अग्नि का नाश नहीं करता अतः अनुवासन भोजन कराकर और निरूह खाली पेट देना चाहिए। निरूह एवं वायु दोनों तीक्ष्ण होते हैं। ये दोनों अन्न के साथ गुदामार्ग में आकर अथवा मल के साथ ऊपर के मार्ग में पहुंचकर मल या आहार से कोष्ठ में ठहर जाने से अन्नयुक्त कोष्ठ में वायु और निरूह प्राण को संकट में डालते हैं। पाण्डु रोगी में स्नेहबस्ति दोषों को कुपित करके उदररोग उत्पन्न करती है। प्रतिश्याय में रोग को और बढ़ा देती है।

अनुवासन प्रक्रिया वर्णनम्।

अथानुवास्यं स्वभ्यक्तमुष्णाम्बुस्वेदितं शनैः।
भोजयित्वा यथा[1] शास्त्रं कृतचङ्क्रमणं ततः॥
विसृज्य च शकृन्मूत्रं योजयेत् स्नेहबस्तिना।

सु० चि० ३७।५८

हि० व्या०—अनुवासन पूर्व कर्म—रोगी को विधिवत् अभ्यंग कराना चाहिए। तदनन्तर धीरे-धीरे सुखोष्ण जल से स्वेदन करना चाहिए। पुनः विधिवत् भोजन कराकर कुछ देर टहलने की अनुमति देनी चाहिए, फिर (मल-मूत्र के वेग से रहित) उस व्यक्ति को अनुवासन बस्ति देनी चाहिए।

---

१. यथा शास्त्रमिति सू० अ० ४६ आहारविधि प्रकृत्योपदिष्टं "भुक्त्वा राजवदासीत्" इत्यादिनोक्तं शास्त्रं स्मारयति। हाराणचन्द्रः।

अथानुवास्यं स्वभ्यक्तमुष्णाम्बुस्वेदितं शनैः।
भोजयित्वा यथाशास्त्रं कृतचङ्क्रमणं ततः॥
उत्सृष्टानिलविण्मूत्रं योजयेत्स्नेहवस्तिना।
सुप्तस्य वामपार्श्वेन वामजंघाप्रसारिणः।
कुञ्चितापरजंघस्य नेत्रं स्निग्धे गुदे न्यसेत्।
बद्ध्वा बस्तिमुखं सूत्रेवामहस्तेनधारयेत्॥
पीडयेद्दक्षिणेनैव मध्यवेगेन धीरधीः।
जृम्भाकासक्षवादींश्च बस्तिकाले च कारयेत्॥
त्रिंशन्मात्रामितः कालः प्रोक्तो बस्तेस्तु पीडने।
ततः प्रणिहितः स्नेह उत्तानो वाक्शतं भवेत्॥
जानुमण्डलमावेष्ट्य कुर्याच्छोटिकया युतम्।
एका मात्रा भवेदेषा सर्वत्रैष विनिश्चयः॥
प्रसारितैः सर्वगात्रैर्यथावीर्यं शनैः शनैः।
स्फिजोश्चैवं ततः श्रोणीं शय्यां चैवोत्क्षितेत्ततः॥
जाते विधाने तु ततः कुर्यान्निद्रां यथासुखम्।

शार्ङ्गधर उ० ५, भा० प्र०, वंगसेन

स्नेह बस्तिना येन प्रकारेण योजयेत् तत्प्रकारमाह—अथानन्तरं अनुवास्यं अनुवासनयोग्यं पुरुषं स्वभ्यक्तं कृतस्नेहाभ्यंग पुनः उष्णाम्बुस्वेदितं स्नापितं भोजयित्वा चंक्रमण इतस्ततश्चलितं पुनः उत्सृष्टानिलविण्मूत्रंनिःसृत वातादयं पुरुषं स्नेहबस्तिना योजयेत्। योजनप्रकारमाह—सुप्तस्येत्यादि। वामपार्श्वेन सुप्तस्य वामजंघाप्रसारिणः कुंचितापरजंघस्य संकोचितापरजंघस्य स्निग्धे गुदे नेत्रं वामहस्तेन धारयेत्। दक्षिणेन दक्षिणहस्तेनपीडयेत् मध्यस्थवेगेन मध्यवेगेनेत्यर्थः।

धीरः धैर्यवान पुनर्बस्तिदानकाले जृम्भादीन्नकारयेत्। कियत्पर्यन्तं बस्तिर्धार्या इति मात्रामाह—बस्तिपीडिते त्रिंशन्मात्रामितः कालः प्रोक्तः ततः प्रणिहितः स्नेहः प्राप्तस्नेह उत्तानः वाक्शतं वचनशतं तिष्ठेत्। मात्रा लक्षणं तु जानिति ज्ञेयं प्रसारितैः सर्वगात्रैर्हस्तपादादिकैर्यथा। वीर्यं विसर्पति तथा एनं श्रोंस्तलयोस्ताडयेत्ततः। स्फिक्प्रदेशे ताडयेत्। तथा श्रोणीनितम्बं ताडयेत्ततः शय्यां क्षिपेत् स्थापयेत्। ततः विधाने जाते निद्रां कारयेत्। काशीराम।

वस्तिकर्म विधानं तु शृणुमे विरुपद्रवम्।
स्नेहितस्य यथान्यायं विरिक्तस्यच कल्पशः॥
संसृष्टभक्तस्य तथा पुनश्च स्नेहितस्य च।
पञ्चरात्रात्परं तस्य कारयेदनुवासनम्॥
नोपर्यस्निग्धकोष्ठस्य कर्तव्यमनुवासनम्।
वातो ह्यूरीकृतस्तस्य हृदये परितिष्ठति॥

उचिताद्भक्तमानादप्यर्धमात्रं तु भोजयेत् ।
तनुना मुद्गयूषेण जाङ्गलेन रसेन वा ॥
भुक्त्वा कृतसमाश्वासः शकृन्मूत्रे विसृज्य च ।
सव्येन पार्श्वेन नरः संविशेच्छयने समे ॥
संकोचयेद्दक्षिणं च सक्थिय वामं प्रसारयेत् ॥
वामोपधानं कुर्वीत शिरस्युपहितं नरः ॥
अथास्य प्रणयेद्वस्तिं पृष्ठवंशानुगं सुखम् ।
यथाकर्मबलं चैव न द्रुतं न विलम्बितम् ॥
निर्व्यलीको मृदुर्बस्तिर्व्यपनीतानिलस्तथा ।
गाढ़ानिलानुबन्धो ऽस्याप्रशस्तो बस्तिकर्मणि ॥
नेत्रं बस्तिमुखे धृत्वा सम्यगेकेन पाणिना ।
प्रपीडयेच्चापरेण हस्तौ चापि न कम्पयेत् ॥
पूर्वं च गुदमभ्यज्य यन्त्रं हस्तौ च मानवः ।
प्रवर्तयेदथोत्तानं पादौ वास्य प्रसारयेत् ॥
मुहूर्तान्न निगृह्णीयाद्दते वस्तौ यथासुखम् ।
ततः परमतो वेगानागतान्न विधारयेत् ॥

भे० सि० ५।

हि० व्या०—बस्ति विधि—रोगी को बाईं करवट लिटाकर बाएं पैर को पूरा फैला देना चाहिए और दाहिने पैर को संकुचित (सिकोड़कर) रखना चाहिए। सुस्निग्ध बस्तिनेत्र गुदा मार्ग में प्रविष्ट करना चाहिए। नेत्र में स्नेहपूरित वस्ति का मुख लगाकर कर्णिका पर सूत्र (धागे) से बांधना चाहिए। बस्ति को बाएं हाथ में (हथेली पर रखकर) धारण कर दाहिने हाथ से मध्यम वेग से दबाना चाहिए। इससे बस्ति का स्नेह पक्वाशय में चला जाता है। इस प्रक्रिया के समय रोगी को जंभाई लेना या खांसना, छींकना नहीं चाहिए। बस्ति को दबाने में तीस 'मात्राकाल' का समय लगाना चाहिए। स्नेह अन्दर प्रविष्ट हो जाने पर चित्त लेटकर एक सौ तक संख्या गिनने तक स्थिर रहना चाहिए। हथेली को घुटने के चारों ओर घुमाकर चुटकी बजाने में जितना समय लगता है उसको एक मात्राकाल कहते हैं। ऐसी तीस मात्राकाल बस्तिपीडन में लगानी चाहिए। चित्त लेटने से स्नेह का वीर्य रसरक्तादि धातुओं में फैल जाता है। लेटे हुए रोगी के कटिप्रदेश पर हथेली से धीरे-धीरे थप-थपाना चाहिए तथा शय्या (चारपाई) को थोड़ा उठा-उठाकर तीन बार नीचे छोड़ देना चाहिए। शय्या को नीचे छोड़ने से रोगी के शरीर में मृदु कम्पन होगा। पश्चात् रोगी को इच्छानुसार आराम करवाना चाहिए। अन्य आचार्यों के विचार भी प्रायः समान ही हैं।

वामपार्श्वं शायिन एव बस्तिदाने युक्तिः ।
वामाश्रये हि ग्रहणी गुदे च
तत् पार्श्वं संस्थस्य सुखोपलब्धिः ।
लीयन्त एवं वलयश्च यस्मात्
सव्यं शयानोऽर्हति बस्तिदानम् ॥

च० सि० ३।२४-२५ वंगसेन

वामपार्श्वं शयनं यदुक्तं तस्य प्रयोजनमाह-वामाश्रये इत्यादि। वामाश्रये यस्माद् ग्रहणी गुदे, तेन वामपार्श्वं सुप्तस्य ग्रहणी गुदे प्रकृतिस्थे च गुदे गुदस्य बस्तिना सम्यगुपश्लेषाद् व्याप्तिर्भवति तथा वलयश्च लीना भवन्ति, तेन सुखं बस्तिर्याति, ग्रहणी गुदयोः प्रकृतिस्थतया च बस्तिव्याप्य सुखं ग्रहणी भावयतीति बोद्धव्यम्। इति चक्रपाणिः।

वामाश्रयोऽग्निग्रहणीगुदे चेति निर्देशादेवंपां वामपार्श्वे स्थितत्वं बीजावक्रान्तौ शारीरेऽभिहितम्। वामे पार्श्वे पित्तं तदस्याः प्रपीडितं विदहति रक्तशुक्ले इति। अपरे पुनराहुः, लेशाभिधानेनोक्तमन्नवहानां स्रोतसामामाशयो मूलं वामं च पार्श्वमिति। तदएवान्नग्रहणेनामयुक्तो भवतीति। एवं तु बहुचिन्तनं कुर्वन्ति तथान्ये आहुः—"भुक्त्वापदशतं गत्वा वामपार्श्वेन सम्विशेत्"॥ इति। वामेऽग्निरुक्तः। तथाऽन्यमधिष्ठानमन्नस्य ग्रहणात् ग्रहणी मता नाभेरुपरीति। अन्यधिष्ठानं ग्रहणी। नाऽग्निः। अत उभयवचनम्। प्रच्युतश्च स्थानात् समाश्रितः तथास्थितस्य च गुदोपलब्धिः सुखेन गुदप्राप्तिः स्नेहस्य। न हि नेत्रं व्यङ्गुलप्रवेशमुत्तरगुदं प्राप्नोति प्रवाहणी वली तदाश्रिता। अारगुदं च विसर्जनीसंवरणीबलीद्वयाश्रयमुक्तम् हि—"त्रिभागान्तरास्तिस्रोगुदवलयो गुदस्यार्धपञ्चाङ्गुलावकाशे गुदद्वयमप्युक्तम्। अपरगुदं च प्राप्तोऽप्यकिञ्चित्करः स्नेहः। न च नेत्र प्रपीडिते तस्मिन् प्राप्तिस्तस्य शक्यते प्रतिपत्तुम। स्थूलान्त्रप्रतिबद्धे गुदे इत्युक्तम्। तदाश्रयत्वात्तासामिति। उक्तं च "वामेन नाभेरुपरिस्थितोऽग्निः स्थूलान्त्रसम्बद्धमतो गुदं च। तद्वामतस्सर्वमतस्तथैव, स्थितस्य कायस्सुखमश्नुते हि॥ स्थानात्तथा न च्यवतेऽत्र यत्तदप्रच्युते कर्म समाचरेत्। (सेवेन्नरः) सव्यगतो हि तस्माच्छय्यासनास्थापन भोजनानि।।" इति।

यद्यपि वामाश्रयोऽग्निस्तथाऽपि कथमङ्गभावं सन्निरूहे गच्छतीति। वलोनां लयगमनं गुदोपलब्धिश्च वामाश्रयत्वे सति भवति, ग्रहणी चान्यधिष्ठानप्रतिबद्धा (प्रसिद्धा) प्रतिविशनबस्तिस्तदुपघातं न करोति। अन्यथा पुनरनियतस्थानबस्तिना प्रतिहन्येत्। स च तथावस्थितो न प्रतिहतस्थानोऽग्निः समानपवनधृतः, स्वकर्मकुर्वाणो बस्तेरुपकरोत्येव न बस्तिनापि चाल्यते छाद्यते

प्लाव्यते वा तदेवम् पक्वाशयप्राप्त्या तदग्न्यधिष्ठानं प्राप्यते इति। तस्मात्तस्यं शयानोहेति बस्तिदानम्" इति। एवं च कृत्वाग्नेरपि कारकत्वान्मांसरसक्षीरयूषभोजनोपदेशो, न पेयादिविधिस्तत्रेति ॥ जज्जटः।

हि० व्या०—बस्ति वामपार्श्व में लिटाकर ही देनी चाहिए। क्योंकि ग्रहणी और गुदा मनुष्य के वाम भाग में अवस्थित है। बायीं करवट से रोगी के शयन करने पर बस्ति की औषध पक्वाशय में आसानी से पहुँचती है। औषध प्रवेश करते समय गुदवलियाँ रुकावट उत्पन्न करती है वाम पार्श्व पर लिटाने से (गुदवलियों से) रुकावट नहीं होती अतः वामपार्श्व पर ही लिटा कर बस्ति देनी चाहिए।

बस्तिप्रयोगकाले रुग्णार्थं प्रयोज्यस्य शयन मञ्चकस्य लक्षणम्।

नात्युच्छ्रितं नाप्यतिनीचपादं
सपादपीठं शयनं प्रशस्तम्।
प्रधानमृद्वास्तरणोपपन्नं
प्राक्शीर्षकं शुक्लपटोत्तरीयम् ॥ च० सि० ३।२३-३४

संप्रति 'शयने विधिः कः' इति प्रश्नस्योत्तरमाहनात्युच्छ्रितमित्यादि। पूर्वं यः शयनविधिरुक्तः स तात्कालिकः, अयं तूत्तरकालिक इति विशेषः। प्रधानं महन्मृदु चास्तरणं प्रधानमृद्वास्तरणं, तेनोपपन्नं युक्तम्। प्राक्शीर्षकमिति "प्राच्यां दिशि स्थिता देवास्तत्पूजार्थं च प्राक्शिराः (मु० सू० अ० १६) इति वचनात्। चक्रपाणिः।

हि० व्या०—अग्निवेश के आठवें प्रश्न 'शयने विधिः कः?' का उत्तर समझाते हुए आचार्य पुनर्वसु आत्रेय ने निर्देश किया कि बस्ति का शयनमञ्च बहुत ऊँचा या बहुत नीचा नहीं होना चाहिए। मञ्च के पास मञ्च पर चढ़ने के लिए एक पादपीठिका भी होनी चाहिए। शयन मञ्च के ऊपर बिस्तर मुलायम, लम्बा और अपेक्षाकृत चौड़ा होना चाहिए। रोगी का शिर पूर्व दिशा की ओर होना चाहिए। बिस्तर के ऊपर स्वच्छ (विसंक्रमित) चादर होनी चाहिए।

अल्पमात्रोपयोगस्तु स्नेह निरूहयोः प्रायोनिर्दोषो भवति।

स्नेहोऽल्पमात्रो रूक्षाणां दीर्घकालमनत्ययः।
तथा निरूहः स्निग्धानामल्पमात्रः प्रशस्यते ॥ सु० चि० ३७।८०

अभ्यासेऽपि स्नेहवस्तिर्यथा निरापतस्तथोपदिशन्नाहस्नेहोऽल्पमात्र इत्यादि। अर्धहीनता चतुर्भागावशिष्टता वाऽल्पशब्दार्थः, तेन षट्पलप्रमाणस्त्रिपलप्रमाणो वा स्नेहबस्तिर्दीर्घकालमभ्यस्तो रूक्षाणां निरत्ययः निर्गत व्यापत्। तथा निरूहोऽपि दीर्घकालं स्निग्धानामल्प एव पादहीनोऽर्धभागहीनो वा शस्यते, अनत्ययत्वादित्यर्थः। डल्हणः।

हि० व्या०—रूक्ष व्यक्तियों में दीर्घकाल तक भी अल्प मात्रा में स्नेह का प्रयोग करने से किसी प्रकार की हानि नहीं होती। उसी प्रकार स्निग्ध पुरुषों में अल्प मात्रा में निरूह बस्ति के प्रयोग से कोई हानि नहीं होती।

बस्तिप्रयोगानन्तरं कर्तव्यानां कर्मणां वर्णनम्।

प्रत्यागते कोष्णजलावसिक्तः
शाल्यन्नमद्यात्तनुना रसेन।
जीर्णे तु सायं लघु चाल्पमात्रं
भुक्तोऽनुवास्यः परिबृंहणार्थम् ॥
निरूहपादांशसमेन तैले-
नाम्लानिलघ्नौषधसाधितेन।
दत्त्वा स्फिचौ पाणितलेन हन्यात्
स्नेहस्य शीघ्रागम रक्षणार्थम् ॥
ईषच्च पादाङ्गुलियुग्ममाञ्छे-
दुत्तान देहस्य तलौ प्रमृज्यात्।
स्नेहेन पार्ष्ण्यङ्गुलिपिण्डिकाश्च
ये चास्य गात्रावयवा रुगार्ताः ॥
तांश्चावमृद्नीत सुखं ततश्च
निद्रामुपासीत कृतोपधानः ॥ च० सि० ३।२३-३०, वंगसेन

शाल्यन्नमित्यादौ जीर्णे इति आस्थापनोपलेपे कोष्ठस्थे जीर्णे। तनुमांसरसादिभोजनं चेह निरूहेण मनागुपहतस्य वह्नेः परिपालनार्थम्। पेयादिक्रमस्त्वत्र न क्रियते, विरेचनवदिहाग्नेरभावात्; अत एव सुश्रुते पेयादिक्रमं त्यक्त्वा रसादिक्रम उक्तः। परिबृंहणार्थमित्यनेन लेखनार्थं क्रियमाणे निरूहेपरिबृंहणार्थमनुवासनं तदहः कर्तव्यमिति दर्शयति। अत एव कल्पनासिद्धावपि—"नरस्ततो निष्यनुवासनार्हः" (सि० अ० १) इत्यनेन तदहरनुवासनस्यावश्यकत्वमुक्तम्; जतूकर्णेऽप्युक्तम्—"जीर्णे सायं कृतान्नं च पुष्ट्यर्थमनुवासयेत्" इति। निरूहपादांशसमेन तैलेनेति निरूहपादप्रमाणेन, चतुर्विंशतिपले निरूहे षट्पलेन स्नेहेनेत्यर्थः; इयं चोत्तमामात्रामनुवासनस्य; उक्तं ह्यन्यत्र—"उत्तमा षट्पली प्रोक्ता मध्यमा त्रिपली भवेत्। कनीयसी सार्धपला त्रिधा मात्राऽनुवासने" इति; सुश्रुतेऽप्येतावन्मानमेव स्नेहस्यानुवासनमात्राबस्तिविभागेनानुवासने उक्तम्। स्नेहशीघ्रागमनरक्षार्थं विधानमाह—ईषदित्यादि। तच्च पादाङ्गुल्योत्तानदेहस्य मात्राशतं स्थापयित्वा कर्तव्यम्। निरूहे तु त्रिंशन्मात्राकालं यावदुत्तानस्य स्थापनं मन्यन्ते। युग्ममिति पर्वसन्धिः। आञ्छेदित्याकर्षेत्। निद्रामुपासीतेति वचनं क्रियान्तरस्य निषेधार्थम् ॥ चक्रपाणिः।

प्रत्यागत इति। अवयवप्रत्यागमनापेक्षया चेति। कोष्णजलावसिक्त इत्याह। प्रतिषेधार्थं मांसरसनिर्देशः पुनस्त्वन्नं न स्वरूपावधारणार्थम्। जीर्णे तु सायमिति। तु शब्दो विशेषार्थः। जीर्ण शब्दप्रयोगात्। प्राग्भुक्ते तु जीर्णे पुनस्त्वल्पमात्रं सायं भुक्ते त्वजीर्णेन भोज्यं किं तर्हि सायमनुवास्य एव परिबृंहणार्थमिति। उत्सर्गश्चायं निरपवाद इत्याचार्यः। सन्तर्पण-निरूहप्रयोग विषयोऽयमुत्सर्गो नापतर्पण विषयः परिबृंहणकारणोपदेशात्। यस्तु परिबृंहितः तत्र न प्रयोक्तव्य इति केचित्। प्रत्यागते सुखोदक परिषिक्तस्ततस्तस्मिनिरूहोपलेपे जीर्णे सायं शाल्यन्नमश्नात्। तदेवं स्वल्प सकृद्भक्तं परिबृंहणार्थमनुवास्यो भोजनकालद्वयसम्भवश्च बलिनिबर्हौ। अप्रच्युताजीर्णे तु निरूहोपलेपे प्रातर्भुक्तस्य न सम्भवोऽस्ति। जीर्णेऽपि वासनं चोभयमपि इष्टमेव भवतीति वैष्णवाः : तथाचोक्तं—"यदेनं भोजयित्वा द्रवाधिकम्। ज्वरं विदग्धभक्तस्य कुर्यात्स्नेह प्रयोजितः॥" इति। यदुक्तं स्नेहस्य च कामाक्रेति तदुच्यते। अनुवासनमात्रानियमार्थं निरूहपादांशमसमेन तैलेनेति निरूहस्य पादस्य एवं अनुवासने-त्रि प्रसृता-भवन्तीत्येके। अंशशब्दोऽर्धवचनः। तवांशोममांश इति। यथा तेन पाद-स्याधोंशोऽध्यर्धः प्रसृत इत्यपरे। अंश शब्दः चतुर्भागवचनोऽपि स्यादिति कृत्वा ततोऽध्यर्धपलः स्यादिति केचित्। स्नेहस्यांसंयुक्तं प्राक् शुद्धिनिमित्तं यन्निरुहानन्तरं इदं तु निरूहशुद्ध्यनपेक्षस्यानुवासनस्योक्तं, दत्वास्फिजेन पाणितलेनेत्यविरोधादुभयनिमित्तं वेत्यदोषः। मनः प्रतिषेधो यस्मात्तस्मात् पश्चात्कालानिषेध इति। अङ्गुष्ठगमङ्गुष्ठयुगलं, पादाङ्गुष्ठगमाच्छिदांच्छ-नममाकर्षणं पादतलयोश्च मार्जनमभिहनन हस्तस्पृष्टमत्रावयवेन पार्ष्ण्यादीना-मपि मर्दननियमार्थम्। गात्रशेषस्य तु वेदनाया सत्यामिति। निद्रोपासनमत्र यथाकालमप्रतिषिद्धं निद्राकालप्रतीक्षणं वा निद्रोपासनं यथा वास्य शयानस्येत्य स्वप्नोप्युचित एवान्यक्रिया निषिध्यते। अत्र निद्राशब्देन निषिध्योच्यत इति॥ जज्जटः।

ततः प्रणिहितस्नेह उत्तानो वाक्शतं भवेत्।
प्रसारितैः सर्वगात्रैस्तथा वीर्यं विसर्पति॥
ताडयेत्तलयोरेनं त्रीस्त्रीन् वाराञ्छनैः शनैः।
स्फिचोश्चैनं ततः शय्यां त्रीन् वारानुत्क्षिपेत्ततः॥
एवं प्रणिहिते बस्तौ मन्दायासोऽथ मन्दवाक्।
स्वास्तीर्णे शयने काममासीताचारिके रतः॥

सु० चि० ३७।६०-से२, वंगसेन, चक्रदत्तः, भावप्र०

ताड़येदित्यादि। तलयोः हस्तपादतलयोः, शनैः शनैस्त्रीन् त्रीन् वारान् हन्यात् स्नेहशीघ्रागमननिषेधार्थं स्फिचोश्चैनमिति ताडयेदिति सम्बन्धः। स्फिचोश्चेति चकारो भिन्नक्रमेः तेन ताडयेदित्यत्र द्रष्टव्यः। अतस्तलयो-

गृहीतत्वात् कूर्परे जानुनी चोत्क्षिपेदित्यनुक्तौ वृद्धवैद्यव्यवहारः शुद्धो भवति। शय्यामुत्क्षिपेदिति काष्ठफलकादिकृतां सहातुरेणोर्ध्वं नयेदित्यर्थः, 'शय्यास्थ-मातुरं स्फिग्देशे' इत्यन्ये। आसीताचारिके रत इति क्रोधादीन् वर्जयेदित्यर्थः। डल्हणः।

हि० व्या०—निरूह बस्ति की औषध वापस आ जाने पर सुखोष्ण जल से रोगी को स्नान कराकर पतले मांसरस के साथ शालि चावलों का भात खिलाना चाहिए। पूर्ण रूप से भोजन का पाचन हो आने पर सायंकाल में लघु और अल्पमात्रा में भोजन करने के पश्चात् बलवर्धन हेतु अम्ल (कांजी) और वातनशाक औषधियों से सिद्ध तैल से अनुवासन वस्ति देनी चाहिए। अनुवासन वस्ति में तैल (स्नेह) की मात्रा निरूहवस्ति से चतुर्थांश होनी चाहिए। अनुवासन वस्ति देने के पश्चात् हथेली से नितम्ब के ऊपर कुछ देर तक थपा-थपाना चाहिए। इस विधि से स्नेह का प्रयागमन शीघ्र नहीं होता। दोनों पैर की दो अंगुलियों को खींचना चाहिए। उत्तान सोए हुए उस व्यक्ति के पैर के तलवे, एड़ी, अंगुलियाँ एवं पिण्डिलिकाओं को तेल से मालिश करनी चाहिए। अन्य किसी अंग में भी यदि पीड़ा होती हो तो उस अंग में तैल लगाकर धीरे-धीरे मालिश करनी चाहिए। तत्पश्चात् तकिए के सहारे रोगी को शयन कराना चाहिए। आचार्य सुश्रुत ने शय्या (चारपाई) को तीन बार आराम से ऊपर उठाकर नीचे छोड़ देने का निर्देश किया है। अन्य आचार्यों ने सुश्रुत के पाठ का अनुकरण किया है।

सम्यक् अनुवासित लक्षणानि।

प्रत्येत्यसक्तं सशकृच्च तैलं
रक्तादिबुद्धीन्द्रिय संप्रसादः।
स्वप्नानुवृत्तिर्लघुता बलं च
सृष्टाश्च वेगाः स्वनुवासिते स्युः॥ च० सि० १।४४

असक्तमिति सङ्गं विना। रक्तादयो धातवः। स्वप्नानुवृत्तिर्निद्रानुवृत्तिः। सृष्टा इत्यबद्धाः। चक्रपाणिः।

सानिलः सपुरीषश्च स्नेहः प्रत्येति यस्य तु।
ओषचोषौ विना शीघ्रं स सम्यगनुवासितः॥

सु० चि० ३७।६७, वंगसेन, शार्ङ्गधर, चक्रदत्त, भावप्र०

यादृशः स्नेहः सम्यगनुवासितस्तमाह-सानिल इत्यादि। सपुरीषश्चेति चकारेण समूत्रश्चेत्यनुक्तं समुच्चीयते। प्रत्येति प्रत्यागच्छति। ओष ईषद्दाहः। चोष आक्रुष्यमाणस्येव दाहप्रकारः। गयी तु—ओषचोषौ विनेति दाहपिपासे विनेत्यर्थं इत्याह। शीघ्रमिति त्रिचतुरादियामात्। डल्हणः।

विशेषतस्तु सम्यगनुवासिते किञ्चित्कालं स्थित्वा स्नेहः सपुरीषोऽनिला-नुगतः प्रवर्तत इति॥ अ० सं० सू० २८।४६

किञ्चित्कालं स्थितो यश्च सपुरीषो निवर्तते ।
साऽनुलोमाऽनिलः स्नेहस्तत्सिद्धमनुवासनम् ॥

अ० हृ० सू० १९।४२

किञ्चिदल्पमात्रं कालं कोष्ठाभ्यंतरे स्थितः सन् सविट्कः सानुगुण पवनो निवर्तते निःसरति यः स एवं भूतः स्नेहस्तत्सिद्धमभिमतकार्यनुवासनम् । अरुणदत्तः ।

अविबन्धस्सवातश्च सपुरीषस्ससिध्यति । भे० सि० ५।२१
अग्निदीप्तिर्वयः स्थानं पुष्टिवर्णो धृतिर्बलम् ।
वातानुलोमता शान्तिः स्वनुवासितलक्षणम् ॥ का० सि० २।-
उत्क्लेशो ग्लानिरङ्गस्य सादः पर्वव्यथारुचिः ।
निरेति स्नेह संमिश्रं पुरीषं बहुशो मृदु ॥
ईषत्स्थौल्य भवेत्कुक्षिगुदबंक्षणबस्तिषु ।
स्निग्धस्यैतानि लिङ्गानि जानीयादनुवासने ॥ वङ्गसेन

हि० व्या० - **सम्यक् अनुवासन लक्षण**—समुचित रूप से अनुवासन होने पर मल के साथ स्नेह अवाध रूप से बाहर निकलता है । रक्तादि धातु, बुद्धि तथा इन्द्रियाँ स्वच्छ हो जाती हैं । समुचित रूप से निद्रा आने लगती है। शरीर में लघुता तथा बल की वृद्धि होती है । मल की प्रवृत्ति में कोई बाधा नहीं होती । इस प्रकार अनुवासन वस्ति के सम्यक् योग के ये लक्षण हैं । आचार्य सुश्रुत के अनुसार दाह और जलनरहित वायु और मल के साथ स्नेह शीघ्र वापस आ जाता है । आचार्य वाग्भट वंगसेन, भावमिश्र आदि का विचार भी सुश्रुत के समान है । आचार्य काश्यप के अनुसार—अग्नि का प्रदीप्त होना, आयु का स्थिर होना, पुष्टि वर्ण, धृति, बल का वर्धन, वातानुलोमन होना तथा रोग की शान्ति होना ये अनुवासन के सम्यग्योग के लक्षण हैं ।

अनुवासनबस्त्ययोग लक्षणम्

अधः शरीरोदरबाहुपृष्ठ-
पार्श्वेषु [1]रुग्रूक्षखरं च गात्रम् ।
प्रहर्षश्च विण्मूत्रसमीरणानाम-
सम्यगेतान्यनुवासितस्य ॥ च० सि० १।४५
विषादस्तृप्तिरुचिर..... ।
... ... ॥
विष्टम्भो गाढ़वर्चस्त्वं रोगवृद्धिर्विवर्णता ।
वेपथुर्वातवृद्धिश्च रूपं दुरनुवासिते ॥

का० सं० सि० २।-

१. रूक्षखरता चात्र शरीरस्यास्नेहनादेव । चक्रपाणिः ।

विष्टब्धानिल विण्मूत्रः स्नेहो हीनेऽनुवासने ।

सु० चि० ३७।६६ चक्रदत्त, वङ्गसेन

तस्य हीन सम्यगतियोगाः स्नेह पीतवत् । अ० सं० सू० २८।४६ क
सम्यग्धीनातियोगाश्च तस्य स्युः [1]स्नेहपीतवत् ।

अ० हृ० सू० १९।४१

हि० व्या०—आचार्य पुनर्वसु आत्रेय के अनुसार अनुवासन वस्ति की अयोगावस्था में शरीर के अधोभाग (उदर, बाहु, पीठ और पार्श्वभाग) में पीड़ा होती है । शरीर में रूक्षता और खरता होती है । मलमूत्र एवं वायु का स्तम्भ (रुकावट) होती है । आचार्य काश्यप के अनुसार, मलबन्ध, रोगों में वृद्धि, विवर्णता, कँपकँपी तथा वातवृद्धि आदि लक्षण होते हैं । आचार्य सुश्रुत ने वायु-मल एवं मूत्र का अवरोध होना लिखा है । आचार्य वाग्भट ने स्नेहपान के अयोग के समान लक्षण होना लिखा है ।

अनुवासनबस्त्यतियोग लक्षणम्

हृल्लासमोहक्लमसादमूर्च्छा
विकर्तिका चात्यनुवासितस्य ॥ च० सि० १।४६ क
[2]दाहज्वर पिपासार्तिकरश्चात्यानुवासने ।

सु० चि० ३७।६६, चक्रदत्तः, वङ्गसेन

अतिमात्रो तथानाह क्लमातीसारकारकौ । भावप्र०

हि० व्या०—अनुवासन वस्ति के अतियोग का लक्षण— पुनर्वसु आत्रेय के अनुसार अनुवासनवस्ति की अतियोगावस्था में जी मिचलाना, मोह, क्लम, शरीर शैथिल्य, मूर्च्छा, गुदा में कैंची से काटने जैसी पीड़ा होती है । आचार्य सुश्रुत के अनुसार—दाह, ज्वर, प्यास और अंगों में पीड़ा होती है । चक्रदत्त और वङ्गसेन में सुश्रुत का पाठ उद्धृत किया गया है । आचार्य भावमिश्र जी ने आनाह, क्लम एवं अतिसार होने के लक्षणों का निर्देश किया है ।

उचितानुवासनयुक्त स्नेहप्रत्यागमनकालः तत्र कर्तव्यता संकेतश्च

यस्येह यामाननुवर्तते त्रीन्
स्नेहो नरः स्यात् स विशुद्ध देहः ।
आश्वागतेऽन्यस्तु पुनर्विधेयः
स्नेहो न संस्नेह यति ह्यतिष्ठन् ॥ च० सि० १।४६।४७

उचित स्नेह प्रत्यागमनकालमाह – यस्येत्यादि । यामानिति प्रहरान् । स विशुद्धदेह इति स अनुवासनप्रयोगसम्यग्योगादनुवासनव्यापत्तिरहित इत्यर्थः ।

१. स्नेहपीतस्येव स्नेहपीतवत् । अरुणदत्तः ।
२. सुश्रुते-दाहक्लमप्रवाहार्ति, इति पाठभेदः । वङ्गसेने दाहक्लम इति पाठः ।

आश्वागते इति शीघ्रं प्रत्यागते, अन्यस्तु विधेय इति तदैवान्यः स्नेहो देयः। पुनः स्नेहदानोपपत्तिमाह—स्नेहो न संस्नेह्यति ह्यतिष्ठन्निति ॥ चक्रपाणिः।

निवृत्तिकालः परमस्त्रयो यामास्ततः परम्।
अहोरात्रमुपेक्षेत् परतः फलवर्तिभिः।
तीक्ष्णैर्वा बस्तिभिः कुर्याद्यत्नं स्नेहनिवृत्तये ॥

अ० हृ० सू० १९।२३

स्नेहस्य त्रयः प्रहराः परो निवृत्तिकालः। ततः प्रहरत्रयात् परतो रात्रिदिवमुपेक्षेत्। न तदाकृष्ट्यै यत्नं कुर्यात्। परतोऽहोरात्रात्फलवर्तिभिरशैश्चिकित्सितोक्ताभिरथवा तीक्ष्णैर्बस्तिकल्पोक्तैर्बस्तिभिः स्नेहागमनार्थं यतेत। अरुणदत्तः।

त्रीण्यस्य यामाननुवर्तते च।
स्नेहो नरः स्यात्स विशुद्ध देहः ॥ वङ्गसेन
अथवा यस्य तत्कालं स्नेहो निर्याति केवलः।
तस्याप्यल्पतरो देयो नहि स्निग्धेऽवतिष्ठति ॥ भावप्र०

हि० व्या०—**उचित स्नेह प्रत्यागमनकाल**—

अनुवासन बस्ति में प्रयुक्त स्नेह शरीर के अन्दर तीन पहर अर्थात् नौ घंटे रहकर निकलता है तो उससे शरीर की पूर्ण शुद्धि हो जाती है। उस व्यक्ति को अयोग या अतियोग का कोई भय नहीं रहता। यदि स्नेह शीघ्र ही बाहर निकल आवे तो पुनः अनुवासन देनी चाहिए। क्योंकि शरीर में स्नेह के न ठहरने से स्नेहन भी नहीं होता। आचार्य वाग्भट ने भी इसी आशय का समर्थन किया है।

सोपद्रवस्य अहोरात्रादनन्तरं शोधनम्

अनायान्तं त्वहोरात्रात् स्नेहं संशोधनैर्हरेत्।
स्नेहबस्तावनायाते नान्यः स्नेहो विधीयते ॥

सु० चि० ३७।९९ भावप्र०, शा० सं० उ० ५।९, चक्रदत्तः, वंगसेन

अनायान्तमित्यादि। सोपद्रवं तु स्नेहमहोरात्रानदागच्छन्तं हरेत् निर्हरेच्छोधनैरेव बस्तिभिः। स्नेहबस्तावनायाते इत्यादि। अनायाते सोपद्रव स्नेहे निरूहबस्तिरेव शोधनार्थं दीयते, नेतर इत्यर्थः। डल्हणः।

हि० व्या०—चौबीस घंटे की प्रतीक्षा के बाद भी यदि स्नेह प्रत्यागमन नहीं हो तो संशोधन औषधियों से निर्हरण करना चाहिए। स्नेह प्रत्यागमन नहीं होने पर पुनः स्नेहबस्ति का प्रयोग नहीं किया जाता है।

अहोरात्रादपि प्रत्यागतः स्नेहबस्तिः न दोषकरः

अहोरात्रादपि स्नेहः प्रत्यागच्छन्न दुष्यति।
कुर्याद्बस्तिगुणांश्चापि जीर्णस्त्वल्पगुणो भवेत् ॥

स्नेहस्तु अष्टभिः कारणैर्न निवर्तत इति अनिवृत्तिव्यापदुक्ता, तत् कियतः कालादित्याह—अहोरात्रादित्यादि। अपिशब्दात्त्रिचतुरादियामनिवृत्तिस्तावन्न

दुष्यत्येवाहोरात्रादपीत्यपिशब्दार्थः। न दुष्यति न दोषं करोति, न व्यापद्यत इत्यर्थः।

हि० व्या०—दिन-रात (२४ घंटे) में स्नेह वापस नहीं होने से किसी प्रकार का उपद्रव नहीं करता किंतु वस्ति के गुणों का वर्धन करता है। पच जाने पर अल्प गुणकारी होता है।

स्नेहबस्तौ कोष्ठरूक्षताजन्य लक्षणानि तदुपक्रमश्च

यस्य नोपद्रवः कुर्यात् स्नेहवस्तिरनिःसृतः।
सर्वोऽल्पो वाऽऽवृतो रौक्ष्यादुपेक्ष्यः स विजानता ॥

च० सि० ४।४१, सु० चि० ३७।९८, भावप्र०, चक्रदत्त, वंगसेन

नोपद्रवं कुर्यादिति अनिः सृतोऽपि स्तम्भरुगादीनूर्ध्वोक्तान्न कुर्यात्। अल्पो वाऽऽवृत इति स्तोकनिःसृतः, स्तोकश्च वृतः। वृतस्यापि स्तम्भाद्युपद्रवाकरणे हेतुमाह रौक्ष्यादिति। तथाऽत्यर्थं रूक्षतया शरीरस्य तिष्ठन्नपि स्नेहो न व्यापदमावहतीत्यर्थः। उपेक्ष्य इति न तत्र यथोक्तवातावृतस्नेहचिकित्सा कर्तव्येत्यर्थः। अन्यत्राप्युक्तं—"अहोरात्रादपि स्नेहः प्रत्यागच्छन्न दुष्यति। कुर्याद्बस्ति गुणांश्चापि जीर्णस्त्वल्पगुणो भवेत्"—इति (सु० चि० ३७)

चक्रपाणिः।

उपद्रवो रोगजः रोगान्तरकालजः अवस्थायाः पश्चाज्जायते। स्तम्भादिरित्येतन्न। कुर्यात्तिष्ठन्नपि स्नेहो यदाल्पो वा नावृतत्वाद्रूक्षत्वादिना गच्छन्निर्दोषश्च भवेत्। तदोपेक्ष्य एव। अन्ये यथा चोक्तं—"अहोरात्रादपि स्नेहः"। (सु० चि० ३७) इति जज्जटः।

आवृतो रौक्ष्यादिति आभ्यां वाऽशब्दः प्रत्येकं संबन्धनीयः; तेनावृतो वा रौक्ष्याद्वा स्नेहवस्तिरनिः सृत इति संबन्धनीयम्। तत्रावृतो दोषत्रयेण, अत्यशनेन, मलसंचयेन वेत्यर्थः। रौक्ष्यादित्यनेन दूरानुसृतो अस्विन्नस्याल्पं भुक्तवतोऽल्पश्चेति त्रितयमपि गृहीतम्, एषु त्रिष्वप्यतिरौक्ष्येण वायुरेव विधारयतीति; एवमष्टौ व्यापदो गृहीताः। उपेक्ष्यः उपेक्षणीयः, तदाऽऽकृष्ट्यां यत्नं न कुर्यादित्यर्थः। डल्हणः।

अतिरौक्ष्यादनागच्छन्न चेज्जाड्यादि दोषकृत्।
उपेक्षेतैव हि ततोऽध्युषितश्च निशां पिबेत् ॥
प्रातर्नागरधान्याभ्यः कोष्णं केवलमेव वा ॥ अ०हृ०सू० १९।२४

अतिरौक्ष्यादनागच्छन् स्नेहो यदि जाड्याग्निसादादिदोषान्न विधत्ते तदोपेक्षेतैव न निष्काशने यतेतेत्यर्थः। ततो निशां रात्रिमध्युषितः पुमान् प्रातः प्रभाते शुंठीधान्याम्बु कदुष्णं पिबेत्। केवलमेव वा नागरधान्याकरहितं कोष्णं जलं पिबेत् ॥ अरुणदत्तः।

हि० व्या०——जिस व्यक्ति को स्नेहबस्ति देने पर स्नेह वापस न आए और किसी प्रकार का उपद्रव उत्पन्न नहीं करे तो उसकी उपेक्षा करनी

चाहिए। रूक्षता के कारण स्नेह का प्रत्यागमन नहीं होता है। आचार्य वाग्भट के अनुसार ऐसी अवस्था में प्रातःकाल सोंठ एवं धनियें का उष्ण जल पिलाना चाहिए अथवा मात्र उष्ण जल का सेवन कराना चाहिए।

अनुवासनद्रव्यस्य सत्वर प्रत्यावर्तने कारणसंकेतः तत्र उपक्रमश्च

यस्यानुवासनो दत्तः शकृदन्वक्षमाव्रजेत्।
अत्यौष्ण्यादतितैक्ष्ण्याद्वा वायुना वा प्रपीडितः॥
सवातोऽधिकमात्रो वा गुरुत्वाद्वा सभेषजः।
तस्यान्योऽल्पतरो देयो न हि स्निह्यत्यतिष्ठति॥

सु० चि० ३७।६४-६५, वंगसेन

यस्येत्यादि। सकृत् एकवारम्। अक्षस्य यन्त्रस्यानुपश्चादन्वक्षम्। आव्रजेत् आगच्छेत्। कुतः! अत्यौष्ण्यात् उष्णगुणातिरेकात् अति तीक्ष्णैः संस्कारकद्रव्यैरहितात्। अनुच्छ्वास्य बन्धनात् वायुना प्रपीडितः सवातो बस्तिः स्यात्; अतिमात्रोऽतिभेषजाश्च गुरुत्वात्। तस्यान्योऽल्पतर इति अन्योऽत्यौष्ण्यादिगुणविपरीतः, अल्पतरः प्राचीनमात्रातः, प्रथमस्नेहेनैव किञ्चित्स्निग्धत्वात्। कुतः पुनरपि देय इत्याह—न हि स्निह्यत्यतिष्ठतीति; हि यतोऽतिष्ठति स्नेहे न स्निह्यति नरः। डल्हणः।

हि० व्या०—अति उष्णता, अति तीक्ष्ण, वायु का दवाव, वायु युक्त, मात्राधीक्य, गुरु औषध के साथ, इन कारणों से अनुवासन बस्ति तुरन्त वापस आ जाती है। ऐसी अवस्था में पुनः अनुवासन बस्ति देनी चाहिए क्योंकि स्नेह के शरीर (पक्वाशय) में नहीं ठहरने से स्निग्धता नहीं आती और अनुवासन का कोई फल नहीं मिलता।

स्नेह व्यापत्ति विज्ञानोपक्रमः

स्नेहवस्तीन् निबोधेमान् वातपित्तकफापहान्।
मिथ्या प्रणिहितानां च व्यापदः सचिकित्सिताः॥ च० सि० ४।३
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि व्यापदः स्नेह बस्तिजाः।
बलवन्तो यदा दोषाः कोष्ठे स्युरनिलादयः॥
अल्पवीर्यं तदा स्नेहमभिभूय पृथग्विधान्।
कुर्वन्त्युपद्रवान् स्नेहः स चापि न निवर्तते॥ सु० चि० ३७।८२

हि० व्या०—वातपित्तकफ जन्य विकारों को दूर करने वाली स्नेहवस्ति (अनुवासन) का अब वर्णन किया जा रहा है तथा अविधि से प्रयोग करने पर अनुवासन वस्ति से होने वाले उपद्रवों एवं उसकी चिकित्सा का भी वर्णन किया जा रहा है।

आचार्य सुश्रुत के अनुसार जब कोष्ठ में वायु, पित्त, कफ दोष बलवान् होते हैं तब अल्प वीर्य स्नेह को पराजित करके अलग-अलग उपद्रव उत्पन्न

करते हैं तथा स्नेह वापस नहीं आता है।

स्नेहबस्ति व्यापत् संख्या

वातपित्तकफात्यन्न पुरीषैरावृतस्य च।
अभुक्ते च प्रणीतस्य स्नेहबस्तेः षडापदः॥ च० सि० ४।२४

वातपित्तेत्यादिना स्नेहबस्तेर्व्यापदः प्राह। एताश्च व्यापदो मिथ्या योगेन स्नेहस्य क्षियमाणा उच्यन्ते; प्रतिज्ञातं हि 'मिथ्याप्रणिहितानां च व्यापद इति', तेना स्नेहायोगातियोगजन्यव्यापदामिहानवशर एव; अनुवासनयोगातियोगजन्याश्च व्यापदः कल्पनासिद्धावेवोक्ताः; तद्भेजम चाति स्नेहिते शोधन बस्तिः, अस्नेहिते तुनः स्नेहवस्तिदानमेव ज्ञेयम्। एतच्च "तस्मान्निरूढः संस्नेहवस्तिदानमेव ज्ञेयम्। एतच्च "तस्मान्निरूढः संस्नेहयो निरूहश्चानुवासितः" इत्यादिनोक्तत्वात् प्रसङ्गेनेहोक्तम्। चक्रपाणिः।

वातपित्तकफात्यन्नपुरीषैरावृतस्य चेति। आवृतानावृतमात्रनिर्देशाद् द्वित्वं स्यात्। निमित्तपरिसंख्यानात्तु व्यापदां षट्त्वमिति क्षारपाणीय (वचनाद्) व्यापद् द्वयमतिप्रविष्टोऽतिवाहयश्चेति संप्रणेतृदोषाद्वस्तेर्दोष इति न तयोरिहाभिधानमिति। जज्जटः।

स्नेहबस्तौ मरुत्पित्तकफात्याशविडावृते।
अभुक्ते शूनपाय्वामदत्तेऽष्टौ व्यापदः स्मृताः॥ अ० सं० क० ७।-

स्नेहबस्तौ मरुदादिपञ्चकफावृते अभुक्तादिद्वयदत्ते चेत्यष्टधा स्नेहबस्तेर्व्यापदः। अत्याशोऽतिभोजनम्। इन्दुः।

हि० व्या०—आचार्य चरक ने अनुवासन बस्ति में छः प्रकार की व्यापत्तियों का निर्देश किया है। वातज, पित्तज, कफज, अत्यधिक भोजन, पुरीष का संचय तथा रिक्त कोष्ठ में स्नेहबस्ति का प्रयोग करना : आचार्य वाग्भट ने इस सन्दर्भ में आठ व्यापत्तियों की गणना की है। उनके विचारसे शूनपायु और आम के संसर्ग से दो व्यापत्तियाँ और अधिक होती हैं। इस प्रकार उन्होंने आठ व्यापत्तियों का निर्देश किया है।

स्नेहबस्तौ कोष्ठरूक्षताजन्य लक्षणानि तदुपक्रमश्च

शीतोऽल्पो वाऽधिके वातेऽत्युष्णः कफे मृदुः।
अतिभुक्ते गुरुर्वर्चः संचयेऽल्पबलस्तथा॥
दत्तस्तैरावृतः स्नेहो न यात्यभिभवादपि।
अभुक्तेऽनावृतत्वाच्च यात्यूर्ध्वं तस्य लक्षणम्॥

च० सि० ४।२३, अ० सं० क० ७, अ० हृ० क० ५।

यथाक्रमं षड्व्यापदां हेतुमाह-शीत इत्यादि। गुरुरिति गुरुत्व युक्तः। वर्चः संचयेऽल्पबल इति संचिते मले सति अल्पबलो वर्चः संचय प्रवर्तनाक्षम इत्यर्थः। तैरावृत इति पदं प्रत्येकं वातादिषु पञ्चसु योजनीयम्। अभिभवाद पीति वातादिनाऽऽवृतमार्गत्वाच्च याति, तथा तेन वातादिनोल्वणेनाभिभूतगुण-

त्वाच्च न आयाति। अनावृतत्वादिति अन्नेनोर्ध्वमार्गस्यापिहितत्वात्। तस्य लक्षण मिति यथाक्रमं वाताद्यावृतस्य लक्षणं वक्ष्यमाणमङ्गमर्दादि, वेष्टनैरिति पार्श्ववेष्टनैरेव। एते च स्तम्भादयो बातावृतस्नेहमहिम्नैरेव। एते थ स्तम्भादयो वातावृतस्नेहमहिम्नैव जायन्ते, तेन स्नेह प्रयोगात् पूर्वं न भवन्त्येव। चक्रपाणि० शीतोल्पो वाधिके वातेऽत्यर्थंकुपितेवाते अल्पो वा शीतो वा तन्वल्पशीतश्च। तदुभयगुणयुक्तो (लेख) नाख्योबस्तिर्व्यापद्यते। पित्तेऽत्युष्टाः अधिके पित्तेऽत्युष्णः प्रयुक्तः। मृदुरित्यतीक्ष्णः। अतिभुक्ते गुरुरिति बहुः प्रभूत इत्यर्थः। यथा गुरु चातर्पणं दृष्टमिति। उक्तं च "बहु (मात्रे चाम) वाते द्रव्ये प्राकृतकर्मणि स्वजातिविप्रकर्षे च कृच्छ्रादिषु गुरुहूण (?) एव वा स्नेही गुरुरिष्टः। वर्चेससञ्चय इति बहुमले शरीरे। अल्पवीर्यः स्नेहस्तन्निर्हरणासमर्थ इति। दत्तस्तै। (आवृतः स्नेहो न याति।) अथोदितस्नेहः प्रयुक्तो वातादिभिरावृतो न प्रत्यागच्छतीति। अभिभवाच्च नायात्यभिभूतत्वादित्यर्थः। आवृताभिभवौ परस्परकारणं वातादिकारणकाविति। अभुक्तत्वेनावृतत्वाच्चेति। अननुवास्योक्तत्वात्तदभिधान सर्वेषां वा तेषां प्रसङ्ग इति। अनागच्छति स्नेहस्य व्यापदिष्यते। न च तेषु नवज्वरादिष्वप्रत्यागते विकारक्रमः। किं तर्हि, प्रत्यागतेऽपीति। उभयधर्मकत्वाच्चास्य तत्राभिधान प्रसङ्गेनेष्टत्वादिह च व्यापन्निमित्तत्वेन वाच्यत्वादिति। अनावृतत्वे हेतोरुपदेशोऽन्यकारणप्रतिषेधार्थः। तथा च स्नेहविशेषावचनमनेनवोक्तत्वात्। प्रकृत एव वा विशिष्टस्नेहलवणनिर्देशश्च। चिकित्सितादत्र गृहीतो विनाभावित्वात्। न हि निदानलक्षणे अपरिज्ञाय चिकित्सितमस्तीति। तस्य लक्षणं, स्तम्भोरुसदनाध्मानादिति। अल्पशीतो वा स्नेहोऽधिकस्य वायोश्शमनाय माभून्नतु तत्प्रकोपनार्थो भवति। न च सत् शमनादीनि करोति। अथवाधिक्यात्ततः प्रागेव सावधिकः किं न तान्करोति। न च प्रागभिनिर्वृत्तेषु तेषु वातावृतः स्नेहलक्षणमेतदुक्तम्। अनुवासनोत्तरकालं विशेषलक्षणं तत्स्यादिति। उच्यते। ततः स्नेहेऽबले तन्निहरणासमर्थः। तेन पुनरपरः सायं प्राप्त्यास्थापयति। येनासावनिलस्तमादिलक्षणस्तत एवं सर्वेष्वेव वाच्यमिति॥

हि० व्या०—(१) वाताधिक्य में शीतल या अल्पमात्रा में स्नेह मिश्रित अनुवासन बस्तिदेने से,

(२) पित्ताधिक्य में अत्यन्त उष्ण अनुवासन बस्ति,

(३) कफाधिक्य में मृदु अनुवासन बस्ति,

(४) अधिक भोजन करने पर गुरु अनुवासन बस्ति

(५) मलाशय में मलसंचय होने पर अल्पबल वाली अनुवासन बस्ति देने से अन्दर रुका हुआ स्नेह बाहर नहीं निकल पाता अथवा बढ़ जाने से स्नेह का गुण दब जाता है। बिना भोजन किए हुए (रिक्त कोष्ठ में) अनुवासन बस्ति देने से वह उपर की ओर (मुख में) आ जाती है क्योंकि उसके स्रोत खुले रहते हैं। इन कारणों से वह गुदा द्वारा बाहर नहीं आ पाता।

वातावृत स्नेहव्यापत् लक्षणम्।

अङ्गमर्दज्वराध्मानशीतस्तम्भोरुपीडनैः।
पार्श्वरुग्वेष्टनैर्विद्यात् स्नेहं वातावृतंभिषग्॥ च० सि०४।२८
तत्र वाताभिभूते तु स्नेहे मुख कषायता।
जृम्भा वातरुजस्तास्ता वेपथुर्विषमज्वरः॥ सु० चि० २७।८३
स्तम्भोरुसदनाध्मानज्वरशूलाङ्गमर्दनैः।
पार्श्वरुग्वेष्टनैर्विद्यात् वायुना स्नेहमावृतम्॥
अ० सं० क० ७। अ० हृ० क० ५

हि० व्या०—स्नेह बस्ति वायु से आवृत होकर जब बाहर नहीं आती तो अङ्गमर्द, ज्वर, आध्मान, शीत लगना, शरीर में जकड़ाहट, उरु प्रदेश में पीड़ा पार्श्वशूल और अङ्गों में पीड़ा होती है। इन लक्षणों की विद्यमानता में चिकित्सक को वातावृत स्नेहबस्ति का लक्षण समझना चाहिए।

आचार्य सुश्रुत के अनुसार वातावृत स्नेह बस्ति में मुख में कषैलापन जम्भाई, वातजन्यपीड़ा, कम्प, विषमज्वर आदि लक्षण होते हैं। आचार्य वाग्भट ने चरक के पाठ में परिवर्तन कर उसी भाव का समर्थन किया है।

वातावृत स्नेह व्यापत् चिकित्सा

स्निग्धाम्ललवणोष्णैस्तं रास्नापीतद्रुतिल्वकैः।
सौवीरकसुराकोलकुलत्थयवसाधितैः॥
निरूहैर्निर्हरेत् सम्यक् समूत्रैः पाञ्चमूलिकैः।
ताभ्यामेव च तैलाभ्यां सायं भुक्तेऽनुवासयेत्॥
च० सि० ४।२८-३०, अ० सं० क० ७। अ० हृ० क० ५।३१-३२
तत्र दोषाभिभूते तु स्नेहे बस्ति निधापयेत्।
यथास्वं दोषशमनान्युपयोज्यानि यानि च॥ सु० चि० ३७।८६

रास्ना तैलं "रास्नासहस्रनिर्यूह" (चि० अ० २८) इत्यादिना विहितं वातव्याधावुक्तम्। पीतद्रुतैलं च पीतद्रुसौवीरकादिद्रवेण साध्यमिति वुवते। ताभ्यामिति रास्ना पीतद्रुतैलाभ्याम्। चक्रपाणिः।

ताभ्यामेव च तैलाभ्यामिति। रास्नापीतद्रुतैलाभ्यां, रास्नासहस्रनिर्यूहे तैलं पाचयेदित्यादि। पीतद्रुः पीतदारु। तेन सौवीरकादिभिरुक्तैस्सह प्रीतद्रुणस्तु रास्नावत् बहुत्वमिति। अन्यैरप्युक्तं ··· ···कुलतैलसौवीरकद्विपञ्चमूली कषायं पयसरसेन। स्निग्धाम्ललवणैर्युक्तमास्थापनं तेष्वेव सिद्धम्। भद्रदारु मांसी कुष्ठतगरशतपुष्पादिभिर्वातहरैरिदं च पीतदारुतैलमनुवासनमिति। जज्जटः।

हि० व्या०—**वातावृत स्नेह चिकित्सा**—स्निग्ध, अम्ल, लवण, उष्ण

तथा रास्ना तैल, सरल तैल से युक्त सौवीरक, सुरा, बेर, कुलथी, जौ के द्वारा निरूहणबस्ति बनाकर अथवा पञ्चमूल क्वाथ में गोमूत्र मिलाकर निरूहणबस्ति देकर वातावृत स्नेह को बाहर निकालना चाहिए। सायंकाल रास्ना तैल या सरल तैल का अनुवासनवस्ति देना चाहिए। मध्याह्न में अनुवासन से पूर्व भोजन देना चाहिए। आचार्य सुश्रुत के अनुसार दोषावृत स्नेह में दोषों के अनुसार निरूहणबस्ति देना चाहिए एवं दोषशामक चिकित्सा करनी चाहिए।

स्नेहबस्ति पित्तावरण लक्षणानि चिकित्सा च

दाहरागतृषामोहतमकज्वरदूषणैः।
विद्यात् पित्तावृतं स्वादुतिक्तस्तं बस्तिभिर्हरेत् ॥
च० सि० ४।३२ अ० सं० क० ७।४ अ० हृ० क० ५।३३-३४

पित्ताभिभूते स्नेहे तु मुखस्य कटुता भवेत्।
दाहस्तृष्णा ज्वरः स्वेदो नेत्रमूत्राङ्गपीतता ॥ सु० चि० ३७।८४

हि० व्या०—पित्तावृतस्नेह लक्षण एवं चिकित्सा से आवृत स्नेह में दाह, लालिमा, प्यास, मोह, तमक श्वास, ज्वर आदि उपद्रव उत्पन्न करता है। मधुर एवं तिक्तरस युक्त द्रव्यों से कलितबस्ति (निरूह) द्वारा पित्तावृत स्नेह का निर्हरण करना चाहिए। आचार्य सुश्रुत ने चरक के अतिरिक्त मुख में कटुता, स्वेदनिर्गम, (पसीना आना), नेत्र-मूत्र और अङ्गों में पीलापन होना ये विशेष लक्षण लिखा है। इस सन्दर्भ में आचार्य वाग्भट ने चरक के पाठ का अक्षरशः उल्लेख किया है।

स्नेहबस्ति कफावरण लक्षणानि तत्र चिकित्सा च

तन्द्राशीतज्वरालस्यप्रसेकारुचि गौरवैः।
संमूर्च्छाग्लानिभिर्विद्याच्छ्लेष्मास्नेहमावृतम् ॥
कषायकटुतीक्ष्णोष्णैः सुरामूत्रोपसाधितैः।
फलतैलयुतैः साम्लैर्बस्तिभिस्तं विनिर्हरेत् ॥
च० सि० ४।३सु-३३ अ० सं० क० ७।५ अ० हृ० क० ५।३४-३६

हि० व्या०—कफावृतस्नेहलक्षण एवं चिकित्सा—अनुवासनबस्ति का स्नेह कफ से आवृत होने पर तंद्रा, शीत-ज्वर, आलस्य, मुख से कफ का स्राव, अरुचि, शरीर में गुरुता, मूर्च्छा एवं ग्लानि आदि लक्षण उत्पन्न होता है। इन लक्षणों से कफावृत स्नेह समझना चाहिए। आचार्य सुश्रुत ने चरक के अतिरिक्त मुख माधुर्य, वमन होना तथा श्वास कष्ट ये विशेष लक्षण लिखे हैं। आचार्य वाग्भट ने चरक के पाठ का अनुमोदन किया है। चिकित्सा-कषाय, कटु, तीक्ष्ण और उष्णद्रव्य, सुरा एवं मूत्र से सिद्ध तैल में मदनफल कल्क, मिलाकर निरूह बस्ति से निर्हरण करना चाहिए।

अन्नावृत स्नेहबस्ति व्यापत् लक्षणं तत्र चिकित्सा च

छर्दिमूर्च्छारुचिग्लानिशूलनिद्राङ्गमर्दनैः।
आमलिङ्गैः सदाहैस्तं विद्यादन्नशनावृतम् ॥
कटूनां लवणानां च क्वाथैश्चूर्णैश्च पाचनम्।
विरेको मृदुरत्रामविहिता च क्रिया हिता ॥
च० सि० ४।३४-३५ अ० सं० क० ७।७ अ० हृ० क० ५।३६-३८

आमलिङ्गैरिति आमलक्षणैरालस्यादिभिः। आमविहिता क्रियेति "आमं प्रदुष्टमन्नाभिभूतं पुनरुल्लिखेत्" (वि० अ० २) इत्यादिना विहिताऽनुसर्तव्या। चक्रपा०।

आमलिङ्गैस्सदाहैरिति। छर्दिमूर्च्छादिभिरेव आमलक्षणभूतैः सविष्टम्भ-प्रसेकातिविदाहारुचिगौरवैरामलिङ्गैरतिग्लान्यादिभिश्च आमालिङ्गैश्चेति। आमलिङ्गेष्वरुचिरिहारतिरिति। पादात्कटूनांक्वाथैर्लवणानां चूर्णैः। अथवा उभयमुभयेषां पाचनाय, 'पाचनं शस्यते वस्तिरामे तु प्रतिषिध्यते। इति विरेको-ऽत्र न बस्तिरिति। जज्जटः।

अत्याशितेऽन्नाभिभवात् स्नेहो नैति यदा तदा।
गुरुरामाशयः शूलं वायोश्चाप्रतिसंचरः ॥
हृत्पीडा मुखवैरस्यं श्वासो मूर्च्छा भ्रमोऽरुचिः।
तत्रापतर्पणस्यान्ते दीपनो विधिरिष्यते ॥ सु० चि० ३७

हि० व्या०—अन्नावृत स्नेह बस्ति का लक्षण एवं चिकित्सा—अन्नावृत स्नेहबस्ति में वमन, शूर्च्छा, अरुचि, ग्लानि, उदरशूल, निद्राधीक्य, अङ्गमर्द और आमदोष प्रभृति लक्षण होते हैं। इसमें कटु और लवणद्रव्यमिश्रित क्वाथ एवं चूर्ण से पाचन (आमपाचन) क्रिया करनी चाहिए। मृदु विरेचन कराना चाहिए। आचार्य सुश्रुत के अनुसार आमाशय में भारीपन, शूल, वायु का अवरोध, हृदय भ्रम, अरुचि आदि लक्षण उत्पन्न होता है। इसमें अपतर्पण चिकित्सा के पश्चात् दीपन चिकित्सा करनी चाहिए।

विडावृत स्नेहबस्ति लक्षणं चिकित्सा च

विण्मूत्रानिलसङ्गातिगुरुत्वाध्मानहृद्ग्रहैः।
स्नेहं विडावृतं ज्ञात्वा स्नेहस्वेदैः सवर्तिभिः ॥
श्यामाबिल्वादिसिद्धैश्च निरूहैः सानुवासनैः।
निर्हरेद्विधिना सम्यगुदावर्तहरेण च ॥
च० सि० ४।३६-३७ अ० सं० क० ७।- अ० हृ० क० ५।-

वर्तिभिरिति फलवर्तिभिः, केचित्तु 'बस्तिभिः' इति पठन्ति। श्यामाबिल्वा-दीनि च श्यामा च विल्वादीनि दशमूलानि च श्यामाबिल्वादीनि; किं वा,

श्यामादीन्यप्यत्र कल्पोक्तानि नव गृह्यन्ते; तैर्निरूहस्य तथाऽनुवासनस्य च साधनमिह ज्ञेयम्। उदावर्तहरेणेति। त्रिमर्मीयोक्तौदावर्तचिकित्सितेन।

चक्रपाणिः।

विण्मूत्रानिलसङ्घातेति इति स्नेहस्वेदैः स बस्तिभिः। श्यामाबिल्वादिसिद्धैश्च निरूहैस्सानुवासनैः।" बस्तिभिरिति। निरूहानुवासनानां भेषजानां कृत आस्थापनो बस्तिसंज्ञाऽत्र। एवं ह्युक्तं—'विरेचनैर्निरूहैश्च वस्तिभिश्चानुलोमिकैः। इति। श्यामादिसिद्धैः। "श्यामा च त्रिवृता चैव तथा दन्ती द्रवन्त्यपि। चत्वारो मूत्रसिद्धास्ते पक्वाशयविशोधनाः॥' इति। तथा बिल्वादिरपि—"बिल्वादिश्च निरूहस्यात् पीलुसर्षपमूत्रवान्॥" इति। स पुनर्बिल्वाग्निमन्थकाश्मर्यश्योनाकः पाटलिस्तथा। यावत्स्थिरा चैते त्रयोनिल इति बस्तिरेवेत्येके वदन्ति। वर्तिभिः फलवर्तिभिरित्यर्थः॥ जज्जटः।

[1]अशुद्धस्य मलोन्मिश्रः स्नेहो नेति यदा पुनः।
तदाङ्गसदनाध्माने श्वासः शूलं च जायते॥
पक्वाशय गुरुत्वं च तत्र दद्यान्निरूहणम्।
तीक्ष्णं तीक्ष्णौषधैरेव सिद्धं चाप्यनुवासनम्॥

सु० चि० ३७।८९-९० चक्रदत्त वंगसेन

... ...तत्र दद्यान्निरूहणम्।
तीक्ष्णं तीक्ष्णौषधैर्युक्तं फलवर्तिमथापि वा॥
यथानुलोमनो वायुर्मलः स्निग्धश्च जायते।
तथा विरेचनं दद्यात्तीक्ष्णं नस्यं च शस्यते॥ भावप्र०

हि० व्या०—मल से आवृत अनुवासन (स्नेह) बस्ति का लक्षण एवं चिकित्सा—मल से आवृत होने पर मल, मूत्र एवं अपानवायु का अवरोध, शूल, गुरुता, आध्मान एवं हृदय में जकड़ाहट आदि लक्षण होता है। ऐसी अवस्था में स्नेहन, स्वेदन और फलवर्त्ति द्वारा तथा काली निशोथ, बिल्वादि-पञ्चमूल, दशमूल से सिद्ध निरूहवस्ति या अनुवासनवस्ति के द्वारा निर्हरण करना चाहिए। उदावर्त रोगाधिकार की चि० करनी चाहिए। अन्य आचार्यों के विचार भी समान है। आचार्य सुश्रुत ने तीक्ष्ण औषधियों द्वारा निरूह या अनुवासन देने का निर्देश किया है। आचार्य भावमिश्र जी ने तीक्ष्णनस्य देने का भी विचार व्यक्त किया है।

---

१. अशुद्धस्य अकृत विरेचन निरूहस्य इति डल्हणः।
विण्मूत्रादिभिर्विडावृतं स्नेहं विदित्वा स्नेहादिभिस्ता श्यामाभिः सिद्धैर्निरूहैरनुवासनैश्च तथोदावर्तहरेणविधिना सम्यग् निगिर्हरेत्। अरुणदत्तः।

स्नेहबस्तेः ऊर्ध्वगमन लक्षणानि तच्चिकित्सा च।

अभुक्ते शून्यपायौ वा वेगात् स्नेहोऽति पीडितः।
धावत्यूर्ध्वं ततः कण्ठादूर्ध्वेभ्यः खेभ्य एत्यपि॥
मूत्रश्यामात्रिवृत्सिद्धो यवकोलकुलत्थवान्।
तत्सिद्धतैल इष्टोऽत्र निरूहः सानुवासनः॥
कण्ठादागच्छतः स्तम्भकण्ठग्रहविरेचनैः।
छर्दिघ्नीभिः क्रियाभिश्च तस्य कार्यं निवर्तनम्॥

च० सि० ४।३८-४०, अ० सं० क० ७।१०-१२, अ० हृ०क० ५।४०-४३

अभुक्त इत्यादि हेतु त्रयं स्नेहबस्तेरूर्ध्वगमनकारणं ज्ञेयं; पूर्वं च यद्यप्यभोजनदानमेवकारणं प्रतिश्रुतं, तथाप्येव कार्यतया चिकित्सितसामान्यच्च शून्यपायुत्वातिपीडने अप्यत्र हेतुत्वेनोक्ते। शून्यपायुत्वं चाधोनिरोधाकर्तृतया स्नेहमूर्ध्वं नयति। ऊर्ध्वेभ्यः खेभ्य इति मुखनासादिभ्यः। एतीति निर्गच्छति। अपिशब्दान्मुखादिनिर्गमनस्य कादाचित्कत्वं दर्शयति। तत्सिद्धतैल इति मूत्रश्यामादिसाधिततैलेन युक्तः। सानुवासन इति सिद्धतैलेन चानुवासनं देयम्। आगच्छत इत्यगमनसमय एव स्तम्भादि कर्तव्यम् स्तम्भो व्यजनशीतजलसेकादिना। कण्ठग्रह ऊर्ध्वगमन प्रतिषेधार्थं कण्ठपीडनम्। छर्दिघ्नीः क्रियाश्छर्दिचिकित्सिते 'मनोऽभिघाते तु मनोऽनुकूलाः' इत्यादिना 'सुख एव जेतुम्' (चि०अ० २०) इत्यन्तेनोक्ता इहाभिप्रेता ज्ञेयाः। चक्रपाणि,।

अभुक्ते शूनपायौ वेति। पायुर्गुदम्। व्यापदां षण्णिमित्तान्युक्तानि पूर्वं, कस्मादिह शूनपायुत्वमिति। तदत्र निमित्तस्याशेषाभिधानाद्भेदकत्वमिति न दोषः आवृतानावृतमार्गयोरपि विशेषः। अतिपीडने सात्यूर्ध्वगमनात् भवतीति। ततः पाठ विकल्पः, वेगात्स्नेहस्तु पीडितः अभुक्तेनावृतत्वादेवोर्ध्वं धावति। शून पायोस्त्वधः प्रतिहतो वायुर्वेगरोधान्निपीडितः स्नेहमूर्ध्वं नयतीति। अतिपीडितस्तु पृथगेव निमित्तमुक्तम्···कण्ठं प्रधावेदति पीडितश्चेति। चाचार्यचेल्लदेवः अनावृतमार्गत्वादेव निरूहानुवासनयोरतिपीडने सत्यूर्ध्वं प्रवृत्तिरिति न अधः प्रतिहते वाते स्यादूर्ध्वगमनम्। तत्र विशेषतस्स्तम्भादिरुपजायते। येन न केवले स्नेहप्रयोगे न चाधिके बस्तेः स्नेहसम्बन्धे यथा तुल्ययोर्मधुसर्पिषोर्मारणमिति। न दोषः। स ह्यतिपीडितो व्यावृत्त्यागतः कोष्ठएव तिष्ठति। अनावृतर्गलमायाति कण्ठं च प्रधावतीत्यपि निर्गम एव द्वाभ्यां योगाभ्यां प्रतिपाद्यते। तत्र ह्युक्तं "अति वा पीडितो बस्तिर्मुखेनायाति वेगवान्" इति गमनमेव तत्रानाहतमार्गस्यैव तदभिहितमार्गस्य निरूहाश्रयत्वादिति। एवमदोषः। अन्यथा विकल्पाभाव एव स्यादिति पाठविकल्पे बहु संप्रधार्यमिति व्याख्यातम्। पृथगेवातिपीडनमत्रोक्त। तस्योर्ध्वगमनं निमित्तमावृतविषयम्। तत्रैव तस्य साधनान्यत्रेति। निर्गमनं

वेगस्स्नेहस्येति : अतिवेगेन पीडितः स्नेह इति वा सम्बन्धनीयम् । कण्ठादागच्छतः स्तम्भकण्ठग्रहविरेचनैरिति । वचनमत्र तदुत्तरकालमपस्तम्भनादिभिः कण्ठग्रहपरिषेचनबीजनाद्युपलक्षितैश्छर्दिघ्नैश्च याः क्रियाः सामान्याः । सुगन्धिगन्धान्मनसोऽनुकूलान् यावत्फलानि मूलानि च गन्धवर्णरसैरूपेतानि वमि जयन्तीति । एवमावृत्स्नेहस्यौपद्रवान् जनयतः प्रतिक्रियोक्ताः । इति जज्जटः ।

शुद्धस्य दूरानुसृते स्नेहे स्नेहस्य दर्शनम् ।
गात्रेषु सर्वेन्द्रियाणामुपलेपो ऽवसादनम् ॥
स्नेहगन्धि मुखं चापि कासश्वासावरोचकः ।
अतिपीडितबत्तत्र सिद्धिरास्थापनं तथा ॥

सु० चि० २७।९१-९२

शुद्धस्य दूरानुसृते उदरानुसृते । उपलेपो मलवृद्धिः । अवसादनं ग्लानिः । अति पीडितवत्तत्र सिद्धिः साधनं चिकित्सितमित्यर्थः । तत् पुनर्गलावपीड़ादिशीतसेकान्तं, तथा ऽऽस्थापनमवस्थायां स्नेहापाकर्षकशोधनद्रव्यकषायगोमूत्रावापम् । डल्हणः ।

शुद्धस्येति दूरानुसृते अतिपीडितवदामाशयं प्रविष्टे मुखं "ओष्ठौ च दन्तमूलानि दन्ता जिह्वा च तालु च । गलो गलादि सकलं सप्ताङ्गं मुखमुच्यते" इत्युक्तम् वदनम् । स्नेहगन्धीनि, वेगेन स्नेहस्य तदनुगमादित्यध्यवसेयम् । स्नेहस्येव गन्धोऽस्येति स्नेहगन्धि तथा च गन्धमात्रेण स्नेहस्यागमनप्रतिरोधार्थं तूर्णं "चि० ३६ अ०" उपदिष्टं गलावपीडनाद्यात्मकमतिपीडितचिकित्सितं न्याय्यमित्यभिसन्धाय युक्तमुक्तमतिपीडितवदित्यनुसन्धेयम् । इति हाराणचन्द्रः ।

हि० व्या०—ऊर्ध्वगमन नामक व्यापत्ति एवं उसकी चिकित्सा रिक्त कोष्ठ में स्नेह बस्ति का प्रयोग करने पर तथा विरेचन द्वारा मल निर्हरण करने के पश्चात् तीव्रवेग से स्नेह बस्ति देने से स्नेह ऊपर गले में जाकर मुख एवं नासिका से बाहर निकलने लगता है । इसमें गोमूत्र, कालानिशोथ, सफेद निशोथ के क्वाथ में यव, बेर और कुलथी का कल्क मिलाकर निरूहबस्ति की कल्पना कर; प्रयोग करना चाहिए तथा इन्हीं द्रव्यों से तैल सिद्धकर अनुवासन बस्ति देनी चाहिए । गले में स्नेह आने पर मुख के ऊपर शीतल हवा करें या शीतल जल से छींटे देने चाहिए । गले को हल्के हाथ से दबा देना चाहिए इससे स्नेह का वेग नीचे को हो जाता है । अथवा तीक्ष्ण विरेचन या वमन नाशक चिकित्सा करनी चाहिए । आचार्य वाग्भट ने चरक के पाठ का अनुकरण किया है ।

आचार्य सुश्रुत के अनुसार संशोधन में शुद्ध व्यक्तियों में स्नेह के दूर तक पहुंच जाने पर मल में स्नेह का आना, शरीर एवं सभी इन्द्रियों में मल की वृद्धि, ग्लानि, मुख में स्नेह का गन्ध, कास, श्वास एवं अरुचि होती है । इसमें

अति पीडित बस्ति की तरह चिकित्सा करनी चाहिए । सिद्ध आस्थापन बस्ति का प्रयोग करना चाहिए ।

शीतमृदूल्पस्नेहबस्तिव्यापदां वर्णनं चिकित्सा सूत्रं च ।

अस्विन्नस्याविशुद्धस्य स्नेहोऽल्पः संप्रयोजितः ।
शीतो मृदुश्च नाभ्येति ततो मन्दं प्रवाहते ॥
विबन्धगौरवाध्मानशूलाः पक्वाशयं प्रति ।
तत्रास्थापनमेवाशु प्रयोज्यं सानुवासनम् ॥

सु० चि० ३७।९३-९४

मन्दं प्रवाहते मन्द वेगं प्रवर्तते; तत्र यथादोषप्रत्यनीकमास्थापनमनुवासनं च तीक्ष्णं शीघ्रं प्रयोक्तव्यम् । डल्हणः ।

हि० व्या० —बिना स्वेदन एवं संशोधन के अल्पमात्रा में स्नेह का प्रयोग अनुवासन द्वारा किया जाय, शीतल (अपक्व) एवं मृदु स्नेह का प्रयोग किया जाय तो स्नेह वापस नहीं आता है या थोड़ा-थोड़ा बाहर आता है । पक्वाशय में गुरुता, वायु का अवरोध, आध्मान और शूल होता है । ऐसी अवस्था में अनुवासन और निरूहबस्ति शीघ्र देनी चाहिए ।

अत्यल्पमात्रोपयुक्त स्नेहबस्तिव्यापदां वर्णनं तत्र चिकित्सा सूत्रं च

अल्पं भुक्तवतोऽल्पो हि स्नेहो मन्दगुणस्तथा ।
दत्तो नैति क्लमोत्क्लेशौ भृशं चारतिमावहेत् ॥
तत्राप्यास्थापनं कार्यं शोधनीयेन बस्तिना ॥
अन्वासनं च स्नेहेन शोधनीयेन शस्यते ॥

सु० चि० ३७।९५-९६

हि० व्या० —अल्पभोजन के बाद अनुवासन में अल्प स्नेह का प्रयोग होने पर मन्द गुण होने के कारण स्नेह वापस नहीं आता है । क्लम, उत्क्लेश और अत्यधिक घबड़ाहट उत्पन्न करता है । इसमें विशोधक बस्ति से निरूहण करना चाहिए । शोधनीय स्नेह से अनुवासन देनी चाहिए ।

अतिस्नेहबस्ति प्रयोगे दोषाः चिकित्सा सूत्रं च

जडी भवन्ति स्रोतांसि स्नेहदानात् पुनः पुनः ।
उद्घाटनार्थं शुद्ध्यर्थं तेषामास्थापनं हितम् ॥

का० सं० सि० १

हि० व्या —अति अनुवासनबस्ति प्रयोग निषेध – बार-बार अनुवासन बस्ति नहीं देनी चाहिए । इससे रोगी के स्रोतों में अवरोध उत्पन्न होता है । अवरुद्ध स्रोतों को खोलने एवं उनके शोधन के लिए निरूहबस्ति देनी चाहिए ।

वातविकारे अनुवासनं बिल्व तैल योगः।

दशमूलं बलां रास्नामश्वगन्धां पुनर्नवाम्।
गुडूच्यैरण्डभूतीकभार्गीवृषकरोहिषम् ॥
शतावरीं सहचरं काकनासां पलांशिकम्।
यवमाषातसीकोलकुलत्थान् प्रसृतोन्मितान् ॥
चतुर्द्रोणेऽम्भसः पक्त्वा द्रोणशेषेण तेन च।
तैलाढकं समक्षीरं जीवनीयैः पलोन्मितैः ॥
अनुवासनमेतद्धि सर्ववातविकारनुत्।
आनूपानां वसा तद्वज्जीवनीयोपसाधिता ॥

च० सि० ४।४-७।१, अ० सं० क० ५।२३, अ० हृ० क० ४।५४-५७

शार्ङ्गधर, भावप्र०, वंगसेन

दशमूलमित्यादौ भूतीकं कत्तृणं यवानिका वा, काकनासा वायसी फलम्, अन्ये तु वासाफलं 'कायुयाटुटी" इति ख्यातं द्रव्यान्तरमेवाहुः एतद् दशमूलस्थितबिल्वेन बिल्वतैलमिति वदन्ति। आनूपानामित्यादौ तद्वदिति पूर्वक्वाथेन साधिता। चक्रपाणिः।

एतद्बिल्वतैलं वातहरत्वे प्रकर्षेणोच्यते यद्यपि पित्ते तैलमाढकमिष्यते। तैलवसामज्जसर्पिषां साधनमुक्तम्। अनुवासनीयेष्वेषां निर्देशा दृष्टाः। वर्जितानां तु निरूहसंग्रहणे स्नेहयुक्त श्रवणात्। इहापिमज्जावर्जितानां ग्रहणं तस्याश्रवणादित्येके। आनूपानां वसा तद्वदिति। विधानगुणातिदेश एवं। जज्जटः।

हि० व्या०—दशमूल के प्रत्येक द्रव्य एक-एक पल (४ तो०), बलामूल, रास्ना, अश्वगन्धा, पुनर्नवा, गुडूची, एरण्डमूल, अजवायन, भारङ्गी, वासापत्र, सुगन्धतृण, शतावर, वासापत्र (पीतपुष्पा), काकनासा, प्रत्येक द्रव्य एक-एक पल (४ तो०), जौ, उड़द, अलसी, बेर, कुलथी, प्रत्येक एक-एक प्रसृत, इन सभी द्रव्यों को जौकुटकर, ४ द्रोण जल में क्वाथ करना चाहिए। चतुर्थांश शेष रहने पर छानकर उस क्वाथ में एक आढ़क तिल का तैल पकाना चाहिए। पाक के समय जीवनीयगण की औषधियां प्रत्येक एक-एक पल लेकर कल्क बनाकर इस तेल में छोड़ना चाहिए। तैल सिद्धकर छान लेना चाहिए। सभी प्रकार के वातजन्य रोगों को दूर करने के लिए अनुवासनबस्ति के द्वारा इसका उपयोग किया जाता है। इस तैल में आनूप जन्तुओं की वसा मिलाकर अनुवासन दिया जाता है। इसका नाम दशमूलादि तैल है। अष्टाङ्ग संग्रह एवं अष्टाङ्ग हृदय में पाठ समान है। शार्ङ्गधर, भावप्रकाश एव वंगसेन में इसे 'गुडूच्यादितैल' के नाम से उल्लेख किया गया है।

वातविकारे अनुवासनं शताह्वाद्यं तैलम्।

शताह्वायवबिल्वाम्लैः सिद्धं तैलं समीरणे।

च० सि० ४।८, अ० सं० क० ५।-, अ० हृ० क० ४।

हि० व्या०—शताह्वाद्य तैल—शतपुष्पा (सौंफ), जौ, बिल्वफल का अन्तः सार तथा कांजी से विधिवत् तैल सिद्धकर, वातरोगों में अनुवासनबस्ति देनी चाहिए। चरकसंहिता, अष्टाङ्ग संग्रह एवं अष्टाङ्गहृदय में पाठ समान है। अष्टाङ्ग हृदय में "शताह्वाचिरबिल्वाम्लैः" ऐसा पाठ लिखा है।

वातपित्तविकारे अनुवासनस्य सैन्धवसाधित घृतम्

सैन्धवेनाग्नितप्तेन तप्तं चानिलनुद्धृतम् ॥

च० सि० ३।८, अ० हृ० क० ४।५८, अ० सं० क० ५

सैन्धवेनाग्निवर्णेनाग्नितापं एव पाकः। आमस्नेहनिषेधात्। न त्वामं प्रयोयेत् स्नेहं स ह्यभिष्यन्दयेद्गुदमिति। घृतानुवासननिर्देशात् पित्तसंसर्गोऽनुमन्तव्य इति। जज्जटः

हि० व्या०—सैन्धवाद्यनुवासनघृत—सन्धवलवण को तप्तकर लाल हो जाने पर बार-बार घृत में बुझाकर अनुवासन बस्ति देने पर वातजन्य रोग दूर हो जाता है। चरकसंहिता, अष्टाङ्ग संग्रह, अष्टाङ्ग हृदय में पाठ समान है।

वातपित्त विकारे जीवन्त्याद्यं यमकानुवासनम्

जीवन्तीं मदनं मेदां श्रावणीं मधुकं बलाम्।
शताह्वर्षभकौ कृष्णां काकनासां शतावरीम् ॥
स्वगुप्तां क्षीरकाकोलीं कर्कटाख्यां शटीं वचाम्।
पिष्ट्वा तैलं घृतं क्षीरे साधये तच्चतुर्गुणे ॥
बृंहणं वातपित्तघ्नं बलशुक्राग्निवर्धनम्।
मूत्र रेतो रजोदोषान् हरेत्तदनुवासनम् ॥

च० सि० ४।९-११, अ० सं० क० ५।-२६, अ० हृ० क० ४।५९-६१

जीवन्तीं मदनं मेदामिति पिष्ट्वा तैलं घृतं तैलघृतयोस्सभागत्वं तैलपादं घृतमिति वक्ष्यमाणविभागनिर्देशसम्बन्धात् पित्तानुवासनाधिकारादिति च जीवनीयं तैलमिति। जज्जटः।

जीवन्त्याद्ये स्नेहाच्चतुर्गुणं क्षीरम्। कल्कः स्नेहाच्चतुर्थांशेन। एतत्तैल घृतमनुवासनं बृंहणत्वादिगुणम्। इन्दुः।

हि० व्या०—जीवन्त्यादि अनुवासन (यमक)—जीवन्ती; मदनफल, मेदा, गोरखमुण्डी, मधुयष्टी, बलामूल, सौंफ, ऋषभक, पीपर, काकनासा, शतावर, कौंचबीज, क्षीरकाकोली, काकड़ासिंगी, कूचर और वच, समान भाग कल्क बनाकर कल्क से चतुर्गुण तेल-घृत, तेल-घृत से चतुर्गुण दूध लेकर विधिवत् (यमक) सिद्ध करना चाहिए। इस यमक से अनुवासन बस्ति देने पर बृंहण होता है। वातपित्तजरोग दूर होते है। यह बलशुक्र और अग्निवर्धक है। इसके सेवन से मूत्रगतदोष, शुक्रगतदोष एवं आर्तव स्थित दोषों का नाश होता है। चरकसंहिता, अष्टाङ्गसंग्रह एवं हृदय में पाठ समान है।

वातपित्तविकारे चन्दनाद्यं तैलघृतम् ।

लाभतश्चन्दनाद्यैश्च पिष्टैः क्षीरचतुर्गुणम् ।
तैलपादं घृतं सिद्धं पित्तघ्नमनुवासनम् ॥ च० सि० ४।१२

लाभत इति यथालाभम् । चन्दनाद्यं ज्वरचिकित्सितोक्तम् । तैलपादं यस्मिन् तत् तैलपादम् । चक्रपाणिः ।

चन्दनाद्यानि चन्दनभद्रश्रीकालानुसारिवाकालेयकादि । लाभतो यथालाभमिति । जज्जटः ।

हि० व्या०—चन्दनाद्य यमक—घृत में चतुर्थांश तिलतैल मिलाकर ज्वर प्रकरण में निर्दिष्ट चन्दनाद्य तैल के द्रव्यों में से जितने द्रव्य सुलभ हों उनका कल्क बनाकर तेल में मिश्रित कर, स्नेह से चतुर्गुण दूध मिलाकर यमक सिद्ध करना चाहिए । इससे अनुवासनवस्ति देने पर पित्तजन्य रोग दूर होता है ।

पित्तघ्नौषध बस्तिः ।

न्यग्रोधादिगणक्वाथः काकोल्यादि समायुतः ।
विधेया वस्तयः पित्ते सक्षौद्रघृतशर्कराः ॥ वंगसेन

हि० व्या०—आचार्य वंगसेन के अनुसार न्यग्रोधादिगण की औषधियों के क्वाथ में काकोल्यादिगण की औषधियों का कल्क, शहद, घी और मिश्री संयुक्त कर पित्तजन्य रोगों में बस्ति देनी चाहिए ।

पित्तरोगे शीतवीर्यद्रव्यसाधित यमक योगः

शिशिरस्पर्शवीर्यैश्च पिष्टैः क्षीरे चतुर्गुणे ।
तैलपादं घृतं सिद्धं पितघ्नमनुवासनम् ॥
अ० सं० बस्तिक० ५।-

हि० व्या० – शीतवीर्य औषधियों के समभाग कल्क को तिल तेल में घी मिलाकर चतुर्गुण दूध डालकर सिद्ध यमक से अनुवासनवस्ति करने पर पित्तजन्य रोग दूर होते हैं ।

कफविकारे सैन्धवाद्यं तैलानुवासनम् ।

सैंधवं मदनं कुष्ठं शताह्वां निचुलं वचाम् ।
ह्रीवेरं मधुकं भार्गीं देवदारू सकट्फलम् ॥
नागरं पुष्करं मेदां चविकां चित्रकं शटीम् ।
विडङ्गातिविषे श्यामां इरेणुं नीलिनीं स्थिराम् ॥
बिल्वाजमोदे कृष्णां च दन्तीं रास्नां च पेषयेत् ।
साध्यमेरण्डजं तैलं तैलं वा कफरोगनुत् ॥
ब्रध्नोदावर्तगुल्मार्शः प्लीहमेहाढ्यमारुतान् ।
आनाहमश्मरीं चैव हन्याकृदनुवासनम् ॥
च० सि० ४।१३-१६, अ० सं० क० ५।२७, अ० हृ० क० ४।६२-६५

सैंधवं मदनं कुष्ठमित्येवमादिभिसिद्धमेरण्डतैलं वा तिलतैलं वा प्रत्येकमुभयं वा एकत्र वा शब्दस्य समुदायार्थत्वात् । "चक्रपाणि"

सैन्धवादिभिः समैः साध्यं तिलतैलमेरण्डतैलं वा तदनुवासनं कफरोगनुत् वर्ध्मादींश्च हन्यात् । निचुलं दीर्घपत्रो वेतसः ह्रीवेरं वालकम् । कट्फलं सोमवल्कः । श्यामा त्रिवृत् । चपला पिप्पली । इन्दुः ।

हि० व्या० —सैन्धवादि अनुवासन तैल—सैंधवलवण, मदनफल, कूठ, सौंफ, जलवेत, वच, सुगन्धवाला, मुलेठी, भारङ्गी, देवदार, कायफल, सोंठ, पुष्करमूल, मेदा, चव्य, चित्रकमूल, कचूर, वायविडङ्ग, अतीस, काली निशोथ, हरेणु, नील का बीज, शालिपर्णी, बिल्वमज्जा, अजमोद, पीपर, दन्तीमूल, रास्ना, समानभाग लेकर कल्क तैयार करना चाहिये । कल्क से चतुर्गुण एरण्ड का तैल अथवा तिल तैल और तैल से चतुर्गुण जल मिलाकर विधिवत् तैलसिद्ध करना चाहिए । इस तैल की अनुवासन बस्ति देने से कफजन्य रोग, ब्रध्न, उदावर्त, गुल्म, अर्श प्लीहा, प्रमेह, आढ्यवात (उरुस्तम्भ) आनाह, अश्मरी रोग दूर होते हैं । चरकसंहिता, अष्टाङ्गसंग्रह एवं अष्टाङ्गहृदय में पाठ समान है ।

कफविकारे मदनाद्यं तैलानुवासनम् ।

मदनैर्वाऽम्लसंयुक्तैर्बिल्वाद्येन गणेन वा ।
तैलं कफहरैर्वाऽपि कफघ्नं कल्पयेद्भिषक् ॥ च० सि० ४।१७

मदनैर्वाऽम्लसंयुक्तैरित्यत्र मदनस्य कल्कत्वं, काञ्जिकादीनामम्लानां द्रवत्वम् । एतच्च मदन तैलमिति ख्यातम् बिल्वाद्यो गणो दशमूलं; चात्र क्वाथकल्काभ्यामपि देयम् । उक्तं हि—"क्वाथकल्कावनिर्देशे गणात्तस्मात् समावपेत्" इति । कफहरैरिति पूर्वाध्यायोक्तकफहरभेषजैः, किंवा त्रिकटुपञ्चकोलादिभिः । चक्रपाणिः ।

एतानि च त्रीणितैलानि मदनैर्वाम्लसंयुक्तैरिति प्रथमम् । बिल्वाद्येन गणेन वा द्वितीयं तैलम् । कफहरैर्वेति तृतीयम् । अपरे कफहरैरेव पुनरन्यथा स्नेहप्रणयनाश्रयो वस्तिगुणोपदेशः । जज्जटः ।

हि० व्या०—(१) मदनफलकल्क, कल्क से चतुर्गुण तिल का तेल, तेल से चतुर्गुण कांजी मिलाकर तैलपाक करना चाहिए ।

(१) बिल्वादि पञ्चमूल के कल्क से एवं बिल्वादि पंचमूल के क्वाथ से तैलपाक करना चाहिए ।

(३) पिप्पल्यादिगण की औषधियों के कल्क से पिप्पल्यादिगण की औषधियों के चतुर्गुण क्वाथ से तैलपाक करना चाहिए । इनके अनुवासन से कफजन्य रोग दूर होते हैं ।

कफरोगे कफघ्नौषध बस्ति संकेतः ।

न्यग्रोधादिगणक्वाथाः पिप्पल्यादि समायुताः ।
सक्षौद्रमूत्रा देयाः स्युर्बस्तयः कुपिते कफे ॥ वङ्गसेन

हि० व्या०—न्यग्रोधादिगण की औषधियों के क्वाथ में पिप्पल्यादिगण की औषधियों का कल्क, शहद और गोमूत्र मिलाकर अनुवासन देनी चाहिए। इससे कफजन्य रोग दूर होता है।

शुक्रक्षये ओजस्क्षये च विडङ्गाद्यं तैलानुवासनम् ।

विडङ्गैरण्डरजनी पटोल त्रिफलामृताः ।
जातीप्रवालनिर्गुण्डी दशमूलाखुपर्णिकाः ॥
निम्बपाठा सहचरशम्पाककरवीरकाः ।
एषां क्वाथेन विपचेत्तैलमेभिश्चकल्कितैः ॥
फलबिल्व त्रिवृत्कृष्णारास्नाभूनिम्बदारुभिः ।
सप्तपर्णवचोशीरदार्वीकुष्ठकलिङ्गकैः ॥
लतागौरीशताह्वाग्निशटी चोरक पौष्करैः ।
तत् कुष्ठानि क्रिमीन् मेहानर्शांशिग्रहणीगदम् ॥
क्लीवतां विषमाग्नित्वं मलं दोषत्रयं यथा ।
प्रयुक्तं प्रणुदत्याशु पानाभ्यङ्गानुवासनैः ॥
व्याधिव्यायामकर्माध्वक्षीणबलनिरोजसाम् ।
क्षीणशुक्रस्य चातीव स्नेहबस्तिर्बलप्रदः ॥
पादजङ्घोरुपृष्ठांस कटीनां स्थिरतां पराम् ।
जनयेदप्रजानां च प्रजां स्त्रीणां तथा नृणाम् ॥

च० सि० ४।१८-२४

लता=मञ्जिष्ठा, गौरी=हरिद्रा। स्नेहबस्तिबलप्रद इति एतैस्तैलैः कृतः स्नेहबस्तिरित्यर्थः चक्रपा०।

हि० व्या०—विडङ्गादि तैलः—वायविडङ्ग, एरण्डमूल, हल्दी, पटोलपत्र (परबलपत्र), आँवला, हरड़, बहेड़ा, गुडूची, चमेली की पत्ती, निर्गुण्डी की पत्ती, दशमूल, मूषकपर्णी, नीम, पाठा, पीतपुष्पा वासा, अमलतास, पीतपुष्पा कर्णिकार की छाल. समभाग लेकर जौकुटकर अष्टगुण जल में क्वाथ करना चाहिए। उक्त क्वाथ में चतुर्थांश तिल का तैल और तैल से चतुर्थांश मदनफल, बिल्वमज्जा, सफेद त्रिवृत्, पिप्पली, रास्ना, चिरायता, देवदारु, सप्तपर्ण की छाल, वच, खस, दारुहल्दी, कूठ, इन्द्रयव, मजीठ, हल्दी, सौंफ, चित्रक, कचूर, चोर-पुष्पी, पुष्करमूल, इनका कल्क बनाकर, तैलपाक करना चाहिए। इस तेल की अनुवासन वस्ति देने से कुष्ठ, कृमि, प्रमेह, अर्श, ग्रहणी, नपुंसकता, अग्निवैषम्य, मलजन्यविकृति दूर होता है तथा त्रिदोषनाशक है। इस तैल का पान, अभ्यङ्ग और अनुवासन के रूप में व्यवहार होता है। इस तेल के प्रयोग

से चिरकारी रोग, अधिक व्यायाम करने से, रास्ता चलने से क्षीण, दुर्बल, ओजरहित, बलक्षीणव्यक्तियों में बल बढ़ता है। अनुवासन बस्ति करने पर, जंघा, ऊरु, पृष्ठ भाग, अंशप्रदेश, कटिप्रदेश, स्थिर होता है। दोषों के कारण जिस दम्पत्ति में सन्तान की प्राप्ति न हो उन्हें इस तेल के अनुवासन से सन्तानोत्पादन होती है।

शट्यादि अनुवासन तैल योगः ।

शटीपुष्करकृष्णाह्वामदनामरदारुभिः ।
शताह्वाकुष्ठयष्ट्याह्वावचाबिल्वहुताशनैः ॥
सुपिष्टैर्द्विगुणक्षीरं तैलं तोय चतुर्गुणम् ॥
पक्त्वा बस्तौ विधातव्यं मूढ़वातानुलोमनम् ।
अर्शांसि ग्रहणीदोषमानाहं विषमज्वरम् ॥
कट्यूरुपृष्ठकोष्ठस्थान् वातरोगांश्च नाशयेत् ॥

सु० चि० ३७।१०

यत्र शट्यादौ पौष्करं कुष्ठं च पठ्यते तत्र पौष्करं मूलं, तद्विटपशाखाश्च कुष्ठमिति ज्ञेयं। डल्हणः।

हि० व्या०—शट्यादि तैल पुष्करमूल, पिप्पली, मदनफल, देवदारु, सौंफ, कूठ, मधुयष्टी, बच, बिल्वमज्जा, चित्रक समभाग कल्क बनाकर, तेल से द्विगुण दूध, तैल से चतुर्गुण जल मिलाकर तैल सिद्ध करना चाहिए। इस तैल का अनुवासनबस्ति में प्रयोग करने से मूढ़वात का अनुलोमन होता है। अर्श, ग्रहणी, आनाह, विषमज्वर, कटि, पृष्ठ, ऊरु, कोष्ठ में स्थितवायुजन्य रोग दूर हो जाते हैं।

गुल्मादि वातरोगेषु अनुवासनार्थं प्रयोज्यस्य वचादि तैलस्य योगः ।

वचापुष्पर कुष्ठैलामदनामरसिन्धुजैः ।
काकोलीद्वययष्ट्याह्वमेदायुग्मनराधिपैः ॥
पाठाजीवकजीवन्तीभार्गीचन्दनकट्फलैः ।
सरलागुरुबिल्वाम्बुवाजिगन्धाग्निवृद्धिभिः ॥
विडङ्गारग्वधश्यामात्रिवृन्मागधिकाधिभिः ।
पिष्टैस्तैलं पचेत्क्षीरपञ्चमूलरसान्वितम् ॥
गुल्मानाहाग्निषङ्गार्शोग्रहणीमूत्रसङ्गिनाम् ।
अन्वासन विधौ युक्तं शस्यतेऽनिल रोगिणाम् ॥

सु० चि० ३७।११-१४

सिन्धुजं सैन्धवम्। नराधिपः कृतमालकः। सरतीति सरला त्रिवृत्, विरेचनीयत्वात्। श्यामा वृद्धदारकः। पञ्चमूलं बिल्वादिपञ्चमूलं, तस्य रसः क्वाथः। अत्र तैले नराधिपारग्वधपाठात् सरलात्रिवृत्पाठाच्च एतयोर्द्विगुणमात्रा देया। उक्तं च—

"घृते तैले च योगे च यद् द्रव्यं पुनरुच्यते ।
तद्दातव्यमिहाचार्यैर्भागतो द्विगुणं मतम् ॥" डल्हण ।

वचादि तैल—

हि० व्या०—वच, पुष्करमूल, कूठ, इलायची, मदनफल, देवदारु, सैन्धव लवण, काकोली, क्षीरकाकोली, मधुयष्टी, मेदा, महामेदा, अमलतास, पाठा, जीवक, जीवन्ती, भार्गी, चन्दन, कट्फल, चीड़, अगरू, बिल्व, बालक, अश्वगन्धा, चित्रक, वृद्धि, विडंग, अमलतास, कालीनिशोथ, सफेद निशोथ, पिप्पली, ऋद्धि इनके समभाग कल्क बनाकर वृहत्पञ्चमूलक्वाथ में तैल पाक करना चाहिए। वात रोगों में इस तैल का अनुवासनबस्ति देने पर गुल्म, आनाह, अग्निमांद्य, अर्श, ग्रहणी, मूत्रावरोध को दूर करता है।

गृध्रसीखञ्जकुब्जादि कठिन वातरोगेषु अनुवासनयोग्यस्य चित्रकादितैलस्य प्रयोगः ।

चित्रकातिविषापाठादन्तीबिल्ववचामिषैः ।
सरलांशुमतीरास्नानीलिनीचतुरङ्गुलैः ॥
चव्याजमोदकाकोलीमेदायुग्मसुरद्रुमैः ।
जीवकर्षभवर्षाभूबस्तगन्धाशताह्वयैः ॥
रेष्वश्वगन्धामञ्जिष्ठाशटीपुष्करतस्करैः ।
सक्षीरं विपचेत्तैलं मारुतामयनाशनम् ॥
गृध्रसीखञ्चकुब्जाढ्यमूत्रोदावर्तरोगिणाम् ।
शस्यतेऽल्पबलाग्नीनां बस्तावाशु नियोजितम् ॥

सु० चि० ३७।१५-१८

आमिषं गुग्गुलुः । सुरद्रुमो देवदारुः । तस्करः चोरकः । डल्हणः ।

जीवकर्षभयोरभावे गुडूची वंशलोचना च प्रदेये । तस्करः चौरपुष्पी, आढ्यः आढ्यवात उरुस्तम्भ इति यावत् । भूतीकं यमानी, रोहिषो गन्धतृणम् । सहामुद्गपर्णी सहचरो नीलझिण्टी, वरी शतावरी । हाराण० ।

हि० व्या०—चित्रकादि तैल—चित्रक, अतीस, पाठा, जयपाल, बिल्व, वच, सौंफ, चीड़, शालपर्णी, रास्ना, नील, अमलतास, चव्य, अजवायन, काकोली क्षीरकाकोली, मेदा, महामेदा, देवदार, जीवक, ऋषभक, पुनर्नवा, अजगन्धा, सोया, रेणुका, अश्वगन्धा, मजीठ, कचूर, पुष्करमूल, चोरक, इनका कल्क बनाकर दूध के साथ तैल सिद्ध करना चाहिए। इस तैल के अनुवासन से गृध्रसी, कलायखञ्ज, कुब्ज, आढ्यवात (उरुस्तम्भ), उदावर्त एवं मन्दाग्नि दूर होती है।

वक्तव्य—'आमिषं' से आचार्य डल्हण ने गुग्गुलु का ग्रहण किया है। हाराणचन्द्रचक्रवर्ति ने 'आमिषं' जटामांसी लिखा है। सुश्रुत संहिता के हिन्दी

व्याख्याकार अत्रिदेव, लालचन्दन तथा अम्बिकादत्त शास्त्री जी ने सौंफ को ग्रहण किया है।

जङ्घोरुत्रिकपार्श्वांसबाहुमन्यासिरः स्थितेषु वातरोगेषु अनुवासन योग्यस्य भूतीकैरण्डादि तैलस्य योगः ।

भूतीकैरण्डवर्षाभूरास्नावृषकरोहिषैः ।
दशमूलसहाभार्गीषड्ग्रन्थामरदारुभिः ॥
बलानागबलामूर्वावाजिगन्धामृताद्वयैः ।
सहचरवरीविश्वाकाकनासाविदारिभिः ॥
यवमाषातसीकोलकुलत्थैः क्वथितैः शृतम् ।
जीवनीयप्रतीवापं तैलं क्षीरे चतुर्गुणम् ॥
जङ्घोरुत्रिकपार्श्वांसबाहुमन्याशिरः स्थितान् ।
हन्याद्वातविकारांस्तु बस्तियोगेन निषेवितम् ॥

सु० चि० ३७।१६-२२

भूतीकं कत्तृणं गन्धतृणपरपर्यायम् । गुडूची हरीतकी चेति अमृता द्वयम् । सहचरः सैरीयः, वरी शतावरी, विश्वा शुण्ठी, काकनासा वायसफला । डल्हणः ।

भूतीकैरण्डादि तैलयोगः

हि० व्या० - अजवायन, एरण्डमूल, पुनर्नवा, रास्ना, अडूसा, रोहिषतृण, दशमूल, मापपर्णी, भार्गी, वच, देवदार, बला, नागबला, मूर्वा, अश्वगन्धा, गुडूची, हरीतकी, झिण्टी, शतावरी, सोंठ, काकनासा, विदारीकन्द, जौ, उड़द, अलसी, बेर, कुलथी, इनके क्वाथ में जीवनीयगण की औषधियों का कल्क मिश्रितकर, तैल से चतुर्गुण दूध में तैल सिद्ध करना चाहिए। इस तैल के अनुवासन बस्ति करने से जंघा, उरु प्रदेश, त्रिकप्रदेश, पार्श्व, अंश, बाहु, मन्या, शिर में स्थित वातदोष दूर होता है।

शुक्राग्निबलवर्धनस्य गुल्मानाहहरस्य अनुवासन योग्यस्य जीवन्त्यादि तैलस्य योगः ।

जीवन्त्यतिबला मेदाकाकोलीद्वयजीवकैः ।
ऋषभातिविषाकुष्ठकाकनासावचामरैः ॥
रास्तामदनयष्ट्याह्वसरलाभीरुचन्दनैः ।
स्वयङ्गुप्ताशटीशृङ्गीकलसीसारिवाद्वयैः ॥
पिष्टैस्तैलघृतं पक्वं क्षीरेणाष्टगुणेन तु ।
तच्चानुवासने देयं शुक्राग्निबलवर्धनम् ॥
बृंहणं वातपित्तघ्नं गुल्मानाहहरं परम् ।
नस्ये पाने च संयुक्तमूर्ध्वंजत्रुगदापहम् ॥

सु० चि० ३७।२३-२६

जीवन्तीति, अमरो देवदारुः। अभीरुः शतावरी, कलसी पृश्निपर्णी।

हाराण० ज०।

जीवन्त्यादि अनुवासन तैल (यमक)

हि० व्या०—जीवन्ती, अतिबला, मेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, जीवक, ऋषभक, अतीस, पिप्पली, काकनासा, वच, देवदारु, रास्ना, मदनफल, मधुयष्टी, चीड़, शतावरी, क्रौंचबीज, कचूर, काकड़ा शृंगी, पृश्निपर्णी, सारिवा, कृष्ण सारिवा, इनके कल्क से घी और तैल से आठगुणे दूध में यमक सिद्ध करना चाहिए। इस तैल से अनुवासन बस्ति देने पर शुक्र और अग्निबल बढ़ता है। यह बृंहण, वात-पित्त नाशक, गुल्म एवं आनाह रोग नाशक है। इस तैल का नस्य एवं पान करने से शिरो रोग, नाक-कान एवं गला के रोग दूर होते हैं।

दाहासृग्दरवातशोणितविद्रधिप्रभृति पित्तरक्तरोग शमनाय अनुवासनयोग्यस्यमधुकोशीरादि तैलस्य योगः।

मधुकोशीरकाश्मर्यकटुकोत्पलचन्दनैः।
श्यामापद्मकजीमूतशक्राह्वातिविषाम्बुभिः॥
तैलपादं पचेत्सर्पिः पयसाऽष्टगुणेन च।
न्यग्रोधादिगणक्वाथयुक्तं बस्तिषु योजितम्॥
दाहासृग्दरवीसर्पवातशोणितविद्रधीन्।
पित्तरक्तज्वराद्योश्च हन्यात् पित्तकृतान् गदान्॥

सु० चि० ३७।२७-२९

श्यामा प्रियङ्गुः। जीमूतो मुस्तकः। तैलस्य पादश्चतुर्थांशो यस्मिन् सर्पिषि तत् तैलपादम्। डल्हणः।

जीमूतं घोषक भेद्रः। हराण च०।

मधुकोशीरादि अनुवासन तैल योगः (यमक)

हि० व्या०—मधुयष्टी, खस, गम्भारी, कुटकी, कमल, चन्दन, निशोथ, पद्मकाष्ठ, नागरमोथा, इन्द्रजौ, अतीस, और सुगन्धवाला का कल्क बनाकर तैल और घृतमिश्रित (यमक) अष्टगुण दुग्ध से सिद्धकर न्यग्रोधादिगण की औषधियों के क्वाथ में मिलाकर, अनुवासन देनी चाहिए।

इस तैल से अनुवासन बस्ति देने पर दाह, रक्तप्रदर, विसर्प, वातरक्त, विद्रधि, रक्तपित्तज्वर तथा पित्तजन्य रोग दूर हो जाते हैं।

वक्तव्य—मूल पाठ में 'श्यामा' है। श्यामा की टीका करते हुए आचार्य डल्हण ने प्रियंगु लिखा है। सुश्रुत के हिन्दी व्याख्याकार पं० लालचन्द जी एवं अत्रिदेव जी ने निशोथ का ग्रहण किया है। पं० अम्बिकादत्त शास्त्री जी ने 'श्यामा' से वृद्धदारुक ग्रहण किया है।

जीमूतक—आचार्य डल्हण ने 'जीमूतो मुस्तकः' ऐसा लिखा है। हाराणचन्द्र जी ने घोषकभेदः लिखा है। लालचन्द जी की हिन्दी व्याख्या में देवदाली

का ग्रहण किया गया है। पं० अम्बिकादत्तशास्त्री जी ने यहां नागरमोथा का उल्लेख किया है।

विविध पित्तविकारेषु प्रयोज्यस्य मृणालादितैलघृतस्य योगः।

मृणालोत्पलशालूकसारिवाद्वयकेशरैः।
चन्दनद्वयभूनिम्बपद्मबीजकसेरुकैः॥
पटोलकटुकारक्तागुन्द्रापर्पटवासकैः।
पिष्टैस्तैलघृतं पक्वं तृणमूलरसेन च॥
क्षीरद्विगुणसंयुक्तं बस्तिकर्मणियोजितम्।
नस्येऽभ्यञ्जनपाने वा हन्यात् पित्त गदान् बहून्॥

सु० चि० ३७।३०-३२

रक्ता मञ्जिष्ठा, गुन्द्रा पट्टोरकभेदः। तृणमूलं कुशकासादितृणपञ्चमूलम्। डल्हणः।

हि० व्या—मृणाल (कमलनाल), कमल, शालूक (कमलकन्द), श्वेतसारिवा, नागकेशर, श्वेतचन्दन, रक्तचन्दन, चिरायता, कमलगट्टा, कशेरु, पटोलपत्र, कुटकी, मंजिष्ठा, गुन्द्रा (पटेरा), पित्तपापड़ा एवं अड़ूसा, इनका कल्क बनाकर, तृणपञ्चमूल के क्वाथ तथा द्विगुण दूध के साथ, तैल या घृत का पाक करना चाहिए। पान अभ्यङ्ग, नस्य और अनुवासन बस्ति द्वारा इनका व्यवहार करना चाहिए। यह पित्तज रोगनाशक है।

पानाभ्यञ्जनगण्डूषनस्यबस्त्यादिषुप्रयोज्यस्य त्रिफलादि तैलस्य प्रयोगः।

त्रिफलातिविषामूर्वात्रिवृच्चित्रकवासकैः।
निम्बारग्वधषड्ग्रन्थासप्तपर्णनिशाद्वयैः॥
गुडूचीन्द्र[1]सुराकृष्णाकुष्ठसर्षपनागरैः।
तैलमेभिः समैः पक्वं सुरसादिरसाप्लुतम्॥
पानाभ्यञ्जनगण्डूषनस्य बस्तिषु योजितम्।
स्थूलतालस्यकण्ड्वादीन् जयेत्कफकृतान् गदान्॥

सु० चि० ३७।३३-३५

हि० व्या०—त्रिफला, अतीस, मूर्वा, निशोथ, चित्रक, अड़ूसा, नीम, अमलताल, वच, सप्तपर्ण, हल्दी, दारुहल्दी, गुडूची, इन्द्रवारुणी, पिप्पली, कूठ, सर्षप, शुण्ठी, समभाग कल्क बनाकर, सुरमादिगण के क्वाथ से तैलपाक करना चाहिए। इसका उपयोग पान, अभ्यंग, गण्डूष, नस्य तथा अनुवासन बस्ति में करना चाहिए। इसके प्रयोग से स्थौल्य, आलस्य, कण्डू एवं कफजन्य रोग दूर होते हैं।

---

१. इन्द्रसुरा इन्द्रवारुणी। डल्हण।

कफजन्यानां विविध रोगाणां शमनाय अनुवासन योग्यस्य पाठाजमोदादि तैलस्य प्रयोगः ।

पाठाजमोदाशार्ङ्गेष्टापिप्पलीद्वयनागरैः ।
सरलागुरुकालीय भार्गीचव्यामरद्रुमैः ॥
मरीचेलाभयाकट्वी, शटीग्रन्थिककट्फलैः ।
तैलमेरण्डतैलं वा पाक्वमेभिः समायुतम् ॥
वल्लीकण्टकमूलाभ्यां क्वाथेन द्विगुणेन च ।
हन्यादन्वासनैर्दत्तं सर्वान् कफकृतान् गदान् ॥

सु० चि० ३७।३६-३८

शार्ङ्गेष्टा भुंभुरुट्टाको वेष्टितफलः काकमाच्यानुकारः । कट्वी कटुका । विदार्यादिकं पञ्चमूलं वल्लीसंज्ञकम् ॥ करमर्दादिकं तु कण्टक संज्ञक पञ्चमूलं ।

डल्हणः ।

शार्ङ्गेष्टा=करञ्जः । हाराणच० ।

हि० व्या०—पाठादि अनुवासन तैल—पाठा, अजवायन, शार्ङ्गेष्टा, पिप्पली, गजपिप्पली, शुण्ठी, निशोथ, अगर, पीलाचन्दन, भार्गी, चव्य, देवदारु, मरिच, इलायची, हरीतकी, कुटकी, कचूर, पिप्पलीमूल, एवं कायफल, समान भाग में पीसकर कण्टकपञ्चमूल, वल्लीपञ्चमूल एवं वल्लीपञ्चमूल के द्विगुण क्वाथ के साथ तिल या एरन्डतैल सिद्ध करना चाहिए । इस तैल की अनुवासन वस्ति देने से सम्पूर्ण कफज रोग (सभी प्रकार के) दूर होते हैं ।

प्लीहोदावर्त वातरक्तकफामयप्रमेहशर्करार्शो रोगाणां शमनाय अनुवासनयोग्यस्य विडङ्गादितैलस्य प्रयोगः ।

विडङ्गोदीच्यसिंधुत्थशटीपुष्कर चित्रकैः ।
कट्फलातिविषाभार्गीवचाकुष्ठसुराह्वयैः ॥
मेदामदनयष्ट्याह्वश्यामानिचुलनागरैः ।
शताह्वानीलिनीरास्नाकलशीवृषरेणुभिः ॥
बिल्वाजमोदकृष्णाह्वादन्तीचव्यनराधिपैः ।
तैलमेरण्डतैलं वा मुष्ककादिरसाप्लुतम् ॥
प्लीहोदावर्तं वातासृग्गुल्मानाहकफामयान् ।
प्रमेहशर्कराशांसि हन्यादाश्वनुवासनैः ॥

सु० चि० ३७।

श्यामा वृद्धदारुकः । निचुलो जलवेतसः । रेणुः पर्पटकः । मुष्ककादिरसेन "मुष्ककपलाशधव"— (सू० अ० ३८) इत्यादि गणस्य रसेन क्वाथेन चतुर्गुणेन प्लुतं मिश्रितं तिलतैलमेरण्डतैलं वेति तैलद्वयं कल्पयते । तत्र शट्यादि वचादि चित्रकादि भूतीकादितैलानि प्रायशो वातरोगेषु, जीवन्त्यादिमधुकादि मृणालादि तैलानि पित्तरक्त रोगादितेषु, त्रिफलादिपाठादितैलद्वयं कफग्रस्तेषु, विडङ्गादि-

तैलं वाते कफभूयिष्ठे, संसर्गसंनिपातेषु पुनरतोन्येव यथायथामभ्यूह्य योज्यानीति ज्ञेयम् । एतानि शट्यादि तैलानि सामान्यस्नेहपाकपरिभाषया साधनीयानि ।

डल्हणः ।

विडङ्गादि तैल

हि० व्या०—विडङ्ग, सुगन्धवाला, सैंधवलवण, कचूर, पुष्करमूल, चित्रक, कायफल, अतीस, भार्गी, वच, कुठ, देवदार, अजमोद: मदनफल, मधुयष्टी, श्यामा, (विधारा), जलवेत, शुण्ठी, सौंफ नील, रास्ना, पृश्निपर्णी, वासा, पित्तपापड़ा, बेल, अजवायन, पिप्पली, दन्ती, चव्य, अमलतास, इन सब का कल्क बनाकर मुष्कक गण के औषधियों के क्वाथ से तिल ला एरण्डतैल का पाक करना चाहिए । इस तैल का अनुवासन वस्ति देने से प्लीहारोग, उदावर्त, वातरक्त, गुल्म, आनाह, कफजन्य रोग, प्रमेह, शर्करा एवं अर्शरोग शीघ्र नष्ट हो जाता है ।

वक्तव्य—श्यामा से आचार्य डल्हण एवं पं० अम्बिकादत्त शास्त्री जी ने विधारा का ग्रहण किया है किन्तु पं० लालचन्द जी ने निशोथ का ग्रहण किया है ।

अनुवासनद्रव्ये सैन्धवशताह्वाचूर्ण प्रयोगे फलम् ।

स तु सैन्धवचूर्णेन शताह्वेन च योजितः ।
देयः सुखोष्णश्च तथा निरेति सहसा सुखम् ॥

सु० चि० ३७। चक्रदत्तः ।

स स्नेहः तु पुनः, पक्वोऽपि सैन्धवशतपुष्पासमन्वितो देयः । मध्यमवयस्कमाश्रित्य चूर्णस्यमात्राह—"चूर्णमाषः पले स्नेहे सिन्धुजन्मशताह्वयोः" इति ।

डल्हणः ।

सताह्वा सैन्धवाभ्यां च देयं स्नेहे च चूर्णकम ।
तन्मात्रोत्तममध्यान्ता षट्चतुर्द्वयमाषकैः ॥

शार्ङ्गधर उ० ५।२१, भा० पू०

हि० व्या०—स्नेह में सैंधवलवण तथा सौंफ मिलाकर सुखोष्ण वस्ति देने से वह सुखपूर्वक बाहर आती है । इनकी उत्तम मात्रा छः माशे, मध्यम मात्रा चार माशे और छोटी मात्रा दो माशे की है ।

स्नेहबस्तौ अपक्व स्नेह निषेधः तत्र युक्तिश्च ।

न त्वामं प्रणयेत् स्नेहं स ह्यभिष्यन्द्ययेद्गुदम् ।
सावशेषं च कुर्वीत वायुः शेषे हि तिष्ठति ॥
तीक्ष्णेवस्तिस्तथा तैलमर्कपत्र रसे श्रृते ।

च० सि० ४।४८, अ० सं० क० ७।; अ० हृ० क० ५।४४-४५

आमो हि स्नेहः प्रत्यावर्तमान आमसम्पृक्तत्वादाशयेऽपि गुदाभिष्यन्दकरो न गुर्वादि गुणत्वात् । अतो न हेतूपदेशस्सुकुमार गुदस्य वा कस्यचिदेव दोषकारः

न सर्वस्यैवेति केचित् निःशेष प्रणयने दोष इति । सावशेषं च कुर्वीत स्नेहरिक्तो हि (मारुतः) संगृह्णाति । सोऽन्तः प्रविष्टशूलकरो भवतीति । इह विध्यर्थमेतत् । जज्जटः ।

हि० व्या०—अपक्व स्नेह की अनुवासन बस्ति नहीं देनी चाहिए क्योंकि अपक्व स्नेह गुदवलियों में लिप्त हो जाती है तत्पश्चात् तृष्णा, मोह, कण्डू, शोफ आदि उपद्रव हो जाता है । चिकित्सा का निर्देश करते हुए आचार्य ने लिखा हैं कि इसमें गोमूत्र युक्त तीक्ष्ण निरूह बस्ति देनी चाहिए । तत्पश्चात् अर्कपत्रस्वरस से सिद्ध तैल की अनुवासन बस्ति देनी चाहिए । अष्टाङ्गसंग्रह एवं अष्टाङ्ग हृदय में पाठ समान हैं ।

वातघ्नौषध सुखोष्ण बस्तिः ।

वातघ्नौषध निष्क्वाथाः सैन्धवत्रिवृतायुताः ।
साम्लाः सुखोष्णाः देयाः स्युर्बस्तयः कुपितेऽनिले ।

वंगसेन

हि० व्या०— वातघ्न औषधियों का क्वाथ बनाकर, सैंधव लवण, निशोथ एवं कांजी मिलाकर, सुखोष्ण बस्ति रोगनाशक है ।

रक्तज रोगे शीतलबस्तिविधानम् ।

शर्करेक्षुरसक्षौद्रघृतयुक्ताः सुशीतलाः ।
क्षीरीवृक्षकषायाद्या बस्तय शोणितेहिताः ॥

वंगसेन

हि० व्या०—मिश्री, गन्ने का रस, शहद और घृत पञ्चक्षीरी वृक्ष के कषाय में मिलाकर शीतल करके बस्ति देने पर रक्तजन्य रोग दूर होते हैं ।

एरण्डादि निरूह अनुवासनवस्तिः ।

एरण्डमूलत्रिफलाबलारास्ना पुनर्नवाः ।
गुडूच्यारग्वधो दारु पलाशो मदनं फलम् ॥
मूलं तुरङ्गगन्धायाः पञ्चमूलं कनीयसम् ।
पलप्रमाणान्येतानि जलद्रोणे विपाचयेत् ॥
अष्टभागावशेषं तं परिपूतं समाहरेत् ।
कर्षप्रमाणान्येतानि श्लक्ष्णपेष्याणि कारयेत् ॥
शताह्वा मधुकं मुस्ता प्रियङ्गुर्हपुषा वचा ।
रसाञ्जनं तार्क्ष्यशैलं पिप्पल्यः कौटजं फलम् ॥
समूत्रमांसनियूंहो निरूह साधुयोजितः ।
लेखनो दीपनो बल्यो ग्रहण्यर्शोविकारनुत् ॥
पार्श्वपृष्ठकटीशूलं पार्श्वजङ्घोरुजा जः ।

एरण्डबस्तिः शमयेन्मारुतं च कफावृतम् ॥
युक्तमात्रोष्णलवणः स्नेहबस्तिर्विधीयते ।

का० सं० ब० सि० ८।९७-१०३

एरण्डादि निरूह-अनुवासन योग—

हि० व्या०—एरण्डमूल, त्रिफला, बलामूल, रास्ना, पुनर्नवा, गुडूची, अमलतास, देवदार, पलाशछाल, मदनफल, अश्वगंधामूल, लघुपञ्चमूल प्रत्येक द्रव्य एक पल (४ तो०) एक द्रोण जल में क्वाथकर, अष्टमांश शेष उतारकर छान लेना चाहिए । सौंफ, मधुयष्टी, मुस्तक, प्रियङ्गु, हाउवेर, वच, रसवत, पिप्पली, कुटजबीज, (इन्द्रजौ), प्रत्येक द्रव्य एक-एक तो० की मात्रा में लेकर बारीक चूर्ण कर उक्त क्वाथ में मिलाकर मन्थनदण्ड से मथकर, सुखोष्ण में ही तिल तैल, मधु, सैन्धवलवण, गोमूत्र तथा मांस रस मिलाकर निरूहबस्ति तैयार करना चाहिए ।

गुण एवं उपयोग—यह लेखन गुणयुक्त है । अग्निदीपक तथा बल्य है । ग्रहणी, अर्श, पार्श्वशूल, पृष्ठशूल, कटिशूल, पार्श्व. जङ्घा एवं उरु की वेदना को दूर करती है । इस स्नेहबस्ति को उष्ण कर तथा लवणमिश्रित कर अनुवासन वस्ति के रूप में प्रयोग करने पर कफावृत वात दूर होता है ।

वाजीकरणप्रधानः मायूरादि बस्तिः ।

मयूरमपित्तपक्षपादस्यान्त्रं स्थिरादिभिः पलिकैः सजले पयसि पक्त्वा क्षीरशेषं मदनपिप्पलीविदारीशतकुसुमामधुककल्कीकृतं मधुघृतसैंधवयुक्तं बस्तिं दद्यात् स्त्रीष्वतिप्रसक्त क्षीणेन्द्रियेभ्यो वलवर्णकरम् । च० सि० १२।३०

हि० व्या०—मयूरादिबस्ति—पित्त, पख, पैर, मुख, और आन्त्ररहित मयूर (मोर) पक्षि का मांस, लघुपञ्चमूल की औषधियों को एक-एक पल (४ तो०) की मात्रा में लेकर चतुर्गुणजल और गोदुग्ध में पकाकर, दुग्धमात्र शेष छानकर उसमें मदनफलपिप्पली, विदारीकन्द सौंफ और मधुयष्टी का कल्क एव मधु, घृत और सैंधव लवण मिलाकर बस्तिप्रयोग करना चाहिए । मैथुनाशक्य, क्षीरेन्द्रिय पुरुष के लिए बलवर्धक है ।

रसायनः गोधानकुलादि बस्तियोगः ।

गोधानकुलमार्जारमूषिकशल्लकमांसानां दशपलान् भागान् पंञ्चमूलान् पयसि पक्त्वा तत्पयः पिप्पलीफलकल्कसैन्धवसौवर्चलशर्करामधुघृततैलयुक्तोवस्तिर्बल्यो रसायनः क्षीणक्षतस्य सन्धानकरो मथितोरस्करथगजह्यभग्नवातवलासकप्रभृत्युदावर्तवातसक्तमूत्रवर्चश्शुक्राणां हिततमश्च । च० सि० १२।३२

हि० व्या०—गोह, नेवला, बिल्ली, चूहा, शाही, प्रत्येक का मांस एक-एक पल (४ तोला), लघुपञ्चमूल की सभी औषधियां एक-एक पल (४ तो०)

एकत्रकर चतुर्गुण दुग्ध में पकाना चाहिए। चतुर्थांश शेष छानकर, पिप्पली, मदनफलकल्क तथा सैंधवनमक, सौवर्चल नमक, चीनी, मधु, घृत, तेल मिलाकर बस्ति देने पर बलवर्द्धन होता है। यह रसायनगुणयुक्त है। क्षत-क्षीण, (उरः क्षत) सन्धानकारक है। बलवान् व्यक्ति से, रथ, हाथी, घोड़ा आदि से, लड़ने पर, वक्षप्रदेश के भग्न होने पर भग्न सन्धानकारक है। वातबलासक, उदावर्त, वातजन्यमल-मूत्र-शुक्रावरोध में हितकारक है।

कूर्मादिबस्तिः बलजननः

कूर्मादीनामन्यतमपिशितसिद्धं पयो गोवृषनागहय नक्रहंसकुक्कुटाण्डरस-मधुघृतशर्करासैन्धवेक्षुरकात्मगुप्ताफलकल्कसंपृष्टो बस्ति वृद्धानामपि बल-जननः।

च० सि० १२।३३

कूर्मादीनामन्यतमेत्यादिकः सप्तदशः। अत्र कूर्मकर्कटादय एकादश पठिताः। तत्र यः प्रायः कूर्मेण क्रियते स प्रत्येकं गणनायां प्रविशति। चक्रपा०।

हि० व्या०—बलकारक कूर्मादिबस्ति—कछुआ आदि जलचर प्राणी में से किसी एक के मांस से विधिवत् दुग्ध पकाकर सांड, हाथी, घोड़ा, इनके अण्ड-कोष को जल में पकाकर उस मांस रस को एकत्र मिलाकर घड़ियाल, हंस, मुर्गे के अण्डों का सारभाग (तरल पदार्थ), मधु, घृत, चीनी, सैंधव लवण, तालमखाना, कौचबीज का कल्क मिलाकर मथकर बस्ति देने से वृद्ध मनुष्य के शरीर में भी बलसंजनन होता है।

गोवृषबस्तिः

गोवृषवस्तवराहवृषणचर्कटकर्कसिद्धं क्षीरमुच्चटेक्षुरसात्मगुप्तामधुघृत-सैन्धवयुक्तः किंचिल्लवणितो बस्तिः।

च० सि० १२।३४

हि० व्या—गोवृषबस्ति—सांड, बकरा, सूअर, इनके अण्डकोष, केकड़ा और गोरैया के मांस से साधित दूध में श्वेतगुञ्जा मूल, तालमखाना, केवांच का कल्क एवं मधु, घृत, नमक (अल्प), मिलाकर बस्ति देने से वृद्ध पुरुषों में बलसंजनन होता है।

कर्कटादि बस्तिः परमवृष्यः

कर्कटकरसश्चटकाण्डरसयुक्त समधुघृतशर्करो बस्तिः; इत्येते बस्तयः परम-वृष्याः उच्चटकेक्षुरकात्मगुप्ताभृत क्षीरप्रतिभोजनानुपानात् स्त्रीशतगामिनं नरं कुर्युः।

च० सि० १२।३५

हि० व्या०—परमवृष्य कर्कटादिबस्ति—केकड़े के मांसरस, गोरैया के अण्डे का तरल भाग, मधु, घृत, चीनी मिलाकर बस्ति देनी चाहिए। यह

उष्ण और वृष्य है। इसके बाद सफेद गुञ्जा का मूल, तालमखाना, कौंचबीज, इनके कल्क से सांधित दूध के साथ भोजन करने से मनुष्य एक सौ स्त्रियों के साथ रमण करने में समर्थ होता है।

वातरोगनाशनः दशमूलादिबस्तिः

दशमूलमयूरहंसकुक्कुटक्वाथात् पञ्चप्रसृतं तैलघृतवसामज्ज चतुष्प्रसृत-युक्तं शतपुष्पामुस्तहपुषाकल्कीकृतः सलवणो बस्तिः पादगुल्फोरुजानुजङ्घात्रिक-वंक्षणबस्तिवृषणानिलरोगहरः।

च० सि० १२।३६

हि व्या—दशमूल, मोर का मांस, हंस का मांस, मुर्गे का मांस, इनके विधिवत् क्वाथ पाँच प्रसृत, घृत एक प्रसृत, वसा एक प्रसृत, मज्जा एक प्रसृत, सौंफ, मोथा, हाउबेर, इनका कल्क अल्प मात्रा में सैंधव लवण मिलाकर बस्ति देने से, पैर, गुल्फ, उरु, जानु, जंघा, त्रिक प्रदेश, वंक्षण, मूत्राशय, अण्डप्रदेश में उत्पन्न वातरोग दूर हो जाता है।

मृगविष्किरानूपबिलेशयानामेतेनैव कल्पेन बस्तयो देयाः।

च० सि० १२।३७

पूर्वोक्त कल्पना के अनुसार ही मृग, विष्किर, आनूप, बिलेशय प्राणियों के द्वारा बस्ति की कल्पना कर व्यवहार करना चाहिए।

मधुघृतादिबस्तिः निरुपद्रवः बृंहण क्रिमिकोष्ठोदावर्तादि शमनः

मधुघृतद्विप्रसृतस्तुल्योष्णोदकः शतपुष्पार्धपलः सैन्धवार्धाक्षयुक्तो बस्ति-र्दीपनो बृंहणो बलवर्णकरो निरुपद्रवो वृष्यतमो रसायनः क्रिमिकुष्ठोदावर्त-गुल्माशोंघ्नप्लीहमेहहरः।

च० सि० १२।३८

हि० व्या—मधुघृतबस्तिः—मधु एक प्रसृत, घृत एक प्रसृत, सम भाग उष्णजल, सौंफ का कल्क, २ तो०, सैंधव लवण आधा तोला, इनसे बस्ति तैयार कर प्रयोग करने से अत्यन्त वृष्य होता है। मूत्रकृच्छ, पित्त एवं वात-रोग दूर करती है।

मधुघृताभ्यां पयस्तुल्यो बस्तिः निरुपद्रवः मेढ्रपाक परिकर्ति-कादिशमनश्च

तद्वन्मधुघृताभ्यां पयस्तुल्यो बस्तिः पूर्वकल्पेन बलवर्णकरो वृष्यतमो निरुपद्रवो बस्तिमेढ्रपाकपरिकर्तिकामूत्रकृच्छ्रपित्तव्याधिहरो रसायनश्च।

च० सि० १२।३९

हि० व्या० मधु, घृत, दूध समान भाग एकत्र मिलाकर पूर्वोक्त विधि से सौंफ का कल्क, २ तो०, सैंधवलवण आधा तोला मिलाकर बस्ति प्रयोग करने से परमवृष्य और निरुपद्रव होता है। इसके प्रयोग से मूत्राशय का पाक,

मूत्रेन्द्रिय का पाक, परिकर्तिका, मूत्रकृच्छ्र, पित्तजन्य रोग दूर होते हैं। यह रसायन गुणकारक है।

घृततैलवसामज्जचतुः प्रसृतोबस्तिः मूत्रकृच्छ्र पित्तव्याधिशमनः

घृततैलवसामज्ज चतुः प्रसृतं (तुल्योष्णोदके) हपुषार्धपलं सैन्धवार्धाक्षयुक्तो बस्तिर्वृष्यतमो मूत्रकृच्छ्रपित्तव्याधिहरो रसायनः।

च० सि० १२।४०

हि० व्या०—नवीन गोघृत, तिल का तैल, वसा और मज्जा एक-एक प्रसृत, चार प्रसृत उष्ण जल, हाउबेर का कल्क २ तो०, सैंधव नमक आधा तोला, सभी को एकत्र मथ कर बस्ति देने से वृष्य (बलवर्धक) होता है। मूत्रकृच्छ्र तथा पित्तज रोगों को दूर करती है। रसायन गुणकारक है।

मधुतैलचतुः प्रसृतोबस्तिः निरुपद्रवः कृमिकुष्ठोदावर्तगुल्मार्शोहरः

मधुतैलं चतुः प्रसृतं तुल्योष्णोदकं शतपुष्पार्धपलं सैन्धवार्धाक्षयुक्तं बस्तिः दीपनो बृंहणो बलवर्णकरो निरुपद्रवो वृष्यतमो रसायन कृमिकुष्ठोदावर्तगुल्मार्शोघ्नष्लीहमेहहरः। च० सि० १२।४१

हि० व्या०—मधु दो प्रसृत, तिल का तेल २ प्रसृत, सुखोष्ण जल चार प्रसृत, सौंफ कल्क २ तो०, सैंधव नमक आधा तोला, इन सबको मथ कर बस्ति देने पर दीपन, बृंहण, बलवर्णकारक, उपद्रवरहित, उत्तम वृष्य और रसायन गुणकारक है। कृमि रोग, कुष्ठ, उदावर्त, गुल्म, अर्श, ब्रघ्न, प्लीहा और प्रमेह रोग नाशक है।

मधुघृताभ्यां मांसरस तुल्यः बस्तिः जानुनिकुञ्चनादिहरः

तद्वन्मधुघृताभ्यां मांसरसतुल्यों मुस्ताक्षयुक्तः पूर्ववद्बस्तिर्वातबलासपादहर्षगुल्मत्रिकजानूरुनिकुञ्चनबस्तिवृषणमेढ्रत्रिकपृष्ठशूलहरः।

च० सि० १२।४२

हि० व्या०—पूर्वोक्त विधि से मधु, घृत, सम भाग मांसरस, नागरमोथा का कल्क एक तोला एकत्र मथकर बस्ति प्रयोग करने से वातबलास, पादहर्ष गुल्म, त्रिक, जानु, उरु प्रदेश में खींचने के समान पीड़ा को दूर करती है। इससे बस्ति, अण्डकोष, मूत्रेन्द्रिय तथा त्रिकप्रदेश एवं पृष्ठवंश का शूल दूर होता है।

सुरासौवीरकादिबस्तिः सर्ववातहरः

सुरासौवीरककुलत्थमांसरसमधुघृततैलसप्तप्रसृतो मुस्तशताह्वा कल्कितः सलवणो बस्तिः सर्ववातरोगहरः।

च० सि० १२।४३

हि० व्या०—सुरा, सौवीर, कुलथी का क्वाथ, मधु, घृत और तेल, प्रत्येक एक-एक प्रसृत, नागरमोथा, सौंफ, सैंधवनमक का कल्क मिलाकर बस्ति देने से सभी प्रकार के वात रोग दूर करती है।

द्विपञ्चमूल त्रिफलादि बस्तिः श्लेष्मव्याध्यवस्त्याटोपादि हरः

द्विपञ्चमूलत्रिफलाबिल्वमदनफलकषायो गोमूत्र सिद्धः कुटज मदनफलऽ मुस्तपाठाकल्कितः सैन्धवयावशूकक्षौद्रतैलयुक्तो बस्तिः श्लेष्मव्याधिवस्त्याटोपवातशुक्रसङ्गपाण्डुरोगाजीर्णविसूचिकालसकेषु देय इति।

च० सि० १२।४४

हि० व्या०—दोनों पञ्चमूल (दशमूल), त्रिफला (आँवला, हरड़, बहेरा), बिल्वमज्जा, मदनफल, समभाग यवकूटकर गोमूत्र में मिलाकर क्वाथ की विधि से पकाकर चतुर्थांश शेष होने पर, इन्द्रयव, मदनफल, नागरमोथा, पाठा का कल्क, सैंधव लवण, यवक्षार, मधु, तैल, मिलाकर प्रयोग करने पर बस्ति (मूत्राशय) के रोग, आटोप, अपान वायु का अवरोध, शुक्रावरोध, पाण्डुरोग, अजीर्ण, विसूचिका, अलसक रोग दूर होते हैं।

शतावर्यादि घृततैल योगः शुक्रक्षय बन्ध्यत्व रोग नाशनः

शतावरीगुडूचीक्षुविदार्यामलकद्राक्षाखर्जूराणां यन्त्रपीडितानां रसप्रस्थं पृथगेकैकं तद्वद्घृततैलगोमहिष्यजाक्षीराणां द्वौ द्वौ दद्यात्, जीवकर्षभकमेदामहामेदात्वक्क्षीरीशृङ्गाटकमधूलिकामधुकोच्चटापिप्पलीपुष्करबीजनीलोत्पलकदम्बपुष्पपुण्डरीककेशरकल्कान्पृषततरक्षुमांसकुक्कुटचटकचकोरमत्ताक्षवर्हिजीवञ्जीवकुलिङ्गहंसाण्डरसवसामज्जादेशच प्रस्थं दत्त्वा साधयेत्। ब्रह्मघोषणङ्खपटहभेरी निनादैः सिद्धं सितच्छत्रकृतच्छायं गजस्कन्धमारोपयेद्भगवन्तं वृषध्वजमभिपूज्य, तं स्नेहं त्रिभागमांक्षिकं मङ्गलाशीः स्तुतिदेवताचंनैर्बस्ति गमयेत्। नृणांस्त्रीविहाराणां नष्टरेतसां क्षतक्षीणविषमज्वरार्तानां व्यापन्नयोनीनां बन्ध्यानां रक्तगुल्मिनीनां मृतापत्यानामनार्तवानां च स्त्रीणां क्षीणमांसरुधिरानां पथ्यतमंरसायनमुत्तमं वलीपलितनाशनं विद्यात्। च० सि० १२।४५

मत्ताक्षः कोकिलः। जीवञ्जीवो विषदर्शनमृत्युः। पुष्कराक्षो हंस विशेषः। ब्रह्मघोषो=वेदध्वनिः। एते च ब्रह्मघोषादयोऽदृष्टद्वारा उपकारकाः रक्षः प्रभृतिवीर्यापहरणार्थं क्रियन्ते। चक्रपाणिः।

हि० व्या०—चतुः स्नेह अनुवासन तैल—शतावरी, गुडूची, गन्ने का रस, विदारीकन्द, आँवला, दाख, खजूर, इनका कोल्हू में पेरकर निकाला हुआ रस, एक-एक प्रस्थ, गोघृत दो प्रस्थ, तिल का तेल दो प्रस्थ, गोदुग्ध दोप्रस्थ, भैंस का दूध दो प्रस्थ, बकरी का दूध, दो प्रस्थ, जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, वंशलोचन, सिंघाड़ा, सोआ, मुलेठी, श्वेतगुञ्जामूल, पिप्पली, कमलगट्टा, नीलकमल, कदम्बपुष्प, लालकमल, नागकेशर, इनका कल्क बनाकर एकत्र करना चाहिए। मृग का मांसरस, तरक्षु (व्याघ्रविशेष) का मांसरस, मुर्गा, गोरैया चकोर, कोयल, मोर, लावा, कुर्लिग (गोरैया के समान विशेष पक्षी), हंस प्रत्येक पक्षियों के अण्डों का तरल पदार्थ, वसा-मज्जा एक-एक प्रस्थ

मिलाकर पाक करना चाहिए। स्नेहपाककाल में हाथी पर बिठाये गये श्वेतछत्र युक्त भगवान् शिव की विशेष रूप से पूजा करनी चाहिए। वेदपाठ, शंख, पटह, भेरी, मृदङ्ग, नगारे बजाकर भगवान् शिव की आराधना करनी चाहिए। पक्वस्नेह में तृतीयांश शहद मिलाना चाहिए। तत्पश्चात् आशीर्वादात्मक वेदमन्त्रों का उच्चारण करते हुए मङ्गलश्लोकों का पाठ करते हुए बस्ति प्रयोग करना चाहिए।

गुण तथा उपयोग—इस वस्ति के प्रयोग से स्त्रियों से नित्यविहार करने वाले पुरुषों का बल बढ़ता है। नष्टवीर्यपुरुष, क्षत-क्षीण, विषमज्वरयोनि-व्यापत्, वन्ध्या रोग, रक्त गुल्म, मृतवत्सा रोग, आर्तवदोष, मांसक्षय एवं रक्त क्षय वाले रोगियों के लिए उत्तम रसायन है। यह वलीपलित रोगों को दूर करती है।

महाबला तैलयोगः नष्टशुक्रादि शमनः

बलागोक्षुरकरास्नाश्वगन्धाशतावरीसहचराणां शतं शतमापोध्य जलद्रोण-शते प्रसाध्यं, तस्मिन् जलद्रोणावशेषे रसे वस्त्रपूते विदार्यामलकस्वरसयोर्वस्त-महिषवराहवृषकुक्कुट बर्हिहंसकारण्डवसारसाण्डरसानां घृत तैलयोश्चैकैकं प्रस्थमष्टौ प्रस्थान क्षीरस्य दत्त्वा चन्दनमधूकमधूलिकात्वक्क्षीरीविसमृणाल-नीलोत्पलपटोलात्मगुप्तान्नपाकितालतालमस्तकखर्जूरमृद्वीकातामलकीकण्टकारी जीवकर्षभकक्षुद्रसहामहासहाशतावरीमेदापिप्पलीह्रीवेरस्वक्पत्रकल्कांश्च दत्त्वा साधयेत्। ब्रह्मघोषादिना विधिना तत्सिद्ध बस्तिं दद्यात्। तेन स्त्रीशतंगच्छेत्; न चात्रास्ते विहाराहारयन्त्रणा काचित्। एष वृष्यो बल्यो बृंहण आयुष्यो-वलीपलितनुत् क्षतक्षीणनष्टशुक्रविषमज्वरार्तानां व्यापन्नयोनीनां च पथ्यतमः।

च० सि० १२।४६

बलादि यमक अनुवासन

हि० व्या०—वलामूल, गोखरू, रास्ना, असगन्ध, शतावर, कटसरैया, प्रत्येक द्रव्य सौ-सौ पल, कूटकर सौ द्रोण जल में क्वाथ बनाकर, एक द्रोण शेष छानकर, विदारीकन्द रस एक प्रस्थ, आँवले का रस एक प्रस्थ, बकरे के अण्ड का मांस स्वरस एक प्रस्थ, सूअर के अण्डकोष का मांस स्वरस एक प्रस्थ, बैल के अण्डकोष का मांस स्वरस एक प्रस्थ, मुर्गे के अण्डों का मांसरस एक प्रस्थ, मोर, हंस, कारण्डव (हंसभेद), सारस इन पक्षियों के अण्डों का मांसरस, एक-एक प्रस्थ, घृत-तेल एक-एक प्रस्थ, दूध आठ प्रस्थ, एकत्र कर पकाना चाहिए। लाल चन्दन, मधुयष्टी, सोआ, वंशलोचन, कमलनाल, नीलकमल, पटोलफल, केवाच बीज, नीलेफूल की कटसरैया, तालमस्तक, खजूर मुनक्का, भूमिआँवला, कण्टकारी, जीवक, ऋषभक, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, शतावर, मेदा, महामेदा, पिप्पली, हाउवेर, दालचीनी, तेजपत्र, इनके समभाग कल्क स्नेह के चतुर्थांश मिलाना चाहिए। स्नेहपाक के समय, वेदपाठ, भगवान् शिव

की आराधना कर स्नेह बस्ति का प्रयोग करना चाहिए। इस बस्ति के प्रयोगकाल में आहार एवं विहार में कोई विधि निषेध नहीं है। यह वृष्य बल्य, बृंहण, आयुष्यवर्धक है। वलीपलित क्षत-क्षीण, नष्टशुक्र, विषमज्वर एवं योनिरोग नाशक है।

वृहत्सहचरादितैलयोगः रसायनः श्वासकास हरः

सहचरपलशतमुदकद्रोणचतुष्टये पक्त्वा द्रोणशेषे रसे सुपूते विदारीक्षुरस-प्रस्थाभ्यामष्टगुणक्षीरं घृततैलप्रस्थं बलामधुमधूकचन्दनमधूलिकासारिवामेदा-महामेदाकाकोली क्षीरकाकोलीपयस्यागुरुमञ्जिष्ठाव्याघ्रनखशटी सहचरसहस्र-वीर्याविराङ्गलोध्राणामक्षमात्रैर्द्विगुणशर्करैः कल्कैः साधयेद् ब्रह्मघोषादिनाविधिना तत्सिद्धं बस्तिं दद्यात्, एष सर्वरोगहरो रसायनो ललितानां श्रेष्ठोऽन्तः पुरचारि-णीनां क्षत क्षय वातपित्त वेदनाश्वासकासहरस्त्रिभागमाक्षिको वलीपलितनुद्वर्ण-रूप वलमांसशुक्रवर्धनः।

च० सि० १२।४६

सहचरादि (यमक) अनुवासन

हि० व्या०—एक सौ पल कटसरैया यवकुट कर चार द्रोण जल में पकाना चाहिए। चतुर्थांश शेष छानकर उसमें विदारीकन्द स्वरस एक प्रस्थ, गन्ने का रस एक प्रस्थ, गोदुग्ध आठप्रस्थ, घृत एक प्रस्थ, तेल एक प्रस्थ मिलाकर एकत्र पाक करना चाहिए। इसमें वलामूल, मधुयष्टी, लालचन्दन, सोआ, अनन्तमूल, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, क्षीरविदारी, अगर मंजिष्ठा, नखी, कचूर, कटसरैया, सहसवीर्या (नीलदूर्वा), दालचीनी और लोध्र, एक-एक कर्ष की मात्रा में प्रत्येकद्रव्य का कल्क बनाकर, डालना चाहिए। वैदिकमन्त्रों का अनुष्ठान और भगवान शिव की आराधना करते हुऐ इस अनुवासन वस्ति का प्रयोग करना चाहिए। यह सभी प्रकार के रोगों को दूर करने वाली रसायन बस्ति है। सदा अन्तः पुर में रहने वाली सुकुमार प्रकृति ललित ललनाओं के लिए श्रेष्ठ है। क्षत, क्षय, वातज, पित्तज, वेदना, श्वास-कास, दूर करती है। इस सिद्ध स्नेह में तृतीयांश शहद मिलाना चाहिए। यह वली-पलित नाशक है। वल, वर्ण, मांस, शुक्र और सौंदर्य वर्धक है।

वीर्यबलाधानार्थं शतपाकानां सहस्रपकानां वा संकेतः

इत्येते रसायनाः स्नेह बस्तयः सति विभवे शतपाकाः सहस्रपाका वा कार्या वीर्यबलाधानार्थमिति।

शतपाकाः सहस्रपाकाश्चेत्यत्र स्नेहापेक्षयाशतगुणेन सहस्रगुणेन वा द्रवेण एकदैव पाकं मन्यन्ते केचित्। चक्रपाणिः।

---

१. सहस्रवीर्या—दूर्वा; वराङ्ग=गुडत्वक्। चक्रपाणिः।

हि० —उपरोक्त तीन रसायन बस्तियों को धनी लोगों को सौ बार या हजार बार पाक करवाकर सेवन करना चाहिए। सौ या हजार बार पाक करने से इनके गुण में वृद्धि होती है।

मात्राबस्ति विशेषगुणाः

कर्मव्यायामभाराध्वया(पा)नस्त्रीकर्षितेषु च।
दुर्बले वातभग्ने च मात्राबस्तिः सदा मतः॥
यथेष्टाहारचेष्टस्य सर्वकालं निरत्ययः।
ह्रस्वयाः स्नेहमात्राया मात्राबस्तिः समो भवेत्॥
बल्यं सुखोपचर्यं च सुखं सृष्टपुरीषकृत्।
स्नेहमात्राविधानं हि बृंहणं वातरोगनुत्॥

च० सि० ४।५२-५४

अनुवासनविशेषस्य मात्रावस्तेर्विषयं प्रमाणं गुणाश्च यथाक्रममाह—कर्मेत्यादि। कर्मात्रकन्दुकचालनादिति, व्यायामो धनुराकर्षणादिः। वातभग्ने वातेन पीडिते। सदेति प्रत्यहम्। ह्रस्वाया इति अर्धाहः परिणमनीयायाः, उक्तं हि "अहोरात्रमहः कृत्स्नं दिनार्धं च प्रतीक्षते। उत्तमा मध्यमा ह्रस्वा स्नेहमात्रा जरा प्रति" (सु० अ० १३) इति। तन्त्रान्तरे स्नेहमात्रात्रयं प्रमाणैरेवोक्तं, यथा—षट्पली तु भवेज्ज्येष्ठा मध्यमा त्रिपली भवेत्। कनीयसी सार्धपला त्रिधा मात्राऽनुवासने—इति। सुश्रुतेनापि बस्तिप्रमाणमुक्तं, यथा—अनुवासन स्यापि विकल्पोऽर्धार्धमात्रावकृष्टोऽपरिहार्यो मात्राबस्तिः" (सु. चि. अ० ३५) इति। अनेन च सार्धपलमानो मात्राबस्तिरुक्तो भवति, तत्र हि षट्पलः स्नेहबस्तिरुक्तः, अनुवासनं तु त्रिपलम्। सुखोपचर्यमिति चेष्टाहारनियमाभावादेव चक्रपाणि०

मात्राबस्तिविधानस्य विषयावधारणार्थं कर्म व्यायामादिग्रहणं। मात्राबस्ते रनुष्णाशीतस्य न्यायेन स्वभावतश्च दुर्बलस्य वाते न च भग्नस्य संकुचितस्येति प्रमाणनिर्देशार्थम्। ह्रस्वायास्स्नेहमात्राया इति ह्रस्वा निर्देशः। ह्रस्वानुवासनमात्रा अध्यर्धपलतया, तन्त्रान्तरोक्ता। षट्पला चैव ज्येष्ठा त्रिपली मध्यमा भवेत्। कनीयसी त्वर्धपली त्रिधा मात्रानुवासने।" इति अर्धाहर्जरणकालप्रमाणोपलक्षिता ह्रस्वा स्नेहमात्रा तयासमो मात्राबस्तियुंक्त इति पितामहः। पुनर्मात्रावस्तेरेव कर्तव्यतोपचारः गुण निर्देशश्च। यथेष्टाहारचेष्टस्येत्यादि संग्रहः॥ जज्जटः।

मात्राबस्ति वर्णनम्

ह्रस्वया स्नेहपानस्य मात्रया योजितः समः।
मात्राबस्तिः स्मृतः स्नेहः॥ अ० हृ० सू० १९।५

ह्रस्वया यामद्वयजरणलक्षणया स्नेहमात्रया समस्तुल्यो योजितः स्नेहो मात्राबस्तिसंज्ञः स्मृतः सद्भैरिति शेषः। अन्यैश्चान्यथा स्नेहमात्रोक्ता। यथा।

षट्पला तु भवेज्ज्येष्ठा त्रिपला मध्यमा भवेत्। कनीयस्यध्यर्धपला त्रिधा मात्रानुवासने इति। अरुणदत्तः।

मात्राबस्तियोग्यानां रुग्णानां संकेतः

शीलनीयः सदा च सः।
बालवृद्धाध्वभारस्त्रीव्यायामासक्तचिंतकैः॥
वातभग्नबलाऽल्पाग्निनृपेश्वरसुखात्मभिः।
दोषघ्नो निष्परीहारो बल्यः सृष्टमलः सुखः॥

अ. हृ. सू. १९।६

स च मात्राबस्तिर्बालादिभिः सततमेव शीलयितव्यः स च शीलितो दोषापहस्तया निष्परीहारोऽनिर्यत्नो बलाय हितो निर्गतपुरीषादिकः सुखकारी स्यात्। अरुणदत्तः।

स च मात्राबस्तिः सदा सर्वकालं निरन्तरं कृत्वा शीलनीयोऽभ्यसनीयो बालवृद्धादिभिः स च शीलितः सुखहेतुत्वादारोग्यं कुर्यादथवा बालादीनामपिदातुं युज्यते। ततोऽसौ सुखस्तथा दोषघ्नो वातशमनो वाताधिकौ पित्तश्लेष्मणावपि हन्ति विनाशयतीति दोषघ्नः। तथाऽसौ निष्परिहारः उष्णोदकोपचारी स्यादित्यादिग्रन्थनिर्दिष्टया यन्त्रणया रहितोऽतएव बलादीनां सुखस्तथा बल्यो बलाय हितः। तथा सृष्टमलः सृष्टोमलः पुरीषाख्यो येन प्रणीतेन सम्पद्यते इत्यसौ सृष्टमलः॥ चंद्रनन्दनः।

अनुवासनभेदश्च मात्रा बस्तिरुदीरितः। शा० उ० ५।४

तस्या मात्रा—

पलद्वयं तस्य मात्रा तस्मादर्धाऽपि वा भवेत्। शा० उ०५।

तस्येति मात्रा बस्तेः पलद्वयं द्विपलप्रमाणं। तस्मादिति द्विपलार्धपलप्रमाणमात्रा भवेत्। एतेनायमर्थः संपन्नः यस्योत्तमा पलादिमात्रार्हति तस्य द्विपला प्रथमा ततः पलार्धेन वृद्धिः एवं नवभिर्दिनैः षट्पली मात्रा पूर्णा भवति। तथा यस्यत्रिपलीमात्रा भवति। तथा यस्य त्रिपली मात्रार्हति तस्य पलं प्रथमं देयं ततश्च कर्षेण वृद्धिः एवं नवभिर्दिनैः त्रिपलीमात्रा भवति। एवं कनीयसी मात्राऽपि ज्ञेया सापि वाग्रहणाद्वोढव्या। आढमल्लः।

मात्राबस्ति—

हि० व्या०—प्रतिदिन व्यायाम करने से (फुटबाल, वालीबाल, क्रीकेट की गेंद बाजी करने से, धनुष चलाने) आदि से कृश, सिरपर भार ढोने से उत्पन्न कृशता, मार्ग चलने से उत्पन्न कृशता, प्रतिदिन स्त्रियों के साथ अत्यधिक रमण करने से कृश, वातरोग से कृश, व्यक्तियों में मात्रा वस्ति का प्रयोग हितकर होता है। स्वेच्छया आहार, विहार या शारीरिक कार्य करने वाले व्यक्तियों के लिए, सर्वदा उपद्रव रहित (निरापद), इस मात्रावस्ति का प्रयोग करना चाहिए। इसकी मात्रा स्नेहपान की छोटी

मात्रा के समान है। यह बलवर्द्धक, सुखपूर्वक उपयोग की जाने वाली, बृंहण और वातरोग नाशक है। यह स्नेह की मात्रा का विधान बताया गया है। यह अनुवासन वस्ति का एक विकल्प है। अन्य आचार्य वाग्भट, शार्ङ्गधर आदि ने भी इसका समर्थन किया है। स्नेहनपान की उत्तम मात्रा ६पल, मध्यममात्रा तीन पल और छोटी मात्रा डेढ़ पल की है। आचार्य शार्ङ्गधर ने २ पल या एक पल की मात्रा का निर्देश किया है।

स्नेहबस्ति प्रयोगानन्तरं पथ्यपालन क्रमः

युक्तस्नेहं द्रवोष्णं च लघुपथ्योपसेवनम्।
भुक्तवान् मात्रया भोज्यमनुवास्यस्त्र्यहाद्व्यहात् ॥
धान्य नागर सिद्धं हि तोयं दद्याद्विचक्षणः।
व्युषिताय निशां कल्यमुष्णं वा केवलं जलम् ॥
स्नेहाजीर्णं जरयति श्लेष्माणं तद्विनत्ति च।
मारुतस्यानुलोम्यं च कुर्यादुष्णोदकं नृणाम् ॥
वमने च विरेके च निरूहे सानुवासने।
तस्मादुष्णोदकं देयं वातश्लेष्मोपशान्तये ॥ च० सि० ४।४२-४५

युक्तस्नेहमित्यव्यापन्नस्नेहमितिभावः। उपवेशनं भोजनम्। त्र्यहादिति विधानं प्रायिकम् धान्येत्यादौ षडङ्गविधिना तोयं साधनीयम्। कल्यमिति प्रभाते। स्नेहाजीर्णमिति स्नेहस्याजीर्णं कोष्ठोपलेपकमंशम्। चक्रपाणिः।

युक्तस्नेहमित्यल्पस्नेहगुणयुक्तं वा। लघुयुक्तमिति। यथा—कण्ठं प्रधावेदतिपीडितश्च तथा—"अति प्रपीडितः कोष्ठे तिष्ठत्याऽयाति वा गलम्।" लघुत्वल्पमात्रमुपसेवनं=व्यञ्जनं द्रवा द्रवं पथ्यं यत्तत्कालहितं मधुरकट्वादि क्षारयूषरसादिकं भोजयित्वा किंचिद्भुक्ष्यमिति। तथा चोक्तं—"न चातिस्निग्धमशनं भोजयित्वाऽनुवासयेत्। मदं मूर्च्छां च जनयेद्द्विधा स्नेहोऽवचारितः।"

इति जज्जटः।

जीर्णान्नमथ सायाह्ने स्नेहे प्रत्यागते पुनः।
लघ्वन्नं भोजयेत् कामं दीप्ताग्निस्तु नरोयदि ॥
प्रातरुष्णोदकं देयं धान्यनागरसाधितम्।
तेनास्य दीप्यते वह्निर्भक्ताकांक्षा च जायते ॥
स्नेहबस्तिक्रमेष्वेवं विधिमार्हुर्मनीषिणः।

सु० चि० ३७।६८-६९ वंगसेन, शार्ङ्गधर, भाव० प्र०

जीर्णान्नं परिणताहारं, सायाह्ना ग्रहणं पूर्वाह्ना भोजननिषेधार्थम्। लघ्वन्नमिति मात्रालघु द्रव्यलघु च; कामं दीप्ताग्निरित्यति दीप्ताग्निश्चेन्नरो भवति तदा कामं यथेष्टंलघ्वेव भोजयेत्। डल्हणः।

कफपित्ताऽनिलेष्वन्नं यूषक्षीररसैः क्रमात्। अ० हृ० सू० १९।४४

कफे कफविषयेऽन्नं भोजनं यूषेण सह प्रकल्पयेत्। पित्ते पित्तविषयेऽन्नं क्षीरेण सह प्रयोजयेत्। ततो वातविषयेऽन्नं मांसरसेन सह प्रयोजयेत्।

चंद्रनन्दनः।

अनुवासिताय दातव्यमितरेह्नि सुखोदकम्।
धान्यशुण्ठीकषायं वा स्नेहव्यापत्तिनाशनम् ॥

शार्ङ्गधर उ० ५।, वंगसेन

इतरेह्नि अपर दिने सुखोदकं उष्णोदकम्। अथवा धान्यशुण्ठीकषायं वातादपि कोष्णं स्यात्। उक्तं च वाग्भटेप्रातर्नागरधान्याम्भः कोष्णं केवलमेव च इति। अस्याग्रे केचित्पठन्ति—एकान्तरोपयोगेन धान्यशुण्ठीजलं पिबेत्। तेनाऽस्य दीप्यते वह्निर्भक्ताकांक्षा च जायते। इति। तन्मते तु एकान्तरानुवासनं, धान्यशुण्ठीक्वाथः परदिने प्रातः देय इति चक्रः। कोष्णोदकं च पित्तोत्तरे देयम्। आढ़मल्लः।

क्वाथार्द्धमात्रया प्रातर्धान्यशुण्ठीजलं पिबेत्।
पित्तोत्तरे कदुष्णाम्भस्तावन्मात्रं पिबेदनु ॥

तेनास्य दीप्यते वह्निर्भक्ताकाङ्क्षा च जायते। चक्रदत्तः, वंगसेनः यस्य पुरुषस्याग्न्याद्यपेक्षया यावान् संशमनक्वाथः समर्हति, तस्यार्द्धं धान्यशुण्ठीजलं पिबेदित्यर्थः। एतच्च धान्यशुण्ठीजलं षडङ्गविधिना कर्त्तव्यमिति चक्रः। ततश्च धान्यस्य दश द्वादश वा मासकाः, शुण्ठ्याश्च पट् चत्वारो वेति मिलित्वा कर्षमानत्वं ज्ञेयम्। एतच्च धान्यशुण्ठीजलं न प्रत्यहं देयं, किन्त्वेकान्तरमिति; तदुक्तम्—"एकान्तरोपयोगेन धान्यशुण्ठीजलं पिबेत्" इति। उत्सर्गतस्तावदेकान्तरमेवानुवासनदानं, यस्मिन् दिवसे अनुवासनं न दीयते, तस्मिन्नेव दिने धान्यशुण्ठी जलं देयम्, अनुवासन दिने तु न देयम्; यदाह चरकः—"भुक्तस्नेहं द्रवोष्णं च लघुपथ्योपसेवनम्। भुक्तवान् मात्रया योज्यमनुवास्यस्त्र्यहात् त्र्यहात्। धान्यनागरसंसिद्धं तोयं दद्याद्विचक्षणः। व्युषिताय निशां कल्यमुष्णं वा केवलं जलम् ॥ (सि० स्नेहव्यापादिका) इति। व्युषितायेत्यर्थः। एतेन यस्मिन् दिने अनुवासनस्नेहो न दीयते, तस्मिन्नेव दिने धान्यनागरसिद्धं जलं देयमिति बोधयतीति। कल्यमिति प्रातः। पित्तोल्वणे तु दोषे धान्यशुण्ठीजलं हित्वा कोष्णजलं देयमित्याह। पित्तोत्तरेत्यादि। तावन्मात्रमिति-क्वाथप्रमाणम्।

शिवदास सेनः

पानाहारविहारश्च परिहारश्च कृत्स्नशः।
स्नेहपानसमाकार्या नात्रकार्या विचारणा ॥

शार्ङ्गधर उ० ५।, भावप्र०

स्नानमुष्णोदकैः कुर्यात् दिवा स्वप्नमजीर्णताम्।
वर्जयेदपरं सर्वं, आचरेत्स्नेहबस्तिवत् ॥ शा०

ये पानाऽहारविहारादयः स्नेहपानविषये पूर्वं दर्शितः। तेऽप्यत्र क्रमशः कार्याः। तेनाऽत्र विचारणा न कार्या। आढ़मल्लः।

बस्तौ सेव्यं निषेधं च-उष्णोदकेन स्नानं कुर्यात् इति विहितम्। तथा स्नेहबस्तौ यद्विहितं तदा चरेत्। दिवा स्वापं अजीर्णतां च वर्जयेत् ॥ काशीराम

अनुवासनवस्ति पश्चात् कर्ष—अनुवासनबस्ति का सम्यक् प्रयोग हो जाने पर द्रव, उष्ण और लघु पथ्य का सेवन करना चाहिए। मात्रापूर्वक पथ्याहार सेवन के पश्चात् तीन-तीन दिन पर तब तक अनुवासन देनी चाहिए जब तक पूर्ण स्नेहन हो जाय। रोगी को अनुवासन बस्ति देने के पश्चात् प्रभात काल में धनियाँ और शुण्ठी से सिद्ध जल या केवल उष्णजल पिलाना चाहिए। उष्ण जल का पान करने से अजीर्ण (स्नेहाजीर्ण) का पाचन हो जाता हैं। कफ का भेदन और वायु का अनुलोमन हो जाता है। अतः वमन-विरेचन-निरूह और अनुवासन के पश्चात् कफजन्य रोगों की शांति हेतु उष्ण जल का सेवन करना चाहिए। आचार्य सुश्रुत के अनुसार उष्ण जल से अग्नि प्रदीप्त होती है और भोजन में रुचि उत्पन्न होती है। अष्टाङ्ग हृदयकार ने कफज रोगों में यूष, पित्तज रोगों में क्षीर और वातज रोगों में अनुवासन के पश्चात् रस पदार्थ क्रमशः पथ्य रूप में देने का विचार व्यक्त किया हैं। अन्य आचार्यों ने इसी के समान विचार व्यक्त किये हैं। आचार्य शार्ङ्गधर ने उष्ण जल से स्नान करना करना चाहिए, दिन में सोना नहीं चाहिए, अजीर्ण भोजन नहीं करना चाहिए तथा स्नेहन प्रकरण के समान पथ्य पालन करने का विचार व्यक्त किया है।

प्रत्यहं स्नेहबस्ति प्रयोगयोग्यानां व्याधिनां वर्णनम्

रूक्षनित्यस्तु दीप्ताग्निर्व्यायामी मारुतामयी।
वङ्क्षणश्रोण्युदावृत्तवाताश्चार्हा दिने दिने॥
एषां चाशु जरां स्नेहो यात्यम्बु सिकतास्विव।
अतोऽन्येषां त्र्यहात् प्रायः स्नेहं पचति पावकः॥

च० सि० ४।४६-४०

वङ्क्षण श्रोणिगतश्च तथोदावर्त्तश्च वातो येषां ते वङ्क्षण श्रोण्युदावर्त्त वाताः। अर्हा इत्यनुवासनार्हाः। उक्तं चान्यत्र—"रूक्षस्य बहुवातस्य स्नेह-बस्तिं दिने दिने। दद्याद्वैद्यस्ततोऽन्येषामग्न्याबाधभयात् त्र्यहात्।" सु० चि० अ० ३७ इति। प्रत्यहदान त्र्यहदानोपपत्तिमाह एषामित्यादि। त्र्यहात् स्नेहं बहिर्निः सृतेनोष्मणा पचति; यद्यप्यत्राग्निनोर्ध्वस्थितेन तादृशः संबन्धः स्नेहस्य नास्ति, तथाऽपि जाठरस्यैव विमिश्रितैरवयवैस्तत्पाको वक्तव्यः। प्रायः शब्देन पञ्चाहपाकमपि दर्शयति, तेन पञ्चाहदानमप्यनुवासने मन्दाग्नि प्रति प्रागुक्तं ज्ञेयं, उक्तं हि "परतोऽयहे वा त्र्यहेऽनुवास्योऽहनि पञ्चमे वा" (सि० अ० १) इति। चक्रपाणिः।

ध्रुवं येऽर्हास्त उच्यन्ते। रूक्षनित्यस्तु दीप्ताग्निरिति। प्रत्येकं वा वंक्षण-श्रोण्युदावर्त वाताः। उदावर्त एव वातः उदावर्त वात इति। वातोदावर्तो

वातविकारोक्तषड्विधश्चोदावर्तश्चेति। अथवा --"पक्वाशये कुप्यति चेदपानो यावत् विण्मारुतमूत्रसङ्गं क्रमादुदावर्तमतश्चघोरम् (च० चि० अ० २६) इति ऊर्ध्वमावर्तनादुदावर्तः। उदावृत्तवातो वेति पाठः। आशु जरणं पुनः स्नेहस्येत्थं रूपं, यात्यम्बु सिकतास्विवेति, जीर्णे स्वल्पगुणो भवेदिति च। यद्यपि सकलदोषक्षपणमिष्टं न ह्यनिसृतस्सर्वदैव दोषो भवतीति। अतोऽन्येषां त्र्यहादिति उक्त पारिशिष्येण रूक्षादिभ्योऽन्येषां यदि तर्हि त्र्यहादोषपाकः कथमन्नपानाभ्यङ्गस्नानादिः क्रियते। नहि पीतस्नेहस्यापरिणतस्यैव सतोऽनुवासनादि युक्तमिति। तथा चोक्तं·····रपि नागच्छेन्न भक्तं नानुवासनम्। दीप्ताग्निमागतस्नेहं तदहर्यापि भोजयेदिति। उक्तमिदमावस्थिकं द्रष्टव्यम्। यतः प्रत्यागतस्नेहस्य भोजनोपदेशः। स हि यत् एक दिनं स्नेहो गच्छतीति। ततश्चान्नपाकोऽग्निरपि हतवृत्तिरिति भोजनं विधीयते। न पीतस्नेहस्यैव। नेष्यत इति प्रायोवृत्त्या च स यावता कालेन पावकः पचत्यनिस्सृतमेव स्नेहं तुल्यगुणसम्पादनार्थमिति। अत एव अत्रापि च पाकोस्तीति कृत्वा पचतीत्युक्तम्। यथा—"पक्वाशयं तु प्राप्तस्य शोष्यमाणस्य चाग्निनेति। एवं सति मलप्रसादात्मकः परिणामः स्यादिति। अन्तराग्नि सन्धूक्षणं भवेत्। यथा—ह्यन्तराग्निसन्धूक्षित बालस्य यथा स्वेनोष्मणा सम्यग्विपच्यमानमित्यादि। गुणार्थं हि परिणामः। स चानिः सृतादेव स्नेहाद्भवतीत्यदोषः। जज्जटः।

प्रतिदिन अनुवासनीय व्यक्ति

हि० व्या०—प्रतिदिन रूक्ष आहार विहार करने वाले, प्रदीप्त जठराग्नि वाला, नित्य व्यायाम करने वाले, वात रोग से पीड़ित, वंक्षण, श्रोणीप्रदेश में वात रोग, उदावर्त रोगी इन व्यक्तियो को प्रतिदिन अनुवासन बस्ति देनी चाहिए।

समकालं गुदकण्ठाभ्यां स्नेहप्रयोगनिषेधे युक्तिः

न चैव गुदकण्ठाभ्यां दद्यात् स्नेहमनन्तरम्।
उभयस्मात् समं गच्छन् वातमग्निं च दूषयेत्॥

च० सि० ४।४६

गुदकण्ठाभ्यामित्यनुवासनपानाभ्याम्। अनन्तरमित्येककालम्। वातमग्निं च दूषयेदित्यत्र वातदूषणमजीर्णजनकतया वातावरणाच्च ज्ञेयम्। चक्रपाणिः।

स्नेहपानमनुवासनं वा तज्जातीयेनाप्युचितकर्मणा युगपन्न प्रयोक्तव्यम्। उक्तदोषत्वादित्याचार्याः। स्नेहपानस्यानुवासनस्य वानन्तरं न प्रयोक्तम्। न त्वनेनैव प्रयोगेण सहनिषेधः। अपि तु भूयः। अन्यथा ह्युभयतः प्राप्तिरेव नास्तीति। जज्जटः।

दशमोऽध्यायः

उत्तर बस्ति प्रकरणम्

संहिताओं में उत्तर बस्ति के दो अर्थ लिए गए हैं—प्रथम-उत्तर से उत्तर-मार्ग में प्रयुक्त होने के कारण उत्तर बस्ति कही जाती है तथा दूसरे अर्थ में श्रेष्ठ गुण वाली बस्ति होने से भी उत्तर बस्ति कहा गया है। चरक सिद्धि अध्याय ९ में उत्तर बस्ति से मनुष्य एवं स्त्रियों के मूत्राशय तथा मूत्रमार्ग एवं योनि तथा गर्भाशय के विकारों को दूर करने के लिए प्रयुक्त बस्तियों का ग्रहण किया गया है तथा सिद्धि अध्याय १२ में उत्तर बस्ति से समस्त प्रयुक्त श्रेष्ठ बस्ति का ग्रहण किया गया है।

यहाँ मूत्रमार्ग एवं योनिमार्ग के विकारों को दूर करने के लिए उत्तर बस्तियों के सम्बन्ध में वर्णन किया गया है। इस बस्ति में भी प्रयोग विधि निरूह एवम् अनुवासन के समान ही है किन्तु बस्ति नेत्र परिमाण एवं प्रयुक्त द्रव्यों का अन्तर है। योनिव्यापद अथवा मूत्रकृच्छ्र अश्मरी आदि रोगों में रोगी के बल, आयु अथवा काल आदि के विवरण के साथ विविध उत्तर बस्तियों का विवरण दिया जा रहा है।

उत्तरबस्ति निरूक्तिः

उत्तरमार्गं दीयमानतया किंवा श्रेष्ठ गुणतया उत्तर बस्तिः।

च० सि० अ० ९।५० पर चक्रपाणि टीका से

सनिरूहादुत्तरमुत्तरेण वा मार्गेण दीयत इत्युत्तर बस्तिः॥

अ० सं० सू० अ० २८।९

उत्कृष्टावयवे दानाद्बस्तिरुत्तर संज्ञितः। (वंगसेने बस्तिः प्र०)
निरूहादुत्तरो यस्मात्तस्मादुत्तरसंज्ञकः॥

भावप्रकाश (पंचकर्म प्रकरण)

हि० व्या०—उत्कृष्ट अवयव में प्रदान किए जाने के कारण इसे उत्तर बस्ति कहा जाता है अथवा श्रेष्ठ बस्ति के कारण भी इसे उत्तरबस्ति कहा जाता है।

चरक सिद्धि स्थान १२ में उत्तरबस्ति सिद्धि की व्याख्या करते हुए उन श्रेष्ठ बस्तियों का वर्णन किया है जो गुदमार्ग से पक्वाशय में दी जाने वाली

बस्तियाँ हैं। अतः यहाँ उत्तर बस्ति के लिए उत्तरमार्ग (मेढ़ एवं योनि) में दी जाने वाली बस्तियों का ही ग्रहण किया जाना अभिष्ट है। वाग्भट भी इन्हीं भावों को व्यक्त करते हैं—यह निरूह से पश्चात् (बाद में) दी जाती है अथवा उत्तरमार्ग से दिए जाने के कारण उत्तरबस्ति कहलाती है।

उत्तर बस्ति भेदाः

उत्तर बस्तिरपि स्नेहनोऽनुवासनवच्छोधने निरूहवदपि च केचिदाहुः।

अ० सं० सू० अ० २८।९

यह स्नेह बस्ति है तथा यह अनुवासन के समान हैं। दूसरे आचार्य शोधन को निरूह की तरह मानते हैं।

उत्तर बस्ति योग्याः

दोषाधिक्यमपेक्ष्यैतान मूत्रकृच्छ्रहरैर्जयेत्।
बस्तिमुत्तरबस्तिं च सर्वेषामेव दापयेत्॥ च० सि० अ० ९।-

चिकित्सामाह-दोषाधिक्यमित्यादि। मूत्रकृच्छ्रहरैः प्रयोगैर्दोषाधिक्य-मवेक्ष्य प्रयुक्तैर्जयेदित्यर्थः॥ चक्रपा०

बस्ति कुण्डलक रोग चिकित्सा में उत्तर बस्ति का वर्णन करते हुए लिखा है कि दोषों की प्रबलता का विचार करते हुए मूत्र कृच्छ्र नाशक औषधियों द्वारा दूर करना चाहिए। अथवा सभी प्रकार के बस्ति विकारों में बस्ति तथा उत्तर बस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

वस्त्याधारपुटक निर्माण प्रकारः

औरभ्रः शौकरो वाऽपि बस्तिराजश्च पूजितः।
तदलाभे प्रयुंञ्जीत गलचर्म तु पक्षिणाम्॥

सु० चि० अ० ३६।१०७, (वंगसेने बस्तिः)

हि० व्या०—स्त्रियों के लिए प्रयोग में लाई जाने वाली बस्ति का पुटक मेंढा, सूअर तथा बकरे के कोमल चर्म से बनाना चाहिए। इनके अभाव में पक्षियों की गलचर्म से बस्ति पुटक निर्माण करना चाहिए।

उत्तरबस्ति नेत्र निर्माण योग्य धातुः

पुष्पनेत्रं तु हैमं स्याच्छलक्ष्णमौत्तरबस्तिकम्।
जात्यश्वहनवृन्तेन समं गोपुच्छसंस्थितम्।
रौप्यं वा सर्षपच्छिद्रं द्विकर्णं द्वादशांगुलम्॥ च० सि० ९।५०-५१

उत्तरबस्तिं दापयेदित्युक्तं तत उत्तरबस्तिविधिमाह-पुष्पनेत्र-मित्यादि। पुष्पनेत्रमित्युत्तरबस्तिनेत्रस्य संज्ञा, उत्तरबस्ति संज्ञा उत्तरमार्गदीयमानतया, किंवा श्रेष्ठ गुणतया उत्तर बस्ति जात्यश्वहनवृन्तेन समामिति जातेरश्वहनस्य च पुष्पयोवृन्तेनाग्रे समम्। उक्तं हि हारीते—"कुन्दस्य वृन्तप्रतिमं तथाऽग्रे" अश्वहनः करवीरः। सर्षपच्छिद्रमिति सर्षपवाहिच्छिद्रम्। द्विकर्णिकमिति नेत्रे त्रिकर्णिकम् इति वा पाठः। चक्रपाणि।

उत्तरबस्ति नेत्र निर्माण विधिविधानम्

आतुरांगुलमानेन तन्नेत्रं द्वादशांगुलम् ।
वृत्तं गोपुच्छवन्मूलमध्ययोः कृतकर्णिकम् ॥
सिद्धार्थकप्रवेशाग्रं श्लक्ष्णं हेमादिसंभवम् ।
कुंदाश्वमारसुमनः पुष्पवृंतोपमं दृढम् ॥
अ० सं० अ० २८।६३-६४ अ० हृ० सू० १९।

तन्नेत्रमुत्तरबस्तियंत्रकमातुरांगुलप्रमाणेन द्वादशांगुलं दैर्घ्येणेत्यर्थादेव प्रतीयते । पुरुषाणामेवैतदिति वेद्यम् । स्त्रीणां हि वक्ष्यति । नेत्रं दशांगुलं मुद्ग-प्रवेशमिति । तच्च वृत्तं वर्तुलं गोपुच्छाकृति तथा मूले मध्ये चोत्पादितकर्णिकं तथा सिद्धार्थकः प्रविशत्यस्मिन्निति सिद्धार्थकप्रवेशं तादृशमग्रं प्रांतो यस्य नेत्रस्य तत् सिद्धार्थकप्रवेशाग्रं तथा श्लक्ष्णमतिकोमलं तथा हेमादिजम् । आदिशब्देन धात्वादयः प्रागुक्ता गृह्यते । कुंदकरवीरजातीपुष्पवृंतसदृशं दृढं च । अश्वमारः करवीरः । अरुणदत्तः ।

तस्य नेत्रम् । तदित्यनेन बस्तिः परामृश्यते आतुराङ्गुल्मानेन द्वादशाङ्गुल-प्रमाणम् । तथा वर्तुलवृत्तं गोपुच्छवत् क्रमेणाग्रे सूक्ष्मं तथा मूले मध्ये च कृता कर्णिका यत्र मध्ये या सातिमात्रातः प्रवेशरोधिनी द्वितीये मूले बस्तिनिबन्धना स्यात् । सिद्धार्थकप्रवेशोऽग्रे मुखे यस्य तेन सर्षपप्रमाणं बहिः स्रोतः छिद्रं कार्यम् । श्लक्ष्णमपरुषम । हेमादिधातुसम्भवं बस्तिनेत्रवत् तथा कुन्दादीनां पुष्पणि तन्नेन तुल्यम् । अश्वमारवृन्तं करवीरवृन्तं पुष्पफलादयो ये वानस्पत्यादिषु चिबन्धाश्चावतिष्ठन्ते तथा तेभ्योऽप्यानीयन्ते तद्वन्तमतएव तन्नेत्रं पुष्पनेत्रमित्यु-च्यते । चक्रनन्दनः ।

आतुरेति ॥ तन्नेत्रमुत्तरबस्तियन्त्रमातुरांगुलप्रमाणेन द्वादशांगुलं दैर्घ्येणेत्य-र्थादवगम्यते । पुरुषाणामेवैतदिति वाच्यम् । स्त्रीणां हि प्रवक्ष्यति नेत्रं दशांगुल-मिति । तथा वृत्तम् । तथा गोपुच्छाकृति । मूले मध्ये च कृतकर्णिकम् । सिद्धार्थकः प्रविशत्यस्मिन्निति सिद्धार्थक प्रवेशत्तादृशमग्र यस्य तदेवम् । श्लक्ष्णमतिकोमलम् । हेमादिजन्म । आदि शब्देन धात्वादयः प्रागुक्ता गृह्यन्ते कुन्दादिपुष्प वृन्तसदृशम् । करवीरः । परमेश्वरः ।

हि० व्या०—पुरुषों में दी जाने वाली उत्तरबस्ति के नेत्र की लम्बाई रोगी की १२ अंगुल होनी चाहिए । यह नेत्र गोल तथा गोपुच्छाकार-मूलभाग में मोटा एवं आगे की तरफ पतला हो, उसके मूल भाग पर कर्णिका होनी चाहिए । तथा मध्य भाग पर एक कर्णिका होनी चाहिए । उसके नेत्र में सरसों के दाने योग्य छिद्र होना चाहिए । नेत्र लक्षण स्वर्ण, चांदी आदि किसी धातु का बना हो, मोटाई कनेर, तथा चमेली के फूल के वृन्त जैसे हो यही दृढ़ होता है ।

मूत्रनाड्या प्रवेश योग्य वर्तिनिर्माण प्रकारः प्रयोग प्रकारश्च ।

पिप्पलीलवणांगारधूमापामार्गसर्षपैः ।
वार्ताकुरसनिगुण्डीशम्पाकैः ससहाचरैः ॥
मूत्राम्लपिष्टैः सगुडैर्वर्तिकृत्वा प्रवेशयेत् ।
अग्रे तु सर्षपाकारां पश्चार्धे माषसंमिताम् ।
नेत्रदीर्घां घृताभ्यक्तां सुकुमारमभंगुराम् ।
नेत्रवन्मूत्रनाड्यां तु पायौ चांगुष्ठसंमिताम् ।
स्नेहे प्रत्यागते ताभ्यामनुवासनिकोविधिः ।
परिहारश्च सव्यापत् ससम्यग्दत्तलक्षणः ॥ च० सि० ९।५८-६०

पिप्पलीत्यादिना व्युपितेऽप्यनागच्छतः स्नेहस्य प्रवर्तिकां' वर्तिमाह इयं च वर्तिर्गुडाकेन कठिना कर्तव्या यथा श्लक्ष्णा भवति । पश्चार्धे इति मूलेः, अंगुष्ठसंनिभामिति पायो स्नेहप्रवृत्यर्थं दीर्घमनांगुष्ठसमाना कर्त्तव्या । ताभ्यामिति मेढ्रगुदाभ्यां दत्तवर्तिभ्याम् उत्तर, बस्तेरनुवासनवत् सेव्यपरिहार-व्यापत्सम्यग्दत्तलक्षणान्यतिदिशन्नाह अनुवासनिको विधिरित्यादि । चक्रपाणिः ।

पिप्पली सैन्धवनमक, गृहधूम अपामार्ग एवं सरसों, बड़ी कटेरी का रस, निगुण्डी अमलतास, कटसरैया इन सभी को समान भाग लेकर, मूत्र (गोमूत्र) काजी एवं अम्ल द्रव्यों में पीसकर गुड़ मिलाकर वर्ती बनाकर मूत्रमार्ग में प्रवेश करवावें । यह वर्ति आगे से सरसों के समान मोटी एवं पीछे से उड़द के बराबर मोटी होनी चाहिए । इस वर्ति को नेत्र की लम्बाई के प्रमाण में बनानी चाहिए । वर्ती कोमल हो किन्तु टूटनी भी नहीं चाहिए । इसे घृत लगाकर पुष्प नेत्र के समान ही मूत्र मार्ग में लगावे यदि बस्ति, द्रव्य नहीं निकले तो इसे गुद मार्ग में भी लगाया जाता है । उसकी मोटाई अंगुष्ठ प्रमाण होती है । उत्तर बस्ति का स्नेह बाहर निकल आवे तब अनुवासन में बताई गई विधियों का पालन करना चाहिए । अनुवासन के समान ही इस बस्ति में भी परिहार, व्यापत्ति और लक्षण होते हैं ।

फलवर्तिमाह

घृताभ्यक्ते गुदे क्षेप्या श्लक्ष्णा स्वांगुष्ठसन्निभा ।
मलप्रवर्तनी वर्तिः फलवर्तिश्च सा स्मृता ॥ ।
शा० सं० उ० ८।५१ भा० प्रकाश वंगसेन

श्लक्ष्णा कोमला, स्वांगुष्ठसन्निभा आतुरांगुष्ठतुल्या स्थूलतया । मलं मूत्रपुरीषादिकम् । मलशब्देन स्त्रीणामपि रजोदोषादिकम् । अपत्यमार्ग देया ईदृशी फलवर्तिः स्मृता कथिता । आढ़मल्लः ।

फलवर्तिमाह—तत्प्रमाणा सा फलवर्तिः, मलप्रवर्तनी भवति । फलाना च निर्मिता ॥ काशीराम ॥

आनाह रोगी की गुदा में ५, ६, अथवा ७ गुद वर्तिया दी जाती है। इनसे विरेचन हो जाने पर शान्ति प्राप्त होती है। इससे विरेचन नहीं होने पर तीक्ष्ण द्रव्यों से सिद्ध विरेचन देना चाहिए।

पुष्पनेत्रप्रमाणं तु प्रमदानां दशांगुलम्।
मूत्रस्रोतः परीणाहं मुद्गश्रोतोऽनुवाहि च॥
अपत्यमार्गे नारीणां विधेय चतुरंगुलम्।
द्वयंगुलन्मूत्रमार्गे तु बालायास्त्वेकमंगुलम्॥

च० सि० अ० ९।६५।६६

पुष्पनेत्रप्रमाणं त्वित्यादि। गुद्श्रोतोऽनुवाहिच्छिद्रम्। अपत्यमार्गे विधेयं चतुरंगुलमिति अपत्यमार्गे स्नेहयितव्ये चतुरंगुलप्रदेशनं प्राप्तयौवनानामेव नारीणां कर्तव्यम्। बालायाः त्वल्पप्रमाण तथा एकांगुलप्रवेशनमेव मूत्रमार्गे प्रयोगार्थं कर्तव्यं, बालानां त्वपत्यमार्गे न दीयत एव, तासामपत्यमार्गस्यावृतत्वात्। वर्तिः पीनतरा भवेदिति स्नेहप्रत्यागमनार्था वर्तिः पीनतरा कर्तव्या स्नेहमात्रा चात्र स्नेहस्य प्रसृतं चात्र स्वांगुलीमूलसम्मितम्" (सु० चि० अ० ३७) इत्यनेन सुश्रुतोक्ता ज्ञेया॥ चक्रपाणिः।

नारीणां कृते उत्तरबस्तिनेत्रपरिमाण विधानम्।

निविष्टकर्णिकं मध्ये, नारीणां चतुरंगुले।
मूत्रस्रोतः परीणाहं मुद्गवाही दशांगुलम्।
मेढ्रायामसमं केचिदिच्छन्ति खलु तद्विदः॥

सु० चि० अ० ३७।१०३

पुरुषाणां नेत्रादिमानमुक्त्वा, इदानीं पुरुषनेत्रेऽनुक्तं कर्णिकानिवेशस्थानं, तथा स्त्रीणां नेत्रकर्णिकास्थानं परिणाहायामैर्दर्शयन्नाह-निविष्ट कर्णिकं मध्ये इति, पुरुषस्य "नेत्रम्" इति वाक्यशेषः। नारीणां चतुरंगुले इति निविष्टकर्णिकमित्यत्रापि संबन्धनीयम्। स्थौल्यमाह-मूत्रस्रोतः परीणाहं मूत्रस्रोतः स्थौल्यम्। मुद्गवाहीति अन्तश्छिद्रमानम्। दशांगुलमिति देर्घ्येण। मेढ्रायामसममिति अपत्यमार्गे पुरुषेन्द्रियस्थूलं नेत्र किंचिदधिकच्छिद्रं च॥

निविष्टेति। मध्य इति चतुर्दशांगुलं नेत्रमेवाभिप्रेत्योपदिश्यत इति गम्यते "निदध्यार्धांगुलानि षट्" इत्यनंतरोक्तेः तथा च सप्तांगुल इत्यर्थः। चतुरंगुलावसाने इति नेयम्। वक्ष्यति हि "निदध्याच्चतुरंगुलम्" इति मूत्रस्रोतः परीणाहमिति तु स्त्रीपुंसोभयविषयम। हाराण च०।

हि० व्या० - उत्तरबस्ति के नेत्र में कर्णिका मध्यभाग में होनी चाहिए तथा स्त्रियों के लिए उत्तरबस्ति के नेत्र में चार अंगुल की दूरी पर कर्णिका होनी चाहिए। मूत्र के निकलने का मार्ग मूंग के निकलने योग्य छिद्र तथा लम्बाई दश अंगुल रखनी चाहिए। कुछ अन्य विद्वान् नेत्र परिमाण नेढ़ (पुरुषलिंग) के तुल्य मानते हैं।

हि० व्या०—चिकनी, घृतलिप्त वर्ति जो अपने अंगुष्ठ प्रमाण में हो, गुदामार्ग से मल प्रवृत्ति हेतु प्रयोग में लाई जाती हो उसे फलवर्ति कहते है।

कुर्याद्गोमूत्रपिष्टेषु वर्ति चाऽपि ससैन्धवाम्।
क्षुद्रलासर्षपसमां प्रविभज्य पयांसि च॥
बस्तेरागमनार्थाय तन्निदध्याच्छलाकया। शा० उ० ८।१३

इत्यादिपाठो बहुपुस्तकेष्वदर्शनान्न व्याख्यातः। अथ बस्तिदाहचिकित्सामाह द्रव्यस्यानिर्गमाद्वस्तौ मूत्राशये दह्यमाने सति विशारदो वैद्यकशास्त्रक्रियाकुशलः क्षीरवृक्षकषायेण बस्तिं दद्यात्। वा अथवा शीतलेन पयसा बस्तिं दद्यात्। क्षीरवृक्षा वटोदुम्बरादयः। एके क्षीरवृक्षं राजादनमाहुः। रायणीति लोके। पयोऽत्र पानीयमाहुः शीतलेति। शीतलद्रव्यमधुकादियुक्तत्वेन शीतलेन इत्यर्थः। यदुक्तं तन्त्रान्तरे-शर्करामधुमिश्रेण शीतलेन मधुकाम्बुना। दह्यमाने भिषक् बस्तौ पायौ बस्तिं प्रदापयेत् इति। अथानन्तरं बस्तेः प्रभावपूर्वकं निषेधमाह—पुंसा पुरुषाणां वसाधाश्रिता रुजः रोगान् स्त्रीणामार्तवजा रुजः असृग्दरादयः हन्यात्। मेहिनां प्रमेहिणां नोचितः न युक्तः। प्रमेहस्य बस्तिगतत्वेऽपि नोचितत्वम्। यथानुशासन कुष्ठप्रमेहिनां निषिद्धम्। केचिन्मेहशब्देन मधुमेहमाहुः। आढ़मल्लः।

उत्तानायैं भिषक् दद्यादिति संबन्धः। तथा दद्यात् यथा स्नेहः प्रत्यागच्छति भूयः पुनः कृच्छ्रे विशेषव्याधौ शोधनैर्गणैः एरण्डतैलादिभिर्बस्तिं निदध्यात्। योनिमार्गे बस्त्यभावेफलवर्तिका निदध्यात्। योनिमार्गे बस्त्यभावे फलवर्तिका निदध्यात्। फलानां एरण्डबीजादीना वर्तिर्यद्वा फलसदृशी वर्तिः फलनाम्नी वासोधनद्रव्यसंयुक्तस्य मूत्रेण विनिर्मिता पुनः स्निग्धा एवंभूता वर्तिं दद्यात्। वर्त्या दह्यमानं बस्तौ मूत्राकाशे क्षीरवृक्षक षायेन उदुम्बरादि पुनः पयसा शीतलेन बस्तिः पुंसा शुक्रदोषजा रूजः स्त्रीणा आर्तवजा रूजः उत्तरबस्तिर्हन्यात्। मेहिनः क्वचित् न उचित्॥ काश्मीरामः॥

फलवर्ति निर्माण प्रकारः

.....गैश्च सकिण्वसिद्धार्थकमाषचूर्णैः।
ससैन्धवैस्तैं लगुडोपपन्नैर्यवोपमाः फलवर्तीर्विदद्धयात्॥

(का० सिं० अ० ६)।

फलवर्ति निर्माण विधि का उल्लेख करते हुए लिखा है कि··· किण्व, सरसों, उड़द, सैन्धव, तैल, तथा गुड़ मिश्रित कर उसमें जो की आकृति की (किनारे पर पतली एवं बीच में मोटी) फलवर्ति बनानी चाहिए।

फलवर्ति प्रयोग संख्याः संकेतः

आनाहिनस्ताः प्रणयेदपाने षट् सप्त पंचेति वयोनुरूपम्।
ताभिर्विरिक्ते लभते सशर्म विरेचये त्तदसिद्धौ तु तीक्ष्णैः॥

(का० सं० सि० अ० ६)

द्वादशांगुलकं नेत्रं मध्ये च कृतकर्णिकम् ।
मालतीपुष्पवृन्ताभं छिद्रं सर्षपसन्निभम् ॥ शा० उ० अ० ७।१-२

अतः परं वस्तिनिरूहयोरन्तरं उत्तरसंज्ञितं बस्तिं प्रवक्ष्यामि इति । उत्तरबस्तिनेत्रस्वरूपमाह-मध्ये च कृतकर्णिका । मध्ये षड्गुङ्गुलोपरि कर्णिका मेत्नाकारा मुद्रिका । अतएव मूत्रमार्गे षड्ङ्गुलं नेत्रं प्रवेशयेदित्युक्तमग्रे यन्त्रच्छिद्रं तु मालतीपुष्पवृन्ताभं कार्यं सर्षपाकारम् । यन्त्रे छिद्रमाह-छिद्रं सर्षपसन्निभं निर्गमच्छिद्रमित्यर्थः । केचित् सर्षपनिर्गमम् इति पाठं पठन्ति । सिद्धार्थकप्रवेशाग्रमिति तन्त्रान्तरे । ननु क्वचिदपि चतुर्दशांगुलमपि पठितं तद्यथा-चतुर्दशाङ्गुलं नेत्रं तत्र कार्यं विजानता । मालतीपुष्पवृन्ताभं कर्तव्यं छिद्रमेव च इति । तत्कथमत्र द्वादशांगुलम् । उच्यते कर्णिकार्थं तु नेत्रं षड्गुलमेव सर्वसंमतम् । शेषं तु चर्मपुटकस्य समीचीन प्रथनार्थं कथितमित्यदोषः । चरकादौ तु द्वादशांगुलमेवोक्तत्वात्, अथवामेढ्रायामसम केचिदिच्छन्ति खलु तद्विद इत्यादि मतमालोच्य चरकमतमेव शार्ङ्गधरेण स्वीकृतमित्यलं विस्तरेण ॥ आढमल्लः ॥

अतः परं उत्तर संज्ञितं बस्तिं प्रवक्ष्यामि पूर्वं विधानमाह द्वादशांगुलिकं नेत्रं नालिका लक्षणं मध्ये कृतकर्णिकं कमलपत्रकर्णिकावन्मध्यभागं मालतीपुष्पवृन्ताभं स्थूलं पुनः छिद्रं सर्षपनिर्गमं यथा भवति तथा छिद्रम् ॥ काशीरामः ।

आतुरांगुलि मानेन नेत्रन्तु द्वादशांगुलम् ।
वृतं गोपुच्छवन्मूलं मध्ययोः कृतकर्णिकम् ॥
सिद्धार्थवाहिच्छिद्राग्रं हेमरूप्यादिनिर्मितम् ।
चतुर्दशांगुलं नेत्र तत्र कार्य्यं विजानता ॥
मालतीपुष्पवृंत्ताभं कर्त्तव्यं छिद्रमेव च ।
मेढ्रायामसमं केचिदिच्छन्ति खलु तद्विदः ॥
स्त्रीणां कनिष्ठिकास्थूलं, नेत्रं कुर्याद्दशांगुलम् ।
मुद्गप्रवेशयोग्यंच, योन्यन्तश्चतुरंगुलम् ॥
द्व्यंगुलं मूत्रमार्गे च, सूक्ष्मं नेत्रं वियोजयेत् ।
मूत्रकृच्छ्रेविकारेषु, बालानां त्वेकमंगुलम् ॥
शनैर्निष्कम्पमाधेयं, सूक्ष्मं नेत्रं विचक्षणैः ।
मालतीपुष्पवृन्ताभं, नेत्रमित्युदितं पुनः ॥
स्त्रीणां कनिष्ठिकास्थूलनेत्रं कुर्याददशांगुलम् ।
मुद्गप्रवेशयोग्यं च योन्यन्तश्चतुरंगुलम् ।
द्व्यंगुलं मूत्रमार्गे च सूक्ष्मं नेत्रं नियोजयेत् ॥
शा० सं० उ० ७।६-७

कनिष्ठिका स्त्रिय एव । दशांगुलमिति । दैर्घ्येण मुद्गप्रवेशं रन्ध्रमिति शेषः । तेन मुद्गवाहिनलिकाच्छिद्रमित्यर्थः । योन्यन्तश्चतुरंगुलमिति । तच्च

नेत्रमत्यर्थमागें चतुरंगुलप्रमाणमन्तः प्रवेशयेदित्यर्थः । उक्तं च—मूत्रस्रोतः परिणाहमुद्गवाहीशागुलम् । तासामपत्यमार्गे तु निदध्याच्चतुरंगुलम्' इति । द्व्यंगुलं मूत्रमार्गे च इति । स्त्रीणामत्र मूत्रमार्गे ज्ञेयम् । तत्र द्व्यंगुलनेत्रं प्रवेशयेदिति भावः । तच्च सूक्ष्मनेत्रं कार्यं यथा पुरुषमेढ्रमार्गार्थं मालतीपुष्पवृत्ताभं कथितं तद्वदत्राऽपि ज्ञेयम् ॥ आढमल्लः ।

सूस्मशब्दा विधानं बालानां ततोऽविनेत्रस्यसूक्ष्मताबोधनार्थम् । (भा० प्र०)

हि० व्या०—स्त्रियों के गर्भाशय में प्रवेश हेतु उन्ही की कनिष्टिका के प्रमाण का नेत्र बनाना चाहिए। इसके अन्दर का छिद्र परिणाह मूंग के प्रवेश करने योग्य हो। प्रयोग के समय चार अंगुल प्रवेश कराना चाहिए। मूत्र मार्ग में दी जाने वाली वस्ति के लिए २ अंगुल तथा नेत्र सूक्ष्म होना चाहिए। (जैसा कि पुरुषों के नेत्र के लिए बताया गया है)

अपत्यमार्ग मूत्रमार्गयोः प्रणिदेयबस्तिनेत्रपरिमाण विधानम्

तासामपत्यमार्गे तु निदध्याच्चतुरंगुलम् ।
द्व्यंगुलं मूत्रमार्गे तु कन्यानां त्वेकमंगुलम् ।
विधेयंचांगुलं तासां विधिवद्वक्ष्यते यथा ॥
सु० चि० ३७।१०४-१०५

नेत्रमानमभिधाय मार्गभेदेन प्रणिधानविधानमाह तासामित्यादि । तासां प्रसूतानामप्रसूतानां च प्राप्त गर्भग्रहणकालानां गर्भाशयशोधनार्थमपत्यमार्गे चतुरंगुलं निदध्यात; मूत्रकृच्छ्रादिविकारेषु तासामुभयरूपाणामपि मूत्र वर्त्मनि द्व्यंगुलं निदध्यात् । कन्या नामप्राप्तद्वादशवर्षाणां मूत्रकृच्छ्रादौ मूत्रवर्त्मनि एकमंगुलं निदध्यात् ॥ डल्हणः ।

हि० व्या०—स्त्रियों के लिए अपत्य मार्ग में चार अंगुल नेत्र प्रवेश कराना चाहिए। २ अंगुल मूत्र मार्ग में तथा बालिकाओं में एक अंगुल नेत्र प्रवेश कराना चाहिए। यहाँ अंगुल प्रमाण पूर्वोक्त बताई गई विधि के अनुसार उनकी (रुग्ण की) अंगुली के प्रमाण में ही ग्रहण करना चाहिए।

स्त्रीणां कृते उत्तरबस्ति नेत्र निर्माणप्रकारः

नेत्रं दशांगुलं मुद्गप्रवेशं चतुरंगुलम् ।
अपत्यमार्गे योज्यं स्याद् द्व्यंगुलं मूत्र वर्त्मनि ॥
मूत्र कृच्छ्र विकारेषु बलानां त्वेकमंगुलम् ।
प्रकुंचो मध्यमा मात्रा बालानां शुक्तिरेव च ॥
अ० सं० सू० अ० २८।७१-७२; अ० हृ० सु० १९

स्त्रीणां च नेत्रं स्वमानेन दशांगुलं कार्यम् । अग्रे मुद्गप्रवेशच्छिद्रं गोपुच्छाकृतीति सर्वत्र । तस्यां च योनौ द्वौ मार्गौ । एकोगर्भमार्गः । द्वितीयो मूत्रमार्गः । तत्र गर्भमार्गे गर्भव्यापत्सु नेत्राग्रं चतुरङ्गुलम् योनौ योजयेत् । मूत्रमार्गे मूत्रविकारेषु द्व्यंगुलाग्रम् । बालासु त्वेकांगुलमग्रं । स्त्रीणामुत्तरबस्ते

मध्यमा मात्रा प्रकुंच पलम्। बालानां त्वर्धमेव। इन्दुः।

दशांगुलप्रमाणं दैर्घ्येण तथा मुद्गः प्रविशत्यस्मिन्निति मुद्गप्रवेशं तदग्रं प्रवेशाग्रमिति वेद्यमंतलोपाख्यया तंत्रयुक्तया। वृत्तगोपुच्छाकारादिशेषं पूर्वोक्तमात्र वेद्यम्। पुष्पवृंतोपमत्वं त्वत्र न युज्यते। यतो मूत्रस्रोतः परिणाहं मेत्तद्विधातव्यं पुरुषे स्त्रियां चैवं प्रकारम्। यदुक्तं मुनिना। पुष्पनेत्रप्रमाण तु प्रमदानां दशांगुलम्। मूत्रस्रोतः परिणाहमिति। तत्र चतुरंगुलं यावत् प्रवेश्यम्। चतुरंगुला चोर्ध्वकर्णिका कार्या। अधिक प्रवेश निवारणार्थं नतु मेहन नेत्र इव मध्यकर्णिकेति। अयमर्थोऽत्र साक्षान्नोपस्तो गम्यमानत्वात्। अत एवतत्वेशप्रमाणमाह। चतुरंगुलपत्यमार्गे योज्यं स्यादिति अपत्यमार्गं इत्यनेन स्त्री गर्भग्रहणप्रसवादिसमर्था सूच्यते। एवं विधायाः स्त्रियाश्चतुरंगुलं प्रवेशयितव्यमिति। मूत्रवर्त्मनि द्वयंगुलं योज्यम्। या स्त्री सुरतव्यवहारगर्भग्रहणायोग्या अथवा बाला या अप्रौढा तस्या योनिकेवलं मूत्रस्यैव मार्गस्तस्या नेत्रं द्वयगुलं प्रवेश्यम्। अत उर्ध्वं तु प्रवेशात्तासां मांसक्षतिः स्यात्। केषु रोगेषु। मूत्रकृच्छ्रविकारेषु। बालानां स्त्रीणामेकमंगुलं प्रवेश्यम्। अरुणदत्तः।

हि० व्या०—बस्ति नेत्र का दश अंगुल परिमाण में लम्बाई होनी चाहिए छिद्र परिणाम मूंग के दाने के परिमाण में होना चाहिए। इसे अपत्य पथ में चार अंगुल प्रविष्ट कराना चाहिए। मूत्रकृच्छ्र आदि रोगों में मूत्र मार्ग में २ अंगुल तथा बालकों में एक अंगुल ही प्रवेश कराना चाहिए। स्त्रियों के लिए उत्तर बस्ति की नलिका कनिष्ठिका अंगुली के समान स्थूल एवं दश अंगुल लम्बी होनी चाहिए। मूत्र कृच्छ्र विकार में व बालकों को एक अंगुल की नली बनानी चाहिए।

बालानामपि नेत्रपरिमाणमाह

मूत्रकृच्छ्रविकारेषु बालानां त्वेकमंगुलम्।
शनैर्निष्कम्पमाधेयं सूक्ष्मनेत्रं विचक्षणः॥ शा० सं० उ० ७।८

मूत्रकृच्छ्रविकारेषु इति पदं पूर्वेण संबन्धनीयम्। बालानामपि वा मूत्रकृच्छ्रविकारेपि बालः षोडशवर्षपर्यन्तो बालः एकमंगुलं नेत्रेण संबन्धनीयम्। सूक्ष्मनेत्रमित्यनेन मालतीपुष्पवृत्ताकारत्वात् सूक्ष्मत्वं ज्ञेयम्॥ आढमल्लः।

हि० व्या०—बालकों के मूत्रकृच्छ्र विकार में निष्कम्प हाथ से धीरे-धीरे सूक्ष्म नेत्र का एक अंगुल मात्र प्रवेश कराना चाहिए।

उत्तरबस्तौ दातव्य स्नेहिपरिमाण व्यवस्था

तेनाजबस्तियुक्तेन स्नेहस्यार्धपलं नयेत्।
यथावयो विशेषेण स्नेहमात्रां विकल्प्य वा॥ च० सि० अ० ६।६२

यथा वयो विशेषेण स्नेहमात्रां विकल्प्य चेति यथोक्त स्नेहः पंचविंशतिवर्षस्य, ततस्त्वर्वाग्वयोभेदविकल्पेनापकर्षः कर्तव्यः, उक्तं हि सुश्रुते—"स्नेह-

प्रमाणं परमं प्रकुंचश्चात्र कीर्तितः। पंचविंशति वर्षाणामर्वाग्बुद्धिविकल्पितम्।

(चक्रपाणिः)

स्नेहप्रमाणं परमं प्रकुंचश्चात्र कीर्तितः।
पंचविंशादधो मात्रां विदध्याद्बुद्धिकल्पिताम्॥

सु० चि० अ० ३७।१०२

नेत्रमानमभिधाय स्नेहिकनैरूहिकभेदाभ्यां द्विविधे उत्तरबस्तौ वक्तव्ये स्नैहिकस्य प्राक् प्रयोज्यत्वात् स्नेहमानमित्यादि। अत्रेति सुश्रुत मते। प्रकुंचेः पलं, पंचविंशादध इत्यादि। वक्ष्यमाणवाक्यात् पंचविंशद्वर्षमारभ्य स्नेहप्रमाणं परमं प्रकीर्तितम्। चरकाचार्यः पुनरर्धपलम्। पंचविंशादित्यादि। अधः अर्वाक्। मात्रां बुद्धिकल्पितामिति। अयमर्थः सांवत्सरिकबालके स्नेहपलस्य पंचविंशतितमभंशमारभ्य द्विसांवत्सरिकादौ प्रतिवत्सरं पंचविंशतितमस्यांशस्य वृद्धि विदध्याद यावत् पंचविंशतिवार्षिकस्य पलमिति॥ डल्हणः

हि० व्या०—चरक में स्नेह की सामान्य मात्रा अर्धपल बताई है जो २५ वर्ष की आयु से पूर्व है। क्यों कि आगे वयानुसार निर्णय करने का उल्लेख किया है। जिसे चक्रपाणि ने सुश्रुत के उदाहरण से स्पष्ट किया है यथा—

सुश्रुत में उत्तर बस्ति में प्रयुक्त स्नेह की उत्तम मात्रा एक पल होती है। यह मात्रा २५ वर्ष या इससे अधिक आयु वालों के लिए है। इस से कम आयु वालों के लिए चिकित्सक को अपनी बुद्धि कौशल से विचार करते हुए मात्रा निर्धारित करनी चाहिए। वंगसेन ने भी सुश्रुत के श्लोकों को ही उधृत किया है।

स्नेह प्रमाणं परमं प्रकुंचं चात्र कीर्तितम्।
पंचविंशतिवर्षाणामधोमात्रा द्विकाषिकी।
तद्ऊर्ध्वंपलंमात्रा स्नेहस्योक्तं भिषग्वरैः॥ वंगसेन (बस्तिः

स्त्रीणां उत्तरबस्तौ प्रयोज्य स्नेहमात्रा परिमाण वर्णनम्

क्वाथप्रमाणं प्रसृतं, स्त्रिया द्विप्रसृतं भवेत्।
कन्येतरस्याः, कन्यायास्तद्वद्बस्तिप्रमाणकम्॥

सु० चि० अ० ३७।१६

स्नैहिकोत्तरबस्ते प्रमाणं निर्दिश्यावशरप्राप्तं निरूहोत्तरबस्तिप्रमाणमाह-क्वाथप्रमाणमित्यादि। क्वाथप्रमाणं प्रसृतमिति "पुरुषस्य" इति शेषः, तेनातुर पुरुषस्य यथावयः स्वहस्तसंमितं प्रसृतं मात्राप्रमाणम्। स्त्रिया इत्यादि प्रसूताया प्रसूतिरहिताया वा गर्भग्रहणयोग्याया गर्भाशयशोधनार्थम्। प्रसूतानाम प्रसूतानां च बस्तिशोधनार्थमाह-कन्येतरस्या इत्यादि। कन्येतरस्या अप्रसूतायाः प्रसूताया वा गर्भग्रहणयोग्यायाः। कन्याया अप्राप्तद्वादशवर्षायाः। तद्वद्विति पुरुषवद् यथावयः स्वहस्तसंमितं प्रसृतं प्रमाणं बस्तिशोधनार्थं, न तु [illegible]

हि० व्या०—स्त्रियों के लिए उत्तर बस्ति हेतु क्वाथ मात्रा-पुरुषों में क्वाथ की मात्रा एक प्रसृत (८ तोले) तथा स्त्रियों के लिए बस्ति शोधनार्थ मात्रा, रोगी की अंजली के प्रमाण में अथवा २ प्रस्तुत लेनी चाहिए।

स्नेहस्य प्रसृतं चात्र स्वांगुलीमूलसंमितम्।
देयं प्रमाणं परममर्वाग् बुद्धिविकल्पितम्॥

सु० चि० अ० ३७।१०६ वंगसेन,

स्त्रीणांमुत्तरबस्तौ स्नेहमानमाह-स्नेहस्येत्यादि। अत्र स्त्रीविषये। स्वांगुलिमूलसंमितः प्रसृतो देयः, तच्च परममुत्तमं प्रमाणं सर्ववयोऽवस्थातु वलीयसि रोगे, मध्यहीनबलरोगे तु सर्वास्वपि वयोऽवस्थासूत्तमप्रमाणाद्वामध्यं हीनं च बुध्या विकल्पितं मानं ज्ञेयम्। गर्भाशयशोधनार्थं च स्नेहमात्राद्वैगुण्यमग्र वक्ष्यति॥ डल्हणः।

प्रसृतमर्द्धाञ्जलिः। स्वांगलीमूलसम्मितमातुरांगुलीमूलपर्यन्तिसंश्रयनित्यर्थः। प्रमाणमिदं मध्योत्तरवयसी स्त्रीपुंसावधिकरोतीति गम्यते परममिति विशेषणात्। परमं प्रधानं तद्धि प्रधानेष्वेवोपयुज्यते तथाचोदपन्नं भवत्यर्व्वागिति। अर्व्वागवरकालभवेष्वातुरेषु बुद्धिविकल्पितां बुद्ध्याविमृश्य इतीह्रस्वं ह्रसीयसी च प्रमाणं देयमितिनिष्कर्षः पक्षिणां गृध्रादीनाम्। हाराण च०

हि० व्या०—स्त्रियों के लिए उत्तर बस्ति में प्रयुक्त स्नेह मात्रा उनकी अंगुली मूल के प्रमाण में एक प्रसृत (८ तोले) ग्रहण करनी चाहिए। (बलवती रुग्णाओं में) इससे अधिक या कम अपने बुद्धि कौशल से विचार करते हुए चिकित्सिक द्वारा निश्चित किया जाना चाहिए।

यहाँ स्नेह का जो प्रसृत बताया गया है उसे रोगी की अंगुली मूल से मापना चाहिए। इस प्रमाण में न्यूनाधिक अपनी बुद्धि कौशल से भी चिकित्सिक को विचार करना चाहिए।

स्त्रीणां उत्तरबस्तिप्रणिधान प्रकार वर्णनम्

गर्भाशयविशुद्धयर्थं स्नेहेन द्विगुणेन तु॥ सु० चि० ३७।११६

कार्यविशेषे द्विगुणस्नेहन स्नेप्रकारमाह गर्भाशयेत्यादि। स्नेहेन द्विगुणेन तु पूर्वोक्तवदत्रांगुली मूलसंमितप्रसृत्यपेक्षया द्विगुणेनेति विज्ञेयम्॥ डल्हणः।

हि० व्या०—गर्भाशय विशोधनार्थ स्त्रियों में स्नेह की मात्रा पूर्वोक्त अंगुल मूल प्रमाण से द्विगुण अर्थात् १६ तोला ग्रहण करना चाहिए।

स्त्रीणां उत्तरबस्ति द्रव्य मात्रा संकेतः

प्रकुंचो मध्यमा मात्रा बालानां शुक्तिरेव तु॥

अ० हृ० सू० अ० १९
अ० सं० सू० २८

तस्य बस्तिमूंवुलधुर्मात्रा शुक्तिविकल्प्य वा।

अ० सं० सू० अ० २८।८० क

स्त्रीणामुत्तरबस्तेर्मध्यमा मात्रा पंच पली। बालानां सूश्माणां स्त्रीणा मध्यमा मात्रा शुक्तिरर्धपलम्। अप्राप्तव्यवहारा कन्या बलाभिप्रेता॥ चंद्रनन्दनः।

प्रकुंच इति। स्त्रीणामुस्तरबस्तौ स्नेहस्य मध्यमा मात्रा प्रकुंचः पलम्। नोत्तमा कनिष्ठा वा बालानान्तु शुक्तिरेव मध्यमा मात्रा स्नेहस्य। परमेश्वरः।

हि०व्या०—स्त्रियों के लिए स्नेह की मध्यम मात्रा एक पल (४ तो०) बताई गई है तथा बालाओं के लिए मध्यम मात्रा २ तोला प्रयोग में लानी चाहिए।

अथापत्यमूत्रमार्गयोर्विषयत्वात् स्नेहपरिमाणमाह

योनिमार्गेषु नारीणां स्नेहमात्रा द्विपालिकी।
मूत्रमार्गे पलोन्माना बालानां च द्विकार्षिकी॥

शा० सं० उ० अ० ७।१८६; वंगसेन (बस्तिः), भा० प्र०

योन्यादिमार्गत्रयं स्त्रीणामेव। किं तु पुनर्बालानां द्विकर्षप्रमाणा इति। आढमल्लः।

स्त्रीणां बालानां च स्नेहमात्राप्रमाणमाह-द्विपालिकी द्विपलप्रमाणां। बालानां द्विकार्षिकी द्विकर्षमाना॥ काशीराम॥

हि० व्या०—योनिमार्ग हेतु स्त्रियों के लिए स्नेह मात्रा २ पल की तथा मूत्र मार्ग विशोधनार्थ। पल एवं बालिकाओं के लिए २ तोले की मात्रा बताई गई है।

उत्तरबस्ति प्राक्कर्म संकेतः

वस्तौ रोगेषु नारीणां योनिगर्भाशयेषु च।
द्वित्रास्थापनशुद्धेभ्यो विदध्याद्वस्तिमुत्तरम्॥

अ० हृ० सू० अ० १९।७०, अ० सं० सू० अ० २८।६४, वंगसेन

बस्तिस्थाने रोगेषु नराणामित्यर्थाल्लभ्यते। नारीणां योनि गर्भाशयेषु च द्वाभ्यां त्रिभिर्वाऽऽस्थापनैः शुद्धेभ्यस्तेभ्यो नरेभ्यः स्त्रीभ्यश्चोत्तरबस्ति दद्यात्। द्वे वा त्रीणि वा द्वित्राणि च तान्यास्थापनानि च द्वित्रास्थापनानि तैः शुद्धा द्वित्रास्थापनशुद्धाः। पुमान्स्त्रियेत्येकेशेषः गुदोत्तरेण मार्गेण दीयत इत्युत्तरबस्तिः। अरुणदत्तः।

उत्तरबस्तिमाह=बस्तिर्मूत्राधारः शरीरावयवस्तत्र ये रोगा मूत्रकृच्छ्रप्रभृतयस्तेषु सत्सु सर्वेषां स्त्रीपुन्नपुंसकानामुत्तरबस्तिं विदध्यात् प्रणयेत्। नारीणां पुनर्नं केवलं वस्तावेव रोगेषूत्तरबस्तिं विदध्यात्। यच्छब्दाद्यावद्योनिगर्भाशयस्तेषु विकारेषूत्तरबस्तिं विदध्यात्। चंद्रनन्दनः।

वस्तावित्यादिना उत्तरबस्तिविधान माह। बस्तिस्थाने रोगेषूत्पन्नेषु नृणामित्यर्थाल्लभ्यते। नारीणां योनिगर्भाशयेषु चेत्युक्ते स्त्रीणांयोनिरोगेषु गर्भाशयरोगेषु च। च शब्दाद्वस्तिरोगेषु च। द्वे वा त्रीणि वा द्वित्रीणि। तान्या-

स्थापनानि पूर्वोक्तानि तैः। शुद्धाश्च ताः, शुद्धाश्च ते शुद्धाः तेभ्यो नारीनरेभ्य उत्तरबस्तिं कुर्यात्। गुदादुत्तरेण मार्गेण दीयत इत्युत्तरबस्ति॥ परमेश्वरः।

हि० व्या०—पुरुष एवं स्त्रियों के बस्ति रोगों में, योनि रोग एवं गर्भाशयगत रोगों में उत्तर बस्ति का विशोधनार्थ प्रयोग कराया जाता है। इस बस्ति के प्रयोग से पूर्व दो, तीन आस्थापन बस्तियों का प्रयोग कराकर मल मार्ग का शोधन कर देना चाहिए। मलाशय के शुद्ध होने पर उत्तर बस्ति का प्रयोग कराना चाहिए।

अथातुरमुपस्निग्धं स्विन्नं प्रशिथिलाशयम्।
यवागूं सघृतक्षीरां पीतवन्तं यथाबलम्॥
निषण्णमाजानुसमे पीठे सोपाश्रये समम्।
स्वभ्यक्तबस्तिमूर्धानं तैलेनोष्णेन मात्रवम्॥

सु० सू० अ० ३७।१०८-१०९ वंगसेने बस्तिः

परं प्रणिधानमाह—अथातुरमित्यादि स्नैहिकस्योत्तरबस्तेः सघृतक्षीर-यवागूभोजनं पूर्वकर्म, पयोयूषरसैरपरान्हे भोजनं पश्चात्कर्म, तेन पूर्वाह्णो चोत्तरबस्तिप्रणिधानम्। प्रशिथिलाशयमिति वातमूत्रपुरीषनिर्गमेन। सोपाश्रये सावष्टम्भके, समं यथा स्यादेवं निषण्णम्। स्वभ्यक्तेत्यादि स्वभ्यक्तो बस्तेर्मूत्राधारस्य मूर्धा उपरितनभागो यस्य तं तथा, (समम् ऋजुम्)।

हि० व्या०—आतुर को स्नेहन एवं स्वेदन कराने से जिसका आशय शिथिल हो गया हो उसको अग्नि बल का ज्ञान करके यवागू को घृत सहित दुग्ध मिलाकर पिलाना चाहिए। जानु के समान ऊँची जगह या चौकी पर सीधा लिटाना चाहिए उसके बस्ति प्रदेश के ऊपरी भाग पर उष्ण तैल से अभ्यंग करना चाहिए।

स्त्रीणां कृते उत्तरबस्ति प्रयोग प्रकारः

स्त्रीणामार्तवकाले तु प्रतिकर्म तदाचरेत्।
गर्भासना सुखं स्नेहं तदाऽदत्ते ह्यपावृता॥
गर्भं योनिस्तदा शीघ्रं जिते गृह्णाति मारुते।
बस्तिजेषु विकारेषु योनिविभ्रंशजेषु च॥
योनिशूलेषु तीव्रेषु योनिव्यापत्स्वसृग्दरे।
अप्रस्रवति मूत्रे च विन्दुं विन्दुं स्रवत्यपि॥
विदध्यादुत्तरं बस्तिं यथास्वौषधसंस्कृतम्।

च० सि० अ० ९।६२-६४ तक

आर्तवकाले त्वौत्सर्गिकतयोक्तं स्त्रीणामुत्तरबस्तिदानमार्तवकाले विधत्ते। आर्तवकालदाने हेतुमाह—गर्भासनेत्यादि। गर्भासना गर्भशय्या गर्भाशय इत्यर्थः, अन्ये तु योनिमाहुः। आदत्ते इति सम्यग् गृह्णाति। अपावृतेति अपगतसंचितरजोरूपावरणा। चक्रपाणिः।

उत्तरबस्ति विधिः

उत्तानायाः शयानायाः सम्यक् संकोच्य सक्थिनी।
अथास्याः प्रणयेन्नेत्रमनुवंशगतं सुखम्॥
द्विस्त्रिश्चतुरिति स्नेहानहोरात्रेण योजयेत्।
बस्तौ, बस्तौ प्रणीते च वर्तिः पीनतराभवेत्॥
त्रिरात्रं कर्म कुर्वीत स्नेहमात्रां विवर्धयेत्।
अनेनैव विधानेन कर्म कुर्यात् पुनस्त्रयहात्॥

च० सि० ९।६७-७०

उत्तानायाः शयानायाः सम्यक्संकोच्य सक्थिनी।
ऊर्ध्वं जान्वास्त्रि चतुरानहोरात्रेण योजयेत्॥
बस्तींस्त्रिरात्रमेवं च स्नेहमात्रां विवर्धयेत्।
त्रयहमेव च विश्रम्य प्रणिदध्यात्पुनस्त्रयहम्॥

अ० सं० सू० अ० २८।७०-७३

स्त्रीणांमार्तव काले तु योनिगृह्णात्यपावृते।
विदधीत तदा तस्मादनृतावपि चात्यये॥
योनि विभ्रंश शूलेषु योनिव्यापद्यसृग्दरे।

अ० हृ० सू० अ० १९।७० अ० सं० सू०

स्त्रीणामार्तवकाले योनिरप्रावृता विवृतमुखा भवति। अतस्तासु तत्काल-मुत्तरबस्तिं दद्यात्। इति स्वस्थवृत्तम्। आत्ययिके तु व्याधावनृतावपि देय मित्यर्थः। इन्दुः।

ललनानामृतुकाल एवाऽर्तवकाल ऋतुस्तु द्वादशनिशा इत्याविनोक्तस्तत्र ऋतौ योनिः कर्ता उत्तरबस्तिस्वभावं स्नेहं गृह्णाति। कुतः अपावृतेअपावरणात् कारणात्। अन्यदा तु संवृतत्वान्न स्नेहमादत्ते गर्भवत्। तस्माद्वेतोस्तदा ऋतुकाले विदधीत अत्यये प्रकृतत्वादुत्तरबस्तिम्। आत्ययिके व्याधाऽनृतावपि विदधीत। तमेवात्ययं दर्शयति योनीत्यादि। योनि विभ्रंश उत्तरे वक्ष्यमाणः। योनिशूलो योनिरूजा तेषु तथा योनिव्यापत्तौ तथाऽसृग्दरं रक्तपित्तं योनिमुखेनागच्छत् स्त्रीणामसृग्दरमुच्यते। एतेषु रोगेषूत्तरबस्तिमात्ययिकत्वादनृतावपिदद्यात्॥ अरुणदत्तः।

स्त्रीणामार्तवकाले उत्तरबस्तिं विदधीत। प्रायेणार्तवदर्शनात् प्रभृतियावत् द्वादशनिशास्तावदृतुकालः। तत्कालमध्ये तासां बस्तिं प्रणयेत् कुर्यात्। ततस्तस्मिन् काले स्त्रीणां यः स्नेह उत्तरबस्तिना दीयते तं योनि गृह्णात्यादत्ते। कुतोऽपावृतर्हेतोः। यस्मात्तस्मिन् काले योनिः सा शुक्रं नान्तः प्रयच्छति। अनृतावपि चात्यये तत्साध्यामये चानृतौ विकारप्रादुर्भावे सति अनृतावनार्तवे काले बस्तिमुत्तरं विदधीत्। योनिविभ्रंशादिके योनिविभ्रंशः स्थानात्पतनं

तस्मिन्। तथा योनेः स्थूले तथा योनिव्यापदि योनिव्यापत्तस्यामनेकविधायां व्यापदितथासृग्दरे योनिरोगे योनितो नानाप्रकारस्रुतिः। दीर्घकालानुषंगवतीनां स्त्रीणां प्रवर्तते स असृग्दरः।

चंद्रनन्दनः

स्त्रीणामुत्तरबस्तिकालमाह स्त्रीणामिति। गृह्णात्यौषधमिति शेषः। अपावृतेर्विवृतत्वात्। आत्ययिके तु व्याधावनृतावपि विदधीत। स्त्रीणां रोगभेदेन यन्त्रभेदं मार्गभेदं चाह योनिविभ्रंशादिषु। हेमाद्रिः।

स्त्रीणामिति। स्त्रीणामार्तवकाले ऋतुजनितस्य शोणितस्य प्रवृत्तिकाले योनिर्वस्तिं गृह्णाति। कुतः। अपावृतेः स्रोतोविवरणात्। अन्यथा तु नादत्ते संवृतत्वात्। गर्भंददृतुकाल एव कालः द्वादशनिशाख्य इत्यरुणदत्तः। तस्माद्धेतोस्तदा ऋतुकाले विदधीत प्रवृत्तत्वादुत्तरबस्तिम्। इति स्वस्थवृत्तम्। अत्यये तीव्रे व्याधौ समुत्पन्नेऽनृतावपि विदधीत। तमेवात्ययमदर्शयति। योनिभ्रंश उत्तरे वक्ष्यमाणः। योनिशूलो भगरूजा। तेषु। तथा योनिऽव्यापत्तावसृग्दरे च रक्तपित्तं योनिमुखेनागच्छत् स्त्रीणामसृग्दर उच्यते। एतेषु रोगेषूत्तरबस्तिमात्ययिकत्वादनृतावपि दद्यात्। परमेश्वरः

हि० व्या०—स्त्रियों में यही उत्तरबस्ति ऋतुकाल (मासिक) में दी जाती है। इसका विशेष कारण यह है कि ऋतुकाल में गर्भाशय मुख खुला रहता है। योनि स्नेह को शीघ्र ग्रहण करती है। उत्तरबस्ति द्वारा वायु को जीत लेने पर अर्थात् वात का शमन हो जाने पर योनि शीघ्र ही गर्भ धारण में समर्थ होती है। स्त्रियों के योनि विकारों में, योनि भ्रंश सम्बन्धी विकार हो, योनि में तीव्र शूल हो, योनि व्यापद् रोग हो, प्रदर रोग हो, ऐसी स्थिति में मूत्र प्रायः रुक गया हो अथवा बूंद-२ करके आ रहा हो तब दोषानुसार औषधियों से सिद्ध किए हुए स्नेह से उत्तर वस्ति देनी चाहिए।

स्त्रियों को उत्तान सुलाकर, उनके दोनों पैरों को संकुचित करके, पृष्ठवंश के ठीक सामने की तरफ मुख करके नेत्र को योनि या मूत्र मार्ग में सुख पूर्वक प्रवेश कराना चाहिए। एक अहोरात्र (दिनरात) में दो, तीन या चार बार स्नेह का प्रयोग कराना चाहिए। वस्ति द्वारा प्रवेश कराया गया स्नेह बाहर नहीं आने की अवस्था में (पूर्व निर्दिष्ट) वर्ति का प्रयोग कराना चाहिए। जिस वर्ति का प्रयोग कराया जाय वह योनि के अनुसार मोटी होनी चाहिए। स्नेह मात्रा की वृद्धि करते हुए वस्ति का प्रयोग तीन दिन तक कराना चाहिए। इस प्रकार तीन दिन के बाद पुनः तीन दिन तक इसी विधि के अनुसार उत्तर वस्ति का प्रयोग कराना चाहिए।

स्त्रीणां कृते उत्तरबस्ति प्रयोग प्रकार संकेतः

उत्तानायाः शयनायाः सम्यक्संकोच्यसक्थिनी।
ऊर्ध्वजान्वास्त्रिचतुरानहोरात्रेण योजयेत्॥

बस्तींस्त्रिरात्रमेवं च स्नेहमात्रां विवर्धयेत्।
त्र्यहमेव च विश्रम्य प्रणिदध्यात्पुनस्त्र्यहम्॥

अ० हृ० सू० १९।६९-७०

ऊत्तानाया न त्ववांमुङ्खायाः पार्श्वस्थिताया वा। शयानाया न त्वासीनायास्तथोर्ध्वजंघान्वा बस्तीस्त्रिचतुरानहोरात्रेण योजयेत्। किं कृत्वा। सक्थिनौ संकोच्य। अनुवासने त्वेक एवाहोरात्रेण योज्य इत्यस्य भेदः। बस्तिदानं कार्यं न त्वत्राऽनुवासनवत्त्रयहे पंचमे वाऽहनीति। किं कुर्वन्। स्नेहमात्रा यथास्वमर्धकर्षकर्षादिक्रमेण वर्धयेत्। त्र्यहमेव च विश्रम्य त्रीणि दिनानि विलंब्य च पुनः पूर्वोक्तेनैव प्रकारेण प्रणिदध्यात् प्रकुर्यात्। एष एव च न्यायो मेढ्रेऽपि योज्यः। तज्जातीयत्वादस्यार्थस्य। अत एवांतेऽमुपदिष्ट उभयसंम्बधार्थम॥ अरुणदत्तः॥

तस्याः स्त्रिया उत्तानाया उत्तानं कृत्वा स्थितायास्तथा सम्यक् कृत्वा सक्थिनौ सङ्कोच्याधस्तस्या अहोरात्रेण त्रिचतुरावृत्ताः उत्तरबस्तीन् योजयेत् दद्यात्। एवं द्वितीय तृतीययोः क्रमेण यथार्हं प्रत्यहमेव मात्रा विवर्धयेत्। ततस्त्रयहं विश्रम्य पुनरनेन विधानेनत्र्यहं दद्यात् चंद्रनन्दनः॥

स्त्रीणामुत्तरबस्तिविधिमाहउत्तानाया इति। स्त्रीणामुत्तरबस्तावावृत्तिक्रममाह-त्रिरात्रमिति। एवं प्रथमदिनवत् वस्तीन्योजयेत्। स्नेहमात्रा दिने दिने च वर्धयेत्। ततस्त्रिदिनंविश्रम्य पुनस्त्रिदिनं योजतेत्॥ हेमाद्रिः।

उत्तानाया इति॥ उत्तानाया न त्ववाङ्मुखाः पार्श्वे स्थिताया वा शयानाया न त्वासीनायाः। किं कृत्वा। सक्थिनौ संकोच्य तथोर्ध्वजान्वाः वस्तिं त्रिचतुरानहोरात्रेण योजयेत्। अनुवासने त्वेक एव वस्तिरहोरात्रेण युज्यत इत्यस्य भेदः। एवं च सन्ततं त्र्यहं वस्तिदानं कार्यम् न त्वनुवासनवत्तृतीये पंचमे वाऽहनि। ति कुर्वन्। स्नेहमात्रा यथास्वमर्द्धकपादिक्रमेण वर्द्धयन्। त्रयहमेव च विश्रम्य त्रीणि दिनानि विलंब्यपुनस्त्र्यहं पूर्वेण प्रकारेण प्रणिदध्यात् कुर्यादित्यर्थः। अयं क्रमः पुरुषस्यापि प्रयोज्यः। न स्त्रिया एवं। अत एवान्तेयमुपदिष्ट उभयसंबन्धार्थः। परमेश्वर

उत्तानायै स्त्रियैदद्यादूर्ध्वजान्वै विचक्षणः।
अप्रत्यागच्छति भिषग् वस्तावुत्तरसंज्ञिते॥
भूयो वर्तिं विदध्याच्च, संयुतं शोधनैर्गुणैः।
फलवर्त्तिं विदध्याद्यो, योनिमार्गे दृढां भिषक्॥
सूत्रैर्विनिर्मितां स्निग्धां, शोधनद्रव्यसंयुताम्।
दह्यमाने तथा वस्तौ दद्यावस्तिं विशारदः॥
क्षीरवृक्षकषायेण, पयसा शीतलेन वा॥

भा० प्र० पू० खं० तृ० भा०

हि० व्या०—चरकादि में उत्तर बस्ति लौट कर नहीं आने पर वर्त्ति का प्रयोग बताया है तथा शारंगधर में शोधन द्रव्यों से सुसंस्कत शोधन बस्ति

अथवा शोधन द्रव्यों से बनाई दृढ वर्ति को सूत्र से बांधकर एवं स्निग्ध करके योनि में रखना बताया है। यदि वर्ति की तीक्ष्णता से जलन या दाह हो तो दक्ष चिकित्सक को चाहिए कि पुनः बस्ति में क्षीरी वृक्षों की छाल के क्वाथ से अथवा दूध को ठण्डा करके या शीतल द्रव्यों से युक्त जल से बस्ति प्रयोग करावे। इस बस्ति के विधिवत प्रयोग किए जाने पर पुरुषों को समस्त शुक्र विकार तथा स्त्रियों के सभी रोग (विकार) शान्त हो जाते हैं (दूर हो जाते हैं) इस बस्ति का प्रमेह रोगियों में प्रयोग नहीं कराना चाहिए।

अनेन विधिना दद्याद्वस्तींस्त्रींश्चतुरोऽपिवा।
ऊर्ध्वजान्वं स्त्रियं दद्यादुत्तानायं विचक्षणः॥
सम्यक् प्रपीड्येद्योनिं दद्यात् सुमृदुपीडितम्।
त्रिकर्णिकेन नेत्रेण दद्याद्योनिमुखं प्रति॥

सु० चि० अ० ३७।११४-१५ वंगसेन

अनेन विधिनेति अनन्तरोक्तेन वस्तीस्त्रीश्चतुरोऽपि वेति। अयमर्थः प्राग्दत्त स्नेहप्रत्यागमने कालान्तरितदहरेव त्रिश्चतुर्वा मात्रा वर्धयित्वा स्नेहोदयः, एवं त्रीणी दिनानि स्नैहिकमुत्तरवस्तिं दत्वा, अहमेव विश्रम्य पुनस्त्रयहं दद्यादाव्याधिनिवृत्तेः। तथा च वाग्भटः, बस्तिमित्रात्रमेवं च स्नेहमात्रा विवर्धयेत्। त्रयहमेव च विश्रम्य प्रणिदध्यात् पुनस्त्रहम्' (वा० सू० अ०१६) इति। स्त्रीयामुत्तरवस्तिप्रणिधाने विशेषमाह-ऊर्ध्वेत्यादि। विचक्षणः 'इत्यत्र केचित 'समाहित इति पठन्ति, कामसंकल्परहितत्वेनाऽचलितचितप्रकृतिरित्यर्थः, बस्तिदद्यात्' इति शेषः त्रिकर्णिकेन नेत्रेणेत्यनेनात्रापि बस्तिनिबन्धनं कर्णिकाद्वयमिति सूचयति। डल्हणः।

स्त्रीः प्रति विनिष्टिं ऊर्द्धति कन्येतरस्यैदृष्टान्तवार्थं स्त्रियंकन्यायं चेति व्याहर्त्तव्यः। अत्र त्रिकर्णिकेनेति प्रसुप्तचेतसां चेतश्चेतयति प्राचति वेति ब्रूमः। नेत्रसामान्यं प्रति वस्तिबन्धनार्थद्वयोरति प्रवेश प्रतिषेधार्थचैकस्याः कर्णिकाया उपदेशात्। हाराण चन्द्रः।

बस्तिरनेन विधिना दद्यात्त्रीश्चतुरोऽपि वा।
अनुवासनवच्छेषं सर्वमेवास्य चिन्तयेत्॥

अ० सं० अ०-२८।७१

हि० व्या०—इसी बस्ति विधि में दक्ष चिकित्सक द्वारा बस्ति देनी चाहिए। वस्ति प्रणिधान के समय योनि को दबाकर तीन कर्णिका वाले नेत्र को योनिमुख में प्रवेश करके धीरे-धीरे बस्ति दबानी चाहिए। बस्ति के पश्चात् अनुवासन के अनुसार सभी प्रकार के विधान करने चाहिए।

उत्तानायं स्त्रिये दद्यादूर्ध्वजान्वं विचक्षणः।
अप्रत्यागच्छति भिषग्बस्तावुत्तरसंज्ञिते॥

भूयो वस्तिं निदध्याच्च संयुक्तैः शोधनैर्गणैः।
फलवर्तिं निदध्याद्वा योनिमार्गे दृढां भिषक्॥
सूत्रैर्विनिर्मितां स्निग्धां शोधनद्रव्यसंयुताम्।
दह्यमाने तथा बस्तौ दद्याद्वर्तिं विशारदः॥
क्षीरवृक्षकषायेण पयसा शीतलेन वा॥
बस्तिः शुक्रुजःपुंसां स्त्रीणामार्तवजां रुजम्।
हन्यादुत्तरबस्तिस्तु नोचितो मेहिनां क्वचित्॥ शा० उ० अ० ७

विचक्षणस्थाने समाहित इति वा पाठे स एवार्थः। अस्याग्रे-अनेन विधिना दद्यात् बस्तीन् त्रीन् चतुरोऽपि वा इति पठन्ति व्याख्यानयन्ति च। अनिर्गमे पुनर्बस्तिर्देय इत्यत आह—उत्तरसंज्ञिते बस्तौ प्रत्यागच्छति सति भूयः पुनरपि बस्तिमुत्तरसंज्ञं निदध्यात्। किंभूतं शोधनैर्गणैः संयुक्तम्। शोधनगणो विरेचनगणः। वा अथवा फलवर्तिं निदध्यात्। कथ ? योनिमार्गे अपत्यमार्गे। किं भूतां ? दृढां अशिथिलाम्। अतएव सूत्रैर्विनिर्मिताम्। तथा स्निग्धा तथा शोधनद्रव्यसंयुताम्। शोधनद्रव्यकृतामित्यर्थः। वर्तिस्तु अग्रे वक्ष्यमाणा ज्ञातव्या। अस्याग्रे केचिदधिक पाठं पठन्ति तथया —

पयोबस्तिं निदध्यात्तु प्रोक्तं गुल्मचिकित्सितम्।
प्रवेशयेद्वा मतिमान् बस्तिद्वारे च पेषणी॥
पीडयेद्वाप्यथो नाभेर्बस्तिना परिवेष्टितः।
आरग्वधस्य पत्रेषु निर्गुण्डयाः स्वरस्य च॥

पुरुषाणां कृते उत्तर बस्ति विधानम्

स्नातस्य भुक्तभक्तस्य रसेन पयसाऽपि वा।
सृष्टविण्मूत्रवेगस्य पीठे जानुसमे मृदौ॥
ऋजो सुखोपविष्टस्य हृष्टे मेढ्रे घृताक्तया।
शलाकयाऽन्विष्य गतिं यद्यप्रतिहता व्रजेत्॥
ततः शेफः प्रमाणेन पुष्पनेत्रं प्रवेशयेत्।
गुदवन्मूत्रमार्गेण प्रणयेदनु सेवनीम्॥
हिंस्यादतिगतं बस्तिमूने स्नेहो न गच्छति।
सुखं प्रपीड्य निष्कर्म निष्कर्षन्नेत्रमेव च॥
प्रत्यागते द्वितीयं च तृतीयं च प्रदापयेत्।
अनागच्छन्नुपेक्ष्यस्तु रजनीव्युषितस्य च॥ च० सि० ६।५३-५७

तत्र पुष्पनेत्रं शेफः प्रमाणसमं प्रवेशनीयम्। शलाकया प्रथम शेफःमन्वेषणं मार्गविज्ञानार्थम्। गुदवदिति गुदे यथा नेत्राकम्पनादिगुणयुक्तं प्रवेश्य ते तथा मेढ्रेऽपि। अतिगतं लिंग प्रमाणातिरेकप्रविष्टंनेत्रवस्तिं हिंस्यात्। ऊने इति लिंगमानस्तोकप्रविष्टे। चक्रपाणिः।

हि० व्या०—जिसने मांस रस या दूध के साथ भोजन कर लिया हो, जिसने मल मूत्र का त्याग कर लिया हो, जो घुटने तक ऊँची चौकी आदि आसन पर बैठा हो जिस पर कोमल बिछावन हो, उस पर सुखपूर्वक बैठे हुए व्यक्ति के मेढ्र को प्रहर्षित करके घृत लगी हुई शलाका से मूत्रमार्ग का अन्वेषण करें। मार्ग मिलने पर उसे निकालकर मूत्रेन्द्रिय के प्रमाण का पुष्प नेत्र प्रवेश करावें। गुद बस्ति के समान मूत्रमार्ग में भी सेवनी के ठीक सामने पुष्पनेत्र का प्रवेश कराना चाहिए। यदि असावधानी से बस्ति नेत्र का अधिक प्रमाण में प्रवेश हो गया हो तो मूत्राशय में हानि होती है एवं प्रमाण से कम प्रवेश होने पर स्नेह उचित रूप से प्रवेश नहीं कर पाता। बस्ति प्रयोग के समय सुख पूर्वक सम वेग में बिना हाथ कम्पन्न के औषध को अन्दर प्रवेश कराना चाहिए। बस्ति निकालते समय भी हाथ नहीं कांपना चाहिए। उत्तरबस्ति से प्रयुक्त स्नेह बाहर नहीं आवे तब ऐसी स्थिति में उपेक्षा नहीं करते हुए रातभर बीत जाने पर आगे वर्णित वर्ति मूत्र मार्ग में डालकर स्नेह बाहर निकालना चाहिए।

ततः समं स्थापयित्वा नालमस्य प्रहर्षितम्।
पूर्वं शलाकयाऽन्विष्य ततोनेत्रमनन्तरम्॥
शनैः शनैर्घृताभ्यक्तं विदध्यादगुलानिषट्।
मेढ्रयामसमं केचिदिच्छन्ति प्रणिधानकम्॥

सु० चि० अ० ३७।- वंगसेन शा० सं०

समं ऋजुम्नालं मेहनम्। प्रहर्षितं स्तब्धम्। अंगुलानि षडिति मध्यप्रमाण-मेढ्रस्य मध्यमं प्रणिधानमानमवेक्ष्य। निविष्टकर्णिकं मध्य इति सूत्रमुक्तं प्रणिधानमवेक्ष्य डल्हणः।

हि० व्या०—पूर्व कर्म सम्पन्न करने के उपरान्त उसके मेढ्र को सीधा करके प्रहर्षित करें। सर्वप्रथम शलाका से मूत्र मार्ग का अन्वेषण करके शनैः-शनैः घृत लगे हुए बस्ति नेत्र को ६ अंगुल प्रदेश कराना चाहिए।

अथ स्नाताशितस्यास्य स्नेहबस्तिविधानतः।
ऋजोः सुखोपविष्टस्य पीठे जानुसमे मृदौ॥
हृष्टे मेढ्रे स्थिते चर्ज्जु शनैः स्रोतोविशुद्धये।
मालतीपुष्पवृन्ताग्रपरिणाहां घनामृजुम्॥
श्लक्ष्णां शलाकां प्रणयेत्तया शुद्धेऽनुसेवनीम्।
आमेहनान्तं नेत्रं च निष्कम्पं गुदवत्ततः।
पीडितेऽनुगते स्नेहे स्नेहबस्तिक्रमो हितः॥

अ० सं० सू० २८।६५-६८

अथेत्यादि। अस्य चातुरस्य मेढ्रे स्त्रोतोविशुध्यर्थं प्रथमं शलाकां प्रणयेत्। सीवनी स्पष्टतया यावन्मेहनान्तमतोऽनुनेत्रं प्रणयेत् गुदवत्। किं भूतां शलाका

मित्याह। मालतीत्यादि। मालती पुष्पवृन्तसमः परिणाहो यस्याः सा तथोक्ता स्नेहबस्तिक्रमोऽनुवासनविधिः। उत्तरबस्तावनुवासनवत् सर्वं भोजनाचारादिकमं कार्यम्। इन्दुः।

अथ स्नाताशितस्यास्य स्नेहबस्तिविधानतः।
ऋजोः सुखोपविष्टस्य पीठे जानुसमे मृदौ॥
हृष्टे मेढ्रे स्थिते चर्जौ शनैः स्रोतोविशुद्धये
सूक्ष्मां शलाकां प्रणयेत्तया शुद्धेऽनुसेवनीम्॥
आमेहनान्तं नेत्रं निष्कंपं गुदवत्ततः।
पीडितेऽन्तर्गते स्नेहे स्नेहबस्तिक्रमो हितः॥

अ० हृ० सू० १९।६२-६४

अथेति मंगले अस्य रोगिणो निरूहवत्कृतमंगलस्य तथा पूर्वं स्नातस्य पश्चादशितस्य। कथमशितस्य। स्नेहबस्तिविधानतः। तृतीयार्थेतसिः। स्नेह-बस्तौ यादृश आहारो विहितस्तेन कृतभोजनस्येत्यर्थः। तथर्जोः स्पष्टं स्थितस्य तथा सुखेनाऽसीनस्य। क्व पीठ आसने। किंभूते। जानुतुल्ये। तथा मृदावकठिने च। प्रहृष्टे स्तब्धे तथा ऋजौ स्पष्टं कृत्वा स्थिते सति शनैर्नत्वरणा सूक्ष्मां शलाकां प्रणयेत्। स्थूलायां तत्र क्षतकरणात्। तया शलाकया शुद्धे मेढ्रे सत्यनुसेवनीं सेवनीमनुलक्षीकृत्य आमेढ्रात नेत्र प्रणयेत्। षडंगुलं प्रायेण प्रवेशयेदित्यर्थः। कथम्। गुद इव निष्कंम्पम्। ततो निष्कंपं स्थापनादनंतरं पीडिते पुटके स्नेहे चांतः प्रविष्टे सत्यनुवासनक्रमो हितः। पाणिना ताडयेत् स्फिजौ तस्य पार्ष्णिभ्यामित्यादिकः। अरुणदत्तः।

अथःनन्तरं स्नाताशितस्य पुंसो मेढ्रे लिंगे पूर्वं सूक्ष्मशलाकां प्रणयेत् तदनन्तरं नेत्रं पूर्वं स्नातस्य पश्चादशितस्य। भोजितस्य कथं स्नेहबस्तिविधानेन पूर्व-निर्दिष्टेनाभ्यक्तस्नातमित्यादिना ग्रन्थविहितेन तथा ऋजोः स्पष्टस्य सुखोप-विष्टस्य सतः सुखेनासीनस्य पीठ आसने जानुसमे जानु तुल्ये मृदावकठिने स्थितस्य हृष्टे मेहने स्तब्धेऽभ्युत्थिते कृते सति तथा ऋजुं कृत्वा स्पष्टं कृत्वा न सूक्ष्मां शलाकां शनैर्मन्दं मन्दं कृत्वा न झटित्येव प्रणयेत् विदध्यात्। मूत्रविशुद्धये मूत्रस्रोतोनिर्मलत्वकरणाय तया शलाकया शुद्धे मेढ्रे स्रोतसि नेत्रं प्रणयेत्। अनुसेवनी सेवनीसमीपे तदनुवासनेनेति यावत। आमेहनान्तं यावन्मेहनपर्यन्तं निष्कम्पं कृत्वा हस्तमकम्पयन्गुदवत् यथा गुदे नेत्रं प्रणयेत्तथेहापि च तत्पूर्वं पीडिते प्रक्षिप्ते क्षेपादन्तर्गतस्नेहे प्रवर्तिते स्नेहबस्तेर्यः क्रमः उपचारः स तत्र हितः। वस्तेरयं क्रमः। पार्ष्णिके आहन्यान्मुष्टिना तथांग चेदं तं स्नेहाभ्यज्य मर्दयेत्। आगते स्नेहे दीप्ताग्नि सायाह्नेभोजयेत्। उच्यतेऽथक्रमः। चंद्रनन्दनः।

उत्तरबस्तेर्विधिमाह-अथेति। यथा शलाकया शुद्धस्रोतसि मेढ्रे सेवन्यनुसारेण नेत्रं प्रणयेत्। ततः स्नेहे पीडिते तु गते निवृत्ते च अनुवासनोक्तः क्रमः कार्यः। संग्रहे तु-'मालती पुष्पवृंताग्रपरिणाहां घनामृजुम्' इत्यधिकम्। हेमाद्रिः।

अथेत्यादि। अथेति मंगले। अस्य रोगिणो निरूह इव कृतमंगलस्य तथा पूर्वं स्नातः पश्चादशितस्य। कथं स्नाताशितस्य। स्नेह बस्तिविधानतः। तृतीयार्थे तसिल् 'अभ्यक्तस्नात मुचितात् पादहीन' मित्यादिविधिना कृतस्नान भोजनस्य सुखेनासीनस्य क्व। पीठे। मेढ्रे हृष्टे स्तब्धे तथा ऋजु स्पष्टं कृत्वा स्थिते सति प्रथमं सूक्ष्मं शलाकां शनैः प्रणयेत्। स्थूलतया क्षतं स्यात्। तया सूक्ष्मशलाकया शुद्धे मेढ्रे सत्यनुमेविनी लक्षीकृत्यामेढ्रान्तन्नेत्रंच प्रणयेत्। षडंगुलं प्रवेशयेदित्यर्थः। कथं? गुद इव निष्कंपम्। ननु मध्ये कृतकर्णिकमिति प्रयोक्तव्यत्वात् षडंगुलं प्रवेश्यमिति लक्ष्यते। तत् किमामेहनान्तमिति ब्रूमः। नवांगुलमेढ्रा द्वादशांगुलगुह्यश्च सन्ति पुरुषान्तेषामामेहनान्तमित्युक्तम्। अन्यथा चैतेषा स्नेहोऽद्गिरणं भवतीति द्योतनार्थम्। 'मेहनाद्द्विगुणं विद्यान्नेत्रदैर्घ्यं भिषग्वरः। निविष्टकर्णिकमध्ये नारीणांचतुरंगुले 'इति॥ 'आरोहपरिणाहाभ्यां' पाण्णवद्वादशांगुले गुह्यैश्शशो वृषोऽश्वो वा 'इति रति रहस्ये। ततो निष्कम्पस्थापनादनन्तरं पीडिते पुटके स्नेहेऽनुगते प्रविष्टे सत्यनुवासनक्रमो हितः। 'पाणिना ताडयेत् स्फिजौ। तत्पाणिभ्या' मित्यादिकः शय्योत्क्षेपरहितः॥ परमेश्वरः।

पुरुषाणां कृते उत्तरबस्ति प्रयोग संख्या संकेतः

बस्तीनेन विधिना दद्यात्त्रींश्चतुरोऽपि वा।
अनुवासनवच्छेषं सर्वमेवाऽस्य चिन्तयेत्॥ अ० हृ० सू० १९।९५

त्रीश्चतुरो वा बस्तीननेन विधानेन दद्यात्। शेषं विधिपरिहारादि सम्यग्दत्तव्यापदादिकमत्स्योत्तर बस्तेरनुवासनस्येव दापयेत। यदुक्तं खरनादेन। यथाशेषं प्रवेश्याऽथ स्नेहस्यार्धपलं नयेत्। प्रत्यागते द्वितीयं वा तृतीयं वा प्रदापयेत्। स चेदनुवर्तनेत्र स्यात्किमेयं विशेषतः। पिप्पल्यारग्वधागारधूमवत्सकसैंधवैः। मूत्रअम्लपिष्टैर्गुलिकाः सर्षपा मापसन्निभाः। छायाशुष्काश्चतस्रः शिश्ने दद्यासर्षपसन्निभाः। पूर्वं माषोपमा पश्चात्ताभिः स्नेहं समानयेत्। स्नेहे प्रत्यागते च स्यादानुवासनिकोविधिरिति। अरुणदत्तः

अनेन यथोद्दिष्टेन विधिनोत्तर बस्तीस्त्रींश्चतुरो वा दद्यात् योजयेत्। अनुवासनेन तुल्यं सर्वमेव सम्यग्योग हीनातियोगादि तथान्यदपि यत्किंचिन्मेध्यामेध्यं तद्व्यापदौपधं चास्य चिन्तयेल्लक्षयेत्। जानीयात् चंदनन्दनः।

उत्तरबस्त्यावृत्तो संख्यामाह बस्तीनिति। उत्तरबस्तावनुक्तमौषधकल्पनाधिकमनुवासनवत्कार्यमित्याह-अनुवासनवदिति। हेमादिः।

उत्तरबस्तिसम्यग् प्रयोगात् जायमानानां गुणानां वर्णनम्

शुक्रं दुष्टं शोणितं चांगनानां
पुष्पोद्भेकं तस्य नाशं च कष्टम्।
मूत्राघातान्मूत्रदोषान् प्रवृद्धान्
योनिव्याधिं संस्थितिं चापरायाः॥
शुक्रोत्सेकं शर्करामस्मरीं च
शूलं बस्तौ वंक्षणं मेहने च॥
घोरानन्यान् बस्तिजांश्चापि रोगान्
हित्वा मेहानुत्तरो हन्ति बस्तिः॥

सु० चि० अ० ३७, वंगसेने

इदानीमुत्तरबस्तेर्विषयं दर्शयन्नाह-शुक्रमित्यादि। पुष्पं ऋतुस्तस्योद्भेकोऽकालप्रवृत्तिः, कष्टं कष्टसाध्यम्। मूत्राघातान् मूत्रावरोधान्। मूत्रदोषान् मूत्रकृच्छ्रान्। संस्थितिं निर्गम रोधमित्यर्थः। अपरा गर्भावरण विशेषः, यस्या "उल्व" इति लोकं प्रसिद्धिः। अशेष बस्तिरोगपरिहारार्थमाह-बस्तिजाश्चापि रोगानिति॥ डल्हणः।

बस्तिः शुक्रजः पुंसां स्त्रीणामार्त्तवजा रुजः।
हन्यादुत्तरबस्तिस्तु नोचितो मेहिनां क्वचित्॥

भावप्रकाश, वंगसेने (बस्तिः)

सम्यग्दत्तस्य लिंगानि, व्यापदः, क्रम एव च।
वस्तेरूत्तरसंज्ञस्यः समानाः स्नेहबस्तिना॥ भा० प्र०

इस बस्ति का प्रयोग दूषित शुक्र स्त्रियों के आर्तवजन्य दोष, रजोधिक्य रजः कष्ट, मूत्राघात, मूत्र दोष, योनि रोग, अपरासंग, शुक्र स्राव, शर्करा, अश्मरी तथा बस्ति प्रदेश, वंक्षण तथा वस्ति सम्बन्धि अन्य घोर रोगों में किया जाता है। प्रमेह रोग में इसका प्रयोग नहीं करना चाहिए।

उत्तरबस्तौ दाहरूपस्य उपद्रवस्य शमनाय चिकित्सा सूत्रम्

शर्करामधुमिश्रेण शीतेन मधुकाम्बुना।
दह्यमाने तदा वस्तौ दद्याद्बस्तिं विचक्षणः॥
क्षीरवृक्षकषायेण पयसा शीतलेन वा।

सु० चि० अ० ३७।१२३-१२४, वंगसेन

तत्र स्नेहप्रदानकुपितपित्तेनानिर्गच्छतः स्नेहस्य निर्गमनार्थं दत्ततीक्ष्णोष्णनिरूहकुपितपित्तेन वा दह्यमाने वस्तौ बस्तिविशेषमुपदिशन्नाह शर्करेत्यादि। शर्करामधुमिश्रेणेति त्रिष्वपि योगेषु योजनीयमिति॥ डल्हणः।

हि० व्या०—उत्तर बस्ति के पश्चात् दाह होने पर क्षीरी वृक्ष के कषाय में दुग्ध मिलाकर अथवा चीनी, मधु युक्त शीतवीर्य औषधियों के क्वाथ से गुद बस्ति देनी चाहिए।

उत्तरबस्तेः स्नेहबस्तिसमानायाः गुणदोषानाह व्यापदानां वर्णनंच

सम्यग्दत्तस्य लिंगानि व्यापदः क्रम एव च ।
बस्तेरूत्तरसंज्ञस्य समानं स्नेहबस्तिना ॥

सु० चि० अ० ३७, शार्ङ्गधर उ० अ० ८, वंगसेन

उत्तरसंज्ञस्य उत्तरबस्तेः स्नेहबस्तिनाऽनुवासनेन समान लिंगानि लक्षणानि तथा व्यापदः हीनातिमिथ्यायोगजः क्रमश्च उपक्रमश्च समानः स्नेहबस्तिना तुल्य इत्यर्थः । तन्त्रान्तरे तु-दुष्टं शुक्रं शोणितं चांगनानामसृग्दरं तस्य नाशं च पुष्पम् । मूत्राघातं मूत्रदोषान् प्रवृद्धान् योनेर्दोषान् त्वपरायाश्च संगम् । शुक्राघातं शर्करामश्मरीं च शूलं बस्तौ वंक्षणोमेहने च । घोरानन्यान्यबस्तिजांश्चापि रोगान् मोहादृते उत्तरो हन्ति बस्तिः इति: ॥ आढमल्लः ।

सम्यग्दत्तलक्षणमाह-शमन शुक्रत्वशमनं भवति । प्रमेहलक्षणं शमनं भवति ॥ काशीराम ।

हि० व्या०—सम्यक् प्रकार से प्रयोग की गई उत्तरबस्ति के लक्षण, दोष एवं व्यापद् की चिकित्सा स्नेह बस्ति के समान समझना चाहिए ।

उत्तरबस्तिप्रयुक्त स्नेहस्य अप्रत्यागमन जन्य उपद्रवेषु चिकित्सा सूत्राणां वर्णनम्

अप्रत्यागच्छति भिषग् बस्तावुत्तरसंज्ञिते ।
भूयो बस्तिं निदध्यात्तु संयुक्तं शोधनैर्गुणैः ॥
गुदे वर्तिं निदध्याद्वा शोधनद्रव्यसंभृताम् ।
प्रवेशयेद्वा मतिमान् बस्तिद्वारमर्थैषिणीम् ॥
पीडयेद्वाऽप्यधो नाभेर्बलेनोत्तरमुष्टिना ।
आरग्वधस्य पत्रैस्तु निर्गुण्ड्याः स्वरसेन च ॥
कुर्याद्गोमूत्रपिष्टेषु वर्तीर्वापि ससैन्धवाः ।
मुद्गोलासदृपसमाः प्रविभज्य वयांसि तु ॥
बस्तेरागमनार्थाय ता निदध्याच्छलाकया ।
आगारधूमबृहतीपिप्पलीफलसैन्धवैः ॥
कृता वा शुक्तगोमूत्रसुरापिष्टैः सनागरैः ।
अनुवासनसिद्धिं च वीक्ष्य कर्म प्रयोजयेत् ॥

सु० चि० ३७।११७-१२२

अनागच्छति स्नेहे प्रत्यागमनोपायमाह-अप्रत्यागच्छतीत्यादि । अत्र गयदासः स्नैहिकस्योत्तर बस्तेर्भालुकिदर्शनान्मात्रा शतादूर्ध्वं प्रत्यागमनकालं वर्णयति । तथाहि भालुकिः,—"बस्तिर्मात्राशतादूर्ध्वं प्रत्यागच्छति, अनागच्छति वर्ति पायौ नाले प्रदापयेत्—" इति । दृढबलस्तु प्रत्यागमनकालमनुवासनोत्तरबस्तेरिति मन्यते । तथा च तद्वाक्यम्—"प्रत्यागते द्वितीयं च तृतीयं चैव दापयेत् । अनागच्छन्नुपेक्ष्यस्तु रजनीम्—"इत्यादि । "तत्रोपद्रवकारी मात्रा-

शतादूर्ध्वं स्नेहो यत्नेनानयितव्यः, नत्वनुवासनत्रि—यामात्परत इतिः अनागच्छन्निरूपद्रवश्चाहोरात्रमुपेक्षणीय इति मतद्वयमप्यवस्थावशेन प्रमाणयितव्यम् । एवं विधे च प्रत्यागमनकाले अनागच्छति स्नैहिके निरूहोत्तरबस्तिः संशोधनैस्त्रिवृदादिभिर्बस्तिशोधनैश्च तृणपंचमूलादिगणद्रव्यैः क्वाथरूपैर्युक्तं बस्तिं प्रसृतिमात्रं मूत्रमार्गेषु स्त्रिया द्विप्रसृतिमात्रमपत्यमार्गेण स्नेहापकर्षणं दद्यात् । गुद इत्यादि शोधनद्रव्यमंभृतामिति विरेचनद्रव्य निर्मिताम् । एषणीं शलाकाम् । यच्चावशेषं तद्बलेन सामर्थ्येन, उत्तरमुष्टिना मुष्टेरग्रभागेन । गुदवर्तिमभिधाय मूत्रमार्गे वयोभेदेन दर्शयन्नाह-आरग्वधेत्यादिना वर्तीः तन्त्रान्तरदर्शनाच्छायाशुष्काधुतावत्ताः स्रोतसि मूत्रमार्गे शलाकया निदध्यात् प्रवेशयेत् स्नेहापकर्षणार्थं, अपत्यमार्गे स्थूला वर्तिश्चतुरंगुला प्रणिधेया । प्रकारान्तरेण वर्तिमाह-आगारेत्यादि । फलं मदनफलम् । कृता वर्तीः मुद्गादिप्रमाणाः । शुक्तं चुक्रम् । आनुवासनचिकित्सावेक्षणमाह-अनुवासनसिद्धिमित्यादि । स्नैहिकोत्तरबस्तिदानानन्तरं यदुक्तं स्फिक्ताडनादिकं कर्म तदनुवासनचिकित्सितं वीक्ष्य प्रयोजयेत्, तथा च वाग्भटः, "पीडितेऽन्तर्गते स्नेहे स्नेहबस्तिक्रमो हितः (वा० सू० अ० १९) इति ॥ डल्हणः ।

अनिवृतौ उत्तरबस्तिस्नेहे उपक्रमाः

सूत्रैर्विशिष्टान्तां स्निग्धां शोधनद्रव्यसंयुताम् ।
पीडयेद्वाप्यधोनाभेर्बस्तेरुपरि वेष्टिताम् ॥ वंगसेन

हि० व्या० —उत्तर बस्ति में दिया गया स्नेह लौटकर नहीं आने पर पुनः शोधनगण के द्रव्यों से निर्मित बस्ति लगानी चाहिए । अथवा शोधन द्रव्यों से युक्त वर्ति को बस्ति में रखना चाहिए । अथवा बुद्धिमान् चिकित्सक को चाहिए कि बस्ति द्वार में एषणी प्रवेश करें या मुट्ठियों के अग्रभाग से बल पूर्वक नाभि के नीचे भाग में दबाना चाहिए ।

अमलतास पत्र निर्गुण्डी स्वरस तथा सैन्धव नमक मिलाकर गोमूत्र में पीसकर अवस्था के अनुसार मूंग, इलायची और सरसों के समान वर्ति बनानी चाहिए । तथा बस्ति आगमन के लिए शलाका की सहायता से उसे मूत्र मार्ग में रखना चाहिए ।

अथवा गृह-धूम, बड़ी कटेरी पिप्पली, मैनफल, सैन्धव नमक और सोंठ को शुक्र गोमूत्र एवं सुरा के द्वारा पीसकर बनाई गई वर्ति का प्रयोग करना चाहिए ।

वस्तीनिति ॥ त्रीश्चतुरो वा वस्ती अनेन विधिना दद्यात् । शेषं विधि परिहारादिभोजनाचारादिकमस्योत्तरबस्तेरनुवासनस्येव निरूपयेत् ॥

परमेश्वरः

हि० व्या०—उत्तर बस्ति की बताई गई विधि के अनुसार मूत्र मार्ग में तीन अथवा चार बस्तियों का प्रयोग करना चाहिए । सम्यग आदि योग के

लक्षण एवं आहार विहारादि का विचार अनुवासन के अनुसार करना चाहिए।

उत्तरवस्ति प्रणिधान पश्चात् कर्म वर्णनम्

ततोऽवपीडयेद्वस्तिं शनैर्नेत्रं च निर्हरेत् ।
ततः प्रत्यागतस्नेहमपराह्णे विचक्षणः ।
भोजयेत् पयसा मात्रां यूषेणाथ रसेन वा ॥

सु० चि० अ० ३७।११२-११३ शा० सं०, वंगसेन, भावप्रकाश

सप्तांगुलं परं नेत्रमित्यादि। पयोयूष रसैर्भोजनं कफपित्तवातापेक्षया। डल्हणः।

हि० व्या०—बस्ति को दबा कर धीरे से नेत्र को निकाल देना चाहिए। स्नेह के वापिस लौट आने पर रोगी को सायंकाल दूध यूप यथा मांसरस के साथ भोजन देना चाहिए।

ततः प्रत्यागते स्नेहे बस्तिक्रमो हितः। (वंगसेने बस्तिः)

हि० व्या—स्नेह के लौट आने पर स्नेह बस्ति की विधि का पालन करना चाहिए।

एकादशोऽध्याय

नस्य प्रकरणम्

जिस प्रकार सम्पूर्ण शरीर के शोधन एवं विकार शमन हेतु मुख मार्ग, पायु मार्ग अथवा मूत्र मार्ग से औषध का प्रयोग कराया जाता है उसी प्रकार शिरः प्रदेश के विविध अवयवों में उत्पन्न होने वाले विकारों की उपशान्ति के लिए नासारंध्रों द्वारा औषध का प्रयोग कराया जाना नस्य कर्म कहलाता है। नासारन्ध्रों को शिर का मार्ग माना गया है। इनके द्वारा प्रयुक्त औषध सूक्ष्म स्रोतों में प्रवेश करती है। औषध शृंगाटक नामक मर्म स्थानों में पहुंचकर समस्त शिर में व्याप्त हो जाती है यहां से नेत्र, कर्ण, कण्ठ, आदि अवयवों की सिराओं के मुखों में व्याप्त होकर विकृत दोष समूह को बाहर निकाल देती हैं। ग्रीवा सहित समस्त शिरः प्रदेश को 'मूर्धा' एवं 'उत्तमाङ्ग' कहा जाताहै।

समस्त इन्द्रियों के शक्ति स्रोत तथा प्राणवाही स्रोत भी शिरः प्रदेश में उसी प्रकार व्याप्त है जैसे सूर्य की किरणें। इन्हीं स्रोतों को दूसरे रूप में आधुनिक चिकित्सा शास्त्रियों ने भी यहीं माना है। नस्य शब्द के ही शिरो विरेचन, शिरोविरेक, मूर्धविरेचन आदि पर्याय बताये गये हैं। सुश्रुत मे शिरो विरेचन शब्द का नस्य के विशिष्ट भेद के रूप में भी प्रयोग है तथा चरक ने नस्त, प्रच्छर्दन लिखा हैं। नावन भी नस्य का ही एक भेद है।

नस्य के विविध भेद एवं रोगानुसार मात्रा तथा कालानुसार प्रयोग का क्रमशः इस प्रकरण में वर्णन किया जा रहा है। युक्ति पूर्वक नस्य कर्म से लाभ तथा प्रमाद के कारण होने वाले उपद्रवों एवं उनकी चिकित्सा का भी परिचय दिया गया है।

नस्य शब्दस्य निरुक्तिः

नस्य स्त्रि०—नासिकायै हितं तत्र भवो वा यत् नासादेशः

१. नासिका भवे
२. तद्धिते च। (वाचस्पत्यम्)

नासायां भवं नस्यम् ॥ (अरुणदत्तः)

नस्यं तत्कथ्यते धीरैर्नासाग्राह्यं यदौषधम्।
नावनं नस्यकर्मेति तस्य नामद्वयं मतम् ॥

शा० उ० ८।१ भाव प्र०

औषधं क्वाथ स्वरसस्नेहादि, नस्यमिति नासया दीयते इति नस्यम्।
आढ़मल्लः।

नस्तः कर्म च कुर्वीत शिरो रोगेषु शास्त्रवित्।
द्वारं हि शिरसो नासा तेन तद्व्याप्य हन्ति तान्॥

च० सि० ९।८

औषधमौषध सिद्धो वा स्नेहो नासिकाभ्यां दीयते इति नस्यम्।

सु० चि० ४०।२९, वंगसेन

नासायां प्रणीयमानमौषधं नस्यम्।
नावनं नस्तः कर्मेति च संज्ञां लभते॥ अ० सं० सू० २९।३

द्वारं हि शिरसो नासा तेन तद्व्याप्य हन्ति तान्। वंगसेन

हि० व्या०—जो औषध नासिका मार्ग से ग्रहण की जाती है उसे चिकित्सा विज्ञो ने 'नस्य' कहा है।

औषध को या औषधि से सिद्ध स्नेह को नासा पुटों के द्वारा प्रयोग करने पर या दिए जाने पर नस्य कहलाता है,

नासा शिर का द्वार है। नासामार्ग से औषधि या औषधिसिद्ध स्नेह का प्रयोग करने पर (नस्य रूप में देने पर) वह औषधि सम्पूर्णशिर में व्याप्त होकर रोगों को दूर करता है। अन्य आचार्य ने भी इसी आशय को ग्रहण किया है। इसी को शिरो विरेचन, नावन एवं नस्तः कर्म भी कहा जाता है।

स्नेहार्थं शून्यशिरसां ग्रीवास्कन्धोरसां तथा।
वलार्थं दीयते स्नेहो नस्त शब्दोत्र वर्तते॥
शिरोविरेचन द्रव्यैः स्नेहैर्वा तैः प्रसाधितैः।
शिरोविरेचनं दद्यात्—
चक्रदत्तः।

हि० व्या०—स्नेहरहित शिरः प्रदेश (मस्तिक), ग्रीवा, स्कन्ध एवं वक्ष प्रदेश की शक्ति वृद्धि तथा स्नेहन के निमित्त जिस स्नेह का प्रयोग कराया जाता है उसे नस्य कहते हैं।

शिरोविरेचन औषधियों या औषधियों से सिद्ध स्नेह द्वारा विविध रोगों में (नासामार्ग से) किया गया प्रयोग शिरो विरेचन कहलाता है।

नस्य सामान्य फल वर्णनम्

नस्येन रोगाः शाम्यन्ति नाराणामूर्ध्वजत्रुजाः।
इन्द्रियाणां च वैमल्यं कुर्यादास्यं सुगन्धि च॥
हनुदन्तशिरो ग्रीवात्रिकबाहूरसां बलम्।
वलीपलितखालित्यव्यङ्गानां चाप्यसंभवम्॥

सु० चि० ४०।५४।५५

तत्र यः स्नेहनार्थं शून्य शिरसा ग्रीवास्कन्धोरसा च बलजननार्थं दृष्टि प्रसादजननार्थं वा स्नेहो विधीयते तस्मिन् वैशेषिको नस्य शब्दः।

सु० चि० ४०।२२

स्नेहार्थं शून्यशिरसां ग्रीवास्कन्धोरसां तथा।
बलार्थं दीयते स्नेहो नस्तः शब्दोऽत्र वर्तते॥ चक्रदत्तः

एतेन यथा निदान शब्दो निदानपञ्चके तथा निदानविशेषे च वर्तते, तथाऽयं नस्य शब्दोऽपि नस्य शिरोविरेचन—प्रतिमर्शविपीडप्रधमनेषु तथा नस्य विशेषे च स्नेहार्थं शून्यशिरसामित्यादिनोक्ते वर्त्तते। शिवदाससेनः।

नासा हि शिरसो द्वारम् तत्रावसेचितमौषधं स्रोतः शृंगाटकं प्राप्य व्याप्य मूर्द्धानं नेत्रश्रोत्रकण्ठादिशिरामुखानि च मुञ्जादीषिकामिवासक्तामूर्ध्वजत्रुगता वैकारिकीमशेषामाशु दोषसंहतिमुत्तमांगगदापकर्षति।

अ० सं० सू० २९।३

नासया शिरसि प्रणीयमानमौषधं नस्य संज्ञा लभते। स्रोतः शृंगाटकं शिरसोऽन्तर्मध्यं प्राप्य व्याप्य च मूर्धानं नेत्रादीनि चोत्तमाङ्गादूर्धगता विविध-विकार हेतुं दोष संहतिमपकर्षति। सा हीषिका मूञ्जे तदङ्गत्वादतिसुलभा भवतीति दृष्टान्त प्रयोजनम्। अक्षकारव्ययोरस्थ्नोः सन्धिर्जत्रुनाम मर्म। इन्दुः।

ऊर्ध्वजत्रु विकारेषु विशेषान्नस्यमिष्यते।
नासा हि शिरसो द्वारं तेन तद्व्याप्य हन्ति तान्॥

अ० हृ० सू० २०।२

यस्माद् घ्राणं शिरोद्वारं तेन द्वारेण श्रोत्र शृंगाटकप्राप्तमूर्ध्वं नेत्रकण्ठादि शिरामुखानुप्रवेशेन तच्छिरो व्याप्य तान्विकारान् हंन्ति। अरुणदत्तः।

हि० व्या०—आचार्य सुश्रुत के अनुसार-नस्य प्रयोग से ऊर्ध्वजत्रुगतरोगों का शमन होता है। ईन्द्रियाँ निर्मल होती है। मुख का दुर्गन्ध दूर हो जाता है। हनु, दन्त, शिर, ग्रीवा, त्रिक, बाहु और छाती में बल बढ़ता है। वली पलित, गंजापन और व्यंग (झांई) रोग नहीं होता है।

आचार्य वाग्भट (अ० हृदयकार) के अनुसार वक्ष यौर अंश की सन्धि से ऊपर के भाग को अर्थात् ग्रीवा से ऊपर के भाग को ऊर्ध्वजत्रु कहा जाता है। ऊर्ध्वजत्रुगतरोगों में विशेष रूप से नस्य द्वारा दी गई औषधि सफल होती है। नासा द्वार से औषधि श्रोत्र शृंगाटक में प्रविष्टकर कान, आँख, नासा और गला इन अंगों के मलों, दोषों का शोधन कर तत्तत् रोगों को दूर करती है। वमन-विरेचन से जिस प्रकार दोषों का शोधन होता है। उसी प्रकार नस्य से शिरोगुहा के दोषों और मलों का निर्हरण होता है। अतः ऊर्ध्वजत्रुगतरोगों में विशेषरूप से नस्य अभिप्रेत है।

नस्य कर्मणः विविध भेदाः अवान्तरभेदाश्च ।
नावनं चावपीडश्च ध्मापनं धूम एव च ।
प्रतिमर्शश्च विज्ञेयं नस्तः कर्म तु पञ्चधा ॥

स्नेहनं शोधनं चैव द्विविधं नावनं स्मृतम् ।
शोधनः स्तम्भनश्च स्यादवपीडो द्विधा मतः ॥
चूर्णस्याध्मापनं तद्धि देहस्रोतोविशोधनम् ।
विज्ञेयस्त्रिविधो धूमः प्रागुक्तः शमनादिकः ॥
प्रतिमर्शो भवेत् स्नेहे निर्दोष उभयार्थ कृत् ।

एवं तद्वेचनं कर्म तर्पणं शमनं त्रिधा ॥ च० सि० ९।८९-९२

तद्द्विविधं शिरोविरेचनं, स्नेहनं च तद्द्विविधमपि पञ्चधा । तद्यथा—नस्यं, शिरोविरेचनं, प्रतिमर्शो, अवपीड:, प्रधमनं च । तेषु नस्यं प्रधानं शिरोविरेचनं च; नस्य विकल्पः प्रतिमर्शः शिरोविरेचनविकल्पोऽवपीडः प्रधमनं च; ततो नस्य शब्दः पञ्चधा नियमितः । सु० चि० ४०।

अत्र सुश्रुते धूमं वर्जयित्वा पञ्चविधं नस्तः कर्मोक्तम्;—

"तद्द्विविधमपि पञ्चविधविकल्पम्; तद्यथा—नस्यं, शिरोविरेचनं, प्रतिमर्शोऽवपीडः, प्रधमनं च" (चि० अ० ४०) । इति; इह तु नावनशब्देनैव शिरोविरेचनमपि गृहीतं, यदुक्तं,— स्नेहनं शोधनं चैव नावनं द्विविधं स्मृतम्" इति; सुश्रुतोक्तोप्यर्थो गृहीत एव । 'शोधनः स्तम्भनश्च स्यादवपीड' इत्यत्र संशमनमप्यवपीडस्य कर्मेच्छन्ति, तच्च स्तम्भन एवान्तर्भावनीयम् । अवपीड्य यत्र कल्कादीनि दीयन्ते इत्यवपीडः; अनेन शिरोविरेचनार्थं दीयमानसैन्धव-पिप्पल्यादि कल्कस्याप्यवरोधः । 'ध्मापनं तद्धि देहस्रोतोविशोधनम्' इति वचनात् ध्मापनं शिरोविरेचन प्रयोजनकमेवेति दर्शयति । शमनादिक इत्यत्र शमनशब्देन प्रायोगिकं गृह्णाति, तेन प्रायोगिक स्नैहिकवैरेचनिकधूमानां नासादीयमानानामिह ग्रहणं, मुखपेयस्तुधूमो न नस्यम् । उभयार्थकृदिति स्नेहन-विरेचनार्थकृत् । प्रतिमर्शलक्षणमग्रे 'नस्तः स्नेहाङ्गुलि दद्यात्' इत्यादिना वक्ष्यमाणम् । उक्त—पञ्चविधनस्तः कर्मणस्त्रैविध्यमाह—एवमित्यादि । कर्मेति नस्तः कर्म । शमनेन स्तम्भनस्यापि ग्रहणं; तर्पणे स्नेहनस्यावरोध:; अन्ये ये केचित् प्रभेदास्तन्त्रान्तरे प्रतिपादितास्तेऽप्यत्रैवान्तर्भवन्ति । चक्रपाणिः ।

१. शिरो विरेचन द्रव्यैर्यो दीयते स शिरोविरेचनः ।
२. श्रृतशीतस्वरसादीनां पिचुनाऽवपीडनान् अवपीड: ।
३. चूर्णस्य मुखेन नाड्या वा प्रध्मापनात् प्रधमनम् ।

४. चकारः पुनरत्र शिरोविरेचनस्यापि विकल्पः प्रतिमर्श इत्यनुक्तं समुच्चिनोति तथा च दृढ़बलः—

५. प्रतिमर्शो भवेत् स्नेहो निर्दोष उभयार्थं कृत्"

ततस्तेभ्यो विरेचनभेदेभ्यः नस्यशब्दः नस्यमित्यभिप्रधानं, पञ्चधा पञ्च-प्रकारं, नियमितो नियमेन प्रतिपादितः । डल्हणः ।

स्नेहन नस्य भेदाः सामान्यो नस्यभेदाश्च विविध नस्य प्रयोजनानि च—

तत्र स्नेहो मात्राभेदाद्द्विधा । मर्शः प्रतिमर्शः । विरेचनः शमनो वा नासया प्रणीयमानः कल्कोऽवपीडसंज्ञो विरेचन चूर्णस्तु प्रधमनाख्यः । पारिशेषं तु नावनमवपीडकसंज्ञम् । कल्की कृतादौषधादवपीडितः स्रुतो रसोऽवपीड इत्यपरेषाम् । तत्र पुनस्तीक्ष्णो वैशेषिकी शिरोविरेचनसंज्ञा । तथाऽन्ये सर्वमेव नस्यमित्याहुः सद्यः श्लेष्मविरेचनं सामान्यात् । अ० सं० सू० अ० २९।८

तत्र स्नेहो मात्राद्वैविध्याद्विविधा मर्शः प्रतिमर्शश्च । चूर्णस्य प्रधमनं पर्यायः । शेषं क्वाथादिकमवपीडकमुच्यते । अपरेषामाचार्याणां कल्क एवावपीड-कमवपीडश्च दानात् । यद्यपि सर्वं नस्यं श्लेष्मरेचन सामान्याद्विरेचनं तथापि तीक्ष्णे नस्ये विरेचनसंज्ञा वैशेषिकी अद्वितीय, असाधारणा । इन्दुः ।

मर्शश्च प्रतिमर्शश्च द्विधा स्नेहोऽत्र मात्रया ।
कल्काद्यैरवपीडस्तु तीक्ष्णैर्मूर्धविरेचनः ॥

अ० हृ० सू० अ० २०।९, भावप्रकाशः

एषु नस्यभेदेषु मध्ये मर्शाख्यः प्रतिमर्शाख्यश्चेति स्नेहो द्विधा भेदद्वयेन भवति । कथम् । मात्रया मात्राभेदेन नतु वस्तुभेदेन । तुरवधारणे भिन्नक्रमः । कल्काद्यैरेवाऽवपीडो न स्नेहेन । स चाऽवपीडस्तीक्ष्णैः शुण्ठ्यादिभिः कल्क-क्वाथरसाञ्जैर्नेमूर्दुभिः । मूर्धविरेचनाख्य नामांतरनस्य । अतीक्ष्णैस्तु शमन-संज्ञैव ॥ अरुणदत्तः ।

अत्र नस्यविधौ त्रिविधः स्नेहोऽस्य विधौ स्नेहोऽत्र द्विप्रकारो मात्राभेदात् । मर्शस्तथा प्रतिमर्शश्च । कल्कक्वाथस्वरसादिभिर्निष्पादितो यो निष्पीड्य पिचुना दीयते सोऽवपीडसंज्ञकः । कल्कीकृतादौषधादर्धपीडितः द्रुतो रसोऽर्ध-पीडित इत्यपरेषां सोऽवपीडः । तीक्ष्णैः कल्कक्वाथादिभिर्दत्तो मूर्धविरेचनसंज्ञो भवति । चंद्रनन्दनः ।

मर्शादीन्यंच नस्यभेदानाहमर्शश्चेति । मर्शप्रतिमर्शौ स्नेहस्य बहुत्वाल्पकृतौ भेदौ । अवपीडशिरोविरेचनौ कल्कादिनस्य स्य मृदुत्वतीक्ष्णत्वकृतौ भेदौ ॥

हेमाद्रिः ।

प्रतिमर्शोऽवपीडश्च नस्यं प्रधमनं तथा ।
शिरोविरेचनञ्चेति नस्तः कर्म च पञ्चधा ॥ चक्रदत्त, वंगसेनः ।

नस्यं तद्विविधं शिरोविरेचनं स्नेहनञ्च तद्विविधमपि पञ्चधा । तद्यथा—प्रतिमर्शो विरेचनविकल्पोऽवपीडः प्रधमनं चेति । वङ्गसेनः ।

अवपीडानुवासश्च धूमाः प्रधमनानि च ।
चतुर्विधं नस्यमाहुः... ... ... ॥ भे० सि० २।१

नस्यस्य त्रयोभेदाः

विरेचनं बृंहणं च शमनं च त्रिधाऽपि यत् । अ० हृ० सू० २०।

कार्यानुसारं नस्यभेदाः—

शोधनं पूरणं चैव द्विविधं नस्यमुच्यते । का० चि० ४।

फलभेदेन नस्यकर्म भेदाः—

बृंहणं कर्शनं चैव द्विविधं नस्य कर्म तु । का० सि० २।
अवपीडः प्रधमनौ द्वौ भेदावपरौ स्मृतौ ।
शिरोविरेचनस्यार्थं तौ तु देयौ यथायथम् ॥
कल्कीकृतादौषधाद्यः पीडितो निःसृतो रसः ।
सोऽवपीडः समुद्दिष्टस्तीक्ष्णद्रव्यसमुद्भवाः ॥
षडङ्गुला द्विवक्त्राया नाडी चूर्णं तयाधमेत् ।
तीक्ष्णं कोलमितं वक्त्र वातैः प्रध्मनं हितम् ॥ भावप्र०

नस्यभेदानाह

नस्यभेदो द्विधा प्रोक्तो रेचनः स्नेहनस्तथा ।
रेचनं कर्षणं प्रोक्तं स्नेहनं बृंहणं मतम् ॥

शा० उ० ८।२, भा० प्र०

नासिकया दीयते यत्तत् नस्यं तस्य भेदो द्विप्रकारः, एको रेचनः द्वितीयः स्नेहनः, रेचनं कर्षणं स्नेहनं बृहणं, उपक्रम्यस्य द्वित्वात् । उक्तं च वाग्भटे उपक्रम्यस्य हि द्वित्वादिविधैवोपक्रमो मतः । एकः संतर्पणास्तत्र द्वितीयश्चापतर्पणः इति । ननु वाग्भटेन त्रिविधं नस्यं सविषययमुक्तं तद्यथा-विरेचनं शिरः शूलं जाड्यम स्पन्दगलामये । शोफगण्डक्रिमिग्रन्थिकुष्ठापस्मारपीनसे । बृंहणं वातजे शूले सूर्यावर्ते स्वरक्षये । नासाऽस्यशोषे वाक्संगे कृच्छ्रबोधेऽवबाहुके । शमनं नीलिकाव्यंगकेशदोषाक्षिराजिषु । यथास्वं योगिकैः स्नेहैर्यथा स्वं च प्रसाधितैः । कल्कक्वबाधादिभिश्चाढ्यं मधुपदावासवैरपि ॥ बृहणं धन्वमांसोस्थरसासृक्स्वपुरैरपि । शमनं योजयेत्पूर्वैः क्षीरेण सलिलेन च इति', तत्कथमत्र द्विविधं चोक्तं च उच्यते शमनस्य बृंहणेऽन्तर्भावात् । उक्तं च—शमनं योजयेत्पूर्वैः क्षीरेण सलिलेन च इति । अतएव रविगुप्तादौ पंचभेदास्ते यथा—नस्यं शिरोविरेकश्च प्रतिमर्शोऽवपीडनम् । ज्ञेयं प्रधमनं चैतन्नस्यकर्म तु पंचधा इति दृढबले तु धूमोऽधिकोऽस्ति नच शिरोविरेक इति । तद्यथा—नावनं चावपीडञ्च धमापनं धूम एव च । प्रतिमर्शश्च विज्ञेयो नस्तः कर्म तु पंचधा इति । काश्मीरास्तु षट्प्रकारं पठन्ति यथा-अवपीडं प्रधमनं नस्यं रेचनतर्पणम् । प्रतिमर्शश्च धूमश्च नस्यकर्म तु षड्विधम् इति तेऽप्यत्रैवान्तर्भावनीयाः । ते तु ग्रन्थकृता एवाग्रे स्पष्टतयोक्ताः । यथा शिरोरेचने प्रधमनावपीडनसंज्ञावन्तर्भूतो, ते तु कर्षणवात्कर्षणेऽन्तर्भूतो, प्रतिमर्षमर्षो तु बृंहणे-

न्तर्भूतो, एवं धूमोऽपि शोधनशमनत्वात् यथा स्वान्तर्भावनीय इति सुस्थितमेतत् ॥ आढमल्लः ।

रेचनस्नेहननस्यभेदद्वयमाह—रेचनस्तथा स्नेहन इति द्विधा नस्यभेदः प्रोक्ताः कथितः । तत्र यद्विरेचनं वातकफादीनां छेदनं यत् स्नेहनं तत् बृंहणं धातुवृद्धिकरम् ॥ काशीराम ।

हि० व्या०—नस्य कर्म पाँच प्रकार के होते हैं। नावन, अवपीड, धमापन, धूम, प्रतिमर्श। पुनः स्नेहन और शोधन ये दो भेद होते हैं। अवपीड़ नस्य के दो भेद होते हैं। शोधन और स्तम्भन। औषधियों के चूर्ण का नस्य ग्रहण करने को धमापन कहा जाता है। यह शरीर और स्रोतों का विशोधक है। शमन आदि भेद से धूम तीन प्रकार का होता है। स्नेह नस्य को प्रतिमर्श कहा जाता है। यह निरापद, स्नेहन और शोधन गुणकारक है। अतः कार्मुकता के आधार पर रेचन, तर्पण और शमन तीन प्रकार का नस्य होता है। आचार्य सुश्रुत के अनुसार नस्य दो प्रकार का है। शिरोविरेचन और स्नेहन। यह दो प्रकार के नस्य भी पाँच प्रकार के होते हैं। नस्य, शिरोविरेचन, प्रतिमर्श, अवपीड़ और प्रधमन। इनमें नस्य और शिरोविरेचन प्रधान है। नस्य का विकल्प प्रतिमर्श है। शिरो विरेचन का विकल्प अवपीड़ और प्रधमन है। सामान्यतया इन पाँचों के लिए नस्य शब्द व्यवहार किया जाता है। आचार्य कश्यप ने नस्य के दो भेद बताये है। शोधन और पूरण। आचार्य भेल ने चार प्रकार का नस्य माना है। अवपीड, अनुवासन, धूम और प्रधमन। आचार्य वाग्भट ने तीन प्रकार के नस्य का उल्लेख किया है। विरेचन, बृंहण और शमन। अन्य आचार्यो ने चरक संहिता के पाठ को उद्धृत किये हैं।

शिरो विरेचन योग्यानां संकेतः।

शेषास्त्वर्हाः, विशेषतस्तु शिरोदन्तमन्यास्तम्भगलहनुग्रहपीनसगलशुण्डिकाशालूकशुक्तिमिरवर्त्मरोगव्यङ्गनीलिकाधिभेदकग्रीवास्कंधांसास्यनासिकाकर्णाक्षिभ्रूर्धकपालशिरोरोगादितासतन्त्रकापतानकगलगण्डदन्तशूलहर्षचालाक्षिराजपर्वुदस्वरभेदवाग्ग्रहगद्गदकथनादय ऊर्ध्वजत्रुगताश्च वातादिविकारा परिपक्वाश्च, एतेषु शिरोविरेचनं प्रधानतममित्युक्तं तद्धयुत्तमाङ्गमनुप्रविश्य मुञ्जादीषिकामिवासक्तां केवलं विकारकरं दोषमपकर्षति ॥ च० सि० २।२२

शिरोदन्तेत्यादिना विशेषेण शिरोविरेचनार्हानाह । शिरोदन्तमन्याभिः स्तम्भशब्दः सम्बध्यते । पीनसोऽत्र पक्वप्रतिश्यायः, तरुणे च प्रतिश्याये शिरोविरेकनिषेध इति न विरोधः । अपतन्त्रकोऽपतानक भेद एवं निःसंज्ञः, उक्तं हि—"निःसंज्ञः सोऽपतन्त्रकः" (सि० अ० ९) इति । शूलहर्षचाला दन्तेन सम्बध्यन्ते । राजी नेत्रराजी नेत्ररोगविशेषः । वातविकारेऽप्यत्र विरेचनं स्थानसम्बन्धागतश्लेष्मवातहन्तृत्वेनैवोपपन्नम् । मुञ्जादीषिकामिवासक्तामिति

मुञ्जाच्छारावयवाद्यथा ईषिका शरिका आसक्ता आकृष्यते मुञ्जानुपघातेन, तथा शिरसिपक्वो दोषो ह्रियत इत्यर्थः ॥ चक्रपाणिः ।

गौरवे शिरसः शूले पीनसेऽर्द्धावभेदके ।
क्रिमिव्याधावपस्मारे घ्राणनाशे प्रमोहके ॥

च० सू० २।६

शिरोविरेचनं श्लेष्मणाऽभिव्याप्ततालुकण्ठशिरोगौरवशूलपीनसार्धविभेदककृमिप्रतिश्यायापस्मारगन्धज्ञानेष्वन्येषु चोर्ध्वजत्रुगतेषुकफजेषु विकारेषु शिरोविरेचन द्रव्यैस्तत्सिद्धेन वा स्नेहेनेति । सु० चि० ४०।२३

विरेचन नस्य योग्याः—

तेषां विरेचन जत्रूर्ध्वगतेऽधिगौरवशोफोपदेहकण्डूस्तम्भाभिष्यन्दस्रावप्रसेकवैरस्यारोचकस्वरभेदकृमिप्रतिश्यायापस्मारगन्धाज्ञानग्रन्थ्यर्बुददद्रुकोठादिषु श्लेष्मजेषु तीक्ष्णेन स्नेहेन शिरोविरेचन द्रव्यैर्वा सिद्धेन तेषां वा क्वाथ चूर्ण स्वरसैस्तैरेव वा यथाऽईद्रव्यश्लक्ष्णकल्कितालोडितैर्मधुसैन्धवासवपित्तमूत्रैर्यथा स्वं चोपदिष्टैर्योज्यम् । अ० सं० सू० २९।५ क

तच्च तस्य विरेचनादि भेदेन त्रिविधम् । नामभिरेव प्रधानोऽर्थो व्याख्यातः । तत्र विरेचनं नाम नस्यं श्लेष्मजेषु जत्रूर्ध्वगौरवादिषु देयम् । केनोपचेनेत्युच्यते । तीक्ष्णेनेत्यादि । तीक्ष्णेन सार्षपादिना स्नेहेन शिरोविरेचन द्रव्यैर्वा सिद्धेन स्नेहेन तेषामेव शिरोविरेचनानां क्वाथादिभिः तैरेव वा शिरोविरेचनद्रव्यैर्यथार्हेण शिरोविरेचनद्रव्यैर्यथार्हेण मद्याद्यन्यतमेन द्रवेनालोडितैर्यथास्वं ययोक्तेषु च व्याधिषु स्वप्रकरणेषूपदिष्टैरौषधैः । इन्दुः ।

गलरोगसन्निपात ज्वरातिसारमनोविकारकृमिशिरोरोगाक्षिस्यन्दनतिमिरकृच्छ्रविषाभिपन्नाभिष्यन्दसर्पदष्टविसंज्ञेषुशेषो । तेष्वेव च भूयसि दोषे शीघ्रकारिणि च चूर्णः । स हि नासायामा वेगकरतरो भवति ।

अ० स० सू० २९।५ (ख)

प्रतिश्यायकासश्वासशोपहिक्कामुखशोषापस्मारगलरोहिणिका····· तिमुखार्बुदाधिमन्थनासार्शालज्युपजिह्विकागलगण्डगण्डमालागलशुण्डिकाक्ष्यभिष्यन्दाश्च नस्ततो विरेच्याः ॥ (का० सं० सि० अ० ७)

शिरोविरेचनसाध्यव्याधयः

गलग्रहो रोहिणिका शङ्खकोऽर्धावभेदकः ।
प्रतिश्यायश्च कासश्च श्वासो हिक्का बिडालिका ॥
मुखरोगो ह्यपस्मारो दन्ततालुक विद्रधी ।
दन्तपुप्पुटकश्चैव पूतिनासामुखं तथा ॥
अभिष्यन्दाश्च चत्वारस्तन्द्रा ये नेत्रसंभवाः ।
सार्बुदाश्चाप्यधीमन्थाः नासार्शश्च भगन्दराः ॥

उपजिह्वा गलग्रन्थिः कण्ठशालूक एव च ।
गलशुण्डिकालसके कार्यं शीर्षविरेचनम् ॥

भेल० सि० भा० २।

नस्य प्रयोगायोग्य दशा वर्णनम्

अथ पीतवतो नस्य कर्मणा नासास्रावशिरोरोगगौरव कफप्रसेका····· पत्रे प्रतिश्याये घ्राणोपघातपूतिनाससोर्मीर (मिन्मिन ?) नासार्शासि । अजीर्णप्रतिश्याये पार्श्वोपरोधकण्ठोद्ध्वंसकासश्वासच्छर्दिज्वरारोचकारतयः । शिरः स्नातस्य·····(ऽर्धा) वभेदकज्वराग्निनाशाः । वातज्वरादिषु तानेव रोगान् संतनोति । रजस्वलाया ऋतुर्व्यापद्यते । शुद्ध स्नातायां योनिरुपशुष्यति । गर्भिण्या हीनाङ्गस्य ·····पघातारोचकौ । बुभुक्षितस्य क्लमारुची । तृषितस्य कासश्वासकफच्छर्दयः अथ खल्वेषां यथार्थमोपधमुपदेक्ष्यामः – रूक्षं स्निग्धं वोभयं हि नस्तः कर्म·····(ते) । पा स्वं स्वं चिकित्सितमविरुद्धम् । अयं चात्र विशेषः -मृद्वीकादाडिम जम्ब्वाम्रमुस्तशृतं कषायं शीतं सुतं पूतं सक्षौद्रशर्करं पाययेच्छर्द्याम् । पूर्ववच्च····· प्रशस्यते । (काश्यपः)

शिरोविरेचन रोग रुग्णानां निर्देशः

रोगेषु तेषु बुद्धिमान् ।
गौरवे शिरसः शूले जाड्ये स्यन्दे गलामये ।
शोथगण्डक्रिमिग्रन्थि कुष्ठापस्मारपीनसे ॥ चक्रदत्तः (नस्याः)
ये तु वातात्मका रोगाः शिरः कम्पादितादयः ।
शिरसस्तर्पणं तेषु नस्यकर्म प्रशस्यते ॥
स्तम्भसुप्तिगुरुत्वाद्याः श्लैष्मिका ये शिरोगदाः ।
शिरो विरेचनं तेषु नस्य कर्मप्रशस्यते ॥ वंगसेन

स्नेहन नस्य प्रयोग योग्यानां रोगाणां वर्णनम् ।

तत्र देयं वाताभिभूते शिरसि दन्त केशश्मश्रुप्रपातदारुणकर्णशूल कर्णक्ष्वेडांति मिरस्वरोपघातनासारोगास्यशोषावबाहुकाकालजबलीपलितप्रादुर्भावदारुणप्रबोधेषुवातपैत्तिकेषु मुखरोगेष्वन्येषु च वातपित्तहरद्रव्य सिद्धेन स्नेहेनेति ।

सु० चि० ४०।२२

तत्र भीरु स्त्री कृश सुकुमारेषु स्नेहः । अ० सं० सू० २९।५

स्नेहः सर्पिस्तैलवसामज्जाख्यः, स च यथा स्वगुणैर्वातपित्तकफहरद्रव्यैः सिद्धः; तत्र तैलं नस्ये वातकफहरं, पित्तरक्तहरं तु क्षीर सर्पिरिति ज्ञेयम् । तत्तु देयमित्यादि । तत् स्नैहिकं नस्यं वातपित्तहरैर्द्रव्यैः सिद्धेन स्नेहेन देयम् । तस्य कालावधिस्तन्त्रान्तराज्ज्ञेयः । तथा च भोजः –'एकान्तरं द्वयन्तरं वा नस्यं दद्याद्विचक्षणः । सप्ताहं तु परं देयं विश्रान्तस्य पुनः पुनः पक्षं विंशतिरात्रं वा यावद्वा साधु मन्यते' ॥ अत्रेरस्त्वाह— 'त्र्यहं पञ्चाहमथवा सप्ताहं वा सुयन्त्रितः । परं नवाहमूर्ध्वं तु नवाहात् सात्म्यतां व्रजेत् ॥ न तन्नस्य गुणं

कुर्यात् सात्म्यत्वाद्दोशकृन्न च । तस्मान्नस्य प्रयोगस्तु स्नेहिको न हितः सदा ॥
डल्हणः ।

तैलसर्पिर्नस्यार्हाः—

दन्तचाले हनुस्तम्भे मन्यास्तम्भे शिरोग्रहे ।
बाधीर्ये कर्णशूले च कर्णमूलाच्च भेदने ॥
अपतन्त्रे केशसादेऽप्रबोधे दृष्टिविभ्रमे ।
हिक्कागलेन्द्रियास्रावे स्वरभेदेऽथ वाग्ग्रहे ॥
गण्डौष्ठमुखचालेषु काचेषु तिमिरेषु च ।
दौर्गन्ध्ये मुखनासाभ्यां पालित्ये वाप्यकालजे ॥
ऊर्ध्वजत्रुगता ये च रोगास्सम्परिकीर्तिताः ।
नस्यकर्म हितं तेषां तैलं वा सर्पिरेव वा ॥ भेल० सि० अ० २।

दन्त चालहनुस्तम्भमन्यास्तम्भशिरोग्रहबाधिर्यकर्णशूलार्धविभेदक सूर्यावर्तापता (नक) स्वरभेदवाग्ग्रहौष्ठस्फुरणतिमिरमुखनासिका दौर्गन्ध्याकालपलितखालित्यानिलात्मकार्तांश्च नस्तत उपस्नेह्य इति ।
(का० सं० सि० अ० ७)

अत्र श्लोकः—

स्नेहयेद्वातिकान्नस्तः कफजास्तु विरेचयेत् ।
ऊर्ध्वजत्रुगतान् रोगांस्तद्धि तेषां परायणम् ॥
(का० सं० सि० अ० ७)

भीरुस्त्रीकृशबालानां नस्यं स्नेहनमिष्यते । वंगसेन नस्या० ३४।

हि० व्या०—शिरोविरेचन योग्य रोग और रोगी—

विशेषतया शिरोरोग, दंतरोग, मन्यास्तम्भ, गलग्रह, हनुग्रह, पीनस, गलशुण्डिका, कण्ठशालूक, शुक्ल रोग, तिमिर, वर्त्मरोग, व्यंग, उपजिह्विका, अर्धविभेदक, ग्रीवा, कंधा, अंस, मुख, नाक, कान, नेत्र, शिरोरोग, अदित, अपतन्त्रक, अपतानक, गलगण्ड, दन्तशूल, दन्तचाल, नेत्रराजिका, अर्बुद, स्वरभेद, वाक्ग्रह, गद्गद्, क्थन, जत्रु के ऊपर के अंगों में वातप्रकोप होने पर, शिरोविरेचन (नस्य) का प्रयोग करना चाहिए। उपरोक्त रोगों में शिरो विरेचन प्रधान क्रिया है। नस्य द्वारा दी गई औषधि शिरोगुहा में प्रविष्ट होकर रोगोत्पादक दोषों को जैसे मूंज से सीक निकाल लिया जाता है वैसे ही दूर कर देता है।

चरक सूत्र स्थान में नस्य कर्म के लिए उपयोगी रोग एवं रोगियों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि—गौरव (शरीर में गुरुता), शिरः शूल, पीनस रोग, अर्धविभेदक क्रिमिजन्य शिरोरोग, अपस्मार, गन्धज्ञान नाश, तथा मूर्च्छा की स्थिति में शिरोविरेचन द्रव्यों का प्रयोग कराना चाहिए।

सुश्रुत लिखते हैं कि शिरोविरेचन का प्रयोग श्लेष्मायुक्त तालु, कण्ठ तथा शिर में अरोचक, शिरोगौरव ऊर्ध्वजत्रुगत रोग (कफजन्य), में शिरोविरेचन किया जाता है। यह विवरण चरक में वर्णित रोगों के अतिरिक्त स्पष्ट किया गया है।

निषिद्ध शिरोविरेचनानां संकेतः तत्र युक्तिश्च ।

अशिरोविरेचनार्हास्तु अजीर्णि भुक्तभक्तपीतस्नेहमद्यतोयपातुकामः स्नातशिराः स्नातुकामः क्षुत्तृष्णाश्रमार्तमत्तमूर्च्छितशस्त्रदण्डयतव्यवायव्यायामपानक्लान्तनवज्वरशोकाभितप्तविरक्तानुवासितगर्भिणीनवप्रतिश्यायार्ताः' अनृतौ दुर्दिने चेति ॥ च० सि० २।२०

तत्राजीर्णिभुक्तभक्तयोर्दोष ऊर्ध्वंवहानि स्रोतांस्यावृत्यकासश्वासच्छर्दिप्रतिश्यायाञ्जनयेत्, पीतस्नेहमद्यतोयपातुकामानां कृते च पिबतां मुख नासास्रावाक्षुपदेहतिमिरशिरोरोगाञ्जनयेत्, स्नातशिरसः कृतेच स्नानाच्छिरसः प्रतिश्यायं, क्षुधार्तस्य वातप्रकोपं, तृष्णार्तस्य पुनस्तृष्णाभिवृद्धिं मुखशोषं च, श्रमार्तमत्तमूर्च्छिता नामास्थानोक्तं दोषं जनयेत्, शस्त्रदण्डहतयोस्तीव्रतरा रुजं जनयेत्, व्यवायव्यायामपानक्लमान्तानां शिरः स्कन्धनेत्रोरः पीडनं, नवज्वरशोकाभितप्तयोरुष्मा नेत्रनाडीरनुसृत्य तिमिरं ज्वरवृद्धिं च कुर्यात्, विरिक्तस्य वायुरिन्द्रियोपघातं कुर्यात्, अनुवासितस्य कफः, शिरोगुरुत्वकण्डुक्रिमिदोषाञ्जनयेत्, गर्भिण्या गर्भस्तम्भयेत्, स काणः कुणिः पक्षहतः खीठसर्पि वा जायते, नवप्रतिश्यायार्तस्य स्रोतांसि व्यापादयेत्, अनृतौ दुर्दिने च शीतदोषान् पूतिनस्यं शिरोरोगं च जनयेत्, तस्मादेते न शिरोविरेचनार्हाः । च० सि० २।२१

अशिरोविरेचनार्हानाह - अशिरोविरेचनार्हा इत्यादि । पातुकाम इति स्नेहादिपानकामः, पानक्लान्तो दिनान्तरेऽपि पानजव्याधिपीडितः । अनृतौ शीतग्रीष्मवर्षासु । दुर्दिन इति मेघाच्छादितेऽह्नि । कृते पिबतामिति शिरोविरेचने कृते स्नेहान् पिबतामित्यर्थः । कुणिः कुब्जितकरः, पीठसर्पी पङ्गुः । अनृतौ दुर्दिन इत्यादौ शीतदोषानित्यनेन शीतकाले दीयमानस्य दुर्दिने च कृतस्य पूतिनासाकर्तृत्वं, ग्रीष्मवर्षाकृतस्य तु शिरोरोगकर्तृत्वम्, अन्ये तु, अनृतुदुर्दिनमित्यनेन अवार्षिकं दुर्दिनमाहुः ॥ चक्रपाणिः ।

नस्येन परिहर्तव्यो भुक्तवानपतर्पितोऽत्यर्थतरुणप्रतिश्यायी गर्भिणी पीतस्नेहोदकमद्यद्रवोऽजीर्णीदत्तबस्तिः क्रुद्धो गरार्तस्तृषितः शोकाभिभूतः श्रान्तो बालो वृद्धो वेगावरोधितः शिरः स्नातुकामश्चेति अनार्तवे चाग्रे नस्यधूमौ पहिरेत् ।
सु० चि० अ० ४०।४७

अनार्तवे चेत्यादि चकारादार्तवेऽप्यग्रे ॥ डल्हणः ।

अस्यानर्हास्तु । भुक्तभक्तस्नेहमद्यगरतोयपीतपातुकामशिरः स्नातास्नातुकामसिरादिव्यधक्षुतरक्त मूत्रितोच्चारिताभिहतकृतवमनविरेकवस्ति कर्मगर्भिणी सूतिकानवप्रतिश्याय श्वासकासिनोऽनार्तव दुर्दिनेष्वपि । तत्र भुक्तभक्तस्य नस्येरितो दोष ऊर्ध्वं स्रोतांस्यावृत्यछर्दिश्वास कास प्रतिश्यायान् जनतेत् । स्नेहादिगीतपातुकामानामश्निनासास्यन्दोपहृतितिमिरशिरो रोगान् । शिरा स्नातस्य शिरोऽक्षिकर्णशूल कण्ठरोगपीनसहनुमन्यास्तम्भादितशिरः कम्पान् । स्नातुकामस्य मूर्द्धस्तैमित्य जाड्यारुचिपीनसान् । क्षुतरक्तस्य क्षमतामरूचिमग्निसादं च मूत्रितोच्चारितयोर्भृशतरवेगधारण जान्विकारान् । अभिहतस्य तीव्रतरां रूजम् । कृतवमनादीनां श्वासकास स्वरेन्द्रियहानिशिरोगौरव कण्डूकृमिदोषान् । गर्भिण्या भक्तद्वेष ज्वर मूर्च्छाऽर्धविभेदकाः स्युरपत्यं च व्यंग विकलेन्द्रियमुन्मादापस्मारयुक्तं वा । सूतिकाया क्षुतरक्तोक्तान् दोषान् । नवप्रतिश्यायस्य स्रोतोरोधाददुष्टप्रतिश्यायक्लेशात् कृमिकण्डु विचर्चिकाः । श्वासकासिनोर्व्याधिविवृद्धिः । अकाले दुर्दिने सहसैव शैत्यच्छिरोरूग्वेपथुस्तैमित्यतालुनेत्रकण्डूपाकमन्यस्तम्भकण्ठरोग प्रतिश्यायारुषिकाः ।

अ० स० सू० अ० ॥ २९ ॥

अनस्यार्हा इत्यादि । भुक्तभक्तादयोऽस्य नस्यस्यानर्हाः । स्नातुकामशब्देन । नस्ये दत्ते स्नानप्रतिषेधमाह । तद्वत पातुकामशब्देन कृतं वमनादि यस्मिन् तद्विवसम् । दुर्दिने न कस्यचिन्नस्यं योज्यम् । दुर्दिन इति यद्यपि सामान्येनोक्तं तथाप्यकालदुर्दिन इति विज्ञेयम् । शीते वर्षासु च कालनियमस्य वक्ष्यमाणत्वात् । सूतिकायाः क्षुतरक्तोक्तान् दोषान् क्षामतारुच्यादीन् । इन्दुः ।

नाजीर्णे नार्द्रशिरसि पन्थानं गन्तुमिच्छतः ।
न पीतमात्रे पानीये ज्वरितस्य न दापयेत् ॥
न मैथुनं गतवतः मद्यपीतस्य नैव च ।
नातिभुक्तस्य नास्निग्धस्विन्नस्यानिर्हृतेस्तथा ॥

भे० सि० अ० २।२५-२६

अवस्थाविशेषे नस्यप्रयोगाणां निषेधः तदुपद्रवाणां चिकित्सा सूत्रं च ।

अजीर्णे भोजने भुक्ते तोये पीतेऽथ दुर्दिने ।
प्रतिश्याये नवे स्नाने स्नेहपानेऽनुवासने ॥
नावनं स्नेहनं रोगान् करोति श्लैष्मिकान् बहून् ।
तत्र श्लेष्महरः सर्वस्तीक्ष्णोष्णादिविधिर्हितः ॥
क्षामे विरेचिते गर्भे व्यायामाभिहते तृषि ।
वातो रूक्षेण नस्येन कृद्धः स्वाञ्जनयेद्गदान् ॥
तत्र वातहरः सर्वो विधिः स्नेहनबृंहणः ।
स्वेदादिः स्यादघृतं क्षीरं गर्भिण्यास्तु विशेषतः ॥

ज्वरशोकादितप्तानां तिमिरं मद्यपस्य तु ।
रूक्षैः शीताञ्जनैर्लेपैः पुटपाकैश्च साधयेत् ॥

च० सि० ९।१११।११५

नावनं स्नेहनमिति स्नेहनार्थं नस्यम् । स्वेदादिरितिच्छेदः घृतं क्षीरमिति गर्भिण्या वातजयार्थं गर्भपुष्टये च । ज्वरेत्यादि । ज्वरादितप्तानां स्नेहनं नावनं तिमिरं कुर्यात्, तथा मद्यपस्य तिमिरं कुर्यात् । अत्र चिकित्सामाह-रूक्षैरित्यादि । शीताञ्जनं; स्रोतोऽञ्जनं वदन्ति, किंवा, तिलद्रव्यकृत मञ्जनं, शीनाञ्जनं यदुक्तं शालाक्ये—"लेखनं रोपणं चैव प्रसादनमथापि च । तिक्तेन रोपणं कार्यं मधुरेण प्रसादनम् ॥ कट्वम्ललवणाद्यैश्च लेखनं कारयेद् बुधः । शैत्यान्निर्वापयेत्तिक्तो रौक्ष्याद्रोपयति द्रुतम्' इति । रूक्षैरित्यञ्जनादिभिः सम्बध्यते । लेपोनयनालेपैः; पुटपाकोऽक्षितर्पणजविकारहरलेखनः शमनो वा ज्ञेयः; पुटपाको हि शालाक्ये स्नेहन लेखनप्रसादनभेदात् त्रिविध उक्तः । तद्विधिश्चेहान्याधिकारान्न प्रपञ्चितः । चक्रपाणिः ।

भुक्तवानपतर्पितोऽत्यर्थतरुणप्रतिश्यायी गर्भिणी स्नेहोदकमद्यद्रवपीतोऽजीर्णी दत्तबस्तिः क्रुद्धो गरार्तस्तृषाभिभूतो बालो वृद्धः श्रान्तो वेगावरोधितः शिरः स्नातः स्नातुकामश्च न नस्यकर्म्महि इति । वङ्गसेने (नस्याधिकारः)

नस्यं यस्मिन्काले त्याज्यं यैश्च त्याज्यं तानाह

नस्यं त्यजेद्भोजनान्ते दुर्दिने चापतर्पिते ।
तथा नवप्रतिश्यायो गर्भिणी गरदूषितः ॥
अजीर्णी दत्तबस्तिश्च पीतस्नेहोदकासवः ।
क्रुद्धः शोकाभिभूतश्च तृषार्तोवृद्धबालकौ ॥
वेगावरोधी स्नातश्च स्नातुकामश्च वर्जयेत् ।

शार्ङ्गधर सं० उ० अ० ८, ४-५ भावप्रकाशः

दुर्दिने मेघच्छन्नेऽह्नि, अपतर्पिते असन्तर्पिते पुरुषे । संतर्पणं धातुवृद्धिकरणार्थं तेन धातुबलो नस्येन विधेयमिति तात्पर्यार्थः । चकारद्वाग्भटोक्तास्ते तथा—योजयेन्नतु नावनम् तोयमद्यगरस्नेहपीतानां पातुमिच्छताम् ॥ भुक्तभक्तशिरः स्नातस्नातुकामक्षुतासृजाम् । नवपीनसवेगार्तसूतिकाश्वासकासिनाम् शुद्धानां दत्तबस्तीनां तथाऽनार्तवदुर्दिने । नवत्वं द्विविधनिदानभेदेन । एकं सद्योजनकं द्वितीयं दोषचयपूर्वकम् । तत्राद्यो यथा-नारीप्रसंगः शिरसोऽभितापो धूमो रजः शीतमतिप्रतापः । संधारण मूत्रपुरीषयोश्च सद्यः प्रतिश्यायनिदानमुक्तम् इति । द्वितीयो यथा चयं गता मूर्धनि मारुतोदयः पृथक् समस्ताश्च तथैव शोणितम् प्रकुप्यमाना विविधैः प्रकोपणैस्ततः प्रतिश्यायः करा भवन्ति हि' इति । तेन सद्यो निदान जनकः प्रतिश्यायः सोऽपि नवः प्रतिश्याय इति केचित् । अन्ये त्वेवमाहुः—आमपक्वभेदेन प्रतिश्यायः नवपुराणत्वे कथिते । तेनापि यः आमसंज्ञकः प्रतिश्यायः सोऽपि [illegible]

इति भावः गरं कृत्रिमं विषंतेनव्याप्तः। केवलविषप्राप्तेवपीडस्योक्तत्वात्। उक्तं च —चेतोविकारविषाभिपन्नानां चूर्णपंगुलद्विमुखया नाड्या देयम्'। अन्यच्च —विषाभिधातसंन्यासमूर्च्छा मोहापतन्त्रके। महापस्मारशोकातिचिन्ताक्रोधाभयादिषु ॥ मानसेषु च रोगेषु मूढव्याकुलचेतसःसंज्ञाप्रबोधहेत्वर्थमवपीडं प्रदापयेत् इति। बालवृद्धयोरपि उत्कटदोषेषु नस्यं देयम् भीरूस्त्रीकृशबालानां-इत्यादिवक्ष्यमाणत्वात्। स्नातः शिरस्नातः स्नातुकामश्च इत्यनेन पूर्वं विधाय पश्चात्स्नानं कुर्यादित्येके व्याख्यानयन्ति। आढ्यमल्लः।

यस्मिन्काले नस्यं त्याज्यं तदाह—दुर्दिने मेघच्छन्नेऽह्नि दुर्दिनम्। अपतर्पणे लंघने, नवप्रतिश्यायी नवप्रतिश्यायवान्। गरदूषितः विषदूषितः पीतस्नेहोदकासवः पीतं स्नेहं उदकं आसवं मद्यं येन सः वेगावरोधी मूत्र पुरीषकावरोधी। स्पष्टमन्यत् ॥ काशीरामः।

नस्य प्रयोगे अयोग्यानां विधिद्धानां रुग्णानां संकेतः

योजयेन्न तु नावनम्।
तोयमद्यगरस्नेहपीतानां पातुमिच्छताम् ॥
भुक्तभक्तशिरः स्नातस्नातुकामस्तुतासृजाम्।
नवपीनसवेगार्तसूतिकाश्वाशकासिनाम् ॥
वृद्धानां दत्तबस्तीनां तथाऽनार्तवदुर्दिने।
अन्यत्राऽत्ययिकाद्व्याधेः ॥ अ० हृ० सू० अ० २०।१३ चक्रदत्तः

तोयादिपीतं यैस्तेषाम् अत्र आहिताग्न्यादित्वात्परनिपातः। तथा पातुमिच्छतां नावनं नस्यं नैव योजयेत्। तोयादिपीतानां पातुमिच्छतां च योजितं नस्यं नानास्यदोषदेहतिमिरशिरोरोगान् कुर्यात्। भुक्तभक्तस्य च दोषा ऊर्ध्वस्रोतांस्यानृत्य छर्दिश्वासप्रतिश्यायान् जनयेयुः। शिरः स्नातस्य शिरोऽक्षिकर्णशूलकंठरोगपीनसहनुमन्यास्तंभादितशिरःकंपान् शिरः स्नातस्य। स्नातुकामस्य च मूर्ध्निसंभितो दोषो जाड्यारुचिपीनसान् सुतरक्तस्य च क्षामतामरुचिमग्निसदनं च।

नवप्रतिश्यायस्य सोतोरोधाद् दुष्टप्रतिश्यायकेशशातकृमिकंडुविचचिकारोगान्। मूत्रितोच्चारितादिवेगार्तानां भृशतरं वेगविधारणजान् विकारान्। सूतिकायाः स्रुतरक्तदोषान् श्वासकासिनोर्व्याधिवृद्धिम्। शुद्धानां कृतवमनविरेचनानां श्वासकासस्वरेंद्रियहानिशिरोगौरवकृमिकंडुदोषान्। दत्तबस्तीनां विवृतस्रोतस्तया ऽति व्याप्त्या श्वासकासादीन् एव तथाऽनार्तवदुर्दिनेऽपि सहसैव शैत्याच्छिरोरुग्वेपथुस्तैमित्यतालुनेत्रकंडूपाकमयास्तंभकंठरोगप्रतिश्यायारुचिकाः। एषु च नस्यदोषेषु जातेषु यथास्वमायतनं दोषोद्रेकं चाऽवेक्ष्य स्नेहस्वेदशिरोविरेकवक्त्रलेपसेकतीक्ष्णावपीडधूमगंडूषादीनि यथास्वं कुर्यात्। संग्रहे चोक्तम्। गर्भिण्या भक्तद्वेषज्वरमूर्च्छार्ध्वभेदकाः स्युः अपत्यं च व्यंगं विकलेंद्रियमुन्मादापस्मार युक्तं वा स्यात्। विशेषेण तु गर्भिणी रूक्षे नस्यकर्मणि वर्षाभूकाकोलीकपिकच्छुभिः शृतं पयः पिबेत्। बलाविदार्यंशुमतीमेदाभिर्वैभिरेव च शृतं हविर्वातहरं सिद्धश्च स्नेहः शिरोबस्तौ कर्णपूरणे च योज्यः। सर्वं च बृंहणमन्नपानमिति। तोयपीतादिषु सदैव कि नस्यं न योज्यमित्याह। अन्यत्रेत्यादि। आत्ययिके व्याधौनस्यं योज्यमेव। अरुणदत्तः।

नावनं नस्यं न योजयेत् न दद्यात्। तोयमद्यगरस्नेहपीतानां दत्तबस्तिपर्यन्तानामनार्तवदुर्दिने वर्षाकालं विमुच्य योऽन्यकालस्तस्मिन्। दुर्दिनं शीतवातवर्षान्तरालदिनम्। तदनार्तव दुर्दिनं किमेषां सर्वथा तत्प्रयोजयेदित्याशंकयेदमाह-आत्ययिकाद्व्याधेरन्यत्रात्ययिकव्याधिं वर्जयित्वा न योजयेदिति बोद्धव्यम्। आत्ययिके पुनर्व्याधौ तोयेमद्यगरपीतानामपि योजयेदेव नस्यम्।

चन्द्रनन्दनः।

पीततोयादीनां नस्यं निषेधति योजयेदिति। पातुमिच्छतां तोयादीन्येव। भुक्तभक्तो भुक्तवान्, नवपीनसः आक्रांतपीनसः, वेगार्त उत्पन्न विण्मूत्रादिवेगः, अनार्तव दुर्दिने अवार्षिकाभ्रे, आत्ययिकाद्व्याधेरन्यत्रनिषेधः। संग्रहे तु तत्र भुक्तभक्तस्य नस्येनेरितो दोषः ऊर्ध्वांनि स्रोतांस्यावृत्य छर्दिश्वासकासप्रतिश्यागान् जनयेत्। स्नेहादिपीतपातुकामानामक्षिनासास्यस्यंदोपदेहतिमिरशिरोदान् शिरः स्नातस्य शिरोऽक्षिकर्णशूलकंठरोगपीनहनुमन्यास्तंभादितशिरः कंपान्, स्नातुकामस्य मूर्द्धस्तैमित्यजाड्यारुचिपीनसान् स्रुतरक्तस्य क्षामतामरुचिमग्निसादं च, मूत्रितोच्चारितयोर्भृशतरं वेगधारणजान् विकरान्, अभिहतस्य तीव्रतरां रुजं, कृशबालादीनां श्वासकासस्वरेंद्रियहानिशिरोरोगगौरवकंडूकृमिदोषान्, गर्भिण्या भक्तद्वेषज्वरमूर्च्छार्ध्वभेदकाः स्युः। अपत्यं च व्यंगविकलेंद्रियमुन्मादापस्मार युक्तं वा। सूतिकायाः स्रुतरक्तोक्तान् दोषान् नवप्रतिश्यायस्य स्रोतोरोधाद् दुष्टप्रतिश्यायकेशशातःकृमिकंडूविचचिकाः, श्वांसकासिनोर्वातवृद्धिः। अकालदुर्दिने सहसैव शैत्याच्छिरोरुग्वेपथुस्तैमित्यतालुनेत्रकंडूपाकमन्यास्तंभकंठरोग प्रतिश्यायारुचिकाः तेषु यथास्वमायतनं दोषोद्रेकं चापेक्ष्य स्नेहस्वेदशिरोवक्त्र लेपसेकतीक्ष्णावपीडधूमगंडूषादीनचरेत्। विशेषेण तु गर्भिणी रूक्षे नस्यकर्मणि वर्षाभूकाकोलीकपिकच्छुभिः शृतंपयः पिबेत्। बलाविदार्यांशुमतीमेदाभिर्वा। एभिरेव च शृतं हविर्वातहरं सिद्धश्च स्नेहः शिरोबस्तौ कर्णपूरणे च योज्यः। सर्वं च बृंहणमन्नपानं भुक्तभक्तादिष्वपिचात्ययिकव्याध्यातुरमपेक्षेतेति। हेमाद्रिः।

शिरोविरेचन के अयोग्य रोगी

हि० व्या०—अजीर्ण से पीड़ित रोगी, तत्काल भोजन किया हुआ, स्नेहपान किया हुआ, मद्यपान किया हुआ, तृषित, सिर से स्नान किया हुआ, स्नान करने की इच्छा है जिसको, भूख, प्यास, श्रम से पीड़ित, मत्त (पागल), मूर्छित (बेहोश), शस्त्र या लाठी का आघात जिसको लगा हो, मैथुन, व्यायाम और मद्यपान से थका हुआ, नूतन ज्वर के रोगी, शोक से पीड़ित व्यक्ति, जिसको विरेचन दिया गया हो, अनुवासित व्यक्ति, गर्भिणी और नूतन प्रतिश्याय से

ग्रस्त, अकाल और दुर्दिन (मेघाच्छन्न आकाश, झड़ी) में खराब मौसम में नस्य का प्रयोग नहीं करना चाहिए। उपरोक्त अवस्था में नस्य देने से अनेक हानियां होती है जैसे—

(१) अजीर्ण से पीड़ित या पेटभर भोजन किए हुए व्यक्ति को नस्य देने से दोष ऊर्ध्ववह स्रोतस् को अवरुद्ध कर कास, श्वास, वमन और प्रतिश्याय उत्पन्न करते हैं।

(२) स्नेह, मद्य और जल पीने के पश्चात नस्य देने पर मुख और नाक से स्राव होने लगता है। नेत्र में कीचड़ (मल) की वृद्धि तिमिर एवं अन्य कष्ट से शिरोरोग उत्पन्न होते हैं।

(३) शिरः स्नात व्यक्ति को नस्य देने से या नस्य कर्म के पश्चात् स्नान करने से प्रतिश्याय रोग उत्पन्न होता हैं।

(४) क्षुधा पीड़ित व्यक्ति को नस्य देने से वात प्रकोप होता है।

(५) तृषित (प्यासे) व्यक्ति को नस्य देने से तृष्णा प्यास की वृद्धि और मुखशोष उत्पन्न होता है।

(६) श्रम से पीड़ित व्यक्ति, मत्त (पागल) और मूर्च्छित (बेहोश) व्यक्तियों में नस्य प्रयोग करने से निरूह वस्ति व्यापत् के समान उपद्रव होते हैं।

(७) शस्त्र एवं लाठी प्रहार से आघात लगे व्यक्ति को नस्य देने से अधिक वेदना होती है।

(८) मैथुन, व्यायाम, और मद्यपान से थके हुए व्यक्ति को शिरो विरेचन देने पर शिर, स्कंध नेत्र और वक्ष प्रदेश में वेदना होती है।

(९) नवज्वर तथा शोक से पीड़ित व्यक्तियों में नस्य का प्रयोग करने से ऊष्मा बढ़कर नेत्र व्याधियो का अनुसरण करती हुई तिमिर रोग एवं ज्वर की वृद्धि करती है।

(१०) विरेचन किए गए व्यक्ति को शिरोविरेचन देने से इन्द्रियों का नाश होता है।

(११) अनुवासन वस्ति के पश्चात् शिरो विरेचन देने से कफ प्रकुपित होकर शिर में गुरुत्व, खुजली और कृमि उत्पन्न करता है।

(१२) गाभिणी स्त्रियों को शिरोविरेचन देने से गर्भ स्तम्भित होता है। परिणामतः गर्भस्थ बालक काना, कुब्ज, पक्षाघात उन्माद एवं अपस्मार से पीड़ित एवं पंगु उत्पन्न होता है।

(१३) नव प्रतिश्याय से त्रस्त व्यक्तियों में शिरोविरेचन का प्रयोग करने से स्रोतों में विकार उत्पन्न होता है।

(१४) अकाल और दुर्दिन में शिरोविरेचन का प्रयोग करने से शीत दोष के कारण पूतिनस्य और शिरोरोग उत्पन्य होते हैं। अतः उपर्युक्त रोगों से

ग्रस्त रोगी शिरोविरेचन के अयोग्य है। अन्य आचार्यों के विचार भी समान हैं।

वयोऽवस्थानुसारं नस्य धूम-कवलग्रह-विरेचन विशेषाणां निषेध संकेतः।

न नस्यमूनसप्ताब्दे नाऽतीताऽशीतिवत्सरे।
न चोनाष्टादशे धूमः कवलो नोनपंचमे।
न शुद्धिरूनदशमे न चातिक्रांतसप्ततौ॥

अ० सं० सू० २९।२२ अ० हृ० सू० २०।३६, चक्रदत्तः

न नस्यमूनसप्ताहे हीनसप्तवर्षमन्तरेण योज्यम्। तथातीताशीतिवत्सरे-नस्यं न योज्यम्। अतीताक्रान्तवत्सराणां वर्षाणामशीतिर्यस्य तस्मिन्नरे नस्यं न शस्तम्। न चोनाष्टादशे नरे धूमो शस्तः। ऊनपञ्चके कवलो न शस्तः। न शुद्धिरूनदशम् इति। ऊनदशमे वर्षे न शुद्धिः शस्ता। इत्येष प्रतिषेधो विरेक-विषय एव बोद्धव्यो न वमनविषयः। प्रायः क्षीरघृताशित्वात् बालानां श्लेष्मजा गदाः। सर्वव्याधिषु शस्यन्त इति वचनात्। चंद्रनन्दनः।

इदानीं यस्मिन् वयसि नस्यं न विधेयं तदाह, न नस्यमित्यादि वाग्भटस्य। उनसप्ताब्दे इति—एकवर्षमारभ्य षष्टवर्षपर्यन्तं प्रतिमर्शव्यतिरिक्तं नस्यं न प्रयोज्यं, सप्तमवर्षात् प्रभृति तु विधेयमेवेत्यर्थः; उक्तं हि कृष्णात्रेयेण—"सप्तवर्षमुपादाय नस्तः कर्म चतुर्विधम्" इति। अतीताशीतिवत्सरे इति—एकाशीतित्यादौ। निषेध्यप्रस्तावात् निषेध्यधूमकवलादीनप्याह, न चोनद्वादशे इत्यादि। ऊनद्वादशे इति एकवर्षमारभ्य एकादशवर्षपर्यन्ते। एवं वक्ष्य-माणेऽपि ज्ञेयम्। शुद्धिरिति—वमनविरेचने। प्रतिमर्शस्तथा वस्तिरिति सर्व-कालमेव विधेय इत्याह, आजन्मेत्यादि॥ (शिवदासः)

नस्यार्हानर्हानाह

अष्टवर्षस्य बालस्य नस्यकर्म समाचरेत्।
अशीतिवर्षादूर्ध्वं च नावनं नैव दीयते॥ शार्ङ्गधर सं० ८।७

अथ बालवृद्धयोर्नस्यग्रहणाग्रहणविषयं दर्शयन्नाह अष्टवर्षादूर्ध्वं नस्यं देयम्। अष्टवर्षादुपरिनस्यकर्म कुर्यात्। उक्तं च वाग्भटे - न नस्यमूनसप्ताब्दे नाती-ताशीतिवत्सरे इति। अष्टवर्षादूर्वागपि दोषोद्रेकादात्ययिके व्याधौ बृंहणं देयम्। उक्तं च भीरुस्त्रीकृशबालानां नस्यत इति। एवं वृद्धस्याऽशीतिवर्ष-स्यापिज्ञेयम्॥ आढमल्लः।

हि० व्या० – सात वर्ष की आयु से पूर्व तथा अस्सी वर्ष की आयु से पश्चात् नस्य कर्म नहीं करना चाहिए। अठारह वर्ष की आयु के पूर्व धूमपान नहीं करना चाहिए - पाँच वर्ष की आयु से पूर्व कवल एवं गण्डूष का प्रयोग नहीं करना चाहिए। दश वर्ष की आयु के पूर्व तथा सत्तर वर्ष की आयु के पश्चात् वमन विरेचन तथा रक्तमोक्षण नहीं कराना चाहिए। आचार्य शार्ङ्गधर के अनुसार आठ वर्ष के पश्चात् नस्य कर्म करना चाहिए। और सत्तर

वर्ष के पश्चात् नस्य कर्म नहीं कराना चाहिए।

नस्य काल विशेष

प्रावृट्शरद्वसन्तेतरेष्वात्ययिकेषु रोगेषु नावनं कुर्यात् कृत्रिमगुणोपधानत्, ग्रीष्मेपूर्वाह्णे, शीते मध्याह्ने, वर्षास्वदुर्दिने चेति।

च० सि० २।२३

इतरेष्विति हेमन्तग्रीष्मवर्षासु। आत्ययिकेष्विति वचनादनात्ययिकेषु गदेषु निषेधयति। आत्ययिकेऽपि शीतादि प्रतीकारार्थमाह—कृत्रिमगुणोपधानादिति; कृत्रिमगुणोपधानं रोगभिषग्जितीयोक्तं कर्तव्यम्। ग्रीष्मादिष्वेव कालविशेषे णोक्तयादिप्रतिक्रियां दर्शयन्नाह—ग्रीष्मे पूर्वाह्ण इत्यादि। चक्रपाणिः।

तदेतद्विविधमप्यभुक्तवतोऽन्नकाले पूर्वाह्णे श्लेष्मरोगिणां, मध्याह्णे पित्तरोगिणां, अपराह्णे वातरोगिणाम्।

सु० चि० ४०।

तद्विविधमपि नस्यं पूर्वाह्णमध्याह्णापराह्णेषु कफपित्तवातरोगिणां देयमिति। डल्हणः।

वातपित्तकफामयेषु क्रमेणापराह्णमध्याह्णपूर्वाह्णेषु। लालास्रावसुप्तप्रलापदन्त कटकटायनक्थनकृच्छ्रोन्मीलनपूतिमुखकर्णनाद तृष्णार्दितशिरोरोगश्वासकासोन्निद्रेषु रात्रौ स्वस्थवृत्ते तु शीते मध्याह्ने शरद्वसन्तयोः प्राह्णे ग्रीष्मापराह्णे वर्षा स्वादित्यदर्शनेपंचकर्माण्याचरतो बस्तिकर्मोत्तरकालभवः।

अ० सं० सू० २९

प्रातः श्लेष्मणि मध्याह्ने पित्ते सायं निशोश्चले।
स्वस्थवृत्ते तु पूर्वाह्णे शरत्काल वसंतयोः॥
शीते मध्यंदिने ग्रीष्मे सायं वर्षासु सातपे।
वाताभिभूते शिरसि हिध्मायामपतानिके॥
मन्यास्तम्भे स्वरभ्रंशे सायं प्रातर्दिने दिने।
एकाहांतरमन्यत्र सप्ताहं च तदाचरेत्॥

अ० हृ० सू० २०। भावप्र०

श्लेष्मरोगे प्रातर्नस्यं प्रयोजयेत्। पित्तरोगेषु मध्याह्णे वातेऽपराह्णे रात्रौ च। कारणे कार्योपचारात्कफरोगः श्लेष्मशब्देनोक्तः तेन श्लेष्मरोगादिषु प्रातर्नस्यं योज्यम्। लालास्रावसुप्तिप्रलापदंतकटकटायनक्रथनकृच्छोन्मीलनपूतिमुखकर्णनाद तृष्णार्दितशिरोरोगश्वासकासोन्निद्रेषु रात्राविति। स्वस्थवृत्ते शरदि वसंते च पूर्वाह्णे एव नस्ययोज्यम्। शीते हेमन्त शिशिरलक्षणे। मध्याह्ने ग्रीष्मे सायमपराह्णे। वर्षासु सातपे दृश्यमाने रवौ वासरे प्रयोजयेत्। वाताभिभूतमूर्धादिषु स्वरभ्रंशांतेषु सायं प्रातः पूर्वाह्णापराह्णयोः प्रतिदिनं च नैकाहांतरितम्। अन्यत्र वाताभिभूतमूर्धादिभ्योऽन्यस्मिन् रोगे एकाहांतरम् सप्ताहं च नस्यमाचरेत्। सप्ताहादूर्ध्वं नस्यं न विदध्यादित्यर्थः। अरुणदत्तः

स्नेहनस्य—शिरोविरेचनयोः दिनावधिनिर्देशः।

त्र्यहात् त्र्यहाच्च सप्ताहं स्नेहकर्म समाचरेत्।
एकाहान्तरितं कुर्यात् रेचनं शिरसस्तथा॥

चक्रदत्तः (नस्याधिकारः)

स्नेहनस्यं विरेचननस्यञ्च कियन्तं कालं कया परिपाट्या कुर्यादित्याह, त्र्यहात् त्र्यहादित्यादि।—एकैकदिनमन्तरीकृत्य सप्ताहयन्तरितदिनानि वर्जयित्वा स्नेहनस्यं, शिरसो विरेचनन्तु एकाहान्तरितं कुर्यात्, तेन यस्मिन् यस्मिन् दिने स्नेहनस्यं न दीयते तस्मिन् तस्मिन्नेव दिने विरेचनं नस्यं देयमित्यर्थः; एतेनैकस्मिन् दिने स्नेहनस्य, अपरस्मिन् दिने शिरोविरेचनमेव। सपरत्रापरत्रेति (?) शिरोविरेचनान्तरितं भवति। एकाहान्तरितः शिराविरेकः कार्य्य इत्युत्सर्गस्तेन द्वयन्तरमपि ज्ञेयं, तथा सप्ताहमित्युपलक्षणं, तेन त्र्यहादिकमपि दोषाद्यपेक्षयाज्ञेयम्, उक्तंहि—"एकान्तरं द्वयन्तरं वा नस्यं दद्याद्विचक्षणः। सप्ताहन्तु परं ज्ञेयं विश्रान्तश्च पुनः पुनः॥ त्र्यहं पञ्चाहमथवा सप्ताहं वा सुपन्त्रितम्। परं नवाहमूर्द्धन्तु नवाहात् सात्म्यता व्रजेत्॥" (शिवदास)

नस्यकर्मकालमाह

कफपित्तानिलध्वंसे पूर्वमध्यापराह्णके।
दिने तु गृह्यते नस्यं रात्रावप्युत्कटे गदे॥ शा० उ० ८।३, भावप्र०

कफ पित्तानिलानां ध्वंसे वृद्धिलक्षणं कोपे, 'ध्वंसु अधः पतने' इत्यस्य रूपं। कुत्र कोप इत्यत् आह-दिनस्य पूर्वमध्याह्णेऽपराह्णके, तेनाऽयमर्थः सिद्धः-दिनस्य पूर्वाह्णे कफकोपे दिनस्य मध्याह्ने पित्तकोप दिनस्यपराह्णे वातकोपे इति अथवा उत्कटे गदे रात्रावपि नस्यं देयमिति। उक्तं च—यथा दोषोदये काले रोगिणे नावनं भिषग्। इति अतएव स्वस्थास्वस्थविषयसम्बन्धेन काला दर्शितास्तन्त्रान्तरे तद्यथा—शरद्वसन्तयोः स्वस्थे पूर्वाह्णे संप्रयोजयेत्। वर्षासु शीतजे ग्रीष्मेसायंमध्यं दिने तथा इति॥ आढमल्लः।

नस्यदाने नस्यकालमाह-कफपित्तवातध्वंसे कफपित्तवातनाशौ क्रमेण दिनस्य पूर्वमध्यपराह्णके नस्यं गृह्यते। कफनाशार्थं दिनस्य पूर्वभागे, पित्त नाशार्थं दिनस्य मध्यभागे, वातनाशार्थं दिनस्यापरभागे। उत्कटे गदे रात्रावपि नस्यं गृह्यते। काशीरामः

यथा दोषोदये काले रोगिणो नावनं भिषक्।
शरद्वसन्तयोः स्वस्थे पूर्वाह्णे सम्प्रयोजयेत्॥
वर्षासु शिशिरे ग्रीष्मे सायं मध्यन्दिनेऽथवा। वङ्गसेन

हि० व्या०—प्रावृट् शरद् तथा वसंत ऋतु में नस्य प्रयोग करना चाहिए। आत्ययिक अवस्था में हेमंत, ग्रीष्म, और वर्षा ऋतु में भी ऋतु प्रभाव को बदलकर किया जा सकता है। ग्रीष्म ऋतु में प्रातःकाल हेमन्त ऋतु में मध्याह्न (दोपहर दिन) वर्षा ऋतु में बदली न होने पर नस्य देना

चाहिए। ग्रीष्म ऋतु में शीतल स्थानों में तथा हेमन्त ऋतु में उष्ण स्थानों में नस्य देना चाहिए।

आचार्य सुश्रुत ने दोषानुसार नस्य का काल निर्णय किया है। दोनों प्रकार का नस्य भोजन से पूर्व देना चाहिए। कफ के रोगियों को भोजन से पूर्वाह्ण में देना चाहिए। पित्तरोगियों को मध्याह्न में एवं वात के रोगियों को अपराह्ण में नस्य देना चाहिए। आचार्य वाग्भट ने सुश्रुत के मत का समर्थन करते हुए कुछ विशेष विचार भी व्यक्त किये है। जैसे—लालास्राव, संज्ञानाश, दाँतों का कट-कटाना, मुख से श्वास लेना, आँखों को कठिनाई से खोलना, मुख दुर्गन्ध, कर्णनाद, तृष्णा, अर्दित, शिरोरोग, श्वास-कास नींद का न आना इत्यादि रोगों में रात में नस्य कर्म करना चाहिए। स्वस्थ वृत्त हेतु और हेमन्तशिशिर ऋतु में मध्याह्न में, शरद और वसन्त ऋतु में पूर्वाह्ण में, ग्रीष्म में अपराह्ण में, वर्षा ऋतु में सूर्य की उपस्थिति में नस्य देना चाहिए। पाँचों कर्म कराने वाले व्यक्ति को वस्ति कर्म के बाद नस्य शीघ्र ही देनी चाहिए।

अष्टाङ्गहृदयकार ने अष्टाङ्ग संग्रह के विचारों का समर्थन करते हुए कुछ विशेष विचार व्यक्त किया है। जैसे—सिर में वातवृद्धि होने पर, हिक्का अपतन्त्रक, वात व्याधि, मन्यास्तम्भ, स्वरभेद में प्रतिदिन प्रातः सायं नस्य देना चाहिए। अन्य रोगों में एक दिन छोड़कर नस्य कर्म करना चाहिए। नस्य का प्रयोग सात दिन तक करना चाहिए।

अपामार्गस्य बीजानि पिप्पलीमरिचानि च।
विडङ्गान्यथ शिग्रूणि सर्षपांस्तुम्बुरूणि च॥
अजाजीं चाजमोदां च पीलून्येलां हरेणुकाम्।
पृथ्वीकां सुरसां श्वेतां कुठेरकफणिञ्जकौ॥
शिरीषबीजं लशुनं हरिद्रे लवणद्वयम्।
ज्योतिष्मतीं नागरं च दद्याच्छी[1]घ्रं विरेचने॥

च० सू० अ० २।३-६

दीर्घजीवितीये मूलिन्यश्च फलिन्यश्च पंचकर्माङ्गभूता उक्ताः। अपराण्यपि च पिप्पलीमरिच प्रभृतीनि पंचकर्मसाधनानि भवन्ति। तथा पंचकर्मप्रभृतिविषयोऽपि तत्र नोक्तः। तेनान्तरं शेषपंचकर्मोपयोगिद्रव्यपंचकर्म प्रवृत्तिविषयाभिधायकोऽपामार्गतण्डुलीयोऽभिधीयते। पूर्वोक्तान्यपि चापामार्गादीनि यतः पुनरिहाभिधीयन्ते तदाचार्य एवाध्यायान्ते "पूर्वं मूलफल" इत्यादिना श्लोकद्वयेन समाधास्यति। अपामार्गबीजीय इति संज्ञायां प्राणायामपामार्गतण्डुलीय इति संज्ञाकरणमपामार्गादि बीजादीनां निस्तुषाणामेव ग्रहणार्थम्। अध्यायसंज्ञां तण्डुलेन कृत्वापामार्गस्य बीजानीति यद्बीजशब्दं करोति तदंकुर जननसमर्थबीजभावनामेव तण्डुलानां ग्रहणार्थम्। यद्यपि च इहोत्सर्गतः पंचकर्मप्रवृत्तिर्वमन

पूर्विकैव स्यात्। यदुक्तं "साधारणेष्वृतुषु वमनादीनां प्रवृत्तिर्भवति" (वि०अ० ८) इत्यादि। तथा सुश्रुते ऽप्युक्तं—"अवान्तस्य हि सम्यग्विरिक्तस्याप्यधः स्रस्तः श्लेष्मा ग्रहणीमाच्छादयति"—(सु० चि० अ० २३) इत्यादि। तथापि क्वचित् प्रबलदोषापेक्षयाऽन्यथापि क्रमो भवति, यथा शरद्युद्रिक्ते पित्ते विरेचनादि, तथा प्रावृषि प्रबलवाते बस्त्यादि रित्यनियमार्थमिह शिरोविरेचनमादानभिहितम्। यदि वा, प्रधानांगशिरःशोधनत्वात् शिरोविरेचनमादौ कृतम्। यदुक्तं—"यदुत्तमाङ्गमङ्गानां शिरस्तऽभिधीयते" (सू० अ० १८) इति। शालाक्येऽप्युक्तं—"आनामये यथामूले वृक्षः सम्यक् प्रवर्द्धते। अनामये शिरस्येवं देहः सम्यक् प्रवर्द्धते।" इति। अपामार्गाभिधानमादौ शिरोविरेचन प्राधान्यात्। यदुक्तं—प्रत्यक्पुष्पी शिरोविरे चनानाम् (सू० अ० २५) इति। अजगन्धा-अजमोदा, फोकान्धीति केचित्। पीलु=औत्तरापथिकं फलम्। लवणद्वयं=लवणवर्गादिपटितं सौवर्चलं सैंधवं च। अयं वर्गो व्यस्तः समस्तश्च शिरोविरेचने प्रयोज्यो गणत्वात्। यदुक्तं—"परिसंख्यातमपि हि यद्द्रव्यमयौगिकं मन्येत तदपहरेत्" (वि० अ० ८) इति। अन्यत्राप्युक्तं—"समस्तं वर्गमर्धं वा यथालाभमथापि"—इति। "शिरस" इति "गौरव" इत्यनेन "शूल" इत्यनेन च संबध्यते।

च० सू० अ० २।१-६

शिरोविरेचनद्रव्याणि।

शिरोविरेचन द्रव्याणि पुनरपामार्गपिप्पलीमरिचविडङ्गशिग्रुशिरीषतुम्बुरुपीलवजाज्यजमोदावार्ताकी पृथ्वीकैलाहरेणुकाफलानि च सुमुखसुरसकुठेरकगण्डीरकालमालपर्णासक्षवक फणिज्जकहरिद्रा शृंगवेरमूलकलशुनतर्कारी सर्षपपत्राणि च, अर्कालर्ककुष्ठनागदन्तीवचाभार्गी श्वेता ज्योतिष्मतीगवाक्षी गण्डीरपुष्पवाक्पुष्पीवृश्चिकालीवयस्थातिविषामूलानि च, हरिद्राशृंगवेरमूलकलशुनकन्दाश्च, लोध्र मदनसप्तपर्ण निम्बार्क पुष्पाणि च देवदार्वंगुरुसरलशल्लकीजिङ्गिन्यसनश्च, हिंगुनिर्यासाश्च तेजोवतीवराङ्गेङ्गुदी शोभाञ्जनकवृहतीकण्टकारिकात्वचश्चेति, शिरोविरेचनं सप्तविधं; फलपत्रमूलकन्दपुष्पनिर्यासत्त्वगाश्रायभेदात्। लवणकटुतिक्तकषायाणि चेन्द्रियोपशयानि तथा पराण्यनुक्तानपि द्रव्याणि यथायोगविहितानिशिरोविरेचनार्थमुपदिश्यन्ते इति॥ च० वि० अ० ८।१५४

पारिशेष्याच्छिरो विरेचनान्याह—शिरोविरेचनेत्यादि। फलानि चेति 'च कारेण तस्मादुक्तद्रव्याङ्गान्तरोपयोगं च दर्शयति। तेन शिरोवक्ष्यमाणत्वगुणयोगश्च भवति। एवमन्यत्राप्युदाहरणम्। सुमुखादयः=पर्णासभेदाः। गण्डीरपुष्पी=शमठः। वयस्था=ब्राह्मी। वराङ्गं=गुडत्वक्। इन्द्रियोपशयानीत्यनेन यानि लवणादीनि नेन्द्रियोपघातकानि, तान्येव शिरोविरेचने योज्यानि। तथापराणीति मधुराम्लकषायाणि, यानि शिरोविरेचने यौगिकानि। चक्रपाणिः।

१. विद्यान्मूर्ध्वं विरेचने "इति वा पाठः"

शिरोविरेचने फलिनी प्रयोगः।

नस्तः प्रच्छर्दने चैव प्रत्यकपुष्पी विधीयते। च० सू० अ० १।८५ ख
नस्तः प्रच्छर्दनं इति शिरोविरेचनम्॥

(चक्रपाणिः)

दशेमानि शिरोविरेचनानि

ज्योतिष्मती क्षवकमरिचपिप्पलीविडङ्गशिग्रुसर्षपापामार्गतण्डुलश्वेतामहाश्वेता इति दशेमानि शिरोविरेचनोपगानि भवन्ति। च० सू० अ० ४।१४-(७)

क्षवकश्चिच्छक्काकारकः, श्वेताऽपराजिता, महाश्वेता=तद्भेदः कटभी वा। चक्रपाणिः।

शीर्ष विरेचनद्रव्याणि

मरिचानि विडङ्गानि पिप्पल्योऽथ फणिज्जकः।
क्षवको यवनश्चैव शिग्रुबीजं मयूरकः॥
हिङ्गु सौवर्चलं भार्ङ्गी नक्तमालफलानि च।
ज्योतिष्मती शृङ्गिवेरं शरीषं बीजमेव च॥
एतच्छीर्षविरेकार्थमुक्तव्याधिषु योजयेत्।
अवपीडेऽथ धूमे वा द्वन्द्वशः सर्वसोऽपि वा॥
एतैरेवौषधगणैस्तैलं धीरो विपाचयेत्।
अविमूत्रेण संयुक्तं श्रेष्ठं शीर्षविरेचनम्॥
धूमं च सर्वगन्धानां नतकुष्ठविवर्जितम्।
धूमवर्ति पिबेत्तावच्छ्रेष्ठं शीर्षविरेचनम्॥

भेल० सि अ० २।२-१०

भेषज नामानि तेषां ग्राह्याङ्ग संकेतश्च।

पिप्पलीविडङ्गापामार्गशिग्रुसिद्धार्थकशिरीषमरिचकरवीरबिम्बीगिरिकर्णिकाकिणिहीवचाज्योतिष्मतीकरञ्जार्कालर्कलशुनातिविषाशृङ्गवेरतालीशतमालसुरसार्जकेङ्गुदीमेषशृङ्गीमातुलुङ्गीमुरङ्गीपीलुजातीशालतालमधूकलाक्षाहिङ्गुलवणमद्यगोशकृद्रसमूत्राणीति शिरोविरेचनानि। तत्रकरवीरपूर्वाणां फलानि, करवीरादीनामर्कान्तानां मूलानि, तालीशपूर्वाणां कन्दाः, तालीशादीनामर्जकान्तानां पत्राणि, इङ्गुदीमेषशृङ्गयोस्त्वचः, मातुलुङ्गीमुरङ्गीपीलुजातीनां पुष्पाणि, शालतालमधूकानां साराः, हिङ्गुलाक्षे निर्यासौ, लवणानि पार्थिवविशेषाः; मद्यान्यासुतसंयोगाः, शकृद्रसमूत्रे मलाविति। सु० सू० ३७।६

शिरोविरेचनद्रव्याणि निर्देष्टुमाह—पिप्पलीत्यादि। अपामार्गः शिखरी 'अन्धडक' इति लोके; शिग्रुः शोभाञ्जनकः; सिद्धार्थः सर्षपः; शिरीषो विषघाती स्वनामख्यातः; करवीरः 'कणवीर' इति लोके; बिम्बी कुन्दुरुकाः; गिरिकर्णिका सेफन्दः; किणिही कटभी; ज्योतिष्मती ककुन्दनी; अर्कालर्कौ अर्कद्वयं; शृङ्गवेरं

शुण्ठी, तालीशं तालीशपत्रं; तमालं तमालपत्रं, पत्रकमिति लोके; सुरसा 'तुलसी' इति लोके; अर्जकः कुठेरकः; इङ्गुदी इङ्गुकः; मेषशृङ्गी; मेढ शृङ्गीः पुत्रञ्जीवकसदृश पत्र वृक्षः अन्ये कर्कटशृङ्गीमाहुः; मातुलुङ्गी सुरभिफला वनजाऽरण्यबीज पूरकः; मुरङ्गी रक्तकुसुमः शोभाञ्जनकः; पीलुर्मधुरफलः 'पीलु' लोके; जाती मालती; शकृद्रसो गोमयरसः; मूत्रं गोमूत्रम्। शिरोविरेचनानीति नस्य प्रयोगेण शिरस्थं श्लेष्माणं विरेचयन्ति स्रावयन्तीत्यर्थः। शेषं प्रसिद्धम्। एषामवयवविभागमाह—तत्रेत्यादि। निर्यासौ स्वरसावित्यर्थः। लवणानि पार्थिवविशेषा इति पृथिव्या अवयवविशेषाः, एतेन स्वरूपेणैव लवणानि ग्राह्याणीत्युक्तम्। मद्यान्यासुतसंयोगा इति सन्धानकसंयोगो मद्यम्, अत एव तदपि स्वरूपेणैव ग्राह्यम्। शकृद्रसमूत्रे मलाविति एते मलौ, तस्मादेते अपि स्वरूपेणैव ग्राह्ये। डल्हणः।

पिप्पलीत्यादिना शिरोविरेचनद्रव्यमुच्यते। सिद्धार्थकः श्वेत सर्षपः; गिरिकर्णिका अपराजिता; किणिही कटभी; अर्जकः श्वेतपर्णासः; इङ्गुदी पुत्रञ्जीवक; मेष शृङ्गी 'मेढ शृङ्गी' इति ख्यातः पुत्रजीवसदृशपत्रो वृक्षः; मातुलुङ्गी प्रसिद्धा; मुरङ्गी शोभाञ्जनकम्। तत्रेत्यादिना शिरोविरेचनद्रव्यविभागमाह। हिङ्ग्वादीनां मूत्रान्तानां स्वरूपकथनेन सर्वात्मप्रयोगं दर्शयति। चक्रपाणिः।

पिप्पलीत्यादि। गिरिकर्णिका अपराजिता, अलर्कोऽर्कभेदः, सुरसाऽर्जको तुलसीभेदौ, क्षुद्रो मातुलुङ्गो मातुलुङ्गो मृणाल्यादित्वादीप्, सुरङ्गी रक्तशोभाञ्जनः, पीलुर्व्याहृतः हिङ्ग्वादीनान्त्वसम्भवानैवमवयवविशेषाः परिगृह्यन्ते, इत्येव व्याजेनोपदिदिक्षति हिङ्ग्वित्यादिना। हिङ्ग्वादयो हि निर्य्यासादिरूपा अतस्तेषां सर्व्वावयवपरिग्रहः क्रियत इति भावः। (हाराणचन्द्रः)

शिरोविरेचनीयगणः।

वेल्लाऽपामार्गव्योषदार्वीसुराला
बीजं शैरीषं बार्हतं शैग्रवं च।
सारो माधूकः सैंधवं तार्क्ष्यशैलं
त्रुट्यौ पृथ्वीका शोधयंत्युत्तमांगम्॥

अ० हृ० सू० अ० १५।५

सुराला श्रेष्ठ सर्जरसः। पृथ्वीका हिंगुपत्री। अरुणदत्तः।

वेल्लादीनि द्रव्याणि उत्तमाङ्गं शिरः शोधयन्ति वेल्लं विडङ्गम्, अपामार्गः प्रत्यकपुष्पम्। व्योषं त्र्यूषणम्। 'पिप्पली मरिचं शुण्ठी त्रयमेव विमिश्रितम्।' दार्वीदारुहरिद्रा। सुराला सुलक्षणा। शिरीषस्य बीजं शैरीषम्। बृहत्या बीजं बार्हतम्। शिग्रुबीजं शैग्रवम्। सारो मधूको मधूकसारः। उत्क्लिष्टं मधूकपुष्पम्। तार्क्ष्यशैलं शुष्करसांजनम्। त्रुट्यौ एलाद्वयं सूक्ष्मैला, पत्रैला च। पृथ्वीका। स्थूलजीरकः। चंद्रनन्दनः।

नावनगणमाह—वेल्लापामार्गेति। सुराला-श्रेष्ठ सर्जरसः, शिरीषबृहती-

शिग्रूणां बीजं मधुकस्य सारः, तार्क्ष्यशैलं—रसांजनं, त्रुट्यौ—एलाद्वयं, पृथ्वीका—बाष्पिका। संग्रहे त्वधिकमुक्तम्—अपामार्गविडंगमरिचपिप्पलीशिरीषबिल्वाजाजमोदावार्ताकपृथ्वीकैलाहरेणुफलानि, तालीशतमालतकरीहरीतकवर्गपत्राणि, सर्षपफलपत्त्राणि, शिग्रुफलत्वचः, हरिद्रामूलकलशुनतगरकंदपत्राणि, अतिविषा कंदः, कुष्ठवचाभार्ङ्गीश्वेताकिणिही नागदंतीज्योतिष्मतीगवाक्षीवयस्थावृश्चिकालीबिंबीकरंजमूलानि, अर्कालर्कपुष्पफलमूलानि, रोध्रमदनसप्तपर्णनिंबपीलुबीजानि, सुरसामातुलिंगलवङ्गपुष्पाणि, अगुरूसुरदारूसरलशल्लकीजिंगण्यशनरसांजनहिंगुलाक्षानिर्यासाः, सालतालमधूकदार्वीसारांतेजस्विनीमेषशृंगीवरांगेंगुदीवृहतीद्वयत्वचः, राजादनमज्जा क्षौद्रं लवणानि मद्यानि, गवादिशकृन्मूत्रपित्तानि। एवं विधानि चेंद्रियोपशमनीयान्यन्यान्यपि। तथा स्नेहं क्षीरं रक्तं मांसरसो धान्यरसस्तोयमिति। शिरोविरेचनोपयोगीनि। मधुकपद्मकमंजिष्ठासारिवामुस्तपुन्नागनागकेशरैलवालुकसुपर्णत्वक्तमालपत्रपृथ्वीकारेणुलाक्षाशतपुष्पाशल्लकीशर्करामदनमरुबकन्यग्रोधोदुंबराश्वत्थप्लक्षरोध्रत्वक्पद्मोत्पलानि सर्वगंधद्रव्याणि च कुष्ठतगरवर्ज्यानिप्रायोगिकधूमोपयोगीनि। शिरोविरेकद्रव्याणि गंधद्रव्याणि च तीक्ष्णानि मनोह्वा हरितालं चेति तीक्ष्णे धूमोपयोगीनि।

हेमाद्रिः।

शर्करेक्षुरसक्षीरघृतमांसरसान् पृथक्।
क्षीणानां नस्यतो द्रव्याद्रक्तपित्तगदेषु च॥
शिरीषशिग्रुसिन्धूत्थरुचकव्यूषणादयः।
हिंग्वार्द्रकरसश्चैव प्रयोज्या नस्यकर्मणि॥

वंगसेने नस्याधिकारः

दोष शोधनशमनकारक नस्य प्रयोगोदाहरणानि

कफानिलाधिक्त्वे ष·····कवृश्चीकापिप्पलीक्ष्वाकुक्षवकशिग्रुबीजशिरिषबीजापामार्गबीजनक्तमालबीजलसूनबीजमयूरकसैन्धवसौवर्चलवराङ्गोत्वग्ज्योतिष्मतीविश्वभेषजाद्यन्यतमं द्वे त्रीणि·····(घौ) तायां दृषदि बीजपूरकस्वरसमूर्च्छितमार्द्रकस्वरसमूर्च्छितं वा तयोर्वऽन्यितमं क्षौद्रमृद्वीकासंयुतमाडकेसमवाप्येषदुष्णं कृत्वाऽऽतुराय प्राक्शिरसंशयानायोन्न (तनासाग्राय)····· गलधमनीमुखललाटनासिकाशिरःश्मश्रुमुखमन्यादेशानर्हतः स्वेदयित्वा भिषग्भिषगनुमतो वा वामेनाङ्गुष्ठेनावनम्य नासिकाग्रं शिरस्तो भवेद् दक्षिणे·····त्वन्यत्राल्पशोऽल्पशो दत्त्वा श्लेष्माणमाकर्षयेदभीक्ष्णं च हृदयादीनङ्गावयवान् स्वेदयेत् परिमृद्नीयादनुत्बल्पकफप्रसेचनात्। त्रिचतुष्पश्च कृत्वेति वा·····तः शुष्कचूर्णानि प्रधमनानि जिघ्रतोवस्त्रपुटिकाबद्धानि भवन्ति। क्षौद्रयुतानि त्ववपीडः स्यात्। मुखनासिकयोरलं कफं विघातयतीति परिषत्।

(का० सं० सि० अ० ४)

शिरोविरोचन के द्रव्य

चरकसंहिता

१. अपामार्ग	३३. अपामार्ग	
२. पिप्पली	३४. कोयल	
३. मरिच	३५. ज्योतिष्मती	
४. वायविडंग	३६. गवाक्षी (इन्द्रवारुणी)	
५. सहिजन	३७. गण्डीरपुष्पी	
६. शिरीष	३८. अन्धाहुली	
७. धनियाँ	३९. वृश्चिकाली (काकनासा)	
८. विल्वमज्जा	४०. वयस्था	इन द्रव्यों
९. जीरा	४१. अतीस	के मूल
१०. अजमोदा	४२. हल्दी	
११. मंगरैला	४३. आर्द्रक	
१२. छोटी इलायची	४४. मूली	
१३. सम्हालू के बीज (इनके फल)	४५. लशुल	इनका कन्द
१४. सुमुख	४६. लोध्र	
१५. सुरस तुलसी भेद	४७. मदनफल	
१६. कुठेरक	४८. सप्तपर्ण	
१७. गण्डीरक	४९. नीम	
१८. मरिशका साक	५०. अर्क (मदार) पुष्प	
१९. पुदीना	५१. देवदार	
२०. नकछिकनी	५२. अगर	
२१. फणिज्झक	५३. सरल	
२२. हल्दी	५४. शल्लकी	
२३. सोंठ	५५. जिङ्गनी	
२४. मूली	५६. विजयसार	
२५. लहसुन	५७. हिंगु	
२६. अरणी	५८. तेजबल	
२७. सर्षप (इसके पत्र)	५९. दालचीनी	
२८. रक्त अर्क (मदार)	६०. हिंगोट	
२९. श्वेतमदार	६१. सहिजन	
३०. कुष्ठ	६२. वनभंटा	
३१. नागदन्ती	६३. भटकटैया,	इन द्रव्यों के छाल
३२. वच		लेना चाहिए।

हि० व्या० – इस प्रकार फल, पत्र, मूल, कन्द, पुष्प, गोंद, छाल के रूप में शिरोविरेचन द्रव्यों का प्रयोग होता है। इनके अतिरिक्त लवण, कटु, तिक्त और कषाय द्रव्य जो इन्द्रियों के लिए सुखकारी हो या अन्य द्रव्य जिनका वर्णन यहां नहीं आया है उनका भी योगानुसार कल्पना कर प्रयोग करना चाहिए।

शिरोविरेचन चूर्णानां शिरः स्नेहन विरेचनानां तथा शिरः तर्पण भेषजानां निर्माण सूत्रम्।

फलादिभेषजं प्रोक्तं शिरसो यद्विरेचनम् ॥
तच्चूर्णं कल्पयेत्तेन पचेत स्नेहं विरेचनम्।
यदुक्तं मधुरस्कन्धे भेषजं तेन तर्पणम् ॥

च० सि० ९।९६-९७

शिरोविरेचनचूर्ण विधि चाहफलादीत्यादि। फलादिभेषजमिति रोगभिषग्जितीयोक्तं फलपत्रमूलकन्दपुष्पनिर्यासत्वग्भेदात् सप्तविधमुक्तं शिरोविरेचनद्रव्यम्। चूर्णं कल्पयेदिति प्रधमनार्थमवपीडनार्थं च चूर्णं कल्पयेत्। मधुरस्कन्धोऽपि रोगभिषग्जितीय एवोक्तः॥ चक्रपाणिः

हि० व्या०—शिरो विरेचन के लिए जो फल आदि औषधियां व विमान स्थान के रोगभिषगजितीय अध्याय मे बताई गई हैं उनका चूर्ण बना कर नस्य के लिए तथा उन्हीं औषधियों से स्नेह पाककर विरेचन के लिए देना चाहिए। उपरोक्त अध्याय में जो मधुरवर्ग की औषधियां बताई गई हैं उन द्रव्यों से विधिपूर्वक स्नेह पकाकर नस्य देना चाहिए। यह तर्पण नस्य है।

उपर्युक्त प्रसङ्ग मूल पाठ में संकलित है। हिन्दी में द्रव्यों की सूची भी दी गई है। अतः वहीं देखना चाहिए।

स्नेह नस्य विविध मात्रा

तस्य प्रमाणमष्टौ बिंदवः प्रदेशिनीपर्वद्वयानिः सृता प्रथमा मात्रा; द्वितीया शुक्तिः, तृतीया पाणि शुक्तिः इत्येतास्तिस्रो मात्रा यथाबलं प्रयोज्याः।

सु० चि० ४०।२८
वंगसेन, चक्रदत्तः

तस्येति स्नेहस्य। अष्टाविति प्रत्येकं नासा पुटयोः, एवं षोडश बिंदवः। अङ्गुष्ठसमीपवर्तीन्यङ्गुलिः प्रदेशिनी, तत्पर्वद्वयच्युता बिन्दवः। प्रथमा मात्रा हीनेत्यर्थः। मध्यमा मात्रा शुक्तिर्द्वात्रिंशद्बिंदवः। उत्तमा पाणिशुक्तिश्चतुःषष्ठि बिंदवः। गई तु भोजदर्शनात स्वस्थयैव प्रायोगिके नस्ये प्रत्येकं नासापुटयोरष्टौ बिंदवः, स्नेहनार्थेतद्विगुणाः शुक्तिप्रमाणा इति प्रतिपादयति। तथा च भोजः—

"प्रायोगिकं स्नैहिकं च द्विविधं नस्यमुच्यते। प्रायोगिके बिन्दवोऽष्टौ स्नैहिके शुक्तिरिष्यति। दोषोच्छ्रायं समासाद्य दद्याद्वित्रिचतुर्गुणम्।" इति। डल्हणः।

हि० व्या० –नस्य प्रमाण—प्रत्येक नासा छिद्रों में डाली जाने वाली स्नेह मात्रा का प्रभाव ८ बूंद है। प्रदेशिनी अंगुली को स्नेह में दो पोरवों तक डुबोकर निकालने पर टपकते हुए बिन्दुओं की प्रथम मात्रा, शुक्ति प्रमाण द्वितीय मात्रा तथा तीसरी मात्रा पाणिशुक्ति होती है। इन तीनों मात्राओं का यथा बल प्रयोग करना चाहिए।

शिरो विरेचन नस्य त्रिविधमात्रा

चत्वारो बिंदवः षड्वा तथाऽष्टौ वा यथाबलम्।
शिरोविरेकस्नेहस्य प्रमाणमभिनिर्दिशेत्।

सु० चि० ४०।३६ वंगसेन

प्रत्येकमेव नासापुटयोर्हीनमध्योत्तमेष्वेषु दोषपुरुषबलेषु चतुः षडष्टबिन्दवः स्नैहिकस्य शिरोविरेचननस्य। तथा च विदेहः,

"चतुरश्चतुरो बिन्दुनेकैकस्मिन् समाचरेत्।
एषा लघ्वी मता मात्रा तथा शीघ्रं विरेचयेत्।
अध्यर्धा द्विगुणा वाऽपि त्रिगुणा वा चतुर्गुणाम्।
यथा व्याधि विदित्वा तु मात्रां समवचारयेत्"—इति।

डल्हणः।

हि० व्या०—नस्य कर्म में शिरोविरेचन स्नेह की मात्रा दोष व व्यक्ति के बल के अनुसार चार-छः या आठ बूंद बताई गई है। यह प्रमाण प्रत्येक नासापुट का है।

मर्शनस्य मात्रा

मर्श प्रमाणं तु प्रदेशिन्यंगुलिपर्वद्वयान्निमग्नोद्धृताद्यावत्पतति स बिन्दुः। अमी दशाष्टौषड्बिन्दव उत्तममध्यमकनीयस्योमात्राः। क्वाथादीनामष्टौषट् चत्वारः। प्रधमन नस्यं तु षडंगुल द्विमुखया नाड्या मुखानिलरितस्याकण्ठगते दोषानुरोधतश्च पुनः पुनर्योजनमिति।

—अ० सं० सू० २९

प्रदेशिन्यंगुलीपर्वद्वयान्मग्नसमुहृद्धृतात्।
यावत्पतत्यसौ बिंदुर्दशाष्टौ षट् क्रमेण ते।
मर्शस्योत्कृष्टमध्योनामात्रास्ता एव च क्रमात्।
बिंदुद्वयोनाः कल्कादेः। अ० हृ० सू० २०।१२

मर्श प्रमाणं दश स्नेह उत्तममात्रा । अष्टौ मध्यमा । षट् कनीयसी, किमुच्यत बिन्दूरिति इत्याह प्रदेशिनीत्यादि सुबोधम् । क्वाथादीनामष्टौ षट् चत्वारश्च बिन्दवो यथा सङ्ख्येन उत्तम मध्यम कनीयस्यो मात्राः प्रधमनस्य चूर्णस्य मात्रा षडङ्गुलद्विमुखया नाड्या नासायां वैद्यमुखानिलप्रेरितं चूर्णं यावत् कण्ठप्रदेशं प्राप्नोति । दोषपारतन्त्र्येण पुनः पुनर्योजनम् । इन्दुः ।

मर्शस्य तर्पणी मात्रा मुख्या शाणैस्मृताऽष्टभिः ।
मध्यमा च चतुः शाणैर्हीना शाणमिता स्मृता ।
एकैकस्मिंस्तु मात्रेयं देया नासापुटे द्वयोः ॥
मर्शस्य द्वित्रिवेलं वा वीक्ष्य दोष बलाबलम् ।
एकान्तरं द्वयन्तरं वा नस्यं दद्याद्विचक्षणः ।
त्र्यहं पञ्चाहमथवा सप्ताहं वा सुयंत्रितम् ॥

शा० सं० उ० ८, भावप्र०

मर्शस्य तर्पण स्नेहस्य या मात्रा सा अष्टभिः शाणैर्मुख्या स्मृता । मध्यमा चतुर्भिः, शाणैर्हीना शाणप्रमाणा । आढ़मल्लः ।

हि० व्या०—मर्श नस्य की (तर्पण करने वाली) उत्तम मात्रा आठ शाण की है, मध्यममात्रा ४ शाण की तथा हीन मात्रा एक शाण की है । दोष एवं बलाबल का विचार करके नासा पुटों में दो बार या तीन बार भी दिया जा सकता है । अथवा रोगी को पथ्यपर रखकर एक, दो, तीन, पांच अथवा सात दिन के अन्तर पर नस्य प्रयोग करावें । प्रति दिन के प्रयोग से स्नेह सात्म्य हो जाता है जिसका कोई फल नहीं होता ।

प्रतिमर्श नस्यमात्रा

प्रमाणं प्रतिमर्शस्य बिन्दु द्वितयमिष्यते ।
बिन्दुर्वा येन वोत्क्लेशो नानुत्क्लिष्टस्य जायते ॥
निष्ठ्यूते यत्र वा स्नेहो न साक्षादुपलभ्यते ।

अ० सं० सू० २६।२०

प्रतिमर्शस्य मात्रा तु द्वि द्विबिन्दुमिता मता । प्रत्येकशो नस्तकयोः स्नेहेनेति विनिश्चितम् । स्नेहेन ग्रन्थि द्वयं यावन्निमग्ना चोद्धृतातः तर्जनीयं स्रवेद् बिन्दुं सा मात्रा बिन्दुसंज्ञिता एवं विधैर्बिन्दुसंज्ञैरष्टभिः शाण उच्यते स देयो मर्शनस्ये तु प्रतिमर्शो द्विबिन्दुकः । शा० ३०८। भाव प्र०

हि० व्या०—प्रतिमर्श नस्य की मात्रा एक या दो बिन्दु है । जिस मात्रा से अकुपित दोष कुपित न हो वही सही मात्रा है । थूकने पर थूक में स्नेह की मात्रा न हो उतनी ही मात्रा में प्रतिमर्शनस्य देनी चाहिए ।

नस्यार्थं द्रव्याणां परिमाणमाह

नस्यकर्मणि दातव्यं शाणैकं तीक्ष्णमौषधम् ॥
हिंगु स्याद्यवमात्रं तु माषैकं सैंधवं मतम् ।
क्षीरं चैवाष्टशाणं स्यात्पानीयं च त्रिकार्षिकम् ॥
कार्षिकं मधुरं द्रव्यं नस्यकर्माणि योजयेत् ।

शा० उ० ८।१०

तीक्ष्णमिति । मरिचपिप्पलीहिंगुशृंगवेरशोभांजनत्रुटादिकम् । मधुरं द्रव्यं सिताप्रभृतिकम् शेषं सुगमम् ॥ आढ़मल्लः ।

हि० व्या०—आचार्य शार्ङ्गधर ने लिखा है कि नस्यकर्म में तीक्ष्ण औषधियों की मात्रा (१ पिप्पली, कृष्णमरिच, शुण्ठी, रसोन, शोभाञ्जनबीज इत्यादि) एक शाण, हींग जौ भर, सैंधव लवण एक माशा, दूध आठ शाण, जल तीन कर्ष, मधुर द्रव्य चीनी आदि एक तोला देनी चाहिए ।

दोषावस्थानुसारं घृततैलादि स्नेहद्रव्याणां प्रयोगः

तैलं कफे स वाते स्यात् केवले पवने वसाम् ।
दद्यात्सर्पिः सदा पित्ते मज्जानं च समारुते ॥
चतुर्विधस्य स्नेहस्य विधिरेवं प्रकीर्तितः ।
श्लेष्मस्थानाविरोधित्वात्तेषु तैलं विधीयते ॥

सु० चि० ४०।४६, चक्रदत्त, शार्ङ्गधर, वंगसेन

तैलमेव च नस्यार्थे नित्याभ्यासेन शस्यते ।
शिरसः श्लेष्मधामत्वात्स्नेहाः स्वस्थस्यनेतरे: ॥

अ० हृ० सू० २०।, अ० सं० सू० २६।

हि० व्या०—वातानुसंधि कफ में तैल, केवल वातजन्य पीड़ा में वसा तथा पित्तज विकार में घृत का नस्य देना चाहिए । वातानुबंधि पित्त में मज्जा का नस्य देना चाहिए चार प्रकार के स्नेह नस्य की यही विधि है । कफ स्थान का अविरोधी होने से इन चारों विधियों में तैल का प्रयोग होता है । आचार्य वाग्भट, शार्ङ्गधर, चक्रदत्त, वंगसेन ने भी सुश्रुत के विचार का अनुकरण किया है ।

शिरोविरेचन कर्मणः सामान्यः क्रमः तत्पूर्वकर्म च

विशुद्ध देहस्य ततः क्रमेण
स्निग्धं तलस्वेदितमुत्तमाङ्गम् ।
विरेचयेत्त्रिद्विरथैकशो वा
बलं समीक्ष्य त्रिविधं मलानाम् ॥

नासाग्राय विशुद्धस्रोतसि दक्षिणहस्तेन[1] स्नेहमुष्णाम्बुना प्रतप्तं रजतसुवर्णताम्रमणिमृत्पात्रशुक्तीनामन्यतमस्य शुक्तया पिचुना वा सुखोष्णं स्नेहमद्रुतमासिञ्चेदव्यवच्छिन्नधारं यथा नेत्रे न प्राप्नोति । सु० चि० ४०।२५

नस्य प्रयोग विधि

अथ नस्यार्हं नरमध्याहृतवेगं धौतान्तर्बहिर्मुखंस्निग्धस्विन्नशिरसं नाति क्षुधितं प्रायोगिक धूमपान विशुद्धस्रोतसं स्वास्तीर्णं निवातशयनस्थमुत्तान शीर्षमीषदुन्नतपादं प्रसारित कर चरणं जत्रूर्ध्व पाणितापेन पुनः पुनः स्वेदयेत् । तत, कनकरजतताम्रान्यतमशुक्तिस्थितं प्रदेयमौषध त्रिभागमुष्णाम्बुप्रतप्तं किञ्चित्प्रबलम्बितशिरसो वामहस्तांगुष्ठ कनिष्ठिकाभ्यामाक्रम्य नयनप्रच्छादनं चतुर्गुणवासो मध्यमया नासाग्रमुन्नमय्य प्रदेशिन्यानामिकाभ्यां चैकैकं नासापुटं पर्यायेण पिधायेतरस्मिन्नासा स्रोतसि दक्षिणहस्तेन प्रनाड्यापिचुना वाऽनवच्छिन्नधार मासिञ्चेत् ।

अ० सं० सू० ॥२९॥, वंगसेन ।

अथोत्तानर्जुदेहस्य पाणिपादे प्रसारिते ।
किंचिदुन्नतपादस्य किंचिन्मूर्धनि नामिते ॥
नासापुटं पिधायैकं पर्यायेण निषेचयेत् ।
उष्णाम्बुतप्तं भैषज्यं प्रनाड्या पिचुनाऽथवा ॥

अ० हृ० सू० २०।१८, चक्रदत्तः ।

अथाऽनन्तरमुत्तानस्पष्टस्थितशरीरस्य सतो हस्तचरणे प्रसारिते तथा किंचिदुन्नतचरणस्य किंचिच्छिरसि नामिते सति नासापुटमेकं पिधाय स्थगयित्वा पर्यायेण न तु युगपदभैषज्यं निषेचयेत् । कीदृशमुष्णाम्बुतप्तमुष्णोदकोष्णीकृतम् । केन परिषेचयेत् । प्रनाड्याऽथवा पिचुना कार्पासादिमयेन । अरुणदत्तः ।

अथ स्वेदानन्तरमुत्तानर्जुदेहस्य स्पष्टं कृत्वा स्थितस्याकुटिलशरीरस्य पाणिपादे प्रसारिते सति । पाणी च पादौ च पाणिपादम् । तस्मिन् प्रसारिते सति नस्यं योजयेत् । तथा किञ्चिदीषदुन्नतपादस्य न परं खट्वादिकं तथा कर्त्तव्यं येनोन्नतौ पादौ सम्पद्येते । एवं किञ्चिन्मूर्धनि नामिते सति नासापुटमेकं पिधाय स्थगयित्वा द्वितीये पुटे नस्य प्रवृत्ते नासापुटे स्थिते तस्मिन्नस्यं योजयेत् । पुर्नानषिक्तं नस्यं निषेचयेत् । नासापुटं निधाय निषिक्तनस्ये नासापुटे नस्यं निषेचयेत् । एवं पर्यायेण नस्यं निषेचयेत् । प्रणाल्या नाडीयन्त्रणाथवा पिचुना कर्पासादिमयेन । चंद्रनन्दनः ।

उत्तानशायिनं किंचित्प्रलम्बशिरसं नरम् ।
आस्तीर्णं हस्तपादं च वस्त्राच्छादितलोचनम् ॥
समुन्नमितनासाग्रं वैद्यो नस्येन योजयेत् ।

[1] स्नेहमिति स्नेहस्योपलक्षणत्वा कल्कक्वाथादिकमप्यनेनैव प्रकारेण देयम् ।

स्निग्ध स्विन्नोत्तमांगस्य प्राक्कृतावश्यकस्य च ।
निवातशयनस्थस्य जत्रूर्ध्वं स्वेदयेत् पुनः ॥

अ० हृ० सू० २०।१७

विशुद्ध देहस्येति एतच्च पञ्चकर्म संपादनीयनृविषयत्वं शुद्धिपूर्वकत्वं शिरोविरेचनस्येहोच्यते, तेन वमनादिनाऽशुद्धेऽपि शिरोविरेचनैकसंपाद्ये पुरुषेऽयं क्रमो ज्ञेयः । स्निग्धमित्यभ्यङ्गशिरोवस्तिपानादिना । तलस्वेदितमिति हस्ततलस्वेदितम् । त्रिद्विरथैकश इति तद्दिन एव दोषाणामुत्कृष्टत्वादिबलत्रैविध्यमपेक्ष्य यथा योग्यतया योज्यम् । चक्रपाणिः

पूर्वं स्निग्धं पश्चात्स्विन्नमुत्तमाङ्गं शिरो यस्य तस्य तथा प्राक् पूर्वं कृतमावश्यकमवश्यकरणीयमुच्चारमूत्रोत्सर्गदंतधावनादिकं येन स प्राक्कृतावश्यकस्य तथा निवातस्थाने शयनं यत्तत्र स्थितस्य सतोभूयोजत्रूर्ध्वं स्वेदयेत् । अरुणदत्तः ।

नस्य कर्मणां विशेषविधिवर्णनम् ।

साधयित्वा भिषक् स्नेहं नस्तः कुर्याद्विधानवित् ।
प्राक् सूर्ये मध्यसूर्ये वा प्राक्कृतावश्यकस्य च ॥
उत्तानस्य शयानस्य शयने स्वास्तृते सुखम् ।
प्रलम्ब शिरसः किंचित् किंचित् पादोन्नतस्य च ॥
दद्यान्नासापुटे स्नेहं तर्पणं बुद्धिमान् भिषक् ।
अनवाक् शिरसो नस्यं न शिरः प्रतिपद्यते ॥
अत्यवाक् शिरसो नस्यं मस्तुलुङ्गेऽवतिष्ठते ।
अत एवं शयानस्य शुद्धयर्थं स्वेदयेच्छिरः ॥
संस्वेद्य नासामुन्नाम्य वामेनाङ्गुष्ठपर्वणा ।
हस्तेन दक्षिणेनाथ कुर्यादुभयतः समम् ॥
प्रणाड्या पिचुना वाऽपि नस्तः स्नेहं यथाविधि ।

च० सि० ९।९८-१०२

ग्रीष्मे प्राक् सूर्ये, शीते तु मध्य सूर्ये इति व्यवस्था । प्राक्कृतावश्यकस्य चेति प्राक्कृतावश्यकरणीयमलविसर्गादिकस्य । एवं शयानस्येति किञ्चिदवनतशिरस्कतया शयानस्य । कुर्यादुभयतः सममिति उभय नासापुटेनापि तुल्यं दद्यात् । प्रणाडीनस्यदाननलिका यथाविधीति प्रमाणादिदोषरहितम् ।

चक्रपाणिः ।

अथ पुरुषाय शिरोविरेचनीयाय त्यक्तमूत्रपुरीषाय भुक्तवते व्यभ्रे काले दन्तकाष्ठधूमयानाभ्यां विशुद्ध वक्त्रस्रोतसे पाणितापपरिस्विन्नमृदितगलकपोललाटप्रदेशाय वातातपरजोहीने वेश्मन्युत्तारशायिने प्रसारित कर चरणाय किञ्चित प्रविलम्बितशिरसे वस्त्राच्छादितनेत्रायवामहस्तप्रदेशिन्यग्रोन्नामित

कोष्णमच्छिन्नधारं च हेमतारादिशुक्तिभिः ।
शुक्त्या वा यत्र युक्त्या वा प्लोतैर्वा नस्यमाचरेत् ।

शा० उ० ८।४७-५०, भा० प्र०

हि० व्या०—जिस व्यक्ति को नस्य प्रयोग कराया जाय वह वेग आदि से पीड़ित न हो, उसके मुख को अन्दर और बाहर से साफ करके शिर का स्नेहन स्वेदन करके, अधिक भूखे न होने पर, प्रायोगिक धूमपान से स्रोतों को शोधन करके भली प्रकार हवा रहित स्थान पर बिछाई हुई शय्या पर सीधे पीठ के भार लेट कर, शैया का पांवों की तरफ का भाग कुछ ऊंचा करके हाथ पाँव को सीधा रखकर, गले से ऊपर के भाग को, हाथों को गरम करके स्वेदन करे फिर सोने, चांदी या ताम्र की बनी हुई सीपी में नस्य औषध को रखकर उसके तीन भाग करे। औषध को गर्म पानी से उष्ण करें। रोगी का शिर पीछे को लम्बा लटकाकर वस्त्र की चार तह करके, वाम हस्त के अंगूठे और कनिष्ठिका अंगुली से आंखों को ढककर मध्यमाङ्गुली से नासा को किञ्चित् ऊंचा करके प्रदेशिनी और अनामिका अंगुली से एक-एक नासापुटक को क्रमशः पलटकर बंद करके दूसरे नासापुट में दाहिने हाथ की प्रनाड़ी या पिचु से लगातार स्नेह देवें। जब वाम नासा पुट बंद हो तो दक्षिण में एवं दक्षिण नासा के बंद होने पर वाम में नस्य दें। नस्य औषध के तीन भाग इसलिए किए गए कि गर्म पानी में क्रमशः एक-एक भाग को गर्म करके प्रयोग करते रहें एवं क्रमशः तीनों भागों का उपयोग करते रहें।

पश्चात् कर्म

कृते च स्वेदयेद् भूयः आकर्षेच्च पुनः पुनः ।
तं स्नेहं श्लेष्मणा शार्कं तथा स्नेहो न तिष्ठति ॥
स्वेदनोत्क्लेशितः श्लेष्मा नस्तः कर्मण्युपस्थिता ।
विरिक्त शिरसं तूष्णं पाययित्वाऽम्बु भोजयेत् ॥
लघु स्निग्धविरुद्धं च निवातस्थमतन्द्रितः ।
विरेकशुद्धो दोषस्य कोपनं यस्य सेवते ।
स दोषो विचरंस्तत्र करोति स्वान् गदान् बहून् ।
यथा स्वं विहितां तेषु क्रियां कुर्याद्विचक्षणः ॥
अकालकृत जातानां रोगाणामनुरूपता ॥

च० सि० ६।१०३-४।१०८-११०

दत्ते पादतलस्कन्ध हस्तकर्णादि मर्दयेत् ।
शनैरुच्छिङ्घ्य निष्ठीवेत् पार्श्वयोरुभयोस्ततः ॥
आ भेषज क्षयादेवं द्विस्त्रिर्वानस्यमाचरेत् ॥

चक्रदत्तः ।

दत्ते च पुनरपि संस्वेद्य गलकपोलादीन् धूममासेवेत भोजयेचैनमभिष्यंदि,

ततोऽस्याचारिकमादिशेत् रजोधूम स्नेहातपमद्यद्रवपानशिरः स्नानातियान-क्रोधादीनि च परिहरेत् । सु० चि० ४०।३१

धूममासेवेतेति वाक्शतानन्तरं, तथा च भोज—"वाक्शतादूर्ध्वमुत्थाय धूमं प्रायोगिकं पिबेत् । अभिस्यंदि उपलेपकारि । डल्हणः ।

आदिशब्दात् ग्रीवा ललाटादीनां ग्रहणम् । पार्श्वयोरिति वामदक्षिणनासा-पुटयोः । आभेषजक्षयादितिछेदः, भेषजनिः सरणपर्य्यन्तं शनैरुच्छिङ्घय निष्ठी-वेदित्यर्थः । एवमुक्तपरिपाट्या वारद्वयं त्रयं वा दोषोपेक्षया अधिकमपि वा नस्यं कुर्य्यादित्यर्थः नस्ये क्रियमाणे यदि नस्यस्य सम्यक् प्रयोगेण मूर्च्छा स्यात् तदा शिर परित्यज्य शीततोयेन सेचनं कार्य्यम्, अत एवैतदनन्तरं वाग्भटे यथा —"मूर्च्छायां शीततोयेन सिञ्चेत् परिहरन् शिरः" (सू० अ० २०) इति ॥

शिवदास सेनः ।

नस्यप्रयोगानंतरं कर्तव्यानि

दत्तमात्रे तु नस्ये कर्णललाटकेशभ्रूमिगण्डमन्या स्कन्धपाणिपादतलान्यनु-सुखं मर्दयेत् । शनैश्चोच्छिन्देत् । अनभ्यवहरंश्च वामदक्षिण पार्श्वयोरौषधं निष्ठीवेत् । सकफं हि तदभ्यवहृतमग्निमवसादयेत् । दोषं च संवर्द्धयेत् । एकपा-र्श्वनिष्ठीवनेन सर्वाः सिरा भेषजेन सम्यग्व्याप्यन्ते । पुनः पुनश्चैनं स्वेदयेदाभेष-जदर्शनान्नोच्छिन्देन्निष्ठीवेच्च । ततश्चैवमेव द्वितीयमंशमनुषेचयेत्तथा तृतीयं-दोषादिबलेन वा । विरेचने[1] चावपीडे दोषबलमपेक्ष्य पश्चात्स्नेहमनुषेचयेत् । निवृत्तनस्यं चैवमुन्निद्रमुत्तानं वा वाक्शतमात्रं शाययेत् । ततः पुनरप्युक्लिष्ट-दोषशेषोपशान्तये वैरेचनिकं यथार्हं वाधूमं पाययित्वोष्णोदकगन्डूषान्धारयेत् । अथास्य स्नेहोक्त माचारमादिशेत् । अतिद्रवपानंचवर्जयेत् । पुनश्चतृतीयेऽहनि नस्यमवसेचयेत् । हिध्मास्वरोपघातमन्यास्तम्भापतानकेषु शिरसि चानिलार्त्या-द्यभिभूते । प्रत्यहं सायं प्रातरुभयकालं वा । अनेन विधिना पञ्च सप्त नव वा दिनानि दद्यादासम्यग्योगाद्वा ।

अ० सू० सू० अ० ॥२६॥

नीते नस्ये मनस्तापं रजः क्रोधं च संत्यजेत् ।
शयीत निद्रां त्यक्त्वा च प्रोत्तानोवाक्शतं नरः ॥
तथा वैरेचनश्चान्ते धूमो वा कवलो हितः ।

शा० उ० ८, वंगसेन, भावप्र०

शनैरुच्छिद्य निष्ठीवेत्पार्श्वयोरुभयोस्ततः । अ० हृ० सू० २० ।
उपविश्याथ निष्ठीवेन्नासावक्त्रागतंद्रवम् ।
वामदक्षिणपार्श्वाभ्यां निष्ठीवेत्संमुखं न हि ॥

भावप्र०. वंगसेन, शार्ंगधर

हि० व्या० —नासिका में स्नेह प्रयोग के पश्चात् पुनः शिरः प्रदेश का विधिवत् स्वेदन करें। पुनः पुनः कफ के साथ स्नेह को निकालना चाहिए।

१. स्ववपीडे

यदि स्नेह निकलकर वापस नहीं आता तो अपने स्वाभाविक गुण शीतलता के कारण स्नेह जम जाता है।

शिरोविरेचन हो जाने पर रोगी को उष्णजल पिलाना चाहिए फिर दोषानुसार उचित आहार का सेवन कराना चाहिए। निवातस्थान में रखना चाहिए। शिरोविरेचन से शुद्ध व्यक्ति को दोष प्रकोपक आहार विहार नहीं करना चाहिए। अन्यथा दोष प्रकुपित होकर सम्पूर्ण शरीर में घूमते हुए अनेक रोगों को उत्पन्न करते हैं। ऐसी अवस्था में उपद्रवानुसार चिकित्सा करनी चाहिए। अकाल में किए गए शिरोविरेचन से यदि कोई रोग उत्पन्न हो गया हो तो रोग के अनुसार उसकी चिकित्सा करनी चाहिए।

आचार्य सुश्रुत के अनुसार नस्यप्रयोगानन्तर पुनः आतुर के कपोलादि का स्वेदन कर धूमपान कराना चाहिए। उसे अभिष्यन्दि द्रव्य खिलाना चाहिए। तथा आचार का विधिवत् पालन करना चाहिए। रोगी को धूल, धूम्र, स्नेह, धूप, मद्य, द्रवपान, शिरः स्नान, सवारी करना व क्रोधादि का परिहार करना चाहिए।

नस्य के पश्चात् एक सौ तक दीर्घ उच्चारण में जितना समय लगे तब तक चुपचाप रहना एाहिए। विरेचन नस्य के बाद धूम्रपान या कंवल धारण करना चाहिए।

नस्य में आए नासास्राव के मल को दाहिनी ओर का दाहिनी तरफ तथा बाईं ओर का बाईं तरफ मुंह करके निकाल देना चाहिए।

उपयुक्त काल तक नस्य धारण के पश्चात् उठकर बैठ जाना चाहिए। नाक एवं गले में गए हुए स्नेह को मुख में लाकर बाईं तरफ या दाहिनी तरफ थूकना चाहिए।

अन्य आचार्यों के भाव भी समान हैं।

स्वेदोनोत्क्लेशितः श्लेष्मा नस्तः कर्मण्युपस्थितः।
भूयः स्नेहस्य शैत्येन शिरसि स्थायते ततः॥
श्रोत्रमन्यागलाद्येषु विकाराय स कल्पते।
ततो नस्तः कृते धूमं पिबेत् कफ विनाशनम्॥
हितान्नभुङ्निवातोष्णसेवी स्यान्नियतेन्द्रियः।
विधिरेषोऽवपीडस्य कार्यः प्रध्मापनस्य तु।
तत षडङ्गुलया नाड्या धमेच्चूर्णं मुखेन तु॥ च० सि० ९।

हि० व्या०—नस्य प्रयोगानन्तर स्वेदन करने से उत्क्लेशित कफ स्नेह के शीतल गुण के कारण शिर में जम जाता है। जमा हुआ वह कफ कर्ण, मन्या, गला आदि स्थानों में अनेक रोगों को उत्पन्न करता है। अतः नस्य कर्म के पश्चात् कफ नाशक धूम का प्रयोग करना चाहिए। धूमपान के पश्चात् हित कर आहार का सेवन, निवात एवं उष्ण स्थान में निवास, इन्द्रिय संयम करना

चाहिए। अवपीड नस्य की यही विधि है। प्रधमन नस्य में औषध के चूर्ण को छे अंगुल की नली में रखकर मुख से फूंककर औषध को शिरोगुहा में पहुंचाया जाता है।

नासाप्रयुक्तस्नेहनस्य द्रव्यस्य नासाशृङ्गाटके निरोधं न कृत्वा सत्वरं निष्ठीवनं च न कृत्वा निर्गीर्णे व्यापदां सम्भवः।

स्नेहनस्य नोपगलेत्कथंचिदपि बुद्धिमान्।
शृङ्गाटकमभिप्लाव्य निरेति वदनाद्यथा॥
कफोत्क्लेशभयाच्चैनं निष्ठीवेदविधारयन्॥

सु० चि० अ० ४०।३० वंगसेनः

नोपगिलेन्न पिवेत्। तथा हि विदेहः—निष्ठीवेन्न पिवेन्नस्यं व्यापदः पिबतस्त्विमाः। भवन्ति कासाश्छर्दिश्च कुत्साऽन्ने वमथुस्तथा—" इति। क्वचिन्नस्य पानमप्युक्तं विदेहेनैव—

"क्षीणं मासं बलं यस्य वातार्तिश्चोर्ध्वजत्रुजा।
सुदीप्ताग्निः स्नेहसात्म्यः स नस्यं नासया पिबेत्॥
धातूंश्च तर्पयेद्देहे पीतं नस्यं तु नस्ततः—इति।

शृङ्गाटकमित्यादि। – नासाकर्णस्रोतोऽक्षिजिह्वातर्पणीनां सिराणां सन्निपातः शृङ्गाटकः। निष्ठीवेदिति वदन प्राप्तं मुञ्चेत्, वामदक्षिणयोरिति वाक्यशेषः। तथा च वृद्धवाग्भटः—"अनभ्यवहरंश्च वामदक्षिणपार्श्वयोनिष्ठीवेत्, एकपार्श्वष्ठीवने न सर्वाः सिरा भेषजेन सम्यग्व्याप्यन्ते" इति। डल्हणः।

नस्यप्रयोगकाले रुग्णद्वारा वर्जनीयानां चेष्टाना वर्णनं तदुपद्रवाश्च।

स्नेहेऽवसिच्यमाने तु शिरो नैव प्रकम्पयेत्॥
न कुप्येन्न प्रभाषेच्च न क्षुयान्न हसेत्तथा॥
एसंहि विहतः स्नेहो न सम्यक् प्रतिपद्यते॥
ततः कासप्रतिश्यायशिरोऽक्षिगदसंभवः'॥

सु० चि० अ० ४०।२६-२७, वंगसेनः, भावप्रकाशः, शार्ङ्गधरः

हि० व्या०—नासा छिद्रों में स्नेह प्रयोग के समय रोगी को सिर नहीं हिलाना चाहिए। क्रोध नहीं करना चाहिए तथा बोलना, छीकना और हंसना भी नहीं चाहिए।

इन प्रक्रियाओं से प्रयुक्त स्नेह भली प्रकार यथास्थान नहीं पहुंच पाता इसी कारण कास, प्रतिश्याय, शिरोरोग तथा नेत्ररोग उत्पन्न होते हैं।

नस्य कर्मणि वर्जनीय कर्म संकेतः।

स्नानादीन् परिहारांश्च यथोक्तानुपचारयेत्।

हि० व्या०—नस्य के पश्चात् स्नान आदि यथोक्त परिहारों का पालन करना चाहिए।

नस्य प्रयोगे सावधानतावश्यकता संकेतः।

न च हीनाधिकं सकृदेव सर्वमत्युष्णशीतमत्युन्नतावनत शिरशे संकुचितगात्रावयवाय देयम्। तत्र हीनं दोषमुत्क्लिश्य न निर्हरेत्। गौरवारुचिकास प्रसेक पीनसछर्दिकण्ठरोगान्कुर्यात्। अधिकमतियोगदोषान् सकृदेव सर्व दत्त मुत्स्नेहनशिरोरोगप्रतिश्यायघ्राणक्लेदानुच्छ्वासोपरोधं च। अत्युष्णंदाह पाक ज्वर रक्तागमशिरोरुग् दृष्टि दौर्बल्यं मूर्च्छाभ्रमान्। अतिशीतं हीन दोषान्। अत्युन्नतशिरसोऽपि सम्यक्शिरोऽप्रतिपद्यमानं ज्ञानेव। अत्यवनतशिरसोऽतिदूरगमनान्मूर्च्छाजाड्यकण्डुदाहज्वरान् संकुचितगात्रस्य सम्यग्धमनीरव्याप्तुदोषोत्क्लेशं वेदनां स्तम्भं वा। यदि च नस्ये दीयमाने भेषजवेगादसात्म्यतया वा मूर्च्छा स्यात्ततः शिरोवर्जं शीताम्भसासिञ्चेत्। न च नस्ये निषिच्यमाने कोपहास्यव्यवहारस्पन्दनोच्छिङ्ग नान्याचरेत्। तथाहि शिरोरुक् प्रतिश्याय कासतिमिररखलतिपलितव्यंगतिलकालकमुखदूषिकाणां सम्भवः।

अ० सं० सू० अ० ॥२६॥

हि० व्या०—न थोड़ा न अधिक तथा शीघ्रता से भी नहीं, सम्पूर्ण रूप से भी नहीं तथा न अधिक उष्ण और न ही अधिक शीत, शिर को बहुत ऊंचा करके और न अधिक नीचा करके तथा शरीर के अंगों को सिकोड़कर नस्य का प्रयोग नहीं कराना चाहिए। हीनमात्रा में दिया गया नस्य दोषों को कुपित करके बाहर नहीं निकालता। इससे गुरुता, अरुचि कास प्रसेक, पीनस, वमन, कण्ठरोग आदि की उत्पत्ति होती है। अधिक मात्रा में दिया गया नस्य स्नेह के अतियोग जन्य लक्षण उत्पन्न करता है। एक साथ सम्पूर्ण नस्य स्नेह दे दिए जाने पर उत्स्नेहन, शिरोरोग, प्रतिश्याय, घ्राण काक्लेद और उच्छ्वास का अवरोध करता है। अति उष्ण नस्य प्रयोग कराने से दाह, पाक ज्वर और रक्त स्राव शिरः में वेदना, दृष्टि दुर्बलता, मूर्च्छा और भ्रम उत्पन्न करता है। अति शीत नस्य प्रयोग कराने पर हीन मात्रा में उत्पन्न होने वाले दोषों के लक्षणों को प्रकट करता है। शिर को अधिक ऊंचा करके प्रयोग में लाया गया नस्य शिर में भली प्रकार न पहुंच कर हीन जन्य लक्षण उत्पन्न करता है।

शिर को अधिक झुकाकर प्रयोग कराया गया नस्य बहुत दूर तक जाने के कारण मूर्च्छा, जड़ता, कण्डू, दाह तथा ज्वरोत्पत्ति करता है। अंगों को सिकोड़कर दिया गया नस्य धमनियों में ठीक प्रकार से न फैलकर दोषों का उत्क्लेशन, वेदना और जड़ता उत्पन्न करता है। यदि नस्य देने के पश्चात् भेषज के वेग के कारण या नस्य के असात्म्य होने के कारण रोगी मूर्च्छा से युक्त हो जाने की स्थिति में शिर को छोड़कर शेष शरीर पर शीतल पानी का परिषेक कराना चाहिए।

नस्य प्रयोग करते समय क्रोध, हास्य, बोलना, स्पन्दन (हिलना), छीकना, आदि प्रक्रियाओं का परिहार करना चाहिए। इससे शिरोवेदना, प्रतिश्याय कास, तिमिर, गंजापन, बालों का गिरना सफेद, होना व्यंगतिलकालक मुख को विकृत करने वाली (मुखदूषिका) फुंसि आदि की उत्पत्ति हो जाती है।

सम्यक् शिरोविरेचन गुणाः

उरः शिरो लाघवमिन्द्रियाच्छयं[1]।
स्रोतोविशुद्धिश्च भवेद्विशुद्धे ॥

—च० सि० १।५१

लाघवं शिरसो योगे सुखस्वप्न प्रबोधकम्।
विकारोपशमः शुद्धिरिन्द्रियाणां मनः सुखम् ॥

सु० चि० ४०।३२-३३

सम्यक् स्निग्धे सुखोच्छ्वासस्वप्नबोधाक्षपाटवम्।

अ० हृ० सू० २०, चक्रदत्तः।

रोगशान्तिः प्रमोदश्च देहयात्रानुवर्तनम्।
स्मृतिमेधाबलाग्न्याप्तिरिन्द्रियाणां प्रसन्नता ॥
विद्धि सम्यक्कृते नस्ये— — —

—का० सि० २।—

इन्द्रियाणां विमुक्तत्वं प्रसादः स्वरवर्णयोः।
स्रोतसां विमलत्वं च ज्ञेयं संस्निग्धलक्षणम् ॥

—भे० सि० २

शिरसस्तु विरेकेण कर्णजिह्वाक्षिनासिकाः।
विशुद्धयन्ते यथादोषं मुखनासावहेषु च ॥
विवृतिः खेषु विशदा न च श्लेष्मा प्रसिच्यते।
सम्यक् शिरसि संशुद्धे वेदना चोपशाम्यति ॥
व्याधौ च भङ्गचूर्णत्वं स्रोतसां सुविशुद्धता।
लाघवं शिरसः शुद्धि स्रोतसां व्याधिनिर्जयः।
चित्तेन्द्रियप्रसादश्च शिरसः शुद्धिलक्षणम् ॥

—सु० चि० ४०

सुविरिक्तेऽक्षिलघुता स्वरवक्त्रविशुद्धयः।

—अ० हृ० सू० २०।, चक्रदत्तः।

हि० व्या०—नस्य के सम्यक् योग होने पर वक्ष प्रदेश एवं शिरः प्रदेश में लघुता होती है। इन्द्रियां निर्मल होती है। स्रोतस शुद्ध हो जाते हैं।

१. इन्द्रियाच्छयमिति चक्षुरादीनां स्वविषये पाटवम्। चक्रपा०।

वाग्भट ने लिखा है कि श्वासोच्छ्वास का शुद्ध होना, छींक आना, नींद का सुखपूर्वक आना, समय पर जागना, शिरोवेदना का नाश होता है। इसी प्रकार अन्य आचार्यों ने शिरो विरेचन में – शिरः प्रदेश में लघुता, स्रोतों की शुद्धि व्याधि की उपशान्ति तथा इन्द्रियों में प्रतन्नता और शिर की शुद्धि आदि लक्षण बताया गया है। अष्टाङ्ग हृदय, चक्रदत्त, काश्यप आदि ने चरक, सुश्रुत का अनुकरण किया है।

हीन शिरोविरेचनम् (अयोग लक्षणम्)

गलोपलेपः शिरसो गुरुत्वम्।
निष्ठीवनं चाप्यथ दुर्विरिक्ते॥

—च० सि० १।५२ क

अयोगे वात वैगुण्यमिन्द्रियाणां च रुक्षता।
रोगशान्तिश्च तत्रेष्टं भूयो नस्यं प्रयोजयेत्॥

—सु० चि० ४०।३५

रूक्षेऽक्षिस्तब्धता शोषो नासास्ये मूर्धशून्यता।

—अ० हृ० सू० २०।, चक्रदत्तः।

अस्निग्धलिङ्गं रूक्षत्वं स्रोतसां रिक्तता तथा।

—भे० सि० २।२३

हि० व्या०—यदि शिरोविरेचन का प्रयोग उचित रूप से नहीं हुआ हो तो गला कफ से भरा-भरा सा रहता है। शिर में भारीपन पुनः-पुनः थूकने की प्रवृत्ति आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं।

नस्य के आयोग होने पर वात वैगुण्य इन्द्रियो में रूक्षता उत्पन्न होती है। रोग की शान्ति के लिए पुनः नस्य प्रयोग कराना चाहिए।

शिरोविरेचन हीनयोगातियोगयोः सामान्य चिकित्सा सूत्रम्

स्यात्तर्पणं तत्र मृदु द्रवं च
स्निग्धस्य तीक्ष्णं तु पुनर्नयोगे।
इत्यातुरस्वस्थसुखः प्रयोगो
बलायुषोर्बृंहिकृदामयघ्नः॥

—च० सि० १।५३

तस्यातियोगायोगयोश्चिकित्सितमनुवक्तव्यतयाऽनुषङ्गतामाह—स्यात्तर्पणमित्यादि। मृदु द्रवं चेत्यनेनातियोगचिकित्सितम्। तीक्ष्णं तु पुनर्न योग इति। अयोग इति—अयोगे शिरोविरेचनस्य पुनस्तीक्ष्णं शिरोविरेचनं देयम् उक्तं पञ्चकर्मप्रयोग संहरति इत्यातुरेत्यादि। आतुरस्वस्थसुख इति वचनेन आतुरे आमयस्यायहन्तृतया स्वस्थे च बलायुर्बृंहिकर्तृतया यथोक्त पञ्चकर्म प्रयोगः

सुखहेतुर्भवतीति ज्ञेयम्। स्वस्थे च पञ्चकर्मप्रवृत्तिः "माधवप्रथमेमासि" (सू० अ० ७) इत्यादिना सूत्रस्थाने प्रोक्तैव ज्ञेया। चक्रपाणिः।

हि० व्या०—अतियोग होने पर तर्पण करने वाले मृदु द्रव पदार्थों का सेवन कराना चाहिए। स्निग्ध करना चाहिए (मालिस आदि से)। तथा अयोग होने पर स्नेहन के पश्चात् तीक्ष्ण विरेचन देना चाहिए।

शिरोविरेचन हीन योग लक्षणम्

कण्डूपदेहौ गुरुता स्रोतसां कफसंस्रवः।
मूर्ध्नि हीन विशुद्धे तु लक्षणं परिकीर्तितम्॥

सु० चि० अ० ४०।३६, शार्ङ्गधर, वंगसेन, भावप्र०

हि० व्या०—हीन योग होने पर कण्डू उपदेह, (शरीर का गीला सा-प्रतीत होना) गुरुता, आंतों से कफ का स्राव होना आदि लक्षण उत्पन्न होते है।

नस्यातियोग लक्षणम्

कफप्रसेकः शिरसो गुरुतेन्द्रियविभ्रमः।
लक्षणं मूर्ध्न्यतिस्निग्धे रूक्षं तत्रावचारयेत्॥

—सु० चि० ४०।३४, शार्ङ्गधर

स्निग्धेऽति कण्डूर्गुरुता प्रसेकारूचिपीनसाः।

—अ० हृ० सू० २०

शिरसो गुरुत्वं स्रोतसां स्नेहपूर्णता।
कर्णतालूपदेहश्च नस्यातिस्निग्ध लक्षणम्'॥

हि० व्या०—कफ का प्रसेक, शिर का भारीपन, इन्द्रियों में अशान्ति आदि लक्षण अतियोग से उत्पन्न हो जाते हैं। इसमें रूक्षोपचार करना चाहिए।

शिरोविरेचन नस्यातियोग लक्षणम्

मस्तुलुङ्गागमो वातवृद्धिरिन्द्रियविभ्रमः॥
शून्यता शिरसश्चापि मूर्ध्नि गाढविरेचिते॥

—सु० चि० अ० ४०।४०, शार्ङ्गधर
—वंगसेन, भावप्र०

मस्तुलुङ्गः शिरोऽन्तर्धूंताकारः। डल्हणः।

हि० व्या०—शिरोविरेचन के अतियोग होने पर मस्तुलुंग का बाहर निकलने के समान प्रतीत होना, वातवृद्धि इन्द्रियों में विभ्रम, तथा शिर में शून्यता आदि लक्षण उत्पन्न होते है।

तत्र चिकित्सा सूत्रं च

हीनातिशुद्धे शिरसि कफवातघ्नमाचरेत्।
सम्यग्विशुद्धे शिरसि सर्पिर्नस्यं निषेचयेत्॥

(एकान्तरं द्वयन्तरं वा सप्ताहं वा पुनः पुनः।
एकविंशतिरात्रं वा यावद्वा साधु मन्यते ॥
मारुतेनाभिभूतस्य वाऽत्यन्तं यस्य देहिनः।
द्विकालं चापि दातव्यं नस्यं तस्य विजानता) ॥

सु० चि० अ० ४०।४१-४२, बंगसेन, शार्ङ्गधा, भावप्र०

सर्पिर्नस्यं निषेचयेदिति पित्तप्रकृतौ, वातप्रकृतौ, तु पक्वतैलमेव। डल्हणः।

प्रतिकरोति हीनेति। कफवातघ्नमिति यथाक्रममन्वेयम्। मारुतेनेति अन्तं पाणिपादमपि वाति गच्छति वायुरिति शेषः। नस्यमिति प्रकृतत्वात सर्पिषेत्यवगन्तव्यम्। हाराण०।

हि० व्या०—शिरोविरेचन से शिरः प्रदेश के हीन और अति शुद्धि होने पर कफ एवं वायुनाशक चिकित्सा करनी चाहिए। सम्यक् शुद्धि होने पर घृत के नस्य का प्रयोग करना चाहिए। (एक दिन, दो दिन, सात दिन या इक्कीस दिनके बाद अथवा जब तक चिकित्सक उचित समझे पुनः-पुनः नस्य प्रयोग कराना चाहिए। वायु के नाभि प्रदेश में होने पर या अत्यधिक पीड़ाकर होने पर नस्य में कुशल चिकित्सक को दिन में दोबार (प्रातः सायं) नस्य का प्रयोग कराना चाहिए।)

अति शिरोविरेचन दोषाः

शिरोक्षिशङ्खश्रवणार्तितोदा—
वत्यर्थशुद्धे तिमिरं च पश्येत् ॥ —च० सि० १।५२

तथैवाति विशुद्धेषु स्रोतस्वायस्यते शिरः।
भे० सि० १।१३

तिमिरं च पश्येदिति तमोव्याप्तं सर्वं पश्येदित्यर्थः। चक्रपाणिः।

हि० व्या०—शिरोविरेचन के अतियोग हो जाने पर शिरः प्रदेश, नेत्र, शंख प्रदेश एवं कानों में बेदना, तोद, (सूई चुभोने के समान पीड़ा) तथा रोगी नेत्रों के सामने अंधेरा सा अनुभव करता है।

स्नेहन नस्यविधिः

स्नेहं विरेचनस्यांते दद्याद्दोषाद्यपेक्षया।
—अ० हृ० सू० २०, चक्रदत्तः

हि० व्या०—शिरोविरेचन नस्य के पश्चात् दोष देश एवं काल का विचार करके यथोचित स्नेह की नस्य देनी चाहिए।

प्रतिमर्श नस्य प्रयोगः विधिः।

नस्तः स्नेहाञ्जलिं दद्यात् प्रातर्निशि सर्वदा।
न चोच्छिङ्घेदरोगाणां प्रतिमर्शः स दार्ढ्यकृत् ॥
च० सि० ९।११७

ईषदुच्छिङ्घतः स्नेहोक्तं यावद्व प्रपद्यते।
नस्ये निषिक्तं तं विद्यात् प्रतिमर्शं प्रमाणतः ॥
सु० चि० ४०।-, चक्रदत्त, बंगसेन

स्नेहाञ्जलिमिति स्नेहपूरितामञ्जलिम्। सर्वदेति सर्वर्तुषु। दार्ढ्यकृदिति शिरःकपालादि दार्ढ्यकृत्। अयं नासौ सार्वकालिकः। यदुक्तम्—ईषदुच्छिङ्घनात स्नेहो यावान् वक्त्रं प्रपद्यते। नस्तो निषिक्तं तं विद्यात् प्रतिमर्शः प्रमाणतः।" इति। तथा प्रतिमर्शं तु न पिबेत्। कण्ठास्रावभयान्नरः। यावत्स्नेहो व्रजेदास्यं तत्प्रमाणं च तस्य तु"। इति चक्रपाणिः।

वृद्धवाग्भटे चान्यथा प्रतिमर्शप्रमाणम्। तथा च—"प्रमाणं प्रतिमर्शस्य बिन्दुद्वितयमिष्यते। बिन्दुर्वायनचोत्क्लेशो नानुत्विलष्टस्य जायते। निहितो यत्र वा स्नेहो न साक्षादुपलभ्यते" इति। शिरोविरेचन स्नेहवत् प्रतिमर्शस्नेहोऽपि नाभ्यवहरणीयः। तथा हि विदेहः—"उच्छिङ्घेन पिबेत् स्नेहं निष्ठीवेन्मुख-मागतम्" इति नस्यादिषु नरावस्थिककालस्तन्त्रान्तरादनुसर्तव्यः; तथा च कृष्णात्रेय—

"सप्तवर्षमुपादाय नस्यकर्म चतुर्विधम्।
प्रतिमर्शोऽथ वमनं जन्मप्रभृति शस्यते ॥" डल्हणः।

हि० व्या०—प्रतिमर्श नस्य—यह नस्य अंगुली को स्नेह में डुबोकर उसे नासासम्मुख लाकर बिन्दु के रूप में डाला जाता है। स्नेह को नासिका में प्रयोग के बाद उसे खींचते हुए ऊपर नहीं चढ़ाना चाहिए। स्वस्थ व्यक्तियों के लिए प्रतिदिन प्रयोज्य है। इससे शिरः शूल में लाभ होता है। स्नेह नस्य प्रयोग के बाद थोड़ी छींक आने पर भी मुख में आ जाय तो दिये गये प्रतिमर्श नस्य को प्रमाण में ही जानना चाहिए।

प्रतिमर्शनस्यप्रयोगस्य चतुर्दशकालानां वर्णनं तत्र यथा क्रमं प्रत्येकं फल वर्णनञ्च।

प्रतिमर्शश्चतुर्दशसु कालेषूपादेयः;—तद्यथा—

तल्पोत्थितेन,—तत्र तल्पोत्थितेनासेवितः प्रतिमर्शो रात्रावुपचितं नासा-स्रोतोगतं मलमुपहन्ति मनः प्रसादं च करोति,

प्रक्षालितदन्तेन,—प्रक्षालितदन्तेनासेवितो दन्तानां दृढतां बदनसौगन्ध्यं चापादयति,

गृहान्निर्गच्छता,—गृहान्निर्गच्छता सेवितो नासास्रोतसः विलग्नतया रजो-धूमो वा न बाधते,

व्यायामव्यवायाध्वपरिश्रान्तेन,—व्यायाममैथुनाध्वपरिश्रान्तेनासेवितः—श्रममुपहन्ति,

मूत्रोच्चारकवलाञ्जनान्ते,—मूत्रोच्चारान्ते सेवितो दृष्टेर्गुरुत्वमनयति, कवलाञ्जनान्ते सेवितो दृष्टिं प्रसादयति,

भुक्तवता,—भुक्तवता सेवितः स्रोतसां विशुद्धिं लघुतां चापादयति,

छर्दिवता,—वान्तेनासेवितः स्रोतोविलग्नं श्लेष्माणमपोह्य भक्ताकांक्षामापादयति,

दिवास्वप्नोत्थितेन,—दिवास्वप्नोत्थितेनासेवितो निद्राशेषं गुरुत्वं मलंचापोह्य चित्तैकाग्र्यं जनयति,

सायं चति,—सायं चासेवितः सुखनिद्राप्रबोधं चेति ।

सु० चि० अ० ४०।५१-५२, चक्रदत्तः

समयाः प्रतिमर्शस्य बुधैः प्रोक्ताश्चतुर्दश ।
प्रभाते दन्तकाष्ठान्ते गृहान्निर्गमने तथा ।
व्यायामाध्वश्रमव्यवायान्ते विण्मूत्रान्तेऽजने कृते ॥
कवलान्ते भोजनान्ते दिवासुप्तोत्थिते तथा ।
वमनान्ते तथा सायं प्रतिमर्शः प्रयुज्यते ॥
ईषदुच्छिक्तनास्नेहो यदा वक्त्रं प्रपद्यते ।
नस्ये निर्दिष्टं तं विद्यात्प्रतिमर्शं प्रमाणतः ।
उच्छिन्दन्न पिबेच्चैतन्निष्ठीवेन्मुखमागतम् ॥
क्षीणे तृष्णास्यशोषार्ते बाले वृद्धे च युज्यते ।
प्रतिमर्शेन शाम्यन्ति रोगाश्चैवोर्ध्वजत्रुजाः ॥
बलीपलितनाशश्च बलमिन्द्रियजं भवेत् ॥

शा० उ० ८।४१-४५, भावप्र०

निशाहं भुक्तवांताहः स्वप्नाध्वश्रमरेतसाम् ।
शिरोऽभ्यंजनगंडूष प्रस्रावांजनवर्चसाम् ॥
दंतकाष्ठस्य हास्यस्य योज्योंऽतेऽसौ द्विबिंदुकः ।
पंचसुश्रोतसां शुद्धिः बलमनाशस्त्रिषु क्रमात् ।
दृग्बलं पंचसु ततो दंतदार्ढ्यं मरुच्छमः ॥

अ० हृ० सू० २०।३४

अहः स्वप्नो दिवास्वप्नः, श्रमोव्यायामः, प्रस्रावो मूत्रं, द्विबिंदुको बिंदुद्वयमात्रः बिंदुर्वा येन चोत्क्लेशो नानुत्क्लिष्टस्य जायते "निष्ठ्यूतो यत्र वा स्नेहो न साक्षादुपलक्ष्यते" इति । हेमाद्रिः ।

स पञ्चस्वाद्येष्वन्ते प्रयुक्तः स्रोतसां शुद्धिं करोति । निशान्ते दिवसान्ते भुक्तान्ते वान्तान्तेऽहः स्वप्नान्ते स्रोतोविशुद्धिर्जायते । अध्वनः श्रमान्ते शुक्रत्यागान्ते क्लमनाशः स्यात् । दृग्बलं पञ्च स्विति अभ्यङ्गान्तेऽञ्जनान्ते विडन्ते मूत्रान्ते गण्डूषान्ते दृग्बलं दृष्टिप्रसादः । दन्तधावनान्ते दन्तदार्ढ्यम् । हास्यान्ते

मरुच्छमो वातशान्तिः । चंद्रनन्दनः । तस्य पञ्चदशकालास्तेषां च गुणाः । प्रतर्दने भुक्तवतश्चान्ते स्रोतो विशुद्धिः शिरो लाघवं मनः प्रसादश्च भवति । विण्मूत्रशिरोऽभ्यंगांजन कवलान्ते दृष्टि प्रसादः । दन्तधावनान्ते दन्त दृढ़ता सौगन्ध्यं च । अध्व न्यायाम व्यवायान्ते श्रमक्लमस्वेदस्तद्भनाशः । दिवास्वप्नान्ते निद्राशोषगौरवप्रणाशो मनः प्रसादश्च । अतिहसितान्तेऽनिलप्रशमः छर्दितान्ते स्रोतोलीनश्लेष्मव्यपोहः दिनान्ते स्रोतोविशुद्धः सुखनिद्रा प्रबोधश्च भवति । अ० सं० सू० २९।

प्रतिमर्शस्य प्रयोगकालः मात्रा च ।

निशाहभुंक्तवान्ताहः—स्वप्नाध्वश्रमरेतसाम् ।
शिरोऽभ्यञ्जनगण्डूष—प्रस्रावाञ्जनवर्चसाम् ॥
दन्तकाष्ठस्य हास्यस्य योज्योऽन्तेऽसौ द्विबिन्दुकः ॥

चक्रदत्तः (नस्याधिकारः)

सर्वदेत्यस्यार्थमाह, निशेत्यादि वाग्भटस्य । —असौ प्रतिमर्शः बिन्दुद्वयपरिमितो निशादीनामन्ते समाप्तौ वैद्येन योज्यः । निशान्ते इति—प्रातः । अह्नोऽन्ते इति—सायम् । सुश्रुतेऽपि "तल्पोत्थितेन" (चि० ४० अ०) इत्यनेन प्रातःकाल उक्तः । अध्वेति—पथश्रमः । श्रमशब्देनाध्वव्यतिरिक्तो व्यायाम उच्यते । सुश्रुतेऽपि "व्यायामाध्वपरिश्रान्तेन" (चि० ४० अ०) इत्युक्तम् । रेतः शब्देन रेतः सरणोपलक्षितव्यायाम उच्यते । प्रस्राव इति—मूत्रोत्सर्गः । वर्चः पुरीषोत्सर्गः । एषु पञ्चदश कालेषु प्रतिमर्शदानप्रयोजनं वाग्भटेनैवोक्तमनुसर्त्तव्यम्; तद्यथा —"निशाहभुंक्तवान्ताहः—स्वप्नाध्वश्रमरेतसाम् । शिरोऽभ्यञ्जनगण्डूष—प्रस्रावाञ्जनवर्चसाम् ॥ दन्तकाष्ठस्य हास्यस्य योज्योऽन्तेऽसौ द्विबिन्दुकः । पञ्चसु स्रोतसां शुद्धिः बलमनाशस्त्रिषु क्रमात् ॥ दृग्बलं पञ्चसु ततो दन्तदार्ढ्यं मरुच्छमः ॥" (सू० २० अ०) इति । निशाहभुंक्तवान्ताहः स्वप्नेषु पञ्चसु प्रतिमर्शदानात् । स्रोतसां शुद्धिर्भवति । त्रिष्विति—अध्वश्रमरेतः सु बलमनाशः स्यात् । शिरोऽभ्यंजनादिषु वर्चोऽन्तेषु तु पञ्चसु प्रतिमर्शदानात् दृग्बलं स्यात् । ततोऽनन्तरं दन्तकाष्ठस्य हास्यस्य चान्ते योजितः प्रतिमर्शः क्रमात् दन्तदार्ढ्यं मरुतो वायोः प्रशमनं करोतीत्यर्थः । (शिवदास)

हि० व्या० - प्रतिमर्श के प्रयोग का काल – यह नस्य चौदह अवस्थाओं में हितकर होता है—(१) प्रातःकाल शय्या त्यागने पर, (२) दातुन के पश्चात्, (३) घर के बाहर जाने पर, (४) व्यायाम के बाद, (५) मैथुन के बाद, (६) मार्ग चलने से थक जाने पर, (७) मूत्र त्याग के बाद, (८) अपान वायु त्याग के पश्चात्, (९) कवल धारण के बाद, (१०) अंजन लगाने के पश्चात् (११)

भोजन के पश्चात् (१२) छींक के पश्चात्, (१३) दिन में सोकर उठने के बाद, (१४) सायंकाल में !

इस प्रकार काल में सेवित यह प्रतिमर्श उत्तम लाभकारी है। प्रातः सोकर उठने पर सेवन किया गया नस्य रात्रि में स्वाभाविक रूप से एकत्र हुए नासा स्रोतों के जमे, मल को नष्ट करता है। मन में प्रसन्नता लगने वाला है। दन्त धावन के पश्चात् लिया गया नस्य दाँतों को मजबूत करता है। एवं मुख को सुगन्धित करने वाला है। घर से बाहर जाने पर लिया गया नस्य नासा छिद्रों को क्लिन्न करता है इससे धूलि एवं धूम आदि अन्दर प्रवेश नहीं कर पाते, व्यायाम मैथुन तथा मार्ग में चलने पर थकान के पश्चात् लिया गया नस्य थकान दूर करता है, मूत्र तथा अपान वायु त्याग के पश्चात् से प्रतिवितमर्श नस्य दृष्टि की गुरुता को नष्ट करता है। कवल और अंजन के पश्चात् लिया गया नस्य नेत्र निर्मल करता है, शरीर में लघुता की उत्पत्ति करता है। वमन किए हुए व्यक्ति को दिया गया नस्य, आंत्र में चिपके हुए श्लेष्मा को निकालकर भोजन में रुचि उत्पन्न करता है। दिन में सोकर जागने के पश्चात् लिया गया प्रतिमर्श नस्य, शेष निद्रा, गुरुता तथा मल को दूर कर चित्त में एकाग्रता उत्पन्न करता है। सायंकाल में सेवन किया गया प्रतिमर्श सुखपूर्वक निद्रा को उत्पत्ति करता है एवं प्रातःकाल समय से जगाता है।

प्रतिमर्श नस्य फलम्

स्नेहनं शोधनं चैव द्विविधं नावनं मतम्।
प्रतिमर्शस्तु नस्यार्थं करोति न च दोषवान्॥

च० सि० ९।११६

आशुकृच्चिरकारित्वं गुणोत्कर्षापकृष्टता।
मर्शे स प्रतिमर्शे च न विशेषो भवेद्यदिः॥
को मर्शं सपरिहारं सापवं च भजेत्ततः।
अच्छपानविचाराख्यौ कुटीवातातपस्थिती।
अन्वासमात्रावस्ती च तद्वदेव विनिर्दिशेत॥

अ० सं० सू० २०।२९, अ० हृ० सू० २०

आजन्ममरणं शस्तः प्रतिमर्शस्तु बस्तिवत्।
मर्शवच्च गुणान्कुर्यात् स हि नित्योपसेवनात्॥
न चात्र यन्त्रणा नापि व्यापद्भ्यो मर्शवद्भयम्।

अ० सं० सू० २९।, अ० हृ० सू० २०।

अन्ये, सर्वं नस्तः कर्मणामेवैतत् कर्मद्वयमनूद्यते, तत्र च स्नेहनशमनस्य प्रागुक्तस्यावरोधइति वदन्ति। नस्यार्थमिति स्नेहनं शोधनं च। न च दोषवानिति न व्यापत्तिमान्। चक्रपाणिः।

इत्युक्तं सङ्ग्रहे तन्त्रकर्त्रा तदिह कैश्चिदानीतमिति तस्याप्यत्र व्याख्या क्रियते। मर्शप्रतिमर्शयोर्यदि विशेषोऽयं न स्यात् तत्कोऽपूर्वं सपरिहारं सापदं च मर्शमातुरस्य वदेत् न प्रतिमर्शम्। को विशेषोऽनयोरित्याह—आशुकृत्त्वं तथा चिरकारिता गुणानामुत्कर्षापकर्षता यथासंख्येन मर्शप्रतिमर्शयोर्यस्मादस्ति। तत्र मर्शः स्नेहादिकार्यमाशुकरोति। तथा गुणानामुत्कर्षोऽस्यैव प्रतिमर्शः पुनः स्नेहादिकार्यं चिरेण सम्पादयति। तथा गुणानां वास्य न्यूनता। एवं विशेषमाश्रित्य मर्शः सपरिहारोऽपि तथा ह्यापद्युक्तोऽपि निर्दिष्टः। एवं प्रसङ्गेनान्यत्रापुच्यते। अच्छपानः स्नेहो व्यापद्युक्तः। तथा सपरिहारो विचारणाख्यः। पुनः स्नेहो निष्परिहारो निर्व्यापन्नः। न चाप्यपायः पुनरुक्तः। आशु कार्यकरणात् तथा गुणानामुत्कर्षान् तथा कुटीस्थित्या कुटी प्रवेशेन रसायनस्योपसेवा तथा वातातपस्थितिः। वातातप विधानेन रसायनस्य सेवा एवं तयोर्यदि विशेषो न स्यात् को वदेत् कुटीस्थितं सापदं सपरिहारम्। यावता कुटीस्थितेराशुकारित्वं गुणोत्कर्षस्य वातातपस्थितेराशुकारित्वं गुणोत्कर्षस्य वातातपस्थितेश्चिरकारित्वम्। तथा गुणानामपकृष्टता इत्येवं विशेषो अन्वासमात्रावस्ती तेन तुल्यं बहिर्निदिशेत् कथयेत्। येनान्वासनबस्तेर्गुणोत्कर्षोऽस्ति तथाशुकारित्वम्। मात्राबस्तेर्गुणानामपकर्षश्चिरकारिता च। एवमनयोर्विशेषमन्विष्यान्वासनबस्तिः सपरिहारः सापत्कोऽप्युक्तो न मात्रा बस्तिः। एवं भिन्नफलत्वादनयोरिति॥ चंद्रनन्दनः।

आजन्मप्रभृत्यूनवर्षे बाले यावज्जन्मावसानंशस्तो प्रातिमर्शः हितः। बस्तिवत्। यथावस्तिराजन्ममरणं हितः तद्वत्प्रतिमर्शोऽपि। अत्र च प्रतिमर्शाख्ये नस्ये मर्शवन्न यन्त्रणा स्नेहविधानोक्ता आचारसेवा नापि मर्शवत्। प्रतिमर्शदाने व्यापद्भ्यो भयम्। यथा मर्शदानाद्व्यापद्भयो भयं नैव तथा न प्रतिमर्शात्॥ चंद्रनन्दनः।

प्रतिसर्शो नस्यविशेषः क्षतक्षामादिषु प्रयोज्यः। तथाऽकालवर्षेऽकालदुर्दिनेऽपि क्षत उरः क्षत प्रभृतिक्षाम्रो रूक्षान्नप्रायो रिक्तः। काल आषोडशवर्षात्। वृद्धः सप्ततेरुर्ध्वम्। सुखात्मा सुमनाः॥ चंद्रनन्दनः।

हि० व्या०—स्नेहन एवं शोधन दो प्रकार का नस्य बताया जाता है। इनमें प्रतिमर्श नस्य इन दोनों कार्यों को करने वाला है एवं इसके प्रयोग से किसी प्रकार का उपद्रव भी नहीं होता।

मर्श एवं प्रतिमर्श नस्य में कार्य एवं गुण की दृष्टि से भेद बताते हुए लिखा है कि मर्श नस्य शीघ्रकारी तथा अधिक गुण कारी होती है। इसके विपरीत प्रतिमर्श नस्य विलम्ब से गुण करने वाली तथा गुण भी अधिक नहीं करती। यदि इनमें यह भेद नहीं होता तो मर्श का प्रयोग कौन करता जबकि मर्श हेतु अनेक परिहारों का पालन करना पड़ता है एवं थोड़ी सी असावधानी

से व्यापद् हो सकते हैं। स्नेह पान में उदाहरण प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि जैसे स्नेहपान अच्छपान तथा विचारण में तथा रसायन विधि के कुटी प्रावेशिक एवं वातातपिक प्रयोग में, बस्तिकर्म के अनुवासन तथा मात्रा बस्ति के प्रयोग में इन भेदों का कारण समझना चाहिए।

प्रतिमर्शनस्य प्रयोगस्थलानि।

प्रतिमर्शस्तु क्षामक्षततृष्णामुखशोषबृद्धबालभीरू सुकुमारेष्वप्यकालवर्षदुर्दिनेष्वपि च योज्यः। अ० सं० सू० २६।१६

प्रतिमर्शः क्षतक्षामबालवृद्धसुखात्मसु।
प्रयोज्योऽकालवर्षेऽपि।

अ० हृ० सू० २०।३१

क्षीणे तृष्णास्यशोषान्तु बाले वृद्धे च पूज्यते।
प्रतिमर्शन्नि जायन्ते रोगाश्चैवोर्ध्वजत्रुजाः॥
वलीपलितनाशश्च बलमिन्द्रियजं भवेत्।
विभीतं निम्ब गम्भारी शिवाशेलुश्चकाकिनी
एकैक तैल नस्येन पलितं नश्यति ध्रुवम्।

भाव प्र०

क्षीणे तृष्णास्य शोषार्ते बाले वृद्धे च युज्यते।
तेन रोगाः प्रशाम्यंति नराणामूर्ध्वजत्रुजाः
इन्द्रियाणाञ्च वैमल्यं कुर्यादास्यं सुगन्धि च॥
हनुदन्तशिरोग्रीवात्रिकबाहूरसां बलम्।
वलीपलितखालित्यव्यङ्गानां चाप्यसंभवः॥

वङ्गसेन

हि० व्या०—प्रतिमर्श नस्य का प्रयोग क्षीण-क्षत तृष्णा एवं मुखशोष से पीड़ित व्यक्ति को वृद्ध, बाल, भीरु तथा सुकुमार व्यक्ति को अकाल एवं दुर्दिन (मेघाच्छन्न आकाश) में भी करना चाहिए। आचार्य भावमिश्र ने इस नस्य से सभी प्रकार के ऊर्ध्वजत्रुगत विकार दूर होना लिखा है। मुर्रियाँ एवं अकाल पालित रोग दूर होते है तथा स्रोतः शुद्धि होती है। बहेड़ा, निम्ब, गम्भार, हरड़, सिसोड़ा तथा मालकांगणी में से किसी एक तैल का नस्य लेने से पलित रोग नष्ट होता है। आचार्य वंगसेन ने इससे इन्द्रियों की निर्मलता तथा मुख का शोधन होना, हनु, दन्त शिरोरोग ग्रीवा, त्रिक, बाहु और उरः प्रदेश के रोग बली पलित, इन्द्रलुप्त और झाँई इत्यादि रोग दूर होना लिखा है।

प्रतिमर्शनस्य निषेधस्थलानां संकेतः तत्र युक्तिश्च

न तु दुष्टप्रतिश्यायबहुदोषकृमिण शिरोमद्यपीतदुर्बलश्रोत्रेषु। एषां ह्युदीर्णदोषत्वात्तावता दोषोत्क्लेशो भवति॥

अ० सं० सू० २६

.....न त्विष्टो दुष्टपीनसे।
मद्यपीतेऽबलश्रोत्रे कृमिदूषितमूर्धनि॥
उत्कृष्टोत्क्लिष्टदोषे च हीनमात्रतया हि सः॥

अ० हृ० सू० २०-३३

दुष्ट पीनसे तु न प्रयोज्यः। दुष्टपीनसोनासा रोगेषु वक्ष्यमाणः। तथा मद्य पीते तथाऽबलश्रोत्रे रुद्धश्रवणमार्गे तथा कृमिभिर्दूषितो मूर्धायस्य तस्मिन् कृमिपीड़ितशिरसि तथोत्कृष्टो वृद्धि गतस्तथोत्क्लिष्टः प्रचलो दोषो यस्य तस्मिंश्च प्रतिमर्शो न योज्यः। हि यस्मात् हीनमात्रतया हीना मात्रा यस्य स हीनमात्रस्तस्य भावो हीनमात्रता तया यस्मादसौ प्रयुज्यते। एषां चोदीर्णदोषत्वात् तावता दोषोत्क्लेश एव भवति न शमः॥ अरुणदत्तः।

हि० व्या०—दुष्ट प्रतिश्याय में, शिरोगत दोषों की बहुलता, कृमिजन्य शिरोरोग एवं मद्य सेवी को मद्यपान के बाद श्रोत्रेन्द्रिय की दुर्बलता में प्रतिमर्शनस्य नहीं कराना चाहिए। ऐसी स्थिति में दोषों की प्रबलता के कारण, थोड़ी मात्रा भी प्रयोग कराने पर दोषों का उत्क्लेशन होता है।

अवपीडकनस्य प्रयोग योग्य रुग्णानां रोगाणां च वर्णनम्। अवपीडकनस्य द्रव्याणां संकेतश्च।

अवपीडस्तु शिरोविरेचनवदभिषण्णसर्पदष्टविसंज्ञेभ्यो दद्याच्छिरोविरेचनद्रव्याणामन्यदमवपिष्यापीड्य च,

शर्करेक्षुरसक्षीरघृतमांसरसानामन्यतमं क्षीणजां शोणितपित्ते च विदध्यात्।

कृशदुर्बलभीरुणां सुकुमारस्य योषिताम्।
श्रृताः स्नेहाः शिरः शुद्ध्यै कल्कस्तेभ्यो यथा हितः॥

सु० चि० ४०।४४-४५

अभिष्यन्नो मेदः कफाभिव्याप्तशिरः। पिप्पली विडङ्गादिशिरोविरेचनद्रव्याणामेकतमं प्राप्य, पिष्ट्वा कल्कं, चकारादेतेषां क्वाथेनाक्तं पिचुनक्तमवपीड्य शिरोविरेचनवद्यथाक्रमं चतु पञ्चषष्टविन्दुप्रमाणं हीनादिमात्रास्ववपीडं दद्यात्। तस्य च तन्त्रान्तरे विषार्तादीनां संज्ञाप्रबोधनत्वेन रक्तपित्तादीनां स्तम्भनत्वेन द्वैविध्यम्। तथा च विदेहः।

"विषाभिघातसंन्यासमूर्च्छामोहापतन्त्रके।
मदापस्मारकामार्तिचिन्ताक्रोधभयादिषु।
मानसेषु च रोगेषु मूढ व्याकुलचेतसाम्।
संज्ञाप्रबोधहेत्वर्थमवपीडं प्रयोजयेत्।
शिरोविरेचनस्नेहमुष्काद्यं ? तद्विरेचनम्।
क्षौद्रादिकल्कपिण्डं च स्तम्भनं त्ववपीडनम्॥ डल्हणः
गलरोगे सन्निपाते निद्रायां विषमज्वरे।
मनो विकारे कृमिषु युज्यते चावपीडनम्॥ शा० उ० ८, वंगसेन

हि० व्या०—कफ से व्याप्त शिर, सर्प दंश से संज्ञाहीन पुरुष में, शिरोविरेचन द्रव्यों में से किसी एक द्रव्य को पीसकर अवपीड नस्य का प्रयोग करना चाहिए। क्षीण एवं रक्तपित्त के रोगियों को शर्करा, इक्षुरस, दूध, घृत और मांसरस में से किसी एक द्रव्य का प्रयोग कराना चाहिए।

कृश, दुर्बल, भीरु, सुकुमार और स्त्रियों को शिरः शुद्धि के लिए सिद्ध स्नेह और इन द्रव्यों का कल्क हितकर होता है। शार्ङ्गधर संहिता और वंगसेन के अनुसार गले के रोग, त्रिदोष प्रकोप, निद्रा, विषमज्वर, मनोविकार क्रिमि-रोगों में अवपीडन नस्य हितकर होता है।

विरेचनस्य प्रकारविशेषरूप प्रधमन नस्यप्रयोग प्रकारः

षडङ्गुला द्विवक्त्रा वा नाडी चूर्णं तथा भ्रमेत्।
तीक्ष्णं कोल मितं वक्त्र वातैः प्रधमनं हि तत्॥ शार्ङ्गधर, वंगसेन
ध्मानं विरेचनश्चूर्णो युंज्यात्तं मुखवायुना।
षडंगुलद्विमुखया नाड्या भेषजगर्भया।
स हि भूरितरं दोषं चूर्णत्वादपकर्षति॥
अ० हृ० सू० अ० २० चक्रदत्तः

चूर्णो मरीचादिभिः कृतो विरेचदो बहिर्दोषनिरसनो ध्मानं प्रध्मानाख्यं नस्यं स्यात्। कथं नासया प्रणीयमानः। युंज्यातं चूर्णं मुखवायुना फूत्कारा-ख्येन प्रवेशयेत्। कथम्। नाड्या कारणभूतया। किं भूतया। षडंगुलानि यस्याः सा षडंगुला द्वे मुखे यस्याः सा द्विमुखा। षडंगुला चाऽसौ द्विमुखा च षडंगुल द्विमुखा तया। तथा भेषजगर्भया त्रिकट्वादिचूर्णभरितया। स हि चूर्णो भूरितरं बहुतरं दोष चूर्णत्वादपकर्षति निर्हरति। यथा कल्कक्वाथादयः। ततस्तस्माद्विरेचनाख्योऽयमित्यर्थः। अरुणदत्तः।

हि० व्या० - प्रधमन नस्य—शिरो विरेचन करने वाले द्रव्यों का चूर्ण बनाकर कपड़छान कर लिया जाता है। उसे एक विशेष प्रकार की पोली छः अंगुल की नलिका में औषध भरकर नासापुट में नलिका प्रविष्ट कर दूसरे शिरे से मुख द्वारा फूंक मारकर प्रवेश कराया जाता है। चूर्ण के कारण ही यह दोषों को निकालता है।

प्रधमन नस्य प्रयोग योग्य रोगाणां वर्णनम्

चेतोविकारकृमिविषाभिपन्नानां चूर्णं प्रधमेत्।
सु० चि० अ० ४०।-

प्रधमनप्रयोगविषयावधारणं —चेतोविकारकृमिविषाभिपन्नानामित्यादि। अत्राह विदेहः,—

"नाडी षडङ्गुलायामा द्विमुखी च तया धमेत्।
त्रिश्चूर्णं मुच्चुटीमात्रमेष प्रधमने विधिः॥
शुक्तिप्रमाणं जिघ्रेद्वा बद्धं सूक्ष्मेण वाससा" इति॥

तर्जन्यङ्गुष्ठाग्रमात्रग्राह्यं चूर्णं मुच्चुटीमात्रम्। गयी तु प्रतिमर्शानन्तरमवपीडप्रधमने प्राह॥ डल्हण

हि० व्या०—मानसिक रोग, कृमि रोग, विषविकार में प्रधमन नस्य का प्रयोग करना चाहिए।

मरिचादि नस्यम्

रोहितमत्स्य पित्तेन भावितं सैन्धवं वचा।
मरिचं पिप्पली शुण्ठी कंकोलं लशुनं परम्।
कट्फलं चेति तच्चूर्णं देयं प्रधमनं बुधैः॥
शा० उ० ८।२२-२३

हि० व्या०—सैंधव नमक, वच, काली मिर्च, पीपर, सोंठ, कंकोल, लहसुन, शुद्ध गुग्गुलु तथा कायफल समभाग लेकर, सभी का यवकूट चूर्ण करके रोहू मछली के पित्त की भावना देकर सूखने पर फिर चूर्ण करके रख लेना चाहिए। यह प्रधमन नस्य का उत्तम योग है।

गुडादि प्रधमन नस्यम्

नस्यं स्याद् गुडशुण्ठीभ्यां पिप्पल्याः सैन्धवेन वा
जलपिष्टेन तेनाक्षि कर्णनासाशिरोगदाः।
मन्याहनुगलोद्भूता नश्यन्ति भुजपृष्ठजाः॥
शा० उ० अ० ८, वंगसेन

हि० व्या०—उपर्युक्त सूत्र में दो नस्य योगों की कल्पना की गई है। (१) गुड़ और शुण्ठी (सोंठ) को जल में पीसकर, (२) पिप्पली और सैन्धव लवण को जल में पीसकर नस्य ग्रहण करने से नेत्र, कान, नासा एवं शिरः प्रदेश के समस्त रोग दूर होते हैं साथ ही मन्या नाड़ी, हनु, गल, भुजा तथा पृष्ठगत सभी रोग दूर होते हैं।

विरेचन नस्यम्

अथ विरेचनं नस्यं ग्राह्यं तैलैः सुतीक्ष्णकैः।
तीक्ष्णभेषजसिद्धैर्वा स्नेहैः क्वाथैः रसैस्तथा॥
शा० उ० ८, भावप्र०

हि० व्या०—विरेचन नस्य का प्रयोग किसी तीक्ष्ण औषध से निर्मित तैल द्वारा किया जाता है। अथवा तीक्ष्ण औषधियों के क्वाथ एवं स्वरस से भी प्रयोग कराया जा सकता है।

विरेचनस्य मात्रामाह

नासिकारन्ध्रयोरष्टौ षट् चत्वारश्च बिन्दवः।
प्रत्येकं रेचने योज्या मुख्यमध्यान्त्यमात्रया॥
शा० सं० उ० अ० ६, भावप्रकाशः

नासिकारन्ध्रयोरिति । द्वयोरपि नासापुटयोर्नस्यं योजनीयम् । अष्टावित्यादि । मुख्यमध्यान्त्यमात्रया इति । अष्टौबिन्दवः मुखमात्रा । रेचनस्य षट्बिन्दवः मध्यमा । चत्वारः अन्त्या मात्रा हीनमात्रा इति । उक्तं च—चत्वारो बिन्दवः षट् वा तथाष्टौ वा यथाबलम् । शिरोविरेचने योज्या ऊर्ध्वजत्रुविकारिणां इति । बिन्दु लक्षणं वाग्भटे-प्रदेशिन्यंगुलीपर्वद्वयान्मग्नसमुद्धृतात् यावत्पतत्यसौ बिन्दुर्दशाष्टौ षट् क्रमेण ते । मर्शस्योत्कृष्टमध्योना मात्रास्ता एव च क्रमात् । बिन्दुद्वयोनाः कल्कादेः' इति । आढमल्लः ।

हि० व्या०—विरेचन नस्य की मात्रा आठ बूंद, छः बूंद और चार बूंद की क्रमशः उत्तम, मध्यम और हीन मात्रा है । प्रत्येक नासारन्ध्र में रोगी और रोग का विचार कर मात्रा निर्धारण करना चाहिए ।

नस्यौषध प्रमाणम्

नस्य कर्मणि वातघ्यं शाणैकं तीक्ष्णमौषधम् ।
हिंगु स्याद्यवमात्रन्तु मार्षकं सैन्धवं मतम् ॥
क्षीरं चैवाष्टशाणं स्यात्पानीयश्च त्रिकार्षिकम् ।
कार्षिकं मधुरद्रव्यं नस्यकर्मणि योजयेत् ॥

हि० व्या०—नस्य कर्म हेतु मरिच आदि तीक्ष्ण द्रव्य एक शाण (चार आना भर), हींग एक जो के बराबर, सैंधव लवण एक माशा, दूध दो तो०, जल तीन तोला और मधुर द्रव्य एक तोल मिलाकर खरल कर द्रवरूप नस्य तैयार करना चाहिए ।

विरेचन नस्य प्रयोगस्थलानां निर्देशः

स्तम्भसुप्तिगुरुत्वाद्याः श्लैष्मिकाये शिरोगदाः ।
शिरोविरेचन तेषुनस्तः कर्म प्रशास्यन्ते ।
च० सि० ९।९३

विरेचनं शिरः शूलजाड्यस्यंद गलामये ।
शोफगंडकृमिग्रंथिकुष्ठाऽपस्मारपीनसे ॥
अ० हृ० सू० २०।४

ऊर्ध्वजत्रुगते रोगे कफजे स्वरसंक्षये ।
अरोचके प्रतिश्याये शिरः शूले च पीनसे ॥
शोफाऽपस्मारकुष्ठेषु नस्यं वैरेचनं हितम् ।
शा० उ० ८।, भावप्र०, वंगसेन

शिरोऽभिघाते त्वरुचौ स्वरभङ्गे गलग्रहे ।
कासे नासामयेऽप्यां नस्यं देयं विरेचनम् ॥

शिरः शूलादिषु विरेचनं नस्यमिष्यते । अपस्मारौ यद्यप्यूर्ध्वजत्रुस्थितौ न भवति तथाऽपि विरेचननस्येन शाम्यतीति तदुपादानम् । उपलक्षणं चेदम् । कफप्रकोपास्यवैरस्यगंधाज्ञानादिष्वपि विरेचनमेव हितम् । अरुणदत्तः ।

हि० व्या०—शिर में स्तम्भ (जकड़ाहट) शून्यता, भारीपन आदि उपद्रव (कफजन्यविकार) में विरेचन नस्य का प्रयोग करना चाहिए ।

आचार्य वाग्भट के अनुसार शिरः शूल, अभिष्यन्द, गलरोग, शोथ, स्वरभेद, मुखशोथ, गलगण्ड, कृमि जन्य रोगों में, ग्रन्थि, कुष्ठ, अपस्मार, पीनस में विरेचन नस्य का प्रयोग कराया जाता है । आचार्य शार्ङ्गधर में इनके अतिरिक्त अरुचि, प्रतिश्याय में भी विरेचन नस्य के उपयोग का निर्देश करते हैं । भावप्रकाश वङ्गसेन और चक्रदत्त में वाग्भट के पाठ का अनुसरण किया गया है ।

विरेचननस्य योग्यानां भषजानां संकेतः

यथास्वं यौगिकैः स्नेहैर्यथास्वं च प्रसाधितैः ।
कल्कक्वाथादिभिश्चाद्यं मधुपट्वासवैरपि ॥
अ० हृ० सू० २०।

ये ये स्नेहा यथास्वं तैः । किंभूतैः । यौगिकैर्योगार्हैः । सर्षपतैलादिभिर्न तु घृतादिभिः । तथा यथास्वं मरीचशुण्ठ्यादिभिः प्रसाधितैः संस्कृतैः । तथा कल्कक्वाथस्वरसादिभिश्च यथास्वं कफघ्नैर्गिरिकर्णिकादिजैराद्यं विरेचनाख्यं नस्यं भवति । न केवलमेतैर्यावन्माक्षिकादिभिश्च । पटुः सैंधवादिः । आसवो मद्यविशेषः । अरुणदत्तः ।

हि० व्या०—रोग के अनुसार उपयुक्त रोग नाशक द्रव्यों से बनाई हुई (स्नेहों से सिद्ध की गई) अथवा तीक्ष्ण द्रव्यों के क्वाथ या स्वरस से अथवा मधु, लवण एवं आसव से विरेचन नस्य दिया जाता है ।

आद्यं विरेचनस्यं प्रथमनिर्दिष्टत्वाद्यथास्वं यथात्मीयं यौगिकैर्योगार्हैस्तीक्ष्णैः सर्षपतैलप्रभृतिभिस्तथा यथायथं प्रसाधितैः शिरोविरेचनद्रव्यैस्तथा कल्कक्वाथादिभिः शिरोविरेचनद्रव्याणां सम्बन्धिभिः । चंद्रनन्दनः ।

विरेचनस्य द्रव्याण्याह – यथास्वमिति । यथास्वं यो यस्योचितः स्नेहस्तेन यथास्वं यद्यस्योचितमौषधं तेन साधितैः स्नेहैः कल्कैः क्वाथैश्चूर्णादिभिश्च आद्यं विरेचनं, पटु सैंधवादि । संग्रहे तु तत्र भीरुस्त्रीकृशसुकुमारेषु स्नेहः गलरोगसंनिपातज्वरातिनिद्रामनोविकारकृमिशिरोरोगाक्षिस्पन्दनतिमिरव्हृच्छ्रविषाभियन्नाभिष्यन्दसर्पदष्टविसंज्ञेषु शेषाः तेष्वेव च भूयसि दोषे शीघ्रकारिणि च चूर्णः । स हि नासायामावेगकरतरो भवतीति । हेमाद्रिः ।

तन्द्रा नाशक नस्य योगः

सैन्धवं श्वेतमरिचं सर्षपाः कुष्ठमेव च ।
वस्तमूत्रेण संपिष्टं नस्यं तन्द्रानिवारणम् ॥ भावप्र०

हि० व्या०—सैंधव नमक, श्वेत मरिच, सरसों तथा कूठ को बकरे के मूत्र में पीसकर नस्य तैयार करना चाहिए । यह तन्द्रा नाशक नस्य है ।

शिरो विरेचन भेदाः

अवपीड प्रधमनौ द्वौ भेदावपरौ स्मृतौ।
शिरोविरेचनस्यात्र तौ तु देयं यथाययम् ॥

शा० उ०८।११, वंगसेन

हि० व्या०—विरेचन नस्य के दो भेद बताये गए हैं। अवपीडन और प्रधमन। यथावसर दोनों का प्रयोग करना चाहिए।

अवपीडप्रधमनयोः स्वरूपम्

कल्कीकृतादोषधाद्यः पीडितो निःसृतो रसः।
सोऽवपीडः समुद्दिष्टस्तीक्ष्ण द्रव्यसमुद्भवः ॥

शा० सं६ उ० ८। वंगसेन

हि० व्या०—जिसमें तीक्ष्ण पदार्थ मिला हो इस प्रकार के औषध योग का कल्क बनाकर उसे निचोड़कर जो स्वरस निकाला जाता है उसे अवपीड नस्य कहते हैं। चक्रदत्त में अवपीड नस्य के भी दो भेद माने गए है। शोधन और स्तम्भन।

शोधनः स्तम्भनश्च स्यादवपीडो द्विधा मतः। चक्रदत्तः।

शमन नस्य प्रयोगस्थलानि

रक्तपित्तादिरोगेषु शमनं नस्यमिष्यते। च० सि० ६।६५
शमनमकालवलीपलितखलतिदारुणकराकराजीव्यंगनीलिकारक्तपित्तादिषु।
अ० सं० सू० २६।७
शमनं नीलिकाव्यंगकेशदोषाक्षिराजिषु ॥

हि० व्या०—शमन नस्य का प्रयोग-रक्तपित्त आदि रोगों में शमन हेतु करना चाहिए।

आचार्य वाग्भट के अनुसार असमय में वलीपलित, खल्वाट तथा दारुणक आदि केशजनित रोग, शिर की त्वचा पर रक्तराजी. नीलिका, व्यंग तथा रक्तपित्त जनित रोगों में शमन नस्य का प्रयोग करना चाहिए।

शमननस्य भेषज निर्देशः

शमनं योजयेत्पूर्वैः क्षीरेण च जलेन च।

सु० सू० अ० २०।८

यथास्वमुपदिष्टैः स्नेहैर्भेषजस्वरसादिभिः क्षीरोदकाभ्यां वा समदोषे वाऽणुतैलेनेति। अ० सं० सू० २६।७

हि० व्या०— पूर्वोक्त रोगों की चिकित्सा में वर्णित स्नेहों से शमनकारी औषधियों के स्वरस तथा दूध एवं शीतल जल से तथा दोषों की शमावस्था में अणुतैल से देनी चाहिए।

शिरस्तर्पण नस्य प्रयोगस्थलानि।

ये च वातात्मका रोगाः शिरः कम्पार्दितादयः।
शिरसस्तर्पणं तेषु नस्तः कर्म प्रशस्यते ॥

च० सि० अ० ६।६४

हि० व्या०- शिरस्तर्पण नस्य का प्रयोग शिरो काय, अर्दित, आदि वातज रोगों में शिर के तर्पणार्थ किया जाता है।

बृंहणनस्य प्रयोगयोग्या रोगाः

बृंहणं सूर्यावर्तार्द्धविभेदक कृमिशिरोरोगाक्षिसंकोचस्पन्दनतिमिर कृच्छ्रावबोधदन्तकर्णशूलनादनासामुखशोषवाक्संगस्वरोपघातमन्यास्तम्भापतानकावबाहुक निद्रानाशादिष्वनिलोत्थेषु। अ० सं० सू० २६।६

बृंहणं वातजे शूले सूर्यावर्ते स्वरक्षये।
नासाऽस्यशोषे वाक्संगे कृच्छ्रावबोधबाहुके ॥ अ० हृ० सू० २०।५
भीरुस्त्रीकृशबालानां नस्यं स्नेहेन शस्यते। शा० उ० ८ भावप्र०
बृंहणं वातरुक् प्राये.....। का० सि० अ० २।
शिरोनासाक्षिरोगेषु सूर्यावर्तार्धभेदके।
दन्तरोगे बले हीने मन्या बाह्वंसजे गदे ॥
मुखशोषे कर्णनादे वातपित्त गदे तथा।
अकालपलिते चैव केशश्मश्रुपातने ॥

शा० सं० उ० ८। भाव० प्र०

हि०—बृंहण नस्य का प्रयोग सूर्यावर्त, अर्द्धावभेदक' कृमिज शिरो रोग, नेत्र संकोच, नेत्र फड़कना, तिमिर रोग, दन्त शूल, कर्ण शूल, दन्त शब्द, कर्णनाद, नासा व मुख रोग, वाक्संग, स्वर का अवरोध, मन्यास्तम्भ, अपतानक एवं अपतन्त्रक, अवबाहुक नामक वात रोगों तथा निद्रा नाश में किया जाता है।

बृंहणनस्य द्रव्याणि

स्निग्धमधुर द्रव्यैरद्रव्यैस्तत्सिद्धैर्यथायथं चोपदिष्टैः स्नेहैर्निर्यासैर्धान्यमांस रसरक्तैश्च बृंहणं धन्वमांसोत्थरसासृक् रवपुरैरपि।

अ० सं० सू० २६।६
अ० हृ० सू० २०।८
बृहणं विविधैः स्नेहैर्मधुरौषध संस्कृतैः। का० सं० सि० २।
स्नेहैर्वा मधुरद्रवैः। शा० उ० ८। भाव० प्र०

हि०—घृत, तैल, इक्षुरस तथा मधुर वर्ग की औषधियों से सिद्ध स्नेह द्वारा, स्निग्ध तथा मधुर द्रव्यों के स्वरस, गौड, धान्य, मांसरस एवं रक्त का बृंहण नस्य में उपयोग किया जाता है।

कर्शननस्योदाहरणानि

रूक्षैर्वा कटुसिद्धैर्वा स्नेहैः कर्शनमुच्यते ॥ का० सं० सि० अ० २।

हि०—रूक्ष एवं कटु औषधियों से सिद्ध स्नेहों द्वारा कर्शन नस्य दिया जाता है।

आवश्यकतानुसारं पुनः पुनः नस्य प्रयोग विधानम्

आभेषजक्षयादेवं द्विस्त्रिर्वा नस्यमाचरेत्।

अ० हृ० सू० २०।२१

एवमनेन क्रमेणाऽऽभेषजक्षयाद् द्विस्त्रिर्वा नस्यं कुर्यात्। ननु नस्यमात्रा सकृदेव प्रक्षेप्तव्याहीनमात्रं चौषधं न देयं तद्धि दोषानुत्क्लेश्यानिर्हरद्गौरवारुचिकासप्रसेकपीनसच्छर्दिकण्ठरोगान् कुर्यात्। अधिकमतियोगाद्दोषान् कुर्यात्। सकृदेव सर्वं दत्तमुच्छिद्यमानं शिरोरोगप्रतिश्यायघ्राणक्लेदानुच्छ्वासोपरोधं च कुर्यात्। अत्युष्णं दाहरागज्वररक्तांगमूर्च्छा श्रमान्। अतिशीतं हीनदोषानेव। अत्युन्नतशिरसोऽभ्यक्ष्रतिपद्यमानं तामेव हीनदोषान्। अत्यवनतशिरसो दूरगमनान्मूर्च्छाजाड्यज्वरान्। संकुचितगात्रस्य सम्यग्धमनीरप्राप्नुवद्दोषोत्क्लेशं कुर्यात् ॥ अरुणदत्तः।

हि० व्या०—मर्शनस्य की औषधियों को एक ही बार नासा पुटों में नहीं डालना चाहिए। थोड़ी-थोड़ी मात्रा में दो या तीन बार डालना चाहिए।

नस्यकर्मणि पथ्यम्

यवान्नं शालयो मुद्गधात्रीदाडिमसैन्धवम्।
हितं नस्यविधौ भोज्यं तदा ह्यार्तस्य विभ्रमे।

का० सं० सि० अ० ४

हि० व्या०—नस्य प्रयोग काल में रोगी को विभ्रम हो जाने पर यवान्न, शालि चावल, मूंग हरड़ अनारदाना तथा सैन्धव का सेवन कराना चाहिए।

नस्यकर्मणिव्यापत्तिकारणानां वर्णनम्

तत्र हीनातिमात्रातिशीतोष्ण सहसाप्रदानादतिप्रविलम्बित शिरस उच्छिङ्घतो विचलतोऽभ्यवहरतो वा प्रतिषिद्ध प्रदानाच्च व्यापदो भवन्ति तृष्णोद्गारादयो दोषनिमित्ताः क्षयजाश्च। सु० चि० ४०।४८

दोषनिमित्ता इति दोषोत्क्लेशनिमित्ताः, क्षयजाश्चेति दोषक्षयजाः। डल्हणः।

हि० व्या०—नस्य का प्रयोग हीन मात्रा में अति मात्रा में, अत्यन्त शीतल, अधिक उष्ण अथवा शीघ्र प्रयोग करने से, शिर को अधिक नीचा करके, छींकने से, हिलने से, भोजन के समय तथा निषिद्ध अवस्थाओं में नस्य प्रयोग से दोषोत्क्लेश और दोषक्षयजन्य, तृष्णा, उद्गार आदि उपद्रवों की उत्पत्ति हो जाती है।

नस्यकर्मणः जायमानानां व्यापदां चिकित्सा

नस्ये शिरोविरेके च व्यापदो द्विविधाः स्मृताः।
दोषोत्क्लेशात् क्षयाच्चैव विज्ञेयास्ता यथाक्रमम् ॥
दोषोत्क्लेशनिमित्तास्तु जयेच्छमनशोधनैः।
अथ क्षय निमित्तासु यथास्वं बृंहणं हितम्।

सु० चि० ४०।४९-५०

यथाक्रममिति स्नैहिक नस्ये दोषोत्क्लेशजाः, शिरोविरेचने क्षयजा व्यापद भवन्तीति। दोषोत्क्लेशनिमित्ता इत्यादि। शमनशोधनैरिति तत्राल्पे शमनं, प्रभूते शोधनम्। डल्हणः।

हि० व्या०—दोषोत्क्लेशजन्य उपद्रवों का उपचार शमन एवं शोधन के द्वारा तथा क्षयज विकारों में दोषानुकूल बृंहण विधि से उपचार करना चाहिए।

नस्य प्रयोगोपद्रव चिकित्सा

कफप्रसेके त्रिफलाचूर्णं ससैन्धवं सक्षौद्रं वा लिह्यात्। चक्षुषोरुक्तं सैन्धवमरीचरसांजनमनःशिला वाऽजाक्षीरपिष्टा वर्त्यः कण्डूतिमिरोपदेहदूषिकाशमन्यो भवन्ति। रसक्रिया वा स ·····शिरोविरेचनधूमपानावपीडवमनविरेचन निरूहपथ्यभोजनानि शस्यन्ते। देवदारुतालीसमांसीमुस्तशिग्रु गन्धर्ववासकपुनर्नवाकल्कैः सक्षौद्रैस्तैलं तक्रमभीक्ष्णमुपचार्यमाणमस्य योऽतिनस्या ····· र्य तृष्णालोः शीततो वेपमानस्य तीक्ष्णं शिरो विरेचनमनिलशङ्खहनुस्तम्भ दिवाकरावर्तातिमोहानुपजनयति ज्वरं वा सोपद्रवं; तेषु कुमारतैलं पुनर्नवातैलं घृतं वा तद्वत्संस्कृतं वा ·····त्रकं प्रशस्यते, जाङ्गलश्च संस्कृतो रसः। निद्रानाशेमत्स्यमांसदधियवगोधूमशालिषष्टिकान्नगुडसंस्कृतानि स्नेहलवणोपदंशयुक्तान्यानयन्ति निद्राम्। रजस्वलायाः स्नाताया गर्भिण्याश्च पुष्पाध्याययू (षाध्याय) ·····येभ्योऽध्यायेभ्यो भेषजं विद्धयात्। क्षीरं वा जीवनीयोपसिद्धमिति परिषत्॥

(का० सं० सि० अ० ४)

हि० व्या०—कफ की प्रसेकावस्था में त्रिफला चूर्ण में नमक या मधु मिलाकर देना चाहिए। अक्षि रोगों में सैन्धव, मरिच, रसौत तथा मनः शिला को बकरी के दूध में पीसकर निर्मित वर्ति का प्रयोग, अक्षि कण्डु, तिमिर, उपदेह आदि दोषों के शमन हेतु करें। इन्हीं द्रव्यों की रस क्रिया का भी प्रयोग किया जाता है।·····इसके बाद शिरोविरेचन, धूम्रपान, अवपीड़न नस्य, वमन गिरेचन निरूह बस्ति तथा पथ्य भोजन का प्रयोग उत्तम होता है। अति योग से उत्पन्न उपद्रवों में देवदारु, तालीशपत्र, जटामांसी, नागरमोथा सहिजन, एरण्ड वासा, पुनर्नवा तथा मधु के साथ तैल को सिद्ध करके उसका निरन्तर सेवन करना चाहिए। प्यासे तथा ठंढ से कम्प वाले व्यक्ति को

तीक्ष्ण शिरो विरेचन का प्रयोग करने से शंख तथा हनु प्रदेश में स्तम्भ सूर्यावर्त, अति मोह तथा उपद्रव युक्त-ज्वर हो जाता हैं। इस अवस्था में सुकुमार तैल, मधुयष्टि तैल पुनर्नवा तैल तथा इन्हीं औषधियों से सिद्ध घृत एवं संस्कारित जांगल मांस रस भी उपयुक्त बतांया गया है। निद्रानाश में संस्कार युक्त एवं स्नेह, लवण त्रिकटु तथा उपदंश (आचार मसाले आदि) से युक्त मच्छली, मांस, दही, जौ, गेहूं शालि, षष्टिक अन्न एवं गुड़ आदि के प्रयोग से निद्रा उत्पन्न हो जाती है। रजस्वला स्नान द्वारा शुद्ध हुई तथा गर्भिणी स्त्री की पूर्व में पुष्याध्याय, यूषाध्याय में कही गई औषधियों से उपचार करें अथवा जीवनीय गण की औषधियों से सिद्ध दूध का सेवन करना चाहिए।

नस्यप्रयोगजन्योपद्रव चिकित्सा

तेषु यथास्वमापतनं दोषोद्रेकं चापेक्ष्य स्नेहस्वेदशिरोवक्त्रलेपसेकतीक्ष्णावपीडधूमगण्डूषादीनाचरेत्। विशेषेण तु गर्भिणी रूक्षे नस्य कर्मणि वर्षाभूकाकोलीकपिकच्छुभिः शृतं पयः पिबेत्। बलाविदार्यंशुमतीमेदाभिर्वा। एभिरेव च शृतं हविः। वातहरसिद्धश्च स्नेह शिरोवस्तौ कर्णपूरणे च योज्यः। एवं च बृंहणमन्नपानम्। भुक्तभक्तादिष्वपि चात्ययिक व्याध्यातुरमपेक्षेत।

अ० सं० सू० २९।

मूर्च्छायां शीततोयेन सिंचेत्परिहरन् शिरः।

अ० हृ० सू० २०।

हि० व्या०—नस्य प्रयोग जन्य उपद्रवों में उक्त कारण तथा दोषों के वृद्धि एवं प्रसार का विचार कर आवश्यकतानुसार स्नेहाभ्यंग, स्वेदन, शिर एवं मुखमण्डल पर लेप एवं जल का सेंक करना (सेचन) चाहिए। स्नेहन नस्य के विकार में तीक्ष्ण अवपीड नस्य देना चाहिए। धूमपान एवं गण्डूष की व्यवस्था करनी चाहिए। विशेषतया यदि गर्भवती स्त्री को रूक्ष विरेचन नस्य दिया गया हो तो पुनर्नवा, काकोली एवं केवाच के बीजों से सिद्ध दूध पीना चाहिए अथवा बला, विदारीकंद, शालपर्णी से सिद्ध दूध पीना चाहिए। इन्हीं द्रव्यों से सिद्ध दूध का प्रयोग भी विहित है। वातनाशक द्रव्यों के संयोग से सिद्ध स्नेह का प्रयोग तथा कर्ण पूरण करना चाहिए। बृंहण अन्न पान का सेवन करना चाहिए। और कोई आत्ययिक उपद्रव हो तो अवस्थानुसार उपचार करना चाहिए।

अष्टाङ्ग हृदय के अनुसार यदि मूर्च्छा उत्पन्न हो जाए तो शिर को छोड़ कर समस्त शरीर पर शीतल जल का सिंचन कराना चाहिए।

मधूकसारादिनस्यम्

मधूकसारकृष्णाभ्यां वचामरिचसैन्धवैः।
नस्यं कोष्णजले पिष्टं दद्यात्संज्ञाप्रबोधनम्।
अपस्मारे तथोन्मादे संनिपातेऽपतन्त्रके।

शा० सं० उ० ८।२०, भा० प्र०, वङ्गसेन

मधूकसारकृष्णाभ्यामेको योगः। मधूकोवृक्षविशेषः, तस्य सारं, मध्यस्थितकाष्ठविशेषं। वचामरिचसैन्धवैः कृत्वा परः सकलद्रव्यकृतो वा एक एव योगो व्यवहारात् शेषं सुगमम्॥ आढमल्लः।

हि० व्या०—गुड़ तथा शुण्ठी को अथवा पिप्पली व सैन्धव को जल में पीसकर नस्य प्रयोज कराने पर कर्ण, नेत्र, नासा तथा शिर के रोग तथा मन्या, हनु, गल, भुजा तथा पीठ के रोग नष्ट हो जाते हैं। महुए का सार, पीपल, बालवच, मरिच तथा सैन्धव को उष्ण जल में पीसकर नस्य प्रयोग से अपस्मार, उन्माद, सन्निपात व अपतन्त्रक में मूर्च्छित रोगी की मूर्च्छा को दूर करने के लिए किया जाता है।

कुंकुमनस्यम्

सशर्करं पयः पिष्टं भृष्टमाज्येन कुंकुमम्।
नस्य प्रयोगतो हन्याद्वातरक्तभवारुजः॥
भ्रूशङ्खाक्षिशिरः कर्ण सूर्यावर्तार्धभेदकान्।

शा० उ० से।३२-३३ भाव प्र०

हि० व्या०—केशर को घी में भूनकर और सम भाग शक्कर मिलाकर एक तोला दूध में पीसकर बृंहण नस्य प्रयोग करने से सिर के वातरक्त जन्य रोग, भौं, शंख, नेत्र सिर तथा कान के रोग सूर्यावर्त एवं अर्धविभेदक रोग दूर होते हैं।

अन्यबृंहणनस्यमाह

नस्यं स्यादणुतैलेन तथा नारायणेन वा।
माषादिना वा सर्पिर्भिस्तत्तभेषजसाधितैः।

शा० उ० ८।३४, भावप्र०

अथाऽपराणि बृंहणनस्यादीन्याह—अणुतैलेनेति। अणुतैलेति। अणुतैलेन नस्यं वातरक्तभवा रूजो हन्यादित्यत्र संबन्धः। गवां शकृत् क्वाथविपक्वमुत्तमं हितं च तैलं तिमिरेषु नस्यतः। घृतं तथा केवलमेव पैत्तिके तथाणुतैलं पयनासृगुच्छयो'रिति। अणुतैलं तु वातव्याधिचित्सोक्तमन्यत्र ज्ञातव्यं। केषांचित् ज्ञापनार्थं यथा तिलपीडनोपकरणकाष्ठान्याहृत्यानल्पकालतैलपरिपीतान्यणूनि काण्डशः परिकल्प्यातिकुट्य महाकटाहे पानीयेनाक्ष्याव्य क्वाथयेत्। ततः स्नेहमस्तुदृषत्सरकपाण्योरन्यतरेणादाय वातघनौषधप्रतीवापं स्नेहपाककल्पेन विपचेत्। एतदणुतेलमुपदिशन्ति वातरोगेष्विति। नारायण तैलेनेति शेषः। माषादिनेति। अत्राऽपि तैलेन सम्बन्धः। नारायणतैलं माषतैलं च वातव्याधिचिकित्सोक्तं ज्ञातव्यं तत्तद्भेषजसाधितैः सर्पिर्भिरिति। यानि यानि द्रव्याणि वातरक्तहृन्नाभिचक्षुः शिरः कर्णरोगाणां विहितानि तैस्तैर्द्रव्यैरेव साधितानि सर्पींषि तत्र तत्र योज्यानित्यभिप्रायः। आढ़मल्ल।

हि० व्या०—अणुतैल, नारायण तैल, माषादि तैल तथा मधुर एवं बृंहण द्रव्यों से सिद्ध किए हुए घृतों से स्नेहन नस्य देना चाहिए।

माषादिनस्यम्

माषाऽस्मगुप्तारास्नाभिर्बलारुबुकरोहिषैः ।
कृतोऽश्वगन्धया क्वाथो हिंगुसैन्धवसंयुतः ॥
कोष्णो नस्यप्रयोगेण पक्षाघातं सकम्पनम् ।
जयेदर्दितवातं च मन्यास्तम्भापबाहुकौ ॥

अथापरमपि योगमाह—आत्मगुप्ता कपिकच्छूः रास्ना सुरभी बला सामशब्दवाच्यारूबूक एरण्डः । रोहिषो गन्धतृणः अश्वगन्धया सह मिलित्वा क्वाथः हिंगुसैधवयोः प्रक्षेपः । तद्व्यवहारतो हिंगु रक्तिकाद्वयं सैंधवं मार्षकं प्रक्षेपः । जयेदर्दितवातं चेति चकारग्रहणात् कर्णनादरुजायां प्रशस्त इति प्रसिद्धिः । यदुक्तं —माषबलाणुकशिम्बीकृष्णरास्नोरूबूकाश्वगन्धानां । क्वाथो नस्यनिपीतो रामठलवणान्वितो कोष्णः । अपहरति पक्षाघातं मन्यास्तम्भं सकर्णरुजम् । दुर्जयमर्दितवातं सप्ताहाज्जयति चावश्य'मिति । इति मर्शविधिः ।

आढ्यमल्लः ।

अथ पक्षवातादितादौ नस्यम् - माषोऽन्नविशेषः, आत्मगुप्ता कपिकच्छूः, बला प्रसिद्धा, रूबुकः एरण्डः, रोहिषः, कत्तृणः, अश्वगन्धा हयगन्धा कोष्णः क्वाथः सकम्पनं कम्पवातं हन्यात् ॥ काशीरामः

हि० व्या०—उड़द, कौंच, रास्ना, खरैंटी रोहिष तृण, अश्वगन्धा सभी को समान भाग लेकर यथोक्त विधि से क्वाथ बनाकर छान लें । इस क्वाथ में से एक कर्ष लेकर एक मासा सैंधव नमक एवं भुनी हुई हींग जौ के प्रमाण में मिलाकर गुनगुना ही नस्य लेवें । यह नस्य, पक्षाघात, कम्परोग आदि वात रोग मन्या स्तम्भ तथा अवबाहुक को नष्ट करता है ।

अथ पलिते नस्यम्

बिभीतनिम्बगम्भारी शिवा शेलुश्च काकिनी ॥
एकैकतैलनस्येन पलितं नश्यति ध्रुवम् । शा० उ० ८।४६

बिभीतं बिभीतकमज्जानं निम्बं निम्बबीजं गम्भारी प्रसिद्धा, तस्या बीजं, शिवा हरीतकी मज्जा, शेलुः शाखोटकमज्जा. काकिनी किकईबीजं एषां एकैकतैलनस्येन पलितं नश्यति । आढमल्लः ।

हि० व्या०—विभीतक मज्जा, नीम (के बीज) गम्भारी एवं हरीतकी, शाखोट, रक्त गुंजा इनमें से किसी एक से तैल प्राप्त करके नस्य लेने से बाल काले हो जाते हैं ।

अणुतैल प्रयोगः

अणुतैल विधानं तु मञ्जिष्ठामधुक प्रपौण्डरीक जीवकर्षभककाकोलीद्वय-प्रयस्यासारिवाऽनन्तानीलोत्पलाञ्जनरास्नाविडंगतण्डुलमधुपर्णीश्रावणीमेदाकाकनासा सरलसालभद्रदारुचन्दनैः सुपिष्टैरष्टगुणं षड्गुणेन पयसा तैलं पचेत् । घृतं वा पित्तोल्वणेषु दोषेषु । अ० सं० सू० २९।९

हि० व्या०—मजीठ, मुलेठी, पुण्डरिया, जीवक, ऋषभक, कालोली, क्षीरकाकोली, पयस्या (क्षीरविदारी), सारिवा, अनन्तमूल, नीलकमल, अञ्जन (काला सुरमा), वायविडंग, गिलोय, गोरखमुण्डी, मेदा, काकनासा, सरल (गन्धविरोजा), राल, तारपीन का तैल तथा श्वेतचन्दन का बुरादा । सभी द्रव्य समान भाग लेकर कल्क तैयार कर, कल्क एक भाग, गोदुग्ध छः भाग, तिलतैल आठ भाग मिलाकर तैल सिद्ध करना चाहिए । सिद्ध हो जाने पर छान कर नस्य में प्रयोग करना चाहिए । इस प्रयोग से तैल और घृत दोनों तैयार किया जा सकता है ।

अणुतैल नस्य प्रयोग विशेष गुणाः

घनोन्नतप्रसन्नत्वक्स्कंधग्रीवाऽऽस्यवक्षसः ।
वृद्धेन्द्रियास्त्वपलिता भवेयुर्नस्यशीलिनः ॥

अ० हृ० सू० २०।४१

हि० व्या०—अणुतैल का नस्य प्रयोग करने से त्वचा, स्कन्ध, ग्रीवा, मुखमण्डल, वक्ष आदि अंग पुष्ट तथा सुन्दर हो जाते हैं । इन्द्रियां दृढ़ हो जाती हैं । केश काले हो जाते हैं ।

वृहद् अणुतैल प्रयोगान्तरम्

चन्दनागुरुपत्रदार्वीत्वङ्मधुक बलाद्वयबिल्वोपल पद्मकेशर प्रपौण्डरीक विडंगोशीर ह्रीबेर वन्यत्वङ्मुस्तसारिवा बृहती द्वयांशुमती द्वय जीवन्ती देवदारूसुरभिशतावरीः—शतगुणे दिव्येऽम्भसि दशभागावशिष्टं क्वाथयेत् ततस्तस्य क्वाथस्य दशमांशेन समांशं तैलं साधयेत् । दशमे चात्र पाके तैलतुल्यमाजमपिपयो दद्यात् । एतदप्यणुतैलं पूर्वस्मादविशेषेणेन्द्रिय दार्ढ्यकरं केश्यं त्वच्यं कण्ड्यं प्रीणनं बृंहणं दोषत्रयघ्नं च ।

च० सू० अ० ५, अ० सं० सू० अ०।२९

अणु तैल योग साधन वर्णनम्

जीवंतीजलदेवदारुजलदत्वक्सेव्यगोपीहिमं
दार्वीत्वङ्मधुकल्पजागुरुवरापुंड्रद्रुबिल्वोत्पलम् ।
धावन्यौ सुरभिः स्थिरे कृमिहरं पत्रं त्रुटिरेणुकम् ।
किंजल्कं कमलाह्वयं शतगुणं दिव्येऽभसि क्वाथयेत् ।
तैलाद्रसं दशगुणं परिशेष्य तेन
तैलं पचेच्च सलिलेन दशेववारान् ।
पाके क्षिपेच्च दशमे सममानदुग्धं
नस्यं महागुणमुशंत्यणुतैलमेतत् ॥

अ० हृ० सू० अ० २०।४७

जीवंतीत्यादि । जीवन्त्यादीनि द्रव्याणि दिव्ये जले क्वाथयेत् । गोपी सारिवा । प्लवं गोपालदमनाख्यम् । पुंड्राह्वं पौण्डरीकम् । धावन्यौ कंटकारिका-महोटिकाख्ये । सुरभिः सल्लकी । स्थिरे शालिपर्णीपृश्निपर्ण्यौ । कृमिहरं विडङ्गम् । अत्र तैलसमानि द्रव्याणि ग्राह्याणीति वैद्यव्यवहारः । आकाशादेः पटादिभिर्गृहीतं जलं दिव्यमुच्यते । तत्तैलाच्छतगुणं गृहीत्वा तावत्क्वाथयेत् । तेन क्वाथेन च तैलं दशवारान्पचेत् । दशमे च पाके तैलसममजाक्षीरं क्षिपेत् । ततः पुनः पचेत् । इति तत्तैलं महागुणमणुतैलम् । अणूनिंद्रियस्रोतांसि प्रविशतीत्यर्थः । अरुणदत्तः ।

अणुतैलं निर्दिदिक्षुमह—जलदं मुस्ता, सेव्यमुशीरं, गोपी सारिवा, हिमं चन्दनम् । दार्वीत्वक् दारुहरिद्रात्वक् । मधुकं मधुयष्टी । पलवं परिपेलवम् । वरा शतावरी । पुण्ड्राह्वं पुण्डरीकम् । उत्पलं नीलोत्पलम् । धावन्यौ द्वे कण्टकारी बृहती च । सुरभिः गन्धसुरा । स्थिरे द्वे शालिपर्णी, पृश्निपर्णी च । कृमिहरं विडङ्गम् । पत्रं गन्धपत्रम् । त्रुटिः सूक्ष्मैला । हरेणुरेणुका किञ्जल्कं कमलात्तत्केशरम् । एतानि द्रव्याणि शतगुणं परिशेष्यानन्तरं तेनसलिलेन क्वाथेन तैलतो दशगुणेनावशिष्टेन तैलं पचेत् । दशवारान् । दशपर्यायान् । न्यूनाधिकान् । तत एवकारोऽवधारणार्थः कृतः । तैलपाकनिवृत्तिस्तथा कर्तव्या यथा तेन क्वाथेन दशपाकं तत्तैलं सम्पद्यते । क्वाथः सलिलपाकैर्दशभिः पृथक् पृथक् तलं विपचेदिति । यावद्दशमे पाके सममाजदुग्धं क्षिपेत्तेन समं तुल्य भागः । जीवन्तीत्यादीनां द्रव्याणां समभागानां पलानि द्वात्रिंशत् । पानीय-पलानां द्वात्रिंशच्छतानां क्वाथानवशिष्टपलानां त्रीणिशतानि त्रिंशत्यधिकानि । तस्य क्वाथस्य दशमांशेन द्वात्रिंशत्पलपरिमाणेन तिलतैलस्य द्वात्रिंशत्पलानि साधयेत् । दशमे जातपाके तैलतुल्यं द्वात्रिंशत्पलानि अजाक्षीरस्य दद्यात् । एतच्च नस्यं तैलं महागुणं भूरिबलांवहं मुनय उशन्ति कथयन्ति । अणूनां स्रोतसां शिरोभागानामन्त, प्रवेशसामर्थ्यात् । एतत्तैलमणुतैलं सिद्धार्थं नाम ।

चंद्रनन्दनः ।

वृहत् अणुतैल—

हि० व्या०—श्वेतचन्दन, अगर, तेजपत्र, दरुहल्दी की छाल, मुलेठी, बला, अतिबला, बेलगिरी, उत्पल, कमलकेसर, पुण्डरिया, वायविडंग, खस, नेत्रवाला, केवटी मोथा, दालचीनी, नागरमोथा, सरिवा, कण्टकारी, वनभण्टा, शालपर्णी, पृष्णिपर्णी, जीवन्ती, देवदारु, रासना तथा शतावर । सभी द्रव्य समान भाग लेकर सौ गुने वर्षा जल में पकाना चाहिए । दशमांश शेष रहने पर छान लें, तत्पश्चात् क्वाथ से दशमांश तिलतैल, दशमांश क्वाथ में डालकर पाक करना चाहिए । सिद्ध होने पर पुनः दशमांश क्वाथ मिलाकर पाक करना चाहिए । इस प्रकार दसवें पाक में तैल के समान भाग बकरी का दूध मिलाकर पाक करना चाहिए । सिद्ध होने पर छानकर नस्य कर्म में प्रयोग करना चाहिए ।

यह अणु तैल का दूसरा योग है । इसके उपयोग से इन्द्रियों में दृढ़ता आती है । केश, त्वचा तथा कण्ठ के लिए हितकारक है । प्रीणन (क्षति पूर्ति कारक), पुष्टिदायक तथा त्रिदोष नाशक है । अष्टाङ्ग हृदयकार ने इसी योग को पद्यबद्ध लिखा है ।

जीवकादिनस्ययोगः—

जीवकर्षभको द्राक्षा पिप्पल्यो मधुकं बला ।
प्रपौण्डरीकं मेदा च शर्करानीलमुत्पलम् ॥
निदिग्धिका चांशुमती नीलिका सैन्धवं वचा ।
रास्ना श्वदंष्ट्रा मञ्जिष्ठा बृहतीं सपुनर्नवा ॥
एभिः पलसमैः सिद्धं तैलं वा यदि वा घृतम् ।
चतुर्गुणेन पयसा नस्यं तत्परमुच्यते ॥
नस्यतः स्नेहपानेन कृष्णरोमा दृढेन्द्रियः ।
अवलीपलितव्यङ्गः चक्षुस्मान्जायते नरः ॥
कर्णाक्षिनासावक्त्राणां स्नेहेनावृत्य तर्पणम् ।

भे० सि० अ० २।

हि० व्या०—जीवक, ऋषभक, मुनक्का, पिप्पली, मुलेठी, बला, कमल, मेदा, शर्करा, नीलकमल, निदिग्धिका, अंशुमती, मलकांगनी), नील, सैंधव नमक, वच, रास्ना, गोखरू, मंजीठ, बड़ी कटेरी, पुनर्नवा प्रत्येक द्रव्य ४-४ तो. या समभाग लेकर, चतुर्गुण दूध से सिद्ध किया गया तैल या घृत का (स्नेह) पान करने या नस्य में उपयोग करने से सिर के बाल काले होते हैं, बाल का झड़ना, पकना रुक जाता है । नेत्र की ज्योति बढ़ती है । तथा कान, नासा, आँख, मुख इन रोगों का तर्पण होता है । मुखमण्डल की झाईं रोग भी दूर हो जाता है ।

नस्य कर्मणि कटु तैल प्रयोगः

नस्य कर्मणि बालानां स्तनपानां विशेषतः ।
कटुतैलं प्रयुञ्जीत घृतं वा सैन्धवान्वितम् ॥
बिन्दूं बिन्दुमथो द्वौ द्वौ त्रींस्त्रीन् वा रोगदर्शनात् ।
अङ्गुल्या नासयोर्दद्यादपिद्ध्यात् क्षणं ततः ॥
तेनास्य पच्यते श्लेष्मा श्लेष्मणा न च बाध्यते ।

(का० सं० सि० अ० ४)

हि० व्या०—नस्यकर्म में विशेष रूप से दूध पीने वाले बालकों को कटु तैल अथवा सैंधवयुक्त घृत का प्रयोग करना चाहिए । जब तक रोग के लक्षण दिखाई दे तब तक अंगुलियों के द्वारा २ या ३ बूंद स्नेह देना (टपकाना) चाहिए । कुछ क्षण नासिका को बन्द रखें इससे श्लेष्मा का पाक हो जाता है ।

द्वादशोऽध्यायः

रक्तमोक्षण प्रकरणम्

आत्रेय मतावलम्बियो ने तीन दोषों की ही गणना की है। उन्हीं के संशोधनार्थ पंच कर्मों का भी उल्लेल किया है। धन्वन्तरि सम्प्रदाय में महर्षियों ने रक्त को भी परोक्ष रूप में स्वीकार करते हुए इसके संशोधन हेतु रक्त मोक्षण का उल्लेख किया है जिसे परवर्ती संग्रहकारों ने भी स्वीकार करते हुए अनुसरण किया है। दूसरे रूप में रक्तज रोगों की चिकित्सा में भी रक्तमोक्षण को स्वीकार किया गया है। इसे चरक ने भी स्वीकार किया है किन्तु पंचकर्म में ग्रहण नहीं किया गया है।

रक्तविस्रावणस्य महत्वं प्रयोजनश्च

१. शाखा दुष्टे तु रुधिरे रक्तमेवादितो हरेत्।

च० चि० अ० १२।६८

२. वेदनोपशमार्थाय तथापाकशमाय च[1]
अचिरोत्पतते शोथे शोणित स्रावणं चरेत्॥

३. एकतस्तु क्रिया सर्वा रक्तमोक्षणमेकतः

भावप्रकाश म० अ० ३ (व्रणशोथाधिकार)

हि० व्या०—धात्वन्तर्गत दूषित रक्त में सर्वप्रथम रक्तावसेचन कराना चाहिए। वेदना एवं पाक के शमन हेतु तथा जहाँ शोथ की अचिरोत्पत्ति हो वहाँ रक्त विस्रावण कराना चाहिए। इसी प्रकार रक्तज रोगों के लिए एक तरफ समस्त चिकित्सा प्रक्रिया द्वारा जो लाभ होता है वही रक्त मोक्षण से प्राप्त किया जा सकता है।

शोणितरोगचिकित्सा सूत्रम्

कुर्याच्छोणितरोगेषु रक्तपित्तहरीं क्रियाम्।
विरेकमुपवासं च स्रावणं शोणितस्य च॥

च० सू० अ० २४।१८

शोणित रोग चिकित्सामाह-कुर्यादित्यादि। रक्तपित्तहरक्रियावयो यथायोग्यतया बोद्धव्याः॥

१. चरेत्-हरेत्

हि० व्या०—रक्त विकृति से होने वाले रोगों में विकृति के अनुसार रक्त पित्तहर उपायों को प्रयोग में लाना चाहिए यथा विरेचन, उपवास एवं रक्त विस्रावण चिकित्सा करनी चाहिए।

दुष्टरक्तलक्षणम्

रक्ते दुष्टे वेदना स्यात्पाको दाहश्च जायते।
रक्तमण्डलता कण्डूः शोथश्च पिटिकोद्गमः॥

शा० उ० १२।५

रक्त के दूषित होने से पीड़ा, दाह, पाक, लाल चकते, खुजली, शोथ तथा फोड़े फुन्सी आदि सर्व शरीर या किसी अङ्ग विशेष में रक्त के दूषित होने के स्थान तथा प्रमाणानुसार उत्पन्न होते हैं।

रक्तवृद्धिलक्षणम्

वृद्धे रक्ताङ्गमेत्रत्वं शिराणां पूरणं तथा।
गात्राणां गौरवं निद्रा मदो दाहश्च जायते॥

शा० उ० २।६

यदि शरीर में रक्त अपने साधारण प्रमाण से अधिक बढ़ जाए तो शरीर एवं नेत्र लाल हो जाते हैं, शिराये विशेष भरी हुई होती हैं, अङ्ग भारी मालूम होते हैं नींद अधिक आती है, मद का नशा सा बना रहता हैं तथा शरीर में जलन होती है।

क्षीणरक्तलक्षणम्

क्षीणेऽम्लमधुराकाङ्क्षा मूर्च्छा च त्वचि रूक्षता।
शैथिल्यं च शिराणां स्याद्वातादुन्मार्गगामिता॥

शा० उ० २।७

शरीर में रक्त की क्षीणता होने से खट्टे तथा मीठे पदार्थों के खाने की इच्छा होती है, मूर्च्छा आती है, त्वचा रूखी हो जाती है, शिरायें शिथिल पड़ जाती हैं तथा धातुक्षय जनित वात से उन्मार्ग गामिता आदि लक्षण होते हैं।

दोषादि दुष्ट रक्त लक्षणम्

वात दुष्ट लक्षणम्

अरूणाभं भवेद्वाताद्विशदं फेनिलं तनु।

च० सू० अ० २४।२०

.....तत्रफेनिलमरूणं कृष्णं परूषं तनु शीघ्रगमस्कन्दि च वातेन दुष्टं।

सु० सू० अ० ४।२१

तत्र फेनिलमित्यादि। फेनिलं फेन सहितम्। अरुणम् ईषद्रक्तम् तदेव पक्वाभिमुखं कृष्णम्। परूषं अपिच्छिलं, रूक्षमित्यन्ये तनु अच्छम्। शीघ्रगम् आशु प्रसृति। अस्कन्दि चेति स्थानत्व रहितम्। डल्हणः।

वातदुष्ट रक्त लक्षणम्

तत्र फेनिलमरुणं श्यामच्छंरूक्षगमस्कन्दिकषायानुरतं लोहगन्धि वेगस्रावि शीतं च रक्तं वातात् ।

अ० सं० सू० अ० ३६।१२

वातच्छयावारुणं रूक्षर्वगस्राव्यच्छफेनिलम् ।

अ० हृ० सू० अ० २७।५१

वाताच्छयावारुणादियुक्ते सम्भवति । श्यावं श्याववर्णम् अरुणं लोहितवर्णम् रूक्षमस्निग्धम् विस्राविवेगेन निर्याति । अच्छं तनु फेनिलम् ॥ चंद्रनन्दनः ।

सकृष्णं फेनिलं श्यामं रक्तं तद्वातदोषजम् ।

हा० सं० चतुर्थ स्थान अ० ५।

अरुणं फेनिलं रूक्षं परुषं तनु शीघ्रगम् ।
अस्कन्दि सूचिनिस्तोद रक्त स्याद्वातदूषितम् ॥

भाव प्र० शा० सं०

पित्तदुष्टरक्तलक्षणम्

पित्तात् पीतासितं रक्तं स्यायत्यौष्ण्याच्चिरेण च ॥

च० सू० अ० २४।२० ख

स्यायति घनं भवति । (चक्रपाणिः)

नीलं पीतं हरितं श्यावं विस्रमनिष्टं पिपीलिकामक्षिकाणामस्कन्दि च पित्तेन दुष्टं ।

सु० सू० १४।२१

नीलमित्यादि । नीलं हरितं श्यावं सामपित्तदुष्टं, पीतं निरामपित्तदुष्टं श्यावं हरितकृष्णम् । विस्रम् आमगन्धि । अनिष्टं पिपीलिकादीनाममननुसरणादवगन्तव्यम् । अस्कन्दि चेति स्थानत्वरहितम् । डल्हणः ।

गृहधूमाजिनोदककृष्णं पीतं हरितं वित मत्स्यगन्धि कटुत्वान्मक्षिकानिष्टमौष्ण्यादस्कन्दिसचन्द्रकं गोमूत्राभं च पित्तात् ॥ अष्टांग संग्रहः सू० अ० ३६।१८

पित्तात्पीतासितं विस्रमस्कंधौष्ण्यात्सचंद्रकम् ।

अ० हृ० सू० २७।५२

पित्तात् पीतासितमसृक् पीतं कृष्णं वा । विस्रं विगन्धम् । उष्णोदकमस्कन्दि न स्यान्तां याति । सचन्द्रिकं मयूरपिच्छवर्णम् । चन्द्रनन्दनः ।

औष्ण्याद स्कंदि घनीभाव रहितम् (हेमाद्रिः)
पित्तेन पीतं हरितं नीलं श्यावं च विस्रकम् ।
अस्वादूष्णं मक्षिकाणां पिपीलीनामनिष्टकम् ॥

शा० सं०, भावप्रकाश

कफदुष्टरक्त लक्षणम्

ईषत्पाण्डु कफाद्दुष्टं पिच्छिलं तन्तुमद्घनम् ।

च० सू० अ० २४।२१ क

गौरिकोदक प्रतीकाशं स्निग्धं शीतलं बहलं पिच्छिलं चिरस्रावि मांस पेशीप्रभं च श्लेष्म दुष्टम् । सु० सु० १४।२१

गौरिकेत्यादि गैरिकोदकप्रतीकाशं पाण्डुलोहितम् । बहलंघनम् । मासपेशीप्रभं स्त्यानत्वात् । डल्हणः ।

कोविदारपुष्पगैरिकोदकापाण्डु शीतं स्निग्धं स्कन्दि घनं पिच्छिलं तन्तुमद् व्रणद्वारावसादि लवणरसं वसागन्धि च कफात् ।

अ० सं० सू० ३६।१८

कफात् स्निग्धमसृकपाण्डु तंतुमत्पिच्छिलं घनम् ।

अ० हृ० सू० २७।५३

कफादसृक् स्निग्ध, पाण्डुवर्णा, तन्तुमत् तन्तुयुक्तम् । पिच्छिलं विशदविपरीतम् । घनं सांद्रम् ॥ चंद्रनन्दन ।

शीतलं बहलं स्निग्धं गैरिकोदकसन्निभम् ।
मांसपेशीप्रभं स्कन्दि मन्थगं कफदूषितम् ॥

भा० पू० पू० खं० द्वि० भा० शोणितस्रावण, शार्ङ्गधर

द्विदोषत्रिदोषदुष्टरक्तलक्षणसंकेतः

द्विदोषलिंगं संसर्गात्त्रिलिंगं सान्निपातिकम् ।

च० सू० अ० २४।२१ ख

विशुद्धरक्तलिंगं नानावर्णता नानावातादिप्रकृतित्वान्मनुष्याणाम् ॥
द्विदोषलिंग संसृष्टम् ।

सु० सू० १४।११

द्विदोषलिंगमित्यादि संसृष्टं दोशद्वययुक्तमित्यर्थः । डल्हणः :

द्वन्द्वसंकीर्ण संसर्गात् ।

अष्टांग संग्रहः सू० ३६।१८

संसृष्टं लिंगं संसर्गात् ।

अ० हृ० सू० २७।५४

संसर्गाछोषाणां संसृष्टलिंगं रक्तं स्यात् ॥ अरुणदत्तः

कपादसृक् स्निग्धं, पाण्डु वर्णं, तन्तुमत् तन्तुयुक्तस् । पिच्छिलं विशद्विपरीतम् । घनं सांद्रम् । चंद्रनन्दन:

प्रायो रक्तदूषक पित्तकफयोः संकेतः ।

तत्पित्तश्लेष्मलैः प्रायो दूष्यते ।

अ० हृ० सू० २७।३

तच्च रक्त बाहुल्येन पित्तश्लेष्मलैर्दुष्यते । पित्तलैः क्षारोष्णतीक्ष्णादिभिः । श्लेष्मलैर्माषतिलादिभिः । तथा पुराकृताद्वादपि । शरत्कालस्वभावात्कदाचिद्वातलैर्दूष्यत इति प्रायोग्रहणम् । अरुणदत्तः

तल्लोहितं रक्तं प्रायोभूयताश्लेष्मलैराहार विहारौषधैर्दूष्यते दुष्टतां नीयते । प्रायो ग्रहणात् कदाचिद्वातलैरपि दूष्यते पित्तश्लेश्मलेरिति । चंद्रनन्दनः ।

त्रिदोष दूषित रक्त लक्षणम्

सर्वलक्षण संयुक्तं काजिकाभं विशेषतो दुर्गन्धि च सन्निपात दुष्टं ।

सु० सू० १४।२१

सर्वेत्यादि । सर्वलक्षणयुक्तं वातादिलक्षणयुक्तम् । अत्र केचित "पित्तवद्रक्तेनातिकृष्णं" इमि पठन्ति न तु निबन्धकाराः ॥ डल्हणः ।

कंसनीलाविलं दुर्गन्धं च सन्निपातात् ।

अष्टांग संग्रहः सू० ३६।१८

त्रिदोषं मलिनाविलम् ।

अ० हृ० सू० २७।

त्रिदोषं रक्तं मलिनं कलुषं तथाऽऽविलं घनं च । एतच्च दोषत्रयसंसर्गलक्षणादधिकं लक्षणं मंतव्यम् ।

अरुणदत्तः

त्रिदोषदुष्टरक्तस्य लक्षणमाहत्रिदोषमिति । मलिनं नीलम् । आविलं कलुषम् । संग्रहे तु कषाय रसं लोहगन्धि शीतं च रक्तं च वातात् । गृहधूमांजनोदककृष्णं हरितं मत्स्य गंधिकटुत्वान्मक्षिकानिष्ठं गोमूत्राभं च पित्तात् । कोविदारपुष्पगैरिकोदकपाण्डुशीतं स्कंदि व्रणद्वारावसादि लवणरसं वसागंधि च कफात् । कांस्यनीलं दुर्गंधि च सन्निपातादिति । हेमाद्रिः

सर्वलक्षणसंपन्नं विज्ञेयं तत्त्रिदोषजम् ।

हा० सं० च० स्थाने अ० ५।

त्रिदोषदुष्टं संसृष्टं त्रिदुष्टं पूतिगन्धकम् ।
सर्वलक्षणसंयुक्तं कांजिकाभं च जायते ॥

भा० प्र०, शारंगधर

हि० व्या० —दोष क्रम में वात से दूषित रक्त ईषत् रक्तवर्ण, झागयुक्त, विशद् तथा पतला होता है । (चरक)

सुश्रुत में अरुणकृष्ण वर्ण तथा परूष, शीघ्र जमने वाला, विशेष लक्षण बताये हैं । अष्टाङ्ग संग्रह में कषाय रस वाला, तपाकर जल में बुझाये गए लोह के समान गन्ध वाला तथा अपेक्षाकृत शीत आदि लक्षण अधिक बताये हैं ।

भावप्रकाश में भी उपर्युक्त लक्षणों का वर्णन करते हुए सुई चुभने के समान पीड़ा करने वाला पृथक् लक्षण बताया है ।

दोषानुसार—पित्त से दुष्ठ रक्त कुछ पाण्डुर वर्ण, काला और उष्णता के कारण स्राव होने पर देर से जमने वाला होता है । (चरक)

सुश्रुत लिखते हैं कि वर्ण में नील, पीत, हरित, कृष्ण, आमरस गन्धी चींटियों एवं मक्खियों के लिए अप्रिय तथा नहीं जमने वाला होता है ।

अ० सं० में विस्रगंधि के स्थान पर मत्स्यगंधी लिखा है । रस में कटु, गोमूत्र की आभा वाला, गृहधूम एवं अञ्जन के जल के समान कृष्ण वर्ण तथा

मोर पंख के समान चमकीली धारियों वाला बताया गया है । अष्टाङ्ग हृदय में भी समान पाठ आया है । भावप्रकाश में इन्हीं भावों को व्यक्त किया है ।

कफ से दूषित रक्त ईषद् पाण्डुवर्ण, पिच्छिल, तंतुमय तथा गाढ़ा होता है ।

(चरक)

सुश्रुत ने गैरिक के जल के समान वर्ण वाला स्निग्ध, शीतल, मंदगति से बहने वाला तथा मांसपेशी के समान दिखाई देने वाला आदि विशेष लक्षण बताये हैं । अष्टांग संग्रह में कचनार के पुष्प सदृश वर्ण वाला, शीघ्र जमने वाला अर्थात व्रण के मुख पर ही जमने वाला, लवण रस युक्त तथा वसा गंधि विशेष लक्षण बताये हैं । अष्टांग हृदय में भी सामान्य लक्षण वर्णित हैं एवं भावप्रकाश में चरक सुश्रुत के मिश्रित लक्षण ही दिए हैं ।

द्विदोषजरक्तलक्षण

दो दोषों से युक्त लक्षण दोनों दोषों के पृथक् लक्षणों के समान मानना चाहिए । सभी ग्रंथों में यही विवरण प्राप्त होता है ।

त्रिदोषजदुष्ट रक्त लक्षण

तीनों दोषों के संयुक्त लक्षण मिलने पर त्रिदोषज दुष्ट रक्त जानना चाहिए । सुश्रुत ने कांजी के समान एवं अधिक दुर्गन्धयुक्त रक्त को सन्निपातिक कहा है । अष्टांग सं० में कंसनील, तीनों दोषों से युक्त लक्षण बताये हैं । हृदय में मलिन एवं अस्वच्छ बताया है ।

रक्त दुष्ट लक्षण

पित्तवद्रक्ते नाति कृष्णं च सु० सू० अ० १४।२१

हि० व्या० —कभी-कभी रक्त के द्वारा भी रक्त दूषित हो जाता है । इसके लक्षण भी पित्तदुष्ट के समान होते हैं किन्तु अधिक कृष्ण वर्ण का होता है ।

विषदुष्ट रक्त लक्षणम्

विषदुष्टं भवेच्छ्यावं, नासिकोन्मार्गगं तथा ।
विस्रं काञ्जिकसंकाशं, सर्वकुष्ठकरं तथा ॥
इन्द्रगोपप्रभं ज्ञेयं, प्रकृतिस्थमसंहतम् ।
शोथे दाहेऽङ्गपाके च, रक्तवर्णेऽसृजः स्रुतौ ॥

हि० व्या०—विष से दूषित रक्त कृष्ण वर्ण हो जाता है यह नाक से बहने लगता है, दुर्गन्धयुक्त होता है, कभी-कभी कांजी के सदृश भी हो जाता है । यह कुष्ठ को उत्पन्न करने वाले कारणों में भी एक है ।

शुद्ध रक्त के लक्षण

शुद्ध रक्त के लक्षण जानने भी आवश्यक हैं जिनका वर्णन यथा स्थान शारीर क्रिया खण्ड में किया गया है । तथापि यहाँ सुखस्मरणार्थ वर्णन किया जा रहा है ।

चिरभटी (घुंघची) के समान वर्ण वाला, रक्त कमल के समान अथवा वीर बहूटी के वर्ण के समान उज्ज्वल, गांठ रहित अर्थात तरल होता है। कुछ ग्रन्थकारों ने शशक के रक्त के समान भी बताया है। इन्हीं लक्षणों के आधार पर दुष्ट रक्त की परीक्षा की जाती है।

शस्त्र विस्रावणोपकरणानि प्रकारश्च

शस्त्र विस्रावणस्य द्वैविध्यम्

शस्त्रविस्रावणं द्विविधं-प्रच्छानं, सिराव्यधनं च ॥

सु० सू० ४।२५

तत्रेत्यादि। तत्रेतिबुद्धया समाकृष्टतया शस्त्रानुशस्त्रविस्रावयोर्मध्ये इत्यर्थः। शस्त्रविस्रावणमिति पारिशेष्यादधिकृतं वेदितव्यम्, शस्त्रानुशस्त्र विस्रावणं हि प्रागुपदिष्टं जलौकाध्याये। हाराणच०।

अनुशस्त्रवर्णनम् तत्प्रयोजनं च

जलौकः क्षारवहनकाचोपलनखादयः।
अलौकान्यनुशस्त्राणि तान्येव च विकल्पयेत्
अपराण्यपि यंत्रादीन्युपयोगं च यौगिकम् ॥

अ० हृ० सू० २६।२६

जलौकः प्रभृतीन्यनुशस्त्राणि रक्तस्रावादि कार्यकरणात्। तानि चाऽलौहानि लोहवर्जितानि। आदिशब्देनायस्कातशाकशेफालिकापत्रादीनां ग्रहणम्। एवंचोक्तेन न्यायेनाऽन्यान्यपि यंत्रादीनि विकल्पयेत्। आदिशब्देन शस्त्राणां ग्रहणम्। उपयोगं च यौगिकं साधुतरं बुद्धया निरूपयेत्। अरूणदत्तः

(पदार्थचन्द्रिका, आयुर्वेदरसायनटीकायामपि समानभावः)

रक्तावसेचनं चतुर्भिः प्रकारैर्भवति

शिराविरेचनेनापि अलाबुभिस्तथैव च।
श्लक्ष्णशृंगजलौकाभी रक्तंच स्रावयेद्बुधः ॥

हा० सं० चतुर्थस्थाने अ० ५।

गोशृंगेन जलौकाभिरलाबुभिरपि त्रिधा।
वातपित्त कफैर्दुष्टं शोणितं स्रावयेत् बुधः ॥

योग० रत्ना०, शा० सं०, भा० प्र०

दोषध्वेषु प्रोक्षणैर्वा, जलौकालाबुकादिभिः।
अथवापि शिरोमोक्षैः, कारयेद्रक्तपातनम् ॥ भा० प्र०

रक्तावसेचनस्य शस्त्रानुशस्त्राणि

रक्तमोक्षण में उपयोगी यथास्थान एवं आवस्थानुसार प्रयोग किए जाने वाले विविध शस्त्र एवं अनुशस्त्रों का उल्लेख आया है। इनका वर्गीकरण निम्नांकित प्रकार से किया गया है।

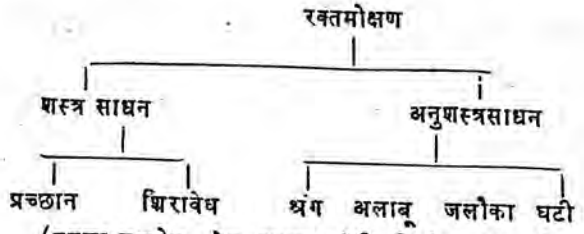

(इनका उपयोग, दोष, स्थान एवं स्थिति के अनुसार किया जाता है।)

शृङ्गप्रयोग द्वारा कफदूषितरक्तस्राव निषेधे युक्तिः

कफेन दुष्टं रूधिरं न शृंगेण विनिर्हरेत्।
स्कन्नत्वाद् ॥ अ० हृ० सू० २६।

कफेन दुष्टं रक्तं सत् शृंगेनाकर्षेत्। स्कन्नत्वात्स्त्यानत्वाद्धेतोः। शृंगस्य चाऽग्निसंयोगाभावेन कफविलयने सामर्थ्याभावात्। अरूणदत्तः।

स्कन्नत्वात्-स्त्यानीभूतत्वात् चंद्रनन्दन

वातपित्तदूषितरक्त स्रावणाय शृंगप्रयोग विधानम्।

वातपित्ताभ्यां दुष्टं शृंगेण निर्हरेत्।

दोषानुसारेण रक्तविस्रावण साधनानि

भिषग्वातान्वितं रक्तं विषाणेन विनिर्हरेत्।
पित्तान्वितं जलौकोभिः कफान्वितमलाबुभिः।
यथासन्नं विकारस्य व्यध्येदाशु वा सिराम्।
त्वङमांसस्नायुसंक्लेदो रक्तक्लेदाद्धि जायते ॥

च० सि० अ० २।१।६८।१०

वातान्वितमित्यादि। रक्तावसेकविधानं चेह पराधिकारत्वान्नोक्तं, तच्च सुश्रुते ज्ञेयम्। यथासन्नमिति या विकारप्रत्यासन्ना सिरा तां व्यधयेत्। सिराव्यधश्च सर्वसाधारणः। रक्तानपहरणे दोषमाह—त्वङ्मांसेत्यादि। चक्रपाणिः।

तत्र वातपित्तकफदुष्ट शोणितं यथासंख्यं शृंगजलौकालाबुभिरवसेचयेत्, सर्वाणि सर्वैर्वा (विशेषस्तु विस्राव्यं शृंगजलौकालाबुभिर्गृह्णीयात्) ॥

सु० सू० १३।४

दोषविशेषेणापि जलौकसां तत्प्रसंगेनागतस्य शृंगस्यालाब्वाश्च विषयं दर्शयितुमाह—तत्र वातेत्यादि। अस्याग्रे केचित् "स्निग्धशीतरूक्षत्वात्" इति हेतुमुदाहरन्ति अमुं श्लोकं निबन्धकारा न पठन्ति। पक्षान्तरं दर्शयन्नाह—सर्वाणीत्यादि। सर्वाणिवातपित्तकफदुष्टानि शोणितानि, सर्वैरिति शृंगादिभिर्यथालाभम्। ननु यथासंख्यमित्यभिधाय सर्वाणि सर्वैरित्युक्तमनियतं वचनं स्यादित्यभिप्रायेणाह,—विशेषतस्तु विस्राव्यं शृंगजलौकालाबुभिर्गृह्णीयादिति अतिशयेन विस्रावणार्हयद् भवति शोणितमतिप्रवणलत तच्छृङ्गादिभि-

गृहणीयान्निर्हरेदित्यर्थः । विशेषतस्त्विवत्यादि पाठस्तु कैश्चिदेव निबन्धकारैः कथंचिदेव व्याख्यातः, बहुभिस्तु जेज्जटादिभिः परिहृत एव । डल्हणः ।

नन्वेषां किं वातादिदुष्टिभेदात्त्रिविधमेव शोणितमनेनावसेचयेदित्याह तत्रेत्यादि । तत्रेति सप्तम्यन्तेन तदा नृपादीनां प्रत्यवमर्शः क्रियते न च तेनार्थो भिद्यते "यद्यस्मिन् तत्रस्यैव" इति न्यायात् । सर्व्वाणि सर्व्वेवेति । विधिरयमनासादितयथोक्तपाणविषय इति गम्यते अनन्तरं तत्र तत्र शृंगादिभिरित्यर्थः ।

हाराण० च०

विशेषतश्च विस्राव्यमिति पूर्वेण संबध्यते । तेन वातादिदुष्टे शृंगादिविधानं मुख्यम् । उक्तं हि चरके "भिषग्वातान्वितं रक्तं शिराणेनाशु निर्हरेत् । पित्तान्वितं जलौकोभिरलाबूभिः कफान्वितम्" (च० चि० अ० २१) इति । विशेषतो योग्यतायामित्यर्थः । सर्वाणि सर्व्वेवेति वातादिदुष्टे शृंगादि नियमं निषेधयति, उक्ताप्राप्तावयोग्यतायां यत् प्राप्यते यद्वा योग्यं भवति तेनैव हर्तव्यमित्यर्थः ।

चक्रपाणिः (भानु)

दोषानुसारेण रक्तावसेचनोपायः तत्र योग्यतायां युक्तिश्च

भवन्तिचात्र श्लोकाः—

उष्णं समधुरंस्निग्धं गवां शृंगं प्रकीर्तितम् ।
तस्माद्वातोपसृष्टे तु हितं तदवसेचने ॥
शीताधिवासा मधुरा जलौकावारि संभवा ।
तस्मात् पित्तोपसृष्टे तु हिता सा स्यवसेचने ॥
अलाबु कटुकं रूक्षं तीक्ष्णं च परिकीर्तितम् ।
तस्माच्छ्लेष्मोपसृष्टे तु हितं तदवसेचने ॥ सु० सू० १३।५-७

समधुरं इषत्स्निग्धं, केचित् "स्निग्धंश्लक्षणं समधुरं, इति पठन्ति । शीताधिवासा शीतगृहा । डल्हणः ।

अत्राह वाग्भटः,—

प्रच्छानेनैकदेशस्थं ग्रथितं जलजन्मभिः ।
हरेच्छृंगादिभिः सुप्तमसृक्स्यापि सिराव्यधैः ॥
प्रच्छानं पिण्डितेवा स्यादवगाढे जलौकसः ।
स्वकस्थेऽलाबुघटीशृङ्ग सिरैव व्यापकेऽमृजि ॥
वातादिधाम वा शृङ्ग जलौकालाबुभि क्रमात् ॥

(वा० सू० अ० ६२)

सर्वाणि सर्वेवेति वातादि दुष्टे शृंगादि नियमं निषेधयति उक्ता प्राप्ता वयोग्यतां वा यत्प्राप्यते यद्वा योग्यं भवति तेनैव कर्त्तव्यमित्यर्थः, विशेषस्तु-विश्राव्यमितिपूर्वेण संबध्यते । तेन वातादि दुष्टे शृंगादिविधां मुख्यं, उक्तं हि चरके—

भिषग्वातान्वितं रक्तं शृङ्गेणैवंविनिर्हरेत् ।
पित्तान्वितं जलौकोभिरलाबूभिः कफान्वितम् ॥

च० चि० अ० २९ इति चक्रः

उक्तमर्थं समर्थयति उष्णमित्यादिना । शीतं शीतगुणं जलमधिवसतीति, शीताधिवासा मधुरेति मधुरार्थकारित्वात् । जलमोकः स्थानमस्या इति जलौका पृषोदरादिः । अलाब्विति वाष्पावरोधसामर्थ्यादुक्तमित्याहुस्तेन काचघटी प्रभृतयोऽपि नानुपपन्नास्तदभावे । (हाराण चन्द्रः)

युद्गुणयोगाश्रृंगादीनां वातादिदुष्टरक्तविषयतया तदाह—स्निग्धं श्लक्ष्ण मित्यादि । शीताधिवासा शीतसंबद्धा शीतलेत्यर्थः । वारिसंभवेति तृणजलौकाप्रतिषेधार्थम् । मधुरेति मधुरार्थक्रियाकारित्वात् ॥ चक्रपाणिः (भानु)

अवस्था विशेषे विस्रावण प्रकारश्च

भवन्ति चात्र—

गात्रं बध्वोपरिदृढं रज्वा पट्टेन वा समम् ।
स्नायु सन्ध्यस्थि मर्माणि त्यजनप्रच्छानमाचरेत् ।
अधो देश प्रविसृतैः पादैरूपरिगामिभिः ।
न गाढ़धनतिर्यग्भिर्नं पदे पदमाचरेत् ॥

प्रच्छान प्रयोग विषयाः

गात्रं बद्वोपरि दृढं रज्ज्वा पट्टेन वा समम् ।
स्नायुसंध्यस्थिमर्माणि त्यजन् प्रच्छानमाचरेत् ॥
अधोदेशप्रविसृतैः पदैरूपरिगामिभिः ।
न गाढधनतिर्यग्भिर्नं पदे पदमाचरन् ॥
प्रच्छानेनैकदेशस्थं ग्रंथितं जलजन्मभिः ।
हरेच्छृंगादिभिः सुप्तमसृग्व्यापि शिराव्यधैः ।
प्रच्छानंपिंडितेवास्यात् ॥

अ० हृ० सू० २६।५६

गात्रं रज्जवा पट्टेन वा दृढंबद्धवोपरि प्रच्छनीयप्रदेशस्य तथा स्नाय्वादि परिहरन् प्रच्छानं कुर्यात् । कथम् । अधोदेशात्प्रवृतैः पदैरूपरिगामिभिरूर्ध्वं प्रसारिभिः । किं भूतैः पदैः । न गाढैर्न रवरैर्न निरंतरैर्न च तिर्यग्भिस्तिरश्चीनैः तथा पदे पदं नाचरन् पदस्योपरि पदमकुर्वन्नित्यर्थः । अरुणदत्तः

गात्रं शरीरावयवं बद्धवा बद्धं कृत्वा प्रच्छानदेशे उपर्यूर्ध्वं समं कृत्वा तथा दृढं न श्लथं रज्ज्वा पट्टेन वा अनन्तरं प्रच्छानमाचरेत् । स्नाय्वादि परिवर्जयन् क्रमात् पदैः शस्त्रपदैरधोदेशगतैः तथोर्ध्वगामिभिः प्रसरणशीलैस्तथा न गाढैर्नान्तनिगढैर्न घनैर्ननिरन्तरपतितैर्न तिर्यग्भिर्न तिर्यग्गतैः । तथा न पदे शस्त्राभिघाते पदं द्वितीयं शस्त्राभिघातं तस्मिन्नेव पदे आचरन् शस्त्रपातं कुर्वन् प्रछानमाचरेत् । चंदनन्दनः

उपकरण द्वारा गृहीत रक्त परिमाण वर्णनम्

गृह्णाति शोणितं शृङ्गं दशागुलमितं बलात् ।
जलौका हस्तमात्रं तु तुम्बी च द्वादशांगुलम् ।
पदमंगुल मात्रं स्यात् सिरासर्वाङ्गशोधिनी ॥

हि० व्या० —रक्तावसेचन में प्रयुक्त उपकरणों (साधनों) द्वारा शरीर का विकृत रक्त कितने भाग तक ग्रहण किया जाता है। इसके विषय में योग रत्नाकर ने लिखा है कि शृंग दश अंगुल तक के रक्त को बल पूर्वक चींचता है 'जलोका एक हाथ तक के स्थान का रक्त खींच सकती है तुम्बी (घटी) १२ अंगुल तक के रक्त का ग्रहण कर लाती है। प्रच्छान द्वारा एक अंगुल तक के स्थान का रक्त निर्हरण करती है तथा सिरामोक्ष द्वारा सर्वांग का अशुद्ध रक्त विस्रावित होता है।

अवस्थानुसारेण उपकरण प्रयोगः

प्रच्छानेनैकदेशस्थं सुप्तं शृङ्गादिभिर्हरेत् ।
ग्रथितं तु जलौकोभिरसृग्व्यापि सिराव्यधैः ॥
प्रच्छानं पिण्डिते वा स्यादवगाढे जलौकसः ।
त्वक्स्थेऽलाबुघटीशृङ्गं सिरव व्यापकेऽसृजि ।
वातादिधाम वा शृङ्ग जलौकोऽलाबुभिः क्रमात् ।

अ० सं० सू० क० ३५।

विशेष—पाठ समान होते हुए भी प्रथम श्लोक में किंचित परिवर्तन है—

प्रच्छानेनैक देशस्थं ग्रथितं जलजन्मभिः ।
हरेच्छृंगादिभिः सुप्तमसृग्व्यापि शिराव्यधैं ॥

शेष पाठ समान है।

वातधाम्न्यधरकाये शृंगेण। पित्तधाम्नि मध्यकाये जलोकोभिः पूर्वकाये कफधाम्न्यलाबुनेति क्रमार्थः। इन्दुः

एकदेशस्थितं रक्तं प्रच्छानेनाकर्षेत् । ग्रंथितं जलजन्मभिर्हरेत् । ग्रंथितं ग्रथ्यर्बुदादिषु रक्तं जलोकाभिर्हरेत् । शृंगादिभिः सुप्तं निश्चेतनसंस्थानं प्रसुप्त्यादि विकारि शृंगादिभिर्हरेत् । व्यापि शिराव्यधैः । व्यापि सर्वशरीरस्थं लोहितं शिराव्यधेनाऽऽकर्षेत् ॥ पिंडिते रक्ते प्रच्छानं वा स्यात् ॥ अरुणदत्तः

शोणितस्रावपरिमाणनिर्धारणहेतवः

बलदोषप्रमाणाद्वा विशुद्धया रुधिरस्य वा ।
रुधिरं स्रावयेज्जन्तोराशयं प्रसमीक्ष्य वा ॥

च० सू० अ० २४।१९

उक्तशोणितस्रावणप्रमाणमाह—बलेत्यादि । बलदोषप्रमाणादिति बलस्य तथा दोषस्य शोणित व्याधिरूपस्य प्रमाणं वीक्ष्य, दोषशब्दोह्ययं रोगे वर्तते। विशुद्धया रूधिरस्य चेति यावता स्रावणेन शोणितं विशुद्ध भवति। आशयं स्थानं दुष्टशोणिताश (श्रु)यतिति यावत्। यथा-स्वल्पे कुष्ठे स्तोकमेव विशुद्धयर्थमुपादेयं, महति कुष्ठे बहु स्रावणीयम्। यदुक्तं 'प्रच्छनमल्पे कुष्ठे महति च शस्तं सिराव्यधनम्' (चि०अ० ६) इति। एषु च पक्षेषु यद्यत्रानत्ययं भवति तत्तत्र ग्राह्यम् ॥ चक्रपाणिः।

स्रावणयोग्य रक्तपरिमाणमात्रा

अशुद्धौ बलिनोऽप्यस्रं न प्रस्थात्स्रावयेत्परम् ॥

अ० हृ० सू० २७।५६

अशुद्धमस्रं बलोऽपि किं पुनरबलिनः प्रस्थात्परमधिकं स्रावयेत् ॥

अरुणदत्तः।

रक्तावसेचनोपायानां विभागेन प्रयोगस्थल संकेतः।

सिरुविषाणतुम्बैस्तु जलौकाभिः पदेस्तथा।
अवगाढं यथापूर्वं निर्हरेच्छुष्टशोणितम् ॥
अवगाढे जलौकास्यात् प्रच्छानं पिण्डिते हितम्।
सिराऽगंव्यापके रक्ते शृङ्गालाबू त्वचिस्थिते ॥

सु० शा० ८।२५-२६

सिराविषाणेत्यादि। पदैः प्रच्छन्नैः। अवगाढम् अभ्यन्तराश्रयम्। यथापूर्वं पूर्वानतिक्रमेण, एतेनोक्तानं पदैः, अवगाढं जलौकोभिः, अवगाढतरं तुम्बा, अवगाढतमं विषाणेनः, सार्वांगिकमवगाढतमं च सिराभिरिति ॥ तत्र सिराविषाणतुम्बजलौकः प्रच्छन्नानां विषयं कश्चिदाहः। अवगाढेत्यादि। डल्हणः।

उपसंहरति। सिरेति। यथा पूर्वं पूर्वानतिक्रान्तैः शिरादिभिरवगाढमन्तः प्रविष्टं दुष्टशोणित निर्हरेदित्यर्थः। एतेनात्यवगाढतमं दुष्टशोणितं शिराव्यधेन गाढतम शृंगेण गाढतरमलाबुना गाढं जलौकोभिः पारिशेष्यात्त्वक्गतत्वेनानवगाढन्तु पदैः प्रच्छानैरूपरिष्टद्वा अतस्तादूर्ध्वरप्रसृतेन बहुशोऽवचारितेन शस्त्रेण त्वविकृतैः मरलविरलैश्छेरितियावत् निर्हरेदित्युक्तं भवति। पक्षान्तरमवतारयति अथेति। पिण्डितं संहतं घनीभूतमित्येतत्। शिराव्यधः। न तावद्वचनस्यास्य पक्षान्तरविषयत्वम श्रद्धेयम् "प्रच्छानं विण्डिते वा स्यादवगाढेजलौकसः। त्वक्स्थेऽलाबुघटीशृंगशिरैव व्यापकेऽसृजि" इति स्फुटवादिना वाग्भटेन वाशब्दोपादानात्। अतिरोहितार्थमन्यत् ॥ (हाराचन्द्र)

प्रच्छानं पिण्डिते वा स्यात अवगाढे जलौकसः ॥

अलाबुशृगघटीप्रयोग विषयाः

त्वक्स्थेऽलाबुघटीशृंगम् शिरैव व्यापकेऽसृजि ॥

अ० हृ० सू० २६।५६-६०

त्वकस्थ उत्ताने रक्तेऽलाबुघटी शृंगाणि स्युः ।
सर्वशरीरव्यापके रक्ते शिरैव । शिरायां मत विकल्पो नस्त्येवेत्येवशब्दार्थः ।

अरुणदत्तः

घुण्टिकां शिरां पादे बन्धयेत् । अपरमपि ग्रंथविस्तारभयान्नोक्तम् ।
अलाबुशृंगैरक्तावसेचनं सर्वैरपि ज्ञातव्यम् ॥

हा० सं० च० स्थाने अ० ५।४

वातादिदुष्ट रक्त स्रावणम्

तथा च विषदुष्टानां शिरामोक्षोऽपि शस्यते ।
गोशृङ्गेण जलौकाभिरलाबुभिरपि त्रिधा ॥
वातपित्तकफैर्दुष्टं शोणितं स्रावयेद्बुधः ।
द्विदोषाभ्यां तु संसृष्टं त्रिदोषैरपि दूषितम् ॥
शोणितं स्रावयेयुक्त्या सिरामोक्षैः पदैस्तथा ।
गृह्णाति शोणितं शृङ्गं दशाङ्गुलमितं बलात् ॥
जलौका हस्तमात्रं तु तुम्बी च द्वादशाङ्गुलम् ।
पदमङ्गुलमात्रस्य सिरासर्वाङ्गशोधिनी ॥
शीते निरन्ने मूर्च्छायां तन्द्रामीतिमदश्रमैः ।
युतानां न स्रवेद्रक्तं तथा विण्मूत्रसङ्गिनाम् ॥

शा० उ० १२।२३-२७

रक्तस्रावणे प्रयोज्य उपकरणानि अवस्था विशेषे उपयोगिताश्च

हि० व्या०—किसी एक स्थान पर एकत्र दुष्ट रक्त को निकालना हो तो पच्छ लगाना चाहिए । जहाँ शून्यता हो, स्पर्श का अनुभव नहीं हो वहाँ शृंग, अलाबू अथवा घटिका का प्रयोग करें जहाँ रक्त के एकत्र होकर गाँठ पड़ गई है । ग्रन्थियुक्त व्रण हो वहां जौंक लगाना चाहिए । यदि सम्पूर्ण शरीर में रक्तविकृति हो तो वहाँ सिरावेध द्वारा रक्त विस्रावण कराना चाहिए ।

दूसरे रूप में यदि रक्त पिण्डित हो तो पच्छ लगाकर, अवगाढावस्था में जौंक, त्वचा एवं मांस में दूषित हों तो अर्थात रक्त के त्वचा पर प्रभावी होने पर अलाबू, घटी, शृंग लगाकर तथा सर्व शरीर व्यापी होने पर सिरावेध द्वारा रक्त निकालना चाहिए ।

दोषादि दुष्ट होने पर विधिभेद से रक्त के वायु द्वारा दुष्ट होने पर शृंग लगाकर, पित्त से दूषित हो तो जौंक लगाकर तथा कफ दूषित रक्त को निकालने हेतु अलाबू का प्रयोग कराना चाहिए ।

रक्तस्रावणाय शस्त्रद्वारा प्रच्छान विधिः ।

तत्र ऋज्वसंकीर्णं सूक्ष्मं सममनवगाढमनुत्तानमाशु च शस्त्रं पातयेन्मर्म सिरास्नायुसन्धीनां चानुपघाति । सु० सू० १४।१६

ऋजु प्राञ्जलम् । असंकीर्णं न संकटं, विशालमित्यर्थः; अन्ये परस्परासंसृष्टमित्याहुः । सूक्ष्मं वाति महामुखशस्त्रकृतम् । समं तुल्यरेखम् । अनवगाढम् अदूरगतिकम् । अनुत्तानं किंचिन्मांसस्पृगित्यर्थः । आशु अविलम्बितम् यथा भवत्येवं शस्त्रं पातयेत् । डल्हणः ।

हि० व्या०—प्रच्छान सीधा, असंकीर्ण, बारीक, समान, न अधिक गाढ़ा और न अधिक उत्तान करना चाहिए । मर्म, सिरा, स्नायु तथा सन्धियों का बचाव करते हुए शीघ्र शस्त्रद्वारा प्रच्छान करना चाहिए ।

शृङ्गालाबू प्रयोग विधिः ।

तत्र प्रच्छिते तनुबस्तिपटलावनद्धेन शृङ्गेण शोणितमवसेचयेदाचूषणात्, सान्तर्दीपयाऽलाब्वा । सु० सू० १३।८

बस्तिरत्रमूत्राशयः, पटलं घनं शुभ्रं मर्कटिका जालकम्, तनुशब्दस्तु द्वयोरति संबध्यते । अन्ये तु 'तनुवस्त्रपटलावनद्धेन' इति पठन्ति । व्याख्यानयन्ति च—सूक्ष्मवस्त्रावरणपिहितेन सान्तर्दीपया मध्यदीपसहितया, शोणितमवसेचयेदिति संबन्धः । केचिदलाब्बा अवचारणमन्यथा पठन्ति; तथा हि—भुर्जपत्रशणतुलानामित्यादि । अयं पाठोऽभावात् समग्रो न लिखितः । शृङ्गालाबु प्रमाणं भालुकिशकाशादवगन्तव्यम् । तथा च तद्वचः,—

"विषाणं श्वेतगोरिन्दुवक्त्रं सप्ताङ्गुलायतम् ।
क्षिप्तान्तः पिचुपेशीकं योज्यं वातयुतेऽसृजि ॥
अङ्गुष्ठमूलवन्मूले छिद्रमग्रेऽस्य मुद्गवत्" इतिः,
"अष्टाङ्गुलपरिणाहा चतुरङ्गुलनालसंमिता सुमुखी ।
कृष्णमृदालिप्ततनुः श्रेष्ठा रक्तावसेचनेऽलाबुः"
इति । अन्ये तु शृङ्गालाबुप्रमाणमत्रैव पठन्ति ।

तत्रेत्यादि । उपयोगविधावत्र क्रमं हित्वा शृङ्गालाब्वोरुपदेशः सूचीकटाहन्यायादित्यनुसन्धेयम् । अत्र तनुवस्त्रेत्यादिविशेषणं वातप्रचारावरोधार्थम् । कथमपि प्रचरिते हि वाते शोणितं नायाति मुखमाचूषकस्य शृङ्डेनानाकृष्टत्वादित्यतस्त्रिश्चतुर्वाऽऽनद्धं खण्डशो वस्त्राणि ग्राह्यति पटलशब्देन, पटलं समूहः । अलाब्वा इति "अप्राणिजातेश्चारज्ज्वादीनाम्" इति स्त्रियामूड । अलाबूफलेनेत्यर्थः । अत्र यत्किञ्चिदाग्नेयं मद्यसारं वाऽलाब्वन्तः प्रणिधायाग्नि

प्रज्वाल्य प्रच्छिते समे देशे सान्तर्दीपामेव तामलावूं न्युब्जीकृत्य सममाशु निदध्याच्छोणितावसेचनार्थमित्युपदेश्यं सान्तर्दीपतेति विशेषणात्। हाराणच०

हि० व्या०—सर्वप्रथम जिस स्थान से रक्त निकालना हो वहां (उस्तरे या ब्लेड द्वारा) पाछ लगाकर पतले वस्त्र को धागे से बांधकर सींग के मुख में रख के मुखद्वारा आचूषण विधि से रक्त का अवसेचन करना चाहिए। अथवा तुम्बी में दीपक रखकर या स्पिरिट या रूई भीतर रखके जलाकर उस तुम्बी को जहाँ से रक्त निकालना है उस स्थान पर औंधी रख देने से रक्तावसेचन हो जाता है।

अनुपशयद्वारारक्तज रोगाणां विनिश्चयः

शीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्यैरुपक्रान्ताश्च ये गदाः।
सम्यक् साध्या न सिध्यन्ति रक्तजांस्तान् विभावयेत्॥

च० सू० २४।१७

अनुक्तबहुरिशोणितरोगग्रहणार्थमाह—शीतोष्णेत्यादि। आद्यग्रहणान्नीक्ष्णमृद्वादीनां ग्रहणम्। सम्यगिति पूर्वेण योजनीयम्। तत्र शीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्यैरिति शोणित वृद्धिमनपेक्ष्य वातादिजव्याधेमात्रप्रयुक्तैरिति मन्तव्यम्। येन शोणितव्याधेरपि शान्तिर्वक्ष्यमाणरक्तपित्तहर क्रियादिभिः शीतोष्णस्निग्धादिक्रियाप्रविष्टैव, ततश्च शोणितरोगस्यापि शीतादिक्रियाभिरेव शोणितप्रतिकूलाभिः प्रशमो भवति, प्रवृद्धशोणिताश्रयास्तु वातादय आश्रयप्रभावान्न स्वचिकित्सामात्रेण प्रशाम्यन्ति। चक्रपाणिः।

शीतोष्णैः स्निग्धरूक्षैः गुरूलघुभिर्मन्दतीक्ष्णोपक्रमैः सम्यङ् निवर्तितैर्यथाशास्त्रं प्रयुक्तैः वातश्लेष्मव्याधिलक्षणाभासाः साध्याः साध्यलक्षणोपेतत्वात् साधयितुं शक्या न सिध्यन्ति नोपशमं यान्ति ते च रक्तप्रकोपजा इति बोद्धव्याः। न केवलं विसर्पादयः पूर्वं निर्दिष्टाः। चंद्रनन्दनः

हि० व्या०— जब रोग के विषय में पूर्ण निर्णय हो सके ऐसी अवस्था में अनुपशय द्वारा रोग का विनिश्चिय हो जाता है अर्थात शीत, उष्ण, रूक्ष गुण प्रधान तथा वीर्य युक्त विशिष्ट औषधियों के प्रयोग से जो जो साध्य रोग अच्छे नहीं होते उन्हें रक्तज रोग जानना चाहिए।

विशेष – यही श्लोक कुछ परिवर्तन के साथ अ० हृ० में भी आया है।

रक्तविस्रावण योग्याः

स्राव्य विद्रधयः पंच भवेयुः सर्वजादृते॥
कुष्ठानि वायुः सरुजः शोफो यश्चैकदेशजः॥
पाल्यामयाः श्लीपदानि विषजुष्टं च शोणितम्॥
अर्बुदानि विसर्पाश्च ग्रन्थयश्चादितश्च ते॥

त्रयस्त्रयश्चोपदंशाः स्तनरोगा विदारिका॥
सु (शु) षिरो गलशालूकं कण्टकाः कृमिदंतकः॥
दंतवेष्टः सोपकुशः शीतादो दंतपुप्पुटः॥
पित्तासृक्कफजाश्चोष्ठ्याः क्षुद्ररोगाश्च भूयशा।

सु० सू० अ० २५।१२-१५

हि० व्या०—आचार्य सुश्रुत के अनुसार निम्न रोगों में विस्रावण (रक्तमोक्षण) करना चाहिए। सान्निपातिक विद्रधि को छोड़कर शेष पांचों विद्रधियां, कुष्ठ, एक स्थान में उत्पन्न शोथ, पाली के रोग, श्लीपद, विष से दूषित रक्त, सभी प्रकार के अर्बुद तथा विसर्प, प्रारम्भिक तीन प्रकार की ग्रन्थियां तथा तीन प्रकार के उपदंश, स्तन रोग, विदारिका, सौषिर (दन्तरोग), गलशालूक, तालुकण्टक, कृमिदन्त, दन्तवेष्ट, उपकुश, शीताद, दन्तपुप्पुट, पित्तरक्त, कफजन्य ओष्ठरोग एवं अनेक प्रकार के क्षुद्ररोग।

शोथे दाहेऽर्मपाके च रक्तवर्णेऽसृजः स्रुतौ॥
वातरक्ते तथा कुष्ठे सपीड़े दुर्जयेऽनिले।
पाणिरोगे श्लीपदे च विषदुष्टे च शोणिते॥
ग्रन्थ्यर्बुदार्पचौ क्षुद्ररोगरक्ताधिमन्थिषु॥
विदारीस्तनरोगेषु गात्रणां सादगौरवे।
रक्ताभिष्यन्दतन्द्रायां पूतिघ्राणास्यदेहके।
यकृत्प्लीहविसर्पेषु विद्रधौ पिटिकोद्गमे॥
कर्णोष्ठघ्राणबस्तीनां पाके दाहे शिरोरुजि।
उपदंशे रक्तपित्ते रक्तस्रावः प्रशस्यते॥
एषु रोगेषु शृंगैर्वा जलौकालाबुकैरपि।
अथवापि सिरामोक्षं कुर्याद्रक्तस्रुतिं नरः॥ शारंगधर

अथ रक्तस्रावो येषां विहितस्तानाहशोथ व्रणशोथे एकांगजेऽपि स्राव्यः। यतः सर्वांग शोथो निपिद्धश्च स वाम्लभोजननिमितः। पाण्डुरोगार्शसोदरिणोगर्भिणीनां च श्वयथौ, अंगदाहे अंग पाके च। रक्तवर्णेऽसृजाःस्रुताविति केवलरक्तपित्ते सपीडे दुर्जयेदानिले इति। तथाहि उष्णाम्ललवणादेर्वातहरस्योपयोगात्कुपितेन शोणितेनावृतो वातो तंद्रा वेदनाकारी तदा सिराव्यधं इति। पाणिरोगे दाहादौ तेन बाहुरोगोऽपि गृह्यते॥ यदुक्ते शोणितावृतवातजनितयोर्बाहुशोषायबाहुकयोरप्यंशयोरन्तरे सिराव्यधः। अपच्यामिति। उत्पन्नमात्रायामित्यर्थः नतु रूढायां तस्याम्। क्षुद्ररोगेषु अरूंषिकादिषु। विद्रधाविति षड्विधविद्रधिषु मध्ये पंच विस्राव्याःतदुक्तं-स्राव्या विद्रधयः पंच भवेयुः सर्वपादता इति। उपदंशे इति। उपदंशं ग्रहणात् परिवर्तिकशूकदोषशुकव्यापत्सु च मेद्र मध्ये सिराव्यधः। रक्तपितमिति। रोमकूपोद्गतमित्येके। शेषं सुबोधम् अथ शोणितविस्त्रावं यैर्वस्तुभिः कुर्यातानि दर्शयन्नाह-एषु पूर्वोक्तेषु शोथप्रभृतिषु

रोगेषु शृंगादिचतुःप्रकारा यथायोग्यानरूपतो योज्या । शृंगं तु गोशृंग तच्च सप्तांगुलविस्तीर्णं यैर्वस्तुभिः कुर्यातानि दर्शयन्नाहएषु पूर्वोक्तेषु शोथप्रभृतिषु रोगेषु शृंगादिचतुः प्रकारा यथायोग्यानुरूपतो योज्या । शृंगं तु गोशृंगं तच्च सप्तांगुलविस्तीर्णं भवति । तथाच स्रावे तु श्वेतगोशृंग तच्च सप्तांगुलविस्तीर्णं भवति । तथाच क्षिप्त्वान्तः पिचुपेशीकं योज्यं वातयुतेऽसृजि । अंगुष्ठमूलवन्मूलं चिद्रमग्रेऽस्य मुग्दवत् । वस्त्रपहावनद्धं च रक्तमाचूषणाद्धरेत् इति । जलौकाः प्रसिद्धाः ताश्च द्वादशधा भवन्ति तासां षट्सविषाः तावन्त्य एव निर्विषाश्च । विस्तारोऽपि तासामन्यत्र ज्ञातव्यः । अत्र ग्रन्थगौरवभयान्न लिखितः । अलाबुका तुम्बीशब्दवाच्या । तस्या लक्षणं केनचिदिति दर्शितम् । यद्यथा अंगुष्ठांगुलपरिणाहा चतुरंगुलाऽऽनाहसंमिता सुमुखा कृष्णमृदालिप्ततनुः श्रेष्ठा रक्ता च सेचनेऽलाबुः । सान्तर्दीपंमयुता तया च विस्त्रावयेद्रक्तमिति । शिरामोक्षैरिति शिरा रक्तवहास्तासां मोक्षःशस्त्रेण कुर्यादिति । मोक्षो रुधिरस्येति ।

— आढ्यमल्लः ।

शिरोरोगेषु सर्वेषु नासामध्यपुटे तथा ।
असृजं रेचयेद्यत्नात्सर्वदा भिषगुत्तमः ॥—हारीत चतुर्थस्थान० अ० ५

वातरक्ते तथा कुष्ठे, सपीडे दुर्जयेऽनिले ।
पाण्डुरोगे श्लीपदे च विषदुष्टे च शोणिते ॥
ग्रन्थ्यर्बुदापचिक्षुद्र, रोगाधिमन्थकाभिधे ।
विदारीस्तनरोगेषु, गात्राणां सादगौरवे ॥
रक्ताभिष्यन्दतन्द्रायां, पूतिघ्राणस्यदेहिक ।
यत्कृच्लीहविसर्पेषु, विद्रधौ पिडकोद्गमे ॥
कर्णोष्ठघ्राणवक्त्राणां, पाके दाहे शिरोरुजि ।
उपदंशे रक्तपित्ते, रक्तस्रावे प्रशस्यते ॥
दोषेष्वेषु प्रक्षीणेषु, जलोकालाबुकादिभिः ।
अथवापि शिरामोक्षैः, कारयेद्रक्तपातनम् ॥ — भा० प्र०

शोथे दाहेऽङ्गपाके च रक्तवर्णेऽसृज स्रुतौ ।
वातरक्ते तथा कुष्ठे सपीडे दुर्जयेऽनिले ॥
पाणिरोगे श्लीपदे च, विषदुष्टे च शोणिते ।
ग्रन्थ्यर्बुदापचीक्षुद्ररोग रक्ताधिमन्थिषु ॥
विदारीस्तन रोगेषु गात्राणां सादगौरवे ।
रक्ताभिष्यन्दितन्द्रायां, पूति घ्राणस्यदेहिके ॥
यकृत्प्लीहविसर्पेषु, विद्रधौ पिडकोद्गमे ।
कर्णोष्ठघ्राणवक्त्राणां, पाके दाहे शिरोरुजि ।
उपदंशे रक्तपित्ते, रक्तस्रावे प्रशस्यते ॥

—शा० सं०, भाव प्र०, योगरत्ना०

हि० व्या०—शोथ, दाह, रक्तवर्ण का अङ्गपाक अथवा अङ्गदाह मात्र रक्तपित, वातरक्त, कोढ़, पीड़ायुक्त दुर्जय वातरोग हाथों के दाह, फीलपांव, रक्त के विषदुष्ट हो जाने पर गांठ, अर्बुद, अपची, क्षुद्ररोग, रक्ताधिमन्थ, विदारी, स्तनरोग, अङ्गसाद, अङ्गगौरव, रक्त का अभिष्यन्द तन्द्रा, नाक से पूतिगन्ध आना, मुख तथा शरीर का पूतिगन्धयुक्त होना, यकृत रोग, प्लीहावृद्धि, विसर्प, विद्रधि, पिडकाओं का उत्पन्न होना, कान, ओंठ, नाक तथा मुख का पकना, दाह होना, शिर में दर्द होना, उपदंश रोग तथा रक्तपित्त में रक्तस्राव करना (या फस्त खोलाना) उत्तम व्यवस्था बताई गई है ।

शोणिताश्रयविकारनामसंकेतः

ततःशोणितजा रोगाःप्रजायन्ते पृथग्विधाः ।
मुखपाकोऽक्षिरागश्च पूतिघ्राणास्यगन्धिता ॥
गुल्मोपकुशवीसर्परक्तपित्तप्रमीलकाः ।
विद्रधी रक्तमेहश्च प्रदरो वातशोणितम् ॥
वैवर्ण्यमग्निसादश्च पिपासा गुरुगात्रता ।
संतापश्चातिदौर्बल्यमरुचिः शिरसश्च रूक् ।
विदाहश्चान्नपानस्य तिक्ताम्लोद्गिरणं क्लमः ।
क्रोधप्रचुरता बुद्धेः संमोहो लवणास्यता ॥
स्वेदः शरीरदौर्गन्ध्यं मदः कम्पः स्वरक्षयः ।
तन्द्रानिद्रातियोगश्च तमसश्चातिदर्शनम् ॥
कण्डूवरूः कोठपिडकाकुष्ठचर्मदलादयः ।
विकाराः सर्व एवेते विज्ञेयाः शोणिताश्रयाः ॥

च० सू० अ० २४।११-१६

उपकुशो =मुखरोगविशेषः । यदुक्तं सुश्रुते "श्वेष्टेषु दाहः पाकश्च तेभ्यो दन्ताश्चलन्ति च । यस्मिलुपकुशो नाम पित्तरक्तकृतोगदः" (सु० नि० अ० १६) इति कुष्ठ इत्युक्तेऽपि चर्मदलाभिधानं विशेषार्थम् । शोणिताश्रया इति भाषया शोणितस्य वातादिवत् स्वातन्त्र्येण रोगकर्तृत्वं निराकरोति ।। चक्रपाणिः ।

वक्ष्यन्ते रक्तदोषजाः ।
कुष्ठवीसर्पपिडका रक्तपित्तमसृग्दराः ॥
गुदमेढ्रास्यपाकश्च प्लीहा गुल्मोऽथ विद्रधी ।

नीलिका कामला व्यंग पिप्लवस्तिलकालकाः ॥
दद्रुश्चर्मदलं श्वित्रं पामा कोठाऽस्रमण्डलम् ।
रक्तप्रदोषाज्जायंते ।

—च० सू० अ० २८।११।१२

रक्तप्रदोषजेषु कुष्ठग्रहणादेव चर्मकीलद्द्रवादिलाभे सिद्धे पुनस्तद्वचनं विशेषप्रादुर्भावप्रदर्शनार्थम्, तिलकालकास्तिलाकृतयः, अस्रमण्डलम्=लोहित-मण्डलम् । चक्रपाणि।

रक्तदुष्टिजन्य रोग निर्देशः

कुष्ठविसर्पपिडकामशकनीलिकातिलकालकन्यच्छव्यंगेन्द्रलुप्तालीहविद्रधि-गुल्मवातशोणितार्शोऽर्बुदागमर्दासृग्दररक्तपित्तप्रभृतयो रक्तदोषजा गुदमुखमेढ्रपाकाश्च । —सु० सू० अ० २४।११

रक्तं विसर्पप्लीहविद्रधीन् ।
कुष्ठवातास्रपित्तास्रगुल्मोपकुशकामलाः ।
व्यंगाग्निनाशसम्मोहरक्तत्वङ् नेत्रमूत्रताः ।

—अ० हृ० सू० अ० १८।६

रक्ते दुष्टे वेदना स्यात्पाकों दाहश्च जायते ।
रक्त मण्डला कण्डूःशोथश्च पिटिकोद्गमः ॥
वृद्धे रक्तांगनेत्रत्वं सिराणां पूरणं तथा ।
गात्राणां गौरवं निद्रा मदो दाहश्च जायते ॥
क्षीणेऽम्लमधुराकांक्षा मूर्च्छा च त्वचि रूक्षता ।
शैथिल्यं च सिराणां स्याद्वातादुन्मार्गगामिता ॥
अरुणं फेनिलं रूक्षं परुषं तनु शीघ्रगम् ।
अस्कन्दि सूचिनिस्तोद रक्त स्याद्वातदूषितम् ॥
पित्तेन पीत हरितं नीलं श्यावं च विस्रकम् ।
अस्कन्धुष्णं मक्षिकाणां पिपीलानायनिष्टकम् ।
शीतलं बहलं स्निग्धं गैरिकोदकसनिभम् ॥
मासपेशीप्रभं स्कंदि मंदगं कफदूषितम् ।
द्विदोषदुष्टं संसृष्टं त्रिदुष्टं पूतिगंधकम् ॥
सर्वलक्षण संयुक्तं कांजिकाभं च जायते ॥
विषदुष्टं भवेच्छ्यावं नासिकोन्मार्गगं तथा ।
विस्रं कांजिकसंकाशं सर्वकुष्ठकरं बहु ॥ शारंगधर।

रक्त दुष्टि जन्य रोग

चरक	सुश्रुत	अ० हृदय
कुष्ठ	+	+
वीसर्प	+	+
पिड़का	+	—
रक्तपित्त	+	+
रक्त प्रदर	+	—
गुदपाक	+	—
मेढ्रपाक	+	—
मुखपाक	+	—
प्लीहा वृद्धि	+	+
गुल्म	—	—
विद्रधि	+	+
नीलिका	+	—
कामला	—	+
व्यंग	+	+
पिप्लु	—	—
तिलकालक	+	—
दद्रु	—	—
चर्मदल	—	—
श्वित्र	—	—
पामा	—	—
कोठ	—	—
रक्त मण्डल	—	—
वातरक्त	—	+
रक्त गुल्म	—	+
	मशक	—
	न्यच्छ	—
	इन्द्रलुप्त	—
	अर्श	—
	अर्बुद	—
	अंगमर्द	—
		पित्तज रोग
		उपकुश
		मन्दाग्नि
		सम्मोह

रक्तावसेचने अयोग्याः

अथाविस्राव्याः—सर्वांग शोफ, क्षीणस्य चाम्लभोजननिमित्तः, पाण्डुरोग्यर्शोदरिशोपिगर्भिणीनां च श्वयथवः। सु० सू० १४।२४

क्षीणस्य पुंसोऽम्लभोजननिमित्तो यः सोऽविस्राव्य इत्यर्थः तथा पाण्डुरोग्यादीनां शोथा अविस्राव्याः, एतेषां व्रणशोथा एकांगजा अपि न स्राव्याः -

डल्हणः।

अथेत्यादौ क्षीणस्याम्लभोजननिमित्तश्च सर्वांग शोफ इति समन्वयः। शोफस्यास्यक्षीणविपयत्वेनैव वक्ष्यमाणत्वेऽपि क्षीणस्येति विशेषणं क्षीणावस्थायामेवाविस्राव्यत्वमाख्यातुमिति पृथगुपादानं नापार्थकम्। न च क्षीणस्य नित्याविस्राव्यशोणितत्वादपार्थकमिति वाच्यं व्यवसायाऽभिवृद्धये पौनः पुन्येनात्ययिकार्थस्याऽभिधानदर्शनात्। पाण्डुरोग्यादीनां श्वयथवोऽसर्वांगगता अपीति तात्पर्य्यम्। हाराणच०

हि० व्या०—सुश्रुत के अनुसार—जिसके सारे शरीर में शोफ हो, जो अम्ल पदार्थों के भोजन से उत्पन्न हुए शोथ तथा पाण्डु रोगी हो, अर्शो रोगी, उदररोगी, शोषरोगी और गर्भिणी स्त्रियों के शोथ में रक्त नहीं निकालना चाहिए।

विशेष—जिस अंग पर पच्छ लगाने हों उस अंग को ५-७ अंगुल ऊपर से रस्सी अथवा कपड़े की पट्टी द्वारा समरूप बद्ध करके, स्नायु मर्म, सन्धि मर्म तथा अस्थि मर्म को बचाकर पच्छ लगाना चाहिए। यह बाहु एवं सक्थियों पर पच्छ लगाने की विधि है। यदि सिर पर पच्छ लगाना हो तो ग्रीवा पर ऐसा बन्धन किया जाता है जिससे श्वासमार्ग का अवरोध न हो परन्तु सिर में रक्त का संचय हो जाए—इस प्रकार के बन्धन से मुखमंडल लाल हो जाता है।

पच्छ के आकार—पच्छ अर्थात् क्षत नीचे से ऊपर की ओर सीधे करने चाहिए और पच्छ बहुत गहरे और पास-पास भी न करे तथा तिरछे भी नहीं करे और पच्छ पर पच्छ भी न करे।

रक्तविस्रावण सम्यक् योग कालः आहाराचारश्च

तस्मान्नाति शीते नात्युष्णे नास्विन्ने नातिपातिते।
यवागूं प्रतिपीतस्य शोणितं मोक्षयेद्भिषक् ॥

सु० सू० १४।३१ हारीतसंहिता।

अयोगातियोगौ सहेतुकौ निर्दिश्य सम्यग्योगसहेतुकं निर्दिशन्नाह, तस्मादित्यादि। नशीते नात्युष्णं साधारणेकाले। नास्विन्ने नाति स्वेदिते। नातिपातिते सूर्यतापादिभिः। यवागूरत्र तिलयवागूः, तस्याः सद्यः स्नेहनीयत्वाद्रक्तोत्के लेशकरत्वाच्च। प्रतिपीतस्येत प्रतिशब्दोऽत्र पानान्तरं सूचयतिः, तेन यवाग्वा द्वितीय पानानन्तरं तृतीय पानानन्तरं वेत्यर्थः, अन्ये तु यवागू विरलद्रवा बहुसिक्था तां प्रतिपीतस्य, सा हि प्रायशः प्रक्लेदानात्मिका स्वेदल्त्वाद्वोष्णत्वाच्च शोणितं विलायति, प्रतिशब्दोऽत्रमात्रार्थः, तेन यवागूं मात्रया पीतवत इत्यर्थः।

डल्हणः

यवागूं प्रतीति पाठे तु प्रतिभागे अर्थे कर्म्मप्रवचनीयः। पीतस्येति चाकारो मत्यर्थीयः, यवागूपादं पीतवत् इत्यर्थः। तथा च "लघुभुक्तवन्तम्" इति प्रागुक्तं समन्वेति। हाराणच०

पूर्वाह्णे चापराह्णे च नात्युष्णे नाति शीतले।
यवागूपरिपीतस्य शोणितं मोक्षयेद्भिक् ॥

हारीत सं०

तस्मान्न शीते नात्युष्णे न स्विन्ने नातितापिते।
पीत्वा यवागूं तत्पश्चाद् स्रावयेच्छोणितं बुधः॥ शार्ङ्गधरः।

रक्त विस्रावणोपेक्षायां उपद्रव वर्णनम्

तद्दुष्टं शोणितमनिर्ह्रियमाणं शोफदाहरागपाकवेदना जनयेत् ॥

सु० सू० १४।२६

तद्दुष्टं शोणितमिति यन्त्रपीडागतमनिर्गतं संस्रस्तम्

चक्रपाणिः।

हि० व्या०—न शीतकाल में, न अधिक ग्रीष्मकाल में न ज्यादा स्वेदन कराकर और न ज्यादा तपाकर रक्त मोक्षण करना चाहिए किन्तु पहले रोगी को यवागू पान कराकर पश्चात् रक्तमोक्षण कराना चाहिए। अशुद्ध रक्त का मोक्षण कराना चाहिए। शुद्ध रक्त का विस्रावण होने पर शोथ, दाह (जलन), राग (लालिमा), पाक (पूयभवन) और वेदना भी होती है।

त्रयोदशोऽध्यायः

जलौका वर्णनम्

रक्तावसेचन विधि के प्रमुख साधनों में जलौका का भी विशिष्ट रोगों एवं सुकुमार प्रकृति के रोगियों में प्रयोग करने का शास्त्रों में निर्देश है। प्रायः सुकुमारों, त्वचागत रोगों एवं स्थानिक रक्त दुष्टि में जलौका प्रयोग विशेष रूप से किए जाने का विवरण प्राप्त होता है। इन जलौकाओं के विषय में प्रयोग कराने वाले चिकित्सक को पूर्ण ज्ञान होना आवश्यक है क्योंकि इनकी सविष एवं निर्विष दोनों जातियों में से निर्विष को ही प्रयोग में लाया जाता है। इनके पालने, पकड़ने एवं दूषित स्थान पर लगाने की विधि का होना भी आवश्यक है इन सभी विषयों का इस प्रकरण में क्रमशः वर्णन किया जा रहा है।

जलौका शब्द निरुक्तिः

जलमासामायुरिति जलायुकाः, जलमासामोक इति जलौकसः।

सु० सू० १३।९

जलौकसां निरुक्तिमाह, जलमासामायुरित्यादि। आसां जलौकसां जलमायुरिति जलायुकाः। "कथ्यन्ते, इत्यध्याहारः निरुक्तिपक्षान्तरमाह। जलमासामोक इति जलौकसः। डल्हणः

हि० व्या०—उपर्युक्त गद्य में जलौका की निरुक्ति करते हुए दो प्रकार से भाव प्रकट किए हैं:—

(१) जलमासामायुः अर्थात्, जल ही जिसकी आयु है।

(२) जलमासामोकः अर्थात् जल ही जिसका निवास स्थान है।

(३) जले-ओको निवासो यासां ता जलौकसः।

दुष्टरक्तस्रावण फलम्

दुष्टरक्तापगमनात्सद्यो राग रूजां शमः॥

अ० हृ० सू० अ० २६।५०

दुष्टरक्तस्याऽपगमान्निःसरणात्सद्यो रागरूजादिशमः स्यात्। उपलक्षणं चेदम्। प्रबयधु शैथिल्यदाहशमोऽपि भवत्येव॥ अरुणदत्तः

हि० व्या०—विकृत स्थान से दूषितरक्त निकल जाने पर रोगी की वेदनाएं शान्त हो जाती है तथा स्थान की लालिमा दूर हो जाती है इसी प्रकार रोग विशेष की दृष्टि से सम्बन्धित विकृति दूर होने के लक्षण जानने चाहिए।

जलौकोऽवचारणे विशेष विज्ञेय निर्देशः

भवति चात्र—

क्षेत्रापि ग्रहणं जातीः पोषणं सावचारणम्।
जलौकसां च यो वेत्ति तत्साध्यान् स जयेद्गदान्॥

सु० सू० १३।२४

क्षेत्राणीति सविषाणां क्षेत्राणि "तत्र सविषकीट इत्यादि, निर्विषाणां" पद्मोत्पलपत्र, इत्यादि। ग्रहणमिति "तासां ग्रहणमार्द्रचर्मणा" इत्यादि। जातयः सविषाणां "कृष्णाकर्बुरा" इत्यादि। निर्विषाणां "कपिला पिंगला" इत्यादि। पोषणमिति "नवे महातिद्यटे" इत्यादि। "अवचारणमिति" अथजलौकोऽवसेकसाध्य, इत्यादि, चकारात्। पश्चात्कर्मादि॥ डल्हणः।

हि० व्या०—इस श्लोक में जलौकाओं के विषय में पूर्ण ज्ञान रखने का निर्देश करते हुए लिखा है कि जलौकाओं के रहने योग्य प्रदेश, उनको पकड़ने की विधि, उनकी जातियों, पोषण के नियमादि तथा दूषित स्थान पर लगाने की विधि का पूर्ण ज्ञान रखने वाला चिकित्सिक ही जलौकासाध्य रोगों का प्रतिकार करने में समर्थ होता है।

क्षेत्र से यहां सविषों के निवास सविषकीटादि तथा निर्विषों के पद्म कमल आदि का भाव लेना चाहिए तथा चकार से पूर्वकर्म एवं पश्चात् कर्म दोनों का ज्ञान कर लेना चाहिए।

जलौको ग्रहणोपायनिरूपणम्

तासां ग्रहणमार्द्रचर्मणा, अन्यैर्वा प्रयोगैर्गृह्णीयात्।

सु० सू० १३।१६

ग्रहणमित्यादि। ग्रहणं चासां शरत्काले, तन्त्रान्तरवचनात्। अन्यैर्वा प्रयोगैरिति। सद्योहतजन्तुमांसपेशी नवनीतघृतक्षीराद्यभ्यक्त जंघाद्यवयवैर्वा॥ डल्हणः।

हि० व्या०—पद्मोत्पलादि से इन उपयोगी जलौकाओं को पकड़ने के लिए गीले चर्म का प्रयोग किया जाता है। अथवा अन्य विधियों से भी पकड़ा जा सकता है। यथा—तुरन्त मरे हुए प्राणी की मांसपेशी पर मक्खन, घृत, दुग्ध लगाकर इनके मुख की ओर रखने से वे इनको ग्रहण करने के लालच से इन पर आ जाती है। उसी समय इन्हें पकड़ लिया जाता है।

जलौकसां रक्षणपोषण प्रकाराः

अर्थेनां नवे महति घटे सरस्तडागोदकपंकमावाप्य निदध्यात्, भक्ष्यार्थे चासामुपहरेच्छैवलं वल्लूरमौदकांश्च कन्दांश्चूर्णीकृत्य, शय्यार्थे तृणमौदकानि च पत्राणि, त्र्यहात्र्यहाच्चाश्योऽन्यज्जलं भक्ष्यं च दद्यात्, सप्तरात्रात्सप्तसरात्राच्च घटमन्यं संक्रामयेत् ॥ सु० सू० १३।१७

जलौकः पालन प्रकारः

जलौकसस्त्वार्द्रचर्मण्युपायंगृहीत्वा सुरभिपंकगर्भे नवे घटे स्थापयेत् । शृंगाटककसेरूकशालूकशैवालमृणालवल्लूरमृत्स्नापुष्करबीजचूर्णं स्वादु शीतस्वच्छं च तोयमन्नपानार्थे ताभ्यो दद्यात् । लालादिकोथपरिहारार्थमेव च त्र्यहात् त्र्यहादूर्ध्वं पूर्वमन्नानमपनीयान्यत्प्रक्षिपेत् । पंचहाच्च तद्विद्य एवं घटान्तरे ताः संचारयेत् । अ० सं० सू० अ० ३५।५

जलौकसां पालनविधिः

अन्यत्राऽन्यत्र ताःस्थाप्या घटं मृत्स्नांबुगर्भिणि ।
लालादिकोथनाशार्थं सविषाः स्युस्तदन्वयात् ॥

अ० हृ० सू० २६।४७

ताश्चाऽन्यस्मिन्नन्यस्मिंघटे त्र्यहात्पंचाहाद्वा स्थाप्याः । किं भूते । मृत्स्नापक्तेन जलेन गर्भिणि तद्युक्त इत्यर्थः । प्रशस्ता मृन्मृत्स्ना । सस्नौ प्रशंसायामिति स्नप्रत्ययः । अनेक भाजस्थापने कोऽर्थ इत्याह । लालादिकोथनाशार्थम् । आदिशब्देन मूत्रपुरीषादिपरिग्रहः । लालादीनां जलौकसा संबंधः । कोथः कुथितत्वं क्लिन्नता तन्नाशाय । तदन्वयाल्लालादियोगात्ताः सविषाः स्युः । अरुणदत्तः

प्रशस्ता शुभा योग्या मृन्मृत्स्ना मृत्स्नायामम्बु च मृत्साम्बु तद्गर्भवर्तते यस्य घटस्य स मृत्स्नाम्बुगर्भो घटः । तस्मिंस्तथाभूतेऽन्यत्रान्यत्र घटे ता जलौकसः स्थाप्याः स्थापनीयः । लालादीनां कोथः क्लिन्नता तन्नाशार्थं तन्निमित्तमन्यत्रान्यत्र स्थाप्याः । यस्यासदन्वयाल्लालादियोगात्ता जलौकसः सविषाः स्युर्भवेयुः । अतोऽन्यत्र घटे ताः स्थाप्याः । चंद्रनन्दनः ।

हि० व्या०—यथाविधि जलौकाओं के पड़कने के पश्चात् एक नवीन एवं बड़े घड़े में तालाब सरोवर आदि का जल भरकर थोड़ा उन्हीं में कीचड़ लेकर घड़े में डाल दें । इस घड़े में पकड़ी हुई जलौकाओं को छोड़ दें । इनके शयन के लिए जलज वनस्पतियों (कमल-कसेरू आदि) के पत्र तथा घास उस घट में डाल दें ।

टि०—आवाप्य प्रक्षिप्य । निदध्यात् । स्थापयेत् ।
वल्लूरं शुष्कमासम् । संक्रामयेत् संचारयेत् ॥

सु० सं० अ० १३ सू० १७

तीन तीन दिन पश्चात् घड़े का पुराना जल हटाकर नवीन जल भर देना चाहिए तथा पूर्वोक्त प्रकार से शयन के लिए घास पत्रादि भी नवीन डालने चाहिए । सात सात दिन पश्चात् घट भी बदल देना चाहिए ।

पोषण हेतु—सिंघाडा, कसेरू, शालूक कन्द, सिवार, मृणाल, शुष्क मांस के टुकड़े, शुद्ध मिट्टी तथा कमल गट्टा चूर्ण डालना चाहिए । वाग्भट में जलौकाओं के पीने के लिए शुद्ध एवं स्वच्छ जल से मन्तव्य अशुद्ध जल हटाकर शुद्ध जल भरने से ही होता है ।

जल में ही जलौकाएं लालास्राव करती रहती है । इससे जल में सड़न हो जाती है । उसी स्रावयुक्त जल के अधिक सम्पर्क से विषैली भी हो जाती है । इसी कारण ३, ३ दिन के पश्चात् भक्ष्य एवं जल बदलने का निर्देश किया है ।

निर्विषाणां जलौकसां वर्णनम्

शुद्धाम्बुजाः पुनः ।
निर्विषाः शैवलश्यावा वृत्ता नीलोर्ध्वराजयः ॥
कषायपृष्ठास्तन्वंग्यः किंचित्पीतोदराश्च याः ॥

अ० हृ० सू० अ० २६।३७

जलौकस इति वर्तते । शुद्धजलोद्भवाः सौगन्धि कोत्पलकमल विपुल सलिलशैवालजा जलौकसो निर्विषाः स्युः । आसां च लक्षणमाह । शैवलेत्यादि । शैवलमिव श्यावास्तथा वृत्तास्तथा नीलोर्ध्वराजयस्तथा कषायं न्यग्रोधादिवल्कलसदृशवर्णं पृष्ठं यासांता एवम् । तथा तनुशरीराः किंचित्पीतवर्णजठराश्च निर्विषा वेद्याः ॥ अरुणदत्तः ।

शुद्धाम्बुसम्भवाः पद्मोत्पलसौगन्धिकादिसुगन्धिविपुलविमलसलिलसम्भूताः । शैवलवत् श्यावा शैवलवर्णाः । तथा वृत्ता वर्तुला नीला नीलवर्णाः । ऊर्ध्वमुपरि राजयो रेखायासां ताः । तथा कषायपृष्ठाः कषायवर्णं पृष्ठाः । तनूनंगानि यासां तास्तन्वङ्गयः । किंचिदीषत्पीतं पीतवर्णमुदरं यासां ताः सर्वा निर्विषाः ॥ चंद्रनन्दनः ।

सविषमत्स्यादि कोथ विकृत जल जाताः सविषाः

तत्र सविषमत्स्यकोटदर्दुरसूत्रपुरीषकोथजाताः कलुषेष्वम्भसु च सविषाः ।

सु० सू १३।१४ क

इदानीं सविष कोथ कलुष जलोत्पन्नानां जलौकसां सविषनिर्विषं दर्शयन्नाह तत्र सविषेत्यादि । कोथः पूतिभावः ॥ कलुषेषु मलिनेषु ॥ (डल्हणः)

निर्विष जलौकसां निवास प्रशस्त क्षेत्राणिः

तासां यवनपाण्ड्यसह्यपौतनादीनि क्षेत्राणि, तेषु महाशरीरा बलवत्यः शीघ्रपायिन्यो महाशना निर्विषाश्च विशेषेण भवन्ति ।

सु० सू० १३।१३

तासामित्यादि । यवनः तुरुष्कदेशः, पाण्डयोदक्षिणदिग्वभागीयो देशः सह्यो नर्मदायाः पारे पर्वतविशेषः, पौतनो मथुराप्रदेशः । यवनादि क्षेत्रेषु कीदृशाजलौकाभवन्तीत्याह—तेष्वित्यादि । केचिद्यवनादीनि क्षेत्राणि न पठन्ति, कुतः ? सविषाणां सविषकीटादि कोथस्य क्षेत्रत्वात्, निर्विषाणां तु पद्मोत्पलादिकोथस्य क्षेत्रत्वादयुक्तं यवनादि क्षेत्र कथनमिति वदन्ति ।। डल्हणः ।

तासामित्यादि । सह्यो नर्मदासमीपवर्तीपर्व्वत विशेषः । इतरे तु देशभेदाः । हाराणच० ।

केचित् तासां यवनादीनि क्षेत्राणि पठन्ति, अन्ये तु सविषाणां सविषकीटादि कोथस्य तथा निर्विषाणां पद्मादिकोथस्य क्षेत्रतयोक्तत्वान्न पठनीयानीति वदन्ति, तथा क्षेत्रेषु विचरन्तीत्यादि । श्लोकं केचित् पठन्ति । न च संकीर्णचारिण्य इति विषादिविरूद्धाहारभुजः, शैवलाद्यशनं ह्यविरूद्धमुक्तम् ।। चक्रपाणिः ।

जलौकाओं के उत्पति एवं निवास क्षेत्र

समस्त जलौकाओं में निर्विष के प्राप्ति स्थान, यवन, पाण्ड्य, सह्य एवं पौतज आदि क्षेत्र बताये है । इन भू-भागों में बड़े, शरीर वाली, पुष्ट, शीघ्र-रक्त पीने वाली, अधिक खाने वाली विशेष रूप से होती है ।

टीकाकारों ने यवन देश से तुरूष्क देश अर्थात टर्की लिया है, पाण्ड्य से दक्षिण दिशा में स्थित मद्रास के चोरल प्रदेश का नैऋत्य भाग को लिया गया है । सह्य से नर्वदा तटवर्ती पर्वतीय भाग तथा पौतन से मथुरा का ग्रहण किया है । क्योंकि पूतनाया इदं पौतनम् से मथुरा का ही ग्रहण होता है ।

उपयुक्त प्रदेशों में जहां क्रमशः कुछ श्वेत कमल नीलकमल ईषद रक्त-कमल, रक्तकमलप्रकार सौगंधिक (चन्द्रोदय विकाशि) कवलय पूर्ण श्वेत कमल, एवं शैवाल के कोथ में तथा स्वच्छ जल में निर्विष जलौकाएं उत्पन्न होती है ।

उपर्युक्त वर्णित विषविरहित जलौकाएं, गहन तथा सुगन्धिक जल वाले जलाशयों में रहती है । संकीर्ण स्थानों में नहीं घूमती अथवा विष प्रभाव वाले पदार्थों को नहीं खाती हैं तथा कीचड़ युक्त स्थान में भी निवास नहीं करती है ।

जलौकसां भेदाः

ता द्वादशः, तासां सविषाः षट्, तावत्य एव निर्विषाः ।।

सु० सू० १३।१०

एवशब्दोऽत्र परतन्त्रोक्तसविषाष्टजलौकाशंकानिरासार्थम् । डल्हणः

तस्तु द्विविधाः सविषा निर्विषाश्च । अ० सं० सू० अ० ३५।४

निर्विष जलौकसां वर्णनम्

अथ निर्विषाः—कपिला, पिंगला, शंकुमुखी, मूषिका, पुण्डरीकमुखी, सावरिकाचेति । तत्र मनः शिलारंजिताभ्यामिव पार्श्वाभ्यां पृष्ठे स्निग्धा मुद्गवर्णा कपिला, किंचिद्रक्ता वृत्तकाया पिंगाऽऽशुगा च पिंगला, यकृद्वर्णा शीघ्रपायिनी दीर्घतीक्ष्णमुखी शंकुमुखी, मूषिकाकृतिवर्णाऽनिष्टगन्धा च मूषिका, मुद्गवर्णा पुण्डरीक तुल्य वत्स पुण्डरीकमुखी, स्निग्धा पद्मपत्र वर्णाऽष्टादशांगुलप्रमाणा सावरिका सा च पूश्वर्थे, इत्येता अविषा व्याख्याताः ।

—सु० सू० १३।१२

उपादानार्थं निर्विषाणां नामानि निर्दिशन्नाहअथेत्यादि । ता एवं लक्षणं निर्दिशन्नाह तत्रेत्यादि । मुद्गवर्णा हरितमुद्गवर्णा । पिंगला कपिला आशुगा शीघ्रगामिनी । यकृद्वर्णा नीललोहितवर्णा । मूषिकाकृति वर्णेति मूषिकाकृतिर्मूषिकवर्णा चेत्यर्थः । पुण्डरीक तुल्य वक्त्रेति पद्मवद्विस्तीर्णमुखी । सावरिकाया-विषयमाह—सा चेत्यादि । पश्वर्थे हस्त्यश्वादीनामर्थे न पुनर्मनुष्याणाम् ।

—डल्हणः ।

अथेत्यादि । पिंगलवर्णा । मूषिकाकृतिवर्णा मूषिकलांगूलाकृतिवर्णा इति तात्पर्यम् । पश्वर्थाया अपि सावरिकाया इहोपदेशो निर्विषाप्रसंगेनेति बोध्यम् ।

—हारापच० ।

अथ निर्विषा इत्यादि । मुद्गवर्णेति हरितमुद्गवर्णा । यकृद्वर्णेति यकृत्सदृसनीललोहितवर्णा मूषिकालाङ्गूलाकृतिः, तद्वद्वर्णा च । सा पश्वर्थ इति अतिविशालत्वात् । चक्रपाणिः । सु० सू० अ० १३।-

पद्मोत्पलानि शैवल कोथ विमलजल जाताः निर्विषाः ।

पद्मोत्पलनलिन कुमुद सौगन्धिककुवलय पुण्डरीक शैवल कोथ जाता विमलेष्ववम्भःसु च निर्विषाः । क्षेत्रेषु विचरन्त्येताः सलिलाद्य सुगन्धिषु । न च संकीर्णचारिण्यो न च पंकेशयाः सुखाः । — सु० सू० १३।१४।-१५

तत्र पद्मोपलेत्यादि । पद्ममिपच्छकुलम्, उत्पलमिषन्नीलं नलिनमिषद्रक्तं, कुमुदं, कुइआ ':इति लोके, सौगन्धिकं गर्दभपुष्पाभिधानमत्यन्त सुरभि चन्द्रोदयविकाशि, कुवलयं रक्तोत्पलम्, पुण्डरीकं अतिश्वेतपद्मं शेवलंशैवालं, कोथ जाता इति एषां पूतिभाव जाताः इदानीं क्षेत्र संग्रहः श्लोकमाह भवति चायेत्यादि एता इति पूर्वोक्तानिर्विषा जलोकाः, सुगन्धिषु शोभन गन्धिषु । न च संकीर्ण चारिण्य इति न विषादिविरूद्धाहार-भुजः, शैवलाघशनत्वात् । न च पंके स्वपन्ति, तृणोदकपत्र शयनत्वात् । सुखा इति सुख हेतुत्वात् सुखकारिण्य इत्यर्थः ।

—डल्हणः

पद्मोत्पलसौगन्धिकादिसुगन्धविमलविपुलसलिलशैवालजाः शैवालश्यावा नीलोर्ध्वंराजयो वृत्ताश्च निर्विषाः । अ० सं० सू० अ० ३५।४

जलौकसां भेदा—प्रकृति की दृष्टि से जलौकाएं दो प्रकार की होती है—१—सविष २—निर्विष।

कुल १२ प्रकार की जलौकाओं में ६ सविष एवं ६ निर्विष होती हैं।

सविष जलौकसां उत्पत्ति स्थानम् तासां प्रयोगोद्रपवाश्च।

तत्र दुष्टाम्बु सर्प मण्डूक मत्स्यादि शव कोथ मूत्र पुरीषजा, रक्तश्वेतातिकृष्ण तनु स्थूल चपल पिच्छिलाः स्थूलमध्यारोमशाः शक्रायुधवद्विचित्रोर्ध्वं राजीचितावा सविषाः। तद्दशाद्गाहशोफ पाक कण्डू पिटिका विसर्प ज्वर मूर्च्छाश्वित्रोत्पत्तिः तत्र विषपित्त रक्तहरां क्रियां कुर्वीत्।

—अ० सं० सू० ३५।३

सामान्यतः अग्राह्य जलौकसां वर्णनम् तासां प्रयोगोपद्रवाश्च भवतिचात्र—

स्थूलमध्याः परिक्लिष्टाः पृथ्व्यो मन्द विचेष्टिताः।
अग्राहिण्योऽल्पपायिन्यः सविषोश्च न पूजिताः॥

—सु० सू० १३।१८

परिक्लिष्टा अमनोज्ञदर्शनाः पृथ्व्यो विस्तीर्णाः मन्द,
विचेष्टिता मन्दगामिन्यः न पूजिता न श्लाघिताः॥ —डल्हण

अग्राह्य जलौकाओं का वर्णन्—

हि०व्या०—सुश्रुत के अनुसार सविष एवं निर्विष में से सविष जलौकाओं का निषेध करते हुए यह भी बताया है कि प्रयुक्त की जाने वाली जलौकाओं में जो मध्य में, मोटी किन्तु दोनों किनारों पर पतली हो, देखने में भद्दी, अधिक चपटी मन्द चेष्टा वाली, रोगी के अंग को न पकड़ने वाली तथा कम रक्त पीने वाली भी रक्त स्रावणार्थ प्रशस्त नहीं मानी जाती।

निर्विष जलौका विवरण—निर्विष जलौकाओं में, कपिला, पिंगला, शंकुमुखी, मूषिका, पुण्डरीकमुखी और सावरिका है।

स्वरूप में—(१) मनः शिला के समान पीले रंग से रंजित पार्श्वभाग, पीठ पर स्निग्धता, तथा मूंग के समान रंग वाली को कपिला कहते हैं।

२. पिंगला कुछ-कुछ लाल रंगवाली, गोल शरीर वाली, कुछ पिंगल वर्ण की और शीघ्र गति करने वाली होती है।

३. शंकुमुखी यकृत के समान (अथवा काले या गहरे बैंगनी) रंग वाली होती है। रक्त को शीघ्र पीने वाली तथा लम्बे एवं तीक्ष्ण मुख वाली होती है।

४. मूषिका नाम वाली जलौका मूषिका के समान स्वरूप वाली एवं उसी के समान रंग वाली तथा दुर्गन्धि होती है।

५. पुण्डरीकमुखी, मूंग के समान हरित वर्ण की तथा कमल के समान मुख वाली होती है।

६. सारिवा स्निग्ध, कमल पत्र के समान वर्ण वाली तथा अठारह अंगुल लम्बी जैक होती है यह पशुओं के लिए रक्तावं सेवन में उपयोगी है।

उत्पत्ति स्थान एवं वातावरण—विविध जातियों वाले कमल, श्वेत, रक्त, नील, सुगन्धि पुण्डरीक आदि तथा शैवाल, इनके कोथ में तथा निर्मल जल में निर्विष (कपिला, पिंगला आदि) जलौकाएं उत्पन्न होती है।

अष्टांग संग्रह में लिखा है वर्ण सिवार के समान श्याम, (हरित, कृष्ण) तथा नौली धारियों वाली एवं गोल शरीर वाली निर्विष होती है।

सविष जलौकसां निरूपणम् तत्प्रयोगोद्रवाः तच्चिकित्सा सूत्रं च

तत्र सविषा—कृष्णा, कर्बुरा, अलगंदा, इन्द्रायुधा, सामुद्रिका, गोचन्दना चेति, तासु, अन्जनचूर्णवर्णा पृथुशिराः कृष्णा, वर्मिमत्स्यवदायता छिन्नोन्नतकुक्षिः कर्बुराः, लोमशा महापार्श्वा कृष्णमुखी अलगर्दाः, इन्द्रायुधवदूर्ध्वंराजिभिश्चित्रा रिन्द्रायुधाः ईषदसितपीतिका विचित्रपुष्पा कृतिचित्रा सामुद्रिकाः, गोवृषणवदधो भागे···द्विधाभूताकृतिरणुमुखी गोचन्दनेति। ताभिर्दष्टे पुरुषे दंशे श्वयथुतिमात्रं कण्डूर्मूर्च्छा ज्वरोदाहश्छर्दिमदः सदनमिति लिंगानि भवन्ति। तत्र महागदः पानालेपन नस्य कर्मादिषूपयोज्यः। इन्द्रायुधा दष्टमसाध्यम्। इत्येताः सविषाः सचिकित्सिता व्याख्याताः।

सु० सू० १३।११

सविषाणां पोषणावचारण निषेधार्थं प्रमादतस्त्ववचारितानां स्वयं वा लग्नानां व्यापच्चिकित्सार्थं नाम्ना निर्देशं कुर्वन्नाह,-तत्र सविषा इत्यादि। तासामाकृति निर्देष्टुमाह,- तास्त्वंजनेत्यादि। अंजनं कज्जलं, पृथूशिरा महामस्तका। वर्मिमत्स्यः सर्पाकारः, अन्ये रोहितमत्स्यमाहुः, छिन्नोन्नत कुक्षिरिति क्वचिच्छिन्नकुक्षिः क्वचिदुन्नतकुक्षिः। रोमश इति बलियुक्तत्वाद्रोमावततेव प्रतिभाति। इन्द्रायुधं शक्रधनुः, चित्रा चित्रिता मण्डितेत्यर्थः। विचित्रपुष्पाकृतिचित्रेति नाम्ना संस्थान धवलबिन्दुचित्रा। गोवृषणवदधो भागे द्विधाभूताकृतिरिति वृषभाण्ड इवाधोभागे द्विप्रकार भूताकृतिः तासांदंशेविषोपद्रवं निर्दिशन्नाहः, ताभिर्दष्टे इत्यादि। अतिमात्रशब्दः कण्ड्वादिभिः सह प्रत्येकं संबध्यते। मदः पूगफलेनेव मत्तता सदनमंगग्लानिः। तासां दंशविषे चिकित्सां वक्तुमाह, तत्र महागद इत्यादि। तत्र तस्मिन् विषे महागदः "त्रिवृद्विशल्ये मधुकं हरिद्रे (क० अ० ५) इत्यादिना कल्पस्थानोक्तः। नस्यकर्मादिष्वित्यत्रादिशब्दात् परिषेकावगाहादिषु योज्यः। इन्द्रायुधेत्यादि असाध्यम् असाधनार्हम्। तद्दंशलिंग त्वसाध्यसर्पदष्टविषवेग विज्ञानबद्वेदितव्यम्। अन्येतु श्वध्वादिनां सम्पूर्ण

लिंगत्वादरिष्टाद्युपपत्तेर्महागदावचारणेनाप्यनुपशान्तेस्तल्लिंगज्ञानमित्याहुः ।
—डल्हणः

तत्रेत्यादि । वर्म्मिमत्स्योनाम "वाइम" इति विज्ञायते । क्वचिच्छिन्न इव छिन्नः सूक्ष्मतरः क्वचिच्चोन्नतः कुक्षिरस्येति छिन्नोन्नत कुक्षिः महागदः सर्पदष्ट-कल्पे वक्ष्यमाणः ।
हराणच०

एवेत्यवधारणं तन्त्रान्तरोक्त सविषाष्टजलौकानिषेधार्थे, तत्रोक्ताधिकद्वय षट्स्वत्रोक्तास्वेवावरोधात् । सविषाणामुपन्यासः परित्यागार्थं, दैवतो लग्नानां विषचिकित्सार्थं च क्वचिच्छिनः क्वचिदुन्नतः कुक्षिर्यस्याः सा छिन्नोन्नतकुक्षिः । रोमशेव दृश्यते इति रोमशा । गोवृषणवदिति गवाण्डवदिति । महागदः सर्पदष्ट चिकित्सिते वक्तव्यः इन्द्रायुधादष्टमसाध्यमिति असाध्य सर्पदष्टलक्षणतुल्यतया ज्ञेयं, तथेह सन्निपदष्टलक्षणतया दंशे श्वयथ्वादय उक्तास्तेऽपि तीव्रा इन्द्रायुधा दष्टे ज्ञेयाः ।
चक्रपा०

जलौकः प्रयोगयोग्येषु न प्रयोज्यानां सविषानां जलौकसां वर्णनं

दुष्टांबुमत्स्यभेकाहिशवकोथमलोद्भवाः ।
रक्ताः श्वेता भृशं कृष्णाश्चपलाः स्थूलपिच्छिलाः ।
इंद्रायुधविचित्रोर्ध्वराजयो रोमशाश्च ताः ।
सविषा वर्जयेत् ··· ··· ··· ।
अ० हृ० सू० २६।३५

ताश्चद्विप्रकाराः । सविषा निर्विषाश्च । तत्र सविषाणां सापायत्वात्ता एव तावल्लक्षयति । दुष्टांबूद्भवाश्च जलौकसः सविषा इति वर्जयेत् । तथा मत्स्य भेकसर्पादिशवकोथोद्भावस्तथा तेषामेव मत्स्यादीनां ये मलमूत्रपुरीषादयस्तदुद्भ वाश्च सविषा इति वर्जयेत् । सविषाणां लक्षणमाह । रक्ता इत्यादि । यावल्लो मशांतास्तां: सविषा यतस्ता वर्जयेत्ता न योजयेत ।
अरुणदत्तः ।

दुष्टाम्बूद्भवाः मत्स्यादीनां मृतशरीरक्लेदमलोद्भवा यास्ता रक्ता लोहिताकाराः । श्वेताः शुक्लाः । कृष्णाः भृशमत्यर्थं कृष्णाः कृष्णवर्णाः । चपलागमनशीलास्तथा स्थूला वृहत्कायाः । पिच्छिला अविशदास्तथा इन्द्रा युधवद्विचित्रा नानाजातयो नीललोहितमाञ्जिष्ठभेदभिन्नाः । ऊर्ध्वमुपरिष्टा-द्राजयो लेखा यासां तास्तथाविधाः । रोमशाः रोमयुक्ताश्च ताः सर्वा सविषा वर्जयेत् रक्तस्रुत्यर्थं न पातयेत् ।
चंद्रनन्दनः

जलौकसां विषयमाह जलौकस इति ॥ वर्ज्या जलौकस आह—दुष्टांम्बिति ।

दुष्टांबुमत्स्यादिशवकोथमलेषु च जाताः ।
हेमाद्रिः ।

सविष जलौका वर्णन—विष युक्त जलौकाओं में कृष्णा, कर्बुरा, अलगंदा, इन्द्रायुधा, सामुद्रिका, एवं गोचन्दना ये ६ होती हैं ।

कृष्णा—इनमें अंजन के चूर्ण के समान काले वर्ण तथा बड़े शिरवाली कृष्णा होती है ।

कर्बुरा—वर्मि मछली की तरह लम्बी एवं उदर पर उभरी हुई रेखाओं वाली होती है ।

अलगंदा—शरीर पर रोम युक्त, महापार्श्वा तथा जिसका मुख काला हो वह अलगंदा है ।

इन्द्रायुधा—इन्द्रधनुष के रंग के समान विचित्र रंगों वाली, रेखायुक्त होती है ।

सामुद्रिका—कृष्ण एवं पीत बिन्दुओं वाली अनेक प्रकार के पुष्पों के समान विचित्र सामुद्रिका होती है ।

गोचन्दना—बैल के वृषण के समान अधोभाग में दो भागों में विभक्त किन्तु जुड़ी हुई आकृति तथा छोटे मुख वाली होती है ।

निर्विष जलौका प्रयोग, हानि तत्प्रतिकारोपायाः—इन जोकों के काट लेने पर दंश स्थान पर, शोथ, कण्डु तथा रोगी को ज्वर एवं बेहोशी, दाह, वमन, नशा एवं श्रमयुक्त लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं ।

इस प्रकार की स्थिति में महा अगद पीने आलेप अथवा नस्यादि प्रयोग कराना चाहिए । इनमें इन्द्रायुधाद्वारादंश किया रोगी असाध्य होता है । महा गद का विवरण कल्पस्थान सर्पदंश चिकित्सा में दिया है ।

जलौकसां पुंस्त्री लक्षणानि

ताः सुकुमारास्तनुत्वचोऽल्पशिरस्का बृहदधरकायाश्चस्त्रियः विपरीताः पुमांसोऽर्द्धचन्द्राकृतिः पुरोवृत्ताश्च ।
अ० सं० सू० अ० ३५।

हि० व्या०—बताई गई जोकों में से जो सुकुमार, पतलीत्वचावाली, छोटे शिर वाली तथा जिनके शरीर का पिछला भाग बड़ा होता है वे स्त्री (मादा) जाति की जलौका होती हैं । इनके विपरीत लक्षणों वाली पुमान् (नर) जौंक होती हैं । ये अर्ध चन्द्राकार एवं मुख की तरफ गोल होती है ।

स्त्रीपुरुष भेदेन जलौकसां उपयोगस्थलानि

तत्र बहुदोषेषु चिरोत्थितेषु चामयेषु पुमांसो योजयितव्याः । स्त्रियो विपरीतेषु
अ० सं० स० अ० ३५।-

हि० व्या०—इन नर-मादा जलौकाओं का प्रयोग भी पृथक बताते हुए लिखा है कि अधिक दोष वाले पुरातन (जीर्ण) रोगों में नर जलौकाओं का तथा नवीन एवं कम दोषों वाले रोगों में मादा जौंक का प्रयोग करना चाहिए।

चतुर्विध जलौका नामानि तेषां लक्षणानि च

जलौकाश्चतुर्विधाः प्रोक्ता इन्द्रायुधा रोहिणी कालिका धूम्रा चेति ॥१॥

हा० सं० च० स्थाने अ० ६।-

हि० व्या०—जलौका चार प्रकार की होती है।

१. इन्द्रायुधा, २. रोहिणी, ३. कालिका, ४. धूम्रा।

नीलवर्णा पार्श्वरक्त तीक्ष्णमुखीगम्भीरनिर्मलोदके पाषाणसन्धौ च प्रविशति। तया विद्रध्युदरदाहशोफमूर्च्छा विषाद्युपद्रवयति ॥२॥

हि० व्या०—इनमें प्रथम वर्ण में नील, पसलियों (पार्श्व) की तरफ रक्त वर्ण वाली, तीक्ष्ण मुखवाली वह गम्भीर निर्मल जल में पत्थरों के सन्धिस्थान में पाई जाती है। अतः इनका प्रयोग उदररोग, दाह, शोप, मूर्च्छा, विष आदि को दूर करने के लिए किया जाता है।

नीलवर्णा पार्श्वपीता शंकुमुखी पद्मनालेप्रविशतिः।
तया विद्रधिविसर्प शोफाद्युपद्रवयति ॥

ह० सं० च० स्थाने अ० ६।३

हि० व्या०—दूसरी रोहिणी नाम की जलौका वर्ण में नील, पार्श्व में किञ्चित् पीत वर्ण की, शंकु के समान मुख वाली होती है। जो कमलनाल में प्रायः रहती है। इसका प्रयोग विप विद्रधि, शोथ में किए जाने पर उपद्रव उत्पन्न होते हैं।

कृष्णा कालिका मत्स्याशये दूरे त्याज्या। हा० सं० च० ६।४

हि० व्या०—तीसरी कृष्ण वर्ण की जौंक मच्छलियों के निवास स्थान पर रहती है इसे दूर से ही त्याग देना चाहिए।

धूम्रा कपोतमहिषवर्णा पीतोदरी अर्द्धचन्द्रमुखी कर्दमे कलुषोदके प्रविशतिः। सा रक्तावसेचनयोग्या निरूपद्रवा च। हा० सं० च० स्थाने अ० ६।५

हि० व्या०—चतुर्थ धूम्रा नामक जलौका, कपोत एवं महिष के वर्ण वाली, उदर पर पीले रंग वाली अर्ध चन्द्रमा के समान मुख वाली होती है।

यह कीचड़ एवं गदले जल में रहती है। यह रक्त निकालने में उत्तम बताई गई है। एवं निरूपद्रव होती है।

जलौकसाम् परिमाणम्

सर्वासां च परं प्रमाणमष्टादशांगुलानि। तत्र चतुः पंचषडंगुला नृषु योजयेत्। गजवाजिष्वपराः। अ० सं० सू० अ० ३५।५

हि० व्या०—जौंक नामक प्राणी लम्बा होता है। परन्तु उसकी अधिक से अधिक लम्बाई १८ अंगुल होती है। मानव शरीर पर ४-५ अथवा ६ अंगुल लम्बी जौंक का प्रयोग करना चाहिए। इससे अधिक लम्बी जौंक का प्रयोग हाथी एवं घोड़ों पर करना चाहिए।

जलौको द्वारा रक्त स्रावण योग्याः।

नृपाढ्यबालस्थविरभीरु दुर्बल नारी सुकुमाराणामनुग्रहार्थं[1] परमसुकुमारोऽयं शोणितावसेचनोपायोऽभिहितो जलौकसः। सु० सू० अ० १३।३

हि० व्या०—प्रधान रूप से कोमल प्रकृति एवं मृदु स्वभाव वाले व्यक्तियों यथा- राज, राज्याधिकारी (मन्त्री आदि) धनाढ्य, बालक, वृद्ध, डरपोक, दुर्बल शरीर वाले, स्त्री तथा इसी प्रकृति वाले अन्य व्यक्तियों पर उपकार के भाव से अर्थात् किसी प्रकार के उपद्रव न हो एवं चिकित्सा भी हो सके यह जानकर जलौका प्रयोग रक्त स्रावणार्थ कराना चाहिए।

जलौकसां अवचारणविधिः

अथ जलौकोवसेकसाध्यव्याधितमुपवेश्य संवेश्य वा, विरूक्ष्य चास्य तमवकाशं मृद्गोमयचूर्णैर्यद्यरूजः स्यात्। गृहीताश्च ताः सर्षपरजनीकल्कोदक प्रदिग्धगात्रीः सलिल सरकमध्ये मुहूर्तंस्थिता विगत कलमाज्ञात्वा तासी रोगं ग्राह्येत्। श्लक्ष्णशुक्लार्द्रपिचु प्रोतावच्छन्नां कृत्वा मुखमपावृणुयात्, अगृह्णन्त्यै क्षीरबिन्दु शोणितबिन्दुं वा दद्यात्, शस्त्रपदानि वा कुर्वीत्, यद्येवमपि न गृह्णीयात्तदाऽन्यांग्राह्येत्॥ सु० सू० १३।१६

तासामवचारणमुद्दिशन्नाह,—अथेत्यादि। संवेश्य शाययित्वा। अरूजमव्रणं, सव्रणे तु गन्धकल्केदाभ्यामेव गृह्णन्ति, अथवा रूजावति विरूक्षणेन रूजाति-

---

१. अनुग्रहार्थमिति उपकारार्थम्, परमसंकुमारोऽयमिति प्रधानमृदुरित्यर्थः, शृंगालांबू सुकुमारोपायो, जलौकसस्तु परमसुकुमारोपायः असुकुमारोपायस्तु प्रच्छन्नं सिराव्यधनं च। डल्हणः

वृद्धिः । सलिलसरकं जलपात्रं, केचित् सलिलसरकस्थाने, सरकमध्येचारिण्यः "इति पठन्ति, सरकं जलपूर्णपात्रम् । रोगोऽत्र रोगाधिष्ठानं दोषाधिष्ठानं वा । श्लक्ष्णेत्यादि । पिचुः तूलं बीजहीनः कार्पासः प्रोतम् वस्त्रम् । अपावृणुयात् आच्छादयेत् ॥ डल्हणः ।

अथेत्यादि । संवेश्य शाययित्वेत्यर्थः । यद्यरूजं स्यान्तर्हि मृद्गोमय—चूर्णैर्विरूक्ष्य निः स्नेही कृत्वेत्यर्थः । सरुजंच पिचुप्रभृतिनेति तात्पर्यम् ॥

हाराणच० ।

अथेत्यादि । संवेश्येति शाययित्वा । यद्यरूज इति सरूजे विरूक्षणेन रूजावृद्धिभयातन्न कर्तव्यमिति । सर्षपरजनीकल्कलेपनादि निर्विषत्वाय । सरकः पात्रम् । विगतमला इति अपगतबाह्यमलाः । जलायुका प्रभावात् प्रथमं दुष्टमेव रक्तमादत्ते । यदुक्तं—"संपृक्ताद्दुष्टशुद्धास्याज्जलौका दुष्टशोणितम् । आदत्ते प्रथमं हंसः क्षीरं क्षीरोदकादिव" इति । अतो दुष्टरक्त गृहीते शुद्धरक्तज्ञानोपायानाह-दंशे तोदेत्यादि । प्रादुर्भावैरिति । प्रकर्षेण तोदाद्युद्भवैः, मनाक् तोदादि दुष्टरक्तग्रहणेऽपि भवति । अत्र शुद्धशोणित् धातुक्षये कफकार्या कण्डूर्न युक्तेति कण्डूं केचिन्न पठन्तिः, किं तु तृप्यज्जलौका मुखोद्भूतकफेन प्रथमं शुद्धरक्ताकर्षणे कण्डूरुपपद्यते । तण्डुलकण्डनं तण्डुलगुण्डकः । केचिज्जलायुकाया असम्यग्वमने इन्द्रमदं व्याधिं पठन्ति, तल्लक्षणानिर्देशान्न पठनीय इत्यन्ये ॥

चक्रपा० ।

जलौकसां प्रयोग प्रकारः ।

अथेतरानिशाकल्कयुक्तेऽभसि परिप्लुता ।
अवंतिसोमे तक्रे वा पुनश्चाश्वासिता जले ॥
लागयेद घृतमृत्सांगशास्त्ररक्तनिपातनं ।
पिबंतीरून्नतस्कंधाश्छादयेन्मृदुवाससा ॥

अ० हृ० सू० अ० २६।३८-३९

अथ परीक्षातोऽनंतरमितरा लागयेत् । किं भूताः हरिद्राकल्कयुक्तजले परिप्लुताः कांजिके तक्रेवा परिप्लुताः पुनश्चजले समाश्वासिताः सात्म्यभूते जले प्लवनार्हाः सोत्साहाः सतीर्योजयेत । अलगंताः कथं लागयेदित्याह । घृतेत्यादि । घृतादिपातनैस्ता योजयेत् । पातनशब्दः प्रत्येकं योज्यः । शस्त्रेणांगे रक्तं मोक्षयित्वा वा ता योजयेत् । ताश्चपिबंतीः सूक्ष्मवाससाऽच्छादयेत् । एवं हि तासां मक्षिकाद्यनुपद्रवात् सम्यग्योजना स्यात् । अथ किमेताः पिबंत्युतनेति कथं ज्ञायत इत्यत्र विशेषणद्वारेण हेतुमाह । उन्नतस्कन्धा इति । उन्नतः स्कंधो यासां ता एवम् उन्नत स्कंधत्वेन तासां ज्ञायत इत्यर्थः । अरुणदत्तः ।

अवस्थानं कांजिकेन प्रक्षाल्य नवनीतेनाभ्रक्षयित्वा उष्णोदकेन प्रक्षालयेत् । पश्चात् तत्र जलौकावचारणीया । अ० ६।७ क (हारीत चतुर्थस्थान)

जलौका अवचारणविधि ।

हि० व्या०—जिस व्यक्ति को जलौका द्वारा रक्त स्रावण कराया जाता है उसे बिठाकर या शयन कराकर जोंक लगाए जाने वाले स्थान पर यदि व्रण नहीं बना हो तो मिट्टी एवं गोबर के चूर्ण से घिसकर रूक्ष करें तत्पश्चात् गृहीत या पाली हुई जलौकाओं के शरीर पर सरसों एवं हल्दी के कल्क से लिप्त करके जल पात्र में कुछ समय तक रख दें । इससे उनमें ग्लानि दूर हो जाती है । विगत ग्लानि जानकर रक्त चूसने के लिए दूषित स्थान पर लगा देना चाहिए । आचूषण करती हुई जोंक पर चिकने, पतले श्वेत, गीले, पिचु अथवा प्लोत को रख देना चाहिए । इससे उन्हें उष्णता की प्रतीति नहीं होती एवं रक्त का आचूषण भी यथोचित करती रहती है ।

सावधानियां—यदि जलौका रक्त नहीं चूसती हो अथवा उस स्थान पर चिपकती नहीं हो तो उस स्थान पर दूध या रक्त की बूंद लगा देनी चाहिए । इससे भी कार्य न हो तो उस स्थान पर पाछ लगा देना चाहिए । यदि किसी भी स्थिति या प्रक्रिया से जोंक स्थान को न पकड़े तो उसे पानी में छोड़कर दूसरी जोंक लगानी चाहिए ।

विशेष—अष्टांग हृदय में प्रयोग कराये जाने वाली जलौकाओं को कांजी एवं तक्र में नहलाकर भी प्रयोग कराने का उल्लेख किया है । जलौका दूषित स्थान को पकड़कर जब अपने कन्धे को ऊंचा करके गतिशील हो तो रक्त ग्रहण कराना समझकर मृदु एवं आर्द्र वस्त्र से ढकने का उल्लेख किया है ।

जलौकोद्वारा रक्त ग्रहणम् तत्र सहायतोपायश्च

यदा च निविशतेश्खुरवदाननं कृत्वोन्नम्य च स्कन्धं तदा जानीयाद्गृह्णतीति, गृह्णन्ती चार्द्रवस्त्रावच्छन्नां कृत्वाधारयेत् ।

सु० सू० १३।२०

रोगाधिष्ठाने तासां ग्रहणलक्षणमाह, यदेत्यादि । निविशिते लगतेत्यर्थः गृह्णाति विध्यतीत्यर्थः । गृह्णन्तीं शेणितमाददानामित्यर्थः । आद्रवस्त्रावच्छन्नामिति इत्थं सुखिता शीघ्रं रक्तं पिबति, जलौकास्त्वात्मप्रभावेण प्राग्दुष्टमेव रक्तं पिबन्ति, यथा दुग्धमिश्रितोदकाद्धंसो दुग्धमेवपिबतीत्यर्थः डल्हणः ।

हि० व्या०—जब जोंक यथा स्थान लग जाती है तब वह घोड़े के खुर के समान मुखाकृति बनाकर, स्कन्ध को ऊंचा उठाकर रक्त पीने लगती है । तब रक्त ग्रहण कर रही है ऐसा जान लेना चाहिए तब उसे गीले वस्त्र से ढक देना चाहिए तथा थोड़ा-थोड़ा पानी कुछ समय के अन्तराल से डालते रहना चाहिए ।

पाठ भेद—"सेचयेच्च"—कृत्वावधारयेत् के बाद अन्यत्र यह पाठ अधिक है ।

जलौकोऽवचारणे शुद्धरक्तादानोपद्रवा तत्र जलौकोऽवमोचन विधिश्च

दंशे तोदकण्डूप्रादुर्भावैर्जानीयाच्छुद्धमियमादत्त इति, शुद्धमाददानामपनयेत्, अथ शोणित गन्धेन न मुंचेन्मुखमस्याः सैन्धवचूर्णेनावकिरेत् सु० सू० १३।२१

तासां विशुद्ध रक्तादाने विज्ञानोपायं दर्शयन्नाहतोदेत्यादि। तोदो व्यथा, स धातुक्षयोत्पन्नेन वायुना। शुद्ध रक्तक्षयात् श्लेष्मकार्यं कण्डूरिह न स्यादिति केचित् कण्डू ग्रहणं न कुर्वन्ति, अन्ये तु वदन्ति आग्नेयरक्तधातु क्षयात् कफधातोः सौम्यस्य जलौकामुख क्लेद वर्धितस्य वृद्धेः कण्डू संभव इति, अन्ये तु दंशतोदकण्डूप्रादुर्भावै, इति पठन्ति, व्याख्यानयन्ति च दंशो वनमक्षिका, दंशेन कृतो यस्तोदो व्यथा, तस्मिन् तोदयादृशी कण्डुस्तादृशी कण्डुर्यदास्यात्, तदा शुद्धरक्तादानं जानीयात्। तत्र किं कुर्यादित्याह, शुद्धमित्यादि। अवकिरेत् अवचूर्णयेत्। अन्यैस्तु शोणितगंधेन इति पठन्ति, गंधेनाभिकांक्षया, वदन्ति च "गन्धेन" इत्युक्तः पाठ, कुतः यस्माज्जलौकसां गन्धेन्द्रियं नास्तीति।

डल्हणः

यदेत्यादि। संचयेदिति सेवनं मुखादध एवं बोध्यं, मुंचेद्धि मुखसिक्ता प्रायेण शुद्धमादत्त इति दुष्टशोणिताभावादेव, उक्तं हि संपृक्ताद्दुष्टशुद्धस्याज्जलौका दुष्टशोणितम्। आदत्ते प्रथमं हंसः क्षीरं क्षीरोदकादिव इति।

हाराणच०।

अशुद्धरक्तापनोदने कारण संकेत

यथा च हंसः क्षीरोदकात्क्षीरमादत्ते। तद्वदुत्क्लिष्टे रक्ते जलौकाः प्राग् दुष्टमसृक्। यदा च तद्दंशे तोदः कण्डूवां तदाशुद्धरक्त रक्षणार्थं लवणचूर्णं वा मुखे दद्यात् अ० सं० सू० अ० ३५।५

जलौको द्वारा दुष्टरक्त निःसारणेयुक्तिः

संपृक्ताद्दुष्टशुद्धास्राज्जलौका दुष्टशोणितम्।
आदत्ते प्रथमं हंसः क्षीरं क्षीरोदकादिव ॥

अ० हृ० सू० अ० २६।४०

दुष्टशुद्धास्रान्मिलितादपि दुष्टरक्तं जलौकाः पूर्वमादत्ते न शुद्धं देहधातुस्थमिति दृष्टांतेन दर्शयति। हंस इत्यादि। हंसो यथा क्षीरजलान्मिश्रितात्प्राग्दुग्धमादत्ते न तु जलं तथा जलौकाः प्रागशुद्धं रक्तमादत्ते पश्चादितरदिति न्याय्यमेतत्। अरुणदत्तः

जलौकसां प्रयोगानन्तरं जलौकौ मोक्षण काल संकेत

दंशस्य तोदे कंड्वां वा मोक्षयेद्वामयेच्च ताम्।

अ० हृ० सू० २६।४१

दंशस्य तोदे सति कंड्वा वा सत्यां मोक्षयेत्। शुद्धरक्तरक्षार्थमतियोग-ग्याच्च। तामित्येकवचननिर्देशादेकां मोक्षयेन्न तु सर्वाः सकृदेवेति गमयति।

अथ पानलौल्याद्दंशं न त्यजेत्ततो हरिद्राचूर्णं लवणचूर्णं वा आनने दत्वा मोक्षयेत् मोक्षतां च जलौकसं वामयेत्। अरुणदत्तः।

जलौका दंशस्य तोदे व्याधायां सत्यामथवा कण्ड्वां समुपजातायां शुद्धरक्तरक्षार्थं ता जलौकसो मोक्षयेत् अपनयेत्। ततो मोक्षयित्वा पीतरक्तां वा वामयेत्। चंद्रनन्दनः।

जलौका रक्तचूर्णा पश्चात् पातिता। तस्या मुखं लवणेन मूत्रेण वा प्रक्षालयेत्।

हृ० संहिता चतुर्थ स्थान ६।६

अशुद्धरक्त ग्रहण करने की प्रक्रिया की विशिष्ट युक्ति

हि० व्या०—जलौका द्वारा अशुद्ध रक्त किस प्रकार ग्रहण किया जाता है इस विषय में दृटान्त सहित वाग्भट लिखते हैं कि जैसे हंस नामक पक्षि विशेष दूध एवं जल के मिश्रण में से दूध ग्रहण कर लेता है। एवं पानी को छोड़ देता है। इसी प्रकार जलौका भी पहले दूषित रक्त ही ग्रहण करती है। जब दंश स्थान पर तोद्र व कण्डू होने लगे तब समझना चाहिए कि शुद्धरक्त ग्रहण कर रही है। इस स्थिति में जौंक को यथा विधि स्थान से हटा देना चाहिए। यदि रक्तपान के लोभ में जौंक स्थान को नहीं छोड़े तो हरिद्रा, लवण चूर्ण आदि डालकर हटा देना चाहिए।

रक्तपूर्ण जलौकसां शुद्धयर्थं रक्त वमन विधानम्।

अथ पतितां तण्डुलकण्डनद्विग्धगात्रीं तैलं लवणाभ्यक्तगुर्खी वामहस्तांगुष्ठांगुलीभ्यां गृहीतपुच्छां दक्षिण हस्तांगुष्ठांगुलिभ्यां शनैः शनैरनुलोममनुमार्जयेदामुखात् वामयेत् तावद्यावत् सम्यग्वान्तलिंगानीति। सम्यग्वान्ता सलिलसरके न्यस्ताभोक्तुकामा सती चरेत्। या सीदती न चेष्टते सा दुर्वान्ता, तां पुनः सम्यग्वामयेत्। दुर्वान्ताया व्याधिसाध्य इन्द्रमदो नाम भवति। अथ सुवान्तां पूर्ववत् सन्निदध्यात्। सु० सू० १३।२२

पतिताया रूधिरापहरणविधानायाह-अथपतितामित्यादि। तण्डुलकण्डनं गुण्डनं "कणा" इत्यर्थः। अनुलोमम् अनुकूलम्, अनुमार्जयेत् प्रोंछयेत्, आमुखादिति मुखंयावदित्यर्थः। सम्यग्वान्त लिंगान्याह-सम्यगित्यादि सलिल सरकन्यस्ता जलपूर्ण शरावेऽर्पिता। चरेत्गच्छेत्। दुर्वान्तावचा राद्वयाधिविशेषमाह,—दुर्वान्तायाइत्यादि। "अस्यतु व्याधेः शास्त्रे लक्षणानिर्देशान्न पठनीयः "इत्येके अथ सुवान्ता किं कार्येत्याह,—सुवान्तामिति। पूर्ववदिति यथा—"नवे महति घटे" इत्यादौ॥ डल्हणः।

अशुद्धे तु रक्ते मधुना गुडेन वा दंशान्किंचिद्विघट्टयन् स्रावयेत्। स्रुत रक्तस्य च सद्यो दंशं शीताभिरद्भिः प्रक्षाल्य सर्पिः। पिचुनाऽशुण्ठयेत्। स्थितरक्तं चोत्क्लिष्ट शोणितशेष प्रसादनायकषाय मधुर शिशिरैः प्रदेहैः प्रदिह्यात्॥

अ० सं० सू० अ० ॥३५॥

रक्तपानानन्तरं जलौकसां रक्तवमन विधानम्

पटुतैलाक्तवदनां श्लक्ष्ण[1]कंडनरूक्षिताम् ॥
रक्षन् रक्तमदाद्भूयः सप्ताहं ता न पातयेत् ॥

अ० हृ० सू० अ० २६।४२-४३

सैंधवयुतेन तैलेन रूक्षितास्यां तथा सूक्ष्मेण तंडुलकंडनेन रूक्षितामवकीर्णां वामयेत् । तंडुलशब्दस्याऽत्र लोपो ज्ञेयस्तन्त्रयुक्तस्य । ताः कृतवमना जलौकसो रक्तमदाद्रक्षन् पुनः सप्ताहं न योजयेत् ॥ अरुणदत्तः

लवणतैलाभ्यामाक्तवदनां रूक्षितमुखां तथा श्लक्ष्णेनापरूषेन कण्डनेन तन्दुलकण्डनेन रूक्षिता मुपदिग्धगात्रां पुच्छादामुखमनुलोमं शनैः पीडयेत् सम्यग्वामयेत् । रक्तमदाद्रक्षयन् पालयन् वैद्योभूयः पुनः सप्ताहं सप्तरात्रं ता जलौकसं न पातयेत् न लागयेत् ॥ चंद्रनन्दनः ।

रक्तमत्तानां त्याज्यानां जलौकसां लक्षणम्

ता अप्यसम्यग्वमनात्प्रतं च निपातनात् ।
सीदंतीः सलिलंप्राप्य रक्तमत्ता इति त्यजेत् ॥

अ० हृ० सू० अ० २६।३८

सुनिर्विषा अपि जलौकसो रक्तमत्ता इति त्यजेत् । न केवलं सविषा इति प्रतिपादनार्थोऽपि शब्दः । रक्तमत्तत्वे हेतुद्वयमाह । असम्यग्वमनात् । दुष्टरक्तस्येति शेषः । प्रततं च लागनाद् दुष्टरक्तापायित्वेन रक्तमत्ताश्चताः स्युः । ताश्च कथं लक्ष्यंत इत्याह । सीदंतीरित्यादि । जलं प्राप्य तोयपूर्णभांडकासाद्य सीदंतीस्थाऽचेष्टमाना इति ज्ञात्वा त्यजेत् ॥ अरुणदत्तः

ता अपि निर्विषा अपि दुष्टशोणिताः असम्यग्वमनात् तथा प्रततं कृत्वा निपातनात् पातनात् सलिलं प्राप्यासाद्य सलिलमध्ये पतितः सीदन्ति निमज्जन्ति रक्तपानमत्ता ज्ञात्वा त्यजेत् ॥ चंद्रनन्दनः

ग्राह्यास्वपि मत्ता वर्ज्या इत्याह ता इति । प्रततं निपातनात् अविश्रमय्य प्रयोगात् सीदन्तीः श्रममत्यजन्ती रक्तमत्ता इति रक्तमत्तत्वाद्धेतोः ॥ हेमाद्रिः ।

अथवा शनैर्गोस्तनवद्दुह्यते ।
पुनर्नवनीतेन मुखमालिप्यावचारणीया ।

हारीत संहिता चतुर्थ स्थान श्लोक-६।७

हि० व्या०—जब जलौका अशुद्ध रक्त पीकर जमीन पर गिर पड़े अथवा पूर्व में बताये गए कण्डू, तोद आदि लक्षण उत्पन्न होने पर शुद्धरक्त ग्रहण करना जानकर यथा विधि दूर कर देना चाहिए ।

---

१. कण्डनं=तुषा—हेमादि

जब जलौका दूर हो जाए तब रक्तपान की हुई जलौका के मुख पर सैन्धव एवं चावलों की किणकी या (आटा) शरीर पर मलकर वाम हस्त से अंगूठे एवं अंगुली की सहायता से धीरे-धीरे पूंछ से मुख की तरफ अनुलोम दबाते हुए भलीभांति रक्त निकाल देवें । इस प्रकार सम्यक वान्त लक्षण उत्पन्न होने पर वमन नहीं कराना चाहिए । सम्यग वान्त को जलपात्र में छोड़ देना चाहिए जब वह भोजन के लिए जलपात्र में इधर-उधर दौड़ने लगे तो स्वस्थ जानना चाहिए एवं पानी में रखने पर नीचे बैठ जाय सम्यक् वान्त न जानकर तो बाहर निकाले एवं फिर निचोड़े । दुर्वान्त जलौका को इन्द्रमद नाम की असाध्य व्याधि हो जाती है ।

अष्टांग हृदय में तैल लगाकर पृथक करने की भी विधि बताई है । सम्यक वमन नहीं होने पर जौंक में रक्त मद नामक रोग लिखा है जिसे सुश्रुत ने इन्द्र मद कहा है । इससे जौंक मर जाती है ।

एक बार प्रयोग में लाई गई जलौका को सात दिन तक प्रयोग में नहीं लाना चाहिए । हारीत ने जलौका के द्वारा रक्त पीने पर उतारने हेतु नमक एवं गोमूत्र मुख पर डालने के लिए लिखा है तथा उतरी हुई जौंक को गाय के थन की तरह धीरे-धीरे निचोड़ते हुए वमन कराना बताया है ।

सम्यग् रक्तवमन लक्षणम्

पूर्ववत् पटुता दार्ढ्यं सम्यग्वांते जलौकसाम् ॥
क्लेमोऽतियोगान्मृत्युर्वा दुर्वान्ति स्तब्धता मदः ॥

अ० हृ० सू० अ० २७।४४-४५

पूर्ववत् पटुता चतुरतास्वास्थ्यं तथा दार्ढ्यं दृढ़ता जलौकसां सम्यग्वान्ते सति जायते । चंद्रनन्दनः

हि० व्या०—जलौका द्वारा अशुद्ध रक्त आचूषण कर या तो वह स्वयं स्थान छोड़ देती है अथवा पूर्वोक्त विधि द्वारा पृथक कर रक्त निचोड़ दिया जाता है । सम्यक वमन अथवा दुर्वान्ति के सामान्य लक्षण सुश्रुत ने लिखे हैं कि वमन कराने के बाद जल में डालने पर भोजन के लिए जलौका इधर-उधर शीघ्रता से विचरण करने लगे तो सुवान्त समझना चाहिए किन्तु जल पात्र में डालने पर नीचे बैठ जाय या गतिहीन हो तो दुर्वान्ति जानना चाहिए ।

वाग्भट् लिखते हैं कि सुवान्त जलौका में पूर्ववत् पटुता (गति-क्रीड़ा प्रक्रियादि आ जाती है । अति वमन होने पर जोंक में ग्लानि उत्पन्न होती है । एवं मर भी जाती है मिथ्या योग होने पर स्तब्धता होती है तथा रक्तमद भी हो सकता है जो असाध्य व्याधि है ।

अतः दुर्वान्त को पुनः वमन कराना चाहिए । मात्रा से अधिक रक्त पीने

पर भी जलौका के अस्वस्थ होने का भय रहता है अतः रक्त पीते हुए अधिक मोटी हो तब भी स्थान से हटा देना चाहिए। क्योंकि लोभवश अधिक रक्त पीना भी हानिकारक है।

पुनः पुनः रक्तस्रावण फलम् तत्रयुक्तिश्च

अशुद्धं चलितं स्थानात्स्थं रक्तं व्रणाशये।
अम्लीभवेत्पर्युषितं तस्मात्तत्स्रावयेत्पुनः॥

अ० हृ० सू० अ० २६।५१

अशुद्धं रक्तं स्वाशयाच्चलितं व्रणस्थाने स्थितं पर्युषितं तद्ध्यम्लीभवेद्यत-स्तस्मात्तद्रक्तं भूयः स्रावयेत्। अरुणदत्तः

हि० व्या०—जलौका प्रयोग से अशुद्धरक्त सम्पूर्ण शरीर से अथवा विकृत स्थान से चलायमान होकर जौक में मुख लगने से जो व्रण बन जाता है वह ठहर जाता है तथा जलौका के उतार देने पर वहाँ पड़ा अवशिष्ट रक्त बासी हो जाता है। इसीलिए उसका रस अम्ल होने लगता है। इसीलिए इस स्थान पर तीसरे दिन पुनः जलौका प्रयोग कराना चाहिए।

जलौकावचारणे स्रवित रक्त परिमाणम्

बलदोष प्रमाणद्वा विशुध्या रुधिरस्य वा।
रुधिरं स्रावयेज्जन्तोराशये प्रसमीक्ष्य च॥ च० सू० २४।१६

हि० व्या०—रक्त मोक्षण में रक्त निकालने का जो सामान्य नियम बताया गया है उसके अनुसार रोगी के बलदोष अथवा जब तक शुद्धि न हो जाय तब तक रक्त निकालना चाहिए इसमें दोष एवं बल दोनों से अधिक, मध्य एवं अल्प प्रमाण के अनुसार एक प्रस्थ, आध्याप्रस्थ तथा दुर्बल को एक कुड़व या करना ही नहीं चाहिए। इसी विधि से जलौका द्वारा भी अशुद्ध रक्त आते रहने तक अर्थात् शुद्ध रक्त ग्रहण करने के उल्लिखित कण्डू आदि लक्षण न उत्पन्न होने तक रक्त मोक्षण कराना चाहिए।

जलौकोद्वारा रक्तस्रावणजन्यानां जलौकोदंशनं शोधनाय विधिः

अशुद्धौ स्रावयेद्दंशान् हरिद्रागुडमाक्षिकैः॥
शतधौताज्यपिचवस्ततो लेपाश्च शीतलाः॥

अ० हृ० सू० २६।४६

हि० व्या०—जलौका के स्थान छोड़ने पर भी अशुद्ध रक्त की सम्भावना होने पर इसे पूर्ण रूप से निकालने के लिए हल्दी, गुड़ मधु लगाकर बहने में सहायत करनी चाहिए। इसके बाद शतधौत घृत में मिलाकर पिचु लगाये अथवा शीतल वस्तुओं (चन्दन, खस आदि) का लेप करना चाहिए।

शोणितावसेचने उत्तर कर्माणि

शोणितस्य योगायोगानवेक्ष्य शतधौतघृताभ्यंग, तत्पिचुधारणं वा, जलौको-व्रणान् मधुनाऽघट्टयेत्, शीताभिरद्भिः परिषेचयेद्वध्नीत वा, कषायमधुर स्निग्धशीतैश्च प्रदेहैःप्रदिह्यादिति। सु० सू० १३।२३

योगः सम्यकसृतिः अयोगो योगादन्यः, सत्रिविधो हीनातिमिथ्या योगभेदात् तत्र योगे शतधौतघृताभ्यां, शतधौतघृताक्त पिचुधारणं वा। हीनयोगे किं कुर्या-दित्याह, शीताभिरद्भिश्च परिषेचयेद्वध्नीत वेति, शीतल जल परिषेचनं बंधनं च जलौको मुख पदस्य रक्तस्थित्यर्थम्। मिथ्या उपक्रममाह, कषायेत्यादि। प्रदिह्यात् लिम्पेत्। अत्र कषाय प्रदेहः शेषदुष्टरक्त प्रसादार्थम् मधुरै प्रदेहः सुतादुष्टरक्तवर्धनार्थः, अन्ये तु मूर्च्छाद्युपद्रवपरिहारार्थेशीतलजलसेकः, मधुनाऽव घट्टनं कषायादिलेपनं संधानार्थम् इति व्याख्यानयन्ति। शोणितस्रावणमपि पुरुषबल प्रमाणाद्दोषबलप्रमाणाद्वा वातादिजनितव्याधिबलप्रमाणाद्वा यावच्छो-णितस्य सम्यग्शुद्धिर्भवति तावद्वा रोगाशयं वा समीक्ष्य। तद्यथा—अल्पीयसी रोगाशयेऽल्पं रक्तमाहरणीयं, महति पुनर्बहि्वति। रक्तमोक्षणं च पलादिमानेन पलंचात्र पक्वसप्तगुंजाफल प्रमाणमापकेण तान्यपि चार्धत्रयोदशपलानि प्रस्थः, रक्तप्रस्थश्चैकैकस्यां सिरायां मोक्षणीयः, तदपि द्वाभ्यां दिवसभ्यां, प्रस्थश्चात्रो त्तममात्राः, मध्यमामात्राऽर्धप्रस्थश्चात्र कर्षाधिकषट्पलानि, एतदपि मापाधि-कानि त्रीणिपलानि, इदमपि दिनद्वयेन मोक्षणीयम्। इति प्रसिद्धः कर्ममार्गः। डल्हणः।

मधुनेत्याद्यनन्तरोक्तेः। अवघट्टनेन चालनेन हि मध्ययोगे मिथ्या योगे च शोणितं प्रवर्त्तयत्यौष्ण्यात्, इतिराणि चातियोगे निरुन्धन्ति स्कन्दनादि स्वभा-वात्। हाराणच०।

इति, सम्यग्योगे शतधौतघृताभ्यंगः अतियोगे शीताभिरद्भिः सेकः, तथा व्रणमुख बन्धः, मिथ्यायोगे कषायप्रदेहादिः शेषदुष्टशोणित प्रसादार्थमिति व्याख्यानयन्ति। यदा तु योगशब्देनायोगातियोग ग्रहणं तदा शीतलजलसेकादि सर्वमतियोगचिकित्सितम्। चक्रपाणिः।

दुष्टरक्ते विनिर्गते दंशं कांजिकेन प्रक्षाल्य घृतमधुनाभ्यज्य वस्त्रेणबध्नी-यात्। हा० सं० च० स्थाने अ० ६

अलगन्तीषुक्षीर घृत नवनीत रुधिरान्यतमविन्दून्नयसेत् प्रच्छेद्वा अश्वखु रवच्च वक्त्रं निवेश्योन्नत स्कन्धादशन्ति यदा च शिशुवच्छ्वसन्त्याशिरः स्पन्दो मिवैगैः पिबन्ति तदा मृदुवासा प्रच्छादयेत् सेचयेच्चाम्भसामल्पाल्पम्।

अ० सं० सू० अ० ३५।५

ततः स्रुतरक्तस्य व्यधमनुलोममङ्गुष्ठेनोपरूंध्य शनैश्शनैर्यंत्रमपनीया

श्वासयेत् । सतैलं च प्लोतं सिरामुखे दत्वा बध्नीयात् । संवेशयेच्चैनम् ।

अष्टांग संग्रहः० सू ३६।-

शतधौताज्य पिचवस्ततो लेपाश्च शीतलां ॥
स्रुतासृजः प्रदेहाद्यैः शीतैः स्याद्वायुकोपतः ।
सतोदकंडूः शोफस्तं सर्पिषोष्णेन सेचयेत् ॥

—अ० हृ० सू० २६।५५

शतशब्दोऽनेक पर्यायो बहुकृत्वो धौतेत्यर्थः । तथा शिशिरा लेपायष्टी चंदनो शीरादयो योज्यः । दंश स्थित चलितरक्त प्रसादनायेति ।

सुतरक्तस्य नरस्यशीतलैः प्रलेपादिभिस्तोदकंडुयुतः शोफो वा स्यात् ।
तं सर्पिषोष्णेन सेचयेत् । तं तादृशं घृतेनोष्णेन सेचयेदिति ॥

अरुणदत्तः ।

स्रुतं निर्गतमसृग् रक्तं यस्य तस्य स्रुतासृजः पुंसः शीतैः प्रदेहाद्यैरालेप-परिषेकप्रभृतिभिर्यो वातकोपतः वायुप्रकोपात् शोफःस्याद्भवेत् तं शोफं सर्पिषा घृतेनोष्णेन सेचयेत । सहतोदकण्डूभ्यां यो वर्तते शोफस्तं तथाविधं सिंचेदिति भद्रम् ।

चंद्रनन्दनः ।

स्रुतरक्तस्य शीतोपचारातिशये दोषमाह-स्रुतासृज इति । उक्तदोषे प्रतीकारमाह-तमिति । संग्रहे तु सर्वासां च परं प्रमाणमष्टादशाङ्गुलानि । तत्र चतुष्पंचषडंगुलानृजु योजयेत् । गजवाजिष्वपराः ताः मृदुमारास्तनुत्वचोऽल्पशिरस्का बृहदधरकायाश्च स्त्रियो विपरीताः पुमांसार्द्धचंद्राकृतिपुरोवृत्ताश्च । तत्र बहुदोषेषु चिरोत्थितेषु चामयेषु पुमांसो योजयितव्याः . स्त्रियो विपरीतेषु जलौकसश्चार्द्रचर्मण्युषायांगृहीत्वा सुरभिपंकगर्भेण नवे घटे स्थापयेत् । शृंगाटककशेरूकशालूकशैवालमृणालवल्लूरमृत्स्नापुष्करबीजचूर्णं स्वादुशीतं स्वस्थं च तोयमन्नपानार्थं ताभ्यो दद्यात् । लालादि कोथपरीहारार्थमेव च व्यहाद्व्यहात्पूर्वमन्नपानमपनीयान्यददद्यात् । पंचाहाच्च तद्विधं एव घटांतरे ताः संचारयेदिति ।

हेमाद्रिः ।

जलौकसां प्रयोगानंतरम् जलौकोः शुद्धिः

पतितां तु तण्डुल गण्डनोपदिग्धगात्रां तैल लवणाक्तमुखीं । पुच्छादामुखमनुलोमं शनैःपीडयन् सम्यग्वामयेत् ततः । पुर्ववत्सन्निदध्यात् । सप्तरात्रं च ताः पुनर्नपातयेत् ।

—अ० सं० सू० अ० ४५।६

उत्तरकर्म

हि० व्या०—रक्तस्राव के योगातियोग का भली प्रकार ज्ञान करके दंश स्थान पर शतधौत घृत की पिचु रखकर उपचारित करना चाहिए । अथवा

व्रणों पर मधु से लेखन करके शीतल जल से सेचन करना चाहिए । अधिक गहरे एवं विकृत व्रणों पर पट्टी बांधें, या कषाय मधुर स्निग्ध द्रव्यों का कल्क बनाकर लेप कर देना चाहिए ।

हारीत लिखते हैं कि दुष्टरक्त निकल जाने पर व्रण स्थान को कांजी से धोकर घृत एवं मधु से लेखन करके, वस्त्र से बांध देना चाहिए ।

सविषजलौका प्रयोगजन्यानां उपद्रवाणां वर्णम्

……ताभिःकंडूपाकज्वरभ्रमाः ।
विषपित्तास्रनुत्कार्यं तत्र ……॥

—अ० हृ० सू० २६।३६

ताभिहि योजिताभिः कंड्वादयःस्युः । उपलक्षणं चेदम् । दाहशोषमूर्च्छादयोऽपि स्युः तासु मोहाद्योजितासु विषादि जित्कार्यम् ।

अरुणदत्तः

यतस्ताभिः कण्डवादयो जायन्ते । तत्र तेषु कण्ड्वादिषूत्पन्नेषु विषपित्तास्रनुत् साधन् कार्यम् । विषं च पित्तं चास्रं च तन्नुदति प्रेणति नाशयति यत्तद्विषपित्तास्रनुत् ।

चंद्रनन्दनः ।

वर्ज्याप्रयोगे दोषमाहताभिरिति । वर्ज्यादोषे चिकित्सामाहविषपित्तास्रजिदिति ।

हेमाद्रिः ।

हि० व्या० – जिन जोंकों का प्रयोग निषेध बताया है उनके प्रयोग करने पर कण्डू, पाक, ज्वर, और भ्रम उत्पन्न होते हैं इनके निवारणार्थ विषनाशक एवं रक्तपितनाशक चिकित्सा करनी चाहिए ।

अशुद्धरक्तजन्योपद्रवाः

तच्चैवंविधमेव विधिवदाहाराभ्यासाद्विशुद्धं बलवर्णसुखायुषां योनि । इतरथा पुनः शरत्काल स्वभावादेव वा प्रदुष्टाभिष्यन्दाधिमन्थ शुक्रार्म तिमिर रक्तराजी शिरस्तोद भेददाह कण्डू कर्णरोग मुखपाक पूतिघ्राणस्योपदेहत्वग्गुल्मप्लीह विद्रधिवीसर्प ज्वर रक्तपित्त कुष्ठ पिटिका श्लीपदोपदंश शोफवात शोणित रक्तमेह क्षुद्ररोगाग्नि स्वर नाशांगगौरवावसादारोचकाम्लोद्गार लवणास्यता क्रोधमेह स्वेदमद मूर्च्छा सन्यासकम्प तन्द्रादीनां । ये च शीतोष्णास्निग्धरूक्षाद्यैः सर्वदोष प्रतिपक्षैः । सम्यग्गुपक्रान्ताः साध्या अपि न सिद्धयन्ति ते च रक्त प्रकोपजाः । तस्मात्तेष्वत्युद्रिक्तरक्त विस्रावणाय यथास्वं सिरां विध्येत् ।

— अ० सं० सू० अ० ३६।७

जलौकसां अतिरक्तवमनजन्योपद्रवाः दुर्वान्तोपद्रवाश्च

क्लमोऽतियोगान्मृत्यंर्वा दुर्वान्ते स्तब्धता मदः ॥

—अ० हृ० सू० २६।४६

अति योगाद्वमनस्य क्लमो मृत्युंवा स्यात् । दुर्वांते सति स्तब्धता मदश्च स्यात् । अरूणदत्तः

अतियोगात् रक्तस्यातिवमनातासां कल्मो ग्लानिरथवा मरणं जायते दुर्वांते योगे तासां स्तब्धता निश्चलत्वं तथा मदः सलिलं प्राप्यावसदनं भवति । चंद्रनन्दनः ।

अतिवांते लक्षणमाह्क्लम इति । दुर्वांते लक्षणमाह दुर्वांते इति ॥

— हेमाद्रिः

तच्च रक्तं विधिवदाहाराद्यभ्यासाद्विशुद्धं सत् बलादीना हेतुरितरथाऽविधिना आहाराद्यभ्यासादथवा शरत्काले कालस्वभावेन दुष्टमभिष्यन्दादीनां योनिरिति सम्बन्धः । सर्वदोषप्रतिपक्षैः शीतादिभिः सम्यगुपक्रान्ताश्चिकित्सिताः साध्यलक्षणयुक्ता अपि ये न सिध्यन्ति ते रक्तप्रकोपजाज्ञेयाः । इन्दुः ।

स्रुतासृजः शोथोपद्रवशमन चिकित्सा

स्रुतासृजः प्रदेहाद्यैः शीतैः स्याद्वायुकोपतः ।
सतोदकण्डूः शोफस्तं सर्पिषोष्णेन सेचयेत् ॥

— अ० सं० सू० अ० ३५।१२

स्रुतासृजः पुरुषस्य शीतैः प्रदेहपरिषेकादिभिः वायुंकोपात् कदाचित् सतोदकण्डूः शोफः स्यात् । तं शोफमुष्णेन सर्पिषा सेचयेदिति । इन्दुः ।

दुष्टशोणितासम्यग्वमनात्प्रततपातनाच्च मूर्च्छा भवति । तस्मामम्भोभिः पूर्णभाजनस्थानामचेष्टयाऽऽहारानभिलाषेण च ज्ञात्वा ता विवर्जयेत् । इतरास्तु हरिद्रासर्षपकल्काम्भसि मुक्ता पुरीषा अवन्ति सोमे तक्रे वा पुनश्च समाश्वासिताजले सुखोपविष्टस्य सन्निविष्टस्य वा मृद्गोमय चूर्णाभ्यामनुसुखं विरूक्ष्य दंशदेशं योजयेत् । अ० सं० सू० अ० ३५।-

चतुर्दशोऽध्यायः

सिरा व्यध प्रकरणम्

रक्त मोक्षण विधि के अन्तर्गत प्रच्छान् जलौका, घटी अलाबू के समान सिरा व्यध का भी सुश्रुत एवं वाग्भट ने पृथक अध्याय का वर्णन किया है । व्यध का अर्थ वेध, वेधन या लोक व्यवहार में बींधना अर्थ लिया गया है । दोषों द्वारा दूषित रक्त जब रोग का प्रमुख कारण होता है तब रक्त स्रावण कराया जाता है । सिरा वेध रक्त स्रावण का मुख्य उपाय है । इस विधि से दूषित रक्त सरलता पूर्वक निकल जाता है तथा रक्त विकार शान्त हो जाते हैं ।

जिस प्रकार काय चिकित्सा में बस्ति कर्म को आधी अवथा सम्पूर्ण चिकित्सा माना जाता है उसी प्रकार शल्यतन्त्र में सिरा वेध को आधी अथवा पूरी चिकित्सा माना जाता है ।

सिरा व्यध में वर्णित वेध्य सिराओं द्वारा ही रक्त मोक्षण कराया जाता है । अवेध्य सिराओं के वेधन नहीं किया जाता । साथ ही समुचित काल, रोग एवं रोगी का विचार करते हुए सिरावेध करने की विविध विधियों का यहां वर्णन किया जा रहा है ।

शल्यतन्त्रे सिराव्यध महत्वम्

सिराव्यधश्चिकित्सार्धं शल्यतन्त्रे प्रकीर्तितः ।

यथा प्रणिहितः सम्यग्बस्तिः कायचिकित्सिते ॥ —सु० शा० ८।२३

अधुना सिराव्यधस्य चिकित्सार्धत्वं दर्शन्नाह-सिरेत्यादि । चिकित्सार्धमिति चिकित्सा मध्ये प्रधानमित्यर्थः, अपरेऽर्धशब्दं संख्यावाचकमाहुः । ("मांसमेदोऽस्थिमज्जान शोणितस्यावसेचनात् । धमन्यश्च विशुद्धयन्ति दुष्टरक्तास्त्वचश्च याः । रसस्वेदादिनिष्यन्दाद्विशुद्धयन्ति न पुष्कलम्"—इति । डल्हणः

सिराव्यधश्चिकित्सार्द्धं सम्पूर्णं वा चिकित्सितम् ।
शल्य तन्त्रे स्मृतो यद्वद्बस्तिः कायचिकित्सिते ॥

यथा रक्तमधिष्ठानं विकाराणां विकारिणाम्।
अन्यन्न हि तथा दूष्यं कर्मेदं प्रथमं ततः॥

—अ० सं० सू० अ० ३६

तस्माच्चिकित्सार्धं इति प्रतिष्ठा,
कृत्स्ना किंचित्साऽपि च बस्तिरेकः।
तथा निजागन्तु विकाराकारि—
रक्तौषधात्वेन सिराव्यधोऽस्ति॥

—अ० हृ० सू० अ० ११।८७

हि० व्या०—जिस प्रकार कायचिकित्सा में बस्ति कर्म को आधी अथवा पूरी चिकित्सा माना गया है। उसी प्रकार शल्य तन्त्र में सिरावेध को आधी अथवा सम्पूर्ण चिकित्सा माना जाता है। यहां अर्ध शब्द संख्यावाचक एवं प्रधान सरूप दोनों ही अर्थों में अभिप्रेत हैं। जहां सिराव्यध के साथ-साथ अन्य उपचार भी किए जाते हैं। वहां शिराव्यध का समान ही महत्व है। किन्तु केवल मात्र सिराव्यध से ही रोग की उपशान्ति हो जाय तो सम्पूर्ण चिकित्सा के रूप में दर्शित होती है।

आचार्य वाग्भट भी सुश्रुत के वचनों का अनुकरण करते हुए आगे लिखते हैं—शल्य तन्त्र में सिरावेध का महत्व इस कारण भी प्रकट होता है कि रोगियों के रोगों का अधिष्ठान जितना रक्त होता है। उतना मांस आदि अन्य धातुएं नहीं, न कोई मल ही होता है। इसी कारण सिरावेध को रक्तमोक्षण में प्रधान माना जाता है।

स्नेहादिभिः क्रियायोगैर्न तथा लेपनैरपि।
यान्त्याशु व्याधयः शान्तिं यथा सम्यक् सिराव्यधात्॥

—सु० शा० ८।२२

इदानीं स्नेहादि सिराव्यधस्य गुणोत्कर्षं प्रतिपादयन्नाहस्नेहादिभिरित्यादि। डल्हणः।

बहवो हि रक्तावसेचनोपायाः प्रागभिहितास्तेषामन्येषां च विरेकादीनामुपक्रमाणां तत्साध्येष्वामयेषु सिराव्यधः प्रधानम्। अमुना हिते समूलाः शोषमायान्ति केदारसेतुभेदेन शाल्यादय इव। —अ० सं० सू० ३६।३

बहव इत्यादि। प्राक् पूर्वेऽध्याये। जलौकः प्रभृतयो रक्तविस्रावणोपाया बहवोऽभिहिताः। तेषां रक्तविस्रावणानां मध्येतत्साध्येषु रक्तावसेचनसाध्येषु व्याधिष्ववन्येषां च विरेकादीनामुपक्रमाणां सिराव्यधः प्रधान उपक्रमः। अमुना हि सिराव्यधेन रक्तावसेचन साध्या व्याधयः समूलाः शोषमायान्ति। तथा केदारसेतु भेदेन शाल्यादयः। केदारसेतुः क्षेत्रमर्यादा जलावष्टम्भिनी। रक्तावसेचनसाध्यानां तु व्याधीनां तथा विरेकादय उपक्रमः न चान्ये रक्तविस्रावणोपायाः यथा सिराव्यधस्तथा चेति तीर्थान्तरपाठं समुच्चिनोति। इन्दुः

हि० व्या०—जिन व्याधियों की उपशान्ति स्नेहन, स्वेदन, लेप अथवा अन्य प्रक्रियाओं से नहीं होती वे विधि पूर्वक सिरावेध किए जाने से शान्त हो जाती है।

अ० संग्रहकार ने इस विषय को शालिधान्य के उदाहरण से स्पष्ट करते हुए लिखा है कि यद्यपि अलाबू, शृंग, जलौका आदि बहुत-सी विधियां रक्त विस्रावण के लिए बताई गई है तथापि उन सब से एवं विरेचनादि से जो रक्त दोषज व्याधियां शान्त हो जाती है उनमें रक्तमोक्षण अर्थात् सिरावेध नामक प्रक्रिया से समूल नष्ट हो जाते हैं अथवा सूख जाते हैं जैसे पानी से भरे खेत का बांध तोड़ देने से शक्ति आदि धान के पौधे सूख जाते हैं।

यहां जो विरेचन का उल्लेख आया है, वह शरीर के अधिक या बढ़े हुए द्रव भाग के निकालने के अर्थ में ग्रहण करना चाहिए। सिरावेध में जिस प्रकार रक्त एवं उस के द्रव भाग का निहरण होता है उसी प्रकार, गुद मार्ग से भी विरेचन प्रक्रिया में द्रवांश का निर्हरण होता है।

रक्तवह सिराणां प्राकृत वैकृत कर्म वर्णनम्

धातूनां पूरणं वर्ण स्पर्शज्ञानमसंशयम्।
स्वाः सिराः संचरद्रक्तं कुर्याच्चान्यान् गुणानपि॥
यदा तु कुपितं रक्तं सेवते स्ववहाः सिराः।
तदाऽस्य विविधा रोगा जायन्ते रक्तसंभवाः॥

—सु० शा० ७।१४-१५

यदा त्वित्यादि। अन्यान् गुणान् "रक्तंवर्णप्रसादं" (सु० अ० १५) इत्याद्युक्तान्। डल्हणः।

हि० व्या०—रक्तवह सिराओं के प्राकृत एवं वैकृत कार्यों का उल्लेख करते हुए लिखा गया है। कि रक्त अपनी सिराओं में भ्रमण करता हुआ धातुओं का प्रीणन्, पोषण, वर्धन, कान्ति, भली प्रकार स्पर्श ज्ञान तथा अध्याय १५ सूत्र स्थान में बताये गुणों को (रक्तं वर्णप्रसादं मांसपुष्टिं जीवयति) बढ़ाता है।

कुपित रक्त जब अपनी शिराओं को प्राप्त होता है तब अनेक प्रकार के रक्त जन्य रोगों को उत्पन्न करता है।

सिराव्यध साध्यरोगेषु शास्त्रानुसारं सिराव्यध संकेतः

शोणितावसेकसाध्याश्च ये विकाराः प्रागभिहितास्तेषु चापक्वेष्वन्येषु चानुक्तेषु यथाभ्यासं यथान्यायं च सिरां विध्येत्। सु० शा० ८।४

शोणितावसेकसाध्या इति "त्वग्दोषा ग्रन्थयः शोफा" (सू० अ० १४) इत्यादिना शोणितवर्णनीये उक्ताः तेषु चापक्वेष्विति यद्यपि रक्तभावादपक्वानां रक्तस्रुतिर्न क्रियत इत्यर्थादेवापक्वग्रहणं लभ्यते, तथाऽपि बाह्योपक्रमेषु मध्ये

शोणितावसेकस्य प्राधान्यख्यापनायापक्वग्रहणं कृतम् । अन्येषु चानुक्तेष्विति ये विपाकाभिमुखाः शोणितावसेकसाध्येष्वनाभिहितास्तेष्वित्यर्थः । यथाभ्यासमिति यथासमीपमित्यर्थः । यथान्यायमिति न्यायस्य स्नेहस्वेदादिकस्यानतिक्रमेणेतियथा-न्यायम् ।

डल्हणः ।

शोणितेत्यादि प्रागिति शोणितवर्णनीयेऽष्टविधशस्त्रकर्म्मण्येव । अनुक्तेषु गुल्मप्लीहादिषु, यथाभ्यासं यथासन्नम्, एत्तु मुख्यानामदर्शनविषयम् । स्मरन्ति च "यथोक्तानामदर्शने । मर्म्महीनं यथासन्ने देशेऽन्यां व्यधयेच्छिराम्" इति । यथान्यायं यथोचितम्, इति तु व्यध्यासु वह्वीषूत्थितासु विमृश्य व्यधनार्थम् ।

—हाराणच०

तेषु स्रावयितुं रक्तमुद्रिक्तं व्यधयेत्सिराम् ॥

—अ० हृ० सू० २७।५

तेषु विसर्पादिषु रक्तमुद्रिक्तमुल्वणं स्रावयितु रक्तनिर्हरणाय शिरां व्यध येत् ।

चंद्रनन्दनः ।

हि० व्या०—जिन-जिन रोगों में रक्त मोक्षण कराना चाहिए, उनका वर्णन पूर्व में रक्तमोक्षण में कर दिया गया है। पाठक वहीं पढ़ें। अपक्व विकारों में जिनका विवरण नहीं दिया गया हो तथा जो रक्तमोक्षण से ठीक हो जाते हों, उन विकारों में यथाभ्यास एवं यथा विधि सिरावेध कराना चाहिए। जिनका विवरण सिरावेध योग्या नामक प्रकरण में वर्णन किया गया है।

शिरोनेत्रविकारेषु ललाट्यां मोक्षयेत्सिराम् ।
अपांगयामुपनास्यां वा कर्णरोगेषु कर्णजाम् ॥
नासारोगेषु नासाग्रे स्थितां नासाललाटयोः ॥
पीनसे मुखरोगेषु जिह्वौष्ठहनुतालुगाः ।
जत्रूर्ध्वंग्रन्थिषु ग्रीवाकर्णशंखशिराश्रिताः ॥
उरोऽपांगललाटस्था उन्मादेऽपस्मृतौ पुनः ।
हनुसन्धौ समस्ते वा सिरां भ्रूमध्यगामिनीम् ॥
विद्रधौ पार्श्वशूले च पार्श्वकक्षास्तनान्तरं ।
तृतीयकेऽसयोर्मध्ये स्कन्धस्याधश्चतुर्थके ॥
प्रवाहिकायां शूलिन्या श्रोणितो द्वयंगुले स्थिताम ।
शुक्रेमढामये मेढ उरूगां गलगण्डयोः
गृध्रस्यां जानुनोऽधस्तादूर्ध्वं वाचतुरंगुले ।
इन्द्रबस्तेरधोऽपच्यां द्वयंगुले चतुरंगुले ॥
ऊर्ध्वंगुल्फस्य सक्थ्यतौ तथा क्रोष्टुकशीर्षके ।
पाददाहे खुड़े हर्षे विपाद्यां वातकण्टके ॥

चिप्पे च द्वयंगुले त्रिध्येदुपरि क्षिप्रमर्मणः ।
गृध्रास्यामिव विश्वाच्याम् यथोक्तानामदर्शने ॥
मर्महीने यथासन्ने देशेऽन्यां व्यधयेत् सिराम् ।

—अ० हृ० सू० २७-१७

हि० व्या०—शिरोरोग तथा नेत्र रोगों में ललाटी सिरा का अथवा अपांगी सिरा का अथवा उपनास्या सिरा का वेध करें।

कर्ण रोगों में कर्ण के समीप की सिरा का वेध करे और नासारोगों में नासा के अग्रभाग की सिरा का वेध करे। प्रतिश्याय में नासा एवं ललाट की सिरा का वेध करे।

जीभ ओंठ हनु अथवा तालु की सिरा का वेध मुख रोगों में तथा ग्रीवा कर्ण शंख तथा शिर की सिरा का वेध जत्रु के ऊपर की ग्रन्थियों में करें।

उरस् अपांग अथवा ललाट का उन्माद रोग में तथा हनु अथवा भ्रू की मध्य सिरा का वेध अपस्मार में किया जाता है।

विद्रधि तथा पार्श्वशूल में पार्श्वगता, कक्षागता तथा स्तनमध्यगता सिरा का वेध करे। तृतीयक ज्वर में अंसफलक के मध्य में सिरा का वेध करे तथा चतुर्थक ज्वर में स्कन्ध सन्धि के अधोभाग में किसी एक शूलयुक्त प्रवाहिका में श्रोणि के इधर-उधर दो अंगुल पर सिरावेध करे।

परिवर्तिका, उपदंश तथा शूक दोषादि शिश्नगत रोगों में तथा शुक्र दोषों में मेहन की सिरा का वेध करें।

उरूमूलगत शिरा का वेध गलगण्ड रोग में करें।

गृध्रसी रोग में जानु सन्धि के चार अंगुल नीचे अथवा ऊपर सिरावेध करे।

इन्द्र बस्ति नामक मर्म के दो अंगुल नीचे सिरावेध करें।

खंजता एवं पंगुता आदि सक्थिगत वातज रोगों में तथा कोष्टुशीर्षक रोग में गुल्फ सन्धि के चार अंगुल ऊपर सिरावेध करें।

पाद दाह, खुड रोग, विपादिका, वातकण्टक, पादहर्ष तथा चिप्प नामक रोगों में क्षिप्र नामक मर्म के दो अंगुल ऊपर सिरावेध करें।

विश्वाची नामक रोग मे गृध्रसी के समान अर्थात कपूर सन्धि के चार अंगुल नीचे अथवा ऊपर सिरावेध करें।

उपरोक्त रोगों मे यदि उक्त सिराएं न मिले तो समीप किसी मर्म रहित अवयव पर किसी अन्य सिरा का वेध किया जाए।

इनके अतिरिक्त स्थान या अंगविशेष के विविध रोगों का संस्थानगत सिरावेध विधि से भी योग्य रोगों का ज्ञान करना चाहिए।

सिराव्यध कर्मणि अयोग्यानां रुग्णानां अयोग्यानां सिराणां च निर्देशः ।

बालस्थविररूक्षक्षतक्षीणभीरुपरिश्रान्तमद्यपाध्वस्त्रीकर्शितवमितविरिक्तास्थापितानुवासितजागरितक्लीवकृशगर्भिणीनां कासश्वासशोषप्रवृद्धज्वराक्षेपकपक्षाघातोपवासपिपासामूर्च्छाप्रपीडितानां च सिरां न विध्येत्, याश्चाभ्यध्याः, व्यध्याश्चादृष्टाः, दृष्टाश्चायन्त्रिताः, यन्त्रिताश्चानुत्थिता इति । सु० शा० ८।३

बालेत्यादि । बालस्थविरयोरसंपूर्णक्षीणधातुत्वात् सिरां न विध्येत्, रूक्षक्षतक्षीणानां वात प्रकोपभयात् सिरां न विध्येत्; इति उरः क्षत युक्तः खंगाद्यभिहितो वा, क्षीणः क्षीण धातुः, गयी तु "क्षतेनक्षीणः क्षतक्षीणस्तस्यानिलव्याधिभयान्न विध्येत्" इति व्याख्याति । भीरोश्च तमोबहुलत्वाल्लोहितदर्शनेन मूर्च्छाभयान्न विध्येत् । परिश्रान्तस्य श्रमकुपितोवातः शोणितवक्षेचनेनातिप्राबल्यं प्राप्य शरीरव्यापादकः स्यात् मद्यपस्य मदविक्षिप्तचित्तस्यापि मूर्च्छाकरत्वात् । अध्वस्त्रीकर्शितस्य वातप्रकोपभयान्न विध्येत् ।

डल्हणः ।

न तूनषोडशाऽतीतसप्तत्यब्दस्रुतासृजाम् ।
अस्निग्धास्वेदितात्यर्थस्वेदितानिलरोगिणाम् ॥
गर्भिणीसूतिकाजीर्णपित्तास्रश्वासकासिनाम् ।
अतीसारोदरच्छर्दिपांडुसर्वांगशोफिनाम् ॥
स्नेहपीते प्रयुक्तेषु तथा पंचसु कर्मसु ॥

अ० हृ० सू० अ० २७।-

ऊनषोडशवर्षादीनां सिरां न व्यधयेत् । स्नेहपीते पीतस्नेह इत्यर्थः । आहिताग्न्यादित्वात् परनिपातः । तथा पंचसु वमनादिषु कर्मसु विहितेषु सत्सु सिरां न व्यधयेत् ।

अरुणदत्तः ।

ऊनाः षोडश अब्दावर्षा येषामूनषोडशः । अतीताः सप्तत्यब्दा तेषां तेऽतीत सप्तत्यब्दाः स्रुतमसृक् पूर्वं शस्त्राभिघातादिना येषां ते स्रुतासृजः । तेषां शिरां न विध्येत् । तथाऽस्निग्धानामस्वेदितानामत्यर्थं स्वेदितानामनिल रोगिणां तथा गर्भिण्याः । सूतिकायाः अजीर्णिनो रक्तपित्तानां श्वासिनां कासिनां च तथातिसारिणामुदरिणां छर्दितानां पाण्डुरोगिणां सर्वांगशोफिनां च स्नेहः पीतो जने तस्मिन् पुंसि तथा पंचसु कर्मसु तत्कालप्रणीतेषु वमन विरेचननिरूहणानुवासनशिरोविरेचनाख्येषु अयन्त्रयित्वा शिरां न विध्येत् ।

चंद्रनन्दनः

ऊनषोडशाब्दीनां शिराव्यधं निषेधति न तूनेति । पंचकर्मसु वमनविरेचननिरूहानुवासननस्येषु वमनादौ स्नेहपाने यावत्तत्कृतदोषक्षोभ निवृत्तिस्तावन्निषेधः ।

हेमाद्रिः ।

न स्नेहपीतकृत पंचकर्मान्यतमगर्भिणीसूतिकाजीर्णिकामलाक्लीबोनषोडशातीत सप्तति वर्षाभिघातातिस्रुतरक्तादुष्ट रक्ततातिस्निनग्धास्विन्नाति स्विन्नाक्षेपक

पक्षाघातातिसारछर्दिश्वासकासोदर रक्तपित्तार्शः पाण्डुरोगसर्वांगशोफ पीडितानाम् । न चाभ्यधनीया यन्त्रितानुत्थिताः शिरा न तिर्यङ् न चाति शीतोष्णवाताभ्रेषु । तत्र स्नेह पीतादिषु सम्यग्विद्धा अपि सिरा न स्रवन्त्यतिस्रवन्तिवा । सम्यक् स्निग्धस्विन्नस्य स्रवन्त्यतिस्रवन्तिवा । सम्यक् स्निग्धस्विन्नस्य पुनर्नवीभूत दोषाः शोणितमनु प्रसिष्टाः सम्यक् प्रच्यवन्ते न त्वेवं निषेधो विष संसृष्टोपसर्गात्ययिक व्याधिषु । प्रतिरोगेषु त्वयं प्रति विभागः ।

अ० सं० सू० अ० ३६।८

न तु स्नेहपीतादीनां सिरां विध्येदिति सम्बन्धः । सिरां अभ्यधनीयत्वेन पठितां न विध्येत् । उत्थिता अभ्याहननादिना दृश्यते सुबोधम् । प्रतिरोगं तु व्यधनविभाग उच्यत इति वाक्यशेषः । इन्दुः

सिरा व्यध निषेधस्थलेषु क्वचित् अपवाद संकेतः

प्रतिषिद्धानामपि च विषोपसर्गे आत्ययिके च सिराव्यधनमप्रतिषिद्धम् ॥

सु० शा० ८।५

इदानीं कारणवशान्निषिद्धानामपि शोणितावसेकं दर्शयन्नाह प्रतिषिद्धानामित्यादि । प्रतिषिद्धानामपीति बालस्थविरादीनाम् । आत्ययिके इति अत्ययो विनाशो भवत्यस्मादित्यात्ययिको विद्रध्यादिरनन्यसाध्यः ।

डल्हणः

प्रतीति । विषोपसर्गे सर्पदंशनाद्युपस्थिते तस्मिन् तस्मिन् विकारे, आत्ययिकत्वेनैवास्योपलम्भेऽपि पृथगुपादानमेकान्तेनाप्रतिषिद्धत्वमाख्यातुम् । आत्ययिकेषु विसर्पादिषु ।

हाराणचन्द्रः ।

न कुर्वीत शिरामोक्ष, कृशस्यातिव्यवायिनः ।
बलीवस्य भीरोर्गर्भिण्याः सूतायाः पाण्डुरोगिणः ॥
पंचकर्मविशुद्धस्य, पीतस्नेहस्य चार्शसाम् ।
सर्वांगशोथयुक्तानामुदरिश्वासकासिनाम् ॥
छर्द्यतीसारयुक्तानामतिस्विन्नतनोरपि ।
ऊनषोडशवर्षस्य, गतसप्ततिकस्य च ।
आघातात् स्रुतरक्तस्य शिरामोक्षो न शस्यते ।
एषां चात्ययिके रोगे, जलौकाभिर्विनिर्हरेत् ।
तथा च विषजुष्टानां, शिरामोक्षो न शस्यते ॥

भावप्रकाश

हि० व्या०—जिन जिन व्यक्तियों को जिस-जिस अवस्था में सिरावेध नहीं कराना चाहिए । उनका वर्णन करते हुए सुश्रुत लिखते हैं कि—बाल, वृद्ध, रूक्ष, क्षतक्षीण (क्षत के कारण जिनमें शरीर का बल क्षीण हो गया हो) डरपोक, परिश्रान्त, मद्यपान, स्त्री सेवन, तथा मार्ग चलने से कृश हुए, वमन कराये हुए, जिसने विरेचन लिया है, आस्थापन, अनुवासन किए हुए, रात्रि में जगे हुए, नपुंसक दुर्बल गर्भिणी तथा कास श्वास, शोथ, प्रवृद्ध ज्वर [illegible]

पक्षाघात, उपवास, पिपासा, मूर्च्छा आदि रोगों से पीड़ित व्यक्तियों का सिरा वेध नहीं करना चाहिए।

यदि वेधन कर्म हेतु उपयुक्त सिरा होते हुए भी जो दिखाई नहीं दे या दिखाई दे भी तो न बधी हुई, यन्त्रित प्रतारित की गई भी नहीं उठने पर भी सिरा वेध नहीं करना चाहिए।

इन व्यक्तियों का सिरावेध नहीं करने का विशेष कारण यही है कि इनमें या तो सहन शक्ति नहीं होती अथवा जो डर लगने से मूछित हो जाते हों, गर्भिणी बालक के मूछित होने के डर से, जो अधिक स्त्री सेवन करता है उसमें कृशता के कारण, वात प्रकोप का भय आदि कारणों से सिरावेध निषेध है।

अष्टांग हृदयकार लिखते हैं कि—१६ वर्ष की आयु से पूर्व एवं ७० वर्ष की आयु के पश्चात् सिरावेध नहीं करना चाहिए। यहां सुश्रुत के बाल एवं वृद्ध शब्दों का स्पष्टीकरण करा दिया गया है। जिनका रक्त, क्षत अथवा अन्य कारणों से निकल चुका हो, जिनको स्नेहन एवं स्वेदन नहीं किया गया हो, जिनका अत्यन्त स्वेदन हो गया हो, अतिसार, उदर एवं पाण्डु रोगियों को, स्नेहपान करते ही तथा पंचकर्म किए जाने के बाद सिरावेध निषेध बताया है। चक्रदत्त में भी पाठ समान है। अन्य पाठ का भाव - भावप्रकाश के उपर्युक्त वचनों को ही लिया है तथा इसमें भी रक्त विस्रावण की आवश्यकता हो तो जलौका द्वारा रक्तमोक्षण कराना चाहिए। तथा विष से पीड़ित व्यक्तियों का भी सिरावेध किया जाना उचित नहीं है।

विविध रोगानुसारं शरीरांग प्रत्यंगेषु सिराव्यध स्थान निर्देशः।

तत्र पाददाहपादहर्षचिप्पविसर्पवातशोणितवातकण्टकविचर्चिकापाददारी प्रभृतिषु क्षिप्रममर्मणं उपरिष्टाद् द्व्यंगुले व्रीहिमुखेन सिरां विध्येत् श्लीपदे तच्चिकित्सिते यथा वक्ष्यते, ओष्ठुकशिरः खंजपगुलघातवेदनासु जंघायां गुल्फस्योपरिचतुरंगुले, आच्यामिन्द्रवस्तेरधस्ताद् द्व्यंगुले, जानुसन्धेरूपर्यधो वा चतुरंगुले गृध्रस्यां, उरूमूलसंश्रितां गलगण्डे, ऐतेनतरसविध बाहू च व्याख्यातौ, विशेषस्तु वामबाहौ कूर्परसन्धेरभ्यन्तरतो बाहुमध्ये प्लीहिन कनिष्टिकानामिकयोर्मध्ये वा, एवं दक्षिणबाहौ यकृद्दाल्ये (कफोदरे च,) एतामेव च कासश्वासयोरप्यादिशन्ति, गृध्रस्यामिव विश्वाच्यां, श्रोणि प्रति समन्ताद् द्व्यंगुले प्रवाहिकायां शूलिन्यां, परिवर्तिकोपदंशशूकदोषशुक्रव्यापत्सु मेढ्रमध्ये, (वृषणयोः पार्श्वे मूत्रवृद्धौ, नाभेरधश्चतुरंगुले सेवन्यां वाम पार्श्वे दकोदरे,) वामपार्श्वे कक्षास्तनयोरन्तरेऽन्तर्विद्रधीपार्श्वशूले च बाहुशोषाबबाहुकयोरप्येके वदन्त्यंसयोरन्तरे, त्रिकसन्धिमध्यगतां तृतीयके, अधः स्कन्धसन्धिगतामन्यतरपार्श्वसंस्थितां चतुर्थके, हनुसन्धिमध्यगतामपस्मारे, शंखकेशान्तसन्धिगतामुरोपांडगललाटेषुचो-

न्मादे, जिह्वारोगेष्वधोजिह्वायां दन्तव्याधिषु च, तालुनि तालव्येषु, कर्णयोरूपरि समन्तात् कर्णशूले तद्रोगेषु च, गन्धाग्रहणे नासारोगेषु च नासाग्रे, तिमिराक्षिपाक प्रभृतिष्वक्ष्यामयेषूपनासिके लालाट्यामापांग्यां वा, एता एव शिरोरोगाधिमन्थप्रभृतिषु रोगोष्विति। सु० शा० ८।१७

इदानीं नियतदेहदेशगतरोग विशेषेण व्यध्यानां सिराणां देहदेशविशेषं नियमयन्नाह तत्रेत्यादि। प्रभृति ग्रहणादन्येऽपि पादरोगा रक्तानुबन्धिदोषजाता गृह्यन्ते। तच्चिकित्सिते यथा वक्ष्यत इति श्लीपदचिकित्सिते येन प्रकारेण वक्ष्यते, तथा श्लीपद सिरां विध्येदित्यर्थः। ओष्टुकशिर इत्यादि। ओष्टुकशीर्षादिषु वातवेदनासु जंघायां सिरां विध्येत्। तत्रापि प्रदेश विशेषज्ञानायाह गुल्फस्योपरीत्यादि। अपच्यामिति उत्पन्नमात्रायामित्यर्थः। न तु रूढायां, तस्यां "पार्ष्णि प्रतिद्वेदश चांगुलानि" (चि० अ० १-) इत्यादिना चिकित्सितस्योक्तत्वात्। एतेनेत्यादि। यस्माद्रक्तयोरपि दाहादयो रोगा भवन्त्यतो वाहुग्रहणम् कृतम्। किं सर्वत्रैव सक्थिबाह्वोः समान सिराव्यध आहोस्वित् क्वचिद्भिन्न इति दर्शयन्नाह - विशेषत इत्यादि। कूर्पर सन्धेरित्यत्र सन्धि शब्देन सन्धि समीप उच्यते, सन्धौ शस्त्रप्रणिधानस्य निषिद्धत्वात्। यकृद्दाल्ये इति यकृद्दाल्युदरस्य सर्वावस्थायामित्यर्थः। एतामेव दक्षिणबाहुमध्याश्रितामित्यर्थः। कासश्वासयोरिति कफोत्थयोः कफावृतमारुत जन्ययोर्वा। गयी तु "कासश्वासयोरल्पयोर्मार्गविशुद्धयर्थं, नतूद्विक्तयोः तत्र सिराव्यधप्रतिषेधस्य प्रागेव प्रतिपादितत्वात्" इति व्याख्याति। गृध्रस्यामिव विश्वाच्यां यथा— गृध्रस्यां जानुसन्धेरूपर्यधो वा चतुरंगुले, एवं विश्वाच्यां कूर्परसन्धरूपर्यधो वा चतुरंगुल इत्यर्थः। श्रोणिमित्यादि। शूलिन्यामिति कालेनानुबन्धभूतरक्तावृतवातकृतशूलयुक्तायामित्यर्थः। परिवर्तिका "मर्दनात् पीडनाद्वायुः" (नि० अ० १३) इत्यादि प्रोक्तलिंगा। वृषणयोरित्यादि। मूत्रवृद्धयामिति परिपक्वायामित्यर्थः। सेवन्यां वामपार्श्वेइति सेवनीप्रदेशाद्वामपार्श्वे इत्यर्थः। वामपार्श्वे इत्यादि। वृद्ध वाग्भटे तु "विद्रधौ पार्श्वशूले च पार्श्वकक्षास्तनान्तरस्थां" (अ० सं० सू० अ० ३६) इति सामान्येनैव पार्श्वशब्दोपादानं कृतं, तस्मादत्रापि वामपार्श्वग्रहणं दक्षिणपार्श्वोपलक्षणं, तेन दक्षिणपार्श्वे कक्षास्तनान्तरस्थां सिरांविध्येदित्यर्थः। अग्रयाग्रे "एतामेव कफोदरे" इति केचित् पठन्ति, स पाठो न संगच्छते, एतो "दक्षिण बाहौ यकृद्दाल्ये कफोदरे च" इति प्रागेव कफोदरे सिराव्यधस्य प्रतिपादित्वात्। बाहुशोषेत्यादि। शोणितावृतवातजनितयोर्बाहुशोषबाहुकयोरप्यसंसयोः सिराव्यधः न तु केवल वातकृतयोरित्येके वदन्ति, परमतं चाप्रतिषिद्धमनुमतमेवेति जेज्जटाचार्यः। गयी तु "बाहुमध्ये बाहुशोषबाहुकयोरप्येके वदन्त्यंसयोरन्तरे" इति पठित्वा व्याख्याति बाहुशोषाऽबबाहुकयोर्बाहुमध्ये कूर्परांसयोर्मध्ये इत्यर्थः मतान्तरमाह एके वदन्त्यंसयोरन्तर इति। ननु चान्यत्रावबाहुकादिति सिराव्यध प्रतिषेधात् कथमत्र सिराव्यधो विहितः। नैवम्, अन्यत्रावबाहुकादित्यनेन

वातव्याधि चिकित्सितावेक्षणस्य प्रतिषेधो, न तु सिराव्यधस्येति तत्रैव वात व्याधि चिकित्सिते वर्णयिष्यामः। बाहुशोषे च केवलानिलजेऽप्यवस्थावशात् सिराव्यधः तथाह् युष्णाम्बुलवणादेर्वातिहसररस्योपयोगात् कुपितेन शोणितेनावृतो वातोयदावेदनाकारी तदासिराव्यध इति। जिह्वेत्यादि। अंसयोरन्तर इत्यत्रापि संबध्यते। तेनंसयोरन्तरे यस्त्रिकसन्धिस्तत्समीपगतां, न पुनस्त्रिकसन्धिमध्यगतां वामदक्षिणपार्श्वयोरेकतरपार्श्वसंश्रितां सिरां विध्येदिति समुदायार्थः। हन्वित्यादि। हनुसन्धिमध्यगतां हनुसमीपसन्धिमध्यगतामित्यर्थः। शंखेत्यादि। केचिदत्र "उन्मादेऽपस्मारे च" इति पठन्ति, तत्रापस्मारस्य पाठो न संगच्छते, तथा च वाग्भटः—"उरोऽपांगललाटस्थामुन्मादेऽपस्मृतौ पुनः। हनुसन्धौ समुद्भूतां सिरां भ्रूमध्यगामिनीम्"— (वा० सू० अ० २७) जिह्वेत्यादि। जिह्वारोगेषु कण्टकादिषु, दन्तव्याधिषु कृमिदन्तादिषु। तालुनीत्यादि। तालव्येष्विति तालुभवेषु विकारेषु। कर्णयोरित्यादि। अत्रोपरिग्रहणमधोनिवृत्यर्थं, विधुरमर्माश्रितत्वादधोभागस्य। कर्णशूलइति रक्तावृतानिलजे इत्यर्थः। कर्णरोगद्वारेणैव कर्णशूलेप्राप्ते तदुपादानं विशेषार्थम् तद्रोगेषु कर्णरोगेषु। गन्धेत्यादि। नासारोग द्वारेणैव गन्धाग्रहणे प्राप्ते विशेषार्थमुपादानम्। तिमिरेत्यादि। पाकोऽक्षिपाकः। उपनासिके नासासमीपस्थे सिरे। अपाङ्ग्या भ्रूपुच्छान्तस्था। सिरोरोगाधिमन्थ प्रभृतिषु रोगेष्विति प्रभृति ग्रहणात् क्षुद्ररोगे पठितालंविकादेरपि ग्रहणम् सर्वेषु पूर्वोक्तेषु रक्तानुबन्धजेषुरक्तजेषु वा सिरा व्यधो नान्यादृशेषु ॥ डल्हणः।

तत्रेत्यादि पादशब्दावेतौ शाखामात्रमुपलक्षयत इति गम्यते हस्तदाहादावप्यस्य विधेयोगात्। क्षिप्रमर्म्मण इति जातावेकवचनं यथासम्भवं क्षिप्रमर्म्मण्य इत्यर्थः। केनचिदत्रापबाहुकोऽपि पठ्यते तन्न समीचीनं प्रतीकारविधावस्य व्यधेन जिह्मसितत्वात्। शिरां विध्ये दित्युत्तरत्राप्यनुषज्यते।

न तावदेकसक्थिगतशिराव्यधेनोभयसत्रक्थिसंश्रिताव्याधयः प्रशान्तिमापद्यन्ते नापि चोभयसक्थिगतानां शिराणां व्यधेन बाहुसंश्रिता इत्याह एतेनेति इदमत्रावधेयम्, सक्थितयानि गुल्फजानुरूमूलानि बाहौ तु तानि मणिबन्धकूर्परकक्षमूलानीतिः विशेषः। सक्थितो बाह्वोः किंचित् विशेषं दर्शयति विशेषत इति। अत्रादिशन्तीत्यनेन कासश्वासयोः सिराव्यधनं नाभिनन्दत्याचार्य्य इत्याविष्कृतं भवति। अत्र "यकृद्दाल्ये कफोदरे च" इत्यनाकरः पाठः कफोदरे शिराव्यधस्यानुपयोगात्। गृध्रस्यामिवेत्यनेन विश्वाच्यां कूर्परसन्धेरूपर्य्यधो वा चतुरंगुल इत्याख्यातं भवति। श्रोणीत्यादि। परिवर्त्तिका क्षुद्ररोगभेदः। अहोगुरोरश्रुतसुश्रुतः कश्चित् मूत्रवृद्धयां दकोदरे च दोषोदकावसेचनार्थं विधित्सते व्यधने एव शिराव्यधो मन्यमानोऽत्रं "वृषणयो. पार्श्वे मूत्र वृद्धयां" तथा "नाभेरधश्चतुरंगुले सेवन्या वामपार्श्वेदकोदरे" इत्यश्रुतपूर्व्वमसमंजसंचाचक्षाणः।

स्वस्यैवाश्रुतत्वमदृष्टकर्म्मत्वमस्थानवादित्वेन पुनर्व्यध्यशिरत्वंचाख्यायणीति सुधियः शृणुध्वम्।—

—वामेत्यादि। विधिरयं कफजविद्रधि विषय एवेति प्रत्येतव्यम्। वक्ष्यति हि "यथोद्दिष्टां शिरांविध्येत कफजे विद्रधौ" इति। बाह्वित्यादि। परमतमेतत्स्वाभिमतविरुद्धमित्युपरिष्टाद्व्यक्तीभविष्यति। उरोऽपांगललाटेपुगताचेतिशेषः। दन्तव्याधिषु चेति चकारेणाध इत्याकृष्यते दन्तव्याधिषु नानाविधेषु कृमिदन्तेष्वधोदन्तमूले इति। निष्कर्षः। तालव्येषु तालुभवेषु रोगेष्वित्यर्थः। कर्णयोरिति। तद्रोगेषु कर्णरोगेष्वित्यर्थः। एतेनैव कर्णशूलस्याद्युपलम्भेऽपि पृथगुपादानं विशेषेणौपयौगिकत्वमाख्यातुम्। उपनासिके नासिकायाः समीपे प्रकृत्वात् शिरां विध्येदिति योजना ललाटभवा ललाट्या एवमेवापाङ्ग्या च प्रत्येतव्या। एता औपनासिकयादयः, प्रभृतिग्रहणादभिष्यन्दादीनामादेशः। उक्तेष्वेतेषुरोगेषु व्यध्या इत्यूह्यम् इति शब्दो व्यध्यानामुपदेशपरिसमाप्त्यर्थः।

हाराणच०

रोगविशेषानुसार शरीरांग प्रत्यंगेषु सिराविशेषव्यध सूचनम्

शिरोनेत्ररोगेषु ललाट्यामुपनास्याऽपांग्या वा कर्णरोगेषु परितः कर्णौ। नासारोगेषु नास्याग्रे प्रतिश्याये तु नासा ललाटस्थाः। मुखरोगेषु जिह्वोष्ठहनुतालुगाः जत्रूर्ध्वं ग्रन्थिषु ग्रीवा कर्णशंखमूर्द्धगाः। अपस्मारे हनुसन्धिमध्यगाः। उन्मादे तूरोऽपांगललाटगाः। विद्रधौ पार्श्वशूले च पार्श्वं कक्षास्तनान्तरस्थाः। चतुर्थके स्कन्धाधोगतानामन्यतर पार्श्वाश्रयाम्। तृतीयकेंऽसयोरन्तरं त्रिकसन्धिमध्यगताम्। प्रवाहिकायां शूलिन्यां श्रोण्योः समन्ताद्व्यंगुले निवृत्तोपदंश शुक्रव्यापत्सुमेढ्रे गलगण्ड उरूमूल संश्रिताम्। गृध्रस्यां जानुसन्धेरूपर्यधो वा चतुरंगुले। अपच्यामिन्द्रबस्तेरधस्ताद् द्व्यंगुले। क्रोष्टुकशीर्षसक्थिवातरूजासु गुल्फस्योपरि चतुरंगुले। श्लीपदेषु यथास्वं वक्ष्यते। पाददाहहर्षचिप्यवात। वात शोणितवात कण्टकविपादिकादारी प्रभृतिषु पादरोगेषुक्षिप्रमर्मण उपरिष्टात् द्व्यंगुले। एतनेतर सक्थिबाहुच व्याख्यातौ। विशेषतस्तु वामबाह्वाभ्यन्तरेतो बाहुमध्ये प्लीहोदरे। एवमेव च दक्षिणबाहौयकृदाख्ये। तथा कास श्वासयोरप्यादिशन्ति। गृध्रस्यामित्र विश्वाच्याम्। बाहुशोषबाहुकयोरप्येके। अदृश्यमानासु चैतास्वति प्रवृद्धव्याधेरन्यव्याध्युक्ता नामपि यथासन्नं व्यधः॥

अ० सं० सू० अ० ॥३६॥

तत्र शिरोरोगेषु नेत्ररोगेषु च नेत्ररोगविशेषनैकट्यापेक्षयापांगयाद्यन्यतमां व्यधयेत्। अपांगे भवा अपाङ्ग्या। उपनास्या नासासमीपस्था चतुर्थके ज्वरे स्कन्धस्याधोगतानां मध्यादन्यतरस्य पार्श्वाश्रयाम्। प्रवाहिका निस्तानिका। शूलिनी शूलमिश्रा। उपदंशो मेढ्ररोगो गुह्यरोगेषु वक्ष्यमाणः। अपची गण्डमाला। इन्द्रबस्तिर्नाम जंघामध्येमर्म। क्रोष्टुशीर्षो नाम जानुमध्ये रोगः। यर्थवैकस्मिन्

सविथनि बाहौ च तद्वदपरस्मिन्नपि। कासश्वासयोरपि बाहुसिरामित्येवमादिश्यन्त्याचार्याः। यस्मिन व्याधौ सिरा उक्ता सा यदि न दृश्यते तदा अन्यव्याध्युक्ता अपि तन्निकटे व्यधनीया।

इन्दुः।

अंगप्रत्यंग भेदेन सिराव्यधप्रकाराः

उन्नमितविष्टाग्र जिव्हस्याधो जिह्वायाः। विवृतास्यस्य तालूनि दन्तमूले च। ग्रीवासिरासु स्तनयोरूपरि यन्त्रयेत्। उदरोरसोः प्रसारितोरस्कस्योन्नमित शिरसः। बाहुभ्यामालम्बमानस्यपार्श्वयोः। उन्नत मेढ्रस्य मेढ्रे। श्रोणिपृष्टस्कन्धेषुन्नमित पृष्ठस्यावाक्शिरस उपविष्टस्य विश्वाचीगृध्रस्योरनाकुंचिते कूर्परे जानुनि वा सुखोपविष्टस्य गुदांगुष्ठबद्धमुष्ठेर्व्यधनीयप्रदेशस्योपरि चतुरंगुले प्लोताद्यन्यतमेन बद्ध्वा हस्तसिराम्। एवमेकपादं सुस्थितं स्थापयित्वान्यपादमीषत्संकुचित तस्योपरि निधाया जानुसन्धेरधो हस्ताभ्यामागुल्फं निपीड्य पूर्ववद्वा पादसिरां विध्येत्। तत्र तत्र च तैस्तैरूपार्यविकल्प्य यन्त्रयेत्।

अ० सं० सू० अ० ॥३६॥११

जिह्वा विदष्टा उर्ध्वमुत्क्षिप्यान्तर्ग्रहणेन गले नीताबाहुभ्यामवलम्बमानस्योर्ध्वबाहोर्वृक्षशाखादावेषं हि पार्श्वसिरा स्फुटीभवति। तत्र तत्र तासु च सिरासु यन्त्रणं स्वबुध्या परिकल्पयेत्।

इन्दुः

सामान्यतः सिराव्यधयोग्य स्थल संकेते परिहार्याणां मर्मस्थानानां संकेतः

यथोक्तानामदर्शने।
मर्महीने यथासन्नेदेशेऽन्यांव्यधयेत् सिराम्॥

अ० हृ० सू० अ० २६।२७

यथोक्तानां सिराणामदर्शने सति मर्म वर्जिते यथासन्न स्थाने व्याधिवशादपरां विध्येत्॥

अरुणदत्तः।

यथोक्तानां शिराणामदृश्यमानानामासामदर्शनेऽदृश्यत्वेऽतिप्रवृद्धेन व्याधिनाऽऽतुरस्य त्वरायां समुपजातायां मर्महीने मर्मरहिते यथासन्न देशे योगो व्याधिरासन्नो देशस्तस्मिन् व्यधयेत्। अपरा अन्या उक्ताऽनुक्ता अपि शिरा व्यधयेत्॥

चंद्रनन्दनः

हि० व्या०—सिराव्यध का रोगानुसार स्थान निर्देश करते हुए लिखा है कि—

१. पाददाह, पादहर्ष, चिप्प, वातशोणित, वातकण्टक, विचर्चिका, पादपारी, आदि में क्षिप्र मर्म के ऊपर दो अंगुल स्थान की सिरा का व्रीहिमुख यंत्र द्वारा वेध करना चाहिए।

२. श्लीपद रोग में वात दोषज होने पर गुल्फ सन्धि के चार अंगुल ऊपर,

पित्तज में गुल्फ सन्धि के नीचे, कफज में अंगूठे की प्रसिद्ध सिरा-क्षिप्र मर्म के चार अंगुल ऊपर वेध करें।

३. क्रोष्टुकशीर्ष, खंजता, पंगुता तथा अनेक वातवेदनाओं में जंघा में गुल्फ से चार अंगुल ऊपर सिरावेधन करना चाहिए। (वातरक्त, वातहर्ष, विपादिका, वात कंण्टकादि)।

४. अपची में इन्द्र बस्ति के नीचे दो अंगुल सिरावेध करना चाहिए। यह अपची उत्पन्न होने पर करना चाहिए। किन्तु अपची पुरानी नहीं होनी चाहिए।

५. गृध्रसी में जानुसन्धि के ऊपर अथवा चार अंगुल नीचे सिरावेध करना चाहिए।

६. गलगण्ड में ऊरू मूल में रहने वाली सिरा का वेध करना चाहिए।

इसी प्रकार दूसरी टांग तथा दोनों बाहुओं के लिए भी सिरावेध को जान लेना चाहिए।

७. विशेष रूप से प्लीहरोग में वामबाहु के मध्य में भीतर की तरफ कूर्पर सन्धि के समीप कनिष्ठिका और अनामिका के मध्य स्थान में सिरावेध करना चाहिए।

८. इसी प्रकारयकृत दाल्युदर में तथा कास-श्वास में भी दक्षिण बाहु में सिरावेध करें।

९. विश्वाची नामक रोग में गृध्रसी में समान सिरावेध करना चाहिए। यहां कोहनी या जानु के आसपास सिरावेध किया जाता है, सन्धि स्थान में नहीं।

१०. शूल युक्त प्रवाहिका में श्रोणी के चारों ओर दो अगुल के अन्दर में सिरावेध करना चाहिए।

११. परिवर्तिका, उपदंश, शूकदोष तथा शूकरोगों में मेढ्र के मध्य सिरावेध करना चाहिए।

१२. मूत्र वृद्धि में वृषणों के पार्श्व में तथा दकोदर में नाभि के नीचे सीवनी के बायीं ओर चार अंगुल पर सिरावेध करना चाहिए।

१३. अन्तर्विद्रधि तथा पार्श्वशूल में बायीं बंगल में कक्षा और स्तन के बीच में सिरावेध करें।

१४. बाहुशोष में तथा अवबाहुक में कन्धे के बीच में शिरावेध करना चाहिए। यह कुछ विद्वानों में अभिमत है।

१५. तृतीयक ज्वर में त्रिकसन्धि के मध्य को सिरा को वेधित करें।

१६. चतुर्थकज्वर में किसी भी एक पार्श्व में स्कन्ध सन्धि के नीचे सिरावेध करें।

१७. अपस्मार में हनुसन्धि के बीच में रहने वाली सिरा का वेधन करें।

१८. अपस्मार एवं उन्माद में शंख तथा केशान्त सन्धि गत तथा वक्षस्थल, अपांग व ललाट में रहने वाली सिराओं का वेध करना चाहिए।

१९. तालु रोगों में तालुप्रदेश में सिरावेध करना चाहिए।

२०. कर्णपीडा तथा कर्ण रोगों में कानों के ऊपर चारों तरफ सिरावेध करना चाहिए।

२१. गन्ध के ग्रहण नहीं होने पर तथा नासा की अन्य विकृतियों में नाक के अग्रभाग में सिरावेध करें।

२२. तिमिर, अक्षिपाक् आदि नेत्र रोगों में नाक के समीप, ललाट अथवा अपांग में होने वाली सिराओं का वेधन करें।

२३. शिरोरोग तथा अधिमन्थ आदि रोगों में भी इन्हीं (उपरोक्त) सिराओं का वेधन करें।

इस प्रकार ऊपर जिन-जिन रोगों में सिरावेध का उल्लेख आया है। वहां या तो शुद्ध रूप से रक्तजरोग हो अथवा रक्त का अनुबन्ध हो तो सिरावेध कराना उत्तम होता है। सन्धि स्थान पर वेध का जहां जहां उल्लेख आया है वहां पार्श्व भाग समझना चाहिए। यह डल्हण का मत है। जिस जिस व्याधि में जिन सिराओं के वेधन का उल्लेख आया है यदि वे दिखाई नहीं पड़े तो उसी स्थान की अन्य व्याधियों में उक्त सिरा का वेधन करना चाहिए। ऐसा हेमाद्रि का मत है। अष्टांग हृदय में कुछ रोगों का अधिक विवरण दिया है एवं स्थान व सिरा का भी उल्लेख किया है वह इस प्रकार है।

प्रतिश्याय रोग में नासा एवं ललाट की सिरा का वेध करना चाहिए। मुख रोग में जीभ, होंठ, हनु अथवा तालु की सिरा का वेध करना चाहिए। जन्तु के ऊपर भी ग्रन्थियों में ग्रीवा, कर्ण, शंख तथा सिर पर सिरा का वेध करना चाहिए। उन्माद में भ्रू के मध्य की सिरा का वेध करें। शूल युक्त प्रवाहिका में श्रोणि के इधर-उधर दो अंगुल पर सिरावेध करें।

सिरा व्यधे शस्त्रप्रणिधान मात्रापरिमाण संकेतः

मांसलेष्ववकाशेषु यवमात्रं शस्त्र निदध्यात्, अतोऽन्यथाऽर्धयवमात्रं व्रीहिमात्रं वा व्रीहिमुखेन, अस्थ्यामुपरि कुठारिकया विध्येदर्धयवमात्रम्।

—सु० शा० ८।९

इदानीं प्रदेशविशेषेणशस्त्रप्रणिधानप्रमाण शस्त्रविशेषं च दर्शयन्नाहमांसलेष्वित्यादि। मांसलेषु जठरस्फिगादिषु, यवमात्रंम् यवप्रमाणं। व्रीहिरत्र प्रधानकल्पनया शूकधान्यं, तत्रापि रक्तशालिरेव। डल्हणः।

तत्रमांसलेष्ववकाशेषु यवमात्रं व्रीहिमुखेन अतोऽन्यथाऽर्द्धयवमात्रं व्रीहिमात्रं

वा अस्थ्नामुपरि कुठारिकयाऽर्द्धयवमात्रम् सर्वत्र चानुत्तानावगाढमृज्वसंकीर्णं समं मर्माद्यनुपघाति सिरामध्ये शस्त्रमाशु पातयेत्। अ० सं० सू० अ० ३६।

व्रीहिमुखकुठारिका प्रयोग विधिश्च

मांसले निक्षिपेद्देशे व्रीह्यास्यं व्रीहिमात्रकम्।
यवार्धमस्थ्नामुपरि सिरा विध्यन् कुठारिकाम्॥

– अ० हृ० सू० अ० २७-, चक्रदत्तः

हि० व्या०—सुश्रुत में शरीर के विविध स्थानानुसार सिरावेध करने की विधि का ज्ञान कराते हुए लिखा है कि समस्त मांसल भागों उदर, उरु आदि में यव (जौ) के प्रमाण में शस्त्र से वेधन करना चाहिए। कम मांसल स्थान मस्तक आदि अथवा अन्य स्थानों पर आधे जौ के बराबर अथवा व्रीहिमुख यंत्र से वेध करें।

अस्थियों के उपरी भाग पर कुठारिका नामक यन्त्र से आधा जौ प्रमाण में गहरा सिरावेध करना चाहिए। यहां वर्णित दोनों शस्त्र आजकल के ट्रोकार-कैनुला एवं चाकू के समान धार वाली कुल्हाड़ी केसमान होते हैं—

अष्टांग संग्रह, अष्टांग हृदय एवं चक्रदत्त में भी उपर्युक्त विवरण का अनुकरण किया है। वृद्ध वाग्भट (अ० सं०) में आगे लिखा है कि सभी प्रदेशों में इस प्रकार का वेध करें जो न अधिक उत्तम हो तथा न अधिक गहरा हो किन्तु सीधा एवं बताये गए प्रमाण में हो, संकीर्ण भी नहीं होना चाहिए। सम होते हुए मर्म स्थान तथा स्नायु आदि पास की अन्य रचनाओं को हानि नहीं पहुंचाता हो। सिरा के मध्य भाग में शीघ्रता पूर्वक शस्त्र का प्रयोग करना चाहिए विलम्ब से रोगी को कष्ट का अनुभव होता है।

कुठारिकाशस्त्र लक्षणं तत्प्रयोजनं च।

पृथुकुठारी गोदंतसदृशार्धांगुलानना।
तयोर्ध्वदंडया विध्येदुपर्यस्थ्नां स्थितां शिराम्॥

–अ० हृ० स० अ० २६।१२

कुठारी पृथुविस्तीर्णा पृथुदण्डा गोदन्तकारा तथाऽर्द्धांगुला ननाऽर्द्धाङ्गुलफला तया कुठार्याऽस्थ्नामुपरि पृष्ठे स्थितां शिरां विध्येत्। ऊर्ध्वदण्डो यस्यास्तथाविधा। अधोमुखया शिरांविध्येत्। चंद्रनन्दनः

कुठारिकाशस्त्रेण शिरावेधविधिः

वामहस्तेन विन्यस्य कुठारीमितरेण तु।
ताडयेन्मध्यमांगुल्यांगुष्ठविष्टब्धमुक्तया॥

—चक्रदत्तः (शिराव्यधाधिकारः)

कुठारिकाया वेधनप्राकारमाह, वामहस्तेनेत्यादि। इतरेण दक्षिणहस्तेन ताड़येत्। कथं ताड़येत्? इत्याह मध्यमांगुल्येति। अंगुष्ठविष्टब्धमुक्तयेति—

आदौ वृद्धांगुष्ठेन विष्टभ्य मुक्तयेत्यर्थः। (शिवदास)

हि० व्या०—सिरावेध में उपयोगी यन्त्र शस्त्रों का सामान्य परिचय—

कुठारी नामक शस्त्र का स्वरूप गोदन्त के समान होता है। जो आधा अंगुल चौड़ा होता है। इसके ऊपर के भाग में कुल्हाड़ी के समान बैंट लगा रहता है। इससे अस्थि के ऊपर स्थित सिराका बेध किया जाता है।

इससे वेधन प्रकार विधिका वर्णन करते हुए चक्रदत्त लिखते हैं कि—चिकित्सक वाम हाथ में कुठारिका को धारण कर अंगूठे से दबाकर छोड़ी हुई दाहिने हाथ से मध्यमा अंगुली के द्वारा सिरा को ताड़ित करके वेधन करना चाहिए।

अर्धचन्द्राख्य शस्त्रलक्षणं व्रीहिमुखशस्त्रलक्षणं तत् प्रयोजनं च

अर्धचन्द्राननं चैतत्तथाऽध्यर्धांगुलं फले।
व्रीहिवक्त्रं प्रयोज्यं च सच्छिरोदरयोर्व्यधे॥

—अ० हृ० सू० अ० २७।

एतच्चार्धचन्द्राननमर्धचन्द्रमुखम्। व्रीहिमुखं शस्त्रं फले फल विषये तथैवाध्यर्धमङ्गुलं व्रीह्याकारं मुखं तच्च शिराव्यधे तथोदर, व्यधं तन्निमित्ते प्रयोज्यम्। चंद्रनन्दनः

व्रीहिमुखशस्त्रेण शिरावेधविधिः

ततो व्रीहिमुखं व्रण्य-प्रदेशे न्यस्य पीडयेत्।
अंगुष्ठतर्जनीभ्यान्तु तलप्रच्छादितं भिषक्॥

—चक्रदत्तः।

व्रीहिमुखादिशस्त्रेण यथा शिराव्यधो विधेयस्तदाह, तत इत्यादि। न्यस्यारोप्य अंगुष्ठतर्जनीभ्यां पीड़येदित्यन्वयः। तलप्रच्छादितमिति पीड़नक्रिया विशेषणम्, एतेन रक्तधारा नोर्द्धमुत्तिष्ठति इत्यभिसन्धिः। (शिवदास)।

हि० व्या० अर्द्धचंद्रकशस्त्र स्वरूप—इस शस्त्र का फल अर्द्ध चन्द्र के आकार का होता है इसकी धार भीतर की तरफ होती है। इसकी लम्बाई डेढ़ अंगुल प्रमाण में होती है।

व्रीहिमुख शस्त्र स्वरूपः—यव (जौ) के समान मुख वाले शस्त्र को व्रीहिमुख कहा जाता है। इसका प्रयोग सिरावेध एवं जलोदर में किया जाता है। इसकी धार डेढ अंगुल होती है। इसका प्रयोग मांसल प्रदेश की सिरा बेध में किया जाता है। प्रायः अण्डवृद्धि. गुल्म एवं विद्रधी के वेधन तथा भेदन कर्म में विशेष उपयोगी है।

इससे सिरावेध की विधि का वर्णन करते हुए चक्रदत्त में लिखा है कि सिरावेध करने के लिए जहां वेध करना हो व्रीहि शस्त्र लगाकर अंगूठे एवं तर्जनी को दबाना चाहिए।

कूर्चशस्त्रलक्षणं तत्प्रयोजनं च

सर्ववृत्तास्ताश्चतुरंगुलाः।
कूर्चो वृत्तैकपीठस्थाः सप्ताष्टौ वा सुबंधनाः।
संयोज्यो नीलिका व्यंगकेशशातनकुट्टने॥

—अ० हृ० सू० अ० २६।२१

ताः सूचयः सर्वतो वर्तुला दैर्घ्येण चतुरंगुलाः कूर्चं इत्युच्यते। किं भूताः वृत्त एकस्मिन् पीठे संस्थिताः। तथा सप्तसंख्या अष्टौ वा। तथा शोभनं बंधनं यासां ताः। सुबंधनाः। अत ऐवेदं शस्त्रं सूचीकूर्चसंज्ञमिति। तथा चाऽर्शश्चिकित्सिते जगाद। अर्शोभ्यो जलजाशस्त्रसूचीकूर्चैरित्यादिः स च बद्धसप्ताष्टसूचिकः कूर्चो नीलिकादिषु लेपे कुट्टन विषये च योज्यः। उपलक्षणत्वाच्चाऽस्यशित्रेंद्रलुप्तादिष्वपि योज्यः। अरुणदत्तः

सर्वतो वृत्ता वर्तुलाः सर्ववृत्तास्तथा चतुरंगुलायताः तथा वृत्ते तु एकस्मिन् पीठे स्थिताः तत्र प्रतिष्ठिताः सम्यक् सप्ताष्टौ वा तथा शोभन बन्धनाः सुष्ठु निबद्धा इत्यर्थाः। एतच्छस्त्रं सूचीनां कूर्चउच्यते। स च योज्यो नीलिकादिषु रोगेषु तथा कुट्टने कुट्टनविषये योजनीयः। चंद्रनन्दनः

हि० व्या०—कूर्च नामक शस्त्र स्वरूप एवं प्रयोजन—सीवन कर्म में अनेक प्रकार की सूचियों का वर्णन आया है उन्हीं में कूर्च भी एक प्रकार का सूची धारक यन्त्र है। इसमें सात-आठ गोल तथा चार अंगुल लम्बी सूइयां एक सुन्दर पृष्ठ (लकड़ी आदि का फलक) पर बंधी होती है अथवा आजकल स्थाई भी लगा देते हैं। यही कूर्चक कहलाता है। इससे, नीलिका व्यंग तथा इन्द्रलुप्त आदि रोगों में रक्त विस्रावण कराया जाता है। इसके द्वारा शल्य तन्त्र में कुट्टन कर्म किया जाता है।

सिराव्यध सामान्य पूर्वकर्म निर्देशः

तत्र स्निग्धस्विन्नमातुरं यथादोषप्रत्यनीकं द्रवप्रायमन्नं भुक्तवन्तं यवागुं पीतवन्तं वा यथाकालमुपस्थाप्यासीनं स्थितं वा प्राणानबाधमानं वस्त्रपट्टचर्मान्तर्वल्कललतानामन्यतमेन यन्त्रयित्वा नातिगाढं नातिशिथिलं शरीरप्रदेशमासाद्य प्राप्तंशस्त्रमादाय सिरां विध्येत्। —सु० शा० ८।६

तत्र सिराव्यधस्य पूर्वकर्मविधिं प्रदर्श्य प्रधानकर्मविधिं दर्शयन्नाह-तत्रेत्यादि। तत्रेति वाक्योपक्रमे। आतुरमिति अश्रातुरग्रहणं स्वस्थस्य रक्तं न स्रावयेदिति बोधनार्थम्। द्रवप्रायमिति रक्तोत्क्लेशनार्थे द्रवाधिकमन्नं भुक्तवन्तम्। यवागूं पीतवन्तं वेति सात्म्यापेक्षया। यथाकालमिति वर्षादिषु व्यभादिकालानतिक्रमेण। उपस्थाप्य सन्धाने स्थापयित्वा। आसीनम् उपविष्टं, स्थितम् उर्ध्वीभूतम्।

नातिगाढं नातिशिथिलमिति नातिगाढ मुत्तमांगे, नातिशिथिलं शाखासु । शरीर प्रदेशमासाद्येति मर्म रहितं शरीर प्रदेशं गृहीत्वेत्यर्थः । प्राप्तं शस्त्रमिति उपयुक्तं शस्त्रमित्यर्थः । तत्रेति उपस्थाप्य पुरोधसा देवानर्चयित्वेत्यर्थः । उपपूर्वो हि तिष्ठतिरर्च्चार्थः ।

"कृतस्वस्त्ययनः स्निग्धरसान्नप्रतिभोजितः" इति तन्त्रान्तरंच । आसीनं ललाटादिगतशिराव्यधनार्थमुपदिष्टम् । स्थितं पादादिगतसिराव्यधनार्थे दण्डवदवस्थितमित्यर्थः । प्राणान् यथासम्भवं प्राणत्वेनोपदिष्टान् वाटवादीन् अवाधमानोऽपीडयन्, यन्त्रयित्वा शोणितगतिनिरोधेन शिरोत्थापनार्थे यथावद्बन्धेनोपपाद्य, आसाद्यावाप्य शिरामिति शेषः । डल्हण ।

सिराव्यधात् प्राक् उपकल्पनीय द्रव्य भेषज संकेतः

प्रागेव चोपकल्पयेच्छयनासनोद कुम्भवस्त्र पट्टादि । तथायथालाभं तगरैला शीत कुष्ठ पाठा विडंगभद्रदारू त्रिकटुकागारधूमहरिद्राकोंकुर नवतमालचूर्णमसृक्स्रावणाय । असृक्स्थापनाय च लोध्र मधुक प्रियंगु पतंग गैरिकरसांजन शाल्मली शंख यव गोधूम माष चूर्णम् । वटाश्वत्थाश्वकर्णपलाश विभीतकसर्जार्जुनधन्वन धातकीसालसारारिमेद तिन्दुकत्व गंकुर निर्यास श्रीवेष्टक मृत्कपाल मृणालांजन चूर्णे । क्षौम मपीलाक्षा समुद्रफेन चूर्णं वा तथाऽन्यच्चातिस्रव रक्त व्यापत्प्रतीकारोपकरणम् । सज्जोपकरणोहि न वैद्यो मोहमाप्नोति ।

— अ० सं० सू० अ० १०

हि० व्या०—पूर्वकर्म वर्णन्—सिरावेध करने से पूर्व रोगी को स्नेहन-स्वेदन कराना चाहिए । दोष के विपरीत पतला आहार देना चाहिए यथा यवागू पान कराकर, काल का समुचित विचार करके अपने समीप बिठाकर अथवा आवश्यकता हो तो खड़ा करके प्राणों को कष्ट नहीं देने वाले अर्थात् आरामदेह वस्त्र, पट्टचर्म, अन्तर्छाल आदि किसी मुलायम वस्तु से अंग को बांधकर जो न तो अधिक कड़ा न ढीला ही हो तब उपयुक्त शस्त्र से सिरावेध कर्म करना चाहिए ।

संभार सामग्री—अष्टांग संग्रह में संभार सामग्री इस प्रकार बताई है—लेटने के लिए शय्या, बैठने के लिए आसन, शुद्ध स्वच्छ जल का घड़ा; कपड़ा पट्टी । तगर इलायची, कपूर, कूठ, पाठा, विडंग, देवदारू का चूर्ण, गोंद, सोंठ, मरिच, पीपल, गृहधूम, हल्दी, आक के अंकुर तथा करंजकाचूर्ण अथवा सभी द्रव्यों का चूर्ण, (यह चूर्ण रक्त स्रावण के लिए उपयोगी है । जब रक्त का स्राव नहीं हो तब शस्त्र लगाये या वेधन किए स्थान पर इन द्रव्यों में से ३-४ द्रव्यों का सभी का बनाया चूर्ण लवण तथा तेल में मिलाकर मलना चाहिए, सिरावेध से जब अतिशय रक्त निकलने लगे तब उसे रोकने के साधनों का भी पूर्व

में ही संग्रह किया हुआ होगा तो अधिक कठिनाई नहीं होगी अतः लोध्र, मुल हठी, प्रियंगु, पतंग, गेरू, रसांजन, सेमल, की छाल, शंखभस्म या पिष्टी, जौ, गेहूं, उड़द के चूर्ण तथा वट, पीपल वृक्ष, अश्वकर्ण पलास की छालें, बहेड़ा, सर्ज (राल) अर्जुन की छाल धामन छाल, धातकी पुष्प, शाल का सार, विट् खदिर सार, (दुर्गन्धित खादिर), तिन्दुक छाल, अंकुर तथा गोंद, श्रीवेष्टक, मिट्टी का कपाल (घड़े का टुकड़ा), मृणाल (कमलनाल), अंजन चूर्ण, रोशनी वस्त्र की भस्म, लाख तथा समुद्रफेन चूर्ण तथा अन्य जो उपकरण रक्त को रोकने में उपयोगी हो, अतियोग जन्य व्यापद् को दूर करने वाले हों उनका संग्रह करके यथा स्थान सुरक्षित रख दें । इन वस्तुओं के रहने से व्यापद के समय चिकित्सक घबराता नहीं है और शीघ्र उचित उपचार कर देता है । सु० सूत्र० अध्याय १४ के ३६वें सूत्र में भी इन्हीं का विवरण आया है जिसमें शुक्ति, मेष शृंगी, कपास आदि पट्टी बंधन के साधन कमल पत्र, चन्दन हीबेर, खस लेपनार्थ, काकोल्पादि गण की औषधियाँ आदि का अधिक उल्लेख है । अतः रक्त की अतिप्रवृति होने पर प्रमुख ६ प्रक्रियाओं का वर्णन किया गया है—शीत प्रयोग उष्ण प्रयोग, दहन रक्तरोधक, औषध प्रयोग अवपीड़न एवं बन्धन । अतः इनमें से आवश्यक सभी प्रक्रियाओं के साधन एकत्र करते हैं ।

शरीरांगप्रत्यंगेषु यत्र तत्र सिराव्यध कर्मणि सिराव्यधविधिविशेष वर्णनम् ।

तत्र व्यध्यसिरं पुरुषं प्रत्यादित्यमुखमरत्निमात्रोच्छ्रिते उपवेश्यासने सवध्नोराकुंचितयो निवेश्य कूर्परे सन्धिद्वयस्योपरि हस्तावन्तर्गूढांगुष्ठकृतमुष्टी मन्ययोः स्थापयित्वा यन्त्रणशाटकं ग्रीवामुष्ट्योरूपरि परिक्षिप्यान्येन पुरुषेण पश्चात्स्थितेन वामहस्तेनोत्तानेन शाटकान्तद्वयं ग्राहयित्वा ततो ब्रूयात् दक्षिणहस्तेन सिरोत्थापानार्थे नात्यायतशिथिलं यन्त्रमावेष्टयेति, असृक्स्रावणार्थे च यन्त्रं पृष्ठमध्ये पीडयेति, कर्मपुरुषं च वायुपूर्णमुखं स्थापयेत्, एष उत्तमांगगतानामन्तमुर्खवर्जानां सिराणां व्यधने यन्त्रणविधिः । पादव्यध्यसिरस्य पादं समे स्थाने सुस्थितं स्थापयित्वाऽन्यं पादमीषत्संकुचितमुच्चैःकृत्वा व्यध्यसिरं पादं जानुसन्धेरधः शाटकेनावेष्ट्य हस्ताभ्यां प्रपीड्य गुल्फं व्यधयप्रदेशस्योपरि चतुरंगुले प्लोतादीनामन्यतमेनबद्धा वा पादसिरां विध्येत् । अधोपरिष्टाद्धस्तौ गूढांगुष्ठकृतमुष्टी सम्यगासने स्थापयित्वा सुखोपविष्टस्य पूर्ववद्यन्त्रं बद्ध्वाहस्तसिरां विध्येत् । गृध्रसी विश्वाच्योः संकुचितजानुकूर्परस्य । श्रोणीपृष्ठस्कन्धेषून्नामित पृष्ठस्यावाक्शिरस्कस्योपविष्टस्यविस्फूर्जितपृष्ठज्ञय विध्येत् । उदरोरसोः प्रसारितोरस्कस्योन्नमितशिरस्कस्य विस्फूर्जितदेहस्य । बाहुभ्यामवलम्बमान देहस्य पार्श्वयोः आनामितमेढ्रस्य मेढे । उन्नमित विदष्ट जिह्वाग्रस्याधोजिह्वायाम् । अति व्यात्ताननस्य तालु-

निदन्तमूलेषु च। एवं यन्त्रोपायानन्यांश्च सिरोत्थापन हेतून् बुद्धयाऽवेक्ष्य शरीर वशेन व्याधिवशेन च विदध्यात्। सु० शा० ८।८

इदनीमुत्तमांगसक्थिपाणि द्वयपृष्ठोदरवक्षोमेढजिह्वादिषु सिराणां येन प्रकारेणोत्थापनं तं दर्शयन्नाह—तत्रेत्यादि। अरत्निमात्रोच्छ्रिते इति कनिष्ठांगुलिप्रमित हस्तमात्रोच्छ्रित इत्यर्थः। सन्धिद्वयस्योपरीतिजानुसन्धिद्वयस्योपरि कूर्परे निवेश्येत्यर्थः। कर्मपुरुषमिति यस्य सिराव्यधनं कर्म क्रियते स कर्म पुरुषः। अन्तर्मुखवर्जानामिति मुखान्तर्गतवर्जितानामित्यर्थः। तत्र पादव्यधेत्यादि। प्लोतादीनामिति प्लोतम् वस्त्रम्, आदिशब्दाद्वल्कलादीनां ग्रहणम्। अथो परिष्टादित्यादि। पूर्ववदिति व्यध्य प्रदेशस्योपरि चतुरंगुल इत्यर्थः। गृध्रसीत्यादि गृध्रस्यां संकुचितजानोः, विश्वाच्यां संकुचितकूर्परस्य, सिरां विध्येदिति पूर्ववाक्यात् संबध्यते। श्रोणिपृष्ठस्कन्धेष्विति सिरामिति पूर्वतरवाक्यात् संबध्यते। कीदृशस्य पुरुषस्येत्याशंक्य विशेषणत्रयमाहउन्नामितपृष्ठस्येत्यादि। विस्फूर्जितमायामितं पृष्ठं येन सः, तथा। उदरोरसोः। प्रसारितोरस्कस्योन्नमितशिरस्कस्य विस्फूर्जितदेहस्य "सिरां विध्येत्" इति शेषः। विस्फूर्जित देहस्येति आयामितमध्यशरीरस्येत्यर्थः। अवनामितमेढ्रस्येति स्तब्धमेवावनामितं मेढ्रं यस्य स तथा, तस्य मेढ्रे "सिरां विध्येत्" इति शेषः। अनुक्तानामपि यन्त्रणप्रकाराणां बुद्धया वीक्षणेन करणीयतां दर्शयन्नाह—एवमित्यादि। डल्हणः।

तत्रेत्यादि। प्रष्यादित्यमुखमितिदशनसौकर्यार्थमदिमुच्यते तेन यथेयं सिरा स्फुटं दृष्टिपथमाक्रामति विशेषणस्यास्य तथाभूतत्वे तात्पर्यमिति निश्चीयते, अक्षरार्थपरिग्रहे हि मध्यन्दिने कर्म्मणि कर्त्तव्ये कर्म्मपुरुषस्योदंचितमुखत्वे प्रसज्येत, तन्निष्पद्यते क्रियासौकर्य्यात्। अरत्निमात्रोच्छ्रित इत्यकिंचित्करमिवावभाति, शब्दवेद्य भूमावुपवेश्य कर्म्मकुर्व्वाणास्तामस्माकं नियमेन सिद्धयावाप्तेः। निवेश्य संस्थाप्य, तलसंवृतांगुष्ठेन पाणिनाकृता मुष्टिर्यत्र तावन्तर्गूढांगुष्ठकृत मुष्टीपरिक्षिप्य विन्यस्ययन्त्रणशाटकं यन्त्रणवस्त्रम्, तत इति द्वितीयान्तात् सार्व्वविभक्तिस्तसिल् तं पुरुषमित्यर्थः। नात्यायत शिथिलं नात्कृष्टं नाऽपि च शिथिलं समभियोजयेत्, यन्त्रणं यन्त्रणशाटकम्, आवेष्टय द्वित्रिर्व्वाऽऽवेष्टय चकारात् यन्त्र यन्त्रणं यथास्यातथा पृष्ठमध्ये स्कन्धयोरन्तराले पीडय आकर्षय इति च ब्रूयादित्यन्वयः। जिह्वादि गतानां हि सिराणां यन्त्रण विधिः परमतो निवेदयिष्यते तदिदमुच्यतेऽतइति। मुखस्यान्तरित्यन्तर्म्मुखं तद्वर्ज्जयन्त्याश्रयत्वेन परित्यजन्तीति कर्म्मण्यनीत्यन्तर्मुखवर्ज्जा जिह्वादिगतेतरा इत्यर्थः। अत्रः "सकथ्नोराकुंचितयोनिवेश्य कूर्परसन्धिद्वयस्योपरि" इत्यर्थं विस्रंष्ठुलः पाठो नार्हति यथायथावद्यन्त्रणप्रकारमाख्यातुम्। तत्रेत्यादि अत्र समे देश इत्यमांसलपादविषयम्। मांसलस्त्विष्टकुड्कादीनामन्यतस्मिनेव स्थापनीयम् अन्यथा हि नोत्तिष्ठन्ति शिराः प्रायेण। उच्चैःकृत्वाऽवलम्बनार्थंप्रपदमात्रेणभूमौ विन्यस्येत्यर्थः। आगुल्फं गुल्फमभिव्याप्य गुल्फादर्व्वाग्वा जानुसन्धेरधो हस्ताभ्यां प्रपीड्य शाटकेन वस्त्रेणावेष्ट्य, पक्षान्तरमाह व्यध्यप्रदेशस्येति। अत्र "प्लोतादीनामन्यतमेन बद्धां पादशिरां विध्येत्" इत्यसमंजसः पाठः आगुल्फं जानुसन्धेरधो बद्धस्य पुनर्वध्यप्रदेशस्योपरि चतुरंगुले बन्धनानर्थभयात्, उक्तेऽस्तिन् चतुरंगुलमात्रे बन्धनेनापि शिरोत्थानांच। अथेत्यादि। पूर्ववत् पादवत् कूर्परसन्धेरधः शाटकेनावेष्टय व्यध्यप्रदेशस्योर्द्धं चतुरंगुले वा पट्टादीनामन्यतमेनबद्धेत्यर्थः। गूढांगुष्ठकृतमुष्टी हस्तौ उपरिष्टादूर्द्धंवर्तिन्यासने सम्यक् स्थापयित्वा सुखोपविष्टस्य हस्तशिरां विध्येदित्यन्वयः। अत्र गूढांगुष्ठकृतमुष्टित्वे चेच्छिरा नोत्तिष्ठेतर्ह्यार्द्रफलाकारं पाषाणादिखण्डं हस्तेन ग्राहयित्वोक्तेन विधिना यन्त्रणं कार्य्यमित्युपदेशः। गृध्रसी विश्वाच्यौ प्रति प्रागुक्तेषु यन्त्रणप्रकारेषु मध्ये प्रसारितसक्थिबाहुत्वमात्रं नियमन्नाह गृध्रसीति। विस्फुज्जितपृष्ठस्य आञ्छितत्वेन गूढ़विस्फारितपृष्टस्य बाहुभ्यामिति वृक्षशाखापालम्बिताभ्यामेव, अवलम्ब्लमानेहस्य उच्चैरवस्थाप्यमानशरीरस्य। अवनामितमेढ्रस्य वक्रीकृतमेढ्रस्येति यावत्। हाराणच०।

अथ कृत स्वस्त्ययनमातुरं व्याधिबलनात्म्याद्यपेक्ष्य स्निग्ध जांगलरस यवागूं च पाययित्वा मुहूर्तमात्रमाश्वासितं पूर्वाह्णेऽपराह्णे वांऽगारातपोष्णवाष्पान्य तमस्विन्नं जानूच्छ्रिते मृदावासने जानुनिहितकूर्परं समस्थितपादं प्रत्यादित्यमुपवेशयेत्। केशान्ते चप्लोत चर्मवल्क पट्टान्यतमेन बध्नीयात्। ततश्चायतेन वस्त्रांगुष्ठगर्भेणद्वयेनातुरो यथात्वं मन्ये निपीडयेद्दन्तैश्च दन्तान् गण्डौ चाक्रमापयेत्। पुरुषश्चैनं—पृष्ठतो वस्त्र कृकाटिकान्तरन्यस्त वाम प्रदेशिनीकोनातिगाढं ग्रीवायां परिक्षिप्य वेष्टयन्वस्त्रं प्राणनबाधमानो यंत्रयेत्। इत्येषोऽन्तर्मुख वर्ज्यानां सिराणांव्यधने यन्त्रणविधिः। ततश्चास्य वैद्योंऽगुष्ठनिष्टब्धतया मध्यमांगुल्यां सिरां ताडयेत्।

अ० सं० सू० अ० ३६।, अ० हृ० सू० अ० २६-२७।२६

सामान्यतः सिराव्यध विधिः तत्र विविध सिराणां उत्तुण्डन प्रकारसंकेतश्च।

अथ स्निग्ध सज्जसर्वोपकरणो बली।
कृतस्वस्त्ययनः स्निग्धरसान्नप्रतिभोजितः॥
अग्नितापातपस्विन्नो जानूच्चासनसंस्थितः।
मृदुपट्टाक्तकेशांतो जानुस्थापिकूर्परः॥
मुष्टिभ्यां वस्त्रगर्भाभ्यां मन्ये गाढं निपीडयेत्।
दंतप्रपीडनोत्कासगंडाध्मानानि चाचरेत्॥

अ० हृ० सू० अ० २७

जत्रूर्ध्वं सिराव्यधने पूर्वं कर्म संकेतः ।

पृष्ठतो यंत्रयेच्चैनं वस्त्रमावेष्टयन्नरः ।
कंधरायां परिक्षिप्य न्यस्यान्तर्बामतर्जनीम् ॥
एषोऽन्तर्मुखवर्जानां सिराणां यंत्रणे विधिः ॥

अ० हृ० सू० अ० २७।२८

चक्रदत्तः (शिरोव्यधाधिकारः)

एनं चातुरं पृष्ठदेशे वसनमावेष्टयन्नरो यंत्रयेत् । कथम् । कंधरायां ग्रीवायां वस्त्रं परिक्षिप्य तथांऽतर्मध्ये वामतर्जनीं न्यस्य । सिराणां यंत्रण एव विधिरेतद्विधानम् । किं भूतानाम् अंतर्मुखवर्जानाम् ।

अरुणदत्तः ।

एवमातुरः पुरुषः पृष्ठतो यन्त्रायत वस्त्रमावेष्टयन् परिवर्तयन् कन्धरायां कृकाटिकायां परिक्षिप्य परितः समन्तादाक्षिप्य ग्रीवायामन्तर्वस्त्रकंन्धराया मध्यं वामहस्तप्रदेशिनीन्यस्य क्षिप्त्वा प्राणानबाधमानो यन्त्रयेदेनम् । एष यो यंत्रणविधिनिर्दिष्टः स बहिर्मुखस्थितानांव्यधनेनत्वन्तर्मुखस्थितानाम् । अंतर्मुखस्थितानां व्यधे विधिरभ्युन्नतविदष्टाग्रजिह्वस्य ।

चंद्रनंदनः ।

सिराव्यधविधौ सिरायाः उत्थापन प्रकारः ।

तथा मध्यमांगुल्या बंधोंऽगुष्ठविमुक्तया ताडयेत् ।

अ० हृ० सू० अ० २७।२९

ततो यंत्रणादनंतरं बंधोंऽगुष्ठविमुक्तया वामपणिजया मध्यमांगुल्या ताडयेत् । अरुणदत्तः ।

अ० हृ० सू० अ० २७।२९

हि० व्या - सिरावेध के समय जिस स्थान की सिरा का वेध करना हो उसे पूर्व में उतुण्डित या नियंत्रित करते हैं अतः यहां विविध स्थानों की सिराओं के उतुण्डित या नियंत्रित करने की विधि का सुश्रुतोक्त विवरण दिया जा रहा है—

१—जिस व्यक्ति का सिरावेध करना होता है उसे सूर्याभिमुख करके अरत्नि प्रमाण में ऊंचे चौकी या स्टूल पर बिठा देना चाहिए । उसके पाँव सिकुड़े हुए होने चाहिए । दोनों संधियों (घुटनों) पर कोहनियाँ रखे, अंगूठे को मुट्ठियों पर दबायें तथा दो मुट्ठियों को मन्याओं के ऊपर रखें, फिर गर्दन एवं मुट्ठियों पर यन्त्रणशाटक डालें, उस रोगी के पीछे कोई व्यक्ति खड़ा होना चाहिए । वह अपने बाँयें हाथ से शाटक को पकड़ लें, फिर चिकित्सक निर्देश दें कि दाहिने हाथ से सिराओं का उत्थान होने के लिए न बहुत जोर से एवं न अधिक ढीले या धीमे यन्त्र का आवेष्टन करें । रक्त का निर्हरण

होने के लिए यंत्र को पृष्टकेकध्य में दबाओ । जिसका सिरावेध करना हो उसे मुख में हवा भर कर बैठायें ।

यह यंत्रणविधि अंतर्गत सिराओं को छोड़कर शिरोगत शेष सिराओं के वेधन के लिए है ।

२—पाँवों में सिरा यंत्रण प्रकार—जिस व्यक्ति के पांवों में वेध करना हो उसका पाँव सम स्थान पर भली प्रकार रखवाकर सिरावेध वाले पाँव में घुटने के नीचे यंत्रण से लपेटकर गुल्फ भाग तक दोनों हाथों से दबाकर या वेधन किए जाने वाले प्रदेश के ऊपर चार अंगुल प्लोत (विशिष्ट गाज जैसा वस्त्र) चर्म आदि किसी एक से बाँध दिया जाता है । तत्पश्चात् शिरा के उत्तुण्डित होने पर वेधन किया जाता है । वाग्भट एवं चक्रदत्त का भी पाठ भाव समान है ।

३—हाथ की सिराओं का यन्त्रण प्रकार—अंगूठे को मुष्टि के भीतर की ओर दबाकर अच्छी तरह आसन बिठाकर पहले बताए गए प्रकार से वेष्टन करके सिरा वेध करना चाहिए ।

४—गृध्रसी एवं विश्वाची में घुटने एवं कोहनी को सिकोड़कर यन्त्रण करें । श्रोणी, पृष्ठभाग एवं कन्धे में सिरावेध करना हो तो पीठ को ऊंचा करके शिर को झुकाकर बिठाना चाहिए । इस प्रकार सीधी तनी हुई पीठ होने पर सिरावेध करते हैं । उदर एवं ऊरू प्रदेश में सिर को उठाकर ऊरू तथा मध्य शिरा को फैलाकर शरीर में दृश्यमान सिराओं का वेधन करना चाहिए ।

पार्श्वों में भुजाओं से शरीर को अवलंबन करके सिरावेध करें ।

मेढ़ में सिरावेध करने के लिए मेढ़ को बिना झुकाए तथा कहीं-कहीं झुकाकर सिरावेध करने का उल्लेख है । आ० हृ० में "प्रहृष्टे मेहने" लिखा है ।

जिह्वा के नीचे सिरावेध करने पर जिह्वा को उठाकर जिह्वाग्रभाग को उलटकर दांतों को दबाकर जिह्वा की सिराओं का वेधन करें ।

तालु एवं दन्तमूलों में मुख को पूरा खोलकर तालु एवं दन्तमूलों में सिरावेध करना चाहिए ।

इसी प्रकार जहां-जहां भी सिरावेध करना हो एवं यहां विस्तारमय से जिन-जिन अन्य स्थानों की गणना एवं विधि नहीं बताई गई है वहां भी आवश्यक सिरा उत्थान विधि से यन्त्रित करके सिरावेधन करना चाहिए । अष्टांगहृदय एवं अष्टांग संग्रह में सिरारेध विधि से पूर्व किए जाने वाले उपक्रमों का वर्णन करते हुए स्वस्ति वाचन मंचासरण करने के पश्चात् रोगी के रोग, बल, सात्म्य आदि के परीक्षण का विधान बताया है । उसे स्नेहयुक्त जांगल प्राणियों के मांसरस अथवा यवांगू पिलाकर । एकघण्टे विश्राम करने के पश्चात् प्रातः अथवा सायंकाल, अग्नि, धूप अथवा क्वाथ से स्वेदित करने आदि के

साथ सुश्रुतोक्त सभी प्रक्रियाओं का वर्णन किया है। कुछ अन्य बातें इस प्रकार बताई हैं। रोगी के बाल लम्बे हों तो बाँध देना चाहिए। मुट्ठी बन्द करके मध्यमा अंगुली के कड़े भाग (व्यवहार में थोला कहते हैं) से सिरापर ताड़न करें। इस प्रकार ताड़न से सिरा उभर आती है। इसके लिए दाँतों को जोर से दबाना, खाँसना एवं गालों को फुलाने आदि प्रक्रियाओं से भी सिरा उत्थापन हो जाता है।

नासिकोपनासिका सिराव्यध विधि

अंगुष्ठेनोन्नमध्याग्रे नासिकामुपनासिकाम्। अ० हृ० सू० २७।३२

उपनासिकां नाससमीपस्था शिरां व्रीहिमुखेन शस्त्रेण विकाराङ्गुष्ठेन नासिकाग्रमुन्नमय्याथ नासिकाग्रं नासिकान्तमुन्नमय्योत्थाप्य शिरांविध्येत।

चंद्रनन्दनः।

ग्रीवाश्रित सिराव्यध विधि

यंत्रयेत्स्तनयोरूर्ध्वं ग्रीवाश्रितशिराव्यधे॥

यन्त्रयेदिति। स्तनयोरूर्ध्वमुपरितनं यन्त्रयेत्। वस्त्रेण वेष्टयेत् ग्रीवाश्रितशिरा विध्येत्। चंद्रनन्दनः।

पाषाणगर्भहस्तस्य जानुस्थे प्रसते भुजे।
कुक्षेरारभ्य मृदिते विध्येद्बाहोर्ध्वपट्टके॥

अ० हृ० सू० २७।३५

पाषाणगर्भौ हस्तौ यस्य तस्य नरस्य भुजे जानुस्थे जानुष्वेव स्थिते प्रसृते प्रसारिते। भुज इति वचनमतंत्रम्। द्वावपि हि भुजौ गृह्येते। कुक्षेरारभ्य यावद्ग्रीवा तावन्मृदिते मलिते। कस्मिन्। ग्रीवाश्रितसिराव्यधार्हेऽंगे यथा बद्ध ऊर्ध्वं पट्टको यस्मिंस्तस्मिन् विध्येत्। प्रकृतत्वात्सिराम्। अरुणदत्तः।

जंघासिराव्यध विधि

जंघा सिरां जानुन्यकुंचिते॥ अ० हृ० सू० २७।३६

जानुन्यकुंचिते स्पष्टे स्थिते सति जंघायां सिरां विध्येत्।

अरुणदत्तः।

जंघाशिरां विध्येत् स्पष्टे जानुनि स्थिते प्रसारिते सति।

चंद्रनन्दनः।

जंङ्घाशिराणां यन्त्रणमाह जङ्घाशिरमिति। हेमाद्रिः।

हि० व्या०—अष्टांगहृदय में कुछ अंगों की वेधन विधि को परिवर्णन करते हुए तथा कुछ अंगों के अधिक वेधन कर्म लिखे हैं। नासिका के अग्रभाग में अंगूठे से ऊपर उठाकर उपनासिका सिरा का वेधन व्रीसिमुख शस्त्र से करना चासिए।

ग्रीवा में सिरावेधन करने के लिए स्तनों के ऊपर यन्त्रण करना चाहिए। रोगी दोनों हाथों में छोटे-छोटे पत्थर दबाकर तथा बाहुओं को घुटनों पर रख कर तथा फैलाकर बैठ जाय तथा उसके उदर से लेकर ग्रीवा तक मर्दन किया जाय तथा उस पर पट्टी बाँध दी जाय तथा कुशल वैद्य कीउपस्थिति में सिरावेध करना चाहिए। जंघा सिरावेधन जान, फैलाकर करना चाहिए।

सिराव्यध विधि वर्णनम्

उत्थितां च स्पन्दमानां स्पर्शादभिलक्ष्य वामहस्तेन कुठारिका मूर्ध्वदण्डां कृत्वा सिरामध्ये न्यस्य लक्षयित्वा च तथैव मध्यमांगुल्या ताडयेदगुष्ठोदरेण वा पीडयेत्। गूढबहलत्वक्प्रतिच्छन्नायामंगुष्ठापीडनादुन्नमनमुप लक्ष्येत्। उत्कसनेन क्रोधसंरम्भेण चापूर्यन्ते सिरा अंगुष्ठेन तु नासाग्रमुन्नमय्य व्रीहिमुखेनोपनासिकां विध्येत्॥

अ० सं० सू० अ० ३६।११, अ० हृ० सू० अ० २७।३०-३१

उत्थापित सिरायाः व्यधन विधिः

उत्थितां ज्ञात्वा स्पर्शांगुष्ठप्रपीडनैः।
कुठार्या लक्ष्येन्मध्ये वामहस्तगृहीतया।
फलोद्देशे सुनिष्कंपं सिरां तद्वच्च मोक्षयेत्॥
ताडयन् पीडयेच्चैनां विध्येद्व्रीहिमुखेन तु॥

अ० हृ० सू २७।३०-३१

स्पर्शेन वांऽगुष्ठपीडनैर्वोत्थितां ज्ञात्वा ऊर्ध्वदंडया सिरायां मध्ये न्यस्य फलोद्देशे सुनिष्कपं वामहस्त गृहीतया कुठार्या सिरां लक्षयेत्। तद्वच्च मोक्षयेत्। यथैव लक्ष्येत्तथैवेत्यर्थः। व्रीहिमुखेन पुनस्ताडयन् विध्यंस्तथांऽगुष्ठादिना पीडयेत्। एनां कुठारिकाविषयजां सिरां विध्येत्। ननु कुठारिकाविषये कथं व्रीहिवक्त्रस्य प्रयोगः। यतोऽपवादविषयं परिहृत्योत्सर्गाः प्रवर्तते इति न्यायः। व्रीहिवक्त्रस्यैव सामान्येन प्रयोगोऽनुज्ञातः। तथाचाह। व्रीहिवक्त्रं प्रयोज्यं वा तत्सिरोदरयोर्व्यर्धं इति। कुठार्याः पुनर्विशेषोऽभिहितः। तयोर्ध्वदंडया विध्येदुपर्यस्थ्नां स्थितां सिरामिति तस्मादयुक्तमेतत। अत्रोच्यते ज्ञापकम्। कुठारिका विषये व्रीहिवक्त्रस्य प्रयोगों न्याय्य एव। यदयमाचार्यो वक्ष्यति। मांसले निक्षिपेद्देशे व्रीहयास्यं व्रीहिमात्रकमिति। अनेनहि वचनेन ग्रन्थकार इदं प्रत्यपादयत्। बहुमांसे शरीरावयवे व्रीहिमुखं व्रीहिमात्रं निक्षेप्यम्। अन्यत्र स्वाशयानुरोधेन व्रीहिवक्त्रस्य प्रयोगः कार्य इति। अनेनैवाऽभिप्रायेण शास्त्रकृत प्रमाणपरिमाणाभ्यां संख्यायाश्चाऽपि विषये मात्रच् कृतः। अन्यथा तु स्पष्टं कृत्वा व्रीहिप्रमाणं व्रीह्यास्यं मांसले निक्षेपेद्वयध इति पाठं कुर्यात्। तस्माद्युक्तो व्रीहिमुखस्य कुठारिकाविषयेऽपि प्रयोग इति॥

अरुणदत्तः

हि० व्या०—विविधत यन्त्रणा के द्वारा जब सिरा उभर जाती है। उस

उभरी हुई सिरा को स्पर्श करके ध्यान से देखें। यदि उसमें स्पन्दन हो रहा हो तो वाम हस्त में कुठारिका पकड़कर उसका मुख या धारदार फलक सिरा पर रख दें। कुठारिका के सिरोभाग में रहने वाले हत्थे पर हल्का सा हाथ मार कर वेधन करना चाहिए। यदि मोटी त्वचा सिरा के ऊपर हो तो तथा स्पष्ट दिखाई नहीं दें तो अंगूठे से मर्दन करें जिससे उभर कर दिखाई देने लग जाती है। यदि ऐसा करने पर भी दिखाई नहीं दे तो खांसना क्रुद्धावस्था के समान उत्तेजित करना चाहिए। इससे सिरा उभर जाती है। इसका कुठारिका द्वारा वेधन कर देना चाहिए। उपनासिका सिरा का वेधन व्रीहिमुख नामक शस्त्र से करना चाहिए।

अतिरक्तस्राव निषेधः

रक्तं सशेषदोषं तु कुर्यादपि विचक्षणः।
न चातिनिः स्रुतं कुर्याच्छेषं संशमनैर्जयेत् ॥ सु० शा ८।१५
किंचिद्धिशेषे दुष्टास्रे नैव रोगोऽतिवर्तते।
सशेषमप्यतो धार्यं न चातिस्रुतिमाचरेत् ॥ अ० हृ० सू० २७।

यस्मात्किंचिच्छेषे दुष्टे रक्ते नैव रोगो दुष्टरक्तोद्भवो व्याधिरतिवर्तते क्रियापथमतिक्रम्य मार्गांतरमसौ नासादयति। अतो दुष्टमपि रक्तं सशेषं धार्यम्। न दुष्टरक्तस्याऽतिस्रुतिमाचरेत्। प्राणायतनत्वात्। सुश्रुतोऽप्यध्यगीष्ट—रक्तं सशेषदोषं तु कुर्यादपि विचक्षण नचातिप्रस्रुतं कुर्याच्छेषं संशमनैर्जयेदिति ॥ अरुणदत्तः

हि यस्मादर्थे। यस्मात्। किंचिच्छेषेदुष्टास्रे नैव रोगो दुष्टरक्तोदभवो-व्याधिरतिवर्तते। क्रियापथमतिक्रम्य मार्गन्तिरमसौ नासादयत्यतो दुष्टमपि-रक्तं सशेषं न स्यात् स्रुतिमाचरेत्। तेनैव तदपि स्रुतं न कुर्यात्। प्राणायतनत्वात्। तथा च सुश्रुतः। "रक्तं सशेषदोषं तु कुर्यादपि विचक्षणः। नचाति प्रस्रुतं कुर्याच्छेषं संशमनैर्जयेत्। सशेषदुष्टरूधिरे न व्याधिरभिवर्तते। तस्मात्शेषं स्थातव्यं न हि कुर्यादति क्रियाम् ॥ चंद्रदन्दनः

सिराव्यधनन्तरं किंचिदवशिष्ट मलिन रक्तस्रावण विधिः।

हरंच्छृंगादिभिः शेषम् ॥ अ० हृ० सू० अ० २७।६३
स्रुतशेषं दुष्टरक्तं शृंगतुंबघटिकादिभिर्हरेन्न तु सिरया ॥ अरुणदत्तः

हि० व्या०—रोग विशेष में अशुद्धरक्त निर्हरण की जो विधि बताई है वहां दूषित रक्त का भी स्राव पूर्ण रूप से नहीं करना चाहिए। रक्त निकालते हुए कुछ रक्त शेष रह जाय ऐसा ज्ञान करते हुए तो रक्त स्राव रोककर शेष रक्त का संशमन विधि से शमन करना चाहिए। अष्टांग हृदयकार ने भी इन्हीं भावों का उल्लेख किया है। तथा अवशिष्ट रक्त का शृंग, तुम्बी, घटिका आदि द्वारा निर्हरण का निर्देश किया है।

सिरा व्यधे प्राक् दुष्ट रक्तप्रवृत्तिः, स्वाभाविको।

यथा कुसुम्भपुष्पेभ्यः पूर्वं स्रवति पीतिका।
तथा सिरासु विद्धासु दुष्टमग्रे प्रवर्तते ॥ सु० शा० ८।१२

इदानीं सिरायां विद्धायां सत्यां पूर्वं दुष्ट मेव रक्तं प्रवर्तते इति दर्शयन्नाह यथेत्यादि ॥ डल्हणः

अग्रेस्रवति दुष्टास्रं कुसुंभादिव पीतिका ॥
अ० हृ० सू० अ० २७।

हि० व्या०—सिरावेध करने पर प्रथम अशुद्ध रक्त का स्राव होता है इस पर उदाहरण देते हुए सुश्रुत लिखते हैं कि—जिस प्रकार कुसुम्भ के फूलों से सर्वप्रथम पीला सा रस निकलता है तथा उसी प्रकार में सिराओं में भी विद्ध होते ही अशुद्ध रक्त का स्राव होता है। अष्टांग हृदय में भी यही भाव लिया है।

सिराव्यध्यस्य त्रिविधा शस्त्रकालाः

व्यभ्रे वर्षा सु विध्येत्तु ग्रीष्मकाले तु शीतले।
हेमन्तकाले मध्याह्ने शस्त्रकालास्त्रयः स्मृतः ॥
सु० शा० ८।१०

नित्यगस्य कालस्य शीतोष्णवर्षाभिदेन त्रिविधत्वात्त्रिष्वपि कालेषु विशेषमाह व्यभ्रे इत्यादि। विगतानि अभ्राणि यस्मिन् दिने तद् व्यभ्रं दिनं तस्मिन् व्यभ्रे दिने, वर्षासु वर्षाकाले, सिरां विध्येदित्यर्थः। ग्रीष्मकाले तु शीतले इति तृतीय प्रहरानन्तरमित्यर्थः। हेमन्तकाल इति हेमन्त ग्रहणं शीतकालोपलक्षणम्। एतच्चात्यन्तिक व्याधिवशेन, न पुनः स्वस्थस्य, तस्य हि शरदादि साधारण एवैकः काल इति। डल्हण।

सुश्रुतार्थसंदीपनभाष्यम्—

व्यभ्र इत्यादि। व्यभ्रे मेघरहिते काले स्रवत् स्राव येतु रूद्धा यन्त्रं विमुच्य अंगुल्या पीडिता, वस्त्रेयावेष्टिता वा तिष्ठेत् स्थापयेद् सुगितिशेषः।
हाराणचन्द्र।

शरत्काले स्वभावेन, शोणितं स्रावयेन्नरः।
त्वग्दोषग्रन्थिशोथाद्या, न स्यू रक्तसुतेर्यतः ॥
व्यभ्रे वर्षासु विद्युत्सु, शीते ग्रीष्मे शरद्यपि।
मध्याह्ने शीतकाले च, रुधिरं स्रावयेद् बुधः ॥
भा० पू० पू० चं० द्वि० भा० शोणितस्रावण वि० योगरत्नाकर
(शारंगधर संहिता)

हि० व्या०—सिरावेधन कालः—वर्षाकाल में बिना बादलों वाले दिनों

में, ग्रीष्म ऋतु में शीतल समय में अर्थात् तीसरे पहर हेमन्त ऋतु में, मध्यह्न में शस्त्रकर्म करना चाहिए। आत्यधिक अवस्था में भी इन्ही तीन कालों का ध्यान रखना चाहिए। स्वस्थ व्यक्ति के लिए इनमें से किसी भी एक काल में सिरा वेध कर देना चाहिए।

योगरत्नाकर, भावप्रकाश एवं शारंगधर में कुछ पृथक जो वर्णन प्राप्त होता है वह इस प्रकार है - शरत्काल में स्वभाव से ही पित्त कुपित होता है। अतः रक्त भी उसी के समान होने से यह भी दूषित हो जाता है। स्वस्थ व्यक्तियों को रक्त स्राव कराने वालों को त्वग्दोष से होने वाली कण्डु, दद्रु आदि विकृतियां ग्रन्थि तथा शोथ आदि रोग नहीं होते।

सिराव्यध अयोग्य काल संकेतः

नैवातिशीते नात्युष्णे न प्रवाते न चाभ्रिते।
सिराणां व्यधनं कार्यमरोगे वा कदाचन॥

सु० शा० ८।७

नैवेत्यादि। अभ्रित इति, अभ्रिणि संजातादि यत्र दिने तदभ्रितं दिनं, तस्मिन्नित्यर्थः। डल्हण।

हि० व्या०—अत्यन्त शीतकाल में, अत्यधिक गरमी के समय, जोरों से बहती हुई हवा के समय, आकाश में बादल घिरे रहने पर तथा बिना किसी रोग के सिरावेध नहीं करना चाहिए। अर्थात् जो-जो काल सिरावेध के लिए निर्देशित है उनसे विपरीत परिस्थियों में सिरावेध नहीं कराना चाहिए। अष्टांग हृदय में लिखा है कि अत्यन्त आवश्यक हो तो इन दशाओं की सामान्य स्थिति में भी सिरावेध कर देना चाहिए।

नायंत्रितां सिरा विध्येन तिर्यङ् नाप्यनुत्थिताम्।
नातिशीतोष्णवाताभ्रेष्वन्यत्रात्ययिकाद्भदात्॥

अ० हृ० सू० अ० ७ चक्रदत्तः।

अयंत्रितामकृतवक्ष्यमाणयंत्रणां, तिर्यं तिर्य्यंग्गताम्, अनुत्थिताम् अप्रकटां, संग्रहे तु यत्र स्नेहपीतादिषु सम्यग्विद्धा अपिशिरा न स्रवत्यतिस्रवंति वा सम्यक् स्निग्धस्विन्नस्य पुनर्द्रवीभूता दोषाः शोणितमनुप्रविष्टाः सम्यक् प्रच्यवन्ते न त्वेष निषेधो विषसंसृष्टोपसर्गात्यकव्याधिष्विति। हेमाद्रिः।

सिराव्यधे विशेष सावधानता पालनावश्यकता

भवन्ति चात्र —
सिरासु शिक्षितो नास्ति चला ह्येताः स्वभावतः।
मत्स्यवत् परिवर्तन्ते तस्माद्यत्नेन ताडयेत्॥
अजानता गृहीते तु शस्त्रे कायनिपातिते।
भवन्ति व्यपदेशचेता बहवश्चाप्युपद्रवाः॥

इदानीं सिराव्यधने यत्नं दर्शयन्नाहसिरास्वित्यादि। शिक्षितोऽभ्यासेन निपुणः सिरासु नास्ति, मत्स्यवच्चलनास्तु, तस्मात्तद्व्यधे यत्नो विधेय इत्यर्थः। इदानीं शस्त्रकर्मानिपुणवैद्याद्यापत्संभवं दर्शन्यनाह-अजानता इत्यादि।

डल्हण।

हि० व्या०—सिरावेध करते समय चिकित्सक को पूर्ण अभ्यास, ज्ञान, उपकरण युक्त एवं परिचारकों सहित होना चाहिए। सिराएं स्वभाव से ही चंचल होती हैं। ये मछली की तरह परिवर्तित करती है। अतः इनके विषय में पूर्ण जानकारी कोई नहीं रखता। अतः वेधन यत्न पूर्वक करना चाहिए। यदि शस्त्र के अनभ्यासी व्यक्ति शरीर पर शस्त्र चलावें तो अनेक प्रकार की व्याधियां एवं उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं।

अधिकाधिकं प्रस्थमात्र शोणित स्राव विधानम्

बलिनो बहुदोषस्य वयः स्थस्य शरीरिणः।
परं प्रमाणमिच्छन्ति प्रस्थं शोणितमोक्षणे॥

सु० शा० ८।१६

प्रस्थं सार्धत्रयोदशपलानि। यथा चोक्तं वमने च विरेके च तथा शोणित मोक्षणे। सार्धं त्रयोदशपलं प्रस्थमाहुर्मनीषिणः इति। डल्हण।

बलिन इति। अत्र "वमने च विरेके च तथा शोणितमोक्षणे। सार्द्धत्रयोदशपलं प्रस्थमाहुर्मनीषिणः 'इति स्थितेऽपि बहुशोऽभिवीक्ष्यबलवत्वादिधर्म्मवाता मिदानीं द्विपलमेव परं प्रमाणमित्यध्यस्यामः। हाराण०।

रक्तस्रावस्य परिमाणम् अतिस्रावणस्य दोषाश्च

चक्रदत्तः (शिरा० व्यधाधिकार)

अशुद्धौ बलिनोऽप्यत्रं न प्रस्थात् स्रावयेत् परम्।
अतिस्रुतौ हि मृत्युः स्यादारूणा वाऽनिलामया॥

अशुद्धावित्यादि। अशुद्धावित्ति असम्यकशुद्धौ। प्रस्थादिति। प्रस्थोऽत्र अर्द्धत्रयोदश। परमिति-ऊर्द्धव। अत्रैव हेतुमाह, अतिस्रुताविवादि।

(शिवदास)

हि० व्या० रक्त निर्हरण के प्रमाण का उल्लेख करते हुए सुश्रुत लिखते हैं कि—बलवान, पर्याप्त दोष वाले और तरुण तथा स्वस्थ व्यक्ति का अधिकाधिक एक प्रस्थ रक्त निर्हरण कराना चाहिए। अन्य प्रसंग में वमन, विरेचन, एवं रक्त मोक्षण के लिए १३ पल या एक प्रस्थ रक्त निर्हरण का उल्लेख आया है। यह मात्रा अधिक प्रतीत होती है। अतः रोगी की सामर्थ (बल, वय, प्रकृति) के अनुरूप रक्त निर्हरण कराना चाहिए।

सम्यक् सिराव्यधोत्तर कर्म

सम्यक्प्रवृत्ते कोष्णेन तैलेन लवणेन च।

अ० हृ० सू० अ० २७।४७ चक्रदत्तः।

हि० व्या०—यदि रक्त का भली प्रकार निर्हरण हो रहा हो अर्थात् शस्त्रोक्त समुचित मात्रा में बहते हुए रक्त के समय भी सिरामुख पर कवोष्ण तैल लवण मिलाकर लगाने से रक्त स्राव व्यवधान नहीं आता है।

रक्तस्रावानन्तरं पश्चात्कर्म

स्रुते रक्ते शनैर्यंत्रमपनीय हिमांबुना।
प्रक्षाल्य तैलप्लोताक्तं बंधनीयं सिरामुखम्॥

अ० हृ० सू० अ० २७।५६ चक्रदत्तः

स्रुते रक्ते निर्गते शोणिते शनैर्मंदं कृत्वा यन्त्रमपनीय निवार्य हिमाम्बुना शीतपानीयेन प्रक्षाल्य रक्तमपनीय शिरामुखं तैलप्लोताक्तं तैलयुक्तेन प्लोतेनावगृहीतं कृत्वा पश्चाद्बन्धनीयं बन्धेन योजनीयम्। चंद्रनन्दनः।

हि० व्या०—समुचित प्रमाण में रक्त के स्रवित हो जाने पर धीरे-धीरे यन्त्र को खोलकर शीतल जल से विद्ध स्थान का परिषेक करें। फिर तैल का पिचु रखकर पट्टी बांध देना चाहिए।

उपर्युक्त विवरण विविध यन्त्र अलाबूशृंग, जलौका आदि सभी के लिए बताया गया है। सिरा वेध में यन्त्र हटाने की आवश्यकता नहीं होती। रक्त के निर्हरण का प्रमाण देखकर शीतल जल से धोकर तैलपिचुकी पट्टी बांध दी जाती है।

सुविद्धा सिरा लक्षणम्

सम्यक्शस्त्रनिपातेन धारया स्रवेदसृक्।
मुहूर्त्तं रुद्धा तिष्ठेच्च सुविद्धां तां विनिर्दिशेत्॥

सु० शा० ८।११

सुविद्धा सिरा लक्षणमाह-सम्यगित्यादि। मुहूर्तमिति मुहूर्तशब्दः स्रवेदसृगित्यत्र च संबध्यते। डल्हण।

सम्यग्विद्धे स्रवेद्धारां यन्ये मुक्ते तु न स्रवेत।

अ० हृ० सू० आ० २७-४३

मुहूर्तं रुद्धवा तिष्ठे सम्यक्विद्धेतिताविदुः।
सम्यक सुत्वा स्वयं तिष्ठेत शुद्धंतदिति माहरेत्॥

अ० सं० सू० अ० ३७।-

रक्तविस्रावण सम्यक् योग ज्ञान प्रकारः तस्य लक्षणानि च

सम्यगत्वा यदा रक्तं स्वमेवावतिष्ठते।
शुद्धं तदा विजानीयात् सम्यग्विस्रावितं च तत्॥

सु०सू० १४।३२

इदानीं सम्यग्योगस्य सुविशुद्धस्य चैकेनैव वाक्येन लक्षणम् वक्तुमाह-ह्यसम्यकगित्यादि सम्यगगत्वा यदा रक्तमितिगत्वा निःसृत, यदा सम्यकग्रक्तं रक्तवर्णं शणितं भवति यदा शुद्धंविजानीयात्, सम्यग्विस्रावितपक्षे स्वयमर्थः। सम्यग-

स्वेति सम्यक प्रवर्तनं कृत्वा, यदा रक्तं रुधिरं, स्वमेवावतिष्ठते अवस्थितिकरोति तदा सम्यग्विस्रावितं च तद्रक्तं विजानीयात्। चकारेणैतल्लक्षणद्वयं लभ्यते। अन्ये तु सम्यगगत्वेत्यादि श्लोकस्य व्याख्यानमन्यथा कृत्वा सार्धलोकेन व्याख्यानयन्ति, न चातिवेगं नावेगं सम्यग्युक्तया विनिःसृतम्। विहाय दुष्टतां स्वेन रूपेण ह्यवतिष्ठते। प्रयत्नमनपेक्ष्यासृक तदा शुद्धं विनिर्दिशेत् इति। डल्हण।

लाघवं वेदनाशान्तिर्व्याधिवेंग परिक्षयः।
सम्यग्विस्राविते लिंग प्रसादो मनसस्तया॥

आभयन्तरमपरमपि रक्त शुद्ध स्रावणस्य लक्षणं दर्शयन्नाह, लघवमित्यादि एतच्छरीरं सम्यग्विस्रावितं लिंगे, प्रसादो मनसस्तयेति पुनर्मानसम्। डल्हण।

पीडाशान्तिर्लघुत्वं व्याधेरुद्रेक संक्षयः।
मनः स्वास्थ्यं भवेच्चिह्नं सम्यग्वि स्रावितेऽसृजि:॥ शार्ङ्गधर

हि० व्या०—सिरोवेध कर दिए जाने पर रक्त का स्रवण होता है। इस वेधन कर्म के सम्यक् प्रकार से हो जाने के लक्षण इस प्रकार है—शस्त्र लगाने से धारा के साथ कुछ समय रक्त वहे तथा बाद में स्वतः बन्द हो जाय तो सुविद्धसमझा जाता है। इस लक्षण के द्वारा सम्यक् विस्रावण समझा जाता है। सूत्र अ० १४।३२ में भी भाव आया है अन्य लक्षणों में शरीर तथा पीड़ित स्थान में लघुता उत्पन्न हो जाय, पीड़ा का शमन हो, रोग की तीव्रता कम हो जाय, तथा मन में प्रसन्नता आ जाय तो सम्यक् विस्रावण जानना चाहिए।

अल्पविद्ध सिरा अतिविद्धसिरा लक्षणं च

अल्पकालं वहत्यल्पं दुर्विद्धा तैलचूर्णने।
सशब्दमतिविद्धा तु स्रवेद्दुःखेन धार्यते॥

अ० हृ० सू० अ० २७।४४

दुर्विद्धा शिराऽल्पकालं वहति धारामाल्पं च रक्तं वहति। तैलचूर्णितैः प्रयुक्तैः शिरामुखैः। अतिविद्धासिरा शब्दं कृत्वा धारया रक्तं स्रवेत्। रक्तं दुःखं कृत्वा धार्यते बध्यते। चंद्रनन्दनः।

असम्यक् सिरा वेधजन्य रक्तस्राव चिकित्सा सूत्रम्

असम्यगस्रे स्रगति वेल्लव्योषनिशानतैः।
सागारधूमलवणतैलैर्विह्याच्छिरामुखम्॥

अ० हृ० सू० अ० २६।४६ चक्रदत्तः

असम्यगस्रे असम्यक् कृत्वा अस्रे रक्ते स्रवति निर्गच्छति सति वेल्लादिभिः शिरामुखं दिह्यात् लिम्पेत्। एवं साधुवहति। वेल्लं विड्डम् व्योषं त्रूषणम्।

निशा हरिद्रा। नतं तगरम्। अगारधूपो गृहधूमः। लवणं सैन्धवम्। तैलं तिलोद्भवम्। चंद्रदन्दनः।

हि० व्या०—सिरा का मिथ्या वेधन होने पर रक्त मात्रा में थोड़ा एवं थोड़े समय तक ही बहता है। इस अवस्था में विद्ध स्थान पर तैल मिश्रित स्रावन औषधियों को लगाने से बहने लगता है।

जब सिरा का अतिवेध हो जाए तो रक्त शब्द के साथ बहता है तथा रोकने का प्रयत्न करने पर कष्ट से रुक पाता है।

यदि रक्त भली प्रकार स्रवित न हो तो सिरा के मुख पर विडंग, सौंठ, मिर्च, पीपल, हरिद्रा, तगर, गृहधूम, तथा लवण के चूर्ण को तैल में मिलाकर लेप करना चाहिए। इससे रक्त स्राव भली प्रकार होने लगता है।

अति प्रवृत्त रक्तस्तम्भनाय विविधोपायाः तदुपद्रव शान्तिप्रकारश्च

अथातिप्रवृत्ते रोध्रमधुकप्रियंगुपत्तंगैरिकसर्जरस रसांजनशाल्मलीपुष्पशङ्खः शुक्तिमाषयवगौधूम चूर्णैः शनैः शनैर्व्रणमुखमवचूर्ण्यांगुल्याग्रेणावपीडयेत्। साल-सर्जार्जुनारिमेदमेषशृंगधवधन्वनत्वग्भिर्वा चूर्णिताभिः क्षौमेण वा दग्धापितेन समुद्रफेनलाक्षाचूर्णैर्वा, यथोक्तैर्व्रणबन्धनद्रव्यैर्गाढं बध्नीयात्, शीताच्छादन-भोजनागारैः शीतैः प्रदेह परिषेकैश्चोपचरेत्, क्षारेणाग्निना वा दहेद्यथोक्तं, व्यधादनन्तरं तामेवातिप्रवृत्तां सिरां विध्येत्, काकोल्यादिवर्गाय वा शर्करामधु-मधुरं पाययेत्, एणहरिणोरभ्रशशमहिषवराहाणां वा रुधिरं, क्षीरयूपरसैः सुस्नि-ग्धैश्चाश्नीयात्, उपद्रवांश्च यथास्वमुपचरेत्।

भवन्ति चात्र—

धातुक्षयात् सृते रक्ते मन्दः संजायतेऽनलः।
पवनश्चपरं कोपं याति तस्मात् प्रयत्नतः॥
तं नाति शीतैर्लघुभिः स्निग्धैः शोणितवर्धनैः।
ईषदम्लैरनम्लैर्वा भोजनैः समुपाचरेत्॥

सु० सू० १४।३६-३८

अति प्रवृत्तो रक्तास्थापनाय चिकित्सां दर्शयन्नाह, अथेत्यादि। पत्तंग रक्त चन्दनं, सर्जरसो रालः, शुक्तिर्जलशुक्तिः। सालः शंकुः शर्जः शालभेदः, अर्जुनः ककुभः, अरिमेदः, अरिमंज, इति लोके प्रसिद्धः मेषशृंग कर्कट शृंगः धन्वनः "धम्मण" इति प्रसिद्धा, सालादित्वग्भिश्चूर्णीकृताभिः "व्रणमुखमभिचूर्ण्यांगुल्य-ग्रेणावपीडयेत्" इत्यत्रापि संबध्यते। यथोक्तैर्वा व्रणबन्धनद्रव्यैरिति क्षौमकार्पास वस्त्रादिभिः। आच्छादनं वस्त्रादि, प्रदेहो लेपः, परिषेकोधारासेकः। यथोक्तं बलयबिन्द्वादि भेदनेत्यर्थ, । व्यधानन्तरं प्राक्तव्यधनादधःस्थाने, तामेव पूर्वं विद्धां सिरां विध्येत्, रक्तगतिच्छेदनार्थम्। रक्तातिसृतावाभ्यन्तरं भेषजं दर्श-यन्नाह, काकोल्यादित्यादि। एणः कृष्णहरिणः, हरिणस्ताम्रवर्णः एणादिरक्तं

पाययेदिति संबन्धः, रक्ताप्यायनार्थः, तच्चादुष्टमसंस्कृतं च। रक्तातिप्रवृत्तौ भोजनं नियमन्नाह, क्षीरेत्यादि। यूषो मुद्गयूषः, रसो मांसरसः। सुस्निग्धैरिति शोभनं कृत्या घृतेन स्निग्धीकृतैः। अश्नीयादिति क्षीरादिसिक्तमोदनंभुजीत्। पित्तदुष्टरक्तस्यैवातिप्रवृत्तावतिप्रवृत्तरक्तस्य क्षीरभोजनम्, अथवा पित्तप्रकृति-कस्यैवरक्तातिप्रवृत्तौक्षीरभोजनम्, कफदुष्ट रक्तस्यैवातिप्रवृत्तावति प्रवृत्त रक्तस्य यूषभोजनम्, श्लेष्मप्रकृतिकस्यैववा:, वातदुष्टरक्तस्यैवातिप्रवृत्तावति प्रवृत्तरक्तस्य रस भोजनम्, वातप्रकृतिकस्यं वा, अन्ये तु दीप्त मध्यमन्दाग्नीनां यथा संख्यं क्षीरादिसिक्तमोदनम् भोजनमाहुः,सात्म्यापेक्षयेत्येके। अतिस्रुतरक्त-स्योपद्रवान्चिकित्सितुमाह, उपद्रवांश्चेत्यादि। उपद्रवान् शिरोऽभितापादीन्। यथास्वमिति स्वकीयेन स्वकीयेनोपचारेणेत्यर्थः। धातुक्षयादित्यादि। तस्मादनति-शीतादि भोजनैः प्रयत्नतस्तं। पुरुषमुपाचरेदिति संबन्धः अग्निसन्धुक्षणार्थं शोणिताप्यायनार्थमुपद्रवपरिहारार्थं च। ईषदम्लैर्दाडिमामलकैः, तेषामेवाम्लेषु प्रधानत्वात्। डल्हणः।

अथेत्यादि। पत्तंगं रक्तचन्दनम्, मेषशृंगी नामौषधिः "गारोलशिंगा" इत्याख्यायते, धन्वनः स्वनामप्रसिद्धः। दग्धापितेन दाहितेन। लाक्षाचूर्णेत्यनेना-न्वेयम्। यथोक्तैरिति भूतवदुपचारादुक्तम्। व्रणालेपबन्धविधौ वक्ष्यमाणै-रित्यर्थः। तच्च बन्धनं सिरागतशोणितातिप्रवृत्तौ सिराबन्धनपुरस्सरमेव कार्यम् "रक्तं स्रवन्तीनाकृष्यसन्दंशेन सिरां भिषक्। बद्धा स्नानादिभिर्गाढं व्रणं वस्त्रेण वेष्टयेत्" इत्यनुशासनान्तरात् यथोक्तेत्यादि। पूर्वव्यधाद्दूर एव हि पुनर्व्यधेन शोणितवेगक्षयात् सङ्कोचमुपगते शस्त्रपदे निबध्यते शोणितमेकान्तेनेत्युच्यते अनन्तरमिति। अनन्तरं व्यवधानं तद्विपरीतमनन्तरमदूरमित्येतत्। एणादयोग्रे वक्ष्यन्ते। धात्वित्यादि। आहारस्य नातिशीतत्वादिभिःशोणिताव्यनुगुणता व्या-चिख्यासितेति गम्यते, तेननातिशीतैर्नातिशीतोष्णैरिति। तात्पर्यम् शोणितस्य तथात्वात्। उक्तं हि नात्युष्ण शीतं लघुदीपनीयं रक्तेऽपनीते हितमन्नपानम् इति। हाराणच०

रक्तातिप्रवृत्तौ चिकित्सामाह अथातीत्यादि। पत्तंगं कुचन्दनम्। दग्धापिते-नेति दग्धेन। यथोक्तैरिति आलेपाद्ययोक्तैःक्षौमादिभिः। पुनः सिराव्यधनं गतिविच्छेदार्थम्। दाह सिरासंकोचार्थम्। एते च रक्तस्थापनोपायः यथोत्तरं बलवत्तया करणीय इति स्वयमेव दर्शयिष्यति। रक्तातिसृतौ मेषजमाह काको-ल्यादीत्यादि। अत्र पित्तप्रकृतेः क्षीरेण, वाते रसेन, कफे, यूषेणेत्यादिकल्प-नीयम्। यथास्वमिति स्वस्वचिकित्सितेनैव। चक्रपाणिः।

तत्राऽभ्यंगरसक्षीररक्तपानानि भेषजम्। अ० हृ० सू० अ० २७

धातुक्षयादित्यादौ धातुक्षयो बलक्षय करतयाऽग्निमाद्यं करोति। उच्यते हि—"आदान दुर्बले देहे पक्ताभवति दुर्बलः" (च० सू० अ० ६)। इति। नातिशीतैरित्यनेनातिशीतोष्णतया शोणितवर्धकत्वम्। लघुत्वेनाग्निवर्धनता। स्निग्धत्वेन वातशमनत्वम्। ईषदम्लादि इच्छानुगुणतया। अरुणदत्त।

हि० व्या०—सम्यक् रक्त स्रुति हो जाने पर शारीरिक मांस, मेड आदि धातुएं भी स्वाभाविक रूप से क्षीण हो जाती हैं। इस कारण उस मनुष्य की जाठराग्नि मन्द हो जाती है तथा वायु भी अत्यधिक कुपित हो जाती है। इसलिए यत्नपूर्वक उस मनुष्य को सामान्य शीतल, लघु, स्निग्ध, रक्तवर्धक तथा कुछ अम्ल अथवा अम्लारहित पदार्थों का सेवन कराना चाहिए।

अष्टाङ्ग हृदयकार के अनुसार दुषित रक्त स्राव हो जाने के पश्चात् यन्त्र को धीरे-धीरे खोलकर शीतल जल से रक्त स्रवित स्थान को धोकर घृत तैल का पिचु रखकर पट्टी बांध देनी चाहिए। पश्चात् अग्निवर्धक एवं बलवर्धक आहार देना चाहिए। (विशेष वर्णन पथ्य विचार में किया गया है)।

अतिनिःसृत रक्तस्य शरीरे सद्योरक्तक्षयजन्यहानि निवारणाय एण प्रभृति प्राणीशोणितपान संकेतः तथा यकृतभक्षण संकेतश्च

अति निसृतरक्तो वा क्षौद्रयुक्तं पिबेदसृक्।
यकृद्वा भक्षयेदाजमामं पित्तसमायुतम्॥

—सु० उ० अ० ४५

असृगिति शरीरधातुसामान्यात् एणादीनामित्यर्थः। यकृत कालखण्डम्। डल्हण।

अतिष्ठति तु रक्ते सिरामुखं संधातुं पूर्वोक्तैश्चूर्णैरवचूर्ण्यांगुल्यग्रेण पीडयेत्। शाल्मल्युपोदकापिच्छां वा व्रणमुखे दत्त्वा गाढं बध्नीयान्मधूच्छिष्टप्रलिप्तं वा पट्टम्। शीताम्बुना वा सिचेत्। शीतमधुरकषायान्नपानैः सेक प्रदेह प्रवात वेश्मभिर्वा स्कन्दनायोपचरेत्। पद्मकादिक्वाथं शर्करामधुमधुरं क्षीरमिक्षुरसमेणहरिणाजोरभ्रमहिषवराहाणामन्यतमस्य सिरां विध्वा रूधिरमामं घृतभृष्टं वा पानं दद्यात्। तेनैव वा दर्भपादमृदितेनानुवासयेत्। स्निग्धैश्च यूषरसैर्भोजयेत्। व्यधादनतरं वा पुनस्तामेव सिरां विध्येत्। सर्वथाचानवतिष्ठमाने पाचनाय क्षारं दद्यात्। संकोचधि तुं वा सिरामुखं तप्तशलाकया दहेत् न च क्षणमप्युपेक्षेत। क्षीणरक्तस्य हि वायुर्मर्माण्युपसंगृह्य मूर्च्छा संज्ञानाशाशिरःकम्पभ्रममन्यास्तम्भापतानकहनुभ्रंशहिध्मापाण्डुत्वबाधिर्यधातुक्षयाक्षेपकादीन्करोति मरणं वा। अ० सं० सू० अ० ॥३६॥

रक्ते अतिष्ठति अरूढ्यति पूर्वोक्तैश्चूर्णैस्तगरादिभिः। शाल्मल्युपोदकयो-

रन्तः पिच्छैव पिच्छा भवति। मधूच्छिष्टं सिक्थम्। रक्तस्कन्दनाय स्त्यानत्वाय शीतादिभिरूपचरेत्। अथवातिस्रुतरक्तस्य एणादिकस्य रूधिरमामं तत्कालस्रुतं पानाय दद्यात्। पद्मकादिक्काथमिक्षुरसं क्षीरं वा। व्यधादनन्तरं व्यधनस्य पश्चिमे भागे पुनर्व्यधेत्। सुबोधमन्यत्। इन्दुः।

हि० व्या०—रक्त विस्स्रावण करने पर जिस व्यक्ति का रक्त अत्यधिक स्रुत हो जाए उस अवस्था में तत्काल मारे हुए बकरे या एक मृग के रक्त में मधु मिलाकर पिला देना चाहिए अथवा बकरे के ताजा निकाले हुए कच्चे यकृत को पित्त रहित करके खिला देना चाहिए।

अष्टाङ्ग संग्रहकार ने अशुद्ध रक्त निकालने के पश्चात् बिद्ध स्थान से रक्त का प्रवाह बन्द नहीं होने एवं अधिक रक्त स्राव हो जाने से उत्पन्न स्थिति के उपचार का वर्णन करते हुए लिखा है कि– यदि बन्धन करने मात्र से रक्त स्राव नहीं रुके तो सिरा मुख का संधान करने के लिए पूर्व में बताई गई राद्राधि गण की औषधियों के चूर्ण को सिरा मुख पर लगाकर अंगुली के अग्र-भाग से थोड़ी देर दबाकर रखना चाहिए। या शाल्मली के फूल एवं पोई शाक की पिच्छा (लुआब) बनाकर व्रण के मुख पर लगाकर गाढ बन्ध बांध देना चाहिए अथवा मोम में डूबी हुई पट्टी बांध दें अथवा शीतल जल का सिंचन करें अथवा शीतल, मधुर एवं कषाय रस वाले अन्न एवं पानों से अथवा शीतल मधुर एवं कषाय रस वाले द्रव्यों के हिम से सिंचन एवं लेपन से तथा पर्याप्त वायु वाले घर में रखकर रक्त को रोकने एवं जमाने की व्यवस्था करनी चाहिए अथवा पद्मकादि गण का क्वाथ को खांड एवं मधु से मीठा बनाकर अथवा भैंस का दूध खांड एवं मधु मिलाकर अथवा गन्ने का रस अथवा हिरण, बकरा, मेंढा, भैंसा, अथवा सूअर की सिरा वेधकर और रक्त निकालकर कच्चा ही अथवा घृत में छौंककर पीने को देना चाहिए अथवा उपर्युक्त हरिण आदि किसी प्राणी के रक्त को डाभ की जड़ से मथकर बस्ति देनी चाहिए तथा पर्याप्त घृत मिलाकर उड़द, मूंग आदि का यूष तथा मांस रस के साथ शालि चावलों का भात खिलाना चाहिए।

कदाचित् इतने उपायों के पश्चात् भी रक्त का स्राव बन्द नहीं हो तो पूर्व वेध स्थान से कुछ ऊपर फिर उसी सिरा का वेधन कर देना चाहिए ऐसा करने से पूर्व का वेध किया व्रण अवरुद्ध हो जाता है।

यदि इस विधि से भी रक्त नहीं बन्द हो रहा हो तो सिरा का मुख का क्षार के द्वारा पाक करना चाहिए अथवा सिरा मुख को ताम्र या लोह शलाका से दग्ध कर संकुचित कर देना चाहिए।

वैद्य का यह कर्त्तव्य है कि आवश्यकता से अधिक रक्त स्राव होने पर क्षण-भर भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए क्योंकि वृहद वायु हृदय आदि मर्म स्थानों में व्याप्त होकर मूर्च्छा, संज्ञानाश, शिरः कम्प, भ्रम मन्यास्तम्भ, अपतानक, हनुस्तम्भ, हिक्का, पाण्डुता, बन्धरता, मांस आदि धातुओं का क्षय तथा आक्षपक आदि अनेक रोग उत्पन्न कर देती है अथवा रोगी को मार भी देती है।

रक्तस्रावणोत्तर बृंहणचिकित्सा विधिः

प्राणाः प्राणभृतां रक्तं तत्क्षयात् क्षीयतेऽनलः।
वर्द्धते चानिलस्तस्माद्युक्त्याबृंहणमाचरेत्॥

अ० सं० सू० अ० ३६।२१

शीतोपचारैः कुपिते स्त्रुतरक्तस्य मारुते॥
कोष्णेन सर्पिषा शोथं सव्यथं परिषेचयेत्॥
क्षौणस्यैणशशोरभ्रहरिणच्छागमांसजः।
रसः समुचितः पाने क्षीरं वा षष्ठिकाहिताः।

शारंगधरः, (उ०२) योगरत्नाकर

अथ शोणितावसे के पश्चात् कर्म दर्शयन्नाह शीतोपचाराः सेकाद्याः। एतेन किमुक्तं अनतिशीतादिकं प्रयत्नतः उपाचरणीयमिति सुबोधम् अतएव कोष्णेन सर्पिषेति। ईषदुष्णेन सर्पिषेत्यर्थः। अथ रक्तातिक्रमेण क्षीणस्य पुरुषस्यानन्तरं भेषजमाहक्षीणस्येति। रक्तक्षीणपुरुषस्येत्यर्थः। एण कृष्णमृगः। उरभ्रोः मेषः। हरिणस्ताम्रवर्णो मृगः। एषां मांसैः संस्कृतो रस इति। एके हरिणच्छागसंभवः रक्तः समुचित इति पठन्ति व्याख्यानयन्ति च। क्षीरं वा षष्ठिका हिता इति। क्षीरादिसिक्तमोदनं भुंजीतेत्यभिप्रायः। आढ़मल्लः।

स्त्रुते रक्ते व्रणस्थाने कुपितो दाहदित्वात् शीतोपचारैः उपचरेत्स्त्रुतरक्तस्य मारुते कुपिते सव्यथं शोथं कोष्णेन सर्पिषा सेचयेत्। रक्ते क्षीणे क्रियामाहक्षीणस्य रक्तस्रवणक्षीणस्य पुरुषस्य एणादीनां मांसरसः हितः। षष्ठिकायुक्तं क्षीरं वा हितम्। एणो हरिणः शशः, उरभ्रो मेषः हरिणः कृष्णवर्णो मृगः, एणो रक्तवर्णः छागः। काशीराम।

हि० व्या०—सिद्धान्ततः बात यह है कि प्राणियों का प्राण रक्त माना गया है अथवा रक्त ही प्राणियों के लिए जीवन देने वाला होने से प्राण है अतः रक्त के क्षय से अग्नि का क्षण हो जाता है शरीर में शीतलता आ जाती है इससे वायु बढ़ जाती है। परिणाम स्वरूप पूर्व में बताए गये मूर्च्छा, भ्रम आदि अनेक रोग उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है अतः इन उपद्रवों की उत्पत्ति में ही इसके लिए रक्त क्षय होते ही मांस रस या रक्तपान आदि पुष्टिकारक उपचार तुरन्त कराने चाहिए।

[illegible] के पश्चात् यदि व्रण स्थान पर

पित्त कोप के कारण दाह पाक आदि उत्पन्न होने पर शीतल उपचार से शान्त करना चाहिए यदि वातकुपित होकर शोक एवं वेदना उत्पन्न करें तो गुनगुने गो घृत से सेवन करना चाहिए।

रक्त स्राव के उपरान्त व्यक्ति के दुर्बल हो जाने पर कृष्णसार हरिण, खरगोश, मेढ़ा, ताम्रवर्ण हरिण तथा बकरे के मांस का यथाविधि सिद्ध मांसरस अथवा दूध एवं शालि चावल के खीर आदि खाने-पीने को देना चाहिए। योगरत्नाकर के भी श्लोक समान ही हैं।

अति प्रवृत्त रक्त निरोधाय चत्वारः उपायः तत्फलं च

चतुर्विधं यदेतद्धि रुधिरस्य निवारणम्।
संधानं स्कन्दनं चैव पाचनं दहनं तथा॥
व्रणं कषायः संधत्ते रक्तं स्कन्दयते हिमम्।
तथा संपाचयेद्भस्म दाहःसंकोचयेत् सिराः॥

—सु० सू० १४।३६-४०

चतुर्विधमित्यादि। संधानं शस्त्रपदस्य, स्कन्दनं शोणितस्य स्त्यानीकरण, पाचनं दहनं च शस्त्रपदस्य। कषायः कषायरसद्रव्यं, तच्च लोध्रादिकम्; अन्ये तु हरीतक्यादिकं पंचवल्कलादिकं चाहुः। हिमं शीतम्। भस्म क्षौमादि जनितम्। दहनं शलाकाप्रभृतिभिः। डल्हणः।

पूर्वोक्तरक्तास्थापनयोगानामुत्तरोत्तरं गरीयस्त्वेन पूर्वपूर्वासिद्धौ कर्तव्यतो पदर्शनार्थमाह चतुर्विधमित्यादि। सन्धानं व्रणस्य, स्कन्दनं रक्तस्य, पाचनं तथा दाहश्च व्रणस्यैव। कषाय इति कषायरसद्रव्यं लोध्रादि। शीतमिति शीताच्छादनेत्यादिनोक्तं, स्कन्दयते स्त्यानीकरोति भस्मेति दग्धक्षौमभस्मादिर्यथोक्तव्रणबन्धसिराव्यधावपि सन्धानहेतुतया सन्धानान्तर्भूतावितिन चातुर्विध्याधिक्यम्। शेषे दाहाभिधानं महाविभ्रमकतया ज्ञेयम्।

चक्रपाणिः।

हि० व्या०—जब रक्त मोक्षण में रक्त का अतिस्राव हो तो उसको रोकने के लिए संधान, स्कन्दन, पाचन, एवं दहन ये चार प्रकार के उपाय प्रमुख हैं। इनमें कषाय रस वाले द्रव्यों का अन्य प्रकरण में सुश्रुत ने वर्णन किया है। यथा—वट् गूलर, लोध, हरीतक। इनके प्रयोग से व्रण का संधान करते हैं—शीतल पदार्थों से रक्त को स्कन्दित किया जाता है यथा, खस, कर्पूर चन्दन शीतल जल आदि रेशमी वस्त्र की भस्म से व्रण स्थान का पाचन होता है। सिराओं का संकोच दहन कर्म से होता है यथा शलाका या तार द्वारा इस प्रकार आवश्यकता जिस कर्म की हो उसी का प्रयोग कराना चाहिए।

इनमें से उत्तरोत्तर कर्म विशेष बताये गये हैं। इन कर्मों का प्रयोग भी व्रण के लिए संधान कर्म, एवं रक्त के लिए तथा पाचन एवं दहन कर्म व्रण

तथा रक्त दोनों के लिए कहा जाता है।

अतिरक्तविस्रावणजन्याः उपद्रवाः

अत्युष्णेऽतिस्विन्नेऽतिविज्ञैर्विस्रावितमति प्रवर्तते, तदतिप्रवृत्तं शिरोभितापमान्ध्यमधिमन्थतिमिरं प्रादुर्भावं धातुक्षयमाक्षेपकं दाहं पक्षाघातमेकांग विकारं हिक्कां श्वासकासौ पाण्डुरोगं मरणंचापादयति। सु० सू० १४।३०

अतियोग व्यापदश्चोपदिशन्नाह, अत्युष्ण इत्यादि। अत्युष्णे अत्युष्ण काले। अतिस्विन्ने अतिस्वेदिते। अतिविद्धेऽज्ञैरिति अज्ञा अदृष्टकर्माणः। शिरोऽभितापं शिराः=शूलम्। आन्ध्यम् अन्धताम्। अधिमन्थः चक्षुरोगोऽभिष्यन्दपूर्वकः, तिमिरं लिंगनाशः, प्रादुर्भावशब्दोऽधिमन्थतिमिराभ्यां संबध्यते शिरोभितापादीन् शिरस्यतिहृतंरक्तं करोति, धातुक्षयं सर्वत्रैवातिहृतम्। एकांगविकारमिति एक स्मिन्नंगे य उत्पद्यते स एकांगविकारः, स चात्र वात जनितः। डल्हणः।

अतिस्रुतौ हि मृत्युः स्याद्दारूणा वा चलामयाः।
—अ० हृ० सू० अ० २७

हि० व्या०—सिरावेध करने पर अनेक कारणों से रक्त अतिमात्रा में स्रवित हो जाता। बताई गई ऋतु एवं उपयुक्त काल के विपरीत रक्त स्राव कराने पर, अधिक स्वेदन कराने पर, वेध गहरा या अधिक चौड़ा कर दिए जाने पर, अनुभवहीन चिकित्सकों द्वारा विस्रावण कर्म कराने पर रक्त अधिक मात्रा में प्रवृत होता है (बहने लगता है) इस प्रकार यह रक्तस्राव का अतियोग शिरो रोग, अन्धापन, अधिमंथ तथा तिमिर रोगों को उत्पन्न करता है। साथ ही धातु क्षय, आक्षेपक, पक्षाघात, एकांगघात, तृष्णा दाह, हिक्का, कास, श्वास, पाण्डुरोग तथा मृत्यु का कारण भी बन जाता है। इस विषय में अ० संग्रह का भी यही भाव है।

अतिस्विन्नस्योष्णकाले तथैवातिसिराव्यधात्
अतिप्रवर्तते रक्तं तत्र कुर्यात्प्रतिक्रियाम्॥
अतिप्रवृते रक्ते च लोध्रसर्जरसांजनैः।
यवगोधूमचूर्णैर्वा धवधन्वनगैरिकैः॥
सर्पनिर्मोकचूर्णैर्वा भस्मना क्षौमवस्त्रयोः।
मुखं व्रणस्य बद्ध्वा च शीतैश्चोपचरेद्व्रणम्॥
विध्येदूर्ध्वं सिरा तां च दहेत्क्षारेण वाग्निना।
व्रणं कषायः संधत्ते रक्तं स्कन्दयतेहिमं॥
व्रणास्यं पाचयेत्क्षारो दाहः संकोचयेत्सिराम्।
वामाण्डशोथे दग्धस्य करस्यांगुष्ठमूलजाम्॥
दहेत्सिरां व्यत्यये तु वामांगुष्ठसिरांदहेत्।

सिरादाहप्रभावेन मुष्कशोथः प्रणश्यति॥
विषूच्यां पार्ष्णिदाहेन जायतेऽग्नेःप्रदीपनम्।
संकुचन्ति यतस्तेन रसश्लेष्मवहाः सिराः॥
यदा वृद्धिर्यकृत्प्लीह्नोः शिशोः संजायतेऽसृजः।
तदा तत्स्थानदाहेन संकुचन्त्यसृजः सिराः,
रक्ते दुष्टेऽवशिष्टेऽपि व्याधिर्नैव प्रकुप्यति
अतः स्राव्यं सावशेषं रक्तं नातिक्रमो हितः
आन्ध्यमाक्षेपकं तृष्णां तिमिरं शिरसो रूजम्
पक्षघातं श्वासकासौ हिक्कां दाहं च पाण्डुताम्॥
कुरुतेऽतिसृतं रक्तं मरणं वा करोति च
देहस्योत्पतिरसृजा देहस्तेनैव धार्यते।
विना तेन व्रजेज्जीवो रक्षेद्रक्तमतो बुधाः॥ शार्ङ्गधर

अतिस्विन्नेत्यर्थे स्वेदिते पुरुषे देशे वा। सोष्णकालेग्रीष्मतौ शरदतौं वा। अतिसिरा व्यधादिति अज्ञप्रयुक्तेन शस्त्रेणावगाढ़व्यधनाद्रक्तातिस्रुतिर्भवति। पूर्वमुक्तं तत्र कुर्यात्प्रतिक्रियामित्यतः तां प्रतिक्रियां दर्शयन्नाह-अत्र सर्जरसो रालः। रसांजनं प्रसिद्धं यच्च द्रावीक्वाथसमुद्भवं रसांजनं संज्ञकेचिदिति व्याख्यानयन्ति। सर्जः शालभेदः। रसांजनं तदेव। धवो वृक्षविशेषः प्रसिद्धः। धन्वनो धामन इति प्रसिद्धः लोध्रादिभिश्चूर्णीकृताभिर्व्रणमुखवचूर्ण्यांगुल्येग्रेणावपीडयेदिति प्रचारः। सर्पनिर्मोकः सर्पकंचुलिका। क्षौम वस्त्रयोर्भस्मेति। पटाम्बरदग्धभस्म क्षौमंअतसीभवम्। तद्दष्ट्वा भस्मकार्ये एवं वस्त्रस्य वस्त्र ग्रहणात् कार्पाससंभवं भस्मापि मुखव्रणस्य। बध्वेति यथोक्त व्रणबन्धनद्रव्यैर्गाढं बध्नीयादित्यर्थः। शीतैश्चोपचरेद्व्रणं शस्त्रादिजनितं यद्युपचरेत्। वा पक्षान्तरप्रकारमाह-विध्येदूर्ध्वमित्यादि। प्राक्तनव्यक्तात् परस्थानेतामेव पूर्वं विद्धां सिरां विध्येत्। रक्तगतिच्छेदनार्थम् क्षारेणाग्निना वा दहेदिति वस्त्रादिपदाभिप्रायः। अथ लोध्रादीनां शोणितातिप्रवृतौ प्रयुक्तानां प्रत्येकफलमाह-कषायोऽत्र लोध्रसर्जरसांजनप्रभृतिकः। सचव्रणघर्षणार्थं पूर्वमेवात्र दर्शितः अन्ये तु हरीतक्यादिः पंचवल्कलादिकः। एतेन किमुक्तं, अयंकषायः व्रणं शस्त्राघतजं रुधिरं संधत्ते निवारयेदित्यर्थः व्रणग्रहणेन जलौकामुखक्षतजमपि ग्राह्यम्। हिमं शीतलं। रक्त मित्यतिप्रवर्तितं स्कन्दयेदस्त्यानीभूतं करोतीत्यर्थः। क्षारोऽत्र विहितोऽपामार्गादिजनितः क्षौमादिजनितो वेत्यत्र विहितः सच व्रणास्यं व्रणमुखं पाचयेत्। तेनातिप्रवर्तितरक्तं संस्थाप्यसम्यक् प्ररोहयेदित्यभिप्रायः दाहोऽग्निकृतः शलाकाप्रभृतिभिः सच शिरां रक्त वहां सकोचयेत्। तेनाति प्रवर्तितं सम्यगवतिष्ठते।

इदानीं रक्तातिस्त्रावे उपदेशं दर्शयन्नाह अतःस्राव्यं सावशेषं इति। सावशेषं दोषरक्तं पुनः संशमनादिभिर्जयेदित्यभिप्रायः। यथातियोगनिःसृतस्य रक्तस्य व्यापदं दर्शयन्नाह। आन्ध्यमन्धताम् अत्रोर्ध्वंजत्रुगतरोगं शिरस्यतिप्रवृतं रक्तं-करोति। शेषं सुबोधम्। अथ रक्तस्रावणे भूयोभूयोतिक्रमो न करणीय इत्याह। उत्पत्तिरिति। उपस्थितिप्रलेयेषु शोणितमेव हेतुः शोणितेन। एतेनैव धार्यते स्थाप्यते। शेषं सुगमम्। आढ़मल्लः।

अतिस्विन्नस्येति सुगमम्। अतिप्रवृते क्रियामाह अतिप्रवृते रक्ते एवं कुर्या-तदाह-लोध्रं, सर्जोरालः रसांजनं दार्वीक्वाथोद्भवं, यवः काष्ठ धन्वनः। सर्प-निर्मोकं सर्पकंचुकं वस्त्रं चीरं क्षौमं पदवस्त्रम्। शीतैः शीतोपचारैः तां शिरांबाहु उर्ध्वं विध्येत्। उर्ध्वं तस्मात् शिराबन्धात् उर्ध्वम् तथाच वाग्भटे "तामेव वा शिरां विध्येद्बन्धातस्मादनन्तरम्" इति। क्षारेण दहेत् लिपेत्क्षारेण टंकणादिना क्षारेण वह्निना वा दहेद्दाहं कुर्यात्। कषायः कषायद्रव्यं रोध्रादि व्रणं संधत्ते संहननं संकुरुते। हिमं शीतलं चन्दनादि द्रव्यं रक्तं स्कन्दयते शोषं यदि स्थाप-यति वा, क्षारः व्रणं पाचयति। दाहः शिराः संकोचयेत् दाहो यथा सुगमम्। विसूच्यामिति सुगमम्। दुष्टे रक्ते निः सृते किंचिदवशिष्टेऽपि व्याधिर्न कुष्यति अतः सावशेषं स्राव्यम्। अतिक्रमो न हितः। रक्तस्य निःशेषस्रावे दोषस्रा-वणात्तदाह अतिस्रुतं अतिनिः सृतं रक्तस्य जीवस्य साम्ये। तद्देहस्योत्पातादी-नाह सुगमम्। काशीराम

हि० व्या०—रक्त अतिमात्रा में स्राव होने पर उसे रोकने के यथा सम्भव उपाय करना चाहिए।

(१) पठानी लोध, मुलहठी, प्रियंगु, पतंग गेरू, राल, रसौंत, सेमल के फूल, शंख, सीप, उड़द, जौ और गेहूं इन सभी का चूर्ण बनाकर इस चूर्ण को धीरे-धीरे व्रण मुख पर घर्षण करके अंगुली से दबा देना चाहिए।

(२) शाल, राल अर्जुन, इरिमेद, मेढ़ा सींगी, धव तथा धामन की छालों को पीस कर इस कल्क या चूर्ण से व्रण मुख पर घर्षण करना चाहिए।

(३) रेशमी वस्त्र को जलाकर उसकी भस्म को क्षत पर छिड़कना एवं अंगुली से दवाना चाहिए।

(४) समुद्रफेन या लाक्षा चूर्ण से व्रण मुख पर घर्षण करना चाहिए।

उपर्युक्त प्रयोगों मे से यथा सुलभ एवं सुगम विधि को अपनाने के पश्चात् रेशमी वस्त्र, रुई आदि व्रण बन्धन योग्य द्रव्यों से गाढ़ा बन्धन बांध देना चाहिए। तत्पश्चात् उस स्थान पर शीतल पदार्थ यथा कमल पत्र, कदली पत्र या गीला वस्त्र रख दें। जिसका अतिप्रवृत रक्त रोका गया है उसे शीतल

भोजन यथा, दूध शर्करा, चावल आदि का भोजन कराना चाहिए। शीतल गृह में निवास तथा शीतल औषधियों, खस चन्दनादि, कपूर आदि का लेप तथा उन्हीं के क्वाथ से प्रक्षालन करना चाहिए।

यदि उपर्युक्त उपायों से रक्त का स्राव बन्द नहीं हो तो क्षार अथवा अग्नि से दहन करना चाहिए। अथवा उस वेधित सिरा को दूसरी जगह से पुनर्वेधन करना चाहिए। अथवा काकोल्यादिगण की औषधियों के क्वाथ को शक्कर तथा शहद से मीठा बनाकर पिलाना चाहिए। अथवा एण हरिण, ताम्रहरिण, मेढ़ा, खरगोश, भैंस तथा सूकर इनका ताजा रक्त पिलाना चाहिए। अथवा दुग्ध एवं मूंग के यूष के साथ स्निग्ध आहर कराना लाभदायक होता है। इसके साथ-साथ होने वाले अन्य उपद्रवों का यथावश्यक उपचार करना चाहिए।

विशेष—यहां अतिमात्रा में विस्रावित रक्त को रोकने के लिए प्रमुख ६ उपाय है (१) शीतल प्रयोग (२) उष्णोपचार (३) दहनकर्म (४) रक्तरोधक औषध प्रयोग (५) अवपीडन एवं (६) बन्धन। इनका आगे के श्लोक में विव-रण आया है आजकल उपरोक्त बताई गई विधि औषधियों की गोलियां, कैप-सूल तथा अनेक प्रकार की लोशन रूप कल्पनाएं बनाई गई हैं। आवश्यकता पड़ने पर लगाने खाने के लिए दिया जाता है तथा सिरा द्वारा रक्ताधान भी कराया जाता है। रक्तस्राव में हृदयोत्तेजक औषधियां नहीं देनी चाहिए।

आयुर्वेद में भी बाह्य के साथ आभ्यन्तर औषध प्रयोग का विधान वर्णित है जिनका दोषों की स्थिति के अनुरूप प्रयोग कराना होता है यथा—पित्तदोष में क्षीर, कफदोष में यूष तथा वातदोष की प्रधानता में मांसरसों का प्रयोग कराने का विधान बताया है। सर्वदासर्व भावानां सामान्यं वृद्धि कारणम् के सिद्धान्तानुसार रक्त पिलाने को आयुर्वेद भी उचित समझा है। आज भी इसी सिद्धान्त के आधार पर रक्त का शिरा द्वारा शरीर में प्रवेश कराया जाता है।

सभी प्रकार के उपायों का रक्तरोधन के लिए प्रयोग करना बहुत आवश्यक है। इसके अत्यधिक मात्रा में शरीर से निकल जाने पर अन्य मांस, मेद आदि धातुएं भी क्षीण होने लगती हैं। इस क्षयक्रम से मनुष्य की अग्नि मन्द हो जाती है तथा वात भी अत्यन्त कुपित हो जाती है। इसीलिए प्रयत्न पूर्वक उस मनुष्य को न अधिक तथा सामान्य स्निग्ध, लघु रक्तवर्धक और कुछ खट्टे अथवा अम्लरहित दोनों प्रकार के भोज्य पदार्थों का सेवन कराना चाहिए। इस प्रयोग मे जितनी मात्रा में रक्त का क्षय हुआ है। उससे अन्य धातुओं का क्षय नहीं होगा तथा रक्त की पूर्ति हो जाएगी अष्टांग हृदय एवं संग्रह में भी

संक्षेप में यही भाव लिए हैं। सुश्रुत उत्तर तन्त्र में लिखा है। कि जिस रोगी का रक्त अति मात्रा में स्रवित हो गया हो उसे तत्काल मारे गए बकरे का या एण मृग का रक्त शहद मिलाकर पिला देना चाहिए अथवा यकृत को पित्त सहित खिला देना चाहिए।

क्रमशः पुनः पुनः रक्त स्रावण योग्या रोगाः

क्षीणस्य बहुदोषस्यमूर्च्छायाऽभिहतस्य च।
भूयोऽपराह्णे विस्राव्या साऽपरेद्युस्यहेऽपिवा॥

सु० शा० ८।१४

क्षीणस्यावश्यस्रावणीये शोणिते क्रम स्रावणंदर्शयन्नाह-क्षीणस्येत्यादि। मूर्च्छायाऽभिहितस्येति अक्षीणस्यापीत्यर्थः। डल्हणः।

शस्त्रभयेन विक्लवस्य न पुनर्दुर्बलस्येति वक्तव्यमेव तस्य प्राक् प्रतिषेधात् एवमेव मूर्च्छायाभिद्रुतस्येत्यपि व्याख्येयम् प्रागुक्तानुस्मरणात्। बहुदोषस्येत्यु-भयत्रैवान्वीयते। अत्र बहुदोषस्येति विशेषणात् स्वल्पदोषेष्वेतेषु नैष विधिरि-त्यर्थाक्षिप्तं भवति। अपरदिवसपऽर्यायोऽयमपरेद्युःशब्दोऽव्ययम्। सा शिरेत्यर्थः। अत्र कफलत्रयनिर्द्देशोऽवस्थाविशेणमभिसमीक्ष्य यथाऽवशरं व्यधनार्थम्।

अशुद्ध रक्तया पुनरपि निस्रावणम्

अशुद्धं तु रक्तमपराह्णेऽन्येद्युर्वा पुनः स्रावेयत्। ततोऽपि शेषं सर्वथावाऽप्य विस्राव्यरक्तस्यशीत सेक प्रदेहविरेकोपवासस्निग्धमधुराम्ल पानैः प्रसादयेत्। मास मात्र वा स्नेहादिभिरूपचर्य पुनर्विध्येत्। दुर्व्यधातिव्यधकुट्टित तिर्यग्व्य-धादेर्व्यधदोषाद्व्यापदोयाः स्युस्ता यथास्वं साधयेदिति।

अ० सं० सू० अ० ३६।२२

अन्येद्युर्द्वितीयेऽह्नि। ततोऽपि पुनर्विस्रावितादपि शीतैः सेकादिभिः। प्रसा-दयेत्। अविस्राव्यरक्तस्य गर्भिण्यादेवमेव प्रसादयेत्। अशुद्धे रक्ते मासमात्रेण पुनस्सिरां विध्येत्। व्यधदोषाच्चव्याधीनां स्वं स्वं चिकित्सितं योज्यम्। इन्दुः

अशुद्धं स्रावयेद्भूयः सायमह्नयपरेऽहि वा"'।
स्नेहोपस्कृतदेहस्य पक्षाद्वा भृशदूषितम्॥

अ० हृ० सू० २७।६१ चक्रदत्तः

अथवा स्नेहोपस्कृतो भावितो देहो यस्य तथा विधस्यभृश दूषितमतिशयेन दुष्टं रक्तं पक्षादूर्ध्वं पुनः स्रावयेत्। एवमशुद्धं रक्तं यथायोगं सायमह्नयपरे पक्षादूर्ध्वं वा प्रस्थपरिमाणमेव स्रावयेन्न ततोऽधिकमिति रक्तस्रुतौ क्रमः। प्रस्थपरिमाणं च तंत्रांतरे गदितम्। वमने च विरेके च रक्तातीसारयोरपि। सार्धंत्रयोदशपलं प्रस्थमाहुर्मनीषिण इति॥ अरुणदत्तः

हि० व्या०—जिन व्यक्तियों में रक्त विस्रावण अथवा सिरावेध कराना आवश्यक होता है। यदि वे बहुत दुर्बल, बहुत दोषयुक्त मूर्च्छा रोग वाले या जिन्हें शीघ्र मूर्च्छा आती हो उनका सिरावेध अपराह्नकाल में दूसरे या तीसरे दिन करना चाहिए।

अर्थात एक साथ सिरावेध नहीं करके पुनः पुनः कराना लाभप्रद है। अष्टांग संग्रहकार ने सुश्रुत के समान व्यक्तियों के दुर्बल आदि लक्षणों का उल्लेख तो नहीं किया किंतु सामान्यतः सिरावेध के नियमों में ही पुनः पुनः रक्त विस्रावण का वर्णन करते हुए लिखा है कि—चिकित्सक को चाहिए कि जहां तक हो सके एक बार में थोड़े-थोड़े रक्त को निकालना चाहिए यदि कुछ अशुद्ध रक्त रह जाय तो बृंहण उपचार करके सायंकाल अथवा दूसरे दिन पुनः सिरा-वेध करके रक्त का श्रावण करना चाहिए। यदि फिर भी कुछ अशुद्ध रक्त रह जाय तो उस रोगी के रक्त को शीतवीर्य द्रव्यों के हिम आदि से सेचन, लेपन, या विरेचन एवं उपवास स्नेह युक्त मधुर आहार से शुद्ध करें। अथवा इस प्रकार एक माह तक स्नेहादि उपचार करके पुनः सिरावेध करें। इस प्रकार कई बार सिरावेध कराया जा सकता है। इस कर्म में मिथ्यावेधन हो, अति-व्यध हो, कुण्ठित व्यध हो अथवा लिपिक व्यध हो तो व्यध से होने वाले विविध दोषों से जो जो व्यापद हो जाते हैं उनका समुचित विधि से उपचार करना चाहिए।

अ० हृदय में भी इसी प्रकार पुनः पुनः विस्रावण का संक्षेप में वर्णन किया है। तथा अधिक दुष्ट रक्त को स्नेहित शरीर करके पुनः स्रावित करने का भी उल्लेख है।

सिराव्यधे सिरास्रावावरोधे कारण विचारः

मूच्छितस्यातिभीतस्य श्रान्तस्य तृषितस्य च॥
न वहन्ति सिरा विद्धास्तथाऽनुत्थितयन्त्रिताः॥

सु० शा० ८।१३

सिराणां सम्यग्विद्धामप्यस्रवणे कारणं दर्शयन्नाह-मूच्छितस्येत्यादि। अति-भीतादिष्वतिभयादिजनितवातेन सिरामुखनिरोधात्, अनुत्थित यन्त्रितानां शोणितस्य प्रवृत्तावभिमुखीभावाभावान्न वहन्तीति। यद्यपि "मदमूर्च्छाश्रमा-तानां" (सू० अ० १४) इत्यादिना सूत्रस्थानोदितेनायमर्थ उक्तस्तथाऽपि प्रकर-णान्तरत्वान्न पौनरूक्त्यम्॥ डल्हणः।

सम्यक् सिराव्यधेऽपि रक्तनिः सरणे विघ्नकारणानि

सम्यग्विद्धानामपि च सिराणामवहन कारणानि मूर्च्छा भयं यन्त्र शैथिल्य-मतिगाढत्वमत्याशिताक्षामत्वंकुण्ठशस्त्र व्यधो मूत्रितोच्चारितत्वं दुः स्विन्नता कफावृतव्रणद्वारताचेति। अथा प्रवृत्तिकारणं यथास्वमुपलक्ष्यप्रतिकुर्यात् तगरादि चूर्णेन च तैल लवण प्रगाढेन सिरा मुखमवचूर्णयेत् पृष्ठमध्ये चातुरं पीडयेत्।

एवंसाधुवहति । सम्यक् प्रवृत्ते तु कफानिलोपशमरक्तविच्छेदार्थमुष्ण लवणतैल-बिन्दुभिः सिरामुखं सिचेत् ।। अ० सं० सू० ३६।१५

रक्तस्राव निवारक कारणानां संकेतः

भीमूर्छायंत्रशैथिल्यकुंठशस्त्रातितृप्तयः ।
क्षामत्ववेगितास्वेदा रक्तस्याऽस्रुतिहेतवः ।।

अ० हृ० सू० २७।४५

भीमूर्छादयो रक्तस्याऽस्रावहेतवः । भीःभयम् । मूर्छा मोहस्तमसीव प्रवेशः । यंत्रशैथिल्यमगाढं कृत्वा यंत्रपीडनम् । तथा कुण्ठं भग्नं शस्त्रम् । तथाऽतितृप्तिरतिसौहित्यम् । क्षामत्वं निर्बलता । वेगिता संजातवेगित्वम् । अस्वेदः स्वेदायोगः । यतश्चैते रुधिरस्यास्रुतिहेतवस्ततो रक्तस्रुतावेते परिहार्याः ।। अरुणदत्तः

असम्यगतस्रे स्रवति वेल्लव्योषनिशानतैः । अ० हृ० सु० २७।३६
सागारधूमलवण-तैलैर्दिह्याच्छिरामुखम् ।। भा० सं०

अप्रवृत्तस्य रक्तस्य विस्रावणाय औषधयोगाः

अथ खल्वप्रवर्तमाने एलाशीतशिवकुष्ठतगरपाठाभद्रदारुविडंगचित्रकत्रिकटुकागारधूम हरिद्रार्कांकुरनक्तमालफलैर्यथालाभं त्रिभिश्चतुर्भिः समस्तैर्वाचूर्णीकृतैर्लवणतैलप्रगाढैर्व्रणमुखमवघर्षयेत् "एवं सम्यक् प्रवर्तते ।। सु० सू० १४।३५

इदानीमप्रवृत्तरक्तस्य प्रवर्तनायाह,-अथरक्तेत्यादि । शीतशिव कर्पूरं, नक्तमालो बृहत्करंजः । त्रिभिश्चतुर्भिरिति एतेनैकद्विद्रव्यनिषेधः कृतः । लवणतैलप्रगाढैरिति सैन्धवतिल तैलोत्कटैरित्यर्थः । डल्हण

अथेत्यादि । शीतशिवं सैन्धवम् । यथालाभमित्यनेनैव त्रिचतुः प्रयोग लब्धेऽपि पुनरूपादानं सति तत्सम्भवे द्वयेक प्रयोग परिहारार्थम् ।। हाराणच०

अयोगेनास्रावे चिकित्सामाह-अथाप्रवर्तमान इत्यादि । शीतशिवः कर्पूरम् । यथालाभे नैवात्र त्रिचतुः प्रयोगसिद्धो पुनस्तद्वचनमेकद्विद्रव्य निषेधार्थम् ।।

चक्रपाणिः ।

अतिस्रावे स्तम्भन विधानम् तत्र चिकित्सा सूत्रं च

रक्ते त्वतिष्ठति क्षिप्रं स्तम्भनीमाचरेत्क्रियाम् ।।
रौध्रं प्रियंगुपत्तंगमाषयष्ट्याह्वगैरिकैः ।
मृत्कपालांजनक्षौममषीक्षौरिस्वगंकुरैः ।।
विचूर्णयेद् व्रणमुखं पद्मकादिहिमं पिबेत् ।
तामेव वा सिरां विध्येद्व्रणधात्तस्मादनंतरम् ।
सिरामुखं वा त्वरितं दहेत्तप्तशलाकया ।।

चक्रदत्तः, अ० हृ० सू० अ० २७।४८-५०

रक्ते त्वतिष्ठति स्थितिमलभमाने त्वरितमेव स्तंभनीं क्रियां वक्ष्यमाणां कुर्यात् रक्तस्य प्राणायतनत्वात् ।। रोध्रादिभिः सिराव्रणमुखं विचूर्णयेत् । पद्म-

कादि हिमं शीतकषायं पिबेत् । तामेव । प्राग्विद्धां सिरां तस्मात् प्राग्व्यधादनंतरमन्यवहितं विध्येत् । अथवा सिराद्वारं क्षिप्रं कृत्वाऽग्निनोपतप्तया शलाकया दहेत् ।। अरुणदत्तः

अतिस्रावे स्तम्भनमाह-रक्त इति । स्तम्भनविशेषमाह-रौध्रिप्रयंग्विति । मृत्कपालं खर्परं, क्षौममसी वस्त्रभस्म विचूर्णयेत् चूर्णं विकिरेत् । पद्मकादिहिमं पद्मकादिगणस्य शीतकषायं, संग्रहे तु अतिष्ठति तु रक्ते शिरामुखंसंघातुचूर्णैरक्तचूर्ण्यांगुल्यग्रेण पीडयेत् । शाल्मल्युपोदिकापिण्डं पिच्छां वा व्रणमुखे दत्त्वा गाढं बध्नीयात् । मधुच्छिष्टप्रलिप्तं वा पट्टकं शीताम्बुना वा सिंचेत् । शीतमधुरकषायान्नपानैः सेकप्रदेह प्रवातवेश्मभिर्वा स्कंदनायोपचरेत् । पद्मकादिकवाथं शर्करामधु मधुरं क्षीरमिक्षुरसमेणहरिणाजोरभ्रमहिषवराहाणामन्यतमस्य वा सिरां विद्ध्वा रुधिरमामं घृतभ्रष्टं वा पानंदद्यात् । तेनैव वा दर्भपादमृदितेनानुवासयेत् । स्निग्धैश्च यूषरसैर्भोजयेत् । सर्वथा चानवतिष्ठमाने पाचनायक्षारं दद्यात् । न च क्षणमप्युपेक्षेत् । क्षीणरक्तस्य हि वायुर्मर्माण्युपगृह्य मूर्च्छांसंज्ञानाशशिरः कंपभ्रममन्यास्तंभापतानकहनुभ्रंशहिध्मापाण्डुत्वबाधिर्यंध्मातुक्षयाक्षेपकादीन्करोति मरणं वा । "प्राणाः प्राणभृतां रक्तं तत्क्षयात्क्षीयतेऽनलः ।" वर्द्धते चानिलस्तस्माद्युक्त्या बृंहणमाचरेत् ।।" दुर्व्यधातिव्यधकुट्टितर्तियंग्व्यधादेर्व्यधदोषोद्भवापदो याः स्युस्ता यथास्वं साधयेदिति ।। हेमाद्रिः ।

हि० व्या० –रक्त नहीं बहने के कारण—सुश्रुत में रक्त विस्रावण किए जाने पर सिराओं के नहीं बहने के अनेक कारण बताये हैं । जो व्यक्ति मूच्छित हो या सिरावेध के समय मूच्छित हो गया हो, अत्यन्त भयभीत हो, थका हुआ हो, प्यासा हो, उसकी सिराओं में वेध किए जाने पर रक्त स्रवित ही नहीं होता यदि होता भी है तो बहुत कम, इसी प्रकार—जो सिरा अच्छी प्रकार उत्तुण्डित—(उठी हुई) नहीं हो, भली प्रकार यन्त्रित न की गई हो वह भी रक्त का स्राव नहीं कराती है । वृद्ध वाग्भट में उपयुक्त कारणों को और भी स्पष्ट करते हुए लिखा है कि—यन्त्रणां में बंधन ढीला हो या अधिक कसा हुआ हो अत्यधिक भोजन किए हुए व्यक्ति का सिरावेध करने पर रोगी में सहनशीलता का अभाव होना, कुण्ठित शस्त्र से वेध करना, सिरावेध के समय मल-मूत्र का वेग उत्पन्न होना, भली भांति जिसका स्वेदन नहीं किया गया हो, क्षत किए गये भाग का कफ द्वारा अवरूद्ध होना (कफ दूषित रक्त गाढा होना है)—अतः इन कारणों का भली प्रकार निवारण करना चाहिए । रोगी का सिरावेध से पूर्व पूर्ण परीक्षण कर लेना चाहिए । अष्टांग हृदय में भी इन्हीं कारणों का उल्लेख किया गया है ।

निवारण के उपाय—सामान्य उपायों से रक्त स्रवित न हो तो सिराबिद्ध स्थान पर तगरादि द्रव्यों के चूर्ण को तैल एवं लवण में मिलाकर लगाना

चाहिए। रोगी की पीठ को दबाना चाहिए। इस प्रक्रिया से रक्त भली प्रकार बहने लगता है। जब रक्त की प्रवृति हो रही हो उस समय भी कफ एवं वायु की शान्ति के लिए तथा रक्त में भलीभांति बहने के लिए, अवरोध जन्य वेदना शान्ति के लिए सिरामुख पर सुखोष्ण लवण मिश्रित तैल की बूंदे टपकाते रहना चाहिए। इस प्रकार से सिरा का संकोच नहीं होने के कारण रक्त बहने की निरन्तरता रहती है। शार्ङ्गधर में कूठ, त्रिकटु एवं सैन्धव का मिश्रित चूर्ण मर्दित करने का उल्लेख है।

यदि प्रच्छान करने पर रक्त प्रवर्तितन हो तो एला, कर्पूर, कूठ, तगर, पाठा, देवदारू, विडंग, चित्रक त्रिकटु, गृहधूम, हरिद्रा, आक के अंकुर एवं करंज के फल इनमें से जो जो मिल सके उनमें तीन चार अथवा समस्त औषधियों का चूर्ण में लवण एवं तैल में मिलाकर व्रण मुख का घर्षण करना चाहिए इससे रक्त समुचित रूप से प्रवृत होने लगता है।

रक्तस्रावोत्तरपथ्यपालनेसयुक्तिकं सूत्रम्

नात्युष्णशीतं लघु दीपनीयं रक्तेऽपनीते हितमन्नपानम्।
तदा शरीरं ह्यनवस्थितासृग्निविशेषेण च रक्षितव्यः॥

च० सू० अ० २४।२३, अ० सं० सू० अ० ३६।२४
अ० हृ० सू० अ० २७।-, चक्रदत्तः

नात्युष्णादिभोजने हेतुमाह-तदेत्यादि। अतिशीतमाग्निमान्द्यं करोति, अत्युष्णं च प्रचलस्यासृजो ऽनितरं प्रचलतां करोति, तस्मान्नात्युष्णशीतम्। लघु दीपनीयं चाग्निदीप्त्यर्थमेव॥ चक्रपाणिः

सिराव्यधानन्तरं एथ्यापथ्यविचारः

तत्र स्निग्धस्विन्नवान्तविरिक्तास्थापितानुवासितसिराविद्धः परिहर्तव्यानि-क्रोधायास मैथुनदिवास्वप्नवाग्व्यायामयानाध्ययन स्थानासनचंक्रमणशीतबाता-तपविरूद्धासात्म्याजीर्णन्याबललाभात्, मासमेके मन्यन्ते। एतेषां विस्तर-मुपरिष्टाद्वक्ष्यामः॥

सु० शा० ८।२४

इदानीं स्निग्धादिभिः पुरुषैः क्रोधादीनि सामान्येन परिहर्तव्यानीति दर्शय-न्नाह तत्रेत्यादि। स्थानम् ऊर्ध्वीभवनम्, आसनम् उपवेशनम्। एतेषां क्रोधाया-सादीनां पंचदशानाम्। उपरिष्टात् आतुरोपद्रवचिकित्सिते। डल्हणः।

तत्रेत्यादि। अत्र प्रकृतत्वात् सिराविद्धैरिति वक्तव्ये स्निग्धादीनामुपदेशः प्रासंगिकः। सिराविद्धैरिति "वाहिताग्न्यादिषु" द्रष्टव्यं। वाग्व्यायाम उच्चैः-र्भाषणम् यानमत्राश्वादिद्रुतयानमेव उत्थानं चिरं दण्डवदवस्थानम्, आसनं चिरो-पवेशनम्। उपरिष्टातुरोपद्रव चिकित्सिक इत्येव। हाराणच०।

रक्तमोक्षे निषेधवर्गमाह··· ··· ···
व्यायाममैथुनक्रोधशीतस्नानप्रवातकान्।

एकाशनं दिवास्वप्नं क्षाराम्लकटुभोजनम्,
शोकं वादमजीर्णं च त्यजेदाबलदर्शनात्॥

—शार्ङ्गधर संहिता, यौगरत्नाकर

रक्तस्रावणोतर पथ्यः

उन्मार्गगा यन्त्र निपीडनेन स्वस्थानमायान्ति पुनर्नयावत्।
दोषाः प्रदुष्टा रुधिरं प्रपन्नास्तावद्धितोहारविहार भाक् स्यात्॥

—अ० सं० सू० अ० ३६।३३, अ० हृ० सू० अ० २०

हि० व्या०—रक्त विस्रावण के पश्चात् रोगी को इस प्रकार का आहार विहार कराना आवश्यक है जिससे शरीर में बलाधान हो तथा किसी प्रकार का उपद्रव न हो अतः चरक, अ० सं०, अ० हृ० एवं चक्रदत्त में एक ही श्लोक आया है।

अशुद्ध रक्त निकल जाने के पश्चात् समशीतोष्ण, लघुपाकी, अग्नि वर्धक हितकारक अन्न एवं पेयों की व्यवस्था करनी चाहिए। रक्तस्राव के पश्चात् अवशिष्ट शुद्ध रक्त शरीर में स्थिर नहीं रह पाता अतः उस काल में यत्नपूर्वक पाचकाग्नि की रक्षा करनी चाहिए।

सुश्रुत में पंचकर्म की विविध प्रक्रियाओं के पश्चात् पालनीय आहार विहार के नियमों का एक ही जगह वर्णन करते हुए लिखा है कि वमन विरेचन, स्नेहन, स्वेदन आस्थापन अनुवासन तथा शिरावेध के पश्चात् क्रोध, परिश्रम, मैथुन, दिन में सोना, जोर से बोलना भाषण गीत आदि, गाना घोड़े की सवारी अध्ययन, बहुत देर तक खड़े रहना, एक ही आसन पर अधिक देर तक बैठे रहना, घूमना, शीत का सेवन, प्रवात (आंधी आदि का) सेवन धूप सेवन, विरुद्ध भोजन, आसात्म्यज भोजन तथा अजीर्ण होने का त्याग करना चाहिए। उपर्युक्त बातों का पालन करने से शरीर एवं मन दोनों को बल मिलता है तथा हितकर आहार-विहार सेवन से शरीर को बल मिलने के साथ व्रण स्थान का शीघ्र रोपण भी हो सकता है।

शार्ङ्गधर में सुश्रुत एवं चरक के वचनों को लेकर भी कुछ पृथक से भी स्पष्ट करते हुए लिखा है कि क्षार अम्ल एवं कटु भोजन आदि का पूर्ण बल प्राप्ति तक परिहार करना चाहिए।

अष्टांगसंग्रह में यह भी लिखा है कि रक्त मोक्षण में प्रयुक्त यन्त्र शस्त्रों के द्वारा स्थानीय वातादि दोष कभी-कभी वेदना एवं शोथ रूप में उन्मार्गगामी हो जाते हैं अतः प्रकुपित दोष जब तक अपनी स्वाभाविक स्थिति में न आ जाय तथा रक्त में व्याप्त दोष जब तक शान्त हो जाए तब तक हिताहार का पालन करना चाहिए।

सिराव्यधे जायमानोपद्रवसूचनम् तत्रचिकित्सा च

यस्य तु स्रवति रक्ते मूर्च्छा जायते तस्य विमुच्य यन्त्र शीत सलिलार्द्रपाणि स्पर्शेन व्यजन वायुना श्रोत्र सुखेन वचसा समाश्वासयन्नुपशमय्य मूर्च्छापुनः स्रावयेत् । पुनः पुनर्मूर्च्छतंत्यपरेद्युस्त्रयहे वा । परमं तु रूधिरावसेचनप्रमाणंप्रस्थः अतोऽन्यथा व्याधि देहर्तुबलमपेक्षेत । अ० सं० सू० अ० ३६

यंत्रं विमुच्य मूर्छायां वीजिते व्यजनैं पुनः ।
स्रावयेन्मूर्छति पुनस्त्वपरेद्युस्त्रयहेऽपिवा ।

— अ० हृ० सू० अ० २७

हि० व्या०—रक्त स्राव के पश्चात् जिस रोगी को मूर्च्छा आ जाए उसके बन्धन को तुरन्त खोल देना चाहिए । शरीर पर शीतल जल से भिगोकर हाथ फिराएं, पंखा से वायु करें, मधुर वचन गीतादि सुनाएं तथा आश्वासनों के साथ चिकित्सक को चाहिए कि मूर्च्छा खुल जाने पर पुनः रक्त मोक्षण विधि को अपनायें ।

यदि कदाचित् बार-बार मूर्च्छा आती हो तो दूसरे या तीसरे दिन रक्त स्राव करावें अधिक से अधिक । एक प्रस्थ रक्त निकालना चाहिए । अथवा रोग, शरीर बल एवं ऋतु का विचार करके यथा मात्रा (१ प्रस्थ से न्यूनाधिक) रक्त निकालना चाहिए ।

विंशति विधानां दुष्टव्यधानां नाम निर्देशः

दुष्टव्यधा विंशतिः—दुर्विद्धाऽतिविद्धा कुंचिता पिच्चिता कुट्टिताऽप्रस्रुताऽत्युदीर्घाऽन्ते विद्धा परिशुष्का कूणिता वेपिताऽनुत्थितविद्धा शस्त्रहतातिर्यग्विद्धाऽव्यध्या विद्रुता धेनुका पुनः पुनर्विद्धा सिरा स्नाय्वस्थिसन्धिमर्मसु चेति ।

सु० शा० ८।१८

दुष्टव्याधानां यथास्वं विविधोपद्रवाणां संकेतः

तत्र या सूक्ष्मशस्त्रविद्धाऽव्यक्तमसृक् स्रवति रूजाशोफवती च सा दुर्विद्धा, प्रमाणातिरिक्त विद्धायामन्तः प्रविशति शोणितं शोणितातिं प्रवृत्तिर्वा साऽतिविद्धा, कुंचितायामप्येवं, कुण्ठशस्त्रप्रमथिता पृथुलीभावमापन्ना पिच्चिता, अनासादिता पुनः पुनरन्तयोश्च बहुशः शस्त्राभिहता कुट्टिता, शीतभयमूर्च्छा भिरप्रवृत्तशोणिता अप्रस्रुता, तीक्ष्णमहामुख शस्त्रविद्धाऽत्युदीर्णा, अल्परक्तस्रावित्वेन्ते विद्धा, क्षीणशोणितस्यानिलपूर्णा परिशुष्का, चतुर्भागासादिता किंचित्प्रवृत्तशोणिता कूणिता, दुःस्थानबन्धनाद्वेपमानायाः शोणितसंमोहों भवति सा वेपिता, अनुत्थितविद्धायामप्येवं, छिन्नाऽतिप्रवृत्तशोणिता क्रियासंगकरी शस्त्रहता, तिर्यग्म्प्रणिहितशस्त्रा किंचिच्छेषा तिर्यग्विद्धा, बहुशः क्षताहीनशस्त्रप्रणिधानेनाविद्धा,

अशस्त्रकृत्या अव्यध्या, अनवस्थित विद्धा विद्रुता, प्रदेश्य बहुशोऽवघट्टनादारोहद्व्यधा मुहुः मुहुः शोणितस्रावा धेनुका, सूक्ष्मशस्त्र व्यधनादबहुशो भिन्ना पुनः पुनर्विद्धा, स्नाय्वस्थिसिरासन्धिमर्मसु विद्धा रूजां शोफं वैकल्यं मरणं चापादयति ।

सु० शा० ८।१९

इदानीं दुष्टव्यधानां विवरणमाह-तत्रेत्यादि । अव्यक्तमिति अल्पतया अस्पष्टम् । अन्तः प्रविशतीति शरीराभ्यन्तरं प्रविशतीत्यर्थः । कुंचितायामिति कुटिलीभूतायामित्यर्थः । पृथुलीभावामापन्नेति कुण्ठशस्त्राभिपातेन चिप्पटतया प्रसरं प्राप्ता । अनासादिता अप्राप्ता । चतुर्भागा सादितेति चतुर्भागेन प्राप्ता । वेपमानाया इति कम्पमानायाः । शोणितसंमोहः शोणिता प्रवृत्तिः । छिन्नेति द्विधाभूता । क्रियासंगकरीति गमनादिक्रियाविनाशकरी । प्रदेशस्येति सिराव्यधन प्रदेशस्य, बहुशो घट्टनादिति बहून् वारान् ताडनात् । आरोहद्वयधा उपर्युपर्यारोपितशस्त्रपदा, अत एव तैः शस्त्र पदैर्धेनुस्तनं रिव स्रवणाद् धुना बहुशो भिन्नेति, एकस्थाने एव, इति शेषः । आसु व्यापत्सु प्रागेव व्यापत्कारण प्रतिषेधः, जातासु तत्कारणविपरीतगणाचरणं, तत्कारणजेषु विकारेषु यथास्वं शमनेन प्रशमनमिति ।

डल्हणः ।

कुंचिता स्वतः संकुचिता । एवमतिविद्धोक्तं लिंगमित्यर्थः । धारादिविरहितत्वेनाकर्म्मण्यं शस्त्रं कुण्ठशस्त्रमुच्यते । पृथुलीभावः पृथुभावः लजयमनन्यार्थः अनासादिता सम्यगनुत्थितत्वेनालब्धा । चतुर्थोभागश्चतुर्भागोऽन्तर्गता शोणितधरा कलेति यावत् तत्राऽवसादिता संकुचिततया रक्तं विस्त्रावयितुमक्षमा चतुर्भागावसादिता, न तावदर्थोऽयमनुणयन्नः "कूण संकोचे" धातुस्तस्य कूणितेति संज्ञाकरणात् । दुः स्थानम् अयथास्थापनम् सुदूरमित्येतत् तत्र यन्त्रणादस्थानबन्धनात् वेपनायाः कम्पमानायाः शोणितसम्मोहः शोणितगतिनिरोधों भवति यथावदयन्त्रितत्वादित्याकूतम् । अनुत्थितेत्यादावेवं शब्देन शोणितसम्मोहः परामृश्यते । शोणितसम्मोहोमुहुर्मुहुः शोणितगतिनिरोधः । क्रियासंगकरी वक्ष्येनायोजिता सती क्रियाणां शोणितवर्णनीयोक्तानां शोणितातिप्रवृत्तिनिमित्तानां शिरोऽभितापादीनां करोतीत्यर्थः संङ्गो मेलनं सम्बन्धइत्यनर्थान्तरम् । हीनशस्त्रं कुण्ठशस्त्रम् । अनवस्थितमनवस्थानं चंचलत्वमित्येतत्, तथाभावे विद्धा अनवस्थित विद्धा बहुशोऽवघट्टनात् कर्म्मकर्त्तुरनैपुण्येनान्तः प्रविश्य स्पन्दितस्य शस्त्रस्यानेकश्चलनात् आरोहव्यथा आरोहो दैर्घेण्योपलक्षितो व्यधो यस्यासा तथोक्ता । मांसेत्यादि, मांसादिसमाख्येषुमर्म्मस्वित्यर्थः । अत्रमर्म्मणां मांसादि सन्निपातत्वेनोपदेशान्मर्म्मस्वितसिद्धिमांसादिशब्दः प्रपंचार्थः । परिशिष्टं निगदव्याख्यातम् । हारणच०

दुष्टवेंध के बीस नाम बताए गए हैं:—

(१) दुर्विद्ध (२) अतिविद्ध (३) कुंचित (४) पिच्चित (५) कुट्टित (६) अप्रस्रुत (७) अत्युदीर्ण (८) अन्तेविद्ध (९) परिशुष्क (१०) कूणित (११) वेपित (१२) अनुत्थितविद्ध (१३) शस्त्रहृत (१४) तिर्यग्विद्ध (१५) विद्ध (अपविद्धपा०) (१६) अव्यपय (१७) विद्रति (१८) धेनुक (१९) पुनः पुनविद्ध (२०) मांस, शिरा, स्नायु, अस्थि, संधि।

विविध दुष्टवेधों के पृथक-पृथक लक्षण इस प्रकार दिए हैं—

१. दुर्विद्ध का लक्षण—सूक्ष्म शस्त्र के वेध करने पर थोड़ा रक्त आता हो और जिस में वेदना और सूजन हो उसे दुर्विद्ध समझना चाहिए।

२. अतिविद्धा का लक्षण—प्रमाण से अधिक विद्ध होने के कारण रक्त (शरीर के) भीतर जाता हो अथवा बहुत रक्त निकलता हो तो उन सिराओं को अतिविद्ध जानना चाहिए।

३. कुंचित का लक्षण—कुंचित में अपविद्ध के समान लक्षण होते हैं।

४. पिच्चिता का लक्षण—कुंण्ठित शस्त्र से कुचली जाने के कारण जो शिरा चौड़ी हो जाती है उसे पिचता कहते हैं।

५. कुट्टिता का लक्षण—जो शिरा अनासादित परन्तु अन्त पुनः पुनः उससे विद्ध हों उसको कुट्टिता कहते हैं।

६. अप्रस्रुता का लक्षण—तीक्ष्ण और महामुख शस्त्र से विद्ध होने पर उसे अत्युदीर्णा कहते हैं।

७. अत्युदीर्णा का लक्षण—तीक्ष्ण और महामुख शस्त्र से विद्ध होने पर उसे अत्युदीर्णा कहते हैं।

८. अन्तेऽभिहता का लक्षण—शिरा के अन्त पर वेध करने के कारण थोड़ा रक्त निकलता हो तो उसे अन्तेऽभिहता कहते हैं।

९. परिशुष्का का लक्षण—जिसका रक्त क्षीण हो गया हो और उसमें वायु भर गया हो उसे परिशुष्का कहते हैं।

१०. कूणित का लक्षण—जिस शिरा में शस्त्र चतुर्थ भाग को प्राप्त होता है और उससे थोड़ा सा रक्त निकलता हो उसे कूणिता कहते हैं।

११. वेपिता का लक्षण—स्थान को छोड़कर शिरा को बांधने से कांपने वाली शिरा का रक्त बाहर नहीं आता ऐसी शिरा को वेपिता कहते हैं।

१२. अनुत्थितविद्धा का लक्षण—जो शिरा उठी न हो उसे बेधने से भी वेपिता के तुल्य लक्षण पैदा होते हैं।

१३. शस्त्रहता का लक्षण—शस्त्र से कटने के कारण बहुत परिमाण में रुधिर निकलता हो और वे शिरायें अपना काम न कर सकती हो उनको शस्त्रहता कहते हैं।

१४. तिर्यग्विद्धा का लक्षण—तिरछा शस्त्र चलाने के कारण जो शिरा थोड़ा रह गई हो उसे तिर्यग्विद्धा कहते हैं।

अनुद्रिक्तमप्रवृद्धं दुष्टरुधिरमेवमेव शीतोपचारादिना प्रसादमानयेत् न तद्रक्तनिर्हरणोपायैः शिराव्यधादिभिर्निर्हरेत्।

चंद्रनन्दनः

१५. अपविद्धा का लक्षण—हीन शस्त्र प्रयोग के कारण बहुत जगह चोट लगी हो उसे अपविद्धा कहते हैं।

१६. अव्यध्या का लक्षण—शस्त्र कर्म के अयोग्य शिराओं के व्यध होने को अव्यध्या कहते हैं।

१७. विद्रुता का लक्षण—अनवस्थित शिराओं का यदि वेध हुआ हो तो वे विद्रुता कहलाती हैं।

१८. धेनुका का लक्षण—यदि शिरा प्रदेश को जोर से दवाने के कारण तथा ऊपर शस्त्रों के विद्ध हो जाने के कारण पुनः-पुनः रक्त का स्राव हो जाता हो तो उसे धेनुका कहते हैं। इसमें गौ के स्तन के समान स्राव होता है।

१९. पुनः पुनर्विद्धा का लक्षण—सूक्ष्म शस्त्र होने के कारण पुनः-पुनः वेध करने से कटी हुई शिराओं को पुनः-पुनः विद्धा कहते हैं।

२०. मांस, शिरा, अस्थि, स्नायु और सन्धिमार्गों पर वेध करने से रूजा, शोफ, वैकल्य और मरण प्राप्त हो जाता है।

रक्तस्रावणोत्तरं जातोपद्रव प्रशमोपायः

स्रुतरक्तस्य सेकाद्यैः शीतैः प्रकुपितेऽनिले।
शोफं सतोदं कोष्णेन सर्पिषा परिषेचयेत्॥

—सु० सू० १४।४५

स्रावणोत्तरे रक्तं दोषशेष शंकायां चिकित्सा सूत्रम्

प्रसादमथवा नयेत्।
शीतोपचारपित्तास्रक्रियाशुद्धि विशोषणैः।
दुष्टं रक्तमनुद्रिक्तमेवमेव प्रसादयेत्॥

—अ० हृ० सू० २७।

अथवा शीतोपचारेण पित्तास्रक्रियया शुद्धयावमनविरेचनादिरूपया विशेषणेन लंघनरूपेण तद् दुष्टं रक्तमनुद्रिक्तमेव प्रसादयेत्कलुषतां परित्यज्य तस्य प्रसन्नत्वमभ्युपपादयेन्न तु केवलं स्रुतशेषं रूधिरं शीतोपचारेण प्रसादयेत्। यावदनुद्रिक्तमप्रवृद्धं दुष्टं रुधिरमेवमनेनैव शीतोपचारादिना प्रसादं नयेन्न तु तन्निर्हरणे सिराव्यधादिना यतनीयमनुद्रिक्तरक्तानिर्हरणस्य सापायत्वात्।

अरुणदत्तः

अथवा शीतोपचारेण शीतप्रसेक प्रदेहादिना पित्तास्रक्रियया रक्तपित्तचिकित्सया स्निग्धमधुरानुपानेन भेषजादिकया शुद्धयो वमनविरेकरूपया विशोषणैरुपवासैः प्रसादं नयेत् प्रस्कन्नत्वमापादयेत। दुष्टरक्तमनुद्रिक्तमेव प्रसादयेत्।

रक्तमोक्षणोपरान्त विधिः

शीतोपचारैः कुपिते ऋतरक्तस्य मारुते ॥
कोष्णेन सर्पिषा शोथं शनकैः परिषेचयेत् । —योगरत्नाकर

रक्त विस्रावण के पश्चात् यथा समय रक्त रोकने के लिए शीतोपचार करना चाहिए, इससे यदि वायु कुपित होकर सुई चुभने के समान पीड़ा करती हुई शोथ को भी उत्पन्न कर दे तो इस उपद्रव शमन के लिए मन्दोष्ण घृत से परिषेक करना चाहिए।

अष्टांग हृदय में बचे हुए दूषित रक्त के शोधन हेतु शीतल आहार-विहारों रक्तपित्त की चिकित्सा वमन विरेचन एवं शोधन से लंघन एवं अपतर्पण से शुद्ध करने का विधान बताया है। योग रत्नाकर में भी सुश्रुत के भाव को ही लिया है, मात्र श्लोक भिन्नता है।

अतिस्रावणनिषेधः उपायान्तरेण शोधनविधिश्च

सशेषमप्यसृगधार्यं न चातिस्रुतिमाचरेत् ।
हरेच्छृंगादिभिः शेषं प्रसादमथवा नयेत्,
मर्महीने यथाऽऽसन्ने देशेऽन्यां व्यधयेच्छिराम् ॥ चक्रदत्तः

दुष्टमपि रक्तं न निः शेषं स्रावयेदित्याह, सशेषमपीत्यादि । सशेषमिति दुष्टशोणितशेषम् । प्रसादमथवा नयेदिति प्रसादनलेपनादिना । शिरा हि दृष्टा एव वेध्याः, न त्वदृष्टाः, उक्तं हि-'व्यध्याश्चादृष्टा न विध्येत्' (सु० शा० ८ अ०) इति । ननु यत्र प्रदेशे तु वेध्यशिरा न दृश्यते, कथं तत्र शिराव्यधः कार्यः इत्याह मर्महीने इत्यादि वाग्भटस्य । अत्र व्यध्यशिराणामदर्शने इति शेषः । अत एवैतस्मात् पूर्वं वाग्भटे-"यथोक्ता नामदर्शने" (सू० २९ अ०) इत्युक्तम् । मर्महीने इति-मर्मवर्जिते । यथाऽऽसन्ने देशे इति-यत्र देशे व्यध्यशिरा न दृश्यते, तत्र तत्समीपदेशे या अन्याः शिरा दृश्यन्ते, ता एव वेध्या इत्यर्थः (शिवदास)

हि० व्या० — शिरावेधों में अधिक रक्तस्राव हो गया हो तो दोष अन्दर रहते हुए भी रक्त को रोकना चाहिए। अवशेष विकारों को शृंग आदि के द्वारा अथवा रक्त प्रसादक औषधियों द्वारा शोधन कर देना चाहिए। जिस शिरा का वेधन करना आवश्यक हो उसके प्राप्त न होने पर मर्म स्थान को बचाते हुए उस शिरा के पास की अन्य शिराओं में वेधन कर देना चाहिए।

पंचदशोऽध्यायः

धूमपान प्रकरणम्

दोषों के शमन एवं शोधन दोनों प्रयोगों में धूमपान का निर्देश किया गया है। लौकिक धूम्रपान में मादक द्रव्यों के धूम्र को नशे के लिए, बीड़ी, सिगरेट, तम्बाकू, हुक्का आदि के रूप में प्रयोग किया जाता है जो इससे भिन्न है। यह धूमपान विशिष्ट औषधियों से निर्मित एक धूमनली द्वारा ग्रहण किया जाता है। इसका प्रयोग शिरोभाग में कफ वात जनित रोगों की उत्पत्ति को रोकने एवं कफवात जनित उत्पन्न रोगों की शान्ति के लिए प्रयोग कराया जाता है। स्वस्थवृत प्रकरण में प्रतिदिन धूमपान करने का भी उल्लेख प्राप्त होता है।

स्थान, रोग, काल एवं प्रकृति के अनुसार विविध प्रकार के धूमों का विधान शास्त्रों में वर्णित है। यहां धूम के योग्यायोग्य, द्रव्य, धूमवर्ती निर्माण, सम्यक् एवं हीनाति योग के लक्षणों सहित वर्णन किया गया है। कुछ विशिष्ट काल यथा-स्नान, भोजन, सोकर उठने आदि के पश्चात् वात एवं कफ का उत्क्लेश होता है। जिसका धूमपान से उपशमन हो जाता है।

धूमपान प्रयोजनम्

जत्रूर्ध्वं कफवातोत्थ विकाराणामजन्मने ।
उच्छेदाय च जातानां पिबेद्धूमं सदात्मवान् ॥— अ० हृ० २१।१

आत्मवान् सुमतिर्हिताहारविहारो जत्रुण ऊर्ध्वं श्लेष्मवातोद्भवानां विकाराणां रोगाणामजन्मनेऽनुत्पत्यै तथोत्पन्नानामुच्छेदाय विनाशाय सदा धूमं पिबेत। अरुणदत्तः।

अस्यारम्भेऽयं सम्बन्धः। अस्मान्नास्यादनन्तरं धूमं पीत्वा कवलान् धारयेत् इत्युक्तं प्राक्। धूमस्य विधिं विधानमितिकर्तव्यतारूपोऽध्यायस्तं व्याख्यास्यामः। जत्रूर्ध्वं कफोत्थानां विकाराणां वातोत्थानां च तथा कफवातोत्थानामजन्मनेऽनुत्पत्यर्थं तथा जातानामुत्पन्नानां छेदाय विधाताय सदासर्वकालमात्मवान् पुरुषो धूमं पिबेत्। चंद्रनन्दनः।

अथेति। धूमपानविधिमध्यायं व्याख्यातुं प्रतिजानीते। तत्र धूमस्य सामान्यतो विषयमाह-जत्रूर्ध्वमिति। हेमाद्रिः।

हि० व्या०—शारीरिक एवं मानसिक स्वस्थता वाले व्यक्तियों को जत्रु के ऊर्ध्व रोगों में तथा कफवात जनित रोगों के शमन एवं वे उत्पन्न न हो इसके लिए सदैव धूमपान का प्रयोग करावें।

ध्मापनं धूमपानं च तथा योग्येषु शस्यते ।
दोषादिकं समीक्ष्यैव भिषक् सम्यक् च कारयेत् ॥

च० सि० अ० ६।६५

हि० व्या०—ध्मापन और धूम्रपान इन का प्रयोग यथा योग्य करना चाहिए। अर्थात् अवस्थानुसार प्रयोग करना चाहिए एवं दोषादि का उचित रूप से विचार करके इनका प्रयोग कराना चाहिए।

नस्य प्रयोगानन्तरं दोषानुसारं धूमगण्डूषादि विधानम्

... ... धारयेत्ततः ।
धूमं पीत्वा कवोष्णांबुकवलान् कंठशुद्धये ॥

अ० हृ० सू० अ० २०।२५

ततो वाक्शतावस्थानादनंतरमीषदुष्णजलकवलान् धारयेत्। किमर्थम्? कंठशुद्धये उत्क्लिष्टदोषशांतये। किं कृत्वा। धूमं विरेचनाद्यन्यतमं यथायोगं पीत्वा ततोऽस्य स्नेहोक्तविधिमाचारमादिशेत् ॥ अरुणदत्तः।

ततोऽनन्तरं गैरिकधूमं पीत्वा किंचिदुष्णमम्बुकवलान् कण्ठशुद्धयर्थं धारयेत् ॥

चंद्रनन्दनः।

उत्तानशयनानन्तरं धूमगण्डूषावाह—धारयेदिति संग्रहे तु अथ नस्याहं नरमन्याहृतवेगं धौतांतर्बहिर्मुखं नातिक्षुधितं प्रायोगिकधूमपानविशुद्धस्रोतसं ततः कनकरजतताम्राद्यन्यतमभुक्तिस्थितं प्रदेयौषधत्रिभागं वामहस्तांगुष्ठकनिष्ठिकाग्र माकृष्य नयनप्रच्छादनं चतुर्गुणं वासो मध्यमया नासाग्रमुन्नमय्य प्रदेशिन्यनामिकाभ्यां चैकैकं नासापुटं पर्यायेण पिधायेतरस्मिन्नपि दक्षिणहस्तेन प्रनाड्या पिचुना वा अनवछिन्नधारमासिचेत्। न च हीनाधिकं सकृदेव सर्वमत्युष्णशीतमत्युन्नमावनशिरसि संकुचितगात्रीयं वा देशं, तत्र हीनं दोषमुत्क्लेश्यानिर्हरद्गौरवारुचिकासप्रसेकपीनसच्छर्दिकण्ठरोगान् कुर्यात्। अधिकमतियोगदोषान्, सकृदेव सर्वं दत्तमुस्नेहनशिरोरोगप्रतिश्यायघ्राणक्लेदानुच्छ्वासोपरोधं च। अत्युष्ण-दाहपाक ज्वररक्तामशिरोरुग्दृष्टिदौर्बल्य मूर्च्छाभ्रमान्। अतिशीतं-हीनदोषान् अत्युन्नतशिरसोऽपि सम्यक्शिछरोऽप्रतिपद्यमानं तानेव। अत्यवनतशिरसोऽतिदूरगमननान्मूर्छाजाड्यकण्डूदाहज्वरान्। संकुचितगात्रस्य सम्यक्धमनीव्याप्नुवद्दोषोत्क्लेशं वेदनां स्तंभं वा। न च नस्ये निषिच्यमाने कोपहास्यव्याहारस्पन्दनोच्छिन्दनान्याचरेत्। तथाहि शिरोरुक्प्रतिश्यायकासतिमिरखलतिपलितव्यंगतिलकालकमुखदूषकाणां सम्भवः। अनभ्यवहरंश्च वामदक्षिणपार्श्वयोरौषधं निष्ठीवेत्। सकफं हि तदभ्यहृतमग्निमवसादयेद्दोषं च संवर्द्धयेत्। एक-

पार्श्वनिष्ठीवनेन सर्वाः शिराः भेषजेन सम्यग्व्याप्यन्ते। पुनः पुनः पुनश्चैनं स्वेदयेत्। अथास्य स्नेहोक्तमाचारमादिशेदतिद्रवपानं च वर्जयेदिति। हेमाद्रिः।

हि० व्या०—धूम्रपान के पश्चात् कण्ठ शोधन हेतु सुखोष्ण जल से कुल्ले करने चाहिए।

भेषजरूपेण प्रयोज्यानां पेयानां कार्यभेदेन पंचविधानां धूमप्रयोगाणां नाम संकेतः

धूमः पंचविधो भवति, तद्यथा-प्रायोगिकः, स्नैहिको, वैरेचनिकः, कासघ्नो, वामनीयश्चेति।

सु० चि० अ० ४०।३

तेष्वाद्यस्य धूमस्य विषयभेदप्रतिपादनाय पांचविध्यमाह-धूम इत्यादि। कासघ्नवामनीययोरत्रैवान्तर्भावात्त्रिविध इत्यन्ये। तत्र प्रयोगः स्वस्थस्य सततौपयोगस्तत्र साधुः प्रायोगिकः, स च श्लेष्माणमुत्क्लेशयति, उत्क्लिष्टं चापकर्षति, शमयति वातं, स्नेहनविरेचनाभ्यां तुल्यत्वात्। कासहरत्वात् कासघ्नः, स पुनरुरः कण्ठरोगहरोऽप्यावस्थिक एव अभिष्यण्णशिरसि शिरोविरेचयतीति विरेचनः एवं वैरेचनः, वैरेचनः श्लेष्माणमुत्क्लेश्यापकर्षयति, रौक्ष्यात्तैक्ष्ण्यादौष्ण्याद्वैशद्याच्च रूक्षस्य स्नेहाय प्रभवतीति स्नैहिकः, स च वातं शमयति, स्नेहनादुपलेपनाच्च। वामयतीति वामनीयः, स पुनरुत्कृष्ट कफाभिपन्नकण्ठोरसः। डल्हणः।

प्रायोगिकः स्नैहिकश्च धूमो वैरेचनस्तथा।
कासहरो वामनश्च धूमः पंचविधो मतः ॥

चक्रदतः (धूमपानाधिकार)

नस्यबन्नासाप्रयोज्यत्वसाधर्म्यत्वात् पंचसङ्ख्यासामान्याच्च नस्यानन्तरविधेयत्वाच्च नस्यानन्तरं धूमविधिमाह, प्रायोगिक इत्यादि। प्रायोगिक इति नित्यपेयधूमस्य संज्ञा। प्रयोगः सततोऽभ्यासः, तद्विषयको धूमः प्रायोगिकः। स्नेहाय प्रभवतीति स्नैहिकः। दोषविरेचनात् वैरेचनिकः कासं हरतीति कासहरः। वामयतीति वामनः। यद्यपि चरकेप्रायोगिकस्नैहिकवैरेचनिकभेदात् त्रिविध एव धूम उक्तस्तथाऽपि प्रायोगिके कासहरं, वैरेचनिके च वामनीयमन्तर्भाव्य चरकसुश्रुतयोर्विरोधः परिहरणीयः॥ शिवदाससेनः

प्रायोगिकः कासहरश्च धूमो वैरेचनः स्नैहिकवामनीयौ।
पंचप्रकारागदिताश्च धूमाः सिद्धान्तविद्भिर्मुनिभिश्च वैद्यैः।

वंगसेने (धूमपानाधिकारः)

हि० व्या०—धूम चार प्रकार का है—१. प्रायोगिक, २. स्नैहिक, ३. कासघ्न, ४. वामनीया।

पंचविधानां धूमपानानां सोपपत्तिकं फलादेश वर्णनम्

तत्र स्नैहिको वातं शमयति, स्नेहादुपलेपाच्च, वैरेचनः श्लेष्माणमुत्क्ले-

श्यापकर्षति, रौक्ष्यात्तैक्ष्यादौष्ण्याद्वैशद्याच्च, प्रायोगिकः श्लेष्माणमुत्क्लेशयत्युक्लिष्टं चापकर्षति शमयति वातं साधारणत्वात् पूर्वाभ्यामिति ॥

सु० चि० अ० ४०।१४

तेषां प्रत्येकं कार्यमाह-तत्र स्नैहिको वातमित्यादि । कुतः पुनरयं कफोत्क्लेशापकर्षणवातशमनानि करोतीत्याह-साधारणत्वादिति,साधारणत्वात् पूर्वाभ्यां स्नेह विरेचनाभ्यां तुल्यत्वादित्यर्थः ॥ डल्हणः

हि० व्या०—स्नैहिक धूम से वात का शमन होता है। क्योंकि स्नेह से उपलेप होता है। वैरेचनिक धूम रूक्ष, तीक्ष्ण, उष्ण व विशद होने से श्लेष्मा को उत्क्लेशित कर बाहर निकाल देता है। (यहां कासघ्न एवं वामनीय का भी अन्तभावि हो गया है) प्रायोगिक धूम श्लेष्मा का उत्क्लेशन भी करता है तथा बाहर भी निकालता है। वात का शमन भी करता है अतः साधारण रूप से दोनों कार्य करने वाला होता है।

स्नैहिकं धूमकं दोषे वायौ पित्तानुगे यदि।
शीतन्तु रक्तपित्ते स्याच्छ्लेष्मपित्ते विरूक्षणम् ॥ १२

वंगसेने (धूमपानाधिकारः)

हि० व्या०—स्नेहिक धूमपान के दोष में यदि वायु पित्त के अनुकूल हो तो रक्तपित्त में शीत एवं कफपित्त में विरुक्षण प्रक्रिया करे।

दोषानुसारं धूममेदाः

स्निग्धो मध्यः स तीक्ष्णश्च वाते वातकफे कफे।
योज्यः ... ...॥

धूमस्तु षड्विधः प्रोक्तः शमनो बृंहणस्तथा।
रेचनः कासहा चैव वामनो घ्राणधूपनः॥
शमनस्य तु पर्यायो मध्यः प्रायोगिकस्तथा।
बृंहणस्यापि पर्यायौ स्नैहिको मृदुरेव च॥
रेचनस्यापि पर्यायौ शोधनस्तीक्ष्ण एव च।

शार्ङ्गधर उ० अ० ६, (भावप्रकाश धूमपान विधि,)

तत्राऽयं सम्बन्धः-यथा नस्येन चोर्ध्वजत्रुरोगनाशस्तथा धूमेनाऽपि। उक्तंच वाग्भटे-ऊर्ध्वंजत्रुविकारेषु विशेषान्नस्यमिष्यते। जत्रुर्ध्वं कफवतोत्यविकाराणामजन्मने॥ उच्छेदाय च वातानां पिबेद्धूमं सदात्मवान् इति। तेन नस्याध्यायानन्तरं धूमपानाध्यायः॥ अथ एवं कर्मपरिशेषात् शुद्धिकरत्वेन नस्यान्ते धूमपानविधिरारभ्यते। तत्र तावत्पूर्वं धूमसंख्यामाह-षोढा धूमपानप्रकारः। तत्रशमन

इति। दुष्टदोषस्यानिर्हरणपूर्वकं शमनम् अनुक्लिष्टस्यानुदीरणं च। व्याधिशमनेन प्रस्तुतव्याधिशमनं अप्रस्तुतव्याधेरनुदीरणं। तदुक्तं वाग्भटे—न शोधयति यद्दोषान् शमान्नोदीरयत्यपि। शमीकरोति च क्रुद्धान् तत्संशमनमुच्यत' इति। दोषशब्दोऽत्र दोषेषु दोषकार्यव्याधिष्वपि वर्तते कार्ये कारणोपचारात्। बृंहण इति। बृंहणो बलकरः। धातुवृद्धिकर इत्यन्ये। तदाश्रयत्वाद्दोषो बलं रेचनं इति। शिरो विरेचयतीति रेचनः। कासहेति कासनिवारणाय यो दीयते स कासहा कथितः। वामन इति। वामयतीति वामनः। अथ घ्राणधूपनइति। नासिकया पीतो धूमो घ्राणधूपनसंज्ञः। एके घ्राणधूपनस्थाने व्रणधूपन इति पठन्ति व्याख्यानयन्ति च। एतत्संगतम्। अथ तेषां केषांचित्संज्ञान्तराणि दर्शयन्नाह—एकार्थवाचकाः शब्दाः परस्परं पर्याया उच्यन्ते। प्रयोगः स्वस्थस्य सततोपयोगः। तत्र साधुप्रायोगिकाः स्नेहा यत्र भवन्तीति स्नैहिकः॥ आढ़मल्लः।

तस्य षड्विधत्वमाह-शमनादिभेदेन षड्विधो धूमः प्रोक्तः कथितः। शमनबृंहणरेचन-पर्यायानाह-शमनो दोषशमनस्तस्य पर्यायौ द्वौ एकः मध्यः मध्यनामा अपरः प्रायोगिकः प्रायोगिकनामा। बृंहणस्य द्वौ पर्यायौ एकः स्नेहनः एको मृदुः, रेचनस्याऽपि द्वौ पर्यायौ एकः शोधनः अपरस्तीक्ष्णः॥ काशीरामः।

हि०व्या—शमन —जो दुष्ट दोषों को बाहर न निकाल अन्दर ही शान्त कर देवे। २. बृंहण—जो न्यून धातुओं की पुष्टि करे, ३. रेचन—जो दुष्ट दोषों को शरीर के बाहर निकाल देवे, ४. कासहा—जो खांसी को दूर करता है। ५. वमन—जो वमन लाता है। ६. व्रणधूपन जो व्रण को रक्षोगण से रक्षा करके तथा शीघ्र भरने के लिए प्रयुक्त होता है।

शमन १—धूम का पर्याय मध्य तथा प्रायोगिक है। बृंहणधूम का पर्याय स्नैहिक तथा मृदु है एवं रेचनधूम का पर्याय शोधन और तीक्ष्ण है।

विरेचन धूमपान प्रयोगस्थलानि

निद्रानस्यांजनस्नानच्छर्दितांते विरेचनम्॥

अ० हृ० सू० अ० २१।६

विरेचनाख्यं धूमं निद्रादीनामंते पिबेत्। नावननस्ययोरेकार्थयोरिहोपादानान्नस्य क्रमेण धूमं पिबेदिति ग्रंथकृता प्रतिपादितम्। तेन स्निग्धनस्यांते स्निग्धं पर्यायं धूमं पिबेत्। आचार्योपदेशाच्च क्षुताद्यांतेषु च स्निग्धं धूमं पिबेत् मध्याह्नस्यांते मध्यमं धूमं पिबेत्।

अरुणदत्तः।

हि० व्या०—निद्रा के पश्चात् स्नेह नस्य प्रयोग अंजन, स्नान तथा वमन के अन्त में भी विरेचन का प्रयोग कराना चाहिए।

धूमपान प्रयोग स्थलानि

दत्तवस्तिस्विरिक्तश्च, रात्रौ जागरितस्तथा ।
पिपासितश्च दाहार्तस्तालुशोषी तथोदरी ॥
शिरोऽभितापी तिमिरी, छर्द्याध्मानप्रपीडितः ।
क्षतोरस्कः प्रमेहार्त्तः, पाण्डुरोगी च गर्भिणी ॥
रूक्षः क्षीणोऽभ्यवहृत, क्षीरक्षौद्रघृतासवः ।
भुक्तान्नदधिमत्स्यश्च, बालो वृद्धःकृशस्तथा ॥
अकाले चातिपीतश्च, धूमः कुर्याद्रुपद्रवान् ।
तत्रेष्टं सर्पिषः पानं, नावनांजनतर्पणम् ॥
सर्पिरिक्षुरसै द्राक्षां, पयो वा शर्करांम्बु वा ।
मधुराम्लौरसौ वापि, वमनाय प्रदापयेत् ॥
धूमस्तु द्वादशाद्वर्षाद्, गृह्यतेऽशीतिकान्त वा ।
कासश्वासप्रतिश्यार्दितान्मन्याहनुशिरोरुजः ॥

धूमपानस्य फलम्

वातश्लेष्मविकारांश्च, हन्याद् धूमः सुयोजित, ।
धूमोपयोगात्पुरुषः प्रसन्नेन्द्रियवाङ्मनः ॥
दृढ़केशद्विजश्मश्रुः, सुगन्धिवदनो भवेत् ॥

भा० प्र० पू० खं० २ भा० (धूमपानविधि ४-१०)

शमनधूम द्रव्याणां वर्णनम्

शमने शल्लकी लाक्षा पृथ्वीका कमलोत्पलम् ।
न्यग्रोधोदुंबराश्वत्थप्लक्षरोध्रत्वचः सिता ॥
यष्टीमधुःसुवर्णत्वक् पद्मकं रक्तयष्टिका ।
गन्धाश्चाकुष्ठतगराः ··· ··· ··· ॥

अ० हृ० सू० २१।१५

शमने धूमे शल्लक्यादीनि गंधद्रव्याणि कुष्ठ तगरवर्ज्यानि ॥

अरुणदत्तः ।

शमने धूपने शल्लकी लाक्षादीनि द्रव्याणि । शल्लकी सुरभी, कमलमुत्पलं नीलोत्पलम् । न्यग्रोधादीनां पंचानां वृक्षाणांत्वक् । सिता शर्करा । यष्टी मधुयष्टी । सुवर्णं नागकेशरम् । पद्मकं हेमपद्मकम् रक्तयष्टिका मंजिष्ठा कुष्ठतगरवर्जिता गन्धाः न विद्यन्ते कुष्ठतगरा येषां गन्धानां तेऽकुष्ठतगरास्तद्रहिताः सर्वे गन्धाः । चंद्रनन्दनः ।

मध्यमधूमस्य द्रव्याण्याहशमन इति । सिता, शर्करा, सुवर्णत्वक् आरग्वधः, रक्तयष्टिका मंजिष्ठा । हेमाद्रिः ।

हि० व्या०—शमन धूम में शल्लकी, लाक्षा, कलौंजी, कमल, श्वेतकमल, तथा वट, गूलर, पीपल, पाकर एवं लोध्र नामक, वृक्षों की छाल मिश्री, मुलहठी, अमलतास, पद्मकाष्ठ, मंजीठ, कूठ, तथा तगरादिगण के द्रव्य डालें ।

तीक्ष्ण धूमद्रव्याणां वर्णनम्

·····तीक्ष्णं ज्योतिष्मती निशा ।
दशमूल मनोह्वालं लाक्षाश्वेताफलत्रयम् ।
गंधद्रव्याणि तीक्ष्णानि गणो मूर्धविरेचनः ॥

अ० हृ० सू० अ० २१।१६

तीक्ष्णे धूमे द्रव्याणि ज्योतिष्मती प्रभृतीनि ज्योतिष्मती कङ्गुनिका परावताऽपरपर्याया । निशा पिण्डहिरद्रा । दशमूलं पंचमूलेद्वे । मनोह्वा मनःशिला । आलं हरितालम् । श्वेता कटभी । फलत्रयं त्रिफला । सर्वाणि गन्धद्रव्याणि तीक्ष्णानि कुष्ठादीनि । तथा गणो मूर्धविरेचनो वेल्लापामार्ग व्योषादिगणः संग्रहोक्तः । चंद्रनन्दनः ।

तीक्ष्णधूमस्य द्रव्याण्याह तीक्ष्ण इति । अलं हरितालं, श्वेता किणिही, तीक्ष्णानि गन्धद्रव्याणि कंकोलादीनि मूर्धविरेचनोगणः वेल्लापामार्गेत्यादि ।

हेमाद्रिः ।

हि० व्या०—तीक्ष्ण धूम में—मालकांगनी, हरिद्रा, दशमूल, मैनशिल, लाक्षा, हरिताल पुनर्नवा, त्रिफला तथा तीक्ष्णगन्ध द्रव्य तथा शिरोविरेचन द्रव्य गण की औषधियों को ग्रहण करना चाहिए ।

हि० व्य०—शमनधूम के द्रव्य—इसमें एलादिगण के द्रव्यों का प्रयोग, स्नैहिक धूमपान में घृत द्वारा स्निग्ध सर्जरस, रेचन धूमपान तीक्ष्ण द्रव्यों का कल्क, कासघ्न, धूमपान के लिए कटेरी एवं कालीमिर्च । वामन धूमपान में पशुओं के स्नायु, चर्म, नख, रोम प्रभृति तथा व्रण धूपित करने के लिए नीमपत्र, वच आदि का प्रयोग उत्तम होता है ।

रोगों की उपशान्ति के लिए अथवा अन्य संक्रमण हेतु घर में अन्य प्रकार धूम भी प्रयोग करें । मोर की पंख, निम्ब पत्र बड़ी कटेरी का फल, काली मिर्च, हिंग, जटामांसी, कपास, बकरे के बाल, सांप की केंचुली, बिल्ली की विष्ठा, हाथीदांत, समभाग लेकर एकत्र चूर्ण बना लें एवं इसमें थोड़ा घृत मिलाकर एक गोला सा बना लें इसका धूम सम्पूर्ण घर में देने से सभी प्रकार के बालग्रह पिशाच, राक्षस आदि दूर होते हैं एवं सभी प्रकार के ज्वर शान्त होते हैं ।

पंचविधिधूमवर्ती द्रव्य निर्देशः

गन्धैरकुण्ठतगरैर्वर्तिः प्रायोगिके मता ।
स्नैहिके तु मधूच्छिष्ट-स्नेहगुग्गुलुसर्जकैः ।
शिरोविरेचनद्रव्यैर्वर्तिर्वैरेचने मता ।
कासघ्नैरेव कासघ्नी वामनैर्वामनी मता ॥

चक्रदत्तः (धूमपानाधिकारः)

औषधैर्वर्तिकां कृत्वेत्युक्तम, अतोत्यर्थमौषधान्याह, गन्धैरित्यादि ।—गन्धैरिति अगुर्वादिसुगन्धिद्रव्यैः । अकुण्ठतगरैरिति कुण्ठतरगरवर्जितैः । कुण्ठतगरयोरतितीक्ष्णत्वेन मस्तुलुंगस्त्रावकत्वात्, उक्तं च —"नतकुष्ठे स्रावयतो धूमवर्तिप्रयोजिते । मस्तुलुंगं विशेषेण तस्मात् तेनैव योजयेत् । इति । मधूच्छिष्टं सिक्थकम् । स्नेहोऽत्र घृतं वसा च, "वसाघृतमधूच्छिष्टैः" (च० सू० मात्राशितीय०) इति वचनात् । शिरोविरेचनद्रव्यैरिति-श्वेताज्योतिष्मत्यादिभिश्चरकोक्तैः । कासघ्नैरिति —बृहतीकण्टकारीत्रिकटुकासमर्दादिभिः सुश्रुतोक्तैः । वामनैरिति—स्नायुचर्मखुरशृंगादिभिः सुश्रुतोक्तैः । (शिवदासः)

धूमपानौषधिकल्कः

अन्येऽपि धूमा गेहेषु, कर्तव्या रोगशान्तये ।
मयूरपिच्छं निम्बस्य, पत्राणि बृहतीफलम् ।
मरिचं हिंगु मांसी च, बीजं कार्पाससम्भवम् ।
छागरोमाहिनिर्मोको, विष्ठा बैडालिकी तथा ।
गजदन्तश्च तच्चूर्णं, किंचिद्घृतविमिश्रितम् ।
गेहेषु धूपनं दत्तं सर्वान् बालग्रहान्हरेत् ।
पिशाचान्राक्षसान् हत्वा सर्वज्वरहरं भवेत् ।

भा० पू० खं० द्वि० भा० (धूमपानविधिः २१-२४)

मृदु स्निग्धधूमद्रव्याणां वर्णनम्

मृदौ तत्र द्रव्याण्यगुरुगुग्गुलुः ।
मुस्तस्थौणेयशैलेयनलदोशीरबालकम् ।
वरांगकौंतीमधुक बिल्वमज्जैलबालुकम् ।
श्रीवेष्टकं सर्जरसो ध्यामकं मदनं प्लवम् ॥
शल्लकी कुंकुमं माषा यवाः कुंदुरुकस्तिलाः ।
स्नेहः फलानां सारणां मेदोमज्जावसाघृतम् ॥

अ० हृ० सू० २१।१४

तत्रतेषु त्रिषुधूमेषु मध्यान्मृदौ प्रायोगिकाख्ये धूमे द्रव्याण्यगुरूप्रभृतीनि प्लवो गोपालमदनकः । स्नेह इति । फलानामक्षोडनालिकेरादीनां स्नेहः तथा सारणां

टिप्पणी—अहिनिर्मोकः सर्पकंचुकः ।

खदिरासारादीनां च स्नेहः मधुकमदनयोरेकयोनित्वादुक्तस्योपयोगो मदनस्याऽत्र विरुद्ध इति केचित् । तच्चाऽयुक्तम् द्रव्यांतरत्वान्मदनस्य पिण्डकादिवत्तिलादेः । घृतं गव्यमेव ग्राह्यं मुख्यत्वात् । उक्तं हि, गव्येक्षीरघृते श्रेष्ठे" इति । अरुणदत्तः

तत्र तेषु धूमेषु मध्ये मृदोधूमेनस्यासनादिद्रव्याणि अगुर्वादीनि घृत पर्यन्तानि । स्थौणेयं तिलपीतकम् । शैलेयं शिलाहृदस्थभवं तथा नलदं गन्धमांसी च । वाराङ्गंत्वक् । कौन्ती हरेणुः । मधुकं मधुयष्टिका । बिल्वमज्जा बिल्वपेशिका । एलवालुकं हरिवालकम् । श्रीवेष्टकः श्रीवासकः । पीड़ासावः सर्जरसो देवधूपोऽपरपर्यायः । ध्यामकं देवदग्धकम् । मदनमिच्छकं, प्लवं बल्यं, शल्लकी सुरभी, कुंकुमं काश्मीरम् । माषाः शिम्बीधान्यम् । स्नेहफलानामाक्षौडो रूमाण प्रभृतीनां तथा सरलागुरुदेवदारू शिंशपादीनां साराणां स्नेहः । तथा मेदो मज्जा वसा घृतं । चंद्रनन्दनः ।

त्रिवारं चतुर्वारं वा तीक्ष्णं स्निग्ध धूमस्य द्रव्याणमाहमृदाविति । नलदं मांसी, वरांगं त्वचं, ध्यामकं कतृणं, मदनं मधुच्छिष्टं, कुन्दुरकः शल्लकी निर्यासः, फलानां स्नेह एरण्डतैलादिसाराणां स्नेहः, देवदारु तैलादिः । हेमाद्रिः ।

हि० व्या०—इन तीनों धूमों में मृदु धूम में अगरू, गुग्गुल, नागरमोथा, थुनेर, छडीला, जटामांसी, खस, नेत्रबाला, दालचीनी, रेणुका, मुलहठी, वेलगिरी, ऐलवालुक, विरौजा, राल, कतृण, मोम, नागरमोथा, शल्लकी, केशर, उड़द, जौ, कुन्दरू, तिल, स्नेह फलों के तैल, चन्दन आदि काष्ठसारों के स्नेह, मेदस, मज्जा, वसा एवं घृत आदि द्रव्य प्रयोग में लाए जाते हैं ।

नोट—यहां मदन द्रव्य के विषय में मतभेद है टीकाकार युक्तिपूर्वक द्रव्य की कल्पना करते हैं ।

धूमपान योग्य रोगाः

धूमो हि शिरोऽक्षि कर्णशूलाभिष्यन्दगौरवार्द्धविभेदकपीनस कासश्वास्यवैरस्य प्रसेक वैस्वर्य पूतिघ्राणमुखहिध्मा गल रोग दन्त शूल दौर्बल्यारुचिहनुमन्याग्रह कृमिकण्डू पाण्डुत्वकेश दोषक्षवथु नाश बाहुल्य तन्द्राऽतिनिद्रा क्षपनाति जत्रूर्ध्वगत वात कफव्याधि प्रशमाय प्रयुज्यते । तथा शिरःकपालेन्द्रियमनोबृंहण प्रसादनाय च । शीत द्रव्य निर्वृतोऽपि त्वग्नि संयोगादुष्णतया पित्तरक्तविरुद्धः ।

अ० सं० सू० अ० ३०।३

धूमो हि शिरश्शूलादीनां वातकफजानामूर्ध्वजत्रू रोगाणां प्रशमाय प्रयुज्यत इति सम्बन्धः । पूतिशब्दस्य घ्राणमुखाभ्यां सम्बन्धः । ग्रहशब्दस्य हनुमन्याभ्याम् । क्षपनं सुप्तस्य नाशब्दः । तथा शिरः प्रभृतीनां बृंहणाय प्रसादनाय च तत्र शिरःकपालयोर्बृंहणाय । इन्द्रियाणां मनसश्च प्रसादनाय च सर्वश्च धूमः पित्तरोगेषु रक्तरोगेषु च विरुद्धः ।

इन्दुः ।

हि० व्या०—शिरः शूल, अक्षिशूल, कर्णशूल, अभिष्यन्द शरीर में गौरव (भारीपन) अर्धावभेदक, पीनस, कास, श्वास, मुख की विरसता, मुख का प्रसेक (लाला या पानी गिरना) वैवर्ण्य, पूतिघ्राण, मुखरोग, हिक्का गलरोग, दन्तशूल, दुर्बलता, अरुचि, अनुग्रह, मन्याग्रह, कृमि, कण्डु, पाण्डु, त्वचादोष, केश-दोष, क्षवथुनाश, तन्द्रा की अधिकता, अतिनिद्रा, कुथनादि जत्रुर्ध्व रोगों में वातजन्य एवं कटुजन्य रोगों में इसी प्रकार शिरः, कपाल, इन्द्रिय और मन को बृंहण देने के लिए और प्रसन्न करने के लिए प्रयोग में लाया जाता है। शीत द्रव्यों से बना हुआ होने से अग्नि का संयोग होने पर भी पित्त एवं रक्त में विरुद्ध नहीं होता।

धूमपानयोग्यानां वर्णनम्

गौरवं शिरसः शूलं पीनसार्द्धावभेदकौ।
कर्णाक्षिशूलं कासश्च हिक्काश्वासौ गलग्रहः॥
वान्तौदौर्बल्यमालस्यं श्रोत्रघ्राणाक्षिदोषजाः।
पूतित्वास्यश्च छर्दिश्च दन्तशूलमरोचकः॥
हनुमन्याग्रहः कण्डूः कृमयो मुखपाण्डुता।
श्लेष्मप्रसेकौ वैस्वर्य्यंगलशुंडयुपजिह्विका॥
खालित्यं पिज्जरत्वंच केशानां पतनं तथा।
क्षवथुश्चातितन्द्रा च बुद्धेर्मोहोऽतिनिद्रता॥
धूमपानात्प्रशाम्यन्ति बलं भवति चाधिकम्।
शिरोरुक्कपालानामिन्द्रियाणां रसस्य च॥

—वंगसेन धूमपानाधिकारः, श्लोक १८।२२

विविधधूमपान प्रयोग स्थलानि

शमनो वात कफयोः संसर्गे स्वस्थ कर्मणि।
बृंहणो मारुते शस्तो धूमः संशोधनः कफे॥

—अ० सं० सू० अ० ३०।१८

हि० व्या०—वात एवं कफ के संसर्गावस्था में शमन धूमपान तथा स्वस्थ अवस्था में भी शमन धूमपान कराना चाहिए। वाताधिक्य में बृंहण धूमपान तथा कफ की अधिकता में संशोधन धूमपान उत्तम है।

मृदुधूमपान प्रयोगस्थलानि

क्षुतजृंभितविण्मूत्रस्त्रीसेवाशस्त्रकर्मणाम्।
हासस्य वंतकाष्ठस्य धूममंते पिबेन्मृदुम्॥

—अ० हृ० सू० २१।६

क्षुतादीनामष्टानामंते मृदुं स्नेहनाख्यं धूमं पिबेत्॥

—अरुणदत्तः।

क्षुतादीनामन्ते मृदुस्निग्धं धूमं पिबेत्। अन्तशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते।

चंद्रनन्दनः।

मध्य धूमपान प्रयोगस्थलानि

कालेष्वेषु निशाऽऽहारनावनांते च मध्यमम्॥ अ० हृ० सु० ३०

एषु कालेषु प्रागुक्तेषु क्षुतादिषु शस्त्रकर्मावसानेषु मृदुधूमपानादिष्टेषु मध्यमं धूमं पिबेत्। तथा निशान्ते आहारान्ते नावनान्ते च मध्यमं धूमं पिबेत्।

चंद्रनन्दनः।,

हि० व्या—छींक होने, जम्हाई लेने, मलमूत्र का उत्सर्ग करने, मैथुन शस्त्र कर्म, हंसने, तथा दातुन के बाद मृदु धूम का प्रयोग करना चाहिए। उक्त समयों में तथा रात्रि के आहार तथा नस्य कर्म के बाद मध्यम शमन प्रयोग करना चाहिए।

निषिद्ध धूमपानानां वर्णनम्

तत्र शोकश्रमभयक्रोधोष्णविषरक्तपित्तमदमूर्च्छादाहपिपासापाण्डुरोगतालु-शोषच्छर्दिशिरोऽभिघातोद्गारापतर्पतिमिरप्रमेहोदराध्मानोर्ध्ववातार्तबालवृद्ध-दुर्बलविरिक्तास्थापितजागरितगर्भिणीरूक्षक्षीणक्षतोरस्कमधुघृतदधिदुग्धमत्स्यमद्य-यवागूपीतालपकफाश्च न धूममासेवेरन्। —सु० चि० अ० ४०।११

इदानीं धूमानर्होपदेशः तत्र शोकश्रमभयेत्यादि। तत्र शोकादिभिरूर्ध्ववा-तान्तैः सहार्तशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। डल्हणः।

हि० व्या०—जो व्यक्ति, शोक, श्रम (शारीरिक थकान) भय, क्रोध, उष्ण, विष, रक्तपित्त, मद, मूर्च्छा, दाह, पिपासा, पाण्डुरोग, तालुशोष, वमन, शिरो-भिघात एवं उर्ध्ववात, उद्गार, लंघन, तिमिर, प्रमेह, उदर आध्मान से पीड़ित हो, बालक, वृद्ध, दुर्बल, विरेचन तथा निरूहण लिया हुआ, रात्रि जागरण किया हुआ, गर्भिणी, रूक्ष देही, क्षत क्षीण, उरक्षत, तथा मधु, घृत, दूध दही खान किए हुए मछली मद्य एवं यवागू सेवित तथा अल्प कफ वालों में धूमपान निषिद्ध है।

निषिद्ध धूमपानानां संकेतः तत्र कारणं च

अधूमार्हास्तु विरिक्तदत्त बस्ति रात्रि जागरिताभिहत शिरोमधु दधि दुग्ध मद्यस्नेह यवागू विष पीत मत्स्याशित पाण्डु रोग प्रमेहोदराध्मानोर्ध्व वात तिमिर रोहिणीकारक्तपित्तिनोऽत्युष्णेऽन्येऽपि च। एषां हि भ्रम ज्वर शिरोऽभिता पेन्द्रियोपघातताल्वोष्ठपाकधूमायनछर्दिमूर्च्छारक्तपित्तार्दितानि मृत्युं वा धूमो जनयति। अतिमात्रश्चान्येषामपि।

—अ० सं० सू० अ० ३०।५

विरिक्त दत्तबस्त्यादयो धूमं नार्हन्ति। एषां स्वल्पोऽपि धूमो भ्रमादिन् जनयति। अन्येषामप्यतियोगेन भ्रमादीन् जनयति। इन्दुः।

येषु रोगेषु धूमपानं न हितं तेषां संकेतः

न रक्तपित्तातिविरिक्तोदरमेहिषु ।
तिमिरोर्ध्वाऽनिलाऽध्मान रोहिणीदत्तबस्तिषु ॥
मत्स्यमद्यदधिक्षीरक्षौद्रस्नेहविषाशिषु ।
शिरस्यभिहते पांडुरोगे जागरिते निशि ॥

—अ० हृ० सू० २१

रक्तपित्तार्त्यादिषु धूमो नावचारणीयः। ननु वाते वातकफे कफे च धूमस्योक्तत्वात्पित्तार्तो प्राप्तिरेव नास्ति तत्किं प्रतिषेधेन। ब्रूमः। वातप्रकृतेर्वातपित्तार्तो सत्यां कश्चिद्विभ्रमकषायो भ्रांत्या प्रकृत्यनुरूपोपक्रम चिकीर्षया धूमं योजयेत्तन्निषेधार्थमिदमुक्तम् । अथवा वात प्रकृतेर्वातश्लेष्मव्याध्युत्पत्तौ धूमो न योज्य इति प्रतिपादनार्थमिदं गदितम् अशिशब्दो मत्स्यादिषु विषांतेषु प्रत्येकं योज्यः। अत्र च यथासंभव पानं मद्यादेरशनं च मत्स्यादेरशनशब्देनेहोच्यते चतुर्विधेष्वाहारेष्वशनशब्देनास्त्येव व्यवहारः। यथा मात्राशी सर्वकालं स्यादिति। केचिच्च यवागूपायिन्यपि धूमपानं नेच्छंति। अरुणदत्तः

स धूमः पित्तरक्तातिविरिक्तादिषु न योज्यः। पित्तरक्ताभ्यामार्तिः पीडा यस्य। विरिक्तः कृतविरेचनः। ऊर्ध्वानिल ऊर्ध्ववातरोगी। रोहिणी गलरोगः। मत्स्यादीन्यश्नितानि येन। तथा शिरस्यभिहते तथा पाण्डुरोगे तथा निशिरात्रौ जागरिते सति धूमो न योज्यः। चंद्रनन्दनः।

पित्तार्तादीनां धूमं निषेधति न रक्तपित्तार्त्तीति। हेमाद्रिः।

न च वातकफात्मानो बलिनोऽप्यूर्ध्वजत्रुजाः ।
धूमारक्त कपालस्य व्याधयः स्युः शिरोगताः ॥
न विरिक्तः पिबेद्धूमं न कृते बस्तिकर्मणि ।
न रक्तं न विषेनोक्तो नाशक्तो न च गर्भिणी ॥
न श्रमे न मदे न पित्ते न प्रजागरे ।
न मूर्च्छाभ्रमतृष्णासु न क्षीणे नापि च सस्यते ॥
न मद्यदुग्धे पीत्वा च न स्नेहं न माक्षिकम् ।
धूमं न भुक्तवा दध्ना च न रूक्षः क्रुद्ध एव च ॥
न तालुशोषे तिमिरे शिरस्यभिहते न च ।
न शंखके न रोहिण्यां न रोगे च मदात्यये ॥
एषु धूमकाले च मोहात्पिबति यो नरः ।
रोगास्तस्य प्रवर्द्धन्ते दारूणा धूमविभ्रमात् ॥

बंगसेने धूमपानाधिकारः,

अन्यच्च—

तत्र शोकश्रमभयामर्षोण्य विषरक्तपित्तमदमूर्च्छादाहपिपासापांडुरोगतालुशोषछर्दिमूर्धाभिघातोद्गारमेहोदराध्मानोर्ध्ववातार्तबालवृद्ध दुर्बलविरिक्तास्थापित जागरित गर्भिणी रूक्ष क्षतक्षीणमधुघृतदधिदुग्ध मत्स्य मद्य यवागू पीतालकफाश्च धूमं न सेवेरन्निति। बंगसेने धूमपानाधिकारः

अधूमार्हाश्च खल्वेते श्रान्तो भीतश्च दुःखितः ॥
दत्तबस्तिर्विरिक्तश्च रात्रौ जागरितस्तथा ।
पिपासितश्च दाहार्तस्तालुशोषी तथोदरी ॥
शिरोऽभितापी तिमिरी छर्द्यार्ध्मानप्रपीडितः ।
क्षतोरस्कः प्रमेहार्तः पाण्डुरोगी च गर्भिणी ॥
रूक्षः क्षीणोऽभ्यवहृतक्षीरक्षौद्रघृतासवः ।
भुक्तान्नदधिमत्स्यश्च बालो वृद्धः कृशस्तथा ॥

—शा० सं० उ० ६।३-६

इदानीं ये धूमपानेषु नार्हास्तानाह-अधूमार्हाश्च खल्वेते इति। एते वक्ष्यमाणाः श्रान्तादयः ते तु न धूमयोग्या इत्यादि। श्रान्तो भारादिना भीतो भययुक्तः। दुःखितो धनबन्धनादिना। दत्तबस्तिरिति कृतवस्तिः। बस्तिग्रहणेनानुवासनास्थापननिरूहबस्तयो गृह्यन्ते। विरिक्त इति विशेषेण रेचितः। रात्रौ जागरित इति रात्रिजागरणेन वातवृद्धिः स्यात्। शिरोऽभितापो शिरोरोगपीडितः। तिमिरीति मन्ददृष्टिः। छर्द्यार्ध्मानप्रपीडित इति। छर्दिपीडितः, आध्मानपीडितश्च, आध्मान उदरापूरः। क्षतोरस्क इति उरः क्षती। प्रमेहार्त इति प्रमेहपीडितः। रूक्षो वातप्रकृत्या। अथवा रूक्षाऽहारेण जनितवायुना पीडितः। क्षीण इति क्षीणधातुः। अभ्यवहृतक्षीरक्षौद्रघृतासव इति। अभ्यवहृतं विशेषेण भक्षितं क्षीरादिकं येन स तथा तत्र क्षौद्रं मधु एते धूमपानविषये न योग्या इत्यभिप्रायः। तथेति ग्रहणात् ईदृशा अन्येऽपि बोद्धव्याः। आढ़मल्लः।

एकान्ते श्रान्तादयः अधूमार्हा धूमयोग्याः न। श्रान्तः श्रमयुक्तः भीरूर्भययुक्तः, दुःखितः दुःखार्तः, केनचित् दुःखेन पीडितः धननाशादिभिः। क्षतोरस्क इति। यस्य अभ्यवहृतं भक्षितं क्षीरं क्षौद्रं आसवो मद्यं येन सः अभ्यवहृतक्षीरक्षौद्रासवः पुमान्। तथा भुक्तान्नदधिमत्स्यः भुक्तं अन्नं दधि मत्स्याश्च येन सः बालः वृद्धः तथा कृशो दुर्बलः। काशीराम।

योज्या न पित्तरक्तार्ति-विरिक्तोदरमेहिषु ।
तिमिरोर्द्धानिलाध्मान-रोहिणीदत्तबस्तिषु ॥

मत्स्यमद्यदधिक्षीर-क्षौद्रस्नेहविषाशिषु ।
शिरस्यभिहते पाण्डु-रोगे जागरिते निशि ॥

—चक्रदत्तः (धूमपानाधिकारः)८-९

येषु धूमो न विधेयस्तानाह, योज्या इत्यादि वाग्भटस्य १—दत्तवस्तिष्वति-कृतनिरूहेषु, "विरिक्तास्थापितजागरित" (चि० ४० अ०) इत्यादि सुश्रुतदर्शनात् । शिवदासः ।

पंचविधानां धूमपानानां काल वर्णनम्

आद्यास्तु त्रयोधूमा द्वादशसु कालेषूपादेयाः । तद्यथा क्षुतदन्तप्रक्षालननस्य-स्नानभोजनदिवास्वप्नमैथुनच्छर्दिमूत्रोच्चारहसितरूपितशस्त्रकर्मान्तेष्विति । तत्र विभागो-मूत्रोच्चारक्षवथुहसितरूपितमैथुनान्तेषु स्नैहिकः, स्नानच्छर्दनदिवा-स्वप्नान्तेषु वैरेचनिकः, दन्तप्रक्षालनस्य स्नानभोजन शस्त्रकर्मान्तेषु प्रायोगिक इति । —सु० चि० अ० ४०।१३

कः पुनर्धूमस्य पानकाल इत्याह आद्यस्तु त्रयो धूमा इत्यादि । रूपितं क्रोधः । डल्हणः ।

रूपितो रूक्षः । इति हाराणच० ।

पानकालास्त्वष्टौ प्रायोगिकस्य निशामूत्र शकृद्दन्तधावन स्वेदनस्याहार-शस्त्र कर्मान्ताः । एकादश मृदोः क्षुतव्यवायहसितचिरासित जृम्भित मूत्र शकृद्-दन्त धावन तर्पण पुटपाक शस्त्रकर्मान्ताः । पंचतीक्ष्णस्य नस्यांजनछर्दितस्नानाहः स्वप्नान्तः । एषु हि कालेषु वातकफोत्क्लेशो भवति ।

—अ० म० सू० अ० ३०।८

निशान्ताद्या अष्टौ कालाः प्रायोगिक धूमस्य अन्तशब्दः

सर्वैरभिसम्बध्यते । क्षुतान्तादय एकादश काला मृदोर्धूमस्य । नस्यान्तादयः पंचकालास्तीक्ष्णस्य । एषु हि नस्यान्तादिषु कालेषु वातकफपर्यायोत्क्लेशो भवति । इन्दुः ।

हि० व्या० —प्रायोगिक धूमपान—के आठ काल बताए गए हैं ।

१. रात्रि में, २. मूत्र त्याग के पश्चात्, ३. मल त्याग के पश्चात, ४. दन्त धावन के पश्चात्, ५. स्वेदन के पश्चात्, ६. नस्य के पश्चात्, ७. आहार के पश्चात् तथा, ८. शस्त्रकर्म के पश्चात्, । मृदु धूम के ग्यारह काल बताये गये हैं । १. भूख लगने पर, २. मैथुन के उपरान्त, ३. हंसने के पश्चात् । ४. देर तक बैठे रहने के बाद ५. जम्भाई लेने पर, ६. मूत्र त्याग, ७. मल त्याग, ८. दन्त धावन, ९. तर्पण कार्य के बाद, १० पुटपाक सेवन करने पर तथा ११ शस्त्रकर्म के उपरान्त । तीक्ष्ण विरेचन लेने के पांच काल बताए गए है—१. नस्य के बाद, २. अंजन के बाद ३. वमन के पश्चात् । ४ स्नान एवं ५

दिवा स्वाप के पश्चात् इन समयों में वात एवं कफ का कोप होता है ।

प्रयोगपाने तस्याष्टौ कालाः सम्परिकीर्तिताः ।
स्नात्वा भुक्त्वा समुल्लिख्य क्षुत्वा दन्तानिघृष्य च ।
नावनांजननिद्रान्ते चात्मवान्धूमपो भवेत् ।
वातश्लेष्म समुत्क्लेशः कालेष्वेषु हि लक्ष्यते ॥

वंगसेने धूमपानाधिकारः ।

पंचविधानां धूमपानानां पानकालमर्यादा

प्रायोगिकं त्रींस्त्रीनुच्छ्वासानाददीत मुखनासिकाभ्यां च पर्यायांस्त्रींश्चतुरो वेति, स्नैहिकं यावदश्रुप्रवृत्तिः वैरेचनिकमादोषदर्शनात्, तिलतण्डुलयवागूपीतेन पातव्यो वामनीयः, ग्रासान्तरेषु कासघ्न इति । सु० चि० अ० ४०-१८

प्रायोगिकादीनां पानमर्यादामाह-प्रायोगिकमित्यादि । मुखनासिकाभ्यामिति दोषस्थानमवेक्ष्योचितमार्गेणाददीत । त्रींस्त्रीनुच्छ्वासान् कतिसंख्याकानाददी-तेत्याह-पर्यायांस्त्रींश्चतुरो वेति । पर्यायः परिपाटी, उच्छ्वासत्रयेणैकः पर्यायः; तान् पर्यायान् त्रींश्चतुरो वा दोषपुरुष बलमवेक्ष्यः, एतदुक्तं भवति-त्रिभिः आदानविसर्गैस्त्रीन् वारांश्चतुरो वा धूमः पातव्यः । वा शब्दोऽत्रव्यवस्थायाम् । तेन तन्त्रान्तरव्यवस्थितोऽर्थोऽत्र ज्ञातव्यः । तथा च धूमपानमात्राविधाने निमिः —"धूमपाने तु विज्ञेय उच्छ्वासद्विगुणः कलाः । तिस्रः कलाश्चात्र मात्रा प्रमाणं स्यास्त्रिमात्रिकम् । पिवेत् स्वस्थविधौ मात्रां दुर्बलस्तुकलां पिवेत् । अभिष्यण्णे प्रमाणं स्यात् प्रमाणं च पिवेद्बुजि इति।" स्नैहकमित्यादि । यावदश्रु-प्रवृत्तिरिति बलवति पुरुषे, दुर्बले च प्रायोगिकवत । तथा च भोजः—"प्रमाणं स्नैहिके धूमे कृशोमात्रां पिबेन्नरः । बलवांस्तु पिबेत्तावद्यावदश्रुनं गच्छति"—इति । वैरेचनिकमादोषदर्शनादिति दोषस्य कफाख्यस्य विकृतस्य दर्शनं यावत् अत एव तन्त्रान्तरे शोधनस्यैकस्मिन् दिने त्रिश्चतुर्वा पानं प्रतिपादितम् तथा च तत्रान्तरं—"सकृत् पिबेत् स्नेहनीयंप्रयोगे सकृदेव च। द्विर्वा विरेचनीयं तु त्रिश्चतुर्वा पिबेन्नरः"इति । विशिष्टधूमपाने पूर्वं करणीयमाह-तिलतण्डुलेत्यादि । वमनकाल एवाकण्ठं तिलादियवागूपीतेन वामनीयो धूमः पातव्यो यावत् "पित्ते कफस्यानुसुखं प्रवृत्ते" इत्यादि वाक्योक्तं सम्यग्वान्तलक्षणमिति ग्रासान्तरेष्विति कवलयोः कवलानांवाऽन्तरे। अन्तरं मध्यमित्यर्थः । "ग्रासान्ते, इत्यन्ये पठन्ति, तथा "भोज-नस्योत्तरे" इत्यपरे पठन्ति । कासघ्नश्च वैरेचनिकवत्" त्रिश्चतुर्वा यावद्विकृतक-फहरणम् । तथा च चरकः, मुखेन वैरेचन वत् कासवान् धूममापिवेत् । डल्हणः ।

तस्येत्यादि । त्रिभिस्त्रिभिराक्षेपमोक्षैस्त्रिःस्त्रिः पिवेदित्यावेदयितुमिद-मुच्यते प्रायोगिकमिति । मुखनासिकाभ्यामाददीत गृह्णीयात् पिवेदिति यावत् । पर्यायानुक्रमेणाहृतान् । अत्र "धूम योग्येपिवेद्दोषे शिरोघ्राणाक्षिसंश्रये घ्राणेनास्येन कण्ठस्थे" इत्यत्रेयानुशासनमनुस्मर्तव्यम् । हाराणच० ।

हि० व्या –प्रायोगिक आदि धूम पान की काल मर्यादा मुख एवं नासिका द्वारा ३, ३ उच्छ्वास प्रायोगिक धूमपान करना चाहिए। इसी प्रकार तीन, चार बार सेवन करें। आंखों से आंसू निकलने तक वैरेचनिक धूम का सेवन करना चाहिए। तिल एवं चावलों की यवागू पिलाकर वामनीय धूम का सेवन कराना चाहिए। भोजन करते समय ग्रासों के बीच में कासघ्न धूम का सेवन कराना चाहिए।

कार्यभेदेन विविधधूमवर्ति प्रयोगार्थं धूमनेत्रोपादान द्रव्याणां विविधानां नेत्रपरिमाणानांच वर्णनं व्रणधूमनेत्र वर्णनं च।

तत्र बस्तिनेत्रद्रव्यैर्धूमनेत्रद्रव्याणि व्याख्यातानि भवन्ति। धूमनेत्रं तुकनिष्ठकापरिणाहमग्रे कलायमात्रस्रोतो मूलेऽ, गुष्ठपरिणाहं धूमवर्तिप्रवेशस्रोतोऽङ्गु लान्यष्ट चत्वारिंशत् प्रायोगिके, द्वात्रिंशत् स्नेहने, चतुर्विंशति वैरेचने षोडशांगुलं कासघ्ने वामनीये च एतेऽपि कोलास्थिमात्रच्छिद्रे भवतः। व्रणेनेत्रमष्टांगुलं व्रणधूपनार्थं कलायपरिमण्डलं कुलत्थवाहि।

स्रोत इति ॥ सु० चि० अ० ४०

अत्रैवधूमनेत्र द्रव्याणि संक्षेपार्थमतिदेशेनातिदिशन्नाह तत्र बस्तिनेत्र द्रव्यैरित्यादि। बस्तिनेत्रद्रव्यैः सुवर्णरूप्यत्रपुसीसताम्रकांस्यादिभिः। अतऊर्ध्वं नेत्रस्य दीर्घत्वच्छिद्राणां प्रमाणमाह-धूमनेत्रमित्यादि। कनिष्ठकापरिणाहमिति कनिष्ठकासमस्थूलम्। अग्रे मुखनासिकाप्रणयनस्थाने, मूले वर्तिसंवरणस्थाने, अंगुष्ठपरिणाहं अंगुष्ठसमस्थूलम्। धूमवर्तिप्रवेशस्रोत इति यावता स्रोतसा धूमवर्तिप्रवेशो भवति तावन्मात्रस्रोतस्कम्। मूलच्छिद्रमानं चतुर्ष्वपि प्रतिपाद्य पृथग्दैर्घ्य मानमाह अंगुलान्यष्टचत्वारिंशदित्यादि। दशांगुलं वा वामनीयमिति केचित् पठन्ति, तच्च गयदासेन विदेहमतानुसारिणाऽसम्यगिति प्रतिपादितम्। ऋजुत्रिकोषाफलितपर्वत्रयविरचितत्वं नेत्रस्य तन्त्रान्तरादवगन्तव्यम् व्रणनेत्रमष्टांगुल मित्यादि। कलायपरिमण्डलं गुटिकामुखम्। डल्हण:

एते इति। तुशब्दस्थानाधिष्ठानेनापिशब्देनेह पूर्व्वस्मान्नेत्रत्रितयादिभनत्यपरे द्वे नेत्रे छिद्र माणविशेषेण प्रयोग सौष्ठवमभिसमीक्ष्य। धूमपानप्रकारमुपदिदिक्षति अथेति। इतरौकासघ्नवामनीयै ॥ हाराणच०।

हि० व्या०—धूम नेत्र के साधन योग्य द्रव्य तथा उसका मान प्रमाण वर्णन करते हुए सुश्रुत लिखते हैं कि बस्ति नेत्र निर्माण किए जाने वाले यथायोग्य साधन द्रव्यों से ही धूमनेत्र का निर्माण किया जाना चाहिए। इनमें प्रायोगिक धूमनेत्र की मोटाइ कनिष्ठिका अंगुली के समान, आगे का भाग मटर के समान छेद युक्त, मूल भाग में अंगूठे के बराबर मोटा तथा ४८ अंगुल

लम्बा होना चाहिए। जो धूमवर्ति प्रवेश योग्य स्रोत से युक्त होना चाहिए। स्नैहिक धूम नेत्र बस्ति अंगुल प्रमाण में, वैरेचनिक धूम नेत्र चौबीस अंगुल प्रमाण में तथा कासघ्न एवं वामनीय सोलह अंगुल लम्बे होने चाहिए। इनमें छिद्र प्रभाव बेर की गुठली के समान होना चाहिए। व्रण धूपन के लिए व्रण नेत्र की लम्बाई में आठ अंगुल मोटाई में मटर के समान तथा छिद्र कुलथी के प्रमाण में होना चाहिए।

नोट —वाग्भट (अ० हृदयकार) ने तीन कोषयुक्त एवं सामान्य नेत्र प्रमाण दिया है।

धूम नेत्र वर्णनम्

बस्तिनेत्रसमद्रव्यं त्रिकोशं कारयेद्भृ ।
मूलाग्रेऽगुष्ठकोलास्थिप्रवेशं धूमनेत्रकम् ॥

अ० हृ० सू० २१।७

वस्तौ नेत्रं वस्ति नेत्रं बस्तिनेत्रेण सम बस्तिनेत्र तुल्यं द्रव्यं धातुर्दारवस्थिवेणुजं यस्य धूमनेत्रस्य तद्वस्ति नेत्रसमद्रव्यं धूमनेत्रं शिल्पिना कारयेद्भिषक्। किंभूतं नेत्रम्। त्रयः कोशाः पर्वाणि यस्य तत्त्रिकोशम्। ऋजु न वक्रम्। तथा मूलं चाऽग्रं च तस्मिन्यथा संख्यमंगुष्ठबदरास्थिप्रवेशम्। अंगुष्ठश्च कोलास्थि चेति समाहारद्वंद्वः। तत्प्रविशत्यस्मिन्निति पदरूजविशंति घञ्। अरुणदत्तः।

मूलं चाग्रं च मूलाग्रं तस्मिन् मूलाग्रे यथाक्रममङ्गुष्ठसंशुष्ककोलास्थि प्रवेशो यस्य तत्तथा विधम्। मूले स्वाङ्गुष्ठं प्रविशति। अग्रे मुखे कोलास्थिबदरास्थि प्रविशति यस्य। चंद्रनन्दनः।

धूमनेत्रमाह-बस्तिनेत्रेति। बस्तिनेत्र समद्रव्यं हेमादिघटितं त्रिकोशं यथापूर्व्यानुप्रविभज्य त्रिकांडं तीक्ष्णादिभेदेन। हेमादिः।

ऋजुत्रिकोणकलितकोलास्थ्यग्रप्रमाणितम्।
बस्तिनेत्रसमद्रव्यं धूमनेत्रं प्रशस्यते ॥

वंगसेने धूमपानाधिकारः।

तीक्ष्णधूम स्नेहनधूम मध्यमधूमपानयोग्यनेत्राणाम् आकृति दीर्घता संकेतश्च।

तीक्ष्णस्नेहन मध्येषु त्रीणि चत्वारिपंच च।
अंगुलानां क्रमात्पातुः प्रमाणेनाऽष्टकानि तत्।

अ० हृ० सू० २१।८

यथासंख्यं दैर्घ्येण तीक्ष्णस्य त्रीण्यष्टकानि द्वात्रिंशदंगुलानि स्युः मध्यमे च धूमे पंचाष्टकानि चत्वारिंशदंगुलानि स्युः पर्वनिकत्वं सूक्ष्मत्वं दैर्घ्यं च नेत्रस्येह कृतम्। एवं हि नयनकर्णादीनां न बाधको धूमःस्यात्। तथा च मुनिः। दूराद्विनिर्गतः पर्वच्छिन्नो नाडीतनूकृतः। नेंद्रियं बाधते धूम इति। अरुणदत्तः।

परं तद्धूमनेत्रं पातुः पुरुषस्याङ्गुलप्रमाणेन तीक्ष्णस्नेहनमध्येषु धूमेषु क्रमात् त्रीणिचत्वारि पंच चांगुलानामष्टकानि कुर्यात्। तेन तीक्ष्णधूमे पातुरंगुल प्रमाणेन त्रीण्यष्टकानि चतुर्विशदंगुलानि नेत्रं कुर्यात्। मध्यधूमे पंचाष्टकानि चत्वारिंशदंगुलानि धूमे नेत्रं कुर्यात्। चंद्रनन्दनः।

तीक्ष्णादि भेदेन धूमनेत्रस्य प्रमाणमाह तीक्ष्णस्नेहनेति। धूमपांगुलानि चतुर्विंशतितीक्ष्णनेत्रं, द्वात्रिंशत्स्निग्धनेत्रं, चात्वारिंशन्मध्यनेत्रम् संग्रहे तु एवं हि धूमो दूरात्प्रवृत्तो नेत्रस्य पर्वच्छेदादूर्ध्वं तनुतया च शनैः श्लिष्यन्नबाधको भवतीति। तथा कासघ्ने वमने च दशांगुलं, व्रणधूमनार्थमष्टांगुलं, कलायपरिमण्डलं कुलत्थ स्रोत इति। कासघ्नादिषु नेत्राभावे नलवंशैरण्डादीनामन्यतमां नाडीं योजयेदिति। हेमाद्रिः।

धूमपानयंत्र नेत्र वर्णनम्

नेत्रं तु बस्तिनेत्रद्रव्यभवं गोपुच्छाकारमग्रमूलयोः कनिष्ठकांगुष्ठाग्रपरिणाहं राजमाषधूमवर्तिप्रवेशच्छिद्रमृजु त्रिकोशं श्लक्ष्णं शिथिल शलाकागर्भं शमनादिषु क्रमादातुरांगुलमानेन चत्वारिंशद्वात्रिंशच्चतुर्विंशत्यंगुलं कुर्यात्। कासघ्ने वमने च दशांगुलं व्रण धूपनार्थेऽष्टांगुलं कलाय परिमण्डलं कुलत्थ वाहिः स्रोत इति। एवं हि धूमो दूरात्प्रवृत्तो नेत्रस्य पर्वच्छेदादूर्ध्वं तनुतया च शनैः श्लिष्यन्न वाधको भवति।

अ० सं० सू० अ० ३०।-

अत्र च धूमे नेत्रं बस्तिनेत्रद्रव्यवत् सुवर्णादिमयमित्यर्थः। अग्रे कनिष्ठिकाग्रपरिणाह मूलेअंगुष्ठाग्रपरिणाहमग्र राजमाषप्रवेशच्छिद्रं मूले धूम वर्तिप्रवेशच्छिद्रम्। त्रिकोशं यस्य वंश स्यान्तः स्तोकस्तोकेन त्रीणि सूक्ष्मछिद्राणि विबन्धानि भवन्ति। तैर्हि प्रतिहतो धूमः शनैः शिरः प्रविशन् सुकरो भवति। तस्य च नेत्रस्यान्तश्शिथिला शलाका धार्या। यथा पार्श्वादि न प्रविशति। धूमपानकाले त्वपनेयेति। इन्दुः

शिरोविरेचन धूमयंत्र नेत्र निर्माणम्

शिरोविरेचनैर्वर्त्तिनेत्रं हस्तमितं मतम्॥

वंगसेने धूमपानाधिकारः

हि० व्या०—शिरोविरेचन द्रव्यों (अपामार्ग पिप्पली इत्यादि) की हस्त प्रमाण में वर्ति बनाकर नली में रख कर करना चाहिए।

धूमनेत्रवर्तिमान विचारः

अंगुष्ठपरिणाहेन मध्ये स्थूलोऽन्तयोस्तनुः।
षडमागो धूमनेत्रस्य वर्त्या मानं प्रशस्यते॥

वंगसेने धूमपानाधिकारः

हि० व्या०—धूमनेत्र वर्ति उत्तममान—अंगुष्ठ परिणाम में मोटाई युक्त

बीच में स्थूल तथा अन्त में पतली धूम नली का परिणाम वर्ति के मान से छठा भाग होता है। यही मान उत्तम है।

धूमनेत्रस्य स्वरूपम्

ऋजु त्रिकोषाफलितं कोलास्थ्यग्रप्रमाणितम्।
बस्तिनेत्रसमद्रव्यं धूमनेत्रं प्रशस्यते॥

चक्रदत्तः (धूमपानाधिकारः)

धूमपानार्थं नलिकाविधानमाह ऋज्वित्यादि चरकस्य। त्रिकोषाफलितमिति-त्रिभिः पर्वभिर्भिन्नैः समन्वितं किंवा त्रिकोषस्त्रिभंगः, तेन तस्मिन् नेत्रे स्थानत्रये भंगः कार्य्यः, स च नलिकात्रयेण घटनीय इत्याहुः। कोलास्थ्यग्र प्रमाणितमिति-अस्य नेत्रस्याग्रं कोलास्थिप्रवेशयोग्यं कार्य्यमित्यर्थः। मूलंचास्यांगुष्ठप्रवेशयोग्यम्, तदाह वाग्भटः,—"मूलाग्रेंगुष्ठकोलास्थि प्रवेशं धूमनेत्रकम्" (सू० २।अ०) इति। बस्तिनेत्रसमद्रव्यमिति-बस्तिनेत्रेण समं तुल्यं द्रव्यं सुवर्णरूप्यताम्रादिकं यस्य तादृशम्। यथोक्तनलिकादिकृतधूमपानगुणाश्चरकेणैवोक्तः, यथा—"दूराद्विनिर्गतः पर्वछिन्नो नाडीतनूकृतः। नेन्द्रियं बाधते धूमो मात्राकालनिषेवितः॥" (सू० मात्राशितीय०) इति॥ (शिवदास)

धूमविशेषे नेत्रप्रमाणनिर्देशः

सार्द्धत्र्यंशयुतः पूर्णो हस्तः प्रायोगिकादिषु।
नेत्रे कासहरेत्र्यंश-हीनः शेषे दशांगुलः॥

चकदत्तः (धूमपानाधिकारः)

धूमभेदेन नेत्रमानभेदमाह, सार्द्धं इत्यादि। हस्तोऽत्र चतुर्विंशत्यंगुलपरिमितः, तेन प्रायोगिके धूमे सार्द्धो हस्तः षट्त्रिंशदंगुलं नेत्रमित्यर्थः त्रयंशायुत इति-चतुर्विंशत्यंगुलस्य तृतीयोंऽशोऽष्टांगुलं, तेन संयुतो हस्त इत्यर्थः, एतेन स्नैहिके द्वात्रिंशदंगुलं नेत्रमित्यर्थः। वैरेचने तु पूर्णो हस्तश्चतुर्विंशत्यंगुलमित्यर्थः। कासहरे धूमे त्र्यंशहीनो हस्तः षोडशांगुलमित्यर्थः। शेषे इति-वामने।

(शिवदास)

नेत्रद्रव्याण्याह

नेत्राणि धातुजान्याहुर्नलवंशादिजान्यपि॥

शा० उ० ६।२५

नेत्राणिति। धूमपानार्थं नाडीयन्त्राणि तान्यनुक्तत्वाददशधातुजानि नलवंशादिजान्यपि बोद्धव्यानि धातवोऽत्र सुवर्णाद्याः। आदिग्रहणादन्यकाष्ठदन्तशृंगघटितानीत्यर्थः॥

आढमल्लः

धूमयंत्र नेत्र परिमाण संकेतः

एलादिना कुष्ठनतोज्झितेन क्षौमं प्रतिप्यांगुलकाष्टमाना।

प्रायोगिके वर्तिरियंच नेत्रमष्टांगुलं षड्गुणितं प्रशस्तम् ॥

वंगसेने धूमपानाधिकारः

विशेषदशायां धूमपान यंत्रनाडी विशेषः

कासघ्नादिषु नेत्राभावे नलवंशैरण्डादीनामन्यतमां नाडीं योजयेत् ॥

अ० सं० सू० अ० ३०।१०

हि० व्या०—कासघ्न आदि धूमपान के प्रयोग में नेत्र के अभाव की स्थिति में नरसर, बांस, एरण्ड आदि में से किसी एक के तने का उपयोग किया जाना चाहिए (इन तीनों के काण्ड प्रायः खोखले होते हैं)।

यया नाड्या धूमो गृह्यते तद्विधानमाह

धूमनाडी भवेत्तत्र त्रिखण्डा च त्रिपर्विका ॥
कनिष्ठिकापरिणाहा राजमाषागमान्तरा ॥
धूमनाडी भवेद्दीर्घा शमने रोगिणोंऽगुलैः ॥
चत्वारिंशन्मितैस्तद्वद्द्वात्रिंशद्भिर्मृदौ मता।
तीक्ष्णे चतुर्विंशतिभिः कासघ्नी षोडशोन्मितैः ॥
दशांगुलैर्वामनीये तथा स्याद्व्रणनाडिका।
कलायमण्डलस्थूला कुलत्थागमरन्ध्रका ॥

शा० सं० उ० ख० अ० ६, भावप्रकाश

इदानीं धूमपानार्थं नेत्रस्वरूपमाह-तत्रेति। धूमपानविषये धूमनाडी धूमपानार्थं नाडी नेत्राभिधाना। कथंभूता त्रिखण्डा। अतएव त्रिपर्विका कथिता। त्रिग्रन्थियुतेत्यादि। कनिष्ठिकापरिणाहेत्यनेन गोपुच्छाकारा कार्या। गोपुच्छाकारात्वं च त्रिखण्डानामिति भावः। अन्तरे सुषिरं तु राजमाषवद्वर्तुलानुरूपं कार्यमित्यर्थः। एके अन्तरनाडिकायाः प्रान्ते राजमाषसदृशंरन्ध्रं वदन्ति मूलमुखं तु राजमाषात् किंचिदधिकं भवति। कनिष्ठिकापरिणाहाकरत्वात्। अथ नाडीस्वरूपमभिधाय संप्रति शमनादीनामंगुलभेदेन नाडीविभेदमाह। दशांगुलैर्वामनीयाः एतत्पंचप्रकारं मुख्यमानत्वेन नाडीविषयत्वाद्धितम्। षोढासंज्ञकमवशिष्टं यत् घ्राणधूपनम्। तस्य नाडीस्वरूपं वक्ष्यमाणं बोद्धव्यम्। अतएव नाडीभेदेनैव पंचप्रकारं पूर्वमुक्तं तद्यथा-धूमनाडी। शमनेति शमनाख्यधूमपानयोग्येत्यर्थः। कथंभूता। आतुरस्य चत्वारिंशदंगुलैर्दीर्घा। ननु तन्त्रान्तरे अष्टचत्वारिंशदंगुलैः परिमिता नाडी प्रायोगिकाभिधाने शमनधूमपाने प्रशस्ता तथाच एलादिना कुष्ठनतोद्धृतेन क्षौमं विलिप्यांगुलकाष्ठमानम्। प्रायोगिके वर्तिरियं तु नेत्रमष्टांगुलं षड्गुणितं प्रशस्तम् इति सुश्रुतेनोक्तम्। अपरेतु षट् त्रिंशदंगुलं प्रायोगिके नेत्रमाहुः। तदुक्तं सार्द्धं त्र्यंशयुतः पूर्णो हस्तः प्रायोगिकादिषु इति। तत्कथमत्र चत्वारिंशदंगुलैः परिमितं नेत्रम्। उच्यते। समलस्य तु मध्यः। प्रायोगिकस्यतु द्वौ भेदौ दर्शितौ। तद्भेदत्वेन नाडीभेदमपि जानीयान्न दोषः। अथवा श्लेष्म-

प्रकृतौ व बद्धदोषे च नरे षड्विंशदंगुला मात्रा। अन्यत्र त्वष्टचत्वारिंशदंगुलं तेन विरोधः। स्वमते। त्वाचार्येण विशेषं विचार्य सामप्रतिपालनार्थं मध्यभावं नेत्रपरिमाणं लिखितमित्यदोषः। एवं वक्ष्यमाणेषु कुत्रचिद्विरोधेषु बोद्धव्यम्। मृदाविति बृंहणाख्ये धूमपाने द्वात्रिंशदगुलमितं नेत्रं भवति। तीक्ष्ण इति रेचनाख्ये धूमपाने चतुर्विंशत्यंगुलमितं नेत्रंमत्र। कासघ्ने धूमपाने षोडशांगुलिप्रमितं नाडीविषये वामनीये धूमपाने दशांगुलं नेत्रमिति। पूर्वमुक्तं व्रणधूमनार्थम्। नाडीस्वरूपमन्यत्राह धूमनिमित्तम्। ईदृशी नाडिका नेत्राख्या भवति। कीदृशी कलायमण्डलस्थूलेति। नाडिका उत्तरमुखं व्रणलग्नार्थम्। कलायसदृशं मण्डलं कार्यं कलायो वर्तुलकलायः। पुनः कथंभूता। कुलत्थागमरन्ध्रकेति। कुलत्थोऽन्नविशेषः प्रसिद्धः। तद्गमनशीलो रन्ध्रः सुषिरस्तेन स युतइत्यर्थः। नाडिकारन्ध्रंतु कुलत्थसदृशं कार्यमिति भावः॥ आढ़मल्लः

सामान्यतो या धूमनाडी भवेत्सा त्रिखण्डात्रीणि खण्डानि दोरकानि यस्याः सा, त्रिपर्विका त्रिणिपर्वाणि ग्रन्थीर्यस्याः सा त्रिपर्विका कनिष्ठिकांगुली। तत्परिमाणमाह-स्थूला पुनः राजमाषगमा अन्तरे मध्ये राजमाषः तद्गमं छिद्रं अन्तरे भवति। इदानीं शमनादौ धूमनाडीप्रमाणमाह-शमने शमनधूमपाने या नाडी नलिका सा रोगिणा चत्वारिंशदंगुलैर्दीर्घामता। मृदौ मृदु धूमपाने नाडी सा द्वात्रिंशदंगुलैर्दीर्घा। तीक्ष्णे तीक्ष्णधूमपाने चतुर्विंशंरंगुलैर्दीर्घा। कासघ्ने धूमपाने या नाडिका सापि दशांगुलैरेव दीर्घा ईदृशी। स्थूलमानमाह। कलायो वर्तुलकस्तत् मण्डलवत्स्थूला पुना रन्ध्रं यथा कुलत्थागमनं भनेत्तद्वत्। काशीराम।

हि० व्या०—धूमपान करने के लिए जो नली बनाई जाती है वह तीन खण्ड एवं तीन पर्व की होनी चाहिए उसकी मोटाई कनिष्ठिका अंगुली के बराबर होनी चाहिए। इसका छिद्र मटर के बराबर होना चाहिए। इस नली की लम्बाई रोगी की अंगुली प्रमाण से विभिन्न कर्मार्थ प्रमाण में ली जाती है। यथा—शमन धूमपान के लिए ४० अंगुल, मृदु याने बृंहण धूमपान के लिए ३२ अंगुल, तीक्ष्ण या रेचन धूमपानार्थ २४ अंगुल, कासघ्न धूमपान के लिए १६ अंगुल तथा वामनीय धूमपानार्थ १० अंगुल हो। व्रण-धूपनार्थ नाड़ी की लम्बाई भी १० अंगुल हो तथा मुटाई मटर के बराबर एवं अन्दर का छेद कुलथी के निकल जाने के समान हो।

कार्यभेदेन पंचविधानाम् धूमवर्तिनिर्माण प्रकाराणां वर्णनम्

तत्रैलादिना कुष्ठतगरवर्ज्येनश्लक्ष्णपिष्टेन द्वादशांगुलं शरकाण्डमंगुलिपरिणाहं क्षौमेणाष्टांगुलं वेष्टयित्वा लेपयेदेषा वर्तिः प्रायोगिके, स्नेहफलसारमधूच्छिष्टसर्जरसगुग्गुलप्रभृतिभिः स्नेहमिश्रैः स्नैहिके, शिरोविरेचनद्रव्यैर्वरेचने, वृहतीकण्टकारिका-त्रिकटुकासमर्दहिंग्विंगुदीत्वङ्मनः शिलाच्छिन्नरुहाकर्कटशृंगकेप्रभृतिभिः कासहरैश्च कासघ्ने, स्नायुचर्मखुर शृंगकर्कटकास्थिशुष्कमत्स्यवल्लूरकृमिप्रभृतिभिर्वामनीयैश्च वामनीये॥ सु० चि० अ० ४०।४

तस्य पंचविधस्यापि दहनबाह्याश्रयधूमवर्तिसाधनद्रव्याणि निर्दिशन्नाह-तत्रैलादिनेत्यादि। एलादिवर्गो कुष्ठतगरौ वर्ज्यौ। तथा च निमिः, "धूमो हि वक्त्रकुष्ठाभ्यां विलालयति शक्तितः। मस्तिष्कं तद्धि विष्यण्णं नाशाय प्रतिपद्यते"—इति। तस्मात् कुष्ठतगरवर्जितेनैलादिना लेपयेत। शरकाण्डः शरेषिका। अंगुलिपरिणाहं कनिष्ठकांगुलिसमस्थौल्यं, अन्तयोर्द्वयंगुलं विहाय वर्तिं। शरकाण्डस्य सुखापकर्षणार्थं। क्षौमेणाष्टांगुलवेष्टनम्। यदेतदष्टाँगुलं वर्तिप्रमाणमुक्तं प्रायोगिके तदष्टचत्वारिंशदंगुलं नेत्रे ज्ञातव्यम्, सर्वधूमेनेत्रेभ्यः षडभागप्रमाणा वर्तिः कार्येति तन्त्रान्तरप्रतिपादनात्। तथा च विदेहः—"अंगुष्ठपरिणाहेन मध्य स्थूलान्तयोस्तनुः। धूमनेत्रस्य षड्भाग वर्तिमानं प्रचक्षते"— इति (शरकाण्डस्यमानं बोध्यम्)। स्नेहफलसारमधूच्छिष्टेत्यादि। स्नेहफलानां तिलादिशिग्रुबिभीतकादिफलानां, सारः तदन्तर्गतो मज्जा। तथा नेत्र चतुर्भागेन शरेषिका ग्राह्या, एवं स्नैहिकादिषु चतुर्ष्वपिधूमेषु यथास्वं नेत्रमानात् षष्ठभागेन वर्तिप्रमाणयुक्तं भवति। प्रभृतिग्रहणेन द्राक्षासल्लकीखपुरादिकम्। शिरोविरेचनद्रव्याणि विडंगखरमंजरीमधुशिग्रुसूर्यवल्लीपीलुपिप्पली सिद्धार्थकसुरसार्जकप्रभृतीनि। कासहरैश्चेति कास हराणि गुणोपवर्णने शास्त्रे तत्प्रतिषेधे च प्रोक्तानि। स्नायुचर्मेत्यादि। वामनीयद्रव्याणि मदनफलादीनि संशोधनसंशमनौ योक्तानि। डल्हणः।

एलादिः "सु ३८ अ०" द्रष्टव्य। अत्र हि व्यपगतशरकाण्डाम् आदीप्येति स्मरणात् चतुरंगुलं काण्डं मुष्टिवन्धं निवध्य वर्तिरपसार्यते तदिदमुच्यते अष्टागुलमिति। स्नेहफलानि तिलातसीप्रभृतीनि स्नेहसाराश्च सरलदेवदार्व्यादयः। प्रभृतिग्रहणात् श्रीवेष्टकादीनामदेशः। शिरोविरेचनानि "सू० ३९ अ०" निवेदितानि। हाराणच०।

हि० व्या०—धूमवर्ति निर्माण किए जाने वाले द्रव्य कूठ एवं तगर को छोड़कर एलादिगण की सभी औषधियों का मिश्रण बनाकर यथाविधि बारह अंगुल लम्बे, एक अंगुली के समान मोटाई वाले एवं रेशमी वस्त्र लिपटे हुए सरकण्डे पर, लेप कर वर्ति बना लें। यही प्रायोगिक धूमवर्ति है। स्नैहिक धूम वर्ति के लिए—तिल, सहजना के बीज, बहेड़ा आदि स्नेह फलों की मींगी मोम, राल एवं गुग्गुल आदि में स्नेह मिलाकर यथाविधि निर्माण करना चाहिए। वैरेचनिक धूम वर्ति निर्माण के लिए—शिरोविरेचन द्रव्यों के द्वारा वर्ति निर्माण करना चाहिए। इसी प्रकार बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी, त्रिकटु, कासमर्द, हींग, इंगुदी, दालचीनी मैनशिल, गिलोय और काकड़ासींगी तथा अन्य कासहर द्रव्यों का प्रयोग कर इन कासघ्न द्रव्यों से धूमवर्ती को निर्मित करे। वामनीय धमवर्ती का निर्माण स्नायु, चर्म, क्षुर, सींग, केकड़े की अस्थि, सूखी

मछली, सूखा मांस तथा केंचुए आदि कृमि एवं अन्य वामक द्रव्यों से करना चाहिए।

नोटः वाग्भट वर्ति निर्माण की प्रक्रिया में नरसर को पानी में फुलाकर उस पर यथाविधि लेप के सूखते हुए पांच पर्त (पांच बार) लगाने के लिए लिखा हैं। मोटाई अंगूठे के प्रमाण में होनी चाहिए। सूखने पर उतार लें एवं यथाविधि अंगारों में रखकर धूम प्रयोग करें।

धूमपान योग्य धूम वर्ति निर्माण प्रकारः तत्प्रयोगप्रकारश्च

यथास्वं च धूमद्रव्याणां कल्केन श्लक्ष्णेनाक्ष मात्रेण द्वादशांगुलायता मीषिकासम्भस्याहोरात्रोषितां लेपयेत्। तत्र च नवांगुलगर्भां पंचप्रलेपामंगुष्ठ स्थूला यवमध्यां छाया शुष्कां वर्ति कृत्वा विगतेषिकां च स्नेहाक्तामंगारेषु प्रदीप्य नेत्रमूलाच्छिद्रे च निधाया यथार्हं पानायोपनयेत्।

अ० सं० सू० अ० ३०।११

धूमवर्ति निर्माण प्रकारः

जले स्थितामहोरात्रमिषिकां द्वादशांगुलाम्।
पिष्टैर्धूमौषधैरेवं पंचकृत्वः प्रलेपयेत्॥
वर्तिरंगुष्ठवत्स्थूला यवमध्या यथाभवेत्।
छायाशुष्कां विगर्भां तां स्नेहाभ्यक्तां यथायथम्।
धूमनेत्रार्पितां पातुर्मग्निंप्लुष्टां प्रयोजयेत्॥

अ० हृ० सू० २१।१७

रात्रिदिवं सलिले उषितां दर्भेण द्वादशांगुलामिषिकां दर्भमूलतृणं पंचकृत्वः पंचवारान् धूमोक्तैरोषधैः पिष्टैः प्रकर्षेण लेपयेत्। यथांगुष्ठवत्स्थूलायवमध्या वर्तिः स्यात्। एतदाकृतिविधानं च त्रिविधेऽपि नेत्रके वर्तेः सुखप्रवेशार्थम्। तामिषीकां छाया विशुष्कां विगतगर्भामपनीतेषीकां तथा स्नेहेन घृतादिना यथास्वभ्यक्तां तथा धूमनेत्रस्य यदंगुष्ठप्रमाणं छिद्रं तत्रार्पितां तथाग्निप्लुष्टामंगारप्रदीप्तां प्रमाणं छिद्रं पातुं पानार्थे प्रयोजयेत्। अरुणदत्तः।

धूमपानार्थं धूमवर्तिमाह जले स्थितामिति। ईषीकां काशशलाकां, धूमौषधैर्यथोक्तैरगुर्वादिभिः पंचभिर्लेपैरङ्गुष्ठस्थूलां यव मध्या यथा भवेत्तथा विशोष्य विशोष्य प्रलेपयेत्। धूमवर्त्या धूमपानप्रकारमाह—छायाशुष्कामिति। विगर्भामपनीतेषीकां यथायथं मृदुमध्य तीक्ष्णैः स्नेहैरभ्यक्तां संग्रहे त्विषीकामश्यं नवांगुलं लेपयेत्। प्रतिलेपं चाक्षमात्रं लेपद्रव्यामित्युक्तम्। हेमाद्रिः।

धूमवर्तिप्रस्तुतविधिः धूमपानस्य सामान्यविधिश्च

औषधैर्वर्तिकां कृत्वा शरोगर्भां विशोषिताम्।
विगर्भामग्निसंप्लुष्टां कृत्वा धूमं पिबेन्नरः॥
वक्त्रेणैव वमेद्धूमं नस्तो वक्त्रेण वा पिबन्॥

चक्रदत्तः (धूमपानाधिकारः)

इदानीं धूमपानार्थं नलिकामभिधाय धूमपानं यथा विधेयं तदाह, ओषधैरित्यादि । ओषधैरिति—गन्धैरकुष्ठतगरैरित्यादिना वक्ष्यमाणैरोषधैर्वर्तिकां कृत्वा धूमं पिवेत् । वर्तिकाकरण प्रकारमाह, शरीगर्भामित्यादि शरपुष्पस्य नलिका, सा गर्भे अभ्यन्तरे यस्याः ताम, एतेन पिष्टैर्भेषजैः शरीं प्रलिप्य वर्तिः कार्येत्यर्थः । विगर्भामितितां वर्तिं विशोष्य ततः शरीमाकृष्य विगर्भां कुर्य्यादित्यर्थः । अग्निसंप्लुष्टामिति-तां विगर्भां वर्तिं नेत्राग्रे समारोप्य अग्निसंप्लुष्टां कृत्वा धूमं पिवेदित्यर्थः । एता वर्तिरष्टांगुला यववन्मध्यस्थूला परिणाहेनांगुष्ठसम्मिता कर्तव्या, यदाह चरकः,—"पिष्ट्वा लिम्पेच्छरेषीकां तां वर्तिं यवसन्निभाम् । अंगुष्ठस्यम्मितां कुर्य्यादष्टांगुलसमांभिषक् । (सू० मात्राशितीय०) इति । धूमं पीत्वा धूमं कथं वमेदित्याह, वक्त्रेणेत्यादि । एवकारेण नासिका निषिध्यते, वक्त्रेणैव धूमं वमेत्, न तु नासयेत्यर्थः, अत्र हेतुश्चरकेणोक्ता यथा "प्रतिलोमं गतोह्याशु धूमो हिंस्याद्धि चक्षुषी" (सू० मात्राशितीय०) इति । नस्त इति - नासिकया, सार्वविभक्तिकस्तसिलः । शिवदास ।

धूमपान प्रयोग विधिः

अथ धूमार्हः सुमना ऋजूपविष्टः प्राक्कृतोच्छ्वास निःश्वासो विवृतोष्ठ दशनो नेत्राग्रनिविष्टदृष्टिः पर्यायेणैकैकं नासापुटं पिधायेतरेणाक्षिप्य मुखेनोत्सृजेत् । मुखेन तु मुखेनैव न नासया दृग्विघातभयात् ।

—अ० सं० सू० अ० ३०।१२

ऋजूपविष्टस्तच्चेता विवृतास्यस्त्रिपर्ययम् ।
पिधाय च्छिद्रमेकैकं धूमं नासिकया पिबेत् ॥

अ० हृ० सू० २१।१०

ऋजु स्पष्टमुपविष्ट आसीनः । तथा तच्चेता धूमपानगतचित्तः तथा प्रसारितमुखः तथा नेत्रगतदृष्टिरित्यादि द्रष्टव्यम् । कथं पिबेत । त्रिपर्ययमाक्षेपविसर्गविषानैरापानैःपर्ययैः । तथा छिद्रमेकैकं पिधाय प्रकृतत्वान्नासिकाया एव । तदेवं विधिः सन्नासिकया पिबेत् । एकैकमित्येकं बहुव्रीहिवदिति द्वित्वसुल्लोपौ । तेनाऽयमर्थः । एकं नासापुटं पिधायाऽपरेण नासापुटेनाऽऽकृष्य धूमं पिबेत् । अपरं नासापुटं पिधाय तदपरेणाऽऽकृष्य यथैव पिबेदित्यर्थः । अरुणदत्तः ।

ऋजुः स्पष्टं कृत्वोपविष्टस्तच्चेतास्तास्तन्मनः, विवृतास्यः प्रसारितमुखः पुमान् तथा त्रयः पर्याया वारा यस्यासौ त्रिपर्यायस्तं त्रिपर्यायं पिधाय स्थगयित्वा नासायः सम्बन्धि छिद्रमेकैकं पर्यायेण धूमं नासिकाया पिबेत् । एवं पर्यायतया एकैकेन नासापुटेन त्रीन् वारान् धूमं पिबेत् । चंद्रनन्दनः ।

अथ सुखोपविष्टः सुमना ऋज्वधोदृष्टिरतन्द्रितः स्नेहाक्तां प्रदीप्तात्तां वर्त्तिं स्रोतसि प्रणिधाय धूमं पिबेत् ॥

वंगसेने धूमपानाधिकारः

हि० व्या—अष्टांग हृदय अष्टांग संग्रह तथा वंगसेन में समान भाव हैं—धूमपान करने वाला व्यक्ति प्रसन्न मन सीधा बैठ कर श्वाच्छोश्वास समुचित करके, ओष्ठ एवं दांत खोलकर, नेत्र के अग्रभाग में दृष्टि रखकर क्रमशः प्रतिक नासा पुटक को बन्द करते हुए दूसरे खुले पुटक से धूम अन्दर प्रवेश करते हुए मुख से निकाले । मुख से पीये हुए धूम को नासिका से निकालें । इससे दृष्टि नाद्य नहीं होता ।

धूमपान प्रयोगे विशेषदशायांकर्तव्यः

तत्र प्रायोगिकं द्वौ द्वौ त्रींस्त्रींन्वाऽऽपानांस्त्रीश्च । पर्यायानकण्ठाच्चोर्ध्वमुत्क्लिष्टे दोषे पूर्वं नासया । ततो मुखेन कण्ठे तु पूर्वमास्येन परं चाहोरात्रस्यद्विः पिबेत् । स्नैहिकं त्रींस्त्रीश्चतुरश्चतुरो वाऽऽपानान्, यावद्वाऽऽस्रु प्रवृत्तिस्तथाऽहोरात्रस्य तीक्ष्णं नासाभ्यामेव चतुरश्चतुरश्चापानान् यावद्वास्रोतो लाघवम् तथा त्रिश्चतुर्वाऽहोरात्रस्य तत्राक्षेप विसर्गावापान इत्याहुः ॥

अ० सं० सू० अ० ३०।१०-१४

तत्र प्रायोगिकं प्रत्येकं नासापुटेन मुखेन च पर्यायेण त्रीन् वारान् पाययेत् । न त्वेक वाराम् । प्रत्येकं पर्यायेण त्रीनापानान् द्वौ वा पर्यायेण योजयेत् । आक्षेप मोक्षावेकमापानम् । कण्ठादूर्ध्वं यदा दोषोत्क्लेशस्तदा पूर्वं नासया धूमः । यदा तु कण्ठ एवोत्क्लेशस्तदा पूर्वं मुखेन । अहोरात्रस्य मध्ये द्वौ वारौ प्रायोगिकस्य परं पानम् । त्रींस्त्रींश्चतुश्चतुरो वा आपानान् पर्यायेण स्नैहिकं धूमं पिबेत । यावद्वास्रस्रुतिः । तच्च स्नैहिकमहोरात्रस्य मध्ये एकवारं पिबेत् तीक्ष्णं पर्यायेण चतुरश्च चतुरश्चाऽऽपानान् अहोरात्रस्य मध्ये त्रीश्चतुरो वा वारान् तच्च नासयैव न मुखेन । मतान्तरमुच्यते । तत्र प्रायोगिकं द्वौ-द्वौ त्रींस्त्रींन्वाऽऽपानान् पाययेत् । नासापुटाभ्यां मुखेन च द्वौ-द्वौ त्रींस्त्रीन्वाऽऽपानान् पाययेत् । नन्वेभिः स्त्रोतोभिः संहृत्य कियन्तो वा द्विका पातव्या कियन्तो वा त्रिका इत्यपेक्षायामाह । त्रींश्च पर्यायानिति त्रीनेव पर्यायान् पिबेत् न त्वधिकं नाप्येकवारेण सर्वैः स्त्रोतोभिः सर्वान् द्विकान् त्रिकान् पाययेत् । अपि तु त्रिभिः पर्यायैरेवेति अस्यायमर्थः । प्रयोगिकं धूमं प्रथममेकेन नासपुटेन द्वौ वा त्रिन्वाऽऽपानान् पिबेदित्येकः पर्यायः । इदमेव द्विरापानं त्रिरापानं वा प्रथमकृतनासापुटान्तरेण मुखेन चावर्तयितव्यमिति द्विरापानानां त्रिरापानानां च पर्यायत्रयं त्रिरावर्तनं कृतं भवति । तत्रायं क्रियापक्षः । प्रथमेकेन नासापुटेनापानद्वयं त्रयं वा ततो द्वितीयेन नासापुटेनाऽऽपानद्वयं त्रयं वा । ततो मुखेनाऽऽपानद्वयं त्रयं वेतिसंहृत्य त्रिभिः स्रोतोभिरापानषटकमापाननवकं वा पातव्यं भवति । सुश्रुतेनापि त्रिभिः कलाभिः परिमितेन कालेन प्रायोगिकस्योपयोगः इत्यापाननवकमेव विहितं

भवति। अयं नासिकादिक्रमो दोषेघ्राणशिरोगते सति। यदा पुनः कण्ठगतो दोषस्तदाऽऽषटकमापाननवकं वा मुखादिक्रमेण पातव्यमित्येकस्मिन्नहनि एक वारं कृत्वा पुनरपि तस्मिन्नेवाहन्येकवारं प्रयोक्तव्यम्। प्रायोगिकस्य एकस्मिन्नहनि द्वादशाष्टादश वा पानानि भवन्ति। स्नैहिकं पुनरेकस्मिन्नहनि आपान नवकमापानद्वादशकं वा प्रयोक्तव्यम्। पुनर्विरेचनं नासापुटाभ्यामेव पातव्यमेकस्मिन्नहनिचतुर्विंशत्यापानं द्वात्रिंशदापानं वा प्रयोक्तव्यमिति केचिदाचार्याः।

इन्दुः।

हि० व्या०—इनमें प्रायोगिक धूम को दो-दो या तीन-तीन घूंट में तीन बार धूमपान करना चाहिए। गले से ऊपर भाग के रोगों में एवं उत्क्लेशित हुए दोषों में सर्व प्रथम नासा से और पश्चात् मुख से सेवन करना चाहिए। गले के रोगों में पहले मुख से एवं पश्चात् नासा से, दिन रात में अर्थात् २४ घण्टे में प्रायोगिक धूम का दो बार प्रयोग करना चाहिए। स्नेहिक धूम को तीन-तीन या चार-चार घूंट पीनी चाहिए। अथवा दोष प्रवृत्ति के अनुसार पीएं। स्नैहिक धूम को अहोरात्र में एक बार ही पीना चाहिए। तीक्ष्ण धूम को चार-चार घूंट में नासा द्वारा ही पीना चाहिए। अथवा स्रोतों में हल्कापन आने तक या उपरोक्त मात्रा में पीना चाहिए। इसे अहोरात्र में ३ से ४ बार तक लेना चाहिए। धूमपान में धूम का अन्दर लेना एवं निकाल देना ही एक घूंट कहलाता है।

धूमपाने त्याज्यम्

मनस्तापं रजः क्रोधौ, धूमपाने निवारयेत्।
नेत्राणि धातुजान्याहु नलवंशादिजान्यपि॥ वंगसेन

तत्र प्रायोगिकं त्रीस्त्रींश्चवासानाददीत मुखनासिकाभ्यांच पर्यायंस्त्रींश्चतुरो वेति। मुखनासाभ्यां पीतं स्नैहिकं यावदश्रु प्रवृत्तिरिति। नासिकाभ्यां च पीतं वैरेचनिकमल्पदोषदर्शनात्। मुखेनैव कासान्तकरो ग्रासान्तरेषु च। वामनीयंच मुखेनैव तिलतण्डुलकृतां। यवागूं पीत्वा वामनीयो यथायोगम्। वंगसेनः

हि० व्या०—धूमपान प्रयोग काल में, शोक, धूलि, क्रोध आदि का परिहार करें, यहाँ विविध धूमपान का क्रम बताया गया है।

सामान्यतः धूमपानजन्यानां लाभानां वर्णनम्

भवति चात्र···

नरोधूमोपयोगाच्च प्रसन्नेन्द्रियवाङ्मनाः॥
दृढकेशद्विजश्मश्रुः सुगन्धिविशदाननः॥

तथा कासश्वासारोचकास्योपलेपस्वरभेद मुखास्राव क्षवथुवमथुक्रथन तन्द्रानिद्राहनुमन्यास्तम्भाः पीनस शिरोरोगकर्णाक्षिशूला वातकफनिमित्ताश्चास्य मुखरोग न भवन्ति। सु० चि० अ० ४०।१५-१६

धूमोपयोगफलमाह भवतिचात्रेत्यादि। कथः अकस्मादुच्छ्वासावरोधः। डल्हणः।

हि० व्या०—धूमोपयोग से व्यक्ति की इन्द्रियां, वाणी एवं मन प्रसन्न होता है। केश, दांत, दाढी व मूंच्छ के बाल दृढ़ होते हैं। मुख सुगन्धित एवं स्वच्छ होता है।

भवन्ति चात्र·····
हृत्कण्ठेन्द्रिय संशुद्धिः शिरसो लाघवं शमः।
यथेरितानां रोगाणां सम्यक् पीतस्य लक्षणम्॥
अ० सं० सू० अ० ३०।१७

सम्यक्पीते हृच्छुध्यादि लक्षणम्। इन्दुः।

हि० व्या०—धूमपान के सम्यक् प्रयोग से हृदय कण्ठ और इन्द्रियों की शुद्धि, शिर में लघुता, एवं रोगों का शमन होता है।

धूमपानस्य विशेषगुणानां वर्णनम्

कासः श्वासः पीनसो विस्वरत्वं,
पूतिर्गंधः पांडुता केशदोषः।
कर्णास्याक्षिस्रावकंडूर्वातिजाड्यं,
तंद्रा हिध्मा धूमपं न स्पृशंति॥
—अ० हृ० सू० २१

कासादयो धूमपं न स्पृशंति। धूमं पातुरेते न संभवन्तीतिभावः, तत्र पूतिगंध आस्यनाशयोः। पांडुता मुखस्य। केश दोषाः सितपिंजरत्वादयः। कर्णो चाऽक्षिणी च कर्णास्याक्षि स्रावश्च कण्डूश्चार्तिश्च जाड्यं य स्राव कण्डूर्वाति जाण्ड्यम् कर्णादिषु प्रत्येकं स्रावादि चतुष्टयं योज्यमिति। अरुणदत्तः।

कासश्वासादयो धूमपानानन्तरं न स्पृशन्ति। पीनसः प्रतिश्यायः। विस्वरत्वं वैस्वर्यम्। पूतिघ्राणादि दौर्गन्ध्यम्। आस्ये पाण्डुता पाण्डुत्वम्। मुखस्य केशानां दोषाः पालित्यपिंज्जरत्व पतनादि। कर्णादीनां स्रावाभिः सम्बन्धः। तन्द्रा निद्रार्त्तस्येव विषयाग्रहणमिति भद्रम्। चंद्रनन्दनः।

धूमशीलनस्य फलमाह कास इति। संग्रहे तु धूमो हि शिरोऽक्षिकर्णशूला भिष्यंदगौरवार्द्धविभेदकपीनसकासश्वासास्यस्यवैरस्यप्रसेकवैस्वर्यतिघ्राणमुख रोगदंतशूलदौर्बल्यालूचिहनुमन्याग्रहकृमिपक्षवधक्षवथुनाश बाहुल्यातिनिद्राक्थनादिजभ्रूध्वंगतवातकफव्याधिषु प्रशमनाय। प्रयुज्यते तथा शिरः कपालेंद्रियमनोवृंहण प्रसादनाय च शीत द्रव्यनिर्वृत्तोऽपि त्वग्निसंयोगादुष्णतया पित्तरक्त विरुद्धः इति। हेमाद्रिः।

हि० व्या०—कास, श्वास, पीनस, स्वरभेद, पूतिगन्धता (मुख व नाशाकी

विकृत गन्ध) मुख एवं शरीर की पाण्डुता केश रोग, कान मुख तथा नेत्र स्राव, कण्डु, विविध वेदना, जड़ता आदि विकार, तन्द्रा, हिक्का आदि का धूमपान से शमन भी हो जाता है। एवं स्वस्थ व्यक्ति में इन रोगों की उत्पत्ति भी नहीं होती।

धूमप्रयोगात्पुरुषः प्रसन्नेन्द्रियवाङ् मनाः।
दृढकेशद्विजश्मश्रुः प्रसन्न विशदाननः॥

वंगसेने धूमपानाधिकारः

हि० व्या०—सम्यकतया धूमपान किए जाने से हृदय एवं इन्द्रियों में शुद्धि शिर प्रदेश में लघुता, दोषों का शमन आदि लक्षण प्रकट होते। हैं

धूमपानस्य योगायोगातियोगफलानां वर्णनम्

तस्य योगायोगातियोगा विज्ञातव्याः। तत्र योगो रोगप्रशमनः, अयोग रोगाप्रशमना, तालुगलशोषपरिदाहपिपासामूर्च्छाभ्रममदकर्णश्वेडदृष्टिनासारोग-दौर्बल्यान्यतियोगो जनयति। सु० चि० अ० ४०, वंगसेन

तत्रेत्यादि। दृष्टिनाशयो रोगदौर्बल्याभ्यां संबन्धः अतियोगो जनयतीत्य स्याग्रे "तत्र सर्पि, पाननावनांजनतर्पणानि विदध्यात्" इति केचित् पठन्ति।

डल्हणः।

हि० व्या० धूम के योगातियोग होने पर उत्पन्न होने वाले लक्षण इस प्रकार हैं—रोग का शमन होना धूम का योग है रोग का शान्त नहीं होना अयोग तथा तालुशोष, गलशोष, दाह, पिपासा, मूर्च्छा, भ्रम, मद, कर्णश्वेड़, दृष्टिनाश, नासारोगों की उत्पत्ति, दुर्बलता आदि अतियोग के लक्षण हैं।

कासादिषु शरावसम्पुटन्यस्त धूमपान प्रयोग प्रकारः

शरावसंपुटच्छिद्रे नाडीन्यस्य दशांगुलाम्।
अष्टांगुलां वा वक्त्रेण कासवान् धूममापिबेत्॥

अ० हृ० सू० २१।१८

शरावयोः संपुटी युग्मं तस्य छिद्रे नाडीं दशांगुलामष्टांगुल प्रमाणां वा निक्षिप्य कासी धूममापिबेत्। तदयमत्रार्थः। अपगतधूमखदिरबदरादिदारू-स्थिरांगारप्रखरपूर्णशरावे कासहरचूर्णं सस्नेहं गुलिकां वा न्यस्य मध्यवृतच्छिद्र-शरावेण पिधाय नाडीमष्टांगुलां दशांगुलां वा निवेश्य कासवान् कासी वक्त्रेण मुखेन धूमं संमपिबेदिति। अरुणदत्तः।

शरावयोः सम्पुटं संश्लेषणावनद्धं शरावद्वयं तस्य छिद्रं शरावसम्पुटच्छिद्रं तस्मिन् छिद्रे नाडीं न्यस्य दशांगुलामष्टांगुलां वा वेण्वादिमयीं वक्त्रेण मुखेन कासवान् नरो धूममापिबेत्। तेन कासघ्नं चूर्णं कट्गुणिकाद्यानि धूमद्रव्याणि तेषां चूर्णं प्रस्थिराङ्गारपूर्णे सुसंस्थिते शरावे प्रपिष्यान्येन तु प्रवृत्तच्छिद्रेण

शरावेण पिधाय च उरसि नेत्रमुखेनैव धूमं पिबेत्। उदर प्राप्तं तं च मुखेनैवो-द्वमेत्। प्रशान्ते च धूमे पुनः क्षिपेत् पिबेद्वा। दोषशुद्धेश्चांगलाघवाच्च।

चंद्रनन्दनः।

कासिनां धूमपाने विशेषमाह शरावसंपुटेति। शरावसंपुटः संग्रहोक्तः। चूर्णं गुलिकां वा निर्धूमदीप्तस्थिरांगारपूर्णे सुस्थिते शरावे प्रक्षिप्यमानेन वृद्धनवृत्त-च्छिद्रेण शरावेण पिधायेति। हेमाद्रिः।

कासघ्न धूम प्रयोग विधिः

कासघ्नं तु चूर्णं गुलिकां वा निर्धूम दीप्त स्थिरांगारपूर्णे सुसंस्थिते शरावे प्रक्षिप्यान्येन वृत्त वृत्तच्छिद्रेण शरावेणापिधाय निधाय च तत्र स्रोतसि नेत्रं मुखेनैव धूमं पिबेत्। उरः प्राप्तं च मुखे नैवोदमेत्। प्रशान्ते च धूमे पुनः क्षिपेत्पिबेच्च दोष शुद्धेर्लाघवादा। अ० सं० सू० अ० ३०।१४

अंगारपूर्णे शरावे चूर्णं गुटिकां वा प्रक्षिप्य द्वितीयमधो मुखं कृतच्छिद्रं शरावमुपरिदत्वा तच्छिद्रे धूमनेत्रमूलं संयोज्य तदग्रं चास्ये संयोज्य कासघ्नं धूमं पिबेत्। इन्दुः।

वामक धूमं प्रयोग विधिः

तदबदामनमपि तिल कृशरामप्यनतिघनां पीत्वापिबेत्।
तद्वच्चव्रणमपि धूपयेद्वैशद्याय क्लेद वेदनोपशमाय च॥

अ० सं० सू० अ० ३०।१५

कृशरां च नातिघनां पीत्वा वामनं धूमं पिबेत् तद्वदेव व्रणं धूपयेत्। वैशद्याद्भवाय। इन्दुः।

दोषस्यावस्थानविशेषे धुमपानद्वारनिर्देशः

उरः कण्ठगते दोषे वक्त्रेण धूममापिबेत्।
नासया तु पिबेद्दोषे शिरोघ्राणाक्षिसंश्रये॥

चक्रदत्तः (धूमपानाधिकारः)

वक्त्रधूमपान- नासाधूमपानयोर्विषयमाह-उर इत्यादि। (शिवदास)

स्निग्धधूम मध्यधूम शोधनधूमानां यथाक्रमं एक द्वित्रिवारं पान विधानम्

आक्षेपमोक्षैः पातव्यो धूमस्तु त्रिस्त्रिभिस्त्रिभिः।
अह्नः पिबेत्सकृत् स्निग्धं द्विर्मध्यं शोधनं परम् त्रिश्चतुर्वा॥

अ० हृ० सू० २१।१२-१३

आक्षेपमोक्षैरादानविसर्गैस्त्रिभिस्त्रिभिस्त्रीन्वारान् धूमः पातव्यः। त्रिरिति द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्। अन्हः सकृदेकवारं स्निग्धं धूमं विबेत। मध्यमं धूमं द्वौ वारौ पिबेत्। अह्नः इत्यत्राऽप्यनुवर्तते। तीक्ष्णं धूमं त्रीन् वारांश्चतुरो वा

दिवसस्य पिवेत् । अह्नः इति कृत्वोऽर्थप्रयोगे कालेऽधिकरण इति षष्ठी ।

अरुणदत्तः ।

त्रीन् वारान् कृत्वा त्रिभिस्त्रिभिराक्षेपमोक्षैः सम्पद्यते इति । स्निग्धं धूम-अह्नः सकलस्य दिवसस्य यथा तथोक्तविषये सकृदेकवारं पिवेत् । तथा माध्यं धूमं सकलस्य दिवसस्तथा स्वोक्तविषये द्विः द्वौ वारौ पिवेत् । तथा तीक्ष्णं धूमं यथा स्वोक्तविषयेऽहनः सकलस्य त्रीन् वारान् चतुरो वारान् पिवेत् ।

चंद्रनन्दनः ।

धूमपानावधिमाह आक्षेपमोक्षैरिति । त्रिभिस्त्रिभिरिति । त्रिषुपानेषु प्रत्येकं त्रय आक्षेपमोक्षः । स्निग्धादिभेदेनावृत्तिमाह अह्नः इति । अह्नः सकृत् अहोरात्रमध्ये एकवारं स्निग्धं पिवेत् । द्विवारं माध्यम् । हेमाद्रिः ।

स्थानभेदेन दोषोक्लेशानुसारं नासिकाया मुखेन वा प्राक् पश्चात् धुमपान संकेतः ।

प्राक् पिवेन्नासयोत्क्लिष्टे दोषे घ्राण शिरोगते ।
उत्क्लेशनार्थं वक्त्रेण विपरीतं तु कण्ठगे ॥

अ० हृ० सू० २१।२०

नासागते शिरोगते वा दोष उत्क्लिष्टं स्वास्थानाच्चलिते सति प्राक् पूर्वं नाशया पिवेत् । अनुत्क्लिष्टं दोष उत्क्लेशनार्थं वक्त्रेण प्राक् पश्चाद्वक्त्रेणेति विपरीतम् ।

अरुणदत्तः

दोषे धूमसाध्ये घ्राणशिरोगते नासाशिरः स्थिते उत्क्लिष्टं स्वयं प्रच्युते प्राक् पूर्वं नासिकया धूमं पिवेत् । पश्चाद्वक्त्रेण पिवेत् । अनुत्क्लिष्टे पुनर्दोषे घ्राण-शिरोगते तदुत्क्लेशनार्थं प्राक् वक्त्रेण पिवेत् । पश्चान्नासिकया । कण्ठगे दोषे विपरीतं कृत्वा धूमं विवेत् । कण्ठगे दोषे उत्क्लिष्टे स्वयं प्रच्युते प्राक्पूर्वं मुखेन धूमं पिवेत् । पश्चान्नासया । अनुत्क्लिष्टं पुनः कण्ठगे दोषे उत्क्लेशनार्थं प्राक् नासया धूमं पिवेत् । पश्चाद्वक्त्रेण ।

चंद्रनन्दनः ।

मुखेनैव धूमवमने युक्तिः

मुखेनैव वमेद्धूमं नासया द्रग्विघातकृत ॥

अ० हृ० सू० २१।११

नासयाऽऽस्येन वा पीतं धूमं वक्त्रेणोत्सृजेत् । ननु घ्राणेनैव कस्मान्मुच्येतेत्याह । नासयेत्यादि । घ्राणेनोत्सृज्यमानो धूमो दृष्टिविघाततिमिरादीन करोति । तस्मान्मुखेनैवोत्सृजेत् ।

अरुणदत्तः ।

नासया पीतं धूमं तथा मुखेन पीतमुभयमपि मुखेनैवोद्वमेत्, न नासया दृग्विघातभयात् ।

चंद्रनन्दनः ।

धूमोद्वमने नियमाह मुखेनैवेति । नासोद्वमने दोषमाहनासयेति हेमाद्रिः ।

व्रणधूम प्रयोगस्य वर्णनं फलादेशश्च

व्रणधूमं शरावसंपुटोपनीतेन नेत्रेण व्रणमानयेत्, धूमपानाद्वेदनोपशमो व्रण-वैशद्यमास्रावोपशमश्च भवति ।

विधिरेष समासेन धूमस्याभिहितो मया ॥

सु० चि० अ० ४०।१६

अतो व्रणधूपनविधानं व्रणधूमित्यादि । समासं संक्षेपेणेत्यर्थः । डल्हणः ।

उपनीतेन आनयेत् प्रापयेत् इति । हाराण० च० ।

हि० व्या०—शराब संपुट में विधिवत तैयार किए गए धूम से नलिका द्वारा व्रण का धूपन किया जाता है । इससे वेदना की शान्ति व्रण में स्वच्छता तथा स्राव की शान्ति होती है ।

शरावसंपुटयुतं व्रणधूमं नयेद्व्रणे ।
धूमनेत्रेण मतिमान् वेदनास्रावशान्तये ॥

वंगसेने धूमपानाधिकारः

हि० व्या०—व्रण धूपन के लिए शराव सम्पुट से धूम नेत्र लगाकर धूपन कराना चाहिए । इससे व्रण वेदना एवं स्राव शान्त होता है ।

धूमपानस्यायोगोपद्रवाः अतियोगोपद्रवसूचनं च

धूमस्यायोगे दोषोत्क्लेशाद्रोग वृद्धि :
अतियोगेप्रागुक्तमिति ॥ अ० सं० सू० ३०।१६

धूमायोगेन दोषोत्क्लेशाद्रोगोद्भवः । अतियोगेऽति मात्रश्चान्येषामपि भ्रमादीन् करोतीत्युक्तम् ।

इन्दुः ।

हि० व्या०—धूमपान के अयोग में दोषो का उत्क्लेश होने से रोग की वृद्धि होती है. मात्रादि अति योग के लक्षण है ।

धूमपानोपद्रवसूचनम् तत्रचिकित्सा च

विशेषतस्तु सर्वं स्रोतोऽभिगते धूमे तीव्रतरा वेदनाभवंत्योष्माननेत्ररोग श्वासकास पीनसांग स्वरसादाम्लकाः । तत्र घृत क्षीरेक्षुरसद्राक्षा शर्करोपयोगस्त द्विधैरेव वमनं कटुतिक्तैरपि च नस्यगण्डूषा । अ० सं० सू० अ० ३० ।

विशेषतः सर्वस्रोतोगते धूम ऊष्मादयो भवन्ति । तेषु । ऊष्माध्मानादिषु घृताद्युपयोगः तद्विधैरेवेति घृतादिसदृशगुणैर्वमन विषयेषु वमनम् । तेष्वेवोषादिषु कटूतिक्तैश्च नस्य गण्डूषाः स्वेदारतिमान दाह उषः । इन्दुः ।

हि० व्या०—सभी स्रोतों में धूम प्रवेश हो जाने पर ऊष्मा, आध्मान, नेत्र रोग, कास, श्वास, पीनस, अंगों में शिथिलता स्वर भंग एवं शिथिलता, तथा अम्लक हो जाता है । इनमें, घी, दूध, गन्ने का रस, द्राक्षा, शर्करा आदि का उपयोग करना चाहिए । इन्हीं के समान द्रव्यों से वमन कराना चाहिए । कटु एवं तिक्त द्रव्यों से नस्य एवं गण्डूष कराना चाहिए ।

अकालपीत धूमानां वर्णनम्

अकालपीतः कुरुते भ्रमं मूर्च्छां शिरोरुजम् ।
घ्राणश्रोत्राक्षिजिह्वानामुपघातं च दारुणम् ॥

—सु० चि० अ० ४०।१२

अकालपीतस्य व्यापदुद्भवं दर्शयन्नाह अकालपीत इत्यादि । डल्हणः ।

हि० व्या०—अकाल में धूमपान करने से भ्रम, मूर्च्छा, शिरः, शूल नासिका, कान, आंख एवं जिह्वा का भयानक व्यापद् होता है ।

रक्तपित्तान्ध्यबाधिर्यं तृण्मूर्च्छामदमोहकृत् ।
धूमोऽकालेऽतिपीतो वा तत्र शीतो विधिर्हितः ॥

चक्रदत्तः (धूमपानाधिकारा)

अकालातिपीतधूमयोर्दोषमाह रक्तपित्तेत्यादि अत्र पीतो वेति छेदः ।

(शिवदास)

रक्तपित्तान्ध्यबाधिर्यतृण्मूर्छामदमोहकृत् ।
धूमोऽकालेऽतिपीतोवा ॥
तत्र शीतो विधिर्हितः ॥

अ० हृ० सू० २१।४-५

मूर्च्छा संज्ञानाशः मोहश्चित्तनाशः । मुहर्वैचित्य इति पाठात् । आंध्यबाधिर्यग्रहणमुत्तमांगरोगोपलक्षणार्थम् । तेन संग्रहोक्तमदितमपि गृह्यते । धूमोऽकाले पूर्वोक्त रक्तपित्तार्त्यादौ पीतो रक्तं पित्तादीन् कुर्यात् । अप्रतिषिद्धेऽपि काले क्षुतादावतिशयेन पीतो रक्तादिकृत् । तत्ररक्तपित्ताद्यार्तौ विधिरूपक्रमो यथास्वं सर्पिः पाननस्यालेपपरिषेकादिः । शीतोविधिर्हितः ॥ अरुणदत्तः

धूमस्त्रिविधो विपरीतोऽतिमात्रश्च पीतो रक्तपित्तं, तथान्ध्यं, बाधिर्यं श्रोत्रेन्द्रियस्य श्रुतिविघातरूपं, पिपासां तथा मूर्छां मदं मोहं च करोति ॥

तत्र रक्तपित्तादिषु समुपजातेषु शीतोविधिः कषायनस्यमुखलेपांजनं परिषेकपानादिको हितः ॥ चंद्रनन्दनः

उक्तदोषस्यप्रतीकारमाह तत्र शीत इति । संग्रहे तु एषां विभ्रमज्वरशिरोऽभितापेन्द्रियोपघाततालुशोषपाकधूमायनछर्दिमूर्छारक्तपित्तादितानि मृत्युं वा धूमो जनयेदतिमात्रश्चानयेषामपि । तत्र वातकफान्यतरसंसृष्टं पित्तमुपलक्ष्यं यथास्वं सर्पिःकषायपाननस्यास्यलेपांजनपरिषेकान् स्निग्धरूक्षशीतान् प्रयुंजीत । एतेन सर्वधूमोपघात प्रतीकारा व्याख्याताः । विशेषस्तु सर्वस्रोतोऽभिगते धूमे तीव्रतरा वेदना भवत्यूष्माननेत्ररागश्वासकासपीनसांगस्वरसादाम्लकाः । तत्र घृतक्षीरेक्षुरसद्राक्षाशर्करोपयोगस्तद्विधैरेव वमनं कटुतिक्तैरपि च नस्यगण्डूषा इति ॥ हेमाद्रिः

अकाले चातिपीतश्च धूमः कुर्यादुपद्रवान् ।
तत्रेष्टं सर्पिषः पानं नावनांजनतर्पणम् ॥

सर्पिरिक्षुरसं द्राक्षां पयो वा शर्करांम्बु वा ।
मधुराम्लो रसो वापि शमनाय प्रदापयेत् ॥ शा० सं० उ० ९।७-८

अथ योग्यपीतस्य धूमपानस्य दोषमाह अकाल इति । अस्य कालो विरेचनोक्तो बोद्धव्यः । अतिपीत इति । विहितपरिमाणादिभ्योऽन्यथा पीतः स्वमानाद्बहुपीतो वा । नासादेयस्तथा धूमो यावता वर्त्यवसाद इत्यादि । उपद्रवानत्र धूमोपहितजनितान् । ते तु तृष्णादाहज्वरक्षवथुसदनाघ्राणरोगाष्मानादयः । तत्प्रतीकारमाह-तत्रेति । धूमपानातिशयजनितोपद्रवेषु । इष्टं विहितं ग्राह्यमित्यर्थः । नासागतदोषदूरीकरणात् । यतो घ्रेयमप्यत्र वेत्तिवेत्युपद्रवत्वात् । अंजनमप्यत्र तद्विहितमेव । यतः । रोगोपद्रवः पीतलोहिततीक्ष्णस्तन्निर्वर्णत्वात् । तर्पणं सन्तर्पणं । तृष्णादाह ज्वरोपद्रवत्वात् । यतः । तृष्णादाहज्वरादीनां स्पर्शदोषेण सीदतीति । क्रियासु असमर्थो भवतीत्यर्थः । अतएव तर्पणमिति । अपराण्याह-सर्पिरिक्षुरसमिवेत तृतीयः । मधुराम्लो रसो वापीति । चतुर्थः । वमनाय प्रदापयेदिति वमनप्राबल्यम् । तन्त्रान्तरोक्तं यथा वमनात्कोष्ठशुद्धिः स्याद्धूमगन्धश्च नश्यति । विधिनाऽनेन शाम्यन्ति सदनं क्षवथुज्वराः इत्यादि ॥

आढ़मल्लः

तथा अकाले असमये पीतो धूमः उपद्रवान् कुर्यात् । तत्र धूमोपद्रवे किं विहितं, तत्राह-तत्र धूमोपद्रवे सर्पिषः पानं इष्टं उचितं नावनं नस्यं तथांजनतर्पणं मण्डादिकं सर्पिर्घृतपानं इक्षुरसं पौण्ड्कादीनां रसं द्राक्षा गोस्तनी पयो दुग्धं गव्यं वा, शर्करांम्बु वा सितोदकं वा, मधुराम्लो रसो वा, शमनाय दापयेत्, सर्पिषः पुनरुक्तिर्विशेषघृतप्रयोगार्थम् । द्राक्षादिमधुद्रव्ये गृहीतेऽपि पुनर्मधुरग्रहणं तस्यैव विशेषयोगार्थम् । काशीराम

बाधिर्यमान्ध्यं मूकत्वं रक्तपित्तं शिरोभ्रमम् ।
अकाले चातिपीतश्च धूमः कुर्यादुपद्रवान् ॥
तत्रेष्टं सर्पिषः पानं विरेको रक्तमोक्षणम् ॥

वंगसेने धूमपानाधिकारः

हि० व्या०—आचार्य चक्रपाणिदत्त के अनुसार असमय में धूमपान करने या अतिमात्रा में धूमपान करने से रक्तपित्त, अन्धता, बधिरता, तृष्णा (प्यास) मूर्च्छा, मद तथा मोह आदि विकार उत्पन्न होते हैं । ऐसी अवस्था में शीतल चिकित्सा करनी चाहिए । आचार्य चक्रपाणिदत्त ने अष्टाङ्गहृदय से पाठ को ही उद्धृत किया है । आचार्य शाङ्गधर ने अनुसार अतिधूमपान या अकाल में किए गए धूमपान जन्य उपद्रव में घृतपान, नस्य, अंजन एवं तर्पण कारक रूक्ष योगों की योजना करनी चाहिए । गन्ने का शीतल रस, द्राक्षाजल, मीठा दूध या चीनी का शर्बत पिलाना हितकारक है । आचार्य वंगसेन ने अन्य उपद्रव के साथ मूकत्व की विशेष गणना की है । एवं चिकित्सा में घृतपान, विरेचन एवं रक्तमोक्षण कर्म कराने का निर्देश किया है ।

धूमोपघातजन्योपद्रव चिकित्सा सूत्रम्

तत्र वात कफानंतर संसृष्ट पित्तमुपलक्ष्य यथास्वं सर्पिः कषाय पान नस्या-स्यालेपांजनपरिषेकास्निग्ध रूक्षशीतान् प्रयुंजीत। एतेन सर्वधूमोपघात प्रतीकारा व्याख्याताः।

अ० सं० सू० अ० ३०

एषु च भ्रमादिषु सर्वथा पित्तकोपः। तच्च पित्तं वायुना कफेन वा संसृष्टमुपलक्ष्य यथायोगं सर्पिपानादीन्युपयुंजीत। अनेन ये केचन धूमहेतुका उपघाता व्याधयस्तेषां प्रतीकारा व्याख्याताः पित्त प्राधान्यादित भावः॥

हि० व्या०—उपर्युक्त बताए गए उपद्रवों में वात अथवा श्लेष्मा से युक्त पित्त का विचार करते हुए यथावश्यक घृतपान, हिम आदिकषावपान, आवश्यक नस्य, मुखलेप, अञ्जन स्नान तथा शिर आदि का परिषेक साथ ही स्निग्ध अथवा रूक्ष किन्तु शीतोपचार करना चाहिए। इसी सूत्र से समस्त उपद्रवों का चिकित्सा सूत्र बताया गया है।

अवस्थाभेदेन धूमपान निर्देशः

न चोनाष्टदशो धूमः

इदानीं धूमपानार्थं ईषिकाविधानमाह

अर्थेषिकां प्रलिम्पेच्च सुश्लक्षणां द्वादशांगुलाम्।
धूमद्रव्यस्य कल्केन लेपश्चांष्टांगुलः स्मृतः॥
कल्कं कर्षमितं लिप्त्वा छायाशुष्कं च कारयेत्।
ईषिकामपनीयाथ स्नेहाक्तां वर्तिमादारात्॥
अंगारैर्दीपितां कृत्वाधृत्वा नेत्रस्य रन्ध्रके।
वदनेन पिबेद्धूमं वदनेनैव संत्यज्येत्॥
नासिकाभ्यां क्षिप्त्वा कल्कमंगारदीपितम्।
छिद्रे नेत्रं निवेश्याथ व्रणं तेनैव धूपयेत्॥

शा० संहिता उ० अ०६ भावप्रकाश (धूमपान विधिः।)

इदानीं वर्तिविधानं दर्शयितुमाह-अथ ईषिकां प्रलिम्पेदिति। कोर्थः पिष्टैर्भेषजैः कर्पटावयवं प्रलिप्य तेन शरकाण्डमंगुलीसममष्टांगुलमानेन वेष्टयित्वा ततः परिशोष्य वर्तिः कार्या। अवशिष्टं चतुरंगुलं शरकाण्डग्रहणार्थमुक्तम्। स्नेहकादिष्वति वर्तिः करणम्। ईषिका काशमुच्यते। पागुरि इति लोके। अथ कथं वर्तिः प्रज्वाल्य नेत्रे धार्या तत्प्रकारमाह। अदलादिति। दलमत्रपत्रलेपं।

ईषिकावर्तिविधानं च प्रायोगिके प्रधानतमं। रोपणीया वर्तिरियम्। षड्भागगोधूमेन नेत्रमावर्त्यात्मानं प्रशस्यते इति। केचित् स्नेहेनाभ्यज्येदग्निना दग्ध्वा नेत्रे निवेश्य धूमः पेयः। यदा वदनेन मुखेन कृत्वा धूमं पिबेत् तदा मुखेनैव वमेदित्यर्थं। नासिकाभ्यां पीतमपि मुखेनैव वमेदित्यर्थः नासिकाभ्यामिति द्विवचनेन नासिकारन्ध्रद्वयेन सम्बन्धः। तत इत्यनेन मुखपीतेनेतरमेव नासिकायां पुनः पिबेत् इति। ननु तन्त्रान्तरे नासिकापीतं पश्चान्मुखपीतं धूम दोष करं भवति तथाच-मुखपीतं मुखेनैव नस्तः पीतं च नस्ततः। यो वमेन्नस्ततो धूमं नस्तपीतं मुखेन वा। स नेत्रकर्ण नासास्यसंश्रयात् लभते गदान् इति। तत्कथमत्र नासिकाभ्यां ततः पीत्वा मुखेनैव वमेत् सुधीरिति ग्रहणं उच्यते। सुधीरित्युदीरणेनाऽत्र विरोधपरिहारः कृतः। यतो धूमपानभेदेन रोगविशेषेपि कुत्रचिन्मुखपीतं कुत्रापि नासिकापीतं वा। मुखनासिकापीतमिति। तथाचोक्तं-उरःकण्ठाक्ष्ये रोगे मुखेनैव पिबेन्नरः। शिरः कण्ठाक्षिनासौष्ठे नासया सततं पिबेत्। तिर्यक्त्वे तु मुखेनैव नासया न कथंचन। प्रगाढं पानमिच्छन्ति धूमस्यांशेन तद्विद इति। कथं पिबेदित्यपि दर्शनात् यथा तत्र प्रायोगिकं त्रींस्त्रीनुच्छ्वासानाद्द्यात्। प्राणेन प्रीणयेत् त्रींश्चतुरोवेति। स्नैहिकं मुखनासाभ्यां यदश्रु प्रवर्तनम्। नासिकाभ्यां वैरेचनिकमादोषदर्शनात् मुखेनैव कासहरं श्वासशुद्धिलाघवं शिरसि समः एवं विचार्य मुखपीतं मुखेनैव वमेत्। नासापीतं च नासिकयैव। उभाभ्यां पीतं मुखेनैव वमेदित्यदोषः। अतएव सुधीपदनिरूपणमत्र विरोधपरिहाराय बोद्धव्यम्। इदानीं धूमपानविषयत्वेन घ्राणधूपनप्याह-कल्कमत्र निम्बवचादीनां विहितम्। यतः व्रणे निम्बवचादीनां धूपनं संप्रशस्य इति। छिद्रे इति शरावसंपुटरन्ध्रे। नेत्रमिति नाडीविशेषः। स धूमपानार्थे कथितैव तद्वदत्रापि ज्ञेयम्। व्रणधूपनं तु वेदनास्रावशान्तये इति। अथवा पूर्वमुक्तं शमनादिधूमभेदं विहितं। अथवा—शरावसंपुटयुतं व्रणधूमं नयेद्व्रणे। धूमनेत्रेण मतिमान् वेदनास्रावशान्तये इति॥ आढमल्लः॥

ईषिका शरतृणविशेषजन्या या दशांगुलानां धूमद्रव्यकल्केन लिप्येत् पुनः शुष्के वर्तिस्नेहोक्तं कृत्वा ईषिकां अपनीय दूरीकृत्य नेत्रस्य नलिकारन्ध्रे धृत्वा दीपितां कृत्वा वदनेन धूमं पिबेत्। वदनेनैव त्यजेत्। ततः नासिकाभ्यां एवं कृत्वा वदनेनैव वमेत्। व्रणधूमस्तु दीपनकल्कशरावे धृत्वाछिद्रे नेत्रं निवेश्य व्रणं धूमयेत् अयं धूमपानविधि। काशीराम।

हि० व्या०—शमन धूमपान के लिए ४० अंगुल मृदु याने बृंहण धूमपान के लिए ३२ अंगुल, तीक्ष्ण या रेचन धूमपानार्थं २४ अंगुल, कासघ्न धूमपान के लिए १६ अंगुल तथा वामनीय धूमपानार्थं १० अंगुल होवे। व्रण-धूपनार्थं नाड़ी की लम्बाई भी १० अंगुल हो तथा मुटाई मटर के बराबर एवं अन्दर का छेद कुलथी के जाने के समान हो।

एक ईषिका (तृण विशेष जिसका कलम बनता है) लेवे और धूम पिलाने के द्रव्यों का एक कर्ष कल्क लेकर उसके ऊपर आठ अंगुल पर्यन्त लेप करे। फिर छाया में सुखा धीरे से ईषिका को निकाल लेवे। फिर इस वर्ति पर घृत का लेप कर देवे। इसके एक सिरे पर अंगार से अग्निसंयोग करे और दूसरे सिरे को धूमनलिका के छेद से संयुक्त करे। (वर्त्ति का छिद्र बराबर खुला रहे) फिर नली के दूसरे सिरे पर मुखसंयोग कर धूमपान करे एवं मुख के ही रास्ते से धुआं छोड़े। नासिका द्वारा भी धूम पीकर मुख से ही धुआं त्याग करे। व्रणधूपनार्थ शरावसंपुट के अन्दर धूपद्रव्य का कल्क अंगारों से प्रदीप्त कर रखे और छिद्र के साथ नलिका का संयोग कर उसके द्वारा व्रण को धूपित करे।

षोडशोऽध्यायः

प्रतिसारण प्रकरणम्

प्रतिसारण का घर्षण भाव में अर्थ ग्रहण किया गया है। यद्यपि शल्य-शालाक्य में भी विविध रोगार्थ इस उपक्रम का क्षारकर्म के प्रकाररूप में उल्लेख आया है तथापि यहां प्रकरणानुसार कफज, गलशुण्डिका, मुख पाक, दन्तशूल आदि रोगों तथा अभिष्यन्द एवं अधिमन्थादि नेत्र रोगों में युक्ति युक्त प्रयोग किए जाने का उल्लेख किया गया है।

इसमें कल्क, रसक्रिया तथा चूर्ण रूप में द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है। रोगानुसार उपयुक्त द्रव्यों के क्वाथ को पुनः पकाकर बनाया गया अवलेह सदृश गाढ़ा द्रव रसक्रिया कहलाता है। ताजा अथवा सूखे द्रव्यों की यथाविधि निर्मित चटनी जैसी कल्पना कल्क कहलाता है। सूखे द्रव्यों को पीसकर निर्मित सूक्ष्म भाग चूर्ण कहा जाता है। कभी-कभी एक ही योग की तीनों कल्पनाएं भी बनाई जा सकती हैं यथा त्रिफला क्वाथ, कल्क एवं चूर्ण।

अंगुली शलाका विविध पत्र अथवा किसी उपयुक्त वस्तु से केवल, मधु अथवा अन्य औषध कल्पना को पीड़ित स्थानों पर मलना, रगड़ना, पोतना अथवा फिराना ही प्रतिसारण है। कुछ विद्वानों ने प्रतिसारण से मंजन अर्थ भी लिया है। वर्तमान में विविध प्रकार के क्षारीय या अम्लीय तरलों को रुई लगी सलाई पर लगाकर फिराने का अथवा विविध पेष्ट या मंजन भी प्रतिसारण के ही परिवर्तित प्रकार हैं।

प्रतिसारण शब्दस्य निरूक्ति परिभाषा च

प्रतिसारणम्—घर्षणम् उपक्रमः (आ० श० कोष)

प्रतिसारणम्—अंगुल्याघर्षणम् (आ० रसायन व्याख्या)

प्रतिसारणम्—प्रतिसारयति—प्रति—सृ—णिच् ल्युट

हि० व्या०—उपयुक्त विवरण से ज्ञात होता है कि प्रतिसारण का अर्थ घर्षण भाव हेतु लिया जाता हैं। सुश्रुत के क्षार कर्म में प्रसारणीय भेद दिया है जिसका अर्थ विशिष्ट त्वचा रोगों पर क्षार द्वारा घर्षण करना है।

यहां प्रतिसारण से मुख में मंजन के रूप में कल्कौषध, रसक्रिया तथा पीसा गया द्रव्य चूर्ण रूप में लेना उपयुक्त है।

प्रतिसारण परिभाषा

दन्तजिह्वा मुखानां य चूर्णकल्कावलेहकैः ।
शनैर्घर्षणमंगुल्या, तदुक्तं प्रतिसारणम् ॥
(भाव प्रकाश-पंचकर्म चिकित्सा)

हि० व्या० —दांत, जीभ अथवा मुख के आन्तरिक मसूड़े आदि अवयवों के दोष प्रतिकार हेतु अथवा स्वच्छ एवं बलवान बनाने हेतु जो चूर्ण, कल्क या अवलेह अंगुली की सहायता से मला जाता है या घर्षण किया जाता है उसे प्रतिसारण कहते हैं। इसी भाव को शार्ङ्गधर में इस प्रकार व्यक्त किया है—

कल्कोऽवलेहश्चूर्णं च त्रिविधं प्रतिसारणम् ।
अंगुल्यगृहीतं च यथास्वं मुखरोगिणाम् ॥

शा० उ० अ० ११।१८

मुखे अन्तः प्रतिसारणीयानां चतुर्विधद्रव्याणां प्रतिसारणप्रयोगयोगातियोगानां कवलग्रहवत् संकेतश्च ।

विभज्य भेषजं बुद्धया कुर्वीत प्रतिसारणम् ॥
कल्को रसक्रियाक्षौद्रं चूर्ण चेति चतुर्विधम् ॥
अंगुल्यग्रप्रणीतं तु यथास्वं मुखरोगिणाम् ॥

सु० चि० अ० ४०।६६-७०, वंगसेन कवलाधि, श्लोक १३

लुप्तादिग्रहणगृहीतस्य प्रतिसारणस्य समासेन विधानमुद्दिशन्नाह-विभज्येत्यादि । रसक्रिया फाणिताकृतिः । भेषजं रसगुणवीर्यं विपाकैर्वातादि दोषान् तदारब्ध रोगाश्च प्रविभज्य, यथास्वं यत्र प्रतिसारणं हितं तत्कृत्वैव मुखरोगिणां कुर्वीत कल्कादि भेदेन चतुर्विधं प्रतिसारणम् । अंगुल्यग्रप्रणीतत्वेन कोलास्थिमात्रत्वं प्रतिसारणस्य सूचयति । तथा च शालाक्ये "कोलास्थिमात्रेण पिण्डेन यथादोषं यथाव्याधि पंच सप्त वा वारान् हीनमध्यमोत्तमेषु व्याधिषु च प्रतिसारणं कुर्वीत । न चैनमतिघर्षयेत् । अतिघर्षणादोषचोषोदाह-क्लेदश्वयथुतृष्णाभक्तच्छन्दवाक्संगा भवन्ति, असम्यकप्रतिसारणात् पैच्छिल्य-गुरुत्वानन्नाभिलाषप्रमोहविकारानुपशयाः सम्यक्प्रतिसारणाद्वैशद्यं लाघवं "क्षवथुरप्रसेकेऽन्नाभिलाषश्च" इति । डल्हण

हि० व्या०—सुश्रुत में चार प्रकार की कल्पनाओं के रूप में प्रतिसारण के चार प्रकार बताये हैं—कल्क-रसक्रिया (फाणित जैसी कल्पना), क्षौद्र (दरदरा चूर्ण) तथा चूर्ण रूप में। इनको लगाने की विधि इस प्रकार है —चिकित्सक को चाहिए कि रोग एवं रोगी का स्वरूप तथा प्रकृति का विचार कर अपनी बुद्धि चातुर्य से प्रतिसारण प्रकार का चयन कर रोगी को अंगुली में चूर्णादि लगाकर धीरे धीरे घर्षण करने कोक हैं।

मुखस्यान्तः प्रतिसारण प्रकाराः

कल्को रसक्रिया चूर्णास्त्रिविधं प्रतिसारणम् ॥

अ० हृ० सू० २२।२०

कल्कादिभेदेन प्रतिसारणं त्रिधास्यात् । कल्को जलादिपिष्टः । माक्षिकादिना यद्घनीक्रियते द्रव्यं सा रसक्रिया । चूर्णा प्रथितमेव । अरुणदत्तः

त्रिविधं त्रिप्रकारं प्रतिसारणं प्रयुंज्यात् । कफरोगे गण्डूषविहितौषधैस्त्रिविधं त्रिप्रकारं प्रतिसारणं कल्करसक्रिया चूर्णादिभेदेन । कल्को द्रवद्रव्यैः पिष्टचूर्णैर्भण्यते तथा चागमः । कल्कः पिष्टो द्रवाप्लुत इति । रसक्रियायाः । क्वाथकल्केनक्वथितैरौषधैः सान्द्रीभूतैर्लेहेन रसक्रियोच्यते । चूर्णः शुष्क एव पिष्टः ।

चंद्रनन्दनः

प्रतिसारणं तु त्रिविधं गण्डूषोदितानां द्रव्याणांरसक्रिया कल्कश्चूर्णश्च । तदभिष्यन्दाधिमन्थ गलशुण्डिकादिषु युक्तया प्रयोज्यम् । अतिसारणादूषा शोषदाह क्लेद शोफादयो भवन्ति । अ० सं० सू० अ० ॥३१॥

दाह ऊषः । इन्दुः ।

हि० व्या० —कल्क, रसक्रिया एवं चूर्ण रूप प्रतिसारण तीन प्रकार का होता है। यहां सुश्रुत के अनुरूप चूर्ण के क्षौद्र एवं चूर्ण दो पृथक् भेदों का उल्लेख नहीं है। इनमें कल्क गीले द्रव्यों को पीसकर या सूखे द्रव्यों को जल के साथ पीसकर तैयार किया जाता है, रसक्रिया, क्वाथ, कल्क क्वथित अथवा फाणित जैसी कल्पना; एवं चूर्ण सूखे द्रव्यों को पीसकर तैयार किया गया महीन चूर्ण।

कफरोगे प्रतिसारण द्रव्याणां संकेतः

युंज्यात्तत् कफरोगेषु गंडूषविहितौषधैः ॥

अ० हृ० सू० २२।२१

तत्प्रतिसारणं श्लेष्मरोगेषु गंडूषोक्तैरौषधैर्योज्यम् । सामान्योक्तावपि कफरोग विषयत्वात् । शोधनंगडूषोक्तैरिति वेद्यम् । अरुणदत्तः

तत् त्रिविधमपि कफरोगेष्वभिष्यन्दाधिमन्थ गलशुण्डादिषु युंज्यात् गण्डूष-विहितौषधैः गण्डूषोदितैर्द्रव्यैः । चन्द्रनन्दनः

प्रतिसारणमंगुल्याघर्षणं संग्रहे तु तदभिष्यंदाधिमंथ गलशुण्डिकादिषु युक्तया प्रयोज्यम् । अतिप्रसारणादूषाशोषदाहक्लेदशोफादयो भवंतीति ।

हेमाद्रिः ।

हि० व्या० —विविध प्रतिसारणों का प्रयोग प्रायः मुख के कफज रोगों में किया जाता है तथा इस कर्म हेतु विविध कल्पनाओं के रूप में उन्हीं द्रव्यों का

टि०—प्रतिसारणातियोगादूषादयो भवन्ति । स्वेदारतिमान्

प्रयोग कराया जाता है जिनका प्रयोग कवल एवं गण्डूष में किया जाता है। पाठक द्रव्यों का वर्णन उन्हीं प्रकरणों में पढ़ें। विस्तार भय से यहां नहीं दिया जा रहा है।

प्रतिसारण योग्य रोगाः

तानेव शमयेद्व्याधीन् कबलोऽयं प्रयोजितः।

सु० सू० अ० ४०।७१

तदभिष्यन्दधिमन्थगलशुण्डिकादिषु युक्त्या प्रयोज्यम्।

अ० सं० सू० अ० ३१।१३

हि० व्या०—प्रतिसारण के लिए भी उन्हीं व्याधियों एवं रोगियों को लेना चाहिए जिनको कवलग्रह के लिए लिया जाता है।

अ० सं० में स्पष्ट रूप से रोगों का उल्लेख करते हुए अभिष्यकंद, अधिमन्थ नेत्र रोग एवं गल शुण्डिका नामक गल रोग के लिए उपयोगी बताया है। इनके अतिरिक्त रोगानुक्रम में अनेक मुख, दन्त, जिह्वा एवं गल रोगों में प्रतिसारण का प्रयोग बताया गया है।

प्रतिसारण योगातियोग वर्णनम्

तस्य योगातियोगं च कबलोक्तं विभावयेत्।

सु० चि० अ० ४०।७०, वंगसेन

वैरस्यं मुखदौर्गन्ध्यं मुखशोषं तथा तृषाम्।
अरुचिं दन्तपीडां च निहन्ति प्रतिसारणम्॥
हीने नाड्यकफोत्क्लेद-शावरसज्ञानमेव च।
अतियोगान्मुखे पाकः शोषस्तृष्णा वमिः क्लमः।. भावप्र०

अति प्रसारणादूषा शोष, दाह, क्लेद शोफादयो भवन्ति।

अ० सं० सू० अ० ३१।१३

हि० व्या०—सुश्रुत ने इसके योगातियोग के लक्षण कवलग्रह के समान बताये हैं। यही पाठ वंगसेन में भी है।

अष्टाङ्ग संग्रह कार ने अतियोगातियोगों का नामोल्लेख करते हुए—दाह, शोप, क्लेद तथा शोथ आदि उत्पन्न होना बताया है।

भावप्रकाश के अनुसार—इसके सम्यक् योग से विरसता, मुख की दुर्गन्धि, मुख शोष, तृषा, अरुचि एवं दांतों की पीडा नष्ट हो जाती है।

हीनयोग से मुख में जड़ता कफ की वृद्धि तथा रस का अनुभव नहीं होना, तथा अतियोग से मुख में पाक, शोष, तृषा, छर्दि एवं क्लम उत्पन्न हो जाता है।

प्रतिसारणोत्तरं पथ्यसंकेतश्च

तानेव शमयेद्व्याधीन कवलो यानपहोति।
दोषघ्नमनभिष्यन्दि भोजयेच्च तथा नरम्॥

सु० चि० अ० ४०, वंगसेन-कवलाधि १५

दोषघ्नमिति येन दोषेण वातादिना मुखरोग आरब्धः। अत्र च कृष्णात्रेयसप्तवर्षमुपादाय नस्यकर्म चतुर्विधम्। प्रतिमर्शोर्ध्व वमनं जन्मप्रभृति शस्यते धूमो द्वादवर्षस्य कवलः पंचमे ततः। दोषव्याधि बलावस्था वीक्ष्य चेतान् प्रयोजयेत इति।

डल्हणः।

हि० व्या०—कवल के समान प्रतिसारणके पश्चात् भी दोषनाशक,अभिस्यन्दि गुण रहित भोजन को रोगी के लिए व्यवस्था करानी चाहिए। प्रायः तरल रूप में तैयार किए खिचड़ी, दलिया, पेया, विलेपी आदि जो अभिव्यक्ति न हो देने हितकारी है।

सप्तदशोऽध्यायः

मुखालेप प्रकरणम्

किसी भी व्यक्ति का व्यक्तित्व उसकी मुखाकृति से ही प्रदर्शित हो जाता है। प्राणी मात्र में सुन्दरता के कारण ही मनुष्य उसकी तरफ आकर्षित होता आया है। क्योंकि मानव सर्वदा सुन्दरता का उपासक रहा है। मुख सुन्दरता के लिए अनेक उपाय वर्णित हैं उनमें मुखालेप भी एक प्रक्रिया है।

रोगादि कारणों से मुख की सुन्दरता में मलिनता आ जाने पर निवारण हेतु अनेक प्रकार के मुखालेपों का संहिता एवं संग्रह ग्रन्थों में प्रकरणानुसार वर्णन आया है। उनमें से कतिपय लेपों के साथ विविध रोगों में प्रयुक्त एवं दोषानुसार वर्णित विविध प्रकार के लेपों का यहां वर्णन किया गया है। प्रायः मुख दूषिका नीलिका आदि रोगों में सुन्दरता की हानि होती है।

वर्तमान में प्रसाधनसामग्री में प्रयुक्त विविध क्रीम पाउडर आदि भी मुखा लेप के ही प्रकार है। विविध प्रकार के लेपों के लगाने की विधि का दोष, देश, काल, मात्रा परिणाम एवं रोगानुसार इस प्रकरण में वर्णन किया जा रहा है। शरीर के अन्य अंगों पर भी प्रयोग किए जाने वाले यथावश्यक विविध प्रकार के लेप, प्रलेप, प्रदेहादि का शल्य-शालाक्य एवं अन्य अंगों में प्रकरणानुसार वर्णन किया गया है। उनका विवरण सम्बन्धित प्रकरणों में ही दृष्टव्य है।

लेप वर्णनम्

लिप्त, लेप और लेपन यह तीन आलेप के नाम हैं। लेप तीन प्रकार का होता है – १. वातादि के प्रकोप को दूर करने वाला दोषघ्न। २. कुत्ते, गीदड़ सांप, बिच्छू या भिलावे प्रभृति विषों के असर को नाश करने वाला विषहा, ३. शरीर में कान्ति और सुन्दरता उत्पन्न करने वाला तथा नीलिका, व्यंग आदि को दूर करने वाले मुख लेप वर्ण्य।

इन तीनों का प्रमाण क्रमशः इस प्रकार है कि दोषघ्न लेप की मुटाई अंगुल के चौथाई जितनी एवं वर्ण्य लेप की मोटाई आधी अंगुल होवे। ये लेप जब तक गीले रहें तब तक ही दोष को नष्ट करते हैं, सूखने पर छवि याने उस स्थान के चमड़े की रंगत को नष्ट करते हैं।

तत्र तावत्प्रलेपनामान्याह

आलेपस्य च नामानि लिप्तो लेपश्च लेपनम्।
दोषघ्नो विषहा वर्ण्यो मुखलेपस्त्रिधा मतः॥
त्रिप्रमाणश्चतुर्भागंत्रिभागार्धांगुलोन्नतः ।
आर्द्रो व्याधिहरः स स्याच्छुष्को दूषयतिच्छविम्॥

शा० उ० ११।१-२

त्रिधा मत इत्यनेन एको दोषघ्नः द्वितीयो विषहा कथितः अपरस्तु वर्ण्य इति त्रिधा संज्ञोस्मिन्मतेऽन्यत्रापि प्रसिद्ध एव। स एक वर्ण्यो मुखलेपः कथितः। नतु चत्वारो भेदाः वक्ष्यमाणत्वात् त्रिप्रमाण इति तेषां दोषघ्नादीनां त्रयाणां त्रय एव परिमाणा यथाऽनुक्रमेण बोद्धव्याः। स कथंभूतः। चतुर्भागत्रिभागार्धांगुलोन्नत इति। एतेन किमुक्तं दोषघ्नो लेपः अंगुलस्य चतुर्भागप्रमाणेनोत्सेधः कुर्यादित्यभिप्रायः। एवं विषहालेपस्तु त्रिभागोत्सेधः कार्यः। त्रिभागतांगुलस्येति संबन्धः। वर्ण्यो लेपश्चार्धांगुलोन्नत एव कुर्यात्। अथार्द्रशुष्कयोः फल माह। आर्द्रो व्याधिहर इत्यादि। स पूर्वोक्तो लेपो यावदार्द्रो भवति तावद्व्याधिहरो ज्ञेयः यदा शुष्को भवति तदा न विदूषयति। छविः छाया साच वर्णप्रभोपलक्षिता। तथाच वर्णप्रभाश्रिता या च छाया सा परिकीर्तितेति। नतु छायाप्रभयोस्तु को भेदः। उच्यते वर्णमात्रप्रतिच्छायाप्रभा वर्णप्रकाशिनी। आसन्नात् लक्ष्यते छाया प्रभा दूराच्च लक्ष्यते इति। न केवलं वर्णप्रभाच्छायां लक्षणभेदः। संख्याभेदोप्यस्तीति। तद्यथा चतुर्धा वर्णः गौर कृष्णः श्यामः गौरश्याम इति प्रभा च सप्तविधा रक्ता पीतासिता श्यामा हरिता पाण्डुरा सितेति। छायापि पंचविधा स्निग्धा विमला रूक्षा मलिना संक्षिप्ता। इति। आढ़मल्लः।

अथ मूर्धतैलकर्णपूरणविधः तत्रादौ लेपः लिप्तो लेपनं तानि त्रीणि आलेपस्य नामानि भवन्ति। नामकथनं संज्ञार्थं पर्यायकथनार्थं च। स लेपस्त्रिधा त्रिप्रकारः मतः कथितः। एकः दोषघ्नः शोथादिनाशकः। दोषशब्देनापि रोगा उच्यन्ते। द्वितीयो विषहा भल्लातादिविषनाशकः। तृतीयो वर्ण्यः मुखव्यंगादिवर्णकरः। एवंभूतो मुखलेपः मुख्यो लेपः त्रिधा। मुख्य आदौ द्वाराभ्युपाययोः इति। पुनः लेपस्त्रिप्रमाणः त्रीणि प्रमाणानि यस्य सः। तद्विधानमान चतुर्भागः अंगुलस्य च त्वारो भागा यस्य सः पूर्णांगुल इत्यर्थः। सतु दोषघ्नः। त्रिभागः त्रीणी अंगुलानि यस्य सः त्रिभागा सतु विषहा। अर्धांगुलोत्तमः अर्ध अंगुलप्रमाणउन्नत उच्चः, सतु वर्ण्यः वर्णकरः। स आर्द्रः अशुष्कः छवि कान्तिं दूषयति।

काशीराम

मुखालेपस्य सामान्य गुणाः

मुखालेपनशीलानां दृढं भवति दर्शनम्।
वदनं चाऽपरिम्लानं श्लक्ष्णं तामरसोपमम्॥

अ० हृ० सू० अ० २२।२२, अ० सं० सू० अ० ३१।१५

मुखालेपाभ्यासवतां नराणां दर्शनं दृष्टि दृढ स्यात् । मुखं च विकसितमिव तथा कोमलं पद्मतुल्यं च जायते ॥ अरुणदत्तः ।

वदनं मुखमपरिम्लानमनष्टकान्तिश्लक्ष्णमपरूषम् । तामरसोपमं पद्मकान्तितुल्यम् । चन्द्रदन्दन ।

हि० व्या०—जो व्यक्ति मुखालेप का प्रयोग करते हैं उनकी दृष्टिशक्ति बलवान होती है । मुखमंडल कान्तिमान रक्तवर्ण तथा चिकना हो जाता है । मुख मण्डल का वर्ण लालकमल के समान हो जाता है ।

मुख को रूक्ष, शीत तथा उष्ण वायु के प्रभाव से एवं प्रदूषण जन्य विष प्रभाव से बचाने के लिए, नवनीत, क्रीम अथवा वैसलीन तैल आदि का प्रयोग किया जाता है । वह भी मुखालेप का ही प्रकार है । इनमें बहुत से लेप यथा कुंकुमादि लेप, हरिद्रादि लेपादि विशिष्ट रोग प्रतिकार हेतु प्रयुक्त किए जाते हैं । ऋतु परिवर्तन के साथ वातावरण में भी स्वाभाविक परिवर्तन आ जाता है । अतः शास्त्रों में ६ ऋतुओं के अनुरूप स्वस्थ व्यक्तियों के लिए पृथक-पृथक लेप भी यथास्थान बताये हैं जो हमारी दिनचर्या का ही एक अंग है ।

मुखालेप विशेष गुणाः

स च हंति सुयोजितः ।
अकालपलितव्यंगबलीतिमिरनीलिकाः ॥

अ० हृ० सू० अ० २२, अ० सं० सू० अ० ३२।-

स च मुखालेपः सुयोजितो विधिना संवितोऽकालपलितादीन् पराकरोति ॥ अरुणदत्तः

स मुखालेपः सुयोजितः सम्यक्प्रयुक्तोऽकालपलितादीन् व्याधीन् हन्ति । अकालपलितं वयस्थस्य या जरा । अकाले वल्यः अकाले त्वक्सङ्कोचाः तिमिरं नेत्र रोगः । नीलिका नीलच्छाया ॥ चन्द्रनन्दनः

हि० व्या०—विधिपूर्वक किया गया मुखालेप बिना समय के ही युवावस्था में बाल पकना, व्यंग बलि, मुख की छुरियां तिमिर रोग तथा नीलिका को नष्ट करता है ।

त्रिविधमुखालेप वर्णनम्

मुखालेपो त्रिविधो दोषघ्नो विषघ्नो वर्ण्यश्च ।
मुखालेपस्त्रिधा दोषविषहा वर्णकृच्च सः ॥

अ० हृ० सू० अ० २२।२२, अ० सं० सू० ३१।१४

जिस लेप का मुख पर प्रयोग किया जाता है । वह तीन प्रकार का होता है (१) दोष हर (२) विषहर तथा (३) कान्तिकारक । अष्टांग संग्रह एवं हृदय में पाठ समान ही है ।

मुखालेप प्रकार

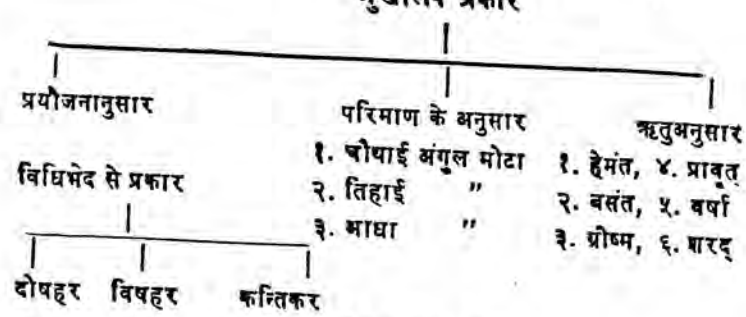

दोषानुसारं मुखालेप भेदः

उष्णो वातकफे शस्तः शेषेष्वन्यर्यशीतलः ॥

अ० हृ० सू० अ० २२।१४

हि० व्या०—यह मुखालेप वातज एवं कफज विकारों को दूर करने के लिए उष्णवीर्य द्रव्यों से तैयार किया जाता है एवं उष्ण ही लगाया जाता है तथा शेषे अर्थात शेष दोनों प्रकारों, विषविकारों में तथा मुख मण्डल की कांति बढ़ाने के लिए अति शीत वीर्य द्रव्यों से तथा शीतल ही प्रयोग में लाया जाता है । इसी विधि को उपयोगी बताया गया है ।

येषु मुखालेपो न प्रयोज्यः तेषां संकेतः

न योज्यः पीनसेऽजीर्णे दत्तनस्ये हनुग्रहे ।
अरोचके जागरिते··· ॥

अ० हृ० सू० २२।१७

हि० व्या०—मुखालेपका प्रयोग प्रायः पीनस रोग, अजीर्ण, नस्य देने पर, हनु ग्रह रोग में, अरूचि होने की स्थिति में, तथा जो व्यक्ति अधिक देर तक जागरण करता रहा हो उसे नहीं लगाना चाहिए ।

मुखालेपस्य उत्सेध परिमाणभेदेन गुणानुसारं उत्तममध्यमाधमत्वम्

त्रिप्रमाणश्चतुर्भागत्रिभागार्धांगुलोन्नतिः ।

अ० हृ० सू० २२।१५

स मुखालेपस्त्रिप्रमाणः त्रिविधं प्रमाणं यस्य । चतुर्भागश्च त्रिभागश्चार्धं च तान्यङ् गुलस्य प्रमाणोवतिरूत्सेधो यस्य स तथा विधिः । एवमङ्गुलचतुर्भागोत्सेधः कनीयान् । मुखालेपोऽङ्गुल-त्रिभागोत्सेधो मध्यमः । अर्धाङ्गुलोत्सेधः प्रकृष्टो मुखालेपः ॥ चंद्रनन्दनः

हि० व्या०—मुखा लेप के तीन प्रकार से परिमाण बताये हैं कि लेपों की मात्रा कितनी मोटी हो। यह विधि लेप में प्रयुक्त औषध द्रव्यों के लेपन की मोटाई या ऊंचाई तीन प्रकार की होती है—१. चौथाई अंगुल मोटा, २. तिहाई अंगुल मोटा तथा ३. अर्धांगुलमोटा।

हेमन्तादि ऋतुभेदेन प्रयोज्यानां मुखालेपानां योगाः

कोलमज्जा वृषान्मूलं शाबरं गौरसर्षपाः।
सिंहीमूलं तिलाः कृष्णा दार्वीत्वङ् निस्तुषायवाः।
दर्भमूलहिमोशीर शिरीषशितंडुलाः ।
कुमुदोत्पलकहारदूर्वामधुक चंदनम्।
कालीयकतिलोशीरमांसीतगरपद्मकम् ।
तालीसगुंद्रापुंड्राह्वयष्टीकाशनतागुरूः, ।
इत्यर्धोदिता लेपा हेमंतादिषु षट् स्मृताः।

अ० हृ० सू० अ० २२।१८-२१

कोलमज्जादयोऽर्धश्लोकोक्ताः षण्मुखालेपा इत्येतं षट्सु हेमंतादिषु ऋतुषु स्मृताः। मुनींद्रैरिति शेषः। तत्र बदरमज्जादयो हेमंते। व्याघ्र्यादयः शिशिरे। दर्भमूलादयो वसंते। कुमुदादयो ग्रीष्मे। कालीयकादयः प्रावृषि। तालीशादयः शरदि॥ अरुणदत्तः।

कोलमज्जेत्यादि। पश्चाल्लिखितं तदर्थमाहइत्यनान्तरोक्तेन प्रकारेणर्धं चोदिता अर्धश्लोकेन समर्पिता अर्धश्लोकविहिता। मुखालेप हेमन्त शिशिरवसन्तग्रीष्म वर्षाशरदाख्येषुऋतुषु षट्संख्याः क्रमाद्यथासङ्ख्येन स्मृता उक्तं मुनिना। कोलमज्जा बदरमज्जा। वृषमूलं वासा मूलं शाबरं श्वेतरोध्रः। गौरसर्षपाः। सिंहीमूलं बृहतीमूलम्। तिलाः कृष्णतिला न तुश्वेताः। अरूणावा। दार्वी त्वक् दारूहरिद्रात्वक् निस्तुषा विगततुषा यवाः। दर्भमूलं कुशमूलम्। हिमं श्वेतचन्दनम्। मिशिः शितपुष्पा। तन्दुलाः शालितन्दुलाः उत्पलं नीलोत्पलम्। कल्हारो गन्धसोमकः। दूर्वा शाद्वला मधुकं मधुयष्टि। चन्द्रनन्दनः

हि० व्या०—जैसा कि पूर्व में बताया गया है कि ऋतु परिवर्तन से वातावरण में भी परिवर्तन प्रारम्भ हो जाता है अतः ऋतु विशेष के प्रभाव से उष्णता, रूक्षता, क्लिन्नता तथा शीत के न्यूनाधिक प्रभाव से मुखमण्डल की रक्षा तथा स्वाभाविक कान्ति बनाये रखने हेतु विविध लेपों का वर्णन किया गया है यथा—

१. हेमन्त में प्रयोज्य मुखालेप—बेर की अस्थिमज्जा वासामूल, पठानी लोध्र तथा पीत सर्षप का लेप।
२. शिशिर में मुखालेप—बड़ी कंटकारी मूल कृष्ण तिल दारूहरिद्रा की छाल तथा जौ का मिश्रित लेप।

३. वसन्त ऋतु में—कुशा मूल, कपूर, खस शिरीष, के बीज सौंफ एवं चावलों का आटा लेप में प्रयुक्त करना चाहिए।
४. ग्रीष्म ऋतु में—श्वेत कमल, लाल कमल, दूर्वा मुलहठी तथा चन्दन का लेप करना चाहिए।
५. वर्षा अथवा प्रावृट् में—काला अगर, तिल, खस, जटामांसी तगर एवं पद्मकाष्ट का लेप।
६. शरद में—तालीसपत्र गुन्दपटेर, पुण्डेरियां कमल, मूलेठी, कास की जड़ तगर तथा अगरू का लेप लगाना चाहिए।

मुखालेपपश्चात् कर्म पथ्यापथ्य वर्णनं च

न चालिप्तमुखोऽतिभाष्यहास्यक्रोध शोक रोदन स्वेदनाग्न्यातपदिवास्वप्नान्सेवेत। कण्डूत्वक् शोष षीनस दृष्ट्युपघात भयात्। न शुष्यन्नुपेक्षितव्यः। शुष्को हि छविं दूषयतितमार्द्रयित्वाऽपनयेत्। आलेपान्ते च मुखमभ्यज्यात्॥

अ० सं० सू० अ० ३१।१४

अशुष्कस्य स्थितिस्तस्य शुष्को दूषयतिच्छविम्।
तमार्द्रयित्वाऽपनयेत्तदंतेऽभ्यंगमाचरेत्॥
विवर्जयेद्दिवास्वप्नभाष्याऽन्यातपशुक्रुधः।

अ० हृ० सू० २२।१६

मुखालेपो दिवास्वप्नादीन् वर्जयेत्। अहः स्वप्नादि सेवनात् कंडूत्वक् शोफपीनसदृष्ट्युपघातादिभयं स्यात्॥ अरूणदत्तः

हि० व्या०—जिस समय मुखालेप किया हुआ हो उस समय कुछ नियमों का पालन करना आवश्यक होता है—जैसे अधिक बोलना, हास-परिहास (हंसी मजाक) क्रोध करना, रोना, स्वेदन लेना, अग्नितापना, धूम सेवन अथवा धूप में चलना, तथा दिवास्वप्न (दिन में सोना) नहीं चाहिए। इन प्रक्रियायों के करने से मुख पर कण्डु, मुख त्वचा शोषण, प्रतिश्याय अथवा दृष्टि उपघात हो सकता है। जब लगाया हुआ मुंख लेप सूखने लगे तब देरी न करते हुए उसे मलकर उतार देना चाहिए। क्योंकि सूखने पर कान्ति नष्ट कर देता है। अर्थात् त्वचा के स्नेहांशका शोषण कर लेता है। यदि मलकर उतारने की स्थिति में नहीं हो तो थोड़ा-थोड़ा पानी लगाकर गीला करके उतारना चाहिए। लेप के भली प्रकार उतर जाने पर मुख पर स्नेह का अभ्यंग करना चाहिए। अर्थात् हाथों में स्नेह लगाकर हल्के मलना चाहिए।

यत्र मुखालेपो न प्रयोज्यः तेषां सूचनम् मुखालेप प्रयोग गुणाः

न तु योज्यो रात्रि जागरिता जीर्ण दत्त नस्यारूचिहनुग्रह प्रतिश्यायिनाम्। सम्यक् प्रयुक्तश्चाकाल वलीपलित तिमिरव्यंग तिलकादीन्प्रशमयति। स्वस्थस्य

दृष्टिबलं पुण्डरीक कान्त वक्त्रतां च करोति । अ० सं० सू० अ० ३१।१५

हि० व्या०—जिस स्थिति में मुखालेप नहीं कराना चाहिए उन रोग एवं रोगियों का उल्लेख करने के साथ-साथ जहां करना लाभप्रद है उनका भी उल्लेख किया है।

रात में सोकर उठे हुए, अजीर्ण स्थिति में नस्य कर्म के बाद अरुचि में हनुग्रह रोग तथा प्रतिश्याय रोग में मुखालेप नहीं करना चाहिए इसका प्रायः सम्यक् प्रयोग करने पर अकाल में पलित (बाल पक जाना) चेहरे एवं मुख मण्डल पर पड़ने वाली झुरियां, तिमिर रोग व्यंग तथा तिल कालक आदि रोग दूर हो जाते हैं। स्वस्थ व्यक्ति की दृष्टि शक्ति बढ़ाता है। तथा मुख को लाल कमल के समान सुन्दर बना देता है।

दोषघ्नो लेपो यथा

पुनर्नवां दारु शुण्ठीं सिद्धार्थं शिग्रुमेव च।
पिष्टावचैवारनालेन प्रलेपः सर्वशोथजित् ॥

पुर्वमुक्तं दोषघ्नो विषहा वर्ण्यो लेपस्त्रिधा। तत्र तावद्दोषघ्नो लेपो यथा। सिद्धार्थं सर्षपाः शिग्रुः शोभांजनः आरनालं कांजिकभेदः तदभावेऽम्लतक्रं ग्राह्यमिति सर्वत्र। अयं लेपः सर्वशोथजिदित्येन वातकफ प्रायं शोथं विशेषेण जयतीति प्रचरतीति। शोथोऽत्र दोषजनितः शोफ रोगसंभवः। नतु व्रण शोथः तत्राप्यागन्तुजापीति संबन्धात्। आढमल्लः।

पुनर्नवा दारू देवदारू शुण्ठी सिद्धार्थं सर्षपः शिग्रुः शोभांजनः आरनालेन कांजिकेन। तदभावे गोमूत्रेण वा लेपः कार्यः स लेपः सर्वशोथहृदभवति सर्वशोथेन च विषशोथः। काशीराम।

हि० व्या०—पुनर्नवा या विषखपरे की जड़, दारूहल्दी, सोंठ, सफेद सरसों एवं सहजन की छाल समान ले कांजी से पीसकर लेप करने से सब प्रकार के निज तथा आगन्तुक शोथ नष्ट होते हैं।

अथ दाहे लेपः

विभीतफलमज्जाया लेपो दाहार्तिनाशनः।

शा० उ० ११

अथापरः पित्तजदाहनाशनो लेपस्तमाह अत्रापि आरनालेन पेषणमिति सम्बन्धो ज्ञेयः। आढ़मल्लः।

बिभीतफलं विभीतकफलं तस्य मज्जालेपः। काशीराम।

हि० व्या०—विभीतक (बहेड़ा) फल के बीज की मज्जा को कांजी में पीसकर लेप करने से दाह (जलन) तथा पीड़ा (वेदना) का नाश होता है।

अथान्यो लेप विधिः

लेपस्य भेदद्वयम

अथ लेपविधिश्चान्यः प्रोच्यते सुज्ञसंमतः।
द्वौ तस्य कथितौ भेद प्रलेपाख्य प्रदेहकौ ॥

तयोर्लक्षणम्

चर्मद्रि माहिषं यद्वत्प्रोन्नतं सा मितिस्तयोः।
शीतस्तनुर्विशोषी च प्रलेप परिकीर्तितः ॥
आर्द्रो घनस्तपोष्ण; स्यात्प्रदेहः श्लेमवातहा ॥

लेप विधिः

रोमाभिमुखमादेयौ प्रलेपाख्यप्रदेहकौ ।
वीर्यं सम्विशत्याशु रोमकूपैः शिरामुखैः ॥

शा० उ० ११।७१-७३

हि० व्या०—इसके अनन्तर अब अन्य लेप की विधि कहते हैं जो विज्ञ पुरुषों को सम्मत है। इसके दो भेद होते हैं—प्रलेप और प्रदेह।

भैंस के गीले चमड़े जितनी मोटाई इन दोनों की होती है। प्रलेप—ठंडा, पतला तथा सूखा-सा होता है। पर प्रदेह गीला, घन तथा उष्ण होता है और कफवात नाशक होता है।

प्रलेप और प्रदेह दोनों को रोमों के सामने याने अग्र की ओर से मूल की ओर लेप करे, क्योंकि ऐसा करने से औषधि का वीर्य या असर भलीभांति शिरा के मुखस्वरूप रोमकूपों में प्रवेश करता है।

रात्रौ लेपनिषिद्धता

न रात्रौ लेपनंकुर्याच्छुष्यमाणं न धारयेत्।
शुष्यमाणमुपेक्षेत प्रदेहं पीडनं प्रति ॥

रात्रिलेपनिषेधे हेतुः

तमसा पिहितो ह्यूष्मा रोमकूप मुखे स्थितः।
विना लेपेन निर्याति रात्रौ नो लेपयेदतः ॥

रोगविशेषे रात्रौ लेपाज्ञा

रात्रावपिप्रलेपादिविधिः कार्यो विचक्षणैः ।
अपक्वशोथे गम्भीरे रक्ताश्लेष्म समुद्भवे ॥

शा० उ० ११।७४-७६

हि० व्या०—न रात्रि समय में न प्रलेप सूखने पर लगाए रखें अर्थात् सूखते ही प्रलेप को शरीर से अलग कर देवें। सिर्फ वे प्रदेह जो (सूखकर

संकुचित होने से) फोड़े आदि के पीडनार्थ प्रयुक्त होते हैं सूखने पर भी न उतार दिए जायें।

रात के समय रोमकूपों के मुख में जो शरीर की गर्मी रहती है अन्धकार ढकी रहती है वह लेप न देने से ही निकल जाती है। अतः रात्रि के समय लेप न लगावें।

अपक्व शोथ, गम्भीर धातु में उत्पन्न शोथ तथा रक्त एवं श्लेष्मदोष जनित शोथों में बुद्धिमान वैद्य रात्रि के समय भी लेप करावें।

वर्ण्यो लेपो

मुखकान्तिकरो लेपः

रक्तचंदनमंजिष्ठालोध्रकुष्ठप्रियंगवः।
वटांकुरा मसूराश्च व्यंगघ्ना मुखकान्तिदाः॥

मुखकान्तिकरं द्वितीयो लेपः

मातुलुंगजटा सर्पिः शिला गोशकृतो रसः।
मुखकान्तिकरो लेपः पिटिकाव्यंगकालजित्॥

तारुण्यपिटिका ऽपहा लेपाः

लोध्रधान्यवचालेपस्तारुण्यपिटिकापहः।
तद्वद्गोरोचनायुक्तं मरिचं मुखलेपनम्॥

व्यंगहरा लेपः

सिद्धार्थकवचालोध्रसैन्धवैश्च प्रलेपनम्।
व्यंगेषु चार्जुनत्वग्वा मंजिष्ठा वा समाक्षिका॥
लेपः सनवनीतो वा श्वेताश्व खुरजा मषी॥

शा० उ० ११।९-१२

हि० व्या०—लाल चन्दन, मजीठ, लोध्र, फूल प्रियंगु, बड की कोपलें तथा मसूर सम भाग ले जल में पीसकर मुख पर लेप करने से व्यंग (चेहरे पर काले चकते पड़ना) नष्ट होता है तथा चेहरे की कांति बढ़ती है।

बिजौरा नीबू की जड़ की छाल, घृत मैनसिल तथा गोबर का रस सम भाग ले पीसकर चेहरे पर लेप करने से मुख की कांति बढ़ती तथा मुंहासे व्यंग और चेहरे के काले दाग नष्ट होते हैं।

लोध्र धनियां तथा वच सम भाग ले जल में पीसकर लेप करने से मुख के मुंहासे दूर हो जाते हैं। इसी प्रकार से काली मिर्च में गोरोचन मिलाकर लेप करने से तथा सफेद सरसों, वच, लोध्र तथा सेंधा नमक भी समभाग ले जल में पीस लेप करने से मुंहासे दूर हो जाते हैं।

अर्जुन वृक्ष की छाल अथवा सोनामाखी धातु की भस्म और मंजीठ अथवा सफेद घोड़े के खुर भस्म माखन में फेंटी हुई इनमें से किसी एक के लेप से व्यंग

मुखकाठ्यें लेपः

तत्रैव लेपान्तरम

अर्कक्षीरहरिद्राभ्यां मर्दयित्वा विलेपनात्।
मुखकाठ्यें शमं याति चिरकालोद्भवं ध्रुवम्॥
वटस्य पाण्डुपत्राणि मालती रक्तचन्दनम्।
कुष्ठं कालीयकं लोध्रमेभिर्लेपं प्रयोजयेत्।
तारुण्यपिटिकाव्यंगनीलिकाऽऽदिविनाशनम्॥

शा० उ० ११।१३-१५

हि० व्या०—आक का दूध और हल्दी का चूर्ण एकत्र मर्दन कर लेप करने से चिर काल की पुरानी मुखझाई नष्ट हो जाती है। बड़ के पके हुए पीले पत्र, चमेली की पत्ती, लाल चन्दन, कूठ, अगरू तथा लोध्र समभाग जल में पीसकर मुख पर लेप करने से मुंहासे, व्यंग, नीलिका तथा चेहरे के अन्यान्य चर्माश्रित रोग अच्छे हो जाते हैं।

शुद्धिपत्रम्

पृष्ठ सं०	पंक्ति सं०	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
९२	२७	बलावेक्षा	बलापेक्षा
९७	१२	मेहेरुपिटिका	महोरुपिटिका
११४	३	व्यायामासक्ता	व्यायामासक्त
१२६	२१	प्रकाक्षितः	प्रकांक्षितः
१२९	२४	वर्जयेदप्रवालं	वर्जयेद्प्रवातं
१३१	१४	स्नेहो	स्नेह
१४९	१६	स्तय्धां	स्तब्धां
१५८	५	वय्यमां	मय्यमां
१७२	२६	दोप्तं	दीप्तं
१७८	४	ततः-इत्यादि	तत् इत्यादि
१८४	२४	कुठेकेक	कुठेरक
१८८	२२	कुच्यमानं	कुञ्च्यमानं
२००	२२	कान्तवर्णत्व	कान्तिवर्णत्व
२१०	१८	पृष्टकक्षि	पृष्ठकुक्षि
२३५	१३	हृदयसुपेत्य	हृदयमुपेत्य
२३५	१८	सलिलपृथिव्यात्नक	सलिलपृथिव्यात्मक
२४९	२१	निरुष्य	निरुप्य
२५१	२	भन्दरान्	भगन्दरान्
२५४	७	कऽष्ठाग्रि	काष्ठाणि
२५४	२०	स्वेदोपयन्नस्य	स्वेदोपपन्नस्य
२५५	१३	भवेत्तमस्तु	भवेत्ततस्तु
२५६	१९	वमनाव्तर	वमनानन्तर
२५७	२१	गुणान्तरीपदेश	गुणान्तरोपदेश

२५६	१७	मृद्वल्यं	मृद्वल्पं
२६४	२	भ्रमोमच्छां	भ्रमोमूच्छां
२६४	१८	जथन्ये	जघन्ये
२६४	१६	प्रवेर	प्रवरे
२६५	१७	षड्भिरेव	षड्भिरेव
२६५	१८	षडिभरेव	षड्भिरेव
२६५	१६	मुद्धि	शुद्धि
२६५	२२	विद्पित्त	विट्पित्त
२६७	१	व्याहृतम	व्याहृतम्
२६७	२२	श्लेष्मोन्किलष्टेन	श्लेष्मोस्क्लिष्टेन
२६७	२२	स्याद्विरेचनम्	स्याद्विरेचनम्
२६८	६	उपपत्न	उपपन्न
२६८	६	व्यवद्वक्त	व्यापद्वक्तं
२६६	२८	नवमोधम	नवमोषधम्
२७०	१५	शुद्धश्चेखज्जीर्णे	शुद्धश्चेज्जीर्णे
२७१	२१	बोद्धव्यम्	बोद्धव्यम्
२७२	१	तेषामिति	तेषामिति
२७५	१०	तिम्रिर	तिमिर
२८०	१५	विशुद्धेऽल्यं	विशुद्धेऽल्पं
२८१	६	पंयां	पेयां
२८१	८	मेतास्त्रीन्पेयां	मेतास्त्रीन्पेयां
२८२	८	उपलल्पनीये	उपकल्पनीये
२८३	१५	न्यग्राप्युक्तम्	न्यग्राप्युक्तम्
२८३	२७	सन्धक्षित	सन्धुक्षित
२८४	३	भिन्गकाल	भिन्नकाल
२८४	२८	लक्ष्मीकृत्य	लक्षीकृत्य
२८५	१६	स्निग्थ	स्निग्ध
२८५	२५	पेवा	पेया
२८५	३०	प्रस्थमत्रं	प्रस्थमात्र
२८७	११	द्वितौऽह्नि	द्वितीयेऽह्नि
२८७	२१	सुसस्कृतेन	सुसंस्कृतेन
२८७	२४	विलेवी	विलेपी

२८६	२७	बल	बलं
२६४	१	विरेकी	विरेको
२६६	२६	तिक्णोष्णा	तिक्णोष्णा
३०२	६	पिप्पसी	पिप्पली
३०३	२७	स्निेग्धं	स्निग्धं
३०४	२८	शोधप्रमवचान्सि	शोधनमवचारित
३०५	४	मैधु	मधु
३०७	२७	तैलेनानुवानायेत	तैलेनानुवासयेत
३०७	३२	बस्तभिरिति	बस्तिभिरिति
३०८	३	द्रुताक्षो	द्रुताक्षो
३०८	४	स्नभ्यंग	स्नभ्यंग
३१०	६	लैनान्न	तेनान्न
३१०	१०	पिद्वेज्जीवादाने	पिबेज्जीवादाने
३१२	६	विपतीतं	विपरीतं
३१५	६	अयोगजव्याप	अयोगजव्यापत्
३१८	५	पारिपूत	वारिपूतं
३२१	२४	ह्रयिमाणा	ह्रियमाणा
३२२	२६	अजोर्ण	अजीर्ण
३२२	३०	ग्लानिममंहती	ग्लानिमंहती
३२६	२२	कलस्यैव	कफस्यैव
३२६	६	श्लेष्माणै	श्लेष्माणो
३२६	२३	यद्व्य	यद्द्रव्यं
३३१	१	वमय	वमन
३३७	३	गभिण्यदरोऽपि	गभिण्योदयोऽपि
३३७	४	गर्भभंशाच्च	गर्भभ्रंशाच्च
३३७	४	दारुणयोग	दारुणरोग
३३७	१५	हृदयमतिकर्षादिन	हृदयमतिकर्षदिन
३३८	५	हितग्मुच्यते	हितमुच्यते
३३८	३१	छर्दिद्रोगेत्यादि	छर्दिहृद्रोगेत्यादि
३३६	३१	क्लेदयन्यति	क्लेदयन्नति
३४०	१	परितार्थत्वात्ताह	परितार्थत्वानाह
३४१	६	पोदिकौछक	पोदिकोद्दालक

३४३	१६	कोष्ठानिवशादेषां	कोष्ठादिवशादेषां
३४६	३३	पवित्राणोयशृंगादिका	पवित्रणोयशृंगादिका
३४७	१४	विरुछतेयेति	विरुछ्यतेयेति
३५०	१४	मदने श्रेष्ठं	मदनं श्रेष्ठं
३५०	२२	क्षित्वा	क्षिप्त्वा
३५०	२२	बवा	वद्ध्वा
३५३	१	वधुयष्टी	मधुयष्टी
३५४	२५	पुष्यन्तम	पुष्प्यन्यतम
३६२	२८	कर्मंकत्	कर्मंकृत्
३६६	५	परिपेलवांशो	परिपेलवांशी
३६६	७	चूर्णेत्कारिकां	चूर्णोत्कारिकां
३६६	२३	पवेत्	पिबेत्
३७०	१३	मिद्धं	सिद्धं
३७०	१३	अद्वेक्षरसेन	यद्वाइक्षुरसेन
३७२	६	पिवेत्तवमनं	पिवेतद्वमनं
३७८	२६	पूपषोगः	षूपयोगः
३८४	१३	कुडद्वद्वयम्	कुडवद्वयम्
२८४	२०	प्रथष्यानां	प्रमथ्यानां
३८६	१६	हृद्याह	हृछाह
३६०	१६	घृश्चीरस्य	वृश्चीरस्य
३६७	५	मनेष्वचारयेत्	वमनेष्ववचारयेत्
३६८	३२	प्रयुक्तमिराभि	प्रयुक्ताभिराशिभि
३६६	१३	दोषोक्लेशना	दोषोत्क्लेशना
४०१	१७	विषं बूते	विषयंब्रूते
४०२	३३	पायतेदिति	पाययेदिति
४०६	१६	प्राङ्गुखो	प्राङ्मुखो
४११	११	विनिक्त	विरिक्त
४११	१४	प्रस्थार्धाढ़नाढक	प्रस्थार्धाढकाढ़क
४११	२२	क्षुत्पिपसे	क्षुत्पिपासे
४१२	६	स्नेहयोजलङ्घनं	स्नेहयोजनलङ्घनैः
४१२	१४	सातियोगदधिका	सतियोगादधिका
४२३	२४	शद्धदेह	शुचिशुद्धदेह

४२६	१०	मुपाद्या	मुपपाद्या
४३२	३१	विरेचनेननाव	विरेचनेनाव
४३६	२३	औत्सिर्गिकः	औत्सर्गिकः
४४३	१६	तश्चैषां	ततश्चैषां
४४६	२६	विशुद्धीन्द्रिय	विशुद्धीन्द्रिय
४५६	५	संप्रहणा	संप्रवाहणा
४६५	५	पूर्वेदिता	पूर्वोदिता
४६६	१४	द्वेष्मणा	द्वेलेष्मणा
४६६	३१	अजगन्या	अजगन्धा
४७१	१६	स्नुहक्षीरं	स्नुहीक्षीरं
४७१	२१	कथा	तथा
४७२	१७	द्वेशनात्रेण	द्वेशमात्रेण
४७७	२	त्ववमेव	त्एचमेव
४७६	३	स्निग्धोष्णवति	स्निग्धोष्णेवति
४७६	६	पित्तकका:	पित्तकफाः
४८२	३२	कफवित्त	कफपित्त
४८६	८	कल्कसि	कल्कसिद्धं
४८६	१४	कार्तिकं	कापिकं
४६१	१	यूत्रयुतः	मूत्रयुतः
४६२	६	पचकोल	पंचकोल
४६२	६	व्येषि	व्योषि
४६२	३२	मृदुभुष्टानां	मृदुभ्रृष्टानां
४६३	१५	संनिदछ्वाद्रित	संनिदछ्यादिति
४६६	१	ततस्मिन्	ततस्तस्मिन्
५०५	३०	शीतमामलकं	शीतमामालकं
५२१	३१	त्रिदृता	त्रिवृता
५२५	३१	फफितं	फाणितः
५२६	३२	शोषयेय	शोषयेत्
५३४	१८	चूर्णं	चूर्णं
५५१	२४	दद्यादिति	दद्यादिति
५५२	२४	मागं	भागं
५५३	३०	तीव्यायुर्वेद	तीत्यायुर्वेद

५५४	१३	कमं	क्रमं
५५४	२४	विषमम्बर	विपमज्वर
५५४	२६	पार्श्वेरु	पार्श्वोरु
५५८	२१	त्रिवृद्धद्भागा	त्रिवृद्भागा
५७३	१	अनुबासयस्य	अनुवासनस्य
५७४	८	बति	बस्ति
५७४	१८	स्तप्रशमात्	स्तत्प्रशमात्
५७५	१६	विचित	विचित्र
५८५	१७	मस्तम्	मस्तकम्
५८५	२१	आपादमल	आपादतल
६०८	३२	वस्तिष्वितेषु	वस्तिष्वेतेषु
६१६	१३	क्रऽमेपि	क्रमेऽपि
६२०	२४	भिग्वरैः	भिषग्वरैः
६२३	२१	योज्यस्तवः सुखेनैच	योज्यस्तवः सुखेनैव
६२४	१५	यधुतैले	मधुतैले
६२६	३	नृपपेश्वर	नृपश्वर
६२६	१२	मात्रावस्त्री	मात्रावस्ती
६३४	६	आगुलापित्ते	आग्लापित्ते
६३५	२०	वातरोगहते	वातरोगाहते
६३५	२४	वातरोगाहृते	वातरोगाहते
६३६	५	शकर्राराक्षौद्र	शर्कराक्षौद्र
६४१	४	विषाणेमैणि	विषर्णमैणि
६४१	६	त्रपू	त्रपु
६४३	२१	गौपूच्छ	गोपुच्छ
६४३	२७	ग्विति	ग्विशति
६४७	७	गुटकामुखं	गुटिकामुखं
६४७	१४	तलिका	नलिका
६५१	३	कनिष्ठ	कनिष्ठे
६५१	३	तीक्ष्य	तीक्ष्ण
६५१	६	सामायतः	सामान्यतः
६५१	१४	दक्षिणापणौ	दक्षिणपाणौ
६५३	६	बस्तिकमेपि	बस्तिकर्मेति
६५५	३१	गवदासाचार्येण	गयदासाचार्येण

६६८	२५	प्रवक्ष्याम्यपूचुर्वंशः	प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वंशः
६७२	३१	पूर्ववत्	पूर्ववत्
६८४	१६	बस्तिरुष्ठा	बस्तिरत्युष्णा
६८४	३२	युवक	युक्त
६६४	१	तत्राष्मामं	तत्राष्मा
६६६	७	भीषपेत	भीष्येत
६६६	२१	परियेच्च	परिषेचयेच्च
७०३	१३	त्रिशभ्देदा	त्रिशद्भेदा
७०६	२०	प्रसक्तच्छवि	प्रसक्तच्छर्दि
७०६	१७	सराला	सरला
७३७	१२	पलानीव्यर्थः	पलानीत्यर्थः
७३६	२	सप्तवेस्तु	सप्ततेस्तु
७४०	६	वर्ये	वर्षे
७५५	३४	धन्वंरसेन	धन्वरसेन
७७१	१८	ओपधिवृत्तवैद्यान	ओषधिवृद्धिवैद्यान्
७७६	८	तत्मना	तन्मना
७७८	३३	ज्ञेवम्	ज्ञेयम्
७८०	२०	रुगार्याः	रुगार्ता
७८१	१६	पेन	येन
७८४	२	पश्चावनुवासयेत्	पश्चादनुवासयेत्
७८४	२६	शय्योत्क्षेपाननारं	शय्योत्क्षेपादनन्तरं
७६१	६	स्वमैव	स्वयमेव
७६५	४३	संथुतैः	संचुतैः
८१४	५	रुपवर्णकरः	रुपवर्णकरः
८१४	१२	मदनकलानि	मदनफलानि
२१७	८	क्लृप्तानि	क्लृप्तानि
८१७	२७	मधुघुत	मधुघृत
८२६	१३	निरूङ्गया	निरूहाङ्गतया
८३०	७	काम	कफ
८३१	२६	मक्षुंचितेतरं	संकुंचितेतरं

८३१	३२	सक्शन:	सक्थन:
८३२	२९	विम्यग्राह	विष्यदाह
८४३	२४	वैद्कम्	वैद्यकम्
८४८	२६	सुस्निग्धं	सुस्निग्धं
८५१	२५	एतैवेव	एतेष्वेव
८५२	८	श्वदृष्टा	श्वदंष्ट्रा
८५२	१७	पोत्क्ता	प्रोक्ता
८६०	११	सूत्रमत्वादिति	सूक्ष्मत्वादिति
८६४	५	सक्विथ	सक्थि
८६४	७	प्रणयेग्रस्ति	प्रणयेद्वस्ति
८७५	८	तद्भेजम्	तद्भेषजम्
८७६	३	एते थ	एते च
८८०	१६	नीक्ष्णौषधं	तीक्ष्णौषधं
८८१	३	धावत्यूष्वं	धावत्यूष्वं
८८७	१६	तलानुवासनम्	तैलानुवासनम्
८९६	३१	जा	रुजा
८९८	२०	चकंटकटक	कर्कटक
९०५	१	कनौय	कनीय
९०९	३०	त्वनेनव	त्वनेनैव
९११	१०	जयेत	जयेत
९११	१३	जयेयित्यर्थः	जयेदित्यर्थः
९१६	३	प्रवक्षयामि	प्रवक्ष्यामि
९१७	२८	बलानां	बालानां
९२१	३	चंग्रनंदनः	चन्द्रनन्दन
९२५	११	संकोक्या	संकोच्या
९२५	२७	शोधनैर्गुणैः	शोधनैर्गणैः
९२५	३०	दद्याबस्ति	दद्याद्वस्ति
९२६	१६	पुनस्त्रहम्	पुनस्त्र्यहम्
९२६	१७	स्त्रीयामुत्क्तर	स्त्रियामुत्तर
९२६	१८	प्रकृतिरित्मर्थः	प्रकृतिरित्यर्थः
९२६	२१	विनिष्टि	विशिनष्टि
९२८	२४	प्रदेश	प्रवेश

९३२	१७	शोधनैर्गुणैः	शोधनैर्गणैः
९३६	२६	नाराणामूष्वं	नराणामूष्वं
९३७	११	सोतः	स्रोतः
९४२	१८	मद्याद्यन्य	दद्याद्यन्य
९४४	२९	उल्लेश्र	उल्लेख
९४५	७	यत	क्षत
९४६	१४	मन्यस्तम्भ	मन्यास्तम्भ
९४७	६	शीनाञ्जनं	शीताञ्जनं
९४७	२९	मारुतोदयः	मारुतादयः
९४९	१४	पीन	पीनस
९४९	१६	विकरान्	विकारान्
९५१	१६	कर्भ	कर्म
१५३	१५	कफषिता	कफपित्ता
१५३	१९	पित्तकोष	पित्तकोपे
१५३	२०	वातकोषे	वातकोपे
९६१	२५	समुहष्दृतात्	समुद्धृतात्
९६२	३	मष्यय	मष्यम्
९६४	२९	वेश्मन्युत्तारशायिने	वेश्मन्युत्तानशायिने
९६५	१०	नासापुटं	नासापुटं
९६७	१८	पुनरप्युक्लिष्ट	पुनरप्युत्क्लिष्ट
९७०	५	दोषमुत्किश्य	दोषमुत्क्लिश्य
९७५	१	स्नेहोक्तं	स्नेहो
,,	,,	यावद्व	यावद्वक्रं
९७६	१	गुरुत्वमनयति	गुरुत्वमपनयति
९७७	२	प्रतर्दत्ते	प्रातर्दत्ते
९७७	४	न्यायाम	व्यायाम
,,	४	स्तब्मनाशः	स्तम्भनाशः
९७९	१६	मात्रावस्तेगुंणनाम	मात्रावस्तेर्गुणानाम
,,	१९	प्रातिमशः	प्रतिमर्शः
,,	२५	दुरिनेऽपि	दुर्दिनेऽपि
९८०	१०	तृष्णास्यशोषान्तु	तृष्णास्यशोषात्तु
९८३	२८	विरेचमस्य	विरेचन नस्य
९८४	२२	प्रशास्यन्ते	प्रशस्यते

१०६१	४	उक्तेस्तिन	उक्तेस्मिन्
"	५	शाटकेनावेष्टय	शाटकेनावेष्ट्य
"	१४	नात्म्याद्य	सात्म्याद्य
"	२६	स्निप्ध	स्निग्ध
"	२८	जानुस्थापिकूपंर:	जानुस्थापितकूपंर:
१०६२	१५	वामपणिजया	वामपाणिजया
१०६४	७	विधि	विधि:
१०६८	२६	सर्गात्यक	सर्गात्ययिक
१०६८	२२	स्रवेद्वारां	स्रवेद्वारां
१०७०	२२	यन्ये	यन्त्रे
१०७०	२७	शद्धं	शुद्धं
"	२८	ह्यसम्यकगित्यादि	ह्यसम्यगित्यादि
"	२५	मिरा	सिरा
१०७३	२	नियमन्नाह	नियमयन्नाह
१०७४	२०	पूर्वोक्तैश्चूर्तै	पूर्वोक्तैश्चूर्णै
"	२७	संकोचथि तुं	संकोचयितुं
१०७५	३	क्काथ	क्वाथ
१०७८	२७	बद्म्व	बद्ध्वा (वद्ध्वा)
१०७९	२०	तद्दग्ध्वा	तद्दग्ध्वा
"	२७	शस्त्राघतजं	शस्त्राघातजं
१०८२	७	साऽपरेद्युस्थ्यहे	साऽपरेद्युस्त्र्यहे
१०८६	१७	नितरं	नितरां
१०८८	२९	तिर्यग्म	तिर्यग्
१०८९	२	बह्.शो	बहुशो
१०८९	१९	विस्त्रा	विस्रा
१०८९	२०	मनुणयन्त:	मनुपपन्न:
१०९४	२५	रक्तामशिरो	रक्तामशिरो
"	२७	गमननान्मूच्छा	गमनान्मूच्छा
११०२	११	भेदको	भेदको
११०३	४	मृदुधूम्रपानादिष्टेषु	मृदुधूमपानानिर्दिष्टेषु
११०३	१२	वातर्ता	वातार्ता
११०४	३०	दारूणा	दारुणा